श्रीअरविन्द

दिव्य जीवन

श्रीअरविंद आश्रम
पांडिचेरी

श्रीअरविंद

दिव्य जीवन

श्रीअरविंद आश्रम

पांडिचेरी

प्रथम संस्करण : १९९१

मूल्य : रु. २५०.००

ISBN 81-7058-239-3

© श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्ट, पांडिचेरी—६०५००२

प्रकाशक : श्रीअरविंद आश्रम प्रकाशन विभाग, पांडिचेरी—६०५००२

मुद्रक : श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२

विषय-सूची

प्रथम ग्रंथ

अध्याय		पृष्ठ
१.	मानव अभीप्सा	३
२.	जड़वादी का प्रतिवाद	८
३.	संन्यासी का प्रतिवाद	१९
४.	सर्वव्यापक सद्वस्तु	२७
५.	व्यक्ति की नियति	३५
६.	विश्व में मानव	४३
७.	अहं और द्वंद्व	५२
८.	वैदांतिक ज्ञान की प्रणाली	६१
९.	शुद्ध सत्	७२
१०.	चित्-शक्ति	८०
११.	सत्ता का आनंद—समस्या	९०
१२.	सत्ता का आनंद—समाधान	१००
१३.	दिव्य माया	११२
१४.	अतिमानस स्रष्टा के रूप में	१२२
१५.	परम ऋत-चित् (सत्य-चेतना)	१३३
१६.	अतिमानस की त्रिपुटी	१४३
१७.	दिव्य आत्मा	१५१
१८.	मानस और अतिमानस	१५९
१९.	प्राण तथा जीवन	१७४
२०.	मृत्यु, कामना और अक्षमता	१८९
२१.	प्राण का आरोहण	१९९
२२.	प्राण की समस्य	२०९
२३.	मनुष्य में दोहरी आत्मा	२२०
२४.	जड़	२३४
२५.	जड़तत्त्व की ग्रंथि	२४३
२६.	द्रव्य का आरोहणकारी सोपान	२५५
२७.	सत्ता के सप्त तंतु	२६५
२८.	अतिमानस, मानस और अधिमानसी माया	२७३

द्वितीय ग्रंथ

प्रथम भाग

अध्याय		पृष्ठ
१.	अनिर्धारित, वैश्व निर्धारण और अनिर्देश्य	२९२
२.	ब्रह्म, पुरुष, ईश्वर—माया, प्रकृति, शक्ति	३२२
३.	शाश्वत और व्यक्ति	३६३
४.	दिव्य और अदिव्य	३८६
५.	विश्वमाया : मन, स्वप्न और विभ्रम	४०९
६.	सद्वस्तु और विश्वमाया	४३५
७.	विद्या और अविद्या	४७६
८.	स्मृति, आत्मचेतना और अज्ञान	४९४
९.	स्मृति, अहं और आत्मानुभव	५०४
१०.	तादात्म्य द्वारा ज्ञान और भेदात्मक ज्ञान	५१७
११.	अज्ञान की सीमाएं	५४६
१२.	अज्ञान का मूल	५५९
१३.	चित्-शक्ति का ऐकांतिक संकेंद्रण और अज्ञान	५७४
१४.	मिथ्यात्व का, भ्रांति, भूल और अशुभ का मूल और उपाय	५८८

भाग दो

१५.	सद्वस्तु और पूर्ण ज्ञान	६२७
१६.	पूर्ण ज्ञान और जीवन का लक्ष्य; अस्तित्व के चार सिद्धांत	६४९
१७.	ज्ञान की ओर प्रगति—ईश्वर, मनुष्य और प्रकृति	६७४
१८.	विकसनशील प्रक्रिया—आरोहण और समाकलन	६९३
१९.	सप्तधा अज्ञान से सप्तधा ज्ञान की ओर	७१६
२०.	पुनर्जन्म का दर्शन	७३२
२१.	लोकों का क्रम	७५५
२२.	पुनर्जन्म और अन्य लोक; कर्म, जीव और अमरता	७८१
२३.	मनुष्य और विकास	८१२
२४.	आध्यात्मिक मनुष्य का विकास	८३५
२५.	त्रिविध रूपांतर	८७५
२६.	अतिमानस की ओर आरोहण	९०४
२७.	विज्ञानमय सत्ता	९४७
२८.	दिव्य जीवन	९९४

दो शब्द

श्रीअरविंद की 'लाइफ डिवाइन' अथवा 'सावित्री' का अनुवाद करना एकदम असंभव काम है फिर भी उन लोगों के लिये जो मूल पुस्तक नहीं पढ़ सकते या मूल का आनंद नहीं ले सकते, अनुवाद अत्यंत आवश्यक है। इसी दृष्टि से श्रीअरविंद अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा-केंद्र के हिंदी-विभाग ने 'लाइफ डिवाइन' को हाथ में लेने का साहस किया है।

हमारा विश्वास है कि सचमुच अच्छा अनुवाद आने में तो अभी बहुत समय लगेगा, तबतक जितना प्रयास होता जाये कम है।

माताजी ने इस सिलसिले में कहा था कि यदि तुम्हारा अनुवाद पाठक को हमारे संपर्क में ला सके तो वह अपने-आपमें बहुत बड़ी सफलता होगी। इस बात को लक्ष्य में रखते हुए अपनी ओर से पूरा प्रयत्न किया गया है।

प्रथम ग्रंथ

सर्वव्यापक सद्वस्तु और विश्व

अध्याय १

मानव अभीप्सा

परायतीनामन्वेति पाथ आयतीनां प्रथमा शश्वतीनाम्।
व्युच्छन्ती जीवमुदीरयन्त्युषा मृतं कं चन बोधयन्ती॥
कियात्या यत्समया भवाति या व्यूषुर्याश्च नूनं व्युच्छान्।
अनु पूर्वाः कृपते वावशाना प्रदीध्याना जोषमन्याभिरेति॥

वह उनके लक्ष्यों का अनुकरण करती है जो परे की ओर जा रहे हैं, वह आनेवाली उषाओं की शाश्वत परंपरा में सर्वप्रथम है—जो जीवित है उसे प्रकट करती है, किसी मृत को जगाती हुई उषा विस्तृत हो रही है... वह पहले प्रदीप्त उषाओं और अब प्रदीप्त होनेवाली उषाओं में सामंजस्य लाती है तो उसका विस्तार क्या है? वह प्राचीन प्रभातों की इच्छा करती है और उनके प्रकाश को परिपूर्ण बनाती है, अपने आलोक को प्रक्षिप्त करती हुई वह आनेवाली शेष सभी उषाओं के साथ संपर्क साध लेती है।

कुत्स अंगिरस, ऋग्वेद १.११३.८, १०

त्रिरस्य ता परमा सन्ति सत्या स्पार्हा देवस्य जनिमान्यग्नेः।
अनन्ते अन्तः परिवीत आगाच्छुचिः शुक्रो अर्यो रोरुचानः॥
यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा देवो देवेष्वरतिर्निधायि।
... अग्निः ...
ऊर्ध्वो भव प्रति विध्याध्यस्मदाविष्कृणुष्व दैव्यान्यग्ने॥

इस जगत् में स्थित इस भागवत शक्ति के त्रिविध परम जन्म हैं, वे सच्चे हैं, वे वांछनीय हैं, वह पूरी तरह से खुला हुआ शाश्वत में विचरता है और विशुद्ध, देदीप्यमान और परिपूर्ण करता हुआ वह चमकता है... मर्त्यों में जो अमर्त्य है, और जिसे ऋत पर अधिकार है वह एक देव है और हमारी दिव्य शक्तियों में सक्रिय ऊर्जा के रूप में हमारे अंदर प्रतिष्ठित हो गया है... हे शक्ति, तू ऊपर उठ, हे अग्नि, समस्त आवरणों को भेद डाल, हमारे अंदर दिव्य वस्तुओं को प्रकट कर।

वामदेव गौतम, ऋग्वेद ४.१.७; ४.२.१; ४.४.५

मनुष्य के प्रबुद्ध विचारों में उसकी सबसे पहली तल्लीनता, जो उसकी चरम और अनिवार्य तल्लीनता भी मालूम होती है, क्योंकि वह संदेहवाद की लंबी से लंबी अवधियों के बाद, हर निष्कासन के बाद भी बनी रहती है, वही, जहांतक उसके

विचार की उड़ान है, उसकी उच्चतम तल्लीनता भी मालूम होती है। वह अपने-आपको परम देव के पूर्वाभास में, पूर्णता के लिये आवेश में, शुद्ध सत्य और अमिश्रित आनंद की खोज में, गुप्त अमरता के भाव में प्रकट करती है। मानव ज्ञान की प्राचीन उषाएं इस सतत अभीप्सा के बारे में अपनी साक्षी छोड़ गयी हैं। आज हम ऐसी मानवजाति को देखते हैं जो प्रकृति के बाह्य रूप के विजयी विश्लेषण से अघा तो गयी है पर संतुष्ट नहीं है। वह अपनी आदिम ललकों की ओर लौटने की तैयारी कर रही है। प्रज्ञा का आदि सूत्र ही अंतिम सूत्र होने की प्रतिज्ञा करता है—भगवान्, प्रकाश, स्वाधीनता और अमरता।

मानवजाति के ये सतत आदर्श उसकी सामान्य अनुभूति का खंडन करते हैं और साथ ही साथ उन उच्चतर और गहरी अनुभूतियों का समर्थन करते हैं जो मानवजाति के लिये असामान्य हैं और जो अपने पूरे संगठित रूप में किसी क्रांतिकारी व्यष्टिगत प्रयास या विकसनशील व्यापक प्रगति द्वारा ही पाये जाते हैं। पाशविक और अहंकारयुक्त चेतना में दिव्य सत्ता को जानना, उसे पाना और वही हो जाना, अपनी झुटपुटी, अस्पष्ट भौतिक मानसिकता को पूर्ण अतिमानसिक प्रकाश में बदलना, जहां केवल शारीरिक पीड़ा और भावनामय कष्ट से घिरे अस्थायी संतोष का दबाव है वहां शांति और स्वयंभू आनंद का निर्माण करना, जो संसार अपने-आपको यांत्रिक आवश्यकताओं के झुंड के रूप में प्रकट करता है वहां अनंत स्वाधीनता को प्रतिष्ठित करना, मृत्यु और सतत परिवर्तन के अधीनस्थ शरीर में अमर जीवन प्राप्त करना—ये हैं वे चीजें जो भौतिक में भगवान् की अभिव्यक्ति और प्रकृति के पार्थिव क्रम-विकास के लक्ष्य के रूप में हमारे आगे प्रस्तुत की जा रही हैं। चेतना के वर्तमान गठन को अपनी संभावनाओं की सीमा माननेवाली सामान्य भौतिक बुद्धि के लिये अभीतक अनुपलब्ध आदर्शों का उपलब्ध तथ्यों द्वारा प्रत्यक्ष खंडन ही उनकी तर्कसंगति के विरुद्ध अंतिम युक्ति है। लेकिन अगर हम संसार की क्रियाओं का जरा अधिक विवेकशील अवलोकन करें तो वह प्रत्यक्ष निषेध प्रकृति के गहनतम उपाय का एक भाग और उसकी संपूर्ण स्वीकृति की मुहर मालूम होता है।

कारण, जीवन की सभी समस्याएं तत्त्वतः सामंजस्य की समस्याएं हैं। वे किसी अनसुलझी विसंगति के प्रत्यक्ष दर्शन से और अप्राप्त मेल और एकता के सहजबोध से उठती हैं। मनुष्य के व्यावहारिक और अधिक पाशविक भाग के लिये अनसुलझी विसंगतियों के साथ संतुष्ट बने रहना संभव है। परंतु उसके पूरी तरह जाग्रत् मन के लिये असंभव है। सामान्यतः उसके व्यावहारिक भाग भी इस व्यापक आवश्यकता से या तो समस्या को बाहर बंद रखकर या एक मोटा-झोटा, कामचलाऊ, प्रकाशहीन समझौता स्वीकार करके बचते हैं। क्योंकि अनिवार्य रूप से समस्त प्रकृति सामंजस्य की खोज में है, जैसे मन अपने प्रत्यक्ष दर्शनों की व्यवस्था

में, उसी तरह प्राण और भौतिक भी अपने-अपने क्षेत्र में सामंजस्य की खोज करते हैं। दी गयी सामग्री में जितनी अधिक अव्यवस्था या जितनी भी अधिक विसंगतियां दीखती हों, यहांतक कि जिन वस्तुओं का उपयोग हो उनमें परस्पर अशाम्य विरोध हो, प्रेरणा उतनी ही मजबूत होगी और वह साधारणतः कम कठिन प्रयास के परिणाम की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और सशक्त व्यवस्था की ओर ले जायेगी। सक्रिय जीवन की ऐसे रूप के द्रव्य के साथ संगति जिसमें तामसिक जड़ता ही क्रियाशीलता की स्थिति मालूम होती है—यह विरोधों की एक ऐसी समस्या है जिसे प्रकृति ने हल कर लिया है और हमेशा अधिक जटिलताओं के साथ ज्यादा अच्छी तरह हल करने की कोशिश करने में लगी है। क्योंकि उसका सम्पूर्ण समाधान होगा पाशविक शरीर को सहारा देते हुए पूर्णतया संगठित मन की भौतिक अमरता। सचेतन मन और सचेतन इच्छा-शक्ति की ऐसे रूप और जीवन के साथ संगति जो अपने-आप में प्रकट रूप से आत्म-सचेतन नहीं हैं और अधिक-से-अधिक यांत्रिक या अवचेतन इच्छा के योग्य हैं—यह परस्पर विरोधों की एक और समस्या है जिसमें उसने (प्रकृति ने) आश्चर्यजनक परिणाम पैदा किये हैं और हमेशा अधिक ऊंचे चमत्कारों के संधान में रहती है क्योंकि वहां उसका परम चमत्कार होगा एक ऐसी पाशविक चेतना जो सत्य और प्रकाश की खोज करनेवाली न रहकर उन्हें प्राप्त कर चुकी होगी और इस प्रत्यक्ष और पूर्णता-प्राप्त ज्ञान के परिणामस्वरूप व्यावहारिक सर्वशक्तिमत्ता पा लेगी। तब और भी ऊंचे विरोधों की संगति की ओर मनुष्य की ऊर्ध्वाभिमुख प्रेरणा अपने-आपमें युक्तिसंगत ही नहीं है, बल्कि वह केवल एक ऐसे नियम और एक प्रयास की ही अभिपूर्ति है जो प्रकृति का आधारभूत उपाय और उसके वैश्व प्रयासों का एकमात्र तात्पर्य मालूम होता है।

हम भौतिक पदार्थ में प्राण के विकास और भौतिक पदार्थ में मन के विकास की बात करते हैं लेकिन विकास एक ऐसा शब्द है जो केवल एक तथ्य या घटना की बात कह देता है, उसे समझाता नहीं। लेकिन जबतक कि हम वेदांत के इस समाधान को न स्वीकार कर लें कि 'प्राण' पहले से ही 'भौतिक' में अंतर्लीन है और 'मन' 'प्राण' में—क्योंकि तत्त्वतः भौतिक पदार्थ प्राण का ही एक छिपा हुआ रूप है और प्राण चेतना का छिपा हुआ रूप है—तबतक इसका कोई कारण नहीं दिखलायी देता कि भौतिक तत्त्व में से प्राण और जीवित रूप में से मन विकसित हो। और तब इस क्रम में एक कदम रखने पर यह मानने में कोई आपत्ति नहीं दिखलायी देती कि स्वयं मानसिक चेतना मन से परे के उच्चतर स्तरों का एक रूप या उसका एक पर्दा हो। उस अवस्था में भगवान्, प्रकाश, आनंद, स्वाधीनता, अमरता के प्रति मनुष्य का अपराजेय मनोवेग अपने-आपको उचित रूप से उस शृंखला में रखता है जो केवल प्रकृति का अनिवार्य आवेग है, जिसके द्वारा प्रकृति

मन के परे विकसित होने की कोशिश कर रही है और यह उतना ही स्वाभाविक, सच्चा और उचित प्रतीत होता है जैसे भौतिक द्रव्य के अमुक रूपों में उसने 'प्राण' के लिये प्रेरणा रोपी थी या जैसे प्राण के अमुक रूपों में उसने 'मन' के लिये प्रेरणा रोपी थी। वहां की तरह यहां भी यह मनोवेग उसके विभिन्न पात्रों में न्यूनाधिक रूप में अस्पष्ट रहता है, वह हमेशा होने या बने रहने की इच्छा के ऊपर चढ़ते हुए क्रम में बना रहता है। वहां की तरह यहां भी, वह धीरे-धीरे विकसित होता और आवश्यक अंगों और क्षमताओं को विकसित करने के लिये बाधित है। जैसे 'मन' की ओर उठनेवाली प्रेरणा धातु और वनस्पति में 'प्राण' की अधिक संवेदनशील प्रतिक्रियाओं से लेकर मनुष्य के अंदर उसके पूर्ण व्यवस्थापनतक रहती है उसी तरह मनुष्य के अपने अंदर वही आरोहणशील क्रम, और कुछ नहीं तो उच्चतर और दिव्य जीवन की तैयारी करता है। कहते हैं पशु एक जीवित प्रयोगशाला है जिसमें प्रकृति ने मनुष्य को तैयार किया है। हो सकता है कि स्वयं मनुष्य एक ऐसी जीती-जागती विचारशील प्रयोगशाला हो जिसमें और जिसके सचेतन सहयोग से वह अतिमानव या देव को तैयार करना चाहती है। हम यह क्यों न कहें कि वह भगवान् को अभिव्यक्त करना चाहती है। क्योंकि अगर क्रमविकास प्रकृति के अंदर सोयी हुई या अंतर्लीन होकर काम करती हुई चीज की उत्तरोत्तर अभिव्यक्ति है तो यह भी प्रकट रूप में उस चीज की चरितार्थता है जो वह स्वयं गुप्त रूप से है। अतः हम उसे क्रमविकास के अमुक स्तर पर रुक जाने का हुकुम नहीं दे सकते और न हमें यह अधिकार है कि उसके परे जाने के प्रयास या प्रकट किये हुए इरादे को धार्मिक लोगों के साथ मिलकर उसे विकृत या पाखंडी कह सकें या फिर तर्क-बुद्धिवालों की तरह उसे बीमारी या मतिभ्रम ठहरा दें। अगर यह सच है कि 'आत्मा' भौतिक में अंतर्लीन है और दृश्य 'प्रकृति' गुप्त भगवान् है तो देवत्व की अपने में चरितार्थता और भगवान् की स्वयं अपने अंदर और बाहर अभिव्यक्ति धरती पर स्थित मनुष्य के लिये उच्चतम और यथासम्भव अधिक-से-अधिक न्यायसंगत लक्ष्य है।

इस भांति पाशविक शरीर में दिव्य जीवन, मर्त्य आवास में निवास करनेवाली अमर अभीप्सा या सद्वस्तु, सीमित मनों और विभक्त अहंकारों में अपने-आपको प्रस्तुत करती हुई एकमेव और वैश्व चेतना, काल, देश और विश्व को संभव बनानेवाली परात्पर, अनिर्वचनीय, देशकालातीत दिव्य सत्ता इनकी शाश्वत पहेली और इनका शाश्वत सत्य और इन सबमें निम्न तत्त्व द्वारा प्राप्य उच्चतर सत्य—ये सब मानव जाति की सुविवेचित तर्कबुद्धि और सतत, आग्रही सहज वृत्ति तथा अन्तर्भास के आगे अपने-आपको न्यायोचित सिद्ध करते हैं। कभी-कभी ऐसे प्रयास किये जाते हैं कि ऐसे प्रश्नों को हमेशा के लिये ठप्प कर दिया जाये जिन्हें तर्कसंगत विचार कितनी ही बार असमाधेय घोषित कर चुका है और कोशिश की गयी है कि

मनुष्य अपने मानसिक क्रिया-कलापों को विश्व में अपनी व्यावहारिक और तात्कालिक समस्याओंतक ही सीमित रखें। लेकिन इस तरह बच निकलने का प्रभाव कभी स्थायी नहीं होता। मानवजाति हमेशा गवेषणा के अधिक तीव्र आवेग के साथ या तात्कालिक समाधान के लिये अधिक उग्र क्षुधा के साथ लौट आती है। रहस्यवाद इस क्षुधा का लाभ उठाता है और उन पुराने धर्मों का स्थान लेने के लिये नये धर्म उठ खड़े होते हैं जो संदेहवाद के कारण या तो नष्ट हो गये हैं या जिनका अर्थ जाता रहा है। यह संदेहवाद अपने-आपको संतुष्ट नहीं कर पाया क्योंकि यद्यपि उसका कार्य जांच-पड़ताल करना था परंतु वह जांच-पड़ताल करने के लिये काफी इच्छुक न था। किसी सत्य से इस कारण इंकार करना या उसे कुचल देने का प्रयास करना क्योंकि वह अपने बाह्य क्रिया-कलाप में अभीतक अंधकारमय है और बहुधा ज्ञानोन्नति विरोधी अंधश्रद्धा या अनगढ़ श्रद्धा द्वारा हमारे आगे प्रस्तुत किया जाता है, यह अपने-आपमें एक तरह का ज्ञानोन्नति-विरोध है। किसी वैश्व आवश्यकता से बच निकलने की इच्छा करना क्योंकि वह दुःसाध्य है और उसे तात्कालिक ठोस परिणामों द्वारा उचित ठहराना कठिन है तथा उसके क्रिया-कलाप का नियमन धीमा है—अंततोगत्वा यह प्रकृति के सत्य को स्वीकारना नहीं बल्कि महती माता की गुप्त, अधिक सशक्त इच्छा के विरुद्ध विद्रोह है। जिस चीज को वह माता मानवजाति को अस्वीकार नहीं करने देती उसे मान लेना ही ज्यादा अच्छा और तर्कसंगत है, उसे अंध सहजवृत्ति, अस्पष्ट अंतर्भास और अनियत अभीप्सा के क्षेत्र से तर्कबुद्धि के प्रकाश और प्रशिक्षित व सचेतनतया आत्मप्रेरित इच्छा के क्षेत्र में ले आना ज्यादा अच्छा है। और अगर प्रबुद्ध अंतर्भास या स्वयं आलोकित सत्य का उच्चतर प्रकाश जो अभी मनुष्य में या तो रुंधा हुआ है और क्रियाशील नहीं है या पर्दे के पीछे से रह-रहकर आनेवाली जगमगाहट की तरह या हमारे भौतिक गगन पर कभी-कदास आनेवाले उत्तरीय प्रकाश की तरह काम करता है तब भी हमें अभीप्सा करते डरना नहीं चाहिये क्योंकि यह संभव है कि चेतना की अगली उच्चतर अवस्था ऐसी हो। मन उसका केवल एक रूप और पर्दा है और संभव है उस प्रकाश की भव्यता में से होकर ही हमारे क्रमशः आत्मवर्धन का मार्ग उस जगह जाता हो जो मानवजाति की उच्चतम, चरम विश्राम-स्थली है।

अध्याय २

दो नकार :

१—जड़वादी का प्रतिवाद

> *. . . स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥ अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति॥ तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितर-मुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तं होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति . . .।*
>
> उसने (मन के तप द्वारा) चिच्छक्ति को प्रदीप्त किया और इस ज्ञान पर पहुंचा कि अन्न (जड़ तत्त्व) ही ब्रह्म है। क्योंकि अन्न से ही ये समस्त भूत (प्राणी) उत्पन्न हुए हैं। अन्न से उत्पन्न ये जीते हैं और यहां से जाकर वे अन्न में ही प्रवेश करते हैं। तब वह अपने पिता वरुण के पास जाकर बोला: "भगवन्, मुझे ब्रह्म का उपदेश दीजिये।" लेकिन वरुण ने उससे कहा, "चिच्छक्ति को (फिर से) अपने अंदर प्रदीप्त कर, क्योंकि तप ही ब्रह्म है।"
>
> तैत्तिरीय उपनिषद् ३.१.२

धरती पर दिव्य जीवन के और मर्त्य जीवन में अमरता के स्वीकरण का तबतक कोई आधार नहीं हो सकता जबतक कि हम न केवल शाश्वत आत्मा को इस शारीरिक भवन के निवासी, इस परिवर्तनशील चोले के धारण करनेवाले के रूप में स्वीकार कर लें बल्कि भौतिक द्रव्य को भी जिससे यह बना है एक उपयुक्त और उत्कृष्ट द्रव्य न मान लें जिसमें से भगवान् हमेशा अपने परिणाम बुनते रहते हैं, अपने भवनों की अंतहीन शृंखला को बार-बार बनाने में लगे रहते हैं।

लेकिन यह बात भी हमें शारीरिक जीवन के प्रति होनेवाली विरक्ति से बचाने के लिये पर्याप्त नहीं है। इसके लिये जरूरी है कि उपनिषदों की तरह हमें जीवन के इन दो चरम छोरों के बाहरी रूपों के पीछे रहनेवाली उनकी तात्त्विक एकता का बोध हो और इसे पाकर हम प्राचीन ग्रंथों की भाषा में कहने लगें, "अन्नं वै ब्रह्म"। जड़तत्त्व भी ब्रह्म है और उस सशक्त रूपक को उसका पूरा-पूरा मूल्य दे सकें जिसमें भौतिक विश्व को दिव्य पुरुष का बाहरी शरीर कहा गया है। अगर हम जड़तत्त्व और आत्मा के बीच के आरोहणकारी सोपान को प्राण, मन और अतिमन को तथा मन और अतिमन को जोड़नेवाली श्रेणियों को स्वीकार न करें तो ये दो चरम छोर जड़तत्त्व और आत्मा इतने अधिक विभक्त प्रतीत होते हैं कि इनकी

एकात्मता तर्कसंगत बुद्धि को विश्वसनीय नहीं प्रतीत होती। अन्यथा ऐसा लगेगा कि ये दोनों असंगत विरोधी हैं जो एक दूसरे के साथ दुःखद परिणय-सूत्र में बंधे हुए हैं और उनका तलाक ही एकमात्र बुद्धिसंगत समाधान है। उनमें एकात्मता स्थापित करना, इनमें से एकको दूसरे की भाषा में प्रस्तुत करना, विचार का कृत्रिम सृजन हो जाता है जो तथ्यों के तर्क का विरोधी है और असंगत रहस्यवाद में ही संभव है।

अगर हम केवल विशुद्ध आत्मा और यांत्रिक बुद्धिहीन पदार्थ या ऊर्जा को ही मानें, एक को भगवान् या आत्मा कहें और दूसरे को प्रकृति तो इसका अनिवार्य अंत यह होगा कि हम या तो भगवान् को अस्वीकार करेंगे या प्रकृति से मुंह मोड़ लेंगे। तब विचार और जीवन दोनों के लिये चुनाव अत्यावश्यक हो जाता है। विचार एक को कल्पना की भ्रांति या दूसरे को इंद्रियों की भ्रांति मान लेगा। जीवन अभौतिक के साथ जुड़ जाता है और वितृष्णा या आत्मविस्मृतिकारी आनंद के साथ अपने-आपसे भागता है या फिर स्वयं अपनी अमरता से इंकार करता है और भगवान् से मुंह मोड़कर पशु की ओर अभिमुख होता है। पुरुष और प्रकृति, सांख्य की निष्क्रिय प्रकाशमय आत्मा और उनकी यांत्रिक रूप से क्रियाशील ऊर्जा में कोई भी चीज समान नहीं है, उनके तामसिकता के विरोधी तत्त्व में भी कोई समानता नहीं है। उनके विरोधों के समाधान का एक ही तरीका है: निष्क्रिय रूप से चालित क्रियाशीलता का समापन उस अपरिवर्तनशील विश्रांति में कर दिया जाये जिसमें वह अपने प्रतिबिंबों की निष्फल धारा व्यर्थ में डालती रही है। शंकर की निःशब्द, निष्क्रिय 'आत्मा' और उनकी बहुनाम-रूपधारी 'माया' भी समान रूप से विषम और असंगत सत्ताएं हैं। उनके कठोर विरोधों का अंत तभी हो सकता है जब बहुरूपधारी भ्रांति शाश्वत नीरवता के एकमात्र सत्य में विलीन हो जाये।

जड़वादी का क्षेत्र ज्यादा आसान है। उसके लिये यह ज्यादा आसान है कि आत्मा को नकारकर एक अधिक आसानी से विश्वास दिलानेवाले सरल वक्तव्य, सच्चे अद्वैत, भौतिक तत्त्व या शक्ति के अद्वैत पर पहुंच जाये। लेकिन उसके लिये भी इस कठोर वक्तव्य पर हमेशा डटे रहना संभव नहीं है। आखिर वह भी एक ऐसे अज्ञेय को ला खड़ा करता है जो उतना ही निष्क्रिय और ज्ञात विश्व से उतना ही दूर होता है जितना निश्चल पुरुष या नीरव आत्मा। इस भांति वह विचार की कठोर मांगों को एक अस्पष्ट-सी रियायत देकर टाल देता है या जिज्ञासा की सीमाओं को आगे बढ़ने की स्वीकृति न देने का बहाना पा लेता है—इसके सिवा उससे कोई काम नहीं बनता।

अतः मानव मन इन निष्फल विरोधों से संतुष्ट नहीं रह सकता। उसे हमेशा एक संपूर्ण प्रस्थापना की खोज करनी चाहिये और यह उसे प्रकाशमय समाधान से ही मिल सकती है। उस समाधान तक पहुंचने के लिये उसे उन श्रेणियों को पार करना होगा जिन्हें हमारी आंतरिक चेतना हमारे ऊपर आरोपित करती है और चाहे प्राण

और मन पर भौतिक तत्त्व की तरह ही विश्लेषण की वस्तुनिष्ठ पद्धति के द्वारा या आत्मनिष्ठ समन्वय और उद्‌भासन द्वारा, अभिव्यक्तिकारी बहुविधता की ऊर्जा को अस्वीकार किये बिना परम एकत्व की विश्रांति पर पहुंचना होगा। केवल इस प्रकार की पूर्ण और उदार प्रस्थापना में ही अस्तित्व के बहुविध और प्रत्यक्षतः विरोधी तथ्यों का सामंजस्य हो सकता है। इसी तरह हमारे विचार और प्राण पर शासन करनेवाली अनेकविध परस्पर-विरोधी शक्तियां उस केंद्रीय सत्य को खोज सकती हैं जिसका प्रतीक बनना और नाना रूपों से परिपूर्ण करना ही उनका प्रयोजन है। तभी हमारा विचार सच्चे केंद्र को पाकर, गोल-गोल चक्कर लगाना बंद करके, उपनिषद् के ब्रह्म की तरह काम कर सकता है, अपनी लीला और सारे संसार की दौड़ में स्थिर और ध्रुव रह सकता है, हमारा जीवन अपने लक्ष्य को जानकर शांत एवं स्थिर आनंद और प्रकाश के साथ तथा लयबद्ध तर्कमूलक ऊर्जा के साथ उसकी सेवा कर सकता है।

लेकिन एक बार वह लय भंग हो जाये तो यह आवश्यक और सहायक हो जाता है कि मनुष्य इन दो महान् विरोधी मतों को उनके चरम रूप में अलग-अलग लेकर उनकी जांच करे। अपनी खोयी हुई प्रस्थापना की ओर अधिक पूर्णता के साथ लौटने के लिये मन का यही स्वाभाविक तरीका है। हो सकता है कि वह मार्ग में आनेवाली श्रेणियों में आराम करने की कोशिश करे, सभी चीजों की व्याख्या एक आदि प्राण-शक्ति या संवेदना या भावों की परिभाषा में करे लेकिन इन ऐकांतिक समाधानों में हमेशा अवास्तविकता की छटा रहती है। हो सकता है कि वे कुछ समय के लिये तर्कबुद्धि को संतुष्ट कर सकें जो केवल शुद्ध विचारों से संबंध रखती है, परंतु वे मन के वास्तविकता के भाव को संतुष्ट नहीं कर सकते। मन जानता है कि उसके पीछे कोई चीज है जो विचार या भाव नहीं है। दूसरी ओर वह यह भी जानता है कि स्वयं उसके अंदर कोई चीज है जो जीवनश्वास से बढ़कर है। कुछ समय के लिये आत्मा या भौतिक द्रव्य उसे चरम वास्तविकता का भाव दे सकते हैं लेकिन ऐसा बीच में आनेवाले कोई और तत्त्व नहीं दे सकते। अतः उसे सफल होकर समग्र की ओर लौटने से पहले दोनों छोरोंतक जाना होगा। बुद्धि अपने स्वभाव के अनुसार, ऐसे संवेदन की सहायता से जो सुस्पष्ट रूप में जीवन के भागों को ही देख सकता है और ऐसी वाणी से जो तभी स्पष्ट हो पाती है जब वह सावधानी से विभाजन और सीमांकन करे, अपने सामने मूलभूत तत्त्वों की बहुलता को पाकर निर्दयता के साथ उन्हें एकत्व की अभिधा में पटाकर एकता खोजने के लिये प्रेरित होती है। व्यावहारिक रूप में उसका यह प्रयास होता है कि एक पर बल देने के लिये अन्यों से पीछा छुड़ा ले। इस ऐकांतिक प्रक्रिया के बिना उन विभिन्न तत्त्वों के वास्तविक एकत्व का बोध पाने के लिये यह जरूरी है कि या तो वह स्वयं अपना अतिक्रमण करे या पूरा चक्कर लगाकर यह जान ले कि सबके

सब समान रूप से उस 'तत्' में समा जाते हैं जो परिभाषा या वर्णन से बच निकलता है और जो, फिर भी न केवल वास्तविक है बल्कि प्राप्य है। हम चाहे जिस रास्ते से जायें, 'तत्' ही वह लक्ष्य है जिसपर हम जा पहुंचते हैं। हम उससे उसी हालत में बच सकते हैं जब यात्रा को पूरा करने से इंकार कर दें।

इसलिये यह एक शुभ आरंभ है कि बहुत से परीक्षणों और शाब्दिक समाधानों के बाद हम आज अपने-आपको उन दो की उपस्थिति में पायें जिन्होंने एक लंबे अरसेतक कठोर परीक्षणों की जांच-पड़ताल को सहा है। ये दोनों छोर परीक्षण के अंत में एक ऐसे परिणाम पर आये हैं जिसे मानवजाति का वैश्व सहजबोध—वह अवगुंठित न्यायाधीश, प्रहरी और सत्य की वैश्व आत्मा का प्रतिनिधि—उचित या संतोषजनक मानने से इंकार करता है। यूरोप और भारत में क्रमशः जड़वादी के निषेध और संन्यासी के निषेध ने अपने-आपको एकमात्र सत्य के रूप में प्रतिष्ठित करना और जीवन की धारणा पर अपना अधिकार जमाना चाहा है। भारत में यदि इसके परिणामस्वरूप 'आत्मा' की निधियों का या उनमें से कुछ का ढेर लग गया है तो साथ ही जीवन का बड़ा दिवालियापन भी आया है। यूरोप में समृद्धि की परिपूर्णता और इस जगत् की शक्तियों पर विजयी प्रभुत्व तथा अधिकार-प्राप्ति ने उसी तरह आत्मा की चीजों में समान रूप से दिवालियेपन की ओर प्रगति की है। और न ही सभी समस्याओं का समाधान भौतिक तत्त्व में ही पाने की कोशिश करनेवाली बुद्धि ने अपने पाये हुए उत्तर में संतोष पाया है।

अतः समय परिपक्व होता जा रहा है और जगत् की प्रवृत्ति इस ओर बढ़ रही है कि विचार और आंतरिक और बाह्य अनुभव में एक नयी तथा व्यापक प्रस्थापना आये और इसके फलस्वरूप संपूर्ण मानव जीवन में व्यक्ति तथा जाति दोनों के लिये नयी और समृद्ध आत्मपरिपूर्ति आये।

आत्मा और जड़ पदार्थ दोनों ही एक अज्ञेय के प्रतिनिधि हैं किंतु उसके साथ उनके संबंधों में जो भिन्नता है उससे जड़वादी और आध्यात्मिक नकार की प्रभावकारिता में भेद उत्पन्न होता है। जड़वादी का नकार यद्यपि अधिक आग्रही है और तात्कालिक सफलता पाता है, जनसाधारण को अधिक आकर्षित करता है फिर भी वह अंततः संन्यासी के संकटमय मनमोहक नकार की अपेक्षा कम टिकाऊ और प्रभावकारी होता है। क्योंकि उसका उपचार उसीके अंदर होता है। उसका सबसे अधिक सबल तत्त्व है अज्ञेयवाद जो सारी अभिव्यक्ति के पीछे एक 'अज्ञेय' को मानते हुए अज्ञेय के क्षेत्र को बढ़ाता जाता है और अंत में जो कुछ भी अज्ञात है वह सब उसमें समा जाता है। उसका आधारवाक्य यह होता है कि शारीरिक इंद्रियां ही 'ज्ञान' के लिये हमारा एकमात्र साधन हैं और तर्कबुद्धि अपनी अधिक-से-अधिक विस्तृत और अधिक-से-अधिक सशक्त उड़ानों में भी इंद्रियों के प्रदेश से बाहर नहीं जा सकती। उसे हमेशा उन्हीं तथ्यों से व्यवहार करना चाहिये जिन्हें

इन्द्रियां उसके सामने प्रस्तुत करें या जिनकी ओर इशारा करें। उन इशारों को भी हमेशा अपने मूल के साथ बंधा रहना पड़ेगा। हम उनके परे नहीं जा सकते। हम इनसे ऐसा पुल नहीं बना सकते जिससे किसी ऐसे क्षेत्र में पहुंचा जा सके जहां अधिक सशक्त और कम सीमित क्षमताओं की क्रिया होती हो और किसी और तरह के अन्वेषण की जरूरत हो।

यह आधारवाक्य इतना मनमाना है कि यह अपने-आप ही अपनी अपर्याप्तता का अपराध घोषित करता है। इसका समर्थन केवल तभी किया जा सकता है जब हम उसके विपरीत प्रमाणों और अनुभवों के विशाल क्षेत्र की उपेक्षा कर दें या किसी तरह जैसी-तैसी व्याख्या करके उसे उड़ा दें, सभी मनुष्यों में विद्यमान उदात्त और उपयोगी क्षमताओं को, जो सचेतन या अस्पष्ट रूप से सक्रिय हैं, निकृष्टतम दशा में जो सोयी हुई हैं उन्हें अस्वीकार करें या उनकी उपेक्षा कर दें और अतिभौतिक व्यापारों के बारे में अन्वेषण करने से तबतक इंकार करें जबतक उनका भौतिक पदार्थ तथा उसकी गतिविधि के साथ संबंध न हो और उसे भौतिक शक्ति की एक अधीनस्थ क्रिया के रूप में न स्वीकार किया जाये। जैसे ही हम मन और अतिमानस की क्रियाओं का अन्वेषण, शुरू से ही उन्हें जड़ की किसी निचली गति के रूप में देखने के पूर्वाग्रह के बिना, उनके अपने स्वरूप में देखने के लिये करेंगे, वैसे ही हम ऐसे व्यापार-समूह के संपर्क में आयेंगे जो जड़ भौतिक सूत्र की कठोर पकड़ और सीमित करनेवाले मतवाद से बच निकलते हैं। जिस क्षण हम यह जान लें, और हमारी विस्तृत होती हुई अनुभूतियां हमें जानने के लिये बाधित करती हैं, कि हमारी इन्द्रियों के क्षेत्र के परे ज्ञेय वास्तविकताएं हैं और मनुष्यों में ऐसी शक्तियां और क्षमताएं हैं जो भौतिक अंगों द्वारा उस इन्द्रिय जगत् से संपर्क तो रखती हैं जो हमारी सच्ची और संपूर्ण सत्ता का बाह्य कोष है पर वे भौतिक अंगों द्वारा नियंत्रित न होकर उनका नियंत्रण करती हैं, उसी क्षण अज्ञेयवाद का आधारवाक्य लुप्त हो जाता है। हम विशालतर कथन और सदा विकसनशील अन्वेषण के लिये तैयार हो जाते हैं।

लेकिन पहले अच्छा हो कि हम मानवजाति जिस संक्षिप्त-सी तर्क-बुद्धिपरक अवधि में से गुजर रही है, उसकी अतिशय और अनिवार्य उपयोगिता को जान लें। क्योंकि प्रमाण और अनुभव का जो विशाल क्षेत्र फिर से अपने द्वार हमारे आगे खोलना शुरू कर रहा है उसमें सुरक्षा के साथ तभी प्रवेश किया जा सकता है जब बुद्धि को कड़ाई के साथ शुद्ध तापस कठोरता के लिये प्रशिक्षित किया जाये। यदि अपक्व मन उसे पकड़ ले तो बहुत संकटप्रद विकृतियों और भ्रांतिकारी कल्पनाओं की संभावना रहती है। वास्तव में भूतकाल में सत्य के एक सच्चे केंद्र पर विकृतिकारी अंधविश्वासों और तर्कविरोधी मतों की ऐसी पपड़ी जम गयी कि सच्चे ज्ञान की ओर समस्त प्रगति असंभव हो गयी । कुछ समय के लिये यह जरूरी हो

गया कि सत्य और उसके छद्मवेशों को एक साथ बुहार फेंका जाये ताकि एक नये प्रयाण और निश्चित प्रगति के लिये रास्ता साफ हो जाये। जड़वाद की तर्कणापरक वृत्ति ने मानवजाति की यह बड़ी सेवा की है।

चूंकि जो क्षमताएं इन्द्रियों का अतिक्रमण करती हैं वे भी जड़तत्त्व में फंसी हुई हैं, उन्हें भी भौतिक शरीर में काम करना है, ये भी भावुक कामनाओं और स्नायविक आवेशों के साथ एक ही रथ खींचने के लिये जुती हुई हैं। अतः यह एक मिश्रित क्रिया की ओर खुली रहती हैं जिसमें सत्य को स्पष्ट करने की जगह अस्तव्यस्तता को प्रकाशित करने का भय रहता है। यह मिश्रित क्रियावली तब और भी अधिक संकटमय हो जाती है जब असंशोधित मन और अशुद्ध संवेदनों सहित मनुष्य आध्यात्मिक अनुभूति के उच्चतर क्षेत्रों में उठने का प्रयास करता है। मनुष्य अपने उद्धत और असामयिक साहस कार्यों के कारण उन निःसार बादलों, अर्द्ध ज्योतिर्मय कुहासे या घने अंधकार के ऐसे प्रदेशों में खो जाता है जहां बिजली की कौंध तो आती है पर प्रकाश देने की जगह अंधा करने के लिये। प्रकृति अपनी प्रगति के लिये जो रास्ता चुनती है उसके लिये यह साहस निःसंदेह जरूरी है क्योंकि वह काम के साथ-साथ अपना मनोरंजन भी करती जाती है, फिर भी, तर्कबुद्धि के लिये यह उद्धत और असामयिक है।

अतः यह आवश्यक है कि आगे बढ़ता हुआ ज्ञान अपने-आपको स्पष्ट, शुद्ध और नियंत्रित बुद्धि पर प्रतिष्ठित करे। यह भी जरूरी है कि कभी-कभी वह इन्द्रियग्राह्य तथ्य के संयम और भौतिक जगत् की ठोस वास्तविकताओं में लौटकर अपनी भूल-भ्रांतियों को ठीक कर ले। पृथ्वी-पुत्र के लिये पृथ्वी का स्पर्श हमेशा शक्तिवर्द्धक होता है, तब भी जब वह अतिभौतिक 'ज्ञान' की खोज में हो। यह भी कहा जा सकता है कि यद्यपि हम अतिभौतिक के शिखरोंतक तो हमेशा पहुंच सकते हैं परंतु उसकी पूर्णता पर तभी अधिकार पाया जा सकता है जब हम अपने पैर दृढ़ता से भौतिक पर जमाये रखें। जब कभी उपनिषद् विश्व में प्रकट होनेवाली 'आत्मा' का चित्रण करता है, तब तब कहता है, '*पद्भ्यां पृथ्वी*'[1] '*पृथ्वी पाजस्यम्*'[2], पृथ्वी उसकी पादभूमि है। और यह निश्चित है कि हम अपने भौतिक जगत् के ज्ञान को जितना अधिक विस्तृत और जितना अधिक निश्चित बनायेंगे, उच्चतर ज्ञान बल्कि उच्चतम ज्ञान और ब्रह्म विद्या के लिये भी हमारा आधार उतना ही विस्तृत और निश्चित होगा।

अतः मानवज्ञान के जड़वादीकाल से निकलते हुए हमें इस बारे में सावधान रहना चाहिये कि हम जिस चीज को छोड़ रहे हैं उसकी उद्धतता के साथ निंदा न करें या उससे प्राप्त लाभों का लेशमात्र भी तबतक न फेंकें जबतक हम उनके

[1] मुंडक २.१.४.
[2] बृहदारण्यक १.१.१.

स्थान को भरने के लिये ऐसे प्रत्यक्ष अनुभवों और शक्तियों को न ला सकें जो पूरी तरह हमारी पकड़ में और सुरक्षित हों। बल्कि भगवान् के लिये नास्तिकवाद ने जो कार्य किया है उसे हम आश्चर्य और मान के साथ देखेंगे और ज्ञान की असीम वृद्धि की तैयारी के लिये अज्ञेयवाद ने जो सेवा दी है उसके लिये हम उसकी सराहना करेंगे। हमारे जगत् में भूल-भ्रांति हमेशा सत्य की परिचारिका और पथ खोजनेवाली रही है क्योंकि सचमुच भूल अर्द्ध सत्य है जो अपनी सीमाओं के कारण लड़खड़ाती है। बहुधा वह सत्य ही होता है जो छद्मवेश धारण करके आता है ताकि अपने गंतव्य स्थान के निकट अलक्षित रूप से पहुंच जाये। अस्तु, हम जिस महान् काल को छोड़ रहे हैं उसमें भूल का जो एक विश्वासपात्र सेविका का रूप रहा है, कठोर, ईमानदार, व्यवहार-शुद्ध, अपनी सीमाओं में संयत प्रकाशमान, एक अर्द्धसत्य रूप रहा है अगर वही बना रहे, वह विवेकहीन धृष्ट और पथभ्रष्ट न हो जाये तो अच्छा है।

एक प्रकार का अज्ञेयवाद ही समस्त ज्ञान का अंतिम सत्य है। हम चाहे जिस मार्ग के अंततक पहुंचें, वहां विश्व एक अज्ञेय सद्वस्तु का प्रतीक और आभास मालूम होता है जो अपने-आपको मूल्यों की विभिन्न प्रणालियों में, भौतिक मूल्यों, प्राणिक तथा संवेदनशील मूल्यों, बौद्धिक, आदर्श तथा आध्यात्मिक मूल्यों में अनूदित करता है। 'तत्' हमारे लिये जितना अधिक वास्तविक बनता है उतना ही विचार की परिभाषा और शब्दों की अभिव्यंजना से दूर होता जाता है। "*न तत्र . . . वाग्गच्छति नो मनः*"[1] वहां न वाणी की पहुंच है न मन की। फिर भी जैसे मायावादियों के साथ मिलकर प्रत्यक्ष रूप या प्रतीयमान जगत् की अवास्तविकता के बारे में अतिशयोक्ति करना संभव है उसी तरह अज्ञेय की अज्ञेयता के बारे में भी अतिशयोक्ति करना संभव है। जब हम कहते हैं कि वह अज्ञेय है तो सचमुच हमारा मतलब यह होता है कि वह हमारे विचार और हमारी वाणी की पकड़ से बच निकलता है। ये ऐसे यंत्र हैं जो हमेशा भिन्नता के बोध से आगे बढ़ते और परिभाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। लेकिन अगर वह विचार के लिये ज्ञेय नहीं है तो उसे चेतना के परम प्रयास से पाया जा सकता है। बल्कि एक प्रकार का ऐसा ज्ञान भी होता है जो तादात्म्य के साथ एकरूप होता है और एक अर्थ में 'उसे' उसके द्वारा जाना जा सकता है। निश्चय ही उस ज्ञान को सफलता के साथ विचार और वाणी में नहीं दोहराया जा सकता। अगर हम उसे प्राप्त कर लें तो परिणाम होता है 'उस'का हमारी वैश्व चेतना के प्रतीकों में पुनर्मूल्यन। और यह केवल एक नहीं प्रतीकों की सभी श्रेणियों में होता है। और इसके परिणामस्वरूप हमारी आंतरिक सत्ता में और आंतरिक के द्वारा बाह्य जीवन में क्रांति आ जाती है। और इसके अतिरिक्त एक प्रकार का ऐसा ज्ञान भी है जिसके द्वारा तत् अपने-

[1] केन उपनिषद् १.३.

आपको तथ्यात्मक जीवन के उन सब नाम रूपों में प्रकट करता है जो साधारण बुद्धि से 'उसे' छिपाते ही हैं। हम भौतिक सूत्रों की सीमाओं को पार करके और प्राण, मन और अतिमानस की उन तथ्यों में जांच करके जो उनके स्वभावानुरूप हैं और न केवल उन अधीनस्थ गतिविधियों में जांच करके जिनके द्वारा वे अपने-आपको जड़तत्त्व के साथ जोड़ते हैं, हम उच्चतम तो नहीं, उच्चतर ज्ञान की पद्धति को पा सकते हैं।

अज्ञात अज्ञेय नहीं है, "*अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि*"[१]। अगर हम अज्ञान का ही वरण न करें या अपनी पहली सीमाओं के लिये आग्रह न करें, तो यह जरूरी नहीं है कि यह हमारे लिये अज्ञात ही बना रहे। क्योंकि उन सब चीजों के लिये जो अज्ञेय नहीं हैं, विश्व की सभी चीजों के साथ मेल खाती हुई विश्व में ऐसी क्षमताएं हैं जो उनका ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं और मनुष्य में, जो अणु-ब्रह्मांड है, ये क्षमताएं हमेशा विद्यमान रहती हैं और एक विशेष स्थिति में विकसित हो सकती हैं। हो सकता है कि हम उन्हें विकसित न करना चाहें और जहां वे अंशतः विकसित हैं वहां हम उन्हें हतोत्साह करके क्षीण कर दें। परंतु मूलतः मनुष्य की सामर्थ्य के भीतर सभी संभव ज्ञान ज्ञेय है। और चूंकि मनुष्य में प्रकृति की आत्मसिद्धि के लिये अविच्छेद्य प्रेरणा विद्यमान है इसलिये हमारी क्षमताओं की क्रिया को एक सीमित क्षेत्र में बंद रखने के लिये बुद्धि का कोई भी संघर्ष हमेशा के लिये सफल नहीं हो सकता। जब हम जड़तत्त्व को प्रमाणित कर चुकें और उसकी गुप्त क्षमताओं को चरितार्थ कर लें तो वही ज्ञान जो उस सामयिक सीमा में सुविधा का अनुभव करता था, वैदिक नियन्ताओं की भांति चिल्ला उठेगा, '*निरन्यतश्चिदारत*' —आगे बढ़ो, अन्य क्षेत्रों में भी प्रगति करो।[२]

अगर आधुनिक जड़वाद केवल भौतिक, स्थूल जीवन की नासमझी के साथ चुपचाप स्वीकृति होता तो प्रगति में अनिश्चित काल की देर लगती। लेकिन चूंकि ज्ञान की खोज ही उसका मर्म है इसलिये वह रुक न सकेगा। जब वह इन्द्रिय ज्ञान की सीमा और इन्द्रिय ज्ञान पर आश्रित तर्क तक पहुंचेगा तब स्वयं उसकी गति का वेग उसे आगे ले जायेगा। उसने जिस तेजी और निश्चिति के साथ दृश्य जगत् को अपनी बांहों में भरा है वह उसकी शक्ति और सफलता का सूचक है। जब उसने सीमा को लांघनेवाला डग भर लिया है तो हम आशा कर सकते हैं कि जो कुछ परे है उसकी विजय में भी इसी शक्ति और सफलता की पुनरावृत्ति होगी। उस प्रगति का धुंधला-सा आरंभ हमें दिखायी देने लगा है।

न केवल अपनी अंतिम धारणा में, बल्कि ज्ञान के सामान्य परिणामों की एक बड़ी शृंखला में भी, हम चाहे जिस मार्ग से उसका अनुसरण करें, ज्ञान एक होने

[१] केन उपनिषद् १.३
[२] ऋग्वेद १.४.५

की ओर बढ़ रहा है। इससे बढ़कर देखने लायक और संकेतकारी कुछ भी नहीं है कि आधुनिक विज्ञान जड़ के प्रदेश में बड़ी हदतक उन्हीं धारणाओं और भाषा के उन्हीं सूत्रों को पुष्ट करता है जिन्हें एकदम भिन्न विधि से वेदांत ने, तत्त्वदार्शनिक मतों के वेदांत ने नहीं, मूल वेदांत, उपनिषदों के वेदांत ने पाया था। और दूसरी ओर वेदांत की ये धारणाएं अपना पूरा अर्थ, अपनी अधिक समृद्धि तभी प्रकट करती हैं जब उन्हें आधुनिक विज्ञान के द्वारा डाले गये नये प्रकाश में देखा जाये। उदाहरण के लिये वेदांत का यह कथन जो विश्व की चीजों का वर्णन इस रूप में करता है कि '*बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति*'[1], यानी विश्व ऊर्जा ने एक ही बीज को नानाविध रूपों में सजाया है। भौतिक विज्ञान की यह प्रवृत्ति विशेष रूप से अर्थपूर्ण है कि वह एक ऐसे अद्वैत की ओर जा रही है जो बहुत्व के साथ मेल खाता है, वह उस वैदिक विचार की ओर बढ़ रही है कि एक ही सारतत्त्व है और उसके रूप, उसकी संभूतियां बहुत हैं। अगर जड़तत्त्व और शक्ति के द्वैतवादी आभास पर बल दिया जाये तो भी वह सचमुच इस अद्वैत के मार्ग में बाधक नहीं होता क्योंकि यह स्पष्ट होगा कि मूलभूत जड़ इन्द्रियों के लिये एक अभावात्मक चीज है। सांख्यों के 'प्रधान' की तरह वह द्रव्य का एक भाव रूप ही है और वस्तुतः हम अधिकाधिक उस बिंदुतक पहुंच रहे हैं जहां विचार का एक मनमाना भेद ही द्रव्य के रूप को ऊर्जा के रूप से अलग करता है।

अंततः जड़ पदार्थ अपने-आपको किसी अज्ञात शक्ति के सूत्रीकरण के रूप में प्रकट करता है, प्राण भी, जो अभीतक एक अथाह रहस्य है, भौतिक सूत्रीकरण में कारावद्ध संवेदनशीलता की अस्पष्ट ऊर्जा के रूप में अपने-आपको प्रकट करना शुरू करता है। और जब वह विभाजन करनेवाला अज्ञान दूर हो जाये जो हमें प्राण और जड़ के बीच एक खाई का भान कराता है, तब यह मानना कठिन हो जायेगा कि मन, प्राण और जड़ तत्त्व एक ही शक्ति के अलग-अलग तीन सूत्रीकरण, वैदिक ऋषियों के त्रिलोक के सिवा कुछ और हैं। तब यह धारणा भी बनी नहीं रह सकती कि जड़ भौतिक ऊर्जा ही 'मन' की जननी है। जो ऊर्जा जगत् की सृष्टि करती है वह इच्छा शक्ति के सिवा कुछ नहीं हो सकती और 'इच्छा शक्ति' अपने-आपको कार्य और परिणाम के लिये प्रयोग में लाती हुई चेतना ही तो है।

यह कार्य और यह परिणाम अगर रूप में चेतना का आत्मनिवर्तन और जिस विश्व की उसने सृष्टि की है उसके अंदर किसी महान् संभावना को पूर्ण करने के लिये रूप के भीतर से आत्मविकास नहीं तो और क्या है? और मनुष्य के अंदर उसकी चेतना, इच्छाशक्ति या संकल्प अंतहीन जीवन, असीम ज्ञान और अबाध शक्ति के लिये इच्छा नहीं तो और क्या है? स्वयं भौतिक विज्ञान मृत्यु पर भौतिक विजय पाने के सपने देखना शुरू कर रहा है। उसमें ज्ञान के लिये कभी न

[1] श्वेताश्वतरोपनिषद् ६.१२

बुझनेवाली प्यास दिखायी देती है, वह मानवजाति के लिये पार्थिव शक्तिमत्ता जैसी चीज को कार्यान्वित कर रहा है। उसके कार्यों में देश और काल सिकुड़ते-सिकुड़ते अदृश्यता के बिंदुतक पहुंच रहे हैं। वह सैंकड़ों तरीकों से मनुष्य को परिस्थितियों का स्वामी बनाने की और इस तरह कार्य-कारण की बेड़ियां शिथिल करने की कोशिश कर रहा है। सीमा का विचार, असंभव का विचार छाया जैसा निःसार लगने लगता है उसकी जगह ऐसा लगने लगता है कि मनुष्य जिस चीज के लिये सतत इच्छा करे, उसे अंततः पा सकेगा क्योंकि अंततः जाति की चेतना उसके लिये साधन ढूंढ़ निकालती है। यह सर्वशक्तिमत्ता अपने-आपको व्यष्टि में नहीं, मानवजाति के उस सामुदायिक संकल्प में व्यक्त करती है जो व्यष्टि को अपना साधन बनाकर काम करता है। फिर भी जब हम ज्यादा गहराई में देखें तो समुदाय का सचेतन संकल्प नहीं बल्कि एक अतिचेतन 'शक्ति' है जो केंद्र और साधन के रूप में व्यक्ति को और परिस्थिति और क्षेत्र के रूप में समष्टि को काम में लाती है। यह शक्ति मानव के अंदर भगवान् के सिवा और क्या है? अनंत तादात्म्य, बहुविध एकता, सर्वदर्शी, सर्वशक्तिमान् ही तो है जो मनुष्य को अपनी प्रतिमा-स्वरूप बनाकर, अहंकार के क्रिया का केंद्र, जाति को अर्थात् समष्टिगत नारायण को, विश्व मानव को अपना सांचा और परिधि बनाकर उनके अंदर एकत्व, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता के किसी बिंब को प्रकट करना चाहता है जो भगवान् की आत्म-भावना हैं। "मर्त्यों में" जो अमर है वह भगवान् है और हमारी दिव्य शक्तियों में क्रिया करती हुई ऊर्जा के रूप में हमारे अंदर प्रतिष्ठित है—*यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा देवो देवेष्वरतिर्निधायि*।"[1] आधुनिक जगत् अपना लक्ष्य जाने बिना अपनी सभी क्रियाओं में इसी विशाल विश्वव्यापी प्रेरणा के अनुसार चल रहा है और अवचेतन रूपसे उसे पूरा करने की कोशिश करता है।

लेकिन हमेशा एक सीमा होती है और एक बाधा होती है। ज्ञान में भौतिक क्षेत्र की सीमा होती है और शक्ति में भौतिक यंत्र की बाधा। लेकिन इसमें भी जो नयी प्रवृत्ति चल रही है वह अधिक स्वतंत्र भविष्य के बारे में बहुत अर्थपूर्ण है। जैसे भौतिक विज्ञान की सीमा-चौकियां अधिकाधिक उन किनारोंतक पहुंचाती जा रही हैं जो भौतिक को अभौतिक से पृथक् करते हैं उसी तरह क्रियात्मक विज्ञान की उच्चतम उपलब्धियां वे हैं जो उन यंत्रों को सरल बनाते-बनाते विलोपन बिंदुतक पहुंचा देती हैं, जिनके द्वारा उच्चतम प्रभाव पैदा किये जाते हैं। बेतार का तार नयी दिशा देने के लिये प्रकृति का एक बाहरी चिह्न और बहाना है। इसमें भौतिक शक्ति के मध्यवर्ती संचारण के लिये इन्द्रियग्राही भौतिक साधनों को हटा दिया जाता है। उनका उपयोग केवल संदेश भेजने और पाने के स्थानों पर किया जाता है। अन्ततोगत्वा इन्हें भी गायब हो जाना चाहिये क्योंकि जब अतिभौतिक के नियमों

[1] ऋग्वेद ४.२.१.

और शक्तियों का भली-भांति अध्ययन उचित आंरभ-बिंदु से किया जायेगा तो निश्चय ही ऐसे अमोघ साधन मिल जायेंगे जिनसे मन सीधा भौतिक ऊर्जा को पकड़कर उसे तेजी से ठीक-ठीक अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये लगा सकेगा। एक बार हम इसे मान लें तो वहीं पर हमें भविष्य के विशाल क्षेत्रों की ओर खुलनेवाले द्वार मिल जायेंगे।

लेकिन अगर हमें जड़ जगत् के निकट स्थित लोकों का पूरा ज्ञान और उनपर पूरा अधिकार हो भी जाये तो भी एक सीमा रहेगी और उसके परे भी कुछ होगा। हमारे बंधन की आखिरी गांठ वहां है जहां बाह्य आंतरिक के साथ एकता में खिंच आता है, स्वयं अहंकार इतना सूक्ष्म हो जाता है मानों विलीन होने के बिंदु पर आ गया हो और अंत में हमारे कार्य का नियम आज की तरह एकता के किसी रूप की ओर संघर्ष करनेवाले बहुत्व का संघर्ष नहीं, बल्कि बहुत्व का आलिंगन करता हुआ और उसपर अपना अधिकार करता हुआ एकत्व हो जाता है। वहीं है अपने विशालतम राज्य पर दृष्टिपात करते हुए वैश्व ज्ञान का केंद्रीय सिंहासन। यही है स्वयं अपने ऊपर और अपने जगत् पर राज्य, स्वराज्य और साम्राज्य। यही है हमारे मानव जीवन के अंदर सालोक्य मुक्ति और साधर्म्य मुक्ति।[1]

[1] स्वराज्य और साम्राज्य—प्राचीन भावात्मक योग का दोहरा लक्ष्य।
सालोक्य मुक्ति—भगवान् के साथ एक ही लोक में सचेतन सत्ता के निवास द्वारा मुक्ति।
साधर्म्य मुक्ति—भगवान् के स्वभाव को अपनाने के द्वारा मुक्ति।

अध्याय ३

दो नकार

२—संन्यासी का प्रतिवाद

सर्वं ह्येतद् ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म, सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥
. . . अव्यवहार्यम् . . . अलक्षणम् अचिन्त्यम् . . . प्रपञ्चोपशमम् ॥

यह सभी ब्रह्म है, यह आत्मा ब्रह्म है और यह आत्मा चतुष्पाद है। . . . सब संबंधों से परे, अलक्षण, अचिन्त्य, जिसमें सब कुछ, सारा प्रपंच, निश्चल निश्चेष्ट है।

मांडूक्योपनिषद् २.७.

और उसके भी परे कुछ है।

क्योंकि वैश्व चेतना की दूसरी ओर एक चेतना है जिसे हम पा सकते हैं। वह और भी अधिक परे की है। वह केवल अहं के परे नहीं, स्वयं विश्व के भी परे है। उसके आगे विश्व ऐसा दिखलायी देता है जैसे एक अमित पृष्ठभूमि के आगे एक छोटा-सा चित्र। वह चेतना विश्व के क्रियाकलाप को समर्थन देती है, या शायद केवल सह लेती है। वह 'जीवन' को अपनी बृहत्ता के आलिंगन में बांध लेती है या फिर अपनी असीमता से उसे त्याग देती है।

यदि जड़वादी अपने दृष्टिबिंदु से यह आग्रह करने में युक्तिसंगत है कि जड़ ही एकमात्र सद्वस्तु है, सापेक्ष जगत् ही वह एकमात्र वस्तु है जिसके बारे में हम किसी तरह निश्चित हो सकते हैं और इसके परे पूरी तरह अज्ञेय है, चाहे वह वस्तुतः अस्तित्वहीन, मन का स्वप्न, वास्तविकता से नाता तोड़ते हुए विचार की कपोल कल्पना न भी हो तो भी बिल्कुल अज्ञेय है; तो इसी तरह परात्पर का अनुरागी संन्यासी भी अपने दृष्टिकोण से इस बात पर आग्रह करने में युक्तिसंगत है कि शुद्ध आत्मा ही सद्वस्तु है, ऐसी एकमात्र वस्तु है जो परिवर्तन और जन्म-मरण से मुक्त है और सापेक्षिक जगत् मन और इन्द्रियों की रचना है, एक स्वप्न है, विशुद्ध और शाश्वत ज्ञान से पीछे हटते हुए मानस का उल्टे अर्थों में अमूर्तकरण है।

इन दोनों में से किसी भी चरम सिद्धांत के बारे में तर्क या अनुभव द्वारा ऐसा कौन-सा औचित्य सिद्ध किया जा सकता है जिसे समान रूप से अकाट्य युक्ति द्वारा और उतने ही सार्थक अनुभव द्वारा दूसरे छोर के लिये प्रमाणित न किया जा सकता हो ? जड़ जगत् की पुष्टि भौतिक इन्द्रियों के अनुभव के द्वारा की जाती है। ये इन्द्रियां अपने-आप किसी अभौतिक चीज को या ऐसी चीज को देखने में अक्षम हैं जो स्थूल जड़ के रूप में व्यवस्थित न हो, इसलिये वे हमें विश्वास दिलाना चाहती

हैं कि अतींद्रिय अवास्तविक है। अपने शारीरिक अंगों की इस गंवारू और भद्दी भूल को दार्शनिक तर्क के क्षेत्र में ले आने से मूल्य में कोई वृद्धि नहीं हो जाती। स्पष्ट ही उनका दावा निराधार है। इस जड़ जगत् में भी ऐसी चीजों का अस्तित्व है जिन्हें स्थूल इन्द्रियां नहीं जान पातीं। फिर भी अतींद्रिय को निश्चित रूप से भ्रम या भ्रांति मानकर अस्वीकार करने का आधार वह ऐंद्रिय संस्कार है कि जो स्थूल रूप से ग्राह्य है वही सद्वस्तु है। लेकिन यह मान्यता अपने-आपमें एक भ्रांति है। यह अस्वीकृति जिस बात को प्रमाणित करना चाहती है, सदा उसीको मानकर चलती है अतः इसमें एक गोले में चक्कर लगाती रहनेवाली युक्ति का दोष है। निष्पक्ष युक्तिसंगत विचार के लिये इसका कोई मूल्य नहीं रहता।

यही नहीं कि ऐसी भौतिक वस्तुएं हैं जो अतींद्रिय हैं बल्कि अगर प्रमाण और अनुभूति का सत्य की परख के लिये कोई मूल्य है तो ऐसी इन्द्रियां भी हैं जो अतिभौतिक[1] हैं और वे केवल शारीरिक इन्द्रियों की सहायता के बिना भौतिक जगत् की वास्तविकताओं को ही नहीं जान पातीं बल्कि अन्य अतिभौतिक चीजों के साथ भी हमारा संपर्क स्थापित कर सकती हैं। ये अतिभौतिक चीजें अन्य जगतों की भी हो सकती हैं, यानी स्थूल जड़ जिसमें कि हमारे सूर्य और पृथिवियां निर्मित हुए प्रतीत होते हैं, उससे भिन्न प्रकार के तत्त्वों पर आधारित सचेतन अनुभवों से संगठित जगतों की भी हो सकती हैं।

आज जब कि जड़ भौतिक जगत् के रहस्यों पर ऐकान्तिक तन्मयता की जरूरत नहीं रही, मानव अनुभूति और विश्वास ने विचार के आरंभ से हमेशा जिसका समर्थन किया है वह सत्य वैज्ञानिक शोध के नवजात रूपों द्वारा समर्थित हो रहा है। ऐसे प्रमाण बढ़ते जा रहे हैं जिनमें से अति स्पष्ट और बाह्य प्रमाणों को दूरबोध का नाम दिया गया है। इसकी तथा इसके सजातीय तथ्यों की ज्यादा समयतक उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसमें अपवाद हैं ऐसे मन जो भूतकाल की चमकदार सीपियों में बंद हैं, ऐसे लोग जिनकी बुद्धि अपनी तीक्ष्णता के बावजूद अपनी अनुभूति और अन्वेषण के क्षेत्र में सीमित है या फिर वे लोग जो पिछली शताब्दियों के छोड़े हुए सूत्रों की पुनरावृत्ति को और मृत या मृतप्रायः बौद्धिक मतवादों को सावधानीपूर्वक बनाये रखना ही बोध और तर्कबुद्धि मान लेते हैं।

यह सच है कि विधिवत् अन्वेषण को अतिभौतिक वास्तविकताओं की जो झांकी प्राप्त हुई है वह अभीतक अपूर्ण और अनिश्चित है क्योंकि जिन उपायों का उपयोग किया गया है वे अभीतक अधकचरे और त्रुटिपूर्ण हैं। लेकिन कम-से-कम यह तो पता लगा ही है कि ये पुनः-अन्वेषित सूक्ष्म इन्द्रियां शारीरिक इन्द्रियों के क्षेत्र से बाहर के भौतिक तथ्यों के बारे में सच्ची साक्षियां हैं। तो हमारे पास कोई कारण नहीं कि जब वे चेतना के भौतिक संगठन के क्षेत्र के बाहर के अतिभौतिक तथ्यों की बात

[1] सूक्ष्म शरीर में रहनेवाली सूक्ष्म इन्द्रियां जो सूक्ष्म दृष्टि और अनुभव के साधन होती हैं।

कहें तो हम उन्हें झूठे साक्षी कहकर उड़ा दें। अन्य सभी साक्षियों की भांति, स्वयं भौतिक इन्द्रियों के साक्ष्य की भांति तर्कबुद्धि द्वारा उनकी साक्षी का भी नियंत्रण, उनकी जांच-पड़ताल और व्यवस्था करनी होगी और उन्हें ठीक तरह से अनूदित और संबंधित करना होगा, उनके क्षेत्र का, नियमों और प्रक्रियाओं का निश्चय करना होगा। परंतु अनुभूति के विशाल क्षेत्रों के सत्य की, जिसके विषय अधिक सूक्ष्म तत्त्व में रहते हैं और स्थूल भौतिक पदार्थ की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म साधनों से देखे जा सकते हैं, उतनी ही प्रामाणिकता है जितनी भौतिक जगत् के सत्य की। परे के लोकों का अस्तित्व है : उनकी अपनी वैश्व लय है, महान् रेखाएं और रचनाएं हैं, अपने स्वयंभू नियम और समर्थ ऊर्जाएं हैं, उनके ज्ञान के अपने उचित और प्रदीप्त साधन हैं। यहां हमारे भौतिक जीवन और भौतिक शरीर पर वे अपना प्रभाव डालते हैं, यहां भी वे अपनी अभिव्यक्ति के साधन व्यवस्थित करते, अपने संदेशवाहक और साक्षी नियुक्त करते हैं।

किंतु जगत् हमारी अनुभूति के लिये ढांचे मात्र हैं और इन्द्रियां अनुभूतियों के यंत्र और सुविधाएं। चेतना ही आधारभूत तथ्य है, वैश्व साक्षी है जिसके लिये जगत् क्षेत्र है और इन्द्रियां यंत्र हैं। ये लोक और उनके विषय अपनी वास्तविकता के लिये इस साक्षी का समर्थन जोहते हैं; क्योंकि जगत् एक हो या अनेक, भौतिक हो या अतिभौतिक, उनके अस्तित्व के बारे में हमारे पास इसके अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं है। यह तर्क किया जाता है कि यह संबंध केवल मानव स्वभाव और उसकी विषय-जगत् की ओर दृष्टि की विशेषता नहीं है, यह तो सत्ता का अपना धर्म ही है। समस्त गोचर सत्ता एक अवलोकन करनेवाली चेतना और एक सक्रिय विषय-वस्तु से बनी है और 'साक्षी' के बिना 'कर्म' हो ही नहीं सकता क्योंकि विश्व केवल उस चेतना में या उस चेतना के लिये अस्तित्व रखता है जो अवलोकन करती है, उसकी कोई स्वतंत्र वास्तविकता नहीं है। इसके उत्तर में यह तर्क दिया गया है कि जड़ भौतिक जगत् एक शाश्वत स्वयंभू के अस्तित्व का रस लेता है। मन और प्राण के प्रकट होने से पहले इसका अस्तित्व था और तब भी बना रहेगा जब वे गायब हो जायेंगे और जब उनके क्षणिक प्रयासों और सीमित विचारों से सूर्यमंडल की शाश्वत और अचेतन लय में विघ्न पड़ना बंद हो जायेगा। यूं देखने में यह एकदम तत्त्वदर्शन का भेद मालूम होता है परंतु इसका व्यावहारिक महत्त्व बहुत है। यह जीवन के बारे में मनुष्य के समूचे दृष्टिकोण को निश्चित करता है, वह निश्चय करता है कि मनुष्य अपने प्रयासों के लिये कौन-सा लक्ष्य चुनेगा और अपनी शक्तियों को किन क्षेत्रों में सीमित करेगा क्योंकि यह वैश्व सत्ता की वास्तविकता और उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण मानव जीवन के मूल्य का प्रश्न उठाता है।

अगर हम जड़ भौतिकवादी निष्कर्षों को काफी दूरतक ले जायें तो व्यक्ति और जाति के जीवन की ऐसी अर्थहीनता और असारतातक जा पहुंचते हैं जो

युक्तिसंगत रूप से हमारे आगे दो विकल्प रखती है, एक तो यह कि व्यक्ति इस क्षणभंगुर जीवन से जितना अधिक छीन सके छीन ले, जैसा कहा जाता है, अपना जीवन जीने के लिये उद्विग्नतापूर्ण प्रयास करे या व्यक्ति और जाति की उद्वेगरहित और लक्ष्यहीन सेवा करे, यह जानते हुए कि व्यक्ति स्नायविक मानसिकता की एक क्षणभंगुर कल्पना है और जाति 'भौतिक जड़पदार्थ' के नियंत्रित स्नायविक ऐंठन का जरा ज्यादा समयतक टिकनेवाला सामूहिक रूप। हम किसी भौतिक ऊर्जा की प्रेरणावश कर्म करते या भोग करते हैं। यही ऊर्जा हमें जीवन की संक्षिप्त भ्रांति या किसी नैतिक आदर्श और मानसिक चरितार्थता की ज्यादा उदात्त भ्रांति द्वारा ठगती है। जड़वाद भी आध्यात्मिक अद्वैतवाद की तरह एक ऐसी माया पर आ पहुंचता है जो है भी और नहीं भी है—है, क्योंकि वह उपस्थित और बाध्यकारी है। वह नहीं है क्योंकि वह अपनी क्रियाओं में आभासी और क्षणिक है। दूसरी ओर अगर हम बाहरी जगत् की अवास्तविकता पर बहुत अधिक जोर दें तो एक दूसरे रास्ते से वैसे ही परंतु अधिक तीक्ष्ण निष्कर्ष पर आ पहुंचते हैं—व्यष्टिगत अहं के मिथ्यात्व की छाप और मानव जीवन की अवास्तविकता और उद्देश्यहीनता। इस प्रतीयमान जीवन के निरर्थक जंजाल से बचने का एकमात्र युक्तियुक्त उपाय होता है असत् में या संबंधरहित निरपेक्ष में लौट जाना।

फिर भी हम अपने सामान्य भौतिक जीवन के तथ्यों के आधार पर तर्क-वितर्क करके इस प्रश्न का समाधान नहीं कर सकते क्योंकि उन तथ्यों में हमेशा अनुभव का एक ऐसा अंतराल रहता है जो सभी तर्क-वितर्क को अनिर्णयात्मक बना देता है। साधारणतः हमें न तो व्यक्तिगत शरीर से अनिरुद्ध वैश्व मन या अतिमन का कोई निश्चित अनुभव होता है और न ही दूसरी ओर अनुभव का कोई ऐसा दृढ़ निर्धारण ही हो पाता है जो इस बात में हमारा समर्थन करे कि हमारे अंदर रहनेवाली आत्मा भौतिक ढांचे पर ही निर्भर है और व्यष्टिगत शरीर के परे न तो जी सकती है न अपने-आपको विस्तारित कर सकती है। इस पुराने झगड़े का फैसला केवल हमारी चेतना के क्षेत्र के विस्तार से या हमारे ज्ञान के यंत्रों में एक अप्रत्याशित वृद्धि से ही हो सकता है।

हमारी चेतना का विस्तार संतोषजनक हो इसके लिये उसे अनिवार्यतः आंतरिक रूप में वैयक्तिक से वैश्व जीवन में बढ़ना चाहिये। क्योंकि यदि किसी 'साक्षी' का अस्तित्व है तो वह इस जगत् में उत्पन्न देहधारी मन नहीं हो सकता बल्कि वह वैश्व चेतना होगी जो विश्व को आलिंगन में लेती है और उसके सभी कार्यों में अंतर्वर्ती प्रज्ञा के रूप में प्रकट होती है। उसके लिये जगत् या तो वास्तविक और शाश्वत रूप में उसकी अपनी क्रियाशील सत्ता का रूप होता है या फिर वह उससे ज्ञान की क्रिया या सचेतन शक्ति की क्रिया द्वारा उत्पन्न होता और उसमें विलीन हो जाता है। व्यवस्थित मन नहीं बल्कि वह जो स्थिर और शाश्वत है, जो जीवित पृथ्वी और

जीवित मानव शरीर को समान रूप से आच्छादित करता है, जिसके लिये मन और इन्द्रियां गौण यंत्र हैं, वही वैश्व जीवन का 'साक्षी' और उसका प्रभु है।

ज्ञान के अधिक नमनीय यंत्रों की संभावना की भांति मानव जाति में वैश्व चेतना की संभावना को भी आधुनिक मनोविज्ञान धीरे-धीरे स्वीकारने लगा है यद्यपि उसके मूल्य और उसकी शक्ति को मानते हुए भी उसकी गणना भ्रम में ही की जाती है। पूर्व के मनोविज्ञान में इसे हमेशा वास्तविकता और हमारी आत्मगत प्रगति का लक्ष्य माना गया है। इस लक्ष्य की ओर संक्रमण का सार है हम पर अहं-भाव द्वारा आरोपित सीमाओं का अतिक्रमण तथा समस्त जीवन और प्रतीत होनेवाले समस्त निर्जीव में जो आत्मज्ञान गुप्त रूप से व्याप्त है उसमें कम-से-कम कुछ भाग लेना, और अधिक-से-अधिक की बात हो तो उसके साथ तादात्म्य स्थापित करना।

उस चेतना में प्रवेश करके हम, उसीकी तरह, वैश्व सत्ता में निवास करते रह सकते हैं। वहां हमारी चेतना की सभी अवस्थाएं और हमारे इन्द्रियानुभव भी बदलने लगते हैं और हम इस बात को जान पाते हैं कि जड़तत्त्व एक अखंड सत्ता है और शरीर उसकी रचनाएं हैं जिनमें वह एक सत्ता अपने अविभक्त शरीर में अपने-आपको भौतिक रूप से अन्य सब रूपों में विभक्त करती है और फिर भौतिक उपायों से अपनी सत्ता के इन बहुविध बिंदुओं में संबंध स्थापित करती है। हम मन का भी इसी तरह अनुभव करते हैं और प्राण का भी, कि अपने बहुत्व के अंदर वही एक सत्ता है, जो प्रत्येक क्षेत्र में वहांकी गतिविधि के उपयुक्त साधनों द्वारा अपने-आपको विभक्त करती और फिर से एक कर देती है। और अगर हम चाहें तो हम और आगे बढ़ सकते हैं और बहुत-सी जोड़नेवाली अवस्थाओं को पार करके अतिमानस के बारे में अवगत हो सकते हैं जिसकी वैश्व क्रिया सभी न्यूनतर क्रियाकलाप की चाबी है। केवल इतना ही नहीं कि हम इस वैश्व सत्ता के बारे में सचेतन होते हैं बल्कि उसी तरह, उसके अंदर सचेतन होते हैं, अपने संवेदनों में उसे ग्रहण करते हैं और अभिज्ञता के साथ उसमें प्रवेश करते हैं। हम उसके अंदर उसी तरह रहते हैं जैसे पहले अहं-भाव में रहते थे, सक्रिय, जिस शरीर-रचना को हम अपना-आपा समझते हैं उससे भिन्न अन्य प्राणों, अन्य शरीरों और अन्य मनों के साथ अधिकाधिक संपर्क में, अधिकाधिक एक होकर रहते हैं। केवल अपनी ही नैतिक और मानसिक सत्ता पर या औरों की आत्मनिष्ठ सत्ता पर ही नहीं बल्कि भौतिक जगत् और उसकी घटनाओं पर भी, हमारी अहंकारपूर्ण क्षमता के लिये जो संभव था, उसकी अपेक्षा भगवान् के निकटस्थ उपायों द्वारा परिणाम उत्पन्न होते हैं।

यह वैश्व चेतना उस मनुष्य के लिये वास्तविक है जिसका इसके साथ संपर्क हो चुका है या जो उसीके अंदर निवास करता है, यह स्थूल भौतिक वास्तविकता से भी बढ़कर वास्तविक है; अपने-आपमें वास्तविक, अपने प्रभावों और कार्यों में वास्तविक है। और जैसे यह उस जगत् के लिये वास्तविक है जो उसीकी अपनी

समग्र अभिव्यक्ति है, उसी तरह यह जगत् भी उसके लिये वास्तविक है, लेकिन एक स्वतंत्र सत्ता के रूप में नहीं। क्योंकि उस उच्चतर और कम बाधाओंवाली अनुभूति में हम देखते हैं कि चेतना और सत्ता एक दूसरे से अलग नहीं हैं बल्कि सारी सत्ता परम चेतना है। समस्त चेतना अपने-आपमें स्वयंभू और शाश्वत है। वह अपने कार्यों में वास्तविक है, न तो वह स्वप्न है न क्रमविकास। जगत् वास्तविक इसीलिये है क्योंकि वह केवल चेतना में निवास करता है, जिसका कारण यह है कि वह 'चिच्छक्ति' है जो 'सत्' के साथ एक है, जिसने उसकी रचना की है। रूप धारण करनेवाली स्वयंप्रकाशित शक्ति से भिन्न रहकर भौतिक रूप का अपने ही अधिकार में कोई अलग अस्तित्व है यह मान्यता वस्तुओं के सत्य के विरुद्ध दिग्भ्रम, दुःस्वप्न और असंभव मिथ्यात्व होगी।

लेकिन यह चिन्मय 'सत्' जो अनंत अतिमानस का सत्य है वह विश्व से अधिक है और स्वतंत्र रूप से अपनी अनिर्वचनीय शाश्वतता में भी रहता है और साथ ही वैश्व सामंजस्यों में भी। संसार 'तत्' से जीवित है, 'तत्' संसार से जीवित नहीं है और जैसे हम वैश्व चेतना में प्रवेश कर सकते हैं और वैश्व जीवन के साथ एक हो सकते हैं उसी प्रकार हम जगत् का अतिक्रमण करनेवाली चेतना में प्रवेश कर सकते हैं और समस्त वैश्व जीवन से ऊपर उठ सकते हैं। और तब वही प्रश्न उठता है जो पहले हमारे मन में आया था, क्या यह अतिक्रमण आवश्यक रूप से त्याग है? इस विश्व का विश्वातीत के साथ क्या संबंध है?

क्योंकि विश्वातीत के द्वार पर खड़ी है वह शुद्ध, पूर्ण आत्मा जिसका उपनिषदों में इस प्रकार वर्णन है कि जो प्रकाशमय और शुद्ध है, जो जगत् को सहारा तो देती है (*ईशानो भूतभव्यस्य*) पर रहती है निष्क्रिय (*अनेजत्*), वह ऊर्जा की स्नायुओं से रहित (*अस्नाविरं*), द्वैत के दोष से मुक्त, भेद के व्रणों से रहित, केवल, एक, अभिन्न, संबंध तथा बहुत्व की प्रतीति से मुक्त है—यह वेदांती अद्वैतवाद का शुद्ध आत्मन्, निष्क्रिय ब्रह्म, '*परमं निश्चलं*' है। जब मन इन द्वारों से सहसा और बिना मध्यवर्ती संक्रमण के आगे बढ़ता है तो वह जगत् की अवास्तविकता का और निश्चल नीरवता की एकमात्र वास्तविकता का भाव पाता है जो उन सर्वाधिक सशक्त और विश्वासदायक अनुभूतियों में से एक है जिन्हें मानव मन पाने में सक्षम है। यहां इस विशुद्ध आत्मा के बोध में या उसके पीछे स्थित असत् के बोध में हमें एक और नकार का आरंभबिंदु मिलता है जो दूसरे छोर पर जड़वादी नकार का समकक्ष है। परंतु यह अधिक पूर्ण, अधिक सुनिश्चित है। जो व्यक्ति या समाज अरण्यवास के लिये उसकी प्रबल पुकार सुनते हैं उनपर इसका प्रभाव अधिक संकटपूर्ण होता है। यह है संन्यासी का नकार।

जड़तत्त्व के विरुद्ध आत्मा का यह विद्रोह तब से भारतीय मानस पर अधिकाधिक आधिपत्य जमाये है जब से बौद्ध धर्म ने लगभग दो हजार वर्ष पहले

प्राचीन आर्यजगत् का संतुलन बिगाड़ा था। ऐसी बात नहीं है कि वैश्व माया का भाव ही भारतीय विचार का सब कुछ है, अन्य दार्शनिक निरूपण, अन्य धार्मिक अभीप्साएं भी हैं। ऐसी बात भी नहीं है कि इन दो छोरों के बीच परम ऐकांतिक दर्शनों के द्वारा मेल साधने के प्रयास नहीं किये गये। लेकिन सभी महान् 'नकार' की छाया में पले हैं और सभी के लिये जीवन का चरम लक्ष्य रहा है संन्यासी का चोला। जीवन के बारे में साधारण धारणा बौद्धमत की कर्म-शृंखला के सिद्धांत से ओत-प्रोत है और उसके बाद आनेवाले बंधन और मुक्ति के, जन्म द्वारा बंधन और जन्म से छुटकारे द्वारा मुक्ति के, विरोधी-भाव से भरी रही है। इसलिये सभी आवाजें इस महान् सहमति में एक हो जाती हैं कि स्वर्ग का राज्य हमारे इस द्वंद्वात्मक जगत् में नहीं हो सकता, वह इसके परे होगा फिर चाहे वह शाश्वत वृन्दावन[1] के सुख में हो, चाहे उच्चतर ब्रह्मलोक[2] के आनंद में या समस्त अभिव्यक्तियों के परे अनिर्वचनीय निर्वाण[3] में या फिर जहां सभी पृथक् अनुभूतियां अनिर्वचनीय 'सत्' के निराकार एकत्व में खो जाती हैं वहां हो। और बहुत शताब्दियों से तेजस्वी साक्षियों, संतों और आचार्यों की विराट् सेना ने जिनके नाम भारतीय स्मृति के लिये पवित्र हैं, जिनका भारतीय कल्पना पर अधिकार रहा है, उन्होंने हमेशा यही साक्षी दी है, उसी सुदूर और उच्च आह्वान को उभारा है कि त्याग ही ज्ञान का एकमात्र मार्ग है, भौतिक जीवन को स्वीकारना अज्ञानी का कर्म है, जन्म की समाप्ति मानवजीवन का उचित उपयोग है और आत्मा की पुकार का अर्थ है जड़तत्त्व से विरक्ति।

एक ऐसे युग में जिसे संन्यास-भावना से सहानुभूति नहीं है—और बाकी सारे संसार में संन्यासी का समय लद चुका या लदता प्रतीत होता है—ऐसे समय इस महान् प्रवृत्ति को प्राणिक ऊर्जा का ह्रास मान लेना आसान है कि एक प्राचीन जाति, जिसने एक समय मानव प्रगति में बहुत भाग लिया था वह अपने भार से थक गयी। मानव ज्ञान और मानव प्रयास के योगफल में अपना बहुमुखी योगदान देकर श्रांत हो गयी। लेकिन हमने देखा है यह संन्यास भाव जीवन के एक सत्य से, सचेतन सिद्धि की उस अवस्था से सादृश्य रखता है जो हमारी संभावना के उच्चतम शिखर पर स्थित है। व्यवहार में भी मानव पूर्णता के अंदर संन्यास भाव एक अनिवार्य तत्त्व है। उसके पृथक् समर्थन से भी तबतक नहीं बचा जा सकता जबतक कि मानवजाति दूसरे छोर पर अपनी बुद्धि और अपनी प्राणिक आदतों को सतत दुराग्रही पशुत्व की दासता से मुक्त नहीं कर लेती।

[1] वृन्दावन गो-लोक—शाश्वत 'सुंदरता' और आनंद का वैष्णव स्वर्ग।

[2] ब्रह्मलोक—अनिर्वचनीय में पूरी तरह लुप्त हुए बिना अंतरात्मा सच्चिदानन्द की जिस उच्चतम स्थितितक पहुंच सकती है।

[3] निर्वाण—जिस सत्ता को हम जानते हैं, जरूरी नहीं है कि समस्त सत्ता का विलयन, अहं, कामना और अहंकार-जनित कर्म और मानसिकता का विलयन।

वस्तुतः हमें एक ज्यादा बड़ी और ज्यादा पूर्ण प्रस्थापना की खोज है। हम देखते हैं कि भारतीय संन्यास-आदर्श के महान् वेदांती सूत्र '*एकमेवाऽद्वितीयम्*' को उतने ही आदेशात्मक दूसरे सूत्र '*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*' के प्रकाश में अच्छी तरह नहीं देखा गया है। मनुष्य की भगवान् की ओर ऊपर उठती हुई आवेगपूर्ण अभीप्सा को भगवान् की उस नीचे उतरती हुई गति के साथ अच्छी तरह मिलाकर नहीं देखा गया है जिसमें भगवान् शाश्वत रूप से अपनी अभिव्यक्ति को बांहों में लेने के लिये नीचे झुकते हैं। जिस तरह आत्मा के अंदर उसके सत्य को अच्छी तरह समझा गया है उसी तरह जड़ तत्त्व के अंदर उसके अर्थ को नहीं समझा गया। संन्यासी जिस सद्वस्तु को खोजा करता है उसे उसकी पूरी ऊंचाई पर ग्रहण तो किया गया है लेकिन प्राचीन वेदांतियों की तरह उसके पूर्ण विस्तार और व्यापक अर्थ में नहीं। फिर भी अपनी पूर्णतर प्रस्थापना में हमें शुद्ध आध्यात्मिक आवेग के महत्त्व को कम न करना चाहिये। जैसा कि हम देख आये हैं जड़वाद ने भगवान् के उद्देश्यों की कितनी बड़ी सेवा की है उसी भांति हमें संन्यास द्वारा की गयी जीवन की और भी अधिक बड़ी सेवा को स्वीकार करना चाहिये। हम भौतिक विज्ञान के सत्यों को और उसकी वास्तविक उपयोगिताओं को अंतिम सामंजस्य में सुरक्षित रखेंगे, चाहे उसके वर्तमान रूपों में से बहुतों को या सबको नष्ट करना या एक ओर क्यों न रख देना पड़े। प्राचीन आर्यों से हमें जो पैतृक संपत्ति मिली है, वह आज चाहे जितनी घटिया और क्षीण क्यों न हो गयी हो, उसके प्रति हमें और भी अधिक धार्मिक निष्ठा के साथ उचित संरक्षण की भावना रखनी चाहिये।

अध्याय ४

सर्वव्यापक सद्वस्तु

असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः॥

यदि कोई उसे असद् ब्रह्म के रूप में जानता है तो वह केवल असत् बन जाता है। यदि कोई जानता है कि ब्रह्म 'है' तो वह जीवन में सत् के रूप में जाना जाता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् २.६.

चूंकि हम दोनों के दावों को स्वीकार करते हैं, शुद्ध आत्मा के दावे को कि वह हमारे अंदर अपनी पूर्ण स्वाधीनता के साथ अभिव्यक्त हो और वैश्व जड़तत्त्व के दावे को भी कि वह हमारी अभिव्यक्ति का ढांचा और निमित्त बने, हमें एक ऐसे सत्य की खोज करनी होगी जो इन विरोधियों में पूरी तरह मेल बैठा सके और दोनों को जीवन में अपना उचित भाग और विचार में अपना प्राप्य औचित्य दे सके और दोनों में से किसीको अपने अधिकार से वंचित न करे, दोनों में से किसीके परम सत्य को अस्वीकार न करे। इस सत्य से ही उसकी भूलें, यहांतक कि उसकी अतिशयोक्तियों की ऐकांतिकता भी सतत बल पाती है। क्योंकि जहां कहीं कोई ऐसा चरम कथन होता है जो मानव मन को बहुत जोर से आकर्षित करता है तो हम निश्चित रूप से यह मान सकते हैं कि हम किसी निरी भ्रांति, अंधविश्वास या निर्मूल भ्रम के आगे नहीं खड़े हैं, बल्कि हमारे आगे कोई परम सत्य छद्मवेश में खड़ा है और हमारी निष्ठा की मांग करता है और अगर हम उससे इंकार कर दें या उसका बहिष्कार कर दें तो वह अपना बदला लेगा। यही संतोषजनक समाधान की कठिनाई है और यही समाधान की निश्चयात्मकता में कमी का कारण है। निश्चयात्मकता की यह कमी आत्मा और जड़ तत्त्व के बीच सभी कामचलाऊ समझौतों में पायी जाती है। समझौता एक व्यापार है, दो संघर्षरत शक्तियों में हितों का एक सौदा होता है, यह सच्चा मेल-मिलाप नहीं होता। सच्चा मेल-मिलाप हमेशा परस्पर समझ से आता है जो किसी प्रकार का घनिष्ठ ऐक्य लाता है। अतः आत्मा और जड़ तत्त्व के यथासंभव अधिक-से-अधिक ऐक्य द्वारा ही हम उनके उस सत्यतक पहुंच पायेंगे जो उनका मेल-मिलाप कराता है और इसी तरह व्यक्ति के आंतरिक जीवन और बाह्य सत्ता में सामंजस्यपूर्ण व्यवहार के लिये सबलतम आधार पर पहुंचेंगे।

हम देख आये हैं कि वैश्व चेतना में एक ऐसा मिलन-स्थल है जहां आत्मा के

लिये जड़ तत्त्व वास्तविक हो जाता है और जड़ तत्त्व के लिये आत्मा वास्तविक हो जाती है। सामान्य अहंकारी मानसिकता में मन और प्राण अलगाव के उपकरण, एक ही अज्ञेय सद्वस्तु के सकारात्मक और नकारात्मक तत्त्वों के बीच कृत्रिम कलह करवानेवाले मालूम होते हैं। वैश्व चेतना में मन और प्राण का यह रूप नहीं रह जाता, वहां वे मध्यवर्ती होते हैं। वैश्व चेतना में पहुंचकर मन एक ऐसे ज्ञान से प्रदीप्त होता है जो एक साथ 'एकता' और 'बहुलता' के सत्य को देख लेता है और उनकी पारस्परिक क्रियाओं के सूत्र को पकड़ लेता है, दिव्य सामंजस्य में अपनी सभी असंगतियों की व्याख्या और उनका समाधान पा लेता है और संतुष्ट होकर भगवान् और जीवन के बीच उस परम मिलन का माध्यम बनना स्वीकार करता है जिसकी ओर हम बढ़ रहे हैं। जड़ तत्त्व सिद्धि प्राप्त करते हुए विचार और सूक्ष्म बनी हुई इन्द्रियों के आगे अपने-आपको आत्मा के आकार और शरीर के रूप में—आत्मा के रचनात्मक विस्तार—के रूप में प्रकट करता है। आत्मा अपने-आपको इन्हीं सहमत माध्यमों द्वारा जड़ तत्त्व की अंतरात्मा, सत्य और सारतत्त्व के रूप में प्रकट करती है। दोनों एक दूसरे को दिव्य, वास्तविक और तत्त्वतः एक मानते और स्वीकार करते हैं। इस प्रकाश में यह प्रकट होता है कि मन और प्राण परम चेतन-सत्ता के युगपत् रूप से रूप और साधन हैं, जिनके द्वारा वह सत्ता अपने-आपको जड़ भौतिक रूप के अंदर प्रसारित करती और उसमें निवास करती है और उसी रूप के अंदर अपनी चेतना के बहुविध केंद्रों में अपने-आपको अनावृत करती है। मन अपनी आत्मपूर्ति तब पाता है जब वह सत्ता के उस सत्य का शुद्ध दर्पण बन जाता है जो अपने-आपको विश्व के प्रतीकों में प्रकट करता है और 'प्राण' अपनी आत्मपूर्ति तब पाता है जब वह वैश्व जीवन के अंदर क्रिया-कलापों और नित नये रूपों में भगवान् के पूर्ण आत्म-रूपायण के लिये सचेतन रूप से अपनी शक्ति की ऊर्जाओं को अर्पित कर देता है।

इस धारणा के प्रकाश में हम देख सकते हैं कि जगत् के अंदर मनुष्य के लिये ऐसा दिव्य जीवन संभव है जो विश्व और पृथ्वी के क्रम-विकास के लिये एक जीता-जागता अर्थ और बोधगम्य अभिप्राय प्रकट करता हो, एक ही साथ भौतिक विज्ञान का औचित्य सिद्ध करता हो, और मानव अंतरात्मा को भगवान् में रूपांतरित करके सभी उच्च धर्मों के महान् आदर्श स्वप्न को चरितार्थ करता हो।

तब फिर उस नीरव, निष्क्रिय, शुद्ध, स्वयंभू, आत्मतृप्त आत्मा के बारे में क्या होगा जिसने अपने-आपको हमारे आगे संन्यासी के स्थायी औचित्य के रूप में प्रस्तुत किया था। यहां भी परस्पर मेल न खानेवाला विरोध नहीं बल्कि सामंजस्य को ही प्रकाशदायक सत्य होना चाहिये। नीरव और सक्रिय ब्रह्म पृथक्, विरोधी और असंगत सत्ताएं नहीं हैं जिनमें से एक वैश्व माया का विरोध करती है और दूसरी समर्थन। वह एक ही ब्रह्म है जिसके दो पक्ष हैं, सकारात्मक और नकारात्मक, और

हर-एक दूसरे के लिये जरूरी है। इस नीरवता में से ही शाश्वत रूप से, जगतों का सृजन करनेवाला 'नाद' निकलता है। क्योंकि नाद उसे प्रकट करता है जो 'नीरवता' में स्वतः छिपा हुआ है। शाश्वत निष्क्रियता ही शाश्वत दिव्य सक्रियता की पूर्ण स्वाधीनता और शक्तिमत्ता को असंख्य वैश्व मंडलों में संभव बनाती है। क्योंकि उस क्रियाशीलता के समस्त संभवन अपनी ऊर्जाएं और विभिन्नता तथा सामंजस्य की असीम सामर्थ्य अक्षर ब्रह्म के निष्पक्ष समर्थन से पाते हैं और स्वयं अक्षर ब्रह्म की अपनी गतिशील प्रकृति की इस अनंत उर्वरता को दी गयी स्वीकृति से प्राप्त करते हैं।

मनुष्य भी तभी पूर्ण होता है जब वह अपने अंदर ब्रह्म की निरपेक्ष स्थिरता और निष्क्रियता को पा लेता है और उसके द्वारा उसी दिव्य सहनशीलता और उसी दिव्य आनंद द्वारा मुक्त और अक्षय क्रियाशीलता को सहारा देता है। जिन्होंने अपने अंदर 'स्थिरता' को पा लिया है, वे सदा उसकी निश्चल नीरवता में से जगत् में काम करनेवाली ऊर्जाओं के अविरल प्रवाह को उमड़ते हुए देख सकते हैं। अतः यह कहना 'निश्चल नीरवता' का सत्य नहीं है कि वह अपने स्वभाव से वैश्व क्रियाशीलता का त्याग है। इन दोनों स्थितियों की ऊपर से दीखनेवाली पारस्परिक विषमता सीमित मन की भ्रांति है जो स्वीकृति और अस्वीकृति के तीक्ष्ण विरोधों और अचानक एक छोर से दूसरे छोर तक जाने का अभ्यस्त है। वह ऐसी व्यापक चेतना के बारे में सोचने में असमर्थ है जो इतनी विस्तृत और इतनी प्रबल है कि दोनों को एक साथ आलिंगन में ले ले। नीरवता जगत् का त्याग नहीं करती, उसे सहारा देती है। या यूं कहें कि वह समान निष्पक्षता के साथ क्रियाशीलता और क्रियाशीलता से निवृत्ति को सहारा देती है और इनके मेल-मिलाप को भी स्वीकृति देती है जिसके द्वारा अंतरात्मा सभी क्रियाओं के बावजूद मुक्त और शांत रहती है।

लेकिन एक चरम निवृत्ति भी है, एक असत् भी है। प्राचीन शास्त्र का कहना है, "*असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो वै सदजायत*"—आरंभ में सब असत् था उसीसे सत् का जन्म हुआ (तैत्तिरीय उपनिषद् २.७.)। तब निश्चय ही वह फिर से असत् में डूब जायेगा। यदि अनंत निर्विशेष सत् सब प्रकार के वैशिष्ट्य और बहुविध उपलब्धियों की सभी संभावनाओं को अनुमति देता है तो क्या असत्, प्रारंभिक स्थिति और एकमात्र चिर सद्वस्तु होने के नाते, वास्तविक विश्व की सभी संभावनाओं का निषेध और त्याग नहीं कर देता? ऐसी हालत में कुछ बौद्ध मतों का 'शून्य' ही संन्यासी का सच्चा समाधान हो जायेगा। अहं की तरह आत्मा भी भ्रामक प्रातिभासिक चेतना की एक भावमूलक रचना रह जायेगी।

लेकिन हम फिर से यही देखते हैं कि शब्द हमें ठग रहे हैं, हम उस सीमित मानसिकता के तीक्ष्ण विरोधों से धोखा खा रहे हैं, जो शाब्दिक भेदों पर मुग्ध भाव से निर्भर रहती है मानों वे पूरी तरह से परम सत्य को निरूपित करते हों और जो

इन असहिष्णु विभेदों के भाव में ही हमारी अतिमानसिक अनुभूतियों को अनूदित करती है। असत् केवल एक शब्द है। जब हम उस तथ्य को जांचते हैं जिसका यह प्रतिनिधित्व करता है तो हमें पूरा-पूरा यह विश्वास नहीं रहता कि अनंत आत्मा की अपेक्षा इस परम असत् के, मन की भावमूलक रचना के अधिक होने की कोई संभावना है। इस असत् से हमारा मतलब है कोई ऐसी चीज जो इस जगत् में रहते हुए हमारी विशुद्धतम धारणा और अत्यंत अमूर्त एवं सूक्ष्म अनुभूति जिस अंतिम छोर तक जा सकती है उसके भी परे जो कुछ है वह है। तो यह असत् भावात्मक धारणा से परे 'कुछ' है। हम शून्य या असत् की कल्पना इसलिये करते हैं ताकि हम जो कुछ जानते और सचेतन रूप से हैं उसका नेति नेति की प्रक्रिया से अतिक्रमण कर सकें। वस्तुतः जब हम कुछ दर्शन-शास्त्रों के 'शून्य' का निकट से अध्ययन करें तो देखने लगते हैं कि वह एक ऐसा शून्य है जो 'सर्व' या अनिर्वचनीय 'अनंत' है, वही एकमात्र सच्ची सत्ता है। लेकिन वह मन को रिक्त लगता है क्योंकि मन केवल सांत रचनाओं को ही पकड़ सकता है।[1]

और जब हम कहते हैं कि असत् में से सत् प्रकट हुआ तो देखते हैं कि हम काल की भाषा में उसकी बात कर रहे हैं जो काल के परे है। क्योंकि शाश्वत शून्य के इतिहास में वह कौन-सी चमत्कारी तारीख थी जब उसके अंदर से सत् का जन्म हुआ या वह समान रूप से विकट तारीख कब आयेगी जब यह अवास्तविक सर्वनित्य शून्य में फिर से जा मिलेगा? यदि सत् और असत् दोनों को स्वीकार करना है तो यह मानना होगा कि दोनों एक साथ रहते हैं। वे दोनों एक दूसरे में मिलना स्वीकार नहीं करते पर एक दूसरे को रहने देते हैं। चूंकि हमें काल की भाषा में बोलना है इसलिये कहना होगा दोनों शाश्वत हैं। शाश्वत सत्ता से यह कौन मनवायेगा कि उसका अस्तित्व ही नहीं है, केवल शाश्वत असत् का ही अस्तित्व है? सभी अनुभूतियों को अस्वीकार करके भला हम ऐसा समाधान कहां पायेंगे जो सभी अनुभूतियों की व्याख्या कर सके?

शुद्ध सत् है 'अज्ञेय' का अपने-आपको समस्त वैश्व जीवन के मुक्त आधार के रूप में प्रस्थापित करना। हम इसके विपरीत प्रस्थापना को, समस्त वैश्व जीवन से मुक्ति को अर्थात् वास्तविक जीवन की ऐसी समस्त भावात्मक उपाधियों से मुक्ति को असत् कहते हैं जिनकी चेतना विश्व में अपने लिये रचना कर सकती है, इनमें

[1] एक और उपनिषद् असत् से सत् की उत्पत्ति को असंभव कहकर अस्वीकार कर देता है, उसका कहना है कि सत् की उत्पत्ति सत् से ही हो सकती है। लेकिन अगर हम असत् को अस्तित्वहीन शून्य के स्थान पर ऐसे 'क' के रूप में लें जो हमारी सत्ता के अनुभव या भाव से परे है—इस रूप में यह अर्थ अद्वैतवादी के 'निर्विशेष ब्रह्म' और बौद्धों के शून्य पर भी लग सकता है—तो असंभावना विलीन हो जाती है क्योंकि तत् भली-भांति सत्ता का स्रोत हो सकता है फिर चाहे वह धारणात्मक या रचनात्मक माया द्वारा हो या अपने भीतर से अभिव्यक्ति या सृष्टि द्वारा।

पूर्णतः अमूर्त और पूर्णतः तुरीय अवस्थाएं भी आ जाती हैं। वह उन्हें अपनी वास्तविक अभिव्यक्ति के रूप में अस्वीकार नहीं करता, वह अस्वीकार करता है समस्त अभिव्यक्ति द्वारा या किसी भी प्रकार की अभिव्यक्ति द्वारा अपने सीमांकन को। असत् सत् को अनुमति देता है जैसे निश्चल नीरवता क्रियाशीलता को अनुमति देती है। इस युगपत् प्रस्थापना और निषेध द्वारा, जो एक दूसरे के अंतकारी नहीं बल्कि सभी विपरीतताओं की तरह एक दूसरे के परिपूरक हैं, सचेतन आत्म-सत्ता की एक सद्वस्तु के रूप में और परे स्थित अज्ञेय की भी उसी 'सद्वस्तु' के रूप में युगपत् अभिज्ञता जाग्रत् मानव आत्मा के लिये प्राप्य हो जाती है। इसी तरह बुद्ध के लिये यह संभव हुआ कि निर्वाण की स्थिति पाकर भी जगत् में प्रबल रूप से कार्य कर सके। वे अपनी आंतरिक चेतना में निर्वैयक्तिक रहे परंतु अपने कार्य में, जहांतक हमें मालूम है, पृथ्वी पर रहनेवालों में सबसे अधिक सशक्त और परिणाम लानेवाले व्यक्तित्व थे।

जब हम इन चीजों पर विचार करते हैं तो हमें यह प्रत्यक्ष दीखने लगता है कि हम जिन शब्दों का उपयोग करते हैं वे स्वाग्रही उग्रता में कितने कमजोर और स्पष्टता में कितने उलझानेवाले और भ्रामक हैं। हमें यह भी प्रत्यक्ष होने लगता है कि हम ब्रह्म पर जो सीमाएं आरोपित करते हैं वे व्यष्टिगत मन की अनुभूति की संकीर्णता से आती हैं। यह मन अपने-आपको अज्ञेय के एक ही पक्ष पर केंद्रित कर बाकी सबको तुरंत अस्वीकार और तिरस्कृत कर देता है। हमारी हमेशा यह वृत्ति रहती है कि हम निरपेक्ष के बारे में जो धारणा बना सकें या जो जान सकें उसे बड़ी कठोरता के साथ अपनी विशेष सापेक्षता की भाषा में अनूदित करें। हम अपने निजी मतों और आंशिक अनुभूतियों के अहं को दूसरों के मतों और आंशिक अनुभूतियों के विरुद्ध खड़ा करके बड़े आवेग के साथ विभेद और समर्थन करते हुए एकमेवाद्वितीयम् की प्रस्थापना करते हैं। ज्यादा बुद्धिमानी इसमें है कि प्रतीक्षा करें, सीखें, बढ़ें और चूंकि हम आत्म-पूर्ति के लिये उन चीजों के बारे में बोलने के लिये बाधित हैं जिन्हें कोई मानव भाषा व्यक्त नहीं कर सकती, सर्वाधिक विस्तृत, सर्वाधिक नमनीय और सर्वाधिक उदार प्रस्थापना को खोजकर उसके ऊपर सबसे अधिक विशाल और व्यापक सामंजस्य का आधार रखें।

तो हम यह स्वीकार करते हैं कि व्यक्ति की चेतना के लिये यह संभव है कि ऐसी अवस्था में प्रवेश करे जिसमें ऐसा लगता है कि सापेक्ष सत्ता लुप्त हो चुकी है और आत्मा भी अपर्याप्त धारणा मालूम होती है। निश्चल नीरवता के परे की निश्चल नीरवता में चले जाना संभव है लेकिन यह हमारी संपूर्ण चरम अनुभूति नहीं है और न ही एकमात्र और सबका बहिष्कार करनेवाला सत्य। क्योंकि हम देखते हैं कि यह निर्वाण या आत्म-निर्वापन हमारी अंतस्थ अंतरात्मा को पूर्ण शांति और मुक्ति देता है पर साथ ही यह बाहर व्यवहार में कामना रहित परंतु प्रभावकारी क्रिया के

साथ सुसंगत भी है। शायद बुद्ध की शिक्षा का वास्तविक सार यही था कि भीतर पूर्ण निश्चल निर्वैयक्तिकता और शून्य स्थिरता को रखते हुए बाहरी रूप से प्रेम, सत्य और शील (नीति परायणता) आदि शाश्वत सत्यों के कार्यों को करना संभव है। भौतिक जन्म के कष्ट और दुःखों से छुटकारे का तुच्छ आदर्श नहीं बल्कि अहंकार और व्यक्तिगत कर्मों की शृंखला से तथा परिवर्तनशील रूप और भाव के साथ तादात्म्य से ऊपर उठना ही बुद्ध की शिक्षा का सार था। बहरहाल, जैसे पूर्ण मानव अपने अंदर नीरवता और क्रियाशीलता को एक करेगा उसी तरह पूर्णतः सचेतन अंतरात्मा जीवन और जगत् पर अपनी पकड़ खोये बिना असत् की पूर्ण स्वाधीनता पुनः प्राप्त कर लेगी। इस प्रकार वह भागवत 'अस्तित्व' का सतत चमत्कार अपने अंदर फिर से दोहरायेगी, विश्व के अंदर फिर भी उसके परे बल्कि मानों, स्वयं अपने-आपसे भी परे दोहरायेगी। इससे विपरीत अनुभूति केवल यही हो सकती है कि व्यक्ति के अंदर मानसिकता असत् पर केंद्रित हो जाये और परिणामस्वरूप व्यक्ति वैश्व क्रियाशीलता को भूल जाये और निजी रूप से अपने-आपको उससे खींच ले। फिर भी यह क्रियाशीलता शाश्वत सत्ता की चेतना में तो चलती ही रहेगी।

इस तरह वैश्व चेतना में आत्मा और जड़ में मेल बैठाने के बाद हम परात्पर चेतना में सभी की अंतिम स्वीकृति (इति) और उसके निषेध (नेति) का मेल देखते हैं। हम यह पाते हैं कि सभी प्रस्थापनाएं अज्ञेय के अंदर स्थिति या गति के अभिकथन हैं और उनके अनुरूप सभी नकार या नेतियां स्थिति और गति दोनों से और दोनों के अंदर उसकी मुक्ति के अभिकथन हैं। हमारे लिये अज्ञेय 'ऐसा कुछ' है जो हमारे लिये सर्वोत्कृष्ट या सर्वोच्च, अद्‌भुत और अनिर्वचनीय है और जो सदा अपने-आपको हमारी चेतना के आगे रूप देता रहता है और फिर सदा ही अपने बनाये हुए रूपों से बच निकलता है। यह चीज वह किसी दुष्टात्मा या मनमौजी जादूगर की तरह नहीं करता जो हमें मिथ्यात्व से अधिक बड़े मिथ्यात्व की ओर, फिर सभी चीजों के अंतिम निषेध की ओर ले जाता हो। वह यहां भी हमारी प्रज्ञा से परे 'परम प्रज्ञ' की तरह काम करता है जो हमें वास्तविकता से और भी गहरी और विस्तृत वास्तविकता की ओर ले जाता है जबतक कि हम उस गहरी से गहरी और विशाल से विशाल वास्तविकता को न पा जायें जिसके कि हम योग्य हैं। सर्वव्यापी सद्‌वस्तु ब्रह्म है, न कि डटी रहनेवाली भ्रांतियों का सर्वव्यापी कारण।

इस भांति यदि हम अपने सामंजस्य के लिये एक भावात्मक आधार स्वीकार कर लेते हैं—और सामंजस्य इसके सिवा किस आधार पर खड़ा हो सकता है?—तो अज्ञेय के विभिन्न धारणात्मक रूपों को, जिनमें से हर एक किसी धारणातीत सत्य का प्रतिनिधि है, उन सबको जहांतक हो सके हमें इस दृष्टि से देखना चाहिये कि उनका आपस में क्या संबंध है और जीवन पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है। उन्हें

न तो अलग-अलग और न ऐकांतिक रूप से और न इस तरह देखना चाहिये कि वे और सभी अभिकथनों को नष्ट कर दें या अनुचित रूप से घटा दें। सच्चा अद्वैत वह है जो सभी चीजों को एकमेव ब्रह्म के रूप में स्वीकार करता है और उसके अस्तित्व को दो विषम सत्ताओं—शाश्वत सत्य और शाश्वत मिथ्या, ब्रह्म और अब्रह्म, आत्मा और अनात्मा, वास्तविक आत्मा और अवास्तविक होते हुए भी शाश्वत माया—में विभक्त नहीं करता। अगर यह सच है कि केवल आत्मा का अस्तित्व है तो यह भी सच होना चाहिये कि सब कुछ आत्मा ही है, और अगर यह आत्मा, भगवान् या ब्रह्म कोई असहाय अवस्था, परिमित शक्ति और सीमित व्यक्तित्व नहीं है बल्कि आत्मसचेतन 'सर्व' है तो उसमें अभिव्यक्ति के लिये कोई अच्छा सुसंगत कारण होना चाहिये। उस कारण को खोजने के लिये हमें इस प्राक्कल्पना को लेकर चलना होगा कि जो कुछ अभिव्यक्त हुआ है उसमें सत्ता की कुछ शक्ति, कुछ बुद्धिमत्ता और सत्य है। जगत् में जो असंगति और प्रतीयमान अशुभ है उन्हें उनके क्षेत्र में स्वीकार करना ही होगा लेकिन विजेता के रूप में उन्हें स्वीकार नहीं करना चाहिये। मानव जाति की यह बुद्धिमत्ता है कि वह अपनी गहरी से गहरी सहजवृत्ति में सदा ही जगत् की अभिव्यक्ति के अंतिम सूत्र को किसी शाश्वत परिहास या माया में नहीं बल्कि एक परम प्रज्ञा के रूप में, किसी सर्वसर्जक और अजेय अशुभ में नहीं बल्कि एक गुप्त और अंततः विजयी शुभ में, अंतरात्मा के निराश होकर अपने महान् साहसिक कार्य से मुंह मोड़ लेने में नहीं बल्कि अंतिम विजय और परिपूर्ति में खोजती है।

क्योंकि हम यह नहीं मान सकते कि परम अद्वितीय 'सत्ता' अपने से बाहर की या अपने से भिन्न किसी चीज द्वारा बाधित की जाती है क्योंकि ऐसी किसी चीज का अस्तित्व ही नहीं है। हम यह भी नहीं मान सकते कि वह अनिच्छा के साथ अपने भीतर की किसी ऐसी आंशिक चीज के आगे झुक जाती है जो उसकी समग्र सत्ता के विरुद्ध है, उसके द्वारा स्वीकृत भी नहीं है फिर भी उसके लिये बहुत ज्यादा मजबूत है क्योंकि यह दूसरे शब्दों में उसी विरोध को खड़ा करना होगा कि एक तो 'सर्व' है और दूसरा 'सर्व' से भिन्न कुछ और। अगर हम यह भी कहें कि विश्व केवल इस कारण बना हुआ है कि आत्मा अपनी पूर्ण निष्पक्षता के साथ सभी चीजों को समान रूप से सहन करती है, सभी वास्तविकताओं और सभी संभावनाओं को उदासीनता के साथ देखती है, फिर भी यह मानना होगा कि कोई ऐसी चीज है जो अभिव्यक्ति के लिये इच्छा करती है और उसे सहारा देती है। यह चीज 'सर्व' के सिवाय और कुछ नहीं हो सकती। ब्रह्म सभी चीजों में अखंड है और जगत् में जिस किसी चीज की इच्छा की गयी है वह अंततः ब्रह्म की ही इच्छा होती है। हमारी सापेक्ष चेतना विश्व में अशुभ, अज्ञान और पीड़ा से घबड़ा कर या चकराकर ब्रह्म को अपनी तथा अपने कर्मों की जिम्मेदारी से बचाने के लिये

एक विरोधी तत्त्व, माया या मार, या सचेतन शैतान या स्वयंभू अशुभ तत्त्व को खड़ा करती है। प्रभु और आत्मा बस एक ही है, बहु है उसके प्रतिरूप और उसकी संभूतियां।

तो अगर जगत् स्वप्न या माया या भूल है तो ऐसा स्वप्न है जिसकी इच्छा और उत्पत्ति 'आत्मा' की समग्रता में हुई थी, आत्मा से केवल इसकी इच्छा और उत्पत्ति ही नहीं हुई, बल्कि वही इसका सतत धारण और पोषण भी करती है। और फिर यह ऐसा स्वप्न है जिसका अस्तित्व सद्वस्तु में है और वह जिस पदार्थ से बना है वह भी वही 'सद्वस्तु' है। क्योंकि ब्रह्म ही जगत् का उपादान, उसका आधार और उसका आधान है। जिस सोने से पात्र बना है वह अगर सच्चा हो तो हम यह कैसे मान सकते हैं कि स्वयं पात्र मृगमरीचिका है। हम देखते हैं कि स्वप्न, माया आदि शब्द भाषा के खेल हैं, हमारी सापेक्ष चेतना के अभ्यास हैं। वे किसी सत्य को, बल्कि एक महान् सत्य को प्रदर्शित करते हैं लेकिन वे उसका गलत प्रदर्शन भी करते हैं। जैसे 'असत्' केवल शून्य से कुछ भिन्न निकलता है वैसे ही हम पाते हैं कि 'स्वप्न' भी मन के आभास और विभ्रम से भिन्न कुछ है। दृश्य घटना कोई छायामूर्ति नहीं है, दृश्य घटना एक 'सत्य' का सारवान् रूप है।

तो हम एक ऐसी सर्वव्यापक सद्वस्तु की धारणा से शुरू करते हैं जिसके एक छोर पर असत् और दूसरे छोर पर विश्व एक दूसरे का विलोपन करनेवाले नकार नहीं हैं, बल्कि ये दोनों एक ही सद्वस्तु की विभिन्न स्थितियां हैं, उसकी चित और पट प्रस्थापनाएं हैं। विश्व में इस सद्वस्तु की उच्चतम अनुभूति बतलाती है कि वह केवल एक सचेतन 'सत्ता' ही नहीं है बल्कि परम 'प्रज्ञा' और 'शक्ति' तथा स्वयंभू 'आनंद' भी है; और विश्व के परे कोई अन्य अज्ञेय सत्ता, कोई परम, अनिर्वचनीय आनंद है। अतः हमारा यह अनुमान करना भी उचित है कि इस विश्व के द्वंद्वों की भी व्याख्या जब आज की तरह सम्वेदनात्मक और आंशिक धारणाओं के द्वारा न करके हमारी स्वतंत्र बुद्धि और अनुभूति के द्वारा की जायेगी तो इनका समाधान भी उन्हीं उच्चतम अवस्थाओं में हो जायेगा। जबतक हम द्वंद्वों के दबाव तले श्रम करते रहते हैं तबतक निश्चय ही इस बोध को बनाये रखने के लिये सदा श्रद्धा का सहारा लेना होगा। लेकिन ऐसी श्रद्धा जिसे उच्चतम 'तर्कबुद्धि', विशालतम और सर्वाधिक धैर्यशील चिंतन अस्वीकृत नहीं बल्कि प्रस्थापित करते हैं। वास्तव में (श्रद्धा का) यह पंथ मानवजाति को उसकी यात्रा में तबतक सहायता देने के लिये दिया गया है जबतक कि वह विकास के ऐसे स्तर पर न आ जाये जब श्रद्धा ज्ञान और पूर्ण अनुभूति में परिवर्तित हो जाये और 'प्रज्ञा' का औचित्य उसके कर्मों से सिद्ध हो।

अध्याय ५

व्यक्ति की नियति

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते॥

अविद्या के द्वारा वे मृत्यु के परे चले जाते हैं और विद्या (ज्ञान) द्वारा अमरता प्राप्त करते हैं . . . 'अजन्म' के द्वारा वे 'मृत्यु' को पार करते हैं और 'जन्म' द्वारा अमरता का रस लेते हैं।

ईशोपनिषद् ११.१४

समस्त जीवन और अस्तित्व का, चाहे वह सापेक्ष हो या निरपेक्ष, सशरीर हो या शरीरहीन, प्राणमय हो या निष्प्राण, चाहे बुद्धिमान् हो या बुद्धिहीन, सभीका सत्य है एक सर्वव्यापक सद्वस्तु। उसकी अनंत रूपों में बदलनेवाली बल्कि सदा विरोधी आत्माभिव्यक्ति में भी, हमारी सामान्य अनुभूति के निकटतम विरोधों से लेकर उन सुदूरतम विरोधों या प्रतिषेधों तक जो अपने-आपको अनिर्वचनीय के तट पर खो देते हैं, इन सबमें एक ही सद्वस्तु है, वह कोई कुलयोग या समवाय नहीं। सभी विभिन्नताएं उसीसे शुरू होती हैं, सभी विभिन्नताएं उसीमें निवास करती हैं और सभी विभिन्नताएं उसीमें लौट जाती हैं। उसी सद्वस्तु को एक विशालतर प्रस्थापना की ओर ले जाने के लिये ही सभी प्रस्थापनाओं को अस्वीकार किया जाता है। सभी प्रतिषेध एक दूसरे के आमने-सामने आते हैं ताकि वे एकमेव 'सत्य' को उसके विरोधी पहलुओं में पहचान सकें और विरोध के मार्ग से पारस्परिक एकता का आलिंगन कर सकें। ब्रह्म ही अथ है और ब्रह्म ही इति। ब्रह्म ही एकमेव है और उसके सिवा किसीका अस्तित्व ही नहीं।

किंतु यह एकत्व स्वभावतः अनिर्वचनीय है। जब हम मन द्वारा इसे समझना चाहते हैं तो धारणाओं और अनुभूतियों की एक असीम शृंखला में से गुजरने के लिये बाधित होते हैं। फिर भी अंत में हम अपनी बड़ी-से-बड़ी धारणाओं और अधिक-से-अधिक व्यापक अनुभूतियों को नकारने के लिये बाधित होते हैं ताकि यह प्रस्थापित कर सकें कि सद्वस्तु सभी परिभाषाओं के परे है। हम भारतीय ऋषियों के सूत्र *'नेति नेति'*—वह यह भी नहीं है, वह यह भी नहीं है—पर आ पहुंचते हैं। ऐसी कोई अनुभूति नहीं है जिसके द्वारा हम उसे सीमित कर सकें, ऐसी कोई धारणा नहीं है जिसके द्वारा हम उसकी व्याख्या कर सकें।

हम स्वयं जो अस्तित्व हैं और वह सब जो हमारे विचार और इन्द्रियों के सामने आता है उस सबके बारे में मन अंततः यही कह सकता है कि यह एक अज्ञेय है

जो हमारे सामने सत्ता की अनेक अवस्थाओं और गुणों में, चेतना के अनेक रूपों में, ऊर्जा की अनेक क्रियाओं में प्रकट होता है। इन्हीं स्थितियों, इन्हीं रूपों और इन्हीं क्रियावलियों में और इनके द्वारा हमें अज्ञेय के निकट जाना और उसे पहचानना होगा। लेकिन अगर हम अपने मन के द्वारा ग्रहण और धारण किये जा सकनेवाले एकत्वतक पहुंचने की जल्दबाजी में, 'अनंत' को अपनी बांहों में भरकर सीमित कर देने के आग्रह में किसी एक विशिष्ट अवस्था को, वह चाहे जितनी भी पूर्ण और शाश्वत क्यों न हो, किसी विशेष गुण को, वह चाहे कितना भी सार्वभौम और व्यापक क्यों न हो, चेतना के किसी निश्चित निरूपण को, वह अपने क्षेत्र में चाहे कितना भी विशाल क्यों न हो, किसी ऊर्जा या क्रियाशीलता को, वह अपने व्यवहार में चाहे कितनी भी असीम क्यों न हो, सद्वस्तु मान लें और बाकी सबको अलग कर दें तो हमारे विचार उसकी अज्ञेयता के विरुद्ध पाप करेंगे और सच्चे ऐक्य पर नहीं बल्कि 'अविभाज्य' के विभाजन पर आ पहुंचेंगे।

प्राचीन काल में इस सत्य का साक्षात्कार इतने सशक्त रूप से किया गया था कि हमारी चेतना के लिये उस सद्वस्तु की उच्चतम भावात्मक अभिव्यक्ति के रूप में सच्चिदानंद की विश्वासदायक अनुभूति के शीर्षस्थ भावतक पहुंच कर भी वेदांती द्रष्टाओं ने अपने चिंतन में असत् को प्रतिष्ठित किया था या अपने प्रत्यक्ष दर्शन में वे परे के उस असत् तक जा पहुंचे थे जो वह अंतिम अस्तित्व, शुद्ध चेतना या अनंत आनंद नहीं है जिसकी अभिव्यक्तियां या विकृतियां ही हमारी समस्त अनुभूतियां हैं। और अगर यह कोई सत्, चित् या आनंद है ही तो इन चीजों के जिन उच्चतम और शुद्धतम भावात्मक रूप को हम यहां पा सकते हैं उस रूप से परे है। अतः वह उन चीजों से अलग है जिन्हें हम यहां इन नामों से जानते हैं। बौद्ध धर्म, जिसे धर्मशास्त्रियों ने मनमाने ढंग से अवैदिक घोषित कर दिया था क्योंकि वह श्रुतियों को आप्त प्रमाण नहीं मानता, वह इस तत्त्वतः वैदांतिक धारणातक वापिस जाता है। केवल उपनिषदों की भावात्मक और समन्वयात्मक शिक्षा ने सत् और असत् को विरोधी और एक दूसरे के विनाशक के रूप में नहीं बल्कि उस अंतिम प्रतिषेध के रूप में देखा जिसके द्वारा हम अज्ञेय की ओर उन्मुख होते हैं। और हमारी भावात्मक चेतना के सभी व्यापारों में एकत्व को भी बहु के साथ लेखा-जोखा करना पड़ता है क्योंकि बहु भी ब्रह्म है। हम विद्या द्वारा, एकत्व के ज्ञान द्वारा भगवान् को जान सकते हैं। उसके बिना अविद्या, सापेक्ष और बहुत्व की चेतना, एक अंधकार की रात्रि और अज्ञान की अव्यवस्था है। फिर भी यदि हम अज्ञान के उस क्षेत्र को दूर कर दें, यदि हम अविद्या से इस तरह पिंड छुड़ा लें मानों वह अवास्तविक है, उसका अस्तित्व ही नहीं तो स्वयं ज्ञान एक प्रकार का धुंधलापन और अपूर्णता का स्रोत बन जाता है। हम ऐसे हो जाते हैं जैसे प्रकाश से चुंधियाये मनुष्य। इस तरह हम उस क्षेत्र को ही नहीं देख पाते जिसे वह प्रकाश आलोकित करता है।

तो ऐसी है हमारे प्राचीनतम ऋषि-मुनियों की शिक्षा; स्थिर, प्रज्ञावान् और स्पष्ट। उनके अंदर खोजने और जानने का धैर्य था और शक्ति थी। उनके अंदर अपने ज्ञान की सीमा को स्वीकार करने की स्पष्टता और नम्रता भी थी। उन्होंने वे सीमांत भी देखे थे जहां पहुंचकर ज्ञान को अपनेसे परे की किसी चीज में जा मिलना होगा। यह तो बाद की मन और बुद्धि की अधीरता थी, परम आनंद के प्रति उत्कट आकर्षण था, या विशुद्ध अनुभूति और पैनी बुद्धि की उच्च प्रभावशालिता थी जिसने 'एकत्व' की खोज में 'बहु' को अस्वीकार कर दिया और चूंकि वह ऊंचाइयों की हवा में सांस ले चुकी थी उसने गहराइयों के रहस्यों का तिरस्कार किया या उनसे पीछे हट गयी। परंतु प्राचीन प्रज्ञा की स्थिर आंख ने देखा था कि वास्तव में भगवान् को जानने के लिये उन्हें बिना भेदभाव के समान रूप से हर जगह देखना चाहिये और जिन विरोधों में से भगवान् चमकते हैं उनसे हमें अभिभूत हुए बिना उनपर विचार करना और उनका मूल्य आंकना होगा।

हम आंशिक तर्क के पैने भेदभाव को एक ओर रख देंगे जो घोषणा करता है कि चूंकि 'एकमेव' वास्तविक है इसलिये 'बहु' माया है और चूंकि निरपेक्ष सत् है, एकमात्र अस्तित्व है इसलिये सापेक्ष असत् और अस्तित्वहीन है। अगर हम लगन के साथ, बहु के अंदर एक की खोज करते हैं तो यह बहु के अंदर अपनी पुष्टि करनेवाले एकमेव की ओर आशीर्वाद और अंतःप्रकाश के साथ लौटने के लिये।

मन अपने अधिक सशक्त विस्तारों और परिवर्तनों में जब किन्हीं विशेष दृष्टिबिंदुओं को अतिशय महत्त्व देता है तो हमें अपने-आपको उस (मन) से सुरक्षित रखना होगा। हमारे लिये अध्यात्मभावापन्न मन के इस प्रत्यक्ष दर्शन का निरपेक्ष मूल्य, कि विश्व एक अवास्तविक स्वप्न है, जड़भावापन्न मन के इस प्रत्यक्ष दर्शन से अधिक नहीं हो सकता कि भगवान् और 'परम' भ्रांतिमूलक विचार हैं। एक दशा में केवल इन्द्रियों की साक्षी का अभ्यस्त मन जो वास्तविकता को शारीरिक तथ्यों के साथ जोड़ता है, या तो ज्ञान के अन्य साधनों का उपयोग करने के लिये अनभ्यस्त होता है या वास्तविकता की भावना को अतिभौतिक अनुभूतियोंतक विस्तृत करने में अक्षम होता है। दूसरी दशा में वही मन अशरीरी वास्तविकता की अभिभूत करनेवाली अनुभूति को पार करते हुए, उसी अक्षमता, उसी स्वप्न या भ्रांति के परिणामी भाव को इन्द्रियों की अनुभूति पर लागू कर देता है। लेकिन हम उस सत्य का भी प्रत्यक्ष दर्शन पाते हैं जिसे ये दोनों धारणाएं विकृत कर देती हैं। यह सच है कि इस रूप-जगत् के लिये, जिसमें हम आत्मोपलब्धि के लिये उद्यत हैं कोई चीज तबतक पूरी तरह प्रामाणिक नहीं होती जबतक कि वह उपलब्धि हमारी भौतिक चेतना को अपने हाथ में न ले ले और ऊंचे-से-ऊंचे शिखरों की उपलब्धि के साथ सामंजस्य में आकर निचले स्तरों पर भी उस अभिव्यक्ति को न ले आये। यह भी समान रूप से सच है कि जब रूप और जड़ स्वयंभू सद्वस्तु होने का

दावा करते हैं तो वे अज्ञान की भ्रांति होते हैं। रूप और जड़ अशरीरी और अभौतिक की अभिव्यक्ति के लिये केवल आकार और उपादान के रूप में ही सार्थक हो सकते हैं। वे अपने स्वरूप में दिव्य चेतना की एक क्रिया हैं और अपने लक्ष्य में आत्मा की एक स्थिति के प्रतिरूप।

दूसरे शब्दों में अगर ब्रह्म रूप में प्रविष्ट हुआ है और उसने अपनी सत्ता को भौतिक पदार्थ में निरूपित किया है तो यह केवल सापेक्ष और गोचर चेतना के प्रतिरूपों में आत्माभिव्यक्ति का रस लेना ही हो सकता है। ब्रह्म इस जगत् में अपने-आपको 'जीवन' के मूल्यों को निरूपित करने के लिये है। 'जीवन' ब्रह्म के अंदर निवास करता है ताकि अपने अंदर ब्रह्म को खोज सके। अतः जगत् में मनुष्य का महत्त्व यही है कि यह उसे चेतना का वह विकास प्रदान करता है जिसमें संपूर्ण आत्मान्वेषण के द्वारा उसका रूपांतर संभव होता है। भगवान् को जीवन में परिपूर्ण करना ही मनुष्य की मनुष्यता है। वह पाशविक प्राण और उसकी क्रियाओं से शुरू करता है परंतु उसका उद्देश्य है दिव्य सत्ता।

लेकिन 'विचार' की तरह 'जीवन' में भी आत्म-सिद्धि का सच्चा नियम है उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अवधारणा। ब्रह्म अपने-आपको चेतना के क्रमिक रूपों में प्रकट करता है। ये रूप सत्ता में सहवर्ती या काल में समकालीन होते हुए भी अपने संबंध में क्रमिक रहते हैं और 'जीवन' को भी आत्मोन्मीलन में अपनी सत्ता के नित नवीन प्रदेशों में उठते रहना चाहिये। लेकिन यदि हम एक क्षेत्र में से दूसरे में जाते हुए नयी प्राप्ति की उत्कंठा में, जो हमें पहले प्राप्त हुआ था उसे छोड़ते चलें, यदि मानसिक जीवन तक पहुंचते-पहुंचते हम अपने भौतिक जीवन को, जो हमारा आधार है, फेंक दें या उसका अपमान करें, या आध्यात्मिक के आकर्षण के कारण मानसिक और भौतिक को त्याग दें तो हम भगवान् को पूर्ण रूप से चरितार्थ नहीं करते और न उनकी आत्माभिव्यक्ति की शर्तें ही पूरी करते हैं। हम पूर्ण नहीं बन जाते बल्कि अपनी अपूर्णता का क्षेत्र बदल देते हैं या अधिक-से-अधिक एक सीमित ऊंचाई पा लेते हैं। हम चाहे जितना ऊंचा चढ़ें, चाहे स्वयं 'असत्' तक ही जा पहुंचें, फिर भी अगर हम अपने आधार को भूल जायें तो हमारा चढ़ना दोषपूर्ण होता है। निम्नतर को अपने भाग्य पर छोड़ देना नहीं बल्कि जिस उच्चता को हम प्राप्त कर चुके हैं उसके प्रकाश में उसे रूपांतरित करना प्रकृति का सच्चा दिव्यत्व है। ब्रह्म समग्र है और एक ही समय में चेतना की अनेक अवस्थाओं को एक करता है। हमें भी ब्रह्म की प्रकृति को अभिव्यक्त करते हुए समग्र और सर्वग्राही बनना चाहिये।

संन्यासी के आवेग में भौतिक जीवन से वितृष्णा के अतिरिक्त एक और अतिशयता है जिसे समग्र अभिव्यक्ति का यह आदर्श सुधार देता है। चेतना के तीन सामान्य रूपों, व्यष्टिगत, वैश्व और परात्पर या विश्वातीत का संबंध ही 'जीवन'

की गतियों को जोड़नेवाला सूत्र है। जीवन की क्रियाशीलताओं के सामान्य वितरण में व्यष्टि अपने-आपको विश्व के अंदर रहते हुए एक अलग सत्ता मानता है और ये दोनों ही उसपर आश्रित हैं जो समान रूप से व्यष्टि और विश्व के परे है। इस परात्पर को हम चलती भाषा में भगवान् का नाम देते हैं। इस तरह वह हमारी धारणाओं के लिये इतना विश्वातीत नहीं है जितना विश्व के बाहर है। इस विभाजन का स्वाभाविक परिणाम होता है व्यष्टि और विश्व दोनों का पद और मूल्य घटना। इसका तर्कसंगत अंतिम परिणाम होगा इस परात्पर की प्राप्ति के द्वारा व्यष्टि और जगत् दोनों का समापन।

ब्रह्म के एकत्व की समग्र दृष्टि इन परिणामों से बचती है। जैसे हमें मानसिक और आध्यात्मिक की प्राप्ति के लिये शारीरिक जीवन को छोड़ने की जरूरत नहीं है उसी तरह हम एक ऐसे दृष्टिबिंदु तक पहुंच सकते हैं जहां व्यष्टिगत क्रियाकलाप को बनाये रखना हमारी वैश्व चेतना की अवधारणा या परात्पर और विश्वातीत की प्राप्ति से असंगत नहीं रहता। क्योंकि 'विश्व परात्पर' विश्व का आलिंगन करता है, उसके साथ एक है और उसका बहिष्कार नहीं करता, ठीक वैसे ही जैसे विश्व व्यष्टि का आलिंगन करता है, उसके साथ एक है और उसका बहिष्कार नहीं करता। व्यष्टि समस्त वैश्व चेतना का केंद्र है, विश्व एक रूप और परिभाषा है जिसमें निराकार और अनिर्वचनीय की सारी अंतर्यामिता समायी रहती है।

यही हमेशा सच्चा संबंध होता है परंतु हमारे और उसके बीच, हमारे अज्ञान या वस्तुओं के बारे में हमारी गलत चेतना का परदा रहता है। जब हम ज्ञान या सत्य चेतना को पा लेते हैं तो हमारे शाश्वत संबंध में कोई तात्त्विक परिवर्तन नहीं होता, केवल व्यष्टिगत केंद्र से अंतर्दृष्टि और बहिर्दृष्टि में गहरा परिवर्तन आता है और परिणामस्वरूप उसके क्रियाकलाप की भावना और प्रभाव में भी। जगत् में परात्पर की क्रिया के लिये व्यष्टि फिर भी जरूरी होता है और व्यष्टि के ज्योतिर्मय हो जाने से उसके अंदर इस क्रिया की संभावना समाप्त नहीं हो जाती। इसके विपरीत चूंकि व्यष्टि में परात्पर की सचेतन अभिव्यक्ति वह साधन है जिसके द्वारा समुदाय को, वैश्व को भी अपने बारे में सचेतन होना है अतः ज्योतिर्मय व्यष्टि का जगत् के कार्य में बने रहना जगत् की लीला की एक अनिवार्य आवश्यकता है। ज्योतिर्मय हो जाने की क्रियामात्र के द्वारा व्यष्टि का जगत् से अटल रूप में अलग हो जाना ही यदि नियम होता तो यह जगत् हमेशा के लिये अनुद्धार्य अंधकार, मृत्यु और दुःख का रंगमंच बने रहने के लिये अभिशप्त होता। और इस तरह का जगत् एक निर्दय अग्निपरीक्षा या यांत्रिक भ्रम मात्र होता।

संन्यासी का दर्शनशास्त्र इसी तरह देखने की ओर प्रवृत्त होता है। लेकिन संसार यदि अपने-आप माया है तो व्यक्तिगत मुक्ति का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। अद्वैत दृष्टि के अनुसार व्यष्टिगत अंतरात्मा परम पुरुष के साथ एक है, पृथक्ता का

भाव अज्ञान है, पृथक्ता के भाव से छुटकारा और परम पुरुष के साथ तादात्म्य ही उसकी मुक्ति है। परंतु तब इस छुटकारे से लाभ कौन पाता है ? परम आत्मा नहीं क्योंकि माना यह जाता है कि वह सदा अविच्छिन्न रूप से मुक्त, निश्चल, नीरव और शुद्ध है। जगत् भी नहीं क्योंकि वह सदा बद्ध रहता है और किसी व्यष्टिगत अंतरात्मा की वैश्व 'माया' से मुक्ति द्वारा मुक्ति नहीं पाता। यह तो स्वयं व्यष्टिगत अंतरात्मा दुःख और विभाजन से छुटकारा पाकर शांति और आनंद में अपना परम कल्याण पाती है। तब ऐसा प्रतीत होता है कि मुक्ति तथा ज्योतिर्मयता को प्राप्त कर लेने के बाद भी व्यष्टिगत अंतरात्मा की जगत् और परम पुरुष से स्पष्टतः भिन्न किसी प्रकार की वास्तविकता रहती है। लेकिन मायावादी के लिये व्यष्टिगत अंतरात्मा माया के अनिर्वचनीय रहस्य के बाहर एक भ्रांति और अनस्तित्व है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि एक मायामय असत् संसार से, एक मायामय असत् अंतरात्मा का एक मायामय असत् बंधन से छुटकारा पाना ही वह परम कल्याण है जिसकी खोज उस असत् अंतरात्मा को करनी है ! क्योंकि यह ज्ञान का परम शब्द है कि "न कोई बद्ध है, न कोई मुक्त और न ही कोई मुमुक्षु"। विद्या भी उसी तरह आभासी जगत् का एक भाग सिद्ध होती है जैसे अविद्या। माया हमारे छुटकारे के समय भी हमसे आ मिलती है और उस विजयी तर्क पर हंसती है जिसके बारे में ऐसा लगता था कि उसने माया के रहस्य की गांठ काट दी है।

कहा जाता है कि इन चीजों की व्याख्या नहीं की जा सकती। ये आद्य चमत्कार हैं जिनका कोई समाधान नहीं। ये हमारे लिये व्यावहारिक तथ्य हैं और इन्हें स्वीकारना होगा। हमें एक संभ्रांति में से एक और संभ्रांति द्वारा निकलना होगा। व्यष्टिगत अंतरात्मा अहं की एक परम क्रिया के द्वारा, अपनी व्यक्तिगत मुक्ति पर ऐकांतिक संलग्नता द्वारा ही अहं की गांठ को काट सकती है जिसका मतलब होता है माया के अंदर उसके पृथक् अस्तित्व का प्रतिष्ठापन। हम ऐसा मानने लग जाते हैं मानों अन्य अंतरात्माएं हमारी कपोल-कल्पनाएं हैं और उनकी मुक्ति का महत्त्व नहीं, मानों हमारी अंतरात्मा ही पूर्णतया सत्य है और उसकी मुक्ति ही एकमात्र महत्त्व की चीज है। मैं बंधन से अपने निजी छुटकारे को वास्तविक मानने लगता हूं जब कि अन्य अंतरात्माएं जो समान रूप से मेरा अपना स्व हैं पीछे बंधन में पड़ी रह जाती हैं !

जब हम आत्मा और जगत् के बीच के सभी मेल न खा सकनेवाले विरोधों को एक ओर हटा देते हैं तभी कम विरोधाभासी तर्क द्वारा चीजें अपने-अपने स्थान पर आ पाती हैं। हमें अभिव्यक्ति की बहुमुखता को स्वीकार कर लेना चाहिये, उस समय भी जब हम अभिव्यक्त के ऐक्य पर बल दे रहे हों। तो क्या यही वह सत्य नहीं है जो, हम जिधर भी नजर घुमाएं उधर ही दिखायी देता है लेकिन अगर हम देखते हुए भी न देखना चाहें तो और बात है। तो क्या आखिर सचेतन सत्ता का

यह पूर्णतया स्वाभाविक और सरल रहस्य नहीं है कि वह न अपने ऐक्य से बंधा है न बहुलता से? वह इस अर्थ में 'निरपेक्ष' है कि वह आत्माभिव्यक्ति की सभी संभव अवस्थाओं को चुनने और अपने ढंग से व्यवस्थित करने के लिये पूरी तरह स्वतंत्र है। न कोई बद्ध है, न मुक्त और न ही मुमुक्षु,—क्योंकि सर्वदा वह 'तत्' पूर्ण स्वाधीनता है। वह इतना स्वतंत्र है कि वह अपनी स्वतंत्रता से भी बंधा नहीं है। वह सचमुच बंधन में आये बिना बद्ध होने का खेल खेल सकता है। उसकी बेड़ी स्वयं उसकी अपनी आरोपित परिपाटी होती है, उसका अपने-आपको अहं के अंदर सीमित करना एक संक्रमणकालीन साधन है जिसका उपयोग वह अपनी वैश्व और विश्वातीत स्थितियों को व्यष्टिगत ब्रह्म की योजना में दोहराने में करता है।

परात्पर, विश्वातीत है, देश और काल के परे, अनंत और सांत के काल्पनिक विरोध के परे अपने-आपमें निरपेक्ष और मुक्त है। परंतु विश्व में वह अपनी आत्म निर्माण की स्वाधीनता का, अपनी माया का उपयोग एकता और बहुलता के पूरक तत्त्वों में अपनी योजना बनाने के लिये करता है। वह अपने बहुमुखी ऐक्य को अवचेतन, सचेतन और अतिचेतन की तीन अवस्थाओं में स्थापित करता है। क्योंकि वास्तव में हम देखते हैं कि हमारे भौतिक जगत् में रूप के अंदर विषयभूत होनेवाले बहु का आरंभ अवचेतन एकत्व से होता है। यह एकता अपने-आपको वैश्व क्रिया और पदार्थ में काफी खुलकर प्रकट करती है लेकिन स्वयं ये उसके बारे में ऊपरी तौर पर अभिज्ञ नहीं होते। सचेतन में अहं वह ऊपरी बिंदु बन जाता है जिसमें एकता की अभिज्ञता उभर सकती है लेकिन वह एकता के बोध को रूप और तलीय कार्य के साथ संबद्ध कर देता है और जो कुछ पीछे से कार्य कर रहा है उसे दृष्टि में नहीं ला पाता और इस कारण यह भी अनुभव नहीं कर पाता कि वह न केवल अपने-आपमें एक है बल्कि औरों के साथ भी एक है। विभक्त अहं-बोध में वैश्व "मैं" की यह सीमा ही हमारे अपूर्ण व्यष्टिभावापन्न व्यक्तित्व का निर्माण करती है। लेकिन जब अहं व्यष्टिगत चेतना से परे चला जाता है तो वह उसे अपने अंदर समाविष्ट करने लगता और उसके द्वारा अभिभूत होने लगता है जो हमारे लिये अतिचेतन है। वह वैश्व ऐक्य के बारे में अभिज्ञ हो जाता है और परात्पर आत्मा में प्रवेश करता है जिसे यहां विश्व एक बहुविध एकत्व के द्वारा प्रकट करता है।

अतः व्यष्टिगत अंतरात्मा की मुक्ति ही निश्चित भागवत क्रिया का मूल सूत्र है। यह प्रथम दिव्य आवश्यकता है, यही वह धुरी है जिसपर सब कुछ घूमता है। यही वह 'प्रकाश बिंदु' है जहां से 'बहु' के अंदर अभिप्रेत पूर्ण आत्माभिव्यक्ति उभरनी शुरू होती है। परंतु मुक्त अंतरात्मा अपने एकत्व के बोध को क्षैतिज और ऊर्ध्वाधर दोनों रूपों में फैलाती है। परात्पर 'एक' के साथ उसका एकत्व, वैश्व 'बहु' के साथ एकत्व के बिना, अपूर्ण रहता है। और वह पार्श्विक एकत्व अपने-आपको गुणा द्वारा अपनी मुक्तावस्था को बहुत्व के अन्य बिंदुओं पर दोहराकर

अनूदित करता है। जैसे पशु अपने-आपको अपने जैसे शरीरों में उत्पन्न करता है उसी तरह दिव्य आत्मा अपने-आपको अपने जैसी मुक्त आत्माओं में उत्पन्न करती रहती है। अतः जब कभी एक भी अंतरात्मा मुक्ति पाती है तो हमारी पार्थिव मानव जाति के अंदर दूसरी व्यष्टि अंतरात्माओं में उसी दिव्य आत्मचेतना के फैलाव या विस्फोट की वृत्ति होती है—और कौन जाने, शायद पार्थिव चेतना के परे भी। हम उस फैलाव की सीमा कहां निश्चित करेंगे ? क्या यह एक कहानी मात्र है जो कहती है कि जब बुद्ध निर्वाण या असत् की देहली पर खड़े थे तो उनकी अंतरात्मा लौट पड़ी और उसने यह प्रण किया कि वह इस अटल देहली को तबतक न लांघेगी जबतक पृथ्वी पर एक भी सत्ता ऐसी रहेगी जो दुःख-दर्द की गांठ से, अहंकार के बंधन से मुक्त न हो।

लेकिन हम अपने-आपको वैश्व विस्तार से मिटाये बिना उच्चतम को प्राप्त कर सकते हैं। ब्रह्म अपनी दो अवस्थाओं को आंतरिक स्वाधीनता और बाह्य रूपायण की, अभिव्यक्ति और अभिव्यक्ति से मुक्ति की दोनों अवस्थाओं को सदा बनाये रखता है। हम भी 'तत्' होने के नाते उसी दिव्य स्वाधिपत्य को प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे समस्त जीवन के लिये जिसका लक्ष्य है वस्तुतः दिव्य होना, यह आवश्यक है कि इन दोनों प्रवृत्तियों का सामंजस्य किया जाये। हमें जिस चीज को पार करना है उसका बहिष्कार करते हुए स्वतंत्रता पाना हमें नकार के मार्ग से उसे अस्वीकार करने की ओर ले जाता है जिसे भगवान् ने स्वीकार किया है। कर्म और ऊर्जा में तन्मय होकर क्रियाशीलता को स्वीकारने से हम निम्नतर को स्वीकार और उच्चतर को अस्वीकार करने की ओर ले जाये जाते हैं। लेकिन भगवान् जिनमें मेल और समन्वय साधते हैं, उनमें संबंध-विच्छेद का मनुष्य क्यों आग्रह करे ? तत् की समग्र उपलब्धि की शर्त है तत् के समान पूर्ण होना।

संक्रमणशील अहंकारमय आत्माभिव्यक्ति में मृत्यु और दुःख-दर्द की प्रधानता है। हमारे लिये उसमें से बाहर निकलने का मार्ग अविद्या में से, बहुलता में से होकर जाता है। अविद्या को सहमति देनेवाली विद्या के द्वारा, बहुलता के अंदर भी एकत्व के पूर्ण भाव के द्वारा हम समग्र रूप से अमरता और आनंद का भोग करते हैं। समस्त संभूति के परे 'अजन्मे' को प्राप्त करके हम निम्नतर जन्म-मरण से छुटकारा पाते हैं। भगवान् की तरह मुक्त रूप से संभूति को स्वीकार करके हम अमर आनंद द्वारा मर्त्यता पर आक्रमण करते हैं और मानव जाति में उसकी सचेतन आत्माभिव्यक्ति के ज्योतिर्मय केंद्र बन जाते हैं।

अध्याय ६

विश्व में मानव

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥

हंस (मानव अंतरात्मा, एक यात्री) ब्रह्म के इस विशाल, सर्वजीवमय, सर्वअवस्थामय चक्र में विचरण करता रहता है और अपने-आपको इस यात्रा के 'प्रेरक' से भिन्न मानता है। ब्रह्म द्वारा स्वीकृत होकर वह अपना लक्ष्य, 'अमरता' पा लेता है।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् १.६)

यह जगत्, जिसे हम देखते हैं और वे सब जगत् जिन्हें हम नहीं देख पाते उनकी बहुसंख्यक सापेक्षताओं को अपना साधन, उपादान, शर्त और क्षेत्र बनाती हुई एक महान्, तुरीय, ज्योतिर्मय, 'सद्वस्तु' का उत्तरोत्तर प्रकट होना ही विश्व का आशय प्रतीत होता है क्योंकि उसका कुछ अर्थ और लक्ष्य तो है ही। वह न तो निष्प्रयोजक माया है न आकस्मिक संयोग। क्योंकि जो तर्क हमें इस निर्णय पर लाता है कि जगत् का अस्तित्व मन की धोखा देनेवाली चालाकी नहीं है वही समान रूप से इस निश्चय का समर्थन करता है कि यह ऐसी पृथक्-पृथक् प्रपंचात्मक सत्ताओं का अंधा और असहाय स्वयंभू समूह नहीं है जो अनंत काल में अपनी यात्रा का चक्कर काटता हुआ, जहांतक बन पड़े साथ-साथ चिपका रहता और संघर्ष करता रहता है। न ही वह किसी अज्ञानमयी शक्ति का विशाल विस्मयकारी आत्मसृजन और आत्मप्रेरण है। वह ऐसा नहीं है जिसमें अपनी यात्रा के आरंभ-बिंदु और लक्ष्य का ज्ञान रखनेवाली, उसकी प्रक्रिया और गति को निर्देशित करनेवाली कोई गुप्त 'बुद्धि' न हो। एक सत्ता, जो अपने-आपसे पूर्ण रूप से अभिज्ञ है और इस कारण जिसे अपने ऊपर पूरा प्रभुत्व प्राप्त है, वह इस ऐहिक सत्ता में निवर्तित रहती है और उसपर अधिकार किये रहती है, वह अपने-आपको रूप और आकार में चरितार्थ करती और व्यक्ति के अंदर अपने-आपको प्रस्फुटित करती है।

वह ज्योतिर्मय आविर्भाव ही वह उषा है जिसकी आर्य पुरखे पूजा किया करते थे। उसकी निष्पादित पूर्णता ही जगद्व्यापी विष्णु का वह उच्चतम पद है जिसे उन्होंने मन के विशुद्धतम आकाश में फैले एक दिव्य चक्षु के रूप में देखा था। क्योंकि वह सब कुछ प्रकट करनेवाले, समस्त निर्देशन देनेवाले वस्तुओं के सत्य के रूप में पहले से मौजूद है जो सारे संसार पर नजर रखता है और मर्त्य मनुष्य को पहले तो उसके सचेतन मन की जानकारी के बिना, प्रकृति की सामान्य गति द्वारा

और अंत में सचेतन रूप से क्रमशः जागरण और आत्म-विस्तार द्वारा अपने दिव्य आरोहण की ओर आकर्षित करता है। दिव्य जीवन की ओर आरोहण ही मानव यात्रा है, कर्मों का 'कर्म' और स्वीकार्य 'यज्ञ' है। जगत् में मनुष्य का यही सच्चा कार्य है, यही उसके जीवन का औचित्य है, इसके बिना वह बस एक रेंगता हुआ कीड़ा रह जायेगा जो भौतिक विश्व की भयानक विशालताओं के बीच सतही पानी और कीचड़ के संयोग से किसी तरह बने एक छोटे-से कण पर अन्य स्वल्पायु कीटों के बीच रेंगता रहेगा।

वस्तुओं के इसी 'सत्य' को दृश्य जगत् के पारस्परिक विरोधों के बीच में से उभरना है। उस 'सत्य' के बारे में यह घोषित किया गया है कि वह अनंत 'आनंद' और आत्म-सचेतन 'सत्ता' है। वह सब जगह, सभी चीजों में, सब समय और समय के परे एक समान है। वह जानता है कि इन सब आभासों के पीछे वही है किंतु इन आभासों की क्रियाशीलता के तीव्रतम स्पंदन या इनकी विशालतम समग्रता उसे कभी पूरी तरह प्रकट नहीं कर सकती और न ही किसी तरह सीमित कर सकती है क्योंकि वह स्वयंभू है और अपनी सत्ता के लिये अपनी अभिव्यक्तियों पर निर्भर नहीं है। ये अभिव्यक्तियां उसका प्रतिनिधित्व करती हैं पर उसे निःशेष नहीं करतीं, उसकी ओर इशारा करती हैं पर उसे प्रकट नहीं कर सकतीं। इन सब रूपों में वह स्वयं अपने ही सामने प्रकट होता है। रूप में अंतर्लीन सचेतन सत्ता, अपने विकास के साथ-साथ अपने-आपको अंतर्भास, आत्म-दर्शन और आत्म-अनुभूति द्वारा जान पाती है। वह जगत् में अपने-आपको जानकर अपने-आप बनती है और अपने-आप बनकर अपने-आपको जानती है। इस भांति भीतर से अपने ऊपर अधिकार पाकर वह अपने रूपों और अपनी अवस्थाओं को सच्चिदानंद का सचेतन आनंद प्रदान करती है। मन, प्राण और शरीर में अनंत सच्चिदानंद की यह संभूति ही तो वह रूपांतर है जो अभीष्ट है और यही व्यष्टिगत सत्ता की उपयोगिता है—क्योंकि उनसे स्वतंत्र तो वह सदा ही बना रहता है। जैसे सच्चिदानंद ऐक्य के अंदर स्वरूप में रहता है उसी तरह व्यक्ति द्वारा संबंध में व्यक्त होता है।

वेदांत की चरम प्रस्थापना है कि एक 'अज्ञेय' है जो अपने-आपको सच्चिदानंद के रूप में जानता है। बाकी सब कुछ इसके अंदर आ जाता है या इसपर निर्भर है। यही एक सच्चा अनुभव है जो नकारात्मक भाव द्वारा सभी दृश्य वस्तुओं के आकारों और आवरणों को हटा देने पर या सकारात्मक भाव द्वारा उनके नामों और रूपों को उनके भीतर समाये नित्य सत्य में घटा देने पर भी बना रहता है। जीवन की परिपूर्ति के लिये हो या जीवन के परे जाने के लिये और चाहे हमारा लक्ष्य शुद्धि, अचंचलता और आत्मा में स्वाधीनता हो या शक्ति, आनंद और पूर्णता, सच्चिदानंद ही वह अज्ञात, सर्वव्यापक, अनिवार्य पद रहता है जिसके लिये मानव

चेतना, ज्ञान और भावना में हो या सम्वेदन और कर्म में, निरंतर खोज करती रहती है।

विश्व और व्यक्ति ऐसे दो मूल रूप हैं जिनमें अज्ञेय उतरता है और जिनके द्वारा उसके पास पहुंचा जा सकता है। क्योंकि अन्य मध्यवर्ती समुदाय इन्हींकी क्रिया-प्रतिक्रिया से पैदा होते हैं। परम सद्वस्तु का यह अवतरण अपने स्वभाव में आत्मगोपन होता है; और अवतरण में आनुक्रमिक स्तर होते हैं और गोपन में आनुक्रमिक आवरण। अनिवार्य रूप से प्रकटन आरोहण का रूप लेता है और अनिवार्य रूप से ही आरोहण और प्रकटन दोनों ही प्रगतिशील होते हैं। क्योंकि भगवान् के अवतरण में हर आनुक्रमिक स्तर मनुष्य के आरोहण के लिये एक पड़ाव होता है। अज्ञात भगवान् को छिपानेवाला हर परदा भगवान् के प्रेमी और भगवान् को खोजनेवाले के लिये उसके उद्घाटन का एक साधन बन जाता है। जड़ प्रकृति उस अंतरात्मा और 'भाव' के बारे में अचेतन होती है जो उसकी मूक और सशक्त जड़ समाधि में भी उसकी ऊर्जा की व्यवस्थित क्रियाशीलताओं को बनाये रखती है। जड़ प्रकृति की ऐसी लयबद्ध मूर्च्छा में से, जगत् संघर्ष करता हुआ, आत्म चेतना के तटों पर जूझते प्राण की अधिक तेज, विविधतापूर्ण और अव्यवस्थित लय में जा पहुंचता है। प्राण में से यह ऊपर मन की ओर प्रयास करता है जिसमें व्यक्ति स्वयं अपने और अपने जगत् की ओर जागता है और इस जागरण में विश्व को अपने सर्वोत्कृष्ट कार्य के लिये आवश्यक उत्तोलन मिल जाता है, उसे आत्म सचेतन व्यक्तित्व मिल जाता है। लेकिन मन इस कार्य को सिर्फ जारी रखने के लिये हाथ में लेता है, पूरा करने के लिये नहीं। वह तीक्ष्ण किंतु सीमित बुद्धिवाला श्रमिक है जो प्राण द्वारा दी गयी अस्तव्यस्त सामग्री को हाथ में ले, अपनी शक्ति के अनुसार उन्हें सुधारकर, अनुकूल बनाकर, विविधरूप देकर और वर्गीकृत करके हमारी दिव्य मानवता के परम 'कलाकार' के हाथों में सौंप देता है। वह 'कलाकार' अतिमानस में निवास करता है क्योंकि अतिमानस ही अतिमानव है। अतः हमारे जगत् को अभी मन के परे एक उच्चतर तत्त्व, एक उच्चतर स्थिति, एक उच्चतर क्रियाशीलता में उठना है जहां विश्व और मानव उस चीज के प्रति सचेतन होते और उसे अपने अधिकार में लेते हैं जो वे दोनों सचमुच हैं और इसलिये दोनों एक दूसरे को स्पष्ट रूप से जानते और एक दूसरे के साथ सामंजस्य में एक हो जाते हैं।

भौतिक से अधिक पूर्ण व्यवस्था के रहस्य को पहचान लेने से प्राण और मन की अव्यवस्थाएं समाप्त हो जाती हैं। प्राण और मन के नीचे स्थित जड़तत्त्व अपने अंदर शांति की पूर्ण समस्थिति और अपरिमेय ऊर्जा की क्रिया के बीच संतुलन तो रखता है परंतु वह जिसे अपने अंदर धारण किये हुए है उसका स्वामी नहीं है। उसकी शांति एक धुंधले तमस् का निस्तेज मुखौटा पहने रहती है, एक अचेतन या

यूं कहें स्वापक द्वारा लायी गयी बंदी चेतना की नींद होती है। वह एक ऐसी शक्ति से परिचालित होता है जो उसकी वास्तविक आत्मा है लेकिन अभी वह न तो उसका आशय पकड़ पाता है न उसमें भाग ले सकता है। उसके अंदर अपनी सामंजस्यपूर्ण ऊर्जाओं का जाग्रत् आनंद नहीं है।

प्राण और मन अपनी इस कमी के भाव की ओर प्रयत्न एवं खोज में लगे अज्ञान और अशांत एवं असंतुष्ट कामना के रूप में जाग्रत् होते हैं। ये आत्मज्ञान और आत्मपरिपूर्ति की ओर प्रथम चरण हैं। परंतु तब उनकी आत्मपरिपूर्ति का राज्य कहां है? यह उनके अंदर स्वयं अपना अतिक्रमण करने से आता है। मन और प्राण के परे हम सचेतन रूप से उस चीज को उसके अपने दिव्य सत्य में पाते हैं जिसे जड़ प्रकृति का संतुलन मोटे रूप में प्रदर्शित कर रहा था—एक ऐसी शांति जो न तो तमस् है न चेतना की मुहरबंद समाधि बल्कि पूर्ण शक्ति और पूर्ण आत्माभिज्ञता का केंद्रीकरण है और अपरिमेय ऊर्जा की क्रिया है जो साथ-ही-साथ अनिर्वचनीय आनंद का अतिरेक भी है क्योंकि उसकी हर एक क्रिया, किसी अभाव और अज्ञानपूर्ण प्रयास की नहीं बल्कि पूर्ण शांति और आत्मप्रभुता की अभिव्यक्ति है। इस उपलब्धि में हमारा अज्ञान उस प्रकाश को पाता है जिसका वह तमसाच्छन्न या आंशिक प्रतिबिंब था। हमारी कामनाएं उस प्रचुरता और परिपूर्णता में समाप्त हो जाती हैं जिसकी ओर ये अपने अत्यधिक जड़ भौतिक रूप में भी धूमिल और क्षीण अभीप्साएं थीं।

अपने आरोहण में व्यक्ति और विश्व दोनों एक दूसरे के लिये जरूरी हैं। वस्तुतः वे दोनों सदा ही एक दूसरे के लिये जीते और एक दूसरे से लाभ उठाते हैं। विश्व देश और काल में दिव्य सर्व का विस्तार है और व्यष्टि देश और काल की सीमाओं में उसका केंद्रीकरण। विश्व अनंत विस्तार में दिव्य समग्रता को खोजता है जिसे वह अपना स्वरूप अनुभव करता है परंतु पूरी तरह पा नहीं सकता क्योंकि विस्तार में सत्ता अपने ही बहुसंख्यक कुलयोग की तरफ बढ़ती है जो न तो उसकी मूल और न अंतिम इकाई हो सकता है, वह हो सकता है केवल आदि और अंतहीन आवर्तक दशमलव। अतः वह अपने अंदर सर्व का एक आत्म-सचेतन केंद्रीकरण पैदा कर लेता है जिसके द्वारा वह अभीप्सा कर सकता है। सचेतन व्यक्ति के अंदर प्रकृति पुरुष को देखने के लिये पीछे मुड़ती है, 'जगत्' 'आत्मा' की खोज करता है। भगवान् पूरी तरह से प्रकृति बन जाते हैं और प्रकृति उत्तरोत्तर भगवान् होना चाहती है।

और दूसरी ओर विश्व के द्वारा व्यष्टि को आत्मोपलब्धि की प्रेरणा मिलती है। विश्व केवल व्यष्टि का आधार, उसका साधन, उसका क्षेत्र, उसके भागवत कार्य का उपादान ही नहीं है बल्कि, चूंकि व्यष्टि सीमाओं के अंदर वैश्व जीवन का केंद्रीकरण भी है और चूंकि वह ब्रह्म के तीव्र ऐक्य की तरह समस्त बंधन और अवधि की

धारणा से मुक्त नहीं है, उसे अनिवार्य रूप से अपने-आपको वैश्व और निर्वैयक्तिक बनाना होगा ताकि वह दिव्य सर्व को प्रकट कर सके जो उसकी वास्तविकता है। फिर भी जब वह चेतना की वैश्व स्थिति की ओर अपने-आपको अधिक-से-अधिक विस्तृत करे तब भी उससे यह मांग की जाती है कि वह रहस्यमय और परात्पर 'कुछ चीज' को बनाये रखे जिसका एक धुंधला-सा अहंकारमय चित्रण उसके व्यक्तित्व की भावना से मिलता है। अन्यथा वह अपना लक्ष्य चूक जाता है, जो समस्या उसके आगे रखी गयी थी वह हल नहीं होती, जिस दिव्य कर्म के लिये उसने जन्म लेना स्वीकार किया था वह पूरा नहीं होता।

विश्व व्यक्ति के पास जीवन के रूप में, एक ऐसी क्रियाशीलता के रूप में आता है जिसके सारे रहस्य पर उसे अधिकार करना है, टकरानेवाले परिणामों के समूह व संभाव्य ऊर्जाओं के भंवर के रूप में आता है जिसमें से किसी परम व्यवस्था और अभीतक अप्राप्त सामंजस्य को उसे मुक्त करना है। आखिर यही तो मनुष्य की प्रगति का वास्तविक आशय है। भौतिक प्रकृति अभीतक जो कुछ प्राप्त कर चुकी है, यह उसीको थोड़े-से हेर-फेर के साथ दोहराना नहीं है। मानव जीवन का आदर्श मानसिकता के उच्चतर स्तर पर पशु की पुनरावृत्ति मात्र भी नहीं हो सकता। अन्यथा ऐसी कोई भी पद्धति या व्यवस्था जो कामचलाऊ सुख और साधारण से मानसिक संतोष का आश्वासन दे पाती हमारी प्रगति को रोक देती। पशु थोड़ी-सी आवश्यकताओं की पूर्ति से संतुष्ट रहता है और देवता अपने वैभव से संतुष्ट रहते हैं लेकिन मनुष्य तबतक स्थायी रूप से विश्राम नहीं कर सकता जबतक कि वह किसी उच्चतम शुभ या श्रेय तक न पहुंच जाये। वह जीवित प्राणियों में सबसे महान् है क्योंकि वह सबसे अधिक असंतुष्ट है, क्योंकि वह सीमाओं का दबाव सबसे अधिक अनुभव करता है। शायद एक वही है जिसे किसी सुदूर आदर्श के लिये दिव्य पागलपन पकड़ सके।

प्राणमय पुरुष के लिये मुख्य रूप से 'मनुष्य' या पुरुष ही वह व्यक्ति है जिसमें उसकी अपनी संभाव्यताएं केंद्रित होती हैं। मनुष्य के पुत्र में ही भगवान् को अपने अंदर अवतरित करने की पूर्ण क्षमता है। मनुष्य ही प्राचीन मुनियों का मनु, चिंतक, मनोमय पुरुष या मन में स्थित अंतरात्मा है। यह केवल एक उच्च कोटि का स्तनपायी पशु ही नहीं है बल्कि एक कल्पना करनेवाली अंतरात्मा है जो जड़तत्त्व में पाशविक शरीर को अपना आधार बनाती है। वह एक सचेतन नाम या न्यूमेन (नाम देवता, दिव्य शक्ति) है जो रूप को एक ऐसे साधन की तरह स्वीकार करता और उपयोग में लाता है जिसके द्वारा 'पुरुष' द्रव्य के साथ व्यवहार कर सकता है। जड़ पदार्थ में से उभरनेवाला पाशविक जीवन उसके अस्तित्व की एक निम्नतर अवस्था है। विचार, अनुभव, इच्छा, सचेतन प्रवर्तन का जीवन, जिसकी समग्रता को हम मन कहते हैं, जो जड़ पदार्थ और उसकी प्राणिक ऊर्जाओं को पकड़कर

उन्हें अपने प्रगतिशील रूपांतर के विधान के आधीन करने का प्रयास करता है, यह वह बीच की स्थिति है जिसमें वह अपना प्रभावकारी आसन जमाता है। लेकिन ऐसी ही एक उच्चतर स्थिति भी है जिसकी मनुष्य का मन खोज करता है ताकि उसे पाकर वह अपनी मनोमय और भौतिक सत्ता में उसे प्रतिष्ठित कर सके। यह व्यावहारिक प्रस्थापना ही मानव सत्ता में दिव्य जीवन का आधार है कि उसके वर्तमान स्वरूप से तत्त्वत श्रेष्ठतर कोई वस्तु है।

जब मनुष्य अपने बारे में अपनी प्रथम मानसिक धारणा से अधिक गहरे ज्ञान की ओर जाग्रत् होता है तो वह किसी ऐसे सूत्र की कल्पना करने लगता है और किसी ऐसी चीज का अनुभव करने लगता है जिसकी उसे प्रस्थापना करनी है। लेकिन उसे लगता है कि वह चीज अपने दो नकारों के बीच लटक रही है। जब वह अपनी वर्तमान उपलब्धि के परे स्थित इस आत्मचेतन अनंत सत्ता की शक्ति, ज्योति और आनंद को देखता है या उसके स्पर्श में आता है और उसे अपने मन के लिये सुगम विचार या अनुभूति की भाषा में अनूदित करता है—अनंतता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, अमरता, स्वतंत्रता, प्रेम, आनंद, भगवान् के रूप में—फिर भी उसकी दृष्टि का यह सूर्य दोहरी 'रात्रि' के बीच चमकता प्रतीत होता है, एक अंधकार नीचे और एक अधिक गहरा अंधकार परे। क्योंकि जब वह इसे पूरी तरह जानने की कोशिश करता है तो ऐसा मालूम होता है कि वह किसी ऐसी चीज में चला जाता है जिसे इनमें से कोई भी एक परिभाषा या सब मिलकर किसी तरह चित्रित नहीं कर सकतीं। अंत में उसका मन भगवान् को एक 'परे' के लिये अस्वीकार कर देता है या कम-से-कम उसे ऐसा लगता है कि भगवान् अपना अतिक्रमण कर रहे हैं, जैसी कल्पना की जाती है उससे अपने-आपको नकार रहे हैं। यहां भी, जगत् में, अपने अंदर और अपने चारों ओर, उसकी भेंट हमेशा अपनी प्रस्थापना के विरोधी तत्त्वों से होती है। मृत्यु सदा उसके साथ रहती है। सीमाएं उसकी सत्ता और अनुभूतियों को घेरे रहती हैं, भूल-भ्रांति, निश्चेतना, दुर्बलता, तमस्, दुःख, कष्ट, पीड़ा, अशुभ उसके प्रयास में निरंतर बाधा पहुंचानेवाले रहे हैं। यहां भी वह भगवान् को अस्वीकार करने के लिये विवश होता है या कम-से-कम ऐसा लगता है कि स्वयं भगवान् अपना निषेध कर रहे हैं या अपने-आपको ऐसी प्रतीति व परिणाम के अंदर छिपा रहे हैं जो सत्य तथा शाश्वत सद्वस्तु से भिन्न है।

और इस नकार के सूत्र उस दूसरे दूरवर्ती नकार की तरह उसके मन के लिये अकल्पनीय और इस कारण स्वभावतः रहस्यमय, अज्ञेय नहीं हैं बल्कि वे ज्ञेय, ज्ञात और सुनिश्चित प्रतीत होते हैं, फिर भी रहते हैं रहस्यमय ही। वह नहीं जानता कि वे क्या हैं, उनका अस्तित्व क्यों है और वे कैसे अस्तित्व में आये। वह उनकी प्रक्रियाओं को जिस तरह वे उसपर असर डालती और उसे प्रतीत होती हैं देखता है

परंतु वह उनकी तात्त्विक वास्तविकता की थाह नहीं ले पाता।

शायद उनकी थाह नहीं ली जा सकती, शायद वे भी वास्तव में तत्त्वतः अज्ञेय हैं? और यह भी हो सकता है कि तत्त्वतः उनकी कोई वास्तविकता न हो, वे एक भ्रांति, एक 'असत्' हों। कभी-कभी श्रेष्ठतर 'नास्ति' हमें 'शून्य' या असत् प्रतीत होता है, हो सकता है कि यह निम्नतर नास्ति भी अपने सार में शून्य या असत् ही हो। लेकिन जैसे इससे पहले हम उच्चतर 'असत्' की कठिनाई से बचने की राह छोड़ चुके हैं उसी तरह इस निम्नतर 'असत्' के संबंध में भी उसे छोड़ देते हैं। इस निम्नतर नकार की वास्तविकता से पूरी तरह इंकार करना या उसे केवल एक घोर भ्रांति मानना समस्या को अपने से अलग करना और अपने काम से बचना है। 'जीवन' के लिये ये सब चीजें जो भगवान् को नकारती प्रतीत होती हैं, सच्चिदानंद के विरोधी तत्त्व प्रतीत होती हैं, वास्तविक हैं चाहे वे अस्थायी ही क्यों न सिद्ध हों। ये और इनसे उल्टी चीजें शुभ, ज्ञान, आनंद, सुख, जीवन, अतिजीवन, शक्ति, बल, वृद्धि आदि जीवन की कार्यप्रणाली के असली उपादान हैं।

निश्चय ही, यह संभव है कि ये सब किसी भ्रांति के नहीं, बल्कि किसी गलत संबंध के परिणाम हों, उससे कभी न बिछुड़नेवाले संगी हों। गलत इसलिये कि यह संबंध विश्व में व्यक्ति क्या है इसकी गलत दृष्टि पर आधारित होता है और इस कारण भगवान् और प्रकृति, आत्मा और परिवेश के बारे में भी गलत मनोवृत्ति पर आधारित होता है। मनुष्य जो कुछ बन गया है उसका सामंजस्य न तो उस जगत् से है जिसमें वह निवास करता है और न उसके साथ जो उसे बनना चाहिये और वह बनेगा। इसीलिये मनुष्य वस्तुओं के गुप्त सत्य के इन विरोधों के आधीन होता है, ऐसी अवस्था में ये चीजें किसी पतन का दंड नहीं बल्कि प्रगति की शर्तें होती हैं। व्यक्ति को जो काम पूरा करना है, ये उसके प्रथम तत्त्व हैं। वह जिस मुकुट को जीतने की आशा करता है उसका दाम है जो उसे चुकाना होगा, वह संकरा मार्ग है जिससे प्रकृति जड़तत्त्व में से बच निकलकर चेतना में आती है। ये एक ही साथ प्रकृति का मुक्ति-धन और उसका मूल धन हैं।

इन मिथ्या संबंधों में से और उनकी सहायता से ही सच्चे संबंध ढूंढ़ने होंगे। 'अज्ञान' या 'अविद्या' द्वारा हमें मृत्यु को पार करना होगा। वेद भी रहस्यमय भाषा में ऐसी ऊर्जाओं के बारे में कहते हैं जो अशुभ प्रेरणावाली, पथभ्रष्ट और अपने स्वामी को क्षति पहुंचानेवाली नारियों के समान हैं, फिर भी, अपने-आप मिथ्या और दुःखी होते हुए भी ये ऊर्जाएं अंत में इस बृहत् सत्य का 'ऋतं बृहत्' का निर्माण करती हैं जो स्वयं आनंद है। तो, यह तब नहीं होगा जब वह अपनी प्रकृति में से नैतिक शल्य-क्रिया द्वारा अशुभ को काट फेंके या घृणा के साथ पीछे हटकर जीवन से किनारा कर ले बल्कि तब होगा जब व्यक्ति मृत्यु को एक अधिक पूर्ण जीवन

में बदल दे, मानव सीमाओं की छोटी-छोटी चीजों को दिव्य विशालता की महान् चीजों में उठा ले, दुःख-दर्द को आनंद में रूपांतरित कर दे, अशुभ को उचित शुभ में बदल दे, भ्रांति और मिथ्यात्व को उनके गुप्त सत्य में अनूदित कर दे, तब जाकर यज्ञ का समापन होगा, यात्रा पूरी होगी, 'पृथ्वी' और 'स्वर्ग' समान होकर 'परम पुरुष' के आनंद में हाथ मिला सकेंगे।

फिर भी ये विपरीतताएं एक से दूसरे में कैसे जा सकेंगी? किस कीमिया से मर्त्यता का यह सीसा दिव्य सत्ता के सोने में बदलेगा? लेकिन अगर वे अपने सार तत्त्व में विपरीत न हों? अगर वे एक ही सद्वस्तु की अभिव्यक्तियां हों जिनका द्रव्य एक ही है? तब निश्चय ही दिव्य रूपांतर की बात समझ में आती है।

हम देख आये हैं कि, हो सकता है कि परे का असत् एक कल्पनातीत सत्ता हो और शायद अनिर्वचनीय आनंद हो। कम-से-कम बौद्ध धर्म का निर्वाण, जिसने इस उच्चतम असत् में पहुंचने और विश्राम करने के एक अत्यंत तेजोमय मानव प्रयास का प्रतिपादन किया, वह मुक्त होकर भी धरती पर रहनेवाले लोगों के मानस में अवर्णनीय शांति और सुख के रूप में चित्रित होता है। उसका व्यावहारिक प्रभाव है समस्त अहंकारमय भाव या संवेदन के लोपन द्वारा समस्त दुःख-दर्द का गायब हो जाना। और उसकी जिस निकटतम सकारात्मक कल्पनातक हम पहुंच सकते हैं वह यह कि वह एक अनिर्वचनीय 'परम आनंद' है (अगर इस नाम का या किसी और नाम का उपयोग इस तरह की अंतर्वस्तु-विहीन शांति के लिये किया जा सके) जिसमें अपने होने का भाव भी निगल लिया जाता है और गायब हो जाता है। यह एक ऐसा सच्चिदानंद है जिसके लिये हम सत्, चित् और आनंद की परम संज्ञाओं का उपयोग नहीं कर सकते क्योंकि वहां सभी संज्ञाएं रद्द हो जाती हैं और सभी संज्ञानात्मक अनुभूतियों का अतिक्रमण हो जाता है।

दूसरी ओर हमने यह प्रस्ताव रखने का साहस किया है कि चूंकि सब कुछ एक ही सद्वस्तु है इसलिये यह निम्नतर नकार भी, सच्चिदानंद का यह दूसरा प्रतिवाद या असत्-भाव भी, स्वयं सच्चिदानंद के अतिरिक्त कुछ नहीं है। बुद्धि द्वारा उसकी कल्पना की जा सकती है, अंतर्दर्शन में उसे प्रत्यक्ष देखा जा सकता है, संवेदन द्वारा उसे ग्रहण किया जा सकता है मानों सचमुच वह वही हो जिसे वह नकारता प्रतीत होता है। और यदि चीजें किसी बहुत बड़ी मौलिक भ्रांति द्वारा, किसी अभिभूत और विवश करनेवाले अज्ञान, माया या अविद्या द्वारा मिथ्या न कर दी जातीं तो हमारी सचेतन अनुभूति के लिये सदा ऐसा ही रहता। इस अर्थ में एक समाधान खोजा जा सकता है लेकिन शायद वह तार्किक मन के लिये संतोषजनक तत्त्वदर्शनात्मक समाधान न हो,—क्योंकि हम अज्ञेय, अनिर्वचनीय की सीमा-रेखा पर खड़े हैं और उसके परे देखने के लिये आंखों पर जोर डाल रहे हैं—परंतु वह दिव्य जीवन की साधना के लिये अनुभूति का एक समुचित आधार हो सकता है।

यह करने के लिये हमें चीजों की उन स्पष्ट सतहों के नीचे जाने का साहस करना चाहिये जिनपर रहना मन को सदा प्रिय लगता है। हमें विशाल और अंधकारमय को लुभाने का, चेतना की अथाह गहराइयों में पैठने का और सत्ता की ऐसी अवस्थाओं के साथ तादात्म्य करने का अभ्यास करना होगा जो हमारी अपनी नहीं हैं। ऐसी खोज में मानव भाषा सहायता देने लायक नहीं, किंतु हम उसमें कम-से-कम कुछ ऐसे संकेत और रूप पा सकते हैं, कुछ ऐसे अभिव्यक्त किये जा सकनेवाले संकेत लेकर लौट सकते हैं जो अंतरात्मा के प्रकाश को सहायता देंगे और मन पर उस अनिर्वचनीय आयोजन का प्रतिबिंब डालेंगे।

अध्याय ७

अहं और द्वंद्व

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

'प्रकृति' के उसी वृक्ष पर बैठी हुई अंतरात्मा तल्लीन और मोह में फंसी हुई, शोक पाती है क्योंकि वह ईश या प्रभु नहीं है। लेकिन जब वह दूसरी आत्मा को और उसकी महिमा को देखती है जो ईश है और उसके संपर्क में होती है तो शोक उससे चला जाता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् ४.७

यदि सब कुछ सचमुच सच्चिदानंद ही है तो मृत्यु, दुःख-दर्द, अशुभ और सीमाएं केवल विकृति लानेवाली चेतना की रचनाएं ही हो सकते हैं जो व्यावहारिक प्रभाव में सकारात्मक और सारतत्त्व में नकारात्मक रचनाएं हैं। और यह चेतना अपने समग्र और एकता लानेवाले स्व-विषयक ज्ञान से च्युत होकर विभाजन और आंशिक अनुभूति की किसी भ्रांति में जा गिरी है। यह मनुष्य का वही पतन है जिसका यहूदियों के 'उत्पत्ति के अध्याय' में काव्यमय कथा के रूप में वर्णन है। यह पतन भगवान् को और अपने-आपको या यूं कहें, अपने अंदर भगवान् को पूरी तरह और शुद्ध रूप में स्वीकार करने से पतन है। यह एक विभाजनकारी चेतना में पतन है जो अपने साथ द्वंद्वों की जीवन-मरण, शुभ-अशुभ, हर्ष-विषाद, पूर्णता और अभाव की शृंखला लाती है जो विभक्त सत्ता का फल है। यही वह फल है जिसे आदम और हौआ, 'पुरुष' और 'प्रकृति', प्रकृति द्वारा लुभाये गये पुरुष ने खाया है। व्यक्ति में वैश्व अवस्था की और भौतिक चेतना में आध्यात्मिक अवस्था की पुनः प्राप्ति के द्वारा उद्धार होता है। उसके बाद ही प्रकृति में स्थित अंतरात्मा को जीवन के वृक्ष का फल खाने दिया जा सकता है और तभी वह भगवान् जैसी हो सकती है और सदा वैसी ही रह सकती है। क्योंकि तभी भौतिक चेतना के अंदर उसके अवतरण का प्रयोजन सिद्ध हो सकता है जब शुभ और अशुभ, हर्ष-शोक, जीवन और मृत्यु का ज्ञान प्राप्त हो जाये, जो मानव आत्मा के द्वारा उच्चतर ज्ञान की पुनः प्राप्ति से मिलता है। यह उच्चतर ज्ञान इन विरोधी तत्त्वों का वैश्व चेतना में मेल बैठा कर उन्हें एक कर देता है और उनके विभाजनों को दिव्य एकता की प्रतिमा में रूपांतरित कर देता है।

जो सच्चिदानंद सभी चीजों में अधिक-से-अधिक व्यापक सामान्य भाव और निष्पक्ष वैश्व भाव में फैला हुआ है उसके लिये मृत्यु, कष्ट, अशुभ और सीमाएं,

अधिक-से-अधिक, अपने से एकदम उल्टी अवस्थाएं और अपने से विपरीत ज्योतिर्मय अवस्थाओं के छाया-रूप ही हो सकते हैं। हम इन्हें जिस रूप में अनुभव करते हैं वह असंगति के सुर हैं। जहां एकता होनी चाहिये वहां वे पृथक्ता की, जहां समझ होनी चाहिये वहां गलतफहमी की रचना करते हैं, जहां वृंद-वाद्य के साथ अपनी संगति साधने का प्रयास होना चाहिये वहां अपनी ढपली अपना राग अलापने का प्रयास करते हैं। सारी समग्रता, चाहे वह वैश्व स्पंदनों की किसी एक ही योजना में हो या चाहे वह केवल भौतिक चेतना की समग्रता हो, जिसे अपने से परे और पीछे गति करनेवाली चीजों पर कोई अधिकार न हो, तो भी उसे उस हदतक सामंजस्य की ओर प्रत्यावर्तन और विसंगत विरोधों में समन्वय होना चाहिये। इसके विपरीत जो सच्चिदानंद विश्व के रूपों से परात्पर है उसके लिये इन द्वंद्वात्मक पदों का उपयोग, इन अर्थों में समझने पर भी, उचित नहीं रहता। परात्परता रूपांतरित करती है, समाधान नहीं। वह विरोधों में मेल नहीं बैठाती; बल्कि उन्हें उनसे परे की ऐसी चीज में बदल देती है जो उनके विरोधों को मिटा देती है।

फिर भी पहले हमें व्यक्ति का समग्रता के सामंजस्य के साथ फिर से नाता जोड़ने की कोशिश करनी चाहिये। यहां हमारे लिये यह जान लेना जरूरी है कि—नहीं तो समस्या में से निकलने का कोई रास्ता ही नहीं रह जाता—हमारी वर्तमान चेतना विश्व के मूल्यों को अभी जिन पदों में प्रकट करती है वे यद्यपि मानव अनुभव और प्रगति के लिये व्यावहारिक रूप से तो उचित और न्यायसंगत हैं फिर भी वे ही एकमात्र पद नहीं हैं जिनमें इन्हें प्रकट करना संभव है। हो सकता है कि ये पूर्ण, उचित और अंतिम सूत्र न हों। जैसे हो सकता है कि हमारी इन्द्रियों और ऐंद्रिय क्षमताओं से भिन्न ऐसी इन्द्रियां और ऐंद्रिय क्षमताएं हों जो भौतिक जगत् को किसी और ही तरह, शायद ज्यादा अच्छी तरह देख सकती हों क्योंकि वे ज्यादा पूर्णता से देखती हैं। उसी तरह हो सकता है कि विश्व की अन्य मानसिक और अतिमानसिक कल्पना-शक्तियां हों जो हमारी अपनी शक्तियों से बढ़-चढ़ कर हों। चेतना की ऐसी अवस्थाएं हैं जिनमें 'मृत्यु' अमर 'जीवन' में केवल एक परिवर्तन है, दुःख-दर्द वैश्व आनंद के जलों का उग्र प्रतिक्षिप्त जल है, सीमांकन 'अनंत' का अपने ही ऊपर मुड़ना है, अशुभ शुभ का अपनी ही पूर्णता के चारों ओर चक्कर लगाना है और यह केवल अमूर्त कल्पना में ही नहीं अपितु वास्तविक दर्शन और सतत ठोस अनुभूति में पाया जाता है। चेतना की ऐसी स्थितियोंतक पहुंचना व्यक्ति की आत्म-परिपूर्णता की ओर प्रगति में उसके लिये सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य चरणों में से एक हो सकता है।

निश्चय ही, हमारी इन्द्रियों और द्वैतात्मक इन्द्रिय-मन के द्वारा दिये गये व्यावहारिक मूल्यों का अपने क्षेत्रों में मान रहना चाहिये और उन्हें साधारण जीवन-अनुभूतियों

के लिये तबतक मानक के रूप में स्वीकार करना चाहिये जबतक ज्यादा बड़ा सामंजस्य तैयार न हो जाये जिसमें वे प्रवेश कर सकें और अपने-आपको रूपांतरित कर सकें, साथ ही उन वास्तविकताओं पर उनकी पकड़ भी ढीली न हो पाये जिनका वे प्रतिनिधित्व करती हैं। ऐसे ज्ञान के बिना जो पुराने इन्द्रिय-मूल्यों को नूतन दृष्टिकोण से उनका उचित अर्थ दे, इन्द्रियों की क्षमताओं को बढ़ाना गंभीर अव्यवस्था और अक्षमता की ओर ले जा सकता है, व्यावहारिक जीवन और तर्कबुद्धि के सुव्यवस्थित और अनुशासित उपयोग के लिये अयोग्य बना सकता है। उसी तरह यदि हमारी मानसिक चेतना अहंकारमय द्वैतों के अनुभव से निकलकर समग्र चेतना के किसी पहलू के साथ अनियंत्रित एकता में विस्तार पा जाये तो वह जगत् की सापेक्षताओं पर आधारित व्यवस्था में मानवजाति के क्रियाशील जीवन में आसानी से अक्षमता और अस्तव्यस्तता ला सकती है। गीता ने ज्ञानी पुरुष को जो निषेधाज्ञा दी है कि वह अज्ञानी लोगों के जीवन-आधार और विचार-आधार को न छेड़े, उसकी जड़ में, निःसंदेह, यही चीज है क्योंकि उसके उदाहरण से वे लोग प्रेरित तो होंगे लेकिन उसकी क्रिया के सिद्धांतों को समझने में असमर्थ होने के कारण वे उच्चतर आधारतक पहुंचे बिना अपनी मूल्य-व्यवस्था को भी खो बैठेंगे।

ऐसी अव्यवस्था और अक्षमता को व्यक्तिगत रूप में स्वीकार किया जा सकता है और बहुत-सी महान् आत्माओं ने इसे एक सामयिक पथ के रूप में या ज्यादा विस्तृत सत्ता में प्रवेश के लिये मूल्य के रूप में स्वीकार किया है। किंतु मानव प्रगति का उचित लक्ष्य वस्तुओं का फिर से एक ऐसा प्रभावकारी और समन्वयात्मक पुनः-प्रतिपादन होगा जिसके द्वारा उस अधिक विस्तृत सत्ता का विधान सत्यों की एक नयी व्यवस्था में और विश्व की जीवन-सामग्री पर क्षमताओं की अधिक उचित और अधिक सशक्त क्रिया में चित्रित हो सके। इन्द्रियों के लिये सूर्य पृथ्वी के चारों ओर चक्कर काटता है। उनके लिये यही जीवन का केंद्र था और जीवन की क्रियाएं इस गलत धारणा के आधार पर व्यवस्थित हैं। सत्य इससे बिल्कुल उल्टा है। लेकिन खोज बिल्कुल बेकार होती यदि ऐसा विज्ञान न होता जो इस नयी धारणा को तर्कसंगत और सुव्यवस्थित ज्ञान का केंद्र बनाकर उनके उचित मूल्यों को इन्द्रियों के प्रत्यक्ष दर्शन पर लागू करता। इसी भांति मानसिक चेतना के लिये भगवान् व्यक्तिगत अहं के चारों ओर घूमते हैं और उनके समस्त कार्य और पद्धतियां अहंकारमय संवेदनों, भावों और धारणाओं के आगे विचारार्थ लाये जाते हैं और उन्हें वे मूल्य और व्याख्याएं प्रदान की जाती हैं जो यद्यपि वस्तुओं के सत्य के विकार और विपर्यय होते हुए भी मानव जीवन और प्रगति के अमुक विकास के लिये उपयोगी और व्यावहारिक रूप से पर्याप्त हैं। ये हमारे वस्तुओं के अनुभव में आने के व्यावहारिक व्यवस्थापन हैं जो तबतक काम दे सकते हैं जबतक हम विचारों और क्रियाशीलताओं की एक अवस्था विशेष में रहते हैं परंतु ये मानव

जीवन और ज्ञान की उच्चतम स्थिति के सूचक नहीं हैं। "सत्य ही पथ है, मिथ्यात्व नहीं", सत्य यह नहीं है कि भगवान् अहं को जीवन का केंद्र मानकर उसके चारों ओर घूमते हैं और अहं तथा उसकी द्वंद्वात्मक दृष्टि भगवान् की जांच कर सकती है बल्कि सच तो यह है कि स्वयं भगवान् ही केंद्र हैं और व्यक्ति का अनुभव अपना निजी वास्तविक सत्य तब पाता है जब उसे वैश्व और परात्पर की भाषा में जाना जाये। फिर भी ज्ञान के पर्याप्त आधार के बिना ही अहंकारजन्य धारणा के स्थान पर इस धारणा को बिठाना पुराने विचारों के स्थान पर नये परंतु साथ ही मिथ्या और मनमाने विचारों को और उचित मूल्यों की एक नियमित अव्यवस्था के स्थान पर एक उग्र अव्यवस्था को ला बिठाना होगा। ऐसी अव्यवस्था बहुधा नये दर्शनों और धर्मों के प्रारंभ की सूचना देती और उपयोगी क्रांतियों का आरंभ करती है। परंतु सच्चा लक्ष्य तभी प्राप्त होता है जब हम उचित केंद्रीय धारणा के चारों ओर एक ऐसे तर्कसंगत और प्रभावकारी ज्ञान को एकत्र कर सकें जिसमें अहंकारी जीवन अपने सभी मूल्यों को रूपांतरित और संशोधित रूप में फिर से पा सके। तब हमें सत्यों की वह नयी व्यवस्था प्राप्त होगी जो हमारे लिये इस बात को संभव बनायेगी कि अभी हम जो जीवन जी रहे हैं उसके स्थान पर अधिक दिव्य जीवन प्रतिष्ठित कर सकें और विश्व की जीवन-सामग्री पर अपनी क्षमताओं का एक अधिक दिव्य और समर्थ प्रयोग सफलता के साथ कर सकें।

अखंड मानव के नये जीवन और शक्ति को अनिवार्य रूप से उन महान् सत्यों की उपलब्धि पर आधारित होना चाहिये जो दिव्य जीवन की प्रकृति को, वस्तुओं को समझने की हमारी पद्धति में अनूदित कर सकें। इस नये जीवन को जिन चीजों के द्वारा अग्रसर होना होगा वे हैं कि अहं अपने मिथ्या दृष्टिकोण और मिथ्या निश्चितियों का त्याग करे और यह अहं जिन समग्रताओं का अंग है और जिन तुरीय अवस्थाओं में से उतरा है उनके साथ उचित संबंध और सामंजस्य में प्रवेश करे और उस सत्य और विधान की ओर पूर्ण आत्मोद्घाटन करे जो उसकी अपनी रूढ़ मान्यताओं का अतिक्रमण करते हैं—एक ऐसा सत्य जो उसकी परिपूर्ति होगा, एक ऐसा विधान जो उसकी मुक्ति होगा। इस जीवन का लक्ष्य होना चाहिये उन मूल्यों का विलोपन जो वस्तुओं के बारे में उसकी अहंकारजन्य दृष्टि की सृष्टि हैं, उसका मुकुट होना चाहिये सीमा, अज्ञान, मृत्यु, पीड़ा और अशुभ का अतिक्रमण।

यहां धरती पर और हमारे मानव जीवन में अतिक्रमण और विलोपन तबतक संभव नहीं हैं जबतक हमारे जीवन के तत्त्व अनिवार्य रूप से वर्तमान अहंकारमय मूल्यों के साथ बंधे रहें। यदि स्वभावतः जीवन एक व्यष्टिगत प्रपंच है, किसी वैश्व सत्ता का प्रतिरूप और एक महान् 'प्राण-पुरुष' का श्वास नहीं है, यदि व्यक्ति के संपर्क के प्रत्युत्तररूप द्वैत केवल प्रत्युत्तर न होकर समस्त जीवन का सारतत्त्व और उसकी आवश्यक परिस्थिति है, यदि ससीमता उस पदार्थ का अविच्छेद्य रूप है

जिससे हमारा मन और शरीर बने हैं, यदि मृत्यु द्वारा विघटन समस्त जीवन की प्रथम और अंतिम अवस्था है, उसका आदि और अंत है, यदि सुख और दुःख समस्त संवेदन के अविभेद्य दोहरे उपादान हैं, यदि हर्ष और विषाद सभी भावावेगों के अनिवार्य प्रकाश और छाया रूप हैं, सत्य और भ्रांति दो ध्रुव हैं जिनके बीच समस्त ज्ञान को सदा घूमना पड़ेगा तब अतिक्रमण मानव जीवन का त्याग कर समस्त अस्तित्व के परे निर्वाण में जाकर ही संभव होगा या किसी अन्य लोक में, किसी ऐसे स्वर्ग में जाने से ही संभव होगा जो इस भौतिक विश्व से एकदम अलग तरह से बना हो।

साधारण रूढ़िबद्ध मन के लिये, जो हमेशा अपने भूत और वर्तमान साहचर्यों से बंधा रहता है, ऐसे जीवन की कल्पना बहुत आसान नहीं है जो मानव रहते हुए भी, हमारी वर्तमान निश्चित परिस्थितियों में रहते हुए भी मूल रूप से बदला हुआ हो। हमारे लिये जो उच्चतर विकास संभव है उसकी तुलना में हम बहुत कुछ उसी स्थिति में हैं जिसमें डार्विन के सिद्धांत का आदिम 'वानर'। आदिकालीन वनों में पेड़ों पर सहज बोध का जीवन बितानेवाले उस 'वानर' के लिये यह कल्पना करना असंभव रहा होगा कि एक दिन धरती पर एक ऐसा पशु आयेगा जो अपने भीतरी और बाहरी जीवन की सामग्री पर तर्कबुद्धि नामक एक नयी क्षमता का उपयोग करेगा। जो उस क्षमता के द्वारा अपनी सहज वृत्तियों और आदतों को वश में करेगा, अपने भौतिक जीवन की परिस्थितियों को बदल डालेगा, अपने लिये पत्थर के भवन बनायेगा, 'प्रकृति' की शक्तियों से काम लेगा, सागरों पर नौका चलायेगा, हवा पर सवारी करेगा, आचार-व्यवहार के नियम बनायेगा और अपने मानसिक व आध्यात्मिक विकास के लिये सचेतम उपाय विकसित करेगा। और अगर 'वानर' मन के लिये ऐसी कल्पना संभव भी होती तो भी उसके लिये यह कल्पना करना तो असंभव ही होता कि प्रकृति की किसी प्रगति द्वारा या इच्छा-शक्ति और प्रवृत्ति के लंबे प्रयास के द्वारा वह स्वयं उस पशु में विकसित हो सकेगा। चूंकि मनुष्य ने तर्क-बुद्धि पा ली है और इससे भी बढ़कर चूंकि उसने कल्पना और अंतर्भास की शक्ति का उपयोग किया है इसलिये वह अपने से ऊंचे जीवन के बारे में सोच सकता है और अपनी वर्तमान अवस्था का अतिक्रमण कर उस जीवन में व्यक्तिगत रूप से उठ जाने की परिकल्पना कर सकता है। चरम अवस्था के बारे में उसकी परिकल्पना ऐसी है कि जो कुछ भी उसकी कल्पना में भावात्मक है और उसकी अंतर्भासात्मक अभीप्सा के लिये वांछनीय है उसका निरपेक्ष और संपूर्ण रूप है—एक ऐसा 'ज्ञान' जिसमें उसके नकारात्मक रूप भूल-भ्रांति की छाया न हो, ऐसा 'आनंद' जिसमें उसके नकारात्मक रूप दुःख-दर्द का अनुभव न हो, ऐसी 'शक्ति' जिसमें उसकी सतत निषेधरूप अक्षमता न हो और ऐसी 'पवित्रता' और 'परिपूर्णता' जिसमें उनके विरोधी भाव, दोष और ससीमता न हों। इसी भांति वह

अपने देवताओं की कल्पना करता है, इसी भांति वह अपने स्वर्ग की रचना करता है। परंतु उसकी बुद्धि संभाव्य पृथ्वी और संभाव्य मानव जाति की इसी तरह से कल्पना नहीं करती। 'देवताओं' और 'स्वर्ग' के बारे में उसका स्वप्न वस्तुतः उसकी अपनी पूर्णता का ही स्वप्न होता है, लेकिन उसे यहां व्यवहारतः चरितार्थ करना ही उसका अंतिम लक्ष्य है। इसे स्वीकारने में उसे वही कठिनाई होती है जो उसके पूर्वज 'वानर' को होती यदि उससे कहा जाता कि वह अपने-आपको भावी मानव के रूप में मान ले। उसकी कल्पना और उसकी धार्मिक अभीप्साएं उसके आगे यह लक्ष्य रख सकती हैं लेकिन जब उसकी बुद्धि कल्पना और लोकोत्तर अंतर्भास को नकारते हुए अपना दावा पेश करती है तो मनुष्य उसे भौतिक जगत् के कठोर तथ्यों के विपरीत एक चमकता अंधविश्वास कहकर टाल देता है। यह लक्ष्य उसके लिये किसी असंभव की ओर प्रेरणा देनेवाला दृश्य मात्र रह जाता है। उसके अनुसार जो कुछ संभव है वह है: ज्ञान, सुख, शक्ति और शुभ का केवल अनुकूलित, सीमित और अस्थिर रूप।

लेकिन स्वयं बुद्धि तो तत्त्व में एक 'लोकोत्तरता' की प्रस्थापना है क्योंकि बुद्धि अपने समग्र लक्ष्य और सारतत्त्व में 'ज्ञान' की खोज है यानी भ्रांति का निराकरण करके 'सत्य' की खोज। उसकी दृष्टि, उसका लक्ष्य किसी बड़ी भ्रांति से छोटी भ्रांति की ओर जाना नहीं है बल्कि वह एक भावात्मक, पहले से ही उपस्थित 'सत्य' को मानती है जिसकी ओर हम ठीक ज्ञान और गलत ज्ञान के द्वित्तों में से गुजरते हुए उत्तरोत्तर प्रगति कर सकते हैं। यदि हमारी बुद्धि में मानव जाति की अन्य अभीप्साओं के प्रति वैसी ही सहज वृत्तिवाली निश्चिति नहीं है तो उसका कारण यह है कि वहां उस तात्त्विक प्रकाश का अभाव है जो उसकी अपनी भावात्मक क्रियाशीलता में अंतर्निहित रहता है। हम सुख की भावात्मक या पूर्ण उपलब्धि की धारणा बना सकते हैं क्योंकि हृदय, जिसमें सुख की सहज वृत्ति का वास है उसमें निश्चिति का अपना रूप होता है, और वह श्रद्धा की क्षमता रखता है, क्योंकि हमारे मन उस अतृप्त अभाव के विलोपन की कल्पना कर सकते हैं जो दुःख-दर्द का ऊपर से दीखनेवाला कारण है। लेकिन हम स्नायविक संवेदन से पीड़ा और शारीरिक जीवन से मृत्यु के निष्कासन की बात कैसे सोच सकते हैं? फिर भी पीड़ा को दूर करना संवेदनों की सबसे बड़ी सहज वृत्ति है, हमारी जीवनी शक्ति के तत्त्व में मृत्यु को अस्वीकार करने की मांग अंतर्निहित है। लेकिन ये चीजें हमारी बुद्धि के आगे सहजवृत्ति-मूलक अभीप्सा के रूप में आती हैं, ऐसी संभाव्यताओं के रूप में नहीं जिन्हें चरितार्थ किया जा सकता है।

फिर भी सब जगह एक ही नियम लागू होना चाहिये। व्यावहारिक बुद्धि की भूल यह है कि वह आभासी तथ्य के, जिसे वह तुरंत वास्तविक रूप में अनुभव कर सकती है, बहुत ज्यादा आधीन रहती है और उसमें इतना साहस नहीं होता कि

संभाव्य के अधिक गहरे तथ्यों को तर्क-संगत निष्कर्षों तक ले जा सके। अभी जो है, वह अतीत की संभाव्यताओं की चरितार्थता है और आज की संभाव्यता भावी उपलब्धि का संकेत है। और यहां संभाव्यता मौजूद है क्योंकि जगत् के व्यापारों पर अधिकार प्राप्त करना उनके कारणों और प्रक्रियाओं के ज्ञान पर निर्भर है और अगर हम भ्रांति, दुःख, पीड़ा, मृत्यु का कारण जान लें तो कुछ आशा के साथ उनके निष्कासन के लिये श्रम कर सकते हैं क्योंकि ज्ञान ही शक्ति और प्रभुता है।

वस्तुतः जहांतक बन पड़े, हम आदर्श के रूप में इन नकारात्मक या विरोधी व्यापारों के निष्कासन के लिये प्रयास करते हैं। हम सदा भ्रांति, पीड़ा और दुःख के कारणों को कम करने की कोशिश करते हैं। जैसे-जैसे विज्ञान की जानकारी बढ़ती जाती है वह संतति-नियमन के और यदि मृत्यु पर पूर्ण विजय न पायी जा सके तो जीवन को अनिश्चित कालतक लंबा करने के स्वप्न ले रहा है। लेकिन चूंकि हम केवल बाहरी या गौण कारणों को ही देखते हैं अतः हम उन्हें दूरतक खदेड़ देने की बात ही सोच सकते हैं, और जिन चीजों के विरुद्ध हम संघर्ष कर रहे हैं उनकी असली जड़ों को निकाल देने की बात नहीं सोच पाते। इस भांति हम सीमित हो जाते हैं क्योंकि हम गौण बोध की ओर प्रयास करते हैं, मौलिक ज्ञान के लिये नहीं, क्योंकि हम वस्तुओं की प्रक्रिया को ही जानते हैं उनके सारतत्त्व को नहीं। इस तरह हम परिस्थितियों के अधिक सशक्त परिचालनतक ही पहुंच पाते हैं, उनपर आवश्यक नियंत्रण नहीं कर पाते। लेकिन यदि हम भ्रांति, दुःख और मृत्यु के मूलगत स्वभाव और सारभूत कारण को पकड़ सकें तो हम उनपर अधिकार पाने की आशा कर सकते हैं और यह अधिकार सापेक्ष नहीं पूर्ण होना चाहिये। हम उन्हें पूरी तरह निकाल बाहर करने की भी आशा कर सकते हैं और संपूर्ण शुभ, आनंद, ज्ञान और अमरता लाभ करके अपनी प्रकृति की प्रबल सहज वृत्ति का औचित्य सिद्ध कर सकते हैं। हमारे अंतर्भास इन्हें ही मानव सत्ता की सच्ची और चरम स्थिति मानते हैं।

प्राचीन वेदांत अपनी ब्रह्मविषयक धारणा और अनुभूति में इस तरह का एक समाधान हमारे आगे रखता है कि ब्रह्म ही वैश्व और सारभूत तथ्य है और ब्रह्म का स्वभाव है सच्चिदानंद।[1]

इस दृष्टि से समस्त जीवन का सारतत्त्व है एक वैश्व और अमर सत्ता की गति, समस्त संवेदन और भाव का सारतत्त्व है सत्ता में वैश्व और स्वयंभू आनंद की लीला, समस्त विचार और बोध या प्रत्यक्ष दर्शन का सारतत्त्व है वैश्व और सर्वव्यापक सत्य का विकिरण, समस्त क्रियाशीलता का सारतत्त्व है वैश्व और स्वतःप्रभावी शुभ की प्रगति।

परंतु यह लीला और गतिविधि अपने-आपको रूपों की बहुविधता, वृत्तियों की

[1] सर्वं खल्विदं ब्रह्म, सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म।—अनु०

विविधता, ऊर्जाओं की पारस्परिक क्रीड़ा में मूर्तिमान करती है। बहुविधता निर्धारण करनेवाले और कुछ समय के लिये विकृति लानेवाले तत्त्व के, व्यक्तिगत अहं के हस्तक्षेप को अनुमति देती है। अहं का स्वभाव है बाकी लीला की ओर से ऐच्छिक अज्ञान द्वारा चेतना का अपने-आपको सीमित कर लेना और एक ही रूप में, प्रवृत्तियों के एक ही समवाय में, ऊर्जाओं की गतिविधि के एक ही क्षेत्र में उसकी ऐकांतिक तल्लीनता। अहं ही वह तत्त्व है जो भ्रांति, दुःख, पीड़ा, अशुभ, मृत्यु की प्रतिक्रियाओं का निर्धारण करता है। क्योंकि अहं ही उन गतिविधियों को ये मूल्य देता है जो अन्यथा अपने उचित संबंध में एकमेव 'सत्', 'आनंद', 'सत्य' और 'शुभ' के रूप में व्यक्त होतीं। उचित संबंध को पुनः प्राप्त करके हम अहं द्वारा निर्धारित प्रतिक्रियाओं का निष्कासन कर सकते हैं और अंततः उन्हें अपने सच्चे मूल्यों में ला सकते हैं। और यह पुनः प्राप्ति व्यक्ति के समग्र की चेतना और समग्रता जिसका प्रतिनिधित्व करती हैं उस परात्पर की चेतना में उचित रूप से भाग लेने से संपन्न होती है।

बाद के वेदांत में यह विचार घुस आया और दृढ़ हो गया कि सीमित अहं न केवल द्वित्तों का कारण है बल्कि विश्व के अस्तित्व की अनिवार्य स्थिति भी है। अहं के अज्ञान और उससे आनेवाली सीमाओं से पिंड छुड़ाकर निश्चय ही हम द्वंद्वों से छुटकारा पा लेते हैं पर उनके साथ ही साथ हम वैश्व गतिविधि में से अपना अस्तित्व भी मिटा देते हैं। इस भांति हम इस बात पर लौट आते हैं कि मानव सत्ता का स्वभाव तत्त्वतः अशुभ और भ्रमात्मक है और जगत् के जीवन में पूर्णता लाने के सभी प्रयास व्यर्थ हैं। यहां हम केवल एक सापेक्ष शुभ की ही खोज कर सकते हैं जो हमेशा अपने विरोधी तत्त्व के साथ जुड़ा रहता है। लेकिन अगर हम उस अधिक बड़े और गहरे भाव पर दृढ़ रहें कि अहं अपनेसे परे की किसी चीज का मध्यवर्ती प्रतिरूप मात्र है, तो हम इस परिणाम से बच सकते हैं और वेदांत का प्रयोग केवल जीवन से पलायन के लिये नहीं बल्कि उसकी परिपूर्ति के लिये भी कर सकते हैं। विश्व के अस्तित्व का मूल कारण और स्थिति है भगवान्, ईश्वर या 'पुरुष' जो व्यष्टियों और वैश्व रूपों को अभिव्यक्त करता और उनमें निवास करता है। सीमित अहं चेतना का एक मध्यवर्ती प्रपंच मात्र है जो विकास की किसी विशेष धारा के लिये जरूरी है। इस धारा का अनुसरण करते हुए व्यष्टि वहांतक पहुंच सकता है जो स्वयं उसके परे है, जिसका वह प्रतिरूप है। इसके बाद भी वह उसका प्रतिनिधित्व कर सकता है किंतु अब एक अंधेरे और सीमित अहं के रूप में नहीं बल्कि भगवान् और वैश्व चेतना के एक केंद्र के रूप में जो समस्त व्यक्तिगत निर्धारणों को अंगीकार करता, उनका उपयोग करता और भगवान् के साथ सामंजस्य में उन्हें रूपांतरित कर देता है।

तो हम देखते हैं कि भौतिक प्रकृति की समग्रता में भागवत 'चेतन सत्ता' की

अभिव्यक्ति जड़ भौतिक विश्व में मानव सत्ता का आधार है। उस 'चेतन सत्ता' का अंतर्लीन और अनिवार्य रूप से विकास पाते हुए प्राण, मन और अतिमानस में से ऊपर उभरना ही हमारी क्रियाशीलताओं का अर्थ है। क्योंकि इस विकास ने ही मनुष्य को 'जड़' में प्रकट होने योग्य बनाया है और यह विकास ही उसे भगवान् को शरीर में उत्तरोत्तर प्रकट करने के योग्य बनायेगा। यह होगा वैश्व 'अवतार'। अहंकारमय रचना में वह मध्यवर्ती और निर्धारक तत्त्व है जो एक सामान्य, अस्पष्ट, आकारहीन, विशिष्टताहीन सर्व में से, जिसे हम अवचेतन कहते हैं और जो ऋग्वेद का 'हृद्य समुद्र' है, उसमें से 'एकमेव' को सचेतन 'बहु' के रूप में प्रकट होने देता है। हम जीवन और मृत्यु, हर्ष और विषाद, सुख और पीड़ा, सत्य और भ्रांति, शुभ और अशुभ के द्वंद्वों को अहंकारमय चेतना की पहली रचनाओं के रूप में पाते हैं। यह विश्व में सत्ता के समग्र सत्य, शुभ, जीवन और आनंद से अलग अपनी ही कृत्रिम रचना में एकता लाने के अहंकारमय चेतना के प्रयत्न के स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम हैं। व्यक्ति के विश्व और भगवान् के प्रति आत्मोद्घाटन द्वारा इस अहंकारात्मक रचना का विघटन उस परम सिद्धि का साधन है जिसके लिये अहंकारमय जीवन एक भूमिका मात्र है जैसे पशु जीवन मानव जीवन के लिये एक भूमिका मात्र था। सीमित अहं का रूपांतरित होकर दिव्य एकत्व और स्वतंत्रता का एक सचेतन केंद्र बन जाना और इस तरह व्यक्ति का अपने अंदर सर्व की उपलब्धि पाना ही वह पद है जहां सिद्धि हमसे आ मिलती है और अनंत एवं निरपेक्ष सत्, सत्य, शुभ और सत्ता के आनंद का उमड़कर जगत् में 'बहु' पर प्रवाहित होना ही वह दिव्य परिणाम है जिसकी ओर हमारे विकास के चक्र चल रहे हैं। यही वह परम प्रसव है जिसे 'प्रकृति माता' अपने अंदर धारण किये हुए है और जिसे जन्म देने के लिये वह प्रयत्न कर रही है।

अध्याय ८

वैदांतिक ज्ञान की प्रणाली

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥

सभी भूतों में यह आत्मा गूढ़ है, प्रकट नहीं है परंतु सूक्ष्म दृष्टिवाले उसे सूक्ष्म परा बुद्धि के द्वारा देखते हैं।

कठोपनिषद् ३.१२

लेकिन तब इस सच्चिदानंद की इस जगत् में क्या क्रिया है और वस्तुओं की किस प्रक्रिया से उसके और उसे रूप देनेवाले अहं के बीच पहले संबंध बनते और फिर अपनी पूर्णतातक ले जाये जाते हैं ? क्योंकि उन संबंधों और जिस पद्धति का वे संबंध अनुसरण करते हैं उसपर मनुष्य के लिये दिव्य जीवन का समस्त दर्शन और अभ्यास निर्भर है।

हम इन्द्रियों की साक्षी का अतिक्रमण करके और भौतिक मन की दीवार को भेदकर भगवान् के अस्तित्व की कल्पना और उसके ज्ञानतक पहुंचते हैं। जबतक हम अपने-आपको इन्द्रियों की साक्षी और भौतिक चेतनातक सीमित रखें तबतक हम भौतिक जगत् और उसके तथ्यों को छोड़कर और कुछ नहीं समझ या जान सकते। लेकिन हमारे अंदर कुछ क्षमताएं ऐसी हैं जिनसे हमारा मन ऐसी धारणाओं पर पहुंच सकता है जिनका अनुमान तो हम भौतिक जगत् के दीखते तथ्यों से तर्कणा या कल्पना-भेद के द्वारा लगा सकते हैं किंतु इनका समर्थन शुद्ध भौतिक तथ्य या भौतिक अनुभव के द्वारा नहीं होता। इन साधनों में सबसे पहला है विशुद्ध बुद्धि।

मानव बुद्धि की दो तरह की क्रिया होती है, एक मिश्रित या पराश्रित, दूसरी शुद्ध या स्वाधीन। बुद्धि जब अपने-आपको हमारी इन्द्रियों की अनुभूति के चक्र में बंद रखती, उसके नियमों को ही चरम सत्य मानती और केवल प्रकट तथ्यों के अध्ययन से ही, अर्थात् वस्तुओं के बाह्य रूपों, उनके परस्पर संबंधों, प्रक्रियाओं तथा उपयोगिताओं से ही संबंध रखती है, तब वह मिश्रित क्रिया को अपनाती है। तर्कबुद्धि की यह क्रिया जो है उसे जानने में असमर्थ रहती है। वह केवल उसीको जानती है जो दीखता है। उसके पास ऐसा कोई साहुल नहीं होता जिससे वह सत्ता की गहराइयों की थाह ले सके। वह केवल संभूति के क्षेत्रों का सर्वेक्षण कर सकती है। लेकिन तर्कबुद्धि, इसके विपरीत, अपनी शुद्ध क्रिया का आग्रह तब करती है जब हमारी इन्द्रियों के अनुभवों को आरंभबिंदु मानकर परंतु उनसे सीमित होने से इंकार करके वह उनके पीछे जाती, अपने निर्णय करती और अपने ही

अधिकार से क्रिया करती है और ऐसी व्यापक और अपरिवर्तनशील धारणाओंतक पहुंचने का प्रयास करती है जो चीजों के बाहरी रूपों के साथ नहीं बल्कि जो उन रूपों के पीछे स्थित है उसके साथ नाता जोड़ती हैं। वह यह भी कर सकती है कि बाहरी रूपों से निकलकर, उनके पीछे जो कुछ है उसमें तुरंत प्रवेश कर जाये और सीधे निर्णय द्वारा अपने परिणामतक पहुंच जाये। उस अवस्था में जो धारणाएं बनती हैं वे इन्द्रियों की अनुभूति का परिणाम और उनपर निर्भर मालूम हो सकती हैं लेकिन सचमुच वह स्वयं अपने अधिकार से कार्य करती हुई बुद्धि का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। लेकिन यह भी संभव है कि शुद्ध बुद्धि के प्रत्यक्ष दर्शन—जिनकी लाक्षणिक क्रिया ऐसी ही होती है—जिस अनुभव से आरंभ करते हैं उसे केवल निमित्त रूप में काम में लायें और अपने परिणामतक पहुंचते-पहुंचते उसे कहीं दूर छोड़ आयें, इतनी दूर कि ऐसा मालूम हो कि हमारी इन्द्रियों का अनुभव हमारे ऊपर जो बात लादना चाहता है, उससे यह परिणाम एकदम विपरीत है। यह क्रिया न्यायसंगत और अनिवार्य है क्योंकि हमारा साधारण अनुभव न केवल वैश्व तथ्य के एक छोटे से भाग को ही ले पाता है बल्कि अपने क्षेत्र की सीमाओं में भी ऐसे साधनों का उपयोग करता है जो त्रुटिपूर्ण हैं और गलत माप और भार बतलाते हैं। अगर हम वस्तुओं के सत्य की काफी अच्छी धारणाओं तक पहुंचना चाहें तो इस (साधारण अनुभव) के पार जाना, उसे दूर रखना और उसके आग्रहों को नकारना जरूरी है। मनुष्य ने जो मूल्यवान् शक्तियां विकसित की हैं उनमें से एक है ऐंद्रिय मन की भूलों को तर्कबुद्धि के प्रयोग से ठीक करना, और यह पार्थिव सत्ताओं में उसकी श्रेष्ठता का मुख्य कारण है।

शुद्ध बुद्धि का पूर्ण उपयोग हमें अंत में भौतिक से तत्त्वज्ञानात्मक ज्ञानतक ले आता है परंतु तत्त्वज्ञानात्मक ज्ञान की धारणाएं स्वयं अपने-आपमें हमारी संपूर्ण सत्ता की मांग को पूरी तरह से संतुष्ट नहीं करतीं। वे निश्चय ही स्वयं तर्कबुद्धि के लिये पूर्णतः संतोषप्रद हैं क्योंकि वे उसके ही अस्तित्व के उपादान हैं। लेकिन हमारी प्रकृति चीजों को हमेशा दो आंखों से देखती है, क्योंकि वह उन्हें दोहरे रूप में, भाव तथा तथ्य के रूप में देखती है अतः हमारे लिये हर धारणा अपूर्ण रहती है और हमारी प्रकृति के एक भाग के लिये तबतक अवास्तविक रहती है जबतक कि वह एक अनुभव न बन जाये। लेकिन अभी हम जिन सत्यों की बात कर रहे हैं वे उस श्रेणी के हैं जो हमारे साधारण अनुभव के अधीन नहीं होते, वे अपनी प्रकृति में "इन्द्रियों के बोध के परे परंतु तर्क-बुद्धि के द्वारा ग्राह्य हैं।" अतः अनुभव की किसी और क्षमता की जरूरत है जिसके द्वारा हमारी प्रकृति की मांग पूरी की जा सके और चूंकि हम अतिभौतिक के बारे में बात कर रहे हैं, यह केवल मनोवैज्ञानिक अनुभूति के प्रसार द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है।

एक अर्थ में हमारी सारी अनुभूतियां मनोवैज्ञानिक होती हैं क्योंकि हम जो कुछ

इन्द्रियों से प्राप्त करते हैं उसका हमारे लिये तबतक कोई अर्थ या मूल्य नहीं होता जबतक कि उसका ऐंद्रिय मन की, भारतीय दार्शनिक परिभाषा में कहें तो 'मानस' की भाषा में अनुवाद न हो जाये। जैसा कि हमारे दार्शनिक कहते हैं मानस छठी इन्द्रिय है। लेकिन हम यह भी कह सकते हैं कि यही एकमात्र इन्द्रिय है और बाकी सब दर्शन, श्रवण, स्पर्श, गंध और रस केवल ऐंद्रिय मन की विशेषताएं हैं। यह मन यद्यपि साधारणतः अपनी अनुभूति के आधार-स्वरूप इन्द्रियों का उपयोग करता है फिर भी वह उनका अक्रिमण करता और सीधा अनुभव करने की क्षमता भी रखता है जो उसकी अपनी अंतर्निष्ठ क्रिया का स्वधर्म है। इसके फलस्वरूप मनोवैज्ञानिक अनुभव बुद्धि के ज्ञान की भांति मनुष्य में दोहरी क्रिया करने की क्षमता रखता है। वह क्रिया मिश्रित या निर्भर या फिर शुद्ध और स्वाधीन हो सकती है। उसकी मिश्रित क्रिया साधारणतः तब होती है जब मन बाह्य जगत् के, विषय के बारे में अभिज्ञ होना चाहता है, और शुद्ध क्रिया तब होती है जब वह अपने बारे में, कर्ता के बारे में अभिज्ञ होना चाहता है। पहली क्रिया में वह इन्द्रियों पर निर्भर होता है और उनकी साक्षी के अनुसार ही अपने प्रत्यक्ष दर्शन बनाता है और दूसरी क्रिया में वह अपने ही अंदर क्रिया करता है और उनके साथ एक प्रकार के तादात्म्य द्वारा वस्तुओं के बारे में सीधी अभिज्ञता रखता है। इस प्रकार हम अपने भावों के बारे में अभिज्ञ होते हैं। जैसा कि चुभती भाषा में कहा गया है 'हम क्रोध के बारे में अभिज्ञ होते हैं क्योंकि हम क्रोध बन जाते हैं'। हम स्वयं अपने अस्तित्व के बारे में भी इसी प्रकार अभिज्ञ होते हैं और यहां तादात्म्य द्वारा ज्ञान-प्राप्ति का स्वरूप प्रकट हो जाता है। वास्तव में, समस्त अनुभूति अपने गुप्त स्वरूप में तादात्म्य द्वारा ज्ञान ही है लेकिन उसका सच्चा स्वरूप हमसे छिपा रहता है क्योंकि हमने अपने-आपको बाकी सारे जगत् से बहिष्करण के द्वारा, यह मानकर कि हम विषयी हैं और बाकी सब विषय, अलग कर लिया है और हम ऐसी प्रक्रियाएं और ऐसी इन्द्रियां विकसित करने के लिये बाधित होते हैं जिनके द्वारा हम फिर से उस सबके साथ संपर्क में आ सकें जिसे हमने अलग कर दिया है। हमें सचेतन तादात्म्य द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान के स्थान पर परोक्ष ज्ञान को लाना होता है, जिसके बारे में ऐसा लगता है कि वह भौतिक संपर्क और मानसिक सहानुभूति के कारण आया है। यह परिसीमन मूलतः अहंकार की रचना है और उसकी उस रीति का उदाहरण है जिसका उसने हर जगह उपयोग किया है, जिसमें वह एक आदिम मिथ्यात्व से शुरू करके चीजों के सच्चे सत्य को आनुषंगिक मिथ्यात्वों से ढक देता है। यही मिथ्यात्व हमारे लिये संबंधों के व्यावहारिक सत्य बन जाते हैं।

आज हमारे अंदर मानसिक और ऐंद्रिय ज्ञान जिस तरह व्यवस्थित है उससे यही परिणाम निकलता है कि हमारी इन वर्तमान सीमाओं की कोई अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। वे एक ऐसे विकास का परिणाम हैं जिसमें मन ने कुछ

शारीरिक क्रियाओं और उनकी प्रतिक्रियाओं को भौतिक विश्व के साथ नाता जोड़ने के लिये साधन के रूप में स्वीकार करके उनपर निर्भर रहने का अपने-आपको अभ्यासी बना लिया है अतः यद्यपि नियम तो यही है कि जब हम बाहरी जगत् के साथ अभिज्ञता प्राप्त करना चाहें तो परोक्ष रूप से इन्द्रियों के द्वारा ही कर सकते हैं और मनुष्यों और वस्तुओं के सत्य के बारे में केवल उतना ही अनुभव कर सकते हैं जितना इन्द्रियां हमें बतलायें लेकिन यह नियम केवल एक प्रधान आदत की नियमितता ही है। मन के लिये यह संभव है—और उसके लिये यह स्वाभाविक भी होगा, बशर्ते कि जड़ भौतिक के आधिपत्य को जो उसने स्वीकृति दी हुई है उससे उसे मुक्त होने के लिये मनाया जा सके—कि वह इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान इन्द्रियों की सहायता के बिना सीधा प्राप्त कर सके। सम्मोहन और सजातीय मानसिक व्यापारों के परीक्षणों में यही बात होती है। चूंकि हमारी जाग्रत् चेतना मन और जड़ के बीच के उस संतुलन द्वारा निश्चित और सीमित होती है जो जीवन के अपने विकासक्रम में अबतक प्राप्त किया गया है, यह सीधा बोध पाना हमारी साधारण जाग्रत् अवस्था में सामान्यतः संभव नहीं होता अतः यह ज्ञान पाने के लिये जाग्रत् मन को निद्रा की अवस्था में डाल दिया जाता है जिससे सच्चा या अंतस्तलीय मन मुक्त हो जाता है। तब मन अपने इस सच्चे स्वरूप को स्थापित करने में समर्थ होता है कि वही एकमात्र और सर्वपर्याप्त इन्द्रिय है और इन्द्रियों के विषयों पर अपनी मिश्रित एवं अधीनस्थ क्रिया की जगह शुद्ध और स्वाधीन क्रिया का प्रयोग करने के लिये स्वतंत्र है। इस क्षमता का विस्तार, वास्तव में, असंभव नहीं है, केवल इतना है कि जाग्रत् अवस्था में यह अधिक कठिन है, जो लोग मनोवैज्ञानिक परीक्षण के कुछ विशेष मार्गों पर काफी दूर तक जा सके हैं, उन सबको यह भली-भांति ज्ञात है।

जिन पांच इन्द्रियों का हम साधारणतः उपयोग करते हैं उनके अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों को विकसित करने के लिये भी ऐंद्रिय मन की स्वाधीन क्रिया का उपयोग किया जा सकता है। उदाहरण के लिये भौतिक साधनों के बिना, हाथ में ली हुई चीज का ठीक-ठीक भार जान सकने की क्षमता विकसित करना संभव है। यहां स्पर्श और दबाव के भाव का केवल आरंभ-बिंदु के रूप में उपयोग किया जाता है जैसे शुद्ध बुद्धि ऐंद्रिय अनुभूति से प्राप्त सामग्री का उपयोग करती है। सचमुच स्पर्श मन को भार का माप नहीं देता, मन अपने स्वतंत्र प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा सच्चा मूल्य आंकता है और स्पर्श का उपयोग वस्तु के साथ नाता जोड़ने के लिये ही करता है। और जैसा शुद्ध बुद्धि के साथ होता है उसी तरह ऐंद्रिय मन के लिये भी इन्द्रियानुभूति का उपयोग केवल एक प्रथम बिंदु के रूप में किया जा सकता है जहां से वह ऐसे ज्ञान की ओर जाता है जिसका इन्द्रियों के साथ कोई संबंध नहीं, जो प्रायः उनकी साक्षी का खंडन करता है। क्षमता का विस्तार केवल बाहरी विस्तार या ऊपरी

सतहतक ही सीमित नहीं है। एक बार हम किसी बाहरी वस्तु के साथ किसी भी इन्द्रिय के द्वारा संपर्क बना लें तो मनस् को इस तरह लगाया जा सकता है कि हम वस्तु के भीतर की चीजों का भी परिचय प्राप्त कर लें। उदाहरण के लिये दूसरों के विचारों या भावों को उनके वचन, भाव-भंगिमा, क्रिया या चेहरे के भाव के बिना, बल्कि इन एकांगी और प्रायः भ्रामक संकेतों के विपरीत देख या पढ़ सकना। अंततः भीतरी इन्द्रियों के उपयोग द्वारा यानी स्वयं इन्द्रिय शक्ति के उपयोग से, उनकी शुद्ध मानसिक या सूक्ष्म क्रियाओं के द्वारा जो भौतिक क्रियाओं से भिन्न होती हैं,—भौतिक क्रियाएं तो उनकी समग्र और सामान्य क्रियाओं में से बाह्य जीवन के प्रयोजन के लिये एक संकलन मात्र होती हैं—हम अपने जड़ भौतिक वातावरण की व्यवस्था से भिन्न चीजों के इन्द्रियानुभवों, रूपों और बिंबों को जान सकते हैं। क्षमता के इन सभी प्रसारणों को भौतिक मन हिचकिचाहट और अविश्वास के साथ लेता है क्योंकि वे हमारे सामान्य जीवन और अनुभूतियों की अभ्यस्त पद्धति के लिये असामान्य हैं, उन्हें क्रिया में लगाना कठिन है। उन्हें इस प्रकार क्रमबद्ध करना और भी कठिन है कि वे सुव्यवस्थित और उपयोगी यंत्र बन सकें। फिर भी उन्हें स्वीकार तो करना ही पड़ेगा क्योंकि क्षमताओं के वे प्रसारण चाहे अप्रशिक्षित प्रयास और अनियमित, अव्यवस्थित प्रभाव द्वारा हों या वैज्ञानिक और सुव्यवस्थित अभ्यास द्वारा, फिर भी हैं तो निरपवाद रूप से सतही क्रियाशील चेतना के क्षेत्र को अधिक विस्तृत करने के लिये किये गये प्रयास का परिणाम।

फिर भी इनमें से कोई हमें उस लक्ष्यतक नहीं ले जाता जो हमारी दृष्टि में है—उन सत्यों का मनोवैज्ञानिक अनुभव जो "इन्द्रियों की पकड़ के परे और बुद्धि के लिये ग्राह्य है"—*बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्* (गीता ६.२१)। वे हमें केवल प्रपंच का एक विशालतर क्षेत्र और उसका अवलोकन करने के लिये अधिक प्रभावकारी साधन भर देते हैं। वस्तुओं का सत्य हमेशा इन्द्रियों की पकड़ से बाहर छटक जाता है। फिर भी स्वयं वैश्व रचना के अंदर ही यह एक यथार्थ नियम अंतर्निहित है कि जहां कहीं ऐसे सत्य हैं जो बुद्धि द्वारा पाये जाते हैं वहां उस बुद्धि से अधिकृत शरीर में ऐसे साधन होने चाहियें जिनसे अनुभूति द्वारा उन सत्यों तक पहुंचा जा सके या उन्हें अनुभूति द्वारा कसौटी पर कसा जा सके। हमारे मानस में जो एक साधन बच रहा है वह है तादात्म्य द्वारा ज्ञान के उस रूप का विस्तार जो हमें अपने निजी अस्तित्व की अभिज्ञता देता है। हमारे अंदर की वस्तुओं का ज्ञान वास्तव में न्यूनाधिक रूप से सचेतन, हमारी धारणा में न्यूनाधिक रूप से उपस्थित आत्म-अभिज्ञता पर आधारित होता है। अथवा इसे ज्यादा सामान्य सूत्र में कहें तो अंतर्वस्तुओं का ज्ञान अंतर्वस्तुओं के धारक के ज्ञान में समाया रहता है। तो यदि हम अपनी आत्म-अभिज्ञता की मानसिक क्षमता को अपने से परे और बाहर 'आत्मा' की, उपनिषदों की आत्मन् या ब्रह्म की, अभिज्ञता तक विस्तृत कर सकें तो हम अनुभूति में उन

सत्यों पर अधिकार पा सकते हैं जो विश्व में आत्मा या ब्रह्म की अंतर्वस्तु बनते हैं। भारतीय वेदांत ने अपने-आपको इसी संभावना पर आधारित किया है। उसने आत्मा के ज्ञान द्वारा विश्व के ज्ञान की खोज की है।

लेकिन वेदांत ने हमेशा यह माना है कि मानसिक अनुभूति और बुद्धि की अवधारणाएं अपने उच्चतम स्तर पर भी परम स्वयंभू तादात्म्य न होकर मानसिक तादात्म्यों में प्रतिबिंब मात्र हैं। हमें मन और बुद्धि के परे जाना चाहिये। हमारी जाग्रत् चेतना में सक्रिय रहनेवाली बुद्धि उस अवचेतन 'सर्व', जिसमें से हम अपने विकास में ऊपर आते हैं और अतिचेतन सर्व, जिसकी ओर यह विकास हमें प्रेरित करता है, उन दोनों के बीच मध्यस्थ मात्र है। अवचेतन और अतिचेतन एक ही सर्व के दो भिन्न रूपायण हैं। अवचेतन का महा-शब्द या व्याहृति है 'प्राण' और अतिचेतन का महा-शब्द है प्रकाश। अवचेतना में ज्ञान या चेतना क्रिया में अंतर्लीन है क्योंकि क्रिया ही प्राण का सारतत्त्व है। अतिचेतन में क्रिया फिर से प्रकाश में प्रवेश करती है और अपने अंदर अंतर्लीन ज्ञान को नहीं रखती बल्कि अपने-आप परम चेतना में अंतर्लीन रहती है। इन दोनों में अंतर्भासात्मक ज्ञान समान रूप से रहता है और अंतर्भासात्मक ज्ञान का आधार है ज्ञाता और ज्ञेय के बीच सचेतन या प्रभावकारी तादात्म्य। यह दोनों की आत्म-सत्ता की वह समान अवस्था है जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय ज्ञान द्वारा एक होते हैं। परंतु अवचेतना में अंतर्भास अपने-आपको क्रिया में, प्रभावकारिता में, प्रकट करता है और ज्ञान या सचेतन तादात्म्य पूरी तरह या न्यूनाधिक रूप में क्रिया में छिपा रहता है। इसके विपरीत अतिचेतन में प्रकाश ही नियम और सिद्धांत है अतः अंतर्भास अपने-आपको अपने सच्चे स्वरूप में, सचेतन तादात्म्य में से उभरते हुए ज्ञान के रूप में प्रकट करता है। क्रिया की प्रभावकारिता मौलिक तथ्य का मुखौटा न होकर उसका संगत या आवश्यक परिणाम होती है। इन दो अवस्थाओं के बीच बुद्धि और मन मध्यस्थ के रूप में काम करते हैं, वे सत्ता को इस योग्य बनाते हैं कि ज्ञान क्रिया के कारागार से मुक्त हो सके और अपनी तत्त्वगत प्रमुखता को फिर से प्राप्त करने के लिये तैयार हो जाये। जब मन की आत्म-अभिज्ञता दोनों पर अंतर्वस्तु और अंतर्वस्तु के धारक पर, अपने पर और दूसरों पर प्रयुक्त होती है तो वह ज्योतिर्मय, स्वतः-प्रकट तादात्म्य में उन्नत हो जाती है, बुद्धि भी अपने-आपको स्वतः प्रकाशमान, अंतर्भासात्मक[1] ज्ञान के रूप में बदल

[1] हम अंग्रेजी के 'इंट्यूशन' शब्द के लिये अंतर्भास, सहज ज्ञान, संबोधि आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। यहांपर श्रीअरविंद इंट्यूशन के बारे में कहते हैं, "मैं ज्यादा उपयुक्त शब्द के अभाव में इंट्यूशन शब्द का व्यवहार करता हूं। उससे जिस भाव की मांग की जाती है उसके लिये यह कामचलाऊ और अपर्याप्त है। यही बात कानशसनेस तथा कई और शब्दों के बारे में कही जा सकती है। हमारी शब्दों की दरिद्रता हमें इन शब्दों का अवैध विस्तार करने के लिये बाधित करती है।" —अनु०

लेती है। यह हमारे ज्ञान की संभवनीय उच्चतम स्थिति है जब मन अतिमानस में अपनी परिपूर्ति कर लेता है।

यही मनुष्य की समझ की वह योजना है जिसपर प्राचीनतम वेदांत के निष्कर्ष खड़े किये गये थे। प्राचीन ऋषियों ने इस आधार पर जो निष्कर्ष निकाले थे उनको विकसित करना यहां मेरा उद्देश्य नहीं है। अभी हम केवल दिव्य जीवन की समस्या के साथ संबंध रखते हैं। यहां उसके साथ संबंध रखनेवाले वेदांत के कुछ मुख्य निष्कर्षों पर संक्षेप में नजर डाल लेना जरूरी है। क्योंकि हम जिसका पुनर्निर्माण करना चाहते हैं उसके लिये इससे पहले का सर्वोत्तम आधार हम इन्हीं विचारों में पा सकेंगे और यद्यपि, जैसा कि समस्त ज्ञान के साथ होता है, पुरानी अभिव्यंजना को एक हदतक हटाकर उसके स्थान पर ऐसी नयी अभिव्यंजना को लाना होगा जो बाद की मानसिकता के अनुकूल हो और एक उषा के बाद आनेवाली दूसरी उषा की तरह पुरातन प्रकाश को नूतन प्रकाश में विलीन हो जाना होगा। फिर भी सदा परिवर्तनशील और साथ ही सदा अपरिवर्तनशील अनंत के साथ अपने नये व्यापार में हम तभी अधिक-से-अधिक लाभ इकट्ठा कर पायेंगे जब हम अपने प्राचीन खजाने या उसके उतने भाग को जिसे हम फिर से पा सकें, अपना मूलधन बनाकर चलें।

विश्व के बारे में वैदांतिक विश्लेषण अपनी जिस अंतिम अवधारणा में पहुंचता है वह है सद्ब्रह्म, शुद्ध सत्, अनिर्वचनीय अनंत, निरपेक्ष सत्। यही वह आधारभूत सद्वस्तु है जिसे वैदांतिक अनुभूति उन सभी गतिविधियों और रूपायणों के पीछे पाती है जिनसे आभासी सद्वस्तु बनी है। यह स्पष्ट है कि जब हम इस अवधारणा को अपनाते हैं तो अपनी साधारण चेतना की, अपनी सामान्य अनुभूति की धारण-सामर्थ्य और प्रामाणिकता से एकदम परे चले जाते हैं। इन्द्रियां या ऐंद्रिय मन किसी शुद्ध अथवा निरपेक्ष सत्ता के बारे में कुछ भी नहीं जानते। हमारी ऐंद्रिय अनुभूति केवल रूप और गति के बारे में ही हमें बताती है। रूप का अस्तित्व है लेकिन ऐसा अस्तित्व जो शुद्ध नहीं है बल्कि हमेशा मिश्रित, संयोजित, संकलित, संचित और सापेक्ष होता है। जब हम अपने अंदर पैठते हैं तो हम नियत आकारवाले रूप से पिंड छुड़ा सकते हैं पर गति से, परिवर्तन से अलग नहीं हो सकते। 'देश' में जड़ वस्तु की गति, 'काल' में परिवर्तन की गति अस्तित्व की अवस्थाएं मालूम होती हैं। अगर हम चाहें तो निश्चय ही यह कह सकते हैं कि यही अस्तित्व है और स्वयं अस्तित्व का भाव ही किसी खोजी जा सकनेवाली सद्वस्तु के साथ मेल नहीं खाता। अधिक-से-अधिक आत्म-अभिज्ञता के आभास में या उसके पीछे कभी-कभी हमें किसी अचल, अपरिवर्तनशील वस्तु की झांकी मिल जाती है, किसी ऐसी चीज की कि हम अस्पष्ट रूप से यह देखने या कल्पना करने लगते हैं कि हम समस्त जीवन और मृत्यु के परे हैं, समस्त परिवर्तन,

रूपायण और क्रिया के परे हैं। हमारे अंदर यही वह द्वार है जो कभी-कभी परे के सत्य के वैभव की ओर खुल पड़ता है और दोबारा बंद होने से पहले एक रश्मि को हमें छू लेने देता है—यह एक प्रकाशमय संकेत है, जिसे अगर हमारे अंदर बल और दृढ़ता हो तो हम अपनी श्रद्धा के साथ पकड़े रह सकते हैं और उसे ऐंद्रिय मन से भिन्न चेतना की एक और लीला का, अंतर्भास की लीला का आरंभ-बिंदु बना सकते हैं।

क्योंकि अगर हम सावधानी के साथ परीक्षा करें तो देखेंगे कि अंतर्भास ही हमारा प्रथम गुरु है। अंतर्भास हमेशा हमारी मानसिक क्रियाओं के पीछे पर्दे में खड़ा रहता है। अंतर्भास मनुष्यतक 'अज्ञात' से संदेश लाता है जो हमारे उच्चतर ज्ञान के आरंभ-बिंदु हैं। बुद्धि तो केवल पीछे से यह देखने आती है कि वह इस चमकती फसल से क्या लाभ उठा सकती है। हम जो कुछ जानते हैं और जो कुछ प्रतीत होते हैं उस सबके पीछे और परे की किसी चीज का भाव हमें अंतर्भास देता है। यह भाव मनुष्य की निम्नतर बुद्धि और उसके सारे सामान्य अनुभवों का प्रतिवाद करता हुआ मनुष्य का सतत रूप से पीछा करता है और उस आकाररहित बोध को ईश्वर, अमरता, स्वर्ग आदि अधिक भावात्मक सूत्रों में व्यक्त करने के लिये उसे प्रेरित करता है। इनके द्वारा ही हम उसे मन के आगे प्रकट करने का प्रयास करते हैं, क्योंकि अंतर्भास, स्वयं प्रकृति के जैसा ही बलवान् है जिसकी निज आत्मा से वह उत्पन्न हुआ है और वह बुद्धि के प्रतिवादों और अनुभव के खंडनों की परवाह नहीं करता। वह जानता है कि क्या है क्योंकि वह है, क्योंकि स्वयं वह उसीका है और उसीसे आया है और वह केवल संभवन और प्रतीति के मूल्यांकन के आगे झुकनेवाला नहीं है। अंतर्भास हमें जो कुछ बताता है वह सत्ता के बारे में इतना नहीं जितना स्वयं सत् के बारे में है क्योंकि वह हमारे अंदर स्थित उस ज्योतिर्बिंदु से चलता है जिससे उसे अपना लाभ प्राप्त होता है, जो कभी-कभी हमारी आत्म-अभिज्ञता में खुला द्वार होता है। प्राचीन वेदांत ने अंतर्भास के इस संदेश को ग्रहण किया और उपनिषदों के इन तीन महावाक्यों में व्यक्त किया। '*सोऽहम्*', मैं वह हूं; '*तत्त्वमसि श्वेतकेतो*', हे श्वेतकेतु तू वही है; '*सर्वं खल्विदं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म*', यह सब कुछ ब्रह्म है, यह आत्मा ब्रह्म है।

किंतु अंतर्भास मनुष्य में पर्दे के पीछे से काम करता है, उसके अधिक अप्रबुद्ध, और कम व्यक्त अंगों में अधिक सक्रिय रहता है और पर्दे के अग्रभाग में स्थित, सीमित प्रकाशवाली जो हमारी जाग्रत् चेतना है उसमें केवल ऐसे यंत्र उसकी सेवा करते हैं जो उसके संदेशों को पूरी तरह आत्मसात् करने में असमर्थ हैं, तो मनुष्य में अपनी क्रिया के इस स्वरूप के कारण ही अंतर्भास हमें उस सुव्यवस्थित और सुव्यक्त रूप में सत्य नहीं दे सकता जिसके लिये हमारी प्रकृति मांग करती है। वह हमारे अंदर प्रत्यक्ष ज्ञान की कोई पूर्णता प्रतिष्ठित कर सके

उससे पहले उसे अपने-आपको हमारी सतही सत्ता में संगठित करना और वहां प्रधान भाग पर अधिकार करना होगा। लेकिन हमारी सतही सत्ता पर अंतर्भास नहीं, बुद्धि संगठित है और हमारे प्रत्यक्ष बोधों, विचारों और कर्मों को सुव्यवस्थित करने में सहायता देती है। इसीलिये अंतर्भासात्मक ज्ञान के युग को, जिसका प्रतिनिधित्व उपनिषदों की प्राचीन वेदांत-विचारणा करती है, बौद्धिक ज्ञान के युग को अपना स्थान देना पड़ा, अंतःप्रेरित शास्त्रों ने अपना स्थान तत्त्वमीमांसा को दिया, वैसे ही जैसे आगे चलकर तत्त्वमीमांसा को अपना स्थान परीक्षणात्मक विज्ञान को देना पड़ा। अंतर्भासात्मक विचार अतिचेतन का संदेशवाहक और इस कारण हमारी उच्चतम क्षमता है, उसका स्थान शुद्ध बुद्धि ने ले लिया जो केवल एक तरह का प्रतिनिधि है और हमारी सत्ता की निचली ऊंचाइयों की चीज है। फिर शुद्ध बुद्धि का स्थान, अपनी बारी पर, कुछ समय के लिये बुद्धि की मिश्रित क्रिया ने ले लिया जो हमारे मैदानों और निचली ऊंचाइयों में निवास करती है और उसकी दृष्टि उस अनुभव के क्षितिज से परे नहीं जाती जो हमें भौतिक मन और इन्द्रियों तथा उनके लिये आविष्कृत सहायक उपकरणों से प्राप्त हो सकता है। और यह प्रक्रिया जो एक अवतरण मालूम होती है सचमुच प्रगति का एक चक्र है। क्योंकि हर दशा में निचली क्षमता इस बात के लिये बाधित होती है कि उपरली क्षमता को जो कुछ दे चुकी है उसके जितने अंश को वह आत्मसात् कर सकती है करे और फिर अपने ही तरीके से उसे फिर से प्रतिष्ठित करने का प्रयास करे। इस प्रयास से स्वयं उसका क्षेत्र विस्तृत होता है और अंततः वह उच्चतर क्षमताओं के प्रति अधिक नमनीय और अधिक विस्तृत आत्मानुकूलनतक आ पहुंचती है। इस अनुक्रम और अलग-अलग आत्मसात् करने के प्रयास के बिना हम अपनी प्रकृति के एक भाग के ऐकांतिक अधिकार में रहने को बाधित होते और बाकी भाग या तो अनुचित रूप से दबा हुआ और पराधीन रहता या अपने क्षेत्र में अलग-थलग और इस कारण अपने विकास में दरिद्र बना रहता। इस अनुक्रम और अलग-अलग प्रयास से संतुलन ठीक हो जाता है और हमारे ज्ञान के अंगों का एक अधिक संपूर्ण सामंजस्य तैयार हो जाता है।

हम यह अनुक्रम उपनिषदों और बाद के भारतीय दर्शनों में देखते हैं। वेद और वेदांत के ऋषि पूरी तरह अंतर्भास और आध्यात्मिक अनुभूति पर निर्भर थे। भूल से बड़े-बड़े विद्वान् उपनिषदों में वाद-विवाद या शास्त्रार्थों की बात करते हैं। जहां कहीं विवाद का आभास है वहां वह शास्त्रार्थ के द्वारा, तर्कशास्त्र या युक्ति के प्रयोग द्वारा नहीं बल्कि अंतर्भास और अनुभूतियों की तुलना द्वारा आगे बढ़ता है, जिसमें कम ज्योतिर्मय अधिक ज्योतिर्मय को, अधिक संकीर्ण, अधिक दोषपूर्ण या कम तात्त्विक, अधिक व्यापक, अधिक पूर्ण और अधिक तात्त्विक को स्थान देता है। एक ऋषि दूसरे से पूछता है, 'तुम क्या जानते हो?' यह नहीं कि 'तुम्हारा क्या

विचार है', यह भी नहीं कि 'तुम्हारा तर्क किस निष्कर्ष पर पहुंचा है?' हम उपनिषदों में कहीं भी वेदांत के सत्यों के समर्थन में तर्कयुक्त विवेचन नहीं पाते। ऐसा लगता है कि ऋषि यह मानते थे कि अंतर्भास का संशोधन तर्कयुक्त विवेचन से नहीं अधिक पूर्ण अंतर्भास से करना चाहिये।

परंतु फिर भी मानव तर्क-बुद्धि अपने ही तौर-तरीकों से संतुष्टि की मांग करती है। अतः जब युक्तिसंगत चिंतन का युग आया तो भूतकाल की परंपरा का मान करनेवाले भारतीय दार्शनिकों ने, वे जिस सत्य की खोज में थे उसके प्रति दोहरा मानक अपनाया। उन्होंने श्रुति को, जो पहले के अंतर्भास का परिणाम थी, या जैसा वे कहना पसंद करते थे, जो अंतःप्रेरित आगम या आप्त वचन थी, बुद्धि से श्रेष्ठतर माना। लेकिन साथ ही वे 'बुद्धि' से आरंभ करके उसके दिये गये परिणामों की परख करते थे और उन्हीं निष्कर्षों को स्वीकारते थे जो श्रेष्ठतर आप्तवाणी से अनुमोदित हों। इस भांति कुछ हदतक तत्त्वमीमांसा को घेरनेवाले इस दोष से बच जाते थे, उसकी बादलों में संघर्ष करने की वृत्ति से बच जाते थे। यह दोष इसलिये है क्योंकि तत्त्वमीमांसा शब्दों से ऐसे व्यवहार करती है मानों वे अनिवार्य तथ्य हों, न कि ऐसे प्रतीक जिन्हें हमेशा सावधानी के साथ जांचना और हमेशा उस आशय की ओर वापिस लाना पड़ता है जिसके वे प्रतिनिधि हैं। उनका चिंतन पहले-पहल अपने केंद्र को उच्चतम और गभीरतम अनुभूति के नजदीक रखने की कोशिश करता था और इन दो महान् प्रमाणों, 'बुद्धि' और 'अंतर्भास' की सम्मिलित सहमति से आगे बढ़ता था। फिर भी अपनी श्रेष्ठता प्रतिष्ठित करने की बुद्धि की स्वाभाविक वृत्ति ने उसे गौण मानकर चलने का जो सिद्धांत था उसपर यथार्थतः विजय पा ली। परिणामस्वरूप इतने सारे परस्पर-विरोधी मत-मतांतरों का उदय हुआ जिनमें से हर एक अपने-आपको सिद्धांततः वेद पर आधारित करता था और अन्यों का खंडन करने के लिये वेद के वचनों का अस्त्र के रूप में उपयोग करता था, क्योंकि उच्चतम अंतर्भासात्मक ज्ञान चीजों को उनकी समग्रता और विशालता में देखता है और ब्यौरों को केवल अविभाज्य समग्र के पार्श्वरूप में मानता है। उसकी प्रवृत्ति ज्ञान के तत्काल समन्वय और ऐक्य की ओर रहती है। इसके विपरीत बुद्धि विश्लेषण और विभाजन से चलती है और एक समग्र बनाने के लिये अपने तथ्यों को एकत्र करती है। लेकिन इस तरह से जो समवाय बनता है उसमें विरोध, विपरीतता और तार्किक दृष्टि से असंगतियां रह जाती हैं और बुद्धि की साधारण प्रवृत्ति होती है इनमें से कुछ को स्वीकार करने की और जो उसके चुने हुए निष्कर्षों के विपरीत हो उसे अस्वीकार करने की ताकि वह एक निर्दोष युक्तियुक्त प्रणाली बन सके। इस भांति पहले के अंतर्भासात्मक ज्ञान का ऐक्य टूट गया और तार्किकों की प्रवीणता हमेशा ऐसे उपाय, भाष्य-पद्धतियां और विभिन्न मूल्यों के मानक खोजने में सफल हुई जिनके द्वारा शास्त्रों के असुविधाजनक स्थलों

को व्यावहारिक रूप से रद्द कर दिया जाये और उन्हें अपनी दार्शनिक परिकल्पना के लिये पूरी छूट मिल जाये।

फिर भी विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों में प्राचीन वेदांत की मुख्य अवधारणाएं आंशिक रूप में बनी रहीं और उन्हें फिर से जोड़कर अंतर्भासात्मक विचार की पुरानी उदारता और एकता का प्रतिरूप बनाने की समय-समय पर कोशिश की गयी और सभी के विचार के पीछे, विभिन्न रूपों में प्रतिपादित मूलभूत अवधारणा के रूप में 'पुरुष', 'आत्मा' या 'सद्ब्रह्म', उपनिषदों का शुद्ध 'सत्' विद्यमान रहा है। बहुधा बुद्धि के सांचे में ढालकर उसे किसी भाव या मानसिक अवस्था का रूप दिया गया, फिर भी उस अनिर्वचनीय सद्वस्तु की पुरानी भावना की कोई चीज उसमें विद्यमान रही। संभूति की जिस गति को हम जगत् कहते हैं उसका निरपेक्ष इकाई के साथ क्या संबंध हो सकता है और अहं, चाहे वह गति से पैदा हुआ हो या उसका कारण हो, वेदांत द्वारा प्रतिपादित 'सद्-आत्मा', 'परमात्मा', 'परम सद्वस्तु' को फिर से कैसे प्राप्त कर सकता है, यही वे सैद्धांतिक और व्यावहारिक प्रश्न हैं जिन्होंने हमेशा भारतीय विचार को व्यस्त रखा है।

अध्याय ९

शुद्ध सत्

सदेव . . . एकमेवाद्वितीयम्।
एक अविभक्त, शुद्ध सत्।

छान्दोग्योपनिषद् ६.२.१

जब हम अपनी दृष्टि को सीमित और क्षणिक आकर्षणों में अहंकारभरी तन्मयता से हटा लेते हैं और संसार को केवल 'सत्य' की खोज करनेवाली निष्पक्ष एवं जिज्ञासाभरी आंखों से देखते हैं तो पहला परिणाम होता है कि हम अनंत सत्ता की एक असीम ऊर्जा, अनंत गति, अनंत क्रियाशीलता को अपने-आपको सीमाहीन देश में, शाश्वत काल में उंडेलते हुए देखते हैं। एक ऐसी सत्ता या सत् जो हमारे अहं या किसी भी अहं या अहमों के समुदाय से असीम रूप में बढ़कर है, जिसकी तुला में युगों के महान् उत्पादन क्षण भर की धूलि के समान हैं और जिसके गणनातीत योगफल में अनगिनत अयुत केवल छोटे-से कीट-समूह की भांति हैं। हम सहज वृत्ति से इस प्रकार कार्य करते, अनुभव करते और अपने जीवन-विचार बुनते हैं मानों यह महान् जगत्-गति हमारे चारों ओर हमें ही केंद्र बनाकर, हमारे लाभ के लिये, हमें सहायता या हानि पहुंचाने के लिये कार्य कर रही है या मानों हमारी प्राणिक लालसाओं, भावावेगों, विचारों, मानकों को समर्थित करना ही उसका वास्तविक काम है, ऐसे ही जैसे ये हमारे लिये मुख्य तल्लीनताएं हैं। जब हम देखना शुरू करते हैं तो अनुभव करते हैं कि उसका अस्तित्व स्वयं अपने लिये है, हमारे लिये नहीं, उसके अपने विशाल लक्ष्य हैं, अपना जटिल और सीमाहीन विचार, अपनी विस्तृत कामना या आनंद है जिसे वह पूरा करना चाहती है, उसके अपने विशाल और विकराल मानक हैं जो हमारे मानकों की तुच्छता की ओर दया और व्यंग्यभरी मुस्कान के साथ देखते हैं। लेकिन फिर भी हमें दूसरे छोर की ओर छलांग लगाकर अपनी नगण्यता के बारे में बहुत अधिक निश्चित भाव न बना लेना चाहिये। वह भी अज्ञान का एक कर्म होगा और विश्व के महान् तथ्यों की ओर से अपनी आंखों को मूंद लेना होगा।

क्योंकि यह सीमाहीन 'गति' अपने लिये हमें महत्त्वहीन नहीं मानती। विज्ञान हमें दिखलाता है कि यह महान् शक्ति अपनी छोटी-से-छोटी क्रिया पर भी उतनी ही सावधानी, उतना ही चातुर्य-भरा कौशल, और उतनी ही तीव्र तल्लीनता का प्रयोग करती है जितना बड़े-से-बड़े कार्य के लिये। यह महान् ऊर्जा समदर्शी और निष्पक्ष माता या गीता के महावचन के अनुसार '*समं ब्रह्म*' है। उसकी गति की जो तीव्रता

और शक्ति किसी सौर मंडल को बनाने और धारण करने में काम आती है वही दीमकों की बांबी की जीवन-व्यवस्था में लगती है। आकार और मात्रा का भ्रम हमें एक को महान् और दूसरे को क्षुद्र मानने के लिये प्रेरित करता है। इसके विपरीत अगर हम मात्रा की राशि को न देखकर गुण की शक्ति को देखें तो हम देखेंगे कि चींटी जिस सौर मंडल में निवास करती है वह उससे अधिक महान् है और मनुष्य, समस्त स्थावर प्रकृति के योग से बढ़कर है। लेकिन यह फिर गुण का भ्रम है। जब हम पीछे जाकर केवल गति की तीव्रता का निरीक्षण करते हैं जिसके कि राशि और गुण पहलू हैं तब हम यह अनुभव करते हैं कि यह ब्रह्म समस्त सत्ताओं में समान रूप से निवास करता है। उसकी सत्ता में सभी समान रूप से भाग लेते हैं इसलिये हमें यह कहने का लोभ हो आता है कि वह अपनी ऊर्जा में सभी के अंदर समान रूप से बंटा हुआ है। लेकिन यह भी परिमाण का भ्रम है। ब्रह्म सभी के अंदर निवास करता है, वह अविभाज्य है परंतु लगता है विभक्त और बंटा हुआ। अगर हम फिर एक ऐसी अवलोकात्मक दृष्टि से देखें जो बौद्धिक अवधारणाओं के अधीन नहीं बल्कि अंतर्भास से अनुप्राणित है, जिसकी परिपूर्ति तादात्म्य द्वारा ज्ञान में होती है, तो हम देखेंगे कि इस अनंत 'ऊर्जा' की चेतना हमारी मानसिक चेतना से भिन्न है, वह अविभाज्य है और वह सौर मंडल और दीमक की बांबी को अपना समान भाग नहीं बल्कि एक ही साथ अपना समस्त स्व देती है। ब्रह्म के लिये कोई समग्र और कोई अंश नहीं है बल्कि हर चीज ही पूर्ण ब्रह्म है और पूर्ण ब्रह्म से लाभ उठाती है। गुण और मात्रा में फर्क होता है परंतु 'आत्मा' समान है। क्रिया की शक्ति के रूप, प्रकार और परिणाम में अत्यधिक भेद होता है, लेकिन शाश्वत, आद्या, अनंत ऊर्जा सबमें एक ही है। एक मजबूत आदमी बनाने में जो शक्ति लगती है वह कमजोर आदमी को बनाने के लिये जो शक्ति लगती है उससे लेशमात्र भी कम नहीं होती, दमन में उतनी ही अधिक ऊर्जा खर्च होती है जितनी अभिव्यक्ति में, अस्वीकार करने में उतनी ही जितनी स्वीकारने में, नीरवता में उतनी ही जितनी शब्द में।

अतः सबसे पहले हमें इस अनंत 'गति', सत्ता की इस ऊर्जा, जो जगत् और स्वयं हम बन गयी है, उसके और अपने बीच लेखा-जोखा ठीक करना है। अभी हम गलत हिसाब रखते हैं। हम 'सर्व' के लिये अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं परंतु 'सर्व' हमारे लिये नगण्य है। अपने लिये स्वयं हम ही महत्त्वपूर्ण हैं। यह उस मौलिक अज्ञान का चिह्न है जो अहंकार की जड़ है। वह अपने-आपको केंद्र मानकर ही सोच सकता है मानों वही सर्व हो। और जो वह स्वयं न हो उसका वह उतना ही अंश स्वीकारने के लिये तैयार होता है जिसे स्वीकार करने के लिये वह मानसिक रूप से तैयार हो या जिसे स्वीकार करने के लिये परिवेश के आघात उसे बाधित करें। यहांतक कि जब वह दार्शनिक सिद्धांत बनाना शुरू करता है तो उस समय

भी क्या यह प्रतिपादित नहीं करता कि जगत् का अस्तित्व उसीकी चेतना में और उसीकी चेतना द्वारा है? उसके लिये अपनी निजी चेतना की स्थिति या अपने मानसिक मानक ही वास्तविकता की कसौटी हैं। जो कुछ भी उसकी परिधि या दृष्टि के बाहर है वह उसे मिथ्या या अस्तित्वहीन लगने लगता है। मनुष्य की यह आत्मपर्याप्तता गलत हिसाब की प्रणाली रच डालती है जो हमें जीवन से ठीक-ठीक और पूरा मूल्य पाने से रोकती है। एक अर्थ में मानव मन और अहं के ये दावे एक सत्य पर आश्रित हैं लेकिन यह सत्य तभी उभरता है जब मन अपने अज्ञान को जान लेता है और अहं 'सर्व' के आधीन होकर उसमें अपने पृथक् आत्म-समर्थन की वृत्ति खो देता है। सच्चे जीवन का आरंभ ही है यह स्वीकारना कि हम, या यूं कहें कि जिन परिणामों और आभासों को हम अपना-आपा कहते हैं वे, इस अनंत 'गति' की आंशिक गति हैं और हमें उस अनंत को जानना है, सचेतन रूप से वही होना है और निष्ठा के साथ उसीको चरितार्थ करना है। हिसाब का दूसरा पहलू है यह जानना कि अपने विशुद्ध आत्म-रूप में हम उस समग्र गति के साथ एक हैं, उसके आधीन या गौण नहीं और हमारी सत्ता के रंग, ढंग, विचार, आवेग और क्रिया में उसकी अभिव्यक्ति सच्चे या दिव्य जीवन के परमोत्कर्ष के लिये आवश्यक है।

लेकिन यह हिसाब पूरा करने के लिये हमें यह जानना होगा कि यह 'सर्व', यह अनंत और सर्वशक्तिमान् ऊर्जा है क्या? और यहां एक नयी पेचीदगी आ जाती है। शुद्ध बुद्धि हमारे आगे यह प्रतिपादित करती है और ऐसा लगता है कि वेदांत भी यही प्रतिपादित करता है कि जैसे हम इस 'गति' के आधीन और उसके एक पार्श्व हैं उसी तरह स्वयं यह गति अपने से भिन्न किसी और चीज के आधीन और उसका एक पार्श्व है। वह चीज महान् कालातीत, देशातीत, स्थाणु है जो अपरिवर्तनशील, अक्षय और अव्यय है। वह स्वयं निष्क्रिय है लेकिन सारी कर्मण्यता उसीमें समायी रहती है। वह ऊर्जा नहीं, शुद्ध सत् है। जो लोग केवल इस विश्व-ऊर्जा को ही देखते हैं वे निश्चय ही घोषणा कर सकते हैं कि ऐसी कोई चीज नहीं है। हमारा शाश्वत स्थाणु का भाव, अपरिवर्तनशील शुद्ध सत् का भाव हमारी बौद्धिक धारणाओं की गढ़ी हुई कहानी है जिसका आरंभ स्थाणु के मिथ्या भाव से होता है, क्योंकि कोई भी चीज स्थिर नहीं है, सब कुछ गति है और स्थिर के बारे में हमारी धारणा हमारी मानसिक चेतना का कौशल मात्र है जिसके द्वारा हम गति के साथ व्यावहारिक रूप से क्रिया-कलाप करने के लिये एक आधार-बिंदु पा लेते हैं। यह दिखलाना आसान है कि स्वयं गति के अंदर यह बात सच्ची है। उसमें कोई चीज स्थिर नहीं है। जो कुछ स्थिर प्रतीत होता है वह गतियों का एक पिंड, कार्यरत ऊर्जा का रूपायन है जो हमारी चेतना पर इस तरह प्रभाव डालता है कि वह स्थिर मालूम होता है, कुछ-कुछ ऐसे ही जैसे पृथ्वी हमें स्थिर मालूम होती है, कुछ-कुछ

उस रेलगाड़ी की तरह जिसमें हम यात्रा कर रहे हों, वह भागते हुए प्राकृतिक दृश्यों के बीच स्थिर मालूम होती है। लेकिन क्या यह भी समान रूप से सच है कि इस गति के नीचे उसे सहारा देती हुई कोई गतिहीन, अपरिवर्तनशील वस्तु नहीं है ? क्या यह सच है कि सत्ता या सत् केवल ऊर्जा की क्रिया का ही रूप है ? या क्या यह ज्यादा सच नहीं है कि ऊर्जा 'सत्' की ही उपज है ?

हम तुरंत यह देख लेते हैं कि यदि कोई इस प्रकार की 'सत्ता' है तो वह भी ऊर्जा की भांति अनंत होनी चाहिये। न तो बुद्धि न अनुभूति, न अंतर्भास और न कल्पना ही हमें इस बात की साक्षी देते हैं कि किसी अंतिम लक्ष्यबिंदु की संभावना है। समस्त अंत और आरंभ इस पूर्व कल्पना को अपनेमें वहन करते हैं कि अंत और आरंभ के परे भी कुछ है। निरपेक्ष अंत, निरपेक्ष आरंभ केवल शाब्दिक विरोध ही नहीं बल्कि वस्तुओं के सारतत्त्व का विरोध, एक धींगा-मुश्ती और कपोल-कल्पना है। अनंतता अपनी निर्विवाद आत्मसत्ता द्वारा अपने-आपको सांत के रूपों पर आरोपित करती है।

लेकिन यह 'देश' और 'काल' के साथ संबंध रखनेवाली अनंतता है, शाश्वत अवधि, असीम विस्तार है। शुद्ध तर्कबुद्धि और आगे जाती है और अपने रंगहीन और कठोर प्रकाश में 'देश' व 'काल' पर नजर डालते हुए हमें बतलाती है कि ये दोनों हमारी चेतना के वैचारिक रूप हैं, ऐसी अवस्थाएं हैं जिनमें हम प्रपंच के अपने बोध को व्यवस्थित करते हैं। जब हम स्वयं सत् पर नजर डालते हैं तो 'देश' और 'काल' दोनों गायब हो जाते हैं। अगर कोई विस्तार है तो वह देश में नहीं मनोवैज्ञानिक है, अगर कोई अवधि है तो वह भौतिक नहीं मनोवैज्ञानिक अवधि है और तब यह देखना आसान हो जाता है कि यह विस्तार और अवधि केवल प्रतीक हैं जो मन के आगे ऐसी चीज प्रस्तुत करते हैं जिसे बौद्धिक परिभाषा में नहीं रखा जा सकता। एक ऐसी शाश्वतता है जो हमें वही सर्वसमावेशी, सर्वदा नवीन क्षण प्रतीत होती है, एक ऐसी अनंतता है जो हमें वही सर्वसमावेशी, सर्वव्यापी, किंतु विस्तारहीन बिंदु प्रतीत होती है। परिभाषाओं का यह विरोध, जो इतना उग्र होते हुए भी किसी ऐसी चीज को ठीक-ठीक व्यक्त करता है जिसका हमें बोध होता है, यह दिखलाता है कि मन और वाणी अपनी स्वाभाविक सीमाओं को पार कर गये हैं और एक ऐसी सद्वस्तु को प्रकट करने की कोशिश कर रहे हैं जिसमें उनकी अपनी रूढ़ियां और आवश्यक विरोध एक अनिर्वचनीय तादात्म्य में लुप्त हो जाते हैं।

लेकिन क्या यह सच्चा अभिलेख है ? क्या यह नहीं हो सकता कि 'काल' और 'देश' इस तरह, केवल इसलिये लुप्त हो जाते हैं कि हम जिसे सत् मानते हैं वह बुद्धि की गढ़ी कहानी, वाणी द्वारा रचित अनोखा 'शून्य' है जिसे हम अवधारणात्मक सद्वस्तु के रूप में खड़ा करने का प्रयास करते हैं ? हम फिर से उस 'सत्-स्वरूप' को देखते और कहते हैं 'नहीं'। दृश्य प्रपंच के पीछे कोई ऐसी

चीज है जो केवल अनंत ही नहीं अनिर्वचनीय भी है, किसी प्रपंच या प्रपंचों की समष्टि के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह निरपेक्ष रूप से है। यहांतक कि यदि हम सब प्रपंचों को खंडित करते-करते गति या ऊर्जा के एक मूलभूत, सर्वसामान्य, अखंडनीय तथ्यतक ले जायें तो हमारे हाथ जो चीज लगती है वह केवल एक अव्याख्येय तथ्य ही होता है। गति की अवधारणा ही अपने साथ विश्राम की संभाव्यता लिये रहती है और अपने-आपको किसी सत् या सत्ता की क्रिया के रूप में प्रकट करती है। क्रियारत ऊर्जा का विचार ही अपने साथ क्रिया से विरत ऊर्जा का विचार लिये रहता है, और क्रिया से रहित निरपेक्ष ऊर्जा शुद्ध और सरल रूप से निरपेक्ष सत् ही है। हमारे सामने बस यही दो विकल्प हैं—या तो अनिर्वचनीय शुद्ध सत् या क्रियारत अनिर्वचनीय ऊर्जा। किसी स्थायी आधार या कारण के बिना क्रियारत अनिर्वचनीय ऊर्जा ही अगर एकमात्र सच है तब तो ऊर्जा, क्रिया से उत्पन्न एक परिणाम और प्रपंच है और वह क्रिया या गति ही सच्ची है। तब तो 'सत्' है ही नहीं या फिर बौद्धों का शून्य है जिसका अस्तित्व एक शाश्वत तथ्य के, 'क्रिया' के, 'कर्म' के, 'गति' के केवल एक गुण के रूप में है। शुद्ध बुद्धि दावे के साथ कहती है कि यह निष्कर्ष मेरे प्रत्यक्ष दर्शनों को असंतुष्ट छोड़ देता है, मेरी आधारभूत दृष्टि के विपरीत है इसलिये ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि यह निष्कर्ष हमें ऊपर चढ़ने के सोपान पर अचानक समाप्त हो जानेवाली सीढ़ी पर लाकर खड़ा कर देता है और सारे सोपान को बिना किसी सहारे के शून्य में लटकता छोड़ देता है।

अगर यह अनिर्वचनीय, अनंत, कालहीन, देशहीन 'सत्' है तो निश्चय ही वह शुद्ध निरपेक्ष है। उसे किसी परिमाण या परिमाणों में नहीं समेटा जा सकता, वह किसी गुण की रचना या किन्हीं गुणों का संयोजन नहीं हो सकता, वह रूपों का समूह या रूपों का तात्त्विक आधार नहीं है। चाहे सभी रूप, परिमाण और गुण गायब हो जायें, वह बना रहेगा। परिमाणहीन, गुणहीन, रूपहीन 'सत्' की न केवल धारणा ही बनायी जा सकती है बल्कि एक वही चीज है जिसकी धारणा इन सब बाह्य आभासों के पीछे की जा सकती है। निश्चय ही जब हम कहते हैं कि यह सत् इनके बिना है तो हमारा मतलब होता है कि वह उनसे अतीत है, कि वह ऐसी चीज है जिसमें ये सब इस तरह प्रवेश कर जाती हैं कि वे वह नहीं रहतीं जिन्हें हम रूप, परिमाण, गुण कहते हैं और जिसके अंदर से वे गति में रूप, गुण और परिमाण बनकर उभरती हैं। वे एक ऐसे रूप, एक ऐसे गुण और एक ऐसे परिमाण में नहीं चली जातीं जो बाकी सबका आधार हो—क्योंकि ऐसा कुछ है ही नहीं—बल्कि वे ऐसी चीज में चली जाती हैं जिसका वर्णन इनमें से किसी परिभाषा द्वारा नहीं किया जा सकता। तो वे सभी चीजें जो गति की अवस्थाएं और आभास हैं तत् के अंदर समा जाती हैं जहां से वे आयी हैं और जबतक वे वहां रहती हैं,

ऐसी बन जाती हैं कि उनका वर्णन उन परिभाषाओं से नहीं किया जा सकता जो उनकी गति की अवस्था में उपयुक्त थीं। इसीलिये हम कहते हैं कि शुद्ध सत् 'निरपेक्ष' है और अपने-आपमें हमारे विचार के लिये अज्ञेय है यद्यपि हम लौटकर उसके साथ ऐसे परम तादात्म्य में जा सकते हैं जो ज्ञान की परिभाषाओं के परे है। इसके विपरीत गति सापेक्ष का क्षेत्र है फिर भी सापेक्ष की परिभाषा के अनुसार गति में विद्यमान सब चीजें निरपेक्ष को अपने अंदर धारण किये रहती हैं, निरपेक्ष में समायी हुई हैं और स्वयं निरपेक्ष हैं। निरपेक्ष और सापेक्ष के बीच की भिन्नता में जो अभिन्नता है उसके निकटतम उदाहरण के रूप में वेदांत मूलभूत आकाश के साथ प्रकृति के प्रपंचों के संबंध को रखता है। यह आकाश प्रकृति के दृश्यों और व्यापारों का आधार, आधेय और उपादान है फिर भी उनसे इतना अधिक भिन्न रहता है कि जब वे उसमें प्रवेश कर जाते हैं तो वे वह नहीं रह जाते जो अब हैं।

निश्चय ही जब हम कहते हैं कि चीजें उसमें चली जाती हैं जिसमें से आयी थीं तो हम अपनी कालिक चेतना की भाषा का प्रयोग करते हैं और हमें अपने-आपको उसके भ्रमों से बचाना चाहिये। अक्षर में से गति का उभरना शाश्वत तथ्य है और केवल इसी कारण कि हम उसकी अवधारणा उस अनादि, अनंत, चिर-नवीन क्षण में नहीं कर पाते जो 'कालातीत' की शाश्वतता है इसलिये हमारी अवधारणाओं और धारणाओं को बाधित होकर उसे क्रमानुसार चलनेवाले प्रवाह की एक कालगत शाश्वतता में रखना पड़ता है जिसके साथ बार-बार दोहराये जानेवाले आदि, मध्य और अंत के भाव सदा लगे रहते हैं।

लेकिन कहा जा सकता है कि यह सब तभीतक सच है जबतक हम शुद्ध बुद्धि की अवधारणाओं को स्वीकारते और उनके आधीन रहते हैं। लेकिन बुद्धि की अवधारणाओं में बाधित करनेवाली शक्ति नहीं होती। हमें सत् या सत्ता का निर्णय अपनी मानसिक अवधारणा द्वारा नहीं बल्कि जो अस्तित्ववान् दीखता है उससे करना चाहिये। और सत् में जैसा कि वह है अधिक-से-अधिक शुद्ध और मुक्त अंतर्दृष्टि का रूप भी हमें गति के सिवा कुछ और नहीं दिखलाता। केवल दो चीजों का अस्तित्व है: 'देश' में गति, 'काल' में गति, पहला वस्तुनिष्ठ है और दूसरा आत्मनिष्ठ। विस्तार वास्तविक है, काल-प्रवाह वास्तविक है, देश और काल वास्तविक हैं। अगर हम 'देश' में विस्तार के पीछे जा सकें और उसे एक मनोवैज्ञानिक व्यापार के रूप में देखें, इस रूप में देखें कि यह अविभाज्य समग्र को धारणात्मक 'देश' में विभाजित कर सत्ता को व्यवहार्य बनाने के लिये मन का प्रयत्न है तो भी हम काल में होनेवाले अनुक्रम और परिवर्तन की गति के पीछे नहीं जा सकते क्योंकि यह तो हमारी चेतना का उपादान ही है। हम और जगत् दोनों ही एक ऐसी गति हैं जो लगातार प्रगति करती जा रही है और वर्तमान में भूतकाल के सभी अनुक्रमों को अपने अंदर लेती हुई बढ़ती जा रही है। और वर्तमान हमारे

आगे भविष्य के सभी अनुक्रमों के आरंभ के रूप में आता है—एक ऐसा आरंभ, एक ऐसा वर्तमान जो हमेशा हमारी पकड़ से निकल जाता है क्योंकि वह है ही नहीं, क्योंकि वह तो जन्म लेने से पहले ही मर जाता है। जो कुछ है वह 'काल' का एक शाश्वत, अविभाज्य अनुक्रम है जो चेतना की प्रगतिशील गति को अपनी धारा में लिये जा रहा है। वह चेतना की गति भी अविभाज्य है। तो कालावधि, काल में शाश्वत रूप के आनुक्रमिक गति और परिवर्तन, यही एकमात्र निरपेक्ष है। संभूति ही एकमात्र सत् है।[1]

वास्तव में सत्ता में पैठनेवाली यथार्थ अंतर्दृष्टि और शुद्ध बुद्धि की अवधारणाओं के बीच का वह विरोध मिथ्या है। यदि इस विषय में अंतर्भास का बुद्धि से सचमुच विरोध होता तो हम आधारभूत अंतर्दृष्टि के विरोध में केवल अवधारणात्मक तर्कबुद्धि का समर्थन विश्वास के साथ न कर पाते। परंतु अंतर्भासात्मक अनुभूति से समर्थन की यह मांग अपूर्ण है। यह अनुभूति वहींतक प्रामाणिक है जहांतक वह जा पाती है लेकिन वह संपूर्ण अनुभूतितक पहुंचने से पहले ही रुक जाने की भूल करती है। जहांतक अंतर्भास अपने-आपको केवल उसीपर दृढ़ रखता है जो हम बनते जाते हैं, हम अपने-आपको काल के सतत अनुक्रम में चेतना में होनेवाली गति और परिवर्तन की अविच्छिन्न धारा के रूप में देखते हैं। बौद्ध मत के रूपक के अनुसार हम एक नदी हैं, एक ज्वाला हैं। लेकिन एक परम अनुभूति है, एक परम अंतर्भास है जिससे हम अपने सतही स्व के पीछे जाते हैं और देखते हैं कि यह संभूति, परिवर्तन, अनुक्रम केवल हमारी सत्ता का एक प्रकार मात्र है और हमारे भीतर वह चीज है जो संभवन में जरा भी नहीं फंसती। हम केवल इसका अंतर्भास ही नहीं पा सकते जो हमारे अंदर स्थिर और शाश्वत है, हम इन सतत पलायमान संभूतियों के पर्दे के पीछे इस अनुभूति की एक झांकी ही नहीं पा सकते बल्कि हम उसके अंदर लौटकर पूरी तरह उसीमें जी सकते हैं और इस तरह अपने बाहरी जीवन में, अपनी मनोवृत्ति में और जगत् की गति पर अपनी क्रिया में पूर्ण परिवर्तन भी ला सकते हैं। और यह स्थायित्व जिसमें हम इस प्रकार रह सकते हैं ठीक वही है जो शुद्ध बुद्धि हमें पहले ही दे चुकी है यद्यपि वहां तर्कबुद्धि के बिना ही, पहले से यह जाने बिना ही कि वह क्या है, पहुंचा जा सकता है—वह शुद्ध सत् है, शाश्वत, अनंत, अनिर्वचनीय, काल के

[1] गति की समग्रता में अविभाज्य। 'काल' या 'चेतना' के प्रत्येक क्षण को अपने पहले के और अपने बाद आनेवाले क्षण से पृथक् माना जा सकता है। ऊर्जा की प्रत्येक आनुक्रमिक क्रिया एक नवीन परिमाण या नयी सृष्टि मानी जा सकती है लेकिन इससे उस अविच्छिन्नता का खंडन नहीं होगा जिसके बिना काल का प्रवाह या चेतना की संबद्धता संभव नहीं है। आदमी जब चलता या दौड़ता या छलांगें मारता है तो उसके कदम अलग-अलग पड़ते हैं लेकिन कोई ऐसी चीज होती है जो कदम उठाती और गति को अविच्छिन्न बनाती है।

अनुक्रम से अछूता, देश के विस्तार से अलग-थलग, रूप, गुण, परिमाण के परे है—केवल और निरपेक्ष आत्मा है।

तो शुद्ध सत् केवल अवधारणा नहीं, एक तथ्य है, वह मूलभूत सद्वस्तु है। लेकिन इसके साथ-ही-साथ हमें तुरंत यह भी कह देना चाहिये कि गति, ऊर्जा और संभवन भी एक तथ्य, एक सद्वस्तु हैं। परम अंतर्भास और उसके साथ मेल खाती हुई अनुभूति दूसरे को ठीक कर सकती है, उसके परे जा सकती है, उसे स्थगित कर सकती है पर उसका उन्मूलन नहीं कर सकती; अतः हमारे आगे दो मूलभूत तथ्य हैं, शुद्ध सत् और जगत्-सत्ता, सत् का तथ्य और संभवन का तथ्य। एक या दूसरे को अस्वीकार करना आसान है, चेतना के तथ्यों को पहचानना और उनके संबंध का पता लगाना सच्ची और सफल प्रज्ञा है।

हमें याद रखना चाहिये कि स्थायित्व और गति भी एकत्व और बहुत्व की तरह निरपेक्ष के केवल हमारे अपने मनोमय प्रतिरूप हैं। निरपेक्ष स्थिरता और गति के परे है जैसे कि वह ऐक्य और बहुलता के परे है। लेकिन वह एक और स्थिर में अपना शाश्वत विश्राम लेता है और गति और बहुत्व में अचिन्त्य, अनंत और निरापद रूप से अपने चारों ओर चक्कर लगाता है। जगत्-सत्ता शिव का आनंद नृत्य है जो भगवान् के रूप को दृष्टि के आगे अनंततः बहुरूप में प्रस्तुत करता है। वह उस श्वेत सत्ता को ठीक वहीं और वैसा ही छोड़ देता है जैसी वह थी, सदा रहती है और सदा रहेगी, उसका एकमात्र परम उद्देश्य है नृत्य का आनंद।

लेकिन चूंकि हम स्थायित्व और गति से परे, एकत्व और बहुत्व से परे रहनेवाले निरपेक्ष का न तो वर्णन कर सकते हैं और न उसके बारे में सोच ही सकते हैं—ना ही यह हमारा विषय ही है—अतः हमें इस दोहरे तथ्य को स्वीकारना होगा, शिव और काली दोनों को मान्यता देनी होगी और यह जानने का प्रयास करना होगा कि शुद्ध 'सत्ता' जो कालातीत और देशातीत है, जो एक और अविचल है, जिसे न प्रमेय कहा जा सकता है न अप्रमेय, उसके संबंध में यह काल और देशगत अप्रमेय 'गति' क्या है। हम देख चुके हैं कि शुद्ध 'सत्ता' के, 'सत्' के विषय में शुद्ध-बुद्धि, अंतर्भास और अनुभूति का क्या कहना है। अब देखना यह है कि शक्ति और गति के बारे में उनकी क्या राय है।

अब जो पहला प्रश्न हमें अपने-आपसे पूछना है वह यह है कि क्या यह शक्ति बस शक्ति ही है, गति की केवल एक बुद्धिहीन ऊर्जा है या क्या चेतना, जो हमारे वासस्थान इस भौतिक जगत् में उस शक्ति में से उभरती मालूम होती है, वह उस शक्ति के दृश्य परिणामों में से एक परिणाम न होकर कहीं अधिक उसका सच्चा और गुप्त स्वभाव है? वेदांत की भाषा में क्या शक्ति केवल प्रकृति है, केवल कर्म और प्रक्रिया की गति है या प्रकृति वास्तव में चित् की शक्ति है, अपने स्वभाव से सृजनात्मिका आत्म-चेतना की शक्ति है? इस मूलभूत समस्या पर ही सब कुछ निर्भर है।

अध्याय १०

चित्-शक्ति

ते . . . . . अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।

उन्होंने भगवान् की आत्म-शक्ति को उसकी अपनी ही क्रिया के सचेतन प्रकारों द्वारा गहरे छिपा देखा।

श्वेताश्वतरोपनिषद् १.३

य एष सुप्तेषु जागर्ति ॥

यह वही है जो सोते हुओं में जागता है।

कठोपनिषद् ५.८

समस्त दृश्य सत्ता का वियोजन शक्ति में, ऊर्जा की एक ऐसी गति में होता है जो अपनी अनुभूति के आगे आत्म-प्रस्तुति करने के लिये न्यूनाधिक रूप से जड़ भौतिक, न्यूनाधिक रूप से स्थूल या सूक्ष्म रूप धारण करती है। मानव विचार ने सत्ता के उद्गम और विधान को अपने लिये बोधगम्य और वास्तविक बनाने के लिये जिन प्राचीन रूपकों की रचना की थी उनमें, शक्ति की इस अनंत सत्ता को सागर के रूप में चित्रित किया गया है जो प्रारंभिक रूप में अचल अतः रूपों से मुक्त है परंतु प्रथम विक्षोभ, गति का प्रथम सूत्रपात रूपों की सृष्टि को जरूरी बना देता है और यही है विश्व का बीज।

जड़ तत्त्व शक्ति की वह प्रस्तुति है जो हमारी बुद्धि के लिये सबसे अधिक आसानी से बोधगम्य है क्योंकि उसे जड़तत्त्व के ऐसे संपर्कों से ढाला गया है जिन्हें भौतिक मस्तिष्क में अंतर्लीन मन प्रत्युत्तर देता है। प्राचीन भारतीय भौतिक वैज्ञानिकों की दृष्टि में भौतिक शक्ति की प्रारंभिक स्थिति देश में शुद्ध भौतिक विस्तार की अवस्था है जिसका अपना विशेष गुण-स्पंदन है जो हमारे आगे ध्वनि का आभास बनकर आता है। किंतु आकाश की इस अवस्था में स्पंदन रूप की रचना करने के लिये काफी नहीं है। पहले 'शक्ति'-सागर के प्रवाह में कोई रुकावट आये, सिकुड़ना और फैलना हो, स्पंदनों की आपस में क्रीड़ा हो, शक्ति का शक्ति से टकराव हो ताकि निश्चित संबंधों और पारस्परिक प्रभावों के आरंभ की सृष्टि हो सके। भौतिक शक्ति अपनी पहली आकाशीय स्थिति में फेर-फार करती हुई एक दूसरी अवस्था को अपनाती है जिसे प्राचीन भाषा में वायवीय कहते हैं, जिसका विशेष गुण है शक्ति और शक्ति के बीच संपर्क, ऐसा संपर्क जो सभी भौतिक संबंधों का आधार है। अभीतक हमें वास्तविक रूप नहीं मिल पाये हैं, केवल

अलग-अलग शक्तियां ही मिली हैं। एक सहारा देनेवाले तत्त्व की जरूरत है। यह आदि शक्ति के तीसरे आत्म-परिवर्तन द्वारा आता है जिसकी विशेष अभिव्यक्ति हमारे लिये प्रकाश, विद्युत्, अग्नि और ऊष्मा के तत्त्व में होती है। फिर भी हम शक्ति के ऐसे रूप तो पा सकते हैं जो अपने विशेष गुणों और विशेष क्रियाओं को बनाये रखते हो लेकिन जड़ भौतिक के स्थिर रूप नहीं। एक चौथी स्थिति है जिसका विशेष गुण है फैलाव और यह स्थायी आकर्षणों और विकर्षणों का प्रथम साधन है, इसका चित्रमय नाम है जल अथवा द्रव स्थिति और पांचवां है संसक्ति का तत्त्व जिसे कहते हैं पृथ्वी या ठोस स्थिति। ये मिलकर, आवश्यक तत्त्वों की पूर्ति कर देते हैं।

जड़ पदार्थ के वे सभी रूप जिनके बारे में हम जानते हैं, यहांतक कि सूक्ष्मतम रूप भी इन्हीं पांच तत्त्वों से मिलकर बने हैं। हमारी इन्द्रियों की अनुभूतियां भी इन्हीं पर निर्भर हैं। स्पंदनों के ग्रहण करने से ध्वनि का संवेदन होता है, शक्ति के स्पंदनों के जगत् में वस्तुओं के संपर्क से स्पर्श का संवेदन होता है। प्रकाश की क्रिया द्वारा प्रकाश, अग्नि और ताप की शक्ति द्वारा सेये गये, रूपरेखा प्रदान किये गये और संपोषित रूपों में दृष्टि का संवेदन, चौथे तत्त्व से स्वाद और पांचवें से गंध का संवेदन होता है। सब कुछ सार रूप में शक्ति और शक्ति के बीच स्पंदनात्मक संपर्कों के प्रत्युत्तर हैं। इस प्रकार प्राचीन विचारकों ने शुद्ध शक्ति और उसके अंतिम परिवर्तनों के बीच की खाई को पाट दिया और उस कठिनाई को संतुष्ट किया जो साधारण मानव के मन को यह समझने से रोकती है कि ये सब रूप जो उसकी इन्द्रियों के लिये इतने वास्तविक, ठोस और स्थायी हैं, वास्तव में केवल अस्थायी प्रपंच कैसे हो सकते हैं और शुद्ध ऊर्जा के जैसी चीज जो इन्द्रियों के लिये अस्तित्वहीन, अगोचर और लगभग अविश्वसनीय है वह स्थायी वैश्व वास्तविकता कैसे हो सकती है।

इस सिद्धांत द्वारा चेतना की समस्या का हल नहीं होता क्योंकि यह इस बात को स्पष्ट नहीं करता कि शक्ति के स्पंदनों का स्पर्श सचेतन संवेदनों को कैसे पैदा करता है। अतः सांख्यों अथवा विश्लेषक विचारकों ने इन पांच तत्त्वों के पीछे और दो तत्त्वों को मान लिया जिन्हें उन्होंने महत् और अहंकार का नाम दिया है। ये ऐसे तत्त्व हैं जो वास्तव में अभौतिक हैं क्योंकि पहला शक्ति का विराट् वैश्व तत्त्व होने के सिवा कुछ नहीं है और दूसरा है अहं की रचना का विभाजनशील तत्त्व। फिर भी ये दोनों तत्त्व और साथ ही बुद्धि-तत्त्व चेतना में स्वयं शक्ति के बल पर सक्रिय नहीं होते बल्कि एक निष्क्रिय सचेतन-आत्मा या आत्माओं के बल पर जिनमें उसकी क्रियाएं प्रतिबिंबित होती हैं और उस प्रतिबिंब द्वारा चेतना का रंग पकड़ लेती हैं।

भारतीय दर्शन का एक मत चीजों की व्याख्या उक्त प्रकार से प्रस्तुत करता है, यह मत आधुनिक जड़वादी विचारों के अधिक-से-अधिक नजदीक है और यह

प्रकृति में आसीन यांत्रिक या निश्चेतन शक्ति के विचार को उतनी दूरतक ले गया जितना भारतीय मानस के गभीर चिंतन के लिये संभव है। इसमें चाहे जो त्रुटियां हों, इसका मुख्य विचार इतना निर्विवाद था कि उसे व्यापक रूप से स्वीकार कर लिया गया। चेतना के व्यापार की चाहे जैसे व्याख्या की जाये, चाहे प्रकृति एक जड़ आवेग हो या सचेतन तत्त्व, वह निश्चित ही शक्ति तो है ही। ऊर्जाओं की रचनात्मक गतिविधि ही वस्तुओं का तत्त्व है। सभी रूप असंघटित शक्तियों के मिलने और परस्पर अनुकूलन से पैदा होते हैं। शक्ति के किसी रूप के अंदर की कोई चीज शक्ति के अन्य रूपों के संपर्क में आकर जो प्रत्युत्तर देती है वही समस्त संवेदन और क्रिया है। हम जगत् को ऐसा ही अनुभव करते हैं और हमें सदा इस अनुभव से ही आरंभ करना चाहिये।

आधुनिक विज्ञान द्वारा जड़तत्त्व का भौतिक विश्लेषण भी इसी सामान्य निष्कर्ष पर पहुंचता है, कुछ थोड़े से अंतिम संदेह भले बाकी हों। अंतर्भास और अनुभूति विज्ञान और दर्शन की इस सहमति का समर्थन करते हैं। शुद्ध बुद्धि इसमें अपनी सारभूत अवधारणाओं की संतुष्टि पाती है। अगर हम जगत् को सारतः चेतना की क्रिया मानें तो उसमें क्रिया तो आ ही गयी और साथ ही क्रिया में शक्ति की गति और ऊर्जा की क्रीड़ा भी आ जाती है। अगर हम अपने अंदर अपनी अनुभूति की परीक्षा करें तो यही जगत् का आधारभूत स्वरूप प्रमाणित होता है। हमारी सारी क्रियाएं प्राचीन दर्शनों में वर्णित त्रिविध शक्ति, ज्ञान-शक्ति, कामना-शक्ति और क्रिया-शक्ति का खेल हैं और वे एकमात्र आद्या शक्ति की ही वास्तव में तीन धाराएं सिद्ध होती हैं। यहांतक कि हमारी विश्राम की अवस्थाएं भी उस शक्ति की गति की क्रीड़ा की सम अवस्था या संतुलित अवस्था हैं।

शक्ति की गति को विश्व की समग्र प्रकृति मान लेने पर दो प्रश्न उठते हैं। पहला यह कि सत् के वक्ष में यह गति आयी ही कैसे? अगर हम यह मान लें कि यह गति केवल शाश्वत ही नहीं, बल्कि समस्त सत् का सार तत्त्व है तब यह प्रश्न नहीं उठता लेकिन हम इस मत को अस्वीकार कर चुके हैं। हमें ऐसे सत् का पता है जो इस गति से बाधित नहीं है। तब फिर यह गति जो सत् के शाश्वत विश्राम के लिये विजातीय है, उसमें आती ही कैसे है? किस कारण, किस संभावना से, किस रहस्यमयी प्रेरणा से?

प्राचीन भारतीय मानस ने जिस उत्तर को सबसे अधिक स्वीकार किया था वह यह है कि शक्ति सत् के अंदर अंतर्लीन है। शिव और काली, ब्रह्म और शक्ति एक हैं, दो नहीं जिन्हें अलग किया जा सके। सत् के अंदर अंतर्लीन शक्ति चाहे विश्राम में हो सकती है या गति में। लेकिन जब वह विश्राम में होती है तब भी वह उतनी ही उपस्थित रहती है, लुप्त या क्षीण या किसी भी रूप में तत्त्वतः

परिवर्तित नहीं होती। यह उत्तर इतना अधिक तर्कसंगत और वस्तुओं के स्वभाव के अनुकूल है कि उसे स्वीकार करने में हमें सकुचाना न चाहिये। क्योंकि, तर्क-बुद्धि के विपरीत होने के कारण, यह मानना असंभव है कि शक्ति उस अनन्य और अनंत सत् के लिये कोई विजातीय चीज है और उसमें कहीं बाहर से आयी है या पहले उसका अस्तित्व न था और काल के किसी क्षण में वह सत्ता में उठ खड़ी हुई। यहांतक कि मायावाद को भी यह मानना पड़ेगा कि माया ब्रह्म की आत्म-संभ्रम की शक्ति, संभाव्य रूप में शाश्वत सत्ता के अंदर शाश्वत रूप से विद्यमान है। तब एकमात्र प्रश्न रह जाता है उसकी अभिव्यक्ति या अनभिव्यक्ति का। सांख्य भी प्रकृति और पुरुष के शाश्वत सह-अस्तित्व को और प्रकृति की दो अवस्थाओं को मानता है। ये अवस्थाएं बारी-बारी से आती हैं, एक विश्राम या संतुलन की अवस्था और दूसरी गति या संतुलन-भंग की अवस्था।

लेकिन चूंकि शक्ति इस तरह सत् के अंदर अंतर्निहित है और उसका स्वभाव है गति या विश्राम की यह द्विविध या बारी-बारी से आने की संभाव्यता यानी शक्ति में अपने-आपको केंद्रित करने और शक्ति में अपने-आपको छितराने की संभाव्यता, अतः गति के कैसे का, उसके संभव होने का, उसे शुरू करने की प्रेरणा या प्रवर्तक कारण का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि तब हम आसानी से यह कल्पना कर सकते हैं कि इस संभाव्यता को अपने-आपको दो में से एक रूप में अनूदित करना होगा, या तो 'काल' में विश्राम और गति के बारी-बारी से आनेवाले छंद के रूप में या अक्षर सत् में 'शक्ति' के ऐसे शाश्वत आत्म-संहरण में जहां समुद्र की सतह पर उठती और गिरती लहरों की तरह गति, परिवर्तन और साथ-साथ रूपायन की सतही क्रीड़ा भी चलती हो। हम अपर्याप्त रूपकों में बोलने के लिये बाधित हैं, हो सकता है कि सतह पर होनेवाली यह क्रीड़ा और आत्म-संहरण समकालीन हों और स्वयं क्रीड़ा भी शाश्वत हो, यह भी हो सकता है कि उसका काल में आदि और अंत होता हो और एक तरह के सतत छंद द्वारा उसका पुनः आरंभ होता हो। तब यह सातत्य में नहीं, पुनरावृत्ति में शाश्वत होती है।

इस तरह 'कैसे' की समस्या के निकल जाने पर 'क्यों' का प्रश्न उठता है। शक्ति की गति की क्रीड़ा की यह संभावना भला अपने-आपको अनूदित ही क्यों करे? सत् की शक्ति हमेशा अपने अंदर ही शाश्वत रूप से केंद्रित, सब परिवर्तनों और रूपायनों से मुक्त, असीम क्यों न रहे? अगर हम यह मान लें कि सत् अचेतन है और चेतना केवल भौतिक ऊर्जा का विकास मात्र है जिसे हम भूल से अभौतिक मान बैठते हैं, तो यह प्रश्न भी नहीं उठता। क्योंकि तब हम आसानी से कह सकते हैं कि यह छंद तो सत्ता की शक्ति का स्वभाव ही है और जो स्वभाव से, शाश्वत रूप से स्वयंभू हो उसके लिये क्यों, किस कारण, मूल प्रेरणा, अंतिम प्रयोजन ढूंढ़ना एकदम बेकार है। हम शाश्वत स्वयंभू से यह प्रश्न नहीं कर सकते

कि उसका अस्तित्व क्यों है, वह कैसे अस्तित्व में आया। न हम सत्ता की आत्म-शक्ति से और न गति की ओर प्रेरित करनेवाले उसके अंतर्निहित स्वभाव से यह प्रश्न कर सकते हैं। हम केवल उसकी आत्माभिव्यक्ति की रीति, उसकी गति और रूपायन के सिद्धांतों तथा विकासक्रम की प्रक्रिया के बारे में जांच कर सकते हैं। जब सत्ता और शक्ति दोनों तामसिक हैं—तामसिक स्थिति और तामसिक प्रेरणा—दोनों अचेतन और अबौद्धिक हैं तो विकास-क्रम का कोई उद्देश्य या अंतिम लक्ष्य नहीं हो सकता और न कोई आदि कारण या प्रयोजन ही हो सकता है।

लेकिन अगर हम सत् को सचेतन सत्ता मानें या पायें तो समस्या उठ खड़ी होती है। वस्तुतः हम एक ऐसी सचेतन सत्ता मान सकते हैं जो अपनी शक्ति के स्वभाव के आधीन है, उसके द्वारा बाधित है, जिसके आगे यह विकल्प नहीं है कि वह विश्व में अभिव्यक्त या अनभिव्यक्त रहे। तांत्रिकों और मायावादियों का विश्वेश्वर ऐसा ही है, वह शक्ति या माया के आधीन है, पुरुष माया में आवेष्टित है या शक्ति द्वारा नियंत्रित है। परंतु यह स्पष्ट है कि ऐसा भगवान् अनंत परम सत् नहीं है जिसे लेकर हम चले थे। यह मानना होगा कि यह शक्ति ब्रह्म द्वारा विश्व में उस ब्रह्म का ही केवल एक रूपायन है जो स्वयं युक्तिसंगत रूप से शक्ति या माया का पूर्ववर्ती है और जब वह अपना काम समाप्त कर लेती है तो वह उसे अपनी परात्पर अवस्था में वापिस ले लेता है। एक ऐसे सचेतन सत् में जो निरपेक्ष है, अपने रूपायनों से स्वतंत्र है, अपने कार्यों द्वारा निर्धारित नहीं है, हमें यह मानना होगा कि उसे अपनी गति की संभाव्यता को व्यक्त करने या न करने की एक अंतर्निहित स्वाधीनता होगी। प्रकृति द्वारा बाधित रहनेवाला ब्रह्म ब्रह्म नहीं है बल्कि एक जड़ अनंत है जिसमें एक सक्रिय तत्त्व समाया रहता है जो समानेवाले से बढ़कर सशक्त है, शक्ति का एक सचेतन धारक है जिसपर उसकी शक्ति का ही स्वामित्व रहता है। यदि हम कहें कि वह अपने ही शक्ति रूप से बाधित रहता है, अपनी ही प्रकृति से बाधित रहता है तो भी हम प्रत्याख्यान से पिंड नहीं छुड़ा पाते, अपनी प्रथम अभिधारणा से कतराते हैं। हम एक ऐसे सत् पर वापिस जा पहुंचते हैं जो वस्तुतः शक्ति के सिवा कुछ नहीं है, फिर वह शक्ति चाहे विश्राम की अवस्था में हो या गति की। वह निरपेक्ष शक्ति भले हो पर निरपेक्ष सत्ता नहीं है।

तो शक्ति और चेतना के आपसी संबंध की जांच करना जरूरी है। लेकिन चेतना से हमारा मतलब क्या है? साधारणतः हम मनुष्य के मन की उस जाग्रत् चेतना को चेतना कहते हैं जो उसके शारीरिक जीवन के मुख्य भाग में उस समय होती है जब वह सोया हुआ, मूर्च्छित या किसी और कारण से संवेदन के स्थूल और बाहरी साधनों से वंचित नहीं होता। यह स्पष्ट है कि भौतिक जगत् की व्यवस्था में इस अर्थ में चेतना एक नियम नहीं, अपवाद है। वह हमेशा हमारे

अधिकार में नहीं रहती। लेकिन चेतना के स्वरूप के बारे में हमारे इस गंवारू और छिछले भाव को, यद्यपि इसका रंग अभीतक हमारे सामान्य विचारों और संस्कारों पर दिखलायी देता है, अब निश्चित रूप से दार्शनिक विचार से गायब हो जाना चाहिये। क्योंकि हम जानते हैं कि जब हम सोये हुए हों, स्तब्ध हों या स्वापक द्रव्यों के प्रभाव में हों या मूर्च्छा में हों यानी हमारी शारीरिक सत्ता की जितनी भी प्रत्यक्ष रूप में अचेतन अवस्थाएं हैं उन सभी में हमारे अंदर कोई चीज सचेतन होती है। इतना ही नहीं, हम इस बारे में भी निश्चित हो सकते हैं कि प्राचीन मनीषियों की यह घोषणा ठीक थी कि अपनी जाग्रत् अवस्था में भी, जिसे हम अपनी चेतना कहते हैं, वह हमारी समग्र सचेतन सत्ता का केवल एक छोटा-सा चयन होती है। यह एक ऊपरी सतह है। हमारी संपूर्ण मानसता भी नहीं। इसके पीछे, इससे कहीं अधिक विशाल एक अंतर्लीन या अवचेतन मन है जो हमारे 'स्व' का अधिक बड़ा भाग है और उसमें ऐसी ऊंचाइयां और गहराइयां हैं जिन्हें अभीतक किसी मनुष्य ने नहीं मापा है, उसकी थाह नहीं ली है। यह ज्ञान हमें शक्ति और उसकी क्रियाओं के सच्चे विज्ञान के लिये एक आरंभबिंदु देता है। वह हमें निश्चित रूप से भौतिक के परिसीमन और प्रत्यक्ष के भ्रम से मुक्त करता है।

वस्तुतः जड़वाद यह आग्रह करता है कि चेतना का चाहे जितना विस्तार क्यों न हो वह एक भौतिक प्रपंच ही है जिसे इन्द्रियों से अलग नहीं किया जा सकता और चेतना इन्द्रियों का उपयोग करनेवाली न होकर उनका परिणाम है। फिर भी यह कट्टरपंथी मान्यता बढ़ते हुए ज्ञान के ज्वार के आगे नहीं टिक सकती। उसकी व्याख्याएं अधिकाधिक अपर्याप्त और अस्वाभाविक होती जा रही हैं। यह बात सदा स्पष्ट से स्पष्टतर होती जा रही है कि हमारी समग्र चेतना की क्षमता हमारे अंगों, हमारी इन्द्रियों, स्नायुओं, मस्तिष्क की क्षमता से बहुत अधिक बढ़कर है, इतना ही नहीं, हमारे सामान्य विचार और चेतना के लिये भी ये अंग केवल अभ्यासगत यंत्र हैं उनके पैदा करनेवाले नहीं। चेतना मस्तिष्क का उपयोग करती है, उसके ऊर्ध्वमुखी प्रयासों ने ही मस्तिष्क को पैदा किया है। मस्तिष्क ने न तो चेतना को पैदा किया है न वह उसका उपयोग करता है। ऐसे असामान्य दृष्टांत भी हैं जो यह प्रमाणित करते हैं कि हमारे अंग एकदम अनिवार्य उपकरण नहीं हैं,—कि हृदय की धड़कनें जीवन के लिये एकदम अनिवार्य नहीं हैं उसी तरह जैसे श्वासोच्छ्वास अनिवार्य नहीं है और न संगठित मस्तिष्क-कोष विचार के लिये अनिवार्य है। जिस तरह इंजन का निर्माण बिजली या भाप की चालक शक्ति का कारण या उसकी व्याख्या नहीं हो सकता उसी तरह हमारे शारीरिक अवयव विचार और चेतना के कारण नहीं हो सकते, न उसकी व्याख्या कर सकते हैं। शक्ति पूर्ववर्ती है, भौतिक यंत्र नहीं।

इसके पीछे-पीछे अनेक महत्त्वपूर्ण तर्कसंगत परिणाम आते हैं। पहले स्थान पर

हम यह पूछ सकते हैं कि जहां हम निर्जीवता और जड़ता देखते हैं वहां भी मानसिक चेतना का अस्तित्व रहता है तो क्या यह संभव नहीं है कि जड़ पदार्थों में भी एक वैश्व अवचेतन मन उपस्थित हो, भले वह अवयवों के अभाव में उसकी सतह पर कोई क्रिया या उसकी सतह के साथ कोई संपर्क स्थापित न कर सके। क्या जड़ अवस्था चेतना की रिक्तता है या क्या वह चेतना की निद्रामात्र नहीं है— चाहे क्रमविकास की दृष्टि से वह मध्यवर्ती नहीं, आदि निद्रा हो। और मानव दृष्टांत हमें बतलाता है कि निद्रा से हमारा मतलब चेतना का स्थगित होना नहीं बल्कि बाहरी चीजों के आघात से सचेतन भौतिक प्रत्युत्तर से विमुख होकर उसका भीतर की ओर एकत्र होना है। तो क्या वह सारी सत्ता ऐसी ही नहीं है जिसने अभौतिक बाहरी भौतिक जगत् के साथ बाहरी संचार के साधन विकसित नहीं किये हैं ? क्या वहां एक 'सचेतन-अंतरात्मा', एक 'पुरुष' नहीं है जो हमेशा जागता रहता है, उन सबमें भी जो सोये रहते हैं।

हम आगे जा सकते हैं। जब हम अवचेतन मन की बात करते हैं तो इस शब्द से हमारा मतलब किसी ऐसी चीज से होना चाहिये जो बाहरी मानसिकता से भिन्न नहीं है, बस वह सतह के नीचे, जो जाग्रत् मनुष्य के लिये अज्ञात है, क्रिया करती है, शायद उसी अर्थ में वह ज्यादा गहराई और ज्यादा विस्तार में जाती है। लेकिन अंतर्लीन आत्मा के व्यापार किसी भी ऐसी परिभाषा की सीमा से बहुत आगे निकल जाते हैं। उसमें ऐसी क्रिया भी आ जाती है जो क्षमता के हिसाब से न केवल बहुत अधिक श्रेष्ठ है बल्कि हम जिसे जाग्रत् अवस्था में अपनी मानसिकता कहते हैं उससे बहुत भिन्न भी है। अतः हमें यह मानने का अधिकार है कि हमारे अंदर अवचेतना के साथ-ही-साथ एक अतिचेतना है, चेतन क्षमताओं का एक सोपान है और इस कारण चेतना का एक ऐसा संगठन है जो उस मनोवैज्ञानिक स्तर से बहुत ऊंचा उठता है जिसे हम मानसिकता का नाम देते हैं। और चूंकि हमारे अंदर की अंतर्लीन सत्ता मन से ऊपर अतिचेतन में उठती है तो क्या वह मानसिकता के नीचे अवचेतना में भी डुबकी न लगाती होगी ? क्या हमारे अंदर और जगत् में चेतना के ऐसे रूप नहीं हैं जो अवमानसिक हैं, जिन्हें हम प्राणिक और भौतिक चेतना का नाम दे सकते हैं। अगर ऐसा है तो हमें यह मानना चाहिये कि वनस्पति और धातु में भी एक शक्ति है जिसे हम चेतना का नाम दे सकते हैं यद्यपि वह मनुष्य या पशु की मानसिकता नहीं है जिसके लिये हमने अभौतिक चेतना की यह परिभाषा सुरक्षित रख छोड़ी है।

यह केवल संभाव्य ही नहीं है बल्कि, अगर हम चीजों को निष्पक्ष रूप से देखें तो, निश्चित है। हमारे अंदर इस प्रकार की प्राणिक चेतना है जो शरीर के कोषाणुओं में और स्वचालित प्राणिक क्रियाओं में काम करती है जिसके कारण हम उद्देश्यपूर्ण गतियों में से गुजरते हैं और उन आकर्षणों-विकर्षणों के अधीन होते हैं

जो हमारे मन के लिये अजनबी होते हैं। पशुओं में यह प्राणिक चेतना और भी अधिक महत्त्वपूर्ण चीज होती है। वनस्पतियों में यह अंतर्भासात्मक रूप में स्पष्ट होती है। वनस्पति की ललक और सिकुड़न, उसके सुख-दुःख, उसकी नींद और जागती हुई अवस्था और वह विचित्र जीवन जिसकी सचाई को एक भारतीय वैज्ञानिक कठोर वैज्ञानिक पद्धति से प्रकाश में लाया है, ये सब चेतना की गतिविधियां हैं, परंतु जहांतक हम देख सकते हैं, मन की गतियां नहीं हैं। तो फिर एक अव-मानसिक, एक प्राणिक चेतना है जिसकी मौलिक प्रतिक्रियाएं ठीक वैसी हैं जैसी मन की होती हैं परंतु वह आत्मानुभूति के संघटन में भिन्न होती हैं जैसे जो अतिचेतन है वह स्वानुभूति के संघटन में मानसिक सत्ता से भिन्न है।

क्या उस चीज का सोपान जिसे हम चेतना कह सकते हैं वनस्पति के साथ ही समाप्त हो जाता है, उसके साथ जिसमें हम अव-पाशविक जीवन के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं? अगर ऐसा है तो हमें यह मानना पड़ेगा कि जीवन और चेतना की शक्ति जड़ तत्त्व से मूलतः विजातीय है फिर भी उसने जड़ तत्त्व में प्रवेश करके उसपर कब्जा कर लिया है—हो सकता है कि वह किसी और लोक से आयी हो।[1] क्योंकि अन्यथा वह और कहां से आ सकती है? प्राचीन विचारक ऐसे अन्य लोकों के अस्तित्व में विश्वास करते थे जो शायद हमारे जगत् में प्राण और चेतना का पोषण करते हैं या अपने दबाव से उन्हें अभिव्यक्त भी करते हैं, किंतु अपने प्रवेश द्वारा उनकी रचना नहीं करते। जड़ तत्त्व से ऐसी कोई चीज प्रकट नहीं की जा सकती जो पहले से ही उसमें समायी हुई न हो।

लेकिन यह मानने का कोई कारण नहीं है कि प्राण और चेतना का सप्तक वहीं जाकर समाप्त या परिसीमित हो जाता है जो हमें शुद्ध रूप से भौतिक मालूम होता है। आधुनिक शोध-कार्य और आधुनिक विचार का विकास इधर इशारा करता मालूम होता है कि धातुओं में और धरती में और अन्य 'अचेतन' रूपों में एक प्रकार के अस्पष्ट जीवन का आरंभ और शायद एक प्रकार की निष्क्रिय और दबी हुई चेतना है अथवा जो चीज हममें आकर चेतना का रूप लेती है उसका कम-से-कम प्रथम उपादान उनमें हो सकता है। जब कि वनस्पति में हम उस चीज को धुंधले रूप में पहचान सकते या उसकी कल्पना कर सकते हैं जिसे मैं प्राणिक चेतना कहता हूं, तो जड़ पदार्थ की या निर्जीव चीज की चेतना को समझना और उसकी कल्पना करना हमारे लिये निश्चय ही कठिन है और हम अपना अधिकार समझते हैं कि हमारे लिये जिस चीज को समझना या जिसकी कल्पना करना कठिन हो उसे

[1] आजकल एक विचित्र-सी कल्पना फैली हुई है कि धरती पर प्राण किसी अन्य लोक से नहीं, किसी अन्य ग्रह से आया है। विचारक के लिये इसका कोई अर्थ नहीं होता। मूल प्रश्न यह है कि जड़ तत्व में प्राण आता ही कैसे है, यह नहीं कि वह किसी ग्रह-विशेष के जड़ तत्त्व में कैसे प्रविष्ट होता है।

नकार दें। फिर भी जब हम इतनी गहराइयों तक चेतना का अनुसरण करते आये हैं तो यह विश्वास करना मुश्किल है कि प्रकृति में अचानक इतनी बड़ी खाई आ जाये। विचार को यह अधिकार है कि वह ऐसी अवस्था में वहां एकता को मान ले जहां प्रपंच की सभी श्रेणियां उस एकता को स्वीकार करती हों और केवल एक श्रेणी ऐसी हो जो उसे नकारती तो नहीं, पर उसमें यह औरोंसे अधिक छिपी हुई हो। और अगर हम यह मानें कि यह एकता अविच्छिन्न है तो हम इस बात पर आ पहुंचते हैं कि जगत् में काम करनेवाली शक्ति के जितने भी रूप हैं उन सबमें चेतना का अस्तित्व है। चाहे सभी रूपों में सचेतन या अतिचेतन पुरुष का निवास न भी हो फिर भी उन रूपों में सत्ता की सचेतन शक्ति विद्यमान रहती है जिसमें उनके बाहरी अंग भी प्रत्यक्ष या निष्क्रिय रूप में भाग लेते हैं।

लेकिन इस दृष्टि में निश्चय ही चेतना शब्द का अर्थ ही बदल जाता है। वह मानसिकता का पर्याय नहीं रह जाता। वह सत्ता की आत्म-अभिज्ञ (चित्) शक्ति का द्योतक है जिसका मध्यपर्व है मन। मन के नीचे वह प्राणिक और भौतिक गतियों में डूब जाता है जो हमारे लिये अवचेतन हैं। ऊपर की ओर वह अतिमानस में उठता है जो हमारे लिये अतिचेतन है। परंतु सबमें यह एक और समान चीज है जो अपने-आपको अलग-अलग तरह से संगठित करती है। यह फिर, भारत की 'चित्' की अवधारणा है जो ऊर्जा के रूप में जगतों का निर्माण करती है। सारतः हम उसी एकत्व पर आ पहुंचते हैं जिसे भौतिक विज्ञान दूसरे छोर से देखकर यह दावा करता है कि मन जड़ तत्त्व के सिवा कोई और शक्ति नहीं हो सकता, उसे भौतिक ऊर्जा का विकास और परिणाम होना चाहिये। दूसरी ओर अपनी अधिक-से-अधिक गहराई में भारतीय विचार यह प्रतिपादित करता है कि मन और जड़ तत्त्व एक ही ऊर्जा की भिन्न-भिन्न श्रेणियां हैं, सत् की एक ही सचेतन शक्ति के भिन्न-भिन्न संगठन हैं।

लेकिन हमें यह मान लेने का क्या अधिकार है कि चेतना शब्द इस शक्ति का ठीक-ठीक वर्णन करता है। क्योंकि चेतना में, एक प्रकार की बुद्धि, प्रयोजन, आत्मज्ञान समाविष्ट है चाहे वे ऐसे रूप में न हों जिनका हमारा मन अभ्यस्त है। इस दृष्टिकोण से भी हर चीज वैश्व चित्-शक्ति के विचार का विरोध न करके समर्थन ही करती है। उदाहरण के लिये हम पशु में पूर्ण प्रयोजनशीलता की और यथार्थ और वस्तुतः वैज्ञानिक सूक्ष्म ज्ञान की क्रियाएं देखते हैं जो पशु के मन की क्षमताओं के एकदम परे हैं और जिन्हें स्वयं मनुष्य भी लंबे अनुशीलन और शिक्षण के बाद पा सकता है और फिर भी अपेक्षाकृत बहुत कम निश्चित शीघ्रता के साथ उनका प्रयोग कर सकता है। इस सामान्य तथ्य में इस बात का प्रमाण हमें देखने को मिलता है कि पशु और कीट में एक ऐसी चित् शक्ति काम करती है जो धरती पर किसी भी रूप में अभिव्यक्त उच्चतम मन की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान्,

प्रयोजनशील, और अपने अभिप्रायों, लक्ष्यों, साधनों और अवस्थाओं से अधिक परिचित है। और अचेतन प्रकृति की क्रियाओं में भी हम एक परम प्रच्छन्न बुद्धि की, अपनी ही क्रियाओं में छिपी बुद्धि की—'*स्वगुणैर्निगूढाम्*'—उसी व्यापक विशिष्टता को पाते हैं।

इस प्रयोजनशील कार्य के लिये, इस बुद्धिमत्ता, चयन, अनुकूलन और अन्वेषण के कार्य के लिये किसी सचेतन और प्रज्ञावान् उत्स को मानने के विरुद्ध जो एक ही युक्ति है वह है प्रकृति के कार्य में पाया जानेवाला वह बड़ा तत्त्व जिसे हम अपव्यय कहते हैं। लेकिन स्पष्ट है कि यह एक ऐसी आपत्ति है जो हमारी मानव बुद्धि की सीमाओं पर आधारित है जो वैश्व शक्ति की व्यापक क्रियाओं पर अपनी विशेष तर्कणा को लादना चाहती है, जो मानव के सीमित उद्देश्यों के लिये काफी अच्छी हो सकती है। हम प्रकृति के प्रयोजन का केवल एक भाग ही देखते हैं और जो कुछ उस भाग में उपयोगी नहीं होता उसे हम अपव्यय कहते हैं। फिर भी स्वयं हमारा मानव कार्य ऊपर से दीखनेवाले अपव्यय से भरा होता है, व्यक्तिगत दृष्टि से तो ऐसा ही लगता है, फिर भी, हमें विश्वास रखना चाहिये कि वह वस्तुओं के महान् वैश्व प्रयोजन में काफी अच्छी तरह सहायक होता है। प्रकृति के इरादे के उस भाग को जिसे हम पकड़ पाते हैं, प्रकृति अपने प्रतीयमान अपव्यय के बावजूद या शायद उसीके बल पर निश्चित रूप से पूरा कर लेती है। तो बाकी में भी जिसे अभी हम पकड़ नहीं पाते उसपर भरोसा कर सकते हैं।

बाकी के लिये, पशु, वनस्पति और निर्जीव वस्तुओं में विश्व-शक्ति की क्रियाओं के लक्षणों में निश्चित प्रयोजन का जो वेग है, उसकी प्रतीयमान अंध प्रवृत्ति में जो निर्देशन है, अभिप्रेत लक्ष्य पर तुरंत या अंततः पहुंचने की जो निश्चित क्रिया है, उसकी उपेक्षा करना असंभव है। जबतक वैज्ञानिक मन के लिये जड़-तत्त्व ही अथ और इति था तबतक बुद्धि को बुद्धि की जन्मदात्री मानने से झिझक एक ईमानदार झिझक थी। लेकिन आज यह प्रतिपादित करना एक घिसा पिटा विरोधाभास होगा कि मानव चेतना, बुद्धि और प्रभुता एक ऐसी बुद्धिहीन और अंधता से परिचालित निश्चेतना से प्रकट हुई हैं जिसमें पहले उनके किसी रूप या तत्त्व का अस्तित्व नहीं था। मनुष्य की चेतना प्रकृति की चेतना के एक रूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकती। वह मन के नीचे अन्य अंतर्लीन रूपों में है, वह मन में उभरती है और मन से परे श्रेष्ठतर रूपों में चढ़ेगी, क्योंकि जो शक्ति जगतों का निर्माण करती है वह सचेतन शक्ति है, जो सत् अपने-आपको उनमें अभिव्यक्त करता है वह सचेतन पुरुष है। उसका रूपों के इस जगत् की अभिव्यक्ति का एकमात्र उद्देश्य जो हम युक्तियुक्त रूप से सोच सकते हैं वह है उसकी संभाव्यताओं का रूपों में पूर्ण आविर्भाव।

अध्याय ११

सत्ता का आनंद—समस्या

को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।

यदि अस्तित्व का आनंद उस आकाश जैसा न होता जिसमें हम निवास करते हैं तो कौन जी सकता या श्वास ले सकता?

तैत्तिरीयोपनिषद् २.७

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति॥

ये सभी भूत 'आनंद' से ही पैदा होते हैं, 'आनंद' में ही निवास करते हैं और बढ़ते हैं और 'आनंद' में ही लौट जाते हैं।

तैत्तिरीयोपनिषद् ३.६

किंतु यदि हम यह मान भी लें कि यह शुद्ध सत्ता, यह ब्रह्म, यह सत् वस्तुओं का निरपेक्ष आदि, अंत और आधान है और ब्रह्म में एक अंतर्निहित आत्म-चेतना है जिसे उसकी सत्ता से अलग नहीं किया जा सकता और वह अपने-आपको ऐसी चेतना की गति की शक्ति के रूप में प्रक्षिप्त करता है जो शक्तियों, रूपों और जगतों का निर्माण करनेवाली है, फिर भी हमारे पास इस प्रश्न का उत्तर नहीं है कि "ब्रह्म जो पूर्ण निरपेक्ष, अनंत है, जिसे किसी चीज की जरूरत नहीं, कोई कामना नहीं वह अपने अंदर रूपों के इन जगतों का निर्माण करने के लिये चेतना की शक्ति को आखिर क्यों प्रक्षिप्त करता है?" क्योंकि हमने इस समाधान को तो एक ओर रख दिया है कि वह अपनी शक्ति के स्वभाव से सृजन करने के लिये बाधित है, अपनी गति और रूपायन की शक्यताओं के कारण रूपों में विचरने के लिये विवश है। यह सच है कि उसमें यह शक्यता है लेकिन वह उससे सीमित, बाधित या विवश नहीं है। वह स्वतंत्र है। तब यदि गति करने और सदा स्थिर रहने, अपने-आपको रूपों में प्रक्षिप्त करने और रूपायन की शक्यता को अपने अंदर ही बनाये रखने के लिये स्वतंत्र होते हुए भी वह अपनी गति और रूपायन की शक्ति में रस लेता है तो इसका बस, एक ही कारण हो सकता है—वह है आनंद।

यह प्राथमिक, अंतिम और शाश्वत सत् जैसा कि वेदांतियों ने उसे देखा है एक कोरी सत्ता नहीं है और न ही एक ऐसी सचेतन सत्ता, जिसकी चेतना अनगढ़ शक्ति या बल हो। वह ऐसा सचेतन सत् है जिसकी सत्ता की अभिधा, जिसकी चेतना की अभिधा ही आनंद है। जैसे निरपेक्ष सत् में कोई शून्यता, कोई निश्चेतना की

रात्रि, कोई त्रुटि नहीं हो सकती, यानी शक्ति की चूक या उसका अभाव नहीं हो सकता—क्योंकि इनमें से कोई एक चीज भी हो तो वह निरपेक्ष या परम न रहेगा—इसी तरह कोई दुःख-दर्द या आनंद का नकार भी नहीं हो सकता। सचेतन सत् की निरपेक्षता सचेतन सत् का असीम आनंद है, ये दोनों एक ही चीज के अलग-अलग नाम हैं। समस्त असीमता, समस्त अनंतता, समस्त निरपेक्षता शुद्ध आनंद है। हमारी सापेक्ष मानवजाति को भी यह अनुभव है कि सारे असंतोष का अर्थ है सीमा का, एक बाधा का होना,—संतोष प्राप्त होता है किसी रोक रखी गयी चीज के प्राप्त होने से, सीमा के अतिक्रमण और बाधा पर विजय से। यह इसलिये है कि हमारी मौलिक सत्ता निरपेक्ष है जिसे अपनी अनंत और असीम आत्म-चेतना और आत्म-शक्ति पर पूरा अधिकार है। इस आत्मवत्ता का ही दूसरा नाम है आत्मानंद। और जिस अनुपात में सापेक्ष आत्मवत्ता के नजदीक आता है, वह संतोष की ओर बढ़ता और आनंद को छू लेता है।

फिर भी ब्रह्म का आत्मानंद उसकी निरपेक्ष आत्म-सत्ता की स्थिर और गतिहीन स्थिति से सीमित नहीं है। जैसे उसकी चेतना की शक्ति अपने-आपको अनंत परिवर्तनों के साथ अनंत रूपों में प्रक्षिप्त करने में समर्थ है उसी तरह उसका आत्मानंद भी अपने उस अनंत प्रवाह और परिवर्तन में गति करने, वैचित्र्य और आह्लाद पाने में समर्थ है जिसके प्रतिरूप हैं ये असंख्यासंख्य विश्व। अपने आत्मानंद की अनंत गतियों और वैचित्र्यों को खुली छूट देना और उनका रस लेना ही उसकी विस्तृत या सर्जक लीला का उद्देश्य है।

दूसरे शब्दों में कहें तो जिसने अपने-आपको रूपों में प्रक्षिप्त किया है वह सत्, चित् और आनंद की त्रयी सच्चिदानंद है जिसकी चेतना स्वभाव से सर्जक या यूं कहें आत्माभिव्यक्ति करनेवाली शक्ति है जो अपनी आत्मसचेतन सत्ता के व्यापारों और रूपों में अनंत वैचित्र्य लाने और उन वैचित्र्यों के आनंद का अनंत रूपों में भोग करने में समर्थ है। इसका मतलब यह हुआ कि जितनी चीजों का अस्तित्व है, वे जो कुछ भी हैं वे उसी सत् से अपनी सत्ता पाती हैं, उसी सचेतन शक्ति से चेतना पाती हैं और उसीसे सत्ता का आनंद पाती हैं। जैसे हम सभी चीजों को एक ही अक्षर सत्ता के क्षर रूप, एक ही अनंत शक्ति के सांत परिणाम पाते हैं उसी भांति हम देखेंगे कि सभी चीजें आत्म-सत्ता के एक ही अपरिवर्तनशील और सर्वग्राही आनंद की परिवर्तनशील आत्माभिव्यक्तियां हैं। हर चीज में, जिसका अस्तित्व है, एक सचेतन शक्ति निवास करती है। उसका अस्तित्व और वह जो कुछ है वह सब उस सचेतन शक्ति के बल पर ही है। इसी तरह जो भी चीज यहां है उसमें सत्ता का आनंद विराजता है और उसका अस्तित्व और वह जो कुछ है वह उस आनंद के बल पर ही है।

विश्व के आरंभ के बारे में प्राचीन वेदांत के इस मत का सामना मानव मन में

दो प्रबल नकारों से होता है, दुःख की भावमय और संवेदनात्मक चेतना और अशुभ की नैतिक समस्या। क्योंकि अगर जगत् सच्चिदानंद की अभिव्यक्ति है, केवल सत् की नहीं जो साथ-ही-साथ चित्-शक्ति भी है—इतना तो आसानी से माना जा सकता है,—वरन् ऐसे सत् की जो अनंत आत्मानंद भी है तो फिर विश्व भर में उपस्थित दुःख, कष्ट और पीड़ा की व्याख्या कैसे की जाये ? क्योंकि हमें तो यह जगत् सत्ता के आनंद का जगत् नहीं बल्कि कहीं अधिक दुःख का जगत् मालूम होता है। निश्चय ही जगत् के बारे में यह दृष्टि अतिशयोक्तिपूर्ण और भ्रामक है। अगर हम उसे तटस्थ होकर देखें और केवल यथार्थ और भावुकताहीन मूल्यांकन के लिये देखें तो हम पायेंगे कि अस्तित्व के सुख का कुल-योग—आभास और व्यक्तिगत उदाहरणों के बावजूद—अस्तित्व के दुःख के कुल-योग से बहुत बढ़-चढ़कर है। और यह कि सक्रिय हो या निष्क्रिय उपरितल पर हो या अधःस्थ, सत्ता का यह सुख ही प्रकृति की साधारण अवस्था है और दुःख एक विपरीत घटना है जो उस साधारण को कुछ समय के लिये स्थगित कर देती है या उसपर छा जाती है। लेकिन इसी कारण दुःख का न्यूनतर कुलयोग हमारे ऊपर ज्यादा तीव्रता से असर डालता है और प्रायः सुख के अधिक बड़े कुलयोग के ऊपर मंडराता रहता है। ठीक इसी कारण कि सुख सामान्य है हम उसका मूल्य नहीं समझते और मुश्किल से ही उसे देख पाते हैं जबतक कि वह अपने अधिक तीव्र रूप में, सुख की लहरों या हर्ष और उल्लास के शिखर पर नहीं आ जाता। हम इन्हीं चीजों को आनंद कहते हैं और उसीकी खोज करते हैं और सत्ता का सामान्य संतोष जो किसी घटना या विशिष्ट कारण या पदार्थ के बिना भी सदा वहां बना रहता है हमें इस भांति प्रभावित करता है मानों वह कोई तटस्थ वस्तु हो जो न सुख है न दुःख। यह वहां बना रहता है, यह एक बड़ा व्यावहारिक तथ्य है क्योंकि इसके बिना आत्म-संरक्षण की प्रबल वैश्व सहज वृत्ति नहीं होगी, किंतु हम इसकी खोज में नहीं हैं अतः हम इसे अपने भावुक और संवेदनात्मक लाभ-हानि के हिसाब में नहीं गिनते। इस हिसाब में हम एक ओर केवल निश्चित सुखों को रखते हैं और दूसरी ओर असुविधा और कष्ट को। पीड़ा हमें ज्यादा तीव्र रूप से प्रभावित करती है क्योंकि वह हमारी सत्ता के लिये अस्वाभाविक है, हमारी स्वाभाविक प्रवृत्ति के विपरीत है और उसका अनुभव हमारी सत्ता पर एक आघात के रूप में, हम जो कुछ हैं और होना चाहते हैं उसपर एक हमले और बाहरी आक्रमण के रूप में होता है।

फिर भी दुःख की असामान्यता या उसके न्यूनाधिक कुलयोग का दार्शनिक प्रश्न पर कोई असर नहीं पड़ता। उसकी उपस्थितिमात्र ही समस्या को खड़ा कर देती है। जब कि सब कुछ सच्चिदानंद है तो फिर दुःख-दर्द का अस्तित्व ही कैसे हो सकता है ? यही है वास्तविक समस्या। यह प्रायः और भी उलझ जाती है जब विश्व के

बाहर एक व्यक्तिगत भगवान् की धारणा को लेकर एक मिथ्या प्रश्न उठ खड़ा होता है और नैतिक कठिनाई के रूप में एक दूसरा आंशिक प्रश्न सामने आता है।

यह तर्क किया जा सकता है कि सच्चिदानंद भगवान् है, एक सचेतन सत्ता है जो विश्व का निर्माता है। तो फिर भगवान् ने ऐसा जगत् कैसे बनाया जिसमें वह अपने ही बनाये हुए प्राणियों पर दुःख दागते हैं, कष्ट का समर्थन करते हैं और अशुभ को स्वीकृति देते हैं? भगवान् सर्व-शिव हैं तो फिर दुःख और अशुभ की रचना किसने की? अगर हम कहें कि दुःख एक कसौटी या अग्नि-परीक्षा है तो हम नैतिक समस्या का हल नहीं करते, हम एक अनैतिक या निर्नैतिक भगवान् पर आ पहुंचते हैं जो शायद एक अच्छा जगत्-कारीगर तो है, चालाक मनोवैज्ञानिक भी है परंतु शुभ और प्रेम का भगवान् नहीं है जिसकी हम पूजा कर सकें, वह केवल शक्ति और सामर्थ्य का भगवान् है जिसके विधान के आगे हमें झुकना ही होगा और जिसकी सनकों को संतुष्ट करने की हम आशा कर सकते हैं। क्योंकि जो जांच या अग्निपरीक्षा के लिये उत्पीड़न का आविष्कार करता है वह या तो जान-बूझकर क्रूरता करने या फिर नैतिक असंवेदनशीलता का अपराधी ठहरता है और अगर वह नैतिक सत्ता है भी तो अपने ही बनाये हुए प्राणियों की उच्चतम नैतिक वृत्ति के हिसाब से नीचा ठहरता है। और अगर इस नैतिक कठिनाई से बचने के लिये हम यह कहें कि दुःख नैतिक अशुभ का अनिवार्य परिणाम और स्वाभाविक दंड है—लेकिन यह एक ऐसी व्याख्या है जो जीवन के तथ्यों के साथ भी तबतक मेल नहीं खाती जबतक कि हम कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धांत को न स्वीकार कर लें जिसके अनुसार जीव अब अपने अन्य शरीरों में किये गये पिछले जन्मों के पापों के लिये कष्ट पाता है—फिर भी हम नैतिक समस्या की जो असली जड़ है उससे पिंड नहीं छुड़ा सकते कि उस नैतिक अशुभ को किसने और क्यों और कहां से बनाया जिसने दुःख और कष्ट के परिणाम को अपरिहार्य बना दिया? अगर यह देखते हुए कि नैतिक अशुभ वास्तव में किसी मानसिक रोग या अज्ञान का एक रूप है, यह प्रश्न उठता है कि इस विधान या अनिवार्य संबंध को किसने या किस चीज ने बनाया जो एक मानसिक रोग या अज्ञान के कर्म को इतनी भीषण प्रतिक्रिया और ऐसे चरम और दानवी उत्पीड़नों से दंडित करता है? कर्म का अटल विधान एक परम नैतिक और व्यक्तिगत 'देव' के साथ मेल नहीं खाता इसीलिये बुद्ध के स्पष्ट तर्क ने किसी स्वतंत्र और सर्वशासक व्यक्तिगत भगवान् के अस्तित्व से ही इंकार कर दिया। उन्होंने घोषणा की कि समस्त व्यक्तित्व अज्ञान की सृष्टि और कर्म के आधीन है।

सचमुच इतने तीक्ष्ण रूप में रखी गयी समस्या केवल तभी उठती है जब हम एक ऐसे व्यक्तिगत भगवान् को मानते हैं जो विश्व से इतर है, स्वयं विश्व नहीं है। एक ऐसा भगवान् जिसने अपने प्राणियों के लिये शुभ और अशुभ, दुःख और कष्ट

की रचना की लेकिन अपने-आप उनसे ऊपर, अप्रभावित रहता है, जो कष्टपीड़ित, संघर्षरत जगत् को देखता रहता है, उसपर शासन करता और अपनी इच्छा चलाता है। अथवा यदि वह अपनी इच्छा नहीं चलाता या यदि अपनी सहायता के बिना या अपर्याप्त सहायता से जगत् को एक अटल विधान द्वारा परिचालित होने देता है तब वह भगवान् नहीं है, सर्व-शक्तिमान्, सर्व-शिव और सर्व-प्रेममय नहीं है। विश्व से इतर नैतिक भगवान् के आधार पर बना कोई भी मत अशुभ और दुःख-दर्द की—अशुभ और दुःख-दर्द के सृजन की—व्याख्या नहीं कर सकता, सिवाय इसके कि वह इसकी एक ऐसे असंतोषजनक छल से व्याख्या करे जिससे प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर न देकर उससे बचा जाये या फिर स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से मैनिकी मत को मान ले जो ईश्वर के कार्यों के औचित्य को सिद्ध करने या उन्हें क्षम्य बताने के प्रयास में व्यावहारिक रूप से स्वयं भगवान् को ही रद्द कर देता है।[1] लेकिन ऐसा भगवान् वेदांतियों का सच्चिदानंद नहीं है। वेदांत का सच्चिदानंद तो एकमेवाद्वितीयम् है, जो कुछ भी है वह वही है, *सर्वं खल्विदं ब्रह्म*। तो फिर यदि अशुभ और दुःख का अस्तित्व है तो स्वयं भगवान्, सभी भूतों के अंदर शरीर धारण करनेवाले भगवान् ही अशुभ और दुःख को धारण करते हैं। तब समस्या एकदम बदल जाती है। अब प्रश्न यह नहीं रहता कि भगवान् ने अपनी सृष्टि के लिये ऐसे दुःख और अशुभ की रचना कैसे की जो उन्हें प्रभावित नहीं करते, जिनसे वे अस्पृष्ट हैं, बल्कि अब प्रश्न यह उठता है कि उस एकमेवाद्वितीयम्, अनंत, सत्-चित्-आनंद ने अपने अंदर ऐसी चीज को कैसे घुसने दिया जो आनंद नहीं है, जो उसका निश्चित रूप से नकार है।

आधी नैतिक कठिनाई, कठिनाई का वह रूप जिसका उत्तर नहीं दिया जा सकता, गायब हो जाती है। अब वह मुश्किल नहीं उठती, अब उसे पेश नहीं किया जा सकता। दूसरों के साथ क्रूरता जब कि मैं अछूता रहूं या बाद में रो-धोकर या देरी से दया दिखाकर उसमें भाग लूं, यह एक चीज है और स्वयं अपने ऊपर दुःख को आरोपित करना दूसरी चीज है जब कि मैं ही एकमात्र सत्ता हूं। फिर भी जरा-से हेर-फेर के साथ नैतिक कठिनाई को वापिस लाया जा सकता है। सर्वानंदमय निश्चित रूप से सर्व-शुभ और सर्व-प्रेममय हैं, फिर सच्चिदानंद में अशुभ और कष्ट रह कैसे सकते हैं जब कि वह कोई यांत्रिक सत्ता नहीं, बल्कि स्वतंत्र और सचेतन सत्ता है जो अशुभ और दुःख को दोषी ठहराने और त्याग देने में भी समर्थ है? हमें यह मानना होगा कि इस रूप में प्रस्तुत किया गया प्रश्न भी मिथ्या है क्योंकि वह एक आंशिक कथन के शब्दों का उपयोग इस तरह करता है मानों वे संपूर्ण पर लागू होते हों। क्योंकि हम शुभ और प्रेम के जिन विचारों को सर्व-आनंदमय

[1] तीसरी शताब्दी में मैनिकियस ने फारस में यह मत चलाया था कि हर चीज की उत्पत्ति दो प्रधान तत्त्वों, अंधकार और प्रकाश, से हुई है।

की धारणा में ले आते हैं वे वस्तुओं की द्वैतात्मक और विभाजनात्मक धारणा से आये हैं। उनका संपूर्ण आधार है प्राणी और प्राणी के बीच का संबंध, फिर भी हम उन्हें ऐसी समस्या पर हठपूर्वक लागू करते हैं जो इस धारणा से उल्टी, 'एक' को ही सर्व मानकर चलती है। पहले हमें यह देखना होगा कि यह समस्या अपने आदिम शुद्ध रूप में, विभिन्नता में एकता के आधार पर कैसी दीखती है या उसका समाधान कैसे हो सकता है। तभी हम निरापद रूप से उसके अंगों और विकासों के बारे में, उदाहरण के लिये विभाजन और द्वैत पर आधारित प्राणी और प्राणी के बीच संबंधों के बारे में विचार कर सकते हैं।

अगर हम अपने-आपको मानव कठिनाई और मानव दृष्टिकोण से सीमित न करें बल्कि समग्र को देखें तो हमें मानना होगा कि हम किसी नैतिक जगत् में नहीं रह रहे। सारी प्रकृति पर नैतिक अर्थ आरोपित करने का मानव विचार का प्रयास स्वेच्छा से और हठपूर्वक अपने-आपको भ्रांति में डालनेवाली उन क्रियाओं में से एक है, मनुष्य के उन दयनीय प्रयासों में से एक है जिसमें वह सभी चीजों में अपने-आपको, अपनी सीमित अभ्यासगत सत्ता को पढ़ने की कोशिश करता है और उनका मूल्यांकन ऐसे दृष्टिकोण से करता है जिसे स्वयं उसने विकसित किया है और यह बड़े प्रभावकारी ढंग से वास्तविक ज्ञान और संपूर्ण दृष्टितक पहुंचने से उसे रोकता है। भौतिक प्रकृति नैतिक नहीं है। जो नियम उसपर शासन करता है वह ऐसी बंधी हुई निश्चित आदतों का समन्वय है जो शुभ और अशुभ का हिसाब नहीं करता। उसे केवल शक्ति से मतलब है, उस शक्ति से जो सृजन करती है, जो व्यवस्था और संरक्षण करती है, उस शक्ति से जो बिना नैतिक विचार के निष्पक्ष भाव से, अपने अंदर स्थित रहस्यमय 'इच्छा' के अनुसार अस्तव्यस्त करती और नष्ट करती है, अपने रूपायनों और आत्मविघटन में उसी 'इच्छा' की मूक संतुष्टि के अनुसार चलती है। पाशविक और प्राणिक प्रकृति भी निर्नैतिक है यद्यपि जैसे-जैसे वह प्रगति करती है, वह उस कच्ची सामग्री को प्रकट करती है जिसमें से उच्चतर पशु नैतिक आवेग को विकसित करता है। हम शेर को इसलिये दोषी नहीं ठहराते कि वह अपने शिकार को मारकर खा जाता है और न ही तूफान को इसलिये दोष देते हैं कि वह विनाश करता है या आग को इसलिये कि वह बहुत कष्ट देती और मार डालती है। तूफान, आग और शेर में जो सचेतन शक्ति है वह अपने-आपको दोष नहीं देती, धिक्कारती नहीं। दोष देना और धिक्कारना, बल्कि यूं कहें अपने-आपको दोष देना और धिक्कारना सच्ची नैतिकता का आरंभ है। जब हम दूसरों को तो बुरा-भला कहते हैं परंतु वही नियम अपने ऊपर लागू नहीं करते तब हम सच्चे नैतिक न्याय की बात नहीं करते; बल्कि हमारे लिये नैतिकता ने जिस भाषा को विकसित किया है, उसका उपयोग हम उन चीजों में अपनी भावुकतापूर्ण जुगुप्सा या नापसंदगी प्रकट करने के लिये करते हैं जो हमें नाराज करती या चोट पहुंचाती हैं।

यह जुगुप्सा या नापसंदगी नैतिकता का प्राथमिक उत्स है परंतु अपने-आपमें नैतिक नहीं है। हरिण को शेर से जो भीति होती है, या किसी बलवान् प्राणी को अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले पर जो क्रोध आता है वह सत्ता के व्यष्टिभूत आनंद की, अपने ऊपर संकट लानेवाले के प्रति प्राणिक जुगुप्सा है। मन की प्रगति में यह अपने-आपको परिष्कृत करके प्रतिकूलता, नापसंद और अस्वीकृति में अनूदित कर लेती है। जो चीज हमें जोखिम में डालती और चोट पहुंचाती है उसके लिये अस्वीकृति और जो चीज हमें प्रसन्न और संतुष्ट करती है उसकी स्वीकृति यह दोनों परिष्कृत होकर हमारे लिये, समाज के लिये, अपने से भिन्न औरों के लिये, अपने समाज से भिन्न समाजों के लिये भले और बुरे के रूप में और अंत में शुभ के लिये सामान्य स्वीकृति और अशुभ के लिये सामान्य अस्वीकृति का रूप ले लेती है। परंतु आद्योपांत इस चीज का आधारभूत स्वभाव वह-का-वही बना रहता है। मनुष्य चाहता है आत्माभिव्यक्ति, आत्म-विकास, दूसरे शब्दों में कहें तो अपने अंदर सत् की चित्-शक्ति की प्रगति-तत्पर लीला। यह उसका आधारभूत आनंद है। जो कुछ उस आत्माभिव्यक्ति, आत्म-विकास पर, उसकी प्रगतिशील आत्मा के संतोष पर चोट करता है वही उसके लिये अशुभ होता है, जो कुछ सहायता करता, अनुमोदन करता, ऊपर उठाता, बढ़ाता और उदात्त बनाता है वही उसका शुभ होता है। बस, इतना है कि उसकी आत्म-विकास के बारे में धारणा बदलती जाती है, अधिक ऊंची, अधिक विस्तृत होती जाती है, अपने सीमित व्यक्तित्व का अतिक्रमण करना, औरों को अपने आलिंगन में ले लेना, सभीको अपने क्षेत्र में आलिंगित कर लेना शुरू कर देती है।

दूसरे शब्दों में, नैतिकता विकासक्रम में एक अवस्था है। जो चीज सभी अवस्थाओं में समान है वह है आत्माभिव्यक्ति के लिये सच्चिदानंद की प्रेरणा। यह प्रेरणा पहले निर्नैतिक होती है, फिर पशु में अवनैतिक होती है, फिर बुद्धिमान् पशु में नैतिकता-विरोधी भी हो जाती है क्योंकि वह हमें दूसरों को ऐसी चोट पहुंचाने की स्वीकृति देती है जो अगर हमारे ऊपर आती तो हम स्वीकृति न देते। इस मामले में मनुष्य अब भी केवल अर्द्ध-नैतिक ही है। और जैसे हमसे नीचे सब कुछ अवनैतिक है, हो सकता है कि जो हमारे ऊपर है, जहां अंततः हम जा पहुंचेंगे, वह अतिनैतिक हो,—उसमें नैतिकता की जरूरत न रहे। नैतिक प्रेरणा और वृत्ति जो मानवजाति के लिये इतनी महत्त्वपूर्ण है, एक साधन है जिसके द्वारा वह निश्चेतना पर आधारित निम्नतर सामंजस्य और वैश्वात्मकता में से, जिसे प्राण आकर वैयक्तिक असंगतियों के रूप में छिन्न-भिन्न कर देता है, संघर्ष करती हुई एक ऐसे उच्चतर सामंजस्य और वैश्वात्मकता की ओर ले जाती है जो सभी सत्ताओं के साथ सचेतन ऐक्य पर आधारित है। उस लक्ष्य पर पहुंचकर इस साधन की फिर कोई आवश्यकता या कोई शक्यता भी न रह जायेगी, क्योंकि वे गुण और विरोध जिनपर

यह आधारित है, स्वभावतः अंतिम समन्वय में घुल-मिलकर गायब हो जायेंगे।

तब फिर अगर नैतिक दृष्टिकोण बहुत महत्त्वपूर्ण फिर भी अस्थायी तौर पर एक विश्वात्मकता से दूसरीतक काम आनेवाला मार्ग ही है तो हम उसका उपयोग विश्व की समस्या के पूर्ण समाधान के लिये नहीं कर सकते बल्कि उसे उस समाधान में एक तत्त्व के रूप में ही मान सकते हैं। इससे उल्टा करना विश्व के सभी तथ्यों को झुठलाने का, एक अस्थायी दृष्टि और वस्तुओं की उपयोगिता की अर्द्धविकसित दृष्टि के अनुकूल बनाने के लिये अपने पीछे और अपने परे विकास के सारे अर्थ को झुठलाने का खतरा मोल लेना होगा। जगत् के तीन स्तर हैं, अवनैतिक, नैतिक और अतिनैतिक। हमें उसे खोजना है जो तीनों में समान हो क्योंकि तभी हम समस्या का समाधान कर सकेंगे।

हम देख आये हैं कि जो सबमें समान है वह है सत् की चित्-शक्ति की संतुष्टि जो अपने-आपको रूपों में विकसित कर रही है और उस विकास में अपना आनंद खोज रही है। यह स्पष्ट है कि चित्-शक्ति ने आत्मसत्ता की इस संतुष्टि या आनंद से ही शुरू किया था क्योंकि यही उसके लिये स्वाभाविक है। वह इसीके साथ चिपकी रहती और इसीको वह अपना आधार बनाती है। परंतु वह अपने लिये नये रूपों की खोज करती है और उच्चतर रूपों की ओर जाते हुए रास्ते में दुःख और कष्ट का तत्त्व घुस आता है जो उसकी सत्ता के मौलिक स्वभाव के विपरीत मालूम होता है। यह और केवल यही है मूल समस्या।

हम इसका समाधान कैसे करें? क्या हम यह कहें कि चीजों का आदि-अंत सच्चिदानंद नहीं है बल्कि आदि-अंत शून्य है, एक ऐसा तटस्थ शून्य जो अपने-आपमें कुछ नहीं है परंतु अपने अंदर सत् या असत् की, चेतना या निश्चेतना की, आनंद या निरानंद की सभी संभाव्यताओं को समाये हुए है। हम चाहें तो इस उत्तर को स्वीकार कर लें लेकिन इसके द्वारा जहां हम सब कुछ की व्याख्या करना चाहते हैं वहां किसी चीज की भी व्याख्या नहीं कर पाते, बस हर चीज का समावेश भर कर लेते हैं। एक ऐसा शून्य जो सभी संभाव्यताओं से भरा हो, शब्दों और वस्तुओं का यथासंभव अधिक-से-अधिक विरोध है। इस तरह हम एक छोटे-से विरोध की व्याख्या एक बड़े विरोध से करते हैं, वस्तुओं के परस्पर-विरोध को उनकी चरम सीमातक पहुंचा कर करते हैं। शून्य रिक्तता है जिसमें कोई संभाव्यताएं नहीं रहतीं, सभी संभाव्यताओं के तटस्थ अनिर्धारण की स्थिति ही महान् 'अव्यवस्था' है। हमने बस, इतना ही किया कि 'अव्यवस्था' को 'शून्य' में बिठा दिया परंतु यह नहीं समझाया कि वह वहां आयी कैसे। तो हम अपनी सच्चिदानंद की मूल धारणा पर वापिस आयें और देखें कि उसके आधार पर अधिक संपूर्ण समाधान संभव है या नहीं।

पहले हमें यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिये कि जैसे, जब हम वैश्व

चेतना की बात करते हैं तो हमारा मतलब मनुष्य की जाग्रत् मानसिक चेतना से भिन्न, किसी अधिक सारभूत और अधिक विशाल चीज से होता है, उसी भांति जब हम सत्ता के वैश्व आनंद की बात करते हैं तो हमारा मतलब मानव व्यक्ति के सामान्य भावमय और संवेदनात्मक सुख से भिन्न, अधिक सारभूत और अधिक विशाल चीज से होता है। सुख, हर्ष और आनंद, मनुष्य जिस रूप में इन शब्दों का उपयोग करता है, वे सीमित और नैमित्तिक गतियां हैं, जो कुछ-एक अभ्यासगत कारणों पर निर्भर होती हैं, और अपने विरोधी तत्त्वों दुःख-दर्द की तरह, जो इन्हींकी तरह समान रूप से सीमित और नैमित्तिक हैं, अपने-आपसे भिन्न किसी और पृष्ठभूमि से निकलती हैं। सत्ता का आनंद वैश्व है, असीम और स्वयंभू है। वह किन्हीं विशेष कारणों पर निर्भर नहीं है। वह सब पृष्ठभूमियों की पृष्ठभूमि है जिसमें से सुख, दुःख और अन्य अधिक तटस्थ अनुभूतियां निकलती हैं। जब सत्ता का आनंद अपने-आपको संभूति के आनंद के रूप में प्रकट करना चाहता है तो वह शक्ति की गति के रूप में स्पंदित होता है और गति के विभिन्न रूप अपनाता है जिनमें सुख-दुःख सकारात्मक और नकारात्मक धाराएं हैं। यह आनंद जड़तत्त्व में अवचेतन, मन के परे अतिचेतन होता है और मन तथा प्राण में, संभूति में उभरकर, गति की बढ़ती हुई आत्मचेतना में अपने-आपको चरितार्थ करना चाहता है। उसकी प्राथमिक अभिव्यक्तियां द्विविध और अशुद्ध होती हैं, वे सुख-दुःख के ध्रुवों के बीच गति करती हैं किंतु उसका लक्ष्य होता है विषयों तथा कारणों से मुक्त, सत्ता के स्वयंभू परम आनंद की विशुद्धता में आत्माभिव्यक्ति। जैसे सच्चिदानंद वैश्व सत्ता को व्यक्ति में और रूपातीत चेतना को शरीर और मन के रूपों में चरितार्थ करने के लिये बढ़ता है वैसे ही यह आनंद भी विशेष अनुभवों और विषयों के प्रवाह में वैश्व, स्वयंभू और विषय-रहित आनंद की ओर बढ़ता है। जिन विषयों की अभी हम क्षणिक संतोष और सुख के उद्दीपक कारण समझकर आकांक्षा करते हैं, मुक्त और आत्मवान् होकर हम इनकी आकांक्षा नहीं करेंगे बल्कि तब हम उनके मालिक होंगे और तब वे हमारे लिये आनंद के निमित्त न होकर ऐसे आनंद को प्रतिबिंबित करनेवाले होंगे जो हमेशा अस्तित्व रखता है।

अहंकारमय मानव सत्ता में, जिसमें मनोमय पुरुष जड़तत्त्व के धुंधले खोल में से उभरा होता है, सत्ता का आनंद तटस्थ, आधा छिपा हुआ और अभीतक अवचेतन की छाया में रहता है। वह मुश्किल से ही किसी ऐसी छिपी हुई उर्वर भूमि से अधिक कुछ होता है जो खूब फल रही कामनारूपी विषैली रूखड़ियों से और हमारी अहंकारभरी सत्ता के दुःख और सुख के उतने ही विषैले फूलों से ढकी होती है। जब हमारे अंदर गुप्त रूप से काम करती हुई दिव्य चित्-शक्ति इन रूखड़ियों को लील लेगी, ऋग्वेद के रूपक के अनुसार जब भगवान् की अग्नि धरती के बीजांकुरों को भस्म कर डालेगी तब इन दुःखों और सुखों की जड़ में

छिपा हुआ उनका कारण और उनकी गुप्त सत्ता, आनंद का रस, नये-नये रूपों में, कामना के रूप में नहीं बल्कि स्वयंभू संतुष्टि के रूप में उभरेगा जो मर्त्य सुख के स्थान पर अमर के आनंदोल्लास को स्थापित कर देगा। और यह रूपांतर संभव है क्योंकि सुख की तरह कष्ट भी संवेदन और भावावेश की उपज है और अपने सार तत्त्व में सत्ता का वह आनंद है जिसे वे खोजते तो हैं परंतु प्रकट करने में असफल रहते हैं,—असफल रहते हैं विभाजन, आत्म-अज्ञान और अहंकार के कारण।

अध्याय १२

सत्ता का आनंद—समाधान

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यम्।

उस तत् का नाम है आनंद, हमें आनंद के रूप में ही उसकी पूजा और खोज करनी चाहिये।

केनोपनिषद्—४.६

इस धारणा में कि सत्ता का अविच्छेद्य, नीचे छिपा हुआ एक आनंद है, सभी बाहरी या सतही संवेदन उसके भावात्मक, अभावात्मक, या तटस्थ खेल हैं, उसी असीम अगाध की लहरें और झाग हैं, हम उस समस्या का सच्चा समाधान पाते हैं जिसकी हम परीक्षा कर रहे हैं। वस्तुओं की आत्मा एक अनंत, अविभाज्य सत्ता है। उस सत्ता का मौलिक स्वभाव या सामर्थ्य आत्म-सचेतन सत्ता की एक असीम, अक्षय शक्ति है और फिर उस आत्म-चेतना का निजी स्वभाव या स्वयं अपना ज्ञान सत्ता का एक असीम अविच्छेद्य आनंद है। यह आत्म-सत्ता रूपहीनता में और सभी रूपों में, अनंत और अविभाज्य सत्ता की शाश्वत अभिज्ञता में और सांत विभाजन की नानारूप प्रतीतियों में अपने आत्मानंद को सतत रूप से बनाये रखती है। हमारी अंतरात्मा अपनी ही सतही आदतों और अपने आत्मसचेतन अस्तित्व के विशेष तौर-तरीकों की दासता में से विकास द्वारा बाहर आने पर जैसे जड़तत्त्व की प्रतीयमान निश्चेतना में उस अनंत, चित्-शक्ति को पाती है जो सतत, अचल, चिंतनशील है, उसी तरह जड़ पदार्थ की संवेदनहीनता में वह एक अनंत सचेतन आनंद को पाती है जो अविचल, उल्लसित, सर्वग्राही है और उसके साथ तालमेल बिठाती है। यह आनंद उसका स्वयं अपना आनंद है, यह आत्मा सबके अंदर उसकी स्वयं अपनी आत्मा है लेकिन आत्मा और वस्तुओं की हमारी साधारण दृष्टि के लिये, जो केवल सतहों पर जागती और घूमती है, यह प्रच्छन्न, गूढ़ और अवचेतन रहता है। और जैसे वह सब रूपों में है उसी तरह सब अनुभूतियों में भी रहता है फिर चाहे वे सुखद हों या दुःखद अथवा उदासीन। वहां भी प्रच्छन्न, गूढ़ और अवचेतन रहकर वही चीजों को अस्तित्व में रहने के लिये बाधित करता है। यही जीवन के साथ उस चिपके रहने का, बने रहने की उस अतिप्रबल इच्छा का कारण है जो अपने-आपको प्राण में आत्म-संरक्षण की सहजवृत्ति के, भौतिक में जड़तत्त्व की अविनश्वरता के और मन में अमरता के भाव के रूप में अनूदित करती है। यही रूप जगत् को उसके आत्म-विकास की सभी स्थितियों में सहारा देता है। और यहांतक कि इस आत्म-विकास में जो कभी-कभी अपने-आपको

मिटा देने का वेग आता है वह भी उसीका एक उल्टा रूप है, सत्ता की किसी दूसरी स्थिति के लिये आकर्षण और परिणामस्वरूप वर्तमान स्थिति के प्रति जुगुप्सा है। आनंद ही अस्तित्व है, आनंद ही सृष्टि का रहस्य है, आनंद ही जन्म का मूल है, आनंद ही जीवन में बने रहने का कारण है। आनंद ही जन्म का अंत है और वह है जिसमें सृजन समाप्त होता है। उपनिषद् का कहना है, "आनंद से ही समस्त जीव जन्म लेते हैं, आनंद से ही जीवित रहते और बढ़ते हैं, और आनंद में ही प्रयाण कर जाते हैं।"

जब हम मूल सत् के इन तीन पहलुओं पर नजर डालते हैं जो वास्तव में एक परंतु हमारी मानसिक दृष्टि के लिये तीन हैं, जिन्हें केवल आभास में ही, विभक्त चेतना के व्यापार में ही, अलग किया जा सकता है तो हम प्राचीन दर्शनों के मतभेद के सूत्रों को उनके उचित स्थान पर बिठा सकते हैं, ताकि वे मिलकर एक बन जायें और उनका चिरकालीन वाद-विवाद समाप्त हो जाये। क्योंकि अगर हम जगत्-सत्ता को केवल उसके प्रतीयमान रूप में और शुद्ध, अनंत, अविभाज्य, अविकार सत् के साथ उसका जो संबंध है केवल उस रूप में देखें तो हमें उसे माया रूप में देखने, वर्णन करने और अनुभव करने का अधिकार हो जाता है। अपने मूल रूप में माया का अर्थ था समग्र बोध रखने और सबको अपने अंदर धारण करनेवाली चेतना जो सबका आलिंगन करने, मापने और सीमित करने में समर्थ हो और इसीलिये रूपों को गढ़ने में समर्थ है। यह वही चेतना है जो रूप-रेखा बनाती, नापती, अरूप के अंदर रूप ढालती, मानसिक रूप देती, अज्ञेय को ज्ञेय बनाती प्रतीत होती, ज्यामिति के रूप देती और असीम को परिमेय बनाती प्रतीत होती है। बाद में यह शब्द ज्ञान, कौशल और बुद्धिमत्ता के मूल अर्थ से हटकर चालाकी, धोखेबाजी या भ्रम के निंदात्मक अर्थ में चलने लगा और दर्शन शास्त्रों में इसका प्रयोग इंद्रजाल या भ्रम के अर्थ में होने लगा।

जगत् माया है। जगत् इस अर्थ में अवास्तविक नहीं है कि उसका किसी तरह का कोई अस्तित्व ही नहीं है क्योंकि अगर वह आत्मा का स्वप्न भर होता तब भी वह उसमें स्वप्न की तरह निवास करता, उसके लिये वर्तमान में वास्तविक होता, भले अंततः अवास्तविक होता। हमें यह भी न कहना चाहिये कि जगत् इस अर्थ में अवास्तविक है कि उसका कोई शाश्वत अस्तित्व नहीं। क्योंकि यद्यपि विशिष्ट जगत् या विशिष्ट रूप भौतिक रूप में विघटित हो सकते हैं और हो भी जाते हैं, और मानसिक रूप से अभिव्यक्ति की चेतना से अनभिव्यक्ति की चेतना में चले जाते हैं, फिर भी स्वयं 'रूप' और 'जगत्' अपने-आपमें शाश्वत हैं, वे अनिवार्य रूप से अनभिव्यक्ति में से अभिव्यक्ति में लौट आते हैं। उनमें शाश्वत स्थायित्व न सही शाश्वत पुनरावर्तन तो है ही, वे अपने समूचे रूप में और आधार में शाश्वत अपरिवर्तनशीलता और अपने पहलुओं में तथा आभास में शाश्वत परिवर्तनशीलता

लिये रहते हैं। ना ही हमें इस बात का कोई निश्चय है कि काल में कभी ऐसा समय था या कभी ऐसा समय होगा जब शाश्वत चिन्मय सत्ता में विश्व का कोई रूप, सत्ता की कोई क्रीड़ा उसके आगे प्रतिबिंबित न होती हो। हमें तो बस यह अंतर्भासात्मक बोध होता है कि हम जिस जगत् को जानते हैं वह उस तत् में से प्रकट हो सकता और होता है और उसीमें लौट जाता है, यह गति सदा चलती रहती है।

फिर भी जगत् माया है क्योंकि वह अनंत सत् का सारभूत सत्य नहीं है बल्कि सिर्फ आत्मचेतन सत्ता की एक सृष्टि है, शून्य में बनी सृष्टि नहीं है, असत् में असत् से बनी सृष्टि नहीं है बल्कि यह शाश्वत सत्य में और स्वयंभू सत्ता के सनातन सत्य में से बनी है। उसका आधान, मूल और उपादान है सारभूत, वास्तविक सत्ता, उसके रूप 'तत्' के सचेतन स्वानुभव की भूमिका में उसीकी अपनी सर्जनात्मिका चिन्मय शक्ति द्वारा निश्चित किये गये उसके परिवर्तनशील रूपायन हैं। वे अभिव्यक्त होने में समर्थ हैं, अनभिव्यक्त रहने में समर्थ हैं, अन्य रूपों में अभिव्यक्त होने में भी समर्थ हैं। अगर हम चाहें तो उन्हें अनंत चेतना की भ्रांतियां कह सकते हैं, इस प्रकार हम अपने भ्रांति और अक्षमता के आधीन रहने के मानसिक बोध की छाया को धृष्टता के साथ उसपर फेंकेंगे जो 'मन' से अधिक महान् होने के कारण मिथ्यात्व और भ्रांति की अधीनता के परे है। लेकिन यह देखते हुए कि सत्ता का सार और उपादान झूठा नहीं है और हमारी विभक्त चेतना की सभी भूलें और विकृतियां अविभाज्य आत्म-चेतन सत्ता के किसी सत्य का प्रतिनिधित्व करती हैं, हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि जगत् 'तत्' का तात्त्विक सत्य नहीं है बल्कि उसकी निर्बाध अनेकरूपता और अनंत सतही परिवर्तनशीलता का प्रपंचात्मक सत्य है, उसकी आधारभूत, अपरिवर्तनशील एकता का सत्य नहीं।

दूसरी ओर यदि हम जगत्-सत्ता को केवल चेतना और चेतना की शक्ति के संबंध में देखें तो हम उसे शक्ति की एक ऐसी गति के रूप में देख सकते, उसका वर्णन और अनुभव कर सकते हैं जो किसी गुप्त इच्छा की आज्ञा का पालन कर रही है या वह जिस चेतना के अधिकार में है या जो उसे देख रही है उसकी किसी आवश्यकता द्वारा आरोपित है। तब यह प्रकृति की, यानी कार्यकर्त्री शक्ति की क्रीड़ा है जो पुरुष को यानी साक्षी और भोग करनेवाली सचेतन सत्ता को संतुष्ट करने के लिये हो रही है, या फिर यह पुरुष की लीला है जो शक्ति की गतिविधियों में प्रतिबिंबित हो रही है और वह अपने-आपको इनके साथ एकात्म कर रहा है। तो जगत् वस्तुओं की जननी की क्रीड़ा है जो अपने-आपको नित्य अनंत रूपों में ढालने के लिये प्रवृत्त और अनुभवों को शाश्वत रूप से व्यक्त करने के लिये उत्सुक है।

और फिर यदि हम जगत्-सत्ता को शाश्वत सत्-पुरुष के आत्मानंद के साथ संबंध की दृष्टि से देखें तो हम उसका इस रूप में अवलोकन, वर्णन और अनुभव कर सकते हैं कि यह एक लीला है, बच्चे के आनंद, कवि के आनंद, अभिनेता के आनंद और यांत्रिक के आनंद के रूप में यह वस्तुओं की आत्मा का एक खेल है, जो आत्मा चिर युवा और चिर अक्षय है, और अपने-आपको अपने ही अंदर आत्म-सर्जन और आत्म-रूपायन के अहैतुक आनंद के लिये बनाती और फिर-फिर बनाती रहती है—वही खेल है, वही खिलाड़ी है और वही खेल का मैदान भी है। शाश्वत और स्थाणु अर्थात् अपरिवर्तनशील सच्चिदानंद के साथ संबंध की दृष्टि से सत्ता की क्रीड़ा के इन तीन सामान्यीकरणों का आरंभ माया, प्रकृति और लीला की तीन धारणाओं से होता है। ये हमारे दर्शन शास्त्रों में परस्पर विरोधी दर्शनों के रूप में देखने में आते हैं परंतु वस्तुतः ये एक-दूसरे के साथ पूरी तरह संगत हैं, और जीवन तथा जगत् की संपूर्ण दृष्टि के लिये अपनी समग्रता में एक-दूसरे के पूरक और एक-दूसरे के लिये आवश्यक हैं। बिल्कुल प्रत्यक्ष दृष्टि में यह जगत्, जिसके हम भाग हैं, 'शक्ति' की एक गति है, लेकिन जब हम उस 'शक्ति' के बाहरी रूप को भेद लेते हैं तो वह सर्जनशील चेतना की एक स्थिर लेकिन फिर भी सदा परिवर्तनशील लय सिद्ध होती है जो सदा स्वयं अपनी अनंत और शाश्वत सत्ता के प्रपंच-विषयक सत्यों को अपने अंदर उछालती और प्रक्षिप्त करती रहती है। और यह लय अपने सारतत्त्व में अपने कारण और प्रयोजन में ऐसी सत्ता के अनंत आनंद की लीला है जो हमेशा अपने अनगिनत आत्म-निरूपणों में व्यस्त रहती है, विश्व को समझने के लिये यह तिहरी या त्रिविध दृष्टि हमारा आरंभबिंदु होनी चाहिये।

तो चूंकि संभूति के अनंत और परिवर्तनशील आनंद में शाश्वत और अपरिवर्तनशील सत्ता के आनंद का गति करना ही सारी चीज की जड़ है तो हमें एक अविभाज्य सचेतन सत्ता की धारणा करनी होगी जो हमारे सभी अनुभवों के पीछे है और उन्हें अपने अविच्छेद्य आनंद से सहारा देती है और हमारी संवेदनात्मक सत्ता में सुख, दुःख और उदासीन तटस्थता के परिवर्तनों को अपनी गतिविधि द्वारा संपन्न करती है। वह हमारी वास्तविक आत्मा है। त्रिविध स्पंदनों के आधीन रहनेवाला मनोमय पुरुष हमारी वास्तविक आत्मा का केवल प्रतिरूप हो सकता है जिसे वस्तुओं की उस संवेदनात्मक अनुभूति के लिये आगे रखा गया है जो इस विश्व के साथ बहुविध संपर्क की प्रतिक्रिया और उत्तर में हमारी विभक्त चेतना की पहली लय है। यह एक अपूर्ण उत्तर है, एक उलझा हुआ और विस्वर लय है जो हमारे अंदर सचेतन सत्ता की संपूर्ण और एकताबद्ध लीला की तैयारी करता और उसकी भूमिका बनाता है। यह वह सच्ची और संपूर्ण समस्वरता नहीं है जो हमें तब मिल सकती है जब हम सभी विभिन्नताओं में उस एकमेव के साथ

एक बार सामंजस्य पा लें और निरपेक्ष एवं वैश्व स्वरलहरी के साथ अपने-आपको समस्वर कर लें।

अगर यह दृष्टि ठीक है तो कुछ परिणाम अपने-आपको अनिवार्य रूप से आरोपित करते हैं। पहली बात तो यह कि चूंकि अपनी गहराइयों में हम स्वयं वह एकमेव हैं, चूंकि अपनी सत्ता की वास्तविकता में हम अविभाज्य सर्व-चेतना हैं और इस कारण अविच्छेद्य सर्वानंद हैं अतः हमारी संवेदनात्मक अनुभूति का सुख, दुःख और उदासीनता के तीन स्पंदनों में विन्यास हमारे उस सीमित भाग का एक ऊपरी संयोजन ही हो सकता है जो हमारी जाग्रत् चेतना में सबसे ऊपर है। इसके पीछे हमारे अंदर कुछ होना चाहिये—जो हमारी बाहरी चेतना से कहीं अधिक विशाल, गभीर और सच्चा है—जो निष्पक्ष भाव से सब अनुभूतियों में आनंद लेता है। वही आनंद गुप्त रूप से बाहरी मनोमय पुरुष को सहारा देता है और उसे इस योग्य बनाता है कि वह संभवन की सभी उत्तेजित गतिविधियों में समस्त श्रम, दुःख और अग्निपरीक्षाओं के बीच डटा रहे। हम जिसे अपना-आपा कहते हैं वह तो केवल ऊपरी सतह पर कांपती हुई किरण है, उसके पीछे है समस्त विशाल अवचेतना और विशाल अतिचेतन जो इन समस्त सतही अनुभूतियों से लाभ उठाता है और उन्हें अपनी इस बाहरी सत्ता पर आरोपित करता है जिसे वह जगत् के संपर्कों के आगे एक तरह के संवेदनात्मक आवरण के रूप में प्रकट करता है। वह स्वयं पर्दे में रहकर इन संपर्कों को ग्रहण करता और उन्हें अधिक सच्ची, गहरी, आधिपत्यशाली, सृजनशील अनुभूतियों के मूल्यों में आत्मसात् करता है। वह उन्हें अपनी गहराइयों में से बल, चरित्र, ज्ञान, आवेग के रूप में वापिस सतह पर भेजता है जिनकी जड़ें हमारे लिये रहस्यमय बनी रहती हैं क्योंकि हमारा मन सतह पर ही घूमता और कांपता है, उसने अपनी गहराइयों में केंद्रित होना और जीना नहीं सीखा है।

हमारे सामान्य जीवन में यह सत्य हमसे छिपा रहता है या कभी-कभी हम उसकी धुंधली झांकी भर पा जाते हैं या उसे अपूर्ण रूप से पकड़ पाते और उसकी धारणा बना सकते हैं। लेकिन अगर हम अपने भीतर रहना सीख लें तो हम निश्चित रूप से अंदर की इस भागवत उपस्थिति के प्रति जाग उठते हैं जो हमारी अधिक वास्तविक आत्मा है। यह एक ऐसी उपस्थिति है जो गभीर, स्थिर, आनंदपूर्ण और शक्तिशाली है, जगत् इसका स्वामी नहीं। यह उपस्थिति, स्वयं प्रभु भले न हो, अंदर के प्रभु का विकिरण अवश्य है। हमें उसका इस रूप में भान होता है कि वह अंदर रहती हुई प्रतीयमान और ऊपरी सत्ता को सहारा और सहायता देती और उसके सुखों और कष्टों पर इस तरह मुस्कराती है जैसे कोई किसी छोटे बच्चे की भूलों और आवेशों पर मुस्कराता है। और हम अपने अंदर लौट सकें और अपने-आपको अपनी ऊपरी अनुभूति के साथ नहीं, बल्कि भगवान्

की उस ज्योतिर्मय उपच्छाया के साथ एकात्म कर सकें तो हम जगत् के संपर्कों के प्रति भी उसी वृत्ति को बनाकर रह सकते हैं और शरीर, प्राणिक सत्ता और मन के सुख-दुःखों से अपनी सारी चेतना में पीछे हटकर हम उन्हें ऐसी अनुभूतियों के रूप में ग्रहण कर सकते हैं जिनका स्वरूप ऊपरी होने के कारण हमारी अंतःस्थ और वास्तविक सत्ता को नहीं छूता या उसपर अपने-आपको आरोपित नहीं करता। इस भाव को पूरी तरह अभिव्यक्त करनेवाली संस्कृत परिभाषा में कहें तो मनोमय के पीछे एक आनंदमय है, सीमित मनोमय के पीछे एक बृहत् 'आनंदमय पुरुष' है। मनोमय आनंदमय की एक छाया-प्रतिमा और विक्षुब्ध प्रतिबिंब भर है। हमारा अपना सत्य भीतर रहता है, सतह पर नहीं।

फिर सुख, दुःख और उदासीनता का यह त्रिविध स्पंदन बाहरी है, हमारे अधकचरे विकास की व्यवस्था और परिणाम है इसलिये उसमें कोई निरपेक्षता या अनिवार्यता नहीं हो सकती। हमारे ऊपर ऐसी कोई वास्तविक बाध्यता नहीं है कि हम किसी संपर्क-विशेष की ओर लौटें, किसी विशेष सुख, दुःख या उदासीनता की प्रतिक्रिया के रूप में प्रत्युत्तर दें। बाध्यता केवल आदत की होती है। हमें किसी संपर्क-विशेष से सुख या दुःख होता है क्योंकि हमारी प्रकृति ने ऐसी आदत डाल ली है, क्योंकि ग्रहणकर्ता ने इस संपर्क के प्रति वैसा सतत संबंध बना लिया है। यह हमारी सामर्थ्य में है कि बिल्कुल उल्टे प्रत्युत्तर दें, जहां कष्ट होता था वहां सुख का और जहां सुख होता था वहां दुःख का प्रत्युत्तर दें। और यह भी समान रूप से हमारी सामर्थ्य में है कि अपनी बाहरी सत्ता को इस बात का अभ्यस्त कर दें कि वह सुख, दुःख और उदासीनता की यांत्रिक प्रतिक्रियाओं की जगह अक्षर आनंद का वह सहज प्रत्युत्तर दे जहां हमारे अंदर स्थित सच्चे और विशाल 'आनंद-पुरुष' का सतत अनुभव है। और यह ऊपरी सतह की अभ्यस्त प्रतिक्रियाओं को गहराई में प्रसन्न और अनासक्त भाव से ग्रहण करने की अपेक्षा अधिक बड़ी विजय तथा कहीं अधिक गहरी और अधिक संपूर्ण आत्मवत्ता है। क्योंकि वह आधीनता के बिना स्वीकृति, अनुभूतियों के अपूर्ण मूल्यों को स्वाधीनता से दी गयी मान्यता नहीं है बल्कि यह आत्मवत्ता हमें अपूर्ण को पूर्ण में, मिथ्या मूल्यों को सच्चे मूल्यों में बदलने की योग्यता देती है। वह है मानसिक सत्ता द्वारा अनुभव किये गये द्वंद्वों की जगह आत्मा द्वारा लिया गया वस्तुओं का सच्चा लेकिन सतत आनंद।

मन की चीजों में सुख-दुःख की प्रतिक्रियाओं की इस निरी अभ्यासगत सापेक्षता को देखना कठिन नहीं है। वस्तुतः हमारी स्नायविक सत्ता को इन चीजों में अमुक निश्चितता का, निरपेक्षता के झूठे संस्कार का अभ्यास है। उसके लिये विजय, सफलता, सम्मान, सब प्रकार का सौभाग्य आदि अपने-आपमें निरपेक्ष रूप से सुखद चीजें हैं और उन्हें उसी तरह आनंद पैदा करना चाहिये जैसे शक्कर को

मीठा होना चाहिये। पराजय, असफलता, निराशा, अपमान, सब प्रकार का दुर्भाग्य आदि अपने-आपमें निरपेक्ष रूप से अप्रिय चीजें हैं और उन्हें दुःख पैदा करना चाहिये जैसे नागदमनी (नीम) का स्वाद कड़वा होना ही चाहिये। उसकी दृष्टि में इनसे भिन्न प्रतिक्रियाओं का होना तथ्य से भटक जाना, असाधारण और अस्वस्थ चीज है, क्योंकि स्नायविक सत्ता आदतों की दासी होती है और उसे प्रकृति ने प्रत्युत्तरों के सुनिश्चित सातत्य, अनुभूतियों की समरूपता और जीवन के साथ मनुष्य के संबंधों की सुनिश्चित योजना बनाये रखने के लिये, अपने-आपमें एक साधन के तौर पर बनाया है। दूसरी ओर मनोमय सत्ता आजाद होती है क्योंकि वह एक ऐसा साधन है जिसे प्रकृति ने नमनीयता और वैविध्य, परिवर्तन और प्रगति के लिये बनाया है। वह तभीतक अधीन रहती है जबतक कि वह आधीन रहना पसंद करे, मन की एक आदत की जगह दूसरी आदत में रहना चाहे या जबतक अपने-आपको अपने स्नायविक यंत्र के अधिकार में रहने दे। वह पराजय, अपमान या हानि के कारण दुःखी होने के लिये बाधित नहीं है, वह इन चीजों और सभी चीजों का सामना पूर्ण उदासीनता के साथ, यहांतक कि पूरी प्रसन्नता के साथ कर सकती है। अतः आदमी देखता है कि वह जितना ही स्नायुओं और शरीर के आधीन रहने से इंकार करता है, जितना ही भौतिक और प्राणिक भागों की उलझनों में से अपने-आपको खींच लेता है उतना ही अधिक वह स्वाधीन होता है। तब वह बाहरी स्पर्शों का दास न रहकर जगत् के प्रति अपने प्रत्युत्तरों का स्वामी बन जाता है।

इस वैश्व सत्य को भौतिक सुख-दुःख पर लागू करना अधिक कठिन होता है क्योंकि यह तो स्वयं स्नायुओं और शरीर का क्षेत्र है, जो हमारे अंदर उसका केंद्र और आसन है जिसका स्वभाव ही है बाहरी संपर्कों और बाहरी दबाव से शासित होना। तथापि, हमें यहां भी सत्य की झलकें मिल जाती हैं। हम यह तथ्य देखते हैं कि आदत के अनुसार एक ही भौतिक संबंध सुखद या दुःखद हो सकता है, केवल भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में नहीं बल्कि एक ही व्यक्ति में भिन्न-भिन्न परिस्थितियों या विकास के भिन्न-भिन्न स्तरों पर हम यह तथ्य देख सकते हैं कि बहुत उत्तेजना या उच्च भावोत्कर्ष के समय मनुष्य उन्हीं संपर्कों के तले कष्ट के प्रति शारीरिक रूप से उदासीन या अचेतन रहता है जो सामान्य रूप से तीव्र यंत्रणा या वेदना पहुंचाते। कई अवस्थाओं में कष्ट का संवेदन तब वापिस आ जाता है जब स्नायुएं फिर से अपना अधिकार जमा लेती हैं और मनुष्य की मानसिकता को तकलीफ पाने की आदत की बाध्यता की याद दिलाती हैं। लेकिन इस आदत की बाध्यता की ओर लौटना अनिवार्य नहीं है, यह बस एक आदत है। हम देखते हैं कि सम्मोहन के मामले में न केवल यह कि सम्मोहित व्यक्ति को सफलता के साथ घाव या वेधन के दर्द का अनुभव करने से केवल तभीतक नहीं रोका जा सकता जबतक वह उस असाधारण स्थिति में रहे बल्कि जब वह जाग जाये तब भी उसे

आदत के अनुसार पीड़ा की प्रतिक्रिया में लौटने से उसी सफलता के साथ रोका जा सकता है। इस व्यापार का कारण बहुत सरल है। इसका कारण यह है कि सम्मोहक व्यक्ति उस जाग्रत् चेतना को स्थगित कर देता है जो स्नायविक अभ्यासों की गुलाम है। वह गहराई में स्थित अंतर्लीन मानसिक सत्ता से समर्थन मांग सकता है। यह आंतरिक मनोमय पुरुष, अगर इच्छा करे तो, स्नायुओं का और शरीर का स्वामी होता है। लेकिन यह स्वाधीनता जो सम्मोहन द्वारा असामान्य रूप से तेजी के साथ, सच्चा अधिकार पाये बिना परायी इच्छा-शक्ति से मिलती है, यही स्वाधीनता सामान्य रूप से, धीमे-धीमे, सच्चे अधिकार के साथ, अपनी निजी इच्छा-शक्ति द्वारा मिल सकती है जिससे मानसिक सत्ता की शरीर की अभ्यासगत स्नायविक प्रतिक्रियाओं पर आंशिक या पूर्ण विजय साधित हो सके।

मन और शरीर की पीड़ा प्रकृति यानी कार्यरत दिव्य शक्ति का एक साधन है जो उसके ऊर्ध्वमुखी विकास में एक निश्चित संक्रमणकालीन उद्देश्य के लिये सहायक होता है। व्यष्टि की दृष्टि से जगत् एक लीला और बहुविध शक्तियों का एक जटिल आघात है। इस जटिल लीला के बीच व्यष्टि शक्ति की परिमित मात्रा से सीमित रूप में रचित सत्ता के रूप में रहता है। वह उन अनगिनत प्रहारों के प्रति खुला रहता है जो उस रचना को, जिसे वह अपना-आपा कहता है घायल, पंगु, खंडित या विघटित कर सकते हैं। पीड़ा अपने स्वभाव में किसी खतरनाक या हानिकर संपर्क से स्नायविक या शारीरिक रूप से पीछे हटना है, यह उस चीज का एक भाग है जिसे उपनिषद् जुगुप्सा कहते हैं यानी एक सीमित सत्ता का उससे खिंचाव जो उसका अपना स्व नहीं है, जो उसके साथ सहानुभूतिपूर्ण या सामंजस्ययुक्त नहीं। यह 'परायों' से आत्म-रक्षा करने की प्रवृत्ति है। इस दृष्टिकोण से यह प्रकृति का उसकी ओर एक संकेत है जिससे बचना चाहिये अथवा यदि सफलतापूर्वक न बचा जा सके तो, जिसका उपचार करना चाहिये। पीड़ा का अस्तित्व शुद्ध भौतिक जगत् में तबतक नहीं आता जबतक कि उसमें प्राण का प्रवेश न हो, क्योंकि तबतक यांत्रिक उपाय ही काफी होते हैं। उसका व्यापार तब शुरू होता है जब प्राण अपनी दुर्बलता और जड़तत्त्व पर अधूरे अधिकार के साथ मंच पर प्रकट होता है, यह प्राण के अंदर मन की वृद्धि के साथ-साथ बढ़ता जाता है। उसका व्यापार तबतक चलता रहता है जबतक मन प्राण और शरीर में बंधा रहता है, जिनका वह उपयोग करता है। वह अपने ज्ञान और क्रिया के साधनों के लिये उनपर निर्भर रहता है, उनकी सीमाओं और उन सीमाओं से उत्पन्न अहमात्मक आवेगों और उद्देश्यों के आधीन रहता है। लेकिन अगर जब मनुष्य का मन मुक्त, अहं-शून्य, अन्य सभी सत्ताओं और वैश्व शक्तियों की लीला के साथ सामंजस्य साधने में सक्षम हो जायेगा तब कष्ट का उपयोग और व्यापार कम होने लगेगा और अंत में उसके अस्तित्व का कोई प्रयोजन ही नहीं रहेगा और वह प्रकृति की

एक परंपरागत वृत्ति के रूप में, अपनी उपयोगिता समाप्त हो जाने के बाद भी बनी रहनेवाली आदत के रूप में, उच्चतर के अभीतक अधूरे संघटन में निम्नतर के डटे रहने के रूप में रह सकेगा। जड़तत्त्व की अधीनता और मन की अहंकारपूर्ण सीमाओं पर अंतरात्मा की नियत विजय में पीड़ा का अंततः विलोपन एक अनिवार्य बिंदु होगा।

यह विलोपन संभव है क्योंकि अपने-आपमें सुख-दुःख दोनों ही तरंगें हैं, एक अपूर्ण है दूसरी विकृत, परंतु हैं दोनों ही सत्ता के आनंद की लहरें। इस अपूर्णता और इस विकृति का कारण है सीमित करने और मापनेवाली माया द्वारा सत्ता का अपनी चेतना में आत्मविभाजन और परिणामतः व्यक्ति द्वारा संपर्कों को वैश्व रूप में ग्रहण करने की जगह अहंकारमय और खंडशः रूप में ग्रहण करना। वैश्व आत्मा के लिये सभी चीजें और सभी संपर्क अपने अंदर आनंद का सार लिये रहते हैं जिसका सबसे अच्छा वर्णन संस्कृत के सौंदर्य-शास्त्र के शब्द **रस** के द्वारा होता है जिसका अर्थ एक ही साथ किसी चीज का द्रव या सार और स्वाद होता है। चूंकि हम अपने साथ संपर्क में आनेवाली वस्तु का सारतत्त्व नहीं ढूंढ़ते, केवल यही देखते हैं कि वह संपर्क हमारी कामनाओं और भयों, हमारी लालसाओं और अनिच्छाओं पर कैसा प्रभाव डालता है, इसीलिये वह रस दुःख और कष्ट, अपूर्ण एवं क्षणिक सुख या उदासीनता अर्थात् सारतत्त्व को ग्रहण करने में नितांत अक्षमता का रूप ले लेता है। अगर हम मन और हृदय में पूरी तरह अनासक्त हो सकें, और उस अनासक्ति को स्नायविक सत्ता पर आरोपित कर सकें तो रस के इन अधूरे और विकृत रूपों का क्रमिक विलोपन संभव होगा और सत्ता के अविच्छिन्न आनंद का सच्चा सारभूत स्वाद हमारी पहुंच के भीतर होगा। इस विविधतापूर्ण किंतु वैश्व आनंद को पाने की कुछ क्षमता हमें, जैसा कि कला और काव्य में होता है, चीजों को सौंदर्यबोध की दृष्टि से लिये जाने पर मिलती है, जिससे हम उनमें करुण, भयानक, यहांतक कि वीभत्स-रस का भी आनंद ले सकते हैं। इसका कारण यह है कि हम उस समय तटस्थ, उदासीन रहते हैं, हमें केवल वस्तु और उसके सारतत्त्व का ख्याल रहता है, अपना या आत्मारक्षा (जुगुप्सा) का नहीं। निश्चय ही, संपर्कों की यह सौंदर्यबोधात्मक ग्रहणशीलता शुद्ध आनंद का यथार्थ चित्र या प्रतिबिंब नहीं है, वह आनंद तो अतिमानसिक और सौंदर्यबोधातीत है। क्योंकि वह दुःख, भय, वीभत्सता और जुगुप्सा को उनके कारणों समेत समाप्त कर देता है जब कि सौंदर्यबोध उन तत्त्वों को स्वीकार करता है। किंतु यह प्रवृत्ति अपने-आपको अभिव्यक्त कर रही, वस्तुओं में स्थित वैश्व 'आत्मा' के बढ़ते हुए आनंद की एक अवस्था का आंशिक और अपूर्ण रूप से निरूपण करती है और हमारी प्रकृति के एक भाग में अहंकारभरे संवेदन से अनासक्ति की उस अवस्था में और उस वैश्व वृत्ति में हमारा प्रवेश कराती है जिसके द्वारा 'अंतरात्मा' वहां सामंजस्य और सौंदर्य

को देखती है जहां हम, विभक्त सत्ताएं अस्तव्यस्तता और असंगति का अनुभव करते हैं। पूर्ण मुक्ति हमें तभी मिल सकती है जब हमारे सभी भागों में ऐसी ही मुक्ति आ जाये, वैश्व सौंदर्यबोध, ज्ञान का वैश्व दृष्टिकोण, सभी चीजों से वैश्व अनासक्ति आ जाये और साथ ही हमारी स्नायविक और भावमय सत्ता में सबके लिये सहानुभूति भी रहे।

दुःख का स्वरूप है हमारे अंदर स्थित चित्-शक्ति की जीवन के आघातों का सामना करने में असफलता जिसके परिणाम सिकुड़ना और जुगुप्सा हैं। और दुःख की जड़ है उस ग्रहण और स्वायत्त करनेवाली शक्ति की असमानता जिसका कारण है अहंभाव द्वारा हमारा आत्म-परिसीमन। और यह अहंभाव हमारी सच्ची 'आत्मा' के, सच्चिदानंद के प्रति अज्ञान का परिणाम है। अतः दुःख का विलोपन करने के लिये पहले जुगुप्सा, सिकुड़ने और संकुचित होने के स्थान पर तितिक्षा को, अर्थात् जीवन के सभी आघातों का सामना करने, उन्हें सहने और उनपर विजय पाने की वृत्ति को लाना होगा। इस सहनशीलता और विजय से हम एक ऐसी समानता की ओर बढ़ते हैं जो सभी संपर्कों के प्रति या तो एक-सी उदासीनता या एक-समान प्रसन्नता होती है। और फिर इस समता को एक मजबूत नींव पानी होगी, अहंकारभरी चेतना के स्थान पर, जो सुख-दुःख भोगती है, सच्चिदानंद-चेतना को प्रतिष्ठित करना होगा जो सर्वानंद है। सच्चिदानंद-चेतना विश्वातीत और विश्व से अलग-थलग हो सकती है और इस सुदूर आनंद की अवस्था के लिये जो मार्ग है वह है एक-समान उदासीनता का। यह है संन्यासी का मार्ग। अथवा सच्चिदानंद-चेतना एक ही साथ विश्वातीत और विश्वव्यापक हो सकती है और इस उपस्थित तथा सर्वालिंगनकारी आनंद की अवस्था के लिये जो मार्ग है वह है समर्पण का और विश्वचेतना में अहं को खो देने तथा सर्वव्यापी समरस आनंद को प्राप्त करने का। यह प्राचीन वैदिक मुनियों का मार्ग है। किंतु सुख के अपूर्ण स्पर्शों और दुःख-दर्द के विकृत स्पर्शों के प्रति उदासीनता अंतरात्मा के आत्मसंयम का पहला सीधा और स्वाभाविक परिणाम है और उनका समरस आनंद में परिवर्तन तो साधारणतः बाद में ही आता है। त्रिविध स्पंदनों का सीधा आनंद में रूपांतर संभव तो है पर मनुष्य के लिये कम सरल है।

तो वेदांत के पूर्ण सिद्धांत के अनुसार विश्व के बारे में जो दृष्टिकोण है वह इसी प्रकार का है। एक अनंत, अविभाज्य सत् अपनी शुद्ध आत्म-चेतना में सर्वानंद है। वह अपनी आधारभूत शुद्धि में से निकलकर शक्ति के, जो कि चेतना है उसके, वैचित्र्यपूर्ण खेल में, प्रकृति की गतिविधि में चला जाता है। यही माया का खेल है। भौतिक विश्व के आधार में सत्ता का आनंद शुरू में आत्म-समाहित, आत्म-लीन और अवचेतन रूप में रहता है। फिर वह तटस्थ गति की महान् राशि के रूप में उभरता है लेकिन यह वह चीज नहीं होती जिसे हम संवेदन कहते हैं। उसके बाद

मन और अहं की वृद्धि के साथ वही आनंद सुख, दुःख और उदासीनता के त्रिविध स्पंदन के रूप में प्रकट होता है। इसका आरंभ रूप में स्थित चेतना की शक्ति के परिसीमन और उसके वैश्व शक्ति के आघातों के प्रति खुले रहने से होता है जिन्हें वह अपने से विजातीय और अपनी मात्रा और प्रमाण के साथ अ-सुस्वर पाती है। और अंत में सच्चिदानंद अपनी सृष्टियों में पूर्ण रूप से और सचेतन रूप से उभर आते हैं और यह वैश्वभाव, समता, आत्मवत्ता और प्रकृति पर विजय के द्वारा साधित होता है। संसार का यही क्रम और यही उसकी गतिधारा है।

तब अगर यह पूछा जाये कि एकमेव ऐसी गति में आनंद क्यों लेता है तो इसका उत्तर इस तथ्य में है कि उस सत् की अनंतता में सभी संभाव्यताएं छिपी हुई हैं और यह कि सत्ता का आनंद—अपनी अक्षर सत्ता में नहीं, बल्कि अपनी क्षर संभूति में—यथार्थतः अपनी इन संभावनाओं को विविध रूप से चरितार्थ करने में ही है। और यहां इस विश्व में, जिसके कि हम एक भाग हैं, जिस संभावना को चरितार्थ किया जाता है उसकी शुरूआत इस प्रकार होती है कि सच्चिदानंद उस तत्त्व में जा छिपते हैं जो उनका विरोधी मालूम होता है और उस विरोधी तत्त्व की शर्तों में से ही उन्हें अपने-आपको खोज निकालना होता है। अनंत सत् प्रकटतः असत् में अपने-आपको खो देता है और सांत अंतरात्मा के रूप में उभरता है। अनंत चेतना एक सुविशाल, निर्विशेष निश्चेतना की प्रतीति के रूप में अपने-आपको खो देती है और सतही, सीमित चेतना के रूप में उभरती है। अनंत आत्म-निर्भर शक्ति अपने-आपको परमाणुओं की अस्त-व्यस्तता के आभास में खो देती है और अस्थिर संतुलनवाले एक जगत् के रूप में उभरती है। अनंत आनंद प्रकटतः संवेदनशून्य जड़तत्त्व के रूप में अपने-आपको खो देता है और विविध प्रकार के दुःख, सुख और तटस्थ भावों के तथा प्रेम, घृणा और उदासीनता के विस्वर लय के रूप में उभरता है। अनंत एकता अपने-आपको विविधता की अस्तव्यस्तता के आभास में खो देती है और ऐसी शक्तियों एवं सत्ताओं की विषमता के रूप में प्रकट होती है जो एक-दूसरे पर अधिकार करने, एक-दूसरे को लुप्त कर देने या निगल जाने के द्वारा एकता की खोज करती हैं। ऐसी इस सृष्टि-रचना में वास्तविक सच्चिदानंद को उभरना है। मनुष्य को, व्यष्टि को वैश्व सत्ता बनना और उसकी तरह रहना है। उसकी सीमित मानसिक चेतना को ऐसी अतिचेतन एकता में विस्तार पाना है जिसमें प्रत्येक सर्व का आलिंगन करता है। उसके संकीर्ण हृदय को अनंत का आलिंगन सीखना है और अपनी वासनाओं और असंगतियों के स्थान पर वैश्व प्रेम को लाना है। उसके परिसीमित प्राण को समस्त विश्व से अपने ऊपर आनेवाले आघातों के समतुल्य और वैश्व आनंद के योग्य बनना है। उसके भौतिक शरीरतक को अपने-आपको इस रूप में जानना है कि वह कोई अलग अस्तित्व नहीं है बल्कि जो अविभाज्य शक्ति सब कुछ है, वह उसके सारे प्रवाह के साथ एक है

और उसे अपने अंदर धारण किये हुए है। उसकी सारी प्रकृति को परम सत्-चित्-आनंद में एकत्व, सामंजस्य और 'सर्व के अंदर एकत्व' का व्यक्ति में प्रतिरूप तैयार करना है।

इस सारी लीला के बीच जो छिपी वास्तविकता है वह है सदा अस्तित्व का वही एक और समरस आनंद। व्यक्ति के उदय से पहले अवचेतन निद्रा के आनंद में वही है। व्यक्ति को केंद्र बनाकर अर्द्ध-चेतन स्वप्न की भूल-भुलैया में अपने-आपको पाने का जो संघर्ष है, उसमें जितने विविध प्रकार के उलटफेर, विकार, परिवर्तन और प्रत्यावर्तन हैं उन सबके आनंद में भी वही है। और शाश्वत अतिचेतन आत्मवत्ता में, जिसके प्रति मनुष्य को जागना होगा और वहां एक और अविभाज्य सच्चिदानंद के साथ एक होना होगा, उसमें भी वही है। यह एकमेव, प्रभु और सर्व की वह लीला है जो भौतिक विश्व के बारे में बौद्धिक दृष्टिकोण से अपने-आपको हमारे मुक्त और प्रबुद्ध ज्ञान में प्रकट करती है।

अध्याय १३

दिव्य माया

तदित्नवस्य वृषभस्य धेनोरा नामभिर्ममिरे सक्म्यं गोः ।
अन्यदन्यदसुर्यं वसाना नि मायिनो ममिरे रूपमस्मिन् ॥

उन्होंने प्रभु और परादेवी के नामों से ज्योति की माता को आकार दिया और मापा। उस पराशक्ति के बल को एक के बाद एक वस्त्रों की तरह पहनते हुए, माया के प्रभुओं ने इस 'सत्' में 'रूप' को आकार दिया।

ऋग्वेद ३.३८.७

मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः ।

माया के प्रभुओं ने परमदेव की माया से सब कुछ को आकार दिया। दिव्य दृष्टिवाले पितरों ने उस परमदेव का गर्भस्थ शिशु की तरह अपने अंदर आधान किया।

ऋग्वेद ९.८३.३

जो सत् अपनी चेतना की शक्ति और उसके शुद्ध आनंद द्वारा लीला और सृजन करता है वही जो कुछ हम हैं उसका वास्तविक रूप है, हमारे सभी बाह्याचारों और आंतरिक वृत्तियों की आत्मा है, हमारी सभी क्रियाओं, हमारे सभी संभवन और सृजन का कारण, उद्देश्य और लक्ष्य है। जैसें कोई कवि, कलाकार या संगीतकार जब कोई रचना करता है तो वह सचमुच कुछ नहीं करता, केवल अपनी अनभिव्यक्त आत्मा की किसी संभाव्यता को अभिव्यक्ति में रूप देता है और जैसे कोई विचारक, राजनेता, यांत्रिक, वस्तुओं के रूप में केवल उसी चीज को बाहर लाते हैं जो उनके अंदर छिपी हुई थी, स्वयं उनका रूप थी और बाह्य रूपों में ढाले जाने पर भी उनका आत्मरूप ही बनी रहती है, वही बात जगत् और शाश्वत के बारे में भी है। समस्त सृष्टि या संभूति इस आत्माभिव्यक्ति के सिवा कुछ नहीं है। बीज में से वही चीज अभिव्यक्त होती है जो पहले ही बीज में है, सत्ता में पहले से मौजूद, उसके संभूति के संकल्प में पहले से निर्दिष्ट, संभूति के आनंद में पहले से व्यवस्थित है। आदि जीवद्रव्य अपने अंदर अस्तित्व की शक्ति में परिणामी शरीर-विन्यास को धारे हुए था क्योंकि यह सदा वही गुप्त-गर्भा आत्मज्ञानवाली शक्ति है जो अपने ही अदम्य आवेश के अधीन अपने अंतर्गूढ़ रूप को अभिव्यक्त करने के लिये श्रम करती है। केवल वह व्यष्टि जो सृजन करता या अपने अंदर से विकसित करता है वही अपने, यानी अपने अंदर कार्य करनेवाली शक्ति और उस उपादान में भेद करता है जिसमें वह काम कर रहा है। वस्तुतः

शक्ति वह स्वयं है, वह शक्ति जिस व्यष्टिभावापन्न चेतना का उपयोग करती है वह भी वह स्वयं है और वह जिस द्रव्य का उपयोग करती है वह भी वह स्वयं है और परिणामस्वरूप आनेवाला रूप भी वह स्वयं है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह एक ही सत् है, एक ही शक्ति है, एक ही सत्ता का आनंद है जो विभिन्न बिंदुओं पर केंद्रित होकर हर एक के बारे में कहता है, "यह मैं हूं" और आत्मरूपायन के बहुविध खेल के लिये आत्मशक्ति के नानाविध खेल द्वारा उसमें क्रिया करता है।

वह जो कुछ पैदा करता है वह स्वयं वह है, और उसके सिवा कुछ नहीं हो सकता। वह अपनी निजी सत्ता, चेतना की शक्ति और सत्ता के आनंद में से एक खेल, एक लय, एक विकास कार्यान्वित कर रहा है। अतः जो कुछ जगत् में आता है वह और कुछ नहीं, बस यही चाहता है, वह होना चाहता है, अभिप्रेत रूपतक पहुंचना चाहता है, अपनी आत्मसत्ता को उस रूप में विस्तृत करना चाहता है, उसके अंदर की चेतना और शक्ति को अनंत रूप से विकसित, अभिव्यक्त, समृद्ध और चरितार्थ करना चाहता है। अभिव्यक्ति में आने का आनंद, सत्ता के रूप का आनंद, चेतना के लय का आनंद, शक्ति के खेल का आनंद और जो भी साधन संभव हों उनके द्वारा उस आनंद को बढ़ाना और पूर्ण करना, चाहे जिस भी दिशा में हो, उसके बारे में उसका चाहे जो भी विचार हो जिसे उसकी गभीरतम सत्ता में सक्रिय सत्, चित्-शक्ति और आनंद ने उसे सुझाया हो वह उस आनंद को बढ़ाना और पूर्ण करना चाहता है।

यदि कोई लक्ष्य है, कोई पूर्णता है जिसकी ओर वस्तुएं प्रवृत्त होती हैं तो वह केवल पूर्णता हो सकती है—व्यक्ति में पूर्णता, उस समग्र में पूर्णता जो व्यष्टियों से बनता है—उसकी आत्मसत्ता की, उसकी शक्ति और चेतना की और उसकी सत्ता के आनंद की पूर्णता। परंतु व्यष्टिगत रूपायन में सीमित और केंद्रित व्यष्टिगत चेतना में ऐसी पूर्णता संभव नहीं है। सांत के अंदर निरपेक्ष पूर्णता संभव नहीं है क्योंकि वह सांत की आत्मधारणा के लिये विजातीय है, अतः एकमात्र संभव लक्ष्य है व्यष्टि में अनंत चेतना का उदय। यह आत्मज्ञान और आत्मोपलब्धि के द्वारा अपने निजी सत्य की पुनःप्राप्ति है। सत्ता में अनंत, चेतना में अनंत, आनंद में अनंत के सत्य को अपनी निजी आत्मा और 'वास्तविकता' के रूप में पुनः पाना है। सांत उस अनंत का केवल एक मुखौटा और नानाविध अभिव्यक्ति के लिये साधन मात्र है।

इस प्रकार सच्चिदानंद अपनी सत्ता को देश और काल के रूप में विस्तारित कर जो लीला कर रहे हैं उस जगत्-लीला के स्वरूप को देखते हुए हमें यह धारणा बनानी पड़ती है कि चेतन सत्ता पहले पदार्थ की घनता और अनंत विभाज्यता में निवर्तित और अंतर्लीन हुई, कारण, अन्यथा यहां विविध प्रकार के सांत रूप नहीं बन सकते; फिर, वह आत्म-कारावद्ध शक्ति रूपमय सत्ता, प्राणमय सत्ता और

चिंतनशील सत्ता के रूप में आविर्भूत हुई; और अंत में यह गठित चिंतनशील सत्ता जब अपने-आपको जगत् में लीला कर रहे एकमेव और अनंत के रूप में सुस्पष्टतया अनुभव कर लेती है तो मुक्त हो जाती है और इस मुक्ति के द्वारा असीम सत्-चित्-आनंद को फिर से पा लेती है जैसी कि वह अब भी गुप्त रूप से, वास्तविक रूप से और शाश्वत रूप से है ही। यह त्रिविध गति ही जगत्-पहेली की चाबी है।

इस भांति वेदांत का प्राचीन और शाश्वत सत्य विश्व में, विकासक्रम के आधुनिक और प्रतिभासिक सत्य के पूरे अर्थ को अपने अंदर समा लेता, उसपर प्रकाश डालता, उसे न्यायसंगत सिद्ध करता और उसका पूरा-पूरा अर्थ दिखलाता है। और इसी प्रकार विकासक्रम का यह नवीन सत्य जो 'वैश्व देव' के काल में अपने-आपको उत्तरोत्तर विकसित करने का पुराना सत्य ही है और जिसे शक्ति और जड़तत्त्व के अध्ययन द्वारा धुंधले रूप में ही देखा गया है, वह अपना पूरा अर्थ और न्यायसंगति तभी पा सकता है जब वह अपने-आपको वेदांत शास्त्रों में अब भी सुरक्षित, प्राचीन और शाश्वत सत्य के प्रकाश से आलोकित कर ले। इस पारस्परिक आत्म-अन्वेषण और आत्मप्रदीपन की ओर, जो प्राचीन पूर्वीय और नवीन पाश्चात्य ज्ञान के संलयन द्वारा ही साध्य है, जगत् की विचारधारा मुड़ रही है।

तो भी, यह जान लेने पर कि सब कुछ सच्चिदानंद है, हर चीज की व्याख्या नहीं हो जाती। हम विश्व की सद्वस्तु को तो जानते हैं परंतु अभीतक उस प्रक्रिया को नहीं जानते जिसके द्वारा उस सद्वस्तु ने अपने-आपको इस दृश्य जगत् में बदल लिया। हमारे पास पहेली की चाबी है लेकिन हमें अभी उस ताले की खोज करनी होगी जिसमें यह घूम सके। क्योंकि यह सच्चिदानंद सीधी क्रिया नहीं करता और न ही अत्यधिक गैर जिम्मेदारी के साथ किसी जादूगर की तरह अपने शब्द के आदेशमात्र से जगतों या विश्वों की सृष्टि करता है। हम एक प्रक्रिया देखते हैं, हमें एक विधान का भान होता है।

यह ठीक है कि जब हम इस विधान का विश्लेषण करते हैं तो ऐसा लगता है कि उसने अपने-आपको शक्तियों के खेल के संतुलन में, और उस खेल की आकस्मिक विकासधारा और भूतकाल की उपलब्ध ऊर्जा के अभ्यास द्वारा सुनिश्चित रेखाओं में विभाजित किया है। परंतु यह प्रतीयमान और गौण सत्य हमारे लिये तभीतक अंतिम है जबतक हम केवल शक्ति की ही धारणा करते हैं। जब हम यह देखते हैं कि शक्ति सत् की ही आत्माभिव्यक्ति है तो हम यह देखने के लिये भी बाधित होते हैं कि शक्ति ने जो दिशा ली है वह उस सत् के किसी आत्म-सत्य के अनुरूप है। और वही सत् उसके नियत मोड़ और गंतव्य स्थान को निर्धारित करता और उसपर शासन करता है। चूंकि, चेतना आद्य सत् का स्वधर्म है और उसकी शक्ति का मूलरूप है, इससे यह सत्य अवश्य ही चित्-पुरुष के अंदर आत्म-ईक्षण

होता है और शक्ति द्वारा अपनायी गयी दिशा का निर्धारण अवश्य ही इस चेतना में अंतर्निहित आत्म-निदेशक ज्ञान के बल का परिणाम होता है। यह अंतर्निहित ज्ञान ही चेतना को यह सामर्थ्य प्रदान करता है कि वह अपनी शक्ति को अनिवार्य रूप से आद्य आत्म-ईक्षण की युक्तियुक्त दिशा के साथ-साथ संचालित कर सके। तो वैश्व चेतना में स्थित यह आत्म-निर्धारक शक्ति ही, अनंत सत्ता की आत्म-अभिज्ञता में किसी सत्य को अपने अंदर देखने और उसकी सर्जनात्मिका शक्ति को उस 'सत्य' की दिशा के अनुरूप प्रवृत्त कर सकने की क्षमता ही जागतिक अभिव्यक्ति की अध्यक्षता करती रही है।

लेकिन हम स्वयं अनंत चेतना और उसकी क्रियाओं के परिणाम के बीच किसी विशेष शक्ति या क्षमता को घुसेड़ें ही क्यों? क्या ऐसा नहीं हो सकता कि अनंत की यह आत्म-अभिज्ञता ही रूपों को रचती हुई स्वच्छन्द लीला-विहार करे और ये रूप बाद में लीला में तबतक बने रहें जबतक कि उनके विलय का आदेश न हो जाये—जैसा कि प्राचीन सामी (यहूदी) अंतःप्रकाश हमसे कहता है, "भगवान् ने कहा, प्रकाश हो जाये और प्रकाश हो गया?" परंतु जब हम कहते हैं, "भगवान् ने कहा, "प्रकाश हो जाये" तो हम यह मान लेते हैं कि चेतना की शक्ति की ही यह क्रिया है जिसने अन्य सब चीजों में से जो प्रकाश नहीं हैं, प्रकाश का निर्धारण किया और जब हम कहते हैं, "और प्रकाश हो गया" तो हम निर्धारित करनेवाली एक क्षमता को, एक ऐसी शक्ति को मान लेते हैं जो मूल अनुबोधक शक्ति से सादृश्य रखती है और इस दृश्य तथ्य को प्रकट करती है और मूल प्रत्यक्ष की रेखा के अनुरूप प्रकाश को क्रियान्वित करती हुई उसे अपने से भिन्न दूसरी सभी अनंत संभावनाओं से अभिभूत होने से बचाती है। अनंत चेतना अपनी अनंत क्रिया में केवल अनंत परिणाम ही ला सकती है। किसी नियत सत्य या सत्यों की व्यवस्था पर स्थिर होने और जो कुछ नियत हुआ है उसके अनुसार एक जगत् का निर्माण करने के लिये ज्ञान की एक ऐसी चयनकारी क्षमता की जरूरत होती है जो अनंत सद्वस्तु में से सांत रूप को आकार देने के लिये नियुक्त हो।

वैदिक ऋषि इसी शक्ति को माया के नाम से जानते थे। उनके लिये माया का अर्थ था अनंत चेतना की वह शक्ति जो समग्र बोध रखती, सबको अपने में धारण करती और नाप-जोख करती है अर्थात् रूप-रचना करती है—क्योंकि रूप है सीमांकन—अनंत सत् के बृहत् असीम सत्य को नाम और आकार देती है। माया के द्वारा ही मूलभूत सत्ता का स्थावर सत्य सक्रिय सत्ता का क्रमबद्ध सत्य बन जाता है या उसे अधिक तत्त्वज्ञान की भाषा में कहें तो उस परम सत् में से, जिसमें सब कुछ सर्व है, जिसमें पृथक् करनेवाली चेतना का कोई अवरोध नहीं, उसमें से सत्ता की सत्ता के साथ, चेतना की चेतना के साथ, शक्ति की शक्ति के साथ, आनंद की आनंद के साथ क्रीड़ा के लिये ऐसी प्रपंचात्मक सत्ता उभरती है जिसमें प्रत्येक

में सर्व और सर्व में प्रत्येक स्थित है। प्रत्येक में सर्व और सर्व में प्रत्येक का यह खेल शुरू में माया की भ्रांति के मानसिक खेल द्वारा हमसे छिपा रहता है जो प्रत्येक को यह समझाता है कि वह तो सर्व में है परंतु सर्व उसमें नहीं है और वह भी सर्व में पृथक् सत्ता के रूप में है न कि बाकी सबके साथ सतत अविच्छिन्न रूप से एक होने के रूप में। बाद में हमें इस भ्रांति में से अतिमानसिक लीला या माया के सत्य में उभरना होता है जहां एक सत्य और बहुविध प्रतीक की अविभाज्य एकता में 'प्रत्येक' और 'सर्व' साथ-साथ रहते हैं। निचली, उपस्थित और भ्रामक मानसिक माया का पहले आलिंगन करना होता है और फिर उसे जीतना होता है क्योंकि वह विभाजन, अंधकार और परिसीमन, कामना, संघर्ष और संताप के साथ भगवान् का खेल है जिसमें भगवान् अपने-आपको उस शक्ति के आधीन कर देते हैं जो स्वयं उन्हींसे निकली है और उसके अंधकार के द्वारा अपने-आप भी अंधकार में आ जाते हैं। और जिस दूसरी माया को यह मानसिक माया छिपाये रहती है उसे भी पार करना और फिर उसका आलिंगन करना होगा क्योंकि यह भगवान् का सत्ता की अनंतताओं, ज्ञान के वैभवों, अधिकृत शक्ति की महिमाओं, असीम प्रेम के उल्लासों का खेल है। वहां भगवान् शक्ति की पकड़ से बाहर निकल आते हैं, उसकी पकड़ में रहने के बदले उसपर अधिकार कर लेते हैं। और उस आलोकित शक्ति में उस लक्ष्य की पूर्ति करते हैं जिसके लिये वह पहले उनमें से निकली थी।

निम्नतर और उच्चतर माया का यह भेद ही विचार और जगत्-तथ्य के बीच की वह कड़ी है जो निराशावादी या मायावादी दर्शनों में छूट जाती या उपेक्षित रहती है। उनकी दृष्टि में मानसिक माया ने, या शायद किसी अधिमानस ने जगत् की सृष्टि की है और निश्चय ही मानसिक माया द्वारा बनाया गया जगत् एक ऐसा विरोधाभास होगा जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। वह सचेतन सत् का एक निश्चित फिर भी उतराता हुआ दुःस्वप्न होगा जिसे न तो भ्रांति में गिना जा सकता है न वास्तविकता में। हमें यह देखना है कि मन सर्जनकारी शासक ज्ञान और अपने कार्यों में बंदी अन्तरात्मा के बीच की एक भूमिका है। सच्चिदानंद अपनी निम्नतर गतिविधियों में से एक के द्वारा शक्ति की अपने-आपको भूलनेवाली तल्लीनता में अंतर्लीन रहता है। वह शक्ति अपनी ही क्रियाओं के रूप में खो जाती है और सच्चिदानंद अपने-आपको भूलने की अवस्था में से निकलकर अपनी ही ओर वापिस आता है। इस आरोहण-अवरोहण में मन एक उपकरण मात्र है। यह उतरती हुई सृष्टि का एक उपकरण है, उसका गुप्त स्रष्टा नहीं। वह आरोहण में एक मध्यवर्ती स्थिति है, हमारा परम आदि स्रोत नहीं और न ही जगत्-जीवन की परिपूर्ति की अंतिम स्थिति है।

जो दर्शन-शास्त्र एकमात्र मन को ही जगतों का स्रष्टा मानते हैं या जो किसी

मूलतत्त्व को स्वीकार करने के साथ और उसके तथा विश्व के रूपों के बीच मन को एकमात्र मध्यस्थ मानते हैं उन्हें शुद्ध तात्त्विक (नाउमिनल) और आदर्शवादी इन दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है। शुद्ध तत्त्ववादी जगत् में केवल मन, विचार और भाव की क्रिया को मानता है किंतु भाव शुद्ध रूप से स्वेच्छाचारी हो सकता है। हो सकता है कि उसका सत्ता के किसी वास्तविक सत्य के साथ कोई तात्त्विक संबंध न हो या अगर ऐसे किसी सत्य का अस्तित्व हो भी तो उसे ऐसा निरपेक्ष माना जा सकता है जो सभी संबंधों से अलग-थलग हो और संबंधों के जगत् से मेल नहीं खाता हो। आदर्शवादी व्याख्या पीछे के सत्य और सामने के धारणात्मक प्रपंच में एक संबंध मानती है और यह संबंध केवल विपरीतता और विरोध का नहीं होता। मैं जो दृष्टि प्रस्तुत कर रहा हूं वह आदर्शवाद में और आगे जाती है। वह सर्जक भाव को सत्य-संकल्प के रूप में देखती है यानी चित्-शक्ति की ऐसी शक्ति जो वास्तविक सत्ता को अभिव्यक्त करती, वास्तविक सत्ता से उत्पन्न होती और उसकी प्रकृति में भाग लेती है। वह न तो शून्य की संतान है न मिथ्या रचनाओं की बुनकर। यह सचेतन सद्वस्तु है जो अपने-आपको अपने ही अमर और अक्षर पदार्थ से बने क्षर रूपों में प्रक्षिप्त करती है। अतः जगत् वैश्व मन में अवधारित निरी कल्पना नहीं है बल्कि जो मन के परे है उसीका अपने रूपों में सचेतन जन्म है। एक सचेतन सत्ता का सत्य इन रूपों को सहारा देता है और उनमें अपने-आपको अभिव्यक्त करता है और इस तरह व्यक्त सत्य के अनुरूप ज्ञान अतिमानसिक ऋत-चित्[1] के रूप में राज करता और सत् भावों को पूर्ण सामंजस्य में व्यवस्थित करता है इससे पहले कि उन्हें मानसिक, प्राणिक और शारीरिक सांचे में ढाला जाये। मन, प्राण और शरीर निम्नतर चेतना हैं और ऐसी आंशिक अभिव्यक्ति हैं जो एक नानाविध विकासक्रम के सांचे में अपनी उस श्रेष्ठतर अभिव्यक्ति पर पहुंचने की कोशिश करती है जो मनसातीत के लिये पहले से ही मौजूद है। मनसातीत में जो है वह मूल भाव है जिसे वह निम्नतर चेतना स्वयं अपनी अवस्थाओं में व्यक्त करने के लिये श्रम कर रही है।

अपने आरोहण की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि जो कुछ अस्तित्व में है उसके पीछे 'यथार्थ' है। वह यथार्थ मध्यस्थ के तौर पर अपने-आपको एक 'मूलभाव' के रूप में प्रकट करता है जो स्वयं उसीका सामंजस्यपूर्ण सत्य है। मूलभाव एक परिवर्तनशील सचेतन सत्ता की दृश्यमान वास्तविकता को प्रक्षिप्त करता है। यह दृश्यमान वास्तविकता अनिवार्य रूप से अपनी तात्त्विक यथार्थता की ओर आकर्षित होती है और अंत में उसे उग्रता से छलांग मारकर या उस 'मूलभाव' द्वारा, जिसने

[1] मैंने यह शब्द ऋग्वेद से लिया है—ऋत-चित् का अर्थ है सत्ता के तात्त्विक सत्य की चेतना (सत्यम्), सक्रिय सत्ता के व्यवस्थित सत्य की चेतना (ऋतम्) और विस्तृत आत्म-अभिज्ञता (बृहत्), केवल इसीमें यह चेतना संभव है।

उसे उत्पन्न किया था, स्वाभाविक रूप में, पूरी तरह फिर से पाने का प्रयत्न करती है। यही मन द्वारा देखी गयी मानव-अस्तित्व की अपूर्ण वास्तविकता की व्याख्या करती है। यही मानसिक सत्ता में सदा अपने से परे की पूर्णता की ओर, मूलभाव के उस छिपे हुए सामंजस्य की ओर और मूलभाव से परे परात्पर की ओर आत्मा की उठती हिलोरों की सहज-प्रवृत्तिगत अभीप्सा की व्याख्या करती है। हमारी चेतना के अपने तथ्य ही, उसका गठन और उसकी आवश्यकता इस तरह के त्रिविध क्रम की ही पूर्वकल्पना करते हैं; वे केवल निरपेक्ष से सापेक्षिकता की ओर ले जानेवाली द्वैतपरक और असमाधेय प्रतिस्थापना का खंडन करते हैं।

वैश्व अस्तित्व की व्याख्या करने के लिये मन काफी नहीं है। पहले अनंत चेतना को अपने-आपको ज्ञान की अनंत क्षमता में या जिसे हम अपने दृष्टिकोण से सर्वज्ञता कहते हैं उसमें अनूदित करना होता है। परंतु मन ज्ञान की क्षमता नहीं है और न ही सर्वज्ञता का उपकरण है। वह एक ऐसी क्षमता है जो ज्ञान की खोज करने, वह जो कुछ पा सके उसे सापेक्ष विचार के अमुक रूपों में प्रकट करने और उसे क्रिया की अमुक समर्थताओं के लिये उपयोग में लाने का साधन है। जब वह ज्ञान पा भी लेता है तो उसका उसपर अधिकार नहीं होता। वह सत्य की प्रचलित मुद्रा के कुछ सिक्कों का—स्वयं सत्य का नहीं—कुछ कोष स्मृति के बैंक में जमा रखता है ताकि आवश्यकता के अनुसार काम में ला सके। कारण मन वह है जो कभी जानता नहीं, जो जानने की कोशिश करता है पर कभी जान नहीं पाता, जानता भी है तो धुंधले कांच की तरह। यह वह शक्ति है जो वस्तुओं के कतिपय विधान के क्रियात्मक उपयोग के लिये वैश्व अस्तित्व के सत्य की व्याख्या करती है। यह वह शक्ति नहीं है जो जानती और उस अस्तित्व का पथ-प्रदर्शन करती है अतः यह वह शक्ति नहीं हो सकती जिसने उसे रचा या अभिव्यक्त किया हो।

लेकिन अगर हम एक ऐसे मन को मान लें जो अनंत हो और हमारी सीमाओं से मुक्त हो तो वह तो भली-भांति विश्व का स्रष्टा हो ही सकता है? लेकिन ऐसा मन उस मन की परिभाषा से बिलकुल भिन्न होगा जिसे हम जानते हैं। वह तो मानसिकता से परे की चीज होगी, वह अतिमानसिक सत्य होगा। हम जिस मानसिकता को जानते हैं उसकी अवस्थाओं में बना हुआ अनंत मन, केवल एक अनंत अस्तव्यस्तता की, किसी अनिर्दिष्ट लक्ष्य की ओर भटकते संयोग, आकस्मिक घटना और उलटफेर के एक विशाल संघर्ष की ही रचना करनेवाला होगा; इस अनिर्दिष्ट लक्ष्य को ही वह सदा परीक्षणात्मक रूप से टटोलता और उसकी अभीप्सा करता रहेगा। एक अनंत, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् 'मन', मन बिलकुल न होगा, वह तो अतिमानसिक ज्ञान होगा।

मन, जैसा कि हम उसे जानते हैं, एक प्रतिबिंब दिखानेवाला आईना है जो पहले ही से उपस्थित सत्य या तथ्य के प्रतिपादनों या प्रतिरूपों को ग्रहण करता है।

ये सत्य या तथ्य या तो उसके बाहर या कम-से-कम उससे अधिक विस्तृत होते हैं। वह क्षण-पर-क्षण अपने आगे उस घटना को चित्रित करता है जो या तो उपस्थित है या हो चुकी है। उसमें यह क्षमता भी है कि वह अपने अंदर प्रस्तुत किये गये वास्तविक तथ्यों से भिन्न, संभव बिंबों का निर्माण कर ले यानी वह अपने आगे केवल उन्हीं घटनाओं को चित्रित नहीं करता जो हो चुकी हैं बल्कि उन्हें भी जो हो सकती हैं। यह ध्यान रहे कि वह अपने आगे उस घटना को चित्रित नहीं कर सकता जो निश्चित रूप से होगी, बशर्ते कि वह जो है और जो हो चुकी है उसकी सुनिश्चित पुनरावृत्ति ही न हो। और अंत में उसमें ऐसे नये परिवर्तनों की पूर्व-कल्पना करने की क्षमता भी है जिसे वह, जो हो चुका है और जो हो सकता है, जो संभावना पूरी हो चुकी है और जो पूरी नहीं हुई, उन्हें मिलाकर करने की कोशिश करता है। यह एक ऐसी चीज है जिसकी कम या अधिक सही-सही रचना करने में कभी वह सफल हो जाता है और कभी असफल। परंतु सामान्यतः वह देखता है कि उसने जैसी कल्पना की थी, वह चीज उनसे भिन्न रूपों में ढल गयी है और उसने जिन उद्देश्यों की इच्छा की थी, उसका जो इरादा था उनसे भिन्न दिशा में मुड़ गयी है।

ऐसे गुणवाला अनंत मन संभवतः संघर्षरत संभावनाओं का एक आकस्मिक विश्व बना ले और उसे किसी ऐसी चीज का रूप दे जो चलायमान, सदा अनित्य, अपने प्रवाह में सदा अनिश्चित हो, जो न वास्तविक हो और न अवास्तविक, जिसका कोई निश्चित उद्देश्य या लक्ष्य न हो बल्कि क्षणिक लक्ष्यों का अंतहीन अनुक्रम हो—क्योंकि ज्ञान की कोई श्रेष्ठतर निर्देशिका शक्ति तो है ही नहीं—जो अंततः कहीं नहीं पहुंचाता। इस प्रकार के शुद्ध तत्त्ववाद का एकमात्र युक्तियुक्त परिणाम शून्यवाद या मायावाद, या कोई उनका सजातीय दर्शन ही हो सकता है। इस तरह बना संसार किसी ऐसी चीज का प्रस्तुतीकरण या प्रतिबिंब हो सकता है जो वह स्वयं नहीं है बल्कि सदा और अंततक एक मिथ्या प्रस्तुतीकरण और विकृत प्रतिबिंब होगा। समस्त वैश्व सत्ता एक ऐसा मन होगा जो अपनी कल्पनाओं को पूरी तरह चरितार्थ करने के लिये संघर्षरत है, पर सफल नहीं हो पाता क्योंकि उन कल्पनाओं में आत्म-सत्य का अनिवार्य आधार नहीं होता। वह अपनी ही भूतकाल की ऊर्जा की धाराओं के द्वारा अभिभूत हो आगे बहाया जाता रहेगा। वह अनिर्दिष्ट रूप से तबतक सदा बिना किसी परिणाम के आगे बढ़ाया जाता रहेगा जबतक कि वह अपनी हत्या न कर ले या शाश्वत निश्चलता में न जा गिरे। इस विचार को इसके मूलतक ले जायें तो यही शून्यवाद या मायावाद है और अगर हम यह मान लें कि हमारी मानव मानसिकता या उसके जैसी कोई और चीज सर्वोच्च वैश्व शक्ति एवं विश्व में क्रिया करनेवाली मूल कल्पना का प्रतिनिधित्व करती है तो यही एकमात्र बुद्धिमत्ता है।

किंतु जिस क्षण हमें यह पता चलता है कि ज्ञान की आदि शक्ति में एक ऐसी शक्ति है जो उस शक्ति से उच्चतर है जिसका प्रतिनिधित्व हमारी मानसिकता करती है, उसी क्षण विश्व की यह कल्पना अपर्याप्त और इस कारण अमान्य हो जाती है। उसमें अपना सत्य है परंतु यह पूर्ण सत्य नहीं है। यह विश्व के तात्कालिक रूप का विधान तो है किंतु उसके आदि सत्य या अंतिम तथ्य का नहीं। क्योंकि मन, प्राण और शरीर की क्रिया के पीछे हम कोई ऐसी चीज देखते हैं जो शक्ति के प्रवाह के आलिंगन में नहीं आती बल्कि उसका आलिंगन करती और उसपर नियंत्रण करती है, कोई ऐसी चीज जो ऐसे जगत् में पैदा नहीं हुई है जिसका वह अर्थ खोजती है; बल्कि एक ऐसी चीज जिसने अपनी सत्ता में ऐसे जगत् की रचना की है जिसके लिये वह सर्वज्ञ है, कोई ऐसी चीज जो सदा अपने अंदर से कोई और चीज बनाने के लिये श्रम नहीं करती जब कि वह अपनी अतीत ऊर्जाओं की—जिन पर उसका बस नहीं—अभिभूत करनेवाली तरंगों में बहती चली जाती है, बल्कि ऐसी वस्तु जिसकी चेतना में उसका अपना एक पूर्ण रूप होता है और उसे वह यहां पर धीरे-धीरे खोल रही है। जगत् एक पूर्वदृष्ट सत्य को अभिव्यक्त करता है, एक पूर्वनिर्धारण करनेवाली इच्छा की आज्ञा का पालन करता है, एक मौलिक रूपायन के आत्मदर्शन को चरितार्थ करता है—यह दिव्य सृष्टि का विकसित होता हुआ प्रतिरूप है।

जबतक हम प्रतीतियों से प्रभावित मानसिकता के द्वारा ही कार्य करते हैं तबतक परे या पीछे रहनेवाली परंतु फिर भी सदा अंतर्यामी यह वस्तु केवल अनुमान या अस्पष्ट अनुभूति का विषय हो सकती है। हम एक चक्राकार प्रगति का विधान देखते हैं और अनुमान करते हैं कि कहीं पर पहले से ज्ञात, सदा-वृद्धिशील कोई पूर्णता है क्योंकि हम हर जगह 'विधान' को आत्म-सत्ता के अंदर प्रतिष्ठित देखते हैं और जब हम उसकी प्रक्रिया के मूल हेतु के अंदर गहरे प्रवेश करते हैं तो देखते हैं कि वह विधान एक सहज ज्ञान की अभिव्यक्ति है, उस ज्ञान की अभिव्यक्ति जो सत्ता में अंतर्निहित है, जो अपने-आपको प्रकट करता है और उस शक्ति में समाया हुआ है जो उसे प्रकट करती है। जब विधान ज्ञान के द्वारा इस तरह विकसित होता है कि प्रगति हो सके तो उसके अंदर दिव्य दृष्टि से देखा हुआ एक लक्ष्य छिपा रहता है जिसकी ओर गति हो रही है। हम यह भी देखते हैं कि हमारी तर्क-बुद्धि हमारी मानसिकता के असहाय बहाव में से ऊपर उभरना और उसपर आधिपत्य करना चाहती है और हम इस बोध पर पहुंचते हैं कि तर्कबुद्धि अपने से परे की एक महत्तर चेतना की केवल एक संदेशवाहक, एक प्रतिनिधि या छायामात्र है। उस महत्तर चेतना को तर्क की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि वह सर्व है और वह जो कुछ है उस सबको जानती है। तब हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि तर्कबुद्धि का यह मूल उस ज्ञान के साथ अभिन्न है जो जगत् में विधान के रूप में

कार्य करता है। यह ज्ञान पूरी प्रभुता के साथ अपना विधान निश्चित करता है क्योंकि वह जानता है कि क्या हो चुका है, क्या है और क्या होगा। वह इसलिये जानता है क्योंकि वह शाश्वत रूप से है और अनंत रूप से अपने-आपको समझता है। वह ऐसा सत् है जो अनंत चेतना है, ऐसी अनंत चेतना है जो सर्वशक्तिमान् शक्ति है। वह जब एक जगत् को यानी अपने-आपके एक सामंजस्य को अपनी चेतना का विषय बनाता है तब वह हमारे विचार द्वारा वैश्व सत्ता के रूप में पकड़ में आ जाता है जो अपना निजी सत्य जानती है और जिसे जानती है उसे रूपों में चरितार्थ करती है।

लेकिन यह दूसरी चेतना हमारे लिये वस्तुतः तभी अभिव्यक्त होती है जब हम तर्क करना छोड़ देते हैं और अपने अंदर की गहराइयों में उस गूढ़ एकांत में चले जाते हैं जहां मन निश्चल हो जाता है—चाहे वह अभिव्यक्ति हमारी मानसिक प्रतिक्रिया के लंबे अभ्यास के और मानसिक सीमाओं के कारण कितनी भी अपूर्ण क्यों न हो। तब हम निश्चित रूप से बढ़ते हुए प्रकाश में उसे देख सकते हैं जिसकी हमने तर्कबुद्धि की धुंधली और टिमटिमाती रोशनी से अनिश्चित रूप में कल्पना की थी। ज्ञान असीम आत्म-दर्शन के ज्योतिर्मय बृहत् में, हमारे मन और बौद्धिक तर्क के पीछे सिंहासन पर बैठा प्रतीक्षा करता है।

अध्याय १४

अतिमानस स्रष्टा के रूप में

जानीहि (विद्धानि) विज्ञानविजृम्भितानि।

सभी चीजें 'दिव्य ज्ञान' (विज्ञान) का आत्म-विस्तार हैं।

विष्णुपुराण २.१२.३९

तो सक्रिय इच्छा और ज्ञान का एक तत्त्व जो मन से श्रेष्ठ है और जगतों का स्रष्टा है वही एकमेव की उस आत्मवत्ता और बहु के इस प्रवाह के बीच एक मध्यवर्ती शक्ति और सत्ता की स्थिति है। यह तत्त्व हमारे लिये बिलकुल विजातीय नहीं है, न ही वह हमसे एकदम परायी सत्ता की चीज है जिससे हमारा कोई संपर्क ही नहीं हो सकता, जो हमसे बिलकुल अलग है या सत्ता की कोई ऐसी स्थिति है जिसमें से हम किसी रहस्यमय ढंग से जन्म में प्रक्षिप्त तो हुए हैं, पर साथ ही परित्यक्त और वहां लौटने में असमर्थ हैं। अगर हमें ऐसा लगता है कि वे हमसे दूर कहीं ऊंचे शिखरों पर विराजमान हैं तो भी वे हमारी अपनी ही सत्ता की ऊंचाइयां हैं और हमारे पैरों की पहुंच के भीतर हैं। हम उस सत्य का केवल अनुमान ही नहीं कर सकते, उसकी केवल झलक ही नहीं पा सकते बल्कि उसकी उपलब्धि करने योग्य भी हैं। उत्तरोत्तर विस्तार द्वारा या किन्हीं अविस्मरणीय क्षणों में सहसा ज्योतिर्मय आत्म-अतिक्रमण द्वारा इन शिखरों पर चढ़ सकते हैं या उच्चतम अतिमानवीय अनुभूति के काल में तो घंटों या दिनोंतक भी वहां निवास कर सकते हैं। फिर जब हम उतरते हैं तो संपर्क के ऐसे दरवाजे होते हैं जिन्हें हम हमेशा खुला रख सकते हैं या उन्हें हम फिर-फिर खोल सकते हैं चाहे वे बार-बार बंद हो जाते हों। परंतु जब हमारी विकसनशील मानव चेतना आत्म-विलोप नहीं आत्म-पूर्णता की खोज करती है तो सृष्ट और सर्जनशील सत्ता के इस अंतिम और उच्चतम शिखर पर स्थायी रूप से निवास ही अंत में हमारा परम आदर्श होता है। क्योंकि, जैसा कि हमने देखा है, यही वह आदि 'भाव' और चरम सामंजस्य एवं सत्य है जहां जगत् में धीरे-धीरे होनेवाली हमारी आत्माभिव्यक्ति लौट रही है और जिसे प्राप्त करना ही उसका उद्देश्य है।

फिर भी हमें यह संदेह हो सकता है कि क्या, अभी या कभी भी, यह संभव है कि इस स्थिति का मानव बुद्धि को विवरण दिया जा सके या उसकी दिव्य क्रियाओं का किसी कथनीय और व्यवस्थित ढंग से मानव ज्ञान और क्रिया के उन्नयन के लिये उपयोग किया जा सके। यह संदेह केवल इसलिये नहीं उठता कि इस दिव्य क्षमता के मानव क्रिया में प्रयोग को दर्शनिवाले ज्ञात तथ्य विरल और संदिग्ध हैं

या दूरी इस क्षमता की क्रिया को सामान्य मानवजाति के अनुभव और प्रमाणनीय ज्ञान से अलग कर देती है बल्कि इसलिये कि मानव मानसिकता और दिव्य अतिमानस के बीच, इनके सत्त्व और कार्यव्यापार दोनों में प्रकट विरोध है, वह भी इस संदेह को पक्का और पुष्ट करता है।

और निश्चय ही यदि इस चेतना का मन के साथ कोई संबंध न होता या मानसिक सत्ता के साथ कहीं कोई भी एकात्मता न होती तो मानव धारणाओं को इसका कोई भी विवरण देना एकदम असंभव होता। अथवा अगर यह चेतना अपने स्वरूप में ज्ञान की केवल एक दृष्टि होती, ज्ञान की गतिशील क्रिया की शक्ति बिलकुल न होती तो हम उसके संपर्क से मानसिक प्रकाश की आनंदमय स्थिति को पाने की आशा तो कर सकते थे परंतु जगत् के कार्यों के लिये महत्तर प्रकाश या शक्ति की नहीं। लेकिन चूंकि यह चेतना जगत् का सर्जन करनेवाली है इसलिये वह केवल ज्ञान की स्थिति ही नहीं, ज्ञान की शक्ति भी होनी चाहिये; वह न केवल प्रकाश और दृष्टि के लिये 'इच्छा' बल्कि शक्ति और कार्य के लिये भी 'इच्छा' होनी चाहिये। और चूंकि स्वयं 'मन' भी उसीमें से बना है अतः 'मन' परम चेतना की इस आद्य क्षमता और इस मध्यस्थ क्रिया से ही परिसीमन के द्वारा विकसित हुआ होगा और इस कारण उसे विस्तार के उल्टे विकास द्वारा अपने-आपको उसमें फिर से विघटित करने में सक्षम होना चाहिये। क्योंकि सदा मन को अतिमानस के साथ तत्त्वतः एकात्म होना और अपने अंदर अतिमानस की संभाव्यताओं को छिपाये रखना चाहिये, चाहे वह अपने प्रत्यक्ष रूपों और कार्य करने के रूढ़ तरीकों में कितना भी भिन्न और विपरीत क्यों न हो गया हो। तब संभव है कि हमारे बौद्धिक ज्ञान के दृष्टिकोण से और उसकी परिभाषाओं में समानता और विषमता की पद्धति द्वारा अतिमानस का कोई भाव प्रस्तुत करने का हमारा प्रयास अयुक्तियुक्त या व्यर्थ न हो। यह भाव और ये परिभाषाएं भले अपर्याप्त हों फिर भी ऐसे मार्ग की ओर प्रकाश की अंगुलि बनकर हमें आगे का रास्ता दिखा सकती हैं जिसपर हम कुछ दूर तो चल ही सकते हैं। और फिर मन के लिये यह भी संभव है कि वह अपने-आपसे परे चेतना की अमुक ऊंचाइयों या स्तरोंतक ऊपर उठ जाये और वहां अतिमानसिक चेतना के प्रकाश और शक्ति को कुछ परिवर्तन के साथ अपने अंदर ग्रहण कर सके और उसे एक प्रकाश के, अंतर्भास के या एक सीधे संपर्क या अनुभूति के द्वारा जान सके यद्यपि उसीमें निवास करना, वहीं से देखना और कार्य करना एक ऐसी विजय है जो मानव के लिये अभीतक संभव नहीं हुई है।

यहां क्षणभर के लिये रुककर हमें अपने-आपसे यह पूछना चाहिये कि क्या अतीत से ऐसा कोई प्रकाश नहीं पाया जा सकता जो शायद ही कभी ठीक रूप से खोजे गये इन प्रदेशों में हमारा मार्ग-दर्शन कर सके। हमें एक नाम की आवश्यकता है और आवश्यकता है एक आरंभबिंदु की। क्योंकि हमने चेतना की

इस अवस्था को अतिमानस का नाम दिया है परंतु यह शब्द अनेकार्थक है क्योंकि इसे स्वयं मन के अर्थ में लिया जा सकता है। ऐसे मन के जो साधारण मानसिकता से ऊपर उठ गया है और उससे बहुत ऊंचा है लेकिन उसमें कोई आमूल परिवर्तन नहीं हुआ है या इसके विपरीत इसमें वह सब आ सकता है जो मन के परे है और इस तरह उसमें बहुत अधिक व्याप्ति आ जायेगी, जिसमें स्वयं 'अनिर्वचनीय' भी आ जायेगा। एक सहायक वर्णन देने की जरूरत है जो उसके अर्थ को अधिक यथार्थ रूप में सीमित कर सके।

यहां वेद के रहस्यमय मंत्र हमारी सहायता करते हैं क्योंकि उनमें दिव्य और अमर अतिमानस का संदेश है, यद्यपि है छिपा हुआ और पर्दे में से कुछ प्रकाशदायक कौंधें हमारे पास आती हैं। इन वचनों के द्वारा हम इस अतिमानस की कल्पना अपनी चेतना के सामान्य आकाश के परे एक बृहत् के रूप में कर सकते हैं जिसमें हमारी सत्ता का सत्य उसको अभिव्यक्त करनेवाली सभी चीजों के साथ ज्योतिर्मय रूप में एक होता है और दृष्टि, रूपायन, व्यवस्था, शब्द, क्रिया और गति के सत्य की सुनिश्चितता और इस कारण गति के परिणाम के सत्य, क्रिया और अभिव्यक्ति के परिणाम के सत्य की सुनिश्चितता भी अनिवार्य रूप से बनी रहती है, अचल अध्यादेश और विधान सुनिश्चित रूप से बने रहते हैं। बृहत् सर्वव्यापकता, उस बृहत्ता में सत्ता का ज्योतिर्मय सत्य और सामंजस्य, न कि एक अस्पष्ट अस्तव्यस्तता और अपने में खोया हुआ अंधकार; धर्म और क्रिया का सत्य और सत्ता के सामंजस्यपूर्ण सत्य को अभिव्यक्त करनेवाला ज्ञान, ऐसा मालूम होता है कि वैदिक वर्णन के ये सारभूत तत्त्व हैं। देवता अपने उच्चतम गुह्य रूप में इसी अतिमानस की शक्तियां हैं, वे इसीसे उत्पन्न हुए हैं, और इसीमें इस तरह बैठे हैं मानों अपने निजी घर में हों, वे अपने ज्ञान में 'ऋत चिन्मय' (सत्य-चेतन) हैं और अपने कर्म में 'कविक्रतुः' (द्रष्टा संकल्प) से युक्त हैं। उनकी सचेतन शक्ति कर्म और सृष्टि की ओर मुड़ी हुई होती है और जो चीज की जानी है उसके और उस चीज के सत्त्व और धर्म के संपूर्ण और सीधे ज्ञान से युक्त होती है और उसीसे संचालित होती है। यह ऐसा ज्ञान है जो पूरी तरह प्रभावकारी ऐसी इच्छा-शक्ति को निर्धारित करता है जो अपनी प्रक्रिया या अपने परिणाम में न तो भटकती है और न लड़खड़ाती है। दिव्य दृष्टि में जो कुछ देखा गया है उसे वह सहज और अनिवार्य रूप से अभिव्यक्त और परिपूर्ण करती है। यहां 'प्रकाश' 'शक्ति' के साथ एकरूप होता है। ज्ञान के स्पन्दन इच्छा-शक्ति की लय के साथ एकरूप होते हैं और दोनों आनेवाले पूर्वनिश्चित परिणाम के साथ पूरी तरह एकरूप होते हैं, उन्हें परिणाम लाने के लिये खोजना, टटोलना या प्रयास नहीं करना पड़ता। दिव्य प्रकृति में दोहरी शक्ति होती है, सहज आत्म-रूपायन और आत्म-विन्यास की शक्ति जो अभिव्यक्त वस्तु के सत्त्व में से स्वाभाविक रूप से उमड़ती और उसके आदि सत्य को प्रकट

करती है और प्रकाश की आत्म-सामर्थ्य जो स्वयं वस्तु के अंदर ही अंतर्निहित रहती और उसके सहज और अनिवार्य आत्म-विन्यास का उद्गम है।

कुछ गौण परंतु महत्त्वपूर्ण विवरण हैं। ऐसा लगता है कि वैदिक द्रष्टा 'ऋत चिन्मय' अंतरात्मा की दो प्रारंभिक क्षमताओं की बात करते हैं, वे हैं 'दृष्टि' और 'श्रुति' जिनसे उनका मतलब है अंतर्लीन ज्ञान की सीधी क्रिया, इन्हें सत्य-दर्शन और सत्य-श्रवण कह सकते हैं, इन्हें सुदूर स्थान से हमारी मानव मानसिकता में अंतःप्रकाश और अंतःप्रेरणा की क्षमताओं द्वारा प्रतिबिंबित किया जाता है। इसके अतिरिक्त, ऐसा मालूम होता है कि अतिमानस की क्रियाओं में दो प्रकार के ज्ञान में भेद किया जाता है। एक है सर्वसमावेशी और सर्वव्यापी चेतना द्वारा प्राप्त ज्ञान जो तादात्म्य द्वारा प्राप्त आत्मनिष्ठ ज्ञान के बहुत नजदीक होता है, दूसरा है बहिःक्षिप्त, सम्मुखस्थ बहिर्ज्ञान, प्रवृत्त चेतना द्वारा प्राप्त ज्ञान जो वस्तुनिष्ठ ज्ञान का आरंभ है। ये वैदिक संकेत हैं और हम इस प्राचीन अनुभव के आधार पर अधिक लचीले शब्द अतिमानस को सामान्य अर्थ में मर्यादित करने के लिये सहायकारी शब्द 'सत्य चेतना' या 'ऋत-चित्' को स्वीकार कर सकते हैं।

हम तुरंत देखते हैं कि ऐसी चेतना जिसका वर्णन ऐसे शब्दों द्वारा किया गया है, अवश्य ही एक मध्यवर्ती रचना होगी जो अपने पीछे, ऊपर की एक अवस्था और अपने सामने नीचे की एक अवस्था की ओर निर्देश करती है। साथ ही हम देखते हैं वह स्पष्ट रूप से एक कड़ी और साधन है जिसके द्वारा श्रेष्ठतर में से निम्नतर विकसित होता है और समान रूप से उसे वह कड़ी और साधन भी होना चाहिये जिसके द्वारा निम्नतर विकसित होकर अपने मूल की ओर लौट सके। ऊपर की अवस्था है शुद्ध सच्चिदानंद की एकत्वमयी या अविभाज्य चेतना जिसमें कोई अलग करनेवाले भेद नहीं होते और निचली अवस्था है विश्लेषणात्मक या विभाजनकारी 'मन' की चेतना जो केवल विभाजन और पृथक्करण के द्वारा ही जान सकती है और उसे एकता और अनंतता का अधिक-से-अधिक एक अस्पष्ट-सा बोध ही हो सकता है क्योंकि यद्यपि वह अपने विभागों का समन्वय कर सकती है परंतु वह सच्ची समग्रता को नहीं पा सकती। उनके बीच यह सर्वसमावेशी और सर्जनात्मक चेतना है। अपने सर्वव्यापी और सर्वसमावेशी ज्ञान की शक्ति के नाते वह तादात्म्य से आनेवाली आत्म-अभिज्ञता की संतान है जो ब्रह्म की स्थिति है और अपनी बहिःक्षिप्त, सम्मुखस्थ, बहिर्ज्ञान-प्रवृत्त ज्ञान की शक्ति के नाते वह भेद से पैदा होनेवाली उस अभिज्ञता की जननी है जो 'मन' की प्रक्रिया है।

ऊपर शाश्वत रूप से स्थायी, अक्षर एकमेवाद्वितीयम् का तत्त्व है और नीचे बहु का तत्त्व है जो शाश्वत रूप से क्षर रहता है। वह चीजों के परिवर्तन-प्रवाह में एक स्थिर और दृढ़ और अविचल आधारबिंदु की खोज करता है पर मुश्किल से ही पाता है। बीच में आसन है समस्त त्रयी, समस्त द्वयेक, उस सबका जो 'बहु' में एक

और 'एक' में 'बहु' है क्योंकि मूलतः वह 'एक' ही था जो संभाव्यता में सदा 'बहु' रहा। अतः यह मध्यावस्था समस्त सृष्टि और विन्यास का आरंभ और अंत, अथ और इति है, यही समस्त विभेदीकरण का आरंभबिंदु और समस्त एकीकरण का साधन है, सभी उपलब्ध या उपलब्ध हो सकनेवाले सामंजस्यों की प्रवर्तिका, उन्हें कार्यान्वित करने और पूर्णतातक पहुंचानेवाली है। उसमें एकमेव का ज्ञान है परंतु वह एकमेव में से उसमें छिपे बहु को भी बाहर ला सकने में समर्थ है, वह 'बहु' को अभिव्यक्त करती है परंतु उनके विभेदों में अपने-आपको खो नहीं देती। क्या हम यह नहीं कह सकते कि उसका अस्तित्व ही अनिर्वचनीय एकत्व के हमारे उच्चतम बोध से भी परे की किसी वस्तु की ओर फिर से संकेत करता है—किसी ऐसी चीज की ओर जो केवल अपनी एकता और अविभाज्यता के कारण ही नहीं बल्कि हमारे मन के इन निरूपणों से भी मुक्त होने के कारण अनिर्वचनीय और मन के लिये अगम्य है—कोई ऐसी चीज जो एकत्व और बहुत्व दोनों के परे है? 'वह' होगी परम निरपेक्ष और सद्वस्तु फिर भी वह हमारे ईश्वर के ज्ञान और जगत् के ज्ञान दोनों को उचित ठहराती है।

लेकिन ये शब्द व्यापक और समझने में कठिन हैं, चलो हम सुनिश्चितता पर आयें। हम 'एक' को सच्चिदानंद कहते हैं लेकिन इस वर्णन में ही हम तीन इकाइयों को आगे रखकर, उन्हें एक करके, एक त्रिक पर जा पहुंचते हैं। हम कहते हैं, " 'सत्', 'चित्', और 'आनंद' " और फिर कहते हैं कि 'वे एक हैं'। यह मन की प्रक्रिया है परंतु एकत्वमयी चेतना के लिये ऐसी प्रक्रिया मान्य नहीं है। सत् ही चित् है और उनमें कोई विभेद नहीं हो सकता। चेतना (चित्) ही आनंद है और उनमें कोई विभेद नहीं हो सकता। और चूंकि वहां इतना भी विभेद नहीं है इसलिये जगत् का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। अगर यही एकमात्र सद्वस्तु है तब तो जगत् है ही नहीं। उसका कभी अस्तित्व नहीं रहा, उसकी कभी कल्पना भी नहीं की गयी होगी क्योंकि अविभाज्य चेतना अविभाजनकारी चेतना है और वह विभाजन और विभेद का आरंभ नहीं कर सकती। लेकिन यह असंगति-दोष है। हम उसे तबतक नहीं स्वीकार कर सकते जबतक कि हम सारी चीज को एक असंभव विरोधाभास और विसंवादी प्रतिपक्ष के आधार पर प्रतिष्ठित करने से ही संतुष्ट न हों।

दूसरी ओर 'मन' सुनिश्चित रूप में विभाजनों को वास्तविक मान सकता है। वह समन्वयात्मक समग्रता की अथवा अपने-आपको अनंततक फैलानेवाले सांत की कल्पना कर सकता है। विभाजित वस्तुओं के कुल योग और उनके आधार में विद्यमान समरूपता उसकी पकड़ में आ सकते हैं लेकिन चरम एकत्व और पूर्ण अनंतता उसके वस्तुविषयक विवेक के लिये अमूर्त विचार हैं और पकड़ में न आनेवाले परिमाण हैं। यह ऐसी चीज नहीं है जो उसकी पकड़ के लिये वास्तविक

हो, उसे एकमात्र सद्वस्तु समझना तो उसके लिये और भी कम संभव है। यहां, इसलिये एकत्वमयी चेतना से एकदम उल्टी अवस्था है। हम यहां अनिवार्य और अविभाज्य ऐक्य का सामना करते हुए एक तत्त्वतः बहुत्व को पाते हैं जो अपने-आपको नष्ट किये बिना एकत्व पर नहीं पहुंच सकता और ऐसा करते हुए वह स्वीकार करता है कि वस्तुतः कभी उसका अस्तित्व रहा ही नहीं। फिर भी वह था तो सही क्योंकि इसीने तो एकत्व पाया और अपने-आपको नष्ट किया। और हम फिर से इस असंगति-दोष पर आ पहुंचते हैं जिसमें हम पुनः उग्र विरोधाभास को पाते हैं जो विचार को सुन्न करके उसे विश्वास दिलाना चाहता है और न सुलझी और न सुलझ सकनेवाली परस्पर-विरोधी स्थापना को पाते हैं।

अगर हम यह अनुभव कर लें कि 'मन' हमारी चेतना का प्रारंभिक रूपमात्र है तो निचली भूमिका में कठिनाई लुप्त हो जाती है। मन विश्लेषण और संश्लेषण का यंत्र है, तात्त्विक ज्ञान का नहीं। उसका कार्य है स्वयं अपने अंदर की अज्ञात 'वस्तु' में से अस्पष्ट रूप में कुछ काट लेना और उसके इस कटे-छंटे या सीमित रूप को समग्र कहना, और समग्र को फिर से भागों में अलग-अलग बांट देना जिन्हें वह पृथक् मानसिक वस्तुएं समझता है। मन केवल भागों और बाह्य गुणों को ही निश्चित रूप से देख सकता और अपने ही ढंग से जान सकता है। समग्र के बारे में उसका एकमात्र निश्चित विचार यही है कि वह भागों का समवाय या तात्त्विक और बाह्य गुणों की समष्टि है। समग्र को जबतक 'मन' किसी दूसरी चीज के भाग के रूप में या अपने ही भागों और तात्त्विक तथा बाह्य गुणों के रूप में न देख ले तबतक यह उसके लिये एक धुंधली धारणा से अधिक कुछ नहीं होता। केवल तभी जब वह उसे टुकड़ों में अलग-अलग करके देख लेता है और उसे अपने-आपमें एक पृथक् निर्मित वस्तु के रूप में, एक अधिक बड़ी समग्रता के अंदर स्थित एक समग्रता के रूप में बिठा लेता है तो 'मन' अपने-आपसे कहता है, "अब मैं इसे जानता हूं"। पर असल में वह जानता नहीं। वह केवल वस्तु के बारे में अपने विश्लेषणों को जानता है, और अलग-अलग भागों को जोड़ करके एवं देखे हुए गुणों को एक करके वस्तु के बारे में उसका जो विचार बना है केवल उसे जानता है। उसकी विशिष्ट शक्ति, उसकी निश्चित क्रिया यहीं समाप्त हो जाती है। और अगर हम कोई महत्तर, गभीरतर और वास्तविक ज्ञान पाना चाहें—ज्ञान, न कि कोई तीव्र किंतु आकारहीन भावना, जैसी कभी-कभी हमारी मानसिकता के किन्हीं गहरे परंतु अप्रकट भागों में आती है—तो मन को एक और चेतना के लिये स्थान खाली करना पड़ेगा जो उसका अतिक्रमण करके उसकी परिपूर्ति करेगी या उसे उलट देगी और इस प्रकार उसके परे छलांग लगाकर, उसकी क्रियाओं को सुधारेगी। मानसिक ज्ञान का शिखर केवल एक कूदने का तख्ता है जिससे आगे की यह छलांग लगायी जा सकती है। 'मन' का सबसे बड़ा काम है जड़तत्त्व के

अंधेरे कारागार से निकली हमारी धुंधली चेतना को प्रशिक्षित करना, उसकी अंधी सहजवृत्तियों, अनियत अंतर्भासों, अस्पष्ट बोधों को तबतक प्रकाशित करना जबतक कि वह इस अधिक महान् प्रकाश और इस अधिक ऊंची चढ़ाई के योग्य न हो जाये। मन एक रास्ता है, चरम अवस्था नहीं।

दूसरी ओर एकत्वमयी चेतना या अविभाज्य एकत्व ऐसी असंभव सत्ता नहीं हो सकती जिसके अंदर कुछ भी नहीं है लेकिन जिसमें से सब कुछ निकला है और जिसमें सब कुछ गायब और नष्ट हो जाता है। यह एक ऐसा आदि-संकेंद्रीकरण होना चाहिये जिसमें सब कुछ समाया हुआ है परंतु इस देश-कालगत अभिव्यक्ति से भिन्न रूप में। तो जिसने अपने-आपको इस तरह संकेंद्रित किया है वह ऐसा सत् है जो पूरी तरह अनिर्वचनीय और अचिंत्य है। इसे शून्यवादी अपने मन में एक ऐसे अभावात्मक शून्य के रूप में चित्रित करता है जो उन सब चीजों से खाली है जिन्हें हम जानते हैं या जो हम हैं परंतु परात्परवादी उतने ही युक्तियुक्त ढंग से उसी सत् को अपने मन के आगे इस रूप में चित्रित कर सकता है कि वह एक भावात्मक, पर जो कुछ हम जानते हैं और जो कुछ हैं उस सबसे अविभेद्य सद्वस्तु है। वेदांत का कहना है कि प्रारंभ में बस एक सत् ही था, दूसरा कुछ था ही नहीं—'*एकमेवाद्वितीयम्*', लेकिन आरंभ के पहले और पीछे, अभी और सदा-सर्वदा, काल के परे वह है जिसे हम 'एक' भी नहीं कह सकते, उस समय भी नहीं जब हम यह कहते हैं कि तत् के सिवा कुछ नहीं है। सबसे पहले हम जिसके बारे में अभिज्ञ हो सकते हैं वह है आदि-आत्म-संकेंद्रीकरण जिसे हम अविभाज्य एक के रूप में पाने के लिये प्रयास करते हैं। दूसरे, जो कुछ अपने एकत्व में संकेंद्रित था उसका प्रसारण और प्रकटतः विभाजन—यही मन की विश्व-विषयक धारणा है। तीसरे, उसका ऋत-चित् में दृढ़ आत्म-विस्तार। यह ऋत-चित् ही इस प्रसारण को समाये और धारण किये रहता है और उसे वास्तविक विभाजन से बचाता है। यह अतिशय अनेकरूपता में एकत्व को, अतिशय परिवर्तनशीलता में स्थिरता बनाये रखता है और सर्वव्यापी संघर्ष और टकराव के आभास में सामंजस्य पर जोर देता और शाश्वत वैश्व व्यवस्था को बनाये रखता है जब कि मन केवल एक विशृंखलितता पर ही पहुंच पाता है जो निरंतर अपने-आपको रूप देने के लिये प्रयत्नशील है। यही है अतिमानस सत्य-चेतना, सत्य-भाव जो अपने-आपको जानता है और अपने-आप जो कुछ बन जाता है उसे भी जानता है।

अतिमानस ब्रह्म का बृहत् आत्म-विस्तार है, वह उसको धारण और विकसित करता है। 'भाव' के द्वारा वह सत्, चित् और आनंद के त्रिविध तत्त्व को उनकी अविभाज्य एकता में से विकसित करता है। वह उनमें भेद करता है परंतु उनका विभाजन नहीं करता। वह त्रयी को स्थापित करता है परंतु 'मन' की तरह तीन से 'एक' की ओर न जाकर 'एक' में से तीन को अभिव्यक्त करता है—क्योंकि वह

अभिव्यक्त और विकसित करता है, फिर भी उनके एकत्व को बनाये रखता है, क्योंकि वह जानता और धारण करता है। भेद करके वह उनमें से एक-न-एक को प्रभावकारी देव के रूप में सामने ला पाता है जिसमें बाकी दो को अपने अंदर अंतर्निहित या प्रकट रूप में धारण किये रहता है और वह इस प्रक्रिया को समस्त विभेदन का आधार बना देता है। और वह सर्वरचनाकारी इस त्रिक में से जिन तत्त्वों और संभावनाओं को विकसित करता है, उन सबपर इसी विधि से क्रिया करता है। उसमें विकसित करने, उन्नत करने और सुस्पष्ट करने की शक्ति होती है और वह शक्ति अपने में एक दूसरी शक्ति को, निमज्जन या अंतर्लयन की, निमीलन की, अपने अंदर अव्यक्त कर लेने की शक्ति को लिये रहती है। एक अर्थ में समस्त सृष्टि दो अंतर्लयनों के बीच की होनेवाली गति है, आत्मा, जिसके अंदर सब कुछ अंतर्लीन है और जिसमें से सब कुछ नीचे की ओर जड़ पदार्थ के दूसरे छोर की ओर विकसित होता है। उधर जड़ पदार्थ में भी सब कुछ अंतर्लीन होता है, उसमें से ऊपर आत्मा के दूसरे छोर की ओर सब विकसित होता है।

इस प्रकार विश्व का सृजन करनेवाले सत्य-भाव की विभेद की सारी प्रक्रिया यह है कि वह मूलतत्त्वों, शक्तियों, रूपों को सामने रखती है जो समग्र बोधात्मिका चेतना के लिये शेष सारे अस्तित्व को अपने अंदर धारण किये रहते हैं और बहिर्बोधात्मिका चेतना के सम्मुख इस रूप में प्रस्तुत होते हैं कि शेष सारा अस्तित्व अव्यक्त रूप में उनके पीछे है। अतः सर्व प्रत्येक में है और प्रत्येक सर्व में। इसलिये वस्तुओं का हर बीज अपने अंदर विविध संभावनाओं की अनंतता लिये रहता है, परंतु 'इच्छा-शक्ति' के द्वारा उसे प्रक्रिया के एक ही विधान और परिणाम के आधीन रखा जाता है, अर्थात् सचेतन सत्ता की चित्-शक्ति द्वारा—जो अपने-आपको अभिव्यक्त कर रही है, जो अपने अंदर 'दिव्य-भाव' के बारे में निश्चित है, —वह अपने ही रूपों और गतियों को पूर्व निर्धारित करता है। बीज है उसकी अपनी सत्ता का सत्य जिसका यह स्वयंभू अपने अंदर दर्शन करता है। उस आत्म-दृष्टि के बीज का परिणाम है आत्म-क्रिया का सत्य, विकास, रूपायन और कर्म का स्वाभाविक विधान जो अनिवार्य रूप से आत्मदर्शन के पीछे आता है और आदि सत्य में अंतर्लीन प्रक्रिया के अनुसार होता है। समस्त प्रकृति सचेतन सत्ता (चिन्मय पुरुष) का कविक्रतुः (द्रष्टा संकल्प) और ज्ञान-शक्ति है जो भाव के उस अनिवार्य सत्य को शक्ति और रूप में विकसित करने के लिये कार्यरत है जिसमें उसने अपने-आपको आरंभ में प्रक्षिप्त किया था।

'भाव' की यह अवधारणा हमें मानसिक चेतना और सत्य-चेतना के बीच भेद की ओर इशारा करती है। हम विचार को सत्ता से भिन्न वस्तु के रूप में देखते हैं जो अमूर्त, निःसत्त्व, वास्तविकता से भिन्न ऐसी चीज है जिसके बारे में हम नहीं जानते कि वह कहां से प्रकट हुई है, जो वस्तुनिष्ठ वास्तविकता का निरीक्षण करने,

उसे समझने और उसका मूल्यांकन करने के लिये अपने-आपको उससे अलग कर लेती है। वह ऐसी ही प्रतीत होती है और इसलिये हमारी सर्वविभाजनकारी, सर्व-विश्लेषक मानसिकता के लिये ऐसी ही है। मन का पहला कार्य है 'पृथक् करना'। विवेक करने की अपेक्षा कहीं अधिक दरारें पैदा करना। इस तरह उसने विचार और सद्वस्तु के बीच यह पंगु करनेवाली खाई बना दी है। लेकिन अतिमानस में समस्त सत्ता चेतना है, समस्त चेतना सत्ता की है और भाव जो कि चेतना का (जो कुछ प्रकट होना है उससे) गर्भित स्पंदन है, वह समान रूप से सत्ता का भी स्पंदन है और उससे गर्भित यह असर्जनशील आत्म-अभिज्ञता में जो कुछ संकेंद्रित पड़ा हुआ था उसीका सर्जनकारी आत्म-ज्ञान में प्रथम आविर्भाव है। और यह भावगत वही सद्वस्तु है जो अपने-आपको सदा अपनी ही शक्ति और अपनी ही चेतना के द्वारा विकसित कर रही है। यह सदा आत्म-चेतन है, भाव में अंतर्निहित इच्छा-शक्ति के द्वारा सदा अपने-आपको उन्मीलित कर रही है, अपनी प्रत्येक प्रेरणा में निहित ज्ञान के द्वारा सदा अपने-आपको चरितार्थ करने में लगी है। यही है सारी सृष्टि का, सारे क्रम-विकास का सत्य।

अतिमानस में सत्ता, ज्ञान की चेतना और इच्छा की चेतना उस तरह विभक्त नहीं हैं जैसे वे हमारी मानसिक क्रियाओं में विभक्त मालूम होती हैं। वे एक त्रयी हैं, एक ही गति हैं जिसके तीन अलग-अलग प्रभावकारी पक्ष हैं। हर एक का अपना प्रभाव होता है। सत्ता पदार्थ का प्रभाव देती है, चेतना ज्ञान का प्रभाव देती है, आत्मनिर्देशनकारी, आकार देनेवाले भाव, विज्ञान और प्रज्ञान (समग्रबोध और बहिर्बोध) के ज्ञान का और इच्छा का प्रभाव है आत्मपरिपूर्ति करनेवाली शक्ति। परंतु भाव तो केवल अपने-आपको आलोकित करनेवाली सद्वस्तु का प्रकाश है। वह मानसिक विचार या कल्पना नहीं, प्रभावकारी आत्म-अभिज्ञता है। वह सत्य-संकल्प है।

अतिमानस में, भाव के अंदर स्थित ज्ञान, भाव के अंदर स्थित इच्छा से अलग नहीं, उसके साथ एक होता है, ठीक उसी तरह जैसे वह सत्ता या द्रव्य से अलग नहीं बल्कि सत्ता के साथ, द्रव्य की आलोकमय शक्ति के साथ एक होता है। जैसे जलती अग्नि-शिखा की शक्ति अग्नि के द्रव्य से पृथक् नहीं होती उसी भांति 'भाव' की शक्ति 'सत्ता' के उस द्रव्य से अलग नहीं होती जो अपने-आपको 'भाव' और उसके विकास में चरितार्थ करता है। हमारी मानसिकता में सब भिन्न-भिन्न होते हैं। हमारे अंदर एक भाव आता है और भाव के अनुकूल एक इच्छा या आवेग, इच्छा का एक ऐसा भाव जो अपने-आपको उससे अलग कर लेता है; लेकिन हम प्रभावकारी ढंग से भाव का इच्छा से और दोनों का अपने-आपसे भेद करते हैं। मैं हूं, यह 'भाव' एक रहस्यमय अमूर्तता है जो मेरे अंदर प्रकट होती है। इच्छा एक दूसरा रहस्य है, एक ऐसी शक्ति है जो मूर्तता के अधिक नजदीक है यद्यपि मूर्त

नहीं है, वह सदा ऐसी चीज होती है जो मैं नहीं हूं, कोई ऐसी चीज है जो मेरे अंदर है या बाहर से मेरे पास आती है या मुझपर कब्जा कर लेती है पर वह मैं नहीं हूं। मैं अपनी इच्छा, उसके साधन और प्रभाव के बीच एक खाई बना लेता हूं क्योंकि मैं इन्हें अपने से बाहर, अपने से भिन्न ठोस वास्तविकताएं मानता हूं। इसलिये न तो स्वयं मैं और न मेरे अंदर का भाव और न मेरे अंदर की इच्छा आत्म-प्रभावी होते हैं। हो सकता है कि भाव मुझसे झड़ जाये, इच्छा असफल हो, साधनों का अभाव हो और स्वयं मैं इनमें से किसी या इन सभी अभावों के कारण अपूर्ण रह जाऊं।

परंतु अतिमानस में ऐसा कोई पंगु बनानेवाला विभाजन नहीं होता क्योंकि वहां मन की तरह ज्ञान आत्म-विभाजित नहीं होता, शक्ति आत्म-विभाजित नहीं होती, सत्ता आत्म-विभाजित नहीं होती। वहां ये चीजें न तो अपने-आपमें खंडित होती हैं और न ही एक दूसरे से अलग होती हैं। क्योंकि अतिमानस 'बृहत्' है, वह ऐक्य से आरंभ होता है विभाजन से नहीं, वह मूलतः सर्वसमावेशी है, विभेदन उसकी गौण क्रिया है। अतः सत्ता का चाहे जो कोई भी सत्य प्रकट किया गया हो, भाव पूरी तरह उसके सदृश होता है, इच्छा-शक्ति भाव के सदृश रहती है—शक्ति चेतना का ही बल है—और परिणाम इच्छा के सदृश होता है। भाव अन्य भावों के साथ नहीं टकराता, इच्छा या शक्ति अन्य इच्छा या शक्ति के साथ नहीं टकराती जैसा मनुष्य तथा उसके संसार के अंदर होता है क्योंकि वह एक बृहत् चेतना है जो सभी भावों को अपने भाव के रूप में अपनेमें समाये और एक-दूसरे से जोड़े रहती है, एक बृहत् 'इच्छा' है जो सभी ऊर्जाओं को अपने अंदर अपनी ऊर्जाओं के रूप में समाये और एक-दूसरे को जोड़े रहती है। वह अपनी पूर्व-दृष्टियुक्त 'भाव-इच्छा' के अनुसार किसीको पीछे रोक लेता है और किसीको आगे बढ़ाता है।

दिव्य सत्ता की सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता के बारे में धर्मों की प्रचलित धारणा का यही औचित्य है। इन विचारों का अयुक्तियुक्त कल्पनाएं होना तो दूर रहा, ये पूर्णतः युक्ति-संगत हैं और किसी भांति व्यापक दर्शन के तर्कों अथवा अवलोकन तथा अनुभूति के संकेतों का खंडन नहीं करते। भूल बस यही होती है कि भगवान् और मनुष्य, ब्रह्म और जगत् के बीच न पट सकनेवाली खाई बना दी जाती है। यह भूल सत्ता, चेतना और शक्ति में जो वर्तमान और व्यावहारिक विभेद है, उसे बढ़ाकर तात्त्विक विभाजन का रूप दे देती है। लेकिन प्रश्न के इस पहलू को हम बाद में लेंगे। अभी हम दिव्य और सृजनात्मक अतिमानस की एक ऐसी प्रस्थापना और धारणा पर पहुंचे हैं जिसमें सब कुछ सत्ता, चेतना, इच्छा और आनंद में एक है फिर भी उनमें विभेद की अनंत क्षमता है जो एकत्व का विस्तार करती है, पर उसे नष्ट नहीं करती—जिसमें सत्य ही द्रव्य है,

सत्य ही 'भाव' में उठता है, सत्य ही रूप में प्रकट होता है। वहां ज्ञान और इच्छा का एक ही सत्य है, आत्म-परिपूर्णता और इस कारण आनंद का भी एक ही सत्य है क्योंकि समस्त आत्मपरिपूर्णता सत्ता का संतोष है। अतः सदा सभी परिवर्तनों और संयोजनों में एक स्वयंभू और अविच्छेद्य सामंजस्य बना रहता है।

अध्याय १५

परम ऋत-चित् (सत्य-चेतना)

सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्...
एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य॥...

अतिचेतन की सुषुप्ति में विराजमान वह 'एक', जो कि घनीभूत-प्रज्ञा है, आनंदमय है और 'आनंद' का भोक्ता है... वही सर्वशक्तिमान् है, वही सर्वज्ञ है, वही अंतर्यामी है, वही सबका उत्स है।

माण्डूक्योपनिषद् ५, ६.

अतः हमें सबको अपने अंदर धारण करनेवाले, सबके मूल, सबकी परिपूर्ति करनेवाले इस अतिमानस को 'दिव्य सत्ता' का स्वभाव मानना चाहिये, निश्चय ही उसके निरपेक्ष स्वयंभू रूप में नहीं बल्कि उसके क्रिया-रूप में, स्वयं अपने जगतों के प्रभु और स्रष्टा के रूप में दिव्य सत्ता का स्वभाव मानना चाहिये। जिसे हम भगवान् कहते हैं उसका सत्य यही है। स्पष्ट ही यह वह अत्यधिक व्यक्तिरूप और सीमित देव नहीं है, मनुष्य का ही एक बढ़ा-चढ़ा और अतिशायी रूप नहीं है जैसी कि सामान्य पाश्चात्य अवधारणा है, कारण, वह अवधारणा सृजनात्मक अतिमानस और अहंकार के बीच के एक विशेष संबंध की बहुत अधिक मानवीय प्रतिमा खड़ी कर लेती है। निस्संदेह हमें देव के सगुण या सवैयक्तिक रूप का बहिष्कार नहीं करना चाहिये क्योंकि निर्वैयक्तिक या निर्गुण रूप सत्ता का केवल एक पक्ष है। भगवान् सर्व सत्ता हैं, फिर भी वही एकमात्र सत् हैं, एकमात्र सचेतन सत्ता हैं फिर भी हैं तो सत्ता ही। बहरहाल, अभी-अभी हमारा इस पक्ष से संबंध नहीं है। हम दिव्य चेतना के निर्वैयक्तिक मनोवैज्ञानिक सत्य को पूरी तरह समझने की चेष्टा कर रहे हैं। इसे ही हमें एक विस्तृत और सुस्पष्ट अवधारणा के रूप में स्थापित करना है।

'ऋत-चित्' सारे विश्व में हर जगह एक ऐसे व्यवस्था करनेवाले आत्मज्ञान के रूप में उपस्थित है जिसके द्वारा एकमेव अपने अनंत संभाव्य बहुत्व के अंदर सामंजस्यों को अभिव्यक्त करता है। इस व्यवस्था करनेवाले आत्मज्ञान के बिना अभिव्यक्ति एक चलायमान अस्त-व्यस्तता होगी, ठीक इस कारण कि संभाव्यताएं अनंत हैं और यदि उन्हें अपने-आपपर छोड़ दिया जाये तो वह अनियंत्रित, अपरिबद्ध संयोग का ही एक खेल होगा। यदि केवल अनंत संभाव्यता ही होती जिसमें निर्देशनकारी सत्य का और सामंजस्यपूर्ण आत्म-दृष्टि का धर्म न होता, विकास के लिये छितराये गये वस्तुओं के बीज में ही पहले से निर्धारित करनेवाला

भाव न रहता तो जगत् असंख्य, आकारहीन, चकरायी हुई अनिश्चितता के सिवा कुछ न होता। परंतु जो ज्ञान सृजन करता है—चूंकि वह जो कुछ बनाता या उन्मुक्त करता है वह सब उसके अपने रूप और अपनी शक्तियां हैं, उनसे अलग कुछ नहीं—अपनी सत्ता में सत्य और विधान की उस दृष्टि का स्वामी होता है जो हर एक संभाव्यता पर शासन करती है और उसके साथ-ही-साथ उसमें अन्य संभाव्यताओं और उनके बीच संभव सामंजस्यों की आंतरिक अभिज्ञता रहती है। वह ज्ञान इस सबको पूर्व-चित्रित रूप में सामान्य निर्धारणकारी सामंजस्य में धारण किये रहता है। यह सामंजस्य विश्व के संपूर्ण व लयबद्ध भाव में उसके जन्म और आत्म-कल्पना के क्षण से ही रहता है अतः वह सामंजस्य अपने घटकों की पारस्परिक क्रीड़ा द्वारा अनिवार्य रूप से क्रियान्वित होगा। वह जगत् में धर्म का स्रोत और संरक्षक है, कारण वह धर्म मनमाना बिल्कुल नहीं हैवह आत्म-स्वभाव की अभिव्यक्ति है जिसका निर्धारण सत्य-संकल्प के उस बाध्यकारी सत्य से होता है जो हर वस्तु अपने आरंभ में होती है। अतः आरंभ से ही समस्त विकास अपने आत्म-ज्ञान में और हर क्षण अपनी आत्म-क्रिया में पूर्वनिश्चित है। हर क्षण वह ठीक वही होता है जो उसे अपने आदि अंतर्निहित सत्य के द्वारा होना चाहिये, इसी आदि अंतर्निहित सत्य के द्वारा उसकी ओर गति कर रहा है जो उसे अगले क्षण होना चाहिये; अंत में वह वही होगा जो उसके बीज में समाया हुआ था और अभिप्रेत था।

अपनी निजी सत्ता के मौलिक सत्य के अनुसार जगत् का यह विकास और उसकी यह प्रगति काल के एक अनुक्रम को, देश में संबंध को और देश में संबंधित वस्तुओं की नियमित क्रिया-प्रतिक्रिया को सूचित करता है और इस क्रिया-प्रतिक्रिया को काल का अनुक्रम कार्य-कारण-भाव का रूप दे देता है। तत्त्वज्ञानी के अनुसार देश और काल का अस्तित्व यथार्थ नहीं केवल काल्पनिक है। लेकिन चूंकि केवल ये ही नहीं बल्कि सभी चीजें सचेतन सत्ता द्वारा अपनी ही चेतना में अपनाये गये रूपमात्र हैं इसलिये यह भेद बहुत महत्त्व नहीं रखता। काल और देश वही एक सचेतन सत्ता है जो अपने-आपको विस्तार में—आत्मनिष्ठ रूप से काल और वस्तुनिष्ठ रूप से देश के रूप में देख रही है। इन दोनों श्रेणियों के बारे में हमारी मानसिक दृष्टि माप के भाव से निर्धारित होती है जो मन की विश्लेषणात्मक, विभाजनकारी गति की क्रिया में अंतर्निहित है। मन के लिये काल एक गतिशील विस्तार है जिसे वह भूत, वर्तमान और भविष्य के अनुक्रम से मापता है, जिसमें मन अपने-आपको किसी विशेष बिंदु पर रखकर वहां से आगे और पीछे देखता रहता है। देश एक स्थाणु विस्तार है जिसे मन पदार्थ की विभाज्यकता से मापता है, और उस विभाज्य विस्तार में मन अपने-आपको किसी बिंदु-विशेष पर खड़ा करता है और वहां से अपने चारों ओर के पदार्थ की स्थिति को देखता है।

वस्तुतः मन 'काल' को घटना से ओर देश को जड़तत्त्व द्वारा मापता है। परंतु

यह भी संभव है कि शुद्ध मानसिकता में घटना की गति और द्रव्य की स्थिति की अवहेलना करके चित्-शक्ति की उस शुद्ध गति का अनुभव किया जाये जो 'देश' और 'काल' का निर्माण करती है। तो ये दोनों चेतना की उस वैश्व शक्ति के दो पक्ष मात्र होते हैं जो अपनी गुंथी हुई क्रिया-प्रतिक्रिया में उस शक्ति की स्वयं अपने ऊपर होती हुई क्रिया के ताने-बाने हैं। और मन से उच्चतर चेतना भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों को एक ही दृष्टि में देख सकेगी। यह उनमें समायी हुई नहीं बल्कि उनको अपने अंदर समाये होगी, और अपने अवलोकन बिंदु के लिये काल के किसी क्षणविशेष पर स्थित नहीं होगी। इस चेतना के लिये काल एक शाश्वत वर्तमान के रूप में अपने-आपको प्रस्तुत कर सकता है। साथ ही यह चेतना देश के किसी बिंदु-विशेषपर टिकी हुई नहीं है बल्कि सभी बिंदुओं और क्षेत्रों को अपने भीतर समाये हुए है, देश भी अपने-आपको एक आत्मनिष्ठ—काल से कम आत्मनिष्ठ नहीं—और अविभाज्य विस्तार के रूप में प्रस्तुत कर सकता है। किन्हीं विशेष क्षणों में हम एक ऐसी अविभाज्य दृष्टि से अभिज्ञ हो जाते हैं जो अपने अपरिवर्तनशील आत्मचेतन एकत्व के द्वारा विश्व के परिवर्तनों को धारण किये रहती है। लेकिन अब हमें यह न पूछना चाहिये कि वहां अपने परात्पर सत्य में देश और काल की अंतर्वस्तुएं अपने-आपको किस तरह प्रस्तुत करेंगी क्योंकि हमारा मन इसकी धारणा नहीं कर सकता,—और यहांतक कि वह तो इस बात से भी इंकार करने के लिये तैयार है कि उस अविभाज्य के पास जगत् को जानने की कोई ऐसी संभावना हो सकती है जो हमारे मन और हमारी इन्द्रियों के तरीके से भिन्न हो।

हमें जो अनुभव करना है और जिसकी हम कुछ हदतक धारणा बना सकते हैं वह है वह अखंड दृष्टि, वह सर्वसमावेशी अवलोकन जिसके द्वारा अतिमानस काल के अनुक्रमों और देश के विभाजनों को आलिंगन में लेता और एकताबद्ध करता है। और पहली बात यह कि अगर कालानुक्रम का यह तत्त्व न होता तो कोई परिवर्तन या प्रगति न होती। पूर्ण सामंजस्य सदा अभिव्यक्त रहता, एक तरह के शाश्वत क्षण में वह अन्य सामंजस्यों के साथ सहकालीन रहता, भूत से भविष्य की ओर होनेवाली गति के रूप में उनका अनुक्रमिक न होता पर हम तो उसकी जगह यह पाते हैं कि विकसित होते हुए सामंजस्य का एक सतत अनुक्रम है जिसमें पहले के स्वर में से एक और स्वर निकलता है जो अपने अंदर उसे छिपा लेता है जिसका वह स्थान लेता है। और यदि इस आत्माभिव्यक्ति का अस्तित्व विभाज्य देश के तत्त्व के बिना होता तो रूपों का कोई परिवर्तनशील संबंध न हो पाता, या शक्तियों में आपस में घात-प्रतिघात न होता। सबका अस्तित्व तो होता परंतु कुछ भी क्रियान्वित न होता—जैसे एक वैश्व कवि या स्वप्न-द्रष्टा के मन में सब चीजें अनंत आत्मनिष्ठ पकड़ में रहती हैं वैसे देशातीत आत्म-चेतना पूर्णतया आत्मनिष्ठ हो सब चीजों को अपने अंदर समाये रहती, लेकिन सबके द्वारा एक अनिर्दिष्ट वस्तुगत

आत्म-विस्तार में अपने-आपको न बांट पाती। या फिर अगर केवल काल ही यथार्थ होता तो उसके अनुक्रम शुद्ध ऐसा विकास होते जिसमें संगीत की क्रमागत स्वर-लहरियों के समान या काव्य की क्रमागत रूपकमाला के समान एक स्वर में से दूसरा स्वर आत्मनिष्ठ रूप में स्वतंत्र सहजता के साथ निकलता जाता। परंतु इसकी जगह हमें उन रूपों और शक्तियों की शक्ल में, जो सर्वाधारक देशीय विस्तार में एक-दूसरे के साथ संबंधों में स्थित हैं, काल द्वारा क्रियान्वित होता हुआ एक सामंजस्य दिखायी देता है; वस्तुओं और घटनाओं की शक्तियों और रूपों का एक सतत अनुक्रम मिलता है, जब हम जीवन पर दृष्टि डालते हैं।

काल और देश के क्षेत्र में विभिन्न संभाव्यताएं मूर्त होती, स्थान पाती और संबद्ध रहती हैं, हर एक की अपनी शक्तियां और संभावनाएं होती हैं जो दूसरी शक्तियों और संभावनाओं का सामना करती हैं और परिणामस्वरूप काल के अनुक्रम मन के सामने इस भांति प्रकट होते हैं मानों वस्तुएं एक स्वतःस्फूर्त अनुक्रम में नहीं, बल्कि आघात और संघर्ष के द्वारा कार्यान्वित हो रही हैं। वास्तव में, वस्तुएं अंदर से स्वतः-स्फूर्त रूप में कार्यान्वित होती हैं, बाह्य आघात और संघर्ष तो उस विस्तृत क्रिया के केवल सतही पक्ष हैं। क्योंकि अखंड और समग्र का आंतरिक और अंतर्निहित विधान, जो निश्चित रूप से सामंजस्य है, उन भागों तथा रूपों के बाहरी तथा प्रक्रियागत विधान पर शासन करता है जो सदा टकराते हुए प्रतीत होते हैं। और अतिमानसिक दृष्टि के लिये सामंजस्य का यह अधिक विशाल और अधिक गभीर सत्य सदैव उपस्थित रहता है। जो चीज मन को असंगति प्रतीत होती है, क्योंकि वह हर चीज को अपने-आपमें अलग-अलग रूप में देखता है, वही चीज अतिमानस के लिये एक व्यापक, सदा उपस्थित, सदा विकसनशील सामंजस्य का तत्त्व होती है क्योंकि वह सभी चीजों को बहुत्वमय एकत्व में देखता है। इसके अतिरिक्त मन केवल एक निर्दिष्ट काल और देश को ही देख पाता है, और उसमें बहुत-सी संभावनाओं को अस्तव्यस्त रूप में पड़ी देखता है और समझता है कि वे सब न्यूनाधिक रूप से उस काल और देश में चरितार्थ हो सकती हैं। दिव्य अतिमानस देश और काल के पूरे विस्तार को देखता है और मन की समस्त संभावनाओं को, और ऐसी भी बहुत-सी संभावनाओं को जिन्हें मन नहीं देख पाता, उन सबको वह बिना किसी भूल के, बिना टटोले या चकराये अपने आलिंगन में ले सकता है क्योंकि वह हर संभाव्यता को उसकी अपनी शक्ति, मूलभूत आवश्यकता और दूसरों के साथ सही संबंधों के रूप में जानता है और उस संभाव्यता की क्रमिक और अंतिम दोनों उपलब्धियों के समय, स्थान और परिस्थितियों को भी जानता है। मन के लिये यह संभव नहीं है कि वह चीजों को अविचल रूप से और पूर्ण रूप में देख सके लेकिन परात्पर अतिमानस का तो यह स्वभाव ही है।

यह अतिमानस अपने सब रूपों को, जिन्हें उसकी सचेतन शक्ति रचती है, अपनी सचेतन दृष्टि में केवल समाये ही नहीं रहता बल्कि वह उनमें अंतःस्थ उपस्थिति और अंतःस्फुरणात्मक प्रकाश के रूप में व्याप्त भी रहता है। वह विश्व के हर रूप और हर शक्ति में उपस्थित रहता है, यद्यपि रहता है प्रच्छन्न रूप में। यही प्रभुत्व के साथ और सहज रूप से रूप, शक्ति और क्रिया का निर्धारण करता है। वह जिन विभिन्नताओं को बाधित करता है उन्हें सीमित भी करता है। वह जिस ऊर्जा का उपयोग करता है उसे एकत्र करता, विघटित करता और परिवर्तित भी करता है और यह सब उन प्रथम[1] धर्मों के अनुसार किया जाता है जिन्हें उसके आत्मज्ञान ने रूप की उत्पत्ति के साथ ही, शक्ति के आरंभबिंदु पर ही निश्चित कर दिया था। वह सभी चीजों के अंदर उसी तरह आसीन है जैसे भगवान् सब प्राणियों के हृदय में आसीन हैं;—वे भगवान् जो सबको अपने माया-बल से यंत्रारूढ़ की भांति घुमा रहे हैं[2]। वह सबके अंदर है और सबको अपने आलिंगन में लिये हुए है उस दिव्य द्रष्टा की भांति जिसने सनातन काल से वस्तुओं को नानाविध रूपों में, प्रत्येक वस्तु को ठीक उसके अनुसार जो वह है, व्यवस्थित और आयोजित किया है।[3]

अतः प्रकृति में हर चीज, चाहे वह सजीव हो या निर्जीव, चाहे वह मन से आत्म-सचेतन हो या आत्म-सचेतन न हो, अपनी सत्ता और अपनी क्रियाओं में, अपने भीतर रहनेवाली दृष्टि और शक्ति द्वारा शासित होती है। यह हमारे लिये अवचेतन या निश्चेतन भले हो, क्योंकि हम उसके बारे में सचेतन नहीं हैं, परंतु अपने लिये निश्चेतन नहीं है बल्कि गहरे और वैश्व रूप में सचेतन है। अतः ऐसा लगता है कि हर चीज, चाहे उसमें बुद्धि न भी हो, बुद्धि के काम करती है क्योंकि वह अपने अंदर बैठे दिव्य अतिमानस के सत्य-भाव का अनुसरण या तो वनस्पति एवं पशु की भांति अवचेतन रूप से या मनुष्य की भांति अर्द्धचेतन रूप से करती है। परंतु यह मानसिक बुद्धि नहीं है जो सभी चीजों को अनुप्राणित और संचालित करती है, बल्कि यह सत्ता का आत्म-अभिज्ञ सत्य है जिसमें आत्म-ज्ञान आत्म-सत्ता से अभिन्न है। यही ऋत-चित् है, इसे चीजों के बारे में सोचना नहीं पड़ता बल्कि वह उन्हें ऐसे ज्ञान के साथ कार्यान्वित करता है जो अपने-आपको चरितार्थ करनेवाली एकमेवाद्वितीय 'सत्ता' की निर्दोष आत्म-दृष्टि और अ-निवारणीय शक्ति के अनुरूप होता है। मानसिक बुद्धि सोच-विचार करती है क्योंकि वह चेतना की

[1] यह वैदिक मुहावरा है। देवता प्रथम धर्मों के अनुसार कार्य करते हैं जो आद्य और इसलिये परम धर्म हैं और जो वस्तुओं के सत्य का विधान हैं।

[2] *ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।*
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ गीता १८.६१

[3] *कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।* ईशोपनिषद् ८

केवल विचार-विमर्श करनेवाली एक शक्ति है जो जानती तो नहीं, पर जानना चाहती है। वह काल में अपने से ऊंचे ज्ञान का क्रमशः अनुसरण करती है, एक ऐसे ज्ञान का अनुसरण जो सदा उपस्थित रहता है, जो अखंड और समग्र है, जो काल को अपनी पकड़ में रखता है, जो भूत, भविष्य और वर्तमान को एक ही दृष्टि में देख लेता है।

तो यह है दिव्य अतिमानस का प्रथम क्रियाशील तत्त्व। यह एक वैश्व दृष्टि है जो सर्वधारक, सर्वव्यापक और सबके अंदर निवास करनेवाली है। चूंकि यह सत्ता में और स्थितिशील आत्म-अभिज्ञता में सब चीजों को आत्मनिष्ठ, कालातीत, देशातीत जानती है अतः यह सभी वस्तुओं को क्रियाशील ज्ञान में समाविष्ट करती और काल और देश में उनके वस्तुनिष्ठ आत्म-रूपायन पर शासन करती है।

इस चेतना में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय भिन्न-भिन्न सत्ताएं नहीं, वरन् मूलतः एक ही हैं। हमारी मानसिकता इन तीनों में भेद करती है क्योंकि भेद किये बिना वह आगे नहीं बढ़ सकती। अपने उचित साधन और क्रिया का मौलिक विधान खोकर वह गतिशून्य और निष्क्रिय बन जाती है। अतः जब मैं अपने-आपको मानसिक रूप से देखता हूं तब भी मुझे यह भेद करना पड़ता है। मैं हूं—ज्ञाता के रूप में हूं, जिस चीज को मैं अपने अंदर देखता हूं उसे मैं अपने ज्ञान का विषय मानता हूं जो मेरा अपनापन है भी और नहीं भी है, ज्ञान वह क्रिया है जिसके द्वारा मैं ज्ञाता और ज्ञेय में नाता जोड़ता हूं। परंतु इस क्रिया की कृत्रिमता, उसका शुद्ध रूप से व्यावहारिक और उपयोगितावादी गुण स्पष्ट है। यह स्पष्ट है कि वह वस्तुओं के आधारभूत सत्य को व्यक्त नहीं करती। वास्तव में, मैं ज्ञाता, एक चेतना हूं जो जानती है, ज्ञान वही चेतना है, मैं ही हूं, जो क्रियाशील है, ज्ञेय भी मैं ही हूं, उसी चेतना का एक रूप या गति। ये तीनों स्पष्ट रूप से एक सत्ता, एक गति हैं, वह सत्ता, वह गति अविभाज्य है यद्यपि विभक्त-सी प्रतीत होती है, वह अपने रूपों में बंटी हुई नहीं है यद्यपि ऐसा लगता है कि उसने अपने-आपको बांट रखा है और प्रत्येक में अलग-अलग रूप से स्थित है। परंतु यह एक ऐसा ज्ञान है जिसपर मन पहुंच सकता है, तर्क से पहुंच सकता है, अनुभव से पहुंच सकता है परंतु आसानी से इसे अपनी बौद्धिक क्रियाओं का व्यावहारिक आधार नहीं बना सकता। और जिस चेतना को मैं अपना स्व कहता हूं, उसके दृष्टिकोण से बाहर की चीजों के बारे में कठिनाई दुर्लंघ्य हो उठती है। वहां ऐक्य को अनुभव करना भी एक असाधारण प्रयास है, और उसे बनाये रखना, लगातार उसके अनुसार कार्य करना तो एक ऐसा नवीन और विजातीय कर्म होगा जो वस्तुतः मन के अपने क्षेत्र का नहीं है। मन अधिक-से-अधिक उसे एक अवगत सत्य के रूप में पकड़े रख सकता है ताकि वह उससे अपनी सामान्य क्रियाओं को, जो अभीतक विभाजन पर आधारित हैं, ठीक कर सके, सुधार सके, कुछ-कुछ उसी तरह जैसे बौद्धिक रूप से हम जानते हैं कि

धरती सूर्य के चारों ओर घूमती है और इस ज्ञान के द्वारा हम उस कृत्रिम और भौतिक रूप से व्यावहारिक व्यवस्था को, जिसमें हमारी इन्द्रियां यह मानने पर आग्रह करती हैं कि सूर्य पृथ्वी के चारों ओर गति करता है, नष्ट तो नहीं करते पर सुधार लेते हैं।

परंतु अतिमानस तो ऐक्य के इस सत्य से संपन्न होता ही है और सर्वदा मूलतः इसीके अनुसार कार्य करता है जब कि मन के लिये यह गौण या प्रयत्न से प्राप्त चीज है और यह उसके देखने का अपना स्वाभाविक तरीका नहीं है। अतिमानस विश्व को और उसके अंतर्गत समस्त वस्तुओं को अपने-आपके रूप में देखता है, और इसे वह देखता है ज्ञान की एक अविभाज्य क्रिया में, एक ऐसी क्रिया में जो ज्ञान का ही प्राण, उसकी आत्म-सत्ता की ही गति है। अतः यह समग्र बोधात्मक दिव्य चेतना अपने इच्छा पक्ष में वैश्व जीवन के विकास का उतना निर्देशन या शासन नहीं करती जितना शक्ति की क्रिया से उसे अपने अंदर परिपूर्ण करती है। यह शक्ति की क्रिया ज्ञान की क्रिया से और आत्म-सत्ता की गति से अलग नहीं की जा सकती। वस्तुतः यह एक और अभिन्न क्रिया है। क्योंकि हम देख ही चुके हैं कि वैश्व शक्ति और वैश्व चेतना एक हैं—वैश्व शक्ति वैश्व चेतना की ही क्रिया है। इसी तरह दिव्य ज्ञान और दिव्य इच्छा भी एक हैं। वे सत्ता की एक ही आधारभूत गति या क्रिया हैं।

सर्वसमावेशी अतिमानस की यह अविभाज्यता ही वह सत्य है जिसपर सतत रूप से हमें अपना आग्रह रखना चाहिये, यदि हमें विश्व को समझना है और अपनी विश्लेषणात्मक मानसिकता की प्रारंभिक भूलों से बचना है। अतिमानस की यह अविभाज्यता अपनी एकता को कुछ भी कम किये बिना समस्त बहुविधता को अपने में समाये हुए है। वृक्ष बीज में से विकसित होता है जो पहले से ही बीज में समाया हुआ था और बीज वृक्ष में से आता है। एक अटल विधान, कभी परिवर्तित न होनेवाली एक प्रक्रिया अभिव्यक्ति के उस रूप के—जिसे हम वृक्ष कहते हैं—स्थायित्व को प्रबल रूप से बनाये रखती है। मन इस व्यापार को, वृक्ष के इस जन्म, जीवन और पुनरुत्पादन को, अपने-आपमें एक चीज मानता है और उसके आधार पर उसका अध्ययन, वर्गीकरण और उसकी व्याख्या करता है। वह वृक्ष की व्याख्या बीज से और बीज की व्याख्या वृक्ष से करता है। और प्रकृति के एक विधान की घोषणा कर देता है। लेकिन इससे वह कुछ भी समझा नहीं पाता। वह केवल एक रहस्य की प्रक्रिया का विश्लेषण और आलेखन भर करता है। मान लो कि मन किसी गुप्त सचेतन शक्ति को आत्मा के रूप में देख भी ले जो उसके रूप की सच्ची सत्ता है और बाकी सब कुछ उसी शक्ति की निश्चित क्रिया और अभिव्यक्ति भर है तब भी उसका झुकाव यही मानने की ओर रहता है कि रूप एक पृथक् सत्ता है जिसकी प्रकृति का अपना पृथक् विधान है और विकास की

अपनी पृथक् प्रक्रिया है। पशु में और सचेतन मानसिकतावाले मनुष्य में यह पृथक्ता का भाव उसे यह मानने के लिये प्रेरित करता है कि वह भी एक पृथक् सत्ता, एक सचेतन कर्ता है और अन्य सभी रूप उसकी मानसिकता के पृथक् विषय हैं। इस उपयोगी व्यवस्था को, जो जीवन के लिये आवश्यक है और उसकी समस्त क्रियाओं का पहला आधार है, इसे मन यथार्थ तथ्य मान लेता है और यहीं से अहंकार की समस्त भ्रांति का आरंभ होता है।

लेकिन अतिमानस और तरह से काम करता है। वृक्ष और उसकी प्रक्रिया वह न होते जो वे हैं, वास्तव में उनका अस्तित्व ही न होता, अगर वृक्ष का एक पृथक् अस्तित्व होता। रूप जो कुछ हैं वे वैश्व सत्ता की शक्ति से ही हैं, वे जिस रूप में विकसित होते हैं वैसे वे उस सत्ता के तथा उसकी अन्य सब अभिव्यक्तियों के साथ जो संबंध है उसके फलस्वरूप ही विकसित होते हैं। उनकी प्रकृति का पृथक् विधान वैश्व विधान और समस्त प्रकृति के सत्य का विनियोग मात्र है, उनका विशेष विकास सामान्य विकास में उनका जो स्थान है उसके द्वारा ही निर्धारित होता है। वृक्ष बीज की या बीज वृक्ष की व्याख्या नहीं करता। विश्व दोनों की व्याख्या करता है और भगवान् विश्व की व्याख्या करते हैं। अतिमानस जो एक ही साथ बीज, वृक्ष और सब वस्तुओं में व्याप्त है, और उनमें वास करता है, वह उस अधिक महान् ज्ञान में निवास करता है जो अविभाज्य और एक है यद्यपि अतिमानस की अविभाज्यता और एकता पूर्णतः निरपेक्ष न होकर परिवर्तित रहती है। इस व्यापक ज्ञान में सत्ता का कोई स्वतंत्र केंद्र नहीं होता, कोई व्यष्टिगत पृथक् अहं नहीं होता जैसा कि हम अपने अंदर देखते हैं। सारा विश्व उसकी आत्म-अभिज्ञता के लिये समभाव से विस्तार है जो एकत्व में एक, बहुत्व में एक, सभी परिस्थितियों में और सर्वत्र एकरूप है। यहां सर्व और एक एक ही सत्ता हैं। व्यष्टिगत सत्ता सब सत्ताओं के साथ और एकमेव सत्ता के साथ अपने तादात्म्य को न तो खोती है और न खो सकती है क्योंकि वह तादात्म्य अतिमानसिक ज्ञान में अंतर्निहित है, अतिमानसिक स्वयं-प्रकाश का एक अंग है।

एकत्व की उस विस्तृत समता में सत्ता विभक्त और वितरित नहीं होती। वह समानता के साथ आत्म-विस्तृत, अपने विस्तार को 'एक' के रूप में सब जगह व्यापक किये हुए, रूपों की विभिन्नता में 'एकमेव' के रूप में निवास करते हुए, सब जगह, एक साथ एक और सम ब्रह्म है। क्योंकि देश और काल में सत्ता के इस विस्तार और इस व्याप्ति और अंतर्निवास का घनिष्ठ संबंध उस निरपेक्ष एकत्व के साथ है जिससे वह आयी है, उस निरपेक्ष अविभाज्य के साथ जिसमें न कोई केंद्र है न परिधि, है बस कालातीत, देशातीत एकमेव। अविस्तृत ब्रह्म में एकत्व की जो घन एकाग्रता है उसे आवश्यक रूप से विस्तार में भी इस समव्यापक एकाग्रता के द्वारा, सब वस्तुओं में इस अविभक्त व्याप्ति के द्वारा, इस विश्वव्यापी अवितरित

अंतर्निवास के द्वारा, इस एकता के द्वारा अपने-आपको अनूदित करना होगा जिसे बहुत्व की कोई क्रीड़ा नष्ट या क्षीण न कर सके। "ब्रह्म सब चीजों में है, सब चीजें ब्रह्म में हैं, सब चीजें ब्रह्म हैं" यह व्यापक अतिमानस का त्रिसूत्र है, आत्माभिव्यक्ति का एक ही सत्य है जिसके तीन पहलू हैं, जिन्हें वह अपनी आत्मदृष्टि में आधारभूत ज्ञान के रूप में इकट्ठा और अविच्छेद्य रखता है जहां से वह विश्वलीला की ओर आगे बढ़ता है।

परंतु, तब मानसिकता और मन, प्राण और भौतिक द्रव्य के त्रिविध रूपों में विद्यमान इस निम्नतर चेतना के संगठन का—जो हमारी दृष्टि में विश्व है,—मूल क्या है ? कारण, चूंकि वे सभी चीजें जिनका अस्तित्व है, आवश्यक रूप से सर्व-समर्थ अतिमानस की क्रिया से निकली हैं, उसके तीन आदि तत्त्वों, सत्, चिच्छक्ति और आनंद पर होनेवाली क्रिया से उत्पन्न हुई हैं अतः सृजनात्मक 'ऋत-चित्' में कोई ऐसी क्षमता होगी जो इस तरह क्रिया करती है कि वे इन नये तत्त्वों में मन, प्राण और भौतिक द्रव्य की इस निचली त्रिमूर्ति में ढल जाते हैं। इस क्षमता को हम सृजनात्मक ज्ञान की द्वितीय अनुपूरक शक्ति में पाते हैं, उसकी बहिःक्षिप्त, सम्मुखस्थ और बहिर्बोधात्मिका चेतना की शक्ति में पाते हैं। इसमें ज्ञान अपने-आपको संकेंद्रित करके अपने कार्यों से पीछे हट जाता है ताकि उनका अवलोकन कर सके। और जब हम संकेंद्रीकरण की बात करते हैं तो हमारा मतलब, हम अभीतक चेतना के जिस समभाव संकेंद्रण की बात कहते आये हैं, उससे भिन्न एक अ-समरूप संकेंद्रण से होता है जिसमें आत्म-विभाजन का आरंभ या उसका गोचर आभास होता है।

सबसे पहले 'ज्ञाता' अपने-आपको ज्ञान में विषयी के रूप में संकेंद्रित रखता है और अपनी चेतना की 'शक्ति' को इस तरह देखता है मानों वह सारे समय उससे निकल कर उसके अपने-आपके रूप के अंदर जाती रहती हो, उसमें क्रिया करती और फिर लौट आती हो और फिर से निरंतर निःसृत होती रहती हो। आत्म-परिवर्तन की इस एक ही क्रिया से वे सभी व्यावहारिक भेद उत्पन्न होते हैं जिनपर विश्व की सापेक्ष दृष्टि और सापेक्ष क्रिया आधारित है। एक व्यावहारिक भेद की रचना ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के बीच, परमेश्वर, उनकी शक्ति और शक्ति की संतानों और क्रियाओं के बीच, भोक्ता, भोग और भोग्य के बीच, आत्मा, माया और आत्मा की संभूतियों के बीच की गयी है।

दूसरे, ज्ञान में संकेंद्रित यह सचेतन 'आत्मा' यह 'पुरुष' जो अपने अंदर से निःसृत शक्ति का या अपनी 'प्रकृति' का अवलोकन और उसपर शासन करता है, अपने प्रत्येक रूप में अपने-आपको दोहराता है। अपनी चेतना की शक्ति के कार्यों में उसके साथ-साथ रहता है और वहां आत्मविभाजन की क्रिया को फिर से प्रस्तुत करता है जिससे इस बहिर्बोधात्मिका चेतना का जन्म होता है। प्रत्येक रूप के अंदर

यह पुरुष अपनी प्रकृति के साथ रहता और चेतना के उस कृत्रिम और व्यावहारिक केंद्र से दूसरे रूपों में अपने-आपको देखता है। सभीके अंदर वही 'आत्मा' है, वही दिव्य सत्ता है। केंद्रों का गुणन चेतना की बस, एक व्यावहारिक क्रिया है जिसका उद्देश्य है विभिन्नता की, पारस्परिकता की, पारस्परिक ज्ञान की, शक्ति के पारस्परिक आघात की, पारस्परिक भोग की क्रीड़ा को आरंभ करना, ऐसी विभिन्नता की जो तात्त्विक एकता पर आधारित हो, ऐसी एकता पर जो विभिन्नता के व्यावहारिक आधार पर प्राप्त हो।

सर्वव्यापी अतिमानस की इस नयी स्थिति के बारे में हम कह सकते हैं कि यह वस्तुओं के एकत्वमय सत्य से और उस अविभाज्य चेतना से एक और विचलन है जो विश्व-सत्ता के लिये आवश्यक ऐक्य का अविच्छेद्य रूप से निर्माण करती है। हम देख सकते हैं कि और जरा आगे बढ़कर यह चीज सचमुच अविद्या, महान् अज्ञान बन सकती है जो बहुत्व को आधारभूत वास्तविकता मानकर चलती है और वास्तविक ऐक्यतक लौटने के लिये उसे अहंकार के मिथ्या ऐक्य से शुरू करना पड़ता है। हम यह भी देख सकते हैं कि एक बार व्यष्टिगत केंद्र को निर्णायक बिंदु के रूप में, ज्ञाता के रूप में स्वीकार कर लिया जाये तो मानसिक संवेदन, मानसिक बुद्धि और मन की इच्छा-क्रिया और उसके परिणाम आये बिना नहीं रह सकते। किंतु हमें यह भी देखना है कि जबतक आत्मा अतिमानस में कार्य करती है तबतक अविद्या का आरंभ नहीं होता, तबतक ज्ञान और क्रिया का क्षेत्र ऋत-चित् ही रहता है, तबतक एकत्व ही आधार रहता है।

क्योंकि आत्मा अभीतक अपने-आपको सबके अंदर एक और सभी चीजों को अपने अंदर और अपनी संभूतियां मानती है; प्रभु अभीतक अपनी शक्ति को अपना ही रूप जानते हैं जो क्रियारत है और हर एक सत्ता को आत्मा में और रूप में स्वयं अपना-आपा ही मानते हैं। अभी भी यह उन्हींकी अपनी सत्ता है, चाहे बहुत्व में है, जिसके साथ वे लीलामय लीला करते हैं। चेतना का जो एक वास्तविक परिवर्तन हुआ है वह है असमरूप संकेंद्रण और शक्ति का बहुविध वितरण। चेतना में एक व्यावहारिक भिन्नता तो दृष्टिगोचर होने लगी है परंतु चेतना का कोई तात्त्विक भेद या अपने बारे में उसकी अपनी दृष्टि में कोई वास्तविक विभाजन नहीं हुआ है। ऋत-चित् अब ऐसी स्थिति पर आ गया है जो हमारी मानसिकता को तैयार तो करती है लेकिन अभीतक हमारी मानसिकता नहीं बनी है। मन को अपने उद्गम स्थान पर पकड़ने के लिये हमें इसीका अध्ययन करना चाहिये, उस बिंदु पर पकड़ने के लिये, जहां उसका ऋत-चित् की उच्च और बृहत् विशालता से स्खलन होता है और वह विभाजन और अविद्या में जा पड़ता है। अभीतक हम जिस सुदूर सिद्धि को बुद्धि की अपनी अपर्याप्त भाषा में व्यक्त करने का कठोर प्रयत्न करते रहे हैं, उसकी अपेक्षा, सौभाग्यवश, यह प्रज्ञान-चेतना हमारे ज्यादा नजदीक है, हमारी मानसिक क्रियाओं की पूर्व छाया है इस कारण हमारी पकड़ के लिये अधिक आसान है। यहां जिस व्यवधान को पार करना है वह कम दुष्कर है।

अध्याय १६

अतिमानस की त्रिपुटी

भूतभृत्...ममात्मा भूतभावनः।
अहमात्मा... सर्वभूताशयस्थितः॥

मेरी आत्मा वह है जो सभीको सहारा देती है और उनके अस्तित्व को संघटित करती है...। मैं वह आत्मा हूं जो सब सत्ताओं में निवास करती है।

गीता ९.५; १०.२०

त्र्यर्यमा... त्री रोचना दिव्या धारयन्त।

ज्योति की तीन शक्तियां तीन दिव्य ज्योतिर्मय लोकों को धारण करती हैं।

ऋग्वेद ५.२९.१

हम जिस जगत् में निवास करते हैं उसे प्रज्ञान चेतना के इस अधिक सरल दृष्टिकोण से समझने से पहले—यह चेतना चीजों को उस तरह देखती है जैसे कोई मन की सीमाओं से मुक्त और दिव्य अतिमानस की क्रिया में भाग लेने के लिये प्रवेश-प्राप्त व्यष्टिगत आत्मा देखती है—रुककर हमें संक्षेप में उसको दोहरा लेना चाहिये जो हमने प्रभु की, ईश्वर की चेतना के बारे में जाना और समझा है, या अब भी जान और समझ सकते हैं कि कैसे वह अपनी सत्ता के आद्य संकेंद्रित एकत्व में से अपनी माया द्वारा जगत् की सृष्टि करता है।

हम इस दृढ़ कथन को लेकर चले हैं कि समस्त अस्तित्व एक सत्ता है जिसका मूल स्वरूप है चेतना, एक ऐसी चेतना जिसका सक्रिय स्वरूप है शक्ति या इच्छा और यह सत्ता आनंद है, यह चेतना आनंद है, यह शक्ति या इच्छा आनंद है। सत्ता का शाश्वत और अविच्छेद्य आनंद, चेतना का आनंद, शक्ति या इच्छा का आनंद, चाहे वह अपने-आपमें संकेंद्रित और विश्रामावस्था में हो अथवा सक्रिय और सृजनात्मक हो, वह ईश्वर ही है और वही हम हैं अपनी मूल, अपनी नाम-रूपरहित सत्ता में। आत्म-संकेंद्रित अवस्था में वह मूलभूत शाश्वत और अविच्छेद्य आनंद का स्वामी बल्कि स्वयं वही आनंद होता है। सक्रिय और सृजनात्मक रूप में वह सत्ता की क्रीड़ा के आनंद का, चेतना की क्रीड़ा के आनंद का, शक्ति और इच्छा की लीला के आनंद का स्वामी होता है बल्कि स्वयं वही आनंद बन जाता है। वह लीला ही विश्व है और वह आनंद ही विश्व सत्ता का एकमात्र कारण, प्रेरक और उद्देश्य है। भागवत चेतना शाश्वत और अविच्छेद्य रूप से उस लीला और आनंद की स्वामिनी है। हमारी मूल सत्ता, हमारी वास्तविक आत्मा, जिसे हमारी मिथ्या आत्मा या मानसिक अहंकार हमसे

छिपाये हुए हैं, भी उस लीला और आनंद को शाश्वत और अविच्छेद्य रूप से भोगती है, इससे भिन्न वस्तुतः वह कुछ कर ही नहीं सकती क्योंकि वह अपनी सत्ता में दिव्य चेतना के साथ एक है। अतः यदि हम दिव्य जीवन के लिये अभीप्सा करते हैं तो उसे हम किसी और तरह से नहीं पा सकते सिवाय इसके कि हम अपने अंदर पर्दे में छिपी इस आत्मा को पर्दे से बाहर लायें, मिथ्या आत्मा या मानसिक अहं में निवास की अपनी वर्तमान स्थिति से वास्तविक स्व की, आत्मा की उच्चतर स्थिति में आरोहण करें, भागवत चेतना के साथ उस एकत्व में प्रवेश करें जिसमें हमारे अंदर की कोई अतिचेतन वस्तु सदा ही रस लेती है—अन्यथा हमारा अस्तित्व ही नहीं रह सकता था—परंतु जिसे हमारी सचेतन मानसिकता ने खो दिया है।

लेकिन जब हम इस प्रकार एक ओर तो सच्चिदानंद के इस एकत्व का और दूसरी ओर इस विभक्त मानसता का प्रतिपादन करते हैं तो हम दो परस्पर-विरोधी तत्त्वों की स्थापना कर डालते हैं, उनमें से एक को अगर हम सच्चा मानें तो दूसरे को मिथ्या होना होगा, अगर एक का भोग करना हो तो दूसरे को मिटा देना होगा। परंतु हम धरती पर तो मन में और उसके जो रूप हैं प्राण और शरीर, उन्हींमें रहते हैं और अगर हमें उस एकमेव सत्, चित् और आनंदतक पहुंचने के लिये मन, प्राण और शरीर की चेतना को मिटा देना पड़े तो दिव्य जीवन यहां असंभव होगा। परात्पर का आनंद पाने या फिर से परात्पर बन जाने के लिये हमें वैश्व जीवन को पूरी तरह से, भ्रांति मानकर, त्याग देना होगा। इस समाधान से तबतक नहीं बचा जा सकता जबतक दोनों के बीच एक ऐसी कड़ी न हो जो दोनों को एक-दूसरे का विवरण दे सके और उनके बीच ऐसा संबंध स्थापित कर सके कि वह मन, प्राण और शरीर के सांचे में सच्चिदानंद को पाना हमारे लिये संभव बना दे।

और यह बीच की कड़ी मौजूद है। हम उसे अतिमानस या सत्य-चेतना (ऋत-चित्) कहते हैं क्योंकि वह मन से श्रेष्ठतर तत्त्व है और वह वस्तुओं के आधारभूत सत्य और ऐक्य में निवास करता, कार्य करता और आगे बढ़ता है, मन की तरह वस्तुओं के आभासों और प्रपंचगत विभाजनों में नहीं, अतिमानस का अस्तित्व हम जिस प्रस्थापना को लेकर चले हैं, सीधे उसीसे उठनेवाली एक युक्तियुक्त आवश्यकता है; क्योंकि अपने-आपमें सच्चिदानंद उस सचेतन सत् का जो कि आनंद है, एक देशहीन, कालहीन निरपेक्ष होना चाहिये। लेकिन जगत् इसके विपरीत, देश और काल में एक विस्तार है और इस देश और काल में एक गति है, एक कार्यान्वयन है, कार्य-कारण भाव द्वारा—या जो हमें ऐसा प्रतीत होता है—संबंधों और संभावनाओं का विकास है। इस कार्यकारण-भाव का सच्चा नाम है 'भागवत विधान' और इस विधान का सारतत्त्व है वस्तु के सत्य का अनिवार्य आत्म-विकास। यह सत्य, जो कुछ भी विकसित हुआ है, उसके स्वयं मूल में ही 'भाव' रूप से विद्यमान रहता है। यह अनंत संभावना के उपादान में से रचित

सापेक्षिक गतियों का पूर्व-निश्चित निर्धारण है। तो वह जो इस प्रकार से सभी चीजों को विकसित करता है, अवश्य ही एक ज्ञानात्मिका इच्छा या चित्-शक्ति होनी चाहिये क्योंकि विश्व की समस्त अभिव्यक्ति चित्-शक्ति का खेल है जो जीवन का तात्त्विक स्वभाव है। परंतु विकसित होती हुई ज्ञानात्मिका इच्छा मानसिक नहीं हो सकती क्योंकि मन इस विधान को न जानता है, न वह उसके अधिकार में है और न ही वह उसपर शासन करता है, बल्कि वह इस विधान से शासित होता है, इसके परिणामों में से एक है, आत्म-विकास की प्रक्रिया में रहता है, उसके मूल में नहीं, विकास के परिणामों को विभक्त वस्तुओं के रूप में देखता है और उनके उद्गम और उनकी वास्तविकतातक पहुंचने का निष्फल प्रयास करता है। इसके अलावा यह ज्ञानात्मिका इच्छा जो सबका विकास साधित करती है, निश्चय ही इन वस्तुओं के एकत्व पर अधिकार रखती होगी और उस एकत्व में से बहुत्व को अभिव्यक्त करती होगी। परंतु मन का उस एकत्व पर अधिकार नहीं है, उसका केवल बहुत्व के एक भाग पर अधिकार है और वह भी अधूरा।

अतः 'मन' से श्रेष्ठतर कोई तत्त्व होना चाहिये जो उन शर्तों को पूरा कर सके जिनमें मन असफल रहता है। निःसंदेह, यह तत्त्व स्वयं सच्चिदानंद है लेकिन वह सच्चिदानंद नहीं जो अपनी शुद्ध, अनंत, अपरिवर्तनशील चेतना में निवास करता है बल्कि वह जो इस आद्या स्थिति से चलकर या उसे आधार बनाकर और उसके अंदर आधेय बनकर ऐसी गति में आ जाता है जो उसीकी अपनी ऊर्जा-रूप होती है और जो वैश्व सृष्टि का निमित्त या कारण बनती है। चेतना और शक्ति सत् के शुद्ध सामर्थ्य के युगल अनिवार्य पक्ष हैं। अतः 'ज्ञान' और 'इच्छा' वे रूप होने चाहियें जिन्हें वह 'सामर्थ्य' देश और काल के विस्तार में संबंधों का एक जगत् बनाने के लिये अपनाती है। यह ज्ञान और यह इच्छा अवश्य ही अभिन्न होनी चाहिये, यह अनंत, सर्वालिंगनकारी, सर्व-प्रभुत्वशाली, सर्व-रूपायणकारी होनी चाहिये तथा उस सबको अपने अंदर शाश्वत रूप से धारण किये हुए होनी चाहिये जिसे वह गति और रूप में ढालती है। तो अतिमानस एक ऐसी सत्ता है जो निर्णायक आत्म-ज्ञान में निःसृत होती है। वह अपने ही कुछ सत्यों को देखता है और उन्हें अपनी देशातीत और कालातीत सत्ता के देश और कालगत विस्तार में चरितार्थ करने की इच्छा करता है। जो कुछ उसकी अपनी सत्ता में है वह आत्म-ज्ञान का, ऋत-चित् का, सत्य-संकल्प का रूप ले लेता है और चूंकि आत्मज्ञान आत्मशक्ति भी है इसलिये वह अनिवार्य रूप से अपने-आपको काल और देश में परिपूर्ण और चरितार्थ करता है।

तो यही है उस भागवत चेतना का स्वरूप जो अपनी चित्-शक्ति की क्रिया द्वारा अपने ही अंदर सब वस्तुओं की सृष्टि करती और उनके विकास को एक आत्म-विवर्तन के द्वारा और सत्ता के सत्य में अंतर्निहित ज्ञानात्मिका इच्छा के या सत्य-

भाव के द्वारा—जिसने कि उन्हें रूप दिया है—शासित करती है। जो सत् इस भांति सचेतन है उसे हम भगवान् कहते हैं और स्पष्ट है कि उसे सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होना चाहिये। सर्वव्यापक क्योंकि सभी रूप उसकी चित्-सत्ता के रूप हैं जिन्हें उसकी गति की शक्ति ने देश और काल के रूपों को उसके अपने ही विस्तार में रचा है, सर्वज्ञ क्योंकि सभी चीजें उसकी चित्-सत्ता में रहती, उसीके द्वारा रूपायित होती और उसीके अधिकार में रहती हैं, सर्वशक्तिमान् क्योंकि यह सर्वाधिपति चेतना, सर्वाधिपति शक्ति भी है और सबको अनुप्राणित करनेवाली इच्छा भी है और जैसे हमारा ज्ञान और हमारी इच्छा आपस में लड़ने में समर्थ होते हैं उस तरह यह इच्छा और ज्ञान आपस में नहीं लड़ते क्योंकि वे अलग-अलग न होकर उसी एक सत्ता की ही अभिन्न गति हैं। न ही बाहर या भीतर से कोई और इच्छा, शक्ति, या चेतना उनका प्रतिवाद कर सकती क्योंकि एकमेव के बाहर कोई चेतना या शक्ति है ही नहीं और भीतर ज्ञान की सभी ऊर्जाएं और ज्ञान की सभी रचनाएं स्वयं उससे भिन्न नहीं हैं। वे केवल एक सर्वनिर्णायक इच्छा और सर्वसामंजस्यकारी ज्ञान की लीला मात्र हैं। हम जिसे इच्छाओं और शक्ति के टकराव के रूप में देखते हैं—क्योंकि हम एक विशिष्ट और विभक्त स्थिति में निवास करते हैं और समग्र को नहीं देख पाते,—उसे अतिमानस एक पूर्व-निश्चित सामंजस्य के मिलकर काम करनेवाले तत्त्वों के रूप में देखता है, यह सामंजस्य उसके लिये सदा उपस्थित रहता है क्योंकि वस्तुओं की समग्रता हमेशा उसकी दृष्टि तले रहती है।

इस दिव्य चेतना की क्रिया चाहे जो भी स्थिति या रूप अपनाये उसका स्वरूप हमेशा यही रहेगा। लेकिन चूंकि उसकी सत्ता अपने-आपमें निरपेक्ष है अतः उसकी सत्ता की शक्ति भी अपने विस्तार में निरपेक्ष है और इसलिये यह क्रिया की एक ही स्थिति या एक ही रूप से बंधी हुई नहीं है। हम, मानव-प्राणी, प्रतिभासिक रूप से, काल और देश के अधीन, चेतना के एक विशिष्ट रूप हैं और अपनी ऊपरी चेतना में—हम अपने बारे में बस इतना ही तो जानते हैं,—एक समय में एक ही चीज, एक ही रूप, सत्ता की एक ही स्थिति, अनुभूतियों की एक ही समष्टि हो सकते हैं और हमारे लिये वही एक चीज वस्तुओं का सत्य होती है, जिसे हम स्वीकार करते हैं। बाकी सब या तो सत्य नहीं होता या अब सत्य नहीं रहा क्योंकि वह हमारी दृष्टि से भूतकाल में विलीन हो गया है, या फिर अभीतक इसलिये सत्य नहीं है क्योंकि वह भविष्य में प्रतीक्षा कर रहा है और अभी हमारी पहुंच से बाहर है। लेकिन दिव्य चेतना किसी विशेष रूप में न तो इस तरह बंधी है और न सीमित है। वह एक ही समय में अनेक चीजें हो सकती है और सदा के लिये भी एक से अधिक स्थायी स्थितियां अपना सकती है। हम देखते हैं कि स्वयं अतिमानस के तत्त्व में उसकी जगत्-संस्थापिका चेतना की तीन ऐसी सामान्य

स्थितियां या तीन सत्र होते हैं। पहली स्थिति वस्तुओं की अविच्छेद्य एकता को आधार देती है, दूसरी उस एकता में इस तरह हेर-फेर करती है कि वह एक में बहु और बहु में एक की अभिव्यक्ति को सहारा दे सके। तीसरी उसमें और हेर-फेर लाती है ताकि नाना प्रकार की वैयक्तिकता के विकास को सहारा मिले। यह वैयक्तिकता ही अविद्या की क्रिया द्वारा हमारे अंदर, निचले स्तर पर एक पृथक् अहं का भ्रम बन जाती है।

हम देख चुके हैं कि अतिमानस की इस पहली और आरंभिक स्थिति का स्वरूप क्या है जो वस्तुओं की अविच्छेद्य एकता को आधार देती है। वह शुद्ध अद्वैतवादी चेतना नहीं है क्योंकि वह तो सच्चिदानंद का स्वयं अपने अंदर कालहीन और देशहीन संकेंद्रीकरण है जिसमें चित्-शक्ति किसी भी प्रकार के विस्तार में अपने-आपको प्रक्षिप्त नहीं करती और अगर वह विश्व को अपने अंदर धारण किये भी है तो शाश्वत संभाव्यता में न कि कालगत तथ्य के रूप में। इसके विपरीत, अतिमानस की यह स्थिति सच्चिदानंद का ऐसा सम आत्म-विस्तार है जो अपने अंदर सबको समाविष्ट किये, सबपर अधिकार किये और सबका संघटन करता है। परंतु यह 'सर्व' एक है, बहु नहीं; यहां कोई वैयक्तिक भाव नहीं है। जब इस अतिमानस का प्रतिबिंब हमारी स्तब्ध और शुद्ध बनी हुई आत्मा पर पड़ता है तो हम अपना व्यक्तित्व का सारा भाव खो देते हैं क्योंकि वहां चेतना का कोई ऐसा संकेंद्रीकरण नहीं है जो व्यक्तिगत विकास को सहारा दे सके। सब कुछ ऐक्य में और जैसे सब एक ही हों, इस तरह विकसित हुआ है। सबको दिव्य चेतना अपनी ही सत्ता के रूपों की तरह धारण किये हुए है, किसी भी मात्रा में पृथक् सत्ताओं की तरह नहीं। कुछ-कुछ ऐसे जैसे हमारे मन में आनेवाले विचार और बिंब हमारे लिये पृथक् सत्ताएं नहीं होते बल्कि वे हमारी ही चेतना के रूप होते हैं वैसे ही इस आरंभिक अतिमानस के लिये सभी नाम और रूप हैं। यह अनंत के अंदर शुद्ध दिव्य भावन और रूपायन है। यह मन के विचार की अयथार्थ क्रीड़ा की तरह नहीं है बल्कि सचेतन सत्ता की यथार्थ क्रीड़ा की तरह संगठित होता है। इस स्थिति में विद्यमान दिव्य आत्मा चित्-पुरुष और शक्ति-रूप पुरुष में भेद न करेगी क्योंकि सारी शक्ति चेतना की क्रिया होगी, जड़ द्रव्य और आत्मा में भी फर्क न करेगी क्योंकि सभी सांचे आत्मा के आकार भर होंगे।

अतिमानस की दूसरी स्थिति में दिव्य चेतना अपने अंदर समायी गति से पीछे हटकर भाव में स्थित हो जाती है। उस गति को एक प्रकार की बहिर्द्रष्टृी चेतना द्वारा उपलब्ध करती, उसका अनुसरण करती, अपने कार्यों में निवास करती और अपने-आपको उसके रूपों में वितरित करती-सी मालूम होती है। प्रत्येक नाम-रूप में वह अपने-आपको स्थायी सचेतन आत्मा के रूप में अनुभव करेगी जो सभीके अंदर एक समान है परंतु साथ ही वह अपने-आपको चिदात्मा के एक ऐसे संकेंद्रण

के रूप में भी अनुभव करेगी जो गति की व्यष्टिगत लीला का अनुसरण कर रही और उसे सहारा दे रही है और गति की अन्य क्रीड़ाओं से उसके भेद को आश्रय दे रही है, —वह आत्म-तत्त्व में सर्वत्र एक-समान है परंतु आत्म-रूप में अलग-अलग। आत्मा के रूप को सहारा देनेवाला यह संकेंद्रीकरण ही व्यष्टिगत भगवान् या जीवात्मा है जो वैश्व भगवान् या एकमेव सर्व संघटक आत्मा से भिन्न है। सारतः इनमें कोई भेद नहीं है, केवल लीला के हेतु व्यावहारिक भेद होता है जो सच्चे ऐक्य को नष्ट नहीं कर सकता। वैश्व भगवान् सभी आत्मा-रूपों को अपने-आपके रूप में जानते हैं, पर फिर भी हर एक के साथ और हर एक में अन्य सभीके साथ पृथक् रूप से भिन्न संबंध स्थापित करते हैं। व्यष्टिगत भगवान् अपनी सत्ता को एकमेव के आत्मा-रूप और आत्मा की गति के रूप में देखते हैं और जब वह चेतना की सर्वसमावेशी क्रिया के द्वारा एकमेव के साथ और उसके सभी आत्मा के रूपों के साथ ऐक्य का भोग करते हैं तब भी अग्रगामी या सामने की बहिर्द्रष्टी क्रिया के द्वारा अपनी व्यष्टिगत गति तथा एकमेव के साथ और उसके सभी रूपों के साथ ऐक्य में स्वतंत्र भेद के संबंधों को भी सहारा देते और भोगते हैं। अगर हमारा पवित्रीकृत मन अतिमानस की इस दूसरी अवस्था को प्रतिबिंबित करे तो हमारी आत्मा अपने व्यष्टिगत अस्तित्व को सहारा दे सकती और उसे धारण करती हुई भी वहां अपने-आपको उस एकमेव के रूप में जान सकती है जो सर्व बन गया है, सबके अंदर निवास करता, सबको धारण करता है और वह अपनी विशिष्ट विभिन्नता में भी भगवान् और अपने साथियों के साथ एकत्व का रस ले सकती है। अतिमानसिक सत्ता की अन्य किसी भी परिस्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हो सकता। परिवर्तन आयेगा तो बस एकमेव की उस लीला के रूप में जिसने अपनी विभिन्नता प्रकट की है और उस बहु की लीला के रूप में जो अब भी एक है, और इसके साथ-ही-साथ वह सब जो इस खेल को बनाये रखने और चलाने के लिये जरूरी है।

अतिमानस की तीसरी स्थिति तब प्राप्त होगी जब सहारा देनेवाला संकेंद्रण मानों अब और गति के पृष्ठभाग में स्थित नहीं रहता, उससे एक प्रकार से उच्च रहकर उसका अधिष्ठान नहीं करता और इस प्रकार उसका द्रष्टा और भोक्ता न रहकर अपने-आपको गति में प्रक्षिप्त कर देता और एक तरह से उसीमें शामिल हो जाता है। यहां लीला का स्वरूप बदल जायेगा लेकिन इसी हदतक कि व्यष्टि-भगवान् वैश्व भगवान् के साथ और उसके अन्य रूपों के साथ संबंधों की क्रीड़ा को इतने प्रमुख रूप से अपने सचेतन अनुभव का व्यावहारिक क्षेत्र बना लेंगे कि उनके साथ पूर्ण एकत्व की उपलब्धि सब अनुभूतियों की परम सहचरी और उनकी स्थायी पराकाष्ठा होगी। किंतु उच्चतर स्थिति में एकत्व ही प्रधान और आधारभूत अनुभव होगा और विभिन्नता एकत्व की एक क्रीड़ा मात्र होगी। अतः यह तीसरी स्थिति,

व्यष्टि-भगवान् और उनके वैश्व उद्गम के बीच एक तरह से ऐक्य में—यह वह ऐक्य नहीं जिसमें द्वैत गौण रूप से लक्षित था—आधारभूत आनंदमय द्वैत होगी। इसके साथ ही वे सब परिणाम आयेंगे जो इस प्रकार के द्वैत के निर्वाह और क्रिया से उत्पन्न होते हैं।

कहा जा सकता है कि पहला परिणाम होगा अविद्या के उस अज्ञान में जा गिरना जो 'बहु' को जीवन का वास्तविक तथ्य मानता है और 'एक' को बहु के वैश्व योगफल के रूप में देखता है। किंतु इस तरह का पतन जरूरी नहीं है क्योंकि व्यष्टि-भगवान् (जीवात्मा) अपने बारे में इस रूप में सचेतन होगा कि वह एकमेव का और उसकी सचेतन आत्म-सृजन की शक्ति का परिणाम है अर्थात् उसके बहुत्वमय आत्म-संकेंद्रण का परिणाम है, जिसकी अवधारणा एकमेव इसलिये करता है कि वह देश और काल में फैली इस बहुरूप सृष्टि का नाना प्रकार से शासन और भोग कर सके। यह सच्चा आध्यात्मिक व्यष्टि अपने-आपको स्वतंत्र और पृथक् सत्ता मान लेने की धृष्टता न करेगा। वह स्थितिशील एकत्व के सत्य के साथ-साथ विभेद की गति के सत्य को भी मान्यता देगा, वह उन्हें एक ही सत्य के उपरले और निचले ध्रुव, उसी एक दिव्य लीला का आधार और चरम बिंदु मानेगा और वह विभिन्नता के आनंद पर इसलिये बल देगा कि वह एकत्व के आनंद की पूर्णता के लिये आवश्यक है।

यह स्पष्ट है कि ये तीनों स्थितियां उस एक ही सत्य के साथ व्यवहार करने की विभिन्न विधियां होंगी। सत्ता के जिस सत्य का भोग किया जायेगा वह एक ही होगा लेकिन उसे भोगने का तरीका या यूं कहें उसे भोगते समय आत्मा की स्थिति भिन्न होगी। आनंद में भिन्नता होगी किंतु वह रहेगा हमेशा ऋत-चित् की अवस्था में और उसका मिथ्यात्व या अविद्या में कभी पतन न होगा। अतिमानस की दूसरी और तीसरी स्थिति केवल उसी चीज को दिव्य बहुत्व के रूप में विकसित और चरितार्थ करेगी जिसे अतिमानस की पहली स्थिति ने दिव्य एकत्व के रूप में अपने अंदर धारण किया था। इन तीनों स्थितियों में से किसीपर भी हम मिथ्यात्व या भ्रांति का कलंक नहीं लगा सकते। उच्चतर अनुभव के इन सत्यों के लिये उच्चतम प्राचीन आप्त प्रमाण है उपनिषद् की वाणी। जब वह अपने-आपको अभिव्यक्त करनेवाले दिव्य सत् के बारे में बोलती है तो वह इन सब अनुभवों की सार्थकता को समाविष्ट करती है। हम केवल यह बात दृढ़ता के साथ कह सकते हैं कि एकत्व बहुत्व से पहले है और यह प्राथमिकता काल के हिसाब से नहीं, चेतना के साथ संबंध से है। परम आध्यात्मिक अनुभूति का कोई भी कथन, कोई भी वेदांत-दर्शन इस प्राथमिकता से या एक पर बहु की शाश्वत निर्भरता से इंकार नहीं करता। चूंकि काल में बहु शाश्वत नहीं मालूम होते प्रत्युत ऐसा लगता है कि वे 'एक' में से अभिव्यक्त होते हैं और उसीमें उसे अपना मूल समझ कर, लौटते हुए मालूम होते

हैं इसलिये 'बहु' की वास्तविकता को नकारा जाता है। लेकिन इसी तरह यह युक्ति दी जा सकती है कि काल में अभिव्यक्ति की शाश्वत स्थिति या यूं कहा जा सकता है, उसकी शाश्वत पुनरावृत्ति इस बात का प्रमाण है कि दिव्य बहुत्व कालातीत परम का एक शाश्वत तथ्य होने में दिव्य एकत्व से कम नहीं है अन्यथा काल में अनिवार्य पुनरावर्तन का यह लक्षण उसे प्राप्त न हो सकता था।

वास्तव में केवल तभी जब हमारी मानव मानसिकता आध्यात्मिक अनुभूति के एक पक्ष पर ऐकांतिक बल देकर यह घोषणा करती है कि यही एकमात्र शाश्वत सत्य है और उसे सर्व-विभाजनकारी मानसिक तर्कणा की भाषा में प्रस्तुत करती है तो एक-दूसरे का खंडन करनेवाले दार्शनिक वादों की जरूरत पड़ती है। इस भांति अद्वैत चेतना के एकमात्र सत्य पर जोर देते हुए हम दिव्य एकत्व का खेल देखते हैं जिसे हमारी मानसिकता भूल से वास्तविक विभेद की भाषा में रखती है। मन की इस भूल को उच्चतर तत्त्व के सत्य द्वारा ठीक करने से संतुष्ट न होकर हम यह आग्रह करते हैं कि सारी लीला ही एक भ्रांति है। या फिर बहु के अंदर 'एक' की लीला पर जोर देते हैं तो विशिष्टाद्वैत की घोषणा करते हैं और व्यष्टि-आत्मा को परम देव का एक आत्मा-रूप मान लेते हैं परंतु साथ ही इस विशिष्ट रूप को शाश्वत मान बैठते हैं और शुद्ध चेतना की अविशिष्ट एकत्व की अनुभूति से एकदम इंकार कर देते हैं। या फिर विभेद के खेल पर जोर देते हुए हम यह स्थापना करते हैं कि परम पुरुष और मानव आत्मा (जीव) शाश्वत रूप से भिन्न-भिन्न हैं और ऐसी अनुभूति की सत्यता को अस्वीकार कर देते हैं जो उनके परे जाती हुई या भेद को लुप्त करती हुई प्रतीत होती है। लेकिन अब हमने दृढ़ता के साथ जो स्थिति अपनायी है वह हमें इन नकारों और बहिष्कारों की आवश्यकता से मुक्त कर देती है। हम देखते हैं कि इन सभी स्वीकृतियों के पीछे कोई सत्य है लेकिन साथ ही उनमें ऐसा अतिरेक भी रहता है जो अधकचरे आधारवाले नकार की ओर ले जाता है। जैसा कि हम कह आये हैं, हम उस तत् की निरपेक्ष निरपेक्षता को स्वीकार करते हैं जो न तो हमारे एकत्व के विचारों से बंधा है और न हमारे बहुत्व के विचारों से। एकत्व को हमने बहुत्व की अभिव्यक्ति के आधार के तौर पर और बहुत्व को एकत्व की ओर लौटने के लिये और दिव्य अभिव्यक्ति में एकत्व का भोग करने के लिये आधार के तौर पर स्वीकार किया है। हमें अपने वर्तमान कथन को इन विवादों द्वारा बोझिल बनाने की अथवा अनंत भगवान् की परम स्वतंत्रता को अपने मानसिक विभेदों और परिभाषाओं में जकड़ने के व्यर्थ प्रयास में पड़ने की जरूरत नहीं।

अध्याय १७

दिव्य आत्मा

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

जिसकी आत्मा सर्वभूत बन गयी है क्योंकि उसे ज्ञान प्राप्त है, जिसे सब जगह एकत्व का दर्शन होता है उसे मोह कैसे हो सकता है, शोक कहां से आ सकता है?

ईशोपनिषद् ७

अतिमानस के बारे में हमने जो धारणा बनायी है और जिस मानसता पर हमारी मानव-सत्ता आधारित है, उससे अतिमानस का जो विरोध है, उनके द्वारा हम दिव्यता और दिव्य जीवन के बारे में एक अस्पष्ट-सा भाव बनाने की जगह एक यथार्थ भाव बनाने में समर्थ हुए हैं। अन्यथा हम दिव्यता तथा दिव्य जीवन, इन शब्दों का उपयोग एक बृहत् किंतु लगभग स्पर्शातीत अभीप्सा के धुंधले शब्दों की तरह शिथिलता के साथ करने के लिये बाधित हैं। इसके अतिरिक्त हम इन भावों को दार्शनिक तर्क का दृढ़ आधार प्रदान करने में और इन्हें मानवता और मानव जीवन के साथ—एकमात्र यही है जिसमें हम अभी रस लेते हैं—एक स्पष्ट संबंध रखने में समर्थ हुए हैं। और जगत् के स्वयं अपने स्वरूप द्वारा, अपने ही वैश्व पूर्वगामी इतिहास और विकासक्रम के अनिवार्य भविष्य के द्वारा अपनी आशा और अभीप्सा को न्यायोचित ठहराने में भी समर्थ हुए हैं। हमने बौद्धिक रूप से यह पकड़ना शुरू किया है कि भगवान् क्या हैं, शाश्वत सद्वस्तु क्या है और यह समझने लगे हैं कि उसमें से जगत् कैसे निकला। हम यह भी देखना शुरू करते हैं कि कैसे जो कुछ भगवान् से निकला है उसे अनिवार्य रूप से भगवान् में लौट जाना होगा। अब यहां यह पूछना उपयोगी हो सकता है और स्पष्टतर उत्तर पाने की आशा भी है कि यदि हमें भगवान् तक केवल अपनी सत्ता की गहराइयों में ऐकांतिक और आनंददायी सिद्धि के द्वारा ही नहीं, वरन् अपनी प्रकृति में, अपने जीवन में और अन्यों के साथ संबंध में भी पहुंचना है तो हमें कैसे परिवर्तित होना होगा और क्या बनना होगा। निश्चय ही, हमारे आधार-वाक्यों में अभी कुछ कमी है क्योंकि हम अभीतक अपने लिये यह व्याख्या करने में लगे हैं कि सीमित प्रकृति की ओर अवतरित होते हुए भगवान् क्या हैं जब कि स्वयं हम वास्तव में जो हैं वह हैं सीमित प्रकृति में से वापस अपनी निजी दिव्यता की ओर आरोहण करते हुए व्यष्टिगत भगवान्। गति के इस भेद के कारण देवों के जीवन और मनुष्य के

जीवन में भेद होगा ही—एक ओर देवगण, जिन्होंने कभी पतन जाना ही नहीं, दूसरी ओर मनुष्य जिसने उद्धार प्राप्त किया है, जो खोये हुए देवत्व का विजेता है और जो अपना एकदम नीचे उतरना स्वीकार करने के कारण नयी संपदाएं और अनुभूति लाता है। बहरहाल तात्त्विक गुणों में कोई अंतर नहीं हो सकता, भेद होता है तो केवल सांचे और रंग का। हम जिन निष्कर्षों पर पहुंचे हैं उनके आधार पर उस दिव्य जीवन के स्वरूप को जान सकते हैं जिसके लिये हम अभीप्सा करते हैं।

तब फिर उस दिव्य आत्मा का जीवन कैसा होगा जो आत्मा के जड़तत्त्व में निमज्जित होने और भौतिक प्रकृति द्वारा आत्मा के तमोग्रस्त होने के कारण उत्पन्न होनेवाले अज्ञान में नहीं उतरी है, उसकी चेतना कैसी होगी जो स्वयं भागवत सत्ता के समान ही वस्तुओं के आदि सत्य में, अविच्छेद्य ऐक्य में अपनी अनंत सत्ता के लोक में निवास करती है पर फिर भी भागवत माया की लीला के कारण और सर्वसमावेशी और बहिर्द्रष्टी ऋत-चेतना के भेद के कारण भगवान् के साथ भेद का और साथ ही ऐक्य का भी रस ले सकती है और बहुधा-रूपायित 'एकरूप' भगवान् की अनंत लीला में दूसरी दिव्य आत्माओं के साथ भेद का, पर साथ ही ऐक्य का भी आलिंगन कर सकती है।

स्पष्ट है कि इस प्रकार की अंतरात्मा का जीवन सच्चिदानंद की सचेतन लीला में हमेशा स्वतःपूर्ण होगा। वह अपनी सत्ता में शुद्ध, अनंत स्वयंभू और अपनी संभूति में अमर जीवन की मुक्त लीला होगा जिसपर जन्म और मरण या शरीर-परिवर्तन का आक्रमण न होगा क्योंकि वह अज्ञान के बादलों में न होगा और न ही हमारी भौतिक सत्ता के अंधकार में फंसा होगा। वह अपनी ऊर्जा में शुद्ध, असीम चेतना होगा जो शाश्वत और प्रकाशमय प्रशांति को अपना आधार बनाकर उसमें स्थित होगा, पर साथ ही, ज्ञान के रूपों और सचेतन शक्ति के रूपों के साथ मुक्त रूप से खेल सकेगा, जो प्रशांत होगा, मानसिक भूलों की ठोकरों और हमारी प्रयत्नशील इच्छा की भूल-चूक से अछूता रहेगा क्योंकि वह सत्य और एकत्व से कभी अलग नहीं होता, अपने दिव्य जीवन के अंतर्निहित प्रकाश और सहज-स्वाभाविक सामंजस्य से कभी नीचे नहीं गिरता। और अंत में वह अपनी शाश्वत आत्मानुभूति में शुद्ध और अविच्छेद्य आनंद होगा और काल में हमारी अरुचि, घृणा, असंतोष और दुःख-दर्द की विकृतियों से अस्पृष्ट आनंद की बहुरूप छटाएं लिये होगा क्योंकि वह अपनी सत्ता में अविभक्त होगा, भूल करनेवाले स्वेच्छाचरण से घबरायेगा नहीं, कामना की अज्ञानभरी उत्तेजना से अविकृत होगा।

उसकी चेतना अनंत-सत्य के किसी भाग की ओर से बंद न होगी और न वह औरों के साथ अपनाये हुए संबंधों की किसी स्थिरता या स्थिति के कारण सीमित होगी और न शुद्ध प्रपंचात्मक व्यक्तित्व की ओर व्यवहारतः विभेद की क्रीड़ा को स्वीकार कर लेने के कारण उसे आत्म-ज्ञान से थोड़ा भी वंचित होना पड़ेगा। वह

अपनी आत्मानुभूति में सदा निरपेक्ष की उपस्थिति में निवास करेगी। हमारे लिये निरपेक्ष अनिर्वचनीय सत्ता की एक बौद्धिक अवधारणामात्र है। बुद्धि हमसे बस यही कहती है कि एक ऊंचे-से-ऊंचा, परात्पर ब्रह्म है, एक अज्ञेय पुरुष है जो अपने-आपको हमारे ज्ञान से इतर, किसी और ढंग से जानता है लेकिन बुद्धि हमें उसकी उपस्थिति में नहीं ले जा सकती। इसके विपरीत, वस्तुओं के सत्य में निवास करनेवाली दिव्य आत्मा को हमेशा यह सचेतन भान रहेगा कि वह निरपेक्ष की एक अभिव्यक्ति है। अपने अक्षर अस्तित्व के बारे में उसे यह भान होगा कि वह परात्पर का, सच्चिदानंद का आदि-आत्म-स्वरूप है, अपनी सचेतन सत्ता की क्रीड़ा में उसे यह भान होगा कि वह सच्चिदानंद के रूपों में उस तत् ही की अभिव्यक्ति है। अपने ज्ञान की हर स्थिति या क्रिया में उसे यह भान रहेगा कि अज्ञेय ही अपने-आपको परिवर्तनशील आत्मज्ञान के किसी प्रकार द्वारा जान रहा है। शक्ति, इच्छा या बल की अपनी प्रत्येक स्थिति या क्रिया में उसे यह भान रहेगा कि सत्ता और ज्ञान के सचेतन बल के किसी प्रकार द्वारा वह परात्पर ही अपने-आपको उपलब्ध कर रहा है। आनंद, हर्ष या प्रेम की अपनी प्रत्येक स्थिति या क्रिया में उसे यह भान रहेगा कि सचेतन आत्मभोग के किसी प्रकार द्वारा परात्पर ही अपने भाव का आलिंगन कर रहा है। निरपेक्ष की यह उपस्थिति उसके साथ कभी-कदास झलक के रूप में मिलनेवाली अनुभूति न होगी, न ही यह ऐसी अनुभूति होगी जहां अंततः वह पहुंच पाया हो और जिसे वह कठिनाई से पकड़े हुए हो, न ही यह ऐसी अनुभूति होगी जो उसकी सत्ता की सामान्य स्थिति पर एक वृद्धिगत वस्तु, एक उपार्जित वस्तु या चरमोत्कर्ष की स्थिति के रूप में ऊपर से थोपी हुई कोई चीज हो। यह उपस्थिति एकता और विभिन्नता दोनों स्थितियों में उसकी सत्ता का असली आधार होगी। यह उसके ज्ञान, इच्छा, कर्म और भोग की प्रत्येक क्रिया में विद्यमान रहेगी। यह उपस्थिति उससे अलग न होगी, न तो उसकी कालातीत सत्ता से और न काल के किसी क्षण से, न उसकी देशातीत सत्ता से और न ही उसकी विस्तारित सत्ता के किसी निर्धारण से, न समस्त कारण और परिस्थिति से परे उसकी निरुपाधिक पवित्रता से और न परिस्थिति, उपाधि और कारण के किसी संबंध से अलग होगी। निरपेक्ष की यह सतत उपस्थिति उसकी अनंत स्वाधीनता और आनंद का आधार होगी, लीला में उसकी सुरक्षा को सुनिश्चित करेगी और उसकी दिव्य सत्ता के मूल, रस और सार का संपोषण करेगी।

इसके अतिरिक्त, ऐसी दिव्य आत्मा युगपत् रूप से सच्चिदानंद के शाश्वत अस्तित्व से अलग न किये जा सकनेवाले उन दोनों छोरों में, निरपेक्ष के आत्मोन्मीलन के उन दोनों ध्रुवों में निवास करेगी जिन्हें हम एक और बहु कहते हैं। वास्तव में समस्त सत्ता इसी भांति निवास करती है लेकिन हमारी विभक्त आत्म-अभिज्ञता के लिये इन दोनों के बीच एक असंगति है, एक खाई है जो हमें

चुनाव के लिये विवश करती है यानी, या तो हम उस बहुत्व में निवास करें जो 'एक' की अपरोक्ष और समग्र चेतना से निर्वासित हो या फिर उस एकत्व में निवास करें जो बहुत्व की चेतना को अस्वीकार करता है। लेकिन दिव्य आत्मा इस विच्छेद या द्वैत की दास नहीं बनेगी। वह अपने अंदर युगपत् रूप से अनंत आत्म-संकेंद्रण और अनंत आत्म-विस्तार और प्रसार से अभिज्ञ होगी। वह युगपत् रूप से उस एक से अभिज्ञ होगी जो अपनी अद्वैत चेतना में असंख्य बहुत्व को अपने अंदर संभाव्य और अनभिव्यक्त रूप में धारण किये रहता है और इस कारण हमारी मानसिक अनुभूति के लिये उस स्थिति का अस्तित्व नहीं होता, और उस एक से भी अभिज्ञ होगी जो अपनी विस्तारित चेतना में अपनी सचेतन सत्ता, इच्छा और आनंद की लीला के रूप में बहिःप्रक्षिप्त और सक्रिय बहुत्व को धारण किये होता है। उसे समान रूप से बहु की अभिज्ञता होगी जो सदा उस एक को अपनी ओर खींचते रहते हैं जो उनके अस्तित्व का सनातन स्रोत और सद्वस्तु है और बहु के बारे में उसे यह भी मालूम होगा कि वे सदा उस एक से आकर्षित होकर ऊपर उठ रहे हैं जो उनकी सारी विभेद-क्रीड़ा का शाश्वत चरमोत्कर्ष और आनंदमय औचित्य है। वस्तुओं के बारे में बृहत् दृष्टि ऋत-चित् का स्वभाव है, बृहत् सत्य और ऋत की आधारशिला है जिसके लिये वैदिक ऋषियों ने मंत्र गाये हैं, इन सभी विरोधी तत्त्वों का यह एकत्व ही सच्चा अद्वैत है, अज्ञेय के ज्ञान का परम ग्राह्य शब्द है।

दिव्य आत्मा सत्ता, चेतना, इच्छा और आनंद के समस्त वैविध्य से इस रूप में अभिज्ञ होगी कि वह उस आत्म-संकेंद्रित ऐक्य का बहिर्प्रवाह, विस्तार और प्रसार है जो विभेद और विभाजन के रूप में नहीं बल्कि अनंत ऐक्य के एक दूसरे, एक विस्तारित रूप में अपने-आपको विकसित कर रहा है। अपनी सत्ता के सारतत्त्व में वह स्वयं भी हमेशा एकत्व में केंद्रित रहेगी, अपनी सत्ता के प्रसार में वह हमेशा विभिन्नता में अभिव्यक्त होगी। उसमें जो कुछ रूप धारण करता है वह एकमेव की अभिव्यक्त संभाव्यताओं के रूप में होगा, नामहीन नीरवता में से स्पंदित होते हुए नाम या शब्द के, अरूप तत्त्व में से प्रकट होते हुए रूप के, प्रशांत शक्ति में से बाहर आती हुई इच्छा या शक्ति के, कालातीत आत्म-अभिज्ञता के सूर्य में से झलकती हुई आत्मबोध की किरण के, शाश्वत चिन्मय सत्ता में से आत्म-सचेतन सत्ता के रूप में उठती हुई संभूति की लहर के, शाश्वत, स्थिर आनंद में से निरंतर उमड़ते हुए हर्ष और प्रेम के रूप में होगा। दिव्य आत्मा वही निरपेक्ष होगी जो अपने आत्म-प्रस्फुटन में द्विदल हो गया है और उसके अंदर की प्रत्येक सापेक्षता अपने लिये निरपेक्ष होगी क्योंकि वह अपने-आपको अभिव्यक्त निरपेक्ष के रूप में देखती है लेकिन उसमें वह अज्ञान नहीं होता जो अन्य सापेक्षताओं को अपनी सत्ता से पराया या अपने से कम पूर्ण मानकर अलग रखता है।

विस्तार में दिव्य सत्ता अतिमानसिक सत्ता की तीन श्रेणियों से अवगत होगी,

उस तरह नहीं जैसे हम मानसिक रूप में उन्हें मानने के लिये बाधित होते हैं, श्रेणियों के रूप में नहीं, बल्कि सच्चिदानंद की आत्माभिव्यक्ति के त्रियेक तथ्य के रूप में। वह उन्हें एक अखंड सर्वग्राही आत्मोपलब्धि के आलिंगन में भर सकेगी—क्योंकि बृहत् सर्वसमावेशिता ऋत-चित् अतिमानस का आधार है। वह सभी चीजों की धारणा, उनका प्रत्यक्ष दर्शन और संवेदन इस दिव्य रूप में कर पायेगी कि वे सब आत्मा हैं, जो आत्मा कि उसकी अपनी आत्मा है, सबकी एक आत्मा है, एक ही आत्म-सत्ता और आत्म-संभूति है परंतु वह अपनी संभूतियों में विभक्त नहीं है, जिनका कि उसकी अपनी आत्म-चेतना से भिन्न कोई अस्तित्व ही नहीं है। वह दिव्य रूप में समस्त सत्ताओं की धारणा, उनका प्रत्यक्ष दर्शन और संवेदन 'एकमेव' के आत्मा-रूपों में कर पायेगी जिनमें से हर एक की 'एक' में अपनी सत्ता है, 'एक' में अपना दृष्टिकोण है, अनंत ऐक्य में बसी अन्य सत्ताओं के साथ अपना संबंध है लेकिन सब उस 'एक' पर निर्भर हैं, उस एक की अपनी अनंतता में उसीकी सचेतन आकृतियां हैं। वह इन सभी सत्ताओं की, उनके व्यष्टिगत रूप में, उनके पृथक् आधार-बिंदु के रूप में धारणा, उनका प्रत्यक्ष दर्शन, उनका संवेदन इस दिव्य रूप में कर पायेगी कि वे सभी व्यष्टिगत भगवान् के रूप में रहती हैं, हर एक के अंदर 'एक' और 'परम' निवास करता है इसलिये हर एक सर्वथा कोई भ्रम अथवा छाया नहीं है, वस्तुतः किसी वास्तविक समग्र का कोई भ्रमात्मक अंग नहीं है, एक अचल सागर की सतह पर उठती कोई झाग की लहर नहीं है—क्योंकि आखिर ये सब अपर्याप्त मानसिक बिंबों से बढ़कर कुछ नहीं हैं—बल्कि प्रत्येक उस समग्र के भीतर एक समग्र है, एक ऐसा सत्य है जो अनंत सत्य को दोहराता है, एक ऐसी लहर जो समस्त सागर है और एक ऐसा सापेक्ष है जिसे हम रूप के पीछे, उसकी पूर्णता में देखें तो स्वयं निरपेक्ष सिद्ध होता है।

क्योंकि ये तीनों उस एक ही सत् के पहलू हैं। पहला उस आत्मज्ञान पर आधारित है, जिसे हमारी भगवान् की मानव आत्मोपलब्धि में उपनिषद् हमारे अंदर की आत्मा का सर्वभूत बन जाना कहते हैं, दूसरा पहलू वह है जिसमें सभी भूतों को अपनी आत्मा में देखना कहते हैं और तीसरे के बारे में यूं कहा गया है कि वहां आत्मा को सभी भूतों में देखा जाता है। आत्मा का सर्वभूत बन जाना सर्व के साथ हमारे एकत्व का आधार है, आत्मा का सर्वभूतों को अपने अंदर समाये रखना विभिन्नता में हमारे ऐक्य का आधार है, आत्मा का सर्वभूतों में निवास, विश्व के अंदर हमारे व्यक्तित्व का आधार है। अगर हमारी मानसता की त्रुटि, अगर उसकी ऐकांतिक एकाग्रता की आवश्यकता, उसे इनमें से किसी एक पक्ष पर स्थित रहने और बाकी का बहिष्कार करने के लिये बाधित करे, यदि कोई अपूर्ण और साथ ही ऐकांतिक उपलब्धि हमें सदा इस ओर चलाती रहे कि हम स्वयं सत्य के अंदर भूल का और सभीको समाविष्ट कर लेनेवाले एकत्व में संघर्ष और पारस्परिक निषेध का

मानव तत्त्व प्रविष्ट कर दें तो भी अतिमानसिक सत्ता के लिये, अतिमानस के तात्त्विक स्वरूप के कारण जो कि सर्वव्यापी, तादात्म्यकारी एकत्व और अनंत समग्रता है, वे अपने-आपको तिहरी या त्रियेक उपलब्धि के रूप में ही प्रस्तुत करते हैं।

यदि हम ऐसा मान लें कि यह आत्मा अपनी स्थिति, अपना केंद्र व्यष्टि-भगवान् की चेतना में रखती है, जो औरों के साथ स्पष्टतया पृथक् संबंध में रहती और कार्य करती है तब भी उसकी चेतना की नींव में वह समस्त एकत्व रहेगा जिसमें से सब कुछ निःसृत होता है और उस चेतना की पृष्ठभूमि में विस्तारित और आपरिवर्तित एकत्व रहेगा और उसमें यह क्षमता होगी कि वह इनमें से किसी की ओर लौट सके और वहां से अपने व्यक्तित्व पर ध्यान दे। वेदों में देवों की ये सारी स्थितियां बतलायी गयी हैं। सारतत्त्व में देवता एक ही सत्ता हैं जिसे ऋषि भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं परंतु अपने कार्य-व्यापार में, जो बृहत् सत्य और ऋत पर आधारित होते हैं और वहींसे उद्गत होते हैं, अग्नि या किसी अन्य देव के लिये कहा गया है कि वह अन्य सभी देव है। वही 'एक' है जो सर्व बन जाता है, साथ ही उसके लिये कहा गया है कि वह सभी देवों को अपने अंदर उसी तरह धारण किये रहता है जैसे चक्रनाभि में आरे हों, वह 'एक' है जिसमें सब समाये रहते हैं फिर भी अग्नि रूप में उसका एक पृथक् देव के रूप में वर्णन किया जाता है, जो अन्य सबकी सहायता करता है, जो शक्ति और ज्ञान में उन सबसे बढ़कर है परंतु वैश्व स्थिति में उनसे नीचे है और उनके द्वारा संदेशवाहक, पुरोहित और कार्यकर्ता के रूप में नियुक्त होता है। जगत् का स्रष्टा और पिता होते हुए भी वह हमारे कर्मों से उत्पन्न पुत्र होता है, दूसरे शब्दों में वह आद्य और अभिव्यक्ति में आया हुआ अंतर्वासी आत्मा या भगवान् है, वह 'एक' है जो सबके अंदर निवास करता है।

दिव्य आत्मा के भगवान् या अपने परम स्व के साथ और अन्य रूपों में विद्यमान अपनी अन्य आत्माओं के साथ सभी संबंध इस सर्वग्राही आत्म-ज्ञान द्वारा निर्धारित होंगे। ये संबंध सत्ता के, चेतना और ज्ञान के, इच्छा और शक्ति के, प्रेम और आनंद के संबंध होंगे। ये अपनी विभिन्नता की शक्यताओं में अनंत हैं। आत्मा-आत्मा के बीच किसी भी ऐसे संभाव्य संबंध को अलग करने की जरूरत नहीं जो सब प्रकार के विभेदों के आभास के बावजूद एकता के अविच्छेद्य भाव के संरक्षण के साथ मेल खाता है। इस प्रकार अपने आनंद-भोग के संबंधों में दिव्य आत्मा अपने अंदर अपने सब अनुभवों का रस लेगी : दूसरों के साथ संबंध के अपने सभी अनुभवों का आनंद वह इस रूप में लेगी कि यह उन दूसरी आत्माओं के साथ सायुज्य है जो विश्व में वैचित्र्यमय लीला के हेतु सृष्ट दूसरे रूपों में उपस्थित हैं। वह अपनी दूसरी आत्माओं के अनुभव का आनंद भी ऐसे लेगी कि मानों वे, उसके अपने हों—जैसे कि सचमुच वे वास्तव में हैं ही। और यह सब सामर्थ्य उसमें इसलिये होगी क्योंकि वह अपने अनुभवों को, दूसरों के साथ अपने

संबंधों को, दूसरों के अनुभवों और उनके अपने साथ संबंधों को इस रूप में जानेगी कि वे सब एकमेव का, परम आत्मा का, उसकी अपनी आत्मा का आनंद हैं जो अपनी ही सत्ता में समाविष्ट इन सब रूपों में पृथक्-पृथक् रूप से निवास करने के कारण विभिन्न रूपों में दिखलायी देता है लेकिन फिर भी भेद के बीच वह एक ही है। चूंकि यह एकत्व उसकी समस्त अनुभूति का आधार है अतः वह हमारी विभक्त चेतना के, अज्ञान तथा पृथक्कारी अहं द्वारा विभाजित चेतना के असामंजस्यों से मुक्त रहेगी। ये सभी आत्माएं और उनके संबंध सचेतन रूप से एक दूसरे के हाथों में खेला करेंगे। वे अलग होंगी और एक-दूसरे में घुल-मिल जाया करेंगी ऐसे ही जैसे शाश्वत संगीत के अनगिनत स्वर निकलते और एक-दूसरे में घुल-मिल जाते हैं।

और यही नियम उसकी सत्ता, ज्ञान और इच्छा के दूसरों की सत्ता, ज्ञान और इच्छा के साथ जो संबंध हैं उनपर भी लागू होगा। क्योंकि उसकी समस्त अनुभूति और आनंद सत्ता की आत्मानंदपूर्ण चित्-शक्ति की लीला होगी जिसमें, एकत्व के इस सत्य की आज्ञाकारिता के कारण, न तो इच्छा का ज्ञान के साथ और न ही इनमें से किसीका आनंद के साथ संघर्ष हो सकेगा। न ही एक आत्मा के ज्ञान, इच्छा और आनंद का दूसरी आत्मा के ज्ञान, इच्छा और आनंद के साथ टकराव होगा क्योंकि अपने ऐक्य से उनके अभिज्ञ होने का परिणाम यह होगा कि जो चीज हमारी विभक्त सत्ता में टकराव, संघर्ष और असामंजस्य है वही, वहां एक अनंत संगीत के विभिन्न स्वरों का मिलन, संग्रंथन और पारस्परिक खेल होगा।

अपनी परम आत्मा के, ईश्वर के साथ संबंधों में दिव्य आत्मा को अपनी सत्ता के साथ परात्पर और वैश्व भगवान् के इस एकत्व का बोध रहेगा। वह अपने वैयक्तिक भाव में अपने साथ भगवान् के एकत्व का रस लेगा और साथ ही वैश्व भाव में अपनी अन्य आत्माओं के साथ। उसके ज्ञान के संबंध दिव्य सर्वज्ञता की लीला होंगे क्योंकि भगवान् ज्ञान हैं और जो हमारे लिये अज्ञान है वह वहां केवल सचेतन आत्म-अभिज्ञता को विश्रांति के अंदर ज्ञान को पीछे की ओर रोके रहना होगा ताकि उस आत्म-अभिज्ञता के कुछ विशिष्ट रूप बाहर, सक्रिय प्रकाश में लाये जा सकें। वहांपर उसकी इच्छा-शक्ति के संबंध दिव्य सर्व-शक्तिमत्ता के खेल होंगे क्योंकि भगवान् शक्ति, इच्छा और सामर्थ्य हैं और जो हमारे लिये दुर्बलता और अक्षमता है वह वहांपर प्रशांत संकेंद्रित शक्ति के अंदर इच्छा-शक्ति को रोके रखना होगा ताकि दिव्य चित्-शक्ति के कुछ विशिष्ट रूप सामर्थ्य के रूप में आगे लाये जाकर अपने-आपको कार्यान्वित कर सकें। उसके प्रेम और आनंद के संबंध दिव्य आनंदोल्लास की लीला होंगे क्योंकि भगवान् प्रेम और आनंद हैं और जो हमारे लिये प्रेम और आनंद का निषेध है वह आनंद के प्रशांत सागर में हर्ष को पीछे रोके रखना होगा ताकि भागवत एकत्व और उपभोग के कुछ विशेष

रूपों को आनंद की सक्रिय उमड़ती तरंगों में आगे लाया जा सके। इसी भांति उसकी समस्त संभूति इन क्रियाओं के उत्तर में दिव्य सत्ता का रूपायन होगी और जो हमारे लिये अवसान, मृत्यु और सत्यानाश है वह सच्चिदानंद की शाश्वत सत्ता में आनंदमयी सर्जनशील माया का विश्राम, संक्रमण या पीछे की ओर रुके रहना होगा। साथ-ही-साथ यह एकत्व दिव्य आत्मा के ईश्वर के साथ, अपनी परम आत्मा के साथ, उन संबंधों का निवारण नहीं करेगा जो भेद के रस पर आश्रित होते हैं जब वह उस एकत्व का किसी और तरह से रस लेने के लिये अपने-आपको एकत्व से अलग रखता है। भागवत माधुर्य के जितने भी उत्कृष्ट रूप हैं जो भगवान् के आलिंगन में बद्ध भगवद् भक्त को परमानंद देते हैं उनमें से किसी भी संभावना को यह एकत्व मिटायेगा नहीं।

लेकिन वे कौन-सी अवस्थाएं होंगी जिनमें और जिनके द्वारा दिव्य आत्मा के जीवन का यह स्वरूप चरितार्थ होगा? संबंध के बारे में होनेवाला सारा अनुभव सत्ता की कुछ ऐसी शक्तियों द्वारा आगे बढ़ता है जो कुछ साधनों के सहारे रूपायित होती हैं, जिन्हें हम धर्म, गुण, क्रियाशीलताएं, क्षमताएं कहते हैं। उदाहरण के लिये मन अपने-आपको मनः शक्ति के विभिन्न रूपों में प्रक्षिप्त करता है, जैसे निर्णय, अवलोकन, स्मृति, सहानुभूति जो कि उसकी सत्ता के लिये स्वाभाविक हैं। इसी तरह ऋत-चित् या अतिमानस को आत्मा के साथ आत्मा के संबंधों को उन शक्तियों, क्षमताओं एवं विशिष्ट क्रियाओं द्वारा प्रभावित करना चाहिये जो अतिमानसिक सत्ता के लिये स्वाभाविक हों अन्यथा विभेद की कोई लीला ही न हो पायेगी। ये क्रियाएं क्या हैं, यह हम उस समय देखेंगे जब हम दिव्य जीवन की मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं पर विचार करेंगे। अभी हम केवल उसकी तात्विक नींव, उसके मूल स्वभाव और स्वधर्म पर विचार कर रहे हैं। अभी इतना देख लेना काफी है कि चेतना में पृथक्कारी अहंभाव और प्रभावकारी विभाजन का अभाव या उन्मूलन ही दिव्य जीवन की एकमात्र मूलभूत शर्त है। अतः हमारे अंदर उनकी उपस्थिति ही हमारी मर्त्यता का और दिव्य स्थिति से पतन का कारण है। यही हमारा 'आदि पाप' है या अगर जरा ज्यादा दार्शनिक भाषा में कहें तो आत्मा के सत्य एवं ऋत से, उसके एकत्व, पूर्णता एवं सामंजस्य से च्युति है। यह च्युति अज्ञान में डुबकी लगाने के लिये आवश्यक शर्त थी और अज्ञान में यह डुबकी ही जगत् में जीव का साहसिक कार्य है। और इसी अज्ञानगर्त में से हमारी दुःख-पीड़ित और अभीप्सा से भरी मानवजाति का जन्म हुआ।

अध्याय १८

मानस और अतिमानस

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्।
उसने जाना कि मन ही ब्रह्म है।

तैत्तिरीय उपनिषद् ३-४

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्॥
अविभक्त होते हुए भी मानों सत्ताओं में विभक्त हो।

गीता १३-१७

अभीतक हम जो अवधारणा बनाने की कोशिश कर रहे हैं वह अतिमानसिक जीवन के केवल सारतत्त्व की है जिसे दिव्य आत्मा सच्चिदानंद की सत्ता में सुरक्षित रूप से अपने अधिकार में रखती है, लेकिन जिसे मानव आत्मा को मानसिक और भौतिक जीवन के सांचे में ढले हुए, यहींपर बने सच्चिदानंद के इस शरीर में अभिव्यक्त करना है। लेकिन जहांतक हम इस अतिमानसिक जीवन की अभीतक परिकल्पना कर पाये हैं, ऐसा नहीं लगता कि उसका हमारे परिचित जीवन के साथ—हमारी सामान्य सत्ता के दो प्रांतों, मन और शरीर के दो आकाशों के बीच सक्रिय रहनेवाले जीवन के साथ—कोई संबंध या सादृश्य है। बल्कि ऐसा लगता है कि यह सत्ता की ऐसी स्थिति, चेतना की ऐसी स्थिति, सक्रिय संबंध और पारस्परिक उपभोग की ऐसी स्थिति है जिसे अशरीरी आत्माएं शायद भौतिक रूपों से रहित जगत् में अधिकृत और अनुभव कर सकती हों। ऐसे लोक में जिसमें आत्माओं में भेद तो संपन्न हो चुका है परंतु शारीरिक भेद नहीं, ऐसे लोक में जो सक्रिय और आनंदमय अनंतताओं का जगत् है, रूप की कारा में बंद आत्माओं का नहीं। अतः बुद्धिसंगत रूपसे यह संदेह किया जा सकता है कि शारीरिक रूप की इस सीमा को, रूप में काराबद्ध मन और रूप में काराबद्ध शक्ति के इस परिसीमन में, जिसे हम अभी जीवन मानते हैं, क्या ऐसा दिव्य जीवन संभव हो सकता है?

वस्तुतः हमने उस परम अनंत सत्ता, चित्-शक्ति और आत्मानंद की कुछ ऐसी धारणा बनाने का प्रयास किया है जिसकी हमारा जगत् एक सृष्टि और हमारी मानवता एक विकृत रूप है। हमने अपने-आपको यह बतलाने की कोशिश की है कि यह दिव्य माया क्या हो सकती है, यह ऋत-चित्, यह सत्य-संकल्प क्या हो सकता है जिसके द्वारा परात्पर और वैश्व सत्ता की चित्-शक्ति विश्व की, जो एक व्यवस्था है, सत्ता के अभिव्यक्त आनंद का एक सुव्यवस्थित जगत् है, उसकी अवधारणा करती, उसे रूपायित और नियंत्रित करती है, लेकिन हमने अभीतक यह

अध्ययन नहीं किया है कि इन चार महान् व दिव्य पदों का अन्य तीन के साथ, अर्थात् मन, प्राण और शरीर के साथ—हमारा मानव अनुभव इन तीन से ही केवल परिचित है—क्या संबंध है। हमने इस दूसरी प्रतीयमानतः अदिव्य माया की जांच नहीं की है जो हमारे सकल प्रयासों और दुःखों की जड़ है और यह नहीं देखा है कि वह दिव्य सद्वस्तु या दिव्य माया में से ठीक किस तरह विकसित होती है। और जबतक हम यह नहीं कर लेते, जबतक हम संबंध के खोए हुए धागों को नहीं बुन लेते तबतक हमारा जगत् हमारे लिये अ-समझा ही रहता है और उस उच्चतर सत्ता तथा इस निम्नतर जीवन के बीच के एक होने की संभावनामें संदेह के लिये आधार बना रहता है। हम जानते हैं कि हमारा जगत् सच्चिदानंद से आया है और उसीकी सत्ता में बना रहता है। हमारी यह धारणा भी है कि सच्चिदानंद ही इस जगत् में भोक्ता, ज्ञाता, प्रभु और आत्मा-रूप में निवास करता है। हम यह भी देख आये हैं कि हमारे संवेदन, मन, शक्ति और सत्ता के द्वंद्वात्मक रूप सच्चिदानंद के आनंद के, उसकी चित्-शक्ति के, उसकी दिव्य सत्ता के प्रतिरूप मात्र हो सकते हैं। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि ये द्वंद्वात्मक रूप, वस्तुतः सच्चिदानंद सचमुच दिव्य भाव में जो कुछ है उससे एकदम उल्टे हैं, कि इन विपरीतताओं के कारण के बीच रहते हुए, जीवन के निम्न त्रिपद में रहते हुए हम दिव्य जीवन को नहीं पा सकते। हमें या तो इस निचली सत्ता को उस उच्चतर स्थिति में उठाना होगा या फिर शरीर के स्थान पर उस शुद्ध सत्ता को, प्राण के स्थान पर चित्-शक्ति की उस शुद्ध अवस्था को, संवेदन और मानसिकता के स्थान पर उस शुद्ध आनंद और ज्ञान को लाना होगा जो कि आध्यात्मिक सद्वस्तु के सत्य में निवास करते हैं। और क्या इसका यह अर्थ नहीं होगा कि हमें समस्त पार्थिव या सीमित मानसिक जीवन को किसी ऐसी चीज के लिये छोड़ देना होगा जो उससे विपरीत है—या तो आत्मा की किसी शुद्ध स्थिति के लिये या वस्तुओं के सत्य के किसी लोक के लिये, यदि ऐसा कोई लोक है, या दिव्य आनंद, दिव्य ऊर्जा, दिव्य सत्ता के लोकों के लिये, यदि ऐसे लोक हों। ऐसी दशा में मानव जाति की पूर्णता, स्वयं मानव जाति से कहीं अन्यत्र है। उसके पार्थिव क्रम-विकास का शिखर लुप्त होती हुई मानसता का एक सूक्ष्म सिरा ही हो सकता है जहां से यह एक लंबी छलांग लगाकर या तो निराकार सत्ता में या शरीरधारी मन की पहुंच से परे के लोकों में चला जाता है।

लेकिन वास्तव में जिसे हम अदिव्य कहते हैं वह सब स्वयं इन चार दिव्य तत्वों की क्रिया ही हो सकता है, ऐसी क्रिया जो इस रूप-जगत् की सृष्टि करने के लिये जरूरी थी। इन रूपों की सृष्टि दिव्य सत्ता, चित्-शक्ति और आनंद के बाहर नहीं वरन् उनके अंदर हुई है, दिव्य सत्य-संकल्प की क्रिया के बाहर नहीं बल्कि उसके अंदर और उसके एक अंश के रूप में हुई है। अतः यह मानने का कोई कारण नहीं है कि रूप-जगत् में उच्चतर दिव्य चेतना की कोई वास्तविक लीला नहीं हो

सकती या कि रूप और उनके प्रत्यक्ष सहारे मानसिक चेतना, प्राणिक शक्ति की ऊर्जा और रूप-द्रव्य जिसका प्रतिनिधित्व करते हैं उसे अवश्य विकृत करें ही। यह संभव है बल्कि शक्य है कि मन, प्राण और शरीर अपने शुद्ध रूप में स्वयं दिव्य सत्य के अंदर ही पाये जाते हों, ये वहांपर वस्तुतः उसकी चेतना की अधीनस्थ क्रिया के रूप में रहते हों और उस संपूर्ण यंत्र विन्यास के अंग हों जिसके द्वारा परम शक्ति सर्वदा कार्य किया करती है, तब तो मन, प्राण और शरीर अवश्य ही दिव्यता के लिये सक्षम होने चाहियें, भौतिक विज्ञान पार्थिव विकासक्रम के संभवतः किसी एक ही चक्र को प्रदर्शित करता है। यह जरूरी नहीं है कि उस चक्र की एक छोटी-सी अवधि में मन, प्राण और शरीर के जो रूप और क्रियाएं सामने आयें वे सजीव शरीर के अंदर इन तीनों तत्त्वों की सभी संभाव्य क्रियाओं को प्रदर्शित करें। वे जो करते हैं, इसलिये करते हैं कि किसी उपाय से वे अपनी चेतना में उस दिव्य सत्य से अलग हो गये हैं जिससे कि वे निकले थे। एक बार यह पृथक्ता मानवजाति में विस्तृत होती हुई दिव्य ऊर्जा के द्वारा निरस्त हो जाये तो उनकी वर्तमान कर्मरीति बहुत संभवतः बल्कि स्वाभाविक रूप से परम विकासक्रम और प्रगति के द्वारा सत्य-चेतना में उनकी जो शुद्धतर कार्य-प्रणाली है उसमें बदल जायेगी।

ऐसी दशा में न केवल मानव मन और शरीर में दिव्य चेतना को अभिव्यक्त करना और बनाये रखना संभव होगा बल्कि यहांतक भी संभव है कि दिव्य चेतना अपनी विजयों को बढ़ाती हुई, अंत में स्वयं मन, प्राण और शरीर को अपने शाश्वत सत्य के अधिक पूर्ण प्रतिरूप में रूपायित कर दे और केवल आत्मा में ही नहीं बल्कि पदार्थ में भी अपने स्वर्ग के राज्य को धरती पर चरितार्थ कर दे। शायद कुछ लोगों ने, हो सकता है बहुतों ने, धरती पर इन विजयों में से पहली आंतरिक विजय निश्चय ही कम या अधिक मात्रा में प्राप्त कर ली है, दूसरी बाह्य विजय पिछले युगों में यद्यपि कम या अधिक मात्रा में इस रूप में कभी साधित नहीं भी हुई कि वह भावी युगचक्रों के लिये प्रथम प्ररूप का काम दे सके और अबतक भी पार्थिव प्रकृति की अवचेतन स्मृति में रखी हो फिर भी, हो सकता है कि मानव जाति में भगवान् की आगामी विजयशील उपलब्धि के रूप में वह अभिप्रेत हो। यह जरूरी नहीं है कि यह पार्थिव जीवन अनिवार्य रूप से और हमेशा के लिये आधे सुखद व आधे दुःखद प्रयास का चक्र बना रहे। लक्ष्य-प्राप्ति भी अभिप्रेत हो सकती है और ईश्वर की महिमा और आनंद को धरती पर अभिव्यक्त किया जा सकता है।

हमें जिस अगली समस्या पर विचार करना है वह यह है कि मन, प्राण और शरीर अपने परम उत्स में क्या हैं, और परिणामतः दिव्य अभिव्यक्ति की सर्वांगीण पूर्णता में उन्हें क्या होना चाहिये जब वे सत्य से अनुप्राणित हों और जिस पार्थक्य और अज्ञान में आज हम रहते हैं उनके कारण उस सत्य से कटे न हों। क्योंकि

वहां उन्हें पहले ही वह पूर्णता प्राप्त होगी जिसकी ओर हम बढ़ रहे हैं—हम, जो अभीतक जड़ द्रव्य में विकसित होते हुए 'मन' की हथकड़ी में पड़ी पहली गतिमात्र हैं, हम, जो अभीतक रूप में आत्मा के उस अंतर्लयन की, अपनी ही छाया में महाज्योति की उस निमग्नता की अवस्थाओं और प्रभावों से मुक्त नहीं हुए हैं जिसके द्वारा भौतिक प्रकृति की अंधकारमय जड़-चेतना की सृष्टि की गयी थी। हम जिस समग्र पूर्णता की ओर बढ़ रहे हैं उसका प्ररूप, हमारे उच्चतम विकास की अवस्थाएं निश्चित रूप से पहले से दिव्य सत्य-संकल्प में विद्यमान होंगी। वे वहां रूपायित और सचेतन होंगी ताकि हम उनकी ओर और उनमें विकसित हो सकें। क्योंकि हमारी मानव मानसिकता भागवत ज्ञान में इस पूर्व-अस्तित्व को ही 'आदर्श' कहती और उसकी खोज करती है। यह 'आदर्श' एक शाश्वत सद्वस्तु है जिसे हमने अभीतक अपनी निजी सत्ता की अवस्थाओं में नहीं पाया है। यह कोई असत् नहीं है जिसे शाश्वत और दिव्य अभीतक पकड़ नहीं पाये हैं और केवल हम अपूर्ण प्राणियों ने ही उसकी झांकी पायी है और उसकी रचना करना चाहते हैं।

पहले मन को लें जो हमारे मानव जीवन का जंजीर से बंधा, कुंठित राजा है। अपने सारतत्त्व में मन एक ऐसी चेतना है जो नापती, सीमित करती, अविभाज्य समग्र से वस्तुओं के रूप काटती और उन्हें इस तरह धारण करती है मानों उनमें से प्रत्येक एक पृथक् अखंड वस्तु हो। यहांतक कि जिनका अस्तित्व स्पष्ट रूप से अंग और अंश रूप में होता है उनके साथ भी मन अपने सामान्य व्यापार की यह कल्पना गढ़ लेता है कि वे ऐसी चीजें हैं जिनके साथ वह समग्र के मात्र एक पहलू के रूप में नहीं बल्कि पृथक् रूप में भी व्यवहार कर सकता है। क्योंकि जब वह जानता है कि वे अपने-आपमें पृथक् वस्तुएं नहीं हैं तब भी उसे उनके साथ ऐसे ही व्यवहार करना पड़ता है मानों वे अपने-आपमें पृथक् वस्तुएं हों अन्यथा वह उन्हें अपनी विशिष्ट क्रियाशीलता के आधीन नहीं ला सकता। मन की यह तात्त्विक विशिष्टता ही उसकी समस्त कार्यकारिणी शक्तियों की क्रियाओं को प्रतिबन्धित करती है फिर चाहे वह धारणा हो, प्रत्यक्ष दर्शन हो, संवेदन हो या सृजनशील विचार के साथ व्यवहार। वह वस्तुओं की धारणा, प्रत्यक्ष दर्शन और संवेदन इस तरह करता है मानों वे किसी पृष्ठभूमि या बृहत्-पिंड में से कठोर आकार में काटी गयी वस्तुएं हों और वह उनका उपयोग इस तरह करता है मानों वे उसे सृजन या अधिकार करने के लिये दी गयी सामग्री की रूढ़ इकाइयां हों। उसकी सभी क्रियाएं और आनंद-प्रवृत्तियां उन समग्रों के साथ, जो बृहत्तर समग्र के अंगभूत होते हैं, इसी तरह बरताव करती हैं, और इन अंगभूत समग्रों को फिर से उपांगों में विखंडित कर दिया जाता है और उनसे भी उनसे मिलनेवाले विशेष प्रयोजनों की दृष्टि से समग्रों की तरह व्यवहार किया जाता है। मन उनके भाग कर सकता है, उनमें गुणन कर सकता है, उनमें जोड़-घटाव कर सकता है लेकिन वह इस गणित

की सीमा के पार नहीं जा सकता। अगर वह परे जाकर वास्तविक समग्र की धारणा बनाने की कोशिश करता है तो वह अपने-आपको किसी विजातीय तत्त्व में खो बैठता है। वह अपनी ठोस भूमि से गिर कर अमूर्तता के सागर में, अनंत की खाई में जा पहुंचता है, जहां वह न तो धारणा, प्रत्यक्ष दर्शन, संवेदन कर सकता है और न अपने विषय के साथ सृजन या भोग के लिये व्यवहार ही कर सकता है। क्योंकि अगर कभी ऐसा लगता भी है कि मन अनंत की धारणा बना रहा है, उसका प्रत्यक्ष दर्शन एवं संवेदन कर रहा है या उसे अपने अधिकार में करके उसका उपभोग कर रहा है तो यह केवल प्रतीति मात्र होती है और वह सदा अनंत की किसी आकृति में ही होती है। जिसे वह इस तरह अस्पष्ट रूप में अपने अधिकार में किये रहता है वह केवल एक रूपहीन बृहत् होता है वास्तविक देशातीत अनंत नहीं। जिस क्षण वह उसके साथ व्यवहार करना या उसे अधिकार में करना चाहता है उसी क्षण सीमित करने की अविच्छेद्य प्रवृत्ति आ जाती है और मन फिर से अपने-आपको प्रतिमाओं, रूपों और शब्दों से व्यवहार करता हुआ पाता है। मन अनंत पर अधिकार नहीं कर सकता, वह केवल उसे सह सकता है या उससे अधिकृत हो सकता है। वह सद्वस्तु की ज्योतिर्मय छाया के नीचे, जो उसकी पहुंच से परे के सत्ता के लोकों से उसपर नीचे डाली जाती है, बस सुखमय असहायता में पड़ा रह सकता है। अनंत पर अधिकार उन अतिमानसिक लोकों में आरोहण किये बिना नहीं हो सकता और न ही उसका ज्ञान ऋत-चिन्मय परम सद्वस्तु से उतरते हुए संदेशों के प्रति 'मन' के निस्पंद आत्मदान के बिना आ सकता है।

मन की यह स्वरूपगत क्षमता और उसके साथ आनेवाली मूलगत सीमा ही 'मन' के सत्य हैं और उसके स्वभाव और स्वधर्म को निश्चित करते हैं। यहां हमें परा माया के संपूर्ण यंत्र-विन्यास में उसे उसके काम पर नियुक्त करनेवाले भागवत आदेश की छाप देखने को मिलती है। यह कार्य उसके द्वारा निर्धारित होता है जो वह अपने स्वरूप में स्वयंभू की सनातन आत्म-परिकल्पना से उत्पत्ति के क्षण में होता है। वह कार्य है अनंतता को सदा सांत की भाषा में अनूदित करना, मापना, सीमित करना, खंड-खंड करना। वस्तुतः वह अनंत के सारे सच्चे भाव का बहिष्कार करके ही हमारी चेतना में यह कार्य करता है। इसीलिये मन महान् अज्ञान की ग्रंथि है क्योंकि वही मूल रूप में विभक्त और वितरित करता है। और यहांतक कि उसे गलत रूप में विश्व का कारण और भागवत माया का समग्र रूप मान लिया गया है। परंतु भागवत माया अपने अंदर जैसे विद्या को वैसे अविद्या को भी, जैसे ज्ञान को वैसे अज्ञान को भी समाविष्ट किये रहती है। क्योंकि यह स्पष्ट है कि चूंकि सांत अनंत का एक रूप है, उसीकी क्रिया का एक परिणाम, उसीकी कल्पना का एक खेल है और उसके बिना तो वह अस्तित्व में ही न आ सकता,

उसके द्वारा, उसके अंदर और उसके साथ ही उसका अस्तित्व है इस तरह कि वही उसकी पृष्ठभूमि है, वह स्वयं उसी द्रव्य का एक रूप और उसी शक्ति की एक क्रिया है अतः एक मूलगत चेतना होनी चाहिये जो इन दोनों को एक साथ समाविष्ट करती और देखती हो और एक-दूसरे के समस्त संबंधों से घनिष्ठ रूप से सचेतन हो। उस चेतना में कोई अज्ञान नहीं है क्योंकि अनंत ज्ञात है और सांत उससे एक स्वतंत्र वास्तविकता के रूप में पृथक् नहीं हुआ होता। परंतु, फिर भी सीमांकन की एक गौण प्रक्रिया वहां रहती है अन्यथा किसी जगत् का अस्तित्व ही न होता। यह ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा मन की सतत विभाजन और फिर से संयोजन करनेवाली चेतना, प्राण की सतत विभिन्न दिशाओं में दौड़ने और फिर केंद्राभिमुख होनेवाली क्रिया और जड़ तत्त्व का अनंत रूप से विभक्त और आत्म-संकलित द्रव्य, सबके सब एक ही तत्त्व और आदि क्रिया के द्वारा गोचर सत्ता में आते हैं। सनातन कवि और मनीषी जो पूर्णतः ज्योतिर्मय है, अपने और सबके बारे में पूर्णतः अभिज्ञ है, जो पूरी तरह जानता है कि वह क्या कर रहा है, वह जिस सांत की रचना कर रहा है उसमें अनंत के बारे में सचेतन है, उस सनातन की इस गौण प्रक्रिया को दिव्य मन कहा जा सकता है। और यह स्पष्ट है कि वह सत्य-संकल्प की, अतिमानस की, वास्तव में कोई पृथक् क्रिया न होकर एक गौण क्रिया होता होगा और उसीके द्वारा कार्य करता होगा जिसका वर्णन हमने 'ऋत-चेतना' की प्रज्ञान गति कह कर किया है।

जैसा कि हम देख आये हैं वह प्रज्ञान चेतना, अविभाज्य सर्व की सक्रिय और रूप देनेवाली क्रिया को उसी सर्व की चेतना के आगे सृजनशील ज्ञान की एक प्रक्रिया और विषय के रूप में रखती है। वह सर्व अपनी निजी क्रिया का प्रवर्तक और ज्ञाता, प्रभु और साक्षी है। यह कुछ-कुछ ऐसा है जैसे कोई कवि अपनी चेतना की रचनाओं को अपनी चेतना में अपने सामने इस तरह रखी हुई देखता है मानों वे अपने रचयिता और उसकी रचना-शक्ति से भिन्न वस्तुएं हों परंतु वास्तव में वे वस्तुएं सारे समय उसकी अपनी सत्ता के अंदर आत्म-रूपायन की लीला होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होतीं और वहां वे अपने रचयिता से अविभाज्य होती हैं। इस भांति प्रज्ञान वह आधारभूत विभाजन कर देता है जो बाकी सबकी ओर, अर्थात् पुरुष और प्रकृति के विभाजन की ओर ले जाता है। इनमें पुरुष है सचेतन आत्मा जो जानता है, देखता और अपनी दृष्टि से सृजन करता एवं विधान बनाता है और प्रकृति है 'शक्ति-आत्मा' या 'निसर्ग-आत्मा' जो उसका ज्ञान और उसकी दृष्टि है, उसकी सृष्टि और सब कुछ व्यवस्थित करनेवाली शक्ति है, दोनों एक ही सत्ता, एक ही अस्तित्व हैं और जिन रूपों को पुरुष ने देखा और सृजा है वे रूप उसी सत्ता के बहुविध रूप हैं जिन्हें ज्ञाता-भाव में वह अपने सामने ज्ञान के रूप में और स्रष्टा-भाव में वह अपने आगे शक्ति के रूप में रखता है। इस प्रज्ञान चेतना की

अंतिम क्रिया तब संपन्न होती है जब पुरुष अपनी सत्ता के सचेतन विस्तार में व्यापक होकर, अपने प्रत्येक बिंदु और साथ ही साथ अपनी समग्रता में विद्यमान रहता है, प्रत्येक रूप में निवास करता हुआ, उसने जितने दृष्टि-बिंदु अपनाये हैं उनमें से मानों समग्र को अलग-अलग देखता है। वह अपने अन्य आत्मा-रूपों के साथ अपने हर आत्मा-रूप के संबंधों को उस रूप विशेष के उपयुक्त इच्छा और ज्ञान की भूमिका से देखता और शासित करता है।

विभाजन के तत्त्व इस तरह अस्तित्व में आये हैं। पहले एकमेव की अनंतता ने अवधारणात्मक काल और देश के विस्तार में अपने-आपको अनूदित किया, दूसरे, एकमेव की सर्वव्यापकता ने उस आत्म-चेतन विस्तार में बहुसंख्यक सचेतन आत्माओं में अपने-आपको अनूदित किया, ये ही सांख्य के अनेक पुरुष हैं, तीसरे, आत्म-रूपों की बहुसंख्या ने अपने-आपको विस्तारित ऐक्य के विभक्त निवास में अनूदित कर लिया। यह विभक्त निवास उस समय अनिवार्य हो जाता है जब इन बहुसंख्यक पुरुषों में से प्रत्येक अपने ही पृथक् लोक में निवास नहीं करता, प्रत्येक की अपनी भिन्न प्रकृति न हो जो अलग विश्व की रचना करती हो, बल्कि सभी उसी एक प्रकृति का ही उपभोग करते हों—जैसा कि उन्हें करना ही चाहिये क्योंकि वे अपनी शक्ति की बहुविध सृष्टियों का अधिष्ठातृत्व करनेवाले एकमेव के ही आत्मा-रूप हैं—फिर भी इन आत्मा-रूपों के एक प्रकृति द्वारा बनाये गये सत्ता के एक जगत् में एक-दूसरे के साथ संबंध होते हैं। हर रूप में स्थित पुरुष अपने-आपको सक्रिय रूप से हर एक के साथ तदात्म कर लेता है, वह उसमें अपने-आपको सीमित कर लेता है और अपने अन्य रूपों के मुकाबले इस रूप को अपनी चेतना में इस तरह खड़ा करता है मानों उसने अपनी अन्य आत्माओं को अपने अंदर धारण किया हो जो आत्माएं सत्ता में तो उसके साथ एकात्म हैं लेकिन संबंध में भिन्न हैं—विभिन्न विस्तार, गति के विभिन्न क्षेत्र और एक ही द्रव्य, शक्ति, चेतना, आनंद की विभिन्न दृष्टि में अलग हैं, जिन्हें उनमें से हर एक काल के किसी निर्दिष्ट क्षण या देश के किसी निर्दिष्ट क्षेत्र में सचमुच प्रसारित करता है। यह मानते हुए कि दिव्य सत्ता के लिये, जो अपने बारे में पूरी तरह अभिज्ञ होती है, यह कोई बाध्यकारी सीमाबद्धता नहीं है, रूप के साथ कोई ऐसी तदात्मता नहीं है जिसकी 'आत्मा' दास बन जाये और उसे अतिक्रम न कर सके जैसे हम अपने शरीर के साथ तादात्म के दास हैं और अपने सचेतन अहं की सीमाबद्धता को अतिक्रम करने में असमर्थ हैं, देश में हमारे विशेष क्षेत्र का निर्धारण करनेवाली अपनी कालगत चेतना की विशेष गति से बाहर निकल आने में असमर्थ हैं, यह सब मान लेने के बाद भी वहां क्षण प्रति क्षण एक स्वच्छंद तदात्मता बनी रहती है जिसे दिव्य आत्मा का अविच्छेद्य ज्ञान ही इस बात से रोकता है कि वह अपने-आपको पृथक्ता और काल-अनुक्रम की प्रतीयमान रूप से कठोर शृंखला में जकड़ ले जिसमें हमारी चेतना बंधी और जकड़ी हुई प्रतीत होती है।

इस प्रकार खंड-भाव अभीसे वहां शुरू हो गया है। रूप का रूप के साथ ऐसा संबंध कि मानों वे अलग-अलग सत्ताएं हों, सत्तागत इच्छा का सत्तागत इच्छा के साथ ऐसा संबंध मानों वे अलग-अलग शक्तियां हों, सत्तागत ज्ञान का सत्तागत ज्ञान के साथ ऐसा संबंध मानों वे अलग-अलग चेतनाएं हों—यह अभीसे स्थापित हो गया है। यह संबंध अभीतक "मानों" की श्रेणी में है। क्योंकि दिव्य आत्मा मोहग्रस्त नहीं हुई है, वह सत्ता के सभी प्रपंचों से परिचित है और अपने अस्तित्व को सत्ता की वास्तविकता में दृढ़ रखती है, अपने एकत्व को खो नहीं बैठती : वह मन का उपयोग अनंत ज्ञान की एक अधीनस्थ क्रिया के रूप में करती है, चीजों की ऐसी व्याख्या के रूप में करती है जो उसकी अनंतता की अभिज्ञता के अधीन हो और ऐसे सीमाकरण के रूप में करती है जो उसकी मूलभूत समग्रता की अभिज्ञता पर आश्रित हो—ऐसी समग्रता पर नहीं जो संकलित और समूहित समुच्चय से बनी ऊपरी और बहु-समन्वित होती है, वह तो मन का एक और व्यापारमात्र है। इस प्रकार वहां कोई वास्तविक सीमांकन नहीं हुआ है, आत्मा अपनी सीमांकन-शक्ति का व्यवहार स्पष्टतया पहचाने जा सकनेवाले रूपों और शक्तियों की लीला के लिये करती है, वह उस शक्ति द्वारा नियंत्रित नहीं होती।

अतः एक ऐसे मन की रचना के लिये जो स्वतंत्रता से सीमा बनानेवाला न होकर विवशता से सीमित मन होगा यानी जो मन अपनी लीला का मालिक है और उसे उसकी सत्यता में देखता है, उससे उल्टे उस मन की रचना के लिये जो अपनी लीला के आधीन है और उससे धोखा खाता है, दिव्य मन से उल्टे जीव-मन की रचना के लिये एक नये तत्त्व चित्-शक्ति की, एक नयी क्रिया की आवश्यकता होती है और वह नया तत्त्व है अविद्या, आत्म-अज्ञान की या आत्म-तिरोभाव की क्षमता, जो मन की क्रिया को उस अतिमानस की क्रिया से पृथक् करती है जिससे इसकी प्रथम उत्पत्ति हुई और जो अब भी पर्दे के पीछे से इसका नियमन करती है। इस प्रकार पृथक् होकर मन केवल एक अंश-विशेष को ही देखता है, वैश्व को नहीं अथवा अनधिकृत वैश्व में किसी विशिष्ट की अवधारणा करता है और विशिष्ट तथा वैश्व दोनों को अनंत की अभिव्यक्ति के रूप में नहीं देख पाता। इस प्रकार हमें एक ऐसा सीमित मन प्राप्त होता है जो प्रत्येक अभिव्यक्ति को अपने-आपमें एक वस्तु के रूप में देखता है, उसे ऐसे समग्र के एक पृथक् अंश के रूप में देखता है जो फिर एक और बड़े समग्र में पृथक् अस्तित्व रखता है। और यह क्रम चलता जाता है। मन अपने समाहारों की परिधि तो बढ़ाता जाता है लेकिन सच्चे अनंत के बोधतक वापिस नहीं पहुंच पाता।

मन, अनंत की एक क्रिया होने के नाते, खंड-खंड करने और समुच्चय बनाने के क्रम को अंतहीन रूप से करता जाता है, वह सत्ता को समग्रों में काटता जाता है, उन्हें फिर और छोटे समग्रों में, अणुओं और उन अणुओं को आदि परमाणुओं

में काटता जाता है, यहांतक कि उसकी चले तो, वह आदि परमाणुओं को विघटित कर शून्यत्व में मिला दे। लेकिन वह ऐसा कर नहीं सकता क्योंकि इस खंड-खंड करने की क्रिया के पीछे अतिमानस का रक्षक ज्ञान रहता है जो यह जानता है कि प्रत्येक समग्र, प्रत्येक परमाणु सर्व-शक्ति का, सर्व-चेतना का, सर्व-सत्ता का अपने अभिव्यक्त रूपों में संकेंद्रण है। अतिमानस के लिये समुच्चय का अनंत शून्यत्व में विलोपन, जिसपर मन पहुंचता प्रतीत होता है, आत्म-संकेंद्रित सचेतन सत्ता का अपने अभिव्यक्तिगत रूप से निकलकर अपनी अनंत सत्ता में लौटना भर है। उसकी चेतना चाहे जिस भी राह से चले, अनंत विभाजन की राह से या अनंत वृद्धि की राह से, वह अपने-आपपर ही, अपने अनंत एकत्व और अपनी शाश्वत सत्ता पर ही पहुंचती है। और जब मन की क्रिया सचेतन रूप से अतिमानस के इस ज्ञान के आधीन हो तो उसे भी प्रक्रिया के सत्य का परिचय रहता है, उसकी उपेक्षा बिलकुल नहीं की जाती। सचमुच कोई विभाजन नहीं होता, केवल सत्ता के रूपों में अनगिनत, बहुविध संकेंद्रण होता है और सत्ता के रूपों के आपसी संबंध में व्यवस्था होती है। इसमें विभाजन संपूर्ण प्रक्रिया का एक अवर रूप है। यह प्रक्रिया उनकी देश और कालगत लीला के लिये आवश्यक है। क्योंकि तुम चाहे जितना विभाजन करते जाओ छोटे-से-छोटे अणुतक या सभी लोकों और संकायों के जो बड़े-से-बड़े समूह संभव हैं—*अणोरणीयान् महतो महीयान्*—दोनों में से किसी भी प्रक्रिया से स्वयं वस्तुतक नहीं पहुंच सकते। सभी एक शक्ति के रूप हैं, केवल वही सद्वस्तु है बाकी सब शाश्वत चित्-शक्ति के आत्मकल्पना करनेवाले या अभिव्यक्त होनेवाले आत्म-रूप हैं।

तब फिर यह सीमित करनेवाली अविद्या, मन का अतिमन से पतन और उसके परिणामस्वरूप वास्तविक विभाजन का विचार कहां से आता है? अतिमानसिक क्रिया की ठीक-ठीक किस विकृति से शुरू होता है? यह तब शुरू होता है जब व्यष्टिभावापन्न आत्मा और सबको छोड़कर सब चीजों को केवल अपने ही दृष्टिकोण से देखती है; यह शुरू होता है, कह सकते हैं कि चेतना के ऐकांतिक संकेंद्रण से, कालगत और देशगत किसी क्रिया-विशेष के साथ आत्मा की ऐकांतिक एकात्मता से जो उसकी सत्ता की लीला का केवल एक भाग मात्र होती है। इसका आरंभ तब होता है जब आत्मा इस तथ्य की उपेक्षा करती है कि अन्य सब भी उसका अपना स्वयं है, अन्य सारी क्रिया उसीकी अपनी क्रिया है, सत्ता और चेतना की अन्य सभी अवस्थाएं समान रूप से उसकी अपनी और साथ ही काल में एक क्षण-विशेष, देश में एक विशेष दृष्टिकोण और उस रूप-विशेष की हैं जिसमें वह इस समय स्थित है। वह किसी क्षण, किसी क्षेत्र, किसी रूप, किसी गति पर इतनी संकेंद्रित हो जाती है कि बाकी को खो बैठती है। उसे इन्हें फिर से पाने के लिये क्षणों के अनुक्रम को, देश के बिंदुओं के अनुक्रम को, देश और काल में रूपों के

अनुक्रम को, देश और काल में गतियों के अनुक्रम को आपस में जोड़ना पड़ता है। इस भांति वह काल की अविभाज्यता के, शक्ति और द्रव्य की अविभाज्यता के सत्य को खो बैठी है। उसकी आंखों से यह स्पष्ट सत्य भी ओझल हो गया है कि सभी मन एक ही 'मन' है जो विभिन्न दृष्टिबिंदु अपनाता है, सभी प्राण एक ही 'प्राण' है जो क्रियाशीलता की बहुत-सी धाराएं विकसित करता है, सभी शरीर और रूप शक्ति और चेतना का एक ही द्रव्य है जो शक्ति और चेतना के अनेक आभासी स्थायित्वों में संकेंद्रित होती है। परंतु सच यह है कि ये सभी स्थिरताएं वास्तव में लगातार तेजी से चक्राकार घूम रही गति ही हैं जो आकार को बार-बार दोहराती और उसमें कुछ हल्के परिवर्तन भी लाती जाती है। इससे ज्यादा कुछ नहीं है। कारण, मन की कोशिश रहती है कि वह प्रत्येक चीज को दृढ़तया स्थिर आकारों में और प्रकटतः अपरिवर्ती या अचलायमान बाह्य तत्त्वों में जकड़ दे, क्योंकि इसके बिना वह कार्य नहीं कर सकता, तब वह सोचता है कि वह जो चाहता था वह उसे मिल गया : वास्तव में सब कुछ एक ऐसा प्रवाह है जिसमें सभी कुछ बदलता रहता और नया-नया रूप लेता रहता है, अपने-आपमें स्थिर आकार वहां कोई भी नहीं और अपरिवर्ती बाह्य तत्त्व भी वहां कोई नहीं। केवल शाश्वत सत्य-संकल्प ही दृढ़-स्थिर है और वही चीजों के इस प्रवाह में आकारों और संबंधों की एक विशेष क्रमिक स्थिरता को बनाये रखता है, ऐसी स्थिरता जिसकी मन व्यर्थ ही सतत रूप से अस्थिर वस्तुओं में स्थिरता को आरोपित कर नकल करने की कोशिश करता है। मन को इन सत्यों का फिर से अन्वेषण करना होगा। वह उन्हें सारे समय जानता तो है परंतु केवल अपनी चेतना के छिपे हुए पृष्ठभाग में ही, अपनी आत्म-सत्ता के गुप्त प्रकाश में। और वह प्रकाश उसके लिये अंधकार है क्योंकि उसने अविद्या की सृष्टि कर ली है, क्योंकि उसका विभेदक मानसिकता से विभक्त मानसिकता में पतन हो गया है, क्योंकि वह अपनी ही क्रियाओं और अपने ही सृजन में लीन हो गया है।

यह अविद्या मनुष्य के लिये उसके अपने शरीर के साथ एकात्म होने के कारण और भी गहरी हो गयी है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि मन शरीर के द्वारा निर्धारित होता है क्योंकि वह हमेशा उसको लेकर ही व्यस्त रहता और ऐसे शारीरिक क्रिया-कलापों में लगा रहता है जिनका उपयोग वह इस स्थूल भौतिक जगत् में अपनी सचेतन सतही क्रियाओं के लिये करता है। शरीर में अपने विकास के दौरान उसने मस्तिष्क और स्नायुओं की जिस क्रिया-पद्धति को विकसित किया है उसीका निरंतर व्यवहार करने के कारण यह शरीर-यंत्र उसे जो कुछ देता है उसीके अवलोकन में इतना अधिक निमग्न रहता है कि उससे पीछे हटकर अपनी शुद्ध क्रियावलि में नहीं जा पाता। यह शुद्ध क्रियावलि उसके लिये अधिकतर अवचेतन है। फिर भी हम एक ऐसे प्राण-मन या प्राण-सत्ता की कल्पना कर सकते हैं जो निमग्नता की इस

विकासात्मक आवश्यकता के परे हो गया हो और जो देख सकता, यहांतक कि अनुभव कर सकता हो कि यह वही है जो शरीर के बाद शरीर धारण करता है, यह वह नहीं है जो प्रत्येक शरीर के साथ निर्मित होता और उसीके साथ समाप्त हो जाता हो, क्योंकि वह तो जड़ पदार्थ पर पड़नेवाली मन की केवल एक भौतिक छाप मात्र है, केवल दैहिक मानस है जो इस प्रकार निर्मित होता है,—संपूर्ण मानसिक सत्ता नहीं। यह दैहिक मानस हमारे मन की सतहमात्र है, वह अग्रभाग है जिसे वह भौतिक अनुभूति के आगे प्रस्तुत करता है। पीछे, यहांतक कि हमारी पार्थिव सत्ता में भी, वह अन्य मन है जो हमारे लिये अवचेतन या प्रच्छन्न चेतन है जो अपने-आपको शरीर से अधिक जानता है और कुछ कम जड़ भौतिक भावापन्न क्रिया करने में सक्षम है। हमारे ऊपरी मन की जो भी बृहत्तर, गभीरतर और अधिक शक्तिमय ऊर्जस्वी क्रिया होती है उसमें से अधिकांश के लिये हम इसी अवचेतन मन के ऋणी हैं। जब हम इसके या अपने ऊपर इसके संस्कार के बारे में सचेतन होते हैं तो यह अंतरात्मा या आंतरिक सत्ता के बारे में, पुरुष के[1] बारे में हमारी पहली धारणा या पहली उपलब्धि होती है।

परंतु यह प्राणमय मानस भी, चाहे वह शारीरिक भ्रांति से भले मुक्त हो जाये हमें मन की संपूर्ण भ्रांति से मुक्त नहीं करता। वह अब भी अज्ञान की उस मौलिक क्रिया के आधीन रहता है जिसके कारण व्यक्तिभावापन्न जीव हर चीज को अपने ही दृष्टिबिंदु से देखता है और चीजों के सत्य को केवल उसी रूप में देख सकता है जिसमें वे अपने-आपको उसके सामने बाहर से प्रस्तुत करती हैं या जिस रूप में वे उसकी दृष्टि में उसकी पृथक् कालगत और देशगत चेतना में से, उसके भूत और वर्तमान अनुभव के आकारों और परिणामों के रूप में उभर आती हैं। वह अपनी अन्य आत्माओं के बारे में उनके अपने अस्तित्व के बारे में दिये गये बाहरी संकेतों द्वारा ही सचेतन हो पाता है। ये संकेत संचारित विचार, वाणी, क्रिया, क्रियाओं के परिणाम अथवा ऐसे प्राणिक संघात और संबंध के सूक्ष्मतर संकेत हैं जिन्हें भौतिक सत्ता सीधे अनुभव नहीं कर सकती। वह समान रूप से अपने बारे में भी अनभिज्ञ है क्योंकि वह अपने बारे में केवल काल में गति के द्वारा और ऐसे जीवनों के अनुक्रम द्वारा जानता है जिनमें उसने भिन्न प्रकार से शरीरस्थ ऊर्जाओं का उपयोग किया है। जैसे हमारे भौतिक करण-स्वरूप मन को शरीर की भ्रांति रहती है उसी तरह उस अवचेतन गतिशील मन को प्राण की भ्रांति होती है। वह उसीमें निमग्न और संकेंद्रित रहता है, वह उसीसे सीमित रहता है और अपनी सत्ता को उसीके साथ एकात्म करता है। यहां हम अभीतक मन और अतिमानस के उस मिलन-स्थलतक नहीं पहुंच पाये हैं जहां से वे पहले-पहल बिछुड़े थे।

लेकिन क्रियाशील और प्राणिक मन के पीछे एक और, अधिक स्पष्ट

[1] जिसे प्राणमय पुरुष के रूप में देखा जाता है।

चिंतनशील मन रहता है जो प्राण में इस निमग्नता से बचे रहने में समर्थ होता है। वह अपने-आपको इस तरह देखता है कि वह जिसे इच्छा और विचार के रूप में देखता है उसीको ऊर्जा के सक्रिय संबंधों में मूर्त रूप देने के लिये ही उसने शरीर और प्राण धारण किया है। यही हमारे अंदर शुद्ध मनीषी का उद्गम है। यही वह है जो मानसिकता को उसके अपने रूप में जानता है और वह जगत् को प्राण और शरीर के रूप में नहीं, बल्कि मन के रूप में देखता है। यही वह मनोमय पुरुष है जिसमें वापिस पहुंचकर हम कभी-कभी भूल से उसे शुद्ध आत्मा मान लेते हैं, जैसे क्रियाशील मन को हम अंतरात्मा मानने की भूल करते हैं। यह उच्चतर मन अन्य जीवों को अपनी शुद्ध आत्मा के अन्य रूपों की नाईं देख सकता और उनके साथ उसी तरह व्यवहार कर सकता है। उसमें यह सामर्थ्य होती है कि उनका बोध केवल प्राणिक और स्नायविक आघात और स्थूल संकेत द्वारा ही नहीं, शुद्ध मनोमय आघात और संचार के द्वारा भी कर सके। एकत्व के एक मनोमय रूप की धारणा भी उसके पास होती है, और अपनी क्रिया और अपनी इच्छा में अधिक प्रत्यक्ष रूप में सर्जन और अधिकार की सामर्थ्य भी उसके पास होती है—केवल परोक्ष रूप से नहीं जैसा सामान्य भौतिक जीवन में होता है—और जैसे अपने मन, प्राण में वैसे ही दूसरों के मनों और प्राणों में भी वह ऐसा कर सकता है। लेकिन फिर भी यह शुद्ध मन भी मन की भूल-भ्रांति से नहीं बच सकता क्योंकि अब भी वह अपनी पृथक् मानस-सत्ता को ही विश्व का निर्णायक, साक्षी और केंद्र बनाता है और एकमात्र उसीके द्वारा अपनी उच्चतर सत्ता और सद्वस्तु तक पहुंचने की कोशिश करता है। अन्य सब उसके लिये 'अन्य' हैं जो उसके चारों ओर एकत्र हुए हैं। जब वह मुक्त होना चाहे तो उसे वास्तविक ऐक्य में लुप्त होने के लिये मन और प्राण से पीछे हटना होता है। क्योंकि वहां मानसिक और अतिमानसिक क्रिया के बीच अभीतक अविद्या का बनाया हुआ परदा रहता है, जिसमें से सत्य का प्रतिबिंब ही बाहर आ पाता है, स्वयं सत्य नहीं।

जब यह परदा फट जाये और विभक्त मन अतिमानसिक क्रिया द्वारा अभिभूत और उसके प्रति नीरव और निष्क्रिय हो जाता है केवल तभी मन वस्तुओं के सत्यतक लौट सकता है। वहां हम एक प्रकाशमय चिंतनशील मन पाते हैं जो दिव्य सत्य-संकल्प के प्रति आज्ञाकारी और यंत्रस्वरूप है। वहां हम देखते हैं कि संसार वास्तव में क्या है, हम हर तरह से अपने-आपको औरों में और औरों के रूप में और औरों को अपने रूप में और सभीको वैश्व तथा आत्म-संवर्द्धित एक के रूप में जानते हैं। हम उस कठोर रूप से पृथक् व्यक्तिगत दृष्टिबिंदु को खो देते हैं जो समस्त सीमाबद्धता और भ्रांति का उद्गम है। फिर भी हम यह भी देखते हैं कि वह सब जिसे मन के अज्ञान ने सत्य समझा था वह वस्तुतः सत्य तो था परंतु था राह से विचलित हुआ, गलत रूप में समझा गया और मिथ्या रूप से कल्पित किया गया

सत्य। हम तब भी विभाजन, व्यष्टिकरण, आणविक सृजन को देखते हैं लेकिन हम उन्हें और अपने-आपको उस रूप में जानते हैं जो वे और हम सचमुच हैं। और इस तरह हम देखते हैं कि 'मन' सचमुच सत्य चेतना की एक अधीनस्थ क्रिया और उसका उपकरण था। जबतक कि वह स्वानुभव में आच्छादिका प्रभु-चेतना से अलग नहीं हो जाता और अपने लिये अलग आवास बनाने की कोशिश नहीं करता, जबतक वह यंत्र की तरह स्वाग्रहरहित होकर सेवा करता है, स्वयं अपने लाभ के लिये अधिकृत करने की कोशिश नहीं करता, तबतक 'मन' अपना कार्य आलोकमय रूप में करता है। वह कार्य है रूपों को सत्य के अंदर उनकी क्रिया के आभासी और शुद्ध रूप में औपचारिक सीमांकन द्वारा, एक-दूसरे से अलग रखना, जिनके पीछे सत्ता की शासिका विश्वव्यापकता सचेतन और अछूती रहती है। उसे वस्तुओं के सत्य को ग्रहण करना और परम तथा विश्वव्यापी चक्षु एवं इच्छा की निर्भ्रांत दृष्टि के अनुसार उस सत्य को वितरित करना है। उसे सक्रिय चेतना, आनंद, शक्ति और द्रव्य के व्यष्टिकरण को धारण करना है जो अपनी सारी शक्ति, यथार्थता और आनंद पीछे स्थित अविच्छेद्य वैश्वभाव से प्राप्त करता है। उसे एकमेव की बहुलता को प्रतीयमान विभाजन में बदल देना है जिसके द्वारा संबंध निर्धारित होते हैं और उन्हें एक-दूसरे के सामने खड़ा किया जाता है जिससे वे फिर से मिल और जुड़ सकें। उसे शाश्वत ऐक्य और अन्योन्य सम्मिश्रण के बीच वियोग और संयोग का आनंद स्थापित करना है। उसे एकमेव को ऐसे व्यवहार का रूप लेने देना है कि मानों वह एक व्यष्टि सत्ता है जो दूसरी व्यष्टि सत्ताओं के साथ व्यवहार कर रहा है, लेकिन सदा अपने ऐक्य को बनाये रखते हुए ही, वास्तव में जगत् यही है। मन सत्य चेतना के प्रज्ञान या बाहर की ओर देखनेवाली दृष्टि की अंतिम क्रिया है जिसके द्वारा यह सब संभव हो पाता है। और जिसे हम अज्ञान कहते हैं वह कोई नयी या एकदम मिथ्या वस्तु नहीं बनाता, वह सत्य का केवल मिथ्या निरूपण करता है। अज्ञान वह मन है जिसका ज्ञान अपने ज्ञान-स्रोत से अलग हो गया है और जिसे विश्व में अभिव्यक्त हो रहे परम सत्य की सामंजस्यपूर्ण लीला में एक मिथ्या कठोरता दीखती और विरोध तथा संघर्ष की भ्रांत प्रतीति होती है।

तो मन की मूलगत भ्रांति है आत्म-ज्ञान से यह पतन जिसके कारण जीव अपने व्यक्तित्व की धारणा एकत्व के एक रूप में करने के बदले एक पृथक् तथ्य के रूप में करता है और अपने-आपको विश्वात्मा का एक संकेंद्रण जानने के बदले अपने-आपको ही अपने विश्व का केंद्र बना लेता है। सभी विशेष अज्ञान और सीमाएं उसी मूलगत भ्रांति के आनुषंगिक परिणाम हैं क्योंकि वह विश्व के प्रवाह को केवल उसी रूप में देखता है जिस रूप में वह स्वयं उसके ऊपर और उसमें से होकर बहता है। वह सत्ता को सीमित कर लेता है जिससे फिर चेतना सीमित हो जाती है और उसके कारण ज्ञान भी सीमित हो जाता है, चेतनशक्ति और इच्छा

सीमित हो जाती है और इस कारण शक्ति भी सीमित हो जाती है, आत्म-संभोग सीमित हो जाता है और इस कारण आनंद भी सीमित हो जाता है। वह वस्तुओं के प्रति केवल उसी रूप में सचेतन होता और उन्हें केवल उसी रूप में जानता है जिस रूप में वस्तुएं उसकी वैयक्तिकता के सामने आती हैं अतः बाकी सबके बारे में वह अज्ञान में जा पड़ता है इससे जिनके बारे में उसे लगता है कि वह जानता है उनके बारे में भी वह भ्रांत धारणा में पड़ जाता है क्योंकि, चूंकि समस्त सत्ता अन्योन्याश्रित है इसलिये किसी अंग का सही ज्ञान प्राप्त करने के लिये या तो पूरी सत्ता का या फिर स्वरूप-तत्त्व का ज्ञान आवश्यक होता है। इसीलिये समस्त मानव-ज्ञान में भ्रांति का तत्त्व रहता ही है। इसी तरह हमारी इच्छा का, शेष सर्व-इच्छा से अनभिज्ञ रहने के कारण, क्रियासंबंधी भूल में और न्यूनाधिक मात्रा में असमर्थता और निःशक्तता में जा गिरना आवश्यक हो जाता है। जीव का स्वरूपानंद और वस्तुओं का आनंद सर्व-आनंद से अनभिज्ञ रहने के कारण और इच्छा तथा ज्ञान में त्रुटि के कारण, अपने जगत् को काबू में न कर पाने के कारण संपूर्णतः तृप्तिकर आनंद को पाने में असमर्थ रहेगा और परिणामस्वरूप दुःख-कष्ट में जा गिरेगा। अतः आत्म-अज्ञान ही हमारे जीवन की सभी विकृतियों का मूल है और वह विकृति हमारी आत्म-सीमितता में, अहंभाव में—जो कि उस आत्म-अज्ञान द्वारा ग्रहण किया गया रूप है—दृढ़-प्रतिष्ठ हो जाती है।

फिर भी समस्त अज्ञान और विकृति वस्तुओं के सत्य और ऋत का केवल मिथ्या निरूपण मात्र है, न कि पूर्ण मिथ्यात्व की लीला। यह मन का चीजों को विभाजन में देखने का—जो विभाजन उसने बनाया है—परिणाम है '*अविद्याया-मन्तरे*', जब वह अपने-आपको और अपने विभाजनों को सच्चिदानंद के सत्य की लीला के एक उपकरण और बाहरी रूप की तरह देखने के स्थान पर उक्त रूप में देखता है। अगर वह लौटकर उस सत्यतक जा पहुंचे जहां से वह गिरा था तो वह ऋत-चित् की प्रज्ञान-प्रक्रिया की फिर से अंतिम क्रिया बन जाता है और उस प्रकाश और शक्ति में उसकी सहायता से जो संबंध स्थापित होंगे वे सत्य के संबंध होंगे, न कि विकृति के। वैदिक ऋषियों की व्यंजक विशिष्ट वाणी में ये ऋजु वस्तुएं होंगी कुटिल नहीं, अर्थात् वे सत्य होंगे उस सत्ता के जो अपनी आत्मवश्य चेतना, इच्छा और आनंद के साथ अपने ही अंदर सामंजस्य में गति करती है। अभी तो हमारे मन और प्राण की विकृत और वक्र गति होती है, ये विकृति व वक्रताएं जीव के उस संघर्ष से पैदा होती हैं जब वह एक बार अपने सच्चे स्वरूप को भूल चुकने के बाद उसे फिर से पाने का प्रयास कर रहा होता है, समस्त भूल-भ्रांति को निर्मुक्त कर फिर से वापस उस सत्य में बदल देने का प्रयास कर रहा होता है जिसे दोनों—हमारा सत्य और हमारी भूल, हमारा उचित और हमारा अनुचित सीमित या विकृत करते हैं; समस्त असमर्थता को निर्मुक्त कर फिर से वापस उस

बल में बदल देने का प्रयास कर रहा होता है जिसे हस्तगत करने के लिये दोनों, हमारी शक्ति और हमारी दुर्बलता, शक्ति के संघर्ष हैं; समस्त दुःख-कष्ट को निर्मुक्त कर फिर से वापस उस आनंद में बदल देने का प्रयास कर रहा होता है जिसे उपलब्ध करने के लिये दोनों, हमारा सुख और हमारा दुःख, संवेदना का विक्षोभभरा प्रयास है; समस्त मृत्यु को निर्मुक्त कर फिर से वापस उस अमरता में बदल देने का प्रयास कर रहा होता है जहां लौटने के लिये हमारा जीवन और हमारी मृत्यु सत्ता का सतत प्रयास हैं।

अध्याय १९

प्राण तथा जीवन

प्राणो हि भूतानामायुः तस्मात्सर्वायुषमुच्यते।

प्राण-शक्ति ही सब भूतों का जीवन है इसी कारण उसे जीवन का विश्व-तत्त्व कहा जाता है।

तैत्तिरीयोपनिषद् २, ३

तो हम देख पाते हैं कि मन, जो कि हमारे मानव अस्तित्व को बनानेवाले निम्न तीन तत्त्वों में सबसे ऊंचा है, वह अपने दिव्य मूल रूप में क्या है और उसका सत्य-चेतना के साथ क्या संबंध है। वह दिव्य चेतना की एक विशेष क्रिया है बल्कि यूं कहें कि वह सारी सृजनकारी क्रिया की अंतिम लड़ी है। मन ही पुरुष को यह क्षमता प्रदान करता है कि वह अपने विभिन्न रूपों और विभिन्न शक्तियों के संबंधों को एक-दूसरे से अलग रख सके। वह ऐसे आभासी भेदों की रचना करता है जो सत्य-चेतना से गिरे हुए व्यष्टि-जीव के आगे मूलगत विभाजन का रूप ले लेते हैं और उस आदि विकृति द्वारा वह समस्त परिणामगत विकृतियों का जनक बन जाता है, ये विकृतियां हमें, अज्ञान में रहनेवाली अंतरात्मा के जीवन के लिये स्वाभाविक, विपरीत द्वंद्वों और विरोधों के रूप में जान पड़ती हैं। लेकिन जबतक मन अतिमानस से अलग नहीं हो जाता तबतक वह विकृतियों और मिथ्यात्वों को नहीं, वैश्व सत्य की विभिन्न क्रियाओं को सहारा देता है।

इस भांति मन एक सृजनकारी वैश्व साधन प्रतीत होता है लेकिन अपनी मानसिकता के बारे में सामान्यतः हमारी जो धारणा है वह ऐसी नहीं है। हम तो बल्कि उसे प्रधानतः बोध प्राप्त करनेवाला एक अंग समझते हैं, उन चीजों का बोध प्राप्त करनेवाला एक अंग जो जड़तत्त्व में काम कर रही शक्ति ने पहले से बना रखा है। और जो मौलिक सृजन हम उसमें स्वीकार करते भी हैं वह, शक्ति ने जड़तत्त्व में जो रूप पहले से विकसित कर रखे हैं, उन रूपों से नये-नये संयोजन बनाने भर का गौण सृजन है। लेकिन भौतिक विज्ञान की नवीनतम खोजों की सहायता से जिस ज्ञान को हम अब फिर से प्राप्त कर रहे हैं उसने हमें यह बतलाना शुरू कर दिया है कि इस शक्ति और इस जड़ तत्त्व में एक अवचेतन मन कार्य कर रहा है जो निश्चय ही अपने आविर्भाव के लिये उत्तरदायी है। पहले प्राण के रूप में और फिर स्वयं मन के रूप में, पहले वनस्पति-जीवन एवं प्रारंभिक पशु की स्नायविक चेतना में और फिर विकसित पशु और मनुष्य की सदा विकसनशील मानसता में आविर्भाव के लिये उत्तरदायी होता है। और जैसा कि हम

पहले ही पता लगा चुके हैं कि जड़ केवल शक्ति का द्रव्य-रूप ही है उसी तरह हमें यह भी पता चलेगा कि भौतिक शक्ति मन का ऊर्जा-रूप भर है। जड़ शक्ति वस्तुतः इच्छा-शक्ति की एक अवचेतन क्रियामात्र है, इच्छा-शक्ति हमारे अंदर उसमें कार्य करती है जो हमें प्रकाश मालूम होता है, यद्यपि सच कहा जाये तो वह अर्द्ध-प्रकाश से बढ़कर नहीं है, और भौतिक शक्ति उसमें कार्य करती है जो हमें बुद्धिहीनता का अंधकार मालूम होता है; तथापि ये दोनों वस्तुतः और सार रूप में एक हैं, जैसा कि जड़वादी विचार ने वस्तुओं के गलत या निचले छोर से इस तथ्य को सहजप्रेरणावश सदा महसूस किया है और जैसा कि शिखर से काम करते हुए आध्यात्मिक ज्ञान ने इस तथ्य को बहुत पहले ही खोज लिया था। इसलिये हम कह सकते हैं कि एक अवचेतन मन या बुद्धि ने ही शक्ति को अपने चालक बल, अपने कार्यकारी स्वभाव या अपनी प्रकृति के रूप में प्रकट करते हुए इस भौतिक जगत् का सृजन किया है।

लेकिन चूंकि जैसा कि हमने अब जान लिया है, मन कोई स्वतंत्र या मौलिक सत्ता न होकर केवल सत्य-चेतना या अतिमानस की अंतिम क्रिया है अतः जहां कहीं मन है वहां अतिमानस को होना ही चाहिये। अतिमानस या सत्य चेतना ही वैश्व अस्तित्व का वास्तविक सृजनात्मक माध्यम है। यहांतक कि जब मन अपने मूल स्रोत से अलग होकर अपनी अंधकारमय चेतना में होता है तब भी अतिमानस की वह विशालतर गति वहां मन की क्रियाओं में सदा विद्यमान रहती है। वह उन्हें अपने उचित संबंध बनाये रखने के लिये बाधित करती है, उनके अंदर से उन अनिवार्य परिणामों को विकसित करती है जिन्हें वे अपने अंदर धारण किये रहती हैं, उचित बीज से उचित वृक्ष उत्पन्न करती है, यहांतक कि वह जड़ शक्ति जो इतनी अनगढ़, तामसिक और अंधकारभरी चीज है उसकी क्रियाओं को भी ऐसा परिणाम पैदा करने के लिये बाधित करती है कि उनसे विधान का, व्यवस्था का, सही संबंधों का जगत् बने, न कि जैसा कि अन्यथा हुआ होता, टकराते संयोगों का और अव्यवस्था का जगत्। स्पष्ट ही, यह व्यवस्था और उचित संबंध केवल सापेक्षिक ही हो सकते हैं, वे वह परम व्यवस्था और परम ऋत नहीं हो सकते जिनका राज्य तब होता यदि मन अपनी चेतना में अतिमानस से पृथक् न हुआ होता; यह क्रम-विन्यास, यह व्यवस्था ऐसे परिणामों के कारण है जो विभाजनकारी मन की क्रिया के, उसके पृथक्कारी विरोधों की रचना के, उसके एक ही सत्य के द्वयात्मक विरोधी पहलुओं के लिये उचित और स्वाभाविक है। भागवत चेतना अपने इस द्वयात्मक या विभाजित प्रतिरूप के भाव की कल्पना करके और उसे क्रिया में उंडेलकर उसे वहां से सत्य-भाव में लाती है और वहांसे विभिन्न संबंधों के अपने अवर सत्य या अनिवार्य परिणाम को—पीछे स्थित संपूर्ण सत्यचेतना की नियामिका क्रिया के द्वारा—व्यावहारिक रूप में जीवन-सत्व में प्रकट

करती है। क्योंकि जगत् में विधान या सत्य का स्वरूप यही है कि जो कुछ सत्ता में समाया हुआ है, स्वयं वस्तु के सार और स्वरूप के अंदर उपस्थित है, उसके स्वभाव और स्वधर्म में छिपा हुआ है उसे दिव्य ज्ञान की दृष्टि के अनुसार कार्यान्वित और बाहर प्रकट करे। अंतःप्रकाशक थोड़े-से शब्दों में ज्ञान-जगत् को अपने अंदर समा रखनेवाले उपनिषद् के अद्भुत सूत्रों में कहें तो "*कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः*" (ईशोपनिषद् ८) —स्वयंभू ने ही सर्वत्र संभूति में आते समय द्रष्टा और मनीषी-रूप में सभी चीजों को, जो कुछ वे हैं उसके सत्य के अनुसार, सनातन काल से यथोचित क्रम में व्यवस्थित किया है।

फलस्वरूप, हम जिस त्रिलोक में निवास करते हैं, यानी मन, प्राण और शरीर के जगत् में, वह केवल अपने उपलब्ध विकास की वर्तमान अवस्था में ही त्रिविध है। जड़तत्त्व में अंतर्लीन जीवन विचारशील और मानसिक रूप से सचेतन जीवन के रूप में प्रकट हुआ है। लेकिन मन के अंदर और इसी कारण जीवन और जड़ तत्त्व के अंदर भी अतिमानस अंतर्लीन है जो अन्य तीनों का आदि कारण और शासक है। इसे भी उभरना चाहिये। हम जगत् के मूल में बुद्धि की खोज करते हैं क्योंकि बुद्धि ही वह उच्चतम तत्त्व है जिससे हम अभिज्ञ हैं और वही हमें लगता है कि हमारी समस्त क्रिया और रचना का नियंत्रण करता और उनका कारण बताता है। अतः यदि विश्व में कोई चेतना है तो हम मान लेते हैं कि वह बुद्धि या मानसिक चेतना ही होगी। लेकिन बुद्धि अपनी क्षमता की सीमा में अपने-आपसे श्रेष्ठतर सत्ता के एक सत्य की क्रिया का अवलोकन करती, उसे प्रतिबिंबित करती तथा व्यवहार में लाती है। अतः जो शक्ति पीछे रहकर काम करती है उसे उस सत्य के अनुरूप चेतना का एक और ही श्रेष्ठतर रूप होना चाहिये। हमें इसके अनुसार, अपनी धारणा को सुधारना होगा और यह प्रस्थापना करनी होगी कि इस भौतिक विश्व की रचना किसी अवचेतन मन या बुद्धि ने नहीं बल्कि अंतर्लीन अतिमानस ने की है। और वह अतिमानस शक्ति के अंदर अवचेतन रूप से विद्यमान उसकी जो ज्ञानात्मिका इच्छा है उसके प्रत्यक्षतः सक्रिय एक विशेष रूप के तौर पर मन को अपने आगे रखता है और सत्ता के सत्त्व के अंदर अवचेतन रूप से विद्यमान जो जड़ शक्ति या इच्छा है उसे अपने कार्यान्वित करनेवाले स्वभाव या प्रकृति के रूप में व्यवहार में लाता है।

लेकिन हम देखते हैं कि यहां पर मन शक्ति के एक विशिष्टीकरण के रूप में अभिव्यक्त हुआ है जिसे हम जीवन का नाम देते हैं। तब फिर जीवन है क्या और उसका अतिमानस के साथ, सच्चिदानंद की उस परम त्रयी के साथ, जो सत्य-संकल्प या सत्य चेतना द्वारा विश्व में सक्रिय है, क्या संबंध है? त्रयी के किस तत्त्व से उसका जन्म होता है? या सत्य या आभास की किस दैवी या अदैवी

आवश्यकता के कारण वह अस्तित्व में आता है ? शताब्दियों से यह प्राचीन पुकार गूंजती आ रही है कि जीवन एक अशुभ है, एक भ्रम, प्रलाप और पागलपन है जिसमें से भागकर हमें शाश्वत सत्ता में विश्राम लेना है। क्या यह ऐसा है और अगर है तो क्यों ? शाश्वत ने क्यों अपने-आपपर या अपनी विकराल छलनामयी माया के द्वारा अस्तित्व में लाये गये जीवों पर मनमौजी ढंग से यह अशुभ आरोपित किया है, यह प्रलाप या पागलपन लादा है ? या फिर इसकी जगह क्या यह कोई दिव्य तत्त्व है जो अपने-आपको यूं प्रकट करता है, क्या शाश्वत के आनंद की कोई शक्ति ही है जिसे प्रकट होना था और जिसने देश और काल में जीवन के कोटि-कोटि रूपों के, जिनसे ब्रह्मांड के अगणित लोक भरे पड़े हैं, इस सतत विस्फोट में अपने-आपको उंडेल दिया है ?

जब हम जड़ तत्त्व को आधार बनाकर पृथ्वी पर प्रकट होनेवाले जीवन का अध्ययन करते हैं तो देखते हैं कि वह तत्त्वतः एक वैश्व ऊर्जा का ही रूप है, उसकी भावात्मक और अभावात्मक धारा या क्रियाशील गति, उस शक्ति की सतत क्रिया या लीला है जो रूपों का निर्माण करती, सतत उद्दीपन की धारा के द्वारा उनमें ऊर्जा का संचार करती और उनके उपादान के विघटन और पुनर्नवीकरण की अविरत प्रक्रिया द्वारा उनमें स्थायित्व लाती है। इससे ऐसा दिखलायी देगा कि हम जीवन और मृत्यु के बीच जो स्वाभाविक विरोध बना लेते हैं वह हमारी मानसिकता की एक भूल है, उन मिथ्या विरोधों में से एक है जो आंतरिक सत्य के लिये मिथ्या है जब कि ऊपरी व्यावहारिक अनुभूतियों के लिये प्रामाणिक और मान्य है। हमारी मानसिकता इन प्रत्यक्ष रूपों के धोखे में आकर सदा उन्हें वैश्व ऐक्य में लाती रहती है। जीवन की एक प्रक्रिया होने के सिवा मृत्यु की कोई और वास्तविकता नहीं है। उपादान का विघटन और उपादान का पुनर्नवीकरण, रूप का संरक्षण और रूप का परिवर्तन—ये जीवन की सतत प्रक्रिया हैं। मृत्यु केवल तेजी से होनेवाला विघटन है जो जीवन के परिवर्तन की आवश्यकता और रूपात्मक अनुभूतियों में विभिन्नता के अधीन है। यहांतक कि शरीर की मृत्यु में भी जीवन का अंत नहीं हो जाता। केवल जीवन के एक रूप की सामग्री को तोड़ा जाता है ताकि वह जीवन के दूसरे रूपों के लिये सामग्री के तौर पर काम आ सके। इसी तरह हम निश्चित हो सकते हैं कि प्रकृति के अविकारी विधान में अगर शारीरिक रूप में मानसिक या चैत्य ऊर्जा है तो वह भी नष्ट नहीं होती, केवल एक रूप से दूसरा रूप धारण करने के लिये, पुनर्जन्म की किसी प्रक्रिया द्वारा या नये शरीर में अंतरात्मा को प्रतिष्ठित करने के लिये अलग हो जाती है।

परिणामस्वरूप यह प्रतिपादन किया जा सकता है कि एक ही सर्वव्यापी प्राण या सक्रिय ऊर्जा है जो भौतिक विश्व के इन सभी रूपों का सृजन करती है। भौतिक रूप तो उसकी बाह्यतम क्रिया मात्र है। प्राण नष्ट नहीं हो सकता, वह शाश्वत है।

चाहे विश्व का सारा रूप ही नष्ट हो जाये तब भी उसका अपना अस्तित्व बना रहेगा और वह पहले विश्व की जगह एक और विश्व बनाने में सक्षम होगा। निश्चय ही यदि कोई उच्चतर शक्ति उसे या वह स्वयं ही अपने-आपको विश्राम की अवस्था में न रोक रखे तो वह अनिवार्य रूप से सृजन करता चला जायेगा। उस दशा में प्राण और कुछ नहीं, बस वह शक्ति है जो जगत् में रूपों का निर्माण करती, उनका संरक्षण करती और उनका विनाश करती है। प्राण पृथ्वी के रूप में भी अपने-आपको उतना ही अभिव्यक्त करता है जितना पृथ्वी पर आनेवाली वनस्पति में और वनस्पति की जीवनी-शक्ति को या एक दूसरे को निगलकर अपने अस्तित्व को बनाये रखनेवाले प्राणियों एवं पशुओं में। यहां समस्त अस्तित्व वैश्व जीवन है जो जड़-पदार्थ का रूप धारण करता है। हो सकता है कि इस प्रयोजन के लिये, अवमानसिक संवेदन और मानसभावापन्न प्राण के रूप में उभरने से पहले, उसने जीवन-प्रक्रिया को भौतिक प्रक्रिया में छिपा रखा हो, पर फिर भी सभी दशाओं में वह होगा वह-का-वही सृजनकारी जीवन-तत्त्व ही।

तथापि यह कहा जा सकता है कि जीवन से हम जो मतलब समझते हैं वह यह नहीं है। हमारा मतलब वैश्व शक्ति के उस परिणाम विशेष से होता है जिसके साथ हम परिचित हैं, जो अपने-आपको पशु और वनस्पति में तो प्रकट करता है पर धातु, पत्थर या गैस में नहीं, जो पशु के कोषाणु में तो क्रिया करता है पर शुद्ध भौतिक अणु में नहीं। अतः अपने आधार के बारे में निश्चित होने के लिये हमें यह जांच करनी होगी कि शक्ति की क्रीड़ा के जिस परिणाम विशेष को हम जीवन कहते हैं उसका यथार्थ स्वरूप क्या है और निष्प्राण वस्तुओं में शक्ति की क्रीड़ा का जो दूसरा परिणाम है जो, हम कहते हैं कि जीवन नहीं है, उससे वह किस तरह भिन्न है। हम तुरंत देखते हैं कि यहां धरती पर शक्ति की क्रीड़ा के तीन प्रदेश हैं। पहला है प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार पशु-जगत् जिसमें हमारी भी गिनती है, दूसरा है वनस्पति-जगत् और तीसरा है विशुद्ध जड़-जगत् जो, हमारी मान्यता के अनुसार, जीवन-रहित है। हमारे अंदर का जीवन वनस्पति के जीवन से किस तरह भिन्न है? और वनस्पति का जीवन जीवन-रहित जगत् से, उदाहरणार्थ प्राचीन भाषा में धातु व खनिज कहे जानेवाले जगत् से अथवा भौतिक विज्ञान द्वारा खोजे गये नये रासायनिक जगत् से किस तरह भिन्न है?

साधारणतः जब हम जीवन की बात करते हैं तो हमारा मतलब प्राणी व पशु के जीवन से होता है जो हिलता-डुलता है, सांस लेता है, खाता, अनुभव करता और कामना करता है। अगर हम वनस्पति में जीवन की बात करते हैं तो वास्तविकता से कहीं अधिक यह प्रायः एक रूपक ही रहा है क्योंकि यह माना जाता था कि वनस्पति जीवन एक जैविक घटना न होकर शुद्ध रूप से भौतिक प्रक्रिया है। विशेष रूप से हमने जीवन का संबंध श्वासोच्छ्वास के साथ जोड़ा हुआ है। श्वास

ही जीवन है, यह हर भाषा में कहा गया है और अगर हम 'जीवन के श्वास' के बारे में अपनी कल्पना बदल दें तो यह सूत्र बिल्कुल ठीक है। लेकिन यह स्पष्ट है कि सहज गति या चलना-फिरना, सांस लेना, खाना जीवन की प्रक्रियाएं मात्र हैं, अपने-आपमें स्वयं जीवन नहीं हैं। ये तो उस सतत प्रचोदनकारी ऊर्जा को पैदा करने या मुक्त करनेवाले साधन हैं जो हमारी जीवन-शक्ति है। और वे विघटन और पुनर्नवीकरण की फिर से नया बनाने की उस प्रक्रिया के साधन हैं जिनके द्वारा वह शक्ति हमारे ठोस पार्थिव जीवन को संभाले रखती है परंतु हमारी जीवन-शक्ति की ये प्रक्रियाएं, हमारे श्वासोच्छ्वास और हमारे पोषण के साधनों से भिन्न अन्य तरीकों से भी जारी रखी जा सकती हैं। यह एक प्रमाणित तथ्य है कि मानव जीवन तब भी शरीर में बना रह सकता है और पूर्ण चेतना के साथ बना रह सकता है जब श्वासोच्छ्वास और हृदय की गति को तथा अन्य स्थितियों को, जो पहले जीवन के लिये अनिवार्य मानी जाती थीं, कुछ समय के लिये रोक दिया जाये। तथ्यों सहित, ऐसे नये प्रमाण सामने लाये गये हैं जिनसे यह प्रस्थापित होता है कि वनस्पति में, जिसमें किसी भी सचेतन प्रतिक्रिया को मानने से हम अब भी इंकार कर सकते हैं, उसमें भी कम-से-कम ऐसा भौतिक जीवन तो है ही जो हमारे जीवन के साथ मेल खाता है और अपने ऊपरी गठन में भले अलग हो फिर भी तत्त्वतः हमारे जीवन की तरह ही व्यवस्थित है। अगर यह बात सच साबित हो जाये तो हमें अपनी पुरानी, सरल एवं मिथ्या कल्पनाओं को एकदम बुहार कर बाहरी रूपों और लक्षणों के परे जाकर मामले की जड़तक पहुंचना होगा।

हाल ही में कुछ ऐसी खोजें[1] हुई हैं जिनके निष्कर्षों को यदि स्वीकार कर लिया जाये तो उनसे अवश्य ही जड़तत्त्व में जीवन की समस्या पर अत्यधिक प्रकाश पड़ेगा। एक महान् भारतीय भौतिक विज्ञानी ने ध्यान खींचा है कि उद्दीपन के प्रति अनुक्रिया जीवन के अस्तित्व का अचूक चिह्न है। इस वैज्ञानिक की दत्त-सामग्री से वनस्पति-

[1] ये विचार, जिस रूप में वे यहां प्रस्तुत किये गये हैं, हाल की वैज्ञानिक खोजों के आधार पर जड़ में जीवन के स्वरूप और प्रक्रिया को समझाने के लिये हैं, उसके प्रमाण के रूप में नहीं। भौतिक विज्ञान और तत्त्व ज्ञान (चाहे वह शुद्ध बौद्धिक चिंतन पर आधारित हो या जैसा कि भारत में रहा है, आध्यात्मिक दृष्टि और आध्यात्मिक अनुभव पर आधारित हो) प्रत्येक की खोज का अपना-अपना क्षेत्र और अपनी-अपनी पद्धति है। जैसे भौतिक विज्ञान अपने निष्कर्षों को तत्त्व ज्ञान पर नहीं लाद सकता उसी तरह तत्त्व ज्ञान भी अपने निष्कर्षों को भौतिक विज्ञान पर आरोपित नहीं कर सकता। फिर भी अगर हम इस तर्कसिद्ध विश्वास को मान लें कि पुरुष और प्रकृति की सभी अवस्थाओं में सादृश्यों का तंत्र रहता है जो उनके आधार में रहनेवाले सामान्य सत्य को प्रकट करता है तो यह कल्पना करना न्यायसंगत होगा कि भौतिक विश्व के सत्य विश्व में क्रियाशील रहनेवाली शक्ति की प्रकृति और प्रक्रिया पर कुछ प्रकाश डाल सकते हैं, लेकिन संपूर्ण प्रकाश नहीं क्योंकि भौतिक विज्ञान अपनी खोज के क्षेत्र में अनिवार्य रूप से अपूर्ण रहता है और उसके पास इस शक्ति की गुह्य गतियों को जानने का कोई सूत्र या संकेत नहीं होता।

जीवन के व्यापार पर ही विशेष रूप से प्रकाश पड़ा है और उसकी सभी सूक्ष्म प्रवृत्तियों तक का चित्रण सामने आया है लेकिन हमें यह न भूलना चाहिये कि मूल प्रश्न की विवेचना में जीवन-शक्ति के उसी प्रमाण को, अर्थात् उद्दीपन के प्रति अनुक्रिया को, जो कि जीवन की भावात्मक स्थिति है और उसकी अभावात्मक स्थिति, जिसे हम मृत्यु कहते हैं, इन्हींको उसने वनस्पति की तरह धातु में भी पुष्ट किया है। निश्चय ही उतनी प्रचुरता के साथ नहीं, निश्चय ही इस रूप में नहीं कि यह दिखलाया जा सके कि जीवन का गठन दोनों में तत्त्वतः एक समान है। लेकिन यह संभव है कि अगर ठीक तरह के और पर्याप्त सूक्ष्मतावाले यंत्रों का आविष्कार किया जा सके तो धातु और वनस्पति-जीवन में समानता के और अधिक बिंदुओं का पता लग सके और अगर यह सिद्ध भी हो जाये कि ऐसा नहीं है तो इसका यह अर्थ हो सकता है कि उसी प्रकार का या किसी भी प्रकार का जीवन-गठन तो वहां पर नहीं है फिर भी हो सकता है कि प्राणिक शक्ति का आदि रूप वहां हो। लेकिन अगर धातु में जीवन उपस्थित है, वह अपने लक्षणों में चाहे जितना प्रारंभिक क्यों न हो, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि धरती या धातुओं के सजातीय अन्य जड़ पदार्थों में भी जीवन, शायद अंतर्लीन या प्रारंभिक और तात्त्विक रूप में विद्यमान है। अगर हम अपनी खोज को और आगे जारी रख सकें और वहीं रुक जाने के लिये बाधित न हों जहां हमारी खोज के वर्तमान साधन विफल हो जाते हैं तो प्रकृति के बारे में अपने सुनिश्चित अनुभव के आधार पर हमें निश्चय है कि इस प्रकार जारी रखी गयी खोजें अंत में हमारे आगे यह प्रमाणित कर देंगी कि धरती और उसमें बनी धातु के बीच या धातु और वनस्पति के बीच कहीं कोई विच्छेद या कोई कठोर सीमारेखा नहीं है और संश्लेषण की इस खोज को और जारी रखने पर प्रमाणित होगा कि धरती या धातु को बनानेवाले तत्त्वों या अणुओं के और उनसे बनी धातु या धरती के बीच भी कोई व्यवधान या कठोर सीमारेखा नहीं है। इस क्रमबद्ध अस्तित्व का हर कदम अगले कदम की तैयारी करता है और अपने अंदर उस चीज को लिये रहता है जो आनेवाले कदम पर प्रकट होगी। जीवन या प्राण सभी जगह है चाहे गुप्त हो या प्रकट, गठित हो या प्रारंभिक, अंतर्लीन हो या विकसित, लेकिन है वह वैश्व, सर्वव्यापी और अविनश्वर, केवल उसके रूप और संगठन भिन्न-भिन्न होते हैं।

हमें यह याद रखना चाहिये कि उद्दीपन के प्रति भौतिक अनुक्रिया हमारे हिलने-डुलने और श्वासोच्छ्वास की तरह जीवन का एक बाहरी संकेत है। परीक्षण करनेवाला एक विशिष्ट उद्दीपन का प्रयोग करता है और सुस्पष्ट अनुक्रियाएं प्राप्त होती हैं जिन्हें हम परीक्ष्य पदार्थ में जीवन-शक्ति के संकेतों के रूप में तुरंत जान सकते हैं। लेकिन पौधा अपने सारे जीवन में, अपने आस-पास से निरंतर आ रहे अनेक उद्दीपनों के प्रति निरंतर अनुक्रिया कर रहा होता है। इसका मतलब है कि

उसके अंदर एक सतत रूप से संरक्षित शक्ति विद्यमान है जो अपने इर्द-गिर्द से आ रहे शक्ति के दबावों के प्रति अनुक्रिया करने में समर्थ है। कहा जाता है कि इन परीक्षणों ने वनस्पति या अन्य सजीव संरचनाओं में प्राण-शक्ति के विचार को नष्ट कर दिया है, लेकिन जब हम कहते हैं कि वनस्पति पर किसी उद्दीपन का प्रयोग किया गया है तो उसका अर्थ होता है कि उस पदार्थ की ओर कोई अर्जित शक्ति या सक्रिय गति को भेजा गया है और जब हम कहते हैं कि उसकी अनुक्रिया हुई है तो उसका मतलब होता है कि सक्रिय गति और संवेदनशील स्पंदन करने में समर्थ एक ऊर्जित शक्ति उस आघात का प्रत्युत्तर देती है। वहां एक स्पंदनशील ग्रहणशीलता और अनुक्रिया होती है और साथ ही बढ़ने और बने रहने की इच्छा होती है जो इस बात का संकेत है कि सत्ता के उस रूप में चित्-शक्ति का एक अवमानसिक, एक प्राणिक-भौतिक संगठन छिपा है। तो तथ्य यह प्रतीत होता है कि जैसे विश्व में एक सतत क्रियात्मक ऊर्जा गतिशील है जो कम या ज्यादा, सूक्ष्म या स्थूल अलग-अलग जड़ रूप धारण करती है, वैसे ही हर जड़ शरीर या पदार्थ में, वनस्पति, पशु या धातु में वही सतत क्रियात्मक शक्ति संचित और क्रियाशील रहती है। इन दोनों का एक विशेष आदान-प्रदान ही हमारे आगे उस तथ्य को प्रस्तुत करता है जिसे हम जीवन-संबंधी विचार के साथ जोड़ते हैं। यही वह क्रिया है जिसे हम ऊर्जा की क्रिया के रूप में पहचानते हैं और जो अपने-आपको इस तरह अर्जित कर लेती है वही है प्राण-शक्ति। 'मानस-ऊर्जा', 'जीवन-ऊर्जा', 'भौतिक-ऊर्जा' ये एक ही 'जगत्-शक्ति' की विभिन्न गतिधाराएं हैं।

यहांतक कि जब हमें यह लगता है कि कोई रूप मर गया है तब भी यह शक्ति उसमें संभाव्यता के रूप में मौजूद रहती है यद्यपि उसकी जीवन-शक्ति की साधारण क्रियाएं स्थगित हो जाती हैं और स्थायी रूप से समाप्त होने को होती हैं। कुछ सीमाओं के अंतर्गत जो मर चुका है उसे फिर से जीवित किया जा सकता है, अभ्यासगत क्रियाओं को, अनुक्रिया एवं सक्रिय ऊर्जा के संचार को फिर से चालू किया जा सकता है और इससे यह प्रमाणित होता है कि हम जिसे जीवन कहते हैं वह वहां शरीर में अभीतक मौजूद था, छिपा हुआ था यानी अपनी रोजाना की आदतों में, अपनी साधारण भौतिक क्रिया-कलाप की आदतों, अपने स्नायविक व्यापार और अनुक्रिया की आदतों, पशु में अपनी सचेतन मानसिक अनुक्रिया की आदतों में सक्रिय नहीं था। यह मानना कठिन है कि जीवन नाम की एक विशिष्ट सत्ता है जो शरीर के अंदर से पूरी तरह बाहर निकल गयी है और जब उसे लगता है कि कोई रूप को उद्दीपित कर रहा है तो फिर से उसमें वापिस चली आती है—लेकिन कैसे ? क्योंकि उसे शरीर के साथ जोड़नेवाली कोई चीज तो वहां है ही नहीं ? स्तंभ जैसे रोगों में हम देखते हैं कि जीवन के बाहरी भौतिक चिह्न और व्यापार स्थगित हो जाते हैं फिर भी मानसिकता आत्मवान् और सचेतन रहती है,

यद्यपि वह स्वाभाविक शारीरिक अनुक्रियाओं को प्रेरित करने में असमर्थ रहती है। निश्चय ही तथ्य यह नहीं होता कि मनुष्य भौतिक रूप से तो मृत पर मानसिक रूप से जीवित रहता है या यह कि शरीर में से प्राण तो निकल गया परंतु मन बचा हुआ है। होता केवल यह है कि सामान्य भौतिक क्रिया-कलाप तो स्थगित हो जाते हैं परंतु मन तब भी सक्रिय बना रहता है।

इसी तरह समाधि के कुछ प्रकारों में शारीरिक और बाहरी मानसिक क्रिया-कलाप दोनों स्थगित हो जाते हैं। लेकिन बाद में अपनी क्रियाएं फिर से शुरू कर देते हैं। कुछ दशाओं में तो बाहरी उद्दीपन के द्वारा पर अधिकतर भीतर से ही अपनी क्रियाशीलता की ओर सहज रूप में लौटते हैं। वस्तुतः होता यह है कि सतही मन-शक्ति अवचेतन मन में और सतही प्राण-शक्ति अंतः-सक्रिय प्राण में अंदर खींच ली जाती है और संपूर्ण मनुष्य ही या तो अवचेतन सत्ता में जा गिरता है या फिर वह अपने बाहरी जीवन को अवचेतन में खींच लेता है जब कि उसकी आंतरिक सत्ता अतिचेतन में ऊपर उठ जाती है। लेकिन मुख्य बात हमारे लिये इस समय यह है कि शरीर में जीवन की सक्रिय ऊर्जा को बनाये रखनेवाली शक्ति ने—वह चाहे जो कुछ क्यों न हो—अपनी बाहरी क्रियाओं को तो बेशक स्थगित कर दिया होता है पर फिर भी सुघटित शरीर-रचनावाले द्रव्य को अनुप्राणित कर रही होती है। एक ऐसी स्थिति आती है जब स्थगित क्रियाओं को फिर से सक्रिय करना संभव नहीं रहता और यह तब होता है जब या तो शरीर पर कोई ऐसी चोट पहुंचायी गयी हो जो उसे बेकार या अपनी अभ्यासगत क्रियाओं के लिये असमर्थ बना दे या, ऐसी चोट के अभाव में, जब विघटन की प्रक्रिया शुरू हो जाये यानी जब वह 'शक्ति' जिसे जीवन-क्रिया को नया करते जाना चाहिये, वह इर्द-गिर्द की शक्तियों के दबाव के प्रति एकदम निष्क्रिय और जड़ हो जाये, उन शक्तियों के प्रति जिनके अनेक उद्दीपनों के साथ वह सतत आदान-प्रतिदान करने की अभ्यस्त थी। तब भी शरीर में प्राण रहता है लेकिन ऐसा प्राण जो केवल रूपायित द्रव्य को विघटित करने की प्रक्रिया में ही व्यस्त रहता है ताकि वह अपने तत्त्वों में चला जाये और उनके साथ मिलकर नये रूप गढ़ सके। वैश्व शक्ति में विद्यमान 'इच्छा' जो रूप को एक साथ बांधकर रखे हुए थी, अब उस संरचना से अपने-आपको पीछे खींच लेती है और उसके बदले छितराव की प्रक्रिया का साथ देने लगती है। ऐसा न होनेतक शरीर की वास्तविक मृत्यु घटित नहीं होती।

तो जीवन वैश्व शक्ति की गतिशील क्रीड़ा है, इस शक्ति में मानसिक चेतना और स्नायविक प्राण-शक्ति किसी-न-किसी रूप में या कम-से-कम अपने तत्त्व में सदा अंतर्निहित रहती है अतः वे अपने-आपको हमारे जगत् में भौतिक पदार्थ के रूपों में प्रकट और संघटित करती हैं। इस शक्ति की यह जीवन-क्रीड़ा विभिन्न रूपों के, जिन्हें उसने बनाया है और जिनमें वह अपना सतत सक्रिय कंपन बनाये

रखती है, उनके बीच उद्दीपन और उद्दीपन के प्रति अनुक्रिया के आदान-प्रदान के रूप में अपने-आपको अभिव्यक्त करती है। हर एक रूप सर्वव्यवहार्य शक्ति के श्वास और ऊर्जा को सतत रूप से अपने अंदर लेता और फिर बाहर निकालता रहता है। प्रत्येक रूप उसीको अपना आहार बनाता और उसीसे अपना पोषण पाता है। ऐसा वह विभिन्न उपायों से करता है, या तो परोक्ष रूप से संचित ऊर्जावाले अन्य रूपों को अपने अंदर लेकर या फिर सीधे ही बाहर से प्राप्त शक्तिमय धाराओं को आत्मसात् करके। यह सारा प्राण का ही खेल है लेकिन हम उसे मुख्य रूप से तभी पहचान सकते हैं जब उसका संगठन इतना पर्याप्त हो कि हम उसकी अधिक बाहरी और जटिल गतियों को देख सकें और विशेषतः वहां जहां वह हमारे अपने संघटन में स्थित प्राणिक ऊर्जा के स्नायविक रूप से मिलता-जुलता हो। यही कारण है कि हम वनस्पति में जीवन की उपस्थिति को स्वीकार करने के लिये काफी तैयार रहते हैं क्योंकि जीवन का स्पष्ट दीखनेवाला व्यापार वहां उपस्थित है,—और यह तब और भी आसान हो जाती है अगर यह दिखलाया जा सके कि वनस्पति स्नायविकता के ऐसे लक्षण प्रकट करती है और ऐसा प्राणिक संगठन रखती है जो हमारे लक्षणों और संगठन से बहुत भिन्न नहीं है,—लेकिन हम इसे धातु, धरती और रासायनिक परमाणु में मानने को अनिच्छुक रहते हैं जहां इन दीखनेवाले विकासों का पता लगा सकना काफी कठिन होता है या प्रकट रूप में उनका अस्तित्व ही नहीं होता।

क्या इस अंतर को वास्तविक विभेद की कोटितक उठा देने में कोई औचित्य है? उदाहरण के लिये हमारे जीवन और वनस्पति के जीवन में क्या फर्क है? हम देखते हैं कि पहला भेद तो यह है कि हमारे अंदर चलने-फिरने की क्षमता है, जिसका स्पष्टतः जीवन-शक्ति के सारतत्त्व के साथ कोई संबंध नहीं, दूसरा यह कि हमारे अंदर सचेतन संवेदन की क्षमता है, जहांतक हमें मालूम है, यह क्षमता वनस्पति में अभीतक विकसित नहीं हुई है, हमारी स्नायविक अनुक्रियाओं के साथ अधिकतर सचेतन संवेदन की मानसिक अनुक्रिया लगी रहती है, यद्यपि ऐसा हमेशा या पूरी तरह कदापि नहीं होता, उनका मन के लिये और साथ ही स्नायु-संस्थान तथा स्नायुओं की क्रिया से उत्तेजित शरीर के लिये एक मूल्य होता है। ऐसा मालूम होता है कि वनस्पति में भी स्नायविक संवेदन के लक्षण हैं, इन संवेदनों में वे भी हैं जो हमारे अंदर सुख-दुःख, जागना-सोना, प्रसन्नता-उदासी और थकान के रूप में अनूदित होते हैं, और उसका शरीर स्नायविक क्रिया से भीतर से आंदोलित होता है लेकिन वहां मानसिक रूप से सचेतन संवेदन की प्रत्यक्ष उपस्थिति का कोई चिह्न नहीं होता। परंतु संवेदन संवेदन है चाहे वह मानसिक रूप से सचेतन हो या प्राणिक रूप से संवेदनशील और संवेदन चेतना का एक रूप है। जब कोई संवेदनशील वनस्पति किसी संपर्क से सिकुड़ती है तो ऐसा लगता है कि वह

स्नायविक ढंग से प्रभावित हुई है, कि उसके अंदर कोई चीज उस संपर्क को नापसंद करती और उससे दूर खिंच जाना चाहती है। एक शब्द में कहें तो वनस्पति में अवचेतन संवेदन है, यह ठीक वैसा ही है जैसा कि हम देख चुके हैं कि, हमारे अंदर उसी प्रकार की अवचेतन क्रियाएं होती हैं। मानव-संरचना में यह सर्वथा संभव है कि इन अवचेतन बोधों और संवेदनों को उनके हो चुकने और स्नायु-संस्थान पर उनका प्रभाव पड़ना बंद हो चुकने के बहुत बाद भी सतह पर लाया जा सके। दिन दूने बढ़ते हुए अनेकों प्रमाणों ने यह अकाट्य रूप से सिद्ध कर दिया है कि हमारे अंदर एक अवचेतन मन विद्यमान है जो सचेतन मन से बहुत अधिक विशाल है। वनस्पति में कोई ऊपरी रूप से जागरूक मन नहीं है जिसे अवचेतन संवेदनों के मूल्यांकन के प्रति जगाया जा सके, केवल यह तथ्य वस्तु-व्यापार की तात्त्विक एकात्मता में कोई भेद नहीं लाता। जब व्यापार एक ही हों तो वे जिस वस्तु को प्रकट करते हैं वह भी एक ही होनी चाहिये और वह वस्तु है, अवचेतन मन। और यह बिल्कुल संभव है कि धातु में अवचेतन इन्द्रिय-मन की प्राण-क्रिया एक अधिक प्रारंभिक अवस्था में विद्यमान हो, हालांकि धातु में स्नायविक अनुक्रिया से मिलता-जुलता कोई शारीरिक आंदोलन नहीं होता। लेकिन शारीरिक आंदोलन के अभाव से धातु में प्राण-शक्ति की उपस्थिति में उसी तरह कोई वास्तविक फर्क नहीं पड़ता जैसे पौधे में शरीर के चलने-फिरने का अभाव उसकी प्राण-शक्ति की उपस्थिति के लिये कोई तात्त्विक अंतर नहीं लाता।

शरीर में जो चेतन है वह जब अवचेतन या जो अवचेतन है जब वह सचेतन बन जाता है तब क्या होता है? वास्तविक अंतर वहां अपने कर्म के किसी एक अंश में सचेतन शक्ति की तल्लीनता का, उसके कम व अधिक ऐकांतिक संकेंद्रण का होता है। संकेंद्रण के कुछ रूपों में, हम जिसे मानसिकता कहते हैं, यानी प्रज्ञान या बहिर्मुख चेतना, वह सचेतन रूप में क्रिया करना लगभग या पूरी तरह बंद कर देती है, —फिर भी शरीर, स्नायुओं और ऐंद्रिय मन का कार्य अलक्षित रूप से किंतु बिना रुके पूरी तरह चलता रहता है; यह सब कुछ अवचेतन हो जाता है, केवल एक क्रिया या क्रिया-धारा में मन ज्योतिर्मय रूप से सक्रिय रहता है। जब मैं लिखता हूं तो लिखने की भौतिक क्रिया अधिकांश में या कभी-कभी पूरी तरह अवचेतन मन के द्वारा की जाती है। जैसा कि हम कहते हैं, शरीर निश्चेतन रूप में कुछ स्नायविक गतियां करता रहता है, मन केवल उसी विचार के प्रति जाग्रत् होता है जिसमें वह व्यस्त हो। निःसंदेह, ऐसा हो सकता है कि सारा मनुष्य ही अवचेतन में डूब जाये, पर फिर भी अभ्यासगत क्रियाएं मन की क्रियासहित चलती रहें, जैसा कि नींद के बहुत से व्यापारों में होता है या वह अतिचेतन में ऊपर उठ सकता है और फिर भी शरीर में अंतर्लीन मन से सक्रिय रहता है जैसा कि समाधि के कुछ व्यापारों में होता है। तो यह स्पष्ट है कि वनस्पति के संवेदन और हमारे संवेदन में

बस यही फर्क है कि वनस्पति के अंदर विश्व में अपने-आपको अभिव्यक्त करनेवाली सचेतन शक्ति अभीतक जड़-पदार्थ की निद्रा में से पूरी तरह उभरी नहीं है, उस तल्लीनता से बाहर नहीं आयी है जो कार्य करनेवाली शक्ति का अतिचेतन ज्ञान में स्थित क्रिया के उद्गम से पूरी तरह विच्छेद करती है और इसीलिये वह उन क्रियाओं को अभी अवचेतन रूप से करती है जिन्हें वह तब सचेतन रूप से करेगी जब वह मनुष्य के अंदर अपनी तल्लीनता से बाहर जायेगी और अपनी ज्ञान-आत्मा के प्रति, भले परोक्ष रूप में ही, जाग्रत् होना शुरू कर देगी। वह ठीक वही चीजें करती है परंतु करती है एक अलग तरीके से और चेतना की दृष्टि से अलग मूल्यों के साथ।

अब यह धारणा करना संभव होता जा रहा है कि स्वयं परमाणु में कुछ ऐसी चीज है जो हमारे अंदर इच्छा और कामना बन जाती है, वहां एक आकर्षण और विकर्षण है जो, चाहे देखने में दूसरी चीज लगे, तत्त्वतः वही चीज है जो हमारे अंदर पसंद और नापसंद है, परंतु वे जैसा कि हम कहते हैं, अचेतन या अवचेतन हैं। इच्छा और कामना का यह तत्त्व प्रकृति में सब जगह प्रत्यक्ष है और यद्यपि इसपर अभीतक पर्याप्त रूप में ध्यान नहीं दिया गया है वे, अवचेतना या निश्चेतना कह लो, के साथ संबद्ध और वस्तुतः उसकी अभिव्यक्ति हैं या फिर पूरी तरह अंतर्निहित संवेदन और बुद्धि हैं जो समान रूप से व्यापक हैं। जड़ द्रव्य के हर परमाणु में उपस्थित होने के नाते यह सब आवश्यक रूप से, उन परमाणुओं के सम्मिलन से बनी हर चीज में उपस्थित रहता है। और वे परमाणु में इसलिये उपस्थित होते हैं क्योंकि वे उस शक्ति में विद्यमान होते हैं जो परमाणु की रचना और संघटना करती है। वह शक्ति मूलतः वेदांत की चित्-तपस् या चित्-शक्ति है, सत्-चित् की अंतर्हित चित् शक्ति है जो अपने-आपको वनस्पति में अवमानसिक संवेदन से भरी स्नायविक-ऊर्जा के रूप में, प्राथमिक पशु रूपों में कामना-संवेदन और कामना-इच्छा के रूप में, विकसनशील पशु में आत्म-सचेतन बोध और शक्ति के रूप में और मनुष्य में, इन सबसे बढ़कर, मानसिक इच्छा और ज्ञान के रूप में प्रकट करती है। प्राण वैश्व ऊर्जा का एक आरोहण-क्रम है जिसमें निश्चेतना से चेतना की ओर संक्रमण संपन्न किया जाता है। वह उस ऊर्जा की एक मध्यवर्ती शक्ति है जो जड़-तत्त्व में अंतर्हित या डूबी हुई रहती है, उसकी अपनी शक्ति ही उसे अवमानसिक सत्ता में उन्मुक्त करती है और अंत में मन के आविर्भाव के द्वारा वह अपनी सक्रियता की पूर्ण संभावना में उन्मुक्त हो जाती है।

अन्य सभी विचारों को छोड़कर, यदि हम विकासवाद के प्रकाश में उन्मज्जन की बाहरी प्रक्रिया को ही देखें तो भी यह निष्कर्ष एक युक्तिसंगत आवश्यकता के रूप में अपने-आपको बलपूर्वक स्थापित करता है। यह स्वतः-सिद्ध है कि वनस्पति में विद्यमान जीवन, चाहे वह पशु में विद्यमान जीवन से भिन्न रूप में गठित हो,

फिर भी वह है वही शक्ति जिसके चिह्न हैं : जन्म, वृद्धि और मृत्यु, बीज द्वारा प्रसार, ह्रास, रोग या हिंसा द्वारा मृत्यु, बाहर से पोषक तत्त्वों के ग्रहण द्वारा भरण-पोषण, प्रकाश और ऊष्मा पर निर्भरता, प्रजनन और वंध्यता, यहांतक कि सोने, जागने की अवस्थाएं, ऊर्जा और प्राणिक ओज का ह्रास, बाल्यावस्था से प्रौढ़ता और वृद्धावस्था की ओर गमन। इसके अतिरिक्त वनस्पति में प्राण-शक्ति के सार-तत्त्व होते हैं और इसीलिये वह पशु-जीवन के लिये स्वाभाविक आहार है। अगर यह मान लिया जाता है कि वनस्पति में स्नायुतंत्र है और वह उत्तेजकों के प्रति अनुक्रियाएं करती है, जो अवमानसिक या विशुद्ध प्राणिक संवेदनों का प्रारंभ या उनकी अंतर्धारा हो तो तादात्म्य और भी अधिक हो जाता है, फिर भी स्पष्ट रूप से यह जीवन-विकास की एक अवस्था ही है जो पशु-जीवन और निष्प्राण जड़ द्रव्य के बीच मध्यवर्ती अवस्था है और ठीक इसी चीज की आशा की भी जानी चाहिये थी यदि प्राण एक ऐसी शक्ति हो जो जड़-द्रव्य में से प्रस्फुटित होती और मन में पराकाष्ठातक पहुंचती हो; और अगर ऐसा है तो हम यह मानने के लिये बाध्य हैं कि वह पहले ही से स्वयं जड़तत्त्व में मौजूद होती है, जड़ अवचेतना या निश्चेतना में अंतर्लीन या अंतर्निहित होती है क्योंकि वह भला और कहां से उभर सकती है? जड़ तत्त्व के अंदर प्राण का विकास यह मानकर चलता है कि वह उसके अंदर पहले ही से अंतर्लीन था जबतक कि उसके स्थान पर हम यह न मान लें कि यह एक नयी सृष्टि है जो किसी जादुई अनोखे ढंग से प्रकृति में लायी गयी है। अगर ऐसी बात है तो उसे ऐसा सृजन होना चाहिये जो शून्य से निकला हो या उसे ऐसी भौतिक क्रियाओं का परिणाम होना चाहिये जिसके लिये स्वयं क्रियाओं में कोई कारण न हो या उनमें ऐसा कोई तत्त्व न हो जिसे उनका सजातीय कहा जा सके। यह भी कल्पना की जा सकती है कि यह ऊपर से, जड़-भौतिक जगत् के ऊपर के किसी अतिभौतिक स्तर से अवतरण हो, पहली दो मान्यताओं को मनमानी कल्पनाएं कहकर उड़ा दिया जा सकता है लेकिन अंतिम व्याख्या संभव और सचमुच कल्पना में आने लायक है। वस्तुसंबंधी गुह्य ज्ञान की दृष्टि से यह सच है कि भौतिक विश्व से ऊपर के किसी प्राण के दबाव ने यहां पर प्राण के आविर्भाव में सहायता की है। लेकिन यह व्याख्या इस बात का बहिष्कार नहीं करती कि प्राण का प्रथम आविर्भाव स्वयं जड़तत्त्व में से ही प्राथमिक और आवश्यक क्रिया के रूप में हुआ क्योंकि भौतिक लोक के ऊपर किसी प्राण जगत् या प्राण लोक की उपस्थिति मात्र के कारण जड़ पदार्थ में प्राण नहीं उभर आता जबतक कि वह प्राणिक स्तर 'सत्' की अनेक श्रेणियों और शक्तियों में से अवतरित होता हुआ एक रचनात्मक स्तर न हो जो निश्चेतना में उतर आया हो और परिणामस्वरूप किसी भावी विकास और उन्मज्जन के लिये जड़-भौतिक में अंतर्निहित हो गया हो। इस प्रश्न का बहुत अधिक महत्त्व नहीं है कि इस अंतर्लीन प्राण के चिह्न जड़ वस्तुओं में

पाये जा सकते हैं, चाहे वे अभीतक असंगठित या प्रारंभिक अवस्था में ही क्यों न हों, या वहां ऐसा कोई चिह्न नहीं है क्योंकि यह अंतर्ग्रस्त प्राण पूर्ण निद्रा की अवस्था में है। जो भौतिक ऊर्जा संहत करती, रूप देती और विघटन करती है वह वही शक्ति है जो अपनी ही एक अन्य भूमिका में जीवन-शक्ति के रूप में अपने-आपको जन्म, वृद्धि और मृत्यु में प्रकट करती है[1]। जैसे सोयी हुई अवचेतना में बुद्धि के कार्यों को करने के नाते वह अपने-आपको उसी शक्ति के रूप में प्रकट करती है जो एक और भूमिका में मन की स्थिति को पा लेती है। उसका स्वरूप ही यह दिखा देता है कि वह अपने अंदर मन और प्राण की अभीतक अनुन्मुक्त शक्तियों को समोये हुए है, यद्यपि अभीतक उनके स्वाभाविक संगठन या प्रक्रिया में नहीं।

तो प्राण अपने-आपको सभी जगह, परमाणु से लेकर मनुष्यतक में, सारतः इसी एक ही रूप में प्रकट करता है। परमाणु में सत्ता की अवचेतन सामग्री और गति समायी रहती है, वही पशु में चेतना के रूप में उन्मुक्त होती है, वनस्पति-जीवन इस विकास में एक बीच की भूमिका होता है। वस्तुतः प्राण चित्-शक्ति की वैश्व क्रिया है जो जड़द्रव्य पर और उसके अंदर अवचेतन रूप में कार्य करती है। यह वही क्रिया है जो रूपों या शरीरों का सृजन, संरक्षण, विनाश करती और पुनः सृजन करती है। यह स्नायविक शक्ति की क्रीड़ा द्वारा यानी उद्दीपक ऊर्जा के आदान-प्रदान की लहरों के द्वारा उन शरीरों में सचेतन संवेदन जगाने का प्रयास करती है। इस क्रिया में तीन स्थितियां आती हैं। निम्नतम, जिसमें स्पंदन अभीतक जड़तत्त्व की निद्रा में पूरी तरह अवचेतन रहता है जिससे वह पूरी तरह यंत्रवत् प्रतीत होता है। मध्यवर्ती, जिसमें वह ऐसी अनुक्रिया करने में सक्षम हो जाता है जो अभीतक होती तो अवमानसिक ही है पर उस छोरतक आ जाती है जिसे हम चेतना कहते हैं। उच्चतम, जिसमें प्राण सचेतन मानसिकता को एक मानसिक बोधगम्य संवेदन का रूप दे देता है जो इस संक्रमण में इन्द्रिय-मन और बुद्धि के विकास के लिये आधार बन जाता है। मध्यवर्ती स्थिति में ही जड़ तत्त्व और मन से भिन्न प्राण का विचार हमारी पकड़ में आता है परंतु वास्तव में वह सभी स्थितियों में एक ही है और सदा मन और जड़ तत्त्व के बीच एक मध्यवर्ती भूमिका

[1] प्राण का जन्म, वृद्धि और मृत्यु अपने बाहरी रूप में संहति, रूपायन और विघटन की वही प्रक्रिया है यद्यपि अपनी आंतरिक प्रक्रिया और अभिप्राय में उससे बहुत अधिक है। यहांतक कि चैत्य पुरुष भी शरीर में आत्म प्रतिष्ठा करते समय, यदि इन चीजों के बारे में गुह्य ज्ञान की दृष्टि ठीक है, तो ऐसी ही बाहरी प्रक्रिया का अनुसरण करता है क्योंकि अंतरात्मा केंद्रक के नाते अपने मनोमय, प्राणमय और अन्नमय कोषों के तत्त्वों को और उनकी अंतर्वस्तुओं को जन्म के लिये अपनी ओर खींचती और उन्हें संहत करती है, काल में उन रूपों को बढ़ाती है और जाते समय इन संहत रूपों को फिर से छोड़ देती और विघटित कर देती है। और ऐसा करते हुए वह अपनी आंतरिक शक्तियों को तबतक के लिये अपने अंदर खींच लेती है जबतक कि नया जन्म लेते समय फिर से इसी मूल प्रक्रिया की पुनरावृत्ति न करने लगे।

बना रहता है, जो जड़ का तो उपादान है और मन से अनुप्राणित रहता है। यह चित्-शक्ति की ऐसी क्रिया है जो न तो जड़ द्रव्य का रूपायण मात्र है और न मन की कोई ऐसी क्रिया है जिसके प्रज्ञान का विषय हो जड़ पदार्थ और रूप; बल्कि यह चित्-सत्ता का एक ऊर्जायन है जो जड़ द्रव्य के रूपायण का कारण और आधार है और सचेतन मानसिक प्रज्ञान का मध्यवर्ती उद्गम और आधार है। प्राण, चित्-सत्ता का यह मध्यवर्ती ऊर्जायन होने के नाते सत्ता की उस सर्जक शक्ति के एक रूप को संवेदनात्मक क्रिया और प्रतिक्रिया में उन्मुक्त करता है जो अपने ही द्रव्य में लीन रहकर अवचेतन या निश्चेतन रूप से क्रिया कर रही थी। यह सत्ता की उस बहिर्दृष्टि चेतना को, जिसे मन कहा जाता है, आधार प्रदान करता और क्रिया में उन्मुक्त करता है और उसे एक क्रियात्मक उपकरण प्रदान करता है ताकि वह केवल अपने रूपों पर ही नहीं बल्कि प्राण और जड़ द्रव्य के रूपों पर भी क्रिया कर सके, मन और जड़तत्त्व के बीच मध्यवर्ती तत्त्व होने के नाते वह उन दोनों के बीच पारस्परिक आदान-प्रदान करता, उन्हें जोड़ता और सहारा देता है। आदान-प्रदान का यह साधन प्राण अपनी उस स्पंदनशील स्नायविक ऊर्जा की सतत धाराओं के द्वारा प्रदान करता है जो मन को बदलने के लिये रूप की शक्ति को संवेदन के रूप में लेकर चलती है और जड़ तत्त्व को बदलने के लिये मन की शक्ति को इच्छा के रूप में वापिस लाती है। जब हम प्राण की बात करते हैं तो हमारा मतलब इसी स्नायविक ऊर्जा से होता है। भारतीय दर्शन में इसे प्राण या प्राण-शक्ति कहा गया है। परंतु स्नायविक ऊर्जा उसका केवल वह रूप है जिसे वह प्राणी में धारण करता है। वही प्राणिक ऊर्जा नीचे परमाणु तक सभी रूपों में विद्यमान रहती है क्योंकि वह सारतः सर्वत्र एक ही है और सर्वत्र यह चित्-शक्ति की एक ही क्रिया है। यह शक्ति अपने ही रूपों के द्रव्यगत अस्तित्व को सहारा देती और उसे आपरिवर्तित करती है। इस शक्ति के साथ-साथ इन्द्रिय और मन गुप्त रूप से सक्रिय रहते हैं, परंतु पहले वे रूप में अंतर्लीन रहते और प्रकट होने की तैयारी करते हैं और अंत में अपने अंतर्लयन में से बाहर उभर आते हैं। यह है सारे भौतिक विश्व को अभिव्यक्त करने और उसमें निवास करनेवाले सर्वव्यापक प्राण का संपूर्ण अर्थ।

अध्याय २०

मृत्यु, कामना और अक्षमता

. . . अग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत् ।
अशनायया अशनाया हि मृत्युः;
तन्मनोऽकुरुत आत्मन्वी स्यामिति ।।

शुरू में सब कुछ क्षुधा से, जो कि मृत्यु है, ढका हुआ था। उसने अपने लिये मन बनाया ताकि वह आत्मवान् बन सके।

बृहदारण्यकोपनिषद् १.२.१

यं मर्त्यः पुरुस्पृहं विदद्विश्वस्य धायसे ।
प्रस्वादनं पितूनामस्ततातिं चिदायवे ।।

यह वह शक्ति है जिसे मर्त्य ने खोजा, उसमें अपनी अनेक कामनाएं हैं ताकि वह सभी चीजों को धारण कर सके। वह सभी भोजनों का स्वाद लेता और सत्ता के लिये एक भवन बनाता है।

ऋग्वेद ५.७.६

पिछले अध्याय में हमने भौतिक अस्तित्व और जड़तत्त्व के प्राणिक तत्त्व के प्रकट होने और उसकी क्रिया की दृष्टि से प्राण के बारे में विचार किया है और इस विकसनशील पार्थिव जीवन की दी हुई सामग्री के आधार पर विचार किया है। लेकिन यह स्पष्ट है कि वह जहां कहीं प्रकट हो, चाहे जिस तरीके से, चाहे जैसी परिस्थितियों में कार्य करे, सामान्य सिद्धांत सब जगह एक ही रहेगा। प्राण वैश्व शक्ति है जो द्रव्यगत रूपों का सृजन करने, उनमें ऊर्जा भरने, उनका संरक्षण करने और उन्हें बदलने, यहांतक कि उनका विलयन और पुनर्निर्माण करने में भी सक्रिय रहती है। गुप्त या प्रकट रूप से सचेतन ऊर्जा की पारस्परिक क्रीड़ा और आदान-प्रदान इसका मूलभूत स्वभाव है। हम जिस भौतिक जगत् में निवास करते हैं, उसमें मन प्राण के अंदर अंतर्लीन और अवचेतन है, उसी तरह जैसे अतिमानस मन के अंदर अंतर्लीन और अवचेतन है और यह प्राण अंतर्लीन अवचेतन मन को लिये हुए फिर स्वयं जड़तत्त्व में निवर्तित रहता है। अतः यहां जड़ तत्त्व ही आधार और प्रकट रूप में आरंभ है, उपनिषद् की भाषा में '*पृथिवी पाजस्यम्*' पृथ्वी ही हमारा आधार है। भौतिक विश्व का आरंभ होता है आकारित परमाणु से जो ऊर्जा से सिंचित और अवचेतन, कामना, इच्छा और बुद्धि के अरूपायित उपादान से अनुप्राणित होता है। इस जड़ द्रव्य में से प्रकट होता है दृश्य प्राण और वह अपने अंदर से सजीव शरीर के माध्यम द्वारा मन को, जिसे वह अपने अंदर कैद किये

होता है, प्रकट करता है। मन को भी अभी अपने भीतर से अतिमानस को मुक्त करना है जो उसकी क्रियाओं में छिपा है। लेकिन हम एक ऐसे और तरह से बने जगत् की कल्पना कर सकते हैं जिसमें मन शुरू से ही छिपा नहीं रहता बल्कि जड़ द्रव्य के प्रारंभिक रूपों का सृजन करने के लिये अपनी सहजात ऊर्जा का सचेतन रूप में व्यवहार करता है और यहां की तरह शुरू में केवल अवचेतन नहीं रहता। हालांकि ऐसे जगत् की क्रिया-पद्धति हमारे जगत् से एकदम अलग होगी फिर भी उस ऊर्जा की क्रिया का मध्यवर्ती वाहन हमेशा प्राण ही होगा। चीज अपने-आपमें वह की वही रहेगी, भले सारी प्रक्रिया पूरी तरह से उलट क्यों न जाये।

तब तो तत्काल यह मालूम होता है कि जैसे मन अतिमानस की एक अंतिम क्रिया मात्र है उसी तरह प्राण भी चित्-शक्ति की एक अंतिम क्रिया मात्र है। सत्य संकल्प ही इस प्राण का निर्धारणकारी रूप और इसकी सर्जनशक्ति है। चेतना, जो कि शक्ति है, वह सत् पुरुष की प्रकृति है और यह चेतनायुक्त सत्-पुरुष जब सर्जक ज्ञान-इच्छा के रूप में अभिव्यक्त होता है तो वही सत्य संकल्प या अतिमानस होता है, अतिमानसिक ज्ञान-इच्छा वह चित्-शक्ति है जो संयुक्त सत्ता के रूपों के व्यवस्थित सामंजस्य में सृजन के लिये, जिसे हम जगत् या विश्व कहते हैं, क्रियाशील बनायी गयी है। इसी भांति मन और प्राण भी वही चित्-शक्ति हैं, वही ज्ञान-इच्छा हैं किंतु उनकी क्रिया स्पष्ट रूप से वैयक्तिक रूपों को एक तरह की सीमा में बांधने, विरोध और आदान-प्रदान बनाये रखने के लिये होती है ताकि सत्ता के हर रूप में रहनेवाली अंतरात्मा अपने मन और प्राण को इस तरह क्रिया में लगा सके मानों वे औरों से अलग हैं यद्यपि वास्तव में वे कभी अलग नहीं होते बल्कि एक ही आत्मा, मन, प्राण की क्रीड़ा होते हैं जो उसकी एक ही वास्तविकता के अलग-अलग रूपों में होती है। दूसरे शब्दों में, जैसे मन समस्त अंतर्द्रष्टी और बहिर्द्रष्टी अतिमानस के व्यक्तिगत रूप लेने की अंतिम क्रिया है, वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा उसकी चेतना हर रूप में व्यक्तिगत रूप लेकर उसके उपयुक्त दृष्टिकोण से और उस दृष्टिकोण से आगे बढ़नेवाले वैश्व संबंधों को स्थापित करती हुई क्रिया करती है, उसी तरह प्राण भी वह अंतिम क्रिया है जिसके द्वारा चित्पुरुष की शक्ति वैश्व अतिमानस की सर्वधृत और सबका सृजन करनेवाली इच्छा द्वारा व्यक्तिगत रूपों का संरक्षण करती, उनमें ऊर्जा भरती, उन्हें संघटित और पुनः संघटित करती है और इस प्रकार शरीरधारी आत्मा के सभी क्रिया-कलाप के आधार के रूप में उनमें काम करती है। प्राण भगवान् की ऊर्जा है जो डाइनेमो की तरह अपने-आपको हमेशा रूपों के अंदर लगातार पैदा करती रहती है और वह न केवल परिपार्श्व में स्थित वस्तुओं के रूपों पर आघातोंरूपी बहिर्गामी बैट्री के साथ क्रीड़ा करती है बल्कि परिपार्श्व के सारे जीवन से आनेवाले आघातों को, जैसे ही वे बाहर से, पास-पड़ोस के विश्व से रूप पर आकर पड़ते हैं और उसमें प्रवेश करते हैं, ग्रहण भी करती है।

इस दृष्टि से प्राण चेतना की ऊर्जा का एक ऐसा रूप मालूम होता है जो जड़तत्त्व पर मन की क्रिया के लिये मध्यवर्ती और उपयुक्त है। एक अर्थ में कहा जा सकता है कि मन जब सृजन करता और भावों के साथ संबंध छोड़कर शक्ति की गतियों और जड़पदार्थ के रूपों से नाता जोड़ता है तब यह मन का ऊर्जा-रूप होता है। लेकिन साथ ही यह कहना भी जरूरी है कि जैसे मन कोई पृथक् सत्ता नहीं है बल्कि सारा अतिमानस उसके पीछे है और यह अतिमानस है जो सृजन करता है और मन उसकी वैयक्तिक रूप देनेवाली अंतिम क्रिया मात्र है उसी तरह प्राण भी कोई अलग सत्ता या क्रिया नहीं है बल्कि, उसके हर कार्य के पीछे सारी चित्-शक्ति रहती है और एकमात्र वह चित्-शक्ति ही है जिसका अस्तित्व है और वही सृष्ट वस्तुओं में क्रिया करती है। प्राण उसकी अंतिम क्रिया भर है जो मन और शरीर के बीच मध्यस्थता का काम करती है। अतः हम प्राण के बारे में जो कुछ कहें उस सबको इस निर्भरता से पैदा होनेवाले प्रतिबंधों के अधीन रहना होगा। हम प्राण को उसके स्वभाव या उसकी प्रक्रिया में वास्तविक रूप से तबतक नहीं जान पाते जबतक कि हम उसमें क्रिया करनेवाली उस चित्-शक्ति से अभिज्ञ और सचेतन न हो जायें जिसका बाहरी रूप और उपकरण है प्राण। इसके बाद ही हम भगवान् के विशिष्ट आत्मा-रूप और मानसिक तथा शारीरिक यंत्र के रूप में यह बोध पा सकते हैं कि प्राण में भगवान् की क्या इच्छा है और तभी हम उसे सज्ञान भाव से क्रियान्वित कर सकते हैं। केवल तभी प्राण और मन अज्ञान की टेढ़ी-मेढ़ी विकृतियों को निरंतर कम करते हुए अपने और वस्तुओं के अंदर सत्य की निरंतर बढ़ती हुई ऋजुता के पथों और गतियों में आगे बढ़ सकते हैं। जैसे मन को उस अतिमानस के साथ सचेतन रूप से एक होना है जिससे वह अविद्या की क्रिया के कारण अलग हो गया है उसी तरह प्राण को भी चित्-शक्ति के बारे में अभिज्ञ होना है, जो उसमें ऐसे उद्देश्यों के लिये और ऐसे अर्थ को लेकर क्रिया करती है जिनके बारे में हमारे अंदर का प्राण अपनी अंधकारमय क्रियाओं में असचेतन है क्योंकि वह केवल जीने की प्रक्रिया में लीन रहता है, जैसे कि हमारा मन प्राण और भौतिक द्रव्य को मानसिक बनाने में लीन रहता है। परिणामस्वरूप वह (प्राण) अंधता और अज्ञानता के साथ उन उद्देश्य और अर्थ की सेवा करता है, ज्योतिर्मय, आत्म-परिपूर्तिकारी ज्ञान, बल और आनंद के साथ नहीं जैसा कि उसे अपनी मुक्ति और परिपूर्णता पा लेने के बाद करना चाहिये और वह करेगा।

वस्तुतः हमारा प्राण, मन की अंधकारमय और विभाजनकारी क्रियाओं के आधीन होने के कारण अपने-आप अंधकारमय और विभक्त है और उसे मृत्यु, सीमितता, दुर्बलता, कष्ट, अज्ञानमय क्रिया-कलाप की उस सारी अधीनता में से गुजरना होता है जिसका जनक और कारण है बद्ध और सीमित देहस्थ मन। हम देख आये हैं कि विकृति का मूल स्रोत था आत्म-अज्ञान से बंधे व्यष्टि जीव का

अपने-आपको सीमित कर लेना क्योंकि वह अपने-आपको ऐकांतिक एकाग्रता के कारण ऐसे देखता है जैसे वह एक पृथक्, अपने-आपमें अस्तित्व रखनेवाला व्यक्ति हो और संपूर्ण वैश्व क्रिया को उस रूप में देखता है जिस रूप में वह उसकी अपनी व्यक्तिगत चेतना, ज्ञान, इच्छा, शक्ति, भोग और सीमित सत्ता के सामने आती है बजाय इसके कि वह अपने-आपको इस रूप में देखे कि वह एकमेव का एक सचेतन रूप है और सर्व चेतना, सर्व ज्ञान, सर्व शक्ति, सर्व भोग और सर्व सत्ता का इस रूप में आलिंगन करे मानों वे उसकी अपनी चेतना, ज्ञान, शक्ति, भोग और सत्ता के साथ एक हैं। हमारे अंदर वैश्व प्राण मन के अंदर बंदी बने हुए जीव के आदेश का पालन करता हुआ अपने-आप वैयक्तिक क्रिया में बंदी बन जाता है। वह सीमित और अपर्याप्त सामर्थ्यवाले एक अलग प्राण के रूप में अस्तित्व रखता और क्रिया करता है और अपने चारों ओर के वैश्व जीवन के आघात और दबाव का मुक्त रूप से आलिंगन करने की जगह उसे बाधित होकर सहता है। विश्व में शक्ति का जो सतत वैश्व आदान-प्रदान चल रहा है उसमें फेंकी गयी एक दीन, सीमित वैयक्तिक सत्ता की तरह प्राण शुरू में उस दानवी पारस्परिक क्रीड़ा को असहाय होकर सहता और उसका आदेश मानता है। जो कुछ उसपर आक्रमण करता, उसे निगलता, उसका भोग करता, उसका उपयोग करता और उसे चलाता है, उन सबपर वह बस एक यंत्रवत् प्रतिक्रिया करता है। लेकिन जैसे-जैसे चेतना का विकास होता है, जैसे-जैसे उसकी अपनी सत्ता का प्रकाश अंतर्लीनता की निद्रा के जड़ अंधकार में से बाहर निकलता है, वैसे-वैसे वह वैयक्तिक सत्ता धुंधले रूप में अपने अंदर की शक्ति के बारे में अभिज्ञ होती जाती है और पहले स्नायविक रूप से और फिर मानसिक रूप से क्रीड़ा पर अधिकार पाने, उसका उपयोग और भोग करने का प्रयास करती है। उसके अंदर शक्ति के प्रति यह जागरण आत्मा के प्रति क्रमिक जागरण है। क्योंकि 'प्राण' 'शक्ति' है और 'शक्ति' 'बल' है और 'बल' 'इच्छा' है और 'इच्छा' 'ईश्वर-चेतना' की क्रिया है। व्यक्ति के अंदर का प्राण अपनी गहराइयों में इस बारे में अधिकाधिक अभिज्ञ होता जाता है कि वह भी उन सच्चिदानंद की इच्छा-शक्ति है जो विश्व के स्वामी हैं और वह स्वयं भी व्यक्तिगत रूप से अपने जगत् का स्वामी बनने की अभीप्सा करता है। अतः समस्त व्यक्तिगत जीवन का बढ़ता हुआ आवेग है स्वयं अपनी शक्ति को पाना, अपने जगत् का ज्ञाता और स्वामी बनना। यह आवेग वैश्व जीवन में भगवान् की बढ़ती हुई आत्माभिव्यक्ति का एक सारभूत तत्त्व है।

परंतु यद्यपि प्राण शक्ति है और वैयक्तिक प्राण के विकास का अर्थ होता है वैयक्तिक शक्ति का विकास फिर भी उसके विभक्त वैयक्तिक प्राण और शक्ति होने का तथ्य ही उसे अपने जगत् का वास्तव में स्वामी होने से रोकता है। क्योंकि उसका अर्थ होगा 'सर्वशक्ति' का स्वामी होना; एक विभक्त और व्यष्टि-रूप चेतना

के लिये, जो विभक्त और व्यष्टिभावापन्न और इस कारण सीमित शक्ति और सीमित इच्छावाली होती है, सर्व-शक्ति का स्वामी होना असंभव बात है। केवल सर्व-इच्छा ही ऐसी हो सकती है और यदि व्यक्ति को ऐसा होना ही हो तो वह सर्व-इच्छा के साथ फिर से एक होकर और इस तरह सर्व-शक्ति के साथ एक होकर ही ऐसा कर सकता है नहीं तो वैयक्तिक देह में स्थित वैयक्तिक प्राण को सदा-सर्वदा अनिवार्य रूप से अपनी सीमितता के इन तीन चिह्नों के—मृत्यु, कामना और असमर्थता के आधीन रहना होगा।

वैयक्तिक प्राण पर मृत्यु आरोपित होती है इन दोनों के द्वारा; उसके अपने अस्तित्व की जो अवस्थाएं हैं उनके, और अपने-आपको विश्व में अभिव्यक्त करनेवाली सर्व शक्ति के साथ उसके जो संबंध हैं उनके द्वारा। क्योंकि वैयक्तिक प्राण उस ऊर्जा की एक विशेष क्रीड़ा है जो एक रूप-विशेष का निर्माण और संरक्षण करने, उसे ऊर्जित करने और अंत में उसकी उपयोगिता पूरी हो जाने पर, उसे विलीन करने के लिये विशेष रूप से बनी है। यह रूप-विशेष उन असंख्य रूपों में से एक है जो सभी, उनमें से हर एक, अपने-अपने स्थान, समय और क्षेत्र में समग्र विश्व-लीला में योगदान दे रहा होता है। शरीरस्थ प्राण की ऊर्जा को विश्वस्थ बाहरी ऊर्जाओं के आक्रमणों को सहना पड़ता है, उन्हें अपने भीतर खींचना और उनका भक्षण करना होता है और वे स्वयं उसे भी हमेशा निगलती रहती हैं। उपनिषद् के अनुसार समस्त जड़ पदार्थ अन्न है और भौतिक जगत् का यह सूत्र है कि "खानेवाला खाता हुआ स्वयं खाया जाता है।" शरीर में संगठित प्राण सदा इस संभावना की ओर खुला रहता है कि उससे बाहर का प्राण आक्रमण करके उसे छिन्न-भिन्न कर दे या उसकी भक्षण करने की क्षमता के अपर्याप्त होने या उचित रूप में पूरी न होने के कारण, या भक्षण की क्षमता और बाहर के प्राण के लिये भोजन देने की क्षमता या आवश्यकता के बीच ठीक संतुलन न होने के कारण वह अपनी रक्षा करने में असमर्थ हो जाये और उसे खा लिया जाये या वह अपने-आपको फिर से नया करने में असमर्थ हो जाये और इसलिये क्षीण हो जाये या टूट-फूट जाये। तब उसे नये निर्माण या फिर से नया बनने के लिये मृत्यु की प्रक्रिया में से गुजरना पड़ता है।

केवल यही नहीं, बल्कि, अगर फिर से उपनिषद् की भाषा में कहें तो, प्राण-शक्ति शरीर का अन्न है और शरीर प्राण-शक्ति का अन्न। दूसरे शब्दों में, हमारे अंदर की प्राण-शक्ति एक साथ दो काम करती है, वह वह द्रव्य प्रदान करती है जिससे रूप बनता है, सदा संरक्षित रहता और नया-नया होता रहता है, और साथ ही वह जिस द्रव्यमय रूप को इस तरह बनाती और अस्तित्व में बनाये रखती है उसे निरंतर खर्च भी करती रहती है। अगर इन दोनों क्रियाओं के बीच संतुलन अपूर्ण हो या बिगड़ जाये या प्राण-शक्ति की विभिन्न लहरों की व्यवस्थित क्रीड़ा

बिगड़ जाये या अपनी धुरी से हिल जाये तो रोग और क्षय हस्तक्षेप कर विघटन की प्रक्रिया शुरू कर देते हैं। और सचेतन स्वामित्व के लिये जो संघर्ष है वह अपने-आपमें ही, और यहांतक कि मन की वृद्धि भी प्राण के संरक्षण को अधिक कठिन बना देते हैं। क्योंकि रूप से प्राण-ऊर्जा की मांग बढ़ती जाती है। यह मांग आपूर्ति की मूल व्यवस्था से बहुत अधिक होती है और वह आपूर्ति और मांग के मूल संतुलन को भंग कर देती है; इससे पहले कि एक नया संतुलन स्थापित हो, बहुत-से ऐसे विकारों का प्रथम प्रवेश हो चुका होता है जो सामंजस्य और जीवन की दीर्घ विद्यमानता के प्रतिकूल होते हैं। इसके अतिरिक्त स्वामित्व के लिये किया जानेवाला प्रयास वातावरण में सदा उसीके अनुरूप प्रतिक्रिया पैदा करता है। वातावरण पहले ही से ऐसी शक्तियों से भरा रहता है जो अपनी परिपूर्ति चाहती हैं, अतः ऐसी सत्ता के प्रति असहिष्णु रहती हैं जो उनपर स्वामित्व स्थापित करना चाहे, वे उसके विरुद्ध विद्रोह करती और उसपर आक्रमण करती हैं। उस अवस्था में भी वह संतुलन भंग हो जाता है, एक अधिक तीव्र संघर्ष पैदा हो जाता है। स्वामित्व करनेवाला प्राण चाहे जितना प्रबल हो जबतक वह या तो असीम न हो जाये या अपने वातावरण के साथ एक नया सामंजस्य स्थापित करने में सफल न हो जाये तबतक वह सदा प्रतिरोध करके विजय नहीं पा सकता बल्कि एक दिन अवश्य ही पराजित और विघटित कर दिया जाता है।

लेकिन इन सब आवश्यकताओं के अतिरिक्त स्वयं शरीरधारी प्राण की प्रकृति और लक्ष्य की एक मूलभूत आवश्यकता है और वह है सांत आधार पर अनंत अनुभूति को खोजने की। और चूंकि रूप यानी आधार अपने गठन के ही कारण अनुभूति की संभावना को सीमित कर देता है अतः ऐसा केवल उसे विघटित कर और नये-नये रूप खोज कर ही किया जा सकता है। क्योंकि अंतरात्मा जब एक बार क्षण और क्षेत्र पर केंद्रित होकर अपने-आपको सीमित कर लेती है तो अपनी अनंतता को फिर से पाने के लिये उसे अनुक्रम के नियम का सहारा लेना पड़ता है। वह क्षण के साथ क्षण को जोड़कर एक कालिक अनुभव का संचय करती है, इसीको वह अपना अतीत कहती है। उस काल में वह उत्तरोत्तर क्षेत्रों में से, उत्तरोत्तर अनुभवों या जीवनों में से, ज्ञान, सामर्थ्य, भोग का उत्तरोत्तर संचय करती हुई आगे बढ़ती है और इन सब चीजों को वह काल के अंदर अपनी पुरानी कमाई के रूप में अवचेतन या अतिचेतन स्मृति में संजोये रहती है। इस प्रक्रिया के लिये रूप का परिवर्तन अनिवार्य है और व्यक्तिगत शरीर में अंतर्लीन अंतरात्मा के लिये रूप के परिवर्तन का अर्थ है शरीर का विघटन। यह विघटन भौतिक विश्व में सर्व-प्राण के विधान और उसकी बाध्यता के आधीन होता है, रूप के लिये द्रव्य-पूर्ति और उस द्रव्य पर की जानेवाली मांग का जो विधान है उसके और एक दूसरे को हड़पनेवाले जगत् में अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिये शरीरस्थ प्राण के

पारस्परिक सतत आघात-प्रतिघात और संघर्ष का जो सिद्धांत है उसके आधीन होता है, और यही मृत्यु का विधान है।

तो यही मृत्यु की आवश्यकता और उसका औचित्य है, वह प्राण का न-कार नहीं उसकी एक प्रक्रिया है। मृत्यु आवश्यक है क्योंकि रूप का सतत परिवर्तन ही वह एकमात्र शाश्वतता है जिसके लिये सांत जीवित पदार्थ अभीप्सा कर सकता है और अनुभूति का सतत परिवर्तन वह एकमात्र अनंतता है जहांतक सजीव शरीर में अंतर्लीन रहनेवाला ससीम मन पहुंच सकता है। ऐसा नहीं होने दिया जा सकता कि रूप का यह परिवर्तन केवल इतना भर ही रहे कि जन्म और मृत्यु के बीच हमारे शारीरिक जीवन को बनानेवाला जो रूप-प्रकार है वही सतत रूप से नया-नया होता रहे क्योंकि जबतक रूप-प्रकार ही न बदले और अनुभव करनेवाला मन देश, काल और वातावरण की नयी परिस्थितियों में बने नये रूपों में न डाला जाये तबतक अनुभव का वह आवश्यक वैविध्य संपन्न नहीं हो सकता जिसकी मांग देश और काल में रहनेवाले जीवन का स्वभाव करता है। और विघटन से एवं जीवन को जीवन के द्वारा हड़प लिये जाने से होनेवाली मृत्यु की केवल यह प्रक्रिया और यह स्वाधीनता का अभाव, बाध्यता, संघर्ष, पीड़ा तथा अनात्म प्रतीत होनेवाली किसी चीज के प्रति अधीनता, केवल ये चीजें ही हैं जिनके कारण यह आवश्यक और हितकारी परिवर्तन हमारी मर्त्य मानसिकता को भीषण और अवांछनीय प्रतीत होता है। निगल लिये जाने, तोड़ दिये जाने, नष्ट कर दिये जाने या जबर्दस्ती हटा लिये जाने की जो यह भावना है वही मृत्यु का दंश है और इसे यहांतक कि यह विश्वास भी कि मृत्यु के बाद व्यक्ति का जीवन बना रहता है पूरी तरह मिटा नहीं पाता।

लेकिन यह प्रक्रिया उस पारस्परिक भक्षण के लिये जरूरी है जिसे हम जड़ भौतिक में प्राण के प्रारंभिक विधान के रूप में देखते हैं। उपनिषद् का कहना है कि प्राण क्षुधा है और क्षुधा मृत्यु है और इस क्षुधा के द्वारा जो कि मृत्यु है '*अशनाया मृत्युः*' भौतिक जगत् की रचना की गयी है। क्योंकि यहां प्राण भौतिक पदार्थ को सांचे के रूप में स्वीकार करता है और भौतिक पदार्थ सत्पुरुष ही है जो अनंत रूप से विभाजित हुआ है और अनंतरूप से अपने-आपको एकत्रित करना चाह रहा है। अनंत रूप से विभाजन और अनंत रूप से एकत्रीकरण के इन दो आवेगों के बीच विश्व का भौतिक अस्तित्व बना है। अपने संरक्षण और अपनी वृद्धि के लिये व्यष्टि का, सजीव परमाणु का जो प्रयत्न है वही कामना का सारा भाव है। अधिकाधिक सर्वालिंगनकारी अनुभूति, एक सर्वाधिक आलिंगनकारी अधिकार, अवशोषण, आत्मसातकरण और उपभोग के द्वारा शारीरिक, प्राणिक, नैतिक और मानसिक वृद्धि ही सत्ता का अनिवार्य, मूलभूत और अमिट आवेग है। यह सत्ता एक बार विभक्त हो जाने और व्यक्तिभाव धारण कर लेने पर भी हमेशा गुप्त रूप से अपनी सर्वालिंगनकारी, सर्वभोक्ता या सर्वाधिपति अनंतता के बारे में

सचेतन रहती है। उस प्रच्छन्न चेतना को पाने का आवेग वैश्व भगवान् की प्रेरणा है, प्रत्येक व्यक्तिगत प्राणी में रहनेवाली शरीरधारी आत्मा की लालसा है। यह अनिवार्य, संगत और हितकर है कि वह उसे बढ़ती हुई वृद्धि और विस्तार द्वारा पहले प्राण की अवस्थाओं में पाना चाहे। भौतिक जगत् में ऐसा केवल वातावरण को हड़प कर, दूसरों को या दूसरों के अधिकार में जो कुछ हो उसे आत्मसात् कर अपने-आपको वर्धित करने से किया जा सकता है और यह आवश्यकता ही क्षुधा के सभी रूपों को सार्वभौम रूप से उचित ठहराती है। फिर भी जो औरों को हड़पता है वह हड़पा भी जायेगा क्योंकि भौतिक जगत् में आदान-प्रदान का, क्रिया-प्रतिक्रिया का, सीमित सामर्थ्य और इस कारण अंतिम श्रांति और मरण का विधान सारे जीवन को परिचालित करता है।

सचेतन मन में आकर वह चीज जो अवचेतन जीवन में अभीतक केवल प्राणिक क्षुधामात्र थी, वह अपने-आपको उच्चतर रूपों में बदल लेती है। प्राणिक भागों में जो चीज क्षुधा थी वही मानसभावापन्न जीवन में कामना की ललक बन जाती है और बुद्धि या चिंतनप्रधान जीवन में इच्छाशक्ति का आयास बन जाती है। कामना की इस गति को तबतक जारी रहना चाहिये और वह जारी रहेगी जबतक व्यक्ति पर्याप्त रूप में इतना विकसित नहीं हो जाता जिसके परिणामस्वरूप वह अब अंत में स्वराट् बन जाये और अनंत के साथ बढ़ते हुए ऐक्य के द्वारा इस विश्व का सम्राट् बन जाये। कामना वह उत्तोलक है जिसके द्वारा दिव्य प्राण तत्त्व जगत् में अपने अस्तित्व को दृढ़तया प्रस्थापित करने के उद्देश्य को पूरा करता है और जड़ता के हित में कामना को नष्ट करने का प्रयास दिव्य प्राण तत्त्व का निषेध है, अस्तित्वेच्छा को नकारना है जो निश्चय ही अज्ञान है क्योंकि वैयक्तिक अस्तित्व का अंत कोई तबतक नहीं कर सकता जबतक कि वह अनंत न बन जाये। कामना का भी ठीक अंत तभी हो सकता है जब वह अनंत की कामना हो जाये और अपने-आपको अनंत में पूर्ण ऐश्वर्यमय आनंद में एक दिव्य परिपूर्ति और एक अनंत संतुष्टि से तृप्त कर ले। तबतक कामना को एक-दूसरे को हड़पनेवाली क्षुधा के प्रकार से निकल कर एक-दूसरे को देने के, परस्पर आदान-प्रदान के अधिकाधिक हर्षयुक्त यज्ञ के प्रकार की ओर प्रगति करनी होती है—व्यक्ति अपने-आपको अन्य व्यक्तियों को देता है और बदले में उन्हें पाता है, निम्नतर अपने-आपको उच्चतर को और उच्चतर निम्नतर को देता है ताकि वे दोनों एक-दूसरे में परिपूर्ण हो सकें, मानव अपने-आपको भगवान् को देता है और भगवान् मानव को, व्यक्ति के अंदर जो सर्व है वह अपने-आपको विश्व में स्थित सर्व को देता है और दिव्य प्रतिदान के रूप में अपना उपलब्ध विश्वत्व पाता है। इस भांति क्षुधा के विधान को क्रमशः, अपना स्थान प्रेम के विधान को, विभाजन के विधान को अपना स्थान ऐक्य के विधान को और मृत्यु के विधान को अपना स्थान अमरता के विधान को देना

चाहिये। विश्व में क्रिया करती हुई कामना की आवश्यकता इसीलिये है। यही है उसकी सार्थकता, यही है उसकी चरम अवस्था और आत्म-परिपूर्ति।

प्राण के द्वारा धारण किया हुआ मृत्यु का यह मुखौटा जैसे अपने अमरत्व की प्रस्थापना करना चाह रहे सांत की चेष्टा का परिणाम है, वैसे ही कामना भी काल में अनुक्रम की और देश में विस्तार की अवस्थाओं में, सांत के सांचे के अंदर अपने अनंत आनंद को, सच्चिदानंद के आनंद को उत्तरोत्तर प्रस्थापित करने के लिये प्राण में व्यष्टिरूप बनी सत्-पुरुष की शक्ति का आवेग है। वह आवेग कामना के जिस मुखौटे को धारण करता है वह सीधे प्राण के तीसरे व्यापार के, उसकी असमर्थता के विधान से आता है। प्राण एक अनंत शक्ति है जो सांत की शर्तों में क्रिया कर रही है। अनिवार्य रूप से सांत के अंदर उसकी स्पष्ट व्यक्तिगत क्रिया में सर्वत्र उसकी सर्वशक्तिमत्ता को अवश्य ही एक सीमित सामर्थ्य और आंशिक अक्षमता के रूप में प्रकट होना और कार्य करना चाहिये यद्यपि व्यष्टि की प्रत्येक क्रिया के पीछे चाहे वह कितनी ही दुर्बल, कितनी ही व्यर्थ, कितनी ही लड़खड़ाती हुई क्यों न हो, अनंत सर्वसक्षम शक्ति की समग्र अतिचेतन और अवचेतन उपस्थिति विद्यमान रहती है, पीछे की उस उपस्थिति के बिना विश्व में कोई छोटी-से-छोटी गति भी नहीं हो सकती। उसकी वैश्व क्रिया की समष्टि में हर क्रिया और गति सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञता के उस आदेश से ही होती है जो चीजों में छिपे अतिमानस के रूप में कार्य करता है। लेकिन व्यष्टिरूप प्राण शक्ति स्वयं अपनी चेतना के लिये सीमित और अक्षमता से भरी होती है क्योंकि उसे न केवल वातावरण बनानेवाली अन्य व्यक्तिभावापन्न प्राण शक्तियों की राशि के विरुद्ध काम करना पड़ता है बल्कि उसीके साथ स्वयं अनंत प्राण के नियंत्रण और निषेध के अधीन भी रहना पड़ता है जिसकी संपूर्ण इच्छा और दिशा के साथ उसकी अपनी इच्छा और दिशा का तुरंत मेल नहीं बैठता। अतः शक्ति का सीमित होना, असामर्थ्य का व्यापार व्यष्टिरूप और विभक्त प्राण के तीन गुणों में से तीसरा है। दूसरी ओर अपने-आपको बढ़ाने और सबपर अधिकार करने का आवेग बना रहता है और अपने-आपको अपनी वर्तमान शक्ति या सामर्थ्य की सीमा से मापना तथा सीमित करना न तो इसमें है और न इसके लिये अभिप्रेत ही है। परिणामतः अधिकार करने के आवेग और अधिकार करने की शक्ति के बीच जो खाई है उसीसे कामना का उदय होता है क्योंकि अगर वहां इस तरह का कोई अंतर न होता, अगर शक्ति हमेशा अपने विषय पर अधिकार पा लेती, हमेशा आसानी से अपना उद्देश्य पूरा कर लेती तो कामना अस्तित्व में ही न आ पाती, वहां होती बस केवल एक ऐसी लालसारहित शांत, आत्मवान् इच्छा जैसी कि भगवान् की इच्छा है।

अगर व्यक्तिगत शक्ति अज्ञान से मुक्त मन की ऊर्जा होती तो इस प्रकार की सीमितता के, इस तरह की कामना के हस्तक्षेप की कोई जरूरत न होती। क्योंकि

जो मन अतिमानस से पृथक् नहीं हुआ है, जो दिव्य ज्ञानात्मक मन है उसे प्रत्येक क्रिया के अभिप्राय, क्षेत्र और अनिवार्य परिणाम का ज्ञान रहेगा, उसमें लालसा या संघर्ष न होंगे। वह अपने-आपमें सीमित उतनी ही शक्ति निःसृत करेगा जितनी तात्कालिक उद्देश्य के लिये जरूरी हो। यहांतक कि वर्तमान के परे की चीजों के लिये प्रयास करते हुए भी, ऐसी गतियों का प्रवर्तन करते हुए भी जिनसे तात्कालिक सफलता निश्चित नहीं है वह कामना या सीमितता के परावर्ती न होगा। क्योंकि भगवान् की असफलताएं भी उनकी सर्वज्ञ सर्वशक्तिमत्ता की ही क्रियाएं होती हैं जो कि अपनी वैश्व क्रिया-प्रवृत्तियों में से सभीके आरंभ करने का ठीक समय और परिस्थिति, उनके उतार-चढ़ाव और उनके तात्कालिक एवं अंतिम परिणामों को जानती हैं। ज्ञानात्मक मन दिव्य अतिमानस के साथ एक-स्वर होने के कारण इस ज्ञान और इस सर्वनिर्धारक शक्ति में भाग लेगा। परंतु, जैसा कि हम देख आये हैं, व्यष्टिरूप प्राण-शक्ति यहां व्यष्टिरूप एवं अज्ञ मन की ऊर्जा है, उस मन की जो अपने अतिमानस के ज्ञान से च्युत हो गया है। अतः प्राण के अंदर उसके संबंधों के लिये असमर्थता जरूरी है और वस्तुओं का जैसा स्वरूप है उसमें अनिवार्य है। क्योंकि एक अज्ञ शक्ति की व्यवहारगत सर्वशक्तिमत्ता, भले ही वह सीमित क्षेत्र में ही क्यों न हो, अकल्पनीय चीज है, कारण, उस क्षेत्र में ऐसी शक्ति भागवत सर्वज्ञ सर्वशक्तिमत्ता के कार्य-कलाप के विरुद्ध अपने-आपको खड़ा कर देगी और वस्तुओं के नियत प्रयोजन को अस्त-व्यस्त कर देगी—यह एक असंभव वैश्व स्थिति है। अतः प्राण का पहला विधान है सीमित शक्तियों का संघर्ष और उस संघर्ष द्वारा सहज प्रवृत्तिगत या सचेतन कामना के परिचालक वेग के अधीन उनकी सामर्थ्य की वृद्धि। जैसा कि कामना के साथ है, वैसा ही संघर्ष के साथ है : इसे पारस्परिक रूप से सहायक ऐसी बलपरीक्षा में, भ्रातृ-शक्तियों के ऐसे सचेतन मल्लयुद्ध में समुन्नत हो जाना होगा जिसमें जीतनेवाला और हारनेवाला या यूं कहें कि ऊपर से क्रिया द्वारा प्रभाव डालनेवाला और नीचे से प्रतिक्रिया द्वारा प्रभाव डालनेवाला दोनों समान रूप से लाभ उठाते और दोनों संवर्धित होते हैं। और फिर इसे भी अंत में भागवत आदान-प्रदान का सुखद आघात, प्रेम का दृढ़ आलिंगन बन जाना होगा जो कि संघर्ष की विक्षुब्ध पकड़ का स्थान ले ले। अभीतक तो संघर्ष आवश्यक और हितकर आरंभ है। मृत्यु, कामना और संघर्ष विभक्त जीवन की त्रयी हैं, वैश्व आत्म-प्रस्थापन के अपने प्रथम प्रयास में दिव्य प्राण-तत्त्व द्वारा धारण किया गया त्रि-रूप मुखौटा हैं।

अध्याय २१

प्राण का आरोहण

प्र देवत्रा ब्रह्मणे गातुरेत्वपो अच्छा मनसो न प्रयुक्ति।
अग्ने दिवो अर्णमच्छा जिगास्यच्छा देवाँ ऊचिषे धिषण्या ये।
या रोचने परस्तात्सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आपः॥

शब्द का मार्ग देवों की ओर ले जाये, मन की क्रिया के द्वारा अप (जल) की ओर ले जाये; हे अग्नि, तू द्युलोक के समुद्र की ओर जाता है, देवों की ओर जाता है, तू लोक-लोक के देवों का, सूर्य से ऊपर ज्योति-प्रदेश में रहनेवाले जल और नीचे रहनेवाले जल का मेल कराता है।

ऋग्वेद १०.३०. १; ३. २२.३

तृतीयं धाम महिषः सिषासन्त्सोमो विराजमनु राजति ष्टुप्।
चमूषच्छ्येनः शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि बिभ्रत्।
अपामूर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति॥

आनंद-प्रभु तृतीय धाम पर विजय पाता है। वह विश्वात्मा के अनुसार रक्षा करता और शासन करता है। बाज़ की तरह, चील की तरह वह पात्र पर बैठ जाता और उसे ऊपर उठाता है। वह ज्योति को खोजनेवाला चौथे धाम (तुरीय) को अभिव्यक्त करता और उस सागर से चिपट जाता है जो उन जलों की महातरंगें है।

ऋग्वेद ९.९६.१८, १९

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे॥
त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्॥
विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्॥
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत् परमं पदम्॥

तीन बार विष्णु ने कदम उठाये और प्राथमिक धूल से ऊपर उठाये अपने पद को आगे बढ़ाया। रक्षक और अदम्य विष्णु ने तीन पद भरे हैं और वह परे के लोक से उनके धर्मों को धारण करते हैं। विष्णु के कर्मों का निरीक्षण करो और देखो उसने उन धर्मों को कहां से अभिव्यक्त किया। वह विष्णु का परम पद है जिसे ऋषि सदा द्युलोक में फैले चक्षु के रूप में देखते हैं। उसे विप्रगण, प्रबुद्धगण ज्वाला के रूप में प्रदीप्त करते हैं . . . विष्णु के परम पद को भी . . . ।

ऋग्वेद १.२२.१७-२१

हम देख आये हैं कि जैसे सीमितता, अज्ञान और द्वंद्वों का जनक विभक्त मर्त्य मन अतिमानस का, स्वयंप्रकाश दिव्य चेतना का अपने ही प्रकटतः निषेध के साथ—जहां से हमारे जगतों का आरंभ हुआ है—अपने प्रथम व्यवहारों में एक अंधकारमय रूप है वैसे ही प्राण भी जब वह हमारे जड़-भौतिक विश्व में अवचेतन रूप से स्थित, उसमें निमग्न और बंदी बने विभाजनकारी मन की एक ऊर्जा के रूप में प्रकट होता है, प्राण जो कि मृत्यु, क्षुधा और असमर्थता के जनक के रूप में प्रकट होता है, वह भी उस दिव्य अतिचेतन शक्ति का ही केवल एक अंधकारमय रूप है जिसकी उच्चतम अवस्थाएं हैं अमरता, संतुष्ट आनंद और सर्वशक्तिमत्ता। यह संबंध उन महान् वैश्व प्रक्रियाओं का रूप निर्धारित कर देता है जिनके हम एक भाग हैं। वह हमारे क्रम-विकास की प्रथम, मध्यवर्ती और अंतिम अवस्थाएं निर्धारित कर देता है। प्राण की प्रथम अवस्थाएं हैं विभाजन, शक्ति द्वारा परिचालित अवचेतन इच्छा जो इच्छा के रूप में नहीं बल्कि भौतिक ऊर्जा की मूक ललक के रूप में प्रकट होती है, और रूप और उसके परिवेश के बीच होनेवाले आदान-प्रदान पर शासन करनेवाली यांत्रिक शक्तियों के प्रति जड़ अधीनता की असमर्थता; यह निश्चेतना और ऊर्जा की अंधी किंतु सशक्त क्रिया भौतिक विश्व का वह रूप है जिस रूप में भौतिक वैज्ञानिक उसे देखता है और वस्तुओं के संबंध में उसकी यह दृष्टि विस्तारित होकर यह रूप ले लेती है कि यही मूलभूत अस्तित्व का समग्र रूप है, यह तो जड़ भौतिक की चेतना है और जड़ भौतिक जीवन का सुस्थापित रूप है। लेकिन वहां अब एक नया संतुलन आ जाता है, नयी अवस्थाएं हस्तक्षेप करती हैं, जो उस अनुपात में बढ़ती जाती हैं जिसमें प्राण अपने-आपको इस रूप से मुक्त करता और सचेतन मन की ओर विकसित होता है। प्राण की मध्यवर्ती अवस्थाएं हैं मृत्यु और पारस्परिक भक्षण, क्षुधा और सचेतन कामना, सीमित अवकाश और क्षमता का भान और वृद्धि, विस्तार, विजय और आधिपत्य के लिये संघर्ष। ये तीनों अवस्थाएं विकास क्रम की उस भूमिका के आधार हैं जिसे पहले-पहल डार्विन के सिद्धांत ने मानव ज्ञान के आगे स्पष्ट किया। क्योंकि मृत्यु का व्यापार जीवित रहने के लिये संघर्ष को अपने अंदर लिये रहता है, क्योंकि मृत्यु केवल एक नकारात्मक अवस्था है जिसमें जीवन अपने-आपको अपने-आपसे छिपाता और अपनी भावात्मक सत्ता को अमरता की खोज के लिये प्रलोभित करता है। क्षुधा और कामना का व्यापार तृप्ति और सुरक्षा की स्थितितक पहुंचने के लिये संघर्ष को अपने अंदर लिये रहता है क्योंकि कामना केवल एक उद्दीपक है जिसके द्वारा जीवन अपनी भावात्मक सत्ता को अतृप्त क्षुधा के निषेध की ओर से सत्ता के आनंद पर पूर्ण अधिकार की ओर उठने के लिये प्रलोभन देता है। सीमित सामर्थ्य का व्यापार विस्तार, प्रभुता और अधिकार—अपने ऊपर अधिकार (स्वराज्य) और परिवेश पर विजय (साम्राज्य)—के लिये संघर्ष को अपने अंदर लिये रहता है।

चूंकि सीमाबंधन और त्रुटि केवल ऐसे निषेध हैं जिनके द्वारा प्राण अपनी भावात्मक सत्ता को प्रलोभित करता है कि वह उस पूर्णता को प्राप्त करे जिसके लिये वह शाश्वत काल से समर्थ है। जीवन के लिये जो संघर्ष है वह केवल बचे रहने के लिये ही संघर्ष नहीं है, वह अधिकार और पूर्णता की प्राप्ति के लिये भी संघर्ष है। क्योंकि केवल परिवेश को न्यूनाधिक रूप से कब्जे में कर लेने पर ही, चाहे अपने-आपको उसके अनुकूल बनाकर या उसे अपने अनुकूल बनाकर, चाहे उसे स्वीकार और संतुष्ट करके या उसे जीतकर और बदलकर ही उत्तर-जीविता प्राप्त की जा सकती है और यह भी उतना ही सच है कि अधिकाधिक पूर्णता ही निरंतर स्थायित्व का, स्थायी उत्तरजीविता का आश्वासन दे सकती है।

किंतु जब वैज्ञानिक मन ने यह देखे बिना कि एक नया तत्त्व आ गया है जिसके होने का एकमात्र कारण यही है कि वह यांत्रिक तत्त्व को अपने आधीन कर ले, यांत्रिक विधान को प्राण पर लागू करना शुरू किया जो जड़ तत्त्व में अस्तित्व और छिपी हुई यांत्रिक चेतना के लिये ही था तब डारविन के सूत्र का उपयोग प्राण के आक्रामक तत्त्व को, व्यक्ति के प्राणिक स्वार्थ, आत्म संरक्षण की सहज वृत्ति और उसकी प्रक्रिया, आत्म प्रस्थापन और आक्रमणशील जीवन को बहुत अधिक विस्तृत करने के लिये किया गया। क्योंकि प्राण की यह पहली दो अवस्थाएं अपने भीतर एक नये तत्त्व का और एक नयी अवस्था का बीज लिये रहती हैं जिसे उसी अनुपात में बढ़ना चाहिये जिसमें मन प्राणिक सूत्र के द्वारा जड़ द्रव्य में से अपने निजी विधान में विकसित होता है। और सभी चीजों को तब और भी ज्यादा बदलना चाहिये जैसे प्राण ऊपर, मन की ओर विकसित होता है उसी तरह मन ऊपर अतिमानस और आत्मा की ओर विकसित होता है। चूंकि बने रहने के लिये संघर्ष का और नित्यता की ओर आवेग का खंडन करता है मृत्यु का विधान, ठीक इसी कारण व्यष्टि-जीवन अपनी रक्षा की अपेक्षा अपनी जाति की नित्यता को बनाये रखने के लिये बाधित और प्रयुक्त होता है। परंतु इसे वह दूसरों के सहयोग के बिना नहीं कर सकता और सहयोग तथा पारस्परिक सहायता का तत्त्व, दूसरों की चाह, पत्नी, पुत्र, मित्र, सहायक एवं सहचारी दल की चाह, साहचर्य का सचेतन संसर्ग एवं आदान-प्रदान का आचरण—ये वे बीज हैं जिनमें से प्रेम का तत्त्व खिलता है। हम यह बात मान लेते हैं कि पहले-पहल प्रेम स्वार्थपरता का ही केवल एक विस्तारित रूप होता है और विस्तारित स्वार्थपरता का यह रूप विकास की उच्चतर अवस्थाओं में भी कायम रह सकता और प्रबल बना रह सकता है जैसा कि वह अभीतक कायम और प्रबल बना हुआ है। फिर भी जैसे-जैसे मन विकसित होता है और अपने-आपको अधिकाधिक पाता जाता है, वह जीवन के, प्रेम के और परस्पर सहायता के अनुभव से इस बोध पर आता है कि प्राकृत व्यक्ति सत्ता का एक गौण पद है और वह विश्व सत्ता के सहारे ही रहता है। एक बार यह मालूम

हो जाये और मनोमय सत्तावाले मनुष्य को यह अनिवार्य रूप से मालूम होता है तो उसकी भावी नियति निश्चित हो जाती है क्योंकि तब वह एक ऐसे बिंदु पर जा पहुंचता है जहां से मन इस सत्य की ओर खुलना शुरू कर सकता है कि स्वयं उसके परे भी कोई चीज है। उस क्षण से उसका विकास, चाहे कितना भी अस्पष्ट और धीमा क्यों न हो, उस श्रेष्ठतर किसी चीज की ओर, आत्मा की ओर, अतिमानस की ओर, अतिमानवता की ओर अवश्यंभावी रूप से पूर्व-निर्दिष्ट हो जाता है।

अतः प्राण अपने स्वभाव द्वारा एक तीसरी भूमिका, आत्माभिव्यक्ति की एक तीसरी श्रेणी के पदों में आने के लिये पहले से ही निर्दिष्ट है। अगर हम प्राण के इस आरोहण का निरीक्षण करें तो हम देखेंगे कि इसके वास्तविक विकास की अंतिम अवस्थाएं, वे अवस्थाएं जिन्हें हमने इसकी तीसरी भूमिका कहा है, अवश्य ही ऊपर से देखने में, इसकी पहली अवस्थाओं के एकदम विपरीत और विरोधी मालूम होंगी, परंतु, असल में, वे उन पहली अवस्थाओं की ही परिपूर्ति, उन्हींका रूपांतरित रूप होती हैं। प्राण का आरंभ होता है जड़ द्रव्य के चरम विभाजनों और कठोर रूपों के साथ, और इस कठोर विभाजन का ही ठीक प्रतिरूप है परमाणु, जो कि समस्त भौतिक रूपों का आधार है। परमाणु जब अन्यों के साथ संयुक्त हुआ रहता है तब भी उन सबसे पृथक् बना रहता है और किसी भी साधारण शक्ति के वश मरण या विघटन स्वीकार नहीं करता, वह प्रकृति के संयोजन के तत्त्व के विरोध में अपने अस्तित्व को निखारता हुआ पृथक् अहं का भौतिक प्ररूप है। लेकिन प्रकृति में एकत्व भी उतना ही सबल तथ्य है जितना विभाजन। सचमुच तो वही प्रधान तत्त्व है जिसका एक गौण पद है विभाजन। अतः प्रत्येक विभक्त रूप को एक-न-एक ढंग से यांत्रिक आवश्यकता के द्वारा, बाध्यता के द्वारा, सहमति या प्रलोभन के द्वारा अपने-आपको एकत्व के तत्त्व के आधीन कर देना होता है। अतः यदि प्रकृति अपने ही प्रयोजनों के लिये, अपने संयोजनों के लिये एक दृढ़ आधार पाने और रूपों का निश्चित बीज पाने के लिये सामान्यतः परमाणु को विघटन द्वारा गलने की प्रक्रिया का विरोध करने देती है तो भी वह उसे इस बात के लिये बाधित करती है कि वह एकत्रीकरण द्वारा विलयन की प्रक्रिया में सहायक हो। परमाणु, जैसा कि वह प्रथम समूह है, वह समूहात्मक ऐक्यों का प्रथम आधार भी है।

जब प्राण अपनी दूसरी भूमिका में पहुंचता है, उस भूमिका में जिसे हम जीवनी-शक्ति कहते हैं तो विपरीत व्यापार प्रमुख हो जाता है और प्राणिक अहं का भौतिक आधार विघटन के लिये सहमत होने को बाधित हो जाता है। उसके अवयव छिन्न-भिन्न कर दिये जाते हैं ताकि एक प्राण के तत्त्व अन्य प्राणों की तात्त्विक रचना में प्रवेश करने के काम आ सकें। अभीतक यह भली-भांति नहीं

जाना जा सका है कि प्रकृति में यह विधान कहांतक फैला है और निस्संदेह तबतक जाना भी नहीं जा सकता जबतक हमारे पास मानसिक जीवन और आध्यात्मिक सत्ता का उतना ही यथार्थ विज्ञान न हो जितना कि हमारा भौतिक जीवन और जड़ भौतिक पदार्थ का वर्तमान विज्ञान है। फिर भी हम मोटे तौर पर देख सकते हैं कि केवल हमारे स्थूल शरीर के तत्त्व ही नहीं बल्कि हमारी सूक्ष्मतर प्राणिक सत्ता के, हमारी जीवन-ऊर्जा के, हमारी कामना-ऊर्जा के, हमारी शक्तियों, प्रबल प्रयासों एवं भावावेशों के तत्त्व भी हमारे जीवन-काल में और हमारी मृत्यु के बाद औरों की प्राण-सत्ता में प्रवेश करते रहते हैं। एक प्राचीन गुह्य विद्या हमें बतलाती है कि भौतिक (अन्नमय) शरीर के समान ही हमारा एक प्राणिक शरीर भी होता है और यह भी मृत्यु के बाद छिन्न-भिन्न हो जाता और अपने-आपको अन्य प्राणिक शरीरों के निर्माण के लिये दे देता है। हमारी प्राणिक ऊर्जाएं हमारे जीवन-काल में भी अन्य सत्ताओं की ऊर्जाओं के साथ निरंतर मिश्रित होती रहती हैं। ऐसा ही विधान हमारे मानसिक जीवन और अन्य सभी मननशील प्राणियों के मानसिक जीवन के साथ जो संबंध है उसपर लागू होता है। मन पर मन के आघात के परिणामस्वरूप निरंतर विघटन, छितराव और पुनर्निर्माण होता रहता है, तत्त्वों का आदान-प्रदान और संलयन होता रहता है। सत्ता के साथ सत्ता का परस्पर आदान-प्रदान, परस्पर संमिश्रण और परस्पर संलयन—यही प्राण की अपनी प्रक्रिया है, उसका स्वधर्म है।

तो, प्राण में हम दो तत्त्व पाते हैं, एक तो पृथक् अहं की अपनी विशिष्टता बनाये रखने और अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखने की आवश्यकता या इच्छा और दूसरा है औरों के साथ अपने-आपको मिला देने की बाध्यता जिसे प्रकृति उसपर आरोपित करती है। भौतिक जगत् में प्रकृति पहले तत्त्व के आवेग पर बहुत बल देती है क्योंकि उसे स्थायी अलग-अलग रूप बनाने होते हैं। चूंकि उसकी पहली और सबसे अधिक कठिन समस्या है ऊर्जा के सतत प्रवाह और गतिशीलता के अंदर तथा अनंत के ऐक्य के अंदर पृथक् रूप से बने रहनेवाले व्यक्तित्व जैसी किसी चीज को और उसके लिये स्थायी रूप को बना पाना और बनाये रखना, अतः परमाणुमय जीवन में वैयक्तिक रूप आधार के रूप में टिका रहता है तथा औरों के साथ अपने ऐसे समूहात्मक रूपों का अधिक या कम दीर्घ जीवन पाता है जो प्राणिक और मानसिक व्यष्टि रूपों का आधार बनेंगे। लेकिन जैसे ही प्रकृति अपने उत्तरवर्ती व्यापारों के सुरक्षित संचालन के लिये पर्याप्त दृढ़ता पा लेती है वह प्रक्रिया को पलट देती है। व्यष्टि रूप नष्ट हो जाता है और इस तरह विघटित रूप के तत्त्वों से समष्टि-प्राण संवर्धित होता है। फिर भी यह चरमावस्था नहीं हो सकती। वह तो तभी पायी जा सकती है जब दोनों तत्त्वों को सामंजस्य में लाया जाये, जब व्यष्टि अपनी वैयक्तिकता की चेतना को बनाये रख सके और फिर भी अपनी परिरक्षित स्थिति के संतुलन को खोये बिना और चिरायु बने रहने की स्थिति में बाधा डाले बिना दूसरों के साथ घुल-मिल सके।

इस समस्या के संबंध में हम पहले से ही मान लेते हैं कि मन का पूरा आविर्भाव हो चुका है क्योंकि प्राण-सत्ता में सचेतन मन के बिना कोई समीकरण नहीं हो सकता, केवल कुछ समय के लिये एक अस्थायी, समतोलता आ सकती है जिसका अंत शरीर की मृत्यु में, व्यक्ति के विघटन और उसके तत्त्वों के विश्व में बिखर जाने से होता है। भौतिक जीवन की प्रकृति इस विचार का निषेध करती है कि किसी व्यष्टि रूप को बने रहने, और इसलिये व्यष्टि जीवन को जारी रखने की अंतर्निहित क्षमता प्राप्त हो जो उसके घटक परमाणुओं को प्राप्त है। केवल मनोमय पुरुष ही, अंतर की चैत्य ग्रंथि के सहारे, जो निगूढ़ अंतरात्मा को व्यक्त करती या व्यक्त करना शुरू करती है, भूतकाल को भविष्य के साथ, एक सातत्य की धारा में जोड़ने के अपने सामर्थ्य द्वारा टिके रहने की आशा कर सकता है। रूप का खंडित होना इस धारा को स्थूल स्मृति में तो खंडित कर सकता है लेकिन यह जरूरी नहीं है कि वह उसे स्वयं मनोमय पुरुष से भी मिटा दे, यहांतक कि यह भी संभव है कि मनोमय पुरुष एक संभावित विकास के द्वारा शरीर के जन्म-मरण के द्वारा बनायी गयी भौतिक स्मृति की खाई को पाट दे। आज की वस्तुस्थिति में भी, शरीरस्थ मन के वर्तमान अपूर्ण विकास में भी, मनोमय पुरुष शारीरिक जीवन के परे फैले हुए भूत और भविष्य के बारे में सचेतन होता है। वह उस व्यक्तिगत भूत के और उन व्यक्तिगत जीवनों के बारे में अभिज्ञ हो जाता है जिन्होंने उसके इस जीवन को रचा है और जिनका कि वह समुन्नत और आपरिवर्तित प्रतिरूप है और उन भावी व्यक्तिगत जीवनों के बारे में भी अभिज्ञ हो जाता है जिन्हें वह अपने अन्दर से रच रहा है। साथ ही वह ऐसे भूत और भावी जीवन-समुच्चय के बारे में भी सचेतन होता है जिसमें उसका सातत्य एक रेशे की भांति है। यह चीज जो भौतिक विज्ञान के लिये आनुवंशिकता की भाषा में स्पष्ट है, मानसिक सत्ता के पीछे विकास करनेवाली अन्तरात्मा के लिये चिरस्थायी व्यक्तित्व की भाषा में और तरह से स्पष्ट होती है। अन्तरात्मा की चेतना को अभिव्यक्त करनेवाला मनोमय पुरुष ही इसलिये सतत वैयक्तिक जीवन और सतत सामुदायिक जीवन की ग्रंथि है, उसीमें उनका ऐक्य और सामंजस्य सम्भव होते हैं।

प्रेम के साथ साहचर्य उसका गुप्त तत्त्व है और उसका उभरता हुआ शिखर है प्ररूप, इस नये सम्बन्ध की शक्ति और इसी कारण जीवन की तीसरी स्थिति में विकास का शासक तत्त्व। व्यक्तित्व की सचेतन परिरक्षा और साथ ही दूसरे व्यक्तियों के संग आदान-प्रदान की, आत्म-दान और सम्मिलन की सज्ञान अंगीकृत आवश्यकता एवं चाह प्रेमतत्त्व के व्यापार के लिये जरूरी हैं क्योंकि इन दोनों में से एक को भी यदि हटा दिया जाये तो प्रेम-व्यापार समाप्त हो जाता है, फिर उसका स्थान चाहे कोई भी चीज क्यों न ले। निःसन्देह प्रेम की पूर्ति आत्म-बलिदान द्वारा या ऐसे आत्म-बलिदान द्वारा करना जिसमें आत्म-विनाश का भ्रम होने लगे,

मानसिक सत्ता का एक भाव और आवेश है लेकिन यह चीज प्राण की इस तीसरी भूमिका से परे के विकास की ओर इशारा करती है। यह तीसरी भूमिका वह अवस्था है जिसमें प्रगति करते हुए हम उस अवस्था के परे उठ जाते हैं जहां एक दूसरे को निगलकर ही जिन्दा रहने के लिये संघर्ष चलता और उस संघर्ष में योग्यतम ही टिका रहता है। क्योंकि वहां पारस्परिक सहायता द्वारा उत्तरजीविता और पारस्परिक अनुकूलन, आदान-प्रदान और संलयन द्वारा आत्म-परिपूर्णता आती है। जीवन सत्ता का आत्म-प्रस्थापन है, यहांतक कि वह अहं का विकास और उत्तरजीविता है, परन्तु ऐसी सत्ता का जिसे अन्य सत्ताओं की अपेक्षा है, ऐसे अहं का जो अन्य अहंभावों के साथ मिलना और उन्हें अपनेमें मिला लेना और उनके जीवन में समाविष्ट हो जाना चाहता है। जो व्यक्ति और समूह साहचर्य के विधान को और प्रेम के विधान को, समान सहायता, दयालुता, स्नेह, मैत्री और एकता बनाये रखने के विधान को सर्वाधिक विकसित करेंगे, जो अपने स्वत्व को बनाये रखने और एक-दूसरे के लिये अपने-आपको दे डालने में अधिकतम सफल समन्वय स्थापित करेंगे, परस्पर आदान-प्रदान द्वारा समूह व्यक्ति को और व्यक्ति समूह को बढ़ाये साथ ही व्यक्ति व्यक्ति को और समूह समूह को बढ़ाये, ऐसा जो करेंगे वे ही विकास की इस तीसरी भूमिका में बाद तक टिके रहने के लिये योग्यतम होंगे।

प्राण का अपनी तीसरी भूमिका की ओर यह आत्मविकास मन की[1] बढ़ती हुई प्रधानता का द्योतक है जो भौतिक जीवन पर अपने निजी विधान को क्रमशः अधिकाधिक लागू करता जाता है। अपनी अधिक सूक्ष्मता के कारण मन को अन्यों को अपने अन्दर ले लेने, उन्हें भोगने या आयत्त करने और बढ़ने के लिये दूसरों को हड़पने की जरूरत नहीं होती बल्कि वह जितना अधिक देता है उतना ही अधिक पाता और बढ़ता है, और जितना ही अधिक वह अपने-आपको दूसरों में मिलाता है उतना ही वह दूसरों को अपने अन्दर मिलाकर अपना क्षेत्र-विस्तार कर लेता है। भौतिक प्राण अपने-आपको बहुत अधिक देकर अपनेको निःशेष कर डालता है और बहुत अधिक निगलकर आत्मविनाश कर लेता है। लेकिन यद्यपि मन मन जिस अनुपात में जड़ भौतिक के विधान का सहारा लेता है उतना ही उसे इस सीमितता को सहना पड़ता है, फिर भी, दूसरी ओर, जिस अनुपात में वह अपने निजी विधान में प्रगति करता जाता है, उतनी ही उसकी प्रवृत्ति इस सीमितता को

[1] यहां मन के उस रूप की बात कही जा रही है जिस रूप में वह जीवन में, प्राण-सत्ता में, हृदय के द्वारा सीधी क्रिया करता है। प्रेम—एक सापेक्ष तत्त्व के रूप में, अपने निरपेक्ष रूप में नहीं—प्राण का तत्त्व है, मन का नहीं, लेकिन वह अपने-आपको पा तभी सकता है और स्थायी बनना तभी शुरू होता है जब मन उसे अपने ही आलोक में समो लेता है। जिसे शरीर और प्राणिक भागों में प्रेम कहा जाता है वह अधिकतर क्षुधा का ही रूप है जिसमें स्थायित्व नहीं होता।

जीतने की होती है और वह जिस अनुपात में भौतिक परिसीमा को जीत लेता है, उतना ही उसके लिये देना और पाना एक हो जाते हैं। क्योंकि अपने ऊर्ध्वमुखी आरोहण में वह विभिन्नता में सचेतन एकता के नियम की ओर बढ़ता है और यही अभिव्यक्त सच्चिदानन्द का दिव्य विधान है।

प्राण की प्रथम भूमिका की द्वितीय अवस्था है अवचेतन इच्छा जो दूसरी भूमिका में जाकर क्षुधा और सचेतन कामना बन जाती है,—क्षुधा और कामना, ये सचेतन मन के पहले बीज हैं। प्राण का तीसरी भूमिका में विकास, जो साहचर्य और प्रेम की वृद्धि द्वारा होता है, कामना के विधान को नष्ट नहीं करता बल्कि उसे रूपान्तरित करता और परिपूर्ण बनाता है। प्रेम का अपना स्वरूप है अपने-आपको दूसरों को देने और बदले में दूसरों को पाने की कामना करना। यह प्राणी-प्राणी के बीच लेन-देन का एक व्यापार है। भौतिक प्राण अपने-आपको देना नहीं चाहता, वह केवल पाना-ही-पाना चाहता है, यह सच है कि वह अपने-आपको देने के लिये बाधित होता है क्योंकि जो प्राण केवल लेता ही जाता है और देता नहीं वह निश्चय ही अनुर्वर होकर मुरझा जायेगा और नष्ट हो जायेगा—यदि सचमुच इस तरह का जीवन यहां या किसी अन्य लोक में पूरी तरह सम्भव हो तो भी—लेकिन वह बाधित होता है, वह चाहता नहीं, वह प्रकृति की अवचेतन प्रेरणा का पालन करता है, सचेतन रूप से उसमें भाग नहीं लेता। यहांतक कि जब प्रेम हस्तक्षेप करता है तब भी शुरू में आत्मदान परमाणु में स्थित अवचेतन इच्छा के यान्त्रिक स्वरूप को ही काफी हदतक बनाये रखता है। स्वयं प्रेम भी शुरू में क्षुधा के विधान का पालन करता है और दूसरों से पाने और वसूल करने में ही मजा लेता है न कि दूसरों को देने और उनके प्रति समर्पित होने में । इसे तो वह मुख्यतः अपनी कामना की वस्तु को पाने के लिये अवश्यंदेय मूल्य के रूप में ही स्वीकार करता है। किन्तु यहां वह अपने सच्चे स्वरूप तक नहीं पहुंच पाया है। उसका सच्चा विधान है समान लेन-देन का व्यापार स्थापित करना जिसमें देने का आनन्द लेने के आनन्द के बराबर होता है और अन्त में जाकर तो वह और भी अधिक होता जाता है। लेकिन यह तब होता है जब चैत्य ज्वाला के दबाव से चरम ऐक्य की परिपूर्ति के लिये वह सहसा अपने-आपसे भी परे निकल जाता है और इसलिये उसे यह अनुभव करना होता है कि जो पहले अनात्म दीखता था वह उसके अपने व्यक्तित्व से भी बढ़कर महान् और प्रिय आत्मा है। अपने जीवन-मूल में प्रेम का धर्म है दूसरों में और दूसरों के द्वारा अपने-आपको चरितार्थ करने और परिपूर्ण बनाने का आवेग, औरों को समृद्ध करके अपने-आपको समृद्ध करने का आवेग, औरों पर अधिकार करने और उनसे अधिकृत होने का आवेग, क्योंकि किसी और के अधिकार में आये बिना वह स्वयं अपने ऊपर पूरा-पूरा अधिकार नहीं पा सकता।

परमाणविक जीवन की अपने पर अधिकार पाने में जड़ असमर्थता, मूर्त व्यष्टि की अनात्म के प्रति अधीनता, प्राण की प्रथम भूमिका की चीज है। सीमितता का बोध और अधिकार पाने, आत्म और अनात्म दोनों पर प्रभुत्व पाने के लिये संघर्ष दूसरी भूमिका का रूप है। यहां भी तीसरी भूमिका में ले जानेवाला विकास प्रथम भूमिका की अवस्थाओं में ऐसा रूपान्तर ले आता है जिससे उसकी परिपूर्णता साधित हो और ऐसा सामंजस्य लाता है जिसमें वे ही अवस्थाएं फिर से लौट आती हैं, जब कि देखने में वे उनकी विरोधी लगती हैं। साहचर्य के द्वारा और प्रेम के द्वारा अनात्म अब एक बड़े आत्म के रूप में स्वीकार किया जाने लगता है और इसलिये उसके विधान और आवश्यकता के प्रति सज्ञान रूप से अंगीकृत आत्मसमर्पण का भाव बनने लगता है जिससे कि व्यष्टि को अपने अन्दर मिला लेने के समष्टि-जीवन के अंतर्वेग की पूर्ति होती है; और फिर व्यष्टि द्वारा दूसरों के जीवन पर और वह जो कुछ दे सकता है उसपर इस तरह अधिकार है मानों वह उसका अपना हो। इससे वैयक्तिक अधिकार के विरोधी अंतर्वेग की पूर्ति होती है। न ही व्यष्टि और संसार के बीच, जिसमें कि वह रहता है, पारस्परिकता का यह सम्बन्ध तबतक सुव्यक्त या पूर्ण या सुरक्षित हो सकता है जबतक कि व्यष्टि-व्यष्टि के बीच और समष्टि-समष्टि के बीच पारस्परिकता का वही सम्बन्ध स्थापित न हो जाये। आत्म-प्रस्थापन एवं स्वतंत्रता के, जिनके द्वारा मनुष्य अपने-आपको पाता है, साहचर्य, प्रेम, भ्रातृभाव व मैत्रीभाव के साथ, जिनमें वह अपने-आपको दूसरों को देता है, सामंजस्य बिठाने के मनुष्य के सब कठिन प्रयास और सुसमंजस संतुलन, न्याय, पारस्परिकता व समानता के उसके आदर्श जिनके द्वारा वह दो विरोधियों के बीच समतोलता लाता है—ये सब वास्तव में ऐसे प्रयत्न हैं जो प्रकृति की प्राथमिक समस्या को, स्वयं प्राण की ही समस्या को सुलझाने के लिये अपनी दिशाओं में अनिवार्यतः पूर्वनिर्धारित हैं। समस्या को सुलझाने के लिये जड़द्रव्य में स्थित प्राण के मूल में ही पाये जानेवाले दो विरोधियों के बीच संघर्ष का समाधान करना होगा। समाधान की कोशिश मन के उच्चतर तत्त्व को लाकर की गयी है, केवल वही तत्त्व अभीष्ट सामंजस्य के रास्ते का पता लगा सकता है यद्यपि स्वयं सामंजस्य ऐसी शक्ति में ही पाया जा सकता है जो अभीतक हमसे परे है।

क्योंकि, जिन तथ्यों को लेकर हम चले हैं यदि वे सही हैं तो, पथ के अंततक, अपने गंतव्यतक पहुंचा तभी जा सकता है जब मन अपने-आपको पारकर उसमें चला जाये जो मनसातीत है, चूंकि मन उस मनसातीत की ही एक निम्नतर अवस्था और उसीका एक यंत्र है प्रथम तो रूप और व्यक्तिभाव में अवतरण के लिये, दूसरे उस सद्वस्तु में पुनः आरोहण के लिये जिसे रूप आकार प्रदान करता है और व्यक्तिभाव प्रतिरूपित करता है। इसलिये प्राण की समस्या का पूरा-पूरा समाधान केवल साहचर्य, आदान-प्रदान और प्रेम की पूर्ति के द्वारा या केवल मन और हृदय

के विधान के द्वारा पाया जाना बहुत संभव नहीं लगता। यह पाया जायेगा प्राण की चतुर्थ भूमिका के द्वारा जिसमें बहु की शाश्वत एकता चरितार्थ होगी आत्मा के द्वारा और जिसमें प्राण के समस्त व्यापारों का सचेतन आधार न तो पहले की तरह शरीर के विभाजनों में होगा न प्राण के आवेगों एवं क्षुधाओं में, न मन के समष्टिकरणों एवं अपूर्ण सामंजस्यों में और न ही इन सबके संयोजन में होगा बल्कि वह होगा आत्मा की एकता और स्वतंत्रता में।

अध्याय २२

प्राण की समस्या

सर्वायुषमुच्यते ॥
यही वह है जिसे वैश्व प्राण कहते हैं।

तैत्तिरीय उपनिषद् २.३

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में विराजमान हैं और सबको अपनी माया की चरखी पर चढ़ा कर घुमाते हैं।

गीता १८.६१

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद . . .।
सोऽश्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता ॥
जो सत्य, ज्ञान और अनन्त स्वरूप ब्रह्म को जानता है वह सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ सभी काम्य पदार्थों का भोग करता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् २.१

हम देख आये हैं कि प्राण किन्हीं विशेष वैश्व परिस्थितियों में एक ऐसी चित्-शक्ति का फूट निकलना है जो अपने स्वरूप में अनन्त, निरपेक्ष, निर्बंध, अपने एकत्व और आनन्द को अविच्छेद्य रूप से अधिकार में किये हुए है। यह सच्चिदानन्द की चित्-शक्ति है। इस वैश्व प्रक्रिया की मुख्य परिस्थिति, जहांतक कि वह अनन्त सत् की विशुद्धता और अविभक्त ऊर्जा की आत्मवत्ता से अपने बाहरी रूपों में भिन्न है, अज्ञान के तम से धुंधले पड़े हुए मन की विभाजक शक्ति है। अविभक्त शक्ति की इस विभाजित क्रिया से द्वंद्वों का, विरोधों का आभास होता है जो सच्चिदानन्द के स्वरूप का खण्डन करता-सा प्रतीत होता है। इन चीजों का अस्तित्व मन के लिये तो एक स्थायी सत्य की तरह है लेकिन मन के पर्दे के पीछे छिपी दिव्य वैश्व चेतना के लिये एक बहुमुखी सद्वस्तु के गलत प्रतिरूप की तरह है। इसी कारण जगत् प्रतिरोधी सत्यों के संघर्ष का रूप धारण कर लेता है जिनमें से हर एक सत्य अपनी पूर्ति के लिये सचेष्ट है और हर एक को अपनी पूर्ति करने का अधिकार प्राप्त है और इसलिये जगत् अनेक समस्याओं और पहेलियों का रूप लिये हुए है जिन्हें सुलझाना है क्योंकि इस सारी अस्तव्यस्तता के पीछे छिपा हुआ एक सत्य है और एक ऐक्य है जो समाधान के लिये और समाधान के द्वारा जगत् में अपनी अनावृत अभिव्यक्ति के लिये दबाव डाल रहा है।

मन को यह समाधान ढूंढ़ निकालना है लेकिन केवल मन को ही नहीं। यह समाधान जीवन में, व्यक्ति की क्रिया में तथा व्यक्ति की चेतना में भी होना चाहिये। चेतना ने शक्ति-रूप से जगत् की गतिविधि और उसकी समस्याओं का सृजन किया है। शक्तिरूप में चेतना को ही अपनी बनायी हुई समस्याओं का समाधान करना और जगत् की गतिविधि को उसके गुप्त अभिप्राय और विकसनशील सत्य की अनिवार्य पूर्ति तक ले जाना है। लेकिन इस जीवन ने क्रमशः तीन रूप धारण किये हैं। पहला है भौतिक रूप—यह एक डूबी हुई चेतना है जो अपनी ही ऊपरी आत्म-अभिव्यंजक क्रिया में और शक्ति के प्रतिनिधि रूपों में छिपी रहती है क्योंकि क्रिया में स्वयं चेतना दृष्टि से ओझल हो जाती है और रूप में खो जाती है। दूसरा है प्राणिक रूप—यह एक उभरती हुई चेतना है जो जीवन की शक्ति और रूप की वृद्धि, क्रियाशीलता एवं क्षय की प्रक्रिया के रूप में अर्द्ध-प्रकट होती और अपनी प्रारम्भिक कारा से अर्द्ध मुक्त होती है। वह प्राणिक लालसा और संतुष्टि या विकर्षण के रूप में शक्ति का स्पन्दन तो होता है परन्तु अपने अस्तित्व और अपने वातावरण के ज्ञान के रूप में प्रकाश का स्पन्दन पहले-पहल उसमें होता ही नहीं, और बाद में होता है तो अपूर्ण रूप से। तीसरा है मानसिक रूप—यह एक उभरी हुई चेतना है जो जीवन के तथ्य को मानसिक बोध के और मानसिक प्रतिक्रिया से युक्त इन्द्रिय ज्ञान के और विचार के रूप में प्रतिबिंबित करती है जब कि नये विचार के फलस्वरूप यह जीवन का तथ्य बनने की कोशिश करती है, सत्ता के आन्तरिक जीवन को बदलती है और बाहरी जीवन को उसके अनुरूप बदलने की चेष्टा करती है। यहां मन में चेतना क्रिया में और अपनी ही शक्ति के रूप की कारा से मुक्त हो जाती है लेकिन अब भी वह क्रिया और रूप की स्वामिनी नहीं बन पाती क्योंकि वह व्यष्टि-चेतना के रूप में उभरी है इसलिये अपनी समग्र क्रियाओं की एक आंशिक गति से ही अभिज्ञ होती है।

मानव जीवन की सभी कठिनाइयों और जटिलताओं का मूल यहीं है। मनुष्य यह मानसिक सत्ता है। यह मानसिक चेतना मानसिक शक्ति के तौर पर काम करती हुई एक प्रकार से उस वैश्व शक्ति और प्राण से परिचित है जिसका वह एक भाग है लेकिन उसे उसकी सार्विकता या अपनी ही सत्ता की समग्रता का पूर्ण ज्ञान नहीं है इसलिये वह सामान्य जीवन या स्वयं अपनी सत्ता की समग्रता के साथ सचमुच प्रभावकारी ढंग से, प्रभुता की विजयी गति के साथ व्यवहार करने में असमर्थ है। वह जड़ भौतिक पदार्थ को जानने की कोशिश करता है ताकि वह भौतिक वातावरण का स्वामी बन सके, वह प्राण को जानना चाहता है ताकि प्राणिक जीवन का स्वामी बन सके, वह मन को जानना चाहता है ताकि मानसिकता की अंधेरी गति का स्वामी हो सके जिसमें वह पशु की तरह आत्मचेतना के प्रकाश की एक हल्की धारा नहीं, बढ़ते हुए ज्ञान की अधिकाधिक ज्वाला बन सके। इस भांति वह अपने-

आपको जानना चाहता है ताकि अपना स्वामी बन सके, संसार को जानना चाहता है ताकि संसार का स्वामी बन सके। यह उसके अन्दर सत् की प्रेरणा है, यही चित् का, जो कि वह है, प्रयोजन है, यही शक्ति का, जो कि उसका प्राण है, अन्तर्वेग है, और यही उन सच्चिदानन्द की गुप्त इच्छा है जो व्यक्ति के रूप में एक ऐसे जगत् में प्रकट होते हैं जिसमें वे अपने-आपको व्यक्त करते पर फिर भी अपने-आपको नकारते प्रतीत होते हैं। तो ऐसी अवस्थाओं को पाना, जिनमें इस अन्तर्वेग की पूर्ति हो, यही समस्या है जिसका समाधान पाने के लिये मनुष्य को अवश्य ही सतत परिश्रम करना है और इसके लिये वह अपनी सत्ता के स्वभाव के ही द्वारा और अन्तस्थ देव के द्वारा बाध्य किया जाता है और जबतक समस्या का समाधान नहीं हो जाता, अन्तर्वेग की पूर्ति नहीं हो जाती तबतक मानवजाति अपने श्रम से छुटकारा नहीं पा सकती। या तो मनुष्य को अपनी परिपूर्ति करके अपने अन्दर विराजमान भगवान् को संतुष्ट करना चाहिये या अपने अन्दर से एक नयी और अधिक महान् सत्ता को जन्म देना चाहिये जो उन्हें संतुष्ट करने में अधिक सक्षम हो। या तो स्वयं उसे दिव्य मानव बनना होगा या अतिमानव के लिये स्थान छोड़ना होगा।

यह परिणाम, वस्तुएं जैसी हैं उन्हींसे युक्तियुक्त रूप में निकलता है, क्योंकि मनुष्य की मनोमय चेतना जड़ भौतिक के अंधकार में से चूंकि पूरी तरह उभरी हुई पूरी प्रबुद्ध चेतना नहीं है बल्कि इस महान् ऊर्ध्वगति में वह केवल एक अवस्थामात्र है इसलिये सृष्टि का यह विकासक्रम, जिसमें कि मनुष्य प्रकट हुआ है, वहीं नहीं रुक सकता जहां वह इस समय है। वह या तो उसके अन्दर अपनी वर्तमान अवस्था के परे जायेगा या फिर मनुष्य को ही पार कर जायेगा यदि उसमें स्वयं आगे जाने की शक्ति न रही तो। जो मानसिक भाव जीवन का तथ्य बनने की कोशिश कर रहा है उसे तबतक बढ़ते जाना होगा जबतक कि वह अस्तित्व का संपूर्ण सत्य न बन जाये, जबतक कि वह अपने-आपको एक-पर-एक चढ़े आवरणों से मुक्त कर उद्भासित न कर ले और चेतना के प्रकाश में प्रगतिशील रूप से परिपूर्ण और शक्ति में आनन्दमय रूप से परिपूर्ण न बन जाये। क्योंकि शक्ति और प्रकाश के इन्हीं दो पदों में और इन्हींके द्वारा सत् अपने-आपको अभिव्यक्त करता है, क्योंकि सत् अपने स्वरूप में चित् और शक्ति है। किन्तु तीसरे चरण, जिसमें ये दोनों घटक मिलते और एक हो जाते हैं और अंततः परिपूर्ण होते हैं वह है स्वयंभू सत्ता का परिपूरित आनन्द। हमारे जैसे विकसनशील जीवन के लिये इस अनिवार्य चरम सिद्धि का अर्थ होना चाहिये उस आत्मा को पाना जो स्वयं जीवन के आविर्भाव के समय उसमें बीज रूप में निहित थी और उस आत्मप्राप्ति के द्वारा वे सम्भाव्यताएं पूरी तरह क्रियान्वित हो जायेंगी जो इस जीवन को जन्म देनेवाली चित्-शक्ति की क्रिया में निहित थीं। हमारे मानव-अस्तित्व में इस

भांति समायी हुई शक्यता है सच्चिदानन्द जो वैयक्तिक और वैश्व जीवन के एक विशेष सामंजस्य और एकीकरण में अपने-आपको सिद्ध कर रहे हैं ताकि मानव जाति एक सार्वभौम चेतना में, सार्वभौम शक्ति की गति में, सार्वभौम आनन्द में उस परात्पर 'कुछ' को व्यक्त करेगी जिसने अपने-आपको चीजों के इस रूप में ढाला है।

समस्त प्राण अपने स्वभाव के लिये अपनी उपादान-चेतना की मूलभूत स्थिति पर निर्भर होता है क्योंकि जैसी चेतना होगी शक्ति भी वैसी ही होगी। जहां चेतना अनन्त, अविभक्त रूप से एक और अपनी क्रियाओं और रूपों से तब भी अतीत होती है जब कि वह उन्हें आलिंगित, अनुप्राणित, संगठित और कार्यान्वित कर रही होती है जैसी कि सच्चिदानन्द की चेतना है, तो वहां शक्ति भी वैसी ही होगी : अपने क्षेत्र-विस्तार में अनन्त, अपनी क्रियाओं में अविभक्त रूप से एक, अपनी शक्ति और आत्म-ज्ञान में परात्पर। जहां चेतना वैसी हो जैसी भौतिक प्रकृति की है यानी डूबी हुई, अपने-आपको भूली हुई, अपनी ही शक्ति के प्रवाह में बहती हुई जिसमें ऐसा लगता है कि वह कुछ जानती ही नहीं—यद्यपि इन दोनों तत्त्वों के बीच शाश्वत सम्बन्ध का स्वरूप ऐसा है कि जो प्रवाह उसे बहा ले जाता है, उसे वास्तव में वह स्वयं निर्धारित करती है—वहां शक्ति भी वैसी ही होगी; निश्चेष्ट और निश्चेतन की विकट दानवी गति होगी जिसे पता नहीं उसमें क्या समाया हुआ है। देखने में लगता है कि वह यान्त्रिक रूप से, एक प्रकार की अटल आकस्मिकता, अनिवार्यतः सुखद संयोग द्वारा अपने-आपको परिपूर्ण कर रही है जब कि वह सचमुच सदा ही ऋत और सत्य के विधान का ही निर्दोष रूप से पालन करती है जिसे उसके लिये उसकी गति में गुप्त रूप से स्थित परम चित्-पुरुष की इच्छा ने निर्धारित किया है। जहां चेतना अपने-आपमें विभाजित हो, जैसे मन में है, अपने-आपको विभिन्न केन्द्रों में सीमित रखती हो, अन्य केन्द्रों में क्या है और उनके साथ उसका क्या सम्बन्ध है यह जाने बिना हर एक को अपनी पूर्ति के लिये आगे बढ़ने को प्रवृत्त करती हो, वस्तुओं और शक्तियों को उनके यथार्थ एकत्व में नहीं बल्कि ऊपर से दीखनेवाले विभाजन और पारस्परिक विरोध में ही जानती हो तो वहां शक्ति भी वैसी ही होगी। यह वैसा ही जीवन होगा जैसा हम जी रहे हैं और अपने चारों ओर देखते हैं। यह व्यष्टिगत जीवनों का संघर्ष और गुंथन होगा जिसमें हर एक औरों के साथ अपने सम्बन्ध को जाने बिना बस, अपनी ही पूर्णता की खोज में रहता है, इसमें विभाजन और विरोध करनेवाली या मतभेद से भरी शक्तियों का संघर्ष या कठिन समझौता होगा। और मन में यह विभक्त विरोधी या विभिन्न विचारों का मिश्रण, आघात और द्वंद्व और समझौता होगा जो विचार एक-दूसरे की आवश्यकता के ज्ञान तक नहीं पहुंच सकते और न ही पीछे स्थित उस 'एकत्व' के तत्त्वों के रूप में अपना स्थान ले सकते हैं जो उनके द्वारा अपने-आपको प्रकट कर रहा है और जिसमें उनके विसंवादों का अन्त होगा। लेकिन जहां चेतना वैविध्य और एकत्व

दोनों को अधिकार में लिये रहती है और एकत्व वैविध्य को अपने अन्दर धारण करता और नियन्त्रित करता है, जहां वह एक ही साथ 'सर्व' के धर्म, सत्य और ऋत तथा व्यष्टि के धर्म, सत्य और ऋत से परिचित रहती है और दोनों पारस्परिक ऐक्य में सचेतन रूप से सुसमन्वित हो जाते हैं, जहां चेतना का समग्र स्वभाव है कि एकमेव अपने-आपको बहु के रूप में जानता है और बहु अपने-आपको एकमेव के रूप में जानते हैं, वहां शक्ति का स्वभाव भी उसी प्रकार का होगा। वह एक ऐसा जीवन होगा जो सचेतन रूप से एकत्व के धर्म का पालन करेगा और साथ ही वैविध्य में प्रत्येक वस्तु को उसके अपने नियम और कर्म के अनुसार परिपूर्ण करेगा। वह ऐसा जीवन होगा जिसमें सभी व्यष्टि एक साथ अपने-आपमें और एक-दूसरेमें ऐसे रहेंगे जैसे बहु जीवों में एक ही चिन्मय पुरुष हो, बहु मन के अन्दर चेतना की एक ही शक्ति हो, बहु जीवनों में क्रियारत एक ही शक्ति का आनन्द हो, बहु हृदयों और शरीरों में आनन्द की एक ही वास्तविकता अपने-आपको परिपूर्ण कर रही हो।

इन चारों अवस्थाओं में पहली चेतना और शक्ति के बीच इस सारे प्रगतिशील सम्बन्ध का मूल है, वह उनकी सच्चिदानन्द में संतुलन-स्थिति है जहां वे दोनों अभिन्न रूप से एक हैं कारण वहां शक्ति सत्ता की चेतना ही है जो अपने-आपको क्रियान्वित करती हुई भी अपने चेतना-स्वरूप को नहीं खोती। इसी तरह चेतना सत्ता की ज्योतिर्मय शक्ति है जो अपने और अपने आनन्द के बारे में नित्य अभिज्ञ रहती हुई भी परम प्रकाश और परम आत्मवत्ता की शक्ति के स्वरूप को नहीं खोती। दूसरा सम्बन्ध है भौतिक प्रकृति का। यह सत्ता की जड़ जगत् में संतुलन-स्थिति है जो सच्चिदानन्द का स्वयं अपने ही द्वारा महा-निषेध है क्योंकि यहां शक्ति का चेतना से प्रकटतः पूर्ण पार्थक्य है, सर्व-शासक और निर्भ्रान्त निश्चेतन का ऊपर से सत्य प्रतीत होनेवाला चमत्कार है। यह निश्चेतन है तो केवल एक मुखौटा ही लेकिन इसे आधुनिक विज्ञान ने भूल से वैश्व 'देव' का सच्चा चेहरा मान लिया है। तीसरा सम्बन्ध है सत्ता की मन और प्राण में सन्तुलन-स्थिति, जिस प्राण को हम इस निषेध में से उभरते हुए उसके द्वारा चकित और मनुष्य के चकरानेवाले आविर्भाव के साथ लगी हजारों समस्याओं से संघर्ष करते हुए पाते हैं। यह मनुष्य भौतिक विश्व के सर्वशक्तिमान् निश्चेतन में से प्रकट हुआ अर्ध शक्तिमान् सचेतन सत्ता है और इस संघर्ष की न तो अधीनता स्वीकार कर लेने से अंत हो जाने की कोई सम्भावना दीखती है और न ही विजयी समाधान का कोई स्पष्ट ज्ञान या अंतर्बोध ही मिलता है। चौथा सम्बन्ध है सत्ता की अतिमानस में संतुलन स्थिति। यह वह परिपूर्ण सत्ता है जो अंततः सम्पूर्ण निषेध में से उभरती हुई आंशिक स्वीकृति के द्वारा उत्पन्न उन सभी जटिल समस्याओं को हल कर देगी। यह उसे अवश्य ही एकमात्र संभव मार्ग से हल करेगी, यह उस सबको, जो उस महा-

निषेध के मुखौटे के पीछे सम्भाव्यता के रूप में वहां छिपा हुआ था और विकास-क्रम के तथ्य के रूप में अभिप्रेत था, उसे उसकी परिपूर्णतातक पहुंचाकर पूर्ण प्रस्थापना के द्वारा हल करेगी। वही यथार्थ मानव का यथार्थ जीवन है जिसकी ओर यह आंशिक जीवन और आंशिक रूप से अचरितार्थ मानवता बढ़ने का प्रयास कर रही है। हमारे अन्दर जो तथाकथित निश्चेतन है उसमें तो यह पूरे-पूरे ज्ञान और मार्गदर्शन के साथ प्रयास कर रही है लेकिन हमारे सचेतन भागों में धुंधले और संघर्षरत पूर्व-ज्ञान के साथ, अनुभूति के अंशों के साथ, आदर्श की झांकियों के साथ, सत्य-प्रकाश और सत्य-ज्ञान की झलकों के साथ प्रयास कर रही है जिन्हें हम कवि, पैगम्बर, ऋषि, परात्परवादी, रहस्यवादी, विचारक और मानवजाति के महान् मनीषियों और महान् आत्माओं में पाते हैं।

हमारे सामने जो तथ्य इस समय उपस्थित हैं उनसे हम देख सकते हैं कि मन और प्राण की अपनी वर्तमान दशा में मनुष्य के अन्दर चेतना और शक्ति की जो अपूर्ण संतुलन-स्थिति है उससे आनेवाली कठिनाइयां, मुख्य रूप से तीन हैं। पहली, वह अपनी ही सत्ता के केवल एक छोटे-से भाग को जानता है। वह केवल अपने सतही मन, अपने सतही प्राण और अपने सतही शरीर को ही जानता है और वह भी सम्पूर्णतः नहीं। नीचे उसके अवचेतन और उसके अन्तस्तलीय मन की, उसके अवचेतन और उसके अन्तस्तलीय प्राणावेगों की, उसकी अवचेतन शारीरिकता की विशाल तरंगें हैं, यानी उसका वह बड़ा भाग जिसे वह नहीं जानता और जिसे वह नियन्त्रित नहीं कर सकता बल्कि वही उसे जानता और उसे नियन्त्रित करता है। कारण, सत्ता, चेतना और शक्ति चूंकि एक ही हैं, इसलिये हमें अपनी सत्ता के उतने ही भाग पर थोड़ा-बहुत सच्चा अधिकार प्राप्त हो सकता है जितने के साथ हम आत्म-अभिज्ञता के द्वारा एकात्म होते हैं। शेष भाग अवश्य ही अपनी उस चेतना के द्वारा ही शासित होता है जो हमारे सतही मन, प्राण और शरीर के लिये अन्तस्तलीय है। फिर भी चूंकि ये दोनों (सतही और अन्तस्तलीय) अलग-अलग गतियां न होकर एक ही गति हैं, इसलिये हमारे अधिक बड़े और अधिक समर्थ भाग को हमारे छोटे और कम समर्थ भागपर समग्र रूप में शासन और नियन्त्रण करना चाहिये, इसीलिये हम अपनी सचेतन सत्ता में भी अवचेतन और अन्तस्तलीय द्वारा शासित होते हैं। और हमारी आत्म-प्रभुता और हमारे आत्मनिदेशन में भी हम उसके केवल यंत्र भर हैं जो हमें अपने अन्दर निश्चेतन प्रतीत होता है।

प्राचीन प्रज्ञा का यही तात्पर्य था जब उसने कहा कि मनुष्य यह कल्पना करता है कि वह स्वेच्छा से कार्य करता है लेकिन वास्तव में प्रकृति उसके सभी कर्मों को निर्धारित करती है और प्रज्ञावान् भी अपनी-अपनी प्रकृति का अनुसरण करने के लिये बाधित होते हैं। किन्तु प्रकृति हमारे अन्दर विराजमान 'पुरुष' की चेतना की सर्जक शक्ति है और वह पुरुष अपनी प्रतिलोम क्रिया और स्वयं अपना प्रतीयमान

निषेध है, इसलिये उन्होंने उस पुरुष की प्रतिलोम सृजन-शक्ति को माया या ईश्वर की भ्रम पैदा करनेवाली शक्ति का नाम दिया और कहा कि सभी भूतों के हृदय में बैठे हुए ईश्वर सब भूतों को अपनी माया द्वारा मानों यंत्र पर चढ़ाकर घुमाते हैं। तो यह स्पष्ट है कि मनुष्य अपनी सत्ता का स्वामी तभी बन सकता है जब वह मन से परे जाकर ईश्वर के साथ आत्म अभिज्ञता में एक हो जाये, और चूंकि निश्चेतन में या स्वयं अवचेतना में यह संभव नहीं, चूंकि फिर से अपनी गहराइयों में, निश्चेतना की ओर डुबकी लगाने से कोई लाभ नहीं, यह ऐक्य पूरी तरह प्रतिष्ठित हो सकता है उस गहराई में उतरने से जहां ईश्वर आसीन हैं, उस जगह चढ़ने से जो अभी तक हमारे लिये अतिचेतन है यानी अतिमानस में चढ़ने से। क्योंकि वहां उच्चतर और दिव्य माया में, अपने धर्म और सत्य रूप में, उस सबका सचेतन ज्ञान रहता है जो अवचेतन में अपरा माया द्वारा निषेध की अवस्थाओं में—जो कि प्रस्थापना का रूप लेना चाह रहा है—कार्य करता है। क्योंकि यह निम्न प्रकृति उस चीज को कार्यान्वित करती है जिसकी उच्चतर प्रकृति में इच्छा की जाती है और जो वहां ज्ञात होती है। भागवत ज्ञान की यह भ्रामक शक्ति, जो संसार में रूपों की सृष्टि करती है, वह उसी ज्ञान की सत्य शक्ति द्वारा शासित होती है जो रूपों के पीछे के सत्य को जानती है और जिसके लिये ये रूप कार्य कर रहे हैं उस प्रस्थापना को हमारे लिये तैयार रखती है। यहां का असम्पूर्ण और प्रतीयमान मानव वहां पूर्ण और वास्तविक मानव को पायेगा। यह पूर्ण मानव उन स्वयंभू के साथ, जो अपने विश्व-विकास और विश्व-यात्रा के सर्वज्ञ प्रभु हैं, पूर्णतः एकात्म होकर सम्पूर्ण रूप से आत्म-चेतन प्राणी बनने में सक्षम होगा।

दूसरी कठिनाई यह है कि मनुष्य अपने मन, अपने प्राण और अपने शरीर में वैश्व सत्ता से पृथक् हो गया है इसलिये जैसे वह अपने-आपको नहीं जानता उसी तरह, बल्कि उससे भी बढ़कर अपने साथी मनुष्यों को जानने में असमर्थ है। वह उनके बारे में अनुमान, परिकल्पना, निरीक्षण और सहानुभूति की एक अपूर्ण क्षमता, एक अनगढ़ मानसिक रचना बना लेता है, परन्तु यह तो ज्ञान नहीं है। ज्ञान तो केवल सचेतन तादात्म्य द्वारा ही आ सकता है क्योंकि वही एकमात्र सच्चा ज्ञान है—सत्ता की आत्म-अभिज्ञता। हम अपने-आपको बस उतना ही जानते हैं जितना सचेतन रूप से आत्म-अभिज्ञ रहते हैं, बाकी छिपा रहता है। इसी तरह हम जिसके साथ अपनी चेतना में एक हो जाते हैं उसीको जान सकते हैं, और वह भी उसी हदतक जहांतक उसके साथ एक हो सकें। अगर ज्ञान के साधन परोक्ष और अपूर्ण हों तो जो ज्ञान प्राप्त होगा वह भी परोक्ष और अपूर्ण होगा। यह ज्ञान हमें अनुमान पर आधारित कुछ अनाड़ीपन के साथ, यद्यपि मन की दृष्टि से वह काफी कुछ पूर्णता ही होगी, कुछ एक सीमित व्यावहारिक उद्देश्यों, आवश्यकताओं और सुख-सुविधाओं को पा लेने की सामर्थ्य प्रदान करेगा और जिसे हम जानते हैं उसके

साथ सम्बन्धों का एक अपूर्ण और अस्थिर सामंजस्य ले आयेगा, पर उसके साथ पूर्ण सम्बन्धोंपर पहुंचना तो केवल सचेतन एकात्मता के द्वारा ही हो सकेगा। इसलिये हमें केवल प्रेम से पैदा हुई सहानुभूति या मानसिक ज्ञान से पैदा होनेवाली समझ ही नहीं, अपने साथी प्राणियों के साथ सचेतन ऐक्य पर पहुंचना चाहिये, यह मानसिक ज्ञान हमेशा ऊपरी सतह के जीवन का ज्ञान होता है इसलिये अपने-आपमें अपूर्ण और उनके अन्दर और हमारे अन्दर जो अवचेतन और अन्तस्तलीय है उसमें से अज्ञात और अनियन्त्रित के प्रवाह के कारण निषेध और अवसाद के अधीन रहेगा। हमें अपने साथी प्राणियों के साथ सचेतन एकत्व में पहुंचना होगा। लेकिन यह सचेतन एकात्मता तभी स्थापित हो सकती है जब हम उसमें प्रवेश करें जिसमें हम उनके साथ एक हैं यानी वैश्व सत्ता में और विश्व सत्ता की परिपूर्णता सचेतन रूप से केवल वहां अस्तित्व रखती है जो हमसे अतिचेतन है यानी अतिमानस में क्योंकि यहां हमारी सामान्य सत्ता में उसका अधिकांश अवचेतन रहता है अतः उसे मन, प्राण, शरीर की इस सामान्य सन्तुलन-स्थिति में नहीं पाया जा सकता। निम्नतर सचेतन प्रकृति अपनी सभी क्रियाओं में अहंकार से बंधी रहती है, व्यष्टिभाव के खूंटे से तिहरी जंजीर से बंधी रहती है। एकमात्र अतिमानस ही विविधता के बीच एकत्व पर अधिकार रखता है।

तीसरी कठिनाई है विकासशील सत्ता में शक्ति और चेतना के बीच विभाजन। पहले तो वह विभाजन है जिसे स्वयं क्रम-विकास ने अपने तीन उत्तरोत्तर रूपायनों—भौतिक, प्राण और मन—में खड़ा किया है जिनमें हर एक के काम करने का अपना विधान है। प्राण शरीर के साथ लड़ता रहता है, वह उसे बाधित करके अपनी सीमित सामर्थ्य से जीवन की कामनाओं, आवेगों, तुष्टियों और मांगों की तृप्ति करने की कोशिश करता है, लेकिन यह किसी अमर दिव्य शरीर के लिये ही संभव है। और शरीर—अत्याचारपीड़ित और दास बना हुआ शरीर, कष्ट पाता और सदा प्राण की मांगों के विरुद्ध मूक विद्रोह करता रहता है। मन बाकी दोनों के साथ युद्ध करता है और कभी प्राणिक अनुरोधों पर लगाम लगाता और शरीर के ढांचे को प्राण की कामनाओं, आवेगों और हांक-हांककर थका देनेवाली ऊर्जाओं से बचाने की कोशिश करता है। वह प्राण पर भी अधिकार करने की कोशिश करता है और उसकी ऊर्जा का उपयोग अपनी लक्ष्य-सिद्धि के लिये, मन की अपनी क्रियाओं के अधिकाधिक उल्लास के लिये, मानसिक, सौंदर्यग्राही, भावमय उद्देश्यों की पूर्ति के लिये और मानव जीवन में उन्हें चरितार्थ करने के लिये करता है। प्राण भी देखता है कि वह दास बन गया है और उसका दुरुपयोग हो रहा है। वह अपने ऊपर डटे हुए अज्ञानी अर्द्ध बुद्धिमान् अत्याचारी के विरुद्ध प्रायः ही विद्रोह करता रहता है। यह हमारे अंगों का ऐसा संघर्ष है जिसका सन्तोषजनक समाधान मन के बस का नहीं है क्योंकि उसे एक ऐसी समस्या से पाला पड़ता है जो उसके लिये असाध्य है,

वह है मर्त्य प्राण और शरीर में अमरता पाने की अभीप्सा। वह या तो समझौते के एक लंबे क्रम तक पहुंच सकता है या फिर जड़वादी के साथ हमारी प्रतीयमान सत्ता की मर्त्यता की अधीनता को स्वीकार करता हुआ या संन्यासी अथवा धार्मिक व्यक्ति की तरह पार्थिव जीवन का परित्याग और तिरस्कार करता हुआ जीवन के अधिक सुखद और अधिक आरामदेह क्षेत्रों में आश्रय लेकर समस्या से पिंड छुड़ा सकता है। किंतु सच्चा समाधान है मन के परे ऐसे तत्त्व को पाने में जिसका धर्म है अमरता और उसके द्वारा अपने जीवन की मर्त्यता पर विजय पाना।

लेकिन साथ ही हमारे अन्दर प्रकृति की शक्ति और सचेतन सत्ता के बीच आधारभूत विभाजन भी है जो इस असमर्थता का मौलिक कारण है। न केवल मानसिक, प्राणिक, और भौतिक सत्ताओं के बीच परस्पर विभाजन है बल्कि उनमें से हर एक अपने-आपमें भी विभक्त है। शरीर का सामर्थ्य उसके भीतर रहनेवाली सहज प्रवृत्तिमय आत्मा या सचेतन सत्ता से यानी भौतिक पुरुष से कम है; प्राणिक शक्ति का सामर्थ्य आवेगमय आत्मा से, प्राणिक सचेतन सत्ता से या उसके अन्दर स्थित पुरुष से कम है; मानसिक ऊर्जा का सामर्थ्य उसके अन्दर रहनेवाली बौद्धिक तथा भावनामय आत्मा से, मनोमय पुरुष से कम है। क्योंकि अन्तरात्मा वह आन्तरिक चेतना है जो अपनी पूर्ण आत्मसिद्धि के लिये अभीप्सा करती है इसलिये वह सदा ही तात्कालिक व्यक्तिगत रूपायन से आगे निकल जाती है और वह शक्ति, जिसने रूपायन में अपनी एक विशिष्ट स्थिति अपनायी है, वह अन्तरात्मा द्वारा हमेशा उसके लिये धकेली जाती है जो उस स्थिति विशेष के लिये असामान्य है, उससे परे है। इस भांति हमेशा धकेले जाने के कारण उसे उत्तर देने में बहुत कष्ट होता है और वर्तमान क्षमता से अधिक क्षमता की ओर विकसित होते हुए तो और भी अधिक। इस पुरुष-त्रयी की मांगों को पूरा करने में वह उद्विग्न हो जाती है और सहज वृत्ति को सहज वृत्ति के विरुद्ध, आवेग को आवेग के विरुद्ध, भाव को भाव के विरुद्ध, विचार को विचार के विरुद्ध खड़ा करने में, कभी इसको संतुष्ट करने, उसको नकारने, फिर पछताने और जो किया जा चुका है उसपर वापिस आने, व्यवस्था करने, क्षतिपूर्ति करने और फिर से व्यवस्था करने के लिये बाधित होती है। यह अनन्त कालतक चलता रहता है परन्तु एकत्व के किसी तत्त्व तक नहीं पहुंचता। और फिर मन में जो चित्-शक्ति है जिसे सामंजस्य और एकता लानी चाहिये वह न केवल ज्ञान और इच्छा शक्ति में सीमित है बल्कि ज्ञान और इच्छा में प्रायः विरोध और वैषम्य रहता है। एकत्व का तत्त्व ऊपर अतिमानस में रहता है क्योंकि केवल वहीं समस्त विविधताओं में सचेतन एकत्व है। केवल वहीं इच्छा शक्ति और ज्ञान समान और संपूर्ण सामंजस्य में रहते हैं। वहीं चेतना और शक्ति अपने दिव्य समीकरण तक पहुंचती हैं।

मनुष्य विकास करता हुआ जितना ही आत्म-सचेतन और यथार्थतः विचारशील

प्राणी बनता जाता है उतना ही वह अपने अंगों के इस सम्पूर्ण विरोध और वैषम्य के बारे में तीव्र रूप में अभिज्ञ होता जाता है और वह अपने मन, प्राण और शरीर का सामंजस्य, ज्ञान, इच्छा-शक्ति और भावना का सामंजस्य, अपने सभी अंगों का सामंजस्य खोजता है। कभी-कभी यह कामना एक ऐसे कामचलाऊ समझौते पर पहुंच कर ही रुक जाती है जो अपने साथ एक सापेक्ष शांति ले आता है। लेकिन समझौता मार्ग पर एक पड़ाव ही हो सकता है क्योंकि भीतर आसीन देव अन्ततः ऐसे पूर्ण सामंजस्य से कम में संतुष्ट न होंगे जो हमारी बहुमुखी शक्यताओं के सर्वांगीण विकास को अपने अन्दर लिये हुये न हो। इससे कम तो समस्या का समाधान नहीं, उसे टालना होगा। या फिर वह केवल एक अस्थायी समाधान होगा जो आत्मा के सतत आत्म-संवर्धन और आरोहण में एक विश्रामस्थल के जैसा होगा। इस प्रकार का पूर्ण सामंजस्य आवश्यक शर्तों के रूप में पूर्ण मानसिकता, प्राणशक्ति की पूर्ण क्रीड़ा और पूर्ण भौतिक जीवन की मांग करता है। लेकिन जो मूलतः है ही अपूर्ण उसके अन्दर हम पूर्णता का तत्त्व और पूर्णता की शक्ति कहां पायेंगे ? मन की जड़ें विभाजन और परिसीमन में हैं, वह हमें यह तत्त्व नहीं दे सकता और न प्राण और शरीर ही यह दे सकते हैं, वे विभाजनकारी और सीमाकारी मनकी ऊर्जा और उसका ढांचा हैं। पूर्णता का तत्त्व और पूर्णता की शक्ति हैं तो अवचेतन में परन्तु हैं अपरा माया के आच्छादन या आवरण में लिपटे हुए, वे एक मूक पूर्वाभास की तरह, अनुपलब्ध आदर्श के रूप में उभर रहे हैं। अतिचेतन में वे खुले हुए प्रतीक्षा करते हैं, शाश्वत रूप में उपलब्ध होते हैं लेकिन फिर भी हमारे आत्म-अज्ञान के पर्दे से हमसे पृथक् रहते हैं। तो हमें सामंजस्यकारी शक्ति और ज्ञान की खोज ऊपर करनी होगी न कि अपनी वर्तमान अवस्था में और न ही उससे नीचे।

इसी तरह जैसे-जैसे मनुष्य विकसित होता है वैसे-वैसे उसे जगत् के साथ अपने सम्बन्ध को शासित करनेवाले विरोध और अज्ञान की तीव्र रूप में अभिज्ञता होती जाती है, और यह उसके बारे में तीव्र रूप से असहिष्णु हो उठता है और वह सामंजस्य, शान्ति, आनन्द और एकत्व के तत्त्व को पाने के लिये अधिकाधिक जोर लगाता है। यह भी उसे ऊपर से ही मिल सकता है। क्योंकि केवल तभी जब एक ऐसे मन का विकास हो जाये जो दूसरों के मनों का वैसा ही ज्ञान रखता हो जैसा उसका अपना है, और जो हमारे पारस्परिक अज्ञान और गलतफहमियों से मुक्त हो, जब ऐसी इच्छाशक्ति का विकास हो जाये जो दूसरों की इच्छा-शक्ति को अनुभव करती और उनके साथ एकात्म हो जाती हो, जब ऐसे भावुक हृदय का विकास हो जाये जो दूसरों के भावों को अपने ही भावों की भांति अपने अन्दर रखता हो, जब एक ऐसी प्राण-शक्ति का विकास हो जाये जो दूसरों की ऊर्जाओं को अपनी ही ऊर्जाओं की भांति अनुभव करती और स्वीकार करती हो और अपनी ही ऊर्जाओं

की भांति उनकी भी परिपूर्ति करना चाहती हो, जब एक ऐसे शरीर का विकास हो जाये जो बन्दीगृह की दीवार और जगत् के विरुद्ध आत्म-रक्षा न हो, परन्तु यह सब 'ज्योति' और 'सत्य' के विधान के अन्तर्गत हो—ये 'ज्योति' और 'सत्य' हमारे और दूसरों के मनों, इच्छा-शक्तियों, भावों और प्राणिक ऊर्जाओं की भटकनों और भूलों से, अत्यधिक पाप और मिथ्यात्व से परे होंगे—केवल तभी आध्यात्मिक और व्यावहारिक दृष्टि से मनुष्य का जीवन अपने साथी प्राणियों के साथ एक हो सकता और व्यष्टि अपनी वैश्व आत्मा को फिर से पा सकता है। अवचेतन को यह सर्वमय जीवन प्राप्त है और अतिचेतन को भी, लेकिन वहां ऐसी अवस्थाओं में प्राप्त है जो इसे आवश्यक बना देती हैं कि हमारी गति ऊर्ध्वमुखी हो। कारण उन देव की ओर नहीं जो "निश्चेतन समुद्र में छिपे हुए हैं, जहां अंधकार अंधकार में लिपटा हुआ है"[1] बल्कि उन देव की ओर जो शाश्वत ज्योति के समुद्र में, हमारी सत्ता के उच्चतम आकाश में आसीन हैं; उनकी ओर आदिकाल में शुरू हुआ यह संवेग बढ़ रहा है और यह विकासमान आत्मा को ऊपर की ओर बढ़ाता हुआ हमारी मानव जाति के स्तर तक ले आया है।

यदि जाति को कहीं रास्ते में ही नहीं गिर जाना और विजय को उत्सुक प्रसविनी दिव्य माता की किन्हीं और नयी सृष्टियों के लिये नहीं छोड़ देना है तो उसे इस आरोहण के लिये अभीप्सा करनी चाहिए। निश्चय ही यह आरोहण प्रेम, मानसिक प्रकाश, अधिकार और आत्मदान की प्राणिक प्रेरणा के ही रास्ते से होगा, किन्तु उसे और भी परे अतिमानस के एकत्व की ओर ले जायेगा जो उनका अतिक्रमण और उनकी पूर्ति करता है। मानव जाति को अपने चरम श्रेय और मुक्ति की खोज अपने मानव जीवन को, अपनी सत्ता और उसके सारे अंगों में उन एकमेवाद्वितीय के साथ और सबके साथ सचेतन एकत्व की अतिमानसिक उपलब्धि के आधार पर प्रतिष्ठित करके करनी होगी। इसीको हमने जीवन के 'परमदेव' की ओर आरोहण में उसकी चतुर्थ भूमिका कहा है।

[1] *'तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलम्*—ऋग्वेद १०.१२९.३

'या रोचने परस्तात्सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आपः ॥—ऋग्वेद ३.२२.३ वे जल जो कि सूर्य से ऊपर ज्योतिर्मय लोकों में हैं और वे जो कि नीचे रहते हैं।

अध्याय २३

मनुष्य में दोहरी आत्मा

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा ॥

पुरुष यानी आन्तरिक आत्मा आकार में मनुष्य के अंगूठे से बड़ा नहीं है।

कठोपनिषद् ४.१२
श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.१७

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥

जो इस आत्मा को जानता है जो जीवन के मधु का खानेवाला है और जो कुछ है और होगा उसका स्वामी है उसमें कोई जुगुप्सा नहीं रहती।

कठोपनिषद् ४.५

तत्र को मोह कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

जो हर जगह एकत्व को देखता है उसे शोक कहां से होगा, मोह कहां से होगा ?

ईशोपनिषद् ७

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ॥

जिसने शाश्वत को, ब्रह्म को, आनन्द को पा लिया है उसे कहीं से भय नहीं रहता।

तैत्तिरीय उपनिषद् २.९

हम देख आये हैं कि प्राण के प्रथम चरण की विशेषता है मूक अचेतन प्रेरणा या प्रवृत्ति, भौतिक या परमाणविक जीवन में अंतर्लीन इच्छा की एक शक्ति जो न तो स्वतंत्र है न स्वयं अपनी या अपने कार्यों की या उनके परिणामों की मालिक है बल्कि पूरी तरह वैश्व शक्ति के अधिकार में है, जिसमें वह व्यक्तित्व के अंधेरे, अरूपायित बीज के रूप में ऊपर उठता है। दूसरे चरण का मूल है कामना जो अधिकार करने के लिये तो उत्सुक होती है पर अपनी क्षमता में सीमित होती है, तीसरे की कली है प्रेम जो अधिकार करना भी चाहता है और अधिकार में होना भी, जो लेना भी चाहता है और अपने-आपको देना भी। चौथा सुन्दर फूल उसकी पूर्णता का चिह्न है। हमने इसके बारे में जो धारणा बनायी है उसके अनुसार यह आद्य इच्छा का शुद्ध, संपूर्ण आविर्भाव, मध्यवर्ती कामना की आलोकित परिपूर्ति,

जीवात्माओं की दिव्य एकता जो अतिमानसिक जीवन का आधार है उसमें अधिकृत होने की स्थिति के एक बन जाने के कारण प्रेम के सचेतन आदान-प्रदान की उच्च और गभीर तृप्ति है। अगर हम सावधानी के साथ इन पदों की छान-बीन करें तो हम देखेंगे कि ये चीजों के वैयक्तिक और वैश्व आनंद के लिये पुरुष की, अन्तरात्मा की एषणा के रूप और पड़ाव हैं। प्राण का आरोहण स्वभावतः चीजों में उपस्थित दिव्य आनन्द का आरोहण है जो जड़तत्त्व में अपनी मूक गर्भावस्था में से दिशा-विपर्ययों और विरोधों के बीच में से होता हुआ आत्मा में अपनी ज्योतिर्मयी परम गति को पाता है।

जगत् जो कुछ है उससे भिन्न नहीं हो सकता क्योंकि जगत् सच्चिदानन्द और सच्चिदानन्द की चेतना की प्रकृति का एक छद्मवेशी रूप है अतः वह चीज जिसमें उसकी शक्ति को हमेशा अपने-आपको खोजना और पाना चाहिये, वह है दिव्य आनन्द, सर्वव्यापक आत्मानन्द। चूंकि जीवन भगवान् की चित्-शक्ति की ऊर्जा है इसलिये उसकी सभी गतिविधियों का रहस्य होना चाहिये प्रच्छन्न आनन्द जो सभी चीजों में अंतर्निहित है, जो एक ही साथ उसकी सभी गतिविधियों का कारण, हेतु और विषय है। और अगर अहंकारमय विभाजन के कारण वह आनन्द न मिले या उसे पर्दे के पीछे छिपा लिया जाये, स्वयं उसका विपरीत तत्त्व उसका प्रतिनिधित्व करे जैसे सत्ता मृत्यु के अवगुंठन में होती है, चेतना निश्चेतना का रूप धारण कर लेती है और शक्ति अपने-आपको असमर्थता के वेश में चिढ़ाती है, तो जो जीता है उसे संतुष्ट नहीं किया जा सकता। न ही वह गति से विश्राम ले सकता है और न गति को सम्पन्न कर सकता है सिवाय इसके कि वह इस वैश्व आनन्द को अपनी पकड़ में ले ले जो एक ही साथ, स्वयं अपनी तथा मौलिक सत्ता का गुप्त पूर्ण आनन्द है, वह सबको घेरे हुए, अनुप्राणित करनेवाले, सबको सहारा देनेवाले परात्पर, अन्तर्यामी सच्चिदानन्द का आनन्द है। अतः आनन्द को पाना ही आधारभूत आवेग और जीवन का अभिप्राय है; उसे खोजना, अधिकार में करना और परिपूर्ण करना ही उसका पूरा-पूरा उद्देश्य है।

लेकिन हमारे अन्दर यह आनन्द का तत्त्व है कहां? जैसे चित्-शक्ति का तत्त्व अपनी वैश्व भूमिका के लिये प्राण को अभिव्यक्त करता एवं उपयोग में लाता और अतिमानस तत्त्व मन को अभिव्यक्त करता एवं व्यवहार में लाता है उसी तरह यह आनन्द हमारी सत्ता की किस भूमिका में से होकर वैश्व क्रिया में अपने-आपको अभिव्यक्त करता और परिपूर्ण करता है? हमने विश्व के रचयिता दिव्य पुरुष के एक चतुर्विध तत्त्व को श्रेणीबद्ध किया है—सत्, चित्-शक्ति, आनन्द और अतिमानस। हमने देखा है कि अतिमानस भौतिक विश्व में सर्वव्यापक परंतु पर्दे के पीछे है। वह वस्तुओं के वास्तविक दृश्य के पीछे रहता और वहां अपने-आपको गुह्य रूप से प्रकट करता है लेकिन अपना कार्य-संपादन करने के लिये अपनी गौण

भूमिका मन का ही उपयोग करता है। दिव्य चित्-शक्ति भौतिक विश्व में सर्वव्यापक है लेकिन है पर्दे के पीछे। वह वस्तुओं के वास्तविक दृश्य के पीछे गुप्त रूप से काम करती और अपने-आपको विशिष्ट रूप से अपने गौण तत्त्व, प्राण के द्वारा प्रकट करती है और यद्यपि हमने अभी तक जड़तत्त्व की अलग से परीक्षा नहीं की है फिर भी हम देख सकते हैं कि दिव्य सर्व सत्ता भी भौतिक विश्व में सर्व-व्यापक है लेकिन है पर्दे के पीछे, वस्तुओं के वास्तविक दृश्य के पीछे छिपी हुई और आरंभ में अपने-आपको गौण भूमिका 'भौतिक द्रव्य' द्वारा अभिव्यक्त करती है। ठीक उसी भांति दिव्य आनंद का तत्त्व भी विश्व में सर्वव्यापक होगा, निश्चय ही वह पर्दे के पीछे होगा और चीजों के वास्तविक दृश्य के पीछे अपने-आप पर अधिकार किये होगा किंतु फिर भी हमारे अंदर अपने ही किसी ऐसे गौणतत्त्व के द्वारा अभिव्यक्त होगा जिसमें वह छिपा हुआ है और जिसके द्वारा उसे पाना होगा और विश्व के कार्य में सिद्ध करना होगा।

वह तत्त्व हमारे अंदर कोई ऐसी चीज है जिसे हम कभी-कभी विशेष अर्थ में अंतरात्मा यानी चैत्य तत्त्व कहते हैं जो प्राण या मन नहीं है और शरीर तो बिलकुल ही नहीं। वह इन सबके सार को उनके विशेष आत्मानंद की ओर, ज्योति की ओर, प्रेम, हर्ष और सौंदर्य की ओर और सत्ता की एक परिमार्जित शुद्धता की ओर खोलने और प्रस्फुटित करने के लिये अपने अंदर धारण किये रहता है। फिर भी, वस्तुतः हमारे अन्दर दोहरी अंतरात्मा या चैत्य पुरुष है, उसी तरह जैसे हमारे अंदर अन्य प्रत्येक वैश्व तत्त्व भी दोहरा होता है। क्योंकि हमारे अंदर दो मन होते हैं, एक तो अभिव्यक्त विकसनशील अहंकार का सतही मन, भौतिक तत्त्व में से बाहर निकलते हुए हमारी अपनी बनायी हुई सतही मानसिकता और दूसरा एक अन्तस्तलीय मन जो हमारे वास्तविक मानसिक जीवन से और उसकी कठोर सीमाओं से अवरुद्ध नहीं होता। यह बृहत्, शक्तिशाली और प्रकाशमान चीज है, वह, हम मानसिक व्यक्तित्व के जिस बाहरी रूप को अपना रूप समझने की भूल करते हैं, उसके पीछे रहनेवाला सच्चा मनोमय पुरुष है। इसी तरह हमारे दो प्राण हैं एक बाहरी जो भौतिक शरीर में अन्तर्लीन है, अपने भूतपूर्व विकास के द्वारा भौतिक के साथ बंधा है, जो जीता है, पैदा हुआ था और मर जायेगा, दूसरा है प्राण की अन्तस्तलीय शक्ति जो हमारे भौतिक जन्म-मरण की तंग सीमाओं में बंधी नहीं है बल्कि वह जीने के जिस रूप को हम अज्ञानवश सच्चा जीवन मानते हैं उसके पीछे रहनेवाला सच्चा प्राण-पुरुष है। हमारी भौतिक सत्ता के बारे में भी यही दोहरापन है क्योंकि हमारे शरीर के पीछे एक सूक्ष्मतर भौतिक अस्तित्व है जो केवल हमारे भौतिक ही नहीं बल्कि प्राणमय और मनोमय कोषों को भी उपादान द्रव्य प्रदान करता है, अतः यही हमारा यथार्थ उपादान द्रव्य है, वही इस भौतिक रूप को सहारा देता है जिसे हम भूल से अपनी आत्मा का संपूर्ण शरीर मान बैठते हैं।

इसी तरह हमारे अंदर दोहरी चैत्य सत्ता है। एक तो सतही कामना-पुरुष जो हमारी प्राणिक लालसाओं, हमारे भावावेगों, रसवृत्ति में और बल, ज्ञान तथा सुख के लिये मन में जो चाह है उसमें क्रिया करता है और एक अन्तस्तलीय चैत्य सत्ता है, प्रकाश, प्रेम और हर्ष की शुद्ध शक्ति है जो सत्ता का परिमार्जित सारतत्त्व है, यह चैत्य अस्तित्व के बाहरी रूप के पीछे रहनेवाला हमारा सच्चा पुरुष है लेकिन साधारणतः उस बाहरी रूप को ही सच्चे पुरुष के नाम से सम्मानित किया जाता है। इस ज्यादा विशाल और ज्यादा शुद्ध चैत्य सत्ता का कोई प्रतिबिंब जब सतह पर आ जाता है तभी हम किसी मनुष्य के बारे में कहते हैं कि उसमें आत्मा है और जब यह प्रतिबिंब बाहरी चैत्य जीवन में अनुपस्थित रहता है तो हम कहते हैं कि उसमें आत्मा नहीं है।

हमारी सत्ता के बाहरी रूप हमारे छोटे-से अहंकारमय जीवन के रूप हैं जब कि अन्तस्तलीय हमारे अधिक बड़े और सच्चे व्यक्तित्व के रूपायन हैं। अतः यही हमारी सत्ता का वह गुप्त भाग है जिसमें हमारा व्यक्तित्व हमारे वैश्व भाव के नजदीक रहता है, उसका स्पर्श करता, उसके साथ हमेशा संबंध रखता और आदान-प्रदान करता रहता है। अन्तस्तलीय मन हमारे अंदर वैश्व मन के वैश्व ज्ञान की ओर खुला रहता है, हमारे अंदर अन्तस्तलीय प्राण वैश्व प्राण की वैश्व शक्ति की ओर और अन्तस्तलीय भौतिक वैश्व भौतिक पदार्थ के वैश्व शक्ति-रूपायन की ओर खुला रहता है। जो मोटी दीवारें इन चीजों से हमारे सतही मन, प्राण और शरीर को अलग करती हैं और प्रकृति जिन्हें इतनी मुश्किल से भेदती है—और वह भी इतने अधूरे रूप से इतने कौशल के साथ, फिर भी भद्दे भौतिक उपायों से करती है—ये दीवारें वहां अन्तस्तलीय सत्ता में एक ही साथ विभाजन और संचारण की सूक्ष्म साधन हैं। इसी भांति हमारे अंदर अन्तस्तलीय अन्तरात्मा वैश्व आनन्द की ओर खुली रहती है जिसे वैश्व अंतरात्मा अपने अस्तित्व और उन बहुत सारी अंतरात्माओं के अस्तित्व में, जो उसका प्रतिरूप है, पाती है और मन, प्राण और जड़ की जिन क्रियाओं के द्वारा प्रकृति उनके खेल और विकास का साधन हो जाती है, उन क्रियाओं में पाती है लेकिन बाहरी सतह की अंतरात्मा इस वैश्व आनन्द की ओर से बड़ी मोटी अहंकारमय दीवारों से बंद रहती है। निःसंदेह इन दीवारों में प्रवेश पाने के द्वार हैं लेकिन उनमें से होकर प्रवेश करने में दिव्य वैश्व आनन्द के स्पर्श क्षीण और विकृत हो जाते हैं या उन्हें स्वयं अपने विरोधी तत्त्वों के मुखौटे पहनकर आना पड़ता है।

मतलब यह निकला कि इस सतही या कामना पुरुष में कोई आंतरात्मिक जीवन नहीं है बल्कि एक चैत्य विकृति है और चीजों के स्पर्श को गलत रूप में ग्रहण किया जाता है। जगत् का रोग यह है कि व्यक्ति अपनी सच्ची अंतरात्मा को नहीं पा सकता और इस रोग का मूल कारण यह है कि व्यक्ति जिस जगत् में रहता है

उस जगत् की यथार्थ अंतरात्मा उसे बाहरी चीजों के आलिंगन में नहीं मिल पाती। वह वहां सत्ता के सार को, शक्ति के सार को, सचेतन सत्ता और आनन्द के सार को पाने का प्रयत्न तो करता है परंतु इनके स्थान पर उसे विरोधी स्पर्शों और संस्कारों की भीड़ मिलती है। अगर उसे वह सार मिल जाये तो वह स्पर्शों और संस्कारों की इस भीड़ में भी उस एकमेव विश्वव्यापी सत्ता, शक्ति, सचेतन जीवन और आनंद को पा लेगा। ऊपर से दीखनेवाली जो विपरीतताएं हैं वे भी इन संपर्कों के द्वारा हमतक पहुंचनेवाले सत्य के एकत्व और सामंजस्य में संगति पा लेंगी। साथ-ही-साथ वह अपनी सच्ची अंतरात्मा और उसके द्वारा अपनी आत्मा को पा लेगा क्योंकि सच्ची अंतरात्मा उसके स्व की प्रतिनिधि है और उसके स्व और जगत् की आत्मा एक है। लेकिन वह ऐसा नहीं कर पाता क्योंकि उसके विचारशील मन में, भावुक हृदय में, वस्तुओं के स्पर्श को उत्तर देनेवाली इन्द्रियों में अहंकारमय अज्ञान निवास करता है। वह जगत् की वस्तुओं के प्रति अनुक्रिया करने में जगत् का साहस और पूरी हार्दिकता से आलिंगन नहीं करता बल्कि इसके अनुसार कि वह स्पर्श सुखकर है या असुखकर, आराम देता है या भय, संतोषजनक है या असंतोषजनक, वह आगे बढ़ने का, पीछे सिकुड़ने का, सावधानी के साथ नजदीक आने या उत्सुकता के साथ तेजी से आगे बढ़ने का, विषाद या असंतोष या भय या क्रोध से पीछे हटने का बदलता हुआ क्रम चलाता रहता है। यह कामना-पुरुष ही है जो जीवन को गलत रूप से ग्रहण करने के कारण रस की, वस्तुओं में विद्यमान आनन्द की तिहरी विकृति का कारण बन जाता है जिससे वह रस सत्ता के शुद्ध स्वरूपवाले आनन्द को मूर्त रूप देने की जगह असमानता के साथ सुख, कष्ट और उदासीनता की तीन स्थितियों में प्रकट होता है।

जब हम जगत् के साथ संबंध की दृष्टि से अस्तित्व के आनंद पर विचार कर रहे थे तब हमने देखा था कि हमारे सुख-दुःख और उदासीनता के मानकों में कोई निरपेक्षता या अनिवार्य तर्कसंगति नहीं है। उनका निर्धारण पूरी तरह ग्रहण करनेवाली चेतना की आन्तरिक भावना करती है और यह कि सुख-दुःख दोनों की मात्रा को अधिक-से-अधिक ऊंचाईतक उठाया जा सकता है या कम-से-कम मात्रातक घटाया जा सकता है या उन्हें उनकी प्रत्यक्ष प्रकृति में पूरी तरह मिटाया तक भी जा सकता है। सुख दुःख हो सकता है और दुःख सुख हो सकता है क्योंकि अपनी गुप्त वास्तविकता में वे एक ही चीज हैं जिसे संवेदनों और भावावेगों में अलग-अलग तरह से प्रस्तुत किया जाता है। उदासीनता या तो बाहरी तल के कामना-पुरुष का अपने मन, संवेदन, भावावेग और लालसाओं में वस्तुओं के रस के प्रति उपेक्षा या उसे ग्रहण करने में या उत्तर देने में असमर्थता या कोई भी सतही उत्तर देने से इंकार है या फिर इच्छा-शक्ति द्वारा सुख या दुःख को निकाल भगाना और उन्हें कुचल कर अस्वीकृति की उदासीनता के रंग में रंग देना है। इन सभी

अवस्थाओं में होता यह है कि या तो किसी ऐसी चीज का, जो अभीतक अन्तस्तलीय रूप में सक्रिय है, सतह पर अनूदित करने या किसी भी भावात्मक रूप में प्रकट करने से एक निश्चयात्मक नकार होता है या नकारात्मक अनिच्छा या असमर्थता होती है।

जैसे अब हम मनोवैज्ञानिक निरीक्षण और परीक्षण से यह जानते हैं कि अन्तस्तलीय मन वस्तुओं के उन सब स्पर्शों को ग्रहण करता और याद रखता है जिनकी सतही मन अवहेलना करता है, उसी तरह हम देखेंगे कि अन्तस्तलीय अंतरात्मा उन वस्तुओं की अनुभूति के रस को उत्तर देती है जिसे सतही कामना-पुरुष अरुचि और इंकार द्वारा अस्वीकार करता है या जिसकी तटस्थ अस्वीकृति द्वारा अवहेलना करता है। आत्मज्ञान तबतक असंभव है जबतक हम अपने सतही जीवन के पीछे नहीं जाते क्योंकि यह सतही जीवन तो केवल कुछ चुने हुए बाहरी अनुभवों का परिणाम मात्र, एक अपूर्ण ध्वनि-पट्ट या हम जो बहुत कुछ हैं उसमें से कुछ हिस्से का जल्दबाजी में किया गया अयोग्य और खंडित अनुवाद है। तो आत्मज्ञान तबतक असंभव है जबतक हम इसके पीछे न जायें और अवचेतन मन में साहुल को नीचे न उतारें और अपने-आपको अतिचेतन की ओर न खोलें ताकि अपनी बाहरी सतह के जीव के साथ उनके संबंध को जान सकें; क्योंकि हमारा जीवन इन तीन चीजों के बीच घूमता रहता है और उन्हीं में अपनी समग्रता पाता है। हमारे अंदर का अतिचेतन जगत् की आत्मा और अंतरात्मा के साथ एक होता है और वह किसी प्रतीयमान विविधता से शासित नहीं होता। अतः वह चीजों के सत्य और चीजों के आनंद को उनकी परिपूर्णता में अपने अधिकार में रखता है। जिसे अवचेतन[1] कहा जाता है और जिसके प्रकाशमान मस्तक को हम अन्तस्तलीय चेतना कहते हैं वह, इसके विपरीत, अनुभव का एक उपकरण है, सच्चा स्वामी नहीं। वह व्यावहारिक रूप से जगत् की आत्मा और अंतरात्मा के साथ एक नहीं होता बल्कि अपने वैश्व अनुभव के द्वारा उसकी ओर खुला रहता है। अन्तस्तलीय अंतरात्मा भीतर से वस्तुओं के रस से अवगत होती है और सब प्रकार के संपर्कों में समान रूप से आनंद लेती है। साथ ही वह सतही कामना-पुरुष के मूल्यों और मानकों के बारे में भी सचेतन होती है और स्वयं अपनी सतह पर सुख-दुःख और उदासीनता के अनुरूप स्पर्शों को ग्रहण करती है किंतु सबमें समान आनंद लेती है। दूसरे शब्दों में हमारे भीतर की वास्तविक अंतरात्मा सभी अनुभूतियों में आनंद लेती है, उनसे बल, सुख और ज्ञान जुटाती है और उनके द्वारा अपने भंडार और

[1] वास्तविक अवचेतन एक नीचे की घटी हुई चेतना है जो निश्चेतना के नजदीक है। अन्तस्तलीय हमारे सतही जीवन से अधिक बड़ी चेतना है। लेकिन दोनों ही हमारी सत्ता के भीतरी प्रदेश की चीजें हैं। हमारे बाहरी तल को उनकी अभिज्ञता नहीं रहती अतः हमारी सामान्य धारणा और बातचीत, दोनों में गड़बड़ हो जाती है।

अपनी प्रचुरता को बढ़ाती है। हमारे अंदर की यही वास्तविक अंतरात्मा जुगुप्साशील कामना-मन को बाधित करती है कि वह, उसे जो कुछ दुःखदायक लगता है उसे भी सहे बल्कि उसमें सुख पाये और जो सुखद लगता है उसे त्याग दे, अपने मूल्यों में हेर-फेर करे या उन्हें उलट दे, चीजों में समता का बोध प्राप्त करे—चाहे वह उदासीनता में हो या आनंद में, सत्ता के वैविध्य के आनंद में। और वह यह इसलिये करती है क्योंकि वैश्व पुरुष उसे इस बात के लिये बाधित करता है कि वह सब तरह के अनुभव से अपना विकास करे ताकि वह प्रकृति में बढ़ सके। अन्यथा, अगर हम केवल सतही कामना-पुरुष में रहते तो वनस्पति या पत्थर से अधिक प्रगति या परिवर्तन न कर पाते जिनमें कि प्राण अपने बाहरी तल में सचेतन नहीं होता अतः जिनकी अचलता या अस्तित्व के बंधे क्रम में चीजों की गुप्त अंतरात्मा को ऐसा कोई साधन नहीं मिलता जिसके द्वारा वह प्राण का, उसकी जन्म से चली आ रही, स्थिर, निश्चित और संकुचित सीमा से उद्धार कर सके। कामना-पुरुष को अपने आप पर छोड़ दिया जाये तो वह हमेशा उन्हीं खांचों पर चक्कर लगाता रहेगा।

पुराने दर्शन-शास्त्रों की दृष्टि से दुःख और सुख, बौद्धिक सत्य और मिथ्या, बल और असमर्थता जन्म और मरण की तरह ऐसे जुड़े हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। अतः उनसे बचने का एकमात्र संभव उपाय है संपूर्ण उदासीनता। विश्व-सत्ता की उत्तेजनाओं के प्रति भावशून्य प्रतिक्रिया। लेकिन एक सूक्ष्मतर मनोवैज्ञानिक ज्ञान हमें बतलाता है कि यह दृष्टि जो केवल जीवन के सतही तथ्यों पर आधारित है, वह समस्या की सभी संभावनाओं को समाप्त नहीं कर देती। यह संभव है कि हम सच्ची अंतरात्मा को सतह पर लाकर सुख-दुःख के अहंकारात्मक मानकों के स्थान पर एक सम, सर्वालिंगनकारी, वैयक्तिक-निर्वैयक्तिक आनंद को स्थापित कर दें। प्रकृतिप्रेमी यही करता है जब वह प्रकृति की सभी चीजों में सब जगह आनंद लेता है, अपने अंदर विकर्षण और भय या केवल पसंद-नापसंद को घुसने नहीं देता। वह उसमें भी सुंदरता को देखता है जो औरों को तुच्छ, महत्त्वहीन, नग्न और जंगली, भयंकर और वीभत्स लगता है। जिस तरह साधारण मानव विश्व-लीला के रस को पाने की कोशिश किसी चीज से मुंह मोड़कर और किसी सुखदायक अनुभूति की ओर आकर्षित होकर करता है उसी तरह कलाकार और कवि भी सौंदर्यग्राही भाव या भौतिक रेखा या सौंदर्य के मानसिक रूप से या आंतरिक अर्थ और शक्ति से वैश्व लीला के रस को पाने की कोशिश करते हैं। ज्ञान का जिज्ञासु, भगवान् का प्रेमी, जो अपने प्रेम पात्र को हर जगह पाता है, आध्यात्मिक पुरुष, बौद्धिक, इन्द्रियों में आसक्त, सौंदर्य रसिक—ये सब अपने-अपने तरीके से यही करते हैं। और अगर उन्हें उस ज्ञान, सौंदर्य, आनंद या दिव्यत्व को व्यापक रूप से पाना है तो उन्हें यही करना होगा। केवल उन भागों में जहां छोटा-

सा अहंकार हमारे लिये बहुत प्रबल होता है, केवल हमारे भावात्मक या भौतिक हर्ष और शोक, हमारे जीवन के सुख-दुःख ही ऐसे हैं जिनके आगे हमारा कामना-पुरुष बहुत अधिक दुर्बल और भीरु होता है, वहां दिव्य सिद्धांत को लगाना अत्यधिक कठिन हो जाता है और कइयों को असंभव बल्कि वीभत्स और घिनौना प्रतीत होता है। यहां अहंकार का अज्ञान निर्वैयक्तिकता के सिद्धांत को लगाने से हिचकिचाता है जब कि वह उसे भौतिक विज्ञान, कला और एक तरह के अपूर्ण आध्यात्मिक जीवन में भी बहुत अधिक कठिनाई के बिना प्रयोग में लाता है क्योंकि वहां निर्वैयक्तिकता का नियम न तो उन कामनाओं पर आक्रमण करता है जिन्हें सतही पुरुष संजोये रखता है, न कामना के उन मूल्यों पर जिन्हें सतही मन निर्धारित करता है, जिनमें हमारा बाहरी जीवन अत्यधिक सक्रिय रूप से रुचि रखता है। अधिक स्वतंत्र और ऊंची गतिविधियों में चेतना और क्रिया के क्षेत्र-विशेष के अनुरूप हमसे केवल सीमित और विशिष्ट समता की और निर्वैयक्तिकता की मांग की जाती है जब कि हमारे व्यावहारिक जीवन का अहंकारमय आधार हमारे लिये बचा रहता है। निचली गतियों में हमारे जीवन की सारी नींव को ही बदलना पड़ता है ताकि निर्वैयक्तिकता के लिये जगह बनायी जा सके, और यह कामना-पुरुष को असंभव लगता है।

हमारे अंदर सच्ची अंतरात्मा छिपी हुई है, इसे हमने अंतस्तलीय कहा है, यह शब्द भ्रामक है क्योंकि यह सक्रिय मन की देहली के नीचे नहीं है बल्कि यह अज्ञानी मन, प्राण, शरीर के मोटे पर्दे के पीछे अंतरतम हृदय के मंदिर में प्रज्वलित रहती है। वह अन्तस्तलीय नहीं बल्कि पर्दे के पीछे है। यह पर्दे के पीछे रहनेवाली चैत्य सत्ता हमारे अंदर ईश्वर की सदा जलती रहनेवाली लौ है। हमारे अंदर के किसी भी आध्यात्मिक पुरुष के प्रति रहनेवाली वह घनी अचेतना भी, जो हमारी बाहरी प्रकृति को अंधेरा बना देती है, इस लौ को नहीं बुझा सकती। यह भगवान् से उत्पन्न लौ है और अज्ञान के अन्दर निवास करनेवाली ज्योतिर्मय वस्तु है जो उसमें तबतक बढ़ती रहती है जबतक वह उसे ज्ञान की ओर न मोड़ दे, वह छिपी हुई साक्षी और नियंता है, छिपी पथप्रदर्शिका है, सुकरात की डीमन[1]; रहस्यवादी की आंतरिक ज्योति या आंतरिक ध्वनि है; यह वह है जो हमारे अंदर जन्म-जन्मांतर में बनी रहती और अविनश्वर है। मृत्यु, क्षय या विकार उसे छू नहीं सकते। यह भगवान् का ऐसा स्फुलिंग है जिसे नष्ट नहीं किया जा सकता। यह अजन्मी आत्मा नहीं है क्योंकि आत्मा व्यक्ति के जीवन की अध्यक्षता करते हुए भी सदा अपने वैश्व भाव और परात्परता से अभिज्ञ रहती है, फिर भी वह प्रकृति के रूपों में उसकी प्रतिनिधि है, वह व्यष्टिगत चैत्य पुरुष या अंतरात्मा है जो मन, प्राण और शरीर को

[1] सुकरात के अनुसार एक संरक्षक देवदूत जो देवता और मनुष्य के बीच बिचौले का काम करता है।—अनु०

धारण किये रहती है और हमारी मानसिक, प्राणिक और सूक्ष्म शारीरिक सत्ता के पीछे खड़ी रहती है और उनके विकास तथा अनुभव पर नजर रखती और उनसे लाभ उठाती है। मनुष्य में ये जो अन्य पुरुष-शक्तियां हैं, उसकी सत्ता की सत्ताएं हैं, उनका सच्चा स्वरूप भी पर्दे के पीछे रहता है लेकिन वे उन अस्थायी व्यक्तित्वों को प्रक्षिप्त करती हैं जिनसे हमारा बाहरी व्यक्तित्व बनता है और जिनकी मिली-जुली बाहरी क्रिया को और जिनकी स्थिति के रूप के आभास को हम अपना स्वरूप कहते हैं। यह अंतरतम सत्ता भी हमारे अंदर चैत्य पुरुष का रूप लेती हुई एक चैत्य व्यक्तित्व को सामने लाती है जो एक के बाद एक जीवन में बदलता, बढ़ता, विकसित होता है क्योंकि यही जन्म और मरण और मरण तथा जन्म के बीच का यात्री है, हमारी प्रकृति के अंग उसके बहुविध और बदलते हुए वस्त्र हैं। पहले-पहले चैत्य पुरुष मन, प्राण और शरीर के द्वारा, छिपी हुई, आंशिक और परोक्ष क्रिया ही कर सकता है क्योंकि उसकी आत्म-अभिव्यक्ति के साधन के रूप में प्रकृति के इन अंगों को विकसित करना होता है और वह उनका विकास होने तक लम्बे समय के लिये रुकने को विवश होता है। अज्ञान में पड़े मनुष्य को दिव्य चेतना के प्रकाश की ओर ले जाना उसका लक्ष्य है, वह अज्ञान में होनेवाले सभी अनुभवों का सारतत्त्व प्रकृति में जीव की वृद्धि का केन्द्र बनाने के लिये ले लेता है और बाकी को वह उपकरणों की भावी वृद्धि की सामग्री के रूप में लेता है जिनका उपयोग उसे तबतक करना होता है जबतक वे भगवान् के प्रकाशमय उपकरण बनने के लिये तैयार न हो जायें। यह गुप्त चैत्य सत्ता ही है जो हमारे अंदर सच्चा और मूल अंतःकरण है और यह नैतिकतावादी के निर्मित और रूढ़िगत अंतःकरण से ज्यादा गहरा है क्योंकि यही हमेशा सत्य, ऋत और सौंदर्य की ओर, प्रेम और सामंजस्य और हमारे अंदर जो भी दिव्य संभावना है उसकी ओर संकेत करता है और तबतक डटा रहता है जबतक ये चीजें हमारी प्रकृति की प्रधान आवश्यकताएं न बन जायें। हमारे अंदर यह चैत्य व्यक्तित्व ही है जो संत, मनीषी और द्रष्टा के रूप में खिलता है और जब वह अपनी पूरी सामर्थ्य पा लेता है तो सत्ता को आत्मा और भगवान् के ज्ञान की ओर, परम सत्य और परम शुभ की ओर, परम सौंदर्य, प्रेम और आनंद की ओर, दिव्य शिखरों और विस्तार की ओर मोड़ता है और हमें आध्यात्मिक सहानुभूति, सार्वभौमिकता और एकत्व के स्पर्शों की ओर खोलता है। इसके विपरीत जहां चैत्य व्यक्तित्व कमजोर हो, असंस्कृत या बुरी तरह से विकसित हो वहां भले मन प्रबल और तेजस्वी हो, प्राणिक भावोंवाला हृदय दृढ़, सबल और प्रभुतापूर्ण हो, प्राण-शक्ति दबंग और सफल हो, शारीरिक सत्ता समृद्ध, भाग्यवान् और देखने में स्वामी और विजयी हो फिर भी श्रेष्ठतर अंगों और वृत्तियों का अभाव रहता है या उनमें चरित्र और शक्ति की दरिद्रता रहती है। उस समय बाहरी कामना-पुरुष, नकली चैत्य सत्ता राज करती है और हम उसके

चैत्य संकेतों और अभीप्सा के मिथ्या अर्थ को, उसके भावों और आदर्शों को, उसकी कामनाओं और लालसाओं को सच्चे आध्यात्मिक तत्त्व और आध्यात्मिक अनुभूति की संपदा मान लेने की भूल कर बैठते हैं[1]। अगर गुप्त चैत्य पुरुष सामने आ सके और कामना-पुरुष का स्थान ले सके और आंशिक रूप में और परदे के पीछे से नहीं बल्कि पूरी तरह खुल कर मन, प्राण और शरीर की बाहरी प्रकृति पर शासन करने लगे तभी इन्हें जो सत्य, ऋत और सुंदर है उसकी आंतरात्मिक प्रतिमाओं के रूप में ढाला जा सकता है और अंत में सारी प्रकृति को जीवन के सच्चे लक्ष्य की ओर, परम विजय की ओर, आध्यात्मिक जीवन में आरोहण की ओर मोड़ा जा सकता है।

लेकिन ऐसा लग सकता है कि इस चैत्य सत्ता को, अपने अंदर की इस सच्ची अंतरात्मा को सामने लाकर और वहां से उसे नेतृत्व और शासन सौंपने से हम अपनी स्वाभाविक सत्ता की उस सारी परिपूर्ति को पा लेंगे जिसकी हमें खोज है और साथ ही आत्मा के राज्य के द्वार भी खोल सकेंगे। और यह तर्क भी भली-भांति दिया जा सकता है कि भागवत स्थिति या भागवत पूर्णता पाने में सहायता के लिये किसी श्रेष्ठतर सत्य चेतना या अतिमानसिक तत्त्व के हस्तक्षेप की जरूरत नहीं है। यद्यपि चैत्य रूपांतर हमारी सत्ता के पूर्ण रूपांतर की एक आवश्यक शर्त है फिर भी विशालतम आध्यात्मिक परिवर्तन के लिये जो कुछ जरूरी है, चैत्य रूपांतर ही वह सब कुछ नहीं है। प्रथमतः, चूंकि यह प्रकृति में व्यष्टिगत अंतरात्मा है अतः वह हमारी सत्ता के छिपे हुए अधिक दिव्य क्षेत्रों की ओर खुल सकता है और वहां के प्रकाश, शक्ति और अनुभव को पा सकता और प्रतिबिंबित कर सकता है। लेकिन इसके अतिरिक्त एक दूसरा, ऊपर से आनेवाला आध्यात्मिक रूपांतर भी हमारे लिये जरूरी है ताकि हम अपनी आत्मा के वैश्व और परात्पर भाव को भी अपने अधिकार में कर सकें। अपने-आपमें चैत्य पुरुष किसी विशेष स्थिति में पहुंचकर सत्य, शुभ और सुंदर के रूपायन की सृष्टि से संतुष्ट हो सकता है और उसे अपना पड़ाव बना सकता है। इससे आगे की किसी और स्थिति में हो सकता है कि वह निष्क्रिय रूप से वैश्वात्मा के आधीन हो जाये, वैश्व सत्ता, चेतना, शक्ति,

[1] साधारणतः (अंग्रेजी में) बोल-चाल में साइकिक (चैत्य) शब्द का प्रयोग सच्चे चैत्य की जगह इसी के लिये अधिक होता है। इसका व्यवहार असामान्य या अतिसामान्य चरित्र के अंतःकरणिक और अन्य व्यापारों के लिये और भी अधिक शिथिलता के साथ होता है। यथार्थ में उनका संबंध आंतरिक मन, आंतरिक प्राण और सूक्ष्म भौतिक शरीर से होता है जो हमारे अंदर अन्तस्तलीय हैं, ये चैत्य की सीधी क्रियाएं हर्गिज नहीं हैं, भौतिकीकरण और अभौतिकीकरण जैसे व्यापारों को भी इसमें गिन लिया जाता है, यद्यपि यदि उनकी प्रामाणिकता सिद्ध हो भी जाये तो भी वे स्पष्टतः अंतरात्मा की क्रियाएं नहीं हैं और चैत्य पुरुष के स्वभाव या सत्ता पर कोई प्रकाश नहीं डाल पायेंगे। वे शायद एक गुह्य, सूक्ष्म भौतिक ऊर्जा की असामान्य क्रियाएं हों जो वस्तुओं के स्थूल शरीरवाली सामान्य स्थिति में हस्तक्षेप करती होंगी, उसे क्षीण करके अपनी सूक्ष्म अवस्था में ले जाती होंगी और स्थूल जड़ के रूपों में पुनर्निर्मित कर देती होंगी।

आनंद का दर्पण बन जाये परंतु उनका पूरा साझीदार या स्वामी नहीं। हो सकता है कि वह वैश्व चेतना के साथ ज्ञान, भाव, यहांतक कि इन्द्रियों द्वारा अनुभव में भी अधिक घनिष्ठता और पुलक के साथ एक हो जाये फिर भी संभवतः वह जगत् में क्रिया और प्रभुत्व से दूर रहे और शुद्ध रूप से ग्रहणकर्ता और निष्क्रिय ही बना रहे, या विश्व से पीछे निश्चल सत् के साथ एक हो जाये और भीतर से जगत्-गति से अलग ही रहे, अपने व्यक्तित्व को अपने उद्गम में खो दे। हो सकता है कि वह उस उद्गम की ओर लौट पड़े और उसमें उस चीज के लिये न तो और अधिक इच्छा रहे और न सामर्थ्य ही जो कि उसका यहां पर चरम लक्ष्य था यानी प्रकृति को दिव्य उपलब्धि की ओर ले जाना। क्योंकि चैत्य पुरुष प्रकृति में आत्मा से, भगवान् से आया है और वह प्रकृति से मुंह मोड़कर आत्मा की नीरवता और चरम आध्यात्मिक निश्चलता के द्वारा नीरव भगवान् की ओर जा सकता है। इसके अतिरिक्त, भगवान् का एक शाश्वत अंश[1] होने के नाते यह अंश अनंत के विधान के अनुसार भागवत पूर्ण सत्ता से अलग नहीं हो सकता। वस्तुतः यह अंश अपने-आपमें वह पूर्ण या समग्र है, अपवाद है बस सामने दीखनेवाला रूप, उसका सामने दीखनेवाला, पृथक्कारी आत्मानुभव। वह उस सद्वस्तु के प्रति जाग कर उसमें इस तरह डूब सकता है कि वैयक्तिक अस्तित्व उसमें लुप्त प्रतीत हो या कम-से-कम उसमें लीन हो जाये। वह हमारी अज्ञानभरी प्रकृति की राशि में इतना छोटा-सा केन्द्र है कि उपनिषद् ने उसे 'अंगुष्ठ मात्र' कहा है फिर भी आध्यात्मिक प्रवाह द्वारा वह अपने-आपको बड़ा बना कर और घनिष्ठ सायुज्य या एकत्व में हृदय और मन द्वारा सारे संसार को आलिंगन में भर सकता है। या फिर वह अपने चिर साथी के प्रति सचेतन हो सकता है और उन्हींके सान्निध्य में शाश्वत प्रेमी की भांति शाश्वत प्रियतम के साथ अनश्वर मिलन और एकत्व में चिरकालतक बने रहने का चुनाव कर सकता है। यह अनुभव सभी आध्यात्मिक अनुभवों की अपेक्षा अधिक तीव्र रूप से सुंदर और आनंदमय होता है। ये सब हमारी आध्यात्मिक आत्म-प्राप्ति की महान् और वैभवशाली उपलब्धियां हैं परंतु यह जरूरी नहीं है कि वे अंतिम सीमा और संपूर्ण उत्कर्ष हों, इनसे अधिक भी संभव है।

क्योंकि ये मनुष्य में आध्यात्मिक मन की उपलब्धियां हैं, ये उस मन की गतियां हैं जो अपने से परे, फिर भी अपने ही स्तर पर आत्मा के वैभवों में प्रवेश करता है। हमारी वर्तमान मानसिकता के बहुत परे अपनी ऊंचे-से-ऊंची स्थिति में भी मन अपने स्वभाव के अनुसार विभाजन द्वारा काम करता है। वह शाश्वत के अलग-अलग पहलुओं को लेता है और हर पहलू से इस तरह व्यवहार करता है मानों वही शाश्वत सत्ता का संपूर्ण सत्य हो और हर एक के अंदर अपनी निजी पूर्ण पूर्ति पा सकता हो। यहांतक कि वह उन्हें विरोधियों के रूप में खड़ा कर देता है और

[1] गीता १५.७

इन विरोधियों की एक पूरी शृंखला बना लेता है जैसे भगवान् की निश्चल नीरवता और भगवान् की क्रियाशीलता, विश्व-सत्ता से दूर निश्चल, निर्गुण ब्रह्म और विश्व सत्ता का स्वामी सगुण, सक्रिय ब्रह्म; सत्ता और संभूति, दिव्य पुरुष और निर्वैयक्तिक विशुद्ध सत्ता। तब वह किसी एक पहलू से अपने-आपको अलग कर सकता है और दूसरे को सत्ता का एकमात्र स्थायी सत्य मानकर उसमें निमग्न हो सकता है। वह व्यक्तिरूप को ही एकमात्र सद्वस्तु मान सकता है, या निर्वैयक्तिक को ही एकमात्र सत्य मान सकता है, वह प्रेमी को शाश्वत प्रेम की अभिव्यक्ति के साधन-रूप या प्रेम को प्रेमी की आत्माभिव्यक्ति के रूप में देख सकता है। वह सभी सत्ताओं को एक निर्वैयक्तिक सत्ता की व्यक्तिगत शक्तियों के रूप में या निर्वैयक्तिक सत्ता को एकमेव सत्ता की शाश्वत व्यक्ति की एक स्थिति के रूप में देख सकता है। उसकी आध्यात्मिक उपलब्धि, चरम लक्ष्य की ओर उसका यात्रा-पथ इन विभाजनकारी रेखाओं का अनुसरण करेगा, लेकिन आध्यात्मिक मन की इस क्रिया के परे अतिमानसिक ऋत-चित् की उच्चतर अनुभूति है जहां ये विरोधी गायब हो जाते हैं और ये आंशिकताएं सनातन पुरुष की चरम तथा सर्वांगीण उपलब्धि की समृद्ध पूर्णता में समा जाती हैं। यही वह लक्ष्य है जिसकी हमने कल्पना की है : अतिमानसिक ऋत-चित् की ओर हमारे आरोहण और हमारी प्रकृति में उसके अवतरण द्वारा यहां हमारे जीवन की निष्पत्ति। चैत्य रूपांतर का आध्यात्मिक परिवर्तन में उत्थान हो जाने के बाद उसे एक अतिमानसिक रूपांतर द्वारा सिद्ध और सर्वांगीण करना होगा, उसका अतिक्रमण करना और उसे ऊपर उठाना होगा। यह अतिमानसिक रूपांतर ही उसे आरोहण करनेवाले प्रयास के शिखरतक ले जायेगा।

जैसे अभिव्यक्त सत्ता की अन्य विभक्त और विरोधी अवस्थाओं में होता है उसी तरह हमारी सशरीर सत्ता की इन दो स्थितियों, आत्मिक स्थिति और जागतिक क्रियाशीलता के बीच, जिनमें केवल अज्ञान के कारण ही परस्पर विरोध प्रतीत होता है, अतिमानसिक चेतना-शक्ति ही पूर्ण सामंजस्य स्थापित कर सकती है। अज्ञान में प्रकृति अपनी मनोवैज्ञानिक गतिविधियों की शृंखला को गुप्त अध्यात्म सत्ता के चारों ओर नहीं बल्कि उसके स्थानापन्न अहं-तत्त्व के चारों ओर केन्द्रित करती है। एक विशेष अहं-केन्द्रितता वह आधार है जिससे हम जगत् के, जिसमें हम निवास करते हैं, जटिल संपर्कों, विरोधों, द्वित्तों, असंगतियों को गूंथते हैं। यह अहं-केन्द्रितता ही वैश्व और अनंत के आगे हमारी निरापदता की शिला, हमारी सुरक्षा है। लेकिन अपने आध्यात्मिक परिवर्तन के लिये हमें इस सुरक्षा को छोड़ना पड़ता है, अहंकार को गायब हो जाना पड़ता है, व्यक्तित्व अपने-आपको एक बृहत् निर्वैयक्तिकता में लीन होते हुए पाता है और पहले-पहल इस निर्वैयक्तिकता में कर्म की सुव्यवस्थित क्रियाशीलता की कोई चाबी नहीं मिलती। एक बहुत सामान्य परिणाम यह होता है

कि आदमी अपने अंदर दो भागों में बंट जाता है, भीतर आध्यात्मिक और बाहर प्राकृतिक। एक में दिव्य सिद्धि पूर्ण आन्तरिक स्वाधीनता में प्रतिष्ठित है किंतु प्राकृतिक अंग प्रकृति की पुरानी क्रिया चलाता रहता है, जिस आवेग को प्रकृति पहले संचारित कर चुकी है, उसे भूतकाल की ऊर्जाओं की यंत्रवत् क्रियाओं द्वारा जारी रखता है। अगर सीमित व्यक्ति और पुरानी अहं-केन्द्रित व्यवस्था का पूर्ण विलयन भी हो जाये तो हो सकता है कि बाहरी प्रकृति बाहर से दीखनेवाली असंगति का क्षेत्र बन जाये, चाहे भीतर सब कुछ आत्मा से प्रदीप्त हो। इस भांति हम बाहर से जड़ और निष्क्रिय, परिस्थितियों या शक्तियों के चलाये चलते हैं परंतु स्वयंचालित नहीं यानी जड़वत् हो जाते हैं यद्यपि अंदर की चेतना प्रकाशित रहती है, या फिर हम बालवत् हो जाते हैं यद्यपि अंतर में पूर्ण आत्मज्ञान बना रहता है या हम उन्मत्तवत् हो जाते हैं, विचार और आवेगों में कोई संगति नहीं रह जाती यद्यपि अंतर में पूरी स्थिरता और प्रशांति रहती है, या हम पिशाचवत् हो जाते हैं, निरंकुश और उपद्रवी प्राणी बन जाते हैं, फिर भी अंतर में आत्मा की पवित्रता और संतुलन बने रहते हैं। या अगर बाहरी प्रकृति में व्यवस्थित क्रियात्मकता बनी रहती है तो हो सकता है वह ऊपरी अहं-क्रिया का ही सतत प्रवाह हो जिसे आंतरिक पुरुष साक्षी भाव से देखता है किंतु स्वीकार नहीं करता या वह मन की क्रियात्मकता हो जो भीतरी आध्यात्मिक सिद्धि की पूर्ण अभिव्यंजना नहीं हो सकती क्योंकि मन की क्रिया और आत्मा की स्थिति के बीच बल की कोई समानता नहीं है। अच्छी-से-अच्छी अवस्था में भी जब भीतर से 'प्रकाश' का अंतर्भासात्मक पथ-प्रदर्शन मिलता है, कर्म की धारा में उस प्रकाश की अभिव्यक्ति का स्वरूप मन, प्राण और शरीर की अपूर्णताओं के चिह्न अवश्य लिये रहता है। वह मानों ऐसा राजा है जिसके मंत्री अयोग्य हों, ऐसा ज्ञान है जिसे अज्ञान के मूल्यों में व्यक्त किया गया हो। जिस अतिमानस में सत्य-ज्ञान और सत्यात्मिका इच्छा पूरी तरह एक है उसका अवतरण ही बाह्य जीवन में भी आत्मा का सामंजस्य उसी तरह स्थापित कर सकता है जैसा आंतरिक जीवन में, क्योंकि केवल वही अज्ञान के मूल्यों को पूरी तरह ज्ञान के मूल्यों में बदल सकता है।

हमारे मानसिक और प्राणिक अंगों की तरह हमारे चैत्य पुरुष की परिपूर्ति में भी उसे उसके दिव्य उत्स के साथ परम सद्वस्तु में उसके सदृश सत्य के साथ नाता जोड़ना अनिवार्य होता है। यहां भी जैसे कि वहां, यह काम केवल अतिमानस की शक्ति द्वारा ही समग्र पूर्णता के साथ, उस घनिष्ठता के साथ जो प्रामाणिक एकात्मता बन जाती है, संपादित किया जा सकता है क्योंकि अतिमानस ही एकमेव सत्ता के उच्चतर और निम्नतर गोलार्द्धों को जोड़ता है। अतिमानस में ही समन्वय करनेवाला प्रकाश, पूर्णतातक पहुंचानेवाली शक्ति, परम आनंदतक पहुंचानेवाला खुला द्वार है। उस ज्योति और शक्ति से ऊपर उठकर चैत्य पुरुष सत्ता के मूल

दिव्यानंद के साथ एक हो सकता है जिसमें से वह आया था। तब वह सुख और दुःख के द्वंद्वों को हटाकर मन, प्राण और शरीर को समस्त भय और जुगुप्सा से मुक्त करके संसार के जीवन के संपर्कों को दिव्य आनंद के तत्त्वों में फिर से ढाल सकता है।

अध्याय २४

जड़

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्।

वह इस ज्ञान पर पहुंचा कि जड़द्रव्य (अन्न) ब्रह्म है।

तैत्तिरीय उपनिषद् ३.२

अब हमें तर्कसंगत रूप से यह विश्वास हो गया है कि प्राण न तो कोई ऐसा सपना है जिसकी व्याख्या न की जा सके न कोई असंभव अशुभ है लेकिन जो फिर भी दुःखदायी तथ्य बन गया है बल्कि वह दिव्य सर्व-सत् का एक विराट् स्पंदन है। हम उसके आधार और उसके तत्त्व का कुछ अंश देख पाते हैं। हम ऊपर की ओर, उसकी उच्च शक्यता और चरम दिव्य प्रस्फुटन की ओर देखते हैं। लेकिन अन्य सभी तत्त्वों के नीचे एक तत्त्व है जिसपर हमने अभीतक पर्याप्त रूप में नहीं विचार किया है। वह है जड़-तत्त्व जिस पर प्राण ऐसे खड़ा है मानों वह उसका पादपीठ हो या जिसके अंदर से वह प्राण इस तरह विकसित होता है जैसे बहुत-सी शाखाओंवाले पेड़ का रूप कोष से आवृत बीज में से। मनुष्य का मन, प्राण और शरीर इस भौतिक तत्त्व पर निर्भर होते हैं और अगर प्राण का प्रस्फुटन मन की ओर बढ़ती हुई चेतना का, अतिमानसिक सत्ता की बृहत्ता के अंदर अपने स्वरूप-सत्य की खोज में अपना विस्तार और उन्नयन करती हुई चेतना का परिणाम है तो भी ऐसा लगता है कि वह शरीर के इस कोष पर और इस जड़ तत्त्व के आधार पर निर्भर है। शरीर का महत्त्व स्पष्ट है। चूंकि मनुष्य ने एक ऐसा शरीर और मस्तिष्क विकसित किया है या यूं कहें कि वे उसे दिये गये हैं जो एक प्रगतिशील मानसिक प्रकाश को ग्रहण करने और उसकी सेवा करने में समर्थ हैं इसीलिये मनुष्य पशु से ऊपर उठा है। इसी तरह, वह अपने-आपसे ऊपर केवल तभी उठ सकता है और पूर्णतः दिव्य मानवता को केवल अपने विचार और आंतरिक सत्ता में ही नहीं बल्कि जीवन में भी तभी पा सकता है जब वह ऐसे शरीर का, या कम-से-कम शारीरिक उपकरण की ऐसी क्रियाशीलता का विकास कर ले जो उच्चतर प्रकाश को ग्रहण करने और उसकी सेवा करने में समर्थ हो। अन्यथा या तो प्राण का वचन रद्द हो जायेगा, उसका अर्थ नष्ट हो जायेगा और पार्थिव जीव अपने-आपको नष्ट करके मन, प्राण और शरीर को त्याग कर और शुद्ध अनंत में लौटकर ही सच्चिदानंद को पा सकेगा या फिर मनुष्य दिव्य उपकरण ही नहीं है, उसे दूसरे पार्थिव जीवों से अलग करनेवाली जो सचेतन रूप से प्रगतिशील शक्ति है उसकी कोई सीमा निश्चित है और जैसे मनुष्य ने जगत् की दूसरी सत्ताओं को हटाकर आगे

का स्थान पा लिया, उसी तरह अंततः कोई और सत्ता मनुष्य को हटाकर उसकी गद्दी संभाल लेगी।

वस्तुतः ऐसा लगता है कि शुरू से ही शरीर अंतरात्मा की बड़ी कठिनाई है, सदा उसके मार्ग का रोड़ा और अड़ंगा रहा है, अतः आध्यात्मिक परिपूर्णता के उत्सुक जिज्ञासु ने सदा शरीर को धिक्कारा है और जगत् के प्रति उसकी घृणा ने जगत् के इस तत्त्व को और सभी चीजों से बढ़ कर अपनी घृणा का विशेष पात्र चुना है। शरीर वह अंधकारमय भार है जिसे वह सह नहीं सकता। उसकी हठीली भौतिक स्थूलता भूत बनकर उसे मुक्ति के लिये संन्यासी जीवन की ओर धकेलती है। शरीर से पिंड छुड़ाने के लिये वह यहांतक बढ़ चुका है कि उसने उसके अस्तित्व और भौतिक विश्व की वास्तविकता से भी इंकार किया है। अधिकतर धर्मों ने जड़ तत्त्व को अभिशाप माना है और उसके निषेध या सामयिक तौरपर भौतिक जीवन को उदासीनता के साथ सह लेने को धार्मिक सत्य या आध्यात्मिकता की कसौटी माना है। पुराने मत अधिक धीर, चिन्तन में अधिक गंभीर रहे हैं, जिन्हें कलियुग के भार तले आत्मा की पीड़ा और उत्तप्त अधीरता का स्पर्श प्राप्त नहीं था, उन्होंने यह भयंकर विभाजन नहीं किया था। उन्होंने धरती को माता और द्यु को पिता माना था। उन्होंने दोनों को समान प्रेम और सम्मान दिया था लेकिन उनके प्राचीन रहस्य हमारी दृष्टि के लिये अस्पष्ट और अगाध हैं क्योंकि हमारी दृष्टि चाहे जड़वादी हो या आध्यात्मिक, हम समान रूप से जीवन की समस्या की जटिल ग्रंथि को एक निर्णायक वार से काट डालने में संतुष्ट हो जाते हैं और एक शाश्वत आनंद में पलायन को या एक शाश्वत समाप्ति या एक शाश्वत शांति में अंत को स्वीकार करके संतुष्ट हो जाते हैं।

सचमुच यह विवाद हमारी अपनी आध्यात्मिक संभावनाओं की ओर जाग्रत् होने से नहीं शुरू होता। उसका आरंभ तो स्वयं प्राण के प्रकट होने और अपनी क्रियाशीलताओं को, सजीव रूप के समूहों को स्थापित करने के लिये संघर्ष से होता है। यह संघर्ष तामसिकता की शक्ति के विरुद्ध, निश्चेतना की शक्ति के विरुद्ध, परमाणुओं के विसंघटन की शक्ति के विरुद्ध होता है जो जड़ तत्त्व में उस महानिषेध की ग्रंथि है। प्राण जड़ के साथ हमेशा युद्ध करता है और ऐसा लगता है कि इस युद्ध का अंत हमेशा प्राण की प्रतीयमान पराजय में और जड़तत्त्व की ओर उस अधोमुखी पतन में होता है जिसे हम मृत्यु कहते हैं। मन के प्रकट होने के साथ यह विसंगति और भी बढ़ जाती है क्योंकि मन का प्राण और जड़ भौतिक दोनों के साथ अपना ही झगड़ा है। उसका उनके सीमाबंधनों से लगातार युद्ध रहता है। वह एक की स्थूलता और तामसिकता के और दूसरे के आवेशों और कष्टों के सतत शासन में रहता और उनके विरुद्ध विद्रोह करता रहता है और अंततः यह युद्ध यद्यपि बहुत निश्चित रूप से नहीं फिर भी मन की आंशिक और

मंहगी विजय की ओर मुड़ता प्रतीत होता है। इसमें मन विजय पाता, प्राणिक लालसाओं को दबाता बल्कि खतम भी कर डालता है; भौतिक शक्ति को क्षीण करता और ज्यादा महान् मानसिक क्रियाशीलता और उच्चतर नैतिक सत्ता के हित में शरीर के संतुलन को बिगाड़ भी देता है। इस संघर्ष में ही यह होता है कि प्राण की अधीरता, शरीर की घृणा और दोनों के प्रति जुगुप्सा से शुद्ध मानसिक और नैतिक जीवन की ये चीजें उठ खड़ी होती हैं। मनुष्य जब मन के परे के अस्तित्व की ओर जागता है तो विसंगति के इस तत्त्व को और भी परे ले जाता है। मन, शरीर और प्राण को जगत्, मांस और शैतान की त्रयी कह कर धिक्कारा जाता है। मन पर भी उसे हमारी सारी बीमारी का मूल कहकर प्रतिबंध लगाया जाता है, आत्मा और उसके उपकरणों के बीच युद्ध घोषित कर दिया जाता है। भीतर रहनेवाली आत्मा की विजय उसके अपने संकरे आवास से बच निकलने, मन, प्राण और शरीर को त्यागने और अपनी अनन्तताओं में वापिस चले जाने में मानी जाती है। जगत् एक विसंगति है और हम उसकी पेचीदगियों का सबसे अच्छा समाधान विसंगति के तत्त्व को उसकी चरम संभावनातक पहुंचाकर, जगत् को काटकर अलग करके अंतिम विच्छेद द्वारा ही पायेंगे।

लेकिन ये पराजयें और विजयें केवल दीखती ही हैं, यह समाधान सच्चा समाधान न होकर समस्या से पलायन है। सचमुच जड़ द्रव्य प्राण को हराता नहीं है, वह जीवन के सातत्य को बनाये रखने के लिये मृत्यु का उपयोग करके एक समझौता कर लेता है। मन सचमुच प्राण और जड़ तत्त्व पर विजयी नहीं होता। वह कुछ ऐसी शक्यताओं की बलि देकर, जो उसके प्राण और शरीर के ज्यादा अच्छे उपयोग की अनुपलब्ध या छोड़ी हुई संभावनाओं से बंधी रहती हैं, कुछ और शक्यताओं को अपूर्ण रूप से विकसित करता है। वैयक्तिक जीव ने निम्न त्रयी को जीता नहीं है केवल अपने ऊपर उनके दावे को अस्वीकार किया है और उस काम से मुंह मोड़ लिया है जिसे करने का व्रत आत्मा ने उस समय लिया था जब उसने पहली बार अपने-आपको विश्व के रूप में ढाला था। समस्या जारी है क्योंकि विश्व में भगवान् का परिश्रम जारी है लेकिन है समस्या के किसी संतोषजनक समाधान या परिश्रम की किसी विजयी पूर्ति के बिना। अतः, चूंकि हमारा अपना दृष्टिबिंदु यह है कि सच्चिदानंद ही आदि, मध्य और अंत है और विसंगति और संघर्ष भगवान् की सत्ता के शाश्वत और मौलिक तत्त्व नहीं हो सकते बल्कि उनके अस्तित्व मात्र में ही पूर्ण समाधान और एक पूर्ण विजय के लिये श्रम समाविष्ट है, अतः हमें उस समाधान की खोज जड़ पर प्राण की एक यथार्थ विजय में करनी होगी जिसमें प्राण के द्वारा शरीर का बाधा-रहित और पूर्ण उपयोग हो, प्राण और जड़पर मन की यथार्थ विजय में करनी होगी जिसमें मन द्वारा प्राण-शक्ति और शरीर दोनों का बाधा-रहित और पूर्ण उपयोग हो तथा मन, प्राण और शरीर पर आत्मा की एक

यथार्थ विजय पानी होगी जिसमें सचेतन आत्मा का इन तीनों पर मुक्त और पूर्ण अधिकार हो। हमने जो दृष्टि सम्पादित की है, उसमें एकमात्र यह अंतिम विजय ही औरों को सचमुच संभव बना सकती है। तो यह देखने के लिये कि ये विजयें कैसे नितांत संभव या पूरी तरह संभव हो सकती हैं हमें जड़ की वास्तविकता को जानना होगा, जैसे मूलभूत ज्ञान की खोज करते हुए हमने मन, अंतरात्मा और प्राण की वास्तविकता को जान लिया था।

एक विशेष अर्थ में जड़ अवास्तविक और असत् है, अर्थात् जड़ के बारे में हमारा वर्तमान ज्ञान, भाव और अनुभव उसका सत्य नहीं है बल्कि हम जिस सर्वमय सत्ता में विचरण करते हैं उसके और हमारी इन्द्रियों के बीच विशेष संबंध का एक व्यापार मात्र है। जब विज्ञान यह खोज करता है कि जड़तत्त्व अपने-आपको ऊर्जा के विभिन्न रूपों में खंडित करता है तो वह एक वैश्व आधारभूत सत्य को पा लेता है और जब दर्शन यह खोज करता है कि चेतना के लिये जड़ का अस्तित्व वस्तुमय (भौतिक) रूप की तरह ही है और आत्मा या शुद्ध चिन्मय पुरुष ही एकमात्र सद्वस्तु है तो वह एक अधिक महान्, अधिक पूर्ण और अधिक आधारभूत सत्य को पा लेता है। फिर भी यह प्रश्न तो रहता ही है कि ऊर्जा जड़तत्त्व का रूप क्यों धारण करे, केवल शक्ति-धाराओं का क्यों नहीं ? या जो सचमुच आत्मा है वह जड़ के प्रपंच को क्यों स्वीकार करे, स्वयं आत्मा की स्थितियों, प्रेरणाओं और आह्लादों में विश्राम क्यों न करे ? कहा जाता है कि यह मन का काम है, या फिर चूंकि स्पष्टतः विचार न तो चीजों के भौतिक रूप की प्रत्यक्ष रचना करता है न उनका प्रत्यक्ष बोध ही पाता है अतः यह इन्द्रिय-बोध का ही काम है। इन्द्रिय-मन उन रूपों की रचना करता है जिनका उसे प्रत्यक्ष-बोध होता प्रतीत होता है और विचारात्मक मन उन रूपों पर क्रिया करता है जिन्हें इन्द्रिय-मन उसके सामने प्रस्तुत करता है। लेकिन स्पष्टतः व्यक्तिगत शरीरस्थ मन जड़ पदार्थ के प्रपंच का रचयिता नहीं है। पार्थिव अस्तित्व मानव मन का परिणाम नहीं हो सकता क्योंकि स्वयं यह मन पार्थिव अस्तित्व का परिणाम है। अगर हम कहें कि जगत् केवल हमारे मनों में अस्तित्व रखता है तो हम तथ्यहीन और भ्रामक बात कहेंगे, क्योंकि धरती पर मनुष्य के आने से पहले ही जड़-जगत् मौजूद था और अगर मनुष्य धरती से गायब हो जाये या हमारा व्यक्तिगत मन अपने-आपको अनन्त में विलीन कर दे तब भी वह बना रहेगा। तो हमें इस निष्कर्ष पर आना होगा कि एक वैश्व मन[1] है जो हमारे लिये

[1] मन, जैसा कि हम उसे जानते हैं वह केवल सापेक्ष और यांत्रिक अर्थ में सृजन करता है। उसमें संयोजनों की अपार क्षमता है लेकिन उसकी सृजनात्मक प्रेरणा और रूप ऊपर से आते हैं; सभी सृष्ट चीजों का आधार मन, प्राण और जड़ से ऊपर अनंत में है। वे रूप वहां अत्यणु से निरूपित, पुनर्निर्मित, बहुधा गलत तरीके से निर्मित होते हैं। ऋग्वेद कहता है, उनका मूल ऊपर है और शाखाएं नीचे। हम जिसे अतिचेतन मन कहते हैं उसे अधिमानस कहा जा सकता है, आत्मा की शक्तियों के सोपान क्रम में उसका वास है, एक ऐसा क्षेत्र है जो सीधा अतिमानसिक चेतना पर आश्रित है।

विश्व के रूप में अवचेतन और अपनी आत्मा में अतिचेतन है जिसने अपने निवास के लिये इस रूप की रचना की है। और चूंकि स्रष्टा अवश्य अपनी सृष्टि से पहले आया होगा और उसका अतिक्रमण करेगा इसलिये इसका अर्थ होगा एक अतिचेतन मन जो एक वैश्व इन्द्रिय को उपकरण बना कर अपने अंदर रूप के साथ रूप के संबंध की रचना कर लेता है और जड़ विश्व की लय का निर्माण करता है, लेकिन यह भी पूरा समाधान नहीं है। यह हमसे कहता है कि जड़ चेतना की सृष्टि है परंतु यह नहीं बतलाता कि चेतना ने अपनी वैश्व क्रियाओं के आधार के रूप में जड़ की रचना किस तरह की।

अगर हम तुरंत वस्तुओं के मूल तत्त्व की ओर लौट चलें तो ज्यादा अच्छी तरह समझ सकेंगे। सत् अपनी क्रियाशीलता में एक चित्-शक्ति है जो अपनी शक्ति की क्रियाओं को अपनी चेतना के आगे अपनी निजी सत्ता के रूपों में उपस्थित करती है। चूंकि शक्ति 'एकमेव सत्' चिन्मय पुरुष की क्रिया मात्र है अतः उसके परिणाम भी उस चित्पुरुष के रूप होने के सिवा कुछ और नहीं हो सकते। अतः पदार्थ या जड़ आत्मा का एक रूप मात्र है। आत्मा का यह रूप हमारी इन्द्रियों के आगे जिस तरह दिखायी देता है उसका कारण मन की वह विभाजक क्रिया है जिससे हम विश्व के सारे व्यापार का एक सुसंगत सिद्धांत बना पाये हैं। अब हम जानते हैं कि प्राण चित्-शक्ति की एक क्रिया है जिसके परिणाम हैं भौतिक रूप। इन रूपों में अंतर्निहित प्राण उनमें पहले निश्चेतन शक्ति की भांति प्रकट होता है और क्रमशः विकसित होता हुआ मन रूप में उसी चेतना को फिर से अभिव्यक्त करता है जो शक्ति की यथार्थ आत्मा है, जिसका अस्तित्व उस समय भी समाप्त नहीं हुआ था जब वह अनभिव्यक्त थी। हम यह भी जानते हैं कि मन मौलिक सचेतन ज्ञान या अतिमानस की एक घटिया शक्ति है, एक ऐसी शक्ति है जिसके लिये प्राण एक उपकरणात्मक ऊर्जा का काम करता है। कारण अतिमानस में उतरती हुई चेतना या चित् अपने-आपको मन के रूप में प्रस्तुत करता है, चेतना की शक्ति (तपस्) अपने-आपको प्राण के रूप में उपस्थित करती है। अतिमानस में अवस्थित अपने उच्चतर सत्य-स्वरूप से अलग होकर मन प्राण को विभाजन का रूप देता है और इससे भी आगे, अपनी ही प्राण-शक्ति में निवर्तित होकर प्राण में अवचेतन हो जाता है और इस तरह अपनी जड़ क्रियाओं को निश्चेतन शक्ति का बाहरी रूप देता है। अतः निश्चेतना, तामसिकता और जड़ के अणुओं के विखण्डन का मूल अवश्य ही मन की इस सर्व-विभाजनकारी और आत्म-निवर्तनकारी क्रिया में होना चाहिये जिसके द्वारा हमारा विश्व अस्तित्व में आया है। जैसे मन सृष्टि की ओर अवरोहण में अतिमानस की अंतिम क्रियामात्र है, और प्राण मन के इस अवतरण के द्वारा बने अज्ञान की अवस्थाओं में क्रिया करती हुई चित्-शक्ति की एक क्रिया है, उसी तरह जड़, जैसा कि हम उसे जानते हैं उस क्रिया के परिणामस्वरूप चित् सत्ता द्वारा धारण किया हुआ अंतिम रूप मात्र है। जड़ है उस

एकमेव चित् सत्ता का उपादान जो एक वैश्व मन[1] की क्रिया द्वारा अपने अंदर आभास के रूप में बंटा हुआ है—यह ऐसा विभाजन है जिसे व्यष्टिगत मन दोहराता है और जिसमें वह निवास करता है, लेकिन जो आत्मा के एकत्व को या ऊर्जा के एकत्व को या जड़ तत्त्व के वास्तविक एकत्व को न तो नष्ट करता है न बिलकुल क्षीण।

लेकिन एक अविभाज्य सत् का यह आभासमय और व्यावहारिक विभाजन किसलिये ? यह इसलिये कि मन को बहुत्व के तत्त्व को उसकी चरम शक्यता तक ले जाना है और यह केवल पृथक्करण और विभाजन के द्वारा ही हो सकता है। ऐसा करने के लिये यह जरूरी है कि बहु के लिये रूपों की रचना करने के लिये वह अपने-आपको प्राण में अवक्षिप्त करे ताकि वह सत्ता के वैश्व तत्त्व को एक शुद्ध या सूक्ष्म पदार्थ की जगह स्थूल भौतिक पदार्थ का रूप दे। यानी उसे ऐसे पदार्थ का रूप दे जो मन के संपर्क के लिये अपने-आपको विषयों के स्थायी बहुत्व के बीच एक स्थिर वस्तु या विषय मालूम हो, न कि किसी ऐसे पदार्थ का रूप जो शुद्ध चेतना के संपर्क को अपनी शाश्वत शुद्ध सत्ता तथा सत्यता का रूप लगे या सूक्ष्म इन्द्रियों को ऐसे नमनीय आकार का रूप मालूम पड़े जो चित्-सत्ता को मुक्त रूप से प्रकट कर सके। मन का अपने विषयों के साथ संपर्क उस चीज की रचना करता है जिसे हम इन्द्रिय-बोध कहते हैं लेकिन इस अवस्था में वह अस्पष्ट और बाह्य बोध होता है, उस बोध का जिस वस्तु के साथ संपर्क होता है उसकी वास्तविकता की निश्चितता प्राप्त करनी आवश्यक है। अतिमानस द्वारा मन और प्राण में सच्चिदानंद के अवतरण के अनिवार्य परिणामस्वरूप शुद्ध पदार्थ का जड़ पदार्थ में अवतरण होता है। यह सत्ता की बहुलता और चेतना के भिन्न-भिन्न केन्द्रों से वस्तुओं की अभिज्ञता को जीवन की इस निचली अनुभूति की पहली विधि बनाने की इच्छा का एक आवश्यक परिणाम होता है। अगर हम वस्तुओं के आध्यात्मिक आधार की ओर वापिस जायें तो पदार्थ अपनी चरम शुद्ध अवस्था में अपने-आपको ऐसी शुद्ध चित्-सत्ता में ढाल देता है जो स्वयंभू है, तादात्म्य द्वारा अंतर्निहित रूप से अपने-आपसे अभिज्ञ है लेकिन अभीतक अपने-आपको विषय बनाकर अपनी चेतना को उसकी ओर अभिमुख नहीं करता। अतिमानस तादात्म्य द्वारा प्राप्त इस आत्माभिज्ञता को अपने आत्म-ज्ञान के पदार्थ के रूप में और आत्म-सृष्टि के प्रकाश के रूप में सुरक्षित रखता है लेकिन उस सृष्टि के लिये वह सत्ता को अपने आगे उसकी अपनी सक्रिय चेतना के विषयी-विषय, एक और बहु के रूप में उपस्थित करता है। वहां परम ज्ञान में सत्ता विषय के रूप में धारण की जाती है,

[1] यहां मन शब्द का प्रयोग उसके बड़े-से-बड़े अर्थ में किया गया है जिसमें अधिमानस-शक्ति की क्रिया भी शामिल है जो अतिमानसिक ऋत चित् के सबसे अधिक निकट है और अविद्या की सृष्टि का पहला स्रोत है।

वह ज्ञान-अवधारणा द्वारा उसे अपने अंदर ज्ञान के विषय रूप में और विषयी भाव से निज रूप में, दोनों रूपों में देखता है परंतु साथ ही प्रज्ञान द्वारा उसे अपनी चेतना की परिधि में ज्ञान के विषय या विषयों के रूप में प्रक्षिप्त कर सकता है। लेकिन यह स्वयं उससे भिन्न न होकर उसकी सत्ता का भाग होता है, लेकिन ऐसा भाग या ऐसे भाग जिन्हें अपनी सत्ता से अलग रख दिया गया हो—यानी दृष्टि के उस केन्द्र से अलग जिसमें सत्ता अपने-आपको ज्ञाता, साक्षी या पुरुष के रूप में केन्द्रित करती है। हमने देखा है कि इस प्रज्ञान चेतना से मन की गति उठती है, ऐसी गति जिसके द्वारा व्यष्टिगत ज्ञाता अपनी वैश्व सत्ता के एक रूप को अपने-आपसे भिन्न मानता है। लेकिन दिव्य मन में तत्काल या यूं कहें साथ-ही-साथ एक और गति या उसी गति का दूसरा पक्ष होता है, वह है सत्ता में एकत्व की क्रिया जो इस आभासमय विभाजन का उपचार करती और क्षण भर के लिये भी ज्ञाता के लिये उसे एकमात्र वास्तविकता बनने से रोकती है। सचेतन ऐक्य की यह क्रिया ही विभाजनकारी मन में कुंठित, अज्ञानी रूप से, एकदम बाहरी तौरपर चेतना में विभक्त सत्ताओं और पृथक् विषयों के बीच होनेवाले संपर्क की तरह भिन्न प्रकार से प्रतिपादित होती है और विभक्त चेतना में होनेवाला यह संपर्क हमारे लिये प्रथमतः इन्द्रिय बोध के तत्त्व के रूप में प्रतिपादित होता है। इन्द्रिय बोध के इस आधार पर, विभाजन के आधीन ऐक्य के संपर्क पर विचारात्मक मन की क्रिया खड़ी होती है और ऐक्य के एक ऐसे उच्चतर तत्त्व की ओर लौटने की तैयारी करती है जिसमें विभाजन एकता के आधीन और गौण बना दिया जाता है। तो जैसा कि हम द्रव्य को जानते हैं, भौतिक द्रव्य वह रूप है जिसमें मन इन्द्रिय बोध के द्वारा काम करते हुए उस सचेतन सत् के साथ संपर्क साधता है, वह स्वयं जिसके ज्ञान की एक गति मात्र है।

किंतु अपने स्वभाव से ही मन चेतन-सत्ता के द्रव्य को उसकी एकता और समग्रता में नहीं बल्कि विभाजन के सिद्धांत के द्वारा जानने और अनुभव करने की ओर प्रवृत्त होता है। ऐसा लगता है मानों यह उसे अल्पणु बिंदुओं में देखता है जिन्हें समग्रता तक पहुंचने के लिये वह इकट्ठा कर देता है और इन दृष्टि-बिंदुओं और संयोजनों में वैश्व मन अपने-आपको डालता है और उनमें निवास करता है। इस तरह निवास करता हुआ वैश्व मन 'सत्-भाव' के प्रतिनिधि के रूप में अपनी नैसर्गिक शक्ति से सृष्टि करता हुआ अपने सभी प्रत्यक्ष बोधों को प्राण की ऊर्जा में बदलने के लिये स्वभावतः विवश हुआ। जैसे सर्वसत्तामय अपने सभी आत्म-रूपों को अपनी चेतना की सर्जक शक्ति की विविध ऊर्जा के रूप में परिणत करता है, उसी तरह वैश्व मन वैश्व अस्तित्व के बारे में बहुविध दृष्टि-बिंदुओं को वैश्व जीवन के दृष्टिकोणों में बदल देता है, वह जड़तत्त्व में उन्हें ऐसी परमाणविक सत्ता में बदल देता है जो रूप देनेवाले उस प्राण से अनुप्राणित होती हैं जो रूपायन को

क्रियान्वित करनेवाले मन और इच्छा द्वारा शासित होता है। साथ ही साथ वह जिन परमाणविक सत्ताओं का निर्माण करता है वे परमाणु के अपनी सत्ता के विधान के अनुसार इकट्ठे होने और समूह बनाने को विवश होते हैं और इनमें से हर समूह भी रूप देनेवाले गुप्त प्राण से और उन रूपों को प्रवर्तन करनेवाले गुप्त मन और इच्छा से अनुप्राणित होता हुआ एक अलग-थलग बने व्यष्टिगत अस्तित्व की मिथ्या कहानी लिये रहता है। ऐसे प्रत्येक व्यष्टिगत पदार्थ या अस्तित्व को, इस बात के अनुसार कि उसमें मन व्यक्त है या अव्यक्त, अभिव्यक्त है या अनभिव्यक्त, शक्ति के यान्त्रिक अहंकार का सहारा मिलता है जिसमें भवैषणा मूक और बंदी होते हुए भी शक्तिशाली होती है। या फिर आत्म-अभिज्ञ मानसिक अहंकार का सहारा होता है जिसमें भवैषणा मुक्त, सचेतन और पृथक् रूप से सक्रिय होती है।

अतः परमाणविक अस्तित्व का कारण वैश्व मन की क्रिया का स्वभाव है न कि शाश्वत और आदि जड़ पदार्थ का कोई शाश्वत और भौतिक विधान। जड़ पदार्थ एक सृष्टि है और उसके सृजन के लिये आरंभ-बिंदु या आधार के रूप में, अत्यणु की, अनन्त के अत्यधिक विखण्डन की आवश्यकता थी। आकाश जड़ पदार्थ के लिये अमूर्त, लगभग आध्यात्मिक अवलम्ब के रूप में रह सकता और रहता है लेकिन कम-से-कम हमारे वर्तमान ज्ञान को वह भौतिक दृष्टि से तथ्य रूप में गोचर नहीं है। दृष्टिगोचर समूह या अणु रूप को मौलिक परमाणुओं में प्रविभाजित कर दो, उसे सत्ता की अत्याणविक धूलि में तोड़ दो फिर भी उन्हें बनानेवाले मन और प्राण के स्वभाव के कारण हम किसी ऐसे अनाणविक विस्तार पर नहीं जो कुछ भी धारण करने में असमर्थ हो बल्कि अत्यधिक आणविक अस्तित्व पर पहुंचेंगे जो शायद अस्थिर तो हो किंतु दृश्य-जागतिक रूप से हमेशा अपने-आपको शक्ति के शाश्वत प्रवाह में फिर से बनाता रहेगा। पदार्थ का अनाणविक विस्तार, वह विस्तार जो समूह नहीं है, ऐसा सह-अस्तित्व जो देश में वितरण से भिन्न है, ये शुद्ध सत्, शुद्ध पदार्थ की वास्तविकताएं हैं। वे अतिमानस का एक ज्ञान और उसकी क्रियात्मक शक्ति का एक तत्त्व हैं। ये विभाजक मन का सर्जनात्मक प्रत्यय नहीं हैं यद्यपि मन अपनी क्रियाओं के पीछे उनके बारे में अभिज्ञ हो सकता है। ये जड़ की आधारभूत सद्वस्तु हैं लेकिन जिसको हम जड़ कहते हैं वह नहीं हैं। मन, प्राण और स्वयं जड़ भी अपने निष्क्रिय स्वरूप में उस शुद्ध सत्ता और सचेतन विस्तार के साथ एक हो सकते हैं लेकिन अपनी क्रियात्मक गति, आत्म-दर्शन और आत्म-रूपायण में उस एकत्व द्वारा क्रिया नहीं कर सकते।

अतः हम जड़ तत्त्व के इस सत्य पर पहुंचते हैं कि सत्ता का एक धारणात्मक आत्म-प्रसारण है जो विश्व में चेतना के पदार्थ या चेतना के विषय के रूप में चरितार्थ होता है और जिसे विश्व-मन तथा विश्व-प्राण अपनी सर्जक क्रिया में आणविक विभाजन तथा समूह द्वारा उस वस्तु के रूप में प्रकट करते हैं जिसे हम

जड़ कहते हैं। किंतु यह जड़, मन और प्राण की तरह अब भी आत्म-सृजन करनेवाली क्रिया में लगा हुआ सत् या ब्रह्म ही है। यह सचेतन सत्ता की शक्ति का एक रूप है। यह रूप मन द्वारा दिया गया और प्राण द्वारा कार्यान्वित हुआ है। वह अपने अंदर चेतना को अपने यथार्थ स्वरूप की तरह धारण किये रहता है जो उससे छिपी रहती है। वह अपने आत्म-रूपायन के परिणाम में अन्तर्निहित और तल्लीन और इस कारण अपने-आपको भूली हुई रहती है। और वह हमें चाहे जितना मूढ़ और संवेदनहीन क्यों न लगे, फिर भी उसके अपने अंदर छिपी हुई चेतना की गुप्त अनुभूति के लिये वह सत्ता का आनंद है जो इस गुप्त चेतना के आगे अपने-आपको संवेदन के विषय के रूप में अर्पित करता है ताकि उस छिपे हुए देव को अपनी गुप्त अवस्था में से बाहर निकलने का प्रलोभन दे। पदार्थ के रूप में अभिव्यक्त सत्ता, गुप्त आत्म-चेतना के एक साकार आत्म निरूपण में ढली हुई सत्ता की शक्ति, अपनी ही चेतना के आगे अपने-आपको विषय के रूप में अर्पित करता हुआ आनंद—यह सच्चिदानन्द नहीं तो और क्या है? जड़ तत्त्व सच्चिदानन्द ही है जो अपनी निजी मानसिक अनुभूति के आगे अस्तित्व के विषयरूपी ज्ञान, कर्म और आनंद के आकारगत आधार के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

अध्याय २५

जड़तत्त्व की ग्रंथि

नाहं यातुं सहसा न द्वयेन ऋतं सपाम्यरुषस्य वृष्णः ।
. . . के धासिमग्ने अनृतस्य पान्ति क आसतो वचसः सन्ति गोपाः ॥

मैं ज्योतिर्मय प्रभु के सत्य की ओर न शक्ति द्वारा जा सकता हूं न द्वैत द्वारा . . . वे कौन हैं जो अनृत के आधार की रक्षा करते हैं ? असत् वाणी के संरक्षक कौन हैं ?

ऋग्वेद ५.१२.२, ४

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥
तम आसीत्तमसा गूहळमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त् ।
रेतोधा आसन् महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥

तब सत् नहीं था और असत् भी नहीं था, न तो अन्तरिक्ष था न आकाश और न वह था जो इनके भी परे है। सबको किसने ढक रखा था, वह कहां और किसकी शरण में था ? वह गहन, गंभीर सागर क्या था ? न मृत्यु थी न अमृतत्व और न ही दिन और रात का ज्ञान था। वह एकमेव श्वास के बिना, अपने ही विधान से जीता था। उसके सिवा कुछ न था और उसके परे भी कुछ नहीं। आरंभ में तम ही तम से ढका हुआ था और यह सारा निश्चेतना का सागर था। जब वैश्व सत्ता खण्डों में छिपी हुई थी तब अपनी ऊर्जा की महिमा से 'वह एक' उत्पन्न हुआ। पहले वह भीतर ही भीतर कामना के रूप में स्पंदित हुआ। यही मन का पहला बीज था। सत्य-द्रष्टाओं ने हृदय की इच्छा और मनीषा द्वारा असत् में सत् की रचना की खोज की। उनकी किरण क्षितिजतः फैली। लेकिन वहां नीचे क्या था, ऊपर क्या था ? वहां बीज का आधान करनेवाले थे, वहां महिमाएं थीं, वहां नीचे आत्म विधान था और ऊपर इच्छा।

ऋग्वेद १०.१२९.१—५

अगर हम जिस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं वह ठीक है—और हम जिस सामग्री पर काम कर रहे हैं उसमें कोई और संभव भी नहीं है—तो व्यावहारिक अनुभव और मन के लम्बे अभ्यास ने आत्मा और जड़ के बीच जो तीक्ष्ण विभाजन रच दिया है उसकी कोई आधारभूत वास्तविकता नहीं रह जाती। जगत् एक भेदमय, बहुविध एकत्व है। वह शाश्वत विषमताओं के बीच समझौते का सतत प्रयास या मेल न खा सकनेवाले विरोधों के बीच सदा बना रहनेवाला संघर्ष नहीं है। उसका आधार और आरंभ है अविच्छेद्य एकत्व जो अनंत वैविध्य को पैदा करता है, विभाजन और संघर्ष के पीछे एक सतत संगतिकरण जो सभी संभव वैषम्यों को विशाल लक्ष्यों के लिये एक ऐसी गुप्त चेतना और इच्छा में संबद्ध करे जो सदा-सर्वदा एक है और अपनी सारी जटिल क्रिया की स्वामिनी है, यह उसका मध्य में वास्तविक स्वरूप मालूम होता है। अतः हमें यह मानना पड़ेगा कि उभरती हुई इच्छा और चेतना की पूर्ति और विजयकारी सामंजस्य ही उसकी निष्पत्ति होनी चाहिये। पदार्थ उसी का अपना रूप है जिसपर उसकी क्रिया होती है और यदि उस पदार्थ का एक छोर जड़तत्त्व है तो दूसरा छोर आत्मा है। दोनों एक हैं। हम जिसे जड़ पदार्थ के रूप में अनुभव करते हैं, आत्मा उसका सत्त्व और तत्त्व है। जो हमारी अनुभूति के लिये आत्मा है, 'जड़' उसका रूप और शरीर है।

निश्चय ही, एक विशाल व्यावहारिक भेद है और उस भेद पर जगत्-सत्ता की अविभाज्य क्रम-परंपरा और निरंतर ऊपर उठती हुई श्रेणियां प्रतिष्ठित हैं। हम कह आये हैं कि पदार्थ चित्-सत्ता है जो अपने-आपको इन्द्रिय के आगे विषय के रूप में उपस्थित करती है ताकि जो कोई इन्द्रिय संबंध बने उसके आधार पर जगत् के निर्माण और विश्व की प्रगति का काम आगे चल सके। लेकिन यह जरूरी नहीं है कि इन्द्रिय और पदार्थ के बीच संबंध का अपरिवर्तनशील रूप से बना एक ही आधार, एक ही मौलिक तत्त्व हो। उसके विपरीत ऊपर उठता हुआ और विकसित होता हुआ क्रम है। हम एक और पदार्थ के बारे में अभिज्ञ हैं जिसमें शुद्ध मन अपने स्वाभाविक माध्यम की तरह काम करता है। हमारी स्थूल इन्द्रियां जिस चीज की कल्पना द्रव्य के रूप में कर सकती हैं यह पदार्थ उसकी अपेक्षा कहीं अधिक सूक्ष्म, लचीला और नमनीय होता है। हम मन के पदार्थ के बारे में बात कर सकते हैं क्योंकि हम एक अधिक सूक्ष्म माध्यम के बारे में अभिज्ञ होते हैं जिसमें रूप उभरते हैं और क्रियाएं होती हैं। हम शुद्ध क्रियाशील प्राण-ऊर्जा के पदार्थ की बात कर सकते हैं जो जड़ पदार्थ के सूक्ष्मतम रूपों और उसकी स्थूल इन्द्रिय-ग्राह्य शक्ति की लहरों से भिन्न होती है। स्वयं आत्मा भी सत् का शुद्ध पदार्थ है जो अपने-आपको विषय-रूप में उपस्थित करता है लेकिन शारीरिक, मानसिक या प्राणिक संवेदन के आगे नहीं बल्कि एक शुद्ध, आध्यात्मिक प्रत्यक्ष ज्ञान की ज्योति के आगे जिसमें स्वयं विषयी अपना विषय बन जाता है अर्थात् जिसमें कालातीत

और देशातीत अपने-आपको सर्व सत्ता के आधार और आदि उपादान के रूप में एक शुद्ध आध्यात्मिक आत्म-धारणात्मक आत्म-विस्तार के अंदर देखता है। इस नींव के परे विषय और विषयी के बीच का सारा सचेतन भेद एक पूर्ण तादात्म्य में विलीन हो जाता है और तब वहां पदार्थ की बात तक नहीं होती।

अतः यह शुद्ध धारणात्मक भेद है। मानसिक रूप से धारणात्मक नहीं, आध्यात्मिक रूप से धारणात्मक जिसका अंत व्यावहारिक भेद में होता है जो आत्मा से चल कर मन से होता हुआ, जड़ में उतरनेवाली क्रम-परंपरा की ओर और फिर जड़ से चलकर मन से होता हुआ आत्मा की ओर चढ़ती क्रम-परंपरा की रचना करता है। लेकिन वास्तविक ऐक्य कभी रद्द नहीं होता और जब हम वस्तुओं की आद्य और समग्र दृष्टितक वापिस पहुंचते हैं तो देखते हैं कि वह कभी जड़ के स्थूल घनत्व में भी वास्तव में न तो क्षीण होता है न दुर्बल। ब्रह्म विश्व का कारण और समर्थक शक्ति तथा उसमें निवास करनेवाला तत्त्व ही नहीं है बल्कि उसका उपादान और एकमात्र उपादान है। जड़ पदार्थ भी ब्रह्म है और ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अगर वस्तुतः जड़ पदार्थ आत्मा से कटा हुआ होता तो ऐसा न होता। लेकिन जैसा कि हम देख आये हैं, वह दिव्य सत्ता का अंतिम रूप और विषयगत पक्ष मात्र है। उसके अंदर और उसके पीछे अखंड भगवान् सदा उपस्थित हैं, जैसे यह मूढ़ और तामसिक लगनेवाला जड़ हर जगह, हमेशा प्राण की गतिशील शक्ति से अनुप्राणित रहता है, जैसे यह गतिशील किंतु निश्चेतन लगनेवाला प्राण अपने अंदर हमेशा क्रियाशील रहनेवाले अदृश्य मन को छिपाये रखता है और वह उस मन के गुप्त व्यवहारों की छिपी हुई ऊर्जा भी है, जैसे सजीव शरीर में यह अज्ञानी, प्रकाशहीन और अंधेरे में टटोलते रहनेवाला मन अपनी वास्तविक आत्मा, अतिमानस द्वारा धारित और पूर्णतः निर्देशित होता है और वह अतिमानस जो उस जड़ में भी समान रूप से उपस्थित होता है जो अभीतक मानसिक नहीं बना है, उसी तरह समस्त जड़, साथ ही मन, प्राण और अतिमानस भी ब्रह्म की, शाश्वत की, आत्मा की, सच्चिदानंद की अवस्थाएं मात्र हैं। यह ब्रह्म उनमें केवल रहता ही नहीं है, बल्कि ये सभी चीजें भी है यद्यपि इनमें से कोई भी चीज उसकी पूर्ण सत्ता नहीं है।

लेकिन फिर भी यह धारणात्मक अंतर और व्यावहारिक भेद तो रहता ही है; चाहे जड़ पदार्थ आत्मा से वस्तुतः कटा हुआ न हो फिर भी इतनी व्यावहारिक निश्चितता के साथ अलग कटा हुआ प्रतीत होता है, वह अपने धर्म में इतना भिन्न, इतना विपरीत है, भौतिक जीवन सारे आध्यात्मिक अस्तित्व का इतना अधिक निषेध मालूम होता है कि उसे छोड़ देना ही कठिनाई से निकलने का एकमात्र संक्षिप्त मार्ग मालूम होता है और निःसंदेह है भी, परंतु कोई भी संक्षिप्त मार्ग या खंडित मार्ग समाधान तो नहीं होता। फिर भी, वहीं जड़ में ही समस्या का मूल है, वही

बाधा खड़ी करता है। क्योंकि जड़ के कारण ही प्राण स्थूल, सीमित और मृत्यु तथा कष्ट से ग्रस्त रहता है, जड़ के कारण ही मन आधे से अधिक अंधा रहता है, उसके पर कतरे हुए और पांव एक संकरे अड्डे से बंधे रहते हैं और वह ऊपर की जिस बृहत्तता और स्वाधीनता को जानता है उससे दूर रखा जाता है। अतः आध्यात्म की ऐकान्तिक खोज करनेवाला यदि जड़ की कीचड़ से विरक्ति का अनुभव करता हुआ, प्राण की पाशविक स्थूलता से विद्रोह करता हुआ या मन के अपने बनाये हुए कारागार की संकीर्णता और अधोमुखी दृष्टि से अधीर होता हुआ इन सबसे नाता तोड़ करके निष्क्रियता और निश्चल नीरवता द्वारा आत्मा की अचल स्वाधीनता में लौट जाने का निश्चय करे तो यह उसके दृष्टिकोण से ठीक ही होगा। लेकिन यही एकमात्र दृष्टिकोण नहीं है और न हमारे लिये यह जरूरी है कि हम उसे इसलिये पूर्ण और चरम बुद्धिमत्ता मान लें क्योंकि उसे ऊंचा स्थान देनेवाले या महिमान्वित करनेवाले दीप्तिमान और सुनहरे उदाहरण मिलते हैं। बल्कि अपने-आपको समस्त आवेग और विद्रोह से मुक्त करके हमें यह देखना चाहिये कि विश्व की इस दिव्य व्यवस्था का अर्थ क्या है और जहांतक आत्मा का निषेध करनेवाली जड़ की इस महान् गांठ और उलझन की बात है, हमें उसके धागों का पता लगाने की कोशिश करनी चाहिये और उन्हें अलग करना चाहिये ताकि किसी समाधान के द्वारा हम उसे सुलझा सकें न कि जोर-जबरदस्ती से उसे काट ही डालें। हमें इस कठिनाई को, इस विरोध को पहले तीक्ष्ण रूप में, उसे संकुचित करके नहीं, आवश्यक हो तो अतिशयोक्ति के साथ सामने लाना चाहिये और फिर उसका समाधान ढूंढ़ना चाहिये।

तो जड़ आत्मा के आगे प्रथमतः जिस मूलभूत विरोध को उपस्थित करता है वह यह है कि वह अज्ञान के तत्त्व की पराकाष्ठा है। यहां चेतना अपने कर्मों के एक रूप में खो गयी और अपने-आप को भूल गयी है, जैसे कोई आदमी अत्यधिक तल्लीनता के समय न केवल यह भूल जाये कि वह कौन है बल्कि यह भी भूल जाये कि वह है भी और क्षणिक रूप में वही कर्म बन जाये जो किया जा रहा है और वही शक्ति बन जाये जो उसे कर रही है। स्वयं-प्रकाश आत्मा जो शक्ति की सभी क्रियाओं के पीछे अपनी उपस्थिति के बारे में अनंत रूप में अभिज्ञ है और उनकी मालिक है उसके बारे में ऐसा लगता है कि वह गायब हो गयी है, उसका अस्तित्व ही नहीं है। वह शायद कहीं है लेकिन ऐसा लगता है यहां उसने केवल एक मूढ़ और निश्चेतन जड़-शक्ति रख छोड़ी है जो यह जाने बिना कि वह स्वयं क्या है अनन्ततः सृजन और विनाश करती रहती है। वह यह भी नहीं जानती कि वह किस चीज की रचना कर रही है या वह रचना करती ही क्यों है या जिस चीज को एक बार बना चुकी है उसे क्यों नष्ट करती है। वह नहीं जानती क्योंकि उसमें मन नहीं है। वह परवाह नहीं करती क्योंकि उसमें हृदय नहीं है। और अगर

यह जड़-विश्व तक का भी यथार्थ सत्य नहीं है, यदि इस मिथ्या दृश्य के पीछे एक मन है, एक इच्छा है और मन या मन की इच्छा से अधिक श्रेष्ठ कोई चीज है तो भी वह जड़-विश्व, उसकी रात्रि में से उभरनेवाली चेतना के आगे इस अंधेरी आकृति को ही सत्य के रूप में उपस्थित करता है और अगर यह सत्य न हो, केवल मिथ्यात्व हो तो भी यह बहुत प्रभावकारी मिथ्यात्व है क्योंकि वह हमारे समस्त जागतिक जीवन की परिस्थितियों को निश्चित करता और हमारी समस्त अभीप्सा और हमारे प्रयास को घेरे रहता है।

कारण, जड़ विश्व की यही विकराल वस्तु है, यही उसका भयंकर और निर्दय चमत्कार है कि इस 'निर्मन' में से एक मन या अन्ततः बहुत-से मन उभरते हैं, वे बड़ी कमजोरी के साथ प्रकाश के लिये संघर्ष करते हैं। व्यष्टि रूप में वे असहाय होते हैं और जब महा अज्ञान के बीच, जो महा अज्ञान विश्व का नियम है, आत्म-रक्षा के लिये वे अपनी वैयक्तिक दुर्बलताओं को इकट्ठा करते हैं तो उनकी असहायता कुछ कम हो जाती है। इस हृदयहीन निश्चेतना में से और उसके कठोर न्यायक्षेत्र में से हृदयों ने जन्म लिया है, अभीप्सा की है, इस लौह सत्ता की अंधी और संवेदनहीन क्रूरता के बोझ तले उत्पीड़ित हुए हैं और अपना खून बहाया है, एक ऐसी क्रूरता जो उन पर अपना नियम लादती है और उनकी संवेदनशीलता में संवेदनशील हो उठती है, उन्हें भीषण और भयंकर लगती है। लेकिन आभासों के पीछे आखिर यह प्रतीयमान रहस्य है क्या? हम देख सकते हैं कि यह वही चेतना है जो अपने-आपको खो चुकी थी और अब स्वयं अपनी ओर लौट रही है, एक दानवी आत्म-विस्मृति में से धीरे-धीरे कष्ट के साथ उभर रही है, एक ऐसे प्राण के रूप में जो भावी चेतन होता है, अर्द्ध चेतन होता है, अस्पष्ट रूप से चेतन होता है, पूरी तरह चेतन होता है और फिर अंत में चेतन से अधिक कुछ और होने के लिये, फिर से दिव्य रूप में आत्म चेतन, मुक्त, अनंत और अमर होने के लिये प्रयास करता है। लेकिन वह इस दिशा में ऐसे विधान के आधीन होकर काम करता है जो इन सभी चीजों से उल्टा है, वह जड़ की अवस्थाओं के आधीन यानी अज्ञान की पकड़ के विरोध में काम करता है। उसे जिन गतिविधियों का अनुसरण करना होता है, उसे जिन उपकरणों का उपयोग करना होता है उन्हें इस मूढ़ और विभाजित जड़ ने ही उसके लिये निर्धारित किया और बनाया है और वे पग-पग पर उस पर अज्ञान और सीमाएं लादते हैं।

कारण, दूसरा मूलगत विरोध जिसे जड़-तत्त्व आत्मा के आगे उपस्थित करता है, यह है कि वह यान्त्रिक विधान के आधीन दासता की पराकाष्ठा है और जो कुछ अपने-आपको मुक्त करना चाहता है उसके आगे एक भीमकाय तामसिकता का विरोध खड़ा कर देता है। ऐसी बात नहीं है कि स्वयं जड़ ही तामसिक या निष्क्रिय निश्चेष्ट है बल्कि वह अनन्त गति, धारणातीत शक्ति, असीम क्रिया है जिसकी भव्य

गतियां हमारी सतत सराहना का विषय रहती हैं, लेकिन जहां आत्मा मुक्त, अपना और अपने कार्यों का स्वामी है, उनसे बंधा नहीं है, विधान के आधीन न होकर उसका स्रष्टा है, वहां यह दानवीय जड़ एक निर्धारित और यान्त्रिक नियम से कठोरता के साथ बंधा है। यह नियम उसपर लादा जाता है। वह स्वयं न तो उसे समझता है और न उसने कभी उसकी कल्पना ही की है लेकिन वह उसे निश्चेतन भाव से चलाता रहता है जैसे एक मशीन काम करती है। वह नहीं जानता कि उसे किसने, किस प्रक्रिया से या किस उद्देश्य से बनाया था। और जब प्राण जाग उठता है और अपने-आपको भौतिक रूप और जड़ शक्तिपर आरोपित करने की कोशिश करता है और सभी चीजों का अपनी ही इच्छा के अनुसार और अपनी ही आवश्यकता के लिये उपयोग करना चाहता है, जब मन जागता है और स्वयं अपने और सभी चीजों के बारे में कौन, क्या और क्यों को जानना चाहता है और सबसे बढ़कर जब वह अपने ज्ञान का उपयोग वस्तुओं पर अपने अधिक मुक्त विधान और स्वयं-निर्देशक क्रिया को आरोपित करने के लिये करना चाहता है तो ऐसा लगता है कि जड़ प्रकृति उसके आगे झुक जाती है, यहांतक कि स्वीकृति और सहायता भी देती है यद्यपि कुछ संघर्ष के बाद, अनिच्छा के साथ और केवल एक हदतक ही। लेकिन उस हद के बाद वह एक आग्रही तमस, बाधा और प्रत्याख्यान प्रस्तुत करती है यहांतक कि प्राण और मन को इस बात के लिये मनाती है कि वे और आगे नहीं जा सकते, अपनी आंशिक विजय को अन्ततक नहीं ले जा सकते। प्राण बढ़ने और दीर्घकालतक जीने का प्रयत्न करता और सफल होता है लेकिन जब वह पूर्ण विस्तार और अमरता की खोज करता है तो उसे जड़ की लौह बाधा का सामना करना पड़ता है और वह अपने-आपको संकीर्णता और मृत्यु से बंधा पाता है। मन प्राण की सहायता करना चाहता है और सर्वज्ञान का आलिंगन करने के लिये, सर्व प्रकाश बन जाने के लिये, सत्य को पाने और सत्य ही हो जाने के लिये, प्रेम तथा आनंद को प्रतिष्ठित करने के लिये और प्रेम तथा आनंद बन जाने के लिये अपने भीतरी वेग की पूर्ति करना चाहता है लेकिन वहां सदा भौतिक प्राण की सहज प्रवृत्तियों की मार्ग-च्युति, भ्रांति और स्थूलता और स्थूल इन्द्रियबोध तथा स्थूल उपकरणों का इंकार और विघ्न-बाधा उपस्थित होते हैं। भूल हमेशा उसके ज्ञान का पीछा करती रहती है, अंधकार उसके प्रकाश का अभिन्न सखा और पृष्ठ-भूमि है; सत्य को सफलता के साथ खोजा जाता है लेकिन फिर भी जब पकड़ में आता है तो वह सत्य नहीं रहता और खोज को जारी रखना पड़ता है; प्रेम वहां होता तो है परंतु वह अपने-आपको संतुष्ट नहीं कर पाता, हर्ष वहां होता तो है परंतु वह अपना औचित्य प्रमाणित नहीं कर सकता और इनमें से हर एक अपने विरोधी तत्त्व को, क्रोध, घृणा और उदासीनता को, वितृष्णा, दुःख और कष्ट को अपने साथ ऐसे घसीटता चलता है मानों वे उसके साथ बंधी जंजीरें हों या उन्हें इस तरह

प्रक्षिप्त करता है मानों वे उसकी छाया हों। जड़ मन और प्राण की मांगों का उत्तर जिस तामसिकता से देता है वह तामसिकता अज्ञान पर और जो मूढ़ शक्ति अज्ञान का बल है उस पर होनेवाली विजय को रोकती है।

और जब हम यह जानने की कोशिश करते हैं कि ऐसा क्यों है तो हम देखते हैं कि तमस और बाधाओं की विजय जड़ की एक तीसरी शक्ति के कारण होती है क्योंकि जड़ आत्मा के सामने जो तीसरा मूलगत विरोध खड़ा करता है वह यह है कि वह विभाजन और संघर्ष के तत्त्व की पराकाष्ठा है। वस्तुतः अविभाज्य होने पर भी उसकी क्रिया का सारा आधार है विभाजनशीलता और ऐसा लगता है मानों उसे इस आधार से हटने की सदा के लिये मनाही कर दी गयी है, क्योंकि उसके ऐक्य की दो ही विधियां हैं, या तो इकाइयों को समूह बनाना या आत्मसात् करना जिसमें एक इकाई का दूसरी के द्वारा नष्ट होना जरूरी है। ऐक्य की ये दोनों विधियां शाश्वत विभाजन की स्वीकृति हैं क्योंकि पहली विधि भी एक करने की जगह इकाइयों का संयोजन करती है और इसका सिद्धांत ही वियोजन और विलयन की सतत संभावना और इस कारण उनकी अंतिम आवश्यकता को स्वीकार करता है। दोनों विधियां मृत्यु का सहारा लेती हैं, एक जीवन के साधन के रूप में, दूसरी उसकी शर्त्त के रूप में। दोनों यह मान लेती हैं कि जगत् के अस्तित्व की अवस्था ही ऐसी है जिसमें विभक्त इकाइयों में सदा एक दूसरे के साथ संघर्ष चलता है, हर एक अपने-आपको बनाये रखने, अपने समूहों को बनाये रखने, जो उसका प्रतिरोध करता है उसे बाधित या नष्ट करने, औरों को अपने खाद्य के रूप में अपने अंदर मिला लेने और निगल जाने का प्रयत्न करती है लेकिन अपने-आप बाध्यता, विनाश और भक्षण द्वारा निगले जाने के विरुद्ध विद्रोह करने और बच भागने की प्रवृत्ति रखती है। जब प्राणिक तत्त्व जड़ में अपनी क्रियायें अभिव्यक्त करता है तो वह अपनी सभी क्रियाओं के लिये बस यही आधार पाता है और उसे जूए के नीचे गरदन देने के लिये बाधित होना पड़ता है। उसे मृत्यु, कामना और सीमितता के नियम को और भक्षण करने, अधिकार जमाने और शासन करने के उस सतत संघर्ष को स्वीकार करना पड़ता है जिसे हम प्राण के पहले रूप की नाईं देख चुके हैं। जब मानसिक तत्त्व जड़ में अभिव्यक्त होता है तो उसे, वह जिस सांचे और सामग्री को लेकर क्रिया करता है, उससे परिसीमन का, निश्चित प्राप्ति से रहित खोज का वही नियम स्वीकार करना पड़ता है। अपनी उपलब्धियों का और अपने कार्यों के उपादानों का वही सतत संयोजन और वियोजन स्वीकार करना पड़ता है जिससे मनोमय प्राणी यानी मनुष्य द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान कभी अंतिम या संदेह और अस्वीकृति से मुक्त नहीं मालूम होता। और ऐसा लगता है कि उसका सारा श्रम क्रिया-प्रतिक्रिया के और बनाने और तोड़ने के छन्द में चलने के लिये, रचना और अल्पकालिक संरक्षण और लंबे विनाश के चक्रों में घूमने के लिये

अभिशप्त है। उसके लिये कोई निश्चित और आश्वासित प्रगति नहीं है।

विशेषतः सबसे अधिक घातक रूप से, जड़तत्त्व के अज्ञान, तमस और विभाजन उसमें उभरती हुई प्राणिक और मानसिक सत्ता पर दुःख और कष्ट का विधान और विभाजन, तमस और अज्ञान की अवस्था के प्रति असंतोष की बेचैनी लाद देते हैं। अगर मानसिक चेतना एकदम अज्ञानभरी होती, यदि वह किसी रीति-रिवाज के घोंघे में संतुष्ट होकर रुक जाती, उसे स्वयं अपने अज्ञान का पता न होता या वह चेतना और ज्ञान के उस सागर से पूरी तरह अनभिज्ञ होती जिससे वह घिरी रहती है तो निश्चय ही अज्ञान असंतोष का कोई दुःख न ला पाता। लेकिन जड़ में से उभरती हुई चेतना ठीक इसी चीज की ओर जागती है, पहले तो वह जिस जगत् में रहती है और जिसे जानना और जिसका मालिक होना उसके सुखी होने के लिये जरूरी है उसके बारे में अपने अज्ञान के प्रति जागती है, दूसरे अपने ज्ञान की अंतिम निष्फलता और सीमितता के प्रति, वह ज्ञान जिस बल और सुख को लाता है उसकी अल्पता और अस्थिरता के प्रति और एक ऐसी अनंत चेतना, ज्ञान तथा सच्ची सत्ता की अभिज्ञता के प्रति जागती है, केवल इसी चेतना में ही विजयी और अनंत सुख मिल सकता है। ना ही तमस की बाधा अपने साथ बेचैनी और असंतोष ला पाती यदि जड़ में से उभरती हुई प्राणिक संवेदनशीलता पूरी तरह निश्चेष्ट होती, यदि यह अपने अर्द्ध चेतन सीमित जीवन से संतुष्ट रहती, यदि जिस अनंत शक्ति और अमर जीवन के अंग रूप में, लेकिन फिर भी उससे अलग रहती है, उससे वह अनभिज्ञ रहती या यदि उसमें ऐसा कुछ भी न होता जो उसे उस अनंतता और अमरता में यथार्थ रूप से भाग लेने के लिये प्रयास करने को प्रेरित करता। लेकिन ठीक इसी चीज का अनुभव करने और उसे खोजने के लिये सारे प्राण को शुरू से प्रेरित किया जाता है, उसे अपनी असुरक्षितता का बोध होता है, बने रहने की आत्म-संरक्षण की आवश्यकता और उसके लिये संघर्ष का बोध होता है। अन्त में वह अपने जीवन की सीमाओं के प्रति जागता है और बृहतता तथा स्थायित्व की ओर, अनन्त और शाश्वत की ओर प्रेरणा अनुभव करना शुरू करता है।

और जब मनुष्य में प्राण पूरी तरह आत्म-सचेतन हो जाता है तो यह अपरिहार्य संघर्ष और प्रयास तथा अभीप्सा अपने चरम बिंदु पर पहुंच जाते हैं और जगत् के दुःख-दर्द और विसंगति आखिर इतनी उग्रता से अनुभव होने लगते हैं कि उन्हें संतोष के साथ नहीं सहा जा सकता। मनुष्य अपनी सीमाओं से संतुष्ट रहने की कोशिश करता हुआ या वह जिस भौतिक जगत् में निवास करता है उस पर जितनी प्रभुता पायी जा सकती है उतनी पाने के लिये, उसकी निश्चेतन दृढ़ताओं पर अपने प्रगतिशील ज्ञान की कुछ मानसिक और स्थूल विजय के लिये, उसकी तमस् द्वारा परिचालित प्रचण्ड शक्तियों पर अपनी छोटी-सी, एकाग्र सचेतन इच्छा और शक्ति की विजय के लिये अपने संघर्ष को सीमित करता हुआ एक लंबे अर्से तक अपने-

आपको शांत रख सकता है। लेकिन यहां भी वह जिन बड़े-से-बड़े परिणामों को पा सकता है उनकी सीमा, उनकी दरिद्र निर्णयहीनता उसके सामने आती है और वह परे देखने के लिये बाधित होता है। ससीम जबतक अपने से बड़े ससीम के बारे में या अपने से परे असीम के बारे में सचेतन रहता है जिसके लिये वह अब भी अभीप्सा कर सकता है, तबतक वह स्थायी रूप से संतुष्ट नहीं रह सकता। अगर ससीम इस तरह संतुष्ट हो सकता तो भी ससीम दीखनेवाला जीव, जो अपने-आपको वास्तव में असीम अनुभव करता है, या अंदर एक असीम की मात्र उपस्थिति या उसके अन्तर्वेग या स्पंदन को अनुभव करता है, वह तबतक संतुष्ट नहीं हो सकता जबतक इन दोनों में सामंजस्य न हो जाये, जबतक वह ससीम उस असीम को और असीम ससीम को अपने अधिकार में न कर ले, वह चाहे जिस परिमाण में और चाहे जिस तरह से हो। मनुष्य ऐसा ही सान्त दीखनेवाला अनन्त है और वह अनंत की खोज किये बिना नहीं रह सकता। वह पृथ्वी का पहला पुत्र है जो भीतर के भगवान् के बारे में, अपनी अमरता या अमरता की आवश्यकता के बारे में अस्पष्ट रूप से अभिज्ञ होता है और इस ज्ञान को जबतक वह अनंत प्रकाश, आनंद और शक्ति के स्रोत में बदलने योग्य नहीं हो जाता तबतक वह ज्ञान हांकनेवाला चाबुक या बलि का क्रूस ही बना रहता है।

अगर जड़ का आरंभ कठोर विभाजनशीलता के सिद्धांत से न हुआ होता तो जड़ के अज्ञान और तमस् में अपने-आपको खो देनेवाली दिव्य चेतना, शक्ति, ज्ञान और इच्छा का यह क्रमिक विकास और यह बढ़ती हुई अभिव्यक्ति आनंद से अधिक आनंद और अंत में अनंत आनंद के सुखद प्रस्फुटन में हुई होती। व्यक्ति का पृथक् और सीमित मन, प्राण तथा शरीर की अपनी ही व्यक्तिगत चेतना में बंद रहना उस चीज को रोकता है जो अन्यथा हमारे विकास का प्राकृत धर्म होती। यह शरीर में आकर्षण और विकर्षण, आक्रमण और संरक्षण, असंगति और पीड़ा के विधान लाता है। क्योंकि सीमित चित्-शक्ति होने के नाते प्रत्येक शरीर यह अनुभव करता है कि वह ऐसी ही अन्य चित्-शक्तियों या वैश्व शक्तियों के आक्रमण, आघात, सबल संपर्क के प्रति खुला है। जहां वह अनुभव करता है कि उसपर कोई शक्ति टूट पड़ी है या वह संपर्क करनेवाली और ग्रहण करनेवाली चेतना में सामंजस्य बैठाने में असमर्थ रहता है वहीं वह अशांति और पीड़ा अनुभव करता है आकर्षित या विकर्षित होता है, उसे अपनी रक्षा करनी होती है या आक्रमण करना होता है, जिसे वह सहन करने को अनिच्छुक या असमर्थ होता है उसीको भोगने के लिये उसे हमेशा विवश किया जाता है। भावनामय और ऐन्द्रिय मन में विभाजन का विधान उन्हीं प्रतिक्रियाओं को सुख-दुःख, प्रेम और घृणा, अत्याचार और अवसाद के ऊंचे मूल्यों के साथ लाता है। इन सबको कामना की अभिधा में ढाला जाता है और कामना के द्वारा प्रयास और दबाव में, दबाव से

शक्ति के अतिरेक और उसकी कमी में, असामर्थ्य में, प्राप्ति और निराशा, उपलब्धि और जुगुप्सा, सतत संघर्ष, कष्ट और व्याकुलता में ढाला जाता है। सब मिलाकर मन में संकीर्णतर सत्य के विशालतर सत्य में आ मिलने, कम प्रकाश के अधिक प्रकाश में ले लिये जाने, निम्नतर इच्छा के उच्चतर रूपांतरकारी इच्छा में समर्पित होने, तुच्छ तुष्टियों के अधिक अभिजात और अधिक पूर्ण संतोष में बढ़ने के दिव्य विधान की जगह वह सत्य के वैसे ही द्वंद्वों को ले आता है जिनमें सत्य के साथ भ्रांति, प्रकाश के साथ अंधकार, शक्ति के साथ असमर्थता, खोज और प्राप्ति के सुख के साथ विरक्ति का और जो कुछ पाया है उसमें असंतुष्टि का दुःख लगा रहता है। मन प्राण और शरीर के दुःख के साथ अपने दुःख को भी ले लेता है और हमारी प्राकृत सत्ता की त्रिविध त्रुटि और अपर्याप्तता के बारे में अभिज्ञ हो जाता है। इस सबका अर्थ है आनंद का निषेध, सच्चिदानंद के त्रित्व का प्रतिवाद और अगर यह प्रतिवाद अलंघ्य हो तो जीवन की व्यर्थता। क्योंकि जब सत्ता अपने-आपको चेतना और शक्ति के खेल में प्रक्षिप्त करती है तो गति की चाह निश्चित रूप से केवल गति के लिये ही नहीं करती बल्कि लीला से प्राप्त होनेवाली तृप्ति के लिये करती है और यदि लीला में कोई वास्तविक तृप्ति न मिले तो अंत में उसे अपने-आपको शरीर देनेवाली आत्मा का एक व्यर्थ प्रयास, उसकी बहुत बड़ी भूल, उसका प्रलाप मान कर छोड़ देना होगा।

जगत् के बारे में निराशावादी मत का सारा आधार यही है—वह भले परवर्ती लोकों और अवस्थाओं के बारे में आशावादी हो परंतु पार्थिव जीवन और भौतिक जगत् के साथ व्यवहार करनेवाले मानसिक प्राणी की नियति के संबंध में निराशावादी रहता है। क्योंकि वह इस बात की पुष्टि करता है कि चूंकि भौतिक जीवन का स्वरूप ही विभाजन है और शरीरधारी मन का बीज ही आत्म-परिसीमन, अज्ञान और अहंकार है; अतः, धरती पर आत्मा की तुष्टि खोजना या जगत्-लीला के किसी परिणाम और दिव्य प्रयोजन और उत्कर्ष की खोज व्यर्थ और भ्रांति है। इस जगत् में नहीं, आत्मा के स्वर्ग में ही या आत्मा की जागतिक क्रियाओं में नहीं बल्कि आत्मा की सच्ची प्रशांति में ही हम जीवन और चेतना को दिव्य आत्मानंद के साथ फिर से एक कर सकते हैं। असीम अपने-आपको फिर से तभी पा सकता है जब वह अपने-आपको ससीम में खोजने के प्रयास को भूल और गलत कदम मानकर त्याग दे, ना ही भौतिक विश्व में मानसिक चेतना का आविर्भाव दिव्य परिपूर्ति का कोई आश्वासन ही दे सकता है क्योंकि विभाजन का तत्त्व जड़ का नहीं, मन का धर्म है। जड़ मन की एक भ्रांति मात्र है जिसमें मन विभाजन और अज्ञान के अपने नियम को ले आता है। अतः इस भ्रांति में मन केवल अपने-आपको ही पा सकता है। वह विभाजित जीवन की अपनी बनायी हुई त्रयी के बीच ही घूम सकता है। यहां वह आत्मा का एकत्व या आध्यात्मिक जीवन का सत्य नहीं पा सकता।

अब यह तो सच है कि जड़ में विभाजन का तत्त्व विभाजित मन की ही रचना हो सकता है जिसने अपने-आपको जड़ सत्ता में अवक्षिप्त कर लिया है; क्योंकि उस जड़ सत्ता की कोई आत्म-सत्ता नहीं होती, वह मौलिक व्यापार न होकर केवल एक रूप है जिसे ऐसी सर्वविभाजनकारी प्राण-शक्ति ने रचा है जो सर्वविभाजनकारी मन की धारणाओं को क्रियान्वित करती है। सत्ता को जड़ तत्त्व के अज्ञान, तमस् और विभाजन के इन रूपों में कार्यान्वित करनेवाला विभाजनकारी मन अपने-आपको अपनी ही बनायी कारा में खो देता और बंदी बन जाता है, अपनी ही गढ़ी हुई जंजीरों में जकड़ जाता है। और अगर यह सच हो कि विभाजक मन ही सृष्टि का पहला तत्त्व है तो इसीको सृष्टि में संभव हो सकनेवाली अंतिम प्राप्ति भी होना चाहिये। और प्राण तथा जड़ के साथ व्यर्थ संघर्ष करनेवाली, अपने-आप उनसे पराजित होने के लिये उन्हें पराजित करनेवाली, अनंत काल तक निष्फल चक्र को चलाते रहनेवाली मानसिक सत्ता ही वैश्व जीवन का अंतिम और उच्चतम शब्द होगी। इसके विपरीत यदि अमर और अनंत आत्मा ने अपने-आपको जड़ द्रव्य के घने चोगे में छिपा रखा है और वहां वह अतिमानस की परम सृजनकारी शक्ति के द्वारा काम कर रही है और मन के विभाजनों और निम्नतम अथवा जड़ तत्त्व के शासन को अनुमति देती है तो यह बहु में एक की विकासमयी लीला की प्रारंभिक अवस्था है और इसमें ऐसा कोई परिणाम नहीं आता। दूसरे शब्दों में विश्व के रूपों में केवल मानसिक सत्ता ही नहीं छिपी हुई है बल्कि अनंत सत्, ज्ञान और इच्छा है जिसका आविर्भाव पहले जड़ रूप में, फिर प्राण रूप में और फिर मन रूप में होता है और बाकी सब तब भी अप्रकट ही रहता है, तब आभासी निश्चेतना में से चेतना के आविर्भाव का एक और तथा अधिक संपूर्ण तत्त्व होना चाहिये। तब एक ऐसी अतिमानसिक आध्यात्मिक सत्ता का आविर्भाव असंभव नहीं रह जाता जो अपने मन, प्राण और शरीर की क्रियाओं पर विभाजनकारी मन के विधान की जगह एक उच्चतर विधान लागू करेगी। इसके विपरीत यह विश्व-सत्ता के स्वरूप की स्वाभाविक तथा अपरिहार्य निष्पत्ति है।

जैसा कि हम देख आये हैं, इस तरह की अतिमानसिक सत्ता मन को उसके विभक्त अस्तित्व की ग्रंथि से मुक्त कर देगी और व्यष्टि-रूप मन को सर्वालिंगनकारी अतिमानस की एक उपयोगी गौण-क्रिया के रूप में काम में लायेगी, वह प्राण को भी विभक्त अस्तित्व की ग्रंथि से मुक्त कर देगी और व्यष्टि-रूप प्राण को केवल एकमेव चित् शक्ति की एक उपयोगी और गौण क्रिया मात्र के रूप में काम में लायेगी। इस तरह प्राण की सत्ता और आनंद एक विविधतापूर्ण एकत्व में संपन्न किये जायेंगे। तो क्या इसका भी कोई कारण हो सकता है कि वह शारीरिक सत्ता को भी मृत्यु, विभाजन और परस्पर भक्षण के वर्तमान विधान से मुक्त न करे और शरीर के व्यष्टि-रूप का उपयोग दिव्य चित्-सत् के केवल एक

अधीनस्थ पद के रूप में न करे जो सांत में अनंत के आनंद के लिये उपयोगी हो ? या क्यों यह आत्मा रूप पर पूरा-पूरा अधिकार रखते हुए मुक्त न रहे, अपने जड़ पदार्थ के बदलते हुए चोगे में सचेतन रूप से अमर क्यों न रहे, एकत्व, प्रेम और सौंदर्य के विधान के अधीनस्थ जगत् में आत्मानंद क्यों न प्राप्त करे ? और अगर आदमी पार्थिव जगत् का वह निवासी है जिसके द्वारा अंततः मानसिक का अतिमानसिक में रूपांतर साधित हो सकता है तो क्या यह संभव नहीं है कि वह साथ ही दिव्य मन, प्राण और दिव्य शरीर भी विकसित कर ले ? या अगर ये शब्द मानव शक्यता के बारे में हमारी वर्तमान सीमित धारणा को बहुत अधिक चौंकानेवाले हों तो क्या मनुष्य अपनी सच्ची सत्ता का, उसके प्रकाश, आनंद और बल का विकास करता हुआ मन, प्राण और शरीर के ऐसे दिव्य उपयोग की स्थिति में नहीं पहुंच सकता जिसमें मानव दृष्टि से और साथ-ही-साथ दिव्य दृष्टि से आत्मा का रूप में अवतरण न्यायोचित सिद्ध हो ?

उस चरम पार्थिव संभावना के रास्ते में जो एक चीज बाधा दे सकती है वह है अगर जड़ तत्त्व और उसके नियमोंसंबंधी हमारी वर्तमान दृष्टि ऐसा प्रस्तुत करे कि इन्द्रियों और पदार्थों के बीच, ज्ञाता-रूप भगवान् और ज्ञेय-रूप भगवान् के बीच संबंध ही एकमात्र संभव संबंध है और यदि अन्य संबंध संभव हों तो वे किसी भी हालत में यहां संभव नहीं हैं, उन्हें अस्तित्व के उच्चतर स्तरों पर खोजना होगा। उस हालत में, जैसा कि धर्म कहते हैं, हमें अपनी सारी दिव्य परिपूर्ति की खोज यहां से परे स्वर्गों में ही करनी होगी और धर्मों के दूसरे प्रतिपादन को, कि पृथ्वी पर ईश्वर का राज्य हो या पूर्णता का राज्य हो, उसे भ्रम कहकर अलग कर देना होगा। यहां पर हम केवल आंतरिक तैयारी या विजय के लिये प्रयास कर सकते या उसे प्राप्त कर सकते हैं और भीतर मन, प्राण और अंतरात्मा को मुक्त करके हमें अविजित और अविजेय जड़ तत्त्व से मुंह मोड़ लेना होगा; अपुनरुज्जीवित और दुर्दमनीय धरती से हटकर अपने दिव्य पदार्थ को कहीं और पाना होगा। फिर भी इसका कोई कारण नहीं कि हम इस सीमित करने वाले परिणाम को स्वीकार करें। निश्चय ही स्वयं जड़-तत्त्व की भी और स्थितियां हैं। निःसंदेह, पदार्थ की दिव्य श्रेणियों की एक आरोहणकारी क्रम-परंपरा है। यह संभव है कि भौतिक सत्ता अपने विधान की अपेक्षा उच्चतर विधान को स्वीकार करके अपने-आपको रूपांतरित करे और उच्चतर विधान भी स्वयं उसीका हो क्योंकि वह उसके अन्तर की गहराई में हमेशा शक्यता रूप में अन्तर्निहित रहता है।

अध्याय २६

द्रव्य का आरोहणकारी सोपान

स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। . . . अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। . . . अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। . . . अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। . . . अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः।

एक आत्मा है जो अन्न-रसमय है। . . . एक और आन्तरिक आत्मा है, प्राणमय जो उसे पूर्ण करती है। . . . एक और आंतरिक आत्मा है मनोमय। . . . एक और आंतरिक आत्मा है विज्ञानमय (सत्य ज्ञानमय)। . . . एक और आंतरिक आत्मा है आनंदमय।

तैत्तिरीयोपनिषद् २.१-५

. . . ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे॥
यत् सानोः सानुमारुहद् भूर्यस्पष्ट कर्त्वम्।
तदिन्द्रो अर्थं चेतति . . .॥

वे इन्द्र पर सीढ़ी की तरह चढ़े। चोटी के बाद चोटी चढ़नेवाले को यह स्पष्ट हो जाता है कि अभी और कितना करना बाकी है, इन्द्र यह चेतना लाता है कि वह "तत्" लक्ष्य है।

ऋग्वेद १.१०.१, २

चमूषच्छ्येनः शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि बिभ्रत्।
अपामूर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति॥
मर्यो न शुभ्रस्तन्वं मृजानोऽत्यो न सृत्वा सनये धनानाम्।
वृषेव यूथा परि कोशमर्षन् कनिक्रदच्चम्वोः३रा विवेश॥

बाज की तरह, चील की तरह पात्र पर बैठता है और उसे ऊपर उठाता है। अपनी गतिधारा में वह किरणों को प्राप्त करता है क्योंकि वह अपने शस्त्र धारण किये हुए चलता है, वह जल की सागर लहरों से चिपकता है। महान् राजा के रूप में वह चौथे धाम की घोषणा करता है। जैसे मर्त्य प्राणी अपने शरीर को शुद्ध करता है, जैसे युद्ध का घोड़ा धन जीतने के लिये छलांगे भरता हुआ दौड़ता है, वह आवाहन करता हुआ समस्त कोष पर बरसता हुआ आता है और इन पात्रों में प्रवेश करता है।

ऋग्वेद ९.९६.१९, २०

अगर हम यह विचार करें कि हमारे लिये जड़ के जड़त्व की सबसे अधिक

सूचना देनेवाला तत्त्व कौन-सा है तो हम उसके ये पहलू देखेंगे : उसकी घनता, स्पृश्यता, बढ़ती हुई प्रतिरोध-शक्ति, इन्द्रिय-स्पर्श के प्रति दृढ़ प्रतिक्रिया। द्रव्य हमारे आगे जितना अधिक ठोस प्रतिरोध खड़ा करता है उस प्रतिरोध के कारण इन्द्रियगम्य रूप का ऐसा स्थायित्व लाता है जिसपर हमारी चेतना टिक सकती है, उसी अनुपात में वह हमें अधिक सचमुच जड़ और वास्तविक प्रतीत होता है। वह जितना अधिक सूक्ष्म होता है, उसका प्रतिरोध जितना कम ठोस होता है और इन्द्रियां जिसे थोड़ी देर को ही पकड़ पाती हैं, वह हमें उतना ही कम जड़ या भौतिक प्रतीत होता है। जड़ के प्रति हमारी सामान्य चेतना का यह भाव उस मूलभूत उद्देश्य का प्रतीक है जिसके लिये जड़ तत्त्व की रचना की गयी है। द्रव्य जड़ अवस्था में इसलिये जाता है ताकि जिस चेतना को उसके साथ व्यवहार करना है उसके आगे वह स्थायी, भली-भांति पकड़ में आनेवाले मूर्त रूप उपस्थित कर सके जिन पर मन टिक सके और उन्हें अपनी क्रियाओं का आधार बना सके और प्राण अंततः सापेक्ष स्थायित्व के विश्वास के साथ उस रूप पर काम कर सके जिसका वह व्यवहार करता है। इसी कारण प्राचीन वैदिक सूत्रों में पृथ्वी को, जो द्रव्य की अधिक ठोस स्थितियों का प्रतीक है, जड़ तत्त्व के प्रतीकात्मक नाम के रूप में स्वीकार किया गया था। अतः हमारे लिये स्पर्श या संपर्क संवेदन का मूलभूत आधार है। अन्य सभी भौतिक इन्द्रियां रसना, घ्राण, श्रवण और दृष्टि ये सब देखनेवाले और देखे जानेवाले के बीच अधिकाधिक सूक्ष्म और परोक्ष संपर्कों की श्रेणी पर निर्भर हैं। इसी तरह सांख्य में द्रव्य का पंचभूतों में आकाश से पृथ्वीतक जो वर्गीकरण किया गया है उसमें हम देखते हैं कि उनकी विशेषता यह है कि अधिक सूक्ष्म से कम सूक्ष्म की ओर निरंतर प्रगति जिसमें एक ओर शिखर पर हैं आकाशीय तत्त्व के सूक्ष्म स्पंदन और नीचे, आधार में है पार्थिव या घनीभूत तत्त्व की अधिक स्थूल घनता। अतः शुद्ध द्रव्य की वैश्व संबंध के उस आधार की ओर प्रगति में जड़ ही वह अंतिम अवस्था है जो हमें ज्ञात है, जिसमें प्रथम शब्द आत्मा न होकर रूप होगा, ऐसा रूप जो अपनी अधिक-से-अधिक संभव विकास अवस्था में सान्द्रता, प्रतिरोध, स्थायी-स्थूल आकार, पारस्परिक अभेद्यता होगा—विभेद, पृथक्ता और विभाजन की पराकाष्ठा होगा। जड़ विश्व का यही प्रयोजन है और यही उसका स्वभाव है। यही संपादित विभाजन का सूत्र है।

और यदि, जैसा कि वस्तुओं के स्वभाव में होना चाहिये, जड़ से आत्मा तक द्रव्य का कोई चढ़ता हुआ सोपान है तो उसकी विशेषता होनी चाहिये स्थूल तत्त्व की इन सबसे अधिक विशेष क्षमताओं में क्रमशः कमी और इनसे उल्टी विशेषताओं में क्रमशः वृद्धि जो हमें शुद्ध आध्यात्मिक आत्म-प्रसारण के सूत्र तक पहुंचा दे। मतलब यह कि उनमें स्पष्टतः रूप का बंधन कम होता जायेगा, पदार्थ और शक्ति में अधिकाधिक सूक्ष्मता और लचीलापन दिखायी देगा, अधिकाधिक

सम्मिश्रण, अन्तर्व्याप्ति, आत्मसात् करने की शक्ति, अधिकाधिक आदान-प्रदान की शक्ति, वैविध्य, रूप-परिवर्तन और एकीकरण की शक्ति दिखायी देगी। रूप के स्थायित्व से दूर हट कर हम सारतत्त्व की शाश्वतता की ओर खिंचते हैं। भौतिक जड़ तत्त्व के प्रतिरोध तथा आग्रही विभाजन में स्थित अपने स्थायित्व से हटकर हम आत्मा की शाश्वतता, एकता और अविभाज्यता के उच्चतम दिव्य स्थायित्व के नजदीक पहुंचते हैं। स्थूल द्रव्य और शुद्ध आत्मा के द्रव्य में यह आधारभूत विरोध अवश्य रहेगा। जड़ में चित् या चित्-शक्ति अपने-आपको अधिकाधिक घनीभूत करती है ताकि वह उसी चित्-शक्ति की अन्य राशियों का प्रतिरोध कर सके और उनके विरुद्ध खड़ी हो सके। आत्मा के द्रव्य में शुद्ध चेतना सारभूत अविभाज्यता और सतत एकत्वकारी पारस्परिक आदान-प्रदान को आधारभूत सूत्र बना कर अपनी निजी शक्ति की अधिक से अधिक वैविध्यपूर्ण क्रीड़ा का भी यही आधार-सूत्र रखते हुए अपने आत्म-बोध में अपने-आपको स्वतंत्रता से मूर्त करती है। इन दो छोरों के बीच अनंत श्रेणीकरण की संभावना रहती है।

ये विवेचन तब बहुत ज्यादा महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं जब हम पूर्णताप्राप्त मानव आत्मा के दिव्य जीवन, दिव्य मन और इस अतिशय स्थूल और अदिव्य प्रतीत होते हुए शरीर या भौतिक सत्ता के नियम—जिसमें हम वास्तव में निवास करते हैं—इनके संभव संबंध पर विचार करते हैं। वह नियम इन्द्रिय और द्रव्य के उस विशेष निर्धारित संबंध का परिणाम है जिससे जड़ जगत् का आरंभ हुआ है। लेकिन चूंकि यह संबंध ही एकमात्र संभव संबंध नहीं है उसी तरह वह नियम भी एकमात्र संभव नियम नहीं है। प्राण और मन अपने-आपको द्रव्य के साथ किसी और संबंध में व्यक्त कर सकते हैं और अन्य स्थूल नियमों को और अन्य तथा ज्यादा बड़े अभ्यासों को कार्यान्वित कर सकते हैं यहां तक कि शरीर के भिन्न द्रव्य को भी चरितार्थ कर सकते हैं जहां इन्द्रियों की अधिक स्वतंत्र क्रिया होगी, प्राण की अधिक स्वतंत्र क्रिया होगी, मन की भी अधिक स्वतंत्र क्रिया होगी। मृत्यु, विभाजन और एक ही चेतन प्राण-शक्ति की शरीरधारी राशियों में परस्पर विरोध और बहिष्कार हमारे भौतिक अस्तित्व के सूत्र हैं और इन्द्रियों की क्रीड़ा का संकरा सीमाबंधन, प्राण की क्रियाओं के क्षेत्र, अवधि और बल का एक छोटे से घेरे में निर्धारण, मन की अस्पष्ट, पंगु गति, टूटी-फूटी सीमित क्रियाएं वह जूआ है जिसे पशु-शरीर में अभिव्यक्त यह नियम उच्चतर तत्त्वों पर लादता है। लेकिन ये चीजें ही वैश्व प्रकृति का एकमात्र संभव लय नहीं हैं। श्रेष्ठतर अवस्थाएं हैं, उच्चतर जगत् हैं। अगर मनुष्य की किसी प्रगति द्वारा और हमारे द्रव्य की अपनी वर्तमान अपूर्णताओं से किसी मुक्ति द्वारा उन उच्चतर स्थितियों और जगतों के विधान को हमारी सत्ता के इस गोचर रूप और यंत्र पर लागू किया जा सके तो उस अवस्था में यहां भी दिव्य मन और इन्द्रिय की भौतिक क्रिया, मानव ढांचे में दिव्य प्राण की

भौतिक क्रिया हो सकती है। पृथ्वी पर भी ऐसी किसी चीज का विकास हो सकता है जिसे हम दिव्य मानव शरीर कह सकें। हो सकता है कि मानव शरीर भी किसी दिन अपना रूपांतर पा ले और धरती माता भी हमारे अंदर अपना देवत्व प्रकट कर दे।

भौतिक जगत् के विधान में भी जड़ के सोपान में एक ऊपर उठता हुआ क्रम है जो हमें अधिक घन से कम घन की ओर, कम सूक्ष्म से अधिक सूक्ष्म की ओर ले जाता है। जब हम इस क्रम के सबसे ऊंचे पदतक जा पहुंचते हैं, जड़ द्रव्य या शक्ति के रूपायन की सबसे अधिक अतिव्योम सूक्ष्मता पर जा पहुंचते हैं तो उसके परे क्या होता है? नास्ति नहीं, शून्य नहीं क्योंकि परम शून्य या वास्तविक नास्ति के जैसी कोई चीज है ही नहीं और जिसे हम इस नाम से पुकारते हैं वह केवल एक ऐसी चीज है जो हमारी इन्द्रियों, हमारे मन और हमारी सूक्ष्मतम चेतना की पकड़ से बाहर है। और यह भी सच नहीं है कि परे कुछ है ही नहीं या यह कि जड़ द्रव्य का कोई आकाशीय तत्त्व ही शाश्वत आदि है, क्योंकि हम जानते हैं कि जड़ द्रव्य और जड़ शक्ति केवल उस शुद्ध द्रव्य और शुद्ध शक्ति के अंतिम परिणाम हैं जिनमें चेतना ज्योतिर्मय रूप से आत्म-अभिज्ञ और आत्म-निष्ठ रहती है। उस तरह से नहीं जैसे जड़ द्रव्य में वह अपने लिये ही निश्चेतना की नींद सोयी और खोयी और गति में क्रिया-शून्य होती है। तो फिर इस जड़-द्रव्य और उस शुद्ध द्रव्य के बीच में क्या है? क्योंकि हम एक से दूसरे की ओर छलांग नहीं मारते, निश्चेतना से एकदम परम चेतना में नहीं चले जाते। जैसे जड़-तत्त्व आत्मा के तत्त्व के बीच है उसी तरह निश्चेतन और पूरी तरह सचेतन आत्म-विस्तार के बीच भी क्रम सोपान होंगे और हैं।

जिन लोगों ने इन अगाध खाइयों की थाह ली है वे इस बात पर सहमत हैं और इसके साक्षी हैं कि द्रव्य के अधिकाधिक सूक्ष्म रूपायनों के क्रम हैं जो जड़ जगत् के विधान से बच निकलते और उसके परे चले जाते हैं। इन मामलों की अधिक गहराई में गये बिना, जो हमारी वर्तमान जांच के लिये बहुत ज्यादा गुह्य और कठिन हैं, हम जिस पद्धति के आधार पर चल रहे हैं उसी पर चलते हुए कह सकते हैं कि द्रव्य के ये क्रम इन श्रेणियों के रूपायन के एक महत्त्वपूर्ण पहलू में जड़, प्राण, मन, अतिमानस और इनसे भी ऊपर सच्चिदानंद के अन्य उच्चतर दिव्य त्रिक की ओर ऊपर चढ़ती हुई क्रम-परंपरा से मेल खाते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो हम देखते हैं कि अपने आरोहण में द्रव्य इनमें से हर एक तत्त्व को अपना आधार बनाता है और उनमें से हर एक के चढ़ते हुए सोपानों में अपने-आपको क्रमशः उनकी प्रधान वैश्व अभिव्यक्ति का विशिष्ट वाहन बना लेता है।

यहां इस जड़ जगत् में हर चीज जड़ द्रव्य के नियम पर आधारित है। इन्द्रियां, प्राण, विचार ये अपना आधार उसपर रखते हैं जिसे प्राचीन लोग पृथ्वी-शक्ति

कहते थे। ये वहीं से शुरू होते, उसीके नियमों का पालन करते, अपनी क्रियाओं को इसी मूलभूत तत्त्व के अनुकूल बनाते, अपने-आपको उसीकी संभावनाओं के द्वारा सीमित करते हैं। अगर वे किन्हीं और संभावनाओं को विकसित करना चाहें तो उस विकास में भी इस मूल तत्त्व का, उसके प्रयोजन और दिव्य विकास-क्रम से की गयी उसकी मांग का ख्याल रखते हैं। इन्द्रिय-बोध भौतिक उपकरणों द्वारा काम करता है, प्राण भौतिक स्नायु-संस्थान और प्राणिक अंगों द्वारा काम करता है। मन को अपनी क्रियाएं एक शारीरिक आधार पर खड़ी करनी पड़ती हैं और स्थूल यंत्र-विन्यास का उपयोग करना पड़ता है, उसकी विशुद्ध मानसिक क्रियाओं को भी इस प्रकार प्राप्त हुए तथ्यों को अपनी क्रिया का क्षेत्र और विषयवस्तु बनाना पड़ता है। मन, इन्द्रियों और प्राण के तात्त्विक स्वरूप में ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं है कि वे इतने सीमित हों क्योंकि भौतिक इन्द्रियां इन्द्रिय-बोध की रचयिता नहीं हैं बल्कि वे स्वयं वैश्व इन्द्रिय-बोध की रचना, उसके यंत्र और यहां उसकी आवश्यक सुविधाजनक वस्तुएं हैं। स्नायु-तंत्र और प्राणिक अंग प्राणिक क्रिया-प्रतिक्रिया के स्रष्टा नहीं हैं बल्कि वे स्वयं वैश्व प्राण-शक्ति की रचना, उसके यंत्र और यहां उसकी आवश्यक सुविधाजनक वस्तुएं हैं। मस्तिष्क विचार का स्रष्टा नहीं है बल्कि स्वयं वैश्व मन की रचना, उसका यंत्र और उसकी आवश्यक सुविधा की चीज है। अतः आवश्यकता अनिवार्य नहीं है बल्कि किसी विशेष प्रयोजन के लिये है। वह भौतिक विश्व में एक दिव्य वैश्व इच्छा का परिणाम है जो यहां इन्द्रिय और उसके विषय के बीच एक भौतिक संबंध बनाने का विचार रखती है, यहां चित्-शक्ति का एक भौतिक सूत्र और विधान स्थापित करती है, उसके द्वारा चिन्मय सत् के ऐसे स्थूल रूपों की रचना करती है जो, हम जिस जगत् में रहते हैं उसका प्रारंभिक, प्रमुख और निर्धारक तथ्य बन जाते हैं। यह मौलिक विधान नहीं है बल्कि यह एक रचनात्मक तथ्य है जो भौतिक जगत् में आत्मा के विकसित होने की इच्छा के कारण आवश्यक बन गया है।

द्रव्य की अगली श्रेणी में ठोस रूप और शक्ति नहीं बल्कि प्राण और सचेतन कामना ही आदि, प्रमुख और निर्धारक तथ्य हैं। अतः इस भौतिक लोक के परे एक ऐसा लोक होना चाहिये जो सचेतन वैश्व प्राणिक ऊर्जा पर प्राण की चाह की शक्ति, कामना की शक्ति और उनकी आत्माभिव्यक्ति पर आधारित हो न कि किसी निश्चेतन या अवचेतन इच्छा पर जो जड़ भौतिक शक्ति और ऊर्जा का रूप ले। उस लोक के सभी रूपों, शरीरों, शक्तियों, प्राणिक गतिविधियों, संवेदन-गतियों, विचार-गतियों, विकासों, पराकाष्ठाओं, आत्म-परिपूर्णताओं को चेतन प्राण के इस प्रारंभिक तथ्य के आधीन और उससे निर्धारित होना होगा। जड़ पदार्थ और मन को अपने-आपको इसके आधीन बनाना होगा, उससे आरंभ होना, उसीपर आधारित रहना, उसीके नियम, बल और क्षमता और सीमाओं से सीमित या विस्तृत होना

होगा। अगर मन वहां किन्हीं उच्चतर संभावनाओं को विकसित करना चाहे तो उसे भी कामना-शक्ति के मूल प्राणिक सूत्र का, उसके उद्देश्य का और दिव्य अभिव्यक्ति से उसकी मांग का ख्याल रखना होगा।

उच्चतर श्रेणियों में भी यही होता है। इस क्रम की अगली श्रेणी में मन के प्रधान और निर्णायक तत्त्व का शासन होगा। वहां द्रव्य को इतना सूक्ष्म और लचीला होना चाहिये कि मन सीधा उसपर जो भी आकार आरोपित करना चाहे वह उसे धारण कर ले, उसकी क्रियाओं का अनुगामी हो, उसकी आत्माभिव्यक्ति और आत्मपरिपूर्ति की मांग के आधीन हो। इन्द्रिय बोध और द्रव्य के बीच के संबंधों को भी उससे मेल खाती सूक्ष्मता और नमनीयता प्राप्त होनी चाहिये और उनका निर्धारण भी स्थूल पदार्थ के साथ स्थूल अवयव के संबंधों द्वारा नहीं बल्कि मन की क्रिया जिस अधिक सूक्ष्म द्रव्य पर होती है उसके साथ मन के संबंधों द्वारा होगा। ऐसे लोक में प्राण मन का सेवक होगा, ऐसे अर्थों में जिसकी कल्पना हमारी दुर्बल मानसिक क्रियाएं और हमारी सीमित, अनगढ़ और विद्रोही प्राणिक क्षमताएं पर्याप्त रूप में नहीं कर सकतीं। वहां मन मौलिक सूत्र के रूप में प्रमुख रहता है, उसका प्रयोजन प्रबल रहता है, उसकी मांग दिव्य अभिव्यक्ति के विधान में सबसे बढ़-चढ़ कर रहती है। इससे भी ऊंची भूमिका अतिमानस—या बीच में उसके द्वारा स्पृष्ट तत्त्वों में—या और भी ऊपर शुद्ध आनंद, शुद्ध चित्-शक्ति या शुद्ध सत्, ये प्रधान तत्त्व के रूप में मन का स्थान ले लेते हैं और हम वैश्व अस्तित्व के उन क्षेत्रों में जा पहुंचते हैं जो वैदिक द्रष्टाओं के लिये ज्योतिर्मय दिव्य सत्ता के लोक थे, "*धामानि दिव्यानि*" या जिसे वे अमृतत्व कहते थे उसके आधार थे। बाद में आनेवाले भारतीय धर्मों ने इनकी कल्पना ब्रह्म लोक, गो लोक जैसे रूपकों में की थी। ये सत् की आत्मा के रूप में परम आत्माभिव्यक्ति हैं जिनमें अपनी उच्चतम पूर्णता में मुक्त अंतरात्मा शाश्वत देव की अनंतता और आनंद पर अधिकार पा लेती है।

वस्तुओं के भौतिक रूपायन से परे उठते हुए इस निरंतर ऊर्ध्वगामी अनुभव और दृष्टि के आधार में जो तत्त्व रहता है वह यह है कि सारी वैश्व सत्ता एक जटिल सामंजस्य है और उसका अंत चेतना के उस सीमित क्षेत्र में नहीं हो जाता जिसमें बंदी बनकर रहने से सामान्य मानव मन और प्राण संतुष्ट रहते हैं। सत्, चेतना, शक्ति, द्रव्य बहुत से डंडोंवाली सीढ़ी पर चढ़ते-उतरते रहते हैं जिसके हर डंडे पर सत्ता का एक अधिक विशाल आत्म-प्रसारण होता है, चेतना को अपने निजी क्षेत्र, विशालता और आनंद का अधिक विस्तार अनुभव होता है, शक्ति में अधिक तीव्रता, अधिक तेज और आनंदमय सामर्थ्य होती है और द्रव्य अपनी प्राथमिक वास्तविकता को अधिक सूक्ष्म, नमनीय, प्रफुल्ल, लचीला रूप देता है। क्योंकि अधिक सूक्ष्म अधिक शक्तिशाली भी होता है—हम कह सकते हैं कि वह

सचमुच अधिक ठोस होता है। वह स्थूल की अपेक्षा कम बंधा होता है। उसमें अधिक स्थायित्व और उसकी संभूति में अधिक संभावना, नमनीयता और प्रसार होते हैं। सत्ता की पहाड़ी का हर एक पठार हमारी विस्तृत होती हुई अनुभूति को हमारी चेतना का एक ज्यादा ऊंचा स्तर और हमारे जीवन के लिये अधिक समृद्ध जगत् देता है।

लेकिन यह ऊपर चढ़ती हुई क्रम-परंपरा हमारे भौतिक जीवन की संभावनाओं पर कैसे असर डालती है? अगर चेतना का हर एक स्तर, सत्ता का हर एक लोक, द्रव्य की हर श्रेणी, वैश्व शक्ति की हर कोटि अपने से पहले और अपने बाद आनेवालों से एकदम कटे रहते तो इसका उनपर कोई असर न होता, लेकिन सत्य इसके विपरीत है। आत्मा की अभिव्यक्ति एक जटिल बुनावट है और किसी एक तत्त्व की रूप-रेखा और बुनावट में अन्य सभी तत्त्व आध्यात्मिक समग्र के तत्त्वों के रूप में प्रवेश कर जाते हैं। हमारा भौतिक जगत् बाकी सबका परिणाम है क्योंकि बाकी सब तत्त्व जड़ में भौतिक विश्व की रचना करने के लिये उतरे हैं। और हम जिसे जड़-पदार्थ कहते हैं उसके हर कण में वे सब अव्यक्त रूप में अन्तर्लीन हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं उनकी गुप्त क्रिया उसके अस्तित्व के हर क्षण में और उसकी क्रिया की हर गति में अन्तर्निहित है। जैसे जड़ पदार्थ अवरोहण का अंतिम पद है उसी तरह वह आरोहण का पहला पद भी है। जैसे इन सभी स्तरों, लोकों, जगतों, श्रेणियों और कोटियों की शक्तियां भौतिक सत्ता में अन्तर्निहित हैं उसी तरह वे सब उसमें से विकसित होने में सक्षम हैं। यही कारण है कि भौतिक सत्ता का आदि और अंत गैसों और रासायनिक सम्मिश्रणों, भौतिक शक्तियों और गतियों से या नीहारिकाओं, सूर्यों और पृथ्वियों से नहीं होता बल्कि वह प्राण को विकसित करती है, मन को विकसित करती है और अंततः उसे अतिमानस और आध्यात्मिक अस्तित्व के उच्चतर स्तरों को विकसित करना चाहिये। विकास अतिभौतिक स्तरों के जड़ भौतिक पर अनवरत दबाव से आता है जो उसे अपने अंदर से उनके तत्त्वों और शक्तियों को मुक्त करने के लिये बाधित करता है अन्यथा यह कल्पना की जा सकती है कि ये जड़ सूत्र की कठोरता में बंदी बने सोये रहते। लेकिन यह यूं भी असम्भाव्य होता क्योंकि उनकी वहां उपस्थिति में ही उनके मुक्त होने का प्रयोजन समाविष्ट है। फिर भी नीचे की इस आवश्यकता को सजातीय ऊपर के दबाव से बहुत मदद मिलती है।

और न यह विकास जड़ भौतिक की अनिच्छुक शक्ति द्वारा उच्चतर शक्तियों को दिये गये, प्राण, मन, अतिमानस और आत्मा के प्राथमिक तुच्छ-से रूपायन में समाप्त हो सकता है। क्योंकि जैसे-जैसे उनका विकास होता है, जैसे-जैसे वे जागते हैं, जैसे-जैसे वे अधिक सक्रिय और अपनी शक्यताओं के बारे में अधिक उत्कंठित होते हैं वैसे-वैसे उन पर ऊंचे स्तरों का दबाव भी, जो लोकों की सत्ता, उनके

घनिष्ठ संबंध और अन्योन्याश्रय में अन्तर्लीन रहता है, वह भी अपने आग्रह, शक्ति और प्रभावकारिता में जरूर बढ़ता जाता है। केवल इतना ही नहीं कि ये तत्त्व नीचे से सीमित और नियंत्रित ढंग से ऊपर उठें बल्कि यह भी जरूरी है कि वे जड़ सत्ता में अपनी विशिष्ट शक्ति और पूर्ण संभव प्रस्फुटन के साथ उतरें और भौतिक जीव जड़ पदार्थ में उनकी क्रियाओं की अधिकाधिक विस्तृत लीला की ओर खुले। बस आवश्यकता है एक योग्य आधार, माध्यम और यंत्र की। और इसकी व्यवस्था मनुष्य के शरीर, प्राण और चेतना में की गयी है।

निश्चय ही यदि शरीर, प्राण और चेतना इस स्थूल शरीर की संभावनाओंतक ही सीमित रहते, हमारी भौतिक इन्द्रियां और भौतिक मानसिकता बस इतना ही स्वीकार करती हैं, तो इस विकास की परिधि बहुत ही सीमित रहती और मनुष्य अपनी वर्तमान उपलब्धियों से अधिक और किसी तत्त्वतः बड़ी चीज को प्राप्त करने की आशा न कर सकता। लेकिन जैसा कि एक प्राचीन गुह्य विज्ञान ने पता लगाया था कि यह शरीर हमारी पूर्ण भौतिक सत्ता भी नहीं है, यह स्थूल घनता हमारा पूर्ण द्रव्य नहीं है। प्राचीनतम वैदान्तिक ज्ञान हमारी सत्ता की पांच कोटियों की बात करता है, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आध्यात्मिक या आनंदमय और हमारी अंतरात्मा की इन श्रेणियों में प्रत्येक के अनुरूप एक द्रव्य-श्रेणी होती है जिसे प्राचीन आलंकारिक भाषा में कोष कहा गया है। बाद के एक मनोविज्ञान ने यह पता लगाया है कि हमारे द्रव्य के ये पांच कोष स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीन शरीरों के उपादान हैं और हमारी अंतरात्मा वस्तुतः इन सबमें एक साथ निवास करती है यद्यपि यहां, इस समय हम ऊपर से केवल भौतिक वाहन के बारे में सचेतन हैं। लेकिन हमारे लिये अपने अन्य शरीरों में भी सचेतन होना संभव है और वस्तुतः यह उनके बीच के पर्दे का खुलना और उसके परिणाम-स्वरूप हमारे भौतिक, चैत्य और विज्ञानमय व्यक्तित्वों के बीच के पर्दे का खुलना है जो उन 'चैत्य' या गुह्य व्यापारों का कारण है जिनकी अधिकाधिक परीक्षा की जाने लगी है, यद्यपि अभीतक वह कम और बड़े भद्दे ढंग से की जाती है और उनका बहुत अधिक अनुचित लाभ उठाया जाता है। भारत के पुराने हठ-योगियों और तांत्रिकों ने उच्चतर मानव जीवन के इस मामले को बहुत पहले विज्ञान में बदल दिया था। उन्होंने स्थूल शरीर में जीवन के छह स्नायविक चक्रों की खोज की थी जो सूक्ष्म में प्राण और मन की क्षमता के छह केन्द्रों के साथ मेल खाते थे; और उन्होंने ऐसे सूक्ष्म भौतिक व्यायाम खोज निकाले थे जिनके द्वारा इन चक्रों को, जो अभी बंद हैं, खोला जा सकता है और मनुष्य अपनी सूक्ष्म सत्ता के स्वाभाविक उच्चतर चैत्य जीवन में प्रवेश कर सकता है और विज्ञानमय और आध्यात्मिक सत्ता के अनुभव के रास्ते में जो शारीरिक और प्राणिक बाधाएं आ सकती हैं उन्हें भी नष्ट किया जा

सकता है। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि हठयोगियों ने अपने अभ्यासों के लिये एक महत्त्वपूर्ण परिणाम का दावा किया था और उसकी बहुत प्रकार से जांच की जा चुकी है; वह है भौतिक प्राण शक्तिपर अधिकार, जो उन्हें बहुत ही सामान्य आदतों और ऐसे तथाकथित विधानों से मुक्त कर देता है जिन्हें भौतिक विज्ञान शरीर में प्राण के लिये अविच्छेद्य मानता था।

प्राचीन चैत्य-भौतिक विज्ञान की अभिधाओं के पीछे हमारी सत्ता का एक बड़ा तथ्य और विधान रहता है कि इस भौतिक विकास-क्रम में हमारी सत्ता के रूप, चेतना और बल की चाहे जो भी अस्थायी स्थिति क्यों न हो उसके पीछे एक अधिक सच्ची और अधिक श्रेष्ठ सत्ता होनी चाहिये और होती है, जिसका एक बाहरी परिणाम और स्थूल रूप से अनुभव होनेवाला रूप है यह स्थिति। हमारे द्रव्य का अन्त स्थूल शरीर के साथ ही नहीं हो जाता, स्थूल शरीर तो केवल पार्थिव पादपीठ, पार्थिव आधार और भौतिक आरंभ-बिंदु है। जैसे हमारी जाग्रत् मानसिकता के पीछे चेतना के ऐसे क्षेत्र हैं जो उसके लिये अवचेतन और अतिचेतन हैं, जिनके बारे में हम कभी-कभी असामान्य रूप से अभिज्ञ हो उठते हैं, उसी तरह हमारी स्थूल भौतिक सत्ता के पीछे द्रव्य की अन्य सूक्ष्मतर श्रेणियां, सूक्ष्मतर नियम और अधिक सामर्थ्यवाली शक्तियां हैं जो अधिक घन शरीर को अवलम्ब देती हैं और जो उनकी चेतना के क्षेत्रों में प्रवेश करके उस विधान और शक्ति को हमारे घन जड़द्रव्य पर आरोपित कर सकती हैं और हमारे वर्तमान भौतिक जीवन की स्थूलता और सीमा-बंधनों, अन्तर्वेगों और अभ्यासों की जगह सत्ता की अधिक शुद्ध, उच्च और तीव्र स्थितियों को रख सकती हैं। अगर ऐसा हो तो एक अधिक अभिजात भौतिक जीवन का विकास एक स्वप्न या 'ख' पुष्प का आभास नहीं रह जाता, ऐसे जीवन का जो पाशविक जन्म,जीवन और मृत्यु की, भरण-पोषण की कठिनता और अव्यवस्था और रोग की सुलभता की और तुच्छ, असन्तुष्ट प्राणिक लालसाओं की अधीनता की सामान्य अवस्थाओं से मुक्त हो, और तब यह तर्कसंगत, दार्शनिक सत्य पर आधारित एक ऐसी संभावना बन जाता है जो उस सबके अनुकूल होती है जो हमने अभीतक अपनी सत्ता के व्यक्त और गुप्त सत्य के बारे में जाना है, अनुभव किया है या जिसे हम सोच पाये हैं।

युक्ति-युक्त ढंग से ऐसा ही होना भी चाहिये, क्योंकि हमारी सत्ता के तत्त्वों के अविच्छिन्न अनुक्रम और उनके घनिष्ठ परस्पर संबंध से यह बहुत स्पष्ट है कि यह असंभव है कि उनमें से एक कटा हुआ और अभिशप्त हो जब कि बाकी सब दिव्य मुक्ति के लिये समर्थ हों। मनुष्य का भौतिक से अतिमानसतक का आरोहण निश्चय ही इस संभावना का द्वार खोल देगा कि जो आध्यात्मिक या कारण शरीर हमारी अतिमानसिक सत्ता के लिये उपयुक्त हो उसकी ओर द्रव्य की भूमिकाओं में उसके अनुरूप एक आरोहण हो और अतिमानस द्वारा निम्नतर तत्त्वों पर विजय

और उसके द्वारा उनका मुक्त होकर दिव्य जीवन और दिव्य मानस में पहुंचना निश्चय ही अतिमानसिक द्रव्य के तत्त्व और शक्ति द्वारा हमारी भौतिक सीमाओं पर विजय को संभव बना देगा। और इसका अर्थ है न केवल एक निर्बन्ध चेतना का, ऐसे मन और इन्द्रिय बोध का विकास जो शारीरिक अहं की दीवारों में बंद न हो या शारीरिक इन्द्रियों के दिये हुए ज्ञान के दरिद्र आधारतक सीमित न हो, बल्कि एक ऐसी प्राणशक्ति का विकास जो अपनी मर्त्य सीमाओं से अधिकाधिक मुक्त हो, एक ऐसे शारीरिक जीवन का विकास हो जो दिव्य निवासी के योग्य हो और यह हमारे वर्तमान शारीरिक निर्माण के प्रति आसक्ति या उसके बंधन के अर्थ में नहीं बल्कि भौतिक शरीर के नियम के अतिक्रमण के अर्थ में मृत्यु पर विजय हो, एक पार्थिव अमरता हो क्योंकि दिव्य आनंद से, सत्ता के मौलिक आनंद से अमरता के प्रभु उस आनंद की मदिरा को, रहस्यमय सोम को, इन सजीव मानसिकभावापन्न जड़द्रव्य के पात्रों में उंडेलते आते हैं। शाश्वत और सुंदर प्रभु द्रव्य के कोषों में सत्ता और प्रकृति के पूर्ण रूपांतर के लिये प्रवेश करते हैं।

अध्याय २७

सत्ता के सप्त तंतु

पाकः पृच्छामि मनसाविजानन् देवानामेना निहिता पदानि।
वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ॥

अपने मन के अज्ञान में, मैं देवों के इन पदों से पूछता हूं जो भीतर निहित हैं। सर्वज्ञ देवों ने एक वर्ष के शिशु को लिया है और उन्होंने उसके चारों ओर कपड़ा बनाने के लिये सात सूत बुने हैं।

ऋग्वेद १.१६४.५

प्राचीन द्रष्टाओं ने सत्ता के जिन सात महान् तत्त्वों को समस्त विश्व-जीवन के आधार और सप्तगुण प्रणाली के रूप में निर्धारित किया था उनकी छान-बीन के द्वारा हम विकास और प्रतिविकास की भूमिकाओं को देख आये हैं और जिस ज्ञान तक पहुंचने का प्रयास कर रहे हैं उसके आधार तक पहुंच गये हैं। हमने निर्धारित किया है कि विश्व के अंदर जो कुछ है उसका मूल, आधान, प्रथम और अंतिम सत् तत्त्व है परात्पर और अनंत सत्, चित् और आनंद का त्रिविध तत्त्व जो दिव्य पुरुष का स्वरूप है। चेतना के दो पहलू हैं—ज्योतिर्मय और कार्य-साधक, आत्म-अभिज्ञता की अवस्था और शक्ति तथा आत्म-शक्ति की अवस्था और शक्ति जिसके द्वारा सत्-पुरुष अपने-आपको चाहे निष्क्रिय अवस्था में या सक्रिय गति में, स्व-प्रतिष्ठित रखता है। क्योंकि अपनी सर्जक क्रिया में वह सर्वशक्तिमान् आत्मचेतना के द्वारा उस सबको जानता है जो उसके अंदर छिपा है और एक सर्वदर्शी आत्म-ऊर्जा द्वारा अपनी शक्यताओं के विश्व को पैदा करता और उसपर शासन करता है। सर्व-सत् की इस सृजनात्मक क्रिया की ग्रंथि चौथे मध्यवर्ती तत्त्व अतिमानस या सत् भाव में मिलती है जिसमें दिव्य ज्ञान आत्म-सत्ता और आत्म-अभिज्ञता के साथ एक रहता है और एक क्रियागत इच्छा उस ज्ञान के साथ पूर्ण रूप से एकतान होती है क्योंकि वह अपने-आप अपने द्रव्य और स्वभाव में आत्म-चेतन स्वयंभू और ज्योतिर्मय क्रिया में गतिशील है। ज्ञान और इच्छा निर्भ्रांत रूप से वस्तुओं की गति, रूप और विधान को ठीक-ठीक उनके स्वयंभू सत्य के अनुसार और उसकी अभिव्यक्ति के तात्पर्यों के साथ सामंजस्य में विकसित करते हैं।

सृष्टि एकत्व और बहुत्व के दोहरे तत्त्व पर निर्भर रहती और गति करती है। यह भाव और शक्ति और रूप की बहुविधता है जो मौलिक ऐक्य की अभिव्यक्ति है और शाश्वत ऐक्य बहुविध लोकों का आधार और वास्तविकता है जो उनकी लीला को संभव बनाता है। अतः अतिमानस विज्ञान और प्रज्ञान की दोहरी कर्मशक्ति

द्वारा आगे बढ़ता है। तात्त्विक ऐक्य से चलता हुआ यह परिणामगत बहुत्व की ओर जाता है। वह सभी चीजों को अपने अंदर इस तरह समाविष्ट करता है मानों स्वयं वह अपने बहुविध रूपों को धारण किये हुए 'एक' है और सभी वस्तुओं का अलग-अलग प्रज्ञान स्वयं अपने अंदर इस तरह पाता है मानों वे उसकी इच्छा और ज्ञान के विषय हैं। जब कि उसकी मौलिक आत्म-अभिज्ञता के लिये सभी चीजें एक ही सत्ता, एक चेतना, एक इच्छा, एक ही आत्मानंद हैं और चीजों की सारी गति एक और अविभाज्य गति है, वह अपनी क्रिया में एकत्व से बहुत्व की ओर और बहुत्व से एकत्व की ओर चलता है। तब वह उनके बीच एक व्यवस्थित संबंध और एक ऐसा विभाजन बनाता है जिसका आभास होता है परंतु उसमें कोई बाधित करने वाला सत्य नहीं होता। यह एक सूक्ष्म विभाजन होता है जो अलग नहीं करता बल्कि अविभाज्य के अंदर एक सीमांकन और निर्धारण होता है। अतिमानस वह दिव्य विज्ञान है जो लोकों का सृजन, शासन और उनको धारण करता है : वह वह गुप्त प्रज्ञा है जो हमारे ज्ञान और हमारे अज्ञान दोनों को धारण किये रहती है।

हमने यह भी जान लिया है कि मन, प्राण और जड़ तत्त्व इन तीन उच्चतर तत्त्वों के त्रिविध रूप हैं जो, जहां तक हमारे विश्व का संबंध है, अज्ञान के तत्त्व के आधीन, एकमेव की अपनी विभाजन और बहुत्व की लीला में, ऊपरी तल पर आभासी आत्म-विस्मृति के आधीन रहकर कार्य कर रहे हैं। वास्तव में ये तीनों दिव्य चतुष्टय की गौण शक्तियां हैं। मन अतिमानस की एक गौण शक्ति है जो विभाजन के दृष्टिकोण में स्थित है। वह वहां सचमुच अपने पीछे रहनेवाले एकत्व को भूल जाता है हालांकि वह अतिमानस से फिर से प्रकाश पाकर उस एकत्व तक लौट जाने में समर्थ होता है। इसी तरह प्राण सच्चिदानंद के ऊर्जा पक्ष की गौण शक्ति है, वह मन के द्वारा बनाये गये विभाजन के दृष्टिकोण से रूप और सचेतन ऊर्जा की लीला को कार्यान्वित करता है, जड़ पदार्थ सत्ता के पदार्थ का वह रूप है जिसे सच्चिदानंद की सत्ता अपने-आपको अपनी चेतना और शक्ति की इस प्रपंचात्मक क्रिया के आधीन करते समय धारण करती है।

इनके अतिरिक्त एक चौथा तत्त्व भी है जो मन, प्राण और शरीर की ग्रंथि में अभिव्यक्त होता है जिसे हम अंतरात्मा या पुरुष कहते हैं। इसके दो रूप होते हैं : एक सामने कामना-पुरुष जो वस्तुओं पर अधिकार करने और उनका मजा लेने के लिये कोशिश करता है और दूसरा पीछे जो कामना-पुरुष से पूरी तरह या बड़ी हदतक छिपा रहता है। यह है सच्ची चैत्य सत्ता जो आत्मा के अनुभवों का वास्तविक भंडार है। हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि यह चौथा मानव तत्त्व अनंत आनंद का, तीसरे दिव्य तत्त्व का प्रक्षेप और उसकी क्रिया है। लेकिन यह क्रिया इस जगत् में होनेवाले अंतरात्मा के विकास-क्रम की अवस्था के आधीन और

हमारी चेतना के अनुरूप होती है। जैसे भगवान् का अस्तित्व स्वभावतः अनंत चेतना और उस चेतना की स्व-शक्ति है उसी तरह उसकी अनंत चेतना का स्वभाव भी शुद्ध और अनंत आनंद है। आत्मवत्ता और आत्म-अभिज्ञता उसके आत्मानंद का सार हैं। विश्व भी इस दिव्य आत्मानंद की लीला है और उस लीला का आनंद पूरी तरह से वैश्वात्मा को प्राप्त रहता है परंतु व्यष्टि में अज्ञान और विभाजन की क्रिया के कारण यह अन्तस्तलीय और अतिचेतन सत्ता में रुका रहता है। हमारी सतह पर वह नहीं रहता और वैश्व और परात्पर की ओर व्यष्टिगत चेतना के विकास द्वारा उसे खोजकर पाना और अधिकार में करना होता है।

अतः अगर हम चाहें तो सात की जगह आठ[1] तत्त्व रख सकते हैं और तब हम देखेंगे कि हमारी सत्ता दिव्य सत्ता का एक तरह का अपवर्तन है जो आरोहण और अवरोहण के विपरीत क्रम में इस तरह आयोजित है :

सत्	जड़ या अन्न
चित्-शक्ति	प्राण
आनंद	चैत्य पुरुष या अंतरात्मा
अतिमानस	मन

भगवान् वैश्व सत्ता में शुद्ध सत् से चित्-शक्ति और आनंद की लीला तथा अतिमानस के सृजनात्मक माध्यम द्वारा उतरते हैं। हम जड़ से विकसनशील प्राण, अंतरात्मा और मन तथा अतिमानस के ज्योतिर्मय माध्यम द्वारा दिव्य सत्ता की ओर चढ़ते हैं। परार्द्ध और अपरार्द्ध दोनों की गांठ वहां है जहां मन और अतिमानस बीच में एक पर्दा रखते हुए आपस में मिलते हैं। मानव जाति में दिव्य जीवन की शर्त्त है उस पर्दे का भेदन करना क्योंकि, उस भेदन के द्वारा निम्नतर सत्ता की प्रकृति में उच्चतर के ज्योतिर्मय अवतरण के द्वारा और निम्नतर सत्ता के उच्चतर सत्ता की प्रकृति में बलपूर्वक आरोहण द्वारा मन अपनी दिव्य ज्योति को सर्वधारक अतिमानस में फिर से पा सकता है, अंतरात्मा अपने दिव्य स्व को सब पर अधिकार रखने वाले सर्वानंद में प्राप्त कर सकती है, प्राण अपनी दिव्य शक्ति को सर्वशक्तिमान् चित्-शक्ति की लीला में फिर से अधिकार में ला सकता है और जड़ मानों दिव्य सत्ता के रूप में अपनी दिव्य स्वाधीनता की ओर खुल सकता है। और अगर इस विकास का, जिसका यहां इस समय मुकुट और सिरमौर मानव प्राणी है, उसका अगर कोई लक्ष्य है और वह लक्ष्य निरुद्देश्य चक्कर लगाने और उस चक्कर में से वैयक्तिक मुक्ति पाने के अलावा कुछ और है, और अगर इस प्राणी की—केवल यही यहां ऐसा प्राणी है जो आत्मा और जड़ के बीच इस रूप में अवस्थित है कि उसके पास उनके बीच मध्यस्थता करने की शक्ति है—अनंत

[1] वैदिक ऋषि सात किरणों की बात कहते हैं पर कभी-कभी आठ, नौ, दस और बारह की भी।

शक्यताओं का कुछ अर्थ है और वह अर्थ वैश्व प्रयास से निराश और विरक्त होकर जीवन के भ्रम से परम जागरण और उसके पूर्ण परित्याग के अलावा कुछ और है तो इस जीव में ऐसा प्रकाशमय और शक्तिशाली रूपांतर और भगवान् का आविर्भाव ही वह ऊंचा उठा हुआ लक्ष्य और परम अभिप्राय होगा।

लेकिन ऐसी मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक अवस्थाओं की ओर मुड़ने से पहले, जिनमें यह रूपांतर एक तात्त्विक संभावना से बदलकर क्रियात्मक शक्यता बन जाये, हमें बहुत कुछ सोचना होगा। क्योंकि हमें केवल सच्चिदानंद के भौतिक जगत् में अवतरण के सारभूत तत्व को ही नहीं देखना होगा, जिन्हें हम पहले ही देख आये हैं, बल्कि यहां पर उसकी व्यवस्था की विशाल योजना और चित्-शक्ति की अभिव्यक्त सामर्थ्य की क्रिया और उसके स्वभाव को भी देखना होगा जो उन परिस्थितियों पर शासन करते हैं जिनमें हमारा निवास है। अभी हमें पहले यह देखना है कि हमने जिन सात या आठ तत्त्वों की परीक्षा की है वे समस्त वैश्व सृष्टि के लिये जरूरी हैं और हमारे अंदर—इस 'वर्ष भर के बच्चे में' जो कि हम अभी तक हैं, क्योंकि हम अभी तक विकासशील प्रकृति के वयस्क होने से दूर हैं—व्यक्त या अव्यक्त रूप से मौजूद हैं। उच्चतर त्रयी समस्त अस्तित्व और अस्तित्व की लीला का उद्गम और आधार है। और सारे विश्व को उसकी सद्वस्तु की अभिव्यक्ति और क्रिया होना चाहिये। कोई विश्व सत्ता का ऐसा रूप नहीं हो सकता जो निरपेक्ष नास्ति और शून्य में से उठ खड़ा हुआ हो और अपनी रूप-रेखा प्रस्तुत कर रहा हो और एक असत् रिक्तता के आगे खड़ा हो। उसे या तो अनंत सत्ता में, जो सभी रूपों के परे है, एक रूप होना चाहिये या वह स्वयं सर्व सत्ता हो। वस्तुतः जब हम अपने-आपको वैश्व सत्ता के साथ एक कर देते हैं तो हम देखते हैं कि वह एक ही साथ दोनों चीजें है। यानी वह सर्व-सत्ता है जो अपने-आपको देश और काल के रूप में अपनी कल्पना के अनुसार आत्म-प्रसारण के छन्दों की अनंत शृंखला में रूपायित करता है। इसके सिवा हम देखते हैं कि यह वैश्व क्रिया या कोई भी वैश्व क्रिया इन सभी रूपों और गतियों को उत्पन्न और नियमित करनेवाली सत्ता की एक अनंत शक्ति की क्रीड़ा के बिना असंभव रहती है और उसी तरह वह शक्ति एक अनंत चेतना की क्रिया सूचित करती है या वह शक्ति अपने-आप ही वह क्रिया होती है क्योंकि वह अपने स्वभाव से एक वैश्व इच्छा है जो सभी संबंधों को निर्धारित करती और अपनी ही अभिज्ञता की विधि से उनका प्रज्ञान प्राप्त करती है। अगर उस वैश्व अभिज्ञता-विधि के पीछे विज्ञान चेतना न होती तो वह यह निर्धारण और प्रज्ञान-प्राप्ति न कर पाती। सत्-पुरुष के विकसित होते हुए आत्म-रूपायण या आत्म-संभूति में, जिसे हम विश्व कहते हैं, सत्ता के संबंधों का आरंभ, उनका धारण, उनका निर्धारण और प्रतिबिंबन उस विज्ञान चेतना से ही, उस वैश्व अभिज्ञता-विधि के साथ ही होते हैं।

अंत में, चूंकि चेतना इस तरह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है, ज्योतिर्मय रूप से अपने ऊपर अधिकार रखती है और यह पूरा-पूरा ज्योतिर्मय अधिकार अपने स्वरूप में आनंद अवश्य होता है क्योंकि वह इसके सिवा कुछ नहीं हो सकता, अतः एक बृहत् वैश्व आत्मानंद को वैश्व सत्ता का कारण, सार-तत्त्व और लक्ष्य होना चाहिये। प्राचीन ऋषि कहते हैं, "यदि यह जीवन के आनंद का सबको घेरे रहनेवाला आकाश, जिसमें हम निवास करते हैं, न होता, अगर वह आनंद हमारा आकाश न होता तो कोई सांस न ले पाता, कोई जी न सकता"। यह आत्मानंद अवचेतन हो सकता है, सतह पर खोया हुआ-सा मालूम हो सकता है लेकिन केवल इतना ही जरूरी नहीं है कि वह हमारी जड़ों में हो बल्कि समस्त सत्ता को आवश्यक रूप से उसे खोजने और पा लेने के लिये एक अन्वेषण और उसतक पहुंचने का प्रयास होना चाहिये। और विश्व के अंदर प्राणी जिस अनुपात में अपने-आपको पाता है, चाहे इच्छा और शक्ति में हो या प्रकाश और ज्ञान में, सत्ता और विस्तार में हो या प्रेम और स्वयं आनंद में, उसे गुप्त आनंद की किसी चीज की ओर जागना चाहिये। ज्ञान द्वारा सत्ता का आनंद, उपलब्धि का आनंद, इच्छा और शक्ति या सृजन-शक्ति द्वारा अधिकार करने का आनंदातिरेक, प्रेम और हर्ष में मिलन का उल्लास, विस्तृत होते हुए जीवन की उच्चतम अवस्थाएं हैं क्योंकि वे स्वयं अस्तित्व का सार-तत्त्व हैं, चाहे वह उसकी जड़ों में छिपा हो या अभी तक अदृष्ट ऊंचाइयों में—तो जहां कहीं वैश्व सत्ता अपने-आपको अभिव्यक्त करती है इन तीनों को उसके पीछे या उसके भीतर होना चाहिये।

किंतु अनंत सत्, चित् और आनंद अगर इस चौथे पद, अतिमानस या दिव्य विज्ञान को अपने में धारण या विकसित न करें और अपने में से प्रकट न करें तो उन्हें अपने-आपको दृश्य सत्ता में प्रकट करने की जरूरत ही न हो और अगर वे प्रकट हो ही जायें तो वैश्व सत्ता न होती बल्कि बिना किसी निश्चित व्यवस्था या बिना संबंध के रूपों की अनंतता होती। हर एक विश्व में ज्ञान और इच्छा की शक्ति होनी चाहिये जो अनंत संभाव्यता में से निश्चित संबंध निर्धारित करती है, बीज में से परिणाम को विकसित करती है, वैश्व विधान के सब सबल छन्दों को प्रकट करती और लोकों को उनके अमर और अनंत द्रष्टा तथा शासक की तरह देखती और शासित करती है।[1] यह शक्ति स्वयं सच्चिदानंद के सिवा और कुछ नहीं है; यह ऐसी किसी चीज का सृजन नहीं करती जो उसकी अपनी आत्म-सत्ता में न हो और इस कारण समस्त वैश्व और वास्तविक विधान बाहर से आरोपित की हुई चीज न होकर भीतर से आता है, समस्त विकास आत्म-विकास है। सभी बीज और परिणाम वस्तुओं के सत्य का बीज हैं और उस बीज का परिणाम उसकी संभाव्यताओं में से निश्चित होता है। इसी कारण कोई भी विधान निरपेक्ष नहीं है

[1] *कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः।* ईशोपनिषद् ८

क्योंकि केवल अनंत ही निरपेक्ष है और हर चीज अपने अंदर अपने निश्चित रूप और धारा से एकदम परे अंतहीन संभाव्यताओं को समाये रखती है। ये रूप और धारा केवल भीतर की अनंत स्वाधीनता से निःसृत होनेवाले भाव द्वारा आत्म-परिसीमन से निर्धारित होते हैं। आत्म-परिसीमन की यह शक्ति अनिवार्य रूप से असीम सर्व-सत्ता में अन्तर्लीन रहती है। अनंत अनंत न होगा अगर वह बहुविध सान्तताओं को धारण न कर सके। निरपेक्ष निरपेक्ष न होगा यदि वह ज्ञान, शक्ति और इच्छा में और सत्ता की अभिव्यक्ति में आत्म-निर्धारण की असीम सामर्थ्य से वंचित हो। तो यह अतिमानस सत्य या सत्य-संकल्प है जो समस्त वैश्व शक्ति और सत् में अन्तर्लीन है; यह जरूरी है ताकि वह अपने-आप अनंत रहता हुआ अभिव्यक्ति के संबंध, क्रम और विस्तृत दिशाओं को निर्धारित, संयोजित और धारण कर सके। वैदिक ऋषियों की भाषा में जैसे सत्, चित् और आनंद अनाम के तीन सबसे महान् नाम हैं उसी तरह अतिमानस चौथा[1] नाम है। यह तत् के अवरोहण में और हमारे आरोहण में चौथा है।

लेकिन मन, प्राण और जड़ पदार्थ, निचली त्रयी भी वैश्व सत्ता के लिये अनिवार्य है। यह जरूरी नहीं है कि ये उस रूप में, उस क्रिया या उन परिस्थितियों में हों जिन्हें हम धरती पर या इस जड़ विश्व में जानते हैं बल्कि किसी प्रकार की क्रिया में हों वह चाहे जितनी प्रकाशमान्, चाहे जितनी शक्तिशाली, चाहे जितनी सूक्ष्म क्यों न हो। क्योंकि मन तत्त्वतः अतिमानस की वह क्षमता है जो नापती, सीमित करती है, जो एक विशेष केन्द्र निश्चित करती और वहां से वैश्व गतिविधि और उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया को देखती है। मान लें कि किसी लोक विशेष में, किसी स्तर या वैश्व व्यवस्था में, जरूरी नहीं कि मन सीमित हो पर जो सत्ता मन का एक गौण क्षमता के रूप में उपयोग करती है, उसके लिये जरूरी नहीं कि वह वस्तुओं को अन्य केन्द्रों या दृष्टिकोणों से देखने में असमर्थ हो या सबके वास्तविक केन्द्र से या वैश्व आत्म-प्रसारण में देखने में अक्षम हो फिर भी अगर वह भागवत क्रिया के अमुक प्रयोजनों के लिये अपने-आपको सामान्य रूप से अपने दृढ़ दृष्टिबिंदु में स्थिर करने में असमर्थ है, यदि केवल वैश्व आत्म-प्रसारण या अनंत केन्द्र हों जिनमें प्रत्येक को निर्धारित या मुक्त भाव से सीमित करनेवाली क्रिया न हो तो कोई विश्व न होगा, केवल एक सत् रहेगा जो अपने अंदर अनंत रूप से चिंतन कर रहा होगा जैसे कोई स्रष्टा या कवि सृजन के निर्धारक कार्य की ओर बढ़ने से पहले स्वतंत्र रूप से, लचीलेपन से नहीं, चिंतन करता है। अस्तित्व के अनंत सोपान में कहीं-न-कहीं ऐसी अवस्था का अस्तित्व अवश्य होगा, लेकिन जब हम विश्व कहते हैं तो हमारा मतलब उससे नहीं होता। उसमें चाहे जैसी व्यवस्था क्यों न हो, वह होगी

[1] *'तुरीयं स्विद्'*, "कोई चौथा", इसीको *'तुरीयं धाम'*, सत्ता का चौथा धाम या पद भी कहा गया है।

एक तरह से अनिश्चित, ढीली व्यवस्था, जैसी व्यवस्था अतिमानस संबंधों के निर्धारित विकास, मापन और पारस्परिक क्रिया के कार्य की ओर बढ़ने से पहले कर सकता है। उस माप और क्रिया-प्रतिक्रिया के लिये मन आवश्यक है। लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने-आपको अतिमानस की एक गौण क्रिया के सिवा कुछ और माने या संबंधों की क्रिया-प्रतिक्रिया को अपने-आप बंदी बने हुए अहंकार के आधार पर उस रूप में विकसित करे जिसे हम पार्थिव प्रकृति में सक्रिय देखते हैं।

मन एक बार अस्तित्व में आ जाये तो प्राण और द्रव्य रूप भी आ जाते हैं क्योंकि प्राण केवल शक्ति और क्रिया का, चेतना के अनेक नियत केन्द्रों से ऊर्जा के संबंध और परस्पर-क्रिया का निर्धारण मात्र है। यह जरूरी नहीं है कि ये केन्द्र स्थान और काल के नियत हों, वे एक वैश्व सामंजस्य को सहारा देनेवाले शाश्वत के आत्मा-रूपों या सत्ताओं के निरंतर सह-अस्तित्व में नियत हो सकते हैं। हम जिस जीवन को जानते हैं या जिसकी कल्पना कर सकते हैं, उससे वह जीवन बहुत ज्यादा भिन्न हो सकता है लेकिन तत्त्वतः यह वही तत्त्व काम में लगा होगा जिसे हम यहां जीवन-शक्ति के रूप में चित्रित देखते हैं—यह वह तत्त्व है जिसे प्राचीन भारतीय मनीषियों ने वायु या प्राण का नाम दिया था। यह विश्व में वह प्राण-द्रव्य, सद्वस्तुमय इच्छा और ऊर्जा है जो सत्ता के नियत रूप और कर्म तथा सचेतन क्रियाशक्ति में कार्यान्वित होती है। हो सकता है कि द्रव्य भी हमारे जड़ शरीर के बोध और हमारे दृष्टिकोण से बहुत भिन्न हो, उससे बहुत अधिक सूक्ष्म, अपने आत्म-विभाजन और पारस्परिक प्रतिरोध के नियम में बहुत कम कठोरता से बांधनेवाला हो। हो सकता है वहां शरीर या रूप कारागार न होकर उपकरण मात्र हों; फिर भी विश्व की क्रिया-प्रतिक्रिया के लिये रूप और द्रव्य का कुछ निर्धारण हमेशा आवश्यक रहेगा, भले वह केवल मानसिक शरीर हो या कोई ऐसी चीज हो जो अधिक-से-अधिक स्वतंत्र मानसिक शरीर से भी अधिक ज्योतिर्मय, अधिक सूक्ष्म हो और अधिक सामर्थ्य और स्वतंत्रता के साथ क्रिया करती हो।

इसका मतलब यह निकलता है कि जहां कहीं विश्व है, जहां आरंभ में भले एक ही तत्त्व दिखायी देता हो, चाहे शुरू में यही लगता हो कि वही वस्तुओं का एकमात्र तत्त्व है और जगत् में प्रकट होनेवाली बाकी सभी चीजें उसीके रूपों और परिणामों से बढ़कर और कुछ न दीखती हों और अपने-आपमें वैश्व अस्तित्व के लिये जरूरी न हों, तो सत्ता के द्वारा प्रकट किया गया यह चेहरा उसके वास्तविक सत्य का केवल भ्रांतिमय मुखौटा या आभास ही हो सकता है। जहां विश्व में एक तत्त्व ही अभिव्यक्त हो वहां बाकी सब भी केवल उपस्थित और निष्क्रिय रूप से छिपे नहीं रहते बल्कि गुप्त रूप से सक्रिय भी रहते हैं। किसी भी लोक को ले लें, तो उसकी सत्ता के क्रम और सामंजस्य ऐसे हो सकते हैं कि ये सातों तत्त्व

क्रियाशीलता की कम या अधिक मात्रा में खुले रूप से उपस्थित हों। हो सकता है कि किसी और लोक में वे सब एक में अंतर्लीन हों और वह उस लोक के विकास का प्राथमिक या आधारभूत तत्त्व बन जाये। लेकिन जो अंतर्लीन है उसका विकास जरूरी है। सत्ता की सातगुनी शक्ति का विकास, उसके सप्तविध नाम की उपलब्धि ऐसे किसी भी लोक की नियति होगी जो देखने में एक ही शक्ति के अंदर सबके अंतर्निहित होने से आरंभ होता है।[1] इसलिये वस्तुओं की प्रकृति के अनुसार जड़-भौतिक विश्व अपने छिपे हुए प्राण में से प्रकट प्राण को, अपने छिपे हुए मन से प्रकट मन को विकसित करने के लिये बाधित था और उसी वस्तुस्थिति के अनुसार वह अपने अंदर छिपे अतिमानस में से प्रकट अतिमानस को और अपने अंदर छिपी आत्मा में से सच्चिदानंद की त्रिविध महिमा को अवश्य विकसित करेगा। एकमात्र प्रश्न यह है कि क्या पृथ्वी उस आविर्भाव का मंच बनेगी या मानव सृष्टि इस भौतिक मंच पर या कहीं और, काल के विशाल चक्रों के इस आवर्तन में या किसी अन्य में उस आविर्भाव का वाहन और उपकरण बनेगी ? प्राचीन ऋषि मनुष्य की इस संभावना पर विश्वास करते थे और इसे उसकी दिव्य नियति मानते थे। आधुनिक विचारक इसके बारे में सोचता तक नहीं और अगर सोचे भी तो या तो उसका प्रतिवाद करेगा या उसपर संदेह। अगर वह अतिमानव का अंतर्दर्शन पाता भी है तो मन या प्राण के बढ़े-चढ़े रूप में। वह किसी और आविर्भाव को नहीं स्वीकार करता, इन तत्त्वों के परे और कुछ नहीं देखता, क्योंकि अभीतक इन्होंने ही हमारी सीमा और हमारी परिधि को बनाया है। इस प्रगतिशील जगत् में, इस मानव प्राणी के लिये, जिसमें दिव्य चिनगारी चेतायी गयी है, वास्तविक बुद्धिमत्ता उच्चतर अभीप्सा रखने में है बजाय अभीप्सा को अस्वीकार करने अथवा ऐसी आशा रखने में जो अपने-आपको ऊपर से दीखनेवाली संभावनाओं की उन संकरी दीवारों में घेर लेती और सीमित करती है, जो हमारी बीच की प्रशिक्षण शालाएं ही हैं। वस्तुओं की आध्यात्मिक व्यवस्था में हम अपनी दृष्टि और अभीप्सा को जितना ही ऊंचा प्रक्षिप्त करेंगे उतना ही ऊंचा सत्य हमपर उतरना चाहेगा क्योंकि यह सत्य पहले ही से हमारे अंदर मौजूद है और अभिव्यक्त प्रकृति में जो आवरण उसे छिपाये हुए है उससे छुटकारा पाने के लिये पुकार रहा है।

[1] हम जिस किसी लोक को लें उसमें अन्तर्लयन आवश्यक नहीं है। एक मुख्य तत्त्व के आगे औरों का गौण स्थान हो सकता है, हो सकता है कि और सब उस एक में ही समाविष्ट रहें। ऐसी हालत में उस लोक-व्यवस्था के लिये विकास जरूरी नहीं है।

अध्याय २८

अतिमानस, मानस और अधिमानसी माया

ऋतेन ऋतमपिहितं ध्रुवं वां सूर्यस्य यत्र विमुचन्त्यश्वान्।
दश शता सह तस्थुस्तदेकं देवानां श्रेष्ठं वपुषामपश्यम्॥

एक ध्रुव है, एक ऋत है जो एक ऋत से छिपा हुआ है जहां सूर्य अपने घोड़ों को खोलता है। दस हजार (उसकी किरणें) इकट्ठी हो गयीं—वह एक तत्। मैंने देवों के अत्यंत श्रेष्ठ रूपों को देखा है।

ऋग्वेद ५.६२.१

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥
पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत् ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥

सत्य का मुख एक सुनहरे पात्र से ढका हुआ है, हे पोषक सूर्य, सत्य के धर्म के लिये, दृष्टि के लिये उसे हटा दो। हे सूर्य, हे एकमात्र द्रष्टा, अपनी किरणों को क्रमबद्ध करो, उन्हें इकट्ठा करो—अपना मंगलतम रूप मुझे दिखलाओ। वह जो पुरुष सब जगह है, वही मैं हूं।

ईशोपनिषद् १५,१६

सत्यं, ऋतं, बृहत्।

सत्य, ऋत, बृहत्। अथर्ववेद १२-१, १०

अभवत् . . . सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्। यदिदं किञ्च॥

वह सत्य और मिथ्या दोनों हो गया। वह सत्य बन गया, जो कुछ यह है वह सब भी। तैत्तिरीयोपनिषद् २.६

एक बात स्पष्ट करना जरूरी है जो अभीतक अस्पष्ट छोड़ दी गयी है। वह है अज्ञान में स्खलित होने की प्रक्रिया, क्योंकि हमने देखा है मन, प्राण और जड़ के मौलिक स्वरूप में कोई चीज ऐसी नहीं जो ज्ञान से पतन को जरूरी बनाती हो। वस्तुतः यह दिखाया जा चुका है कि चेतना का विभाजन अज्ञान का आधार है, व्यष्टिगत चेतना का वैश्व और परात्पर से विभाजन जिनका वह अब भी एक अंतरंग भाग रहता है और तत्त्वतः अलग नहीं हो सकता। मन का उस अतिमानसिक सत्य से विभाजन जिसकी उसे एक गौण क्रिया होना चाहिये, प्राण

का आद्या शक्तिसे विभाजन जिसका वह एक ऊर्जा रूप है और जड़ का मूल सत् से विभाजन जिसका वह एक द्रव्य रूप है। लेकिन अब भी यह स्पष्ट करना बाकी है कि अविभाज्य में यह विभाजन आया कैसे? सत्ता में चित्-शक्ति की किस विशेष आत्म-क्षयी या आत्म-विलोपी क्रिया से ऐसा हुआ? चूंकि सब कुछ उसी शक्ति की गतिविधि है इसलिये अज्ञान का क्रियात्मक और प्रभावकारी उद्भव केवल उसी शक्ति की किसी ऐसी क्रिया से ही हो सकता है जो उसकी अपनी पूर्ण ज्योति और शक्ति को धुंधला कर दे। लेकिन हम इस समस्या को तब तक के लिये छोड़ सकते हैं जब हम ज्ञान-अज्ञान के उस दोहरे व्यापार की परीक्षा ज्यादा नजदीक से करेंगे जो हमारी चेतना को प्रकाश और अंधकार का मिश्रण, अतिमानसिक सत्य के पूर्ण दिवस और जड़ निश्चेतना की रात के बीच एक अर्द्ध-प्रकाश बनाता है। अभी बस इतना देखना जरूरी है कि वह अपने सार रूप में चित्-सत्ता की किसी एक गति या स्थिति पर ऐकांतिक रूप से केंद्रीकरण है, वह बाकी चेतना और सत्ता को पीछे छोड़ देता और उसे उस एक गति के वर्तमान समय के आंशिक ज्ञान से ढक देता है।

फिर भी इस समस्या का एक ऐसा पक्ष है जिसपर तुरंत विचार करना होगा। यह है वह खाई जो मन, जैसा कि हम उसे जानते हैं, उसके और उस अतिमानसिक ऋत-चित् के बीच बनायी गयी है जिसके बारे में हमने देखा है कि हमारा मन अपने मूल रूप में उसकी गौण क्रिया है। क्योंकि यह खाई काफी बड़ी है और चेतना के इन दो स्तरों के बीच अगर मध्यवर्ती श्रेणियां न होतीं तो एक से दूसरे की ओर संक्रमण, चाहे आत्मा के जड़ में उतरते हुए प्रतिविकास का हो या जड़ में छिपी हुई श्रेणियों का आत्मातक वापिस पहुंचनेवाला विकास हो, यह एकदम असंभव नहीं तो बहुत अधिक असंभाव्य जरूर लगता है। क्योंकि मन, जैसा हम उसे जानते हैं, अज्ञान की शक्ति है जो सत्य को खोज रही है, उसे पाने के लिये कठिनाई से टटोल रही है किंतु वह शब्द और भाव में, मन की रचनाओं में, इन्द्रियों की रचनाओं में उस सत्य की मानसिक रचनाओं और प्रतिरूपों तक ही पहुंच पाती है मानों उसकी प्राप्ति की सीमा सुदूर सद्वस्तु के चमकते या धुंधले छायाचित्रों या चलचित्रों तक सीमित है। इसके विपरीत, अतिमानस सत्य को वास्तविक और सहज-स्वाभाविक रूप से अधिकार में किये रहता है और उसकी रचनाएं परम सद्वस्तु के रूप होती हैं न कि उसकी रचनाएं, प्रतिरूप या संकेतात्मक आकार। निःसंदेह, हमारे अंदर विकसित होनेवाले मन को प्राण और शरीर की अंधकार की पेटी में बंद रहने के कारण बाधा पहुंचती है और प्रतिविकासात्मक अवतरण में मौलिक मानसिक तत्त्व अधिक शक्तिशाली वस्तु है जिसके पास हम पूरी तरह नहीं पहुंच पाये हैं। वह अपने क्षेत्र या प्रदेश में स्वाधीनता के साथ काम कर सकता है, अधिक प्रकटनकारी रचनाओं का, अधिक सूक्ष्मता से प्रेरित

रचनाओं का, अधिक सूक्ष्म तथा सार्थक मूर्त रूपों का निर्माण कर सकता है जिनमें सत्य की ज्योति उपस्थित और इन्द्रियगोचर रहती है। लेकिन फिर संभावना यह रहती है कि उसकी विशिष्ट क्रिया भी तत्त्वतः भिन्न नहीं होगी क्योंकि वह भी अज्ञान के अंदर गति है, ऋत-चित् का ऐसा भाग नहीं है जो उससे अलग न हुआ हो। सत्ता के आरोहण और अवरोहणकारी सोपान में कहीं पर एक मध्यवर्ती शक्ति और चेतना का स्तर होना चाहिये, शायद इससे कुछ अधिक, कोई ऐसी चीज जिसमें मौलिक सृजन-शक्ति हो, जिसके द्वारा ज्ञान में स्थित मन का प्रतिविकासात्मक संक्रमण अज्ञान में स्थित मन में हुआ और जिसके द्वारा फिर विकासात्मक उल्टा संक्रमण समझ में आने लायक और संभव बनता है। प्रतिविकासात्मक संक्रमण के लिये यह मध्यस्थता एक युक्ति-संगत अनिवार्यता और विकासात्मक के लिये एक व्यावहारिक आवश्यकता है। क्योंकि विकासक्रम में निःसंदेह आमूल संक्रांतियां होती हैं, ये अनिश्चित ऊर्जा के व्यवस्थित जड़-पदार्थ तक, निष्प्राण जड़-पदार्थ से प्राण की ओर, अवचेतन या अवमानसिक से अनुभूतिक्षम, अनुभवात्मक और कार्यकारी प्राण की ओर, आरंभिक पशु-मन से धारणात्मक युक्तिशील मन की ओर होती हैं जो प्राण का निरीक्षण और शासन करता है और स्वयं अपना भी निरीक्षण करता है। वह एक स्वतंत्र सत्ता की तरह काम करने की क्षमता रखता है और सचेतन रूप से अपना अतिक्रमण करना चाहता है। किंतु ये छलांगें चाहे काफी बड़ी क्यों न हों तब भी कुछ हदतक धीमे श्रेणी-क्रम के द्वारा तैयार की गयी होती हैं और इस कारण वे कल्पनीय और साध्य होती हैं। अतिमानसिक ऋत-चित् और अज्ञान में स्थित मन के बीच इतना बड़ा क्रम-भंग नहीं हो सकता जितना कि दिखायी देता है।

लेकिन अगर ऐसी मध्यवर्ती श्रेणियां हैं तो यह स्पष्ट है कि वे मानव मन के लिये अतिचेतन होंगी क्योंकि ऐसा लगता है कि मन अपनी स्वाभाविक अवस्था में इन उच्चतर श्रेणियों में प्रवेश नहीं पाता। मनुष्य अपनी चेतना में मन द्वारा बल्कि मन के किसी विशेष प्रसार या क्रम द्वारा भी सीमित होता है। जो कुछ उसके मन से नीचे होता है, चाहे वह अवमानसिक हो या मानसिक, पर हो उसके क्रम से नीचे, वह उसे सरलता से अवचेतन या पूर्ण निश्चेतना से अविभेद्य मालूम होता है और जो कुछ उसके ऊपर है वह उसे अतिचेतन लगता है और उसमें यह प्रवृत्ति होती है कि वह उसे अभिज्ञता से शून्य रूप में, एक प्रकार की ज्योतिर्मय निश्चेतना के रूप में माने। जैसे वह ध्वनियों और रंगों के एक क्रमतक सीमित रहता है और जो कुछ उस क्रम के ऊपर या नीचे हो वह उसे न दिखायी देता है न सुनायी देता है या कम-से-कम वह उसमें भेद तो नहीं कर पाता। वही बात उसके मानसिक चेतना के क्रम की है। उसके दोनों छोरों पर एक असामर्थ्य का सीमांकन रहता है जो उसकी ऊपर और नीचे की सीमा अंकित करता है। मनुष्य के पास पशु के

साथ संपर्क के लिये भी काफी साधन नहीं हैं, जो उसके समान तो नहीं पर मानसिक सजातीय है। वह तो यहांतक कह बैठता है कि पशु में मन या वास्तविक चेतना नहीं है, क्योंकि उसके तौर-तरीके उन तौर-तरीकों से भिन्न और संकुचित हैं जिन्हें वह अपने और अपनी जाति के अंदर पाता है। वह अवमानसिक सत्ता का बाहर से अवलोकन कर सकता है परंतु वह उसके साथ जरा भी संपर्क नहीं साध सकता और न उसकी प्रकृति में अंतरंग रूप से प्रवेश कर सकता है। अतिचेतना भी उसके लिये समान रूप से एक बंद किताब है जो कोरे पृष्ठों से भरी हो सकती है। तो पहली दृष्टि में ऐसा प्रतीत होगा कि चेतना की इन उच्चतर श्रेणियों के साथ संपर्क बनाने के लिये उसके पास कोई साधन नहीं है। अगर ऐसा है तो वे कड़ियों या पुलों का काम नहीं दे सकतीं और उसके विकास को बस उपलब्ध मन की श्रेणी पर ही रुक जाना होगा, वह उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता। ये सीमाएं अंकित करते समय प्रकृति ने उसके ऊपर उठने के प्रयास पर 'इति' लिख दिया है।

लेकिन जब हम ज्यादा नजदीक से देखते हैं तो पता लगता है कि यह सामान्य अवस्था धोखा देनेवाली है और वस्तुतः ऐसी कई दिशाएं हैं जिनमें मानव मन अपने से परे जाता है और अपना अतिक्रमण करने की ओर प्रवृत्त होता है। यथार्थ में ये संपर्क की वे जरूरी रेखाएं या अवगुंठित या अर्द्ध-अवगुंठित राहें हैं जो मनुष्य के मन को स्वयं-प्रकाश आत्मा की चेतना की उच्चतर भूमिकाओं के साथ जोड़ती हैं। पहले हमने देखा है कि मानव ज्ञान के साधनों में अन्तर्भास का क्या स्थान है और अंतर्भास अपने स्वभाव से ही इन उच्चतर श्रेणियों की विशिष्ट क्रिया का अज्ञान के मन में प्रक्षेपण है। यह सच है कि मानव मन में उसकी क्रिया बहुत हद तक हमारी सामान्य बुद्धि के हस्तक्षेप से ढकी रहती है। हमारी मानसिक क्रियाओं में शुद्ध अन्तर्भास एक विरल घटना है क्योंकि हम जिस चीज को इस नाम से पुकारते हैं वह सामान्यतः प्रत्यक्ष ज्ञान का एक बिंदु होता है जो तुरंत मानसिक पदार्थ की पकड़ में आकर उसमें लिपट जाता है। अतः अन्तर्भास एक ऐसे आकार-ग्रहण का अदृश्य या अतिसूक्ष्म केन्द्र ही हो पाता जो अपनी राशि में बौद्धिक या किसी और रूप से मानसिक लक्षणवाला होता है। या फिर अन्तर्भास की चमक अपने-आपको अभिव्यक्त करने का अवसर पाये, उससे पहले ही तुरंत उसका स्थान लेने या उसमें बाधा डालने के लिये कोई नकल करने वाली तेज गति, अंतर्दृष्टि या तेज प्रत्यक्ष बोध या विचार की कोई और तेजी से छलांगें मारनेवाली क्रिया आ जाती है जो अपने प्रकट रूप के लिये आते हुए अंतर्भास के उद्दीपन की ऋणी होती है परंतु सच्चे या भूल-भरे प्रतिस्थापित मानसिक सुझाव द्वारा उसके मार्ग में बाधा देती या उसे ढक देती है। किंतु इन दोनों में कोई भी अंतर्भास की प्रामाणिक क्रिया नहीं है। बहरहाल ऊपर से इस हस्तक्षेप का तथ्य, यह तथ्य कि हमारे सभी मौलिक विचारों के पीछे या वस्तुओं के प्रत्यक्ष दर्शन के पीछे एक

अवगुंठित, अर्द्ध अवगुंठित या तेजी से खुल जानेवाले अंतर्भास का तत्त्व होता है, मन और उसके ऊपर के संबंध को स्थापित करने के लिये काफी है। वह उच्चतर आत्मा के क्षेत्रों के साथ संपर्क साधने और उनमें प्रवेश पाने का रास्ता खोल देता है। साथ ही मन का प्रयास होता है व्यक्तिगत अहंकार की सीमाओं को पार करने और वस्तुओं को एक विशेष निर्वैयक्तिकता और वैश्व भाव से देखने का। वैश्व आत्मा का पहला लक्षण है निर्वैयक्तिकता; वैश्व-भाव, एकमात्र या सीमित करने वाले दृष्टिकोण से न बंधना वैश्व प्रत्यक्ष दर्शन और ज्ञान का लक्षण है। अतः यह प्रवृत्ति मन के इन सीमित क्षेत्रों को विस्तृत करती है, यह विस्तरण चाहे जितना प्रारंभिक हो, वह होता है विश्व की ओर, ऐसे गुण की ओर जो उच्चतर मानसिक लोकों का अपना विधान होता है, उस अतिचेतन विश्व मन की ओर जो, जैसा हम संकेत कर आये हैं, वस्तुओं के स्वरूप को देखते हुए, वह मूल मानसिक क्रिया होगा जिससे हमारा मन निकला है और जिसकी वह गौण प्रक्रिया है। और फिर हमारी मानसिक सीमाओं के अंदर ऊपर से भेदन का पूरा-पूरा अभाव भी नहीं होता। प्रतिभा के व्यापार वास्तव में ऐसे ही भेदन के परिणाम होते हैं। निःसंदेह वे पर्दे के पीछे रहते हैं क्योंकि उच्चतर चेतना का प्रकाश न केवल तंग सीमाओं में ही काम करता है, सामान्यतः किसी क्षेत्र विशेष में, अपनी उन विशिष्ट ऊर्जाओं का कोई अलग नियमित संगठन किये बिना काम करता है जो निःसंदेह बहुधा मनमाने ढंग से, अनियमितता और अतिप्राकृतिक या अप्राकृतिक दायित्वहीन शासन के साथ काम करती हैं बल्कि मन में प्रवेश करते हुए वह अपने-आपको मानसिक द्रव्य के आधीन और अनुकूल बना देता है। इस कारण केवल एक बदली हुई या घटी हुई क्रिया ही हमतक पहुंच पाती है न कि वह पूरी-पूरी मूलगत दिव्य ज्योतिर्मयता जिसे हम अपने से परे की, अपने सिर से उपर की चेतना कह सकते हैं। फिर हमारी कम आलोकित या कम सबल सामान्य मानसिक क्रिया को पार करनेवाले अंतःप्रेरणा के, सत्य प्रकट करनेवाले दर्शनों या अंतर्भासात्मक प्रत्यक्ष दर्शन या अंतर्भासात्मक विवेक के व्यापार उपस्थित रहते हैं और उनके मूल के बारे में भूल नहीं हो सकती। अंत में रहस्यमय और आध्यात्मिक अनुभूति का बृहत् तथा बहुविध क्षेत्र है और वहां हमारी चेतना को वर्तमान सीमाओं के परे उसके विस्तार की संभावना के द्वार पूरे खुले मिलते हैं, बशर्ते कि हम अनुसंधान करने से इंकार करनेवाली ज्ञानविरोधी वृत्ति के द्वारा या अपनी मानसिक सामान्यता की सीमाओं से लगाव के कारण उन्हें बंद न कर दें या अपने सामने खुलते हुए प्रदेशों से मुंह न मोड़ लें। लेकिन अपनी इस वर्तमान खोज में हम उन संभावनाओं की उपेक्षा नहीं कर सकते जिन्हें मनुष्यजाति के प्रयास के ये क्षेत्र हमारे पास ले आते हैं, न ही हम उपेक्षा कर सकते हैं अपने संबंध में और पर्दे के पीछे छिपी सद्वस्तु के संबंध में उस अतिरिक्त ज्ञान की जो मानव मन को उन क्षेत्रों की देन है, न उस महत्तर

प्रकाश की जो उन्हें हमारे ऊपर क्रिया करने का अधिकार देता है और उनके अस्तित्व का सहज बल होता है।

चेतना की दो क्रमगत गतियां हैं जो कठिन तो हैं पर हैं भली-भांति हमारी सामर्थ्य की पहुंच में, जिनके द्वारा हम अपने सचेतन अस्तित्व की श्रेष्ठतर श्रेणियों तक पहुंच सकते हैं। पहली एक भीतर की ओर गति है जिसके द्वारा हम अपने बाहरी मन में रहने के बदले अपने बाह्य और इस समय अंतस्तलीय आत्मा के बीच की दीवार तोड़ देते हैं। यह क्रमशः किये गये प्रयत्न और अनुशासन के द्वारा या उग्र संक्रमण के द्वारा किया जा सकता है। कभी-कभी प्रबल अनैच्छिक तोड़-फोड़ से भी हो सकता है परंतु यह पिछला रास्ता अपनी सामान्य सीमाओं में ही रहने के अभ्यस्त सीमित मानव मन के लिये कभी सुरक्षित नहीं होता। लेकिन दोनों ही तरीकों से चाहे सुरक्षित हो या अरक्षित यह चीज की जा सकती है। हम अपने इस गुप्त भाग में जो चीज पाते हैं वह है आंतरिक सत्ता, अंतरात्मा, आंतरिक मन, आंतरिक प्राण, एक आंतरिक सूक्ष्म भौतिक सत्ता जो हमारे बाहरी मन, प्राण या शरीर की अपेक्षा अपनी संभाव्यताओं में बहुत ज्यादा विशाल, अधिक नमनीय, अधिक शक्तिशाली, बहुविध ज्ञान और क्रिया के लिये अधिक समर्थ है। विशेष रूप से उसमें वैश्व शक्तियों, वैश्व गतियों और वैश्व पदार्थों के साथ सीधे संपर्क की, उन्हें सीधे अनुभव करने और उनकी ओर सीधे खुलने की, उनपर सीधी क्रिया करने की, यहां तक कि स्वयं अपने-आपको व्यक्तिगत मन, व्यक्तिगत प्राण और शरीर की सीमाओं के परे विस्तृत करने की क्षमता होती है। इससे वह अपने-आपको अधिकाधिक ऐसे विश्व-पुरुष के रूप में अनुभव करती है जो हमारे बहुत संकुचित मानसिक, प्राणिक और भौतिक जीवन की वर्तमान दीवारों में सीमित नहीं रहता। यह फैलाव इतना अधिक विस्तृत हो सकता है कि वह वैश्व मन की चेतना में, वैश्व प्राण के साथ एकत्व में, वैश्व जड़-तत्त्व के साथ भी एकत्व में पूरी तरह प्रवेश कर जाये, फिर भी यह तादात्म्य या तो क्षीण बने हुए वैश्व सत्य या वैश्व अज्ञान के साथ होता है।

लेकिन एक बार आंतरिक सत्ता में यह प्रवेश प्राप्त हो जाये तो पता लगता है कि भीतर की आत्मा वर्तमान मानसिक स्तर के परे की चीजों की ओर खुलने, ऊपर की ओर चढ़ने में समर्थ है। यह हमारे अंदर दूसरी आध्यात्मिक संभावना है। इसका पहला और अतिसामान्य परिणाम है बृहत्, निष्क्रिय, नीरव आत्मा की खोज जिसे हम अपनी वास्तविक या आधारभूत सत्ता अनुभव करते हैं, हम और जो कुछ भी हों उस सबका आधाररूप यही है। यह भी हो सकता है कि हमारी सक्रिय सत्ता और आत्मा के बोध दोनों का अंत या निर्वाण एक ऐसी सद्वस्तु में हो जो अनिर्देश्य और अनिर्वचनीय है। लेकिन हम यह भी अनुभव कर सकते हैं कि यह आत्मा न केवल हमारी अपनी आध्यात्मिक सत्ता है बल्कि और सबकी सच्ची आत्मा

भी है तो वह अपने-आपको वैश्व सत्ता के मूल सत्य के रूप में भी प्रकट करती है। समस्त व्यक्तित्व के निर्वाण में निवास करना संभव है, किसी स्थाणु सिद्धि पर रुक जाना या वैश्व गतिविधि को नीरव आत्मा पर आरोपित भ्रांति या ऊपरी लीला मान लेना संभव है और यह भी संभव है कि किसी परम अचल और अपरिवर्तनशील विश्वातीत स्थिति में पहुंचा जाये। परंतु अतिप्राकृतिक अनुभूति की एक और, कम निषेधात्मक धारा भी सामने आती है क्योंकि वहां हमारी नीरव आत्मा में ज्योति, ज्ञान, बल, आनंद या अन्य अतिप्राकृतिक ऊर्जाओं का एक विशाल क्रियात्मक अवतरण होता है और हम आत्मा के उच्चतर प्रदेशों में आरोहण भी कर सकते हैं जहां उसकी निश्चल स्थिति उन महान् और ज्योतिर्मय ऊर्जाओं का आधार होती है। दोनों अवस्थाओं में यह स्पष्ट होता है कि हम अज्ञान के मन के परे एक आध्यात्मिक स्थिति में उठ आये हैं, लेकिन क्रियात्मक स्पंदन में, परिणाम-रूप में आनेवाली चित्-शक्ति की जो ज्यादा बड़ी क्रिया होती है वह या तो केवल ऐसी शुद्ध आध्यात्मिक क्रियात्मकता के रूप में उपस्थित हो सकती है जिसका स्वरूप किसी और तरह से निर्दिष्ट नहीं होता या वह एक आध्यात्मिक मानसिक क्षेत्र को प्रकट कर सकती है जहां मन सद्वस्तु के बारे में अनभिज्ञ नहीं रहता—यह अभी अतिमानसिक स्तर पर नहीं होता लेकिन फिर भी अतिमानसिक ऋत-चित् से उत्पन्न और उसके ज्ञान के कुछ अंश से प्रकाशित रहता है।

हमें दूसरे विकल्प में वह रहस्य मिलता है जिसे हम खोज रहे हैं, वह है संक्रमण का साधन, अतिमानसिक रूपांतर की ओर जरूरी कदम । क्योंकि हम आरोहण की एक क्रमिकता, ऊपर से आती हुई अधिकाधिक गहरी और असीम ज्योति और शक्ति के साथ संपर्क, तीव्रताओं के एक सोपान को देखते हैं जिसे मन के आरोहण में या मन से परे के तत् से मन में होनेवाले अवरोहण में इतनी सीढ़ियां माना जा सकता है। सहज ज्ञान की राशियों की समुद्र की-सी धारा-वृष्टि का हमें पता है जो विचार का रूप धारण कर लेती है लेकिन उसका स्वभाव उस विचार-प्रक्रिया से अलग होता है जिसका हमें अभ्यास है क्योंकि यहां कोई खोज जैसी चीज नहीं होती, मानसिक रचना का लेश मात्र भी नहीं होता, न चिंतन का श्रम और न कठिन खोज। यह स्वतःचालित और सहज ज्ञान होता है जो उच्चतर मन से आता है, जिसके बारे में ऐसा लगता है कि वह छिपी हुई और अवरुद्ध सच्चाइयों की खोज नहीं करता बल्कि सत्य उसके अधिकार में है। हम देखते हैं कि यह विचार एक ही दृष्टि में ज्ञान की बड़ी राशि को अंतर्गत कर लेने में मन की अपेक्षा बहुत अधिक समर्थ होता है। वह वैश्व स्वभाव का होता है, उसपर व्यक्तिगत विचार की छाप नहीं होती। इस सत्य विचार के परे हम एक ज्यादा बड़े प्रकाश को देख सकते हैं जो बढ़ी हुई शक्ति, तीव्रता और चालक-शक्ति से अनुप्राणित है। वहां सत्य-दर्शन के स्वरूप की एक ज्योतिर्मयता रहती है जिसमें

विचारों को रूप देना तो उसकी गौण और आश्रित क्रिया होती है। अगर हम सत्य के सूर्य का वैदिक रूपक स्वीकार करें—और यह रूपक इस अनुभूति में आकर वास्तविकता बन जाता है—तो हम उच्चतर मन की क्रिया की तुलना प्रशांत और स्थिर सूर्यालोक से कर सकते हैं और इस उच्चतर मन के आगे-आगे जो प्रकाशमय मन है उसकी ऊर्जा की तुलना ज्वलंत सूर्य-तत्त्व के पुंजों की मूसलाधार वर्षा से कर सकते हैं। इससे भी परे सत्य-शक्ति का एक और भी महान् बल मिल सकता है, एक अंतरंग और यथार्थ सत्य-दृष्टि, सत्य-विचार, सत्य-संवेदन, सत्य-अनुभव, सत्य-क्रिया जिसे हम एक विशेष अर्थ में अंतर्भास का नाम दे सकते हैं। क्योंकि, यद्यपि एक ज्यादा अच्छे शब्द के अभाव में हमने इस शब्द का प्रयोग, जानने के किसी भी अति-बौद्धिक, प्रत्यक्ष तरीके के लिये किया है फिर भी हम जिसे अंतर्भास कहते हैं वह स्वयंभू ज्ञान की केवल एक विशेष गति है। यह नया प्रदेश उसका उद्गम है। वह हमारे अंतर्भासों को अपने स्पष्ट धर्म का कुछ भाग देता है और बहुत स्पष्ट रूप से एक ज्यादा बड़ी सत्य-ज्योति का मध्यवर्ती होता है। उस ज्योति के साथ हमारे मन का सीधा संपर्क नहीं हो सकता। हम अंतर्भास के मूल में एक अतिचेतन विश्वमन को पाते हैं जिसका अतिमानसिक ऋत-चित् से सीधा संपर्क रहता है, एक मौलिक तीव्रता को पाते हैं जो अपने से नीचे की सभी गतियों और सभी मानसिक ऊर्जाओं का निर्धारण करती है—यह वह मन नहीं है जिसे हम जानते हैं बल्कि अधिमन है जो ज्ञान-अज्ञान के इस सारे अर्द्ध गोलार्द्ध को मानों सृजनात्मक अधि-आत्मा के विस्तृत पंखों से छाये रखता है, उसे उस महान् ऋत-चित् के साथ संपर्क में रखता है और साथ-ही-साथ वह उस महत्तर सत्य के मुख को अपने हिरण्मय पात्र से हमारी नजरों से ओझल करता है। हमारे जीवन के आध्यात्मिक धर्म की, उसके उच्चतम लक्ष्य की, उसकी गुप्त सद्वस्तु की खोज में वह अपनी अनंत संभावनाओं की बाढ़ ले आता है जो एक ही साथ बाधा भी होती है और मार्ग भी। यही वह गुह्य कड़ी है जिसकी हमें खोज थी, यही वह शक्ति है जो एक ही साथ परम ज्ञान और वैश्व अज्ञान को जोड़ती और अलग करती है।

अपने स्वभाव और स्वधर्म के अनुसार अधिमानस अतिमानस चेतना का प्रतिनिधि है—अज्ञान में उसका प्रतिनिधि है। या हम उसके बारे में कह सकते हैं कि वह संरक्षात्मक युगल, असदृश्य सादृश्य का पर्दा है जिसके द्वारा अतिमानस परोक्ष रूप से उस अज्ञान पर क्रिया कर सकता है जिसका अंधकार परम ज्योति के सीधे आघात को सहन या ग्रहण न कर सकता। यहांतक कि इस ज्योतिर्मय अधिमानस के परिमंडल के प्रक्षेप के कारण ही अज्ञान में एक हल्की-सी ज्योति का विकिरण और उस विपरीत छाया का, निश्चेतन का, प्रक्षेप संभव हो सका जो छाया सारी ज्योति को निगल जाती है। क्योंकि अतिमानस अधिमानस में अपने

सभी परमार्थ तत्त्वों का संचार तो कर देता है परंतु उसे उन्हें ऐसी क्रिया-धारा में और वस्तुओं की ऐसी अभिज्ञता के अनुसार रूप देने के लिये छोड़ देता है जो सत्य की दृष्टि तो होती है लेकिन साथ ही साथ अज्ञान का पहला जनक भी। अतिमानस और अधिमानस को एक लकीर एक दूसरे से अलग करती है जो बिना किसी बाधा के संचरण होने देती है, जो निचली शक्ति को वह सब प्राप्त करने देती है जिसे उच्चतर शक्ति धारण करती या देखती है लेकिन संचार के समय मध्यवर्ती परिवर्तन के लिये भी सहज रूप से बाधित करती है। अतिमानस की समग्रता हमेशा वस्तुओं के तात्त्विक सत्य को बनाये रखती है, समग्र सत्य और अपने वैयक्तिक आत्म-निर्धारणों के सत्य को स्पष्ट रूप से आपस में गुंथा रखती है। वह उनमें कभी अलग न होने वाले एकत्व को और उनके बीच एक दूसरे की घनिष्ठ अंतर्व्याप्ति और एक दूसरे की मुक्त और संपूर्ण चेतना को बनाये रखती है परंतु अधिमानस में यह समग्रता नहीं रहती। फिर भी अधिमानस वस्तुओं के सारभूत सत्य से भली-भांति परिचित होता है, वह समग्रता का आलिंगन करता है, वह वैयक्तिक आत्म-निर्धारण से सीमित हुए बिना उनका उपयोग करता है। यद्यपि वह उनके एकत्व को जानता है, उसे आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा अनुभव कर सकता है फिर भी उसकी क्रियात्मक गति, अपनी सुरक्षा के लिये उस एकत्व पर निर्भर रहती हुई भी सीधी उसके द्वारा निर्धारित नहीं होती। अधिमानस ऊर्जा समग्र और अविभाज्य सर्वव्यापी 'एकत्व' की शक्तियों और पक्षों के पृथक्करण और संयोजन की असीम क्षमता को लेकर चलती है। वह हर शक्ति या हर पक्ष को लेकर उसे एक स्वतंत्र क्रिया सौंप देती है जिसमें वह पक्ष पूर्ण पृथक् महत्त्व प्राप्त कर लेता है और कहा जा सकता है कि, रचना की एक अपनी ही दुनिया बना लेता है। पुरुष और प्रकृति, सचेतन आत्मा और प्रकृति की कार्य करने वाली शक्ति अतिमानसिक सामंजस्य में दो पहलुओंवाला एक ही सत्य है, परम सद्वस्तु की सत्ता और क्रियात्मक शक्ति है। इनमें आपस में कोई असंतुलन या एक की दूसरे पर प्रधानता नहीं होती। अधिमानस में दरार का मूल है, यहीं सांख्य दर्शन के किये गये तीक्ष्ण भेद का मूल है जिसमें ये दोनों अलग-अलग सत्ताओं जैसे मालूम होते हैं, प्रकृति पुरुष पर आधिपत्य जमा पाती और उसकी स्वाधीनता और शक्ति को धुंधला कर देती है, उसे एक साक्षी और उसके रूपों तथा क्रियाओं का ग्राही मात्र बना देती है, और पुरुष प्रकृति के आदि आवरणकारी भौतिक तत्त्व को त्याग कर अपनी अलग सत्ता में वापिस चला जाता है और अपने मुक्त आत्म-प्रभुत्व में निवास करता है। यही बात दिव्य सद्वस्तु के अन्य पक्षों और शक्तियों के लिये है। एक और बहु, दिव्य व्यक्तित्व और दिव्य निर्व्यक्तित्व और बाकी सब, इनमें से हर एक एकमेव सद्वस्तु का पक्ष और शक्ति है लेकिन हर एक को अधिकार दिया गया है कि वह समग्र के अंदर एक स्वतंत्र सत्ता की तरह क्रिया करे, अपनी अलग

अभिव्यक्ति की संभावनाओं की पूर्णता तक पहुंचे और इस पृथक्ता के क्रियात्मक परिणामों को विकसित करे। साथ ही अधिमानस में यह पृथक्ता अन्तर्निहित, अन्तर्गत ऐक्य के आधार पर खड़ी होती है। इन अलग हुए पक्षों और शक्तियों के संयोजन और संबंध की सभी संभावनाएं, उनकी ऊर्जाओं के सारे आदान-प्रदान और पारस्परिकता मुक्त रूप से संगठित होती हैं और उनकी विद्यमानता सदा संभव रहती है।

अगर हम सद्वस्तु की शक्तियों को इतने देव मान लें तो हम कह सकते हैं कि अधिमानस लाखों देवों को कार्य-क्षेत्र में छोड़ता है, हर एक को अपना-अपना लोक रचने का अधिकार दिया गया है और हर लोक औरों के साथ नाता जोड़ने, संचारण और परस्पर क्रीड़ा करने में समर्थ है। वेद में देवों की प्रकृति के भिन्न-भिन्न सूत्रीकरण हैं : कहा गया है कि वे सब एक ही सत् हैं जिसे विप्र लोग अलग-अलग नाम देते हैं; फिर भी हर देवता की पूजा इस तरह की जाती है मानों वही वह सत् हो, एकमेव जो एक साथ अन्य सब देवता है या जो उन्हें अपने में समाये हुए है; और फिर भी इनमें से हरएक अलग देव है जो कभी साथी देवों के साथ मिलकर, कभी अलग होकर और कभी उस अनन्य सत् से संबंध रखनेवाले अन्य देवों के प्रतीयमान विरोध में भी कार्य करता है। अतिमानस के अंदर यह सब उस एक सत् की एक सामंजस्यपूर्ण क्रीड़ा के रूप में एक साथ धारण किया हुआ रहेगा। अधिमानस में इन तीनों अवस्थाओं में से हरएक अलग-अलग क्रिया या क्रिया-आधार हो सकेगी, हरएक के विकास का अपना विधान और अपने परिणाम हो सकेंगे, फिर भी हरएक औरों के साथ एक अधिक मिश्रित सामंजस्य में जुड़े रहने की शक्ति बनाये रख सकेगी। जो बात उस एक सत् की है वही उसकी चेतना और शक्ति की भी है। वह एक चेतना चेतना और ज्ञान के बहुत से स्वतंत्र रूपों में अलग-अलग हो जाती है, हर एक रूप सत्य की अपनी-अपनी रेखा का अनुसरण करता है जिसे उसे सिद्ध करना है। वह एक समग्र और बहुपक्षीय सत्य-भाव बहुत-से पक्षों में बंट जाता है। हरएक एक स्वतंत्र भाव-शक्ति बन जाता है जिसमें अपने-आपको सिद्ध करने की शक्ति रहती है। वह एक चित्-शक्ति अपनी करोड़ों शक्तियों में उन्मुक्त हो जाती है और इनमें से हर शक्ति को अपने-आपको पूर्ण बनाने या, अगर जरूरत हो तो प्रधानता धारण करने और दूसरी शक्तियों को अपने निजी उपयोग में लाने का अधिकार रहता है। इसी तरह अस्तित्व का आनंद भी सब तरह के आनंदों में उन्मुक्त होता है और आनंद का प्रत्येक प्रकार अपनी स्वतंत्र पूर्णता अथवा अपनी निरंकुश चरम परिणति अपने अंदर लिये रह सकता है। इस तरह अधिमानस उस एक सच्चिदानंद को यह विशिष्टता प्रदान करता है कि वह अनंत संभावनाओं से भरा रहे जिन्हें बहुत-से लोकों में विकसित किया जा सकता है या एक ही साथ एक ही लोक में डाला जा सकता है जिसमें उनकी क्रीड़ा का अनंत रूप से परिवर्तनशील परिणाम सृष्टि का, उसकी प्रक्रिया का, उसके मार्ग और उसके परिणाम का निर्धारक होता है।

चूंकि विश्व का सृजन करनेवाली शाश्वत सत् की चित्-शक्ति है अतः किसी जगत् की प्रकृति इस पर निर्भर होगी कि वहां उस चेतना का कौन-सा आत्म-रूपायन प्रकट हो रहा है। समान रूप से, हर व्यष्टिगत सत्ता, जिस जगत् में रह रही है उसे वह किस भांति देखेगी या उसे अपने आगे कैसे उपस्थित करेगी यह इसपर निर्भर रहेगा कि उस चेतना ने उसमें कैसी स्थिति या बनावट को अपनाया है। हमारी मानव मानसिक चेतना जगत् को तर्क-बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा काटे गये खंडों में देखती है और फिर उसे ऐसी रचना में जोड़ती है जो अपने-आपमें खण्ड है। वह जिस घर का निर्माण करती है वह सत्य के किसी एक या दूसरे सामान्यीकृत सूत्र के निवास के लिये आयोजित होता है लेकिन वह बाकी को अलग रखती है या कुछ को मेहमानों या घर के आश्रितों के रूप में आने देती है। अधिमानस चेतना अपने ज्ञान में सार्वभौम होती है और ऊपर से दीखनेवाले आधारभूत भेदों की किसी भी संख्या को समाधानात्मक दृष्टि में एक साथ रख सकती है। इस तरह मानसिक बुद्धि सव्यक्तिक और निर्व्यक्तिक को विरोधियों के रूपों में देखती है; वह एक निर्व्यक्तिक सत्ता की धारणा बनाती है जिसमें व्यक्ति और व्यक्तित्व अज्ञान की कल्पनाएं या क्षणिक रचनाएं हैं या इसके विपरीत वह यूं भी देख सकती है कि सव्यक्तिक ही मूल सत्य है और निर्व्यक्तिक उसका भाव-रूप या अभिव्यक्ति का उपादान या साधन मात्र है। अधिमानस बुद्धि के लिये ये एक ही सत् की अलग-अलग हो सकनेवाली शक्तियां हैं जो अपनी स्वतंत्र आत्म-स्थापना का अनुसरण कर सकती हैं और अपनी अलग-अलग क्रिया-विधियों को एक साथ जोड़ भी सकती हैं और इस तरह अपनी स्वतंत्रता और अपने सम्मिलन, दोनों में चेतना और सत्ता की अलग-अलग सृष्टि कर सकती हैं और ये सभी स्थितियां सार्थक हो सकती हैं और सभी सह-अस्तित्व के लिये समर्थ हो सकती हैं। एक शुद्ध निर्वैयक्तिक सत्ता और चेतना सत्य है और संभव है लेकिन साथ ही पूरी तरह व्यक्तिगत चेतना और सत् भी सत्य है और संभव है। यहां निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म शाश्वत के समान और सहवर्ती पहलू हैं। निर्व्यक्तिक सव्यक्तिक को अपनी अभिव्यक्ति की विधि-रूप में अपने आधीन रख कर अभिव्यक्त हो सकता है लेकिन उसी तरह यह भी हो सकता है कि सव्यक्तिक मूल रूप हो और निर्व्यक्तिक उसकी प्रकृति का एक विशेष प्रकार है। सचेतन सत् की अनंत बहुविधता में अभिव्यक्ति के ये दोनों पहलू एक दूसरे के सामने होते हैं। जो मानसिक बुद्धि के लिये मेल न खानेवाले भेद होते हैं वे अपने-आपको अधिमानस-बुद्धि के सामने सहवर्ती, सह-संबंधी रूप में प्रस्तुत करते हैं। जो मानसिक बुद्धि के लिये एक दूसरे के विपरीत हैं वे अधिमानसिक बुद्धि के लिये एक दूसरे के पूरक हैं। हमारा मन देखता है कि सभी चीजें जड़ से या भौतिक ऊर्जा से पैदा होती हैं, उसके सहारे रहती और उसीमें लौट जाती हैं। वह निष्कर्ष

निकालता है कि जड़ ही शाश्वत तत्त्व, प्राथमिक और चरम सद्वस्तु—ब्रह्म है। या वह देखता है कि सभी वस्तुएं प्राण-शक्ति या मन से पैदा हुई हैं, प्राण या मन के सहारे जीती हैं और वैश्व प्राण या मन में लौट जाती हैं और वह यह निष्कर्ष निकाल लेता है कि यह जगत् वैश्व प्राण-शक्ति या वैश्व-मन अथवा 'लोगोस' (परावाक्) की रचना है। या फिर वह देखता है कि यह जगत् और सभी वस्तुएं सत्य संकल्प या आत्मा की ज्ञानात्मिका इच्छा से पैदा हुई हैं, उसी के सहारे जीती और उसीमें या स्वयं आत्मा में लौट जाती हैं और वह विश्व के बारे में विज्ञानात्मक या आध्यात्मिक दृष्टि के निष्कर्ष पर पहुंचता है। वह इनमें से कोई भी एक दृष्टि निश्चित कर सकता है लेकिन उसकी सामान्य भेदकारी दृष्टि इनमें से हर एक मार्ग को औरों से अलग कर देती है। अधिमानसिक चेतना को यह प्रत्यक्ष होता है कि हरएक दृष्टि अपने बनाये हुए सिद्धांत की क्रिया के लिये सच्ची है। वह देख सकती है कि एक भौतिक जगद्-व्याख्या है, एक प्राणिक जगद्-व्याख्या है, एक मानसिक जगद्-व्याख्या है, एक आध्यात्मिक जगद्-व्याख्या है और इनमें से हर एक अपने निजी जगत् में प्रधान हो सकती है और साथ ही सब की सब एक जगत् में उसकी उपादान शक्तियों के रूप में इकट्ठे रह सकती हैं। चित्-शक्ति का वह आत्म-रूपायण, जिस पर हमारा जगत् प्रतीयमान निश्चेतन के रूप में आधारित है जो अपने अंदर परम चित्-सत्ता को छिपाये रहता है और सत्ता की समस्त शक्तियों को एक साथ अपनी निश्चेतन गुप्तता में धारण करता है, यह वैश्व जड़ तत्त्व का जगत् है जो अपने अंदर प्राण, मन, अधिमानस, अतिमानस, आध्यात्म पुरुष को चरितार्थ करता है। उनमें से हरएक को बारी-बारी से औरों को अपनी अभिव्यक्ति के साधन के रूप में लेता है। जड़ तत्त्व आध्यात्मिक दृष्टि से यह प्रमाणित करता है कि वह हमेशा आत्मा की अभिव्यक्ति रहा है—यह सब अधिमानसिक दृष्टि के लिये एक सामान्य और आसानी से उपलब्ध होनेवाली सृष्टि रहा है। अधिमानस अपनी प्रवर्तन-शक्ति और कार्य-कारिणी क्रिया में सत् की बहुत-सी संभाव्यताओं का व्यवस्थापक है जिनमें से हरएक अपनी अलग वास्तविकता को प्रतिष्ठित करती है। लेकिन यह सब-की-सब बहुत-सी अलग-अलग लेकिन युगपत् विधियों में अपने-आपको जोड़ने में भी समर्थ होती हैं। अधिमानस एक ऐन्द्रजालिक शिल्पी है जिसमें यह क्षमता है कि वह एक ही सत्ता की अभिव्यक्ति के बहुरंगी ताने-बाने से एक जटिल विश्व बुने।

इन बहुविध स्वतंत्र या संयुक्त शक्तियों और संभाव्यताओं के इस युगपत् विकास में अभी तक कोई अव्यवस्था नहीं, संघर्ष नहीं, सत्य या ज्ञान से पतन नहीं है। अधिमानस सत्यों का स्रष्टा है, भ्रांतियों या मिथ्यात्वों का नहीं। किसी भी अधिमानसिक शक्ति-क्रिया या गति में जो कुछ क्रियान्वित किया जाता है वह स्वतंत्र क्रिया में उन्मुक्त रूप, शक्ति, भाव, बल, आनंद का सत्य होता है, उस

स्वतंत्रता में विद्यमान उसकी सत्यता के परिणामों का सत्य होता है। वहां कोई ऐसी ऐकांतिकता नहीं होती जिसमें हर एक अपने को सत्ता का एकमात्र सत्य या औरों को घटिया सत्य माने। हर एक देवता सभी देवताओं को और विश्व में उनके स्थान को जानता है, हर एक भाव और सब भावों और उनके अस्तित्व के अधिकार को स्वीकार करता है, हर एक शक्ति अन्य सब शक्तियों और उनके सत्य तथा परिणामों का स्थान स्वीकार करती है। अलग पूर्णता-प्राप्त जीवन तथा अलग अनुभव का कोई आनंद किसी और जीवन या अनुभव के आनंद को न तो अस्वीकार करता है न उसका तिरस्कार ही करता है। अधिमानस वैश्व सत्य का एक तत्त्व है और एक बृहत् और असीम विश्वजनीनता उसका मुख्य भाव है। उसकी ऊर्जा सर्वगतिकता है और साथ ही अलग गतिकताओं का तत्त्व भी। वह एक तरह का निम्नतर अतिमानस है—यद्यपि वह मुख्यतया निरपेक्षों से संबंध नहीं रखता, बल्कि उनसे रखता है जिन्हें परम सद्वस्तु की गतिशील संभाव्यताएं या उसके व्यावहारिक सत्य कहा जा सकता है। या फिर निरपेक्षों के साथ मुख्यतः उनके व्यावहारिक या सृजनात्मक मूल्यों को उत्पन्न करने की शक्ति के नाते उनसे संबंध रखता है। यद्यपि यह भी है कि उसकी चीजों की अवधारणा समग्र होने की अपेक्षा सार्वभौम अधिक होती है क्योंकि उसकी समग्रता मंडलीय असमग्रताओं से बनी या एक साथ मिलती या जुड़ती हुई अलग-अलग स्वतंत्र वास्तविकताओं से बनी होती है। यद्यपि अधिमानस मूलभूत एकत्व को पकड़े रहता है और अनुभव करता है कि वह एकत्व ही वस्तुओं का आधार है और उनकी अभिव्यक्ति में फैला हुआ है फिर भी अतिमानस की तरह वह उनके लिये घनिष्ठ और सदा उपस्थित रहनेवाला रहस्य नहीं होता, उनका मुख्य आधार नहीं होता, उनकी क्रियाशीलता और प्रकृति के सामंजस्य-पूर्ण समग्र का प्रकट सतत निर्माता नहीं होता।

अगर हम इस सार्वभौम अधिमानसिक चेतना का अपनी पृथक्कारी और केवल अपूर्ण रूप से संश्लिष्ट मानसिक चेतना से फर्क समझना चाहें तो हम उसके अधिक निकट आ सकते हैं यदि हम शुद्ध रूप से मानसिक के साथ उसकी तुलना करें जो हमारे विश्व की क्रियाओं के बारे में अधिमानसिक दृष्टि होगी। उदाहरण के लिये अधिमानस के लिये सभी धर्म एक शाश्वत धर्म के विकास के रूप में सच्चे होंगे, सभी दर्शन अपने-अपने क्षेत्र में अपने-अपने दृष्टिकोण की अपनी-अपनी विश्व-दृष्टि के कथन के रूप में मान्य होंगे, सभी राजनैतिक सिद्धांत और उनके व्यावहारिक रूप एक ऐसी भाव-शक्ति का न्यायसंगत क्रियान्वयन होंगे जिसे प्रकृति की ऊर्जाओं की क्रीड़ा में इस्तेमाल होने और व्यवहार रूप में विकसित होने का अधिकार है। हमारी पृथक्कारी चेतना में, जिसमें विश्वजनीनता और सार्वभौमता की झलकें कभी-कभी अपूर्ण रूप से आ जाती हैं, ये चीजें विरोधियों के रूप में रहती हैं। इनमें से हर एक सत्य होने का दावा करती है और दूसरों को भ्रांति और

मिथ्यात्व ठहराती है, हर एक दूसरे का खंडन या नाश करने के लिये प्रेरित होती है ताकि स्वयं वह एकमात्र सत्य हो और जी सके। बहुत हुआ तो हर एक सर्वोत्तम होने का दावा करती है और बाकी सबको सत्य की घटिया अभिव्यक्ति के रूप में मानती है। लेकिन अधिमानसिक बुद्धि इस धारणा या ऐकान्तिकता की ओर इस बहाव को क्षण भर के लिये भी मानने से इंकार कर देगी । वह सभी को समग्र के लिये आवश्यक होने के नाते स्वीकार करेगी या हर एक को समग्र के उसके स्थान पर रखेगी या हर एक को उसकी उपलब्धि या प्रयास का क्षेत्र प्रदान करेगी। यह इसलिये है क्योंकि हमारे अंदर चेतना अज्ञान के विभाजनों में पूरी तरह उतर आयी है। अब सत्य अनंत या वैश्व समग्र नहीं रह जाता जिसके बहुत-से रूप संभव हों बल्कि एक कठोर प्रतिपादन होता है जो दूसरे किसी भी प्रतिपादन को बस इसीलिये मिथ्या ठहराता है क्योंकि वह स्वयं उससे अलग होता है और दूसरी सीमाओं में फंसा रहता है। निश्चय ही हमारी मानसिक चेतना अपने ज्ञान में एक समग्र व्यापकता और सार्वभौमता की ओर काफी हद तक जा सकती है लेकिन उसे कर्म और जीवन में संगठित करना उसके बस की बात नहीं। विकसनशील मन, जो व्यक्तियों या समुदायों में अभिव्यक्त है, अलग-अलग दृष्टिकोणों की, कर्म की अलग-अलग धाराओं की बहुलता पैदा करता है और उन्हें एक दूसरे के साथ-साथ रहते हुए या आपस में टकराते हुए या एक विशेष तरह से मिलते हुए क्रियान्वित होने देता है। वह चुने हुए सामंजस्य तो बना सकता है लेकिन वह सच्ची समग्रता के सामंजस्य के पूर्ण नियंत्रण तक नहीं पहुंच सकता। सभी समग्रताओं की तरह विश्व-मन को विकासक्रम के अज्ञान में भी ऐसा सामंजस्य जरूर प्राप्त होगा, भले वह व्यवस्थित की गयी संगतियों और असंगतियों का ही सामंजस्य हो। उसके अंदर भी एकत्व की अधस्थ सक्रियता रहती है लेकिन इन चीजों की पूर्णता को वह अपनी गहराई में शायद एक अतिमानसिक-अधिमानसिक निचले स्तर में तो लिये रहता है लेकिन विकासक्रम में उसे व्यष्टि-मन को नहीं दे सकता, उसे गहराइयों में से निकाल कर ऊपरी सतह पर नहीं ला सकता या यूं कहें अभी तक लाया नहीं है। अधिमानसिक जगत् सामंजस्य का जगत् होगा जब कि अज्ञान का जगत्, जिसमें हम निवास करते हैं, असामंजस्य और संघर्ष का जगत् है।

फिर भी हम अधिमानस में आदि वैश्व-माया को तुरंत पहचान सकते हैं। वह अज्ञान की माया नहीं बल्कि ज्ञान की माया है फिर भी यह वह शक्ति है जिसने अज्ञान को संभव ही नहीं अनिवार्य भी बनाया है। क्योंकि अगर प्रत्येक तत्त्व को अपनी क्रिया में स्वतंत्र छोड़ दिया जाये ताकि वह अपनी स्वतंत्र रेखा पर चलता हुआ अपने पूर्ण परिणाम ला सके तो पृथक्ता के तत्त्व को भी अपनी पूरी यात्रा तय करने और अपने परम परिणामोंतक पहुंचने देना होगा। यह वह अनिवार्य अवतरण है जिसका अनुसरण चेतना एक बार पृथक्ता के तत्त्व को स्वीकार करने पर तबतक

करती रहती है जबतक कि वह धुंधला करनेवाले सूक्ष्म से भी सूक्ष्म खंड भाव (तुच्छ्येन)[1] द्वारा भौतिक निश्चेतना में—ऋग्वेद में कहे गये निश्चेतन समुद्र (*सलिलमप्रकेतम्*) में नहीं जा पहुंचती और यदि एकमेव अपनी ही महिमा द्वारा उसमें से जन्म लेता है तब भी वह पहले हमारी खंडित पृथक्कारी सत्ता और चेतना द्वारा छिपा रहता है जिसमें हमें पूर्णतक पहुंचने के लिये खंड-खंड को जोड़ना पड़ता है। उस धीमे और कठिन आविर्भाव में हिरेक्लिटस का यह कथन कुछ सच लगने लगता है कि युद्ध ही सब चीजों का जनक है क्योंकि हर एक भाव, शक्ति, अलग चेतना, सजीव प्राणी अपने अज्ञान की आवश्यकता की वजह से ही औरों से टकराता है और बाकी सत्ता के साथ सामंजस्य द्वारा नहीं बल्कि स्वतंत्र आत्म-प्रतिपादन द्वारा जीने, बढ़ने और अपने-आपको पूर्ण बनाने का प्रयत्न करता है। फिर भी एक अज्ञात, आधारभूत ऐक्य बना ही रहता है जो हमें धीरे-धीरे सामंजस्य, अन्योन्याश्रय, विषमताओं की संगति, कठिन ऐक्य के किसी रूप की ओर प्रयास करने के लिये बाधित करता है। लेकिन हम जिस सामंजस्य और एकत्व के लिये प्रयास कर रहे हैं वह केवल अधूरे प्रयासों, अधूरे निर्माणों, रोज बदलनेवाले सादृश्यों में प्राप्त न होकर हमारी सत्ता के तंतुओंतक में और उसकी सारी आत्माभिव्यक्ति में क्रियात्मक रूप से तभी प्राप्त हो सकता है जब हमारे अंदर वैश्व सत्य की छिपी हुई अतिचेतन शक्तियों का विकास हो। और वे जिस परम तत्त्व में एक हों उसका विकास हो। अगर हमें इस वैश्व अस्तित्व में अपने जन्म की दिव्य संभावना को पूरा करना है तो हमारी सत्ता और चेतना पर आध्यात्मिक मन के उच्चतर लोकों को खुलना होगा और जो आध्यात्मिक मन से भी परे है उसे भी हमारे अंदर प्रकट होना होगा।

अधिमानस अपने अवतरण में एक ऐसी रेखा पर पहुंचता है जो वैश्व सत्य को वैश्व अज्ञान से अलग करती है। यह वही रेखा है जहां चित्-शक्ति के लिये संभव हो जाता है कि वह अधिमानस द्वारा बनायी गयी हर एक स्वतंत्र गति की पृथक्ता पर बल देती हुई और उनके एकत्व को छिपाती या अंधेरे से ढकती हुई ऐकान्तिक संकेद्रण द्वारा मन को अधिमानसिक मूल से विभक्त कर दे। इससे पहले अधिमानस का अपने अतिमानसिक मूल से ऐसा ही अलगाव हो चुका है लेकिन वहां आवरण में एक पारदर्शकता थी जो सचेतन संचरण होने देती थी और कुछ आलोकमय संबंध बनाए रहने देती थी परंतु यहां आवरण अपारदर्शक है और अधिमानस हेतुओं से मन की ओर होनेवाला संचरण गुह्य और अस्पष्ट है। पृथक् होकर मन ऐसे व्यवहार करता है मानों वह कोई स्वतंत्र तत्त्व हो और प्रत्येक मानसिक सत्ता, प्रत्येक आधारभूत मानसिक भाव, बल, शक्ति इसी तरह अपने स्वतंत्र स्व पर खड़ी रहती है। अगर वह औरों के साथ संचरण करती, उनके साथ

[1] ऋग्वेद १०, १२९, ३

मिलती या संबंध जोड़ती है तो वह अधिमानस गति की उदार सार्वभौमता के साथ नहीं, आधारभूत ऐक्य की नींव पर नहीं, बल्कि स्वतंत्र इकाइयों की तरह जोड़ती है जो आपसमें मिलकर एक पृथक्-निर्मित समग्र बनाती हैं। यही वह गति है जिसके द्वारा हम सार्वभौम सत्य से सार्वभौम अज्ञान में जाते हैं। निःसंदेह इस स्तर पर वैश्व मन को अपने निजी एकत्व का बोध रहता है लेकिन उसे यह अभिज्ञता नहीं रहती कि उसका अपना मूल और आधार आत्मा में है, अथवा वह इसे बुद्धि द्वारा ही समझ सकता है, किसी स्थायी अनुभूति द्वारा नहीं। वह मानों अपने ही अधिकार से अपने अंदर क्रिया करता है और उसे जो कुछ उपादान के रूप में मिलता है उसे, जहां से वह उसे पाता है उस उद्गम से किसी सीधे संचरण के बिना ही अपने-आप क्रियान्वित करता है। उसकी इकाइयां भी एक दूसरे के और वैश्व समग्र के बारे में अज्ञान में रहते हुए कार्य करती हैं, उन्हें बस उतना ही ज्ञान रहता है जितना उन्हें संपर्क और संसर्ग द्वारा मिल सकता हो। तादात्म्य का आधारभूत बोध और उससे पैदा होनेवाले अन्योन्य प्रवेश और बोध वहां विद्यमान नहीं होते। इस मानस ऊर्जा की सभी क्रियाएं अज्ञान और उसके विभाजनों के विपरीत आधार पर चलती हैं और यद्यपि वे एक विशेष सचेतन ज्ञान का परिणाम होती हैं, वह ज्ञान आंशिक होता है न कि सच्चा और सर्वांगीण आत्म-ज्ञान और न ही सच्चा और सर्वांगीण जगत्-ज्ञान। यह विशेषता प्राण और सूक्ष्म भौतिक में बनी रहती है और उस स्थूल भौतिक विश्व में फिर से प्रकट होती है जो निश्चेतना में हुए अंतिम पतन से उद्भूत होता है।

तो भी हमारे अंतस्तलीय या आंतरिक मन की तरह इस मन में भी संसर्ग और पारस्परिकता का अधिक महान् बल अब भी बना रहता है, मानव मन की अपेक्षा मानसता और इन्द्रिय-संवेदन की एक अधिक स्वतंत्र क्रीड़ा रहती है और अज्ञान पूर्ण नहीं रहता; एक सचेतन सामंजस्य, उचित संबंधों का एक अन्योन्याश्रित संगठन अधिक संभव होता है, मन अभीतक अंधी प्राण-शक्तियों द्वारा विक्षुब्ध या प्रत्युत्तरशून्य जड़ से धुंधला नहीं होता। यह अज्ञान का लोक है, लेकिन अभीतक मिथ्यात्व या भ्रांति का नहीं—या अभी तक कम-से-कम मिथ्यात्व में और भ्रांति में जा गिरना अनिवार्य नहीं होता। यह अज्ञान सीमित करता है परंतु आवश्यक रूप से मिथ्या नहीं होता। ज्ञान सीमित हो जाता है, एकांगी सत्यों का संगठन होता है पर सत्य या ज्ञान से इंकार या उनका विपरीत पक्ष नहीं होता। पृथक्कारी ज्ञान के आधार पर आंशिक सत्यों के संगठन का यह रूप प्राण और सूक्ष्म भौतिक में अपना अस्तित्व बनाये रखता है क्योंकि चित्-शक्ति का ऐकांतिक केन्द्रीकरण, जो उन्हें अलग करनेवाली क्रियाओं में डालता है, मन को प्राण से अथवा मन और प्राण को भौतिक से पूरी तरह काट या ढक नहीं देता। पूरा-पूरा अलगाव तभी हो सकता है जब निश्चेतना की स्थिति आ जाये और हमारे बहुविध अज्ञान का जगत् उस तमोग्रस्त गर्भ से उद्भूत हो। अभीतक चेतन रहनेवाली प्रतिविकास की ये स्थितियां

निःसंदेह चित्-शक्ति के संगठन हैं जिनमें हर एक अपने केन्द्र से जीता है, अपनी निजी संभावनाओं का अनुसरण करता है और जो तत्त्व प्रधान हो, चाहे वह मन हो या प्राण या जड़, वह चीजों को अपने निजी स्वाधीन आधार पर कार्यान्वित करता है लेकिन जो कार्यान्वित होता है वह उसके अपने निजी सत्य होते हैं भ्रम नहीं और न ही सत्य और मिथ्यात्व का, ज्ञान और अज्ञान का जाल। लेकिन जब शक्ति और रूप पर ऐकांतिक संकेन्द्रण द्वारा चित्-शक्ति दृश्य रूप में चेतना को शक्ति से अलग करती दीखती है या रूप और शक्ति में खोयी हुई वह अंध-निद्रा में चेतना को आत्मसात् करती है तो चेतना को खंडित विकास द्वारा अपने-आपतक वापिस पहुंचने के लिये उद्यम करना पड़ता है जिससे भ्रांति आवश्यक हो जाती है और मिथ्यात्व अनिवार्य। लेकिन ये चीजें भी किसी आदि असत् से उत्पन्न भ्रम नहीं हैं। हम कह सकते हैं कि ये निश्चेतना से उत्पन्न जगत् के अपरिहार्य सत्य हैं, क्योंकि अज्ञान वास्तव में एक ज्ञान ही है जो अपने-आपको निश्चेतना के आदि मुखौटे के पीछे खोज रहा है। वह खो देता और फिर पाता है। उसके परिणाम उनकी अपनी ही रेखा में स्वाभाविक और अनिवार्य, उस पतन के सच्चे परिणाम हैं—एक तरह से उस पतन से दोबारा उठने के लिये सही क्रिया भी होते हैं। सत् का आभासी असत् में, चेतना का आभासी निश्चेतना में, सत्ता के आनंद का बृहत् वैश्व असंवेदनशीलता में डुबकी लगाना उस पतन के पहले परिणाम हैं और वापिसी में संघर्षरत खंडित अनुभव, चेतना का सत्य और मिथ्यात्व के, ज्ञान और भ्रांति के दोहरे पर्दों में परिवर्तन, सत् का जीवन और मृत्यु के दोहरे पर्दों में परिवर्तन, सत्ता के आनंद का दुःख-सुख के दोहरे पर्दों में परिवर्तन, आत्मशोध के परिश्रम की आवश्यक प्रक्रिया हैं। सत्य, ज्ञान, आनंद, अविनश्वर सत्ता का शुद्ध अनुभव यहां पर अपने-आपमें वस्तुओं के सत्य का खंडन होगा। इससे भिन्न तभी हो सकता था जब विकासक्रम में सभी सत्ताएं अपने अंदर के चैत्य तत्त्वों के प्रति और प्रकृति के व्यापारों के आधार में रहनेवाले अतिमानस के प्रति शांत भाव से प्रत्युत्तर देतीं किंतु यहीं हर एक शक्ति का अपनी निजी संभावनाओं को कार्यान्वित करने का अधिमानसिक विधान आ जाता है। जिस जगत् में एक आदि निश्चेतना और चेतना का विभाजन प्रधान तत्त्व हों, उस जगत् की स्वाभाविक संभावनाएं होंगी—अंधकार की ऐसी शक्तियों का उभार जो अज्ञान के बल पर जीतीं और अज्ञान का अस्तित्व बनाये रखने के लिये प्रेरित रहती हैं, जानने का एक अज्ञानभरा प्रयास जिससे मिथ्यात्व और भ्रांति का आरंभ हो, जीने का एक अज्ञानभरा संघर्ष जो भूल और अशुभ को उत्पन्न करता हो, भोग करने के लिये अहंकारमय संघर्ष जो आंशिक सुखों, दुःखों और कष्टों का जनक हो। अतः ये चीजें यद्यपि हमारे विकासात्मक जीवन की एकमात्र संभावनाएं तो नहीं हैं किंतु उसके अनिवार्य रूप से पहली छापवाले लक्षण हैं। फिर भी, चूंकि असत् गुप्त सत् है, निश्चेतना छिपी हुई चेतना

है और असंवेदनशीलता छिपा हुआ और सुप्त आनंद है अतः इन गुप्त वास्तविकताओं को अवश्य उभरना चाहिये और अंत में छिपे हुए अधिमानस और अतिमानस को भी अपनी परिपूर्ति अंधकारमय अनंत से उभरनेवाले, ऊपर से विरोधी मालूम होनेवाले संगठन में अवश्य करनी होगी।

दो चीजें हैं जो इस चरम स्थिति की प्राप्ति को, वह जैसी होती उसकी अपेक्षा अधिक सरल बनाती हैं। अधिमानस ने भौतिक सृष्टि की ओर उतरते हुए अपने कुछ परिवर्तित रूप बनाये हैं। इनमें विशेष है अंतर्भास जो अपनी सत्य की पैनी भेदनेवाली चमकदार झलकों को लिये हमारी चेतना में स्थानीय बिंदुओं और प्रदेश-विस्तारों को आलोकित करता है। ये रूप वस्तुओं के छिपे हुए सत्य को हमारे बोध के अधिक नजदीक ला सकते हैं और पहले तो आंतरिक सत्ता में और उसके फलस्वरूप बाहरी सतही सत्ता में भी चेतना के इन ऊंचे प्रदेशों के संदेशों के प्रति अधिक विस्तार से खुलते हुए, उनके तत्त्व में बढ़ते हुए हम स्वयं भी अंतर्भासमूलक और अधिमानसिक सत्ता बन सकते हैं। तब हम मानसिक बुद्धि और इन्द्रियों से सीमित नहीं रहेंगे बल्कि एक अधिक वैश्व बोध के लिये और सत्य के, स्वयं उसकी आत्मा और शरीर के साथ सीधे स्पर्श के लिये समर्थ होंगे। वस्तुतः इन उच्चतर स्तरों से आलोक की झलकें अब भी हमारे पास आती हैं लेकिन उनका यह हस्तक्षेप अधिकतर खंडित, आकस्मिक या आंशिक होता है। अब भी हमें उनके सादृश्य में अपने-आपको बढ़ाना और अपने अंदर महत्तर सत्य की उन क्रियावलियों को व्यवस्थित करना है जिनके लिये हमारी संभाव्यताओं में सामर्थ्य है। लेकिन फिर भी, दूसरी बात यह है कि, अधिमानस, अंतर्भास, बल्कि अतिमानस को भी न सिर्फ निश्चेतना में, जहां से हम विकासक्रम में ऊपर उठते हैं, अंतर्लीन और निहित तत्त्व होना चाहिये, जैसा कि हम देख आये हैं, और न केवल उनका विकास अनिवार्य नियति है, बल्कि वे गुप्त रूप से उपस्थित और अंतर्भासात्मक आर्विभाव की झलकों के रूप में मन, प्राण और भौतिक की वैश्व क्रियाओं में गुह्य रूप से सक्रिय हैं। यह सच है कि उनकी क्रिया छिपी रहती है और जब वे उभरते भी हैं तो उस क्रिया में मन, प्राण और भौतिक के माध्यम द्वारा—जिनमें से होकर वे काम करते हैं—हेर-फेर आ जाता है और उसे पहचानना आसान नहीं होता। अतिमानस आरंभ से ही विश्व में स्रष्टा शक्ति के रूप में अपने-आपको प्रकट नहीं कर सकता क्योंकि अगर वह ऐसा करे तो अज्ञान और निश्चेतना असंभव हो जायेंगे या फिर अभी जो मंद विकास आवश्यक है वह तेज रूपांतर के दृश्य में बदल जायेगा। फिर भी भौतिक ऊर्जा के पग-पग पर हम अतिमानसिक स्रष्टा की लगायी हुई अनिवार्यता की मुहर देख सकते हैं। प्राण और मन के सारे विकास में संभावना की रेखाओं और उनके संयोजन की लीला को देख सकते हैं जो अधिमानसिक हस्तक्षेप की मुहर है; जैसे जड़ तत्त्व में से प्राण और मन मुक्त

हुए हैं उसी तरह अपने समय में प्रच्छन्न देवत्व की इन महत्तर शक्तियों को प्रतिविकास में से उभरना होगा और उनकी परम ज्योति को ऊपर से हमारे अंदर उतरना होगा।

अगर ये चीजें वैसी हैं जैसी कि हमने देखी हैं तो अभिव्यक्ति के अंदर दिव्य जीवन हमारे वर्तमान अज्ञानमय जीवन के उच्च परिणाम और मुक्ति-मूल्य के रूप में न केवल संभव बल्कि प्रकृति के क्रमवैकासिक उद्यम की अनिवार्य परिणति और चरम सिद्धि है।

द्वितीय ग्रंथ

विद्या और अविद्या
आध्यात्मिक क्रम विकास

प्रथम भाग

अनन्त चेतना और अविद्या

अध्याय १

अनिर्धारित, वैश्व निर्धारण और अनिर्देश्य

अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म-
प्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशम् शान्तं शिवं . . . स आत्मा स विज्ञेयः ॥

वह ऐसा अदृष्ट है जिसके साथ कोई भी व्यावहारिक संबंध नहीं हो सकते, वह पकड़ में नहीं आता, वह लक्षण-रहित, अचिन्त्य है, किसी भी नाम से उसका निर्देश नहीं किया जा सकता, जिसका सार है, 'एकमेव आत्मा' की निश्चिति, उस वैश्व अस्तित्व का उपशमन हो गया है, वह 'शान्तं शिवम्' है—वही वह आत्मा है, वही वह है जिसे जानना है।

माण्डूक्योपनिषद् ७

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥

कोई उसे आश्चर्यवत् देखता है, कोई उसकी चर्चा आश्चर्यवत् करता है, कोई उसे आश्चर्यवत् सुनता है लेकिन उसे जानता कोई नहीं।

गीता २-२९

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥

जो अक्षर की, अनिर्देश्य की, अव्यक्त की, सर्वव्यापक की, अचिन्त्य की, कूटस्थ की, अचल और ध्रुव की खोज करते हैं सभी जगह समबुद्धि रखनेवाले, सभी भूतों के हित में लगे वे लोग मेरे पास ही आते हैं।

गीता १२. ३, ४

. . . बुद्धेरात्मा महान्परः ॥
महतः परमव्यक्तम् अव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

बुद्धि से परे महान् आत्मा है, महान् आत्मा से परे अव्यक्त है, अव्यक्त से परे पुरुष है, उस पुरुष से परे कुछ भी नहीं है, वह पराकाष्ठा है, वह परा गति, परम लक्ष्य है।

कठोपनिषद् ३. १०, ११

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

ऐसा महात्मा दुर्लभ है जिसके लिये सब कुछ वासुदेव हो।

गीता ७.१९

एक चित्-शक्ति है जो सत्ता में हर जगह अंतर्निहित है, वह छिपी हुई भी क्रिया करती है, वह जगतों का सृजन करनेवाली, प्रकृति का गुह्य रहस्य है। लेकिन हमारे भौतिक जगत् में और हमारी अपनी सत्ता में चेतना के दो पक्ष होते हैं, एक है ज्ञान की शक्ति और दूसरी अज्ञान की शक्ति। आत्म-अभिज्ञ अनंत सत् की अनंत चेतना में ज्ञान हर जगह निहित होगा या उसके हर कार्य के कण-कण में क्रियाशील होगा। लेकिन हम यहां वस्तुओं के आरंभ में एक निश्चेतना, एक पूर्ण अविद्या को सृजन करनेवाली विश्व ऊर्जा के आधार या उसकी प्रकृति के रूप में प्रकट देखते हैं। यही वह भंडार है जहां से भौतिक विश्व का आरंभ होता है। पहले चेतना और ज्ञान धुंधली अत्यणु गतियों में, बिंदुओं पर, छोटे ऊर्जाणु में, जो अपने-आपको एक साथ संबद्ध कर लेते हैं, उभरते हैं। एक धीमा और कठिन विकास होता है। चेतना की क्रियाओं का धीरे-धीरे बढ़ता हुआ संगठन और सुधरता हुआ यंत्र-विन्यास होता है; अविद्या की कोरी सिलेट पर अधिकाधिक लाभ लिखे जाते हैं। फिर भी इनका रूप एक खोज करते हुए अज्ञान का और उस अज्ञान की इकट्ठी की हुई प्राप्तियों और निर्माणों का होता है जो जानने, समझने, खोजने और धीरे-धीरे संघर्ष के साथ उसे ज्ञान में बदलने की कोशिश करता है। जैसे यहां प्राण सर्वसामान्य मृत्यु की नींव पर और उसके वातावरण में अपनी क्रियाओं को कठिनाई के साथ स्थापित करता और बनाये रखता है, पहले वह इसे प्राण के अत्यणुओं में करता है, प्राण-स्वरूप और प्राण-ऊर्जा के ऊर्जाणु में करता है और बढ़ते हुए समुच्चयों में करता है और ये समुच्चय अधिकाधिक जटिल अवयव-संस्थानों, पेचीदे जीवन-यंत्रों की रचना करते हैं; उसी तरह चेतना भी एक आदि अविद्या और वैश्व अज्ञान के अंधकार में एक बढ़ती हुई किंतु अस्थिर ज्योति को प्रतिष्ठित करती और बनाये रखती है।

और फिर हमें जो ज्ञान प्राप्त होता है वह चीजों की वास्तविकता या सत्ता के आधारों का नहीं बल्कि दृश्य रूपों का होता है। जहां कहीं हमारी चेतना उस चीज से मिलती है जो आधार प्रतीत होती है, वह आधार यदि शून्य का नहीं तो कोरी रिक्तता का रूप ले लेता है, एक ऐसी मूल अवस्था का जो आकृतिहीन है, और ऐसे असंख्य परिणामों का रूप ले लेता है जो उस मूल में अंतर्निहित नहीं होते और उस मूल में ऐसा कुछ नहीं होता जो उनका औचित्य सिद्ध कर सके या उनकी आवश्यकता दिखला सके; वहां बहुत-सी ऊपरी रचना होती है जिसका आधारभूत अस्तित्व के साथ कोई स्पष्ट सहज संबंध नहीं होता। विश्व-सत्ता का पहला रूप एक

ऐसा अनंत होता है जो हमारी दृष्टि के लिये अनिर्देश्य नहीं तो अनिर्दिष्ट तो होता ही है। इस अनंत में स्वयं विश्व, चाहे ऊर्जा के रूप में हो या रचना-रूप में अनिर्धारित निर्धारण, "सीमाहीन ससीम" प्रतीत होता है। ये शब्द विरोधाभासी हैं लेकिन साथ ही आवश्यक भी जिनसे यह संकेत मिलता प्रतीत होता है कि हमारे सामने चीजों के आधार के रूप में वह बुद्धि से परे का रहस्य है। उस विश्व में बहुत बड़ी संख्या में विविध प्रकार के सामान्य और विशेष निर्दिष्ट उठ खड़े होते हैं जो अनंत की प्रकृति में दीखनेवाली किसी भी चीज द्वारा समर्थन पाते हुए नहीं दीखते। ऐसा लगता है कि उन्हें उसपर आरोपित किया गया है अथवा यह भी हो सकता है कि वे स्वयं अपने द्वारा आरोपित किये गये हों। ये आये कहां से? जो ऊर्जा उन्हें पैदा करती है उसे हम प्रकृति का नाम देते हैं। लेकिन इस शब्द का तबतक कोई अर्थ नहीं निकलता जबतक हम यह न मान लें कि चीजों की प्रकृति जैसी है वैसी एक शक्ति के कारण है जो उन्हें उनमें अंतर्निहित सत्य के अनुसार संयोजित करती है। लेकिन स्वयं उस सत्य की प्रकृति, ये निर्दिष्ट जैसे हैं वैसे क्यों हैं, इसका कोई कारण कहीं दिखायी नहीं देता। वस्तुतः मानव विज्ञान के लिये भौतिक चीजों की प्रक्रिया या बहुत-सी प्रक्रियाओं का पता लगाना संभव रहा है परंतु यह ज्ञान मुख्य प्रश्न पर कोई प्रकाश नहीं डालता। हम मूल वैश्व प्रक्रियाओं का युक्तियुक्त विवरण तक नहीं जानते क्योंकि जो परिणाम हमारे सामने आते हैं वे उनके अवश्यंभावी परिणाम के रूप में नहीं बल्कि व्यावहारिक और वास्तविक परिणामों के रूप में ही आते हैं। अंत में हम नहीं जानते कि ये निर्दिष्ट आद्य अनिर्दिष्ट या अनिर्देश्य में या उसमें से कैसे आये जिस पर ये अपनी व्यवस्थित उपस्थिति में एक शून्य या समतल पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। वस्तुओं के आरंभ में हमारा सामना होता है एक ऐसे अनंत से जिसमें बहुत-से सांतों की राशि है जिनकी व्याख्या नहीं की जा सकती, एक ऐसे अविभाज्य से जो अंतहीन विभाजनों से भरा है, एक ऐसे अक्षर से जो क्षरता और वैशिष्ट्य से भरा है। एक वैश्व विरोधाभास सभी वस्तुओं का आदि है, एक ऐसा विरोधाभास जिसके अर्थ की कोई चाबी नहीं है।

निश्चय ही यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि हमारे रूपायित विश्व को समाये रखनेवाले अनंत की धारणा करने की जरूरत ही क्या है? हमारा मन अपनी धारणाओं के आवश्यक आधार-रूप में अनिवार्य रूप से ऐसी धारणा की मांग करता है क्योंकि वह देश या काल या सार सत्ता के परे कोई ऐसी सीमा निश्चित या निर्धारित करने में असमर्थ रहता है जिसके परे, पहले या पीछे कुछ न हो—यहां शून्य या असत् की धारणा का एक विकल्प भी है लेकिन ये तो अनंत की एक खाई मात्र हो सकते हैं जिसमें झांकने से हम इंकार करते हैं। ऐसी हालत में असत् का एक अनंत रहस्यमय शून्य एक अनंत 'क्ष' का आवश्यक आधारतत्त्व के रूप में स्थान ले लेगा, जो कुछ भी हमारे लिये अस्तित्व या सत् है उसे देखने के लिये

यही आधार होगा। लेकिन अगर हम भौतिक विश्व के सीमाहीन विस्तृत होते हुए सांत के और उसके बहुप्रसवी निर्धारणों के सिवा और किसी को वास्तविक मानने से इंकार भी कर दें तब भी वही पहेली बनी रहती है। हमारे लिये अनंत सत्, अनंत असत् या सीमाहीन सांत, सभी आदि अनिर्दिष्ट या अनिर्देश्य हैं। हम उनके लिये निश्चित गुण-धर्म या आकार या कोई ऐसी चीज नियत नहीं कर सकते जो उनके निर्देश्यों को पहले से निर्दिष्ट कर सके। विश्व के मौलिक या आधारभूत गुण-धर्म को देश या काल या देश-काल कह देने से भी हमें सहायता नहीं मिलती क्योंकि वे चाहे हमारी बुद्धि की अमूर्त कल्पनाएं न भी हों जिन्हें हम अपनी मानसिक दृष्टि से विश्व पर आरोपित कर रहे हों, वे अगर विश्व के चित्र के लिये मन के आवश्यक परिप्रेक्ष्य भी न हों फिर भी, ये भी वे अनिर्दिष्ट तो हैं ही जिनमें कोई ऐसा सूत्र नहीं मिलता जिससे उनके अंदर होनेवाले निर्दिष्टों के मूल का पता लग सके। अभीतक उस विचित्र प्रक्रिया की व्याख्या नहीं हो पायी है जिसके द्वारा चीजें निर्दिष्ट होती हैं, न उनकी शक्तियों, गुणों और विशेषताओं का स्पष्टीकरण हुआ और न उनके सच्चे स्वभाव, उद्गम और अर्थ का ही रहस्य खुला है।

वास्तव में यह अनंत या अनिर्दिष्ट सत् हमारे विज्ञान के आगे अपने-आपको ऊर्जा के रूप में प्रकट करता है जिसे स्वयं उसके कारण नहीं बल्कि उसके कार्यों के द्वारा जाना जाता है, जो अपनी गति में शक्ति-तरंगों को और उनमें अनगिनत अत्यणुओं को प्रक्षिप्त करती है। ये अपने-आपको ज्यादा बड़े अत्यणु बनाने के लिये समूहों में इकट्ठा करते हैं और इस तरह ऊर्जा के सभी सृजनों के लिये आधार बन जाते हैं, उनके लिये भी जो भौतिक आधार से अधिक-से-अधिक दूर हैं, व्यवस्थित जड़ तत्त्व के जगत् के आविर्भाव के लिये, प्राण के आविर्भाव के लिये, चेतना के आविर्भाव के लिये और विकसनशील प्रकृति की ऐसी सभी क्रियाओं के लिये जिनकी अभीतक कोई व्याख्या नहीं दी जा सकी, उन सबके लिये आधार बन जाते हैं। मौलिक प्रक्रिया पर बहुत-सी प्रक्रियाएं खड़ी की गयी हैं जिनका हम अवलोकन और अनुसरण कर सकते हैं, उनमें से कइयों का लाभ उठा सकते और उपयोग कर सकते हैं लेकिन ये उनमें से नहीं हैं जिनकी आधारभूत रूप से व्याख्या की जा सकती है। अब हम जानते हैं कि वैद्युत अत्यणुओं के विभिन्न समूहन और उनकी बदलती हुई संख्याएं अलग-अलग स्वभाव, गुण और बलवाले ज्यादा बड़े परमाणविक अत्यणुओं के प्रकट होने के लिये संघटक अवसर पैदा कर सकते या बन सकते हैं। उन्हें भूल से कारण कहा जाता है क्योंकि यहां तो वे एक आवश्यक पूर्ववर्ती अवस्था ही मालूम होते हैं। लेकिन हम यह समझने में असफल रहते हैं कि ये भिन्न-भिन्न स्थितियां अलग-अलग परमाणुओं का घटन कैसे कर सकती हैं, कैसे संघटक अवसर या कारण का वैशिष्ट्य घटित परिणाम या फल के वैशिष्ट्य को जरूरी बना देता है। हम यह भी जानते हैं कि कुछ अदृश्य

परमाणविक अत्यणुओं के कुछ संयोजन ऐसे नये और दृश्य निर्धारणों को पैदा करते या उन्हें अवसर देते हैं जो स्वभाव, गुण और शक्ति में घटक अत्यणुओं से भिन्न होते हैं। लेकिन हम यह खोजने में असफल रहते हैं, उदाहरण के लिये कि कैसे ऑक्सीजन और हाइड्रोजन के संयोजन का निश्चित सूत्र पानी के प्रकट होने का निर्धारण कर देता है जो स्पष्ट रूप से गैसों के संयोजन से अधिक, एक नया सृजन, पदार्थ का एक नया रूप, एक और ही स्वभाव की भौतिक अभिव्यक्ति होता है। हम देखते हैं कि बीज वृक्ष में विकसित होता है। हम इस रचना की प्रक्रिया की रेखा का अनुसरण कर उसका उपयोग करते हैं लेकिन यह पता नहीं लगा पाते कि बीज से वृक्ष कैसे विकसित होता है, बीज के पदार्थ या उसकी ऊर्जा में वृक्ष का प्राण या रूप कैसे अंतर्निहित रहता है या अगर यही तथ्य है तो बीज वृक्ष में कैसे विकसित होता है। हम जानते हैं कि जीन और क्रोमोसोम (गुणसूत्र) पैतृक वंशगत संचरण के कारण हैं, केवल भौतिक ही नहीं मनोवैज्ञानिक विभिन्नताओं के भी। लेकिन हम यह नहीं खोज पाते कि इस निश्चेतन जड़ वाहक में मन के गुण कैसे धारण किये जाते और संचारित किये जाते हैं। हम देखते या जानते तो नहीं हैं लेकिन हमारे आगे यह बात प्रकृति की प्रक्रिया के रूप में प्रतिपादित की जाती है कि विद्युदणु की, परमाणुओं और उनसे बने अणुओं की, कोषाणुओं, ग्रंथियों, रासायनिक स्रावों और शारीरिक प्रक्रियाओं की ऐसी क्रीड़ा होती है जो किसी शेक्सपीयर या अफलातून के मस्तिष्क और स्नायुओं पर ऐसी क्रिया करती है कि वह हैमलेट या 'सिम्पोजियम' या 'रिपब्लिक' की रचना करा सकती है या उसकी रचना के लिये क्रियात्मक सुयोग बन जाती है। लेकिन हम यह खोज पाने या समझने में असफल रहते हैं कि ऐसी जड़ भौतिक क्रियाएं विचार और साहित्य के इन उच्चतम बिंदुओं का सृजन कैसे कर पायीं या उन्होंने इस सृजन को आवश्यक कैसे बनाया। यहां निर्देशक और निर्दिष्ट के बीच का अंतर इतना चौड़ा हो जाता है कि इस प्रक्रिया को समझने या इसे व्यवहार में लाने की तो बात दूर रही, हम उसका अनुसरण भी नहीं कर सकते। विज्ञान के ये सूत्र व्यावहारिक रूप में ठीक और निर्भ्रांत हो सकते हैं। वे प्रकृति की प्रक्रिया के व्यावहारिक "कैसे" का नियंत्रण कर सकते हैं लेकिन वे उसके आंतरिक "कैसे" और "क्यों" का रहस्य नहीं खोलते। बल्कि उनका रूप किसी वैश्व जादूगर के मंत्रों जैसा होता है—यथार्थ, अरोध्य, अपने-अपने क्षेत्र में हर एक स्वचालित रूप से सफल लेकिन जिनका प्रयोजन अभीतक मूलतः समझ में न आनेवाला है

हमें चकराने के लिये और भी बातें हैं क्योंकि हम देखते हैं कि मौलिक अनिर्दिष्ट ऊर्जा अपने अंदर से सामान्य निर्दिष्टों को प्रक्षिप्त करती है, उन रचनाओं के वैविध्य को दृष्टि में रखते हुए हम इन्हें समान रूप से जातीय अनिर्दिष्ट कह सकते हैं। इनके द्रव्य की उचित अवस्थाएं और उस द्रव्य के निर्दिष्ट रूप होते हैं।

ये रूप बहुसंख्यक और कभी-कभी अपने आधार द्रव्य-ऊर्जा की अनगिनत विविधताएं होते हैं लेकिन ऐसा लगता है कि इन विविधताओं में से कोई भी सामान्य अनिर्दिष्ट की प्रकृति की किसी भी चीज द्वारा पहले से निर्दिष्ट नहीं होती। वैद्युत ऊर्जा अपने धन, ऋण और उदासीन रूप पैदा करती है। ये रूप एक ही साथ लहरें भी हैं और कण भी। द्रव्य-ऊर्जा की एक वायवीय स्थिति बहुत प्रकार की गैसें तैयार करती है। द्रव्य ऊर्जा की ठोस स्थिति, जिसमें से पृथ्वी-तत्त्व विकसित होता है, वह पृथ्वी और चट्टान के विभिन्न रूपों और बहुसंख्या में खनिजों और धातुओं को विकसित करती है। प्राण-तत्त्व अपने वनस्पति-राज्य की रचना करता है जो विचित्र प्रकार के पौधों, वृक्षों, पुष्पों के असंख्य प्रकारों से भरा होता है। पशु जीवन का तत्त्व जाति, उपजाति, वैयक्तिक वैचित्र्यों के विशाल वैविध्य को उत्पन्न करता है। उसी तरह वह तत्त्व मानव प्राण और मन और उसके मानसिक प्ररूपों की ओर, क्रम-विकास के उस असमाप्त अध्याय के अभीतक अलिखित अंत या शायद अबतक गुह्य रहनेवाले उत्तरार्द्ध की ओर आगे बढ़ता है। मूल निर्दिष्ट में शुरू से अंततक व्यापक समानता का सतत नियम रहता है और आधारभूत पदार्थ और प्रकृति के इस स्वरूपगत अभेद के आधीन जातिगत और वैयक्तिक निर्दिष्टों में प्रचुर वैचित्र्य रहता है। जाति और उपजाति में भी समानता या सादृश्य का ऐसा ही नियम चलता है और वहां भी बहुसंख्यक वैविध्य रहता है जो व्यक्ति में प्रायः अतिसावधानी से व्योरोंतक में रहता है। लेकिन हम सामान्य या जातिगत निर्दिष्ट में ऐसी कोई चीज नहीं पाते जो उससे पैदा होनेवाले विविध निर्दिष्टों को आवश्यक बनाये। ऐसा लगता है कि आधार में एक अपरिवर्तनशील समानता और सतह पर मुक्त और बेहिसाब विभिन्नताओं की अनिवार्यता ही नियम है। लेकिन वह कौन है या क्या है जो इन्हें अनिवार्य या निर्दिष्ट बनाता है? निर्धारण का प्रयोजन क्या है? उसका मूल सत्य या उसका तात्पर्य क्या है? बदलती हुई संभावनाओं की इस उल्लासमयी लीला को, जिसका सृजन की सुंदरता या उसके आनंद के सिवाय कोई लक्ष्य या अर्थ नहीं दिखायी देता, कौन बाधित या प्रेरित करता है? हो सकता है कि वह कोई मन या कोई खोजनेवाला, कुतूहलभरा अन्वेषक विचार या कोई गुप्त निर्धारक इच्छा हो लेकिन उसका जड़ भौतिक प्रकृति के प्रथम मौलिक रूप में कहीं कोई लवलेश भी नहीं दिखायी देता।

पहली संभव व्याख्या यह संकेत करती है कि एक आत्म-संगठनकारी क्रियाशील संयोग काम कर रहा है। यह विरोधाभास इसलिये जरूरी हो जाता है कि हम जिस वैश्व व्यापार को प्रकृति कहते हैं उसमें एक तरफ तो अनिवार्य व्यवस्था और दूसरी ओर बेहिसाब मनमानापन और स्वैर कल्पना दिखायी देती है। हम कह सकते हैं कि प्रकृति की ऊर्जा एक निश्चेतन और असंबद्ध शक्ति है जो किसी निर्देशक नियम के बिना, विशृंखलता के साथ काम करती है और सामान्य

संयोग से इसकी या उसकी रचना कर डालती है। उसकी क्रिया के एक-से छंद-लय के लगातार बार-बार दोहराये जाने के परिणामस्वरूप ही निर्देशन का आगमन होता है और चूंकि इस तरह दोहराया जानेवाला छंद ही चीजों के अस्तित्व को बनाये रखने में सफल होता है इसलिये निर्देशन भी सफल होते हैं—यह प्रकृति की ऊर्जा है। लेकिन इसमें यह अर्थ छिपा होता है कि चीजों के आरंभ में कहीं पर ऐसी असीम संभावना या अनगिनत संभावनाओं का गर्भ है जो आदि-ऊर्जा द्वारा उसमें से प्रकट होती हैं—यह एक अनिश्चित निश्चेतना है जिसे हम सत् या असत् कहते हुए सकुचाते हैं, क्योंकि ऐसे किसी उद्गम और आधार के बिना ऊर्जा का प्रकट होना या उसका क्रिया करना समझ में नहीं आता। लेकिन वैश्व व्यापार के स्वभाव का जैसा हमें एक उल्टा पहलू दीखता है, ऐसा लगता है कि वह हमें इस सिद्धांत को मानने की मनाही करता है कि कोई विशृंखल क्रिया एक स्थायी व्यवस्था को उत्पन्न करती है। वहां व्यवस्था पर, संभावनाओं के आधार के नियम पर एक लौह आग्रह है। यह मानना न्यायसंगत होगा कि वस्तुओं का एक अंतर्निहित अनिवार्य सत्य होता है जो हमारे लिये अदृश्य रहता है लेकिन यह ऐसा सत्य है जो बहुविध रूपों में अभिव्यक्त होने में सक्षम है, जो अपनी बहुत सारी संभावनाओं और रूप-भेदों में अपने-आपको प्रक्षिप्त कर सकता है जिन्हें सर्जक ऊर्जा अपनी क्रिया से बहुत सारी संसिद्ध वास्तविकताओं में बदल देती है। यह चीज हमें एक और व्याख्यातक ले आती है, वह है—वस्तुओं में विद्यमान यांत्रिक आवश्यकता जिसकी क्रियाओं को हम प्रकृति के बहुत सारे यांत्रिक नियमों के रूप में जानते हैं—हम कह सकते हैं कि वस्तुओं के किसी ऐसे गुप्त अंतर्निहित सत्य की आवश्यकता है जिसकी हमने कल्पना की है, जो विश्व में, जिन क्रियाओं को हम क्रिया करते देखते हैं, उनकी प्रक्रियाओं को स्वतः-शासित करती है। लेकिन यांत्रिक आवश्यकता का सिद्धांत अपने-आपमें विकास में दीखनेवाले अंतहीन गणनातीत विभेदों की स्वतंत्र क्रीड़ा पर प्रकाश नहीं डालता। आवश्यकता के पीछे या उसके अंदर ऐक्य का एक नियम होना चाहिये जो साथ-ही-साथ चलनेवाले लेकिन अधीनस्थ बहुलता के नियम के साथ जुड़ा हो और दोनों ही अभिव्यक्ति पर जोर देते हों। लेकिन किसका ऐक्य ? किसकी बहुलता ? यांत्रिक आवश्यकता इसका कोई उत्तर नहीं दे सकती। और फिर इस सिद्धांत में निश्चेतना में से चेतना का आविर्भाव रास्ते का रोड़ा है क्योंकि यह एक ऐसा व्यापार है जिसका निश्चेतन यांत्रिक आवश्यकता के सर्वव्यापक सत्य में कोई स्थान नहीं हो सकता। अगर कोई ऐसी आवश्यकता है जो इस आविर्भाव को बाधित करती है तो वह केवल यही हो सकती है कि निश्चेतना में पहले से ही चेतना छिपी हुई है जो विकास की प्रतीक्षा में है, और जब सब कुछ तैयार हो तो अपनी प्रतीयमान निर्ज्ञान की कारा में से फूट निकलती है। वस्तुओं की अनिवार्य व्यवस्था की कठिनाई से हम यह मानकर पीछा छुड़ा सकते हैं कि उसका

अस्तित्व ही नहीं है, कि प्रकृति में नियति को हमारे विचार ने आरोपित किया है, जिस विचार को अपने इर्द-गिर्द की चीजों से व्यवहार करने के लिये ऐसी अनिवार्य व्यवस्था की जरूरत है लेकिन वास्तव में ऐसी कोई चीज है ही नहीं। केवल एक शक्ति है जो ऐसे अत्यणुओं की इतस्ततः क्रिया पर परीक्षण करती है जो अपने सामान्य परिणामों में, अपनी क्रिया के कुल योग में बार-बार दुहरायी जानेवाली क्रिया द्वारा भिन्न-भिन्न नियतियों की रचना करते हैं। इस तरह हम अपने जीवन के आधार के रूप में आवश्यकता से संयोग की ओर लौट जाते हैं। लेकिन तब यह मन, यह चेतना क्या है जो उसे बनानेवाली ऊर्जा से मूलतः इतनी भिन्न है कि उसे उस जगत् पर, जिसे उस ऊर्जा ने बनाया है और जिसमें रहने के लिये वह बाधित है, अपने नियम-व्यवस्था के भाव और आवश्यकताओं और अपनी क्रियाओं के लिये आरोपित करना पड़ा है। तो यहां दो तरह का विरोध आ जाता है; एक है चेतना का मूलगत निश्चेतना में से आविर्भाव और दूसरा व्यवस्था और तर्क-बुद्धिवाले मन का एक ऐसे जगत् के भव्य अंतिम परिणाम के रूप में प्रकट होना जिसे निश्चेतन संयोग ने पैदा किया था। ये चीजें संभव हो सकती हैं लेकिन इससे पहले कि हम उन्हें अपनी स्वीकृति दें, ये अभीतक जितनी व्याख्याएं दी गयी हैं उनसे ज्यादा अच्छी व्याख्या की मांग करती हैं।

यह अन्य व्याख्याओं के लिये रास्ता खोल देती है जो चेतना को एक प्रतीयमान मूल निश्चेतना में से इस जगत् का निर्माण करनेवाली कहती हैं। ऐसा लगता है कि एक मन ने, एक इच्छा ने विश्व की कल्पना और व्यवस्था की है लेकिन उसने अपने-आपको अपनी सृष्टि के पीछे छिपा लिया है। उसकी पहली रचना है निश्चेतन ऊर्जा का यह पर्दा और द्रव्य का जड़ रूप। यह एक ही साथ उसकी उपस्थिति को छिपानेवाला और सृजन का नमनीय आधार है जिसपर वह उस तरह काम कर सकता है जैसे कोई कारीगर आकारों और नमूनों को तैयार करने के लिये मूक और आज्ञाकारी पदार्थ का उपयोग करता है। तो फिर ये सब चीजें, जिन्हें हम अपने चारों ओर देखते हैं, वे किसी विश्व से बाहर की दिव्य सत्ता के विचार हैं। उस सत्ता में सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ मन और इच्छा है जो भौतिक विश्व के गणितीय नियम के लिये, उसके सौंदर्य की कला के लिये, समानता और विभिन्नता की, उसकी संगति और विसंगति की, संयुक्त होनेवाले और आपस में मिलनेवाले विरोधों की विचित्र क्रीड़ा के लिये एक निश्चेतन वैश्व व्यवस्था में अपने अस्तित्व के लिये संघर्ष करती और अपने-आपको प्रतिष्ठित करना चाहती हुई चेतना के नाटक के लिये उत्तरदायी है। इस तथ्य से कोई कठिनाई नहीं पैदा होती कि यह भागवत तत्त्व हमारे लिये अदृश्य और हमारे मन और इन्द्रियों की खोज के परे है, क्योंकि जिस विश्व में उसकी उपस्थिति का अभाव है उसमें विश्व से बाहर के स्रष्टा के स्वयंसिद्ध या प्रत्यक्ष लक्षण की आशा नहीं की जा सकती। हर जगह प्रज्ञा, विधान,

परिकल्पना, नियम, साधनों के लक्ष्य के साथ अनुकूलन, सतत और अक्षय अन्वेषण के स्पष्ट संकेत, यहांतक कि स्वैर कल्पना को भी, भले वह व्यवस्थापक बुद्धि द्वारा नियंत्रित हो, वस्तुओं के इस उद्गम का पर्याप्त प्रमाण माना जा सकता है। और अगर यह स्रष्टा पूरी तरह विश्व के बाहर नहीं है बल्कि अपने कार्यों में व्याप्त भी है, तब भी उसके बारे में कोई और चिह्न होने की जरूरत नहीं है—ऐसा चिह्न निश्चय ही इस निश्चेतन जगत् में विकसित होती हुई चेतना को मिल सकता है, लेकिन तभी जब उसका विकास एक ऐसे बिंदु पर जा पहुंचे जहां वह अपने अंदर निवास करनेवाली उपस्थिति के बारे में अभिज्ञ हो सके। इस विकसनशील चेतना का हस्तक्षेप कोई कठिनाई न लायेगा क्योंकि उसके प्रकट होने से चीजों के आधारभूत स्वरूप में कोई विरोध न होगा। सर्वशक्तिमान् मन अपने-आपका कुछ अंश आसानी से अपने जीवों में भर सकता है। एक कठिनाई रह जाती है, वह है सृष्टि का मनमाना स्वरूप, उसके प्रयोजन का समझ में न आना, अनावश्यक अज्ञान, संघर्ष तथा पीड़ा के नियम की अनगढ़ व्यर्थता और उपसंहार या परिणाम के बिना उसकी समाप्ति। क्या यह नाटक है? लेकिन जिसके स्वभाव को दिव्य मानना चाहिये उस एकमेव के नाटक में इतने सारे अदिव्य तत्त्वों और पात्रों की यह मुहर क्यों? इस सुझाव के उत्तर में कि हम जो कुछ जगत् में चरितार्थ होते देखते हैं वह भगवान् का स्वप्न है, यह कहा जा सकता है कि भगवान् कुछ ज्यादा अच्छे स्वप्न देख सकते थे और सबसे अच्छा स्वप्न तो यही होता कि वे दुःखी और समझ में न आनेवाले विश्व के बनाने से बाज रहते। सभी आस्तिक व्याख्याएं, जो जगत् से बाहर स्थित भगवान् को लेकर चलती हैं इस कठिनाई पर आकर ठोकर खाती हैं और वे बस उससे बच कर निकल ही सकती हैं। यह तभी गायब हो सकती है यदि स्रष्टा, भले अपनी सृष्टि का अतिक्रमण करते हुए भी उसमें व्याप्त हो, किसी तरह अपने-आप खेल और खिलाड़ी दोनों हो, एक ऐसा अनंत हो जो एक विकसनशील विश्व-व्यवस्था के बंधे हुए रूप में अनंत संभावनाओं को प्रक्षिप्त करता हो।

इस मान्यता के अनुसार जड़ भौतिक ऊर्जा की क्रिया के पीछे एक गुप्त अंतर्निहित चेतना होनी चाहिये जो वैश्व और अनंत हो, जो उस सामने की ऊर्जा की क्रिया द्वारा विकसनशील अभिव्यक्ति के साधन खड़े करती हो, जड़ विश्व के सीमाहीन सांत में अपने अंदर से एक सृष्टि पैदा करती हो। तब जड़ भौतिक विश्व-पदार्थ की रचना के लिये, जिसके अंदर चेतना अपने-आपको अंतर्लीन करना चाहती है ताकि वह अपने दीखनेवाले विरोधों में से विकास के द्वारा वृद्धि पाये, उसमें जड़ भौतिक ऊर्जा की प्रतीयमान निश्चेतना एक अनिवार्य अवस्था होगी। क्योंकि किसी ऐसी तरकीब के बिना पूरा-पूरा अंतर्लयन संभव न होगा। यदि कोई ऐसी सृष्टि है जिसे अनंत ने अपने अंदर से बनाया है तो उसे एक जड़ भौतिक

छद्मवेश में अपनी ही सत्ता के सत्यों या शक्तियों की एक अभिव्यक्ति होना चाहिये : इन सत्यों या शक्तियों के रूप या वाहन होंगे वे सामान्य या आधारभूत निर्दिष्ट जिन्हें हम प्रकृति में देखते हैं। वे विशेष निर्दिष्ट जो अन्यथा बेहिसाब वैविध्य हैं, जो उस अस्पष्ट सामान्य पदार्थ में से उभरे हैं जिनमें उनका आरंभ हुआ था, वे ही उन संभावनाओं के उचित रूप या वाहन होंगे जिन्हें इन मूलगत निर्दिष्टों के अंदर रहनेवाले सत्यों या शक्तियों ने अपने अंदर धारण कर रखा था। अनंत चेतना के लिये संभावनाओं का मुक्त वैचित्र्य स्वाभाविक है। यह विधान निश्चेतन संयोग के पक्ष की व्याख्या होगा जिसे हम प्रकृति की क्रियाओं में देखते हैं—वह केवल देखने में निश्चेतन है और जड़ तत्त्व में पूर्णतया अंतर्लीन होने के कारण या गुप्त चेतना ने अपनी उपस्थिति को जिस पर्दे से छिपा रखा है उसके कारण ऐसा दीखता है। सत्यों के तत्त्व, शाश्वत की वास्तविक शक्तियां, जो अपने-आपको अनिवार्य रूप से परिपूर्ण करती हैं, यही उस विरोधी पक्ष की यांत्रिक आवश्यकता की व्याख्या है जिसे हम प्रकृति में देखते हैं—ये केवल देखने में ही यांत्रिक हैं और उसी निश्चेतना के पर्दे के कारण ऐसे दीखते हैं। तब यह बिलकुल बोधगम्य बात होगी कि निश्चेतना अपने कार्य सदा गणितीय वास्तुकला, परिकल्पनाओं, अंकों की प्रभावकारी व्यवस्था, साधनों के लक्ष्य के अनुसार अनुकूलन, अक्षय युक्ति और अन्वेषण के स्थिर सिद्धांत, बल्कि हम कह सकते हैं अविच्छिन्न परीक्षणात्मक कौशल और उद्देश्य की यांत्रिकता के साथ करती है। तब दीखनेवाली निश्चेतना में से चेतना का प्रकट होना भी अव्याख्येय न रहेगा।

अगर यह परिकल्पना मान्य साबित हो तो प्रकृति की वे सब प्रक्रियाएं जो अव्याख्येय हैं, अपना अर्थ और अपना स्थान पा लेंगी। ऐसा लगता है कि ऊर्जा पदार्थ का सृजन करती है लेकिन वास्तव में जैसे सत् चित्-शक्ति में अंतर्निहित है उसी तरह पदार्थ भी ऊर्जा में अंतर्निहित होगा—ऊर्जा शक्ति की अभिव्यक्ति है और पदार्थ गुप्त सत् की अभिव्यक्ति। लेकिन चूंकि यह आध्यात्मिक द्रव्य है, वह जड़ भौतिक इन्द्रियों द्वारा तबतक न समझा जायेगा जबतक कि ऊर्जा, उसे ऐसे जड़ पदार्थ का रूप न दे दे जिसे वे इन्द्रियां पकड़ सकें। हम यह भी समझना शुरू करते हैं कि रूप-रेखा, परिमाण और संख्या का विन्यास किस तरह गुण और धर्म की अभिव्यक्ति का आधार हो सकता है क्योंकि रूप-रेखा, परिमाण और संख्या सत्ता-द्रव्य की शक्तियां हैं, गुण और धर्म उस चेतना और उसकी शक्ति की शक्तियां हैं जो सत् में निवास करती हैं। तब उन्हें पदार्थ की प्रक्रिया और लय द्वारा अभिव्यक्त और क्रियाशील बनाया जा सकता है। बीज में से वृक्ष के विकास को, इसी तरह के दूसरे व्यापारों को भी, हम जिसे सत्य-संकल्प कहते हैं उसके अंदर निवास करनेवाली उपस्थिति के द्वारा समझा जा सकेगा। अनंत के सार्थक रूप का आत्मदर्शन, उसकी सत्ता की शक्ति का सजीव शरीर जिसे उसके ऊर्जा-द्रव्य में से

आत्म-संपीड़न द्वारा उभरना है, वह आंतरिक रूप से बीज के रूप में ले जाया जायेगा और उस रूप में अंतर्निहित गुह्य चेतना में ले जाया जायेगा और स्वभावतः उसमें से विकसित होगा। और इस सिद्धांत के आधार पर यह समझने में कोई कठिनाई न होगी कि जड़ भौतिक प्रकार के अत्यणु, जैसे जीन और क्रोमोसोम, अपने अंदर मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का वहन कैसे करते हैं जिन्हें उस भौतिक रूप में संचारित किया जायेगा जो मानव बीज में से प्रकट होगा। यह कार्य जड़ तत्त्व की बाह्यता में भी मूलतः उसी नियम पर होगा जिसे हम अपने आंतरिक अनुभव में पाते हैं—क्योंकि हम देखते हैं कि अवचेतन स्थूल सत्ता अंतःकरण के मानसिक उपादानों को, पिछली घटनाओं के संस्कारों और अभ्यासों को, मन और प्राण के स्थिर रूपायनों को, चरित्र के स्थिर रूपों को अपने अंदर लिये चलती है और एक गुह्य प्रक्रिया द्वारा उन्हें ऊपर जाग्रत् चेतना में भेज देती है। इस तरह वह हमारी प्रकृति के बहुत-से क्रिया-कलापों को उत्पन्न या प्रभावित करती है।

इसी आधार पर यह समझने में भी कोई मुश्किल न होगी कि शरीर की दैहिक क्रियाएं किस तरह मन की मनोवैज्ञानिक क्रियाओं का निर्धारण करने में सहायता देती हैं क्योंकि शरीर केवल निश्चेतन जड़ पदार्थ नहीं है, वह एक गुप्त रूप से सचेतन ऊर्जा की रचना है जिसने उसमें रूप धारण किया है। स्वयं यह शरीर गुप्त रूप से सचेतन रहता है और साथ ही एक प्रत्यक्ष चेतना की अभिव्यक्ति का साधन है जो हमारे भौतिक ऊर्जा-द्रव्य में उभरी है और आत्म-संविद् है। इस मानसिक निवासी की गतिविधियों के लिये शरीर की क्रियाएं आवश्यक यंत्र या यंत्रविन्यास हैं। इस दैहिक यंत्र को गति में लाकर ही उसमें उभरती और विकसित होती हुई सचेतन सत्ता अपनी मानसिक रचनाओं को, अपनी इच्छा की रचनाओं को संचारित कर सकती है और उन्हें जड़ तत्त्व में अपनी भौतिक अभिव्यक्ति में बदल सकती है। यह जरूरी है कि यंत्र की क्षमता, उसकी प्रक्रियाएं एक हदतक मानसिक रूपायनों को मानसिक रूप से भौतिक अभिव्यक्तितक के संक्रमण के दौरान एक नया रूप दें। उसकी क्रियाएं जरूरी हैं और उन्हें उस अभिव्यक्ति के वास्तविक बनने से पहले अपना प्रभाव जमाना चाहिये। हो सकता है कि किन्हीं दिशाओं में शारीरिक साधन उपयोग करनेवाले पर छा जाये। यह भी हो सकता है कि वह आदत के बल पर, क्रियाशील मन या इच्छा नियंत्रण या हस्तक्षेप करें, उससे पहले अपने अंदर निवास करनेवाली चेतना की अनैच्छिक प्रतिक्रियाओं का सुझाव दे या उन्हें पैदा करे। यह सब संभव है क्योंकि शरीर में एक अपनी "अवचेतन" चेतना है जिसका हमारी समग्र आत्माभिव्यक्ति में महत्त्व है। अगर हम केवल बाहरी यंत्र-विन्यास को ही देखें तो हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि शरीर मन का निर्धारण करता है लेकिन यह एक गौण सत्य है, मुख्य सत्य तो यह है कि मन शरीर का निर्धारण करता है। इस दृष्टि से एक और ज्यादा गहरे

सत्य की कल्पना की जा सकती है। शरीर और मन दोनों ही का मौलिक निर्धारण करनेवाली एक आध्यात्मिक सत्ता है जो उस द्रव्य को आत्मा प्रदान करती है जो उसे ढके रहता है, दूसरी ओर प्रक्रिया के विपरीत क्रम में देखें तो—जिसके द्वारा मन अपने विचार और आदेश शरीर को भेजता है—वह उसे नयी क्रियाओं का यंत्र होने के लिये प्रशिक्षित कर सकता है और उसे अपनी अभ्यासगत मांगों या आज्ञाओं के द्वारा इस तरह प्रभावित कर सकता है कि भौतिक सहजवृत्ति उन्हें तब भी यंत्रवत् क्रियान्वित कर देती है जब मन सचेतन रूप से उनकी इच्छा करना छोड़ देता है। यही नहीं, वे आदेश भी जो अधिक असाधारण परंतु भली-भांति प्रमाणित होते हैं, जिनके द्वारा मन क्रिया के सामान्य नियमों और परिस्थितियों को रद्द करके असाधारण और लगभग असीम हदतक शरीर की प्रतिक्रियाओं का निर्धारण करना सीख सकता है—हमारी सत्ता के इन दो तत्त्वों के बीच संबंध के ये और अन्य गणनातीत रहस्यमय पक्ष आसानी से समझ में आ जाते हैं क्योंकि जीवंत जड़ में निवास करनेवाली प्रच्छन्न चेतना अपने बृहत्तर साथी से इन्हें ग्रहण करती है। शरीर में रहने वाली यह चेतना ही अपनी उन्मज्जित और गुह्य विधि से अपने से की गयी मांग को देखती या उसका अनुभव करती है और उस प्रस्फुटित या विकसित चेतना की आज्ञा का पालन करती है जो शरीर की अध्यक्षता कर रही है। अंत में विश्व का सृजन करनेवाले दिव्य मन और दिव्य इच्छा की धारणा उचित और न्यायसंगत मालूम होती है साथ ही साथ उसमें जो पेचीदगियां हैं, जिन्हें हमारी तर्कसंगत मानसिकता स्रष्टा की मनमानी आज्ञा पर आरोपित करने से इंकार करती है, उनका समाधान भी अपने विरोधी तत्त्व में से कठिनाई के साथ उभरती हुई चेतना के अनिवार्य व्यापार में मिल जाता है—लेकिन उसका लक्ष्य है इन विपरीत व्यापारों को लांघ कर धीमे और कठिन विकास द्वारा अपनी महत्तर वास्तविकता और सच्चे स्वभाव को अभिव्यक्त करना।

लेकिन सत्ता के जड़ छोर से चलने पर हमें इस परिकल्पना की प्रामाणिकता की कोई निश्चिति नहीं मिल सकती, यही क्यों, प्रकृति और उसकी प्रक्रिया की किसी भी व्याख्या की निश्चिति नहीं मिलती। मूल निश्चेतना ने जो पर्दा डाला है वह इतना मोटा है कि मन उसे भेद नहीं सकता और जो अभिव्यक्त किया गया है उसका गुप्त मूल उस पर्दे के पीछे छिपा है। प्रकृति के जड़ अग्रिम भाग में हमें जो व्यापार और प्रक्रियाएं दीखती हैं उनके मूल में रहनेवाले सत्य और शक्तियां वहीं आसीन हैं। उन्हें ज्यादा निश्चिति के साथ जानने के लिये हमें विकसनशील चेतना के चक्र का तबतक अनुसरण करना होगा जबतक कि वह आत्मबोध के उस शिखर और विस्तार में न पहुंच जाये जहां आदि रहस्य आत्मोद्घाटित है। यह माना जा सकता है कि उसे विकसित होना चाहिये और अंततः उस चीज को बाहर निकाल कर लाना चाहिये जिसे शुरू से वस्तुओं में विद्यमान गुह्य आद्य चेतना ने छिपा रखा था,

जिसकी वह क्रमिक अभिव्यक्ति है। प्राण में सत्य की खोज करना स्पष्टतः निराशाजनक होगा क्योंकि प्राण एक ऐसे रूपायण से आरंभ होता है जहां चेतना अभीतक अवमानसिक है और इस कारण हम मनोमय सत्ताओं को निश्चेतन या अधिक-से-अधिक अवचेतन प्रतीत होता है और प्राण की इस अवस्था में हमारी खोज—बाहर से उसका अध्ययन करते हुए—जड़ तत्त्व में गुप्त सत्य के हमारे अन्वेषण से अधिक लाभप्रद नहीं हो सकती। प्राण में जब मन विकसित होता है तब भी पहला क्रियाशील पहलू होता है एक ऐसी मानसिकता जो क्रिया में, प्राणिक और भौतिक आवश्यकताओं और तल्लीनताओं में, आवेगों, कामनाओं, संवेदनों और भावों में अंतर्लीन हो, जो इन चीजों से पीछे हट कर उनका अवलोकन करने और उन्हें जानने में असमर्थ होती है। मानव मन में समझने, अन्वेषण करने और मुक्त धारणा की पहली आशा होती है। यहां ऐसा लग सकता है कि हम आत्म-ज्ञान और विश्व-ज्ञान के नजदीक आ रहे हैं। लेकिन वस्तुतः हमारा मन पहले तथ्यों और प्रक्रियाओं का अवलोकन ही कर सकता है और बाकी के लिये उसे निगमन और अनुमान करने पड़ते हैं, परिकल्पनाएं बनानी पड़ती हैं, तर्क करना होता है, अटकल लगानी पड़ती है। चेतना का रहस्य खोजने के लिये उसे अपने-आपको जानना होगा और अपनी सत्ता और प्रक्रिया की वास्तविकता निर्धारित करनी होगी। लेकिन जैसे पशु-जीवन में उभरती हुई चेतना प्राणिक क्रिया और गतिविधि में अंतर्निहित होती है उसी तरह मनुष्य में मानसिक चेतना अपने ही विचारों के भंवर में फंसी रहती है। यह एक ऐसी क्रियाशीलता होती है जो बिना विश्राम लिये चलती ही रहती है, जिसमें उसके तर्क और चिंतन अपनी प्रवृत्ति, दिशा और अवस्था में उसके अपने स्वभाव, मानसिक झुकाव, पिछले रूपायणों और ऊर्जाक्रम, प्रवृत्ति, पसंद और सहज स्वाभाविक चुनाव द्वारा निर्धारित होते हैं। हम वस्तुओं के सत्य के अनुसार मुक्त रूप से अपने विचारों का निर्धारण नहीं करते। इसे हमारी प्रकृति हमारे लिये निर्धारित कर देती है। हम निश्चय ही एक तरह की अनासक्ति के साथ पीछे हटकर खड़े हो सकते और अपने अंदर मानसिक ऊर्जा की क्रिया का अवलोकन कर सकते हैं फिर भी हम उसकी प्रक्रिया ही देख पाते हैं, अपने मानसिक निर्धारणों के मूल उद्गम को नहीं। हम मन की प्रक्रिया के बारे में सिद्धांत और परिकल्पनाएं बना सकते हैं फिर भी हमारे, हमारी चेतना और हमारी समग्र प्रकृति के आंतरिक रहस्य पर एक पर्दा पड़ा रहता है।

केवल तभी जब हम स्वयं मन की प्रक्रिया को अचंचल करने की यौगिक प्रक्रिया का अनुसरण करते हैं, हमारे आत्मावलोकन का ज्यादा गहरा परिणाम संभव हो सकता है। क्योंकि पहले हम यह खोज करते हैं कि मन एक सूक्ष्म तत्त्व है, एक सामान्य निर्दिष्ट या जातिमूलक अनिर्दिष्ट है जिसे मानसिक ऊर्जा क्रिया करते समय रूपों में या अपने किन्हीं विशेष निर्दिष्टों में, विचारों, धारणाओं, प्रत्यक्षों,

मनोभावनाओं, इच्छा की क्रियाशीलताओं और अनुभव की प्रतिक्रियाओं में डालती है परंतु जब ऊर्जा निष्क्रिय हो तो वह या तो तामसिक अवसन्नता में या आत्म-सत्ता की निश्चल-नीरवता और शांति में निवास कर सकता है। फिर हम यह देखते हैं कि हमारे मन के सभी निर्देशन मन से ही नहीं शुरू होते क्योंकि उसमें मानसिक ऊर्जा की लहरें और धाराएं बाहर से प्रवेश करती हैं। ये उसके अंदर रूप ग्रहण करती हैं या किसी वैश्व मन या अन्य मनों में रूपायित होकर आती हैं और हम उन्हें अपने विचार के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। हम अपने अंदर एक गुह्य या अंतस्तलीय मन भी देख सकते हैं जिसमें से विचार, प्रत्यक्ष बोध, इच्छा के आवेग और मन की भावनाएं उत्पन्न होती हैं। हम चेतना के उच्चतर स्तरों को भी देख सकते हैं जहां से एक श्रेष्ठतर मानस-ऊर्जा हमारे द्वारा या हम पर कार्य करती है। और अंत में हमें पता लगता है कि जो इस सबका निरीक्षण करता है वह एक मनोमय पुरुष है जो मन के पदार्थ और मानस ऊर्जा को सहारा देता है। इस सत्ता के बिना, जो उनका धारक और उनकी अनुमतियों का उत्स है उसके बिना, न तो उनका अस्तित्व रहता न क्रिया होती। यह मनोमय पुरुष पहले एक मौन साक्षी के रूप में दिखायी देता है, अगर यही उसका संपूर्ण स्वरूप होता तो हमें यह मानना पड़ता कि मन के निर्धारण ही प्रकृति द्वारा पुरुष पर आरोपित प्रतीयमान क्रियाशीलता हैं या प्रकृति द्वारा उसके सामने उपस्थित की गयी सृष्टि हैं। एक विचार-जगत् है जिसे प्रकृति बनाती और साक्षी पुरुष को भेंट में देती है। लेकिन बाद में हमें पता लगता है कि यह पुरुष, मानसिक सत्ता, अपने मौन या स्वीकार करनेवाले साक्षी की स्थिति से हट सकता है, प्रतिक्रियाओं का उत्स बन सकता है, स्वीकार कर सकता है, अस्वीकार कर सकता है यहांतक कि शासन और नियमन भी कर सकता है, शासक और ज्ञाता भी बन सकता है। इस ज्ञान का उदय भी होता है कि यह मानस द्रव्य जो मनोमय पुरुष को ही अभिव्यक्त करता है, उसका अपना ही अभिव्यंजक द्रव्य है और मानस-ऊर्जा उसीकी चित्-शक्ति है। तब यह निष्कर्ष भी युक्तिसंगत मालूम होता है कि मन के सभी निर्देशन पुरुष की सत्ता से ही आते हैं। लेकिन यह निष्कर्ष इस तथ्य के कारण और भी पेचीदा हो जाता है कि एक और दृष्टिकोण से हमारा निजी मन वैश्व मन की एक रचना, वैश्व विचार-तरंगों, भाव-लहरियों, इच्छा के सुझावों, संवेदन की मौजों, इन्द्रियों के सुझावों, रूप-सुझावों के ग्रहण, परिवर्तन और प्रसारण का यंत्र होने से बढ़ कर शायद ही कुछ हो। निःसंदेह इस मन की पहले से ही सिद्ध अभिव्यक्ति, पूर्वानुकूलता, प्रवृत्तियां, निजी स्वभाव और प्रकृति होती है। वैश्व मन से जो कुछ आता है उसे व्यक्तिगत मन में तभी जगह मिल सकती है जब वैयक्तिक मनोमय पुरुष की आत्माभिव्यक्ति में उसे पुरुष की व्यक्तिगत प्रकृति में स्वीकृत और आत्मसात् किया जा सके। फिर भी इन जटिलताओं को देखते हुए यह प्रश्न ज्यों का त्यों बना रहता है कि क्या यह

सारा विकास और ये क्रियाएं किसी वैश्व ऊर्जा की प्रतीयमान सृष्टि हैं जिसे मनोमय पुरुष को भेंट में दिया गया है या कोई ऐसी क्रियाशीलता है जिसे मानसिक ऊर्जा ने पुरुष की अनिर्दिष्ट और शायद अनिर्देश्य सत्ता पर आरोपित किया है या फिर यह सब कुछ किसी अन्तस्थ आत्मा के किसी क्रियाशील सत्य द्वारा पहले से ही निश्चित वस्तु है जिसे मन की सतह पर प्रकट भर किया गया है। यह जानने के लिये हमें सत्ता और चेतना की वैश्व स्थिति का स्पर्श करना या उसमें प्रवेश करना होगा जिसके आगे चीजों की समग्रता और उनका सर्वांगीण तत्त्व हमारे सीमित मन के अनुभव की अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह अभिव्यक्त होगा।

अधिमानस चेतना एक ऐसी ही स्थिति या तत्त्व है जो अज्ञान में व्यष्टिगत मन के परे, वैश्व मन के भी परे है। वह अपने अंदर वैश्व सत्य का पहला प्रत्यक्ष और प्रभुतापूर्ण ज्ञान लिये रहती है। तो शायद यहां हम यह आशा कर सकते हैं कि चीजों की मौलिक क्रिया के कुछ अंश को हम समझ पायें, वैश्व प्रकृति की आधारभूत गतिविधियों की अन्तर्दृष्टि पा सकें। एक बात निश्चय ही स्पष्ट हो जाती है, यहां यह स्वयं-सिद्ध है कि व्यष्टि और वैश्व दोनों ही एक परात्पर सद्वस्तु से आते हैं जो उनके अंदर रूप ग्रहण करती है इसलिये व्यष्टिगत सत्ता के मन और प्राण और प्रकृति में उसका व्यष्टिगत पुरुष वैश्व सत्ता की एकांगी आत्माभिव्यक्ति होंगे, और दोनों उसके द्वारा और सीधा भी परात्पर सद्वस्तु की आत्माभिव्यक्ति होंगे—हो सकता है कि वह प्रतिबंधित और अर्द्ध-अवगुंठित अभिव्यक्ति भले हो फिर भी यही उसका अर्थ है। साथ ही हम यह भी देखते हैं कि वह अभिव्यक्ति क्या होगी यह भी स्वयं व्यष्टि ही निश्चित करता है; उसके मन, प्राण और शारीरिक अंगों में केवल वही आकार ग्रहण कर सकता है जिसे वह अपनी प्रकृति के अंदर ग्रहण और आत्मसात् और सूत्रबद्ध या प्रतिपादित कर सके, जो वैश्व सत्ता में या सद्वस्तु में उसका भाग हो, कुछ ऐसी चीज जो सद्वस्तु से व्युत्पन्न हो, कोई ऐसी चीज जो उस जगत् में हो जिसे वह प्रकट करता है, लेकिन करता है अपनी ही आत्माभिव्यक्ति की भाषा में, अपनी ही प्रकृति की परिभाषा में। लेकिन जिस मूल प्रश्न को विश्व-प्रपंच ने हमारे आगे रखा है उसे अधिमानस के ज्ञान द्वारा हल नहीं किया जा सकता। इस मामले में प्रश्न यह है कि क्या मनोमय पुरुष का विचार, अनुभव, प्रत्यक्ष दर्शनों के जगत् का निर्माण, सचमुच उसकी अपनी आध्यात्मिक सत्ता से आनेवाले सत्य की आत्माभिव्यक्ति, आत्म-निर्धारण है, उस सत्य की क्रियात्मक संभावनाओं की अभिव्यक्ति है? अथवा क्या यह प्रकृति द्वारा उसे भेंट की गयी सृष्टि या रचना नहीं है और वह केवल इस अर्थ में उसकी अपनी या उसपर आश्रित कही जा सकती है कि वह उस प्रकृति के उसके व्यक्तिगत रूपायन में व्यष्टिगत हो गयी है या फिर यह वैश्व कल्पना का एक खेल हो, शाश्वत की कल्पना-सृष्टि हो जिसे उसने अपनी शुद्ध शाश्वत सत्ता के रिक्त अनिर्देश्य पर

आरोपित किया हो ? सृष्टि के बारे में ये तीन दृष्टियां हैं और तीनों को ठीक होने का समान अवसर प्राप्त है और मन निश्चित रूप से उनके बीच फैसला करने में असमर्थ है क्योंकि हर दृष्टि अपने मानसिक तर्क और अन्तर्भास तथा अनुभव के समर्थन से सज्जित है। ऐसा लगता है कि अधिमानस पेचीदगी को और भी बढ़ा देता है क्योंकि अधिमानसिक दृष्टि हर संभावना को यह अनुमति देती है कि वह अपने-आपको आजादी से रूपायित करे और अपनी-अपनी सत्ता को ज्ञान में, क्रियात्मक आत्म-प्रदर्शन और अभिपुष्टि करनेवाले अनुभव में चरितार्थ करे।

हमें अधिमानस में, मन की उच्चतर भूमिकाओं में एक द्वंद्व की पुनरावृत्ति होती दिखायी देती है। एक ओर होती है शुद्ध, नीरव आत्मा—अलक्षण, निर्गुण, संबंध-रहित, स्वयंभू, आत्म-स्थिर, आत्म-निर्भर और दूसरी ओर अपने-आपको विश्व के रूपों में प्रक्षिप्त करती हुई सृजनकारी चेतना और शक्ति की, निर्देशन करनेवाली एक ज्ञानात्मिका शक्ति की प्रबल क्रियात्मकता। यह विरोध जो विन्यास भी है, मानों, दोनों भले देखने में एक-दूसरे के विरोधी लगते हों पर हैं सह-संबंधी और पूरक। यही ऊपर उठकर निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म के सह-अस्तित्व में बदल जाता है—निर्गुण ब्रह्म है वह जिसमें कोई गुण नहीं है, जो आधारभूत दिव्य वास्तविकता है, सभी संबंधों और निर्दिष्टों से मुक्त है जब कि सगुण में अनगिनत गुण हैं, वह एक ऐसी आधारभूत सद्वस्तु है जो सभी संबंधों और निर्दिष्टों का उद्गम, धारक और स्वामी है। अगर हम यथासंभव दूर से दूर तक की आत्मानुभूति में निर्गुण का अनुसरण करें तो हम परम निरपेक्ष तक जा पहुंचते हैं जो समस्त संबंधों और निर्दिष्टों से रिक्त, अनिर्वचनीय और सत्ता का प्रथम तथा अंतिम सूत्र है। अगर हम सगुण द्वारा अनुभव की किसी चरम संभावनातक पहुंचें तो हम दिव्य निरपेक्ष, व्यष्टिगत परम, सर्वव्यापक देवतक जा पहुंचते हैं जो परात्पर और साथ ही वैश्व है, सभी संबंधों और निर्देशनों का अनन्त स्वामी है, अपनी सत्ता में करोड़ों विश्वों को धारण कर सकता है और प्रत्येक को अपनी आत्म-ज्योति की केवल एक किरण से और अपनी अनिर्वचनीय सत्ता की एक कला से व्याप्त कर सकता है। अधिमानस चेतना शाश्वत के इन दो सत्यों को समान रूप से धारण करती है जो मन के आगे परस्पर अपवादिक विकल्पों के रूप में आते हैं। वह दोनों को एक सद्वस्तु के परम पक्षों के रूप में स्वीकार करती है। तो कहीं पर उनके पीछे एक महत्तर परात्परता होगी जो दोनों की उद्गम हो और अपनी परम शाश्वतता में उनकी धारक हो लेकिन वह क्या हो सकता है जिसमें ऐसे विरोधी तत्त्व समान सत्य हैं ? वह एक मौलिक अनिर्देश्य रहस्य होने के सिवा क्या हो सकता है जिसे जानना और समझना मन के लिये असंभव है। निश्चय ही हम उसे कुछ हदतक, किसी प्रकार के अनुभव या उपलब्धि में, उसके पहलुओं और शक्तियों द्वारा आधारभूत इति भाव और नेति भाव के अविच्छिन्न क्रम द्वारा जान सकते हैं, इन्हींके

द्वारा हमें उसकी खोज करनी होती है। हम चाहें तो यह खोज अलग-अलग करें या दोनों में एक साथ अखंड रूप से लेकिन अंत में जाकर वह ऊंची-से-ऊंची मानसिक शक्ति की पहुंच के बाहर रहता प्रतीत होता है और अज्ञेय ही रहता है।

लेकिन अगर परम निरपेक्ष वस्तुतः शुद्ध रूप से अनिर्देश्य हो तो कोई सृष्टि, कोई अभिव्यक्ति, कोई विश्व संभव न होगा और फिर भी विश्व का अस्तित्व तो है ही। तो फिर वह क्या है जो इस विरोध को पैदा करता है, इस असंभव को संभव बनाता और आत्मविभाजन की कभी हल न होनेवाली पहेली को अस्तित्व में लाता है? वह किसी तरह की शक्ति होनी चाहिये और चूंकि निरपेक्ष ही एकमात्र सद्वस्तु है, सभी वस्तुओं का एक उद्गम है इसलिये यह शक्ति उसी से आनी चाहिये, इसका उसके साथ कोई संबंध, कोई नाता, कोई निर्भरता होनी चाहिये। क्योंकि अगर वह परम सद्वस्तु से एकदम अलग कोई चीज है, एक वैश्व कल्पना है जो अपने निर्देशनों को अनिर्देश्य की शाश्वत रिक्तता पर आरोपित करती जाती है तो फिर निरपेक्ष परब्रह्म के एकमात्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जा सकता। तब वस्तुओं के उद्गम में ही द्वैत होगा जो सांख्य के आत्मा और प्रकृति के द्वैत से तत्त्वतः भिन्न न होगा। अगर वह निरपेक्ष की शक्ति है, वस्तुतः एकमात्र शक्ति तो हमारे आगे यह तार्किक असंभवता आती है कि परम पुरुष की सत्ता और उस सत्ता की शक्ति एक दूसरे से एकदम उल्टे दो परम विरोधी हैं क्योंकि ब्रह्म तो संबंधों और निर्देशनों की सभी संभावनाओं से मुक्त है लेकिन माया एक सृजन करने वाली कल्पना है जो इन्हीं वस्तुओं को ब्रह्म पर आरोपित करती है, वह संबंधों और निर्देशनों का प्रवर्तन करती है और ब्रह्म को अवश्य ही इनका समर्थक और साक्षी होना चाहिये। तर्कसंगत बुद्धि इस सिद्धांत को स्वीकार नहीं कर सकती। अगर इसे स्वीकार कर लिया जाये तो यह एक तर्क-बुद्धि से परे का रहस्य होगा, कोई ऐसी चीज जो न वास्तविक है न अवास्तविक, जिसको समझाया नहीं जा सकता—अनिर्वचनीय। लेकिन कठिनाइयां इतनी बड़ी हैं कि इसे तभी स्वीकारा जा सकता है जब यह अपने-आपको अबाध्य रूप से दार्शनिक अनुसंधान और आध्यात्मिक अनुभूति के एक अनिवार्य निष्कर्ष, अंत और शिखर के रूप में आरोपित कर दे। क्योंकि अगर ये सब चीजें भी भ्रांतिमूलक सृजन हैं तो भी उनका कम-से-कम एक आत्मनिष्ठ अस्तित्व होना चाहिये और उनका अस्तित्व एकमात्र अस्तित्व की चेतना को छोड़कर और कहीं नहीं हो सकता। तब वे अनिर्देश्य के आत्मनिष्ठ निर्देशन हैं। इसके विपरीत यदि इस शक्ति के निर्देशन यथार्थ रचनाएं हैं तो वे किसमें से निर्दिष्ट होते हैं? उनका उपादान क्या है? यह संभव नहीं है कि वे असत् में से बने हों, किसी ऐसे असत् से जो निरपेक्ष से भिन्न हो क्योंकि इससे एक नया द्वैत खड़ा हो जायेगा, हमने जिस अनिर्धार्य 'क्ष' को एकमेव सद्वस्तु माना है उसके विरुद्ध एक भावात्मक शून्य। तो यह स्पष्ट है कि सद्वस्तु एक कठोर

अनिर्देश्य नहीं हो सकती। जो कुछ भी रचा गया है वह उसीका और उसीमें होना चाहिये और जो पूर्ण सद्वस्तु के उपादान से बना हो उसे स्वयं भी सत् होना चाहिये। जो शाश्वत सत्य है, अनंत सत् है उसका एकमात्र परिणाम वास्तविक होने की प्रतीति देनेवाला वास्तविकता का कोई बड़ा निराधार नकार नहीं हो सकता। यह पूरी तरह समझ में आनेवाली बात है कि निरपेक्ष इस अर्थ में अनिर्देश्य है और होना ही चाहिये कि वह किसी भी निर्देशन से या सभी संभव निर्देशनों के कुल योग से सीमित नहीं हो सकता लेकिन उसका यह अर्थ नहीं कि वह आत्मनिर्देशन में असमर्थ है। परम सत् अपनी सत्ता के सच्चे आत्मनिर्देशन बनाने में असमर्थ नहीं हो सकता, यथार्थ आत्म-सृष्टि या अभिव्यक्ति को अपनी स्वयंभू अनंतता में धारण करने में असमर्थ नहीं हो सकता।

तो अधिमानस हमें कोई अंतिम या निश्चयात्मक समाधान नहीं देता। हमें उसके परे अतिमानसिक ज्ञान में ही इसका उत्तर खोजना होगा। अतिमानसिक ऋत्-चेतना एक ही साथ अनंत और शाश्वत की आत्माभिज्ञता और उस आत्माभिज्ञता में अंतर्निहित आत्म-निर्देशन की शक्ति है। पहली है उसका आधार और स्थिति और दूसरी है उसकी सत्ता की शक्ति, उसकी आत्म-सत्ता की क्रियात्मकता। वह सब जिसे आत्माभिज्ञता की कालातीत शाश्वतता अपने अंदर सत्ता के सत्य के रूप में देखती है, उसकी सत्ता की सचेतन शक्ति उसे काल-शाश्वतता में प्रकट करती है। अतः अतिमानस के लिये परम पुरुष कठोर अनिर्देश्य, सबका निषेध करनेवाला निरपेक्ष नहीं है। सत्ता का एक अनंत जो अपने-आपमें, अपने अक्षर अस्तित्व की शुद्धि में पूर्ण है, जिसकी एकमात्र शक्ति है एक शुद्ध चेतना जो केवल सत्ता की अपरिवर्तनशील शाश्वतता में, अपनी शुद्ध आत्म सत्ता के निश्चल आनंद में निवास करती है, वही समग्र सद्वस्तु नहीं है। जो सत्ता में अनंत है उसे शक्ति में भी अनंत होना चाहिये, जो अपने अंदर शाश्वत विश्राम और अचंचलता लिये रहे उसे शाश्वत क्रिया और सृजन के योग्य भी होना चाहिये लेकिन यह भी ऐसी क्रिया होनी चाहिये जो उसके भीतर हो, एक ऐसा सृजन जो उसकी अपनी शाश्वत और अनंत आत्मा में से हो क्योंकि और कोई ऐसी चीज हो ही नहीं सकती जिसमें से वह सृजन कर सके। सत्ता का कोई ऐसा आधार जो उससे भिन्न मालूम होता है उसे भी वास्तव में उसीमें और उसीका होना चाहिये और वह उसकी सत्ता से विजातीय कोई चीज नहीं हो सकता। कोई अनंत शक्ति केवल एक ऐसी सामर्थ्य नहीं हो सकती जो शुद्ध निष्क्रिय एकसमानता में, अक्षर निश्चलता में विश्राम करती रहे। उसमें उसकी सत्ता और ऊर्जा की अंतहीन शक्तियां होनी चाहियें। अनंत चेतना में अपने अंदर आत्माभिज्ञता के अंतहीन सत्य होने चाहियें। क्रिया में ये हमारे ज्ञान को उसकी सत्ता के पहलू के रूप में, हमारे आध्यात्मिक बोध को उसकी क्रियाशीलता की शक्तियां और गतिविधियां प्रतीत होंगे और हमारे सौंदर्य-बोध को उसके सत्ता

के आनंद के साधन और रूपायन मालूम होंगे। तब सृष्टि एक आत्माभिव्यक्ति होगी, अनंत की अनंत संभावनाओं का एक व्यवस्थित विस्तार होगी लेकिन हर संभावना अपने पीछे सत्ता का एक सत्य, सत् के अंदर एक वास्तविकता को समाविष्ट किये रहती है क्योंकि उस अवलंब देनेवाले सत्य के बिना कोई संभावनाएं नहीं हो सकतीं। अभिव्यक्ति में सत् की आधारभूत वास्तविकता हमारे ज्ञान को निरपेक्ष भगवान् का आधारभूत आध्यात्मिक पक्ष प्रतीत होगी और उसीमें से सभी संभव अभिव्यक्तियां, उसकी अंतर्जात क्रियात्मकताएं उभरेंगी। और फिर ये अपने सार्थक रूपों, अभिव्यंजक शक्तियों और सहज प्रक्रियाओं की सृष्टि करेंगी या यूं कहें उन्हें अनभिव्यक्त सुप्तावस्था में से बाहर लायेंगी। उनकी अपनी सत्ता अपने स्वरूप और स्वभाव को विकसित करेंगी। तो यह होगी सृजन की पूरी प्रक्रिया लेकिन हम अपने मन में यह पूरी प्रक्रिया नहीं देखते। हम केवल ऐसी संभावनाएं देखते हैं जो अपने-आपको वास्तविकताओं में निर्धारित करती हैं और यद्यपि हम अनुमान करते और अटकलें लगाते हैं फिर भी हम किसी ऐसी आवश्यकता के बारे में, पहले से निर्धारित करनेवाले सत्य या किसी ऐसी अनिवार्यता के बारे में निश्चित नहीं होते जो उनके पीछे रहती हो और जो संभावनाओं को संभव बनाये और वास्तविकताओं का निर्णय करे। हमारा मन वास्तविकताओं का प्रेक्षक, संभावनाओं का खोजनेवाला या अन्वेषक तो है पर ऐसे गुह्य अनिवार्य आदेशों का द्रष्टा नहीं है जो सृजन की गतिविधियों और रूपों को जरूरी बना दें। क्योंकि वैश्व अस्तित्व के आगे के हिस्से में सिर्फ शक्तियां ही होती हैं जो अपने बलों के संयोग के संतुलन द्वारा परिणामों का निर्धारण करती हैं। आद्य निर्धारक अथवा अनेक निर्धारक, अगर उसका या उनका अस्तित्व है, हमारे अज्ञान द्वारा हमारी दृष्टि से ओझल हैं। लेकिन अतिमानसिक ऋत-चित् के लिये ये अनिवार्य विधान प्रत्यक्ष होंगे, उसकी दृष्टि और उसके अनुभव के उपादान ही होंगे। अतिमानसिक सृजन-प्रक्रिया में ये अनिवार्य विधान, संभावनाओं का संयोग और परिणामस्वरूप आनेवाली वास्तविकताएं सब मिलकर एक अखंड समग्रता होंगी, अविभाज्य गतिविधि होंगी। संभावनाएं और वास्तविकताएं अपने अंदर उनकी आद्य नियोजक की अनिवार्यता लिये रहेंगी। उनके सभी परिणाम, उनके सभी सृजन उस सत्य का शरीर होंगे जिसे वे सर्व-सत् के पहले से ही निश्चित महत्त्वपूर्ण रूपों में और शक्तियों में अभिव्यक्त करेंगी।

निरपेक्ष के बारे में हमारा आधारभूत ज्ञान, उसके बारे में हमारा सारवान् आध्यात्मिक अनुभव, एक अनंत और शाश्वत सत् का, अनंत और शाश्वत चित् का, अनंत और शाश्वत सत्ता के आनंद का अंतर्भास या प्रत्यक्ष अनुभूति होता है। अधिमानसिक और मानसिक ज्ञान में इस मौलिक ऐक्य को तीन स्वयंभू पक्षों में विविक्त करना या अलग-अलग करना संभव होता है क्योंकि हम शुद्ध अकारण

शाश्वत आनंद का ऐसा तीव्र अनुभव कर सकते हैं कि हम बस वही हैं। ऐसा लगता है कि सत् और चित् को उसने निगल लिया है, उनकी कोई प्रत्यक्ष उपस्थिति नहीं रहती । इसी तरह का अनुभव शुद्ध और निरपेक्ष चेतना का हो सकता है और उसके साथ भी ऐसा ही ऐकान्तिक तादात्म्य हो सकता है, शुद्ध तथा निरपेक्ष सत् का भी ऐसा ही तादात्म्यवाला अनुभव हो सकता है। लेकिन अतिमानसिक ज्ञान के लिये ये तीनों सदा अलग न होनेवाली त्रयी रहती हैं यद्यपि एक औरों के आगे बढ़कर अपने आध्यात्मिक निर्दिष्टों को अभिव्यक्त कर सकता है क्योंकि हर एक के प्रमुख पक्ष या अंतर्निहित आत्म-रूपायण होते हैं लेकिन त्रेक निरपेक्ष के लिये ये सब मौलिक हैं। प्रेम, आनंद और सुंदरता सत्ता के दिव्य आनंद के आधारभूत निर्दिष्ट हैं और हम तुरंत देख सकते हैं कि वह आनंद ही इनका उपादान और स्वरूप है। ये निरपेक्ष की सत्ता पर लादे गये विजातीय तत्त्व नहीं हैं और न उसके बाहर हैं परंतु उसके द्वारा समर्थित रचनाएं ही हैं। ये उसकी सत्ता के सत्य, उसकी चेतना के निवासी, उसकी सत्ता की शक्ति की सामर्थ्य हैं। निरपेक्ष चेतना के आधारभूत निर्दिष्टों—ज्ञान और इच्छा—के बारे में भी यही बात है। वे आद्य चित्-शक्ति के सत्य और उसकी शक्तियां हैं और उसकी प्रकृति में ही अंतर्निहित हैं। इसकी प्रामाणिकता और भी स्पष्ट हो जाती है जब हम निरपेक्ष सत् के आधारभूत आध्यात्मिक निर्दिष्टों को देखते हैं। वे उसकी त्रिक शक्तियां हैं, उसकी समस्त आत्म-सृष्टि या अभिव्यक्ति के लिये आवश्यक पहले आधार तत्त्व हैं—आत्मा, ईश्वर, पुरुष।

अगर हम आत्माभिव्यक्ति की प्रक्रिया का और आगेतक अनुसरण करें तो हम देखेंगे कि उसका हर पहलू या शक्ति अपनी पहली क्रिया में एक त्रिक या त्रिपुटी का सहारा लेता है, ज्ञान अनिवार्य रूप से ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रयी पर आश्रित होता है, प्रेम अपने-आपको प्रेमी, प्रेम-पात्र और प्रेम की त्रयी में पाता है। इच्छा अपनी पूर्ति इच्छा के स्वामी, इच्छा के विषय और कार्यकारी शक्ति की त्रयी में करती है; आनंद के आद्य और पूर्ण आह्लाद की त्रयी है भोक्ता, भोग्य और वह आनंद जो उन्हें मिलाता है। उसी अनिवार्य रूप से आत्मा भी प्रकट होती है और त्रयी को अपनी अभिव्यक्ति का आधार बनाती है विषय-रूप आत्मा, विषयी रूप आत्मा और विषय-विषयी रूप में दोनों को एक साथ रखनेवाली आत्म अभिज्ञता। ये तथा अन्य आद्य शक्तियां और पक्ष अनंत के आधारभूत आध्यात्मिक आत्म-निर्देशनों में अपना स्थान पाते हैं। बाकी सब आधारभूत आध्यात्मिक निर्देशनों के निर्देशन हैं, सत्ता, चेतना, शक्ति और आनंद के सार्थक संबंध, सार्थक शक्तियां, सार्थक रूप, शाश्वत की चित्-शक्ति की सत्य प्रक्रिया की ऊर्जाएं, अवस्थाएं, विधियां, रेखाएं, उसकी अभिव्यक्ति के अटल विधान, संभावनाएं, विशेषताएं हैं। शक्तियों और संभावनाओं का यह सारा फैलाव और

उसमें अंतर्निहित परिणामों को अतिमानसिक ज्ञान अंतरंग एकत्व में एक साथ धारण किये रहता है। वह उन्हें मौलिक सत्य पर सचेतन रूप से आधारित रखता है और वे जिन सत्यों को अभिव्यक्त करते हैं और जो उनके स्वरूप में हैं उनके सामंजस्य में उन्हें बनाये रखता है। वहां कल्पनाओं का कोई आरोपण नहीं है, कोई मनमानी सृष्टि नहीं है, कोई विभाजन, खंडन नहीं, कोई ऐसा विरोध या विषमता नहीं है जिसका समाधान न हो सके। लेकिन अज्ञानमय मन में ये व्यापार प्रकट होते हैं क्योंकि वहां एक सीमित चेतना हर चीज को इस तरह देखती और उसके साथ व्यवहार करती है मानों सब कुछ ज्ञान के अलग-अलग विषय या अलग सत्ताएं हों। वह उन्हें इसी तरह जानना, उनपर अधिकार करना और उन्हें भोगना चाहती है और उनपर प्रभुता पाना या उनकी अधीनता को सहन करती है। लेकिन उसके अज्ञान के पीछे, उसके अंदर रहनेवाली अंतरात्मा जिसे खोज रही है वह है सद्वस्तु, सत्य, चेतना, शक्ति, आनंद जिनके द्वारा उसका अस्तित्व है। मन को सीखना है अपने अंदर पर्दे में छिपी सच्ची खोज और सच्चे ज्ञान के प्रति जाग्रत् होना, उस सद्वस्तु के प्रति जाग्रत् होना जिससे सभी चीजें अपना सत्य पाती हैं, उस चेतना के प्रति, सभी चेतनाएं जिसकी सत्ताएं हैं, उस बल के प्रति जिससे सभी को अपनी अंतर्निहित सत्ता की शक्ति मिलती है, उस आनंद के प्रति, सभी आनंद जिसकी आंशिक कृतियां हैं। चेतना का यह परिसीमन और चेतना की अखंडता के प्रति यह जागृति भी आत्माभिव्यक्ति की एक प्रक्रिया है, आत्मा का एक आत्म-निर्देशन है। सीमित चेतना की चीजें अपने आभासी रूप में जब परम सत्य से उल्टी भी मालूम हों फिर भी अपने गहरे अर्थ में और वास्तविकता में दिव्य अर्थ रखती हैं। वे भी अनंत की एक संभावना या एक सत्य को प्रकट करती हैं। चीजों के बारे में अतिमानसिक ज्ञान जो सब जगह उसी एक सत्य को देखता है, जहांतक मन की भाषा में व्यक्त किया जा सकता है, किसी ऐसे ही स्वभाव का होगा और हमारे जीवन के विषय में अपनी व्याख्या, सृष्टि के रहस्य और विश्व की सार्थकता के विषय में अपना विवरण हमारे लिये किसी ऐसे ही रूप में व्यवस्थित करेगा।

साथ-ही-साथ निरपेक्ष के बारे में हमारी कल्पना में और हमारे आध्यात्मिक अनुभव में अनिर्देश्यता भी एक आवश्यक तत्त्व है। यह सत्ता और वस्तुओं पर अतिमानसिक दृष्टि का दूसरा पहलू है। निरपेक्ष को किसी एक निर्दिष्ट या निर्दिष्टों के योग के द्वारा सीमित नहीं किया जा सकता, और न ही उसकी व्याख्या की जा सकती है और दूसरी ओर वह शुद्ध सत् की अनिर्देश्य रिक्तता से बंधा भी नहीं है। इसके विपरीत वह सभी निर्देशनों का स्रोत है। उसकी अनिर्देश्यता उसकी सत्ता की अनंतता और सत्ता की शक्ति की अनंतता दोनों की स्वाभाविक और आवश्यक स्थिति है। वह अनंत रूप से सब कुछ हो सकता है क्योंकि वह विशेष रूप से कोई चीज नहीं है और वह किसी भी ऐसी समग्रता के परे है जिसकी व्याख्या की

जा सकती है, वह निरपेक्ष की तात्त्विक अनिवार्यता है जो अपने-आपको हमारी चेतना में हमारे आध्यात्मिक अनुभव के आधारभूत निषेधात्मक (नेति वाचक) भावों, अक्षर अचल आत्मा, निर्गुण ब्रह्म, निर्गुण शाश्वत, शुद्ध लक्षणरहित एकमात्र सत्, निर्व्यक्तिक, निष्क्रिय नीरवता, अ-सत्, अनिर्वचनीय और अज्ञेय द्वारा अनूदित करती है। दूसरी ओर वह सभी निर्देशनों का सारतत्त्व और स्रोत है और यह क्रियाशील तात्त्विकता हमारे अंदर आधारभूत इतिवाचक भावों में अभिव्यक्त होती है जिनमें निरपेक्ष हमें समान रूप से मिलता है क्योंकि यह आत्मा ही है जो सब चीजें बन जाती है, यह सगुण ब्रह्म, अनंतगुणसंपन्न शाश्वत एकमेव ही है जो बहु है, यह अनंत पुरुष है जो सभी पुरुषों और व्यक्तित्वों का स्रोत और आधार है, सृष्टि का स्वामी, शब्द, समस्त कर्मों और क्रियाओं का प्रभु है। यही है वह जिसे जानकर सब कुछ जान लिया जाता है। ये इति भाव उन नेति भावों के साथ मेल खाते हैं। क्योंकि अतिमानसिक ज्ञान में एक सत् के इन दो पक्षों को अलग करना संभव नहीं है, उनके बारे में यह कहना भी ज्यादती है कि वे पक्ष हैं क्योंकि वे एक दूसरे में हैं, उनका सह-अस्तित्व या एक-अस्तित्व शाश्वत है और उनकी शक्तियां एक दूसरे को सहारा देते हुए अनंत की आत्माभिव्यक्ति का आधार होती हैं।

लेकिन उनका पृथक् ज्ञान भी पूरी तरह भ्रमात्मक या अज्ञान की पूरी भूल नहीं है। आध्यात्मिक अनुभूति के लिये यह भी तर्कसंगत है क्योंकि निरपेक्ष के ये प्राथमिक पक्ष आधारभूत आध्यात्मिक निर्देशन या ऐसे अनिर्देश हैं जो इस आध्यात्मिक छोर से उत्तर देते हैं या फिर जड़ सिरे के सामान्य अनिर्देश हैं या फिर आरोहण या अवरोहण करती हुई अभिव्यक्ति का निश्चेतन आरंभ। जो हमें नेतिवाचक प्रतीत होते हैं वे अनंत की अपनी निजी निर्देशनों की सीमा में न बंधनेवाली स्वाधीनता अपने अंदर लिये चलते हैं। उनकी उपलब्धि भीतर स्थित अंतरात्मा को मुक्त करती, हमें मुक्त करती और इस परमता में भाग लेने में हमें समर्थ बनाती है। इस भांति एक बार जब हम अक्षर आत्मा के अनुभव में प्रवेश कर जाते या उसमें से होकर गुजरते हैं तो हम प्रकृति के निर्देशनों और सृजनों द्वारा अपनी सत्ता की आंतरिक अवस्था में बद्ध या सीमित नहीं रहते। दूसरी ओर क्रियाशील दिशा में यह मौलिक स्वाधीनता चेतना को निर्दिष्टों का जगत्—उसमें बंधे बिना—बनाने योग्य बनाती है। वह उसे इस योग्य भी बनाती है कि उसने जो सृजन किया है उससे अपने-आपको खींच ले और उच्चतर सत्य-सूत्र में फिर से सृजन करे। इसी स्वाधीनता पर सत् की सत्य संभावनाओं की अनंत विविधताएं लिये आत्मा की शक्ति आधारित है और अपनी क्रियाओं में अपने-आपको बांधे बिना नियति या व्यवस्था-तंत्र के किसी भी रूप और हर एक रूप को सृजन करने की शक्ति भी इसी स्वाधीनता पर आधारित है। व्यष्टि-सत्ता भी इन नेति वाचक निरपेक्षों के अनुभव द्वारा उस क्रियाशील स्वाधीनता में भाग ले सकती है,

आत्मरूपायन के एक क्रम से उच्चतर क्रमतक जा सकती है। उस स्थिति में जब उसे मानसिक से अपनी अतिमानसिक स्थिति की ओर गति करनी होती है, एक अनिवार्य नहीं तो बहुत अधिक सहायक, मुक्तिदाता अनुभव जो उस समय हस्तक्षेप कर सकता है वह है मानसिकता और मनोमय अहंकार के संपूर्ण निर्वाण में प्रवेश, आत्मा की नीरवता में गमन। बहरहाल चेतना के उस मध्यवर्ती शिखर पर जाने से पहले—जहां से अभिव्यक्त सत्ता के आरोहण और अवरोहण करते सोपान स्पष्ट दिखलायी देते हैं और ऊपर चढ़ने और नीचे उतरने की शक्ति आध्यात्मिक प्राधिकार बन जाती है—शुद्ध आत्मा की उपलब्धि जरूरी है। आद्य रूपों और शक्तियों में से हर एक के साथ तादात्म्य की स्वतंत्र संपूर्णता—उस तरह संकुचित होना नहीं जैसे मन में होता है यानी किसी एकमात्र तल्लीन करनेवाली अनुभूति में नहीं जो अंतिम या संपूर्ण मालूम होती है, क्योंकि वह सत्ता के सभी पहलुओं और शक्तियों के ऐक्य की अनुभूति के साथ मेल न खायेगा—अनंत के अंदर चेतना में अंतर्निहित क्षमता है। वस्तुतः वही अधिमानसिक ज्ञान और उसके हर पक्ष, हर शक्ति, हर संभावना को उसकी स्वतंत्र पूर्णतातक पहुंचाने की इच्छा का आधार और औचित्य है। लेकिन अतिमानस हमेशा, हर स्थिति में, हर अवस्था में सब के ऐक्य की आध्यात्मिक उपलब्धि बनाये रखता है। उस ऐक्य की घनिष्ठ उपस्थिति हर चीज की पूरी-पूरी पकड़ में भी वहां विद्यमान रहती है, हर स्थिति को अपना आनंद, शक्ति और मूल्य प्राप्त होता है। इस तरह नेति के सत्य की पूर्ण स्वीकृति के होते हुए भी इति के पहलू आंख से ओझल नहीं हो पाते। अधिमानस अब भी इस मूलभूत ऐक्य का भाव बनाये रखता है, वही उसके लिये स्वतंत्र अनुभूति का सुरक्षित आधार होता है। मन में आकर सब पहलुओं के ऐक्य का ज्ञान सतह पर खो जाता है, चेतना तल्लीन करनेवाले, ऐकान्तिक पृथक्-पृथक् प्रतिज्ञानों में डूबी रहती है। लेकिन वहां भी, मन के अज्ञान में भी ऐकांतिक तल्लीनता के पीछे पूर्ण सद्वस्तु बनी रहती है और गहरे मानसिक अंतर्भास के रूप में या फिर समग्र ऐक्य के मूल सत्य के विचार या भाव में फिर से पायी जा सकती है। आध्यात्मिक मन में यह सदा उपस्थित अनुभूति के रूप में विकसित हो सकती है।

सर्वशक्तिमान् सद्वस्तु के सभी पहलुओं का आधारभूत सत्य परम सत् में है। इस भांति निश्चेतना का पहलू या शक्ति भी, जो शाश्वत सद्वस्तु का विरोधी, निषेध प्रतीत होता है, फिर भी वह एक ऐसे सत्य के अनुरूप है जिसे आत्माभिज्ञ और सर्व-सचेतन अनंत अपने अंदर धारण किये रहता है। अगर हम नजदीक से देखें तो यह अनंत की अपनी चेतना को आत्म-अंतर्लयन की समाधि में डुबकी लगाने की शक्ति है, आत्मा का ऐसा आत्म-विस्मरण है जो अपनी खाइयों से ढका हुआ है, जहां कुछ भी अभिव्यक्त नहीं पर सब कुछ कल्पनातीत रूप से है और उस

अकथनीय अव्यक्तता में से उभर सकता है। आत्मा की ऊंचाइयों में वैश्व या अनंत समाधि-निद्रा की यह अवस्था हमारे ज्ञान को प्रकाशमान उच्चतम अतिचेतना के रूप में दिखायी देती है। सत्ता के दूसरे छोर पर वह हमारे ज्ञान के आगे आत्मा के उस सामर्थ्य-रूप में प्रकट होती है जिसमें वह स्वयं अपने आगे अपनी सत्ता के सत्यों के विरोधी रूपों को उपस्थित करती है। ये विरोधी रूप हैं : असत् की खाई, निश्चेतना की गहन गभीर रात, एक अगाध संवेदनहीन मूर्च्छा जिसमें से सत्, चित् और आनंद के सभी रूप अपने-आपको अभिव्यक्त कर सकते हैं लेकिन वे व्यक्त होते हैं सीमित अभिधाओं में, धीमे-धीमे उभरते और बढ़ते हुए आत्म-रूपायनों में, यहांतक कि स्वयं अपनी विरोधी अभिधाओं में। यह गुप्त सर्व-सत् सर्व-आनंद, सर्व-ज्ञान का खेल है लेकिन वह आत्म-विस्मृति, आत्म-विरोध और आत्म-सीमांकन के नियमों का पालन तबतक करता है जबतक वह उसे पार करने योग्य न हो जाये। यह वह निश्चेतना और अज्ञान है जिसे हम जड़ भौतिक विश्व में कार्य करते हुए देखते हैं। यह अनंत और शाश्वत सत् का निषेध नहीं, उसीकी एक अभिधा, उसका एक सूत्र है।

विश्व-सत्ता के इस समग्र ज्ञान में अज्ञान का व्यापार जो अर्थ धारण करता है, विश्व की आध्यात्मिक व्यवस्था में उसका जो स्थान नियत है, उसका अवलोकन करना यहां महत्त्वपूर्ण है। हम जो कुछ अनुभव करते हैं वह सब यदि अध्यारोप हो, निरपेक्ष में एक अवास्तविक सृजन हो तो वैश्व और व्यष्टिगत जीवन दोनों ही स्वभावतः अज्ञान होंगे, एकमात्र वास्तविक ज्ञान होगा निरपेक्ष की अनिर्देश्य आत्म-अभिज्ञता। अगर सब कुछ कालातीत साक्षी शाश्वत की सत्यता की भूमिका में उपस्थित की गयी कालिक, प्रपंचात्मक सृष्टि की रचना ही हो और अगर सृष्टि उस सद्वस्तु की अभिव्यक्ति न हो बल्कि कोई मनमानी, अपने-आप प्रभाव डालनेवाली वैश्व रचना हो तो यह भी एक तरह का अध्यारोप होगा। सृष्टि के बारे में हमारा ज्ञान एक क्षण-भंगुर चेतना और सत्ता की अस्थायी रचना का ज्ञान होगा, एक ऐसे संदिग्ध संभवन का ज्ञान जो शाश्वत की दृष्टि के सामने से गुजरता है, सद्वस्तु का ज्ञान नहीं। वह भी अज्ञान होगा लेकिन अगर सब कुछ सद्वस्तु की अभिव्यक्ति है और अपने-आप भी वास्तविक है क्योंकि सद्वस्तु उपादान के रूप में उसके अंदर मौजूद है और उसमें सद्वस्तु का सार और उपस्थिति है तब व्यष्टिगत सत्ता और विश्व सत्ता की अभिज्ञता अपने आध्यात्मिक मूल और प्रकृति में अनंत आत्म-ज्ञान और सर्व-ज्ञान की लीला होगी। अज्ञान केवल एक गौण गतिविधि होगा, एक दबा हुआ सीमित ज्ञान या एकांगी और अपूर्ण विकसनशील ज्ञान होगा जिसके अंदर और जिसके पीछे, दोनों जगह सच्ची और पूर्ण आत्म-अभिज्ञता और सर्व-अभिज्ञता छिपी हुई है। यह एक अस्थायी प्रपंच होगा, वैश्व सत् का कारण और सार नहीं। उसकी अनिवार्य परम परिणति आत्मा के फिर से लौटने में होगी, विश्व से निकल कर

किसी एकमात्र अतिचेतन आत्मज्ञान की ओर नहीं बल्कि स्वयं विश्व के अंदर संपूर्ण आत्म-ज्ञान और सर्व-ज्ञान में ।

यह आपत्ति की जा सकती है कि आखिर अतिमानसिक ज्ञान वस्तुओं का अंतिम सत्य नहीं है। चेतना के अतिमानसिक स्तर के परे, जो अधिमानस और मन से सच्चिदानंद की पूर्ण अनुभूति के बीच मध्यवर्ती चरण है, अभिव्यक्त आत्मा के उच्चतम शिखर हैं। निश्चय ही वहां पर सत्ता बहुत्व के भीतर एक के निर्धारण पर आधारित न होगी। वह एकत्व में केवल एकमात्र शुद्ध तादात्म्य को अभिव्यक्त करेगी। लेकिन इन लोकों में अतिमानसिक ऋत-चित् का अभाव न होगा क्योंकि वह सच्चिदानंद की अंतर्निहित शक्ति है। फर्क बस यही होगा कि निर्धारण सीमांकन नहीं होंगे, वे नमनीय, सम्मिलित और सीमाहीन सांत होंगे। क्योंकि वहां मूलतः और सर्वांगीण रूप से प्रत्येक सर्व में और सर्व प्रत्येक में है। वहां तादात्म्य की एक परम मूलभूत अभिज्ञता के लिये चेतना के परस्पर समावेश और एक दूसरे में प्रवेश की पराकाष्ठा होगी। हम ज्ञान की जैसी कल्पना करते हैं वैसा ज्ञान वहां न होगा क्योंकि उसकी जरूरत ही न होगी, क्योंकि सब कुछ स्वयं सत्ता के अंदर चेतना की प्रत्यक्ष क्रिया होगी—तदात्म, घनिष्ठ, स्वाभाविक रूप से आत्म-अभिज्ञ और सर्व-अभिज्ञ। फिर भी चेतना के संबंध, सत्ता के परस्पर आनंद के संबंध, सत्ता की आत्म-शक्ति के साथ सत्ता की आत्म-शक्ति के संबंध को त्यागा नहीं जायेगा। ये उच्चतम आध्यात्मिक लोक कोरी अनिर्देश्यता के क्षेत्र या शुद्ध सत् की रिक्तता न होंगे।

यह फिर से कहा जा सकता है कि ऐसा होने पर भी, कम-से-कम, स्वयं सच्चिदानंद में, अभिव्यक्ति के सभी लोकों के ऊपर शुद्ध सत् और चित् की और शुद्ध सत्ता के आनंद की आत्म-अभिज्ञता के सिवा कुछ नहीं हो सकता। या वस्तुतः हो सकता है कि स्वयं यह त्रिक सत्ता अनंत के आदि आध्यात्मिक आत्म निर्देशनों की त्रिपुटी हो। तब सभी निर्देशनों की तरह इस अस्तित्व का अंत भी अनिर्वचनीय निरपेक्ष में हो जायेगा। लेकिन हम यह मानते हैं कि इन्हें परम सत्ता के अंतर्निहित सत्य होना चाहिये। उनकी परम वास्तविकता को निरपेक्ष में पूर्वस्थित होना चाहिये चाहे वे आध्यात्मिक मन के लिये संभव होनेवाली उच्चतम अनुभूति से अनिर्वचनीय रूप से भिन्न ही क्यों न हों। निरपेक्ष न तो अनंत रिक्तता की कोई पहेली है, न निषेधों का चरम योगफल है। ऐसी कोई चीज अभिव्यक्त नहीं हो सकती जिसका औचित्य आद्य, सर्वव्यापक सद्वस्तु की किसी आत्म-शक्ति द्वारा सिद्ध न होता हो।

अध्याय २

ब्रह्म, पुरुष, ईश्वर—माया, प्रकृति, शक्ति

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।

वह भूतों में अविभक्त है फिर भी ऐसे रहता है मानों विभक्त हो।

गीता १३.१७

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, अनन्त ब्रह्म।

तैत्तिरीय उपनिषद् २.१

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि

प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि जानो।

गीता १३.२०

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्॥

माया को प्रकृति और माया के प्रभु को महेश्वर मानो।

श्वेताश्वतरोपनिषद् ४.१०

देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्॥
तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
... ...विदाम... ... ...
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥
एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

परम देव की महिमा ही इस जगत् में ब्रह्म के चक्र को घुमाती है। हमें उन ईश्वरों के महेश्वर, सकल देवों के परम देव को अवश्य जानना चाहिये। उनकी शक्ति भी परम है और उस शक्ति के ज्ञान और बल की स्वाभाविक क्रिया बहुविध है। एक परम देव, सभी सत्ताओं में गुह्य, सभी सत्ताओं की आत्मा, सर्वव्यापक, निरपेक्ष, निर्गुण, केवल, सभी कर्मों का अध्यक्ष, साक्षी, ज्ञाता है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् ६. १, ७, ८, ११

तो एक शाश्वत, निरपेक्ष और अनंत परम सद्वस्तु है। चूंकि वह निरपेक्ष और अनंत है इसलिये वह तत्त्वतः अनिर्देश्य है। यह सांत और परिभाषा करनेवाला मन उसकी परिभाषा और धारणा नहीं कर सकता। मन से बनी हुई वाणी उसका वर्णन नहीं कर सकती। न तो उसका वर्णन हमारे निषेधों से, नेति, नेति कहकर हो सकता है,

क्योंकि वह यह नहीं है या वह नहीं है कहकर हम उसे सीमित नहीं कर सकते, और न ही हमारी स्वीकारोक्तियों से, क्योंकि हम उसे वह यह है, वह वह है इति इति कह कर निर्धारित नहीं कर सकते। वह इस तरीके से हमारे लिये अज्ञेय है फिर भी वह हर तरह से एकदम अज्ञेय भी नहीं है। वह अपने लिये स्वतः-सिद्ध है और अनिर्वचनीय होते हुए भी तादात्म्य द्वारा ज्ञान के लिये स्वतः-सिद्ध है। हमारे अंदर की आध्यात्मिक सत्ता को इसके योग्य होना चाहिये क्योंकि वह आध्यात्मिक सत्ता सारतः, अपनी मौलिक और घनिष्ठ वास्तविकता में इस परम सत् से भिन्न और कुछ नहीं है।

लेकिन, यद्यपि यह परम और शाश्वत अनंत अपनी निरपेक्षता और अनंतता के कारण मन के लिये अनिर्देश्य है फिर भी हमें पता चलता है कि वह अपने-आपको विश्व में हमारी चेतना के आगे अपनी सत्ता के उन वास्तविक और आधारभूत सत्यों द्वारा निर्दिष्ट भी करता है जो विश्व के परे भी हैं और विश्व में भी, जो उसके अस्तित्व के यथार्थ आधार हैं। ये सत्य अपने-आपको हमारे धारणात्मक ज्ञान के आगे आधारभूत पहलुओं के रूप में प्रस्तुत करते हैं जिनमें हम सर्वव्यापक सद्वस्तु को देखते और अनुभव करते हैं। अपने-आपमें वे बौद्धिक समझ द्वारा नहीं बल्कि हमारी चेतना के ठीक द्रव्य में आध्यात्मिक अंतर्भास द्वारा, आध्यात्मिक अनुभूति द्वारा सीधे ही पकड़ में आते हैं। लेकिन उन्हें विशाल और नमनीय भाव द्वारा धारणा में पकड़ा और किसी ऐसी नमनीय वाणी में व्यक्त किया जा सकता है जो कठोर परिभाषा पर आग्रह नहीं करती या भाव की विशालता और सूक्ष्मता को सीमित नहीं करती। इस अनुभव या भाव को किसी निकटता के साथ प्रकट करने के लिये एक ऐसी भाषा बनानी होगी जो एक ही साथ अंतर्भासात्मक ढंग से तत्त्वदार्शनिक और अंतःप्रकाशात्मक ढंग से काव्यमय हो, जो सार्थक, सजीव रूपकों को अंतरंग, सूचक, और स्पष्ट संकेत के वाहन के रूप में स्वीकार करती हो, ऐसी भाषा जैसी हमें वेदों और उपनिषदों की सूक्ष्म, सारगर्भित अति-विशालता में गढ़ी हुई मिलती है। तत्त्व दर्शन के विचार की साधारण भाषा में हमें एक दूर के संकेत से, अमूर्तों के दिये 'लगभग' से संतुष्ट हो जाना पड़ता है जो फिर भी हमारी बुद्धि के लिये कुछ उपयोगी हो सकती है क्योंकि इस तरह की वाणी हमारी तर्कसंगत और युक्तियुक्त समझ की विधि के अनुकूल होती है; लेकिन अगर उसे सचमुच उपयोगी होना हो तो बुद्धि को सांत तर्क की सीमाओं से बाहर निकलने के लिये राजी होना और अनंत के तर्क के लिये अपने-आपको अभ्यस्त करना चाहिये। केवल इसी शर्त पर, इस प्रकार देखने और सोचने से अनिर्वचनीय के बारे में बोलना विरोधाभासी या व्यर्थ नहीं रहता। लेकिन अगर हम अनंत पर सांत तर्क लगाने पर आग्रह करें तो सर्वव्यापक सद्वस्तु हमसे छटक जायेगी, हम उसके बदले एक अमूर्त छाया को पकड़ लेंगे, एक पथराया हुआ मृत रूप वाणी में या

एक कठोर और तीक्ष्ण रेखाचित्र हो जायेगा जो सद्वस्तु की बात तो करेगा लेकिन उसे अभिव्यक्त न करेगा। यह जरूरी है कि हमारी जानने की विधि उसके उपयुक्त हो जिसे हमें जानना है नहीं तो हमें किसी दूरस्थ परिकल्पना की, ज्ञान के किसी आकार की ही प्राप्ति होगी, सच्चे ज्ञान की नहीं।

इस तरह हमारे आगे परम सत्य का जो पहलू अपने-आपको प्रकट करता है वह है सत्ता की शाश्वत, अनंत, निरपेक्ष आत्म-सत्ता, आत्म-अभिज्ञता, आत्म-आनंद। यह सभी चीजों का आधार है और गुप्त रूप से सभी को सहारा देता और सबमें व्यापक है। यह आत्म-सत्ता फिर अपने-आपको अपनी तात्त्विक प्रकृति की तीन अभिधाओं में प्रकट करती है: आत्मा, सचेतन सत्ता या आध्यात्म पुरुष और भगवान् या दिव्य सत्ता। भारतीय परिभाषाएं अधिक संतोषजनक हैं—ब्रह्म यानी सद्वस्तु है आत्मा, पुरुष, ईश्वर। क्योंकि ये परिभाषाएं अंतर्भास की जड़ से उपजी हैं। उनमें जहां व्यापक यथार्थता है, वहीं उनमें एक नमनीय प्रयोग का तत्त्व भी है जिससे प्रयोग की अस्पष्टता और अत्यधिक संकुचित करनेवाले बौद्धिक धारणा के कठोर जाल से बचा जा सकता है। परब्रह्म वे हैं जिन्हें पाश्चात्य तत्त्व-दर्शन में निरपेक्ष कहा जाता है, लेकिन साथ-ही-साथ ब्रह्म सर्वव्यापक सद्वस्तु भी है जिसमें जो कुछ सापेक्ष है वह सब उसके रूपों और गतिविधियों की तरह निवास करता है। यह एक ऐसा निरपेक्ष है जो सभी सापेक्षों को अपने आलिंगन में ले लेता है। उपनिषदों का कथन है कि *सर्वं खल्विदं ब्रह्म*, यह सब कुछ ब्रह्म है, मन ब्रह्म है, प्राण ब्रह्म है, जड़ तत्त्व ब्रह्म है। प्राण के देवता, पवन के देवता, वायु को संबोधित करते हुए उपनिषद् कहता है, '*त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि*' तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। मनुष्य, पशु, पक्षी और कीट-पतंग हर एक का अलग-अलग एकमेव के साथ तादात्म्य किया गया है, "हे ब्रह्म, तू ही यह वृद्ध पुरुष, लड़का और लड़की है, तू ही यह पक्षी और यह कीट है।" ब्रह्म वह चेतना है जो अपने-आपको उस सबमें जानती है जिसका अस्तित्व है, ब्रह्म वह शक्ति है जो देवता, दैत्य और राक्षस के बल को सहारा देती है, यह वह शक्ति है जो मनुष्य, पशु और प्रकृति के रूपों और ऊर्जाओं में क्रिया करती है। ब्रह्म आनंद है, सत्ता का वह गुप्त आनंद है जो हमारी सत्ता का आकाश है जिसके बिना कोई जी न सकता, सांस न ले सकता। ब्रह्म सभी के अंदर अंतरात्मा है। वह जिन रूपों में निवास करता है, जिनका उसीने निर्माण किया है, उसने उन्हींके अनुरूप रूप धारण किया है। सत्ताओं का स्वामी वह है जो सचेतन सत्ता के अंदर सचेतन है लेकिन वह निश्चेतन वस्तुओं में भी चेतन है, वह एकमेव जो बहु का स्वामी है और उनपर अधिकार रखता है। वे बहु शक्ति-प्रकृति के हाथों में निष्क्रिय हैं। वही कालातीत और काल है। वह स्वयं देश और देश में स्थित सब कुछ है, वह कार्य-कारण भाव, कारण और परिणाम है। वह मनीषी और उसका विचार, योद्धा और उसका साहस, जुआरी

और उसका पांसा है। सभी वास्तविकताएं, सभी पहलू और सभी प्रतीतियां ब्रह्म हैं। ब्रह्म निरपेक्ष है, परात्पर और अव्यवहार्य है, वही अतिवैश्व सत् है जो विश्व को सहारा देता है, वैश्व आत्मा है जो सब सत्ताओं को धारण किये हुए है लेकिन वह प्रत्येक व्यष्टि की आत्मा भी है। अंतरात्मा या चैत्य सत्ता ईश्वर का एक शाश्वत अंश है। वह उसकी परम प्रकृति या चित्-शक्ति है जो जीवित सत्ताओं के लोक में जीवित सत्ता बन गयी है। केवल ब्रह्म ही है और ब्रह्म के कारण ही सब कुछ है क्योंकि सभी ब्रह्म है। यह सद्वस्तु उन सभी चीजों की वास्तविकता है जिन्हें हम आत्मा और प्रकृति में देखते हैं। ब्रह्म, यानी ईश्वर अपनी योगमाया से, आत्माभिव्यक्ति में प्रस्तुत की गयी अपनी चित्-शक्ति से यह सब है। वही सचेतन सत्ता, अंतरात्मा, आत्मा, पुरुष है और अपनी प्रकृति से, अपनी सचेतन आत्म-सत्ता की शक्ति से वह सब कुछ है। वह ईश्वर है यानी सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान् सर्व-शासक है और वह अपनी शक्ति द्वारा, अपनी सचेतन शक्ति द्वारा अपने-आपको काल में अभिव्यक्त करता और विश्व पर शासन करता है, ये और इस तरह के कथन एक साथ लिये जायें तो उनमें सब कुछ समा जाता है। मन के लिये यह संभव है कि कतर-ब्योंत करके, चुन कर, एक बंद प्रणाली बना ले और जो कुछ उसमें न समाये उसे किसी भी व्याख्या द्वारा उड़ा दे। लेकिन अगर हम पूर्ण ज्ञान पाना चाहें तो हमें पूर्ण और बहुमुखी वक्तव्य को अपना आधार बनाना होगा।

सत्ता की एक निरपेक्ष, शाश्वत और अनंत आत्म-सत्ता, आत्म-अभिज्ञता, आत्म-आनंद, जो गुप्त रूप से विश्व को सहारा देता और उसमें व्यापक है तब भी जब वह उसके परे हो—यह आध्यात्मिक अनुभूति का पहला सत्य है। लेकिन सत्ता के इस सत्य का एक ही साथ निर्गुण और सगुण पक्ष होता है, वह केवल सत् ही नहीं होता; वह निरपेक्ष, शाश्वत और अनंत सत्ता है। जैसे हम इस सद्वस्तु को तीन मूलभूत पहलुओं में देखते हैं—आत्मा, सचेतन सत्ता या आध्यात्म पुरुष और भगवान्, दिव्य सत्ता; अगर भारतीय परिभाषाओं का उपयोग करें तो निरपेक्ष और सर्वव्यापक सद्वस्तु, ब्रह्म जो हमारे आगे आत्मा, पुरुष और ईश्वर के रूप में अभिव्यक्त होता है,—उसी तरह उसकी चित्-शक्ति भी हमारे आगे तीन रूपों में प्रकट होती है। एक है उस चेतना की आत्म-शक्ति जो सभी चीजों की धारणात्मक रूप से रचना करती है—माया। यह प्रकृति या शक्ति है जो गतिशील रूप से कार्यकारिणी है, जो सभी चीजों को सचेतन सत्, आत्मा या आध्यात्म पुरुष की साक्षी आंख के सामने कार्यान्वित करती है, यह दिव्य सत् की सचेतन शक्ति है जो एक ही साथ सभी दिव्य कार्यों की भावनात्मक रूप से सर्जक और गतिशील रूप से कार्यकारिणी है। ये तीन रूप और उनकी शक्तियां संपूर्ण विश्व-सत्ता और समस्त प्रकृति के आधार और आयतन हैं और उन्हें एक साथ अखंड इकाई की तरह लिया जाये तो इनसे विश्वातीत परात्परता, वैश्व सारभौमता और हमारी व्यष्टिगत सत्ता

के अलगाव के बीच रहने वाली प्रतीयमान विषमता और असंगति में मेल बैठ जाता है। उस एक सद्वस्तु के इस त्रिविध रूप में निरपेक्ष, वैश्व प्रकृति और हम एक शृंखला में आ जाते हैं: क्योंकि अगर अपने-आपमें लें तो निरपेक्ष का, परब्रह्म का अस्तित्व सापेक्ष विश्व का निषेध करेगा और हमारा अपना वास्तविक अस्तित्व निरपेक्ष की एकमात्र अव्यवहार्य सद्वस्तु के साथ असंगत होगा। लेकिन ब्रह्म एक ही साथ सापेक्षताओं में सर्वव्यापक है, वह सभी सापेक्षों से मुक्त निरपेक्ष है, सभी सापेक्षों को आधार देनेवाला निरपेक्ष है, सभी सापेक्षों पर शासन करनेवाला, सबमें व्यापक और सबका उपादान निरपेक्ष है। ऐसा कुछ भी नहीं है जो सर्वव्यापक सद्वस्तु न हो। इस त्रिविध रूप और त्रिविध शक्ति का अवलोकन करने पर हम यह जान पाते हैं कि यह कैसे संभव है।

अगर हम आत्म सत्ता और उसकी कृतियों के इस चित्र को एकात्मक, निःसीम समग्र की दृष्टि से देखें तो वह एकत्रित दीखता है और अपनी असंदिग्ध समग्रता द्वारा प्रभावित करता है लेकिन यह तार्किक बुद्धि के विश्लेषण के लिये प्रचुर कठिनाइयां ले आता है जैसा कि किसी भी असीम सत्ता के बोध में से कोई तर्क-संगत सिद्धांत निकालने के प्रयास में होना अनिवार्य है। क्योंकि ऐसा हर प्रयास या तो वस्तुओं के जटिल सत्य का मनमाने ढंग से विभाजन करता हुआ संगति में गड़बड़ पैदा करेगा या अपनी व्यापकता के कारण तार्किक रूप से असाध्य हो जायेगा। क्योंकि हम देखते हैं कि अनिर्देश्य अपने-आपको अनंत और सांत के रूप में निर्दिष्ट करता है, अक्षर निरंतर क्षरता और अंतहीन भेदों को स्वीकार करता है, एकमेव असंख्य बहु हो जाता है, निर्वैयक्तिक व्यक्तित्व का सृजन करता है या उसे सहारा देता है, वह अपने-आप 'व्यक्ति' है, आत्मा की प्रकृति है फिर भी वह अपनी प्रकृति से भिन्न है, सत् संभूति में बदल जाता है फिर भी सदा स्व बना रहता है और अपनी संभूतियों से अलग रहता है, वैश्व अपने-आपको व्यष्टि बनाता है और व्यष्टि अपने-आपको वैश्व बना लेता है। ब्रह्म एक ही साथ निर्गुण और अनंत गुण होने में समर्थ है, कर्मों का स्वामी और कर्ता होते हुए भी वह अकर्ता और प्रकृति के कर्मों का मौन साक्षी है। अगर हम प्रकृति की इन क्रियाओं को सावधानी से देखें, एक बार अतिपरिचय के पर्दे को हटाकर और चूंकि चीजें हमेशा ऐसी ही होती हैं इसलिये यही स्वाभाविक है, चीजों की प्रक्रिया के बारे में इस अविचारशील सहमति को अलग कर दें तो हम पाते हैं कि वह जो कुछ करती है, चाहे वह अंश में हो या समग्र में, वह एक चमत्कार है। समझ में न आनेवाले जादू की एक क्रिया है। स्वयंभू की सत्ता और उसमें जो जगत् प्रकट हुआ है उनमें से हर एक और दोनों मिलकर अति-तार्किक रहस्य हैं। हमें लगता है कि वस्तुओं में एक तर्क है क्योंकि भौतिक सांत की प्रक्रियाएं हमारी दृष्टि के साथ मेल खाती हैं और उनके नियम निर्देश्य हैं। लेकिन वस्तुओं के इस तर्क की बारीकी से

जांच की जाये तो वह अतार्किक, अवतार्किक और अतितार्किक पर हर क्षण ठोकरें खाता दीखता है। जब हम जड़ पदार्थ से प्राण और प्राण से मानसिकता की ओर बढ़ते हैं तो प्रक्रिया की संगति और निर्देश्यता बढ़ने की जगह घटती हुई मालूम होती हैं। अगर सांत किसी हदतक तर्क संगत दीखना स्वीकार कर लेता है तो अत्यणु उन्हीं नियमों में बंधने से इंकार करता है और अनंत तो पकड़ में ही नहीं आता। रही बात विश्व के कार्य और उसके अर्थ या महत्त्व की तो वह हमसे बिलकुल बच निकलता है। अगर आत्मा, ईश्वर या आध्यात्म सत्ता है तो जगत् के साथ और हमारे साथ उसके व्यवहार अगम्य हैं, वे ऐसा कोई सूत्र नहीं देते जिसका हम अनुसरण कर सकें। भगवान् और प्रकृति और हम भी ऐसे रहस्यमय मार्ग से गति करते हैं जो केवल आंशिक रूप में और किन्हीं बिंदुओं पर समझ में आता है परंतु सब मिला कर हमारी समझ से बच निकलता है। माया के सभी कार्य किसी अतितार्किक जादुई शक्ति से उत्पन्न मालूम होते हैं जो उन्हें अपनी प्रज्ञा या अपनी मनमानी तरंग के अनुसार व्यवस्थित करती है, लेकिन ऐसी प्रज्ञा जो हमारी नहीं है और ऐसी मनमानी तरंग जो हमारी कल्पना को चकरा देती है। जो आत्मा चीजों को अभिव्यक्त करती या अपने-आपको उनमें इतने अस्पष्ट रूप में प्रकट करती है वह हमारी तर्क-बुद्धि को जादूगर की तरह और उसकी शक्ति या माया एक सृजनात्मक जादू प्रतीत होती है। लेकिन जादू भ्रांतियां पैदा कर सकता है या आश्चर्यजनक वास्तविकताएं पैदा कर सकता है और हमारे लिये यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि तर्क से परे की इन प्रक्रियाओं में से कौन-सी इस विश्व में हमारे सामने आती है।

लेकिन वस्तुतः इस धारणा का कारण अवश्य ही 'परम' या वैश्व स्वयंभू के अंदर, किसी भ्रांतिपूर्ण या कपोल-कल्पित चीज में नहीं, बल्कि उसकी बहुविध सत्ता के परम संधान-सूत्र को पकड़ पाने में या उसके कामों की गुप्त योजना और विधि का पता लगा सकने में अपनी असमर्थता में खोजना चाहिये। स्वयंभू-सत् अनंत है और उसके संभवन और उसकी क्रिया के तरीके भी अनंत के तरीके होने चाहियें। लेकिन हमारी चेतना सीमित है, वस्तुओं पर आधारित हमारी तर्क-बुद्धि सीमित है। यह मान लेना अयुक्तियुक्त होगा कि सीमित चेतना और बुद्धि अनंत के माप हो सकते हैं। यह क्षुद्रता उस विशालता का मूल्यांकन नहीं कर सकती। अपने अपर्याप्त साधनों के सीमित प्रयोग से बंधी यह दरिद्रता उन समृद्धियों की वैभवशाली व्यवस्था की धारणा नहीं कर सकती। अज्ञानभरा अर्द्ध ज्ञान सर्व ज्ञान की गतियों का अनुसरण नहीं कर सकता। हमारा तर्क भौतिक प्रकृति की सांत क्रियाओं के अनुभव पर, सीमाओं के भीतर काम करनेवाली किसी चीज के अधूरे निरीक्षण और अनिश्चित समझ पर आधारित होता है। उसने इस आधार पर कुछ धारणाओं की व्यवस्था की है जिन्हें वह व्यापक और वैश्व बनाना चाहता है। जो

कुछ इन धारणाओं का खंडन करे या उनसे अलग हो वह उसे अयुक्तियुक्त, मिथ्या या अव्याख्येय मान लेता है। लेकिन सद्वस्तु की अलग-अलग श्रेणियां हैं और यह जरूरी नहीं है कि किसी एक के लिये उपयोगी धारणाएं, माप या मानदंड और श्रेणियों पर भी लागू हों। हमारी भौतिक सत्ता पहले अत्यणुओं, विद्युदणुओं, परमाणुओं, अणुओं और कोषाणुओं के समुच्चय पर बनी है। लेकिन इन अत्यणुओं की क्रिया का नियम मानव शरीर की सब भौतिक क्रियाओं को भी स्पष्ट नहीं कर पाता, मनुष्य के अतिभौतिक भागों के सभी नियमों और प्रक्रियाओं, उसके जीवन की गतिविधियों, मन की गतिविधियों और अंतरात्मा की गति-विधियों की बात ही अलग है। शरीर में सांत अपनी ही आदतों, गुणों और कार्य की विशेष रीतियों को लेकर बने हैं। शरीर अपने-आपमें एक सांत है जो केवल इन छोटे-छोटे समूहों का कुल योग नहीं है जिनका उपयोग वह अंगों, अवयवों और क्रिया-व्यापारों के मूलभूत उपकरण के रूप में करता है। उसने एक अपनी सत्ता विकसित की है और उसका एक सामान्य नियम है जो इन तत्त्वों और घटकों पर आश्रित रहने का अतिक्रमण कर जाता है। प्राण और मन अतिभौतिक सांत हैं जिनकी अपनी क्रिया-पद्धति भिन्न और अधिक सूक्ष्म है। और यद्यपि वे शारीरिक अंगों को उपकरण बना कर क्रिया करते हैं तथापि उनकी यह निर्भरता उनके सहज गुण-धर्म को नष्ट नहीं कर सकती। हमारी मानसिक और प्राणिक सत्ता में और प्राणिक और मानसिक शक्तियों में हमारे भौतिक शरीर के क्रिया-कलाप से भिन्न और अधिक कुछ और भी है। लेकिन फिर हर सांत अपनी वास्तविकता में एक अनंत है—या अनंत उसके पीछे है—जिसने उसे अपने रूप में बनाया है, जो उसे सहारा और निर्देशन देता है। अतः सांत की सत्ता, उसके नियम और प्रक्रिया को भी उसके ज्ञान के बिना पूरी तरह नहीं समझा जा सकता जो गुह्य रूप से उसके भीतर या पीछे है। हमारा सांत ज्ञान, धारणाएं और मानक अपनी सीमा में उचित हो सकते हैं परंतु वे अपूर्ण और सापेक्ष होते हैं। जो देश और काल में विभाजित है उसके अवलोकन पर आधारित नियम को विश्वासपूर्वक अविभाज्य की सत्ता और क्रिया पर लागू नहीं किया जा सकता। केवल इतना ही नहीं कि उसे कालातीत और देशातीत पर लागू नहीं किया जा सकता बल्कि उसे अनंत काल और अनंत देश पर भी लागू नहीं किया जा सकता। जो नियम और प्रक्रिया हमारी ऊपरी सत्ता के लिये अनिवार्य है, वह, जरूरी नहीं है कि वह हमारे अंदर के गुह्य के लिये भी अनिवार्य हो। फिर, हमारी बुद्धि, जो तर्क पर आधारित है, उसे अवयौक्तिक से व्यवहार करना कठिन मालूम होता है। प्राण अवयौक्तिक है और हम देखते हैं कि हमारा बौद्धिक तर्क जब अपने-आपको प्राण पर लागू करता है तो सदा उसपर एक नियंत्रण, माप और कृत्रिम हिंसावादी नियम आरोपित करता है जो या तो प्राण को मार देने या पथरा देने में सफल होता है या उसे कठोर रूपों और रूढ़ियों में जकड़ देता है जो

उसकी सामर्थ्य को पंगु या बंदी बना देते हैं या अंत में एक गड़बड़ की रचना हो जाती है। प्राण विद्रोह करता है, हमारी बुद्धि की उस पर खड़ी की गयी व्यवस्थाएं और अधिरचनाएं क्षीण होने लगती हैं या उनका विघटन हो जाता है। एक सहज वृत्ति की या अंतर्भास की आवश्यकता होती है जो सदा बुद्धि के अधिकार में नहीं होती और जब वह अपने-आप मानसिक क्रियाओं की सहायता करने आती है तो बुद्धि हमेशा उसकी बात पर कान नहीं देती। लेकिन हमारी तर्क-बुद्धि के लिये तब और भी ज्यादा मुश्किल होती है जब उसे अतिबौद्धिक को समझना और उसके साथ व्यवहार करना पड़े। अतिबौद्धिक आत्मा का क्षेत्र है और तर्क-बुद्धि उसकी गति की विशालता, सूक्ष्मता, गहराई और जटिलता में खो जाती है। यहां केवल अंतर्भास और आंतरिक अनुभूति ही मार्ग-दर्शक हो सकते हैं अथवा यदि कोई और है तो अंतर्भास उसकी केवल एक तेज धार, प्रक्षिप्त प्रखर किरण है। परम प्रकाश तो अतितार्किक ऋत-चित् से, अतिमानसिक दर्शन और ज्ञान से ही आयेगा।

लेकिन इस कारण अनंत की सत्ता और क्रिया को ऐसा नहीं मान लेना चाहिये मानों वह तर्कहीन जादू हो। इसके विपरीत अनंत की सभी क्रियाओं में एक महत्तर युक्ति होती है परंतु वह मानसिक या बौद्धिक नहीं होती, वह आध्यात्मिक और अतिमानसिक युक्ति होती है, उसमें एक तर्क होता है, क्योंकि उसमें संबंध और संपर्क बिना भूल के दिखायी देते और कार्यान्वित होते हैं। जो हमारी सांत तर्क-बुद्धि के लिये जादू है वह अनंत का तर्क है। वह ज्यादा बड़ी युक्ति, ज्यादा बड़ा तर्क है क्योंकि वह ज्यादा विस्तृत, सूक्ष्म और अपनी क्रियाओं में ज्यादा जटिल है। हमारा अवलोकन जिन तथ्यों को नहीं पकड़ पाता उन सबको अनंत की युक्ति, तर्क पकड़ लेता है, वह उनसे ऐसे परिणाम निकालता है जिनकी आशा भी हमारे निगमन और आगमन नहीं कर पाते क्योंकि हमारे निष्कर्ष और अनुमान कमजोर नींव पर खड़े, भ्रांत और भंगुर होते हैं। अगर हम किसी घटना का अवलोकन करें तो हम उसके परिणाम के और एकदम बाहरी घटकों की झांकी, परिस्थितियों और कारणों के आधार पर उसका मूल्यांकन और उसकी व्याख्या करते हैं। लेकिन हर तरह की घटना शक्तियों के जटिल अंतर्बंधन का परिणाम होती है लेकिन उसे न तो हम देखते हैं न देख सकते हैं क्योंकि हमारे लिये सभी शक्तियां अदृश्य होती हैं लेकिन वे अनंत की आध्यात्मिक दृष्टि के लिये अदृश्य नहीं होतीं, उनमें से कुछ ऐसी वास्तविकताएं होती हैं जो किसी नयी वास्तविकता को उत्पन्न करने के लिये कार्य करती हैं या उसके लिये अवसर होती हैं, कुछ ऐसी संभावनाएं होती हैं जो पूर्व-स्थित वास्तविकताओं के बहुत ही नजदीक होती हैं और एक तरह से उनके कुलयोग में ही गिनी जाती हैं। लेकिन हमेशा नयी संभावनाएं हस्तक्षेप कर सकती हैं जो अचानक क्रियाशील संभाव्यताएं बन जाती हैं और अपने-आपको शक्ति के

अंतर्बंधन में मिला देती हैं और इन सबके पीछे कुछ अनिवार्यताएं या एक अनिवार्यता होती है जिन्हें वास्तविक बनाने के लिये ये संभावनाएं श्रम कर रही हैं। और फिर शक्तियों के उस एक ही अंतर्बंधन से भिन्न-भिन्न परिणाम संभव हैं। लेकिन उनमें से क्या परिणाम आयेगा इसका निर्णय उस स्वीकृति के द्वारा होता है जो निःसंशय सारे समय प्रतीक्षा में तैयार बैठी थी लेकिन लगता यह है कि वह तेजी से आकर सब कुछ बदल देती है। यह एक निर्णायक दिव्य आदेश होता है। लेकिन हमारी तर्क-बुद्धि इस सबको नहीं पकड़ सकती, क्योंकि वह अज्ञान का यंत्र है जिसकी दृष्टि बहुत सीमित होती और उसके संग्रह किये हुए ज्ञान का भंडार बहुत कम होता है और वह ज्ञान भी हमेशा बहुत निश्चित या विश्वास-योग्य नहीं होता, क्योंकि उसके पास प्रत्यक्ष अभिज्ञता के साधन नहीं होते। अंतर्भास और बुद्धि में यह फर्क है कि अंतर्भास एक प्रत्यक्ष अभिज्ञता से पैदा होता है जब कि बुद्धि एक ऐसे ज्ञान की परोक्ष क्रिया है जो अपने-आपको कठिनाई से ऐसे अज्ञात में से चिह्नों, संकेतों और दी हुई सामग्री से निर्मित करती है। लेकिन जो चीज हमारी तर्क-बुद्धि और इन्द्रियों के लिये स्पष्ट नहीं है वह अनंत चेतना के लिये स्वयं-सिद्ध है और अगर अनंत की कोई इच्छा हो तो वह ऐसी इच्छा होनी चाहिये जो पूर्ण ज्ञान में काम करती है और समग्र स्वयं-सिद्ध का पूर्णतः सहज परिणाम है। वह न तो उलझी हुई विकसनशील शक्ति है जो उससे बंधी है जिससे वह विकसित हुई है और न ही ऐसी कल्पनाशील इच्छा है जो शून्य में स्वच्छंद तरंग पर कार्य कर रही हो। वह अनंत का सत्य है जो अपने-आपको सांत के निर्देशनों में प्रतिष्ठित कर रहा है।

यह स्पष्ट है कि यह जरूरी नहीं है कि ऐसी चेतना और इच्छा हमारी सीमित तर्क-बुद्धि के निष्कर्षों के साथ सामंजस्य रखते हुए क्रिया करे या ऐसी प्रक्रिया के अनुसार क्रिया करे जो उससे परिचित हो और जो हमारी बनायी हुई धारणाओं से अनुमोदित हो या किसी सीमित और आंशिक शुभ के लिये क्रिया करनेवाली किसी नैतिक बुद्धि के आधीन रह कर कार्य करे। वह ऐसी चीजों को भी स्वीकार कर सकती और करती है जिन्हें हमारी बुद्धि तर्क-विरुद्ध और अनैतिक मानती है क्योंकि वह परम और समग्र शुभ के लिये और वैश्व प्रयोजन को चरितार्थ करने के लिये जरूरी है। जो हमें आंशिक तथ्यों, प्रयोजनों और आवश्यकताओं के संबंध से तर्क-विरुद्ध और धिक्कारने योग्य लगता है वही अधिक विशाल प्रयोजन तथा आधार-सामग्री तथा आवश्यकताओं के संबंध से पूरी तरह बुद्धि-संगत और स्वीकार करने योग्य हो सकता है। अपनी एकांगी दृष्टि के साथ तर्क-बुद्धि कुछ निर्मित निष्कर्षों को निश्चित करती है जिन्हें वह ज्ञान और कर्म के सामान्य नियम बनाने की कोशिश करती है और किसी मानसिक विधि से वह चीजों को अपने नियम में जबरदस्ती बिठाती है और जो उसमें न बैठ पाये उससे पिंड छुड़ा लेती

है। अनंत चेतना में ऐसे कोई नियम न होंगे। इसकी जगह उसमें बृहत् अंतस्थ सत्य होंगे जो अपने-आप निष्कर्ष और परिणामों पर शासन करेंगे परंतु चेतना पूरी तरह भिन्न परिस्थितियों की समष्टि में सहज रूप से उनका और तरह अनुकूलन करेगी। इस लचीलेपन और मुक्त अनुकूलन के कारण अधिक संकीर्ण क्षमता यह मान लेती है कि उसके कोई मानक हैं ही नहीं। इसी भांति हम अनंत के तत्त्व और गतिशील क्रिया के बारे में सांत सत्ता के मानकों से कोई मूल्यांकन नहीं कर सकते। जो वस्तु एक के लिये असंभव हो वह विशालतर और अधिक मुक्त सद्वस्तु के लिये सामान्य और स्वयं-सिद्ध स्थिति और हेतु हो सकती है। यही हमारी खंडित मानसिक चेतना में, जो अपने खंडों में से अखंड वस्तुओं का निर्माण करती है, और तात्त्विक समग्र चेतना, दृष्टि और ज्ञान में फर्क करती है। जबतक हम अपने मुख्य अवलम्ब के रूप में तर्क-बुद्धि का उपयोग करने के लिये बाधित हैं तबतक वस्तुतः यह संभव नहीं है कि वह पूरी तरह अविकसित या अर्द्ध संगठित अंतर्भास के पक्ष में अपनी गद्दी छोड़ दे। लेकिन अनंत की सत्ता और क्रिया के बारे में विचार करते समय हमारे लिये अनिवार्य है कि हम अपनी तर्क-बुद्धि पर अधिक-से-अधिक नमनीयता आरोपित करें और उसे उसकी विशालतर स्थितियों और संभावनाओं के बोध की ओर खोलें जिसके बारे में विचार करने का हम प्रयास कर रहे हैं। तत् के बारे में, जिसकी कोई सीमा नहीं हो सकती, अपने सीमित और सीमित करनेवाले निष्कर्ष लगाने से काम न चलेगा। अगर हम एक ही पक्ष पर केन्द्रित हों और उसे ही समग्र मान लें तो हम हाथी और अंधों की उस कहानी के उदाहरण बनेंगे जिसमें हर अंधा-अन्वेषक हाथी के अलग-अलग अंगों को छूकर यह निष्कर्ष निकाल रहा था कि पूरा प्राणी, जिस अंग को उसने छुआ था, उससे मिलती-जुलती चीज है। अनंत के एक पक्ष की अनुभूति अपने-आपमें मान्य है लेकिन उसके आधार पर हम यह सामान्य नियम नहीं बना सकते कि अनंत बस यही है और न यह ठीक होगा कि बाकी अनंत को उसी पक्ष के हिसाब से देखा जाये और आध्यात्मिक अनुभूति के बाकी सब दृष्टि-बिंदुओं को अलग कर दिया जाये। अनंत एक ही साथ सार-तत्त्व है, असीम समग्रता है और बहुत्व है। अनंत को सचमुच जानने के लिये इन सब को जानना होगा। केवल भागों को देखना और समग्र को बिलकुल न देखना या केवल भागों का कुल योग मानना एक ज्ञान तो है पर साथ ही अज्ञान भी। केवल समग्रता को देखना और भागों की अवहेलना करना भी एक ज्ञान है और साथ ही अज्ञान भी क्योंकि हो सकता है कि एक भाग समग्र से महान् हो क्योंकि वह तत्त्वतः परात्पर है। केवल सारतत्त्व को देखना, क्योंकि वह हमें सीधा परात्पर की ओर लौटा ले जाता है और समग्रता और भागों से इंकार करना, अंतिम से पहले का ज्ञान है लेकिन इसमें भी बहुत बड़ा अज्ञान है। संपूर्ण ज्ञान होना चाहिये और तर्क-बुद्धि को इतना लचीला होना चाहिये

कि सभी दिशाओं, सभी पक्षों को देख सके और उनके द्वारा उसे खोज सके जिसमें वे सब एक हैं।

इस तरह अगर हम केवल आत्मा के पहलू ही देखें तो हो सकता है कि हम उसकी निश्चल नीरवता पर केन्द्रित हो जायें और अनंत के क्रियाशील सत्य को खो बैठें, अगर हम केवल ईश्वर को देखें तो हो सकता है कि हम क्रियाशील सत्य को तो पकड़ पायें लेकिन शाश्वत स्थिति और अनंत नीरवता को खो बैठें, हम केवल क्रियाशील सत्, क्रियाशील चित्, सत्ता के क्रियाशील आनंद के बारे में तो अभिज्ञ हो जायें लेकिन शुद्ध सत्, शुद्ध चित्, शुद्ध सत्ता के आनंद को खो दें। अगर हम केवल पुरुष-प्रकृति पर केन्द्रित हों तो हो सकता है कि हम केवल अंतरात्मा और प्रकृति, आत्मा और जड़ तत्त्व के द्विभाजन को ही देख पायें और उनके ऐक्य को खो बैठें। अनंत की क्रिया पर विचार करते हुए हमें उस शिष्य की भूल से बचना चाहिये जिसने अपने-आपको ब्रह्म मानकर महावत की चेतावनी सुनने से इंकार किया जिसने उसे तंग रास्ता छोड़ कर एक ओर हो जाने के लिये कहा था। तब हाथी ने उसे सूंड से उठाकर एक ओर कर दिया था। इस पर भौंचक्के शिष्य से उसके गुरु ने कहा, "निःसंदेह तुम ब्रह्म हो, लेकिन तुमने महावत ब्रह्म की बात क्यों नहीं सुनी और हाथी ब्रह्म के रास्ते में से हट क्यों नहीं गये?" हमें सत्य के एक ही पक्ष पर जोर देने की और अनंत के अन्य सब पक्षों और पहलुओं को छोड़कर उसी एक से निष्कर्ष निकालने या उसीपर क्रिया करने की भूल न करनी चाहिये। मैं वही ब्रह्म हूं (सोऽहम्) की अनुभूति सत्य है लेकिन हम उसपर तबतक सुरक्षित रूप से नहीं चल सकते जबतक कि हम यह भी अनुभव न कर लें कि सब कुछ 'तत्' है। हमारा आत्म-अस्तित्व एक तथ्य है लेकिन हमें साथ ही दूसरी आत्माओं के बारे में भी अभिज्ञ होना चाहिये कि वही आत्मा और सत्ताओं में भी है और उस 'तत्' के बारे में भी जो हमारी आत्मा तथा अन्य आत्माओं के परे है। अनंत बहुत्व में एक है और उसकी क्रिया को केवल एक परम बुद्धि ही पकड़ सकती है जो सबको देखती और एक ऐसी एक-अभिज्ञता के रूप में काम करती है जो अपना अवलोकन भिन्नता में करती है और जो अपनी भिन्नताओं का मान करती है ताकि हर चीज और हर सत्ता अपनी तात्त्विक सत्ता का रूप पा सके और क्रियाशील प्रकृति का रूप पा सके—स्वरूप और स्वधर्म—और इन सबका समग्र क्रिया में मान किया जाता है। अनंत का ज्ञान और उसकी क्रिया अपार परिवर्तनशीलता में भी एक रहती है। अनंत सत्य की दृष्टि से सभी अवस्थाओं में क्रिया की समानता या भिन्नता के पीछे किसी एक करनेवाले सत्य और सामंजस्य के बिना क्रिया की भिन्नता पर आग्रह करना समान रूप से गलत होगा। स्वयं अपने आचार के नियमों में अगर हम इस महत्तर सत्य के अनुसार कार्य करना चाहें तो स्वयं अपने ऊपर जोर देना या केवल अन्य आत्माओं पर जोर देना समान

रूप से गलत होगा। हमें कर्म के एकत्व को और कर्म के समग्र, अनंत रूप से नमनीय और साथ ही सामंजस्यपूर्ण वैचित्र्य को सर्व की आत्मा पर आधारित करना होगा क्योंकि यही अनंत की क्रिया का स्वभाव है।

अगर हम अनंत के तर्क को ध्यान में रखते हुए अधिक विशाल और अधिक नमनीय बुद्धि के दृष्टिकोण से उन कठिनाइयों को देखें जो निरपेक्ष और सर्वव्यापक सद्वस्तु के बारे में सोचते हुए हमारी बुद्धि के आगे आती हैं तो हम देखेंगे कि सारी कठिनाई वास्तविक नहीं, शब्दों और धारणाओं में है। हमारी बुद्धि निरपेक्ष के बारे में अपनी धारणा पर नजर डालती है और सोचती है कि उसे अनिर्देश्य होना चाहिये और साथ ही वह निर्दिष्टों की एक दुनिया को देखती है जो निरपेक्ष से उभरती और उसमें निवास करती है—क्योंकि वह और कहीं से नहीं निकल सकती और न और कहीं निवास कर सकती है। वह इस दृढ़ कथन से और भी ज्यादा चकरा जाती है और इसके आधार पर मुश्किल से ही कोई विवाद हो सकता है कि ये सभी निर्दिष्ट इसी अनिर्देश्य निरपेक्ष के सिवा और कुछ नहीं हैं। लेकिन यह विरोध तब मिट जाता है जब हम यह समझ लेते हैं कि अनिर्देश्यता अपने सच्चे अर्थों में नकारात्मक नहीं है, अनंत पर अक्षमता का आरोप नहीं है बल्कि भावात्मक है, स्वयं अपने निर्दिष्टों से, अपने भीतर सीमाओं से मुक्ति है और आवश्यक रूप से स्वयं अपने-आपसे भिन्न और सभी बाह्य निर्दिष्टों से मुक्ति है, चूंकि अपने से भिन्न किसी और चीज के होने की कोई वास्तविक संभावना नहीं है। अनंत असीम रूप से मुक्त है, अपने-आपको अनंत रूपों से निर्धारित करने के लिये स्वतंत्र है, अपनी ही सृष्टि के प्रतिबंध लगानेवाले सभी प्रभावों से मुक्त है। वस्तुतः अनंत सृजन नहीं करता, वह उसके अंदर जो कुछ है उसे अभिव्यक्त करता है। स्वयं अपनी वास्तविकता के सार में, स्वयं सभी वास्तविकताओं का वह सार है और सभी वास्तविकताएं उस एक सद्वस्तु की शक्तियां हैं। निरपेक्ष रचना करने और रचे जाने के प्रचलित अर्थों में न तो रचना करता है और न उसकी रचना की जाती है। हम सृजन की बात केवल इस अर्थ में कर सकते हैं कि सत् रूप और गति में वह बन जाये जो वह पहले से ही पदार्थ और स्थिति में है, फिर भी हमें उस विशेष और भावात्मक अर्थ में उसकी अनिर्देश्यता पर जोर देना चाहिये, किसी न-कार के रूप में नहीं बल्कि उसके मुक्त अनंत आत्म-निर्धारण की अनिवार्य शर्त के रूप में, क्योंकि उसके बिना सद्वस्तु एक बंधा हुआ शाश्वत निर्धारित या अपने अंदर निहित निर्देशन की संभावनाओं के कुल योग से बंधा और निश्चित अनिर्दिष्ट होगा। उसके सब सीमांकनों से, अपनी ही सृष्टि के किसी भी बंधन से जो स्वाधीनता है उसे एक सीमा का, एक नितांत अक्षमता का, आत्म-निर्देशन की समस्त स्वाधीनता के निषेध का रूप नहीं दिया जा सकता। यह परस्पर विरोध होगा, अनंत और असीम की निषेध द्वारा परिभाषा करने और उसे सीमित बनाने का

प्रयास होगा। निरपेक्ष के स्वभाव के दो पक्षों के केन्द्रीय तथ्य में, तात्त्विक और आत्म-सर्जक या क्रियाशील में कोई सचमुच विरोध नहीं आता। केवल एक शुद्ध रूप से अनंत तत्त्व ही अपने-आपको अनंत प्रकार से रूपायित कर सकता है। एक कथन दूसरे का पूरक है, एक दूसरे को रद्द नहीं करता, उनमें कोई असंगति नहीं है। यह मानव बुद्धि द्वारा मानव भाषा में एक ही अनिवार्य तथ्य का दो तरह से कथन है।

जब हम सद्वस्तु के सत्य पर सीधी और यथार्थ दृष्टि डालते हैं तो हर जगह वही समाधान दीखता है। उसकी हमें जो अनुभूति होती है उसमें हम एक ऐसे अनंत से अभिज्ञ होते हैं जो गुण, धर्म, लक्षण के सभी सीमांकनों से मुक्त है, दूसरी ओर हम ऐसे अनंत से परिचित हैं जिसमें अनंत गुण, धर्म और लक्षण भरे हैं। यहां फिर असीम स्वाधीनता का कथन भावात्मक है, अभावात्मक नहीं। हम जो कुछ देखते हैं वह उससे इंकार नहीं करता बल्कि इसके विपरीत उसके लिये अनिवार्य परिस्थिति ला देता है। वह गुण, धर्म और लक्षणों में मुक्त और अनंत आत्माभिव्यक्ति को संभव बनाता है। गुण है सचेतन सत्ता की शक्ति की एक विशेषता या हम कह सकते हैं कि सत्ता की चेतना, अपने अंदर जो है उसे प्रकट करते हुए, वह जिस शक्ति को बाहर लाती है उस पर एक स्वाभाविक मुहर लगा देती है जिससे वह पहचानी जा सके और उसे ही हम गुण या चरित्र कहते हैं। गुण के रूप में साहस सत्ता की इसी तरह की शक्ति है, वह मेरी चेतना का ऐसा विशिष्ट चरित्र है जो मेरी सत्ता की रूपायित शक्ति को अभिव्यक्त करता है और क्रिया में मेरे स्वभाव की एक निश्चित प्रकार की शक्ति को बाहर लाता या उसका सृजन करता है। इसी भांति औषध की रोग-मुक्त करने की शक्ति उसका गुण है, सत्ता की एक विशेष शक्ति उस वनस्पति या खनिज के लिये सहज होती है जिसमें से वह बनायी जाती है और यह विशेषता सत्य-संकल्प द्वारा निर्धारित होती है और वनस्पति या खनिज में रहनेवाली अंतर्निहित चेतना में छिपी रहती है। भाव उसमें उस चीज को बाहर निकाल लाता है जो उसकी अभिव्यक्ति की जड़ में थी और अब उसकी सत्ता की शक्ति के रूप में समर्थ बन कर बाहर आयी है। सभी गुण, धर्म और लक्षण सचेतन सत्ता की ऐसी शक्तियां हैं जिन्हें निरपेक्ष अपने अंदर से यूं बाहर निकालता है। उसके अंदर सब कुछ है, उसके अंदर सब कुछ प्रकट करने की स्वतंत्र शक्ति है।[1] किंतु हम निरपेक्ष की परिभाषा करते हुए यह नहीं कह सकते कि वह साहस का गुण या नीरोग करने की शक्ति है। हम यह भी नहीं कह सकते कि ये निरपेक्ष के विशेष लक्षण हैं और न हम गुणों की समष्टि बनाकर ही यह कह सकते हैं कि 'यह निरपेक्ष है'। लेकिन हम निरपेक्ष के बारे में यह भी नहीं कह सकते कि निरपेक्ष शुद्ध रिक्तता है जो इन चीजों को अभिव्यक्त करने में असमर्थ है। इसके विपरीत उसमें सब क्षमताएं हैं। सभी गुणों और धर्मों की शक्तियां

[1] संस्कृत शब्द 'सृष्टि' का अर्थ है, जो सत्ता के अंदर है उसे मुक्त या प्रकट करना।

उसके अंदर अंतर्निहित हैं। मन कठिनाई में होता है क्योंकि उसे कहना पड़ता है, "निरपेक्ष या अनंत इनमें से कोई चीज नहीं है। ये चीजें निरपेक्ष या अनंत नहीं हैं" और साथ ही उसे कहना होता है, "निरपेक्ष यह सब कुछ है, ये चीजें तत् से भिन्न कुछ नहीं हैं क्योंकि तत् एकमात्र सत्ता और सर्वसत्ता है।" यहां यह स्पष्ट है कि विचार-धारणा और शाब्दिक अभिव्यक्ति की यह अनुचित सीमितता इस कठिनाई को पैदा करती है परंतु वास्तव में कोई कठिनाई है नहीं। क्योंकि यह तो स्पष्ट ही है कि यह कहना बेतुकापन होगा कि निरपेक्ष साहस है या नीरोग करने की शक्ति है या यह कि साहस और नीरोग करने की शक्ति निरपेक्ष है। साथ ही यह कहना भी उतना ही बेतुका होगा कि वह निरपेक्ष अपनी अभिव्यक्ति में साहस या नीरोग करने की शक्ति को आत्माभिव्यक्ति में प्रकट नहीं कर सकता। जब सांत का तर्क हमें निराश कर देता है तो हमें प्रत्यक्ष और सीमारहित दृष्टि से देखना होगा कि अनंत के तर्क के पीछे क्या है ? तब हम यह अनुभव कर सकते हैं कि अनंत गुण, धर्म और शक्ति में अनंत है लेकिन गुण, धर्म और शक्तियों का कोई भी कुल योग अनंत की व्याख्या नहीं कर सकता।

हम देखते हैं कि निरपेक्ष, आत्मा, भगवान्, आध्यात्म सत्ता, सत् केवल एक है, परात्पर एक है, वैश्व एक है लेकिन हम यह भी देखते हैं कि सत्ताएं अनेक हैं और हर एक में अपनी एक आत्मा है, एक आध्यात्म सत्ता है, एक-सी फिर भी अलग प्रकृति है। और चूंकि आत्मा और सत्ता का सार एक है इसलिये हम यह मानने के लिये बाधित होते हैं कि ये बहुत सारे बहु भी वह एकमेव ही होंगे, इसका मतलब होता है कि एकमेव ही बहु है या बहु बन गया है। लेकिन सीमित और सापेक्ष निरपेक्ष कैसे हो सकता है ? मनुष्य या पशु या पक्षी दिव्य सत्ता कैसे हो सकते हैं ? लेकिन इस प्रतीयमान विरोध को खड़ा करने में मन दोहरी भूल करता है। वह गणितीय भाषा में सांत इकाई की बात सोचता है जो सीमा में ही एक है, ऐसा एक है जो दो से कम है और केवल विभाजन और खंडन के द्वारा या फिर जोड़ या गुणा के द्वारा ही दो बन सकता है; परंतु यह अनंत इकाई है, यह सारभूत और अनंत इकाई है जिसमें सौ, हजार, लाख, करोड़, अरब भी समा सकते हैं। ज्योतिष की या ज्योतिष से परे की जितनी भी राशियों के ढेर लगाये जायें या उनका गुणन किया जाये वे कभी इस इकाई के परे नहीं जा सकते, इससे बढ़ नहीं सकते क्योंकि उपनिषद् की भाषा में 'वह' चलता नहीं है लेकिन उसका पीछा किया जाये और उसे पकड़ने की कोशिश की जाये तो वह हमेशा आगे, दूर, बहुत दूर रहेगा। उसके बारे में कहा जा सकता है कि अगर उसमें अनंत बहुलता की क्षमता न हो तो वह अनंत इकाई न रहेगा। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि 'एक' बहु है या उसे सीमित किया जा सकता है या यह कहा जा सकता है कि वह कइयों का कुल-योग है। इसके विपरीत वह अनंत बहु हो सकता है क्योंकि वह बहुत्व के सभी

सीमांकनों या वर्णन के परे जाता है और साथ-ही-साथ सांत धारणात्मक एकत्व के सभी सीमाबंधनों के भी परे है। बहुत्ववाद एक भूल है क्योंकि यद्यपि आध्यात्मिक बहुत्व तो है परंतु अनेक आत्माएं आश्रित हैं और अन्योन्याश्रित सत्ताएं हैं, उनका कुल-योग भी 'एक' नहीं है न ही वह वैश्व समग्रता है। वे एक पर आश्रित हैं और उसके एकत्व के कारण ही बनी हुई हैं। फिर भी बहुत्व अवास्तविक नहीं है। एकमेव अंतरात्मा व्यष्टिगत रूप में इन बहु अंतरात्माओं में निवास करती है और वे इस एक में शाश्वत हैं और उस शाश्वत एक के सहारे शाश्वत हैं। मानसिक बुद्धि के लिये यह कठिन है, वह अनंत और सांत के बीच विरोध खड़ा करती है और सान्तता को बहुत्व के साथ और अनंतता को एकत्व के साथ जोड़ती है लेकिन अनंत के तर्क में ऐसा कोई विरोध नहीं है और एक में बहु की शाश्वतता बिलकुल पूरी तरह स्वाभाविक और संभव है।

फिर हम देखते हैं कि आध्यात्मिक सत्ता की एक अनंत शुद्ध स्थिति और निश्चल नीरवता है। साथ ही हम यह भी देखते हैं कि आध्यात्म सत्ता की एक सीमाहीन गति है, एक शक्ति है, अनंत का एक क्रियाशील आध्यात्मिक, सबको धारण करनेवाला आत्म-प्रसार है। हमारी धारणाएं इस प्रत्यक्ष दर्शन पर अपने-आपको थोप देती हैं। इन दोनों का अनुभव अपने-आपमें प्रामाणिक और यथार्थ है फिर भी हमारी धारणाएं एक ओर निश्चल नीरवता और स्थिति, दूसरी ओर क्रियात्मकता और गति, इन अनुभवों के बीच एक विरोध खड़ा कर देती हैं लेकिन अनंत की बुद्धि या उसके तर्क के लिये ऐसा कोई विरोध नहीं हो सकता। केवल नीरव और निश्चल अनंत, अनंत शक्ति, गतिशीलता और ऊर्जा के बिना अनंत को एक पक्ष के प्रत्यक्ष दर्शन से बढ़कर नहीं माना जा सकता; शक्तिहीन निरपेक्ष, सामर्थ्यहीन आध्यात्म सत्ता के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता। अनंत की क्रियाशक्ति होनी चाहिये अनंत ऊर्जा, निरपेक्ष की शक्ति होनी चाहिये सर्वशक्ति, आध्यात्म सत्ता की शक्ति होनी चाहिये असीम शक्ति, लेकिन नीरवता और स्थिति गति के आधार हैं, शाश्वत निश्चलता अनंत गतिशीलता के लिये आवश्यक परिस्थिति, क्षेत्र, यहांतक कि उसका सार भी है। स्थिर सत्ता सत्ता की शक्ति की विशाल क्रिया के लिये परिस्थिति और आधार है। जब हम इस नीरवता, स्थिरता और निश्चलता पर आ पहुंचते हैं तब उसपर एक ऐसी शक्ति और ऊर्जा की नींव रख सकते हैं जो हमारी ऊपरी चंचल स्थिति में अकल्पनीय होगी। हम जो विरोध खड़ा करते हैं वह मानसिक और धारणात्मक है। वास्तव में ब्रह्म की निश्चल नीरवता और ब्रह्म की गतिशीलता एक दूसरे के पूरक सत्य हैं और उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। अक्षर और निश्चल नीरव ब्रह्म अपनी अनंत ऊर्जा को अपने अंदर निश्चल और नीरव रूप से धारण किये रह सकता है क्योंकि वह अपनी शक्तियों से बंधा नहीं है, उनके अधीन या उनका उपकरण नहीं है बल्कि वह उनपर

अधिकार रखता है, उन्हें मुक्त करता है, वह शाश्वत और अनंत क्रिया करने में सक्षम है, थकता नहीं, उसे रुकने की जरूरत नहीं होती। फिर भी सारे समय उसकी नीरव निश्चलता, जो उसकी क्रिया और गति में अंतर्निहित होती है, क्षण भर के लिये भी उसकी क्रिया या गति के कारण न तो हिलती-डुलती है न क्षुब्ध होती या बदलती है। प्रकृति की सभी आवाजों और क्रियाओं के स्वभाव में ब्रह्म की साक्षी नीरवता विद्यमान रहती है। हमारे लिये यह समझना कठिन हो सकता है क्योंकि दोनों दिशाओं में हमारी सतही सांत क्षमता सीमित होती है और हमारी धारणाएं हमारी सीमाओं पर आधारित हैं। लेकिन यह देखना आसान होना चाहिये कि ये सापेक्ष और सांत धारणाएं निरपेक्ष और अनंत पर लागू नहीं होतीं।

अनंत के बारे में हमारी धारणा यह है कि वह अरूप है लेकिन जहां नजर डालते हैं हर जगह रूप ही रूप हमें घेरे हुए दीखते हैं। दिव्य पुरुष के बारे में यह प्रतिपादित किया जा सकता है और किया जाता है कि वह एक ही साथ रूप और अरूप है। यहां भी प्रतीयमान विरोध किसी वास्तविक विरोध के अनुरूप नहीं है। अरूप रूपायन की शक्ति का खंडन नहीं है बल्कि अनंत के मुक्त रूपायन की शर्त है, अन्यथा सांत विश्व में केवल एक ही रूप होता या संभव रूपों का नियत निर्धारण या कुल-योग होता। अरूपता सद्वस्तु के आध्यात्मिक सार का, अध्यात्म वस्तु का धर्म होती है। सभी सांत वास्तविकताएं उसी वस्तु की शक्तियां, रूप और आत्म-रूपायन हैं। भगवान् अरूप और अनाम हैं लेकिन इसी कारण सत्ता के सभी संभव नामों और रूपों को अभिव्यक्त करने में सक्षम हैं। रूप अभिव्यक्तियां हैं, न कि शून्य में से किये गये मनमाने आविष्कार, क्योंकि रेखा और रंग, राशि और रूपांकन, जो रूप के अनिवार्य अंग हैं, हमेशा अपने अंदर एक अर्थ रखते हैं और कहा जा सकता है कि वे एक अदृश्य सद्वस्तु के दिखायी देनेवाले गुप्त मूल्य और अर्थ हैं, इसी कारण आकृति, रेखा, रंग, राशि और संघटन उसे मूर्त कर सकते हैं जो अन्यथा अदृष्ट ही रह जाता, उसका बोध करा सकते हैं जो अन्यथा इन्द्रियों के लिये अगोचर रहता। रूप को अरूप का अंतर्जात शरीर, अनिवार्य आत्म-प्रकटन कहा जा सकता है और यह बात केवल बाहरी आकारों के बारे में ही नहीं बल्कि मन और प्राण के उन अदृश्य रूपायनों के बारे में भी ठीक है जिन्हें हम केवल अपने विचार द्वारा ही पकड़ सकते हैं और उन इन्द्रियग्राह्य रूपों के संबंध में भी यह सच है जिनकी अभिज्ञता केवल आंतरिक चेतना की सूक्ष्म पकड़ को ही हो सकती है। नाम, अपने गहरे अर्थ में वह शब्द नहीं है जिससे हम किसी चीज का वर्णन करते हैं बल्कि वह सद्वस्तु की शक्ति, गुण और प्रकृति का कुल-योग है जिसे वस्तुओं का रूप मूर्तिमान करता है और जिसे हम एक निर्देशक ध्वनि में, एक ज्ञेय नाम में इकट्ठा करने का प्रयत्न करते हैं। इस अर्थ में हम कह सकते हैं कि नाम है नामेन (या लैटिन का न्यूमेन)। न्यूमेन या देवों के गुप्त नाम उनकी शक्ति,

गुण, प्रकृति हैं जिन्हें चेतना पकड़ सकती है और कल्पना में आने लायक बना सकती है। अनंत अनाम है लेकिन उस नामहीनता में सभी संभव नाम, देवों के 'न्यूमेन', सभी वास्तविकताओं के नाम और रूप पहले से ही देखे और कल्पित किये जा चुके हैं क्योंकि वे वहां सर्व-सत् में गुप्त और अंतर्निहित हैं।

इन विचारों से यह स्पष्ट होता है कि सांत और अनंत का सह अस्तित्व, जो वैश्व सत्ता का अपना स्वभाव ही है, वह दो विरोधों का एक सान्निध्य या पारस्परिक समावेशन नहीं है बल्कि उतना ही स्वाभाविक और अनिवार्य है जैसे प्रकाश और अग्नि के तत्त्वों का सूर्यों के साथ संबंध। सांत अनंत का सामने का पक्ष और आत्मनिर्धारण है। कोई सांत अपने-आपमें या अपने ही द्वारा अस्तित्व नहीं रख सकता। वह अनंत के द्वारा अस्तित्व रखता है, क्योंकि वह सार रूप में अनंत के साथ एक है, क्योंकि अनंत से हमारा मतलब केवल देश और काल में असीम आत्म-प्रसारण नहीं बल्कि किसी ऐसी चीज से है जो देशातीत, कालातीत है, जो स्वयंभू, अनिर्वचनीय, असीम है, जो अत्यणु में भी, बृहत् में भी, काल के एक निमिष में, देश के एक बिंदु में, गुजरती हुई परिस्थिति में भी अपने-आपको व्यक्त कर सकती है। सांत को अविभाज्य के एक विभाजन के रूप में देखा जाता है लेकिन ऐसी कोई चीज है नहीं क्योंकि यह विभाजन केवल ऊपर से दिखायी देता है, एक सीमांकन तो है पर सचमुच कोई अलगाव संभव नहीं है। जब हम भौतिक आंख से नहीं, आंतरिक दृष्टि और अंतरिन्द्रिय से एक पेड़ या किसी और चीज को देखते हैं तो हम जिस चीज के बारे में अभिज्ञ होते हैं वह है एक अनंत एकमेव सद्वस्तु जिससे पेड़ या वस्तु का निर्माण हुआ है, वह उसके हर अणु-परमाणु में व्याप्त होती है, अपने अंदर से उनका निर्माण करती है, समस्त प्रकृति को बनाती है, संभवन की प्रक्रिया, भीतर निवास करनेवाली ऊर्जा की क्रिया; ये सब वह स्वयं हैं, ये सब अनंत हैं, यह सद्वस्तु है। हम उसे अविभाज्य रूप से फैलते और सभी वस्तुओं को जोड़ते हुए देखते हैं ताकि कोई भी चीज सचमुच उससे अलग न रह जाये या और चीजों से पूरी तरह अलग न हो। गीता का कहना है, "वह सत्ताओं में अविभक्त है फिर भी मानों विभक्त है" इस तरह हर एक वस्तु वह अनंत है और अन्य सब वस्तुओं के साथ तात्त्विक सत्ता में एक है जो वस्तुएं अनंत के रूप, नाम, शक्तियां और न्यूमेन हैं।

सभी विभाजनों और विभिन्नताओं में रहनेवाली, किसी तरह न दबाई जा सकनेवाली एकता ही अनंत का गणित है जिसका संकेत उपनिषद् ने यूं दिया है: "*पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।*" यह पूर्ण है और वह पूर्ण है, पूर्ण में से पूर्ण को घटाने से पूर्ण बाकी रहता है। सद्वस्तु के अनंत आत्मगुणन के बारे में भी यही कहा जा सकता है कि सभी चीजें वही आत्मगुणन हैं। वह एक बहु हो जाता है, लेकिन ये सब बहु वह तत् है जो पहले

भी आत्म-स्वरूप था और सदा ही है और बहु होता हुआ भी वही एक रहता है। सांत के प्रकट होने से उस एक का विभाजन नहीं होता क्योंकि वह एक अनंत ही हमें बहु सांत मालूम होता है। सृष्टि अनंत में कुछ नहीं जोड़ती। वह सृष्टि के बाद भी वही रहता है जो सृष्टि से पहले था। अनंत वस्तुओं का कुलयोग नहीं है, तत् ही सब कुछ है और उससे भी अधिक। अगर अनंत का यह तर्क हमारे सांत तर्क की धारणाओं का विरोध करता है तो इसलिये कि वह उससे आगे बढ़ जाता है और अपना आधार सीमित प्रपंच की दी हुई सामग्री पर नहीं खड़ा करता बल्कि सद्वस्तु को आलिंगन में लेकर सद्वस्तु के सत्य में सभी प्रपंचों के सत्य को देखता है। वह उन्हें अलग-अलग सत्ताओं, गतियों, नामों, रूपों, वस्तुओं के रूप में नहीं देखता क्योंकि वे ऐसी नहीं हो सकतीं। वे ऐसी तभी हो सकतीं अगर वे शून्य में स्थित प्रपंच होतीं, ऐसी चीजें होतीं जिनका कोई सामान्य आधार या सारतत्त्व नहीं होता, जिनका आधार में कोई संबंध न होता, उनका संबंध केवल सह-अस्तित्व और व्यावहारिक संबंध होता, वे ऐसी वास्तविकताएं न होतीं जो अपनी एकता की जड़ के आधार पर जीती हैं। जहांतक उन्हें स्वतंत्र समझा जा सकता है, अपनी बाहरी या भीतरी आकृति और गति की उस स्वतंत्रता में अपने जनक अनंत पर सतत आश्रित रहने के कारण ही, उस एकमेव अभिन्न के साथ अपने गुप्त तादात्म्य के कारण ही वे सुरक्षित रहती हैं। वह अभिन्न उनका मूल, उनके रूप का कारण, उनकी विभिन्न शक्तियों की मात्र एक शक्ति और उनका उपादान द्रव्य है।

वह अभिन्न हमारे विचारों के अनुसार अक्षर है। वह शाश्वत काल से सदा एकरूप रहता है क्योंकि अगर वह परिवर्तन के आधीन हो या हो जाये या भेदों को स्वीकार कर ले तो वह अभिन्न न रहेगा; लेकिन हम चारों ओर जो देखते हैं वह है अनंत प्रकार से परिवर्तनशील मूलभूत एकत्व। ऐसा लगता है कि यही प्रकृति का मूल तत्त्व है। आधारभूत शक्ति एक है लेकिन वह अपने अंदर से असंख्य शक्तियां अभिव्यक्त करती है, आधारभूत द्रव्य एक है लेकिन वह बहुत से अलग-अलग द्रव्य और लाखों, करोड़ों असदृश पदार्थों को विकसित करता है। मन एक है परंतु बहुत-सी मानसिक अवस्थाओं में, मानसिक रचनाओं, विचारों और दृष्टियों में अपने-आपको अलग-अलग कर लेता है जो एक-दूसरे से अलग होते, सामंजस्य या संघर्ष करते रहते हैं। प्राण एक है परंतु प्राण के रूप असदृश और अनगिनत हैं। स्वभाव में मानवजाति एक है लेकिन उसमें बहुत-से जाति-प्ररूप हैं, हर व्यष्टिरूप मनुष्य अपने-आपमें अलग है और किसी-न-किसी तरह औरों से असदृश है। प्रकृति एक ही पेड़ की पत्तियों पर भिन्नता की लकीरें आंकने का आग्रह करती है। वह इन भेदों को इतनी दूरतक ले गयी है कि यह पाया गया है कि एक आदमी के अंगूठे की लकीरें हर दूसरे आदमी के अंगूठे की लकीरों से भिन्न होती हैं। इस कारण वह उस भेद के कारण ही पहचाना जा सकता है—फिर

भी आधारभूत रूप में सब आदमी एक-से हैं, उनमें कोई मूलभूत भिन्नता नहीं है। एकता या समानता सब जगह है। अंदर निवास करनेवाली सद्वस्तु ने विश्व की रचना एक बीज के लाखों भिन्न प्रकार के विकास के सिद्धांत के आधार पर की है। लेकिन फिर यह भी अनंत का तर्क है : चूंकि सद्वस्तु का सार तत्त्व अक्षर रूप से वह का वही है इसलिये वह सुरक्षित रूप से रूप, लक्षण और गति के अनगिनत भेदों को अपना सकता है, यहांतक कि अगर वे अरबों गुणा भी बढ़ जायें तो भी उससे उनके नीचे स्थित शाश्वत 'अभिन्न' की अक्षरता में कोई फर्क न पड़ेगा क्योंकि आत्मा और आध्यात्म सत्ता सब जगह वस्तुओं और सत्ताओं में एक ही है इसलिये प्रकृति अनंत विभेदों की यह विलासिता कर सकती है। अगर यह सुरक्षित आधार न होता जिसके कारण सब कुछ बदलते हुए कुछ भी नहीं बदलता तो इस लीला में प्रकृति की सभी क्रियाएं और सृजन छिन्न-भिन्न होकर अस्त-व्यस्तता में ढह जाते। ऐसी कोई चीज न रहती जो उसकी विसंगत गतियों और रचनाओं को इकट्ठा रख सकती। अभिन्न की अक्षरता विचित्रता में असमर्थ अपरिवर्तनशील एकरूपता की एकस्वरता में नहीं बल्कि सत्ता की ऐसी अपरिवर्तनशीलता में है जो सत्ता के अनंत रूपायनों में समर्थ है लेकिन कोई भी विभेद जिसे नष्ट या विकल नहीं कर सकता, उसमें ह्रास नहीं ला सकता। आत्मा ही कीट-पतंग, पक्षी, पशु और मनुष्य बन जाती है लेकिन इन सब परिवर्तनों में आत्मा वह की वही रहती है क्योंकि यह वही एक है जो हमेशा अपने-आपको अनंत रूप से अंतहीन विभिन्नता में व्यक्त करता है। हमारी सतही बुद्धि यह मानने को प्रवृत्त होती है कि विभिन्नता अवास्तविक है, केवल एक आभास है, लेकिन अगर हम जरा गहराई में देखें तो हमें पता चलेगा कि वास्तविक विभिन्नता ही वास्तविक ऐक्य को बाहर लाती है, उसे मानों अपनी अधिकतम क्षमता में दिखलाती है, वह जो कुछ हो सकती है और अपने-आपमें है उसे प्रकट करती है, उसके रंग की सफेदी में जो अनेक रंग-छटाएं घुली-मिली हैं उन्हें मुक्त करती है, एकत्व अपने-आपको उसमें अनंत रूप से पाता है जो हमें उसका एकत्व से दूर जा गिरना लगता है परंतु यह वास्तव में ऐक्य का अक्षय विभिन्नता-प्रदर्शन है। यह विश्व का चमत्कार, उसकी माया है फिर भी अनंत की आत्म-दृष्टि और आत्मानुभूति के लिये पूरी तरह तर्क संगत और स्वाभाविक रूप से सामान्य है।

क्योंकि ब्रह्म की माया एक ही साथ अनंत रूप से परिवर्तनशील ऐक्य का जादू और उसका तर्कविधान है। वस्तुतः अगर सीमित एकत्व और एकसमानता की केवल एक कठोर एकस्वरता ही होती तो बौद्धिक युक्ति और तर्क के लिये कोई जगह न रहती क्योंकि तर्क का काम है संबंधों को ठीक-ठीक रूप में देखना; बौद्धिक युक्ति का उच्चतम कार्य है उस एक उपादान, एक नियम, उस जोड़नेवाली गुप्त वास्तविकता का पता लगाना जो बहु, विभिन्न, विसंवादी और विषम को

मिलाती और एक करती है। समस्त विश्व-सत्ता इन्हीं दो छोरों के बीच घूमती है—एक का विविध रूप लेना और बहु तथा विविध का एक होना, और ऐसा अवश्य ही इस कारण होता है क्योंकि एक और बहु अनंत के आधारभूत पक्ष हैं। क्योंकि दिव्य आत्म-ज्ञान और सर्वज्ञान अपनी अभिव्यक्ति में जो कुछ प्रकट करता है वह उसकी सत्ता का सत्य ही होगा और उस सत्य का खेल ही उसकी लीला है।

तो यही ब्रह्म की वैश्व सत्ता की रीति का न्याय है और यही माया की अनंत प्रज्ञा, अनंत बुद्धि की आधारभूत क्रिया है। जैसा ब्रह्म की सत्ता के साथ है वैसा ही उसकी चेतना, माया के साथ भी है। वह अपने किसी सांत प्रतिबंध या किसी एक स्थिति से या अपने किसी क्रिया-विधान से बंधी नहीं है। वह एक ही साथ बहुत-सी चीजें हो सकती है, उसकी बहुत-सी समन्वित क्रियाएं हो सकती हैं जो सांत बुद्धि को परस्पर विरोधी लगें, वह है तो एक पर है अनगिनत रूप से बहुविध, अनंत रूप से नमनशील, अक्षयरूप से अनुकूलनशील। माया शाश्वत और अनंत की परम और वैश्व चेतना और शक्ति है। अपने स्वभाव से ही निर्बंध और असीम होने के नाते वह एक ही समय चेतना के बहुत-से स्तर, शक्ति के बहुत-से विन्यास प्रकट कर सकती है और यह करते हुए भी सदा वही चित्-शक्ति बनी रहती है। वह एक साथ ही परात्पर, वैश्व और व्यष्टि है। वह परम अति वैश्व सत्ता है जो अपने बारे में सर्व-सत्ता के रूप में, वैश्व आत्मा के रूप में, वैश्व प्रकृति की चित्-शक्ति के रूप में अभिज्ञ है और साथ ही सभी सत्ताओं में अपने-आपको व्यष्टिगत सत्ता और चेतना के रूप में भी अनुभव करती है। व्यष्टिगत चेतना अपने-आपको सीमित और पृथक् रूप में देख सकती है लेकिन अपनी सीमाओं को अलग करके अपने-आपको वैश्व और विश्व से भी परात्पर रूप में देख सकती है। यह इसलिये कि इन सभी अवस्थाओं और स्थितियों में या इनके नीचे वही त्रिक चेतना त्रिविध अवस्था में रहती है। अतः इस एक को अपने-आपको तीन रूपों में देखने या अनुभव करने में कोई कठिनाई नहीं होती फिर चाहे वह ऊपर से परात्पर सत्ता में देखे या बीच में से वैश्व आत्मा में या नीचे से चेतन व्यष्टि-सत्ता में, इस सबको स्वाभाविक तर्कसंगत रूप में स्वीकार करने के लिये यह मानना जरूरी है कि एकमेव सत्ता की चेतना के भिन्न-भिन्न वास्तविक स्तर हो सकते हैं और वैसा होना उस सत् के लिये असंभव नहीं है जो मुक्त और अनंत है और जिसे किसी एक अवस्था के साथ बांधा नहीं जा सकता। जो चेतना अनंत है उसके लिये अपने अनंत विभेद करने की शक्ति स्वाभाविक होगी। अगर चेतना की बहुविध स्थिति की संभावना को स्वीकार कर लिया जाये तो स्थिति की विभिन्नताओं पर कोई सीमा नहीं लगायी जा सकती बशर्ते कि वह एक उन सबमें एक साथ अपने बारे में अभिज्ञ हो क्योंकि उस एक और अनंत को इस तरह वैश्व रूप में सचेतन होना

चाहिये। हमारी जैसी सीमित या निर्मित चेतना की अवस्था और अज्ञान की अवस्था के साथ अनंत आत्मज्ञान और सर्व-ज्ञान के संबंध को समझना ही एकमात्र कठिनाई है जिसे और अधिक सोच-विचार से हल किया जा सकता है।

अनंत चेतना की जिस दूसरी संभावना को मानना होगा वह है उसकी अपने-आपको सीमित करने की शक्ति या समग्र असीम चेतना और ज्ञान के अंदर एक गौण गति में आनुषंगिक आत्म-रूप बनाने की शक्ति क्योंकि यह अनंत की आत्म-निर्देशन की शक्ति का एक आवश्यक परिणाम है। आत्म-सत्ता के हर एक आत्म-निर्देशन में अपने आत्म-सत्य और आत्म-प्रकृति की अभिज्ञता होनी चाहिये या अगर हम यूं कहना ज्यादा पसंद करें तो उस निर्देशन में सत् को इस तरह से आत्म-अभिज्ञ होना चाहिये। आध्यात्मिक व्यक्तित्व का अर्थ यह है कि हर व्यष्टिगत जीव या आत्मा आत्म-दर्शन और सर्व-दर्शन का केन्द्र हो और इस अंतर्दर्शन की परिधि—असीम परिधि, जैसा कि हम कह सकते हैं—सभी के लिये एक ही हो सकती है परंतु केन्द्र भिन्न हो सकते हैं—किसी स्थानिक वृत्त के अंदर स्थानिक बिंदु के रूप में स्थित केन्द्र की तरह नहीं बल्कि अंतश्चेतना के एक केन्द्र की तरह जो विश्व सत्ता में विविध रूपों में सचेतन रहनेवाले बहु के सह अस्तित्व द्वारा औरों के साथ संबंध रखेगा। किसी लोक में हर सत्ता उसी लोक को देखेगी परंतु देखेगी अपनी आत्म-सत्ता से और अपनी ही आत्म-प्रकृति के तरीके से क्योंकि हर एक अनंत का अपना सत्य अभिव्यक्त करेगी, उसका अपना आत्म-निर्देशन का तरीका होगा और वैश्व निर्देशन से मिलने का भी अपना तरीका होगा। निःसंदेह विभिन्नता में एकता के नियम के अनुसार उसकी दृष्टि मूल रूप से वही होगी जो औरों की होगी लेकिन फिर भी वह अपना ही विभेदन विकसित करेगी—जैसा कि हम देखते हैं कि सभी मानव सत्ताएं समान वैश्व वस्तुओं के बारे में एक ही मानव ढंग से सचेतन होती हैं लेकिन हमेशा व्यष्टिगत भेद के साथ। यह आत्म-सीमांकन आधारभूत नहीं होगा बल्कि सर्वसामान्य विश्वात्मकता या समग्रता का व्यष्टिगत विशिष्टीकरण होगा। आध्यात्मिक व्यक्ति एक सत्य के अपने केन्द्र से और अपनी आत्म-प्रकृति के अनुसार काम करेगा लेकिन एक सामान्य आधार पर अन्य आत्मा या अन्य प्रकृति की ओर से अंधा हुए बिना। वह ऐसी चेतना होगी जो पूर्ण ज्ञान के साथ अपनी क्रिया को सीमित करती है, कोई अज्ञान की क्रिया नहीं। लेकिन व्यष्टि भाव देनेवाले इस आत्म-सीमांकन के सिवा अनंत की चेतना में एक वैश्व सीमांकन की शक्ति भी होनी चाहिये, उसे इस योग्य होना चाहिये कि वह अपनी क्रिया को इस तरह सीमित कर सके कि किसी प्रदत्त जगत् या विश्व को अपनी व्यवस्था, सामंजस्य और आत्म-निर्माण पर आधारित और अपनी देख-रेख में रख सके क्योंकि किसी विश्व का सृजन यह जरूरी बना देता है कि अनंत चेतन में यह दृढ़ निश्चय हो कि वह उस जगत् की अध्यक्षता करे और ऐसी सब चीजों को रोके

रखे जिनकी उस गति में जरूरत नहीं है। इसी भांति मन, प्राण या जड़ तत्त्व जैसी किसी शक्ति की स्वतंत्र क्रिया को सामने लाने के लिये अपने समर्थन के तौर पर उसी प्रकार के आत्म-सीमांकन के तत्त्व का होना जरूरी है। यह नहीं कहा जा सकता कि अनंत के लिये इस प्रकार की गति असंभव है क्योंकि वह असीम है, इसके विपरीत यह उसकी अनेक शक्तियों में से एक होनी चाहिये क्योंकि उसकी शक्तियों की भी कोई सीमा नहीं, लेकिन अन्य आत्म-निर्धारणों, अन्य सांत रचनाओं की तरह अलगाव या वास्तविक विभाजन न होगा क्योंकि समस्त अनंत चेतना उसके चारों ओर और पीछे उसे अवलम्ब देती रहेगी और वह विशेष गति भी अंदर से केवल अपने बारे में ही नहीं बल्कि तत्त्वतः उस सबके बारे में भी जो उसके पीछे है, सचेतन होगी। अनंत की समग्र चेतना में अनिवार्य रूप से ऐसा ही होगा लेकिन हम यह भी मान सकते हैं कि इस तरह की सक्रिय नहीं बल्कि अपने-आपको सीमांकित करती हुई परंतु अविभाज्य आंतरिक अभिज्ञता सांत की गति की समग्र आत्म-चेतना में भी होगी। स्पष्टतः अनंत के लिये इतना वैश्व या व्यष्टिगत सचेतन आत्म-सीमांकन संभव होगा और उसे विशालतर बुद्धि आध्यात्मिक संभावनाओं में से एक के रूप में स्वीकार कर सकती है, लेकिन इस आधार पर अभीतक कोई विभाजन या अज्ञान-भरा अलगाव या बाधित करने या अंधा कर देनेवाला सीमांकन, जैसा कि हमारी चेतना में दिखायी देता है, अनुत्तरदायित्वपूर्ण होगा।

लेकिन अनंत चेतना की एक तीसरी शक्ति या संभावना को स्वीकार किया जा सकता है, वह है आत्मलीनता की, स्वयं अपने अंदर डुबकी लगाने की शक्ति, एक ऐसी स्थिति में डुबकी लगाने की जहां आत्म-अभिज्ञता तो होती है लेकिन ज्ञान या सर्वज्ञान के रूप में नहीं। तब सर्वशुद्ध आत्म-अभिज्ञता में अंतर्लीन होगा और ज्ञान और स्वयं आंतरिक शुद्ध सत् में खोये हुए रहेंगे। यह प्रकाशमय रूप में, वह अवस्था है जिसे हम संपूर्ण भाव में अतिचेतन कहते हैं—हालांकि जिसे हम अतिचेतन कहते हैं उसका अधिकतर भाग सचमुच यह नहीं है। बल्कि वह केवल एक उच्चतर चेतना है, कोई ऐसी चीज है जो आत्म-सचेतन है और केवल हमारी सीमित अभिज्ञता के स्तर के लिये ही अतिचेतन है। फिर अनंत की यह आत्म-तल्लीनता, यह समाधि, प्रकाशमय रूप में ही नहीं, अंधकारमय रूप में भी है, यह वह अवस्था है जिसे हम निश्चेतना कहते हैं क्योंकि अनंत की सत्ता वहां विद्यमान है लेकिन अपने निश्चेतना के आभास के कारण वह हमें अनंत असत् मालूम होती है। उस प्रतीयमान असत् में अपने-आपको भूली हुई आंतरिक चेतना और शक्ति रहती है क्योंकि निश्चेतना की ऊर्जा द्वारा एक व्यवस्थित जगत् की सृष्टि होती है। उसका सृजन आत्म-विस्मृति की समाधि में होता है। शक्ति यांत्रिक रूप से अंधेपन का आभास देती हुई, मानों समाधि में कार्य करती है फिर भी अनंत के सत्य की

अनिवार्यता और शक्ति के साथ। अगर हम एक कदम आगे लें और यह मान लें कि अनंत के लिये विशेष या सीमित और एकांगी आत्म-तल्लीनता की क्रिया संभव है, ऐसी क्रिया जो हमेशा अपने अंदर असीम रूप से केन्द्रित अनंतता की क्रिया नहीं होती बल्कि किसी स्थिति विशेष या किसी वैयक्तिक या वैश्व आत्म-निर्देशन में सीमित रहती है, तो हमें उस संकेन्द्रित अवस्था या स्थिति की व्याख्या मिल जाती है जिसके द्वारा वह पृथक् रूप से अपनी सत्ता के एक पक्ष के बारे में अभिज्ञ होता है। तब एक आधारभूत दोहरी स्थिति हो सकती है, उस अवस्था जैसी जहां निर्गुण सगुण के पीछे खड़ा रहता और अपनी निजी शुद्धि और अचंचलता में लीन रहता है जब कि बाकी सबको पर्दे के पीछे रोके रखा जाता है और उसे इस स्थिति विशेष में आने नहीं दिया जाता। उसी तरह हम चेतना की उस स्थिति की व्याख्या कर सकते हैं जो सत्ता के एक क्षेत्र या उसकी एक गति के बारे में अभिज्ञ होती है जब कि बाकी सब की अभिज्ञता पीछे रोक दी जाती है या पर्दे के पीछे रहती है या फिर मानों क्रियात्मक एकाग्रता की जाग्रत् समाधि द्वारा केवल अपने निजी क्षेत्र या गति में व्यस्त रहनेवाली विशेष या सीमित अभिज्ञता से कट जाती है। अनंत चेतना की समग्रता बनी रहेगी, विलीन न होगी, फिर से प्राप्त की जा सकेगी लेकिन वह प्रत्यक्ष रूप से सक्रिय नहीं होगी। वह अपनी प्रकट समर्थता और उपस्थिति द्वारा नहीं बल्कि केवल परोक्ष रूप में, अन्तर्हित रहती हुई या सीमित अभिज्ञता को यंत्र बनाकर सक्रिय होगी। यह स्पष्ट है कि इन तीनों शक्तियों को अनंत चेतना की क्रियाशीलता के लिये संभव माना जा सकता है और वे जिन बहुत-से तरीकों से काम कर सकती हैं उनपर विचार करके हम माया के कार्यों का संधान-सूत्र पा सकते हैं।

यह हमारे मनों के द्वारा रचे गये शुद्ध चेतना, शुद्ध सत् और शुद्ध आनंद और विश्व में होनेवाली सत्, चित् और आनंद की प्रचुर क्रियाशीलता, बहुविध प्रयोग और उतार-चढ़ाव के विरोध पर आनुषंगिक रूप से प्रकाश डालता है। शुद्ध चेतना और शुद्ध सत्ता की स्थिति में हमें केवल उसीकी अभिज्ञता होती है जो सरल, अक्षर, स्वयंभू, निराकार या विषयहीन हो और हम बस उसे ही सच्चा और वास्तविक अनुभव करते हैं। दूसरी या क्रियात्मक स्थिति में हम उसकी क्रियात्मकता को पूरी तरह सच्चा और स्वाभाविक मानते हैं और यह भी सोच सकते हैं कि शुद्ध चेतना के जैसा कोई अनुभव संभव ही नहीं है। फिर भी अब यह स्पष्ट है कि अनंत चेतना के लिये निष्क्रिय और सक्रिय दोनों स्थितियां संभव हैं। ये दोनों उसकी स्थितियां हैं और वैश्व अभिज्ञता में एक साथ रह सकती हैं, एक दूसरी को देखती और उसको सहारा देती हो या उसे न देखते हुए भी अपने-आप यांत्रिक रूप में उसकी सहायता करती हो; या नीरवता और स्थिति क्रियाशीलता को भेदती हो या जैसे तली में निश्चल समुद्र अपनी सतह पर लहरों की क्रियाशीलता को फेंकता है

उसी तरह क्रियाशीलता को उछालती हो। यह भी एक कारण है जिससे हमारे लिये यह संभव होता है कि हम अपनी सत्ता की अमुक अवस्थाओं में एक ही समय में चेतना की अनेक अवस्थाओं के बारे में अभिज्ञ हो सकें। योग में सत्ता की एक ऐसी स्थिति का अनुभव होता है जिसमें हम दोहरी चेतना बन जाते हैं, एक सतह पर, छोटी, सक्रिय, अज्ञानभरी, विचारों और भावनाओं से, दुःख-सुख और सब तरह की प्रतिक्रियाओं से इधर-उधर डोलनेवाली और दूसरी भीतर, स्थिर, बृहत्, सम है, सतही सत्ता को अविचल अनासक्ति या अनुग्रह के साथ देखती है या हो सकता है उसे शांत, विस्तृत और रूपांतरित करने के लिये उसके आंदोलन पर क्रिया करती है। इसी भांति हम एक उच्चतर चेतनातक ऊपर उठ सकते हैं और अपनी सत्ता के विभिन्न भागों का अवलोकन कर सकते हैं, भीतरी, बाहरी, मानसिक, प्राणिक, भौतिक और सबके नीचे अवचेतन का, और उस उच्चतर स्थिति से इनमें से एक या दूसरे पर या सब पर क्रिया कर सकते हैं। यह भी संभव है कि हम उस ऊंचाई से या किसी भी ऊंचाई से इनमें से किसी निचली स्थिति में चले जायें और उसके सीमित प्रकाश या उसके धुंधलेपन को अपने कार्य का स्थान बना लें जब कि हमारा जो कुछ अवशिष्ट है उसे या तो अस्थायी तौरपर एक ओर कर दें या पीछे डाल दें या उसे एक संदर्भ-क्षेत्र के रूप में रखें जिससे हम अवलम्ब, स्वीकृति, प्रकाश या प्रभाव पा सकें या एक ऐसी स्थिति के रूप में जिसमें हम ऊपर चढ़ सकते या पीछे हट सकते हैं और वहां से निचली गतिविधियों का अवलोकन कर सकते हैं। या फिर हम समाधि में डुबकी लगा कर अपने अंदर जा सकते हैं और वहां सचेतन रह सकते हैं जब कि हमारी और सब बाहरी चीजें अलग रहेंगी या हम इस आंतरिक अभिज्ञता के भी परे जाकर अपने-आपको किसी ज्यादा गहरी दूसरी चेतना या किसी उच्च अतिचेतना में खो सकते हैं। एक व्यापक सम चेतना भी है जिसमें हम प्रवेश कर सकते हैं और एक आवृत्त करनेवाली दृष्टि से ही या एक और अविभाज्य सर्वव्यापक अभिज्ञता से अपने-आपको पूरी तरह देख सकते हैं। यह सब जो हमारी सतही बुद्धि को, जो केवल हमारी सीमित अज्ञान की सामान्य स्थिति और हमारी भीतरी, उच्चतर समग्र सद्वस्तु से कटी हुई गतिविधियों से ही परिचित है, अजीब, बेतुका लगता है या ऊटपटांग मालूम हो सकता है, वही अनंत की विशालतर बुद्धि और न्याय के प्रकाश में या आत्मा की, हमारे अंदर जो अध्यात्म पुरुष है जो तत्त्वतः अनंत के साथ एक है, उसकी महत्तर असीम शक्तियों के प्रवेश के कारण आसानी से समझ में आ जाता और स्वीकार करने योग्य हो जाता है।

ब्रह्म या सद्वस्तु है स्वयंभू निरपेक्ष और माया है इस स्वयंभू की चेतना और शक्ति। लेकिन विश्व के संबंध में ब्रह्म समस्त अस्तित्वों की आत्मा, वैश्व आत्मा ही नहीं बल्कि परम आत्मा के रूप में भी प्रकट होता है जो अपने विश्व-रूप से भी परे

और साथ-ही-साथ हर सत्ता में व्यष्टि-विश्वरूप भी है। तब माया को आत्मा की आत्मशक्ति के रूप में देखा जा सकता है। यह सच है कि जब हम पहले-पहल इस पक्ष से परिचित होते हैं तो यह सामान्यतः समस्त सत्ता की नीरवता या कम-से-कम ऐसी नीरवता में होता है जो ऊपरी कर्म से हाथ खींच लेती या पीछे हट जाती है। तब इस आत्मा का नीरवता में एक स्थिति के रूप में अनुभव होता है, निश्चल, अक्षर सत्ता, स्वयंभू, समस्त विश्व में व्यापक, सर्व व्यापक लेकिन क्रियाशील या सक्रिय नहीं, माया की सदा सक्रिय रहनेवाली ऊर्जा से अलग-थलग। इसी तरह हम पुरुष रूप में उससे अभिज्ञ हो सकते हैं जो प्रकृति से अलग सचेतन सत्ता है और प्रकृति के क्रिया-कलाप से दूर खड़ा रहता है। लेकिन यह एक ऐकांतिक घनता है जो अपने-आपको एक आध्यात्मिक स्थितितक ही सीमित रखती है और स्वयंभू सद्वस्तु ब्रह्म की स्वाधीनता को अपनी ही क्रिया और अभिव्यक्ति के सीमांकन द्वारा चरितार्थ करने के लिये अपनी समस्त क्रियाशीलता को उससे परे कर देती है। यह एक अनिवार्य अनुभूति है परंतु समग्र अनुभूति नहीं। क्योंकि हम देख सकते हैं कि चित्-शक्ति, वह शक्ति जो क्रिया और सृजन करती है, वह माया या ब्रह्म के सर्वज्ञान से भिन्न नहीं है। यह आत्मा की शक्ति है, प्रकृति पुरुष की क्रिया है, सचेतन सत्ता अपनी ही प्रकृति से सक्रिय है। इसलिये अंतरात्मा और जगत्-ऊर्जा का द्वैत, नीरव आत्मा और आत्मा की सृजन-शक्ति सचमुच द्वैत और अलग-अलग न होकर द्वयेक है। जैसे हम अग्नि और अग्नि की शक्ति को अलग नहीं कर सकते, उसी तरह कहा गया है कि हम दिव्य सद्वस्तु और उसकी चित्-शक्ति को अलग नहीं कर सकते। आत्मा का यह पहला अनुभव जिसमें वह घन नीरव और शुद्ध स्थाणु मालूम होती है पूर्ण सत्य नहीं है, आत्मा की अनुभूति उसके शक्ति-रूप में, विश्व-क्रिया और विश्व-सत्ता के निमित्त के रूप में भी हो सकती है। फिर भी आत्मा ब्रह्म का एक मौलिक पक्ष है जिसमें उसके निर्वैयक्तित्व पर जरा जोर होता है इसलिये आत्मा की शक्ति एक ऐसी शक्ति का आभास देती है जो यंत्रवत् काम करती है और आत्मा उसे सहारा देती है, वह उसकी क्रियाओं की साक्षी, अवलम्ब, प्रवर्तक और भोक्ता होती है परंतु एक क्षण के लिये भी उसमें अंतर्लीन नहीं होती। जैसे ही हम आत्मा के बारे में अभिज्ञ होते हैं, हम उसके शाश्वत, अजन्मे, अशरीरी रूप के बारे में सचेतन होते हैं जो अपनी क्रियाओं में फंसा नहीं होता। उसे सत्ता के रूप के अंदर अनुभव किया जा सकता है परंतु ऐसे भी अनुभव किया जा सकता है जैसे वह उसे लपेटे हुए हो, उसके ऊपर हो, ऊपर से अपने मूर्त्त विग्रह का सर्वेक्षण कर रहा हो, "अध्यक्ष"। वह सर्वव्यापक है, हर चीज में समान है और हमेशा के लिये अनंत, शुद्ध और अमूर्त है। इस आत्मा का अनुभव व्यष्टि की आत्मा, विचारक, कर्ता, भोक्ता की आत्मा के रूप में किया जा सकता है लेकिन इस तरह भी उसमें यह महत्तर स्वभाव

विद्यमान रहता है। उसकी वैयक्तिकता साथ-ही-साथ विशाल विश्वात्मकता भी होती है या आसानी से उसमें प्रवेश कर सकती है और उससे अगला कदम है शुद्ध परात्परता या पूर्णतया अनिर्वचनीय रूप से निरपेक्ष में प्रवेश। आत्मा ब्रह्म का वह पक्ष है जिसमें अंतरंग रूप से ऐसा अनुभव होता है जैसे वह एक ही साथ व्यष्टिगत, विश्वगत और विश्व से परात्पर हो। आत्मा की उपलब्धि व्यष्टिगत मुक्ति, निष्क्रिय विश्वात्मकता, और प्रकृति से परात्परता पाने के लिये सीधा और तेज रास्ता है। उसके साथ ही आत्मा की एक और उपलब्धि होती है जिसमें यह लगता है कि वह केवल सब चीजों को सहारा ही नहीं दे रही, सबमें व्यापक और सबको लपेटे हुए ही नहीं है बल्कि हर चीज का उपादान है और प्रकृति में अपनी सभी संभूतियों के साथ एक स्वतंत्र तादात्म्य में एकात्म है। फिर भी स्वाधीनता और निर्वैयक्तिकता हमेशा आत्मा का नित्य स्वभाव होती हैं। जैसे पुरुष प्रकृति के आधीन मालूम होता है वैसे आत्मा विश्व में अपनी ही शक्ति की क्रियाओं के आधीन नहीं मालूम होती। आत्मा की उपलब्धि का अर्थ है आत्मा की शाश्वत स्वाधीनता की उपलब्धि।

सचेतन सत्ता यानी पुरुष आत्मा है, इस रूप में वह प्रकृति के रूपों और कर्मों का प्रवर्तक, साक्षी, अवलम्ब, स्वामी और भोक्ता है। जैसे आत्मा का स्वरूप अपने मूल स्वभाव में व्यष्टिगत और वैश्व संभूतियों में अंतर्लीन और एकात्म होने के बावजूद परात्पर रहता है इसी तरह पुरुष स्वरूप भी स्वभावतः वैश्व-व्यष्टिगत है और प्रकृति से अलग होते हुए भी उसके साथ घनिष्ठ रूप से संबद्ध होता है। क्योंकि यह सचेतन आत्मा अपनी निर्वैयक्तिकता और शाश्वतता को, अपने वैश्व भाव को बनाये रखते हुए भी एक ज्यादा व्यष्टिगत रूप[1] धारण करता है। वह प्रकृति के अंदर की निर्व्यक्तिक-सव्यक्तिक सत्ता है, वह प्रकृति से पूरी तरह अलग नहीं है क्योंकि वह प्रकृति के साथ सदा जुड़ी रहती है। प्रकृति पुरुष के लिये और उसकी अनुमति से, उसकी इच्छा और प्रसन्नता के लिये कार्य करती है। सचेतन पुरुष, जिस ऊर्जा को हम प्रकृति कहते हैं, उसे अपनी चेतना प्रदान करता है और उस चेतना में उसकी क्रियाओं को दर्पण की तरह स्वीकार करता है, उन रूपों को स्वीकार करता है जिन्हें वह कार्यकारी वैश्व शक्ति प्रकृति बनाती है और उसपर आरोपित करती है, उसकी गतिविधि को अपनी अनुमति देता या वापिस ले लेता है। पुरुष-प्रकृति के अनुभव का, प्रकृति के साथ अध्यात्म या चिन्मय पुरुष के संबंधों के अनुभव का बहुत अधिक व्यावहारिक महत्त्व है। क्योंकि शरीरस्थ सत्ता में चेतना की संपूर्ण लीला इन्हीं संबंधों पर निर्भर होती है। अगर हमारा अंतस्थ

[1] सांख्य दर्शन इस व्यष्टिगत पक्ष पर जोर देता है। वह पुरुष को अनेक, बहु बताता है और प्रकृति को विश्वात्मकता प्रदान करता है। इस दृष्टि से प्रत्येक पुरुष की स्वतंत्र सत्ता होती है यद्यपि सभी पुरुष एक ही सर्वसामान्य विश्वव्यापी प्रकृति का अनुभव करते हैं।

पुरुष निष्क्रिय है और प्रकृति को कार्य करने देता है, वह उसपर जो कुछ आरोपित कर दे उसे स्वीकार करता है, सदा-सर्वदा अपने-आप स्वीकृति देता रहता है तो हमारे मन, प्राण और शरीर में अंतरात्मा अर्थात् मनोमय, प्राणमय, अन्नमय पुरुष हमारी प्रकृति के आधीन हो जाते हैं, उसके रूपायनों से शासित होते, उसकी क्रियाशीलताओं से संचालित होते हैं। हमारे अज्ञान में यही सामान्य अवस्था है। अगर हमारे अंदर पुरुष अपने बारे में साक्षी के रूप में अभिज्ञ हो जाता और प्रकृति से पीछे हटकर खड़ा रहता है तो यह अंतरात्मा की स्वाधीनता की दिशा में पहला कदम है, क्योंकि वह अनासक्त हो जाती है और तब प्रकृति और उसकी प्रक्रियाओं को जानना संभव हो जाता है और चूंकि हम उसके कार्यों में अंतर्लीन नहीं रहते इसलिये उन्हें पूरी स्वाधीनता के साथ स्वीकार करना या न करना संभव होता है, स्वीकृति को यंत्रवत् न रख कर मुक्त और प्रभावकारी बनाना संभव होता है। तब हम यह चुनाव कर सकते हैं कि वह हमारे अंदर क्या करेगी और क्या न करेगी या हम उसके कामों से पूरी तरह पीछे हटकर खड़े रह सकते हैं और आत्मा की आध्यात्मिक नीरवता में अपने-आपको आसानी से खींच सकते हैं या हम उसके वर्तमान रूपायनों को रद्द करके अस्तित्व के आध्यात्मिक स्तरतक उठ सकते हैं और वहां से अपने जीवन को फिर से गढ़ सकते हैं। पुरुष प्रजा या अनीश होना बंद करके प्रकृति का ईश्वर बन सकता है।

सांख्य दर्शन में हम पुरुष-प्रकृति के तात्त्विक विचार को पूरी तरह से विकसित रूप में पाते हैं। ये दोनों शाश्वत रूप से अलग-अलग सत्ताएं हैं लेकिन दोनों का एक-दूसरे के साथ संबंध है। प्रकृति, प्रकृति-शक्ति, एक कार्यकारिणी शक्ति है। वह चेतना से अलग ऊर्जा है क्योंकि चेतना पुरुष की चीज है, पुरुष के बिना प्रकृति जड़, यांत्रिक और निश्चेतन है। प्रकृति अपनी रूपात्मा और क्रिया के आधार के रूप में आदि जड़-तत्त्व को विकसित करती है और उसमें प्राण और संवेदन और मन और बुद्धि को अभिव्यक्त करती है। लेकिन बुद्धि भी, चूंकि वह प्रकृति का अंग और आदि जड़-तत्त्व में उसका उत्पादन है इसलिये जड़, यांत्रिक और निश्चेतन है। यह एक ऐसी धारणा है जो भौतिक विश्व में निश्चेतन की सुव्यवस्थित और पूरी तरह संबद्ध क्रियाओं पर कुछ प्रकाश डालती है। संवेदनशील मन और बुद्धि को अंतरात्मा का, अध्यात्म सत्ता का प्रकाश दिया जाता है, वे उसकी चेतना से सचेतन होते हैं, वैसे ही जैसे वे आत्मा की स्वीकृति से सक्रिय बनते हैं। पुरुष प्रकृति से पीछे हटकर स्वतंत्र होता है, वह जड़-तत्त्व में फंसने से इंकार करके उसका स्वामी बन जाता है। प्रकृति अपने उपादान और कर्म के तीन तत्त्वों, गुणों या रीतियों द्वारा क्रिया करती है जो हमारे अंदर हमारे मन और शरीर के उपादान और उसकी क्रियाओं की मूलभूत रीतियां बन जाते हैं, तामसिकता या जड़ता का तत्त्व, क्रियात्मकता का तत्त्व और संतुलन, प्रकाश और सामंजस्य का तत्त्व। जब

इनकी गति विषम होती है तो उसकी क्रिया होती है, जब वे संतुलन में आ जायें तो वह निश्चलता में चली जाती है। पुरुष, सचेतन सत्ता एक या अद्वय नहीं बहु है जब कि प्रकृति एक है। इससे ऐसा मालूम होता है कि हम जीवन में एकत्व के जिस किसी सिद्धांत को पाते हैं वह प्रकृति का होता है लेकिन हर अंतरात्मा स्वतंत्र और अनोखी है, अपने-आपमें एकमात्र और पृथक् है चाहे प्रकृति का भोग करने में हो या प्रकृति से मुक्ति पाने में। जब हम व्यष्टिगत अंतरात्मा और वैश्व प्रकृति के साथ सीधे आंतरिक संपर्क में आते हैं तो हमें सांख्य की ये सभी स्थापनाएं अनुभव में वैध मालूम होती हैं परंतु ये व्यावहारिक सत्य हैं लेकिन हम उन्हें आत्मा या प्रकृति का पूरे तौर पर या आधारभूत सत्य मानने के लिये बाधित नहीं हैं। प्रकृति अपने-आपको जड़-भौतिक जगत् में निश्चेतन ऊर्जा के रूप में प्रस्तुत करती है लेकिन जैसे-जैसे चेतना का सप्तक उठता है वह अपने-आपको अधिकाधिक सचेतन शक्ति के रूप में प्रकट करती है और हम देखते हैं कि उसकी निश्चेतना भी एक गुप्त चेतना को छिपाये हुए थी। इस तरह अपने व्यष्टि-जीवों में चिन्मय सत्ता भी बहु है लेकिन अपनी आत्मा में हम यह अनुभव कर सकते हैं कि वह सबके अंदर एक है और अपनी सारभूत सत्ता में एक है। इसके अतिरिक्त आत्मा और प्रकृति का दो के रूप में अनुभव भी सच्चा है लेकिन उनके ऐक्य का अनुभव भी अपनी प्रामाणिकता रखता है। अगर प्रकृति या ऊर्जा अपने रूपों और क्रियाओं को सत् पर आरोपित कर सकती है तो केवल इसलिये क्योंकि वह सत् की प्रकृति या ऊर्जा है इसलिये सत् उन्हें अपना मान सकता है। अगर सत् प्रकृति का स्वामी बन सकता तो यह इसीलिये हो सकता है क्योंकि वह उसकी अपनी प्रकृति है जिसे उसने निष्क्रिय रूप से अपना काम करते हुए देखा है लेकिन वह उसपर काबू और अधिकार कर सकता है; सत् की स्वीकृति जरूरी है भले वह प्रकृति की क्रियाशीलता के लिये निष्क्रिय क्यों न हो। और यह संबंध पर्याप्त रूप से दिखाता है कि ये दोनों एक दूसरे के लिये विजातीय नहीं हैं। उन्होंने द्वैत की स्थिति अपनायी है। सत्ता की आत्माभिव्यक्ति के कार्यों के लिये दोहरी स्थिति अपनायी है लेकिन उनमें कोई शाश्वत या आधारभूत अलगाव और सत्ता और उसकी सचेतन शक्ति का, आत्मा और प्रकृति का द्वैत नहीं है।

यह सद्वस्तु ही, आत्मा ही अपनी प्रकृति की क्रियाओं के साक्षी, अनुमति देनेवाले, शासक पुरुष की भूमिका निभाता है। एक प्रतीयमान द्वैत की सृष्टि की जाती है ताकि आत्मा की सहायता से प्रकृति अपने-आपको क्रियान्वित करने के लिये स्वतंत्र क्रिया कर सके और फिर प्रकृति को क्रियान्वित करने के लिये आत्मा भी उसपर नियंत्रण करते हुए स्वतंत्र, प्रभुतापूर्ण क्रिया कर सके। यह द्वैत इसलिये भी जरूरी है कि आत्मा किसी भी समय प्रकृति के किसी रूपायन से अपना हाथ खींच ले और सारे रूपायन विलीन करने या नयी या उच्चतर रचना को स्वीकार

करने या आरोपित करने के लिये स्वतंत्र हो। आत्मा के अपनी शक्ति के साथ व्यवहार करने में ये कुछ बहुत स्पष्ट संभावनाएं हैं और स्वयं हमारी अनुभूति में इनका अवलोकन और इनकी परख हो सकती है। ये अनंत चेतना की शक्तियों के न्याय-संगत परिणाम हैं। हमने देखा है कि ऐसी शक्तियां उसकी अनंतता के लिये नैसर्गिक हैं। पुरुष-पक्ष और प्रकृति-पक्ष हमेशा साथ-साथ चलते हैं। प्रकृति या चेतना-शक्ति अपनी क्रिया में जो भी स्थिति अपनाये, अभिव्यक्त या विकसित करे पुरुष की भी स्थिति उसके अनुरूप होती है। अपनी उच्चतम स्थिति में आत्मा परम-सचेतन-सत्ता पुरुषोत्तम है और चित्-शक्ति उसकी परा-प्रकृति है। प्रकृति के क्रम की हर स्थिति में, आत्मा उस क्रम के अनुकूल भूमिका धारण करती है। मन-प्रकृति में वह मनोमय पुरुष, प्राण-प्रकृति में प्राणमय पुरुष, जड़-प्रकृति में अन्नमय पुरुष और अतिमानस में वह विज्ञानमय-पुरुष बन जाता है और उच्चतम आध्यात्मिक स्थिति में वह आनंदमय पुरुष और शुद्ध सत् बन जाता है। हमारे अंदर शरीरधारी व्यक्तियों में वह सबके पीछे चैत्य सत्ता के आंतरिक आत्मा के रूप में खड़ा रहता है, जो हमारी चेतना और आध्यात्मिक सत्ता की अन्य रचनाओं को सहारा देती है। जो पुरुष हमारे अंदर व्यष्टि है वही विश्व में वैश्व तथा परात्परता में परात्पर : इस आत्मा के साथ एकात्मता स्पष्ट है लेकिन वस्तुओं और प्राणियों में स्थित आध्यात्म सत्ता की अपनी शुद्ध निर्वैयक्तिक-सव्यक्तिक स्थिति में रहती हुई यह आत्मा ही निर्वैयक्तिक इसलिये है कि वहां व्यक्तिगत गुण भेद-भाव नहीं करते। सव्यक्तिक इसलिये कि वह हर व्यक्ति के अंदर आत्मा के व्यष्टिभाव लेने की क्रिया की अध्यक्षता करता है—अपनी चित्-शक्ति के, अपनी आत्म-प्रकृति की कार्यकारिणी शक्ति के साथ व्यवहार करता है और उस प्रयोजन के लिये जो भी स्थिति जरूरी हो उसे अपनाता है।

लेकिन यह स्पष्ट है कि पुरुष-प्रकृति की किसी भी व्यष्टिगत ग्रंथि में, चाहे कोई भी स्थिति क्यों न अपनायी जाये या कोई भी संबंध क्यों न बनाया जाये, मूलभूत वैश्व संबंध में पुरुष अपनी प्रकृति का स्वामी और शासक ही है, क्योंकि जब वह प्रकृति को अपने साथ अपने ही तौर-तरीके बरतने देता है तब भी उसकी क्रिया को सहारा देने के लिये पुरुष की स्वीकृति जरूरी है। यह तत्त्व सद्वस्तु, दिव्य पुरुष के तीसरे रूप में पूरी तरह प्रकट होता है जहां वह विश्व का स्वामी और स्रष्टा है। वहां परम पुरुष, परम सत्ता अपनी परात्पर और वैश्व चेतना और शक्ति में सामने आता है, वह है सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सभी ऊर्जाओं का नियंता, जो कुछ सचेतन या निश्चेतन है उसमें सचेतन, सभी अंतरात्माओं, मनों, हृदयों और शरीरों में निवास करनेवाला, सभी कार्यों का शासक या अधिशासक, समस्त आनंद का भोक्ता, ऐसा स्रष्टा जिसने सभी चीजों का सृजन अपनी सत्ता में किया, वह सर्व पुरुष सभी सत्ताएं जिसके व्यक्तित्व हैं, वह शक्ति जिससे सब शक्तियां आती हैं, सभीके अंदर

आध्यात्म चेतना या आत्मा, अपनी सत्ता में जो कुछ है उसका पिता, अपनी चित्-शक्ति में दिव्य जननी, सभी प्राणियों का सखा, सर्वानंदमय और सर्व-सुंदर जिसके अंतःप्रकाश हैं सुंदरता और आनंद, सर्वप्रिय और सर्वप्रेमी। अमुक अर्थ में इस तरह देखे और समझे जानेपर यह परम सद्वस्तु का सबसे अधिक व्यापक रूप होता है क्योंकि यहां सभी एक रूपायण में मिल जाते हैं, क्योंकि ईश्वर विश्वातीत और विश्वान्तर्यामी दोनों है। वह वह है जो समस्त व्यक्तित्व में निवास करता है और उसके परे भी है और उसका समर्थन भी करता है। वह परम और वैश्व ब्रह्म है, निरपेक्ष, परम आत्मा, परम पुरुष (पुरुषोत्तम) है, लेकिन यह बिल्कुल स्पष्ट है कि यह प्रचलित धर्मों का सगुण भगवान् नहीं है, ऐसी सत्ता नहीं है जो अपने गुणों से सीमित हो, जो व्यक्तिगत और अन्य सबसे अलग हो क्योंकि इस तरह के सभी व्यक्तिगत देवता एक ईश्वर के केवल सीमित प्रतिरूप या नाम और दिव्य व्यक्तित्व हैं। न यह सगुण ब्रह्म है जो सक्रिय और गुणों का धाम है क्योंकि यह तो ईश्वर की सत्ता का केवल एक पक्ष है। निर्गुण, अचल, गुणरहित उसकी सत्ता का दूसरा पक्ष है। ईश्वर ब्रह्मन्, सद्वस्तु, आत्मा, आध्यात्मिक जीव जो अपनी आत्म-सत्ता के अधिष्ठाता और भोक्ता रूप में प्रकट होता है, वह सृष्टि का कर्ता और उसके साथ एक है, विश्व के होते हुए भी उससे श्रेष्ठ है, शाश्वत, अनंत, अनिर्वचनीय, दिव्य परात्पर है।

हमारे मनसे सोचने की रीति में वैयक्तिकता और निर्वैयक्तिकता में जो तीक्ष्ण विरोध खड़ा किया गया है वह हमारे मन की रचना है और जड़-भौतिक जगत् के आभासों पर आधारित है। क्योंकि यहां पार्थिव अस्तित्व में निश्चेतना, जिससे हर चीज का उद्गम होता है, वह एकदम निर्वैयक्तिक मालूम होती है। प्रकृति, निश्चेतन ऊर्जा अपने अभिव्यक्त सारतत्त्व और व्यवहार में बिल्कुल निर्वैयक्तिक है, सभी शक्तियां निर्वैयक्तिकता का यह मुखड़ा पहने रहती हैं। सभी गुण और शक्तियां, प्रेम, आनंद यहांतक कि स्वयं चेतना का भी यही पहलू है। व्यक्तित्व निर्वैयक्तिक जगत् में चेतना की सृष्टि के रूप में प्रकट होता है। यह शक्तियों, गुणों, प्रकृति-क्रिया की अभ्यासगत शक्तियों की प्रतिबद्ध रचना द्वारा सीमांकन है, आत्मानुभव के सीमित चक्र में कारावास है जिसे हमें पार करना है। अगर हम विश्वात्मकता प्राप्त करना चाहें तो वैयक्तिकता को खोना जरूरी है, यह और भी अधिक जरूरी है अगर हम परात्परतातक उठना चाहें। लेकिन हम इस तरह जिसे व्यक्तित्व कहते हैं वह केवल सतही चेतना की एक रचना है, उसके पीछे वह पुरुष होता है जो बहुत-से व्यक्तित्व धारण कर लेता है, जो अपने-आप एक, वास्तविक और शाश्वत होते हुए बहुत-से व्यक्तित्व एक साथ धारण कर सकता है। अगर हम चीजों को ज्यादा विस्तृत दृष्टिकोण से देखें तो कह सकते हैं कि जो निर्वैयक्तिक है वह केवल पुरुष की एक शक्ति है, सत् के बिना स्वयं सत्ता का कोई अर्थ नहीं, चेतना के खड़े रहने के लिये भी जगह न होगी यदि कोई सचेतन न हो, भोक्ता के बिना आनंद

व्यर्थ और अमान्य है, अगर प्रेमी न हो तो प्रेम की परिपूर्ति या उसका कोई आधार ही नहीं हो सकता, अगर सर्वशक्तिमान् न हो तो सर्वशक्ति बेकार होगी। क्योंकि पुरुष से हमारा मतलब है सचेतन सत्ता, वह यहां भले निश्चेतना की अभिधा या रचना के रूप में उभरे फिर भी वह वास्तव में ऐसी नहीं है क्योंकि स्वयं निश्चेतना गुप्त चेतना की एक अभिधा है। जो उभरता है वह उससे महान् होता है जिसमें वह उभरता है, जैसे मन जड़-पदार्थ से अधिक महान् है, अंतरात्मा मन से महान् है और आत्मा जो कि सबसे अधिक रहस्यमयी है, परम उन्मज्जन है, अंतिम अंतः-प्रकाश है, वह सबसे अधिक महान् है और आत्मा ही पुरुष, सर्व-पुरुष, सर्व-व्यापक सचेतन सत्ता है। हमारे अंदर जो यह सच्चा पुरुष है उसके बारे में मन का अज्ञान, उसका पुरुष और हमारे अहं के अनुभव तथा सीमित व्यक्तित्व के बीच घपला, एक निश्चेतन अस्तित्व में सीमित चेतना और व्यक्तित्व के उभरने का पथभ्रष्ट व्यापार—यही वे चीजें हैं जिन्होंने हमसे सद्वस्तु के इन दोनों पक्षों में विरोध पैदा करवाया है लेकिन सचमुच उनमें कोई विरोध नहीं है। एक शाश्वत, अनंत स्वयंभू ही परम सद्वस्तु है लेकिन परम परात्पर अनंत सत्ता, आत्मा और आध्यात्म-सत्ता—या यूं कहें एक अनंत पुरुष—क्योंकि उसकी सत्ता सभी व्यक्तित्व का सारतत्त्व और स्रोत है—ही स्वयंभू की वास्तविकता और उसका अर्थ है। इसी तरह विश्वात्मा, आध्यात्म सत्ता, सत्ता, पुरुष ही वैश्व सत्ता की वास्तविकता और अर्थ है। वही आत्मा, आध्यात्म सत्ता, सत्ता या पुरुष अपनी बहुलता को अभिव्यक्त कर व्यष्टिगत सत्ता की वास्तविकता और अर्थ होता है।

अगर हम दिव्य सत्ता, परम पुरुष और सर्व-पुरुष को ईश्वर मान लें तो उसके विश्व-सत्ता के शासन या संचालन को समझने में एक कठिनाई आती है, क्योंकि हम तुरंत उसपर मानव शासक की कल्पना लागू कर देते हैं। हम उसके बारे में यह चित्र बना लेते हैं मानों वह मन और मानसिक इच्छा से सर्वशक्तिमान् स्वेच्छाचारी ढंग से ऐसे जगत् पर कार्य करता है जिसपर वह अपनी मानसिक धारणाओं को कानून के रूप में आरोपित करता है। हम उसकी इच्छा को उसके व्यक्तित्व की एक स्वच्छंद सनक मान लेते हैं। लेकिन भागवत सत्ता के लिये यह जरूरी नहीं है कि वह एक सर्वशक्तिमान् फिर भी अज्ञानी मनुष्य की तरह—यदि ऐसी सर्वशक्तिमत्ता संभव हो—स्वेच्छाचारी इच्छा या भाव द्वारा कार्य करे; क्योंकि भगवान् मन द्वारा सीमित नहीं हैं। उनमें सर्व-चेतना है जिसमें वे सभी चीजों के सत्य के बारे में अभिज्ञ होते हैं और अपनी सर्व-प्रज्ञा से अभिज्ञ होते हैं जो उन वस्तुओं में जो सत्य है उसके, उनके अर्थ के, उनकी संभावना या आवश्यकता के, उनकी प्रकृति के अनिवार्य आत्म-स्वरूप के अनुसार कार्य करती है। भगवान् स्वतंत्र हैं, किसी तरह के नियमों से बंधे नहीं हैं फिर भी वे नियमों और प्रक्रियाओं के अनुसार काम करते हैं क्योंकि वे चीजों के सत्य की अभिव्यक्ति हैं, उनके केवल

यांत्रिक, गणितीय या अन्य बाहरी सत्य की नहीं बल्कि आध्यात्मिक वास्तविकता की, वे जो हैं, जो बन गये हैं और उन्हें अभी जो बनना है, जो कुछ उनमें ऐसा है जिसे उन्हें उपलब्ध करना है, उसकी अभिव्यक्ति हैं। वे स्वयं क्रिया में विद्यमान हैं लेकिन वे उसका अतिक्रमण भी कर सकते हैं और उसे रद्द भी कर सकते हैं क्योंकि एक ओर प्रकृति अपने नियमों के सीमित समूह के अनुसार क्रिया करती और उन्हें कार्यान्वित करने में भागवत उपस्थिति द्वारा अनुप्राणित और उसपर आश्रित होती है लेकिन दूसरी ओर एक निरीक्षण, एक उच्चतर क्रिया और निर्देशन, यहांतक कि एक हस्तक्षेप भी है जो स्वतंत्र तो है पर स्वेच्छाचारी नहीं; वह हमें प्रायः जादुई या चमत्कारिक लगता है क्योंकि वह दिव्य परा प्रकृति से चलकर प्रकृति पर कार्य करता है। यहां प्रकृति उस परा प्रकृति की एक सीमित अभिव्यक्ति है और उसके प्रकाश, उसकी शक्ति, उसके प्रभाव, हस्तक्षेप या परिवर्तन के लिये खुली रहती है। वस्तुओं का यांत्रिक, गणितीय और स्वचालित नियम एक तथ्य है लेकिन उसके अंदर चेतना का एक आध्यात्मिक नियम कार्य करता है जो प्रकृति की शक्तियों के यांत्रिक कदमों को एक आंतरिक मोड़ और मूल्य, अर्थपूर्ण औचित्य और गुप्त रूप से सचेतन आवश्यकता प्रदान करता है और उसके ऊपर है आध्यात्मिक स्वतंत्रता जो आत्मा के परम और वैश्व सत्य में जानती और कार्य करती है। भगवान् के विश्व-शासन के बारे में या उसकी क्रिया के रहस्य के बारे में हमारी दृष्टि असाध्य रूप से मनुष्यत्व आरोपण करनेवाली या असाध्य रूप से यांत्रिक होती है। मनुष्यत्व आरोपित करने और यंत्रवत् चलाने दोनों में सत्य का तत्त्व होता है परंतु वे केवल एक पार्श्व या एक पक्ष हैं। सच्चा सत्य तो यह है कि जगत् का शासन सबके अंदर और सबके ऊपर रहनेवाले उस 'एक' के द्वारा होता है जो अपनी चेतना में अनंत है। हमें विश्व के अर्थ, उसकी रचना और गतिविधि को अनंत चेतना के नियम और न्याय के अनुसार ही समझना चाहिये।

अगर हम एकमेव सद्वस्तु के इस पक्ष का अवलोकन करें और उसे अन्य पक्षों के निकट संबंध में रखें तो शाश्वत स्वयंभू सत्ता, और जिस चित्-शक्ति के द्वारा वह विश्व को अभिव्यक्त करती है, उसकी क्रियात्मकता, इनके बीच के संबंध का पूरा दृश्य हमारे सामने आ सकता है। अगर हम अपने-आपको नीरव स्वयंभू, अविचल, स्थिर, निष्क्रिय अवस्था में रख दें तो ऐसा लगेगा कि अपनी सभी कल्पनाओं को कार्यान्वित करने में समर्थ, निश्चल-नीरव आत्मा की क्रियाशील सहचरी कल्पनात्मक चित्-शक्ति, माया ही सब कुछ कर रही है, वह निश्चित, अविचल, शाश्वत स्थिति को अपना आधार बनाती है और सत् के आध्यात्मिक द्रव्य को सब तरह के रूपों और गतियों में ढालती है जिसके लिये उसकी निष्क्रियता अनुमति प्रदान करती है या जिसमें वह आत्मा निष्पक्ष सुख पाता है, अपना सर्जनात्मक और सचल सत्ता का अचल आनंद लेता है, यह सत्ता चाहे वास्तविक

हो या भ्रम, उसका द्रव्य, उपादान और अर्थ यही है। चेतना सत् के साथ खेल रही है, प्रकृति की शक्ति सत् के साथ अपनी मरजी के मुताबिक जो चाहे करती है और उसे अपनी रचनाओं का द्रव्य बनाती है लेकिन इसे संभव बनाने के लिये गुप्त रूप से पग-पग पर सत् की स्वीकृति जरूरी है। वस्तुओं के इस बोध में एक स्पष्ट सत्य है। यह वही है जिसे होते हुए हम अपने अंदर और अपने चारों ओर देखते हैं। यह विश्व का एक सत्य है और इसे निरपेक्ष के आधारभूत सत्य-पक्ष के अनुसार होना चाहिये। लेकिन जब हम चीजों के बाहरी क्रियाशील आभासों से पीछे हट जाते हैं, साक्षी नीरवता में नहीं बल्कि आंतरिक क्रियाशीलता में जो आध्यात्म जीव के अनुभव में भाग लेती है, तो हम देखते हैं कि यह चित्-शक्ति, माया, शक्ति स्वयं ही सत् की, स्वयंभू की, ईश्वर की शक्ति है। सत् उसका और सभी चीजों का स्वामी है। हम उसे अपनी प्रभुता में, अपनी अभिव्यक्ति के स्रष्टा और शासक के रूप में सब कुछ करते देखते हैं। अगर वह पीछे खड़ा रहकर प्रकृति की शक्तियों और उसके प्राणियों को कार्य करने की छूट देता है तो भी उसकी अनुमति में उसकी प्रभुता छिपी रहती है, पद-पद पर उसकी मौन स्वीकृति 'तथास्तु' छिपी रहती है क्योंकि इसके बिना कुछ भी होना या करना संभव नहीं है, सत् और उसकी चित्-शक्ति, पुरुष और प्रकृति मूलतः द्वैत नहीं हो सकते। प्रकृति जो कुछ करती है, वास्तव में पुरुष का ही किया हुआ होता है। यह भी एक सत्य है जो तब स्पष्ट होता है जब हम पर्दे के पीछे जाते हैं और एक जीवित-जाग्रत् सद्वस्तु की उपस्थिति का अनुभव करते हैं जो सब कुछ है और सब कुछ निर्धारित करती है, जो सर्वशक्तिमान् सम्राट् है। यह भी निरपेक्ष का एक आधारभूत सत्य-पक्ष है।

और अगर हम नीरवता में तल्लीन रहें तो सृजनात्मक चेतना और उसके कार्य भी नीरव निश्चलता में गायब हो जाते हैं। हमारे लिये प्रकृति और उसकी सृष्टि का अस्तित्व नहीं रहता, वे वास्तविक नहीं रह पाते। इसके विपरीत यदि हम ऐकांतिक रूप से सत् को उसके एकमात्र विद्यमान पुरुष और शासक के रूप में देखें तो शक्ति या सामर्थ्य, जिसके द्वारा वह सब कुछ करता है, उसकी अद्वितीयता में गुम हो जाती है या उसकी वैश्व सत्ता का एक गुण बन जाती है और एक सत् का निरंकुश राज्य विश्व के बारे में हमारा प्रत्यक्ष दर्शन बन जाता है, ये दोनों ही अनुभव मन के लिये बहुत-सी कठिनाइयां उपस्थित करते हैं क्योंकि उसके आगे आत्मा की शक्ति के निष्क्रिय या सक्रिय किसी भी अवस्था का प्रकृत रूप प्रत्यक्ष नहीं हुआ है या आत्मा का एक अति ऐकांतिक नेति भावात्मक अनुभव हुआ है या इस कारण कि हमारी धारणाएं परम पुरुष के शासक रूप पर मानव गुणों और स्वभाव को बहुत ज्यादा आरोपित कर देती हैं। यह स्पष्ट है कि हम ऐसे अनंत को देख रहे हैं जिसकी आत्म-शक्ति बहुत-सी गतिविधियों में समर्थ है और ये सब

प्रामाणिक हैं। अगर हम और ज्यादा विशालता से देखें और वस्तुओं के वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक दोनों प्रकार के सत्य को एक सत्य के रूप में देखें, अगर उस प्रकाश में, निर्वैयक्तिकता में वैयक्तिकता के प्रकाश में देखें तो हम आत्मा और आत्म-शक्ति के द्विदल स्वरूप को देखते हैं तब पुरुष-रूप में से पुरुष-युगल, ईश्वर-शक्ति, दिव्य आत्मा और स्रष्टा और दिव्य माता और विश्व की स्रष्ट्री का आविर्भाव होता है। तब हमारे लिये वैश्व तत्त्वों में नर और नारी तत्त्वों का रहस्य खुलता है जिनकी क्रीड़ा और पारस्परिक क्रिया समस्त सृष्टि के लिये जरूरी है। स्वयंभू सत्ता के अतिचेतन सत्य में ये दोनों एक-दूसरे में लीन और समाविष्ट, एक और अविभेद्य हैं लेकिन विश्व की क्रियाशीलता के आध्यात्मिक व्यावहारिक सत्य में वे प्रकट और सक्रिय होते हैं। विश्व का सृजन करनेवाली दिव्य मातृ ऊर्जा, माया, परा प्रकृति, चित्-शक्ति ही विश्वात्मा और ईश्वर को तथा अपनी आत्म-शक्ति को द्विविध तत्त्व के रूप में अभिव्यक्त करती है। उसीके द्वारा सत्, आत्मा, ईश्वर कार्य करता है। वह इसके बिना कुछ नहीं करता, यद्यपि उसकी इच्छा प्रकृति में अंतर्निहित होती है फिर भी यह वही है जो परम चित्-शक्ति के रूप में, जो सभी आत्माओं और सत्ताओं को अपने अंदर धारण करती है, और कार्यकारिणी प्रकृति के रूप में सब कुछ को कार्यान्वित करती है, सब कुछ प्रकृति के अनुसार ही जीता और कार्य करता है। सब कुछ चित्-शक्ति है जो सत् के साथ उन करोड़ों रूपों और गतियों में अभिव्यक्त होती और खेलती है जिनमें प्रकृति उसे ढालती है। अगर हम अपने-आपको उसकी क्रियाओं से पीछे हटा लें तो सब कुछ निष्क्रियता में गिर जा सकता है और हम नीरव निश्चलता में प्रवेश कर सकते हैं क्योंकि वह अपनी सचल क्रियाओं को बंद करना स्वीकार कर लेती है। लेकिन यह उसकी निश्चलता और नीरवता ही है जिसमें हम निश्चल और निवृत्त होते हैं। अगर हम प्रकृति से स्वतंत्र होने का दावा करें तो वह हमारे आगे ईश्वर की सर्वव्यापी परम शक्ति को प्रकट करती है और यह दिखा देती है कि हम उस ईश्वर की सत्ता की सत्ताएं हैं लेकिन वह शक्ति वह स्वयं है और उसकी परा प्रकृति में हम भी वही हैं। अगर हम सत्ता की एक उच्चतर रचना या स्थिति उपलब्ध करना चाहें तो यह भी उसीके द्वारा, दिव्य शक्ति, आत्मा की चित्-शक्ति के द्वारा ही करना होगा। भागवत सत्ता को हमारा समर्पण दिव्य जननी के द्वारा ही होना चाहिये : क्योंकि हमारा आरोहण परा प्रकृति में या उसकी ओर होना चाहिये और यह तभी हो सकता है जब अतिमानसिक शक्ति हमारी मानसिकता को लेकर उसे अपनी अतिमानसिकता में रूपांतरित कर दे। इस तरह हम देखते हैं कि सत्ता के इन तीन पहलुओं के बीच या उनकी शाश्वत स्वरूप स्थिति में उनके बीच और विश्व में उसकी क्रियाशील क्रिया-शक्ति की तीन रीतियों के बीच कोई विरोध या असंगति नहीं है। एक ही सत्, एक सद्वस्तु आत्मा के रूप में धारण करता, सहारा देता

और अनुप्राणित करता है, पुरुष या सचेतन सत्ता के रूप में अनुभव करता और ईश्वर-रूप से इच्छा करता, शासन करता और अधिकार में रखता है उस अपनी अभिव्यक्ति के जगत् को जिसे उसकी अपनी ही चित् शक्ति या आत्म-शक्ति—माया, प्रकृति, शक्ति ने सृजा और गतिशील और क्रियाशील रखा है।

एकमेव आत्मा तथा आध्यात्म सत्ता के इन अलग-अलग रूपों या मुखड़ों के बीच संगति बैठाने में हमारे मन के सामने एक विशेष कठिनाई आती है क्योंकि ऐसे 'कुछ' के लिये जो अमूर्त नहीं है, ऐसे 'कुछ' के लिये जो आध्यात्मिक रूप से जीवंत और तीव्र रूप से वास्तविक है, हमें अमूर्त धारणाओं और व्याख्या करनेवाले शब्दों और भावों का उपयोग करना पड़ता है। हमारे अमूर्तकरण भेद करनेवाली धारणाओं में बंध जाते हैं और उनके बीच में तेज रेखाएं होती हैं, लेकिन सद्वस्तु इस तरह की नहीं है, उसके बहुत-से पहलू तो हैं पर सभी छटाएं एक दूसरे के अंदर घुल-मिल जाती हैं। उसका सत्य केवल ऐसे भावों और रूपकों द्वारा चित्रित किया जा सकता है जो अतीन्द्रिय होने के साथ जीवंत और ठोस हों—शुद्ध बुद्धि चाहे ऐसे रूपकों को आकृतियां और प्रतीक ही मानें लेकिन वे इससे कुछ अधिक होते हैं और अंतर्भासात्मक दृष्टि और अनुभूति के लिये इनका इससे अधिक गभीर अर्थ होता है क्योंकि ये क्रियात्मक आध्यात्मिक अनुभव की वास्तविकताएं हैं। वस्तुओं के निर्वैयक्तिक सत्य को शुद्ध बुद्धि के अमूर्त सूत्रों में अनूदित किया जा सकता है लेकिन सत्य का एक और पक्ष भी है जो आध्यात्मिक या गुह्य दृष्टि की चीज है और वास्तविकताओं की उस आंतरिक दृष्टि के बिना उनका अमूर्त निरूपण काफी सजीव या संपूर्ण नहीं होता। वस्तुओं का रहस्य ही वस्तुओं का वास्तविक सत्य है, उन्हें बौद्धिक रूप में प्रस्तुत करना प्रतिरूप बनाने में, अमूर्त प्रतीकों में, मानों विचार-भाषा की क्यूबिस्ट कला या ज्यामिति की आकृतियों में आनेवाला सत्य है। दार्शनिक अनुसंधान में अधिकतर अपने-आपको इस बौद्धिक प्रस्तुतितक ही सीमित रखना जरूरी है लेकिन यह याद रखना भी जरूरी है कि यह केवल सत्य का अमूर्त रूप है और उसे पूरी तरह पकड़ पाने या पूरी तरह अभिव्यक्त करने के लिये एक ठोस अनुभूति और अधिक जीवंत तथा सांगोपांग भाषा की जरूरत है।

यहां यह देखना भी उपयुक्त होगा कि सद्वस्तु के इस पक्ष में, हमने एक और बहु के बीच जिस संबंध को खोज निकाला है, उसे किस तरह देखा जाये। इसका अर्थ होगा व्यक्ति और दिव्य सत्ता के बीच, अंतरात्मा और ईश्वर के बीच के सच्चे संबंध का निर्धारण। सामान्य आस्तिक धारणा में बहु भगवान् की सृष्टि है। वे भगवान् द्वारा इस तरह बनाये गये हैं जैसे कुम्हार घड़े बनाता है और वे उसपर इसी तरह निर्भर हैं जैसे सृष्ट जीव अपने स्रष्टा पर। लेकिन ईश्वर के बारे में इस विशालतर दृष्टि में बहु भी अपनी अंतरतम वास्तविकता में दिव्य एक ही है। परम और वैश्व स्वयंभू की वैयक्तिक आत्माएं हैं जो उसीकी तरह शाश्वत भी हैं लेकिन

शाश्वत हैं उसकी सत्ता में। हमारा भौतिक जीवन निश्चय ही प्रकृति की सृष्टि है लेकिन अंतरात्मा भगवान् का अमर अंश है और उसके पीछे प्रकृतिसृष्ट प्राणी के अंदर परमात्मा विराजमान हैं। फिर भी चूंकि एकमेव ही जीवन का आधारगत सत्य है, बहु एकमेव के द्वारा ही अस्तित्व रखते हैं अतः अभिव्यक्त सत्ता पूरी तरह से ईश्वर पर निर्भर है। यह निर्भरता अहं के पृथक् करनेवाले अज्ञान के कारण छिपी रहती है। यह अहं अपने ही अधिकार से जीने की कोशिश करता है यद्यपि पग-पग पर वह स्पष्ट रूप से उस वैश्व शक्ति पर निर्भर रहता है जिसने उसे पैदा किया है और वह उसीके द्वारा चलाया जाता है, उसीकी वैश्व सत्ता और क्रिया का एक भाग है। अहं का यह प्रयास स्पष्ट ही हमारे अंदर रहनेवाली स्वयंभू सत्ता के सत्य का व्यतिक्रम और भ्रांत प्रतिबिंब है। यह सच है कि हमारे अंदर कुछ ऐसा है, हमारे अहं में नहीं बल्कि हमारी आत्मा में, हमारी अंतरतम सत्ता में कुछ ऐसा है जो वैश्व प्रकृति के परे चला जाता है और परात्पर का वासी है। लेकिन यह भी अपने-आपको प्रकृति से स्वतंत्र पाता है तो केवल अपने से ऊंची सद्वस्तु पर निर्भरता के कारण। आत्मा तथा प्रकृति के भगवान् के प्रति आत्म-दान या समर्पण द्वारा ही हम अपनी उच्चतम आत्मा और परम सद्वस्तुतक पहुंच सकते हैं। क्योंकि यह भागवत सत्ता ही है जो उच्चतम आत्मा और परम सद्वस्तु है और अगर हम स्वयंभू और शाश्वत हैं तो उसीकी शाश्वतता में और उसके स्वयंभू होने के कारण। यह निर्भरता एकात्मकता के विपरीत नहीं है बल्कि वह स्वयं एकात्मता-प्राप्ति का द्वार है—इस प्रकार यहां फिर हम उस द्वैत तत्त्व के प्रपंच से आ मिलते हैं जो एकत्व को प्रकट करता है, एकत्व से चलकर फिर से एकत्व में आ खुलता है और यही विश्व का सतत रहस्य और उसकी आधारभूत क्रिया है। अनंत की चेतना का यह सत्य ही है जो बहु और एक के बीच समस्त संबंधों की संभावना पैदा करता है जिनमें से मन के द्वारा एकत्व की उपलब्धि, हृदय में एकत्व की उपस्थिति, सभी अंगों में एकत्व की स्थिति—यह एक उच्चतम शिखर है फिर भी वह अन्य सभी व्यक्तिगत संबंधों को रद्द नहीं करता बल्कि पुष्ट करता है और उन्हें अपनी पूर्णता और अपना पूर्ण आनंद और अपना पूरा अर्थ देता है। यह भी जादू है, साथ ही अनंत का तर्क भी।

एक समस्या फिर भी रह जाती है जिसे सुलझाना बाकी है और इसे भी उसी आधार पर हल किया जा सकता है और यह समस्या है व्यक्त और अव्यक्त के बीच विरोध की समस्या। क्योंकि यह कहा जा सकता है कि अभीतक जो कुछ कहा गया है वह व्यक्ति के लिये सच हो सकता है, लेकिन अभिव्यक्ति निम्नतर कोटि की वास्तविकता है, अनभिव्यक्त सद्वस्तु से निकली हुई एकांगी गति है और जब हम उसमें प्रवेश करते हैं जो परम सद्वस्तु है तो विश्व के ये सत्य प्रामाणिक नहीं रहते। अव्यक्त कालातीत, पूर्णतया शाश्वत, अपराजेय निरपेक्ष स्वयंभू है जिसके बारे में अभिव्यक्ति और उसकी सीमाएं कोई अता-पता नहीं दे सकतीं और अगर

देती भी हैं तो उसकी अपर्याप्तता भ्रांतिमूलक और भ्रामक होती है। यह काल और कालातीत आत्मा के संबंध की समस्या खड़ी करता है क्योंकि हमने इसके विपरीत यह मान लिया है कि जो कालातीत शाश्वत में अनभिव्यक्त है वही काल-शाश्वतता में अभिव्यक्त होता है। अगर ऐसी बात है, अगर कालिक शाश्वत की अभिव्यक्ति है तो अवस्थाएं चाहे जितनी भिन्न हों, अभिव्यक्ति चाहे जितनी एकांगी हो फिर भी कालिक अभिव्यक्ति में जो कुछ आधारभूत है उसे किसी-न-किसी तरह परात्परता में पहले से मौजूद होना चाहिये और उसे कालातीत सद्वस्तु से आया हुआ होना चाहिये। क्योंकि, अगर ऐसा नहीं है तो इन आधारभूत चीजों को अभिव्यक्ति में सीधा उस निरपेक्ष से आना चाहिये जो काल या कालातीत से अलग है और कालातीत आत्मा को एक परम आध्यात्मिक नकार होना चाहिये, एक ऐसा अनिर्देश्य होना चाहिये जो काल में रूपायित सब कुछ के सीमायन की ओर से निरपेक्ष की स्वतंत्रता का आधार होता है। वह अस्तिकाल का नास्ति होगा, इसके साथ उसका वैसा ही संबंध होगा जैसे सगुण के साथ निर्गुण का। लेकिन वस्तुतः कालातीत से हमारा मतलब होता है सत्ता की एक ऐसी आध्यात्मिक अवस्था जो काल-गतियों या भूतकाल, वर्तमान और भविष्य के सापेक्ष काल के अनुभव या क्रम के आधीन नहीं है। कालातीत आत्मा का रिक्त होना जरूरी नहीं है, काल या रूप या संबंध या परिस्थिति के संदर्भ के बिना वह अपने अंदर सब कुछ धारण किये रह सकती है पर सार रूप में, शायद एक शाश्वत ऐक्य में। शाश्वतता काल और कालातीत आत्मा दोनों के बीच की सामान्य अभिधा है। जो कुछ कालातीत में अनभिव्यक्त है, निहित है, सारगत है वह काल में, गति में या कम-से-कम परिकल्पना और संबंध में परिणाम और परिस्थिति में प्रकट होता है। तो ये दोनों वही एक शाश्वतता हैं या द्विविध स्थिति में विद्यमान वही एक शाश्वत पुरुष हैं, ये सत्ता और चेतना की द्विविध अवस्थाएं हैं, एक है अचल स्थिति की शाश्वतता, दूसरी है स्थिति में गति की शाश्वतता।

मूल स्थिति है कालातीत और देशातीत सद्वस्तु की। देश और काल उसी सद्वस्तु का आत्म-विस्तार हैं जो अपने अंदर की चीजों के फैलाव को समाविष्ट करने के लिये किया गया है। भेद केवल यही होगा, जो अन्य सभी विरोधों में होता है कि एक में 'आत्मा' अपने-आपको सत्ता के स्वरूप और तत्त्व में देखती है और दूसरी अवस्था में वही अपने-आपको अपने स्वरूप और तत्त्व की क्रियात्मकता में देखती है। देश और काल उस एक सद्वस्तु के इस आत्म-विस्तार के लिये हमारे दिये नाम हैं। हम देश को एक ऐसे स्थाणु विस्तार के रूप में देखने के लिये प्रवृत्त होते हैं जिसमें सभी चीजें निश्चित क्रम में एक साथ खड़ी रहती या गति करती हैं। हम काल को एक गतिशील विस्तार के रूप में देखते हैं जिसे गति और घटना से नापा जाता है। तो देश हुआ आत्म-विस्तारित स्थिति में ब्रह्म और काल

होगा आत्म-विस्तारित गति में ब्रह्म। लेकिन यह केवल पहली दृष्टि हो सकती है, शायद गलत भी हो। हो सकता है कि देश वस्तुतः सतत चलायमान हो, उसमें वस्तुओं की नित्यता और सतत काल-संबंध से देश की स्थिरता का भाव पैदा होता हो, सचलता से स्थिर देश में काल-गति का भाव पैदा होता हो। या फिर हो सकता है कि देश रूपों और वस्तुओं को एक साथ धारण करने के लिये विस्तारित ब्रह्म हो और काल होगा रूपों और वस्तुओं को वहन करती हुई आत्मशक्ति की गति के फैलाव के लिये आत्म-विस्तारित ब्रह्म। तब दोनों उसी वैश्व शाश्वत के एक और समान आत्म-विस्तार के दो पहलू होंगे।

शुद्ध भौतिक देश को अपने-आपमें जड़ द्रव्य का गुण माना जा सकता है लेकिन जड़ द्रव्य गतिशील ऊर्जा की सृष्टि है अतः भौतिक जगत् में देश या तो भौतिक ऊर्जा का आधारभूत आत्म-प्रसारण हो सकता है या उसका अपना बनाया हुआ सत्ता-क्षेत्र होगा, जिस निश्चेतन अनंतता में वह ऊर्जा क्रिया कर रही है उसीका उस ऊर्जा द्वारा बनाया गया प्रतिरूप होगा, एक ऐसा रूप होगा जिसमें वह अपनी क्रिया और अपनी रचना के नियमों और गतिविधियों को आयोजित करती है। काल अपने-आपमें उस गति का पथ होगा या फिर उससे बननेवाला आभास, किसी ऐसी चीज का आभास जो हमारे आगे नियमित अनुक्रम के रूप में आता है—एक ऐसा विभाजन या सातत्य जो गति की निरंतरता को धारण किये रहता है फिर भी उसके अनुक्रमों को रेखांकित करता है क्योंकि वह गति स्वयं नियमित रूप से आनुक्रमिक है। या फिर काल देश का ऐसा आयाम हो सकता है जो ऊर्जा की पूरी क्रिया के लिये जरूरी है लेकिन हम उसे इस तरह नहीं देख पाते क्योंकि उसे हमारी सचेतन आत्मनिष्ठता ऐसे देखती है मानों वह अपने-आप आत्मनिष्ठ हो, उसे हमारा मन अनुभव करता है परंतु इन्द्रियां नहीं देख पातीं अतः उसे देश के आयाम के रूप में नहीं स्वीकार किया जाता क्योंकि देश हमें इन्द्रियों द्वारा रचित या इन्द्रियों द्वारा अनुभव किये गये वस्तुनिष्ठ विस्तार के रूप में दिखायी देता है।

बहरहाल, अगर आत्मा आधारभूत सद्वस्तु है तो काल और देश या तो धारणात्मक अवस्थाएं हैं जिनमें आत्मा अपनी ही ऊर्जा की लीला को देखती है या वे आत्मा की ही आधारभूत अवस्थाएं हैं जो चेतना की उस स्थिति के अनुसार, जिसमें वे अभिव्यक्त होती हैं, भिन्न-भिन्न रूप या अवस्था ग्रहण करती हैं। दूसरे शब्दों में हमारी चेतना की हर एक स्थिति के लिये अलग-अलग देश और काल होते हैं बल्कि हर स्थिति के अंदर देश और काल की अलग-अलग गतियां होती हैं लेकिन वे सब देश और काल की आधारभूत आध्यात्मिक सद्वस्तु के रूप होंगे। वस्तुतः जब-जब हम भौतिक देश के पीछे जाते हैं तो हम एक ऐसे विस्तार के बारे में अभिज्ञ होते हैं जिसपर यह सारी गति आधारित है और यह प्रसार भौतिक न होकर आध्यात्मिक होता है। यह आत्मा या आध्यात्म तत्त्व है जो अपनी

ऊर्जा की समस्त क्रियाओं को अपने अंदर समाये है। देश की यह मूल या आधारभूत वास्तविकता तब स्पष्ट होना शुरू करती है जब हम भौतिक से पीछे हटते हैं क्योंकि तब हम आत्मनिष्ठ देश-विस्तार के बारे में अभिज्ञ होते हैं जिसमें स्वयं मन निवास और गति करता है और जो भौतिक देश-काल से भिन्न है और फिर भी एक परस्पर प्रवेश होता है क्योंकि हमारा मन अपने ही देश में इस तरह गति कर सकता है कि वह भौतिक तत्त्व के देश में गति पर भी प्रभाव डाल सके या जड़ तत्त्व के देश में किसी दूरस्थ चीज पर क्रिया कर सके। चेतना की और अधिक गहरी अवस्था में हमें एक शुद्ध आध्यात्मिक देश की अभिज्ञता प्राप्त होती है, इस अभिज्ञता में ऐसा लग सकता है कि काल का अस्तित्व ही नहीं रहा क्योंकि सारी गति रुक जाती है या अगर कोई गति या घटना है भी तो वह किसी दृष्टिगोचर हो सकनेवाले कालक्रम से स्वतंत्र रूप में भी हो सकती है।

अगर हम एक ऐसी ही आंतरिक गति से काल के पीछे जायें, भौतिक से पीछे हटकर, उसमें अंतर्लीन हुए बिना देखें तो हमें पता चलता है कि काल-अवलोकन और कालगति सापेक्ष होते हैं लेकिन स्वयं काल वास्तविक और शाश्वत है। काल-अवलोकन केवल उन मापों पर आश्रित नहीं होता जिनका हम उपयोग करते हैं, बल्कि अवलोकन करनेवाले की चेतना और उसकी स्थिति पर निर्भर होता है। और फिर चेतना की हर स्थिति का एक अलग ही काल-संबंध है। मानसिक चेतना और मानसिक देश में काल की गतियों का वही अर्थ और मापदंड नहीं होता जो भौतिक देश में होता है। चेतना की अवस्था के अनुसार तेज या धीमी गति होती है। चेतना की हर एक अवस्था का अपना काल होता है फिर उनके बीच काल के संबंध हो सकते हैं और जब हम भौतिक सतह के पीछे जाते हैं तो कई अलग-अलग काल-स्थितियों और काल-गतियों को एक ही चेतना में साथ रहते हुए पाते हैं। यह स्वप्न-काल में स्पष्ट होता है जहां घटनाओं का एक लंबा क्रम इतनी अवधि में हो जाता है जो भौतिक काल के एक सेकेंड या कुछ सेकेंडों के अनुरूप हो। तो भिन्न-भिन्न काल-स्थितियों में एक संबंध रहता है लेकिन उनके माप की अनुरूपता का पता नहीं लगाया जा सकता। ऐसा प्रतीत होगा कि काल की कोई वस्तुनिष्ठ वास्तविकता नहीं है बल्कि वह उन परिस्थितियों पर निर्भर रहता है जिन्हें चेतना की क्रिया सत्ता की स्थिति और गति के साथ संबंध में स्थापित कर दे। काल पूरी तरह आत्मनिष्ठ मालूम होता है लेकिन वस्तुतः मानसिक देश और द्रव्यगत देश के आपसी संबंध से देश भी आत्मनिष्ठ मालूम होगा। दूसरे शब्दों में कहें तो दोनों मूलतः आध्यात्मिक प्रसारण हैं किंतु शुद्ध मन के द्वारा वह एक आत्मनिष्ठ मानस क्षेत्र में अनूदित होता है और इन्द्रियमन के द्वारा इन्द्रिय-बोध के वस्तुनिष्ठ क्षेत्र में। आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता केवल एक ही चेतना के दो पार्श्व हैं और मुख्य तथ्य यह है कि किसी भी काल विशेष या देश विशेष को या समग्र रूप में किसी भी

काल-देश विशेष को लें तो वह सत्ता की ऐसी स्थिति होता है जिसमें सत्ता की चेतना और शक्ति की कोई गति होती है, ऐसी गति जो घटनाओं की सृष्टि करती है या उन्हें अभिव्यक्त करती है। यह घटनाओं को देखनेवाली चेतना और रचनेवाली शक्ति के बीच का संबंध है, यह संबंध उस स्थिति में छिपा रहता है। यही काल के बोध को निर्धारित करता है और हमारी काल-गति की काल-संबंधी और काल के माप की अभिज्ञता को पैदा करता है। अपने आधारभूत सत्य में अपनी सब विभिन्नताओं के पीछे काल की मूल स्थिति शाश्वत की शाश्वतता के सिवा कुछ भी नहीं है, ठीक वैसे ही जैसे देश का आधारभूत सत्य, उसकी वास्तविकता का मूल भाव है अनंत की अनंतता।

सत्ता की स्वयं अपनी शाश्वतता के संबंध में चेतना की तीन अलग-अलग स्थितियां हो सकती हैं। पहली वह जिसमें आत्मा की अपने तात्त्विक अस्तित्व में अचल स्थिति होती है, वह आत्मलीन या आत्म चेतन भले हो पर दोनों अवस्थाओं में गति या घटना में चेतना का विकास नहीं होता। इसे हम कालातीत शाश्वतता का नाम देते हैं। दूसरी है नियत या वस्तुतः होती हुई अभिव्यक्ति से संबंध रखनेवाली सभी चीजों के उत्तरोत्तर संबंध की समग्र चेतना जिसमें जिन्हें हम भूत, भविष्य और वर्तमान कहते हैं वे सब ऐसे इकट्ठे रहते हैं मानों एक नक्शे या निश्चित अभिकल्पना में हों या बहुत कुछ इस तरह जैसे कोई कलाकार या चित्रकार या वास्तुशिल्पी अपनी कृति को समग्र रूप से देखता हुआ अपने कार्य के संपूर्ण विवरण को धारण करता है जो उसके मन में अभिप्रेत या पर्यावलोकित होता है या एक ऐसी योजना में व्यवस्थित होता है जिसे कार्यान्वित करना है। यह काल की स्थायी स्थिति या उसकी युगपत् सर्वांगीणता है। काल का यह दर्शन घटनाओं के होने के साथ जो हमारी सामान्य अभिज्ञता होती है उसका अंग बिल्कुल नहीं होता यद्यपि भूत के बारे में हमारी दृष्टि, चूंकि वह पहले से ही ज्ञात है और उसे पूर्ण के अंदर देखा जा सकता है, इस प्रकार का लक्षण धारण कर सकती है। लेकिन हम जानते हैं कि इस चेतना का अस्तित्व है क्योंकि एक अपवादिक स्थिति में उसके अंदर प्रवेश करना और चीजों को काल-दृष्टि की इस समकालिकता की दृष्टि से देखना संभव है। तीसरी अवस्था है चित्-शक्ति की प्रक्रियात्मक गति की और उसने जो कुछ शाश्वत की स्थायी दृष्टि में देखा है उसका उत्तरोत्तर कार्यान्वयन। यह है काल-गति। लेकिन यह एकमात्र और वही शाश्वतता है जिसमें यह तिहरी स्थिति विद्यमान रहती है और गति पाती है। सचमुच दो शाश्वतताएं नहीं हैं, एक तो स्थिति की शाश्वतता और दूसरी गति की शाश्वतता, लेकिन चेतना एक ही शाश्वतता के बारे में विभिन्न अवस्थाएं और स्थितियां ग्रहण करती है क्योंकि तब वह समस्त कालविकास को गति के बाहर से या ऊपर से देख सकती है। वह गति के अंदर एक स्थायी स्थिति ले सकती है और एक निश्चित, निर्धारित या नियत क्रम में पूर्व

और पश्चात् को देख सकती है या इसकी जगह वह गति में एक चलायमान स्थिति ले सकती है, अपने-आप उसके साथ क्षण-क्षण गति कर सकती है और वह सब जो कुछ हो चुका है उसे भूत में हटते हुए और वह सब जो कुछ होनेवाला है उसे भविष्य में से अपनी ओर आते हुए देख सकती है या वह जिस क्षण में है उसीपर केंद्रित रह सकती है और उसके सिवा कुछ नहीं देख पाती जो उस क्षण में है या तत्काल उसके चारों ओर या पीछे है। अनंत की सत्ता ये सभी स्थितियां दृष्टि या अनुभव में एक साथ अपना सकती है। वह काल को उसके ऊपर या भीतर से देख सकती है। और उसके भीतर न रहते हुए वह काल का अतिक्रमण कर सकती है। वह कालातीत को, कालातीत हुए बिना काल-गति को विकसित करते हुए देख सकती है। वह सारी गति को एक स्थायी और क्रियाशील दृष्टि में आलिंगन में भर सकती है और साथ-ही-साथ अपनी कुछ चीज क्षण-दृष्टि को दे सकती है। क्षण-दृष्टि से बंधी हुई, सांत चेतना को यह समकालिकता अनंत का जादू, माया का जादू मालूम हो सकती है। उसके अपने देखने के तरीके को, जिसे सीमित करने की, सामंजस्य के हेतु एक समय में एक ही स्थिति को दृष्टि के सामने लाने की आवश्यकता होती है, यह अस्तव्यस्त और असंगत अवास्तविकता का भाव देगी। परंतु एक अनंत चेतना के लिये दृष्टि और अनुभव की यह समग्र समकालिकता बिल्कुल तर्कयुक्त और सुसंगत मालूम होगी। वहां ये सब एक ऐसे समग्र दर्शन के तत्त्व हो सकेंगे जो एक सामंजस्यभरी व्यवस्था में नजदीक से आपस में संबद्ध हो सकेंगे, ऐसी दृष्टि की बहुविधता के तत्त्व हो सकेंगे जो देखी हुई चीजों की एकता को बाहर ला सकती है, और जो एकमेव सद्वस्तु के सहवर्ती पक्षों का विभिन्न रूप से प्रस्तुतीकरण होगा।

अगर एकमेव सद्वस्तु की आत्म-प्रस्तुति की यह युगपत् बहुविधता हो सकती है तो हम देख सकते हैं कि कालातीत शाश्वत और काल-शाश्वत के एक साथ रहने में भी कोई असंभवता नहीं है। वह द्विविध आत्म-अभिज्ञता द्वारा देखी गयी वही एक शाश्वतता होगी और उनके बीच कोई विरोध नहीं हो सकता। यह अनंत और शाश्वत सद्वस्तु की आत्म-अभिज्ञता की दो शक्तियों के बीच सह-संबंध होगा—एक स्थायित्व और अनभिव्यक्ति की शक्ति और एक प्रभावकारी क्रिया और गति की और अभिव्यक्ति की शक्ति। हमारी सांत सतही दृष्टि को उनकी युगपत्ता चाहे जितनी विरोधी और समन्वय के लिये कठिन क्यों न प्रतीत हो, माया या ब्रह्म के शाश्वत आत्मज्ञान और ईश्वर के सर्वज्ञान, अनंत और शाश्वत ज्ञान, और प्रज्ञा-शक्ति, स्वयंभू सच्चिदानंद की चित् शक्ति के लिये सहज और स्वाभाविक होगी।

अध्याय ३

शाश्वत और व्यक्ति

सोऽहमस्मि।
मैं वही हूं।

ईशोपनिषद् १६

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
. . . . . .
उत्क्रामन्तम् स्थितं वाऽपि भुञ्जानं वा . . .
. . . पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥

मेरा एक शाश्वत अंश ही जीवों के लोक में जीव हो गया है। . . . ज्ञान चक्षु इसे देखता है कि ईश्वर ही देह में निवास करता है, भोग करता है और उसके बाहर चला जाता है।

गीता १५—७, १०

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्योऽभि चाकशीति॥
यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥

सुंदर पंखों वाले दो पक्षी जो मित्र और साथी हैं एक ही वृक्ष से चिपके हुए हैं। एक मधुर फल खाता है, दूसरा उसे देखता है पर खाता नहीं . . . जहां सुंदर पंखवाली आत्माएं अपने अमृत के भाग को पाकर ज्ञान के आविष्कारों की घोषणा करती हैं वहां सबके प्रभु, जगत् के संरक्षक, उस ज्ञानी ईश्वर ने मुझपर अधिकार कर लिया, उस प्रज्ञावान् ने मुझ अज्ञानी पर।

ऋग्वेद १, १६४, २०, २१

तो सत्ता का एक आधारभूत सत्य है एक सर्वव्यापक सद्वस्तु जो वैश्व अभिव्यक्ति के ऊपर और उसके भीतर सर्वव्यापक है और प्रत्येक व्यक्ति में अन्तर्व्याप्त है। इस सर्वव्यापक की एक गतिशील शक्ति भी है, उसकी अनंत चित् शक्ति एक सर्जक या आत्माभिव्यक्ति करनेवाली क्रिया भी है। उस आत्माभिव्यक्ति की एक विशेष अवस्था या गति के रूप में, ऊपर से भौतिक निश्चेतन दीखनेवाली चीज में एक अवतरण होता है और निश्चेतना में से व्यक्ति जागता है और उसकी सत्ता का आध्यात्मिक और अतिमानसिक चेतना और सद्वस्तु की शक्ति में, उसकी अपनी

वैश्व और परात्पर आत्मा और सत्ता के उद्गम में विकास होता है। इसी नींव पर हमें अपनी पार्थिव सत्ता में सत्य की और भौतिक प्रकृति में दिव्य जीवन की संभावना की धारणा को आधारित करना होगा। वहां हमारी मुख्य आवश्यकता है उस अज्ञान के स्रोत और प्रकृति का पता लगाना जिसे हम जड़ तत्त्व की निश्चेतना में से उभरते देखते हैं या जड़ तत्त्व से बने शरीर में प्रकट होते हुए देखते हैं, और हम उस ज्ञान का स्वरूप जानें जिसे उसका स्थान लेना है और प्रकृति के अपने-आपको खोलने की और अंतरात्मा की पुनः प्राप्ति की प्रक्रिया को समझें। क्योंकि वस्तुतः ज्ञान वहां स्वयं अज्ञान में छिपा हुआ है, उसे प्राप्त करने की जगह उसका अनावरण करना है। उसे सीखा नहीं जाता, वह भीतर और ऊपर की ओर अपने-आपको उन्मीलित करके प्रकट करता है। लेकिन पहले यह ज्यादा सुविधाजनक होगा कि अनिवार्य रूप से उठनेवाली एक कठिनाई को देखें और उसे रास्ते से अलग कर दें। यह कठिनाई यह मानने में है कि हमारे अंदर भगवान् मौजूद हैं, यह भी मान लेने पर कि हमारी व्यक्तिगत चेतना क्रमशः विकसनशील अभिव्यक्ति का वाहन है, यह कैसे माना जाये कि व्यक्ति किसी भी अर्थ में शाश्वत है या एकत्व और आत्मज्ञान के द्वारा मुक्ति-लाभ के बाद भी वैयक्तिकता का अस्तित्व बना रह सकता है।

यह तर्कबुद्धि की कठिनाई है और इसका सामना अधिक विशाल और अधिक उदार प्रबोधन देनेवाली बुद्धि के द्वारा करना होगा। और अगर यह आध्यात्मिक अनुभूति की कठिनाई है तो उसका सामना केवल ज्यादा विशाल और समाधान करनेवाली अनुभूति के द्वारा ही किया जा सकता है। निश्चय ही उसका मुकाबला तर्क-युद्ध द्वारा, तार्किक मन की शब्द-वितण्डा द्वारा भी किया जा सकता है लेकिन वह अपने-आपमें एक कृत्रिम उपाय ही है, प्रायः बादलों में एक व्यर्थ युद्ध जैसा और हमेशा अनिश्चयात्मक ही रहता है। तर्क विचार अपने क्षेत्र में उपयोगी और अपरिहार्य है ताकि मन को अपने निजी भावों, शब्द-प्रतीकों के साथ व्यवहार करने में अमुक स्पष्टता, यथार्थता और सूक्ष्मता प्रदान कर सके ताकि हम अपने अवलोकन और अनुभव द्वारा सत्यों के जिस प्रत्यक्ष दर्शन पर पहुंचते हैं या जिन्हें हमने भौतिक, मनोवैज्ञानिक या आध्यात्मिक दृष्टि से देखा है वे हमारी औसत मानव बुद्धि, उसकी प्रतीतियों को तथ्य मान लेने की प्रवृत्ति, आंशिक सत्यों में भटक जाने की जल्दबाजी, उसके अतिशयोक्ति भरे निष्कर्ष, उसके बौद्धिक और भावनामय पक्षपातों, सत्य को सत्य के साथ जोड़ने में, जिसके द्वारा हम पूर्ण सत्यतक पहुंच सकते हैं, उसमें अक्षम घपलेबाजी द्वारा यथा संभव कम-से-कम धुंधला कर सकें। हमारे अंदर स्पष्ट, शुद्ध, सूक्ष्म और नमनीय मन होना चाहिये ताकि हम अपनी जाति के उस साधारण मानसिक अभ्यास में जितना हो सके कम-से-कम गिरें जो स्वयं सत्य को भूलों के प्रबंधक में बदल देता है। वह स्पष्टीकरण, स्पष्ट न्यायसंगत

तर्क की आदत, जिसकी परिणति दार्शनिक मीमांसा की तर्करीति में होती है, पूर्णता की प्राप्ति में अवश्य सहायक है अतः ज्ञान की तैयारी में उसका बहुत बड़ा भाग है। लेकिन अपने-आप वह न तो जगत् के ज्ञानतक पहुंच सकता है न भगवान् के ज्ञानतक, उच्चतर और निम्नतर उपलब्धि में सामंजस्य बिठाने की तो बात ही कहां। वह सत्य के अन्वेषक से कहीं अधिक भ्रांति से दक्षता के साथ रक्षा करनेवाला है—यद्यपि अभीतक प्राप्त ज्ञान से निगमन के द्वारा वह कभी-कभी अचानक नये सत्यों पर पहुंच सकता है और अनुभूति के लिये या उच्चतर और बृहत्तर सत्य देख सकनेवाली क्षमताओं द्वारा समर्थन पाने के लिये उनका संकेत कर सकता है। ज्ञान का समन्वय या एकत्व लानेवाले सूक्ष्मतर क्षेत्र में मन की तर्क करने की आदत, उसी क्षमता के कारण जो उसे अपनी विशेष उपयोगिता प्रदान करती है, राह का रोड़ा भी बन सकती है क्योंकि वह भेद करने और भेदों ही में व्यस्त रहने और भेदों द्वारा कार्य करने की इतनी अभ्यस्त है कि जब भेदों का उल्लंघन और अतिक्रमण करना हो तो वह किंकर्तव्यविमूढ़-सी हो जाती है। अतः जब सामान्य मन को व्यक्ति के वैश्व परात्पर ऐक्य के अनुभव का सामना करना पड़ता है तो उसकी कठिनाइयों के बारे में विचार करते हुए हमारा लक्ष्य एकमात्र यह होना चाहिये कि पहले हम अपने लिये यह ज्यादा स्पष्ट कर लें कि कठिनाइयों का मूल कहां है और उनसे कैसे पिंड छुड़ाया जा सकता है और फिर उसके द्वारा जो चीज ज्यादा जरूरी है वह यह कि हम जिस एकत्व पर पहुंचते हैं उसके स्वरूप को जानें और जब व्यक्ति सभी प्राणियों के साथ एकत्व को प्राप्त हो जाता है और शाश्वत के साथ एकत्व में निवास करता है तो उसके उत्कर्ष के स्वरूप को जानें।

तर्क-बुद्धि के लिये सबसे पहली कठिनाई यह है कि उसे हमेशा वैयक्तिक आत्मा को अहंकार के साथ एक मानने की आदत रही है और वह यही मानती है कि उसका अस्तित्व अहंकार की सीमाओं और उसके बहिष्कारों से ही है, अगर ऐसा होता तो अहं का अतिक्रमण करके व्यक्ति अपने अस्तित्व को ही समाप्त कर देता। हमारा लक्ष्य होता जड़ पदार्थ, प्राण, मन या आत्मा की किसी विश्वजनीनता में गायब हो जाना या घुल-मिल जाना या किसी ऐसे अनिर्दिष्ट में जा मिलना जिसमें से व्यक्तित्व के अहंकारमय निर्दिष्ट का आरंभ हुआ था। लेकिन यह सबल पृथक्कारी आत्मानुभव है क्या जिसे हम अहंकार कहते हैं? यह आधारभूत रूप से अपने-आपमें कोई वास्तविक चीज नहीं है। यह हमारे अंदर प्रकृति की क्रियाओं को केन्द्रित करने के लिये चेतना का एक व्यावहारिक गठन मात्र है, हम एक मानसिक, भौतिक, प्राणिक अनुभव की रचना देखते हैं जो अपने-आपको बाकी सत्ता से अलग देखती है और इसे ही हम प्रकृति में अपना-आपा समझते हैं, संभूति में सत्ता के व्यष्टीकरण को ही हम अपना स्वरूप मानते हैं। तब हम अपने बारे में ऐसा सोचने लगते हैं कि हम कोई ऐसी चीज हैं जिसने अपने-आपको इस तरह

व्यष्टिभावापन्न कर लिया है जिसका अस्तित्व बस तभीतक रहता है जबतक वह व्यष्टि भाव में रहती है। इस तरह हम एक क्षणिक या कम-से-कम एक कालिक संभूतिमात्र हैं। या फिर हम अपने बारे में ऐसा सोचते हैं कि हम कोई ऐसे व्यक्ति हैं जो व्यष्टीकरण को सहारा देता या उसका कारण है, एक अमर सत्ता भले हो पर वह अपने व्यक्तित्व के कारण सीमित है। यह दृष्टि और यह धारणा हमारे अहं-भाव को संघटित करती है। सामान्यतः हम अपने व्यक्तिगत जीवन के बारे में अपने ज्ञान में इससे आगे नहीं जाते।

लेकिन अंत में हमें यह देखना होगा कि हमारा व्यष्टीकरण एक ऊपरी सतह का रूपायन, एक शरीर विशेष में जीवन की अस्थायी उपयोगिता के लिये व्यावहारिक चयन और सीमित सचेतन समन्वय है या यह सदा बदलता हुआ और विकसित होता हुआ समन्वय है जिसका अनुसरण आनुक्रमिक शरीरों में आनुक्रमिक जीवनों के द्वारा किया जाता है। उसके पीछे एक चेतना, एक पुरुष है जो अपने व्यष्टीकरण या इस समन्वय के द्वारा निर्धारित या सीमित नहीं है बल्कि इसके विपरीत उसे निर्धारित करता, अवलम्ब देता और उसका अतिक्रमण कर जाता है। इस समन्वय को रचने के लिये, वह जिसमें से चुनता है, वह उसका जगत्-सत्ता का समग्र अनुभव है। इसलिये हमारा व्यष्टीकरण जगत्-सत्ता के कारण है, साथ ही उस चेतना के कारण भी जो जगत्-सत्ता का उपयोग व्यक्तित्व की संभावनाओं के अनुभव के लिये करती है। ये दो शक्तियां, पुरुष और उसका जगत्-द्रव्य, दोनों ही हमारे व्यक्तित्व के वर्तमान अनुभव के लिये जरूरी हैं। अगर अपनी चेतना के व्यष्टिकारी समन्वय के साथ पुरुष गायब हो जाये, विलीन हो जाये, किसी तरह अपने-आपको नष्ट कर दे तो हमारा संघटित व्यक्तित्व भी समाप्त हो जायेगा क्योंकि जो सद्वस्तु उसे अवलंब देती थी वह उपस्थित न होगी और दूसरी ओर अगर जगत्-सत्ता लुप्त, विलीन और गायब हो जाये तब भी हमारा व्यष्टीकरण गायब हो जायेगा क्योंकि अनुभव की सामग्री, जिसके द्वारा वह अपने-आपको संपादित करता है, उसका अभाव होगा। अतः हमें अपनी सत्ता के इन दोनों तत्त्वों को मानना होगा, एक तो जगत्-सत्ता और दूसरी व्यष्टीकरण करनेवाली चेतना जो हमारे समस्त आत्मानुभव और जगत्-अनुभव का कारण है।

लेकिन आगे चलकर हम देखते हैं कि अंत में यह पुरुष, हमारे व्यक्ति का कारण और उसकी आत्मा, समस्त जगत् को और सभी अन्य सत्ताओं को अपने एक तरह के सचेतन विस्तार में, अपने आलिंगन में भर लेता है और अपने-आपको जगत्-सत्ता के साथ एकात्म रूप में देखता है। अपने सचेतन प्रसारण में वह अपने प्राथमिक अनुभव का अतिक्रमण कर जाता है और अपने सक्रिय आत्म-परिसीमन और व्यष्टीकरण की बाधाओं को समाप्त कर देता है। अपनी अनंत विश्वात्मकता के प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा वह अलग-अलग करनेवाली वैयक्तिकता या

सीमित आंतरात्मिक सत्ता की समस्त चेतना के परे चला जाता है। इसी तथ्य के द्वारा व्यक्ति आत्म-सीमाकारी अहं नहीं रहता, दूसरे शब्दों में केवल आत्म-परिसीमन के कारण, शेष सत्ता और संभूति से कठोर भेद के कारण ही अपना अस्तित्व माननेवाली हमारी मिथ्या चेतना का अतिक्रमण हो जाता है। हमारे मन और शरीर-विशेष में अपने निजी और कालिक व्यष्टीकरण के साथ तादात्म्य का उन्मूलन हो जाता है। लेकिन क्या व्यक्तित्व और वैयक्तिकीकरण का समस्त सत्य समाप्त हो जाता है? क्या पुरुष का अस्तित्व नहीं रहता या वह जगत्-पुरुष होकर अनगिनत मनों और शरीरों में अंतरंग रूप से निवास करता है? हमें ऐसा नहीं लगता। वह फिर भी व्यक्तिभाव रखता है, उसका फिर भी अस्तित्व बना रहता है और व्यक्तिभाव रखते हुए ही वह विशालतर चेतना का आलिंगन करता है। लेकिन तब मन किसी सीमित अस्थायी व्यक्तित्व को ही अपना आपा नहीं समझ लेता बल्कि वह उसे यूं देखता है मानों वह उसकी सत्ता के सागर से उठती संभूति की एक लहर हो या फिर मानों विश्व-भाव का एक रूप या केन्द्र हो। अंतरात्मा तब भी जगत्-संभूति को व्यक्तिगत अनुभव के लिये सामग्री बनाती है लेकिन उसे अपने से बाहर की और अपने से बड़ी ऐसी चीज मानने की जगह, जिससे उसे सहायता लेनी है, जिससे वह प्रभावित होती है, जिसके साथ उसे अनुकूलन करना है, वह उसके बारे में आत्मनिष्ठ रूप में अभिज्ञ होती है मानों वह उसके अपने ही अंदर हो। वह दोनों का, अपनी जगत् सामग्री का और अपनी देशगत और कालगत क्रियाओं के अपने वैयक्तिक अनुभव का, एक मुक्त और प्रशस्त चेतना में आलिंगन करती है। आध्यात्मिक व्यक्ति इस नयी चेतना में देखता है कि उसकी सच्ची आत्मा सत्ता में परात्पर से अभिन्न है और साथ ही उसके अंदर आसीन और स्थित है। वह अपने निर्मित व्यक्तित्व को जगत् के अनुभव के लिये बने एक रूपायन से बढ़ कर कुछ नहीं मानता।

जगत्-सत्ता के साथ हमारा ऐक्य एक ऐसी आत्मा की चेतना है जो एक ही समय और एक ही साथ जगत् में वैश्व भाव को अपनाती और व्यष्टि-पुरुष के द्वारा व्यक्ति भाव को अपनाती है और दोनों में, उस जगत्-सत्ता और इस व्यष्टिगत सत्ता में और सभी व्यष्टिगत सत्ताओं में उसे उसी आत्मा की अभिज्ञता रहती है जो विभिन्न अभिव्यक्तियों में अभिव्यक्त होती और अनुभव प्राप्त करती है। तो वह ऐसी आत्मा है जिसे अपनी सत्ता में एक होना चाहिये—अन्यथा हमें इस ऐक्य का अनुभव न होता—और फिर भी अपने उसी ऐक्य में वैश्व विभेदन और बहुविध व्यक्तित्व के योग्य होना चाहिये। ऐक्य उसकी सत्ता है—हां, लेकिन वैश्व विभेदन और बहुविध व्यक्तित्व उसकी सत्ता की शक्ति है जिसका वह सदा प्रदर्शन करती रहती है। यह प्रदर्शन उसके लिये आनंद, उसकी चेतना का स्वभाव है। तो अगर हम उसके साथ ऐक्यतक आ पहुंचें, अगर हम पूर्णतः और हर तरीके से वह सत्ता बन जायें तो उसकी सत्ता की शक्ति को क्यों काट दें और क्यों भला उसे काटने

की इच्छा या प्रयास करें ? तब हम उसके साथ अपने ऐक्य के क्षेत्र को ऐकांतिक केन्द्रीकरण के द्वारा कम कर देंगे। हम भागवत सत्ता को तो स्वीकार करेंगे लेकिन भगवान् की शक्ति और चेतना और अनंत आनंद में अपना भाग स्वीकार न करेंगे। वस्तुतः यह एक ऐसा व्यक्ति होगा जो अविचल एकात्मता में ऐक्य की शांति और विश्रांति खोजता होगा परंतु दिव्य सत् की प्रकृति, क्रिया तथा शक्ति में ऐक्य के आनंद को और बहुविध हर्ष को अस्वीकार कर देता होगा। यह करना संभव तो है लेकिन यह जरूरी नहीं कि हम उसे अपनी सत्ता का अंतिम लक्ष्य या अपनी अंतिम पूर्णता मान लें।

या एक संभव कारण यह हो सकता है कि शक्ति में, चेतना की क्रिया में वास्तविक ऐक्य नहीं होता, केवल चेतना की स्थिति में ही पूर्ण अभिन्न ऐक्य होता है जिसे हम भगवान् के साथ व्यक्ति का जाग्रत् ऐक्य कह सकते हैं, जिसके विपरीत तल्लीन एकात्मता में व्यक्तिगत चेतना की नींद या उसकी एकाग्रता है। तो इन दोनों अनुभूतियों में निश्चय ही फर्क होता है और होना चाहिये। क्योंकि इस सक्रिय ऐक्य में व्यष्टि-पुरुष अपनी स्थितिशील चेतना के साथ ही अपने सक्रिय अनुभव को अपनी सत्ता की और विश्व सत्ता की इस आत्मा के साथ ऐक्य प्राप्ति के तरीके में जोड़ देता है और फिर भी व्यष्टिभाव बना रहता है, अतः भेद भी बना रहता है। पुरुष अन्य सभी व्यक्तियों के बारे में इस तरह अभिज्ञ रहता है मानों वे उसकी अपनी आत्माएं हैं। वह सक्रिय ऐक्य द्वारा उनकी मानसिक और व्यावहारिक क्रियाओं के बारे में अभिज्ञ हो सकता है, मानों वे उसकी वैश्व चेतना के अंदर हो रही हों ठीक उसी तरह जैसे वह अपनी मानसिक और व्यावहारिक क्रियाओं के बारे में अभिज्ञ होता है। उनके साथ आत्मनिष्ठ ऐक्य द्वारा वह उनकी क्रियाओं को निर्दिष्ट करने में सहायक हो सकता है फिर भी व्यावहारिक भेद तो रहता ही है। भगवान् का उसके अंदर जो कार्य होता है उसीके साथ उसका विशेष और सीधा संबंध होता है, और आत्माओं में भगवान् की जो क्रिया होती है उसके साथ उसका संबंध सीधा नहीं, वैश्व भाव से होता है लेकिन होता है उनके साथ और भगवान् के साथ अपने ऐक्य द्वारा और उस ऐक्य के नाते ही। अतः व्यक्ति तब भी बना रहता है जब वह अपने छोटे-से अलग करनेवाले अहं का अतिक्रमण कर लेता है। वैश्व का अस्तित्व रहता है और व्यक्ति उसका आलिंगन करता है लेकिन इससे सभी व्यक्तिगत भेदों का लय या विनाश नहीं हो जाता, तब भी जब कि उसके अपने-आपको वैश्व बना लेने पर वह सीमाबंधन, जिसे हम अहं कहते हैं, पराभूत हो जाता है।

अब हम ऐकांतिक एकत्व में डुबकी लगाकर इस विभेद से पिंड छुड़ा सकते हैं लेकिन किस उद्देश्य से ? पूर्ण एकत्व के लिये ? लेकिन भेद को स्वीकार करके भी हम पूर्ण ऐक्य से वंचित नहीं हो जाते जैसे भगवान् भेद को स्वीकार करते हुए

अपना अद्वैत नहीं खोते। उनकी सत्ता में हमारा पूर्ण एकत्व रहता है और हम किसी भी समय अपने-आपको उसमें लीन कर सकते हैं परंतु हमें यह भेदयुक्त ऐक्य भी प्राप्त रहता है और हम एकत्व को खोये बिना किसी भी समय उसमें उभर कर मुक्त रूप से क्रिया कर सकते हैं क्योंकि हमने अहं का लय कर दिया है और हम अपनी मानसिकता के ऐकान्तिक दबावों से छुटकारा पा गये हैं। तब शांति और विश्राम के लिये ? लेकिन हमें शांति और विश्राम तो उनके साथ ऐक्य के द्वारा ही मिल जाते हैं जैसे भगवान् अपनी शाश्वत क्रियाशीलता के बावजूद शाश्वत शांति धारण किये रहते हैं। तो फिर क्या केवल समस्त विभेद से पिंड छुड़ाने के आनंद के लिये ? लेकिन उस विभेद का अपना दिव्य प्रयोजन है, वह विशालतर ऐक्य का साधन है, विभाजन का साधन नहीं जैसा कि अहंकारमय जीवन में होता है क्योंकि हम उसके द्वारा अपनी अन्य आत्माओं और सबके अंदर भगवान् के साथ ऐक्य का आनंद लेते हैं जिसे हम उसकी बहुविध सत्ता को अस्वीकार कर देने से नहीं पाते। दोनों ही अनुभवों में व्यक्ति के अंदर निवास करनेवाले भगवान् ही स्वामी और भोक्ता होते हैं, एक में भगवान् अपने शुद्ध एकत्व में और दूसरे में अपने उस एकत्व में और विश्व-एकत्व में। ऐसा नहीं होता कि निरपेक्ष भगवान् अपने एकत्व को खोकर फिर से पा लेते हों, निश्चय ही हम शुद्ध एकांगी एकत्व में तल्लीन हो जाना या अतिवैश्व परात्परता में चले जाना ज्यादा पसंद कर सकते हैं लेकिन भागवत सत्ता के आध्यात्मिक सत्य में कोई ऐसा बाधित करनेवाला कारण नहीं है कि क्यों भला हम भगवान् की वैश्व सत्ता की इस विशाल प्राप्ति और आनंद में भाग न लें, जो हमारे व्यक्तित्व की परिपूर्ति है।

लेकिन हम आगे चलकर देखते हैं कि विश्व-सत्ता ही वह एकमात्र और अंतिम वस्तु नहीं है जिसमें हमारी व्यक्तिगत सत्ता प्रवेश करती है बल्कि वह किसी ऐसी चीज में जाती है जिसमें ये दोनों एक हैं। जिस तरह संसार में हमारा व्यक्ति-भाव उस आत्मा की संभूति है उसी तरह संसार भी उसी आत्मा की संभूति है, वैश्व सत्ता में हमेशा व्यक्तिगत सत्ता आती जाती है, इसलिये ये दोनों संभूतियां, वैश्व और व्यष्टिगत संभूतियां, हमेशा एक-दूसरे के साथ संबंध रखती हैं और अपने व्यावहारिक संबंध में एक-दूसरे पर आश्रित हैं। लेकिन हमें पता चलता है कि अंत में व्यक्ति भी अपनी चेतना में विश्व को समाये रहता है और चूंकि यह आध्यात्मिक व्यक्ति के उन्मूलन द्वारा नहीं है बल्कि उसके अपनी संपूर्ण विशाल और पूर्ण आत्म चेतनातक पहुंचने के कारण होता है इसलिये हमें यह मानना होगा कि व्यक्ति में हमेशा से विश्व समाया हुआ था और केवल सतही चेतना अपने अज्ञान के कारण अहंकार में अपने-आपको सीमित करके इस समावेश को नहीं पा सकी। लेकिन जब हम विश्व और व्यक्ति के परस्पर समावेश की बात करते हैं, जगत् मेरे अंदर और मैं जगत् में, सब कुछ मेरे अंदर और मैं सबके अंदर—क्योंकि यही

मुक्तावस्था की आत्मानुभूति है—तो स्पष्टतः हम सामान्य बुद्धि की भाषा से परे चले जाते हैं। वह इसलिये क्योंकि हमें जिन शब्दों का उपयोग करना पड़ता है वे मन की टकसाल में बने थे और उनको मूल्य ऐसी बुद्धि ने दिया जो भौतिक देश और परिस्थितियों की धारणाओं से बंधी थी और जो उच्चतर आंतरिक अनुभूति को भाषा देने के लिये भौतिक जीवन और इन्द्रियों के अनुभव से लिये गये रूपकों का उपयोग करती है। लेकिन मुक्त मनुष्य चेतना के जिस स्तर पर उठ जाता है वह भौतिक जगत् पर निर्भर नहीं है और हम उसमें जिस विश्व का समावेश करते हैं या जो विश्व उसमें समाविष्ट हैं वे भौतिक विश्व न होकर भगवान् की चित्-शक्ति और आत्मानंद के कुछ महान् छंदों में सामंजस्य के साथ अभिव्यक्त भागवत सत्ता हैं। अतः यह आपसी समावेश आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक होता है। यह बहु के दो रूपों, सर्व और व्यष्टि, का ऐक्य लानेवाले आध्यात्मिक अनुभव में अनुवाद है—एक और बहु की शाश्वत एकता का अनुवाद। क्योंकि एक बहु की शाश्वत एकता है जो अपने-आपका विश्व में भेद और अभेद करती है। इसका अर्थ है कि विश्व और व्यष्टि एक ऐसी परात्पर आत्मा की अभिव्यक्तियां हैं जो अविभाज्य सत्ता है यद्यपि वह विभक्त और बंटी हुई मालूम होती है लेकिन वह सचमुच विभक्त या बंटी हुई नहीं है बल्कि अविभाज्य रूप से हर जगह उपस्थित है, अतः सर्व प्रत्येक में है और प्रत्येक सर्व में है और सर्व भगवान् में है और भगवान् सर्व में; और जब मुक्त आत्मा इस परात्पर के साथ ऐक्य में आती है तो उसे यह अपना और विश्व का आत्मानुभव होता है जो मनोवैज्ञानिक रूप से परस्पर समावेश और दोनों के भागवत ऐक्य में निरंतर अस्तित्व में अनूदित होता है जो एक ही साथ एकत्व, विलयन और आलिंगन है।

अतः बुद्धि का सामान्य अनुभव इन उच्चतर सत्यों पर लागू नहीं होता। पहली बात तो यह है कि अहं केवल अज्ञान में ही व्यष्टि होता है। एक सच्चा व्यष्टि है जो अहं नहीं है फिर भी जिसका अन्य सभी व्यष्टियों के साथ शाश्वत संबंध है, जो अहंकारमय और आत्म-विभेदक नहीं होता लेकिन जिसका तात्त्विक लक्षण है तात्त्विक ऐक्य पर आधारित व्यावहारिक पारस्परिकता। ऐक्य पर आधारित यह पारस्परिकता ही अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति में दिव्य अस्तित्व का पूरा रहस्य है। उसे हर ऐसी चीज का आधार होना चाहिये जिसे हम दिव्य जीवन का नाम दे सकते हैं। दूसरी बात यह कि हम देखते हैं कि सारी कठिनाई और अस्त-व्यस्तता जिसमें सामान्य बुद्धि जा गिरती है वह यह है कि हम एक उच्चतर और असीम आत्मानुभव की बातें करते हैं जो दिव्य अनन्तताओं पर आधारित है, और फिर भी उसके लिये ऐसी भाषा का उपयोग करते हैं जिसे इस निम्नतर और सीमित अनुभव ने बनाया है जो अपना आधार सांत आभासों और विभेदक परिभाषाओं को बनाता है, जिसके द्वारा हम भौतिक विश्व के प्रपंचों में भेद और वर्गीकरण करने की

कोशिश करते हैं। इस तरह हमें व्यष्टि शब्द का उपयोग करना होता है और अहंकार तथा सच्चे व्यक्ति के बारे में बात करनी होती है, ठीक ऐसे ही जैसे हम उससे कभी प्रतीयमान और कभी वास्तविक मनुष्य की बात करते हैं। स्पष्ट ही ये सब शब्द, मनुष्य, प्रतीयमान, वास्तविक, व्यष्टि, सच, बहुत ही सापेक्ष अर्थ में और यह पूरी तरह जानते हुए उपयोग में लाने होते हैं कि वे हमारे अर्थ को व्यक्त करने के लिये अपूर्ण और अक्षम हैं। साधारणतः व्यष्टि से हमारा मतलब होता है कोई ऐसी चीज जो अपने-आपको और सबसे अलग रखती और अलहदा खड़ी रहती है यद्यपि वास्तव में कहीं भी ऐसी किसी चीज का अस्तित्व नहीं है। यह हमारी मानसिक धारणाओं की एक कल्पना है जो एक एकांगी और व्यावहारिक सत्य को प्रकट करने के लिये उपयोगी और आवश्यक है। लेकिन मुश्किल यह है कि मन अपने शब्दों से अभिभूत हो जाता है और भूल जाता है कि एकांगी और व्यावहारिक सत्य उन अन्य सत्यों के साथ अपने संबंध द्वारा ही सच्चा सत्य बनता है जो बुद्धि को उससे उल्टे लगते हैं और वह सत्य यदि अपने-आपमें लिया जाये तो उसमें सदा मिथ्यात्व का एक तत्त्व रहता है। इस भांति जब हम एक व्यक्ति के बारे में बोलते हैं तो साधारणतः हमारा मतलब होता है मानसिक, प्राणिक और भौतिक सत्ता का अन्य सब सत्ताओं से अलग व्यष्टीकरण जो अपने उस व्यक्तित्व के कारण ही उनके साथ एक होने में अक्षम होता है। अगर हम मन, प्राण और शरीर की इन तीनों विधाओं से आगे जाते और अंतरात्मा या वैयक्तिक आत्मा की बात करते हैं तब भी हम एक ऐसी सत्ता की बात सोचते हैं जो वैयक्तिक बन गयी है, और सबसे अलग है, उनके साथ एकता और एक-दूसरे में समावेश के लिये असमर्थ है, अधिक-से-अधिक आध्यात्मिक संपर्क और आंतरात्मिक सहानुभूति रखने में समर्थ है। अतः इस बात पर आग्रह करना जरूरी है कि सच्चे व्यक्ति से हमारा मतलब इस तरह की किसी चीज से नहीं है बल्कि शाश्वत की सत्ता की एक सचेतन शक्ति से है जो हमेशा ऐक्य द्वारा अस्तित्व रखती और हमेशा पारस्परिकता के लिये समर्थ रहती है। यह वह सत्ता है जो आत्म-ज्ञान द्वारा मुक्ति और अमरता का भोग करती है।

लेकिन सामान्य और उच्चतर बुद्धि के बीच जो विरोध है उसे हमें और भी आगे ले जाना है। जब हम कहते हैं कि सच्चा व्यक्ति शाश्वत की सत्ता की सचेतन शक्ति है तब भी हम बौद्धिक परिभाषाओं का उपयोग करते हैं—हमारे पास और कोई उपाय नहीं है जबतक कि हम शुद्ध प्रतीकों की भाषा और वाणी के गुह्य मूल्यों में डुबकी न लगाएं—लेकिन जो चीज अधिक खराब है वह यह है कि अहंकार के भाव से बचने के प्रयत्न में हम एक अत्यधिक अमूर्त भाषा का प्रयोग कर रहे हैं। तो हम ऐसा कहें कि व्यक्ति एक सचेतन सत्ता है जो हमारे जीवन के मूल्यों के लिये शाश्वत की व्यष्टिभावात्मक आत्मानुभूति की शक्ति में उन्हींकी एक सत्ता है, क्योंकि जो अमरता का

भोग करती है उसे एक ठोस सत्ता होना चाहिये, कोई अमूर्त शक्ति नहीं। तब हम इस बात पर पहुंचते हैं कि न केवल मैं जगत् में हूं और जगत् मुझमें, अपितु भगवान् मेरे अंदर हैं और मैं भगवान् में। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि भगवान् अपने अस्तित्व के लिये मनुष्य पर निर्भर हैं बल्कि यह कि वे अपने-आपको उसमें अभिव्यक्त करते हैं जिसे वे अपने अंदर अभिव्यक्त करते हैं। व्यष्टि परात्पर में निवास करता है लेकिन पूरा परात्पर व्यष्टि में छिपा हुआ है। और आगे मैं अपनी सत्ता में भगवान् के साथ एक हूं फिर भी अपने अनुभवों में मैं उनके साथ संबंध रख सकता हूं। मैं, मुक्त व्यक्ति, भगवान् की परात्परता में उनके साथ एक होकर उनका भोग कर सकता हूं और साथ-ही-साथ अन्य व्यक्तियों में और भगवान् की वैश्व सत्ता में भी भगवान् का रस ले सकता हूं। स्पष्ट है कि हम निरपेक्ष के साथ कुछ ऐसे प्राथमिक संबंधों पर आ गये हैं जो मन की समझ में तभी आ सकते हैं जब हम यह देख सकें कि परात्पर, व्यक्ति और वैश्व सत्ता चेतना की शाश्वत शक्तियां हैं—हम फिर से एक पूरी तरह अमूर्त भाषा में आ गिरे हैं और इस बार उसका कोई उपाय भी नहीं। यह निरपेक्ष सत् एक एकत्व है फिर भी एकत्व से अधिक। वह अपने-आपको हमारे अंदर अपनी ही चेतना के आगे इस रूप में व्यक्त करता है लेकिन इसे मानव भाषा में उपयुक्त रूप से नहीं कहा जा सकता और हमें यह आशा भी न करनी चाहिये कि हम नकारात्मक या सकारात्मक शब्दों द्वारा अपनी बुद्धि के लिये इसका वर्णन कर सकेंगे। हम बस इतनी आशा कर सकते हैं कि अपनी भाषा की अधिक-से-अधिक शक्ति का उपयोग करके इसका संकेत भर दे दें।

लेकिन साधारण मन, जिसे इन चीजों का कोई अनुभव नहीं है, जो चीजें मुक्त चेतना के लिये इतने सबल रूप से वास्तविक हैं, उनके विरुद्ध विद्रोह कर सकता है जो उसे बौद्धिक विरोधों से बढ़कर नहीं मालूम होतीं। वह कह सकता है, "मैं भली-भांति जानता हूं कि निरपेक्ष क्या है, वही है जिसके अंदर कोई संबंध नहीं है। निरपेक्ष और सापेक्ष ऐसे विरोधी हैं जिनमें समाधान नहीं हो सकता। सापेक्ष में कहीं कोई चीज निरपेक्ष नहीं होती और निरपेक्ष में कोई चीज सापेक्ष नहीं हो सकती। कोई भी चीज जो मेरे विचार की इस प्रथम सामग्री को नकारती है, बौद्धिक रूप से मिथ्या और व्यावहारिक रूप से असंभव है। ये दूसरे वक्तव्य भी मेरे विरोधों के नियम का विरोध करते हैं जो कहता है कि दो विरोधी और टकरानेवाले प्रतिपादन हों तो दोनों ही सच्चे नहीं हो सकते। यह असंभव है कि भगवान् के साथ ऐक्य भी हो और साथ ही कोई संबंध भी हो जैसे भगवान् के इस उपभोग का संबंध। ऐक्य में उस एक के सिवा कोई भोक्ता नहीं होता और उस एक के सिवा कोई भोग्य भी नहीं होता। भगवान्, व्यक्ति और विश्व तीन अलग-अलग वास्तविकताएं होनी चाहियें अन्यथा उनके बीच कोई संबंध नहीं हो सकता। या तो वे शाश्वत काल से भिन्न हैं या फिर वे वर्तमान काल में भिन्न हैं, यद्यपि ऐसा हो सकता है कि मूलतः एक अभिन्न सत्ता रहे हों और हो सकता है

कि अंततः फिर से अभिन्न सत्ता हो जायें। ऐक्य शायद रहा हो और शायद हो भी जाये लेकिन अभी तो नहीं है और तबतक नहीं हो सकता जबतक व्यक्ति और विश्व बने हुए हैं। वैश्व सत्ता परात्पर ऐक्य को केवल तभी जान सकती और अधिगत कर सकती है जब वह वैश्व न रहे। व्यष्टि भी वैश्व या परात्पर को तभी जान सकता और अधिगत कर सकता है जब वह समस्त व्यक्तित्व और व्यष्टीकरण छोड़ दे। और अगर एकत्व ही एकमात्र शाश्वत तथ्य है तो विश्व और व्यष्टि असत् हैं। वे शाश्वत द्वारा स्वयं अपने ऊपर आरोपित भ्रांतियां हैं। हो सकता है कि इससे हम ऐसे अंतर्विरोध या विरोधाभास में फंस जायें जिसका समाधान नहीं है लेकिन मैं शाश्वत में अंतर्विरोध मान लेने के लिये तैयार हूं जिस पर विचार करने के लिये मैं बाधित नहीं हूं बजाय यहां अपनी प्राथमिक धारणाओं में अंतर्विरोध को मानने के जिनके बारे में तर्कसंगत विचार करने और व्यावहारिक उद्देश्य से सोचने के लिये मैं बाधित हूं। इस मान्यता के आधार पर मैं या तो जगत् को व्यावहारिक रूप से वास्तविक मान सकता हूं और उसमें सोच सकता और क्रिया कर सकता हूं या उसे अवास्तविक मान कर अस्वीकार कर सकता हूं और सोचना और क्रिया करना बंद कर सकता हूं। मैं अंतर्विरोधों का समाधान करने के लिये बाधित नहीं हूं। न ही मुझसे यह आशा की जाती है कि मैं अपने और जगत् के परे की किसी चीज के बारे में और उसमें सचेतन होऊं और फिर भी उस आधार से जगत् के साथ व्यवहार करूं जैसे भगवान् अंतर्विरोधों के जगत् के साथ करते हैं। व्यक्ति रहते हुए भगवान् के जैसा होने का प्रयास या एक साथ तीन चीजें होने में मुझे तार्किक अस्त-व्यस्तता और व्यावहारिक असंभावना मालूम होती है।" सामान्य बुद्धि की यही वृत्ति हो सकती है और यह अपने विभेद में स्पष्ट, विशद, निश्चयात्मक है। इसमें बुद्धि की कोई ऐसी असाधारण कसरत नहीं मालूम होती जिसमें वह अपने से परे जाने की कोशिश कर रही हो और अपने-आपको छायाओं और अर्द्ध प्रकाश या किसी तरह के रहस्यवाद में खो दे या कम-से-कम एक प्रारंभिक और अपेक्षाकृत सरल रहस्यवाद है जो अन्य कठिन जटिलताओं से मुक्त है। अतः यह ऐसा तर्क है जो शुद्ध रूप से युक्ति-संगत मन के लिये सबसे अधिक संतोषजनक होता है। फिर भी यहां एक तिहरी भूल है—निरपेक्ष और सापेक्ष के बीच न पाटी जा सकनेवाली खाई बनाने की भूल, विपरीतता के नियम को अतिमात्रा में सरल और अनमनीय बनाकर उसे अति दूरतक ले जाने की भूल और जिन चीजों का मूल और प्रथम आवास शाश्वत में है उनकी उत्पत्ति की धारणा काल की अभिधाओं में करने की भूल।

निरपेक्ष से हमारा मतलब होता है कोई ऐसी चीज जो हमसे बहुत बड़ी है, हम जिस विश्व में रहते हैं उससे भी बड़ी, उस परात्पर सत्ता की परम वास्तविकता जिसे हम भगवान् कहते हैं। कोई ऐसी चीज जिसके बिना हम जो कुछ देखते हैं, हम

जिस किसी के अस्तित्व के बारे में सचेतन हैं वह हो ही न पाती, क्षण भर के लिये भी अस्तित्व में न रहती। भारतीय विचार-धारा उसे ब्रह्म कहती है और यूरोपीय विचार-धारा निरपेक्ष क्योंकि वह स्वयंभू है और सापेक्षता के सभी बंधनों से मुक्त है। क्योंकि सभी सापेक्ष चीजें किसी ऐसी चीज के कारण ही अस्तित्व रखती हैं जो उन सबका सत्य है, उनकी शक्तियों और गुणों का उद्गम और धारक है फिर भी उन सबका अतिक्रमण करती है। वह कुछ ऐसी चीज है जिसकी प्रत्येक सापेक्ष वस्तु ही नहीं बल्कि हम जितने सापेक्षों को जानते हैं उन सबका कुल योग भी—हम उनके बारे में जितना जानते हैं उसमें भी—केवल एकांगी, निम्नतर या व्यावहारिक अभिव्यक्ति हो सकती है। बुद्धि द्वारा हम देखते हैं कि ऐसे निरपेक्ष का अस्तित्व होना चाहिये, हम आध्यात्मिक अनुभव द्वारा उसके अस्तित्व के बारे में अभिज्ञ होते हैं लेकिन जब हम उसके बारे में बहुत अधिक अभिज्ञ होते हैं तब भी हम उसका वर्णन नहीं कर सकते क्योंकि हमारी भाषा और हमारे विचार केवल सापेक्ष के साथ ही व्यवहार कर सकते हैं। हमारे लिये निरपेक्ष अनिर्वाच्य है।

यहांतक कोई वास्तविक कठिनाई और अस्त-व्यस्तता नहीं होनी चाहिये। परंतु मन की विरोधों की जो आदत है, विभेदों के द्वारा और विपरीतों के जोड़ों के द्वारा सोचने की जो आदत है, उसके वशीभूत हम उसके बारे में यह कहने को प्रवृत्त होते हैं कि वह सापेक्ष की सीमाओं से बंधा नहीं है, इतना ही नहीं बल्कि वह सीमाओं से अपने-आपको मुक्त कर लेने में भी बंधा हुआ है, संबंधों की सारी शक्ति से असाध्य रूप से रीता है और अपने स्वभाव में उनके लिये असमर्थ है। उसकी सारी सत्ता में कोई ऐसी चीज है जो सापेक्षता के विरुद्ध है और शाश्वत रूप से उसके विपरीत है। अपने तर्क के इस गलत कदम की वजह से हम एक अंधी गली में जा पहुंचते हैं। हमारा अपना अस्तित्व और विश्व का अस्तित्व केवल रहस्य नहीं बल्कि न्यायतः अकल्पनीय बन जाते हैं। क्योंकि इससे हम एक ऐसे निरपेक्षतक जा पहुंचते हैं जो सापेक्षता में असमर्थ है और सभी सापेक्षों का वर्जक है और फिर भी सापेक्षता का कारण या कम-से-कम अवलंब है, सभी सापेक्षों का धारक, सत्य और पदार्थ है। तब हमारे पास इस बंद गली में से निकलने का बस एक ही न्यायसंगत अतार्किक उपाय रह जाता है। हमें यह मानना पड़ता है कि जगत् एक आत्म-प्रभावकारी भ्रांति या अवास्तविक कालगत वास्तविकता का रूप-रहित, संबंध-रहित निरपेक्ष की शाश्वतता पर अध्यारोप है। यह अध्यारोप हमारी भ्रामक व्यष्टिगत चेतना द्वारा किया जाता है जो ब्रह्म को भूल से विश्व के रूप में देखती है—जैसे आदमी रस्सी को भूल से सांप समझ लेता है। लेकिन चूंकि या तो हमारी व्यष्टिगत चेतना अपने-आप सापेक्ष है जिसे ब्रह्म सहारा देता है और केवल उसीसे अस्तित्व बनाये हुए है, वह अपने-आप वास्तविक वास्तविकता नहीं या फिर वह अपनी वास्तविकता में स्वयं ब्रह्म है, आखिर यह ब्रह्म ही है जो

हमारे अंदर अपने ऊपर यह भ्रांति आरोपित करता है और अपनी चेतना के किसी रूप में एक सत् रज्जु को भूल से असत् सर्प मान लेता है, स्वयं अपनी अनिर्देश्य शुद्ध वास्तविकता पर एक विश्व के आभास को आरोपित करता है और अगर वह उसे अपनी ही चेतना पर आरोपित नहीं करता तो वह उससे निकली हुई चेतना पर करता है जो उसी पर निर्भर है, उसका अपना माया में प्रक्षेप है। इस व्याख्या से किसी बात की व्याख्या नहीं होती। मूल विरोध जहां का तहां रहता है, कोई समाधान नहीं होता और हमने बस उसी बात को दूसरी भाषा में कह दिया। ऐसा लगता है मानों किसी व्याख्यातक बौद्धिक तर्क द्वारा पहुंचने के प्रयत्न में हमने अपनी समझौता न करनेवाली तार्किकता की भ्रांति द्वारा अपने-आपको कुहरे से ढंक लिया है। हमने निरपेक्ष पर वही आरोपण किया है जिसका हमारी अत्यंत धृष्ट तार्किकता को हमारी अपनी बुद्धि पर आरोपित करने का अभ्यास है। हमने जगत्-अभिव्यक्ति को समझने में अपनी मानसिक कठिनाई को निरपेक्ष के लिये अपने-आपको जगत् में अभिव्यक्त करने की मूल असंभावना में बदल दिया है। लेकिन स्पष्ट है कि निरपेक्ष को जगत्-अभिव्यक्ति में कोई कठिनाई नहीं होती और न ही युगपत् रूप से जगत्-अभिव्यक्ति का अतिक्रमण करने में। कठिनाई केवल हमारी मानसिक सीमाओं के कारण होती है जो हमें सांत और अनंत के एक साथ रहने की अतिमानसिक तार्किकता को समझ सकने या सोपाधिक के साथ निरुपाधिक की उलझन को पकड़ सकने से रोकती है। हमारी बौद्धिक तार्किकता के लिये ये विरोधी हैं परंतु निरपेक्ष तर्क बुद्धि के लिये एक और अभिन्न वास्तविकता की आवश्यक रूप से संघर्षरत अभिव्यक्तियां न होकर परस्पर संबद्ध हैं। अनंत सत् की चेतना हमारी मानसिक चेतना से और इन्द्रिय-चेतना से भिन्न, महत्तर और विशाल है क्योंकि वह उन्हें अपनी क्रियाओं की गौण अभिधाओं की तरह अपने अंदर समाये रहती है और अनंत सत् का तर्क हमारे बौद्धिक तर्क से अलग है। वह अपनी सत्ता के महान् आद्य तथ्य में उन सब चीजों का समाधान कर देता है जो हमारी मानसिक दृष्टि के लिये गौण तथ्यों से निकले शब्दों और भावों से संलग्न रहती हैं—ऐसी विपरीतताएं हैं जिनमें मेल नहीं बैठ सकता।

हमारी भूल यह है कि जिसकी व्याख्या हो ही नहीं सकती उसकी व्याख्या करने का प्रयत्न करते हुए हम अपने-आपको तब सफल मान लेते हैं जब हम इस निरपेक्ष का वर्णन सबको अलग कर देनेवाले नेति द्वारा कर लेते हैं। लेकिन साथ ही हम इस निरपेक्ष को एक परम अस्ति और सभी अस्तियों के कारण के रूप में मानने को बाधित होते हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि इतने सारे तीक्ष्ण बुद्धिवाले विचारक भी, जिनकी दृष्टि शाब्दिक भेदों पर न रह कर सत्ता के तथ्यों पर रही है, निरपेक्ष के बारे में यह परिणाम निकालने पर बाधित हुए कि निरपेक्ष बुद्धि की कपोल-कल्पना, शब्दों और शाब्दिक तार्किकता से उत्पन्न एक भाव है,

एक शून्य है, असत् है, और उन्हें यह निष्कर्ष निकालना पड़ा कि एक शाश्वत संभूति ही हमारी सत्ता का एकमात्र सत्य है। प्राचीन ऋषियों ने निश्चय ही ब्रह्म के बारे में नकारात्मक ढंग से कहा है। उन्होंने कहा नेति नेति, वह यह नहीं है। वह वह नहीं है लेकिन उन्होंने उसके बारे में सकारात्मक ढंग से कहने की सावधानी भी बरती। उन्होंने यह भी कहा कि वह यह है, वह वह है, वह सब कुछ है, क्योंकि उन्होंने देख लिया था कि उसे नकारात्मक या सकारात्मक परिभाषाओं की सीमा में बांधना उसके सत्य से च्युत होना होगा। उन्होंने कहा, ब्रह्म अन्न है, प्राण है, मन है, अतिमानस है, वैश्व आनंद है, सच्चिदानंद है फिर भी वास्तव में इनमें से कोई चीज उसकी व्याख्या नहीं कर सकती, सच्चिदानंद के बारे में हमारी बड़ी-से-बड़ी धारणा भी नहीं। दुनिया में, जैसा कि हम उसे देखते हैं, हमारी मानसिक चेतना के लिये चाहे हम जितनी ऊंची उड़ान क्यों न भरें, हम पाते हैं कि हर इति के साथ एक नेति है। लेकिन नेति शून्य नहीं है—वस्तुतः जो शून्य प्रतीत होता है वह शक्ति से भरा है, सत्ता की शक्ति से ओत-प्रोत है, प्रस्तुत या संभाव्य अंतर्गत पदार्थों से भरा है। न ही नेति का अस्तित्व उसके साथ मेल खानेवाली इति को असत् या अवास्तविक बना देता है। वह केवल इति को वस्तुओं के सत्य के बारे में बल्कि स्वयं इति के अपने सत्य के बारे में एक अपूर्ण कथन बना देता है। क्योंकि इति और नेति न केवल साथ-साथ रहते हैं बल्कि एक दूसरे के साथ संबंध में और एक दूसरे के द्वारा रहते हैं। वे एक दूसरे की पूर्ति करते हैं और उस समग्र दृष्टि में, जिसे सीमित मन नहीं पा सकता, एक दूसरे की व्याख्या करते हैं। हर एक अपने-आपमें नहीं जाना जा सकता। हम उसे उसके गभीरतर सत्य में तभी जानना शुरू करते हैं जब हम उसमें उसके प्रतीयमान विरोधों के संकेत पढ़ना शुरू करते हैं। हमारी बुद्धि को निरपेक्ष की ओर इस तरह के एक गभीरतर उदार अंतर्भास द्वारा जाना चाहिये; अपवर्जक तार्किक विरोध द्वारा नहीं।

निरपेक्ष के इति हमारी चेतना को दिये गये उसके अपने बारे में विभिन्न कथन हैं। उसके नेति निरपेक्ष इति के शेष को ले आते हैं और इस तरह पहले कथनों के द्वारा लगायी गयी सीमाओं का खंडन होता है। हमें उसके विशाल प्राथमिक संबंधों को लेना होगा जैसे सांत और अनंत, सोपाधिक और निरुपाधिक, सगुण और निर्गुण। इनमें से हर एक युग्म में नेति अपने से मेल खाने वाले इति की सारी शक्ति को छिपाये रहता है, जो उसमें समायी रहती है और उसमें से उभरती है। उनमें कोई वास्तविक विरोध नहीं होता । सत्यों के जरा कम सूक्ष्म क्रम में हमें परात्पर और वैश्व, वैश्व और व्यष्टि मिलते हैं। हमने देखा है कि इन युग्मों में से हर एक अपने विरोधी दीखनेवाले तत्त्व में समाया होता है। वैश्व अपने-आपको व्यष्टि में विशिष्ट बनाता है, व्यष्टि अपने अंदर वैश्व की सभी सामान्यताओं को समाये रहता है। वैश्व चेतना अपना सब कुछ अनगिनत व्यष्टियों के वैचित्र्यों के द्वारा पाती है

विभिन्नताओं को दबाकर नहीं। वैयक्तिक चेतना अपनी पूरी संपूर्ति पाती है वैश्व बनकर, वैश्व चेतना के साथ सहानुभूति और तादात्म्य में प्रवेश करके न कि अपने-आपको अहं में सीमित करके। इसी तरह वैश्व अपनी पूरी सत्ता में और अपने अंदर की हर चीज में परात्पर की पूर्ण अंतर्व्याप्ति को समाये रखता है, वह अपनी परात्पर सद्वस्तु की चेतना द्वारा अपने-आपको विश्व सत्ता के रूप में बनाये रखता है। वह प्रत्येक व्यष्टिगत सत्ता में उस सत्ता तथा अन्य सभी भूतों में दिव्य और परात्पर की अनुभूति द्वारा अपने-आपको पाता है। परात्पर विश्व को समाये रखता है, उसे अभिव्यक्त करता, उसका उपादान होता और उसे अभिव्यक्त करने में—यदि हम इस शब्द 'कोसमोस' को उसके प्राचीन काव्यमय अर्थ में लें तो—अपनी अनंत सामंजस्यपूर्ण विविधताओं को अभिव्यक्त या पुनः प्राप्त करता है। लेकिन सापेक्ष के निचले क्रमों में भी हम इति और नेति का यह खेल देखते हैं और हमें उनकी अभिधाओं के बीच दिव्य सामंजस्य लाकर—उनकी कतर-व्योंत करके या उनके विरोध को कटु सीमातक पहुंचा कर नहीं—निरपेक्षतक पहुंचना होता है। क्योंकि वहां निरपेक्ष में यह सारी सापेक्षता, निरपेक्ष का यह सब वैचित्र्यमय छन्दोबद्ध आत्मकथन अपना पूर्ण निषेध नहीं बल्कि अपने अस्तित्व का कारण और अपना औचित्य पाता है, अपने-आपको मिथ्या होने का अपराधी नहीं पाता बल्कि अपने सत्य के स्रोत और तत्त्व पाता है। विश्व और व्यष्टि निरपेक्ष के अंदर किसी ऐसी चीज में चले जाते हैं जो व्यक्तित्व का सच्चा सत्य है, वैश्व सत्ता का सच्चा सत्य है, उनका निषेध नहीं और उनके मिथ्यात्व का विश्वास नहीं। निरपेक्ष संदेहवादी तार्किक नहीं है जो अपने सभी आत्म-कथनों और आत्माभिव्यक्तियों के सत्य का खंडन करे बल्कि उसके अस्तित्व का अस्तिभाव इतना चरम और अनंत है कि ऐसा कोई भी सांत इति भाव नहीं गढ़ा जा सकता जो उसे निःशेष कर दे या अपनी परिभाषा में बांध सके।

यह तो स्पष्ट ही है कि अगर निरपेक्ष का सत्य ऐसा है तो हम उसे अपने विरोधों के नियमों से नहीं बांध सकते। यह नियम हमारे लिये जरूरी है ताकि हम एकांगी और व्यावहारिक सत्यों को मान सकें और चीजों को स्पष्ट, निर्णायक और उपयोगी ढंग से सोच सकें और अपने देश के विभागों, आकार और गुणों के भेदों और काल के क्षणों के अनुसार विशेष प्रयोजनों के लिये प्रभावकारी ढंग से उनका वर्गीकरण कर सकें, उनके साथ क्रिया और व्यवहार कर सकें। यह अस्तित्व के रूपात्मक और प्रबल रूप से गतिशील सत्य का उसकी व्यावहारिक क्रियाओं में निरूपण करता है। यह वस्तुओं की बाह्यतम जड़-विधाओं में सबसे अधिक मजबूत होता है लेकिन जैसे-जैसे हम सोपान पर ऊपर चढ़ते हैं, सत्ता की सीढ़ी के सूक्ष्म डंडों पर ऊपर उठते हैं, वह कम और कम कठोर रूप से बाध्य होता जाता है। भौतिक व्यापारों और शक्तियों के साथ व्यवहार करने में यह हमारे लिये

विशेष रूप से जरूरी है। हमें उन्हें एक समय एक ही चीज मानना होता है, उनमें एक समय एक ही शक्ति माननी होती है और मानना होता है कि वे अपने बाहरी और व्यावहारिक फलप्रद सामर्थ्यों और गुणों से सीमित हैं अन्यथा हम उनके साथ व्यवहार नहीं कर सकते। लेकिन यहां भी, जैसा कि मानव विचार अनुभव करने लगा है, बुद्धि द्वारा किये गये भेद और विज्ञान के वर्गीकरण और क्रियात्मक परीक्षण, जब कि वे अपने क्षेत्र में और अपने उद्देश्य के लिये तो पूरी तरह मान्य होते हैं फिर भी वे वस्तुओं के समग्र या वास्तविक सत्य का निरूपण नहीं करते, न तो सब चीजों को मिलाकर और न अपने-आपमें उस चीज का निरूपण ही करते हैं जिसे हमने वर्गीकरण करके कृत्रिम रूप से अलग रख दिया है, पृथक् विश्लेषण के लिये विविक्त कर दिया है। वस्तुतः इस तरह अलग करने से हम उसके साथ बहुत क्रियात्मक और बहुत प्रभावकारी ढंग से व्यवहार कर सकते हैं और पहले हम सोचते हैं कि हमारी क्रिया की प्रभावकारिता हमारे सारे पृथक् करनेवाले, विश्लेषणात्मक ज्ञान के सत्य का पूरा-पूरा पर्याप्त प्रमाण है, बाद में हमें पता लगता है कि इसके परे जाकर हम ज्यादा बड़े सत्य और अधिक प्रभावकारिता तक पहुंच सकते हैं।

अलग करना निश्चय ही प्रथम ज्ञान के लिये जरूरी है। हीरा हीरा है और मोती मोती, हर चीज अपने वर्ग की है और अन्य सभी से अपने भेद के कारण अस्तित्व रखती है। हर एक अपने ही रूप और गुणों के कारण विशिष्ट है। लेकिन प्रत्येक में ऐसे गुण और तत्त्व भी हैं जो दोनों में समान हैं और ऐसे गुण और तत्त्व भी हैं जो सामान्य भौतिक वस्तुओं में होते हैं। और वस्तुतः हर एक का अस्तित्व केवल अपनी विशिष्टताओं के कारण ही नहीं है बल्कि मूल रूप से कहीं अधिक उसके द्वारा है जो दोनों में समान है। और हम सभी भौतिक चीजों के उस आधारभूत और स्थायी सत्य पर लौट आते हैं जब हम देखते हैं कि सभी एक ही चीज है, एक ऊर्जा, एक पदार्थ या तुम यूं कहना चाहो तो एक विश्व गति है जो अपनी निजी सत्ता के इन भिन्न-भिन्न रूपों, विभिन्न गुणों, इन निश्चित और सामंजस्यपूर्ण शक्यताओं को ऊपर फेंकती, बाहर लाती, जोड़ती और संसिद्ध करती है। अगर हम विभेद करनेवाले उस ज्ञान पर ही रुक जायें तो हम केवल हीरे-मोती के साथ बस उसी तरह व्यवहार कर सकते हैं जैसे वे हैं, उनके मूल्य, उनके उपयोग, प्रकार निश्चित कर सकते हैं। सामान्य रूप से उनका अच्छे-से-अच्छा उपयोग और उनसे लाभ प्राप्त कर सकते हैं लेकिन अगर हम उनमें तत्त्वों के ज्ञान और नियंत्रणतक पहुंच सकें और वे जिस वर्ग के हैं उस वर्ग के सामान्य गुणों को जान सकें तो हम उस शक्तितक पहुंच सकते हैं जिसके द्वारा अपनी खुशी से हीरा या मोती बना सकें, और भी आगे जाकर उस चीज पर अधिकार पा सकें जो सभी भौतिक चीजें अपने सार तत्त्व में हैं, हम रूपांतरकारी उस शक्तितक भी पहुंच सकते हैं जो जड़-

भौतिक प्रकृति पर अधिक-से-अधिक संभव नियंत्रण पा सकती हैं। इस तरह विभेदों का ज्ञान अपने बड़े-से-बड़े सत्य और प्रभावकारी उपयोगतक पहुंचता है जब हम उसके गभीरतर ज्ञानपर पहुंच जाते हैं जो सभी विभिन्नताओं के पीछे स्थित ऐक्य में विभेदों का समाधान करता है। वह गभीरतर ज्ञान उस दूसरे सतही ज्ञान को प्रभावकारिता से वंचित नहीं कर देता और न उसे व्यर्थ होने का दोषी ठहराता है। हम अपने अंतिम भौतिक आविष्कार से यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि कोई मौलिक द्रव्य या जड़-पदार्थ है ही नहीं, केवल ऊर्जा है जो पदार्थ को अभिव्यक्त करती है या पदार्थ के रूप में अभिव्यक्त होती है; कि हीरा और मोती अस्तित्वहीन, अवास्तविक हैं, केवल हमारी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के भ्रम के लिये ही सच्चे हैं, कि केवल एक पदार्थ, ऊर्जा या गति एकमात्र शाश्वत सत्य है अतः हमारे विज्ञान का सबसे अच्छा या एकमात्र न्यायपूर्ण उपयोग होगा हीरे, मोती और अन्य सभी चीजों को, जिन्हें हम विघटित कर सकते हैं, उन सबको उस एक शाश्वत और आदि वस्तु में विघटित कर दें और उनके रूपों और गुणों का सदा के लिये अंत कर दें। लेकिन चीजों का एक सारतत्त्व होता है, चीजों की एक सामान्यता होती है, चीजों का एक व्यक्तित्व होता है। सामान्यता और व्यक्तित्व उस सारतत्त्व की सच्ची और शाश्वत शक्तियां होती हैं जो उन दोनों का अतिक्रमण करता है। लेकिन तीनों मिलकर, कोई भी अलग अपने-आपमें नहीं, अस्तित्व के शाश्वत तत्त्व हैं।

यह सत्य जिसे हम, कठिनाई के साथ और काफी प्रतिबंधों के आधीन, जड़-जगत् में भी देख पाते हैं, जहां सत्ता की सूक्ष्म और उच्चतर शक्तियों को अपनी बौद्धिक क्रियाओं से अलग रखना पड़ता है, वह सत्य जब हम सोपान पर चढ़ते हैं तो और अधिक स्पष्ट और अधिक शक्तिशाली बन जाता है। हम अपने वर्गीकरण और विभेदों के सत्य को देखते हैं पर साथ ही उनकी सीमाओं को भी। सभी चीजें भिन्न होते हुए भी एक हैं। व्यावहारिक प्रयोजनों के लिये वनस्पति, पशु और मनुष्य अलग-अलग सत्ताएं हैं लेकिन जब हम ज्यादा गहराई में देखते हैं तो मालूम होता है कि वनस्पति बस एक ऐसा पशु है जिसमें आत्म-चेतना और क्रियाशील शक्ति का अपर्याप्त विकास हुआ है, पशु मनुष्य है लेकिन अभी बनने की प्रक्रिया में है। मनुष्य अपने-आप वही पशु है लेकिन उसमें कुछ अधिक आत्म-चेतना और चेतना की क्रियाशील शक्ति है जो उसे मनुष्य बनाती है और इस पर भी वह कुछ अधिक है जो उसकी सत्ता में दिव्यता की शक्यता के रूप में समाया और दबा हुआ है, वह बनने की प्रक्रिया में देव है। इनमें से हर एक में वनस्पति, पशु, मनुष्य, देव में शाश्वत अपने-आपको मानों समोये और दबाये हुए है ताकि अपनी सत्ता का कोई विशेष निरूपण कर सके। हर एक समग्र शाश्वत है पर है छिपा हुआ। स्वयं मनुष्य जो उस सबको लिये हुए है जो उससे पहले गुजर चुका है और

जिसे वह मनुष्यत्व में बदल लेता है, वैयक्तिक मानव सत्ता है और साथ ही समस्त मानव जाति भी। वह विश्व-मानव है जो व्यष्टि में, मानव व्यक्तित्व के रूप में क्रिया करता है। वह सर्व है फिर उसका एक अपना रूप है जो अद्वितीय है। वह जो है सो है लेकिन वह जो कुछ रह चुका है उस सबका भूत भी है और जो कुछ नहीं है उस सबकी संभाव्यता भी है। हम उसके केवल वर्तमान व्यक्तित्व को देखकर उसे नहीं समझ सकते लेकिन हम उसे तब भी नहीं समझ सकते अगर हम उसकी सामान्यता, उसकी साधारण मनुष्यत्व की अवस्था को देखें या इन दोनों को छोड़कर फिर से उसकी सत्ता के सारतत्त्व को देखें जिसमें उसकी उसे विशेषता देनेवाली मानवता और विशिष्ट बनानेवाला व्यक्तित्व दोनों गायब होते मालूम होते हैं। हर चीज निरपेक्ष है, सभी वह तत् है लेकिन इन तीन परिभाषाओं में निरपेक्ष अपनी विकसित आत्मसत्ता का निरूपण करता है। सारगत एकत्व के कारण हम यह कहने के लिये बाधित नहीं हैं कि ईश्वर के सभी नाना प्रकार के काम और क्रिया-कलाप व्यर्थ, मूल्यहीन, अवास्तविक, प्रातिभासिक और भ्रामक हैं और अपने ज्ञान का जो सबसे अच्छा युक्तियुक्त या अतिबौद्धिक उपयोग हम कर सकते हैं वह यह है कि हम उनसे दूर हट जायें, अपने वैश्व और वैयक्तिक जीवन का सार-सत्ता में विलय कर दें और हमेशा के लिये समस्त संभूति को एक व्यर्थता मानकर उससे पिंड छुड़ा लें।

जीवन के व्यावहारिक व्यापारों में भी हमें उसी सत्य पर पहुंचना होता है। किन्हीं विशेष प्रयोजनों से हमें कहना पड़ता है कि एक चीज अच्छी या बुरी है, सुंदर या कुरूप है, उचित या अनुचित है और उस कथन के अनुसार कार्य करना होता है, लेकिन अगर हम अपने-आपको उससे सीमित कर लें तो हम वास्तविक ज्ञानतक नहीं पहुंचते। यहां विरोध का नियम उसी हदतक प्रामाणिक है जहांतक यह कहा जाये कि दो अलग-अलग और विरोधी उक्तियां किसी एक ही चीज के संबंध में, एक समय में, एक ही क्षेत्र में, एक ही प्रसंग में, एक ही दृष्टिकोण से और एक ही व्यावहारिक प्रयोजन के लिये सत्य नहीं हो सकतीं। उदाहरण के लिये महायुद्ध, विनाश या हिंसात्मक, सब कुछ उलट-पुलट कर देनेवाली क्रांतियां हमारे सामने अशुभ के रूप में, एक सांघातिक अव्यवस्था के रूप में आ सकती हैं और अमुक दृष्टियों से, परिणामों से और देखने के तरीकों से ऐसा है भी लेकिन एक और दृष्टि से यह एक महान् शुभ हो सकता है क्योंकि वह तेजी से एक नये शुभ या संतोषजनक व्यवस्था के लिये मैदान साफ कर देता है। कोई मनुष्य केवल अच्छा या केवल बुरा नहीं है, हर मनुष्य विरोधों का मिश्रण है। यहांतक कि हम इन विरोधों को एक ही भावना में, एक ही क्रिया में जटिल रूप से मिला-जुला पाते हैं। हर तरह के परस्पर संघर्षरत गुण, शक्तियां, मूल्य आपस में मिलते हैं और हमारी क्रिया, जीवन और स्वभाव बनाने के लिये एक-दूसरे में धंस जाते हैं। हम

पूरी तरह तभी समझ सकते हैं अगर हम निरपेक्ष का कुछ ज्ञान पा लें और साथ ही सभी सापेक्षों में, जो अभिव्यक्त किये जा रहे हैं, उसकी क्रियाओं को देखें—केवल हर एक को अपने-आपमें न देखें बल्कि हर एक को सर्व के संबंध में देखें और उसके संबंध से देखें जो उनके परे है और उनमें समाधान लाता है। वस्तुतः हम तभी जान सकते हैं जब हम वस्तुओं में भगवान् की दृष्टि और उसके प्रयोजनतक पहुंच सकें, केवल अपनी ही दृष्टि और प्रयोजन को न देखें, यद्यपि हमारी सीमित मानव दृष्टि और क्षणिक प्रयोजन भी सर्व के संगठन में मान्य है। क्योंकि सभी सापेक्षों के पीछे यह निरपेक्ष है जो उन्हें उनकी अपनी सत्ता और उनका औचित्य प्रदान करता है। संसार में कोई विशेष क्रिया या व्यवस्था अपने-आपमें निरपेक्ष न्याय नहीं है लेकिन सभी क्रियाओं और व्यवस्थाओं के पीछे कुछ निरपेक्ष चीज है जिसे हम न्याय कहते हैं, जो अपने-आपको उनकी सापेक्षताओं के द्वारा व्यक्त करती है और जिसे हम अनुभव कर सकते हैं अगर हमारी दृष्टि और हमारा ज्ञान, जैसे कि वे अभी हैं, एकांगी, सतही, कुछ दृश्यमान तथ्यों और आभासोंतक सीमित न होकर व्यापक होते। इसी भांति एक निरपेक्ष शुभ और निरपेक्ष सुंदरता भी है लेकिन हम उसकी एक झांकी तभी पा सकते हैं जब हम सभी चीजों का निष्पक्ष भाव से आलिंगन करें और उनके बाहरी रूपों के परे उस तत्त्वतक पहुंच जायें जिसे वे सब और हर एक अपनी जटिल विधाओं से व्यक्त और कार्यान्वित करने की कोशिश कर रहा है। वह अनिर्दिष्ट नहीं है, निरपेक्ष है क्योंकि अनिर्दिष्ट मूल उपादान होने के कारण या निर्दिष्टों की घनी अवस्था होने के कारण अपने-आपमें कुछ भी नहीं समझा सकता। निश्चय ही हम इससे उल्टे तरीके का भी अनुसरण कर सकते हैं जिसमें सभी चीजों को तोड़कर, उन्हें समग्र रूप में तथा उसके संबंध में देखने से इंकार कर सकते हैं जो उन्हें न्याय-संगत ठहराता है और इस तरह हम सभी वस्तुओं के परम अशुभ, परम अन्याय, परम कुरूपता, पीड़ा, तुच्छता, हीनता और असारता की बौद्धिक धारणा बना लेते हैं। परंतु यह अज्ञान की पद्धति को उसकी पराकाष्ठातक ले जाना होगा जिसकी दृष्टि विभाजन पर आधारित है लेकिन हम इस तरह दिव्य क्रियाओं के साथ उचित व्यवहार नहीं कर सकते। चूंकि निरपेक्ष अपने-आपको ऐसे सापेक्षों के द्वारा व्यक्त करता है जिनके रहस्यों की थाह लेना हमें कठिन मालूम होता है, चूंकि हमारी सीमित दृष्टि को हर चीज विरोधों और नेतियों का बेमतलब खेल या परस्पर-विरोधों का ढेर मालूम होती है इसलिये हम ऐसा निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि हमारी प्रथम सीमित दृष्टि ही ठीक है या सब कुछ मन का व्यर्थ भ्रम है और उसमें कोई वास्तविकता नहीं। न ही हम इस सबका समाधान ऐसे आदि समाधानरहित विरोध से कर सकते हैं जिसे और सब का समाधान करना है। मानव बुद्धि हर एक विरोध को एक अलग और निश्चयात्मक मूल्य देकर या एक विरोध से पिंड छुड़ाने के लिये दूसरे से पूरी

तरह इंकार करके भूल करती है। लेकिन जिन विरोधों में किसी तरह का समन्वय नहीं हो पाया या जिनका मूल और जिनकी सार्थकता उनके विरोध से परे किसी चीज में नहीं मिली ऐसे विरोधों के जोड़ों को अंतिम और निर्णायक सत्य मानने से जब मानव बुद्धि इंकार करती है तो यह इंकार ठीक होता है।

अस्तित्व के आदि विरोधों का समाधान या उनकी व्याख्या हम अपनी काल-संबंधी धारणा का आश्रय लेकर नहीं कर सकते। काल के संबंध में जहांतक हम जानते या धारणा बना सकते हैं वह वस्तुओं का अनुक्रम के अनुसार अनुभव करने का एक साधन है। यह एक अवस्था या अवस्थाओं का कारण है, वह सत्ता के अलग-अलग स्तरों पर अलग-अलग होता है, यहांतक कि एक ही लोक में अलग-अलग सत्ताओं के लिये बदलता है, मतलब यह कि यह निरपेक्ष नहीं है और निरपेक्ष के प्रारंभिक संबंधों की व्याख्या नहीं कर सकता। वे संबंध अपने-आपको काल के द्वारा व्योरे में कार्यान्वित करते हैं और हमारी मनोमय और प्राणिक सत्ता को काल द्वारा निर्धारित होते प्रतीत होते हैं। लेकिन यह प्रतीति हमें उनके उद्गम और तत्त्वों की ओर वापिस नहीं ले जाती। हम सोपाधिक और निरुपाधिक का भेद करते हैं और कल्पना कर लेते हैं कि काल की किसी तिथि पर निरुपाधिक ही सोपाधिक हो गया, सांत. अनंत बन गया और काल की किसी और तिथि पर वह सांत होना बंद कर देगा क्योंकि व्योरों में, विशिष्टताओं और वस्तुओं की इस या उस पद्धति के प्रसंग में हमें ऐसा ही दिखायी देता है, लेकिन अगर हम अस्तित्व को समग्र रूप में देखें तो हम देखते हैं कि सांत और अनंत एक साथ रहते हैं, एक दूसरे में और एक दूसरे के द्वारा रहते हैं। अगर हमारा विश्व काल में छन्दोबद्ध रूप से विलीन और फिर से प्रकट होता रहे, जैसा कि पुराना विश्वास था तो भी यह एक बड़ा व्योरा मात्र होगा। इससे यह नहीं प्रकट होगा कि किसी क्षण-विशेष में समस्त उपाधिक का अनंत अस्तित्व के पूरे विस्तार में अवसान हो जाता है और सर्व सत् का पूरा क्षेत्र निरुपाधिक बन जाता है। किसी और क्षण वह फिर से वास्तविकता या उपाधियों का बाहरी रूप धारण कर लेता है। प्रथम उद्गम और प्रथम संबंध हमारे मानसिक काल-विभाजन के परे, दिव्य कालातीतता में या अविभाज्य या शाश्वत काल में निवास करता है। विभाजन और अनुक्रम तो इस मानसिक अनुभूति में आये उस काल के आकार मात्र हैं।

वहां हम सबको मिलते देखते हैं और देखते हैं कि वहां अस्तित्व के सभी तत्त्व, अस्तित्व की सभी स्थायी वास्तविकताएं—क्योंकि सत्ता के तत्त्व के रूप में सांत भी उतना ही स्थायी है जितना अनंत—निरपेक्ष के किसी ऐकांतिक एकत्व में नहीं बल्कि मुक्त एकत्व में एक दूसरे के साथ प्राथमिक संबंध में रहते हैं और भौतिक या मानसिक जगत् में वे जिस तरह हमारे सामने आते हैं वह उनकी दूसरी, तीसरी या और भी नीचे की सापेक्षताओं में चरितार्थ होना ही है। निरपेक्ष स्वयं अपने

विपरीत नहीं हो गया है और किसी विशेष तारीख पर उसने वास्तविक या अवास्तविक सापेक्षताओं को धारण नहीं कर लिया है जिसमें वह मूलतः असमर्थ था, और न ही किसी चमत्कार से एक बहु बन गया है, न निरुपाधिक सोपाधिक में खिसक गया है, न निर्गुण सगुण में अंकुरित हो गया है। ये विरोध केवल हमारी मानसिक चेतना की सुविधाएं हैं, अविभाज्य के हमारे विभाजन हैं। वे जिन चीजों का निरूपण करते हैं वे कपोल कल्पनाएं नहीं, वास्तविकताएं हैं लेकिन अगर उन्हें एक दूसरे के विरोध में ऐसे रख दिया जाये जिसका समाधान नहीं, या एक दूसरे से अलग रखा जाये तो उनका ठीक ज्ञान नहीं होता क्योंकि निरपेक्ष की सर्व-दृष्टि में समाधान-रहित विरोध या उनके अलगाव हैं ही नहीं। यह केवल हमारे वैज्ञानिक विभाजन और तत्त्वदार्शनिक विभेदों की कमजोरी नहीं है बल्कि हमारी ऐकांतिक आध्यात्मिक उपलब्धियों की भी क्योंकि उनतक पहुंचने के लिये हमें अपनी सीमा बांधने और विभाजन करनेवाली मानसिक चेतना से आरंभ करना पड़ता है। हमें अपनी बुद्धि को उस सत्य की ओर ले जाने में सहायता देने के लिये, जो उसका अतिक्रमण करता है, ये तत्त्वदार्शनिक विभेद करने पड़ते हैं, क्योंकि केवल इसी तरह वह वस्तुओं की पहली अविवेकी मानसिक दृष्टि की गड़बड़ से बच सकती है। लेकिन अगर हम अपने-आपको अंततक इनसे बांधे रखें तो जिन्हें प्रथम सहायता होना चाहिये था उन्हें हम जंजीरें बना लेंगे। हमें उन स्पष्ट आध्यात्मिक सिद्धियों का भी उपयोग करना चाहिये जो शुरू में एक दूसरे से उल्टी मालूम होती हैं क्योंकि मानसिक सत्ता होने के नाते हमारे लिये यह मुश्किल या असंभव है कि जो चीज हमारी मानसिकता के परे है उसे हम एकदम बड़े पैमाने पर या पूरी तरह पकड़ सकें लेकिन अगर हम उन्हें एकमात्र सत्य मानकर बौद्धिक रूप दे देते हैं तो भूल करते हैं, उसी तरह जैसे जब हम यह प्रतिपादित करते हैं कि निर्गुण को ही एकमात्र चरम उपलब्धि होना चाहिये और बाकी सब माया की सृष्टि होनी चाहिये या जब हम यह घोषणा करें कि सगुण ही वह चरम है और निर्गुणता को अपनी आध्यात्मिक अनुभूति में से अलग कर दें। हमें देखना यह चाहिये कि महान् आध्यात्मिक जिज्ञासुओं की ये दोनों उपलब्धियां अपने-आपमें समान रूप से प्रामाणिक हैं और एक-दूसरे के विरोध में समान रूप से अप्रामाणिक। वे एक और समान सद्वस्तु हैं जिसका दो-दो पक्षों से अनुभव किया गया है, और दोनों एक दूसरे के पूर्ण ज्ञान और अनुभूति के लिये आवश्यक हैं और उसके ज्ञान और अनुभूति के लिये भी जो वे दोनों हैं। एक और बहु, अनंत और सांत, परात्पर और वैश्व, व्यष्टि और वैश्व के साथ भी यही बात है; प्रत्येक अपने-आप होता हुआ दूसरा भी है और दोनों में से किसी को भी तबतक पूरी तरह नहीं जाना जा सकता जबतक कि दूसरे को न जाना जाये और उनके विरोध के आभास का अतिक्रमण न किया जाये।

तो हम देखते हैं कि एकमेव सत्ता के तीन पद हैं : परात्पर, वैश्व और व्यष्टि और इनमें से हर एक सदा गुप्त रूप से या प्रत्यक्ष रूप से बाकी दो को समाये रहता है। परात्पर हमेशा अपने ऊपर अधिकार रखता है और बाकी दोनों पर अपनी कालगत संभावनाओं के आधार के रूप में नियंत्रण रखता है। वह है भगवान्, शाश्वत, सब पर अधिकार रखनेवाली दिव्य चेतना, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक जो सभी सत्ता को अनुप्राणित करता, उनका आलिंगन और उनपर शासन करता है। यहां धरती पर मानव सत्ता तीसरे पद, व्यष्टि की उच्चतम शक्ति है क्योंकि केवल वही आत्माभिव्यक्ति की उस गति को जो हमारे आगे अज्ञान और ज्ञान की दो विधाओं के बीच दिव्य चेतना के प्रतिविकास और विकास के रूप में प्रकट होती है उसे उसके महत्त्वपूर्ण निर्णायक मोड़ पर कार्यान्वित कर सकती है। व्यक्ति में जो यह शक्ति है कि वह आत्मज्ञान के द्वारा अपनी चेतना में परात्पर और वैश्व के साथ, एकमेव सत् और सभी सत्ताओं के साथ अपना एकत्व पा सकता है, उस ज्ञान में निवास कर सकता है और उसके द्वारा अपने जीवन का रूपांतर कर सकता है, यही वह चीज है जो व्यक्ति द्वारा दिव्य आत्माभिव्यक्ति के कार्य को संभव बनाती है और व्यक्ति का—किसी एक का नहीं सबका—दिव्य जीवनतक जा पहुंचना उस गति का एकमात्र उद्देश्य है जिसकी कल्पना की जा सकती है। व्यष्टि का अस्तित्व निरपेक्ष की किसी आत्मा की भूल नहीं है जिसका उसे बाद में पता चलता है। क्योंकि यह असंभव है कि निरपेक्ष आत्म-अभिज्ञता या कोई ऐसी चीज जो उसके साथ एकात्म है, वह अपने ही सत्य और अपनी ही सामर्थ्यों के बारे में अनभिज्ञ हो और उस अज्ञान से धोखा खाकर या तो अपने बारे में कोई मिथ्या भाव बना ले जिसे उसे बाद में ठीक करना पड़े या वह किसी ऐसे असंभव जोखिम भरे काम को हाथ में ले ले जिसे बाद में छोड़ना पड़े। व्यष्टिगत सत्ता भगवान् की लीला में कोई गौण परिस्थिति भी नहीं है, यह एक ऐसी लीला है जो सुख और दुःख के कभी न रुकनेवाले चक्रों में सदा होती रहती है। स्वयं उस लीला की न तो कोई उच्चतर आशा है अथवा न कभी-कभी थोड़े से व्यक्तियों के इस अज्ञान-बंधन से बाहर निकलने का छोड़कर उसका कोई और परिणाम ही आता है। अगर मनुष्य में अपना अतिक्रमण करने की शक्ति न होती या आत्म-ज्ञान द्वारा लीला की परिस्थितियों को रूपांतरित करने की शक्ति न होती कि वह उन्हें दिव्य आनंद के सत्य के निकट और निकटतर ला सके तो हम भगवान् के कार्य के बारे में इस निर्मम और विनाशकारी दृष्टि को मानने के लिये बाधित हो जाते। उस शक्ति में ही व्यष्टिगत सत्ता का औचित्य है। व्यष्टि और वैश्व सदा अपने अंदर परात्पर सच्चिदानंद की दिव्य ज्योति, ज्ञान और आनंद को, जो हमेशा उनके ऊपर अभिव्यक्त रहता है, जो हमेशा उनके बाह्य रूपों के पीछे मौजूद रहता है, उसे अपने में उन्मीलित करें। दिव्य लीला का यही गुप्त प्रयोजन, चरम

सार्थकता है। लेकिन यह उन्मीलन उन्हीं में, उनके रूपांतर में, साथ ही उनके अध्यवसाय और पूर्ण संबंधों में भी होना चाहिये न कि उनके आत्म-विनाश में। अन्यथा उनके कभी अस्तित्व में आने का कोई कारण ही न होता। व्यक्ति में भगवान् के उन्मीलन की संभावना ही पहेली का रहस्य है और उसमें भगवान् की उपस्थिति और उन्मीलन का यह इरादा ही ज्ञान-अज्ञान के जगत् की चाबी है।

अध्याय ४

दिव्य और अदिव्य

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

(कवि) द्रष्टा, मनीषी, स्वयंभू, परिभू (जो हर जगह है) ने ही सब कुछ पूर्ण रूप से, शाश्वत काल से व्यवस्थित किया है।

ईशोपनिषद् ८

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥
. . . मम साधर्म्यमागताः ॥

ज्ञान-तप से पवित्र होकर बहुत-से मेरे भाव को प्राप्त हुए हैं . . . उन्होंने मेरे साथ साधर्म्य प्राप्त किया है।

गीता ४-१०; १४, २

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

तत् को ब्रह्म जानो, उसे नहीं जिसकी लोग यहां उपासना करते हैं।

केनोपनिषद् १. ४

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा।
सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ॥
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥

वह एक, नियंता, सभी भूतों की अंतरात्मा . . . । जैसे सारे जगत् की आंख होते हुए भी सूर्य दृष्टि के बाहरी दोषों से अछूता रहता है इसी तरह यह सभी भूतों की अंतरात्मा जगत् के दुःख से अछूती रहती है।

कठोपनिषद् ११-२. १२-११

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे . . . तिष्ठति ॥

ईश्वर सब भूतों के हृदय में निवास करते हैं।

गीता १८-६१

विश्व अनंत और शाश्वत सर्व-सत् की अभिव्यक्ति है। जो कुछ है उस सबमें दिव्य सत्ता निवास करती है। स्वयं हम अपनी आत्मा में, अपनी गभीरतम सत्ता में, वही हैं। हमारी अंतरात्मा, हमारे भीतर निवास करनेवाली चैत्य सत्ता, दिव्य चेतना और दिव्य सार का एक अंश है। हमने अपने अस्तित्व के बारे में यही दृष्टि अपनायी है लेकिन साथ ही हम दिव्य जीवन के बारे में ऐसे बोलते हैं मानों वह

विकसनशील पद्धति की पराकाष्ठा हो, लेकिन इस कथन से ऐसा लगता है कि हमारा वर्तमान जीवन अदिव्य है और हमसे नीचे का सारा जीवन भी। पहली दृष्टि में यह परस्पर-विरोध मालूम होता है। जिस दिव्य जीवन के लिये हम अभीप्सा करते हैं और जिस वर्तमान अदिव्य जीवन को हम जीते हैं उन दोनों के बीच भेद करने की जगह दिव्य अभिव्यक्ति के एक स्तर से उच्चतर स्तर की ओर आरोहण की बात करना अधिक युक्ति-युक्त होगा। यह माना जा सकता है कि अगर हम केवल भीतरी वास्तविकता पर नजर डालें और बाहरी आकार से आनेवाले सुझावों की उपेक्षा कर दें तो विकास का स्वरूप, प्रकृति में हमें जिस परिवर्तन में से गुजरना है उसका स्वरूप, तत्त्वतः ऐसा ही होगा। और वैश्व दृष्टिवाली निष्पक्ष आंख को, जो हमारे ज्ञान और अज्ञान, शुभ और अशुभ, सुख-दुःख के द्वंद्वों से पीड़ित नहीं है, जो सच्चिदानंद की अबाधित चेतना और आनंद में भाग लेती है, उसे शायद ऐसा ही लगे। फिर भी व्यावहारिक और सापेक्ष दृष्टिकोण से, जो तात्त्विक दृष्टिकोण से अलग है, दिव्य और अदिव्य के बीच के भेद का एक आग्रही मूल्य रहता है, एक सबल सार्थकता रहती है। तो यह हमारी समस्या का एक ऐसा पहलू है जिसे प्रकाश में लाना और उसका सच्चा महत्त्व आंकना जरूरी है।

दिव्य और अदिव्य जीवन के बीच जो भेद है वह वास्तव में वही मूलगत भेद है जो आत्म-अभिज्ञता और ज्योति की शक्ति में जिये गये ज्ञानमय जीवन और अज्ञानमय जीवन के बीच होता है। बहरहाल, मूल निश्चेतना में से कठिनाई के साथ धीरे-धीरे विकसित होते हुए जगत् में यह भेद अपने-आपको इसी तरह प्रस्तुत करता है। वह सारा जीवन, जिसमें यह निश्चेतना अभीतक आधार बनी हुई है, उसपर एक मूलगत अपूर्णता की छाप लगी रहती है क्योंकि अगर वह अपने प्ररूप से संतुष्ट भी हो तो यह अपूर्ण, असामंजस्यभरे, असंगतियों के थिगड़ों से संतोष करना है। इसके विपरीत एक शुद्ध रूप से मानसिक या प्राणिक जीवन भी अपनी सीमाओं में पूर्ण हो सकता है अगर वह प्रतिबद्ध परंतु सामंजस्यपूर्ण आत्म-शक्ति और आत्मज्ञान पर आधारित हो। अपूर्णता और असामंजस्य की निरंतर मुहर से बंधे रहना ही अदिव्य का चिह्न है। इसके विपरीत दिव्य जीवन चाहे वह थोड़े-से अधिक की ओर प्रगति कर रहा हो फिर भी हर भूमिका पर तत्त्वतः और ब्योरे में सामंजस्यपूर्ण होगा। वह एक सुरक्षित भूमि होगी जहां स्वाधीनता और पूर्णता अपनी उच्चतम महिमातक स्वाभाविक रूप से खिल या बढ़ सकेंगी, शुद्ध और विस्तृत होकर अपनी अधिक-से-अधिक सूक्ष्म समृद्धि में पहुंच सकेंगी। दिव्य और अदिव्य जीवन में भेद के बारे में सोचते समय हमें सभी अपूर्णताओं और सभी पूर्णताओं को दृष्टि में रखना होगा लेकिन सामान्यतः जब हम भेद करते हैं तो हम ऐसे मनुष्यों की तरह करते हैं जो जीवन के दबाव के नीचे तात्कालिक समस्याओं और जटिलताओं के बीच अपने आचरण की कठिनाइयों से दबे संघर्ष कर रहे होते हैं।

हम सबसे बढ़कर उस भेद की बात सोचते हैं जो हम अच्छे और बुरे के बीच करने के लिये बाधित होते हैं या उसकी बात द्वंद्व की, अपने अंदर सुख और दुःख के सम्मिश्रण की सजातीय समस्या के साथ मिलाकर सोचते हैं। जब हम बौद्धिक रूप से वस्तुओं में दिव्य उपस्थिति की, जगत् के दिव्य उद्गम की, जगत् की क्रियाओं पर दिव्य के शासन की खोज करते हैं तो अशुभ की उपस्थिति, दुःख पर आग्रह, प्रकृति की व्यवस्था में पीड़ा, शोक और संताप को दिया गया विस्तृत और विशाल भाग हमारे सामने ऐसे क्रूर व्यापारों के रूप में आते हैं जो हमारी बुद्धि को चकरा देते हैं और ऐसे उद्गम और शासन या सर्व-द्रष्टा, सर्व-निर्धारक, सर्वव्यापक दिव्य अंतर्व्यापकता पर मनुष्य की सहज श्रद्धा को अभिभूत कर देते हैं। हम दूसरी कठिनाइयों को सुखपूर्वक आसानी से हल कर सकते हैं और अपने समाधानों के प्रस्तुत निर्णायक रूप से अधिक संतुष्ट होने के लिये कुछ परिवर्तन भी कर सकते हैं। लेकिन निर्णय करने का यह मानक काफी व्यापक नहीं है और बहुत ज्यादा मानवीय दृष्टिकोण पर आश्रित है। क्योंकि एक विशालतर दृष्टि के लिये अशुभ और दुःख केवल प्रभावशाली पहलू के रूप में प्रकट होते हैं, वे ही पूरा दोष या मामले की जड़ नहीं हैं। संसार की अपूर्णताओं का कुल योग केवल इन दो अपूर्णताओं से नहीं बना है। यदि हमारी आध्यात्मिक या भौतिक सत्ता का शुभ से और सुख से पतन हुआ था या हमारी प्रकृति अशुभ या दुःख पर विजय पाने में असफल रही है, तो इस पतन से बढ़कर कुछ और भी है। हमारी सत्ता जिस नैतिक और सुखदायी संतुष्टि की मांग करती है उसकी कमी के, हमारे जगत्-अनुभव में शुभ और आनंद की कमी के अतिरिक्त अन्य दिव्य संपदाओं की भी कमी है। क्योंकि ज्ञान, सत्य, सौंदर्य, शक्ति, ऐक्य ये भी दिव्य जीवन के तत्त्व और उपादान हैं और ये हमें बहुत कम मात्रा में और अनिच्छा से दिये गये हैं फिर भी ये अपने परम पद में दिव्य प्रकृति की शक्तियां हैं।

तो हमारी और जगत् की अदिव्य अपूर्णता के वर्णन को केवल नैतिक अशुभ या संवेदनात्मक दुःखतक सीमित रखना संभव नहीं है। जगत् की पहेली में इस दोहरी समस्या से बढ़ कर कुछ और भी है—कारण ये तो केवल एक ही सामान्य तत्त्व के दो सबल परिणाम हैं। यह अपूर्णता का सामान्य तत्त्व ही है जिसे हमें स्वीकार करना और जिस पर विचार करना है। अगर हम इस सामान्य अपूर्णता को नजदीक से देखें तो हमें पता लगेगा कि इसमें पहली चीज है हमारे अंदर दिव्य तत्त्वों का परिसीमन जो उन्हें उनकी दिव्यता से वंचित कर देता है, फिर है विविध शाखाओंवाली विकृति, विपर्याय, विपरीत मोड़, सत्ता के किसी आदर्श सत्य से मिथ्या बनानेवाला विचलन। हमारे मनों के आगे, जिन्हें वह सत्य प्राप्त तो नहीं है लेकिन वे उसके बारे में सोच सकते हैं, यह विचलन अपने-आपको ऐसी अवस्था के रूप में प्रस्तुत करता है जिसे हम आध्यात्मिक रूप से खो चुके हैं या ऐसी

संभावना और प्रतिश्रुति के रूप में जिसे हम पूरा नहीं कर सकते या उपलब्ध नहीं कर सकते क्योंकि वह केवल आदर्श के रूप में ही है। या तो महत्तर चेतना और ज्ञान, आनंद, प्रेम और सौंदर्य, शक्ति और क्षमता, सामंजस्य और शुभ से भीतरी आत्मा की च्युति हो गयी है या हमारी संघर्षरत प्रकृति की असफलता या जिसे हम सहज वृत्ति से दिव्य और वांछनीय देखते हैं उसे प्राप्त करने में असामर्थ्य। अगर हम पतन के कारण में प्रवेश करें तो देखेंगे कि सब एक साथ एक आद्य तथ्य से शुरू होता है, हमारी सत्ता, चेतना, शक्ति, वस्तुओं का अनुभव, अपने प्रकृत आत्म-स्वरूप में नहीं बल्कि सतही व्यावहारिक प्रकृति में दिव्य सत्ता के ऐक्य में विभाजन के या विदारण के तत्त्व या प्रभावकारी व्यापार का निरूपण करते हैं। यह विभाजन अपने अनिवार्य व्यावहारिक प्रभाव में दिव्य चेतना और ज्ञान का, दिव्य आनंद और सौंदर्य का, दिव्य शक्ति और क्षमता का, दिव्य सामंजस्य और शुभ का परिसीमन हो जाता है। पूर्णता और समग्रता का परिसीमन हो जाता है, इन चीजों को देखने के लिये हमारी आंखों में अंधता आ जाती है, उनका अनुसरण करने में लंगड़ापन आ जाता है, उनका अनुभव करने में खंडन आ जाता है, शक्ति और तीव्रता का ह्रास हो जाता है, गुण नीचे उतर आता है—यह आध्यात्मिक ऊंचाइयों से उतरने का चिह्न या ऐसी चेतना का चिह्न है जो निश्चेतना की असंवेदनशील तटस्थ एकस्वरता में से उभर रही है। जो तीव्रताएं उच्चतर क्षेत्रों में सामान्य और स्वाभाविक होती हैं वे हमारे अंदर खो जाती हैं या हल्की पड़ जाती हैं ताकि वे हमारे भौतिक जीवन की कालिमाओं और धुंधलेपन के साथ मेल खा सकें। एक गौण और बाहरी प्रभाव द्वारा इन उच्चतम चीजों में एक और विकार भी आ जाता है। हमारी सीमित मानसिकता में निश्चेतना और गलत चेतना हस्तक्षेप करती है, अज्ञान हमारी सारी प्रकृति को ढक लेता है और—अपूर्ण इच्छा और ज्ञान के दुरुपयोग या गलत निर्देशन के कारण, हमारी घटी हुई चित्-शक्ति की यांत्रिक प्रतिक्रिया के और हमारे पदार्थ की अयोग्य दरिद्रता के कारण—दिव्य तत्त्वों की विरोधी चीजें अक्षमता, तमस्, मिथ्यात्व, भ्रांति, कष्ट और दुःख, गलत क्रियाएं, असंगति, अशुभ रूप लेती हैं। हमेशा हमारे अंदर कहीं पर छिपी हुई, हमारे अंतरालों में पोषित, सचेतन प्रकृति में प्रत्यक्ष रूप से अनुभव न होने पर भी, ये चीजें हमारे जिन अंगों को यातना देती हैं उनके द्वारा अस्वीकृत होने पर भी, विभाजन के अनुभव के लिये आसक्ति, सत्ता के विभक्त मार्ग से लगाव बना रहता है जो इन दुःखों के उन्मूलन या उनके त्याग और निष्कासन को रोकता है। चूंकि समस्त अभिव्यक्ति की जड़ में है चित्-शक्ति और आनंद अतः कोई चीज तबतक नहीं टिक सकती जबतक हमारी प्रकृति में उसके लिये इच्छा न हो, पुरुष की स्वीकृति न हो, सत्ता के किसी भाग में अविच्छिन्न सुख न हो, भले ही उसे जारी रखने में वह प्रच्छन्न या विकृत सुख क्यों न हो।

जब हम कहते हैं कि सब कुछ दिव्य अभिव्यक्ति है, यहांतक कि वह भी जिसे हम अदिव्य कहते हैं, तो हमारा मतलब यह होता है कि अपने मूल में सब कुछ दिव्य है, भले उसका रूप हमें चकराता या पीछे धकेलता हो। या अगर इसे एक सूत्र के रूप में रखें जो हमारी मनोवैज्ञानिक समझ के लिये स्वीकार करने में आसान है, तो हम कहेंगे कि सभी चीजों में एक उपस्थिति है, एक आदि सद्वस्तु है, आत्मा, भगवान्, ब्रह्म है जो सर्वदा शुद्ध, पूर्ण, आनंदमय, अनंत रहता है। उसकी अनंतता सापेक्ष चीजों की सीमाओं से प्रभावित नहीं होती, उसकी शुद्धता पर हमारे पाप और अशुभ का दाग नहीं लगता, उसके आनंद को हमारा दुःख-दर्द छू भी नहीं सकता, उसकी पूर्णता हमारी चेतना, ज्ञान, इच्छा और ऐक्य की त्रुटियों की वजह से क्षीण नहीं होती। उपनिषदों के कुछ रूपकों में दिव्य पुरुष का वर्णन अग्नि के रूप में किया गया है जो सभी रूपों में प्रविष्ट है और अपने-आपको हर एक के आकार के अनुसार बना लेता है जैसे एक सूर्य सभी को निष्पक्ष रूप से प्रकाश देता है और हमारी दृष्टि के दोषों से प्रभावित नहीं होता। लेकिन यह प्रतिपादन भी काफी नहीं है, यह समस्या को हल किये बिना छोड़ देता है। जो अपने-आप सदा-सर्वदा शुद्ध, पूर्ण, आनंदमय, अनंत रहता है वह क्यों अपनी अभिव्यक्ति में अपूर्णता और सीमाएं, अशुद्धि और दुःख-दर्द, मिथ्यात्व और अशुभ को न केवल सह लेता है, बल्कि लगता तो ऐसा है कि वह इन्हें समर्थन और प्रोत्साहन देता है। इसमें समस्या संघटन करनेवाले द्वैत का कथन तो है पर समाधान नहीं।

अगर हम जीवन के इन दो विसंगत तथ्यों को एक दूसरे की उपस्थिति में यूं ही खड़ा छोड़ दें तो हम इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि इनमें समाधान बिठाना संभव ही नहीं है। हम बस इतना ही कर सकते हैं, हमसे जितना अधिक बन पड़े, शुद्ध और तात्त्विक भागवत उपस्थिति के आनंद के गहरे होते हुए भाव से चिपके रहें और विसंगत बाह्यताओं के साथ जो अच्छे-से-अच्छा कर सकते हैं तबतक करें जबतक हम उसके स्थान पर उसके दिव्य विपरीत के विधान को लागू न कर सकें। या फिर हमें समाधान की जगह बच निकलने का उपाय ढूंढ़ना होगा। क्योंकि हम कह सकते हैं कि केवल भीतरी उपस्थिति ही एकमात्र सत्य है और विसंगत बाह्यता अज्ञान के रहस्यमय तत्त्व द्वारा बनाया गया मिथ्यात्व या भ्रांति है। हमारी समस्या है अभिव्यक्त जगत् के मिथ्यात्व में से छिपी हुई सद्वस्तु के सत्य में बच निकलने का कोई उपाय खोज निकालना। या फिर हम बौद्धों के साथ यह मान सकते हैं कि व्याख्या की कोई जरूरत नहीं क्योंकि वस्तुओं की अपूर्णता और नश्वरता एक व्यावहारिक तथ्य है, न कोई आत्मा है न भगवान् या ब्रह्म क्योंकि यह सब भी हमारी चेतना का भ्रम है। मोक्ष के लिये एकमात्र जरूरी चीज है भावों के दृढ़ ढांचे से और क्रिया की स्थायी ऊर्जा से पिंड छुड़ाना, जो नश्वरता के प्रवाह में निरंतरता को बनाये रखती है। मोक्ष के इस मार्ग पर हम निर्वाण में आत्म-समापन प्राप्त

करते हैं। वस्तुओं की समस्या हमारे आत्म-समापन द्वारा अपने-आप समाप्त हो जाती है। यह समस्या से बचने का उपाय तो है लेकिन यह सच्चा और एकमात्र उपाय नहीं मालूम होता। दूसरे समाधान भी पूरी तरह संतोषजनक नहीं हैं। यह तो एक तथ्य है कि असंगत अभिव्यक्ति को अपनी आंतरिक चेतना में से सतही बाह्यता मानकर अलग करके, शुद्ध, पूर्ण उपस्थिति पर ही जोर देकर हम व्यक्तिगत रूप से इस नीरव दिव्यता के गहरे आनंदमय भाव को पा सकते हैं, उस मंदिर में प्रवेश कर सकते और प्रकाश तथा आनंद में निवास कर सकते हैं। यथार्थ पर, शाश्वत पर ऐकांतिक आंतरिक एकाग्रता संभव है, आत्म-निमज्जन भी संभव है जिसके द्वारा हम विश्व के विसंवादों को छोड़ सकते या अलग कर सकते हैं। लेकिन साथ ही कहीं पर गहराई में हमारे अंदर समग्र चेतना की आवश्यकता भी है। प्रकृति में संपूर्ण भगवान् के लिये एक गुप्त वैश्व खोज भी है। सत्ता की किसी संपूर्ण अभिज्ञता, आनंद और शक्ति के लिये आवेग भी है। ये समाधान समग्र सत्ता की, समग्र ज्ञान की इस आवश्यकता को, हमारी संपूर्ण इच्छा को पूरी तरह संतुष्ट नहीं करते। जबतक कि जगत् की व्याख्या दिव्य रूप में नहीं की जाती, हमारा भगवान् का ज्ञान अपूर्ण रहता है क्योंकि जगत् भी तत् है और जबतक वह हमारी चेतना के आगे दिव्य सत्ता के रूप में नहीं आता और हमारी चेतना की शक्तियां उसे दिव्य सत्ता के भाव में ग्रहण नहीं करतीं तबतक संपूर्ण दिव्यता पर हमारा अधिकार नहीं होता।

समस्या से एक और तरह से भी बचा जा सकता है क्योंकि सदा सारभूत उपस्थिति को स्वीकार करते हुए हम पूर्णता के बारे में मानव दृष्टि को ठीक करके या उसे बहुत अधिक सीमित मानसिक मानक कहकर एक तरफ करके, अभिव्यक्ति की दिव्यता को उचित ठहराने का प्रयास कर सकते हैं। हम कह सकते हैं कि न केवल वस्तुओं के अंदर आत्मा पूरी तरह पूर्ण और दिव्य है बल्कि हर चीज अपने-आपमें, उसे सत्ता की संभावनाओं में से जिस चीज को अभिव्यक्त करना है, उसकी अपनी अभिव्यक्ति में, पूर्ण अभिव्यक्ति में अपना उचित स्थान धारण करने में सापेक्ष रूप से पूर्ण और दिव्य है। हर चीज अपने-आपमें दिव्य है क्योंकि हर एक दिव्य सत्ता, ज्ञान और इच्छा का तथ्य और भाव है और अभिव्यक्ति विशेष के नियम के अनुसार अचूक रूप से अपनी परिपूर्ति कर रही है। हर सत्ता को ठीक उसकी प्रकृति के अनुसार ज्ञान, शक्ति, सत्ता के आनंद का उचित प्रकार और उचित मात्रा प्राप्त होती है और हर एक गुप्त अंतर्लीन इच्छा द्वारा, सहज धर्म, आत्मा की अंतस्थ शक्ति और एक गुह्य तात्पर्य द्वारा आदिष्ट अनुभव के श्रेणीक्रम में कार्य करती है। इस तरह वह अपने जगत्-व्यापारों और स्वधर्म के बीच के संबंधों में पूर्ण रहती है क्योंकि सभी उससे सामंजस्य रखते, उसी में से प्रकट होते, जीव में क्रिया करनेवाली दिव्य इच्छा और ज्ञान की अचूकता के

अनुसार अपने-आपको उसके प्रयोजन के अनुकूल बना लेते हैं। वह समग्र के साथ अपने संबंध में, और समग्र में अपने उचित स्थान में भी पूर्ण और दिव्य होती है। उस समग्रता के लिये यह आवश्यक होती है और उसमें वह ऐसी भूमिका निभाती है जिसके द्वारा विश्व-सामंजस्य की वास्तविक और प्रगतिशील पूर्णता, उसमें उसके समग्र प्रयोजन और उसके समग्र अर्थ के प्रति सबके अनुकूलीकरण को सहायता और परिपूर्ति मिलती है। अगर चीजें हमें अदिव्य दीखती हैं, अगर हम इस या उस व्यापार को दिव्य सत्ता की प्रकृति के साथ असंगत कहकर लांछित करते हैं तो इसलिये कि हम जगत् की समग्रता में भगवान् के भाव और प्रयोजन से अनभिज्ञ हैं। चूंकि हम केवल भाव और खंड देखते हैं, हम हर एक के बारे में इस भांति निर्णय करते हैं मानों वही पूर्ण हो, इसी तरह बाहरी व्यापारों का निर्णय भी उनके गुप्त अर्थ जाने बिना ही करते हैं। लेकिन ऐसा करके हम अपने वस्तुओं के मूल्यांकन को दूषित कर देते हैं, उस पर एक प्रारंभिक और आधारभूत भ्रांति की मुहर लगा देते हैं। पूर्णता किसी वस्तु में उसकी पृथक्ता के साथ निवास नहीं कर सकती क्योंकि वह पृथक्ता भ्रम है। पूर्णता है समग्र भागवत सामंजस्य की पूर्णता।

यह सब एक बिंदु विशेषतक और अपनी सीमा में ही सच हो सकता है लेकिन यह भी अपने-आपमें एक अपूर्ण समाधान है और हमें पूरा-पूरा संतोष नहीं दे सकता। यह मानव चेतना और मानव दृष्टि का काफी ख्याल नहीं रखता, उन्हींसे तो हम आरंभ करते हैं, वह जिस सामंजस्य की बात करता है उसकी हमें झलक नहीं दिखाता इसलिये वह हमारी मांग को पूरा नहीं कर सकता और न ही विश्वास दिला सकता है। वह केवल एक शुष्क बौद्धिक धारणा द्वारा अशुभ और अपूर्णता की वास्तविकता के हमारे तीव्र बोध का प्रतिवाद करता है। वह हमारी प्रकृति में चैत्य तत्त्व का ज्योति और सत्य की ओर, आध्यात्मिक विजय, अपूर्णता और अशुभ पर विजय की ओर अंतरात्मा की अभीप्सा का पथ-प्रदर्शन नहीं करता। अपने-आपमें वस्तुओं के बारे में हमारी यह दृष्टि इस सीधे-से मत से बढ़ कर कुछ नहीं है कि जो कुछ है ठीक है क्योंकि सब कुछ दिव्य प्रज्ञा द्वारा पूरी तरह समादिष्ट है। वह हमें एक आत्मतुष्ट बौद्धिक और दार्शनिक आशावाद से बढ़कर कुछ नहीं देता; इसमें पीड़ा, दुःख और विसंगति के क्षुब्ध करनेवाले तथ्य पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता जिनका हमारी मानव चेतना को सदा व्याकुल साक्षी बनना पड़ता है। अधिक से अधिक यह संकेत मिलता है कि वस्तुओं के दिव्य कारण में इन सब चीजों की चाबी है लेकिन उसतक हमारी पहुंच नहीं है। लेकिन ये हमारे असंतोष और हमारी अभीप्सा का पर्याप्त उत्तर नहीं हैं, जो अपनी प्रतिक्रियाओं में चाहे जितने अज्ञानी क्यों न हों, अपने मानसिक हेतुओं में चाहे जितने घुले-मिले क्यों न हों फिर भी उन्हें हमारी सत्ता की गहराई में किसी दिव्य वास्तविकता के साथ मेल खाना

चाहिये। जो दिव्य समग्र केवल अपने भागों की अपूर्णता के कारण ही पूर्ण है उसके बारे में यह खतरा रहता है कि वह स्वयं केवल अपूर्णता में पूर्ण है क्योंकि वह किसी अनुपलब्ध प्रयोजन के मार्ग में किसी अवस्था को पूरी तरह चरितार्थ करता है। अतः वह वर्तमान समग्रता भर है, परम समग्रता नहीं। यहां हम एक यूनानी कहावत का प्रयोग कर सकते हैं जिसका अर्थ है, "भगवान् अभीतक सत्ता में नहीं, संभूति में हैं।" तो सच्चे भगवान् शायद हमारे अंदर गुप्त और हमारे ऊपर परम होंगे और सच्चा समाधान होगा अपने अंदर या अपने ऊपर भगवान् को पाना, उसी तरह पूर्ण होना जैसे वे पूर्ण हैं, उनके साथ साम्य पाकर या उनकी प्रकृति के विधान को पाकर मोक्ष प्राप्त करना—सादृश्य और साधर्म्य।

अगर मानव चेतना अपूर्णता के भाव के साथ बंधी होती और उसे अपने जीवन का विधान और हमारे अस्तित्व के निश्चित लक्षण के रूप में मानने के लिये बाधित होती—यह न्यायसिद्ध स्वीकृति हमारी मानव प्रकृति में पशु-प्रकृति की अंध पाशविक स्वीकृति के उत्तर के समान होती—तब हम कह सकते थे कि हम जो कुछ हैं वह हमारे अंदर दिव्य आत्माभिव्यक्ति की सीमा है। हम यह भी मान सकते थे कि हमारी अपूर्णताएं और हमारे दुःख-दर्द वस्तुओं के सामान्य सामंजस्य और पूर्णता के लिये कार्य करते हैं। हम अपने-आपको अपने घावों के लिये दी गयी इस दार्शनिक मरहम (अमृत धारा) से सांत्वना दे सकते थे। हमारी अपूर्ण मानसिक बुद्धिमत्ता और हमारे अधीर प्राणिक अंग जितनी न्याय-संगत सावधानी या दार्शनिक दूरदर्शिता और वश्यता का अवकाश दें उसे लेकर जीवन के चोरगढ़ों में चक्कर लगाने में ही हम संतुष्ट रह सकते थे। या फिर अधिक सान्त्वना देनेवाले धार्मिक उत्साह की शरण लेकर हम हर चीज को भगवान् की इच्छा मान कर उसके आगे इस आशा या श्रद्धा के साथ झुक सकते थे कि इसके बदले में हमें परलोक में स्वर्ग मिलेगा जहां हम एक ज्यादा सुखी जीवन में प्रवेश करेंगे और अधिक शुद्ध और पूर्ण प्रकृति को धारण करेंगे। लेकिन हमारी मानव चेतना और उसकी क्रियाओं में एक सारभूत तत्त्व है जो उसे, बुद्धि से कम नहीं, पशु से एकदम अलग करता है। हमारे अंदर केवल एक मानसिक भाग ही नहीं है जो अपूर्णताओं को पहचानता है, एक चैत्य भाग भी है जो उसे अस्वीकार करता है। पृथ्वी पर जीवन-विधान के रूप में अपूर्णता के प्रति हमारी अंतरात्मा का असंतोष, हमारी प्रकृति में सभी अपूर्णताओं के निराकरण के लिये उसकी अभीप्सा—और यह केवल किसी परलोक के स्वर्ग में नहीं जहां वैसे अपूर्ण होना असंभव होगा बल्कि यहां और अभी, ऐसे जीवन में जहां पूर्णता को विकास और संघर्ष के द्वारा जीत लाना है—यह असंतोष और यह अभीप्सा भी हमारी सत्ता के उसी तरह विधान हैं जैसे वे जिनके विरुद्ध ये विद्रोह कर रहे हैं। वे भी दिव्य हैं—एक दिव्य असंतोष, एक दिव्य अभीप्सा। उनके अंदर भीतर की एक ऐसी शक्ति की अंतस्थ ज्योति है

जो उन्हें हमारे अंदर बनाये रखती है ताकि भगवान् वहां हमारी आध्यात्मिक गुह्यताओं में एक छिपी सद्वस्तु के रूप में ही न रहें बल्कि अपने-आपको प्रकृति के विकास में उन्मीलित करें।

इस प्रकाश में हम यह मान सकते हैं कि सब कुछ दिव्य प्रज्ञा द्वारा पूरी तरह से भागवत लक्ष्य की ओर कार्य करता चलता है और इसलिये उस अर्थ में हर चीज अपने स्थान पर भली-भांति व्यवस्थित है लेकिन हम कहते हैं कि यही पूरा दिव्य उद्देश्य नहीं है। क्योंकि जो कुछ है उसे अपने औचित्य, पूर्ण अर्थ और संतोष की प्राप्ति केवल उसके द्वारा होती है जो हो सकता है और होगा। निःसंदेह दिव्य तर्क में एक ऐसी कुंजी है जो चीजों के उस रूप का औचित्य भी सिद्ध करेगी जिसमें वे अभी हैं, वह उनकी सार्थकता और सच्चा रहस्य, बाहरी अर्थ और गोचर प्रतीतियों से अलग, अधिक सूक्ष्म, अधिक गहरे रूप प्रकट करेगी जब कि हमारी वर्तमान बुद्धि साधारणतः उन बाहरी अर्थों और गोचर रूपों को ही पकड़ सकती है। लेकिन हम बस इसी विश्वास से संतुष्ट नहीं रह सकते कि उनमें कोई दिव्य अर्थ और प्रयोजन है जो हमसे परे है क्योंकि हमारी सत्ता का धर्म है आध्यात्मिक चाबी की खोज करना और उसे प्राप्त करना। प्राप्ति का चिह्न दार्शनिक, बौद्धिक मान्यता, उदासीनता या वस्तुएं जैसी हैं उसी तरह से उनकी इस कारण बुद्धिमत्तापूर्ण स्वीकृति नहीं है कि उनमें कोई दिव्य अर्थ और प्रयोजन है जो हमसे परे है। सच्चा लक्षण है आध्यात्मिक ज्ञान और शक्ति की ओर उत्थान जो हमारे जीवन के विधान और बाहरी जीवन के रूपों और व्यापार को रूपांतरित कर दे और हमारे जीवन को उस दिव्य भाव और प्रयोजन के सच्चे बिंब के ज्यादा नजदीक ला सके। यह ठीक और युक्तियुक्त है कि दुःख और अपूर्णता की आधीनता को भगवान् की इस समय की इच्छा के रूप में, हमारे अंगों पर आरोपित अपूर्णता के वर्तमान नियम के रूप में समता के साथ सहा जाये। लेकिन इस शर्त पर कि हम अशुभ और दुःख का अतिक्रमण करने और अपूर्णता को पूर्णता में रूपांतरित करने तथा दिव्य प्रकृति के उच्चतर विधानतक उठने को भी अपने अंदर भगवान् की इच्छा के रूप में जानें और स्वीकार करें। हमारी मानव चेतना में सत्ता के आदर्श सत्य, दिव्य प्रकृति और प्रारंभिक देव का एक बिंब होता है। उस उच्चतर सत्य की तुलना में हमारी वर्तमान अपूर्णता की स्थिति को सापेक्ष रूप में अदिव्य जीवन, और हम जगत् की जिन अवस्थाओं से शुरू करते हैं, उन्हें अदिव्य स्थितियां कह सकते हैं। अपूर्णताएं हमें यह बतलाने के लिये दिये गये संकेत हैं कि वे प्रथम छद्मवेशों के रूप में हैं, दिव्य सत्ता और दिव्य प्रकृति की अभीष्ट अभिव्यक्ति नहीं। हमारे अंदर एक शक्ति है, छिपी हुई दिव्यता है जिसने अभीप्सा की ज्वाला जगायी है, जो आदर्श के बिंब को चित्रित करती है, जो हमारे असंतोष को जीवित रखती है, हमें छद्मवेशों को उतार फेंकने के लिये प्रेरित करती है और इस पार्थिव प्राणी की अभिव्यक्त आत्मा, मन,

प्राण और शरीर में प्रकट होने या वैदिक भाषा में कहें तो परम देव को रूपायित और अनावृत करने के लिये प्रेरित करती है। हमारी वर्तमान प्रकृति केवल संक्रमणकालीन हो सकती है, हमारी अपूर्ण स्थिति एक और उच्चतर, विशालतर और बृहत्तर स्थिति को पाने के लिये आरंभ-बिंदु और अवसर हो सकती है जो न केवल अपने अंदर गुप्त आत्मा में बल्कि जीवन के अभिव्यक्त और जीवन के अत्यंत बाहरी रूप में भी दिव्य और पूर्ण होगी।

लेकिन ये निष्कर्ष हमारी आंतरिक आत्मानुभूति और वैश्व जीवन के भासमान तथ्यों पर आधारित प्रारंभिक तर्क या प्राथमिक अंतर्भास मात्र हैं, वे तबतक पूरी तरह प्रामाणिक नहीं माने जा सकते जबतक कि हम अज्ञान, अपूर्णता और दुःख का सच्चा कारण और वैश्व व्यवस्था में या वैश्व प्रयोजन में उनका स्थान न जान लें। अगर हम दिव्य सत्ता को स्वीकार करें तो भगवान् और जगत् के बारे में तीन मत पाये जाते हैं जिनकी साक्षी मानवजाति की सामान्य बुद्धि और चेतना देती है। लेकिन इन तीन में से एक, जो जिस जगत् में हम रहते हैं उसकी प्रकृति के कारण अनिवार्य है, ऐसा है जिसका बाकी दो के साथ सामंजस्य नहीं बैठता और इस असामंजस्य के कारण मानव मन विरोधों की बड़ी उलझनों में जा गिरता है और संदेह तथा इंकार की ओर प्रवृत्त होता है। क्योंकि पहले हम ऐसे सर्व-व्यापक भगवान् और सद्वस्तु का प्रतिपादन देखते हैं जो शुद्ध, पूर्ण और आनंदमय है, जिसके बिना, जिससे अलग, किसी भी चीज का अस्तित्व नहीं हो सकता क्योंकि सबका अस्तित्व केवल उसीके द्वारा और उसीकी सत्ता में है। इस विषय की सभी विचारधाराएं जो नास्तिक या जड़वादी या आदिम और मानव गुणारोपण करनेवाली नहीं हैं उन्हें इसी मान्यता से आरंभ करना या इसी मूलगत धारणा पर पहुंचना होगा। यह सच है कि कुछ धर्म ऐसे भगवान् को मानते हुए मालूम होते हैं जो विश्व के बाहर है, जिसने अपनी सत्ता से अलग और उसके बाहर जगत् की रचना की है लेकिन जब वे धर्मशास्त्र या आध्यात्मिक दर्शन बनाने बैठते हैं तो उन्हें भी सर्वव्यापकता या अंतर्व्यापकता को स्वीकार करना पड़ता है क्योंकि यह सर्वव्यापकता अपने-आपको आध्यात्मिक चिंतन की आवश्यकता के रूप में आरोपित करती है। अगर कोई ऐसी दिव्यता, आत्मा या सद्वस्तु है तो उसे हर जगह, एक और अविभाज्य होना चाहिये। उसके अस्तित्व से अलग और किसी चीज का अस्तित्व संभव नहीं हो सकता, उस तत् को छोड़कर और किसी से कोई चीज पैदा नहीं हो सकती, कोई चीज उसके सहारे के बिना, उससे स्वतंत्र नहीं रह सकती, उसकी सत्ता के श्वास और शक्ति से भरी न हो ऐसी कोई चीज नहीं हो सकती। वस्तुतः यह माना गया है कि अज्ञान, अपूर्णता और इस जगत् के दुःख को भागवत सत्ता से अवलंब नहीं मिलता, तो तब हमें दो भगवान् मानने होंगे एक अहुर्मज़्द मंगलमय ईश्वर और दूसरा अहिर्मन अमंगलमय ईश्वर या शायद एक पूर्ण, अति-वैश्व और

अंतस्थ सत्ता और दूसरी अपूर्ण, वैश्व स्रष्टा या पृथक् अदिव्य प्रकृति। यह एक संभव धारणा तो है पर हमारी उच्चतम बुद्धि के लिये असंभव है—यह अधिक-से-अधिक वस्तुओं का एक गौण रूप हो सकता है, मौलिक सत्य या समग्र सत्य नहीं। और न हम यह मान सकते हैं कि सबमें जो एक आत्मा या आध्यात्म सत्ता है वह और सबकी सृष्टि करनेवाली जो एक शक्ति है वह अलग-अलग हैं, अपनी सत्ता के स्वरूप में एक-दूसरे से उल्टी हैं, अपनी इच्छा और उद्देश्य में अलग-अलग हैं। हमारी बुद्धि हमसे कहती है, हमारी अंतर्भासात्मक चेतना यह अनुभव करती है और आध्यात्मिक अनुभव उनकी साक्षी का अनुमोदन करता है कि एक शुद्ध निरपेक्ष सत् सभी चीजों और सत्ताओं में विद्यमान है जैसे सभी चीजें और सत्ताएं उसके अंदर और उससे विद्यमान हैं और सबमें निवास करनेवाली, सबको सहारा देनेवाली इस उपस्थिति के बिना किसीका अस्तित्व हो नहीं सकता या कुछ हो भी नहीं सकता।

पहली मान्यता के परिणामस्वरूप जिस दूसरे सिद्धांत को स्वाभाविक रूप से हमारा मन स्वीकार करता है वह यह है कि सभी चीजें अपने आधारभूत संबंधों और अपनी प्रक्रियाओं में इस सर्वव्यापक दिव्यता की परम चेतना और परम शक्ति के द्वारा अपने पूर्ण वैश्व ज्ञान और दिव्य प्रज्ञा में से व्यवस्थित और शासित होती हैं। लेकिन दूसरी ओर चीजों की वास्तविक प्रक्रिया और वास्तविक संबंध, जिन्हें हम देखते हैं, जिस तरह वे हमारी मानव चेतना के आगे प्रस्तुत किये जाते हैं, अपूर्णता के, परिसीमन के संबंध हैं। उनमें असामंजस्य बल्कि विकृति दिखलायी देती है; ऐसी चीज जो हमारी भागवत सत्ता की धारणा के विपरीत है, जो भागवत सत्ता का प्रतीयमान निषेध या कम-से-कम विकृत रूप या छद्मवेश तो है ही। अब यहां एक तीसरा प्रतिपादन उठ खड़ा होता है कि भागवत-सद्वस्तु और जगत्-सद्वस्तु सारतत्त्व में या क्रम में अलग-अलग हैं, इतनी ज्यादा अलग कि हमें एक के पास पहुंचने के लिये दूसरे से हटना पड़ेगा। अगर हम दिव्य निवासी को पाना चाहें तो हमें उस जगत् को त्याग देना होगा जिसमें वह निवास करता और जिसपर वह शासन करता है, जिसे उसने अपनी ही सत्ता में बनाया या अभिव्यक्त किया है। इन तीनों में से पहला प्रतिपादन अनिवार्य है, दूसरे को भी मान्य होना चाहिये यदि सर्वशक्तिमान् भगवान् का उस जगत् के साथ, जिसमें वह निवास करता है और उसकी अभिव्यक्ति, निर्माण, संरक्षण और शासन से उसका कोई संबंध है तो। लेकिन तीसरा सिद्धांत भी स्वतः सिद्ध मालूम होता है फिर भी उसका पहले दो से मेल नहीं बैठता और यह असंगति हमारे सामने ऐसी समस्या खड़ी कर देती है जिसका संतोषजनक समाधान संभव नहीं मालूम होता।

दार्शनिक बुद्धि की या धर्म-शास्त्र के तर्क की किसी रचना द्वारा कठिनाई को उड़ा देना कठिन नहीं है। एपीक्यूरस के देवों की तरह किसी निश्चेष्ट देवता को खड़ा

करना संभव है जो अपने-आपमें आनंदमय हो और प्रकृति के किसी यांत्रिक नियम के द्वारा भली-भांति या बुरी तरह बने जगत् को देखता रहे पर स्वयं उदासीन रहे। हमें अधिकार है कि एक ऐसी साक्षी आत्मा को, वस्तुओं के अंदर एक ऐसी नीरव अंतरात्मा को, एक ऐसे पुरुष को मान लें जो प्रकृति को अपनी मरजी के मुताबिक करने दे और उसकी सारी व्यवस्था और सारी अव्यवस्था को अपनी निष्क्रिय और अकलुष चेतना में प्रतिभासित करने में ही संतुष्ट रहे; या एक ऐसी परम आत्मा जो निरपेक्ष, निष्क्रिय है, सभी संबंधों से मुक्त है, वैश्व भ्रांति या सृष्टि के कार्यों से उदासीन है, ऐसी सृष्टि से जो रहस्यमय या विरोधाभासी रूप में उसीसे या उसके विरुद्ध उत्पन्न हुई है और जो कालगत जीवों को प्रलोभन देने या सताने के लिये है। लेकिन ये सब समाधान हमारे द्विविध अनुभव की प्रत्यक्ष असंगति को प्रतिबिंबित करने से बढ़कर कुछ नहीं करते, वे मेल बैठाने की या उसे हल करने और उसे समझाने की कोशिश नहीं करते बल्कि प्रत्यक्ष या परोक्ष द्वैत के द्वारा और अविभाज्य के अनिवार्य विभाजन द्वारा उनका केवल दृढ़ समर्थन करते हैं। व्यावहारिक रूप से विविध देवत्व को, आत्मा या पुरुष तथा प्रकृति को मान लिया गया है लेकिन प्रकृति, वस्तुओं के अंदर की शक्ति, अंतरात्मा की, वस्तुओं की तात्त्विक सत्ता की शक्ति के सिवा कुछ और नहीं हो सकती। प्रकृति के कार्य आत्मा या पुरुष से एकदम स्वतंत्र नहीं हो सकते, पुरुष की स्वीकृति या अस्वीकृति से अप्रभावित, प्रकृति के अपने ही विपरीत परिणाम और क्रिया नहीं हो सकते, पुरुष की यांत्रिक निष्क्रियता की तामसिकता पर यांत्रिक शक्ति का जबर्दस्ती आरोपण भी नहीं हो सकते। फिर यह मान लेना भी संभव है कि एक केवल अवलोकन करनेवाली निष्क्रिय आत्मा है और एक सक्रिय सृजनशील देव लेकिन यह तरकीब भी काम नहीं देती क्योंकि अंत में इन दोनों को एक ही होना चाहिये जिसके दो पक्ष हैं, देवत्व जो निरीक्षण करनेवाली आत्मा का सक्रिय पक्ष है, साक्षी आत्मा जो अपने ही देवत्व को क्रियारत देखती है। ज्ञानमय आत्मा और उसीके कर्मरत पक्ष के बीच एक असंगति, खाई है जिसकी व्याख्या जरूरी है लेकिन वह अपने-आपको ऐसे रूप में प्रकट करती है जिसकी न तो कोई व्याख्या की गयी है न की जा सकती है। या फिर हम यह मान सकते हैं कि सद्वस्तु ब्रह्म की द्विविध चेतना है, एक निष्क्रिय दूसरी सक्रिय, एक सार स्वरूप और आध्यात्मिक है जिसमें वह पूर्ण और निरपेक्ष आत्मा है, दूसरा रूप है रचना करनेवाला और व्यावहारिक जिसमें वह अनात्मा हो जाता है और जिसमें उसकी पूर्णता और निरपेक्षता को भाग लेने की परवाह नहीं होती क्योंकि वह कालातीत सद्वस्तु में एक कालिक रचना मात्र है। लेकिन हम, जो चाहे केवल अर्द्ध-सत्, अर्द्ध-चेतन हैं फिर भी निरपेक्ष के जीवन के अर्द्ध-स्वप्न में निवास करते हैं, और प्रकृति द्वारा उसमें बहुत अधिक और सतत रस लेने और उसके साथ वास्तविक की तरह व्यवहार करने के लिये बाधित हैं, हमारे लिये यह

बात एक स्पष्ट रहस्यमयता का जामा पहन लेती है क्योंकि यह कालिक चेतना और उसकी रचनाएं भी अंत में उस एक आत्मा की शक्ति हैं, उसपर आधारित हैं, केवल उसीके सहारे रह सकती हैं। जो चीज सद्वस्तु की शक्ति से ही अस्तित्व रखे हुए है वह सद्वस्तु से या उसीकी शक्ति से बने जगत् से असंबद्ध नहीं रह सकती। यदि जगत् का अस्तित्व परम आत्मा से है तो उसकी व्यवस्था और उसके संबंधों का अस्तित्व भी आत्मा की शक्ति के द्वारा ही होना चाहिये, उसका विधान भी आध्यात्मिक चेतना और सत्ता के किसी विधान के अनुसार ही होना चाहिये। आत्मा या सद्वस्तु को अपनी ही सत्ता में अस्तित्व रखनेवाली विश्व-चेतना के बारे में और विश्व-चेतना में अभिज्ञ होना चाहिये। आत्मा की, सद्वस्तु की शक्ति को सदा उसके प्रपंचों या उसकी क्रियाओं का निर्धारण करना या कम-से-कम स्वीकृति देते रहना चाहिये क्योंकि ऐसी कोई स्वतंत्र शक्ति या कोई प्रकृति नहीं हो सकती जो मूल, शाश्वत स्वयंभू से न निकली हो। वह चाहे और अधिक कुछ न करे फिर भी उसे सचेतन सर्वव्यापकता के तथ्य से ही विश्व का आरंभ और निर्धारण तो करना ही चाहिये। निःसंदेह यह आध्यात्मिक अनुभूति का एक सत्य है कि वैश्व क्रियाशीलता के पीछे अनंत के अंदर शांति और नीरवता की एक स्थिति है, एक चेतना है जो सृष्टि की निष्क्रिय साक्षी है लेकिन यही पूरी-पूरी आध्यात्मिक अनुभूति नहीं है और हम ज्ञान के एक ही पक्ष में विश्व की आधारभूत और समग्र व्याख्या पाने की आशा नहीं कर सकते।

एक बार हम विश्व के दिव्य शासन को स्वीकार कर लें तो हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचना ही होगा कि शासन करने की शक्ति पूर्ण और अबाध होगी अन्यथा हम यह मानने के लिये बाधित होंगे कि एक अनंत और निरपेक्ष सत्ता और चेतना में वस्तुओं पर नियंत्रण में सीमित ज्ञान और इच्छा और उलझी हुई कार्य करने की शक्ति है। यह मानना असंभव नहीं है कि परम और अंतस्थ देव ने किसी ऐसी चीज को, जो उसकी पूर्णता में प्रादुर्भूत हो गयी है पर अपने-आपमें अपूर्ण है और अपूर्णता का कारण है, ऐसी चीज को, अज्ञानभरी और निश्चेतन प्रकृति को, मानव मन और इच्छा की क्रिया को, यहांतक कि अंधकार और अशुभ की सचेतन शक्ति या क्षमताओं को, जो आधारभूत निश्चेतना के राज्य पर खड़ी हैं, उन्हें कार्य करने की एक हदतक छूट दे रखी हो। लेकिन इनमें से कोई भी चीज 'उस'की निजी सत्ता, प्रकृति और चेतना से स्वतंत्र नहीं है। इनमें से कोई भी उसकी उपस्थिति, उसकी स्वीकृति या छूट के बिना कार्य नहीं कर सकती। मनुष्य की स्वाधीनता सापेक्ष है और उसे अपनी प्रकृति की अपूर्णता के लिये पूरी तरह जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। प्रकृति का अज्ञान और उसकी निश्चेतना स्वतंत्र रूप से नहीं उठी हैं बल्कि उस एकमेव सत् में से उठी हैं। उसकी क्रियाओं की अपूर्णता अंतस्थ की किसी इच्छा से एकदम विजातीय नहीं हो सकती। यह माना जा सकता है कि जो

शक्तियां गतिशील बनायी गयी हैं उन्हें अपनी गतिविधि के नियम के अनुसार कार्यान्वित होने दिया जाता है, लेकिन जिसे दिव्य सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता ने अपनी सर्वव्यापकता में, अपनी सर्व-सत्ता में उठने और क्रिया करने दिया है वह, हमें मान लेना चाहिये कि उसीसे उत्पन्न और आविष्ट होगी क्योंकि उस सत्ता के आदेश के बिना न तो वह अस्तित्व में आ पाती न बनी रहती। अगर भगवान् को उस जगत् की जरा भी परवाह है जिसे उन्होंने अभिव्यक्त किया है, तो स्वयं उनके सिवा कोई और प्रभु नहीं है और हम इस अनिवार्य परिणाम से न तो बच सकते हैं न इसे छोड़ सकते हैं कि वही आद्य और वैश्व सत्ता हैं। हमें अपूर्णता, दुःख और अशुभ की समस्या पर अपनी पहली मान्यता का, इस स्वतःसिद्ध परिणाम की भित्ति पर, उसके निहितार्थों की उपेक्षा किये बिना, विचार करना होगा।

पहले हमें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि यह जरूरी नहीं है, जैसा कि हम उतावली में मान लेते हैं कि जगत् में अज्ञान, भ्रांति, सीमाबंधन, दुःख, विभाजन और असंगति अपने-आपमें विश्व में विद्यमान भागवत सत्ता, चेतना, शक्ति, ज्ञान, इच्छा, आनंद का नकार या खंडन हैं। अगर हमें इन्हें अपने-आपमें अलग-अलग लेना पड़े तो वे ऐसे हो सकते हैं लेकिन अगर हमें वैश्व क्रिया के पूर्ण दृश्य में उनका स्थान और महत्त्व स्पष्ट दिखलायी दे तो ऐसा करने की जरूरत नहीं रहती। समग्र में से टूटा हुआ एक भाग अपूर्ण, भद्दा और समझ में न आ सकनेवाला हो सकता है लेकिन जब हम उसे संपूर्ण में देखते हैं तो वह सामंजस्य में फिर से अपना स्थान पा लेता है, उसका अर्थ और उपयोग होता है। दिव्य सद्वस्तु अपनी सत्ता में अनंत है, इस अनंत सत्ता में हम हर जगह सीमित सत्ता पाते हैं। यह एक ऐसा प्रत्यक्ष तथ्य है जिससे हमारा यहां का जीवन शुरू होता हुआ मालूम होता है और हमारे अपने संकीर्ण अहं और अहं-केन्द्रित क्रिया-कलाप इसके सतत साक्षी हैं। लेकिन वास्तव में जब हम पूर्ण आत्मज्ञानतक जा पहुंचते हैं तो हम देखते हैं कि हम सीमित नहीं हैं क्योंकि हम भी अनंत हैं। हमारा अहंकार वैश्व सत्ता का एक चेहरा मात्र है, उसकी कोई अलग सत्ता नहीं है। हमारा अलग दीखनेवाला व्यक्तित्व केवल एक सतही गति है और उसके पीछे हमारा सच्चा व्यक्तित्व फैल कर सभी चीजों के साथ एकत्व प्राप्त करता है और ऊपर उठकर परात्पर दिव्य अनंत के साथ एक हो जाता है। इस भांति हमारा अहं जो जीवन का सीमांकन मालूम होता है सचमुच अनंतता की एक शक्ति है। जगत् में सत्ताओं की निस्सीम बहुलता सीमांकन या सांतता का नहीं बल्कि असीम अनंतता का परिणाम और विशिष्ट प्रमाण है। प्रतीयमान विभाजन अपने-आपको कभी वास्तविक पृथक्ता में नहीं बदल सकता। उसे सहारा देता हुआ और उसका अतिक्रमण करता हुआ एक अविभाज्य एकत्व है जिसे स्वयं विभाजन भी विभाजित नहीं कर सकता। अहंकार का यह आधारभूत जगत्-तथ्य और प्रतीयमान विभाजन और जगत्-सत्ता

में उनकी पृथक् करनेवाली क्रियाएं एकत्व की और अविभाज्य सत् की दिव्य प्रकृति में प्रतिवाद नहीं हैं। वे अनंत बहुलता के सतही परिणाम हैं जो अनंत एकत्व की शक्ति है।

तो सत्ता का कोई वास्तविक विभाजन या परिसीमन नहीं है। सर्वव्यापक सद्वस्तु का कोई आधारभूत प्रत्याख्यान नहीं है लेकिन चेतना का वास्तविक परिसीमन अवश्य दिखायी देता है। आत्मा के बारे में अज्ञान है, आंतरिक दिव्यता पर पर्दा पड़ा है और समस्त अपूर्णता उसका परिणाम है क्योंकि हम मानसिक, प्राणिक और भौतिक रूप से इस सतही अहं की चेतना के साथ अपने-आपको एक कर लेते हैं। यह हमारा प्रथम आग्रहपूर्ण आत्मानुभव है। यह चेतना हमारे ऊपर आधारभूत वास्तविक नहीं परंतु व्यावहारिक विभाजन आरोपित करती है और इसके साथ उस परम सद्वस्तु से अलग होने के सभी अनिष्ट परिणाम आते हैं। परंतु यहां भी हमें इस बात का पता लगाना होता है कि भगवान् की क्रिया की दृष्टि से, सतह पर हमारी जो भी प्रतिक्रियाएं और जो भी अनुभव क्यों न हों, अज्ञान का यह तथ्य अपने-आपमें सच्चे अज्ञान की नहीं ज्ञान की क्रिया है, उसका अज्ञान का व्यापार एक सतही गति है क्योंकि उसके पीछे एक अविभाज्य सर्व-चेतना है। अज्ञान उस सर्व-चेतना की सम्मुखीन शक्ति है जो अपने-आपको अमुक क्षेत्र में, अमुक सीमाओं में—ज्ञान की किसी विशेष क्रिया के लिये, किसी प्रकार की सचेतन क्रिया के लिये—सीमित कर लेती है और बाकी ज्ञान को अपने पीछे एक शक्ति के रूप में प्रतीक्षा में रोके रखती है। वह सब जो इस तरह छिपा रहता है वह सर्व-चेतना के लिये प्रकाश और शक्ति का एक गुह्य भंडार होता है जहां से वह प्रकृति में हमारी सत्ता के विकास के लिये काम में ले सकती है। एक गुप्त क्रिया है जो सम्मुखीय अज्ञान की सभी त्रुटियों को भर देती है और प्रतीयमान स्खलनों के द्वारा क्रिया करती है, उन्हें ऐसे अंतिम परिणाम की ओर जाने से रोकती है जो सर्वज्ञान द्वारा समादिष्ट परिणाम से भिन्न है, अज्ञान में पड़ी अंतरात्मा को अनुभव से लाभ उठाने में सहायता देती है, यहांतक कि स्वाभाविक व्यक्तित्व के दुःखों और भ्रांतियों से भी वह सब लेने में सहायता देती है जो उसके विकास के लिये जरूरी है और जो उपयोगी नहीं रहा उसे पीछे छोड़ती जाती है। अज्ञान की यह सम्मुखीय शक्ति किसी सीमित क्रिया में एकाग्रता की शक्ति है। यह बहुत कुछ हमारी मानव मानसिकता की उस शक्ति की तरह है जिसके द्वारा हम अपने-आपको किसी विशेष विषय या विशेष कार्य में तल्लीन कर लेते हैं और तब ऐसा लगता है कि हम बस उतने-से ज्ञान, उतने भावों का उपयोग कर रहे हैं जितने उसके लिये जरूरी हैं, बाकी जो उससे विजातीय हैं या उसके काम में बाधा देंगे उन्हें उस समय के लिये पीछे रख दिया जाता है : फिर भी वास्तव में हम, सारे समय जो अविभाज्य चेतना हैं, उसीने वह सारा काम किया जिसे करना था, उस चीज को देखा है जिसे देखना

था—वही, हमारे अंदर की कोई आंशिक चेतना या कोई ऐकांतिक अज्ञान नहीं, नीरव ज्ञाता या कार्यकर्ता होता है, यही बात हमारे अंदर सर्व-चेतना की एकाग्रता की सम्मुखीय शक्ति के बारे में भी है।

हमारी चेतना की गतियों के मूल्यांकन में एकाग्रता की यह क्षमता उचित रूप में मानव मानसिकता की सबसे बड़ी शक्तियों में गिनी जाती है। लेकिन समान रूप से, जो ऐकान्तिक रूप से सीमित ज्ञान की क्रिया मालूम होती है, जो हमारे आगे अज्ञान के रूप में आती है उसे प्रकट करना भी दिव्य चेतना की सबसे बड़ी शक्तियों में से माना जाना चाहिये। केवल परम स्वरूप-स्थित ज्ञान ही इतना सशक्त हो सकता है कि जो अपने को क्रिया में इस तरह सीमित कर सके और फिर भी अज्ञान दीखनेवाली चीज के द्वारा अपने इरादों को पूर्णतया कार्यान्वित कर सके। विश्व में हम देखते हैं कि परम स्वरूप-स्थित ज्ञान अनेकविध अज्ञानों के द्वारा काम करता है, हर एक अपने ही अंधेपन के अनुसार कार्य करने की कोशिश करता है, फिर भी उन सबके द्वारा वैश्व सामंजस्यों का निर्माण और कार्यान्वयन करता है। और फिर उसकी सर्वज्ञता का चमत्कार सबसे अधिक आश्चर्यजनक रूप में उसमें दिखायी देता है जो हमें निश्चेतना की क्रिया मालूम होती है जब पूर्ण या आंशिक अविद्या द्वारा, जो हमारे अज्ञान से अधिक स्थूल होती है—विद्युदणु, परमाणु, कोषाणु, वनस्पति, कीट-पतंग, पशु-जीवन के सबसे निचले रूपों में वह पूर्णतया अपनी वस्तुओं की व्यवस्था करती है और सहज वृत्तिवाले आवेग या निश्चेतन संवेग को एक ऐसे लक्ष्य की ओर संचालित करती है जो सर्व-ज्ञान के अधिकार में तो है लेकिन है पर्दे के पीछे, जिसे जीवन का यांत्रिक रूप नहीं जानता परंतु फिर भी आवेग या संवेग में पूर्णतया क्रियाशील है। तो हम कह सकते हैं कि अज्ञान या अविद्या का यह कार्य सचमुच अज्ञान नहीं है बल्कि सर्वज्ञ आत्मज्ञान और सर्व-ज्ञान की एक शक्ति, एक लक्षण, एक प्रमाण है। अगर हमें अज्ञान के पीछे की इस अविभाज्य सर्व चेतना के बारे में किसी व्यक्तिगत और आंतरिक साक्षी की जरूरत हो—समस्त प्रकृति उसका बाहरी प्रमाण है—तो हम उसे कुछ पूर्णता के साथ अपनी गहरी आंतरिक सत्ता में या विशाल और उच्च आध्यात्मिक स्थिति में तभी पा सकते हैं जब हम अपने सतही अज्ञान के पर्दे के पीछे जायें और उसके पीछे विद्यमान दिव्य भाव और इच्छा के साथ संपर्क में आयें। तब हम काफी स्पष्टता से देख सकते हैं कि हमने जिसे अपने अज्ञान में अपने-आप किया है उसे अदृश्य सर्वज्ञता देख रही और उसके परिणाम में उसका संचालन कर रही थी। हम अपनी अज्ञानभरी क्रियाओं के पीछे ज्यादा बड़ी क्रिया को पाते हैं और अपने अंदर उसके प्रयोजन की झांकी पाना शुरु करते हैं। केवल तभी हम उसे देख और जान सकते हैं जिसकी अपनी श्रद्धा में हम अभी पूजा करते हैं, शुद्ध और वैश्व उपस्थिति (पुरुष) को पूरी तरह पहचान सकते हैं, सभी सत्ताओं और समस्त प्रकृति के स्वामी से मिल सकते हैं।

जैसा कारण—अज्ञान—के साथ है, वैसा ही अज्ञान के परिणाम के साथ है—जो कुछ हमें अक्षमता, दुर्बलता, निर्वीर्यता, शक्ति का सीमांकन, हमारी शक्ति का बाधाग्रस्त संघर्ष, बेड़ी-जड़ा श्रम मालूम होता है वह आत्म-क्रियारत भगवान् की दृष्टि से एक सर्वज्ञ शक्ति के उसकी अपनी इच्छा से समुचित सीमांकन का पहलू है ताकि सतही ऊर्जा उस कार्य के साथ ठीक मेल खाये जो उसे करना है, उसके प्रयास, उसे प्रदत्त सफलता या आवश्यक होने के कारण नियत असफलता के अनुरूप हो, जिन शक्तियों के समूह की वह ऊर्जा अंग है, उनके संतुलन के अनुरूप हो और उसके अपने परिणाम जिनके अविभाज्य अंश हैं उन विशालतर परिणामों के अनुरूप हो। शक्ति के इस परिसीमन के पीछे सर्व-शक्ति है और परिसीमन के अंदर वह सर्व-शक्ति काम कर रही है। लेकिन अविभाज्य सर्व-शक्तिमत्ता बहुत-सी सीमित क्रियाओं के समूह द्वारा अपने उद्देश्यों को अचूक और प्रभुत्वशाली रूप से सिद्ध करती है। अपनी शक्ति को सीमित करने और उस आत्म-परिसीमन द्वारा कार्य करने की वह शक्ति, जिसे हम परिश्रम, संघर्ष और कठिनाई कहते हैं, जो हमें असफलताओं या अधकचरी सफलताओं की एक शृंखला दिखायी देती है, उनके द्वारा अपने गुप्त प्रयोजन को सिद्ध करना दुर्बलता के चिह्न, प्रमाण या वास्तविकता न होकर उसकी अधिक-से-अधिक संभव, अबाध सर्वशक्तिमत्ता का चिह्न, प्रमाण या वास्तविकता है।

रही बात दुःख की जो हमारे लिये विश्व को समझने में इतनी बड़ी बाधा है। यह स्पष्ट है कि यह चेतना को सीमित करने का परिणाम है जो हमें उस स्पर्श पर अधिकार पाने या आत्मसात् करने से रोकता है जो हमें अन्य शक्ति प्रतीत होती है। इस अक्षमता और असामंजस्य का परिणाम यह होता है कि हम उस स्पर्श के आनंद को ग्रहण नहीं कर पाते और इसका प्रभाव हमारे इन्द्रिय-बोध में कष्ट या पीड़ा की प्रतिक्रिया के रूप में, अभाव या अतिरेक, बाह्य या आंतरिक क्षति में परिणामस्वरूप होनेवाली विसंगति के रूप में दिखायी देता है। यह हमारी सत्ता की शक्ति और हमें जो सत्ता की शक्ति मिलती है उन दोनों के बीच के विभाजन से पैदा होती है। हमारी आत्मा और आध्यात्म सत्ता में पीछे वैश्व सत्ता का सर्वानंद है जो उस स्पर्श को अपने ढंग से ग्रहण करता है। पहले तो दुःख-सहन में आनंद है, फिर उसपर विजय पाने में और अंत में उसके रूपांतर में, जो इसके बाद आयेगा, आनंद है। क्योंकि दुःख और दर्द अस्तित्व के आनंद की विकृत और विपरीत अभिधा हैं और वे अपने विपरीत रूप में, आदि सर्वानंद में भी बदल सकते हैं। यह सर्वानंद केवल विश्व पुरुष में ही नहीं है, वह यहां हमारे अंदर भी गुप्त रूप से है। जब हम बाहरी चेतना से अपने अंदर की आत्मा में लौट कर जाते हैं तो हमें इसका पता चलता है। हमारे अंदर चैत्य सत्ता अपने अधिक सौम्य अनुभवों को और साथ ही अपने अधिक-से-अधिक विकृत या विपरीत अनुभवों

को भी अपने ढंग से लेती है और उन्हें स्वीकार करते या छोड़ते हुए बढ़ती जाती है। वह हमारे बहुत उग्र दुःखों, कठिनाइयों, विपत्तियों में से एक दिव्य अर्थ और उपयोग निकाल लेती है। सर्व आनंद के सिवा किसी चीज में अपने ऊपर या हमारे ऊपर ऐसे अनुभवों को आरोपित करने का साहस या सहन शक्ति नहीं है, और कोई चीज ऐसी नहीं है जो उन्हें इस भांति अपने उपयोग और हमारे आध्यात्मिक लाभ के लिये मोड़ सके। इसी भांति सत्ता के अविच्छेद्य एकत्व में अंतर्निहित सत्ता के अविच्छेद्य सामंजस्य के सिवा और किसीके लिये यह संभव नहीं कि वह बाहर से इतने कठोर दीखनेवाले वैषम्यों को व्यक्त करे और फिर भी उन्हें अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये बाधित करे ताकि अंत में वे एक बढ़ते हुए विश्व-छंद और चरम सामंजस्य की सेवा करने, रक्षा करने और अपने-आप उसके घटक तत्त्व बनने के सिवा और कुछ न कर सकें। हम जिस बाहरी चेतना में रहते हैं उसके स्वभाव के कारण जिसे हम अब भी अदिव्य कहने के लिये बाधित होते हैं, और एक अर्थ में इस नाम का उपयोग करना ठीक भी है, उसके पीछे, हर मोड़ पर, हम दिव्य सद्वस्तु को देख सकते हैं, क्योंकि ये आभास दिव्य पूर्णता पर पर्दा हैं, एक ऐसा पर्दा जो अभी जरूरी है लेकिन जो सच्ची और पूर्ण आकृति नहीं है।

लेकिन जब हम विश्व को इस तरह देखते हैं तब भी हम उसे, स्वयं अपनी सीमित मानव चेतना द्वारा दिये गये मूल्यों को पूरी तरह और जड़ से ही मिथ्या और अवास्तविक कहकर उड़ा नहीं सकते और हमें उन्हें उड़ाना भी नहीं चाहिये क्योंकि शोक, पीड़ा, दुःख, भ्रांति, मिथ्यात्व, अज्ञान, दुर्बलता, दुष्टता, असामर्थ्य, कर्तव्य-उपेक्षा और अनुचित कर्म, इच्छा-शक्ति का व्यतिक्रम, इच्छा-शक्ति का निषेध, अहंकार, परिसीमन, जिन अन्य सत्ताओं के साथ हमें एक होना चाहिये उनसे विभाजन—ये सब मिलकर उसकी प्रभावकारी आकृति बनाते हैं जिसे हम अशुभ कहते हैं। ये सब जगत्-चेतना के तथ्य हैं, कपोल-कल्पनाएं और अवास्तविकताएं नहीं। यद्यपि वे ऐसे तथ्य हैं जिनका पूर्ण भाव या सच्चा मूल्य वह नहीं है जो हम अपने अज्ञान में उन्हें देते हैं। फिर भी उनके बारे में हमारा भाव एक सच्चे भाव का अंग है; उनके संपूर्ण मूल्यों के लिये हमारे दिये गये मूल्य जरूरी हैं। इन वस्तुओं के सत्य का एक पहलू हमें तब मालूम होता है जब हम एक गभीरतर और विशालतर चेतना में प्रवेश करते हैं क्योंकि तब हम यह जान पाते हैं कि जो हमारे सामने प्रतिकूल और बुरा बनकर उपस्थित होता है उसमें एक वैश्व और व्यक्तिगत उपयोगिता है। क्योंकि वस्तुतः पीड़ा के अनुभव के बिना हम दिव्य आनंद के उस अनंत मूल्य को नहीं पा सकते पीड़ा जिसकी प्रसव वेदना है। समस्त अज्ञान एक उपच्छाया है जो ज्ञान के आभामंडल को घेरे हुए है, हर एक भ्रांति सत्य के आविष्कार की संभावना और प्रयास का संकेत है, हर एक दुर्बलता और असफलता शक्ति और संभाव्यता की खाड़ियों की जांच का पहला प्रयास है, हर

विभाजन का अभिप्राय है एकत्व की विभिन्न मधुरताओं के अनुभव द्वारा उपलब्ध ऐक्य के आनंद को समृद्ध करना। हमारे लिये यह समस्त अपूर्णता अशुभ है परंतु समस्त अशुभ शाश्वत शुभ की प्रसव पीड़ा है क्योंकि सब कुछ अपूर्णता में है जो निश्चेतना में से विकसित होते हुए जीवन के विधान के अनुसार प्रच्छन्न दिव्यता की अभिव्यक्ति में महत्तर पूर्णता की पहली अवस्था है लेकिन साथ ही इस अशुभ और अपूर्णता के बारे में, हमारी वर्तमान अनुभूति, हमारी चेतना का उनके विरुद्ध विद्रोह भी आवश्यक मूल्यांकन है क्योंकि अगर हमें पहले उनका सामना करना और उनको सहना पड़ता है तो हमें अंतिम आदेश यह है कि उन्हें अस्वीकार करें, उनपर विजय पायें और जीवन तथा प्रकृति को रूपांतरित करें। इसी उद्देश्य के लिये उनके आग्रह को ढीला नहीं होने दिया जाता, अंतरात्मा को अज्ञान के परिणाम सीखने ही चाहियें, उसे यह अनुभव करना शुरू करना चाहिये कि उनकी प्रतिक्रियाएं प्रभुता और विजय पाने और अंततः रूपांतर और अतिक्रमण के अधिक बड़े प्रयास के लिये प्रेरणा हैं। जब हम आंतरिक रूप से गहराइयों में रहते हैं तो ऐसी विशाल आंतरिक समता और शांति की स्थितितक पहुंचना संभव होता है जो बाहरी प्रकृति की प्रतिक्रियाओं से अछूती रहती है। यह एक बहुत बड़ी पर अपूर्ण मुक्ति है—क्योंकि बाहरी प्रकृति को भी तो मुक्ति का अधिकार है। लेकिन अगर हमारी व्यक्तिगत मुक्ति पूर्ण भी हो जाये तो भी औरों के दुःख, जगत् की दारुण पीड़ा तो रहती ही है जिसे महान् आत्माएं उदासीनता से नहीं देख सकतीं। सभी सत्ताओं के साथ एक ऐसा ऐक्य है जिसे हमारे अंदर की कोई चीज अनुभव करती है और हमें औरों की मुक्ति के साथ भी अपनी मुक्ति के जैसा घनिष्ठ संबंध अनुभव करना चाहिये।

तो यही है अभिव्यक्ति का विधान, यहां की अपूर्णता का कारण। यह सच है कि यह केवल अभिव्यक्ति का विधान है, बल्कि हम जिस गतिविधि में जी रहे हैं उसका विशेष विधान है और हम कह सकते हैं कि इसका होना जरूरी न था अगर अभिव्यक्ति की गतिविधि न होती या यह गति न होती, लेकिन चूंकि गतिविधि और अभिव्यक्ति हैं ही तो विधान भी जरूरी है। केवल इतना कह देना काफी नहीं है कि यह विधान और इसकी सब परिस्थितियां एक अवास्तविकता हैं जिसे मानसिक चेतना ने रचा है, परमेश्वर में उनका अस्तित्व नहीं और इन द्वंद्वों से उदासीन रहना या अभिव्यक्ति में से निकलकर भगवान् के शुद्ध सत् में चला जाना ही एकमात्र बुद्धिमत्ता है। यह सच है कि ये मानसिक चेतना की रचनाएं हैं लेकिन मन इनके लिये केवल गौण रूप से जिम्मेदार है। जैसा कि हम पहले देख आये हैं, गहरी वास्तविकता में दिव्य चेतना की रचनाएं हैं जो मन को सर्व-ज्ञान से दूर प्रक्षिप्त करती हैं ताकि वह दिव्य चेतना अपनी सर्व-शक्ति, सर्व-ज्ञान, सर्व-आनंद, सर्व-सत् और ऐक्य के विरोधी या विपरीत मूल्यों का अनुभव कर सके। स्पष्ट ही,

हम दिव्य चेतना की इन क्रियाओं और इन फलों को इस अर्थ में अवास्तविक कह सकते हैं कि वे सत्ता के शाश्वत और मूलभूत सत्य नहीं हैं या हम उनपर मिथ्यात्व आरोपित कर सकते हैं क्योंकि वे सत्ता के मौलिक और अंतिम सत्य का प्रत्याख्यान करते हैं। फिर भी अभिव्यक्ति की हमारी वर्तमान स्थिति में उनकी आग्रहपूर्ण वास्तविकता और महत्ता है, वे दिव्य चेतना की भूल मात्र भी नहीं हो सकते जिसका दिव्य प्रज्ञा में कोई मूल्य न हो, जिसका दिव्य आनंद, शक्ति और ज्ञान के लिये प्रयोजन भी नहीं हो जो उनके होने को उचित ठहरा सके। अस्तित्व का औचित्य तो होना ही चाहिये—भले जबतक कि हम सतही अनुभव में जीते हैं—वह किसी ऐसे रहस्य पर आधारित हो जो हमारे सामने ऐसी पहेली के रूप में आता है जिसका कोई हल नहीं है।

लेकिन अगर प्रकृति के इस पक्ष को स्वीकारते हुए हम यह कहें कि सभी चीजें सत्ता के संवैधानिक निश्चल नियम में निश्चित हैं और मनुष्य को भी अपनी अपूर्णताओं में बंधा रहना चाहिये, अपने अज्ञान और पाप, दुर्बलता और दुष्टता और दुःख में जड़ा रहना चाहिये तो हमारा जीवन अपना सच्चा महत्त्व खो बैठता है। तब अपनी प्रकृति के अंधकार और अपर्याप्तता में से ऊपर उठने का मनुष्य का सतत प्रयास इस जगत् में, इस जीवन में कोई परिणाम नहीं ला सकता। उसका एकमात्र परिणाम, यदि कोई परिणाम हो सकता है, यही होगा कि वह जीवन से, जगत् से, अपने मानव अस्तित्व से बच निकले और इसलिये अपूर्ण सत्ता के शाश्वत असंतोषजनक विधान से बाहर हो जाये, या तो देवों के स्वर्ग में या भगवान् के स्वर्ग में या फिर निरपेक्ष की शुद्ध अनिर्वचनीयता में। अगर ऐसा है तो मनुष्य कभी वस्तुतः अज्ञान और मिथ्यात्व में से ज्ञान और सत्य को, अशुभ और कुरूपता में से शिव और सुंदर को, दुर्बलता और नीचता में से शक्ति और ऐश्वर्य को, शोक और दुःख में से हर्ष और आनंद को प्रकट नहीं कर सकता यद्यपि ज्ञान, सत्य, शिव, सुंदर, शक्ति, ऐश्वर्य, हर्ष और आनंद अपने विरोधी भावों के पीछे रहनेवाली आध्यात्म सत्ता में अंतर्निहित हैं और ये विरोधी वस्तुएं उनके उभरने में उपस्थित होनेवाली पहली विरोधी और विपरीत अवस्थाएं हैं। मनुष्य बस इतना ही कर सकता है कि अपूर्णताओं को काटकर फेंक दे और साथ ही संतुलन करनेवाले उनके विरोधी तत्त्वों को, जो स्वयं भी अपूर्ण हैं पार कर ले—अज्ञान के साथ मानव ज्ञान को, अशुभ के साथ मानव शुभ को, दुर्बलता के साथ मानव बल और शक्ति को, संघर्ष और दुःख के साथ मानव प्रेम और आनंद को भी छोड़ दे क्योंकि हमारी वर्तमान प्रकृति में ये आपस में इस तरह गुंथे हुए हैं कि इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। ऐसा लगता है ये द्वंद्व जुड़े हुए हैं, एक ही अवास्तविकता के ऋण और धन दो ध्रुव हैं और चूंकि उन्हें उठाया और रूपांतरित नहीं किया जा सकता इसलिये इन दोनों को ही त्याग देना चाहिये। मानवता को दिव्यता में पूर्ण

नहीं किया जा सकता इसलिये उसे समाप्त हो जाना चाहिये, उसे पीछे छोड़ देना और त्याग देना चाहिये। धर्मों और दर्शनों में इस बात में मतभेद है कि इसका परिणाम निरपेक्ष दिव्य प्रकृति या दिव्य उपस्थिति का वैयक्तिक भोग होगा या अनिर्देश्य निरपेक्ष में निर्वाण। लेकिन दोनों ही हालतों में धरती पर मानव सत्ता को स्वयं अपनी सत्ता के विधान द्वारा शाश्वत अपूर्णता के लिये अभिशप्त मान लेना चाहिये। यह दिव्य सत्ता के अंदर एक सतत, अपरिवर्तनशील अदिव्य अभिव्यक्ति है। अंतरात्मा मानवता को स्वीकार करके, शायद जन्म के तथ्य के कारण ही भगवान् से च्युत हो गयी है। उसने एक आद्य पाप या भूल की है और मनुष्य का आध्यात्मिक लक्ष्य यह होना चाहिये कि जैसे ही वह बोध पा जाये, इसे पूरी तरह रद्द कर दे, निर्भीक होकर लुप्त कर दे।

ऐसी हालत में, ऐसी विरोधाभासी अभिव्यक्ति या सृष्टि की एकमात्र न्यायसंगत व्याख्या यह होती है कि यह एक वैश्व खेल है, एक लीला है, दिव्य सत्ता का मनोरंजन है। हो सकता है कि वह अदिव्य होने का ढोंग करती है, उस रूप को केवल ढोंग या नाटक के आनंद के लिये अभिनेता के छद्मवेश या बनावटी रूप की तरह पहनती है या फिर उसने अदिव्य का सृजन किया है, अज्ञान का, पाप और दुःख का सृजन किया है केवल बहुविध सृष्टि के आनंद के लिये। या शायद जैसा कुछ धर्म विचित्र ढंग से मानते हैं, उसने यह सृजन इसलिये किया है ताकि ऐसे निम्नतर प्राणी हों जो उसके शाश्वत शुभ, बुद्धिमत्ता, आनंद और सर्व-शक्तिमत्ता के लिये उसकी प्रशंसा करें और महिमा गायें और दुर्बल प्रयास के साथ, भलाई के एक इंच निकटतर आने की कोशिश करें ताकि वे आनंद में भाग ले सकें—अन्यथा वे किसी कल्पित शाश्वत से दंड पायेंगे और मनुष्यों की बहुसंख्या का अपनी अपूर्णता के कारण प्रयास में असफल होना अवश्यंभावी है। किंतु इतने अनगढ़ ढंग से प्रस्तुत किये गये लीला के इस सिद्धांत के लिये हमेशा यह प्रत्युत्तर संभव रहता है कि एक ऐसा भगवान् जो अपने-आप तो सर्वानन्दमय है, जो प्राणियों के दुःख में मजा लेता है या जो अपने ही अपूर्ण सृजन के दोषों के कारण उनपर दुःख आरोपित करता है, वह भगवान् नहीं हो सकता और मनुष्य की नैतिक सत्ता या बुद्धि को उसके विरुद्ध विद्रोह करना या उसके अस्तित्व से इंकार करना चाहिये। लेकिन अगर मानव अंतरात्मा भगवान् का अंश है, अगर मनुष्य के अंदर की दिव्य आध्यात्म-सत्ता इस अपूर्णता को ओढ़ लेती है और मानवता के रूप में इस दुःख को सहना स्वीकार करती है या अगर मानवजाति में अंतरात्मा का उद्देश्य ही है भागवत आत्मा की ओर आकर्षित होना और वह यहां अपूर्णता के खेल में, उसकी साथी है और पूर्ण सत्ता के आनंद में कहीं और उसकी साथी है, फिर भी लीला एक विरोधाभास बनी रहती है परंतु वह क्रूर और जुगुप्साजनक विरोधाभास नहीं रहती। अधिक-से-अधिक यह माना जा सकता है कि वह एक

अजीब रहस्य है जिसकी व्याख्या बुद्धि के द्वारा नहीं हो सकती। उसकी व्याख्या करने के लिये दो तत्त्वों की कमी रहती है, इस अभिव्यक्ति के लिये अंतरात्मा की सचेतन स्वीकृति और सर्व प्रज्ञा में कोई ऐसा कारण जो इस लीला को सार्थक और बोधगम्य बनाये।

लीला की विचित्रता तब कम हो जाती है, विरोधाभास की तीक्ष्णता तब क्षीण हो जाती है जब हम यह खोज पाएं कि यद्यपि ऐसी सुनिश्चित श्रेणियां हैं जिनमें हर एक की प्रकृति की अपनी व्यवस्था है फिर भी वे जड़ के रूपों में शरीर धारण की हुई अंतरात्माओं के प्रगतिशील आरोहण के दृढ़ सोपान मात्र हैं, निश्चेतन से अतिचेतन या सर्वचेतन की स्थिति की ओर उठती हुई प्रगतिशील दिव्य अभिव्यक्ति हैं जिसमें मानव चेतना संक्रमण का निर्णायक-बिंदु है। तब अपूर्णता अभिव्यक्ति की एक जरूरी स्थिति बन जाती है क्योंकि समस्त दिव्य प्रकृति निश्चेतना में छिपी हुई होते हुए भी उपस्थित है इसलिये उसे उसके अंदर से धीरे-धीरे मुक्त करना होगा। यह अनुक्रम आंशिक उन्मीलन को जरूरी बनाता है और उन्मीलन का यह आंशिक रूप या अधूरापन अपूर्णता को जरूरी बनाता है। क्रमिक विकासवाली अभिव्यक्ति एक बीच की स्थिति की मांग करती है जिसके ऊपर और नीचे क्रम हों—ठीक ऐसी ही स्थिति जैसी मनुष्य की मानसिक चेतना है; आंशिक रूप से ज्ञान और आंशिक रूप से अज्ञान, सत्ता की एक मध्यवर्ती शक्ति जो अब भी निश्चेतना की ओर झुकी हुई है लेकिन धीरे-धीरे सर्वचेतन दिव्य प्रकृति की ओर उठ रही है। आंशिक उन्मीलन, जिसमें अपूर्णता और अज्ञान समाविष्ट हैं, अपने अनिवार्य सहचर के रूप में, शायद अपनी अमुक गतियों के आधार-रूप में, सत्ता के आद्य सत्य की प्रतीयमान विकृति को ले सकता है। अज्ञान और अपूर्णता के बने रहने के लिये जो कुछ दिव्य प्रकृति की विशेषता है—उसके ऐक्य, उसकी सर्व-चेतना, उसकी सर्व-शक्ति, उसका सर्व-सामंजस्य, उसका सर्व-शुभ, उसका सर्व-आनंद उसके प्रतीयमान प्रतिकूल होने चाहियें; परिसीमन, असंगति, अचेतना, असामंजस्य, अक्षमता, संज्ञाहीनता, दुःख और अशुभ प्रकट होने चाहियें। क्योंकि उस विकृति के बिना अपूर्णता की कोई मजबूत आधार-भूमि नहीं हो सकती थी। वह आधारभूत दिव्यता की उपस्थिति के विरुद्ध अपने स्वरूप को इतनी आजादी से अभिव्यक्त न कर पाती और न अपने-आपको बनाये रख सकती। एकांगी ज्ञान अपूर्ण ज्ञान है और अपूर्ण ज्ञान उस हदतक अज्ञान है, भागवत प्रकृति का विरोधी है लेकिन जो उसके ज्ञान के परे है उसके बारे में अपनी दृष्टि में यह विपरीत निषेध, विपरीत भाव हो जाता है। वह चीजों के प्रति, जीवन और कर्म के प्रति भ्रांति को, गलत ज्ञान को, गलत व्यवहार को शुरू करता है। गलत ज्ञान प्रकृति में गलत इच्छा बन जाता है, हो सकता है कि पहले वह भूल से गलत होता है लेकिन बाद में चुनाव से, आसक्ति से, मिथ्यात्व में सुख से गलत होता है। सरल-सा विरोध जटिल

विकार बन जाता है। एक बार अज्ञान और निश्चेतना को स्वीकार कर लिया जाये तो ये चीजें न्याय-संगत अनुक्रम में स्वाभाविक परिणाम-स्वरूप प्रकट होती जाती हैं और उन्हें आवश्यक तत्त्वों के रूप में स्वीकार करना होता है। प्रश्न बस एक ही है कि इस प्रकार की प्रगतिशील अभिव्यक्ति अपने-आपमें क्यों जरूरी हुई, इसका कारण क्या है। हमारी बुद्धि के लिये यही एक बात अस्पष्ट रह जाती है।

इस प्रकार की अभिव्यक्ति, आत्मसृजन या लीला न्याय-संगत न प्रतीत होती यदि उसे अनिच्छुक जीव पर लाद दिया जाता। लेकिन यह स्पष्ट है कि शरीरधारी आत्मा की सहमति पहले से ही रही होगी क्योंकि प्रकृति पुरुष की स्वीकृति के बिना कुछ नहीं कर सकती। वैश्व सृष्टि को संभव बनाने के लिये केवल दिव्य पुरुष की इच्छा ही नहीं बल्कि व्यष्टिगत अभिव्यक्ति के लिये व्यष्टिगत पुरुष की स्वीकृति भी रही होगी। लेकिन यह कहा जा सकता है कि इस तरह की कठिन और यातना-पीड़ित क्रमिक अभिव्यक्ति के लिये दिव्य इच्छा और आनंद का कारण और अंतरात्मा की स्वीकृति का कारण अब भी एक रहस्य है। लेकिन अगर हम अपनी निजी प्रकृति को देखें और यह अनुमान कर सकें कि वैश्व मूल के आरंभ में सत्ता की कोई ऐसी ही, सजातीय गतिविधि रही होगी तो यह बात एकदम रहस्य नहीं रहती। इसके विपरीत अपने-आपको छिपाने और खोजने का खेल उन सबसे बढ़कर श्रमसाध्य हर्षों में से है जो सचेतन सत्ता अपने-आपको दे सकती है, यह अत्यधिक आकर्षक खेल है। स्वयं मनुष्य के लिये ऐसी विजय-प्राप्ति से बढ़कर सुखद कोई और चीज नहीं है जो कि अपने तत्त्व रूप में कठिनाइयों पर विजय होती है, ज्ञान में विजय, शक्ति में विजय, सृष्टि की असम्भवताओं पर सृष्टि में विजय—जो कि एक कष्टमय श्रम और दुःख की कठिन अग्निपरीक्षा में विजय-प्राप्ति का आनंद होता है। वियोग के अंत में आता है मिलन का प्रगाढ़ सुख, एक ऐसी आत्मा से मिलने का सुख जिससे हम विभक्त हो गये थे। स्वयं अज्ञान में एक आकर्षण है क्योंकि यह हमें अन्वेषण का सुख देता है, नयी, अदृष्ट सृष्टि का आश्चर्य, अंतरात्मा का महान् साहस-कार्य प्रदान करता है। यात्रा का, खोज का और पाने का आनंद होता है, युद्ध और मुकुट का, श्रम और श्रम के परिणाम का आनंद होता है। अगर सत्ता का आनंद सृष्टि का रहस्य है तो यह भी सत्ता का एक आनंद है। उसे प्रतीयमान रूप से परस्पर-विरोधी और विपरीत लीला का कारण या कारणों में से एक माना जा सकता है। लेकिन व्यष्टिगत पुरुष के चुनाव से भिन्न, एक अधिक गहरा सत्य आद्य सत् में अंतर्निहित है जो निश्चेतना के अंदर डुबकी में अपनी अभिव्यक्ति पाता है, जिसका परिणाम है अपने विरोधी दीखनेवाले तत्त्व में सच्चिदानंद की फिर से स्थापना। अगर यह मान लिया जाये कि अनंत को विविध प्रकार की आत्माभिव्यक्ति का अधिकार है तो यह भी अभिव्यक्ति की एक संभावना के रूप में बोधगम्य हो जाता है और उसकी अपनी गभीर सार्थकता है।

अध्याय ५

विश्वमाया; मन, स्वप्न और विभ्रम

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।

तू जो इस अनित्य और असुखी लोक में आया है, मुझे भज।

गीता ९.३३

आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः . . . हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः।
स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति . . . स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि॥

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः, इदं च परलोकस्थानं च, . . .
तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानं च, . . .
स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा, प्रस्वपित्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति॥

न तत्र रथाः न . . . पन्थानो भवन्ति, . . .
न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्ति, . . .
न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्ति,
अथ . . . सृजते स हि कर्त्ता॥

स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति॥
प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा।
स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः॥
. . . अथो खल्वाहुः "जागरितदेश एवास्यैष इति, यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्त इति", अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति॥

यह आत्मा विज्ञानमय है, हृदय में अंतर्ज्योति है, वह सत्ता की सभी अवस्थाओं में समान रूप से चिन्मय पुरुष है और दोनों लोकों में विचरण करता है। वह स्वप्न-पुरुष बन जाता है और इस जगत् तथा उसके मृत्यु-रूपों के परे चला जाता है . . . इस सचेतन पुरुष के दो स्तर हैं, इहलोक और परलोक। तीसरा स्थान उन दोनों का संधि-स्थल है, यह स्वप्नावस्था है। जब वह इस संधि-स्थल पर

खड़ा होता है तो वह अपनी सत्ता के दोनों स्तरों को, इहलोक और परलोक को देखता है। जब वह सोता है तो सबको अपने अंदर रखनेवाले इहलोक के पदार्थ को लेता और आत्म-दीप्ति से, आत्म ज्योति से अपने-आप ही तोड़ता और बनाता है। जब यह पुरुष सोता है तो आत्म-ज्योति से ज्योतिर्मय हो जाता है ... वहां कोई मार्ग नहीं, रथ नहीं हैं, न हर्ष हैं न सुख, न तालाब हैं न तलैया और न ही नदियां। लेकिन वह अपने ही प्रकाश से उनकी रचना करता है क्योंकि वही रचयिता है, वह नींद द्वारा शरीर का त्याग करता है और बिना सोये उन्हें देखता है जो सोये हुए हैं। अपने प्राण-वायु से वह इस निचले घोंसले की रक्षा करता है और अमृतस्वरूप अपने घोंसले से बाहर चला जाता है। वह अमृतस्वरूप, हिरण्यमय पुरुष, एकाकी हंस जहां चाहता है चला जाता है। कहते हैं, "केवल जाग्रत् देश ही उसका है क्योंकि वह जिन चीजों को जाग्रत् अवस्था में देखता है उन्हींको वह निद्रा में देखता है। लेकिन वहां वह अपनी आत्म-ज्योति है।"

बृहदारण्यकोपनिषद् ४. ३-७, ९-१२, १४

... दृष्टं चादृष्टं च ... अनुभूतं चाननुभूतं च,
सच्चासच्च, सर्वं पश्यति, सर्वः पश्यति ॥

जो कुछ दिखायी देता है और जो नहीं दिखायी देता, जो अनुभव किया गया है और जिसका अनुभव नहीं किया गया, जो है और जो नहीं है—वह सबको देखता है। वह सर्व है और सब कुछ देखता है।

प्रश्नोपनिषद् ४. ५

समस्त मानव विचार, मनोमय मनुष्य का समस्त अनुभव निरंतर अस्ति और नास्ति के बीच घूमता रहता है। उसके मन के लिये भाव का ऐसा कोई सत्य, अनुभूति का ऐसा कोई परिणाम नहीं है जिसकी पुष्टि न की जा सके, ऐसा कोई नहीं है जिसका प्रतिवाद न किया जा सके। उसने व्यक्तिगत सत्ता के अस्तित्व का खंडन किया है, विश्व के अस्तित्व का खंडन किया है, किसी अंतस्थ या मूलगत सद्वस्तु का खंडन किया है, व्यष्टि और विश्व के परे किसी सद्वस्तु का खंडन किया है पर साथ ही सतत रूप से इनका समर्थन भी करता रहा है—कभी इनमें से किसी एक का, कभी किन्हीं दो का और कभी सबका मिलाकर। उसे ऐसा करना पड़ता है क्योंकि हमारा विचारशील मन अपनी प्रकृति से ही संभावनाओं का अज्ञानी व्यापारी है जिसे इनमें से किसीके पीछे के सत्य पर अधिकार प्राप्त नहीं है, लेकिन वह बारी-बारी से या कइयों की एक साथ थाह लेता और जांच करता रहता है ताकि

कहीं अकस्मात् वह उनके बारे में किसी निश्चित विश्वास या ज्ञान, किसी निश्चयतातक पहुंच जाये। फिर भी सापेक्षों और संभावनाओं के जगत् में निवास करते हुए, वह किसी अंतिम निश्चयतक, किसी निरपेक्ष और स्थायी विश्वासतक नहीं पहुंच सकता। इतना ही नहीं, वास्तविक, उपलब्ध भी हमारी मानसिकता के आगे 'स्याद् वा न स्याद् वा', 'हो सकता है और नहीं भी हो सकता' के रूप में प्रस्तुत कर सकता है या 'ऐसा हो' के रूप में उपस्थित हो सकता है जो 'न हुआ हो' की छाया में हो और भविष्य में न होनेवाले का रूप धारण किये हो। हमारी जीवन सत्ता भी उसी अनिश्चिति से पीड़ित है। वह जीवन के ऐसे किसी लक्ष्य में नहीं रह सकती जहां से वह निश्चित या अंतिम संतोष पा सके या जिसे वह कोई स्थायी मूल्य दे सके। हमारी प्रकृति ऐसे तथ्यों और वास्तविकताओं से शुरू होती है जिन्हें वह सच्चा मानती है। वह उनसे परे अनिश्चित संभावनाओं की खोज में धकियायी जाती है और अंत में ऐसी हालत में आती है जहां उसने जिन चीजों को वास्तविक माना था उन सब पर प्रश्न करती है। क्योंकि वह आधारभूत अज्ञान से शुरू होती है और निश्चित सत्य पर उसकी कोई पकड़ नहीं होती। वह जिन सत्यों पर कुछ समय के लिये भरोसा करती है वे सब एकांगी, अपूर्ण और संदिग्ध निकलते हैं।

प्रारंभ में मनुष्य अपने भौतिक मन में निवास करता है जो, जो कुछ वास्तविक, भौतिक और विषयरूप है उसे देखता और तथ्य रूप में और इस तथ्य को संदेह के परे स्वयं-सिद्ध सत्य मान लेता है। जो कुछ वास्तविक नहीं है, भौतिक नहीं है, विषयगत नहीं है उसे वह अवास्तविक या अनुपलब्ध मानता है, जिसे पूरी तरह वास्तविक तभी माना जा सकता है जब वह प्रत्यक्ष होने में, भौतिक तथ्य होने में, विषयगत होने में सफल हो जाये। वह अपनी सत्ता को भी वस्तुनिष्ठ तथ्य मानता है, उसे इसलिये वास्तविक ठहराता है क्योंकि उसका अस्तित्व एक दृश्य और इन्द्रियग्राह्य शरीर में है। वह अन्य सभी आत्मनिष्ठ सत्ताओं और वस्तुओं को वहींतक मानता है जहांतक वे हमारी बाहरी चेतना के विषय बन सकती हैं या हमारी बुद्धि का वह भाग उन्हें स्वीकार करता है जो उस चेतना के दिये हुए तथ्यों के आधार पर रचना करता और उन्हें ज्ञान का एकमात्र ठोस आधार मानकर उनपर निर्भर रहता है। भौतिक विज्ञान इसी मानसता का एक विस्तृत फैलाव है। वह, जो तथ्य और वस्तुएं हमारी शारीरिक इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं हैं, उन्हें वस्तुनिष्ठता के क्षेत्र में लाने के साधनों का आविष्कार करके इन्द्रियों की भूलों को सुधारता और ऐन्द्रिय मन की प्रथम सीमाओं को आगे धकेल देता है। लेकिन वास्तविकता के लिये उसके पास भी वही मानदंड है, वस्तुनिष्ठ, भौतिक यथार्थता; वास्तव के लिये उसकी कसौटी है वस्तुनिष्ठ बुद्धि और बाहरी साक्ष्य द्वारा जांच।

लेकिन मनुष्य का एक प्राण-मन, एक प्राणिक मानसिकता भी है जो कामना का उपकरण है। यह वास्तविक से संतुष्ट नहीं होता, वह संभावनाओं का व्यापारी है,

उसे नवीनता के लिये अनुराग होता है और वह कामना की संतुष्टि के लिये, भोग के लिये, परिवर्धित आत्म-पोषण के लिये, अपने बल और लाभ के क्षेत्र के विस्तार के लिये हमेशा अनुभव की सीमाओं को बढ़ाने की कोशिश करता रहता है। वह वास्तविकताओं की कामना करता, उनका भोग करता और उन पर अधिकार करता है लेकिन अप्राप्त संभावनाओं का पीछा भी करता है। वह उन्हें मूर्त रूप देने, अधिकार में लाने और उनका भोग करने के लिये भी उत्कण्ठित रहता है। वह भौतिक और विषयगत से ही संतुष्ट नहीं होता बल्कि आत्मनिष्ठ, काल्पनिक, शुद्ध रूप से भावात्मक संतोष और सुख की भी चाह करता है। अगर यह तत्त्व न होता, मनुष्य का भौतिक मन अपने-आप पर छोड़ दिया गया होता तो वह पशु की तरह रहता, अपने प्रथम वास्तविक भौतिक जीवन और उसकी सीमाओं को ही अपनी पूरी संभावना मानकर जड़ भौतिक प्रकृति की प्रतिष्ठित व्यवस्था में ही घूमता रहता और उसके परे किसी चीज की मांग न करता। लेकिन यह प्राणिक मन, यह चंचल प्राणिक इच्छा अपनी मांगों के साथ आती है और इस जड़ या नियत संतोष में, जो वास्तविकता के घेरे में बंद रहता है, उथल-पुथल कर देती है। वह प्राणिक मन सदा कामना और लालसा को बढ़ाता है, असंतोष, बेचैनी पैदा करता है, जीवन जो कुछ दे सकने के योग्य मालूम होता है उससे अधिक की तलाश करता है। वह हमारी ऐसी संभावनाओं को वास्तविक बनाता है जो अभी चरितार्थ नहीं हुईं, इससे वह भौतिक वास्तविकताओं के क्षेत्र को खूब फैलाता है, साथ ही सतत अधिकाधिक के लिये मांग, विजय के लिये नये-नये जगतों की खोज, परिस्थितियों के घेरे का अतिक्रमण करने के लिये और अपने अतिक्रमण के लिये एक अनवरत प्रवृत्ति में लगा रहता है। बेचैनी और अनिश्चय के इस कारण को बढ़ाने के लिये विचारशील मन आ जाता है जो हर चीज के बारे में प्रश्न करता है, हर चीज के बारे में खोज करता है, प्रतिपादन बनाता और तोड़ता है, निश्चयता की पद्धतियां खड़ी करता है लेकिन अंत में उनमें से किसी को निश्चित नहीं मानता, इन्द्रियों की साक्षी की पुष्टि करता और उनपर प्रश्न करता है, बुद्धि के निष्कर्षों का अनुसरण करता और फिर उन्हें ढा देता और फिर उनसे भिन्न या एकदम विपरीत निष्कर्षों पर पहुंचता है और फिर अगर अनंत कालतक नहीं तो अनिश्चित कालतक इस क्रिया को चलाता रहता है। मानव विचार और मानव प्रयास का यही इतिहास है। वह सदा सीमाओं को तोड़ता है लेकिन फिर उन्हीं कुंडलियों में घूमता रहता है। ये कुंडलियां शायद ज्यादा बड़ी होती जाती हैं लेकिन घुमावों की दिशा वह की वही या सदा एक जैसी रहती है। मानव जाति का मन सदा खोज करता, सक्रिय रहता है और कभी जीवन के लक्ष्यों और उद्देश्यों की दृढ़, स्थिर सत्यता या अपनी ही निश्चितताओं और दृढ़ धारणाओं की स्थिर सत्यता पर, जीवनसंबंधी अपने भाव के किसी प्रतिष्ठित आधार या दृढ़ रूपायण पर नहीं पहुंचता।

इस सतत बेचैनी और कठोर श्रम के किसी विशेष बिंदु पर भौतिक मन भी अपनी विषयगत निश्चयता पर विश्वास खो बैठता है और एक ऐसे अज्ञेयवाद में प्रवेश करता है जो जीवन और ज्ञानसंबंधी उसके अपने सभी मानदंडों पर प्रश्न करने लगता है और शंका करता है कि क्या यह सब वास्तविक है या फिर क्या सब कुछ, चाहे वास्तविक भले हो, व्यर्थ नहीं है। प्राणिक मन जीवन से चकराकर और अवसाद में पड़कर या अपने सभी संतोषों से असंतुष्ट होकर गहरी जुगुप्सा और निराशा से पराभूत होकर देखता है कि सब कुछ व्यर्थ है, आत्मा के लिये परेशानी है और जीवन तथा अस्तित्व को अयथार्थ मानकर, वह जिन चीजों के पीछे भाग रहा था उन सबको भ्रम या माया मानकर त्याग देने के लिये तैयार हो जाता है। विचारशील मन अपने सभी प्रतिपादनों को तोड़ता हुआ यह पता लगाता है कि ये सब मानसिक रचनाएं भर हैं और उनमें कोई वास्तविकता नहीं है या अगर कोई वास्तविकता है भी तो वह ऐसी चीज है जो इस अस्तित्व के परे है, कोई ऐसी चीज है जो अभीतक बनी या निर्मित नहीं हुई, कोई ऐसी चीज जो निरपेक्ष और शाश्वत है—वह सब जो सापेक्ष है, वह सब जो कालिक है वह स्वप्न है, मन का भ्रम या बहुत बड़ा प्रलाप, एक विराट् वैश्व भ्रांति, प्रतीयमान अस्तित्व का भ्रामक रूप है। नास्ति का सिद्धांत अस्ति के सिद्धांत पर हावी हो जाता है और सार्वभौम तथा परम बन जाता है। उसी से जगत् को नकारनेवाले महान् धर्मों और दर्शनों का उत्थान होता है, वहीं से जीवन-प्रेरणा की अपने प्रति जुगुप्सा और अन्यत्र निर्दोष और शाश्वत जीवन की तलाश या स्वयं जीवन को एक अचल सद्वस्तु या मूल असत् में समाप्त कर देने की इच्छा पैदा होती है। भारत में जगत्-नास्ति के दर्शन का बहुत सशक्त और मूल्यवान निरूपण किया है उसके सबसे बड़े मनीषियों में से दो—बुद्ध और शंकर—ने। मध्यवर्ती और परवर्ती काल में ऐसे काफी महत्त्वपूर्ण सिद्धांत हुए हैं जिन्होंने इन दो महान् दार्शनिक सिद्धांतों के निष्कर्षों का कम या अधिक शक्ति और सफलता के साथ खंडन किया है। उनमें से कुछ व्यापक रूप से स्वीकृत हुए, प्रतिभाशाली और आध्यात्मिक अंतर्दृष्टिवाले लोगों द्वारा विचार-विदग्धता के साथ प्रतिपादित हुए लेकिन उनमें से कोई भी बुद्ध या शंकर की निरूपण शक्ति के साथ उपस्थित नहीं किया गया और न किसी के पीछे इतने महान् लोगों की ऊर्जस्विता थी और न किसी का इतना अधिक प्रभाव ही पड़ा। इन दो विलक्षण आध्यात्मिक दर्शनों की भावना—क्योंकि भारतीय दार्शनिक मानस की ऐतिहासिक प्रक्रिया में शंकर बुद्ध को लेकर उन्हें पूर्ण करते और उनका स्थान ले लेते हैं—भारतीय विचार-धारा, धर्म और सामान्य मानस पर बहुत जोर से प्रभाव डालती रही है, हर जगह अपनी प्रबल छाया डालती रही है, हर जगह उन तीन महान् सूत्रों की छाप दिखायी देती है—वे हैं, कर्म-शृंखला, पुनर्जन्म के चक्र से छुटकारा और माया। अतः यह जरूरी है कि वैश्व सत्ता के नकार के पीछे के सत्य

पर एक बार और दृष्टि डाली जाये और चाहे जितने संक्षेप में क्यों न हो यह देखा जाये कि उसके मुख्य रूपायणों का या सुझावों का क्या मूल्य है, वे किस वास्तविकता के आधार पर खड़े हैं और वे बुद्धि या अनुभव के लिये कहांतक अनिवार्य हैं। अभी के लिये इतना काफी होगा कि उन मुख्य भावों पर नजर डाली जाये जिन्हें महान् वैश्व भ्रांति, माया की धारणा के चारों ओर संगठित किया गया है उनके विरुद्ध हमारे विचार और दर्शन की धारा के अनुकूल मुख्य भावों को रखा जाये क्योंकि दोनों एक ही सद्वस्तु की धारणा से पैदा हुए हैं लेकिन एक धारा वैश्व भ्रांति और दूसरी वैश्व सद्वस्तुवाद की ओर ले जाती है—एक में अवास्तव या वास्तविक-अवास्तविक विश्व एक विश्वातीत सद्वस्तु पर आश्रित है, दूसरी में वास्तविक विश्व एक ऐसी सद्वस्तु पर आश्रित है जो एक ही साथ वैश्व और परात्पर या निरपेक्ष है।

अपने-आपमें प्राणिक सत्ता की जीवन-विमुखता, प्राणिक मन की जीवन-विरक्ति को प्रामाणिक या निर्णायक नहीं माना जा सकता। उसके पीछे सबसे प्रबल प्रेरक तत्त्व हैं निराशा का बोध, कुंठा की भावना की स्वीकृति जो आदर्शवादी की स्थिर आशा, उसकी श्रद्धा और चरितार्थ करने के संकल्प की अपेक्षा अधिक निर्णायक होने का दावा नहीं कर सकती। फिर भी कुंठा के भाव के मानसिक समर्थन में कुछ सचाई है। विचारशील मन जिस प्रत्यक्ष बोध पर पहुंचता है कि सभी मानव प्रयत्नों और पार्थिव प्रयासों के पीछे एक भ्रम है, मनुष्य के राजनीतिक और सामाजिक सिद्धांतों का भ्रम, पूर्णता के लिये नैतिक प्रयत्नों का भ्रम, लोकोपकार और सेवा का भ्रम, कर्म का भ्रम, यश, शक्ति और सफलता का भ्रम, उसकी सभी प्राप्तियों का भ्रम; इसमें कुछ वैधता है। मनुष्य का सामाजिक और राजनीतिक प्रयास हमेशा एक चक्कर में घूमता रहता है और वह कहीं नहीं पहुंचाता। मनुष्य का जीवन और स्वभाव जैसा-का-वैसा बना रहता है, हमेशा अपूर्ण। न तो नियम न परम्पराएं, न शिक्षा न दर्शन, न नैतिकता, न धार्मिक उपदेश पूर्ण मानव, पूर्ण मानवता की तो बात ही अलग है, पैदा करने में सफल हुए हैं। कहा गया है कि कुत्ते की दुम को तुम जितना चाहे सीधा करो, वह हमेशा फिर से अपना स्वाभाविक टेढ़ापन ले आयेगी। परोपकार, लोकोपकार और सेवा ने, ईसाई प्रेम या बौद्ध करुणा ने जगत् को लेश मात्र भी ज्यादा सुखी नहीं बनाया है। वे क्षणिक राहत के अत्याणविक टुकड़े इधर-उधर फैला देते हैं, जगत् के दुःख की आग पर कुछ बूंदें डालते हैं। अंत में जाकर सभी लक्ष्य क्षणिक और व्यर्थ हैं, सभी उपलब्धियां असंतोष-जनक या क्षणिक होती हैं, सभी काम प्रयत्न, सफलता और असफलता का श्रम ही होते हैं जिसमें कोई निश्चित सिद्धि नहीं होती। मानव जीवन में जो भी परिवर्तन लाये गये हैं वे केवल रूप के हैं और ये रूप एक व्यर्थ चक्र में एक-दूसरे का पीछा करते हैं क्योंकि जीवन का सारतत्त्व, उसका सामान्य

स्वभाव हमेशा वह-का-वही रहता है। चीजों की इस दृष्टि में अतिशयोक्ति हो सकती है लेकिन उसमें एक ऐसी शक्ति है जिससे इंकार नहीं किया जा सकता। इसे मनुष्य के शताब्दियों के अनुभव का समर्थन प्राप्त है और यह अपने अंदर एक ऐसा अर्थ लिये रहता है जो कभी-न-कभी मन में स्वतः-प्रमाण के अभिभूतकारी रंग-ढंग लेकर आता है। केवल इतना ही नहीं बल्कि अगर यह सच है कि पार्थिव जीवन के आधारभूत नियम और मूल्य निश्चित हैं या उसे बार-बार घूमते रहनेवाले चक्रों में दोहराते रहना हो—और यह लंबे अरसे से प्रचलित धारणा रही है—तब अंत में वस्तुओं के बारे में इस दृष्टि से मुश्किल से ही बचा जा सकता है क्योंकि अपूर्णता, अज्ञान, कुंठा और दुःख वर्तमान जगत्-व्यवस्था में प्रधान अंग हैं और उनके विपरीत तत्त्व-ज्ञान, सुख, सफलता, पूर्णता-हमेशा भ्रामक और अनिश्चायक निकलते हैं। ये दोनों विपरीत तत्त्व इतने जटिल रूप से घुले-मिले हैं कि अगर चीजों की यह अवस्था एक महत्तर परिपूर्णता की ओर गति न होती, अगर जगत्-व्यवस्था का यही स्थायी स्वभाव होता तो इस परिणाम से बचना कठिन हो जाता कि यहां जो कुछ है सब या तो निश्चेतन ऊर्जा की सृष्टि है, और इससे यह बात समझ में आ सकती है कि प्रतीयमान चेतना किसी निश्चय पर पहुंचने में अक्षम क्यों है, या फिर यह जान-बूझ कर अग्निपरीक्षा और असफलता का जगत् है जिसका परिणाम यहां नहीं, अन्यत्र है या यह एक विस्तृत लक्ष्यहीन वैश्व भ्रम है।

इन वैकल्पिक निष्कर्षों में से दूसरा, जैसा कि वह हमारे सामने रखा जाता है, दार्शनिक तर्क के लिये कोई आधार नहीं देता क्योंकि हमें इहलोक और परलोक के बीच संबंध का कोई संतोषजनक संकेत नहीं मिलता। उन दोनों को एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा तो कर दिया जाता है लेकिन उनके संबंधों की अनिवार्यता की कोई व्याख्या नहीं की जाती और न ही अग्निपरीक्षा और असफलता के आधारभूत अर्थ या आवश्यकता पर ही प्रकाश डाला जाता है। अगर हम इसे किसी स्वेच्छाचारी स्रष्टा की रहस्यमयी इच्छा न मानें तो यह बात केवल तभी समझ में आ सकती है जब हम कहें कि अमर जीवों ने अज्ञान के अभियान का परीक्षण अपनी इच्छा से चुना है और उनके लिये यह जरूरी था कि वे अज्ञान-जगत् की प्रकृति का पता लगायें ताकि वे उसे त्याग सकें। लेकिन ऐसा सर्जनात्मक हेतु निश्चय ही आनुषंगिक और प्रभाव में एकदम अस्थायी होता है, पृथ्वी उसके अनुभव का एक आकस्मिक क्षेत्र ही होगी। वह इस जटिल विश्व के विशाल और स्थायी प्रपंच की व्याख्या मुश्किल से ही कर सकेगा। यह तभी एक संतोषजनक व्याख्या का क्रियात्मक भाग बन सकता है जब जगत् किसी महत्तर सृजन के हेतु के क्रियान्वित होने का क्षेत्र हो, वह किसी दिव्य सत्य या दिव्य संभावना की अभिव्यक्ति हो जिसमें अमुक अवस्थाओं में, आवश्यक तत्त्व के रूप में आरंभ करनेवाले अज्ञान का प्रवेश होता हो और जब विश्व-व्यवस्था में यह बाध्यता हो कि अज्ञान ज्ञान की ओर बढ़े,

अपूर्ण अभिव्यक्ति पूर्णता में विकसित हो, कुंठा अंतिम विजय की ओर सीढ़ी का काम दे, दुःख सत्ता के दिव्य आनंद के उभरने की तैयारी करे; उस अवस्था में निराशा, कुंठा, सभी वस्तुओं की व्यर्थता और भ्रम के स्वभाव में वैधता नहीं रह जाती क्योंकि जो पक्ष उसे उचित ठहराते हैं वे कठिन विकास की स्वाभाविक परिस्थितियां होंगे; संघर्ष और प्रयास, सफलता-असफलता, सुख और दुःख, ज्ञान और अज्ञान के मिश्रण पर दिया जानेवाला सारा जोर अंतरात्मा, मन, प्राण और शारीरिक भाग के आध्यात्मिक पूर्ण सत्ता के पूर्ण प्रकाश में विकसित होने के लिये जरूरी अनुभव होगा। वह अपने-आपको विकसनशील अभिव्यक्ति की प्रक्रिया के रूप में प्रकट करेगा। किसी स्वेच्छाचारी सर्वशक्तिमत्ता के आदेश या वैश्व भ्रम या निरर्थक माया की सनक की जरूरत न रहेगी।

लेकिन जगत्-नकार के दर्शन का एक उच्चतर मानसिक और आध्यात्मिक आधार भी है और उसमें हम अधिक ठोस जमीन पर खड़े होते हैं। कहा जा सकता है कि जगत् अपनी प्रकृति से ही भ्रम है और किसी भ्रम के लक्षणों और परिस्थितियों के सहारे किया गया कोई तर्क न तो उसके अस्तित्व को मान्य सिद्ध कर सकता है न उसे सद्वस्तु के ऊंचे पदतक ही उठा सकता है—केवल एक ही सद्वस्तु है, परात्पर, अति वैश्व। कोई भी दिव्य पूर्णता, चाहे हमारा जीवन देवताओं के जीवन में विकसित हो जाये, उस मौलिक अवास्तविकता को मिटा नहीं सकती, रद्द नहीं कर सकती जो उसका आधारभूत स्वरूप है, क्योंकि यह परिपूर्ति भ्रम का एक उज्ज्वल पक्ष मात्र होगा। और अगर पूरी तरह भ्रम न भी हो तो भी वह एक निम्नतर स्तर की वास्तविकता होगी और अंतरात्मा के यह पहचान लेने पर समाप्त हो जायेगी कि केवल ब्रह्म सत्य है, कि परात्पर और अपरिवर्तनीय अनिर्वचनीय के सिवा कुछ है ही नहीं। अगर यह एकमात्र सत्य है तो हमारे पैरों तले की सारी जमीन ही खिसक जाती है। दिव्य अभिव्यक्ति, जड़-द्रव्य में अंतरात्मा की विजय, उसका अस्तित्व पर प्रभुत्व, प्रकृति में दिव्य जीवन अपने-आपमें मिथ्यात्व या कम-से-कम ऐसी चीज होंगे जो पूरी तरह वास्तविक नहीं, कुछ समय के लिये एकमात्र सच्ची सद्वस्तु पर आरोपित हैं। यहां सब कुछ इस पर निर्भर है कि उस सद्वस्तु के विषय में मन की धारणा या मानसिक सत्ता का अनुभव क्या है और वह धारणा कहांतक मान्य है, वह अनुभव कहांतक अनिवार्य है—अगर वह आध्यात्मिक अनुभव भी हो तो भी वह कहांतक पूरी तरह निर्णायक और एकमात्र रूप में ऐसा आदेश है जिसका उल्लंघन नहीं किया जा सकता।

विश्व माया को कभी-कभी ऐसा माना जाता है, यद्यपि यह मानी हुई बात नहीं है कि वह एक ऐसी चीज है जिसका स्वरूप अवास्तविक आत्मनिष्ठ अनुभव जैसा है या हो सकता है कि वह वस्तुओं की किसी शाश्वत निद्रा में या स्वप्न-चेतना में उठनेवाले रूपों और गतियों का आकार है जिसे शुद्ध, लक्षण-रहित आत्म-अभिज्ञ

सत् पर कुछ समय के लिये आरोपित किया गया है। यह ऐसा स्वप्न है जो अनंत में घटित होता है। मायावादियों के दर्शनों में—इनके अनेक मत हैं जो आधार में तो एक-से हैं पर पूरी तरह, हर बात में एक-दूसरे के साथ मेल नहीं खाते—स्वप्न का सादृश्य बतलाया जाता है लेकिन केवल सादृश्य के रूप में ही, न कि इस रूप में कि जगत्-विभ्रम का आंतरिक स्वरूप ऐसा ही है। वस्तुपरक भौतिक मन के लिये यह मानना कठिन होता है कि हम, जगत् और जीवन, जिनके लिये हमारी चेतना निश्चित रूप से साक्षी है, वे असत् हैं, उस चेतना द्वारा हम पर आरोपित धोखा हैं। यह दिखाने के लिये कई सादृश्य प्रस्तुत किये जाते हैं, विशेष रूप से स्वप्न और विभ्रम के सादृश्य कि चेतना के अनुभव उसे वास्तविक दिखायी दें और फिर भी वास्तविकता में निराधार या अपर्याप्त आधारवाले सिद्ध हों। जैसे आदमी जबतक सोता है तबतक स्वप्न उसके लिये सच्चा होता है लेकिन जागने पर अवास्तविक हो जाता है उसी तरह जगत् का हमारा अनुभव हमें सकारात्मक और वास्तविक मालूम होता है लेकिन जब हम उस भ्रम से पीछे हट जायें तो हमें पता लगेगा कि उसकी कोई वास्तविकता न थी। लेकिन ज्यादा अच्छा होगा कि हम स्वप्न के सादृश्य का पूरा मूल्य लगाएं और देखें कि हमारे जगत् के अनुभव का बोध किसी ऐसे ही आधार पर टिकता है या नहीं। क्योंकि जगत् के स्वप्न होने का भाव, चाहे वह आत्मनिष्ठ मन का स्वप्न हो या अंतरात्मा का या शाश्वत का स्वप्न, मनुष्य की विचार-धारा और भावना में प्रायः स्थान पाता और मायावादी प्रवृत्ति को प्रबल रूप से सशक्त बनाता है। अगर इसमें कोई प्रामाणिकता न हो तो हमें निश्चित रूप से इस बात को और उसके लागू न हो सकने के कारणों को देखकर और उसे भली-भांति हटाकर रास्ते से बाहर कर देना चाहिये। अगर उसमें कुछ प्रामाणिकता है तो हमें पता लगाना चाहिये कि वह क्या है और कहांतक जा सकती है। अगर जगत् भ्रम है परंतु स्वप्न का-सा भ्रम नहीं तो उस भेद को भी मजबूत आधार पर रखना चाहिये।

स्वप्न अवास्तविक मालूम होता है, पहले तो इस कारण कि जैसे हम चेतना की एक स्थिति में से दूसरी में—जो हमारी सामान्य स्थिति है, जाते हैं—उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है और उसकी कोई प्रामाणिकता नहीं रहती। लेकिन यह अपने-आपमें पर्याप्त कारण नहीं है। क्योंकि हो सकता है कि चेतना के अलग-अलग स्तर हों और उनकी अपनी-अपनी वास्तविकता हो। अगर वस्तुओं की एक अवस्था की चेतना मद्धिम पड़ जाये और उसके अंदर की चीजें खो जायें या अगर स्मृति की पकड़ में आयें भी तो, जैसे ही हम दूसरी स्थिति में जाएं, भ्रामक प्रतीत होने लगें तो यह पूरी तरह सामान्य बात होगी लेकिन यह उस स्थिति की वास्तविकता, जिसमें हम हैं और दूसरी की अवास्तविकता नहीं सिद्ध करती जिसे हम पीछे छोड़ आये हैं। अगर एक और जगत् या चेतना के अन्य स्तर में जाती हुई अंतरात्मा को

धरती की परिस्थितियां अवास्तविक लगने लगें तो इससे उनकी अवास्तविकता प्रमाणित न होगी। इसी तरह अगर हमें आध्यात्मिक नीरवता या किसी निर्वाण में जाने पर जगत् का अस्तित्व अवास्तविक लगने लगे तो यह अपने-आपमें यह सिद्ध नहीं करता कि जगत् सारे समय भ्रम ही था। जगत् उसमें रहनेवाली चेतना के लिये वास्तविक है, निर्वाण में तल्लीन चेतना के लिये निरुपाधिक सत् ही वास्तविक है—बस इतना ही सिद्ध होता है। हमारी निद्रा की अनुभूति को मान्यता न देने का दूसरा कारण यह है कि स्वप्न एक क्षणिक चीज है, न उसका कुछ पूर्ववर्ती होता है न परवर्ती। सामान्यतः वह किसी सामंजस्य या हमारी जाग्रत् सत्ता की समझ में आनेवाले अर्थ के बिना होता है। अगर हमारे स्वप्न हमारी जाग्रत् अवस्था की तरह संगति का पक्ष लिये रहते, प्रत्येक रात नींद के आपस में सम्बद्ध पिछले अविच्छिन्न अनुभव को लेकर आगे बढ़ाती, जैसे प्रत्येक दिन हमारी जाग्रत् अवस्था के जगत्-अनुभव को फिर से हाथ में लेता है तो स्वप्न हमारे मन के लिये एक और ही स्वरूप धारण कर लेते। अतः स्वप्न और जाग्रत् अवस्था में कोई सादृश्य नहीं है, अपने स्वरूप, वैधता और क्रम में ये एकदम भिन्न अनुभव हैं। हमारे जीवन को क्षणिक होने का दोष दिया जाता है और बहुत बार यह भी कहा जाता है कि सब मिलाकर वह आंतरिक संगति और सार्थकता से विहीन है। लेकिन हो सकता है कि उसका पूर्ण सार्थकता से विहीन होना हमारी समझ की कमी या सीमा के कारण हो। वस्तुतः जब हम भीतर जाते हैं और उसे भीतर से देखना शुरू करते हैं तो वह पूर्ण, सुसंबद्ध अर्थ धारण कर लेता है और साथ ही पहले जो आंतरिक संगति का अभाव दीखता था वह गायब हो जाता है और हम देख पाते हैं कि वह जीवन का स्वरूप हर्गिज नहीं था, वह हमारी अपनी आंतरिक दृष्टि और ज्ञान की असंगति के कारण था। जीवन में कोई सतही असंगति नहीं है बल्कि वह हमारे मनों को दृढ़ अनुक्रमों की शृंखला के रूप में दिखायी देता है। अगर यह मानसिक भ्रम है, जैसा कि कभी-कभी कहा जाता है, अगर अनुक्रम हमारे मनों के द्वारा निर्मित है और वस्तुतः जीवन में उसका अस्तित्व नहीं है तो भी यह चेतना की इन दो अवस्थाओं के भेद को दूर नहीं करता क्योंकि स्वप्न में अवलोकन करनेवाली एक भीतरी चेतना की दी हुई संगति अनुपस्थित रहती है और जो कुछ अनुक्रम दिखलायी देता है वह जाग्रत् अवस्था के संबंधों की एक अस्पष्ट और मिथ्या नकल के कारण है। अवचेतन अनुकरण है, परंतु यह नकली अनुक्रम छाया जैसा और अपूर्ण है। वह सदा असफल होता और टूटता रहता है और प्रायः पूरी तरह से गायब रहता है। हम यह भी देखते हैं कि स्वप्न-चेतना प्रायः उस नियंत्रण से वंचित रहती है जिसका उपयोग जाग्रत् चेतना किसी हदतक जीवन की परिस्थितियों पर करती है। उसमें अवचेतन रचना की प्रकृतिजात अनैच्छिक क्रिया होती है और मानव सत्ता के विकसित मन की सचेतन इच्छा और संगठन शक्ति का लेशमात्र

भी नहीं होता। और फिर स्वप्न की क्षणिकता मूलगत होती है, एक स्वप्न का दूसरे के साथ कोई संबंध नहीं होता लेकिन जाग्रत् जीवन की क्षणिकता व्योरों में होती है। जगत्-अनुभव की सम्बद्ध समग्रता में क्षणिकता का कोई प्रमाण नहीं मिलता। हमारे शरीर नष्ट हो जाते हैं लेकिन अंतरात्माएं जन्म-जन्मांतर से युगोंतक चलती रहती हैं। युगों, कल्पों या कई प्रकाश-चक्रों के बीत जाने पर तारे और ग्रह गायब हो सकते हैं लेकिन विश्व, सार्वभौम सत्ता, जैसे यह निश्चित रूप से अविच्छिन्न क्रिया-कलाप है उसी तरह स्थायी हो सकती है; यह प्रमाणित करनेवाली कोई चीज नहीं है कि जो अनंत ऊर्जा उसका सृजन करती है उसका अपना या उसकी क्रिया का कोई आदि या अंत है। यहांतक स्वप्न-जीवन और जाग्रत्-जीवन में इतनी अधिक विषमता है कि उसपर यह सादृश्य लागू नहीं हो सकता।

लेकिन यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या स्वप्न सचमुच पूरी तरह अवास्तविक और अर्थ-विहीन होते हैं, क्या वे चीजों की आकृति, उनका कोई प्रतिमा-अभिलेख, प्रतीकात्मक प्रतिलिपि या प्रतिरूप नहीं हैं? उसके लिये हमें, चाहे जितने संक्षेप में क्यों न हो निद्रा और स्वप्न-व्यापारों के स्वरूप, उनके आरंभ और उद्गम की प्रक्रिया की जांच करनी होगी। नींद में जो होता है वह यह है कि हमारी चेतना जाग्रत् अनुभवों के क्षेत्र से अपने-आपको खींच लेती है। माना यह जाता है कि वह आराम कर रही है, निलंबित या प्रसुप्त है लेकिन यह तो मामले की सतही दृष्टि है। जो प्रसुप्त है वह है जाग्रत् क्रिया-कलाप, जो आराम कर रहा है वह है सतही मन और हमारे शारीरिक भाग की सामान्य सचेतन क्रिया। लेकिन आंतरिक चेतना निलंबित नहीं होती, वह नयी आंतरिक क्रियाओं में प्रवेश करती है। उसका केवल एक भाग, हमारी सतह के नजदीक किसी चीज में घटनेवाला या अंकित होनेवाला भाग ही हमें याद रहता है। इस तरह नींद में सतह के नजदीक एक अस्पष्ट-सा अवचेतन तत्त्व बना रहता है जो हमारे स्वप्न के अनुभवों का आधान या मार्ग है। वह अपने-आप भी स्वप्न-निर्माता है; लेकिन उसके पीछे अंतस्तलीय की गहराई और राशि रहती है, हमारी प्रच्छन्न आंतरिक सत्ता और चेतना की समग्रता रहती है जो और ही श्रेणी की है। सामान्यतः हमारे अंदर यह अवचेतन भाग है जो चेतना और शुद्ध निश्चेतना का मध्यवर्ती है; वह इस सतही परत के द्वारा अपने रूपायन स्वप्नों के रूप में ऊपर भेजता है, ये रचनाएं एक प्रतीयमान रूप से क्रमहीन और असम्बद्ध रहती हैं। इनमें से बहुत-से हमारे वर्तमान जीवन की परिस्थितियों पर बनी इमारतें होती हैं जिन्हें देखने से लगता है कि उन्हें विशृंखल रूप से चुना गया है और वे विचित्रताओं की कल्पना से घिरी होती हैं। कुछ और भूतकाल को या यूं कहें भूतकाल की चुनी हुई परिस्थितियों और व्यक्तियों को बुला लेती हैं ताकि उन्हें उसी तरह की क्षणभंगुर इमारतों का आरंभ-बिंदु बना सकें। अवचेतन के और भी स्वप्न होते हैं जिनमें ऐसा कोई

आधार या आरंभ-बिंदु नहीं होता, वे शुद्ध रूप से कल्पना प्रतीत होते हैं लेकिन मानस-विश्लेषण का नया तरीका, जो पहली बार हमारे स्वप्नों को कुछ वैज्ञानिक समझ के साथ देखने की कोशिश कर रहा है, उसने उनमें एक अर्थ-पद्धति स्थापित कर दी है—हमारे अंदर की ऐसी चाबी जिसे जाग्रत् अवस्था को जानना और व्यवहार में लाना चाहिये। यह अपने-आपमें हमारे स्वप्न-अनुभवों के स्वरूप और मूल्य को बदल देती है। यह (विज्ञान) देखने लगता है मानों उसके पीछे कोई वास्तविक चीज है और मानों चीज भी एक ऐसा तत्त्व है जिसका व्यावहारिक मूल्य कम नहीं है।

लेकिन अवचेतन ही एकमात्र स्वप्न-निर्माता नहीं है। अवचेतन हमारे अंदर हमारी प्रच्छन्न आंतरिक सत्ता की वह चरम सीमा है जहां वह निश्चेतन से मिलती है। यह हमारी सत्ता का वह दर्जा है जहां निश्चेतन संघर्ष करके अर्द्ध-चेतन में आता है, सतही भौतिक चेतना भी, जब वह जाग्रत् अवस्था से फिर वापस डूबती है और निश्चेतना की ओर पीछे लौटती है तो इस मध्यवर्ती अवचेतन में आश्रय लेती है। या एक और दृष्टि-बिंदु से, हमारे इस निचले भाग का वर्णन यूं किया जा सकता है कि यह निश्चेतन का उपकक्ष है जिसमें से होकर उसके रूपायण हमारी जाग्रत् या अंतस्तलीय सत्ता में उठ आते हैं। जब हम सोते हैं और हमारा सतही भौतिक भाग, जो यहां अपने प्रथम आरंभ में निश्चेतना में से निकला है, उलट कर अपना आरंभ करनेवाली निश्चेतना में चला जाता है, तो वह इस अवचेतन तत्त्व में प्रवेश करता है, उपकक्ष या निचले स्तर में प्रवेश करता है और वहां उसे अपने भूतकाल के संस्कार या मन और अनुभव की आग्रही आदतें मिलती हैं—क्योंकि सब हमारे अवचेतन भाग पर अपनी निशानी छोड़ गये हैं और वहां से उनमें बार-बार लौटने की शक्ति रहती है। हमारी जाग्रत् अवस्था पर इस बार-बार लौट आने का प्रभाव पुरानी आदतों के, प्रसुप्त या दबे हुए आवेगों के, प्रकृति के त्यागे हुए तत्त्व की पुनर्स्थापना का रूप ले लेता है। या यह आवेगों या तत्त्वों के जो दबा या त्याग तो दिये गये हैं पर जो मिटे नहीं हैं—उनके आसानी से पहचान में न आनेवाले, किसी दूसरे, किसी विशेष प्रच्छन्न या सूक्ष्म परिणाम के रूप में ऊपर आता है। स्वप्न-चेतना में सारा प्रपंच एक अनोखी कल्पनात्मक रचना दीखता है जो नीचे गढ़े हुए संस्कारों पर या उनके चारों ओर आकृतियों और गतियों की मिली-जुली रचना होता है जिसका भाव जाग्रत् समझ से बच निकलता है क्योंकि उसके पास अवचेतना की प्रतीक-पद्धति की कोई चाबी नहीं होती। कुछ समय के बाद यह अवचेतन क्रियाशीलता फिर से पूर्ण निश्चेतना में डूबती प्रतीत होती है और हम इस अवस्था को गहरी, स्वप्नहीन निद्रा कहते हैं, वहां से हम फिर स्वप्नों के पिछले स्तर पर आ जाते हैं या जाग्रत् सतह पर लौट आते हैं।

लेकिन तथ्य तो यह है कि जिसे हम स्वप्नहीन निद्रा कहते हैं उसमें हम अवचेतना की ज्यादा गहरी और ज्यादा मोटी परत में चले जाते हैं। यह अवस्था

बहुत उलझी हुई, बहुत डूबी हुई, बहुत अंधेरी, मंद और भारी होती है। वह अपनी रचनाओं को सतह पर नहीं ला सकती। वहां हम स्वप्न तो देखते हैं पर इन अधिक अंधेरी स्वप्न-आकृतियों को अवचेतना की आलेखन करनेवाली परत में पकड़ या रख नहीं सकते। या हो सकता है कि हमारे मन का वह भाग जो शरीर की नींद में भी सक्रिय रहता है, हमारी सत्ता के आंतरिक क्षेत्रों में प्रवेश कर जाये—अंतस्तलीय मन, अंतस्तलीय प्राण, सूक्ष्म भौतिक में—और वहां हमारे सतही भागों के साथ उसका सारा सक्रिय संबंध खो जाये। अगर हम अब भी इन क्षेत्रों की निकटतर गहराइयों में हों तो सतही अवचेतन, जो हमारी निद्रा-जाग्रति है, वह इन गहराइयों में हम जो अनुभव करते हैं उसका कुछ भाग अंकन कर लेता है लेकिन वह अपने ही प्रतिलेखन में करता है, प्रायः उसमें लाक्षणिक असंगतियों का दोष रहता है और हमेशा जब वह अधिक-से-अधिक सुसंगत हो तब भी विकृत होता है या जगत् की जाग्रत् अनुभूति से ली गयी आकृतियों में ढाला जाता है। लेकिन अगर हम ज्यादा गहराई में अंदर चले जायें तो आलेखन असफल रहता है या उसे पाया नहीं जा सकता और हमें स्वप्नहीनता का भ्रम होता है लेकिन आंतरिक स्वप्न-चेतना की क्रियाशीलता अब मौन और निष्क्रिय अवचेतन की सतह के पर्दे के पीछे चलती रहती है। इस स्वप्न-क्रियाशीलता के जारी रहने का पता हमें तब चलता है जब हम भीतर से अधिक सचेतन बन जाते हैं क्योंकि तब हम अधिक भारी और अधिक गहरे अवचेतन स्तर के संपर्क में आते हैं और उसी समय या बाद में स्मृति द्वारा फिर से याद करके या उसे फिर से प्राप्त करके उस समय की घटनाओं से अभिज्ञ हो सकते हैं जो तब घटी थी जब हम निस्पंद गहराइयों में डूबे हुए थे। अपने अंदर की अधिक गहरी अपनी अंतस्तलीय सत्ताओं से सचेतन होना भी संभव है और तब हमें अपनी सत्ता के अन्य स्तरों पर हुए या अतिभौतिक जगतों में भी हुए अनुभवों का परिचय होता है, जिनमें निद्रा हमें गुप्त प्रवेश का अधिकार देती है। ऐसे अनुभवों का प्रतिलेख हमारे पास पहुंचता तो है लेकिन यहां का प्रतिलेखक अवचेतन नहीं, अंतस्तल है जो ज्यादा बड़ा स्वप्न-निर्माता है।

अगर हमारी स्वप्न-चेतना में अंतस्तलीय इस तरह सामने आ जाता है तो कभी-कभी अंतस्तलीय बुद्धि की क्रिया भी होती है—स्वप्न एक विचार-शृंखला बन जाता है जिसे प्रायः अजीब तरह से या स्पष्ट रूप से आकृति दी जाती है, ऐसी समस्याओं का हल मिल जाता है जिन्हें हमारी जाग्रत् चेतना हल न कर सकी थी। चेतावनियां, भविष्य के पूर्वाभास और भविष्य के संकेत मिलते हैं, सामान्य अवचेतन असंबद्धता का स्थान सच्चे स्वप्न ले लेते हैं। प्रतीकात्मक चित्रों की इमारत भी खड़ी हो सकती है जिनमें कुछ का स्वरूप मानसिक और कुछ का प्राणिक होता है। मानसिक अपने आकार में सुनिश्चित होते हैं, अर्थ में स्पष्ट, प्राणिक प्रायः हमारी जाग्रत् चेतना के लिये जटिल और चकरानेवाले होते हैं लेकिन

अगर हम उनकी चाबी पा लें तो वे अपना भाव प्रकट करते और सुसंगति की अपनी विशेष प्रणाली दिखाते हैं। अंत में, हमारे पास ऐसी घटनाओं के आलेखन आ सकते हैं जिन्हें हमने अपनी ही सत्ता के या वैश्व सत्ता के अन्य स्तरों पर देखा या अनुभव किया है जिनमें हम प्रवेश करते हैं। कभी-कभी प्रतीकात्मक स्वप्नों की तरह इनका भी हमारे आंतरिक और बाह्य जीवन के साथ प्रबल संबंध होता है, वे हमारी या औरों के जीवन के साथ उनकी मानसिक सत्ता या प्राणिक सत्ता के तत्त्वों को प्रकट करते या उनपर होनेवाले ऐसे प्रभावों को दिखाते हैं जिनके बारे में हमारी जाग्रत् सत्ता बिलकुल अनभिज्ञ होती है लेकिन कभी-कभी उनका कोई ऐसा संबंध नहीं होता और वे हमारी शारीरिक सत्ता से स्वतंत्र चेतना की अन्य संगठित प्रणालियों के अभिलेख भर होते हैं, हमारे सबसे अधिक सामान्य निद्रा-अनुभव में अधिकतर स्वप्न अवचेतन के होते हैं और हम सामान्यतः इन्हें ही याद रखते हैं। लेकिन कभी-कभी अंतस्तलीय निर्माता हमारी निद्रा की चेतना को इतने पर्याप्त रूप में प्रभावित कर सकता है कि उसके क्रिया-कलाप की छाप हमारी जाग्रत् अवस्था पर पड़ जाये। अगर हम अपनी आंतरिक सत्ता को विकसित करें, अधिकतर लोगों की अपेक्षा अधिक अपने अंदर रहें तो संतुलन बदल जाता है और एक अधिक बड़ी स्वप्न-चेतना हमारे आगे खुलती है, हमारे स्वप्न अवचेतन न रह कर अंतस्तलीय स्वरूप धारण कर सकते हैं और वास्तविकता और सार्थकता धारण कर सकते हैं।

यह भी संभव है कि हम स्वप्न में पूरी तरह सचेतन हो जायें और स्वप्न के अनुभवों की भूमिकाओं का शुरू से अंततक या काफी दूरतक उनका अनुसरण करें। यह पाया जाता है कि तब हम अपनी चेतना की एक स्थिति से दूसरी स्थिति में फिर शांतिमय, स्वप्नहीन विश्राम की संक्षिप्त अवधियों में जाने के बारे में अभिज्ञ होते हैं। सचमुच यही जाग्रत् प्रकृति की ऊर्जाओं को पुनः प्रतिष्ठित करनेवाला है और फिर उसी रास्ते से हम जाग्रत् चेतना में चले जाते हैं। यह सामान्य बात है कि जब हम एक स्थिति में से दूसरी में जाते हैं तो पहले के अनुभव हमसे खिसक जाते हैं, वापिस आने पर ज्यादा स्पष्ट या जाग्रत् अवस्था के सबसे नजदीकवाले अनुभव ही याद रह जाते हैं— लेकिन इसका उपाय किया जा सकता है, ज्यादा याद रख सकना संभव है या स्मरण शक्ति में स्वप्न से स्वप्न में या एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाने की शक्ति विकसित की जा सकती है, यहांतक कि सारी चीज फिर से हमारे सामने आ सकती है। निद्रा-जीवन का सुसंगत ज्ञान पाना या उसे स्थायी रूप से बनाये रखना कठिन होते हुए भी संभव है।

हमारी अंतस्तलीय आत्मा हमारी सतही भौतिक सत्ता की तरह निश्चेतन की ऊर्जा का परिणाम नहीं है। यह नीचे से विकास द्वारा उभरनेवाली चेतना और प्रतिविकास के लिये ऊपर से उतरी हुई चेतना का मिलन-स्थल है। उसमें हमारा ही एक

आंतरिक मन, एक आंतरिक प्राण और हमारी बाहरी सत्ता और प्रकृति से बड़ी एक आंतरिक या सूक्ष्म भौतिक सत्ता है। यह आंतरिक सत्ता प्रायः उन सभी चीजों का प्रच्छन्न उद्गम है जो आद्या निश्चेतन जगत्-ऊर्जा की रचना नहीं है या हमारी सतही चेतना की स्वाभाविक विकसित क्रिया या बाहरी वैश्व प्रकृति के आघातों के प्रति इसकी प्रतिक्रिया नहीं है। और इस रचना में, इन क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं में भी अंतस्तलीय भाग लेता और उनपर काफी प्रभाव डालता है। यहां एक ऐसी चेतना है जिसमें वैश्व के साथ सीधा संपर्क करने की सामर्थ्य है जब कि हमारी सतही सत्ता विश्व के साथ ऐन्द्रिय मन या इन्द्रियों द्वारा परोक्ष संबंध रखती है। यहां आंतरिक इन्द्रियां हैं, अंतस्तलीय चक्षु, श्रोत्र, स्पर्श, लेकिन ये सूक्ष्म इन्द्रियां सूचक न होकर आंतरिक सत्ता की प्रत्यक्ष चेतना की वाहिनियां हैं, अंतस्तलीय अपने ज्ञान के लिये अपनी इन्द्रियों पर निर्भर नहीं होता, वे उसके वस्तुओं के प्रत्यक्ष अनुभव को बस रूप दे देती हैं। जैसा कि जाग्रत् मन में होता है उस तरह वे पदार्थों के रूपों को मन के प्रलेखन के लिये नहीं भेजतीं या आरंभ-बिंदु या आधार के तौर पर परोक्ष रचनात्मक अनुभव के लिये नहीं भेजतीं। अंतस्तलीय को वैश्व चेतना के मानसिक, प्राणिक और सूक्ष्म भौतिक स्तरों में प्रवेश का अधिकार होता है। वह जड़ जगत् या भौतिक जगत्तक ही सीमित नहीं रहता। प्रतिविकास की ओर अवतरण ने रास्ते में सत्ता के जिन लोकों की रचना की है और फिर निश्चेतना से अतिचेतना की ओर फिर से आरोहण के उद्देश्य की सिद्धि के लिये जितने उनके अनुरूप लोक या स्तर प्रकट हुए या रचे गये होंगे उन सबके साथ संबंध रखने के साधन अंतस्तलीय सत्ता को प्राप्त हैं। जब हमारी मानसिक और प्राणिक सत्ता निद्रा या भीतरी एकाग्रता या समाधि में आंतरिक निमग्नता द्वारा सतही क्रिया-कलाप से निवृत्त होती है तो वे आंतरिक सत्ता के इस विस्तृत क्षेत्र में ही विश्राम करते हैं।

हमारी जाग्रत् अवस्था अंतस्तलीय सत्ता के साथ अपने संबंध के बारे में अनभिज्ञ होती है यद्यपि, वह उसके उद्गम के बारे में कुछ भी जाने बिना, वहां से प्रेरणा, अंतर्भास, भाव, इच्छा के सुझाव, इन्द्रियों के सुझाव, हमारी सतही सीमित सत्ता के नीचे या पीछे से आनेवाली क्रिया के लिये प्रेरणा पाती रहती है। समाधि की तरह निद्रा हमारे लिये अंतस्तलीय का द्वार खोल देती है। क्योंकि समाधि की तरह नींद में हम सीमित जाग्रत् व्यक्तित्व के पर्दे के पीछे चले जाते हैं और इस पर्दे के पीछे अंतस्तलीय का अस्तित्व रहता है। लेकिन हमें अपनी नींद के अनुभव का अभिलेख स्वप्न द्वारा और स्वप्न-आकृतियों के रूप में प्राप्त होता है, न कि उस स्थिति में जो आंतरिक जागृति कहला सके और जो समाधि-अवस्था का सबसे सुलभ रूप है, और न वे दृष्टि की अधिसामान्य स्पष्टता और संसर्ग के अन्य अधिक ज्योतिर्मय और ठोस रूपों द्वारा ही प्राप्त होते हैं जिनका विकास आंतरिक अंतस्तलीय ज्ञान तब करता है जब हमारी जाग्रत् सत्ता के साथ उसका अभ्यासगत

या प्रासंगिक सचेतन संबंध बन जाता है। अंतस्तलीय अपने संलग्न अवचेतन के साथ—क्योंकि अवचेतना भी पर्दे के पीछे की सत्ता का भाग है—आंतरिक चीजों और अतिभौतिक अनुभवों का द्रष्टा है, सतही अवचेतन तो केवल अभिलेखक है। इसीलिये उपनिषद् अंतस्तलीय सत्ता का वर्णन स्वप्न-पुरुष के रूप में करता है क्योंकि प्रायः स्वप्न, अंतर्दर्शन, आंतरिक अनुभव की तल्लीन अवस्था में ही हम उसके अनुभव में प्रवेश करते और उसके भाग होते हैं—उसी तरह जैसे वह अतिचेतन पुरुष को निद्रा-पुरुष कहता है क्योंकि जब हम अतिचेतना में प्रवेश करते हैं तो प्रायः समस्त मानसिक या ऐन्द्रिय अनुभव बंद हो जाते हैं। क्योंकि अतिचेतन का स्पर्श हमारी मानसिकता को जिस गहरी समाधि में डुबा देता है उससे कोई आलेख या वहां के अंतर्विषय का कोई अभिलेख साधारण रीति से हमारे पास नहीं पहुंच सकता। हम किसी बहुत ही विशेष या असाधारण विकास द्वारा अधिसामान्य स्थिति में या अपनी सीमित सामान्यता को भेद कर या उसमें दरार करके सतह पर अतिचेतन के संपर्कों या संदेशों के बारे में सचेतन हो सकते हैं। लेकिन इन आलंकारिक नामों के बावजूद—स्वप्नावस्था, निद्रावस्था—चेतना की इन दोनों अवस्थाओं का क्षेत्र स्पष्ट रूप से वास्तविकता का क्षेत्र माना जाता था—जाग्रत् अवस्था से कम नहीं, जिसमें हमारी अनुभूतिक्षम चेतना की गतियां भौतिक चीजों और भौतिक जगत् के साथ हमारे संपर्कों का अभिलेख या प्रतिलेख हैं। निःसंदेह इन तीनों अवस्थाओं को एक भ्रम का भाग माना जा सकता है, उनके बारे में हमारी अनुभूति को एक साथ भ्रामक चेतना की रचनाओं में गिना जा सकता है जिसमें हमारी जाग्रत् अवस्था स्वप्न या निद्रा की अवस्था से कम भ्रामक नहीं है क्योंकि एकमात्र सत्य या वास्तविक वास्तविकता तो है अव्यवहार्य आत्मा, अद्वैत जो वेदांत द्वारा वर्णित आत्मा की चौथी अवस्था है। लेकिन यह भी समान रूप से संभव है कि इन्हें इस तरह देखा और श्रेणीबद्ध किया जाये कि ये एक ही सद्वस्तु के तीन अलग-अलग क्रम या चेतना की तीन स्थितियां हैं जिनमें आत्मानुभव और विश्वानुभव की तीन अलग-अलग श्रेणियों के साथ हमारा संपर्क मूर्त होता है।

अगर यह स्वप्नानुभव का सच्चा विवरण है तो स्वप्नों को अवास्तविक वस्तुओं की अवास्तविक आकृति के रूप में नहीं माना जा सकता जिन्हें अस्थायी तौर पर हमारी अर्द्धचेतना पर वास्तविकता के रूप में आरोपित किया जाता है। अतः वैश्व भ्रांति (मायावाद) के सिद्धांत के समर्थन में इसे उदाहरण के रूप में भी रखा जाये तो भी यह सादृश्य ठीक नहीं बैठता। फिर भी यह कहा जा सकता है कि हमारे स्वप्न अपने-आपमें वास्तविक नहीं हैं; वास्तविकता के प्रतिलेख, प्रतीक-मूर्तियों की एक पद्धति-मात्र हैं और इसी तरह हमारे विश्व के जाग्रत् अनुभव वास्तविक नहीं बल्कि वास्तविकता का प्रतिलेख हैं, प्रतीक-मूर्तियों के संकलन की शृंखला हैं। यह बिलकुल सच है कि हम भौतिक विश्व को मुख्य रूप से अपनी इन्द्रियों पर अंकित

या आरोपित प्रतिमूर्तियों की योजना के रूप में ही देखते हैं और यहांतक यह बात न्यायसंगत है। यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि एक विशेष अर्थ में और एक विशेष दृष्टिकोण से हमारी अनुभूतियों और क्रियाओं को एक ऐसे सत्य का प्रतीक माना जाये जिसे व्यक्त करने का प्रयत्न हमारे जीवन कर रहे हैं भले अभी वह आंशिक सफलता और अपूर्ण संगति के साथ क्यों न हो, अगर इतना ही होता तो कहा जा सकता था कि जीवन अनंत की चेतना में आत्मा और वस्तुओं का स्वप्न-अनुभव है। यद्यपि विश्व की वस्तुओं के बारे में हमारा प्रथम साक्ष्य ऐन्द्रिय प्रतिमाओं की रचना होता है लेकिन इन्हें चेतना में एक स्वचालित अंतर्भास पूरा करता, प्रामाणिक बनाता और व्यवस्थित करता है और वह चेतना तुरंत प्रतिमा का संबंध उस चीज के साथ जोड़ देती है जिसकी वह प्रतिमा है और वस्तु का सुनिश्चित अनुभव पा लेती है ताकि हम केवल किसी वास्तविकता के ऐन्द्रिय प्रतिलेख या अनुवाद ही न देखें या पढ़ें बल्कि ऐन्द्रिय प्रतिमा द्वारा वास्तविकता को देखें। यह पर्याप्तता बुद्धि की क्रिया से और बढ़ जाती है जो इन्द्रियों द्वारा अनुभूत वस्तुओं के धर्म को समझती और उसकी गहराई में जाती है और सूक्ष्मता के साथ ऐन्द्रिय प्रतिलेख का अवलोकन कर सकती और उसकी भूलें सुधार सकती है। इसलिये हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि हम अंतर्भास और बुद्धि की सहायता से अपने बिम्बित ऐन्द्रिय प्रतिलेख द्वारा वास्तविक विश्व का अनुभव करते हैं—यह अंतर्भास हमें वस्तुओं का स्पर्श देता और बुद्धि अपने संकल्पनाशील ज्ञान द्वारा उनके सत्य की खोज करती है। हमें यह ख्याल रखना चाहिये कि चाहे हमारा विश्व को बिम्बों की दृष्टि से देखना, हमारा इन्द्रियों का बनाया हुआ प्रतिलेख, प्रतीकात्मक बिम्बों की पद्धति हो, एक यथार्थ प्रतिलिपि या अभिलेख या शब्दशः अनुवाद नहीं, फिर भी प्रतीक किसी ऐसी चीज का संकेत है जो अस्तित्व रखती है, वह वास्तविकताओं का अभिलेख है। हमारे बिम्ब चाहे गलत क्यों न हों, वे जिन्हें बिम्बित करने का प्रयास करते हैं वे तो वास्तविकताएं हैं, भ्रम नहीं। जब हम किसी पेड़ या पत्थर या पशु को देखते हैं तो यह कोई अस्तित्वहीन आकृति या कोई दृष्टि-भ्रम नहीं होता जिसे हम देखते हैं। हो सकता है कि हमें यह विश्वास न हो कि बिम्ब ठीक है। हम यह मान सकते हैं कि अन्य इन्द्रिय उसे और तरह देख सकती है फिर भी उसमें कुछ चीज होती है जो बिम्ब को उचित ठहराती है, कोई ऐसी चीज जिसके साथ उसका न्यूनाधिक सादृश्य है। लेकिन माया के सिद्धांत में एकमात्र वास्तविकता है अनिर्देश्य, अलक्षण, शुद्ध सत्, ब्रह्म; और उसके किसी प्रतीक-आकृतियों की पद्धति में अनूदित किये जाने या गलत तरह अनूदित किये जाने की कोई संभावना नहीं रहती क्योंकि यह तो तभी हो सकता जब इस सत् में कोई निर्दिष्ट अंतर्वस्तु होती या उसकी सत्ता का कोई अनभिव्यक्त सत्य होता जिसे हमारी चेतना द्वारा दिये गये रूपों या नामों में अभिलिखित किया जा सकता। शुद्ध

अनिर्देश्य को कोई भी प्रतिलेख, प्रतिनिधि भेदों का कोई भी पुंज, प्रतीकों या प्रतिमूर्तियों का कोई भी समूह अनूदित नहीं कर सकता क्योंकि वहां उसमें एक शुद्ध तादात्म्य है, वहां ऐसा कुछ भी नहीं होता जिसका प्रतिलेखन किया जा सके, ऐसा कुछ भी नहीं होता जिसका प्रतीक बनाया जा सके, ऐसा कुछ भी नहीं होता जिसका प्रतिरूप बनाया जा सके। अतः हमारे लिये स्वप्न का सादृश्य बिल्कुल बेकार हो जाता है और उसे रास्ते से हटा देना ही अच्छा है। अपने अनुभवों के बारे में मन की अपनाई हुई एक विशेष वृत्ति के लिये स्पष्ट रूपक के तौर पर इसका उपयोग सदा ही हो सकता है लेकिन जीवन की वास्तविकता और मूलभूत अर्थ या जीवन के उद्गम के बारे में तत्त्वदार्शनिक खोज के लिये इसका कोई मूल्य नहीं है।

अगर हम विभ्रम के सादृश्य को लें तो हम उसे वैश्व भ्रांति के सिद्धांत को ठीक तरह समझने में स्वप्न-सादृश्य की अपेक्षा अधिक सहायक नहीं पाते। विभ्रम दो तरह के होते हैं; मानसिक या भावात्मक और दृश्य या किसी रूप में ऐन्द्रिय। जब हम किन्हीं चीजों के बिम्ब देखते हैं जब कि वे चीजें नहीं हैं तो यह इन्द्रियों की एक भूल-भरी रचना होती है, दृश्य विभ्रम। जब हम एक ऐसी चीज को, जो मन की आत्मनिष्ठ रचना होती है, एक विषयगत तथ्य मान लेते हैं, मन की किसी रचनात्मक भूल या उसकी विषयपरक कल्पना को या अयुक्त स्थान पर आनेवाले मानसिक बिम्ब को विषयगत तथ्य मान लेते हैं तो यह मानसिक विभ्रम होता है। पहले का उदाहरण है मृगमरीचिका और दूसरे का चिरसम्मत उदाहरण है सर्प को रज्जु मान लेने का। यहां हम यह भी देखते चलें कि बहुत-सी चीजें सचमुच विभ्रम नहीं हैं परंतु कहलाती हैं विभ्रम। वे सचमुच प्रतीक-बिंब होती हैं जिन्हें अंतस्तलीय से ऊपर भेजा जाता है या ऐसे अनुभव होते हैं जिनमें अंतस्तलीय चेतना या इन्द्रिय सतह पर आ जाती है और हमारा अतिभौतिक वास्तविकताओं से संपर्क करा देती है। इस तरह विश्व-चेतना को, जो हमारी मानसिक सीमाओं को तोड़ कर एक विशाल वास्तविकता में हमारा प्रवेश है, स्वीकार करते हुए भी, विभ्रम माना जाता है। लेकिन केवल सामान्य मानसिक और दृश्य विभ्रम को ही लें तो हम देखते हैं कि पहली नजर में लगता है कि ये विभ्रम, जिसे दार्शनिक सिद्धांत में अध्यारोप कहते हैं, उसके सच्चे उदाहरण हैं। यह एक वास्तविकता पर अवास्तविक, निरी मरुभूमि की हवा पर मृग-मरीचिका का, उपस्थित और वास्तविक रज्जु पर अनुपस्थित सर्प के रूप का आरोपण है। हम तर्क कर सकते हैं कि जगत् एक ऐसा ही विभ्रम है, ब्रह्म की शुद्ध, सदा उपस्थित, एकमात्र वास्तविकता पर वस्तुओं के असत्, अवास्तविक रूप का आरोपण है। लेकिन हम देखते हैं कि विभ्रम के हर एक उदाहरण में मिथ्या बिंब किसी ऐसी चीज का नहीं होता जिसका अस्तित्व ही न हो। यह किसी ऐसी चीज का बिंब होता है जिसका अस्तित्व है और जो वास्तविक भी है लेकिन उस स्थान पर उपस्थित नहीं होती जहां उसका अध्यारोप

मन की भूल या इन्द्रियों की भूल ने किया है। मृग-मरीचिका एक नगर का, एक शाद्वल का, बहते पानी का या अन्य अनुपस्थित चीजों का बिंब होती है और अगर इन चीजों का अस्तित्व न होता तो उनका मिथ्या बिंब, चाहे उसे मन ने खड़ा किया हो या वह रेगिस्तानी हवा में प्रतिबिंबित हुआ हो, वास्तविकता के झूठे भाव के साथ मन को भरमाने के लिये वहां न होगा। सर्प का अस्तित्व है और कुछ देर को भ्रम में पड़ गये व्यक्ति को उसके अस्तित्व और आकार का पता होता है, अगर ऐसा न होता तो यह भ्रांति पैदा न होती क्योंकि यहां देखी हुई वास्तविकता के साथ कहीं और पहले से जानी हुई किसी अन्य वास्तविकता के साथ रूप-साम्य है जो इस भ्रांति की जड़ है। इसलिये इस सादृश्य से सहायता नहीं मिलती। वह तभी मान्य हो सकता जब हमारा विश्व का बिंब एक ऐसे सच्चे विश्व को प्रतिबिंबित करनेवाला मिथ्यात्व होता जो यहां नहीं, कहीं और है या वह सद्वस्तु की अभिव्यक्ति का एक मिथ्या बिंब होता जो मन के अंदर किसी सच्ची अभिव्यक्ति का स्थान ले लेता है या अपने विकृत साम्य से उसे ढक लेता है। लेकिन यहां यह जगत् वस्तुओं का अस्तित्वहीन रूप है, शुद्ध सद्वस्तु पर आरोपित भ्रामक रचना है, यह सद्वस्तु एकमात्र सत् है जो हमेशा के लिये चीजों से खाली और रूपहीन है। सच्चा सादृश्य तभी हो सकता है जब हमारी दृष्टि रेगिस्तान की रिक्त हवा में वस्तुओं की ऐसी आकृति की रचना करती जिसका अस्तित्व कहीं नहीं है या वह किसी खाली जमीन पर रज्जु और सर्प तथा अन्य ऐसी आकृतियों को आरोपित करती जिनका अस्तित्व कहीं नहीं है।

यह स्पष्ट है कि इस सादृश्य में दो भिन्न प्रकार के भ्रम हैं जो एक-दूसरे के दृष्टांत नहीं होते, भूल से एक साथ रख दिये जाते हैं मानों वे प्रकृति में एक से हों। सभी मानसिक या ऐन्द्रिय विभ्रम वस्तुतः ऐसी चीजों के मिथ्या निरूपण या मिथ्या स्थापन या असंभव संयोजन या मिथ्या विकास हैं जिनका अपने-आपमें अस्तित्व है या वे संभव हैं या किसी रूप में वास्तव के क्षेत्र के अंतर्गत या उससे संबद्ध हैं। सभी मानसिक भूलें और भ्रम अज्ञान का परिणाम होते हैं जो अपनी सामग्री का गलत संयोजन करता है या ज्ञान की किसी पहले की या वर्तमान या संभाव्य अंतर्वस्तु के आधार पर मिथ्या ढंग से आगे बढ़ता है। लेकिन विश्वमाया का कोई वास्तविकता का आधार नहीं है। वह एक आद्य और सर्वप्रवर्तक भ्रम है। वह नाम, रूप और घटनाएं, जो शुद्ध रूप से अन्वेषण हैं, एक ऐसी सद्वस्तु पर आरोपित करता है जिसमें कभी कोई घटना, नाम या रूप नहीं थे या और न होंगे। मानसिक विभ्रम का सादृश्य तभी स्वीकार किया जा सकेगा जब हम यह मान लें कि नाम, रूप और संबंधों से रहित ब्रह्म और नाम, रूप तथा संबंधोंवाला जगत् दोनों समान रूप से वास्तविक हैं और एक-दूसरे पर आरोपित हैं। रज्जु के स्थान पर सर्प या सर्प के स्थान पर रज्जु—यह सगुण की क्रियाशीलता का निर्गुण की निश्चलता पर

आरोपण हो सकता है। लेकिन अगर दोनों वास्तविक हैं तो दोनों को एक ही वास्तविकता के अलग-अलग पहलू होना चाहिये या समन्वित पहलू, एक ही सत् के भावात्मक और अभावात्मक ध्रुव होना चाहिये। उनके बीच मन की कोई भूल या भ्रांति एक सृजनात्मक वैश्व भ्रम न होकर अज्ञान द्वारा पैदा किया हुआ केवल वास्तविकताओं का एक गलत प्रत्यक्ष दर्शन, गलत संबंध होगा।

अगर हम दूसरे दृष्टांतों या सादृश्यों की जांच करें, जिन्हें हमारे आगे माया की क्रिया को ज्यादा अच्छी तरह समझने के लिये प्रस्तुत किया जाता है, तो हम उन सबकी अनुपयुक्तता पाते हैं, इससे वे अपने बल और मूल्य से वंचित हो जाते हैं। सीप और चांदी का प्रसिद्ध दृष्टांत, सर्प और रज्जु के सादृश्य की तरह एक उपस्थित वास्तविक और एक अनुपस्थित वास्तविक के साम्य पर आधारित भूल के कारण है। यह एकमात्र अद्वितीय अपरिवर्तनशील वास्तविक पर बहुविध और परिवर्तनशील अवास्तविकता के आरोपण पर लागू नहीं हो सकता। दृष्टि-विभ्रम के उदाहरण में जहां एक वस्तु दोगुनी या कई गुनी दिखायी देती है, जैसे हमें एक की जगह दो चांद दिखते हैं, उसी तरह एक ही वस्तु के दो या कई एक-से रूप होते हैं, एक वास्तविक और दूसरा या बाकी भ्रम। यह जगत् और ब्रह्म के सान्निध्य का चित्रण नहीं करता क्योंकि माया की क्रिया में बहुत अधिक जटिल व्यापार है—वस्तुतः अभिन्न का भ्रमात्मक गुणन होता है जो उसकी एक और अभिन्न नित्य अपरिवर्तनशील अभिन्नता पर आरोपित होता है। एक बहु के रूप में दिखायी देता है लेकिन उसके ऊपर प्रकृति की अपरिमित, संगठित विभिन्नता आरोपित की जाती है, ऐसे रूपों और गतियों की विभिन्नता जिनका मूल वास्तविक के साथ कोई संबंध नहीं होता। स्वप्न, अंतर्दर्शन, कलाकार या कवि की कल्पना ऐसी संगठित विभिन्नता प्रस्तुत कर सकती है जो वास्तविक नहीं है किंतु वह एक नकल है, किसी वास्तविक और विद्यमान संगठित विभिन्नता का अनुकरण, या फिर वह ऐसे अनुकरण से शुरू करता है और अधिक-से-अधिक विभिन्नता या उद्दाम अन्वेषण में भी कुछ अनुकरणशील तत्त्व दिखायी देता है। यहां ऐसी कोई चीज नहीं है जिसे माया की ऐसी क्रिया माना जा सके जिसमें कोई अनुकरण न हो, जो ऐसी अवास्तविक रूपों और गतियों के मूलतः नूतन सृजन हों, जिनका और कहीं भी अस्तित्व नहीं है, जो सद्वस्तु में पायी जा सकनेवाली किसी चीज की अनुकृति या प्रतिबिंब नहीं है, न ही उसका बदला हुआ या विकसित रूप है। मानसिक विभ्रम की क्रियाओं में ऐसा कुछ भी नहीं है जो इस रहस्य पर प्रकाश डालता हो। यह, जैसा कि इस तरह की विस्मयकारक विश्व-माया को होना चाहिये, अद्वितीय है जिसकी तुलना नहीं हो सकती। विश्व में हम जो देखते हैं वह अभिन्न की विविधता ही है जो सब जगह वैश्व प्रकृति की आधारभूत क्रिया है लेकिन यहां वह अपने-आपको भ्रम रूप में नहीं बल्कि एक ही मूल पदार्थ में से नाना प्रकार की वास्तविक रचनाओं के रूप में

प्रस्तुत करती है। अपने-आपको अनगिनत रूपों और शक्तियों की वास्तविकता में अभिव्यक्त करनेवाली एकत्व की सद्वस्तु ही हर जगह हमारे सामने आती है। इसमें संदेह नहीं कि उसकी प्रक्रिया में एक रहस्य बल्कि जादू है लेकिन ऐसी कोई चीज नहीं जो यह दिखाये कि यह अवास्तविक का जादू है, ऐसी कोई चीज नहीं जो सर्वशक्तिमान् सद्वस्तु की सत्ता की चेतना और शक्ति की क्रिया, शाश्वत आत्म-ज्ञान द्वारा चालित आत्म-सृजन नहीं है।

यह तुरंत मन के स्वरूप, जो इन भ्रमों का जनक है, और उसके आदि सत् के साथ संबंध का प्रश्न खड़ा करता है। क्या मन आद्य संभ्रम का बालक और यंत्र है या वह स्वयं गलत सृजन करनेवाली आद्य शक्ति या चेतना है? या मानसिक अज्ञान सत् के सत्यों का व्यतिक्रम, या जगत् का सृजन करनेवाली मौलिक सत्य-चेतना से विचलन है। बहरहाल, हमारा अपना मन चेतना की आद्य और प्रारंभिक सृजन-शक्ति नहीं है। वह उद्भव, उपकरणात्मक स्रष्टा और मध्यवर्ती सर्जक है और इसी प्रकारके सब मन यही होंगे। तो यह संभव है कि मन की भूलों से लिये गये सादृश्य जो मध्यवर्ती अज्ञान के परिणाम हैं आद्या सृजनात्मिका माया, सबका आविष्कार करनेवाली और सबकी रचना करनेवाली माया की प्रकृति या क्रिया के सच्चे उदाहरण न हों। हमारा मन अतिचेतना और निश्चेतना के बीच खड़ा रहता है और इन दोनों सम्मुखस्थ शक्तियों से प्राप्त करता है। वह एक गुह्य अंतस्तलीय सत्ता और बाहरी वैश्व प्रपंचों के बीच खड़ा है। वह अज्ञात आंतरिक उत्स से प्रेरणाएं, अंतर्भास, कल्पनाएं, ज्ञान और क्रिया के लिये आवेग, आत्मनिष्ठ वास्तविकताओं या संभावनाओं की आकृतियां पाता है। वह उपलब्ध तथ्यों की आकृतियां और आगे की संभावनाओं के लिये उनके संकेत अवलोकित विश्व-व्यापार से पाता है। वह जिन्हें पाता है वे संभव या वास्तविक, तात्त्विक सत्य होते हैं। वह भौतिक विश्व की उपलब्ध वास्तविकताओं से शुरू करता है और उनसे अपनी आत्मनिष्ठ क्रिया में अनुपलब्ध संभावनाओं को निकाल लाता है जिन्हें वे अपने अंदर समाये रहती हैं या जिनकी ओर वे संकेत करती हैं या जिनतक वह उन वास्तविकताओं को आरंभ-बिंदु बनाकर आगे पहुंच सकता है। वह आत्मनिष्ठ क्रियाके लिये इन संभावनाओं में से कुछ को चुन लेता है और उनके कल्पित या उनके अंदर रचे गये रूपों से खेलता है। वह दूसरी संभावनाओं को बाहर व्यक्त करने के लिये चुन लेता है और उन्हें उपलब्ध करने की कोशिश करता है। लेकिन वह ऊपर से और भीतर से भी प्रेरणाएं पाता है और केवल दृश्य वैश्व प्रपंचों के आघातों से ही नहीं बल्कि अदृश्य स्रोतों से भी प्रेरणा पाता है। उसके चारों ओर स्थित वास्तविक भौतिकता जिन सत्यों का संकेत करती है, वह उनसे भिन्न सत्यों को भी देखता है और यहां भी वह इन सत्यों के संप्रेषित या निर्मित रूपों के साथ आत्मनिष्ठ रूप से आंतरिक चेतना में खेलता है या उनमें से कुछ को विषयगत

करने के लिये चुनता है, उन्हें उपलब्ध करने की कोशिश करता है।

हमारा मन वास्तविकताओं का अवलोकन और प्रयोग करनेवाला है, जो सत्य अभीतक ज्ञात नहीं हुए या वास्तविक नहीं हुए उनका अनुमानकर्ता और ग्रहणकर्ता, उन संभावनाओं का व्यापारी है जो सत्य और वास्तविकता के बीच मध्यस्थता करती हैं। लेकिन उसमें अनंत चेतना की सर्वज्ञता नहीं होती। वह ज्ञान में सीमित होता है, उसे अपने सीमित ज्ञान को कल्पना और अन्वेषण द्वारा पूरा करना पड़ता है। वह अनंत चेतना की तरह ज्ञात को अभिव्यक्त नहीं करता, उसे अज्ञात को खोजना पड़ता है, वह अनंत की संभावनाओं को प्रच्छन्न सत्य के विविध-रूपों के परिणामों या भेदों के रूप में नहीं बल्कि अपनी असीम कल्पना की रचना, सृजन या कल्पना-सृष्टि के रूप में ग्रहण करता है। उसमें अनंत चेतन-ऊर्जा की सर्वशक्तिमत्ता नहीं होती। वह केवल उसीको उपलब्ध कर सकता या वास्तविक बना सकता है जिसे वैश्व ऊर्जा उससे स्वीकार करे या जिसे वस्तुओं की समष्टि में आरोपित करने या प्रविष्ट करने की शक्ति उसमें इस कारण हो कि उसे प्रकृति में व्यक्त करना उस गुप्त देवता को अभिप्रेत है जो उसका उपयोग करता है, चाहे वह अतिचेतन हो या अन्तस्तलीय। उसके ज्ञान का परिसीमन अपूर्णता के कारण, बल्कि भूल की ओर खुला होने के कारण भी, अज्ञान को संघटित करता है। तथ्यों के साथ व्यवहार करते हुए वह गलत देख सकता है, गलत उपयोग कर सकता है, गलत रचना कर सकता है। संभावनाओं के साथ व्यवहार करते हुए वह गलत रचना, गलत संयोजन, गलत प्रयोग और गलत स्थापन कर सकता है। जो सत्य उसके आगे प्रकट किये गये हैं उनके साथ व्यवहार करने में वह विकृति, मिथ्या निरूपण और असामंजस्य ला सकता है। वह अपने ऐसे निजी निर्माण भी कर सकता है जिनका वास्तविक सत्ता की चीजों के साथ कोई सादृश्य न हो, जिनकी सिद्धि की कोई संभावना न हो, जिन्हें अपने पीछे रहनेवाले सत्य का कोई सहारा न हो लेकिन फिर भी ये निर्माण वास्तविकताओं के अवैध विस्तार से ही आरंभ होते हैं, अननुमत संभावनाओं को पकड़ते हैं या सत्यों को ऐसे प्रयोग की ओर मोड़ते हैं जो अनुपयुक्त होते हैं। मन सृजन तो करता है पर वह मौलिक स्रष्टा नहीं है, सर्वज्ञ या सर्व-शक्तिमान् नहीं है, यहांतक कि वह हमेशा कुशल विश्वकर्मा भी नहीं होता। इसके विपरीत माया, भ्रमात्मक शक्ति को आद्या स्रष्ट्री होना चाहिये क्योंकि वह सभी चीजों को शून्य में से बनाती है, जबतक कि हम यह न मान लें कि वह सद्वस्तु के पदार्थ में से सृजन करती है। लेकिन तब उसकी बनायी हुई चीजों को किसी-न-किसी तरह वास्तविक होना चाहिये, वह क्या बनाना चाहती है इसका उसे पूर्ण ज्ञान होता है, वह जो बनाना पसंद करे उसे बनाने की पूर्ण शक्ति होती है। वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होती है, यद्यपि अपने ही संभ्रमों पर। वह उनमें सामंजस्य लाती और जादुई निश्चिति के साथ, संपूर्ण ऊर्जा के साथ उन्हें एक दूसरे के साथ जोड़ती

है और अपने रूपायणों या कल्पनाओं को सत्य, संभावना, तथ्य कहकर अपनी ही बनायी हुई बुद्धि पर आरोपित करने में पूर्णतया प्रभावकारी होती है।

हमारा मन सबसे अच्छी तरह और दृढ़ विश्वास के साथ तब काम करता है जब उसे कार्य करने के लिये कोई पदार्थ दिया जाये या कम-से-कम जिसका वह अपनी क्रियाओं के लिये आधार के रूप में उपयोग कर सके या जब वह किसी ऐसी वैश्व शक्ति का उपयोग कर सके जिसका ज्ञान उसने पा लिया है। जब उसे तथ्यों से काम पड़ता है तो वह अपने कदमों के बारे में निश्चित होता है। विषयीकृत या अन्वेषित वास्तविकताओं के साथ व्यवहार करने और उन वास्तविकताओं को आरंभ-स्थल बनाकर वहां से सर्जन के लिये आगे बढ़ने का यह नियम ही भौतिक विज्ञान की बहुत बड़ी सफलता का कारण है। लेकिन यहां स्पष्टतः संभ्रमों की कोई सृष्टि नहीं है, शून्य के अंदर असत् की कोई सृष्टि नहीं है और न ही उन्हें प्रतीयमान तथ्यों में बदलने की बात है जैसा कि वैश्व संभ्रम के बारे में कहा जाता है, क्योंकि मन किसी पदार्थ में से वही बना सकता है जो उस पदार्थ के लिये संभव हो, वह प्रकृति की शक्ति द्वारा वही कर सकता है जो उसकी सिद्ध हो सकनेवाली ऊर्जाओं के अनुकूल हो। वह केवल उन्हीं चीजों का अन्वेषण या खोज कर सकता है जो पहले से ही प्रकृति के सत्य और उसकी संभाव्यताओं में विद्यमान हों। दूसरी ओर वह अपने अंदर से या ऊपर से सृजन के लिये प्रेरणाएं पाता है लेकिन ये तभी रूप ले सकती हैं जब वे संभाव्य या सत्य हों, मन के अपने आविष्कार के अधिकार से नहीं क्योंकि मन अगर कोई ऐसी चीज खड़ी करे जो न तो सत्य है न संभाव्य तो उसका सृजन नहीं हो सकता, वह प्रकृति में तथ्य नहीं बन सकती। इसके विपरीत, अगर माया वास्तविकता के आधार पर सृजन करती है पर साथ ही उसके ऊपर एक और ढांचा खड़ा कर देती है जिसका वास्तविकता के साथ कोई संबंध नहीं है, तो वह न तो सच्चा है और न संभाव्य; अगर वह वास्तविकता के पदार्थ में से सृजन करती है तो उसमें से भी ऐसी चीजें बनाती है जो उसके लिये संभव नहीं या उसके अनुकूल नहीं हैं—क्योंकि वह रूप बनाती है और माना यह जाता है कि सद्वस्तु रूपहीन है जो रूप लेने में अक्षम है, वह निर्दिष्टों का सृजन करती है और सद्वस्तु को पूरी तरह अनिर्देश्य माना जाता है।

लेकिन हमारे मन में कल्पना की क्षमता है, वह सृजन कर सकता है और अपनी मानसिक रचनाओं को सच्चा और वास्तविक मान सकता है। यहां, यह सोचा जा सकता है कि माया की क्रिया के सदृश कोई चीज है। हमारी मानसिक कल्पना अज्ञान का यंत्र है। वह ज्ञान की एक सीमित क्षमता, प्रभावकारी क्रिया की सीमित क्षमता का अवलंब, उपाय या आश्रय है। मन इन कमियों को अपनी कल्पना-शक्ति से पूरा करता है। वह स्पष्ट और दृश्य वस्तुओं से ऐसी चीजें निकालने के लिये इनका उपयोग करता है जो स्पष्ट और दृश्य नहीं हैं। वह संभव

और असंभव के अपने ही चित्र बनाने का काम हाथ में लेता है। वह भ्रामक तथ्य खड़े करता है, वस्तुओं के कल्पित या रचित सत्यों के चित्र आंकता है जो बाहरी अनुभव के लिये सच्चे नहीं होते। इसकी क्रिया की प्रतीति तो कम-से-कम ऐसी होती है लेकिन वस्तुतः यह मन का एक तरीका या तरीकों में से एक है जिससे वह सत् में से उसकी अनंत संभावनाओं को बुलाता है, यहांतक कि अनंत की अज्ञात संभावनाओं की खोज करता और उन्हें पकड़ में लेता है। लेकिन चूंकि वह ज्ञानपूर्वक ऐसा नहीं कर सकता, वह सत्य और संभावना की ओर अभीतक अनुपलब्ध तथ्यों की परीक्षणात्मक रचनाएं करता है, चूंकि उसकी सत्य की प्रेरणाओं को ग्रहण करने की शक्ति सीमित है इसलिये वह कल्पना करता, अनुमान करता और प्रश्न करता है कि क्या यह या वह सत्य नहीं हो सकते; चूंकि उसकी वास्तविक शक्यताओं को बुलाने की सामर्थ्य संकीर्ण और सीमित है इसलिये वह ऐसी संभावनाएं खड़ी करता है जिन्हें यथार्थ बनाने की वह आशा करता है या इच्छा करता है कि उन्हें यथार्थ बना सकता। चूंकि उसकी यथार्थ बनाने की क्षमता जड़ भौतिक जगत् के विरोधों के कारण निरुद्ध और सीमित है इसलिये वह आत्मनिष्ठ तथ्यों के रूप बना लेता है ताकि वह अपनी सृजन की इच्छा और आत्म-प्रदर्शन के आनंद को संतुष्ट कर सके। लेकिन यह ध्यान रखना चाहिये कि कल्पना द्वारा वह सत्य की एक आकृति पा लेता है, ऐसी संभावनाओं को बुला लेता है जो बाद में चलकर चरितार्थ हो जाती हैं, बहुधा कल्पना द्वारा जगत् के तथ्यों पर प्रभावकारी दबाव डालता है। जो कल्पनाएं मानव मन में बनी रहती हैं, जैसे हवा में यात्रा करने का विचार, वे अपने-आपको पूरा करके ही रहती हैं। व्यक्तिगत विचार-रूपायण अपने-आपको तथ्य बना सकते हैं, अगर रूपायण में या उसे बनानेवाले मन में काफी शक्ति हो। कल्पनाएं अपनी शक्यताओं की रचना कर सकती हैं, विशेष रूप से यदि उन्हें सामूहिक मन की सहायता प्राप्त हो तो अंत में वे अपने लिये वैश्व इच्छा की स्वीकृति प्राप्त कर लेती हैं। वस्तुतः सभी कल्पनाएं संभावनाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। उनमें से कुछ एक दिन किसी रूप में वास्तविक बनने में समर्थ होती हैं चाहे वास्तविकता का वह रूप बहुत भिन्न क्यों न हो। बहुत सारी कल्पनाएं बांझपन के लिये अभिशप्त होती हैं क्योंकि वे वर्तमान सृष्टि के चित्र या योजना में नहीं आतीं, व्यक्ति को जितनी शक्यता की अनुमति प्राप्त है उसकी परिधि में नहीं आतीं, या समष्टि या जाति के नियम के साथ मेल नहीं खातीं या इन सबको धारण करनेवाली जगत्-सत्ता के स्वभाव या नियति के लिये विजातीय होती हैं।

इस भांति मन की कल्पनाएं शुद्ध रूप से और मूलतः भ्रम नहीं हैं। वे वास्तविकताओं के संबंध में मन के अनुभव के आधार पर चलती हैं या कम-से-कम वहां से शुरू होती हैं। वे वास्तविकता के हेर-फेर हैं या वे अनंत के 'होगा'

या 'हो सकता है' के चित्रण हैं। वे यह चित्रित करती हैं कि अगर अन्य सत्य अभिव्यक्त होते, अगर वर्तमान शक्यताएं और तरह से व्यवस्थित की जातीं या अन्य संभावनाएं जो स्वीकार कर ली गयी हैं वे शक्यताएं बन जातीं तो क्या होता। इसके अतिरिक्त इस क्षमता द्वारा भौतिक यथार्थता से भिन्न अन्य क्षेत्रों के रूप और शक्तियां हमारी मानसिक सत्ता के साथ संपर्क साध सकती हैं, यहांतक कि जब कल्पनाएं मर्यादा के बाहर चली जायें या विभ्रमों या भ्रमों का रूप ले लें तब भी वे यथार्थों या संभवों को ही अपना आधार बना कर चलती हैं। मन जलपरी का रूप बनाता है परंतु यह स्वैर कल्पना दो ऐसे तथ्यों को एक साथ इस तरह रख देने से बनी है जो धरती की सामान्य संभाव्यता से बाहर है। फरिश्ते, ग्रिफिन,[1] किमेरा,[2] इसी सिद्धांत पर बने हैं। कभी-कभी कल्पना भूतकाल की वास्तविकताओं की स्मृति होती है जैसे ड्रेगन। कभी-कभी वह ऐसी आकृति या घटना होती है जो अन्य लोकों में या जीवन की अन्य परिस्थितियों में सच्ची होती या हो सकती है। पागल के भ्रम भी वास्तविकता के अमर्यादित गलत संयोजनों पर आधारित होते हैं, जैसे जब कोई पागल अपने-आपको राजपद और इंग्लैंड के साथ मिला लेता है और कल्पना में प्लांटजेनेटों या ट्यूडरों की राजगद्दी पर बैठता है। फिर जब हम मानसिक भ्रांति के उद्गम की ओर देखते हैं तो सामान्यतः हम पाते हैं कि यह ज्ञान और अनुभव के तत्त्वों का गलत संयोग, गलत स्थापन, गलत उपयोग, गलत समझ या गलत प्रयोग होता है। स्वयं कल्पना अपने स्वरूप में संभावना के अंतर्भास की सत्यतर चेतना की क्षमता का प्रतिनिधि-रूप है। जैसे-जैसे मन सत्य-चेतना की ओर चढ़ता है यह मानसिक शक्ति सत्य-कल्पना बन जाती है जो अभीतक प्राप्त और रूपायित ज्ञान की सीमित पर्याप्तता या अपर्याप्तता में उच्चतर सत्य का रंग और प्रकाश लाती है; और अंत में ऊपर के रूपांतरकारी प्रकाश में अपना स्थान पूरी तरह उच्चतर सत्य-शक्तियों को दे देती है या अपने-आप अंतर्भास और प्रेरणा में बदल जाती है। उस उन्नयन में मन भ्रांतियों का स्रष्टा और भूल का शिल्पी नहीं रह जाता। तो मन अस्तित्वहीन या शून्य में बनी चीजों का प्रभुसत्तासम्पन्न स्रष्टा नहीं है। वह है जानने का प्रयास करता हुआ अज्ञान। स्वयं उसके संभ्रम भी किसी आधार से ही शुरू होते हैं और सीमित ज्ञान या अर्द्ध अज्ञान के परिणाम हैं। मन वैश्व अज्ञान का यंत्र है लेकिन वह किसी वैश्व-माया की शक्ति या यंत्र नहीं लगता और न उस तरह कार्य ही करता है। वह सत्यों, संभावनाओं और वास्तविकताओं को खोजनेवाला और आविष्कारक या उनका स्रष्टा

[1] ग्रिफिन यूनानी पुराणों का एक पशु है जिसके सिर और पंख गरुड़ जैसे और धड़ और पीछे का भाग शेर जैसा माना जाता है।

[2] किमेरा अग्निश्वासवाला राक्षस है जिसका सिर शेर जैसा, धड़ बकरे जैसा और पूंछ सांप जैसी होती है।

या भावी स्रष्टा है और यह अनुमान करना न्याय-संगत होगा कि आद्या चेतना या शक्ति भी, जिससे निश्चय ही मन की उत्पत्ति हुई होगी, सत्यों, संभावनाओं और वास्तविकताओं का सृजन करनेवाली होगी। वह मन की तरह सीमित नहीं है बल्कि अपने विस्तार में विश्वव्यापी है। उसमें भूल की संभावना नहीं क्योंकि वह समस्त अज्ञान से मुक्त है, परम सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता का, शाश्वत प्रज्ञा और ज्ञान का परम यंत्र या उनकी आत्म-शक्ति है।

तो हमारे आगे यह द्विविध संभावना उठती है, हम यह मान सकते हैं कि भ्रमों तथा अवास्तविकताओं का सृजन करनेवाली एक आद्या चेतना और शक्ति है। मानव और पशु-चेतना में मन उसका यंत्र या माध्यम है और फलतः यह विभिन्नतावाला विश्व, जिसे हम देखते हैं, वह अवास्तविक और माया की कहानी है और केवल कोई अनिर्देश्य और विभिन्नताहीन निरपेक्ष ही वास्तविक है। या हम समान रूप से यह भी मान सकते हैं कि एक आद्या परम या वैश्व सत्य चेतना है जो सच्चे विश्व का सृजन करनेवाली है लेकिन मन उस विश्व में एक अपूर्ण चेतना की तरह, अज्ञानमय, अंशतः जानते और अंशतः न जानते हुए कार्य कर रहा है—एक ऐसी चेतना जिसके लिये अपनी अपूर्णता या ज्ञान की सीमितता के कारण यह संभव होता है कि वह भूल करे, गलत रूप में प्रस्तुत करे, ज्ञात के आधार पर भ्रांत या गलत दिशा में बढ़े, अज्ञात की ओर अनिश्चित रूप से टटोला करे, आंशिक सृजन और निर्माण करे, सदा सत्य और भ्रांति, ज्ञान और अज्ञान के बीच अर्द्ध-स्थिति में बढ़ा करे। लेकिन यह अज्ञान वास्तव में चाहे जितना लड़खड़ाते हुए क्यों न हो, ज्ञान के आधार पर और ज्ञान की ओर बढ़ता है। वह निहित रूप से परिसीमन और मिश्रण का त्याग करने में सक्षम है और उस मुक्ति द्वारा ऋत-चित् में, आद्य-ज्ञान की शक्ति में बदल सकता है। हमारी जांच अभीतक हमें इस दूसरी दिशा में लिये जा रही है। वह इस निष्कर्ष की ओर इशारा करती है कि हमारी चेतना का स्वरूप इस प्रकार का नहीं है कि वह एक वैश्व भ्रम या माया की मान्यता को समस्या के हल के रूप में उचित ठहराये। समस्या मौजूद है लेकिन वह है आत्मा और वस्तुओं के बारे में हमारे ज्ञान और अज्ञान के मिश्रण की और यही उस अपूर्णता का मूल है जिसकी हमें खोज करनी है। इसमें भ्रम की किसी ऐसी आद्या शक्ति को लाने की जरूरत नहीं जो हमेशा शाश्वत सद्वस्तु में रहस्यमय रूप से रहती हो या चिर-शुद्ध, नित्य और निरपेक्ष चेतना या अतिचेतना के बीच में पड़कर उसपर असत् रूपोंवाले जगत् को आरोपित करती हो।

अध्याय ६

सद्वस्तु और विश्व-माया

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या
ब्रह्म सत्य है जगत् मिथ्या

विवेकचूड़ामणि श्लोक २०

अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् ।
तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।

मायी (माया का स्वामी) अपनी माया से इस जगत् का सृजन करता है। उसके अंदर एक और निरुद्ध है। उसकी माया को प्रकृति और मायी को सबका महेश्वर मानना चाहिये।

श्वेताश्वतर ४. ९, १०

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥

पुरुष ही वह सब है जो अब है, जो हुआ है और जो अभी होने को है। वह अमरता का स्वामी है और जो कुछ अन्न से बढ़ता है वह वही है।

ऋग्वेद १०, ९०, २
श्वेताश्वतर ३. १५

वासुदेवः सर्वम्
सब कुछ वासुदेव है।

गीता ७-१९

किंतु अभीतक हमने अनुसंधान के क्षेत्र के सामने के भाग का एक हिस्सा ही साफ किया है; पीछे के आंगन में पूरी समस्या हल किये बिना पड़ी है। यह समस्या है जिस आद्य चेतना या शक्ति ने विश्व का सृजन किया है या कल्पना से निर्माण किया है या उसे अभिव्यक्त किया है उसका स्वरूप कैसा है और उसके साथ हमारे जगत्-ज्ञान का क्या संबंध है। सारांश में, क्या यह जगत् भ्रम की परम शक्ति द्वारा हमारे मन पर आरोपित चेतना की एक सनक या सत्ता का एक सच्चा रूपायण है जिसे हम अभीतक अज्ञानमय परंतु बढ़ते हुए ज्ञान के साथ अनुभव करते हैं। और सच्चा प्रश्न केवल मन या वैश्व स्वप्न या वैश्व संभ्रम का नहीं है जो मन से पैदा होता है। प्रश्न है सद्वस्तु के स्वरूप का, उसमें जो सृजनात्मक क्रिया होती है या उसपर

आरोपित की जाती है उसकी प्रामाणिकता का, उसकी या हमारी चेतना में सचमुच की अंतर्वस्तु की उपस्थिति या अनुपस्थिति का तथा उसके या हमारे विश्व का अवलोकन करने का। हमने सत्ता के सत्य के बारे में जो स्थापना की है, मायावाद की ओर से यह उत्तर दिया जा सकता है कि यह सब वैश्व माया की सीमाओं में प्रामाणिक और सच्चा हो सकता है। यह वह पद्धति, वह व्यावहारिक यंत्र है जिससे माया काम करती और अपने-आपको अज्ञान में बनाये रखती है लेकिन विश्व-तंत्र के सत्य, संभावनाएं, तथ्य केवल भ्रम में ही सच्चे और यथार्थ हैं, उस जादुई घेरे के बाहर उनकी कोई वैधता नहीं है। वे टिकाऊ और शाश्वत वास्तविकताएं नहीं हैं। सभी अस्थायी आकृतियां हैं चाहे वे ज्ञान के कार्य हों चाहे अज्ञान के। यह स्वीकार किया जा सकता है कि ज्ञान माया के भ्रम का, अपने-आपसे बच निकलने के लिये, मन में अपने-आपको नष्ट करने के लिये एक उपयोगी यंत्र है। आध्यात्मिक ज्ञान अनिवार्य है; लेकिन एकमात्र सच्चा सत्य, ज्ञान और अज्ञान के समस्त द्वंद्वों के परे एकमात्र स्थायी वास्तविकता है शाश्वत संबंध-रहित निरपेक्ष या आत्मा, शाश्वत शुद्ध सत्। यहां सब कुछ सद्वस्तु के बारे में मन की कल्पना और मनोमय पुरुष के अनुभव पर निर्भर है; क्योंकि सद्वस्तु के बारे में मन की कल्पना या अनुभूति के आधार पर ही अन्यथा एक समान सामग्री—विश्व के तथ्यों, व्यक्तिगत अनुभव, परम परात्पर की उपलब्धि—का अर्थ लगाया जायेगा। समस्त मानसिक ज्ञान तीन तथ्यों पर निर्भर होता है—ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय। इन तीनों या इनमें से किसी की वास्तविकता को स्वीकार या अस्वीकार किया जा सकता है। तब प्रश्न यह उठता है कि इनमें से अगर कोई वास्तविक है या हैं तो कौन-से और किस हदतक और किस तरह से? अगर तीनों को वैश्व माया के उपकरणों के रूप में त्याग दिया जाये तो परिणामस्वरूप अगला प्रश्न उठता है: क्या उनके बाहर कोई सद्वस्तु है अगर है तो सद्वस्तु और माया में क्या संबंध है?

ज्ञेय की, विषयगत विश्व की वास्तविकता को स्वीकार करना और ज्ञाता व्यक्ति और उसकी ज्ञान प्राप्त करनेवाली चेतना की वास्तविकता को अस्वीकार करना या घटा देना संभव है। जड़तत्त्व को एकमात्र वास्तविकता माननेवाले सिद्धांत के अनुसार चेतना एक जड़-ऊर्जा की जड़तत्त्व में केवल एक क्रियामात्र है, मस्तिष्क के कोषाणुओं का स्राव या स्पंदन है, स्थूल अंगों द्वारा प्रतिरूपों का ग्रहण और मस्तिष्क का प्रत्युत्तर है, जड़ के संपर्कों के प्रति जड़ की प्रतिवर्त क्रिया या प्रतिक्रिया है। अगर इस मान्यता की कठोरता को कुछ शिथिल भी कर दिया जाये और चेतना की कोई और व्याख्या कर ली जाये फिर भी यह एक अस्थायी और उद्भूत व्यापार से बढ़ कर नहीं है, चिरस्थायी सद्वस्तु नहीं है। ज्ञाता व्यक्ति अपने-आपमें शरीर और मस्तिष्क से बढ़कर कुछ नहीं है जो ऐसी यांत्रिक प्रतिक्रियाओं के लिये सक्षम है जिन्हें हम चेतना का सामान्य नाम देते हैं, व्यक्ति का केवल सापेक्ष

मूल्य और अस्थायी वास्तविकता है। लेकिन स्वयं जड़ अगर अवास्तविक, उद्‌भूत, या केवल ऊर्जा का व्यापार निकले, जिसकी अब संभाव्यता दीख रही है तो ऊर्जा ही एकमात्र सद्वस्तु रह जाती है। ज्ञाता, उसका ज्ञान और उसका ज्ञेय विषय ऊर्जा के ही केवल व्यापार हैं। लेकिन ऐसी ऊर्जा जिसे अधिकार में रखनेवाला कोई पुरुष या सत्ता न हो, आपूर्ति करनेवाली कोई चेतना न हो, बस हो केवल मौलिक रूप से शून्य में काम करती हुई एक ऊर्जा—क्योंकि जिस जड़-भौतिक क्षेत्र को हम देखते हैं वह अपने-आपमें एक सृजन है—यह अपने-आपमें एक मानसिक रचना और अवास्तविकता मालूम होती है, या वह गति का कुछ समय के लिये अव्याख्येय उद्‌भव हो सकती है जो किसी भी समय प्रपंच की रचना बंद कर सकती है। तब एकमात्र अनंत का शून्य ही स्थायी और वास्तविक होगा। बौद्ध सिद्धांत कि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय कर्म की ही रचना हैं, कर्म के किसी वैश्व तथ्य की प्रक्रिया हैं, उसने ऐसे निष्कर्ष को संभव बनाया क्योंकि इसका तर्क-संगत परिणाम हुआ असत् या शून्य का दृढ़ प्रतिपादन। वस्तुतः यह संभव है कि जो क्रियारत है वह ऊर्जा नहीं बल्कि चेतना है। जैसे जड़-पदार्थ अपने-आपको ऊर्जा में बदल लेता है, जिसे हम उसके अपने रूप में नहीं बल्कि उसके परिणामों और क्रियाओं में देख सकते हैं, उसी तरह ऊर्जा को भी चेतना की क्रिया में बदला जा सकता है जिसे हम स्वयं उसके रूप में नहीं बल्कि उसके परिणामों और क्रियाओं में पकड़ सकते हैं। लेकिन अगर यह माना जाये कि यह चेतना उसी तरह शून्य में काम करती है तो हमारे सामने वही निष्कर्ष आता है कि यह क्षणिक प्रपंचात्मक भ्रमों का सृजन करनेवाली और अपने-आप भ्रममूलक है। शून्य, एक अनंत शून्य, एक आद्य असत् ही स्थायी सद्वस्तु है। लेकिन ये निष्कर्ष बाधित करनेवाले नहीं हैं क्योंकि इस चेतना के पीछे, जो केवल अपनी क्रियाओं में ही ग्राह्य है, एक अदृश्य आद्य सत् हो सकता है। तब उस सत् की चित्-शक्ति वास्तविकता हो सकती है। उसके सृजन भी जो सत्ता के अल्पाणु पदार्थ से बने हैं, जो पदार्थ इन्द्रियों के लिये अगोचर है और जड़-पदार्थ के रूप में ऊर्जा की क्रिया की किसी अवस्था में उनके सामने प्रकट होता है, वे सृजन भी वास्तविक होंगे और इसी तरह जड़-जगत् में आद्य सत् की सचेतन सत्ता के रूप में उभरनेवाला व्यक्ति भी। यह आद्य सद्वस्तु एक वैश्व आध्यात्मिक सत्ता, एक वैश्व देव हो सकती है या उसकी कोई और स्थिति हो सकती है। बहरहाल किसी भी दशा में विश्व कोई भ्रम या प्रतिभास मात्र न होकर सच्चा विश्व होगा।

मायावाद के शास्त्रीय सिद्धांत में एकमात्र परम आध्यात्मिक सत् को ही एकमेव सद्वस्तु माना जाता है। तत्त्वतः वह आत्मा है परंतु वे प्राकृतिक सत्ताएं, जिनकी वह आत्मा है, वे केवल क्षणिक आभास हैं। अपनी निरपेक्षता में वह सभी चीजों का आधार है परंतु उस आधार पर खड़ा विश्व या तो असत् है या आभास या फिर

किसी अवास्तविक तरीके से वास्तविक, यह वैश्व भ्रांति है। क्योंकि सद्वस्तु एकमेवाद्वितीयम् है, वह शाश्वतता में अक्षर है। वह एकमात्र सत् है। उसके सिवा कुछ नहीं है। इस सत् के कोई सच्चे संभवन नहीं हैं। वह नाम, लक्षण, रूप, संबंध और घटना से शून्य है और सदा ऐसा ही रहेगा। अगर उसमें कोई चेतना है तो वह उसकी अपनी निरपेक्ष सत्ता की शुद्ध चेतना है। तब फिर उस सद्वस्तु और माया में क्या संबंध है? किस रहस्य या चमत्कार द्वारा माया का संभवन होता है? वह कैसे प्रकट होती है? काल में कैसे हमेशा बनी रहती है?

चूंकि एकमात्र ब्रह्म सत्य है अतः केवल ब्रह्म की चेतना या शक्ति ही वास्तविक स्रष्ट्री या वास्तविकताओं की स्रष्ट्री हो सकती है। लेकिन चूंकि शुद्ध और निरपेक्ष ब्रह्म के सिवा और कोई वास्तविकता हो ही नहीं सकती, अतः ब्रह्म की कोई सच्ची सृजनात्मक शक्ति नहीं हो सकती। अगर ब्रह्म-चेतना वास्तविक सत्ताओं, रूपों और घटनाओं के बारे में अभिज्ञ हो, उसका मतलब होगा संभवन का, विश्व की आध्यात्मिक और जड़-भौतिक वास्तविकता का सत्य जिसे परम सत्य का अनुभव नकारता और रद्द करता है और जिसके साथ न्याय-संगत रूप से उसका मेल नहीं बैठता। माया की सृष्टि है सत्ताओं, नाम, रूप, घटना और वस्तुओं का प्रस्तुतीकरण। ये ऐसी चीजें हैं जिन्हें सच्चा मानना असंभव है। ये एकमेव सत् की अनिर्देश्य शुद्धि के विपरीत हैं। तब माया वास्तविक नहीं होती, वह अस्तित्वहीन होती है: माया अपने-आपमें भ्रम है और अनगिनत भ्रमों की जननी है फिर भी इस भ्रम और उसकी क्रियाओं में किसी तरह का अस्तित्व है इसलिये उन्हें किसी तरह से वास्तविक होना चाहिये। और फिर विश्व का अस्तित्व शून्य में नहीं है, वह इसलिये है क्योंकि उसे ब्रह्म पर आरोपित किया गया है। वह एक तरह से एकमेव सद्वस्तु पर आधारित है। हम खुद भ्रम के वश उसके रूप, नाम, संबंध और घटनाएं ब्रह्म पर आरोपित करते हैं, सभी चीजों के बारे में ब्रह्म के रूप में अभिज्ञ होते हैं और इन सब अवास्तविकताओं में से सद्वस्तु को देखते हैं। तो माया में एक वास्तविकता है। वह एक ही साथ वास्तविक और अवास्तविक है, सत् और असत् है या यूं कहें वह न तो वास्तविक है न अवास्तविक; यह एक विरोधाभास है, एक अतिबौद्धिक पहेली है। तब फिर यह रहस्य क्या है? या क्या इसका हल हो ही नहीं सकता? ब्रह्म-सत्ता में हस्तक्षेप करने के लिये यह भ्रम कैसे आता है? माया की इस अवास्तविक वास्तविकता का स्वरूप क्या है?

पहली दृष्टि में हम यह मानने के लिये बाधित होते हैं कि ब्रह्म को किसी-न-किसी तरह माया का ज्ञाता होना चाहिये क्योंकि ब्रह्म एकमात्र सद्वस्तु है, अगर वह ज्ञाता नहीं है तो भ्रम को देखता कौन है? और किसी ज्ञाता का तो अस्तित्व ही नहीं है। जो व्यक्ति हमारे अंदर प्रतीयमान साक्षी है वह अपने-आप प्रतिभासी और अवास्तविक है, माया की एक सृष्टि है। लेकिन अगर ब्रह्म ज्ञाता है तो यह कैसे

संभव है कि भ्रम क्षण भर के लिये भी बना रह सके क्योंकि ज्ञाता की सच्ची चेतना आत्मा की चेतना है, पूरी तरह से अपनी ही शुद्ध आत्म-सत्ता की अभिज्ञता है। यदि ब्रह्म जगत् को और वस्तुओं को सत्य-चेतना से देखता है तो उन सबको भी वही और वास्तविक होना चाहिये लेकिन चूंकि वे शुद्ध आत्म-सत्ता नहीं हैं, अच्छे-से-अच्छे रूप में देखें तो उसके रूप मात्र हैं और आभासी अज्ञान के द्वारा दिखायी देते हैं अतः यह वास्तविकतावादी समाधान संभव नहीं है। फिर भी हमें कम-से-कम अस्थायी रूप से स्वीकार करना होगा कि विश्व एक तथ्य है, कि असंभवता को ऐसी चीज के रूप में मानना होता है जो है क्योंकि माया मौजूद है और उसके कामों में स्थायित्व है और वे आत्मा को अपनी वास्तविकता के भाव से अभिभूत करते हैं, फिर ये भाव चाहे जितने मिथ्या क्यों न हों। तो हमें इस आधार पर पहेली का सामना करना और उसका समाधान करना होगा।

अगर माया किसी तरह से वास्तविक है तो यह निष्कर्ष अपने-आपको आरोपित करता है कि ब्रह्म, सद्वस्तु ही उसी तरीके से माया का ज्ञाता है। माया ब्रह्म की भेद करनेवाली ज्ञान-शक्ति हो सकती है। क्योंकि माया-चेतना की शक्ति जो उसे एकमात्र आध्यात्मिक आत्मा की सच्ची चेतना से अलग करती है वह भेद की उसकी सृजनात्मक दृष्टि है। या माया कम-से-कम—अगर हम यह मान लें कि भेद की सृष्टि माया-शक्ति का सारतत्त्व नहीं, बल्कि परिणाम मात्र है—ब्रह्म चेतना की कोई शक्ति है। क्योंकि केवल चेतना ही भ्रम को देख सकती या बना सकती है और ब्रह्म को छोड़कर कोई दूसरी आद्य या आरंभ करनेवाली चेतना नहीं हो सकती, लेकिन चूंकि ब्रह्म भी शाश्वत रूप में आत्म-अभिज्ञ है इसलिये ब्रह्म-चेतना की दोहरी स्थिति होनी चाहिये, एक मात्र सद्वस्तु के बारे में सचेतन हो, दूसरी उन अवास्तविकताओं के बारे में सचेतन हो जिन्हें वह अपनी सृजनात्मक दृष्टि से किसी प्रकार की प्रतीयमान सत्ता देती है। ये अवास्तविकताएं सद्वस्तु के पदार्थ से बनी हुई नहीं हो सकतीं क्योंकि तब तो उन्हें भी वास्तविक होना चाहिये। इस दृष्टि से हम उपनिषद् का यह प्रतिपादन स्वीकार नहीं कर सकते कि जगत् परम सत् में से बना है, शाश्वत सत् का संभवन, उपज या रचना है। ब्रह्म विश्व का उपादान कारण नहीं है, हमारी प्रकृति, —हमारी आत्मा के विपरीत—आध्यात्मिक पदार्थ में से नहीं बनी है, वह माया की अवास्तविक वास्तविकता में से निर्मित है। लेकिन इसके विपरीत हमारी आध्यात्मिक सत्ता उस पदार्थ से बनी है और वस्तुतः ब्रह्म है। ब्रह्म माया के ऊपर है। लेकिन साथ ही वह अपनी सृष्टियों का ऊपर से और माया के भीतर से भी ज्ञाता है। यह दुहरी चेतना ही अपने-आपको एक वास्तविक शाश्वत ज्ञाता, एक अवास्तविक ज्ञेय और एक ऐसे ज्ञान की, जो अवास्तविक ज्ञेयों की अर्द्ध वास्तविक स्रष्टी है, पहेली के एकमात्र सत्याभासी समाधान के रूप में प्रस्तुत करती है।

अगर यह द्विविध चेतना न हो, अगर माया ब्रह्म की एकमात्र सचेतन शक्ति है

तो दो में से एक चीज सच्ची होनी चाहिये; एक तो यह कि शक्तिरूपिणी माया की वास्तविकता यह है कि वह ब्रह्म-चेतना की आत्मनिष्ठ क्रिया है जो उसकी नीरवता और अतिचेतन निश्चलता में से उभरकर ऐसे अनुभवों में से गुजर रही है जो वास्तविक हैं क्योंकि वे ब्रह्म-चेतना के अंश हैं लेकिन अवास्तविक इसलिये हैं कि उसकी सत्ता का भाग नहीं हैं या माया ब्रह्म की वैश्व कल्पना की शक्ति है जो उसकी शाश्वत सत्ता में समाविष्ट है और शून्य में से ऐसे नाम, रूप और घटनाओं का सृजन कर रही है जो किसी तरह से वास्तविक नहीं हैं। उस हालत में माया वास्तविक होगी परंतु उसके कार्य पूरी तरह से काल्पनिक, शुद्ध रूप से मनगढ़न्त होंगे। लेकिन क्या हम कल्पना को ही शाश्वत की एकमात्र गतिशील या सर्जक शक्ति के रूप में प्रतिपादित कर सकते हैं? कल्पना अज्ञानमय चेतनावाली आंशिक सत्ता के लिये आवश्यक है क्योंकि उसे कल्पनाओं और अटकलों द्वारा अपने अज्ञान की पूर्ति करनी होती है, लेकिन एकमात्र सद्वस्तु की एकमात्र चेतना में ऐसी गति के लिये कोई स्थान नहीं हो सकता जिसके पास अवास्तविकताओं के निर्माण का कोई कारण नहीं होता क्योंकि वह हमेशा शुद्ध और अपने-आपमें पूर्ण होती है। यह देखना मुश्किल है कि ऐसी एकमात्र सत्ता को, जो अपने सारतत्त्व में पूर्ण है, अपनी शाश्वतता में आनंदमय है, जिसमें अभिव्यक्त करने के लिये कुछ भी नहीं है, जो कालहीन रूप से पूर्ण है, उसकी सत्ता में ऐसी कौन-सी चीज हो सकती है जो उसे अवास्तविक देश और काल की सृष्टि करने और उसे हमेशा के लिये मिथ्या प्रतिरूपों और घटनाओं के कभी समाप्त न होनेवाले वैश्व प्रदर्शन से भरने के लिये प्रेरित या राजी करे। तर्क की दृष्टि से यह समाधान अमान्य है।

दूसरा समाधान, शुद्ध रूप से आत्मनिष्ठ अवास्तविक वास्तविकता का भाव उस भेद से शुरू होता है जिसे मन भौतिक प्रकृति में आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ अनुभवों में करता है क्योंकि मन को केवल उसी चीज के पूरी तरह और ठोस रूप से वास्तविक होने का निश्चय होता है जो वस्तुनिष्ठ हो। लेकिन ऐसा भेद ब्रह्म-चेतना में मुश्किल से ही हो सकता है क्योंकि यहां न तो विषयी है न विषय या स्वयं ब्रह्म ही अपनी चेतना का एकमात्र संभव विषयी और एकमात्र संभव विषय है। ब्रह्म के लिये कोई भी चीज बाह्य रूप से विषयगत नहीं हो सकती क्योंकि ब्रह्म के सिवाय कुछ है ही नहीं। इसलिये यह विचार कि चेतना की एक आत्मनिष्ठ क्रिया ने एकमात्र सत्य वस्तु से भिन्न या उसे विकृत करनेवाले मिथ्या कल्पनाओं के जगत् को बनाया है, हमारे मन द्वारा ब्रह्म पर आरोपित किया गया दीखता है। यह शुद्ध और संपूर्ण सद्वस्तु पर अपनी अपूर्णता की रूप-रेखा आरोपित करता है जिसे सचमुच परम सत्ता की अनुभूति पर आरोपित नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर ब्रह्म की चेतना और सत्ता में भेद प्रामाणिक नहीं हो सकता जबतक कि ब्रह्म-चेतना और ब्रह्म-सत्ता दो अलग-अलग सत्ताएं न हों—चेतना अपने अनुभव सत्ता के

शुद्ध सत् पर आरोपित करती हो लेकिन उसे छूने, उसे प्रभावित करने या उसे भेदने में असमर्थ हो। तो ब्रह्म चाहे परम एकमात्र आत्म सत्ता के रूप में हो या माया में वास्तविक-अवास्तविक व्यक्ति की आत्मा के रूप में, वह अपनी सत्य-चेतना द्वारा अपने ऊपर आरोपित इन भ्रमों के बारे में अभिज्ञ होगा और उन्हें भ्रम के रूप में ही जानेगा। केवल माया-प्रकृति की कुछ ऊर्जा या उसके अंदर की कोई चीज स्वयं अपने अन्वेषणों से भ्रम में पड़ेगी या सचमुच भ्रम में न पड़कर भी इस तरह व्यवहार करेगी या अनुभव करेगी मानों वह भ्रम में है। यह द्विविधता वह अवस्था है जो हमारी अज्ञान में स्थित चेतना में तब बनती है जब वह अपने-आपको प्रकृति के कामों से अलग कर लेती है और अपने अंदर आत्मा से इस रूप में अभिज्ञ होती है कि वही एकमात्र सत्य है और बाकी सब अनात्मा और अवास्तविक है, लेकिन सतह पर उसे इस तरह अभिनय करना पड़ता है मानों बाकी भी वास्तविक हो। लेकिन यह समाधान ब्रह्म के एकमात्र और अविभाज्य शुद्ध सत् और उसकी शुद्ध अभिज्ञता को नकारता है। वह आकाररहित एकत्व में द्वैत की सृष्टि करता है जो अपने सार में सांख्य के दृष्टिकोण के दो तत्त्वों के द्वैत—पुरुष और प्रकृति, आत्मा और प्रकृति से भिन्न नहीं है। तो हमें इन समाधानों को अमान्य कहकर एक ओर रख देना चाहिये या फिर हम अपनी सद्वस्तु विषयक पहली दृष्टि में हेर-फेर करें और यह मानें कि उसमें चेतना की बहुविध स्थिति की शक्ति या सत् की बहुविध स्थिति की शक्ति है।

लेकिन फिर यदि हम द्वैत चेतना को स्वीकार कर लें तो उसकी व्याख्या ज्ञान-अज्ञान की दोहरी शक्ति के रूप में नहीं की जा सकती जो परम सत्ता के लिये भी उसी तरह वैध है जैसे विश्व में हमारे लिये। क्योंकि हम यह बिलकुल नहीं मान सकते कि ब्रह्म माया के जरा भी आधीन है। क्योंकि उसका अर्थ होगा कि शाश्वत की आत्म-अभिज्ञता को बादल की तरह घेरे हुए अज्ञान का कोई तत्त्व है। यह तो शाश्वत सद्वस्तु पर हमारी अपनी चेतना की सीमाओं को आरोपित करना होगा; ऐसा अज्ञान जो अभिव्यक्ति के समय चेतना की किसी गौण क्रिया के परिणाम-स्वरूप और विश्व की एक दिव्य योजना और उसके विकासीय अर्थ के एक भाग के रूप में घटित हो या हस्तक्षेप करे। यह तो एक बात है और उसकी न्याय-संगत रूप से कल्पना की जा सकती है। निरर्थक अज्ञान या सद्वस्तु की मौलिक चेतना में शाश्वत भ्रम एक और चीज है जिसकी आसानी से कल्पना नहीं की जा सकती। यह एक ऐसी उग्र मानसिक रचना प्रतीत होती है जिसकी निरपेक्ष के सत्य में मान्यता पाने की कोई संभावना नहीं। ब्रह्म की द्विविध चेतना को किसी भी तरह अज्ञान नहीं होना चाहिये बल्कि होना चाहिये एक ऐसी आत्म-अभिज्ञता जो उन भ्रमों के विश्व को खड़ा करने के लिये ऐच्छिक संकल्प के साथ सहवर्ती है जो सामने की दृष्टि के आगे रहते हैं और एक ही साथ आत्मा और भ्रमात्मक जगत् के बारे में अभिज्ञ

रहते हैं ताकि न तो विभ्रम रहता है और न उसकी वास्तविकता का कोई भाव। विभ्रम केवल मायामय जगत् में ही होता है और जगत् में आत्मा या ब्रह्म लीला का भोग अपने-आप अलग-थलग और अछूता रहकर या तो उसमें मुक्त रूप से भाग लेकर या साक्षी रूप में करता है; जो लीला अपना जादू केवल उस प्रकृति-मन पर चलाती है जिसे माया अपनी क्रिया के लिये बनाती है। लेकिन इसका तो यह अर्थ होगा कि शाश्वत अपने शुद्ध निरपेक्ष सत् से संतुष्ट नहीं होता, उसे सृजन करने की आवश्यकता होती है ताकि वह सारे काल में अपने-आपको नाम, रूप और घटनाओं के नाटक में व्यस्त रख सके। एकमात्र होने के कारण उसे अपने-आपको बहु के रूप में देखने की जरूरत होती है, शांति, आनंद और आत्म-ज्ञान होने के कारण मिश्रित ज्ञान और अज्ञान, सुख और दुःख, अवास्तविक सत्ता और उस अवास्तविक सत्ता से मुक्ति के अनुभव या चित्रण के रूप में देखने की इच्छा होती है। क्योंकि माया द्वारा निर्मित व्यष्टिगत सत्ता के लिये मुक्ति होती है, शाश्वत को छुटकारा पाने की जरूरत नहीं होती और लीला हमेशा के लिये अपने चक्र चलाती रहती है। या अगर जरूरत नहीं होती है तो इस तरह सृजन करने की इच्छा होती है या इन विपरीतों की ललक या स्वचालित क्रिया होती है। लेकिन अगर हम सद्वस्तु के लक्षण-स्वरूप शुद्ध सत् की एकमात्र शाश्वतता का ख्याल रखें तो आवश्यकता, इच्छा, ललक या स्वचालकता सभी समान रूप से असंभव और अबोध्य होता है। यह एक तरह की व्याख्या है लेकिन है ऐसी व्याख्या जो रहस्य को न्याय और बोध के परे छोड़ देती है क्योंकि शाश्वत की यह क्रियाशील चेतना उसके निश्चल और वास्तविक स्वभाव का प्रत्यक्ष विरोध है। निश्चय ही सृजन करने या अभिव्यक्त करने की इच्छा या शक्ति तो उसमें है ही लेकिन अगर यह ब्रह्म की इच्छा या शक्ति है तो वह केवल सद्वस्तु की वास्तविकताओं के सृजन या उसकी सत्ता की कालातीत प्रक्रिया की काल की शाश्वतता में अभिव्यक्ति हो सकती है; क्योंकि यह बात अविश्वसनीय मालूम होती है कि सद्वस्तु की एकमात्र शक्ति अपने से विपरीत वस्तु की अभिव्यक्ति के लिये हो या भ्रमात्मक विश्व में असत् पदार्थों के सृजन के लिये हो।

अभीतक पहेली का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिला है; लेकिन हो सकता है कि हम माया और उसके कार्यों को किसी प्रकार की वास्तविकता मानने की भूल कर रहे हैं, वह तली में चाहे जितनी भ्रामक क्यों न हो। सच्चा समाधान इसीमें है कि उसका और उनकी अवास्तविकता के रहस्य का साहस के साथ सामना किया जाये। ऐसा लगता है कि नितांत अवास्तविकता की कल्पना मायावाद के किन्हीं प्रतिपादनों या उसके पक्ष में दी गयी युक्तियों में की गयी है। इससे पहले कि हम विश्वास के साथ उन समाधानों की जांच करें जो विश्व की सापेक्ष या आंशिक वास्तविकता पर आश्रित हैं, हमें समस्या के इस पक्ष के बारे में विचार करना

होगा। वस्तुतः एक ऐसी तर्कधारा है जो इस समस्या को अलग छोड़कर उससे छुटकारा पा लेती है। उसका कथन है कि भ्रम कैसे पैदा हुआ, ब्रह्म की शुद्ध सत्ता में विश्व कैसे बना हुआ है, ये प्रश्न ही अवैध हैं। इस समस्या का अस्तित्व ही नहीं है क्योंकि विश्व असत् है, माया अवास्तविक है, ब्रह्म एकमात्र सत्य है, सदा के लिये एकाकी और स्वयंभू है। ब्रह्म पर किसी भ्रमात्मक चेतना का असर नहीं होता, उसकी कालातीत वास्तविकता में किसी विश्व का आविर्भाव नहीं हुआ। कठिनाई से इस तरह बचना या तो निरर्थक कुतर्क, शाब्दिक तर्क की कलाबाजी, तर्क-बुद्धि का शब्दों और विचारों के खेल में अपना सिर छिपाना और एक यथार्थ और चकरानेवाली दुःसाध्य कठिनाई को देखने या हल करने से इंकार करना है या फिर इसका अर्थ बहुत अधिक है क्योंकि परिणामस्वरूप यह माया और ब्रह्म के सारे संबंध से पिंड छुड़ा लेता है, यह प्रतिपादित करके कि माया अपने बनाये हुए विश्व के साथ स्वतंत्र, निरपेक्ष अवास्तविकता है। अगर किसी वास्तविक विश्व का अस्तित्व ही नहीं है, एक वैश्व भ्रम का अस्तित्व है तो हम यह खोज करने के लिये बाधित हैं कि वह कैसे अस्तित्व में आया या वह कैसे बना हुआ है, सद्वस्तु के साथ उसका क्या संबंध या असंबंध है? माया के अंदर हमारे अस्तित्व का, उसके चक्रों के प्रति हमारी अधीनता और उससे हमारी मुक्ति का क्या अर्थ है? क्योंकि इस दृष्टि में हमें यह मानना होगा कि ब्रह्म माया या उसके कार्यों का ज्ञाता नहीं है, स्वयं माया ब्रह्म चेतना की शक्ति नहीं है: ब्रह्म अतिचेतन है, स्वयं अपनी शुद्ध सत्ता में डूबा हुआ है या केवल अपनी निरपेक्षता के बारे में सचेतन है, उसका माया के साथ कोई संबंध नहीं है। लेकिन उस हालत में या तो माया एक भ्रम के रूप में भी नहीं रह सकती या द्विविध सत्ता या दो सत्ताएं होंगी—एक शाश्वत वास्तविक अतिचेतना या सिर्फ अपने बारे में सचेतन और दूसरी भ्रमात्मक शक्ति जो मिथ्या विश्व की रचना करती और उसके बारे में सचेतन होती है। हम फिर से द्विधा में जा फंसते हैं और हमारे शूलारोहण से बचने की कोई संभावना नहीं दिखायी देती, सिवाय इसके कि हम यह मान लें कि चूंकि सारा दर्शन माया का अंग है अतः सारा दर्शन भी भ्रम है। समस्याएं तो प्रचुर हैं परंतु कोई निष्कर्ष संभव नहीं है। क्योंकि हमारा जिस चीज से सामना हो रहा है वह है शुद्ध निश्चल, अक्षर सद्वस्तु और एक भ्रमात्मक गतिशीलता, दोनों एक-दूसरे से एकदम विपरीत हैं और उनके परे ऐसा कोई महानतर सत्य नहीं जिसमें उनका रहस्य मिल सके और उनके विरोध समन्वयकारी समाधान पा सकें।

अगर ब्रह्म द्रष्टा नहीं है तो व्यष्टिगत सत्ता को द्रष्टा होना चाहिये। लेकिन इस द्रष्टा को किसी भ्रम ने बनाया है और यह अवास्तविक है। दृश्य जगत् भ्रम का बनाया हुआ और अवास्तविक है, देखनेवाली चेतना अपने-आप भ्रम और इस कारण अवास्तविक है। लेकिन यह हर चीज को अर्थ से वंचित कर देता है।

हमारा आध्यात्मिक अस्तित्व और माया से हमारी मुक्ति और उसी तरह हमारा कालिक अस्तित्व और माया में डूबा रहना समान रूप से अवास्तविक और महत्त्वहीन है। यह संभव है कि हम कम अनन्य दृष्टि अपनाएं और कहें कि ब्रह्म के रूप में ब्रह्म का माया के साथ कोई संबंध नहीं, वह शाश्वत रूप में समस्त भ्रम या भ्रम के साथ किसी व्यापार से मुक्त है लेकिन व्यष्टिगत ज्ञाता के रूप में ब्रह्म, या यहां समस्त सत्ता की आत्मा के रूप में, माया में प्रविष्ट हुआ है और व्यक्ति के अंदर उससे अपने-आपको खींच सकता है और व्यक्ति के लिये यह खींच लेना बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है। लेकिन यहां ब्रह्म पर एक दोहरी सत्ता आरोपित की गयी है और जो चीज वैश्व भ्रम की है उसपर वास्तविकता आरोपित की जा रही है—वास्तविकता आरोपित की जा रही है माया के अंदर ब्रह्म की व्यष्टिगत सत्ता पर क्योंकि सर्वात्मा के रूप में ब्रह्म आभासी रूप में भी बद्ध नहीं है और उसे माया से छुटकारा पाने की जरूरत नहीं है। और फिर अगर बंधन अवास्तविक है तो मुक्ति का कोई महत्त्व नहीं हो सकता और बंधन तबतक वास्तविक नहीं हो सकता जबतक माया और उसका जगत् वास्तविक न हो। माया की नितांत अवास्तविकता गायब हो जाती है और बहुत व्यापक बल्कि शायद एकमात्र व्यावहारिक और कालिक वास्तविकता को जगह देती है। इस परिणाम से बचने के लिये कहा जा सकता है कि हमारा व्यक्तित्व अवास्तविक है। ब्रह्म अपने-आपको व्यक्तित्व की कल्पना में अपने प्रतिबिंब से खींच लेता है और उसका समापन हमारा छुटकारा, हमारी मुक्ति है। लेकिन सर्वदा मुक्त ब्रह्म न तो बंधन से कष्ट पा सकता है न मुक्ति से लाभ, और प्रतिबिंब, व्यक्तित्व की कल्पना-सृष्टि ऐसी चीज नहीं है जिसे मुक्ति की जरूरत हो। प्रतिबिंब, कल्पना-सृष्टि, माया के भ्रामक दर्पण में एक बिंब मात्र को सचमुच बंधन से कष्ट नहीं हो सकता और न ही वास्तविक मुक्ति से लाभ। अगर यह कहा जाये कि यह सचेतन प्रतिबिंब या कल्पना-सृष्टि है इसलिये सचमुच दुःख पा सकती और मुक्त होने पर आनंद में प्रवेश कर सकती है तो यह प्रश्न उठता है कि यह किसकी चेतना है जो इस कल्पना-सृष्टि के अस्तित्व में दुःख पाती है—क्योंकि एकमेव सत् को छोड़कर और कोई वास्तविक चेतना नहीं हो सकती अतः फिर से एक बार ब्रह्म के लिये दोहरी चेतना प्रतिष्ठित हो गयी, एक सचेतन या अतिचेतन चेतना जो भ्रम से मुक्त है और दूसरी ऐसी चेतना जो भ्रम के आधीन है, और इस तरह फिर से हमने माया के अंदर अपने जीवन और अनुभव की किसी वास्तविकता को प्रमाणित कर दिया। क्योंकि अगर हमारी सत्ता ब्रह्म की है, हमारी चेतना ब्रह्म की चेतना में से कुछ है, उसके साथ चाहे जो विशेषण क्यों न लगे हों, वह उस हदतक वास्तविक है—और अगर हमारी सत्ता वास्तविक है तो विश्व की सत्ता क्यों नहीं ?

अंततः समाधान के रूप में यह कहा जा सकता है कि द्रष्टा व्यक्ति और दृश्य

विश्व अवास्तविकता हैं लेकिन माया ब्रह्म पर अपने-आपको आरोपित करके किसी प्रकार की वास्तविकता प्राप्त कर लेती है और वह वास्तविकता विश्व-माया में व्यक्ति और उसके अनुभव में चली जाती है। वह अनुभव उस व्यक्ति के लिये तबतक बना रहता है जबतक व्यक्ति भ्रम के आधीन रहे। लेकिन तब, यह अनुभव किसके लिये प्रामाणिक है, जबतक वह अनुभव रहता है तबतक यह वास्तविकता किसके लिये रहती है, मुक्ति, निर्वाण या निवृत्ति द्वारा किसके लिये उस अनुभव का अवसान होता है? क्योंकि एक भ्रमात्मक अवास्तविक सत्ता वास्तविकता ओढ़कर वास्तविक बंधन का दुःख नहीं पा सकती और न ही परिहार या आत्म-विलोपन की वास्तविक क्रिया द्वारा उससे बच निकल सकती है। उसके अस्तित्व की प्रतीति किसी वास्तविक आत्मा या सत् को ही हो सकती है लेकिन उस दशा में वह वास्तविक आत्मा किसी-न-किसी तरह या कुछ मात्रा में माया के आधीन जरूर होनी चाहिये। उसे या तो ब्रह्म की ऐसी चेतना होना चाहिये जो अपने-आपको माया के जगत् में प्रक्षिप्त करती है और फिर माया से निकलती है या फिर उसे उस ब्रह्म की कोई ऐसी सत्ता होना चाहिये जो अपने अंदर से कुछ, अपनी वास्तविकता माया में डाल देती और फिर माया में से निकाल लेती है। या यह माया फिर है क्या जो अपने-आपको ब्रह्म पर आरोपित करती है? वह अगर पहले ही से ब्रह्म में मौजूद नहीं होती, शाश्वत चेतना या शाश्वत अतिचेतना की एक क्रिया नहीं है तो फिर वह आती कहां से है? उस भ्रम के चक्रों को शाश्वत ब्रह्म के खिलवाड़ के लिये छायामयी कठपुतलियों का नाच होने के सिवा, कालपट पर कठपुतलियों का खेल होने के सिवा और किसी वास्तविकता या महत्त्व की प्राप्ति तभी हो सकती है जब सद्वस्तु की कोई सत्ता या चेतना ही उस भ्रम के परिणामों में से गुजरे। इस तरह हमें फिर से इसी निष्कर्ष की ओर लौटना पड़ता है कि ब्रह्म की द्विविध सत्ता है, द्विविध चेतना है, उसमें से एक भ्रम में अंतर्ग्रस्त है और दूसरी भ्रम से मुक्त है और उसमें माया के लिये सत्ता के सत्य का कुछ प्रपंच है। विश्व में हमारे जीवन का कोई समाधान नहीं हो सकता अगर उस जीवन और स्वयं विश्व में कोई वास्तविकता न हो—भले वह वास्तविकता आंशिक, सीमित और कृत्रिम क्यों न हो। लेकिन एक आद्य, वैश्व और मूलतः निराधार भ्रम की वास्तविकता भी क्या हो सकती है? एकमात्र संभव उत्तर यह है कि यह रहस्य बुद्धि से परे अव्याख्येय और अनिर्वचनीय है।

फिर भी इस कठिनाई के दो उत्तर संभव हैं—अगर हम संपूर्ण अवास्तविकता के विचार से पिंड छुड़ा लें और एक प्रतिबंध और समझौता स्वीकार कर लें। अगर हम उपनिषदों में दिये गये निद्रा और स्वप्न-सृष्टि के वर्णन को भ्रमात्मक आत्मनिष्ठ जगत्-अभिज्ञता के भाव में स्वीकार कर लें तो एक ऐसी आत्मनिष्ठ भ्रमात्मक चेतना के लिये आधार मिल सकता है जो सत् का अंश है। वहां यह प्रतिपादन है कि

आत्मा रूप ब्रह्म चतुष्पाद है। आत्मा ब्रह्म है और जो कुछ है सब ब्रह्म है लेकिन जो कुछ है वह आत्मा ही है जिसे आत्मा अपनी सत्ता की चार स्थितियों में देखती है। शुद्ध आत्म-स्थिति में ब्रह्म के बारे में न तो चेतना और न अचेतना—जैसा हम समझते हैं—का प्रतिपादन किया जा सकता है, यह अतिचेतना की स्थिति है जो आत्म-सत् में, आत्म-नीरवता में या आत्मानंद में तल्लीन होती है या वह एक मुक्त अतिचेतन की स्थिति है जो अपने अंदर सभी चीजों को धारण किये या उन्हें आधार दिये रहती है परंतु अपने-आप किसी में अंतर्ग्रस्त नहीं होती। लेकिन सुषुप्ति सत्ता (पुरुष) की एक प्रकाशमय अवस्था भी है, चेतना की राशि है जो समस्त वैश्व सत् का उद्गम है। यह गहरी सुषुप्ति की अवस्था ही, जिसमें फिर भी सर्वशक्तिमान् प्रज्ञा विद्यमान है, बीज-स्थिति या कारण-स्थिति है जिसमें से सारा विश्व उभरता है। यह और स्वप्न-पुरुष जो सभी सूक्ष्म, आत्मनिष्ठ या अतिभौतिक अनुभूतियों का आधान है और जाग्रत् पुरुष जो सभी भौतिक अनुभवों का सहारा है, इन्हें माया का पूरा क्षेत्र माना जा सकता है। जैसे गाढ़ निद्रा में आदमी स्वप्नों में चला जाता है जहां वह नाम, रूप, संबंध, घटना की स्वनिर्मित अस्थायी इमारतें देखता है और जाग्रत् अवस्था में भौतिक चेतना की अधिक स्थायी दीखनेवाली फिर भी अस्थायी रचनाओं को बहिर्मुख होकर देखता है, इस तरह जीव भी राशिभूत चेतना की अवस्था में से बाहर निकलकर अपनी आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ वैश्व अनुभूतियों का विकास करता है। लेकिन जाग्रत् स्थिति इस आदि और कारण निद्रा से सचमुच जागना नहीं है। वह चेतना के विषयों के सूक्ष्म आत्मनिष्ठ स्वप्नों के अनुभव के विपरीत उनकी निश्चयात्मक वास्तविकता के स्थूल, बाहरी, वस्तुनिष्ठ अनुभव में केवल पूरी तरह से उभरना है। सच्चा जागरण है दोनों, आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ, चेतना से और संचित कारण प्रज्ञा से अन्य सभी चेतनाओं से श्रेष्ठतर अतिचेतना में निवर्तन क्योंकि सारी चेतना और अचेतना माया है। यहां, हम कह सकते हैं कि माया वास्तविक है क्योंकि वह आत्मा को आत्मा का अनुभव है, आत्मा की कोई चीज उसके अंदर प्रवेश करती है, उसपर उसकी घटनाओं का प्रभाव होता है क्योंकि वह उन्हें स्वीकार करती है, उनपर विश्वास करती है। ये उसके लिये वास्तविक अनुभव होते हैं, उसकी सचेतन सत्ता की रचनाएं होते हैं लेकिन वह अवास्तविक है क्योंकि यह निद्रा-अवस्था, स्वप्नावस्था है, अंततः क्षणिक जाग्रत् अवस्था है, अतिचेतन सद्वस्तु की सच्ची अवस्था नहीं है। यहां स्वयं सत्ता का सचमुच द्विभाजन नहीं है लेकिन उसी एक सत् की बहुविध स्थिति है। यहां ऐसी कोई आद्या द्विविध चेतना नहीं है जिसमें यह लक्षित हो कि असत् में से भ्रमात्मक वस्तुओं की सृष्टि करने की इच्छा असृष्ट में हुई, अपितु एक ही सत् अतिचेतना और चेतना की अवस्थाओं में है और इनमें से प्रत्येक का आत्मानुभव का अपना-अपना स्वरूप है। किंतु यद्यपि निचली अवस्थाओं में वास्तविकता है फिर भी वे ऐसे आत्मनिष्ठ आत्म-रचनाओं के निर्माण और अवलोकन में मर्यादित हैं

जो सत् नहीं हैं। वह एकमेव आध्यात्म पुरुष अपने-आपको बहु के रूप में देखता है लेकिन यह बहुविध-सत्ता भी आत्मनिष्ठ है, उसमें चेतना की स्थितियों की बहुलता है लेकिन यह बहुलता भी आत्मनिष्ठ है। यथार्थ सत्ता के आत्मनिष्ठ अनुभव की एक यथार्थता तो है परंतु कोई वस्तुनिष्ठ विश्व नहीं है।

फिर भी यह ध्यान देने योग्य है कि वास्तव में उपनिषदों में कहीं भी यह नहीं कहा गया है कि त्रिविध स्थिति भ्रम की रचना है या अवास्तविकता की सृष्टि है। हमेशा यही प्रतिपादित किया गया है कि यह सब जो है—यह विश्व जिसे हम अभी माया द्वारा बनाया हुआ मान रहे हैं—ब्रह्म है, सद्वस्तु है। ब्रह्म ये सब सत्ताएं बन जाता है, सभी सत्ताओं को आत्मा के अंदर, सद्वस्तु के अंदर देखना चाहिये और सद्वस्तु को उनमें देखना चाहिये। सद्वस्तु को हमें ऐसे देखना चाहिये मानों वास्तव में ये सब सत्ताएं सद्वस्तु ही हैं क्योंकि सिर्फ इतना ही नहीं कि आत्मा ब्रह्म है, बल्कि सब कुछ आत्मा है, यह सब जो कुछ भी है ब्रह्म है, सद्वस्तु है। यह प्रबल दृढ़ोक्ति भ्रमात्मक माया के लिये कोई स्थान नहीं छोड़ती। लेकिन फिर भी उनका बार-बार यह अस्वीकार करना कि अनुभव करनेवाली आत्मा के सिवा या उससे भिन्न और भी कुछ है, उनके द्वारा कुछ विशेष शब्दावलियों का व्यवहार और चेतना की अवस्थाओं में दो का सुषुप्ति और स्वप्न कहकर वर्णन—इनका यह अर्थ लगाया जा सकता है मानों उन्होंने वैश्व सद्वस्तु पर दिये गये जोर को रद्द कर दिया है। ये उद्धरण मायावादी विचार के लिये द्वार खोल देते हैं और इन्हें उस प्रकार के हठीले सिद्धांत का आधार बनाया गया है। अगर हम चतुष्पाद अवस्था को आत्मा का एक रूपक मानें, जब वह अपनी अतिचेतन अवस्था में से निकलकर, जहां न कोई विषयी है न विषय, ज्योतिर्मय समाधि में चली जाती है जिसमें अतिचेतना घनीभूत चेतना बन जाती है जिसमें से सत्ता की आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ स्थितियां उभरती हैं, तब हमें, वस्तुओं के बारे में अपनी दृष्टि के अनुसार भ्रमात्मिका सृष्टि की संभव प्रक्रिया या सर्जनकारी आत्मज्ञान और सर्वज्ञान की प्रक्रिया मिलती है।

वस्तुतः उपनिषदों में आत्मा की तीन निचली अवस्थाओं का जो वर्णन मिलता है—सर्वज्ञ प्रज्ञा,[1] सूक्ष्म का द्रष्टा और स्थूल जड़ सत्ता का द्रष्टा (प्रज्ञानघन,

[1] *प्रज्ञा* :—बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य पूरे निश्चय के साथ कहते हैं कि पुरुष की दो भूमिकाएं या अवस्थाएं हैं जो दो लोक हैं और स्वप्न में आदमी दोनों को देख सकता है क्योंकि स्वप्न की स्थिति दोनों के बीच की है, यह दोनों का मिलन-स्थल है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वह चेतना की एक अंतर्लीन अवस्था की बात कर रहे हैं जो अपने अंदर भौतिक और अतिभौतिक लोकों के संपर्क को लिये रह सकती है। स्वप्नहीन स्थिति का वर्णन गहरी नींद और समाधि दोनों पर लागू होता है जिसमें आदमी उस घनीभूत चेतना में प्रवेश करता है जो अपने अंदर सत्ता की समस्त शक्तियों को लिये रहती है लेकिन सब उसके अंदर दबी हुई और केवल उसीपर केन्द्रित रहती हैं और जब सक्रिय होती हैं तो ऐसी चेतना में जहां सब कुछ आत्मा है। स्पष्ट है कि यह ऐसी अवस्था है जो हमें आत्मा के उन उच्चतर स्तरों में प्रवेश कराती है जो सामान्यतः अभी हमारी जाग्रत सत्ता के लिये अतिचेतन हैं।

प्रविविक्तभुक् और स्थूलभुक्) उसके आधार पर निर्णय करें तो यह सुषुप्ति अवस्था और यह स्वप्नावस्था हमारी जाग्रत् अवस्था के पीछे और परे रहनेवाली अतिचेतन और अंतस्तलीय अवस्थाओं के लिये आलंकारिक नाम प्रतीत होते हैं। उन्हें ये नाम इसलिये दिये गये हैं, उनका ऐसा चित्रण इसलिये किया गया है क्योंकि स्वप्न और निद्रा द्वारा—या फिर समाधि द्वारा, जिसे हम एक तरह का स्वप्न या निद्रा कह सकते हैं—सतही मानसिक चेतना सामान्यतः विषयगत वस्तुओं के प्रत्यक्ष दर्शन से निकल कर आंतरिक अंतस्तलीय और उच्चतर अतिमानसिक या अधिमानसिक अवस्था में चली जाती है। उस आंतरिक अवस्था में वह अतिभौतिक वास्तविकताओं को स्वप्न या सूक्ष्म दर्शन के प्रतिलेख रूपों में देखती है या उच्चतर अवस्था में वह घनीभूत चेतना में खो जाती है लेकिन वह उसका कोई विचार या बिंब नहीं पा सकती। हम इस अंतस्तलीय और अतिचेतन अवस्था से होते हुए आत्मसत्ता की उच्चतम स्थिति की परम अतिचेतना में जा सकते हैं। अगर हमारा संक्रमण स्वप्न-समाधि या निद्रा-समाधि द्वारा न होकर इन उच्चतर अवस्थाओं में आध्यात्मिक जागरण के द्वारा हो तो हम उन सबमें एक सर्वव्यापक सद्वस्तु के बारे में अभिज्ञ होते हैं। तब भ्रमात्मक माया के प्रत्यक्ष दर्शन की जरूरत नहीं रहती। केवल मन से परे संक्रमण का अनुभव रहता है जिसके कारण विश्व के बारे में हमारा मानसिक ढांचा प्रामाणिक नहीं रहता और अज्ञानी मानसिक ज्ञान के स्थान पर एक और वास्तविकता आ जाती है। इस संक्रमण में सत्ता की सभी अवस्थाओं के बारे में एक साथ समन्वित और एकीकृत अनुभूति में जाग्रत् रहना और हर जगह सद्वस्तु को देखना संभव होता है लेकिन अगर हम ऐकांतिक एकाग्रता की समाधि द्वारा एक रहस्यमय निद्रा-स्थिति में डुबकी लगायें या एकाएक, जाग्रत् मन की उस अवस्था में पहुंच जायें जो अतिचेतन की है तो मार्ग में मन विश्व-शक्ति और उसकी रचनाओं की अवास्तविकता के बोध की पकड़ में आ सकता है। तब वह आंतरिक रूप से उन सबका विलोप करके परम अतिचेतना में चला जाता है। यह अवास्तविकता का बोध और यह ऊपर की ओर संक्रमण, माया द्वारा निर्मित जगत् के विचार को आध्यात्मिक औचित्य प्रदान करता है। परंतु यह परिणाम अंतिम नहीं है क्योंकि इसका अधिक्रमण करनेवाली एक बृहत्तर और पूर्णतर निष्पत्ति आध्यात्मिक अनुभव के लिये संभव है।

माया के जैसे ये सब और अन्य समाधान हमें संतुष्ट नहीं कर पाते क्योंकि उनमें कोई निश्चयात्मकता नहीं होती। वे मायावादी सिद्धांत की अनिवार्यता को प्रतिपादित नहीं करते जो कि मायावाद की मान्यता के लिये अनिवार्य है। वे एक ओर शाश्वत सद्वस्तु के अनुमानित सच्चे स्वरूप और दूसरी ओर विश्व-भ्रम के विरोधाभासी और विपरीत स्वभाव के बीच की खाई को नहीं पाटते। अधिक-से-अधिक एक ऐसी प्रक्रिया की ओर संकेत दिया जाता है जो दो विरोधियों के सह-अस्तित्व को

धारणागम्य और बोधगम्य बनाने का दावा करती है। लेकिन उसमें निश्चिति की ऐसी कोई शक्ति या प्रबोधक विश्वासोत्पादकता नहीं होती जो प्रभावकारी रूप से इस असंभाव्यता को दूर कर दे कि उसकी स्वीकृति बुद्धि के लिये अनिवार्य हो जाये। वैश्व माया का सिद्धांत एक मौलिक विरोध, समस्या या रहस्य से पिंड छुड़ाने के लिये, जिसका किसी और तरह से हल किया जा सकता था, एक और विरोध खड़ा कर देता है, एक नयी समस्या और रहस्य को ले आता है जो अपने तत्त्व में ही ऐसा है जिसका मेल नहीं बिठाया जा सकता और जिसका कोई हल नहीं है। कारण, हम एक ऐसी निरपेक्ष सद्वस्तु की धारणा या अनुभूति से शुरू करते हैं जो अपने स्वभाव से ही शाश्वत रूप में एक, विश्वातीत, स्थिर, अचल, अक्षर, अपने शुद्ध सत् के बारे में आत्म-अभिज्ञ है तथा हम विश्व के प्रपंच, गतिशीलता, गति, क्षरता, मौलिक शुद्ध सत् में हेर-फेर, विभेद और अनंत बहुलता की धारणा या अनुभूति से शुरू करते हैं। इस प्रपंच से पिंड छुड़ाने के लिये उसे एक सतत भ्रम, माया घोषित कर दिया जाता है; लेकिन यह चीज परिणामतः एकमेव की चेतना की परस्पर विरोधी दोहरी स्थिति को एकमेव की सत्ता की आत्म-विरोधी दोहरी स्थिति का निराकरण करने के लिये ले आती है। एकमेव की बहुलता के आभासी सत्य को यह धारणात्मक मिथ्यात्व स्थापित करके रद्द कर दिया जाता है कि उस एक ने अवास्तविक बहुलता का सृजन किया है। एक जो सदा-सर्वदा अपने शुद्ध सत् के बारे में अभिज्ञ है, अपने-आपकी एक चिरस्थायी कल्पना या भ्रममूलक रचना को आश्रय दिये रहता है जिसमें मूढ़ और दुःखी आत्मज्ञानहीन सत्ताओं की अनंत बहुलता है और जिन्हें एक-एक करके आत्मज्ञान की ओर जागना और अपने व्यक्तित्व का अवसान करना होगा।

एक उलझन के समाधान-स्वरूप एक और उलझन देखकर हमें यह संदेह होना शुरू होता है कि हमारा आधार-वाक्य ही कहीं अपूर्ण रह गया—भूल नहीं, बल्कि एक पहला विवरण और अनिवार्य आधारमात्र। हम सद्वस्तु को इस रूप में देखने लगते हैं कि वह शाश्वत ऐक्य, स्थिति, शुद्ध सत्ता का अक्षर सार है जो अपनी शाश्वत गतिशीलता, गति, अनंत बहुलता और भिन्नता को अवलंब देता है। ऐक्य की अक्षर स्थिति अपने अंदर से क्रिया, गति और बहुत्व को बाहर लाती है। ऐसी क्रिया, गति और बहुत्व शाश्वत और अनंत एकत्व को रद्द नहीं करते बल्कि शाश्वत और अनंत एकत्व को और भी उभारते हैं। अगर ब्रह्म की चेतना अपनी स्थिति या क्रिया में द्विविध बल्कि बहुविध हो सकती है तो कोई कारण नहीं दीखता कि क्यों ब्रह्म अपनी सत्ता की द्विविध स्थिति अपनाने या बहुविध वास्तविक आत्मानुभव करने में असमर्थ हो। तब वैश्व चेतना सृजनात्मक भ्रम न होकर निरपेक्ष के किसी सत्य का अनुभव होगी। अगर इसे कार्यान्वित किया जाये तो यह व्याख्या अधिक व्यापक और आध्यात्मिक रूप से अधिक उर्वर और हमारे आत्मानुभवों के दोनों छोरों में मिलन कराने में अधिक समन्वयकारी सिद्ध हो सकती है और कम-से-कम

उस विचार से तो कम तर्क-संगत न होगी जो यह मानता है कि एक शाश्वत सद्वस्तु चिरकालतक ऐसे सनातन भ्रम को आधार देती है या अनंत बहुसंख्यक अज्ञानी और दुःखी लोगों के लिये ही वास्तविक है जो एक-एक करके माया के अंधकार और कष्ट से मुक्ति पाते हैं और उनमें से हर एक अलग-अलग, माया में ही अपना आत्म-विलोपन करता है।

मायावाद के आधार पर समस्या का दूसरा संभव उत्तर शंकर के दर्शन से मिलता है जिसे विशिष्ट मायावाद कहा जा सकता है। यह उत्तर असाधारण रूप से प्रभावशाली शक्ति और व्यापकता के साथ प्रस्तुत किया गया है, इससे हम इस समाधान की ओर पहला कदम भरते हैं। क्योंकि यह दर्शन माया की एक सीमित वास्तविकता प्रतिपादित करता है, वह उसे वस्तुतः अनिर्वचनीय और अव्याख्येय रहस्य कहता है पर साथ ही हमारे सामने एक युक्तिसंगत समाधान भी प्रस्तुत करता है जो पहली दृष्टि में हमारे मन को संतप्त करनेवाले द्वंद्व का पूरी तरह संतोषजनक समाधान उपस्थित करता है। वह विश्व की स्थायी और सबल वास्तविकता का हमें जो बोध होता है और जीवन तथा विश्व-प्रपंच की निर्णयहीनता, अपर्याप्तता, व्यर्थता, क्षणभंगुरता और निश्चित अवास्तविकता का जो बोध होता है इनकी व्याख्या करता है। क्योंकि यहां हम वास्तविकता की दो भूमिकाओं में किया गया भेद देखते हैं, परात्पर और व्यावहारिक, निरपेक्ष और प्रपंचात्मक, शाश्वत और कालिक—इनमें से पहली है ब्रह्म की शुद्ध सत्ता की वास्तविकता, निरपेक्ष, विश्वातीत और शाश्वत और दूसरी है माया के अंदर ब्रह्म की वास्तविकता—वैश्व, कालिक और सापेक्ष। यहां हम अपने और विश्व के लिये वास्तविकता पा लेते हैं क्योंकि व्यष्टिगत आत्मा वास्तव में ब्रह्म है। यह ऐसा ब्रह्म है जो व्यक्ति-रूप से माया के क्षेत्र में आभासी रूप में उसके आधीन मालूम होता है और अंत में सापेक्ष और आभासी व्यक्ति को उसकी शाश्वत और सच्ची सत्ता में मुक्त कर देता है। सापेक्षताओं के कालिक क्षेत्र में हमारा ऐसे ब्रह्म का अनुभव भी प्रामाणिक है जो सर्व सत्ता बन गया है, ऐसा शाश्वत जो वैश्व और व्यष्टिगत बन गया है। सचमुच यह माया के अंदर माया से मुक्ति की ओर गति का बीच का कदम है। विश्व भी और उसके अनुभव भी कालगत चेतना के लिये वास्तविक हैं और वह चेतना भी वास्तविक है। लेकिन तुरंत वास्तविकता के स्वरूप और मर्यादा का प्रश्न उठता है क्योंकि हो सकता है कि विश्व और हम वास्तविक हों, भले निचली कोटि के हों, या वे आंशिक रूप में वास्तविक हों और आंशिक रूप से अवास्तविक या वे अवास्तविक वास्तविकता हों। अगर वे सचमुच सच्ची वास्तविकता हैं तो माया के किसी सिद्धांत के लिये कोई स्थान नहीं रहता, तब कोई भ्रमात्मक सृष्टि नहीं रहती। अगर वे आंशिक रूप से वास्तविक और आंशिक रूप से अवास्तविक हैं तो दोष किसी ऐसी चीज में होगा जो गलत है, या तो वैश्व आत्म-अभिज्ञता में या स्वयं हमारे अपने-आपको

और विश्व को देखने में, जो सत्ता की भ्रांति, ज्ञान की भ्रांति, जीवन की क्रिया की भ्रांति पैदा करता है। लेकिन वह भ्रांति केवल अज्ञान या मिश्रित ज्ञान और अज्ञान ही हो सकती है और तब जिस चीज की व्याख्या की जरूरत है वह आद्य वैश्व भ्रम नहीं बल्कि सृजनात्मक चेतना में या शाश्वत और अनंत की गतिशील क्रिया में अज्ञान का हस्तक्षेप है। लेकिन अगर हम और विश्व अवास्तविक वास्तविकता हैं, अगर परात्पर चेतना के लिये इस सब की सत्ता का कोई सत्य नहीं है और जैसे ही हम माया के अपने विशेष क्षेत्र से बाहर पांव रखते हैं इनकी आभासी वास्तविकता समाप्त हो जाती है तो एक हाथ से दी गयी सुविधा दूसरे हाथ से छीन ली जाती है क्योंकि जिस चीज को सत्य मान लिया गया था उसके बारे में पता लगता है कि वह तो हमेशा भ्रम ही थी। माया और विश्व और हम वास्तविक और अवास्तविक दोनों हैं लेकिन वास्तविकता अवास्तविक वास्तविकता है जो केवल हमारे अज्ञान के लिये वास्तविक है और किसी भी सच्चे ज्ञान के लिये अवास्तविक।

यह देख पाना मुश्किल है कि जब हमारी और विश्व की वास्तविकता एक बार मान ली गयी तो वह अपनी सीमाओं में सच्ची वास्तविकता क्यों न हो। यह माना जा सकता है कि अभिव्यक्त की अपेक्षा अभिव्यक्ति अपनी सतह पर ज्यादा प्रतिबद्ध वास्तविकता होगी। हम कह सकते हैं कि हमारा विश्व ब्रह्म की लयों में एक है और सारगत सत् को छोड़कर पूर्ण वास्तविकता नहीं है लेकिन यह इस बात के लिये काफी कारण नहीं है कि उसे अवास्तविक कहकर एक तरफ रख दिया जाये। निःसंदेह जो मन अपने-आपको अपने-आपसे और अपनी रचनाओं से अलग खींच लेता है उसे ऐसा ही अनुभव होता है लेकिन यह इसलिये होता है क्योंकि मन अज्ञान का यंत्र है। जब वह अपने-आपको अपनी रचनाओं से, विश्व के अज्ञानभरे और अपूर्ण चित्र से पीछे खींच लेता है तो वह यह मानने के लिये प्रेरित होता है कि वह उसकी अपनी कल्पनाओं और रूपायणों से बढ़कर कुछ नहीं है, निराधार और अवास्तविक है। उसके अज्ञान और परम सत्य तथा ज्ञान के बीच की खाई उसे परात्पर सद्वस्तु और वैश्व वास्तविकता के बीच सच्चे संबंध का पता लगाने से रोकती है। चेतना के उच्चतर स्तर पर यह कठिनाई लुप्त हो जाती है, संबंध स्थापित हो जाता है, अवास्तविकता का भाव पीछे हट जाता है और भ्रम का सिद्धांत व्यर्थ और अनुपयुक्त हो जाता है। यह चरम सत्य नहीं हो सकता कि परम चेतना विश्व की परवाह नहीं करती या उसे एक कल्पना मान लेती है जिसे वह अपने-आप काल में वास्तविक के रूप में लिये रहती है। विश्व का अस्तित्व तभी हो सकता है जब वह विश्वातीत पर आधारित हो। कालगत ब्रह्म का कालातीत शाश्वत के ब्रह्म के लिये कुछ अर्थ होना चाहिये अन्यथा वस्तुओं में कोई जीव या आत्मा न होती और इस तरह कालिक अस्तित्व के लिये कोई आधार न होता।

लेकिन विश्व अंततः अवास्तविक होने के लिये अभिशप्त है क्योंकि वह शाश्वत

नहीं क्षणिक है। वह सत्ता का मरणशील रूप है जो रूपहीन अमर पर आरोपित किया गया है। यह संबंध मिट्टी और मिट्टी से बने घड़े के सादृश्य से चित्रित किया जा सकता है। घड़ा और दूसरे उसी तरह बने हुए रूप नष्ट होकर वास्तविकता में, मिट्टी में जा मिलते हैं। वे केवल क्षणभंगुर रूप हैं। जब वे गायब हो जाते हैं तो बच रहती है रूपहीन, सारतत्त्व मिट्टी, और कुछ नहीं। लेकिन यह सादृश्य दूसरी तरफ की बात ज्यादा विश्वासोत्पादक ढंग से कह सकता है। घड़ा इस अधिकार से वास्तविक है कि वह मिट्टी के पदार्थ से बना है जो वास्तविक है, वह भ्रम नहीं है और जब उसे मूल मिट्टी में मिला दिया जाता है तब भी यह नहीं सोचा जा सकता कि उसका पिछला अस्तित्व अवास्तविक या भ्रम था। संबंध मौलिक वास्तविकता और आभासी अवास्तविकता का नहीं है बल्कि एक मौलिक,—और अगर हम मिट्टी से अदृश्य पदार्थ और उसके घटक आकाश की ओर पीछे जायें, एक शाश्वत और अनभिव्यक्त—परिणामी और आश्रित, कालिक और अभिव्यक्त वास्तविकता का है। और फिर पार्थिव पदार्थ या आकाशीय पदार्थ के लिये घड़े का रूप शाश्वत संभावना है और जबतक पदार्थ का अस्तित्व है रूप हमेशा अभिव्यक्त हो सकता है। रूप गायब हो सकता है लेकिन वह केवल अभिव्यक्ति से अनभिव्यक्ति में चला जाता है। एक जगत् गायब हो सकता है लेकिन इस बात का कोई प्रमाण नहीं कि जगत् की सत्ता क्षणभंगुर आभास है। इसके विपरीत हम यह मान सकते हैं कि अभिव्यक्ति की शक्ति ब्रह्म में अंतर्निहित है और काल की शाश्वतता में या तो लगातार या शाश्वत पुनरावृत्ति में कार्य करती रहती है। वैश्व विश्वातीत परात्परता से भिन्न सद्वस्तु की श्रेणी है लेकिन यह जरूरी नहीं कि उसे किसी तरह से असत् या उस परात्पर के लिये अवास्तविक माना जाये। क्योंकि यह शुद्ध बौद्धिक धारणा कि केवल शाश्वत ही वास्तविक है, चाहे हम उसे इस अर्थ में लें कि वास्तविकता सतत स्थिति पर निर्भर है या यह कि केवल कालातीत ही सत्य है, एक भावात्मक भेद या मानसिक रचना है; यह सारगर्भित और पूर्ण अनुभव पर बंधनकारी नहीं है। कालातीत शाश्वतता अनिवार्य रूप से काल के अस्तित्व को रद्द नहीं कर देती। केवल शाब्दिक रूप से ही उनका संबंध विरोध का है, वस्तुतः अधिक संभावना तो यह है कि उनका संबंध निर्भरता का है।

इसी भांति उस तर्क को मानना भी कठिन है जो निरपेक्ष की गतिशीलता को रद्द करता है, अर्थात् जो वस्तुओं के व्यावहारिक सत्य पर अवास्तविक वास्तविकता का कलंक लगा देता है क्योंकि वह व्यावहारिक है। कारण, आखिर व्यावहारिक सत्य कोई एकदम अलग चीज तो है नहीं जो आध्यात्मिक सत्य से बिलकुल अलग और असंबद्ध हो। वह आत्मा की ऊर्जा या सक्रिय क्रियाशीलता का एक स्पंदन है। निःसंदेह दोनों के बीच भेद तो करना ही चाहिये लेकिन पूरे विरोध का भार केवल इस आधार तत्त्व पर खड़ा हो सकता है कि शाश्वत की सच्ची और समग्र सत्ता

नीरव और प्रशांत स्थिति ही है। लेकिन उस अवस्था में हमें यह निष्कर्ष निकालना होगा कि निरपेक्ष में कुछ भी क्रियाशील नहीं है और समस्त क्रियाशीलता भगवान् और शाश्वत की परा प्रकृति के विरुद्ध है। लेकिन अगर किसी प्रकार की कालिक या वैश्व वास्तविकता का अस्तित्व है तो यह जरूरी है कि निरपेक्ष की कोई शक्ति उसका कोई अंतर्निहित क्रियाशील सामर्थ्य होगा जो उसे अस्तित्व में लाया हो। यह मानने का कोई कारण नहीं कि निरपेक्ष की शक्ति भ्रमों को उत्पन्न करने के सिवाय और कुछ नहीं कर सकती। इसके विपरीत जो शक्ति सृजन करती है उसे तो सर्व-शक्तिमान् और सर्वज्ञ चेतना की शक्ति होना चाहिये। पूर्णतः यथार्थ के सृजन भी यथार्थ होने चाहियें भ्रांति नहीं और चूंकि वह एकमेव सत् है इसलिये वे आत्म-सृजन शाश्वत की अभिव्यक्ति के रूप होने चाहियें, आदि शून्य में से माया द्वारा बनाये गये शून्य के रूप नहीं—चाहे वह शून्य सत्ता हो या शून्य चेतना।

विश्व को वास्तविक स्वीकार करने से इंकार के आधार में यह धारणा या अनुभूति है कि सद्वस्तु अक्षर, अलक्षण तथा निष्क्रिय है और उसकी उपलब्धि ऐसी चेतना द्वारा होती है जो अपने-आप नीरवता की स्थिति में आ गयी हो और निश्चल हो। विश्व गतिशील क्रिया-शक्ति का परिणाम है। यह सत्ता की शक्ति है जो अपने-आपको बाहर क्रिया में प्रक्षिप्त कर रही है, कार्यरत ऊर्जा है, चाहे वह ऊर्जा धारणात्मक हो या यांत्रिक, चाहे वह आध्यात्मिक, मानसिक, प्राणिक या भौतिक क्रिया-शक्ति हो। इस तरह हम उसे स्थिर, अचंचल शाश्वत सद्वस्तु से उल्टा, या आत्म-स्खलन अतएव अवास्तविक मान लेते हैं। परंतु धारणा के रूप में विचार की इस स्थिति की कोई अनिवार्यता नहीं है, ऐसा कोई कारण नहीं है कि क्यों हम सद्वस्तु के बारे में यह धारणा न बनायें कि वह एकसाथ निष्क्रिय और सक्रिय दोनों ही है। यह मानना पूरी तरह युक्तिसंगत है कि सद्वस्तु की सत्ता की शाश्वत स्थिति अपने अंदर सत्ता की शाश्वत शक्ति को समाये हुए है और इस शक्तिमत्ता में अवश्य ही कर्म तथा गति की शक्ति होगी, क्रियाशीलता होगी। सत्ता की स्थिति और सत्ता की गतिशीलता दोनों ही सत्य हो सकती हैं। ना ही इसका कोई कारण है कि क्यों वे युगपत् न हों, इसके विपरीत युगपत्ता अपेक्षित है क्योंकि समस्त ऊर्जा को, समस्त सचल क्रिया को, यदि उसे प्रभावी या सृजनशील होना है तो उसे अपना आधार स्थिति पर या स्थिति के सहारे रखना पड़ता है नहीं तो किसी भी सृष्ट चीज में घनता न होगी, केवल एक सतत चक्कर होगा जो कोई रूप न लेगा। सत्ता के गतिक्रम के लिये सत्ता की स्थिति, सत्ता का रूप जरूरी है। चाहे ऊर्जा प्रारंभिक वास्तविकता हो, जैसा कि जड़ भौतिक जगत् में मालूम होता है तब भी उसे अपनी स्थिति, स्थायी रूप, सत्ताओं का टिकाऊपन निर्मित करना पड़ता है ताकि वह अपने कार्य में सहारा पा सके। स्थिति अस्थायी हो सकती है, वह सतत गतिक्रम द्वारा निर्मित और रक्षित उपादान का संतुलन और साम्यावस्था ही हो ऐसा हो सकता है लेकिन

जबतक वह बनी हुई है वह वास्तविक है और जब वह समाप्त हो जाती है तब भी हम यही मानते हैं कि वह कोई वास्तविक चीज थी। क्रिया के लिये सहारा देनेवाली कोई स्थिति हो यह स्थायी विधान है और उसकी क्रिया काल की शाश्वतता में सतत रहती है। जब हम ऊर्जा की इस सारी गति और रूपों की इस सृष्टि के आधार में रहनेवाली स्थायी सद्वस्तु की खोज कर लेते हैं तो निःसंदेह हमें यह प्रत्यक्ष होता है कि बने हुए रूपों की स्थिति केवल थोड़े समय के लिये है; गतिक्रम की एक-सी निरंतर क्रिया और आकृति में क्रियाशीलता की स्थायी रूप से पुनरावृत्ति होती है जो सत्ता के पदार्थ को अपने स्थायी रूप में बनाये रखती है। लेकिन यह स्थिरता तो बनायी हुई है और एकमात्र स्थायी और स्वयंभू स्थिति तो शाश्वत सत्ता की है जिसकी ऊर्जा ने रूपों को खड़ा किया। लेकिन इस कारण हमें यह निष्कर्ष न निकाल लेना चाहिये कि अल्पकालिक रूप अवास्तविक हैं क्योंकि सत्ता की ऊर्जा वास्तविक है और उसके द्वारा बनाये गये रूप सत्ता के रूप हैं। बहरहाल, सत्ता की स्थिति और सत्ता की शाश्वत क्रियाशीलता दोनों वास्तविक हैं। वे युगपत् हैं। स्थिति क्रियाशीलता के कर्म को अनुमति देती है और कर्म स्थिति को रद्द नहीं करता। इसलिये हमें इस निष्कर्ष पर आना चाहिये कि शाश्वत स्थिति और शाश्वत गति दोनों ही उस सद्वस्तु के सत्य हैं जो स्थिति और गति दोनों के परे है। चल और अचल ब्रह्म दोनों एक ही सद्वस्तु हैं।

लेकिन अनुभव से हमें पता चलता है कि सामान्यतः हमारे लिये प्रशांतता ही शाश्वत और अनंत की स्थिर उपलब्धि लाती है। निश्चल नीरवता या स्थिरता में हमें सबसे अधिक दृढ़ता के साथ किसी 'ऐसी' चीज का अनुभव होता है जो उस जगत् के पीछे है जिसे हमारा मन और हमारी इन्द्रियां हमें दिखलाती हैं। हमारी विचार की ज्ञानात्मक क्रिया, हमारी प्राण और सत्ता की क्रिया सत्य को, वास्तविकता को ढके हुए प्रतीत होती हैं। वे सांत को पकड़ सकती हैं, अनंत को नहीं। वे शाश्वत सद्वस्तु के साथ नहीं अल्पकालीन वास्तविकता के साथ व्यवहार करती हैं। तर्क किया जाता है कि यह इस कारण है कि समस्त क्रिया, समस्त सृजन, समस्त निर्देशक प्रत्यक्ष-दर्शन सीमित करता है; वह सद्वस्तु को पकड़ता या उसका आलिंगन नहीं करता और जब हम सद्वस्तु की अविभाज्य और अनिर्देश्य चेतना में प्रवेश करते हैं तो उसकी रचनाएं गायब हो जाती हैं। ये रचनाएं शाश्वत में अवास्तविक हैं, काल में वे चाहे जितनी वास्तविक क्यों न हों या प्रतीत होती हों। कर्म अज्ञान की ओर, सृष्ट और सांत की ओर ले जाता है। गतिक्रम और सृजन अक्षर सद्वस्तु का, शुद्ध, असृष्ट सत् का निषेध है। लेकिन यह तर्क पूरी तरह प्रामाणिक नहीं है क्योंकि वह प्रत्यक्ष-दर्शन और क्रिया को केवल उस रूप में देखता है जिस रूप में जगत् और उसकी गति हमारे मानसिक ज्ञान में है, लेकिन वह तो चीजों के बारे में उसकी काल में स्थान बदलती हुई गति से हमारी सतही सत्ता का अनुभव है। यह दृष्टि अपने-आप सतही, खंडित और परिसीमित है,

समग्र नहीं, वस्तुओं के आंतरिक भाव में डुबकी लगानेवाली नहीं। वस्तुतः हम देखते हैं कि यह जरूरी नहीं है कि कर्म बंधन या परिसीमन करे बशर्ते कि हम इस क्षणगत ज्ञान से निकल कर शाश्वत के ज्ञान की स्थिति में चले जायें जो सच्ची चेतना का धर्म है। कर्म मुक्त आदमी को न तो बांधता है न सीमित करता है, कर्म शाश्वत को न तो बांधता है न सीमित करता है; बल्कि हम और आगे जाकर कह सकते हैं कि कर्म हमारी अपनी सच्ची सत्ता को बिलकुल नहीं बांधता या सीमित करता। कर्म का हमारे अंदर के आध्यात्मिक पुरुष या चैत्य सत्ता पर ऐसा कोई असर नहीं होता। वह केवल सतह पर बने व्यक्तित्व को ही बांधता या सीमित करता है। यह व्यक्तित्व हमारी आत्म-सत्ता की एक अल्पकालीन अभिव्यक्ति है, उसका एक बदलता हुआ रूप है, उसीके बलपर जीने में समर्थ है और अपने पदार्थ और अस्तित्व की रक्षा के लिये उसीपर आश्रित है—यह अल्पकालीन है पर अवास्तविक नहीं। हमारे विचार और कर्म हमारी अपनी अभिव्यक्ति के साधन हैं और चूंकि अभिव्यक्ति अपूर्ण और विकसनशील है, चूंकि वह काल में हमारी स्वाभाविक सत्ता का विकास है अतः विचार और कर्म विकसित होने में, बदलने में, अपनी सीमाओं को बदलने और बढ़ाने में उसकी सहायता करते हैं, साथ-ही-साथ सीमाएं बनाये रखने में भी सहायता करते हैं, उस अर्थ में सीमित करते और बांधते हैं। वे अपने-आपमें आत्म-प्रकाशन के अपूर्ण प्रकार हैं लेकिन जब हम अपने अंदर सच्ची आत्मा और पुरुष में लौटते हैं तो कर्म और प्रत्यक्ष-दर्शन की सीमाओं से न कोई परिसीमन रहता है न बंधन। दोनों का उद्गम आत्मा की चेतना की अभिव्यक्तियों और उसकी शक्ति की अभिव्यक्तियों के रूप में होता है जब कि वह अपनी प्राकृत सत्ता के स्वतंत्र आत्म-निर्देशन के लिये, आत्मोन्मीलन के लिये, जो स्वयं असीम है, ऐसी किसी चीज की कालिक संभूति के लिये क्रिया करती है। परिसीमन, जो विकसनशील आत्म-निर्देशन के लिये आवश्यक परिस्थिति है, अगर वह सत्ता के सारतत्त्व या उसकी समग्रता को बदले तो वह आत्मा का निराकरण या आत्मा से, सद्वस्तु से स्खलन और इस कारण स्वयं अवास्तविक हो सकता है। वह यदि किसी अनात्म-शक्ति से निकलनेवाले विजातीय अध्यारोप द्वारा हमारे जागतिक जीवन के अंतरतम साक्षी और स्रष्टा-चेतना को आच्छन्न कर देता हो या किसी ऐसी वस्तु का निर्माण करता है जो सत्-पुरुष की आत्म-चेतना या संभूति-इच्छा के विरुद्ध हो तो यह आत्मा के लिये बंधन अतः अवैध होगा। परंतु सत्ता का सार समस्त कर्म और रूपायण में एक-सा रहता है और स्वतंत्रता से स्वीकार की गयी सीमाएं सत्ता की समग्रता को क्षीण नहीं करतीं। वे सीमाएं बाहर से आरोपित नहीं, अपने-आप स्वीकार की गयीं और स्वारोपित हैं। वे काल की गति में हमारी समग्रता की अभिव्यक्ति के साधन हैं; वस्तुओं की ऐसी व्यवस्था हैं जिसे हमारी आंतरिक आध्यात्मिक सत्ता ने बाहरी प्राकृत-सत्ता पर

आरोपित किया है, सदा स्वतंत्र आत्मा पर आरोपित बंधन नहीं हैं। अतः प्रत्यक्ष दर्शन और कर्म के परिसीमन से यह परिणाम निकालने की जरूरत नहीं कि गति अवास्तविक है या आत्मा की अभिव्यक्ति, रूपायण या आत्म-सृजन अवास्तविक है। यह वास्तविकता की कालिक व्यवस्था है, फिर भी है सद्वस्तु की वास्तविकता, कुछ और नहीं। जो कुछ क्रियाशीलता में, गति में, कर्म में, सृजन में है ब्रह्म है, संभवन सत्ता की एक गति है। काल शाश्वत की अभिव्यक्ति है। सब कुछ एक सत् है, एक चेतना है, अनंत बहुलता में भी एक है और उसका परात्पर सद्वस्तु और अवास्तविक वैश्व माया के विरोधों में द्विभाजन करने की जरूरत नहीं।

शंकर के दर्शन में हम एक संघर्ष की उपस्थिति का अनुभव करते हैं, एक ऐसा विरोध जिसे उसकी शक्तिशाली बुद्धि ने पूरी शक्ति के साथ व्यक्त किया है और अंतिम रूप से हल करने की जगह कौशल के साथ व्यवस्थित किया है—निरपेक्ष परात्पर और अंतरतम सद्वस्तु के बारे में तीव्र रूप से अभिज्ञ अंतर्भास और एक सबल मानसिक बुद्धि जो जगत् को तीक्ष्ण और प्रबल युक्ति-संगत बुद्धि से देखती है, इन दोनों के बीच का संघर्ष। मनीषी की बुद्धि प्रपंचात्मक जगत् को बुद्धि के दृष्टिकोण से देखती है। वहां तर्क-बुद्धि ही निर्णायक और अधिकारी है और कोई अतिबौद्धिक प्रमाण उसके विरुद्ध नहीं ठहर सकता। लेकिन प्रपंचात्मक जगत् के पीछे एक परात्पर सद्वस्तु है जिसे केवल अंतर्भास ही देख सकता है। वहां तर्क-बुद्धि, कम-से-कम सांत, विभाजनकारी, सीमित बुद्धि अंतर्भासात्मक अनुभव के आगे नहीं ठहर सकती, वह दोनों का संबंध भी नहीं जोड़ सकती और इसलिये वह विश्व के रहस्य को हल भी नहीं कर सकती। तर्क-बुद्धि को प्रपंचात्मक सत्ता की वास्तविकता को स्वीकारना पड़ता है, उसके सत्यों को वैध मानना पड़ता है लेकिन वे केवल उसी प्रपंचात्मक सत्ता में वैध होते हैं। यह प्रपंचात्मक सत्ता वास्तविक है क्योंकि वह शाश्वत सत्ता, सद्वस्तु का कालिक आभास है। लेकिन वह स्वयं वह सद्वस्तु नहीं है और जब हम इस आभास से सद्वस्तु की ओर जाते हैं तो भी उसका अस्तित्व रहता है लेकिन वह हमारी चेतना के लिये प्रामाणिक नहीं रहता अतः वह अवास्तविक होता है। शंकर इस प्रत्याख्यान को, इस विरोध को ले लेते हैं जो हमारी मानसिक चेतना के लिये तब सामान्य होता है जब वह दोनों पक्षों के अस्तित्व के बारे में अभिज्ञ होती और उनके बीच में खड़ी होती है। वे उसका हल करते हैं तर्क-बुद्धि को इस रूप में बाधित करके कि वह अपनी सीमाओं को जाने जिनमें, उसके अपने विश्व-प्रदेश के अन्तर्गत उसका अक्षुण्ण प्रभुत्व उसके लिये बना हुआ है और परात्पर सद्वस्तु के बारे में अंतरात्मा के अंतर्भास के मामले में चुप रहे, चुपचाप उसे मान ले और माया द्वारा निर्मित और मन पर आरोपित सीमाओं से अपने बच निकलने का समर्थन ऐसे तर्क से करे जो अंत में सारे वैश्व प्रापंचिक और युक्ति-युक्त व्यावहारिक वस्तुओं के महल को ढा देता है। विश्व के

अस्तित्व की जिस व्याख्या से यह परिणाम लाया जाता है, वह यह प्रतीत होती है—अथवा हम उसे अपनी समझ में इस तरह अनूदित कर सकते हैं क्योंकि इस गहन और सूक्ष्म दर्शन के भिन्न-भिन्न प्रतिपादन हुए हैं—कि एक परात्पर है जो सदा स्वयंभू और अक्षर रहता है और एक जगत् है जो केवल आभासी और कालिक है। शाश्वत सद्वस्तु आभासी जगत् के संबंध में अपने-आपको आत्मा और ईश्वर के रूप में प्रकट करती है। ईश्वर अपनी प्रपंचात्मक सृजन-शक्ति, माया द्वारा इस जगत् का कालिक प्रपंच के रूप में सृजन करता है और शुद्ध सद्वस्तु में, अस्तित्व न रखनेवाली चीजों के आभास को माया हमारी मानसिक धारणात्मक और इन्द्रिय-बोधात्मक चेतना के माध्यम से अतिचेतन या शुद्ध रूप में आत्म-चेतन सद्वस्तु पर आरोपित करती है। ब्रह्म, सद्वस्तु प्रपंचात्मक जगत् में जीवित व्यक्ति की आत्मा के रूप में प्रकट होता है लेकिन जब व्यक्ति का व्यक्तित्व अंतर्भासी ज्ञान द्वारा विघटित होता है तो प्रपंचात्मक सत्ता आत्म-सत्ता में मुक्त हो जाती है; वह फिर माया के आधीन नहीं रहती, व्यक्तित्व की प्रतीति से मुक्ति पाकर सद्वस्तु में निर्वाण पा लेती है लेकिन जगत् ईश्वर की मायिक सृष्टि के रूप में आदि-अंतहीन बना रहता है।

यह एक ऐसी व्यवस्था है जो आध्यात्मिक अंतर्भास और तर्क बुद्धि तथा इन्द्रियों से प्राप्त सामग्री का एक-दूसरे के साथ संबंध जोड़ देती है और हमारे लिये उनके विरोध में से निकलने के लिये एक रास्ता खोल देती है, यह आध्यात्मिक और व्यावहारिक फल है लेकिन यह कोई समाधान नहीं है। यह विरोध को लुप्त नहीं करता। माया वास्तविक और अवास्तविक है। जगत् केवल भ्रम नहीं है क्योंकि उसका अस्तित्व है और वह काल में वास्तविक है परंतु अंततः परात्पर रूप से वह अवास्तविक सिद्ध होता है। इससे एक अस्पष्टता पैदा होती है जो अपने परे जाती है और उस सबका स्पर्श करती है जो शुद्ध स्वयंभू सत्ता नहीं है। इस तरह ईश्वर, यद्यपि वह माया के भ्रम में नहीं है और माया का स्रष्टा है, फिर भी वह ब्रह्म का एक आभास ही मालूम होता है, चरम सद्वस्तु नहीं। वह केवल कालिक जगत् के संबंध में वास्तविक है जिसका वह सृजन करता है। व्यक्तिगत आत्मा का भी वही अस्पष्ट लक्षण है। अगर माया अपनी क्रियाओं से एकदम हाथ खींच ले तो ईश्वर, जगत् और व्यक्ति बिलकुल न रहेंगे लेकिन माया शाश्वत है, ईश्वर और जगत् काल में शाश्वत हैं, व्यक्ति तबतक टिका रहता है जबतक वह ज्ञान द्वारा अपने-आपको समाप्त नहीं कर देता। इन आधारों पर हमारे विचार को एक अनिर्वचनीय अतिबौद्धिक रहस्य की धारणा में शरण लेनी पड़ती है जिसका समाधान बुद्धि के पास नहीं है। लेकिन इस अस्पष्टता के सामने, वस्तुओं के आरंभ और विचार की प्रक्रिया के अंत में असमाधेय रहस्य को स्वीकार कर लेने से हमें यह संदेह होने लगता है कि बीच की कोई कड़ी गुम है। ईश्वर अपने-आपमें माया का प्रपंच नहीं

है। वह वास्तविक है, तब उसे परात्पर के सत्य की अभिव्यक्ति होना चाहिये या उसे स्वयं परात्पर होना चाहिये जो ऐसे विश्व के साथ व्यवहार कर रहा है जो स्वयं उसीकी सत्ता में अभिव्यक्त हुआ है। अगर जगत् जरा भी सच्चा है तो उसे भी परात्पर के किसी सत्य की अभिव्यक्ति होना चाहिये क्योंकि केवल उसी में कोई वास्तविकता हो सकती है। अगर व्यक्ति में आत्मान्वेषण की और परात्पर शाश्वतता में प्रवेश की शक्ति है और उसकी मुक्ति का इतना अधिक महत्त्व है तो वह इस कारण हो सकता है कि वह भी परात्पर की वास्तविकता है, उसे व्यक्तिगत रूप से अपनी खोज करनी है क्योंकि उसके व्यक्तित्व में भी उसका अपना कुछ सत्य परात्पर में है जो उससे छिपा हुआ है, जिसे उसे खोज निकालना होगा। यह आत्मा का और जगत् का अज्ञान है जिसे जीतना है, यह किसी भ्रम या व्यक्तित्व और जगत्-अस्तित्व की कल्पना नहीं है।

यह स्पष्ट हो जाता है कि जैसे परात्पर अतिबौद्धिक है और केवल अंतर्भासात्मक अनुभव और उपलब्धि से ही पकड़ में आ सकता है उसी तरह विश्व का रहस्य भी अतिबौद्धिक है। उसे ऐसा होना चाहिये क्योंकि वह परात्पर सद्वस्तु का आभास है और अगर वह कुछ और होता तो बौद्धिक तर्क द्वारा असमाधेय न होता। लेकिन अगर ऐसा है तो हमें खाई को पाटने और रहस्य में प्रवेश करने के लिये बुद्धि के परे जाना होगा। विरोध को हल किये बिना छोड़ देना अंतिम समाधान नहीं हो सकता। बौद्धिक तर्क ही ब्रह्म, आत्मा, ईश्वर, व्यष्टि-जीव, परम चेतना या अतिचेतना और मायिक जगत् चेतना की विरोधी या विभाजक धारणाओं की रचना करके एक प्रतीयमान विरोध को साकार करता और चिरस्थायी बनाता है। अगर केवल ब्रह्म का अस्तित्व है तो इन सबको ब्रह्म होना चाहिये और ब्रह्म-चेतना में इन धारणाओं के विभाजन को समाधानकारी आत्म-दृष्टि में गायब हो जाना चाहिये। लेकिन हम उनके सच्चे ऐक्यतक बौद्धिक तर्क के परे जाकर और आध्यात्मिक अनुभव द्वारा यह पता लगाकर ही पहुंच सकते हैं कि वे कहां मिलते और एक होते हैं और उनकी आभासी विषमता की आध्यात्मिक वास्तविकता क्या है। वस्तुतः ब्रह्म-चेतना में विषमताओं का अस्तित्व नहीं रह सकता। उन्हें हमारे ब्रह्म-चेतना में जाने के कारण एकता में मिलकर एक हो जाना चाहिये। बौद्धिक तर्क के विभाजन एक वास्तविकता के साथ मेल खा सकते हैं लेकिन वह होनी चाहिये बहुविध एकत्व की वास्तविकता। बुद्ध ने अपनी भेदन करती हुई तार्किक बुद्धि को अंतर्भासात्मक दृष्टि के साथ जगत् के उस रूप में लगाया जिसे हमारा मन और इन्द्रियां देखती हैं, और उसकी रचना के सिद्धांत और सभी रचनाओं से छुटकारे के मार्ग का पता लगाया लेकिन इससे आगे जाने से इंकार कर दिया। शंकर ने अगला कदम उठाया और अति-बौद्धिक सत्य को देखा जिसे बुद्ध ने यह कहकर पर्दे के पीछे रखा था कि वह चेतना की रचनाओं को रद्द करने के द्वारा प्राप्त हो सकता है परंतु वह तर्क-बुद्धि की खोज के क्षेत्र के परे है। शंकर ने

जगत् और शाश्वत सद्वस्तु के बीच खड़े होकर देखा कि जगत् का रहस्य अंततः अति-बौद्धिक है, वह हमारी बुद्धि के लिये धारणातीत या अनिर्वचनीय होना चाहिये लेकिन उन्होंने जगत् के उस रूप को भी प्रामाणिक माना जो बुद्धि और इन्द्रियों को दिखायी देता है अतः उन्हें एक अवास्तविक वास्तविकता की स्थापना करनी पड़ी क्योंकि उन्होंने इससे भी आगे का एक और कदम नहीं लिया। क्योंकि जगत् के वास्तविक सत्य को जानने के लिये, उसकी वास्तविकता को जानने के लिये उसे अतिबौद्धिक अभिज्ञता से देखना चाहिये, उस अतिचेतना की दृष्टि से देखना चाहिये जो जगत् के सत्य को बनाये रखती और उसका अतिक्रमण करती है और चूंकि उसका अतिक्रमण करती है इसलिये उसे उसके सत्य में जानती है, उस चेतना की दृष्टि द्वारा नहीं जो अतिचेतना के अंदर बनी रहती और जिसका वह अतिक्रमण करती है और इसलिये उसे नहीं जानती और जानती है तो केवल उसके आभास से। यह नहीं हो सकता कि उस स्वयंभू परम चेतना के लिये जगत् एक अबोधगम्य रहस्य है या यह उसके लिये एक भ्रम है जो पूरी तरह भ्रम भी नहीं है, एक वास्तविकता है जो साथ-ही-साथ अवास्तविक है। भगवान् के लिये विश्व के रहस्य का कोई दिव्य भाव होना चाहिये। उसमें वैश्व सत्ता का कोई ऐसा अर्थ या सत्य होना चाहिये जो उस सद्वस्तु के लिये प्रकाशमान है जो अपनी विश्वातीत फिर भी अंतर्व्यापी अतिचेतना द्वारा उसे धारण करती है।

यदि केवल सद्वस्तु का ही अस्तित्व है और सब कुछ सद्वस्तु है तो जगत् को भी सद्वस्तु से बाहर नहीं किया जा सकता, विश्व भी वास्तविक है। अगर वह अपने रूप और शक्तियों में उस सद्वस्तु को प्रकट नहीं करता जो वह है, अगर वह देश और काल में केवल स्थायी और फिर भी परिवर्तनशील गति मालूम होता है तो यह इसलिये नहीं कि वह अवास्तविक है, या वह तत् हर्गिज नहीं है बल्कि इसलिये कि वह काल में तत् की प्रगतिशील आत्माभिव्यक्ति है, एक अभिव्यक्ति, विकसनशील आत्मविकास है जिसे हमारी चेतना अभीतक उसकी समग्रता या मूल अर्थ में नहीं देख पाती है। इस अर्थ में हम कह सकते हैं कि वह तत् है भी और तत् नहीं भी है—क्योंकि वह समस्त सद्वस्तु को अपनी आत्माभिव्यक्ति के किसी रूप के द्वारा या रूपों के योगफल के द्वारा प्रकट नहीं करता, फिर भी उसके सभी रूप उसी सद्वस्तु के उपादान और सत्ता के रूप होते हैं। सभी सांत अपने आध्यात्मिक सारतत्त्व में वही 'अनंत' हैं और अगर हम पर्याप्त गहराई से उनके अंदर देखें तो वे अंतर्भास के आगे उसी 'अभिन्न' और उसी 'अनंत' को अभिव्यक्त करते हैं। वस्तुतः यह प्रतिपादित किया जाता है कि विश्व अभिव्यक्ति नहीं हो सकता क्योंकि सद्वस्तु को अभिव्यक्ति की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि वह अपने लिये सदा-सर्वदा अभिव्यक्त रहती है लेकिन समान रूप से यह भी कहा जा सकता है कि सद्वस्तु को आत्मभ्रम की या किसी तरह के भ्रम की जरूरत नहीं है, एक मायामय विश्व

बनाने की जरूरत नहीं है। निरपेक्ष को किसी चीज की जरूरत नहीं हो सकती फिर भी हो सकता है कि अपने-आपको कार्यान्वित करनेवाली परम शक्ति की ऐसी प्रेरणा हो जिसे टाला नहीं जा सकता, आत्म-सृजन की कोई अनिवार्यता हो जो निरपेक्ष की अपने-आपको काल में देखने की शक्ति से पैदा हुई हो—वह उसकी स्वाधीनता का दमन नहीं करती, उसके लिये बाध्यकारी नहीं है बल्कि उसकी आत्म-शक्ति की एक अभिव्यक्ति है, उसकी संभूत होने की इच्छा का परिणाम है। यह अनुल्लंघ्य प्रेरणा हमारे आगे सृजन की इच्छा के रूप में, आत्माभिव्यक्ति की इच्छा के रूप में अपने-आपको प्रदर्शित करती है लेकिन इसे ज्यादा अच्छी तरह इस रूप में प्रदर्शित किया जा सकता है कि यह निरपेक्ष की सत्ता की शक्ति है जो अपने-आपको क्रिया के अंतर्गत अपनी शक्ति के रूप में प्रदर्शित करती है। अगर निरपेक्ष शाश्वत कालातीतता में अपने लिये स्वयं-सिद्ध है तो वह काल की शाश्वत गति में अपने लिये आत्माभिव्यक्त भी हो सकता है। अगर विश्व केवल एक आभासी वास्तविकता है तो भी वह ब्रह्म की अभिव्यक्ति या आभास है। चूंकि सब कुछ ब्रह्म है अतः आभास और अभिव्यक्ति वही चीज होने चाहियें। उनकी अवास्तविकता का अभियोग निष्प्रयोजन धारणा है, निरर्थक है और अनावश्यक पेचीदगी पैदा करता है क्योंकि जिस किसी भेद की आवश्यकता है वह वस्तुतः पहले ही से काल और कालातीत शाश्वत की धारणा में और अभिव्यक्ति की धारणा में मौजूद है।

वह एक चीज जिसका वर्णन अवास्तविक वास्तविकता कहकर किया जा सकता है वह है पृथक्ता का व्यक्तिगत बोध और सांत की अनंत में स्वयंभू विषय के रूप में कल्पना। यह धारणा, यह बोध व्यावहारिक रूप से सतही व्यक्तित्व की क्रियाओं के लिये जरूरी हैं और प्रभावकारी हैं और अपने प्रभाव के नाते उचित सिद्ध होते हैं अतः वे उसकी सांत तर्क-बुद्धि और सांत अनुभव के लिये वास्तविक हैं। लेकिन एक बार हम सांत चेतना से तात्त्विक और अनंत की चेतना में पीछे हट जायें, आभासी में से सत्य पुरुष में हट जायें तो भी सांत या व्यक्ति का अस्तित्व बना रहता है परंतु रहता है अनंत की सत्ता और शक्ति और अभिव्यक्ति के रूप में; उसकी कोई स्वतंत्र या पृथक् वास्तविकता नहीं होती। व्यक्तिगत वास्तविकता के लिये व्यक्तिगत स्वतंत्रता और पूरी पृथक्ता की जरूरत नहीं है और न ही वे उसके उपादान हैं। दूसरी ओर, अभिव्यक्ति के इन सांत रूपों का गायब होना, स्पष्ट रूप से, समस्या का एक अंग है लेकिन जो अपने-आपमें उन्हें अवास्तविकता का दोषी नहीं ठहराता। यह गायब होना अभिव्यक्ति से केवल पीछे हटना हो सकता है। कालातीत की वैश्व अभिव्यक्ति कालक्रम में होती है अतः उसके रूप सतह पर अपने प्राकट्य में अल्पकालीन होंगे लेकिन वे अपनी अभिव्यक्ति की तात्त्विक शक्ति में शाश्वत हैं क्योंकि वे चीजों के सार में और जिस सारभूत चेतना से आते हैं उसमें निहित और शक्यता के रूप में सदा धारित रहते हैं। कालातीत चेतना

हमेशा उनकी स्थायी शक्यता को कालिक तथ्य के पदों में बदल सकती है। जगत् अवास्तविक होता यदि वह स्वयं और उसके रूप सत्ता के उपादान-रहित बिंब होते या चेतना की कल्पनाएं होते जिन्हें सद्वस्तु ने अपने सामने शुद्ध कल्पना के रूप में उपस्थित किया है और फिर वे सदा के लिये नष्ट हो जाते। लेकिन अगर अभिव्यक्ति या अभिव्यक्ति-शक्ति शाश्वत है, अगर सब कुछ ब्रह्म की, सद्वस्तु की सत्ता है तो यह अवास्तविकता या भ्रम, वस्तुओं का या उस विश्व का, जिसमें वे प्रकट होते हैं, आधारभूत लक्षण नहीं हो सकते।

वैश्व सत्ता के भ्रम या अवास्तविकता होने के अर्थ में माया का सिद्धांत जितनी कठिनाइयां हल करता है उनसे ज्यादा नयी पैदा कर देता है। वास्तव में वह सत्ता की समस्या हल नहीं करता बल्कि उसे हमेशा के लिये असमाधेय बना देता है। क्योंकि चाहे माया अवास्तविकता हो या अवास्तविक वास्तविकता, अंततः इस सिद्धांत में व्यर्थ बना देनेवाली विनाशकारी सरलता रहती है। स्वयं हम और यह विश्व शून्यत्व में खो जाते हैं या बस कुछ समय के लिये ऐसा सत्य बनाये रखते हैं जो कल्पना से कुछ ही बढ़कर है। माया के शुद्ध अवास्तविकता के सिद्धांत में समस्त अनुभूति, समस्त ज्ञान और साथ ही समस्त अज्ञान, जो ज्ञान हमें मुक्त करता है और उसी प्रमाण में जो अज्ञान हमें बांधता है, जगत् की स्वीकृति और जगत् की अस्वीकृति एक ही भ्रम के दो पक्ष हैं क्योंकि स्वीकार करने या इंकार करने के लिये कुछ है ही नहीं, स्वीकार करने या इंकार करनेवाला कोई नहीं है। सारे समय केवल अक्षर, अतिचेतन सद्वस्तु का अस्तित्व था, मुक्ति और बंधन केवल आभास थे, कोई वास्तविकता नहीं। जगत्-सत्ता के साथ सारा लगाव एक भ्रम है लेकिन मुक्ति के लिये पुकार भी भ्रम की एक अवस्था है। वह कुछ ऐसी चीज है जिसका सृजन माया में हुआ था, जो अपनी मुक्ति द्वारा माया में समाप्त हो जाती है लेकिन इस शून्यीकरण की विनाशकारी प्रगति को आध्यात्मिक मायावाद द्वारा निर्धारित सीमा पर रुकने के लिये बाधित नहीं किया जा सकता क्योंकि अगर विश्व में वैयक्तिक चेतना के सभी अनुभव भ्रम हैं तो इस बात का क्या भरोसा कि उसकी आध्यात्मिक अनुभूतियां भी भ्रम नहीं हैं जिनमें परम सत् के अंदर आत्मानुभव में तल्लीनता भी भ्रम नहीं है जिसे हमारे लिये पूर्ण वास्तविकता माना जाता है। क्योंकि, अगर विश्व असत्य है तो हमारी वैश्व चेतना की अनुभूति, वैश्व आत्मा, ब्रह्म की इन सब सत्ताओं के रूप में या सभी सत्ताओं की आत्मा के रूप में, सबके अंदर एकमेव और एकमेव के अंदर सबके रूप में अनुभूति की कोई सुदृढ़ नींव नहीं रह जाती क्योंकि वह अपने किसी पाद पर, भ्रम पर, माया की रचना पर ही टिका है। उस पाद को, विश्व-पाद को ढह जाना होता है क्योंकि वे सब सत्ताएं, जिन्हें हमने ब्रह्म-रूप में देखा, भ्रम थीं, तब फिर उस दूसरे पाद, शुद्ध आत्मा, नीरव, स्थिर या निरपेक्ष सद्वस्तु की हमारी अनुभूति के बारे में ही क्या

भरोसा क्योंकि वह भी हमारे पास मोह, विभ्रम में ढले मन और भ्रम द्वारा बनाये गये शरीर के रूप में आती है? अभिभूत करनेवाली स्वतः-सिद्ध विश्वसनीयता, उपलब्धि या अनुभूति में पूर्ण प्रामाणिकता एकमात्र वास्तविकता या एकमात्र अंतिमता का अकाट्य प्रमाण नहीं है: क्योंकि सर्व-व्यापक दिव्य पुरुष, वास्तविक जगत् के स्वामी के अनुभव जैसी अन्य आध्यात्मिक अनुभूतियों में भी उसी विश्वसनीय प्रामाणिकता और अंतिमता के लक्षण होते हैं। जो बुद्धि एक बार अन्य सभी चीजों की अवास्तविकता पर विश्वास करने की हदतक पहुंच गयी है उसके लिये एक और कदम आगे बढ़ाकर आत्मा और समस्त सत् की वास्तविकता से इंकार करना संभव है। बौद्धों ने यह अंतिम कदम उठाया और आत्मा की वास्तविकता से इस आधार पर इंकार किया कि वह भी अन्य चीजों के समान ही मन की रचना है। उन्होंने न केवल भगवान् बल्कि शाश्वत आत्मा और निर्गुण ब्रह्म को भी तस्वीर में से निकाल दिया।

मायावाद का कट्टर सिद्धांत हमारे जीवन की किसी समस्या का समाधान नहीं करता। वह केवल व्यक्ति को बाहर निकलने का रास्ता दिखाने के लिये समस्या को काटकर फेंक देता है। इसके चरम रूप और परिणाम में हमारी सत्ता और उसके कर्म शून्य और अनुमोदनहीन हो जाते हैं। हमारी सत्ता के अनुभव, अभीप्सा और प्रयास अपनी सार्थकता खो देते हैं। एक अनिर्वचनीय और संबंधरहित सत्य और उसकी ओर उन्मुख होने को छोड़कर जो कुछ भी है वह सब सत्ता का भ्रम हो जाता है, एक विश्वव्यापी भ्रम का अंग और अपने-आप भी भ्रम। तब ईश्वर, हम और विश्व माया की कपोल-कल्पनाएं बन जाते हैं क्योंकि ईश्वर माया के अंदर ब्रह्म का प्रतिबिंब ही तो है और स्वयं हम एक भ्रमात्मक व्यक्तित्व में ब्रह्म के प्रतिबिंब भर हैं। जगत् ब्रह्म की अनिर्वचनीय स्वयंभू सत्ता पर एक अध्यारोप मात्र है। अगर भ्रम के बीच भी सत्ता की कुछ वास्तविकता को स्वीकार कर लिया जाये, उस अनुभव और ज्ञान की कुछ प्रामाणिकता मानी जाये जिसके द्वारा हम आत्मा में बढ़ते हैं तो यह शून्य कम उग्र हो जाता है। लेकिन यह तभी हो सकता है जब कालिक की कोई प्रामाणिक वास्तविकता हो और उसमें हुए अनुभव वास्तव में वैध हों और तब उस हालत में हम जिसके सामने हैं वह कोई भ्रम नहीं है जो अवास्तविक को वास्तविक मान रहा है बल्कि एक अज्ञान है जो वास्तविक को गलत समझ रहा है। अन्यथा अगर वे सत्ताएं, ब्रह्म जिनकी आत्मा है, वे भ्रमात्मक हैं, तो उसकी आत्मता प्रामाणिक नहीं है, वह भ्रम का भाग है, आत्मा की अनुभूति भी भ्रम है; सोऽहं की अनुभूति एक अज्ञानभरी धारणा से दूषित हो जाती है क्योंकि अहं तो है ही नहीं केवल तत् है। ब्रह्मास्मि के अनुभव में दोहरा अज्ञान है क्योंकि वह एक चिन्मय शाश्वत को, एक विश्व-प्रभु को, एक वैश्व सत्ता को मानता है लेकिन अगर विश्व में कोई वास्तविकता नहीं है तो ऐसी कोई चीज संभव ही नहीं है, जीवन का सच्चा समाधान किसी ऐसे सत्य पर ही खड़ा हो सकता है जो हमारे

अस्तित्व और जगत् के अस्तित्व की व्याख्या करता हो, उनके सत्य की, उनके संबंध के सत्य की संगति हर चीज के उद्गम-स्वरूप जो भी परात्पर सद्वस्तु हो उसके साथ बैठाता हो, लेकिन इससे यह ध्वनित होता है कि व्यक्ति और विश्व में कुछ वास्तविकता है, एक सत् और समस्त अस्तित्वों के बीच, सापेक्ष अनुभव और निरपेक्ष के बीच कोई सच्चा संबंध है।

मायावाद संसार की समस्या की गांठ को सुलझाता नहीं, उसे काट देता है। यह समाधान नहीं पलायन है । संभूति के इस जगत् में देहधारी सत्ता के लिये आत्मा का पलायन पर्याप्त विजय नहीं है। यह प्रकृति से अलगाव पैदा करता है, हमारी प्रकृति की मुक्ति और परिपूर्णता नहीं लाता। यह अंतिम परिणाम केवल एक तत्त्व को संतुष्ट करता है, सत्ता के केवल एक अंतर्वेग को उदात्त करता है और बाकी सबको माया की अवास्तविक वास्तविकता की द्वाभा में अवहेलना से नष्ट होने के लिये छोड़ देता है। जैसे भौतिक विज्ञान में, उसी तरह तत्त्व-दार्शनिक विचार में वह व्यापक और अंतिम समाधान ही सबसे अच्छा होगा जो सबको अपने अंतर्गत करता और अपने हिसाब में लेता है ताकि अनुभव का प्रत्येक सत्य समग्र में अपना स्थान पा ले; संभवतः वह ज्ञान उच्चतम ज्ञान होगा जो समस्त ज्ञान की सार्थकता को प्रकाशित करता, पूर्ण और सुसमंजस बनाता हो, हमारे अज्ञान और भ्रम का उपचार करता हो, उनकी व्याख्या करता हुआ उनके आधारभूत, हम यहांतक कह सकते हैं कि उन्हें उचित सिद्ध करनेवाले कारण को भी खोज निकालता हो। यही वह चरम अनुभव है जो सारे अनुभव को एक परम और सर्व-समन्वयकारी एकता के सत्य में इकट्ठा करता है। मायावाद विलोपन द्वारा एकीकरण करता है। वह उस एक परम विलयन के सिवा सभी ज्ञान और अनुभव को वास्तविकता और सार्थकता से वंचित कर देता है।

लेकिन यह विवाद शुद्ध बुद्धि के क्षेत्र की चीज है और इस तरह के सत्यों की अंतिम परख तर्क-बुद्धि से नहीं बल्कि आध्यात्मिक प्रकाश से होती है जिसे प्रमाणित करता है आत्मा का स्थायी तथ्य। अकेली एक ही निर्णायक आध्यात्मिक अनुभूति तार्किक बुद्धि द्वारा खड़े किये गये तर्कों और निष्कर्षों के पूरे भवन को ढा सकती है। यहां मायावाद बहुत ठोस भूमि के आधार पर खड़ा है; क्योंकि, यद्यपि वह अपने-आप एक मानसिक निरूपण से बढ़कर कुछ नहीं है लेकिन वह जिस अनुभूति को दर्शन के रूप में सूत्रबद्ध करता है वह बहुत अधिक सशक्त और अंतिम प्रतीत होनेवाली आध्यात्मिक उपलब्धि है। जब विचार निस्तब्ध हो जाता है, मन अपनी रचनाओं से हाथ खींच लेता है, हम शुद्ध आत्म-स्थिति में चले जाते हैं जो वैयक्तिकता के समस्त भाव से रहित, समस्त वैश्व अंतर्वस्तुओं से रिक्त होती है, तब वह अनुभव हमारे ऊपर सद्वस्तु की ओर जागृति की महान् शक्ति के साथ आता है। उस समय यदि अध्यात्म-भावापन्न मन व्यष्टि और विश्व पर नजर डालता

है तो संभव है कि उसे वे भ्रम, स्वयंभू की एकमात्र वास्तविकता पर मिथ्या रूप से अध्यारोपित नाम, रूप और गतियों का आयोजन मालूम हों। या आत्मा का भाव भी अपर्याप्त हो जाता है; ज्ञान और अज्ञान दोनों शुद्ध चेतना में गायब हो जाते हैं और चेतना शुद्ध अतिचेतन सत् की समाधि में डुबकी लगा लेती है। या सत् भी समाप्त हो जाता है, यह उसके लिये बहुत सीमित करनेवाला नाम है जो एकमात्र रूप से हमेशा के लिये जीता है; तब केवल रहता है एक कालातीत शाश्वत, देशातीत अनंत, निरपेक्ष की पूर्णता, नाम-रहित शांति, अभिभूत करनेवाला एकमात्र विषयहीन आनंद। निश्चय ही इस अनुभूति के प्रामाणिक होने के बारे में कोई संदेह नहीं है, यह अपने-आपमें पूर्ण है। जिस अभिभूत करनेवाली निर्णायक निश्चयता के साथ—*एकात्म्यप्रत्ययसारम्*—यह अनुभूति अध्यात्म-साधक की चेतना को पकड़ लेती है उससे इंकार नहीं किया जा सकता। लेकिन फिर भी समस्त आध्यात्मिक अनुभव अनंत का अनुभव है और वह विविध मार्ग लेता है और उनमें से कुछ—केवल यही नहीं—भगवान् और निरपेक्ष के इतने नजदीक हैं, उनकी उपस्थिति की वास्तविकता से इतने अधिक भरे हुए हैं या जो कुछ उनसे निचले स्तर का हो उससे मुक्ति की शांति और अनिर्वचनीय शांति से इतने भरपूर रहते हैं कि वे अपने साथ अभिभूत करनेवाली अंतिम, निर्णायक निश्चयात्मकता का भाव लिये रहते हैं। परम सद्वस्तुतक पहुंचने के सैंकड़ों रास्ते हैं और अपनाये गये मार्ग के स्वरूप के अनुसार ही उस चरम अनुभूति का स्वरूप होगा जिसके द्वारा मनुष्य उस तत् तक पहुंचेगा जो अनिर्वचनीय है, जिसके बारे में मन को कोई विवरण नहीं दिया जा सकता और न जिसे वाणी द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है। इन सब निश्चयात्मक पराकाष्ठाओं को उस एक 'अंतिम' का उपान्तिम माना जा सकता है। ये वे सीढ़ियां हैं जिनसे होकर अंतरात्मा मन की सीमाओं को लांघ कर निरपेक्ष में जा पहुंचती है। तो क्या शुद्ध अचल स्वयंभू में चले जाने की उपलब्धि या व्यक्ति या विश्व का यह निर्वाण उपान्त्यों में से एक है या वह अपने-आप अंतिम और संपूर्ण उपलब्धि है जो हर यात्रा के अंत में है और सभी अपने से कम अनुभूतियों का अतिक्रमण करती और उन्हें रद्द कर देती है? उसका दावा है कि वह हर अन्य ज्ञान के पीछे स्थित है, उसका अतिक्रमण करती, उसे रद्द और निरस्त कर देती है। अगर वास्तव में ऐसा है तब उसकी अंतिमता को निश्चायक मान लेना होगा। लेकिन इस दावे के विरोध में यह दावा किया जाता है कि एक महत्तर नेति या महत्तर इति के द्वारा और भी आगे यात्रा करना संभव है—आत्मा का असत् में निर्वाण संभव है अथवा हम वैश्व चेतना की अनुभूति और एक सत् में जगत्-चेतना के निर्वाण की अनुभूति, इस दोहरी अनुभूति में से गुजर कर एक महत्तर दिव्य मिलन और ऐक्य में पहुंच सकते हैं जो इन दोनों उपलब्धियों को अपनी बृहत् समग्र सद्वस्तु में धारण किये हुए है। कहा जाता है कि द्वैत और अद्वैत के परे तत्

है जिसमें दोनों एक साथ धारित हैं और अपने से परे के सत्य में अपना सत्य पा लेते हैं। एक ऐसा पूर्णता लानेवाला अनुभव जो सभी संभव लेकिन अपने से कम अनुभवों का अतिक्रमण और निष्कासन करता हुआ आगे बढ़ता है, निरपेक्ष की ओर एक कदम के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। एक ऐसा परम अनुभव जो सभी आध्यात्मिक अनुभवों के सत्य को प्रतिष्ठित और समाविष्ट करता है, हर एक को उसका अपना परम पद प्रदान करता है, समस्त ज्ञान और अनुभव को एक परम सद्वस्तु में पूर्ण करता है। हो सकता है कि वह और भी आगे का एक कदम हो जो सभी वस्तुओं का विशालतम आलोककारी और रूपांतरकारी सत्य और साथ ही उच्चतम अनंत परात्परता भी हो। परम सद्वस्तु-स्वरूप ब्रह्म वह है जिसे जानने से सब कुछ ज्ञात हो जाता है (यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति) लेकिन मायावादी समाधान में वह ऐसा तत् है जिसे जान लेने पर सब कुछ अवास्तविक और अबोध्य रहस्य हो जाता है। इस अन्य अनुभव में सद्वस्तु के ज्ञात होने पर सब कुछ अपना सच्चा अर्थ पा लेता है, शाश्वत और निरपेक्ष के संबंध में अपना सत्य पा लेता है।

सभी सत्य, वे भी जो संघर्षरत मालूम होते हैं, उन सबकी प्रामाणिकता होती है लेकिन उन्हें किसी विशालतम सत्य में समाधान पाने की आवश्यकता होती है जो उन्हें अपने अंदर ले लेता है। सभी दर्शनों का अपना मूल्य है—और कुछ नहीं तो इस कारण कि वे आत्मा और विश्व को आध्यात्म सत्ता की बहुविध अभिव्यक्ति के अनुभव के विशेष दृष्टिकोण से देखते हैं और ऐसा करते समय किसी ऐसी चीज पर प्रकाश डालते हैं जिसे अनंत में जानना जरूरी है। सभी आध्यात्मिक अनुभूतियां सच्ची हैं परंतु वे किसी उच्चतम और अधिक-से-अधिक विस्तृत वास्तविकता की ओर इशारा करती हैं जो उनके सत्य को स्वीकार करती और उसका अतिक्रमण करती है। हम कह सकते हैं कि यह सभी सत्यों और अनुभूतियों की सापेक्षता का चिह्न है क्योंकि दोनों ही ज्ञाता और अनुभव करनेवाले मन तथा सत्ता की अंतर्दृष्टि और बहिर्दृष्टि के अनुसार अलग-अलग होते हैं। कहते हैं कि हर एक आदमी का अपने-अपने स्वभाव के अनुसार अपना धर्म होता है। इसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि हर एक आदमी का अपना दर्शन होता है, देखने की अपनी दृष्टि होती है, जीवन का अपना अनुभव होता है, यद्यपि कुछ ही लोग उसे रूप दे सकते हैं। लेकिन एक और दृष्टि-बिंदु से यह विभिन्नता अनंत के विभिन्न पक्षों की अनंतता को प्रमाणित करती है। हर एक एकांगी झलक पाता है या एक या अधिक पक्षों की पूरी झांकी पाता है या अपने मानसिक या आध्यात्मिक अनुभव में उससे संपर्क करता या उसमें प्रवेश करता है। एक अमुक अवस्था में ये सब दृष्टिकोण मन के लिये अपनी निश्चितता एक विशाल उदारता या जटिल सहनशील अनिश्चिति में खोने लगते हैं या उसमें से और सब झड़ सकते हैं

और अपना स्थान परम सत्य या एकमात्र चित्ताकर्षक अनुभूति को दे देते हैं। तब यह संभावना रहती है कि उसने जो कुछ देखा, सोचा है या जिसे उसने अपना या विश्व का अंग माना है उस सबको अवास्तविक अनुभव करने लगे। उसके लिये यह 'सर्व' एक वैश्व अवास्तविकता या बहुविध खंडित वास्तविकता बन जाता है जिसमें एकीकरण का कोई तत्त्व नहीं होता। जब वह ऐसे चरम अनुभव की नेतिपरक शुद्धता में प्रवेश करता है तो उससे सब कुछ झड़ जाता है और रह जाता है बस निश्चल नीरव निरपेक्ष। लेकिन चेतना से और आगे जाने के लिये कहा जा सकता है और नयी आध्यात्मिक दृष्टि के प्रकाश में उस सबको देखने के लिये कहा जा सकता है जिसे वह पीछे छोड़ आयी है, वह निरपेक्ष के सत्य में सभी चीजों के सत्य को फिर से प्राप्त कर सकती है। वह तत् की एक दृष्टि में—दोनों ही जिसकी आत्माभिव्यक्तियां हैं—निर्वाण की नेति और वैश्व चेतना की इति का समाधान कर सकती है। मन से अधिमन के ज्ञान की ओर जाते हुए यह बहुविध ऐक्य एक महत्त्वपूर्ण अनुभव है। सारी अभिव्यक्ति एक अभिन्न और महान् सामंजस्य का रूप धारण कर लेती है जो अपनी चरम पूर्णतातक तब पहुंचती है जब अंतरात्मा अधिमानस और अतिमानस के बीच की सीमा-रेखा पर पहुंचकर समग्र दृष्टि से जीवन को मुड़कर देखती है।

यह कम-से-कम एक ऐसी संभावना है जिसकी हमें छान-बीन करनी चाहिये और वस्तुओं के इस दृष्टिकोण को उसके अंतिम परिणामतक ले जाना चाहिये। सत्ता की पहेली की व्याख्या के रूप में महत् विश्व-भ्रम की संभावना पर विचार करना जरूरी था क्योंकि चीजों के बारे में यह दृष्टि और अनुभूति सबल रूप से मन के आरोहण के सर्पिल चक्र के अंत में अपने-आपको तब प्रस्तुत करती है जब वह टूटने या समाप्त होने के बिंदु पर पहुंचता है। लेकिन एक बार जब यह निश्चित हो गया कि वह अंतिम सत्य के लिये बारीकी और सचाई से की गयी जांच का अवश्यंभावी अंत नहीं है तो हम उसे एक ओर रख सकते हैं या उसकी ओर तभी देख सकते हैं जब विचार और तर्क के अधिक नमनशील मार्ग की किसी दिशा के संबंध में जरूरत पड़े। मायावादी समाधान को छोड़कर जो बाकी रहता है अभी हमारी दृष्टि उसी समस्या पर एकाग्र रह सकती है—वह है ज्ञान और अज्ञान की समस्या।

सब कुछ इस प्रश्न पर निर्भर है कि 'सद्वस्तु क्या है' ? हमारी ज्ञानात्मक चेतना सीमित, अज्ञानी और सांत है। वास्तविकता के बारे में हमारी धारणाएं इस सीमित चेतना में जीवन से संपर्क करने की हमारी विधि पर निर्भर हैं और हो सकता है कि वह आद्या और अंतिम चेतना जिस तरह देखती है उससे बहुत भिन्न हों। सारभूत सद्वस्तु, आभासी वास्तविकता जो उसपर आधारित रहती है और उसमें से उठती है और दोनों की सीमित और प्रायः भटकानेवाली अनुभूति या धारणा जो हमारे ऐन्द्रिय अनुभव तथा तर्क-बुद्धि से पैदा होती है—इनमें भेद करना जरूरी है। हमारी

इन्द्रियों के लिये धरती सपाट है और सबसे अधिक तात्कालिक और व्यावहारिक प्रयोजनों के लिये, एक सीमातक, हमें ऐन्द्रिय वास्तविकता का ही अनुसरण करना चाहिये और इस सपाटपन के साथ ऐसे व्यवहार करना चाहिये मानों वह एक तथ्य हो। लेकिन सच्ची तथ्यगत वास्तविकता में धरती का सपाटपन अवास्तविक है और वस्तुओं में तथ्यगत वास्तविकता के सत्य की खोज करनेवाले भौतिक विज्ञान को यूं व्यवहार करना पड़ता है कि वह लगभग गोल है। ब्योरे की बहुत-सी चीजों में विज्ञान को दृश्य वस्तुओं के वास्तविक सत्य के बारे में इन्द्रियों की साक्षी का खंडन करना पड़ता है लेकिन फिर भी हमें इन्द्रियों के दिये हुए ढांचे को स्वीकार करना पड़ता है क्योंकि वस्तुओं के साथ वे जो व्यावहारिक संबंध हमारे ऊपर आरोपित करती हैं उनकी वास्तविकता के प्रभाव के रूप में प्रामाणिकता है और उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। हमारी तर्क-बुद्धि इन्द्रियों पर आश्रित होते हुए और उनका अतिक्रमण करते हुए वास्तविकता और अवास्तविकता के बारे में अपने ही माप-दंड या धारणाएं बनाती है, लेकिन अवलोकन करनेवाली तार्किक बुद्धि के दृष्टिकोण के अनुसार इन माप-दंडों में भेद होता है। भौतिक वैज्ञानिक, जो आभासी जगत् में खोज कर रहा हो, वह विषयगत और आभासी वास्तविकता और उसकी प्रक्रियाओं के आधार पर नियम और मानक खड़े करता है। हो सकता है कि उसकी दृष्टि में मन जड़-तत्त्व का आत्मनिष्ठ परिणाम लगे और आत्मा तथा पुरुष अवास्तविक लगें। बहरहाल उसे यूं व्यवहार करना होता है मानों केवल जड़ और ऊर्जा का ही अस्तित्व है और मन एक ऐसी स्वाधीन भौतिक वास्तविकता का, जिसपर मानसिक प्रक्रियाओं[1] का या वैश्व बुद्धि की उपस्थिति या हस्तक्षेप का प्रभाव नहीं होता, अवलोकन भर करता है। मनोवैज्ञानिक स्वतंत्र रूप से मानसिक चेतना और मानसिक निश्चेतना में खोज करता हुआ, वास्तविकताओं के एक और क्षेत्र का पता लगा लेता है जो अपने स्वरूप में आत्मनिष्ठ है, जिसके अपने नियम और अपनी प्रक्रियाएं हैं। उसे ऐसा लग सकता है कि मन वास्तविक की चाबी है, जड़ केवल मन के लिये एक क्षेत्र है और मन से भिन्न आत्मा कोई अवास्तविक वस्तु है। लेकिन इससे आगे भी खोज चलती है जो आत्मा और पुरुष के सत्य को ऊपर लाती है और वास्तविक के बारे में एक ज्यादा बड़ी व्यवस्था की स्थापना करती है जिसमें हमारे आत्मनिष्ठ मन की वास्तविकताओं और वस्तुनिष्ठ भौतिक वास्तविकताओं, दोनों के बारे में हमारी दृष्टि पलट जाती है और इस कारण वे हमें आभासी, गौण, आत्मा के सत्य और पुरुष की वास्तविकता पर निर्भर मालूम होती हैं। वस्तुओं की इस ज्यादा गहरी खोज में मन और जड़ पदार्थ वास्तविक की निम्नतर कोटि का रूप धारण करने लगते हैं और आसानी से अवास्तविक मालूम हो सकते हैं।

[1] यह स्थिति सापेक्षता के सिद्धांत के कारण हिल गयी है लेकिन वैज्ञानिक तथ्य के परीक्षण और समर्थन के लिये इसे व्यावहारिक रूप से बना रहना चाहिये।

जो बुद्धि सांत चीजों के साथ व्यवहार करने की अभ्यस्त है वही ऐसे बहिष्कार करती है। वह समग्र को खंडों में काटती और समग्र के किसी एक खंड को इस तरह ले सकती है मानों वह पूर्ण वास्तविकता हो। यह उसके कार्य के लिये जरूरी है क्योंकि उसका काम है सांत के साथ सांत रूप में व्यवहार करना। हमें व्यावहारिक प्रयोजनों के लिये और सांत के साथ बुद्धि के व्यवहार के लिये उसके दिये हुए ढांचे को स्वीकार करना चाहिये क्योंकि वह वास्तविकता के प्रभाव के रूप में प्रामाणिक है इसलिये उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जब हम आध्यात्मिक की अनुभूतितक पहुंचते हैं जो अपने-आपमें समग्र है या समग्र को अपने अंदर धारण करता है तो हमारा मन वहां भी अपनी खंड-खंड करनेवाली तर्क-बुद्धि और सांत संज्ञान के लिये जरूरी परिभाषाएं लेकर पहुंचता है। वह सांत और अनंत के बीच, पुरुष और उसके आभासों या अभिव्यक्तियों के बीच भाग करनेवाली रेखा खींच देता और कुछ को वास्तविक और कुछ को अवास्तविक की उपाधि दे देता है। लेकिन जीवन के सभी प्रांतरों को अपने आलिंगन में लेनेवाली आद्या और परम चेतना, एक सर्वांगीण दृष्टि से समग्र को, उसकी आध्यात्मिक तात्त्विक वास्तविकता में और आभासी को उस वास्तविकता के आभास या उसकी अभिव्यक्ति के रूप में देखेगी। अगर यह महत्तर आध्यात्मिक चेतना वस्तुओं में केवल अवास्तविकता और आत्मा के सत्य के साथ पूर्ण रूप से असम्बद्धता देखती तो—अगर वह स्वयं ऋत-चित् हो तो—उसके पास सदा-सर्वदा इन्हें सतत या बार-बार आनेवाले जीवन में बनाये रखने का कोई कारण न होता। अगर वह उनको इस तरह बनाये रखती है तो इसका कारण यह है कि वे आत्मा की वास्तविकताओं पर आधारित हैं। लेकिन निश्चित रूप से, जब इस तरह समग्र रूप से देखा जाता है तो आभासी वास्तविकता का रूप उससे भिन्न होगा जैसा सांत सत्ता की तर्क-बुद्धि और इन्द्रियों से दिखायी देता है। उसमें एक और ही अधिक गहरी वास्तविकता, एक और महत्तर सार्थकता, जीवन की गतिविधियों की एक अन्य और सूक्ष्मतर और अधिक जटिल प्रक्रिया होगी। सांत बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा निर्मित वास्तविकता के मापदंड और विचार के समस्त रूप महत्तर चेतना को एकांगी रचनाएं मालूम होंगे जिनमें सत्य का एक तत्त्व और भ्रांति का एक तत्त्व होगा। अतः इन रचनाओं को एक साथ वास्तविक और अवास्तविक कहा जा सकता है लेकिन स्वयं आभासी जगत् इस तथ्य के कारण अवास्तविक या अवास्तविक-वास्तविक नहीं बन जायेगा। वह आध्यात्मिक रूपवाली एक और वास्तविकता धारण कर लेगा। सांत अपने-आपको अनंत की एक शक्ति, गति और प्रक्रिया के रूप में प्रकट करेगा।

आद्या और चरम चेतना अनंत की चेतना होगी और निश्चित रूप से वैविध्य के बारे में उसकी दृष्टि एकत्वमय होगी, वह होगी एक अविभाज्य समग्र-दृष्टि जो सर्वांगीण, सब कुछ स्वीकार करनेवाली, सबको आलिंगन में भरनेवाली और सर्व-

निर्धारक होने के कारण सबका विवेक करनेवाली होगी। वह चीजों का सारतत्त्व देखेगी और सभी रूपों और गतियों को उस तात्त्विक सद्वस्तु के आभास और परिणाम के रूप में, उसीकी सत्ता की शक्ति की गतियों और रूपायणों के रूप में देखेगी। बुद्धि की धारणा है कि सत्य को सभी विरोधों के संघर्षों से खाली होना चाहिये। अगर ऐसा है, तो चूंकि आभासी जगत् सारभूत ब्रह्म के विपरीत है या विपरीत प्रतीत होता है इसलिये उसे अवास्तविक होना चाहिये, चूंकि व्यष्टिगत सत्ता वैश्व और परात्पर दोनों से उल्टी है इसलिये उसे अवास्तविक होना चाहिये। लेकिन सांत पर आधारित तर्क-बुद्धि को जो चीजें विपरीत दीखती हैं, हो सकता है कि वे अनंत पर आधारित दृष्टि या महत्तर तर्क-बुद्धि के लिये विरोधी न हों। हमारा मन जिन चीजों को विरोधी देखता है, हो सकता है कि वे अनंत चेतना के लिये विरोधी न होकर एक-दूसरे की पूरक हों। सारतत्त्व और सारतत्त्व का आभास एक-दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं। आभास सारतत्त्व को अभिव्यक्त करता है, सांत अनंत का विरोधी नहीं, एक परिस्थिति है, व्यक्ति वैश्व और परात्पर की आत्माभिव्यक्ति है, उसकी विपरीतता या उससे एकदम अलग कोई चीज नहीं है, यह केंद्रित और चयनात्मक वैश्व है। वह परात्पर के साथ अपनी सत्ता के सारतत्त्व और अपनी प्रकृति के सारतत्त्व में एक है। इस एकत्वमूलक और व्यापी दृष्टि में, सत्ता के रूपहीन सार में जो रूपों की बहुलता को लिये रहता है या अनंत की ऐसी स्थिति में जो अनंत के गतिक्रम को सहारा देती है या ऐसे अनंत एकत्व में जो अपने-आपको सत्ताओं के पहलुओं और शक्तियों तथा गतियों के बहुत्व में प्रकट करता है, इनमें आपस में कोई विपरीतता नहीं है क्योंकि वे एक की ही सत्ताएं, उसीके पहलू, गतियां और शक्तियां हैं। इस आधार पर जगत्-सृष्टि पूर्णतया स्वाभाविक, सामान्य और अनिवार्य गति है जो अपने-आपमें कोई समस्या नहीं खड़ी करती क्योंकि वह ठीक वही है जिसकी हम अनंत की क्रिया से आशा करते हैं। सारी बौद्धिक समस्या और कठिनाई खड़ी होती है सांत बुद्धि से जो काटती, अलग करती हुई, अनंत की शक्ति को उसकी सत्ता के विरोध में, उसकी क्रियाशीलता को उसकी स्थिति के विरोध में, उसके स्वाभाविक बहुत्व को उसके मूलगत एकत्व के विरोध में खड़ा करती है, आत्मा को खंडित करती और आत्मा को प्रकृति के विरोध में लाती है। अनंत की जगत्-प्रक्रिया को और शाश्वत की काल-प्रक्रिया को सचमुच समझने के लिये चेतना को इस सांत बुद्धि और सांत बोध के परे, एक बृहत्तर बुद्धि और आध्यात्मिक भाव में जाना चाहिये जो अनंत की चेतना के संपर्क में हो और अनंत के तर्क के प्रति अनुकूल हो। यह तर्क स्वयं सत्ता का तर्क है और अनिवार्य रूप से उसकी अपनी वास्तविकताओं की आत्म-क्रिया से उठता है। इस तर्क के चरण विचार के चरण न होकर स्वयं जीवन के चरण हैं।

लेकिन कहा जा सकता है कि जिस चीज का वर्णन किया गया है वह तो

केवल वैश्व चेतना है, लेकिन निरपेक्ष भी तो है, निरपेक्ष को सीमित नहीं किया जा सकता। चूंकि वैश्व और व्यष्टि निरपेक्ष को सीमित और विभाजित करते हैं इसलिये वे अवास्तविक होने चाहियें। निःसंदेह यह स्वयंसिद्ध है कि निरपेक्ष को सीमित नहीं किया जा सकता न तो रूप द्वारा न अरूप द्वारा, न एकत्व द्वारा न बहुत्व द्वारा, न तो अचंचल स्थिति द्वारा और न क्रियाशील सचलता द्वारा। अगर वह रूप को अभिव्यक्त करता है तो रूप उसे सीमित नहीं कर सकता, अगर वह बहुत्व को अभिव्यक्त करता है तो बहुत्व उसका विभाजन नहीं कर सकता, अगर वह गति और संभवन को अभिव्यक्त करता है तो न तो गति उसे व्याकुल कर सकती है न संभवन उसे बदल सकता है। जैसे वह आत्म-सृजन द्वारा निःशेष नहीं हो सकता उसी तरह उसे सीमित भी नहीं किया जा सकता। जड़ भौतिक वस्तुओं में भी अपनी अभिव्यक्ति की तुलना में यह श्रेष्ठता होती है। मिट्टी उससे बने हुए बरतनों से सीमित नहीं होती और न वायु उन आंधियों से जो उसमें चलती हैं और न ही सागर उन तरंगों से जो उसकी सतह पर उठती हैं। परिसीमन का यह संस्कार केवल मन और इन्द्रियों की चीज है जो सांत को इस तरह देखते हैं मानों वह स्वतंत्र सत्ता है जो अपने-आपको अनंत से अलग रखती है या कोई ऐसी चीज है जिसे परिसीमन ने उसमें से काट दिया है। यह संस्कार ही भ्रमात्मक है और न तो सांत न अनंत भ्रमात्मक हैं क्योंकि दोनों में से कोई भी इन्द्रियों या मन के संस्कारों पर आश्रित नहीं है। वे अपने अस्तित्व के लिये निरपेक्ष पर आश्रित हैं।

निरपेक्ष अपने-आपमें बुद्धि द्वारा अपरिभाष्य, वाणी के लिये अनिर्वचनीय है, उसके पास अनुभव द्वारा जाना होता है। उसके पास जीवन के पूरे-पूरे निषेध द्वारा जाया जा सकता है मानों वह परम असत्, एक रहस्यमय अनंत शून्य हो। उसके पास हमारे जीवन के समस्त मूलगत तत्त्वों को पूरी तरह स्वीकार करके जाया जा सकता है, ज्योति और ज्ञान के परम पद के द्वारा, प्रेम या सौंदर्य के परम पद द्वारा, शक्ति के परम पद द्वारा, शांति और नीरवता के परम पद द्वारा जाया जा सकता है। उसके पास सत्ता या चेतना के या सत्ता की शक्ति के या सत्ता के आनंद के अनिर्वचनीय परम पद द्वारा या जिस परम अनुभूति में ये सारी चीजें अनिर्वचनीय ढंग से एक हो जाती हैं उस अनुभूति द्वारा जाया जा सकता है क्योंकि हम ऐसी अनिर्वचनीय स्थिति में प्रवेश कर सकते हैं और उसमें इस तरह डुबकी लगाकर, मानों जीवन के एक प्रकाशमय रसातल में डुबकी लगाकर, एक ऐसी अतिचेतना में पहुंच सकते हैं जिसे निरपेक्ष का द्वार कहा जा सकता है। ऐसा माना जाता है कि व्यक्ति और विश्व को नकार करके ही हम निरपेक्ष में प्रवेश कर सकते हैं। लेकिन वस्तुतः व्यक्ति को केवल अपने छोटे पृथक् अहंकारमय अस्तित्व को ही नकारना चाहिये। वह अपने आध्यात्मिक व्यक्तित्व को उदात्त करके विश्व को अपने अंदर लेकर और उसका अतिक्रमण करके निरपेक्षतक पहुंच सकता है। या फिर वह पूरी

तरह से अपना निषेध कर सकता है लेकिन इस तरह भी व्यक्ति ही अपना अतिक्रमण करके निरपेक्ष में प्रवेश करता है। वह अपनी सत्ता का परम सत्ता या अतिसत्तातक उदात्तीकरण करके, अपनी चेतना का परम चेतना या अतिचेतना में उदात्तीकरण करके, अपने और सत्ता के समस्त आनंद का परम आनंद या अति आनंद में उदात्तीकरण करके भी निरपेक्ष में प्रवेश पा सकता है। वह एक ऐसे आरोहण द्वारा भी जा सकता है जिसमें वह वैश्व चेतना में प्रवेश करता है, उसे अपने अंदर धारण करता है और अपने-आपको सत्ता की ऐसी अवस्था में पहुंचा सकता है जिसमें एकत्व और बहुत्व अभिव्यक्ति की परम स्थिति में पूर्ण सामंजस्य तथा एकता में हैं। उस स्थिति में सब कुछ प्रत्येक में है और प्रत्येक सब में, और सब कुछ किसी निर्धारक व्यक्तीकरण के बिना उस एक में है क्योंकि वहां गतिशील तादात्म्य और पारस्परिकता पूर्ण हो जाते हैं। इति के मार्ग पर अभिव्यक्ति की यह स्थिति निरपेक्ष के सबसे अधिक नजदीक है। निरपेक्ष को चरम नेति भाव से और चरम इति भाव से, बहुत-सी विधियों से प्राप्त किया जा सकता है। उसके इस विरोधाभास की व्याख्या बुद्धि के आगे तभी की जा सकती है जब वह निरपेक्ष एक ऐसा परम सत् हो जो हमारे सत्ता-संबंधी भाव और अनुभव से इतना अधिक ऊंचा हो कि वह हमारे द्वारा किये जानेवाले निषेध के भी समरूप हो सके, हमारी असत् की धारणा और अनुभूति के भी समरूप हो सके लेकिन साथ ही, चूंकि जिसका भी अस्तित्व है वह तत् है, उसकी अभिव्यक्ति की श्रेणी चाहे कोई-सी क्यों न हो, वह अपने-आप सभी वस्तुओं का परम है और उसतक परम इति और परम नेति के द्वारा पहुंचा जा सकता है। निरपेक्ष वह अनिर्वचनीय 'क्ष' है जो उस सबसे बढ़-चढ़कर, उसके मूल में, अंतर्निहित और सारभूत है जिसे हम सत् या असत् कह सकते हैं।

हमारा पहला आधार वाक्य यह है कि निरपेक्ष परम सद्वस्तु है लेकिन सवाल यह है कि बाकी सब जिसका हम अनुभव करते हैं वह वास्तविक है या अवास्तविक ? कभी-कभी सत्ता और अस्तित्व में भेद किया जाता है और यह माना जाता है कि सत्ता वास्तविक है लेकिन अस्तित्व या जो चीज अभिव्यक्त होती है वह अवास्तविक है। लेकिन यह बात तभी टिक सकती है जब असृष्ट शाश्वत और सृष्ट अस्तित्वों के बीच कठोर भेद, कोई विच्छेद और अलगाव हो। तब केवल असृष्ट सत्ता को ही वास्तविक माना जा सकता है। यह निष्कर्ष तब नहीं टिक सकता यदि जिसका अस्तित्व है वह सत् का रूप, सत् का पदार्थ हो। वह तभी अवास्तविक हो सकता है यदि वह असत् का रूप हो जिसकी सृष्टि शून्य में से हुई हो। हम जीवन की जिन अवस्थाओं में से गुजरते हैं और निरपेक्ष में प्रवेश करते हैं उनका अपना सत्य होना चाहिये क्योंकि असत्य और अवास्तविक सद्वस्तु की ओर नहीं ले जा सकते। साथ ही जो कुछ निरपेक्ष से पैदा होता है, जिसे शाश्वत समर्थन देता है, अनुप्राणित करता और अपने अंदर अभिव्यक्त करता है उसकी भी एक

वास्तविकता होनी चाहिये। एक है अनभिव्यक्त और एक है अभिव्यक्ति लेकिन सद्वस्तु की अभिव्यक्ति को अपने-आप वास्तविक होना चाहिये। एक है कालातीत और दूसरी है काल में वस्तुओं की प्रक्रिया; लेकिन काल में कोई भी चीज तबतक नहीं प्रकट हो सकती जबतक कि उसकी नींव कालातीत सद्वस्तु में न हो। अगर मैं और मेरी आत्मा वास्तविक हैं, मेरे विचार, भाव सब प्रकार की शक्तियां, जो उसीकी अभिव्यंजनाएं है, अवास्तविक नहीं हो सकतीं। मेरा शरीर जो एक ऐसा रूप है जिसे वह अपने अंदर प्रकट करता है और साथ ही जिसके अंदर वह निवास करता है वह शून्य या द्रव्यहीन छाया नहीं हो सकता। समाधानकारी व्याख्या एक ही हो सकती है कि कालातीत शाश्वतता और काल शाश्वतता शाश्वत और निरपेक्ष के दो पहलू हैं और दोनों वास्तविक हैं, लेकिन वास्तविकता के अलग-अलग क्रमों में। जो कालातीत में अनभिव्यक्त है वह अपने-आपको काल में अभिव्यक्त करता है। हर चीज जिसका अस्तित्व है, वह अभिव्यक्ति के अपने क्रम में वास्तविक है और शाश्वत की चेतना उसे इसी तरह से देखती है।

समस्त अभिव्यक्ति सत्ता पर निर्भर है लेकिन साथ ही चेतना और उसकी शक्ति या मात्रा पर भी; क्योंकि चेतना की जैसी स्थिति होगी वैसी ही सत्ता की स्थिति होगी। निश्चेतन भी अंतर्निहित चेतना की स्थिति और शक्ति है जिसमें सत्ता अनभिव्यक्ति की एक अन्य तथा विरोधी स्थिति में डुबकी लगाती है या असत् के अनुरूप होती है ताकि उसके अंदर से भौतिक विश्व में सब कुछ प्रकट हो। इसी भांति अतिचेतन भी ऐसी चेतना है जिसे सत्ता की निरपेक्ष स्थिति में उठा लिया गया है, क्योंकि एक अतिचेतन स्थिति है जिसमें चेतना प्रकाशमय रूप में सत्ता के अंदर अंतर्निहित मालूम होती है और ऐसा लगता है कि वह अपने बारे में अनभिज्ञ है। सत्ता की समस्त चेतना, सत्ता का समस्त ज्ञान, आत्मदृष्टि, शक्ति उसी अंतर्निहित स्थिति में से उभरते मालूम होते हैं या उसीमें प्रकट होते हैं। हमारी दृष्टि में यह उन्मज्जन न्यूनतम वास्तविकता में उभरता मालूम हो सकता है परंतु वस्तुतः अतिचेतना और चेतना दोनों एक ही सत् हैं और उनकी दृष्टि उसी सत् पर रहती है। परम की एक ऐसी स्थिति भी है जिसमें सत्ता और चेतना में कोई फर्क नहीं किया जा सकता क्योंकि वहां वे इतनी ज्यादा एक हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। लेकिन सत्ता की यह परम स्थिति सत्ता की शक्ति की भी और इसलिये चेतना की शक्ति की भी परम स्थिति है क्योंकि सत्ता की शक्ति और चेतना की शक्ति वहां एक है और उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। शाश्वत सत्ता का शाश्वत चेतना-शक्ति के साथ यह एकीकरण ही परम ईश्वर की स्थिति है और उसकी सत्ता की शक्ति निरपेक्ष की क्रियात्मक शक्ति है। यह स्थिति विश्व का निषेध नहीं है, वह अपने अंदर समस्त वैश्व सत्ता के सार और शक्ति को लिये रहती है।

फिर भी अवास्तविकता विश्व-जीवन का एक तथ्य है और अगर सब कुछ ब्रह्म

या सद्वस्तु है तो हमें सद्वस्तु के अंदर इस अवास्तविकता का लेखा-जोखा देखना होगा। अगर अवास्तविक सत्ता का तथ्य नहीं है तो उसे चेतना की क्रिया या रूपायण होना चाहिये। तो क्या चेतना की कोई ऐसी अवस्था या श्रेणी नहीं है जिसमें उसकी कृतियां या रचनाएं पूरी तरह या आंशिक रूप में अवास्तविक हों? अगर इस अवास्तविकता की जिम्मेदारी किसी आद्य वैश्व भ्रम पर नहीं थोपी जा सकती तब भी स्वयं विश्व में अज्ञान के भ्रम की शक्ति है। यह मन की सामर्थ्य में है कि वह ऐसी चीजों की कल्पना करे जो वास्तविक नहीं हैं, उसकी सामर्थ्य में यह भी है कि वह ऐसी चीजों की रचना कर ले जो वास्तविक नहीं हैं, या पूरी तरह से वास्तविक नहीं हैं। स्वयं अपने और विश्व के बारे में उसकी दृष्टि एक ऐसी रचना है जो न तो पूरी तरह वास्तविक है न पूरी तरह अवास्तविक। यह अवास्तविकता का तत्त्व शुरू कहां होता है और कहां रुकता है और उसका कारण क्या है और कारण और परिणाम दोनों को हटाने से क्या फल निकलता है? अगर सारा वैश्व जीवन अपने-आपमें अवास्तविक न भी हो तो क्या यह वर्णन इस अज्ञान के जगत् पर लागू नहीं किया जा सकता जिसमें हम निवास करते हैं, इस जगत् पर जो सदा परिवर्तनशील, जन्म-मरण, अवसाद और कष्ट का जगत् है। क्या इस अज्ञान को हटा देने से वह हमारे लिये उस जगत् की वास्तविकता को समाप्त नहीं कर देगा जिसकी उसने रचना की है अथवा क्या उसमें से बाहर निकल जाना ही स्वाभाविक और एकमात्र हल नहीं है? यह बात तब मान्य होती अगर हमारा अज्ञान शुद्ध रूप से अज्ञान होता, जिसमें सत्य या ज्ञान का कोई तत्त्व न होता। लेकिन तथ्य यह है कि हमारी चेतना सत्य और मिथ्या का मिश्रण है। उसकी क्रियाएं और रचनाएं निरी कल्पनाएं या निराधार रचनाएं नहीं हैं। वह जो रचनाएं खड़ी करती है, वस्तुओं को या विश्व को जो रूप देती है वह उतना वास्तविकता और अवास्तविकता का मिश्रण नहीं होता जितना कि वास्तव की अर्द्ध-अवधारणा और अर्द्ध-अभिव्यंजना होता है और चूंकि समस्त चेतना शक्ति है अतः उसमें सृजन की संभावना रहती है, हमारे अज्ञान का परिणाम होता है गलत सृजन, गलत अभिव्यक्ति, गलत क्रिया या सत्ता की गलत रूप से कल्पित और गलत दिशा में निर्देशित ऊर्जा। समस्त जगत्-सत्ता अभिव्यक्ति है लेकिन हमारा अज्ञान एकांगी, सीमित और अज्ञानी अभिव्यक्ति का अभिकर्ता है। वह अभिव्यक्ति मूल सत्-चित्-आनंद का अंशतः प्रकाशन और अंशतः छद्मवेश है। अगर यह वस्तु-स्थिति स्थायी है और इसे बदला नहीं जा सकता, अगर हमारे जगत् को सदा इसी चक्कर में घूमना है, अगर कोई अज्ञान यहां सभी चीजों और कर्मों का कारण है, उनकी कोई अवस्था या परिस्थिति नहीं तब तो अवश्य ही व्यक्तिगत अज्ञान का अंत केवल व्यक्ति के जगत् सत्ता से बच निकलने से ही हो सकेगा और वैश्व अज्ञान का अंत जगत्-सत्ता का विनाश होगा। लेकिन अगर इस जगत् के मूल में कोई विकसनशील तत्त्व है, अगर हमारा अज्ञान

ज्ञान की ओर विकास करता हुआ अर्द्ध-ज्ञान है तो भौतिक प्रकृति के बीच हमारे जीवन का एक और लेखा, एक और परिणाम, एक और आध्यात्मिक फल संभव हो जाता है, इह लोक में एक महत्तर अभिव्यक्ति संभव हो जाती है।

अवास्तविकता के बारे में हमारी जो धारणाएं हैं उनमें एक और भेद करना होगा ताकि हम अज्ञान की समस्या के साथ व्यवहार करते हुए भ्रम की एक संभावना से बच सकें। हमारे मन या उसके एक भाग में वास्तविकता का एक व्यावहारिक मानदंड है। वह तथ्य और यथार्थता के मानक के लिये आग्रह करता है। जो कुछ जीवन का तथ्य है वह उसके लिये वास्तविक है लेकिन उसके लिये यथार्थ की यथार्थता या वास्तविकता इस जड़ विश्व में, पार्थिव जीवन के गोचर तथ्योंतक ही सीमित है। लेकिन पार्थिव या जड़ भौतिक जीवन एक आंशिक अभिव्यक्ति मात्र है। वह सत् की उन संभावनाओं का तंत्र है जो वास्तविकता का रूप ले चुकी हैं, वह उन सब दूसरी संभावनाओं को छोड़ नहीं देता जो अभीतक वास्तविक नहीं बनी हैं या यहां वास्तविक नहीं बनी हैं। काल के अंदर अभिव्यक्ति में नयी वास्तविकताएं उभर सकती हैं, सत्ता के वे सत्य जो अभीतक चरितार्थ नहीं हुए हैं अपनी संभावनाओं को सामने ला सकते हैं और भौतिक और पार्थिव जीवन में तथ्य बन सकते हैं। सत्ता के अन्य सत्य भी हैं जो अतिभौतिक हो सकते हैं और अभिव्यक्ति के किसी और क्षेत्र में हो सकते हैं जो यहां चरितार्थ नहीं हुए हैं फिर भी हैं वास्तविक। यहांतक कि जो कहीं भी, किसी भी विश्व में वास्तविक नहीं हुए हैं, वे भी सत्ता के सत्य, सत्ता की संभाव्यता हो सकते हैं और उन्हें इस कारण अवास्तविक नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे अभीतक जीवन के रूप में प्रकट नहीं हुए हैं। लेकिन हमारा मन या उसका यह भाग अपने व्यावहारिक अभ्यास या वास्तविक की धारणा पर आग्रह करता है जो केवल तथ्य और यथार्थ को ही सत्य मानता है और बाकी सबको अवास्तविक मानने के लिये प्रवृत्त होता है। तो इस मन के लिये एक ऐसी अवास्तविकता है जो शुद्ध रूप से व्यावहारिक स्वरूपवाली है। यह अवास्तविकता उन वस्तुओं के निरूपण में रहती है जो अपने-आपमें अनिवार्यतः अवास्तविक नहीं हैं लेकिन जो हमारे द्वारा अभीतक चरितार्थ नहीं की गयी हैं या हम उन्हें वर्तमान परिस्थितियों में या अपनी सत्ता के वास्तविक जगत् में चरितार्थ नहीं कर सकते। यह सच्ची अवास्तविकता नहीं है। यह अवास्तविक नहीं बल्कि अनुपलब्ध है, सत्ता का अवास्तविक नहीं, केवल वर्तमान या ज्ञात तथ्य का अवास्तविक है। और फिर एक ऐसी अवास्तविकता है जिसके मूल में मानस-बोध और इन्द्रिय-बोध है जो वास्तविक के बारे में भ्रांत मानस बोध और इन्द्रिय-बोध का परिणाम है। यह भी सत्ता की अवास्तविकता नहीं है और न उसका सत्ता की अवास्तविकता होना जरूरी है, यह अज्ञान द्वारा परिसीमन के कारण चेतना की एक मिथ्या रचना है। हमारे अज्ञान की ये तथा अन्य गौण गतियां समस्या का हार्द नहीं

हैं क्योंकि उसका आधार यहां, हमारी चेतना और जगत्-चेतना का एक अधिक सर्वसामान्य रोग है। समस्या वैश्व अज्ञान की है। क्योंकि जीवन के बारे में हमारी सारी दृष्टि और हमारा सारा अनुभव चेतना के एक ऐसे परिसीमन से बाधित है जो केवल हमारे लिये ही नहीं है बल्कि भौतिक सृष्टि के आधार में मालूम होता है। आद्या और चरम चेतना की जगह, जो वास्तविकता को समग्र रूप में देखती है, हम यहां पर एक सीमित चेतना को सक्रिय देखते हैं या फिर आंशिक और अपूर्ण सृष्टि या वैश्व गतिक्रम को देखते हैं जो सदा निरर्थक परिवर्तन के निरंतर चक्कर में घूमता रहता है। हमारी चेतना अभिव्यक्ति के केवल एक भाग या भागों को देखती है—बशर्ते कि वह अभिव्यक्ति हो—और उसके साथ या उनके साथ ऐसा व्यवहार करती है मानों वे अलग-अलग सत्ताएं हों। हमारे सारे भ्रम और भ्रांतियां एक सीमित पृथकात्मक अभिज्ञता से आते हैं जो अवास्तविकताओं का सृजन करती है या वास्तविक की गलत धारणा बनाती है। लेकिन समस्या तब और भी ज्यादा गूढ़ हो जाती है जब हम देखते हैं कि ऐसा प्रतीत होता है कि हमारा भौतिक जगत् सीधा, किसी आद्य सत् और चित् से नहीं बल्कि निश्चेतना की स्थिति और प्रतीयमान असत् से उठ रहा है। हमारा अज्ञान स्वयं एक ऐसी चीज है जो मानों कठिनाई और संघर्ष के साथ निश्चेतना में से प्रकट हुआ है।

तो रहस्य यह है—समग्र सत्ता की असीम चेतना और शक्ति इस परिसीमन और पृथक्ता में कैसे आयी? यह कैसे संभव हुआ? और अगर उसकी संभावना को स्वीकार किया जाये तो उसका सद्वस्तु में क्या औचित्य और क्या सार्थकता है? यह रहस्य आद्य भ्रम का नहीं बल्कि अज्ञान और निश्चेतना के मूल का और आद्य चेतना या अतिचेतना के साथ ज्ञान और अज्ञान के संबंधों का है।

अध्याय ७

विद्या और अविद्या

चित्तिमचित्तिं चिनवद् वि विद्वान्. . . ॥

विद्वान् ज्ञान और अज्ञान में भेद करे।

ऋग्वेद ४.२.११

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥

अनंत की गुप्तता में ज्ञान और अज्ञान दोनों छिपे हुए हैं, नश्वर है अज्ञान और अमर है ज्ञान। इन दोनों से भिन्न है 'वह' जो दोनों पर शासन करता है, ज्ञान पर भी और अज्ञान पर भी।

श्वेताश्वतरोपनिषद् ५.१

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता ॥

दो अजन्मे जिनमें एक है ज्ञानी, दूसरा जो नहीं जानता, एक है ईश दूसरा है अनीश; एक अजन्मा जिसमें दोनों है भोग्य वस्तु और भोक्ता।

श्वेताश्वतरोपनिषद् १.९

ऋतायिनी मायिनी सं दधाते मित्वा शिशुं जज्ञतुर्वर्धयन्ती।

ये दोनों एक साथ जुड़ी हैं ऋतायनी शक्तियां (ऋत-सत्य की शक्तियां) और मायावी शक्तियां, उन्होंने शिशु की रचना की है, उसे जन्म दिया है, वे ही उसकी वृद्धि का पोषण करती हैं।

ऋग्वेद १०.५.३

अस्तित्व के सात तत्त्वों की जांच करते हुए हमने देखा था कि वे अपने सारतत्त्व और आधारभूत वास्तविकता में एक हैं। क्योंकि अगर अत्यधिक जड़ विश्व का जड़ तत्त्व भी आत्मा की सत्ता की एक स्थिति के सिवा कुछ नहीं है जिसे इन्द्रियों का विषय बनाया गया है, जिसे आत्मा की अपनी चेतना ने रूपों के द्रव्य के रूप में देखा है, तब तो प्राण-शक्ति जो अपने-आपको जड़-तत्त्व के रूप में रूपायित करती है, और मानसिक चेतना जो अपने-आपको प्राण के रूप में प्रक्षिप्त करती है और फिर अतिमानस जो मन को अपनी शक्तियों में से एक शक्ति के रूप में विकसित करता है, ये सब और भी अधिक, सिवाय आत्मा के अधिक कुछ नहीं हो सकते जो सच्चे सारतत्त्व में अपरिवर्तित है, प्रतीयमान वस्तु और कर्म की

गतिशीलता में परिवर्तित हुई है। सभी सत् की एकमेव शक्ति की शक्तियां हैं और उस सर्व-सत्, सर्व-चित्, सर्व-इच्छा, सर्व-आनंद से भिन्न कुछ नहीं हैं जो हर आभास के पीछे का सच्चा सत्य है। और वे अपनी वास्तविकता में एक ही नहीं बल्कि अपनी सप्त-विधा क्रियाओं में अविभाज्य भी हैं। वे दिव्य चेतना के प्रकाश के सात रंग हैं, अनंत की सात रश्मियां हैं। आत्मा ने अपनी आत्मसत्ता के चित्रपट को धारणात्मक रीति से फैलाकर देश के वस्तुनिष्ठ ताने और काल के आत्मनिष्ठ बाने से बुनकर इन्हीं सातों के द्वारा अपनी उस आत्मसृष्टि को अनगिनत आश्चर्यों से भरा है जो अपने आद्य नियमों और बृहत् ढांचों में महान्, सरल और सममित हैं, अपने रूपों और अपनी क्रियाओं के वैचित्र्य में और संबंधों की जटिलताओं में सबपर हर एक के और हर एक पर सब के पारस्परिक प्रभावों की जटिलताओं में अनंत रूप से विलक्षण और दुर्बोध है। ये प्राचीन मनीषियों के सात शब्द 'सप्त-वाक्' हैं। हम जिस जगत् को जानते हैं और पीछे स्थित लोकों के, जिनका हमें परोक्ष ज्ञान है, विकसित और विकसनशील सामंजस्यों की सृष्टि इन्हीं सातों से हुई है। इनके अर्थ के प्रकाश में ही इन्हें कार्यान्वित किया जा सकता और समझाया जा सकता है। ज्योति एक ही है, ध्वनि एक ही है लेकिन उनकी क्रियाएं सप्तविध हैं।

लेकिन यहां एक ऐसा जगत् है जो आद्य निश्चेतना पर आधारित है। यहां चेतना ने अपने-आपको ऐसे अज्ञान का रूप दे दिया है जो ज्ञान की दिशा में प्रयास कर रहा है। हमने देखा है कि स्वयं सत्ता के स्वभाव में या उसके सप्त तत्त्वों के आद्यस्वरूप आधारभूत संबंधों में ऐसा कोई तात्त्विक कारण नहीं है जिससे अज्ञान की यह घुस-पैठ असंगति की सामंजस्य में, अंधकार की प्रकाश में और विभाजन तथा परिसीमन की भागवत सृष्टि की आत्मचेतन अनंतता में घुस-पैठ हो। क्योंकि हम कल्पना कर सकते हैं और चूंकि हम कर सकते हैं इसलिये भगवान् और भी अधिक कल्पना कर सकते हैं—और चूंकि कल्पना है इसलिये कहीं पर कार्यान्वयन भी होना चाहिये, सृजन चाहे वास्तविक हो या अभिप्रेत—एक वैश्व सामंजस्य की जिसमें ये विपरीत तत्त्व प्रवेश नहीं पा सकते। वैदिक ऋषि ऐसी दिव्य अभिव्यक्ति के बारे में सचेतन थे और उसे इस छोटे जगत् के परे ज्यादा बड़े जगत्, चेतना और सत्ता के अधिक मुक्त और अधिक विस्तृत लोक, स्रष्टा की सत्य-सृष्टि के रूप में देखते थे जिसका वर्णन वे "*सदनम् ऋतस्य*" "*स्वे दमे ऋतस्य*" "*ऋतस्य बृहते*" "*ऋतं, सत्यं, बृहत्*" कहकर करते थे यानी वह सत्य का सदन या स्वधाम है, बृहत् सत्य है या सत्य, ऋत, बृहत् है। और फिर यह वर्णन भी है कि वह सत्य से छिपा सत्य है जहां ज्ञान का सूर्य अपनी यात्रा पूरी करता है और अपने घोड़ों के जूए उतार देता है, जहां चेतना की हजार रश्मियां इकट्ठी होकर खड़ी रहती हैं जिससे वहां दिव्य पुरुष का परम रूप '*तत् एकम्*' है। लेकिन यह जगत्, जिसमें हम निवास करते हैं, उन्हें मिला-जुला ताना-बाना-सा दिखायी दिया जिसमें सत्य प्रचुर

मिथ्यात्व द्वारा विकृत है "*अनृतस्य भूरेः*"[1]। यहां उस एक ज्योति को अपनी ही बृहत् शक्ति के प्रयास से प्राथमिक अंधकार या निश्चेतना के समुद्र '*अप्रकेतं सलिलम्*' में से जन्म लेना होता है, एक ऐसे जीवन में से जो मृत्यु, अज्ञान, दुर्बलता, कष्ट और परिसीमन के जूए के नीचे है, अमरता और देवत्व का निर्माण करना होता है। इस आत्म-निर्माण को उन्होंने इस रूप में कहा मानों वह मनुष्य द्वारा उसके अपने अंदर उस दूसरे लोक का या अनंत सत्ता के उच्च कोटि के सामंजस्य का सृजन है जो पहले ही पूर्ण और शाश्वत रूप में भागवत अनंत के अंदर विद्यमान है। हमारे लिये निम्नतर उच्चतर की पहली अवस्था है, अंधकार प्रकाश का घन शरीर है, निश्चेतना अपने अंदर समस्त प्रच्छन्न अतिचेतना की रक्षा करती है। विभाजन और मिथ्यात्व की शक्तियां एकत्व और सत्य की समृद्धि और सारतत्त्व को अपनी अवचेतना की गुहा में छिपाकर रखती हैं, वे उन्हें हमारे लिये छिपाती हैं ताकि हम उन्हें उनसे जीत लें। उनकी दृष्टि में यह प्राचीन गुह्यवेत्ताओं की बहुत ही रूपक-रहस्यमयी वाणी में व्यक्त, मनुष्य के यथार्थ जीवन तथा जाने-अजाने भगवान् की ओर किये जानेवाले उसके प्रयास का तात्पर्य और औचित्य था। उसकी उस धारणा का जो उसके ठीक विपरीत मालूम होनेवाले जगत् में पहली नजर में, इतनी अधिक विरोधाभासी लगती है, उसकी उस अभीप्सा का तात्पर्य और औचित्य था जो अमरता, ज्ञान, शक्ति और आनंद की पूर्णता के लिये एवं दिव्य और अविनाशी जीवन के लिये है और इतने क्षणिक, दुर्बल, अज्ञानी, सीमित जीव में होने के कारण ऊपरी दृष्टि से असंभव है।

क्योंकि वस्तुतः जहां आदर्श सृष्टि का आधार-शब्द है पूर्ण आत्म-चेतना, अनंत आत्मा में पूर्ण आत्मवत्ता और पूर्ण एकत्व, वहां उस सृष्टि का आधार-शब्द उससे बिल्कुल उल्टा है जिसका हमें वर्तमान अनुभव है। वह है ऐसी मूल निश्चेतना जो प्राण में एक सीमित और विभक्त आत्म-चेतना में विकसित होती है। एक अंधी स्वयंभू शक्ति के संचालन के प्रति मौलिक जड़वत् अधीनता जो प्राण में आत्म-सचेतन जीव के अपने-आपको और सभी चीजों को अधिकार में करने और इस अंधी यांत्रिक शक्ति के राज्य में एक प्रबुद्ध इच्छा और ज्ञान का शासन प्रतिष्ठित करने के लिये संघर्ष में विकसित होती है। और चूंकि अंधी यांत्रिक शक्ति—अब हम जानते हैं कि वस्तुतः वह ऐसी कोई चीज नहीं है—हमारे सामने हर जगह, मूल, सर्वव्यापक, मौलिक विधान, महान् समग्र ऊर्जा के रूप में आती है और चूंकि हम जिस एकमात्र प्रबुद्ध इच्छा को जानते हैं, वह हमारी अपनी इच्छा, एक परवर्ती व्यापार, एक परिणाम, एक आंशिक, अधीनस्थ, परिसीमित, अनियमित ऊर्जा की तरह प्रकट होती है अतः यह संघर्ष हमें अपने अच्छे-से-अच्छे रूप में भी बहुत संकटपूर्ण और संदिग्ध जोखिम प्रतीत होता है। हमारी दृष्टि में निश्चेतन ही अथ

[1] ऋग्वेद ७.६०.५

और इति है, आत्म-चेतन अंतरात्मा मुश्किल से एक आकस्मिक संयोग, विश्व के इस विशाल, अंधकारमय और विकराल अश्वत्थ-वृक्ष पर एक सुकुमार फूल प्रतीत होता है। अथवा अगर हम जीव को शाश्वत मानें तो कम-से-कम यह तो लगता ही है कि वह एक विदेशी, विजातीय है और इस विशाल निश्चेतना के राज्य में ऐसा मेहमान है जिसके साथ अच्छा व्यवहार नहीं होता। अगर वह निश्चेतन अंधकार में एक दुर्घटना नहीं है तो शायद एक भूल या अतिचेतन प्रकाश का नीचे की ओर ढुलकना है।

अगर चीजों के बारे में यह दृष्टि पूरी तरह प्रामाणिक होती तो केवल पूर्णतया आदर्शवादी ही—जिसे शायद किसी उच्चतर जीवन से भेजा गया हो, जो अपने उद्देश्य को भूलने में असमर्थ हो, जो अदम्य उत्साह में किसी दिव्य उन्माद द्वारा गुंथा हुआ या अदृष्ट देव की ज्योति, शक्ति और वाणी द्वारा शांत तथा अनंत धीरता में स्थिर हो—ऐसी परिस्थितियों में अपने आगे, और उससे भी कहीं अधिक बढ़कर अविश्वासी और संदेही जगत् के आगे मानव उद्यम की पूर्ण सफलता की आशा रख सकता है। वास्तव में, अधिकतर मनुष्य या तो इसे शुरू से अस्वीकार कर देते हैं या कुछ प्रारंभिक उत्साह के बाद उसे प्रमाणित असंभवता मानकर उससे अंततः मुंह मोड़ लेते हैं। सतत जड़वादी एक आंशिक या अल्पजीवी शक्ति, ज्ञान, सुख की खोज करता है, बस उतने ही की जितने की अनुमति प्रकृति की प्रमुख निश्चेतन व्यवस्था मनुष्य की संघर्षरत आत्म-चेतना को देती है, और वह भी तब जब वह सीमाओं को स्वीकार करे, उसके नियमों का पालन करे और अपनी प्रबुद्ध इच्छा द्वारा उनका अच्छे-से-अच्छा उतना उपयोग करे जितना उनकी कठोर यांत्रिकता सह सके। धार्मिक आदमी प्रबुद्ध इच्छा, प्रेम या दिव्य सत्ता के राज्य की खोज करता है। वह परलोक में भगवान् का राज्य खोजता है जहां ये चीजें अमिश्रित और शाश्वत हैं। दार्शनिक तत्त्वज्ञानी इन सबको मन का भ्रम कहकर अस्वीकार कर देता है और किसी निर्वाण में आत्म-लोपन के लिये या निर्गुण निराकार निरपेक्ष में मिल जाने के लिये अभीप्सा करता है। अगर भ्रम से प्रेरित व्यक्ति की अंतरात्मा या मन ने इस अज्ञान के क्षणभंगुर जगत् में दिव्य उपलब्धि का स्वप्न देखा है तो उसे अंत में अपनी भूल स्वीकारनी पड़ती है और अपने व्यर्थ उद्यम को त्यागना पड़ता है। फिर भी, चूंकि जीवन के ये दो पहलू हैं, प्रकृति का अज्ञान और आत्मा का प्रकाश और चूंकि उन दोनों के पीछे एकमेव सद्वस्तु है इसलिये समाधान पाना या कम-से-कम खाई का पटना तो संभव होना ही चाहिये जिसकी वेद के रहस्यमय रूपकों ने भविष्यवाणी की थी। इस संभावना की तीक्ष्ण भावना ही भिन्न-भिन्न रूप लेकर शताब्दियों से चली आ रही है—मनुष्य के पूर्ण होने की संभावना, समाज के पूर्ण होने की संभावना, विष्णु तथा अन्य देवों के पृथ्वी पर अवतरण के बारे में आळवारों का अंतर्दर्शन, *साधूनां राज्यम्*, भगवान् का नगर, सत्ययुग, भविष्यवाणी का नया स्वर्ग और नयी धरती। परंतु इन अंतर्भासों में

निश्चित ज्ञान का आधार नहीं था और मनुष्य का मन उज्ज्वल भावी आशा और धूसर वर्तमान निश्चिति के बीच डोलता रहा है। परंतु धूसर निश्चिति उतनी निश्चित नहीं है जितनी वह दीखती है और यह जरूरी नहीं है कि पार्थिव प्रकृति में विकसित होता हुआ या तैयारी करता हुआ दिव्य जीवन एक असंगत ख-पुष्प हो। अपनी हार या अपने परिसीमन की सभी स्वीकृतियों का आरंभ पहले इस अव्यक्त या स्पष्ट मान्यता से होता है कि एक तात्त्विक द्वैत है और इन दोनों तत्त्वों के बीच ऐसा विरोध है जिसका समाधान नहीं हो सकता—सचेतन और अचेतन के बीच, स्वर्ग और धरती के बीच, भगवान् और जगत् के बीच असीम एक और सीमित बहु के बीच, ज्ञान और अज्ञान के बीच। अपनी तर्क-शृंखला द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि यह ऐन्द्रिय मन तथा आंशिक अनुभव पर आधारित तार्किक बुद्धि की भूल से बढ़कर कुछ नहीं है। हमने देखा है कि हमारी विजय के लिये पूर्णतया बुद्धि-संगत आधार और आशा हो सकती है और है। क्योंकि हम सत्ता के जिस निम्नतर पद में अब रहते हैं, उसके अपने अंदर उसका अतिक्रमण करनेवाला तत्त्व और अभिप्राय रहता है। उसमें अपना अतिक्रमण और रूपांतर करके ही वह अपने वास्तविक सारतत्त्व को, पूर्ण रूप को पा और उसमें विकसित हो सकती है।

लेकिन हमारे तर्क में एक बात ऐसी है जिसे हमने अभीतक कुछ-कुछ अस्पष्ट छोड़ दिया है और वह है ठीक इसी विषय में, ज्ञान और अज्ञान के सह-अस्तित्व के बारे में। निःसंदेह यहां हम ऐसी अवस्थाओं से शुरू करते हैं जो आदर्श दिव्य सत्य के विपरीत हैं और उस विरोध की सारी परिस्थितियां सत्ता के अपने बारे में और सबकी आत्मा के बारे में अज्ञान पर आधारित हैं: यह अज्ञान आद्य वैश्व अज्ञान का परिणाम है जिसका निष्कर्ष है आत्म-परिसीमन और जीवन का सत्ता में विभाजन पर आधारित होना, चेतना में विभाजन, इच्छा और शक्ति में विभाजन, प्रकाश में विभाजन, ज्ञान, शक्ति और प्रेम का विभाजन और परिसीमन और परिणाम-स्वरूप निश्चित रूप से विपरीत व्यापार, अहंकार, अंधकार, असामर्थ्य, ज्ञान और इच्छा का दुरुपयोग, असामंजस्य, दुर्बलता, दुःख-कष्ट आते हैं। हमने देखा है कि यद्यपि जड़ और प्राण भी इस अज्ञान के हिस्सेदार हैं लेकिन उसकी जड़ें मन की प्रकृति में हैं जिसका काम ही है मापना, सीमित करना, एक-एक करके उल्लेख करना और इस तरह विभाजन करना। लेकिन मन भी एक वैश्व तत्त्व है, एक है, ब्रह्म है अतः उसमें एकीकरण और सर्वसामान्य बनानेवाले ज्ञान की ओर प्रवृत्ति भी है साथ-ही-साथ विभेद और वैशिष्ट्य करनेवाले ज्ञान की ओर भी। मन की वैशिष्ट्य करनेवाली शक्ति केवल तब अज्ञान बनती है जब वह अपने-आपको उन उच्चतर तत्त्वों से अलग कर लेता है जिनकी वह शक्ति है, और जब वह अपनी विशेष प्रवृत्ति से ही नहीं बल्कि बाकी सारे ज्ञान का बहिष्कार करने की प्रवृत्ति से काम करता है, पहले, मुख्य रूप से, सदा विशिष्ट करना और एकत्व को एक ऐसी अस्पष्ट धारणा के

रूप में छोड़ देना चाहता है जिसकी ओर बाद में विशेषीकरण पूरा हो जाने पर विशेषों के कुल योग के द्वारा ही जाना है। यह अनन्यता ही अज्ञान की आत्मा है।

तो हमें चेतना की इस विचित्र शक्ति को पकड़ना होगा जो हमारे सब रोगों की जड़ है। उसकी कार्य-पद्धति के सिद्धांत को जांचना होगा और उसके सारगत स्वभाव और मूल का ही नहीं बल्कि उसकी शक्ति और कार्य-पद्धति का और उसके अंतिम छोर और उसे हटाने के उपायों का भी पता लगाना होगा। अज्ञान का अस्तित्व ही कैसे है? अनंत आत्म-अभिज्ञता में कोई तत्त्व या शक्ति आत्म-ज्ञान को पीछे डालकर, अपनी ही विशेष सीमित क्रिया के सिवा बाकी सब का बहिष्कार कैसे कर पायी? कुछ मनीषियों[1] ने घोषणा की है कि इस समस्या का समाधान नहीं हो सकता, यह एक आद्य रहस्य है और आंतरिक रूप से इसकी व्याख्या करना असंभव है, केवल तथ्य और प्रक्रिया बतलाये जा सकते हैं। वे परम आद्य सत् या असत् के स्वरूप के प्रश्न को या तो यह कहकर टाल देते हैं कि इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता, या इसका उत्तर देना जरूरी नहीं है। कहा जा सकता है कि माया अपने आधारभूत तत्त्व अज्ञान या भ्रम के साथ बस अस्तित्व रखती है और ब्रह्म की इस शक्ति में ज्ञान और अज्ञान की द्विविध शक्ति इसमें अंतर्निहित रूप से संभाव्य है। हमें बस इतना ही करना है कि इस तथ्य को मान लें और जीवन को त्यागकर वस्तुओं की सार्वभौम अस्थिरता और विश्व-जीवन की व्यर्थता को मानते हुए अज्ञान में से—ज्ञान द्वारा, लेकिन उसमें जो ज्ञान और अज्ञान दोनों से परे है—बच निकलने का साधन ढूंढ निकालें।

लेकिन सारे मामले की जड़ में ही इस तरह टाल-मटोल करने से हमारा मन संतुष्ट न होगा, स्वयं बौद्ध भी इससे संतुष्ट नहीं हुए। पहली बात तो यह है कि ये दर्शन मूल प्रश्न को एक ओर रखते हुए वस्तुतः ऐसे व्यापक प्रतिपादन करते हैं जो अज्ञान की किसी विशेष क्रिया या लक्षणों को ही नहीं बल्कि अज्ञान के एक आधारभूत स्वभाव को मान लेते हैं और उसी के आधार पर उनके उपचार के नुस्खे तैयार होते हैं। और यह स्पष्ट है कि ऐसे मूलभूत निदान के बिना बनाये गये दवाई के नुस्खे नीमहकीमी के सिवा कुछ न होंगे। लेकिन अगर हम मूल प्रश्न को टाल दें तो हमारे पास यह फैसला करने के लिये कोई साधन नहीं है कि ये प्रस्तुत

[1] बुद्ध ने इस दार्शनिक समस्या पर विचार करने से इंकार कर दिया। उन्होंने कहा कि हमारा मिथ्या व्यक्तित्व कैसे बना, किस प्रक्रिया से बना, दुःखमय जगत् का अस्तित्व कैसे बना हुआ है, उससे बच निकलने का क्या उपाय है—बस इसी का महत्त्व है। कर्म एक तथ्य है। वस्तुओं का निर्माण, एक ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण जिसका सचमुच अस्तित्व नहीं है—यही दुःख का कारण है। हमारा एकमात्र उद्देश्य होना चाहिये कर्म से, व्यक्तित्व से, दुःख-दर्द से पिंड छुड़ाना। इसका निष्कासन करके हम किसी ऐसी अवस्था में पहुंच सकते हैं जो इन सबसे मुक्त है, चिरस्थायी और सत्य है। बस, मुक्ति का मार्ग ही महत्त्व रखता है।

प्रतिपादन ठीक हैं या नहीं या नुस्खे में दिये गये उपचार ठीक हैं या नहीं या ये ऐसे दूसरे उपचार हैं या नहीं जो इतने उग्र, विनाशक रूप से परिवर्तनकारी या अंगभंग करनेवाली शल्य-क्रिया की तरह के या रोगी का अंत करनेवाले न हों, फिर भी अधिक सर्वांगीण और स्वाभाविक रोग-मुक्ति ले आयें। दूसरी बात यह कि विचारशील मनुष्य का सदा यह कार्य रहता है कि वह जाने। हो सकता है कि वह मानसिक साधनों से अज्ञान या विश्व में किसी भी और चीज के सार को, उसकी विशेषता को इस तरह न जान पाये कि वह उसकी व्याख्या कर सके। क्योंकि मन उस अर्थ में ही चीजों के चिह्नों, लक्षण, रूप, गुण, कर्म और दूसरी चीजों के साथ संबंध के द्वारा ही जान सकता है, उनकी गुह्य आत्म-सत्ता और सारतत्त्व में नहीं। लेकिन हम अज्ञान के बाहरी रूप और क्रिया-व्यापार के अपने अवलोकन को तबतक अधिकाधिक आगे-आगे बढ़ा सकते हैं, अधिकाधिक स्पष्ट कर सकते हैं जबतक हमें ठीक प्रकाशित करनेवाला शब्द न मिल जाये, उस चीज का संकेतात्मक बोध न मिल जाये और इस तरह हमें उसका ज्ञान बुद्धि द्वारा नहीं, बल्कि सत्य के दर्शन और अनुभव द्वारा स्वयं अपनी सत्ता में सत्य की उपलब्धि द्वारा न मिल जाये। मनुष्य के उच्चतम बौद्धिक ज्ञान की सारी प्रक्रिया इसी मानसिक परिचालन और विवेक के द्वारा उस हदतक जाती है जहां पर्दा फट जाता है और वह देख सकता है। अंत में आध्यात्मिक ज्ञान आता है ताकि हमें वह बनने में सहायता दे जिसे हम देखते हैं, उस प्रकाश में प्रवेश करने दे जिसमें कोई अज्ञान नहीं है।

यह सच है कि अज्ञान का प्रथम मूल मानसिक सत्ताएं होने के नाते हमारी पहुंच के परे है क्योंकि हमारी बुद्धि स्वयं अज्ञान में ही रहती और गति करती है। वह उस बिंदुतक नहीं पहुंच पाती या उस स्तरतक नहीं चढ़ सकती जहां वह विभाजन हुआ था जिसका परिणाम है व्यक्तिगत मन। लेकिन पहले उद्गम के बारे में यह सच है और यह सभी चीजों का आधारभूत सत्य है और इस सिद्धांत पर हमें सामान्य अज्ञेयवाद से संतुष्ट रहना चाहिये। मनुष्य को अज्ञान में कार्य करना है, उसकी परिस्थितियों में सीखना है, उसे उसके अंतिम छोरतक जानना है ताकि वह उसकी सीमाओंतक पहुंच सके जहां वह सत्य से मिलता है, उसके प्रकाशमय धुंधलेपन के अंतिम ढक्कन का स्पर्श कर सके और ऐसी क्षमताएं विकसित कर सके जो उसे उस शक्तिशाली परंतु सचमुच निःसत्व अवरोध को लांघने के योग्य बनायें।

हमने अज्ञान के इस तत्त्व या इस शक्ति की प्रकृति और क्रिया की अभीतक जितनी जांच की है उससे ज्यादा गहराई से करनी होगी और उसकी प्रकृति और उसके उद्गम की अधिक स्पष्ट धारणा प्राप्त करनी होगी। और पहले हमें अपने मन में दृढ़ता से यह बिठाना होगा कि इस शब्द से हमारा ठीक मतलब क्या है। ज्ञान और अज्ञान का भेद ऋग्वेद के मंत्रों से ही शुरू होता है। यहां ऐसा लगता है

कि ज्ञान का अर्थ है सत्य की, ऋत की चेतना, *सत्यम् ऋतम्*, और वह सब जो सत्य और ऋत की कोटि का है। अज्ञान है सत्य और ऋत के बारे में अचेतना, अचित्ति, सत्य और ऋत की क्रियाओं का विरोध और मिथ्या या प्रतिकूल क्रियाओं की सृष्टि। अज्ञान है प्रत्यक्ष दर्शन की उस दिव्य आंख का अभाव जो हमें अतिमानसिक सत्य की दृष्टि देती है। वह हमारी चेतना में सत्य-द्रष्टा, सचेतन दृष्टि और ज्ञान के विरोध में न खनेवाला तत्त्व है,[1] चित्ति के विरोध में अचित्ति है। अपनी वास्तविक क्रिया में यह न देखनेवाला पूर्ण निश्चेतना, निश्चेतन सागर[2] नहीं है जिसमें से यह जगत् निकला है बल्कि या तो सीमित या फिर मिथ्या ज्ञान है, ऐसा ज्ञान जो अविभक्त सत्ता के विभाजन पर आधारित है, जिसका आधार खंडित और जरा-सा है, जो उसके ठीक विपरीत है जो वस्तुओं की प्रचुर, बृहत् और प्रकाशमय पूर्णता है। यह एक ऐसा ज्ञान है जो अपने परिसीमन के अवसर के कारण मिथ्यात्व में बदल गया है और उस रूप में इसका समर्थन करते हैं अंधकार और विभाजन के पुत्र, मनुष्य के अंदर दिव्य प्रयास के शत्रु, आक्रमण करनेवाले डाकू, ज्ञानालोक को ढकनेवाले (वृत्रपुत्र, दस्यु)। यह माना जाता था कि यह एक अदैवी माया है जो मिथ्या मानसिक रूप और आभासों की सृष्टि करती है—और इसी कारण बाद के युग में इस शब्द का यही अर्थ हो गया। लेकिन ऐसा लगता है कि पहले इसका अर्थ था ज्ञान की रचना करनेवाली शक्ति, परम जादूगर, दिव्य ऐन्द्रजालिक का सच्चा जादू। लेकिन इसका उपयोग निम्नतर ज्ञान की विरोधी रचना करनेवाली शक्ति, छल, भ्रम और राक्षस का धोखा देनेवाले जादू के अर्थ में भी हुआ। दैवी माया वस्तुओं के सत्य का ज्ञान, उसके सारतत्त्व, विधान, क्रिया का ज्ञान है जो देवों के अधिकार में होती है और उसपर वे अपनी शाश्वत क्रिया और सृजन[3] की और मनुष्यों में अपनी शक्तियों की रचना की नींव रखते हैं। वैदिक रहस्यवादियों का यह विचार एक अधिक तत्त्व-मीमांसात्मक विचार और भाषा में इस धारणा द्वारा व्यक्त किया जा सकता है कि अपने मूल में अज्ञान एक विभाजनकारी मानसिक ज्ञान है जो वस्तुओं के एकत्व को, सारतत्त्व, आत्म-विधान को उनके मूल रूप या सार्वभौमिकता में नहीं पकड़ पाता बल्कि विभक्त विशिष्टताओं, पृथक् आभासों, आंशिक संबंधों पर क्रिया करता है मानों ये ही वे सत्य हैं जिन्हें हमें ग्रहण करना है, या वे उनके विभाजन के पीछे वापस एकत्वतक गये बिना, छितराव के पीछे सार्वभौमिकतातक गये बिना जरा भी सचमुच समझ में आ सकते हों। ज्ञान वह है जो एकीकरण की ओर प्रवृत्त होता है और अतिमानसिक क्षमता को पाकर अस्तित्व के एकत्व, सार और स्वधर्म को ग्रहण करता है और वस्तुओं के बहुत्व को उसी प्रकाश और पूर्णता में से देखता और उसके साथ व्यवहार करता है, कुछ-कुछ

[1] अचित्ति और चित्ति [2] अप्रकेतम् सलिलम् [3] देवानाम् अदब्धा व्रतानि।

उसी तरह जैसे स्वयं भगवान् अपनी उच्चतम ऊंचाइयों से करते हैं जहां से वे जगत् को आलिंगन में लेते हैं। फिर भी यह देखना है कि इस धारणा में अज्ञान एक प्रकार का ज्ञान ही है लेकिन, चूंकि वह सीमित है अतः वह किसी भी स्थान पर मिथ्यात्व और भ्रांति की घुस-पैठ के लिये खुला रहता है, वह चीजों की गलत धारणा में मुड़ जाता है जो सच्चे ज्ञान के विपरीत खड़ी होती है।

उपनिषदों के वेदांती विचारों में हम वेद की मूल परिभाषा चित्ति और अचित्ति की जगह विद्या और अविद्या के सुपरिचित विरोध को स्थान लेते हुए पाते हैं और परिभाषाओं के परिवर्तन के साथ ही अर्थ में भी एक विशेष परिवर्तन आ गया है। कारण, चूंकि ज्ञान का स्वभाव है सत्य को खोजना और आधारभूत सत्य है एकमेव जिसके बारे में वेद बार-बार कहता है वह सत्य और वह एक—*तत्सत्यम्* और *तदेकम्*। इसलिये विद्या (ज्ञान) का अर्थ, उसके उच्चतम आध्यात्मिक भाव में विशुद्ध और तीक्ष्ण रूप से उस एक का ज्ञान माना जाने लगा और अविद्या (अज्ञान) का अर्थ शुद्ध और तीक्ष्ण रूप से किया जाने लगा विभक्त बहु का ज्ञान—एकत्व लानेवाली 'अद्वय सद्वस्तु' की चेतना से अलग-थलग जैसा कि वह हमारे जगत् में उससे अलग-थलग है। वैदिक शब्दों की धारणा में जो विविध और उपलक्षित भावों और सारगर्भित रूपकों के बहुमुखी संयोग थे, उनकी समृद्ध अंतर्वस्तुएं, ज्योतिर्मय उपच्छायाएं थीं, उनका एक बड़ा भाग अधिक सुनिश्चित और दार्शनिक किंतु कम मनोवैज्ञानिक और कम लचीली भाषा में खो गया। फिर भी आत्मा और आध्यात्मिक सत्ता के सच्चे सत्य से पूरे-पूरे अलगाव का, एक आद्य भ्रम का, स्वप्न और विभ्रम के साथ बराबरी करनेवाली चेतना का भाव—जो बाद में अतिशयोक्तिपूर्ण विचार बन गया—पहले-पहल वेदांत की अज्ञानसंबंधी कल्पना में नहीं आया। अगर उपनिषदों में यह कहा गया है कि जो अविद्या के अंदर निवास और विचरण करता है वह ऐसे अंधे की तरह ठोकरें खाता हुआ घूमता-फिरता है जिसे दूसरा अंधा रास्ता दिखा रहा है और वह लौट कर हमेशा मृत्यु के जाल में आ जाता है जो उसके लिये फैला रहता है तो उपनिषदों में कहीं और यह भी प्रतिपादित किया गया है कि जो विद्या का ही अनुसरण करता है वह अविद्या का अनुसरण करनेवाले की अपेक्षा मानों अधिक घने अज्ञान में प्रवेश करता है और जो ब्रह्म को विद्या और अविद्या, एक और बहु, संभूति और असंभूति दोनों रूपों में जानता है वह अविद्या द्वारा, बहुत्व के अनुभव द्वारा मृत्यु को पार कर जाता है और विद्या के द्वारा अमृतत्व को पाता है क्योंकि वह स्वयंभू ही ये बहुत-सी सत्ताएं बन गया है। उपनिषद् भागवत पुरुष से पूर्ण गंभीरता के साथ, बहकाने के किसी भाव के बिना, कह सकता है, "तुम ही अपनी लाठी लेकर चलनेवाले यह बूढ़े हो, तुम ही वह लड़का और वह लड़की हो, यह नीले पंखोंवाला और यह लाल आंखोंवाला पक्षी हो," अपने-आपको धोखा देनेवाले अज्ञान के मन की तरह

यह नहीं कि "तुम ये सब चीजें प्रतीत होते हो"। संभवन की स्थिति सत् की स्थिति से नीची है फिर भी सत् ही तो विश्व में जो कुछ है वह सब बनता है।

लेकिन अलगाव के विभेद की प्रगति को यहीं पर नहीं रुकना था, उसे अपने न्याय-संगत अंततक पहुंचना था। चूंकि एकमेव का ज्ञान तो ज्ञान है और बहु का ज्ञान अज्ञान है अतः कठोर विश्लेषणात्मक और तार्किक दृष्टि के लिये इन दो परिभाषाओं से निर्दिष्ट चीजों में शुद्ध विरोध के सिवा कुछ हो ही नहीं सकता, उनमें कोई तात्त्विक ऐक्य नहीं है और कोई समाधान संभव नहीं है। अतः केवल विद्या ही ज्ञान है, अविद्या शुद्ध अज्ञान है और अगर शुद्ध अज्ञान भावात्मक रूप लेता है तो इसलिये कि वह केवल सत्य को न जानना ही नहीं है बल्कि भ्रांतियों और भ्रमों की सृष्टि है, वास्तविक दीखनेवाली अवास्तविकताओं की, अल्प समय के लिये वैध मिथ्यात्वों की सृष्टि है, तो स्पष्ट है कि अविद्या की विषय-वस्तु का कोई सच्चा और स्थायी अस्तित्व नहीं हो सकता, बहु एक भ्रांति है, जगत् की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। निःसंदेह जबतक वह रहता है तबतक उसका एक तरह का अस्तित्व होता है, जैसे स्वप्न का या उन्मत्त या विक्षिप्त मस्तिष्क के लंबे समयतक रहनेवाले विभ्रम का अस्तित्व होता है, इससे बढ़कर कुछ नहीं। 'एक' न तो 'बहु' हुआ है न कभी हो ही सकता है, आत्मा न तो ये सब चीजें बनी है न बन सकती है। ब्रह्म ने अपने अंदर न तो वास्तविक जगत् को अभिव्यक्त किया है न कर सकता है। मन ही या वह तत्त्व जिसका परिणाम है मन, निर्गुण एकत्व पर—जो एकमात्र वास्तविकता है—नाम, रूप आरोपित करता है। तत्त्वतः निर्गुण होने के कारण वह वास्तविक रूपों और विभिन्नताओं को अभिव्यक्त नहीं कर सकता या फिर, अगर वह इन चीजों को अभिव्यक्त करता भी है तो वह कालिक या अस्थायी वास्तविकता होती है जो गायब हो जाती है और सच्चे ज्ञान के प्रकाश द्वारा अवास्तविकता के लिये दोषी ठहरायी जाती है।

अंतिम सद्वस्तु और माया के सच्चे स्वरूप के बारे में हमारी दृष्टि ने हमें तार्किक बुद्धि की इन परवर्ती पैनी अतिशयताओं से हटकर मौलिक वेदांती धारणाओं की ओर लौटने के लिये बाधित किया है। इन चरम निष्कर्षों की तेजस्वी निर्भयता, इन सिद्धांतों की अनन्य तार्किक शक्ति और तीक्ष्णता की हम पूरी सराहना करते हैं। जबतक हम इनके आधार वाक्यों को मानते हैं ये निष्कर्ष अकाट्य रहते हैं। हम इनके दो मुख्य दावों के सत्य को भी मानते हैं; यह कि ब्रह्म एकमात्र सच्ची सद्वस्तु है और यह तथ्य कि स्वयं अपने बारे में और जगत्-सत्ता के बारे में हमारी सामान्य धारणाएं अज्ञान की छाप लिये हैं, अपूर्ण हैं और बहकानेवाली हैं। इन बातों को मानते हुए भी माया की इस धारणा ने बुद्धि पर जो इतना जोरदार अधिकार पा लिया है, हम उससे अपने-आपको खींच लेने के लिये बाधित हैं। लेकिन जबतक हम अज्ञान के सच्चे स्वरूप की थाह न ले लें और ज्ञान के सच्चे, पूर्ण स्वरूप की

भी थाह न ले लें तबतक दीर्घकाल से प्रतिष्ठित वस्तुओं के बारे में इस दृष्टि के सम्मोहन से पूरी तरह पिंड नहीं छुड़ा सकते। क्योंकि अगर ये दोनों चेतना की स्वतंत्र, समान और आद्य शक्तियां हों तो विश्व-भ्रम की संभावना हमारा पीछा करती है। अगर अज्ञान वैश्व जीवन का स्वधर्म है तो स्वयं विश्व नहीं तो हमारा विश्व का अनुभव अवश्य ही भ्रम हो जाता है। अथवा अगर अज्ञान हमारी प्रकृति का स्वधर्म तो न हो पर फिर भी चेतना की आदि और शाश्वत शक्ति हो तो यह संभव है कि वह विश्व का सत्य तो हो परंतु विश्व में अस्तित्व रखनेवाले जीव के लिये, जबतक वह विश्व में रहता है, उसके सत्य को जानना असंभव हो। वह यथार्थ ज्ञानतक तभी पहुंच सकेगा जब वह मन और विचार के परे चला जाये, इस जगत्-संगठन से परे चला जाये और सभी चीजों को ऊपर से किसी विश्वातीत या विश्वोत्तर चेतना से उन लोगों की तरह देख सके जो शाश्वत पुरुष से एक-स्वरूप हो चुके हैं और उसी में निवास करते हैं, जो सृष्टि में अजन्मे हैं और अपने से नीचे के जगतों के प्रलयंकर विनाश से अछूते रहते हैं।[1] लेकिन इस समस्या का समाधान संतोषप्रद रूप से शब्दों और भावों की परीक्षा के आधार पर नहीं खोजा या पाया जा सकता और न ही तार्किक वाद-विवाद से। वह चेतना के साथ संबंध रखनेवाले सभी तथ्यों, सतही और साथ ही सतही स्तर से नीचे या ऊपर के या सामने की सतह से पीछे के तथ्यों के संपूर्ण अवलोकन, उनके अंदर प्रवेश और उनके अर्थ की थाह लेने में सफलता का ही परिणाम होगा।

क्योंकि तार्किक बुद्धि तात्त्विक या आध्यात्मिक सत्यों के बारे में पर्याप्त रूप से निर्णायक नहीं है; और फिर बहुधा शब्दों और अमूर्त भावों के साथ ऐसे व्यवहार करने की प्रवृत्ति के कारण मानों वे बाध्यकारी वास्तविकताएं हों, वह उन्हें जंजीरों की तरह पहने रहती है और उनके परे, हमारे जीवन के सारगत और समग्र तथ्यों की ओर निर्बाध रूप से नहीं देखती। बौद्धिक वक्तव्य उस पहले से उपस्थित दृष्टि का हमारी बुद्धि के आगे विवरण और तर्क द्वारा समर्थन है, वस्तुओं के ऐसे दृश्य का जो हमारे मन या स्वभाव के किसी विशेष प्रकार के झुकाव या हमारी प्रकृति की किसी विशेष प्रवृत्ति में पहले से ही रहता है और गुप्त रूप से उस तर्क को निश्चित करता है जो उस दृष्टितक ले जाने का दावा करता है। वह तर्क अपने-आपमें तभी निर्णायक हो सकता है जब वस्तुओं का वह प्रत्यक्ष दर्शन, जिसपर वह खड़ा होता है, अपने-आप सच्चा और साथ-ही-साथ समग्र दर्शन हो। यहां हमें जो चीज सचाई के साथ और सर्वांगीण रूप से देखनी है वह है अपनी चेतना की प्रकृति और उसकी प्रामाणिकता, अपनी मानसिकता का मूल और उसका क्षेत्र, क्योंकि तभी हम अपनी सत्ता और प्रकृति और जगत्-सत्ता और जगत्-प्रकृति के सत्य को जान सकते हैं। इस तरह की जांच में हमारा नियम होना चाहिये देखना

[1] गीता

और जानना। तार्किक बुद्धि का उपयोग उसी हदतक होना चाहिये जहांतक वह हमारी व्यवस्था को स्पष्ट करती, अंतर्दर्शन और ज्ञान की हमारी व्याख्या को न्याय-संगत ठहराती है लेकिन उसे हमारी धारणाओं पर शासन करने और ऐसे सत्य का बहिष्कार करने नहीं दिया जा सकता जो उसके न्याय के कठोर ढांचे में नहीं आता। भ्रम, ज्ञान और अज्ञान हमारी चेतना के पद या परिणाम हैं और केवल अपनी चेतना में गहराई में देखने से ही हम ज्ञान और अज्ञान के या माया के—अगर उसका अस्तित्व है तो—और सद्वस्तु के लक्षण या संबंधों का पता लगा सकते और उन्हें निर्धारित कर सकते हैं। निःसंदेह सत्ता ही हमारी जांच का आधारभूत विषय है, हमें जानना है कि वस्तुएं अपने-आपमें और अपने स्वभाव में कैसी हैं, लेकिन हम चेतना द्वारा ही सत्तातक पहुंच सकते हैं। अथवा अगर यह स्थापना की जाये कि चूंकि सत्ता या सत् अतिचेतन है इसलिये उसतक पहुंचने के लिये, उसमें प्रवेश पाने के लिये हमें चेतना का विलोपन या अतिक्रमण करना होगा या यह उसके अपने अतिक्रमण या रूपांतर द्वारा ही हो सकेगा फिर भी हमें इस आवश्यकता का ज्ञान और इस विलोपन या आत्मातिक्रमण, इस रूपांतर के संपादन की प्रक्रिया या शक्ति का ज्ञान चेतना द्वारा ही होता है। अतः चेतना द्वारा अतिचेतन सत्य को जानना परम आवश्यक हो जाता है और जिस शक्ति या प्रक्रिया द्वारा चेतना अतिचेतना में जा सकती है उसका आविष्कार ही परम आविष्कार हो जाता है।

लेकिन ऐसा लगता है कि हमारे अंदर चेतना और मन एकरूप हैं। बहरहाल मन हमारी सत्ता का इतना प्रमुख तत्त्व है कि उसकी आधारभूत गतियों की जांच करना हमारी पहली आवश्यकता है। वस्तुतः मन ही हमारा सब कुछ नहीं है, हमारे अंदर प्राण और शरीर भी हैं, अवचेतना और निश्चेतना भी हैं, एक आध्यात्मिक सत्ता भी है जिसका मूल और गुप्त सत्य हमें एक गुप्त भीतरी चेतना और अतिचेतना में ले जाता है। अगर मन ही सब कुछ होता या वस्तुओं में विद्यमान आदि चेतना का स्वरूप भी मन जैसा ही होता तो यह धारणा बनायी जा सकती थी कि भ्रम या अज्ञान हमारे प्राकृत जीवन का मूल हैं क्योंकि मानस-प्रकृति द्वारा ज्ञान का परिसीमन और धुंधलापन ही भूल और भ्रम की रचना करते हैं। हमारे मन की क्रिया के बनाये हुए भ्रम ही हमारी चेतना के पहले तथ्यों में से हैं। इसलिये यह धारणा की जा सकती है कि मन एक ऐसे अज्ञान का उत्पत्ति-स्थान है जो हमसे एक मिथ्या जगत् का, एक ऐसे जगत् का, जो चेतना की आत्मनिष्ठ रचना से बढ़कर कुछ नहीं है, निर्माण करवाता या हमारे सामने एक मिथ्या जगत् का निरूपण करवाता है। या फिर मन एक ऐसा उत्पत्ति-स्थान हो सकता है जिसमें कोई मौलिक भ्रम या अज्ञान, माया या अविद्या, मिथ्या, अस्थायी विश्व का बीज बोते हैं। मन तब भी मां होगा लेकिन एक "बांझ मां"—क्योंकि बालक फिर भी अवास्तविक होगा—और माया या अविद्या को विश्व की नानी माना जा सकता है क्योंकि स्वयं

मन माया का उत्पादन या प्रतिरूप होगा। लेकिन इस अस्पष्ट और रहस्यमयी नानी की आकृति को पहचानना कठिन है क्योंकि तब हमें शाश्वत सद्वस्तु पर वैश्व कल्पना या भ्रम-चेतना का आरोपण करना होगा। तब सद्वस्तु-स्वरूप ब्रह्म या तो स्वयं निर्माण करनेवाला मन होगा या मन से बड़ी, रचना करनेवाली परंतु उसी के जैसी कोई चेतना होगा या वह मन या चेतना उसकी होगी या वह उन्हें सहारा देता होगा। वह अपनी क्रिया या अपने अनुमोदन द्वारा भ्रम और भूल-भ्रांति का रचयिता या हो सकता है कि मन की तरह ही उनमें किसी तरह से भाग लेने के कारण उनका शिकार भी हो। अगर मन केवल एक माध्यम या दर्पण हो जिसमें आद्य भ्रम का प्रतिबिंब या सद्वस्तु के मिथ्या रूप का प्रतिबिंब या छाया दिखायी देती है तो भी समस्या कम जटिल न होगी, क्योंकि प्रतिबिंब के इस माध्यम के मूल की व्याख्या न की जा सकेगी और उसपर पड़नेवाले मिथ्या प्रतिबिंब के मूल की भी व्याख्या न की जा सकेगी। अनिर्देश्य ब्रह्म का प्रतिबिंब भी अनिर्देश्य ही होगा, बहुविध विश्व जैसा नहीं। या अगर प्रतिबिंबित करनेवाले माध्यम की असमानता के कारण, उसका रूप तरंगोंवाले और चंचल जल के जैसा होने के कारण ही सद्वस्तु के खंडित बिंब बनते हैं, तो भी प्रतिबिंबित होनेवाले रूप सत्य के ही खंडित और विकृत रूप होंगे न कि वस्तुओं के मिथ्या नाम-रूपों के अंकुरों की भीड़, जिनका सद्वस्तु में कोई स्रोत या आधार न था। एक ही सद्वस्तु का बहुविध सत्य होना चाहिये जो, चाहे जितने मिथ्या और अपूर्ण रूप में क्यों न हो, मन के विश्व की बहुविध प्रतिमाओं में प्रतिबिंबित होता है। तब यह भली-भांति हो सकता है कि जगत् एक वास्तविकता हो और मन की उसके बारे में रचना या उसका चित्र गलत या अपूर्ण हो। लेकिन इसका यह अर्थ होगा कि हमारे मानसिक विचार और प्रत्यक्ष दर्शन से भिन्न, जो केवल ज्ञान के लिये प्रयास है, कोई ज्ञान है, कोई सच्चा ज्ञान जो सद्वस्तु के बारे में अभिज्ञ है और उसके अंदर वास्तविक विश्व के सत्य के बारे में अभिज्ञ है।

क्योंकि, अगर हमें पता लगे कि केवल उच्चतम सद्वस्तु और अज्ञानी मन का ही अस्तित्व है तो हमारे पास यह मानने के सिवा कोई उपाय न रहेगा कि अज्ञान ब्रह्म की एक मौलिक शक्ति है और हमें अविद्या या माया को सभी चीजों का स्रोत मानना होगा। माया आत्माभिज्ञ ब्रह्म की शाश्वत शक्ति होगी जिससे वह अपने-आपको भ्रम में डालता है या माया की बनायी हुई किसी ऐसी चीज को भ्रम में डालता है जिसे वह अपना आपा समझता है। मन एक ऐसी अंतरात्मा की अज्ञानी चेतना होगी जो केवल माया के एक अंश के रूप में अस्तित्व रखती है। माया ब्रह्म की ऐसी शक्ति होगी जिससे वह अपने ऊपर नाम और रूप आरोपित कर लेता है, मन उसकी उन्हें ग्रहण करने की और वास्तविकताओं के रूप में स्वीकार करने की शक्ति है। या फिर माया यह जानते हुए कि ये भ्रम हैं, भ्रमों का सृजन करनेवाली ब्रह्म की शक्ति होगी और मन यह भूलकर कि वे भ्रम हैं, उन्हें ग्रहण

करने की शक्ति होगा। लेकिन अगर ब्रह्म आत्माभिज्ञता में तत्त्वतः सदा एक है तो यह चालाकी संभव न होगी। अगर ब्रह्म अपने-आपको इस तरह विभक्त कर सकता है यानी एक ही साथ जानता भी हो और न भी जानता हो या एक भाग जानता हो और दूसरा न जानता हो, या अगर वह अपना कुछ अंश माया में डाल सकता हो तो ब्रह्म में चेतना की द्विविध या बहुविध क्रिया की क्षमता होनी चाहिये, एक तो सद्वस्तु की चेतना, दूसरी भ्रम की चेतना या एक अज्ञानी चेतना और दूसरी अतिचेतन चेतना। तार्किक दृष्टि से यह द्वैत या बहुविधता प्रथम दृष्टि में असंभव मालूम होती है लेकिन इसी परिकल्पना के आधार पर उसे ही सत्ता का निर्णायक तथ्य, आध्यात्मिक रहस्य और अतिबौद्धिक विरोधाभास होना चाहिये। लेकिन एक बार हम स्वीकार कर लें कि चीजों का एक अतिबौद्धिक रहस्य है तो हम समान रूप से या ज्यादा अच्छी तरह दूसरे निर्णायक तथ्य को भी स्वीकार कर सकते हैं कि एक हमेशा अनेक बन जाता है या होता है और अनेक भी एक होता या बन जाता है। यह भी पहली दृष्टि में तार्किक रूप से असंभव है, एक अतिबौद्धिक विरोधाभास है फिर भी वह अपने-आपको एक शाश्वत तथ्य और जीवन के विधान के रूप में उपस्थित करता है। लेकिन अगर इसे स्वीकार कर लिया जाये तो फिर भ्रमात्मक माया के हस्तक्षेप की कोई जरूरत नहीं रहती। या समान रूप से, जैसा हमने स्वीकार कर लिया है, हम अनंत और शाश्वत की धारणा स्वीकार कर सकते हैं कि वह अपनी चेतना की अनंत शक्ति द्वारा अपनी सत्ता के अथाह और असीम सत्य को बहुत से पहलुओं और प्रक्रियाओं, अनगिनत अभिव्यक्त करनेवाले रूपों और गतियों में अभिव्यक्त करने में सक्षम है। ये पहलू, प्रक्रियाएं, रूप और गतियां उसकी अनंत सद्वस्तु की वास्तविक अभिव्यक्तियां, वास्तविक परिणाम माने जा सकते हैं। तब इनमें निश्चेतना और अज्ञान को भी विपरीत पहलू के रूप में माना जा सकता है, अन्तर्प्रस्त चेतना और आत्म परिसीमित ज्ञान की शक्तियों के रूप में माना जा सकता है जिसे इसलिये प्रकट किया गया है क्योंकि वह काल में अमुक गति के लिये जरूरी है। वह है सद्वस्तु के विकास और प्रतिविकास की गति। यह अपने आधार में अतिबौद्धिक भले हो पर यह पूरी धारणा बिलकुल विरोधाभास नहीं है। यह अनंत के बारे में हमारी धारणा में परिवर्तन और विस्तार की मांग करती है।

लेकिन अगर हम केवल मन या अज्ञान के लिये मन की शक्ति पर ही विचार करें तो वास्तविक जगत् नहीं जाना जा सकता और इनमें से किसी संभावना की जांच नहीं की जा सकती। मन के अंदर सत्य के लिये भी शक्ति है। वह अपने विचार-कक्ष को विद्या और अविद्या दोनों के लिये खोलता है और अगर उसका आरंभ-बिंदु हो अज्ञान, उसका मार्ग भले भ्रांति के टेढ़े-मेढ़े रास्ते में से हो, फिर भी उसका लक्ष्य हमेशा ज्ञान ही रहता है। उसमें सत्यान्वेषण का एक आवेग होता है,

सत्य-प्राप्ति और सत्य-सृष्टि के लिये शक्ति भी है, भले वह गौण और सीमित हो। चाहे वह हमें सत्य के केवल बिंब या आकृतियां या अमूर्त व्यंजनाएं ही दिखला सके फिर भी वे अपने तरीके से सत्य-प्रतिबिंब या सत्य-रूपायण ही हैं और वे जिन वास्तविकताओं के रूप हैं वे अपने अधिक ठोस सत्य में किसी गहरी गहराई में या हमारी चेतना की शक्ति के किसी उच्चतर स्तर पर मौजूद हैं। जड़ पदार्थ और प्राण उन वास्तविकताओं का रूप हो सकते हैं, मन जिनकी अपूर्ण आकृति को ही छूता है। आत्मा में ऐसी रहस्यमयी और ऊर्ध्वस्थ वास्तविकताएं हो सकती हैं जिनका मन एक आंशिक और प्रारंभिक ग्रहणकर्ता, प्रतिलिपिक या प्रेषक मात्र है। तब हम चेतना की अन्य अतिमानसिक और अवमानसिक, साथ ही उच्चतर और गहनतर मानसिक शक्तियों की परीक्षा करके ही समग्र वास्तविकतातक पहुंच सकते हैं। और अंत में सब कुछ निर्भर होता है परम चेतना के सत्य पर जो उच्चतम सद्वस्तु की चीज है—या उसे अतिचेतन कह लो—उसपर और उसके साथ मन, अतिमानस, अवमानस और निश्चेतना के संबंध पर।

वस्तुतः सब कुछ बदल जाता है जब हम चेतना की निचली और उपरली गहराइयों में प्रवेश करते हैं और उन्हें एक सर्व-व्यापक सद्वस्तु के साथ जोड़ देते हैं। अगर हम अपनी और जगत् की सत्ता के तथ्यों को लें तो हम देखते हैं कि अस्तित्व सदा एक ही रहता है। एकत्व ही उसकी चरम बहुलता पर शासन करता है लेकिन प्रत्यक्ष रूप से देखने पर बहुलता भी ऐसी चीज है जिससे इंकार नहीं किया जा सकता। हमने देखा है कि एकत्व हर जगह हमारा पीछा करता है, जब हम सतह के नीचे चले जाते हैं तो हम देखते हैं कि वहां भी कोई बाध्यकारी द्वैत नहीं है। बुद्धि जिन विपरीतताओं और विरोधों का सृजन करती है वे केवल आद्य सत्य के पहलुओं के रूप में अस्तित्व रखते हैं। एकत्व और बहुत्व एक ही सद्वस्तु के दो ध्रुव हैं। जो द्वैत हमारी चेतना को परेशान करते हैं वे सत्ता के, एक और अभिन्न सत्य के विषमता दिखानेवाले सत्य हैं। इस तरह समस्त बहुत्व एक ही सत् की, सत् की एक ही चेतना की, सत् के एक ही आनंद की बहुविधता में स्वयं को विघटित कर लेता है। इस तरह सुख-दुःख के द्वैत में हमने देखा है कि दुःख सत्ता के एक ही आनंद का विपरीत प्रभाव है जो ग्रहणकर्ता की दुर्बलता का परिणाम होता है, उसे जो शक्ति मिलती है उसे हजम करने में असमर्थता, उसमें आनंद के जिस स्पर्श का अन्यथा अनुभव हुआ होता उसे सहने में असमर्थता का परिणाम है। वह आनंद का कोई मूलभूत विरोधी तत्त्व नहीं है बल्कि आनंद के प्रति चेतना की एक विकृत प्रतिक्रिया है। यह इस महत्त्वपूर्ण तथ्य से दिखायी देता है कि दुःख आनंद में और आनंद दुःख में बदल सकता है और दोनों मिलकर मौलिक आनंद में विघटित हो सकते हैं। इसी भांति दुर्बलता का प्रत्येक रूप वास्तव में एकमेव दिव्य इच्छा-शक्ति या एक ही वैश्व ऊर्जा की विशिष्ट क्रिया है। उस शक्ति में

दुर्बलता का अर्थ है उसकी अपनी शक्ति की क्रिया को पीछे की ओर रोके रखने, मर्यादित करने, किसी विशेष रूप से विन्यास करने की क्षमता। दुर्बलता या असमर्थता शक्ति के मूलभूत विरोधी तत्त्व नहीं हैं बल्कि आत्मा का अपनी शक्ति-संपूर्णता को रोके रखना या शक्ति की अपर्याप्त प्रतिक्रिया हैं। अगर ऐसा है तो यह भी हो सकता है और वस्तुओं के स्वभाव में ऐसा होना चाहिये कि हम जिसे अज्ञान कहते हैं वह एक अभिन्न दिव्य ज्ञान-इच्छा या माया की शक्ति से भिन्न कुछ नहीं है। यह एकमेव चेतना की सामर्थ्य है कि वह अपने ज्ञान की क्रिया को नियंत्रित कर सके, पीछे की ओर रोके रख सके, मर्यादित कर सके, किसी विशेष रीति से विन्यस्त कर सके। तब ज्ञान और अज्ञान ऐसे तत्त्व नहीं होंगे जिनमें मेल न बैठाया जा सके, जिनमें एक जगत्-सत्ता का निर्माण करे और दूसरा उसको सहन न कर सके, उसका नाश करे, बल्कि दोनों साथ रहनेवाली शक्तियां होंगी जो स्वयं विश्व में उपस्थित हैं, उसकी प्रक्रियाओं में अलग-अलग तरह से क्रिया करती हैं परंतु अपने सारतत्त्व में एक हैं और स्वाभाविक रूपांतर से एक-दूसरे में घुल-मिल सकती हैं। लेकिन अपने आधारभूत संबंध में अज्ञान समान सहवर्ती न होगा, वह ज्ञान पर निर्भर होगा, ज्ञान का परिसीमन या उसकी विपरीत क्रिया होगा।

ज्ञान-प्राप्ति के लिये हमें हमेशा अज्ञानी और हठी बुद्धि की कठोर रचनाओं को विघटित करना और जीवन के तथ्यों का स्वतंत्र रूप से और लचीले भाव से अवलोकन करना होगा। जीवन का आधारभूत तथ्य है चेतना जो शक्ति है, और वस्तुतः हम देखते हैं कि इस शक्ति के कार्य करने के तीन तरीके हैं। पहले हम देखते हैं कि सबके पीछे चेतना है, सबका आलिंगन करती हुई, सबके भीतर, जो अपने बारे में शाश्वत रूप से, वैश्व रूप से पूर्णतया अभिज्ञ है। वह चाहे एकत्व में हो या बहुत्व में या दोनों में एक साथ या दोनों से परे विशुद्ध परम पद में। यह परम दिव्य आत्म-ज्ञान की पूर्णता है, यह दिव्य सर्वज्ञान की पूर्णता भी है। फिर चीजों के दूसरे छोर पर हम इस चेतना को अपने अंदर प्रतीयमान विरोधों में निवास करते हुए पाते हैं और सबसे अधिक चरम विरोध अपनी पराकाष्ठा की अवस्था में तब पहुंचता है जब हमें उसकी अपने-आपकी पूर्ण अचित्ति की अवस्था, प्रभावकारी, क्रियात्मक, सर्जनात्मक निश्चेतना प्रतीत होती है। यद्यपि हम जानते हैं कि यह केवल ऊपरी प्रतीति है और निश्चेतन की क्रियाओं में दिव्य ज्ञान परम सुरक्षित रूप से और निश्चयता के साथ काम कर रहा है। इन दो विरोधों के बीच एक मध्यवर्ती के रूप में हम चेतना को आंशिक, सीमित आत्म-अभिज्ञता के साथ काम करते देखते हैं जो समान रूप से ऊपरी है क्योंकि उसके पीछे और उसके द्वारा काम करता है दिव्य सर्व-ज्ञान। यहां अपनी मध्यवर्ती स्थिति में वह दो विरोधों के बीच, परम चेतना और अचित्ति के बीच, एक स्थायी समझौता प्रतीत होती है लेकिन हमारी प्राप्त सामग्री को विशालतर दृष्टि से देखा जाये तो यह सिद्ध हो सकता है कि वह

सतह पर ज्ञान का अधूरा उभार है। इस समझौते या अपूर्ण उभार को ही हम अपने दृष्टिकोण से अज्ञान कहते हैं क्योंकि अज्ञान है हमारे विशिष्ट ढंग से आत्मा का पूर्ण आत्म-ज्ञान को अपने-आपसे रोके रखना। अगर हो सके तो हमें चेतना की शक्ति की इन तीन स्थितियों के मूल और उनके ठीक संबंधों को खोज निकालना है।

अगर हमने यह पता लगा लिया है कि अज्ञान और ज्ञान चेतना की दो स्वतंत्र शक्तियां हैं तो शायद हमें उनके भेद का अनुसरण चेतना के उस उच्चतम बिंदुतक करना होगा जहां दोनों की समाप्ति उस निरपेक्ष में होगी जहां से दोनों एक साथ प्रकट हुए थे।[1] तब यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि एकमात्र वास्तविक ज्ञान है अतिचेतन निरपेक्ष का सत्य। और चेतना का वह सत्य, विश्व का सत्य, विश्व के अंदर हमारा सत्य, अधिक-से-अधिक, एक आंशिक आकृति होगा जो सदा अज्ञान की सहवर्ती उपस्थिति, घेरे रहनेवाली उपच्छाया, और पीछा करनेवाली छाया के भार से दबी होगी। यह भी हो सकता है कि एक निरपेक्ष परम ज्ञान जो सत्य, सामंजस्य, व्यवस्था की प्रतिष्ठा करता है और एक परम निश्चेतना जो स्वैर कल्पना की क्रीड़ा को, असामंजस्य और अव्यवस्था को आधार देती है, अपने मिथ्यात्व, प्रमाद और दुःख की चरमता का अटल रूप से समर्थन करती है, मैनिकीवाद[2] के आपस में संघर्ष करते हुए और आपस में मिलते-जुलते प्रकाश और अंधकार, शुभ और अशुभ के द्विविध तत्त्व की तरह वैश्व जीवन की जड़ में स्थित हैं। तब कुछ मनीषियों का यह विचार कि एक निरपेक्ष शुभ है लेकिन साथ ही एक निरपेक्ष अशुभ भी और दोनों ही परम निरपेक्ष की ओर ले जानेवाले साधन हैं, संगत हो सकता है। लेकिन अगर हम देखें कि ज्ञान और अज्ञान एक ही चेतना के प्रकाश और छाया हैं, कि अज्ञान का आरंभ है ज्ञान का परिसीमन, कि परिसीमन आंशिक भ्रम और भ्रांति की अधीनस्थ संभावना के द्वार खोलता है, कि यह संभावना ज्ञान द्वारा जड़ निश्चेतना में सार्थक डुबकी लगाने से ही पूरा रूप धारण करती है परंतु ज्ञान भी उभरनेवाली चेतना के साथ निश्चेतना में से उभरता है; तब हम इस बारे में निश्चित हो सकते हैं कि अज्ञान की यह पूर्णता स्वयं अपने विकास के एक सीमित ज्ञान की ओर पीछे लौटने द्वारा इस आश्वासन का अनुभव कर सकती है कि सीमाएं अपने-आप दूर कर दी जाएंगी और वस्तुओं का पूर्ण सत्य प्रकट होगा, वैश्व सत्य

[1] उपनिषदों में कहा गया है कि विद्या और अविद्या दोनों परब्रह्म में शाश्वत हैं। लेकिन इसे इस अर्थ में स्वीकार किया जा सकता है कि ये एकत्व की चेतना और बहुत्व की चेतना हैं जो परम आत्म-अभिज्ञता में एक साथ निवास करती हुई अभिव्यक्ति का आधार बन गयीं। वहां ये शाश्वत आत्म-ज्ञान के दो पक्ष होंगी।

[2] ईरान का एक पुराना समन्वयात्मक मत जो जड़-चेतन, शुभ-अशुभ के मेल और उनमें से तपस्या द्वारा आत्मा की मुक्ति को मानता था।

अपने-आपको वैश्व अज्ञान से मुक्त कर लेगा। वस्तुतः हो यह रहा है कि अज्ञान अपने अंधकार के उत्तरोत्तर प्रबोध द्वारा अपने-आपको उस ज्ञान में रूपांतरित करने की चाह और तैयारी कर रहा है जो पहले से ही उसके अंदर छिपा हुआ है। इस रूपांतर द्वारा वैश्व सत्य अपने वास्तविक सारतत्त्व और आकृति में अभिव्यक्त होकर अपने-आपको परम सर्वव्यापक सद्वस्तु के सारतत्त्व और आकृति में प्रकट करेगा। हम अस्तित्व की इस व्याख्या से चले थे लेकिन उसे परखने के लिये हमें अपनी सतही चेतना के ढांचे का अवलोकन करना चाहिये और उसके भीतर, ऊपर और नीचे जो है उसके साथ उसका संबंध देखना चाहिये तभी हम अज्ञान के स्वरूप और क्षेत्र को भली-भांति जान सकेंगे। उस प्रक्रिया में उसका अर्थात् ज्ञान का स्वरूप और क्षेत्र भी हमारे आगे प्रकट हो जायेगा जिसका परिसीमन और विकार है अज्ञान—वह ज्ञान अपने पूर्ण रूप में आध्यात्मिक सत्ता का स्थायी आत्म-ज्ञान और विश्व-ज्ञान है।

अध्याय ८

स्मृति, आत्मचेतना और अज्ञान

स्वभावमेके कवयो वदन्ति, कालं तथान्ये।

कुछ लोग वस्तुओं के स्वभाव की बात कहते हैं, दूसरे कहते हैं कि यह काल है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् ६. १

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे कालश्चाकालश्च॥

ब्रह्म के दो रूप हैं, काल और अकाल।

मैत्र्युपनिषद् ६. १५

... ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी॥

रात्रि उत्पन्न हुई और रात्रि से सत्ता का बहता समुद्र और समुद्र पर काल उत्पन्न हुआ जिसके वश में हर देखनेवाला जीव है।

ऋग्वेद १०. १९०.१, २

स्मरो... भूयः... ; अस्मरन्तो नैवं ते कञ्चन... मन्वीरन्न विजानीरन्... । यावत्स्मरस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति॥

स्मृति उससे बड़ी है। स्मृति के बिना मनुष्य न कुछ सोच सकता है न जान सकता है... जहांतक स्मृति की गति है वहांतक वह स्वेच्छया विचरण करता है।

छान्दोग्योपनिषद् ७. १३. १, २

एष हि द्रष्टा, स्पष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता,
मन्ता, बोद्धा, कर्त्ता, विज्ञानात्मा पुरुषः॥

हमारे अंदर वही द्रष्टा, देखनेवाला, छूनेवाला, सुननेवाला, सूंघनेवाला, चखनेवाला, सोचनेवाला, समझनेवाला, क्रिया करनेवाला, सचेतन पुरुष, विज्ञानात्मा है।

प्रश्नोपनिषद् ४. ९

हमारी चेतना के द्विविध लक्षण के सर्वेक्षण में पहले हमें अज्ञान को देखना होगा क्योंकि हमारी सामान्य स्थिति है ज्ञान में परिणत होने की कोशिश करनेवाला अज्ञान। आरंभ में यह जरूरी है कि आत्मा और वस्तुओं की इस आंशिक

अभिज्ञता की कुछ अनिवार्य गतिविधियों पर विचार किया जाये, जो पूर्ण आत्म-ज्ञान और सर्व-ज्ञान तथा पूर्ण निश्चेतना के बीच मध्यस्थ का कार्य करती है और उस आरंभ-बिंदु से उसके हमारी सतह के नीचे की महत्तर चेतना के साथ संबंध का पता लगाया जाये। एक विचार-सरणी है जिसमें स्मृति की क्रिया पर बहुत जोर दिया गया है, यहांतक कहा गया है कि स्मृति ही मनुष्य है। स्मृति ही हमारे व्यक्तित्व का निर्माण करती है और हमारी मनोमय सत्ता के आधार को जोड़े रखती है क्योंकि वह हमारी अनुभूतियों को शृंखला-बद्ध रखती है और उनका उसी अभिन्न और व्यक्तिगत सत्ता के साथ नाता जोड़ती है। यह एक ऐसा भाव है जो काल के अनुक्रम में हमारे जीवन पर खड़ा होता है और प्रक्रिया को तात्त्विक सत्य की चाबी के रूप में स्वीकार करता है, तब भी जब वह समस्त सत्ता को प्रक्रिया के रूप में, या किसी तरह की स्वतः-नियामक ऊर्जा के विकास में कार्य-कारण रूप में, कर्म के रूप में नहीं देखता हो। लेकिन प्रक्रिया एक उपयोगिता मात्र है। वह कुछ ऐसे प्रभावकारी संबंधों का अभ्यासगत अंगीकरण है जो वस्तुओं की अनंत संभावनाओं में और तरह से व्यवस्थित किये जा सकते थे, ऐसे प्रभाव उत्पन्न करने के लिये जो समान रूप से एकदम भिन्न होते। वस्तुओं का वास्तविक सत्य उनकी प्रक्रिया में नहीं, उसके पीछे, जो प्रक्रिया को निर्दिष्ट करता, प्रभावित करता और शासित करता है उसमें रहता है, इतना कार्यान्वयन में नहीं जितना उस इच्छा या शक्ति में जो संपन्न करती है और इतना इच्छा या शक्ति में नहीं जितना उस चेतना में जिसका क्रियाशील रूप है इच्छा और उस सत्ता में जिसका क्रियाशील मूल्य है शक्ति। परंतु स्मृति तो चेतना की एक प्रक्रिया मात्र है, एक उपयोगिता है, वह हमारी सत्ता का पदार्थ या हमारे व्यक्तित्व की समग्रता नहीं हो सकती। वह केवल चेतना की क्रियाओं में से एक है जैसे विकीरण प्रकाश की क्रियाओं में से एक है। आत्मा ही मनुष्य है और अगर हम केवल अपने सामान्य सतही अस्तित्व को देखें तो मन ही मनुष्य है—क्योंकि मनुष्य मानसिक सत्ता है। स्मृति मन की बहुत-सी शक्तियों और प्रक्रियाओं में से एक है जो मन अभी चेतना-शक्ति या चित्-शक्ति की आत्मा, जगत् और प्रकृति के साथ हमारे व्यवहार में मुख्य क्रिया है।

फिर भी, जब हम अज्ञान की प्रकृति पर विचार करते हैं, जिसमें हम निवास करते हैं, तो स्मृति के व्यापार से आरंभ करना अच्छा है क्योंकि यह हमें अपने सचेतन अस्तित्व के किन्हीं महत्त्वपूर्ण पहलुओं की चाबी दे सकती है। हम देखते हैं कि मन स्मृति की अपनी क्षमता या प्रक्रिया के दो उपयोग करता है, आत्म-स्मृति और अनुभव-स्मृति। पहले मूल रूप से वह स्मृति का उपयोग हमारी सचेतन-सत्ता के तथ्य के साथ करता है और काल के साथ उसका नाता जोड़ता है। वह कहता है, "मैं अब हूं, मैं भूतकाल में था, अतः मैं भविष्य में भी रहूंगा, यह एक ही "मैं" काल के तीनों सदा अस्थायी विभागों में रहता है।" इस तरह वह अपने-

आपको, काल की अभिधाओं में चित्-सत्ता की सनातनता का विवरण देना चाहता है जिसके बारे में वह यह तो अनुभव करता है कि वह तथ्य है लेकिन उसे न तो वह सत्य के रूप में जान सकता है और न प्रमाणित कर सकता है। स्मृति द्वारा मन अपने बारे में केवल भूत की बात जान सकता है, प्रत्यक्ष अभिज्ञता द्वारा केवल वर्तमान की बात जान सकता है और इस अभिज्ञता के प्रसार और अनुमान द्वारा और स्मृति द्वारा, जो कहती है कि कुछ समय से अभिज्ञता सदा बनी रही है, मन अपने भविष्य के बारे में कल्पना कर सकता है। वह भूत और भविष्य की सीमा निर्धारित नहीं कर सकता। वह भूतकाल को अपनी स्मृति की सीमातक ही ले जा सकता है और औरों के तथा जीवन के तथ्यों के आधार पर, जिन्हें वह अपने चारों ओर देखता है, अनुमान कर सकता है कि सचेतन सत्ता उस काल में भी थी जिसे वह अब याद नहीं कर सकता। वह जानता है कि वह उस शैशव की तर्क-बुद्धिहीन मानसिक अवस्था में था जिसकी कड़ी स्मृति ने खो दी है लेकिन मर्त्य मन निश्चित नहीं कर पाता कि क्या भौतिक जन्म से पहले उसका अस्तित्व था क्योंकि यहां स्मृति में दरार है। भविष्य के बारे में वह कुछ भी नहीं जानता। अपने अगले क्षण में बने रहने के बारे में उसे एक नैतिक निश्चिति हो सकती है जिसे उस क्षण की कोई घटना गलत सिद्ध कर सकती है क्योंकि उसने जो देखा था वह एक प्रमुख संभाव्यता से बढ़कर कुछ न था। यह बात तो वह और भी नहीं जान सकता कि क्या भौतिक विघटन उस सचेतन सत्ता का अंत है या नहीं। फिर भी उसके अंदर एक स्थायी सातत्य का भाव रहता है जो आसानी से अपने-आपको शाश्वतता के विश्वासतक फैलाता है।

यह विश्वास या तो मन में एक अंतहीन अतीत का प्रतिबिंब हो सकता है जिसे वह भूल चुका है लेकिन जिसका कुछ अंश रूपहीन संस्कार की तरह बना हुआ है या वह आत्म-ज्ञान की छाया हो सकती है जो मन में हमारी सत्ता के उच्चतर या गहनतर स्तर से आती है जहां हम वास्तव में अपनी शाश्वत स्वयंभू सत्ता के बारे में अभिज्ञ हैं। या फिर यह माना जा सकता है कि यह एक विभ्रम हो। जैसे हम अपनी पूर्वदर्शी चेतना में मृत्यु के तथ्य का संवेद या अनुभव नहीं पा सकते और केवल निरंतर अस्तित्व की अनुभूति में ही रह सकते हैं, हमारे लिये अस्तित्व का अवसान एक बौद्धिक कल्पना ही हो सकता है जिसे हम विश्वास के साथ बनाये रख सकते हैं, जिसकी हम स्पष्ट कल्पना भी कर सकते हैं लेकिन जिसे कभी वास्तव में अनुभव नहीं कर सकते क्योंकि हम केवल वर्तमान में जीते हैं, फिर भी मृत्यु, अवसान या कम-से-कम हमारी सत्ता की वर्तमान विधि में व्यवधान एक तथ्य है और भविष्य में भौतिक शरीर में अविच्छिन्न बने रहने का संवेद या पूर्वदृष्टि एक सीमा के आगे—जिस सीमा को हम अभी निश्चित नहीं कर सकते—एक भ्रम हो जाता है, चित्-सत्ता की हमारी वर्तमान मानसिक भावना का मिथ्या विस्तार या

गलत प्रयोग हो जाता है। यह माना जा सकता है कि सचेतन शाश्वतता के इस मानसिक विचार या भाव के बारे में भी कुछ ऐसा ही होगा। या हो सकता है कि यह हमसे भिन्न किसी सचेतन या अचेतन किंतु वास्तविक शाश्वतता का बोध हो, विश्व की या विश्व से परे के 'कुछ' की शाश्वतता का बोध हो जिसे हमारे अपने लिये स्थानान्तरित कर लिया गया है। मन शाश्वतता के इस तथ्य को पकड़ कर उसे हमारी सचेतन सत्ता पर मिथ्या रूप से स्थानान्तरित कर देता है जब कि हो सकता है कि वह सत्ता एकमात्र सच्चे शाश्वत के एक क्षणिक व्यापार से बढ़कर कुछ न हो।

हमारे सतही मन के पास अपने-आपसे इन प्रश्नों को हल करने के लिये कोई साधन नहीं है। वह इनके बारे में अंतहीन रूप से अनुमान कर सकता है और न्यूनाधिक रूप से तर्क-संगत मतों पर पहुंच सकता है। अपनी अमरता के बारे में मान्यता श्रद्धा मात्र है, अपनी मर्त्यता के बारे में मान्यता श्रद्धा मात्र है। जड़वादी के लिये यह प्रमाणित करना असंभव है कि हमारी चेतना शरीर की मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जाती है। क्योंकि वह यह दिखला सकता है कि अभीतक ऐसा कोई विश्वास दिलानेवाला प्रमाण नहीं है कि हमारे अंदर की कोई चीज सचेतन रूप से बची रहती है लेकिन समान रूप से वस्तुओं की प्रकृति में ऐसा कोई प्रमाण नहीं है और न हो सकता है कि हमारी सचेतन आत्मा भौतिक विघटन के बाद भी नहीं बनी रहती। आगे चलकर, शरीर के अंत के बाद भी मानव व्यक्तित्व के बने रहने का प्रमाण संदेहवादी को भी संतुष्ट करने के लिये दिया जा सकता है लेकिन उससे भी सचेतन सत्ता की शाश्वतता की नहीं, अधिक लम्बे सातत्य की प्रतिष्ठा होगी।

वस्तुतः अगर हम शाश्वतता के बारे में मन की कल्पना की ओर देखें तो ऐसा लगता है कि इसका अर्थ होता है शाश्वत काल में सत्ता का क्षणों में अविच्छिन्न सातत्य। अतः काल ही शाश्वत है, अविच्छिन्न क्षणिक सचेतन सत्ता नहीं। लेकिन दूसरी ओर मन के प्रमाणों में ऐसा कुछ नहीं है जो यह बतलाये कि सचमुच शाश्वत काल का अस्तित्व है या स्वयं काल सचेतन सत्ता की उस देखने की विधि के अतिरिक्त कुछ है जिससे वह अस्तित्व की किसी अविच्छिन्न निरंतरता को या हो सकता है उसकी शाश्वतता को एक अविभाज्य प्रवाह के रूप में देखती है जिसे वह अपनी कल्पना द्वारा अनुभवों के अनुक्रम और युगपतता से नापती है, यह अस्तित्व उसके आगे इसी तरह से तो चित्रित किया जाता है। अगर कोई शाश्वत अस्तित्व है जो सचेतन सत्ता है तो उसे उस काल के परे होना चाहिये जिसे वह धारण करता है, हम उसे कालातीत कहते हैं। वह वेदांत का शाश्वत होना चाहिये, जिसके बारे में हम यह अनुमान कर सकते हैं कि वह काल का उपयोग अपनी अभिव्यक्ति और अपने अवलोकन के लिये धारणात्मक भूमिका के रूप में करता है। लेकिन इस शाश्वत का कालातीत आत्म-ज्ञान मन के परे है। यह

अतिमानसिक ज्ञान है जो हमारे लिये अतिचेतन है जिसे हमारे सचेतन मन की ऐहिक क्रियाओं को चुप करके या उनका अतिक्रमण करके, नीरव-निश्चलता में प्रवेश करके या नीरव-निश्चलता में से होकर शाश्वत की चेतना में चले जाने से ही पाया जा सकता है।

इस सब से एक महान् तथ्य उभरता है कि हमारे मन की प्रकृति ही है अज्ञान, पूर्ण निर्ज्ञान नहीं बल्कि सत्ता का सीमित और प्रतिबंधित ज्ञान, जो अपने वर्तमान की उपलब्धि, भूत की स्मृति और भविष्य के अनुमान से सीमित और इस कारण अपने और अपने अनुभवों के बारे में कालिक और आनुक्रमिक दृष्टि से प्रतिबंधित है। अगर वास्तविक अस्तित्व एक कालिक शाश्वतता है तो मन को वास्तविक सत्ता का ज्ञान नहीं है। क्योंकि वह स्वयं अपने भूत को धुंधलेपन की अस्पष्टता में खो देता है, उस जरा-से अंश को छोड़कर जिसे स्मृति पकड़े रहती है। उसे अपने भविष्य पर कोई अधिकार नहीं है जो कि अज्ञान की एक बड़ी रिक्तता में उससे रोक रखा गया है। उसे केवल अपने वर्तमान का ज्ञान होता है जो नामों, रूपों और घटनाओं के असहाय अनुक्रम में बदलता रहता है और मन के अधिकार या उसकी धारणा से परे अति बृहत् वैश्व क्रियाशीलता का प्रयाण या प्रवाह होता है। दूसरी ओर अगर वास्तविक अस्तित्व काल का अतिक्रमण करनेवाली शाश्वतता हो तो मन उसके बारे में और भी ज्यादा अज्ञ है क्योंकि वह केवल उतने ही अंश को जानता है जिसे वह क्षण-क्षण खंडित अनुभव द्वारा काल और देश में होनेवाली अपनी सतही आत्माभिव्यक्ति में पकड़ सकता है।

तो अगर मन ही सब कुछ हो, या हमारे अंदर प्रत्यक्ष मन ही हमारी सत्ता की प्रकृति का सूचक हो तो हम ऐसे अज्ञान से बढ़कर कुछ नहीं हो सकते जो काल में दौड़ा जा रहा है और बहुत ही छोटे और खंडित रूप में ज्ञान को पकड़ पाता है। लेकिन अगर मन के परे आत्म-ज्ञान की कोई शक्ति है जो तत्त्वतः कालातीत है और काल को देख सकती है, भूत, वर्तमान और भविष्य को शायद एक ही साथ सबका नाता जोड़नेवाली दृष्टि से देख सकती है, और किसी भी स्थिति में अपनी कालातीत सत्ता की परिस्थिति के रूप में देखती है तो हम चेतना की दो शक्तियां पाते हैं; ज्ञान और अज्ञान या वेदांत की भाषा में विद्या और अविद्या। तो इन दोनों को या तो अलग-अलग और बिना किसी संबंध की शक्तियां होना चाहिये जो अलग-अलग पैदा हुई हैं और अपनी क्रिया में भी अलग हैं, शाश्वत द्वैत में अलग-अलग स्वयंभू हैं या फिर अगर इनमें कोई संबंध है तो वह यह हो सकता है कि ज्ञान के रूप में चेतना अपनी कालहीन आत्मा को जानती और काल को अपने अंदर देखती है जब कि अज्ञान के रूप में चेतना उसी ज्ञान की आंशिक और सतही क्रिया है जो अपने-आपको काल के अंदर देखती है, अपने-आपको

अपनी ही कालिक सत्ता की धारणा के पर्दे के पीछे छिपा लेती है और उस पर्दे को हटाकर ही शाश्वत आत्म-ज्ञान की ओर लौट सकती है।

यह मानना न्याय-संगत न होगा कि अतिचेतन ज्ञान इतना ज्यादा अलग-थलग और पृथक् है कि वह काल, देश और कार्य-कारण-भाव को और उनके कार्यों को जानने में असमर्थ है क्योंकि तब तो वह एक और तरह का अज्ञान होगा। यह निरपेक्ष सत्ता के अंधेपन का कालिक सत्ता के अंधेपन को जवाब होगा मानों ये एक ऐसे सचेतन अस्तित्व के धन और ऋण छोर हों जो अपने-आपको पूरी तरह जानने में असमर्थ हो या केवल अपने-आपको जानता हो और अपनी क्रियाओं को न जानता हो या केवल अपने कार्यों को जानता हो और अपने-आपको न जानता हो—यह आपस में एक-दूसरे के बहिष्कार का एक बेतुका सममित संतुलन है। ज्यादा बड़े, प्राचीन वेदांती दृष्टिकोण से हमें अपने-आपको दोहरी सत्ता के रूप में नहीं बल्कि एक ऐसी सचेतन सत्ता के रूप में सोचना चाहिये जिसमें चेतना की दो कलाएं हैं। उनमें से एक हमारे मन में चेतन या अंशतः चेतन है, दूसरी मन के लिये अतिचेतन है; उनमें एक है कालावस्थित ज्ञान जो काल की अवस्थाओं के आधीन काम करता है और इस कारण अपने आत्म-ज्ञान को अपने पीछे रखता है दूसरी है कालातीत जो अपने-आप काल की अवस्थाओं को निर्धारित करती और उन्हें प्रभुता और ज्ञान के साथ कार्यान्वित करती है। एक अपने-आपको कालानुभव में होनेवाले अपने विकास से ही जानती है, दूसरी अपनी कालातीत आत्मा को जानती और अपने-आपको कालानुभव में सचेतन रूप से अभिव्यक्त करती है।

अब हम समझ पाते हैं कि जब उपनिषद् ने ब्रह्म को ज्ञान और अज्ञान दोनों बतलाया और बताया कि दोनों में ब्रह्म का युगपत् ज्ञान अमरता का मार्ग है, तो उसका क्या मतलब था। ज्ञान कालातीत, देशातीत, निरुपाधिक आत्मा की चेतना की अंतर्निहित शक्ति है जो अपने-आपको अपने सार में सत्ता के एकत्व के रूप में प्रकट करती है। एकमात्र यही चेतना वास्तविक और पूर्ण ज्ञान है क्योंकि यह एक शाश्वत विश्वातीतता है जो केवल आत्म-अभिज्ञ ही नहीं बल्कि विश्व के कालिक सनातन अनुक्रमों को अपने अंदर धारण करती है, उन्हें अभिव्यक्त और उत्पन्न करती है, उनका निर्देशन करती और उन्हें जानती है। अज्ञान है सत् की काल के अनुक्रमों में चेतना, क्षण में निवास करने के कारण अपने ज्ञान में विभक्त, देश के विभाजनों और परिस्थिति के संबंधों में निवास के कारण अपनी आत्म-सत्ता की धारणा में विभक्त, एकत्व की बहुत्वमयी क्रिया में अपने-आप बंदी। इसे अज्ञान कहा जाता है क्योंकि इसने एकत्व के ज्ञान को पीछे रख दिया है और जो इसी तथ्य के कारण, सचाई के साथ या पूरी तरह अपने-आपको या जगत् को, परात्पर को या वैश्व वास्तविकता को जानने में असमर्थ है। अज्ञान के अंदर निवास करनेवाला सचेतन जीव क्षण से क्षण, क्षेत्र से क्षेत्र, संबंध से संबंध में से गुजरता

हुआ खंडित ज्ञान की भूल में ठोकरें खाता चलता है।[1] यह निर्ज्ञानता नहीं बल्कि वास्तविकता की एक ऐसी दृष्टि और वास्तविकता का ऐसा अनुभव है जो अंशतः सत्य और अंशतः मिथ्या है, जैसा कि हर एक ऐसा ज्ञान होगा जो सारतत्त्व की अवहेलना करता है और केवल आभासों के भागते हुए अंशों को देखता है। दूसरी ओर एकत्व की निराकार चेतना में बंद रहना, अभिव्यक्त ब्रह्म के बारे में कुछ न जानना भी, अपने-आपमें अंध अंधकार के रूप में बखाना गया है। सचमुच दोनों में से कोई भी यथार्थतः अंधकार नहीं है। एक तो है केन्द्रित प्रकाश से उत्पन्न चकाचौंध और दूसरा है अवकीर्ण, धुंधले और खंडित प्रकाश में चीजों के भ्रमात्मक आकारों को देखना, आधा कुहासे से आच्छादित और आधा स्पष्ट देखना। दिव्य चेतना दोनों में से किसी में बंद नहीं है बल्कि उस अक्षर एक और क्षर अनेक को एक ही शाश्वत, सबके साथ संबंध करनेवाले, सबमें एकत्व लानेवाले आत्मज्ञान में धारण करती है।

विभाजनकारी चेतना में स्मृति एक वैसाखी है जिसका मन तब सहारा लेता है जब काल की वेगवती गति में, रुकने या आराम की संभावना के बिना, असहाय रूप से हांके जाने पर लड़खड़ाने लगता है। स्मृति सर्वांगीण, प्रत्यक्ष, स्थायी आत्म-चेतना का और प्रत्यक्ष सर्वांगीण या सब पार्श्वों के एक साथ और समग्र वस्तु-बोध का दरिद्रताग्रस्त स्थानापन्न है। मन को प्रत्यक्ष आत्म-चेतना केवल वर्तमान सत्ता के क्षण में ही हो सकती है। काल के वर्तमान क्षण और देश के निकटतम क्षेत्र में चीजें जिस रूप में मन के सामने उपस्थित की जाती हैं और इन्द्रियां जिस तरह उन्हें ग्रहण कर सकती हैं उसीके अनुसार मन को थोड़ा-सा अर्द्ध प्रत्यक्ष दर्शन हो पाता है। वह अपनी इस कमी को स्मृति, कल्पना, विचार और नाना प्रकार के भाव-प्रतीकों द्वारा पूरा करता है। उसकी इन्द्रियां वे साधन हैं जिनके द्वारा वह वर्तमान क्षण और निकटतम देश में वस्तुओं के बाह्य रूपों को पकड़ता है। स्मृति, कल्पना, विचार वे साधन हैं जिनके द्वारा वह और भी कम प्रत्यक्ष रूप में वर्तमान क्षण और निकटस्थ देश से परे के रूपों का प्रतिनिधित्व करता है। एकमात्र चीज जो साधन नहीं है वह है वर्तमान क्षण में उसकी प्रत्यक्ष आत्म-चेतना। अतः यद्यपि वह आसानी से शाश्वत सत्ता के तथ्य को, सद्वस्तु को पकड़ सकता है फिर भी जब वह चीजों को बारीकी से देखता है, तो बाकी सबको केवल एक आभास के रूप में नहीं बल्कि संभवतः भ्रांति, अज्ञान, भ्रम के रूप में देखने के लिये प्रवृत्त होता

[1] *अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः . . .*
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढाः अन्धेनैव नीयमानाः यथाऽन्धाः ॥
अज्ञान में रहते और विचरते . . . वे गोल-गोल घूमते और ठोकरें खाते हैं और दले जाते हैं, वे मूढ़ लोग, ऐसे अंधे की तरह हैं, जिसे अंधा मार्ग दिखा रहा हो।
मुण्डक उपनिषद् १.२.८

क्योंकि वे उसे प्रत्यक्ष रूप में वास्तविक नहीं मालूम होते। मायावादी उन्हें ऐसा ही समझता है। एकमात्र वस्तु जिसे वह सचमुच वास्तविक मानता है वह है शाश्वत आत्मा जो मन की प्रत्यक्ष वर्तमान आत्म-चेतना के पीछे रहती है। या फिर बौद्धों की तरह व्यक्ति उस शाश्वत आत्मा को भी भ्रम, प्रतिरूप, मन की रची हुई मूर्ति, कोरी कल्पना या सत्ता का मिथ्या-संवेदन और मिथ्या-भाव मानने लगता है। मन अपनी दृष्टि में एक विलक्षण जादूगर बन जाता है। उसके कार्य और स्वयं वह आश्चर्यजनक रूप से एक साथ अस्तित्व रखते भी हैं और नहीं भी रखते, एक स्थायी वास्तविकता और फिर भी एक भागती हुई भूल जिसकी वह चाहे तो व्याख्या करे और चाहे न करे लेकिन हर दशा में वह स्वयं अपनी और अपने कार्यों की हत्या करने और काम तमाम करने के लिये निश्चय किये रहता है ताकि वह बाहरी प्रतीतियों के व्यर्थ प्रदर्शन से बचकर शाश्वत के कालातीत विश्राम में अवसान पा सके।

लेकिन सच तो यह है कि हम बाहर और भीतर, वर्तमान और भूत आत्म-चेतना के भीतर जो तीक्ष्ण भेद करते हैं वे मन की सीमित, अस्थिर क्रिया की चालाकियां हैं। मन के पीछे, उसका अपनी सतही क्रियाओं के लिये उपयोग करती हुई एक स्थायी चेतना है जिसमें वर्तमान रूप और उसके भूत या भविष्य के बीच कोई बंधनकारी धारणात्मक विभाजन नहीं है। फिर भी वह अपने-आपको काल में जानती है, एक ही साथ, अविभाजित दृष्टि में वर्तमान, भूत और भविष्य में जानती है। यह दृष्टि काल-पुरुष के सभी चलायमान अनुभवों को आलिंगन में लेती है और उन्हें कालातीत अचल आत्मा के आधार पर खड़ा करती है। जब हम मन और उसकी क्रियाओं से पीछे हटते हैं या ये नीरव हो जाते हैं तब हम इस चेतना के बारे में अभिज्ञ हो सकते हैं। लेकिन पहले हम उसकी अचल अवस्था को देखते हैं और अगर हम केवल आत्मा की अचलता को देखें तो हम उसके बारे में कह सकते हैं कि वह केवल कालहीन ही नहीं क्रियारहित, भाव, विचार, कल्पना, स्मृति, इच्छा की गति से विहीन, आत्म-तृप्त, आत्मलीन और इस कारण विश्व के सारे कर्मों से शून्य भी है। तब वही निश्चल स्थिति हमारे लिये एकमात्र सत्य हो जाती है और बाकी सब असत् रूपों के प्रतीक—या ऐसे रूपों के प्रतीक जो किसी सचमुच अस्तित्ववान् चीज के अनुरूप नहीं है—अतः एक स्वप्न होता है। लेकिन यह आत्मलीनता हमारी चेतना की एक क्रिया और परिणामस्वरूप अवस्था ही है, ठीक उसी तरह जैसे विचार, स्मृति और इच्छा में आत्म-परिक्षेपण था। वास्तविक आत्मा वह शाश्वत है जो काल के बीच सचलता और काल को आधार देनेवाली निश्चलता, दोनों के लिये और दोनों के एक ही समय साथ-साथ होने के लिये स्पष्ट रूप से समर्थ है अन्यथा इन दोनों का अस्तित्व न होता। और न यही होता कि एक का अस्तित्व होता और दूसरा प्रतीतियों की रचना करता। यह है गीता का

'परम पुरुष', 'परमात्मा', 'परब्रह्म' जो सर्वभूतात्मा और सर्वभूतेश्वर के रूप में क्षर और अक्षर सत्ता दोनों को धारण करता है।

हम अभीतक मन और स्मृति के बारे में मुख्य रूप से काल में मानसिक आत्म-चेतना के प्राथमिक व्यापार के सिलसिले में विचार करते हुए यहां पहुंचे हैं। लेकिन अगर हम उनपर चेतना के साथ आत्मानुभव के संबंध में और आत्मानुभव के साथ अन्य-अनुभव के रूप में विचार करें तो हम उसी परिणाम पर लेकिन अधिक समृद्ध अंतर्वस्तुओं और अज्ञान के स्वरूप के बारे में अधिक स्पष्ट प्रकाश के साथ पहुंचते हैं। हमने अभी जो कुछ देखा है उसे यूं व्यक्त करें—एक शाश्वत सचेतन पुरुष है जो काल की क्रिया से मुक्त स्थिर, अचंचल आत्म-चेतना पर मन की गतिशील क्रियाओं को सहारा देता है, और जिसमें मन से श्रेष्ठतर ज्ञान है फिर भी वह काल की समस्त गति का आलिंगन करता है, साथ ही मन की क्रिया द्वारा उस गति में निवास करता है। सतही मनोमय सत्ता के रूप में क्षण-क्षण गति करता हुआ, अपनी सारभूत आत्मा को देखे बिना, केवल कालगति के अनुभवों के साथ अपने संबंधों का अवलोकन करता हुआ, उस गति में भविष्य को अपने-आप से दूर उसमें रखता हुआ जो अज्ञान और असत् की शून्यता प्रतीत होता है लेकिन है एक अनुपलब्ध पूर्णता, वर्तमान में होने के ज्ञान और अनुभव को पाता हुआ उसे अतीत में इस तरह से संजोता हुआ मानों वह भी अज्ञान और असत् की शून्यता हो, आंशिक रूप से प्रकाशित और आंशिक रूप से स्मृति द्वारा रक्षित और संचित—वह ऐसी चीज का रूप धारण करता है जो चंचल और अनिश्चित है और अस्थायी रूप से चंचल और अनिश्चित चीजों को पकड़ती है। लेकिन वास्तव में हम देखेंगे कि वह हमेशा वही शाश्वत रहता है जो सदा अपने अतिमानसिक ज्ञान में स्थिर और आत्म-प्रतिष्ठ है। और वह जिसे पकड़ता है वह भी सदा स्थिर और शाश्वत है क्योंकि वह काल के अनुक्रम में मानसिक रूप से अपने आपका ही अनुभव कर रहा है।

काल सचेतन सत्ता का, जिसे अनुभव और कर्म के मूल्यों में बदल लिया गया है, एक बड़ा बैंक है : सतही मानसिक सत्ता भूत से (और भविष्य से भी) संपत्ति निकालती रहती है और उसे निरंतर वर्तमान के सिक्कों में बदलती रहती है। उसने जो लाभ जुटाये हैं, वह उनका विवरण और संचय उसमें करती है जिसे हम अतीत कहते हैं, वह नहीं जानती कि हमारे अंदर अतीत किस तरह सदा उपस्थित रहता है। उसमें से उसे जितनी जरूरत होती है उतने का वह ज्ञान और सिद्ध सत्ता के सिक्के के रूप में उपयोग करती है और उसे वर्तमान के व्यापार के लिये मानसिक, प्राणिक और भौतिक कर्म के सिक्कों के रूप में खर्च करती है, उसकी दृष्टि में यह व्यापार भविष्य की नयी संपदा की सृष्टि करता है। अज्ञान सत्ता के आत्मज्ञान का इस तरह से उपयोग करना है जिसे वह कालानुभव के लिये मूल्यवान् और काल-

क्रिया के लिये मान्य बना देता है। हम जिसे नहीं जानते वह ऐसी चीज है जिसे हमने अभीतक मानसिक अनुभव में नहीं लिया है, अनुभव के सिक्कों में बदल कर व्यवहार में नहीं लिया है या जिसके सिक्के बनाना और व्यवहार में लाना बंद कर दिया है। नेपथ्य में सब कुछ ज्ञात है और सब आत्मा की इच्छा के अनुसार उसके काल, देश और कार्य-कारण संबंध के साथ व्यवहार में लाये जाने के लिये तैयार है। लगभग यह कहा जा सकता है कि हमारी सतही सत्ता हमारे भीतर की ज्यादा गहरी शाश्वत आत्मा ही है जो अपने-आपको काल में, साहस-यात्रा के लिये, अनंत संभावनाओं का जूआ और सट्टा खेलने के लिये बाहर प्रक्षिप्त करती है, अपने-आपको क्षणों के अनुक्रम में सीमित करती है ताकि उसे अपनी साहस-यात्रा का पूरा-पूरा कौतुक और आनंद मिल सके और वह अपने आत्म-ज्ञान और आत्म-सत्ता को पीछे की ओर खींच लेती है ताकि वह फिर से खोई हुई और हारी हुई प्रतीत होनेवाली चीजों को जीत सके, युगों की आकुलता और खोज और प्रयास के मिले-जुले सुख-दुःख के बीच में से अपने पूर्ण स्वरूप को फिर से जीत सके।

अध्याय ९

स्मृति, अहं और आत्मानुभव

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति, दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति।

यहां यह देवता, यह मन स्वप्न में बार-बार उसका अनुभव करता है जिसका एक बार अनुभव किया जा चुका है, जो देखा जा चुका है और जो नहीं देखा गया, जो सुना जा चुका है और जो नहीं सुना गया, जो अनुभव किया जा चुका है और जिसका अनुभव नहीं किया गया, जो है और जो नहीं है, वह सब कुछ देखता है, वह सब कुछ है और देखता है।

प्रश्नोपनिषद् ४.५

स्वरूपावस्थितिर्मुक्तिस्तद्भ्रंशोऽहंत्ववेदनम् ॥

अपनी सच्ची सत्ता में निवास करना मुक्ति है, अहंकार का भाव अपनी सत्ता के सत्य से पतन है।

महोपनिषद् ५.२

एकः समुद्रो धरुणो रयीणामस्मद् ह्रदो भूरिजन्मा वि चष्टे ॥

अनेक जन्मों में एक, अनेक गतिधाराओं को धारण करनेवाला एक समुद्र, हमारे हृदयों को देखता है।

ऋग्वेद १०.५.१

मानसिक सत्ता की प्रत्यक्ष आत्म-चेतना, जिसके द्वारा वह अपने नामहीन, रूपहीन अस्तित्व के बारे में अभिज्ञ होती है जो भेदयुक्त आत्मानुभव के प्रवाह के पीछे, अपने शाश्वत आंतरात्मिक पदार्थ के मानसिक रूपायणों के पीछे उस पदार्थ की, अहं के पीछे आत्मा की अभिज्ञता होती है, वह मानसिकता के पीछे शाश्वत वर्तमान की कालातीतता की ओर जाती है। उसमें, मनोमय पुरुष में यह चेतना ही वह है जो नित्य एक-समान है, भूत, वर्तमान तथा भविष्य के मानसिक भेदों से अप्रभावित है। वह देश या परिस्थितियों के भेदों से भी अप्रभावित है क्योंकि मानसिक सत्ता सामान्यतः अपने बारे में कहती है, "मैं शरीर में हूं, मैं यहां हूं, मैं वहां हूं, मैं और कहीं होऊंगी" फिर जब वह अपने-आपको इस प्रत्यक्ष आत्म-चेतना में निश्चित रूप से प्रतिष्ठित करना सीख लेती है तो बहुत जल्दी यह देख पाती है कि यह तो उस बदलते हुए आत्मानुभव की भाषा है जो केवल उसकी

सतही चेतना का संबंध वातावरण और बाहरी जगत् के साथ व्यक्त करती है। इन सबका भेद करते हुए, अपने-आपको इनसे अलग करते हुए वह देखती है कि वह जिस आत्मा के बारे में प्रत्यक्ष रूप से सचेतन है वह इन बाहरी परिवर्तनों के कारण किसी तरह नहीं बदलती, वह हमेशा वही बनी रहती है, शरीर के परिवर्तन या मन या जिस क्षेत्र में ये चीजें हिलती-डुलती और कार्य करती हैं उनके परिवर्तन का इसपर कोई असर नहीं होता। वह अपने सारतत्त्व में लक्षण-रहित, संबंध-रहित है। उसमें इसके सिवाय कोई और गुण नहीं है कि वह शुद्ध सचेतन, आत्म-संतुष्ट सत्, शुद्ध सत्ता में शाश्वत रूप से संतुष्ट और आत्मानंदमय है। इस तरह हम स्थायी आत्मा के, शाश्वत 'अस्मि' के बल्कि अक्षर 'अस्ति' के बारे में अभिज्ञ हो जाते हैं जो व्यक्तित्व या काल की सभी श्रेणियों से अतीत है।

लेकिन आत्मा की यह चेतना कालातीत है, उसी तरह वह यह देखने में भी समर्थ है कि काल एक ऐसी चीज है जो उसमें प्रतिबिंबित होती है और जो परिवर्तनशील अनुभव का कारण या आत्मनिष्ठ क्षेत्र है । तब वह शाश्वत 'अस्मि' होती है—वह अपरिवर्तनशील चेतना है जिसकी सतह पर सचेतन अनुभव के परिवर्तन काल की प्रक्रिया में घटित होते हैं। सतही चेतना सदा अपने अनुभव में वृद्धि करती रहती है या अपने अनुभव में से कुछ अस्वीकार करती रहती है और प्रत्येक वृद्धि से उसमें हेर-फेर होता है और हर अस्वीकृति से भी उसमें हेर-फेर आता है। यद्यपि वह अधिक गहरी आत्मा जो इस परिवर्तन को सहारा देती और धारण करती है वह हमेशा अपरिवर्तित रहती है, बाहरी या सतही जीव अपने अनुभवों को हमेशा विकसित करता रहता है। वह अपने बारे में पूरी तरह यह कभी नहीं कह सकता, "मैं वही हूं जो क्षण भर पहले था।" जो इस सतही कालात्मा में रहते हैं और जिन्हें अपरिवर्तनशील की ओर अंतर में वापिस पैठने की आदत नहीं है या जो उसमें निवास करने में समर्थ नहीं हैं वे अपने बारे में इस सदा आत्म-परिवर्तनशील मानसिक अनुभव से भिन्न किसी रूप में सोचने में भी असमर्थ रहते हैं। उनके लिये यही उनकी अपनी आत्मा है और अगर वे घटनाओं को अनासक्ति के साथ देखें तो उनके लिये बौद्ध शून्यवादियों के इस निष्कर्ष के साथ सहमत होना सरल होता है कि यह आत्मा वस्तुतः एक भाव, अनुभव और मानसिक क्रिया की धारा से बढ़कर कुछ नहीं है, यह एक सतत ज्वाला है जो कभी वह की वही नहीं होती और यह निश्चय करना आसान होता है कि वास्तविक आत्मा के जैसी कोई चीज नहीं होती, केवल अनुभव की धारा होती है और उसके पीछे होता है शून्य। ज्ञान का अनुभव तो होता है पर कोई ज्ञाता नहीं होता, सत्ता का अनुभव तो होता है पर कोई सत् नहीं होता। केवल कुछ तत्त्व होते हैं जो एक प्रवाह का भाग हैं लेकिन किसी वास्तविक समग्र के बिना। ये सब मिलकर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भ्रम पैदा करते हैं, सत्, सत्ता और सत्ता के अनुभव का भ्रम

पैदा करते हैं। अथवा वे इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि काल ही एकमात्र वास्तविक अस्तित्व है और वे स्वयं उसके जीव हैं। एक वास्तविक या अवास्तविक जगत् में एक भ्रामक सत् के होने का निष्कर्ष इस तरह के प्रत्याहार के लिये उतना ही जरूरी होता है जितना कि यह विपरीत निष्कर्ष कि एक वास्तविक अस्तित्व और भ्रामक जगत् के होने का निष्कर्ष उस विचारक के लिये होता है जो अचल आत्मा में रहता हुआ अन्य सभी चीजों को परिवर्तनशील अनात्मा मानता है। अंततः वह निश्चल आत्मा के सिवा उस अनात्मा को चेतना की छलनामयी चालाकी का परिणाम मानने लगता है।

अब हम मत बनाये बिना इस सतही चेतना पर जरा नजर डालें और केवल उसके तथ्यों का अध्ययन करें। पहले हम उसे शुद्ध रूप से आत्मनिष्ठ व्यापार के रूप में देखते हैं। यहां काल-बिंदु का सतत तेजी के साथ स्थान बदलता रहता है जिसे क्षण भर के लिये रोकना भी असंभव है। जब देश-परिस्थिति नहीं बदलती तब भी सतत परिवर्तन होता रहता है। यह परिवर्तन दोनों में, अपने शरीर या रूप में, जिसमें चेतना प्रत्यक्ष रूप से निवास करती है और वस्तुओं के आस-पास के शरीर या रूपों में होता है जिसमें वह कम प्रत्यक्ष रूप से निवास करती है। वह दोनों से समान रूप से प्रभावित होती है, यद्यपि प्रत्यक्ष होने के कारण विशाल आवास की अपेक्षा छोटे आवास से अधिक स्पष्ट रूप में, जगत् के शरीर की अपेक्षा अपने शरीर से अधिक प्रभावित होती है क्योंकि वह अपने शरीर में होनेवाले परिवर्तनों के बारे में ही प्रत्यक्ष रूप से चेतन है और जगत् के शरीर के बारे में वह इन्द्रियों द्वारा और अणुविश्व पर पड़नेवाले ब्रह्मांड के प्रभाव द्वारा परोक्ष रूप से सचेतन है। शरीर और उसके परिसर का यह परिवर्तन इतने आग्रह के साथ स्पष्ट या उतनी स्पष्टता के साथ तेज नहीं होता जितना काल-परिवर्तन तेज होता है फिर भी वह समान रूप से क्षण-क्षण वास्तविक होता है और उसे रोकना भी उतना ही असंभव होता है। लेकिन हम देखते हैं कि मानसिक सत्ता इस सारे परिवर्तन को उसी हदतक देखती है जहांतक वह उसकी अपनी मानसिक चेतना पर असर डालती है, उसके मानसिक अनुभव और मानसिक शरीर पर छाप डालती और परिवर्तन पैदा करती है क्योंकि वह केवल मन के द्वारा ही अपने परिवर्तनशील भौतिक आवास और परिवर्तनशील जगत्-अनुभव के बारे में अभिज्ञ हो सकती है। अतः काल-बिंदु और देश-क्षेत्र में भी परिवर्तन या स्थानान्तरण के साथ-साथ काल और देश में अनुभव की गयी परिस्थितियों के समुच्चय में लगातार हेर-फेर करनेवाला परिवर्तन होता रहता है और परिणाम-स्वरूप इस मानसिक व्यक्तित्व में भी, जो हमारी सतही या प्रतीयमान आत्मा का रूप है, सतत हेर-फेर होता रहता है। इस सारे परिवर्तन को दार्शनिक भाषा में संक्षेप में कारण-कार्य संबंध कहा जाता है क्योंकि वैश्व गति की इस धारा में पूर्ववर्ती अवस्था बाद में आनेवाली अवस्था का कारण मालूम होती है या फिर यह पीछे की अवस्था लोगों के,

वस्तुओं या शक्तियों के पहले कर्मों का परिणाम मालूम होती है। यद्यपि वस्तुतः जिसे हम कारण कहते हैं, हो सकता है कि वह केवल परिस्थिति ही हो। इस भांति मन की अपनी प्रत्यक्ष आत्म-चेतना के अतिरिक्त एक न्यूनाधिक परोक्ष परिवर्तनशील आत्मानुभव भी होता है। इसे वह दो हिस्सों में बांटता है, एक अपने व्यक्तित्व की सदा परिवर्तित मानसिक अवस्थाओं का आत्मनिष्ठ अनुभव और दूसरा सदा परिवर्तनशील परिसर का वस्तुनिष्ठ अनुभव जो एक अंश में या पूरी तरह उस व्यक्तित्व की क्रियाओं का कारण मालूम होता है पर साथ ही उससे प्रभावित भी होता है। लेकिन अपनी तह में यह सारा अनुभव आत्मनिष्ठ होता है क्योंकि वस्तुनिष्ठ और बाह्य को भी मन आत्मनिष्ठ संस्कार के रूप में ही जानता है।

यहां स्मृति की भूमिका का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ जाता है क्योंकि जब कि वह मन की प्रत्यक्ष आत्म-चेतना के बारे में बस इतना ही कर सकती है कि उसे याद दिलाये कि वह भूतकाल में भी थी और ऐसी ही थी जैसी वर्तमान में है, वह हमारे विभक्त या सतही आत्मानुभव में एक महत्त्वपूर्ण शक्ति बन जाती है जो सतही मन में भूत और वर्तमान अनुभवों, भूत और वर्तमान व्यक्तित्व को जोड़ती है, अव्यवस्था और विच्छिन्नता को रोकती है और प्रवाह के सातत्य का आश्वासन देती है। फिर भी हमें स्मृति के कार्य की अतिरंजना न करनी चाहिये और न ही हमें चेतना के उस भाग को आरोपित करना चाहिये जो वास्तव में मानसिक सत्ता के अन्य शक्ति-पक्षों की क्रियाशीलता का है। अकेली स्मृति ही अहं-भाव का निर्माण नहीं करती। स्मृति तो इन्द्रिय मन और सहयोजिका बुद्धि के बीच केवल एक मध्यस्थ है। वह बुद्धि को अनुभव की भूतकाल की सामग्री देती है जिसे मन अपने भीतर कहीं धारण किये रहता है लेकिन बाहरी सतह पर अपनी दौड़ में क्षण-क्षण लादे नहीं चल सकता।

जरा-सा विश्लेषण इसे स्पष्ट कर देगा। मानसिकता की सभी क्रियाओं में चार तत्त्व होते हैं : मानसिक चेतना का विषय, मानसिक चेतना की क्रिया, निमित्त और विषयी। आत्मावलोकन करनेवाली आंतरिक सत्ता के आत्मानुभव में विषय सदा सचेतन सत्ता की कोई स्थिति, गति या लहर होता है। क्रोध, दुःख या अन्य आवेग, भूख या अन्य प्राणिक लालसा, वेग या आंतरिक जीवन-प्रतिक्रिया या किसी प्रकार के संवेदन, प्रत्यक्ष दर्शन या विचार-क्रिया का कोई रूप होता है। मानसिक चेतना की क्रिया इस गति या तरंग का किसी प्रकार का मानसिक अवलोकन या धारणात्मक मूल्यांकन या फिर उसका मानसिक संवेदन है जिसमें अवलोकन और मूल्यांकन अंतर्ग्रस्त हों या खो गये हों—इस क्रिया में मनोमय पुरुष या तो क्रिया और विषय को भेद करनेवाले प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा अलग-अलग कर देता है या उनका इस तरह घाल-मेल कर सकता है कि उन्हें अलग-अलग पहचाना भी न जा सके। कहने का मतलब यह कि वह अपने-आप बस गति बन

जाये, यूं कह लें क्रुद्ध चेतना की गति बन जाये, उस क्रिया से जरा भी पीछे हटकर खड़ा न रहे, अपने-आप पर मनन या अपना अवलोकन न करे, भावना या उसके साथ आनेवाली क्रिया पर नियंत्रण न करे, या हो सकता है कि मन में यह दृष्टि या बोध रखते हुए कि "मैं क्रुद्ध हूं" वह इस बात का अवलोकन करे कि वह क्या हो गया है और इस पर चिंतन करे। पहली अवस्था में विषयी या मानसिक पुरुष, सचेतन आत्मानुभव की क्रिया और मन का तात्त्विक रूप से क्रुद्ध होना—जो आत्मानुभव का विषय है—ये सब गति में परिणत सचेतन-शक्ति की लहर में घुल-मिल कर एक हो जाते हैं। लेकिन दूसरी अवस्था में उसके घटकों का तेजी से विशेष विश्लेषण होता है और आत्मानुभव की क्रिया अपने-आपको आंशिक रूप से विषय से अलग कर लेती है। इस तरह इस आंशिक तटस्थता की क्रिया द्वारा हम अपने-आपको संभूति में, स्वयं चित् शक्ति के स्पंदन की प्रक्रिया में, क्रियात्मक रूप से अनुभव करने में ही नहीं बल्कि पीछे हटने, अपने-आपको देखने और अपना अवलोकन करने और अगर तटस्थता पर्याप्त हो तो अपनी भावना और अपने कर्म को नियंत्रित करने, अपनी संभूति को कुछ हदतक नियंत्रित करने में भी समर्थ होते हैं।

फिर भी सामान्यतः इस आत्मावलोकन की क्रिया में भी एक त्रुटि रहती है क्योंकि वस्तुतः क्रिया की विषय के साथ आंशिक तटस्थता रहती है लेकिन मनोमय पुरुष की मानसिक क्रिया से नहीं। मनोमय पुरुष और मानसिक क्रिया एक-दूसरे में अंतर्ग्रस्त या घुले-मिले रहते हैं; न ही मनोमय पुरुष का भावावेगमय संभवन से काफी अलगाव और पार्थक्य होता है। मैं अपने-आपके बारे में अपनी सत्ता के सचेतन पदार्थ के क्रुद्ध संभवन और इस संभवन के विचार-प्रत्यक्षण के बारे में अभिज्ञ होता हूं लेकिन समस्त विचार-प्रत्यक्षण भी संभवन है, मेरा स्वरूप नहीं, लेकिन इसे मैं अभीतक पर्याप्त रूप से अनुभव नहीं करता। मैं अपनी मानसिक क्रियाओं के साथ एक हूं या उनमें अंतर्ग्रस्त हूं स्वतंत्र या पृथक् नहीं हूं। मैं अभीतक प्रत्यक्ष रूप में अपने संभवनों और उनके बारे में अपने प्रत्यक्ष दर्शन से अलग अभिज्ञ नहीं हूं, सक्रिय चेतना के रूपों से अलग जिन्हें मैं चित्-शक्ति के सागर की लहरों में धारण करता हूं जो मेरी मानसिक और प्राणिक प्रकृति का उपादान हैं उनसे अलग अभिज्ञ नहीं हूं। जब मैं मनोमय पुरुष को पूरी तरह उसकी आत्मानुभूति की क्रिया से अलग कर लेता हूं तब मैं पहले शुद्ध रूप से अहंकार और अंत में साक्षी पुरुष या विचारशील मनोमय पुरुष से अभिज्ञ होता हूं जो ऐसा व्यक्ति या ऐसी चीज है जो क्रुद्ध होता है और उसका अवलोकन करता है लेकिन वह अपनी सत्ता में क्रोध या उसके प्रत्यक्ष दर्शन से सीमित या निर्धारित नहीं होता। इसके विपरीत वह एक नित्य तत्त्व है जो चेतन गतिधाराओं और यतियों के सचेतन अनुभव के सीमारहित अनुक्रम से अभिज्ञ है और उस अनुक्रम के बीच अपनी

निजी सत्ता से भी अभिज्ञ है। लेकिन यह अभिज्ञता भी हो सकती है कि वह उस अनुक्रम के पीछे है और उसका सहारा, उसका आधान है और सत्ता की स्थिति और उसकी शक्ति में अपनी चित्-शक्ति के बदलते रूपों या आयोजनों के परे सदा एकसम है। इस तरह यह वह आत्मा है जो अक्षर है और साथ ही वह आत्मा भी जो काल के अनुक्रम में शाश्वत रूप से संभूत होता है।

यह स्पष्ट है कि वास्तव में दो आत्माएं नहीं हैं बल्कि एक सचेतन सत्ता है जो अपने-आपको सचेतन शक्ति की लहरों में उछालती रहती है ताकि वह अपनी बदलती हुई गतियों के अनुक्रम में अपना अनुभव कर सके। लेकिन इससे वह सचमुच बदलती, बढ़ती या घटती नहीं—वैसे ही जैसे भौतिक जगत् में जड़-तत्त्व के मौलिक पदार्थ या ऊर्जा में तत्त्वों के निरंतर बदलते हुए संयोजनों के कारण वृद्धि या ह्रास नहीं होता। यद्यपि, जबतक अनुभव करनेवाली चेतना केवल बाहरी प्रपंच के ज्ञान में रहती है और मौलिक सत्ता, पदार्थ या शक्ति के ज्ञानतक वापिस नहीं जाती तबतक वह उसे बदलती हुई मालूम होती है। जब वह उस गहरे ज्ञान में वापिस जाती है तो वह अवलोकित प्रपंच की अवास्तविक कहकर निंदा नहीं करती बल्कि वह एक अक्षर सत्ता, ऊर्जा या वास्तविक पदार्थ को देखती है जो आभासी नहीं है, अपने-आपमें इन्द्रियों के आधीन नहीं है। साथ ही वह उस सत्ता, ऊर्जा या पदार्थ के संभवन या वास्तविक नाम-रूप को देखती है। हम इस संभवन को आभास या प्रपंच कहते हैं क्योंकि वस्तुतः, इस समय हमारे साथ चीजों की जो परिस्थिति है उसमें वह अपने-आपको चेतना के आगे ऐन्द्रिय दर्शन की स्थिति में और ऐन्द्रिय संबंध में अभिव्यक्त करता है, उस चेतना के आगे प्रत्यक्ष रूप में नहीं जो शुद्ध, अप्रतिबंध, सर्वालिंगनकारी, पूरी तरह सर्वधारक ज्ञान है। यही बात आत्मा के लिये है—हमारी प्रत्यक्ष आत्मचेतना के आगे वह है और अक्षर है; लेकिन मानसिक बोध और मानसिक अनुभव के आगे वह विभिन्न संभूतियों में क्षर रूप में अभिव्यक्त होती है। अतः आज हमारी जैसी स्थिति है, वह चेतना के शुद्ध अनुपाधिक ज्ञान के आगे प्रत्यक्ष रूप में नहीं बल्कि हमारी मानसिकता की अवस्थाओं के अधीन अभिव्यक्त होती है।

अनुभवों का यह अनुक्रम और हमारी मानसिकता की परिस्थिति में अनुभव करनेवाली चेतना की परोक्ष या गौण क्रिया का यह तथ्य ही स्मृतिरूपी साधन को लाते हैं। क्योंकि हमारी मानसिकता की पहली शर्त है काल के क्षणों द्वारा विभाजन। उसमें काल के क्षणों द्वारा आत्म-विभाजन की परिस्थिति को छोड़कर किसी और स्थिति में अपने अनुभव पाने या उन अनुभवों को एक साथ पकड़े रखने की अक्षमता है। संभूति की लहर के, सत्ता की सचेतन गति के तात्कालिक मानसिक अनुभव के लिये स्मृति की कोई क्रिया या आवश्यकता नहीं होती—मैं गुस्से हो गया हूं—यह संवेदन की क्रिया है स्मृति की नहीं, मैं देखता हूं कि मैं क्रुद्ध

हूं—यह प्रत्यक्ष दर्शन की क्रिया है, स्मृति की नहीं। स्मृति का प्रवेश तभी होता है जब मैं अपना अनुभव काल के अनुक्रम में सुनाना शुरू करता हूं, जब मैं अपने संभवन को भूत, भविष्य और वर्तमान में बांटता हूं, जब मैं कहता हूं, "मैं एक क्षण पहले नाराज था" या "मैं गुस्से हो गया हूं और अभीतक गुस्से में हूं" या "मैं एक समय गुस्से में था और अगर फिर से वही अवसर आये तो फिर से गुस्से हो जाऊंगा"। निश्चय ही स्मृति संभवन में सीधी और तत्काल आ सकती है अगर चेतना की गति का अवसर पूरी तरह या आंशिक रूप से भूतकाल की चीज हो—उदाहरण के लिये गुस्से या दुःख जैसे भाव पिछले अन्याय या कष्ट की स्मृति के कारण दुबारा आ जायें, वर्तमान में किसी तात्कालिक अवसर के कारण नहीं या किसी ऐसे तात्कालिक अवसर के कारण आ जायें जो किसी पिछले अवसर की स्मृति जगाता हो। क्योंकि हम भूत को अपनी चेतना की ऊपरी सतह पर नहीं रख सकते यद्यपि वह हमेशा पीछे, भीतर, अंतर्लीन अवस्था में उपस्थित रहता है और बहुधा सक्रिय भी, अतः हमें उसे फिर से इस तरह प्राप्त करना होता है जैसे कोई चीज खो गयी हो या जिसका अस्तित्व न रहा हो। और यह हम विचार-मन की दोहरानेवाली और जोड़नेवाली क्रिया के द्वारा करते हैं जिसे हम स्मृति कहते हैं—ठीक उसी तरह जैसे हम उन चीजों को, जो हमारे सीमित ऊपरी मन-अनुभव की पहुंच में नहीं हैं, विचार-मन की उस क्रिया द्वारा बुलाते हैं जिसे हम कल्पना कहते हैं—जो हमारे अंदर ज्यादा बड़ी शक्ति है और समस्त संभावनाओं को, चाहे वे चरितार्थ की जा सकती हों या न की जा सकती हों, —उन सबका अपने अज्ञान के क्षेत्र में आह्वान करनेवाली है।

काल के अनुक्रम में भी स्थायी या अविच्छिन्न अनुभव का सार स्मृति नहीं है और अगर हमारी चेतना एक अविभक्त गतिवाली होती, अगर उसे क्षण-क्षण पर इस तरह न दौड़ना पड़ता कि पिछला तो सीधी पकड़ से छूट जाये और अगला पूरी तरह अज्ञात या अनुपलब्ध रहे, तो स्मृति की आवश्यकता ही नहीं रहती। काल में संभवन समस्त अनुभव या पदार्थ की धारा का प्रवाह है या समुद्र है जो अपने-आपमें विभक्त नहीं है लेकिन देखनेवाली चेतना में अज्ञान की सीमित गति के कारण विभक्त है। इस चेतना को क्षण-क्षण ऐसे उछल-कूद करनी होती है जैसे व्याघ्र-पतंग जल-धारा की सतह पर तेजी से झपटता फिरता है। इसी तरह देश में सत्ता का समस्त पदार्थ एक प्रवाहमान समुद्र है जो अपने-आपमें विभक्त नहीं है परंतु देखनेवाली चेतना में विभक्त है क्योंकि हमारी ऐन्द्रिय क्षमता अपनी पकड़ में सीमित है, केवल एक अंश को देख सकती है इसलिये पदार्थ के रूपों को इस तरह देखने के लिये बाधित है मानों वे अपने-आपमें अलग-अलग चीजें हों और उस एक पदार्थ से स्वतंत्र हों। वस्तुतः काल और देश में चीजों की एक व्यवस्था है परंतु हमारे अज्ञान को छोड़कर कहीं कोई दरार या विभाजन नहीं है। मन के अज्ञान

द्वारा बनायी गयी दरारों को पाटने और विभाजनों को जोड़ने के लिये हम मानसिक चेतना के विभिन्न साधनों की सहायता लेते हैं। स्मृति उनमें से केवल एक है।

तब फिर मेरे अंदर जगत्-सागर की यह बहती धारा है और क्रोध या दुःख या कोई और आंतरिक गति उसमें अविच्छिन्न धारा के अंदर लंबी तरंग है। यह तारतम्य स्मृति की शक्ति से निर्मित नहीं होता यद्यपि स्मृति उस लहर को लंबा करने में या दोहराने में सहायता दे सकती है जब कि वह अपने-आप धारा में मिलकर विलीन हो गयी होती। लहर केवल उठती है और मेरी सत्ता की सचेतन शक्ति की गति के रूप में विक्षोभ के पहले आवेग द्वारा आगे ले जायी जाती है। स्मृति उस विक्षोभ को लंबा खींचती है, विचारशील मन में क्रोध के अवसर को दोहराकर या भावमय मन में क्रोध के पहले आवेश को लाकर विक्षोभ के दोहराने को उचित ठहराती है। अन्यथा वह उद्विग्नता अपने-आपको खतम कर डालेगी और फिर तभी आयेगी जब अवसर तथ्यतः फिर से आये। लहर का स्वाभाविक पुनरावर्तन, उसी या उस जैसे अवसर के कारण उसी विक्षोभ का पैदा होना, उसी तरह स्मृति का परिणाम नहीं है जैसे उसका एकाकी रूप में घटना स्मृति का परिणाम नहीं है, यद्यपि स्मृति उसे मजबूत बनाने में और मन को उसके और अधिक आधीन बनाने में सहायक हो सकती है। बल्कि हम भौतिक जगत् की ऊर्जा और द्रव्य की कम परिवर्तनशील प्रक्रियाओं में उस कारण और प्रभाव की पुनरावृत्ति के जिस संबंध को यांत्रिक रूप से उपस्थित होते हुए पाते हैं, वही संबंध मन की अधिक तरल ऊर्जा और परिवर्तनशील उपादान में पुनरावृत्त प्रसंग और पुनरावृत्त परिणाम तथा गति में है। हम चाहें तो कह सकते हैं कि प्रकृति की समस्त ऊर्जा में एक अवचेतन स्मृति है जो ऊर्जा और परिणाम के उसी संबंध को बिना किसी हेर-फेर के दोहराती रहती है। लेकिन तब हम इस शब्द के अर्थ को असीम रूप से विस्तृत करते हैं। वास्तव में हम केवल चित्-शक्ति की लहरों की क्रिया में पुनरावर्तन का नियम बता सकते हैं जिसके द्वारा वह स्वयं अपने पदार्थ की इन गतियों को नियमित करती है। ठीक तरह से कहा जाये तो स्मृति केवल एक साधन है जिसके द्वारा साक्षी मन इन गतिविधियों, उनकी घटना और पुनरावृत्ति को कालानुभव के लिये कालानुक्रम में जोड़ता है ताकि अधिकाधिक सहयोजनकारी इच्छा के उपयोग और अधिकाधिक सहयोजनकारी बुद्धि द्वारा सतत विकसित होनेवाले मूल्यांकन के लिये उसका उपयोग हो सके। स्मृति उस प्रक्रिया के लिये एक महान्, अनिवार्य तत्त्व है—परंतु एकमात्र नहीं—जिससे निश्चेतना, जहां से हम प्रारंभ करते हैं पूर्ण चेतना विकसित करती है और जिसके द्वारा मानसिक सत्ता का अज्ञान अपनी संभूतियों में अपना सचेतन ज्ञान विकसित करता है। यह विकास तबतक चलता रहता है जबतक ताल-मेल बैठानेवाला ज्ञानमय मन और इच्छामय मन आत्मानुभव की सारी सामग्री को अपने अधिकार में करने और उपयोग में लाने

में पूरी तरह समर्थ न हो जाये। कम-से-कम यही है विकास की वह प्रक्रिया जिसे हम जड़ जगत् में आत्मलीन और ऊपर से देखने में मनहीन ऊर्जा में से मन के विकास का नियंत्रण करते हुए देखते हैं।

अहं-भाव मानसिक अज्ञान का एक और साधन है जिसके द्वारा मानसिक सत्ता अपने बारे में अभिज्ञ होती है—केवल अपनी क्रियाशीलता के विषयों, अवसरों और क्रियाओं के बारे में ही नहीं बल्कि अनुभव करनेवाले के बारे में भी। पहले तो ऐसा मालूम हो सकता है मानों अहं-भाव वस्तुतः स्मृति से बना है। मानों स्मृति हमसे कहती है, "मैं वही हूं जो कुछ समय पहले नाराज थी और अब फिर से नाराज हूं या अभीतक नाराज हूं।" लेकिन वास्तव में स्मृति हमसे अपनी शक्ति द्वारा जो कह सकती है वह बस इतना ही है कि यह वही सचेतन क्रियाशीलता का सीमित क्षेत्र है जिसमें यही प्रपंच हुआ था। यह मानसिक व्यापार की पुनरावृत्ति है, मानसिक पदार्थ में संभूति की उस लहर की पुनरावृत्ति है जिसका मानस-बोध को प्रत्यक्ष बोध होता है। स्मृति इन पुनरावृत्तियों को आपस में जोड़ने के लिये प्रवेश करती है। वह मानस-बोध को यह अनुभव करने योग्य बनाती है कि यह वही मानसिक द्रव्य है जो वही क्रियात्मक रूप ले रहा है और यह वही मानस-बोध है जो उसका अनुभव कर रहा है। अहं-भाव स्मृति का परिणाम नहीं है, स्मृति द्वारा रचा नहीं गया है। वह एक संदर्भ-बिंदु के रूप में या किसी ऐसी चीज के रूप में पहले से ही है और सदा रहता है जिसमें मानस-बोध अपने-आपको केन्द्रित कर लेता है ताकि उसे अनुभव-क्षेत्र में सब जगह बिखरने की जगह एक ऐसा केन्द्र मिल जाये जो तालमेल बिठा सके। अहं-स्मृति इस केन्द्र को और भी मजबूत बनाती और बनाये रखती है लेकिन उसे रचती नहीं है। निम्नतर पशु में अहं-भाव या व्यक्तित्व के भाव का विश्लेषण किया जाये तो वह काल के क्षणों में अविच्छिन्नता, एकात्मता और औरों से अलगाव के अस्पष्ट या कम स्पष्ट संवेदनात्मक अनुभव से संभवतः बहुत आगे नहीं जाता। लेकिन मनुष्य में इसके अतिरिक्त तालमेल बैठानेवाला एक ज्ञान का मन भी है जो मानस-बोध और स्मृति की संयुक्त क्रिया पर आधारित होकर अहं के एक सुनिश्चित विचार पर पहुंचता है और वह सतत अंतर्भासात्मक प्रत्यक्ष दर्शन को भी बनाये रखता है, जो बोध प्राप्त करता, अनुभव करता, याद रखता, विचार करता और वह का वही रहता है चाहे उसे याद रहे या न रहे। वह कहता है कि यह सचेतन मानसिक पदार्थ हमेशा उसी एक चेतन पुरुष की वस्तु है जो अनुभव करता और अनुभव करना बंद कर देता है, याद रखता और भूल जाता है, सतही तौर पर सचेतन है, सतही चेतना से निद्रा में डूब जाता है। स्मृति के संगठन से पहले और उसके बाद, बच्चे में और बूढ़े में, नींद में और जागते हुए, प्रतीयमान चेतना में और प्रतीयमान निश्चेतना में वह वही है। किसी और ने नहीं उसीने वे कार्य किये थे जिन्हें वह भूल जाता है और वे भी

जिन्हें वह याद रखता है। अपने संभवन या अपने व्यक्तित्व के सभी परिवर्तनों के पीछे वह वही-का-वही बना रहता है। मनुष्य में ज्ञान की यह क्रिया, यह ताल-मेल बैठानेवाली बुद्धि, आत्मचेतना और आत्मानुभव का यह निरूपण पशु के स्मृति-आश्रित अहं और इन्द्रियाश्रित अहं से ऊंचा है इसलिये हम यह मान सकते हैं कि वह यथार्थ आत्म-ज्ञान के ज्यादा नजदीक है। अगर हम प्रकृति की ढकी हुई या अनढकी क्रियाओं का अध्ययन करें तो हम इस अनुभव पर भी पहुंच सकते हैं कि समस्त अहं-बोध, सारी अहं-स्मृति के पीछे ज्ञान का एक गुप्त सहयोजनकारी बल या मन की एक व्यावहारिक युक्ति है—या वस्तुतः यह अहं-भाव, अहं-स्मृति ही वह युक्ति है—वह बल या मन वैश्व चित्-शक्ति में उपस्थित है, मानव बुद्धि उसीका वह प्रत्यक्ष रूप है और जहांतक हमारा क्रम विकास पहुंचा है, यह रूप अपनी क्रिया की प्रणालियों में और जिस तत्त्व से वह बना है उसमें अभीतक सीमित और अपूर्ण है। निश्चेतन में भी एक अवचेतन ज्ञान है, वस्तुओं में एक अधिक महान् अंतर्निहित बुद्धि है जो तालमेल आरोपित करती है यानी विश्व-संभूति की अधिक से अधिक निर्बंध गतियों पर भी एक विशेष बौद्धिकता आरोपित करती है।

स्मृति का महत्त्व भली-भांति दिखायी देता है द्विविध व्यक्तित्व या व्यक्तित्व के विच्छेद के व्यापार में जिसका अच्छी तरह अवलोकन किया जा चुका है, जिसमें एक ही व्यक्ति में मन की आनुक्रमिक या बारी-बारी से आनेवाली दो अवस्थाएं होती हैं। इनमें से हर अवस्था में यह उसीको पूरी तरह याद रखता है और सहयोजित करता है जो वह मन की उस अवस्था में था, जो उसने उस अवस्था में किया था, उसे नहीं याद रखता जो वह दूसरी अवस्था में था या जो उसने दूसरी अवस्था में किया था। इसे भिन्न व्यक्तित्व के संगठित भाव के साथ जोड़ा जा सकता है क्योंकि वह सोचता है कि एक अवस्था में वह एक व्यक्ति है और दूसरी अवस्था में एकदम और ही व्यक्ति जिसका नाम, जीवन और भाव भिन्न हैं। यहां ऐसा लगेगा कि स्मृति व्यक्तित्व का समग्र पदार्थ है। लेकिन दूसरी ओर हमें यह देखना चाहिये कि व्यक्तित्व के अलग हुए बिना भी स्मृति अलग हो सकती है जैसे कोई मनुष्य सम्मोहन की अवस्था में स्मृति और अनुभव के ऐसे क्षेत्रों में पहुंच जाता है जहां उसका जाग्रत् मन अजनबी होता है, लेकिन इस कारण वह अपने-आपको एक अलग ही व्यक्ति नहीं मान लेता। मन, जो अपने जीवन की बीती हुई घटनाओं को भूल गया है, शायद अपना नामतक भूल गया हो, वह अपने अहं भाव या व्यक्तित्व को नहीं बदलता। और चेतना की ऐसी अवस्था भी संभव है जिसमें यद्यपि स्मृति की दरार तो नहीं होती परंतु सारी सत्ता के तेज विकास के कारण उसे लगता है कि वह अपनी हर मानसिक परिस्थिति में बदल गया है और आदमी को यह लगता है कि वह एक नये व्यक्तित्व में जन्मा है। यहां अगर

तालमेल बैठानेवाला मन न होता तो वह यह कभी न स्वीकार करता कि वह भूतकाल उसी का है जो वह अब है हालांकि उसे भली-भांति याद है कि शरीर के इसी रूप में, मानसिक द्रव्य के इसी क्षेत्र में यह सब हुआ था। मानसिक बोध नींव है, स्मृति वह धागा है जिसमें आत्मानुभव करनेवाला मन अनुभव पिरोता है। लेकिन मन की तालमेल बैठानेवाली क्षमता स्मृति की जुटाई हुई सारी सामग्री के भूत, भविष्य, वर्तमान को जोड़ती है, एक अहं के साथ उनका नाता जोड़ती है जो अनुभव और व्यक्तित्व के सभी परिवर्तनों के बावजूद काल के सभी क्षणों में एक ही रहता है।

अहं-बोध मानसिक सत्ता में वास्तविक आत्म-ज्ञान के विकास के लिये प्रारंभिक साधन और पहली नींव मात्र है। निश्चेतना से आत्म-चेतना की ओर, आत्म-निर्ज्ञान और वस्तुओं के निर्ज्ञान से आत्म-ज्ञान और वस्तुओं के ज्ञान में विकसित होता हुआ, रूपों में स्थित मन इतनी दूरतक जा पहुंचता है कि उसे अपनी बाहरी रूप से सचेतन सभी संभूतियों का बोध इस तरह होता है जैसे वह एक उस "मैं" से संबंध रखता हो जो हमेशा उपस्थित रहता है। वह उस "मैं" को आंशिक रूप से सचेतन संभूति ही मानता है, वह अंशतः यह सोचता है कि वह "मैं" संभूति से कुछ भिन्न और उससे श्रेष्ठ, शायद शाश्वत और अपरिवर्तनशील है। अंत में अपनी बुद्धि के सहारे, जो तालमेल बिठाने के लिये भेद करती है, वह स्वानुभव को केवल संभूति पर, सतत परिवर्तनशील आत्मा पर स्थिर कर सकता है और उससे भिन्न किसी चीज के विचार को मन की कल्पना मानकर त्याग सकता है। तब कोई सत्ता नहीं होती, होती है केवल संभूति। या वह आत्मानुभव को अपनी शाश्वत सत्ता की प्रत्यक्ष चेतना में स्थिर करके संभूति को अस्वीकार कर सकता है। जब वह उसके बारे में अभिज्ञ होने के लिये बाधित हो तब भी वह उसे मन या इन्द्रियों की मनगढ़ंत कहानी या अस्थायी अवर अस्तित्व की निःसारता कहकर अस्वीकार कर सकता है।

लेकिन यह स्पष्ट है कि पृथकात्मक अहं-बोध पर आधारित आत्म-ज्ञान अपूर्ण होता है और कोई भी ज्ञान, जो केवल उसपर या मुख्यतः उसपर या उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया पर आधारित हो, वह सुरक्षित या पूर्णता के बारे में निश्चित नहीं हो सकता। पहली बात यह कि वह हमारी सतही मानसिक क्रियाशीलता और उसकी अनुभूतियों का ज्ञान है और, संभूति का जो कुछ महान् क्षेत्र पीछे की ओर शेष है उसके संबंध में वह अज्ञान है। दूसरे, वह केवल व्यक्तिगत आत्मा और उसके अनुभवोंतक सीमित सत्ता और संभूति का ज्ञान है। बाकी सारा जगत् उसके लिये अनात्मा, यानी कोई ऐसी चीज है जिसे वह अपनी सत्ता के भाग के रूप में अनुभव नहीं करता बल्कि बाहर के अस्तित्व के रूप में देखता है जो उसकी पृथक् चेतना के सामने प्रस्तुत किया गया है। यह इसलिये होता है क्योंकि उसे इस अधिक

विशाल अस्तित्व और प्रकृति का वैसा प्रत्यक्ष सचेतन ज्ञान नहीं होता जैसा व्यक्ति को अपनी सत्ता और संभूति का होता है। यहां भी विशाल अज्ञान के बीच एक सीमित ज्ञान अपने-आपको प्रतिष्ठित करता है, अपने अधिकार जताता है। तीसरे, सत्ता और संभूति के बीच सच्चा संबंध पूर्ण आत्म-ज्ञान के आधार पर नहीं बल्कि, अज्ञान, आंशिक ज्ञान द्वारा कार्यान्वित किया गया है। इसके परिणाम-स्वरूप मन चरम ज्ञान की ओर प्रवृत्त होकर हमारे वर्तमान अनुभव और संभावनाओं के आधार पर ताल-मेल बैठानेवाली और अलग-अलग करनेवाली इच्छा और बुद्धि द्वारा तेज धारवाले निष्कर्ष पर पहुंचने का प्रयत्न करता है जो अस्तित्व के किसी एक भाग को काटकर अलग कर देता है। अभीतक जो प्रतिपादित हुआ है वह यही है कि एक ओर तो मानसिक सत्ता अपने-आपको प्रतीयमान रूप से समस्त संभूति को अलग करके सीधी आत्म-चेतना के साथ एकात्म कर सकती है और दूसरी ओर समस्त स्थिर आत्म-चेतना का प्रतीयमान बहिष्कार करके अपने-आपको संभूति के साथ एकात्म कर सकती है। मन के दोनों पक्ष एक-दूसरे के विरोधी होने के कारण अलग होते हुए जिसे त्यागते हैं उसे अवास्तविक होने या मन की क्रीड़ा मात्र होने का दोषी ठहराते हैं। उनमें से एक या दूसरे के लिये या तो भगवान् और आत्मा या जगत् तभीतक सापेक्ष रूप से वास्तविक हैं जबतक मन उनका निर्माण करने पर आग्रह करता है—जगत् को आत्मा के प्रभावकारी स्वप्न के रूप में या भगवान् और आत्मा को एक मानसिक रचना या प्रभावकारी भ्रम के रूप में। इनमें सच्चा संबंध अबतक पकड़ में नहीं आया क्योंकि ज्ञान जबतक आंशिक रहेगा तबतक हमारी बुद्धि को सत्ता के ये दोनों पक्ष असंगत और बेमेल लगेंगे। सचेतन विकास का लक्ष्य है सर्वांगीण ज्ञान। चेतना का कोई ऐसा सुस्पष्ट काट जो एक पक्ष को विच्छिन्न कर देता हो और दूसरे को छोड़ देता हो, वह आत्मा और जगत् का पूर्ण सत्य नहीं हो सकता। क्योंकि, अगर कोई निश्चल आत्मा ही सब कुछ होती तो संसार के अस्तित्व की कोई संभावना न रहती। अगर सचल प्रकृति ही सब कुछ होती तो वैश्व संभवन का एक चक्र तो होता पर निश्चेतन में से सचेतन के विकास के लिये कोई आध्यात्मिक आधार न होता और न ही हमारी एकांगी चेतना या अज्ञान में अपना अतिक्रमण करने और अपनी सत्ता के संपूर्ण सचेतन सत्य और सर्व-सत्ता के पूर्ण सचेतन ज्ञानतक पहुंचने के लिये स्थायी अभीप्सा होती।

हमारी बाहरी सत्ता एक सतह भर है और वहीं अज्ञान का पूरा राज्य है। जानने के लिये हमें अपने भीतर जाना होगा और आंतरिक ज्ञान से देखना होगा। सतह पर जो कुछ रूपायित है वह हमारी गुप्त महत्तर सत्ता का एक छोटा और क्षीण प्रतिरूप है। हमारे अंदर की निश्चल आत्मा का तभी पता चलता है जब बाहरी मानसिक और प्राणिक क्रियाएं शांत हो जायें। चूंकि वह गहराई में भीतर स्थित है और सतह पर उसका निरूपण आत्म-सत्ता के अंतर्भासात्मक बोध से ही हो सकता

है और मन, प्राण और भौतिक अहंभाव उसका गलत चित्रण करते हैं इसलिये उसके सत्य का अनुभव मन की नीरवता में ही किया जा सकता है। लेकिन हमारी सतही सत्ता के क्रियाशील भाग भी इसी तरह उन ज्यादा बड़ी चीजों के क्षीण आकार हैं जो हमारी गुह्य प्रकृति की गहराइयों में हैं। स्वयं सतही स्मृति एक आंशिक और प्रभावहीन क्रिया है जो आंतरिक अंतस्तलीय स्मृति में से व्योरों को बाहर खींचा करती है। वह अंतस्तलीय स्मृति हमारे सारे जगत्-अनुभव को ग्रहण और अंकित करती है। मन ने जिसे न देखा है न समझा है, जो उसकी दृष्टि में नहीं आया है उसे भी वह ग्रहण और अंकित करती है। हमारी सतही कल्पना चेतना की एक बृहत्तर, अधिक सृजन करनेवाली, प्रभावकारी, गुह्य बिंब गढ़नेवाली शक्ति में से एक चुनाव है। एक ऐसा मन जो अपरिमेय रूप से विस्तृत है, जिसमें अधिक सूक्ष्म प्रत्यक्ष दर्शन है, एक प्राण-शक्ति जो अधिक क्रियाशील है, एक सूक्ष्म भौतिक पदार्थ जो अधिक विस्तृत और सूक्ष्म है, जो विशालतर और अधिक उदात्त ग्रहणशीलतावाला है—ये अपने अंदर से हमारी बाहरी सतह के क्रम-विकास का निर्माण कर रहे हैं। इन गुह्य क्रियाओं के पीछे एक चैत्य सत्ता है जो हमारे व्यक्तीकरण का सच्चा सहारा है; अहंकार तो एक ऊपरी, मिथ्या स्थानापन्न है, क्योंकि यही गुप्त अंतरात्मा हमारे आत्मानुभव और जगत्-अनुभव को सहारा देती और साथ रखती है। मानसिक, प्राणिक, भौतिक, बाहरी अहं, प्रकृति की सतही रचना है। केवल तभी जब हम अपनी आत्मा और अपनी प्रकृति दोनों को समग्र रूप में बाहरी सतह और गहराई में भी देख लेते हैं तभी हमें ज्ञान का सच्चा आधार प्राप्त होता है।

अध्याय १०

तादात्म्य द्वारा ज्ञान और भेदात्मक ज्ञान

आत्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि।

वे आत्मा को आत्मा में, आत्मा द्वारा देखते हैं।

गीता ६.२०

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति; . . . तदितर इतरं शृणोति, तदितर इतरं मनुते, इतरं स्पृशति, इतरं विजानाति।
यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं . . . विजानीयात्,
येनेदं सर्वं विजानाति॥
सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद; इदं ब्रह्म, . . .
इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा॥

जहां द्वैत है वहां अन्य अन्य को देखता है, अन्य अन्य को सुनता, अन्य को स्पर्श करता, अन्य के बारे में सोचता, अन्य को जानता है। लेकिन जब व्यक्ति सबको आत्मा के रूप में देखता है तो वह किसके द्वारा जानेगा? यह जो कुछ है इस सबको वह आत्मा द्वारा ही जानता है . . . जो सबको आत्मा में न देखकर कहीं और देखता है उसे सब धोखा देते हैं; क्योंकि यह सब जो कुछ है ब्रह्म है। सभी सत्ताएं और यह सब जो है, यह आत्मा ही है।

बृहदारण्यकोपनिषद् ४.५.१५, ७

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

स्वयंभू ने इन्द्रियों के द्वार बाहर की ओर खुलनेवाले बनाये हैं इसलिये मनुष्य चीजों को बाहर की ओर देखता है अपनी अंतरात्मा में नहीं। कोई विरला धीर, अमृतत्व की इच्छा करते हुए अपनी दृष्टि को अंदर की ओर मोड़कर आत्मा का साक्षात्कार करता है।

कठोपनिषद् २.१.१

न हि द्रष्टुर्दृष्टेः . . . वक्तुर्वक्तेः . . . श्रोतुः श्रुतेः . . . विज्ञातुर्विज्ञाते-र्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत्पश्येत्, तद्वदेत्, यच्छृणुयात्, यद्विजानीयात्॥

द्रष्टा की दृष्टि का, वक्ता के वचन का . . . श्रोता के श्रवण का . . . ज्ञाता के ज्ञान का लोप नहीं होता क्योंकि वे सभी अविनाशी हैं। किंतु वह जो कुछ देखता है, जिससे वह बोलता है, जिससे

वह सुनता है, जिससे वह जानता है, वह सब कोई और या स्वयं उससे भिन्न और पृथक् नहीं है।

बृहदारण्यकोपनिषद् ४.३.२३-३०

हमारा सतही ज्ञान—अपने-आपको, अपनी भीतरी गतिविधि को, अपने बाहर के जगत्, उसकी वस्तुओं और घटनाओं को देखने का हमारा सीमित और प्रतिबद्ध मानसिक तरीका—इस तरह बना है कि वह ज्ञान की चतुर्विध कोटियों में से अलग-अलग मात्रा प्राप्त करता है। जानने की मौलिक और आधारभूत विधि जो वस्तुओं में स्थित गुह्य आत्मा के लिये सहज है वह है तादात्म्य द्वारा ज्ञान; दूसरी व्युत्पन्न विधि है प्रत्यक्ष संपर्क द्वारा ज्ञान जो अपने मूल में तादात्म्य द्वारा गुप्त ज्ञान से संबद्ध होता है या उसीसे शुरू होता है, परंतु वास्तव में वह अपने मूल स्रोत से अलग होता है और इस कारण अपने ज्ञान में सबल किंतु अपूर्ण होता है; तीसरी विधि है अवलोकन के विषय से पृथक् होकर फिर भी प्रत्यक्ष संपर्क के सहारे या आंशिक तादात्म्य से ज्ञान पाना और चौथी है पूरी तरह पृथगात्मक ज्ञान जो परोक्ष संपर्क के यंत्रों पर आधारित रहता है, यह अर्जित ज्ञान होते हुए भी, उसके बारे में सचेतन हुए बिना एक पहले से उपस्थित आंतरिक अभिज्ञता और ज्ञान की अंतर्वस्तुओं का प्रस्तुतिकरण या उन्हें ऊपर उठाना है। तादात्म्य द्वारा ज्ञान, घनिष्ठ प्रत्यक्ष संपर्क द्वारा ज्ञान, पृथगात्मक प्रत्यक्ष संपर्क द्वारा ज्ञान और पूरी तरह पृथगात्मक ज्ञान जो परोक्ष संपर्क द्वारा होता है—ये चार हैं प्रकृति की ज्ञान-प्राप्ति की विधियां।

जानने की प्रथम विधि अपने शुद्धतम रूप में हमारी अपनी मूल सत्ता की प्रत्यक्ष अभिज्ञता द्वारा सतही मन में चित्रित होती है। यह ऐसा ज्ञान है जो आत्मा और सत्ता के शुद्ध तथ्य के सिवा हर चीज से रिक्त होता है, हमारे सतही मन को जगत् की और किसी चीज की ऐसी अभिज्ञता नहीं होती। लेकिन हमारी आत्मनिष्ठ चेतना के ढांचे और गतियों के ज्ञान में तादात्म्य से आनेवाली अभिज्ञता का कोई अंश जरूर प्रवेश करता है, क्योंकि हम इन गतिविधियों में एक विशेष तादात्म्य के साथ अपने-आपको प्रक्षिप्त कर सकते हैं। हम देख आये हैं कि क्रोध की उस बाढ़ में, जो हमें निगल लेती है, यह कैसे हो सकता है, उस समय हमारी सारी चेतना क्रोध की एक लहर मालूम होती है। प्रेम, दुःख, हर्ष आदि अन्य आवेगों में भी वही शक्ति होती है जो हमें पकड़कर हमपर कब्जा कर सकती है। विचार भी हमें सोख लेता और हमपर कब्जा कर लेता है। विचारक हमारी आंख से ओझल हो जाता है और हम विचार और चिंतन बन जाते हैं। लेकिन बहुधा दोहरी गति होती है। हमारा एक भाग विचार या आवेग बन जाता है, हमारा एक और भाग या तो एक तरह के लगाव के साथ उसका साथ देता है या नजदीक से उसका अनुसरण करता है और उसे ऐसे प्रत्यक्ष अंतरंग संपर्क द्वारा जानता है जो उस गति

के साथ तादात्म्य या उसमें पूर्ण आत्म-विस्मृति से जरा ही कम रहता है।

यह तादात्म्य संभव है, और युगपत् रूप से अलगाव और आंशिक तादात्म्य भी संभव है क्योंकि ये चीजें हमारी सत्ता की संभूतियां हैं, हमारे मानसिक पदार्थ और मानसिक ऊर्जा के, हमारे प्राणिक पदार्थ और प्राणिक ऊर्जा के निर्धारक हैं। लेकिन चूंकि वे हमारे छोटे-से अंश हैं इसलिये हम उनके साथ एक होने या उनके कब्जे में आने के लिये बाधित नहीं हैं—हम अपने-आपको अलग कर सकते हैं, सत्ता को उसकी अस्थायी संभूति से अलग कर सकते, उसका अवलोकन और नियंत्रण कर सकते हैं, उसकी अभिव्यक्ति के लिये स्वीकृति दे सकते हैं या उसे रोक सकते हैं। इस भांति, हम आंतरिक तटस्थता द्वारा, मानसिक या आध्यात्मिक अलगाव द्वारा, आंशिक या आधार रूप से अपने-आपको मानसिक प्रकृति या प्राणिक प्रकृति के सत्ता पर नियंत्रण से मुक्त कर सकते हैं और साक्षी, ज्ञाता और शासक की स्थिति अपना सकते हैं। इस भांति हमें आत्मनिष्ठ गतिविधि का दोहरा ज्ञान होता है। एक है तादात्म्य द्वारा उसके पदार्थ और उसकी क्रिया-शक्ति का अंतरंग ज्ञान, यह है किसी भी उस ज्ञान से अधिक अंतरंग ज्ञान जो हमें पूरी तरह भेदात्मिका या विषयनिष्ठ रीति से मिलता है, जैसा कि हमें अपने से बाहर की चीजों का, हमारे लिये अनात्मा होनेवाली चीजों का मिलता है। साथ ही तटस्थ अवलोकन द्वारा एक ज्ञान प्राप्त होता है। वह तटस्थ होता है पर उसमें प्रत्यक्ष संपर्क की शक्ति होती है, वह हमें प्रकृति-ऊर्जा की तल्लीनता से मुक्त करता है और गति को हमारी अपनी सत्ता और जगत्-सत्ता के बाकी भाग से संबद्ध करने में समर्थ बनाता है। अगर हमारे अंदर यह तटस्थता न हो तो हम अपनी स्वरूप-स्थिति और प्रभुताशाली ज्ञान को संभूति, गतिविधि और क्रिया की प्राकृत आत्मा में खो देते हैं और तब हालांकि हम गति को अंतरंग रूप से जानते हैं फिर भी हम उसे प्रमुख रूप से पूरी तरह नहीं जानते। स्थिति ऐसी न होगी यदि हम अपनी गति के साथ अपने तादात्म्य के साथ-ही-साथ, अपनी बाकी आत्मनिष्ठ सत्ता के साथ अपने तादात्म्य को भी ले सकें यानी अगर हम पूरी तरह से संभूति की लहर में डुबकी लगा सकें और साथ ही उस स्थिति या क्रिया की तल्लीनता में मानसिक साक्षी, प्रेक्षक और नियंता रह सकें। लेकिन हम आसानी से यह नहीं कर सकते क्योंकि हम विभाजित चेतना में निवास करते हैं जिसमें हमारा प्राणिक भाग—शक्ति, कामना, आवेश और कर्म की हमारी प्राण-प्रकृति—मन को नियंत्रित करने और निगल जाने के लिये प्रवृत्त होता है और मन को इस अधीनता से बचना और प्राण पर नियंत्रण करना होता है और इससे अलग रहकर ही वह इस प्रयास में सफल हो सकता है क्योंकि अगर वह तदात्म हो जाये तो वह खो जाता और जीवन-धारा में बह जाता है। फिर भी विभाजन द्वारा एक तरह का संतुलित द्विविध तादात्म्य संभव होता है यद्यपि संतुलन बनाये रखना आसान नहीं है। एक विचारात्मा है जो अवलोकन करती और अनुभव

के लिये आवेश को अनुमति देती है—या उसे कोई प्राणिक दबाव अनुमति देने के लिये बाधित करता है—और एक प्राणात्मा होती है जो अपने-आपको प्रकृति की धारा में बहा ले जाने देती है। तो यहां हमारे आत्मनिष्ठ अनुभव में, हमारे पास चेतना की क्रिया का एक क्षेत्र होता है जिसमें ज्ञान की तीन क्रियाएं एक साथ मिल सकती हैं, तादात्म्य द्वारा एक तरह का ज्ञान, सीधे संपर्क द्वारा ज्ञान और उनपर आधारित भेदात्मक ज्ञान।

विचार में विचारक और विचार-क्रिया में फर्क करना ज्यादा कठिन होता है। विचारक विचार में डूबा और खोया रहता है या विचार-धारा में बह जाता, उसके साथ एक हो जाता है। साधारणतः वह सोचते समय या सोचने की क्रिया करते हुए विचारों को नहीं देख सकता या उनकी समीक्षा नहीं कर सकता। यह उसे सिंहावलोकन करते हुए स्मृति की सहायता से या आगे बढ़ने से पहले, संशोधक मूल्यांकन से पहले समीक्षात्मक विराम के समय करना पड़ता है। लेकिन विचार करने और सचेतन रूप से मन की क्रिया के निदेशन में आंशिक युगपत्ता लायी जा सकती है जब विचार पूरी तरह तल्लीन नहीं करता, जब विचारक पीछे की ओर मनोमय पुरुष में हटकर, मानसिक ऊर्जा से हटकर खड़े रहने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। विचार की प्रक्रिया के, कम-से-कम अस्पष्ट भाव के साथ ही सही, विचार में पूरी तरह तल्लीन होने की जगह हम मानसिक दृष्टि द्वारा विचार की प्रक्रिया को देख सकते हैं, अपने विचारों के मूल और उनकी गति-धारा का निरीक्षण कर सकते हैं। आंशिक रूप से नीरव अंतर्दृष्टि द्वारा, और अंशतः विचार पर विचार की प्रक्रिया से उनका निर्णय और मूल्यांकन कर सकते हैं। लेकिन तादात्म्य चाहे जैसा हो, ध्यान देने की बात यह है कि हमारी आंतरिक गतियों का ज्ञान दोहरी प्रकृतिवाला होता है, विभाजन और सीधा संपर्क का। क्योंकि जब हम अपने-आपको तटस्थ कर लेते हैं तब भी यह निकट संपर्क बना रहता है। हमारा ज्ञान हमेशा सीधे संपर्क पर, उस जानकारी पर आधारित होता है जो प्रत्यक्ष अभिज्ञता द्वारा प्राप्त होती है जिसमें थोड़ा-सा तादात्म्य का तत्त्व रहता है। हमारी तर्क-बुद्धि का आंतरिक गतियों को देखने और जानने का साधारण तरीका अधिक अलगाववाली वृत्ति का होता है। अधिक अंतरंग तरीके में हमारे मन का अधिक गतिशील भाग अपने-आपको हमारे संवेदनों, भावों और कामनाओं के साथ जोड़े रखता है। लेकिन इस मेल में भी विचारशील मन हस्तक्षेप कर सकता है और मन के क्रियात्मक, आत्म-संयुक्तकारी भाग और प्राणिक या शारीरिक गतिविधि—इन दोनों पर वह एक पृथक्कारी वियुक्त अवलोकन और नियंत्रण कर सकता है। हमारे भौतिक शरीर की जितनी भी गतिविधियां दिखायी दे सकती हैं उन्हें भी हम इन दोनों तरीकों से जानते और नियंत्रित करते हैं, एक पृथक्कारी दूसरा अंतरंग। शरीर और वह जो कुछ करता है उसे हम अंतरंग रूप से ऐसे अनुभव करते हैं जैसे वह हमारा अंश

है लेकिन मन उससे अलग है और उसकी गतियों पर एक तटस्थ नियंत्रण रख सकता है। हमारा अपनी आंतरिक सत्ता और प्रकृति का सामान्य ज्ञान, यद्यपि वह अभीतक अपूर्ण और अधिकतर बाहरी होता है, फिर भी जहांतक उसकी गति है, उसे इससे एक विशेष अंतरंगता, निकटता और ऋजुता प्राप्त होती है। यह चीज हमारे बाहर जो जगत् है, उसकी गतिविधियों और उसके बारे में हमारे ज्ञान में अनुपस्थित होती है क्योंकि वहां देखी और अनुभव की हुई चीज अनात्म होती है, जिसका अनुभव हमारे अपने भाग के रूप में नहीं होता, अतः विषय के साथ चेतना का पूर्णतया प्रत्यक्ष संपर्क संभव नहीं होता। इन्द्रियों के माध्यम की जरूरत होती है जो हमें उसका निकटस्थ, अंतरंग ज्ञान तो नहीं देता किंतु ज्ञान के लिये प्रथम सामग्री के रूप में एक आकृति देता है।

बाहरी चीजों के बोध में हमारे ज्ञान का एकदम पृथक्कारी आधार होता है। उसकी सारी कार्य-प्रणाली और प्रक्रिया परोक्ष बोध के स्वभाव की होती है। हम अपने-आपको बाहरी विषयों के साथ एकात्म नहीं करते, दूसरे मनुष्यों के साथ भी नहीं यद्यपि वे हमारी प्रकृति के ही जीव हैं। हम उनकी सत्ता में इस तरह प्रवेश नहीं कर सकते मानों वह हमारी अपनी सत्ता हो, हम उन्हें या उनकी गतिविधियों को उतने प्रत्यक्ष, निकटस्थ और अंतरंग रूप में नहीं जान सकते जैसे हम अपने-आपको या अपनी गतिविधियों को जानते हैं—भले वह अपूर्ण रूप से ही क्यों न हो। लेकिन केवल तादात्म्य का ही अभाव नहीं रहता, प्रत्यक्ष संपर्क भी अनुपस्थित रहता है। हमारी चेतना और उनकी चेतना, हमारे पदार्थ और उनके पदार्थ, हमारी आत्म-सत्ता और उनकी आत्म-सत्ता के बीच कोई प्रत्यक्ष स्पर्श नहीं रहता। उनके साथ हमारा जो एकमात्र प्रत्यक्ष संपर्क मालूम होता है या हमें उनका जो प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है वह इन्द्रियों के द्वारा है। ऐसा लगता है कि दृष्टि, श्रुति और स्पर्श ज्ञान के विषय के साथ किसी प्रकार की प्रत्यक्ष अंतरंगता की शुरूआत करते हैं। लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है, यह वास्तविक प्रत्यक्षता नहीं है, वास्तविक अंतरंगता नहीं है क्योंकि इन्द्रियों से जो प्राप्त होता है वह स्वयं वस्तु का आंतरिक या अंतरंग स्पर्श नहीं होता बल्कि स्वयं हमारे अंदर उसका बिंब या स्पंदन या स्नायविक संदेश होता है जिसके द्वारा हमें उसे जानना, सीखना होता है। ये साधन इतने प्रभावहीन, इतने दरिद्र हैं कि अगर यही पूरा-का-पूरा साधन-यंत्र होता तो हम शायद ही कुछ, या कुछ भी न जान पाते या हमें अस्त-व्यस्तता का बड़ा धुंधलापन ही मिल पाता। लेकिन यहां ऐंद्रिय-मन का अंतर्भास हस्तक्षेप करता है जो बिंब या स्पन्दन के संकेत को पकड़ लेता है और उसे विषय-स्वरूप मान लेता है, एक प्राणिक अंतर्भास का हस्तक्षेप होता है जो ऐंद्रिय-संपर्क से बने एक और तरह के स्पंदन द्वारा उस विषय की ऊर्जा या उसकी शक्ति की आकृति को पकड़ता है, और प्रत्यक्ष दर्शनवाले मन का अंतर्भास जो इस सारे साक्ष्य के आधार पर तुरंत विषय

के बारे में एक उचित भाव बना लेता है। इस प्रकार से बने बिंब की व्याख्या में जो कमी रह जाती है उसे बुद्धि का हस्तक्षेप या समग्र रूप से समझनेवाली बुद्धि पूरा कर देती है। अगर पहला मिश्रित अंतर्भास एक सीधे संपर्क का परिणाम होता या वह ऐसे समग्र अंतर्भासिक मानस की क्रिया का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत करता जो अपने प्रत्यक्ष दर्शनों का स्वामी है तो, जो ज्ञान इन्द्रियों या उनके संकेतों के द्वारा नहीं आता उसके अन्वेषक और व्यवस्थापक के रूप को छोड़कर बाकी किसी चीज के लिये तर्क-बुद्धि के हस्तक्षेप की जरूरत न होती। इसके विपरीत यह एक ऐसा अंतर्भास है जो एक बिंब पर, एक ऐंद्रिय प्रलेखन और परोक्ष साक्ष्य पर कार्य करता है, विषय के साथ चेतना के सीधे संपर्क पर नहीं। लेकिन चूंकि बिंब या स्पंदन त्रुटिपूर्ण और संक्षिप्त आलेखन हैं और अंतर्भास स्वयं सीमित है और धुंधले माध्यम द्वारा आता है और एक अंधे प्रकाश में कार्य करता है इसलिये विषय के बारे में हमारी अंतर्भासात्मक, व्याख्यात्मक रचना संदेहास्पद रहती है और कम-से-कम अधूरी तो होती ही है। मनुष्य को अपने ऐंद्रिय उपकरणों की त्रुटियों, भौतिक मन के प्रत्यक्ष दर्शन की अविश्वसनीयता और प्राप्त सामग्री की व्याख्या में दरिद्रता की कमियों को पूरा करने के लिये अपनी तर्क-बुद्धि को विकसित करना पड़ा है।

अतः हमारा जगत् का ज्ञान एक कठिन रचना है जो ऐंद्रिय बिंबों के अपूर्ण आलेखन, प्रत्यक्षदर्शी मन, प्राणिक मन और ऐंद्रिय मन द्वारा उसकी अंतर्भासिक व्याख्या होती है और तर्क-बुद्धि द्वारा संपूरक पूर्ति, संशोधन, संपूरक ज्ञान की अभिवृद्धि और सहयोजन होते हैं। फिर भी हम जिस जगत् में निवास करते हैं उसके बारे में हमारा ज्ञान संकीर्ण और अपूर्ण, उसके महत्त्व या अर्थ के बारे में हमारी व्याख्या संदेहास्पद है। अपूर्णता को पूरा करने के लिये कल्पना, परिकल्पना, चिंतन, निष्पक्ष विवेचन, तर्क, अनुमान, मापन, परीक्षण, और विज्ञान द्वारा ऐंद्रिय साक्ष्य का और अधिक संशोधन और विस्तार—इस सारे यंत्र को बुलाना पड़ा है। इस सब के बाद भी परिणाम में हमें जो चीज मिलती है, वह है पाये हुए परोक्ष ज्ञान का अर्द्ध-निश्चित, अर्द्ध-संदिग्ध संचय, अर्थसूचक प्रतिबिंबों का और विचारात्मक प्रतिरूपों, अमूर्त विचार-प्रतीकों, प्राक्कल्पनाओं, सिद्धांतों और सामान्यीकरणों का पुंज। लेकिन इस सबके साथ संदेहों, कभी खतम न होनेवाली बहसों और प्रश्नों का पुंज भी रहता है। ज्ञान के साथ शक्ति आयी है लेकिन हमारे ज्ञान की अपूर्णता के कारण हमें शक्ति के सच्चे उपयोग का कोई भान नहीं रहता, हमें उस लक्ष्य का भी पता नहीं होता जिसकी ओर ज्ञान और शक्ति के उपयोग को मोड़ना और प्रभावकारी बनाना चाहिये। हमारे आत्मज्ञान की अपूर्णता के कारण स्थिति और भी खराब हो जाती है क्योंकि हमारा वर्तमान आत्मज्ञान बहुत ही कम और दयनीय रूप से अपर्याप्त है। वह केवल ऊपरी सतह का, हमारी आभासी

प्रतीयमान आत्मा और प्रकृति का है, हमारी सच्ची आत्मा और हमारे जीवन के सच्चे अर्थ का नहीं। उपयोग करनेवाले में आत्म-ज्ञान और आत्माधिकार का अभाव है, उसके जगत्-शक्ति और जगत्-ज्ञान के उपयोग में बुद्धिमत्ता और उचित इच्छा का अभाव है।

यह स्पष्ट है कि सतह पर हमारी अवस्था वस्तुतः—अपनी पहुंच की हदतक—ज्ञान की अवस्था है, लेकिन एक सीमित ज्ञान की जो अज्ञान में लिपटा और उससे आक्रांत है और अपने परिसीमन के कारण, एक बड़ी हदतक, अपने-आप एक तरह का अज्ञान है और बहुत हुआ तो ज्ञान और अज्ञान का मिश्रण है। वह और कुछ हो ही नहीं सकता क्योंकि जगत् के बारे में हमारी अभिज्ञता पृथक्कारी और सतही अवलोकन से आती है। उसके अधिकार में ज्ञान का परोक्ष साधन ही है और हमारा स्वयं अपने बारे में ज्ञान यद्यपि ज्यादा प्रत्यक्ष है फिर भी हमारी सत्ता की बाहरी सतहतक प्रतिबद्ध रहने के कारण हमारी सच्ची आत्मा, हमारी प्रकृति के सच्चे मूलों, हमारे कर्मों को चलानेवाली सच्ची शक्तियों से अनभिज्ञ रहने के कारण निरर्थक हो जाता है। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि हम अपने-आपको केवल एक बाहरी ज्ञान के द्वारा जानते हैं—हमारी चेतना और विचार के स्रोत एक रहस्य हैं। हमारे मन, भावों और संवेदनों की सच्ची प्रकृति एक रहस्य है। हमारे जन्म का कारण और उसका उद्देश्य, हमारे जीवन और उसके क्रिया-कलाप का अर्थ रहस्य है। अगर हमें वास्तविक आत्म-ज्ञान और वास्तविक जगत्-ज्ञान होता तो ऐसी बात न हो पाती।

अगर हम इस परिसीमन और अपूर्णता के कारण की खोज करें तो हमें पता लगेगा कि यह इसलिये है क्योंकि हम अपनी ऊपरी सतह पर केंद्रित हैं, आत्मा की गहराइयां, हमारी समग्र प्रकृति के रहस्य एक ऐसी दीवार के पीछे हमसे छिपे हैं जो हमारी बहिर्मुखी चेतना से बनी है या उसके लिये बनायी गयी है ताकि वह हमारी बृहत्तर सत्ता के अधिक विस्तृत और अधिक गहरे सत्य के आक्रमण से सुरक्षित रहकर मन, प्राण और शरीर की अहं-केंद्रित व्यक्तीयन की क्रियाओं को आगे बढ़ा सके। इस दीवार में से होकर हम अपनी आंतरिक आत्मा और वास्तविकता को केवल दरारों और झरोखों से ही देख सकते हैं और हम वहां एक रहस्यमय धुंधलेपन से अधिक शायद ही कुछ देख सकें। साथ-ही-साथ हमारी चेतना को अपने अहं-केंद्रित व्यक्तीयन की रक्षा भी करनी होती है—न केवल ऐक्य और अनंतता की अपनी गहनतर आत्मा से बल्कि वैश्व अनंत से भी। वह यहां भी विभाजन की दीवार बनाती है और उस सबको बाहर ही बंद कर देती है जो उसके अहं के चारों ओर केंद्रित न हो, उसे अनात्म के रूप में त्याग देती है। लेकिन चूंकि उसे इस अनात्म के साथ रहना है, क्योंकि वह उसीकी चीज है, उसीपर निर्भर है, उसके अंदर निवास करती है इसलिये उसे संचार का कोई साधन रखना पड़ता

है। उसे अपनी अहं की दीवार और शरीर के दायरे में अपने-आपको बांध रखनेवाली दीवार के बाहर जाना पड़ता है ताकि वह उन आवश्यकताओं को पूरा कर सके जिन्हें अनात्मा उसे दे सकती है। उसे किसी प्रकार से उस सबको जानना होता है जो उसके चारों ओर है, ताकि वह उसपर प्रभुत्व जमा सके और जहांतक संभव हो उसे व्यक्तिगत और सामूहिक मानव जीवन और अहं का दास बना सके। शरीर हमारी चेतना को इन्द्रियों के द्वार देता है जिनसे वह जगत् के साथ, अपने से बाहर के अनात्म के साथ आवश्यक संपर्क स्थापित कर सके और उसके अवलोकन के तथा उसपर क्रिया करने के साधन दे सके। मन इन साधनों का उपयोग करता और नयों का आविष्कार करता है जो इनकी कमी को पूरा कर सकें और वह कोई रचना तैयार करने, कोई ज्ञान-तंत्र स्थापित करने में सफल होता है जो उसके उस तात्कालिक प्रयोजन या सामान्य इच्छा के काम आता है जिसके अंदर उस विशाल पराये वातावरण की सत्ता को आंशिक रूप में अपने अधिकार में करने और जहां वह उसे अधिकार में न कर सके वहां उसके साथ व्यवहार करने की इच्छा होती है; लेकिन वह जो ज्ञान प्राप्त करता है वह विषयगत होता है, वह मुख्य रूप से चीजों की ऊपरी सतह का या जो सतह के जरा ही नीचे हो उसका ज्ञान होता है—यह व्यावहारिक, सीमित और असुरक्षित होता है। वैश्व ऊर्जा के आक्रमण उसकी बचाव-व्यवस्था से समान रूप से असुरक्षित और एकांगी होते हैं। "अनुमति के बिना प्रवेश निषिद्ध है" की सूचना के बावजूद उस ज्ञान पर सूक्ष्म और अदृश्य रूप से जगत् के आक्रमण होते रहते हैं। वह अनात्म द्वारा आवृत रहता है और उसीके द्वारा गढ़ा होता है। उसके विचार, उसकी इच्छा, उसकी भावनामय और प्राणिक ऊर्जा में दूसरों के और विश्व प्रकृति के विचार, इच्छा और आवेग की लहरों और तरंगों का, प्राणिक आघातों और सब प्रकार की शक्तियों का प्रवेश होता है। उसकी बचाव की दीवार बाधा की दीवार बन जाती है जो उसे इस सारी क्रिया-प्रतिक्रिया को जानने से रोकती है। वह बस उसीको जानती है जो इन्द्रियों के द्वार से या मानसिक प्रत्यक्ष दर्शन से आता है जिसके बारे में वह निश्चित नहीं हो सकती, या जिसके द्वारा वह अपनी जुटाई हुई ऐंद्रिय तथ्य सामग्री से अनुमान या निर्माण कर सकती है। जो उसमें से होकर आता है वह उसीको जानती है, बाकी सब उसके लिये निर्ज्ञान का शून्य है।

तो फिर अपने-आपको बंदी बनानेवाली यह दोहरी दीवार, सतही अहंकार की सीमाओं में यह अपनी किलेबंदी हमारे सीमित ज्ञान या अज्ञान का कारण है। और अगर इस तरह अपने-आपको बंदी बनाना ही हमारे जीवन का संपूर्ण स्वरूप होता तो अज्ञान का कोई इलाज न होता। लेकिन तथ्य यह है कि यह सतत अहंकार की बाहरी रचना वस्तुओं में चित्-शक्ति का केवल एक अंतरिम साधन है ताकि गुप्त व्यक्ति, अंदर की आत्मा भौतिक प्रकृति में अपना प्रतिनिधि, उपकरणात्मक रूपायण

स्थापित कर सके, अज्ञान की प्रकृति में आंतरिक व्यक्तीकरण कर सके क्योंकि वैश्व निश्चेतना में से बाहर उभरते जगत् में आरंभ में बस यही किया जा सकता है। हमारा आत्म-अज्ञान और जगत्-अज्ञान सर्वांगीण आत्म-ज्ञान और सर्वांगीण जगत्-ज्ञान की ओर उसी अनुपात में बढ़ सकते हैं जैसे हमारा सीमित अहं और उसकी आधी अंधी चेतना विशालतर भीतरी सत्ता और चेतना और सच्ची आत्म-सत्ता की ओर खुले और अपने से बाहर के अनात्म के बारे में भी आत्मा की तरह अभिज्ञ हो जाये—एक ओर विश्व प्रकृति जो हमारी अपनी प्रकृति का घटक तत्त्व है, दूसरी ओर एक सत् स्वरूप जो हमारी अपनी आत्म सत्ता का असीम प्रसार है। हमारी सत्ता को अपनी ही बनायी हुई अहं-चेतना की दीवारें तोड़नी हैं, उसे अपने-आपको अपने शरीर के परे विस्तृत करना है और विश्व के शरीर में निवास करना है। उसे अपने परोक्ष संपर्क द्वारा ज्ञान के स्थान पर या उसके अतिरिक्त, सीधे संपर्क द्वारा ज्ञानतक पहुंचना है और फिर तादात्म्य से मिलनेवाले ज्ञान की ओर आगे बढ़ना है। उसकी सत्ता के सीमित सांत को सीमाहीन सांत और अनंत बनना है।

लेकिन इन दो गतियों में से पहली, अपनी भीतरी वास्तविकताओं की ओर जागना, अपने-आपको प्रथम आवश्यकता के रूप में आरोपित करती है क्योंकि इस भीतरी आत्मान्वेषण द्वारा दूसरी—वैश्व आत्मान्वेषण की गति—पूरी तरह संभव हो सकती है। हमें अपनी आंतरिक सत्ता में जाना होगा और उसमें और उसके आधार पर रहना सीखना होगा। बाहरी मन, प्राण और शरीर को हमारे लिये केवल उपकक्ष होना चाहिये। हम बाहरी भाग में जो कुछ हैं उसका अनुकूलन निश्चित रूप से वह करता है जो भीतर है, गुह्य है, हमारी भीतरी गहराइयों और अंतरालों में है। वहीं से गुप्त प्रेरणाएं, आत्म-प्रभावी रूपायण आते हैं। हमारी प्रेरणाएं, हमारे अंतर्भास, हमारे प्राणिक उद्देश्य, हमारे मन की अभिरुचियां, और हमारी इच्छा के चुनाव वहीं से प्रेरित होते हैं—लेकिन उसी हदतक जहांतक वे वैश्व आघातों के प्रवाह के उतने ही प्रच्छन्न दबाव से बने या प्रभावित न हों। लेकिन हम इन उभरती हुई शक्तियों और इन प्रभावों का जो उपयोग करते हैं वह हमारी बाह्यतम प्रकृति से अनुबंधित, बड़ी हदतक निर्धारित और उससे बढ़कर, बहुत अधिक सीमित रहता है। तब फिर हमें इस आंतरिक प्रवर्तन करनेवाली आत्मा के ज्ञान के साथ बाहरी उपकरणरूपी आत्मा का और हमारे निर्माण में उन दोनों की भूमिका का ठीक-ठीक परिचय खोजना है।

बाहरी स्तर पर हम अपने स्वरूप के केवल उतने ही अंश को जानते हैं जितना वहां रूपायित हुआ है बल्कि इसमें भी केवल एक अंश को क्योंकि हम अपनी समग्र बाहरी सत्ता को एक सामान्य अस्पष्टता से देखते हैं जिसमें यथार्थता के कुछ बिंदु या भाग या आकार चिह्नित हैं। यहांतक कि हम जिसे मानसिक अंतर्निरीक्षण द्वारा जान पाते हैं वह भी खंडों का योग होता है; अपने व्यक्तिगत रूपायण का

संपूर्ण आकार और बोध हमारी दृष्टि से बच निकलते हैं। लेकिन एक विकृत करनेवाली क्रिया भी है जो इस सीमित आत्म-ज्ञान को भी धुंधला और विकृत बना देती है। हमारा आत्म-दर्शन हमारे बाहरी प्राण-पुरुष (प्राणात्मा) के सतत आघातों और घुसपैठ के कारण दूषित हो जाता है, हमारे उस प्राणमय पुरुष के आघातों से जो हमेशा विचारशील मन को अपना यंत्र और सेवक बनाना चाहता है, क्योंकि हमारे प्राणमय पुरुष को आत्म-ज्ञान से नहीं बल्कि आत्म-प्रतिष्ठापन, कामना और अहंकार से सरोकार होता है, इसलिये वह हमेशा मन पर क्रिया करता रहता है ताकि वह उसके लिये प्रतीयमान आत्मा का एक मानसिक ढांचा तैयार कर दे जो इन प्रयोजनों को सिद्ध करे। हमारे मन को प्रेरित किया जाता है कि वह हमारे आगे और दूसरों के आगे हमारी अंशतः बनावटी प्रतिनिधि-आकृति उपस्थित करे जो हमारे आत्म-प्रतिष्ठापन का समर्थन करती, हमारी कामनाओं और क्रियाओं को न्यायोचित ठहराती और हमारे अहं को पुष्ट करती है। यह प्राणिक हस्तक्षेप वास्तव में हमेशा आत्म-समर्थन और आत्म-प्रतिष्ठापन की दिशा में नहीं होता। कभी-कभी वह आत्म-निंदा, दूषित और अतिरंजित आत्म-आलोचना की ओर भी मुड़ता है, लेकिन यह भी अहंकार की रचना, एक विपरीत या नकारात्मक अहंकार, प्राणिक अहं की एक स्थिति या मुद्रा है क्योंकि इस प्राणिक अहंकार में बहुधा धूर्त और वंचक का दिखावा और अभिनय करनेवाले का मिश्रण होता है। वह सदा किसी-न-किसी भूमिका को लेकर अपने आगे और औरों को दर्शक बनाकर उनके आगे अभिनय करता रहता है। इस तरह एक संगठित आत्म-अज्ञान के साथ संगठित आत्म-वंचना जुड़ जाती है। केवल अंदर जाकर इन चीजों को उनके स्रोत में देखने से ही हम इस धुंधलेपन और उलझन में से निकल सकते हैं।

कारण, हमारे अंदर एक विशालतर मनोमय पुरुष है, एक विशालतर आंतरिक प्राणमय पुरुष है और हमारी बाहरी शरीर-चेतना से अलग एक विशालतर आंतरिक सूक्ष्म शारीरिक पुरुष भी है। उसमें प्रवेश पाकर या वही बनकर, अपने-आपको उसके साथ एक करके हम अपने विचारों और भावों के झरनों को, अपनी क्रिया के स्रोतों और हेतुओं को, उन क्रियाशील ऊर्जाओं को देख सकते हैं जो हमारे सतही व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं। कारण, हम उस आंतरिक सत्ता को खोज और जान सकते हैं जो हममें गुप्त रूप से सोचती और देखती है, उस प्राणिक सत्ता को जो हमारे द्वारा गुप्त रूप से अनुभव करती और प्राण पर क्रिया करती है, उस सूक्ष्म भौतिक सत्ता को जो गुप्त रूप से हमारे शरीर और उसके अवयवों द्वारा चीजों के संपर्क को ग्रहण करती और प्रत्युत्तर देती है। हमारा सतही विचार, भावना और संवेग हमारे भीतरी आवेगों और बाहर से आनेवाले आघातों की गुत्थी और उनकी अस्त-व्यस्तता हैं। हमारी तर्क-बुद्धि, व्यवस्था करनेवाली हमारी बुद्धि उनपर एक अधूरी व्यवस्था ही थोप सकती है लेकिन यहां, अपने अंदर हम अपनी

मानसिक, अपनी प्राणिक और अपनी भौतिक क्रिया-शक्ति के अलग-अलग स्रोत देखते हैं और हर एक की शुद्ध क्रियाओं, उनकी पृथक् शक्तियों, हर एक के घटक तत्त्व और उनकी आपसी लीलाओं को आत्मदर्शन के स्पष्ट प्रकाश में स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। हमें पता चलता है कि हमारी सतही चेतना की विपरीतताएं और संघर्ष बड़ी हदतक मन, प्राण और शारीरिक भागों की विपरीत या परस्पर असंगत वृत्तियों के कारण हैं। और यह सब हमारी सत्ता की बहुत-सी विभिन्न आंतरिक संभावनाओं की असंगति और हमारे अंदर प्रत्येक स्तर पर विभिन्न व्यक्तित्वों की असंगति के कारण है जो हमारी सतही प्रकृति की घुली-मिली व्यवस्था और अलग-अलग वृत्तियों के पीछे है। लेकिन जहां सतह पर उनकी क्रियाएं घुली-मिली, अस्त-व्यस्त और परस्पर संघर्षरत होती हैं वहां हमारी गहराइयों में उन्हें उनकी स्वतंत्र और पृथक् प्रकृति तथा क्रिया में देखा जा सकता है और उनपर क्रिया की जा सकती है और हमारे अंदर मनोमय पुरुष, "*मनोमयः प्राणशरीरनेता*"[1] के द्वारा या उससे ज्यादा अच्छी तरह केंद्रीय चैत्य पुरुष के द्वारा सामंजस्य लाना इतना कठिन नहीं होता बशर्ते कि इस प्रयास में हमारे अंदर उचित चैत्य और मानसिक इच्छा हो। क्योंकि अगर प्राणिक अहं के उद्देश्य से हम अंतस्तलीय सत्ता में प्रवेश करें तो इसका परिणाम गंभीर संकट और महा विपदा या कम-से-कम अहं, आत्म-प्रतिष्ठापन और कामना का अतिरंजन और बढ़े हुए सशक्त ज्ञान की जगह बढ़ा हुआ सशक्त अज्ञान हो सकता है। इसके अतिरिक्त इस आंतरिक या अंतर्लीन सत्ता में हमें, जो चीज भीतर से उठ रही है और जो बाहर से, औरों से या वैश्व प्रकृति से हमारे पास आ रही है, उनमें प्रत्यक्ष रूप से भेद करने का साधन प्राप्त होता है और संभव हो जाता है कि हम एक नियंत्रण, चुनाव, इच्छा के अनुसार ग्रहण, त्याग और चयन की शक्ति, आत्म-निर्माण और सामंजस्य की स्थापना की एक स्पष्ट शक्ति का उपयोग करें। यह शक्ति हमें अपने मिश्रित बाह्य व्यक्तित्व में प्राप्त नहीं है या हम उसका बहुत अपूर्ण रूप से उपयोग कर सकते हैं लेकिन वह अंतःपुरुष का विशेषाधिकार है। क्योंकि गहराइयों में इस प्रवेश के कारण अंतःपुरुष, जो अब पूरी तरह पर्दे में ढका नहीं रहता, अपनी बाहरी यंत्र रूपी चेतना पर केवल आंशिक प्रभाव डालने के लिये बाधित नहीं रहता, वह अब भौतिक विश्व में हमारे जीवन में अधिक ज्योतिर्मय रूप से रूपायित होने योग्य हो जाता है।

मूल रूप में आंतरिक सत्ता के ज्ञान में भी वही तत्त्व होते हैं जो बाहरी मन के बाहरी ज्ञान में होते हैं लेकिन उनके बीच चेतना और दृष्टि की अर्द्ध-अंधता और अधिक स्पष्टता के बीच का अंतर होता है क्योंकि आंतरिक सत्ता को अधिक प्रत्यक्ष और सशक्त साधन-विनियोग प्राप्त होता है, उसमें ज्ञान के तत्त्वों की

[1] मुण्डकोपनिषद् २.२.७

अधिक अच्छी व्यवस्था होती है। सतह पर आत्म-सत्ता का अस्पष्ट अंतर्निहित बोध, तादात्म्य ज्ञान, और अपनी आंतरिक गतिविधि के साथ आंशिक तादात्म्य यहां अपने-आपको अस्पष्ट साररूप दर्शन और सीमित संवेदन में से अंतर की सारी सत्ता की एक स्पष्ट और प्रत्यक्ष अभिज्ञता में अधिक गहरा और परिवर्द्धित कर सकता है। हम अपनी पूरी सचेतन मनोमय सत्ता और प्राण-सत्ता पर अधिकार पा सकते हैं और अपनी मानसिक तथा प्राणिक ऊर्जा की सारी गतिविधि के साथ उनमें सीधा प्रवेश करके उन्हें आच्छादित करनेवाले संपर्क की घनिष्ठ अंतरंगता की स्थिति में पहुंच सकते हैं। अपनी सभी संभूतियों, अपनी प्रकृति के वर्तमान स्तरों पर पुरुष की सभी आत्माभिव्यक्तियों से हम वहां अधिक स्पष्टता और निकटता के साथ—और साथ ही अधिक आजादी और अधिक समझदारी के साथ—मिलते हैं और हम वही होते हैं। लेकिन ज्ञान की इस घनिष्ठता के साथ-ही-साथ पुरुष द्वारा प्रकृति के कार्यों का तटस्थ अवलोकन भी होता है या हो सकता है और ज्ञान की इस दोहरी स्थिति द्वारा एक संपूर्ण नियंत्रण और समझ की बहुत बड़ी संभावना रहती है। सतही सत्ता की सभी गतिविधियों को पूर्ण तटस्थता के साथ देखा जा सकता है लेकिन साथ ही चेतना की एक प्रत्यक्ष दृष्टि के द्वारा भी जिससे बाह्य चेतनामय पुरुष की आत्म-भ्रांतियों और भूलों को दूर किया जा सकता है, हमारी आत्मनिष्ठ संभूति के बारे में मन की अधिक तीक्ष्ण दृष्टि होती है, मन का संवेद अधिक स्पष्ट और अधिक यथार्थ होता है। यह दृष्टि सारी प्रकृति को एक साथ जानती, आदेश देती और नियंत्रित करती है। अगर हमारे अंदर चैत्य और मानसिक भाग बलवान् हैं तो प्राण इस हदतक अधिकार और नियंत्रण में आ सकता है जितना बाहरी मानसता के लिये शायद ही संभव हो। आंतरिक मन और इच्छा शरीर और शारीरिक ऊर्जाओं को भी हाथ में ले सकती है और उन्हें अंतरात्मा के, चैत्य पुरुष के अधिक नमनीय यंत्र के रूप में बदल सकती है। दूसरी ओर, अगर मानसिक और चैत्य भाग कमजोर हैं और प्राण सबल और उच्छृंखल हो तो आंतरिक प्राण में प्रवेश करने से शक्ति बढ़ जाती है लेकिन विवेक और तटस्थ दृष्टि की कमी रहती है। ज्ञान चाहे शक्ति और क्षेत्र में बढ़ भी जाये फिर भी रहता गदला और भ्रामक ही है, बौद्धिक आत्म-संयम अपना स्थान विशाल अनुशासनहीन संवेग या कठोरता के साथ अनुशासित परंतु बहकायी हुई अहंकारमय क्रिया को दे देता है। क्योंकि अंतस्तलीय अभीतक ज्ञान-अज्ञान की क्रिया है, उसमें विशालतर ज्ञान है और साथ ही अधिक आत्म-प्रतिष्ठापन करने के कारण उसमें अधिक बड़े अज्ञान की संभावना भी रहती है, यह इसलिये क्योंकि बढ़ा हुआ आत्म-ज्ञान तो यहां सामान्य है परंतु साथ ही वह सर्वांगीण ज्ञान नहीं है। प्रत्यक्ष संपर्क द्वारा अभिज्ञता, जो अंतस्तलीय की मुख्य शक्ति है, उसके लिये काफी नहीं है क्योंकि जैसे वह संपर्क ज्ञान की बृहत्तर संभूतियों और शक्तियों के

साथ हो सकता है, उसी तरह अज्ञान की बृहत्तर संभूतियों और शक्तियों के साथ भी हो सकता है।

लेकिन अंतस्तलीय पुरुष का जगत् के साथ भी बृहत्तर प्रत्यक्ष संपर्क होता है। बाहरी मन ऐंद्रिय बिंबों और ऐंद्रिय कंपनों की व्याख्यातक सीमित रहता है जिसकी पूर्ति की जाती है मानसिक और प्राणिक अंतर्भास और बुद्धि द्वारा लेकिन अंतस्तलीय पुरुष इस तरह सीमित नहीं है। निश्चय ही अंतस्तलीय प्रकृति में आंतरिक इन्द्रियां हैं, दृष्टि, श्रुति, स्पर्श, गंध और रस की सूक्ष्म इन्द्रियां हैं परंतु ये भौतिक वातावरण की चीजों के बिंबों का निर्माण करनेतक सीमित नहीं हैं बल्कि ये चेतना के आगे उन चीजों के चाक्षुष, श्रावणिक, स्पर्शिक तथा अन्य बिंबों और कंपनों को उपस्थित कर सकती हैं जो भौतिक इन्द्रियों के प्रतिबद्ध क्षेत्र से परे के या जीवन के अन्य स्तरों और लोकों के हैं। यह भीतरी इन्द्रिय ऐसे बिंबों, दृश्यों, ध्वनियों की रचना कर सकती या उन्हें उपस्थित कर सकती है जो तथ्यगत होने की अपेक्षा अधिक प्रतीकात्मक हैं या रूप ले रही संभावनाओं को, अन्य सत्ताओं के सुझावों, विचारों, भावों, इरादों को या वैश्व प्रकृति की शक्यताओं या शक्तियों के बिंब-रूपों को भी चित्रित करती है। ऐसी कोई चीज नहीं है जिसका वह बिंब नहीं बना सकती, मानस-दर्शन नहीं कर सकती या जिसे वह ऐंद्रिय रूपों में नहीं बदल सकती। वास्तव में बाह्य मन में नहीं बल्कि अंतस्तलीय में दूरबोध, अतीन्द्रिय दृष्टि या द्वितीय दृष्टि और अन्य अधिसामान्य क्षमताओं की शक्तियां, जो सतही चेतना पर प्रकट होती हैं, उनके प्रकट होने का कारण उस दीवार में दरारें या छिद्र होते हैं जो बाह्य व्यक्तित्व के व्यष्टीकरण के लिये अंध प्रयास द्वारा खड़ी की गयी है और जो हमारी सत्ता के आंतरिक क्षेत्र और स्वयं अंतस्तलीय के बीच सन्निविष्ट है। फिर भी, यह ध्यान रखना चाहिये कि इस जटिलता के कारण अंतस्तलीय इन्द्रिय की क्रिया उलझानेवाली और भ्रामक होती है, विशेष रूप से यदि बाहरी मन उसकी व्याख्या करे जिसे उसकी क्रियाओं का रहस्य नहीं मालूम होता और चिह्ननिर्माण और प्रतीकात्मक रूपक-भाषाओं के सिद्धांत उसके लिये विजातीय होते हैं। वस्तुतः उसके रूपकों और अनुभवों का ठीक-ठीक निर्णय करने और अर्थ जानने के लिये अंतर्भास, कौशल और विवेक की एक महत्तर आंतरिक शक्ति आवश्यक है। फिर भी यह तथ्य रहता है कि इनसे हमारे ज्ञान का संभव क्षेत्र बहुत अधिक बढ़ जाता है और वे संकीर्ण सीमाएं, जिनमें हमारी इन्द्रियों में बंधी बाहरी भौतिक चेतना घिरी हुई और बंदी है, वे फैल जाती हैं।

लेकिन ज्यादा महत्त्वपूर्ण है अंतस्तल की वह शक्ति जिसके द्वारा वह अन्य चेतना या वस्तुओं के साथ चेतना के सीधे संपर्क में आ सकता है, किसी और यंत्र-विन्यास के बिना क्रिया कर सकता है, ऐसा वह करता है अपने निजी पदार्थ में छिपे तात्त्विक बोध द्वारा, प्रत्यक्ष मानसिक दृष्टि द्वारा, वस्तुओं के प्रत्यक्ष अनुभव

द्वारा, यहांतक कि निकटस्थ आवरण और अंतरंग प्रवेश द्वारा, और जिसे आवृत किया हो या जिसमें प्रवेश किया हो उसकी अंतर्वस्तुओं को लेकर वापिस आकर, बाहरी चिह्नों या आकारों के बदले स्वयं मन के सत्व पर प्रत्यक्ष सूचन या सीधे आघात द्वारा—विचारों, अनुभवों, शक्तियों के मर्म प्रकट करनेवाले सूचन या आत्म-संचारी आघात द्वारा। इन्हीं उपायों द्वारा आंतरिक सत्ता व्यक्तियों, वस्तुओं और गुह्य तथा हमारे लिये अगोचर विश्व-प्रकृति की उन ऊर्जाओं का प्रत्यक्ष, घनिष्ठ और स्पष्ट सहज ज्ञान प्राप्त करती है जो हमारे चारों ओर हैं और जो हमारे निजी व्यक्तित्व, हमारी भौतिकता, मानसिक शक्ति और जीवन-शक्ति से टकराती हैं। हम कभी-कभी अपनी सतही मानसिकता में एक ऐसी चेतना के बारे में अभिज्ञ होते हैं जो औरों के विचारों और आंतरिक प्रतिक्रिया का अनुभव कर सकती या जान सकती है या किसी दृश्य इन्द्रिय के हस्तक्षेप के बिना चीजों या घटनाओं से अवगत हो सकती है या ऐसी शक्तियों का उपयोग करती है जो हमारी सामान्य क्षमता के लिये अधिसामान्य हैं लेकिन ये क्षमताएं कभी-कदास प्रकट होनेवाली, अविकसित और अस्पष्ट होती हैं। इन्हें अधिकार में रखना हमारे गुह्य, अंतस्तलीय पुरुष के लिये स्वाभाविक होता है और वे उसकी शक्तियों या क्रियाओं के बाहरी सतह पर आने पर ही बाहर उभरती हैं। अंतर्लीन सत्ता की इन उभरती हुई क्रियाओं या उनमें से कुछ का आंशिक अध्ययन आजकल चैत्य-व्यापार के नाम से किया जाता है हालांकि उनका चैत्य पुरुष, अंतरात्मा या हमारी सबसे भीतरी सत्ता के साथ साधारणतः कोई संबंध नहीं होता। उनका संबंध केवल आंतरिक मन, आंतरिक प्राण, हमारी अंतस्तलीय सत्ता के सूक्ष्म भौतिक भागों से ही होता है लेकिन उनके परिणाम निश्चयात्मक या काफी प्रचुर नहीं हो सकते क्योंकि उनकी खोज अनुसंधान और परीक्षण के ऐसे उपायों और प्रमाण के मानकों से की जाती है जो केवल बाहरी स्तर के मन और उसकी परोक्ष संपर्क द्वारा ज्ञान पाने की पद्धति के लिये अनुकूल हैं। इन परिस्थितियों में उन क्रियाओं के बारे में केवल उसी हदतक खोज की जा सकती है जहांतक वे उस बाहरी मन में अभिव्यक्त हो सकें जिसके लिये वे अपवादिक, असामान्य या अधिसामान्य हैं और इस कारण उनका होना अपेक्षाकृत विरल, कठिन और अधूरा होता है। अगर हम उस दीवार को हटा सकें जो बाहरी मन और उस आंतरिक चेतना के बीच है जिसके लिये ये व्यापार स्वाभाविक हैं या हम उसमें स्वतंत्रता के साथ प्रवेश या निवास कर सकें तभी ज्ञान के इस प्रदेश की व्याख्या की जा सकती है और उसे हमारी समग्र चेतना के साथ मिलाया जा सकता है और हमारी प्रकृति की जाग्रत् शक्ति के क्रिया-क्षेत्र में सम्मिलित किया जा सकता है ।

अपने बाहरी मन में तो हमारे पास दूसरे मनुष्यों को भी जानने का कोई प्रत्यक्ष साधन नहीं है जो हमारी ही जाति के हैं, जिनकी मानसता हमारे जैसी है और जो

प्राणिक और भौतिक रूप में उसी नमूने के अनुसार बने हैं। हम मानव मन और मानव शरीर का सामान्य ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और मनुष्य की आंतरिक गतियों के बहुत से सतत, अभ्यासगत बाहरी चिह्नों की सहायता से, जिनसे हम परिचित हैं, उस ज्ञान का प्रयोग अन्य मनुष्यों को जानने के लिये कर सकते हैं और इन संक्षिप्त निर्णयों की कमी को पूरा करने के लिये हम उनमें कई चीजें जोड़ सकते हैं जैसे हमारा व्यक्तिगत चरित्र और अभ्यासों का अनुभव, हमें जो आत्म-ज्ञान प्राप्त है उसका औरों को समझने और उनका मूल्यांकन करने के लिये सहज वृत्ति से प्रयोग, वचन और आचरण से किये गये अनुमान, अवलोकन की अंतर्दृष्टि और सहानुभूति की अंतर्दृष्टि। लेकिन परिणाम हमेशा अधूरे और बहुत बार भ्रामक होते हैं, हमारे अनुमान बहुत बार भूलभरी रचनाएं होते हैं, बाहरी चिह्नों की हमारी व्याख्या भूल-भरी अटकल होती है, हमारे सामान्य ज्ञान का या हमारे आत्म-ज्ञान का प्रयोग वैयक्तिक भेद के दुर्ग्राह्य तत्त्वों के कारण चकराया रहता है और हमारी अंतर्दृष्टि अनिश्चित और अविश्वसनीय होती है। इसलिये मानव प्राणी एक-दूसरे से अपरिचित की तरह रहते हैं और बहुत हुआ तो बहुत ही आंशिक सहानुभूति और आपसी अनुभव से बंधे रहते हैं। हम काफी नहीं जानते। हम अपने-आपको ही बहुत कम जानते हैं, अपने अत्यंत निकटवालों को उतना भी नहीं जानते जितना अपने-आपको जानते हैं। लेकिन अंतस्तलीय आंतरिक चेतना में यह संभव होता है कि हम अपने इर्द-गिर्द के विचारों और भावनाओं की सीधी अभिज्ञता पा लें। उनके आघात का अनुभव कर लें, उनकी गतिविधि को देख लें, तब दूसरे के मन और हृदय को पढ़ सकना कम कठिन हो जाता है, कम अनिश्चित जोखिम हो जाता है। जो लोग आपस में मिलते और एक साथ रहते हैं उन सबमें सदा मानसिक, प्राणिक और सूक्ष्म शारीरिक आदान-प्रदान होता रहता है जिसके बारे में वे अपने-आप अनभिज्ञ होते हैं। अपवाद हैं वे आघात और वे अंतर्भेदन जो उन्हें वाणी और क्रिया के इन्द्रिय-ग्राह्य परिणाम के रूप में और बाहरी संपर्क के परिणाम के रूप में प्राप्त होते हैं। अधिकांश तो यह आदान-प्रदान सूक्ष्म और अदृश्य रूप से होता रहता है, क्योंकि वह परोक्ष रूप से काम करता है, पहले अंतस्तलीय भागों को छूता है और उनके द्वारा बाहरी प्रकृति को। लेकिन जब हम इन अंतस्तलीय भागों में सचेतन हो जाते हैं तो वह इस सारी पारस्परिक क्रिया, आत्मपरक आदान-प्रदान और आंतरिक मिश्रण की चेतना को भी ले आता है और परिणाम-स्वरूप हमें उनके आघातों और परिणामों के अनैच्छिक दास बने रहने की जरूरत नहीं होती। तब हम स्वीकार या अस्वीकार कर सकते हैं, अपनी रक्षा कर सकते या अपने-आपको अलग रख सकते हैं। साथ ही यह जरूरी नहीं रहता कि औरों पर हमारी क्रिया अज्ञानभरी या अनैच्छिक हो या बहुधा हमारे चाहे बिना ही औरों के लिये हानिकर हो। वह सचेतन सहायता हो सकती है, प्रकाशमय आदान-प्रदान

और सफल समायोजन हो सकता है, आंतरिक समझ या मिलन की ओर एक रास्ता हो सकता है न कि जैसा अभी है एक अलगाव का साहचर्य हो जिसमें सीमित घनिष्ठता या एकता हो। जो बड़ी नासमझी के कारण प्रतिबद्ध और प्रायः गलतफहमी, आपसी भ्रांत व्याख्या और भूलों की राशि के कारण दबा हुआ या संकट में हो।

जगत् की जो निर्वैयक्तिक शक्तियां हमें घेरे रहती हैं उनके साथ भी हमारे व्यवहार में परिवर्तन उतना ही महत्त्वपूर्ण होगा। उन्हें हम केवल उनके परिणामों से, उनकी दिखायी देनेवाली क्रिया और उसके परिणाम का जो थोड़ा-सा अंश हम पकड़ पाते हैं उससे जानते हैं। उनमें से हम मुख्यतः भौतिक जगत् की शक्तियों का कुछ ज्ञान रखते हैं लेकिन हम निरंतर अदृश्य मानसिक शक्तियों और प्राणिक शक्तियों के भंवर में रहते हैं जिनके बारे में हम कुछ नहीं जानते, हमें उनके अस्तित्व का भी पता नहीं होता। अंतस्तलीय आंतरिक चेतना इन सब अदृश्य गतियों और क्रियाओं के प्रति हमारी अभिज्ञता को खोल सकती है क्योंकि उसे इनका ज्ञान प्रत्यक्ष संपर्क, आंतरिक दृष्टि, चैत्य संवेदन के द्वारा होता है लेकिन अभी तो वह केवल हमारे कुण्ठित छिछलेपन और बहिर्मुखता को अव्याख्यात चेतावनियों, पूर्व सूचनाओं, आकर्षण-विकर्षणों, विचारों, सुझावों और अस्पष्ट अंतर्भासों द्वारा अर्थात् जो थोड़ा-बहुत वह अधूरे ढंग से सतह पर ला सकती है उसके द्वारा ही प्रकाश दे सकती है। आंतरिक सत्ता न केवल इन वैश्व शक्तियों के तात्कालिक प्रयोजन और उनकी गतिविधि के साथ सीधे और ठोस संपर्क बनाती और उनकी वर्तमान क्रियाओं के परिणाम का अनुभव करती है बल्कि एक हदतक उनकी आगे की क्रिया का पहले से ही अनुमान कर सकती या देख सकती है, हमारे अंतस्तलीय भागों में काल के व्यवधान को जीतने की, आनेवाली घटनाओं, दूर की घटनाओं का आभास पाने या उनके स्पंदनों को अनुभव करने की, यहांतक कि भविष्य में देखने की भी क्षमता होती है। यह सच है कि यह ज्ञान जो अंतस्तलीय सत्ता के लिये स्वाभाविक है, पूर्ण नहीं होता क्योंकि वह ज्ञान और अज्ञान का मिश्रण है और वह सच्चे और भूल-भरे, दोनों तरह के प्रत्यक्ष दर्शन के लिये समर्थ है, क्योंकि वह तादात्म्य से प्राप्त ज्ञान द्वारा काम नहीं करता बल्कि प्रत्यक्ष संपर्क से प्राप्त ज्ञान द्वारा कार्य करता है और यह भी भेद करनेवाला ज्ञान है यद्यपि यह हमारी सतही प्रकृति द्वारा शासित किसी भी चीज की अपेक्षा अपने अलगाव में भी अधिक घनिष्ठ होता है। लेकिन आंतरिक मानसिक और प्राणिक प्रकृति की बृहत्तर ज्ञान और बृहत्तर अज्ञान के लिये मिश्रित क्षमता का उपचार उसके पीछे स्थित चैत्य सत्तातक अधिक गहराई में जाने से हो सकता है जो हमारे व्यक्तिगत प्राण और शरीर को सहारा देती है। वस्तुतः एक आत्म-व्यक्तित्व है जो इस सत्ता का प्रतिनिधि है, जो हमारे अंदर पहले से ही निर्मित है, जो हमारी

प्राकृतिक सत्ता में एक सूक्ष्म चैत्य तत्त्व को आगे रखता है। लेकिन हमारे सामान्य संघटन में यह सूक्ष्मतर अंश अभीतक प्रमुख नहीं है और उसकी क्रिया सीमित है। हमारी अंतरात्मा हमारे विचार और क्रियाओं का प्रत्यक्ष पथ-प्रदर्शक और स्वामी नहीं है। उसे आत्माभिव्यक्ति के लिये मानसिक, प्राणिक और भौतिक यंत्रों पर निर्भर रहना पड़ता है और निरंतर हमारे मन और प्राण-शक्ति द्वारा अभिभूत रहना पड़ता है। लेकिन अगर वह एक बार अपनी ही बृहत्तर गुह्य वास्तविकता के साथ सतत सायुज्य रखने में सफल हो जाये—और यह तभी हो सकता है जब हम अंतस्तलीय भागों में गहराई में जा सकें—तो फिर वह आश्रित नहीं रहती। वह शक्तिशाली और सम्राट् बन सकती है, ऐसा वह बन सकती है वस्तुओं के सत्य के आंतरिक आध्यात्मिक प्रत्यक्ष दर्शन और सहज विवेक से सज्जित होकर जो विवेक उस सत्य को अज्ञान और निश्चेतना के मिथ्यात्व से अलग करता है, अभिव्यक्ति में दिव्य और अदिव्य में भेद करता है और इस प्रकार हमारी प्रकृति के अन्य भागों का प्रकाशमान नेता बन सकता है। वस्तुतः जब यह हो जाये तभी सर्वांगीण रूपांतर और सर्वांगीण ज्ञान की ओर मोड़ आ सकता है।

ये हैं अंतस्तलीय ज्ञान की गतिशील क्रियाएं और उसके व्यावहारिक मूल्य। लेकिन अपनी वर्तमान विवेचना में हमारा प्रयोजन यह है कि हम इसके क्रिया करने के तरीके से इस अधिक गहरे और विशाल ज्ञान के ठीक स्वभावों को जानें और यह पता लगायें कि सच्चे ज्ञान के साथ इसका क्या संबंध है। उसका मुख्य लक्षण है चेतना का अपने विषय के साथ या चेतना का अन्य चेतना के साथ प्रत्यक्ष संपर्क द्वारा ज्ञान। लेकिन अंत में हम पाते हैं कि यह शक्ति तादात्म्य द्वारा प्राप्त गुप्त ज्ञान का परिणाम, उसका वस्तुओं की भेदात्मक अभिज्ञता में अनुवाद है। क्योंकि जैसे परोक्ष ज्ञान में, जो हमारी सामान्य चेतना और सतही ज्ञान के लिये सहज है, जीवित सत्ता का अपने से बाहर के अस्तित्व से मिलन या संघर्ष ही सचेतन ज्ञान की चिंगारी जगाता है, उसी तरह यहां भी कोई संपर्क ही पहले से मौजूद गुप्त ज्ञान को क्रिया में प्रवृत्त करता और उसे सतह पर लाता है। क्योंकि चेतना विषयी और विषय दोनों में एक ही होती है और सत्ता का सत्ता से संपर्क होने पर यह तादात्म्य विषयी आत्मा में उससे बाहर की इस अन्य आत्मा के सुप्त ज्ञान को प्रकाश में लाता या जाग्रत् करता है। लेकिन जब कि पहले से मौजूद ज्ञान ऊपरी मन में अर्जित ज्ञान की तरह आता है, वह अंतस्तलीय में एक देखी हुई चीज के रूप में आता है जिसे भीतर से पकड़ा गया हो, मानों उसे याद किया गया हो अथवा जब वह पूरी तरह अंतर्भासात्मक होता है तो भीतरी अभिज्ञता के लिये स्वयं-सिद्ध होता है या यह संपर्क में आयी हुई वस्तु से लिया गया होता है परंतु वह ऐसे तात्कालिक प्रत्युत्तर के साथ होता है मानों वह ऐसी चीज हो जो घनिष्ठ रूप में जानी-पहचानी हो। सतही चेतना में ज्ञान अपने-आपको इस तरह निरूपित

करता है मानों वह एक ऐसा सत्य हो जिसे बाहर से देखा गया हो, जिसे विषय ने हमपर फेंका हो या इन्द्रिय पर उसके स्पर्श का प्रत्युत्तर हो, उसकी विषयगत वास्तविकता का बोधात्मक प्रतिरूप हो। हमारा सतही मन अपने-आपको अपने ज्ञान का यह विवरण देने के लिये बाधित होता है क्योंकि उसके और बाहरी जगत् के बीच की दीवार को इन्द्रियों के द्वारों के द्वारा ही भेदा जाता है और वह इन्हीं द्वारों से बाहरी विषयों की सतह को पकड़ सकता है, यद्यपि उसे नहीं पकड़ पाता जो उनके भीतर है। लेकिन उसके और उसकी आंतरिक सत्ता के बीच ऐसा कोई तैयार द्वार नहीं है, चूंकि वह यह देखने में असमर्थ है कि उसकी गहनतर आत्मा में क्या है या वह भीतर से आती हुई ज्ञान-प्रक्रिया को देख सकने में असमर्थ है इसलिये उसके पास इसके सिवाय कोई विकल्प नहीं है कि वह उसीको, जिसे वह देखता है, अर्थात् बाहरी विषय को ही ज्ञान के कारण के रूप में स्वीकार कर ले। इस भांति वस्तुओं के बारे में हमारा सारा मानसिक ज्ञान अपने-आपको हमारे आगे विषयगत ज्ञान के रूप में निरूपित करता है, एक ऐसे सत्य के रूप में जिसे बाहर से हमारे ऊपर आरोपित किया गया है। हमारा ज्ञान एक ऐसा प्रतिबिंब या प्रत्युत्तर-स्वरूप रचना होता है जो हमारे अंदर, किसी ऐसी चीज का, जो हमारी सत्ता के अंदर नहीं है, एक आकार, चित्र या मानसिक योजना उपस्थित करता है। वस्तुतः वह संपर्क के प्रति गुप्त गहनतर प्रत्युत्तर होता है, एक ऐसा प्रत्युत्तर जो भीतर से आता है, जो वहां से विषय का आंतरिक ज्ञान प्रक्षिप्त करता है। विषय अपने-आपमें हमारी बृहत्तर आत्मा का भाग होता है। लेकिन दोहरे आवरण के कारण, हमारी आंतरिक आत्मा और हमारे अज्ञानमय सतही पुरुष के बीच का पर्दा और वह पर्दा जो उस सतही पुरुष और उस विषय के बीच में है जिससे संपर्क किया गया है, उनके कारण यह आंतरिक ज्ञान का केवल अधूरा आकार या चित्रण होता है जो ऊपरी सतह पर बन जाता है।

हमारे ज्ञान का यह संबंध, उसकी यह प्रच्छन्न विधि, जो हमारी वर्तमान मानसता के लिये अस्पष्ट और अप्रत्यक्ष होती है लेकिन जब अंतस्तलीय आंतरिक सत्ता व्यक्तित्व की अपनी सीमाओं को तोड़कर, हमारे बाहरी मन को अपने साथ लेकर वैश्व चेतना में प्रवेश करती है तो स्पष्ट और प्रत्यक्ष हो जाती है। अन्तस्तलीय हमारी सत्ता के सूक्ष्मतर कोषों, उसके मानसिक, प्राणिक, सूक्ष्म शारीरिक कोषों के कारण उत्पन्न परिसीमन के द्वारा वैश्व सत्ता से बस, ठीक उसी तरह अलग होता है जैसे ऊपरी तल की प्रकृति वैश्व प्रकृति से स्थूल भौतिक कोष, शरीर के कारण अलग होती है। लेकिन उसे घेरनेवाली दीवार अधिक पारदर्शक है और वस्तुतः वह दीवार की जगह बाड़ ही है। इसके अतिरिक्त अंतस्तलीय पुरुष का चेतना का एक ऐसा रूपायण होता है जो अपने-आपको इन सभी कोषों के परे प्रक्षिप्त करता है और अपना एक परिचेतन रूप, एक आवृत करनेवाला रूप बना लेता है जिसके

द्वारा वह जगत् के संपर्क पाता है और वे प्रवेश करें उससे पहले उनके बारे में अभिज्ञ हो सकता है और उनके साथ व्यवहार कर सकता है। अंतस्तलीय अपने इस परिचेतन आवरण को अनिश्चित रूप से फैला सकता है और अपने आत्म-प्रक्षेपण को अपने चारों ओर के वैश्व जीवन में अधिकाधिक विस्तृत कर सकता है। एक ऐसा बिंदु आता है जहां वह अलगाव से एकदम अलग हो सकता है, अपने-आप वैश्व सत्ता के साथ एक और तदात्म होकर अपने-आपको वैश्व अनुभव करता है, समस्त अस्तित्व के साथ एक अनुभव करता है। वैश्व आत्मा और वैश्व प्रकृति में प्रवेश की इस छूट में व्यक्तिगत सत्ता की बहुत बड़ी मुक्ति हो जाती है, वह वैश्व चेतना को धारण कर लेती है और वैश्व व्यक्ति बन जाती है। जब यह पूर्ण हो तो इसका पहला परिणाम होता है वैश्व आत्मा की उपलब्धि, उस एकमेव आत्मा की जो विश्व में बसी हुई है और यह भी हो सकता है कि यह ऐक्य व्यक्ति-भाव का लोप और अहंकार का जगत्-सत्ता में विलयन ले आये। एक और साधारण परिणाम है वैश्व ऊर्जा के प्रति पूरी तरह खुलना जिससे वह मन, प्राण और शरीर द्वारा कार्य करती प्रतीत होती है और व्यक्तिगत क्रिया का भाव समाप्त हो जाता है। लेकिन बहुधा ऐसे परिणाम आते हैं जो इतने बड़े नहीं होते। वैश्व सत्ता और वैश्व प्रकृति की प्रत्यक्ष अभिज्ञता होती है, मन वैश्व मन और उसकी ऊर्जाओं, वैश्व प्राण और उसकी ऊर्जाओं तथा वैश्व जड़ पदार्थ और उसकी ऊर्जाओं के प्रति अधिक खुल जाता है। इस उद्घाटन में, वैश्व के साथ व्यष्टि के ऐक्य का विशेष बोध, अपनी चेतना के अंदर जगत् को धारित देखना और साथ ही जगत्-चेतना में अंतरंग रूप से अपना समावेश देखना सामान्य या सतत हो सकता है। उसका स्वाभाविक परिणाम है अन्य सत्ताओं के साथ ऐक्य की अधिक घनिष्ठ भावना, तब वैश्व सत्ता का अस्तित्व कोई विचारमूलक अवबोधन न रहकर एक निश्चिति और वास्तविकता बन जाता है।

लेकिन चीजों की वैश्व चेतना तादात्म्य द्वारा ज्ञान पर आधारित है क्योंकि वैश्व आत्मा अपने-आपको सर्वात्मा के रूप में जानती है, सर्व को अपने रूप में और अपने अंदर जानती है, सर्व प्रकृति को अपनी प्रकृति के भाग के रूप में जानती है। वह उस सबके साथ एक होती है जिसे वह धारण करती है और उसे उस तादात्म्य द्वारा और अंतर्विष्ट निकटता द्वारा जानती है। क्योंकि एक तादात्म्य और एक अतिक्रमण साथ ही साथ रहते हैं। जहां तादात्म्य की दृष्टि से एकत्व और पूर्ण ज्ञान हैं वहीं अतिक्रमण की दृष्टि से समावेशन और भेदन, हर चीज और सभी चीजों का आवृत करनेवाला ज्ञान, हर चीज और सभी चीजों का अंदर प्रवेश करनेवाला बोध और दर्शन है। क्योंकि विश्वात्मा हर एक में और सबमें निवास करती है लेकिन है सबसे बढ़कर; अतः उसकी आत्म-दृष्टि और जगत्-दृष्टि में एक पृथक्कारी शक्ति होती है जो वैश्व चेतना को उन वस्तुओं और सत्ताओं में बंदी बनने से रोकती है

जिनमें वह निवास करती है। वह उनमें सर्वव्यापी आत्मा और शक्ति के रूप में निवास करती है, जो कुछ व्यक्तीकरण होता है वह उस पुरुष या वस्तु की विशेष चीज है लेकिन विश्वात्मा के लिये बंधनकारी नहीं है। वह अपनी बृहत्तर सर्वाधार सत्ता से च्युत हुए बिना हर एक वस्तु बन सकती है। तो यहां एक वैश्व तादात्म्य है जिसमें छोटे-छोटे तादात्म्य समाये हुए हैं। क्योंकि जो भी पृथक्कारी ज्ञान विश्व चेतना में है या उसमें प्रवेश करता है उसे इस दोहरे तादात्म्य पर आधारित होना चाहिये, वह इसका प्रतिवाद नहीं करता। अगर पीछे हटने या पृथक्करण और संपर्क द्वारा ज्ञान की आवश्यकता है, फिर भी वह तादात्म्य में पृथक्ता है, तादात्म्य में संपर्क है क्योंकि धारण किया गया विषय उस आत्मा का भाग है जो धारण करती है। केवल जब अधिक कठोर पृथक्करण का हस्तक्षेप होता है तब तादात्म्य अपने-आपको ढक लेता है और प्रत्यक्ष या परोक्ष न्यूनतर ज्ञान ऊपर प्रक्षिप्त किया जाता है जिसे अपने स्रोत का पता नहीं होता। फिर भी हमेशा तादात्म्य का सागर ही ऊपरी सतह पर ज्ञान की प्रत्यक्ष या परोक्ष की लहरों या फुहारों को ऊपर फेंकता रहता है।

यह तो हुई चेतना की ओर की बात; क्रिया की ओर, वैश्व ऊर्जाओं की ओर देखें तो हम पाते हैं कि वे राशियों, लहरों, तरंगों में गति करती, सत्ताओं और वस्तुओं की गतिविधियों और घटनाओं का सतत निर्माण और पुनर्निर्माण करती, उनमें प्रवेश करती, उनमें से गुजरती, उनमें रूप ग्रहण करती, अपने-आपको उनमें से अन्य सत्ताओं पर और वस्तुओं पर बाहर फेंकती हैं। हर प्राकृतिक व्यक्ति इन वैश्व शक्तियों का आधान, उनके संचरण के लिये डायनमो है। मानसिक और प्राणिक ऊर्जाओं की एक सतत धारा हर एक में से हर एक में जाती है और ये ऊर्जाएं भी वैश्व लहरों और तरंगों में प्रवाहित होने में भौतिक प्रकृति की शक्तियों से कम नहीं हैं। यह सारी क्रिया हमारे सतही मन के प्रत्यक्ष संवेदन और ज्ञान से छिपी रहती है लेकिन आंतरिक सत्ता इसे जानती और अनुभव करती है, यद्यपि केवल प्रत्यक्ष संपर्क द्वारा। जब सत्ता वैश्व चेतना में प्रवेश करती है तो वह और भी अधिक विस्तृत, समावेश करनेवाली, घनिष्ठ रूप में वैश्व शक्तियों की इस क्रीड़ा को जानती है। लेकिन यद्यपि ज्ञान तब अधिक पूर्ण होता है फिर भी उस ज्ञान का सक्रिय उपयोग आंशिक ही होता है क्योंकि वैश्व सत्ता के साथ आधारभूत या निष्क्रिय ऐक्य तो संभव है पर वैश्व प्रकृति के साथ क्रियात्मक ऐक्य अपूर्ण ही रहता है। मन और प्राण के स्तर पर पृथक् आत्म-सत्ता का भान न रहने पर भी ऊर्जा-क्रियाएं अपने स्वरूप से ही व्यक्तीकरण द्वारा हुआ चयन होंगी। क्रिया वैश्व ऊर्जा की होती है लेकिन उसका सजीव डायनमो में वैयक्तिक रूपायण ही उसकी क्रिया करने की विधि है। क्योंकि वैयक्तिकता के डायनमो का उपयोग ही है चुनना, चुनी हुई ऊर्जाओं को केन्द्रित करना और रूप देना और उन्हें रूपायित और श्रेणीबद्ध

धाराओं में प्रक्षिप्त करना। संपूर्ण ऊर्जा के प्रवाह का अर्थ यह होगा कि अब इस डायनमो का कोई उपयोग नहीं रह गया, उसे समाप्त या क्रिया से अलग कर दिया जा सकता है। वैयक्तिक मन, प्राण और शरीर की क्रियाशीलता की जगह एक वैयक्तिक और साथ ही निर्वैयक्तिक केन्द्र या माध्यम होगा जिसके द्वारा वैश्व शक्तियां बिना बाधा के, चयनशील न रहते हुए प्रवाहित होंगी। यह हो सकता है लेकिन इसके लिये सामान्य मानसिक स्तर से बहुत परे का उच्चतर आध्यात्मीकरण चाहिये। तादात्म्य द्वारा वैश्व ज्ञान के स्थैतिक (निष्क्रिय) ग्रहण में विश्वभावापन्न अंतस्तलीय अपने-आपको वैश्व आत्मा के साथ और सबकी प्रच्छन्न आत्मा के साथ एक अनुभव कर सकता है परंतु उस ज्ञान का क्रियात्मक रूप इससे आगे न जायेगा कि वह इस तादात्म्य के भाव का सबके साथ चेतना के प्रत्यक्ष संपर्क की अधिक बड़ी शक्ति और घनिष्ठता में अनुवाद हो, वस्तुओं पर और पुरुषों पर चेतना की शक्ति के अधिक बड़े, अधिक अंतरंग, अधिक सशक्त और समर्थ आघात में अनूदित हो, प्रभावकारी समावेश और भेदन की, क्रियाशील अंतरंग दृष्टि और अनुभव की, इस विशालतर प्रकृति के उपयुक्त ज्ञान और कर्म की अन्य शक्तियों के सामर्थ्य में भी अनुवाद हो।

अतः अंतस्तलीय में, चाहे वह विश्व चेतना में वर्धित क्यों न हो गया हो, हमें महत्तर ज्ञान तो मिलता है परंतु पूर्ण और मौलिक ज्ञान नहीं। और आगे जाने और यह देखने के लिये कि अपने शुद्ध रूप में तादात्म्य द्वारा ज्ञान क्या है और वह ज्ञान की दूसरी शक्तियों को किस तरह और किस हदतक शुरू करता, स्वीकार करता और उपयोग में लाता है, हमें आंतरिक मन, प्राण और सूक्ष्म भौतिक के परे अंतस्तलीय के दो अन्य छोरोंतक जाना होगा, अवचेतना की जांच-पड़ताल करनी होगी और अतिचेतन के साथ संपर्क करना या उसमें प्रवेश करना होगा। लेकिन अवचेतना में सब कुछ अंधा है, एक धुंधली विश्व-भावना है जैसी कि भीड़-चेतना में देखने में आती है और एक धुंधली व्यष्टि-भावना भी है, या तो वह हमारे लिये असामान्य है या अध-गढ़ी और सहजवृत्तिवाली है। यहां अवचेतन में तादात्म्य द्वारा अंधेरा ज्ञान ही आधार है जैसा हम अब भी निश्चेतना में पाते हैं, लेकिन वह अपने-आपको या अपने रहस्य को प्रकट नहीं करता। श्रेष्ठतर अतिचेतन क्षेत्र मुक्त और ज्योतिर्मय आध्यात्मिक चेतना पर आधारित हैं और वहीं पर हम ज्ञान की मौलिक शक्ति को खोज सकते हैं और तादात्म्य द्वारा ज्ञान और पृथक्कारी ज्ञान, इन दो स्पष्ट कोटियों के उद्गम और अंतर को देख सकते हैं।

परम कालातीत सत्ता में, जहांतक कि हम आध्यात्मिक अनुभव में उसके प्रतिबिंब द्वारा जानते हैं सत् और चित् एक हैं, हम चेतना को मानसता और इन्द्रियों की अमुक क्रियाओं के साथ जुड़ा हुआ मानने के अभ्यस्त हैं और जहां ये न हों या निष्क्रिय हों तो हम सत्ता की उस स्थिति को अचेतन कह देते हैं। लेकिन चेतना

वहां भी रह सकती है जहां कोई बाहरी क्रियाएं न हों, उसे प्रकट करनेवाले कोई चिह्न न हों, वहां भी जहां वह वस्तुओं में से खींच ली गयी हो और शुद्ध सत् में समा गयी हो या असत् की प्रतीति में अंतर्लीन हो वहां भी उसका अस्तित्व हो सकता है। वह सत्ता में अंतर्निहित है, स्वयंभू है, वह शांति, निष्क्रियता, अवगुण्ठन या आच्छादन से, जड़लीनता या निवर्तन से नष्ट नहीं होती। वह सत्ता में तब भी विद्यमान होती है जब उसकी अवस्था निःस्वप्न निद्रा या जड़ समाधि या अभिज्ञता के लोप या अभाव की मालूम होती है। परम कालातीत स्थिति में, जहां चेतना सत् के साथ एक और निश्चल होती है, वह कोई अलग वास्तविकता नहीं होती, केवल सत् में अंतर्निहित सीधी-सादी आत्म-अभिज्ञता होती है। वहां ज्ञान की कोई जरूरत नहीं होती और ज्ञान की कोई क्रिया नहीं होती। सत्ता अपने लिये स्वतः-सिद्ध है। उसे अपने-आपको जानने या यह सीखने के लिये कि वह है, अपने-आपको देखने की जरूरत नहीं होती। लेकिन अगर यह स्पष्ट रूप से शुद्ध सत् के बारे में सच है तो यह आदि सर्व-सत् के बारे में भी सच है क्योंकि जैसे आध्यात्मिक आत्म-सत्ता अपने स्वरूप के बारे में आंतरिक रूप से अभिज्ञ है उसी तरह वह अपनी सत्ता में रहनेवाले सब कुछ के बारे में भीतरी रूप से अभिज्ञ है। यह अभिज्ञता आत्मावलोकन और आत्म-प्रक्षेपण में बनी हुई किसी ज्ञान-क्रिया द्वारा नहीं बल्कि उसी अंतस्थ अभिज्ञता द्वारा होती है। इसलिये जो कुछ है उसके बारे में वह इस तथ्य के कारण कि वही सब कुछ है, वह आंतरिक रूप से सर्वचेतन है। इस तरह अपनी कालातीत स्वयंभू सत्ता से सचेतन आत्मा, सत्ता—आंतरिक रूप से, पूर्णतया, समग्र रूप से, जिसे ज्ञान की दृष्टि या क्रिया की जरूरत नहीं होती क्योंकि वह सर्व है—काल सत्ता और जो कुछ काल में है उसके बारे में उसी तरह अभिज्ञ होती है। यह तादात्म्य द्वारा तात्त्विक अभिज्ञता है। अगर इसे वैश्व सत्ता पर लगाया जाये तो इसका मतलब होगा आत्मा के द्वारा विश्व के बारे में स्वतः-सिद्ध, स्वतःचालित चेतना क्योंकि वह आत्मा सब कुछ है और सब कुछ उसकी सत्ता है।

लेकिन आध्यात्मिक अभिज्ञता की एक और स्थिति है जो हमें शुद्ध आत्मचेतना की इसी स्थिति और शक्ति से विकसित या शायद उससे पहला विचलन मालूम होती है, लेकिन सचमुच उसके लिये सामान्य और अंतरंग है क्योंकि तादात्म्य द्वारा अभिज्ञता सदा आत्मा के समस्त आत्मज्ञान का उपादान ही होती है। लेकिन वह अपनी शाश्वत प्रकृति में कोई परिवर्तन या कुछ हेर-फेर किये बिना अपने अंदर समावेश और अंतर्निवास द्वारा एक अधीनस्थ और युगपत् अभिज्ञता को स्वीकार कर लेती है। सत् पुरुष, स्वयंभू सभी सत्ताओं को अपनी एक सत्ता में देखता है। उन सबको धारण करता है और उन्हें अपनी सत्ता की सत्ता, अपनी चेतना की चेतना, अपनी शक्ति की शक्ति, अपने आनंद के आनंद के रूप में जानता है और

साथ ही आवश्यक रूप से वह उनके अंदर स्थित आत्मा है और उनके अंदर की हर चीज को अपनी व्यापक अंतरात्मता द्वारा जानता है। फिर भी यह सारी अभिज्ञता अंतस्थ, स्वयंसिद्ध, स्वचालित रूप से अस्तित्व रखती है, उसे ज्ञान की किसी क्रिया, दृष्टि या प्रक्रिया की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यहां ज्ञान कोई क्रिया नहीं है बल्कि एक शुद्ध, सतत और अंतस्थ स्थिति है। समस्त आध्यात्मिक ज्ञान के आधार में तादात्म्य की या तादात्म्य द्वारा चेतना है जो सब कुछ को अपने-आपके रूप में जानती या इस रूप में अभिज्ञ है। हमारी चेतना के तौर-तरीके में अनुवाद किया जाये तो यह चेतना उपनिषदों में इस प्रकार प्रतिपादित त्रिविध ज्ञान हो जाती है, "वह जो समस्त सत्ताओं को आत्मा में देखता है," "वह जो आत्मा को सभी अस्तित्वों में देखता है," "वह जिसके अंदर आत्मा ही सर्वभूत बन गयी है।" समावेश, अंतर्निवास और तादात्म्य। लेकिन आधारभूत चेतना में यह देखना आध्यात्मिक आत्म-संवेदन है, एक ऐसा देखना है जो सत्ता का आत्म-प्रकाश है, पृथक्कारी अवलोकन या आत्मा का ऐसा अवलोकन नहीं जो उस आत्मा को ही विषय बना दे। लेकिन इस आधारभूत आत्मानुभव में चेतना का ऐसा अवलोकन अभिव्यक्त हो सकता है जो आंतरिक रूप से संभव होते हुए भी, आत्मा की अनिवार्य रूप से आत्म-पूर्ण शक्ति होते हुए भी परम चेतना का अंतर्लीन, अंतर्निहित, आत्म दीप्त, स्वयंसिद्ध प्रथम सक्रिय तत्त्व नहीं है। यह दृष्टि परम आध्यात्मिक चेतना की एक और स्थिति की चीज है या उसे लाती है—एक ऐसी स्थिति जिसमें उस ज्ञान का आरंभ होता है जिसे हम जानते हैं। चेतना की एक स्थिति है और उसमें उसके साथ अंतरंग जानने की क्रिया होती है। आत्मा अपने-आपको देखती है, वह ज्ञाता और ज्ञात बन जाती है, एक तरह से अपने ही आत्म-ज्ञान का विषयी और विषय—बल्कि एक साथ विषयी-विषय—बन जाती है। लेकिन यह अवलोकन, यह ज्ञान फिर भी अंतःस्थित, स्वयंप्रकाश, तादात्म्य-क्रिया ही रहता है। हम जिसे पृथक्कारी ज्ञान के रूप में अनुभव करते हैं उसका आरंभ अभीतक नहीं होता।

लेकिन जब विषयी अपने-आपको विषय के रूप से कुछ पीछे खींच लेता है तब आध्यात्मिक ज्ञान की, तादात्म्य द्वारा ज्ञान की अमुक तृतीय शक्तियों का सूत्रपात होता है। एक आध्यात्मिक अंतरंग दृष्टि, एक आध्यात्मिक व्यापक प्रवेश और बेधन, एक आध्यात्मिक अनुभव होता है जिसमें व्यक्ति सब कुछ को आत्मवत् देखता, सभी को आत्मवत् अनुभव करता और सबके साथ आत्मवत् संपर्क में आता है। विषय और वह जो कुछ है या जो कुछ धारण किये हुए है उस सबको आध्यात्मिक रूप से प्रत्यक्ष देखने की एक शक्ति होती है, वह सब आवृत करनेवाले, व्यापक तादात्म्य में दिखायी देता है, तादात्म्य ही उस प्रत्यक्ष दर्शन का उपादान होता है। एक आध्यात्मिक अवधारणा ही विचार का आद्य पदार्थ है, उस विचार का नहीं जो अज्ञान को खोज निकालता है बल्कि उसका जो अंतस्थ

रूप से ज्ञात है, उसे आत्म-सत्ता में से बाहर लाता और उसे आत्म-देश में, आत्म-अभिज्ञता की विस्तारित सत्ता में, धारणात्मक आत्म-ज्ञान के विषय के रूप में रखता है। एक आध्यात्मिक भाव होता है, एक आध्यात्मिक संवेद होता है, एकत्व का एकत्व के साथ, सत्ता का सत्ता के साथ, चेतना का चेतना के साथ, सत्ता के आनंद का सत्ता के आनंद के साथ आपस में मिश्रण होता है। तादात्म्य में अंतरंग पृथक्ता का हर्ष होता है, एक परम एकत्व में प्रेम के साथ जुड़े प्रेम के संबंधों का हर्ष होता है, शाश्वत एकत्व की बहुत-सी शक्तियों, सत्यों और सत्ताओं का, निराकार के आकारों का एक आनंद होता है, सत् में संभूति की सारी लीला अपनी आत्माभिव्यक्ति को आध्यात्म चेतना की इन्हीं शक्तियों पर प्रतिष्ठित करती है। लेकिन अपने आध्यात्मिक मूल में सभी शक्तियां तात्त्विक हैं, यंत्र रूप नहीं, संगठित, कल्पित या रची हुई नहीं। ये शक्तियां अपने-आप पर और अपने अंदर क्रिया करती हुई अभिन्न आत्मा का प्रदीप्त, आत्म-अभिज्ञ पदार्थ हैं। यह आत्मा ही दृष्टि बन जाती है, आत्मा ही अनुभूति के रूप में स्पन्दित होती है, आत्मा ही प्रत्यक्ष दर्शन और धारणा के रूप में आत्म-प्रदीप्त होती है। वस्तुतः, सब कुछ तादात्म्य द्वारा ज्ञान है, आत्म-शक्तिमान्, एकत्व-अभिज्ञता की अपनी बहुल आत्मता में अपने-आप गतिशील है। आत्मा का अनंत आत्म-अनुभव शुद्ध तादात्म्य और बहुविध तादात्म्य के अंतरंग रूप से पृथक् एकत्व के आनंद और आत्म समाविष्ट आत्मानंद के बीच गति करता है।

जब पृथक्कारी बोध तादात्म्य-बोध को अभिभूत कर देता है तो पृथक्कारी ज्ञान का उद्भव होता है। आत्मा तब भी विषय के साथ अपने तादात्म्य का ज्ञान रखती है लेकिन अंतरंग पृथक्ता की क्रीड़ा को उसकी चरम सीमातक धकेल देती है। पहले आत्मा और अनात्मा का भाव नहीं होता केवल आत्मा और दूसरी आत्मा का भाव रहता है। वहां फिर भी तादात्म्य का और तादात्म्य द्वारा ज्ञान रहता है लेकिन आदान-प्रदान और संपर्क द्वारा मिलनेवाला ज्ञान पहले तो उस ज्ञान पर बड़ी इमारत खड़ी करता है फिर उसमें डूब जाता है और फिर उसका स्थान इस तरह ले लेने को प्रवृत्त होता है कि वह एक गौण अभिज्ञता रह जाता है मानों वह अलग-अलग आत्माओं के परस्पर-संपर्क, उनके अभीतक व्यापक और आच्छादक स्पर्श, उनकी एक-दूसरे में प्रवेश करती हुई अंतरंगता का कारण नहीं परिणाम हो। और अंत में तादात्म्य परदे के पीछे गायब हो जाता है और सत्ता का अन्य सत्ताओं के साथ, चेतना का अन्य चेतनाओं के साथ खेल रह जाता है। एक आधारभूत तादात्म्य फिर भी बना रहता है लेकिन उसका अनुभव नहीं होता। उसका स्थान सीधी पकड़ और अंदर भेदते हुए संपर्क, अंतर्मिश्रण और आदान-प्रदान ले लेते हैं। इस परस्पर क्रिया के कारण न्यूनाधिक रूप से अंतरंग ज्ञान, परस्पर अभिज्ञता या विषय की अभिज्ञता संभव रहती है। आत्मा का आत्मा से मिलने का भाव नहीं रहता लेकिन

एक पारस्परिकता रहती है, अभीतक पूरी पृथकता, पूरी तरह भिन्नता और अज्ञान नहीं आता। यह घटी हुई चेतना है परंतु यह मौलिक ज्ञान की कुछ शक्ति बनाये रखती है जो विभाजन के कारण, अपनी आद्य सारभूत पूर्णता की क्षति के कारण कम हो जाती है, विभाजन के द्वारा क्रिया करती है, सामीप्य तो लाती है परंतु ऐक्य नहीं। विषय के चेतना में समावेश की शक्ति तो होती है, घेरे रहनेवाली अभिज्ञता और ज्ञान तो होता है लेकिन अभी यह समावेश बहिर्मुखी है जिसे हमें उपलब्ध या पुनरुपलब्ध ज्ञान द्वारा, विषय पर चेतना के निवास द्वारा, एकाग्रता द्वारा, उसे अस्तित्व का भाग मानते हुए उसपर अधिकार करके अपनी आत्मा का एक तत्त्व बनाना है। भेदन शक्ति तो है परंतु उसमें कोई स्वाभाविक व्यापकता नहीं होती और वह तादात्म्य की ओर नहीं ले जाती, वह जितना कर सकती है इकट्ठा करती है, इस तरह जो मिले उसे लेती और ज्ञान के विषय की अंतर्वस्तुओं को विषयीतक ले जाती है। अब भी चेतना का चेतना के साथ सीधा और बोधक संपर्क हो सकता है जो स्पष्ट और अंतरंग ज्ञान की रचना करे लेकिन वह संपर्क के बिंदुओं या संपर्क की मात्रातक सीमित होता है। अब भी सीधा संवेद, चेतना-दृष्टि, चेतना-अनुभव होता है जो विषय के अंदर और बाहर तथा सतह पर जो है उसे देख और अनुभव कर सकता है। अब भी सत्ता और सत्ता के, चेतना और चेतना के बीच, सब तरह के विचारों, अनुभवों, ऊर्जाओं की तरंगों के बीच परस्पर-अंतःप्रवेश और आदान-प्रदान है जो सहानुभूति और मिलन की गति हो सकता है या विरोध और संघर्ष की। वहां दूसरों पर अधिकार करते हुए या अन्य चेतना या अन्य सत्ता के द्वारा अपना अधिकृत होना स्वीकार करते हुए एकीकरण के लिये प्रयत्न हो सकता है या पारस्परिक समावेश, आच्छादन और पारस्परिक अधिकार द्वारा ऐक्य की ओर दबाव हो सकता है। प्रत्यक्ष संपर्क द्वारा जाननेवाला इन सब क्रियाओं और पारस्परिक क्रियाओं के बारे में अभिज्ञ होता है और इसी आधार पर वह अपने चारों ओर के जगत् के साथ अपने संबंधों की व्यवस्था करता है। यह चेतना के अपने विषय के साथ सीधे संपर्क द्वारा ज्ञान का मूल स्रोत है जो आंतर सत्ता के लिये तो सामान्य है पर हमारी सतही प्रकृति के लिये विजातीय या अपूर्ण रूप से ज्ञात है।

स्पष्टतः यह पहला पृथक्कारी अज्ञान अभीतक ज्ञान की, परंतु सीमित पृथक्कारी ज्ञान की लीला है, एक विभक्त सत्ता की आधारभूत एकता की वास्तविकता पर क्रिया की लीला है और प्रच्छन्न ऐक्य का अपूर्ण परिणाम या निष्कर्ष है। तादात्म्य की पूर्ण आंतरिक अभिज्ञता और तादात्म्य द्वारा ज्ञान की क्रिया हमारे जीवन के उच्चतर गोलार्द्ध की चीजें हैं। सीधे संपर्क द्वारा यह ज्ञान चेतना के उच्चतम अतिभौतिक मानसिक लोकों का मुख्य गुण है। हमारी सतही सत्ता अज्ञान की एक दीवार द्वारा उन लोकों की ओर से बंद है। एक घटे हुए और अधिक पृथक्कारी

रूप में यह मन के न्यूनतर अतिभौतिक लोकों का गुण है। जो कुछ अतिभौतिक है उस सबमें यह तत्त्व है या हो सकता है। यह हमारी अंतस्तलीय आत्मा का मुख्य यंत्र, उसकी अभिज्ञता का मुख्य साधन है क्योंकि अंतस्तलीय आत्मा या आंतरिक सत्ता इन उच्चतर लोकों से अवचेतना से मिलने के लिये प्रक्षेपण है और उन उद्गम के लोकों के साथ सगोत्रता के साथ अंतरंग रूप से संबद्ध है, और उस चेतना के गुणों को उत्तराधिकार में पाती है। अपनी बाहरी सत्ता में हम निश्चेतना के बालक हैं, हमारी आंतरिक सत्ता हमें मन, प्राण और आत्मा की उच्चतर ऊंचाइयों का उत्तराधिकारी बनाती है। हम जितना भीतर की ओर खुलते हैं, भीतर की ओर जाते हैं, भीतर निवास करते हैं, भीतर से प्राप्त करते हैं, उतना ही अपने निश्चेतन मूल की अधीनता से दूर होते जाते हैं और उसकी ओर बढ़ते हैं जो अभी हमारे अज्ञान के लिये अतिचेतन है।

सत्ता के सत्ता से पूरी तरह अलग होने पर अज्ञान पूरा हो जाता है, तब चेतना के साथ चेतना का सीधा संपर्क पूरी तरह छिप जाता है या उसपर भारी परत आ जाती है, भले ही वह हमारे अंतर्लीन भागों में चलता रहे जैसे आधार में स्थित गुप्त तादात्म्य और एकत्व बना रहता है, यद्यपि वह पूरी तरह गुप्त रहता है, वह कोई सीधी क्रिया नहीं करता। सतह पर पूरा अलगाव, आत्मा और अनात्मा में विभाजन होता है। अनात्मा के साथ व्यवहार करने की आवश्यकता तो होती है लेकिन उसे जानने या उसपर शासन करने का कोई सीधा साधन नहीं होता। तब प्रकृति परोक्ष साधनों का निर्माण करती है, भौतिक इन्द्रियों द्वारा संपर्क, स्नायविक धाराओं द्वारा बाहरी आघातों का प्रवेश, भौतिक अंगों की क्रिया के पूरक के रूप में और उनकी सहायता करते हुए मन की प्रतिक्रियाएं और समन्वय—ये सब परोक्ष ज्ञान की विधियां हैं क्योंकि चेतना इन यंत्रों पर निर्भर रहने के लिये बाधित होती है और विषय पर सीधी क्रिया नहीं कर सकती। इन विधियों के साथ जुड़ जाते हैं तर्क-बुद्धि, समझ और अंतर्भास जो इस तरह परोक्ष रूप में लाये गये संदेशों को पकड़ लेते हैं, सबको एक क्रम में रखते हैं और उनकी आधार-सामग्री का उपयोग अनात्मा का ज्ञान, या उसपर जितना प्रभुत्व या अधिकार पाया जा सके उतना पाने के लिये या उसके साथ उतना आंशिक ऐक्य पाने के लिये करते हैं जितने के लिये आद्य विभाजन पृथक् सत्ता को अनुमति दे। यह तो स्पष्ट है कि ये साधन प्रायः अपर्याप्त और प्रायः अदक्ष होते हैं और मन की क्रियाओं का यह परोक्ष आधार ज्ञान में आधारभूत अनिश्चिति ला देता है लेकिन यह आरंभिक अपर्याप्तता हमारी भौतिक सत्ता के स्वभाव में और उस सारी सत्ता के स्वभाव में अंतर्निहित है जो अभीतक उन्मुक्त नहीं हुई है और निश्चेतना में से उभर रही है।

निश्चेतना परम अतिचेतना की उल्टी प्रतिकृति है, उसमें भी सत्ता की वही निरपेक्षता और स्वचालित क्रिया है लेकिन है विशाल अंतर्लीन समाधि में, वह है

सत्ता ही जो अपने-आपमें खोयी हुई है, अनन्तता की अपनी गहराइयों में डूबी हुई है, आत्म-सत्ता में ज्योतिर्मय लीनता की जगह उसमें अंधकारपूर्ण निवर्तन है। ऋग्वेद के शब्दों में 'तम आसीत् तमसा गूढम्' यानी अंधकार अंधकार में आवृत है जिसके कारण वह असत्-सा दिखायी देता है। एक ज्योतिर्मय अंतर्निहित आत्म-अभिज्ञता की जगह एक ऐसी चेतना है जो आत्म-विस्मृति के रसातल में डूबी हुई है, जो सत्ता में अंतर्निहित तो है लेकिन सत्ता में जाग्रत् नहीं है। फिर भी यह अंतर्ग्रस्त चेतना तादात्म्य द्वारा ज्ञान है जो है प्रच्छन्न। यह अपने अंदर अस्तित्व के सभी सत्यों की अभिज्ञता को वहन करती है जो उसके अंधकारमय अनंत में छिपे होते हैं। जब यह क्रिया या सृजन करती है, हां यह पहले चेतना नहीं ऊर्जा के रूप में क्रिया करती है, तो हर चीज एक अंतर्भूत ज्ञान की पूर्णता और यथार्थता में व्यवस्थित होती है। सभी भौतिक चीजों में एक मूक और अंतर्निहित सत्य-संकल्प, एक सारवान् और आत्म-प्रभावक अंतर्भास निवास करता है, एक चक्षुहीन यथार्थ प्रत्यक्ष दर्शन, एक स्वचालित बुद्धि होती है जो अनभिव्यक्त और अविचारित धारणाओं को कार्यान्वित करती है, ऐसी दृष्टि है जो अंधी होते हुए भी निर्भ्रान्त है, निरुद्ध भाव की मूक और अचूक सुनिश्चिति है जिसपर असंवेदनशीलता का लेप है। जिसे कार्यान्वित करना है उस सबको यह कार्यन्वित करती है। निश्चेतन की यह सारी स्थिति और क्रिया, बहुत स्पष्ट रूप से शुद्ध अतिचेतन की उसी स्थिति और क्रिया के अनुरूप होती है लेकिन मूल आत्म-ज्योति की जगह आत्म-अंधकार में अनूदित होकर। ये शक्तियां भौतिक आकार में निहित होने पर भी उस आकार के अधिकार में नहीं होतीं फिर भी उसकी मूक अवचेतना में क्रिया करती हैं।

हम इस ज्ञान में चेतना के अंतर्लयन से विकसित प्रकटनतक की भूमिकाओं को ज्यादा स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं, जिसकी एक सामान्य धारणा बनाने का हम पहले भी प्रयास कर चुके हैं। भौतिक सत्ता का केवल एक स्थूल भौतिक व्यक्तित्व होता है, मानसिक व्यक्तित्व नहीं। लेकिन उसमें एक अंतस्तलीय उपस्थिति होती है, अचेतन चीजों में एक सचेतन विद्यमान होता है, वही उसमें निवास करनेवाली ऊर्जाओं की क्रियाओं का निर्देशन करता है। अगर जैसा कि प्रतिपादित किया गया है कोई भौतिक विषय अपने चारों ओर की चीजों के संपर्क की छाप ग्रहण करता है और उसे बनाये रखता है और उससे ऊर्जाएं निकलती हैं जिससे गुह्य ज्ञान अपने अतीत के बारे में अभिज्ञ हो सकता है, इन निःसृत होते हुए प्रभावों के बारे में हमें सचेतन कर सकता है तो इस ग्रहणशीलता और इन क्षमताओं का कारण होना चाहिये वह आंतरिक, अव्यवस्थित अभिज्ञता जो रूप के चारों ओर व्यापक तो है पर अभीतक उसे प्रदीप्त नहीं कर रही। बाहर से हम इतना ही देखते हैं कि वनस्पतियों या खनिजों जैसे भौतिक पदार्थों में अपनी शक्तियां, गुण और अंतस्थ प्रभाव तो होते हैं लेकिन चूंकि उनमें संचार की कोई क्षमता या साधन नहीं है

उसके पीछे विषयों की एक अस्पष्ट चित्-दृष्टि और अनुभूति। भावावेश स्पन्दित होकर बाहर आता है और औरों के साथ आदान-प्रदान की खोज करता है। अंत में धारणा, विचार और तर्क-बुद्धि बाहरी सतह पर आते हैं जो अपनी प्राप्त ज्ञान-सामग्री को इकट्ठा करते हुए विषय के अवधारण और प्रज्ञान की ओर प्रवृत्त होते हैं। लेकिन ये सब अपूर्ण हैं, उन्हें पृथक्कारी अज्ञान और पहली अंधकार से घेरनेवाली निश्चेतना विकलांग किये रहती है। ये सब बाहरी साधनों पर निर्भर हैं। वे अपने बल पर क्रिया करने में समर्थ नहीं हैं। चेतना सीधी चेतना पर क्रिया नहीं कर सकती। मानसिक चेतना का वस्तुओं पर रचनात्मक आच्छादन और भेदन तो होता है लेकिन वास्तविक अधिकार नहीं, तादात्म्य द्वारा ज्ञान नहीं होता। अंतर्लीन सत्ता जब अपनी गुप्त क्रियाओं में से कुछ को मानसिक बुद्धि के सामान्य रूपों में अनूदित किये बिना शुद्ध रूप में अग्र भाग के मन और इन्द्रियों पर बलपूर्वक आरोपित करने में समर्थ होती है तभी ज्यादा गहरे साधनों की प्राथमिक क्रिया सतह पर आती है। लेकिन ऐसे उन्मज्जन अपवाद ही होते हैं। वे हमारे प्राप्त किये हुए और सीखे हुए ज्ञान की सामान्यता के बीच अस्वाभाविक और अतिप्राकृतिक का पुट लिये दिखायी देते हैं। केवल अपनी आंतरिक सत्ता की ओर खुलकर या उसमें प्रवेश करके हम प्रत्यक्ष अंतरंग अभिज्ञता को अपनी बाहरी परोक्ष अभिज्ञता के साथ जोड़ सकते हैं। केवल अपनी अंतरतम आत्मा या अतिचेतन आत्मा के प्रति जागकर ही उस आध्यात्मिक ज्ञान का आरंभ हो सकता है जिसका आधार, जिसकी घटक-शक्ति, जिसका अंतस्थ पदार्थ है तादात्म्य।

अध्याय ११

अज्ञान की सीमाएं

अयं लोको नास्ति पर इति मानी ॥

जो यह सोचता है कि बस यही लोक है और कोई लोक नहीं . . . ।

कठोपनिषद् १.२.६

अनन्ते अन्तः परिवीतः . . . ॥
अपादशीर्षा गुहमानो अन्ता ॥

अनन्त के अंदर विस्तृत . . . अशीर्ष, अपाद अपने दो सिरों[1] को छिपाये हुए।

ऋग्वेद ४.१.७, ११

य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति।
अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति, न स वेद ॥

जिसे यह ज्ञान है कि मैं ब्रह्म हूं, वह यह सब बन जाता है, जो है लेकिन जो अद्वय आत्मा को छोड़कर किसी और देवता की उपासना करता है और सोचता है, 'वह अन्य है, मैं अन्य हूं,' वह नहीं जानता।

बृहदारण्यकोपनिषद् १.४.१०

सोऽयमात्मा चतुष्पात्। जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः . . . स्थूलभुक् . . . प्रथमः पादः। स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः . . . प्रविविक्तभुक् . . . द्वितीयः पादः। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् . . . तृतीयः पादः। एव सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्यामी . . .। अदृष्टम् . . . अलक्षणम् . . . एकात्मप्रत्ययसारम् . . . चतुर्थम्, स आत्मा स विज्ञेयः ॥

यह आत्मा चतुष्पाद है। जागरित स्थान की आत्मा जिसमें बाहरी प्रज्ञा है, जो बाहरी चीजों का भोग करती है, यह उसका पहला पाद है, स्वप्न स्थान की आत्मा जिसमें भीतरी प्रज्ञा है और जो सूक्ष्म चीजों का भोग करती है, यह उसका दूसरा पाद है, सुषुप्त स्थान की आत्मा जो एकीकृत, पुंजीभूत प्रज्ञा, आनन्दमय है और आनन्द का भोग करती है, यह तीसरा पाद है . . . सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी। वह जो अदृष्ट, अलक्षण है, अपनी एकात्मता में

[1] सिर और पैर, अतिचेतन और निश्चेतन।

स्वयंसिद्ध है, यह चौथा पाद है—यही आत्मा है, यही जानने लायक है।

माण्डूक्योपनिषद् २. ७

अङ्गुष्ठमात्र पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य . . . स एवाद्य स उ श्वः॥

हमारी आत्मा के केन्द्र में एक सचेतन पुरुष खड़ा है जो मनुष्य के अंगूठे से बड़ा नहीं है। वह भूत और वर्तमान का स्वामी है . . . वही आज और वही कल होगा।

कठोपनिषद् २. १. १२-१३

अब इस अज्ञान का या इस पृथक्कारी ज्ञान का, जो तद्रूप-ज्ञान के लिये परिश्रम करता रहा है, उसकी विशालतर रूप-रेखा में विवेचन करना संभव है। हमारी मानव मानसता, और एक अधिक अस्पष्ट रूप में, हमारे निचले स्तर से विकसित समस्त चेतना उसीसे बनी है। हम देखते हैं कि हमारे अंदर यह सत्ता और शक्ति की तरंगों के अनुक्रम से बनी है जो बाहर से दबाव डालती और भीतर से उठती हैं। वे चेतना का पदार्थ बन जाती हैं और देश तथा काल में अपने स्व और विषयों के मानसिक ज्ञान तथा मानसभावापन्न इन्द्रिय-संवेदन में रूपायित होती हैं। इस अपूर्ण और विकसनशील अभिज्ञता के अनुभव के लिये काल हमारे आगे अपने-आपको क्रियाशील गति की धारा के रूप में प्रस्तुत करता है और देश वस्तुओं से भरे विषयगत क्षेत्र के रूप में। काल में सचल मानसिक सत्ता तात्कालिक अभिज्ञता द्वारा सदा-सर्वदा वर्तमान में रहती है, स्मृति द्वारा वह स्वयं के और वस्तुओं के अनुभव के किसी अंश को अपने-आपसे पूरी तरह भूतकाल में बह जाने से रोक लेती है। विचार, इच्छा और क्रिया द्वारा, मानसिक ऊर्जा, प्राणिक ऊर्जा, शारीरिक ऊर्जा द्वारा वह उसका उपयोग उसके लिये करती है जो वह वर्तमान में बनी है और जो उसे भविष्य में बनना है। उसमें स्थित सत्ता की वह शक्ति, जिसने उसे वह बनाया है जो वह है, वही भविष्य में उसके संभवन को दीर्घ, विकसित और विस्तृत करने के लिये कार्य करती है। आत्माभिव्यक्ति और वस्तुओं के अनुभव की अस्थिर रूप से धारण की हुई यह सारी सामग्री, कालानुक्रम में संचित यह आंशिक ज्ञान उसके लिये प्रत्यक्ष दर्शन, स्मृति, बुद्धि और इच्छा-शक्ति द्वारा समन्वित किये जाते हैं ताकि चिरनवीन और सदा दुहराये जानेवाले संभवन के लिये और ऐसी मानसिक, प्राणिक और भौतिक क्रिया के लिये उपयोग में लाये जा सकें जो उसे वह बनने के लिये बढ़ने में सहायता दे जो उसे बनना है और वह अभिव्यक्त करने में सहायता दे जो वह बन चुका है। चेतना के इस सारे अनुभव की वर्तमान समग्रता और ऊर्जा के उत्पादन को—जो उसकी सत्ता के साथ संबंध

जोड़ने के लिये समन्वित किया जाता है—एक ऐसे अहंभाव के चारों ओर संगति में इकट्ठा किया जाता है जो प्रकृति के संपर्कों को सचेतन सत्ता के किसी स्थायी सीमित क्षेत्र में आत्मानुभव का प्रत्युत्तर देने की आदत बना लेता है। यह अहंभाव ही उस चीज को सुसंगति का पहला आधार देता है जो अन्यथा उतराते हुए प्रभावों की लड़ी या उतराती हुई राशि होती। इस तरह जो कुछ अनुभव होता है उसे बुद्धि में मानसिक चेतना के अनुरूप कृत्रिम केन्द्र के सामने यानी अहंभाव के आगे भेज दिया जाता है। प्राण तत्त्व में यह अहं-भाव और मन में यह अहं-विचार आत्मा का एक रचित प्रतीक, पृथक्कारी अहं बनाये रखते हैं जो छिपे सच्चे स्व का, आत्मा का या सच्ची सत्ता का कार्य करता है। परिणामतः सतही मानसिक व्यक्तित्व हमेशा अहं-केन्द्रित होता है, उसकी परोपकारिता भी उसके अहं-भाव का बढ़ा-चढ़ा रूप होती है। अहं वह किल्ली है जिसका आविष्कार हमारी प्रकृति के चक्र की गति को एक साथ रखने के लिये किया गया था। अहं के चारों ओर केन्द्रीकरण की आवश्यकता तबतक रहती है जबतक ऐसे उपाय या साधन की आवश्यकता बाकी न रहे क्योंकि सच्ची आत्मा, आध्यात्मिक सत्ता उभर आती है जो युगपत् रूप से चक्र और गति और वह चीज है जो उस सबको धारण करती है। वही केन्द्र है और वही परिधि।

परंतु जैसे ही हम स्वयं अपना अध्ययन करते हैं हम पाते हैं कि वह आत्मानुभव जिसे हम इस तरह समन्वित करते और सचेतन रूप से जीवन के लिये उपयोग में लाते हैं, वह हमारी जाग्रत् व्यक्तिगत चेतना का एक छोटा-सा भाग ही है। हमारे निरंतर वर्तमान में आत्मा और वस्तुओं के जो मानसिक संवेदन और प्रत्यक्ष दर्शन हमारी सतही चेतनातक आते हैं, हम उनमें से बहुत सीमित संख्या को ही पकड़ पाते हैं और फिर इनमें से भी स्मृति अतीत की विस्मरणशील खाई में से एक छोटे-से अंश को ही बचा रखती है और स्मृति के भंडार में से हमारी बुद्धि केवल एक छोटे-से हिस्से का समन्वित ज्ञान के लिये उपयोग करती है और हमारी इच्छा-शक्ति क्रिया के लिये उसमें से और भी एक छोटे अंश का उपयोग करती है। ऐसा मालूम होता है कि जड़ विश्व के क्षेत्र की तरह हमारे संभवन में भी प्रकृति की पद्धति रहती है संकीर्ण चुनाव, अधिक त्याग या आरक्षण, सामग्री की कंजूसीभरी फिजूलखर्च पद्धति, साधनों का अनुपयोग और उपयोगी व्यय और उपादेय बची हुई सामग्री की राशि का अव्यवस्थित और स्वल्प व्यय। लेकिन यह केवल प्रतीति है क्योंकि यह कहना एकदम गलत विवरण होगा कि जो कुछ इस तरह बचाया नहीं जाता या उपयोग में नहीं आता वह नष्ट हो जाता है, रद्द हो जाता है और प्रभावहीन और व्यर्थ चला जाता है। उसके एक बड़े हिस्से का प्रकृति ने चुपचाप हमारे निर्माण में उपयोग कर लिया है और वह हमारी वृद्धि, संभूति और क्रिया की उस काफी बड़ी राशि का परिचालन करती है जिसके लिये हमारी सचेतन

स्मृति, इच्छाशक्ति और बुद्धि उत्तरदायी नहीं हैं। एक और भी बड़े भाग का उपयोग वह भंडार के रूप में करती है जिसमें से वह लेती रहती है और जिसे वह उपयोग में लाती है जब कि स्वयं हम उस सामग्री के स्रोत और उद्गम को पूरी तरह भूल चुके होते हैं और इस सामग्री का उपयोग इस भूलभरी भावना से करते हैं कि स्वयं हमने इसे रचा है, क्योंकि हम यह समझते हैं कि हम अपने काम के लिये इस नयी सामग्री की रचना कर रहे हैं जब कि हम उस संचय में से केवल परिणामों को ही जोड़ते हैं जिसे हम तो भूल चुके होते हैं लेकिन हमारे अंदर की प्रकृति उसे याद रखे हुए है। अगर हम पुनर्जन्म को उसकी पद्धति के भाग के रूप में स्वीकार करें तो हम यह अनुभव करेंगे कि समस्त अनुभवों का अपना उपयोग है क्योंकि इस दीर्घीकृत निर्माण में सभी अनुभवों का स्थान होता है, केवल उसे ही छोड़ा जाता है जिसकी उपयोगिता समाप्त हो गयी हो और जो भविष्य के लिये भार बन गया हो। हमारी चेतना की ऊपरी सतह पर जो होता है उसके आधार पर निर्णय भ्रांति-मूलक है क्योंकि जब हम अध्ययन करते और समझते हैं तो दिखायी देता है कि हमारे अंदर उसकी क्रिया और वृद्धि का एक छोटा-सा अंश ही सचेतन है। उसका बड़ा भाग उसी तरह अवचेतन रूप से चलता रहता है जैसा उसके बाकी भौतिक जीवन में है। हम केवल वही नहीं हैं जितना हम अपने बारे में जानते हैं, उससे बहुत अधिक वह हैं जिसे हम नहीं जानते। हमारा इस मुहूर्त का व्यक्तित्व तो हमारी सत्ता के सागर पर बुलबुला मात्र है।

हमारी जाग्रत् चेतना का एक ऊपरी अवलोकन हमें बतलाता है कि अपनी व्यक्तिगत सत्ता और संभूति के एक बड़े भाग के बारे में हम बिलकुल अज्ञानी हैं। वह हमारे लिये निश्चेतन है, ठीक उसी तरह जैसे कि वह जीवन जो वनस्पति, धातु, मिट्टी तथा मूल तत्त्वों का है। लेकिन अगर हम अपने ज्ञान को और आगे ले जायें, मनोवैज्ञानिक परीक्षण और अवलोकन को उनकी सामान्य परिधि के परे ले जायें तो हमें पता चलता है कि इस तथाकथित निश्चेतना या इस अवचेतना का क्षेत्र हमारे समग्र अस्तित्व में कितना विस्तृत है। वह हमें अवचेतन इसलिये मालूम होता है और हम उसे इसलिये अवचेतन कहते हैं क्योंकि वह एक छिपी हुई चेतना है और हम देख पाते हैं कि हमारी जाग्रत् आत्म-अभिज्ञता हमारी सत्ता का कितना छोटा और खंडित अंश है। हम इस ज्ञान पर पहुंचते हैं कि हमारा जाग्रत् मन और अहंकार एक डूबे हुए, एक अंतस्तलीय आत्मा पर अध्यारोपण हैं; क्योंकि वह पुरुष हमें ऐसा ही प्रतीत होता है। या ज्यादा ठीक तरह से कहें तो यह एक बहुत ही विस्तृत अनुभव की क्षमतावाली आंतरिक चेतना है। हमारा मन और अहंकार मानों लहरों से ऊपर उठते हुए मंदिर का मुकुट और गुंबज हैं, जब कि इस विशाल प्रासाद का शरीर जलों की सतह के नीचे जलमग्न है।

यह प्रच्छन्न पुरुष और चेतना हमारी वास्तविक या संपूर्ण सत्ता है, बाह्य पुरुष

और चेतना तो उसका एक अंग और दृश्य, एक बाहरी उपयोग के लिये चुनी हुई रचना है। हम वस्तुओं के संपर्कों की एक छोटी-सी संख्या को ही देखते हैं जो हमारे साथ टकराती है। आंतरिक सत्ता उस सबको देखती है जो हमारे अंदर या हमारे पर्यावरण में प्रवेश करता या उन्हें छूता है। हम अपने जीवन और अपनी सत्ता की क्रियाओं के केवल एक अंश को ही देखते हैं, हमारी आंतरिक सत्ता इतना अधिक देखती है कि हम यह मानने को प्रवृत्त होते हैं कि उसकी नजर से कुछ भी नहीं बच निकलता। हम अपने प्रत्यक्ष दर्शनों में से एक छोटे-से चुने हुए भाग को ही याद रखते हैं और इनमें से भी अधिकांश को हम एक गोदाम में जमा रखते हैं जहां हमारा हाथ हमेशा अपनी जरूरत की चीजों पर नहीं पहुंच पाता। आंतरिक सत्ता ने जब कभी जो कुछ पाया है उसे वह संचित रखती है और वह हमेशा उसकी पंहुच के भीतर होता है। हम अपने प्रत्यक्ष दर्शनों और स्मृतियों में से उतने को ही अपनी समझ और ज्ञान में समन्वित रूप दे सकते हैं जितने को हमारी प्रशिक्षित समझ और मानसिक क्षमता अपने बोध में पकड़ सकें और अपने संबंधों में आंक सकें। आंतरिक सत्ता की समझ को प्रशिक्षण की जरूरत नहीं होती लेकिन वह अपने सभी प्रत्यक्ष दर्शनों और स्मृतियों के ठीक-ठीक रूपों और संबंधों को सुरक्षित रखती है—यद्यपि यह एक ऐसी स्थापना है जिसे संदेहास्पद माना जा सकता है या जिसे पूरी तरह स्वीकार करने में कठिनाई हो सकती है—और अगर उसे पहले से ही उनका अर्थ मालूम न हो तो भी उन्हें तुरंत पकड़ सकती है, और जैसे सामान्यतः जाग्रत् मन के प्रत्यक्ष-दर्शन भौतिक इन्द्रियों के अल्प चयनोंतक सीमित होते हैं, उसके प्रत्यक्ष-दर्शन उस तरह के नहीं हैं बल्कि जैसा कि बहुत प्रकार के दूरबोधी व्यापार साक्षी देते हैं, वे उनसे बहुत आगे तक जाते और सूक्ष्म इन्द्रिय का उपयोग करते हैं जिसकी सीमाएं इतनी विस्तृत हैं कि उन्हें आसानी से निश्चित नहीं किया जा सकता। सतही इच्छा या प्रवृत्ति और दूसरी ओर अंतस्तलीय-प्रेरणा, जिसे भूल से अचेतन या अवचेतन कहा जाता है, इनके बीच के संबंधों का अध्ययन भली-भांति नहीं किया गया है। अध्ययन किया गया है केवल असामान्य और असंगठित अभिव्यक्तियों का और रुग्ण मानव मन के कुछ दूषित असामान्य व्यापारों का। लेकिन अगर हम अपने अवलोकन को काफी आगे चलायें तो हम देखेंगे कि वास्तव में सारी सचेतन संभूति के पीछे आंतरिक पुरुष का ज्ञान और उसकी इच्छा या प्रेरणा-शक्ति है। सचेतन संभूति आंतरिक पुरुष के गुप्त प्रयास और सिद्धि के केवल उस भाग का प्रतिनिधित्व करती है जो हमारे जीवन की सतह पर ऊपर आने में सफल हुआ है। अपने आंतरिक पुरुष को जानना वास्तविक आत्म-ज्ञान की ओर पहला कदम है।

अगर हम इस आत्म-शोध के काम को हाथ में लें और अपनी अंतर्लीन आत्मा के ज्ञान को बढ़ायें, उसके बारे में ऐसी धारणा बनायें जिससे उसमें हमारे सबसे

निचले अवचेतन और उच्चतर अतिचेतन छोर समा जायें तो हम यह पायेंगे कि वास्तव में यही हमारी प्रतीयमान सत्ता की सारी सामग्री जुटाता है और यह कि हमारे प्रत्यक्ष दर्शन, हमारी स्मृतियां, हमारी इच्छा-शक्ति और बुद्धि के कार्यान्वयन उसके प्रत्यक्ष-दर्शनों, स्मृतियों, क्रियाओं, इच्छा-शक्ति और बुद्धि के संबंधों में से चयन मात्र हैं। स्वयं हमारा अहंकार तक उसकी आत्म-चेतना और आत्मानुभव का गौण-सा और बाह्य रूपायन मात्र है। यह मानों दुराग्रही सागर है जिसमें से हमारी सचेतन संभूति की लहरें उठती हैं। लेकिन उसकी सीमाएं क्या हैं? उसका विस्तार कहांतक है? उसका आधारभूत स्वरूप क्या है? सामान्यतः हम अवचेतन सत्ता की बात करते हैं और इस शब्द में उस सबको समा लेते हैं जो जाग्रत् तल पर नहीं है। लेकिन आंतरिक या अंतस्तलीय आत्मा का पूरा-पूरा या अधिकतर भाग मुश्किल से ही इस विशेषण से चित्रित किया जा सकता है। क्योंकि जब हम अवचेतन कहते हैं तो हम झट अंधेरी अचेतना या अर्द्ध-चेतना या फिर नीचे डूबी हुई चेतना की बात सोच लेते हैं जो एक तरह से हमारी संगठित जाग्रत् अभिज्ञता से अवर या कम है, या कम-से-कम उसे अपने ऊपर कम अधिकार है। लेकिन जब हम अंदर जाते हैं तो देखते हैं कि हमारे अंदर कहीं पर अंतस्तलीय भाग में—परंतु उसमें सहवर्ती नहीं, क्योंकि उसमें भी अंधेरे और अज्ञानभरे क्षेत्र हैं—ऐसी चेतना है जो हमारे बाहरी स्तर की जाग्रत् और हमारी दैनिक घड़ियों की द्रष्टा-चेतना की अपेक्षा बहुत अधिक विशाल, अधिक प्रकाशमय है और स्वयं अपने ऊपर तथा वस्तुओं पर अधिक अधिकार रखती है। वही हमारी आंतरिक सत्ता है और इसीको हमें अपनी अंतस्तलीय आत्मा समझना चाहिये और अवचेतन को अपनी प्रकृति का एक निकृष्ट, निम्नतम गुह्य प्रदेश कह कर अलग कर देना चाहिये। उसी तरह हमारी समग्र सत्ता का अतिचेतन भाग है जिसमें वह है जिसे हम अपनी ऊंची-से-ऊंची आत्मा पाते हैं और उसे भी हम अपनी प्रकृति का एक उच्चतर गुह्य प्रदेश कहकर अलग कर सकते हैं।

लेकिन तब फिर अवचेतन है क्या और वह कहां शुरू होता है और वह हमारी ऊपरी तल की सत्ता के साथ और उस अंतस्तलीय के साथ क्या संबंध रखता है जिसका अधिक उचित रूप में वह एक प्रदेश प्रतीत होता है? हम अपने शरीर के बारे में अभिज्ञ हैं और यह जानते हैं कि हमारी एक भौतिक सत्ता है और बहुत बड़ी हदतक हम अपने-आपको उसके साथ एक मानते हैं और फिर भी उसकी अधिकतर क्रियाएं हमारी मानसिक सत्ता के लिये वास्तव में अवचेतन हैं। इतना ही नहीं कि मन उनमें कोई भाग नहीं लेता, बल्कि, जैसा कि हम मानते हैं, हमारी अत्यंत भौतिक सत्ता को स्वयं अपनी छिपी हुई क्रियाओं की या अपने-आपमें, अपने अस्तित्व की कोई अभिज्ञता नहीं होती। वह अपने उतने ही अंश को जानती या अनुभव करती है जिसे मानसिक भाव प्रदीप्त करता है और जिसका बुद्धि द्वारा

अवलोकन किया जा सकता है। हम वनस्पति और निचले पशुओं की तरह इस शारीरिक रूप और ढांचे में भी काम करती हुई प्राण-शक्ति के बारे में अभिज्ञ हैं। एक प्राणिक सत्ता है जो हमारे लिये अधिकांश में अवचेतन है क्योंकि हम केवल उसकी कुछ गतियों और प्रतिक्रियाओं को देखते हैं, हम उसकी कुछ क्रियाओं से अभिज्ञ हैं परंतु उसकी सभी या अधिकतर क्रियाओं के बारे में किसी हालत में नहीं। बल्कि यूं कहें कि हम उसकी सामान्य क्रियाओं की अपेक्षा असामान्य से अधिक परिचित हैं, उसकी संतुष्टियों की अपेक्षा उसके अभाव, उसके स्वास्थ्य और नियमित लय की अपेक्षा उसके रोग और उसके विकार हमारे ऊपर अपनी छाप ज्यादा जोर से डालते हैं, उसका जीवन जितना उज्ज्वल होता है, मृत्यु उससे बढ़कर मर्मस्पर्शी होती है। हम उसके बारे में उतना ही जान सकते हैं जिसका हम सचेतन रूप से अवलोकन या उपयोग कर सकते हैं या जो अपने-आपको हमारे ऊपर सुख-दुःख या अन्य संवेदनों द्वारा आरोपित कर सकता या जो स्नायविक या भौतिक प्रतिक्रिया और गड़बड़ का कारण हो सकता है—उससे अधिक नहीं। उसके अनुसार हम मानते हैं कि हमारा यह प्राणिक-भौतिक भाग भी स्वयं अपनी क्रियाओं के बारे में सचेतन नहीं होता या उसमें वनस्पति की तरह अवरुद्ध चेतना या अ-चेतना या फिर आदिम जन्तु की तरह अविकसित चेतना है। वह उसी हदतक सचेतन बनता है जहांतक वह मन द्वारा आलोकित और बुद्धि द्वारा अवलोकनीय है।

यह एक अतिशयोक्ति और भ्रांति है जो हमारे चेतना को मानसता और मानसिक अभिज्ञता के साथ एकात्म मान लेने के कारण होती है। मन अपने-आपको एक हदतक भौतिक जीवन और शरीर की स्वाभाविक गतियों के साथ एकात्म कर लेता है और उन्हें अपनी मानसता के साथ जोड़ लेता है, इस तरह हमें समस्त चेतना मानसिक मालूम होती है। लेकिन अगर हम जरा पीछे हटें, अगर हम अपने इन भागों से मन को साक्षी-रूप में अलग कर लें तो हम यह खोज कर सकते हैं कि प्राण और शरीर में—यहांतक कि जीवन के स्थूलतम भागों में भी अपनी चेतना होती है, एक ऐसी चेतना जो अधिक अंधकारमय प्राण और शारीरिक सत्ता के लिये स्वाभाविक है, एक तात्त्विक अभिज्ञता जैसी आदिम जैव रूपों में हो सकती है जिसे हमारे अंदर मन अंशतः अपना लेता है और वह उस हदतक मानसिक बन जाती है। उसकी स्वतंत्र गति में वह मानसिक अभिज्ञता नहीं होती जिसका उपभोग हम करते हैं। अगर उसमें मन है भी तो वह शरीर और शारीरिक प्राण में अंतर्लीन और अंतर्निहित होता है। उसमें कोई संगठित आत्म-चेतना नहीं है बल्कि है केवल क्रिया-प्रतिक्रिया का भाव, गति, आवेग और कामना, आवश्यकता, प्रकृति द्वारा आरोपित आवश्यक क्रियाएं, भूख, सहज-वृत्ति, दुःख-दर्द, संज्ञाहीनता और सुख। यद्यपि इस तरह निम्नतर होते हुए भी उसके अंदर यह अभिज्ञता

अंधेरी, सीमित और स्वचालित होती है लेकिन चूंकि उसे अपने ऊपर कम अधिकार होता है, वह उससे रहित होता है जिसे हम मानसिकता की छाप कहते हैं, इसलिये हम उसे उचित न्यायसंगत रूप से अवमानसिक कह सकते हैं लेकिन उतने ही न्यायसंगत रूप से अपनी सत्ता का अवचेतन भाग नहीं कह सकते। क्योंकि जब हम उससे पीछे हटकर खड़े होते हैं, जब हम अपने मन को उसके संवेदनों से अलग कर सकते हैं तो हम देखते हैं कि यह चेतना की एक स्नायविक, संवेदनात्मक, अपने-आप क्रिया करनेवाली विधि है, मन से अलग तरह की अभिज्ञता की श्रेणी है। संपर्कों के प्रति उसकी अपनी पृथक् प्रतिक्रियाएं होती हैं और वह उनके प्रति अपनी ही अनुभव करने की शक्ति द्वारा संवेदनशील होता है। वह उसके लिये मन के प्रत्यक्ष दर्शन और प्रत्युत्तर पर आश्रित नहीं होता। सच्चा अवचेतन इस प्राणिक या भौतिक निचले स्तर से अलग होता है। यह चेतना की सीमाओं पर स्पंदित होता हुआ निश्चेतन है जो अपनी गतियों को सचेतन पदार्थ में बदलने के लिये ऊपर उछालता है, भूतकाल के अनुभव के संस्कारों को अपनी गहराइयों में अचेतन अभ्यास के बीजों के रूप में निगल लेता है और उन्हें निरंतर, बहुधा अव्यवस्थित रूप में, सतही चेतना पर वापिस भेजता है, ऐसी बहुत-सी व्यर्थ और संकटजनक सामग्री को, जिसका मूल हमारे लिये धुंधला, दुर्बोध होता है, स्वप्न में, सब तरह की यांत्रिक पुनरावृत्तियों में, अज्ञात उत्स के प्रवर्तनों और उद्देश्यों के रूप में मानसिक, प्राणिक, शारीरिक उथल-पुथल और विक्षोभों के रूप में हमारी प्रकृति के अधिक-से-अधिक अंधेरे भागों की मूक स्वचालित आवश्यकताओं के रूप में ऊपर की ओर भेजता रहता है।

लेकिन अंतस्तलीय आत्मा की ऐसी अवचेतन प्रकृति बिलकुल नहीं होती। उसे मन, प्राण-शक्ति पर पूरा अधिकार होता है, वस्तुओं का स्पष्ट सूक्ष्म भौतिक बोध होता है। उसमें वही क्षमताएं होती हैं जो हमारी जाग्रत् सत्ता में होती हैं, सूक्ष्म संवेदन और प्रत्यक्ष-दर्शन, व्यापक विस्तृत स्मृति, तीव्र चुनाव करनेवाली बुद्धि, इच्छा-शक्ति, आत्म-चेतना। यद्यपि इनकी जाति वही है लेकिन ये हैं ज्यादा विस्तृत, अधिक विकसित और अधिक प्रभुतापूर्ण। और उसमें अन्य क्षमताएं भी होती हैं जो हमारे मर्त्य मन की क्षमताओं का अतिक्रमण कर जाती हैं जिसका कारण है सत्ता की प्रत्यक्ष अभिज्ञता की शक्ति, चाहे वह अपने ही ऊपर कार्य कर रही हो या अपने किसी विषय की ओर अभिमुख हो, जो ज्ञानतक अधिक तेजी से पहुंचती, इच्छा-शक्ति के कार्यान्वयनतक अधिक तेजी से पहुंचती, आवेग को अधिक गहराई से समझती और संतुष्ट करती है। हमारा सतही मन मुश्किल से ही सच्ची मानसता होता है क्योंकि वह शरीर और शारीरिक जीवन से, स्नायुतंत्र और शारीरिक अवयवों की सीमा से बहुत अधिक आवेष्टित, बद्ध, उलझा और प्रतिबंधित होता है। लेकिन अंतस्तलीय आत्मा में सच्ची मानसता होती है जो इन

सीमाओं से ऊपर है। वह भौतिक मन और शारीरिक अवयवों के परे होती है यद्यपि वह उनके और उनके कार्यों के बारे में अभिज्ञ होती है और वस्तुतः एक बड़ी हदतक उनका कारण या रचयिता है। वह केवल इसी अर्थ में अवचेतन है कि वह अपने-आपको पूरी तरह से या अपने बड़े भाग को ऊपर सतह पर नहीं लाती। वह हमेशा पर्दे के पीछे काम करती है। वह अवचेतन होने की जगह गुप्त अंतश्चेतन और परिचेतन है क्योंकि वह बाहरी प्रकृति को जितना सहारा देती है उतना ही उसे घेरे भी रहती है। निःसंदेह यह वर्णन अंतस्तलीय के अधिक गहरे भागों के बारे में अधिक-से-अधिक सच है, उसके अन्य स्तरों पर, जो हमारी सतह के ज्यादा नजदीक हैं, अधिक अज्ञानमय क्रिया होती है और जो लोग अंतर में प्रवेश करते हुए अंतस्तलीय और बाहरी सतह के बीच के कम सामंजस्यवाले क्षेत्रों में या लावारिस भूमि में रुक जाते हैं वे बहुत भ्रांति और घपले में पड़ सकते हैं, लेकिन वह भी अज्ञानमय भले हो, अवचेतन प्रकृति का नहीं है। इन मध्यवर्ती क्षेत्रों की अस्त-व्यस्तता का निश्चेतना के साथ सादृश्य नहीं होता।

तो हम कह सकते हैं कि हमारी सत्ता की समग्रता में तीन तत्त्व हैं: अवमानसिक और अवचेतन जो हमें ऐसा दीखता है मानों वह निश्चेतन हो, जिसके अंतर्गत हैं हमारे प्राण और शरीर का भौतिक आधार और उनका एक बड़ा भाग; फिर है अंतस्तलीय जिसमें सारी आंतरिक सत्ता समायी है, जिसमें आंतरिक मन, आंतरिक प्राण, आंतरिक शरीर और उन्हें धारण करनेवाली अंतरात्मा या चैत्य पुरुष सम्मिलित हैं, तीसरी है यह जाग्रत् चेतना जिसे अंतस्तलीय और अवचेतन ने सतह पर फेंका है, यह उनकी गुप्त हिलोर की लहर है। लेकिन यह भी हम जो कुछ हैं उसका पर्याप्त विवरण नहीं है क्योंकि हमारी सामान्य आत्म-अभिज्ञता के पीछे केवल गहराई में ही कोई चीज नहीं है बल्कि कोई चीज ऊपर, बहुत ऊंचाई पर भी है। वह भी हम ही हैं, हमारे सतही मानसिक व्यक्तित्व से अलग लेकिन हमारी सच्ची आत्मा के बाहर नहीं, वह भी हमारी आत्मा का एक देश है। क्योंकि वास्तविक अंतस्तलीय ज्ञान-अज्ञान के स्तर पर आंतरिक सत्ता से बढ़कर कुछ नहीं है, वह ज्योतिर्मय, शक्तिशाली हमारे जाग्रत् मन की दरिद्र धारणा से परे विस्तृत भी है। वह न तो हमारी सत्ता का परम या संपूर्ण अर्थ है न उसका अंतिम रहस्य ही। एक अनुभूति-विशेष में हमें सत्ता की एक ऐसी श्रेणी की अभिज्ञता होती है जो इन तीनों के लिये अतिचेतन है, जो किसी ऐसी चीज के बारे में अभिज्ञ होती है जो उच्चतम सद्वस्तु है, जो इन सबको धारण करती और उनका अतिक्रमण भी करती है, जिसे मनुष्य अस्पष्ट रूप से आत्मा, ईश्वर और अधि-आत्मा कहता है। इन अतिचेतन प्रदेशों से हमारे यहां आगमन होता है और अपनी उच्चतम सत्ता में हमारी प्रवृत्ति उन प्रदेशों की ओर, उस परम आत्मा की ओर होती है। अब हमारी सत्ता के संपूर्ण क्षेत्र में एक अतिचेतना है और अवचेतना भी और साथ ही निश्चेतना, जो

हमारी अंतस्तलीय और जाग्रत् सत्ताओं पर मेहराब की तरह फैली हुई है और शायद उन्हें लपेटे रहती है लेकिन वह हमारे लिये अज्ञात है और अप्राप्य एवं अव्यवहार्य मालूम होती है।

लेकिन अपने ज्ञान के विस्तार के साथ हमें पता लगता है कि यह आत्मा या अधि-आत्मा क्या है। अन्ततः वह हमारी उच्चतम, गहरी से गहरी, विशालतम आत्मा है। वह अपने शिखरों पर या हमारे अंदर प्रतिबिंबों में सच्चिदानन्द-रूप में दिखायी देता है जो हमारा और जगत् का अपनी दिव्य आध्यात्मिक, अतिमानसिक, ऋत-चिन्मय, अनन्त ज्ञानात्मिका इच्छा की शक्ति से सृजन करता है। वही वास्तविक सत्ता, प्रभु और स्रष्टा है जो मन, प्राण और भौतिक में छिपे हुए विश्वात्मा के रूप में उसके अंदर अवतरित हुआ है जिसे हम निश्चेतन कहते हैं और वह अपनी अतिमानसिक इच्छा और ज्ञान से उसकी अवचेतन सत्ता का उपादान, रचयिता और निर्देशक है। वही विश्वात्मा के रूप में निश्चेतन से ऊपर चढ़ गया है और आंतरिक सत्ता में निवास करता है और उसी इच्छा तथा ज्ञान द्वारा उसकी अंतर्लीन सत्ता का उपादान, रचयिता और निर्देशक है। उसीने हमारी बाहरी सत्ता को अंतस्तलीय सत्ता में से ऊपर उछाला है और वही उसकी लड़खड़ाती और टटोलती गतियों का उसी परम प्रकाश और प्रभुत्व के साथ निरीक्षण करता और गुप्त रूप से उसमें निवास करता है। अगर अंतस्तलीय और अवचेतना की तुलना एक ऐसे सागर से की जाये जो हमारी सतही मानसिक सत्ता पर लहरें फेंकता है तो अतिचेतन की तुलना उस आकाश के साथ की जा सकती है जो उस सागर और उसकी लहरों की गतियों का उपादान और रचयिता है, उन्हें समाये रखता है, उनपर छाया रहता, उनमें निवास करता और उनका निर्देशन करता है। वहां उस उच्चतर आकाश में ही हम अपनी आत्मा और आध्यात्म सत्ता के बारे में अंतर्निहित और मूलभूत रूप से सचेतन रहते हैं। यहां नीचे की तरह नहीं जहां हम नीरव मन में प्रतिबिंब द्वारा या अपने अंदर की छिपी हुई सत्ता का ज्ञान प्राप्त करके अपनी आत्मा और आध्यात्म सत्ता के बारे में सचेतन होते हैं। उसके द्वारा, अतिचेतना के उस आकाश द्वारा हम परम स्थिति, ज्ञान, अनुभवतक पहुंच सकते हैं। इस अतिचेतन सत्ता के बारे में, जिसके द्वारा हम अपनी वास्तविक, अपनी परम आत्मा की उच्चतम स्थितितक पहुंच सकते हैं, उसके बारे में हम सामान्यतः अपनी सत्ता के बाकी सारे हिस्से की अपेक्षा अधिक अज्ञानी रहते हैं, फिर भी उसी के ज्ञान में विकसित होने के लिये निश्चेतना में अंतर्लीन अवस्था में से उभरती हुई हमारी सत्ता संघर्ष कर रही है। हमारी सतही सत्ता की यह सीमा, अपनी उच्चतम और अपनी अंतरतम आत्मा के बारे में यह अचेतनता हमारा प्रथम, हमारा प्रमुख अज्ञान है।

हम काल में संभूति द्वारा सतही रूप से जीते हैं लेकिन यहां फिर बाहरी मन

को, जिसे हम अपना-आपा कहते हैं, उस कालगत संभूति के सारे लंबे अतीत और लंबे भविष्य का ज्ञान नहीं होता, वह केवल उस छोटे से जीवन से ही परिचित होता है जो उसे याद रहता है और उसमें भी पूरे से नहीं क्योंकि उसमें से बहुत-सा अवलोकन में नहीं आता और बहुत-सा स्मृति से खो जाता है। हम झंटपट यह मान लेते हैं कि पहले-पहल इस जीवन में शारीरिक जन्म के साथ ही हम अस्तित्व में आये और इस शरीर के मरण और इस संक्षिप्त शारीरिक क्रिया-कलाप के समाप्त होने के साथ-साथ हमारा अस्तित्व भी समाप्त हो जायेगा; इसका सीधा-सा बाध्यकारी किंतु अपर्याप्त कारण यह है कि हमें किसी अन्य चीज की याद नहीं है, न हमने उसे देखा है, न हम कुछ और जानते हैं। लेकिन जहां यह बात हमारी भौतिक मानसता, भौतिक प्राण और शारीरिक कोष के लिये सच्ची है, क्योंकि वे हमारे जन्म के समय बनते और मृत्यु से विघटित हो जाते हैं, वहां यह काल में हमारे वास्तविक संभवन के बारे में सच नहीं है। क्योंकि विश्व में हमारी वास्तविक आत्मा अतिचेतन है जो अंतस्तलीय आत्मा बन जाती है और इस प्रतीयमान सतही आत्मा को ऊपर उछालती है ताकि वह जन्म-मरण के बीच में दी गयी संक्षिप्त और सीमित भूमिका का निर्वाह निश्चेतन प्रकृति के जगत् के पदार्थ में सत्ता के वर्तमान जीवित और सचेतन आत्म-रूपायन के रूप में कर सके। जैसे अपनी किसी भूमिका को पूरा कर लेने पर अभिनेता के अस्तित्व का अंत नहीं हो जाता, जैसे कवि का अपनी किसी कविता में अपने किसी अंश को उंड़ेलने पर उसके अस्तित्व का अंत नहीं हो जाता उसी तरह सच्चे पुरुष का, जो कि हम हैं, किसी एक जीवन की समाप्ति पर अवसान नहीं हो जाता। हमारा मर्त्य व्यक्तित्व एक ऐसी ही भूमिका या सृजनात्मक आत्माभिव्यक्ति है। चाहे हम इस धरती पर विभिन्न मानव शरीरों में एक ही अंतरात्मा या चैत्य पुरुष के अनेक जन्मों के सिद्धांत को मानें या न मानें, यह निश्चित है कि काल में हमारा संभवन अतीत में बहुत पीछेतक जाता है और भविष्य में दूरतक आगे चलता रहता है; क्योंकि न तो अतिचेतन और न अंतस्तलीय को काल के कुछ क्षणों द्वारा सीमित किया जा सकता है। एक शाश्वत है और काल उसके अनेक प्रकारों में से एक है और दूसरे के, अंतस्तलीय के लिये, काल विविध प्रकार के अनुभवों का अनन्त क्षेत्र है और सत्ता का अस्तित्व ही यह मान लेता है कि सारा अतीत उसका अपना है और समान रूप से सारा भविष्य भी उसका है। फिर भी इस अतीत के बारे में, जो अकेला ही हमारी वर्तमान सत्ता की व्याख्या करता है, हमारा मन केवल इस वर्तमान भौतिक सत्ता और उसकी स्मृतियों को जानता है, यदि इसे जानना—ज्ञान—कहा जा सके, और उस भविष्य के बारे में वह कुछ भी नहीं जानता जो अकेला हमारी संभूति की सतत-धारा की व्याख्या करता है। हम अपने अज्ञान के अनुभव में इतने बंधे हुए हैं कि हम इतनी हठ करते हैं कि अतीत को हम उसके लुप्त अवशेषों के द्वारा ही

जान सकते हैं क्योंकि अब उसका अस्तित्व नहीं है, और दूसरे को हम जान ही नहीं सकते क्योंकि भविष्य अभीतक यहां नहीं है। फिर भी वे दोनों यहां, हमारे अंदर हैं, भूत है अंतर्लीन और सक्रिय तथा भविष्य है गुप्त आत्मा के सातत्य में विकसित होने के लिये तैयार। यह है दूसरा अज्ञान जो सीमा बांधनेवाला और कुंठित करनेवाला है।

लेकिन मनुष्य का आत्म-अज्ञान यहां भी समाप्त नहीं होता क्योंकि वह केवल अतिचेतन आत्मा के बारे में, अपनी अंतस्तलीय आत्मा के बारे में और अपनी अवचेतन आत्मा के बारे में ही अज्ञ नहीं है बल्कि अपने उस जगत् के बारे में भी अज्ञ है जिसमें वह वर्तमान अवस्था में रहता है, जो सदा उसके ऊपर और उसके द्वारा क्रिया करता है; जिसपर और जिसके द्वारा उसे क्रिया करनी पड़ती है। और उसके अज्ञान की छाप यह है कि वह उसे अपने-आपसे बिलकुल अलग, अनात्मा मानता है क्योंकि वह उसकें व्यक्तिगत प्रकृति-रूपायन और अहंकार से भिन्न है। इसी तरह जब उसका सामना अपनी अतिचेतन आत्मा से होता है तो वह पहले उसे अपने-आपसे बिलकुल अलग, बाहरी, बल्कि विश्वातीत ईश्वर मान लेता है, इसी तरह जब उसका सामना अपनी अंतस्तलीय आत्मा से होता है और वह उसके बारे में अभिज्ञ होता है तो उसे वह पहले एक और महत्तर पुरुष या उसकी अपनी चेतना से अलग कोई चेतना मालूम होती है जो उसे सहारा दे सकती और मार्ग दिखा सकती है। जगत् के बारे में वह मानता है कि यह केवल एक छोटा-सा झाग का बुलबुला है, अपने जीवन और प्राण को अपने-आपके रूप में देखता है। लेकिन जब हम अपनी अंतस्तलीय चेतना में प्रवेश करते हैं तो पाते हैं कि वह अपना प्रसार अपने जगत् के अनुरूप करता है, जब हम अपनी अतिचेतन आत्मा में प्रवेश करते हैं तो पाते हैं कि जगत् उसकी अभिव्यक्ति मात्र है और उसके अंदर सब कुछ एकमेव है, उसमें सब कुछ हमारी आत्मा है। हम देखते हैं कि एक अविभाज्य जड़ पदार्थ है, हमारा शरीर उसमें एक गांठ है, एक अविभाज्य प्राण है जिसमें हमारा जीवन एक भंवर है, एक अविभाज्य मन है जिसके लिये हमारा मन ग्रहण और अभिलेखन करनेवाला, रूप देनेवाला या अनुवाद करनेवाला और संचारित करनेवाला एक केन्द्र है, एक अविभाज्य आत्मा है, हमारी अंतरात्मा और व्यक्तिगत सत्ता उसीका एक भाग या एक अभिव्यक्ति है। यह अहंभाव ही है जो विभाजन को दृढ़ करता है और अज्ञान को—जो हम बाहरी स्तर पर हैं—अहंभाव से ही अपनी शक्ति मिलती है जिससे वह हमेशा अपने लिये अपने-आप बनाये हुए कारागार की दीवारों को मजबूत बनाये रखता है, यद्यपि इन दीवारों को हमेशा भेदा जा सकता है। अज्ञान के साथ हमें बांधे रखनेवाली गांठों में सबसे विकट गांठ है यह अहंभाव।

जैसे हम उस घड़ी को छोड़कर, जिसकी हमें याद रहती है, काल में अपने जीवन के बारे में अज्ञ रहते हैं, उसी तरह हम देश में उस छोटे-से विस्तार को

छोड़कर, जिसके बारे में हम मन और संवेदन द्वारा सचेतन हैं, एकमात्र शरीर जो वहां गति करता है और मन और प्राण जो उसके साथ एकात्म हैं, इन्हें छोड़कर अपने बाकी स्वरूप के बारे में अज्ञ हैं और हम उस पर्यावरण को अनात्म मानते हैं जिसके साथ हमें व्यवहार करना और जिसका उपयोग करना है। यह तादात्म्य और यह धारणा अहं-भाव के जीवन को रूपायित करते हैं। देश एक मान्यता के अनुसार वस्तुओं या अंतरात्माओं का सह-अस्तित्व मात्र है; सांख्य अंतरात्माओं के बहुत्व और उनके स्वतंत्र अस्तित्व का प्रतिपादन करता है और तब उनका सह-अस्तित्व संभव होता है केवल प्रकृति-शक्ति के एकत्व में, उस प्रकृति के एकत्व में जो उनके अनुभव का क्षेत्र है : लेकिन यह मान भी लें फिर भी सह-अस्तित्व तो है ही और है भी अन्ततः एकमेव सत् में सह-अस्तित्व। वह देश उसी एक सत् का आत्म-धारणात्मक विस्तार है। वह वही एकमेव आध्यात्मिक सत् है जो अपनी चित्-शक्ति की गति को अपनी ही सत्ता में देश के रूप में प्रदर्शित करता है। चूंकि वह चित्-शक्ति नानाविध शरीरों, प्राणों और मनों में केन्द्रित होती है और अंतरात्मा उनमें से एक पर अध्यक्षता करती है इसलिये हमारी मानसता इसमें केन्द्रित होती है और उसे ही अपना स्वरूप मान लेती है और बाकी सबको अनात्मा; उसी तरह जैसे वह अपने एक जीवन को, जिसमें वह केन्द्रित है, उसी तरह के अज्ञान के कारण भूत और भविष्य से कटे हुए जीवन की सारी अवधि मान लेती है। फिर भी हम एकमेव मन को जाने बिना अपनी मानसता को, एकमेव प्राण को जाने बिना अपने प्राण को और एकमेव जड़ भौतिक को जाने बिना अपने शरीर को नहीं जान सकते क्योंकि सिर्फ इतना ही नहीं कि इनका स्वभाव उसके स्वभाव से निर्धारित होता है बल्कि यह भी कि इनकी क्रियाएं हर क्षण उसकी क्रियाओं से प्रभावित और निर्धारित होती हैं। लेकिन हमारे ऊपर सत्ता के इस सागर के इस तरह हिलोरें लेते रहने के बावजूद हम उसकी चेतना में भाग नहीं लेते, हम उसका उतना ही अंश जान पाते हैं जिसे हमारे मन की सतह पर लाकर वहां समन्वित किया जा सके। संसार हमारे अंदर निवास करता है, विचार करता है, अपने-आपको हमारे अंदर रूपायित करता है लेकिन हम यह कल्पना करते हैं कि हम अपने-आप, अपने ही लिये अलग जीते, विचार करते और रूप धारण करते हैं। जैसे हम अपने कालातीत, अपने अतिचेतन, अपने अंतस्तलीय और अपने अवचेतन स्वरूपों के बारे में अज्ञ हैं उसी तरह हम अपने वैश्व सत् के बारे में अज्ञ हैं। हमारी सुरक्षा बस इसीमें है कि हमारा अज्ञान अंतर्वेग से भरा हुआ है और शाश्वत व अप्रतिरोध्य रूप से, अपनी सत्ता के धर्म के अनुसार, आत्मवत्ता और आत्मज्ञान के लिये प्रयास करता है। मानसिक सत्ता, मनुष्य की चेतना की परिभाषा है—एक बहुमुखी अज्ञान जो सर्वालिंगनकारी ज्ञान बनने के लिये प्रयास कर रहा है। या अगर उसे एक और दिशा से देखें तो हम समान रूप से कह सकते हैं कि यह वस्तुओं की सीमित पृथक्कारी अभिज्ञता है जो पूर्ण चेतना और पूर्ण ज्ञान बनने के लिये प्रयत्न कर रही है।

अध्याय १२

अज्ञान का मूल

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात्प्राणो मनः. . . लोकाः. . . ॥

तप से ही ब्रह्म घनीभूत होता है। उससे अन्न और अन्न से प्राण, मन तथा लोक पैदा होते हैं।

मुण्डकोपनिषद् १.१.८

सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किं च। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्, निरुक्तं चानिरुक्तं च, निलयनं चानिलयनं च, विज्ञानं चाविज्ञानं च, सत्यं चानृतं च। सत्यमभवत् यदिदं किं च। तत्सत्यमित्याचक्षते ॥

उसने कामना की, "मैं बहु हो जाऊं।" वह तप में एकाग्र हुआ, उसने तप से जगत् की सृष्टि की, सृजन करके वह उसमें प्रविष्ट हो गया, प्रवेश करके वह उसमें सत् और सत् से परे बन गया, वह व्यक्त और अव्यक्त हो गया, वह ज्ञान और अज्ञान हो गया, वह सत्य और अनृत हो गया, वह सत्य हो गया और यह जो कुछ है वह सब हो गया उसे 'तत् सत्यम्' कहते हैं।

तैत्तिरीय उपनिषद् २.६

तपो ब्रह्मेति ॥

तप ही ब्रह्म है।

तैत्तिरीय उपनिषद् ३.२.५

इतना सब निश्चित हो जाने के बाद अज्ञान की समस्या पर उसके व्यावहारिक मूल की दृष्टि से, उस चेतना की प्रक्रिया के बारे में जो उसे अस्तित्व में लायी, नजदीक से विचार करना आवश्यक और संभव हो जाता है। एक सर्वांगीण एकत्व सत्ता का सत्य है, उसे आधार मानकर हमें समस्या पर विचार करना चाहिये और देखना चाहिये कि विभिन्न संभव समाधान इस आधार पर कहांतक लागू होते हैं। यह बहुविध अज्ञान या यह संकीर्ण रूप से अपने-आपको सीमित करनेवाला पृथक्-कारी ज्ञान एक ऐसी निरपेक्ष सत्ता में से, जो निरपेक्ष चेतना होनी चाहिये और इस कारण अज्ञान के आधीन नहीं हो सकती, कैसे ऊपर उठ सका और क्रिया रूप में आ सका या अपने-आपको क्रिया में बनाये रख सका? अविभाज्य में विभाजन,

वह भले प्रतीयमान ही क्यों न हो—कैसे सफल रूप से संपन्न हुआ और जारी रहा ? जो सत् पूर्ण रूप से एक है वह अपने बारे में अज्ञ नहीं हो सकता और चूंकि सभी चीजें उसका अपना-आपा हैं, उसीके सचेतन संशोधन हैं, उसीकी सत्ता के निर्धारण हैं इसलिये वह वस्तुओं के बारे में, उनके सच्चे स्वभाव और उनकी सच्ची क्रिया के बारे में भी अज्ञ नहीं हो सकता। लेकिन, यद्यपि हम कहते हैं कि हम तत् हैं, कि जीवात्मा या व्यक्तिगत आत्मा परमात्मा से भिन्न नहीं, निरपेक्ष से भिन्न नहीं हैं फिर भी निश्चय ही हम स्वयं अपने और वस्तुओं के, दोनों के बारे में अज्ञ हैं और इसीसे यह विरोध उठ खड़ा होता है कि जिसे अपनी प्रकृति के अनुसार अज्ञान के लिये असमर्थ होना चाहिये वह उसके लिये सक्षम है और उसने अपनी सत्ता की किसी इच्छाशक्ति या अपनी प्रकृति की किसी आवश्यकता या संभावना के कारण उसमें डुबकी लगायी है। हम अपनी कठिनाई को यह कहकर आसान नहीं बना लेते कि अज्ञान की पीठ—मन—माया की वस्तु है, असत्, अ-ब्रह्म है और ब्रह्म, निरपेक्ष, एकमात्र सत् को मन का अज्ञान, जो भ्रमात्मक सत्ता, असत् का भाग है, किसी तरह छू भी नहीं सकता। अगर हम यह स्वीकार करें कि एक पूर्ण एकत्व है तो बच निकलने का यह रास्ता हमारे लिये खुला नहीं रहता क्योंकि तब यह स्पष्ट होता है कि जब हम ऐसा आमूल भेद करते हैं और साथ ही उसे भ्रमात्मक कहकर रद्द भी कर देते हैं तो हम विचार और शब्द के जादू या माया का उपयोग अपने-आपसे इस तथ्य को छिपाने के लिये कर रहे हैं कि हम ब्रह्म के ऐक्य से इंकार कर रहे हैं और उसके भाग कर रहे हैं क्योंकि हमने दो विरोधी शक्तियों, भ्रम के लिये असमर्थ ब्रह्म और आत्म-भ्रम पैदा करनेवाली माया को खड़ा कर दिया है और उन्हें किसी तरह एक असंभव एकत्व में डाल दिया है। यदि ब्रह्म एकमात्र सत् है तो माया ब्रह्म की शक्ति, वह उसकी चेतना की शक्ति या उसकी सत्ता के परिणाम के सिवा कुछ नहीं हो सकती और अगर जीवात्मा, जो ब्रह्म के साथ एक है, स्वयं अपनी ही माया के आधीन है तो उसमें स्थित ब्रह्म भी माया के आधीन है। लेकिन यह तात्त्विक या आधारभूत रूप से संभव नहीं है। अधीनता तो केवल प्रकृति की किसी क्रिया के प्रति प्रकृति में किसी चीज की वश्यता हो सकती है जो वस्तुओं में आत्मा की सचेतन और मुक्त गति-विधि का भाग है, उसकी अपनी आत्माभिव्यक्ति करनेवाली सर्वशक्तिमत्ता की लीला है। अज्ञान एकमेव की गतिविधि का एक भाग होना चाहिये, उसकी चेतना का कोई विशेष विकास होना चाहिये जिसे उसने जान-बूझकर स्वीकार किया हो, वह ज़बर्दस्ती जिसके आधीन नहीं किया गया है बल्कि जो अपने वैश्व उद्देश्य के लिये उसका व्यवहार करता है।

हमारे लिये यह भी संभव नहीं है कि सारी कठिनाई से यह कहकर पिंड छुड़ा लें कि जीवात्मा और परमात्मा एक नहीं हैं, शाश्वत रूप से भिन्न हैं जिनमें से एक

अज्ञान के आधीन है दूसरा सत्ता और चेतना में और इस कारण ज्ञान में भी निरपेक्ष है क्योंकि यह इस परम अनुभूति और समग्र अनुभूति का खंडन करता है कि प्रकृति की क्रियाओं में चाहे जितना भेद हो, सत्ता एक ही है। विभिन्नता में एकता का तथ्य विश्व-रचना में इतना स्पष्ट और व्यापक है कि उसे स्वीकार करना और अपने-आपको इस वक्तव्य से संतुष्ट कर लेना आसान है कि हम एक होते हुए अलग-अलग हैं। तात्विक सत्ता में एक हैं अतः तात्विक प्रकृति में एक हैं और आत्मा के रूप में अलग हैं इस कारण सक्रिय प्रकृति में अलग-अलग हैं। लेकिन इस तरह हम केवल तथ्य का विवरण देते हैं और तथ्य द्वारा उठायी गयी कठिनाई को समाधान के बिना छोड़ देते हैं। जो अपनी सत्ता के सारतत्त्व में निरपेक्ष की एकता की चीज है, अतः जिसे उसके साथ और सबके साथ चेतना में एक होना चाहिये, वह अपनी आत्मा में क्रियाशील रूप में विभक्त और अज्ञान के आधीन कैसे हो जाता है। इसका भी ध्यान रखना चाहिये कि यह जरूरी नहीं है कि यह वक्तव्य पूरी तरह सच्चा हो क्योंकि जीवात्मा के लिये 'एक' के साथ केवल निष्क्रिय तात्विक एकत्व में ही नहीं बल्कि उसके सक्रिय स्वरूप के साथ भी एकता में प्रवेश करना संभव है। या हम यह कहकर कठिनाई से बच सकते हैं कि अस्तित्व और उसकी समस्याओं के परे या उनके ऊपर है अज्ञेय जो हमारे अनुभव के ऊपर और उसके परे है और माया की क्रिया संसार के शुरू होने से पहले ही अज्ञेय में शुरू हो गयी थी अतः वह अपने-आप कारण और मूल के बारे में अज्ञेय और अव्याख्येय है। यह जड़वादी अज्ञेयवाद से उल्टा एक तरह का भावमूलक अज्ञेयवाद होगा। लेकिन समस्त अज्ञेयवाद पर यह आपत्ति की जा सकती है कि वह हमारे जानने से इंकार के सिवा कुछ नहीं हो सकता, चेतना के प्रतीयमान और वर्तमान बंधन या संकुचन का आलिंगन करने के लिये एक ऐसी अत्यधिक तत्परता है, एक ऐसी असमर्थता का भाव है जिसे हमारे मन की वर्तमान सीमाओं में तो स्वीकार किया जा सकता है लेकिन जीवात्मा के लिये नहीं जो परमात्मा के साथ एक है। परमात्मा अपने-आपको और अज्ञान के कारण को अवश्य जानता है अतः कोई कारण नहीं कि जीवात्मा किसी ज्ञान के बारे में निराश हो या पूर्ण परमात्मा को या अपने वर्तमान अज्ञान के मूल कारण को जानने के लिये अपनी क्षमता से इंकार करे।

यदि कोई अज्ञेय है तो वह सच्चिदानंद की ऐसी परम अवस्था हो सकता है जो हमारी सत्, चित् और आनंद की उच्चतम धारणाओं से परे है। स्पष्ट है कि तैत्तिरीय उपनिषद् के असत् का मतलब यही था, जो आरंभ में था और जिसमें से सत् उत्पन्न हुआ और संभवतः बुद्ध के निर्वाण का अंतर्तम भाव भी यही था, क्योंकि हो सकता है कि निर्वाण द्वारा हमारी वर्तमान स्थिति के विलय का मतलब हो किसी ऐसी उच्चतम अवस्था में पहुंचना जो हमारे आत्म-संबंधी सभी भावों या अनुभवों के परे हो, वह हमारे अस्ति-बोध से भी एक अनिर्वचनीय मुक्ति हो। या हो सकता

है कि यह उपनिषद् का परम और सहज आनंद हो जो अभिव्यक्ति के परे, समझ के परे है क्योंकि वह उस सबका अतिक्रमण करता है जिसके बारे में हम चेतना या सत् के रूप में कल्पना या वर्णन कर सकें। हम पहले ही इसे इस भाव में स्वीकार कर चुके हैं क्योंकि यह स्वीकृति हमें केवल अनंत के आरोहण की सीमा बनाने से इंकार के साथ बांधती है। अथवा अगर यह नहीं है, अगर वह सत्ता से एकदम भिन्न कुछ है, किसी निरुपाधिक सत्ता से भी भिन्न है तो वह शून्यवादी विचारक का शुद्ध असत् ही हो सकता है।

लेकिन शुद्ध शून्य में से तो कुछ भी नहीं आ सकता, वह भी नहीं जो केवल प्रतीयमान है, कोई भ्रम भी नहीं और अगर पूर्ण असत् वह नहीं है तो वह केवल एक पूर्ण, शाश्वत रूप से असंसिद्ध एक संभाव्यता ही हो सकता है, अनंत का पहेली जैसा शून्य हो सकता है जिसमें से किसी भी समय सापेक्ष संभाव्यताएं उभर सकती हैं लेकिन वास्तव में उनमें से कुछ ही दृश्य-जगत् में उभरने में सफल होती हैं। इस असत् में से कुछ भी उभर सकता है और उसके क्यों और क्या बतलाने की कोई संभावना नहीं है। वास्तव में सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिये यह शुद्ध अस्तव्यस्तता का बीज है जिसमें से किसी शुभ या अशुभ—बल्कि अशुभ—आकस्मिक संयोग से विश्व की व्यवस्था प्रकट हो गयी है, या हम कह सकते हैं कि विश्व में कोई वास्तविक व्यवस्था नहीं है। जिसे हम व्यवस्था मान लेते हैं वह इन्द्रियों और प्राण का निरंतर अभ्यास और मन की कपोल-कल्पना है और वस्तुओं का कोई अंतिम कारण ढूंढना बेकार है। पूर्ण अव्यवस्था में से सब तरह के विरोधाभास और बेतुकेपन पैदा हो सकते हैं और यह जगत् इसी तरह का विरोधाभास है, विपरीतों और पहेलियों का एक रहस्यमय संकलन है या फलस्वरूप, जैसा कुछ लोगों ने सोचा या अनुभव किया है, यह एक बहुत बड़ी भ्रांति, एक विकट, अंतहीन प्रलाप हो सकता है, ऐसे विश्व का आदि स्रोत पूर्ण चेतना या ज्ञान न होकर पूर्ण निश्चेतना और अज्ञान हो सकते हैं। ऐसे विश्व में कुछ भी सच हो सकता है, "कुछ भी नहीं" में से सभी कुछ पैदा हो सकता है। विचारशील मन विचारहीन शक्ति या निश्चेतन जड़ का रोग हो सकता है। हो सकता है कि वह प्रबल व्यवस्था, जिसे हम वस्तुओं के सत्य के अनुसार अस्तित्व मानते हैं, वह वास्तव में एक शाश्वत आत्म-अज्ञान का यांत्रिक विधान हो, न कि एक परम आत्म-शासक सचेतन इच्छा-शक्ति का आत्म-विकास। हो सकता है कि अविरत अस्तित्व शाश्वत शून्य का निरंतर आभास हो। वस्तुओं के उद्भव के बारे में सभी मत समान शक्तिवाले हो जाते हैं क्योंकि सभी समान रूप से मान्य या अमान्य हैं, क्योंकि जब संभवन के चक्रों का कोई निश्चित आरंभ-बिंदु और निश्चित हो सकने लायक कोई लक्ष्य न हो तो सभी समान रूप से संभव होते हैं। मानव मन इन सब मतों को मानता रहा है और भले हम उन्हें भूल ही मानें इनसे लाभ भी हुआ

है, क्योंकि मन को भूलें करने की अनुमति दी गयी है क्योंकि वे सत्य की ओर दरवाजे खोलती हैं—नकारात्मक रूप से विरोधी भूलों को नष्ट करके और सकारात्मक रूप से किसी नयी रचनात्मक परिकल्पना में एक नया तत्त्व तैयार करके। लेकिन अगर वस्तुओं की इस दृष्टि को बहुत दूरतक ले जायें तो यह दर्शन-शास्त्र के सारे लक्ष्य को ही खंडन की ओर ले जाती है। दर्शन ज्ञान की खोज करता है अस्तव्यस्तता की नहीं। यह अपने-आपको सिद्ध नहीं कर सकता यदि ज्ञान का अंतिम शब्द बना रहे अज्ञेय, हां, केवल तभी जब यह उपनिषद् की भाषा में कुछ ऐसी चीज है जिसे जानने से सब कुछ जाना जाता है *'यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।'* अज्ञेय—पूर्णतया अज्ञेय नहीं, बल्कि मानसिक ज्ञान के परे—उसी 'कुछ' की सत्ता की प्रगाढ़ता की कोई उच्चतर कोटि, मानसिक सत्ताओं को प्राप्त हो सकनेवाले ऊंचे-से-ऊंचे शिखर से परे की कोटि ही हो सकता है और अगर वह उस रूप में ज्ञात हो जाये जैसा उसे अपने-आपको ज्ञात होना चाहिये, तो यह खोज, हमें हमारे परम संभव ज्ञान ने जो कुछ दिया है उसे नष्ट नहीं करेगी बल्कि उसे, उसने आत्म-दृष्टि और आत्म-अनुभव से जो कुछ पाया है उसकी उच्चतर परिपूर्ति और बृहत्तर सत्य की ओर ले जायेगी। अतः यह 'कुछ' ही, एक निरपेक्ष ही है जिसे हम इस तरह जान सकते हैं कि सभी सत्य उसमें और उसके द्वारा खड़े रह सकते हैं और उसमें अपनी संगति पा सकते हैं। हमें इसीको अपने आरंभ-बिंदु के रूप में जानना और अपने विचार करने और देखने के सतत आधार के रूप में रखना होगा और उसीके द्वारा समस्या का समाधान पाना होगा क्योंकि विश्व के विरोधाभासों की चाबी केवल तत् के पास ही हो सकती है।

जैसा कि वेदांत का आग्रह है और शुरू से हमारा भी आग्रह रहा है, यह 'कुछ' अपने व्यक्त स्वरूप में सच्चिदानंद है, निरपेक्ष सत्, चेतना और आनंद की त्रिपुटी है। हमें इस आद्य सत्य से आरंभ करके समस्या की ओर बढ़ना होगा। तब यह तो स्पष्ट है कि उसका समाधान चेतना की ऐसी क्रिया में होगा जिसमें वह ज्ञान के रूप में अभिव्यक्त होती है और फिर भी उस ज्ञान को इस तरह सीमित रखती है कि उससे अज्ञान के व्यापार की रचना हो जाती है—और चूंकि अज्ञान चेतना की शक्ति की गतिशील क्रिया का व्यापार है, कोई तात्त्विक तथ्य नहीं बल्कि उस क्रिया का एक सृजन, परिणाम है अतः चेतना के इस शक्ति-पक्ष के बारे में विचार करना फलप्रद होगा। निरपेक्ष चेतना अपने स्वरूप में निरपेक्ष शक्ति है, चित् की प्रकृति है शक्ति, वह ऐसा बल या ऐसी शक्ति है जो ज्ञान या क्रिया को चरितार्थ करनेवाली, प्रभावोत्पादक या सृजनात्मक शक्ति में एकाग्र या क्रियाशील है, सचेतन सत्ता की शक्ति है जो अपने ऊपर ही निवास करती है और मानों उद्भवन के ताप[1]

[1] तपस् का शब्दार्थ है गरमी और उसके बाद किसी भी तरह का शक्ति-संचार, क्रिया-शक्ति, तपस्या, अपने ऊपर या अपने विषय पर क्रिया करनेवाली सचेतन शक्ति का तपोबल। प्राचीन रूपक

से जो कुछ उसके अंदर है, बीज या विकास, उसे लेकर, या अगर ऐसी भाषा में कहें जो हमारे मन के लिये अधिक सहज है, सभी सत्यों और संभाव्यताओं से विश्व का सृजन करती है। अगर हम स्वयं अपनी चेतना की परीक्षा करें तो हम देखेंगे कि उसकी ऊर्जा की यह शक्ति, जिससे वह अपने-आपको अपने विषय पर लगाती है, सचमुच उसकी सबसे अधिक सुनिश्चित क्रियाशील शक्ति है। इसके द्वारा वह अपने समस्त ज्ञान, अपनी समस्त क्रिया और अपने समस्त सृजनतक पहुंचती है। लेकिन हमारे लिये दो उद्देश्य हैं जिनपर अंदर की क्रिया-शक्ति कार्य कर सकती है; एक तो स्वयं हम, आंतरिक जगत् और दूसरे, चाहे वे प्राणी हों या वस्तुएं, हमारे चारों ओर का बाहरी जगत्। यह भेद अपने फलप्रद और क्रियाकारी परिणामों के साथ सच्चिदानंद पर उस तरह लागू नहीं होता जैसे हमपर होता है क्योंकि सब कुछ वह स्वयं और उसके अंदर है और उसमें ऐसा कोई विभाजन नहीं है जैसा हम अपने मन की सीमाओं के द्वारा बना लेते हैं। दूसरे, हमारे अंदर हमारी सत्ता की शक्ति का केवल एक भाग ही हमारी ऐच्छिक क्रिया के साथ मानसिक या दूसरी क्रिया में व्यस्त हमारी इच्छा-शक्ति के साथ एक होता है, बाकी भाग हमारी सतही मानसिक अभिज्ञता के लिये अपनी क्रिया में अनैच्छिक है या फिर अवचेतन या अतिचेतन है और इस विभाजन से भी बहुत-से महत्त्वपूर्ण, व्यवहारिक परिणाम निकलते हैं। लेकिन सच्चिदानंद में न तो यह विभाजन और न उसके परिणामों का उपयोग होता है क्योंकि सब कुछ उसकी अविभाज्य आत्मा है अतः सभी क्रियाएं और परिणाम उसकी एक अविभाज्य इच्छा की गतियां हैं, सक्रिय क्रिया में उसकी चित्-शक्ति हैं। जैसे हमारी चेतना की क्रिया का स्वभाव है तपस् उसी तरह सच्चिदानंद की चेतना की क्रिया का भी, लेकिन उसमें वह एक अविभाज्य सत्ता में एक अखंड चेतना का सर्वांगीण तपस् है।

लेकिन यहां एक प्रश्न उठ सकता है, चूंकि सत् में और प्रकृति में क्रियाशीलता भी है और निष्क्रियता भी, सचल क्रिया है और निश्चल स्थिति भी अतः इस सामर्थ्य की, इस शक्ति और उसके केंद्रीकरण की उस स्थिति के बारे में क्या स्थान और भूमिका है जहां ऊर्जा का कोई खेल नहीं, जहां सब कुछ निश्चल है। अपने अंदर हम आदत के अनुसार तपस् को, अपनी सचेतन शक्ति को, सक्रिय चेतना

के अनुसार तप के द्वारा जगत् की सृष्टि अंडे के रूप में हुई थी, सचेतन शक्ति की सेने की गरमी ने अंडे को तोड़ा और उसमें से, अंडे में से निकलनेवाले पक्षी की तरह पुरुष-प्रकृति में अंतरात्मा निकल आया। ध्यान रहे कि साधारणतः अंग्रेजी किताबों में तपस्या का अर्थ 'पेनेंस' किया जाता है, यह बिल्कुल भ्रामक है। भारत के तपस्वियों की तपस्या में 'पेनेंस' का भाव मुश्किल से ही आ पाता था। यहांतक कि बहुत अधिक कठोर और कष्टकर तपस्याओं में भी शरीर को पीड़ा देना मुख्य तत्त्व नहीं था। बल्कि लक्ष्य था चेतना पर शारीरिक प्रकृति की पकड़ का अतिक्रमण या किसी आध्यात्मिक या अन्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिये चेतना और इच्छा-शक्ति का असामान्य ऊर्जन।

को, क्रीड़ा में लगी ऊर्जा तथा भीतरी या बाहरी क्रिया और गति के साथ जोड़ते हैं। हमारे अंदर जो निष्क्रिय है वह कोई क्रिया नहीं उत्पन्न करता और करता भी है तो केवल अनैच्छिक या यंत्रवत् क्रिया और हम उसका संबंध अपनी इच्छा-शक्ति या सचेतन शक्ति के साथ नहीं जोड़ते, फिर भी, चूंकि वहां भी क्रिया की या स्व-चालित क्रियाशीलता के उभरने की संभावना है इसलिये उसमें भी कम-से-कम निष्क्रिय रूप से प्रत्युत्तर देनेवाली या स्वचालित सचेतन-शक्ति होनी चाहिये या उसमें गुप्त रूप से भावात्मक या अभावात्मक प्रतिलोम तपस् है। यह भी हो सकता है कि हमारी सत्ता में, हमसे अज्ञात कोई बृहत्तर सचेतन शक्ति, सामर्थ्य या इच्छा है जो इस अनैच्छिक क्रिया के पीछे है—अगर इच्छा नहीं तो कम-से-कम एक प्रकार की शक्ति जो अपने-आप क्रिया का आरंभ करती है या वैश्व ऊर्जा के संपर्कों, सुझावों और प्रेरणाओं को उत्तर देती है। हम जानते हैं कि प्रकृति में भी स्थिर, जड़ या निष्क्रिय वस्तुएं एक गुप्त और अनवरत गति द्वारा अपनी ऊर्जा में बनी रहती हैं, वह अनवरत गति एक क्रियाशील ऊर्जा है जो उनकी प्रतीयमान निश्चलता को सहारा देती है। तो यहां भी सब कुछ शक्ति की उपस्थिति का, संकेंद्रण में उसकी शक्ति की क्रिया का, उसके तपस् का ऋणी है। लेकिन इसके परे, स्थिति और क्रिया के इस सापेक्ष रूप के परे, हम देखते हैं कि हमारे अंदर वहांतक पहुंचने की सामर्थ्य है जो हमें अपनी चेतना की संपूर्ण निष्क्रियता या अचंचलता प्रतीत होती है, जिसमें सारी मानसिक और शारीरिक क्रिया बंद हो जाती है। तो ऐसा लगता है कि एक सक्रिय चेतना है जिसमें चेतना एक ऐसी ऊर्जा के रूप में काम करती है जो अपने अंदर से ज्ञान और क्रियाशीलता प्रक्षिप्त करती है, जिसका धर्म है तपस् और दूसरी निष्क्रिय चेतना है जिसमें चेतना ऊर्जा के रूप में काम नहीं करती, केवल स्थिति के रूप में रहती है, जिसका धर्म है तपस् या क्रियाशील शक्ति का अभाव। इस स्थिति में क्या तपस् की प्रतीयमान अनुपस्थिति वास्तविक है, या क्या सच्चिदानंद में ऐसा कोई सार्थक भेद है? यह प्रतिपादित किया जाता है कि ऐसा है। ब्रह्म की दोहरी स्थिति, शांत-निष्क्रिय और सर्जनात्मक सक्रिय, निःसंदेह यह भारतीय दर्शन-शास्त्र के सबसे बढ़कर महत्त्वपूर्ण और फलप्रद भेदों में से है, और फिर यह आध्यात्मिक अनुभूति का एक तथ्य है।

यहां हम इस बात पर ध्यान दें कि पहले अपने अंदर इस निष्क्रियता के द्वारा हम विशिष्ट और खंडित ज्ञान से ज्यादा बड़े, एक और एकता लानेवाले ज्ञान में जा पहुंचते हैं, दूसरे, यदि हम निष्क्रियता की स्थिति में अपने-आपको पूरी तरह उसकी ओर खोलें जो परे है तो हम एक ऐसी शक्ति के बारे में अभिज्ञ हो सकते हैं जो हमारे ऊपर क्रिया करती है, जिसके बारे में हम अपने सीमित अहंकार में यह सोचते हैं कि वह हमारी अपनी नहीं है, बल्कि वैश्व और परात्पर है, और यह कि यह शक्ति हमारे द्वारा ज्ञान की ज्यादा बड़ी लीला के लिये, ऊर्जा की ज्यादा बड़ी

लीला, क्रिया और परिणाम के लिये काम करती है। उसके बारे में भी हम यही अनुभव करते हैं कि वह हमारी अपनी नहीं है बल्कि भगवान् की, सच्चिदानंद की है। हम केवल उसके क्षेत्र या माध्यम हैं। परिणाम दोनों हालतों में आता है क्योंकि हमारी व्यक्तिगत चेतना अज्ञानभरी सीमित क्रिया से अलग होकर अपने-आपको परम स्थिति या परम क्रिया की ओर खोलती है। दूसरी अवस्था, अधिक सक्रिय उन्मीलन में ज्ञान और क्रिया की शक्ति और क्रीड़ा होती है और वह है तपस् लेकिन पहली अवस्था में भी, निष्क्रिय स्थिति की चेतना में भी स्पष्ट रूप से ज्ञान की शक्ति और ज्ञान के संकेंद्रण के लिये या कम-से-कम निश्चलता और आत्मोपलब्धि में चेतना का संकेंद्रण होता है और यह भी तपस् है। अतः ऐसा लगता है कि तपस् या चेतना की शक्ति का संकेंद्रण ब्रह्म की सक्रिय और निष्क्रिय दोनों प्रकार की चेतना का लक्षण है और यह कि स्वयं हमारी निष्क्रियता में भी एक अदृष्ट सहारा देनेवाले या विनियोग करनेवाले तपस् का धर्म है। चेतना की ऊर्जा का संकेंद्रण ही, जबतक वह बना रहता है, समस्त सृजन, समस्त कर्म और गति को सहारा देता है। लेकिन वह चेतना की शक्ति का संकेंद्रण भी है जो सभी स्थितियों को भीतर से सहारा देती या उन्हें अनुप्राणित करती है, चाहे वह अधिक-से-अधिक निश्चल निष्क्रियता, अनंत स्थिरता या अनंत नीरव निश्चलता ही क्यों न हो।

फिर भी यह कहा जा सकता है कि अंत में ये दो अलग-अलग चीजें हैं और यह उनके विरोधी परिणामों के भेद से दिखायी देता है क्योंकि ब्रह्म की निष्क्रियता में शरण लेने से इस जीवन का अंत हो जाता है और सक्रिय ब्रह्म की शरण में जाने से वह जारी रहता है। लेकिन यहां भी, हमें देखना चाहिये कि यह भेद व्यक्तिगत जीवन की एक स्थिति से दूसरी स्थिति की ओर, जगत् में ब्रह्म-चेतना की स्थिति से, जहां वह वैश्व क्रिया के लिये आलंब है, जगत् से परे ब्रह्म-चेतना की उस स्थिति की ओर गतिशील होने के कारण ही पैदा होता है जहां वह चेतना ऊर्जा को विश्व-क्रिया में प्रवृत्त होने से रोके रखने की शक्ति है। इसके अतिरिक्त अगर सत्ता की शक्ति का जगत्-क्रिया में तपस् की ऊर्जा द्वारा वितरण संपन्न होता है तो समान रूप से तपस् की ऊर्जा द्वारा ही सत्ता की उस शक्ति को रोके रखना भी संपन्न होता है। ब्रह्म की स्थावर चेतना और उसकी जंगम चेतना दो अलग-अलग, टकराती हुई, आपस में मेल न खानेवाली चीजें नहीं हैं। वे एक ही चेतना, एक ही ऊर्जा हैं जो एक छोर पर आत्म-संग्रह की स्थिति में और दूसरे छोर पर आत्मदान और आत्म-प्रसारण की स्थिति में हैं जैसे किसी जलाशय की निश्चलता और उसमें से बहनेवाली नहरों की धारा। वास्तव में हर क्रियाशीलता के पीछे सत्ता की एक निष्क्रिय शक्ति होती है और होनी चाहिये जिसमें से वह उठती है, जो उसे सहारा देती, जो, जैसा कि हम अंत में देखते हैं, उसके साथ पूरी तरह एकात्म हुए बिना पीछे-से उसपर शासन करती है, कम-से-कम इस अर्थ में कि वह अपने-आपको

क्रिया में पूरी तरह उंडेल देती है और उसमें भेद करना संभव नहीं रहता। अपने-आपको समाप्त करनेवाली ऐसी एकात्मता असंभव है क्योंकि कोई भी क्रिया चाहे जितनी विशाल क्यों न हो अपनी उद्‌गम शक्ति को, जिससे वह निकलती है, इस तरह समाप्त नहीं कर सकती कि बाकी कुछ भी न बचे। जब हम अपनी सचेतन सत्ता में लौटते हैं, जब हम अपनी क्रिया से पीछे हटकर देखते हैं कि वह कैसे की जाती है तो हमें पता लगता है कि हमारी सारी सत्ता हर विशिष्ट क्रिया के पीछे या क्रियाओं की हर राशि के पीछे खड़ी होती है, वह अपनी बाकी समग्रता में निष्क्रिय और अपनी ऊर्जा के सीमित वितरण में सक्रिय होती है। परंतु वह निष्क्रियता असमर्थ जड़ता नहीं है, वह आत्मसंगृहीत ऊर्जा की स्थिरता है। अनंत की सचेतन सत्ता में ऐसा ही सत्य अधिक पूर्णता के साथ लागू होना चाहिये, जिसकी शक्ति जैसे सृजन में होती है उसी तरह स्थिति की नीरवता में भी अनंत होनी चाहिये।

अभी यह पता लगाने का कोई महत्त्व नहीं कि जिस निष्क्रियता में से सब कुछ उभरता है वह निरपेक्ष है या वह अपने-आपको जिस दृश्य क्रिया से पीछे खींचती है उसके लिये सापेक्ष है। इतना ध्यान रखना काफी है कि चाहे हम अपने मन की सुविधा के लिये भेद कर लें परंतु एक निष्क्रिय ब्रह्म और एक सक्रिय ब्रह्म नहीं है। ब्रह्म एक है, एक ऐसा सत् जो अपने तपस् को उसमें संगृहीत रखता है जिसे हम निष्क्रियता कहते हैं और जिसे हम उसकी क्रियाशीलता कहते हैं उसमें अपने-आपको देता है। क्योंकि क्रिया के प्रयोजनों के लिये ये दोनों एक सत्ता के दो छोर हैं या सृजन के लिये आवश्यक दोहरी शक्ति हैं। संग्रहण से निकलकर क्रिया अपनी परिधि पर चलती और उसी संग्रहण पर वापिस आ जाती है और संभवतः जो ऊर्जाएं उसमें से निकली थीं उन्हें फिर से एक नयी परिधि में प्रक्षिप्त करने के लिये वापिस कर देती है। ब्रह्म की निष्क्रियता है उसकी सत्ता का तपस् या संकेंद्रण, जब वह अपनी निश्चल ऊर्जा के आत्मलीन संकेंद्रण में स्वयं अपने अंदर निवास करता है; सक्रियता है उसकी सत्ता का तपस् जिसे उसने धारण किया था, वह उसे तप में से सचलता में मुक्त करता है और क्रिया की करोड़ों लहरों में यात्रा करता है और यात्रा करते हुए भी हर एक में निवास करता है और उसमें सत्ता के सत्यों और संभाव्यताओं को मुक्त करता है। वहां भी शक्ति का संकेंद्रण है लेकिन वह बहुमुखी संकेंद्रण है जो हमें प्रसारण मालूम होता है। लेकिन वह सचमुच प्रसारण नहीं फैलाव है। ब्रह्म अपनी ऊर्जा को अपने अंदर से किसी अवास्तविक बाहरी शून्य में खो जाने के लिये नहीं फैलाता बल्कि उसे अपनी ही सत्ता में क्रियारत रखता है, उसे पूरा-का-पूरा, संक्षिप्त या क्षीण किये बिना परिवर्तन और रूपांतरण की सतत प्रक्रिया में रखता है। निष्क्रियता है शक्ति का, तपस् का बहुत बड़ा संग्रह जो रूपों और घटनाओं में गति और रूपांतरण के बहुविध प्रवर्तन को सहारा देता है। सक्रियता है गति और रूपांतरण में शक्ति का, तपस् का संग्रह।

जैसा हमारे अंदर होता है उसी तरह ब्रह्म में भी दोनों एक दूसरे के लिये सापेक्ष हैं, दोनों का युगपत् अस्तित्व है, एकमेव सत् की क्रिया के दो ध्रुव हैं।

तो सद्वस्तु न तो अचल सत् की शाश्वत निष्क्रियता है न गतिशील सत् की शाश्वत क्रियाशीलता है और न ही वह काल में इन दो चीजों की हेरा-फेरी है। वस्तुतः दोनों में से कोई भी ब्रह्म की वास्तविकता का संपूर्ण सत्य नहीं है। उनका विरोध भी ब्रह्म के विषय में, उसकी चेतना के क्रिया-कलाप के संबंध में ही सच्चा है। जब हम वैश्व क्रिया में उसकी सत्ता की सचेतन ऊर्जा के फैलाव को देखते हैं तो हम उसे चल और सक्रिय ब्रह्म कहते हैं। जब हम ब्रह्म की सत्ता की सचेतन ऊर्जा को युगपत् रूप से क्रिया से खिंचा हुआ, संग्रहीत देखते हैं तो हम उसे अचल निष्क्रिय ब्रह्म कहते हैं—सगुण और निर्गुण, क्षर और अक्षर; अन्यथा इन शब्दों का कोई अर्थ ही न होगा क्योंकि सद्वस्तु एक है, दो स्वतंत्र सद्वस्तुएं नहीं हैं, एक अचल और दूसरी चल। अंतरात्मा का क्रिया में विकास, प्रवृत्ति और उसका निष्क्रियता में प्रतिविकास, निवृत्ति में साधारण दृष्टि से यह माना जाता है कि क्रिया में व्यष्टिगत अंतरात्मा अज्ञानी बन जाती है, वह अपनी निष्क्रियता के बारे में अनभिज्ञ होती है जिसे उसकी सच्ची सत्ता माना जाता है। और निष्क्रियता में वह अपने सक्रिय रूप के बारे में अज्ञानी बन जाती है, जिसे उसकी मिथ्या या केवल आभासी सत्ता माना जाता है। लेकिन यह इसलिये है क्योंकि हमारे लिये ये दो गतियां बारी-बारी से होती हैं जैसे हमारी नींद और जाग्रत् अवस्था में। जाग्रत् अवस्था में हम अपनी नींद की अवस्था के बारे में अज्ञान में चले जाते हैं और नींद में जाग्रत् अवस्था के बारे में अज्ञान में। लेकिन यह इसलिये होता है क्योंकि हमारी सत्ता का एक हिस्सा ही बारी-बारी से यह गति करता है और हम मिथ्या रूप में इस आंशिक सत्ता को ही अपना स्वरूप मान लेते हैं। लेकिन अधिक गहरे मनोवैज्ञानिक अनुभव से हम यह पता लगा सकते हैं कि हमारे अंदर बृहत्तर सत्ता उस सबके बारे में भली-भांति अभिज्ञ होती है जो वहां होता है यहांतक कि उससे भी जो हमारी आंशिक या सतही सत्ता के लिये अचेतना की अवस्था है, वह न तो नींद से सीमित होती है न जागरण से। ब्रह्म के साथ हमारे संबंधों के बारे में भी यही बात है, जो हमारी वास्तविक और समग्र सत्ता है। अज्ञान में हम अपने-आपको केवल एक आंशिक चेतना के साथ एकात्म कर लेते हैं जो अपने स्वरूप में मानसिक या आध्यात्मिक-मानसिक होती है, जो गति के कारण अपनी स्थाणु आत्मा के बारे में अज्ञ हो जाती है। अपने इस भाग में जब हम गति को खो बैठते हैं तो साथ ही निष्क्रियता में प्रवेश के कारण कर्म की आत्मा पर अधिकार भी खो बैठते हैं। पूर्ण निष्क्रियता द्वारा मन सो जाता है या समाधि में प्रवेश करता है या आध्यात्मिक नीरवता में मुक्त हो जाता है। यद्यपि यह कर्म के प्रवाह में स्थित आंशिक सत्ता की अज्ञान से मुक्ति है लेकिन यह पायी जाती है सक्रिय

सद्वस्तु के संबंध में ज्योतिर्मय निर्ज्ञान को स्वीकार करके या उससे ज्योतिर्मय पार्थक्य पाकर। आध्यात्मिक-मानसिक सत्ता अस्तित्व की नीरव सारभूत स्थिति में आत्मलीन रहती है और या तो सक्रिय चेतना के लिये असमर्थ या समस्त क्रियाशीलता से विरक्त हो जाती है। नीरव निश्चलता की यह मुक्ति एक ऐसी स्थिति है जिसमें से होकर अंतरात्मा निरपेक्ष की ओर यात्रा में बढ़ती है। लेकिन हमारी सच्ची और समग्र सत्ता में एक अधिक बड़ी परिपूर्ति है जिसमें आत्मा के सक्रिय और निष्क्रिय दोनों पक्ष उस 'तत्' में पूर्ति और मुक्ति पाते हैं जो दोनों को धारण करता है और न तो क्रिया से सीमित है न निश्चल नीरवता से।

कारण, ब्रह्म बारी-बारी से निष्क्रियता से क्रियाशीलता में और फिर अपनी सत्ता की क्रियाशील शक्ति को बंद करके वापिस निष्क्रियता में नहीं जाता। अगर संपूर्ण सद्वस्तु के बारे में यह बात ठीक होती तो जब विश्व चल रहा होता तो निष्क्रिय ब्रह्म की सत्ता न रहती, सब कुछ क्रिया होती और, अगर हमारे विश्व को विलीन कर दिया जाये तो कोई सक्रिय ब्रह्म न रहेगा, सब कुछ समाप्त और निश्चल स्थिरता ही हो जायेगा। लेकिन ऐसा है नहीं, क्योंकि हम शाश्वत निष्क्रियता और आत्म-केंद्रित स्थिरता के बारे में अभिज्ञ हो सकते हैं जो समस्त वैश्व क्रियावली और उसकी बहुविध केंद्रित गति में प्रविष्ट होती और उन्हें धारण करती है—और ऐसा हो नहीं सकता था, यदि यह न हो कि जबतक कोई भी क्रियाशीलता जारी रहे तबतक संकेंद्रित निष्क्रियता उसे सहारा देती हो और उसके अंदर रहती हो। संपूर्ण ब्रह्म में निष्क्रियता और सक्रियता युगपत् रूप से रहती हैं, वह बारी-बारी से एक से दूसरी स्थिति में, जैसे निद्रा से जागरण में नहीं जाता। हमारे अंदर कोई आंशिक क्रियाशीलता ही ऐसा करती हुई मालूम होती है और हमें उस आंशिक क्रियाशीलता के साथ तादात्म्य के कारण एक निर्ज्ञान से दूसरे निर्ज्ञान में अदला-बदली का आभास होता है लेकिन हमारी सच्ची, संपूर्ण सत्ता इन विरोधों के आधीन नहीं है और उसे अपनी नीरवता की आत्मा को पाने के लिये अपनी क्रियाशील आत्मा से अनभिज्ञ होने की जरूरत नहीं होती। जब हमें आत्मा और प्रकृति दोनों का पूर्ण ज्ञान और पूर्ण स्वातंत्र्य प्राप्त हो जाये जो सीमित, आंशिक और अज्ञानी सत्ता की अक्षमताओं से मुक्त हो तो हम भी निष्क्रियता और सक्रियता पर युगपत् अधिकार पा सकते हैं और सार्विकता के इन दोनों ध्रुवों का अतिक्रमण कर सकते हैं और प्रकृति से संबंधयुक्त या संबंधहीन आत्मा की इन दोनों शक्तियों में से किसीसे सीमित नहीं होते।

गीता में घोषणा की गयी है कि पुरुषोत्तम अक्षर पुरुष और क्षर सत्ता दोनों के परे है। इन दोनों को एक साथ रखा जाये तो भी वे उस सारे का निरूपण नहीं करते जो वह है। क्योंकि स्पष्ट है कि जब हम कहते हैं कि वह युगपत् रूप से उन दोनों पर अधिकार रखता है तो इसका यह मतलब नहीं होता कि वह एक निष्क्रियता और एक सक्रियता का योगफल है, उन दो भिन्नों से बनी हुई एक पूर्ण

संख्या है, अपने तीन चौथाई भाग से तो वह निष्क्रिय है और अपनी सत्ता के एक चौथाई से सक्रिय। उस हालत में ब्रह्म निर्ज्ञानों का योगफल हो सकता है जिसमें निष्क्रिय तीन चौथाई क्रियाशीलता के कामों के बारे में केवल उदासीन ही नहीं, पूरी तरह अज्ञ रहता है और सक्रिय चौथाई निष्क्रियता के बारे में एकदम अनभिज्ञ और अपनी क्रिया को बंद करने के सिवा और किसी भी रूप में उसपर अधिकार करने में असमर्थ रहता है। यहांतक कि इनका योगफल ब्रह्म कोई ऐसी चीज निकले जो अपने दो भिन्नों से एकदम अलग हो। मानों कोई ऐसी चीज हो जो ऊपर और पृथक् है और कोई रहस्यमयी माया उसकी सत्ता के इन दो भिन्नों में से जो कुछ आग्रह के साथ करती रहती है और जो कुछ करने से दृढ़ता के साथ दूर रहती है, वह उन सबके प्रति अनभिज्ञ और उनके लिये अनुत्तरदायी है। लेकिन यह स्पष्ट है कि परम सत्ता ब्रह्म को निष्क्रियता और सक्रियता दोनों के बारे में अभिज्ञ होना चाहिये और वह उन्हें अपनी पूर्ण सत्ता नहीं बल्कि अपनी विश्वजनीनताओं के परस्पर-विरोधी और फिर भी आपस में एक-दूसरे को संतुष्ट करनेवाले पद माने। यह सच नहीं हो सकता कि अपनी शाश्वत निष्क्रियता के कारण ब्रह्म अपनी क्रियाओं से पूरी तरह अनभिज्ञ और पृथक् है। मुक्त होते हुए वह उन्हें अपने अंदर धारण करता है, अपनी स्थिरता की शाश्वत शक्ति द्वारा उन्हें सहारा देता और अपनी ऊर्जा की शाश्वत स्थिति से उनका प्रवर्तन करता है। यह समान रूप से असत्य होना चाहिये कि अपनी सक्रियता में ब्रह्म अपनी निष्क्रियता से अलग और उससे अनभिज्ञ है। सर्वव्यापक होने के नाते वह क्रिया को सहारा देता है, गति के हृदय में हमेशा उसपर अधिकार रखता है और अपनी ऊर्जाओं के भंवर में शाश्वत रूप से स्थिर, निश्चल, मुक्त और आनंदमय रहता है। न तो निश्चल नीरवता और न क्रिया में वह अपनी पूर्ण सत्ता से पूरी तरह अनभिज्ञ हो सकता, बल्कि वह जानता है कि वह उनके द्वारा जो कुछ व्यक्त करता है वह उस परम सत्ता की शक्ति से ही अपना मूल्य और शक्ति पाता है। अगर हमारे अनुभव को यह इससे भिन्न लगता है तो इसलिये कि हम एक पक्ष के साथ तादात्म्य कर लेते हैं और उस ऐकांतिकता के कारण अपने-आपको संपूर्ण सद्वस्तु की ओर खोलने में असफल होते हैं।

अनिवार्य रूप से इसका पहला महत्त्वपूर्ण परिणाम यह निकलता है, जिसे हम दूसरे दृष्टिकोणों से पा चुके हैं, कि अज्ञान की सत्ता का उद्गम या उसकी विभाजनकारी क्रियाओं का आरंभ-बिंदु परब्रह्म या पूर्ण सच्चिदानंद में नहीं हो सकता। यह सत्ता की उस आंशिक क्रिया की चीज है जिसके साथ हम अपने-आपको एकात्म कर लेते हैं, ठीक उसी तरह जैसे शरीर में हम अपने-आपको उस आंशिक और सतही चेतना के साथ एक मान लेते हैं जो निद्रा और जागरण के बीच बदलती रहती है। वस्तुतः अज्ञान का उपादान-कारण यही एकात्मता है जो बाकी सद्वस्तु को अपने पीछे हटा देती है। और अगर अज्ञान ब्रह्म की परा प्रकृति

या ब्रह्म की अखंडता का तत्त्व या उसकी निजी शक्ति नहीं है तो कोई आद्य मूल अज्ञान नहीं हो सकता। अगर माया शाश्वत की चेतना की आद्या शक्ति है तो वह स्वयं अज्ञान नहीं हो सकती या किसी भांति अज्ञान की प्रकृति के सदृश नहीं हो सकती बल्कि उसे आत्मज्ञान और सर्वज्ञान की परात्पर और वैश्व शक्ति होना चाहिये। अज्ञान केवल एक गौण, आंशिक, सापेक्ष, परवर्ती गति के रूप में हस्तक्षेप कर सकता है। तो क्या यह कोई आत्माओं की बहुलता में अंतर्निहित चीज है? क्या यह उस समय तुरंत उत्पन्न हो जाती है जब ब्रह्म अपने-आपको बहुलता में देखता है? क्या यह बहुत्व ऐसे जीवों का योगफल है जिनमें से हर एक स्वभावतः आंशिक, और सभी जीवों से चेतना में अलग है, उनके बारे में इससे ज्यादा जानकारी पाने में असमर्थ है कि वे उसके बाहर की चीजें हैं और उनके साथ शरीर से शरीर, मन से मन के संचार को छोड़कर ऐक्य पाने में असमर्थ है? लेकिन हम देख आये हैं कि यह तो वही है जो हमें अपनी चेतना की सबसे बाहरी सतह पर, बाह्य मन और भौतिक में दिखायी देता है। जब हम अपनी चेतना की सूक्ष्मतर, गहनतर और विशालतर क्रिया में लौटते हैं तो हम विभाजन की दीवारों को पतला होता हुआ पाते हैं और अंत में विभाजन की कोई दीवार, कोई अज्ञान नहीं रह पाता।

शरीर प्रतीयमान विभाजन का बाहरी चिह्न और सबसे नीचे का आधार है जिसे अज्ञान और आत्म-निर्ज्ञान में डुबकी लगाती हुई प्रकृति व्यष्टिगत आत्मा के द्वारा फिर से एकत्व पाने के लिये, अपनी बहुविध चेतना के अधिक-से-अधिक अतिरंजित रूपों के बीच भी एकत्व पाने के लिये, आरंभबिंदु बनाती है। शरीर एक-दूसरे के साथ बाहरी साधनों के बिना और बाह्यता की खाड़ी को पार किये बिना संचार नहीं कर सकते, जिसमें प्रवेश करना है उसे छेदे बिना एक-दूसरे में प्रवेश नहीं कर सकते या फिर पहले से ही उपस्थित दरार या पहले के विभाजन का लाभ उठाकर प्रवेश कर सकते हैं। वे तोड़े बिना, निगले बिना, हड़प किये बिना, अर्थात् आत्मसात् किये बिना एक नहीं हो सकते या अधिक-से-अधिक एक ऐसा विलयन हो सकता है जिसमें दोनों रूप गायब हो जायें। मन भी जब वह शरीर के साथ एकात्म हो, तो उसकी सीमाओं से अवरुद्ध हो जाता है लेकिन अपने-आपमें वह अधिक सूक्ष्म है। दो मन बिना विभाजन और बिना चोट पहुंचाये एक-दूसरे के अंदर प्रवेश कर सकते हैं, एक-दूसरे को तकलीफ पहुंचाये बिना अपने पदार्थ का विनिमय कर सकते हैं, एक तरह से एक-दूसरे का भाग बन सकते हैं; फिर भी मन का अपना रूप है जो उसे दूसरे मनों से अलग करता है और वह इस अलगाव पर खड़ा रहने के लिये प्रवृत्त होता है। जब हम आंतरात्मिक चेतना में लौट आते हैं तो ऐक्य में बाधाएं कम हो जाती हैं और अंत में उनका अस्तित्व ही एकदम से समाप्त हो जाता है। अंतरात्मा अपनी चेतना में दूसरी अंतरात्माओं के

साथ एक हो सकती है, उन्हें धारण कर सकती है, उनमें प्रवेश कर सकती और उनके द्वारा धारण की जा सकती है, उनके साथ अपना ऐक्य चरितार्थ कर सकती है और यह किसी आकारहीन, अभेद्य निद्रा में नहीं, ऐसे निर्वाण में नहीं जिसमें अंतरात्मा, मन और शरीर के सभी वैशिष्ट्य और व्यक्तित्व खो जाते हैं; बल्कि एक पूर्णतः जाग्रत् अवस्था में होता है जो सभी भेदों का अवलोकन करती, उनका ध्यान रखती परंतु उनका अतिक्रमण कर जाती है।

अतः अंतरात्माओं की बहुलता में अज्ञान और आत्म-सीमांकन करनेवाले विभाजन अंतर्निहित और अलंघ्य नहीं हैं और न ही वे ब्रह्म की बहुलता की अपनी प्रकृति में हैं। जैसे ब्रह्म सक्रियता और निष्क्रियता का अतिक्रमण करता है उसी भांति वह एकता और बहुलता के भी परे है। वह अपने-आपमें एक है लेकिन एक ऐसी आत्म-सीमांकनकारी एकता में नहीं जो बहु होने की शक्ति से अलग हो, जैसी शरीर और मन की विभक्त एकता होती है। वह गणित की पूर्ण-संख्या एक नहीं है जो सौ को अपने अंदर समाने में अक्षम है इसलिये सौ से कम है। ब्रह्म तो सौ को अपने अंदर समाये रहता है और सारे सौ में स्थित एक है। स्वयं अपने अंदर एक होते हुए वह बहु के अंदर एक है और बहु उसके अंदर एक हैं। दूसरे शब्दों में, अपनी आत्मा के एकत्व में ब्रह्म अपनी अंतरात्माओं के बहुत्व के बारे में अभिज्ञ है और अपनी बहु अंतरात्माओं की चेतना में समस्त आत्मा के एकत्व के बारे में अभिज्ञ है। प्रत्येक अंतरात्मा में वह अंतर्यामी आत्मा, प्रत्येक हृदय में स्थित स्वामी अपने एकत्व के बारे में अभिज्ञ है। उससे आलोकित जीवात्मा, एकमेव के साथ अपने एकत्व के बारे में अभिज्ञ, साथ ही बहु के साथ अपने एकत्व के बारे में अभिज्ञ है। हमारी सतही चेतना, जो शरीर के साथ और विभक्त प्राण और विभाजक मन के साथ एकात्म है, अज्ञ है लेकिन उसे भी आलोकित और अभिज्ञ बनाया जा सकता है। अतः बहुलता अज्ञान का आवश्यक कारण नहीं है।

जैसा हम पहले ही कह आये हैं, अज्ञान बाद की अवस्था में, बाद की गति के रूप में आता है, जब मन अपने आध्यात्मिक और अतिमानसिक आधार से अलग हो जाता है और पार्थिव जीवन में अपनी पराकाष्ठा को पहुंचता है जहां बहु के अंदर व्यष्टिगत चेतना विभाजन करनेवाले मन द्वारा रूप के साथ एकात्म होती है जो विभाजन का एकमात्र सुरक्षित आधार है। लेकिन रूप है क्या? वह, कम-से-कम जैसा हम यहां देखते हैं, केन्द्रित ऊर्जा का एक रूपायण है, अपनी गति में चेतना की शक्ति की एक गांठ है, एक ऐसी गांठ है जिसका अस्तित्व क्रिया के निरंतर घुमाव के कारण बना रहता है। लेकिन रूप चाहे जिस परात्पर सत्य या वास्तविकता से आया हो या उसे अभिव्यक्त करता हो, वह अभिव्यक्ति में अपने किसी भी अंग में स्थायी या शाश्वत नहीं है। वह अपनी समग्रता में शाश्वत नहीं है और न ही अपने घटक परमाणुओं में शाश्वत है क्योंकि उन्हें, ऊर्जा की गांठ को

सतत केन्द्रित क्रिया में—जो एकमात्र वस्तु है, जो उनकी प्रतीयमान स्थिरता को बनाये रखती है—विलीन करके विघटित किया जा सकता है। शक्ति की गति में तपस् का रूप पर केन्द्रण ही रूप को अस्तित्व में रखता है और विभाजन का स्थूल आधार खड़ा करता है। लेकिन हम देख चुके हैं कि क्रियाशीलता में सभी चीजें शक्ति की गति में तपस् का अपने विषय पर केन्द्रण हैं। तो अज्ञान के मूल की खोज कहीं तपस् के आत्मलीन केन्द्रण में, शक्ति की किसी पृथक् गति पर, क्रियारत चित्-शक्ति के आत्मलीन संकेन्द्रण में करनी चाहिये। हमारे लिये यह ऐसा रूप ले लेती है कि मन अपने-आपको पृथक् गति के साथ एकात्म कर रहा हो और साथ ही अपने-आपको पृथक् रूप से पैदा होनेवाले रूपों के परिणामों के साथ भी एकात्म कर रहा हो। इस तरह वह पृथक्ता की एक दीवार बनाता है जो हर एक में चेतना को अपनी समग्र आत्मा की अभिज्ञता की ओर से, अन्य मूर्तरूपधारी चेतनाओं और वैश्व सत्ता की ओर से बंद कर देती है। यही वह जगह है जहां हमें शरीरधारी मानसिक सत्ता और साथ-ही-साथ भौतिक प्रकृति की प्रतीयमान विशाल अचेतना के प्रतीयमान अज्ञान के रहस्य की खोज करनी होगी। हमें अपने-आपसे पूछना होगा कि इस निमग्नकारी, इस पृथक्कारी, इस अपने-आपको भूल जानेवाले संकेन्द्रण का स्वभाव, जो विश्व का अंधकारमय चमत्कार है, क्या है ?

अध्याय १३

चित्-शक्ति का ऐकान्तिक केन्द्रण और अज्ञान

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥

तप की प्रज्वलित अग्नि से सत्य और ऋत् की उत्पत्ति हुई, उससे रात्रि की उत्पत्ति हुई और रात्रि से सत्ता के बहते समुद्र की।

ऋग्वेद १०. १९०. १

चूंकि ब्रह्म अपनी वैश्व सत्ता के सारतत्त्व में एक भी है और बहु भी जो एक दूसरे से और एक दूसरे में अभिज्ञ है और चूंकि अपनी वास्तविकता में वह 'एक' तथा 'बहु' के परे और दोनों को समाये रहता है और दोनों के बारे में अभिज्ञ है इसलिये अज्ञान केवल अधीनस्थ व्यापार के रूप में चेतना की किसी एकाग्रता के द्वारा ही आ सकता है जो ज्ञान के एक भाग में या सत्ता की क्रिया के एक भाग में निमग्न हो और बाकी को अपनी अभिज्ञता से अलग करती हो। इसमें बहु का वर्जन करके 'एक' का स्वयं अपने अंदर केन्द्रण हो सकता है या 'बहु' का 'एक' की सर्व-अभिज्ञता को छोड़कर अपनी-अपनी क्रिया में केन्द्रण हो सकता है या फिर व्यक्तिगत सत्ता का स्वयं अपने अंदर केन्द्रण हो सकता है जिसमें 'एक' और शेष 'बहु' का वर्जन हो, वे 'बहु' उसके लिये पृथक् इकाइयां होते हैं जो उसकी प्रत्यक्ष अभिज्ञता में नहीं आते। या फिर कहीं ऐकान्तिक केन्द्रण का कोई सामान्य नियम हो सकता है या वह किसी हदतक हस्तक्षेप कर सकता है जो इन तीनों दिशाओं में सक्रिय हो, पृथक्कारी सक्रिय चेतना का पृथक्कारी गति में केन्द्रण हो। लेकिन यह सच्ची आत्मा या पुरुष में नहीं, बल्कि प्रकृति में, सक्रिय सत्ता की शक्ति में होता है।

हम इस परिकल्पना को औरों से श्रेष्ठ मानकर अपनाते हैं, क्योंकि उनमें से कोई भी ऐसी नहीं है जो अपने-आपमें खड़ी रह सके या जिसका जीवन के सभी तथ्यों के साथ मेल बैठ सके। संपूर्ण ब्रह्म अपनी संपूर्णता में अज्ञान का स्रोत नहीं हो सकता क्योंकि उसकी संपूर्णता स्वभाव से ही सर्व-चेतना है। वह 'एक' अपनी संपूर्ण चेतन-सत्ता में अपने अंदर से 'बहु' को अलग नहीं कर सकता क्योंकि तब 'बहु' का अस्तित्व ही न रह जायेगा। अधिक-से-अधिक वह अपनी चेतना में कहीं विश्व-लीला से पीछे हटकर खड़ा हो सकता है ताकि व्यष्टि-सत्ता में भी वैसी ही गति हो सके। 'बहु' संपूर्णता में या 'बहु' की प्रत्येक आत्मा में 'एक' के बारे में या दूसरों के बारे में वास्तव में अज्ञ नहीं हो सकता क्योंकि 'बहु' से हमारा मतलब है

वही एक दिव्य आत्मा जो सबमें है, वह व्यष्टिभावापन्न भले हो फिर भी चेतन-सत्ता में सबके साथ विश्वत्व में एक और आदि तथा परात्पर सत् के साथ भी एक है। अतः अज्ञान आत्मा की चेतना का स्वाभाविक लक्षण नहीं है, व्यष्टिगत आत्मा की चेतना भी नहीं। जब कार्यकारिणी चित्-शक्ति अपने कार्य में तल्लीन होती है और अपने-आपको तथा प्रकृति की समग्र वास्तविकता को भूल जाती है उस समय उसकी किसी विशिष्टकारी क्रिया का परिणाम ही अज्ञान है। यह क्रिया समस्त सत्ता या सत्ता की समस्त शक्ति की नहीं हो सकती—क्योंकि उस पूर्णता का धर्म है समग्र चेतना, आंशिक चेतना नहीं—उसे एक बाहरी या आंशिक गति होना चाहिये जो चेतना और ऊर्जा की एक ऊपरी या आंशिक क्रिया में तल्लीन हो, जो अपने रूपायन में एकाग्र हो और उस सबको भूले हुए हो जो इस रूपायन में प्रत्यक्ष रूप से समाविष्ट नहीं हो या उसमें प्रकट रूप से सक्रिय न हो। अज्ञान है प्रकृति का किसी उद्देश्य के साथ आत्मा और सर्व को भूल जाना, उन्हें एक तरफ छोड़कर, अपने पीछे रख देना ताकि वह ऐकान्तिक भाव से वह कर सके जो उसे सत्ता की किसी बाहरी लीला में करना है।

सत्ता की अनंतता में और उसकी अनंत अभिज्ञता में चेतना का संकेन्द्रण, तपस्, हमेशा चित्-शक्ति की अंतर्निहित सामर्थ्य के रूप में विद्यमान रहता है। यह शाश्वत अभिज्ञता का अपने-आपमें और अपने-आपपर या अपने विषय पर आत्म-निगृहीत या आत्म-संगृहीत अनवरत चिन्तन है। लेकिन विषय हमेशा किसी-न-किसी तरह वह स्वयं होता है, उसकी अपनी सत्ता या उसकी सत्ता की कोई अभिव्यक्ति और गति होता है। यह संकेन्द्रण सारभूत हो सकता है, यहांतक कि वह अपनी ही सत्ता के सार में ऐकान्तिक अंतर्निवास या पूर्ण लीनता, एक ज्योतिर्मय या फिर अपने-आपको भूल जानेवाली आत्मनिमग्नता हो सकता है। या फिर वह संकेन्द्रण सर्वांगीण या समग्रतः बहुरूप या आंशिक रूप से बहुरूप हो सकता है या फिर वह अपनी सत्ता या गति के किसी एक क्षेत्र पर कोई एकाकी पृथक्कारी दृष्टि, किसी एक केन्द्र में एकाग्र संकेन्द्रण या आत्म सत्ता के किसी एक बाहर की ओर व्यक्त रूप में तल्लीनता हो सकता है। पहला सारगत संकेन्द्रण है एक ओर अतिचेतन नीरवता और दूसरे छोर पर निश्चेतना और दूसरा संपूर्ण संकेन्द्रण है सच्चिदानन्द की संपूर्ण चेतना, अतिमानसिक एकाग्रता। तीसरा, बहुविध, अधिमानस की समग्र या सार्वभौम अभिज्ञता की पद्धति है और चौथा पृथक्कारी, अज्ञान का विशिष्ट स्वभाव है। निरपेक्ष की परम पूर्णता अपनी चेतना की इन सभी अवस्थाओं या शक्तियों को एक अविभाज्य सत्ता के रूप में जोड़े रखती है जो युगपत् आत्म-दृष्टि से अभिव्यक्ति में सबको आत्मवत् देखती है।

तब कहा जा सकता है कि अपने अंदर या विषय के रूप में अपने ऊपर, आत्मधृत निवास के अर्थ में संकेन्द्रण सचेतन सत्ता का स्वभाव ही है। क्योंकि

यद्यपि चेतना का अनन्त विस्तार और अनन्त प्रसार है पर वह है आत्मधृत और आत्म-पूर्ण विस्तार तथा आत्मधृत और आत्म-पूर्ण फैलाव ही। चाहे उसकी ऊर्जाओं का फैलाव दिखलायी देता हो, वह वास्तव में वितरण का एक रूप ही है और वह ऊपरी क्षेत्र में केवल इसी कारण संभव है कि उसे अपने-आपको धारण किये हुए अंतर्भूत संकेन्द्रण का सहारा होता है। किसी एक विषय या वस्तु या सत्ता के क्षेत्र या गति में या उनपर ऐकान्तिक संकेन्द्रण आत्मा की अभिज्ञता का निषेध या उससे विचलन नहीं है, वह तपस् की शक्ति के आत्म-संग्रहण का एक रूप है। लेकिन जब संकेन्द्रण ऐकान्तिक होता है तो वह अपने पीछे बाकी आत्मज्ञान को रोके रखता है। वह सारे समय बाकी के बारे में अभिज्ञ हो सकता है फिर भी क्रिया ऐसे करता है मानों वह उसके बारे में अभिज्ञ नहीं है। यह अज्ञान की स्थिति या क्रिया नहीं है। लेकिन अगर चेतना संकेन्द्रण द्वारा ऐकान्तिकता की दीवार खड़ी कर ले और अपने-आपको एक ही क्षेत्र, प्रदेश या गति में निवासतक सीमित कर दे, जिसके फलस्वरूप उसे केवल उसीकी अभिज्ञता रहती है या बाकी सबके बारे में इस रूप में अभिज्ञता रहती है कि वह स्वयं उसके बाहर है, तब हमें आत्म-सीमाकारी ज्ञान का ऐसा तत्त्व मिलता है जिसका परिणाम भेदात्मक ज्ञान हो सकता है, जिसकी अंतिम परिणति निश्चित और प्रभावकारी अज्ञान में हो सकती है।

इसका अर्थ क्या है, क्रिया में क्या परिणाम होगा, इसकी झांकी हमें मानसिक मनुष्य में, स्वयं हमारी अपनी चेतना में होनेवाले ऐकान्तिक संकेन्द्रण के स्वरूप को देखने से मिल सकती है। सबसे पहले हमें इस बात का ख्याल रखना चाहिये कि मनुष्य से साधारणतः हमारा मतलब उसकी आंतरिक आत्मा न होकर केवल भूत, वर्तमान और भविष्य में चेतना तथा ऊर्जा के निरंतर प्रवाह के प्रतीयमान योगफल से होता है जिसे हम यह नाम देते हैं। यही प्रतीयमान रूप से मनुष्य के अंदर सब काम करता है, उसके सारे विचारों को सोचता और सारे भावों का अनुभव करता है। यह ऊर्जा अंतर्मुखी और बहिर्मुखी क्रियाओं के किसी कालिक प्रवाह पर केन्द्रित चित्-शक्ति की एक गति है। लेकिन हम जानते हैं कि ऊर्जा की इस धारा के पीछे चेतना का एक पूरा सागर है जो इस धारा के बारे में अभिज्ञ है लेकिन धारा उसके बारे में अनभिज्ञ है। क्योंकि सतही ऊर्जा का यह योग बाकी सबमें से, जो अदृश्य है, एक चुनाव, एक परिणाम है। वह सागर है अंतस्तलीय आत्मा, अतिचेतन, अवचेतन, अंतश्चेतन और परिचेतन सत्ता और इस सबको एक साथ धारण किये हुए है अंतरात्मा, चैत्य सत्ता। धारा है स्वाभाविक बाहरी मनुष्य। इस बाहरी मनुष्य में सत्ता की सक्रिय चेतना-शक्ति, तपस्, बाहरी क्रियाओं के विशेष पुंज में सतही स्तर पर केन्द्रित है। उसने अपना बाकी सारा भाग पीछे रख दिया है और हो सकता है कि वह अपनी चेतन-सत्ता के अरूपायित पिछले भाग में इसके बारे में अस्पष्ट रूप से अभिज्ञ हो, लेकिन वह सामने की इस ऊपरी तल्लीन गति

में उसके बारे में अभिज्ञ न हो, वह अज्ञ के तात्त्विक अर्थ में अपने बारे में, कम-से-कम अपने उस पृष्ठ भाग या गहराई में तो ठीक अर्थों में अज्ञ नहीं होता लेकिन अपनी बाहरी गति के प्रयोजनों के लिये और केवल उस गति में ही, वह बाहरी रूप से जो कुछ कर रहा है उसमें तल्लीन और ऐकान्तिक रूप से केन्द्रित होने के कारण, वह अपनी सच्ची महत्तर आत्मा के प्रति विस्मरणशील है। फिर भी वास्तव में ऊपरी धारा नहीं बल्कि छिपा हुआ सागर सारी क्रिया कर रहा है, वह सागर ही इस गति का उत्स है न कि वह सचेतन तरंग जो समुद्र से उठती है। चाहे उस तरंग की चेतना अपनी गति में लीन रहते हुए, उसमें निवास करते हुए, उसके अतिरिक्त और किसीको न देखते हुए, इस विषय में कुछ क्यों न सोचे। और वह सागर, वह सच्ची आत्मा, पूर्ण सचेतन सत्ता, सत्ता की संपूर्ण शक्ति, तत्त्वतः अज्ञ नहीं है; यहांतक कि तरंग भी तत्त्वतः अज्ञ नहीं है—क्योंकि उसके अंदर वह समस्त चेतना समायी हुई है जिसे वह भूल गयी है और जिसके बिना वह न तो क्रिया कर सकती और न ही सहन कर पाती—लेकिन वह अपनी गति में आत्म-विस्मरणशील, आत्मलीन है, इतनी अधिक लीन कि जब वह उसमें लगी हो तो उसका ध्यान उस गति के अतिरिक्त और किसी चीज में नहीं जाता। इस ऐकान्तिक संकेन्द्रण का स्वरूप एक सीमित, व्यावहारिक आत्म-विस्मृति है न कि तात्त्विक और बाध्यकारी आत्म-अज्ञान; फिर भी यह उस संकेन्द्रण का मूल है जो अज्ञान की तरह क्रिया करता है।

इसी तरह हम देखते हैं कि मनुष्य, जो यद्यपि काल में सचेतन ऊर्जा, तपस् की अविभाज्य धारा है, अपनी भूतकालीन क्रिया-शक्ति की राशि से ही वर्तमान में कार्य करने में समर्थ है, अपने भूत और वर्तमान कर्म द्वारा ही भविष्य की सृष्टि कर चुकता है, फिर भी वर्तमान क्षण में तल्लीन रहता है, एक-एक क्षण में जीता है इसलिये अपनी चेतना के बाहरी कार्य में अपने भविष्य के बारे में अज्ञ और भूत के बारे में भी, उस छोटे से भाग को छोड़कर जिसे वह किसी भी क्षण स्मृति द्वारा वापिस ला सकता है, बाकी के बारे में वह अज्ञ रहता है। फिर भी वह भूतकाल में निवास नहीं करता। वह इस तरह जिसे वापिस ले आता है वह स्वयं भूत नहीं उसका प्रेत होता है, एक ऐसी वास्तवता की धारणात्मक छाया है जो अब उसके लिये मर चुकी है, असत् और अस्तित्वहीन है। लेकिन यह सब बाहरी अज्ञान की क्रिया है। भीतर की सच्ची चेतना अपने भूत के बारे में अनभिज्ञ नहीं होती। वह उसे लिये रहती है, यह जरूरी नहीं है कि वह स्मृति में हो, वह सत्ता में होता है, अब भी सक्रिय, जीवित, अपने परिणामों के साथ तैयार होता है और समय-समय पर वह भीतरी चेतना उसे स्मृति में या अधिक ठोस रूप में पिछले कर्म या पिछले कारणों के परिणामस्वरूप बाहरी सचेतन सत्ता में भेजती रहती है। हम जिसे कर्म कहते हैं उसका सच्चा मूलाधार यही है। वह भविष्य के बारे में भी अभिज्ञ होती या हो सकती है क्योंकि आंतरिक सत्ता में कहीं पर ज्ञान का ऐसा क्षेत्र है जो भावी

ज्ञान के लिये खुला रहता है, जिसे भूतविषयक और भविष्यविषयक काल-बोध, काल-दर्शन, काल-प्रत्यक्षण है। उसमें कोई चीज तीनों कालों में अविभाज्य रूप से रहती है और उनके प्रतीयमान विभाजनों को अपने अंदर समाये रखती है और भविष्य को अपने अंदर अभिव्यक्त होने के लिये तैयार रखती है। तो यहां वर्तमान में ही रहने की इस आदत में हमारे अंदर एक दूसरी तल्लीनता, एक दूसरा ऐकांतिक संकेन्द्रण रहता है जो सत्ता को और भी ज्यादा सीमित तथा जटिल बनाता है। लेकिन वह कर्म की प्रतीयमान धारा को काल के समस्त अंनत प्रवाह के साथ नहीं बल्कि क्षणों के निश्चित अनुक्रम से संबद्ध करके सरल बना देता है।

अतः इस बाह्य चेतना में मनुष्य अपने आगे क्रियात्मक, व्यावहारिक रूप से वर्तमान क्षण का मनुष्य है भूतकाल का मनुष्य नहीं जो एक समय था पर जिसका अब अस्तित्व नहीं और न भविष्य का मनुष्य है जो अभीतक अस्तित्व में नहीं आया है। स्मृति द्वारा वह एक के साथ नाता जोड़ता है और पूर्वानुमान द्वारा दूसरे के साथ। तीनों कालों में एक निरंतर अहंभाव चलता रहता है परंतु यह एक केन्द्रित करनेवाली मानसिक रचना है कोई तात्त्विक या विस्तीर्ण सत्ता नहीं जिसमें वह सब समाया हुआ है जो था, है और होगा। आत्मा का अंतर्भास इसके पीछे है लेकिन वह आधारभूत एकात्मता है जिसपर उसके व्यक्तित्व के परिवर्तनों का कोई असर नहीं होता। अपनी सत्ता के बाह्य रूपायण में वह वैसा नहीं है बल्कि वैसा है जैसा वह उस क्षण होता है, फिर भी सारे समय यह क्षण-क्षण का जीवन उसकी सत्ता का वास्तविक या पूर्ण सत्य न होकर केवल उसके जीवन की बाहरी गतिविधि के प्रयोजन के लिये, और उसीकी सीमा में एक उपयोगी और व्यावहारिक सत्य है। वह सत्य है, अवास्तविकता नहीं लेकिन है अपने भावात्मक अंश में ही सत्य, अपने अभावात्मक अंशों में वह अज्ञान है और यह निषेधात्मक अज्ञान व्यावहारिक सत्य को भी सीमित और प्रायः विकृत करता है जिससे मनुष्य का सचेतन जीवन अपने वास्तविक सत्य के अनुसार नहीं, जिसे वह भूला हुआ है, बल्कि अज्ञान, आंशिक, अर्द्ध-सत्य और अर्द्ध-मिथ्या ज्ञान के अनुसार चलता है। चूंकि उसकी वास्तविक आत्मा ही सचमुच निर्धारक है और पीछे से गुप्त रूप में सब कुछ का शासन करती है अतः अंततः पीछे रहनेवाला ज्ञान ही सचमुच उसकी सत्ता के रूपायित मार्ग का निश्चय करता है। बाह्य अज्ञान एक आवश्यक सीमा लगानेवाली रूप-रेखा बनाता और उन तत्त्वों की आपूर्ति करता है जिनके द्वारा उसकी चेतना और उसकी क्रियाशीलता को उसके वर्तमान मानव जीवन और उसके वर्तमान मानव क्षण के लिये जरूरी बाहरी रंग और मोड़ दिये जाते हैं। उसी तरह और उसी कारण मनुष्य अपने वर्तमान अस्तित्व के नाम और चोले के साथ पूरी तरह एक हो जाता है, वह अपने जन्म से पहले के भूतकाल और मृत्यु के बाद के भविष्य के बारे में अज्ञ रहता है। यद्यपि वह जो कुछ भूलता है वह सब उसके अंतर की सब कुछ संचित

रखनेवाली पूर्ण चेतना में वर्तमान और प्रभावी रूप से समाया रहता है।

बाहरी स्तर पर ऐकान्तिक संकेन्द्रण का छोटा-सा व्यावहारिक उपयोग है और अपने अस्थायी स्वरूप के बावजूद वह हमें एक संकेत दे सकता है। बाहरी स्तर पर क्षण-क्षण में जीनेवाला मनुष्य अपने वर्तमान जीवन में मानों अनेक भूमिकाओं में अभिनय करता है और जब वह किसी एक भूमिका में व्यस्त होता है तो वह उसमें ऐकांतिक संकेन्द्रण करने, उसीमें रम जाने में सक्षम होता है जिससे वह अपने बाकी सब कुछ को भूल जाता है, उस समय के लिये उसे अपने पीछे डाल देता है और उस हदतक अपने-आपको भूला रहता है। उस क्षण के लिये मनुष्य अभिनेता, कवि, सैनिक होता है या ऐसा कुछ होता है जैसा उसे उसकी सत्ता की शक्ति, उसके तपस् उसके भूतकाल की सचेतन ऊर्जा की किसी विशेष या लाक्षणिक क्रिया और उससे विकसित होनेवाले कर्म ने उसे गढ़ा और रूपायित किया है। केवल इतना ही नहीं कि उसमें अपने-आपको किसी विशेष समय के लिये अपने-आपके किसी अंग में इस ऐकान्तिक संकेन्द्रण में डालने की क्षमता होती है बल्कि बड़ी हदतक कर्म में उसकी सफलता इसपर निर्भर होती है कि वह कितनी पूर्णता के साथ अपने-आपको अपने बाकी भाग से इस तरह अलग कर सकता है और अपने उस समय के काम में निवास कर सकता है। फिर भी सारे समय हम देख सकते हैं कि वास्तव में संपूर्ण मनुष्य ही कर्म कर रहा होता है केवल उसका यह विशेष भाग नहीं। वह जो कुछ करता है, जैसे करता है, वह उसमें जिन तत्त्वों को लाता है, अपने काम पर कैसी छाप देता है यह निर्भर है उसके पूर्ण चरित्र, मन, सूचना और प्रतिभा पर, इसपर कि उसके भूतकाल ने उसे क्या बनाया है—और केवल उसके इस जीवन के भूत ने नहीं बल्कि और जीवनों के भी भूत ने और फिर केवल उसका भूत नहीं बल्कि स्वयं उसके और उसके चारों तरफ के जगत् के भूत, वर्तमान और पूर्व-निर्धारित भविष्य उसके कर्म के निर्धारक हैं। उसके अंदर वर्तमान अभिनेता, कवि या सैनिक उसके तपस् के केवल पृथक्कारी निर्धारण हैं। यह उसकी सत्ता की शक्ति है जो उसकी ऊर्जा के एक विशेष प्रकार के कर्म के लिये व्यवस्थित की गयी है। यह तपस् की एक पृथक्कारी गति है जो उस क्रिया-विशेष में अपने-आपको इस हदतक रमा सकती है कि अपने बाकी सबको अस्थायी तौर पर भूल जाये, चाहे वह बाकी भाग सारे समय चेतना के पीछे और स्वयं कार्य में भी बना रहे और कार्य को रूप देने में सक्रिय हो या अपना प्रभाव डालता हो और अपने-आपको क्रिया-विशेष में रमा सकने और बाकी सबको भूलने की यह क्षमता दुर्बलता या कमी नहीं है बल्कि चेतना की एक बड़ी शक्ति है। मनुष्य का अपने कार्य और अपनी भूमिका में यह सक्रिय आत्म-विस्मरण उस दूसरे अधिक गहरे आत्म-विस्मरण से इस दिशा में अलग होता है कि इसमें पृथक्ता की दीवार कम दृश्य रूप में पूर्ण होती और वह

टिकाऊ रूप से बिलकुल भी पूर्ण नहीं होती। मन अपनी संकेन्द्रता विघटित करके किसी भी समय अपने कार्य से पीछे हटकर बृहत्तर आत्मा की चेतना में लौट सकता है, जिसकी वह एक आंशिक क्रिया ही था। बाहरी या आभासी मनुष्य इसी तरह से अपनी इच्छा से अपने भीतर के वास्तविक मनुष्य की ओर वापिस नहीं जा सकता। ऐसा वह केवल अपनी मानसता की अपवादिक स्थिति में असामान्य या अधिसामान्य रूप में कुछ हदतक ही कर सकता है या लंबे और कठोर आत्म-प्रशिक्षण, आत्म-निमज्जन, आत्म-उन्नयन और आत्म-विस्तार के परिणामस्वरूप अधिक स्थायी और पूर्ण रूप से कर सकता है। फिर भी वह वापिस लौट सकता है इसलिये यह भेद केवल आभासी है, तात्त्विक नहीं। सारतः दोनों स्थितियों में वह ऐकान्तिक संकेन्द्रण की, अपने किसी विशेष पहलू में, कर्म में या शक्ति की गति में तल्लीन होने की वही गति है यद्यपि है यह भिन्न परिस्थितियों में और भिन्न क्रिया-विधि से।

ऐकान्तिक संकेन्द्रण की यह शक्ति अपनी बृहत्तर आत्मा के विशेष लक्षण या प्रकार में तल्लीन होनेतक सीमित नहीं रहती बल्कि हम जिस क्षण जिस कर्म में विशेष रूप से लगे हुए हैं उसमें पूरी तरह अपने-आपको भूल जानेतक फैली हुई है। प्रबल तीव्रता के समय अभिनेता भूल जाता है कि वह अभिनेता है और वही बन जाता है जिसकी भूमिका का वह रंगमंच पर अभिनय कर रहा है। ऐसी बात नहीं है कि वह सचमुच अपने-आपको राम या रावण मान बैठता है बल्कि वह उस समय के लिये चरित्र और कर्म के उस रूप के साथ एकात्म हो जाता है जिसका प्रतीक वह नाम है और इतनी पूर्णता के साथ एकात्म हो जाता है कि उस वास्तविक मनुष्य को ही भूल जाता है जो अभिनय कर रहा है। इसी तरह कवि अपने काम में अपने-आपको, अपने मनुष्य कार्यकर्ता को भूल जाता है और उस क्षण के लिये वह केवल अंतःप्रेरित, निर्वैयक्तिक ऊर्जा बन जाता है जो अपने-आपको शब्द और छन्द की रचना में क्रियान्वित कर रही है। वह बाकी सबको भूल जाता है। सैनिक अपने-आपको अपने कार्य में भूल जाता है और आक्रमण, क्रोधोन्माद और हत्या बन जाता है। इसी तरह जो मनुष्य तीव्र क्रोध से अभिभूत हो अपने-आपको भूल जाता है और जैसा कि साधारणतः कहा जाता है, या जैसा कि और भी अधिक ठीक रूप में और बलपूर्वक कहा गया है, वह स्वयं क्रोध बन जाता है। ये परिभाषाएं एक ऐसे वास्तविक सत्य को अभिव्यक्त करती हैं जो उस समय के मनुष्य की सत्ता का पूर्ण सत्य तो नहीं होता लेकिन उसकी क्रियाशील सचेतन ऊर्जा का व्यावहारिक तथ्य होता है। वह अपने-आपको भूल जाता है। वह अन्य आवेगों, आत्म-संयम और आत्म-निर्देशन की अन्य सभी शक्तियों के साथ अपने सारे अवशिष्ट को भी भूल जाता है ताकि वह केवल उस आवेश की ऊर्जा के रूप में कार्य करे जो उसे पूरी तरह अपने अधिकार में किये हुए हो, उस समय

के लिये, वह वही ऊर्जा बन जाता है। सामान्य सक्रिय मानव मनोवृत्ति में आत्म-विस्मरण बस यहींतक जा सकता है क्योंकि उसे शीघ्र ही उस विशालतर आत्म-अभिज्ञ चेतना की ओर लौटना होता है जिसकी आत्म-विस्मृति एक अस्थायी गति मात्र है।

लेकिन विशालतर वैश्व चेतना में इस गति को उसके चरम बिंदुतक, कोई सापेक्ष गति जहांतक पहुंच सकती है उसके दूरतम छोरतक पहुंचने के लिये कोई शक्ति होनी चाहिये। उस बिंदुतक मानव अचेतना में नहीं—जो स्थायी नहीं होती और हमेशा लौटकर उस जाग्रत्, सचेतन सत्ता की ओर संकेत करती है, जैसा कि मनुष्य स्वभावतः और साधारणतः होता है—बल्कि जड़ भौतिक प्रकृति की निश्चेतना में पहुंचा जा सकता है। यह निश्चेतना हमारी उस अस्थायी सत्ता के ऐकान्तिक संकेन्द्रण के अज्ञान से अधिक वास्तविक नहीं है जो मनुष्य की जाग्रत् चेतना को सीमित करती है। क्योंकि जैसे हमारे अंदर उसी तरह परमाणु में, धातु में, वनस्पति में, भौतिक प्रकृति के प्रत्येक रूप में, भौतिक प्रकृति की प्रत्येक ऊर्जा में, हम जानते हैं कि एक गुप्त अंतरात्मा, एक गुप्त इच्छा-शक्ति, एक गुप्त प्रज्ञा कार्यरत है जो मूक, आत्म-विस्मारक रूप से भिन्न है, जो उपनिषदों का वह "चेतन" है जो निश्चेतन वस्तुओं में भी सचेतन है—*'चेतनश्चेतनानाम्'*—जिसकी उपस्थिति और अनुप्राणित करनेवाली चित्-शक्ति या तपस् के बिना प्रकृति का कोई भी कार्य संभव न होता। वहां जो निश्चेतन है वह प्रकृति ही है, ऊर्जा की आकारगत गतिशील क्रिया जो अपनी क्रिया में इस हदतक तल्लीन, उसके साथ इस हदतक एकात्म है कि वह एक तरह की समाधि में या एकाग्रता की मूर्च्छा में बंधी हुई है और जबतक उस रूप की कारा में बंद रहती है अपनी वास्तविक आत्मा, अपनी समग्र सचेतन सत्ता और सचेतन सत्ता की समग्र शक्ति की ओर लौटने में असमर्थ है जिसे उसने पीछे रख दिया है, जिसके बारे में वह केवल क्रियाशीलता और ऊर्जा की आनन्दमय समाधि में पूरी तरह विस्मरणशील है। प्रकृति, कार्यकारिणी शक्ति सचेतन सत्, पुरुष के बारे में अनभिज्ञ हो जाती है, उसको अपने अंदर छिपाये रहती है और फिर निश्चेतना की इस मूर्च्छा में से केवल चेतना के आविर्भाव के साथ-साथ धीरे-धीरे अभिज्ञ होती है। पुरुष वस्तुतः अपना प्रतीयमान रूप धारण करने के लिये राजी हो जाता है जिसे प्रकृति उसके लिये बनाती है। वह निश्चेतन, भौतिक सत्ता, प्राणिक सत्ता, मानसिक सत्ता होता हुआ मालूम होता है लेकिन फिर भी इन सबमें वह वास्तव में अपना स्वरूप बना रहता है। गुप्त सचेतन सत्ता का प्रकाश निश्चेतन की या प्रकृति की आविर्भूत होती हुई सचेतन ऊर्जा की क्रिया को सहारा देता और अनुप्राणित करता है।

निश्चेतना जाग्रत् मानव मन के अज्ञान या उसके सोये हुए मन के निश्चेतन या अवचेतन की तरह बाहरी तल की चीज है और उसके अंदर सर्व-चेतन विराजमान है। यह पूरी तरह प्रतिभासिक है परंतु है पूर्ण प्रतिभास। वह इतनी पूर्ण है कि

केवल कार्य करने की इस निश्चेतन पद्धति से कम बंदी बने हुए दूसरे रूपों में आविर्भूत होनेवाली विकसनशील चेतना की प्रेरणा द्वारा ही अपना रूप फिर से पा सकती है, पशु में आंशिक अभिज्ञता का पुनरुद्धार कर सकती है, बाद में मनुष्य में उसकी उच्चतम अवस्थाओं में एक सच्ची क्रिया के प्रथम, अधिक संपूर्ण लेकिन फिर भी बाहरी सूत्रपात की ओर जाने की कुछ संभावना फिर से पा सकती है। फिर भी, जैसा कि बाहरी और वास्तविक मनुष्य में होता है, जहां ऐसी ही यद्यपि कम अयोग्यता है, भेद केवल प्रतिभासिक है। तत्त्वतः, वस्तुओं की वैश्व व्यवस्था में भौतिक प्रकृति की निश्चेतना वही ऐकान्तिक एकाग्रता, कर्म और ऊर्जा में वही तल्लीनता है जैसी जाग्रत् मानव मन के आत्म-परिसीमन में होती है या जैसी अपने कार्य में अपने-आपको भूल जानेवाले मन की एकाग्रता में होती है। उस आत्म-परिसीमन को आत्म-विस्मरण के अंतिम छोरतक पहुंचा दिया जाये तो वह एक अस्थायी क्रिया नहीं बल्कि उसकी क्रिया का विधान बन जाता है। प्रकृति में अविद्या संपूर्ण रूप से आत्म-अज्ञान है। मनुष्य का आंशिक ज्ञान और व्यापक अज्ञान आंशिक आत्म-अज्ञान है जो उसके विकसनशील क्रम में आत्मज्ञान की ओर लौटने का सूचक है। लेकिन दोनों ही, और परीक्षा करके देखा जाये तो समस्त अज्ञान, तपस् का, सत्ता की सचेतन ऊर्जा का अपनी गति की किसी दिशा विशेष या विभाग में बाहरी रूप से ऐकान्तिक आत्म-विस्मरणशील संकेन्द्रण है। वह केवल उसी के बारे में अभिज्ञ है या ऐसा लगता है कि बस वही सतह पर है। उस गतिविधि की सीमाओं के भीतर ही अज्ञान प्रभावकारी है और उसीके प्रयोजनों के लिये मान्य है फिर भी है प्रतिभासिक, एकांगी और सतही, वह तत्त्वतः वास्तविक या समग्र नहीं है। हमें 'वास्तविक' शब्द का उपयोग उसके पूर्ण निरपेक्ष अर्थ में नहीं बल्कि आवश्यक रूप से सीमित अर्थ में करना होता है क्योंकि अज्ञान काफी वास्तविक है पर हमारी सत्ता का पूर्ण सत्य नहीं है और उसे अपने-आपमें देखा जाये तो उसका सत्य हमारी बाहरी अभिज्ञता के आगे गलत तरीके से प्रस्तुत किया जाता है। अपने सच्चे सत्य में वह अंतर्निहित चेतना और ज्ञान है जो अपने असली रूप की ओर विकसित हो रहा है लेकिन वह निश्चेतना और अज्ञान के रूप में क्रियाशील रूप से प्रभावकारी है।

चूंकि अज्ञान का मूल स्वभाव यही है कि वह एक वास्तविक रूप में नहीं, बल्कि प्रतिभासी रूप में विभाजनकारी, सीमित और पृथक् करनेवाली सचेतन ऊर्जा का व्यावहारिक सत्य है जो ऊर्जा अपने कार्य में इतनी तल्लीन है कि ऊपर से ऐसा लगता है कि वह अपनी समग्र और वास्तविक आत्मा के बारे में पूर्णतः विस्मरणशील है, तो अब हम इस गति के बारे में उठनेवाले क्यों, कहां और कैसे के उत्तर दे सकते हैं। अज्ञान का कारण, उसकी आवश्यकता काफी स्पष्ट हो जाती है अगर हम एक बार देख लें कि उसके बिना हमारे जगत् की अभिव्यक्ति का

उद्देश्य असंभव होगा, या तो वह हो ही न पाता या पूरी तरह न होता या उस तरह न होता जैसे होना चाहिये या जैसे है। बहुमुखी अज्ञान के हर पार्श्व का कुछ औचित्य है जो एक सामान्य, व्यापक आवश्यकता का केवल एक भाग है। अपनी कालातीत सत्ता में रहते हुए मनुष्य अपने-आपको काल की धारा में प्रतिक्षण उसके प्रवाह की अधीनता की गति के साथ इस तरह न फेंक सकता जो उसके वर्तमान जीवन का स्वरूप है। अपनी अतिचेतन या अंतस्तलीय आत्मा में रहते हुए अपनी वैयक्तिक मानसता की गांठ में से उन सबंधों को कार्यान्वित न कर पाता जिन्हें उसे अपने चारों ओर के जगत् के साथ उलझाना और सुलझाना पड़ता है या फिर एक मूलतः भिन्न तरीके से करना पड़ता। अहंकारमय, पृथक्कारी चेतना में नहीं, वैश्व आत्मा में रहते हुए अपने-आपको एकमात्र या प्रारंभिक केन्द्र और निर्देश-बिंदु मानकर वह उस पृथक् क्रिया, व्यक्तित्व, दृष्टि-बिंदु को विकसित न कर पाता जो अहंभाव की जागतिक क्रियाओं का योगदान है। उसे कालिक, मनोवैज्ञानिक, अहंकारमय अज्ञान को धारण करना पड़ता है ताकि अपने-आपको अनन्त के प्रकाश और वैश्व की विशालता से बचा सके ताकि इस मोर्चाबंदी के पीछे से विश्व में अपने कालिक व्यक्तित्व को विकसित कर सके। उसे यूं रहना पड़ता है मानों बस एक यही जीवन है और अपने अनन्त भूत और भावी के अज्ञान को धारण करना पड़ता है अन्यथा, अगर उसके लिये अतीत उपस्थित होता तो वह अपने वातावरण के साथ वर्तमान चुने हुए संबंधों को अभीष्ट तरीके से कार्यान्वित न कर पाता। उसका ज्ञान उसके लिये बहुत अधिक हो जाता और अनिवार्य रूप से उसके कार्य के समस्त भाव, संतुलन और रूप को बदल देता। उसे अपने शारीरिक जीवन में रमे हुए मन में निवास करना है, अतिमानस के अंदर नहीं। अन्यथा सीमा बनानेवाली, विभाजन और विभेद करनेवाली मन की शक्ति की बनायी हुई अज्ञान की रक्षक दीवारें या तो बनती ही नहीं या इतनी पतली और पारदर्शक होतीं कि मनुष्य का प्रयोजन सिद्ध न हो पाता।

वह प्रयोजन जिसके लिये यह सारी ऐकान्तिक एकाग्रता, जिसे हम अज्ञान कहते हैं, जरूरी है, वह है आत्म-विस्मरण और आत्मानुसंधान का चक्र पूरा करना जिसके आनंद के लिये गुप्त पुरुष प्रकृति में अज्ञान का रूप धारण करता है। इसका यह मतलब नहीं है कि समस्त वैश्व अभिव्यक्ति इसके बिना असंभव हो जाती, लेकिन हम जिस अभिव्यक्ति में निवास करते हैं, वह उससे एकदम भिन्न होती। वह केवल दिव्य अस्तित्व के उच्चतर जगतों तक ही सीमित होती या फिर अविकसनशील प्ररूपी जगत् तक ही सीमित होती जहां प्रत्येक सत्ता अपनी प्रकृति के विधान के संपूर्ण प्रकाश में रहती और यह प्रतिपक्षी अभिव्यक्ति, यह विकसनशील चक्र असंभव होता। यहां पर जो लक्ष्य है वह तब सतत अवस्था होता, यहां जो एक चरण है वह अस्तित्व का एक स्थायी किया हुआ प्ररूप होता।

सच्चिदानंद अपनी सत्ता और अपनी प्रकृति के प्रतीयमान विरोधों में अपने-आपको पाने के लिये नीचे जड़ भौतिक अविद्या में उतरता और उसके आभासी अज्ञान को ऊपरी छद्मवेश के रूप में धारण करता है जिसमें वह अपने-आपको अपनी सचेतन ऊर्जा से छिपाता है और उसे अपने कार्यों और रूपों में तल्लीन तथा आत्म-विस्मृत छोड़ देता है। धीरे-धीरे जागते हुए जीव को इन्हीं रूपों में अज्ञान की आभासी क्रिया को स्वीकार करना होता है जो सचमुच आद्य अविद्या में से उत्तरोत्तर जागता हुआ ज्ञान है। इन क्रियाओं द्वारा निर्मित नयी अवस्थाओं में उसे फिर से अपने-आपको खोजना होगा और उस जीवन को जो इस भांति अपने निश्चेतन में अवतरण के उद्देश्य को पूरा करने की कोशिश में है, उसे इस प्रकाश द्वारा दिव्य रूप में रूपांतरित करना है। इस वैश्व चक्र का उद्देश्य यह नहीं है कि वह जितनी तेजी से हो सके, उन स्वर्गों की ओर लौट जाये जहां पूर्ण प्रकाश और आनंद शाश्वत हैं या अतिवैश्व आनंद में जा पहुंचे। और न ही इसका उद्देश्य है अज्ञान के लंबे असंतोषजनक खांचे में एक प्रयोजनहीन चक्कर लगाये जाना, उसमें ज्ञान की सतत खोज करना और उसे पूरी तरह न पाना—उस अवस्था में अज्ञान सर्वचेतन की एक ऐसी भूल होगा जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती या फिर दुःखद उद्देश्यहीन और समान रूप से अव्याख्येय आवश्यकता। इसका उद्देश्य है अतिवैश्व से भिन्न अवस्थाओं में, वैश्व सत्ता में आत्मा के आनंद को अनुभव करना और मूर्त रूप में जड़ सत्ता की अवस्था द्वारा प्रस्तुत विरोधों में भी आनंद और प्रकाश के स्वर्ग को पाना; अतः आत्मानुसंधान की ओर परिश्रम करना मानव शरीर में अंतरात्मा के जन्म का और अपने चक्रावर्तनों के क्रम में मानव जाति के श्रम का सच्चा लक्ष्य मालूम होता है। अज्ञान एक आवश्यकता है, यद्यपि है बहुत ही गौण, जिसे वैश्व ज्ञान ने अपने ऊपर आरोपित कर लिया है ताकि वह गति संभव हो सके जो बड़ी भूल या पतन नहीं बल्कि प्रयोजन सहित अवतरण है, कोई अभिशाप नहीं, दिव्य अवसर है। सर्व-आनंद को पाना और उसे उसकी बहुविधता के तीव्र सार में मूर्त करना, ऐसे अनंत सत् की संभावना को प्राप्त करना जिसे अन्य अवस्थाओं में नहीं पाया जा सकता, जड़ पदार्थ में से भगवान् के मंदिर का निर्माण करना ही वह काम मालूम होता है जो जड़ भौतिक विश्व में जन्मी आत्मा को सौंपा गया है।

हम जिस अज्ञान को देखते हैं वह गुप्त अंतरात्मा में नहीं बल्कि प्रकट प्रकृति में है। वह उस समस्त प्रकृति की चीज भी नहीं है क्योंकि प्रकृति सर्व-चेतन की क्रिया है। वह प्रकाश और शक्ति की आद्य सर्वांगीणता में से होनेवाले किसी विकास में से उठता है। वह विकास किस जगह होता है, सत्ता के किस तत्त्व में वह अपना अवसर और आरंभ-बिंदु पाता है ? निश्चय ही अनंत सत्ता, अनंत चेतना और अनंत आनंद में नहीं जो सत्ता के परम लोक हैं और जिनसे शेष सब कुछ उत्पन्न होता है या इस तमसाच्छन्न अस्पष्ट अभिव्यक्ति में उतरता है। वहां इसका कोई स्थान नहीं

हो सकता। अतिमानस में भी नहीं क्योंकि अतिमानस में अत्यंत सांत क्रिया में भी अनंत प्रकाश और शक्ति हमेशा उपस्थित रहती है और ऐक्य की चेतना विभिन्नता की चेतना का आलिंगन करती है। केवल मन के स्तर पर वास्तविक आत्म-चैतन्य को पीछे रखना संभव होता है। क्योंकि मन सचेतन सत्ता की वह शक्ति है जो भेद करती और एकत्व भाव को अपनी क्रियाओं का विशिष्ट धर्म, उनका उपादान मानने की जगह, उसे अपने पीछे रखती हुई, विविधता के भाव को प्रधान और विशिष्ट धर्म बनाती हुई भेद करनेवाली रेखाओं के साथ चलती है। अगर किसी संयोगवश एकता का यह सहारा देनेवाला भाव पीछे खींचा जा सके—मन उसपर स्वयं अपने अधिकार से कब्जा नहीं किये हुए है बल्कि इसलिये कि अतिमानस उसके पीछे है—क्योंकि वह अतिमानस के प्रकाश को प्रतिबिंबित करता है, वह स्वयं उससे उत्पन्न हुआ है और इसकी गौण शक्ति है—अगर मन और अतिमानस के बीच एक परदा गिरे जो सत्य की ज्योति को आने ही न दे या केवल छितरी हुई और बिखरी हुई किरणों के रूप में आने दे जिनमें वह ज्योति प्रतिबिंबित तो हो लेकिन विकृत और विभक्त होकर, तो अज्ञान का प्रपंच हस्तक्षेप करेगा। ऐसे परदे का अस्तित्व है, उपनिषद् का कहना है कि यह स्वयं मन की क्रिया से बना है। अधिमानस में यह एक सोने का ढक्कन (हिरण्यमय पात्र) है जो अतिमानसिक सत्य के चेहरे को ढके रहता है परंतु उसे प्रतिबिंबित करता है। मन में वह अधिक अपारदर्शक, धूमिल-प्रकाशमय ढक्कन बन जाता है। यह क्रिया मन की नीचे की ओर विभिन्नता पर तल्लीन दृष्टि है जो उसकी विशिष्ट गति है और उस परम ऐक्य से दूर है जिसे वह विभिन्नता तबतक अभिव्यक्त करती है जबतक कि वह उस ऐक्य को याद करना और उससे सहारा लेना एकदम भूल ही न जाये। तब भी वह ऐक्य उसे सहारा देता और उसकी क्रियाओं को संभव बनाता है, परंतु तल्लीन ऊर्जा अपने मूल और बृहत्तर, वास्तविक आत्मा से अनभिज्ञ रहती है। चूंकि मन रचनात्मक ऊर्जा की क्रियाओं में तल्लीन रहने के कारण उसे भूल जाता है जिससे वह उत्पन्न हुआ है अतः वह उस ऊर्जा के साथ इतना अधिक तदात्म हो जाता है कि उसे अपने ऊपर भी अधिकार नहीं रहता। वह ऐसी क्रिया की समाधि में इतना अधिक विस्मरणशील हो जाता है कि उसे वह अपनी निद्राचारी क्रिया में सहारा तो देता है पर उसे उसकी अभिज्ञता नहीं होती। यह चेतना के अवतरण की अंतिम भूमिका, चेतना की एक अगाध निद्रा, एक अथाह समाधि है जो जड़ भौतिक प्रकृति की क्रिया की गहरी नींव है।

फिर भी यह याद रखना चाहिये कि जब हम चित्-शक्ति की आंशिक गति की बात करते हैं जो अपनी क्रिया के सीमित क्षेत्र में रूपों और क्रियाओं में तल्लीन है तो इसका अर्थ उसकी समग्रता का कोई वास्तविक विभाजन नहीं होता। अपने शेष भाग को पीछे रखने का यही प्रभाव होता है कि वह गतिविधि के सीमित क्षेत्र में

शेष भाग को बाहर करके बंद तो नहीं करता परंतु उसे तात्कालिक सामने की ऊर्जा के लिये गुह्य बना देता है। वस्तुतः संपूर्ण शक्ति उपस्थित रहती है यद्यपि निश्चेतना उस पर पर्दा डाले रहती है और यही संपूर्ण शक्ति संपूर्ण आत्म-सत्ता की सहायता से अपनी सामने की ऊर्जा द्वारा सब कार्य करती और उस गतिविधि द्वारा निर्मित सभी रूपों में निवास करती है। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि अज्ञान के पर्दे को हटाने के लिये हमारे अंदर सत्ता की सचेतन शक्ति अपनी ऐकान्तिक संकेन्द्रण की शक्ति की उल्टी क्रिया का उपयोग करती है। वह व्यष्टिगत चेतना में प्रकृति की सामने की गतिविधि को शांत कर देती है और छिपी हुई आंतरिक सत्ता पर, आत्मा या सच्ची आंतरिक चैत्य या मनोमय या प्राणमय सत्ता पर, पुरुष पर उसे प्रकट करने के लिये ऐकान्तिक रूप से केन्द्रित होती है। लेकिन ऐसा कर चुकने पर उसे इस विरोधी ऐकान्तिकता में रहने की आवश्यकता नहीं होती। वह फिर से अपनी समग्र चेतना को या सार्वभौम चेतना को अपना सकती है जिसके अंदर पुरुष की सत्ता और प्रकृति की क्रिया दोनों का समावेश है, अंतरात्मा और उसके यंत्रों का, आत्मा और उसकी आत्म-शक्ति का समावेश है। तब वह पूर्व-सीमाओं से मुक्त, प्रकृति की अंतर्निवासी आत्मा की विस्मृति के परिणामों से मुक्त महत्तर चेतना के साथ अपनी अभिव्यक्ति का आलिंगन कर सकती है। या वह अपनी अभिव्यक्त की हुई सारी क्रियाओं को स्थिर-शांत करके आत्मा और प्रकृति के एक उच्चतर स्तर पर केन्द्रित होकर सत्ता को वहां तक उठा और ज्यादा ऊंचे स्तर की शक्तियों को पिछली अभिव्यक्ति का रूपांतर करने के लिये नीचे उतार सकती है। वह सब जिसका रूपांतर किया जा चुका है वह अब भी समाविष्ट होगा पर एक नूतन और महत्तर आत्म-सृजन में, उच्चतर गतिकता और उसके उच्चतर मूल्यों के एक भाग के रूप में। यह तब हो सकता है जब हमारी सत्ता में चित्-शक्ति अपने विकास को मानसिक स्तर से उठाकर अतिमानसिक स्तरतक उठाने का निश्चय करे। हर मामले में तपस् ही प्रभावकारी होता है परंतु वह, जो कुछ करना है उसके अनुरूप, पूर्वनिश्चित प्रक्रिया, गतिकता और अनंत के आत्म-विस्तार के अनुसार भिन्न-भिन्न रीतियों से कार्य करता है।

लेकिन फिर भी, अगर अज्ञान का यही क्रिया-विन्यास है तो यह पूछा जा सकता है कि क्या अब भी यह बात एक रहस्य नहीं है कि सर्व-सचेतन, चाहे अपनी सचेतन ऊर्जा की एक बहुत ही आंशिक क्रिया में ही सही, इस ऊपरी अज्ञान और निश्चेतनातक कैसे आ पहुंचता है। अगर ऐसा है भी तो इस रहस्य की ठीक-ठीक क्रिया को, उसकी प्रकृति, उसकी सीमाओं को निश्चित करना सार्थक होगा ताकि हम उससे भयभीत तथा विस्मित होकर उसके वास्तविक प्रयोजन और उसके दिये अवसर से भटक न जायें। लेकिन रहस्य विभाजक बुद्धि की कल्पना है जो चूंकि दो धारणाओं के बीच तर्क-सम्मत विरोध पाती है या निर्मित कर लेती है इसलिये सोचती है कि इन दो अवलोकित तथ्यों के बीच वास्तविक विरोध है और उनमें

सह-अस्तित्व या ऐक्य असंभव है। जैसा कि हम देख आये हैं यह अज्ञान सचमुच अपने-आपको सीमित करने के लिये, हाथ में लिये हुए काम पर अपने-आपको केन्द्रित करने के लिये ज्ञान की एक शक्ति है, व्यवहार में एक ऐकान्तिक संकेन्द्रण है जो पीछे स्थित समग्र सचेतन सत्ता के पूर्ण अस्तित्व और क्रिया को रोकता नहीं है बल्कि प्रकृति पर अपने-आप आरोपित और चुनी हुई अवस्थाओं में कार्य करता है। समस्त सचेतन आत्म-सीमांकन कोई दुर्बलता नहीं, विशेष प्रयोजन के लिये एक शक्ति है, समस्त संकेन्द्रण सचेतन सत्ता की एक सामर्थ्य है, कोई असमर्थता नहीं। यह सच है कि जहां अतिमानस पूर्ण, व्यापक, बहुविध, अनंत आत्म-संकेन्द्रण में समर्थ है वहां यह विभाजित और सीमित करनेवाला है। यह भी सच है कि यह वस्तुओं को विकृत करता और साथ ही आंशिक और अभीतक मिथ्या और अर्द्ध-सत्य मूल्यों का निर्माण करता है लेकिन हम ज्ञान के इस सीमांकन और इस आंशिकता का उद्देश्य देख आये हैं। और जब उद्देश्य को स्वीकार कर लिया गया है तो निरपेक्ष सत्ता की निरपेक्ष शक्ति में उसे पूरा करने की शक्ति को भी मानना होगा। किसी विशेष क्रिया के लिये आत्म-सीमांकन की यह शक्ति उस सत्ता की निरपेक्ष सचेतन शक्ति से असंगत होने की जगह ठीक उन शक्तियों में से एक होनी चाहिये जिसके अस्तित्व की हम अनंत की बहुविध शक्तियों में आशा कर सकते हैं।

सचमुच निरपेक्ष अपने अंदर से संबंधों का एक विश्व प्रकट करने से सीमित नहीं हो जाता। यह उसकी निरपेक्ष सत्ता, चेतना, शक्ति, आत्मानन्द की एक स्वाभाविक लीला है। अपने अंदर सांत प्रपंचों की अन्योन्य क्रियाओं की अनंत शृंखलाएं बनाने से अनंत सीमित नहीं हो जाता, बल्कि यह उसका स्वाभाविक आत्म-प्रकटन है। एकमेव अपने बहुत्व की क्षमता के कारण सीमित नहीं हो जाता जिसमें वह विभिन्न रूप से अपनी निजी सत्ता का आनंद लेता है, बल्कि यह तो अनन्त के सच्चे वर्णन का अंश है जो कठोर, सांत, धारणात्मक एकता से विपरीत है। इसी भांति अज्ञान, जिसे सचेतन सत्ता के बहुविध आत्मलीन और अपने-आपको सीमित करनेवाले संकेन्द्रण की एक शक्ति माना जाये तो, वह भी उसके आत्म सचेतन ज्ञान में विविध परिवर्तन लाने की स्वाभाविक क्षमता है। यह उन संभव स्थितियों में से एक है जिसे निरपेक्ष अपनी अभिव्यक्ति में संबंध के लिये, अनंत अपनी सांत क्रियाओं की शृंखला के लिये, एकमेव बहु में अपने आत्मानन्द के लिये अपनाता है। चेतना की इस क्षमता का एक छोर है तल्लीनता द्वारा जगत् के बारे में अनभिज्ञ होने की क्षमता, जब कि जगत् सत्ता में बना रहता है और दूसरा छोर है वैश्व क्रियाओं में ऐसी तल्लीनता कि व्यक्ति उस आत्मा के बारे में अज्ञ हो जाये जो सारे समय उन क्रियाओं को चलाती रहती है। लेकिन दोनों में से कोई भी वास्तव में सच्चिदानंद की संपूर्ण स्वयं-प्रज्ञ सत्ता को सीमित नहीं करती जो अपने इन प्रतीयमान विरोधों से श्रेष्ठतर है। वे अपने विरोध में भी अनिर्वचनीय को प्रकट और अभिव्यक्त करने में मदद देती हैं।

अध्याय १४

मिथ्यात्व का, भ्रांति, भूल और अशुभ का मूल और उपाय

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

प्रभु न किसी का पाप ग्रहण करते हैं न पुण्य। चूंकि ज्ञान अज्ञान के पर्दे में है इसलिये मनुष्य मोह में फंस जाते हैं।

गीता ५. १५

अमन्यतान्यतात्मानो वै ते... तदिमे मूढा उपजीवन्त्यभिभ्रिन्नः
... अनृताभिशंसिनः सत्यमिवानृतं पश्यन्ति इन्द्रजालवदिति॥

वे आत्मा के बारे में सत्य से भिन्न विचार से जीते हैं जो मूढ़ आसक्त रहते हुए मिथ्यात्व को प्रकट करते हैं—मानों वे इन्द्रजाल के वश होकर अनृत को सत्य के रूप में देखते हैं।

मैत्र्युपनिषद् ७. १०

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः... ।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः।

वे अज्ञान में रहते और विचरण करते हैं और टूटते हुए, ठोकरें खाते, लड़खड़ाते हुए गोल-गोल चक्कर लगाते हैं जैसे अंधे के द्वारा निर्देशित अंधे।

मुण्डकोपनिषद् १. २. ८

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते

जिसकी बुद्धि ने एकत्व पा लिया है वह अपने अंदर से सुकृत्य और दुष्कृत्य दोनों को निकाल फेंकता है।

गीता २. ५०

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्... एतं ह वाव न तपति
किमहं साधु नाकरवम्, किमहं पापमकरवमिति।
स यः... विद्वान्... आत्मानम्...
उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते।

जिसने शाश्वत का आनंद पा लिया है उसे फिर यह विचार तंग नहीं करता कि मैंने शुभ क्यों नहीं किया, मैंने अशुभ क्यों किया? जो

आत्मा को जानता है वह अपने-आपको इन दोनों में से मुक्त कर लेता है।

तैत्तिरीयोपनिषद् २. ९

इमे चेतारो अनृतस्य भूरेः . . . ।
इम ऋतस्य वावृधुर्दुरोणे शग्मासः पुत्रा अदितेरदब्धाः ॥

ये वे हैं जो जगत् के बहुत-से मिथ्यात्व को जानते हैं, वे सत्य के भवन में बढ़ते हैं, वे शाश्वतता के बलशाली और अजेय पुत्र हैं।

ऋग्वेद ७. ६०. ५

प्रथमोत्तमे . . . सत्यं मध्यतोऽनृतं तदेतदनृतमुभयतः
सत्येन परिगृहीतं, सत्यभूयमेव भवति ॥

पहला और सबसे ऊंचा सत्य है, बीच में मिथ्यात्व है। लेकिन दोनों ओर से सत्य उसे लिये हुए है और वह सत्य से ही अपनी सत्ता को पाता है।[1]

बृहदारण्यक उपनिषद् ५. ५. १

अगर अज्ञान स्वभावतः अपने-आपको सीमित करनेवाला ज्ञान है जो समग्र आत्म-अभिज्ञता को भूल जाता है और एक ही क्षेत्र में या जागतिक गतिविधि को छिपानेवाली बाहरी सतह पर ऐकान्तिक संकेन्द्रण में सीमित हो जाता है तो इस दृष्टि के अनुसार हम उस समस्या का क्या करें जिसमें मनुष्य का मन सबसे अधिक तीव्र रूप से लगा रहता है जब वह अपने निजी अस्तित्व या वैश्व अस्तित्व के सबसे बड़े रहस्य, अशुभ की समस्या की ओर मुड़ता है ? प्रच्छन्न सर्व-प्रज्ञ की सहायता-प्राप्त सीमित ज्ञान को आवश्यक प्रतिबंधों के अंदर, प्रतिबद्ध विश्व-व्यवस्था को कार्यान्वित करने के लिये वैश्व चेतना और ऊर्जा की बुद्धिगम्य प्रक्रिया के उपकरण-रूप में स्वीकार किया जा सकता है लेकिन मिथ्यात्व और भ्रांति की आवश्यकता, भूल या अशुभ की आवश्यकता या सर्वव्यापी दिव्य सद्वस्तु की क्रियाओं में उनकी उपादेयता को आसानी से नहीं स्वीकार किया जा सकता। फिर अगर वह सद्वस्तु वह है जो हमने उसे मान रखा है तो इन विपरीत प्रपंचों के प्रकट होने की कोई आवश्यकता, उनकी कोई सार्थकता तो होनी ही चाहिये, उनका कोई ऐसा कार्य होना चाहिये जो उन्हें जगत् की व्यवस्था में पूरा करना होगा। क्योंकि ब्रह्म के पूर्ण

[1] भौतिक वास्तविकता का सत्य और आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक अवस्था का सत्य। इन दोनों के बीच में स्थित मध्यवर्ती विषयीगत और मनोमय सत्यों में मिथ्यात्व प्रवेश कर सकता है लेकिन यह मिथ्यात्व या तो ऊपर से या नीचे से सत्य को उस पदार्थ के रूप में ले सकता है जिसमें से वह अपनी रचना करता है। दोनों ही उसपर दबाव डालते रहते हैं ताकि उसकी गलत रचना को जीवन के सत्य और आत्मा के सत्य में बदल सकें।

और अविच्छेद्य आत्मज्ञान में जो आवश्यक रूप से सर्व-ज्ञान है, क्योंकि जो कुछ है सब ब्रह्म है, इस प्रकार के प्रपंच अचानक हस्तक्षेप करनेवाले संयोग, विश्व में सर्व प्रज्ञ की चित्-शक्ति की अनैच्छिक विस्मृति या अस्तव्यस्तता के रूप में या एक ऐसे भद्दे अनिष्ट के रूप में नहीं आ सकते जिसके लिये अंदर निवास करनेवाली आत्मा तैयार न थी और वह जिसकी कैद में पड़ी भूल-भुलैया में भटक रही है, जिससे बच निकलना बहुत कठिन है। न ही वह सत्ता की कोई मौलिक और शाश्वत अनिर्वचनीय पहेली हो सकती है जिसका दिव्य गुरु अपने आगे या हमारे आगे हल कर देने में असमर्थ हैं। उसके पीछे स्वयं सर्व-प्रज्ञा का कोई अर्थ होना चाहिये, सर्व-चेतना की कोई ऐसी शक्ति होनी चाहिये जो आत्मानुभव और जगत्-अनुभव की वर्तमान क्रिया में किसी अनिवार्य कार्य के लिये उसे स्वीकृति देती और उसका उपयोग करती है। अब हमें सत्ता के इस पहलू का अधिक सीधे तरीके से निरीक्षण करना है और उसके मूल और उसकी वास्तविकताओं की सीमाओं और प्रकृति में उसके स्थान का निर्णय करना है।

इस समस्या को तीन दृष्टिकोणों से लिया जा सकता है—उसका निरपेक्ष, परम सद्वस्तु के साथ संबंध, वैश्व क्रियाओं में उसका स्रोत और स्थान, व्यक्तिगत सत्ता में उसकी क्रिया और उसका अधिकार-स्थल। यह तो स्पष्ट ही है कि इन विरोधी प्रपंचों की स्वयं परम सद्वस्तु में कोई सीधी जड़ नहीं है। वहां ऐसी कोई चीज नहीं है जिसमें ऐसा गुण हो। ये अज्ञान और निश्चेतना की रचनाएं हैं, सत्ता के आधारभूत या प्रामाणिक पहलू नहीं हैं, परात्पर या विश्वात्मा की अनंत शक्ति के वासी नहीं हैं। कभी-कभी यह तर्क दिया जाता है कि जैसे सत्य और शुभ के अपने निरपेक्ष रूप हैं उसी तरह मिथ्यात्व और अशुभ के भी निरपेक्ष रूप होने चाहियें, अगर ऐसा नहीं है तो दोनों ही केवल सापेक्ष चीजें हैं; ज्ञान और अज्ञान, सत्य और मिथ्यात्व, शुभ और अशुभ केवल एक-दूसरे के सापेक्ष हैं और यहां पर उनके द्वंद्वों के परे उनका कोई अस्तित्व नहीं है। लेकिन इन विपरीतों के संबंध का यह आधारभूत सत्य नहीं है क्योंकि पहली बात तो यह कि सत्य और शुभ के विपरीत मिथ्यात्व और अशुभ स्पष्ट रूप से अज्ञान के परिणाम हैं और उनका अस्तित्व वहां नहीं हो सकता जहां अज्ञान न हो, भागवत सत्ता के अंदर उनका अपना अस्तित्व नहीं हो सकता, वे परम प्रकृति के सहज तत्त्व नहीं हो सकते। तो अगर सीमित ज्ञान जो अज्ञान का धर्म है अपनी सीमाओं को त्याग दे, अगर अज्ञान ज्ञान में लुप्त हो जाये तो अशुभ और मिथ्यात्व नहीं टिक सकते क्योंकि दोनों ही अचेतना और गलत चेतना के फल हैं और अगर सच्ची या समग्र चेतना अज्ञान का स्थान ले रही हो तो फिर उनके अस्तित्व के लिये कहीं कोई आधार नहीं रह जाता। अतः मिथ्यात्व का निरपेक्ष रूप नहीं हो सकता, अशुभ का निरपेक्ष रूप नहीं हो सकता, ये चीजें जागतिक क्रिया की गौण रचनाएं हैं। मिथ्यात्व, दुःख-दर्द और अशुभ के मलिन फूलों की जड़

निश्चेतना की काली मिट्टी में होती है। दूसरी ओर सत्य और शुभ की निरपेक्षता में ऐसी कोई अंतर्भूत बाधा नहीं है। सत्य और भ्रांति, शुभ और अशुभ की सापेक्षता हमारे अनुभव के तथ्य हैं। वे भी इसी तरह गौण रचनाएं हैं, सत्ता के लिये सहज स्थायी तत्त्व नहीं हैं क्योंकि यह केवल मानव चेतना द्वारा किये गये मूल्यांकनों के बारे में सच है, हमारे आंशिक ज्ञान और आंशिक अज्ञान के बारे में सच है।

हमारे लिये सत्य सापेक्ष है क्योंकि हमारा ज्ञान अज्ञान से घिरा हुआ है। हमारा यथार्थ दर्शन बाहरी आभासों पर ही रुक जाता है जो वस्तुओं के पूर्ण सत्य नहीं हैं और अगर हम ज्यादा गहरे जायें तो हम जिन दीप्तियों पर जा पहुंचते हैं वे केवल अटकलें, अनुमान या नकल होती हैं, सुनिश्चित वास्तविकताओं का दर्शन नहीं, हमारे निष्कर्ष आंशिक, संदिग्ध, निर्मित होते हैं। उनके बारे में हमारा वक्तव्य, जो वास्तविकता के साथ परोक्ष संपर्क की अभिव्यंजना होता है, उसका स्वभाव है प्रतिरूप या आकार, विचार-प्रत्यक्षणों के शब्द-चित्र जो अपने-आप बिंब होते हैं, स्वयं सत्य के मूर्त रूप नहीं होते, प्रत्यक्ष रूप से सत्य और प्रामाणिक नहीं होते। ये आकार या प्रतिरूप अपूर्ण और धुंधले होते हैं और अपने साथ अपनी अविद्या या भ्रांति की छाया लिये रहते हैं क्योंकि ऐसा लगता है कि वे अन्य सत्यों से इंकार करते या उनका रास्ता रोक देते हैं। यहांतक कि वे जिस सत्य को प्रकट करते हैं उसे भी अपना पूरा मूल्य नहीं मिलता। उसका एक छोर या किनारा ही रूप में प्रक्षिप्त होता है और बाकी भाग को छाया में अदृश्य या विरूपित या अनिश्चित रूप से दृश्य छोड़ दिया जाता है। लगभग यह कहा जा सकता है कि वस्तुओं के बारे में कोई मानसिक कथन पूरी तरह सच्चा नहीं हो सकता, वह मूर्त, शुद्ध और नग्न सत्य नहीं होता, बल्कि एक आच्छादित आकृति ही होता है और बहुधा केवल आच्छादन ही दिखायी देता है। लेकिन यह गुण उस सत्य पर लागू नहीं होता जिसे चेतना की प्रत्यक्ष क्रिया द्वारा देखा जाता है, न ही ज्ञान के उस सत्य पर जो तादात्म्य द्वारा प्राप्त होता है। वहां हमारी दृष्टि सीमित हो सकती है लेकिन वह जहांतक पहुंचती है, प्रामाणिक रहती है और प्रामाणिकता निरपेक्षता की ओर पहला कदम है। भ्रांति अपने-आपको वस्तुओं की प्रत्यक्ष या तादात्म्यवाली दृष्टि के साथ मानसिक सहवर्धन द्वारा गलत या अवैध विस्तार या मन की गलत व्याख्या के द्वारा जोड़ सकती है लेकिन वह स्वयं पदार्थ के अंदर प्रवेश नहीं करती। वस्तुओं की यह प्रामाणिक या एकात्म दृष्टि या अनुभव ज्ञान का सच्चा स्वभाव है और वह सत्ता के अंदर स्वयंभू है यद्यपि हमारे मनों में वह एक गौण रूपायण द्वारा अनूदित होती है जो अप्रामाणिक और व्युत्पन्न या अमौलिक होता है। अज्ञान के अपने मूल में न यह स्वयंभुत्व होता है और न यह प्रामाणिकता। अज्ञान का अस्तित्व ज्ञान के परिसीमन या अभाव या प्रसुप्त होने पर होता है। भूल-भ्रांति का अस्तित्व सत्य से स्खलन, मिथ्यात्व का अस्तित्व सत्य की विकृति या खंडन या निषेध पर होता है।

लेकिन इसी तरह ज्ञान के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि स्वभावतः वह सीमांकन या अज्ञान के अभाव या स्थगन के कारण होता है। वस्तुतः वह मानव मन में अंशतः इस प्रकार के सीमांकन या स्थगन की प्रक्रिया के कारण, आंशिक प्रकाश से अंधकार के पीछे हटने के कारण उभर सकता है या उसमें अज्ञान के ज्ञान में बदलने का पक्ष भी हो सकता है, परंतु तथ्य यह है कि वह हमारी गहराइयों में से, जहां उसका सहज अस्तित्व होता है, एक स्वतंत्र जन्म के रूप में ऊपर उठता है।

और फिर शुभ और अशुभ के बारे में यह कहा जा सकता है कि एक का अस्तित्व सच्ची चेतना से है और दूसरा केवल गलत चेतना के सहारे ही बना रहता है। अगर अमिश्रित सत्य-चेतना हो तो केवल शुभ ही रह सकता है, वह अशुभ के साथ मिला हुआ या उसकी उपस्थिति में निर्मित नहीं होता। वास्तव में मनुष्य के शुभ और अशुभ के मूल्य, सत्य और भ्रांति के मूल्यों की तरह अनिश्चित और सापेक्ष होते हैं। जो एक स्थान या काल में सत्य माना जाता है वही किसी और जगह या किसी और समय भ्रांति माना जाता है। जिसे शुभ माना जाता है उसे ही कहीं और, किसी और समय में अशुभ कहा जाता है। हम यह भी देखते हैं कि हम जिसे अशुभ मानते हैं उसका परिणाम शुभ आता है और हम जिसे शुभ मानते हैं उसका परिणाम अशुभ होता है। लेकिन शुभ से अशुभ पैदा होने का यह अप्रिय परिणाम ज्ञान तथा अज्ञान की अस्त-व्यस्तता और मिश्रण के कारण और सत्य-चेतना में अनृत चेतना के प्रवेश के कारण होता है जिसके फलस्वरूप हमारे शुभ का अज्ञानमय या भ्रांत उपयोग होता है या फिर यह दुःख देनेवाली शक्तियों के हस्तक्षेप के कारण होता है। इसके विपरीत मामले में जहां अशुभ शुभ को पैदा करता है सुखद और विपरीत परिणाम का कारण है किसी गलत चेतना और गलत इच्छा के बावजूद, पीछे से क्रिया करनेवाली किसी सच्ची चेतना और शक्ति का हस्तक्षेप या ठीक करनेवाली शक्तियों का हस्तक्षेप। यह सापेक्षता, यह मिश्रण मानव मानसिकता और मानव जीवन में वैश्व शक्ति की क्रिया की परिस्थिति है, यह शुभ और अशुभ का आधारभूत सत्य नहीं है। यह आपत्ति की जा सकती है कि भौतिक अशुभ—जैसे दर्द और अधिकतर शारीरिक कष्ट—ज्ञान और अज्ञान, उचित और अनुचित चेतना से स्वतंत्र, भौतिक प्रकृति में अंतर्निहित हैं लेकिन मूलतः सभी दर्द और कष्ट सतही सत्ता में अपर्याप्त चित्-शक्ति के परिणाम होते हैं जो उसे आत्मा और प्रकृति के साथ ठीक व्यवहार करने से रोकती है या अपने-आपको वैश्व ऊर्जा के संपर्कों को आत्मसात् करने और उनके साथ सामंजस्य रखने के अयोग्य बना देती है। अगर हमारे अंदर प्रकाशमान चेतना की पूर्ण उपस्थिति और समग्र सत्ता की दिव्य शक्ति रहे तो उनका अस्तित्व न रहेगा। अतः मिथ्यात्व के साथ सत्य का, शुभ के साथ अशुभ का संबंध अन्योन्याश्रित नहीं है बल्कि उसका

स्वरूप प्रकाश और छाया की तरह परस्पर-विरोध का है। छाया अपने अस्तित्व के लिये प्रकाश पर निर्भर है लेकिन प्रकाश अपने अस्तित्व के लिये छाया पर निर्भर नहीं। निरपेक्ष और उसके कुछ मूलभूत पहलुओं के इन विपरीतों के बीच ऐसा संबंध नहीं है कि वे निरपेक्ष के मूलभूत विपरीत पहलू हों। मिथ्यात्व और अशुभ में कोई मूलस्वर नहीं है, अनन्तता या शाश्वत सत्ता की कोई शक्ति नहीं है, स्वयंभू में सोया हुआ स्वयंभुत्व भी नहीं है, किसी मूल अन्तःस्थिति की प्रामाणिकता भी नहीं है।

निःसंदेह यह एक तथ्य है कि जब एक बार सत्य या शुभ अभिव्यक्त हो जाता है तो मिथ्यात्व और अशुभ की धारणा संभावना हो जाती है; क्योंकि जहां कहीं अस्तिभाव है वहां उसका नास्तिभाव भी कल्पनीय बन जाता है। जैसे अस्तित्व, चेतना और आनंद की अभिव्यक्ति ने असत्, निश्चेतना और संवेदनहीनता को कल्पनीय बना दिया और कल्पनीय होने के नाते एक तरह से अनिवार्य बना दिया। क्योंकि सभी संभावनाएं जबतक वास्तविक नहीं बन जातीं तबतक उसकी ओर जोर लगाती रहती हैं, उसी तरह दिव्य सत्ता के पहलुओं के इन विरोधियों के साथ है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि ये विपरीत चूंकि अभिव्यक्त होनेवाली चेतना को अभिव्यक्ति की देहली पर ही तत्काल दृष्टिगम्य होते होंगे अतः इन्हें भी अंतर्निहित परम तत्त्वों की श्रेणी में रखा जा सकता है और ये सारी विश्व सत्ता से अविच्छेद्य हैं। लेकिन पहले यह ध्यान रखना चाहिये कि वे केवल वैश्व अभिव्यक्ति में ही संभव होते हैं। वे कालातीत सत्ता के अंदर पहले से ही उपस्थित नहीं हो सकते क्योंकि वे उसके पदार्थ, ऐक्य और आनंद के साथ मेल नहीं खाते। विश्व में भी सत्य और शुभ के आंशिक और सापेक्ष रूपों में सीमांकन के बिना या सत्ता और चेतना के ऐक्य को पृथक्कारी चेतना और पृथक्कारी सत्ता में अलग-अलग किये बिना वे अस्तित्व में नहीं आ सकते। क्योंकि जहां कहीं बहुत्व और विभिन्नता में भी चित्-शक्ति का एकत्व और पूर्ण पारस्परिकता है वहां आत्म-ज्ञान और पारस्परिक ज्ञान का सत्य स्वतः-स्फूर्त रहता है और आत्म-अज्ञान और पारस्परिक अज्ञान की भ्रांति असंभव है। इसी तरह जहां सत्य समग्र रूप में आत्म-अभिज्ञ एकता के आधार पर उपस्थित होता है, वहां मिथ्यात्व प्रवेश नहीं कर सकता और गलत चेतना और गलत इच्छा और उनकी मिथ्यात्व और भ्रांति की क्रिया-शक्ति के अपवर्जन के कारण अशुभ के लिये दरवाजा बंद रहता है। जैसे ही पृथक्ता प्रवेश करती है, ये चीजें भी प्रवेश पा सकती हैं लेकिन यह युगपत्ता भी अनिवार्य नहीं है। एकता के सक्रिय भाव की अनुपस्थिति में भी अगर पर्याप्त पारस्परिकता हो, यदि अलग-अलग जीव अपने सीमित ज्ञान के आदर्शों का उल्लंघन न करें या उनसे च्युत न हों तो सामंजस्य और सत्य फिर भी प्रभुत्व रख सकते हैं और अशुभ के प्रवेश के लिये कोई द्वार न होगा। अतः, जैसे मिथ्यात्व और अशुभ की कोई परमता और निरपेक्षता नहीं है उसी तरह उनका विश्वत्व भी

प्रामाणिक और अनिवार्य नहीं है। ये केवल परिस्थितियां या परिणाम हैं जो एक अवस्था विशेष में आते हैं जहां पृथकता विरोध में परिणत होती है और अज्ञान की परिणति ज्ञान के प्रति आरंभिक अचेतना में और फलस्वरूप गलत चेतना, गलत ज्ञान अपने अंदर गलत इच्छा, गलत संवेदन, गलत क्रिया और गलत प्रतिक्रिया लिये आते हैं। अब प्रश्न यह है कि वैश्व अभिव्यक्ति के किस संधि-स्थल पर विरोधी अंदर प्रवेश करते हैं क्योंकि यह प्रवेश पृथक्कारी मन और प्राण में चेतना के बढ़ते हुए अंतर्वलय में हो सकता है या फिर निश्चेतना में डुबकी लगाने के बाद। इसके परिणास्वरूप यह प्रश्न उठता है कि क्या मिथ्यात्व, भ्रांति, भूल और अशुभ मौलिक रूप से मानसिक और प्राणिक स्तर पर रहते हैं और मन और प्राण के वासी हैं या भौतिक अभिव्यक्ति की चीजें हैं और क्योंकि ये निश्चेतना में से उभरते हुए अंधकार द्वारा मन और प्राण पर आरोपित हुए हैं यह प्रश्न भी किया जा सकता है कि अगर अतिभौतिक मन और प्राण में उनका अस्तित्व है तो क्या वे वहां आद्य रूप में और अनिवार्य हैं, क्योंकि हो सकता है कि वे वहां जड़ भौतिक अभिव्यक्ति के परिणामस्वरूप या उसके अतिभौतिक प्रसारण के रूप में प्रवेश कर गये हों। और अगर यह बात मान्य न हो तो हो सकता है कि वे वैश्व मन और प्राण में से एक समर्थकारी अतिभौतिक प्रतिष्ठापन के रूप में, सृजनशील निश्चेतना के अनिवार्य परिणामस्वरूप, वे जिस अभिव्यक्ति की अधिक स्वाभाविक चीजें हैं उसमें प्रकट होने के लिये पूर्ववर्ती आवश्यकता के रूप में प्रकट हुए हों।

मानव मन परंपरागत ज्ञान के रूप में एक लंबे समयतक यह मानता रहा है कि जब हम भौतिक लोक के पार जाते हैं तो ये चीजें वहां परा लोकों में भी पायी जाती हैं। अतिभौतिक अनुभव के इन लोकों में प्राणिक मन और प्राण की ऐसी शक्तियां और रूप हैं जो प्राणिक मन और प्राण-शक्ति के बेमेल, दोषपूर्ण या विकृत रूपों और उन शक्तियों के, जिन्हें हम पार्थिव सत्ता में पाते हैं, पूर्व-भौतिक रूप हैं। ऐसी शक्तियां हैं और ऐसा लगता है कि अंतस्तलीय अनुभव यह दिखाता है कि ऐसी अतिभौतिक सत्ताएं हैं जो उन शक्तियों को मूर्त रूप देती हैं, जो अपने मौलिक स्वभाव से ही अज्ञान के साथ, चेतना के अंधकार के साथ, शक्ति के दुरुपयोग के साथ, आनंद की विकृति के साथ और चीजों के उन सब कारणों या परिणामों के साथ संलग्न हैं जिन्हें हम अशुभ कहते हैं। ये शक्तियां, सत्ताएं या सामर्थ्य अपनी विरोधी रचनाओं को पार्थिव जीवों पर थोपने के लिये सक्रिय रहती हैं, अभिव्यक्ति में अपना राज्य बनाये रखने के लिये उत्सुक होती हैं। वे प्रकाश और सत्य और शुभ के बढ़ने का विरोध करती हैं और उससे भी अधिक विरोधी हैं दिव्य चेतना और दिव्य सत्ता की ओर अंतरात्मा की प्रगति की। हम सृष्टि के इस रूप को ही ज्योति और अंधकार, शुभ और अशुभ, वैश्व सामंजस्य और वैश्व अराजकता के बीच संघर्ष की परंपरा में देखते हैं। यह परंपरा प्राचीन पुराण-

कथाओं और धर्मों में व्यापक है और गुह्य ज्ञान की सभी पद्धतियों में पायी जाती है।

इस परंपरागत ज्ञान का सिद्धांत बिलकुल तर्कसंगत और भीतरी अनुभूति द्वारा प्रमाणनीय है और अगर हम अपने-आपको जड़ भौतिक सत्ता की ही एकमात्र वास्तविकता मानकर उसीमें बंदी न हो जायें और अतिभौतिक को स्वीकार करें तो यह अपने-आपको आरोपित करता है। जैसे एक विश्वरूप और विश्वात्मा है जो सारे विश्व और उसके प्राणियों में व्यापक है और उन्हें धारण करता है उसी तरह एक वैश्व शक्ति है जो सभी चीजों को गति देती है और इस आद्य वैश्व शक्ति पर वे बहुत-सी वैश्व शक्तियां निर्भर या सक्रिय हैं जो उसीकी शक्तियां हैं, या उसकी विश्व-क्रिया के रूपों की तरह उभरती हैं। विश्व में जो कुछ रूपायित होता है उसमें एक शक्ति या शक्तियां होती हैं जो उसे सहारा देती हैं, उसे परिपूर्ण करने या आगे बढ़ाने की कोशिश करती हैं, उसकी क्रियाशीलता में अपनी नींव, उसकी सफलता, वृद्धि और प्रधानता में अपनी सफलता का हिसाब, उसकी विजय या अतिजीविता में अपनी आत्म-परिपूर्ति या सत्ता का दीर्घीकरण पाती हैं। जैसे ज्ञान की शक्तियां, प्रकाश की शक्तियां हैं उसी तरह अज्ञान की शक्तियां और अंधकार की निरानंद शक्तियां हैं जिनका काम है अज्ञान और निश्चेतना के राज्य को और लंबा करना। जैसे सत्य की शक्तियां हैं उसी तरह ऐसी शक्तियां हैं जो मिथ्यात्व के सहारे रहती, उसे सहारा देती और उसकी विजय के लिये काम करती हैं। जैसे ऐसी शक्तियां हैं जिनका जीवन घनिष्ठ रूप से शुभ के अस्तित्व, भाव और आवेग के साथ बंधा हुआ है उसी तरह ऐसी शक्तियां हैं जिनका जीवन अशुभ के अस्तित्व, भाव और आवेग के साथ बंधा है। प्रकाश और अंधकार, शुभ और अशुभ की शक्तियों के बीच जगत् पर अधिकार और मानव जीवन पर शासन करने के लिये संघर्ष की प्राचीन मान्यता में वैश्व 'अदृश्य' के इसी सत्य को प्रतीक-रूप में कहा गया है। वैदिक देवों और उनके विरोधी अंधकार और विभाजन के पुत्रों के बीच युद्ध इसी का प्रतीक है। यही अंधकार के पुत्र बाद की परंपराओं में दानव और दैत्य, असुर, राक्षस, पिशाच बने। यही परंपरा जरदुश्त के द्वैत-तत्त्व और बाद के सामी (सेमेटिक—यहूदी, ईसाई, मुसलमान) की मान्यता में है जिसमें भगवान् और उनके फरिश्ते एक ओर हैं और शैतान तथा उसका दल-बल दूसरी ओर है—ये अदृश्य व्यक्तित्व और शक्तियां हैं जो मनुष्य को दिव्य ज्योति और सत्य और शुभ की ओर ले जाती या अंधकार, मिथ्यात्व और अशुभ के अदिव्य तत्त्व की अधीनता की ओर लुभाती हैं। आधुनिक विचार उन अदृश्य शक्तियों के सिवा किसी और से अभिज्ञ नहीं है जिन्हें भौतिक विज्ञान ने प्रकट या निर्मित किया है। वह यह नहीं मानता कि भौतिक जगत् में हमारे चारों ओर जो मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप, मछली, कीट, जीवाणु, कीटाणु या जन्तुक हैं उनके सिवा प्रकृति किन्हीं अन्य सत्ताओं की भी सृष्टि कर

सकती है। लेकिन अगर भौतिक प्रकृतिवाली अदृश्य वैश्व शक्तियां हैं जो निर्जीव पदार्थों के शरीर पर क्रिया करती हैं तो इसका कोई वैध कारण नहीं कि मानसिक और प्राणिक स्वभाववाली ऐसी अदृश्य वैश्व शक्तियां क्यों न हों जो मनुष्य के मन तथा उसकी प्राण-शक्ति पर क्रिया करती हों। और अगर मन और प्राण, जो निर्वैयक्तिक शक्तियां हैं, उन्हें भौतिक जगत् में भौतिक रूप देने के लिये सचेतन सत्ताओं का निर्माण करते हैं या व्यक्तियों का उपयोग करते हैं और भौतिक पदार्थ पर और उसके द्वारा क्रिया कर सकते हैं तो यह असंभव नहीं है कि स्वयं अपने लोक में वे ऐसी सचेतन सत्ताओं का निर्माण करें जिनका सूक्ष्मतर पदार्थ हमारे लिये अदृश्य हो और वे उन लोकों से भौतिक प्रकृति की सत्ताओं पर क्रिया कर सकें। मनुष्य की परंपरागत मान्यताओं या अनुभवों के रूपकों में हम जो भी सत्य या पौराणिक कल्पना मानें वे रूपक तत्त्वतः सत्य वस्तुओं के रूपक ही होंगे। उस अवस्था में शुभ और अशुभ का पहला स्रोत पार्थिव जीवन या निश्चेतना में से हुए विकास में न होकर स्वयं प्राण में होगा। उनका स्रोत अतिभौतिक होगा और वे यहां पर एक विशालतर अतिभौतिक प्रकृति से प्रतिबिंबित होते होंगे।

यह निश्चित है कि जब हम अपने बाहरी आभास से दूर, अपनी बहुत गहरी सत्ता में चले जाते हैं तो हमें पता चलता है कि मनुष्य के मन, हृदय और संवेदनात्मक सत्ता का संचालन ऐसी शक्तियों से होता है जो स्वयं उसके वश में नहीं हैं और वह अपनी क्रियाओं के उत्स को जाने बिना वैश्व धर्मवाली ऊर्जाओं के हाथ में यंत्र बन सकता है। भौतिक सतह से अपनी आंतरिक सत्ता और अंतस्तलीय चेतना में पीछे लौटकर ही वह प्रत्यक्ष रूप में उनके बारे में अभिज्ञ हो सकता है, अपने ऊपर उनकी क्रियाओं को सीधा जान सकता और उनके साथ व्यवहार कर सकता है। वह उन हस्तक्षेपों के बारे में अभिज्ञ होता जाता है जो उसे एक या दूसरी दिशा में ले जाते हैं, उन सुझावों और आवेगों के बारे में अभिज्ञ होता जाता है जो उसीके मन की मौलिक गतियों के छद्मवेश में आते थे और जिनके विरुद्ध उसे लड़ना पड़ता था। वह अनुभव कर सकता है कि वह ऐसा सचेतन प्राणी नहीं है जिसे अचेतन जगत् में निश्चेतन जड़ पदार्थ के बीज द्वारा समझ में न आनेवाले रूप से पैदा किया गया हो, जो अंधकारमय आत्म-अज्ञान के अंदर गति करता हो बल्कि एक सशरीर अंतरात्मा है जिसकी क्रियाओं द्वारा वैश्व प्रकृति अपनी परिपूर्णता प्राप्त करने की कोशिश में है, जो एक अज्ञान के अंधकार, जिसमें से वह यहां उभरता है और ज्ञान के प्रकाश में—जो ऊपर की ओर अपूर्वदृष्ट लक्ष्य की ओर उठ रहा है—एक बड़े विवाद का जीवन्त क्षेत्र है। जो शक्तियां उसे परिचालित करना चाहती हैं, और उनमें शुभ और अशुभ की शक्तियां भी हैं, वे अपने-आपको वैश्व प्रकृति की शक्तियों के रूप में प्रस्तुत करती हैं लेकिन ऐसा लगता है कि वे केवल भौतिक विश्व की ही नहीं, उसके परे प्राणमय और मनोमय लोक की भी हैं।

हम अभी जिस समस्या में लगे हैं उसके लिये ध्यान देने लायक पहली महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये शक्तियां अपनी क्रिया में प्रायः मानव सापेक्षता के मापों का अतिक्रमण करती हैं। अपनी बृहत्तर क्रिया में वे अतिमानव, दिव्य, आसुरी या पैशाचिक हैं लेकिन वे मनुष्य के अंदर अपनी रचनाओं का कम या ज्यादा, उसकी महानता या लघुता में सृजन कर सकती हैं, मनुष्य को विशेष क्षणों में या कुछ अवधियों के लिये पकड़ और संचालित कर सकती हैं, उसके आवेगों या क्रियाओं को प्रभावित कर सकती हैं या उसकी सारी प्रकृति पर कब्जा कर सकती हैं। अगर यह कब्जा हो जाये तो वह स्वयं सामान्य मानवता के शुभ या अशुभ की सीमाओं के उल्लंघन की ओर धकेला जा सकता है। विशेष रूप से अशुभ ऐसे रूप धारण करता है जो मानव मानदंड पर आघात करते हैं, मानव व्यक्तित्व की सीमाओं को पार कर जाते हैं और दानवीय, अत्यधिक और अपरिमेय तक जा पहुंचते हैं। तब यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या अशुभ को निरपेक्ष न मानना कहीं भूल तो नहीं है। क्योंकि जैसे मनुष्य में पूर्ण निरपेक्ष सत्य, शुभ, सुन्दर के लिये प्रेरणा, अभीप्सा या ललक होती है उसी भांति ये गतिविधियां—और साथ ही कष्ट और वेदना से प्राप्त होनेवाली अतिक्रामक तीव्रताएं भी—निरपेक्ष अशुभ की आत्मोपलब्धि के लिये प्रयत्न का सूचक मालूम होती हैं। लेकिन अपरिमेयता निरपेक्षता का चिह्न नहीं है क्योंकि निरपेक्ष अपने-आप परिमाण की वस्तु नहीं है, वह परिमाण या माप से परे है, एकमात्र विशालता के अर्थ में नहीं बल्कि अपनी सार सत्ता की स्वतंत्रता के अर्थ में। वह अपने-आपको अत्यणु में भी अभिव्यक्त कर सकता है और अनन्त में भी, यह सच है कि जैसे हम मानसिक से आध्यात्मिक की ओर गति करते हैं—और यह निरपेक्ष की ओर का मार्ग है—एक सूक्ष्म विस्तार और प्रकाश, शक्ति, शांति, आनंद की बढ़ती हुई तीव्रता हमारी सीमाओं के पार जाने का लक्षण हैं। लेकिन पहले-पहल यह केवल स्वाधीनता का, उच्चता का, सार्विकता का लक्षण है, अभीतक यह आत्म सत्ता की भीतरी निरपेक्षता का चिह्न नहीं है जो विषय का सार है। पीड़ा या अशुभ इस निरपेक्षता को नहीं प्राप्त कर सकते। वे सीमाओं में बद्ध और व्युत्पन्न वस्तुएं हैं। अगर पीड़ा अपरिमेय हो जाये तो या तो वह अपने-आपको समाप्त कर लेती है या जिसमें प्रकट होती है उसे समाप्त कर देती है या असंवेदनशीलता में ढह जाती या विरली परिस्थितियों में आनंदातिरेक में बदल सकती है। अगर अशुभ एकमात्र बन जाये या अपरिमेय हो जाये तो वह या तो जगत् को नष्ट कर देगा या उसे नष्ट कर देगा जो उसे धारण करता या सहारा देता था, वह विघटन द्वारा वस्तुओं को और अपने-आपको असत् में वापिस ले जायेगा। निःसंदेह जो शक्तियां अंधकार और अशुभ को सहारा देती हैं वे आत्म-विवर्धन के परिमाण से अनंतता के रूपतक पहुंचने की कोशिश करती हैं लेकिन वे बस विशालता ही प्राप्त कर सकती हैं, अनंतता नहीं या अधिक-से-

अधिक वे अपने तत्त्व को एक तरह के अतल अनंत के रूप में दिखा सकती हैं जो निश्चेतन के अनुरूप हो, परंतु यह मिथ्या अनंत होता है। निरपेक्षता की स्थिति है स्वयंभुत्व फिर चाहे वह सार-तत्त्व में हो या स्वयंभू में शाश्वत अंतर्निहितता द्वारा। भ्रांति, मिथ्यात्व, अशुभ वैश्व शक्तियां हैं परंतु अपने स्वरूप में सापेक्ष हैं, निरपेक्ष नहीं क्योंकि अपने अस्तित्व के लिये वे अपने विरोधियों के विकार या विरोध पर आश्रित हैं, वे सत्य या शुभ की तरह स्वयंभू निरपेक्ष, परम स्वयंभू के अंतर्निष्ठ रूप नहीं हैं।

इन अंधेरे विरोधों के अतिभौतिक और प्रागुभौतिक होने के पक्ष में दिये गये साक्ष्य से एक और प्रश्न उठता है। इससे कुछ ऐसा सुझाव मिलता है कि अंततः शायद ये ही मौलिक वैश्व तत्त्व हों। लेकिन यह ख्याल रखने लायक बात है कि उनका आभास निम्नतर अतिभौतिक प्राणिक स्तरों से ऊपर नहीं है। वे 'वायुराज की शक्तियां' हैं। प्राचीन प्रतीकवाद में वायु प्राण-तत्त्व है और इसलिये उन मध्यवर्ती जगतों का तत्त्व है जहां प्राण-तत्त्व ही प्रधान और सार-तत्त्व है। अतः प्रतिकूल विरोध विश्व की आद्य शक्तियां नहीं हैं बल्कि वे प्राण की और प्राण में स्थित मन की रचनाएं हैं। उनके अतिभौतिक रूपों और पार्थिव प्रकृति पर उनके प्रभावों की यह व्याख्या की जा सकती है कि उतरते हुए अंतग्रस्त लोकों के साथ-साथ ऊपर चढ़नेवाले विवर्तन के समान्तर ऐसे लोकों का सह-अस्तित्व है जिनकी सृष्टि ठीक पार्थिव जीवन द्वारा नहीं बल्कि उतरते हुए जगत्-क्रम के उप-प्रांत के रूप में और क्रमविकासशील पार्थिव रचनाओं के लिये तैयार किये गये सहारे के रूप में हुई है। यहां अशुभ समस्त प्राण में अंतर्निष्ठ रूप में नहीं बल्कि एक संभावना और पूर्व रचना के रूप में प्रकट हो सकता है जो निश्चेतना में से चेतना के क्रमविकासशील उन्मज्जन में उसकी रचना को अवश्यंभावी बना देती है। चाहे जो हो, मिथ्यात्व, भ्रांति, प्रमाद और अशुभ के स्रोत को हम सबसे अच्छी तरह निश्चेतना के परिणाम-रूप में ही देख और समझ सकते हैं क्योंकि ये तत्त्व निश्चेतना से चेतना की ओर वापिसी यात्रा में ही साकार होते दिखलायी देते हैं और वहीं वे स्वाभाविक, यहांतक कि अनिवार्य भी जान पड़ते हैं।

निश्चेतन में से पहला उभार है जड़ पदार्थ और ऐसा मालूम होता है कि जड़ पदार्थ में मिथ्यात्व और अशुभ का अस्तित्व नहीं हो सकता क्योंकि दोनों की रचना एक विभक्त और अज्ञानभरी सतही चेतना और उसकी प्रतिक्रियाओं से होती है। भौतिक शक्तियों या पदार्थों में बाहरी स्तर पर चेतना का ऐसा कोई सक्रिय संगठन, ऐसी कोई प्रतिक्रियाएं नहीं हैं। वहां उनके अंदर निवास करनेवाली जो भी गुप्त चेतना हो वह एक, अभेद्य और मूक मालूम होती है; जो ऊर्जा पदार्थ की रचना करती है चेतना उसके अंदर जड़ रूप से अंतर्निष्ठ और अंतर्भूत है। उसके अंदर विद्यमान मौन गुह्य भाव द्वारा वह रूप को संपादित करती है और बनाये रखती है।

लेकिन, अन्यथा वह ऊर्जा के अपने रचे हुए रूप में ही आत्म-मग्न, अभिव्यंजना-रहित, निर्वाक् रहती है। अगर वह जड़ पदार्थ के रूप के अनुसार आत्म सत्ता के संगत रूप में अपने अंदर भेद भी करे—रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव[1]—तो भी वहां कोई मनोवैज्ञानिक संगठन, सचेतन क्रियाओं या प्रतिक्रियाओं का कोई तंत्र नहीं है। सचेतन सत्ताओं के साथ संपर्क द्वारा ही जड़ भौतिक पदार्थ ऐसी शक्तियों या प्रभावों का प्रयोग कर सकते हैं जिन्हें शुभ या अशुभ कहा जा सके, लेकिन वह शुभ या अशुभ इस पर निर्भर है कि जिस सत्ता के साथ संपर्क हुआ है वह उनसे सहायता का अनुभव करती है या कष्ट का, लाभ का अनुभव करती है या हानि का। ये मूल्य भौतिक द्रव्य के नहीं उस शक्ति के होते हैं जो उनका उपयोग करती है या उस चेतना द्वारा बनाये जाते हैं जो उनसे संपर्क करती है। आग आदमी को गरमी पहुंचाती है या जला देती है यह इस पर निर्भर है कि आदमी स्वेच्छा के बिना उसके संपर्क में आता है या अपनी इच्छा के अनुसार उसका उपयोग करता है। कोई जड़ी-बूटी रोगमुक्त करती है या विष मारता है परंतु उपयोग करनेवाला उसमें शुभ और अशुभ के मूल्य को क्रिया में लाता है। यह भी ध्यान देने लायक है कि विष रोग-मुक्त भी कर सकता है और मार भी सकता है, दवाई मार सकती है, नुकसान पहुंचा सकती है, रोग-मुक्त कर सकती है और लाभ पहुंचा सकती है। शुद्ध जड़-तत्त्व का जगत् तटस्थ और उत्तरदायित्वहीन है। जिन मूल्यों पर मानव प्राणी इतना जोर देते हैं उनका जड़-भौतिक प्रकृति में अस्तित्व ही नहीं है। जैसे उच्चतर प्रकृति शुभ और अशुभ के द्वैत के परे होती है उसी तरह यह निम्न प्रकृति उसके नीचे होती है। अगर हम भौतिक ज्ञान के पीछे जाकर गुह्य जांच के निष्कर्षों को स्वीकार करें तो प्रश्न एक और ही रूप धारण करने लगता है क्योंकि यहां हमसे कहा जाता है कि ऐसे सचेतन प्रभाव हैं जो अपने-आपको वस्तुओं के साथ जोड़ लेते हैं और ये शुभ भी हो सकते हैं और अशुभ भी। फिर भी यह स्थापित किया जा सकता है कि इससे वस्तु की तटस्थता पर कोई असर नहीं पड़ता जो व्यष्टिभावापन्न चेतना के रूप में काम नहीं करती, वह इसपर निर्भर रहती है कि उसका उपयोग शुभ के लिये या अशुभ के लिये या दोनों के लिये होता है या नहीं। जड़ तत्त्व में शुभ और अशुभ का द्वैत जन्मजात नहीं होता, जड़ जगत् में उसका अस्तित्व नहीं होता।

द्वंद्व शुरू होता है सचेतन प्राण से और पूरी तरह से उभरता है प्राण के अंदर मन के विकास के साथ। प्राणिक मन, कामना और संवेदन का मन अशुभ के भाव का और अशुभ के तथ्य का रचयिता है। और फिर, पशु जीवन में अशुभ की वास्तविकता, कष्ट का अशुभ और कष्ट का बोध, हिंसा और क्रूरता, कलह और छल का अशुभ तो है लेकिन नैतिक अशुभ का बोध नहीं है। पशु-जीवन में

[1] कठोपनिषद् ५.९

पाप-पुण्य का बोध अनुपस्थित है। वहां सभी कर्म पाप-पुण्य की भावना की ओर से तटस्थ होते हैं। प्राण-रक्षा के लिये और जीवन-पोषण के लिये और जीवन की सहज वृत्ति के संतोष के लिये सभी कर्म तटस्थ हैं और सभी के लिये अनुमति है। शुभ और अशुभ के संवेदनात्मक मूल्य सुख और कष्ट के रूप में, प्राणिक संतोष और प्राणिक कुंठा के रूप में अंतर्निहित हैं परंतु मानसिक भाव, मन की इन मूल्यों के प्रति नैतिक प्रतिक्रिया—ये मानव सत्ता की रचनाएं हैं। इसका यह अर्थ नहीं है, जैसा कि उतावली में माना जा सकता है, कि ये अवास्तविकताएं हैं, केवल मानसिक रचनाएं हैं और यह कि प्रकृति की क्रियाओं को ग्रहण करने के लिये एकमात्र सच्चा तरीका है या तो तटस्थ उदासीनता या समभाव से स्वीकृति या बौद्धिक रूप से यह मान लेना कि प्रकृति जो कुछ करे वह एक दिव्य या प्राकृतिक विधान है जिसमें हर चीज निष्पक्ष भाव से स्वीकार करने योग्य है। निश्चय ही यह सत्य का एक पक्ष है। प्राण और जड़ द्रव्य का एक अवबौद्धिक सत्य है जो निष्पक्ष और तटस्थ है और सभी चीजों को प्रकृति के तथ्य के रूप में स्वीकार करता और यह मानता है कि वह प्राण के सृजन, पालन और विनाश के लिये उपयोगी है। ये तीनों वैश्व ऊर्जा की आवश्यक गतियां हैं जो आपस में एक-दूसरे के साथ जुड़ी हुई और अनिवार्य हैं, हर एक अपने-अपने स्थान पर समान मूल्यवाली है। एक अनासक्त बुद्धि का सत्य भी है जो प्रकृति द्वारा इस तरह स्वीकार की गयी सभी चीजों को प्राण और जड़ में प्रकृति की प्रक्रियाओं के लिये उपयोगी मानता है और जो भी चीज है उसे अविचल तटस्थ निष्पक्षता के साथ देख सकता और स्वीकार करता है। यह दार्शनिक और वैज्ञानिक तर्क-बुद्धि है जो अवलोकन करती और समझने का प्रयास करती है परंतु वैश्व ऊर्जा की क्रियाओं के मूल्यांकन को व्यर्थ समझती है। एक अतिबौद्धिक सत्य भी है जो अपने-आपको आध्यात्मिक अनुभव का रूप दे लेता है जो वैश्व संभावना की लीला का अवलोकन कर सकता है, सभी को अज्ञान और निश्चेतना के जगत् के सच्चे और स्वाभाविक लक्षणों और परिणामों के रूप में निष्पक्ष भाव से स्वीकार करता या सभी को शांति और अनुकंपा के साथ भागवत क्रिया के अंश के रूप में मानता है, परंतु एक ओर जो कुछ अपने-आपको अशुभ के रूप में प्रस्तुत करता है उससे पूरा छुटकारा पाने के लिये उच्चतर चेतना और ज्ञान के जागने की प्रतीक्षा करता है, जहां कहीं संभव हो और सचमुच सहायता की जा सके वहां सहायता और हस्तक्षेप करने के लिये भी तैयार रहता है, फिर भी चेतना का एक मध्यवर्ती सत्य भी है जो हमें शुभ और अशुभ के मूल्यों की ओर, उनकी आवश्यकता और उनके महत्त्व की जांच की ओर जाग्रत् करता है। यह जागृति, उसके निर्णय विशेषों की प्रामाणिकता और अधिकार चाहे कुछ भी हों, प्रकृति के क्रमविकास की प्रक्रिया में अनिवार्य पगों में से एक है।

लेकिन फिर यह जागृति आती कहां से है? मानव सत्ता में वह कौन-सी चीज है जो शुभ और अशुभ के भाव को पैदा करती और उसे उसकी शक्ति तथा स्थान देती है। अगर हम केवल प्रक्रिया की ओर नजर डालें तो हम इस बात से सहमत हो सकते हैं कि प्राणिक मन ही यह भेद-भाव करता है। उसका पहला मूल्य है संवेदनात्मक और व्यक्तिगत—वह सब जो सुखकर, सहायक, प्राणिक अहं के लिये हितकर हो वह शुभ है और जो अप्रीतिकर, अहितकर, हानिकारक या विनाशात्मक है वह अशुभ। उसका अगला मूल्यन है उपयोगितावादी और सामाजिक—जो कुछ सामूहिक-जीवन के लिये सहायक माना जाता है, समूह में रहने, सामूहिक जीवन और उसकी इकाइयों के अच्छे-से-अच्छे भरण-पोषण, संतोष, विकास और सुव्यवस्था के लिये समूह को संगठित करने हेतु व्यक्ति से जो भी मांग की जाती है वह शुभ है। वह सब जो समाज को दृष्टि में रखते हुए विपरीत प्रभाव डालता है या उसकी ओर झुकाव रखता है वह अशुभ है। लेकिन तब विचारशील मन अपने ही मूल्यांकन के साथ आ टपकता है और एक बौद्धिक आधार, बौद्धिक या वैश्व विधान या सिद्धांत का विचार, शायद किसी कार्य-विधान को पाने का प्रयास करता है अथवा बुद्धि पर आधारित या सौंदर्य-बोध, भावात्मक या सुखवादी आधार पर किसी नैतिक विधान को खोजने का प्रयास करता है। धर्म अपने अनुशासन साथ लिये आता है। भगवान् का ऐसा शब्द या विधान होता है जो सदाचार का आदेश देता है, चाहे प्रकृति भले उसके विरोधी आचरण की अनुमति देती या उसे उद्दीप्त करती हो—या शायद सत्य और सदाचार अपने-आप भगवान् हैं कोई और भगवान् नहीं। परंतु मानव नैतिक सहज बोध के इस सारे व्यावहारिक या बौद्धिक प्रवर्तन के पीछे यह भावना रहती है कि कोई अधिक गहरी चीज है। ये सभी मानदंड या तो बहुत संकीर्ण और कठोर या जटिल और पेचीदा तथा अनिश्चित हैं, ये मानसिक और प्राणिक परिवर्तन या विकास के कारण बदलनेवाले हैं। फिर भी यह अनुभव किया जाता है कि कोई अधिक गहरा और स्थायी सत्य है और हमारे अंदर ऐसी कोई चीज है जो उस सत्य का अंतर्भास पा सकती है—दूसरे शब्दों में वास्तविक अनुशासन भीतरी, आध्यात्मिक और चैत्य है। इस अंतः-साक्षी का परंपरागत परिचय यह है कि वह विवेक है, हमारे अंदर आधी मानसिक और आधी अंतर्भासात्मक प्रत्यक्ष दर्शन की शक्ति है। परंतु यह ऊपरी, बनायी हुई और अविश्वसनीय चीज है। निश्चय ही हमारे अंदर एक अधिक गहरा आध्यात्मिक बोध है, अंतरात्मा की दृष्टि है, हमारी प्रकृति में अंतर्जात प्रकाश है यद्यपि वह कम आसानी से सक्रिय और सतही तत्त्वों से अधिक छिपा हुआ है।

तब फिर यह आध्यात्मिक या चैत्य साक्षी क्या है या उसके लिये शुभ और अशुभ के भाव का क्या मूल्य है? यह कहा जा सकता है कि पाप और पुण्य के भाव का एक उपयोग यह है कि शरीरस्थ सत्ता निश्चेतना और अज्ञान के इस जगत्

की प्रकृति के बारे में अभिज्ञ हो जाये, उसके अशुभ और दुःख के ज्ञान और उसकी सापेक्ष शुभ और सुख की प्रकृति के प्रति जागे और उससे मुड़कर निरपेक्ष की ओर जाये। या उसका आध्यात्मिक उपयोग यह हो सकता है कि शुभ के अनुसरण और अशुभ के निषेध द्वारा अपनी प्रकृति को इतना शुद्ध कर ले कि वह परम शुभ का प्रत्यक्ष दर्शन पाने के लिये तैयार हो जाये और जगत् से मुड़कर भगवान् की ओर अभिमुख हो, या जैसा बौद्ध नैतिक आग्रह में होता है वह अज्ञानमय अंहकार-ग्रंथि के विघटन और व्यक्तित्व और दुःख से छुटकारे की तैयारी के लिये हो सकता है। लेकिन यह भी हो सकता है कि यह जागरण स्वयं विकास की एक आध्यात्मिक आवश्यकता हो, अज्ञान में से दिव्य एकत्व के सत्य में सत्ता के विकास की ओर, और दिव्य चेतना और दिव्य सत्ता के विकास की ओर एक कदम हो। क्योंकि मन या प्राण की अपेक्षा, जो शुभ की ओर मुड़ सकते हैं या अशुभ की ओर मुड़ सकते हैं, शुभ और अशुभ के विवेक पर अंतःपुरुष या चैत्य पुरुष कहीं अधिक बल देता है यद्यपि यह विवेक निरे नैतिक भेद की अपेक्षा अधिक विशाल अर्थ में होता है। हमारे अंदर अंतरात्मा ही सदा सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की ओर मुड़ती है क्योंकि वह अपने-आप इन्हीं के द्वारा महिमा में बढ़ती है और बाकी, इनके विरोधी, अनुभव के जरूरी अंग हैं और सत्ता की आध्यात्मिक वृद्धि में हमें इनके आगे बढ़ जाना होगा। हमारे अंदर आधारभूत चैत्य सत्ता जीवन के आनंद और समस्त अनुभव को आत्मा की उत्तरोत्तर अभिव्यक्ति के अंग के रूप में लेती है लेकिन उसे जीवन का जो आनंद मिलता है उसका विधान सभी संपर्कों और घटनाओं में से उनके गुप्त दिव्य अर्थ और सार को, एक दिव्य उपयोग और उद्देश्य को प्राप्त करता है ताकि हमारे मन और प्राण अनुभव द्वारा निश्चेतना में से एक परा-चेतना की ओर, अज्ञान के विभाजनों में से सर्वांगपूर्णकारी चेतना और ज्ञान की ओर प्रगति कर सकें। चैत्य सत्ता यहां पर इसी उद्देश्य के लिये है और वह एक जीवन से दूसरे जीवनतक सदा बढ़ती हुई ऊर्ध्वमुखी प्रवृत्ति और आग्रह का अनुसरण करती रहती है; अंतरात्मा का विकास अंधकार से प्रकाश की ओर, मिथ्यात्व से सत्य की ओर, दुःख में से अपने परम और सार्वभौम आनंद की ओर विकास है, अंतरात्मा का शुभाशुभ का विवेक मन के कृत्रिम मानदंडों से मेल न खाये ऐसा भी है लेकिन कौन-सा उच्चतर ज्योति की ओर संकेत कर रहा है और कौन उससे भिन्न दिशा में, इसका उसे गहरा बोध होता है, एक पक्की पहचान होती है। यह सच है कि जैसे निम्नतर प्रकाश शुभाशुभ के नीचे है उसी तरह श्रेष्ठतर आध्यात्मिक प्रकाश शुभाशुभ के परे है लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि सभी चीजों को निष्पक्ष तटस्थता से स्वीकार कर लिया जाये या शुभ और अशुभ के अंतर्वेगों का समान रूप से अनुगमन किया जाये। बल्कि यह इस भाव में है कि तब सत्ता का एक उच्चतर धर्म हस्तक्षेप करता है जिसमें इन मूल्यों का कोई

स्थान या उपयोग नहीं रहता। परम सत्य का एक स्वधर्म है जो सब मानदंडों से ऊपर है, एक परम और वैश्व शुभ है जो अंतर्निहित, अंतर्भूत, स्वयंभू, स्वयं प्रज्ञ, स्वयं चालित और स्वयं शासित, अनंत रूप से नमनीय है, जो परम अनंत की ज्योर्तिमय चेतना की शुद्ध नमनीयता लिये हुए है।

तो अगर अशुभ और मिथ्यात्व निश्चेतना के स्वाभाविक उत्पादन हैं, अज्ञान की प्रक्रिया में निश्चेतना से प्राण और मन के विकास के अपने-आप आनेवाले परिणाम हैं तो हमें यह देखना है कि वे उठते कैसे हैं, वे अपने अस्तित्व के लिये किसपर निर्भर हैं और उनका उपचार या उनसे छुटकारा पाने का क्या उपाय है। निश्चेतना में से प्राणिक और मानसिक चेतना के सतही आविर्भाव में ही वह प्रक्रिया मिलती है जिसके द्वारा ये प्रपंच रूप ग्रहण करते हैं। यहां दो निर्धारक तत्त्व हैं—और यही मिथ्यात्व और अशुभ के आविर्भाव के युगपत् प्रभावकारी कारण हैं। पहले, अंतर्निष्ठ ज्ञान की एक शांत (निष्क्रिय) गुह्य चेतना और शक्ति नीचे बिछी रहती है और साथ ही ऊपर एक तह होती है जिसे हम प्राणिक और भौतिक चेतना का अनिर्धारित या कुगठित उपादान कह सकते हैं। इस अंधेरे कठिन माध्यम द्वारा उभरती हुई मानसता को अपना मार्ग निकालना पड़ता है और अंतर्निहित ज्ञान द्वारा नहीं निर्मित ज्ञान द्वारा अपने-आपको उस पर आरोपित करना होता है क्योंकि यह उपादान अभीतक अविद्या से भरा, बहुत ज्यादा बोझिल और जड़ पदार्थ की निश्चेतना में लिपटा होता है। दूसरे, यह आविर्भाव प्राण के अलग किये हुए रूप में होता है जिसे अपने-आपको निर्जीव भौतिक जड़ता के विरुद्ध और विघटन और फिर से आदिम निर्जीव निश्चेतना में जा गिरने की ओर उस भौतिक जड़ता के सतत खिंचाव के विरोध में दृढ़ बनाये रखना होता है। इस अलग किये हुए प्राण-रूप को केवल साहचर्य के ही एक सीमित तत्त्व का सहारा पाकर, ऐसे बाहरी जगत् के विरोध में भी अपना प्रतिष्ठापन करना होता है जो उसके अस्तित्व का शत्रु भले न हो फिर भी संकटों से भरा रहता है। अगर वह अपना अस्तित्व सुरक्षित रखना चाहता है तो उसे अपने-आपको उस बाहरी जगत् पर आरोपित करना होगा, जीवन-स्थान जीतना होगा, अपने-आपको व्यक्त और प्रसारित करना होगा। इन परिस्थितियों में चेतना के आविर्भाव का परिणाम होगा आत्म-प्रतिष्ठापक प्राणिक और भौतिक व्यक्ति का विकास, जो प्रकृति की, प्राण और भौतिक तत्त्व को लेकर, एक ऐसी रचना है जिसके पीछे वह प्रच्छन्न चैत्य या आध्यात्मिक सच्चा व्यक्ति रहता है जिसके लिये प्रकृति प्रकट होने का यह बाहरी साधन बना रही है। जैसे-जैसे मानसता बढ़ती है वैसे-वैसे यह प्राणिक और भौतिक व्यक्ति एक निरंतर आत्म-प्रतिष्ठापक मानसिक, प्राणिक और शारीरिक अहं का अधिक विकसित रूप लेता जाता है। हमारी बाहरी चेतना और जीवन-प्रकार, हमारी प्राकृतिक सत्ता का वर्तमान स्वरूप, विकास के आविर्भाव के इन दो आरंभिक और आधारभूत तथ्यों की बाध्यता के अधीन ही विकसित हुआ है।

अपने प्रथम प्रकटन में चेतना एक चमत्कार जैसी चीज लगती है, एक ऐसी शक्ति जो जड़ पदार्थ से विजातीय है, अपने-आपको निश्चेतन प्रकृति के जगत् में रहस्यमय रूप से अभिव्यक्त करती है और धीरे-धीरे कठिनाई के साथ विकसित होती है। ज्ञान प्राप्त किया जाता है, मानों शून्य में से निर्मित होता है, सीखा, बढ़ाया जाता है, ऐसे क्षण-जीवी, अज्ञानी प्राणी के द्वारा इकट्ठा किया जाता है जिसके अंदर जन्म के समय वह पूरी तरह अनुपस्थित था या अगर उपस्थित था भी तो ज्ञान के रूप में नहीं बल्कि इस धीरे-धीरे सीखते अज्ञान के विकास की अवस्था के अनुरूप दाय के रूप में मिली क्षमता के रूप में ही। यह अटकल लगायी जा सकती है कि चेतना आदिम निश्चेतना ही है जो यांत्रिक तरीके से मस्तिष्क के कोषाणुओं पर जीवन-तथ्यों को अंकित करती जाती है और उस अभिलेख को यंत्रवत् पढ़ना और उनका उत्तर देना कोषाणुओं की अनुक्रिया और प्रत्युत्तर होता है। वे अभिलेख, अनुक्रिया और प्रत्युत्तर मिलकर वह चीज बनाते हैं जो चेतना मालूम होती है। लेकिन स्पष्ट है कि यह पूर्ण सत्य नहीं है क्योंकि यह चीज अवलोकन और यांत्रिक क्रिया के कारण भले हो सके—यद्यपि यह बात स्पष्ट नहीं है कि निश्चेतन अभिलेख और अनुक्रिया सचेतन अवलोकन, वस्तुओं के और स्वयं अपने (आत्मा के) सचेतन भाव में कैसे बदल सकते हैं—लेकिन भावना, कल्पना और परिकल्पना की अपनी अवलोकित सामग्री के साथ बुद्धि की मुक्त क्रीड़ा की विश्वसनीय व्याख्या इससे नहीं हो सकती। चेतना और ज्ञान के विकास की व्याख्या तबतक नहीं की जा सकती जबतक कि चीजों के अंदर पहले से ही ऐसी चेतना छिपी न हो जिसकी अंतर्निहित और सहज शक्तियां जरा-जरा करके उभर रही हों। और फिर पशु-जीवन के तथ्य और जीवन में उभरते हुए मन की क्रियाएं, हमारे ऊपर यह निष्कर्ष आरोपित करती हैं कि इस छिपी हुई चेतना में एक अधःस्थ ज्ञान या ज्ञान की शक्ति है जो परिवेश के साथ प्राण-संपर्कों की आवश्यकता के कारण सतह पर आती है।

व्यक्तिगत पशु-प्राणी को अपने प्रथम सचेतन आत्म-प्रतिष्ठापन में ज्ञान के दो स्रोतों पर आश्रित रहना पड़ता है, चूंकि वह प्राणी अविद्यामय और असहाय है, एक अज्ञात जगत् में अनभिज्ञ बाह्य चेतना का एक छोटा-सा अंश है इसलिये गुप्त चित्-शक्ति इस सतह तक उसके अस्तित्व को बनाये रखने और जीवन के लिये और बने रहने के लिये अनिवार्य क्रियाओं को पूरा करने के लिये जरूरी, कम-से-कम अंतर्भास भेज देती है। यह अंतर्भास पशु के अधिकार में नहीं होता बल्कि उसे अपने अधिकार में रखता और गति देता है। वह ऐसी चीज है जो किसी आवश्यकता के दबाव में और किसी आवश्यक समय पर अपने-आप चेतना के प्राणिक और भौतिक पदार्थ की तन्तु-रचना में अभिव्यक्त होती है। लेकिन साथ ही इस अंतर्भास का एक बाहरी परिणाम भी इकट्ठा होता रहता है और स्वचालित सहजवृत्ति का रूप ले लेता है जो, जब कभी उसके लिये अवसर आये, कार्य

करती है। यह सहजवृत्ति जातिगत होती है और उस जाति के हर व्यक्ति को जन्म के साथ-साथ दी जाती है। अंतर्भास जब कभी आता या लौटकर आता है, सदा निर्भ्रांत रहता है। नियमानुसार सहजवृत्ति अपने-आपमें हमेशा ठीक रहती है लेकिन भूल कर भी सकती है क्योंकि जब सतही चेतना या कुविकसित बुद्धि हस्तक्षेप करती है या जब सहजवृत्ति यांत्रिक रूप में काम किये जाती है जब कि बदली हुई परिस्थितियों के कारण आवश्यकता या आवश्यक परिस्थितियां नहीं रहतीं तो वह विफल रहती या भद्दी भूल कर बैठती है। ज्ञान का दूसरा स्रोत है स्वाभाविक व्यष्टिगत सत्ता का बाहर के जगत् के साथ सतही संपर्क। यही संपर्क पहले तो सचेतन संवेदन और ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष बोध का और फिर बुद्धि का कारण होता है। अगर अधःस्थ चेतना न होती तो संपर्क किसी प्रत्यक्ष दर्शन या प्रतिक्रिया की रचना न करता। चूंकि संपर्क अवचेतन प्राण-तत्त्व और उसकी पहली आवश्यकताओं और चाहों से पहले से ही अनुप्राणित सत्ता के गुह्य भाग को अनुभव और बाहरी प्रत्युत्तर के लिये उद्दीप्त करता है इसीलिये बाहरी अभिज्ञता रूप लेना और विकसित होना शुरू करती है। मूलतः जीवन-संपर्कों की शक्ति से सतही चेतना का आविर्भाव इस तथ्य से होता है कि संपर्क के विषयी और विषय दोनों में चित्-शक्ति पहले से ही अव्यक्त अवस्था में मौजूद है। जब विषयी में, संपर्क ग्रहण करनेवाले में, प्राण-तत्त्व तैयार हो जाता, पर्याप्त रूप से संवेदनशील हो जाता है तब यह छिपी हुई चेतना उस उद्दीपन के प्रत्युत्तर में उभरती है, जिससे प्राणिक या प्राणमय मन, पशु-मन और फिर विकासक्रम में विचारशील बुद्धि का गठन शुरू होता है। गुप्त चेतना सतही संवेदन और प्रत्यक्ष-दर्शन में और गुप्त शक्ति सतही वेग में बदल जाती है।

अगर यह अधःस्थ अंतर्लीन चेतना अपने-आप सतह पर आ जाये तो विषयी की चेतना और विषय की अंतर्वस्तुओं में प्रत्यक्ष मिलन होगा जिसका परिणाम होगा प्रत्यक्ष ज्ञान। लेकिन यह संभव नहीं है। पहला कारण है निश्चेतना का प्रतिषेध या विघ्न-बाधा और दूसरा यह कि विकास का प्रयोजन है धीरे-धीरे एक अपूर्ण लेकिन बढ़ती हुई बाहरी अभिज्ञता में से प्रगति करना। अतः गुप्त चित्-शक्ति को अपने-आपको सतही मानसिक और प्राणिक स्पंदन और क्रिया के अपूर्ण प्रस्तुतीकरणतक सीमित रखना पड़ता है। वह प्रत्यक्ष अभिज्ञता के अभाव, रुके रहने या प्रत्यक्ष अभिज्ञता की अपर्याप्तता के कारण परोक्ष ज्ञान के लिये इन्द्रियों और सहज वृत्तियों को विकसित करने के लिये बाधित होती है। बाहरी ज्ञान और समझ का यह सृजन पहले से ही तैयार की गयी अनिश्चित सचेतन संरचना में होता है जो सतह पर सबसे पहला रूपायण है। पहले-पहल वह संरचना चेतना की, एक अस्पष्ट संवेदनात्मक प्रत्यक्षण और प्रत्युत्तर-आवेग के साथ न्यूनतम रचना है लेकिन जैसे-जैसे प्राण के अधिक संगठित रूप प्रकट होते हैं यह प्राणिक मन और प्राणिक

बुद्धि में विकसित होती है जो शुरू में बड़ी हदतक यंत्रवत् और स्वतःचालित होती है और केवल व्यावहारिक आवश्यकताओं, कामनाओं और आवेगों से सरोकार रखती है। यह सारा क्रिया-कलाप आरंभ में अंतर्भासात्मक और सहज वृत्तिवाला होता है। अधःस्थ चेतना ऊपरी उपस्तर में प्राण और शरीर के सचेतन द्रव्य की स्वचालित गतियों में अनूदित होती है। जब मानसिक गतिविधियां प्रकट होती हैं तो वे इन स्वचालित गतियों में अंतर्निहित होती हैं। वे प्रधानतः प्राणिक-ऐन्द्रिय अंकन में अधीनस्थ मानसिक अंकन के रूप में होती हैं लेकिन धीरे-धीरे मन अपने-आपको अलग करने का अपना काम शुरू करता है, फिर भी वह प्राणिक सहजवृत्ति, प्राणिक आवश्यकता और प्राणिक कामना के लिये काम करता है लेकिन उसके अपने विशेष गुण उभरते हैं, अवलोकन, अन्वेषण, कौशल, अभिप्राय, प्रयोजन को क्रियान्वित करना—और साथ ही संवेदन और अंतर्वेग अपने साथ भाव को जोड़ लेते हैं और अनगढ़ प्राणिक प्रतिक्रिया में सूक्ष्मतर और अधिक सुकुमार भावुक वृत्ति और मूल्य को ले आते हैं। तब भी मन प्राण में बहुत उलझा रहता है और उसकी ऊंची-से-ऊंची शुद्ध मानसिक क्रियाएं दिखायी नहीं देतीं। वह अपने अवलंब-रूप में सहजवृत्ति और प्राणिक अंतर्भास की विशाल पृष्ठभूमि को स्वीकार कर लेता है; और जो समझ विकसित होती है वह यद्यपि पशु के जीवन-क्रम में उभरने के साथ-साथ हमेशा बढ़ती जाती है पर वह एक बढ़ाई गयी अधिरचना होती है।

जब मानव बुद्धि अपने-आपको पशु-आधार के साथ जोड़ देती है तब भी यह आधार उपस्थित और सक्रिय रहता है लेकिन सचेतन इच्छा-शक्ति और अभिप्राय इसे बड़ी हदतक बदलता, सूक्ष्म बनाता और ऊपर उठाता है। सहजवृत्ति और प्राणिक अंतर्भासवाला स्वचालित जीवन घट जाता है और आत्म-अभिज्ञ मानसिक बुद्धि के साथ अपना मौलिक, प्रधान अनुपात नहीं रख सकता। अंतर्भास कम शुद्ध रूप से अंतर्भासात्मक रह जाता है, जब प्रबल प्राणिक अंतर्भास हो तब भी उसका प्राणिक धर्म मानसभावापन्नता के कारण छिप जाता है और मानसिक अंतर्भास बहुधा शुद्ध वस्तु न होकर मिश्रण बन जाता है। उसे मानसिक रूप से सक्रिय करने और उपयोगी बनाने के लिये एक मिश्रण जोड़ दिया जाता है। पशु में भी सतही चेतना अंतर्भास के मार्ग में बाधा दे सकती या उसे बदल सकती है लेकिन चूंकि उसकी क्षमता कम है इसलिये वह प्रकृति की स्वचालित, यांत्रिक या सहजवृत्तिमूलक क्रिया में कम हस्तक्षेप करती है। मानसिक मनुष्य में जब अंतर्भास सतह की ओर उठता है तो वहांतक पहुंचने से पहले ही पकड़ लिया जाता है और मानसिक बुद्धि की भाषा में अनूदित कर दिया जाता है जिसपर मानसिक व्याख्या का ओप लग जाता है जो ज्ञान के स्रोत को छिपा देता है। सहजवृत्ति को भी लेकर मानसिकभावापन्न कर दिया जाता है जिससे वह अपने अंतर्भासात्मक गुण से वंचित हो जाती है और इस परिवर्तन के कारण वह कम निश्चित हो जाती है लेकिन

अगर बुद्धि का जो विशेष धर्म है आत्मानुकूलन और वस्तुओं के साथ अनुकूलन की नमनीय शक्ति, वह उनका स्थान ले लें तो सहजवृत्ति को उनकी सहायता प्राप्त होती है। प्राण में मन का उभरना विकसनशील चित्-शक्ति के क्षेत्र और क्षमता में बहुत अधिक वृद्धि ले आता है लेकिन साथ ही वह भ्रांति के क्षेत्र और क्षमता में भी बहुत अधिक वृद्धि लाता है। क्योंकि विकसनशील मन हमेशा भ्रांति को अपनी छाया की तरह फैलाता जाता है, एक ऐसी छाया जो चेतना और ज्ञान के बढ़ते हुए शरीर के साथ ही साथ बढ़ती जाती है।

अगर क्रम-विकास में सतही चेतना सदा अंतर्भास की ओर खुली रहती तो भ्रांति का हस्तक्षेप संभव न होता। क्योंकि अंतर्भास प्रकाश की एक धार है जिसे गुप्त अतिमानस ने आगे बढ़ाया और उसका परिणाम होगा एक उभरती सत्य-चेतना जो चाहे जितनी सीमित हो पर अपनी क्रिया में होगी निश्चित। अगर सहजवृत्ति ने रूप लिया होता तो उसे अंतर्भास की ओर नमनीय होना होता और वह अपने-आपको मुक्त रूप से वैकासिक परिवर्तन और भीतरी या पर्यावरण की परिस्थितियों के परिवर्तन के अनुकूल बना लेती। अगर बुद्धि ने रूप लिया होता तो वह अंतर्भास के आधीन होती और उसका ठीक-ठीक मानसिक प्रकटन होता। शायद उसकी दीप्ति घटी हुई क्रिया के लिये हल्की कर दी जाती जो वर्तमान की तरह प्रधान न होती बल्कि गौण कार्य और गति का स्थान लेती, लेकिन तब वह पथ-भ्रष्ट होकर अनियमित न बन जाती, अपने अंधकार के अंगों के कारण मिथ्या या भ्रमशीलता में न जा गिरती। लेकिन ऐसा न हो सका क्योंकि जड़ पदार्थ पर, सतही द्रव्य पर, जिसमें मन और प्राण को अपने-आपको अभिव्यक्त करना होता है, उसपर निश्चेतना की पकड़ सतही चेतना को अंधेरी और भीतरी प्रकाश के प्रति अप्रतिक्रियाशील बना देती है। इसके अतिरिक्त उसे इस दोष में रस लेने के लिये प्रेरित करती है, अव्याख्येय आंतरिक सूचनाओं की जगह, अधिकाधिक अपनी अपूर्ण लेकिन ज्यादा अच्छी तरह पकड़ में आयी हुई स्पष्टताओं को स्थापित करने के लिये प्रेरित करती है, क्योंकि प्रकृति को ऋत-चित् का तेज विकास अभीष्ट नहीं है। क्योंकि उसने जो पद्धति चुनी है वह धीमे, कठिन विकास की है जिसमें विकसित होती निश्चेतना अज्ञान में परिणत होती है और अज्ञान अपने-आपको उच्चतर ऋत-चित् और सत्य ज्ञान में रूपांतरित करने के लिये तैयार हो सकने से पहले मिश्रित, घटे हुए, आंशिक ज्ञान का रूप देता है। इस उच्चतर रूपांतर के संभव होने से पहले हमारी अपूर्ण मानसिक बुद्धि एक आवश्यक मध्यवर्ती अवस्था है।

व्यावहारिक तथ्य में सचेतन सत्ता के दो छोर हैं जिनके बीच विकास की प्रक्रिया कार्य करती है। एक है सतही अविद्या जिसे धीरे-धीरे ज्ञान में बदलना है, दूसरी है प्रच्छन्न चित्-शक्ति जिसमें ज्ञान की सारी शक्ति है, जिसे धीरे-धीरे अविद्या में अभिव्यक्त होना है। सतही अविद्या, जिसमें अवधारणा और प्रज्ञान दोनों का

अभाव है, वह ज्ञान में बदल सकती है क्योंकि चेतना उसमें अंतर्निहित है। अगर यह मूलतः चेतना का एकदम अभाव होती तो परिवर्तन असंभव होता फिर भी वह ऐसी निश्चेतना की तरह काम करती है जो सचेतन होने की कोशिश कर रही है। पहले वह ऐसी अविद्या होती है जो आवश्यकता और बाहरी आघातों के कारण अनुभव करने और प्रत्युत्तर देने के लिये बाधित है और बाद में ऐसा अज्ञान जो जानने के लिये प्रयास कर रहा है। इसके लिये जिस साधन का उपयोग किया जाता है वह है जगत् के, उसकी शक्तियों और वस्तुओं के साथ संपर्क जो चकमक को रगड़ने की तरह अभिज्ञता की चिंगारी पैदा करता है, भीतर से आनेवाला प्रत्युत्तर बाहर उछलकर अभिव्यक्त होनेवाली चिंगारी है। लेकिन सतही अविद्या ज्ञान के अधःस्थ स्रोत से प्रत्युत्तर पाते समय उसे किसी अंधेरी, अस्पष्ट और अपूर्ण चीज के अधीन करती और उसमें बदल देती है। जो अंतर्भास संपर्क को उत्तर देता है उसे अपूर्ण या भ्रांत रूप से ग्रहण किया जाता है। फिर भी, इस प्रक्रिया द्वारा प्रत्युत्तर देनेवाली चेतना का आरंभ होता है, अंतर्निहित या अभ्यासगत सहज-वृत्ति-मूलक ज्ञान का पहला संचय शुरू होता है और इसके बाद ग्रहणशील अभिज्ञता की समझने की, कर्म के उत्तर की, कर्म के पूर्वदृष्टिशाली प्रवर्तन की, पहले आरंभिक और बाद में वर्द्धित क्षमता आती है—यह एक विकसनशील चेतना है जो अर्द्ध-ज्ञान और अर्द्ध-अज्ञान है। जो कुछ अज्ञात है उसके साथ ज्ञात के आधार पर ही मेल होता है, लेकिन चूंकि यह ज्ञान अपूर्ण है और वस्तुओं के संपर्क को अपूर्ण रूप से ग्रहण करता और अपूर्ण रूप से उत्तर देता है अतः नये संपर्कों में भूल-चूक हो सकती है और साथ ही अंतर्भासात्मक प्रत्युत्तर की विकृति और च्युति हो सकती है, यह भूल-भ्रांति का दोहरा स्रोत है।

इन परिस्थितियों में यह स्पष्ट है कि ऐसी चेतना के लिये, जो अविद्या से शुरू होती और सामान्य व्यापक अविद्या के उपादान में ही काम करती है, उसके ज्ञान के प्रति मंद विकास में भूल-भ्रांति एक आवश्यक साथी, प्रायः आवश्यक स्थिति और यंत्र-विन्यास, एक अनिवार्य कदम या अवस्था है। विकसनशील चेतना को परोक्ष साधन से ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है, जो आंशिक निश्चिति भी नहीं देता क्योंकि शुरू में विषय के साथ संपर्क से पैदा केवल एक भौतिक आकार, चिह्न, प्रतिबिंब या स्पंदन ही होता है जिसके परिणामस्वरूप प्राणिक संवेदन होता है। मन और इन्द्रियों द्वारा इनकी व्याख्या करनी और इन्हें उनके अनुरूप मनोमय भाव या आकार में बदलना होता है। इस तरह अनुभव की हुई और मानसिक रूप में जानी हुई चीजों का आपस में नाता जोड़ना होता है और अजानी चीजों का अवलोकन और अन्वेषण करना और अनुभूति और ज्ञान के पहले से ही प्राप्त योग के साथ मेल बैठाना होता है। हर कदम पर तथ्य, सार्थकता, मूल्यांकन, व्याख्या, संबंध की विभिन्न संभावनाएं अपने-आपको प्रस्तुत करती हैं। कुछ की जांच करके उन्हें त्याग

देना होता है, कुछ को स्वीकार करके अनुमोदित करना होता है। ज्ञान-प्राप्ति के अवसरों को सीमित किये बिना भूल-भ्रांति को दूर रखना असंभव है। अवलोकन मन का पहला यंत्र है। परंतु अवलोकन अपने-आपमें एक जटिल प्रक्रिया है जो हर कदम पर अवलोकन करनेवाली अज्ञानमय चेतना की भूलों की ओर खुली रहती है। इन्द्रियों और ऐन्द्रिय मन के द्वारा तथ्य की भूल-चूक, त्रुटि, गलत चुनाव और संचय, व्यक्तिगत संस्कारवश या व्यक्तिगत प्रतिक्रिया के द्वारा बनाये गये अचेतन संकलन एक मिथ्या, अपूर्ण, मिश्रित चित्र बना देते हैं। इन भूलों के साथ बुद्धि द्वारा जोड़ दी जाती हैं अनुमान, मूल्यांकन, तथ्यों की व्याख्या की भूलें। जब दत्त सामग्री ही निश्चित या पूर्ण न हो तो उसके आधार पर बनाये गये निष्कर्ष भी असुरक्षित और अपूर्ण होंगे ही।

ज्ञान-प्राप्ति के लिये चेतना ज्ञात से अज्ञात की ओर जाती है। वह प्राप्त अनुभव, स्मृतियों, संस्कारों, निष्कर्षों की एक इमारत, चीजों का एक मिला-जुला मानसिक चित्र बनाती है जिसका स्वरूप चंचल और सदा परिवर्तनशील स्थिरता का होता है। नये ज्ञान के आगमन में जो कुछ आता है उसका मूल्यांकन भूतकालीन ज्ञान के प्रकाश में किया जाता है और उसे इमारत में बिठा दिया जाता है, अगर वह ठीक तरह नहीं बैठ पाता तो उसे या तो किसी तरह जैसे-तैसे बिठा दिया जाता है या फिर त्याग दिया जाता है लेकिन हो सकता है कि नये विषय या ज्ञान के नये क्षेत्र के लिये वर्तमान ज्ञान या उसके ढांचे और मानदंड उपयोगी न हों, उपयुक्तता, गलत उपयुक्तता और त्याग भूल-भरा प्रत्युत्तर हों। तथ्यों के भ्रांत ग्रहण और गलत व्याख्या के साथ ज्ञान का गलत प्रयोग, गलत सम्मिलन, गलत निर्माण, गलत निरूपण, मानसिक भूल-भ्रांति का जटिल यंत्र-विन्यास भी जुड़ जाता है। हमारे मानसिक भागों की आलोकित धूमिलता में एक प्रच्छन्न अंतर्भास कार्यरत रहता है, एक सत्य-प्रेरणा भी रहती है जो गलत को ठीक करती या बुद्धि को गलत को सुधारने के लिये, वस्तुओं के सच्चे चित्र और सच्चे व्याख्यात्मक ज्ञान के लिये परिश्रम करने को प्रवृत्त करती है। लेकिन अंतर्भास अपने-आप मनुष्य के मन में आकर अपनी सूचनाओं के मानसिक रूप में गलत ग्रहण किये जाने के कारण सीमित हो जाता है और अपने अधिकार से कार्य नहीं कर सकता, क्योंकि अंतर्भास चाहे भौतिक, प्राणिक या मानसिक, कोई भी हो, उसे ग्रहण किये जाने के लिये अपने-आपको नग्न और शुद्ध रूप में नहीं बल्कि मानसिक वस्त्रों में आवेष्टित या पूरी तरह से मानसिक वेश में लिपटे हुए प्रस्तुत होना चाहिये। इस छद्मवेश में उसके सच्चे स्वरूप को नहीं जाना जा सकता और मन के साथ उसके संबंध और उसके कार्य को नहीं समझा जा सकता। आधी अभिज्ञतावाली उतावली मानव बुद्धि उसके काम करने के तरीके की उपेक्षा करती है। चीजों के पीछे वास्तविकता के, संभावना के और निर्धारक सत्य के अंतर्भास होते हैं। लेकिन मन एक के बदले दूसरे को समझ लेने की भूल करता है। मानव ज्ञान का स्वरूप है आधी पकड़ में

आयी हुई सामग्री को लेकर महान् अस्त-व्यस्तता और परीक्षणात्मक रचना करना, आत्मा या जगत् की आकृति की ऐसी प्रतिमूर्ति या ऐसा मानसिक ढांचा बनाना जो कठोर, साथ ही अस्त-व्यस्त, अधबना और अर्द्ध व्यवस्थित और अर्द्ध अव्यवस्थित, अर्द्ध सत्य और अर्द्ध भ्रांतिपूर्ण लेकिन सदा अपूर्ण होता है।

फिर भी, अपने-आपमें भूल-भ्रांति को मिथ्यात्व नहीं कहा जा सकता, वह केवल सत्य की एक अपूर्णता, संभावनाओं की एक परख होगी, एक प्रयास होगा। क्योंकि जब हम नहीं जानते तो हमें बिना परखी, अनिश्चित संभावनाओं को स्वीकार करना होता है और अगर परिणामस्वरूप विचार की अपूर्ण और अनुपयुक्त इमारत बन जाये तो उसका यह औचित्य ठहर सकता है कि उससे अप्रत्याशित दिशाओं में नये ज्ञान के द्वार खुलते हैं और या तो उसके विघटन और पुनर्निर्माण या उसने जो सत्य छिपा रखा था उसकी खोज हमारे ज्ञान या हमारे अनुभव को बढ़ा सके। इस रचे हुए मिश्रण के बावजूद चेतना, बुद्धि और तर्क-बुद्धि का विकास इस मिश्रित सत्य में से होकर आत्म-ज्ञान और जगत्-ज्ञान से ज्यादा स्पष्ट और ज्यादा सच्चे रूप को पा सकता है। आदिम और आवेष्टित निश्चेतना की बाधा कम होगी और बढ़ती हुई मानसिक चेतना ऐसी स्पष्टता और समग्रता को जा पहुंचेगी जो प्रत्यक्ष ज्ञान और अंतर्भासात्मक प्रक्रिया की छिपी शक्तियों को फिर से उभरने के योग्य तैयार और आलोकित यंत्रों का उपयोग करने योग्य बनायेगी और मानस बुद्धि को विकसनशील सतह पर उनका सच्चा कार्यकर्ता और सत्य-निर्माता बना लेगी।

लेकिन यहां विकास की दूसरी स्थिति या दूसरा तत्त्व हस्तक्षेप करता है क्योंकि ज्ञान के लिये यह खोज कोई निर्वैयक्तिक मानसिक प्रक्रिया नहीं है जिसमें मानसिक बुद्धि की सामान्य सीमाएं ही बाधा देती हों, अहंकार भी है, भौतिक अहंकार, प्राणिक अहंकार जो आत्म-ज्ञान और वस्तुओं के सत्य और जीवन के सत्य की खोज पर नहीं बल्कि प्राणिक आत्म-प्रतिष्ठापन पर तुला होता है, एक मानसिक अहंकार भी होता है जो अपने निजी प्रतिष्ठापन पर जोर देता है और बड़ी हदतक प्राणिक आवेग ही अपनी प्राणिक कामना और अपने प्राणिक प्रयोजन के लिये उसका निर्देशन और उपयोग करता है। क्योंकि जैसे-जैसे मन विकसित होता है वैसे ही मानसिक व्यक्तित्व का भी विकास होता है जिसके साथ मानसिक प्रवृत्ति का व्यक्तिगत परिचालन होता है, एक अपना मानसिक स्वभाव और अपनी ही मानसिक रचना रहती है। यह सतही मानसिक व्यक्तित्व अहं-केन्द्रित होता है। वह जगत् को, वस्तुओं और घटनाओं को अपने ही दृष्टिकोण से देखता है, उस तरह से नहीं जैसी कि वे हैं; बल्कि वैसे जैसे वे उसे प्रभावित करती हैं। वस्तुओं का अवलोकन करते समय वह उन्हें अपने झुकाव और स्वभाव के अनुकूल मोड़ देता, चुनता या त्याग देता है, सत्य को अपनी मानसिक पसंद और सुविधा के अनुसार व्यवस्थित करता है। मानस-व्यक्तित्व अवलोकन, मूल्यांकन, तर्क सभी का निश्चय

करता या सभी को प्रभावित करता है और इन्हें व्यक्तित्व और अहं की आवश्यकताओं के अनुसार आत्मसात् किया जाता है। जब मन सत्य और तर्क के शुद्ध निर्वैयक्तित्व पर अधिक-से-अधिक लक्ष्य करता है तब भी उसके लिये निरी निर्वैयक्तिकता असंभव होती है, अधिक-से-अधिक प्रशिक्षित, कठोर और जागरूक बुद्धि भी तथ्य और भाव के ग्रहण में और उसके मानसिक ज्ञान के निर्माण में उसके द्वारा सत्य को दिये गये मरोड़ों और मोड़ों को नहीं देख पाती। यहां हम सत्य की विकृति का एक लगभग अक्षय स्रोत पाते हैं, यहां मिथ्याकरण का कारण मिलता है, भूल-भ्रांति के लिये अचेतन या अर्द्ध-चेतन इच्छा मिलती है, भावों या तथ्यों की स्वीकृति सत्य और मिथ्या के स्पष्ट प्रत्यक्षण द्वारा नहीं बल्कि अभिरुचि, व्यक्तिगत अनुकूलता, व्यक्तिगत प्रकृति के चुनाव और पूर्व-निर्णय के द्वारा होती है। यहां मिथ्यात्व के उपजने के लिये एक उर्वर बीज-भूमि अथवा एक या अनेक फाटक हैं जिनमें से वह चोरी-चोरी या अनधिकारपूर्वक फिर भी स्वीकार्य जबरदस्ती द्वारा प्रवेश कर सकता है। सत्य भी अंदर आ सकता है और अंदर निवास कर सकता है लेकिन अपने निजी अधिकार से नहीं बल्कि मन की खुशी से।

सांख्य मनोविज्ञान की भाषा में हम तीन प्रकार के मानसिक व्यक्तित्वों में भेद कर सकते हैं : जिस पर अंधकार और तमस् के तत्त्व का शासन हो, जो निश्चेतना का पहलौठा हो—तामसिक, जिसपर आवेग की शक्ति और क्रियाशीलता का शासन हो—राजसिक, जिसे प्रकाश, सामंजस्य, संतुलन के सात्त्विक सांचे में ढाला गया हो—सात्त्विक। तामसिक बुद्धि का आसन भौतिक मन में है। वह विचारों के बारे में जड़ होता है, उन विचारों को छोड़कर जिन्हें वह किसी प्रामाणिक स्रोत या अधिकारी से जड़ता, अंधेपन और निष्क्रियता द्वारा प्राप्त करता है—उनकी ग्रहणशीलता में अस्पष्ट, अपने-आपको बढ़ाने के लिये अनिच्छुक, नये उद्दीपनों के प्रति अक्खड़, रूढ़िवादी और अचल है। वह अपनी प्राप्त ज्ञान की रचना के साथ चिपका रहता है और उसकी एकमात्र शक्ति है पुनरावृत्ति करती हुई व्यावहारिकता। लेकिन यह ऐसी शक्ति है जो अभ्यासगत, स्पष्ट, प्रतिष्ठित, परिचित और पहले से सुरक्षित है। वह उस सबको दूर फेंक देती है जो नया हो या जिससे उसकी शांति भंग हो सके। राजसिक बुद्धि का मुख्य आसन प्राणिक मन में है। यह दो तरह की होती है; एक उग्रता और भावावेग के साथ रक्षणात्मक है, यह मानसिक व्यक्तित्व और उस सबके लिये आग्रहशील होती है जो उसके साथ मेल खाता है, जो उसकी इच्छा-शक्ति को पसंद है, उसके दृष्टिकोण के अनुकूल है, लेकिन वह उस सबके प्रति आक्रामक होती है जो उसकी मानसिक अहं-रचना के विरुद्ध हो या उसकी व्यक्तिगत बौद्धिकता को स्वीकार न हो। दूसरा प्रकार वह है जिसे नयी चीजों के लिये उत्साह होता है, जो रागावेशमय, आग्रही, उतावली, मर्यादा से अधिक सचल, अस्थिर और सदा अशांत रहती है। वह अपने भाव में सत्य और

प्रकाश द्वारा नहीं बल्कि बौद्धिक संग्राम के उत्साह, गतिविधि और अभियान के उत्साह से शासित होती है। सात्त्विक बुद्धि ज्ञान के लिये उत्सुक होती है, वह जितना हो सके उसके प्रति खुली रहती है, जो कुछ उसके आगे सत्य के रूप में आता है उसपर विचार करने, उसके सत्य को जांचने और तौलने, उसे अपनी दृष्टि के अनुकूल बनाने और उसके साथ सामंजस्य बनाने के लिये वह सावधान है, वह जो कुछ आत्मसात् कर सके उसे ग्रहण करते हुए, सत्य को सामंजस्यपूर्ण बौद्धिक रचना के रूप में बनाने में कुशल होती है। लेकिन, चूंकि उसका प्रकाश सीमित है जैसा कि सारा मनोमय प्रकाश होगा ही इसलिये वह अपने-आपको इतना बढ़ाने में असमर्थ है कि वह समान रूप से समस्त सत्य और समस्त ज्ञान को ग्रहण कर सके। उसमें एक मानसिक अहंकार है, यहांतक कि एक प्रबुद्ध अहं भी है। और वह अपने अवलोकन, निर्णय, तर्क, मानसिक पसंद और अभिरुचि में उसी के द्वारा निर्धारित होती है। अधिकतर लोगों में इनमें से किसी एक गुण की प्रधानता होती है लेकिन साथ ही मिश्रण भी होता है, एक ही मन एक दिशा में खुला हुआ, नमनीय और सामंजस्यपूर्ण हो सकता है और दूसरी दिशा में गतिक, प्राणिक, उतावला, पूर्वाग्रहपूर्ण और असंतुलित और तीसरी अवस्था में वही अंधेरा और अग्रहणशील हो सकता है। व्यक्तित्व द्वारा यह सीमाबंधन, व्यक्तित्व की यह सुरक्षा और जो आत्मसात् न हो सके उसे लेने से इंकार व्यक्तिगत सत्ता के लिये जरूरी है। क्योंकि अपने विकास में, वह जिस स्थितितक पहुंचा है उसका एक विशेष आत्म-प्रकटन होता है, एक विशेष प्रकार का अनुभव और उसका उपयोग होता है जो कम-से-कम मन और प्राण के लिये प्रकृति को शासित करेगा। उस समय के लिये वही उसकी सत्ता का विधान, उसका धर्म होता है। जबतक कि व्यक्ति मन के अतिक्रमण की तैयारी नहीं करता और जबतक वह विश्वजनीनेतातक नहीं पहुंच पाता तबतक मानसिक चेतना का व्यक्तित्व द्वारा और सत्य का मानसिक स्वभाव और अभिरुचि द्वारा सीमांकन हमारी प्रकृति का नियम होना चाहिये। लेकिन यह स्पष्ट है कि यह अवस्था अनिवार्य रूप से भ्रांति का स्रोत है और किसी भी क्षण ज्ञान के मिथ्याकरण का, एक अचेतन या अर्द्ध-स्वेच्छा के साथ अपने-आपको धोखा देने का, सत्यज्ञान को स्वीकार करने से इंकार करने का, स्वीकार करने लायक गलत ज्ञान को सत्य ज्ञान मान लेने की तैयारी का कारण हो सकती है।

यह तो ज्ञान के क्षेत्र की बात हुई लेकिन यही नियम इच्छा और क्रिया के क्षेत्र में भी लागू होता है। अज्ञान में से एक गलत चेतना की रचना होती है जो लोगों, वस्तुओं और घटनाओं के संपर्क के प्रति गलत सक्रिय प्रतिक्रिया करती है। ऊपर की सतही चेतना गुप्त अंतरतम चेतना, चैत्य सत्ता से—क्रिया के पक्ष में हो या विपक्ष में—आनेवाले सुझावों की अवहेलना करने, गलत समझने या अस्वीकार करने की आदत डाल लेती है। इसके बदले वह अप्रबुद्ध मानसिक या प्राणिक

सुझावों को उत्तर देती है या प्राणिक अहंकार की मांगों या आवेगों के अनुसार क्रिया करती है। यहां विकास की प्राथमिक अवस्थाओं में दूसरी—जिसका विधान है एक ऐसे जगत् में जो उसके लिये अनात्म है पृथक् प्राण सत्ता का अपने-आपको प्रतिष्ठापित करना—वह प्रधान हो जाती है और बहुत अधिक महत्त्व पा लेती है। यहीं पर सतही प्राणिक व्यक्तित्व या प्राण-पुरुष अपनी प्रधानता पर जोर देता है और अज्ञानी प्राणिक सत्ता की यह प्रधानता असंगति और असामंजस्य का मुख्य सक्रिय स्रोत है, जीवन की भीतरी और बाहरी उथल-पुथल का कारण, गलत कार्यों और अशुभ का मुख्य स्रोत है। हमारे अंदर स्वाभाविक प्राणिक तत्त्व, जबतक कि उसपर अंकुश न हो, वह अप्रशिक्षित हो या अपना आदिम स्वरूप बनाये रखे, सत्य या ऋत-चेतना और सत्य-कर्म से वास्ता नहीं रखता। उसे सिर्फ स्वाग्रह, प्राण-वृद्धि, अधिकार, आवेगों की तुष्टि, कामनाओं के संतोष से वास्ता रहता है। प्राणमय पुरुष को अपनी मुख्य आवश्यकता और मांग ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मालूम होती है। वह सत्य, उचित, शुभ या ऐसे किसी और विचार के बिना उसे खुशी से पूरा कर लेगा, लेकिन चूंकि मन भी है जिसके अंदर ये सब धारणाएं होती हैं, चूंकि अंतरात्मा भी है जिसके अंदर अंतरात्मा की अनुभूतियां होती हैं अतः वह मन पर हावी होने की कोशिश करता है और चाहता है कि मन उसकी आज्ञा मानकर उसीकी आत्म-प्रतिष्ठापन की इच्छा के लिये अनुमोदन और कार्यान्वयन का आदेश दे, उसके अपने प्राणिक प्रस्थापनों, अंतर्वेगों और कामनाओं के सत्य, न्याय्य और शुभ होने का निर्णय दे। वह आत्म-समर्थन चाहता है ताकि पूरा-पूरा आत्म-प्रतिष्ठापन पाने के लिये वह जगह पा सके। लेकिन अगर उसे मन की स्वीकृति मिल जाये तो वह इन सब मानदंडों की उपेक्षा करके बस एक ही मानदंड स्थापित करने के लिये तैयार रहता है और वह है प्राणिक अहं की तुष्टि, वृद्धि, बल और महानता। प्राणमय पुरुष को स्थान, विस्तार, अपने जगत् पर अधिकार, वस्तुओं और सत्ताओं पर प्रभुत्व और नियंत्रण की जरूरत होती है; उसे जीवन-स्थान की, सूर्यालोक में स्थान की, आत्म-प्रतिष्ठापन और जीवित बने रहने की जरूरत होती है। उसे इन चीजों की अपने लिये और उनके लिये, जिनके साथ वह अपना संबंध जोड़ता है, अपने निजी अहं और सामूहिक अहं के लिये जरूरत होती है। उसे अपने भावों, मतों, आदर्शों, हितों, कल्पनाओं के लिये इनकी जरूरत होती है। क्योंकि उसे मैं और मेरा के इन रूपों को आग्रह के साथ अपने चारों ओर के जगत् पर स्थापित करना होता है, और अगर उसमें इतना करने की सामर्थ्य न हो तो उसे कम-से-कम औरों से अपने बल और साधनों के अनुसार उनका बचाव और संरक्षण करना ही पड़ता है। वह ऐसे उपायों द्वारा यह करने की कोशिश कर सकता है जिन्हें वह उचित सोचता या सोचना पसंद करता है या उचित का प्रतिनिधि मानता है। वह इसे हिंसा, छल, मिथ्यात्व, विनाशक आक्रमण, अन्य

जीव-रचनाओं को कुचलने के नग्न उपयोग द्वारा कर सकता है, साधन और नैतिक वृत्ति चाहे जो हो सिद्धांत वही रहता है। केवल हितों के क्षेत्र में ही नहीं बल्कि भावों के क्षेत्र में, धर्म के क्षेत्र में भी मनुष्य की प्राणिक सत्ता ने आत्म-प्रतिष्ठापन और संघर्ष के इस भाव और मनोवृत्ति को प्रविष्ट किया है और हिंसा, दमन, निग्रह, असहिष्णुता, आक्रमण के उपयोग को अपनाया है। उसने बौद्धिक सत्य के क्षेत्र पर और आत्मा के क्षेत्र पर प्राणिक अहं के सिद्धांत को आरोपित किया है। स्वाग्रहशील प्राण अपने आत्म-प्रतिष्ठापन में उन सबके प्रति जो उसके विस्तार के रास्ते में आड़े आते हैं या उसके अहंकार को चोट पहुंचाते हैं घृणा और अरुचि लाता है। वह प्राण-प्रकृति के साधन, आवेग या प्रतिक्रिया के रूप में निर्दयता, विश्वासघात और सब तरह की बुराइयों को विकसित करता है। उसकी कामना और आवेश की संतुष्टि ठीक या गलत की परवाह नहीं करती, वह केवल कामना और वेग की पूर्ति चाहती है। इस संतुष्टि के लिये वह विनाश के संकट और कष्ट की वास्तविकता का सामना करने को तैयार रहता है क्योंकि प्रकृति उसे जिस लक्ष्य की ओर धकेल रही है वह केवल आत्म-संरक्षण ही नहीं बल्कि प्राण का प्रतिष्ठापन और प्राण की तुष्टि, प्राण-शक्ति और प्राण-सत्ता का रूपायन है।

इसका यह मतलब नहीं है कि प्राणिक व्यक्तित्व अपने मूल गठन में बस यही है या अशुभ ही उसका मूल स्वभाव है। वह मुख्यतः सत्य और शुभ के साथ संबंध नहीं रखता परंतु उसे सत्य और शुभ के लिये भी वैसा ही आवेग हो सकता है जैसा ज्यादा सहज रूप से हर्ष और सौंदर्य के लिये आवेग होता है। प्राण-शक्ति जो कुछ विकसित करती है उसमें साथ-ही-साथ, सत्ता में किसी जगह एक गुप्त आनंद भी विकसित होता है, शुभ में आनंद, अशुभ में आनंद, सत्य में आनंद और मिथ्यात्व में आनंद, जीवन में आनंद और मृत्यु की ओर आकर्षण, सुख में आनंद और दुःख-दर्द में आनंद, अपने निजी दुःख-दर्द और दूसरों के दुःख-दर्द में आनंद, अपने निजी हर्ष और सुख में आनंद और साथ ही दूसरों के शुभ, हर्ष और सुख में आनंद। क्योंकि प्राण-प्रतिष्ठापन की शक्ति समान रूप से शुभ और अशुभ की पुष्टि करती है। उसमें सहायता और साहचर्य, उदारता, स्नेह, निष्ठा और आत्मदान के वेग होते हैं। वह जैसे अहंकार को स्वीकार करती है उसी तरह परहित को अपनाती है, जैसे अपनी बलि देती है उसी तरह औरों का नाश करती है और उसके सभी कार्यों में प्राण-प्रतिष्ठापन के लिये वही आवेग होता है, क्रिया और परिपूर्ति की वही शक्ति होती है। प्राणिक सत्ता की यह प्रकृति और उसके अस्तित्व की यह प्रवृत्ति जिसमें, हम जिन्हें शुभ और अशुभ कहते हैं, वे अपना स्थान तो रखते हैं लेकिन मुख्य स्रोत नहीं होते। यह चीज मनुष्य से नीचे के जीवन में स्पष्ट दिखलायी देती है। चूंकि मानव सत्ता में मानसिक, नैतिक और चैत्य विवेक विकसित होता है इसलिये उसे (प्राणिक सत्ता को) नियंत्रण में या छद्मवेश

में रखा जाता है लेकिन इससे उसका स्वभाव नहीं बदलता। आध्यात्मिक शक्ति, 'आत्मशक्ति' की प्रकट क्रिया के अभाव में प्राणिक सत्ता और उसकी जीवन-शक्ति और आत्म-प्रतिष्ठापन की ओर की उनकी प्रेरणा कार्यान्वयन के लिये प्रकृति के मुख्य साधन हैं। उसके सहारे के बिना न तो मन और न शरीर अपनी संभावनाओं का उपयोग कर सकते हैं और यहां, जीवन में अपने लक्ष्य को भी प्राप्त नहीं कर सकते। यदि आंतरिक या सच्ची प्राणिक सत्ता बाहरी प्राणिक व्यक्तित्व का स्थान ले ले तो प्राणिक अहं की प्रेरणा को पूरी तरह जीता जा सकता है और तभी जीवनी शक्ति अंतरात्मा की दासी और हमारी सच्ची आध्यात्मिक सत्ता की क्रिया के लिये सबल उपकरण बन सकती है।

तो यही है व्यक्ति की चेतना में और इच्छा में भ्रांति, मिथ्यात्व, भूल और अशुभ का मूल और उनका स्वरूप। अविद्या में से बढ़ती हुई सीमित चेतना भूल-भ्रांति का स्रोत है, सीमा के साथ एक व्यक्तिगत लगाव और उससे उत्पन्न भ्रांति मिथ्यात्व का स्रोत है, प्राणिक अहं से शासित गलत चेतना अशुभ का स्रोत है। लेकिन यह स्पष्ट है कि उनका सापेक्ष अस्तित्व एक आभास मात्र है जिसे विश्व-शक्ति ने क्रम-विकास की आत्म-अभिव्यक्ति की ओर अपने अभियान के साथ ही व्यक्त किया है और हमें उसीमें इस आभास के अर्थ की खोज करनी चाहिये। क्योंकि जैसा हम देख आये हैं कि प्राणिक अहं का उभरना व्यक्ति के प्रतिष्ठापन के लिये, अवचेतन की अनिर्दिष्ट उपादान राशि में से व्यक्ति की आत्म-विमुक्ति के लिये, निश्चेतना द्वारा तैयार की गयी भूमि पर चेतन सत्ता के प्रकट होने के लिये वैश्व प्रकृति का एक यंत्र है। अहं के प्राण-प्रतिष्ठापन का तत्त्व इसका आवश्यक निष्कर्ष है। व्यक्तिगत अहं एक व्यावहारिक और प्रभावकारी कल्पना है, अपनी सतही चेतना में उसकी गुप्त आत्मा का अनुवाद है, या फिर हमारे बाहरी अनुभव में हमारी सच्ची आत्मा का व्यक्तिनिष्ठ अनुकल्प है, अज्ञान उसे दूसरी आत्मा और आंतरिक दिव्यता से अलग करता है फिर भी उसे गुप्त रूप से विभिन्नता में विकसनशील एकता की ओर धकेला जाता है। उसमें पीछे भले सांत रूप में फिर भी अनंत की ओर आवेग रहता है। अज्ञानभरी चेतना की भाषा में यह अपने-आपको विस्तृत करने, असीम सांत होने, जो कुछ ले सके उस सबको अपने अंदर ले लेने, हर चीज में प्रवेश करने और उसपर अधिकार कर लेने, यहांतक कि उससे अधिकृत होने की भाषा में अनूदित करता है अगर उसके द्वारा उसे यह संतोष हो सके कि वह औरों में और औरों के द्वारा बढ़ रहा है या अधीनता द्वारा वह उनकी सत्ता और शक्ति को अपने अंदर ले सकता हो या इससे उसे अपने प्राण-प्रतिष्ठापन, अपने जीवन-आनंद, अपने मानसिक, प्राणिक या शारीरिक जीवन की समृद्धि के लिये सहायता और प्रेरणा मिलती हो।

लेकिन चूंकि वह यह सब चीजें सचेतन आदान-प्रदान और पारस्परिकता के

द्वारा नहीं, एकता के द्वारा नहीं, एक पृथक् अहं के तौर पर अपने पृथक् लाभ के लिये करता है इसलिये प्राणिक विसंवाद, संघर्ष और असामंजस्य पैदा होते हैं और हम इस प्राण-विसंवाद और असामंजस्य की उपज को ही गलत और अशुभ कहते हैं। प्रकृति उन्हें स्वीकार करती है क्योंकि वे विकास के लिये आवश्यक परिस्थितियां हैं, विभक्त सत्ता की वृद्धि के लिये आवश्यक हैं। वे अज्ञान की उपज हैं जिन्हें अज्ञानमय चेतना सहारा देती है जो विभाजन पर आधारित होती है, एक अज्ञानमय इच्छा सहारा देती है जो विभाजन द्वारा कार्य करती है, सत्ता का एक अज्ञानमय आनंद सहारा देता है जो विभाजन में आनंद लेता है। विकसनशील अभिप्राय जैसे शुभ के द्वारा कार्य करता है वैसे ही अशुभ द्वारा। उसे सबका उपयोग करना होता है क्योंकि एक सीमित शुभतक ही बंधा रहना अभिप्रेत विकास को बंदी बना कर रोक देगा। उसे जो भी सामग्री मिल जाये वह उसका उपयोग करता है और उससे जो कुछ किया जा सके करता है। इसीलिये हम जिसे अशुभ कहते हैं उसमें से शुभ और जिसे शुभ कहते हैं उसमें से अशुभ निकलते हुए देखते हैं। और अगर हम यह भी देखें कि जो अशुभ समझा जाता था उसे शुभ स्वीकार कर लिया गया है और जिसे शुभ माना जाता था उसे अशुभ मान लिया गया है तो इसका कारण यह है कि हमारे इन दोनों के मानक विकसनशील, सीमित और परिवर्तनशील हैं। ऐसा लगता है कि पहले-पहल विकसनशील प्रकृति, पार्थिव वैश्व शक्ति में इन दोनों विरोधियों में से किसी के लिये अभिरुचि नहीं होती, वह अपने प्रयोजन के लिये दोनों का समान रूप से उपयोग करती है। फिर भी उसी प्रकृति ने, उसी शक्ति ने मनुष्य पर शुभ और अशुभ के भाव का भार लाद दिया है और वह उसके महत्त्व पर जोर देती है, अतः स्पष्ट है कि इस भाव में भी विकास का कोई प्रयोजन है। यह भी जरूरी होगा, यह इसलिये होगा ताकि मनुष्य कुछ चीजों को पीछे छोड़ता जाये और दूसरी चीजों की ओर बढ़ता जाये, यहांतक कि वह शुभ और अशुभ में से ऐसे परम शुभ में उदित हो सके जो शाश्वत और अनंत है।

लेकिन प्रकृति में यह विकसनशील अभिप्राय अपने-आपको कैसे, किस शक्ति, साधन, प्रेरणा, चुनाव और समन्वय के किस सिद्धांत, किस प्रक्रिया द्वारा परिपूर्ण करेगा? मनुष्य के मन ने युगों से चुनाव और त्याग का विधान अपनाया है और इसने धार्मिक अनुशासन, जीवन के सामाजिक या नैतिक नियम या सदाचार के आदर्श के रूप धारण किये हैं। लेकिन यह अनुभव पर आश्रित उपाय है जो समस्या की जड़ को नहीं छूता क्योंकि उसे उस रोग के कारण और निदान का अंतर्दर्शन प्राप्त नहीं है जिसका वह उपचार करना चाहता है। वह रोग के लक्षणों का उपाय करता है परंतु करता है यंत्रवत्, यह जाने बिना कि वे प्रकृति के उद्देश्य में कौन-सा कार्य कर रहे हैं और मन और प्राण में ऐसा क्या है जो उन्हें बनाये रखने में सहायता देता है। और फिर मानव शुभ और अशुभ सापेक्ष हैं और

नैतिकता के बनाये गये मानक अनिश्चित और साथ ही सापेक्ष हैं। जिसका एक या दूसरे धर्म ने निषेध किया है, जिसे सामाजिक मत ने अच्छा या बुरा माना है, जो समाज के लिये उपयोगी या हानिकारक माना जाता है, जिसे मनुष्य का कोई सामयिक विधान स्वीकृति देता या अस्वीकार करता है, जो अपने-आपके और औरों के लिये सहायक या हानिकारक होता है या माना जाता है, जो इस या उस आदर्श के साथ मेल खाता है, जिस सहजवृत्ति को विवेक कहा जाता है वह किसे प्रोत्साहन देती और किसे हतोत्साह करती है—इन सब दृष्टिकोणों का पचमेल नैतिकता का नियामक विषमांग भाव, उसका जटिल उपादान होता है। इन सबके अंदर सत्य, अर्द्ध-सत्य और भ्रांति का सतत मिश्रण होता है जो हमारे सीमित करनेवाले मानसिक ज्ञान-अज्ञान के सभी क्रिया-कलापों के पीछे लगा रहता है। हमारी प्राणिक और भौतिक कामनाओं और सहजवृत्तियों पर, हमारे निजी और सामाजिक कार्यों पर, हमारे औरों के साथ व्यवहार पर हमारे मानव होने के नाते एक मानसिक नियंत्रण अनिवार्य है। और नैतिकता एक ऐसा मानक बनाती है जिसके द्वारा हम अपना पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं और प्रथागत नियंत्रण स्थापित कर सकते हैं लेकिन नियंत्रण हमेशा अधकचरा रहता है। वह एक सामयिक चीज होता है, समाधान नहीं। मनुष्य हमेशा वही बना रहता है जो वह है और रहा है यानी शुभ और अशुभ, पाप और पुण्य का मिश्रण—एक मानसिक अहं जिसका अपनी मानसिक, प्राणिक और शारीरिक प्रकृति पर अधूरा अधिकार होता है।

अपनी चेतना और क्रिया में से हमें जो कुछ शुभ लगता है उसे चुन लेने और बनाये रखने तथा उस सबको त्याग देने का जो हमें अशुभ लगता है और इस तरह अपनी सत्ता का पुनर्निर्माण करने, अपने-आपको किसी आदर्श के रूप में पुनर्गठित और रूपायित करने का प्रयास एक अधिक गहरा नैतिक हेतु होता है क्योंकि वह सच्चे प्रश्न के ज्यादा नजदीक आता है। वह इस ठोस भाव पर खड़ा होता है कि हमारा जीवन एक संभूति है और कोई ऐसी चीज है जो हमें होना या बनना चाहिये। लेकिन मानव मन के बनाये हुए आदर्श चयनात्मक और सापेक्ष हैं। अपनी प्रकृति को कठोरता के साथ उनके अनुसार रूप देने का अर्थ है अपने-आपको सीमित करना और अधिक विशाल सत्ता के अंदर विकसित होने की जगह एक रचना बना डालना। हमें सच्ची पुकार है अनंत की और परम पुरुष की। प्रकृति के द्वारा हमपर आरोपित आत्म-प्रतिष्ठापन और आत्म-त्याग दोनों उसीकी ओर गतियां हैं। अहं के मार्ग की जगह, जो अज्ञानमय होने के कारण गलत है, और प्रकृति की हां और ना के बीच संघर्ष की जगह हमें आत्म-प्रतिष्ठापन और आत्म-त्याग दोनों को एक साथ लेनेवाले ठीक रास्ते की खोज करनी होगी। अगर हम इसे न खोज पायें तो या तो प्राण का प्रेरण हमारे पूर्णता के संकुचित आदर्श के लिये बहुत ज्यादा सबल होगा, उसका यंत्र-विन्यास टूट जायेगा और वह अपने-

आपको चरम सिद्धितक पहुंचाने और चिरस्थायी होने में असफल हो जायेगा या हमें अधिक-से-अधिक आधा परिणाम प्राप्त होगा या फिर जीवन से भाग जाने की प्रेरणा अपने-आपको एकमात्र उपचार के रूप में, अज्ञान की अन्यथा अजेय पकड़ में से निकलने की एकमात्र राह के रूप में प्रस्तुत करेगी। वस्तुतः धर्म ने सामान्यतः इसी मार्ग की ओर संकेत किया है। भगवान् द्वारा निर्दिष्ट नैतिकता, आचरण की किसी धार्मिक संहिता द्वारा बतलायी गयी सच्चरित्रता, धर्मपरायणता और पुण्य का अनुसरण, किसी मानव प्रेरणा द्वारा निश्चित किया गया ईश्वरीय विधान, इसे उस साधन या दिशा के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया जाता है जो हमें बाहर निकलने के द्वार की राह पर ले जाता है। लेकिन यह निष्कासन समस्या को जहां का तहां छोड़ जाता है। यह तो व्यक्तिगत सत्ता के विश्व-जीवन की अनसुलझी समस्या में से केवल बच निकलने का उपाय है। प्राचीन भारत के आध्यात्मिक चिंतन में इस कठिनाई का ज्यादा स्पष्ट बोध था। आध्यात्मिक उपलब्धि की ओर जाने के लिये सत्य, पुण्य, सत् संकल्प और सत् कर्म की पद्धति को आवश्यक माना जाता था। लेकिन स्वयं उस उपलब्धि में ही सत्ता अनंत और शाश्वत की महत्तर चेतना में उठ जाती है और अपने ऊपर से पाप-पुण्य के भार को झाड़ फेंकती है क्योंकि वे सापेक्षता और अज्ञान की चीजें हैं। इस बृहत्तर, सत्यतर अंतर्दर्शन के पीछे यह अंतर्बोध रहता है कि सापेक्ष शुभ एक ऐसा प्रशिक्षण है जिसे विश्व-प्रकृति ने हमारे ऊपर आरोपित किया है ताकि उससे होकर हम सच्चे शुभ की ओर बढ़ सकें जो निरपेक्ष है। ये मन और अज्ञ प्राण की समस्याएं हैं। वे मन के परेतक हमारे साथ नहीं जातीं। जैसे अनंत सत्-चित् में सत्य और भ्रांति के द्वित्त की समाप्ति हो जाती है उसी तरह अनंत शुभ में शुभ और अशुभ के द्वित्त की मुक्ति हो जाती है, उनका अतिक्रमण होता है।

इस समस्या से, जिसने मानव-जाति को हमेशा कष्ट दिया है, जिसका उसे कोई संतोषजनक समाधान नहीं मिला, कोई कृत्रिम पलायन नहीं हो सकता। मीठे और कड़वे फलोंवाले शुभ और अशुभ के ज्ञान के पेड़ की जड़ें गुप्त रूप से निश्चेतना की उसी प्रकृति में हैं जिसमें से हमारी सत्ता उभरी है और जिसे अपनी निचली मिट्टी और आधार बनाकर हमारा भौतिक शरीर अब भी खड़ा है। वह वृक्ष दृश्य रूप से अज्ञान की बहुविध शाखाओं में बाह्य स्तर पर फैला है और वह अज्ञान परम चेतना और संपूर्ण अभिज्ञता की ओर हमारी चेतना के कठिन क्रम-विकास में अब भी प्रमुख भाग और अवस्था बना हुआ है। जबतक यह भूमि अपने अंदर अज्ञात जड़ों के साथ मौजूद है और अज्ञान का यह पोषक हवा और यह जलवायु है तबतक पेड़ बढ़ता और पनपता रहेगा और अपने द्विविध फलों और मिश्रित प्रकृतिवाले फल पैदा करता रहेगा। इसका अर्थ यह है कि कोई अंतिम समाधान तबतक नहीं हो सकता जबतक कि हम अपनी निश्चेतना को महत्तर चेतना में न

बदल दें, अपनी आत्मा और आध्यात्म सत्ता के सत्य को अपने जीवन का आधार न बना लें और अपने अज्ञान को उच्चतर ज्ञान में न बदल दें। बाकी सारे उपाय केवल कामचलाऊ या अंधी गलियां होंगे। एकमात्र सच्चा समाधान है हमारी प्रकृति का पूरी तरह आमूल रूपान्तर। चूंकि निश्चेतना अपने आदिम अंधकार को हमारी आत्मा और वस्तुओं की अभिज्ञता पर आरोपित करती है और चूंकि अज्ञान उसे अपूर्ण और विभक्त चेतना पर आधारित करता है और चूंकि हम उस अंधकार और विभाजन में रहते हैं इसलिये गलत ज्ञान और गलत इच्छा संभव है। गलत ज्ञान के बिना कोई भ्रांति या मिथ्यात्व संभव नहीं, और हमारे क्रियाशील अंगों में भ्रांति या मिथ्यात्व के बिना हमारे अवयवों में गलत इच्छा नहीं हो सकती, बिना गलत इच्छा के कोई गलत क्रिया या अशुभ नहीं हो सकता। जबतक ये कारण बने रहेंगे तबतक हमारी प्रकृति में और हमारी क्रियाओं में उनके प्रभाव भी बने रहेंगे। मानसिक नियंत्रण केवल नियंत्रण हो सकता है, उपचार नहीं, मानसिक शिक्षा, नियम, मानक एक कृत्रिम खांचा ही थोप सकते हैं जिसमें हमारी क्रिया यांत्रिक रूप से या कठिनाई से घूमती है, जो हमारी प्रकृति के मार्ग पर एक प्रतिबद्ध और सीमित रचना को ही आरोपित करता है। चेतना का पूरा-पूरा परिवर्तन, प्रकृति का आमूल परिवर्तन ही एकमात्र उपाय और एकमात्र समाधान है।

लेकिन चूंकि कठिनाई की जड़ है विभक्त, सीमित और पृथक्कारी जीवन अतः इस परिवर्तन को हमारी सत्ता की विभक्त चेतना का एकीकरण तथा उपचार होना चाहिये और चूंकि वह विभाजन जटिल और बहुविध है अतः सत्ता के किसी एक पार्श्व का परिवर्तन पूर्ण रूपांतर के पर्याप्त स्थानापन्न के रूप में नहीं माना जा सकता। हमारा सबसे पहला विभाजन वह है जिसे हमारे अहं ने और मुख्य रूप से, हमारे प्राणिक अहं ने सबसे अधिक बल और सबसे अधिक स्पष्टता के साथ रचा है, जो हमें अन्य सभी सत्ताओं से अनात्मा कहकर अलग करता है और हमें अहंकेन्द्रिकता और अहंकारमय आत्म-प्रतिष्ठापन के विधान के साथ बांधता है। गलत और अशुभ सबसे पहले इस आत्म-प्रतिष्ठापन की भ्रांतियों में से उभरते हैं। गलत चेतना हमारे अंगों में, विचारशील मन में, हृदय में, प्राणमय मन और संवेदनात्मक सत्ता में, स्वयं शरीर की चेतना में गलत इच्छा उत्पन्न करती है। गलत इच्छा इन सभी उपकरणों की गलत क्रिया पैदा करती है, विचार, इच्छा, इन्द्रिय-बोध और अनुभव की बहुतेरी भूल-भ्रांतियों और बहुशाखावाली कुटिलता को पैदा करती है। और दूसरे लोग जबतक हमारे लिये अनात्म हैं, जो हमारे लिये पराई सत्ताएं रहते हैं, जिनकी आंतरिक चेतना, जिनकी अंतरात्मा की आवश्यकता, जिनकी मन की आवश्यकता, हृदय की आवश्यकता, प्राण की आवश्यकता, जिनके शरीर की आवश्यकता के बारे में हम नहीं या नहीं के बराबर जानते हैं, उनके साथ हम समुचित व्यवहार नहीं कर सकते। साहचर्य के विधान, आवश्यकता और अभ्यास

से पैदा हुई अपूर्ण सहानुभूति, ज्ञान और सद्भावना का किंचित् परिमाण सच्ची क्रिया के लिये जरूरी परिमाण की केवल एक दरिद्र प्रमात्रा है। विशालतर मन, विशालतर हृदय, अधिक प्रचुर और उदार प्राण-शक्ति हमें सहायता देने या औरों को सहायता देने और निकृष्टतम अपराध रोकने के लिये कुछ कर सकती है लेकिन यह भी काफी नहीं है, यह कष्टों और हानियों की बहुत बड़ी राशि को और हमारे अभीष्ट शुभ और दूसरों के शुभ की टक्करों को नहीं रोक सकती। अपने अहं और अज्ञान के स्वरूप के कारण जब हम निःस्वार्थ होने का अधिक-से-अधिक गर्व करते हैं तब भी अहं द्वारा ही आत्म-प्रतिष्ठापन करते हैं और जब हम अपनी समझ और अपने ज्ञान पर अधिक-से-अधिक गर्व करते हैं तब भी हम अज्ञान से आत्म-प्रतिष्ठापन करते हैं। परहितवाद को जीवन का नियम बना लेने से भी हमारा त्राण नहीं होता। यह आत्मवर्धन और संकीर्णतर अहं को सुधारने के लिये सशक्त यंत्र है लेकिन यह न तो अहं को लुप्त करता है न सच्ची आत्मा में रूपांतरित करता है जो सबके साथ एक है। परहितवादी का अहं उतना ही सबल और चित्ताकर्षक होता है जितना स्वार्थी का। प्रायः वह अधिक प्रबल और हठी होता है क्योंकि वह धर्माभिमानी और बढ़ा-चढ़ा अहं होता है। अगर हम अपनी आत्मा को दूसरों की आत्मा के अधीन करने के भाव से अपनी अंतरात्मा, अपने मन, प्राण या शरीर पर अन्याय करते हैं तो इससे और भी कम सहायता मिलती है। अपनी सत्ता का इस तरह से, उचित तरीके से प्रतिष्ठापन, कि वह सबके साथ एक हो जाये, यही सच्चा सिद्धांत है, उसे विकलांग करना या नष्ट कर देना नहीं। कभी-कभी आत्मबलिदान जरूरी हो सकता है। आत्मबलिदान विशेष अवसरों पर, अपवाद रूप में, किसी विशेष उद्देश्य के लिये, हृदय की किसी मांग के उत्तर-स्वरूप किसी सम्यक् या उच्च उद्देश्य के लिये जरूरी हो सकता है लेकिन उसे जीवन का नियम या स्वभाव नहीं बनाया जा सकता। इस तरह अतिरंजित करने पर वह केवल औरों के अहंकार को पुष्ट और अतिरंजित करेगा या किसी सामुदायिक अहं को बढ़ा-चढ़ा देगा। यह हमें या मानव जाति को हमारी या उसकी सच्ची सत्ता की खोज और प्रतिष्ठापन की ओर नहीं ले जायेगा। त्याग और आत्मदान निश्चय ही सच्चे विधान हैं और आध्यात्मिक आवश्यकता भी क्योंकि हम अपने अहं से किसी बड़ी चीज के प्रति त्याग या आत्मदान किये बिना सम्यक् रूप से अपनी सत्ता को प्रतिष्ठित नहीं कर सकते, लेकिन उसे भी सच्चे ज्ञान पर आधारित सम्यक् चेतना और इच्छा के आधार पर करना चाहिये। मानसिक रूपायन की सीमा में रहते हुए हम जो अच्छे-से-अच्छा कर सकते हैं वह है अपनी प्रकृति के सात्त्विक भाग को, यानी प्रकाश, अवबोध, संतुलन, सामंजस्य, सहानुभूति, शुभेच्छा, दयालुता, मैत्री, आत्म-संयम, उचित रूप से व्यवस्थित और सामंजस्यपूर्ण कर्म को विकसित करना लेकिन यह हमारी सत्ता के विकास में आनेवाली एक भूमिका है, उसका लक्ष्य नहीं। ये

समाधान आनुषंगिक हैं, उपशामक हैं, इस मूल कठिनाई से आंशिक व्यवहार करने के लिये आवश्यक साधन हैं, हमें अस्थायी सहायता और निर्देशन के रूप में दिये गये अस्थायी मानदंड और उपाय हैं क्योंकि सच्चा और समग्र समाधान हमारी वर्तमान क्षमता के परे है और वह तभी आ सकता है जब हम इतने विकसित हो जायें कि उसे देख सकें और अपना मुख्य उद्यम बना सकें।

सच्चा समाधान तभी हस्तक्षेप कर सकता है जब अपने आध्यात्मिक विकास द्वारा हम सभी सत्ताओं के साथ एकात्म हो जायें, उन्हें अपनी आत्मा का अंग मानें, उनके साथ ऐसे व्यवहार करें मानों वे हमारी ही दूसरी आत्माएं हैं क्योंकि तब विभाजन भर जाता है। अलग आत्म-प्रतिष्ठापन का धर्म जो अपने-आप दूसरों के विरुद्ध या दूसरों को हानि पहुंचाकर आत्म-प्रतिष्ठापन की ओर ले जाता है, औरों के लिये हमारे आत्म-प्रतिष्ठापन और उनकी आत्म-प्राप्ति या आत्मोपलब्धि में हमारी आत्म-प्राप्ति के धर्म को अपने साथ जोड़कर विस्तृत और मुक्त हो जाता है। धार्मिक सदाचार का यह नियम बनाया गया है कि हम वैश्व अनुकंपा के भाव से काम करें, अपने पड़ोसी से अपनी ही तरह प्यार करें, औरों के साथ ऐसा व्यवहार करें जैसा हम उनसे चाहते हैं, औरों के दुःख-सुख को अपने दुःख-सुख की तरह अनुभव करें। लेकिन कोई भी मनुष्य, जो अपने अहं में निवास करता है, ये चीजें सच्ची और पूरी तरह नहीं कर सकता। वह उन्हें केवल अपने मन की मांग, अपने हृदय की अभीप्सा के रूप में, अपनी इच्छा-शक्ति के एक प्रयास के रूप में स्वीकार कर सकता है जिसका लक्ष्य एक उच्च मानदंड के अनुसार रहना और सच्चे प्रयास द्वारा अपनी असंस्कृत अहं-प्रकृति का संशोधन करना हो। यह आदर्श हमारे जीवन का सहज स्वाभाविक नियम तभी बन सकता है और सिद्धांत की तरह व्यवहार में भी तभी आ सकता है जब हम औरों को भी अंतरंग रूप से अपने जैसा ही मानें और अनुभव करें। लेकिन औरों के साथ एकता भी अपने-आपमें काफी नहीं है यदि वह एकता उनके अज्ञान के साथ हो, क्योंकि तब तो अज्ञान का विधान क्रियाशील होगा और क्रिया की भ्रांति और गलत क्रिया बनी रहेगी, भले उनकी मात्रा कम क्यों न हो जाये और उनका प्रभाव और स्वभाव नरम क्यों न पड़ जाये। दूसरों के साथ हमारा एकत्व मौलिक होना चाहिये, हमारा एकत्व उनके मनों, हृदयों, प्राण-पुरुषों, अहंकारों के साथ न होकर—चाहे उनकी गिनती हमारी वैश्व-भावापन्न चेतना में क्यों न होती हो—अंतरात्मा और आध्यात्मिक जीव में एकत्व होना चाहिये और यह हमारी अंतरात्मा की अभिज्ञता और आत्मज्ञान में मुक्ति से आता है। पहली आवश्यकता है स्वयं हमारा अपने अहंकार से मुक्त होना और अपनी सच्ची आत्मा को प्राप्त करना। बाकी सब प्रकाशमान परिणाम और आवश्यक निष्कर्ष के रूप में पाये जा सकते हैं। यह एक कारण है जिससे आध्यात्मिक पुकार को आदेशात्मक मानना चाहिये और उसे अन्य सभी दावों पर

प्राथमिकता मिलनी चाहिये, बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक दावों पर जो अज्ञान के क्षेत्र के हैं। क्योंकि शुभ का मानसिक विधान उसी क्षेत्र में निवास करता है, वह केवल हेर-फेर और उपशमन कर सकता है। उस आध्यात्मिक परिवर्तन का स्थान कोई नहीं ले सकता जो सच्चे और संपूर्ण शुभ को चरितार्थ कर सकता है, क्योंकि आत्मा द्वारा हम कर्म और सत्ता के मूलतक जा पहुंचते हैं।

आत्मा के आध्यात्मिक ज्ञान में उसकी आत्मोपलब्धि के तीन पग हैं जो साथ-ही-साथ एक ज्ञान के तीन भाग हैं। पहला है अंतरात्मा की खोज, विचार भावावेग और कामना के बाहरी पुरुष की नहीं बल्कि हमारे अंदर के दिव्य तत्त्व, गुप्त चैत्य सत्ता की खोज। जब प्रकृति पर उसका प्रभुत्व हो जाता है, जब हम सचेतन रूप से अंतरात्मा होते हैं, जब मन, प्राण और शरीर उसके यंत्र के रूप में अपना सच्चा स्थान ले लेते हैं तो हम एक भीतरी पथ-प्रदर्शक के बारे में अभिज्ञ होते हैं जो सत्य, शुभ और सत्ता के सच्चे आनंद और सौंदर्य को जानता है। वह अपने प्रदीप्त विधान द्वारा हृदय और बुद्धि पर नियंत्रण करता है और हमारे जीवन तथा हमारी सत्ता को आध्यात्मिक पूर्णता की ओर ले जाता है। अज्ञान की अंधेरी क्रियाओं के बीच भी यह हमारे लिये एक साक्षी होता है जो विवेक करता है, जो जीवित प्रकाश होता है, जो आलोकित करता है, एक इच्छा-शक्ति होती है जो पथ-भ्रष्ट होने से इंकार करती है और मन के सत्य को उसकी भ्रांति से अलग करती है, हृदय के अंतरंग प्रत्युत्तर को हृदय पर की गयी गलत पुकार और गलत मांग के प्रति उसके स्पंदनों से, प्राण के सच्चे उत्साह और पूर्ण गतिशीलता के प्राणिक आवेश से, हमारी प्राणिक प्रकृति के मलिन मिथ्यात्वों और उसकी अंधेरी स्वार्थभरी मांगों से अलग करती है। यह आत्मोपलब्धि का पहला कदम है—अहं के स्थान पर अंतरात्मा को, दिव्य चैत्य पुरुष को सिंहासनारूढ़ करना। दूसरा पग है अपने अंदर स्थित शाश्वत आत्मा के बारे में अभिज्ञ होना जो अज और सभी सत्ताओं के साथ एक है। यह आत्मोपलब्धि मुक्त करती और वैश्व भाव प्रदान करती है। अब भी चाहे हमारा कर्म अज्ञान की क्रियाशीलता से ही निकलता हो फिर भी वह बांधता या पथ-भ्रष्ट नहीं करता क्योंकि हमारा अंतःपुरुष आत्म-ज्ञान के प्रकाश में आसीन है। तीसरा कदम है भागवत सत्ता को जानना जो एक ही साथ हमारी परम परात्पर आत्मा, वैश्व सत्ता, हमारी सार्विकता का आधार और भीतर की दिव्यता है, जिसकी हमारी चैत्य सत्ता, हमारी प्रकृति में सच्चा विकसनशील व्यक्ति एक अंग, एक स्फुलिंग, शाश्वत अग्नि में प्रज्वलित होती हुई एक ज्वाला है, इस शाश्वत अग्नि से वह प्रज्वलित हुई थी और वह हमारे अंदर हमेशा उपस्थित या जीवन्त साक्षी है और प्रकाश, शक्ति, आनंद और सौंदर्य का सचेतन यंत्र है। भगवान् को अपनी सत्ता और अपने कर्म का स्वामी जानते हुए हम उनकी शक्ति के, भागवत शक्ति के वाहक बनना सीख सकते हैं और उसके आदेश के अनुसार या अपने

अंदर स्थित उसके प्रकाश और शक्ति के नियम के अनुसार कर्म कर सकते हैं। तब हमारे कर्म का स्वामित्व हमारा प्राणिक आवेग न करेगा और न ही उसपर मानसिक मानक का प्रभुत्व रहेगा क्योंकि वह भागवत शक्ति वस्तुओं के स्थायी फिर भी नमनीय सत्य के अनुसार कार्य करती है, उस सत्य के अनुसार नहीं जिसकी रचना मन करता है अपितु हर गति और परिस्थिति के उच्चतर, गहनतर और सूक्ष्मतर सत्य के अनुसार, जैसा कि वह परम ज्ञान को ज्ञात है और जिसकी विश्व में परम इच्छा उससे मांग करती है। इच्छा की मुक्ति ज्ञान में मुक्ति के पीछे-पीछे आती है और यह उसका क्रियाशील निष्कर्ष है। ज्ञान शुद्ध करता है, सत्य मुक्त करता है। अशुभ आध्यात्मिक अज्ञान का फल है और वह आध्यात्मिक चेतना और आध्यात्मिक ज्ञान के प्रकाश के विकास से ही गायब हो जायेगा। हमारी सत्ता की अन्य सत्ताओं से विभाजन की भूल तभी सुधारी जा सकती है जब हमारी प्रकृति तथा आंतरिक आंतरात्मिक वास्तविकता के बीच की पृथक्ता को दूर कर दिया जाये, हमारे संभवन और आत्म-सत्ता के बीच की दूरी को लुप्त करके, प्रकृति में हमारे व्यक्तित्व और प्रकृति में तथा प्रकृति के परे सर्वगत सद्वस्तु-स्वरूप दिव्य पुरुष की दूरी को पाट कर सेतु बना दिया जाये जो प्रकृति में तथा प्रकृति के ऊपर सर्वव्यापी परम वास्तविकता है।

लेकिन जिस अंतिम विभेद को हटाना है वह है इस प्रकृति तथा उस पराप्रकृति के बीच का विभाजन जो पराप्रकृति भागवत अस्तित्व की आत्म-शक्ति है। इससे पहले कि गतिशील प्रज्ञा-अज्ञान को हटाया जाये, जब कि वह आत्मा के अपर्याप्त यंत्र के रूप में रहता है, तब भी पराशक्ति या पराप्रकृति हमारे द्वारा कार्य कर सकती है और हम उसकी क्रियाओं के बारे में अभिज्ञ हो सकते हैं; लेकिन तब वह कार्य करती है अपने प्रकाश और शक्ति के परिवर्तित रूप में ताकि वह मन, प्राण तथा शरीर की निम्नतर प्रकृति द्वारा ग्रहण तथा आत्मसात् की जा सके। लेकिन यह पर्याप्त नहीं है, हम जो हैं उसे भागवत पराप्रकृति के तरीके तथा शक्ति में पूरी तरह से पुनः ढालने की आवश्यकता है। हमारी सत्ता की समग्रता तबतक पूर्ण नहीं हो सकती जबतक कि गतिशील क्रिया का यह रूपांतर न हो जाये; प्रकृति की समस्त प्रणाली को उन्नत करना तथा परिवर्तित करना होगा, सत्ता के आंतरिक तरीकों का मात्र थोड़ा-सा प्रबोधन और रूपांतरण नहीं। एक शाश्वत 'सत्य-चेतना' को हम पर अधिकार करना होगा और हमारी प्राकृतिक प्रणालियों को अपनी सत्ता, ज्ञान तथा क्रिया की प्रणालियों में उन्नत करना होगा, तभी एक सहज सामान्य सत्य-अभिज्ञता, सत्य-संकल्प, सत्य-सम्वेदना, सत्य-गतिविधि, सत्य-क्रिया हमारी प्रकृति का सर्वांगीण विधान बन सकती है।

द्वितीय खण्ड का पूर्वार्द्ध समाप्त

भाग दो

ज्ञान और आध्यात्मिक विकास

अध्याय १५

सद्वस्तु और पूर्ण ज्ञान

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन . . . ।

इस आत्मा को सत्य द्वारा और पूर्ण ज्ञान द्वारा प्राप्त करना होगा।

मुण्डकोपनिषद् ३.१.५

. . . समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥
. . . यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

सुनो तुम मुझे मेरे समग्र रूप में कैसे जानोगे . . . जो जिज्ञासु सिद्धि पा चुके हैं उनमें से भी कोई विरला ही मुझे मेरी सत्ता के संपूर्ण सत्य में जानता है।

गीता ७.१, ३

तो यह है अज्ञान का मूल, यह है उसका स्वभाव और ये हैं उसकी सीमाएं। उसका मूल है ज्ञान का परिसीमन, उसका विशिष्ट लक्षण है सत्ता का अपनी समग्रता और संपूर्ण सद्वस्तु से अलग होना, उसकी सीमाएं चेतना के इस पृथक्कारी विकास के द्वारा निर्धारित हैं क्योंकि वह हमें अपनी सच्ची आत्मा और वस्तुओं की सच्ची आत्मा और संपूर्ण प्रकृति से ओझल कर देता और हमें प्रतीयमान बाहरी अस्तित्व में रहने के लिये बाधित करता है। संपूर्णता की ओर लौटना या प्रगति करना, परिसीमा का लोप, पृथकता का विघटन, सीमाओं का अतिक्रमण, हमारी मूलभूत और संपूर्ण वास्तविकता को फिर से पा लेना—इन्हें अवश्य ज्ञान की ओर आंतरिक मोड़ का चिह्न और अज्ञान का विपरीत विशिष्ट लक्षण होना चाहिये। सीमित और पृथक्कारी चेतना के स्थान पर सारभूत और समग्र चेतना आनी चाहिये जो आत्मा और सत् के मूल सत्य और समग्र सत्य के साथ एकात्म हो। समग्र ज्ञान एक ऐसी चीज है जो पहले से ही समग्र सद्वस्तु में मौजूद है, यह कोई नयी या अभीतक असत् वस्तु नहीं है जिसका मन को सृजन करना, प्राप्त करना, आविष्कार करना हो, उसे सीखना या बनाना हो, बल्कि इसे खोजना या उघारना है। वह एक ऐसा सत्य है जो आध्यात्मिक उद्यम के लिये अपने-आप व्यक्त रहता है क्योंकि वह हमारी गहनतर और विशालतर आत्मा में ढका हुआ रहता है। वह हमारी आध्यात्मिक चेतना का पदार्थ है और उसके प्रति अपनी बाहरी आत्मा में भी जागकर हमें उसपर अधिकार करना है। एक पूर्ण आत्म-ज्ञान है जिसे हमें पुनः प्राप्त करना है और चूंकि वैश्व आत्मा भी हमारी आत्मा है इसलिये यह आत्म-ज्ञान विश्व-ज्ञान भी होता है। एक ऐसा ज्ञान है जिसे मन द्वारा सीखा और निर्मित किया जा सकता है और उसका मूल्य है लेकिन जब हम ज्ञान और अज्ञान की बात करते हैं तो हमारा मतलब उससे नहीं होता।

संपूर्ण आध्यात्मिक चेतना अपने भीतर सत्ता की सभी अवस्थाओं का ज्ञान लिये रहती है। वह बीच की सभी अवस्थाओं में से होती हुई उच्चतम का निम्नतम के साथ नाता जोड़ती है और अविभाज्य संपूर्ण को प्राप्त करती है। वस्तुओं के उच्चतम शिखर पर वह अनिर्वचनीय परमार्थ तत्त्व की ओर खुलती है क्योंकि निरपेक्ष की आत्म-अभिज्ञता के सिवा वह और सब के लिये अतिचेतन है। हमारी सत्ता के सबसे निचले छोर पर वह उस निश्चेतना को देखती है जिसमें से हमारे विकास का आरंभ होता है; लेकिन साथ ही वह उन गहराइयों में अपने अंदर अंतर्लीन एकमेव और सर्व के बारे में अभिज्ञ होती है, वह निश्चेतना में प्रच्छन्न चेतना को अनावृत करती है। इन दो छोरों के बीच घूमती हुई व्याख्यात्मक और रहस्योद्घाटन करनेवाली उसकी दृष्टि बहु में एक की अभिव्यक्ति का अन्वेषण करती है, सांत चीजों की असमता में अनंत की समता का, शाश्वत काल में कालातीत शाश्वतता की विद्यमानता का अनुसंधान पाती है। उसका यह देखना ही उसके लिये विश्व के अर्थ को प्रकाशित करता है। यह चेतना विश्व को लुप्त नहीं करती, वह उसे अपने साथ लेती है, वह उसे उसका छिपा हुआ अर्थ देकर उसका रूपांतर करती है। वह व्यक्तिगत सत्ता को लुप्त नहीं करती, वह व्यक्तिगत सत्ता और प्रकृति को उनका सच्चा अर्थ बतलाकर और उन्हें दिव्य सद्वस्तु से और दिव्य प्रकृति से अपना अलगाव मिटाने की क्षमता देकर रूपांतरित करती है।

पूर्ण ज्ञान को पहले से ही पूर्ण सद्वस्तु मान लिया जाता है क्योंकि सत्-चित् की शक्ति ही अपने-आपमें सद्वस्तु की चेतना है लेकिन हमारी चेतना की स्थिति और गति के अनुसार, उसकी दृष्टि, उसके बल, उसकी ग्रहण-शक्ति के अनुसार सद्वस्तु के बारे में हमारे भाव और अनुभव बदलते रहते हैं। वह दृष्टि और बल तीव्र, ऐकांतिक हो सकते हैं या विस्तीर्ण, सर्वग्राही और व्यापक। यह बिलकुल संभव है—और हमारे विचार के लिये और आध्यात्मिक उपलब्धि की एक उच्च दिशा के लिये, अपने क्षेत्र में यह एक प्रामाणिक गति है—कि हम अनिर्वचनीय निरपेक्ष को प्रतिष्ठापित करें, उसके एकमात्र सद्वस्तु होने पर जोर दें, व्यष्टि-सत्ता और विश्व-सृष्टि का अपनी आत्मा के लिये निषेध और लोप करें, उन्हें अपने सद्वस्तु विषयक भाव और अनुभव से निकाल बाहर करें। व्यक्ति की सद्वस्तु है निरपेक्ष ब्रह्म, विश्व की सद्वस्तु है निरपेक्ष ब्रह्म। व्यक्ति एक आभास, विश्व में एक कालिक प्रतीति है, स्वयं विश्व एक आभास है, एक बृहत्तर और अधिक जटिल कालिक प्रतीति। ज्ञान और अज्ञान, ये दोनों परिभाषाएं केवल इस प्रतीति की चीजें हैं। निरपेक्ष अतिचेतनातक पहुंचने के लिये दोनों का अतिक्रमण जरूरी है। उस परम परात्परता में अहंकार-चेतना और विश्व-चेतना दोनों लुप्त हो जाती हैं और रह जाता है केवल निरपेक्ष। क्योंकि निरपेक्ष ब्रह्म केवल अपने तादात्म्य में निवास करता है और समस्त अन्य-ज्ञान के परे है। वहां ज्ञाता और ज्ञात का विचारमात्र और इस कारण उस ज्ञान का

भी लोप हो जाता है जिसमें वे दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। उसका अतिक्रमण हो जाता है और वह अपनी प्रामाणिकता खो बैठता है, इसलिये मन और वाणी के लिये निरपेक्ष ब्रह्म हमेशा अगम्य रहता है। हमने जो दृष्टि प्रस्तुत की है उसके विपरीत या उसके पूरक स्वरूप—अज्ञान की दृष्टि अपने-आपमें दिव्य ज्ञान की या तो एक सीमित या अंतर्ग्रस्त क्रिया है, सीमित है अंशतः सचेतन में और अंतर्ग्रस्त है निश्चेतन के अंदर—हम वस्तुओं के सोपान के इस दूसरे छोर से कह सकते हैं कि ज्ञान अपने-आप केवल एक उच्चतर अज्ञान ही है क्योंकि वह उस निरपेक्ष सद्वस्तुतक नहीं पहुंच पाता जो अपने लिये स्वयं सिद्ध परंतु मन के लिये अज्ञेय है। यह निरपेक्षवाद आध्यात्मिक चेतना में विचार के सत्य और परम अनुभव के सत्य के साथ मेल खाता है लेकिन अपने-आपमें वह आध्यात्मिक विचार का सब कुछ नहीं है जो पूर्ण और व्यापक हो और वह परम आध्यात्मिक अनुभूति की संभावनाओं को निःशेष नहीं कर देता।

सद्वस्तु, चेतना और ज्ञान के बारे में निरपेक्षवाद का दृष्टिकोण प्राचीनतम वेदान्त के एक पार्श्व पर आधारित है लेकिन यह उस विचार-धारा का सब कुछ नहीं है। उपनिषदों में, प्राचीनतम वेदान्त के अपौरुषेय शास्त्रों में हम निरपेक्ष की स्थापना पाते हैं, शुद्ध, अनिर्वचनीय परात्पर का अनुभव-प्रत्यय पाते हैं, लेकिन साथ ही उसके विरोध में नहीं, उसके उपपरिणाम रूप में वैश्व दिव्यता की स्थापना, वैश्व आत्मा का अनुभव-प्रत्यय और विश्व में ब्रह्म की संभूति भी पाते हैं। समान रूप से हम व्यक्ति में दिव्य सद्वस्तु का प्रतिष्ठापन भी पाते हैं, यह भी अनुभव-प्रत्यय है, यह एक आभास के रूप में नहीं बल्कि वास्तविक संभूति के रूप में समझ में आता है। परात्पर निरपेक्ष के सिवा सभी को नकारनेवाले एकमात्र परम ऐकांतिक प्रतिष्ठापन की जगह हम एक व्यापक प्रतिष्ठापन पाते हैं जो अपने दूरतम निष्कर्षतक जा पहुंचता है। सद्वस्तु और ज्ञान का यह प्रत्यय, जो एक ही दृष्टि में वैश्व और निरपेक्ष को आच्छादित कर लेता है, मूल रूप से हमारी दृष्टि के साथ मेल खाता है क्योंकि इसका यह अर्थ निकलता है कि अज्ञान भी ज्ञान का एक आधा ढका हुआ भाग है और जगत्-ज्ञान आत्म-ज्ञान का एक भाग है। ईशोपनिषद् निरपेक्ष की सभी अभिव्यक्तियों की एकता और सत्यता पर जोर देता है, वह सत्य को किसी एक पहलूतक सीमित रखने से इंकार करता है। ब्रह्म चल भी है और अचल भी, आंतरिक भी है और बाह्य भी, वह सब जो समीप है और वह सब जो दूर है, चाहे आध्यात्मिक दृष्टि से हो या देश और काल के विस्तार में। वही सत् और सर्व-संभूति है, वह शुद्ध और नीरव है, रूपहीन और क्रियाहीन है, कवि और मनीषी है जो जगत् और उसकी वस्तुओं की व्यवस्था करता है, वह एक है जो सर्व बन जाता है, जिसका हम सारे जगत् में अनुभव करते हैं, वही सबमें फैला है और वह भी जिसमें वह निवास करता है। उपनिषद् का कथन यह है कि पूर्ण और

मुक्तिदाता ज्ञान वह है जो न तो आत्मा का बहिष्कार करता है और न उसकी सृष्टियों का। मुक्त आत्मा इन सबको स्वयंभू की संभूतियों की तरह देखता है। वह आंतरिक दृष्टि से और ऐसी चेतना से देखता है जो विश्व को अपने अंदर देखती है, उस तरह नहीं जैसे सीमित और अहंकारमय मन बहिर्मुखी होकर अपने-आपसे भिन्न वस्तु की तरह देखता है। वैश्व अज्ञान में रहना अंधापन है। लेकिन अपने-आपको ज्ञान की ऐकांतिक निरपेक्षता में बंद कर लेना भी अंधापन है। ब्रह्म को युगपत् रूप में, ज्ञान और अज्ञान के रूप में जानना, युगपत् रूप में, परम अवस्था को संभवन और असंभवन रूप में प्राप्त करना, परात्पर और वैश्व आत्मा की प्राप्ति को एक साथ जोड़ना, अलौकिक में आधार पाना और लौकिक में आत्म-अभिज्ञ अभिव्यक्ति पूर्ण ज्ञान है, यही अमरता पर अधिकार है। अपने पूर्ण ज्ञान के साथ यह समस्त चेतना दिव्य जीवन की नींव रखती है और उसकी प्राप्ति को संभव बनाती है। इसका यह अर्थ है कि निरपेक्ष की निरपेक्ष यथार्थता कोई कठोर अनिर्देश्य एकत्व न होगी, न ही एक ऐसी अनंतता जो उन सबसे रिक्त हो जो केवल बहु और सांत के वर्जन द्वारा प्राप्य स्वयंभू सत्ता नहीं है बल्कि कोई ऐसी चीज है जो इन परिभाषाओं के परे, वस्तुतः हर भावात्मक और अभावात्मक वर्णन के परे है। समस्त इतिवाद और नेतिवाद उसी के व्यंजक रूप हैं और हम परम इति और परम नेति दोनों के द्वारा निरपेक्षतक पहुंच सकते हैं।

तो, एक ओर, सद्वस्तु के रूप में, जिसे हमारे सामने प्रस्तुत किया गया है, हम पाते हैं एक निरपेक्ष स्वयंभू, शाश्वत एकमेव आत्म-सत्ता को और नीरव और निष्क्रिय आत्मा या अनासक्त निश्चल पुरुष की अनुभूति द्वारा हम इस लक्षणहीन और संबंधहीन निरपेक्ष की ओर बढ़ सकते हैं और सर्जक शक्ति की क्रियाओं को अस्वीकार कर सकते हैं, चाहे वह भ्रमात्मिका माया हो या रचना करनेवाली प्रकृति। हम विश्व-भ्रांति के चक्करों में से निकल कर शाश्वत शांति और नीरवता में जा सकते हैं, अपने व्यक्तिगत अस्तित्व से पिंड छुड़ा सकते हैं और अपने-आपको उस शुद्ध सत् के अंदर खो या पा सकते हैं। दूसरी ओर हम पाते हैं एक संभवन को जो सत् की एक सच्ची गति है और सत् और संभवन दोनों एक ही निरपेक्ष सद्वस्तु के सत्य हैं। पहली दृष्टि एक ऐसी तत्त्वदार्शनिक धारणा पर आधारित है जो हमारे विचार में आनेवाले इस परम बोध को, हमारी चेतना में आनेवाले इस ऐकांतिक अनुभव को निरूपित करती है कि वह निरपेक्ष एक ऐसी सद्वस्तु है जो सभी संबंधों और निर्धारणों से रिक्त है, जो अपने निष्कर्ष-स्वरूप एक तर्कसम्मत और व्यावहारिक आवश्यकता आरोपित करती है कि सापेक्षाताओं के जगत् को अवास्तविक सत्ता का मिथ्यात्व मानकर, असत् या कम-से-कम एक निम्नतर और क्षणभंगुर, कालिक और व्यावहारिक स्वानुभव मानकर अस्वीकार किया जाये और आत्मा को उसकी मिथ्या अनुभूतियों या निम्नतर रचनाओं से मुक्त करने के लिये

उस जगत् को चेतना में से काट दिया जाये। दूसरी दृष्टि निरपेक्ष के बारे में इस धारणा पर आधारित है कि निरपेक्ष को न तो इति भाव से न नेति भाव से सीमा में बांधा जा सकता है। वह सभी संबंधों के परे है, इसका अर्थ यह है कि वह किन्हीं सापेक्षताओं से बंधा नहीं है या उसकी सत्ता की शक्ति को उनसे सीमित नहीं किया जा सकता, उसे हमारी सापेक्ष धारणाओं द्वारा बांधा या सीमित नहीं किया जा सकता चाहे वे उच्चतम हों या निम्नतम, भावात्मक हों या अभावात्मक। वह न तो हमारे ज्ञान से बंधा है न हमारे अज्ञान से, न हमारी सत् की धारणा से न हमारी असत् की धारणा से। लेकिन उसे संबंधों को धारण करने, पोषण करने, सृजन करने या संबंधों को अभिव्यक्त करने में असामर्थ्य द्वारा भी सीमित नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत अपने-आपको एकता की अनंतता में और बहुत्व की अनंतता में अभिव्यक्त करने की शक्ति को उसकी निरपेक्षता का अंतर्निहित बल, चिह्न, परिणाम माना जा सकता है और यह संभावना अपने-आपमें वैश्व सत्ता की काफी व्याख्या है। निःसंदेह, निरपेक्ष को अपने स्वभाव में संबंधों का जगत् प्रकट करने के लिये बाधित नहीं किया जा सकता लेकिन उसे किसी जगत् को अभिव्यक्त न करने के लिये भी बाधित नहीं किया जा सकता। वह अपने-आपमें निरी रिक्तता नहीं है क्योंकि रिक्त निरपेक्ष निरपेक्ष न होगा। रिक्त या शून्य के बारे में हमारी धारणा, उसे जानने या पकड़ पाने में हमारी मानसिक अक्षमता का धारणात्मक चिह्न है। जो कुछ है और जो कुछ हो सकता है उसकी किसी अनिर्वचनीय सार सत्ता को वह अपने अंदर धारण किये रहता है और चूंकि वह इस तात्त्विकता और इसकी संभावना को लिये रहता है इसलिये उसे अपनी निरपेक्षता की किसी विधि से या तो स्थायी सत्य या उसके अंतर्निहित सत्य को भी ग्रहण किये रहना चाहिये चाहे वह सुप्त ही क्यों न हो। वह हमारे या जगत् के अस्तित्व के लिये जो कुछ मूलभूत है उसे साध्य वास्तविकता के रूप में धारण किये रहेगा। जब यह साध्य वास्तविकता वास्तविक बन जाती है या जब यह स्थायी सत्य अपनी संभावनाओं का विस्तार करता है तो हम उसे अभिव्यक्ति कहते हैं और जगत् के रूप में देखते हैं।

तो निरपेक्ष के सत्य की धारणा या उपलब्धि में विश्व के सत्य के त्याग या विलोप का कोई अंतर्निहित अवश्यंभावी परिणाम नहीं होता। अनिवार्य रूप से अवास्तविक जगत् के किसी-न-किसी तरह, भ्रांति की अनिर्वचनीय शक्ति द्वारा अभिव्यक्त होने, निरपेक्ष ब्रह्म के उससे अलग रहने, उसपर दृष्टि न रखने, उसे उसी तरह प्रभावित न करने की—जैसे वह स्वयं उससे प्रभावित नहीं होता—यह धारणा अपनी तह में तत् को सीमित करने के लिये हमारी मानसिक चेतना की अक्षमता का तत् पर अध्यारोप है। जब हमारी मानसिक चेतना अपनी सीमाओं को पार कर जाती है तो रास्ता भटक कर ज्ञान के साधन खो बैठती है और निष्क्रियता और अवसान की ओर प्रवृत्त होती है। साथ ही अपनी पहले की अंतर्वस्तुओं पर

से उसकी पकड़ ढीली हो जाती या छूट जाना चाहती है। जो एक बार उसके लिये वह सब था जो वास्तविक है, उसकी वास्तविकता की धारणा नहीं रहती। हम सदा के लिये अनभिव्यक्त के रूप में कल्पित निरपेक्ष परब्रह्म पर, जो कुछ हमारे लिये अवास्तविक बन गया है या हमें अवास्तविक प्रतीत होता है, तदनुरूप अक्षमता या पृथकता आरोपित करते हैं। उसे हमारे मन के अपने समापन या आत्मनिर्वापन की तरह अपनी शुद्ध निरपेक्षता के स्वभाव के कारण इस प्रतिभासी अभिव्यक्ति के जगत् के साथ सभी संबंधों से रहित, जो उसे वास्तविकता देता है, उसके गतिशील अनुरक्षण और समर्थक प्रज्ञान के लिये अयोग्य होना चाहिये। या अगर इस तरह का कोई प्रज्ञान है तो उसे एक ऐसा अस्ति होना चाहिये जो नास्ति, एक जादुई माया है। लेकिन यह मानने का कोई बाध्यकारी कारण नहीं है कि यह खाई बनी ही रहनी चाहिये। हमारी सापेक्ष मानव चेतना किस चीज में सक्षम है या नहीं है, यह संपूर्ण क्षमता की कसौटी या उसका मानक नहीं है। उसकी धारणाओं को निरपेक्ष आत्म-अभिज्ञता पर लागू नहीं किया जा सकता। जो हमारे मानसिक अज्ञान के लिये अपने-आपसे बच निकलने के लिये जरूरी है वह निरपेक्ष के लिये जरूरी नहीं भी हो सकता, उसे अपने-आपसे बचने की आवश्यकता नहीं है, उसके लिये जो ज्ञेय है उसे जानने से इंकार करने की जरूरत नहीं होती।

एक है अव्यक्त अज्ञेय, फिर है व्यक्त ज्ञेय जो हमारे अज्ञान के लिये अंशतः व्यक्त है किंतु जो दिव्य ज्ञान उसे अपने अंदर अनंत रूप से धारण किये है उसके लिये पूर्णतः व्यक्त है। अगर यह सच है कि न तो हमारा अज्ञान और न उच्चतम और विशालतम मानसिक ज्ञान हमें अज्ञेय की पकड़ दे सकते हैं तो यह भी सच है कि हमारे ज्ञान और हमारे अज्ञान द्वारा तत् ही अपने-आपको विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त करता है; क्योंकि वह अपने से भिन्न किसी चीज को व्यक्त नहीं कर सकता, क्योंकि उसके सिवा किसी चीज का अस्तित्व ही नहीं हो सकता। अभिव्यक्ति की इस विभिन्नता में वह एकत्व है और उस विभिन्नता द्वारा हम एकत्व को छू सकते हैं। लेकिन फिर भी, इस सह-अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी संभवन के बारे में यह अंतिम निर्णय कर देना और दण्डाज्ञा पारित करना, उसे त्याग कर निरपेक्ष सत् में लौटने का निश्चय करना संभव रहता है। यह दण्डाज्ञा निरपेक्ष की वास्तविक वास्तविकता और सापेक्ष विश्व की आंशिक और भ्रामक वास्तविकता के भेद पर आधारित हो सकती है।

क्योंकि ज्ञान के इस उन्मीलन में एक और बहु की दो कोटियां हैं; जैसे सांत और अनंत, संभूत और असंभूत या सर्वदा सत्, रूप ग्रहण करनेवाला और रूप न ग्रहण करनेवाला, आत्मा और जड़-तत्त्व, परम अतिचेतन और निम्नतम निश्चेतना। इस द्वैत-बोध में और इससे छुटकारा पाने के लिये हमारे लिये यह मार्ग खुला है कि हम एक कोटि के अधिकृत क्षेत्र को ज्ञान कहें और दूसरे को अज्ञान। तब

हमारे जीवन का चरम लक्ष्य होगा संभवन की निम्नतर वास्तविकता से हटकर सत् की महत्तर वास्तविकता की ओर जाना, अज्ञान से ज्ञान की ओर छलांग और अज्ञान की अस्वीकृति, बहु में से एक में, सांत में से अनंत में, साकार में से निराकार में, जड़-भौतिक विश्व के जीवन में से आत्मा में, हमारे ऊपर निश्चेतना की पकड़ में से अतिचेतन सत् में प्रयाण। इस समाधान में यह मान लिया जाता है कि हमारी सत्ता की दो कोटियों में से प्रत्येक में एक स्थिर विरोध है, चरम असमाधेयता है। या अगर दोनों ही ब्रह्म की अभिव्यक्ति के साधन हैं तो निम्नतर मिथ्या और अपूर्ण सूत्र है, एक ऐसा साधन है जिसकी असफलता अवश्यंभावी है, मूल्यों की एक ऐसी पद्धति है जो हमें अंततः संतुष्ट नहीं कर सकती। बहुलता की अस्तव्यस्तता से असंतुष्ट, वह जो उच्चतम प्रकाश, शक्ति और आनंद प्रकट कर सकती है उसके बारे में तिरस्कार के साथ हमें उस परे की निरपेक्ष एकाग्रता और एक-स्थिति की ओर जाना होगा जिसमें सारा आत्म-वैविध्य समाप्त हो जाता है। हमपर अनंत का जो दावा है उसके कारण हम हमेशा के लिये सांत के बंधनों में रहने या उसमें संतोष, विशालता और शांति पाने में असमर्थ हैं। हमें व्यक्तिगत और वैश्व प्रकृति के सभी बंधन तोड़ने होंगे, सारे मूल्यों, प्रतीकों, प्रतिरूपों, आत्म-परिभाषाओं को और असीमेय की सीमाओं को तोड़ना होगा और अपनी अनंतता से सदा संतुष्ट रहनेवाली आत्मा में समस्त क्षुद्रता और विभाजन को खो देना होगा। रूपों से विरक्त होकर, उनके मिथ्या और क्षणिक आकर्षण से मोहभंग के कारण, उनकी भागती हुई अस्थिरता और पुनरावर्तन के व्यर्थ चक्करों से थककर और हतोत्साह होकर हमें प्रकृति के चक्रों में से स्थायी सत् की रूपहीनता और लक्षणहीनता में जाना होगा। जड़तत्त्व और उसकी स्थूलतासे लज्जित होकर, प्राण की निष्प्रयोजन हलचल और कष्ट से अधीर होकर, मन की लक्ष्यहीन दौड़-भाग से थककर या उसके समस्त लक्ष्य और उद्देश्य की व्यर्थता के बारे में निश्चित होकर हमें अपने-आपको आत्मा के शाश्वत विश्राम और शुद्धि में मुक्त करना होगा। निश्चेतन है निद्रा या कारागार, सचेतन है ऐसे प्रयासों का चक्र जिनका अंतिम परिणाम है कुछ भी नहीं या स्वप्न का भटकना। हमें अतिचेतन में जागना चाहिये जहां रात्रि का सारा अंधेरा और अर्द्ध-प्रकाश शाश्वत के स्वतः-प्रकाशित आनंद में समाप्त हो जाता है। शाश्वत ही हमारी शरण है, बाकी सब मिथ्या मूल्य, अज्ञान और उसकी भूल-भुलैया, आभासी प्रकृति में जीव की किंकर्तव्यविमूढ़ता है।

हमारी ज्ञान और अज्ञान की धारणा इस निषेध को और उन विरोधों को अस्वीकार करती है जिनपर यह आधारित है। वह एक ज्यादा बड़े, भले वह ज्यादा कठिन भी हो, समाधान की ओर इशारा करती है। क्योंकि हम देखते हैं कि ये एक और बहु, रूप और रूपहीन, सांत और अनंत की प्रतीयमान विरोधी परिभाषाएं वास्तव में इतनी विरोधी नहीं हैं जितनी एक-दूसरे की पूरक। ब्रह्म के एक के बाद

एक बदलनेवाले मूल्य नहीं हैं, जो अपनी सृष्टि में सदा अपने-आपको बहुलता में पाने के लिये एकत्व को खोता और अपने-आपको बहुलता में पाने में असमर्थ होकर फिर से एकत्व को पाने के लिये उसे खो देता है, बल्कि ये दोहरे और साथ-साथ चलनेवाले मूल्य हैं जो एक-दूसरे की व्याख्या करते हैं, ये ऐसे परस्पर-विरोधी नहीं हैं जिनमें मेल बैठाना आशा के परे हो बल्कि एक ही सद्वस्तु के दो चेहरे हैं जो एक-एक को अलग-अलग परख कर नहीं बल्कि एक साथ दोनों की उपलब्धि द्वारा हमें उसतक पहुंचा सकते हैं—यद्यपि यह अलग-अलग परखना भी ज्ञान की प्रक्रिया का एक न्याय्य बल्कि अनिवार्य कदम या भाग हो सकता है। ज्ञान निस्संदेह एकमेव का ज्ञान है, सत् की उपलब्धि है। अज्ञान सत् की आत्म-विस्मृति है, बहु में पृथक्ता का अनुभव और संभूतियों की भली-भांति न समझी गयी भूल-भुलैया में निवास या चक्कर लगाना है। लेकिन संभूति में जो जीव है वह ज्ञान में वर्द्धित होकर, सत् की अभिज्ञता में बढ़कर इसका इलाज करता है। वह सत् बहुलता में ये सब सत्ताएं बन जाता है क्योंकि उनका सत्य पहले से ही उसकी कालातीत सत्ता में मौजूद है। ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान ऐसी चेतना है जिसे एक ही साथ दोनों पर एक-सा अधिकार है। इनमें से किसी एक की ऐकान्तिक खोज सर्वव्यापक सद्वस्तु के सत्य के एक पहलू को दृष्टि से ओझल कर देती है। सभी संभूतियों से परे सत् की प्राप्ति हमारे लिये वैश्व सत्ता के आसक्ति और अज्ञान के बंधनों से मुक्ति लाती है और उस मुक्ति द्वारा संभूति और वैश्व सत्ता पर मुक्त अधिकार आता है। संभूति का ज्ञान ज्ञान का एक भाग है, वह अज्ञान की तरह केवल इसलिये क्रिया करता है क्योंकि हम उसके अंदर बंद होकर—अविद्यायाम् अन्तरे—निवास करते हैं, सत्ता के ऐक्य को प्राप्त किये बिना—जो उसकी नींव, उसका उपादान, उसकी आत्मा, उसकी अभिव्यक्ति का कारण है—जिसके बिना यह संभव न होता।

वस्तुतः ब्रह्म केवल सभी संबंधों से परे अलक्षण एकत्व में ही नहीं बल्कि विश्व-जीवन की बहुलता में भी एक है। वह पृथक्कारी मन की क्रियाओं से अभिज्ञ होता है लेकिन अपने-आप उससे सीमित नहीं होता। वह बहु में, संबंधों में, संभूति में अपने ऐक्य को उसी आसानी से पाता है जितनी आसानी से बहु से, संबंधों से, संभूति से अलग होने में। हमें भी उसके एकत्व को पूरी तरह पाने के लिये उसे विश्व के अनंत आत्म-वैविध्य में पाना होगा क्योंकि यह वहां है क्योंकि सब वही है। बहु की अनंतता अपनी व्याख्या और अपना औचित्य तभी पाती है जब वह एक की अनंतता में समायी हुई और उसके अधिकार में हो और साथ ही एक की अनंतता अपने-आपको बहु की अनंतता में उंडेलती और उसे अपने अधिकार में करती है। यह है मुक्त पुरुष की, अपने निजी अमर आत्म-ज्ञान को अधिकार में रखनेवाले चिन्मय पुरुष की दिव्य शक्ति—अपनी ऊर्जाओं को प्रवाहित करने के योग्य होना और साथ ही अपने-आपको उसमें खो न देना, उसके उलट-फेरों और

विभिन्नताओं की असीमता और अंतहीनता से हारकर पीछे न लौट पड़ना और साथ ही उसकी विभिन्नताओं से अपने-आप विभक्त न होना। आत्मा के सांत आत्म-वैचित्र्य, जिनमें मन आत्मज्ञान को खोकर फंस जाता है और विभिन्नताओं में बिखर जाता है—ये अनंत के निषेध नहीं, उसकी अंतहीन अभिव्यक्तियां हैं, उनका कोई और अर्थ या जीने का कारण नहीं है। अनंत भी अपनी सीमाहीन सत्ता का आनंद पाते हुए भी विश्व में अपने अनंत आत्म-सीमांकन में उसी असीमता का आनंद पाता है। दिव्य सत् अनंत रूप धारण करने में असमर्थ नहीं है क्योंकि वह तत्त्वतः सभी रूपों के परे है और न ही उन्हें धारण करके वह अपनी दिव्यता ही खोता है, बल्कि वह उनमें अपनी सत्ता का आनंद और अपने देवत्व की महिमा उंडेलता है। यह स्वर्ण केवल इसी कारण स्वर्ण होना बंद नहीं हो जाता कि वह अपने-आपको नाना प्रकार के गहनों का रूप देता और नाना प्रकार के मूल्यों और सिक्कों में अपने-आपको ढालता है। न ही पृथ्वी-शक्ति जो इन सभी रूपायित भौतिक अस्तित्व का सार तत्त्व है, अपनी निर्विकार दिव्यता इस कारण खोती है कि वह अपने-आपको बसने लायक जगतों में ढालती, पहाड़ों और खाइयों के रूप देती और रसोईघर और गृहस्थी के बरतनों के आकार या हथियारों और इंजनों में कठोर धातु के आकार देने देती है। जड़ तत्त्व—स्वयं पदार्थ, चाहे वह सूक्ष्म या घन, मानसिक हो या भौतिक—आत्मा का रूप और शरीर है और अगर उसे आत्मा की आत्माभिव्यक्ति का आधार न बनाया जा सकता तो उसका सृजन कभी किया ही न जाता। जड़-भौतिक विश्व की प्रतीयमान निश्चेतना अपने अंदर उस सबको अंधेरे रूप में धारण किये रहती है जो प्रकाशमान अतिचेतन में शाश्वत रूप में अपने-आप प्रकट रहता है। उसे काल में प्रकट करना प्रकृति का धीमा, सोद्देश्य आनंद और उसके युग-चक्रों का लक्ष्य है।

लेकिन वास्तविकता के बारे में अन्य धारणाएं भी हैं, ज्ञान के स्वरूप के बारे में भी और धारणाएं हैं जो विचार की मांग करती हैं। एक यह विचार है कि जो कुछ अस्तित्व रखता है वह मन की व्यक्तिनिष्ठ रचना है, चेतना की बनावट है और चेतना से मुक्त, स्वयंभू विषयनिष्ठ वस्तु का भाव एक भ्रांति है क्योंकि हमारे पास ऐसी स्वयंभू, स्वतंत्र वस्तुओं का न तो कोई प्रमाण है और न हो सकता है। यह दृष्टि हमें इस दृढ़ कथन की ओर ले जा सकती है कि सृजनात्मक चेतना ही एकमात्र सद्वस्तु है या फिर समस्त अस्तित्व को ही अस्वीकार कर दिया जाये और असत् या निर्ज्ञान शून्य ही एकमात्र सद्वस्तु के रूप में प्रतिष्ठित हो जाये। क्योंकि एक दृष्टि में चेतना द्वारा रची गयी चीजों की कोई तात्त्विक वास्तविकता नहीं है, वे केवल ढांचे हैं। जो चेतना उनका निर्माण करती है वह भी अपने-आपमें केवल अनुभवों का प्रवाह भर है जो संबंध और सातत्य का रूप धारण कर लेता है और सतत काल का संवेदन पैदा करता है, किंतु वास्तव में इन चीजों का कोई स्थायी

आधार नहीं है, वे वास्तविकता का आभास मात्र हैं। इसका यह अर्थ होगा कि वास्तविकता समस्त आत्म-सचेतन सत्ता और उस सबका जो सत्ता की गतिविधि का उपादान है, इन दोनों का एक ही साथ शाश्वत अभाव है। ज्ञान का अर्थ होगा निर्मित विश्व के आभास से उसकी ओर लौट आना। दोहरा और संपूर्ण आत्म-निर्वापन होगा, पुरुष का लोप और प्रकृति का समापन या निर्वापन क्योंकि सचेतन पुरुष और प्रकृति, यही दो हमारी सत्ता के दो चरण हैं और उनमें वह सब समा जाता है जिसे हम सत्ता कहते हैं और इन दोनों का अभाव है पूर्ण निर्वाण। तब जो कुछ वास्तविक है उसे या तो निश्चेतना होना चाहिये जिसमें यह प्रवाह और ये रचनाएं प्रकट हो जातीं हैं या फिर आत्मा या सत्ता के समस्त भाव के परे अतिचेतना होना चाहिये। लेकिन विश्व के बारे में यह दृष्टि वस्तुओं के आभास के लिये तभी ठीक है जब हम यह मानें कि हमारा सतही मन ही चेतना का सब कुछ है। उस मन के क्रिया-कलाप के वर्णन के रूप में यह बिलकुल ठीक है। वहां निस्संदेह सब कुछ एक प्रवाह और एक अस्थायी चेतना के निर्माण जैसा दीखता है। परंतु यह दृष्टि सत्ता के समस्त विवरण के रूप में तब नहीं ठहर सकती यदि कोई श्रेष्ठतर और गभीरतर आत्म-ज्ञान और जगत्-ज्ञान हो, तादात्म्य द्वारा प्राप्त एक ज्ञान हो, एक ऐसी चेतना हो जिसके लिये यह ज्ञान सामान्य हो और ऐसा सत् हो जिसके लिये यह चेतना सतत आत्म-अभिज्ञता हो। क्योंकि तब आत्मपरक और वस्तुपरक दोनों ही उस चेतना के लिये वास्तविक और घनिष्ठ हो सकते हैं, दोनों उसके अपने अंश, उसके व्यक्तित्व के पार्श्व, उसकी सत्ता के लिये प्रामाणिक हो सकते हैं।

दूसरी ओर, अगर निर्माणकर्ता मन या चेतना वास्तविक है और एकमात्र वास्तविकता है तो जड़-भौतिक सत्ताओं और वस्तुओं के विश्व का कोई अस्तित्व हो सकता है परंतु यह शुद्ध रूप से चेतना द्वारा अपने अंदर से बनी आत्मपरक रचना होगी जिसे वही बनाये रखती है और अपनी समाप्ति पर वह उसीमें घुल-मिल जायेगी। क्योंकि अगर और कुछ नहीं है, कोई तात्त्विक जीवन या सत् नहीं है जो सर्जक शक्ति को सहारा दे, और न कोई सहारा देनेवाला अभाव या शून्य ही है तो स्वयं इस चेतना को, जो हर चीज का सृजन करती है, एक सत्ता या पदार्थ होना चाहिये या इसमें सत्ता या पदार्थ होना चाहिये; अगर वह रचनाएं बना सकती है तो वे स्वयं उसके पदार्थ में से निर्मित या उसकी अपनी सत्ता के रूप होने चाहियें। जो चेतना किसी सत् की नहीं या स्वयं सत् नहीं है उसे अवास्तविकता, शून्य या शून्य में अनुभूतिक्षम शक्ति होना चाहिये जो शून्य से बनी अवास्तविक रचनाएं खड़ी करती है—यह एक ऐसी स्थापना है जिसे तबतक आसानी से स्वीकार नहीं किया जा सकता जबतक अन्य सभी अमान्य सिद्ध न हो जायें। तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जिसे हम चेतना के रूप में देखते हैं उसे अवश्य कोई पुरुष या सत्ता होना चाहिये जिसके चेतना-पदार्थ में से ही सब कुछ रचा गया है।

लेकिन अगर हम इस तरह चेतना और सत्ता की दोहरी वास्तविकता पर वापिस लौट आते हैं तो हम या तो वेदांत के अनुसार एक आद्य पुरुष या सांख्य की तरह पुरुषों की बहुलता को मान सकते हैं जिसके आगे चेतना या कोई ऐसी ऊर्जा, जिसपर हम चेतना आरोपित करते हैं, अपनी रचनाएं प्रस्तुत करती है। अगर पृथक् आद्य सत्ताओं की बहुलता ही वास्तविक है तो, चूंकि हर एक अपनी-अपनी चेतना में एक अलग जगत् होगा या अलग जगत् का सृजन करेगा अतः एक ही अभिन्न विश्व में उनके संबंधों की व्याख्या करना कठिन होगा। जैसे सांख्य विचार के अनुसार एक प्रकृति बहुत-से समान पुरुषों का अनुभव-क्षेत्र है उसीके अनुरूप एक चेतना या एक ऊर्जा होनी चाहिये जिसमें वे पुरुष एक अभिन्न मन द्वारा रचे हुए विश्व में मिलते हैं। वस्तुओं के बारे में इस सिद्धांत में फायदा यह है कि आत्माओं की बहुलता, वस्तुओं की बहुलता और उनके अनुभव की विभिन्नता में एकता की व्याख्या हो जाती है और साथ-ही-साथ व्यष्टि-सत्ता की अलग आध्यात्मिक प्रगति और नियति वास्तविक हो जाती है। लेकिन अगर हम यह मान लेते हैं कि एक चेतना या एक ऊर्जा अपने बहुत सारे रूपों की रचना करते हुए और अपने जगत् में सत्ताओं की बहुलता को समाये हुए है तो एक आद्य सत्ता को मानने में कोई कठिनाई नहीं है जो अपने-आपको सत्ताओं की बहुलता में अवलम्ब देती या प्रकट करती है—जो उसके एक-अस्तित्व की अंतरात्माएं या आध्यात्मिक शक्तियां हैं। इसका यह अर्थ होगा कि सभी वस्तुएं, चेतना के सभी आकार उस सत्-पुरुष के आकार होंगे। तब यह पूछना होगा कि क्या यह बहुलता और ये आकार एकमेव सद्वस्तु की वास्तविकताएं हैं या केवल निरूपित करनेवाले व्यक्तित्व और प्रतिबिंब मात्र हैं या फिर मन के द्वारा तत् को निरूपित करने के लिये रचे गये प्रतीक या मूल्य हैं। यह बड़ी हदतक इसपर निर्भर होगा कि क्या मन ही, जैसा कि हम उसे जानते हैं, क्रिया कर रहा है या कोई गहनतर और विशालतर चेतना काम कर रही है, मन जिसका सतही यंत्र, उसके आरंभ का कार्यवाहक, उसकी अभिव्यक्तियों का साधन है। अगर पहली बात ठीक है तो मन द्वारा रचा और देखा गया विश्व केवल आत्मनिष्ठ, प्रतीकात्मक या प्रतिरूप वास्तविकता ही हो सकता है। अगर दूसरी बात ठीक है तो विश्व और उसकी स्वाभाविक सत्ताएं और वस्तुएं एकमेव सत्ता की सच्ची वास्तविकताएं, उसकी सत्ता के रूप और शक्तियां हो सकती हैं जिन्हें उसकी सत्ता की शक्ति ने अभिव्यक्त किया है। मन वैश्व सद्वस्तु और उसकी सृजनात्मक चित्-शक्ति, शक्ति, प्रकृति, माया की अभिव्यक्तियों के बीच केवल एक व्याख्याता या दुभाषिया होगा।

यह स्पष्ट है कि हमारी सतही बुद्धि की प्रकृतिवाला मन सत्ता की गौण शक्ति ही हो सकता है क्योंकि उसपर अक्षमता और अज्ञान की मुहर यह दिखाने के लिये लगी रहती है कि वह आद्या स्रष्ट्री नहीं बल्कि व्युत्पन्न है। हम देखते हैं कि वह जिन चीजों को देखता है उन्हें वह जानता या समझता नहीं है। उसे उनपर अपने-

आप कोई अधिकार नहीं है। उसे मेहनत करके निर्मित ज्ञान और नियंत्रण करनेवाली शक्ति को प्राप्त करना होता है। अगर ये चीजें मन की अपनी रचनाएं होतीं, उसकी आत्म-शक्ति का सृजन होतीं तो यह प्रारंभिक असामर्थ्य न होता। हो सकता है कि यह इस कारण हो कि व्यष्टिगत मन में केवल एक बाहरी और व्युत्पन्न शक्ति और ज्ञान होते हैं, और एक होता है वैश्व मन जो पूर्ण सर्वज्ञता से संपन्न और सर्वशक्तिमत्ता के लिये सक्षम होता है लेकिन मन, जैसा कि हम उसे जानते हैं, उसकी प्रकृति है ज्ञान की खोज करनेवाला अज्ञान। वह अंशों का जाननेवाला और विभाजनों का कार्यकर्ता है जो कुलयोग पर आने की कोशिश करता है, टुकड़ों को इकट्ठा करके पूर्ण बनाना चाहता है। उसे वस्तुओं का सार-तत्त्व या उनकी समग्रता प्राप्त नहीं होती। इन्हीं गुण-धर्मोंवाला वैश्व मन शायद अपनी विश्वात्मकता की शक्ति से अपने विभाजनों का कुल-योग जानता हो फिर भी उसमें मूलभूत ज्ञान का अभाव रहेगा और मूलभूत ज्ञान के बिना सच्चा संपूर्ण ज्ञान असंभव है। मूलभूत और संपूर्ण ज्ञान रखनेवाली चेतना, जो सारतत्त्व से समग्र की ओर जाती है और समग्र से अंशों में, वह मन नहीं होगी। वह होगी पूर्ण ऋत-चेतना जिसे अंतर्निहित आत्म-ज्ञान और जगत्-ज्ञान पर स्वतः अधिकार प्राप्त हो। हमें वास्तविकता की आत्मनिष्ठ दृष्टि को इस आधार से देखना चाहिये। यह सच है कि चेतना से स्वतंत्र वस्तुनिष्ठ वास्तविकता के जैसी कोई चीज नहीं है लेकिन साथ ही वस्तुनिष्ठता में भी एक सत्य है और वह यह है कि वस्तुओं की वास्तविकता किसी ऐसी चीज में निवास करती है जो उनके अंदर रहती है और हमारा मन उनकी जो व्याख्या करता है उससे और अपने अवलोकन के आधार पर बनायी गयी अपनी रचनाओं से स्वतंत्र है। ये रचनाएं ही विश्व के बारे में मन द्वारा बनाये गये आत्मनिष्ठ रूप या आकार हैं लेकिन विश्व और उसकी वस्तुएं केवल रूप या आकार नहीं हैं, तत्त्वतः वे चेतना की रचनाएं हैं, बल्कि एक ऐसी चेतना की रचनाएं हैं जो सत्ता के साथ एक है, जिसका उपादान सत् का उपादान है और जिसकी रचनाएं भी उसी उपादान की बनी और इस कारण वास्तविक हैं। इस दृष्टि से जगत् शुद्ध रूप से चेतना का आत्मनिष्ठ सृजन नहीं हो सकता। वस्तुओं के आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ सत्य दोनों ही वास्तविक हैं। वे एक ही सद्वस्तु के दो पक्ष हैं।

हम अपनी मानव भाषा के सापेक्ष और सांकेतिक शब्दों का उपयोग करें तो एक अर्थ में सभी चीजें ऐसे संकेत हैं जिनके द्वारा हमें उस तत् की ओर जाना और उसके निकट पहुंचना है जिसके द्वारा हमारा और सभी चीजों का अस्तित्व है। एकत्व की अनन्तता एक प्रतीक है और बहु की अनन्तता दूसरा प्रतीक है। और फिर चूंकि बहु में से हर एक चीज एकत्व की ओर संकेत करती है, चूंकि हर चीज, जिसे हम सांत कहते हैं, एक प्रतिनिधि-रूप, एक रूप-सीमाग्र, एक छाया-चित्र है जो अनंत के किसी अंश का आभास देता है इसलिये विश्व में जो कुछ

अपना सीमांकन रूपायनों में करता है—उसकी सभी वस्तुएं, घटनाएं, भाव-रूपायण, प्राण-रूपायण—उनमें से हर एक अपनी बारी में एक संकेत, सूत्र और प्रतीक है। हमारे आत्मनिष्ठ मन के लिये सत् की अनंतता एक प्रतीक है और असत् की अनंतता दूसरा प्रतीक है। निरपेक्ष परब्रह्म की अभिव्यक्ति के दो ध्रुव हैं; निश्चेतन की अनंतता और अतिचेतन की अनंतता। इन दोनों ध्रुवों के बीच हमारा अस्तित्व और हमारा एक-दूसरे की ओर जाना, अव्यक्त की इस अभिव्यक्ति को अधिकाधिक हस्तगत करना, उसकी सतत व्याख्या, हमारे अपने अंदर उसकी आत्मनिष्ठ रचना है। अपनी आत्म-सत्ता के ऐसे उन्मीलन से हमें ब्रह्म की अनिर्वचनीय उपस्थिति के बारे में सचेतन होना होता है, स्वयं अपने और जगत् के, जो कुछ है और जो कुछ नहीं है उस सबके बारे में हम इस तरह सचेतन होते हैं कि ये उसका अनावरण हैं जो अपने-आपको अपने शाश्वत और निरपेक्ष आत्म-प्रकाश के सिवा और किसी के आगे पूरी तरह अनावृत नहीं करता।

लेकिन चीजों को देखने की यह विधि मन की उस क्रिया से आती है जब वह सत् और बाहरी संभूति के बीच संबंध की व्याख्या करता है। यह अभिव्यक्ति के किसी सत्य के साथ मेल खानेवाले क्रियाशील मानसिक निरूपण के रूप में मान्य है लेकिन साथ ही यह शर्त रहती है कि वस्तुओं के ये प्रतीकात्मक मूल्य स्वयं वस्तुओं को गणित के सूत्रों की तरह केवल सार्थक संकेत या अमूर्त प्रतीक या मन के द्वारा ज्ञान के लिये प्रयोग में लाये जानेवाले अन्य संकेत नहीं बनाते क्योंकि विश्व में रूप और घटनाएं सद्वस्तु की सार्थक वास्तविकताएं हैं, वे तत् की आत्माभिव्यंजनाएं, सत् की गतियां और शक्तियां हैं। हर एक रूप इसलिये है क्योंकि वह उस तत् की किसी शक्ति का प्रकटन है जो उसके अंदर निवास करता है। प्रत्येक घटना सत् के किसी सत्य के चरितार्थ होने की अपनी गतिशील प्रक्रिया में एक गति है। यही सार्थकता मन के व्याख्यात्मक ज्ञान को, विश्व की उसकी आत्मनिष्ठ रचना को प्रामाणिकता देती है। हमारा मन मुख्यतः द्रष्टा और व्याख्याकार है, गौण और अमौलिक रूप से स्रष्टा है। समस्त मानसिक आत्म-निष्ठता का वस्तुतः यही मूल्य है कि वह अपने अंदर सत् के किसी ऐसे सत्य को प्रतिबिंबित करती है जो प्रतिबिंब से स्वतंत्र अपना अस्तित्व रखता है, चाहे वह स्वतंत्रता अपने-आपको भौतिक विषय-निष्ठता के रूप में प्रस्तुत करे या ऐसी अतिभौतिक वास्तविकता के रूप में जो मन के लिये तो ग्राह्य है परंतु भौतिक इन्द्रियों के लिये अग्राह्य। तो मन विश्व का पहला रचयिता नहीं है। वह एक मध्यवर्ती शक्ति है जो सत्ता की कुछ वास्तविकताओं के लिये मान्य है। एक अभिकर्ता, एक मध्यवर्ती के रूप में वह संभावनाओं को तथ्य बनाता है और इस तरह सृजन में उसका भाग है, लेकिन वास्तविक स्रष्ट्री है परात्पर और वैश्व आत्मा में अंतर्निष्ठ एक चेतना, एक ऊर्जा।

सद्वस्तु और ज्ञान के बारे में इससे एकदम उल्टी एक दृष्टि है जो वस्तुनिष्ठ सद्वस्तु को ही एकमात्र सम्पूर्ण सत्य और वस्तुनिष्ठ ज्ञान को ही एकमात्र पूरी तरह विश्वास-योग्य ज्ञान मानती है। यह दृष्टि इस भाव से शुरू होती है कि भौतिक सत्ता ही एकमात्र आधारभूत सत्ता है, वह चेतना, मन, अंतरात्मा या जीव को, यदि जीव या अंतरात्मा का कोई अस्तित्व है, वैश्व क्रिया में रत वैश्व ऊर्जा के एक अस्थायी परिणाम के दरजे में उतार देती है। जो कुछ भौतिक और वस्तुनिष्ठ नहीं है उसकी वास्तविकता उससे कम होती है जो भौतिक और वस्तुनिष्ठ पर निर्भर होती है। उसे वास्तविकता का पासपोर्ट पाने से पहले भौतिक मन के आगे वस्तुनिष्ठ साक्षी या भौतिक या बाह्य वस्तुओं के सत्य के साथ अपना मान्य और प्रमाणनीय संबंध स्थापित करके औचित्य सिद्ध करना होगा। लेकिन यह स्पष्ट है कि यह समाधान अपनी कठोरता में नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि उसमें कोई संपूर्णता नहीं है। वह जीवन की केवल एक दिशा को, यहांतक कि केवल एक प्रदेश या अंचल को देखता है और बाकी सबको बिना व्याख्या, बिना अंतर्गत वास्तविकता और बिना किसी सार्थकता के छोड़ देता है। अगर उसे आखिरी छोरतक धकेला जाये तो वह विचार, प्रेम, साहस, प्रतिभा, महानता, अंधकार और संकटभरे जगत् का सामना करते हुए और उसपर अधिकार पानेवाली मानव आत्मा और मन की वास्तविकता को ज्यादा निचला और आश्रित, यहांतक कि सारहीन और क्षणभंगुर वास्तविकता मान लेगा। और पत्थर और 'प्लम पुडिंग' (मिष्टान्न) को अधिक श्रेष्ठ वास्तविकता। क्योंकि इस दृष्टि में ये चीजें, जो हमारी आत्मनिष्ठ दृष्टि में इतनी महान् हैं, इस दर्शन के लिये केवल इतनी ही सार्थक हैं कि ये एक वस्तुनिष्ठ भौतिक जीवन के प्रति एक वस्तुनिष्ठ भौतिक सत्ता की प्रतिक्रियाएं हैं। ये तभीतक मान्य हैं जबतक ये वस्तुनिष्ठ वास्तविकताओं के साथ व्यवहार करती और उनपर अपना प्रभाव डालती हैं। यदि अंतरात्मा का कोई अस्तित्व है तो वह केवल वस्तुनिष्ठ रूप से वास्तविक जगत्-प्रकृति की एक घटना मात्र है। इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि वस्तुनिष्ठ तभी मूल्य पाता है जब उसका अंतरात्मा के साथ संबंध हो। वह काल में अंतरात्मा की प्रगति के लिये एक क्षेत्र, एक अवसर, एक साधन है। वस्तुनिष्ठ की रचना आत्मनिष्ठ की अभिव्यक्ति के लिये क्षेत्र के रूप में की गयी है, वस्तुनिष्ठ जगत् आत्मा के संभवन का एक बाहरी रूप भर है। वह प्रथम रूप और आधार की तरह है लेकिन वह सार-तत्त्व, सत्ता का मुख्य सत्य नहीं है। आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ एक ही अभिव्यक्त सद्वस्तु के दो आवश्यक पार्श्व हैं जिनका मूल्य समान है। वस्तुनिष्ठ के प्रदेश में भी चेतना की अतिभौतिक वस्तु को स्वीकृति का उतना ही अधिकार है जितना भौतिक वस्तुनिष्ठता को। उसे अनुभव से पहले ही आत्मनिष्ठ भ्रांति या भ्रम कहकर एक ओर नहीं किया जा सकता।

वस्तुतः आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता स्वतंत्र वास्तविकताएं नहीं हैं। दोनों एक

दूसरे पर निर्भर हैं। वे ऐसी हैं कि सत्, चेतना के द्वारा, अपने-आपको ऐसे देख रहा हो जैसे विषयी विषय को देखता है और वही सत् अपने-आपको अपनी चेतना के आगे ऐसे प्रस्तुत कर रहा हो जैसे विषय विषयी के आगे। अधिक एकांगी दृष्टि किसी ऐसी चीज को ठोस रूप में वास्तविक नहीं मानती जिसका अस्तित्व केवल चेतना में है या ज्यादा ठीक तरह से कहें तो किसी ऐसी चीज को वास्तविक नहीं मानती जिसकी आंतरिक चेतना या इन्द्रिय तो साक्षी देती हो परंतु जिसके लिये बाहरी भौतिक इन्द्रियां आधार या प्रमाण न देती हों। लेकिन बाहरी इन्द्रियां तभी प्रामाणिक साक्षी दे सकती हैं जब वे विषय के बारे में अपने विवरण को चेतना के आगे रखती हैं और वह चेतना उनके विवरण को महत्त्व देती है, उसकी बाह्यता में अपनी भीतरी अंतर्भासात्मक टीका जोड़ देती और युक्तियुक्त समर्थन द्वारा उसका औचित्य ठहराती है। क्योंकि इन्द्रियों की साक्षी हमेशा अपने-आपमें अधूरी होती है, पूरी तरह प्रामाणिक नहीं होती और निश्चय ही अंतिम नहीं होती क्योंकि वह अपूर्ण और सदा भूल-भ्रांति के अधीन होती है। निश्चय ही हमारे पास विषयनिष्ठ विश्व को जानने के लिये आत्मनिष्ठ चेतना के सिवा कोई और साधन नहीं है और स्वयं भौतिक इन्द्रियां उसके यंत्र हैं। जगत् जैसा न केवल उस चेतना को बल्कि उसके अंदर दिखायी देता है, वैसा ही वह हमारे लिये भी होता है। अगर हम इस वैश्व दर्शक की साक्षी को आत्मनिष्ठ या अतिभौतिक विषयों के लिये सच्चा नहीं मानते तो इसका कोई पर्याप्त कारण नहीं है कि हम भौतिक विषयों के लिये उसकी साक्षी को सच्चा मानें। अगर चेतना के भीतरी या अतिभौतिक विषय अवास्तविक हैं तो पूरी संभावना है कि वस्तुनिष्ठ भौतिक विश्व भी अवास्तविक हो। हर मामले में समझ, विवेक और सत्य की जांच जरूरी है; लेकिन आत्मनिष्ठ और अतिभौतिक के लिये सत्य की जांच की पद्धति उस पद्धति से भिन्न होनी चाहिये जिसे हम भौतिक और बाहरी वस्तुओं के लिये सफलतापूर्वक काम में लाते हैं। आत्मनिष्ठ अनुभवों को बाहरी इन्द्रियों के साक्ष्य के सामने प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। उसके देखने के अपने मानक हैं और सत्य की जांच के लिये अपने आंतरिक तरीके हैं। इसी तरह अपने स्वभाव के कारण अतिभौतिक वास्तविकताओं को भौतिक या ऐन्द्रिय मन के न्याय के आगे तबतक प्रस्तुत नहीं किया जा सकता जबतक कि वे अपने-आपको भौतिक में प्रक्षिप्त न करें। और तब भी वह निर्णय प्रायः अपूर्ण होता या सावधानी की मांग करता है। उनकी जांच अन्य इन्द्रियों द्वारा ही और ऐसी विधि द्वारा की जा सकती है जो उनकी अपनी वास्तविकता और उनकी प्रकृति पर लागू हो।

वास्तविकता की अलग-अलग श्रेणियां हैं, विषयगत और भौतिक तो केवल एक श्रेणी है। भौतिक या बाहरी मन के लिये यह विश्वासोत्पादक है क्योंकि यह इन्द्रियों के आगे प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट होता है जब कि आत्मनिष्ठ और अतिभौतिक के लिये उस मन के पास पग-पग पर भूल कर सकनेवाले खंडित चिह्नों, तथ्यों

और निष्कर्षों के सिवा ज्ञान का कोई साधन नहीं है। हमारी आत्मनिष्ठ गतिविधियां और आंतरिक अनुभूतियां घटनाओं का उतना ही वास्तविक क्षेत्र हैं जितनी कोई भी बाहरी भौतिक घटनाएं, लेकिन अगर व्यक्तिगत मन प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा स्वयं अपने व्यापारों को जान भी सके तो भी वह इस बारे में अजान रहता है कि औरों की चेतना में क्या हो रहा है, वह बस उतना ही जान सकता है जो उसके अपने अनुरूप हो या फिर ऐसे चिह्नों, सामग्री, अनुमान द्वारा ही जान सकता है जो उसका बाहरी अवलोकन उसे दे सके। अतः मैं भीतरी तौर पर अपने लिये वास्तविक हूं लेकिन औरों का अदृश्य जीवन, जहांतक वह मेरे अपने मन, प्राण और इन्द्रियों पर टकोर नहीं लगाता, वहांतक मेरे लिये परोक्ष वास्तविकता ही है। मनुष्य के भौतिक मन की यह सीमा है और यह उसके अंदर केवल भौतिक पर पूरी तरह विश्वास करने की आदत डाल देती है और जो कुछ उसके अपने अनुभव के साथ मेल नहीं खाता, उसकी समझ के क्षेत्र का नहीं है या उसके अपने मानक या सुप्रतिष्ठित ज्ञान के कुलयोग के अनुकूल नहीं है वह उस सब पर संदेह करता और उन्हें चुनौती देता है।

हाल में इस अहं-केन्द्रित वृत्ति को ज्ञान के एक मान्य मानक के स्थानतक उठा दिया गया है। उसे प्रकट या अप्रकट रूप से एक स्वयंसिद्ध सूक्ति के रूप में रखा जाता है कि प्रामाणिक होने के लिये समस्त सत्य को हर आदमी के व्यक्तिगत मन, तर्क और अनुभव के आगे पेश करना चाहिये या फिर किसी सार्वजनिक या सार्वभौम अनुभव द्वारा उसकी जांच होनी या कम-से-कम उसे जांच किये जाने योग्य होना चाहिये। लेकिन स्पष्ट है कि यह वास्तविकता और ज्ञान का एक मिथ्या मानक है क्योंकि इसका अर्थ होता है सामान्य या औसत मन और उसकी सीमित क्षमता और अनुभव की प्रभुता और अतिप्राकृतिक या साधारण औसत बुद्धि के परे की चीजों को छोड़ देना। अपनी चरम अवस्था में व्यक्ति का हर चीज के बारे में निर्णय करने का दावा अहं-केन्द्रित भ्रांति, भौतिक मन का अंध-विश्वास, व्यापक रूप में स्थूल और भद्दी भूल है। उसके पीछे सत्य यह है कि हर मनुष्य को अपनी क्षमता के अनुसार अपने-आप सोचना, अपने-आप जानना चाहिये लेकिन उसका मूल्यांकन इस शर्त पर प्रामाणिक हो सकता है कि वह सीखने और विशालतर ज्ञान की ओर खुलने के लिये हमेशा तैयार रहे। यह तर्क किया जाता है कि भौतिक मानकों और व्यक्तिगत या वैश्व सत्य की जांच के सिद्धांत को त्याग देना बहुत बड़ी प्रवंचना की ओर ले जायेगा और बिना जांचे हुए सत्य की स्वीकृति और आत्मनिष्ठ स्वैरविहार ज्ञान के क्षेत्र की ओर ले जायेगा। लेकिन ज्ञान की खोज में भ्रांति, भ्रम, अपने व्यक्तित्व और आत्मनिष्ठता का प्रवेश हमेशा उपस्थित रहते हैं और भौतिक या विषयगत पद्धति और मानक उनका बहिष्कार नहीं करते। भ्रांति की संभाव्यता खोज करने के प्रयत्न से इंकार करने के लिये कोई कारण नहीं है और आत्मनिष्ठ

खोज जांच की आत्मनिष्ठ पद्धति से, अवलोकन और सत्यापन के द्वारा ही होनी चाहिये। अतिभौतिक की खोज में उपयुक्त साधनों और विधियों को विकसित करना, मानना और जांचना ही होगा जो उन साधनों और विधियों से भिन्न हों जिनसे हम भौतिक चीजों के घटकों और भौतिक प्रकृति में ऊर्जा की प्रक्रियाओं की परीक्षा करते हैं।

किसी सामान्य पूर्वधारणा या प्रागनुभव के कारण जांच-पड़ताल करने से इंकार करना रूढ़िवाद है और ज्ञान के विस्तार में उतना ही हानिकर है जितना वह धार्मिक रूढ़िवाद जिसने यूरोप में वैज्ञानिक शोध के विस्तार का विरोध किया था। बड़ी-से-बड़ी आंतरिक खोजें, आत्म-सत्ता की अनुभूति, वैश्व चेतना, मुक्त आत्मा की आंतरिक स्थिरता, मन का मन पर सीधा असर, चेतना का अन्य चेतना के साथ या उसके विषयों के साथ प्रत्यक्ष संबंध द्वारा वस्तुओं का ज्ञान, कुछ भी मूल्य रखनेवाली अधिकतर आध्यात्मिक अनुभूतियां— इन्हें सामान्य मानसिकता की अदालत के सामने नहीं पेश किया जा सकता जिसे इन चीजों का कोई अनुभव नहीं और जो अपने अनुभव के अभाव या अक्षमता को ही उनके अप्रामाणिक या न होने का प्रमाण मान लेती है। भौतिक अवलोकनों पर आधारित सूत्रों, सामान्य सिद्धांतों और आविष्कारों के भौतिक सत्य को इस तरह न्यायालय के आगे रखा जा सकता है लेकिन वहां भी सचमुच समझ सकने और निर्णय कर सकने से पहले क्षमता के प्रशिक्षण की जरूरत है। हर अप्रशिक्षित मन सापेक्षता के गणित को या अन्य कठिन वैज्ञानिक सत्यों को न तो समझ सकता है न उनके परिणाम और पद्धति की प्रामाणिकता के बारे में फैसला कर सकता है। सत्य प्रमाणित होने के लिये समस्त वास्तविकता और सभी अनुभवों के लिये निःसंदेह यह जरूरी है कि उसी या वैसे ही अनुभव द्वारा उनकी जांच-पड़ताल की जा सके। इस प्रकार, वस्तुतः सभी मनुष्यों को आध्यात्मिक अनुभूति हो सकती है, वे उसका अन्ततक अनुसरण कर सकते और अपने अंदर उसकी जांच कर सकते हैं—लेकिन तभी जब वे उसकी योग्यता पा लें, या उन आंतरिक विधियों का अनुसरण कर सकें जिनके द्वारा उस अनुभव और जांच-पड़ताल को संभव बनाया जाता है। एक क्षण के लिये इन स्पष्ट और प्रारंभिक सत्यों पर विचार करना जरूरी है क्योंकि इसके विपरीत विचार मानव मानसिकता के वर्तमान काल में बहुत प्रधान रहे हैं—वे अब पीछे हट रहे हैं—और संभव ज्ञान के विशाल क्षेत्र के विकास के मार्ग में रोड़ा बन कर रहे हैं। मानव आत्मा के लिये यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है कि वह आंतरिक या अंतस्तलीय वास्तविकता की, आध्यात्मिक और जो अब भी अतिचेतन वास्तविकता है उसकी गहराइयों में गोता लगाने के लिये स्वतंत्र रह सके और भौतिक मन और उसके विषयनिष्ठ बाहरी घनत्वों के संकरे क्षेत्र में अपने-आपको बंद न कर ले। क्योंकि केवल इसी मार्ग से उस अज्ञान से छुटकारा पाकर, जिसमें हमारी

मानसिकता निवास करती है, मुक्ति मिल सकती है और संपूर्ण चेतना में, एक सच्ची और पूर्ण आत्मोपलब्धि में और आत्मज्ञान में अभिगमन हो सकता है।

पूर्ण ज्ञान चेतना और अनुभव के सभी संभव क्षेत्रों के अन्वेषण और अनावरण की मांग करता है। क्योंकि प्रकट सतह के पीछे हमारी सत्ता के आत्मनिष्ठ क्षेत्र हैं। इनकी थाह लेनी है और जो कुछ पता चले उसे समग्र वास्तविकता के क्षेत्र में सम्मिलित कर लेना होगा। आध्यात्मिक अनुभव का आंतरिक क्षेत्र मानव चेतना का एक बहुत बड़ा क्षेत्र है। उसकी गहरी-से-गहरी गहराइयों और अधिक-से-अधिक विस्तृत प्रसारोंतक पहुंचना होगा। अतिभौतिक उतना ही वास्तविक है जितना कि भौतिक। उसे जानना पूर्ण ज्ञान का एक भाग है। अतिभौतिक के ज्ञान को रहस्यवाद और गुह्य विद्या के साथ जोड़ दिया गया है और गुह्य विद्या को अंध-विश्वास और ऊटपटांग भ्रांति कहकर अवैध ठहराया गया है। लेकिन गुह्य भी सत्ता का एक अंग है। सच्चे गुह्यवाद का अर्थ अतिभौतिक वास्तविकताओं में शोध से अधिक कुछ नहीं है और सत्ता तथा प्रकृति के छिपे हुए नियमों और जो सतह पर नहीं दिखायी देता, उसका अनावरण है। वह मन और मानसिक ऊर्जा के गुप्त विधानों की, प्राण और प्राणिक ऊर्जा के गुप्त विधानों की, सूक्ष्म भौतिक और उसकी ऊर्जाओं के गुप्त विधानों की खोज का प्रयत्न—उस सब की खोज का प्रयत्न है जिसे प्रकृति में सतह पर दिखायी देनेवाली क्रियाओं में प्रस्तुत नहीं किया है। वह प्रकृति के इन गुप्त सत्यों और शक्तियों के उपयोग को इस तरह आगे बढ़ाता है कि मानव आत्मा का प्रभुत्व मन की सामान्य क्रियाओं, प्राण की सामान्य क्रियाओं और हमारे भौतिक जीवन की सामान्य क्रियाओं के परे बढ़ सके। आध्यात्मिक प्रदेश में, जो सतही मन के लिये उस हदतक गुह्य है जहां वह सामान्य को पार करके सामान्य से परे के अनुभवों में प्रवेश करता है, वहां केवल आत्मा और जीव का अन्वेषण ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक चेतना के उद्धार करनेवाले, अनुप्राणित करनेवाले और मार्ग-दर्शक प्रकाश की और आत्मा की शक्ति की, ज्ञान के आध्यात्मिक मार्ग, क्रिया के आध्यात्मिक मार्ग की खोज करना भी संभव होता है। इन चीजों को जानना और उनके सत्यों और उनकी शक्तियों को मानव जाति के जीवन में उतारना उसके विकास का एक आवश्यक अंग है। स्वयं विज्ञान अपने ढंग से गुह्य विद्या है क्योंकि वह ऐसे सूत्रों को प्रकाश में लाता है जिन्हें प्रकृति ने छिपा रखा है। वह प्रकृति की ऊर्जाओं की उन प्रक्रियाओं को मुक्त करने के लिये, जिन्हें प्रकृति ने अपनी सामान्य प्रक्रियाओं में सम्मिलित नहीं किया है, और प्रकृति की गुह्य शक्तियों और प्रक्रियाओं को, भौतिक जादू के एक विस्तृत क्षेत्र को संगठित करके मनुष्य की सेवा में नियोजित करने के लिये अपने ज्ञान का उपयोग करता है। क्योंकि सत्ता के गुप्त सत्यों के, प्रकृति की गुप्त शक्तियों और प्रक्रियाओं के उपयोग से भिन्न न कोई जादू है न हो सकता है। यह

भी पता लग सकता है कि भौतिक ज्ञान की पूर्ति के लिये अति-भौतिक ज्ञान आवश्यक है क्योंकि भौतिक प्रकृति की प्रक्रियाओं के पीछे अतिभौतिक तत्त्व, ऐसी मानसिक, प्राणिक या आध्यात्मिक शक्ति और क्रिया होती है जो ज्ञान के किन्हीं भी बाहरी साधनों के लिये अगोचर होती है।

विषयनिष्ठ वास्तविकता की एकमात्र या मूलभूत प्रामाणिकता पर समस्त आग्रह जड़-तत्त्व की आधारभूत वास्तविकता के भाव पर आधारित होता है। लेकिन अब यह स्पष्ट है कि जड़-तत्त्व किसी भी तरह से आधारभूत वास्तविकता नहीं है; वह ऊर्जा की रचना है। यह भी संशयास्पद होता जा रहा है कि स्वयं इस ऊर्जा की क्रियाओं और रचनाओं की व्याख्या उन्हें किसी गुप्त मन या चेतना की शक्ति की गतियां कहने के सिवा किसी और तरह से की जा सकती है क्या ? उसकी रचना, प्रक्रियाएं और चरण उसके सूत्र हैं, अतः अब जड़-पदार्थ को एकमात्र वास्तविकता के रूप में स्वीकार करना संभव नहीं है। विश्व-सत्ता की भौतिक व्याख्या एक ऐकान्तिक संकेन्द्रण का, सत्ता की एक ही गति पर तन्मयता का परिणाम थी। ऐसे ऐकान्तिक संकेन्द्रण का अपना उपयोग होता है और इस लिये उसकी अनुमति दी जा सकती है। हाल में उसने अपने औचित्य को भौतिक विज्ञान के बहुत से बड़े और असंख्य सूक्ष्म आविष्कारों द्वारा प्रमाणित किया है। लेकिन सत्ता की सारी समस्या का हल ऐकान्तिक, एकपक्षीय ज्ञान पर आधारित नहीं हो सकता। हमें केवल इतना ही नहीं जानना है कि जड़-पदार्थ और उसकी प्रक्रियाएं क्या हैं बल्कि यह भी कि मन और प्राण क्या हैं और क्या हैं उनकी प्रक्रियाएं, और साथ ही आत्मा और जीव और जड़-भौतिक सतह के पीछे जो कुछ है उस सबको भी जानना चाहिये। तभी हमें वह ज्ञान मिल सकता है जो समस्या के समाधान के लिये पर्याप्त रूप से पूर्ण हो। इसी कारण जीवन के बारे में वे दृष्टियां जो मन या प्राण में प्रमुख रूप से तल्लीनता से आती हैं और जो मन या प्राण को ही आधारभूत वास्तविकता मानती हैं, उनमें स्वीकार किये जाने लायक विस्तृत आधार नहीं है। ऐकान्तिक संकेन्द्रण की ऐसी तल्लीनता हमें ऐसी सफल छानबीन की ओर ले जा सकती है जो मन और प्राण पर बहुत प्रकाश डालती है परंतु उसका वह परिणाम समस्या का पूरा समाधान नहीं हो सकता। यह भली-भांति हो सकता है कि मुख्य या ऐकान्तिक रूप से अंतर्लीन सत्ता पर संकेन्द्रण, जो सतही सत्ता को अंतर्लीन सत्ता की एकमात्र वास्तविकता को अभिव्यक्त करने के लिये प्रतीकों की केवल एक पद्धतिमात्र मानता है, अंतर्लीन और उसकी प्रक्रियाओं पर प्रबल प्रकाश डाले और मानव सत्ता की शक्तियों के विस्तार को बहुत अधिक बढ़ा दे, लेकिन वह अपने-आपमें कोई पूर्ण समाधान न होगा और न हमें सद्वस्तु के पूर्ण ज्ञान की ओर सफलता से ले जायेगा। हमारी दृष्टि में आत्मा या आध्यात्म जीव ही सत्ता की आधारभूत वास्तविकता है। लेकिन अगर इस मूलभूत तत्त्व पर ऐकान्तिक संकेन्द्रण

किया जाये, मन, प्राण और जड़-तत्त्व की सारी वास्तविकता का बहिष्कार कर दिया जाये, इतना ही माना जाये कि वे आत्मा पर अध्यारोप हैं या आत्मा से पड़नेवाली निःसार छायाएं हैं तो इससे एक स्वतंत्र और मूलगत आध्यात्मिक उपलब्धि के लिये तो सहायता मिल सकती है लेकिन विश्व-जीवन और व्यष्टि जीवन के सत्य के पूरे और प्रामाणिक समाधान के लिये नहीं।

तो पूर्ण ज्ञान जीवन के सभी पक्षों के सत्य का ज्ञान होना चाहिये—दोनों अलग-अलग भी और प्रत्येक के सर्व के साथ संबंध में भी और सर्व के संबंध का आत्मा के सत्य के साथ संबंध में भी ज्ञान। हमारी वर्तमान अवस्था है अज्ञान और बहुमुखी खोज, वह सभी वस्तुओं के सत्य को खोजती है लेकिन—जैसा कि और सभी की व्याख्या करनेवाले मूलभूत सत्य के संबंध में, सभी चीजों के आधार में बसी सद्वस्तु के संबंध में मानव मन की परिकल्पनाओं के आग्रह और विभिन्नताओं से स्पष्ट है—वस्तुओं के आधारभूत सत्य को, उनकी आधारभूत वास्तविकता को निश्चित रूप से किसी युगपत् आधारभूत और वैश्व सद्वस्तु में पाना चाहिये। यही है जिसे एक बार पा लिया और अपना लिया जाये तो सब कुछ की व्याख्या हो जाती है क्योंकि '*यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।*' आधारभूत सद्वस्तु को निश्चित रूप से समस्त सत्ता का सत्य, व्यष्टि का सत्य, विश्व का सत्य, समस्त विश्वातीत का सत्य होना चाहिये और उसे इन सबको समाये रखना चाहिये। मन इस प्रकार की सद्वस्तु को खोज रहा है और जड़-तत्त्व से ऊपर हर चीज को यह जानने के लिये परख रहा है कि कहीं यही चीज 'वह' न हो, इसमें वह गलत अंतर्भास पर नहीं चल रहा। सारी आवश्यकता इस बात की है कि जांच को उसके अंतिम छोरतक ले जाया जाये और अनुभव के उच्चतम अंतिम स्तरोंतक को जांचा जाये।

लेकिन चूंकि हम अज्ञान से ज्ञान की ओर बढ़ते हैं अतः हमें पहले अज्ञान की गुप्त प्रकृति और उसके पूरे विस्तार की खोज करनी पड़ी। सामान्यतः हम जिस अज्ञान में, भौतिक, देशीय और कालिक विश्व में अपने पृथगात्मक जीवन की परिस्थिति के कारण निवास करते हैं, यदि हम उसपर नजर डालें तो देखते हैं कि हम चाहे जिस दिशा में उसे देखें या उसके पास जायें वह अपने अधिक अंधेरे पक्ष में एक बहुमुख आत्म-अज्ञान में ही परिणत हो जाता है। हम उस निरपेक्ष के बारे में अज्ञ हैं जो समस्त सत् और संभूति का स्रोत है। हम सत् के आंशिक तथ्यों को, संभवन के कालिक संबंधों को सत्ता का पूरा सत्य मान लेते हैं—यह है प्रथम और आद्य अज्ञान। हम देशातीत, कालातीत, अचल और अक्षर आत्मा के बारे में अज्ञ हैं। हम देश और काल में वैश्व संभूति की निरंतर सचलता और परिवर्तनशीलता को ही अस्तित्व का सारा सत्य मान लेते हैं—यह दूसरा वैश्व अज्ञान है। हम अपनी वैश्व आत्मा, वैश्व अस्तित्व, वैश्व चेतना के बारे में समस्त सत्ता और

संभूति के साथ अपने अनंत ऐक्य के बारे में अज्ञ हैं। हम अपनी सीमित अहंकारमयी मानसिकता, प्राणिकता और दैहिकता को ही अपनी सच्ची आत्मा मान लेते हैं और बाकी सब चीजों को अनात्मा मानते हैं—यह तीसरा अहंकारमय अज्ञान है। हम काल में अपनी शाश्वत संभूति के बारे में अज्ञ हैं। हम काल के इस छोटे-से विस्तार में तुच्छ-से देश के क्षेत्र में अपने छोटे-से जीवन को अपना आदि, मध्य और अंत मान लेते हैं—यह चौथा कालिक अज्ञान है। हम इस संक्षिप्त-से कालिक संभवन में भी अपनी विशाल और जटिल सत्ता के बारे में अज्ञ रहते हैं, उसके बारे में अज्ञ रहते हैं जो हमारे अंदर हमारी सतही संभूति से अतिचेतन, अवचेतन, अंतश्चेतन, परिचेतन है। हम अपनी सतही संभूति को ही, जिसके साथ उसके प्रकट रूप में मानस-भावापन्न अनुभवों का छोटा-सा चयन होता है, अपनी समस्त सत्ता मान लेते हैं—यह पांचवा मनोवैज्ञानिक अज्ञान है। हम अपनी संभूति के सच्चे गठन के बारे में अज्ञ हैं। हम मन या प्राण या शरीर या इनमें से किन्हीं दो या तीनों को अपना सच्चा तत्त्व या हम जो कुछ हैं उसका पूरा व्योरा मान लेते हैं और उसे आंख से ओझल कर देते हैं जो उनका गठन करता है और अपनी गुह्य उपस्थिति द्वारा उनका निर्णय करता है और जो अपने-आप उभर कर प्रभुत्वशाली रूप से उनकी क्रियाओं का निर्धारण करने के लिये अभिप्रेत है—यह छठा मूलभूत अज्ञान है। इन सभी अज्ञानों के परिणाम-स्वरूप हम जगत् में अपने जीवन के सच्चे ज्ञान, शासन और भोग को खो बैठते हैं, हम अपने विचार, इच्छा, संवेदन, क्रिया के बारे में अज्ञ रहते हैं, हर बिंदु पर जगत् के प्रश्नों पर गलत या अपूर्ण प्रतिक्रिया करते हैं, भ्रांतियों और कामनाओं, प्रयासों और असफलताओं, दुःख और सुख, पाप और लड़खड़ाहट की भूल-भुलैया में भटकते रहते हैं, टेढ़ी-मेढ़ी गैल का अनुसरण करते हैं और बदलते हुए लक्ष्य को अंधे की तरह टटोलते हैं—यह सातवां, व्यावहारिक अज्ञान है।

निश्चित रूप से अज्ञान के बारे में हमारी धारणा ज्ञान के बारे में धारणा को निर्धारित करेगी। चूंकि हमारा जीवन ऐसा अज्ञान है जो एक ही साथ ज्ञान से इंकार करता और उसकी खोज करता है, अतः वही धारणा मानव-प्रयास के लक्ष्य और वैश्व उद्यम के उद्देश्य को भी निर्धारित करेगी। तब पूर्ण ज्ञान का मतलब होगा, सप्तविध अज्ञान से जो कुछ छूट जाता है या जिसकी वह अवहेलना करता है उसकी खोज द्वारा सप्तविध अज्ञान का निरसन, हमारी चेतना के अंदर सप्तविध आत्म-अंतः-प्रकटन। इसका अर्थ होगा निरपेक्ष का सभी चीजों के मूल के रूप में ज्ञान, आत्मा का ज्ञान, आध्यात्म पुरुष का ज्ञान, सत् का ज्ञान और विश्व के बारे में यह ज्ञान कि वह आत्मा की संभूति है, सत् की संभूति है, आत्मा की अभिव्यक्ति है, जगत् के बारे में यह ज्ञान कि वह हमारी सच्ची आत्मा की चेतना में हमारे साथ एक है और इस भांति अहं के पृथगात्मक भाव और जीवन द्वारा जगत् के साथ

हमारे विभाजन को निरस्त करते हुए; हमारी चैत्य सत्ता का और मृत्यु तथा पार्थिव सत्ता के परे, काल में उसके अमर सातत्य का ज्ञान; सतह के पीछे हमारी विशालतर और आंतरिक सत्ता का ज्ञान, हमारे मन, प्राण और शरीर का भीतर की आत्मा के साथ और ऊपर अतिचेतन आध्यात्मिक और अतिमानसिक सत्ता के साथ सच्चे संबंध में ज्ञान; और अंत में हमारे विचार, इच्छा और क्रिया के सच्चे सामंजस्य और सच्चे उपयोग का ज्ञान और हमारी समस्त प्रकृति का आध्यात्म पुरुष, आत्मा, दिव्य पुरुष और समग्र आध्यात्मिक सद्वस्तु की सचेतन अभिव्यक्ति में परिवर्तन।

लेकिन यह कोई बौद्धिक ज्ञान नहीं है जिसे हमारी वर्तमान चेतना के ढांचे में सीखा और पूरा किया जा सके। उसे एक अनुभूति, संभवन, चेतना का परिवर्तन, सत्ता का परिवर्तन होना चाहिये। यह चीज संभवन के विकसनशील स्वरूप को और इस तथ्य को ले आती है कि हमारा मानसिक अज्ञान हमारे विकास में एक अवस्था मात्र है। तो पूर्ण ज्ञान केवल हमारी सत्ता और प्रकृति में विकास द्वारा ही आ सकता है और इसका अर्थ होगा काल में एक धीमी प्रक्रिया, जैसी अन्य वैकासिक रूपांतरों में हुई है। लेकिन इस अनुमान के विरुद्ध यह तथ्य है कि अब विकास सचेतन हो गया है और यह एकदम जरूरी नहीं है कि उसकी पद्धति और उसके चरण वैसे ही हों जैसे तब थे जब वह अपनी प्रक्रिया में अवचेतन था। चूंकि पूर्ण ज्ञान चेतना के परिवर्तन का ही परिणाम होगा इसलिये उसे किसी ऐसी प्रक्रिया से पाया जा सकता है जिसमें हमारी इच्छा और प्रयास का भाग हो, जिसमें वे खोज कर सकें और अपने चरण और प्रक्रिया का उपयोग कर सकें। हमारे अंदर उसकी वृद्धि एक सचेतन आत्म-रूपांतर द्वारा हो सकती है। तो यह देखना जरूरी है कि विकास की इस नयी प्रक्रिया का संभावित विधान क्या होगा और पूर्ण ज्ञान की वे कौन-सी गतिविधियां हैं जिन्हें उसमें निश्चित रूप से उभरना चाहिये—या दूसरे शब्दों में उस चेतना का स्वभाव क्या होगा जिसे दिव्य जीवन का आधार होना चाहिये और उस जीवन का रूपायण या रूप-धारण कैसे होगा जिससे वह भौतिक रूप ले सके या जैसा कि हम कह सकते हैं कि वह सिद्धि पा सके।

अध्याय १६

पूर्ण ज्ञान और जीवन का लक्ष्य; अस्तित्व के चार सिद्धांत

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते . . . ॥

जब हृदय से चिपकी रहनेवाली सभी कामनाएं उससे छूट जाती हैं तब मर्त्य अमर हो जाता है और वह यहां भी शाश्वत (ब्रह्म) को अधिकृत करता है।

बृहदारण्यकोपनिषद् ४.४.७

ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ॥

वह शाश्वत (ब्रह्म) हो जाता है और ब्रह्म में ही चला जाता है।

बृहदारण्यकोपनिषद् ४.४.६

अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव ॥

यह अशरीर और अमर प्राण तथा तेज ही ब्रह्म है।

बृहदारण्यकोपनिषद् ४.४.७

अणुः पन्था विततः पुराणो मां स्पृष्टोनुवित्तो मयैव।
तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः ॥

यह प्राचीन पंथ लंबा और संकरा है—मैंने उसे छू लिया है, मैंने उसे पा लिया है—यह पथ जिससे धीर, ब्रह्मविद्, मुक्ति पाकर, यहां से ऊपर के स्वर्ग लोक की ओर प्रस्थान करते हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् ४.४.८

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः। . . .
निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे। . . .
ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्।
ये सङ्ग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते।

मैं पृथ्वी का पुत्र हूं, भूमि मेरी मां है . . . वह मुझे अपनी बहुविध निधि, अपनी गुप्त संपदा प्रदान करे . . . हे पृथ्वी, हम तेरी उस सुंदरता का बखान करें जो तेरे ग्रामों और वनों में, संग्रामों और समितियों में है।

अथर्ववेद १२.१.१२, ४४, ५६

. . . सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥

याऽर्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद् यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः ॥
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः ।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥

पृथ्वी, जो भूत और भविष्य की स्वामिनी है, हमारे लिये एक विशाल लोक बना दे . . . पृथ्वी, जो समुद्र में जल थी, मनीषी जिसके मार्ग का अनुसरण अपने ज्ञान के जादू से करते हैं, जिसका अमृतमय हृदय परम व्योम में सत्य से आवृत है, वह उस उच्चतम राज्य में हमारे लिये प्रकाश और शक्ति को प्रतिष्ठित करे।

अथर्ववेद १२.१.१, ८

त्वं तमग्ने अमृतत्व उत्तमे मर्तं दधासि श्रवसे दिवेदिवे ।
यस्तातृषाण उभयाय जन्मने मयः कृणोषि प्रय आ च सूरये ॥

हे अग्नि, श्रुतज्ञान की दिन-प्रतिदिन वृद्धि के लिये, मर्त्य को तुम्हीं अमृतत्व में प्रतिष्ठित करती हो। जिस द्रष्टा में दोहरे जल की प्यास है, उसके लिये तुम दिव्यानंद और मानव सुख दोनों का सृजन करती हो।

ऋग्वेद १.३१.७

नः . . . देव ! दितिं च रास्वादितिमुरुष्य ॥

हे देव, हमारे लिये अनंत (अदिति) की रक्षा करो और सांत (दिति) को हमें मुक्तहस्त से प्रदान करो।

ऋग्वेद ४.२.११

लेकिन चेतना के विकसनशील आरोहण के सिद्धांतों और प्रक्रिया की जांच करने से पहले फिर एक बार यह कह देना जरूरी है कि पूर्ण ज्ञान के बारे में हमारा सिद्धांत सद्वस्तु के और उसकी अभिव्यक्ति के आधारभूत सत्यों के रूप में किन्हें प्रतिष्ठित करता है और किन्हें वह प्रभावशाली और क्रियाशील पक्षों के रूप में तो स्वीकार करता है लेकिन जीवन और विश्व की पूर्ण व्याख्या के रूप में पर्याप्त नहीं मान सकता। क्योंकि ज्ञान के सत्य को ही जीवन के सत्य का आधार होना चाहिये और उसीको जीवन का लक्ष्य निश्चित करना चाहिये। विकासशील प्रक्रिया अपने-आपमें जीवन के एक ऐसे सत्य का विकास है जो यहां मौलिक निश्चेतना में छिपा हुआ है और जो उभरती हुई चेतना द्वारा उसमें से बाहर लाया जाता है। वह चेतना अपने-आपको खोलती हुई, एक सोपान से दूसरे सोपानतक उठती है यहांतक कि वह अपने-आपमें, वस्तुओं की पूर्ण वास्तविकता और समग्र आत्म-ज्ञान को अभिव्यक्त कर सके। वह जिस सत्य से चलती और उसे जो अभिव्यक्त करना है उसके स्वरूप पर विकास की प्रगति का मार्ग यानी उसकी प्रक्रिया के चरण और उनकी सार्थकता निर्भर हैं।

पहले हम यह स्थापित करते हैं कि निरपेक्ष ही सभी चीजों का आदि, आश्रय और गुप्त सद्वस्तु है। निरपेक्ष सद्वस्तु मन के विचार और मन की भाषा के लिये अनिर्देश्य और अनिर्वचनीय है। वह अपने प्रति स्वयंभू और स्वयंसिद्ध है जैसे सभी निरपेक्ष स्वयंसिद्ध होते हैं लेकिन हमारे मन के इतिवाद और नेतिवाद, अलग-अलग या मिलकर न तो उसे सीमित कर सकते हैं न उसकी व्याख्या कर सकते हैं। लेकिन साथ ही एक आध्यात्मिक चेतना है, एक आध्यात्मिक ज्ञान है, तादात्म्य द्वारा प्राप्त एक ज्ञान है जो सद्वस्तु को उसके मूलभूत रूपों में और उसकी अभिव्यक्त शक्तियों और आकृतियों में ग्रहण कर सकता है। जो कुछ है वह सब इस वर्णन के अंतर्गत आ जाता है और अगर उसे इस ज्ञान द्वारा उसके अपने सत्य में या उसके गुह्य अर्थ में देखा जाये तो उसे सद्वस्तु की अभिव्यक्ति और अपने-आपमें एक वास्तविकता माना जा सकता है। यह प्रकट वास्तविकता इन मूलभूत पहलुओं में स्वयंभू है क्योंकि सभी आधारभूत वास्तविकताएं किसी ऐसी चीज का बाहर प्रकटन होती हैं जो निरपेक्ष में शाश्वत और निहित रूप से सत्य है। लेकिन वह सब जो मौलिक नहीं है, जो कुछ अस्थायी है, वह आभासी है, वह जिस वास्तविकता को प्रकट करता है उसपर आश्रित रूप और शक्ति है, उसीके द्वारा और अपने अर्थ के सत्य द्वारा, अपने अंदर वह जिस सत्य को वहन करता है उसके द्वारा सत्य है क्योंकि वह वही है, कोई आकस्मिक, निराधार, भ्रांतिमूलक, व्यर्थ में रची हुई आकृति नहीं है। यहांतक कि जो विकृत करता और छिपाता है—जैसे मिथ्यात्व सत्य को विकृत करता और छिपाता है, अशुभ शुभ को विकृत करता और छिपाता है—निश्चेतना के सच्चे परिणाम के रूप में एक कालिक वास्तविकता को रखता है। ये विपरीत आकार अपने-अपने क्षेत्र में वास्तविक होते हुए भी तात्त्विक या मूलगत नहीं बल्कि अभिव्यक्ति के सहायक ही हैं और उसकी क्रिया के कालिक रूप या बल की तरह काम में आते हैं। तो वैश्व सत्ता निरपेक्ष के नाते वास्तविक है, यह उसीकी तो आत्माभिव्यक्ति है और जो कुछ उसमें समाया हुआ है वह वैश्व के नाते वास्तविक है जिसे वह रूप और आकार देता है।

निरपेक्ष अपने-आपको दो अभिधाओं में अभिव्यक्त करता है; एक है सत् और दूसरी संभूति। सत् आधारभूत वास्तविकता है, संभूति कार्यकारी वास्तविकता है : वह सत् की एक क्रियाशील शक्ति और परिणाम, एक सृजनात्मक ऊर्जा और उसका क्रियान्वयन है, निरंतर आग्रही फिर भी परिवर्तनशील रूप, प्रक्रिया, उसके अक्षर, रूपहीन तत्त्व का परिणाम है। अतः वे सभी सिद्धांत जो संभवन को अपने-आपमें पर्याप्त मानते हों अर्द्ध सत्य हैं, जो अपने प्रतिपादन और दर्शन पर ऐकांतिक संकेंद्रण द्वारा, अभिव्यक्ति का जो थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त करते हैं उसके लिये मान्य होते हैं अन्यथा वे केवल इस कारण मान्य हैं कि सत् संभूति से अलग नहीं है बल्कि उसके अंदर उपस्थित है, उससे संघटित, उसके प्रत्येक अत्यणु और उसके

सीमाहीन विस्तार और प्रसार में अंतर्निहित है। संभूति अपने-आपको तभी पूरी तरह से जान सकती है जब वह अपने-आपको सत् के रूप में जाने। संभूति में अंतरात्मा आत्म-ज्ञान और अमरतातक तभी पहुंचती है जब वह परम पुरुष और निरपेक्ष को जान लेती है और अनंत और शाश्वत के स्वरूप को पा लेती है। यही कार्य हमारे अस्तित्व का परम लक्ष्य है क्योंकि यही हमारी सत्ता का सत्य है और इसी कारण इसे हमारे संभवन का अंतर्गत लक्ष्य और आवश्यक परिणाम भी होना चाहिये। हमारी सत्ता का यह सत्य अंतरात्मा के अंदर अभिव्यक्ति की एक आवश्यकता, जड़-भौतिक में एक गुप्त ऊर्जा, प्राण में एक प्रेरणा और प्रवृत्ति, एक कामना और चाह, मन में एक इच्छा, लक्ष्य, उद्यम, प्रयोजन बन जाता है; जो शुरू से ही भीतर गुप्त है उसीको व्यक्त करना विकासशील प्रकृति की छिपी हुई प्रवृत्ति है।

अतः हम उस सत्य को स्वीकार करते हैं जिसपर विश्वातीत निरपेक्ष को माननेवाले दर्शन अपने-आपको आधारित करते हैं। यद्यपि हम मायावाद के अंतिम निष्कर्षों का विरोध करते हैं फिर भी उसे उस मार्ग के रूप में स्वीकार किया जा सकता है जिसे मन के अंदर अंतरात्मा, मनोमय पुरुष को वस्तुओं को आध्यात्मिक-व्यावहारिक अनुभूति में तब देखना होता है जब वह निरपेक्षतक पहुंचने और उसमें प्रवेश करने के लिये अपने-आपको संभूति से अलग कर लेता है। लेकिन साथ ही, चूंकि संभूति वास्तविक है और अनंत तथा शाश्वत की आत्म-शक्ति में अनिवार्य है इसलिये यह भी अस्तित्व का समग्र दर्शन नहीं हो सकता। संभूति में स्थित अंतरात्मा के लिये यह संभव है कि वह अपने-आपको सत् के रूप में जाने और संभूति को अपने अधिकार में रखे, अपने-आपको तत्त्वतः अनंत के रूप में जाने लेकिन साथ ही सांत में आत्माभिव्यक्त अनंत के रूप में जाने, अपने-आपको ऐसे कालातीत शाश्वत की तरह जाने जो अपने-आपको और अपने कार्यों को आधार देनेवाली स्थिति में और काल-शाश्वत की विकसनशील गति में देख रहा है। यह सिद्धि संभूति की पराकाष्ठा है, यह सत्ता की अपनी क्रियाशील वास्तविकता में परिपूर्ति है। तो इसे भी वस्तुओं के समग्र सत्य का अंश होना चाहिये क्योंकि केवल यही विश्व को पूरा आध्यात्मिक अर्थ देता है और अभिव्यक्ति में अंतरात्मा का औचित्य सिद्ध करता है। वस्तुओं की ऐसी व्याख्या, जो वैश्व और व्यष्टिगत अस्तित्व को समस्त सार्थकता से वंचित कर दे, वह पूरी व्याख्या नहीं हो सकती और न ही उसका प्रस्तावित समाधान प्रश्न का एकमात्र सच्चा हल हो सकता है।

हम जो दूसरी स्थापना प्रस्तुत करते हैं वह यह है कि निरपेक्ष की आधारभूत वास्तविकता हमारी आध्यात्मिक दृष्टि के लिये वह सच्चिदानंद है जो विश्वातीत सद्वस्तु है, स्वयंभू है लेकिन साथ ही समस्त अभिव्यक्ति के नीचे फैला हुआ गुप्त सत्य भी है क्योंकि सत् का आधारभूत सत्य निश्चित रूप से संभूति का आधारभूत

सत्य भी होना चाहिये। सब कुछ तत् की अभिव्यक्ति है क्योंकि वह उसमें भी निवास करता है जो उससे विपरीत प्रतीत होता है और उसे प्रकट करने के लिये उसका उनपर जो गुप्त दबाव है वह क्रम-विकास का कारण है। निश्चेतना में वह दबाव अपने अंदर से अपनी गुप्त चेतना को प्रकट करने के लिये, प्रतीयमान असत् पर अपने अंदर गुह्य आध्यात्मिक-सत्ता को प्रकट करने के लिये, जड़ पदार्थ की संवेदनहीन उदासीनता पर सत्ता के विविध आनंद को विकसित करने के लिये हो जो अपनी छोटी-मोटी संज्ञाओं से, अपने सुख-दुःख के विरोधी द्वंद्वों से मुक्त होकर अस्तित्व के सारभूत आनंद, आध्यात्मिक आनंद में विकसित हो जाये।

सत् एक है लेकिन उसका यह एकत्व अनंत है और अपने अंदर अपने अनंत बहुत्व या विविधता को समाये हुए है। वह एक सर्व है; वह केवल सारभूत सत्ता ही नहीं है सर्व सत्ता भी है। एक की अनंत बहुविधता और बहु की शाश्वत एकता ये दोनों उस एकमेव सद्वस्तु की दो वास्तविकताएं या दो पहलू हैं जिनपर अभिव्यक्ति आधारित है। अभिव्यक्ति के इस आधारभूत सत्य के कारण सत् अपने-आपको हमारी वैश्व अनुभूति के आगे तीन स्थितियों में प्रकट करता है: विश्वातीत सत्ता, वैश्व आत्मा और बहु के अंदर व्यष्टिगत आत्मा। लेकिन बहुलता चेतना के आभासी विभाजन की, प्रभावकारी अज्ञान की अनुमति देती है जिसमें बहु, व्यष्टि, शाश्वत स्वयंभू एकत्व के बारे में अभिज्ञ नहीं रहते और उस वैश्व आत्मा के एकत्व को भूल जाते हैं जिसमें और जिसके द्वारा वे जीवित रहते हैं, गति करते हैं और अपनी सत्ता बनाये रखते हैं। लेकिन गुप्त ऐक्य की शक्ति द्वारा संभूतिगत आत्मा स्वयं अपनी अदृश्य वास्तविकता द्वारा और विकसनशील प्रकृति के गुह्य दबाव द्वारा इस अज्ञान की अवस्था में से बाहर आने और अंततः एकमेव दिव्य सत्ता के और उसके साथ अपने ऐक्य के ज्ञान को फिर से पाने और साथ-ही-साथ सभी व्यष्टिगत सत्ताओं और समस्त विश्व के साथ अपने आध्यात्मिक एकत्व को फिर से पा लेने के लिये प्रेरित होती है। उसे न केवल विश्व के अंदर अपने बारे में, बल्कि अपने अंदर विश्व के बारे में और विश्वात्मा के बारे में अपनी महत्तर आत्मा के रूप में अभिज्ञ होना होगा। व्यष्टि को अपने-आपको वैश्व बनाना होगा और उसी गति में अपनी विश्वातीत परात्परता के बारे में अभिज्ञ होना होगा। सद्वस्तु के इस तिहरे स्वरूप को आत्मा और वैश्व अभिव्यक्ति के समग्र सत्य में अंतर्गत कर लेना चाहिये और यह आवश्यकता विकसनशील प्रकृति की प्रक्रिया के अंतिम झुकाव का निश्चय करेगी।

अस्तित्व के बारे में वे सभी दृष्टियां जो परात्परतक नहीं पहुंच पातीं या उसकी अवहेलना करती हैं, सत्ता के सत्य का अपूर्ण विवरण होंगी। भगवान् और विश्व की एकात्मता के बारे में सर्वेश्वरवादी दृष्टि एक सत्य है क्योंकि यह जो कुछ है ब्रह्म ही है। लेकिन जब वह विश्वातीत सद्वस्तुतक नहीं पहुंच पाती या उसे छोड़ देती है

तो पूर्ण सत्य से कम ही रह जाती है। दूसरी ओर ऐसी हर दृष्टि जो केवल विश्व को स्वीकार करती है और व्यष्टि को वैश्व ऊर्जा का गौण उत्पादन मानती है वह जगत्-क्रिया के प्रतीयमान तथ्यात्मक एक पक्ष पर बहुत अधिक जोर देने की भूल करती है। यह केवल प्राकृतिक व्यक्ति के बारे में सच है और यह उसका भी पूरा सत्य नहीं है क्योंकि प्राकृतिक व्यक्ति, प्रकृति-सत्ता वस्तुतः वैश्व ऊर्जा की उपज है लेकिन साथ-ही-साथ अंतरात्मा का प्रकृति-व्यक्तित्व भी है, आंतरिक सत्ता और आंतरिक व्यक्ति का अभिव्यंजक रूपायण है। और यह अंतरात्मा वैश्व आत्मा का कोई मर्त्य कोषाणु या विघटनशील अंश नहीं है, उसकी मौलिक अमर वास्तविकता परात्पर में है। यह एक तथ्य है कि वैश्व सत्ता अपने-आपको व्यष्टिगत सत्ता के द्वारा व्यक्त करती है लेकिन यह भी सच है कि परात्पर वास्तविकता अपने-आपको व्यक्ति की सत्ता और विश्व दोनों के द्वारा प्रकट करती है। अंतरात्मा परम पुरुष का शाश्वत भाग है, प्रकृति का अंश नहीं। लेकिन जो दृष्टि विश्व को केवल व्यक्तिगत चेतना में विद्यमान मानती है वह भी बिल्कुल स्पष्ट रूप से खंडित सत्य होगी। वह आध्यात्मिक व्यक्ति की सार्विकता और समस्त विश्व को अपनी चेतना के आलिंगन में भर लेने की क्षमता के दर्शन के कारण न्याय-संगत ठहरती है लेकिन न तो विश्व और न व्यक्तिगत चेतना अस्तित्व का आधारभूत सत्य है क्योंकि दोनों परात्पर दिव्य पुरुष पर आधारित और उसीके कारण अस्तित्व रखते हैं।

वह दिव्य पुरुष, सच्चिदानंद एक ही साथ वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक है। वह सत् है और सभी सत्यों, बलों, शक्तियों, अस्तित्वों का मूल और आधार है और साथ ही एकमेव परात्पर सचेतन सत्ता और सर्व-पुरुष है और सभी सचेतन सत्ताएं उसकी आत्माएं और व्यक्तित्व हैं क्योंकि वह उनकी उच्चतम आत्मा और अंतर्निवास करनेवाली वैश्व उपस्थिति है। विश्व में अंतरात्मा के लिये यह जरूरी है और इस कारण विकसनशील ऊर्जा और उसके चरम प्रयोजन का झुकाव भी इसी तरफ है कि अपने इस सत्य को जाना और उसके अंदर वर्द्धित हुआ जाये, दिव्य पुरुष के साथ एक हुआ जाये, अपनी प्रकृति को दिव्य प्रकृतितक उठाया जाये, अपने अस्तित्व को दिव्य अस्तित्व में, अपनी चेतना को दिव्य चेतना में, अपनी सत्ता के आनंद को दिव्य सत्ता के आनंद में उठाया जाये और इस सबको अपने संभवन में उतारा जाये, संभवन को उस उच्चतम सत्य की अभिव्यक्ति बनाया जाये, वह संभवन आंतरिक रूप से दिव्य आत्मा और अपने जीवन के स्वामी को प्राप्त करे और साथ ही पूरी तरह उसके वश में रहे और उसकी दिव्य ऊर्जा द्वारा परिचालित रहे और उसके प्रति संपूर्ण आत्म-निवेदन और समर्पण में जीवित रहे और क्रिया करे। इस ओर सत्ता की द्वैतवादी और आस्तिक दृष्टियां भगवान् के शाश्वत, वास्तविक अस्तित्व की और साथ ही आत्मा और दिव्य शक्ति के शाश्वत और वास्तविक अस्तित्व और वैश्व क्रिया की स्थापना करती हैं और पूर्ण अस्तित्व के

सत्य को प्रकट करती हैं; लेकिन अगर उनकी स्थापना ईश्वर और जीव की तात्त्विक एकता से या उनकी पूर्ण एकता की समर्थता से इंकार करती है या प्रेम द्वारा, चेतना के ऐक्य द्वारा, सत्ता के सत्ता के साथ घुलने-मिलने के द्वारा दिव्य एकत्व में जीव के विलय की परम अनुभूति के आधार में जो उपस्थित है उसकी उपेक्षा करती है तो वह स्थापना भी पूर्ण सत्य नहीं हो सकती।

हमारे विश्व में सत् की अभिव्यक्ति ऐसे अंतर्लयन का रूप ले लेती है जो विकास का आरंभ-बिंदु है—जड़ भौतिक सबसे निचला स्तर है और आत्मा है शिखर। अंतर्लयन के अवरोहण में अभिव्यक्त सत्ता के सात तत्त्व, अभिव्यक्त होती हुई चेतना के सात क्रम पहचाने जा सकते हैं जिनका हम दर्शन या जिनकी यहां उपस्थिति और अंतर्विद्यमानता की ठोस अनुभूति या एक प्रतिबिंबित अनुभूति हम कर सकते हैं। इनमें से पहले तीन आद्य और आधारभूत तत्त्व हैं और वे चेतना की ऐसी वैश्व स्थितियां होते हैं जहां हम आरोहण कर सकते हैं। जब हम ऐसा करते हैं तो हम आध्यात्मिक सद्वस्तु की आधारभूत अभिव्यक्ति के या उसके आत्म-रूपायण के श्रेष्ठ स्तरों या परम धामों से अभिज्ञ हो सकते हैं जहां दिव्य सत्ता, दिव्य चेतना की शक्ति और अस्तित्व के दिव्य आनंद के उल्लास के एकत्व को आगे रखा जाता है—यहां की तरह छिपा हुआ या छद्मवेश में नहीं क्योंकि हम उन्हें उनकी पूर्ण स्वतंत्र वास्तविकता में धारण कर सकते हैं। अतिमानसिक ऋत चेतना का एक चौथा तत्त्व उनके साथ संबद्ध होता है जो अनंत बहुत्व में एकत्व को अभिव्यक्त करता है, यह अनंत के आत्म-निर्देशन की विशिष्ट शक्ति है। परम सच्चिदानंद की यह चतुर्विध शक्ति आध्यात्म पुरुष के शाश्वत आत्म-ज्ञान पर आधारित अभिव्यक्ति के अपरार्द्ध का गठन करती है। अगर हम इन तत्त्वों में या सत्ता के ऐसे किसी भी लोक में प्रवेश करें जहां सद्वस्तु की शुद्ध उपस्थिति है तो हम देखते हैं कि वहां पूर्ण स्वाधीनता और ज्ञान है। सत्ता के अन्य तीन लोक या शक्तियां, जिनके बारे में हम अब भी अभिज्ञ हैं, अभिव्यक्ति के निम्न गोलार्द्ध का गठन करती हैं, यह है मन, प्राण और जड़ का गोलार्द्ध; ये अपने-आपमें श्रेष्ठतर तत्त्वों की शक्तियां हैं लेकिन जहां कहीं वे अपने आध्यात्मिक स्रोतों से अलग होकर प्रकट होती हैं वहां परिणाम-स्वरूप उनके सच्चे अविभक्त अस्तित्व के स्थान पर विभक्त में आभासी च्युति हो जाती है। यह स्खलन, यह विभाजन सीमित ज्ञान की स्थिति पैदा करता है जो ऐकांतिक रूप से अपनी सीमित जगत्-व्यवस्था पर केंद्रित होता है और जो कुछ उसके पीछे है, उसके नीचे जो ऐक्य है उसे विस्मृत किये रहता है, इसलिये यह वैश्व और व्यक्तिगत अज्ञान की अवस्था है।

भौतिक लोक में अवतरण में, हमारा स्वाभाविक जीवन जिसकी उपज है, स्खलन की पराकाष्ठा होती है संपूर्ण निश्चेतना में, जिसमें से अंतर्ग्रस्त सत्ता और चेतना को क्रमशः विकास द्वारा उभरना होता है। यह अनिवार्य विकास पहले-

पहल, जैसा कि उसे विकसित होना ही चाहिये, जड़-भौतिक और भौतिक विश्व को उभारता है। जड़ में प्राण और जीवित भौतिक सत्ताएं प्रकट होती हैं। प्राण में मन और सशरीर विचारशील प्राणी अभिव्यक्त होता है, मन में, जड़तत्त्व के रूपों में सदा अपनी शक्तियों और क्रियाओं को बढ़ाते हुए, अतिमानस या ऋत-चित् अनिवार्य रूप से प्रकट होगा—निश्चेतना के अंदर जो समाया हुआ है उसकी शक्ति से और प्रकृति में उसे अभिव्यक्त करने की आवश्यकता के कारण प्रकट होगा। प्रकट होता हुआ अतिमानस आत्मा के आत्म-ज्ञान और सर्वज्ञान को एक अतिमानसिक सजीव सत्ता में अभिव्यक्त करता है और उसी विधान के अनुसार, एक अंतर्निहित आवश्यकता और अनिवार्यता के परिणाम-स्वरूप उसे यहां दिव्य सच्चिदानंद की सक्रिय अभिव्यक्ति भी लानी चाहिये। पार्थिव विकास की योजना और व्यवस्था की यही सार्थकता है। यही आवश्यकता है जिसे उसके सभी चरणों और क्रमों का, उसके तत्त्व और प्रक्रिया का निर्धारण करना चाहिये। मन, प्राण और जड़-तत्त्व विकास की उपलब्ध शक्तियां हैं जिनके साथ हम भली-भांति परिचित हैं। अतिमानस और सच्चिदानन्द की त्रिपुटी वे गुप्त तत्त्व हैं जिन्हें अभीतक सामने नहीं लाया गया है और उन्हें अभी अभिव्यक्ति के रूपों में चरितार्थ करना है। हम उन्हें केवल संकेतों और एक आंशिक तथा खंडित क्रिया के द्वारा ही जानते हैं जो अभीतक निम्न क्रिया से अलग नहीं हुई है और इस कारण आसानी से पहचानी नहीं जा सकती है। लेकिन उनका विकास भी संभूति में आत्मा की नियति का एक भाग है, पृथ्वी-जीवन और जड़-पदार्थ में केवल मन की ही नहीं बल्कि उससे ऊपर जो कुछ है सबकी उपलब्धि होनी चाहिये, उन्हें यहां सक्रिय होना चाहिये—उन सबकी जो वस्तुतः उतर तो चुके हैं पर अभीतक पृथ्वी-जीवन और जड़-पदार्थ में छिपे हैं।

हमारा पूर्ण ज्ञान का सिद्धांत मन को सत् के एक सृजनात्मक तत्त्व और उसकी एक शक्ति के रूप में मानता है और उसे अभिव्यक्ति में अपना स्थान देता है। इसी तरह वह प्राण और जड़ को पुरुष की शक्तियां मानता और उनमें भी सृजनात्मक ऊर्जा को स्वीकार करता है। लेकिन वस्तुओं के बारे में वह दृष्टि जो मन को एकमात्र या परम सृजनात्मक तत्त्व बना देती है और वे दर्शन जो प्राण या जड़ को एकमात्र वास्तविकता या प्रधानता देते हैं, वे अर्द्ध सत्य के प्रकटन हैं, पूर्ण ज्ञान के नहीं। यह सच है कि जब जड़ का प्रथम उद्भव होता है तो वही प्रमुख तत्त्व बन जाता है। अपने क्षेत्र में वही सभी चीजों का आधार, सभी चीजों का उपादान, सभी चीजों का अंत प्रतीत होता है और होता भी है। लेकिन यह पाया गया है कि स्वयं जड़ किसी ऐसी चीज का परिणाम है जो जड़ नहीं है, एक ऊर्जा का परिणाम है और यह ऊर्जा कोई स्वयंभू या शून्य में कार्य करनेवाली चीज नहीं हो सकती। अगर गहराई से जांच की जाये तो हो सकता है कि वह एक गुप्त

चेतना और सत् का कार्य निकले; जब आध्यात्मिक ज्ञान और अनुभव उभरते हैं तो यह निश्चित हो जाता है—यह दिखायी देता है कि जड़ में सृजनात्मक ऊर्जा आत्मा की शक्ति की गति है। जड़ स्वयं आद्य और अंतिम सद्वस्तु नहीं हो सकता। साथ ही वह दृष्टि भी अमान्य है जो आत्मा और जड़-तत्त्व का संबंध-विच्छेद करके उन्हें विरोधी बना कर खड़ा करती है। जड़ आत्मा का एक रूप है, आत्मा का प्रासाद है और यहां स्वयं जड़ के अंदर आत्मा की उपलब्धि हो सकती है।

और फिर यह सच है कि जब प्राण उभरता है तो वह प्रमुख बन जाता है और जड़ को अपनी अभिव्यक्ति के लिये एक यंत्र के रूप में बदल देता है और ऐसा दीखने लगता है मानों वही गुप्त मौलिक तत्त्व है जो सृष्टि में फूट पड़ता है और अपने-आपको जड़ के रूपों में छिपा लेता है। इस प्रतीति में एक सत्य है और इस सत्य को पूर्ण ज्ञान के एक भाग के रूप में स्वीकारना होगा। यद्यपि प्राण आद्य सद्वस्तु नहीं है फिर भी वह उसका एक रूप और एक शक्ति है जिसे यहां जड़ में सृजनात्मक आवेग के रूप में नियुक्त किया गया है। अतः हमें प्राण को अपनी क्रियाशीलता के साधन के रूप में और ऐसे गतिशील सांचे के रूप में स्वीकार करना होगा जिसमें हमें यहां दिव्य सत्ता को ढालना होगा लेकिन उसे इस रूप में केवल इसी कारण स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि वह एक ऐसी दिव्य ऊर्जा का रूप है जो अपने-आप प्राण-शक्ति से ज्यादा बड़ी है। प्राण-तत्त्व वस्तुओं का पूरा आधार और उद्गम नहीं है, उसकी सृजनात्मक क्रियाएं तबतक पूर्ण और सर्वश्रेष्ठ रूप से परिपूरित नहीं हो सकतीं, यहांतक कि अपनी सच्ची गति को भी नहीं पा सकतीं जबतक कि वह अपने-आपको दिव्य सत्ता की ऊर्जा के रूप में न जान ले और अपनी क्रिया को उच्चतर प्रकृति की धारा की स्वतंत्र वाहिनी के रूप में ज्यादा ऊंचा और ज्यादा सूक्ष्म न बना ले।

और अपनी बारी में जब मन उभरता है तो वह प्रमुख बन जाता है; वह प्राण और जड़-तत्त्व को अपने प्रकटन के साधन के रूप में काम में लाता है, ये उसकी अपनी वृद्धि और प्रभु-सत्ता के लिये क्षेत्र होते हैं और वह इस तरह काम करना शुरू करता है मानों वही सच्ची सद्वस्तु हो, और जैसे वह विश्व का साक्षी है वैसे ही उसका स्रष्टा भी हो। लेकिन मन भी सीमित और व्युत्पन्न शक्ति है, यह अधिमानस की उपज है या दिव्य अतिमानस द्वारा यहां फेंकी हुई प्रकाशमान छाया है। वह अपनी पूर्णतातक तभी पहुंच सकता है जब वह अपने अंदर एक बृहत्तर ज्ञान के प्रकाश को प्रवेश करने दे। उसे अपनी अज्ञान-भरी, अपूर्ण और टकराती हुई शक्तियों और मूल्यों को दिव्य रूप से प्रभावकारी क्षमताओं और अतिमानसिक ऋत-चित् के सामंजस्यपूर्ण मूल्यों में रूपांतरित करना होगा। निचले गोलार्द्ध की सभी शक्तियां, अपनी अज्ञान की रचनाओं के साथ, अपने सच्चे स्व को उस प्रकाश द्वारा रूपांतरण में ही पा सकतीं हैं जो शाश्वत आत्म-ज्ञान के उच्चतर गोलार्द्ध से हम पर उतरता है।

सत्ता की ये तीनों निम्नतर शक्तियां निश्चेतन के आधार पर निर्माण करती हैं और ऐसा लगता है कि उनका उद्गम वही है और उसीसे सहारा पाती हैं। निश्चेतना का काला ड्रेगन (सर्प-नक्र) अपने विशाल पंखों और अंधकार की अपनी पीठ द्वारा जड़-विश्व के सारे ढांचे को सहारा देता है, उसकी ऊर्जाएं वस्तुओं के प्रवाह को खोल देती हैं, उसके अंधेरे अस्पष्ट संकेत स्वयं चेतना के आरंभ-बिंदु और समस्त जीवन-आवेग के उत्स मालूम होते हैं। इस उद्गम और प्रधानता के परिणामस्वरूप अब एक ऐसी विचार-धारा है जो निश्चेतना को सच्चा उद्गम और स्रष्टा मानती है। वस्तुतः यह तो स्वीकार करना होगा कि एक निश्चेतन-शक्ति, एक निश्चेतन-पदार्थ ही विकास-क्रम का आरंभ-बिंदु है लेकिन विकास में कोई निश्चेतन-सत्ता नहीं बल्कि एक सचेतन आत्मा उभर रही है। सत्ता की उच्चतर और अधिक उच्चतर शक्तियों का एक अनुक्रम निश्चेतना और उसके प्राथमिक कार्यों में भेदन करता है और उन्हें चेतना के अधीन बनाता है ताकि विकास में उसकी बाधाएं, उसके प्रतिबंध के चक्र धीरे-धीरे टूटते जाएं, सूर्यदेव के शर उसके अंधकार के अजगरी कुंडलों को बेध दें ताकि इस तरह से हमारे जड़-पदार्थ की सीमाएं घटती जाएं, यहांतक कि उनका अतिक्रमण किया जा सके और मन, प्राण तथा शरीर, उनपर दिव्य चेतना, शक्ति और आत्मा के बृहत्तर विधानों के शासन द्वारा रूपांतरित हो सकें। पूर्ण ज्ञान अस्तित्व की सभी दृष्टियों के वैध सत्यों को स्वीकार करता है। ये सत्य अपने क्षेत्र में वैध हैं लेकिन वह ज्ञान उनकी सीमाओं और नकारों से छुटकारा पाना चाहता और इन आंशिक सत्यों की एक ज्यादा बड़े सत्य में संगति बिठाना और उन्हें सामंजस्य में लाना चाहता है जो हमारी सत्ता के सभी विविध पक्षों को एक सर्वव्यापक अस्तित्व में परिपूरित करता है।

इस जगह हमें एक और कदम आगे बढ़ाना होगा और हमने जिस तत्त्वज्ञानात्मक सत्य की बात कही है उसे केवल अपने विचार और आंतरिक गतिविधि के रूप में ही नहीं बल्कि हमारी जीवन-दिशा के भी निर्धारक रूप में, अपने निजी अनुभव और जगत्-अनुभव के सक्रिय समाधान के निर्देशक के रूप में देखना शुरू करना होगा। हमारे तात्त्विक ज्ञान को, विश्व के आधारभूत सत्य के बारे में और अस्तित्व के अर्थ के बारे में हमारी दृष्टि को स्वभावतः जीवन के बारे में हमारी समस्त धारणा और वृत्ति का निर्धारक होना चाहिये। हम जीवन के लक्ष्य की जो कल्पना करते हैं वह इसी आधार पर गढ़ा जाना चाहिये। तत्त्व-दर्शन सत्ता की आधारभूत वास्तविकताओं और तत्त्वों को निश्चित करने का प्रयास है, वह उसकी प्रक्रियाओं और उन प्रक्रियाओं के परिणाम-स्वरूप तथ्यों से अलग है। लेकिन प्रक्रियाएं आधारभूत वास्तविकताओं पर आश्रित होती हैं। हमारे अपने जीवन की प्रक्रिया, उसके लक्ष्य और पद्धति को, हम सत्ता का जो सत्य देखते हैं उसके अनुकूल होना चाहिये अन्यथा हमारा तत्त्वज्ञानात्मक सत्य बुद्धि का ऐसा खेल

हो हो सकता है जिसका कोई क्रियात्मक महत्त्व नहीं है। यह सच है कि बुद्धि को जीवन-उपयोगिता के बारे में पूर्व-कल्पित विचारों के अवैध हस्तक्षेप के बिना सत्य की स्वयं उसके लिये खोज करनी चाहिये। फिर भी जिस सत्य को एक बार खोज लिया जाये तो वह ऐसा होना चाहिये जिसे आंतरिक सत्ता में और बाहरी क्रियाओं में प्राप्त किया जा सके। अगर ऐसा न हो सके तो उसका बौद्धिक महत्त्व भले हो, समग्र महत्त्व नहीं हो सकता; वह बुद्धि के लिये सत्य होगा लेकिन हमारे जीवन के लिये विचार-पहेली के समाधान या अमूर्त अवास्तविकता या मृत अक्षर से बढ़कर कुछ न होगा। सत्ता के सत्य को जीवन के सत्य पर शासन करना चाहिये। यह नहीं हो सकता कि इन दोनों में कोई संबंध या अन्योन्याश्रय न हो। हमारे लिये जीवन का उच्चतर अर्थ, सत्ता का आधारभूत सत्य होना चाहिये हमारे अपने जीवन का स्वीकृत अर्थ, हमारा लक्ष्य, हमारा आदर्श।

मोटे तौर पर, इस दृष्टिकोण से चार मुख्य सिद्धांत या सिद्धांतों की श्रेणियां हैं जिनके अनुरूप मानसिक वृत्तियां और आदर्श हैं जो अस्तित्व के सत्य की चार विभिन्न धारणाओं से मेल खाते हैं। इन्हें हम विश्वातीत, वैश्व और पार्थिव, अतिपार्थिव या पारलौकिक और पूर्ण या समन्वयात्मक या मिश्रित कह सकते हैं, ऐसे सिद्धांत जो तीन तत्त्वों में या उनमें से किन्हीं दो में मेल बिठाने की कोशिश करते हैं जिन्हें बाकी दृष्टियां अलग कर देती हैं। जीवन के बारे में हमारा दर्शन इस अंतिम श्रेणी में आयेगा जिसमें यहां का जीवन एक संभूति है, जिसका मूल और उद्देश्य है दिव्य पुरुष। यह एक उत्तरोत्तर अभिव्यक्ति, एक आध्यात्मिक विकास है जिसका स्रोत और अवलम्ब है विश्वातीत और पारलौकिकता है एक स्थिति और जोड़नेवाली कड़ी, विश्व और इहलोक उसका क्षेत्र, मानव मन और प्राण उच्चतर और उच्चतम पूर्णता की ओर मुक्ति के लिये उसकी ग्रंथि और मोड़ हैं। अतः हमें पहले इस पर नजर डालनी चाहिये कि पहले तीन सिद्धांत कहां पर जीवन के बारे में समाकलन करनेवाले दर्शन से अलग होते हैं और वे जिन सत्यों पर खड़े हैं वे उसके ढांचे में कहांतक ठीक बैठते हैं।

वस्तुओं की विश्वातीत दृष्टि में केवल परम सद्वस्तु ही पूरी तरह वास्तविक है। वस्तुओं को इस तरह देखने का एक विशिष्ट मोड़ है एक भ्रामकता, वैश्व-जीवन और व्यष्टिगत सत्ता की व्यर्थता का भाव; लेकिन यह आवश्यक नहीं है, उसकी मुख्य विचारधारा का अनिवार्य पुछल्ला नहीं है। इसके जगत्-दर्शन के चरम रूपों में मानव सत्ता का कोई वास्तविक अर्थ नहीं होता। वह आत्मा की भूल या जीने की इच्छा का प्रलाप, कोई ऐसी भ्रांति या अज्ञान है जो किसी तरह निरपेक्ष सद्वस्तु पर छा जाता है। एकमात्र सच्चा सत्य है विश्वातीत या हर हालत में निरपेक्ष, परब्रह्म ही सारे जीवन का उद्गम और लक्ष्य है, बाकी सब एक ऐसा विष्कम्भक है जिसका कोई स्थायी अर्थ नहीं है। अगर ऐसा है तो इसका अर्थ यह होगा कि एकमात्र

करने लायक चीज, हमारी सत्ता के लिये एकमात्र बुद्धिमत्तापूर्ण और आवश्यक तरीका बस यही है कि समस्त जीवन से, चाहे वह पार्थिव हो या स्वर्गिक, अलग हो जाया जाये—और जितनी जल्दी हो हमारा आंतरिक विकास या आत्मा का कोई गुप्त विधान इसे संभव बना दे। यह सच है कि भ्रम अपने लिये वास्तविक है, व्यर्थता प्रयोजनभरी होने का ढोंग करती है; उसके विधान और तथ्य—जो केवल तथ्य हैं सत्य नहीं—व्यावहारिक हैं वास्तविकताएं नहीं और जबतक हम भ्रांति में रहें तभीतक वे हमारे लिये बाध्यकारी हैं। लेकिन वास्तविक ज्ञान के किसी भी दृष्टिबिंदु से, वस्तुओं के सच्चे सत्य की किसी भी दृष्टि से यह सारा आत्म-संभ्रम वैश्व पागलखाने के नियमों से कुछ ही अलग होगा। जबतक हम पागल हैं और हमें पागलखाने में रहना पड़ता है तबतक हम जबर्दस्ती वहां के नियमों के अधीन हैं और हमें अपने स्वभाव के अनुसार उनका अच्छे-से-अच्छा या बुरे-से-बुरा उपयोग करना होगा लेकिन हमेशा उचित लक्ष्य यह रहे कि हम अपने पागलपन से मुक्ति पा लें और वहां से प्रकाश, सत्य और स्वाधीनता में प्रवेश करें। इस तर्क की कठोरता में चाहे जो ढील दी जाये, उस समय विशेष के लिये जीवन और व्यक्तित्व को सार्थक बनाने के लिये चाहे जो छूट दी जाये फिर भी जीवन के इस दृष्टिकोण से ऐसा हर नियम जीवन का सच्चा नियम होगा जो जल्दी-से-जल्दी आत्मज्ञान की ओर लौटने में हमारी मदद कर सके और हमें सीधा निर्वाण के मार्ग की ओर ले जाये। सच्चा आदर्श होना चाहिये व्यष्टि और वैश्व का समापन, निरपेक्ष में आत्म-विलोपन। बौद्धों ने निर्भीकता और स्पष्टता से आत्म-निर्वापण के जिस आदर्श की घोषणा की वह वैदान्तिक विचार में आत्म-प्राप्ति है। लेकिन निरपेक्ष में अपनी सच्ची सत्ता की वृद्धि द्वारा व्यक्ति को आत्म-प्राप्ति तभी संभव हो सकती है जब दोनों ही आपस में संबंध रखनेवाली वास्तविकताएं हों। आत्म-प्राप्ति की यह बात तब नहीं लागू होगी अगर निरपेक्ष का अंतिम जगत्-विनाशी आत्म-प्रतिष्ठापन अवास्तविक या कालावच्छिन्न में मिथ्या व्यक्तिगत सत्ता के विलोप द्वारा, उस व्यक्तिगत चेतना के लिये सारे वैयक्तिक और वैश्व के विनाश द्वारा हो—चाहे ये भ्रांतियां निरपेक्ष की अनुमति से अज्ञान जगत् में असहाय रूप से अनिवार्य होकर, विश्वव्यापी, शाश्वत और अविनाशी अविद्या में चलती रहें।

लेकिन जीवन की पूरी व्यर्थता का यह विचार जीवन की विश्वातीत परिकल्पना का अनिवार्य परिणाम नहीं है। उपनिषदों के वेदांत में ब्रह्म की सम्भूति को वास्तविकता के रूप में स्वीकार किया जाता है अतः संभूति के सत्य के लिये स्थान है, उस सत्य में जीवन का एक समुचित विधान है, हमारी सत्ता के सुखवादी तत्त्व की एक अनुमेय संतुष्टि, उसके कालिक जीवन का आनंद, उसकी व्यावहारिक ऊर्जा का प्रभावकारी उपयोग, उसके अंदर की चेतना की कार्यकारी शक्ति है। लेकिन एक बार उसकी कालिक संभूति का सत्य और विधान परिपूर्ण हो जाये तो आत्मा

को अपनी परम आत्म-सिद्धि की ओर मुड़ना पड़ता है। क्योंकि उसकी स्वाभाविक उच्चतम परिपूर्ति है : एक छुटकारे में, अपने आद्य सत् के अंदर, अपनी शाश्वत आत्मा, अपनी कालातीत वास्तविकता में मुक्ति। संभूति का एक चक्र है जो शाश्वत सत् से शुरू होता और उसी में समाप्त होता है या परम पुरुष की दृष्टि से व्यक्तिक या अतिव्यक्तिक सद्वस्तु से शुरू और समाप्त होता है, विश्व में एक अस्थायी लीला, संभूति और जीने की क्रीड़ा है। स्पष्ट है कि यहां जीवन की इसके सिवा और कोई सार्थकता नहीं है कि वह सत् की संभूति के लिये इच्छा, चेतना की इच्छा और उसकी शक्ति की संभूति की ओर अंतःप्रेरणा, उसकी संभूति का आनंद है क्योंकि व्यक्ति के लिये—अगर यह चीज उससे हाथ खींच ले या उसमें परिपूर्ण हो जाये और आगे सक्रिय न रहे—तो संभूति समाप्त हो जाती है अन्यथा विश्व तो बना रहता है या हमेशा अभिव्यक्ति में वापस आ जाता है क्योंकि संभूति की इच्छा शाश्वत है और होनी भी चाहिये क्योंकि वह शाश्वत सत् की नैसर्गिक इच्छा है। यह कहा जा सकता है कि चीजों के बारे में इस दृष्टि के अंदर एक दोष है, व्यक्ति की किसी आधारभूत वास्तविकता का अभाव, उसकी स्वाभाविक या आध्यात्मिक क्रियाशीलता के स्थायी मूल्य और सार्थकता का अभाव; लेकिन उत्तर में कहा जा सकता है कि स्थायी व्यक्तिगत अर्थ के लिये यह मांग, व्यक्तिगत शाश्वतता के लिये यह मांग हमारी अज्ञानभरी सतही चेतना की भ्रांति है। व्यष्टि सत् की एक अस्थायी संभूति है और यह एक सर्वथा पर्याप्त मूल्य और सार्थकता है। साथ में यह भी कहा जा सकता है कि शुद्ध या निरपेक्ष सत् में कोई मूल्य या सार्थकताएं नहीं हो सकतीं : विश्व में मूल्य हैं और हैं भी अनिवार्य लेकिन हैं केवल अस्थायी और सापेक्ष रचनाएं। काल-संरचना में कोई निरपेक्ष मूल्य नहीं हो सकते, कोई शाश्वत और स्वयंभू सार्थकता नहीं हो सकती। यह काफी निर्णायक बात मालूम होती है और ऐसा लगता है कि इस विषय में और अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। लेकिन फिर भी प्रश्न बना रहता है क्योंकि हमारी व्यक्तिगत सत्ता पर जो बल दिया जाता है, उससे जो मांग की जाती है, व्यक्तिगत पूर्णता और मुक्ति को जो मूल्य दिया जाता है वह इतना अधिक है कि उसे गौण क्रिया का साधन मानकर, विश्व में शाश्वत की संभूति के विशाल चक्रों के बीच नगण्य कुण्डली का कुण्डलन और विकुण्डलन कहकर विदा नहीं किया जा सकता।

इसके बाद हम जिस वैश्व पार्थिव दृष्टि को ले सकते हैं वह विश्वातीत से ठीक उल्टी है। वह वैश्व अस्तित्व को वास्तविक मानती, और भी आगे जाती है और उसे एकमात्र सद्वस्तु स्वीकार करती है। सामान्यतः उसकी दृष्टि जड़-भौतिक विश्व में जीवनतक ही सीमित रहती है। भगवान्, यदि भगवान् का अस्तित्व है, तो वह एक शाश्वत सम्भूति है और अगर भगवान् का अस्तित्व नहीं है तो प्रकृति—प्रकृति के बारे में हम जो भी दृष्टि बनायें, चाहे हम उसे जड़-पदार्थ के साथ शक्ति की लीला

मानें या एक महान् वैश्व प्राण या प्राण और जड़-पदार्थ में वैश्व निर्वैयक्तिक मन के रूप में स्वीकार करें—एक नित्य संभूति है। पृथ्वी क्षेत्र है या अस्थायी क्षेत्रों में से एक है। मनुष्य संभूति का उच्चतम संभव रूप है या अस्थायी रूपों में से केवल एक है। व्यक्तिगत रूप से मनुष्य सब मिलाकर मर्त्य हो सकता है, हो सकता है कि मानव जाति भी धरती के जीवन में एक छोटी-सी अवधि के लिये ही रहे, स्वयं धरती सौर-मंडल में अपेक्षाकृत लम्बी अवधितक जीवन बनाये रखे, स्वयं वह सौर-मंडल भी एक दिन समाप्त हो जाये या कम-से-कम संभूति के अंदर सक्रिय और उत्पादक तत्त्व होना बंद कर दे, हम जिस विश्व में जीते हैं वह भी विघटित हो जाये या फिर से ऊर्जा की बीज-स्थिति में संकुचित हो जाये, परंतु संभूति का तत्त्व शाश्वत है—या कम-से-कम उतना शाश्वत है जितना अस्तित्व की अंधकारभरी अस्पष्टता में हो सकता है। वस्तुतः यह मानना संभव है कि काल में मानव-व्यक्ति चैत्य सत्ता के रूप में बना रहता है, यह अविच्छिन्न पार्थिव या वैश्व आत्मानुप्रवेश या पुनर्जन्म चलता रहता पर इस जीवन के बाद कोई और जीवन या अन्यत्र जीवन नहीं होगा। ऐसी हालत में इस अन्तहीन संभूति का लक्ष्य विश्व में कहीं निरंतर बढ़नेवाली पूर्णता के आदर्श को या पूर्णता की ओर गमन या चिर आनंद की ओर प्रगति के आदर्श को माना जा सकता है लेकिन अत्यधिक पार्थिव दृष्टि से यह बात मुश्किल से ही युक्तियुक्त मानी जा सकती है। मानव विचार के कुछ अनुयायी इस दिशा में गये तो हैं लेकिन उन्होंने कोई ठोस रूप नहीं लिया। संभूति में चिरस्थायी होने का भाव सामान्यतः एक अधिक बड़ी अतिपार्थिव सत्ता की मान्यता के साथ जुड़ा रहा है।

जिस सामान्य दृष्टि में पार्थिव जीवन ही एकमात्र जीवन है या भौतिक विश्व में सीमाबद्ध क्षणिक पथ है—क्योंकि संभवतः अन्य ग्रहों में भी विचारशील जीवित प्राणी हो सकते हैं—उसके लिये मनुष्य की मर्त्यता को स्वीकार करना और उसे निष्क्रिय रूप से सहना या सीमित व्यक्तिगत या सामूहिक जीवन और जीवन के लक्ष्यों के साथ सक्रिय रूप से सम्बन्ध रखना एकमात्र संभव चुनाव है। व्यक्तिगत मानव सत्ता के लिये एकमात्र उच्च और न्यायसंगत मार्ग यही है—अगर वह वस्तुतः अपने निजी प्रयोजन साधने या किसी तरह तबतक जीते रहने से संतुष्ट न हो जबतक जीवन उसमें से निकल न जाये—कि वह संभूति के नियमों का अध्ययन करे और उनका पूरा लाभ उठाते हुए बौद्धिक रूप में, अंतर्भासात्मक रूप में, आंतरिक रूप में या जीवन की सक्रियता में उस संभूति की संभावनाओं को अपने अंदर या उस जाति में या उस जाति के लिये, जिसका वह सदस्य है, चरितार्थ करे। उसका काम है उन तथ्यों का, जिनका अस्तित्व है, पूरा लाभ उठाना और उच्चतम संभावनाएं जो यहां विकसित हो सकती हैं या तैयार हो रही हैं उनको पकड़ना या उनकी ओर बढ़ना। सारी मानवजाति मिलकर ही इसे पूरे प्रभावकारी ढंग से, कालगति में, जातीय अनुभव के विकास में, व्यक्तिगत और सामुदायिक कार्य-राशि द्वारा कर

सकती है। लेकिन व्यक्तिगत मानव अपनी सीमाओं में रहते हुए इस दिशा में सहायता कर सकता है, इन सब चीजों को अपने लिये कुछ हदतक, उसे दी गयी जीवन की संक्षिप्त अवधि में कर सकता है। लेकिन, विशेष रूप से उसके विचार और उसकी क्रियाएं वर्तमान बौद्धिक, नैतिक और प्राणिक कल्याण और जाति की भावी प्रगति की ओर योगदान दे सकती हैं। वह सत्ता की एक उदात्तता के लिये समर्थ है। उसकी अनिवार्य और शीघ्र व्यक्तिगत समाप्ति को स्वीकार कर लेना उसे उसके अंदर विकसित इच्छा-शक्ति और विचार के उच्च उपयोग से नहीं रोकता या उन्हें उन महान् उद्देश्यों की ओर निर्देशित करने से नहीं रोकता जिन उद्देश्यों को मानव जाति कार्यान्वित करेगी या कर सकती है। मानव जाति की समष्टि-सत्ता की अस्थायिता का भी—अस्तित्वसंबंधी अत्यंत जड़वादी दर्शन को छोड़कर—इतना अधिक महत्त्व नहीं है क्योंकि जबतक वैश्व संभूति मानव शरीर, मन का रूप लिये रहती है तबतक मानव प्राणी के अंदर विकसित विचार, इच्छा-शक्ति अपने-आपको चरितार्थ करती रहेगी और बुद्धिमत्ता के साथ उसका अनुसरण ही मानव जीवन का स्वाभाविक और सर्वोत्तम नियम है। मानव जाति और उसका कल्याण और उसकी प्रगति, जबतक मानव जाति पृथ्वी पर टिकी है, हमारी सत्ता के पार्थिव लक्ष्य के लिये विशालतम क्षेत्र और स्वाभाविक सीमाएं हैं। जाति के श्रेष्ठतम स्थायित्व और सामूहिक जीवन की विशालता और उसके महत्त्व को हमारे आदर्शों के स्वभाव और क्षेत्र का निर्धारण करना चाहिये। लेकिन अगर मानव जाति की प्रगति और उसके कल्याण को यह कहकर अलग कर दिया जाये कि यह हमारा काम नहीं है या यह भ्रम है तो भी व्यक्ति बना रहेगा, तब उसकी यथासंभव अधिक-से-अधिक पूर्णता प्राप्त करना या उसकी प्रकृति की जो भी मांग हो उसके अनुरूप उसके जीवन का अच्छे-से-अच्छा उपयोग ही जीवन की सार्थकता होगा।

अतिपार्थिव दृष्टि भौतिक विश्व की वास्तविकता को मानती है और धरती और मानव जीवन की अस्थायी अवधि को वह पहला तथ्य मानती है जिससे हमें आरंभ करना है। लेकिन वह इसमें अस्तित्व के अन्य लोकों या स्तरों का दर्शन भी जोड़ देती है जिनकी अवधि शाश्वत या कम-से-कम अधिक स्थायी होती है। वह मनुष्य के शारीरिक जीवन की मर्त्यताके पीछे उसके अंदर की आत्मा की अमरता देखती है। जीवन की इस धारणा का आधार शब्द है अमरता में विश्वास, शरीर से अलग व्यष्टिगत आत्मा की शाश्वत स्थिति। यह अपने-आपमें जड़ या पार्थिव लोकों से भिन्न, सत्ता के उच्चतर लोकों के अस्तित्व पर उसके दूसरे विश्वास को जरूरी बना देता है क्योंकि ऐसे जगत् में जहां हर क्रिया जड़ भौतिक के रूपों में या उनके साथ आध्यात्मिक, मानसिक, प्राणिक या भौतिक शक्ति के किसी खेल पर आश्रित होती है वहां शरीर के बंधनों से मुक्त आत्मा के लिये कोई चिरस्थायी स्थान नहीं हो सकता। वस्तुओं के बारे में इस दृष्टि से यह विचार उठता है कि मनुष्य का सच्चा

घर तो परे है और पार्थिव जीवन किसी-न-किसी रूप में उसकी अमरता की एक घटना या स्वर्गिक और आध्यात्मिक जीवन में से जड़ जीवन में व्यतिक्रम है।

तब फिर इस व्यतिक्रम का स्वरूप, मूल और अंत क्या है? पहले तो कुछ धर्मों का यह भाव है—जो लम्बे समय से चला आ रहा है परंतु अब बहुत कुछ हिल गया या अमान्य हो गया है—कि मनुष्य एक ऐसी सत्ता है जिसका सृजन पृथ्वी पर प्रथमतः एक भौतिक सजीव शरीर के रूप में किया गया है जिसमें या तो एक नवजात दिव्य आत्मा को फूंक दिया गया है या जिसे एक सर्वशक्तिमय स्रष्टा की आज्ञा से उसके साथ जोड़ दिया गया है। यह जीवन उसका एकाकी प्रसंग है, यह जीवन उसका एकमात्र अवसर है जिसमें से वह शाश्वत आनंद के लोक को सिधारता है या फिर शाश्वत दुःख के लोक को; यह इसके अनुसार होता है कि उसके कर्मों का जोड़ साधारण या मुख्य रूप से शुभ है या अशुभ या फिर वह किसी मत विशेष, पूजाविधि, दिव्य मध्यस्थ को जानता या उसकी अवहेलना करता, उसे स्वीकार करता या अस्वीकार करता है या फिर स्रष्टा की पूर्वनियतकारी मनमानी सनक के अनुसार होता है। परंतु यह जीवन की पारलौकिक कल्पना है जो अपने कम-से-कम युक्तिसंगत रूप में संदिग्ध मत या सिद्धांत है। अगर हम इस विचार को अपना आरंभ-बिंदु बनाकर चलें कि भौतिक जन्म से ही आत्मा का सृजन होता है तब भी हम यह मान सकते हैं कि सबके लिये सामान्य, स्वाभाविक नियम के अनुसार उसे अपने बाकी अस्तित्व का अनुसरण अतिपार्थिव लोक में करना होगा, जब आत्मा अपने जड़तत्त्व के मूल गर्भाशय को उसी तरह छोड़ देगी जैसे कोषावस्था से छूटी हुई, हल्के रंगीन परों पर हवा में आमोद-प्रमोद करती हुई तितली। या ज्यादा अच्छा यह कि हम आत्मा के पूर्व-जीवन को भी मान सकते हैं जिसका जड़तत्त्व में पतन या अवरोहण हुआ है और स्वर्गिक सत्ता में फिर से आरोहण होगा। अगर हम आत्मा की पूर्व सत्ता को स्वीकार करें तो कोई कारण नहीं कि इस अंतिम संभावना को एक विरल आध्यात्मिक घटना मानकर अलग कर दें—यह कल्पना की जा सकती है कि किसी और लोक की एक सत्ता किसी प्रयोजन के लिये मानव शरीर और स्वभाव धारण करे लेकिन यह संभव नहीं लगता कि यह पार्थिव जीवन का वैश्व सिद्धांत या जड़-भौतिक विश्व के सृजन के लिये काफी युक्ति-संगत आधार हो।

कभी यह भी मान लिया जाता है कि पृथ्वी पर केवल एक बार जो जन्म होता है वह भूमिका मात्र है और सत्ता का अपनी मूल महिमा की ओर जाने का विकास ऐसे लोकों के अनुक्रम में होता है जो उसकी वृद्धि में अन्य भूमिकाएं हैं, उसकी यात्रा में पड़ाव हैं। तब जड़-भौतिक विश्व और विशेषकर धरती दिव्य शक्ति, प्रज्ञा या सनक द्वारा रचा हुआ, इस विष्कम्भक के अभिनय के लिये नियुक्त, भव्य क्षेत्र होगा। इस विषय में हम जो दृष्टि अपनाना पसंद करें, हम उसीमें अग्नि-परीक्षा का

स्थान, विकास का क्षेत्र या आध्यात्मिक पतन और देश-निकाले का दृश्य पायेंगे। एक भारतीय दृष्टि यह भी है जो जगत् को भागवत लीला की वाटिका, निम्नतर प्रकृति के इस जगत् में वैश्व अस्तित्व की परिस्थितियों के साथ दिव्य सत्ता की क्रीड़ा मानती है। मनुष्य की आत्मा जन्मों के दीर्घ क्रम द्वारा लीला में भाग लेती है लेकिन उसकी नियति है कि वह अंततः फिर से दिव्य सत्ता के निजी लोक की ओर आरोहण करे, शाश्वत सामीप्य और सायुज्य का रस ले। यह सृजन-प्रक्रिया और आध्यात्मिक अभियान को एक तर्काधार प्रदान करता है जो आत्मा की गतिविधि या आत्मा के चक्रों के इस प्रकार के अन्य वर्णनों में या तो होता ही नहीं या स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट नहीं होता। सर्वसामान्य सिद्धांत के बारे में इन विभिन्न वक्तव्यों में सदा तीन तात्त्विक विशिष्ट गुण होते हैं : पहला, मानव आत्मा की व्यष्टिगत अमरता पर विश्वास, दूसरा, इस विश्वास के आवश्यक परिणाम-स्वरूप यह भाव कि धरती पर उसका प्रवास एक अस्थायी यात्रा है या उसका अपने उच्चतम शाश्वत स्वभाव से विचलन है, और वहां से परे कोई स्वर्ग ही उसका धाम है। तीसरा, नैतिक और आध्यात्मिक सत्ता के विकास पर इस दृष्टि से जोर कि वह आरोहण का साधन और इस कारण इस जड़-जगत् में जीवन का एकमात्र वास्तविक कार्य है।

ये देखने की तीन आधारभूत विधियां हैं, जीवन के प्रति हर एक की अपनी मानसिक वृत्ति है जिसे हम अपने अस्तित्व के बारे में अपना सकते हैं। बाकी साधारणतः बीच की चट्टियां हैं या फिर ऐसी विभिन्नताओं या ऐसे मिश्रणों के रूप जो अपने-आपको समस्या की जटिलता के साथ ज्यादा आज़ादी से अनुकूल बनाने की कोशिश करते हैं। क्योंकि व्यावहारिक रूप में कुछ गिने-चुने लोग चाहे जो कुछ करने में सफल क्यों न हो जायें, जाति के रूप में मनुष्य के लिये यह असंभव है कि वह अपने जीवन को स्थायी रूप से या पूरी तरह, इन तीनों मनोवृत्तियों में से किसी एक को ऐकांतिक रूप से अपना कर, अपने स्वभाव पर बाकी के दावे का वर्जन करके उस एक के प्रधान हेतु द्वारा अपने जीवन का निर्देशन करे। इनमें से दो या ज्यादा का ऊट-पटांग मिश्रण, उनके बीच अपने जीवन-हेतुओं का विभाजन या संघर्ष या उनके समन्वय का कुछ प्रयास—यह है मनुष्य का अपनी जटिल सत्ता के विविध अंतर्वेगों के साथ और वे उसके मन के जिन अंतर्भासों से अपनी स्वीकृति की मांग करते हैं उनके साथ व्यवहार-विधि। लगभग सभी मनुष्य सामान्यतः अपनी ऊर्जा का एक बड़ा भाग पृथ्वी पर अपने जीवन के लिये, व्यक्ति और जाति की पार्थिव आवश्यकताओं, हितों, कामनाओं, आदर्शों में लगा देते हैं। यह अन्यथा हो भी नहीं सकता; क्योंकि शरीर की देख-रेख, मनुष्य की प्राणिक और मानसिक सत्ताओं का पर्याप्त विकास और संतोष, उच्च व्यक्तिगत और महान् सामुदायिक आदर्शों का अनुसंधान, जो साध्य मानव पूर्णता या उसके सामान्य विकास द्वारा पूर्णता के निकट पहुंच सकने के विचार से

शुरू होता है, ये चीजें हमारे ऊपर हमारी पार्थिव सत्ता के विशिष्ट स्वभाव द्वारा आरोपित होती हैं। ये उसके विधान के अंग हैं, उसके स्वाभाविक आवेग और नियम हैं, उसकी वृद्धि की शर्तें हैं और इनके बिना मनुष्य अपनी पूर्ण मानवता को नहीं पा सकता। हमारी सत्ता की कोई भी दृष्टि जो उनकी उपेक्षा करती, अनुचित रूप से उनका महत्त्व घटाती या असहिष्णु होकर उनकी निंदा करती है, इस तथ्य के आधार पर ही, उसका अन्य सत्य, गुण या उपयोगिता चाहे कुछ क्यों न हो या अमुक स्वभाव के व्यक्तियों के लिये या आध्यात्मिक विकास की अमुक स्थितितक में वह कितना भी उपयोगी क्यों न हो, मानव जीवन का पूर्ण और सामान्य नियम बनने के अयोग्य है। प्रकृति इस बात की अच्छी सावधानी रखती है कि जाति इन लक्ष्यों की उपेक्षा न करे जो उसके विकास के लिये जरूरी हैं क्योंकि ये हमारे अंदर की भागवत योजना की पद्धति और भूमिकाओं में आ जाते हैं। चूंकि ये उसके ढांचे के आधार और शरीर की चीजें हैं इसलिये अपने पहले कदमों और उनकी मानसिक और भौतिक भूमि की रक्षा के लिये सतर्कता प्रकृति के लिये इतनी महत्त्वपूर्ण तल्लीनता है कि वह उसे पृष्ठभूमि में नहीं जाने दे सकती।

लेकिन साथ ही प्रकृति ने हमारे अंदर यह भाव भी रोप दिया है कि हमारे गठन में कुछ ऐसी चीज है जो मानवजाति के इस पहले पार्थिव स्वरूप के परे जाती है। इस कारण मानवजाति लंबे कालतक किसी ऐसी दृष्टि को न तो स्वीकार कर सकती है न उसका अनुसरण कर सकती है जो इस उच्चतर और सूक्ष्मतर बोध की अवहेलना करती है और हमें पूरी तरह जीवन की नितांत ऐहिक पद्धतितक ही सीमित रखने के लिये श्रम करती है। परे का अंतर्भास, हमारे अंदर अंतरात्मा और आत्मा का भाव और विचार जो मन, प्राण और शरीर से भिन्न और अधिक महान् है, उनके सूत्र से सीमित नहीं है, हमपर लौट आता है और वह अंत में हमपर अधिकार कर लेता है। साधारण मनुष्य इस बोध को अपने अपवादिक क्षण देकर या अपने जीवन का पिछला हिस्सा देकर आसानी से तुष्ट करता है जब उम्र उसकी पार्थिव प्रकृति के उत्साह को कुंठित कर चुकी होती है या उसे कुछ ऐसी चीज मानकर तुष्ट होता है जो उसके सामान्य कार्य के पीछे या ऊपर है जिसकी ओर वह न्यूनाधिक अपूर्ण रूप में अपनी स्वाभाविक सत्ता को मोड़ सकता है। असाधारण मनुष्य अतिपार्थिव की ओर इस तरह मुड़ता है मानों वही उसका एकमात्र लक्ष्य और जीवन का धर्म हो। वह अपने पार्थिव अंगों का जितना हो सके ह्रास या दमन करता है, इस आशा में कि इससे वह अपनी स्वर्गिक प्रकृति को विकसित करेगा। ऐसे युग हुए हैं जब अतिपार्थिव दृष्टि ने जबर्दस्त पकड़ पा ली है और अपूर्ण मानव जीवन जो अपना विशाल स्वाभाविक विस्तार नहीं पा सकता और स्वर्गिक जीवन के लिये रुग्ण तपस्यामय लालसा जो कुछ से अधिक लोगों में अपनी सर्वोत्तम, शुद्ध उल्लासमय गति नहीं पाती—इन दोनों के बीच आगा-पीछा

रहा है। यह सत्ता में एक मिथ्या युद्ध की रचना का चिह्न है जो किसी ऐसे मानदंड या उपाय को खड़ा कर देता है जो विकास की क्षमता के विधान की उपेक्षा करता है या एक ओर अधिक बल देकर फिर से समाधान कर देनेवाले उस समीकरण को खो बैठता है जिसका हमारी प्रकृति के दिव्य विन्यास में कहीं-न-कहीं होना जरूरी है।

लेकिन अंततः, जैसे हमारा मानसिक जीवन ज्यादा गहरा होता जाये और सूक्ष्मतर ज्ञान विकसित होता जाये, हमारे अंदर यह दृष्टि भी खुलनी चाहिये कि पार्थिव और अतिपार्थिव ही सत्ता की दो अवस्थाएं नहीं हैं, कोई ऐसी चीज भी है जो अतिवैश्व है और हमारे जीवन का उच्चतम सुदूर उद्गम है। यह दर्शन आसानी से आध्यात्मिक उत्साह, अंतरात्मा की अभीप्सा की ऊंचाई और उत्साह, दार्शनिक तटस्थता या हमारी बुद्धि की कठोर तार्किक असहिष्णुता, हमारी इच्छा की उत्सुकता या कठिनाइयों से हतोत्साह या जीवन के परिणाम से निराश हमारी प्राणिक सत्ता में रुग्ण घृणा, इनमें से किसी या सभी प्रेरक शक्तियों के द्वारा इस भाव से मिल जाता है कि सुदूर परम पुरुष के सिवा सब कुछ व्यर्थ और अवास्तविक है और वह मानव जीवन की व्यर्थता, वैश्व जीवन की अवास्तविकता, धरती की कटु कुरूपता और क्रूरता, स्वर्ग की अपर्याप्तता, शरीर में बार-बार जन्म लेने की लक्ष्यहीनता के साथ मिल जाता है। यहां भी साधारण मनुष्य इन विचारों के साथ सचमुच नहीं जी सकता। ये चीजें अधिक-से-अधिक उस जीवन को, जिसमें उसे जारी रहना है, अधिक-से-अधिक धुंधलापन और बेचैनी और असंतोष ही दे सकती हैं लेकिन अपवादिक पुरुष सब कुछ छोड़ देता है उस सत्य का अनुसरण करने के लिये जिसे उसने देखा है और उसके लिये ये चीजें उसके आध्यात्मिक आवेग का अभीष्ट भोजन या उस एक उपलब्धि के लिये, जो अब उसके लिये मूल्य रखती है, एक उद्दीपक होंगी। ऐसे काल और ऐसे देश रहे हैं जिनमें जीवन के बारे में यह दृष्टि बहुत प्रबल हो गयी थी, जाति का एक काफी बड़ा भाग संन्यासी के जीवन की ओर मुड़ गया था—हमेशा उसके लिये सच्ची पुकार के कारण नहीं,—बाकी लोग सामान्य जीवन से चिपके रहे लेकिन उसके बारे में कहीं नीचे अवास्तविकता का भाव लिये हुए। यह विश्वास अत्यधिक पुनरावृत्ति और हठ के द्वारा जीवन-आवेग को हतोत्साह और उसके प्रेरक हेतुओं को अधिकाधिक क्षीण कर सकता है, अथवा, यहांतक कि एक सूक्ष्म प्रतिक्रिया द्वारा विश्व जीवन में दिव्य पुरुष के विशाल आनंद के प्रति हमारे स्वाभाविक प्रत्युत्तर का अभाव लाकर हमें संकुचित जीवन में अवशोषित कर देता है। यह विश्वास उस महान् प्रगतिशील मानव आदर्शवाद की असफलता लाता है जिसके द्वारा हम सामुदायिक आत्म-विकास की ओर बढ़ते हैं और युद्ध तथा परिश्रम के उदात्त आलिंगन के लिये प्रेरित होते हैं। यहां फिर विश्वातीत सद्वस्तु के वर्णन में कुछ अपर्याप्तता का

लक्षण है, शायद एक अतिशयोक्ति या भ्रांत विरोध है, दिव्य समीकरण का अभाव है, सृष्टि और स्रष्टा की संपूर्ण इच्छा का समग्र बोध छूटा हुआ मालूम होता है।

यह समीकरण केवल तभी पाया जा सकता है जब हम अपनी समस्त जटिल मानव प्रकृति के तात्पर्य को वैश्व गति के अंदर उसके उचित स्थान पर पहचान सकें। जिस चीज की जरूरत है वह है हमारी मिश्र सत्ता और बहुमुखी अभीप्सा के हर अंग को उसका पूरा न्यायोचित मूल्य देने की और उनके एकत्व और साथ ही उनकी विभिन्नता की चाबी का पता लगाने की। यह प्राप्ति समन्वय या समाकलन के द्वारा होनी चाहिये और चूंकि स्पष्ट रूप से मानव अंतरात्मा का विधान है विकास इसलिये बहुत संभव है कि इसकी खोज विकसनशील समन्वय के द्वारा होगी। प्राचीन भारतीय संस्कृति में इस तरह के समन्वय के लिये प्रयास किया गया था। उसने मानव जीवन के चार युक्तिसंगत हेतु स्वीकार किये हैं—मनुष्य के प्राणिक हित और आवश्यकताएं, उसकी कामनाएं, उसकी नैतिक और धार्मिक अभीप्साएं, उसका चरम आध्यात्मिक लक्ष्य और नियति—दूसरे शब्दों में उसके प्राणमय, भौतिक और भावमय सत्ता के दावे, उसकी नैतिक और धार्मिक सत्ता के दावे जिनपर भगवान्, प्रकृति और मानव के विधान के ज्ञान का अधिकार हो और परात्पर के लिये उसकी आध्यात्मिक ललक के दावे जिनकी तुष्टि वह अज्ञान-भरे ऐहिक जीवन से चरम मुक्ति द्वारा खोजता है। उसने जीवन के इस विचार पर आधारित शिक्षा और तैयारी के काल की व्यवस्था की, उसके बाद सामान्य जीवन का काल जिसमें हमारे अंदर के नैतिक और धार्मिक भाग के संयत करनेवाले नियमों के अधीन मानव कामनाओं और हितों की संतुष्टि हो, फिर वैराग्य और आध्यात्मिक तैयारी का काल और अंत में जीवन के त्याग और आत्मा में मुक्ति का काल। स्पष्ट है कि अगर इसे सार्वभौम नियम के तौर पर लगाया जाये तो इस निर्धारित प्रतिमान, हमारी यात्रा के घुमाव के इस रेखांकन में यह तथ्य छूट जाता है कि विकास के पूरे वृत्त का चक्कर लगा लेना सबके लिये एक छोटे-से जीवन-काल में असंभव है। लेकिन इसे इस परिकल्पना द्वारा संशोधित किया गया कि संपूर्ण विकास को आध्यात्मिक मुक्ति के योग्य होने से पहले पुनर्जन्मों के एक लंबे अनुक्रम में से होकर गुजरना पड़ता है। अपनी आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि, व्यापक दृष्टि, सममिति, संपूर्णता के साथ इस समन्वय ने मानव जीवन के स्तर को ऊंचा उठाने के लिये बहुत कुछ किया किंतु अंत में यह ढह गया और उसका स्थान त्याग के अंतर्वेग की अतिरंजना ने ले लिया जिसने पद्धति की सममिति को नष्ट कर दिया और उसे जीवन की दो गतियों में काट दिया जो एक-दूसरे के विपरीत थीं, हितों और कामनाओं का सामान्य जीवन जिसपर नैतिक और धार्मिक रंग चढ़ा हो, तथा असामान्य या अतिसामान्य आंतरिक जीवन जो त्याग पर आधारित हो। वस्तुतः पुरानी पद्धति में इस अतिरंजना के बीज मौजूद थे और यह उसमें गिरे बिना न रह

सकती थी। क्योंकि अगर हम यह मानें कि जीवन से बच निकलना ही हमारा वांछनीय लक्ष्य है, अगर हम जीवन की परिपूर्ति के किसी उच्च आदर्श को खड़ा करना छोड़ दें, अगर जीवन में कोई दिव्य सार्थकता नहीं है तो मानव बुद्धि और इच्छा की अधीरता अंत में कोई छोटा रास्ता निकाल कर रहेगी और जहांतक बनेगा अधिक कठिन और समय लेनेवाली प्रक्रियाओं से पिंड छुड़ाकर रहेगी। अगर वह ऐसा न कर सके या अगर वह छोटे रास्ते का अनुसरण करने में अक्षम है तो वह अहंकार और उसकी संतुष्टियों के साथ ही रह जायेगी, लेकिन यहां पाने लायक कोई बड़ी चीज नहीं रह जायेगी। जीवन आध्यात्मिक और सांसारिक में बंट जाता है और उनमें अचानक संक्रमण हो सकता है, हमारी प्रकृति के इन भागों में कोई सामंजस्य या समाधान नहीं हो सकता।

आध्यात्मिक विकास, यहां भीतरी सत्ता का जन्म-जन्मांतर में प्रकट होना, जिसमें मनुष्य केंद्रीय यंत्र बनता है और अपने उच्चतम स्तर पर मानव जीवन क्रांतिक संधिकाल प्रस्तुत करता है, वह जीवन और आत्मा के फिर से मिलने के लिये आवश्यक कड़ी है क्योंकि वह हमें मनुष्य की पूर्ण प्रकृति का ध्यान रखने और उसके तिहरे आकर्षण पृथ्वी, स्वर्ग और परम सद्वस्तु के प्रति आकर्षण का उचित स्थान जानने का अवसर देता है। लेकिन उसके विरोधों का पूर्ण समाधान तो इसी आधार पर हो सकता है कि मन, प्राण और शरीर की निम्नतर चेतना अपनी पूर्ण सार्थकतातक तबतक नहीं पहुंच सकती जबतक कि उसे उच्चतर आध्यात्मिक चेतना के प्रकाश, शक्ति और आनंद अपने हाथ में लेकर फिर से निरूपित और रूपांतरित न करें। उच्चतर चेतना भी केवल त्याग द्वारा निम्न चेतना से अपना पूर्ण समुचित संबंध नहीं पा लेती बल्कि जो मूल्य अभीतक अपनी पूर्णता को प्राप्त नहीं हुए हैं उनके धारण, शासन और ग्रहण, इस पुनर्निरूपण और रूपांतर द्वारा, मानसिक, प्राणिक और भौतिक प्रकृति के आध्यात्मीकरण और अतिमानसीकरण द्वारा ही पा सकती है। पार्थिव आदर्श जो आधुनिक मन में इतना सशक्त रहा है, उसने मनुष्य और पृथ्वी पर उसके जीवन का पुनरुद्धार किया और जाति की सामूहिक आशा को प्रतिष्ठित स्थान पर ला बिठाया है और समाधान के लिये एक आग्रहपूर्ण मांग पैदा की है। उसने यह उपकार किया है। लेकिन अति और ऐकांतिकता से उसने मनुष्य के क्षेत्र को अनुचित रूप से सीमित कर दिया, उसने उसकी अवहेलना की जो उसके अंदर उच्चतम है और अंत में विशालतम वस्तु है और इस सीमांकन के कारण वह अपने ही उद्देश्य की पूर्ण खोज को गंवा बैठा। अगर मनुष्य और प्रकृति में मन उच्चतम वस्तु होता तो निश्चय ही यह कुंठा पैदा न होती, फिर भी क्षेत्र का परिसीमन तो होता ही, संभावना संकुचित होती, भविष्य सीमाबद्ध रहता। लेकिन अगर मन चेतना का केवल आंशिक उन्मीलन है और उसके परे ऐसी शक्तियां हैं जिनके लिये मानवजाति की प्रकृति सक्षम है, तब जो

कुछ परे है उसकी बात छोड़ो, धरती पर ही हमारी आशा उनके विकास पर आश्रित है। इतना ही नहीं, हमारे विकास का यही एकमात्र मार्ग बन जाता है।

मन और प्राण अपनी अधिक विशाल और बृहत् चेतना की ओर खुले बिना अपनी पूर्णतातक विकसित नहीं हो सकते, मन उसके पासतक ही जा सकता है। ऐसी अधिक बड़ी और विशाल चेतना आध्यात्मिक है। क्योंकि आध्यात्मिक चेतना बाकी सबसे केवल ऊंची ही नहीं है, वह सबका आलिंगन करती है। वह वैश्व और परात्पर है और मन तथा प्राण को अपने प्रकाश में ले सकती, उन्हें उस सबकी सच्ची और उच्चतम उपलब्धि भी दे सकती है जिसे वे खोज रहे हैं। क्योंकि उसमें ज्ञान का अधिक करणत्व, गहनतर शक्ति और इच्छा का निर्झर, प्रेम, आनंद और सुंदरता की असीम पहुंच और तीव्रता है। यही चीजें हैं जिनकी खोज हमारे मन, प्राण और शरीर कर रहे हैं—ज्ञान, शक्ति और आनंद। और उसे अस्वीकार कर देना जिसके द्वारा ये अपने चरम बाहुल्यतक पहुंचते हैं, उन्हें अपने उच्चतम उत्कर्ष से रोकना है। इसके विपरीत अतिरंजना जो केवल किसी आध्यात्मिक सत्ता की वर्णरहित शुद्धि की मांग करती है, आत्मा की सृजनात्मक क्रिया को बेकार कर देती है और हम सबमें से उसे निकाल देती है जिसे भगवान् अपनी सत्ता में अभिव्यक्त करते हैं; वह केवल एक ऐसे विकास के लिये अवकाश छोड़ती है जिसमें कोई अर्थ या परिपूर्णता न हो—क्योंकि जो कुछ विकसित हुआ है उसे काटकर अलग कर देना ही एकमात्र परिपूर्णता है। वह हमारी सत्ता की प्रक्रिया को अज्ञान में डुबकी और उसमें से वापिसी की निरर्थक गोलाई में बदल देती है या वैश्व संभवन का ऐसा चक्र खड़ा कर देती है जिसमें से निकल आना ही एकमात्र समाधान है। मध्यस्थ या अपार्थिव अभीप्सा ऊपर एकत्व की उच्चतम परिपूर्ति की ओर न जाकर सत्ता की परिपूर्ति को बीच में ही काट देती है और नीचे जड़-भौतिक विश्व में उसकी उपस्थिति को और पार्थिव शरीर में उसके जीवन-ग्रहण को उचित बहुलता का भाव न देकर क्षीण करती है, एकत्व का एक विशाल संबंध, समाकलन ही फिर से संतुलन को स्थापित करता है, सत्ता के समस्त सत्य को प्रकाशित करता और प्रकृति के चरणों को एक साथ जोड़ देता है।

इस समाकलन में विश्वातीत सद्वस्तु सत्ता के परम सत्य के रूप में उपस्थित रहती है, उसे उपलब्ध करना हमारी चेतना की उच्चतम पहुंच है। लेकिन यह उच्चतम सद्वस्तु ही वैश्व सत्ता, वैश्व चेतना, वैश्व इच्छा और जीवन भी है। उसने इन सबको अपने बाहर नहीं, अपनी सत्ता में ही, विरोधी तत्त्व के रूप में नहीं बल्कि आत्मोन्मीलन और आत्माभिव्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है, वैश्व सत्ता कोई निरर्थक सनक, कपोल-कल्पना या आकस्मिक भ्रांति नहीं है। उसमें एक दिव्य सार्थकता और सत्य है, आत्मा का बहुविध आत्म-प्रकटन उसका उच्च भाव है और स्वयं भगवान् उस पहेली की चाबी हैं। हमारे पार्थिव जीवन का उद्देश्य है आत्मा

का पूर्ण आत्म-प्रकटन और यह नहीं उपलब्ध हो सकता यदि हम परम सद्वस्तु के बारे में सचेतन न हो जायें क्योंकि हम केवल निरपेक्ष के स्पर्श से ही अपने निजी निरपेक्षतक पहुंच सकते हैं। लेकिन इन दोनों में से कोई भी वैश्व सद्वस्तु को अलग कर देने से नहीं हो सकता, हमें वैश्व होना चाहिये क्योंकि सार्वभौम में प्रवेश के बिना व्यष्टि अपूर्ण रहता है। व्यष्टि उच्चतमतक पहुंचने के लिये अपने-आपको सर्व से पृथक् कर ले तो वह अपने-आपको चरम शिखरों में खो बैठता है और अपने अंदर वैश्व चेतना को समो ले तो वह अपनी आत्मा की समग्रता को फिर से पा लेता है और साथ ही परात्परता के परम लाभ को बनाये रखता है। वह वैश्व पूर्णता में उसे और अपने-आपको पूर्ण कर लेता है। आत्माभिव्यक्ति करनेवाली आत्मा की पूर्णता के लिये परात्पर, वैश्व और व्यष्टि का उपलब्ध ऐक्य एक अनिवार्य शर्त है क्योंकि विश्व उसकी आत्माभिव्यक्ति की समग्रता का क्षेत्र है और यहां व्यष्टि द्वारा ही उसका विकसनशील उन्मीलन अपनी पराकाष्ठातक पहुंच सकता है। लेकिन वह केवल व्यष्टि की वास्तविक सत्ता को ही नहीं मानता बल्कि परम पुरुष और समस्त वैश्व जीवन के साथ हमारे गुप्त, शाश्वत एकत्व को भी प्रकाश में लाता है। अपने आत्म-समाकलन में व्यक्ति की अंतरात्मा को सार्वभौमता और परात्परता की ओर जागना होगा।

अतिपार्थिव अस्तित्व भी सत्ता का सत्य है क्योंकि हमारे अस्तित्व के लिये जड़ भौतिक ही एकमात्र लोक नहीं है, चेतना के अन्य लोक भी हैं जहां हम जा सकते हैं जिनके अब भी हमारे साथ छिपे संपर्क हैं। अंतरात्मा के जो महत्तर लोक हमारे लिये खुले हुए हैं, उनतक न जाना, उनका अनुभव न पाना, उनके नियमों को न जानना और उन्हें अपने अंदर अभिव्यक्त न करना अपनी सत्ता की ऊंचाई और पूर्णता से नीचे रह जाना है। लेकिन पूर्ण बनी हुई अंतरात्मा के लिये उच्चतर चेतना के लोक ही एकमात्र दृश्य और निवास-स्थान नहीं हैं और न ही हम किसी अपरिवर्तनशील प्रारूपी जगत् में विश्व के अंदर आत्मा की आत्माभिव्यक्ति का चरम या समग्र भाव पा सकते हैं। जड़ भौतिक जगत्—यह पृथ्वी, यह मानव जीवन—आत्मा की आत्माभिव्यक्ति का एक भाग हैं और उनमें अपनी दिव्य संभावना है। वह संभावना विकसनशील है और उसके अंदर अन्य सभी लोकों की संभावनाएं अनुपलब्ध हैं किंतु उपलब्ध की जा सकती हैं। पार्थिव जीवन किसी अदिव्य, व्यर्थ और दुखद वस्तु की ऐसी दलदल में गिरना नहीं है जिसे किसी शक्ति ने अपने आगे एक तमाशे के रूप में प्रस्तुत किया हो या शरीरी आत्मा के आगे ऐसे रूप में प्रस्तुत किया हो जिसे पहले तो सहन करना और फिर अपने से दूर उठाकर फेंक देना हो। वह सत्ता के विकसनशील उन्मीलन का दृश्य है जो परम आध्यात्मिक प्रकाश, शक्ति, आनंद और ऐक्य की ओर गति करता है लेकिन साथ ही अपने अंदर स्वयंसिद्धि पानेवाली आत्मा की बहुविध विविधता को भी

लिये रहता है। पार्थिव सृष्टि में एक सर्वद्रष्टा प्रयोजन है। एक दिव्य योजना अपने-आपको उन विरोधों और जटिलताओं के बीच क्रियान्वित कर रही है जो उस बहुविध सिद्धि के चिह्न हैं जिसकी ओर अंतरात्मा के विकास और प्रकृति के प्रयास को ले जाया जा रहा है।

यह सच है कि अंतरात्मा पृथ्वी के परे महत्तर चेतना के लोक में आरोहण कर सकती है लेकिन यह भी सच है कि इन लोकों की शक्ति, महत्तर चेतना की शक्ति को अपने-आपको यहां विकसित करना होगा, अंतरात्मा का मूर्तरूप उस शरीर-धारण का साधन है। चेतना की सभी उच्चतर शक्तियों का अस्तित्व इसीलिये है क्योंकि वे परम सद्वस्तु की शक्तियां हैं। हमारी पार्थिव सत्ता में भी वही सत्य है। यह उस एकमेव सद्वस्तु का संभवन है जिसे इन महत्तर शक्तियों को अपने अंदर मूर्त रूप देना है। उसका वर्तमान रूप तो एक अवगुंठित और आंशिक रूप है और उस प्रथम आकार के साथ, अपूर्ण मानवता के वर्तमान सूत्र के साथ अपने-आपको सीमित कर लेना, अपनी भागवत संभाव्यताओं को अलग कर देना है। हमें अपने मानव जीवन में एक अधिक विस्तृत अर्थ लाना है और उसमें वह सब बहुत अधिक व्यक्त करना है, जो हम गुप्त रूप से हैं। हमारी मर्त्यता केवल हमारी अमरता के प्रकाश में उचित ठहरती है। हमारी पृथ्वी अपने-आपको स्वर्ग की ओर खोलकर ही अपना पूर्ण स्वरूप पा सकती और अपने-आपको जान सकती है। व्यष्टि तभी अपने-आपको ठीक तरह देख सकता और अपने जगत् का दिव्य उपयोग कर सकता है जब वह सत्ता के महत्तर लोकों में प्रवेश करे और परम पुरुष के प्रकाश को देखे और भगवान् और शाश्वत की सत्ता और शक्ति में रहे।

इस तरह समाकलन संभव न होता यदि हमारे जन्म और पार्थिव जीवन का अभिप्राय आध्यात्मिक विकास न होता। जड़ भौतिक में मन, प्राण और आत्मा का विकास इस बात का चिह्न है कि यह समाकलन, जड़ के अंदर समायी हुई गुप्त आत्मा की यह पूर्ण अभिव्यक्ति ही उसका तात्पर्य है। आत्मा जो कुछ है उसका पूरा-पूरा अंतर्लयन और उसका विकसनशील आत्मोन्मीलन, ये दो हमारे भौतिक जीवन के दो पद हैं। सत्ता के सदा अनावृत प्रकाशमय विकास द्वारा आत्माभिव्यक्ति की एक संभावना होती है, एक और संभावना है अपनी प्रकृति में पूरी तरह, सुनिश्चित और पूर्ण प्रारूपों में विभिन्न प्रकटन की। उच्चतर लोकों में यही संभवन का तत्त्व है। वे अपने जीवन तत्त्व में प्रारूपी हैं, विकसनशील नहीं, उनमें से हर एक अपनी पूर्णता में निवास करता है, लेकिन स्थानबद्ध, अचल जगत्-सिद्धांत की सीमा में। लेकिन आत्म-शोध द्वारा आत्म-प्रकटन की भी एक संभावना है, एक इस तरह का फैलाव जो रूप ग्रहण करता हुआ, अपने-आपको अवगुंठित करता हुआ अपने-आपको फिर से प्राप्त करने के अभियान की प्रगति का रूप ले ले। इस विश्व में होनेवाले संभवन का यही सिद्धांत है जिसमें चेतना का अंतर्लयन और आत्मा का जड़-पदार्थ में छिपना पहला रूप है।

निश्चेतना में आत्मा का अंतर्लयन आरंभ है। आंशिक रूप से विकसनशील ज्ञान की संभावनाओं को साथ लिये हुए अज्ञान में विकास मध्य है और यही हमारी वर्तमान प्रकृति की असंगतियों का कारण है—हमारी अपूर्णता संक्रमणकालीन स्थिति का चिह्न है, एक ऐसा विकास है जो अभीतक पूरा नहीं हुआ, एक प्रयास है जो अपनी राह बना रहा है। आत्मा के आत्म-ज्ञान और उसकी दिव्य सत्ता तथा चेतना की आत्म-शक्ति के फैलाव में संसिद्धि अंतिम उत्कर्ष है। जीवन में आत्मा की प्रगतिशील आत्म-अभिव्यक्ति के इस चक्र में ये तीन चरण आते हैं। इनमें से जिन दो चरणों की लीला अभीतक हो चुकी है, पहली दृष्टि में ऐसा लगता है कि वे इस चक्र के परवर्ती पूर्णता लानेवाले चरण की संभावना से इंकार करते हैं लेकिन न्यायसंगत दृष्टि से उनमें उसका आविर्भाव निहित है। क्योंकि अगर निश्चेतना ने चेतना को विकसित किया है तो जो आंशिक चेतना अभीतक प्राप्त हो चुकी है उसे निश्चय ही पूर्ण चेतना में विकसितं होना चाहिये। पृथ्वी-प्रकृति एक पूर्ण और दिव्य बने हुए जीवन के लिये खोज कर रही है। यह खोज प्रकृति के अंदर भागवत इच्छा का चिह्न है। अन्य खोजें भी हैं और ये भी अपनी आत्म-परिपूर्ति के साधन पा लेती हैं। प्रत्याहार द्वारा परम शांति या आनंद में प्रवेश, प्रत्याहार द्वारा भागवत उपस्थिति के आनंद में प्रवेश, ये पृथ्वी-जीवन में आत्मा के लिये संभव हैं; क्योंकि अपनी अभिव्यक्ति में अनंत के आगे बहुत-सी संभावनाएं होती हैं, वह अपने निरुपणों में सीमित नहीं होता। लेकिन इनमें से कोई भी प्रत्याहार पार्थिव संभूति का आधारभूत अभिप्राय नहीं हो सकता क्योंकि तब विकसनशील प्रगति के कार्य को हाथ में न लिया जाता—यहां ऐसी प्रगति का लक्ष्य हो तो यहीं पर आत्म-परिपूर्ति हो सकती है। इस तरह की प्रगतिशील अभिव्यक्ति का मर्म सत् का पूर्ण संभूति में प्राकट्य ही हो सकता है।

अध्याय १७

ज्ञान की ओर प्रगति — ईश्वर, मनुष्य और प्रकृति

तत्त्वमसि श्वेतकेतो !

हे श्वेतकेतु, तू वह है !

छान्दोग्योपनिषद् ६.८.७

ब्रह्मैव जीवस्सकलं जगच्च . . . ।

जीव ब्रह्म को छोड़कर और कोई नहीं है, सारा जगत् ब्रह्म है।

विवेकचूडामणि श्लोक ४७९

प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूतां . . . ययेदं धार्यते जगत् ॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणि . . . ॥

मेरी परम प्रकृति ही जीव हो गयी है और वही इस जगत् को धारण करती है . . . सभी सत्ताओं (भूतों) की उत्पत्ति का उद्गम यही है।

गीता ७—५,६

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि; . . .
नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षः ॥

तू ही पुरुष और स्त्री, कुमार और कुमारी है। जीर्ण-शीर्ण होकर तू ही लाठी के सहारे चलता है; तू ही नील पक्षी, हरित पक्षी और लाल आंखोंवाला पक्षी है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् ४—३,४

तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥

यह सारा जगत् "तत्" की अवयव-रूपी सत्ताओं से भरा है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् ४—१०

विकास का आरंभ-बिंदु है दिव्य सत् का, आध्यात्मिक सद्वस्तु का जड़ की दीखनेवाली निश्चेतना में निवर्तन। लेकिन वह सद्वस्तु स्वभावतः शाश्वत सत्, चित् और सत्ता का आनंद है; तो फिर विकास को इस सत्, चित् आनंद का आविर्भाव होना चाहिये, पहले-पहल उसके सार या समग्र रूप में नहीं बल्कि उसे व्यक्त करनेवाले या छिपानेवाले विकसनशील रूपों में। निश्चेतना में से प्रथम विकसनशील रूप में सत् निश्चेतन ऊर्जा द्वारा बनाये गये जड़ पदार्थ के रूप में प्रकट होता है,

जड़ पदार्थ में अंतर्लीन और अप्रत्यक्ष रूप चेतना पहले प्राणिक स्पंदनों के छद्मवेश में उभरती है जिसमें प्राण तो होता है परंतु अवचेतन, फिर सचेतन जीवन के अपूर्ण निरूपणों में वह उस जड़ पदार्थ के उत्तरोत्तर रूपों द्वारा आत्मान्वेषण के लिये प्रयास करती है—ऐसे रूपों द्वारा जो उसके पूर्णतर प्रकटन के साथ अधिकाधिक मेल खाते हों। जीवन में चेतना जड़ पदार्थ की निर्जीवता और अविद्या की आदिम असंवेदनशीलता को फेंककर अपने-आपको अधिकाधिक पूर्णता के साथ अज्ञान में पाने का प्रयास करती है जो उसका पहला अनिवार्य निरूपण है, लेकिन पहले वह स्व और वस्तुओं का एक प्राथमिक मानसिक प्रत्यक्ष-दर्शन और प्राणिक अभिज्ञता पाती है, एक ऐसा जीवन-दर्शन जो अपने प्रथम रूपों में एक ऐसे आंतरिक बोध पर निर्भर होता है जो अन्य प्राणों और भौतिक द्रव्य के संपर्कों के प्रति अनुक्रियाशील होता है। चेतना संवेदन की अपर्याप्तता के द्वारा अपने अंदर छिपे सत्ता के आनंद को जितना हो सके अच्छे-से-अच्छी तरह व्यक्त करने के लिये परिश्रम करती है लेकिन वह केवल आंशिक दुःख-सुख को ही निरूपित कर पाती है। मनुष्य के अंदर उभरती हुई चेतना ऐसे मन के रूप में प्रकट होती है जो अपने और वस्तुओं के बारे में अधिक स्पष्टता के साथ अभिज्ञ है; फिर भी यह उसका अपना आंशिक और सीमित सामर्थ्य होता है। वह उसकी अपनी पूर्ण शक्ति नहीं बल्कि पूर्ण आविर्भाव की प्रथम धारणात्मक सामर्थ्य और पूर्ण आविर्भाव का प्रथम आश्वासन दिखलायी देता है। वह पूर्ण आविर्भाव ही विकसनशील प्रकृति का लक्ष्य है।

मनुष्य अपने-आपको विश्व में प्रतिष्ठित करने के लिये है। यह उसका पहला काम है, लेकिन साथ ही उसे विकसित होना और अंत में अपना अतिक्रमण भी करना है। उसे अपनी आंशिक सत्ता को बढ़ाकर पूरी सत्ता बनाना है, अपनी आंशिक चेतना को बढ़ाकर पूर्ण चेतना बनाना है। उसे अपने परिवेश पर प्रभुता पानी है और साथ ही विश्व-ऐक्य और विश्व-सामंजस्य भी। उसे अपने व्यक्तित्व का अनुभव करना है पर साथ ही उसे वैश्व आत्मा में बढ़ाकर सत्ता के वैश्व और आध्यात्मिक आनंद का अनुभव करना है। उसकी मानसिकता में जो कुछ धुंधला, भ्रांतिमय और अज्ञानमय है उस सबका परिमार्जन, शोधन और रूपांतर करना है। उसकी प्रकृति का स्पष्ट अभिप्राय है अंत में ज्ञान, इच्छा, संवेदन, कर्म और चरित्र के मुक्त और विस्तृत सामंजस्य तथा ज्योतिर्मयता की प्राप्ति। यही वह आदर्श है जिसे सृजनशील ऊर्जा ने उसकी बुद्धि पर आरोपित किया है, उसने इस आवश्यकता को उसके मानसिक और प्राणिक पदार्थ में रोप दिया है। लेकिन यह तभी हो सकता है जब मनुष्य विशालतर सत्ता, विशालतर चेतना में वर्द्धित हो : मनुष्य अपनी वास्तविक और प्रत्यक्ष प्रकृति में अंशतया तथा अस्थायी रूप से जैसा है उसमें से उसका उस ओर आत्मवर्द्धन, आत्म-परिपूर्ति, आत्म-विकास जैसा कि वह अपनी गुह्य आत्मा तथा अध्यात्म-सत्ता में पूर्णतया है और फलस्वरूप जैसा वह

अपने अभिव्यक्त जीवन में भी हो सकता है। यही उसके सृजन का उद्देश्य है। यही आशा वैश्व व्यापार के बीच धरती पर उसके जीने का औचित्य है। बाह्य प्रतीयमान मनुष्य, क्षणभंगुर सत्ता, जो अपने भौतिक शरीर के निरोधों के अधीन और सीमित मानसिकता में बंद रहता है, उसे आंतरिक, वास्तविक मनुष्य बनना है जो स्वयं अपने और अपने परिवेश का स्वामी हो और अपनी सत्ता में वैश्व हो। अधिक स्पष्ट और कम तत्त्वज्ञानात्मक भाषा में कहें तो प्राकृत मनुष्य को अपने-आपको दिव्य मनुष्य में विकसित करना है। मृत्यु के पुत्रों को अपने-आपको अमृत-पुत्र के रूप में जानना है। इस आधार पर मानव जन्म को विकास में एक मोड़, पार्थिव प्रकृति में क्रांतिक पर्व कहा जा सकता है।

इसका तुरंत यह मतलब निकलता है कि हमें जिस ज्ञानतक पहुंचना है वह बुद्धि का सत्य नहीं है, वह हमारे अपने और वस्तुओं के बारे में ठीक विश्वास, ठीक मत, ठीक सूचना नहीं है—वह केवल ज्ञान के बारे में सतही मन का विचार है। भगवान् के, अपने और विश्व के बारे में किसी मानसिक धारणातक पहुंचना एक ऐसा उद्देश्य है जो बुद्धि के लिये तो अच्छा है परंतु आत्मा के लिये काफी बड़ा नहीं है। वह हमें अनंत के सचेतन पुत्र न बना सकेगा। प्राचीन भारतीय मनीषा का ज्ञान से मतलब होता था ऐसी चेतना जो प्रत्यक्ष दर्शन और आत्मानुभव में उच्चतम सत्य को अपने अधिकार में रखती है। हम जिस उच्चतम को जानते हैं वही होना, वही बन जाना इस बात का चिह्न है कि हमें वास्तव में ज्ञान प्राप्त है। इसी कारण हमारे व्यावहारिक जीवन को, हमारे कर्म को, हमारी सत्य या ऋत की बौद्धिक धारणाओं या किसी सफल व्यावहारिक ज्ञान के साथ जहांतक हो सके संयत रखते हुए गढ़ना—नैतिक या प्राणिक परिपूर्ति—न तो हमारे जीवन का चरम लक्ष्य है और न हो सकता है। हमारा लक्ष्य होना चाहिये अपनी सच्ची सत्ता में, अपनी आत्मा की सत्ता में, परम और वैश्व सच्चिदानंद में वृद्धि।

हमारा सारा अस्तित्व उस परम सत् पर निर्भर है, हमारे अंदर वही विकसित हो रहा है, हम उसी सत् की एक सत्ता, उसी चित् की चेतना की एक अवस्था, उसी सचेतन ऊर्जा की एक ऊर्जा, उसी आनंद से उत्पन्न सत्ता की एक आनंद-एषणा, चेतना का आनंद, ऊर्जा का आनंद हैं : यही हमारी सत्ता का मूल-तत्त्व है। लेकिन हमारा इन चीजों का सतही निरूपण वह नहीं है, वह अज्ञान की भाषा में गलत अनुवाद है। हमारा अहं वह आध्यात्मिक सत्ता नहीं है जो भागवत अस्तित्व की ओर देखकर कह सके, 'सोऽहमस्मि'; हमारी मानसिकता वह आध्यात्मिक चेतना नहीं है, हमारी इच्छा चेतना की वह शक्ति नहीं है, हमारे सुख-दुःख, यहांतक कि हमारे उच्चतम हर्ष और उल्लास भी सत्ता का वह आनंद नहीं हैं। सतह पर हम अब भी ऐसे अहं हैं जो आत्मा का रूप लिये हुए हैं; अज्ञान हैं जो ज्ञान में बदल रहा है, एक इच्छा हैं जो सच्ची शक्ति की ओर परिश्रम कर रही है, एक कामना हैं जो

अस्तित्व के आनंद को खोज रही है। एक अर्ध-अंध द्रष्टा के अनुप्रेरित वचनों को प्रतिध्वनित करते हुए, जिन्हें उस आत्म-स्वरूप का ज्ञान नहीं था जिसकी वह चर्चा कर रहे थे, हम कह सकते हैं कि अपना अतिक्रमण करके अपने-आप बनना वह दुष्कर और संकटपूर्ण अनिवार्यता है, अदृश्य मुकुट की प्राप्ति के पूर्व आनेवाली वह कृच्छ्र तपस्या है जिसके लिये हम बाधित हैं, मनुष्य की सत्ता के सच्चे स्वरूप की वह पहेली है जो मनुष्य के आगे नीचे से निश्चेतना की अंधेरी रहस्यमयी मूर्ति द्वारा और भीतर तथा ऊपर से अनंत चेतना और शाश्वत प्रज्ञा की ज्योतिर्मयी अवगुण्ठित रहस्यमयी मूर्ति द्वारा एक गुह्य दिव्य माया के रूप में उपस्थित की जाती है। अतः यहां पर हमारे जीवन का चरम अर्थ है अहंकार का अतिक्रमण करना और अपना सच्चा स्व बनना, अपनी सच्ची सत्ता के बारे में अभिज्ञ होना, उसपर अधिकार करना, सत्ता के वास्तविक आनंद पर अधिकार पाना; हमारे व्यष्टिगत और पार्थिव जीवन का यही छिपा हुआ अर्थ है।

बौद्धिक ज्ञान और व्यावहारिक कर्म—ये दो प्रकृति के साधन हैं जिनके द्वारा हम अपनी सत्ता, चेतना, ऊर्जा और भोग-शक्ति का उतना अंश प्रकट कर सकते हैं जितने को हम अपनी प्रतीयमान प्रकृति में रूपायित कर सके हैं और जिसके द्वारा हम उस बहुत कुछ को, जिसे हमें यथार्थ बनाना है, उसे अधिक जानने की, प्रकट करने की और अधिक यथार्थ बनाने की कोशिश करते और उसमें वर्धित होने की कोशिश करते हैं। लेकिन हमारी बुद्धि, हमारा मानसिक ज्ञान और क्रिया के लिये इच्छा ही हमारे एकमात्र साधन नहीं हैं, हमारी चेतना और ऊर्जा के सारे उपकरण नहीं हैं। हमारी प्रकृति, यह नाम हम अपने अंदर सत्ता की उस शक्ति को देते हैं जो अपनी क्रीड़ा और शक्ति में हमारे अंदर यथार्थ और संभाव्य है, यह प्रकृति अपनी चेतना की व्यवस्था में जटिल है, शक्ति-विन्यास में जटिल है। यह आवश्यक है कि उस जटिलता के हर एक आविष्कृत और आविष्कृत किये जा सकनेवाले पद और परिस्थिति को, जिसे हम काम-लायक व्यवस्था में ला सकते हैं, उसे अपने लिये यथासंभव उच्चतम और श्रेष्ठतम मूल्यों में कार्यान्वित करें, उसकी विशालतम और समृद्धतम शक्तियों का उस एक उद्देश्य के लिये उपयोग करें। वह उद्देश्य है आत्म-संभूति, सचेतन होना, अपनी उपलब्ध सत्ता में और अपनी तथा वस्तुओं की उपलब्ध अभिज्ञता में निरंतर बढ़ना, सत्ता की यथार्थ बनी हुई शक्ति और सत्ता के यथार्थ बने आनंद में बढ़ना और उस संभूति को जगत् पर और अपने-आप पर क्रियाशील रीति से इस तरह क्रिया में प्रकट करना कि हम और वह (जगत्) सार्वभौमिकता और अनंतता के उच्चतम संभव शिखर की ओर, विशालतम संभव प्रसार की ओर, अधिक और सदा अधिकाधिक बढ़ते चलें। मनुष्य के युग-युग से चले आये प्रयास, उसके कर्म, समाज, कला, नीति, विज्ञान, धर्म की सभी बहुविध क्रियाएं जिनके द्वारा वह अपनी मानसिक, प्राणिक, भौतिक,

आध्यात्मिक सत्ता को प्रकट करता और बढ़ाता है, प्रकृति के इस प्रयास के विशाल नाटक में आनेवाले उपाख्यान हैं और उनके सीमित प्रतीयमान लक्ष्यों के पीछे कोई और सच्चा भाव या आधार नहीं है। प्राचीन वैदिक ऋषियों का ज्ञान से यही मतलब था कि व्यक्ति दिव्य सार्वभौमिकता और परम अनंततातक पहुंच जाये, उसमें निवास करे, उस पर अधिकार करे, केवल वही हो, अपनी सारी सत्ता में चेतना, ऊर्जा, सत्ता के आनंद में उसीको जाने, अनुभव करे और व्यक्त करे। यही वह अमरता है जिसे उन्होंने मनुष्य के आगे उसके दिव्य परमोत्कर्ष के रूप में रखा।

लेकिन अपनी मानसिकता की प्रकृति के कारण, अपनी ओर अंतर्मुखी और जगत् पर बहिर्मुखी दृष्टि के कारण, दोनों में इन्द्रिय और शरीर द्वारा सापेक्ष, स्पष्ट और प्रतीयमान में अपने मूल सीमायन के कारण मनुष्य इस विशाल विकसनशील गति में, पहले प्रकाशहीन और अज्ञानभरे ढंग से, एक-एक कदम करके चलने को बाधित होता है। उसके लिये यह संभव नहीं है कि पहले से ही सत्ता को उसके पूर्ण ऐक्य में देख ले। वह अपने-आपको उसके आगे विभिन्नता द्वारा प्रस्तुत करती है और उसकी ज्ञान की खोज तीन मुख्य श्रेणियों में तल्लीन रहती है जिनमें उसके लिये सारी विभिन्नता समा जाती है: वह स्वयं अर्थात् मनुष्य या व्यष्टिगत अंतरात्मा, भगवान् और प्रकृति। वह अपनी साधारण अज्ञानमय सत्ता में केवल पहली के बारे में ही प्रत्यक्ष रूप से अभिज्ञ होता है; वह अपने-आपको, व्यष्टि को देखता है जो यूं देखने में अपनी सत्ता में अलग है फिर भी बाकी सत्ता से अलग नहीं हो सकता, जो सदा पर्याप्त होने की कोशिश करता है फिर भी अपने लिये अपर्याप्त ही रहता है क्योंकि यह कभी नहीं जाना गया कि वह बाकी से अलग, उनकी सहायता के बिना, विश्व-सत्ता और विश्व-प्रकृति से स्वतंत्र रूप में जीवन में आया हो, जीवन में रहता या उसमें परम परिणति पाता हो। दूसरी वह है जिसे वह अपने मन और शारीरिक इन्द्रियों द्वारा और उनपर उसके प्रभाव द्वारा परोक्ष रूप से जानता है फिर भी जिसे अधिकाधिक पूर्ण रूप से जानने के लिये उसे प्रयास करना चाहिये। क्योंकि वह सत्ता के इस शेष को भी देखता है जिसके साथ वह नजदीक से संबंध रखते हुए भी इतना अलग है—विश्व, जगत्, प्रकृति, अन्य व्यष्टिगत सत्ताएं जिन्हें वह हमेशा अपने जैसा फिर भी अपने से भिन्न देखता है क्योंकि वे प्रकृति में वनस्पति और पशु के साथ भी एक ही हैं और फिर भी प्रकृति में भिन्न हैं। हर एक अपने रास्ते जाता हुआ मालूम होता है, हर एक अलग सत्ता मालूम होता है फिर भी हर एक एक ही गति से प्रेरित होता है और अपनी-अपनी श्रेणी में विकास के उसी विशाल घुमाव का अनुसरण करता है जो उसका अपना है। और अंत में वह कोई ऐसी चीज देखता या उसका अनुमान करता है जिसके बारे में वह एकदम परोक्ष रूप के सिवा किसी और तरह से नहीं जानता; क्योंकि वह उसे केवल अपने द्वारा और उसके द्वारा जानता है जो उसकी सत्ता का लक्ष्य है, जगत् के द्वारा और

उसके द्वारा जानता है जिसकी ओर जगत् निर्देश करता मालूम होता है और जिसतक पहुंचने और जिसे अपनी अपूर्ण आकृतियों से व्यक्त करने का वह धुंधला-सा प्रयास करता है या कम-से-कम उसे जाने बिना, उन्हें अदृश्य सद्वस्तु और गुह्य अनन्तता के साथ गुप्त संबंध पर प्रतिष्ठित करता है।

इस तीसरी और अज्ञात चीज, उभयेतर वस्तु को वह भगवान् कहता है और इस शब्द से उसका मतलब होता है ऐसा कुछ या कोई जो परम हो, दिव्य हो, सर्वकारण हो, सर्व हो, इनमें से कोई एक या ये सब एक साथ हो, वह यहां जो कुछ आंशिक या अपूर्ण है उसकी पूर्णता या समग्रता है, इन सभी विभिन्न सापेक्षताओं का निरपेक्ष है। वह ऐसा अज्ञात है जिसे जानने से ज्ञात का सच्चा रहस्य ज्यादा बोधगम्य होने लगता है। मनुष्य ने इन सभी श्रेणियों को नकारने की कोशिश की है—उसने अपने वास्तविक अस्तित्व से इंकार करने की कोशिश की है, उसने विश्व के वास्तविक अस्तित्व से इंकार करने की कोशिश की है, उसने भगवान् के वास्तविक अस्तित्व से इंकार करने की कोशिश की है। लेकिन इन सभी नकारों के पीछे हमें ज्ञान के लिये उसके प्रयास की वही सतत आवश्यकता दिखलायी देती है क्योंकि वह इन तीनों पदों में ऐक्यतक पहुंचने की आवश्यकता को अनुभव करता है, चाहे वह उनमें से किन्हीं दो को दबाने या बचे हुए एक के साथ मिला देने से ही किया जा सके। ऐसा करने के लिये वह अपने-आपको ही कारण-रूप में प्रतिष्ठित करता है और बाकी सबको अपने मन की रचना मानता है या वह केवल प्रकृति को ही मानता है और बाकी सबको प्रकृति-ऊर्जा के व्यापार के सिवा कुछ नहीं मानता; या फिर वह केवल भगवान्, निरपेक्ष को मानता है और बाकी सबको भ्रांति जिसे तत् अपने ऊपर या हमपर किसी अव्याख्येय माया के द्वारा आरोपित करता है। इनमें से कोई भी न-कार पूरी तरह संतोष नहीं दे पाता। कोई भी पूरी समस्या को हल नहीं कर पाता और न ही कोई निश्चित और निर्विवाद हो सकता है—और वह तो हर्गिज नहीं जिसकी ओर उसकी इन्द्रियों द्वारा शासित बुद्धि बहुत अधिक प्रवृत्त है लेकिन जिसमें बुद्धि अधिक समयतक नहीं टिक सकती। भगवान् को नकारना उसकी अपनी सच्ची खोज को, अपने ही परम पद को नकारना है। प्रकृतिवादी नास्तिकता के युग हमेशा छोटे रहे हैं क्योंकि वे कभी मनुष्य के अंदर गुह्य ज्ञान को संतुष्ट नहीं कर सकते। वह अंतिम वेद नहीं हो सकता क्योंकि वह भीतरी वेद के साथ मेल नहीं खाता जिसे बाहर निकालने के लिये सभी मानसिक ज्ञान प्रयास कर रहे हैं। जिस क्षण मेल न बैठने का अनुभव होता है उसी क्षण उस समाधान का, वह चाहे जितना कौशलपूर्ण और तर्क-संगत और पूर्ण क्यों न हो, फिर भी मनुष्य के अंदर स्थित शाश्वत साक्षी ने उसका फैसला दे दिया है और वह अभिशप्त है। वह ज्ञान का अंतिम शब्द नहीं हो सकता।

मनुष्य, जैसा कि वह है, अपने लिये पर्याप्त नहीं है, वह अलग नहीं है, न वह

शाश्वत और सर्व है इसलिये वह अपने-आपमें विश्व की व्याख्या नहीं हो सकता। उसके मन, प्राण और शरीर स्पष्ट रूप से विश्व के अल्पणु गौण अंग हैं। वह देखता है कि दृश्य विश्व भी अपने लिये पर्याप्त नहीं है और न ही वह अदृश्य जड़-शक्तियों द्वारा अपनी व्याख्या कर सकता है क्योंकि वह देखता है कि स्वयं उसमें और जगत् में ऐसा बहुत कुछ है जो उनके परे है और जिसके वे केवल अग्रभाग, त्वचा, बल्कि मुखौटे दीखते हैं। न तो उसकी बुद्धि, न उसके अंतर्भास और न उसके भाव उस एक या एकत्व के बिना रह सकते हैं जिसके साथ ये वैश्व शक्तियां या वह स्वयं कोई संबंध रखता हो जो उन्हें सहारा देता और सार्थकता प्रदान करता है। वह अनुभव करता है कि एक अनंत होना चाहिये जो इन सांतों को धारण करता है, जो समस्त दृश्य विश्व के भीतर, पीछे और चारों ओर है, जो बहुविध वस्तुओं के सामंजस्य और पारस्परिक संबंध और तात्त्विक एकत्व को आधार देता है। उसके विचार को एक निरपेक्ष की जरूरत है जिसपर ये अनगिनत और सांत सापेक्षताएं अपने अस्तित्व के लिये निर्भर हैं; वस्तुओं का परम सत्य, एक सृजनात्मक शक्ति, सामर्थ्य या सत्ता जो विश्व में अनगिनत सत्ताओं को उत्पन्न करती और बनाये रखती है। वह उसे जो मरजी नाम दे ले, उसे एक परम, एक ईश्वर, एक कारण, एक अनंत, एक शाश्वत, एक स्थायी, एक पूर्णतातक पहुंचना होगा जिसकी ओर सभी प्रवृत्त होते और अभीप्सा करते हैं, या फिर एक सर्वतक जिसके प्रति प्रत्येक वस्तु अदृश्य और चिरस्थायी रूप से बढ़ती है और जिसके बिना ये वस्तुएं हो ही न पातीं।

लेकिन वास्तव में वह इस निरपेक्ष को भी, बाकी दो श्रेणियों से अलग कर अपने-आपमें प्रतिष्ठित नहीं कर सकता क्योंकि तब, यहां उसके सामने हल करने के लिये जो समस्या है, वह उससे उग्र छलांग लगाकर दूर हो जाता है और स्वयं वह और यह विश्व एक उद्देश्यहीन रहस्य या एक ऐसी पहेली बने रहते हैं जिसे बूझा नहीं जा सकता। ऐसे समाधान से उसकी बुद्धि के एक भाग और उसकी विश्राम की चाह को राजी किया जा सकता है, जैसे उसकी भौतिक बुद्धि "परे" को नकारने और जड़-प्रकृति को देवता बना देने से आसानी से संतुष्ट हो जाती है। लेकिन उसका हृदय, उसकी इच्छा—जो सत्ता के सबसे अधिक बलवान् और तीव्र भाग हैं—निरर्थक, किसी प्रयोजन या औचित्य से वंचित रह जाते हैं या शुद्ध सत् के शाश्वत विश्राम के आगे या विश्व की शाश्वत निश्चेतना के बीच मात्र एक निरुद्देश्य मूर्खता बन जाते हैं जो व्यर्थ, बेचैन छाया की तरह अपने-आपको विक्षुब्ध करती है। रही बात विश्व की, वह एक सावधानी से निर्मित अनंत के झूठ, विकराल रूप से आक्रामक और फिर भी वास्तव में अस्तित्वहीन विशृंखलता, एक कष्टदायक दुःखद विरोधाभास का अनोखा स्वरूप बना रहता है जिसमें आश्चर्य, सौंदर्य और आनंद का झूठा दिखावा होता है। या फिर यह अंधी संगठित ऊर्जा की विशाल निरर्थक क्रीड़ा है और उसकी अपनी सत्ता कुछ समय के लिये

घटनेवाली संक्षिप्त-सी असंगति है जो दुर्बोध्य रूप से उस संवेदनहीन विशालता में बार-बार घटती है। इस मार्ग में, उस चेतना, उस ऊर्जा के लिये कोई संतोषजनक परिपूर्ति नहीं मिल सकती जिसने अपने-आपको जगत् में और मनुष्य में अभिव्यक्त किया है। मन को कोई ऐसी चीज पाने की जरूरत है जो इन सबको आपस में जोड़ती है, कोई ऐसी चीज जिससे मनुष्य के अंदर प्रकृति की और प्रकृति की मनुष्य में परिपूर्ति होती है और दोनों अपने-आपको भगवान् में पाते हैं क्योंकि अंततः भगवान् मनुष्य और प्रकृति दोनों में स्वतः अभिव्यक्त होते हैं।

इन तीनों श्रेणियों के एकत्व की स्वीकृति और उनका प्रत्यक्ष दर्शन परम ज्ञान के लिये जरूरी है। व्यष्टि की वृद्धि पाती हुई आत्म-चेतना को इनके एकत्व और इनकी समग्रता की दिशा में खुलना चाहिये और अगर उसे अपने-आपसे संतुष्ट और संपूर्ण होना है तो उसे उनतक पहुंचना ही होगा। क्योंकि एकत्व के ज्ञान के बिना इन तीनों में से किसी का ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकता, उनका एकत्व उनमें से हर एक की अपनी समग्रता के लिये एक शर्त है। और फिर हर एक को उसकी पूर्णता में जानकर तीनों हमारी चेतना में मिलते हैं और एक हो जाते हैं। संपूर्ण ज्ञान में सब कुछ जानना एक और अविभाज्य हो जाता है, अन्यथा केवल विभाजन और तीसरे से दो को अलग करके ही हम किसी तरह के एकत्वतक पहुंच सकते हैं। अतः मनुष्य को अपने आत्म-ज्ञान, अपने जगत्-ज्ञान और अपने ईश्वर-ज्ञान को इतना बढ़ाना होगा कि वह उनकी समग्रता में उनके पारस्परिक अंतर्निवास और एकत्व के बारे में अभिज्ञ हो जाये क्योंकि जबतक वह उन्हें अंशों में ही जानेगा तबतक अपूर्णता रहेगी जिसका परिणाम होता है विभाजन और जबतक उसने समन्वयकारी एकत्व में उनका अनुभव नहीं किया तबतक न तो वह उनके संपूर्ण सत्य को जान पायेगा न सत्ता के आधारभूत अर्थों को।

इसका यह मतलब नहीं है कि 'परम' स्वयंभू और स्वयंपूर्ण नहीं है। भगवान् अपने अंदर निवास करते हैं न कि विश्व या मनुष्य के बलपर, जब कि मनुष्य और जगत् भगवान् के सहारे रहते हैं, अपने बलपर नहीं। जहां उनकी सत्ता भगवान् की सत्ता के साथ एक है वहींतक वे अपने सहारे हैं। फिर भी वे भगवान् की शक्ति के आविर्भाव हैं और भगवान् की शाश्वत सत्ता में भी उनकी आध्यात्मिक वास्तविकता को किसी-न-किसी तरह उपस्थित या अन्तस्थ होना चाहिये अन्यथा उनकी अभिव्यक्ति की कोई संभावना न होगी और अगर वे अभिव्यक्त हुए भी तो उनका कोई अर्थ न होगा। यहां जो मनुष्य दिखायी देता है वह भगवान् की व्यष्टिगत सत्ता है। बहुलता में विस्तारित भगवान् ही सभी व्यक्तिगत सत्ताओं की आत्मा हैं—*एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा* (कठोपनिषद् २. २. १२)। और फिर मनुष्य आत्मा और जगत् के ज्ञान के द्वारा भगवान् के ज्ञानतक पहुंचता है, वह और किसी भी तरह से उसे नहीं पा सकता। भगवान् की अभिव्यक्ति को अस्वीकार

करके नहीं बल्कि उसके बारे में स्वयं अपने अज्ञान और अपने अज्ञान के परिणामों को अस्वीकार करके मनुष्य सबसे अच्छी तरह अपनी सारी सत्ता, चेतना और ऊर्जा और सत्ता के आनंद को ऊपर उठाकर दिव्य सत्ता को अर्पित कर सकता है। वह यह स्वयं अपने द्वारा, एक अभिव्यक्ति द्वारा या विश्व द्वारा अर्थात् दूसरी अभिव्यक्ति द्वारा कर सकता है। केवल अपने द्वारा पहुंचकर उसके लिये यह संभव है कि वह अनिर्वचनीय में, एक व्यष्टिगत विलय या तल्लीनता में डुबकी लगाकर विश्व को खो दे। और केवल विश्व के द्वारा आकर वह अपने व्यक्तित्व को या तो वैश्व सत्ता के निर्वैयक्तित्व में या वैश्व चित्-शक्ति की गतिशील आत्मा में डुबा सकता है। वह या तो वैश्व आत्मा के साथ एक हो जाता है या वैश्व ऊर्जा की निर्वैयक्तिक वाहिनी बन जाता है। दोनों के द्वारा उनकी समान पूर्णता से पहुंचता हुआ, उनके द्वारा और उनके परे भगवान् के सभी पक्षों को पकड़ता हुआ वह दोनों के परे हो जाता है और उस अतिक्रमण द्वारा दोनों की परिपूर्ति कर देता है। वह भगवान् को अपनी सत्ता में उसी तरह अधिकार में रखता है जैसे स्वयं वह भागवत सत्ता, चेतना, प्रकाश, शक्ति, आनंद और ज्ञान से घिरा हुआ, भिदा हुआ, व्याप्त और अधिकृत रहता है। वह भगवान् को अपने अंदर और विश्व के अंदर अधिकृत रखता है। सर्वज्ञान मनुष्य के आगे स्वयं मनुष्य के सृजन का औचित्य और सर्वज्ञान की अपने बनाये जगत् की सृष्टि मनुष्य की पूर्णता-प्राप्ति से कैसे सार्थक होती है इसके औचित्य को सिद्ध करता है। यह सब अतिमानसिक और परम पराप्रकृति में आरोहण और उसकी शक्तियों का अभिव्यक्ति में अवरोहण द्वारा पूरी तरह वास्तविक और प्रभावकारी बन जाता है। लेकिन जब उस चरम-बिंदुतक पहुंचना कठिन और सुदूर हो तब भी मन-प्राण-शरीरमय प्रकृति में आध्यात्मिक प्रतिबिंबन और ग्रहण द्वारा सच्चा ज्ञान आत्मनिष्ठ रूप से वास्तविक बनाया जा सकता है।

लेकिन इस आध्यात्मिक सत्य और उसकी सत्ता के सच्चे लक्ष्य को काफी यात्रा होनेतक प्रकट नहीं होने दिया जाता; क्योंकि प्रकृति के विकसनशील चरणों में मनुष्य की प्रारंभिक तैयारी का काम है अपने निजी व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित करना, उसे स्पष्ट और समृद्ध बनाना, उसे सशक्त और दृढ़ रूप से तथा पूरी तरह अधिकृत करना। परिणामस्वरूप पहले उसे मुख्य रूप से अपने अहंकार के साथ ही लगा रहना पड़ता है। अपने विकास की इस अहंकारमय अवस्था में मनुष्य के लिये जगत् तथा अन्य, वह अपने लिये जितना महत्त्वपूर्ण है उससे कम महत्त्वपूर्ण होते हैं, वस्तुतः वे उसके आत्म-प्रतिष्ठापन के लिये केवल सहायता तथा अवसर के रूप में महत्त्वपूर्ण होते हैं। इस अवस्था में भगवान् भी उसके लिये अपनी तुलना में कम महत्त्वपूर्ण होते हैं इसलिये शुरू के रूपायनों में धार्मिक विकास के निचले स्तरों पर भगवान् या देवों के साथ यूं व्यवहार किया जाता है मानों वे मनुष्य के लिये ही अस्तित्व रखते हों, उसकी कामनाओं की तुष्टि के लिये सर्वोत्कृष्ट यंत्र हों, वह जिस

जगत् में रहता है उसमें उसकी आवश्यकताएं, चाहें और महत्त्वाकांक्षाएं पूरी करने के लिये सहायक हों। इस प्राथमिक अहंकारमय विकास को, अपने समस्त पापों, उग्रताओं और अपरिपक्वताओं के बावजूद, अपने स्थान पर, किसी भी हालत में अशुभ या प्रकृति की भ्रांति नहीं माना जा सकता। यह आवश्यक है मनुष्य के प्रथम कार्य के लिये, यानी अपने व्यक्तित्व की खोज और निम्न अवचेतना से उसके पूर्ण अलगाव के लिये जिसमें व्यक्ति जगत् की सामुदायिक चेतना से अभिभूत और प्रकृति की यांत्रिक क्रियाओं के पूरी तरह आधीन रहता है। मानव व्यष्टि को प्रकृति के विरुद्ध अपने व्यक्तित्व को अलग और प्रतिष्ठित करना होता है, सशक्त रूप से अपने-आप होना, ज्ञान, शक्ति और भोग की अपनी सभी मानव क्षमताओं को विकसित करना होता है ताकि वह उन्हें प्रकृति और जगत् पर अधिकाधिक प्रभुत्व और शक्ति के साथ मोड़ सके। उसका आत्म-विवेक करनेवाला अहंकार उसे इसी प्राथमिक उद्देश्य के लिये दिया गया है। जबतक कि वह अपने व्यक्तित्व और वैयक्तिकता, अपनी पृथक् क्षमता को विकसित न कर ले तबतक वह उस महान् कार्य के योग्य नहीं हो सकता जो उसके सामने है और न ही सफलता के साथ अपनी क्षमताओं को उच्चतर, विशालतर और अधिक दिव्य लक्ष्यों की ओर मोड़ सकता है। वह अपने-आपको ज्ञान में पूर्ण कर सके उससे पहले उसे अपने-आपको अज्ञान में प्रतिष्ठित करना होता है।

क्योंकि निश्चेतना में से विकसनशील आविर्भाव का आरंभ दो शक्तियों द्वारा काम करता है, एक गुप्त वैश्व चेतना और एक व्यक्तिगत चेतना जो सतह पर अभिव्यक्त होती है। गुप्त वैश्व चेतना सतही व्यक्ति के लिये गुप्त और अन्तस्तलीय रहती है। वह पृथक् वस्तुओं और व्यक्तियों के सृजन द्वारा अपने-आपको सतह पर व्यवस्थित करती है। लेकिन जब कि वह पृथक् वस्तु और व्यक्ति के शरीर तथा मन की व्यवस्था करती है वहां, साथ ही चेतना की सामूहिक शक्तियों का सृजन भी करती है जो वैश्व प्रकृति के महान् आत्मनिष्ठ रूपायण होते हैं लेकिन वह उनके लिये संगठित मन और शरीर की व्यवस्था नहीं करती। वह उन्हें व्यष्टियों के समुदाय पर आधारित रखती है, वह एक सामुदायिक मन, बदलता हुआ किन्तु अविच्छिन्न सामुदायिक शरीर विकसित करती है। इसका मतलब यह होता है कि जैसे-जैसे व्यष्टि अधिकाधिक सचेतन होते जाएं वैसे ही सामुदायिक सत्ता भी अधिक सचेतन हो सकती है। सामूहिक सत्ता की बाहरी शक्ति और विस्तार से भिन्न, भीतरी वृद्धि के लिये व्यक्ति की वृद्धि अनिवार्य साधन है। व्यष्टि का वस्तुतः यह द्विविध महत्त्व है कि उसके द्वारा वैश्व आत्मा अपनी सामूहिक इकाइयां संगठित करती और उन्हें आत्माभिव्यंजक और प्रगतिशील बनाती और उसी के द्वारा वह प्रकृति को निश्चेतना से अतिचेतनातक उठाती और परात्पर से मिलने के लिये उन्नीत करती है। जनसाधारण में सामूहिक चेतना निश्चेतना के निकट होती है। उसमें एक

अवचेतना, एक धुंधली, मूक गति होती है जिसे अपने-आपको अभिव्यक्त करने, प्रकाश में लाने और प्रभावी होने के लिये और व्यवस्थित करने के लिये व्यक्ति की जरूरत होती है। जन-चेतना अपने-आपमें एक अस्पष्ट, अर्द्ध-निर्मित या अनिर्मित अंतस्तलीय और सामान्यतः अवचेतन अंतर्वेग द्वारा गति करती है जो बाहरी सतह की ओर उठता है। वह अंधी या आधा देखनेवाली सर्व-सम्मति की ओर प्रवृत्त होती है जो सामान्य गति में व्यक्ति को दबा देती है। अगर वह सोचती भी है तो आदर्श-वाक्य, नारे, किसी दल-सिद्धांत, किसी सामान्य अपरिमार्जित या गठित भाव, किसी परंपरा से चली आयी स्वीकृत रीति के अनुसार भावना द्वारा ही। वह कर्म करती है और जब वह सहजवृत्ति या अंतर्वेग के कारण न हो तो झुंड के नियम के अनुसार, भेड़ियाधसान वृत्ति या जातीय नियम के अनुसार होता है। यह जन-चेतना, प्राण, कर्म तब असाधारण रूप से प्रभावशाली हो सकते हैं जब वह एक या कुछ ऐसे बलशाली व्यक्तियों को पा ले जो उसे मूर्त रूप दे सकें, अभिव्यक्त, संगठित और निर्देशित कर सकें। उसकी अचानक होनेवाली सामूहिक गतियां कुछ समय के लिये हिम-स्खलन या तूफान के वेग की तरह अप्रतिरोध्य हो सकती हैं। जन-चेतना के अंदर व्यक्ति का दमन या उसकी पूर्ण अधीनता किसी राष्ट्र या जाति को व्यावहारिक क्षमता दे सकती है अगर अंतस्तलीय सामुदायिक सत्ता एक बाध्यकारी परंपरा बना ले या किसी ऐसे दल, वर्ग या अध्यक्ष को खोज ले जो उसकी आत्मा और दिशा को मूर्त रूप दे सके। शक्तिशाली सैनिक राज्यों की शक्ति के पीछे, व्यक्तियों पर तनावभरे और कठोर जीवन की संस्कृति को कठोरता से लादनेवाले समुदायों की शक्ति के पीछे, महान् विश्व-विजेताओं की सफलता के पीछे प्रकृति का यही रहस्य था। लेकिन यह दक्षता बाहरी जीवन की होती है और यह जीवन उच्चतम या हमारी सत्ता का परम पद नहीं है। हमारे अंदर मन है, अंतरात्मा और आत्मा है और हमारे जीवन का कोई सच्चा मूल्य नहीं यदि उसमें बढ़ती हुई चेतना, विकसनशील मन न हो और यदि प्राण और मन अंतरात्मा की, अंदर निवास करनेवाली आत्मा की मुक्ति और परिपूर्णता की अभिव्यक्ति, यंत्र और साधन न हों।

लेकिन मन की प्रगति, अंतरात्मा की वृद्धि, समुदाय के मन और अंतरात्मा की प्रगति तथा वृद्धि भी व्यक्ति पर, उसकी पर्याप्त स्वतंत्रता और स्वाधीनता पर, जन-समूह में अभीतक जो अनभिव्यक्त है, जो अवचेतन में से अविकसित है या जिसे अंदर से बाहर नहीं लाया गया है या अतिचेतन में से नीचे नहीं उतारा गया है, उसे व्यक्त करने और सत्ता में लाने की उसकी पृथक् शक्ति पर निर्भर है। समुदाय एक पिंड, रूपायण का एक क्षेत्र है और व्यक्ति सत्य को खोजनेवाला, रूप देनेवाला, स्रष्टा है। भीड़ में व्यक्ति अपनी आंतरिक दिशा खो बैठता है और जनसाधारण के शरीर का एक कोषाणु बन जाता है जिसे सामुदायिक इच्छा, भाव या जन-संवेग

गति देता है। उसे अलग खड़ा होना, अपनी अलग वास्तविकता को समग्र में प्रतिष्ठित करना होता है। उसका अपना मन सामान्य मानसिकता में से ऊपर उभरता है, उसका प्राण सार्वजनिक प्राण-एकरूपता के बीच से अलग रूप दिखाता है जैसे उसके शरीर ने सार्वजनिक शारीरिकता में कुछ अनोखी और अलग पहचानी जानेवाली चीज विकसित कर ली है। और अंत में उसे स्वयं अपने अंदर निवृत्त होना पड़ता है ताकि वह अपने-आपको पा सके, और जब वह अपने-आपको पा ले केवल तभी यह संभव हो सकता है कि वह सबके साथ आध्यात्मिक रूप से एक हो जाये। अगर वह उस ऐक्य को मन में, प्राण में, भौतिक में प्राप्त करना चाहे और उसमें काफी मजबूत व्यक्तित्व न हो तो वह जनचेतना से अभिभूत हो सकता है और अपनी आत्मा की परिपूर्ति, मन की परिपूर्ति, प्राण की परिपूर्ति को खोकर समूहगत शरीर का कोषाणु मात्र बन सकता है। तब सामुदायिक सत्ता मजबूत और प्रधान बन सकती है लेकिन संभव है कि वह अपनी नमनीयता, अपनी विकसनशील गति खो बैठे। मानव जाति के महान् विकसनशील युग उन जातियों में आये हैं जहां व्यक्ति सक्रिय बने हैं, मानसिक, प्राणिक और आध्यात्मिक दृष्टि से सजीव बने हैं। प्रकृति ने अहंकार का इसीलिये अन्वेषण किया है ताकि व्यक्ति अपने-आपको निश्चेतना या जनसमूह की अवचेतना से अलग कर सके और एक स्वतंत्र जीवन्त मन, प्राण-शक्ति, अंतरात्मा, आत्मा बन जाये, अपने चारों ओर के जगत् के साथ अपने-आपको सहयोजित करे पर वह जगत् में डूब न जाये और उसका पृथक् अस्तित्व या प्रभाव न रहे क्योंकि वस्तुतः व्यक्ति वैश्व सत्ता का एक अंश है, लेकिन वह कुछ और भी है। वह एक अंतरात्मा है जो परात्पर से उतरी है। इसे वह एकदम प्रकट नहीं कर सकता क्योंकि वह वैश्व निश्चेतना के बहुत नजदीक है; मौलिक अतिचेतना के काफी नजदीक नहीं। उसे अपने-आपको अंतरात्मा या आत्मा के रूप में जानने से पहले अपने-आपको मानसिक और प्राणिक अहंकार के रूप में जानना होगा।

फिर भी अपने अहंकारात्मक व्यक्तित्व को पा लेना ही अपने-आपको जानना नहीं है; सच्चा आध्यात्मिक व्यक्ति मानसिक अहं, प्राणिक अहं या शारीरिक अहं नहीं है। प्रधान रूप से यह पहली गति, इच्छा, शक्ति और अहंकारमय आत्म-संपादन का कार्य है, ज्ञान का तो गौण रूप से ही है। अतः एक ऐसा समय आना चाहिये जब मनुष्य को अपनी अहंकारात्मक सत्ता की अंधेरी सतह के नीचे देखना होगा और अपने-आपको जानने का प्रयास करना होगा। उसे वास्तविक मनुष्य को पाने के लिये चल पड़ना होगा। उसके बिना वह प्रकृति की प्राथमिक शिक्षा में ही रुक जायेगा और कभी उसकी विशालतर और गहनतर शिक्षातक न पहुंच पायेगा। उसका व्यावहारिक ज्ञान और दक्षता चाहे जितनी अधिक क्यों न हो, वह पशु से बस जरा ही ऊंचा होगा। पहले उसे अपनी नजर अपने मनोविज्ञान पर डालनी होगी

और उसके स्वाभाविक तत्त्वों—अहं, मन और उसके यंत्र, प्राण और शरीर—को अलग-अलग जानना होगा, यहांतक कि उसे पता चले कि उसकी सारी सत्ता को एक ऐसी व्याख्या की जरूरत है जो प्राकृतिक तत्त्वों की क्रिया से भिन्न हो, अपने क्रिया-कलाप के लिये अहंकारभरे आत्म-प्रतिष्ठापन और संतोष से भिन्न कोई लक्ष्य हो। वह इसकी खोज प्रकृति और मानव जाति में कर सकता और इस तरह बाकी जगत् के साथ अपने एकत्व की खोज की दिशा में चल सकता है। वह अतिप्रकृति में, भगवान् में इसे खोज सकता और इस तरह भगवान् के साथ एकत्व की खोज की दिशा में चल सकता है। व्यावहारिक रूप में वह दोनों मार्गों पर कोशिश करता है और सदा डगमगाते हुए अपने-आपको उत्तरोत्तर आनेवाले उन समाधानों पर सतत रूप से स्थिर करने की कोशिश करता है जो उसकी उन विभिन्न आंशिक खोजों के सबसे अधिक अनुकूल हैं जिन्हें उसने खोज और आविष्कार के दोहरे मार्ग पर पाया है।

लेकिन इस सबके बीच जो वह इस अवस्था में है, वह अपने-आपको खोजने, जानने और परिपूरित करने में लगा रहता है। उसका प्रकृति का ज्ञान, उसका भगवान् का ज्ञान, आत्म-ज्ञान की ओर, अपनी सत्ता की पूर्णता की ओर, वैयक्तिक आत्म-सत्ता के परम उद्देश्य की प्राप्ति की ओर सहायक भर हैं। प्रकृति और विश्व की ओर अभिमुख होकर उसका वह प्रयास मानसिक और प्राणिक भाव में, आत्म-ज्ञान और आत्म-प्रभुत्व का और जगत्-प्रभुत्व का रूप धारण कर सकता है जिसमें हम अपने-आपको पाते हैं। भगवान् की ओर अभिमुख होकर भी यह रूप धारण कर सकता है लेकिन जगत् और आत्मा के उच्चतर अर्थों में, या फिर वह यह रूप ले सकता है जो धार्मिक मन के लिये इतना परिचित और निर्णायक है—व्यक्तिगत मोक्ष की खोज, चाहे वह परलोक के स्वर्ग में हो या परम आत्मा या परम अनात्मा में पृथक् निमज्जन द्वारा—आनंद या निर्वाण की चाह। फिर भी शुरू से आखिरतक व्यक्ति ही वैयक्तिक आत्म-ज्ञान की और अपने अलग अस्तित्व के लक्ष्य की खोज करता है, बाकी सब—परोपकार, मानव जाति के लिये प्रेम और उसकी सेवा, आत्म-विलोपन और आत्म-विसर्जन—उसमें चाहे जितने सूक्ष्म छद्मवेश क्यों न हों, सब उसके उपलब्ध व्यक्तित्व की एकमात्र महान् तल्लीनता के लिये सहायक और साधन हैं। यह एक विस्तृत अहंकार मालूम हो सकता है और तब पृथक्कारी अहं ही मनुष्य की सत्ता का सत्य हो सकता है जो उसमें अंततक बना रहेगा या जबतक वह आत्म-विलोपन द्वारा अनंत की निराकार शाश्वतता में मुक्त न हो जाये। लेकिन पीछे एक गहनतर रहस्य है जो उसके व्यक्तित्व और उसकी मांग को उचित ठहराता है। वह है आध्यात्मिक और शाश्वत व्यक्ति, पुरुष का रहस्य।

व्यक्ति में भागवत तत्त्व, आध्यात्मिक पुरुष के कारण पूर्णता या मुक्ति, जिसे पश्चिम में 'सैलवेशन' (salvation) कहते हैं, को व्यक्तिगत होना होता है,

सामुदायिक नहीं; क्योंकि समुदाय की चाहे जिस पूर्णता की खोज की जाये, वह व्यक्तियों की पूर्णता द्वारा ही आ सकती है, व्यक्ति से ही तो समुदाय बनता है। चूंकि व्यक्ति तत् है इसलिये उसे अपने-आपको पाना ही उसकी बड़ी आवश्यकता है। परम के प्रति अपने पूर्ण समर्पण और आत्म-निवेदन द्वारा व्यक्ति अपने पूर्ण आत्म-निवेदन में ही पूर्ण आत्मोपलब्धि पाता है। मानसिक, प्राणिक और भौतिक अहं, यहांतक कि आध्यात्मिक अहं के विलोपन में, रूपहीन, सीमाहीन व्यक्ति ही अपनी ही अनंतता में बच निकलने की शांति और आनंद को पाता है। इस अनुभव में कि वह कुछ नहीं और कोई नहीं है या सब कुछ और सब कोई है, या वह एकमेव है जो सभी चीजों के परे और निरपेक्ष है, व्यक्ति में स्थित ब्रह्म ही अपनी शाश्वत सत्ता के विशाल, सबका समावेश करनेवाले या परम सर्वातीत एकत्व के साथ अपनी शाश्वत वैयक्तिक सत्ता का यह महाविलय या यह चमत्कारपूर्ण योग सम्पन्न करता है। अहं से परे जाना अत्यंत आवश्यक है लेकिन तुम आत्मा के परे नहीं जा सकते—यह तो परम और वैश्व भाव में जाकर ही किया जा सकता है। क्योंकि आत्मा अहं नहीं है; वह सर्व तथा एकमेव के साथ एक है और उसे खोजने में हम सर्व और एकमेव को अपनी आत्मा में खोज लेते हैं, परस्पर-विरोध और पृथकता दूर हो जाते हैं लेकिन उस मुक्तिदाता तिरोभाव के कारण आत्मा और आध्यात्मिक सद्वस्तु एक और सर्व के साथ एक होकर बने रहते हैं।

जैसे ही मनुष्य अपनी बाहरी सत्ता के साथ अपनी अत्यधिक प्रतीयमान आत्मा की प्रकृति और भगवान् के साथ संबंधों की अत्यधिक व्यस्त रहने की अवस्था से परे जाता है, वैसे ही उच्चतर आत्म-ज्ञान शुरू हो जाता है। उसका एक चरण है यह जानना कि यही जीवन सब कुछ नहीं है, अपनी कालिक नित्यता की धारणातक पहुंचना, जिस आंतरिक स्थायित्व को अंतरात्मा की अमरता कहा जाता है उसकी अनुभूति, उसकी ठोस अभिज्ञता पाना। जब वह जानता है कि जड़ के परे भी लोक हैं, उसके आगे और पीछे भी जीवन है, कम-से-कम पूर्व जन्म और पुनर्जन्म है तो वह अपने-आपको काल के तात्कालिक क्षणों के परे, स्वयं अपनी शाश्वतता पर अधिकार पाकर, कालिक अज्ञान से पिंड छुड़ाने के मार्ग पर पाता है। आगे की ओर दूसरा चरण है यह जानना कि उसकी सतही जाग्रत् अवस्था उसकी सत्ता का एक छोटा-सा अंश ही है, निश्चेतना की खाई की, अवचेतन तथा अंतस्तलीय की गहराई की थाह लेना शुरू करना और अतिचेतन की ऊंचाइयों पर चढ़ना आरंभ करना है; इस तरह वह अपने मनोवैज्ञानिक आत्म-अज्ञान को हटाना शुरू करता है। तीसरा चरण है यह जान लेना कि उसके अंदर सहायक मन, प्राण और शरीर के सिवा कुछ और भी है, केवल अमर, सदा विकसनशील व्यक्तिगत अंतरात्मा ही नहीं जो उसकी प्रकृति को सहारा देती है बल्कि एक शाश्वत, निर्विकार आत्मा और

आध्यात्म पुरुष है, और यह जानना कि उसकी आध्यात्मिक सत्ता की कौन-कौन-सी श्रेणियां हैं; यहांतक कि वह खोज लेता है कि उसके अंदर सब कुछ आत्मा का प्रकटन है, और वह उच्चतर और निम्नतर अस्तित्व के बीच की कड़ी को पहचान लेता है और इस तरह वह अपने संरचनागत आत्म-अज्ञान को हटाना शुरू करता है। आत्मा और आध्यात्म सत्ता की खोज करते-करते वह भगवान् को खोज लेता है। उसे पता चलता है कि कालिक के परे एक आत्मा है। वह उस आत्मा का दर्शन वैश्व चेतना में प्रकृति और सत्ताओं के इस जगत् के पीछे दिव्य सद्वस्तु के रूप में पाता है। उसका मन उस निरपेक्ष के विचार या बोध की ओर खुलता है जिसके अलग-अलग बहुत-से चेहरे हैं; आत्मा, व्यक्ति और विश्व। वैश्व, अहंकारात्मक और मौलिक अज्ञान उसपर अपनी पकड़ की कठोरता खोने लगते हैं। अपने अस्तित्व को इस बढ़ते हुए ज्ञान के सांचे में ढालने के प्रयास में जीवन के बारे में उसकी सारी दृष्टि और अभिप्राय, विचार और क्रिया उत्तरोत्तर बदलते और रूपान्तरित होते रहते हैं, अपने, अपनी प्रकृति और अपने जीवन के उद्देश्य के बारे में उसका व्यावहारिक अज्ञान कम होने लगता है। उसने अपना पग उस पथ पर रख दिया है जो मिथ्यात्व और दुःख-दर्द के सीमित और आंशिक जीवन से बाहर निकालकर सच्चे और संपूर्ण जीवन पर पूर्ण अधिकार और भोग की ओर ले जाता है।

इस प्रगति के दौरान उसे एक-एक कदम करके उन तीन श्रेणियों की एकता का पता लगता है जिन्हें लेकर वह चला था। क्योंकि पहले उसे पता लगता है कि अपनी अभिव्यक्त सत्ता में वह विश्व और प्रकृति के साथ एक है; मन, प्राण और शरीर, काल के अनुक्रम में अंतरात्मा, चेतन, अवचेतन और अतिचेतन—ये अपने विभिन्न संबंधों में और उन संबंधों के परिणाम में विश्व और प्रकृति हैं। लेकिन साथ ही उसे पता चलता है कि जो कुछ उनके पीछे स्थित है या जिसपर वे आधारित हैं उस सब में वह ईश्वर के साथ एक है क्योंकि निरपेक्ष, आत्मा, देशकालातीत आत्मा, विश्व में अभिव्यक्त आत्मा और प्रकृति के स्वामी—भगवान् से हमारा मतलब यह सब होता है। और इस सब में मनुष्य की अपनी सत्ता भगवान् की ओर लौट जाती है और उन्हींसे निःसृत होती है। वह निरपेक्ष, आत्मा, आध्यात्म सत्ता, विश्व के अंदर अपने बहुत्व में आत्म-प्रक्षिप्त और प्रकृति में अवगुण्ठित है। इन दोनों ही उपलब्धियों में वह अन्य सभी अंतरात्माओं और सत्ताओं के साथ अपना एकत्व पाता है—प्रकृति में सापेक्ष रूप से क्योंकि वह मन, प्राणशक्ति, जड़-भौतिक, अंतरात्मा, हर वैश्व तत्त्व और परिणाम में एक है, ऊर्जा और ऊर्जा-क्रिया में, तत्त्व के विन्यास और परिणाम के विन्यास में, उनकी चाहे जितनी भिन्नता क्यों न हो, फिर भी भगवान् में पूरी तरह एक है क्योंकि एकमात्र निरपेक्ष, एक आत्मा, एक आध्यात्म पुरुष सदा सबकी आत्मा और सबका मूल है,

उनकी बहुविध विभिन्नताओं पर अधिकार रखनेवाला और उन्हें भोगनेवाला है। उसके आगे भगवान् और प्रकृति का एकत्व प्रकट होने से नहीं चूक सकता क्योंकि अंत में उसे पता चलता है कि निरपेक्ष ही ये सब सापेक्षताएं हैं। वह देखता है कि यह एक आत्मा है और हर अन्य तत्त्व इसीकी अभिव्यक्ति है; उसे पता लगता है कि आत्मा ही ये सब संभूतियां बन गयी है। वह अनुभव करता है कि शक्ति, सभी सत्ताओं के प्रभु की सत्ता और चेतना की शक्ति ही वह प्रकृति है जो विश्व में कार्य कर रही है। इस भांति आत्म-ज्ञान की प्रगति में हम उसतक जा पहुंचते हैं जिसे जानकर सब कुछ जान लिया जाता है, सब कुछ हमारी आत्मा के साथ एक जाना जाता है और जिसपर अधिकार करने से हमारी आत्म-सत्ता में सब पर अधिकार और सबका भोग हो जाता है।

समान रूप से, इस एकत्व के कारण, विश्व का ज्ञान भी निश्चित रूप से मनुष्य के मन को उसी महान् अंतःप्रकाश की ओर ले जायेगा। क्योंकि वह प्रकृति को जड़-तत्त्व, शक्ति और प्राण के रूप में तबतक नहीं जान सकता जबतक कि वह इन तत्त्वों के साथ मानसिक चेतना के संबंध की जांच न कर ले और एक बार वह मन के सच्चे स्वभाव को जान ले तो अनिवार्य रूप से उसे हर सतही आभास के परे जाना पड़ेगा। उसे शक्ति के कार्यों में प्रच्छन्न इच्छा और प्रज्ञा का पता लगाना होगा जो भौतिक और प्राणिक व्यापारों में क्रियाशील है; उसे उसको इस रूप में देखना होगा कि जाग्रत् चेतना, अवचेतन और अतिचेतन एक हैं, उसे जड़-भौतिक विश्व के शरीर में अंतरात्मा को पाना होगा। इन श्रेणियों में प्रकृति का अनुसरण करते हुए, जिनमें वह शेष विश्व के साथ अपने एकत्व को पहचानता है, जो कुछ दिखलायी देता है उस सबके पीछे वह एक पराप्रकृति को पाता है जो काल में और काल के परे, देश में और देश के परे आध्यात्म-पुरुष की परम-शक्ति है, आत्मा की चिन्मय-शक्ति है जिसके द्वारा आत्मा सभी संभूतियां बन जाती है, जिसके द्वारा निरपेक्ष सभी सापेक्षों को अभिव्यक्त करता है। वह उसे जानता है, दूसरे शब्दों में, वह उसे केवल जड़-भौतिक ऊर्जा, प्राण-शक्ति, मानसिक ऊर्जा, प्रकृति के नाना रूप ही नहीं बल्कि सत्ता के दिव्य प्रभु की ज्ञान-इच्छा की शक्ति, स्वयंभू शाश्वत और अनंत की चित्-शक्ति के रूप में जानता है।

मनुष्य की भगवान् के लिये खोज, जो अंत में उसकी सभी खोजों में सबसे अधिक तब्रि और मोहक बन जाती है, शुरू होती है प्रकृति के बारे में उसके अस्पष्ट प्रश्नों से और किसी ऐसी चीज के बोध से जो अपने में और प्रकृति में दोनों में ही देखने में नहीं आती। जैसा आधुनिक विज्ञान का आग्रह है कि अगर धर्म का आरंभ सर्वात्मवाद, प्रेत-पूजा, राक्षस-पूजा और सभी प्राकृतिक शक्तियों को दैवी शक्तियां मान करके ही हुआ हो तो वे पहले रूप आदिम आकारों में अवचेतना के अवगुण्ठित अंतर्भासों को मूर्त रूप देते हैं, छिपे हुए प्रभावों और अनिश्चित

शक्तियों, या किसी अचेतन मालूम होनेवाली चीजों में सत्ता, इच्छा, प्रज्ञा के भाव, दृश्य के पीछे अदृश्य, ऊर्जा की हर क्रिया में अपने-आपको बांटती हुई गुप्त रूप से सचेतन आत्मा के बोध को ही आदिम आकारों में मूर्त रूप देते हैं। प्रथम दर्शन की अस्पष्टता और आदिम अपर्याप्तता मानव हृदय और मन की इस महान् खोज के मूल्य या सत्य को घटाती नहीं है क्योंकि हमारी सभी खोजों—जिनमें स्वयं विज्ञान भी है—को छिपी हुई वास्तविकताओं के अस्पष्ट और अज्ञानभरे दर्शन से ही चलना पड़ता है और सत्य के अधिकाधिक प्रकाशमान दर्शन की ओर जाना पड़ता है, जो पहले-पहल हमारे पास अज्ञान के कुहासे से ढका होकर, छद्मवेश में, आवृत होकर आता है। मानव गुणारोपण इस सत्य की मान्यता का रूपक है कि मनुष्य जो कुछ है वह इस कारण है कि भगवान् जो कुछ हैं वही हैं और यह कि वस्तुओं की एक ही आत्मा है और एक ही शरीर है और यह कि अपनी अपूर्णता में भी मानवजाति यहांपर अभीतक उपलब्ध सबसे अधिक पूर्ण अभिव्यक्ति है और मनुष्य में जो अपूर्ण है उसकी पूर्णता ही दिव्यता है। वह अपने-आपको सब जगह देखता और उसे भगवान् मानकर पूजता है, यह भी सच है लेकिन यहां भी उसने अपने टटोलते हुए अज्ञान के हाथ को अस्तव्यस्तता के साथ एक सत्य पर रख दिया है—सत्य यह है कि उसकी सत्ता और परम सत्ता एक हैं, कि यह तत् का आंशिक प्रतिबिंब है और इस बृहत्तर आत्मा को हर जगह पाना भगवान् को पाना है और वस्तुओं में सद्वस्तु के, समस्त अस्तित्व की वास्तविकता के निकट आना है।

मानव धर्मों और दर्शनों की विविधता का रहस्य है विभिन्नता और विसंगति के पीछे छिपा हुआ एकत्व क्योंकि वे सब एक सत्य के किसी बिंब या किसी गौण संकेततक पहुंचते हैं, उस अद्वय सत्य के किसी अंश का स्पर्श करते या उसके बहुत से पहलुओं में से किसी एक को देखते हैं। वे चाहे जड़-जगत् को धुंधले-से रूप में भगवान् के शरीर के रूप में देखें या प्राण को भागवत सत्ता के श्वास के बड़े स्पंदन के रूप में या सभी वस्तुओं को वैश्व मन के विचारों के रूप में देखें या यह अनुभव करें कि एक आत्मा है जो इन सब वस्तुओं से महान् है, जो उनका सूक्ष्मतर और फिर भी अधिक अद्भुत स्रोत और स्रष्टा है—भगवान् को चाहे वे केवल निश्चेतना में ही पायें या उसे निश्चेतन वस्तुओं के बीच एकमात्र सचेतन के रूप में या उसे ऐसी अनिर्वचनीय अतिचेतन सत्ता के रूप में जिसके पास पहुंचने के लिये हमें अपनी पार्थिव सत्ता को पीछे छोड़ना और मन, प्राण और शरीर को रद्द करना होगा या विभाजन पर विजय पाकर यह देखना होगा कि वह यह सब एक साथ है और निर्भय होकर उस दृष्टि के विशाल परिणाम को स्वीकार करें—चाहे वे उसे वैश्व सत्ता मानकर वैश्व रूप में पूजें या उसे और अपने-आपको ही केवल मानव जाति में सीमित कर लें जैसे प्रत्यक्षवादी करते हैं या उसके विपरीत देशातीत, कालातीत, निर्विकार के दर्शन में बहकर भगवान् को प्रकृति और विश्व में

नकार दें—चाहे वे उसे मानव अहंकार के विभिन्न अजीब या सुन्दर या बढ़े हुए रूपों में पूजें या उसके ऐसे गुणों के पूर्ण धारक होने के कारण पूजें जिनके लिये मनुष्य अभीप्सा करता है, उसकी दिव्यता उनके आगे परम शक्ति, प्रेम, सौंदर्य, सत्य, नीतिपरायणता, प्रज्ञा के रूप में प्रकट होती है—चाहे वे उसे प्रकृति के स्वामी, पिता और स्रष्टा के रूप में देखें या स्वयं प्रकृति और विश्वजननी के रूप में, चाहे वे परम प्रेमी के रूप में और अंतरात्माओं को आकर्षित करनेवाले के रूप में उसका पीछा करें या समस्त कर्मों के छिपे हुए स्वामी के रूप में उसकी सेवा करें या एक देव के आगे झुकें या अनेकविध देवों के आगे; एक दिव्य मानव या सभी मनुष्यों में स्थित एक देव के आगे झुकें या ज्यादा बड़े रूप में उस एकमेव को खोजें जिसकी उपस्थिति हमें चेतना में, कर्म में, या जीवन में सब प्राणियों के साथ एक होने योग्य बना देती है, देश और काल में सभी चीजों के साथ, प्रकृति और उसके प्रभावों, बल्कि उसकी निर्जीव शक्तियों के साथ भी एक होने योग्य बना देती है—पीछे का सत्य हमेशा वह का वही होना चाहिये क्योंकि सब कुछ एक ही दिव्य अनंतता है जिसे सब खोज रहे हैं। चूंकि हर चीज वही एक है इसलिये उसे अधिकृत करने के लिये मानव के उसकी ओर जाने के तरीके भी अनगिनत होने चाहियें। मनुष्य भगवान् को पूरी तरह जान ले इसके लिये जरूरी था कि वह उसे नाना-प्रकार से पाये लेकिन जब ज्ञान अपने उच्चतम पहलुओंतक पहुंचता है तभी उसके अधिकतम एकत्वतक पहुंचना संभव होता है। उच्चतम और विशालतम दृष्टि ही सबसे अधिक प्रज्ञावान् होती है क्योंकि तब समस्त ज्ञान उसके एक व्यापक अर्थ में एक हो जाता है। सभी धर्म एक, अद्वितीय सत्य की ओर जानेवाले मार्ग दिखायी देते हैं, सभी दर्शन एक ही सद्वस्तु के भिन्न-भिन्न पार्श्वों को देखने के लिये भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण होते हैं, सभी विज्ञान एक परम विज्ञान के अंदर आ मिलते हैं। क्योंकि वह जिसे हमारा मानसिक ज्ञान, इन्द्रिय-ज्ञान और अतीन्द्रिय दृष्टि खोज रहे हैं वह भगवान् और मनुष्य और प्रकृति और जो कुछ प्रकृति में है उसकी एकता में अपनी अधिकतम पूर्णता के साथ पाया जाता है।

ब्रह्म, निरपेक्ष ही आध्यात्म पुरुष है, कालातीत आत्मा है, काल को अधिकार में करनेवाली आत्मा है, प्रकृति का स्वामी, विश्व का स्रष्टा और आधान और सभी सत्ताओं में अंतर्निहित है, वह आत्मा है जिससे सभी आत्माएं पैदा होती हैं और जिसकी ओर वे आकर्षित होती हैं—यही है सत्ता का वह सत्य जिसे मनुष्य की भगवान् के संबंध में उच्चतम धारणा इसी रूप में देखती है। सभी सापेक्षों में प्रकट वही निरपेक्ष, वह आत्मा जो अपने-आपको वैश्व मन, प्राण और जड़ में मूर्त करती है और प्रकृति जिसकी ऊर्जा की आत्मा है, जिससे वह जो कुछ रचती हुई प्रतीत होती है वह स्वयं उसकी सत्ता में, उसीकी सचेतन शक्ति के आगे उसी बहुविध सत्ता के आनंद के लिये विभिन्न रूप से अभिव्यक्त हुआ स्व और आत्मा

है—यह सत्ता का वह सत्य है जिसकी ओर मनुष्य का प्रकृति-ज्ञान और विश्व-ज्ञान उसे लिये जा रहा है और जिसतक वह तब पहुंचेगा जब उसका प्रकृति का ज्ञान अपने-आपको भगवान् के ज्ञान के साथ एक कर लेगा। निरपेक्ष का यह सत्य जगत् के युग-चक्रों का औचित्य है, उनका खण्डन नहीं। आत्म-सत् ही ये सब संभूतियां बन गया है। आत्मा ही इन सब सत्ताओं का शाश्वत ऐक्य है—सोऽहम्। वैश्व ऊर्जा उस स्वयंभू की सचेतन शक्ति से भिन्न नहीं है। उस ऊर्जा द्वारा वह वैश्व प्रकृति के माध्यम से अपने अनगिनत रूप धारण करता है, वह अपनी दिव्य प्रकृति द्वारा वैश्व को आलिंगन में लेता हुआ, बल्कि उसे पार करता हुआ, उनके भीतर अपनी संपूर्ण सत्ता पर तब व्यक्तिगत अधिकार पा सकता है जब उसकी उपस्थिति और शक्ति का एक में, सबमें और एक तथा सबके संबंधों में अनुभव होता है—सत्ता का यही वह सत्य है जिसकी ओर मनुष्य का समस्त आत्मज्ञान भगवान् और प्रकृति में उठता और विस्तृत होता है। एक तिहरा ज्ञान; भगवान् का पूर्ण ज्ञान, अपना पूर्ण ज्ञान और प्रकृति का पूर्ण ज्ञान, उसे अपना उच्च लक्ष्य प्रदान करता है, मानव जाति के परिश्रम और प्रयास को विशाल और पूर्ण अर्थ प्रदान करता है। मनुष्य की अपनी चेतना में भगवान्, आत्मा और प्रकृति, तीनों का सचेतन ऐक्य ही उसकी पूर्णता का निश्चित आधार है और उसके सभी सामंजस्यों की उपलब्धि है। यह उसकी अधिक-से-अधिक ऊंची और विस्तृत अवस्था होगी, यह उसकी दिव्य चेतना और दिव्य जीवन की स्थिति होगी और इसका सूत्रपात उसके आत्म-ज्ञान, जगत्-ज्ञान और ईश्वर-ज्ञान के समस्त विकास का आरंभ-बिंदु होगा।

अध्याय १८

विकसनशील प्रक्रिया — आरोहण और समाकलन

यत् सानोः सानुमारुहत्, . . .
तदिन्द्रो अर्थं चेतति ॥

जैसे-जैसे वह शिखर से शिखरतक चढ़ता है . . . इन्द्र उसे अपनी गति के उस लक्ष्य के बारे में सचेतन बना देते हैं।

ऋग्वेद १. १०. २

द्विमाता होता विदथेषु समाक्नवग्रं चरति क्षेति बुध्नः ॥

दो माताओं का वह पुत्र अपने ज्ञान के आविष्कारों में राजस्व प्राप्त करता है, वह शिखर पर घूमता-फिरता है, वह अपने ऊंचे आधार में निवास करता है।

ऋग्वेद ३. ५५. ७

पृथिव्याऽहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम् ।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥

मैं पृथ्वी से अंतरिक्ष में उठ गया हूं, मैं अंतरिक्ष से द्युलोक में उठ गया हूं, द्युलोक के व्योम से मैं सूर्यलोक में, ज्योति में[1] गया हूं।

यजुर्वेद १७. ६७

चूंकि अब हम पार्थिव प्रकृति में विकासात्मक अभिव्यक्ति और वह अब जो अंतिम मोड़ ले रही है या जो उसके लिये नियत है उसका एक काफी स्पष्ट विचार बना चुके हैं इसलिये हमारे लिये यह संभव और आवश्यक है कि हम उस प्रक्रिया के सिद्धांतों की ओर ज्यादा समझदारी-भरी दृष्टि डालें जिसके द्वारा वह अपने वर्तमान स्तरतक पहुंची है और संभाव्यतः, चाहे जितने हेर-फेर के साथ हो, उसका चरम विकास, हमारे अभीतक प्रमुख मानसिक अज्ञान से अतिमानसिक चेतना और पूर्ण ज्ञान की ओर उसका संक्रमण शासित और प्रभावकारी होगा। क्योंकि हम देखते हैं कि वैश्व प्रकृति अपनी क्रिया के सामान्य नियम में स्थिर रहती है, क्योंकि वह वस्तुओं के ऐसे सत्य पर निर्भर है जो तत्त्वतः अपरिवर्तनशील है यद्यपि क्रियान्वयन के व्यौरे में काफी अधिक परिवर्तनशील है। शुरू में हम आसानी से देख सकते हैं कि चूंकि यह जड़-निश्चेतना में से आध्यात्मिक चेतना में विकास है,

[1] जड़, प्राण, शुद्ध मन और अतिमानस के चार लोक।

जड़ की नींव पर आत्मा का विकसनशील आत्म-निर्माण है इसलिये इस प्रक्रिया में त्रिविध लक्षण का विकास होना चाहिये। जड़तत्त्व के ऐसे रूपों का विकास जो अधिकाधिक सूक्ष्म और जटिल रूप से संगठित हों ताकि चेतना की बढ़ती हुई, अधिकाधिक जटिल, सूक्ष्म और समर्थ संगठन की क्रिया को प्रवेश मिले, अनिवार्य स्थूल आधार है। ऊपर की ओर को स्वयं चेतना की एक श्रेणी से ऊपर की श्रेणी की ओर विकसनशील प्रगति, एक आरोहण, स्पष्ट रूप से वह सर्पिल रेखा या उभरती हुई गोलाई है जिसे विकास को इस नींव पर बनाना चाहिये। यदि विकास को प्रभावकारी होना है तो जो कुछ अभीतक विकसित हो चुका है उसे उच्चतर श्रेणी में लेकर वहां पर उसका ऐसा न्यूनाधिक पूर्ण रूपांतर जो समस्त सत्ता और प्रकृति की पूरी तरह बदली हुई क्रिया को स्थान दे सके—इसे भी प्रक्रिया का अंश होना चाहिये।

इस त्रिगुण प्रक्रिया का समापन होना चाहिये अज्ञान की क्रिया का ज्ञान की क्रिया में, हमारी निश्चेतना के आधार का पूर्ण चेतना के आधार में आमूल परिवर्तन —एक ऐसी पूर्णता जो अभी केवल उसमें है जो हमारे लिये अतिचेतन है। हर आरोहण अपने साथ पुरानी प्रकृति में आंशिक परिवर्तन और हेर-फेर लायेगा, उस प्रकृति को ऊंचा उठाकर एक नये मूलभूत तत्त्व के अधीन किया जायेगा, निश्चेतना को आंशिक चेतना में बदला जायेगा, एक ऐसे अज्ञान में जो अधिकाधिक ज्ञान और प्रभुता की खोज में हो; लेकिन किसी बिंदु पर ऐसा आरोहण होना चाहिये जो निश्चेतना और अज्ञान की जगह ज्ञान के तत्त्व को, एक मूलभूत सच्ची चेतना को, आत्मा की चेतना को ला बिठाता है। निश्चेतना के अंदर विकास आरंभ है, अज्ञान में विकास मध्य है लेकिन इसका अंत है आत्मा की अपनी सच्ची चेतना में मुक्ति और ज्ञान में विकास। हमें मालूम होता है कि वस्तुतः यही उस प्रक्रिया का नियम और उसकी पद्धति है जिसका अभीतक अनुसरण किया गया है और सभी चिह्नों से लगता है कि विकसनशील प्रकृति भविष्य में भी इसी राह पर चलेगी। एक पहला अंतर्लयात्मक आधार जिसमें उस सबका आरंभ होता है जिसे विकसित होना है, उस आधार पर आरोहणकारी क्रम में आविर्भाव और क्रिया-व्यापार और एक परम अभिव्यक्ति के अभिकर्ता के रूप में सबसे ऊंची शक्ति की चरम परिणति लानेवाला उद्घाटन—ये हैं विकसनशील प्रकृति की यात्रा के आवश्यक पड़ाव।

जिस समस्या का समाधान करना है उसके स्वभाव से ही विकास की प्रक्रिया, सत्ता या पदार्थ के पहले से प्रतिष्ठित मूलभूत तत्त्व में, किसी ऐसी चीज का विकास होना चाहिये जिसे वह मूलभूत वस्तु अपने अंदर अंतर्लीन रखती है या बाहर से अपने अंदर प्रविष्ट होने देती है और प्रवेश देकर उसमें हेर-फेर कर लेती है क्योंकि उसे आवश्यक रूप से अपनी प्रकृति के नियमके अनुसार अपने अंदर प्रवेश करनेवाली उस हर चीज में हेर-फेर करना होता है जो पहले से उसकी प्रकृति का अंश न हो। यदि यह सृजनशील विकास हो तब भी यह होना चाहिये। सृजनशील

इस अर्थ में कि वह हमेशा सत्ता की ऐसी शक्तियों को अभिव्यक्त करे जो उसके प्रथम आधार में जन्मजात न हों बल्कि पीछे से प्रविष्ट की गयी हों और मौलिक पदार्थ में स्वीकार कर ली गयी हों। अगर इसके विपरीत ये प्रतिविकास में पहले से उपस्थित हों—पहले आधार में उपस्थित तो हों लेकिन अभीतक अभिव्यक्त या संगठित न हों—अस्तित्व के जिस नये तत्त्व या शक्ति को विकसित करना है, जब वह प्रकट होगी तो उसे आधारभूत पदार्थ की प्रकृति और उसके विधान के द्वारा किये गये हेर-फेर स्वीकार करने होंगे और उसे भी अपनी शक्ति द्वारा, अपनी प्रकृति के नियम द्वारा उस पदार्थ में हेर-फेर करने होंगे। इसके अतिरिक्त अगर उसे अपने उस तत्त्व के अवरोहण की सहायता मिले जो अपनी पूरी शक्ति से विकास के क्षेत्र के ऊपर प्रतिष्ठित हो चुका है और इस क्षेत्र पर अधिकार करने के लिये दबाव डाल रहा है तब तो हो सकता है कि नयी शक्ति अपने-आपको प्रमुख तत्त्व के रूप में स्थापित कर ले और जगत् की चेतना और क्रिया को, जिसमें से वह उभर रही है या जिसमें प्रवेश कर रही है, काफी बड़ी हदतक या पूरी तरह बदल दे। लेकिन उसकी हेर-फेर करने या बदलने की शक्ति या मौलिक पदार्थ के विकसनशील सांचे के रूप में चुने गये पदार्थ की क्रियाओं या विधान में क्रांतिकारी परिवर्तन उसकी तात्त्विक क्षमता पर निर्भर होंगे। अगर स्वयं वह सत्ता का मौलिक तत्त्व नहीं है, वह केवल व्युत्पन्न, यांत्रिक शक्ति है, प्रथम सामर्थ्य नहीं है, तो इसकी बहुत संभावना नहीं है कि वह संपूर्ण रूपांतर ला सके।

यहां जड़-भौतिक विश्व में विकास होता है, यहां आधार, मौलिक द्रव्य, वस्तुओं की प्रथम प्रतिष्ठित सर्वानुकूलन करनेवाली स्थिति भी जड़ ही है। मन और प्राण जड़ में विकसित होते हैं लेकिन वे अपनी क्रिया में इस कारण सीमित और परिवर्तित भी रहते हैं क्योंकि वे अपने यंत्र-विन्यास के रूप में उसके उपादान का उपयोग करने और जड़-भौतिक प्रकृति के विधान के अधीन रहने के लिये बाधित हैं; भले वे जिसका अनुभव करते हों और जिसका उपयोग करते हों उसमें हेर-फेर क्यों न करें। क्योंकि वे निश्चय ही उसके द्रव्य का रूपांतर करते हैं, पहले तो उसे जीवित पदार्थ और फिर सचेतन पदार्थ बना कर वे उसकी जड़ता, निश्चलता और निश्चेतना को चेतना की गतिविधि, भावना और प्राण में परिवर्तित करने में सफल होते हैं। लेकिन वे उसे पूरी तरह रूपांतरित करने में सफल नहीं होते। वे उसे पूरी तरह सजीव या पूरी तरह सचेतन नहीं बना पाते। विकसित होती हुई प्राण-प्रकृति मृत्यु से बंधी हुई है, विकसित होता हुआ मन भौतिक-भावापन्न और प्राण-भावापन्न होता है। वह अपनी जड़ों को निश्चेतना में पाता है, वह अज्ञान द्वारा सीमित होता है। वह अनियंत्रित प्राण-शक्तियों द्वारा शासित होता है जो उसे परिचालित करती और उसका उपयोग करती हैं। भौतिक शक्तियां उसे यंत्रचालित करती हैं और उसे अपनी अभिव्यक्ति के लिये उनपर आश्रित रहना पड़ता है। यह इस बात का चिह्न

है कि न तो मन और न प्राण मूल सृजनात्मक शक्ति हैं। वे भी भौतिक की तरह मध्यवर्ती, विकास-प्रक्रिया के आनुक्रमिक और श्रेणीबद्ध यंत्र हैं। अगर भौतिक ऊर्जा वह आद्या शक्ति नहीं है तो हमें उसे मन या प्राण के ऊपर कहीं ढूंढ़ना होगा, कोई ज्यादा गहरी गुह्य सद्वस्तु अवश्य होनी चाहिये जिसे अपने-आपका प्रकृति में उद्घाटन करना बाकी है।

एक मौलिक सृजनात्मक या विकासात्मक शक्ति होनी चाहिये। यद्यपि जड़-पदार्थ पहला द्रव्य है, आद्या और चरम शक्ति कोई निश्चेतन भौतिक ऊर्जा नहीं है क्योंकि तब प्राण और चेतना गायब रहेंगे क्योंकि निश्चेतना चेतना को विकसित नहीं कर सकती और न ही निर्जीव शक्ति प्राण को विकसित कर सकती है। तब चूंकि मन और प्राण भी वह नहीं हैं अतः कोई गुप्त चेतना होनी चाहिये जो प्राण-चेतना या मनश्चेतना से बढ़कर हो—कोई ऐसी ऊर्जा जो भौतिक ऊर्जा से अधिक सारभूत हो। चूंकि वह मन से अधिक महान् है इसलिये उसे अतिमानसिक चित्-शक्ति होना चाहिये, चूंकि वह भौतिक से इतर सारभूत द्रव्य की शक्ति है इसलिये इसे उसकी शक्ति होना चाहिये जो सभी चीजों का परम सार-तत्त्व और द्रव्य है, आत्मा की शक्ति है। मन की एक सृजनात्मक ऊर्जा होती है और सृजनात्मक प्राणशक्ति भी होती है लेकिन ये मौलिक और निर्णायक न होकर साधनरूप और आंशिक हैं। निश्चय ही मन और प्राण जिस भौतिक पदार्थ में निवास करते हैं उसमें और उसकी ऊर्जाओं में हेर-फेर करते हैं और उनके द्वारा मात्र निर्धारित नहीं होते। लेकिन इस भौतिक हेर-फेर और निर्धारण का विस्तार और विधि भी उनके अंदर निवास करनेवाली और सर्वधारक आत्मा द्वारा, अतिमानस की एक गुप्त अंतर्यामी ज्योति और शक्ति के माध्यम से, एक गुह्य विज्ञान द्वारा—एक अदृश्य आत्म-ज्ञान और सर्वज्ञान द्वारा—किया जाता है। अगर पूर्ण रूपांतर होना है तो वह केवल आत्मा के विधान के पूर्ण आविर्भाव द्वारा ही संभव है। यह जरूरी है कि उसकी अतिमानस या विज्ञान की शक्ति जड़-भौतिक में प्रवेश करे और उसके अंदर से विकसित हो। उसे मानसिक सत्ता को अतिमानसिक में बदल देना चाहिये, हमारे अंदर निश्चेतन को सचेतन बनाना, हमारे जड़-द्रव्य को आध्यात्म बनाना और हमारी समूची विकसनशील सत्ता और प्रकृति में उसकी वैज्ञानिक चेतना का विधान लागू करना चाहिये। यही चरम आविर्भाव या कम-से-कम आविर्भाव में वह भूमिका होनी चाहिये जो विकास की अज्ञानभरी क्रिया और उसके निश्चेतन आधार को रूपांतरित करके उसकी प्रकृति को निश्चयात्मक रूप में पहली बार बदलती है।

विकास की इस गतिविधि, भौतिक विश्व में आत्मा की उत्तरोत्तर आत्माभिव्यक्ति को हर कदम पर चेतना और शक्ति के अंतर्लयन के तथ्य के साथ भौतिक पदार्थ के रूप और क्रियाशीलता में हिसाब बिठाना होगा। क्योंकि वह अंतर्लीन चेतना और शक्ति के जागरण तथा एक तत्त्व से दूसरे तत्त्व की ओर, एक श्रेणी से दूसरी

श्रेणी की ओर, गुप्त आत्मा की शक्ति से शक्ति की ओर आरोहण से चलती है, लेकिन यह उच्चतर भूमिका की ओर निर्बंध स्थानांतर नहीं है। हर श्रेणी या शक्ति के उभार में उसके क्रिया-विधान, उसकी क्रियाशक्ति का निर्धारण, उसके अपने स्वतंत्र, पूर्ण और शुद्ध धर्म या ऊर्जा-संवेग से नहीं बल्कि आंशिक रूप में उसके लिये जुटाये गये भौतिक संगठन और अंशतः स्वयं उसके अपने पद से, अपने प्राप्त क्रम से, जड़ पर वह चेतना की जिस निष्पन्न वास्तविकता को आरोपित कर सकी है, उससे होता है। उसकी प्रभावकारिता इस विकसनशील आविर्भाव के वास्तविक विस्तार और दूसरी तरफ विकसित होती हुई शक्ति अभी कितनी हदतक निश्चेतना की प्रमुखता और लगातार पकड़ में है, उसके द्वारा घिरी हुई, भिदी हुई और घटी हुई है; इन दोनों के किसी प्रकार के संतुलन पर निर्भर है। हम जिस मन को देखते हैं वह शुद्ध और मुक्त मन नहीं है। अविद्या से आवृत वह ऐसा मन है जो धुंधला और ह्रसित होता है, एक ऐसा मन जो ज्ञान को उस अविद्या से मुक्त करने के लिये परिश्रम और संघर्ष करता है। सब कुछ निर्भर होता है चेतना की न्यूनाधिक अंतर्लीन या न्यूनाधिक विकसित अवस्था पर—वह चेतना निश्चेतन जड़ में पूरी तरह अंतर्लीन होती है, जड़ के अंदर प्राण के प्रथम या अ-पशु रूपों में अंतर्लयन और सचेतन विकास के कगार पर हिचकिचाती है, सजीव शरीर में स्थित मन में सचेतन रूप से विकसित होती है लेकिन बहुत ज्यादा सीमित और उलझी-अटकी हुई होती है, जिसकी नियति है सशरीर मानसिक सत्ता और प्रकृति में अतिमानस के जागने से पूरी तरह विकसित होना।

इस क्रम की हर श्रेणी में विकसित होती हुई चेतना की अपनी-अपनी सत्ताओं का उचित वर्गीकरण होता है। एक-एक करके भौतिक रूप और शक्तियां, वनस्पति जीवन, पशु और अर्द्ध-पाशविक मनुष्य, विकसित मानव सत्ताएं, अपूर्ण रूप से या कुछ अधिक विकसित आध्यात्मिक सत्ताएं प्रकट होती हैं; लेकिन विकास-क्रिया की निरंतरता के कारण उनके बीच कोई कठोर विभाजन नहीं है। हर आगे बढ़ता हुआ चरण या रूपायण जो कुछ पहले था उसे लेकर चलता है। पशु अपने अंदर जीवित और निर्जीव जड़-पदार्थ को लेता है, मनुष्य अपने अंदर इन दोनों के साथ-साथ पशु-सत्ता को भी ले लेता है। संक्रमण-क्रिया ये खांचे या अलग करनेवाली लीकें छोड़ती जाती है जिन्हें प्रकृति की निश्चित आदतें पक्का कर देती हैं। ये एक श्रेणी को दूसरी श्रेणी से अलग करती हैं और शायद जो विकसित हो चुका है उसे फिर से वापिस गिरने से रोकती हैं। वे विकास की अविच्छिन्नता को रद्द करती या काट नहीं देतीं। विकास करती हुई चेतना एक श्रेणी से दूसरी में, एक सोपान से दूसरे में प्रवेश करती है, या तो किसी अदृश्य प्रक्रिया द्वारा, किसी छलांग या संकट द्वारा या शायद ऊपर से हस्तक्षेप द्वारा—प्रकृति के उच्चतर लोकों से अवतरण, आत्मयुक्तता या प्रभाव के द्वारा प्रवेश करती है। लेकिन, चाहे जिस उपाय से हो,

जड़ के अंदर गुप्त रूप से निवास करनेवाली चेतना, गुह्य निवासी, इस तरह निचली श्रेणियों से उपरली श्रेणियों की ओर ऊपर की ओर अपनी राह बना लेता है, वह जो था उसमें से वह जो है उसे ले आता है और दोनों को वह जो होगा उसकी ओर ले जाने की तैयारी करता है। इस भांति पहले भौतिक सत्ता जड़ रूपों, शक्तियों, सत्ताओं की नींव डालकर, जिनमें वह निश्चेतन पड़ी मालूम होती है, जब कि वास्तव में, जैसा कि हम अब जानते हैं, सदा अवचेतन रूप से क्रियाशील रहते हुए, वह जीवन और जीवित सत्ताओं को अभिव्यक्त करने योग्य होती है, मन और मानसिक सत्ताओं को भी भौतिक जगत् में अभिव्यक्त कर सकती है और इसलिये अतिमानस और अतिमानसिक सत्ताओं को भी अभिव्यक्त करने योग्य होगी। विकास की वर्तमान स्थिति इस तरह घटित हुई है जिसमें अभी मनुष्य चरम-बिंदु प्रतीत होता है लेकिन सचमुच अंतिम शिखर नहीं है क्योंकि स्वयं वह एक संक्रमणशील सत्ता है और संपूर्ण गति के एक मोड़ पर खड़ा है। इस तरह विकास चलता रहता है। किसी भी क्षण उसका एक अतीत होना चाहिये जिसके आधारभूत परिणाम अभी दिखलायी देते हों, एक वर्तमान होना चाहिये जिसमें वह जिन परिणामों के लिये परिश्रम कर रहा है वे संभूति की प्रक्रिया में हों और एक भविष्य जिसमें सत्ता की अभीतक अविकसित शक्तियां और रूप प्रकट होने चाहियें, जबतक कि समग्र और पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो जाती। भूतकाल धीमी और कठिन अवचेतन क्रिया का इतिहास है जिसके प्रभाव सतह पर हैं—वह निश्चेतन विकास रहा है, वर्तमान मध्य स्थिति है, एक अनिश्चित कुंडली है जिसमें सत्ता की गुप्त विकसनशील शक्ति मानव बुद्धि का उपयोग करती है। बुद्धि उसकी क्रिया में भाग लेती है पर उसे पूरी तरह विश्वास में नहीं लिया जाता। यह एक ऐसा विकास है जो धीरे-धीरे अपने बारे में सचेतन होता जाता है। भविष्य आध्यात्मिक-सत्ता का अधिकाधिक सचेतन विकास होगा, यहांतक कि वह उभरते हुए विज्ञान-तत्त्व द्वारा आत्म-अभिज्ञ क्रिया में पूरी तरह उन्मुक्त हो जायेगा।

इस आविर्भाव में पहला आधार—जड़-भौतिक के रूपों की सृष्टि, पहले निश्चेतन और निर्जीव की, फिर जीवित और विचारशील जड़-भौतिक की सृष्टि, चेतना के अधिक बल को व्यक्त करने के लिये अनुकूल बने हुए अधिकाधिक संगठित शरीरों का प्रकटन—इसका अध्ययन भौतिक विज्ञान ने भौतिक पक्ष से, रूप-निर्माण के पक्ष से किया है लेकिन भीतरी क्षेत्र और चेतना की दिशा में बहुत कम प्रकाश डाला गया है और जो कुछ थोड़ा-सा देखा भी गया है वह उसके भौतिक आधार और यंत्र-विन्यास का अवलोकन है न कि चेतना का स्वयं अपनी प्रकृति में उत्तरोत्तर प्रगतिशील क्रिया का। जैसा कि अभीतक देखा जा चुका है, विकास में सातत्य तो है क्योंकि प्राण जड़ को उठा लेता है और मन अवमानसिक प्राण को और बुद्धिमय मन प्राणमय और संवेदनमय मन को उठा लेता है लेकिन हमारी आंखों

को लगता है कि चेतना की एक श्रेणी से दूसरी श्रेणीतक छलांग बहुत बड़ी है और छलांग मारकर या पुल द्वारा खाई को पार करना असंभव मालूम होता है। हमें भूतकाल में इसकी उपलब्धि का कोई ठोस और संतोषजनक प्रमाण या जिस तरह उसे चरितार्थ किया गया है उसका प्रमाण नहीं मिलता। बाहरी विकास में भी, भौतिक रूप के विकास में भी, जहां सामग्री काफी सुस्पष्ट है, कई कड़ियां गुम हैं जो सदा गुम ही रहती हैं, लेकिन चेतना के विकास की यात्रा का हाल पाना और भी अधिक कठिन है क्योंकि वह यात्रा की अपेक्षा रूपांतर की तरह अधिक है। फिर भी हो सकता है कि अवचेतना को भेदने और अवमानस की थाह लेने या अपने से भिन्न किसी निम्नतर मानस को काफी हदतक समझ सकने की हमारी अक्षमता के कारण हम धाराक्रम की हर एक कोटि की ही नहीं बल्कि श्रेणियों और श्रेणियों के बीच के सीमा-प्रदेशों की सूक्ष्म श्रेणियों का अवलोकन करने में असमर्थ रहते हैं। जो वैज्ञानिक भौतिक सामग्री का सूक्ष्म अवलोकन करता है वह बीच-बीच की दरारों और गुम कड़ियों के बावजूद विकास के सातत्य को मानने के लिये बाधित हुआ है। निःसंदेह हम यदि आंतरिक विकास का उसी तरह अवलोकन कर सकें तो हम इन विकट संक्रमणों की संभावना और रीति का अन्वेषण कर सकेंगे। फिर भी श्रेणी-श्रेणी के बीच एक वास्तविक और मौलिक भेद होता है। यहांतक कि एक से दूसरे में जाना एक नया सृजन, रूपांतरण का चमत्कार मालूम होता है, कोई ऐसा विकास नहीं जिसके बारे में स्वाभाविक रूप से पहले से कहा जा सके और न ही किसी स्थिति से अन्य स्थिति में शांत संक्रमण जिसके पदचिह्न निर्दिष्ट सरल क्रम में आयोजित हों।

जब हम प्रकृति के सोपान में ऊंचे उठते हैं तो ये खाइयां अधिक गहरी लेकिन कम चौड़ी प्रतीत होती हैं। अगर धातु में प्राण-प्रतिक्रिया के मूल तत्त्व हैं, जैसा कि अभी हाल में प्रतिपादित किया गया है, तो हो सकता है कि वह अपने तत्त्व में वनस्पति की प्राण-प्रतिक्रिया से अभिन्न हो, लेकिन जिसे प्राण-भौतिक भेद कहा जा सकता है वह इतना होता है कि एक तो हमें निर्जीव प्रतीत होता है और दूसरा, यद्यपि प्रत्यक्ष रूप में सचेतन तो नहीं, फिर भी प्राणवान् जीव कहा जा सकता है। उच्चतम वनस्पति-जीवन और निम्नतम पशु-जीवन के बीच खाई ज्यादा गहरी दिखलायी देती है क्योंकि वह मन और मन की किसी भी तरह की दृश्य या यहांतक कि प्राथमिक गति के अभाव के बीच का भेद है। एक में मानसिक चेतना का यह द्रव्य अजाग्रत् है यद्यपि प्राणिक प्रतिक्रियाओं का जीवन है या फिर एक दबा हुआ या अवचेतन या शायद केवल अवमानसिक ऐंद्रिय स्पंदन है जो बहुत अधिक सक्रिय मालूम होता है। दूसरे में, यद्यपि शुरू में जीवन कम स्वचालित है और जीवन के अवचेतन ढंग से कम सुरक्षित है और अपनी नयी प्रत्यक्ष चेतना की रीति में अपूर्ण रूप से निर्धारित रहता है फिर भी उसमें मन जाग गया है। यहां

एक सचेतन जीवन है, एक गहरा संक्रमण हो चुका है। उनके संगठन में चाहे जितनी भिन्नता क्यों न हो, वनस्पति और पशु के जीवन-व्यापार की समानता खाई को संकरा कर देती है, यद्यपि उसकी गहराई कम नहीं होती। उच्चतम पशु और निम्नतम मनुष्य के बीच और भी ज्यादा गहरी परंतु और कम संकरी खाई को पार करना होता है—बुद्धि और ऐंद्रिय मन के बीच की खाई को—क्योंकि जंगली आदमी की असभ्य प्रकृति पर हम चाहे कितना भी जोर क्यों न दें, हम इस तथ्य को नहीं बदल सकते कि अधिक-से-अधिक आदिम मानव प्राणी को ऐंद्रिय मन, भावुक प्राणिकता और प्रारंभिक व्यावहारिक बुद्धि तो प्राप्त है ही जो हमारे साथ पशु को भी प्राप्त है; यानी एक मानव बुद्धि है और चाहे जितनी सीमित क्यों न हो, वह चिंतन, विचार, सचेतन आविष्कार, धार्मिक और नैतिक विचार और भावना के लिये सक्षम है, मतलब यह कि उन सब चीजों के लिये सक्षम है जिनकी क्षमता मानवजाति में है। उसमें वैसी ही बुद्धि होती है, फर्क होता है केवल भूतकाल की शिक्षा और रचनात्मक प्रशिक्षण, उसकी विकसित क्षमता, तीव्रता और क्रियाशीलता की मात्रा में। फिर भी इन विभाजन करनेवाली लीकों के बावजूद हम यह मान नहीं सकते कि भगवान् या किसी विश्वकर्मा ने हर एक वर्ग और जाति को तैयार शरीरों और चेतनाओं में बनाकर मामला वहीं समाप्त कर दिया, अपने कार्य की ओर नजर डाली और देख लिया कि वह अच्छा है। यह स्पष्ट हो गया है कि एक गुप्त रूप से सचेतन या निश्चेतन सर्जक ऊर्जा ने मंद या तेज गति से, चाहे किन्हीं भी उपायों, युक्तियों से; चाहे वे जैविक हों या भौतिक अथवा मनोवैज्ञानिक यंत्र, संक्रमण संपादित किया है। शायद बना देने के बाद उसने परवाह नहीं की कि उन विभिन्न स्पष्ट रूपों को सुरक्षित रखे जिन्हें उसने सीढ़ी के पत्थरों के रूप में काम में लिया था लेकिन जिनका अब कोई उपयोग नहीं या विकसनशील प्रकृति में कोई प्रयोजन नहीं रहा। लेकिन अंतरालों की यह व्याख्या अभीतक एक परिकल्पना से बढ़कर कुछ नहीं है जिसे हम पर्याप्त रूप में प्रमाणित नहीं कर सकते। बहरहाल, यह संभव है कि इन आमूल विभेदों का कारण बाहरी विकासशील संक्रमण की प्रक्रिया में नहीं, आंतरिक शक्ति की भीतरी क्रिया में मिले। अगर हम ज्यादा गहराई से उसे अंदर की ओर से देखें तो समझने की कठिनाई समाप्त हो जाती है और ये संक्रमण समझ में आने लगते हैं और वस्तुतः वे विकास की प्रक्रिया तथा उसके तत्त्व के स्वभाव के कारण अनिवार्य हो जाते हैं।

क्योंकि, अगर हम वैज्ञानिक या भौतिक पक्षों को नहीं बल्कि प्रश्न के मनोवैज्ञानिक पक्ष को देखें और पता करें कि इनका भेद ठीक-ठीक कहांपर है तो हम देखेंगे कि यह चेतना का सत्ता के एक और तत्त्व में उठना है। धातु जड़ के निश्चेतन और निजी तत्त्व में निर्धारित है। अगर हम यह मान भी लें कि उसमें कुछ ऐसी प्रतिक्रियाएं होती हैं जो उसमें जीवन का संकेत देती हैं या कम-से-कम ऐसे

प्रारंभिक स्पंदन हैं जो वनस्पति में जीवन के रूप में विकसित हो जाते हैं, फिर भी वह किसी हालत में लाक्षणिक रूप से जीवन का रूप न होकर जड़ का लाक्षणिक रूप है। वनस्पति जीवन-तत्त्व की अवचेतन क्रिया में निर्धारित है—इसका यह अर्थ नहीं है कि वह जड़ के अधीन नहीं है या उन प्रतिक्रियाओं से वंचित है जो अपना पूरा अर्थ मन में ही प्राप्त करती हैं, क्योंकि ऐसा मालूम होता है कि उसमें ऐसी अवमानसिक प्रतिक्रियाएं होती हैं जो हमारे अंदर सुख-दुःख, आकर्षण-विकर्षण का आधार हैं। फिर भी, वह प्राण का ही एक रूप है, केवल जड़ का नहीं और न ही, जहांतक हमें मालूम है, वह मनश्चेतन सत्ता भी नहीं है। मनुष्य और पशु दोनों मानसिक रूप से सचेतन सत्ताएं हैं परंतु पशु प्राणिक मन और मानस संवेद में निर्धारित है और अपनी सीमाओं को पार नहीं कर सकता जब कि मनुष्य ने अपने ऐंद्रिय मन में एक और तत्त्व का, बुद्धि का प्रकाश पा लिया है जो वस्तुतः एक ही साथ अतिमानस का प्रतिबिंब और निम्नीकरण है, विज्ञान की एक किरण है जिसे ऐंद्रिय मानस ने पकड़कर किसी ऐसी चीज में रूपांतरित कर दिया है जो अपने स्रोत से भिन्न है क्योंकि वह बुद्धि जिस ऐंद्रिय मन के लिये और जिसके अंदर काम करती है उसीकी तरह अविज्ञानमय है, विज्ञानमय नहीं। वह ज्ञान को पकड़ में लेना चाहती है क्योंकि वह उसके अधिकार में नहीं है। उसे यह पसंद नहीं है कि अतिमानस ज्ञान को अपने अंदर ही पकड़े रहे मानों वह उसका स्वाभाविक विशेषाधिकार हैं, दूसरे शब्दों में कहें तो सत्ता के इनमें से हर एक रूप के अंदर वैश्व सत्ता ने अपनी चेतना की क्रिया को एक भिन्न तत्त्व में निर्धारित किया है जैसे मनुष्य और पशु में, किसी निम्नतर तत्त्व का किसी उच्चतर तत्त्व द्वारा रूपांतरण, यद्यपि जो अभीतक उच्चतम श्रेणी का नहीं है। सत्ता के एक तत्त्व से सत्ता के एकदम भिन्न दूसरे तत्त्व में यह लंबी छलांग संक्रमणों, लीकों, दूरी की स्पष्ट लकीरों की रचना करती है और इसीसे सत्ता और सत्ता की प्रकृतियों के बीच का सारा अंतर तो नहीं पर एक आमूल विशेष अंतर पैदा करती है।

लेकिन यह देखना चाहिये कि यह आरोहण, क्रमशः ऊंचे तत्त्व में स्थिति, अपने साथ निचली श्रेणियों का त्याग नहीं लिये रहती, उसी तरह से जैसे निम्नतर श्रेणियों में स्थिति का अर्थ उच्चतर तत्त्वों का एकदम अभाव नहीं होता। विभेद की इन तीक्ष्ण रेखाओं के कारण विकास के मत के बारे में उठायी गयी आपत्ति का इससे उपचार हो जाता है क्योंकि अगर उच्चतर के आरंभिक तत्त्व निम्नतर में हों और निचले के गुण-धर्म ऊंची विकसित सत्ता में उठा लिये गये हों तो वही चीज असंदिग्ध विकास की क्रिया बन जाती है। जरूरत एक ऐसी प्रक्रिया की है जो सत्ता के निम्नतर श्रेणी-विभाग को एक ऐसे बिंदुतक ले आये जहां उच्चतर उसमें अभिव्यक्त हो सके। उस बिंदु पर किसी ऐसे उच्चतर स्तर से आनेवाला दबाव, जहां वह नयी शक्ति प्रमुख हो, थोड़े-बहुत तेज और निर्णायक संक्रमण की ओर

एक छलांग या छलांगों की शृंखला द्वारा ले जाने में सहायक हो सकता है—एक मंद, रेंगती हुई, अदृश्य बल्कि गुह्य क्रिया के बाद दौड़ लगती है और सीमा के परे विकसनशील क्रमभंग या उछल-कूद होती है। ऐसा लगता है कि किसी ऐसे तरीके से प्रकृति में चेतना का निम्नतर से उच्चतर श्रेणियों में संक्रमण हुआ होगा।

वस्तुतः प्राण, मन, अतिमानस अणु में विद्यमान हैं और वहांपर कार्यरत हैं परंतु हैं अदृश्य, गुह्य, अवचेतन या ऊर्जा की प्रतीयमान निश्चेतन क्रिया में प्रच्छन्न। एक अनुप्राणित करनेवाली आत्मा है लेकिन सत्ता की बाहरी शक्ति या आकृति, जिसे हम रूपायित या रूप-अस्तित्व कह सकते हैं, जो सर्वव्यापी या गुप्त रूप से शासन करनेवाली चेतना से भिन्न है, वह भौतिक क्रिया में खो जाती है, उसके अंदर इस तरह निमग्न हो जाती है मानों वह रूढ़िबद्ध आत्म-विस्मृति में निर्धारित हो गयी है, और इस बात से अनभिज्ञ होती है कि वह क्या है और क्या कर रही है। इस दृष्टि से विद्युदणु और परमाणु चिर-निद्राचारी होते हैं; प्रत्येक भौतिक पदार्थ में एक बाहरी या रूप चेतना होती है जो अंतर्लीन, रूप में समायी, सोयी हुई, अचेतना मालूम होती है जो अज्ञात और अननुभूत आंतरिक सत् द्वारा परिचालित होती है;—उपनिषदों के अनुसार हर सोये हुए में चिर जाग्रत् सर्वभूत निवासी पुरुष है—बाहरी निमग्न रूप-चेतना जो मानव निद्राचारी से भिन्न है, जो न तो कभी जागी है और जो सदा या कभी जागने के लिये प्रस्तुत नहीं होती। वनस्पति में यह बाहरी रूप-चेतना अब भी नींद की अवस्था में होती है लेकिन ऐसी नींद जो स्नायविक स्वप्नों से भरी और सदा जागने के लिये तैयार होती है लेकिन कभी जागती नहीं। प्राण प्रकट हो गया है, दूसरे शब्दों में कहें तो प्रच्छन्न सचेतन सत्ता की शक्ति इतनी तीव्र हो गयी है, उसने अपने-आपको शक्ति की इतनी ऊंचाई पर चढ़ा लिया है कि वह क्रिया के उस नये तत्त्व को विकसित कर सकती है या उसके लिये समर्थ बन सकती है जिसे हम प्राण-शक्ति या जीवन-शक्ति के रूप में देखते हैं। वह प्राणिक रूप से अस्तित्व को प्रत्युत्तर देने लगी है यद्यपि मानसिक रूप से अभिज्ञ नहीं है और उसने शुद्ध भौतिक क्रिया की अपेक्षा उच्चतर और सूक्ष्मतर मूल्य की क्रियाओं की नयी श्रेणी प्रस्तुत की है। साथ ही उसमें यह सामर्थ्य होती है कि वह अपने रूपों से भिन्न रूपों और वैश्व प्रकृति से आनेवाले प्राण-संपर्कों को ले और इन नये प्राण-मूल्यों में, प्राणिकता के स्पंदनों और व्यापारों में बदल दे। यह ऐसी चीज है जिसे केवल जड़ के रूप नहीं कर सकते। वे संपर्कों को जीवन-मूल्यों में या किसी प्रकार के मूल्यों में नहीं बदल सकते; कुछ तो उनकी ग्रहण-शक्ति—उसका अस्तित्व तो है अगर गुह्य प्रमाण पर विश्वास किया जाये—इतनी पर्याप्त जाग्रत् नहीं होती कि मूक भाव से ग्रहण करने और अदृष्ट रूप से प्रतिक्रिया करने के सिवा कुछ कर सके, और कुछ इस कारण कि संपर्कों द्वारा संचारित ऊर्जाएं इतनी सूक्ष्म होती हैं कि रूपायित जड़ की अनगढ़, अजैव घनता उनका

उपयोग नहीं कर सकती। पेड़ के जीवन का निर्धारण उसका भौतिक शरीर करता है लेकिन वह भौतिक सत्ता को ऊपर उठाता और उसे एक नया मूल्य या मूल्यों का एक नया तंत्र—प्राण मूल्य—प्रदान करता है।

पशु-सत्ता में, जिसे हम सचेतन जीवन कहते हैं, मन और इन्द्रिय की ओर संक्रमण प्रकट होता है—यह भी उसी तरह से चालित होता है। सत्ता की शक्ति इतनी अधिक तीव्र हो जाती है, इतनी ऊंचाईतक उठ जाती है कि वह जीवन के एक नये तत्त्व को प्रवेश दे सके या विकसित कर सके—जो कम-से-कम देखने में तो जड़ जगत् में नया है—मानसता। पशु-जीव मानसिक रूप से अपने और औरोंके जीवन के बारे में अभिज्ञ है, वह उच्चतर और सूक्ष्मतर श्रेणी के क्रिया-कलाप प्रस्तुत करता है; अपने से भिन्न अन्य रूपों से अधिक विस्तृत क्षेत्र के मानसिक, प्राणिक और भौतिक संपर्क ग्रहण करता है, भौतिक और प्राणिक अस्तित्व को लेता है और उनसे जो कुछ प्राप्त हो सके उसे ऐंद्रिय मूल्यों और प्राणिक मन के मूल्यों में बदल देता है। उसे शरीर का बोध होता है, उसे प्राण का बोध होता है लेकिन वह मन का भी बोध पाता है, क्योंकि उसके अंदर न केवल अंधी स्नायविक प्रतिक्रियाएं होती हैं बल्कि साथ ही सचेतन संवेदन, स्मृतियां, अंतर्वेग, इच्छा-प्रवृत्तियां, भावावेग, मानसिक संस्कार रहते हैं, उसमें भावना, विचार और इच्छा का उपादान रहता है। उसमें एक व्यावहारिक बुद्धि भी होती है जो स्मृति, संसर्ग, उद्दीपक आवश्यकता, अवलोकन, युक्ति की शक्ति पर आधारित होती है। वह चतुराई, युद्ध-कौशल, योजना के लिये समर्थ है। वह अन्वेषण कर सकता है, अपने अन्वेषणों को कुछ हदतक अनुकूलित कर सकता है; इस या उस ब्योरे में नयी परिस्थिति की मांग पूरी कर सकता है। उसमें सब कुछ अर्द्ध-चेतन सहज वृत्ति नहीं है; पशु मानव बुद्धि की तैयारी करता है।

लेकिन जब हम मनुष्यतक आते हैं तो देखते हैं कि सब कुछ सचेतन होता जाता है। वह जिस जगत् का संक्षिप्त रूप है वह उसके आगे अपना स्वरूप प्रकट करने लगता है। उच्चतर पशु निद्राचारी नहीं है, जैसे निम्नतम पशुरूप अभीतक मुख्य रूप से या लगभग निद्राचारी है। लेकिन उसमें एक सीमित जाग्रत् मन होता है जो उतने के ही योग्य होता है जो उसके प्राणिक जीवन के लिये जरूरी है। मनुष्य में सचेतन मानसता अपने जागरण को बढ़ाती है। यद्यपि शुरू में वह पूरी तरह सचेतन नहीं होती, अभी अपनी ऊपरी सतह पर ही सचेतन होती है पर अधिकाधिक अपनी आंतरिक और संपूर्ण सत्ता के प्रति खुल सकती है। जैसे दो निचले आरोहणों में हुआ है वैसे ही सचेतन सत्ता की शक्ति सूक्ष्म क्रियाओं की नयी शक्ति और नये क्षेत्र की ओर ऊपर उठती है, प्राणिक मन से चिंतनशील और विचारशील मन की ओर संक्रमण होता है, अवलोकन और अन्वेषण की उच्चतर शक्ति विकसित हो गयी है जो सामग्री को इकट्ठा करती और जोड़ती है, प्रक्रिया

और परिणाम के बारे में सचेतन होती है, कल्पना और सौंदर्यमय सृजन की शक्ति, उच्चतर अधिक नमनीय इन्द्रियग्राह्यता, समन्वय और व्याख्या करनेवाली तर्क-बुद्धि विकसित हुई है; केवल अनुक्रिया या प्रतिक्रिया करनेवाली बुद्धि के बदले अधिकार जमाती, समझती, अपने-आपको अलग रखनेवाली बुद्धि के मूल्य विकसित होते हैं। जैसा नीचे के आरोहणों में हुआ था उसी तरह यहां भी चेतना के क्षेत्र का विस्तार होता है। मनुष्य जगत् का और अपना अधिक अंश ग्रहण करता है और इस ज्ञान को सचेतन अनुभव के ज्यादा ऊंचे और पूर्ण रूप दे सकता है। उसी तरह यहां आरोहण का एक तीसरा सतत तत्त्व भी रहता है। मन निचली श्रेणियों को उठाकर उनकी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं को बुद्धिमत्तापूर्ण मूल्य देता है। मनुष्य के अंदर पशु की तरह केवल अपने शरीर और प्राण का ही बोध नहीं होता बल्कि प्राण के संबंध में बुद्धिमत्तापूर्ण बोध और भाव और शरीर को सचेतन अवलोकनात्मक प्रत्यक्ष दर्शन भी होता है। वह पशु के मानसिक जीवन को और साथ ही जड़-भौतिक जीवन को भी ऊंचा उठाता है, यद्यपि इस प्रक्रिया में वह कुछ खोता भी है। वह जो बचाये रखता है उसे उच्चतर मूल्य देता है, उसमें अपने संवेदनों, भावावेगों, इच्छाप्रवृत्तियों, अंतर्वेगों, मानसिक संस्कारों को बुद्धिमत्तापूर्ण भाव और विचार होता है। जो विचार, भाव और इच्छा का अनगढ़ उपादान था, जिसमें बस मोटे-मोटे निर्धारणों की क्षमता थी उसे वह परिष्कृत कार्य और इन चीजों की कृति में बदल देता है। क्योंकि पशु भी विचार करता है लेकिन स्वचालित रूप से, स्मृतियों और मानसिक संस्कारों की यांत्रिक धारा को आधार बनाकर। वह प्रकृति के सुझावों को तेजी से या धीरे-धीरे स्वीकारता है और अधिक जाग्रत् व्यक्तिगत क्रिया की ओर तभी जागता है जब नजदीक से अवलोकन या युक्ति की जरूरत हो। उसके अंदर व्यावहारिक बुद्धि का पहला अनगढ़ पदार्थ तो होता है परंतु गढ़ी हुई विचारशील और मननशील क्षमता नहीं होती। पशु में जागती हुई चेतना मन का अनिपुण प्रारंभिक कारीगर है। मनुष्य में वह निपुण शिल्पी है और केवल इतना ही नहीं, अगर चाहे, लेकिन इसके लिये वह काफी प्रयास नहीं करता, केवल कलाकार ही नहीं वह दक्ष और सिद्धहस्त भी बन सकता है।

लेकिन यहां हमें इस मानव विकास, जो अभीतक ऊंचे-से-ऊंचा है, की दो विशिष्टताएं देख लेनी चाहियें जो हमें विषय के मर्म पर ले आती हैं। पहली यह कि जीवन के निचले भागों का यूं ऊपर उठाया जाना अपने-आपको यूं प्रकट करता है मानों व्यक्ति में गुप्त विकसनशील आत्मा या वैश्व-पुरुष जिस ऊंचाई पर पहुंच चुका है वहां से वह अपनी प्रभुताभरी दृष्टि को नीचे की ओर उस सबपर डालता है जो अब उसके नीचे है। यह सत्ता की चित्-शक्ति की दोहरी या युगल शक्ति से नीचे दृष्टिपात है—इच्छा की शक्ति और ज्ञान की शक्ति—ताकि वह पुरुष चेतना, प्रत्यक्ष दर्शन और प्रकृति के इस नये, भिन्न और विस्तृत क्षेत्र से निचले जीवन और

उसकी संभावनाओं को समझ सके और उसे भी उच्चतर स्तरतक ऊंचा उठा सके, उसे उच्चतर मूल्य दे सके, उसकी उच्चतर संभाव्यताओं को बाहर निकाल सके। और वह ऐसा इसलिये करता है क्योंकि स्पष्टतः वह उसे मार देना या नष्ट करना नहीं चाहता। सत्ता का आनंद उसका शाश्वत व्यापार होने के कारण और विविध स्वरों की संगति, कोई मधुर एकरस राग नहीं, उसकी संगीत-पद्धति होने के कारण वह अपने निम्नतर सुरों को भी जोड़ना चाहता है और उनके अंदर अधिक गहरे और सूक्ष्म अर्थ भरकर, उनके अपरिपक्व रूपायनों से जितना संभव था उससे अधिक आनंद पाना चाहता है। फिर भी, अंत में अपनी स्वीकृति बनाये रखने के लिये वह उनपर यह शर्त लगाता है कि वे उच्चतर मूल्यों को मानने के लिये राजी हों और जबतक वे राजी नहीं हो जाते वह उनके साथ काफी कड़ा व्यवहार कर सकता है। अगर वह पूर्णता पर तुला हुआ है और वे विद्रोही हैं तो वह उन्हें पैरों से कुचल भी सकता है। और यही वस्तुतः नीति, अनुशासन, तपस्याका सच्चा और अंतर्तम उद्देश्य और अर्थ है; प्राण और शरीर तथा निम्न मानसिक जीवन को पाठ सिखाना, वशीभूत करना, शुद्ध करना और उचित उपकरण होने के लिये तैयार करना ताकि वे उच्चतर मानसिक स्वरों और अंत में अतिमानसिक समन्वय में रूपांतरित हो सकें, न तो उन्हें विकलांग करें और न नष्ट करें। आरोहण पहली आवश्यकता है लेकिन साथ ही प्रकृतिस्थ पुरुष का अभिप्राय है समाकलन।

सर्वतोमुखी उंचता, गभीरता और सूक्ष्मतर, अधिक सुंदर और समृद्ध तीव्रता को दृष्टि में रखते हुए ज्ञान और इच्छा का नीचे की ओर निगाह रखना आरंभ से ही गुप्त पुरुष की रीति रही है। हम कह सकते हैं कि वनस्पति-आत्मा अपनी समस्त भौतिक सत्ता के बारे में स्नायविक जड़ दृष्टि रखती है ताकि उसमें से जितनी संभव है वह सारी प्राणिक-भौतिक तीव्रता पा सके; क्योंकि ऐसा मालूम होता है कि उसके अंदर मूक जीवन-स्पंदन के कुछ तीव्र उद्दीपन हैं—हमारे लिये उसकी कल्पना करना मुश्किल है। शायद यह तीव्रता उसके निचले आरंभिक स्तर को देखते हुए, पशु का मन और शरीर अपने ऊंचे और अधिक सबल स्तर से जितनी तीव्रता सह सकते हैं, उसकी अपेक्षा अधिक होती है। पशु-सत्ता अपने प्राणिक और भौतिक अस्तित्व को मानसिक-भावापन्न ऐंद्रिय दृष्टि से देखती है ताकि उसमें से जितना संभव हो वह सारा ऐंद्रिय मूल्य ले सके। मनुष्य के संवेदनों या ऐंद्रिय भावावेगों को या उसकी प्राणिक कामना और सुख की तृप्ति को देखा जाये तो पशु की यह प्राप्ति कई दिशाओं में मनुष्य की अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण होती है। इच्छा और बुद्धि के स्तर से नीचे देखनेवाला मनुष्य इन निचली तीक्ष्णताओं को त्याग देता है लेकिन मन और प्राण और इन्द्रिय से बाहर निकलने के लिये अन्य मूल्यों में तीक्ष्णता, बौद्धिक, सौंदर्य-भावात्मक, नैतिक, आध्यात्मिक, मानसिक रूप में क्रियाशील या व्यावहारिक—जैसा कि वह उन्हें कहता है—इन उच्चतर तत्त्वों से वह

अपने प्राण-मूल्यों के उपयोग को विशाल और सूक्ष्म बनाता तथा ऊंचा उठाता है। वह पशु-प्रतिक्रियाओं और भोगों को त्यागता नहीं परंतु उन्हें अधिक स्वच्छ, परिष्कृत और संवेदनशील रूप से मानसिक बना देता है। ऐसा वह अपने सामान्य और निम्नतर स्तरों पर भी करता है लेकिन जैसे-जैसे उसका विकास होता है, वह अपनी निचली सत्ता को ज्यादा कठिन कसौटी पर रखता है, उसे त्याग देने का भय दिखला कर रूपांतर जैसी किसी चीज की मांग करने लगता है। अपने से भी परे, आध्यात्मिक जीवन की तैयारी करने के लिये मन का यही तरीका है।

जब मनुष्य उच्चतर स्तर पर जा पहुंचता है तो वह अपनी दृष्टि को केवल नीचे और चारों ओर ही नहीं फैलाता बल्कि ऊपर की ओर भी जो उससे ऊपर है और भीतर की ओर भी जो उसमें गुह्य है। उसके अंदर न केवल विकसनशील वैश्व सत्ता की नीचे की ओर की दृष्टि सचेतन हो जाती है बल्कि उसकी सचेतन ऊर्ध्वमुखी और अंतर्मुखी दृष्टि भी विकसित होती है। पशु इस तरह जीता है मानों प्रकृति ने उसके लिये जो कुछ कर दिया है उससे संतुष्ट है। अगर उसकी पशु-सत्ता में स्थित गुप्त आत्मा की कोई ऊर्ध्वमुखी दृष्टि है तो सचेतन रूप से तो उसके साथ इसका कोई संबंध नहीं होता, वह प्रकृति का ही धंधा है। मनुष्य ही सबसे पहले इस ऊर्ध्वमुखी दृष्टि को अपना सचेतन व्यापार बनाता है; क्योंकि मनुष्य बुद्धिशाली इच्छा के कारण—जो विज्ञान की विकृत किरण भले हो—सच्चिदानंद का दोहरा स्वभाव धारण करना शुरू कर देता है। अब वह पशु की तरह एक अविकसित सचेतन सत्ता नहीं रह जाता जिसे प्रकृति पूरी तरह से चलाती है, जो कार्यकर्त्री शक्ति का दास है, जिसके साथ प्रकृति की यांत्रिक ऊर्जाएं खेल करती हैं। अब वह एक विकसनशील आत्मा या पुरुष के रूप में विकसित होना शुरू करता है; उसमें, जो प्रकृति का स्वैर व्यवसाय था, हस्तक्षेप करना शुरू करता है, उसके मामलों में कुछ अधिकार चाहता और अंततः स्वामी बन जाना चाहता है। वह अभी ऐसा नहीं कर सकता। वह उसके जाल में बहुत ज्यादा फंसा हुआ है, उसकी स्थापित की हुई यांत्रिकता में बहुत ज्यादा उलझा हुआ है। लेकिन वह अनुभव करता है, यद्यपि अभी बहुत अस्पष्टता और अनिश्चिति के साथ, कि उसके अंदर की आत्मा ज्यादा ऊंची ऊंचाइयों की ओर उठना, अपनी सीमाओं को अधिक विस्तृत करना चाहती है। उसके भीतर कोई चीज, कोई गुह्य वस्तु जानती है कि गभीरतर सचेतन पुरुष-प्रकृति का यह इरादा नहीं है कि वह अपनी वर्तमान नीचाइयों और सीमाओं से संतुष्ट रहे। मनुष्य जब पृथ्वी के भौतिक और प्राणमय जगत् में अपने लिये जगह बना लेता है, अपनी आगे की संभावनाओं पर विचार करने का कुछ मौका पाता है तो उसका स्वाभाविक अंतर्वेग सदा यही होता है कि वह उच्चतर शिखरों की ओर उठे, अधिक विशाल क्षेत्र पाये, अपनी निम्न प्रकृति को रूपांतरित करे। यह उसके अंदर किसी मिथ्या और दयनीय, काल्पनिक भ्रांति के

कारण नहीं होता बल्कि, चूंकि पहले तो वह अपूर्ण, अभी विकास करता हुआ मानसिक प्राणी है जिसे और अधिक विकास और पूर्णता के लिये प्रयास करना चाहिये और उससे भी बढ़कर इस कारण कि वह अन्य पार्थिव प्राणियों के विपरीत, मन से जो गभीरतर है उसके बारे में अपने अंदर अंतरात्मा के और मन से ऊपर अतिमानस, आध्यात्म पुरुष के बारे में अभिज्ञ होने में सक्षम है और उनकी ओर खुलने में, उन्हें अपने अंदर लाने में, अपने-आप उनकी तरफ उठने और उन्हें ग्रहण करने में सक्षम है। यह उसकी प्रकृति में, समस्त मानव प्रकृति में है कि वह सचेतन क्रम-विकास द्वारा अपना अतिक्रमण करे, वह जो कुछ है उससे ऊपर चढ़े। केवल व्यक्ति ही नहीं बल्कि समय आने पर मानवजाति, भले सब सदस्यों में न हो, सत्ता और जीवन के सामान्य नियम में, अगर वह काफी इच्छा विकसित कर ले तो अपनी वर्तमान अति अदिव्य प्रकृति की अपूर्णताओं से ऊपर उठकर, कम-से-कम श्रेष्ठतर मानवतातक चढ़ने की, चाहे वह पूरी तरह वहां न भी पहुंच सके तो भी दिव्य मानवता और अतिमानवता के नजदीक पहुंचने की आशा कर सकती है। बहरहाल उसके लिये यह विकसनशील प्रकृति की अनिवार्यता है कि वह ऊपर की ओर विकसित होने का प्रयास करे, आदर्श का निर्माण करे और उसके लिये प्रयत्न करे।

किंतु विकसनशील सत्ता की आत्म-संभूति में अपने अतिक्रमण द्वारा कार्य संपादन की सीमा कहां है? स्वयं मन के अंदर सोपानों की श्रेणियां हैं और फिर हर श्रेणी अपने-आपमें एक सोपान-शृंखला है, उत्तरोत्तर चढ़ाइयां हैं जिन्हें हम आसानी से मानसिक चेतना और मानसिक सत्ता के स्तर और उपस्तर कह सकते हैं। हमारे मनोमय पुरुष का विकास मुख्यतया इस सोपान पर चढ़ाई है। हम उनमें से किसीपर खड़े रह सकते हैं और साथ ही निचले स्तरों पर निर्भरता बनाये रख सकते हैं और यह सामर्थ्य भी रख सकते हैं कि कभी-कदास उच्चतर स्तरों पर चढ़ें या अपनी सत्ता के श्रेष्ठतर स्तरों के प्रभावों की ओर उत्तर दें। अभी हम सामान्यतः अपना पहला सुरक्षित आधार बुद्धि के सबसे निचले उपस्तर को बनाते हैं, जिसे हम भौतिक मन कह सकते हैं, क्योंकि वह अपने तथ्य और वास्तविकता के भाव के साक्ष्य के लिये भौतिक मस्तिष्क पर, भौतिक ऐंद्रिय मन और भौतिक इन्द्रियों पर निर्भर होता है। वहां हम भौतिक मनुष्य होते हैं जो सबसे अधिक महत्त्व देता है वस्तुनिष्ठ चीजों और अपने बाहरी जीवन को, जिसमें आत्मनिष्ठ या आंतरिक जीवन की तीव्रता कम ही होती है और जो कुछ होती भी है उसे वह बाह्य वास्तविकता के ज्यादा बड़े दावों के अधीन कर देता है। भौतिक मनुष्य में एक प्राणिक भाग होता है लेकिन वह प्रधानतः अवचेतन से उभरती प्राण-चेतना की छोटी-मोटी सहज-वृत्तिमूलक और अंतर्वेगात्मक रचनाओं से बना होता है और साथ ही उन संवेदनों, कामनाओं, आशाओं, अनुभूतियों, तुष्टियों का रूढ़िगत जमघट या चक्कर होता है

जो बाहरी चीजों और बाहरी संपर्कों पर आश्रित होते हैं और जो व्यावहारिक, तुरंत उपलब्ध हो सकनेवाले, संभव, अभ्यासगत, सामान्य और औसत से संबंध रखते हैं। उसका एक मानसिक भाग भी होता है लेकिन यह भी रूढ़िगत, परंपरा-परायण, व्यावहारिक, वस्तुनिष्ठ है और उसका सम्मान वह अधिकतर अपनी शारीरिक और संवेदनात्मक सत्ता के आश्रय, आराम, उपयोग, संतोष और विनोद के लिये उपयोगी होने के कारण ही करता है। क्योंकि भौतिक मन जड़ द्रव्य और जड़ जगत् को, शरीर और शारीरिक जीवन को ऐंद्रिय अनुभव और सामान्य व्यावहारिक मानसता और उसके अनुभव को अपनी भित्ति बनाता है। जो कुछ इस श्रेणी का नहीं है उसे भौतिक मन एक सीमित अधिरचना के रूप में बनाता है जो बाह्य ऐंद्रिय-मानसता पर निर्भर होती है। फिर भी वह जीवन की इन उच्चतर अंतर्वस्तुओं को या तो सहायक अनुषंगियों या निरर्थक लेकिन कल्पनाओं, संवेदनों और अमूर्त विचारों के सुखद विलास के रूप में देखता है, न कि आंतरिक वास्तविकताओं के रूप में; या अगर वह उन्हें वास्तविकताओं के रूप में भी लेता है तो भी वह उन्हें उनके अपने पदार्थ में ठोस और वस्तु-रूप में नहीं देखता क्योंकि उनका पदार्थ भौतिक पदार्थ और उसके स्थूल ठोसपन की अपेक्षा सूक्ष्म होता है, उन्हें वह स्थूल वास्तविकताओं में से एक आत्मनिष्ठ, कम सारवान् विस्तार के रूप में लेता है। यह अनिवार्य है कि मनुष्य जड़-तत्त्व को ही अपना पहला आधार बनाये और बाहरी तथ्य और बाहरी जीवन को उसका उचित महत्त्व दे क्योंकि यह हमारे जीवन के लिये प्रकृति की पहली व्यवस्था है जिसपर वह बहुत जोर देती है। हमारे अंदर भौतिक मानव पर बहुत जोर दिया जाता है और प्रकृति उसकी प्रचुर संख्या-वृद्धि करती है ताकि जब वह अपने उच्चतर मानव विकासों के लिये प्रयास करे तो वह उस सुरक्षित, भले निश्चेष्ट भौतिक आधार की रक्षा के लिये एक शक्ति हो जिसपर वह अपने-आपको बनाये रख सके। लेकिन इस मानसिक रूपायण में किसी प्रगति के लिये कोई शक्ति नहीं है और अगर है तो केवल जड़-भौतिक प्रगति के लिये। यह हमारी पहली मानसिक स्थिति है लेकिन मानसिक सत्ता हमेशा मानव-विकास-सोपान की इस सबसे निचली सीढ़ी पर नहीं बनी रह सकती।

भौतिक मन के ऊपर और भौतिक संवेदनों के नीचे गहराई में वह है जिसे हम प्राणिक मन की बुद्धि कह सकते हैं। यह क्रियाशील, प्राणिक, स्नायविक, चैत्य की ओर अधिक खुली हुई है यद्यपि अब भी धुंधली है, प्रथम आंतरात्मिक रूपायण के योग्य है; यद्यपि अधिक धुंधले प्राण-पुरुष के रूपायण के योग्य है, चैत्य सत्ता के योग्य नहीं परंतु प्राण-पुरुष के सामने के रूपायण के योग्य है। यह प्राण-पुरुष ठोस रूप में प्राणिक जगत् की वस्तुओं का बोध और संपर्क पाता है और उन्हें यहांपर प्राप्त करने का यत्न करता है। वह प्राणिक सत्ता, प्राण-शक्ति, प्राणिक प्रकृति के संतोष और पूर्ति को बहुत अधिक महत्त्व देता है। वह भौतिक जीवन

को प्राणिक आवेगों की आत्म-परिपूर्ति के लिये, महत्त्वाकांक्षा, शक्ति, सबल चरित्र, प्रेम, आवेश, साहसकार्य की क्रीड़ा के क्षेत्र के रूप में देखता है, व्यक्ति और समुदाय तथा सामान्य मानव अन्वेषण, जोखिम और साहसिक कार्य के लिये सब प्रकार के प्राणिक परीक्षणों और नये प्राणिक अनुभवों के लिये एक क्षेत्र के रूप में देखता है। इस रक्षक तत्त्व के बिना, इस श्रेष्ठतर शक्ति, अभिरुचि, सार्थकता के बिना उसके लिये भौतिक जीवन का कुछ भी मूल्य न होता। इस प्राणमय मन को हमारे गुह्य अंतस्तलीय प्राण-पुरुष का सहारा प्राप्त होता है और उसका प्राणमय जगत् के साथ अवगुंठित संपर्क रहता है, जिसके प्रति वह आसानी से खुल सकता है और इस तरह उन अदृष्ट क्रियाशील शक्तियों और वास्तविकताओं को अनुभव कर सकता है जो जड़ विश्व के पीछे हैं। एक आंतरिक प्राणिक-मन है जिसे अपने दर्शन के लिये भौतिक इन्द्रियों की सहायता की जरूरत नहीं होती, वह उनसे सीमित नहीं है क्योंकि इस स्तर पर शरीर से और भौतिक जगत् के प्रतीकों से स्वतंत्र रहते हुए, जिन्हें हम प्राकृतिक व्यापार कहते हैं, हमारा आंतरिक जीवन और जगत् का आंतरिक जीवन हमारे लिये वास्तविक हो जाते हैं, मानों प्रकृति के लिये स्थूल जड़-तत्त्व के अतिरिक्त कोई ज्यादा बड़ी वास्तविकताएं और ज्यादा बड़े व्यापार हैं ही नहीं। प्राणिक मानव सचेतन या अचेतन रूप से इन्हीं प्रभावों के द्वारा गढ़ा जाता है। वह कामना और संवेदनों का मनुष्य, शक्ति और क्रिया का मनुष्य, आवेगों और भावों का मनुष्य, गत्यात्मक व्यक्ति होता है। वह भौतिक अस्तित्व पर बहुत अधिक जोर दे सकता और देता है लेकिन अपनी वर्तमान वास्तविकताओं के साथ अत्यधिक व्यस्त होने के बावजूद वह उस जीवन-अनुभव के लिये, उपलब्धि की शक्ति के लिये, जीवन-प्रसार के लिये, जीवन-शक्ति, जीवन-प्रतिष्ठापन के लिये और प्राण-वर्द्धन के लिये धकेलता है जो सत्ता की वृद्धि की ओर प्रकृति की पहली प्रेरणा है। इस जीवन-प्रेरणा की उच्चतम तीव्रता के समय वह बंधनों को तोड़नेवाला, नये क्षितिजों की खोज करनेवाला, भविष्य के हित में भूत और वर्तमान को अस्तव्यस्त करनेवाला बन जाता है। उसका एक मानसिक जीवन होता है जो प्रायः प्राणशक्ति और उसकी कामनाओं और उसके आवेगों का दास होता है; और वह मन के द्वारा उन्हें संतुष्ट करने की कोशिश करता है; लेकिन जब वह मानसिक चीजों में बहुत रस लेता है तो वह मानसिक अभियानी, नये मानसिक रूपायनों की राहें खोलनेवाला, किसी भाव के लिये योद्धा, भावुक प्रकार का कलाकार, जीवन का ऊर्जस्वी कवि या किसी उद्देश्य या आंदोलन का पैगंबर या समर्थक बन सकता है। प्राणिक मन क्रियाशील होता है और इसलिये विकासशील प्रकृति के कार्य में एक बड़ी शक्ति होता है।

प्राणिक मानसता के इस स्तर के ऊपर और साथ ही अधिक भीतर की ओर फैला हुआ शुद्ध विचार और बुद्धि का एक मानसिक स्तर होता है जिसके लिये

मानसिक जगत् की चीजें सबसे महत्त्वपूर्ण वास्तविकताएं होती हैं। जो उसके प्रभाव में होते हैं, दार्शनिक, विचारक, वैज्ञानिक, बौद्धिक स्रष्टा, भाव-प्रवण, लिखित या उच्चरित शब्द-प्रवण, आदर्शवादी और स्वप्नद्रष्टा—ये वर्तमान मानसिक सत्ता के उपलब्ध उच्चतम शिखर हैं। इस मानसिक मनुष्य का अपना प्राणमय भाग है, उसका अपने आवेगों, कामनाओं, महत्त्वाकांक्षाओं और सब तरह की प्राणिक आशाओं का जीवन है और उसका निम्नतर संवेदनात्मक और भौतिक अस्तित्व भी है और यह निम्नतर अंग प्रायः उसके उच्चतर मनोमय तत्त्व के समान या उससे अधिक भारी हो जाता है ताकि, यद्यपि यह उसका उच्चतम भाग है पर वह उसकी समस्त प्रकृति का मुख्य और रचनात्मक भाग नहीं बन जाता। लेकिन उसके महत्तम विकास में यह उसका विशेष लक्षण नहीं है क्योंकि वहां प्राण और देह पर विचारशील इच्छा और बुद्धि का नियंत्रण और आधिपत्य होता है। मानसिक मनुष्य अपनी प्रकृति का रूपांतर नहीं कर सकता लेकिन वह उसे शासित और समन्वित कर सकता है और उसपर मानसिक आदर्श का विधान लागू कर सकता है, संतुलन या उन्नयन और परिमार्जन करनेवाला प्रभाव डाल सकता है और हमारी विभक्त और अर्द्धनिर्मित सत्ता की बहु-व्यक्तिक उलझन और संघर्ष या सरसरी जोड़-जाड़ की व्यवस्था में एक उच्चतर संगति ला सकता है। वह अपने मन और प्राण का प्रेक्षक और शासक हो सकता है और सचेतन रूप से उन्हें विकसित कर सकता और उस हदतक आत्म-स्रष्टा बन सकता है।

इस शुद्ध बुद्धि के मन के पीछे हमारा आंतरिक या अंतस्तलीय मन होता है जो मानसिक स्तर की सभी चीजों का प्रत्यक्ष बोध पा लेता है; मानसिक शक्तियों के जगत् की क्रिया के प्रति खुला रहता है और भावमूलक और अन्य ऐसे अतिसूक्ष्म प्रभावों का अनुभव कर सकता है जो भौतिक जगत् और प्राण-स्तर पर क्रिया करते हैं लेकिन जिनके बारे में अभी हम केवल अनुमान कर सकते हैं, उनका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं पा सकते। मानसिक मनुष्य के लिये ये अमूर्त और अतिसूक्ष्म प्रभाव वास्तविक और स्पष्ट होते हैं और वह उन्हें ऐसे सत्य मानता है जो हमारी या पृथ्वी की प्रकृति में अभिव्यक्त होने की मांग कर रहे हैं। आंतरिक स्तर पर शरीर से पृथक्, मन और मनोमय पुरुष, हमारे लिये संपूर्ण वास्तविकता हो सकते हैं और हम जैसे शरीर में निवास करते हैं उसी तरह सचेतन रूप से उनमें निवास कर सकते हैं। इस तरह मन और मानसिक वस्तुओं में निवास करना, शरीर या प्राण होने की जगह बुद्धि होना प्रकृति की कोटियों में, आध्यात्मिकता के बाद हमारी सबसे ऊंची स्थिति है। मानसिक मनुष्य, आत्म-शासक और आत्म-रचयिता मन और इच्छावाला मन, जो किसी आदर्श के बारे में सचेतन और उसकी उपलब्धि की ओर मुड़ा हो, उच्च बुद्धि, विचारक, मनीषी, प्राणमय मनुष्य की अपेक्षा कम गतिशील और तुरंत प्रभावकारी होता है, जो क्रियाशील मनुष्य है और तेजी से

बाहरी जीवन की परिपूर्ति करनेवाला है। फिर भी जाति के लिये नये प्रदेश खोलने के लिये उतना ही, बल्कि उससे अधिक समर्थ, ऐसा व्यक्ति ही मानव स्तर पर प्रकृति की विकसनशील रचना का सामान्य शिखर होता है। मानसिकता की ये तीन कोटियां अपने-आपमें स्पष्ट होते हुए बहुधा हमारे संयोजन में घुल-मिल जाती हैं—ये हमारी सामान्य बुद्धि के लिये केवल मनोवैज्ञानिक प्रारूप हैं जो किसी तरह से विकसित हो गये हैं। हमें इनमें कोई और अर्थ नहीं मिलता लेकिन वस्तुतः वे अर्थ से भरे हैं क्योंकि वे मानसिक सत्ता के विकास के लिये अपना अतिक्रमण करने की ओर प्रकृति के चरण हैं। और चूंकि वह अभीतक जो पा सकती है उसमें विचारशील मन ही सबसे ऊंचा है इसलिये पूर्णत्व को प्राप्त मानसिक मनुष्य ही सामान्य मानव प्राणियों में सबसे विरल और सबसे ऊंचा है। इसके परे जाने के लिये उसे मन के अंदर आध्यात्मिक तत्त्व को लाना और मन, प्राण, शरीर में उसे सक्रिय बनाना होगा।

ये उसकी विकसनशील आकृतियां हैं जिन्हें बाहरी मानसिकता में से बनाया गया है। इससे अधिक करने के लिये उसे हमारी सतह के नीचे छिपी अदृष्ट सामग्री का अधिक विशद रूप से उपयोग करना होगा। अंदर गोता लगाकर प्रच्छन्न अंतरात्मा को, चैत्य को बाहर निकालना होगा या फिर हमारे सामान्य मानसिक स्तर से ऊपर अंतर्भासात्मक चेतना के लोकों में चढ़ना होगा जो आध्यात्मिक विज्ञान से आनेवाले प्रकाश से घनीभूत हैं, ये शुद्ध आध्यात्मिक मन के ऊपर चढ़ते हुए स्तर ऐसे हैं जहां हम अनंत के साथ प्रत्यक्ष संपर्क में होते हैं, आत्मा के और वस्तुओं की उच्चतम वास्तविकता सच्चिदानंद के साथ संपर्क में आते हैं। हमारे अंदर, हमारी बाहरी प्राकृत सत्ता के पीछे एक अंतरात्मा, एक आंतरिक मन, एक आंतरिक प्राणिक अंश है जो इन ऊंचाइयों की ओर तथा हमारे अंदर की गुह्य आत्मा की ओर खुल सकते हैं और यह दोहरा खुलना नये विकास का रहस्य है। इन ढक्कनों, दीवारों और सीमाओं को तोड़ने से चेतना एक महत्तर आरोहण और विशालतर समाकलन की ओर उठती है। जैसे मन के विकास ने मानसभावापन्न किया है उसी तरह यह नया विकास हमारी प्रकृति की सभी शक्तियों को आध्यात्मिकभावापन्न करेगा। क्योंकि मानसिक मनुष्य प्रकृति का अंतिम प्रयास या ऊंचे-से-ऊंची पहुंच नहीं है, यद्यपि सामान्यतः वह अपनी प्रकृति में उन लोगों की अपेक्षा ज्यादा पूरी तरह विकसित हुआ है जो अपने-आपको उससे नीचे उपलब्ध करके रह गये या जिन्होंने उससे ऊपर अभीप्सा की है। प्रकृति ने मनुष्य को एक अधिक ऊंचे और अधिक कठिन स्तर की ओर इशारा किया है, उसे आध्यात्मिक जीवन के आदर्श की प्रेरणा दी है, उसके अंदर एक आध्यात्मिक सत्ता का क्रम-विकास शुरू किया है। आध्यात्मिक मनुष्य ही मानव-सृष्टि में प्रकृति का सर्वोच्च अधिसामान्य प्रयत्न है क्योंकि मानसिक स्रष्टा, विचारक, मुनि, किसी आदर्श के

पैगंबर, आत्म-शासित, आत्मानुशासित, सामंजस्यपूर्ण मानसिक सत्ता को विकसित करके प्रकृति ने ज्यादा ऊंचा, अपने भीतर ज्यादा गहराई में जाने की कोशिश की है और अंतरात्मा, आंतरिक मन और हृदय को बाहर आने के लिये पुकारा है और ऊपर से आध्यात्मिक मन, उच्चतर मन और अधिमानस की शक्तियों को नीचे बुलाया है और उनके प्रभाव से आध्यात्मिक मुनि, द्रष्टा, पैगंबर, ईश्वर-प्रेमी, योगी, विज्ञानी, सूफी, रहस्यवादी का सृजन करने की कोशिश की है।

अपना सच्चा अतिक्रमण करने के लिये मनुष्य के पास बस यही एक तरीका है : क्योंकि जबतक हम ऊपरी तल की सत्ता में रहते हैं या जड़ पर पूरा आधार रखते हैं तबतक ऊपर जाना असंभव है और यह आशा रखना व्यर्थ है कि हमारी विकसनशील सत्ता में कोई मौलिक प्रकार का संक्रमण हो सकता है। प्राणमय पुरुष और मनोमय पुरुष पार्थिव जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव डाल चुके हैं; उन्होंने निरे मानव पशु से मानवजाति को वहांतक आगे पहुंचा दिया है जहां वह अब है। लेकिन वे अभीतक प्रतिष्ठित मानव सत्ता के विकास-सूत्र की सीमाओं के अंदर ही काम कर सकते हैं, वे मानव चक्र को ज्यादा बड़ा कर सकते हैं लेकिन चेतना के तत्त्व और उसकी विशिष्ट क्रिया को बदल या रूपांतरित नहीं कर सकते। मानसिक मनुष्य को अत्यधिक ऊंचा उठाने या प्राणिक पुरुष को अत्यधिक अतिरंजित करने के किसी भी प्रयास से—उदाहरण के लिये नीत्शे का अतिमानव—मानव प्राणी को बृहत्काय तो बनाया जा सकता है लेकिन इससे न तो उसका रूपांतर हो सकता है न वह दिव्य बन सकता है। अगर हम अपने अंदर, आंतरिक सत्ता में निवास कर सकें और उसे जीवन का प्रत्यक्ष शासक बना सकें या सत्ता के आध्यात्मिक और अंतर्भासात्मक स्तरों पर स्थित होकर वहांसे उनकी शक्ति से अपनी प्रकृति का रूपांतर कर सकें तो एक भिन्न संभावना खुल जाती है।

आध्यात्मिक मनुष्य इस नये विकास का, प्रकृति के इस नये और उच्चतर प्रयास का चिह्न है। लेकिन यह विकास पिछली विकसनशील ऊर्जा की प्रक्रिया से दो बातों में अलग है : यह मानव मन के सचेतन प्रयास द्वारा संचालित होता है और सतही प्रकृति की सचेतन प्रगतितक ही सीमित नहीं रहता, उसके साथ ही एक प्रयास होता है; यह अज्ञान की दीवारों को तोड़ने का और भीतर की ओर अपनी वर्तमान सत्ता के गुप्त तत्त्व में विस्तृत होने का और बाहर की ओर वैश्व सत्ता में, ऊपर की ओर उच्चतर तत्त्व में विस्तृत करने का प्रयास है। अभी प्रकृति ने जो कुछ पाया है वह था हमारी सतही ज्ञान-अज्ञान की सीमाओं का विस्तार। आध्यात्मिक प्रयास में कोशिश की जाती है अज्ञान को लुप्त करने की, भीतर जाकर अंतरात्मा को खोजने और चेतना में भगवान् तथा समस्त सत्ता के साथ युक्त होने की। मनुष्य के अंदर विकासशील प्रकृति की मानसिक अवस्था का यह अंतिम लक्ष्य है, यह अज्ञान के ज्ञान में आमूल रूपांतर की ओर पहला चरण है।

आध्यात्मिक परिवर्तन आंतरिक सत्ता और उच्चतर आध्यात्मिक मन के प्रभाव से शुरू होता है, यह ऐसी क्रिया है जो ऊपरी तल पर अनुभव और स्वीकार की जाती है लेकिन यह अपने-आपमें केवल उज्ज्वल मानसिक आदर्शवाद की ओर ले जा सकता है या धार्मिक मन, धार्मिक स्वभाव, हृदय में थोड़ी-सी भक्ति और आचरण में धर्म-परायणता की वृद्धि की ओर ले जा सकता है। यह आत्मा की ओर मन का पहला उपागम है लेकिन यह मौलिक परिवर्तन नहीं ला सकता। और अधिक करना है। हमें भीतर ज्यादा गहराई में निवास करना है। हमें अपनी वर्तमान चेतना का अतिक्रमण करना है और प्रकृति के वर्तमान स्तर को पार करना है।

यह स्पष्ट है कि अगर हम इस तरह भीतर, ज्यादा गहराई में रह सकें और आंतरिक शक्तियों का बाहरी यंत्रों में स्थिरता से संचार कर सकें या हम इतने ऊपर उठ सकें कि उच्चतर तथा विशालतर स्तरों पर निवास कर सकें और केवल उनसे उतरते प्रभावों को ग्रहण करने के बदले, अभी हम केवल इतना ही कर सकते हैं, उनकी शक्तियों के प्रवाह को भौतिक जीवन पर उतार सकें तो हमारी सचेतन सत्ता की शक्ति का उन्नयन शुरू हो सकता है ताकि चेतना के एक नये तत्त्व का सृजन हो, क्रिया-कलाप का एक नया क्षेत्र, सभी चीजों के लिये नये मूल्य, हमारी चेतना और हमारे जीवन का विस्तार, हमारी सत्ता की निचली श्रेणियों को ऊपर उठाकर उनका रूपांतर हो। संक्षेप में वह सारी विकास-प्रक्रिया शुरू हो सकती है जिसके द्वारा आत्मा प्रकृति में सत्ता के उच्चतर प्रारूप का सृजन करती है। हर कदम एक प्रगति हो सकता है, वह लक्ष्य से चाहे जितनी दूर क्यों न हो, या हर कदम एक विशालता और अधिक दिव्य सत्ता के निकट आगमन, एक विशालतर तथा और अधिक दिव्य शक्ति और चेतना, ज्ञान और इच्छा, अस्तित्व के भाव और सत्ता के आनंद के निकट आगमन हो सकता है, दिव्य जीवन की ओर एक प्रारंभिक उन्मीलन हो सकता है। सभी धर्म, सारा गुह्य ज्ञान, सभी अधिसामान्य (असामान्य के विपरीत) मनोवैज्ञानिक अनुभव, समस्त योग, समस्त चैत्य अनुभूतियां और अनुशासन, सूचना-स्तंभ और मार्गदर्शक हैं जो हमें गुह्य, आत्मान्वेषी आत्मा की प्रगति के मार्ग की ओर इंगित करते हैं।

लेकिन मानवजाति अभीतक विशेष गुरुत्वाकर्षण के कारण भौतिक की ओर खिंची हुई है। वह अभीतक अविजित पार्थिव तत्त्व के आकर्षण की आज्ञा का पालन करती है। उसपर मस्तिष्क-मन, भौतिक बुद्धि का प्राधान्य है, इस तरह बहुत से बंधनों के कारण वह पीछे खिंची रहती है। वह आध्यात्मिक प्रयास के संकेत के आगे हिचकिचाती और उसकी तनावदार मांग से पीछे जा गिरती है, उसे जब कभी आदत के खांचों में से बाहर निकलने के लिये पुकार लगायी जाती है तो उसके अंदर अब भी संशयभरी मूर्खता, अत्यधिक अकर्मण्यता, एक अतिविशाल बौद्धिक और आध्यात्मिक भीरुता और रूढ़िवाद की बहुत अधिक क्षमता पायी जाती है। स्वयं

जीवन का यह सतत प्रमाण कि जहां कहीं वह विजय प्राप्त करना चाहे वहां विजय पा सकता है—उस बिल्कुल निचली शक्ति, भौतिक विज्ञान के चमत्कार को देख लो—उसे शंका करने से नहीं रोक सकते। वह नयी टेर को अस्वीकार करती और उसे उत्तर देने का काम कुछ व्यक्तियों के लिये छोड़ देती है। लेकिन अगर अगला कदम मानवजाति के लिये हो तो इतना काफी नहीं है क्योंकि अगर जाति आगे बढ़े तभी उसके लिये आत्मा की विजयें सुरक्षित हो सकती हैं। क्योंकि तब प्रकृति में कोई च्युति भले हो जाये, उसके प्रयास में गिरावट भले आ जाये फिर भी भीतर की आत्मा एक गुप्त स्मृति का उपयोग करती है—यह स्मृति कभी-कभी नीचे की ओर अधोमुखी गुरुत्वाकर्षण के रूप में, जाति में एक पुराण-पंथी शक्ति के रूप में निरूपित होती है परंतु वास्तव में यह प्रकृति में सतत स्मृति की शक्ति होती है जो हमें ऊपर या नीचे खींच सकती है—वहांसे फिर से ऊपर बुलायेगी और अगली चढ़ाई पिछले उद्यम के कारण अधिक सरल और अधिक स्थायी होगी, क्योंकि वह उद्यम, उसकी प्रेरणा और उसके परिणाम मानवजाति के अवचेतन मन में संचित हुए बिना नहीं रह सकते। कौन कह सकता है कि इस प्रकार की कौन-सी विजयें हमारे पिछले युगों में प्राप्त हुई होंगी और हम अगले आरोहण के कितने नजदीक होंगे? यह आवश्यक या संभव नहीं है कि समस्त जाति अपने-आपको मानसिक से आध्यात्मिक सत्ताओं में रूपांतरित कर ले। लेकिन इस प्रवृत्ति की धारा को निश्चित उपलब्धितक ले जाने के लिये आदर्श की व्यापक मान्यता, विस्तृत प्रयास और सचेतन एकाग्रता की जरूरत है, अन्यथा अंत में जो प्राप्त होगा वह कुछ ऐसे लोगों के द्वारा उपलब्धि होगी जो सत्ताओं की एक नयी कोटि का आरंभ करेंगे जब कि बाकी मानवजाति अपने अयोग्य होने का फैसला सुना देगी और हो सकता है कि वह विकास के पतन में या स्थायी निश्चलता में जा गिरे, क्योंकि सतत ऊर्ध्वमुखी प्रयास ही मानवजाति को जीवित रखे हुए है और उसके लिये सृष्टि के अग्रभाग में उसका स्थान बनाये हुए है।

विकास की प्रक्रिया का तत्त्व एक आधार है, उस आधार से आरोहण, उस आरोहण में चेतना का उलटाव और प्राप्त महत्तर ऊंचाई और विशालता से पूर्ण प्रकृति के परिवर्तन और नये समाकलन की क्रिया। जड़ तत्त्व है पहली नींव, आरोहण प्रकृति का है, समाकलन पहले प्रकृति द्वारा प्रकृति का निश्चेतन या अर्द्ध-चेतन स्वचालित परिवर्तन है। लेकिन जैसे ही प्रकृति की इन क्रियाओं में सत्ता अधिक पूर्ण रूप से सचेतन भाग लेना शुरू करती है वैसे ही प्रक्रिया की कार्य-प्रणाली में परिवर्तन आना अनिवार्य हो जाता है। जड़ की भौतिक नींव बनी रहती है लेकिन जड़ चेतना की नींव नहीं बना रह सकता। स्वयं चेतना अपने उद्गम में न तो निश्चेतना में से उमड़ता स्रोत होगी और न ही विश्व के संपर्कों के दबाव से किसी गुह्य आंतरिक अंतस्तलीय शक्ति की गुप्तधारा होगी। विकसित होते हुए

जीवन की नींव होगी ऊपर की नयी आध्यात्मिक स्थिति या हमारे भीतर की अनावृत आत्म-स्थिति। ऊपर से प्रकाश और ज्ञान और इच्छा का प्रवाह और भीतर से उनका ग्रहण वैश्व अनुभूति के प्रति सत्ता की प्रतिक्रियाओं का निश्चय करेंगे। सत्ता की समस्त एकाग्रता नीचे से ऊपर की ओर और बाहर से भीतर की ओर चली जायेगी। हमारे लिये अभीतक अज्ञात उच्चतर और आंतरिक सत्ता 'हम' बन जायेगी और बाहरी तथा सतही सत्ता, जिसे हम अब अपना-आप मानते हैं, केवल एक खुला हुआ अग्रभाग या उपभवन होगी जिसमें से सच्ची सत्ता विश्व से भेंट करती है। स्वयं बाहरी जगत् आध्यात्मिक अभिज्ञता के लिये आंतरिक बन जायेगा, उसका अपना अंग होगा, एकत्व और तादात्म्य के ज्ञान और अनुभव में अंतरंग रूप से आलिंगित मन की एक अंतर्भासात्मक दृष्टि से भिदा हुआ होगा जिसे चेतना के साथ चेतना के सीधे संपर्क से उत्तर मिलेगा, जिसे एक प्राप्त किये हुए समाकलन में ले लिया जायेगा। स्वयं पुरानी निश्चेतन नींव हमारे अंदर ऊपर की ज्योति और अभिज्ञता के प्रवाह से सचेतन हो जायेगी और उसकी गहराइयां आत्मा के शिखरों के साथ जुड़ जायेंगी। एक संपूर्ण चेतना प्रकृति और पुरुष के समग्र रूपांतर, एकीकरण, समाकलन द्वारा जीवन के संपूर्ण सामंजस्य का आधार बन जायेगी।

अध्याय १९

सप्तधा अज्ञान से सप्तधा ज्ञान की ओर

अज्ञानभूः सप्तपदा ज्ञभूः सप्तपदैव हि ॥
अज्ञान की भूमि में सात पद हैं, ज्ञान की भूमि में भी सात पद हैं।

महोपनिषद् ५.१

इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत् ।
तुरीयं स्विज्जनयद्विश्वजन्यः . . . . . ।
ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः ।
विप्रं पदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्तः ॥
. . . . . अश्मन्मयानि नहना व्यस्यन् ।
बृहस्पतिरभिकनिक्रदद् गाः . . . . . ॥
अवो द्वाभ्यां पर एकया गा गुहा तिष्ठन्तीरनृतस्य सेतौ ।
बृहस्पतिस्तमसि ज्योतिरिच्छन्नुदुस्रा आकर्वि हि तिस्र आवः ॥
विभिद्या पुरं शयथेमपाचीं निस्त्रीणि साकमुदधेरकृन्तत् ।
बृहस्पतिरुषसं सूर्यं गाम् अर्कं विवेद स्तनयन्निव द्यौः ॥

उसने ऋत् से उत्पन्न सात सिरोंवाली विशाल धी को पाया। उसने चतुर्थ लोक का सृजन किया और वैश्व बन गया . . . द्युलोक के पुत्रों, सर्वशक्तिमान् के वीरों ने ऋजु विचार का चिंतन करते हुए, सत्य को वाणी देते हुए, ज्योति के लोक की स्थापना की और यज्ञ के पहले धाम की कल्पना की . . . बृहस्पति ने बाह्य शिलाएं गिरा दीं और ज्योतिर्मय गोयूथों का आह्वान् किया . . . उन गोयूथों का जो गुप्त रूप से नीचे के दो लोकों और ऊपर के एक लोक के बीच मिथ्यात्व पर छाये सेतु पर खड़े हैं, अंधेरे में प्रकाश की इच्छा करते हुए वे किरणयूथ को ऊपर ले आये और उन्होंने तीनों लोकों को अनावृत कर दिया और उस नगरी को, जो घात में छिपी थी, छिन्न-भिन्न कर दिया। तीनों को समुद्र में से काटकर निकाला और उषा तथा सूर्य, ज्योति तथा ज्योति-जगत् का आविष्कार किया।

ऋग्वेद १०.६७.१-५

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन् ।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत् तमांसि ॥

बृहस्पति—जिनके बहुत-से जन्म हैं, जिनके सात वाक्-मुख हैं, जिनकी सात रश्मियां हैं—महाज्योति के परम व्योम में, अपने प्रथम जन्म में, अपने निनाद से तम को छिन्न-भिन्न कर देते हैं।

ऋग्वेद ४.५०.४

समस्त विकास तत्त्वतः अभिव्यक्त सत्ता में चेतना की शक्ति का उन्नयन है ताकि उसे, जो अभीतक अनभिव्यक्त है, उसकी अधिक तीव्रतातक उठाया जा सके, जड़ से प्राण में, प्राण से मन में और मन से आध्यात्म में। हमारी मानसिक में से आध्यात्म और अतिमानसिक अभिव्यक्तितक, अभीतक अर्द्ध-पाशविक मानवता में से दिव्य सत्ता और दिव्य जीवनतक वृद्धि के लिये यही तरीका होना चाहिये। हमारी चेतना की, उसके द्रव्य, उसकी शक्ति और उसकी संवेदनशक्ति की एक नयी आध्यात्मिक ऊंचाई, विस्तार, गहराई, सूक्ष्मता, तीव्रता प्राप्त करनी होगी, हमारी सत्ता की एक उन्नति, विस्तार, नमनीयता, पूर्ण क्षमता प्राप्त करनी होगी और मन को और जो कुछ मन से नीचे है उस सबको उस विशालतर सत्ता में ग्रहण करना होगा। किसी भावी रूपांतर में विकास के धर्म, विकसनशील प्रक्रिया के तत्त्व में कुछ हेर-फेर तो होगा पर मौलिक परिवर्तन नहीं, वह ज्यादा बड़े पैमाने पर मुक्त गति में राजोचित रूप से चलता रहेगा। उच्चतर चेतना में या सत्ता की उच्चतर स्थिति में परिवर्तन ही धर्म का, समूची उच्चतर तपस्या का और योग का पूरा-पूरा लक्ष्य और प्रक्रिया नहीं है, वह हमारे जीवन की प्रवृत्ति और उसके श्रम के कुल-योग में पाया जानेवाला गुप्त प्रयोजन भी है। हमारे अंदर का जीवन-तत्त्व सतत रूप से मन, प्राण और शरीर—जो उसे पहले से प्राप्त हैं—के स्तरों पर अपने-आपको प्रतिष्ठित करने और अपनी पूर्णता प्राप्त करने की चाह तो करता ही है, साथ ही वह परे जाने के लिये स्वतः-चालित रहता है और इन लाभों को रूपांतरित करके उन्हें प्रकृति में सचेतन पुरुष को उन्मुक्त करने का साधन बनाता है। अगर हमारा कोई एक भाग, बुद्धि, हृदय, इच्छा या प्राणिक कामना-पुरुष ही अपनी अपूर्णता और जगत् से असंतुष्ट होकर यहांसे दूर हो जाने का प्रयास करता है, और सत्ता की किसी बड़ी ऊंचाई में जाना चाहता है, बाकी सारी प्रकृति को अपनी देख-भाल आप करने या मर-मिटने के लिये छोड़कर संतुष्ट हो सकता है तो पूर्ण रूपांतर का ऐसा परिणाम चरितार्थ नहीं होगा, अंततः यहां तो नहीं ही होगा। लेकिन यह हमारे जीवन की सर्वांगीण प्रवृत्ति नहीं है। हमारे अंदर प्रकृति का एक श्रम यह है कि वह हमें पूर्ण रूप से लेकर, अभीतक जो कुछ उसने यहां विकसित किया है उससे ऊपर के सत्ता के तत्त्व में चढ़ जाये, लेकिन उसकी पूर्ण इच्छा यह नहीं है कि इस आरोहण में अपने-आपको नष्ट कर डाले ताकि वह उच्चतर तत्त्व ऐकांतिक रूप से प्रकृति के वर्जन और विलोपन द्वारा प्रतिष्ठित हो सके। चेतना की शक्ति को इतना उठाना कि वह मानसिक, प्राणिक और शारीरिक साधन-विनियोग से उठकर अध्यात्म के सार और शक्ति में चली जाये वस्तुतः अनिवार्य है लेकिन वह न तो एकमात्र उद्देश्य है न करने योग्य संपूर्ण वस्तु।

हमारी पुकार होनी चाहिये अपनी सारी सत्ता की नयी ऊंचाई पर रहने के लिये, लेकिन उस ऊंचाईतक पहुंचने के लिये अपने क्रियाशील अंगों को प्रकृति के

अनिर्धारित पदार्थ में फेंक देने की जरूरत नहीं और न ही इस मुक्ति देनेवाली हानि को पूरा करने के लिये आध्यात्म पुरुष की आनंदमय निष्क्रियता में जा गिरना है। यह तो हमेशा ही किया जा सकता है और इसमें बहुत विश्राम और स्वाधीनता की प्राप्ति होती है लेकिन स्वयं प्रकृति हमसे जिस चीज की आशा करती है वह यह है कि हम जो कुछ हैं वह सारा-का-सारा आध्यात्मिक चेतना में उठ जाये और आत्मा की अभिव्यक्त और बहुमुखी शक्ति बन जाये। प्रकृति के अंदर सत्ता का पूर्ण उद्देश्य है पूर्ण रूपांतर; प्रकृति की स्वयं अपना अतिक्रमण करने की वैश्व प्रेरणा का निहित अर्थ यही है। इसी कारण प्रकृति की प्रक्रिया अपने-आपको एक नये तत्त्व में उठानेतक सीमित नहीं है; नयी ऊंचाई कोई संकीर्ण, तीव्र शिखर नहीं है। वह अपने साथ विस्तार लाती है और जीवन का एक विशालतर क्षेत्र प्रतिष्ठित करती है जिसमें नये तत्त्व की शक्ति काफी खेल सके और अपने आविर्भाव के लिये स्थान पा सके। ऊपर उठने और फैलने की यह क्रिया नये तत्त्व की मूलभूत क्रीड़ा में यथा-संभव अधिक-से-अधिक प्रसारतक सीमित नहीं होती, इसमें जो उससे भी नीचे है उसे उच्चतर मूल्यों में ले लिया जाता है। दिव्य या आध्यात्मिक जीवन अपने अंदर केवल रूपांतरित और आध्यात्म-भावापन्न मानसिक, प्राणिक और भौतिक जीवन को ही नहीं लेगा बल्कि वह उन्हें क्रीड़ा की ऐसी संभावना प्रदान करेगा जो उससे बहुत अधिक विस्तृत और पूर्ण होगी जो उन्हें अपने स्तर पर बने रहने से प्राप्त होती। हमारे अपना अतिक्रमण करने से हमारे मानसिक, प्राणिक और भौतिक जीवन के नष्ट होने की जरूरत नहीं है और न ही वे आध्यात्मिक-भावापन्न होने से कम या क्षीण होते हैं। वे अधिक समृद्ध और महान्, अधिक शक्तिशाली और अधिक पूर्ण हो सकते और होते हैं। दिव्य परिवर्तन से उनके लिये ऐसी संभावनाएं खुल जाती हैं जो आध्यात्म-भावापन्न न होने की अवस्था में उनके लिये व्यावहारिक और कल्पनागम्य न होतीं।

यह विकास, यह उन्नयन, विस्तरण और समाकलन की प्रक्रिया स्वभावतः सप्तधा अज्ञान में से पूर्ण ज्ञान की ओर परिवर्धन और आरोहण है, उस अज्ञान का मर्म आधारगत है। वह अपने-आपको परिणत करता है हमारी संभूति के सच्चे स्वरूप के बारे में बहुविध अज्ञान में, अपनी समग्र आत्मा के बारे में अनभिज्ञता में, जिसकी चाबी है हम जिस स्तर पर निवास करते हैं, उसके द्वारा और हमारी प्रकृति के वर्तमान प्रधान तत्त्व द्वारा परिसीमन। हम जिस लोक में निवास करते हैं वह जड़-भौतिक लोक है। हमारी प्रकृति में इस समय प्रधान तत्त्व है ऐंद्रिय मन के साथ मानसिक बुद्धि जो अपने सहारे और पीठिका के रूप में जड़ तत्त्व पर आश्रित है। परिणामतः मानसिक बुद्धि और उसकी शक्तियों की उस भौतिक अस्तित्व के साथ तल्लीनता, जैसा कि उसे इन्द्रियों के द्वारा दिखलाया जाता है और उस प्राण के साथ तल्लीनता जैसा कि वह प्राण और भौतिक के बीच समझौते के रूप में

रूपायित हुआ है; यह मूलभूत अज्ञान की विशेष छाप है। यह स्वाभाविक भौतिकवाद या भौतिक-भावापन्न प्राणवाद, अपने उद्गम के साथ हमारा नत्थी होना, वह एक ऐसे आत्मनियंत्रण का रूप है जो हमारी सत्ता के क्षेत्र को संकीर्ण करता है और मानव सत्ता पर बहुत आग्रह करता है। यह उसके भौतिक अस्तित्व की पहली आवश्यकता है लेकिन बाद में आदिम अज्ञान उसे एक ऐसी जंजीर बना देता है जो उसके ऊपर उठनेवाले हर कदम पर बाधा देती है, इस भौतिक-भावापन्न मानसिक बुद्धि द्वारा आत्मा की संपूर्णता, शक्ति और सत्य के इस परिसीमन में से बाहर निकल आने का प्रयास और भौतिक प्रकृति के आगे अंतरात्मा की इस अधीनता में से निकलने का प्रयास हमारी मानवजाति की सच्ची प्रगति की ओर पहला कदम है। क्योंकि हमारा अज्ञान संपूर्ण नहीं है, वह चेतना का परिसीमन है। यह वह पूर्ण अविद्या नहीं है जो विशुद्ध जड़ अस्तित्वों में उसी अज्ञान की मुहर है, जिनका केवल लोक ही जड़ भौतिक नहीं है बल्कि जिनका प्रधान तत्त्व भी जड़ भौतिक है। यह एकांगी, सीमित करनेवाला, विभाजक और बड़ी हदतक मिथ्या करनेवाला ज्ञान है। उस सीमा-बंधन और मिथ्यात्व में से बाहर निकलकर हमें अपनी आध्यात्मिक सत्ता के सत्य में विकसित होना चाहिये।

जीवन और जड़-भौतिक के साथ यह तन्मयता शुरू में ठीक और जरूरी है क्योंकि मनुष्य को जो पहला कदम उठाना है वह है इस भौतिक को अच्छे-से-अच्छी तरह जानना और इसपर अधिकार करना—जहांतक वह अपने ऐंद्रिय मन से प्राप्त होनेवाले अनुभव पर अपने विचार और बुद्धि का प्रयोग करते हुए कर सकता है। लेकिन यह एक प्रारंभिक कदम है। अगर हम यहीं रुक जाएं तो हम कोई वास्तविक प्रगति न कर पाएंगे। हम जहां थे वहीं होंगे और हमने सिर्फ हिलने-डुलने के लिये कुछ भौतिक स्थान प्राप्त कर लिया है और सापेक्ष ज्ञान और अपर्याप्त, अस्थिर आधिपत्य को प्रतिष्ठित करने के लिये अपने मन के लिये अधिक शक्ति प्राप्त कर ली है और भौतिक शक्तियों और सत्ताओं की भीड़ के बीच धक्कमधक्का करने और चीजों को धकियाने की सामर्थ्य प्राण-कामना के लिये हमने पा ली है। भौतिक विषयगत ज्ञान का अधिकतम विस्तार, चाहे वह दूरतम सौरमंडलों और धरती तथा सागर की गभीरतम परतों और जड़-भौतिक द्रव्य और ऊर्जा की सूक्ष्मतम शक्तियों का आलिंगन भी क्यों न कर ले, वह हमारे लिये तात्त्विक लाभ नहीं है, वह एकमात्र चीज नहीं है जिसे प्राप्त करने की हमें सबसे अधिक आवश्यकता है। इसीलिये भौतिक विज्ञान की चमकती हुई विजयों के बावजूद जड़वाद का शास्त्र अपने-आपको अंत में एक व्यर्थ और असहाय मत सिद्ध करता है और यही कारण है कि भौतिक विज्ञान अपनी सभी उपलब्धियों के बावजूद, चाहे वह आराम प्राप्त कर ले लेकिन मानवजाति के लिये सुख और सत्ता की पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकता। हमारा सच्चा सुख हमारी संपूर्ण सत्ता के सच्चे

विकास में, अपनी संपूर्ण सत्ता के समस्त क्षेत्र में विजय पाने और बाह्य और उससे भी अधिक आंतरिक पर, गुप्त और साथ ही प्रकट प्रकृति के ऊपर प्रभुत्व पाने में है। हमारी सच्ची संपूर्णता, हम जिस लोक से शुरू करते हैं उसीपर अधिकाधिक बड़े-बड़े चक्कर बनाने से नहीं बल्कि उसके अतिक्रमण से आती है। इसी कारण प्राण और जड़तत्त्व में पहली आवश्यक नींव के बाद हमें अपनी चेतना की शक्ति को ऊंचा, गहरा, विस्तृत और सूक्ष्म बनाना होगा। पहले हमें अपनी मानसिक सत्ताओं को मुक्त करना और अपने मानसिक जीवन की अधिक स्वतंत्र, अधिक सूक्ष्म और अधिक उदात्त क्रीड़ा में प्रवेश करना होगा। क्योंकि हमारा सच्चा जीवन भौतिक की अपेक्षा मानसिक अधिक होता है, क्योंकि हम अपनी यांत्रिक या अभिव्यंजक प्रकृति में भी प्रधान रूप से मन हैं जड़ तत्त्व नहीं, भौतिक होने की अपेक्षा मानसिक प्राणी अधिक हैं। मानव पूर्णता और स्वाधीनता की ओर पहली संक्रमणात्मक गति है पूर्ण मनोमय पुरुष में विकास। वह सचमुच पूर्ण नहीं बनाती, अंतरात्मा को स्वतंत्र नहीं करती लेकिन वह हमें जड़-भौतिक और प्राणिक तन्मयता में से एक कदम उठाती और अज्ञान की पकड़ को ढीला करने की तैयारी करती है।

अधिक पूर्ण मानसिक सत्ताएं होने में हमारा लाभ यह है कि हम अधिक सूक्ष्म, उच्च और विस्तृत जीवन, चेतना, शक्ति और सत्ता के सुख और आनंद की संभावना के नजदीक पहुंचते हैं। हम जिस अनुपात में मन के सोपान पर चढ़ते हैं, हमारे अंदर इन चीजों की अधिक शक्ति आती है। साथ-ही-साथ हमारी मानसिक चेतना अपने लिये अधिक अंतर्दर्शन और शक्ति, सूक्ष्मता और नमनीयता प्राप्त कर लेती है और हम स्वयं भौतिक और प्राणिक सत्ता के अधिक भाग को आलिंगन में ले सकते हैं ताकि उसे ज्यादा अच्छी तरह जानें, उसका ज्यादा अच्छा उपयोग करें, उसे ज्यादा उदात्त मूल्य, विशालतर क्षेत्र, अधिक उन्नीत क्रिया, विस्तृत क्रम और उच्चतर परिणाम दें। मनुष्य अपनी प्रकृति की विशिष्ट शक्ति में मनोमय सत्ता है लेकिन अपने आविर्भाव के प्रथम चरणों में वह ज्यादा मानस-भावापन्न पशु ही है जो पशु की भांति अपने शारीरिक जीवन में ही तल्लीन है। वह अपने मन का उपयोग प्राण और शरीर के उपयोगों, हितों, कामनाओं के लिये उनके सेवक और मंत्री के रूप में करता है, अभीतक प्रभु और स्वामी के रूप में नहीं। जैसे-जैसे वह अपने मन में विकसित होता है और जिस अनुपात में उसका मन अपने आत्मतत्त्व और स्वाधीनता की, प्राण और शरीर के अत्याचारों के विरुद्ध स्थापना करता है उसी अनुपात में अपने महत्त्व में भी बढ़ता है। एक ओर मन अपने विमोचन द्वारा प्राण और शरीर पर नियंत्रण रखता और उन्हें प्रदीप्त करता है, दूसरी ओर शुद्ध मानसिक लक्ष्य, तल्लीनताएं और ज्ञान की खोज मूल्य पाना शुरू करते हैं। निम्नतर नियंत्रण और तन्मयता से मुक्त होकर मन प्राण के अंदर एक शासन, उन्नयन, सुरुचि, अधिक सूक्ष्म संतुलन और सामंजस्य लाता है। प्राणिक और भौतिक गतिविधियों

को एक दिशा दी जाती है और व्यवस्था में रखा जाता है। मानसिक-साधन के द्वारा जितना संभव हो उन्हें रूपांतरित करके सिखाया जाता है कि वे बुद्धि के यंत्र बनें, प्रबुद्ध इच्छा, नैतिक अंतर्दर्शन और सौंदर्यग्राही बुद्धि के आज्ञाकारी बनें। यह जितना अधिक प्राप्त किया जा सके जाति उतनी ही अधिक सचमुच मानव, मानसिक सत्ताओं की जाति बनती है।

यूनानी विचारकों ने जीवन के इसी अंतर्दर्शन को सामने रखा था। इस आदर्श के सूर्यालोक में खिले फूलों ने यूनानी जीवन और संस्कृति को इतना महान् आकर्षण दिया है। परवर्ती काल में यह अंतर्दर्शन लुप्त हो गया और जब वह वापिस आया तो वह बहुत ही घटा हुआ, अधिक गंदले तत्त्वों से मिला हुआ था; एक ऐसे आध्यात्मिक आदर्श की अस्तव्यस्तता जिसे बुद्धि ने अधूरे रूप में ही पकड़ा है और जिसे जीवन के व्यवहार में बिल्कुल चरितार्थ नहीं किया गया है लेकिन जो अपने अनुकूल और प्रतिकूल मानसिक और नैतिक प्रभावों के साथ उपस्थित रहता है और जिसके विरोध में अपनी अबाध आत्मतुष्ट गति को न पा सकनेवाली एक प्रबल, अमित, प्राणिक प्रवृत्ति का दबाव पड़ता रहा है। यह अस्तव्यस्तता मन के प्रभुत्व और जीवन के सामंजस्य, उपलब्ध सौंदर्य और संतुलन के मार्ग में आड़े आयी। जीवन के एक ज्यादा बड़े क्षेत्र और उच्चतर आदर्शों की ओर एक उन्मीलन तो प्राप्त हो गया परंतु एक नये आदर्शवाद के तत्त्व क्रिया में केवल प्रभाव के रूप में प्रसारित किये गये। वे न तो उसपर प्रभुता पा सके न उसे रूपांतरित कर सके और अंत में आध्यात्मिक प्रयास, जिसे गलत तरीके से समझा गया और चरितार्थ न किया गया, वह एक ओर फेंक दिया गया, उसके नैतिक प्रभाव बच रहे लेकिन अवलंब देनेवाले आध्यात्मिक तत्त्व से वंचित होकर क्षीण होते हुए निष्प्रभाव हो गये। प्राणिक प्रेरणा भौतिक बुद्धि के अत्यधिक विकास की सहायता पाकर जाति की तन्मयता बन गयी। पहला परिणाम था अमुक प्रकार के ज्ञान और निपुणता की प्रभावशाली वृद्धि। सबसे हाल का परिणाम है संकटमय आध्यात्मिक अस्वस्थता और बहुत बड़ी अव्यवस्था।

क्योंकि स्वयं मन काफी नहीं है, उसकी बुद्धि की बड़ी-से-बड़ी क्रीड़ा भी केवल एक सीमित अर्द्ध-ज्योति होती है। भौतिक जगत् का सतही मानसिक ज्ञान और भी अधिक अपूर्ण पथ प्रदर्शक है। विचारशील पशु के लिये यह काफी हो सकता है लेकिन ऐसी मानव सत्ताओं की जाति के लिये नहीं जो आध्यात्मिक विकास को गर्भ में लिये हैं। केवल भौतिक विज्ञान और बाहरी ज्ञान द्वारा भौतिक वस्तुओं का सत्य भी पूरी तरह नहीं जाना जा सकता और न ही हमारे जड़-भौतिक अस्तित्व के उचित उपयोग की खोज की जा सकती है या भौतिक और यांत्रिक प्रक्रियाओं पर अधिकार पा लेने से ही इसे संभव बनाया जा सकता है। जानने के लिये, उचित उपयोग करने के लिये हमें भौतिक प्रपंच और प्रक्रिया के परे जाना होगा, हमें

जानना होगा कि उसके भीतर और उसके पीछे क्या है क्योंकि हम केवल शरीरस्थ मन ही नहीं हैं, एक आध्यात्म पुरुष, आध्यात्म तत्त्व और प्रकृति का आध्यात्म लोक भी हैं। हमें अपनी चेतना की शक्ति को उसीके अंदर उठाना है, उसीके द्वारा और अधिक विस्तार से, विश्व-व्यापी और अनंत रूप से, अपनी सत्ता के क्षेत्र को, अपने कार्यक्षेत्र को बढ़ाना है और उसके द्वारा अपने निचले जीवन को ऊपर उठाना और महत्तर उद्देश्यों और विशालतर योजना के लिये जीवन के आध्यात्मिक सत्य के प्रकाश में उपयोग में लाना है। हमारे मन का परिश्रम और प्राण का संघर्ष तबतक किसी समाधानतक नहीं पहुंच सकते जबतक कि हम निम्नतर प्रकृति के दुराग्रही नेतृत्व के परे नहीं चले जाते, अपनी प्राकृतिक सत्ता को आध्यात्म पुरुष की सत्ता और चेतना में समाविष्ट नहीं कर देते, अपने प्राकृत उपकरणों का आध्यात्म पुरुष की शक्ति द्वारा उसके आनंद के लिये उपयोग करना नहीं सीख लेते। तभी मूलभूत अज्ञान, हमारी सत्ता की वास्तविक रचना का अज्ञान, जिससे हम कष्ट पा रहे हैं, हमारी सत्ता के और संभूति के सच्चे और प्रभावशाली ज्ञान में बदल सकता है। क्योंकि हम जो हैं वह है आध्यात्म पुरुष जो वर्तमान अवस्था में मुख्य रूप से मन और गौण रूप से प्राण और शरीर का उपयोग कर रहा है, जड़ पदार्थ हमारा मौलिक क्षेत्र है लेकिन हमारी अनुभूति का एकमात्र क्षेत्र नहीं, लेकिन यह केवल वर्तमान की बात है। हमारा अपूर्ण मानसिक यंत्र-विन्यास हमारी संभावनाओं की इति नहीं है क्योंकि हमारे अंदर सुषुप्त या अदृश्य और अपूर्ण रूप से सक्रिय अन्य तत्त्व भी हैं जो मन के परे और आध्यात्मिक प्रकृति के नजदीक हैं, अधिक प्रत्यक्ष शक्तियां और प्रकाशमान यंत्र है, एक उच्चतर स्थिति है, हमारे वर्तमान भौतिक, प्राणिक और मानसिक जीवन के क्षेत्रों से अधिक बड़े गतिशील क्रियाओं के अन्य क्षेत्र हैं। ये हमारे पद, हमारी सत्ता के अंग बन सकते हैं। ये हमारी वर्द्धित प्रकृति के तत्त्व, शक्तियां और यंत्र हो सकते हैं। लेकिन उसके लिये आध्यात्म सत्ता में एक अस्पष्ट या उल्लासपूर्ण आरोहण से या उसकी अनंतताओं के स्पर्श से आकारहीन उल्लास पाकर संतुष्ट हो जाना काफी नहीं है। जैसे प्राण विकसित हुआ है, जैसे मन विकसित हुआ है उसी तरह उनके तत्त्व को भी विकसित होना होगा, अपने यंत्र को संगठित करना और संतोष प्राप्त करना होगा। तब हमें अपनी सत्ता का सच्चा संघटन प्राप्त होगा और हम अज्ञान पर विजय पा लेंगे।

संघटनात्मक अज्ञान पर विजय तबतक पूरी नहीं हो सकती, पूर्णतः क्रियाशील नहीं हो सकती जबतक कि हम अपने मनोगत अज्ञान पर भी विजय न पा लें क्योंकि दोनों एक साथ बंधे हैं। हमारा मनोगत अज्ञान हमारे आत्म-ज्ञान की उस छोटी-सी लहर या हमारी उस सत्ता की ऊपरी धारा के साथ सीमित है जो सचेतन जाग्रत् पुरुष है। हमारी सत्ता का यह भाग रूपहीन या केवल अर्द्ध-रूपायित गतियों का मौलिक प्रवाह है जो स्वचालित सातत्य में चलता रहता है, जिसे एक सक्रिय

सतही स्मृति और निष्क्रिय अंतस्थ चेतना काल के क्षण-क्षण के अपने प्रवाह में सहारा देती और एक साथ रखती है। हमारी तर्क-बुद्धि और साझेदार तथा साक्षी बुद्धि उसे संगठित करती और उसकी व्याख्या करती है। उसके पीछे हमारे गुप्त पुरुष की गुह्य सत्ता और ऊर्जा होती है जिसके बिना बाह्य चेतना और क्रियाशीलता का अस्तित्व ही न रहता और न वह कार्य कर पाती। जड़-द्रव्य में केवल एक सक्रियता अभिव्यक्त होती है—वस्तुओं के बाहरी भाग में, हम बस उतना ही तो जानते हैं—वह निश्चेतन होती है क्योंकि जड़-तत्त्व के अंदर निवास करनेवाली चेतना गुप्त और अंतस्तलीय होती है जो निश्चेतन रूप और अंतस्थ ऊर्जा में अव्यक्त रहती है। लेकिन हमारे अंदर चेतना अंशतः अभिव्यक्त, अंशतः जाग्रत् हो गयी है। लेकिन यह चेतना बाड़े से घिरी और अपूर्ण है, वह अपने अभ्यासगत आत्मसीमांकन से बंधी और एक सीमित चक्र के भीतर चक्कर लगाती है—अपवाद तब होता है जब हमारे अंदर की रहस्यमयता से प्रकाश की कौंध, सूचनाएं या लहरें उठें जो उन रचनाओं की सीमाओं को तोड़ दें और उनके परे बह चलें या चक्र को विस्तृत करें। लेकिन ये यदा-कदा के आगमन हमें अपनी वर्तमान क्षमताओं से बहुत आगे विस्तृत नहीं कर सकते, वे हमारी स्थिति में क्रांति लाने के लिये पर्याप्त नहीं हैं। यह तभी हो सकता है जब हम उच्चतर अविकसित प्रकाश और शक्तियों को—जो हमारी सत्ता में संभाव्यता हैं—उसके अंदर ला सकें और उन्हें सचेतन और सामान्य रूप से सक्रिय कर सकें। इसके लिये हमें अपनी सत्ता के उन क्षेत्रों से मुक्त रूप से खींच सकना चाहिये जो इनका आवास हैं लेकिन जो अभी हमारे लिये अवचेतन बल्कि गुप्त रूप से अंतश्चेतन या परिचेतन या फिर अतिचेतन हैं। या इससे भी आगे और यह भी हमारे लिये संभव है—हमें भीतर की ओर डुबकी या नियंत्रित भेदन द्वारा अपने इन आंतरिक या उच्चतर भागों में प्रवेश करना और वापस अपने साथ वहां के गुप्त रहस्यों को सतह पर ले आना चाहिये। या अपनी चेतना का और भी अधिक मौलिक परिवर्तन पा कर हमें ऊपर सतह पर नहीं, अपने भीतर जीना सीखना चाहिये और उन आंतरिक गहराइयों में रहना और वहां से कार्य करना सीखना चाहिये—और वह भी एक ऐसी अंतरात्मा से जो प्रकृति की स्वामी बन गयी है।

हमारा वह भाग जिसे हम असल में अवचेतन कह सकते हैं—क्योंकि वह मन और सचेतन प्राण से नीचे, अवर और धुंधला है—उसमें केवल हमारी शारीरिक सत्ता के गठन के भौतिक और प्राणिक तत्त्व आते हैं जो मानसिकभावापन्न नहीं हैं, न तो मन उनका अवलोकन करता है न उनकी क्रिया मन के नियंत्रण में है। उसमें वह मूक गुह्य चेतना भी सम्मिलित है जो क्रियाशील तो है पर हमें उसका बोध नहीं होता, जो कोषाणुओं और स्नायुओं और समस्त शारीरिक पदार्थ में कार्य करती और उनकी प्राण-प्रक्रिया और स्वचालित अनुक्रियाओं का मेल बैठाती है। उसके अंदर निमज्जित ऐंद्रिय मन की वे नीचे-से-नीची क्रियाएं भी आ जाती हैं जो अधिकतर

पशु और वनस्पति-जीवन में क्रियाशील हैं। हम अपने विकास में इस तत्त्व की किसी बड़ी संगठित क्रिया की आवश्यकता को पार कर आये हैं लेकिन वह तत्त्व हमारी सचेतन प्रकृति के नीचे डूबा हुआ और धुंधले रूप से काम करता है। यह धुंधली क्रियाशीलता मन के एक छिपे हुए और अवगुंठित उपस्तरतक जाती है जिसमें भूतकाल के संस्कार और वह सब जिसे सतही मन से त्याग दिया गया है, डूब जाता है और वहां सोया रहता है और नींद में या मन की अनुपस्थिति में उभर सकता है। वह स्वप्न के रूप में, यांत्रिक मन की क्रियाओं के रूप या संकेत, स्वचालित प्राणिक अनुक्रिया या अंतर्वेग के रूप में, भौतिक असामान्यता के रूप या स्नायविक विक्षोभ के रूप में, अस्वस्थता, रोग, असंतुलन के रूप में उभर सकता है। सामान्यतः हम अवमानस में से उतना ही ऊपर ले आते हैं जिसकी हमारे जाग्रत् ऐंद्रिय मन और बुद्धि को अपने प्रयोजन के लिये जरूरत हो। उन्हें इस भांति ऊपर लाते समय हमें उनके स्वभाव, उद्गम और क्रिया की अभिज्ञता नहीं होती और हम उन्हें उनके निजी मूल्यों में नहीं बल्कि अपनी जाग्रत् मानव इन्द्रिय और बुद्धि के मूल्यों में अनूदित करके समझते हैं। परंतु अवमानस का उभार, मन और शरीर पर उसके प्रभाव, अधिकतर स्वचालित, बिना बुलाये और अनैच्छिक होते हैं क्योंकि हमें अवचेतन का कोई ज्ञान नहीं है और इस कारण उसपर नियंत्रण भी नहीं है। केवल अपने लिये असामान्य अनुभव के द्वारा, बंहुधा बीमारी या संतुलन में किसी गड़बड़ के कारण हम अपनी शारीरिक सत्ता और प्राण-शक्ति के मूक जगत् में, मूक किंतु बहुत सक्रिय जगत् की किसी चीज के बारे में अभिज्ञ हो सकते हैं या अपनी सतह के नीचे स्थित यांत्रिक अवमानवीय भौतिक और प्राणिक मन की गुप्त क्रियाओं के बारे में सचेतन हो सकते हैं—यह एक ऐसी चेतना है जो है तो हमारी पर हमारी लगती नहीं क्योंकि वह हमारी ज्ञात मानसिकता का भाग नहीं है। यह और इससे बहुत अधिक अवचेतना में छिपा रहता है।

अवचेतन में उतरने से इस क्षेत्र में अन्वेषण करने से कोई लाभ न होगा क्योंकि यह असंगति, निद्रा, जड़ समाधि या सम्मूर्च्छित निष्क्रियता में डुबकी होगी। मानसिक जांच या अंतर्दृष्टि हमें इन प्रच्छन्न क्रियाओं के बारे में कुछ परोक्ष और रचनात्मक विचार दे सकती है लेकिन हमें अपनी अवचेतन भौतिक, प्राणिक और मानसिक प्रकृति के रहस्यों की प्रत्यक्ष और संपूर्ण अभिज्ञता तभी मिल सकती है और उसके रहस्यों पर तभी अधिकार हो सकता है जब हम अंतस्तल में पीछे की ओर खिंच जायें या अतिचेतन में आरोहण करें और वहांसे इन धुंधली गहराइयों को देखें या हम अपना विस्तार करें। यह अभिज्ञता, यह नियंत्रण अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अवचेतना चेतना बनने की प्रक्रिया में निश्चेतना है। वह हमारी सत्ता के निम्न भागों और गतिविधियों का सहारा और जड़ है। हमारे अंदर वह सब जो कुछ चिपका रहता है और बदलने से इंकार करता है, हमारे बुद्धिहीन

विचार का यांत्रिक आवर्तन, हमारे अनुभव, संवेदन, अंतर्वेग, झुकाव का सतत दुराग्रह, हमारे चरित्र की असंयत दृढ़ता—अवचेतना इन सबको सहारा और पोषण देती है। हमारे अंदर जो कुछ पाशविक और नारकीय है उसकी विश्राम-गुफा अवचेतना के घने जंगल में होती है। उसमें घुसना, प्रकाश लाना और नियंत्रण स्थापित करना किसी उच्चतर जीवन की संपूर्णता के लिये, प्रकृति के किसी संपूर्ण रूपांतर के लिये अनिवार्य है।

हमारी सत्ता के संघटन में वह भाग, जिसे हमने अंतश्चेतन और परिचेतन कहा है, और भी अधिक प्रभावशाली और कहीं अधिक मूल्यवान् तत्त्व है। उसमें एक आंतरिक बुद्धि और आंतरिक ऐंद्रिय मन, आंतरिक प्राण यहांतक कि आंतरिक सूक्ष्म-भौतिक सत्ता की विशाल क्रिया भी आ जाती है जो हमारी जाग्रत् चेतना को संभाले और आलिंगन में लिये रहती है, जिसे आगे नहीं लाया जाता, जो आधुनिक परिभाषा में अंतस्तलीय है। लेकिन जब हम इस छिपे हुए पुरुष में प्रवेश कर पाते और उसका अन्वेषण करते हैं तो हम देखते हैं कि हमारा जाग्रत् बोध और बुद्धि अपने अधिकांश में उसमें से संकलन है जो हम गुप्त रूप से हैं या हो सकते हैं, वह हमारी वास्तविक, हमारी प्रच्छन्न सत्ता का बहिर्मुख और बहुत कटा-छंटा और गंवारू बना हुआ संस्करण है या उसकी गहराइयों में से ऊपर उछाला हुआ तत्त्व है। हमारी सतही सत्ता निश्चेतन में से इस अंतस्तलीय की सहायता से विकास द्वारा, पृथ्वी पर हमारे वर्तमान मानसिक और भौतिक जीवन के उपयोग के लिये बनायी गयी है। यह जो पीछे है वह एक ऐसी रचना है जो निश्चेतन और प्राण तथा मन के विशालतर क्षेत्रों के बीच मध्यस्थता करती है, इन क्षेत्रों का सृजन अंतर्लयात्मक अवरोहण के द्वारा हुआ है और इनके दबाव ने जड़ भौतिक में मन और प्राण के विकास में सहायता की है। भौतिक जीवन के प्रति हमारी सतही अनुक्रियाओं के पीछे इन अवगुंठित भागों की एक क्रियाशीलता का सहारा रहता है और ये प्रायः उन्हीं भागों की अनुक्रियाएं होती हैं जो सतही मानसिक अनुवाद में बदल जाती हैं। लेकिन हमारी मानसिकता और प्राण का वह बड़ा भाग भी, जो बाहरी जगत् के प्रति अनुक्रिया नहीं है बल्कि अपने ही लिये जीता है या जड़ सत्ता को अपने अधिकार में लाने या उसका उपयोग करने के लिये अपने-आपको उसपर प्रक्षिप्त करता है, जो हमारा व्यक्तित्व है, वह उस प्रबल अंतश्चेतन गुप्तता से आनेवाली शक्तियों, प्रभावों, उद्देश्यों का परिणाम और उनका मिश्रित निरूपण है।

और फिर अंतस्तलीय अपने-आपको आच्छादित करनेवाली चेतना में प्रसारित करता है जिसके द्वारा वह वैश्व मन से, वैश्व प्राण से, वैश्व सूक्ष्म जड़ शक्तियों से हमारे ऊपर प्रवाहित होती हुई लहरों, लहरों के चक्करों के आघात प्राप्त करता है। ये सतह पर हमारे लिये अगोचर हैं लेकिन हमारा अंतस्तलीय पुरुष इन्हें देखता और प्रवेश देता है और उन्हें ऐसे रूपायनों में बदल देता है जो हमारे जाने बिना प्रबल रूप से हमारे जीवन पर प्रभाव डाल सकते हैं। अगर भीतरी सत्ता को बाहरी

सत्ता से अलग करनेवाली इस दीवार को भेदा जाये तो हम अपनी वर्तमान मानसिक ऊर्जाओं और प्राणिक क्रियाओं के स्रोतों को जान सकेंगे और उनके साथ व्यवहार कर सकेंगे और उनके परिणामों को भोगने की जगह उनपर नियंत्रण कर सकेंगे। लेकिन, यद्यपि इस प्रकार भेदने और भीतर देखने या मुक्त संचार द्वारा हम उसके बड़े भागों को जान सकते हैं लेकिन केवल सतही मन के परदे के पीछे और भीतर जाकर और भीतरी मन, भीतरी प्राण और अपनी सत्ता की अंतरतम आत्मा में निवास करने से ही हम पूरी तरह आत्म-अभिज्ञ हो सकते हैं—इसके द्वारा और हमारी जाग्रत् चेतना जिस स्तर पर रहती है, मन के उससे उच्चतर स्तर में उठकर ही हम आत्म-अभिज्ञता पा सकते हैं। हमारी वर्तमान विकास की स्थिति अभीतक बाधाग्रस्त और विकृत है, अंदर निवास करने के परिणाम-स्वरूप उसकी वृद्धि और पूर्ति होगी लेकिन उसके परे विकास तभी हो सकता है जब हम उसके बारे में सचेतन हो सकें जो अभी हमारे लिये अतिचेतन है, जब हम आध्यात्म सत्ता के स्वधाम की ऊंचाइयों पर चढ़ सकें।

हमारी वर्तमान अभिज्ञता के वर्तमान स्तर के परे अतिचेतन में मानसिक सत्ता के उच्चतर लोक और साथ ही अतिमानसिक और शुद्ध आध्यात्म सत्ता भी अंतर्गत हैं। उन्मुख विकास में सबसे पहला अनिवार्य चरण होगा अपनी चेतना की शक्ति को मन के उन उच्चतर भागों में उठाना जिनसे हम अब भी, स्रोत जाने बिना, अपनी मानसिक गतिविधियों का एक बड़ा भाग ग्रहण करते हैं, विशेषकर उनका जो विशालतर शक्ति और प्रकाश के साथ आती हैं—अंतःप्रकाशात्मक, प्रेरणात्मक और अंतर्भासात्मक। इन मानसिक ऊंचाइयों पर, इन विशालताओं में अगर चेतना वहांतक पहुंचने और अपने-आपको वहां बनाये रखने और केंद्रित करने में सफल हो जाये तो आध्यात्म पुरुष की प्रत्यक्ष उपस्थिति और शक्ति की कोई चीज—यहांतक कि वह चाहे जितनी गौण और परोक्ष क्यों न हो—अतिमानस की कोई चीज अपने-आपको पहले-पहल प्रकट कर सकती, प्राथमिक रूप से अभिव्यक्त हो सकती और हमारी निम्नतर सत्ता के प्रशासन में हस्तक्षेप कर सकती और उसे नये सांचे में ढालने में सहायता कर सकती है। उसके बाद उस फिर से ढाली गयी चेतना के बल पर हमारे विकास का मार्ग ज्यादा ऊंची चढ़ाई द्वारा उठ सकता है और मन के परे अतिमानस और परम आध्यात्म प्रकृति में पहुंच सकता है। अभी हमारे लिये जो अतिचेतन मानसिक स्तर हैं उनमें वास्तविक आरोहण या उनमें सतत या स्थायी निवास के बिना, उनकी ओर खुलने, उनके ज्ञान और प्रभावों के ग्रहण से, एक हदतक हमारे वर्तमान सहज और मनोगत अज्ञान से पिंड छुड़ाकर अपने बारे में आध्यात्मिक सत्ता के रूप में अभिज्ञ होना और अपने सामान्य मानव जीवन और चेतना को, भले अधकचरे रूप में ही सही, आध्यात्म बनाना संभव है। इस विशालतर, अधिक आलोकमय मानसिकता से सचेतन संदेश और पथ-

प्रदर्शन मिल सकता है और उसकी प्रकाश देनेवाली और रूपांतर करनेवाली शक्तियों को ग्रहण किया जा सकता है। यह सुविकसित या आध्यात्मिक दृष्टि से जाग्रत् मानव सत्ता की पहुंच में है लेकिन यह प्रारंभिक चरण से बढ़कर न होगा। पूर्ण आत्म-ज्ञान, समग्र चेतना और सत्ता की शक्तितक पहुंचने के लिये हमारे सामान्य मन के लोक से ऊपर चढ़ना जरूरी है। अभी इस प्रकार का आरोहण एक तन्मय अतिचेतना में संभव है लेकिन यह हमें निश्चल या आनंद-मग्न समाधि के उच्चतर स्तरोंतक ही ले जा सकता है। अगर उस उच्चतम आध्यात्मिक सत्ता के नियंत्रण को हमारे जाग्रत् जीवन में लाना है तो नयी सत्ता के, नयी चेतना के विशाल क्षेत्रों में, कार्य की नयी संभाव्यताओं में सचेतन उन्नयन और विस्तार होना चाहिये। हमारी वर्तमान सत्ता, चेतना, क्रियाओं को—जहांतक संभव हो पूरी तरह लेकर—उनका दिव्य मूल्यों में रूपांतरण होना चाहिये, जिससे हमारे मानव जीवन का रूपांतर सिद्ध होगा। क्योंकि प्रकृति के आत्म-अतिक्रमण की पद्धति में जहां कहीं कोई आमूल परिवर्तन हो वहां ये तिहरी गतियां होती हैं—आरोहण, क्षेत्र और आधार का विस्तरण, एकीकरण।

ऐसा कोई भी विकासात्मक परिवर्तन आवश्यक रूप से हमारे वर्तमान संकीर्ण करनेवाले कालिक अज्ञान के परित्याग से जुड़ा होना चाहिये। क्योंकि इतना ही नहीं कि हम काल के मुहूर्त से मुहूर्ततक जीते हैं, बल्कि हमारी सारी दृष्टि वर्तमान शरीर के एक जन्म और मृत्यु के बीच के जीवनतक ही सीमित है। जिस तरह से हमारी दृष्टि भूतकाल में दूरतक पीछे नहीं जाती, उसी तरह वह भविष्य में आगे भी नहीं बढ़ती। इस तरह हम अपनी भौतिक स्मृति से और वर्तमान जीवन में एक क्षणभंगुर दैहिक रूपायन की अभिज्ञता से बंधे होते हैं। लेकिन हमारी कालिक चेतना का सीमाबंधन घनिष्ठ रूप से आश्रित है हमारी मानसिकता के उस जड़-भौतिक स्तर और जीवन के साथ तन्मयता पर जिसमें वह वर्तमान काल में कार्य कर रही है। सीमाबंधन आत्मा का नियम नहीं है बल्कि हमारी अभिव्यक्त प्रकृति की अभीष्ट प्रथम क्रिया के लिये एक अस्थायी व्यवस्था है। अगर तन्मयता को जरा ढीला कर दिया जाये या एक ओर कर दिया जाये और मन का विस्तार संपन्न किया जाये, आंतरिक और उच्चतर सत्ता में अंतस्तलीय और अतिचेतन के लिये उन्मीलन पैदा किया जाये तो काल में हमारे निरंतर अस्तित्व और उसके परे शाश्वत अस्तित्व को उपलब्ध करना संभव है। अगर हम अपने आत्मज्ञान को उचित केंद्र में लेना चाहें तो यह जरूरी है क्योंकि अभी हमारी समस्त चेतना और क्रिया आध्यात्मिक दृष्टि की भ्रांति के कारण दूषित है जो हमें अपनी सत्ता के स्वभाव, उद्देश्य और परिस्थितियों के उचित अनुपात और संबंध को देखने से रोकती है। अधिकतर धर्मों में अमरता पर विश्वास को इतना अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान इसलिये दिया गया है कि शरीर के साथ तादात्म्य और उसके भौतिक स्तर पर तल्लीनता से

ऊपर उठने के लिये यह स्वतः-सिद्ध आवश्यकता है। लेकिन दृष्टि की इस भूल को मूलतः बदलने के लिये केवल विश्वास ही काफी नहीं है। काल में अपनी सत्ता का आत्म-ज्ञान तभी आ सकता है जब हम अपनी अमरता की चेतना में निवास करें। हमें काल में अपनी स्थायी सत्ता और कालातीत सत्ता दोनों के ठोस बोध की ओर जागना होगा।

अपने आधारभूत अर्थ में अमरता का अर्थ शारीरिक मृत्यु के बाद केवल व्यक्ति की किसी तरह की उत्तरजीविता नहीं है। हम अपनी आत्म-सत्ता की शाश्वतता के कारण अमर हैं, जिसका न आदि है न अंत। हम जिन भौतिक जन्मों और मरणों में से गुजरते हैं उनके समस्त अनुक्रम के बावजूद इस और अन्य जगतों में हमारे बारी-बारी से आनेवाले जीवनों के परे आत्मा का कालातीत जीवन ही सच्ची अमरता है। निःसंदेह इस शब्द का एक गौण अर्थ है जिसका अपना सत्य है क्योंकि इस सच्ची अमरता के आनुषंगिक रूप में, हमारे कालिक जीवन और अनुभूति का, भौतिक शरीर के विलय के बाद भी, एक निरंतर सातत्य और जीवन से जीवनतक, लोक से लोकतक अस्तित्व बना रहता है; परंतु यह हमारी उस कालातीतता का स्वाभाविक परिणाम है जो यहां अपने-आपको शाश्वत काल में सातत्य के रूप में प्रकट करती है। कालातीत अमरता की प्राप्ति अ-जन्म और अ-संभूति में आत्मा के ज्ञान से और हमारे अंदर अव्यय आध्यात्म सत्ता के ज्ञान से होती है। काल-अमरता की सिद्धि जन्म और संभूति में आत्मा के ज्ञान से आती है और वह मन, प्राण और शरीर के सभी परिवर्तनों के बीच अंतरात्मा के सदा एकरूप रहने के भाव में अनूदित होती है। यह भी कोई उत्तरजीविता मात्र नहीं है, यह है काल की अभिव्यक्ति में अनूदित कालातीतता। पहली उपलब्धि के कारण हम जन्म-मृत्यु की शृंखला की धुंधला बनानेवाली अधीनता से मुक्ति पाते हैं, यह अनेक भारतीय साधना-प्रणालियों का परम लक्ष्य है। पहली उपलब्धि के साथ दूसरी भी जुड़ जाये तो हम उचित ज्ञान के साथ, अज्ञान के बिना, अपने कर्मों की शृंखला के बंधनों के बिना, काल-शाश्वतता के अनुक्रम में मुक्त रूप से आत्मा के अनुभव पा सकते हैं। हो सकता है कि कालातीत अस्तित्व का अनुभव अपने-आपमें शाश्वत काल में चिरस्थायी पुरुष के उस अनुभव का सत्य लिये न हो, अपने-आपमें मृत्यु की उत्तरजीविता का अनुभव अब भी हमारी सत्ता के प्रारंभ या अंत को संभव बना सकता है लेकिन दोनों ही उपलब्धियों में, उन्हें जब सत्य के एक पहलू और दूसरे पहलू के रूप में देखा जाये तो सचेतन रूप से शाश्वत में निवास करना और वर्तमान तथा कालानुक्रम के बंधन में न रहना ही परिवर्तन का सार है, तो शाश्वतता में रहना दिव्य चेतना और दिव्य जीवन की पहली शर्त है। सत्ता की आंतरिक शाश्वतता को अधिकार में रखना और वहांसे संभवन के पथ और प्रक्रिया पर नियंत्रण करना दूसरी क्रियाशील शर्त है। इसका व्यावहारिक परिणाम है स्वाधिकार और स्वराज्य। ये परिवर्तन तभी संभव हैं जब हम अपनी

समाविष्ट करनेवाली जड़-भौतिक तन्मयता में से अपने-आपको खींच लें और मन तथा आत्मा के उच्चतर और आंतरिक लोकों में निरंतर निवास करें—लेकिन इसके लिये शारीरिक जीवन का त्याग या उसकी अवहेलना जरूरी नहीं है। क्योंकि हमारी चेतना का अपने आध्यात्मिक तत्त्व में उन्नयन क्षण-क्षण के हमारे अल्पकालिक जीवन से हमारी अमर चेतना के शाश्वत जीवन में ऊपर चढ़ने और पीछे की ओर हटने से संपन्न हो सकता है, ये दोनों गतियां आवश्यक हैं। लेकिन उसके साथ ही काल में हमारे चेतना के परिसर और क्रिया के क्षेत्र का विस्तार होता है और हमारे मानसिक, हमारे प्राणिक और हमारे दैहिक अस्तित्व को भी ऊपर उठा लिया जाता है और उनका उच्चतर उपयोग होता है। हमारी सत्ता के एक ज्ञान का उदय होता है जो शरीर के ऊपर आश्रित चेतना के रूप में नहीं बल्कि उस शाश्वत आध्यात्म पुरुष के रूप में आता है जो सभी लोकों और सभी जीवनों का विभिन्न आत्मानुभवों के लिये उपयोग करता है। हम उसे एक आध्यात्मिक सत्ता के रूप में देखते हैं जिसे सतत आंतरात्मिक जीवन प्राप्त होता है, जो अपने क्रिया-कलाप को उत्तरोत्तर भौतिक जीवनों के द्वारा सदा विकसित करती रहती है, एक ऐसी सत्ता जो स्वयं अपनी संभूति का निर्धारण करती है। उस ज्ञान में, जो केवल भावगत न होकर स्वयं द्रव्यतक में अनुभूत होता है, यह संभव होता है कि हम अंधी कर्म-प्रवृत्ति के दास न रहकर स्वामी के रूप में रह सकें। हम केवल अपने अंतस्थ भगवान् के अधीन रहते हुए अपनी सत्ता और स्वभाव के स्वामी बन सकें।

और साथ ही हम अहंकारात्मक अज्ञान से भी पिंड छुड़ा लेते हैं; क्योंकि जबतक हम किसी भी बिंदु पर उसके साथ बंधे हैं तबतक दिव्य जीवन या तो अप्राप्य या आत्माभिव्यक्ति में अधूरा रहेगा। क्योंकि अहंकार हमारे सच्चे व्यक्तित्व का इस प्राण, इस मन, इस शरीर के साथ सीमित करनेवाले तादात्म्य द्वारा अन्यथाकरण है। वह अन्य अंतरात्माओं से पृथक्करण है जो हमें अपने व्यक्तिगत अनुभव में बंद कर देता है और हमें वैश्व सत्ता के रूप में जीने से रोकता है। यह हमारा उन भगवान् से पृथक्करण है जो हमारी उच्चतम आत्मा हैं, जो सभी सत्ताओं में एक आत्मा हैं और हमारे अंदर के दिव्य निवासी हैं। जब हमारी चेतना आत्मा की गहराई, ऊंचाई और विस्तार में बदलती है तो वहां अहंकार बचा नहीं रह सकता; वह इतना छोटा और कमजोर है कि उस विशालता में नहीं रह सकता; उसके अंदर घुल जाता है क्योंकि वह सीमाओं के कारण जीता और उन सीमाओं के क्षय के कारण समाप्त हो जाता है। सत्ता पृथग्भूत व्यक्तिगत चेतना की कारा को तोड़कर बाहर निकलती और वैश्व बन जाती है, एक विश्व-चेतना का रूप धारण कर लेती है जिसमें वह सब सत्ताओं की आत्मा, आध्यात्म पुरुष, प्राण, मन, शरीर के साथ अपना तादात्म्य कर लेती है। या फिर वह ऊपर की ओर अचानक प्रकट हो जाती है और अपनी वैश्व या वैयक्तिक सत्ता से स्वतंत्र स्वयंभू की अनंतता और

शाश्वतता के चरम शिखर पर जा पहुंचती है। अहंकार पृथक्ता की दीवार को खोकर वैश्व विशालता में ढह जाता है या आध्यात्मिक व्योम की ऊंचाइयों पर श्वास न ले सकने के कारण शून्य में जा गिरता है। अगर प्रकृति के अभ्यास के कारण उसकी गतिविधियों में से कुछ बच भी जाये तो वह भी झड़ जाता है और उसके स्थान पर निर्वैयक्तिक-वैयक्तिक दृष्टि, अनुभूति और क्रिया आ जाती है। अहंकार का यह लोप अपने साथ हमारे सच्चे व्यक्तित्व का, हमारी आध्यात्मिक सत्ता का विनाश नहीं लाता क्योंकि वह तो सदा से वैश्व और परात्पर के साथ एकात्म था; लेकिन एक रूपांतर होता है जो पृथक्कारी अहंकार के स्थान पर उस पुरुष को ले आता है जो वैश्व सत्ता का सचेतन चेहरा और आकृति, विश्व प्रकृति में विश्वातीत भगवान् का स्वरूप और शक्ति होता है।

उसी गति में, आत्मा के अंदर उसी जाग्रति में, वैश्व अज्ञान का विघटन होता है क्योंकि हमें अपना ज्ञान अपने कालातीत, अक्षर आत्मा के रूप में होता है जो अपने-आपको विश्व में और विश्व के परे स्वप्रतिष्ठ किये रहता है। यह ज्ञान काल में दिव्य लीला का आधार बन जाता है, एक और बहु में, शाश्वत ऐक्य और शाश्वत बहुत्व में संगति बैठाता, अंतरात्मा को भगवान् के साथ फिर से एक करता और विश्व में भगवान् का अन्वेषण करता है। इसी उपलब्धि के द्वारा हम सभी परिस्थितियों और संबंधों के उद्गम के रूप में निरपेक्षतक पहुंच सकते हैं, जगत् को अपने अंदर एक परम विशालता में और उसके आधार पर सचेतन निर्भरता में उसे अधिकार में कर सकते, उसे पाकर इस तरह ऊंचा उठा सकते हैं और उसके द्वारा उन परम मूल्यों को सिद्ध कर सकते हैं जिनका अभिसरण निरपेक्ष में होता है। अगर हमारे आत्मज्ञान को इस तरह अपने सभी तत्त्वों में पूर्ण बना लिया जाये तो हमारा व्यावहारिक अज्ञान जो अपनी पराकाष्ठा में अपने-आपको गलत क्रिया, कष्ट, मिथ्यात्व, भूल-भ्रांति के रूप में प्रकट करता है और जो जीवन की सभी अस्तव्यस्तताओं और असंगतियों का कारण है, वह अपना स्थान आत्मज्ञान की सम्यक् इच्छा को दे देगा और उसके मिथ्या और अपूर्ण मूल्य सत्य चित्-शक्ति और आनंद के दिव्य मूल्यों के आगे से हट जायेंगे। क्योंकि सम्यक् चेतना, सम्यक् क्रिया और सम्यक् सत्ता,—हमारी तुच्छ नैतिकताओं के अधूरे मानव अर्थ में नहीं बल्कि दिव्य जीवन की विशाल और ज्योतिर्मय गति में,—के लिये शर्तें हैं भगवान् के साथ ऐक्य, सभी सत्ताओं के साथ ऐक्य, ऐसा जीवन जो भीतर से शासित और अंदर से बाहर की ओर रूपायित होगा, जिसमें समस्त विचार, इच्छा और क्रिया का स्रोत वह आध्यात्म पुरुष होगा जो ऐसे सत्य और दिव्य विधान द्वारा काम करेगा जिनकी रचना अज्ञान के मन ने नहीं की है, जो स्वयंभू और अपनी आत्म-परिपूर्ति में सहज है। उसका रूप इतना विधान का नहीं है जितना स्वयं अपनी चेतना में, अपने ज्ञान की मुक्त, ज्योतिर्मय, नमनीय, स्वचालित प्रक्रिया में कार्य करते हुए सत्य का।

ऐसा लगता है कि सचेतन आध्यात्मिक विकास का यही तरीका और यही परिणाम होगा : अज्ञान के जीवन का ऋत्-चिन्मय पुरुष के दिव्य जीवन में रूपांतर, मनोमय से आध्यात्मिक और अतिमानसिक सत्ता के जीवन-छंद में परिवर्तन, सप्तधा अज्ञान में से सप्तधा ज्ञान में आत्म-विस्तार। यह रूपांतर प्रकृति की उस ऊर्ध्वमुखी प्रक्रिया की स्वाभाविक पूर्ति होगा जब कि वह चेतना की शक्तियों को एक तत्त्व से उच्चतर तत्त्व में इस हदतक ऊंचा उठाती जाती है कि ऊंचे-से-ऊंचा तत्त्व, आध्यात्म तत्त्व उसके अंदर प्रकट और प्रमुख हो जाये, जब कि वह निचले लोकों पर की वैश्व और व्यष्टिगत सत्ता को उसके अपने सत्य में लेती है और सबका रूपांतर आध्यात्म-पुरुष की सचेतन अभिव्यक्ति में कर देती है। सच्चे व्यक्ति का, आध्यात्मिक सत्ता का आविर्भाव होता है, जो वैयक्तिक फिर भी वैश्व है, वैश्व फिर भी आत्मातीत है; तब जीवन वस्तुओं का रूपायन और पृथक्कारी अज्ञान द्वारा रची गयी सत्ता की क्रिया नहीं प्रतीत होता।

अध्याय २०

पुनर्जन्म का दर्शन

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः . . .
न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च । . . .

शरीरस्थ आत्मा जो शाश्वत है, उसके इन शरीरों का एक अंत है . . . । वह न तो जन्म लेता है न मरता है और न ऐसा है कि एक बार हो गया तो आगे न होगा। वह अज, नित्य, शाश्वत और पुराण है, शरीर का हनन होने पर भी उसका हनन नहीं होता। जैसे आदमी अपने पुराने कपड़े उतार फेंकता है और नये-नये पहन लेता है उसी तरह शरीरस्थ सत्ता अपने शरीरों को त्यागकर नये-नये शरीरों को धारण करती है। जो जन्मा है उसकी मृत्यु निश्चित है और जो मरता है उसका जन्म भी ध्रुव है।

गीता २.१८, २०, २२, २७

. . . आत्मविवृद्धिजन्म
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते ।।
स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति । . . .

आत्मा का जन्म होता है; उसकी वृद्धि होती है। अपने कर्मों के अनुसार शरीरस्थ आत्मा उत्तरोत्तर नाना-स्थानों पर जन्म लेती है। अपनी प्रकृति के गुणों की शक्ति के अनुसार वह बहुत-से स्थूल और सूक्ष्म रूप धारण करती है।

श्वेताश्वतर ५.११, १२

भौतिक जगत् का पहला आध्यात्मिक रहस्य है जन्म, और मृत्यु है दूसरा जो जन्म के रहस्य को दोगुना चकरानेवाला बना देता है; क्योंकि जीवन, जो अन्यथा अस्तित्व का एक स्वयंसिद्ध तथ्य होता, वह भी इन दोनों के कारण रहस्य बन जाता है। ये दोनों उसके आरंभ और अंत मालूम होते हैं फिर भी हजारों तरीकों से यह प्रकट कर देते हैं कि वे इन दोनों में से एक भी नहीं हैं बल्कि जीवन की एक गुह्य प्रक्रिया में मध्यवर्ती पड़ाव हैं। पहली दृष्टि में ऐसा लग सकता है कि जन्म व्यापक

मृत्यु में जीवन का सतत विस्फोट, जड़ पदार्थ की वैश्व निष्प्राणता में निरंतर परिस्थिति है। ज्यादा नजदीक से परीक्षा करने पर यह अधिक संभव लगने लगता है कि जीवन कोई ऐसी चीज है जो जड़ में अंतर्निहित है या उस ऊर्जा की निहित शक्ति है जो जड़ का सृजन करती है लेकिन वह प्रकट होने योग्य तभी होती है जब उसे अपने विशिष्ट व्यापार को अभिपुष्टि के लिये और उचित आत्म-संगठन के लिये आवश्यक परिस्थितियां मिल जायें। लेकिन जीवन के जन्म में कुछ और भी है, जो आविर्भाव में भाग लेता है—एक ऐसा तत्त्व है जो जड़ भौतिक नहीं है, किसी अंतरात्मा की ज्वाला का प्रबल उभार, आत्मा का प्रथम स्पष्ट स्पंदन है।

जन्म की सभी ज्ञात परिस्थितियां और परिणाम पहले से मान लेते हैं कि कोई अज्ञात अतीत रहा है, और एक विश्वव्यापकता का संकेत मिलता है, जीवन के टिके रहने की इच्छा और मृत्यु में एक अनिर्णायकता मिलती है जो अज्ञात भविष्य की ओर संकेत करती है। जन्म से पहले हम क्या थे और मृत्यु के बाद क्या होंगे ये ऐसे प्रश्न हैं जिनमें एक का उत्तर दूसरे पर निर्भर होता है। मानव बुद्धि शुरू से इन्हें अपने आगे रखती आयी है और अभीतक किसी अंतिम समाधान में विश्राम नहीं कर पायी है। वस्तुतः बुद्धि मुश्किल से ही इनका कोई अंतिम उत्तर दे सकती है क्योंकि उसे स्वभावतः व्यक्ति या जाति की भौतिक चेतना और स्मृति द्वारा दी गयी सामग्री के परे होना चाहिये। लेकिन यही तो वह एकमात्र सामग्री है जिसके साथ कुछ-कुछ विश्वास के साथ परामर्श करने का अभ्यास रहता है बुद्धि को। सामग्री की इस दरिद्रता और अनिश्चिति में वह एक परिकल्पना से दूसरी पर जाती रहती है और बारी-बारी से हर एक को निष्कर्ष कहती है। और फिर समाधान वैश्व गतिविधि के स्वभाव, उद्गम और उद्देश्य पर निर्भर रहता है। जैसे हम इनका निश्चय करेंगे उसी तरह हमें जन्म, जीवन और मृत्यु, जीवन-पूर्व और जीवन-पश्चात् के बारे में निष्कर्ष निकालना होगा।

पहला प्रश्न यह है कि क्या पूर्व और पश्चात् शुद्ध रूप से भौतिक और प्राणिक हैं या किसी तरह से अधिक मुख्य रूप में मानसिक और आध्यात्मिक? अगर, जैसा कि जड़वादी कहते हैं, जड़ ही विश्व का तत्त्व होता, अगर वस्तुओं का सत्य वरुण के पुत्र भृगु के बतलाये हुए पहले सूत्र में पाया जाता, जो उसने शाश्वत ब्रह्म का ध्यान करके कहा था, "अन्न (जड़तत्त्व) ही शाश्वत है, क्योंकि सभी सत्ताएं अन्न से उत्पन्न हुई हैं और अन्न से ही जीती हैं, अन्न में ही सभी सत्ताएं प्रयाण करती और उसीमें लौट जाती हैं" तो फिर और प्रश्नों की संभावना ही न रहती। हमारे शरीरों का पूर्व होगा विभिन्न भौतिक तत्त्वों में से बीज और भोजन के उपादान द्वारा शायद गुह्य परंतु सदा जड़-भौतिक ऊर्जाओं के प्रभाव तले उनके घटकों का संचय, और हमारी सचेतन सत्ता का पूर्व होगा—आनुवंशिकता या किसी और भौतिक-प्राणिक या भौतिक-मानसिक क्रिया द्वारा वैश्व जड़-भौतिक में तैयारी, जिसमें

उसकी क्रिया विशेष होती है और व्यक्ति की रचना उसके माता-पिता के शरीरों द्वारा बीज, "जीन" और "क्रोमोज़ोम" द्वारा होती है। शरीर का पश्चात् होगा भौतिक तत्त्वों में विघटन और मानवजाति के सामान्य मन और जीवन में उसकी क्रियाओं के कुछ प्रभावों की उत्तरजीविता के अतिरिक्त सचेतन सत्ता का पश्चात् होगा जड़-भौतिक में पुनः पतन। यह अंतिम एकदम भ्रामक उत्तरजीविता ही हमारी अमरता का एकमात्र अवसर होगी। लेकिन चूंकि जड़ की विश्वव्यापकता के बारे में यह नहीं माना जा सकता कि वह मन के अस्तित्व की काफी व्याख्या कर सकती है और वस्तुतः स्वयं जड़ की व्याख्या अब जड़ से नहीं की जा सकती क्योंकि वह स्वयंभू नहीं मालूम होता, इसलिये हमें सरल और प्रत्यक्ष समाधान से अन्य परिकल्पनाओं में वापिस फेंक दिया जाता है।

इनमें से एक पुराना, धार्मिक और रूढ़िगत रहस्य यह है कि भगवान्, जो निरंतर अपनी सत्ता के अंदर से अमर अंतरात्माओं का सृजन करते रहते हैं या यह मान लिया जाये कि अपने "श्वास" या प्राण-शक्ति द्वारा जड़-प्रकृति में या उन शरीरों में, जिनकी उन्होंने रचना की है, उनमें प्रवेश करके भीतर से आध्यात्मिक तत्त्व द्वारा उन्हें जीवित कर देते हैं। श्रद्धा के रहस्य के रूप में इसे माना जा सकता है और इसकी खोज-बीन करने की जरूरत नहीं क्योंकि श्रद्धा के रहस्य प्रश्न और जांच के परे रहने चाहियें। लेकिन तर्क-बुद्धि और दर्शन के लिये उसमें विश्वासोत्पादकता की कमी है और वह चीजों की ज्ञात व्यवस्था में ठीक नहीं बैठती। क्योंकि इसमें दो विरोधाभास उलझे हुए हैं जिनपर विचार करने से पहले उनका अधिक औचित्य सिद्ध करने की जरूरत है। पहला तो है हर घड़ी ऐसी सत्ताओं का जन्म जिनका काल में आरंभ तो है पर काल में अंत नहीं है, और इसके अलावा जो शरीर के जन्म के साथ पैदा तो होती हैं पर शरीर की मृत्यु के साथ समाप्त नहीं होतीं। दूसरे, यह मान्यता कि मिश्रित धर्मों, गुणों, अवगुणों, क्षमताओं, त्रुटियों, स्वभाव के तथा अन्य लाभ-हानि, जिन्हें मनुष्यों ने वृद्धि के द्वारा बनाया तो नहीं है बल्कि जिन्हें उनके लिये एक मनमाने आदेश द्वारा—अगर आनुवंशिकता के नियम द्वारा नहीं—बनाया गया है और जिसके लिये और जिसके पूरे पक्के उपयोग के लिये उनका स्रष्टा उन्हें जिम्मेदार ठहराता है।

कम-से-कम अस्थायी रूप से हम कुछ चीजों को दार्शनिक युक्ति की उचित मान्यताएं मान सकते हैं और उचित रूप से उन्हें अप्रमाणित करने का भार उनसे इंकार करनेवाले पर डाल सकते हैं। इन आधार तत्त्वों में से एक सिद्धांत यह है कि जिसका कोई अंत नहीं है उसका निश्चित रूप से कोई आदि भी न रहा होगा। वह सब, जिसका आरंभ होता है या जिसका सृजन होता है, उसका अंत उस प्रक्रिया की समाप्ति से होता है जिसने उसका सृजन किया और जो उसको बनाये हुए है या वह जिस सामग्री के मिश्रण से बना है उसके विघटन से या वह जिस

कार्य के लिये अस्तित्व में आया था उसकी समाप्ति से। अगर इस नियम में कोई अपवाद है तो वह जड़तत्त्व में आध्यात्मिक तत्त्व के अवतरण द्वारा जो जड़ को भागवत तत्त्व से अनुप्राणित कर देता है या उसे अपनी ही अमरता प्रदान करता है। लेकिन जिस आत्मा का इस तरह अवतरण होता है वह अपने-आप अमर होती है, उसकी रचना या सृष्टि नहीं होती। अगर अंतरात्मा शरीर को अनुप्राणित करने के लिये बनायी गयी होती, अगर वह अस्तित्व में आने के लिये शरीर पर निर्भर होती तो शरीर के गायब हो जाने के बाद उसके बने रहने के लिये कोई कारण या आधार न होता। स्वभावतः यह मानना होगा कि श्वास या शक्ति जो शरीर को अनुप्राणित करने के लिये दी गयी थी वह अपने अंतिम विघटन पर अपने स्रष्टा के पास लौट जायेगी। यदि इसके विपरीत वह अमर शरीरधारी सत्ता के रूप में बनी रहे तो कोई सूक्ष्म या चैत्य शरीर होना चाहिये जिसमें वह बनी रहती है और यह काफी हदतक निश्चित है कि यह चैत्य शरीर और उसका निवासी अपने जड़वाहक से पूर्ववर्ती रहे होंगे। यह मानना असंगत मालूम होता है कि मूल रूप में उनकी रचना इस संक्षिप्त से मर्त्य रूप में बसने के लिये की गयी थी। एक अमर सत्ता सृष्टि में ऐसी क्षणभंगुर घटना का परिणाम नहीं हो सकती। अगर अंतरात्मा बनी तो रहती है परंतु अशरीरी अवस्था में, तो अपने अस्तित्व के लिये उसकी मौलिक निर्भरता शरीर पर न रही होगी; वह जन्म से पहले उसी तरह विदेह आत्मा के रूप में रही होगी जैसे वह मृत्यु के बाद अशरीरी रूप में बनी रहती है।

फिर हम यह मान सकते हैं कि जहां हम काल में विकास की अमुक अवस्था देखते हैं वहां यह जरूरी है कि उस अवस्था का कोई भूत भी रहा होगा। अतः, अगर अंतरात्मा इस जीवन में व्यक्तित्व के कुछ विकास को लेकर प्रवेश करती है तो उसने यहां या कहीं और, पहले जीवनों में उसे तैयार किया होगा। या अगर वह पहले से तैयार किये हुए जीवन और व्यक्तित्व को ही ले लेती है, जिसे स्वयं उसने तैयार नहीं किया है, शायद जिसे किसी भौतिक, प्राणिक या मानसिक आनुवंशिकता ने तैयार किया हो तो स्वयं उसे उस जीवन और व्यक्तित्व से एकदम स्वतंत्र होना चाहिये, कोई ऐसी चीज होना चाहिये जो केवल आकस्मिक रूप से मन और शरीर के साथ जुड़ी हुई है और इसलिये इस मानसिक या शारीरिक जीवन में जो कुछ किया या विकसित किया जाये उससे वास्तव में प्रभावित नहीं होती। अगर अंतरात्मा वास्तविक और अमर है, सत् की कोई निर्मित सत्ता या आकृति नहीं है तो उसे शाश्वत, भूतकाल में अनादि और भविष्य में अनंत भी होना चाहिये, लेकिन अगर वह शाश्वत हो तो या तो उसे परिवर्तनहीन आत्मा होना चाहिये जिसपर जीवन और उसकी अवस्थाओं का कोई प्रभाव न हो या फिर कालातीत पुरुष, एक शाश्वत और आध्यात्मिक पुरुष जो काल में एक बदलते हुए व्यक्तित्व की धारा को व्यक्त या प्रवर्तित कर रहा हो। अगर वह ऐसा पुरुष है तो वह व्यक्तित्व की इस धारा

को जन्म और मृत्यु के जगत् में एक के बाद एक शरीर धारण करके ही—संक्षेप में प्रकृति के रूपों में निरंतर या बार-बार जन्म लेकर ही—अभिव्यक्त कर सकता है।

लेकिन अगर हम शाश्वत जड़ द्वारा सभी चीजों की व्याख्या को रद्द भी कर दें तो भी अंतरात्मा की अमरता और शाश्वतता अपने-आपको तुरंत स्थापित नहीं कर देतीं क्योंकि हमारे आगे यह परिकल्पना भी है कि एक आद्य एकत्व है जिससे सभी चीजों का आरंभ हुआ, जिससे उनका जीवन है और जिसमें उनका अवसान होता है, उसी एकत्व की किसी शक्ति से अस्थायी या प्रतीयमान जीव की सृष्टि हुई है। एक ओर हम कुछ आधुनिक विचारों या खोजों के आधार पर यह सिद्धांत बना सकते हैं कि एक वैश्व निश्चेतना एक अस्थायी अंतरात्मा का सृजन करती है जो एक ऐसी चेतना है जो अपनी संक्षिप्त-सी लीला समाप्त करके बुझ जाती और निश्चेतना में लौट जाती है। या कोई शाश्वत संभूति हो सकती है जो अपने-आपको वैश्व प्राण-शक्ति में जड़ के रूप में अभिव्यक्त करती है, जिसकी क्रियाओं के एक ओर विषयगत उद्देश्य के रूप में होता है जड़-तत्त्व और दूसरी ओर विषयीगत उद्देश्य के रूप में मन। प्राण-शक्ति के इन दो व्यापारों की क्रिया-प्रतिक्रिया मानव जीवन का निर्माण करती है। दूसरी ओर वह पुरानी परिकल्पना है कि एक एकमात्र अतिचेतन है, एक शाश्वत, अविकार्य शुद्ध सत् है जो व्यावहारिक मन और जड़-तत्त्व के इस जगत् में माया द्वारा व्यक्तिगत आंतरात्मिक-प्राण के भ्रम को रचता या प्रवेश करने देता है—और ये दोनों अंततः अवास्तविक हैं—भले वे अस्थायी और व्यावहारिक वास्तविकता का रूप हों या उन्हें धारण कर लें—एक अविकार्य शाश्वत आत्मा या आध्यात्म पुरुष ही एकमात्र सत्ता है। या फिर शून्य या निर्वाण का बौद्ध सिद्धांत है और किसी तरह उसपर शाश्वत कर्म या क्रमिक संभूति की ऊर्जा, कर्म लाद दिये गये हैं जो संस्कारों, विचारों, स्मृतियों, संवेदनों, कल्पनाओं की सतत अविच्छिन्नता द्वारा निरंतर आत्मा या अंतरात्मा का भ्रम पैदा करते हैं। जीवन-समस्या पर अपने प्रभाव के रूप में ये तीनों व्याख्याएं व्यावहारिक रूप से एक ही हैं क्योंकि वैश्व क्रिया के प्रयोजनों के लिये अतिचेतन भी निश्चेतन का पर्याय है। वह केवल अपने अविकार्य स्वयंभू रूप के बारे में अभिज्ञ हो सकता है। व्यष्टिगत सत्ताओं के जगत् की माया द्वारा सृष्टि इस स्वयम्भू पर एक आरोपण है। शायद वह चेतना की एक प्रकार की आत्मलीन निद्रा, सुषुप्ति[1] में घटित होता है जिसके अंदर से समस्त सक्रिय चेतना और व्यावहारिक संभूति के सभी परिवर्तन उभरते हैं; जैसे आधुनिक सिद्धांत में हमारी चेतना एक अस्थायी विकास है जो निश्चेतन में से उभरती है। इन तीनों सिद्धांतों में प्राणी की प्रतीयमान अंतरात्मा या आध्यात्मिक व्यक्तित्व शाश्वत के अर्थ में अमर नहीं है बल्कि काल में उसका आदि भी है और अंत भी। वह माया

[1] मण्डूकोपनिषद् में प्राज्ञ, गभीर सुषुप्ति में स्थित आत्मा वस्तुओं की स्वामी और स्रष्टा है।

या प्राकृतिक शक्ति या वैश्व कर्म की रचना है जो अतिचेतन या निश्चेतन से आती है और इस कारण अस्तित्व में अस्थायी है। इन तीनों में पुनर्जन्म या तो अनावश्यक है या भ्रामक है। वह या तो भ्रम के पुनरावर्तन द्वारा दीर्घ किया जाता है या वह संभूति के जटिल यंत्र-विन्यास के इतने चक्रों के बीच एक और घूमता हुआ चक्र है। या पुनर्जन्म को यह कहकर अलग कर दिया जाता है कि कोई सचेतन सत्ता, जो निश्चेतन से अचानक प्रकट हो गयी हो, वह बस एक ही जन्म की मांग कर सकती है।

इन दृष्टियों से चाहे हम शाश्वत सत्ता को प्राणिक संभूति मानें या अक्षर, अविकार्य आध्यात्मिक सत्ता या नाम-रूपहीन असत् जिसे हम अंतरात्मा कहते हैं, वह चेतना के व्यापारों की बदलती हुई राशि या धारामात्र है जो वास्तविक या भ्रामक संभूति के सागर के अस्तित्व में आ गयी है और वहां अपना अस्तित्व समाप्त भी कर देगी—या हो सकता है, वह कोई अस्थायी, आध्यात्मिक अधःस्तर है, अतिचेतन शाश्वत की एक सचेतन छाया है जो अपनी उपस्थिति से आभासों की राशि को सहारा देती है। यह शाश्वत नहीं है, उसकी अमरता है संभूति में कम या अधिक सातत्य। वह कोई वास्तविक या सदा उपस्थित पुरुष नहीं है जो आभासों की धारा या राशि को सहारा देता और उसका अनुभव करता है। जो उन्हें सहारा देता, जो वास्तव में हमेशा उपस्थित है वह या तो एक शाश्वत संभूति है या एकमेव शाश्वत और निर्वैयक्तिक सत् या ऊर्जा की अपनी क्रिया में लगी हुई निरविच्छिन्न धारा। इस तरह की परिकल्पना के लिये जरूरी नहीं है कि कोई ऐसी चैत्य सत्ता हो जो हमेशा वह की वही बनी रहे और तबतक शरीर के बाद शरीर, रूप के बाद रूप धारण करती चले जबतक कि अंत में, जिस आद्य अंतर्वेग ने यह चक्र चलाया था उसे रद्द करनेवाली किसी प्रक्रिया द्वारा विघटित न हो जाये। यह बिलकुल संभव है कि जैसे-जैसे कोई रूप विकसित होता है, उस रूप के साथ मेल खाती हुई चेतना भी विकसित हो और जब रूप विघटित हो तो उसके सदृश चेतना भी विघटित हो जाये। वह एकमेव जो सब को रूप देता है वही सदा के लिये बना रहता है। या जैसे शरीर जड़-तत्त्व के सामान्य तत्त्वों में से इकट्ठा होता है और अपना जीवन जन्म से शुरू करता और मृत्यु से समाप्त करता है उसी तरह चेतना भी मन के सामान्य तत्त्वों में से विकसित हो और समान रूप से जन्म से शुरू और मृत्यु से समाप्त हो। यहां भी वह एकमेव, जो माया द्वारा या किसी और तरीके से वह शक्ति देता है जो तत्त्वों का सृजन करती है, वह एकमात्र वास्तविकता है जो नित्य है। अस्तित्व की इन परिकल्पनाओं में से किसी में भी पुनर्जन्म न तो कोई नितांत आवश्यकता है न उसका अनिवार्य परिणाम।[1]

[1] बौद्ध मत में पुनर्जन्म अनिवार्य है क्योंकि कर्म इसके लिये बाधित करता है। ऊपर से अविच्छिन्न मालूम होनेवाली चेतना की कड़ी आत्मा नहीं, कर्म है क्योंकि चेतना तो क्षण-क्षण बदलती रहती है। चेतना की प्रतीयमान अविच्छिन्नता है परंतु कोई वास्तविक अमर आत्मा नहीं जो जन्म लेती हो और शरीर की मृत्यु में से गुजरते हुए एक और शरीर में जन्म लेती है।

वस्तुतः हम एक बहुत बड़ा भेद पाते हैं क्योंकि पुराने सिद्धांत वैश्व प्रक्रिया के एक अंग के रूप में पुनर्जन्म का समर्थन करते हैं और आधुनिक सिद्धांत उसे अस्वीकार करते हैं। आधुनिक विचार हमारे अस्तित्व के आधार के रूप में भौतिक शरीर से आरंभ करता है और वह इस जड़-भौतिक विश्व को छोड़कर अन्य किसी लोक की वास्तविकता नहीं स्वीकार करता। वह यहां जो देखता है वह है मानसिक चेतना जो शारीरिक जीवन के साथ लगी हुई है। वह अपने जन्म में पिछले व्यक्तिगत जीवन का कोई चिह्न नहीं दिखलाती और अपने अंत में परवर्ती व्यक्तिगत अस्तित्व की कोई निशानी नहीं छोड़ती। जन्म से पहले जो था वह है अपने प्राण के बीज के साथ जड़-भौतिक ऊर्जा या अधिक-से-अधिक प्राण-शक्ति की ऊर्जा जो माता-पिता द्वारा संचारित बीज में रहती है और उस तुच्छ वाहन में अतीत के विकासों का रहस्यमय अंतः-संचार करती हुई इस अद्भुत रीति से बने नये वैयक्तिक मन और शरीर को एक विशेष मानसिक तथा शारीरिक छाप देती है। मृत्यु के बाद जो बनी रहती है वह वही जड़-ऊर्जा या प्राण-शक्ति है जो संतान में संचारित बीज में टिकी होती है और उसके साथ चलनेवाले मानसिक तथा शारीरिक जीवन में आगे के विकास के लिये सक्रिय रहती है। हमारा कुछ भी बचा नहीं रह जाता, सिवाय उसके जिसे हम इस तरह दूसरों में संचारित कर देते हैं या जिसे ऊर्जा ने अपने पूर्ववर्ती और चारों ओर के कर्म द्वारा व्यक्ति का रूप दिया है, जिसे वह ऊर्जा जन्म या वातावरण द्वारा अपने जीवन और कर्मों के परिणाम-स्वरूप अपने परवर्ती कर्म में ले सकती है; जो कुछ संयोग द्वारा या भौतिक विधान द्वारा दूसरे व्यक्तियों के मानसिक और प्राणिक घटकों और वातावरण की रचना करने में सहायक हो, केवल वही बचा रह सकता है। मानसिक और भौतिक; दोनों व्यापारों के पीछे शायद एक वैश्व प्राण है जिसकी हम व्यष्टिभावापन्न, विकासशील और आभासी संभूतियां हैं। यह वैश्व प्राण एक वास्तविक जगत् और वास्तविक सत्ताओं का सृजन करता है लेकिन इन सत्ताओं में सचेतन व्यक्तित्व एक शाश्वत या स्थायी अंतरात्मा या अतिभौतिक पुरुष की चेतना का चिह्न या आकार नहीं है या कम-से-कम उसका ऐसा होना जरूरी नहीं है। सत्ता के बारे में इस सूत्र के अंदर ऐसी कोई चीज नहीं है जो हमें एक ऐसी चैत्य सत्ता पर विश्वास करने के लिये बाधित करे जो शरीर की मृत्यु के बाद भी बनी रहे। यहां वस्तुओं की योजना के अंग-स्वरूप पुनर्जन्म को स्वीकार करने का न कोई कारण दिखायी देता है न अवकाश।

लेकिन अगर हमारे ज्ञान की वृद्धि होने पर इस बात का पता लगे, जिसका पूर्वाभास हमारे कुछ अन्वेषण और अनुसंधान देते हुए मालूम होते हैं, कि हमारे अंदर मानसिक सत्ता या चैत्य सत्ता की शरीर पर निर्भरता इतनी अधिक पूर्ण नहीं है जितना हम केवल भौतिक जीवन और भौतिक विश्व की सामग्री का अध्ययन करके

स्वभावतः मान लेते हैं, तो क्या होगा ? और क्या होगा अगर यह पता लगे कि मानव व्यक्तित्व शरीर की मृत्यु के बाद भी बचा रहता है और अन्य लोकों तथा इस जड़-विश्व के बीच विचरण करता है। तब अस्थायी सचेतन सत्ता के प्रचलित आधुनिक विचार को अपने-आपको विस्तृत करना और एक ऐसे जीवन को स्वीकार करना होगा जिसका क्षेत्र भौतिक विश्व से अधिक विस्तृत हो और ऐसे निजी व्यक्तित्व को भी स्वीकार करना होगा जो भौतिक शरीर पर निर्भर न हो। हो सकता है कि उसे फिर से व्यावहारिक रूप में ऐसे सूक्ष्म रूप या शरीर के पुराने विचार को अपनाना पड़े जिसमें चैत्य सत्ता का निवास हो। अपने साथ मानसिक चेतना को लिये हुए चैत्य या अंतरात्मा की सत्ता, और अगर कोई ऐसी मौलिक अंतरात्मा न हो तो विकसित और अविच्छिन्न मानसिक व्यक्ति, मृत्यु के बाद भी इस सूक्ष्म निरविच्छिन्न रूप में बना रहेगा, जो या तो उसी के लिये हो—या तो जन्म से पहले या स्वयं जन्म द्वारा या जीवन के बीच बनाया गया हो। क्योंकि या तो चैत्य सत्ता अन्य लोकों में एक सूक्ष्म रूप में पहले से निवास करती है और वहां से संक्षिप्त से पार्थिव प्रवास के लिये उसके साथ आती है या अंतरात्मा इस जड़-विश्व में ही विकसित होती है और उसके साथ प्रकृति की प्रक्रिया में चैत्य शरीर विकसित हो जाता है और मृत्यु के बाद अन्य लोकों में अथवा यहीं पर पुनर्जन्म द्वारा बना रहता है। ये दो विकल्प संभव हैं।

हो सकता है कि अब जो "हम" हैं उस वृद्धिशील व्यक्तित्व को एक विकसनशील वैश्व प्राण ने पृथ्वी पर विकसित किया हो, मानव शरीर में प्रवेश करने से पहले ही, मनुष्य के सृजन से पहले हमारे अंदर की अंतरात्मा निचले जीवन-रूपों में विकसित हुई हो। उस हालत में हमारा व्यक्तित्व पहले पशु-रूपों में निवास कर चुका है और सूक्ष्म शरीर एक नमनीय रूपायण होगा जो एक जीवन से दूसरे जीवन में ले जाया जाता है और अंतरात्मा जिस किसी शरीर में निवास करे, वह अपने-आपको उसके अनुकूल बना लेता है। या विकसनशील प्राण उत्तरजीविता में सक्षम व्यक्तित्व रचने में सक्षम होगा, लेकिन केवल मानव रूप में, जब उसका निर्माण हो जाये। यह मानसिक चेतना की आकस्मिक वृद्धि की शक्ति से ही हो सकता है और उसी समय एक सूक्ष्म मानसिक पदार्थ का कोष भी विकसित हो सकता है और इस मानसिक चेतना को व्यष्टिभाव देने में सहायक हो सकता है और तब यह अंतःशक्ति की तरह काम करेगा, ठीक उसी तरह जैसे अपने संगठन द्वारा स्थूल-भौतिक रूप एक ही साथ पशु-मन और प्राण को व्यष्टि-भाव और आवास देता है। पहली मान्यता के अनुसार हमें यह मानना होगा कि पशु भी अपने भौतिक शरीर के विघटन के बाद बना रहता है और उसमें भी किसी प्रकार का आंतरात्मिक रूपायण होता है जो मृत्यु के बाद धरती पर अन्य पशु-रूपों को और अंत में मानव-शरीर को धारण करता है। क्योंकि इस बात की संभावना कम

ही है कि पशु की अंतरात्मा धरती के पार जाकर भौतिक से इतर प्राण-लोकों में प्रवेश करती है और तबतक यहां निरंतर लौटती रहती है जबतक कि वह मानव जन्म के लिये तैयार न हो जाये। पशु का सचेतन व्यक्ति-भाव इतना पर्याप्त नहीं लगता कि वह इस तरह के स्थानान्तरण को सह सके या अपने-आपको अन्य लोकों के जीवन के अनुकूल बना सके। और दूसरी मान्यता के अनुसार भौतिक शरीर की मृत्यु के बाद जीवन की अन्य अवस्थाओं में बचे रहने की शक्ति विकास की मानव-अवस्था के साथ ही आयेगी। अगर वस्तुतः अंतरात्मा प्राण द्वारा विकसित, ऐसा निर्मित व्यक्तित्व नहीं है बल्कि एक स्थायी, अविकसनशील वास्तविकता है और पार्थिव जीवन और शरीर ही जिसका आवश्यक क्षेत्र है तो पुनर्जन्म के सिद्धांत को फीसगोरस (पाइथागोरस) के देहान्तरण के अर्थ में स्वीकार करना होगा। लेकिन अगर वह अविच्छिन्न रूप से विकसित होती हुई सत्ता है जो पार्थिव अवस्था के पार जाने में सक्षम है तब तो अन्य लोकों में जाने और पार्थिव जन्म में लौट आने का भारतीय विचार संभव, और बहुत अधिक शक्य बन जाता है। लेकिन वह अनिवार्य न होगा क्योंकि तब यह माना जा सकता है कि मानव व्यक्तित्व एक बार अन्य लोकों में पहुंचने योग्य हो जाये तो फिर यह जरूरी नहीं है कि वह वहां से लौटे, स्वभावतः किसी बड़े बाधित करनेवाले कारण के अभाव में उस उच्चतर लोक में ही वह अपना जीवन बिताना चाहेगा जहांतक वह उठ गया है, उसने अपने पार्थिव विकास का समापन कर दिया होगा। धरती पर लौट आने के वास्तविक प्रमाण मिलने पर ही कोई अधिक बड़ी मान्यता आवश्यक होगी और मानव रूपों में बारम्बार पुनर्जन्म को मानना अनिवार्य होगा।

फिर भी यह जरूरी नहीं है कि विकसनशील प्राणवादी सिद्धांत अपने-आपको आध्यात्मिक बना ले, उसके लिये जरूरी नहीं है कि वह अंतरात्मा की वास्तविक सत्ता या उसकी अमरता या शाश्वतता को स्वीकार करे। वह अब भी यही मान सकता है कि व्यक्तित्व वैश्व प्राण की प्राणिक चेतना और भौतिक रूप और शक्ति की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा एक प्रतीयमान सृजन है लेकिन दोनों की एक दूसरे पर अधिक विस्तृत, अधिक परिवर्तनशील और सूक्ष्मतर क्रिया द्वारा। उसका इतिहास उससे भिन्न है जो पहले संभव मान लिया गया था। वह एक प्रकार के प्राणमय बौद्ध मत पर भी पहुंच सकता है जो कर्म को तो स्वीकार करे परंतु करे एक वैश्व प्राण-शक्ति की क्रिया के रूप में। वह उसके एक परिणाम के रूप में यह तो स्वीकार करेगा कि व्यक्तित्व का प्रवाह मानसिक संस्कार-संयोग द्वारा पुनर्जन्म में अविच्छिन्न रूप से चलता है, लेकिन वह इस बात को अस्वीकार कर सकता है कि व्यक्ति की कोई वास्तविक आत्मा होती है या सतत सक्रिय प्राणिक संभूति से भिन्न कोई और शाश्वत सत्ता है। दूसरी ओर, हो सकता है कि विचार के उस मोड़ का अनुसरण करते हुए, जो अब जरा बल पाता जा रहा है, वह यह स्वीकार करे कि कोई वैश्व आत्मा या विश्वव्यापी आध्यात्म-सत्ता ही आद्य सद्वस्तु है

और प्राण उसकी शक्ति या अभिकर्ता है। इस तरह वह आध्यात्मभावापन्न प्राणिक अद्वैत पर पहुंच सकता है। इस सिद्धांत में भी पुनर्जन्म का विधान संभव होगा पर अनिवार्य नहीं। वह एक प्रतीयमान तथ्य हो सकता है, जीवन का एक यथार्थ विधान हो सकता है लेकिन वह सत्ता के सिद्धांत का तर्क-संगत परिणाम और उसका अनिवार्य निष्कर्ष न होगा।

बौद्ध मत की तरह मायावाद का अद्वैत भी एक माने हुए विश्वास से—अतीत के ज्ञान से मिले हुए भंडार के एक भाग से शुरू हुआ जो कहता है कि अतिभौतिक लोक और जगत् हैं और उनके तथा हमारे जगत् के बीच आदान-प्रदान होता है जिससे मानव व्यक्तित्व का पृथ्वी के परे जाना और पृथ्वी पर वापिस आना निर्धारित होता है—यह खोज कुछ कम प्राचीन मालूम होती है। बहरहाल, उनके विचार के पीछे एक व्यक्तित्व के पूर्व और पश्चात् का प्राचीन प्रत्यक्ष ज्ञान, बल्कि अनुभव या कम-से-कम एक लंबी परंपरा थी जो केवल भौतिक विश्व के अनुभवतक सीमित न थी क्योंकि उन्होंने पहले से ही अपने और जगत् के बारे में एक ऐसी दृष्टि को आधार बनाया था जो पहले ही से अतिभौतिक चेतना को प्राथमिक व्यापार और भौतिक सत्ता को गौण और अधीनस्थ व्यापार मानती थी। इस सामग्री के चारों ओर शाश्वत सद्वस्तु की प्रकृति और प्रतीयमान संभूति के उद्गम का निर्धारण करना था। अतः वे इस जगत् से उन जगतों में व्यक्तित्व के स्थानांतरण को स्वीकार करते थे और मानते थे कि वह फिर से पृथ्वी पर जीवन के रूपों में वापिस आयेगा। लेकिन इस तरह जिस पुनर्जन्म को स्वीकार किया गया था वह बौद्ध मत के अनुसार नहीं, बल्कि वास्तविक आध्यात्मिक पुरुष का जड़-अस्तित्व के रूपों में वास्तविक पुनर्जन्म था। परवर्ती अद्वैत में आध्यात्मिक वास्तविकता तो थी लेकिन उसका प्रतीयमान व्यक्तित्व और इस कारण उसका जन्म और पुनर्जन्म एक वैश्व माया के भाग थे, वैश्व माया के भ्रामक किंतु सार्थक सर्जन थे।

बौद्ध विचार ने आत्मा के अस्तित्व से इंकार किया और पुनर्जन्म का अर्थ केवल विचारों, संवेदनों और क्रियाओं की अविच्छिन्नता ही हो सकता था जिनसे एक काल्पनिक व्यक्ति की रचना होती थी, जो विभिन्न लोकों के बीच विचरण करता था। उदाहरण के लिये विचारों और संवेदनों के विभिन्न संगठित लोकों के बीच क्योंकि वस्तुतः प्रवाह की सचेतन अविच्छिन्नता ही आत्मा के और व्यक्तित्व के आभास का सृजन करती है। अद्वैत मायावाद में जीवात्मा को, यहांतक कि व्यक्ति की वास्तविक आत्मा को भी स्वीकार किया जाता था।[1] हमारी सामान्य भाषा और विचारों को दी गयी यह सुविधा अंत में प्रतीयमान ही निकलती है क्योंकि पीछे पता

[1] इस दृष्टि के अनुसार आत्मा एक है, वह बहु नहीं हो सकती, अपना गुणन नहीं कर सकती, अतः कोई सच्चा व्यक्ति नहीं हो सकता, अधिक-से-अधिक एकमेव सर्वव्यापक आत्मा हो सकती है जो प्रत्येक मन और शरीर को "मैं" के विचार से अनुप्राणित करती है।

लगता है कि सचमुच कोई वास्तविक और शाश्वत व्यक्ति है ही नहीं न "मैं" है न "तुम"। इसलिये व्यक्ति की कोई वास्तविक आत्मा नहीं हो सकती, यहांतक कि कोई सच्ची वैश्वात्मा भी नहीं हो सकती, केवल एक ऐसी आत्मा हो सकती है जो विश्व से अलग-थलग, सदा अजन्मी, सदा निर्विकार, प्रपंच के परिवर्तनों से अप्रभावित हो। जन्म, जीवन, मृत्यु, व्यक्तिगत और वैश्व अनुभवों की समस्त राशि, अंत में चलकर एक भ्रम और अस्थायी आभास रह जाते हैं, उससे अधिक कुछ नहीं। बंधन और मुक्ति भी ऐसे ही भ्रम रह जाते हैं, कालिक आभास के अंग। वे केवल अहंकार के, जो स्वयं महान् भ्रम की सृष्टि है, भ्रामक अनुभवों की सचेतन अविच्छिन्नता रह जाते हैं और उस अविच्छिन्नता और चेतना का उस तत् की अति-चेतना में समापन रह जाते हैं जो अकेला ही था, है और हमेशा रहेगा, या जिसका काल से कोई संबंध नहीं, जो सदा अज, कालातीत और अनिर्वचनीय है।

इस तरह जहां वस्तुओं की प्राणिक दृष्टि में एक वास्तविक विश्व है और वैयक्तिक जीवन की वास्तविक यद्यपि संक्षिप्त और अल्पकालीन संभूति है, यद्यपि कोई सदा बना रहनेवाला पुरुष नहीं है तब भी वह संभूति हमारे व्यक्तिगत अनुभव और क्रिया को काफी महत्त्व देती है—क्योंकि ये सचमुच वास्तविक संभूति में प्रभावकारी होते हैं—परंतु मायावाद के सिद्धांत में इन चीजों का कोई वास्तविक महत्त्व या सच्चा असर नहीं होता। ये केवल स्वप्न-निष्कर्ष जैसा होता है। क्योंकि मोक्ष भी वैश्व स्वप्न या भ्रांति में भ्रांति को पहचान लेने और व्यष्टिगत मन और शरीर की समाप्ति से ही प्राप्त होता है। वास्तव में न कोई बद्ध है न मुक्त क्योंकि एकमात्र अस्तित्ववान् आत्मा अहं के इन भ्रमों से अछूती रहती है। इस सर्व-विनाशकारी निष्फलता से बचने के लिये—जो तर्कसंगत परिणाम होगा—हमें इस स्वप्न-निष्कर्ष की एक व्यावहारिक सत्यता माननी होगी, वह सचाई अंत में चाहे जितनी मिथ्या क्यों न मालूम हो। हमें अपने बंधन और मुक्ति को बहुत महत्त्व देना होगा, भले व्यक्तिगत जीवन प्रतिभास मात्र क्यों न हो और उस एकमात्र वास्तविक आत्मा के लिये ये बंधन और मुक्ति दोनों ही असत् क्यों न हों और असत् होने के अतिरिक्त और कुछ न हों। माया के अत्याचारी मिथ्यात्व को दी गयी इस अनिवार्य सुविधा के अनुसार जीवन और अनुभव का एकमात्र सच्चा महत्त्व उस अनुपात में होगा जिसमें वे वैश्व भ्रम के अंत के लिये, जीवन के नकार के लिये और व्यक्ति के आत्म-विलोपन के लिये तैयारी करते हैं।

फिर भी, यह अद्वैतवादी सिद्धांत की एक चरम दृष्टि और परिणाम है और उपनिषदों से शुरू होनेवाला प्राचीन अद्वैत वेदांत इतनी दूरतक नहीं जाता। वह शाश्वत की एक वास्तविक और कालिक संभूति को, अतः वास्तविक विश्व को स्वीकार करता है। व्यक्ति भी पर्याप्त वास्तविकता धारण कर लेता है क्योंकि हर

एक व्यक्ति वह शाश्वत है जिसने नाम और रूप धारण कर लिया है और वह उसके द्वारा जन्म की अभिव्यक्ति में हमेशा घूमते हुए भवचक्र पर बैठकर जीवन के अनुभवों को अवलंब देता है। व्यक्ति की कामना इस चक्र को गति में रखती है और मन के शाश्वत आत्मा के ज्ञान से मुड़कर कालिक संभूति में तल्लीन होने के द्वारा पुनर्जन्म का प्रभावकारी कारण बनती है और इस कामना और अज्ञान की समाप्ति के साथ व्यक्ति के अंदर शाश्वत व्यक्तिगत व्यक्तित्व के परिवर्तनों और अनुभवों से अपने-आपको अलग खींचकर अपनी कालातीत, निर्वैयक्तिक अक्षर सत्ता में चला जाता है।

लेकिन व्यक्ति की यह वास्तविकता बिलकुल कालिक है। उसका कोई स्थायी आधार नहीं है, काल में सतत पुनरावर्तन भी नहीं है। यद्यपि विश्व के इस विवरण में पुनर्जन्म महत्त्वपूर्ण वास्तविकता है फिर भी वह व्यक्तित्व और अभिव्यक्ति के उद्देश्य के बीच संबंध का कोई अनिवार्य निष्कर्ष नहीं है क्योंकि ऐसा लगता है कि शाश्वत की जगत्-सृजन की इच्छा को छोड़कर अभिव्यक्ति का और कोई उद्देश्य नहीं है और इसका समापन उस इच्छा के पीछे हट जाने से ही हो सकता है। यह वैश्व इच्छा अपने-आपको पुनर्जन्म के यंत्र और उसे बनाये रखनेवाली व्यक्ति की इच्छा के बिना भी कार्यान्वित कर सकती है; क्योंकि उसकी कामना मशीन का एक स्प्रिंग ही हो सकती है, वह स्वयं वैश्व अस्तित्व का कारण या उसकी आवश्यक अवस्था नहीं हो सकती क्योंकि इस दृष्टि में व्यक्ति अपने-आप सृष्टि का परिणाम है, संभूति से पहले अस्तित्व में नहीं रहा है। तब सृजन की इच्छा प्रत्येक नाम और रूप में कुछ समय के लिये वैयक्तिकता धारण करके बहुत-से अस्थायी व्यक्तियों के एक ही जीवन द्वारा अपने-आपको संपादित कर सकती है। उस एक चेतना का प्रत्येक बनी हुई सत्ता के प्रकार के अनुरूप एक आत्म-रूपायण हो सकता था लेकिन यह भी हो सकता था कि हर बार वह प्रत्येक व्यक्तिगत शरीर के भौतिक रूप के प्रकट होने के साथ शुरू होता और उसकी समाप्ति के साथ-ही-साथ वह भी समाप्त हो जाता। जैसे लहर के बाद लहर आती है उसी तरह व्यक्ति के बाद व्यक्ति आता रहता और समुद्र हमेशा एक-सा बना रहता;[1] सचेतन सत्ता का प्रत्येक

[1] भारतीय विचार के बारे में अपनी पुस्तक में डा० श्वायटजर यह प्रतिपादित करते हैं कि उपनिषदों की शिक्षा का ठीक-ठीक अर्थ यही था और पुनर्जन्म बाद का अन्वेषण है परंतु प्रायः सभी उपनिषदों में कई महत्त्वपूर्ण स्थल ऐसे हैं जो निश्चित रूप से पुनर्जन्म का प्रतिपादन करते हैं। बहरहाल उपनिषद् यह स्वीकार करते हैं कि मृत्यु के बाद व्यक्तित्व बना रहता है और अन्य लोकों में जाता है, जो इस व्याख्या के साथ मेल नहीं खाता। अगर यहां शरीर-धारण की हुई आत्माओं के अन्य लोकों में बने रहने की और ब्रह्म में मुक्ति की अन्तिम नियति पाने की बात है तो पुनर्जन्म अपने-आपको आरोपित कर देता है और फिर यह मानने का कोई कारण नहीं कि यह बाद की परिकल्पना है। स्पष्ट है कि लेखक पाश्चात्य दर्शन के संपर्क से प्रभावित होकर प्राचीन वेदांत के सूक्ष्म और जटिल विचार में केवल सर्वेश्वरवाद को ही पढ़ पाया।

रूपायन वैश्व में से उभरता, दिये हुए समयतक प्रवाहित होता और फिर नीरवता में वापिस डूब जाता। इस प्रयोजन के लिये व्यष्टिभावापन्न चेतना की आवश्यकता प्रकट नहीं है जो स्थायी रूप से अविछिन्न हो, जो नाम के बाद नाम और रूप के बाद रूप धारण करती जाये और विभिन्न लोकों में आगे-पीछे गति करती रहे, और यहांतक कि संभावना के रूप में भी यह अपने-आपको प्रबल रूप से आरोपित नहीं करती। ऐसी विकसनशील प्रगति के लिये तो और भी कम अवकाश है जिसका एक रूप से दूसरे उच्चतर रूपतक अनिवार्य रूप से अनुसरण किया जाये जैसा कि पुनर्जन्म की ऐसी परिकल्पना अनिवार्य रूप से मानती है जो जड़ में आत्मा के अन्तर्लयन और विकास को हमारी पार्थिव सत्ता का महत्त्वपूर्ण सूत्र मानती है।

इस बात की कल्पना की जा सकती है कि शाश्वत ने अपने-आपको सचमुच शरीर में अभिव्यक्त करने या यूं कहें छिपाने का चुनाव किया हो। हो सकता है कि उन्होंने ऐसा व्यक्ति होने या प्रकट होने की इच्छा की हो जो जन्म से मृत्यु और मृत्यु से नवजीवन में स्थायी और पुनरावर्ती मानव और पशु-जीवन के चक्र में चलता रहे। एकमेव व्यष्टिभावापन्न सत्ता अपनी मौज के अनुसार या कर्म के परिणामों के किसी विधान के अनुसार संभूति के विभिन्न रूपों में तबतक गुजरती रहेगी जबतक बोध के द्वारा, एकत्व की ओर लौटने के द्वारा उस विशिष्ट व्यक्तिभाव में से एकमात्र और अभिन्न के अपने-आपको खींच लेने के द्वारा अंत न आ जाये। लेकिन ऐसे चक्र में कोई ऐसा मौलिक या अंतिम निर्धारक सत्य न होगा जो उसे कुछ महत्त्व दे सके। ऐसी कोई चीज न होगी जिसके लिये वह जरूरी हो। वह शुद्ध रूप से लीला होगी। लेकिन अगर एक बार यह स्वीकार कर लिया जाये कि आत्मा ने अपने-आपको निश्चेतना में अंतर्लीन कर लिया है और वह अपने-आपको व्यक्तिगत सत्ता में विकसनशील श्रेणियों द्वारा अभिव्यक्त कर रही है तो सारी प्रक्रिया सार्थक और सुसंगत हो उठती है और व्यक्ति का उत्तरोत्तर आरोहण इस वैश्व सार्थकता का प्रधान स्वर बन जाता है और शरीर में अंतरात्मा का पुनर्जन्म संभूति के सत्य का स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम तथा उसका अंतस्थ विधान बन जाता है। आध्यात्मिक विकास के क्रियान्वयन के लिये पुनर्जन्म एक अनिवार्य यंत्र है। यह भौतिक विश्व में ऐसी अभिव्यक्ति के लिये एकमात्र संभव प्रभावकारी परिस्थिति है, एकमात्र संभव गतिशील क्रिया-पद्धति है।

जड़-भौतिक में होनेवाले विकास के बारे में हमारी व्याख्या यह है कि विश्व एक परम सद्वस्तु की स्वयं अपना सृजन करनेवाली प्रक्रिया है जिसकी उपस्थिति आध्यात्म सत्ता को चीजों का पदार्थ बना देती है—सभी चीजें आध्यात्म सत्ता में शक्तियां और अभिव्यक्ति के साधन और रूप हैं। एक अनंत सत्, एक अनंत चेतना, एक अनंत इच्छा और शक्ति, सत्ता का अनंत आनंद ही विश्व की प्रतीतियों के पीछे गुप्त सद्वस्तु है। उसके दिव्य अतिमानस या विज्ञान ने वैश्व क्रम की

व्यवस्था की है लेकिन की है परोक्ष रूप से, तीन अवर और सीमित करनेवाले पदों के द्वारा जिनके बारे में हम यहां पर सचेतन हैं—मन, प्राण और जड़-तत्त्व। जड़ विश्व अभिव्यक्ति की नीचे की ओर डुबकी की सबसे निचली अवस्था है, इस त्रिक सद्वस्तु की अभिव्यक्त सत्ता का अपने बारे में एक प्रतीयमान निर्ज्ञात में अन्तर्वलयन है जिसे हम अब निश्चेतना कहते हैं, लेकिन शुरू से ही इस निर्ज्ञानता में से उस अभिव्यक्त सत्ता का फिर से प्राप्त आत्म-अभिज्ञता में विकास अनिवार्य था। वह अनिवार्य था क्योंकि जो कुछ अंतर्लीन है उसे विकसित होना ही चाहिये, क्योंकि वह वहां पर केवल एक सत्ता, अपने प्रतीयमान विपरीत के अंदर छिपी शक्ति के रूप में ही नहीं है—और ऐसी हर शक्ति को अपने अंतरतम स्वभाव के अनुसार अपने-आपको जानने, अपने-आपको चरितार्थ करने, अपने-आपको क्रीड़ा में मुक्त करने के लिये प्रेरित होना चाहिये—लेकिन यह उसकी वास्तविकता है जो उसे छिपाती है, यह वह आत्मा है जिसे निर्ज्ञान ने खो दिया है और इसलिये जिसे खोजना और फिर से पाना ही उसका समस्त गुप्त अर्थ, उसकी क्रिया का अविच्छिन्न प्रवाह होगा। सचेतन वैयक्तिक सत्ता के द्वारा ही यह पुनः-प्राप्ति संभव है। उसीके अंदर विकसनशील चेतना संगठित होती और अपनी सद्वस्तु की ओर जागने योग्य बनती है। व्यक्तिगत सत्ता का असीम महत्त्व, जो उसके सोपान पर चढ़ने के साथ-साथ बढ़ता जाता है, वह ऐसे विश्व का सबसे अधिक अनोखा और महत्त्वपूर्ण तथ्य है जिसका आरंभ चेतना और व्यक्तित्व के बिना एक अभेद्य निर्ज्ञान से हुआ। यह महत्त्व तभी उचित सिद्ध हो सकता है यदि व्यक्ति के रूप में आत्मा, वैश्व सत्ता या आत्मा से कम वास्तविक न हो और दोनों ही शाश्वत की शक्तियां हों। इसी भांति व्यक्ति की वृद्धि की और उसकी स्वयं अपनी खोज की आवश्यकता को वैश्व आत्मा और चेतना की और परम सद्वस्तु की खोज की शर्त के रूप में समझाया जा सकता है। अगर हम इस समाधान को स्वीकार कर लें तो स्थायी व्यक्ति की वास्तविकता पहला परिणाम बनती है और उस पहले निष्कर्ष से अन्य परिणाम आता है कि किसी प्रकार का पुनर्जन्म एक संभव यंत्र न रहकर, जिसे चाहे माना जाये या न माना जाये, एक आवश्यकता बन जाता है, हमारे जीवन की मूल प्रकृति का अनिवार्य परिणाम बन जाता है।

क्योंकि तब किसी ऐसे भ्रामक या अस्थायी व्यक्ति को मान लेना काफी नहीं रहता जिसे हर रूप में चेतना की लीला ने रचा हो, तब वैयक्तिकता के बारे में यह कल्पना नहीं की जा सकती कि वह शरीर के आकार में चेतना की लीला की संगिनी है, जो आकार के बाद बनी भी रह सकती है और नहीं भी, जो आत्मा के मिथ्या सातत्य को एक रूप से दूसरे रूपतक, एक जीवन से दूसरे जीवनतक जारी रख सकती है और नहीं भी रख सकती, लेकिन निश्चय ही उसे ऐसा करने की जरूरत नहीं है। ऐसा लगता है कि हम इस जगत् में पहले यही देखते हैं कि बिना

किसी सातत्य के एक व्यक्ति का स्थान दूसरा व्यक्ति लेता है, रूप विलीन हो जाता है, मिथ्या या भंगुर व्यक्तित्व उसके साथ विलीन हो जाता है जब कि वैश्व ऊर्जा या कोई वैश्व सत्ता ही सदा के लिये बनी रहती है। हो सकता है कि वैश्व अभिव्यक्ति का यही संपूर्ण तत्त्व हो। लेकिन अगर व्यक्ति स्थायी वास्तविकता है, शाश्वत का एक शाश्वत भाग या शाश्वत शक्ति है, अगर उसकी चेतना का विकास ही वह साधन है जिसके द्वारा वस्तुओं के अंदर आत्मा अपनी सत्ता को प्रकट करती है तो विश्व अपने-आपको शाश्वत बहु के साथ, सच्चिदानंद की सत्ता में शाश्वत "एक" की लीला की अनुकूलित अभिव्यक्ति के रूप में प्रकट करता है। तब हमारे व्यक्तित्व के सभी परिवर्तनों के पीछे सुरक्षित, अपने परिवर्तनों की धारा को धारण किये हुए एक सच्चा व्यक्ति, एक वास्तविक आध्यात्मिक व्यक्ति, एक सच्चा पुरुष होना चाहिये। विश्वत्व में प्रसारित "एक" हर सत्ता में उपस्थित है और अपने-आपको अपने इस व्यक्तित्व में प्रतिष्ठित करता है। व्यक्ति के अंदर वह अपनी पूर्ण सत्ता को समस्त विश्वत्व के साथ एकत्व द्वारा प्रकट करता है। साथ ही वह व्यक्ति में अपनी परात्परता को उस शाश्वत के रूप में प्रकट करता है जिसके अंदर समस्त वैश्व एकत्व आधारित है। आत्माभिव्यक्ति की यह त्रयी, बहुविध एकात्म की अपूर्व लीला, माया का यह जादू, या अनंत की सत्ता के सचेतन सत्य का यह परिवर्तनशील चमत्कार, वह ज्योतिर्मय अंतःप्रकाश है जो धीमे विकास द्वारा आदिम निश्चेतना में से प्रकट होता है।

अगर अपने-आपको पाने की जरूरत न होती बल्कि केवल सच्चिदानंद की सत्ता की इस लीला का शाश्वत भोग होता—और ऐसा शाश्वत भोग चिन्मय अस्तित्व की कुछ चरम अवस्थाओं का स्वभाव होता है—तो विकास और पुनर्जन्म की क्रिया जरूरी न होती। लेकिन इस एकत्व का पृथक्कारी मन के अंदर अंतर्लयन हो गया है। आत्म-विस्मृति में एक ऐसी डुबकी लगी है जिसके कारण पूर्ण एकत्व का सदा उपस्थित भाव खो गया है और पृथक्कारी भेद की लीला—जो केवल आभासी है, क्योंकि भेद में वास्तविक एकत्व पीछे की ओर पूरा-का-पूरा बना रहता है—एक प्रधान वास्तविकता के रूप में सामने आती है। भेद की इस लीला ने अपने विभाजन का चरम बोध, विभाजक मन के शरीर के रूप में अवक्षिप्त होने से पाया है जिसमें वह अपने बारे में एक पृथक् अहं के रूप में सचेतन होता है। आभासी निर्ज्ञान में सच्चिदानंद के सक्रिय आत्म-सचेतन अंतर्लयन द्वारा जड़-भौतिक के पृथक्कारी रूपों के जगत् में विभाजन की इस लीला के लिये घन और ठोस नींव डाली गयी है। निर्ज्ञान के अंदर यह नींव ही विभाजन को सुरक्षित बनाती है क्योंकि वह अनिवार्य रूप से ऐक्य की चेतना की ओर लौटने का विरोध करती है। यद्यपि यह प्रभावकारी रूप से बाधक है फिर भी यह आभासी और समाप्य है क्योंकि उसके अंदर, उसके ऊपर, उसे आश्रय देती हुई एक सर्व-

सचेतन आत्मा है और यह पता चलता है कि प्रतीयमान निर्ज्ञान केवल रूपायनकारी और सृजनात्मक जड़ प्रक्रिया की निमग्नता में अगाध डुबकी द्वारा आत्म-विस्मृति में समाधिस्थ चेतना का एक केन्द्रीकरण, उसकी ऐकान्तिक क्रिया ही है। इस तरह से रचे गये आभासी विश्व में पृथक्कारी रूप उसकी समस्त जीवन-क्रिया का आधार और प्रारंभ-बिंदु बन जाता है, अतः व्यष्टिगत पुरुष को एकमेव के साथ अपने वैश्व संबंध चरितार्थ करने के लिये इस भौतिक जगत् में अपने-आपको रूप पर आधारित करना, एक शरीर धारण करना होता है, भौतिक-जगत् में प्राण, मन और आत्मा के विकास के लिये उसे शरीर को अपना आधार और अपनी नींव और अपना आरंभ-बिंदु बनाना चाहिये। इस शरीर-ग्रहण को हम जन्म कहते हैं और यहां पर उसीके अंदर आत्मा का विकास और व्यक्ति और वैश्व तथा अन्य व्यक्तियों के बीच संबंधों का खेल हो सकता है। बस इसीमें हमारी सचेतन सत्ता के क्रमिक संवर्धन द्वारा भगवान् के साथ और भगवान्‌में जो कुछ है उसके साथ ऐक्य के परम पुनर्लाभ की ओर विकास हो सकता है। हम भौतिक-जगत् में जिसे जीवन कहते हैं उसका सारा योगफल है अंतरात्मा की प्रगति और वह शरीर में जन्म से शुरू होती है, वही उसका अवलम्ब, उसकी क्रिया की स्थिति और उसकी विकसनशील स्थायित्व की स्थिति है।

तो जन्म पुरुष की भौतिक स्तर पर अभिव्यक्ति की एक आवश्यकता है। परंतु उसका जन्म, चाहे वह मानव जन्म हो या कोई और, इस जगत्-व्यवस्था में कोई अकेला संयोग या अंतरात्मा का भौतिक में अचानक सैर-सपाटा नहीं हो सकता जिसकी तैयारी करनेवाला कोई अतीत या परिपूर्ति करनेवाला भविष्य न हो। प्रतिविकास और विकास के जगत् में, केवल भौतिक रूप के ही नहीं, बल्कि प्राण और मन से आत्मा की ओर जानेवाली सचेतन सत्ता के जगत् में, मानव शरीर में इस प्रकार एकाकी जीवन-धारण व्यष्टिगत अंतरात्मा के अस्तित्व का नियम नहीं हो सकता। यह बिलकुल निरर्थक और परिणामहीन व्यवस्था या एक सनक होगी जिसके लिये यहां वस्तुओं के स्वभाव और पद्धति में कोई जगह नहीं है। यह एक विपरीत उग्रता होगी जो आध्यात्म पुरुष की आत्माभिव्यक्ति की लय को भंग कर देगी। इस तरह की व्यष्टिगत आत्म-जीवन के नियम की विकसनशील आध्यात्मिक प्रगति में घुस-पैठ उसे कारण बिना कार्य और कार्य बिना कारण बना देगी। वह एक खंडित वर्तमान होगा जिसका न भूत है न भविष्य। व्यक्ति के जीवन में भी सार्थकता की वही लय होनी चाहिये, प्रगति का वही नियम होना चाहिये जो वैश्व जीवन में है। उस लय में इसका स्थान भटकते हुए उद्देश्यहीन हस्तक्षेप का नहीं हो सकता, उसे वैश्व प्रयोजन का एक स्थायी माध्यम होना चाहिये। हम इस प्रकार की व्यवस्था में एकाकी आविर्भाव को, मानव शरीर में अंतरात्मा के एकमात्र जन्म को, जो उसके लिये इस तरह का पहला और अंतिम अनुभव होगा, यह कह कर नहीं

समझा सकते कि अन्य लोकों में उसका एक पूर्व अस्तित्व था और अनुभव के अन्यान्य क्षेत्रों में एक और भविष्य उसके सामने है। क्योंकि यहां धरती पर जीवन, भौतिक-विश्व में जीवन, एक लोक से दूसरे लोकतक अंतरात्मा के भटकने के लिये कोई आकस्मिक अड्डा नहीं है और न हो सकता है। यह एक महान् और धीमा विकास है, और जैसा कि हम अब जानते हैं, उसे अपने विकास के लिये काल के अनगिनत अंतरालों की जरूरत है। स्वयं मानव-जीवन एक क्रमिक सोपान में एक अवस्था है जिसके द्वारा विश्व में गुप्त आध्यात्म पुरुष धीरे-धीरे अपने प्रयोजन को विकसित करता और अंततः शरीर में बढ़ती हुई और ऊपर चढ़ती हुई व्यष्टिगत आत्म-चेतना द्वारा उसे कार्यान्वित करता है। यह आरोहण केवल ऊपर चढ़ती हुई व्यवस्था में पुनर्जन्म के द्वारा ही हो सकता है। केवल एक बार इसमें आ जाना और कहीं अन्यत्र, किसी और रेखा में प्रगति करना, यह इस विकसनशील जीवन-पद्धति में ठीक नहीं बैठता।

मानव अंतरात्मा, मानव व्यक्ति कोई मुक्त रूप से भटकनेवाला, मनमौजी या लापरवाही के साथ अपनी स्वच्छन्द पसंद के अनुसार एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में भटकनेवाला नहीं है या अपनी उन्मुक्त और सहज रूप से बदलनेवाली क्रिया या क्रिया का परिणाम नहीं है। यह शुद्ध आध्यात्मिक मुक्ति के बारे में एक प्रदीप्त विचार है जिसका सत्य परलोकों में या अंतिम मुक्ति में हो सकता है लेकिन शुरू में यह पार्थिव जीवन या भौतिक-विश्व के जीवन का सत्य नहीं है। इस जगत् में मानव जन्म अपने आध्यात्मिक पक्ष में दो तत्त्वों का मिश्रण है; आध्यात्मिक-पुरुष और व्यक्तित्व की अंतरात्मा। पहला मनुष्य की शाश्वत सत्ता है और दूसरा उसकी वैश्व और परिवर्तनशील सत्ता। आध्यात्मिक, निर्वैयक्तिक पुरुष की हैसियत से वह अपनी प्रकृति और अपनी सत्ता में सच्चिदानंद की स्वतंत्रता के साथ एक है जिसने यहां पर आत्मिक अनुभूति के किसी चक्कर के लिये निर्ज्ञान में अंतर्लीन होना स्वीकार किया या चाहा, यह अनुभव इसके बिना असंभव होता। वह गुप्त रूप से उसके विकास की अध्यक्षता कर रहा है। व्यक्तित्व की अंतरात्मा की हैसियत से वह स्वयं प्रकृति के रूपों में आत्मानुभूति के लम्बे विकास का एक भाग है। स्वयं उसके विकास को वैश्व विकास के नियमों और उसकी रेखाओं का अनुसरण करना पड़ता है। आध्यात्म पुरुष के रूप में वह परात्पर के साथ एक है जो विश्वगत और विश्वव्याप्त है। अंतरात्मा के रूप में वह युगपत् रूप में जगत् के अंदर अपने-आप अभिव्यक्त सच्चिदानंद के विश्वत्व के साथ एक और उसका अंग है। उसकी अपनी अभिव्यक्ति को वैश्व अभिव्यक्ति की भूमिकाओं में से गुजरना होगा, उसके आंतरात्मिक अनुभवों को विश्व में ब्रह्म-चक्र के चक्करों का अनुसरण करना होगा।

भौतिक विश्व के निर्ज्ञान में वस्तुओं में अंतस्थ वैश्व आध्यात्म पुरुष अपने प्रकृति-पुरुष को भौतिक रूपों के जड़, प्राण, मन और आत्मा के क्रमिक सोपान में

विकसित करता है। पहले वह जड़ रूपों में गुप्त अंतरात्मा के रूप में प्रकट होता है जो ऊपरी सतह पर पूरी तरह निर्ज्ञानि के अधीन रहती है। वह एक अंतरात्मा के रूप में विकसित होता है जो है तो गुप्त पर ऐसे प्राणिक रूपों में प्रकट होने की तैयारी में है जो निर्ज्ञानि और चेतना के आंशिक प्रकाश के बीच—जो हमारा अज्ञान है—की सीमा पर खड़े होते हैं। वह और आगे विकसित होता है, पाशविक मन में प्रारंभिक रूप से सचेतन अंतरात्मा के रूप में और अंत में मनुष्य के अधिक बाह्य रूप से सचेतन लेकिन, अभीतक पूर्णतया सचेतन आत्मा के रूप में नहीं। चेतना हमारी सत्ता के गुह्य भागों में सब जगह बनी रहती है, विकास होता है अभिव्यक्त होनेवाली प्रकृति में। इस विकसनशील प्रगति का एक वैश्व पक्ष होता है और एक व्यष्टिगत पक्ष। वैश्व अपनी सत्ता की श्रेणियों को और अपने विश्वत्व की व्यवस्थित परिवर्तनशीलता को अपनी सत्ता के विकसित रूपों के क्रम में विकसित करता है। व्यष्टिगत अंतरात्मा इस वैश्व-क्रम की रेखा का अनुसरण करती है और आध्यात्म-पुरुष के विश्वत्व में जो कुछ तैयार हो गया है उसे अभिव्यक्त करती है। वैश्व-मानव या मानव-जाति में वैश्व-पुरुष मानव-जाति के अंदर उस शक्ति को विकसित कर रहा है जो मानव-जाति में नीचे से बढ़ती आयी है और अतिमानस और आध्यात्म-पुरुषतक चढ़ती जायेगी, और मनुष्य के अंदर वह परम देव बन जायेगी जो अपनी सच्ची और समग्र आत्मा और अपनी प्रकृति की दिव्य सार्विकता के बारे में अभिज्ञ है। व्यष्टि ने विकास की इस रेखा का अनुसरण किया होगा, मानव विकासतक आने से पहले उसने अंतरात्मा के अनुभव का जीवन के निचले रूपों में अधिष्ठातृत्व किया होगा। जिस भांति एकमेव अपने विश्वत्व में वनस्पति और पशु के निचले रूप धारण करने में समर्थ था, उसी तरह व्यष्टि, जो अब मानव है, अपनी सत्ता की पूर्व-स्थितियों में उन्हें धारण करने में समर्थ रहा होगा। अब वह मानव-अंतरात्मा प्रतीत होता है, आध्यात्म-पुरुष ने मानवता के भीतरी और बाहरी रूप को धारण करना स्वीकार कर लिया है लेकिन जैसे वह अपने पहले के धारण किये हुए वनस्पति या पशु-रूपों से सीमित न था उसी तरह वह इससे सीमित नहीं है। वह इससे प्रकृति के एक उच्चतर सोपान में, एक महत्तर आत्माभिव्यक्ति में जा सकता है।

इसके विपरीत मानना तो यह मान लेना होगा कि जो आत्मा अब मानव अंतरात्मा के अनुभव का अधिष्ठातृत्व करती है वह मूल रूप से मानव मानसिकता और मानव शरीर से बनी और उसीके कारण अस्तित्व रखती है और उससे अलग होकर नहीं रह सकती। वह कभी उसके ऊपर या उसके नीचे नहीं जा सकती। वस्तुतः तब यह मानना ज्यादा युक्तिसंगत होगा कि वह अमर नहीं है बल्कि मानव मन और शरीर के विकासक्रम में प्रकट होने से अस्तित्व में आयी है और उनके लुप्त होने से लुप्त हो जायेगी। लेकिन शरीर और मन आत्मा के स्रष्टा नहीं हैं,

आत्मा मन और शरीर का सृजन करती है, वह अपनी सत्ता में से इन तत्त्वों को विकसित करती है, वह इनमें से सत्ता में विकसित नहीं होती, वह उनके तत्त्वों का मिश्रण या उनके मिलन का परिणाम नहीं है। अगर ऐसा लगता है कि वह मन और शरीर में से विकसित होती है तो इसका कारण यह है कि वह अपने-आपको धीरे-धीरे उनमें प्रकट करती है, इसलिये नहीं कि वह उनके द्वारा रची गयी है या वह उनके सहारे जीती है। वह जैसे-जैसे अभिव्यक्त होती है, वे उसकी सत्ता की अधीनस्थ स्थितियों के रूप में प्रकट होते हैं और अंत में उन्हें उनकी वर्तमान अपूर्णता में से निकाल कर आत्मा के दृश्य रूपों और यंत्रों के रूप में रूपांतरित करना है। आत्मा के बारे में हमारी धारणा यह है कि वह नाम-रूप से नहीं बनी है बल्कि वह अपनी आत्म-सत्ता की विभिन्न अभिव्यक्तियों के अनुरूप नानाविध शारीरिक और मानसिक रूप धारण करती है। वह यहां क्रमिक विकास द्वारा ऐसा करती है। वह क्रमिक रूपों और चेतना के क्रमिक स्तरों को विकसित करती है, क्योंकि वह इसके लिये बाधित नहीं है कि हमेशा एक ही रूप धारण करे, कोई दूसरा नहीं या एक ही प्रकार की मानसिकता रखे जो उसकी एकमात्र संभव, आत्मनिष्ठ अभिव्यक्ति हो। अंतरात्मा मानसिक मानव जाति के सूत्र से बंधी हुई नहीं है। न तो वह उसके साथ शुरू हुई थी न उसके साथ समाप्त होगी। उसका एक पूर्व-मानव अतीत था, उसका एक अतिमानव भविष्य है।

हम प्रकृति और मानव प्रकृति का जो कुछ देखते हैं वह व्यष्टिगत अंतरात्मा में एक रूप से दूसरे रूप में तबतक जन्म लेने के संबंध में इस दृष्टि को उचित ठहराता है जबतक कि वह अभिव्यक्त चेतना के मानव स्तरतक न पहुंच जाये, जो अबतक उच्चतर स्तरोंतक उठने के लिये उसका यंत्र है। हम देखते हैं कि प्रकृति एक अवस्था से दूसरी अवस्थातक विकसित होती है और प्रत्येक अवस्था में अपने अतीत को लेकर उसे अपने नये विकास के द्रव्य में रूपांतरित कर देती है। हम देखते हैं कि मानव-प्रकृति की बनावट भी ऐसी ही है। पृथ्वी का समस्त अतीत उसके अंदर है, उसमें जड़ का एक तत्त्व है जिसे प्राण ने अपना लिया है, प्राण का एक तत्त्व है जिसे मन ने अपना लिया है, मन का एक तत्त्व है जिसे आत्मा ले रही है। मानव जाति में पशु अभीतक उपस्थित है। मानव सत्ता की प्रकृति पहले से ही एक जड़ और प्राणिक अवस्था को मान लेती है जिसने उसके मन में उभरने को संभव बनाया, एक पाशविक अतीत को मान लेती है जिसने उसकी जटिल मानवता के प्रथम तत्त्व को गढ़ा है और हम यह न कहें कि यह इसलिये है कि जड़-प्रकृति ने विकास द्वारा उसके प्राण और शरीर को तथा उसके पशु-मन को विकसित किया और उसके बाद इस तरह रची हुई देह में एक अंतरात्मा का अवतरण हुआ। इस विचार के पीछे एक सत्य है लेकिन वह सत्य नहीं जिसकी ओर यह सूत्र इंगित करता है क्योंकि यह अंतरात्मा और शरीर के बीच, अंतरात्मा और प्राण के बीच,

अंतरात्मा और मन के बीच एक खाई मान लेता है जब कि उसका अस्तित्व नहीं है। अंतरात्मा के बिना कोई शरीर नहीं है, ऐसा कोई शरीर नहीं है जो अपने-आप अंतरात्मा का रूप न हो। जड़ अपने-आपमें आत्मा का द्रव्य और शक्ति है और अगर वह कुछ और होता तो उसका अस्तित्व ही न होता, क्योंकि ऐसी किसी चीज का अस्तित्व नहीं हो सकता जो ब्रह्म का उपादान या शक्ति नहीं है; अगर जड़-पदार्थ ऐसा है तब प्राण और मन को और भी ज्यादा स्पष्ट और निश्चित रूप में ऐसा ही होना चाहिये और आध्यात्म पुरुष की उपस्थिति से आत्म-युक्त होना चाहिये। अगर जड़ और प्राण पहले ही आत्मयुक्त न हुए होते तो मनुष्य प्रकट ही न होता या एक हस्तक्षेप अथवा संयोग के रूप में होता, क्रमविकास के एक भाग के रूप में नहीं।

तब हम आवश्यक रूप से इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मानव जन्म एक ऐसी भूमिका है जहां अंतरात्मा को पुनर्जन्मों के एक लंबे क्रम में पहुंचना चाहिये, कि वह अपनी पहले की तैयारी की भूमिकाओं में उत्तरोत्तर, पृथ्वी पर प्राण के निम्नतर रूपों को पा चुकी है; प्राण ने भौतिक तत्त्व, शरीर के आधार पर भौतिक विश्व की जो शृंखला गूंथी है वह उस पूरी शृंखला में से गुजर चुकी है। तब अगला प्रश्न उठता है कि क्या एक बार मानवता पा लेने के बाद भी पुनर्जन्मों का यह अनुक्रम जारी रहता है? अगर ऐसा है तो कैसे, किस क्रम में या किन विकल्पों के साथ? और पहले हमें यह पूछना होगा कि क्या एक बार मानव जन्म पाकर भी अंतरात्मा पशु-जन्म और शरीर की ओर वापिस जा सकती है? यह इस तरह पीछे हटना है जिसे पुनर्जन्म के पुराने लोकप्रिय सिद्धांतों ने सामान्य गति माना है। यह असंभव मालूम होता है कि वह पूरी तरह वापिस जाये क्योंकि पशु जीवन से मानव जीवन में आने का अर्थ है चेतना का एक निर्णायक परिवर्तन, ठीक वैसा ही निर्णायक जैसे वनस्पति की प्राणिक चेतना का पशु की मानसिक चेतना में परिवर्तन। यह निश्चय ही असंभव है कि प्रकृति द्वारा किये गये ऐसे निर्णायक परिवर्तन को अंतरात्मा पलट दे और उसके अंदर स्थित आध्यात्म पुरुष का निर्णय मानों शून्य बन जाये। यह केवल ऐसी मानव अंतरात्माओं में ही संभव हो सकता है, अगर यह मान लें कि उनका अस्तित्व है, जिनमें निर्णायक परिवर्तन नहीं हुआ है, ऐसी अंतरात्माओं में जो इतनी दूरतक विकसित हो चुकी हैं कि मानव शरीर को बना सकें, धारण कर सकें या उसपर कब्जा कर सकें लेकिन इतनी विकसित नहीं हुई हैं कि अपनी प्राप्ति को सुरक्षित रख सकें, जो कुछ उन्होंने पाया है उसमें सुरक्षित रह सकें और चेतना के मानव प्रारूप के प्रति निष्ठावान् रह सकें। या अधिक-से-अधिक यह हो सकता है कि कुछ पाशविक प्रवृत्तियां इतनी अधिक उग्र हों कि वे अपनी जाति से एकदम पृथक् संतुष्टि की मांग करें, एक प्रकार का आंशिक पुनर्जन्म, मानव आत्मा द्वारा एक ढीले रूप में पाशविक रूप का ग्रहण जो जल्दी

ही अपनी सामान्य प्रगति में लौट जाये। प्रकृति की गति हमारे लिये हमेशा इतने पर्याप्त रूप में जटिल होती है कि हम सिद्धांत की हठधर्मी द्वारा इस संभावना से इंकार नहीं कर सकते और अगर यह तथ्य हो तो उस अतिरंजित लोक-विश्वास के पीछे यह किंचित् सत्य हो सकता है जो लोक-विश्वास यह मानता है कि जो अंतरात्मा एक बार मानव-शरीर में निवास कर चुकी है उसके लिये पशु-योनि में जन्म लेना उतना ही सामान्य और संभव होगा जितना मानव पुनर्जन्म। लेकिन जो अंतरात्मा एक बार मनुष्य बनने में समर्थ हो चुकी है उसके लिये चाहे पशु-योनि में वापिस जाना संभव हो या न हो, सामान्य नियम तो नये मानव रूपों में पुनरावर्तन ही होगा।

लेकिन मानव जन्मों का अनुक्रम क्यों? एक ही क्यों नहीं? उसी कारण से जिसने मानव जन्म को पिछले अनुक्रम का, पिछले ऊर्ध्वमुख सोपान का चरम उत्कर्ष-बिंदु बना दिया है—आध्यात्मिक विकास की आवश्यकता के कारण ही ऐसा होना चाहिये। क्योंकि अंतरात्मा ने केवल मानवतातक विकसित होकर ही, उसे जो कुछ करना था उसकी इतिश्री नहीं कर ली, अभी उसे उस मानवता को उसकी उच्चतर संभावनाओं में विकसित करना है। यह तो स्पष्ट ही है कि जो अंतरात्मा किसी कैरिबी (एक नरभक्षी जंगली जाति) या अशिक्षित आदिम मानव में या पैरिस के गुंडे या अमरीका के डाकू में बसी है उसने मानव जन्म की आवश्यकता को निःशेष नहीं कर लिया है, उसने अपनी सभी संभावनाएं विकसित नहीं की हैं, न ही मानवता का पूरा अर्थ ही सिद्ध किया है, वैश्व मानव में सच्चिदानंद का पूरा भाव कार्यान्वित नहीं किया है और न ही गतिशील उत्पादन और प्राणिक भोग में व्यस्त प्राणिक-यूरोपीयन या घरेलू और आर्थिक जीवन के अज्ञानमय चक्कर में फंसे एशियाई किसान में बसी अंतरात्मा ने ही यह प्राप्ति कर ली है। हमें उचित रूप से यह शंका भी हो सकती है कि क्या अफलातून (प्लेटो) या शंकराचार्य भी मनुष्य के अंदर आत्मा के मुकुट के चिह्न और इस कारण उसके प्रस्फुटन के अंत हैं? हम यह मानने के लिये प्रवृत्त हो सकते हैं कि ये लोग सीमा हो सकते हैं क्योंकि ये और इन जैसे लोग हमें वे उच्चतम बिंदु मालूम होते हैं जहांतक मनुष्य का मन और उसकी अंतरात्मा पहुंच सकें लेकिन यह हमारी वर्तमान संभावना का भ्रम हो सकता है। हो सकता है कि इससे भी ऊंची या कम-से-कम इससे भी विशाल संभावना हो जिसे भगवान् अब भी मनुष्य के अंदर चरितार्थ करना चाहते हों और अगर ऐसा है तो वहांतक पहुंचने और द्वार खोलने के लिये इन उच्चतम अंतरात्माओं द्वारा बनायी गयी सीढ़ियों की जरूरत थी। बहरहाल, व्यक्ति के लिये मानव-जन्म की पुनरावृत्ति पर इति लिखने से पहले कम-से-कम इस वर्तमान उच्चतम बिंदुतक तो पहुंचना ही होगा। मनुष्य अपने अज्ञान और तुच्छ जीवन से, जो वह अपने मन और शरीर में है, उस ज्ञान और विशाल दिव्य जीवन की ओर बढ़ने के लिये अभिप्रेत है जिसे वह आध्यात्म सत्ता के प्रस्फुटन द्वारा पा सकता

है। इससे पहले कि वह निश्चित रूप से और हमेशा के लिये कहीं अन्यत्र चला जाये, कम-से-कम उसके अंदर आध्यात्म पुरुष को खिलना होगा, उसे अपनी वास्तविक आत्मा का ज्ञान और आध्यात्मिक जीवन-यापन तो प्राप्त करना ही होगा। इस प्रारंभिक उत्कर्ष के आगे मानव-जीवन में आध्यात्म सत्ता का विशालतर पुष्पण भी हो सकता है जिसके हमें अभीतक पहले संकेत ही मिले हैं। मनुष्य की अपूर्णता प्रकृति का अंतिम शब्द नहीं है लेकिन उसकी पूर्णता भी आध्यात्म पुरुष का अंतिम शिखर नहीं है।

यह संभावना निश्चिति बन जाती है यदि बुद्धि, जो मनुष्य द्वारा विकसित मन का वर्तमान प्रमुख तत्त्व है, उच्चतम तत्त्व न हो। यदि स्वयं मन के अंदर ऐसी अन्य शक्तियां हैं जो मानव व्यष्टि के उच्चतम प्रारूपों को भी अपूर्ण रूप से प्राप्त हैं तो विकास की रेखा को लंबा करना और परिणाम-स्वरूप उन्हें देह प्रदान करने के लिये पुनर्जन्म की चढ़ती हुई रेखा का होना अनिवार्य है। अगर अतिमानस भी चेतना की शक्ति है जो यहां विकास में छिपी हुई है तो पुनर्जन्म की रेखा वहां भी नहीं रुक सकती, वह अपने आरोहण में तबतक नहीं रुक सकती जबतक मन का स्थान अतिमानसिक प्रकृति न ले ले और एक शरीरधारी अतिमानसिक व्यक्ति पार्थिव जीवन का नेता न बन जाये।

तो पुनर्जन्म पर विश्वास करने के लिये यही तर्कसंगत और दार्शनिक आधार है। अगर पार्थिव प्रकृति में कोई विकसनशील तत्त्व है और साथ ही विकसनशील प्रकृति में जन्मी व्यष्टिगत अंतरात्मा की वास्तविकता है तो यह अनिवार्य तर्कसंगत निष्कर्ष है। अगर कोई अंतरात्मा नहीं तो एक यांत्रिक विकास हो सकता है जिसमें अनिवार्यता या सार्थकता न हो और जन्म इस अनोखी परंतु अर्थहीन मशीन का अंग-मात्र हो। अगर व्यक्ति केवल एक अस्थायी रूपायन है जिसका अथ और इति शरीर के साथ ही है तो विकास सर्व-आत्मा या वैश्व सत्ता का एक खेल हो सकता है जो इस संभवन में उच्च से उच्चतर जाति की ओर अपनी अधिकाधिक संभावना की प्रगति के द्वारा चढ़ता जाता है या अपने उच्चतम सचेतन तत्त्व की ओर जाता है; पुनर्जन्म का अस्तित्व ही नहीं रहता और उस विकास के यंत्र-विन्यास के लिये उसकी जरूरत नहीं रहती। या अगर वह सर्व-सत् अपने-आपको एक स्थायी किंतु मायामय व्यक्तित्व में प्रकट करता है तो पुनर्जन्म एक संभावना या मायिक तथ्य बन जाता है लेकिन उसकी कोई विकसनशील आवश्यकता नहीं रहती और न ही आध्यात्मिक आवश्यकता होती है। वह उस माया को पुष्ट करने और उसे उसकी अंतिम काल-सीमातक बढ़ाने के लिये एक साधनमात्र होता है। अगर कोई व्यष्टिगत अंतरात्मा या पुरुष है जो शरीर पर निर्भर नहीं है, जो शरीर में निवास करता और अपने प्रयोजन के लिये उसका उपयोग करता है तो पुनर्जन्म की संभावना शुरू होती है, लेकिन अगर प्रकृति में अंतरात्मा का विकास नहीं है तो वह

आवश्यक नहीं है। व्यष्टिगत शरीर में व्यष्टिगत अंतरात्मा की उपस्थिति एक क्षणिक व्यापार, एक एकाकी अनुभूति हो सकता है जिसका न भूत है न भविष्य, उसके भूत-भविष्य कहीं और हो सकते हैं। लेकिन अगर इस विकसनशील शरीर और उस शरीर में निवास करनेवाली अंतरात्मा में वास्तविक और सचेतन व्यष्टि है, चेतना का विकास है तो यह स्पष्ट है कि प्रकृति में उस अंतरात्मा की उत्तरोत्तर प्रगतिशील अनुभूति ही चेतना के इस विकास का रूप लेती है। यदि ऐसा हो तो पुनर्जन्म स्वतः-सिद्ध रूप में उस विकास का आवश्यक अंग, उसका एकमात्र संभव यंत्र है। यह इतना ही जरूरी है जितना कि स्वयं जन्म क्योंकि उसके बिना जन्म परिणामहीन प्राथमिक चरण होगा या एक ऐसी यात्रा का आरंभ-बिंदु होगा जिसमें अगले चरण नहीं हैं, कोई प्राप्ति-स्थान नहीं है। पुनर्जन्म ही शरीर में एक अपूर्ण सत्ता के जन्म को पूर्णता का वचन और आध्यात्मिक सार्थकता देता है।

अध्याय २१

लोकों का क्रम

सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा।
गुहाशया निहिताः सप्त सप्त॥

ये लोक सात हैं जिनमें निगूढ़ हृदय-रूपी निवास-स्थान में प्रच्छन्न प्राण-शक्तियां विचरण करती हैं—सात गुणा सात।

मुण्डकोपनिषद् २.१.८

पञ्च जना मम होत्रं जुषन्तां गोजाता उत ये यज्ञियासः।
पृथिवी नः पार्थिवात्पात्वंहसोऽन्तरिक्षं दिव्यात् पात्वस्मान्॥
तन्तुं तन्वत् रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्।
अनुल्बणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्॥
सतो नूनं कवयः सं शिशीत वाशीभिर्याभिरमृताय तक्षथ।
विद्वांसः पदा गुह्यानि कर्तन येन देवासो अमृतत्वमानशुः।

पञ्चविध जन्मवाले (पञ्चजनाः) जो ज्योति से उत्पन्न और पूजनीय हैं, मेरी आहुति स्वीकार करें; पृथ्वी पार्थिव अशुभ से हमारी रक्षा करे और अंतरिक्ष दैवी विपदाओं से हमारी रक्षा करे। अंतरिक्ष में तने हुए चमकते तंतु का अनुसरण करो, धी के द्वारा रचे गये ज्योतिर्मय मार्गों की रक्षा करो, एक अक्षत कर्म को बुनो, मानव सत्ता बनो, दिव्य जाति का सृजन करो . . .। तुम सत्य के द्रष्टा हो, उन चमकते भालों को तेज करो जिनसे तुम उसकी ओर का रास्ता काटते हो जो अमर है। गुह्य लोकों के ज्ञाता, उनका निर्माण करो, उन सीढ़ियों का निर्माण करो जिनके द्वारा देवों ने अमृतत्व पाया था।

ऋग्वेद १०.५३.५, ६, १०

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत्॥

यही वह शाश्वत अश्वत्थ है जिसकी जड़ें ऊपर की ओर और शाखाएं नीचे की ओर हैं। यही ब्रह्म है, यही अमृत है। इसीमें सब लोक निवास करते हैं और कोई भी इसके परे नहीं जाता। "यह" और "वह" एक हैं।

कठोपनिषद् २.३.१.

अगर जड़ जगत् में चेतना के आध्यात्मिक विकास को और व्यक्ति के पार्थिव शरीर में सतत या बारंबार जन्म को स्वीकार कर लिया जाये तो अगला प्रश्न यह उठता है कि क्या यह विकसनशील गति कोई पृथक् और अपने-आपमें संपूर्ण वस्तु है या बृहत्तर वैश्व समग्रता का अंग है जिसका जड़-जगत् केवल एक प्रदेश मात्र है। इस प्रश्न का उत्तर अंतर्लयन के उन सोपानों में पहले से ही निहित है जो विकास से पहले आते और उसे संभव बनाते हैं; क्योंकि अगर उनका पहले होना एक तथ्य है तो ऐसे जगत् या कम-से-कम उच्चतर सत्ता के ऐसे स्तर होने चाहियें और उनका उस विकास के साथ कोई संबंध होना चाहिये जिसे उनके अस्तित्व ने संभव बनाया है। हो सकता है कि वे हमारे लिये जो करते हैं वह बस इतना ही हो कि वे अपनी प्रभावकारी उपस्थिति या धरती-चेतना पर दबाव द्वारा प्राण, मन और आत्मा के अंतर्लीन तत्त्वों को मुक्त करते हों, उन्हें अभिव्यक्त होने और जड़ प्रकृति पर अपना शासन स्थापित करने में समर्थ बनाते हों। लेकिन यह अत्यधिक मात्रा में असंभाव्य होगा कि संपर्क और हस्तक्षेप यहींपर बंद हो जायें; संभावना इस बात की है कि जड़-भौतिक जीवन तथा सत्ता के अन्य लोकों के जीवन में अविच्छेद्य, भले ही अवगुंठित क्यों न हो, आदान-प्रदान चलता रहता हो। अब यह जरूरी है कि इस समस्या को ज्यादा नजदीक से देखा जाये, उसे स्वयं उसके अपने रूप में देखा जाये और इस संबंध और पारस्परिक संपर्क के स्वभाव और सीमाओं को उस हदतक निर्धारित किया जाये जिस हदतक वह जड़-प्रकृति में विकासवाद और पुनर्जन्म के सिद्धांत को प्रभावित करता है।

अज्ञान में अंतरात्मा के अवरोहण को अतिचेतन आध्यात्मिक सद्वस्तु में से शुद्ध आध्यात्मिक सत्ता का आद्या निश्चेतना में और उसके अनुवर्ती भौतिक प्रकृति के विकसनशील आभासी जीवन में आकस्मिक पतन या अव्यवहित स्खलन माना जा सकता है। अगर ऐसा होता तो ऊपर निरपेक्ष होता और नीचे निश्चेतन, उसमें से जड़-जगत् की सृष्टि हुई होती और परिणामस्वरूप यहांसे वापिस जाना जड़ शरीरस्थ जगत्-सत्ता में से परात्पर नीरवता में वैसा ही अचानक या प्रपाती संक्रमण होता। जड़ और आध्यात्म पुरुष को छोड़कर कोई मध्यवर्ती शक्तियां या वास्तविकताएं न होतीं, जड़-भौतिक को छोड़कर कोई स्तर और जड़-जगत् को छोड़कर कोई लोक न होता। लेकिन यह विचार अति सरल और दृढ़ रचना है और यह सत्ता की जटिल प्रकृति के विशालतर दृष्टिकोण के आगे नहीं ठहर सकता।

निस्संदेह वैश्व जीवन की उत्पत्ति के बारे में और कई संभव विकल्प हैं जिनके फलस्वरूप चरम और अनम्य जगत्-संतुलन के अस्तित्व में आने की कल्पना की जा सकती है। हो सकता है कि सर्वेच्छा में इस तरह की कोई धारणा रही हो और उसका आदेश हुआ हो या जीव का कोई भाव या कोई गति अज्ञान के अहंकारात्मक जड़-जीवन की ओर हुई हो। यह माना जा सकता है कि शाश्वत

व्यक्तिगत जीव ने अपने अंदर उठनेवाली किसी अव्याख्येय कामना से प्रेरित होकर अंधकार के अभियान की चाह की और अपने सहज प्रकाश में से निर्ज्ञान की गहराई में डुबकी लगायी जिसमें से अज्ञान का यह जगत् ऊपर उभरा या जीवों के एक समूह में, बहु में ऐसी प्रेरणा हुई होगी; क्योंकि एक व्यक्तिगत सत्ता से विश्व का निर्माण नहीं हो सकता। विश्व को या तो निर्वैयक्तिक होना चाहिये या बहु-वैयक्तिक या किसी वैश्व अथवा अनंत सत् का सृजन या आत्माभिव्यक्ति। हो सकता है कि इस कामना ने एक सर्वात्मा को निश्चेतना की शक्ति पर आधारित जगत् का निर्माण करने के लिये अपने साथ नीचे खींच लिया हो। अगर यह नहीं है तो शाश्वत रूप से सर्वज्ञ स्वयं सर्वात्मा ने सहसा अपने सर्व-ज्ञान को निश्चेतना के इस अंधकार में डुबकी लगवा दी होगी और साथ ही अपने अंदर के वैयक्तिक जीवों को भी प्राण और चेतना के आरोहणकारी सोपान द्वारा ऊर्ध्वाभिमुख विकास शुरू करने के लिये अपने साथ ले लिया हो। या अगर व्यक्ति पहले से मौजूद नहीं है, अगर हम सर्व-चेतना का सृजनमात्र हैं, अथवा आभासी अज्ञान की कल्पना हैं तो हो सकता है कि इन दोनों में किसी की भी स्रष्टा ने एक मूल अंधाधुंध प्रकृति में से नाम-रूप के विकास द्वारा इन असंख्य व्यष्टि-सत्ताओं की कल्पना की हो; तब जीव निश्चेतन शक्ति-द्रव्य के अविवेकी द्रव्य का, जो भौतिक विश्व में वस्तुओं का पहला रूप है, एक अस्थायी उत्पादन होगा।

इस मान्यता के अनुसार या इनमें से किसीके अनुसार सत्ता के केवल दो स्तर होंगे : एक ओर है जड़-विश्व जिसका सृजन किया है निश्चेतन में से शक्ति के अंधे निर्ज्ञान ने या प्रकृति ने जो शायद किसी आंतरिक अननुभूत आत्मा की आज्ञा का पालन करती है, जो आत्मा उसकी निद्राचारी क्रियाओं पर शासन करती है। दूसरी ओर वह अतिचेतन एकमेव है जिसकी ओर हम निश्चेतना और अज्ञान से वापिस जाते हैं। या फिर हम यह कल्पना कर सकते हैं कि केवल एक ही लोक है, जड़सत्ता, जड़ विश्व की आत्मा से भिन्न कोई अतिचेतन नहीं है। अगर हम देखें कि सचेतन सत्ता के और लोक भी हैं और यह कि जड़-भौतिक विश्व को छोड़कर अन्य जगत् भी हैं, तो इन विचारों को पुष्ट करना कठिन हो जायेगा। लेकिन हम यह मानकर इस निराकरण से छुटकारा पा सकते हैं कि इन जगतों का सृजन बाद में विकसनशील जीव द्वारा या उसके लिये निश्चेतना में से उसके आरोहण के समय किया गया होगा। इनमें से किसी भी दृष्टि के अनुसार विश्व निश्चेतना में से विकास-क्रम होगा—या तो जड़-जगत् की एकमात्र और पर्याप्त भूमिका या रंगमंच के साथ अथवा लोकों के चढ़ते हुए सोपान के साथ—जिसमें एक दूसरे में विकसित हो रहा हो, जिससे मूल सद्वस्तु की ओर लौटने के लिये श्रेणीबद्ध मार्ग पाने में सुविधा हो। हमारी अपनी दृष्टि यह रही है कि विश्व अतिचेतन सच्चिदानंद में से अपने-आप क्रमबद्ध किया हुआ विकास है। लेकिन इस विचार के अनुसार

यह निश्चेतना के किसी ऐसे ज्ञान की ओर विकास के सिवा कुछ न होगा जो किसी आद्य अज्ञान या आरंभ करनेवाली कामना के विनाश द्वारा कुजात जीव के लोप या भ्रांत जगत्-अभियान में से बच निकलने के लिये पर्याप्त हो।

लेकिन ऐसे सिद्धांतों में या तो मन की प्रवर्तक शक्ति का प्रमुख महत्त्व अंतर्निहित होता है या व्यष्टिगत सत्ता का प्रमुख महत्त्व होता है। दोनों का वस्तुतः बहुत बड़ा स्थान है लेकिन एकमेव शाश्वत आध्यात्म पुरुष ही आरंभिक शक्ति और आद्या सत्ता है। भाव जो कल्पनात्मक रूप से सृजनशील है—वह सच्चा विचार नहीं जो सत्ता है और जो उससे अभिज्ञ है जो उसके अंदर है और अपने-आप उस सत्य-अभिज्ञता की शक्ति के कारण आत्म-स्रष्टा है—वह मन की एक गति है, कामना मन के अंदर प्राण की गति है। तो प्राण और मन पूर्ववर्ती शक्तियां रहे होंगे और जड़-जगत् के सृजन के निर्धारक रहे होंगे और उस हालत में वे समान रूप से अपनी अति-भौतिक प्रकृति के जगतों का सृजन भी कर सकते हैं। या फिर हमें यह मानना चाहिये कि जिसने क्रिया की वह किसी व्यष्टि या वैश्व मन या प्राण की कामना न होकर आध्यात्म पुरुष के अंदर इच्छा थी; सत् की एक ऐसी इच्छा जो अपने किसी अंश को या अपनी चेतना के किसी अंश को फैला रही थी, जो एक सर्जक भाव को या आत्म-ज्ञान को या अपनी आत्म-क्रियाशील शक्ति की प्रेरणा को या अपने अस्तित्व के आनंद के किसी विशेष रूपायन की ओर एक घुमाव को सिद्ध कर रही थी। लेकिन अगर जगत् का सृजन वैश्व सत्ता के आनंद के द्वारा नहीं बल्कि व्यष्टिगत जीव की कामना के लिये, उसके अज्ञानभरे अहंकारपूर्ण सुख की सनक के लिये किया गया है तो परात्पर भगवान् या वैश्व सत्ता नहीं बल्कि मनोमय व्यष्टि को विश्व का स्रष्टा और साक्षी होना चाहिये। भूतकाल की मानव विचारधारा में हमेशा व्यष्टि-सत्ता वस्तुओं की अग्रिम योजना में बृहदाकार रूप में छायी रही है और महत्त्व के प्रमुख आयामों में अतिविशाल रूप से छायी रही है। अगर अब भी इन अनुपातों को स्वीकार किया जाये तो सृष्टि के ऐसे जन्म की कल्पना स्वीकार की जा सकती है क्योंकि व्यष्टिगत पुरुष में अज्ञान के जीवन के लिये इच्छा या उसके लिये स्वीकृति निश्चय ही जड़-प्रकृति के अंदर आध्यात्म पुरुष के प्रतिविकासात्मक अवरोहण में क्रियाशील चेतना की गतिविधि का भाग होगी। लेकिन जगत् वैयक्तिक मन की सृष्टि नहीं हो सकता और न ही उसके द्वारा अपनी चेतना की लीला के लिये बनाया गया रंगमंच हो सकता है और न ही उसका सृजन केवल अहंकार की लीला, उसकी तुष्टि या कुंठा के लिये किया जा सकता है। जब हम इस बोध की ओर जागते हैं कि वैश्व का महत्त्व सबसे अधिक है और व्यक्ति उसपर निर्भर है तो हमारी बुद्धि के लिये इस तरह का सिद्धांत असंभव हो जाता है। जगत् अपनी गतिविधि में इतना बृहत् है कि उसकी क्रियाओं का ऐसा विवरण विश्वसनीय नहीं होता। केवल कोई वैश्व शक्ति या वैश्व

सत्ता ही विश्व का सर्जक या धारक हो सकती है और उसमें भी वैश्व वास्तविकता, अर्थ या तात्पर्य होना चाहिये, व्यष्टिगत नहीं।

तदनुसार, जगत् का सृजन करनेवाले या उसमें भाग लेनेवाले इस व्यक्ति, उसकी कामना और अज्ञान के लिये उसकी स्वीकृति, जगत् के अस्तित्व में आने से पहले से ही जाग्रत् रही होगी। वह किसी विश्वातीत अतिचेतन में एक तत्त्व की भांति रहा होगा जिसमें से वह आता है और जिसमें वह अहंकार के जीवन में से वापिस लौट जाता है। हमें एकमेव के अंदर बहु की मौलिक अंतर्यामिता माननी होगी। तब यह कल्पना की जा सकती है कि किसी लोकातीत अनंत में एक इच्छा या एक वेग या एक आध्यात्मिक आवश्यकता बहु में से कुछ में आलोड़ित हुई हो जिसने उन्हें नीचे की ओर अवक्षिप्त किया और इस अज्ञान के जगत् की सृष्टि को जरूरी बनाया। लेकिन चूंकि, एकमेव जीवन का प्रथम तथ्य है, चूंकि, बहु एकमेव पर आश्रित है, एकमेव के जीव हैं, सत् की सत्ताएं हैं अतः इसी सत्य को वैश्व सत्ता के आधारभूत तत्त्व का निर्धारण करना चाहिये। वहां हम देखते हैं कि वैश्व व्यष्टि से पहले आता है, उसे उसका क्षेत्र प्रदान करता है, यह वही है जिसमें वह वैश्व रूप से निवास करता है यद्यपि उसका उद्गम परात्पर में है। यह व्यष्टिगत जीव यहां सर्वात्मा के आधार पर रहता है और उसीपर निर्भर है। बिल्कुल स्पष्ट है कि सर्वात्मा व्यष्टि के आधार पर नहीं रहता, न उसपर निर्भर है। वह व्यष्टिगत जीवों का कुलयोग, व्यक्तियों के सचेतन जीवन द्वारा निर्मित बहुत्ववादी समग्रता नहीं है। अगर किसी सर्वात्मा का अस्तित्व है तो उसे वह एकमात्र वैश्वात्मा होना चाहिये जो एकमात्र वैश्व शक्ति को उसके कार्यों में सहारा देती है और वह यहांपर वैश्व सत्ता की अभिधा में परिवर्तित करके एकमेव पर बहु की निर्भरता के प्राथमिक संबंध को दोहराती है। यह कल्पनातीत है कि बहु ने स्वतंत्र रूप से या एकमेव इच्छा से हटकर वैश्व सत्ता की कामना की और अपनी कामना द्वारा परम सच्चिदानंद को अनिच्छा के साथ या सहिष्णुता के साथ निर्ज्ञान में उतरने के लिये बाधित किया। यह तो वस्तुओं की सच्ची निर्भरता को एकदम उलट देना होगा। यदि जगत् सीधा बहु की इच्छा से या आध्यात्मिक प्रेरणा से उत्पन्न हुआ होता, जो एक अर्थ में संभव बल्कि संभाव्य भी है, फिर भी उस लक्ष्य के लिये पहले सच्चिदानंद के अंदर इच्छा पैदा हुई होगी अन्यथा यह प्रेरणा कहीं भी न उठ सकती जो सर्वेच्छा को यहां कामना में अनूदित करती है क्योंकि जो अहंकार में कामना बन जाती है वह आध्यात्म पुरुष में इच्छा होती है। एकमेव, सर्वात्मा, जो अकेला व्यष्टि की चेतना को निर्धारित करता है उसे जड़-भौतिक विश्व में, व्यक्ति अज्ञान का अवगुंठन अपने ऊपर डाले उससे पहले निश्चेतन प्रकृति का अवगुंठन स्वीकार करना होगा।

लेकिन एक बार हम परम और वैश्व सत्ता की इस इच्छा को जड़ विश्व के अस्तित्व की अनिवार्य शर्त के रूप में स्वीकार कर लें तो फिर कामना को सर्जक

तत्त्व के रूप में स्वीकार करना संभव नहीं रहता क्योंकि परम पुरुष या सर्व सत्ता में कामना के लिये कोई स्थान नहीं रहता। उसे किसी चीज की कामना नहीं होती। कामना अपूर्णता, अपर्याप्तता का, किसी ऐसी चीज का परिणाम है जो अधिकार में नहीं है या जिसका भोग नहीं किया गया और सत्ता जिसे अधिकार करने या भोगने के लिये खोजती है। परम पुरुष या वैश्व सत्ता में सर्व-सत्ता का आनंद हो सकता है लेकिन उस आनंद के लिये कामना विजातीय होती है—वह केवल उस अपूर्ण विकसनशील अहंकार का ही जन्मसिद्ध गुण है जो वैश्व क्रिया की उपज है। इसके अतिरिक्त अगर आध्यात्म पुरुष की सर्व-चेतना ने जड़ की निश्चेतना में डुबकी लगाने की इच्छा की तो वह इसलिये होगी कि यह उसके आत्म-सृजन या अभिव्यक्ति की संभावना थी। लेकिन एकमात्र जड़ विश्व और वहां निश्चेतना में से आध्यात्मिक चेतना में विकास सर्व सत्ता की अभिव्यक्ति की एकाकी और सीमित संभावना नहीं हो सकता। यह तभी हो सकता था जब जड़ ही अभिव्यक्त सत्ता की मूल शक्ति और मूल रूप होता और आत्मा के आगे कोई और विकल्प न होता और वह जड़-तत्त्व को आधार बनाकर निश्चेतना के द्वारा अभिव्यक्त होने के सिवा अभिव्यक्त हो ही न सकती। यह हमें जड़वादी विकसनशील सर्वेश्वरवाद की ओर ले आता है। जो सत्ताएं विश्व में बसी हैं उन सबको हमें एकमेव की आत्माएं मानना होगा, ऐसी आत्माएं जो यहां उसके अंदर पैदा हुई हैं और निर्जीव, सजीव और मानसिक रूप से विकसित रूपों द्वारा तबतक विकसित होती रहेंगी जबतक अतिचेतन सर्वेश्वर में उनके अविभक्त तथा संपूर्ण जीवन की पुनःप्राप्ति न हो जाये और उसका विश्वव्यापी एकत्व उनके विकास के लक्ष्य और अनंत के रूप में न आ जाये। ऐसी हालत में हर चीज यहीं विकसित हुई है; प्राण, मन और आत्मा जड़ विश्व में उसीकी गुप्त सत्ता की शक्ति द्वारा एकमेव में से उठे हैं और हर चीज यहां जड़ विश्व में अपनी परिपूर्ति पा लेगी। तब अतिचेतन का कोई अलग लोक नहीं है क्योंकि अतिचेतन यहीं उपस्थित है, कहीं और नहीं। कोई अतिभौतिक जगत् नहीं है, जड़तत्त्व के बाहर अतिभौतिक तत्त्वों की कोई क्रिया नहीं है, पहले से ही उपस्थित मन और प्राण का जड़ भूमि पर कोई दबाव नहीं है।

तब यह पूछा जा सकता है कि मन और प्राण क्या हैं और उत्तर यह दिया जा सकता है कि वे जड़-तत्त्व या जड़ की ऊर्जा के उत्पादन हैं। या वे चेतना के ऐसे रूप हैं जो निश्चेतना से अतिचेतना की ओर उठते हुए विकास के परिणाम हैं। चेतना अपने-आपमें केवल संक्रमण का पुल है। यह पुरुष है जो अपनी स्वाभाविक ज्योतिर्मय अतिचेतना की समाधि में डुबकी लगाने से पहले अपने बारे में अंशतः अभिज्ञ हो रहा है। अगर यह भी प्रमाणित हो जाये कि विशालतर मन और प्राण के लोक भी हैं तो वे इस मध्यवर्ती चेतना की आत्मनिष्ठ रचनाएं होंगी जो उस आध्यात्मिक परमोत्कर्ष के मार्ग में खड़ी की गयी हैं। लेकिन यहां कठिनाई यह है

कि मन और प्राण जड़-तत्त्व से इतने भिन्न हैं कि वे उसके उत्पादन नहीं हो सकते। स्वयं जड़-तत्त्व ऊर्जा का उत्पादन है, मन और प्राण को उसी ऊर्जा के श्रेष्ठतर उत्पादन माना जा सकता है। अगर हम एक वैश्व आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करें तो ऊर्जा आध्यात्मिक होनी चाहिये। प्राण और मन को आध्यात्मिक ऊर्जा के स्वतंत्र उत्पादन और अपने-आपमें आत्मा की अभिव्यक्ति की शक्तियां होना चाहिये। तब यह मानना तर्क-संगत नहीं रहता कि केवल आध्यात्म पुरुष और जड़-तत्त्व का अस्तित्व है, कि वे दोनों एक-दूसरे का सामना करती हुई वास्तविकताएं हैं और यह कि जड़-तत्त्व आत्मा की अभिव्यक्ति के लिये एकमात्र संभव आधार है; तब एकमात्र जड़ जगत् के होने का विचार एकदम अतर्कसंगत हो जाता है। आध्यात्म सत्ता में यह क्षमता होनी चाहिये कि वह अपनी अभिव्यक्ति को मानसिक या प्राणिक तत्त्व पर आधारित करने में समर्थ हो, केवल जड़तत्त्व पर नहीं। तब मन के लोक और प्राण के लोक भी हो सकते हैं और तर्कसंगत रूप से होने भी चाहियें। हो सकता है कि ऐसे लोक भी हों जो जड़तत्त्व के अधिक सूक्ष्म और अधिक नमनीय, अधिक सचेतन तत्त्वों पर आधारित हों।

तब तीन प्रश्न उठते हैं जो आपस में संबंध रखते या एक-दूसरे पर आश्रित हैं : क्या ऐसे लोकों के अस्तित्व के बारे में कोई प्रमाण या कोई सच्चा संकेत है और अगर उनका अस्तित्व है तो क्या उनका स्वरूप वैसा ही है जिसकी ओर हमने संकेत किया है; क्या वे जड़ और आध्यात्म सत्ता के बीच सोपान-परंपरा की शृंखला और यौक्तिक व्यवस्था के अंतर्गत उठते या उतरते हैं; अगर उनकी सत्ता का यही सोपान है तो क्या वे और तरह से बिल्कुल असंबद्ध और स्वतंत्र हैं या जड़ तत्त्व के जगत् पर उच्चतर लोकों का संबंध है और पारस्परिक क्रिया होती है ? यह एक तथ्य है कि मानवजाति लगभग अपने अस्तित्व के आरंभ से, या जहांतक इतिहास या परंपरा की पैठ है, अन्य लोकों के अस्तित्व पर और उनकी शक्तियों और सत्ताओं और मानवजाति के बीच की संचार-व्यवस्था की संभावना पर विश्वास करती आयी है। मानव विचार के पिछले तर्क-प्रधान युग में, जिसमें से हम अभी बाहर निकल रहे हैं, इस विश्वास को चिरकालीन अंधविश्वास मानकर बुहार फेंका गया। उसकी सफाई के सभी प्रमाणों और संकेतों को उचित विचार किये बिना ही यह कहकर नकार दिया गया कि वे मूल रूप से ही मिथ्या हैं और खोजबीन के योग्य नहीं, क्योंकि वे इस स्वयंसिद्ध सत्य से मेल नहीं खाते कि केवल जड़ और जड़ जगत् और उसके अनुभव ही सत्य हैं। सच्चे होने का दावा करनेवाले बाकी सब अनुभव या तो भ्रम होने चाहियें या ढोंग या अंध श्रद्धाभरी आशुविश्वासिता और कल्पना का आत्मपरक परिणाम। या फिर अगर वह तथ्य है तो भी जैसा आभास होता है उससे भिन्न होगा और किसी भौतिक कारण से उसकी व्याख्या की जा सकेगी। ऐसे तथ्य का कोई प्रमाण तबतक स्वीकार नहीं किया जा सकता

जबतक कि वह विषयगत न हो और उसका स्वरूप भौतिक न हो। अगर वह तथ्य बहुत ही प्रत्यक्ष रूप से अतिभौतिक हो तब भी उसे तबतक नहीं स्वीकारा जा सकता जबतक कि वह किसी भी कल्पनागम्य अनुमान या धारणागम्य अटकल के द्वारा पूरी तरह अव्याख्येय नहीं मान लिया जाता।

यह स्पष्ट होना चाहिये कि अतिभौतिक तथ्य के लिये भौतिक मान्य प्रमाण की यह मांग अयुक्तियुक्त और अतार्किक है। यह भौतिक मन की असंगत वृत्ति है जो यह मान लेती है कि केवल विषयगत और भौतिक ही मूलतः वास्तविक हैं और जो बाकी सबको केवल आत्मपरक कहकर एक ओर कर देती है। अतिभौतिक तथ्य भौतिक जगत् पर आघात कर सकता और भौतिक परिणाम पैदा कर सकता है; वह हमारी भौतिक इन्द्रियों पर प्रभाव भी डाल सकता और उनके आगे अभिव्यक्त हो सकता है; लेकिन यह उसकी निरपवाद क्रिया या सबसे अधिक स्वाभाविक गुण या प्रक्रिया नहीं हो सकता। साधारणतः उसे हमारे मन या प्राण-सत्ता पर—जो हमारे उसी श्रेणी के अंग हैं जिनका वह स्वयं है—सीधा प्रभाव या ठोस संस्कार डालना चाहिये और फिर वह उनके द्वारा तथा परोक्ष रूप से—यदि हो सके तो—भौतिक जगत् और भौतिक जीवन पर प्रभाव डाल सकता है। अगर वह अपने-आपको गोचर बना भी ले तो यह हमारी सूक्ष्म इन्द्रियों के लिये होता है, बाहरी भौतिक इन्द्रियों के लिये तो यह गौण ही रहता है। यह गौण स्थूल रूप धारण करना निश्चय ही संभव है। यदि सूक्ष्म शरीर और उसके इन्द्रिय-संगठन की क्रिया का भौतिक शरीर और उसके भौतिक अवयवों की क्रिया के साथ मेल हो जाये तो अतिभौतिक हमारे लिये बाहरी दृष्टि से गोचर हो सकता है। उदाहरण के लिये जिस क्षमता को हम सूक्ष्म-दृष्टि कहते हैं उसमें यही होता है; वह उन सभी अतीन्द्रिय व्यापारों की प्रक्रिया है जिनके बारे में यह लगता है कि वे बाहरी इन्द्रियों से दिखायी या सुनायी देते हैं और ऐसे प्रतिरूपी या व्याख्यात्मक या प्रतीकात्मक प्रतिबिंबों द्वारा भीतर से अनुभव नहीं होते जिनपर आंतरिक अनुभव की छाप हो या जिनमें सूक्ष्म द्रव्य में रूपायित होने के स्पष्ट लक्षण हों। तो सत्ता के अन्य लोकों और उनके साथ संचार के अस्तित्व के नाना प्रकार के प्रमाण हो सकते हैं,—बाह्य इन्द्रियों के लिये विषयकरण, सूक्ष्म बोध का संपर्क, मानसिक संपर्क, प्राणिक संपर्क, हमारे सामान्य क्षेत्र का अतिक्रमण करती चेतना की विशेष अवस्थाओं में अंतस्तलीय के द्वारा संपर्क। हमारा भौतिक मन ही हमारा सब कुछ नहीं है, यद्यपि वह हमारी लगभग समस्त सतही चेतना पर शासन जमाये रहता है, न ही वह हमारा सर्वोत्तम या महत्तम भाग है। सद्वस्तु को इस संकीर्णता के एकमात्र क्षेत्र या उसके कठोर चक्र में सीमित आयामों के अंदर बांधा नहीं जा सकता।

अगर ऐसा कहा जाये कि आत्मनिष्ठ अनुभव या सूक्ष्म इन्द्रियों के बिंब आसानी से धोखा दे सकते हैं क्योंकि हमारे पास परखने के कोई प्रामाणिक मानक या मान्य

उपाय नहीं हैं और असामान्य, चमत्कारिक और अतिप्राकृतिक को उसके प्रत्यक्ष मूल्य पर स्वीकार कर लेने की ओर हमारा बहुत अधिक झुकाव होता है तो इस बात को माना जा सकता है; परंतु भ्रांति हमारे आंतरिक आत्मनिष्ठ या अंतस्तलीय भाग का ही एकाधिकार नहीं है, वह भौतिक मन और उसके वस्तुनिष्ठ तरीकों और मानकों का भी जन्मसिद्ध अधिकार है और अनुभव के एक विस्तृत और महत्त्वपूर्ण क्षेत्र की ओर से द्वार बंद कर देने के लिये भ्रांति की संभावना कोई कारण नहीं हो सकती; बल्कि यह तो उसकी जांच करने और उसके सच्चे मानकों और उसे प्रमाणित करने के विशिष्ट, उपयुक्त और मान्य साधनों का पता लगाने का कारण है। हमारी आत्म-निष्ठ सत्ता ही हमारे विषयगत अनुभव का आधार है। और यह शक्य नहीं है कि उसकी भौतिक विषयगत चीजें तो ठीक हों और बाकी अविश्वसनीय। अंतस्तलीय चेतना, उससे ठीक तरह पूछा जाये तो सत्य की साक्षी होती है और उसकी गवाही बार-बार भौतिक और विषयमूलक क्षेत्र में भी पुष्ट होती है; तो उस साक्ष्य की उस समय अवहेलना नहीं की जा सकती जब वह हमारे अंदर की चीजों की ओर या ऐसी चीजों की ओर ध्यान खींचता है जो अतिभौतिक स्तरों या लोकों की चीजें हों। साथ-ही-साथ अपने-आपमें केवल विश्वास वास्तविकता का साक्ष्य नहीं है। हम उसे स्वीकार करें इससे पहले उसे अपने-आपको किसी अधिक ठोस वस्तु पर प्रतिष्ठित करना होगा। यह स्पष्ट है कि भूतकाल की मान्यताएं ज्ञान के लिये पर्याप्त आधार नहीं हैं यद्यपि उनकी पूरी तरह अवहेलना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि मान्यता एक मानसिक रचना है और वह गलत निर्माण भी हो सकती है। वह प्रायः किसी आंतरिक सूचना को उत्तर दे सकती है और तब उसका मूल्य होता है, लेकिन ऐसा होता भी है और नहीं भी होता कि वह सूचनाओं को विकृत कर दे, सामान्यतः वह उन्हें हमारे भौतिक और विषयगत अनुभवों के लिये परिचित परिभाषाओं में अनूदित करके विकृत करती है जैसे लोकों की सोपान-परंपरा को भौतिक सोपान-परंपरा या भौगोलिक देश-विस्तार में बदल दिया गया, सूक्ष्म द्रव्य की विरल ऊंचाइयों को जड़-भौतिक ऊंचाइयों में बदलकर देवों के आवास को भौतिक पर्वतों की चोटियों पर रख दिया गया। समस्त सत्य को, चाहे वह भौतिक हो या अतिभौतिक, केवल मानसिक विश्वास पर नहीं बल्कि अनुभव पर आधारित होना चाहिये। लेकिन हर अवस्था में अनुभव उस श्रेणी का होना चाहिये—भौतिक, अंतस्तलीय या आध्यात्मिक—जो सत्यों की उस श्रेणी के उपयुक्त हो जिसमें प्रवेश करने का हमें अधिकार मिला हो। उनकी प्रामाणिकता और सार्थकता की जांच तो करनी होगी किंतु यह जांच उनके स्वधर्म के अनुसार और ऐसी चेतना से करनी होगी जो उनमें प्रवेश कर सके, अन्य प्रदेशों के नियम के अनुसार नहीं या न ऐसी चेतना से जो केवल अन्य श्रेणी के सत्यों के लिये समर्थ हो। तभी हम अपने पगों के बारे में निश्चित हो सकते हैं और दृढ़ता के साथ अपने ज्ञान के क्षेत्र को विस्तृत कर सकते हैं।

अगर हम अतिभौतिक जगत्-वास्तविकताओं के उन संकेतों की जांच करें जिन्हें हम अपने आंतरिक अनुभव में प्राप्त करते हैं और उसके संकेतों के साथ उस विवरण की तुलना करें जो हमें मानव ज्ञान के प्रारंभ से मिलता रहा है और अगर हम उनकी व्याख्या और संक्षिप्त अनुक्रम का प्रयास करें तो हमें पता लगेगा कि यह आंतरिक अनुभव हमसे अत्यंत घनिष्ठता के साथ जो कहता है वह यह है कि शुद्ध भौतिक स्तर की अपेक्षा, जिसकी सत्ता और क्रिया संकुचित है और जिसकी अभिज्ञता हमें अपने संकीर्ण पार्थिव सूत्र से होती है, सत्ता और चेतना के अधिक विशाल क्षेत्रों का अस्तित्व है और हमपर उनकी क्रिया होती है। ये विशालतर सत्ता के क्षेत्र हमारी सत्ता तथा चेतना से बहुत दूर और एकदम अलग नहीं हैं क्योंकि यद्यपि वे अपने अंदर बने रहते हैं और उनकी सत्ता और अनुभव की अपनी लीला और प्रक्रिया और रूपायन हैं लेकिन साथ-ही-साथ वे अपनी अदृश्य उपस्थिति और प्रभावों के द्वारा भौतिक लोक में भिदे और उसपर छाये रहते हैं और उनकी शक्तियां यहां स्वयं भौतिक जगत् में, उसकी क्रियाओं और उसकी वस्तुओं के पीछे मौजूद मालूम होती हैं। उनके साथ संपर्क में अनुभव के दो विशेष क्रम हैं, एक शुद्ध रूप से आत्मनिष्ठ है, यद्यपि वह अपनी आत्मनिष्ठता में पर्याप्त रूप से स्पष्ट और गोचर है, दूसरा अधिक विषयनिष्ठ है। आत्मनिष्ठ क्रम में हम देखते हैं कि जो अपने-आपको यहां जीवन-प्रयोजन, जीवन-प्रेरणा, जीवन-रूपायन का रूप देता है वह पहले ही से संभावनाओं की अधिक विशाल, अधिक सूक्ष्म, अधिक नमनीय श्रेणी में विद्यमान है। और ये पूर्ववर्ती शक्तियां और रूपायन अपने-आपको भौतिक जगत् में भी चरितार्थ करने के लिये हमारे ऊपर दबाव डाल रहे हैं लेकिन उनका एक अंश ही पार होने में सफल हो पाता है और वह भी आंशिक रूप में एक ऐसे रूप और परिस्थिति में उभर पाता है जो पार्थिव विधान और क्रम की पद्धति के अधिक उपयुक्त होते हैं। सामान्यतः यह प्रक्षेपण हमारे जाने बिना होता है; हम अपने ऊपर इन शक्तियों, बलों और प्रभावों के असर से अनभिज्ञ रहते हैं। हम उन्हें अपने ही प्राण और मन का रूपायन मान लेते हैं—तब भी जब हमारी बुद्धि या इच्छा उन्हें अस्वीकार करती और उनके आधीन होने से इंकार करती है। लेकिन जब हम अंदर पैठते और सीमित सतही चेतना से दूर चले जाते हैं और अधिक सूक्ष्म बोध, अधिक गहरी अभिज्ञता विकसित कर लेते हैं तो हम इन गतिविधियों के मूल के बारे में संकेत पाना शुरू करते हैं और उनकी क्रिया और प्रक्रिया का निरीक्षण कर सकते हैं, उन्हें स्वीकार या अस्वीकार कर सकते या उनमें हेर-फेर कर सकते हैं, उन्हें मार्ग देकर अपने मन, अपनी इच्छा और अपने प्राण का, अवयवों का उपयोग करने दे सकते हैं या मना कर सकते हैं। इसी भांति हमें मन के विशालतर प्रदेशों की अभिज्ञता प्राप्त होती है, अधिक नग्न क्रीड़ा, अनुभूति और रूपायन की, मानसिक रूपायनों के सभी संभव भरपूर प्राचुर्य की अभिज्ञता होती

है। हम अपने साथ उनके संपर्क, उनकी शक्तियों और उनके प्रभावों को अपने मन के भागों पर उसी तरह गुह्य रूप में क्रिया करते हुए अनुभव करते हैं जैसे वे दूसरे जो हमारे प्राण के भागों पर क्रिया करते हैं। प्रथमतः इस तरह का अनुभव शुद्ध रूप से आत्मनिष्ठ होता है, विचारों, सुझावों, भावावेगमय रूपायनों, संवेदन, कर्म, क्रियाशील अनुभवों की ओर प्रेरणाओं का दबाव होता है। इस दबाव का चाहे जितना बड़ा भाग हमारी अंतस्तलीय आत्मा या हमारे ही जगत् की वैश्व मानसिक शक्तियों या प्राणिक शक्तियों के घेरे से आता हुआ लगे, फिर भी एक तत्त्व ऐसा होगा जिसपर किसी और उद्गम की, एक आग्रही अतिपार्थिव गुण की छाप रहेगी।

लेकिन संपर्क यहीं समाप्त नहीं हो जाते क्योंकि हमारे मन और प्राण के भागों का उन्मीलन आत्मनिष्ठ-वस्तुनिष्ठ अनुभवों के एक बड़े प्रदेश की ओर होता है जिसमें ये स्तर अपने-आपको आत्मनिष्ठ सत्ता और चेतना के विस्तारों के रूप में नहीं बल्कि लोकों के रूप में प्रस्तुत करते हैं; क्योंकि वहां अनुभव व्यवस्थित तो उसी तरह होते हैं जैसे हमारे अपने जगत् में लेकिन एक दूसरी योजना के अनुसार, एक अलग प्रक्रिया और क्रिया-विधान के अनुसार और एक ऐसे द्रव्य में जो अतिभौतिक प्रकृति की चीज है। हमारी धरती की तरह इस संगठन में ऐसी सत्ताओं का अस्तित्व भी है जिनका रूप होता है या जो रूप धारण करती हैं, अपने-आपको व्यक्त करती या मूर्त रूप देनेवाले पदार्थ में स्वभावतः अभिव्यक्त होती हैं, लेकिन यह हमारे पदार्थ से भिन्न होता है। वह एक ऐसा सूक्ष्म पदार्थ है जो केवल सूक्ष्म इन्द्रियों के लिये ग्राह्य है, वह अतिभौतिक रूपद्रव्य है। हो सकता है इन लोकों और सत्ताओं का हमारे या हमारे जीवन के साथ कोई संबंध न हो, वे हमारे ऊपर कोई क्रिया न करते हों लेकिन बहुधा वे पार्थिव सत्ता के साथ गुप्त संचार रखते हैं और जिन वैश्व शक्तियों और प्रभावों का हमें आत्मनिष्ठ अनुभव है उनकी आज्ञा का पालन करते या उन्हें मूर्त रूप देते हैं और उनके माध्यम और यंत्र होते हैं या अपने ही उपक्रमण से पार्थिव जगत् के जीवन, हेतुओं और घटनाओं पर क्रिया करते हैं। इन सत्ताओं से सहायता, पथ-प्रदर्शन या हानि या विमार्गदर्शन पाना संभव है। उनके प्रभाव के आधीन होना या उनके आक्रमण या प्रभुत्व के वश में हो जाना, उनके भले या बुरे प्रयोजन के लिये उनका यंत्र हो जाना भी संभव है। कभी-कभी पार्थिव जीवन की प्रगति दोनों तरह की अतिभौतिक शक्तियों के बीच एक विशाल युद्ध-क्षेत्र मालूम होती है—वे शक्तियां जो हमारे ऊपर उठते हुए विकास को या जड़ विश्व में अंतरात्मा की आत्माभिव्यक्ति को ऊपर उठाने, प्रोत्साहित करने और आलोकित करने के लिये प्रयास करती हैं और वे जो विचलित करती, हतोत्साह करती, रोकती, यहांतक कि चूर-चूर तक कर देती हैं। इनमें से कुछ सत्ताएं, शक्तियां और विभूतियां ऐसी हैं जिन्हें हम दिव्य मानते हैं। वे

आलोकमय, सौम्य और प्रबल रूप से सहायता करनेवाली होती हैं लेकिन कुछ और दानवी, दैत्याकार या पैशाची होती हैं। वे विशृंखल 'प्रभाव' होती हैं, प्रायः विशाल और विकट आंतरिक उथल-पुथल या ऐसे कार्यों का सृजन करनेवाली या प्रेरणा देनेवाली होती हैं जो सामान्य मानव माप को पार कर जाते हैं। ऐसे प्रभावों, उपस्थितियों और सत्ताओं की भी अभिज्ञता हो सकती है जो हमसे परे अन्य लोकों की नहीं मालूम होतीं बल्कि यहीं पार्थिव प्रकृति में पर्दे के पीछे छिपे तत्त्व के रूप में हैं। जैसे अतिभौतिक के साथ संपर्क संभव है उसी तरह स्वयं हमारी अपनी चेतना और ऐसी दूसरी सत्ताओं की चेतना के बीच, जो एक बार शरीर-धारण करके अतिभौतिक अवस्था में सत्ता के इन अन्य प्रदेशों में जा चुकी हैं, उनके साथ आत्मनिष्ठ या वस्तुनिष्ठ बनाया गया संपर्क स्थापित हो सकता है। आत्मनिष्ठ संपर्क या सूक्ष्म इन्द्रियों के प्रत्यक्ष ज्ञान के परे जाना भी संभव है। चेतना की कुछ अंतस्तलीय स्थितियों में, वस्तुतः अन्य लोकों में प्रवेश करना और उनके कुछ रहस्यों को जानना संभव है। प्राचीन काल में मानवजाति की कल्पना अन्य लोकों के अनुभव की अधिक वस्तुपरक श्रेणी से सबसे अधिक आकर्षित थी, लेकिन मान्यता ने उसे स्थूल वस्तुपरक विवरण में बदल दिया जिसने अनुचित रूप में इन व्यापारों को हमारे परिचित भौतिक जगत् के व्यापारों के जैसा बनाकर अपनाया। क्योंकि हमारे मन की यह सामान्य प्रवृत्ति है कि वह हर चीज को अपने ही अनुभव-प्रकार और अनुभव-पदों के उपयुक्त रूपों या प्रतीकों में बदल देता है।

अगर बहुत ही सामान्य भाषा में कहें तो मानवजाति के अतीत के सभी युगों में परलोक के बारे में विश्वास का सामान्य क्षेत्र और प्रकृति यही रही है; नाम, रूपों में हेर-फेर हो सकता है लेकिन सामान्य लक्षण सभी देशों और कालों में आश्चर्यजनक रूप से एक जैसे रहे हैं। हम इन स्थायी विश्वासों या अतिसामान्य अनुभवों की राशि का ठीक-ठीक क्या मूल्य लगायें ? जिस किसीको ये संपर्क किसी घनिष्ठता से मिले हों—केवल बिखरे हुए असामान्य संयोगों के रूप में नहीं—उसके लिये इन्हें अंधविश्वास या भ्रममात्र कहकर परे फेंक देना संभव नहीं क्योंकि वे अपने दबाव में इतने आग्रही, वास्तविक, प्रभावकारी और संगठित होते हैं, अपने कामों और परिणामों में इतने अविच्छिन्न रूप से समर्थन पाते हैं कि उन्हें इस तरह उड़ा नहीं दिया जा सकता। हमारे अनुभव की क्षमता के इस पक्ष का मूल्यांकन, उसकी व्याख्या और मानसिक व्यवस्था करना अनिवार्य है।

एक व्याख्या यह प्रस्तुत की जा सकती है कि मनुष्य अपने-आप ही अतिभौतिक लोकों का सृजन करता है जिनमें वह मृत्यु के बाद निवास करता है या सोचता है कि वह उनमें निवास करता है, वह देवों की भी रचना करता है जैसी कि पुरातन उक्ति थी—यह भी दावा किया जाता है कि स्वयं भगवान् की रचना मनुष्य ने ही की थी, कि भगवान् उसकी चेतना की कल्पना है और अब मनुष्य ने ही उसे

समाप्त कर दिया है ! तब हो सकता है कि ये सब चीजें विकसनशील चेतना की एक तरह की कपोल-कल्पना हैं जिसमें वह निवास कर सकती है, वह अपनी ही रचना में बंदी है और एक प्रकार की चरितार्थ करनेवाली गतिशीलता द्वारा अपने-आपको अपनी कल्पनाओं में बनाये रख सकती है। लेकिन वे शुद्ध कल्पनाएं नहीं हैं, हम उन्हें तभीतक ऐसा मान सकते हैं जबतक जिन चीजों का वे प्रतिनिधित्व करती हैं, भले कितने भी गलत तरीके से क्यों न हो, हमारे अपने अनुभव का अंग न बन जाएं। फिर यह कल्पना की जा सकती है कि ऐसी गाथाएं और कल्पनाएं हैं जिनका उपयोग सृजन करनेवाली चित्-शक्ति अपनी भाव-शक्तियों को मूर्त्त रूप देने के लिये करती है। ये समर्थ बिंब रूप और शरीर धारण कर सकते हैं, विचार के सूक्ष्म रूप से रूपायित जगत् में बने रह सकते हैं और अपने स्रष्टा पर प्रतिक्रिया कर सकते हैं। अगर ऐसा हो तो हम यह मान सकते हैं कि अन्य जगत् इसी प्रकार की रचनाएं हैं। लेकिन अगर ऐसा हो, यदि आत्मनिष्ठ चेतना इस तरह लोकों और सत्ताओं का निर्माण कर सकती है तो हो सकता है कि वस्तुगत जगत् भी परम चेतना की या हमारी चेतना की एक गाथा हो या यह कि स्वयं चेतना मूल निर्ज्ञानि की गाथा हो। इस तरह विचार की इस रेखा पर हम फिर से विश्व के बारे में उस दृष्टि पर जा पहुंचते हैं जिसमें सभी चीजें अवास्तविकता का कोई रंग पकड़ लेती हैं, अपवाद रह जाती है सबका उत्पादन करनेवाली निश्चेतना जिसमें से सभी चीजों की रचना हुई है, रह जाता है वह अज्ञान जो उनकी रचना करता है और संभवतः एक अतिचेतन या निश्चेतन निर्वैयक्तिक सत्ता जिसकी उदासीनता में अंततः सब कुछ गायब हो जाता है या लौट जाता और समाप्त हो जाता है।

लेकिन हमारे पास इसका कोई प्रमाण नहीं है और इस बात की कोई संभावना भी नहीं दीखती कि मनुष्य का मन इस तरह एक जगत् बना सकता है जहां पहले कुछ भी न था, किसी ऐसे पदार्थ के बिना शून्य में सृष्टि कर सकता है जिसमें या जिसपर निर्माण हो सके, यद्यपि यह तो भली-भांति हो सकता है कि वह बने-बनाये जगत् में कुछ और जोड़ दे। निश्चय ही मन एक समर्थ अभिकर्ता है, हम सामान्यतः उसे जितना समर्थ मानते हैं उससे अधिक समर्थ है, वह ऐसे रूपायन तैयार कर सकता है जो हमारी या औरों की चेतना में और जीवन में अपने-आपको कार्यान्वित कर सकते हैं और उनका प्रभाव निश्चेतन जड़ पर भी होता है लेकिन शून्य में कोई एकदम मौलिक सृष्टि करना उसकी संभावनाओं के परे है। बल्कि, हम यह मान लेने का साहस कर सकते हैं कि मनुष्य का मन जैसे-जैसे बढ़ता है वह सत्ता और चेतना के ऐसे नये प्रदेशों के साथ नाता जोड़ता जाता है जिन्हें उसने नहीं बनाया है, जो उसके लिये बिल्कुल नये हैं, जो सर्वसत्ता के अंदर पहले से ही विद्यमान थे। अपने बढ़ते हुए आंतरिक अनुभव में वह अपने अंदर सत्ता के नये क्षेत्र खोलता है। जैसे-जैसे उसकी चेतना के गुप्त चक्र अपनी ग्रंथियों को विलीन

करते हैं वह उनके द्वारा उन बृहत्तर प्रदेशों की कल्पना करने में, उनसे सीधा प्रभाव पाने में, उनके अंदर प्रवेश करने, उन्हें अपने पार्थिव मन और आंतरिक इन्द्रियों में मूर्त्तिमान् करने में समर्थ हो जाता है। वह उनकी ऐसी प्रतिमाओं, प्रतीक-रूपों, उनके ऐसे प्रतिबिंबात्मक रूपों की रचना करता है जिनके साथ उसका मन व्यवहार कर सके। इसी अर्थ में वह उस दिव्य प्रतिमा का निर्माण करता है जिसकी वह पूजा करता है, देवों के रूप गढ़ता है, अपने अंदर नये लोक और जगत् तैयार करता है और इन प्रतिमाओं के द्वारा वे वास्तविक जगत् और शक्तियां, जो हमारी सत्ता के ऊपर हैं, भौतिक जगत् में चेतना पर अधिकार कर सकती हैं, उसके अंदर अपनी क्षमताएं उंडेल सकती हैं, अपनी उच्चतर सत्ता के प्रकाश से उसे रूपांतरित कर सकती हैं। लेकिन यह सब सत्ता के उच्चतर लोकों की सृष्टि नहीं है। यह निर्ज्ञान में से विकसित होती हुई अंतरात्मा की चेतना के लिये जड़-भौतिक स्तर पर उनका अंतःप्रकाश है। यह उनकी शक्तियों को ग्रहण कर उनके रूपों का यहां सृजन है। इस भूमि पर हमारे आत्मनिष्ठ जीवन का उसकी अपनी सत्ता के उन उच्चतर स्तरों के साथ सच्चे संबंध के अन्वेषण द्वारा परिवर्द्धन होता है जिनसे उसका जड़-निर्ज्ञान के पर्दे के कारण अलगाव हो गया था। इस पर्दे का अस्तित्व इस कारण है कि शरीरस्थ आत्मा ने इन महत्तर संभावनाओं को अपने पीछे रख दिया है ताकि वह ऐकांतिक रूप से अपनी चेतना और शक्ति को सत्ता के इस भौतिक जगत् में अपने प्राथमिक कार्य पर एकाग्र कर सके। लेकिन उस प्राथमिक कार्य का परिणाम तभी आ सकता है जब पर्दा कम-से-कम आंशिक रूप से उठ जाये या भेदने लायक हो जाये ताकि मन, प्राण और आत्मा की उच्चतर भूमिकाएं मानव जीवन के अंदर अपनी सार्थकता को उंडेल सकें।

यह मानना संभव है कि इन उच्चतर भूमिकाओं और जगतों की सृष्टि जड़ भौतिक विश्व की अभिव्यक्ति के बाद, विकास में सहायता करने के लिये या किसी अर्थ में उसके परिणाम-स्वरूप हुई। यह एक ऐसी धारणा है जिसे भौतिक मन आसानी से मानने को तैयार हो सकता है अगर वह अतिभौतिक अस्तित्व को मानने के लिये बाधित हो; वह भौतिक मन जो अपने सभी विचारों का आरंभ उस जड़ विश्व से करता है जिसे वह एकमात्र चीज के रूप में जानता है, जिसका उसने विश्लेषण किया है और जिसके साथ वह स्वामित्व के प्रारंभिक रूप में व्यवहार कर सकता है। तब वह जड़ भौतिक, निश्चेतन को समस्त सत्ता का आरंभ-बिंदु और अवलंब बना सकता है जैसा कि वह हमारे लिये निस्संदेह उस विकास की गति का आरंभ-बिंदु है जिसका घटनास्थल है भौतिक जगत्। हमारा मन तब भी जड़तत्त्व और जड़ शक्ति को प्रथम सत्ता के रूप में रख सकता है—उसने इन्हें इसी रूप में स्वीकारा और पोसा है क्योंकि यही वह पहली चीज है जिसे वह जानता है, यही वह एकमात्र चीज है जो हमेशा सुरक्षित रूप से उपस्थित और ज्ञेय है—और यही

आध्यात्मिक और अतिभौतिक को जड़ में सुनिश्चित नींव पर आश्रित के रूप में बनाये रख सकेगा।[1] तब फिर इन जगतों का सृजन कैसे किया गया, किस शक्ति द्वारा, किस यंत्र-विन्यास द्वारा ? हो सकता है कि मन और प्राण ने निश्चेतना में से विकसित होते हुए एक ही साथ इन लोकों या भूमिकाओं का विकास उन प्राणियों की अंतस्तलीय चेतना में किया हो जो उसमें निवास करते हैं। अंतस्तलीय सत्ता के लिये जीवन में और मृत्यु के बाद—क्योंकि आंतरिक सत्ता शरीर की मृत्यु के बाद भी बनी रहती है—ये जगत् वास्तविक होते हैं क्योंकि ये उसकी चेतना की विशालतर पहुंच के लिये संवेद्य हैं। वह उनमें उस वास्तविकता के भाव के साथ विचरण करेगी जो गौण भले हो पर विश्वासोत्पादक होगा। वह अपने वहां के अनुभवों को मान्यता और कल्पना के रूप में सतही सत्ता पर भेजेगी। यह एक संभव विवरण है—यदि हम चेतना को वास्तविक सर्जक शक्ति या अभिकर्ता और बाकी सब चीजों को चेतना के रूपायन मान लें, लेकिन यह सत्ता की अतिभौतिक भूमिकाओं को वह असारता या कम मूर्त वास्तविकता प्रदान नहीं करेगा जिसे भौतिक मन उनके साथ जोड़ना चाहेगा। उनके अपने अंदर वही वास्तविकता होगी जैसे भौतिक जगत् या भौतिक अनुभव की अपनी श्रेणी में है।

यदि इस तरह या किसी और तरह से उच्चतर जगत् भौतिक जगत् की सृष्टि के बाद, जो प्राथमिक सृष्टि है, निश्चेतना में से किसी विशालतर अंतर्लीन विकास द्वारा बनाये गये हों तो यह किसी ऐसी सर्वात्मा द्वारा अपने आविर्भाव में, ऐसी प्रक्रिया से बनाया गया होगा जिसके बारे में हमें कोई ज्ञान नहीं हो सकता। यह यहां के विकास-हेतु उसके आनुषंगिक व्यापारों या विशालतर परिणामों के रूप में किया गया होगा ताकि प्राण, मन और आध्यात्म सत्ता अधिक स्वतंत्र प्रसार के क्षेत्र में विचरण कर सकें और भौतिक स्वाभिव्यक्ति पर इन महान् शक्तियों तथा अनुभूतियों की प्रतिक्रिया हो सके। लेकिन इस प्राक्कल्पना के विरोध में यह तथ्य खड़ा है कि उनके बारे में अपने अंतर्दर्शन और अनुभव में हम इन उच्चतर जगतों को किसी भांति जड़ भौतिक विश्व पर आधारित नहीं देखते, वे किसी भांति इसके परिणाम नहीं हैं बल्कि सत्ता की विशालतर अभिधाएं हैं, हम उन्हें चेतना के अधिक विशाल और स्वतंत्र प्रदेश के रूप में देखते हैं और भौतिक स्तर की सभी क्रियाएं इन महत्तर अभिधाओं का उद्गम नहीं परिणाम ही अधिक दीखती हैं जिनकी व्युत्पत्ति उनसे हुई है जो आंशिक रूप में अपने विकसनशील प्रयास में उनपर आश्रित हैं। शक्तियों, प्रभावों और घटनाओं की विशाल श्रेणियां अधिमानस से तथा उच्चतर मन और प्राण के प्रदेशों से हमपर गुप्त रूप से उतरती हैं लेकिन इनमें से केवल

[1] ऋग्वेद में ऐसे वचन हैं जो इस दृष्टि को व्यक्त करते हुए मालूम होते हैं। पृथ्वी (अन्नमय या जड़तत्त्व) को सभी लोकों का आधार कहा गया है या सप्तलोक को धरती की सात भूमिकाएं कहा गया है।

एक अंश, मानों एक संकलन या एक सीमित संख्या ही अपने-आपको भौतिक जगत् के क्रम में प्रकट करके चरितार्थ कर सकती है; शेष भौतिक नाम-रूप में प्रकट होने के लिये उचित समय और परिस्थितियों की प्रतीक्षा करती है ताकि वे उस पार्थिव[1] विकास में अपनी भूमिका अदा कर सकें जो साथ ही अध्यात्म-सत्ता की सभी शक्तियों का भी विकास है।

अन्य जगतों का यह स्वरूप सत्ता के हमारे अपने स्तर को और पार्थिव अभिव्यक्ति में से हमारी अपनी भूमिका को प्रथम महत्त्व देने के सारे प्रयत्नों को पराजित कर देता है। हम अपनी चेतना की गाथा के रूप में भगवान् का निर्माण नहीं करते अपितु हम भौतिक सत्ता में भगवान् की उत्तरोत्तर अभिव्यक्ति के यंत्र हैं। हम देवों को, उनकी शक्तियों को पैदा नहीं करते बल्कि हम जो कुछ देवत्व प्रकट करते हैं वह शाश्वत परम देवों का यहां आंशिक प्रतिबिंब और रूपायन है। हम उच्चतर भूमिकाओं की रचना नहीं करते बल्कि हम ऐसे माध्यम हैं जिनके द्वारा वे अपने प्रकाश, शक्ति और सौंदर्य को भौतिक स्तर पर प्रकृति-शक्ति द्वारा दिये गये किसी भी आकार और क्षेत्र में प्रकट करते हैं। प्राण-जगत् का दबाव यहांपर प्राण को विकास और प्रगति के योग्य बनाता है और यहां उसे ऐसे रूपों में विकसित करता है जिन्हें हम पहले से जानते हैं। वही बढ़ता हुआ दबाव उसे हमारे अंदर अपने बृहत्तर अंतःप्रकाश के लिये अभीप्सा करने के लिये प्रेरित करता है और एक दिन मर्त्य को अपनी वर्तमान असमर्थ और सीमित करती हुई भौतिकता की संकीर्ण सीमाओं से मुक्त करेगा। वह मानसिक जगत् का दबाव है जो यहां मन को विकसित करता और अपने मानसिक आत्म-उत्थापन और विस्तार के लिये उत्तोलक की खोज करने में हमें सहायता करता है ताकि हम अपनी बुद्धि-सत्ता को निरंतर बढ़ा सकें और अपनी जड़-तत्त्व से बंधी भौतिक मानसिकता के कारागार की दीवारों को तोड़ने की आशा कर सकें। अतिमानसिक और आध्यात्म जगतों का दबाव आध्यात्म पुरुष की अभिव्यक्त शक्ति को यहांपर विकसित करने की तैयारी में है और उसके द्वारा भौतिक स्तर पर हमारी सत्ता को अतिचेतन भगवान् की स्वतंत्रता और अनंतता की ओर खोलने के लिये तैयार कर रहा है। केवल वही संपर्क, वही दबाव हमारे अंदर छिपे सर्वचेतन परम देव को उस प्रतीयमान निश्चेतना से मुक्त कर सकता है जो हमारा आरंभबिंदु थी। वस्तुओं के इस क्रम में हमारी मानव चेतना यंत्र और माध्यम है। यह निश्चेतना में से प्रकाश और शक्ति के विकास में वह बिंदु है जहां मुक्ति संभव हो जाती है। हम इसे इससे बड़ी भूमिका नहीं दे सकते, लेकिन यह काफी बड़ी है क्योंकि यह हमारी मानवजाति को

[1] निश्चय ही पार्थिव से हमारा मतलब केवल इस धरती और इसके अस्तित्व-काल से नहीं है। पृथ्वी शब्द का व्यवहार उसके वैदांतिक पृथ्वी के विशालतर धातु-अर्थ में, अंतरात्मा के लिये भौतिक आकार के आवासों की सृष्टि करनेवाले पार्थिव-तत्त्व से है।

विकसनशील प्रकृति के प्रयोजन के लिये अत्यंत महत्त्वपूर्ण बना देती है।

साथ ही हमारे अंतस्तलीय अनुभव में ऐसे तत्त्व हैं जो जड़ भौतिक अस्तित्व पर अन्य जगतों को निरपवाद प्राथमिकता देने के विरुद्ध प्रश्न खड़ा करते हैं। इनमें से एक संकेत यह है कि मृत्यु के उपरांत अंतर्दर्शन की अनुभूति में ऐसे आवासों की स्थायी परिपाटी दिखायी देती है जो पार्थिव परिस्थितियों, पार्थिव प्रकृति और पार्थिव अनुभव का अतिभौतिक दीर्घीकरण मालूम होते हैं। दूसरी बात यह है कि विशेष रूप से प्राणिक जगतों में हम ऐसी रचनाएं देखते हैं जो पार्थिव अस्तित्व की घटिया गतिविधियों से मिलती-जुलती मालूम होती हैं। यहां पहले से ही अंधकार, मिथ्यात्व, अक्षमता और अशुभ के तत्त्व मूर्तिमंत मालूम होते हैं जिनके बारे में हम यह मान चुके हैं कि वे जड़ निश्चेतना में से विकास के बाद के हैं। यह भी एक तथ्य मालूम होता है कि प्राणिक जगत् उन शक्तियों के स्वाभाविक आवास हैं जो मानव जीवन को अधिक-से-अधिक विक्षुब्ध करती हैं। निश्चय ही यह तर्कसंगत है क्योंकि वे हमारी प्राणिक सत्ता द्वारा हमें प्रभावित करती हैं, अतः उन्हें विशालतर और अधिक शक्तिशाली प्राण-सत्ता की शक्तियां होना चाहिये। विकास में मन और प्राण के अवरोहण सत्ता और चेतना के सीमायन के ऐसे अप्रिय परिणाम रचें—यह जरूरी नहीं। अपनी प्रकृति के अनुसार यह अवरोहण ज्ञान का सीमायन है। सत्ता के सत्, चित् और आनंद अपने-आपको न्यूनतर सत्य, शुभ और सौंदर्य तथा उसके अवंरतर सामंजस्य में सीमित कर लेते हैं और संकीर्ण प्रकाश के उन नियमों के अनुसार चलते हैं लेकिन ऐसी गतिविधि में अंधकार, दुःख और अशुभ अनिवार्य व्यापार नहीं हैं। लेकिन अगर हम उन्हें अन्य मन और अन्य प्राण के लोकों में उपस्थित पाते हैं, यद्यपि वे उनपर छाये नहीं रहते बल्कि अपने अलग प्रदेश में बसे रहते हैं, हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचना चाहिये कि वे निम्नतर विकास में से, नीचे से ऊपर की ओर प्रक्षेपण द्वारा आये हैं, यह प्रकृति के अंतस्तलीय भागों में किसी चीज के द्वारा यहां सृष्ट अशुभ के विशालतर रूपायन के फट पड़ने से हुआ है, या फिर वे प्रतिविकासात्मक अवरोहण के समानांतर क्रम के रूप में पहले ही से बने थे। यह ऐसा क्रम है जो विकसनशील आरोहण के लिये आध्यात्म पुरुष की ओर ले जानेवाला सोपान है, ठीक वैसे ही जैसे प्रतिविकासात्मक आध्यात्म पुरुष के अवरोहण के लिये एक सीढ़ी था। बाद की परिकल्पना में ऊपर उठते हुए क्रम का दोहरा प्रयोजन हो सकता है क्योंकि उसके अंदर शुभ और अशुभ वे पूर्व-निर्माण होंगे जिन्हें धरती पर प्रकृति में अंतरात्मा की विकासात्मक वृद्धि के लिये आवश्यक संघर्ष के एक भाग के रूप में विकसित होना है। ये ऐसे निर्माण होंगे जिनका अस्तित्व स्वयं अपने लिये, अपने स्वतंत्र संतोष के लिये होगा। ये रूपायन इन वस्तुओं के पूरे प्रारूप को प्रस्तुत करेंगे, हर एक अपनी अलग प्रकृति में, और साथ ही वे विकसनशील सत्ताओं पर अपना विशेष प्रभाव डालेंगे।

तो विशालतर प्राण के ये जगत् हमारे जगत्-जीवन के अधिक प्रकाशमय और अंधकारमय दोनों रूपायनों को अपने अंदर उस माध्यम में धारण किये रहेंगे जिसमें वे मुक्त रूप से अपनी स्वतंत्र अभिव्यक्तितक,—शुभ या अशुभ के लिये—स्वयं अपने प्रारूप की पूर्ण स्वाधीनता, स्वाभाविक पूर्णता और सामंजस्यतक पहुंच सकेंगे—अगर वस्तुतः इन प्रदेशों में यह भेद लागू होता हो—और यह संपूर्णता और स्वतंत्रता हमारे यहां के जीवन में असंभव है जहां एक अंतिम एकीकरण की ओर ले जानेवाले बहुमुख विकास के क्षेत्र के लिये जरूरी जटिल पारस्परिक क्रिया में सब कुछ घुला-मिला है। क्योंकि हम देखते हैं कि जिसे हम मिथ्या, अंधकारमय या अशुभ कहते हैं वहां उसका अपना सत्य प्रतीत होता है और वह अपने ही प्रारूप से पूरी तरह संतुष्ट होता है क्योंकि वह उसे पूरी अभिव्यंजना के साथ अधिकार में रखता है जिससे उसके अंदर अपनी निजी सत्ता की संतुष्ट शक्ति का भाव पैदा होता है, समस्त परिस्थितियों का उसके जीवन के तत्त्व के साथ एक संगतिपूर्ण अनुकूलीकरण होता है; वह वहां अपनी चेतना का, आत्म-शक्ति का, अपनी सत्ता के आनंद का भोग करता है जो हमारे मनों के लिये घिनौना हो पर खुद अपने लिये संतुष्ट कामना के हर्ष से भरा होता है। प्राण के जो आवेग पार्थिव प्रकृति के लिये विशृंखल और अमर्यादित मालूम होते हैं और यहांपर विकृत और असामान्य लगते हैं वे अपनी सत्ता के निजी प्रदेश में अपने प्रारूप और तत्त्व की स्वतंत्र पूर्त्ति और अबाध क्रीड़ा प्राप्त करते हैं। जो हमारे लिये दिव्य या दानवी, राक्षसी या पैशाचिक और इस कारण अतिप्राकृतिक हैं, उनमें से हर एक अपने क्षेत्र में अपने लिये सामान्य है और जो सत्ताएं इन चीजों को मूर्त्त रूप देती हैं वे उनके लिये आत्म-प्रकृति की भावना और अपने निजी तत्त्व में सामंजस्य प्रदान करती हैं। स्वयं असंगति, संघर्ष, असमर्थता, दुःख-दर्द एक प्रकार की ऐसी प्राण-तुष्टि का अंग बन जाते हैं जो उनके बिना अपने-आपको वंचित और क्षीण अनुभव करेगी। जब इन शक्तियों को हम उनकी पृथक् क्रियाओं में, उन्हें अपने प्राण-प्रासादों का निर्माण करते देखते हैं, जैसा कि वे उन गुप्त जगतों में करती हैं जहां उनकी प्रधानता है, हम अधिक स्पष्ट रूप से उनके उद्भव और उनके अस्तित्व के कारण और साथ ही मानव जीवन पर उनकी पकड़ के कारण और मनुष्य की अपनी अपूर्णता, अपनी विजय और पराजय, सुख-दुःख, हास्य और आंसू, पाप और पुण्य के जीवन के नाटक के प्रति आसक्ति के कारण को भी देख सकते हैं। ये चीजें यहां धरती पर असंतुष्ट और इस कारण संघर्ष और सम्मिश्रण की असंतोषजनक और अंधेरी अवस्था में रहती हैं लेकिन वहां अपने रहस्य और सत्ता के प्रयोजन को प्रकट करती हैं क्योंकि वहां वे अपनी सहजात शक्ति को और अपने स्वभाव के पूर्ण रूप को साथ लिये अपने निजी जगत् और निजी ऐकांतिक वातावरण में प्रतिष्ठित रहती हैं। मनुष्य के स्वर्ग और नरक या ज्योति और अंधकार के लोक

अपनी रचना में चाहे जितने काल्पनिक क्यों न हों, उनका आधार यह अनुभव है कि ये शक्तियां अपने निजी तत्त्व में अस्तित्व रखती हैं और परवर्ती जीवन से मनुष्य के जीवन पर प्रभाव डालती हैं जहां से उसे अपने विकसनशील जीवन के तत्त्व प्राप्त होते हैं।

इसी भांति जैसे प्राण की शक्तियां हमसे परे एक बृहत्तर प्राण में स्वप्रतिष्ठित हैं, पूर्ण और परिपूरित हैं उसी भांति मन की शक्तियां, उसके भाव और तत्त्व, जो हमारी पार्थिव सत्ता को प्रभावित करते हैं, वे भी बृहत्तर मानसिक जगत् में आत्म-प्रकृति की परिपूर्णता के अपने क्षेत्र में प्रतिष्ठित मालूम होते हैं, जब कि यहां मानव जीवन में वे केवल आंशिक रूपायन प्रक्षिप्त करते हैं जिन्हें अन्य शक्तियों और तत्त्वों के साथ मिलने और मिश्रित होने के कारण अपने-आपको स्थापित करने में बहुत कठिनाई होती है; यह मिलन और यह मिश्रण उनकी पूर्णता को दबा देता, उनकी शुद्धि में खोट मिलाता, उनके प्रभाव पर विवाद करता और उसे असफल कर देता है। तो ये अन्य जगत् विकसनशील नहीं बल्कि प्ररूपी हैं। इनके अस्तित्व का एकमात्र तो नहीं, एक कारण यह भी है कि इनमें वे चीजें मिलती हैं जिन्हें सृष्टि की प्रतिविकासात्मक अभिव्यक्ति में उठना चाहिये और साथ ही वे भी जिन्हें विकास में अपनी निजी सार्थकता की संतुष्टि का क्षेत्र मिले, जहां वे अपने निजी अधिकार से रह सकती हैं। यह प्रस्थापित स्थिति वह नींव है जहां से उनकी वृत्तियां और उनकी क्रियाएं विकसनशील प्रकृति की जटिल प्रक्रिया के तत्त्वों के रूप में ढाली जा सकती हैं।

अगर हम इस दृष्टिकोण से पारलौकिक जीवन के बारे में मनुष्य के परंपरागत विवरणों को देखें तो हम पायेंगे कि बहुधा वे एक बृहत्तर प्राण के जगतों की ओर संकेत करते हैं जो पार्थिव प्रकृति में प्राण के बंधनों, कमियों या अपूर्णताओं से मुक्त हैं। स्पष्ट है कि बड़ी हदतक ये विवरण कल्पना के रचे हुए होते हैं लेकिन इसमें अंतर्भास और पूर्वाभास का भी तत्त्व होता है, एक ऐसे अनुभूति होती है कि प्राण क्या हो सकता है और जैसा कि वह निश्चित रूप से अपनी अभिव्यक्त या अनुभवगम्य प्रकृति के किसी क्षेत्र में है। साथ ही किसी सच्चे अंतस्तलीय संपर्क या अनुभव का कोई तत्त्व भी है लेकिन मनुष्य का मन अन्य प्रकृति में जो कुछ देखता, जिसे ग्रहण करता या जिसके संपर्क में आता है उसे अपनी चेतना के रूपों में अनूदित कर लेता है। ये अतिभौतिक वास्तविकताओं के उसके अपने सार्थक रूपों और बिंबों में अनुवाद हैं और इन रूपों तथा बिंबों द्वारा वह वास्तविकताओं के साथ संपर्क जोड़ता है और उन्हें कुछ हदतक मूर्त और प्रभावकारी बना सकता है। मृत्यु के बाद कुछ बदले हुए रूप में पृथ्वी-जीवन के जारी रहने का जो अनुभव होता है उसकी व्याख्या इस तरह के अनुवाद से की जा सकती है लेकिन उसकी यह व्याख्या भी दी जा सकती है कि यह आंशिक रूप में मृत्यु के बाद की

आत्मपरक स्थिति की रचना है जिसमें मनुष्य अन्य लोकों की वास्तविकताओं में प्रवेश करने से पहले अपने अभ्यस्त अनुभव की आकृतियों में निवास करता है। अंशतः यह प्राण-लोकों में से होता हुआ संक्रमण है जहां चीजों का प्रारूप अपने-आपको उन रूपायनों में व्यक्त करता है जो उन चीजों के उद्गम हैं या उनके सजातीय हैं जिनके साथ वह अपने पार्थिव शरीर में आसक्त था और इसलिये शरीर छोड़ने के बाद भी इन चीजों के प्रति उसकी प्राणिक सत्ता का स्वाभाविक आकर्षण रहता है। लेकिन इन सूक्ष्मतर प्राणिक स्थितियों के अतिरिक्त, पारलौकिक जीवन के परंपरागत विवरणों में एक अधिक विरल और उठे हुए तत्त्व के तौर पर, जिनकी गिनती प्रचलित धारणाओं में नहीं है, जीवन की ऐसी स्थितियों का एक उच्चतर क्रम रहता है जो प्राणिक लक्षण की नहीं स्पष्ट रूप से मानसिक होती हैं और कुछ अन्य स्थितियां आध्यात्मिक-मानसिक तत्त्व पर भी आधारित होती हैं। ये उच्चतर तत्त्व सत्ता की ऐसी स्थितियों में रूपायित होते हैं जिनमें हमारे आंतरिक अनुभव उठ सकते हैं या अंतरात्मा प्रवेश कर सकती है। अतः हमने वर्गीकरण के जिस सिद्धांत को स्वीकारा है वह न्यायोचित होता है बशर्ते कि हम यह स्वीकार करें कि अपने अनुभव को व्यवस्थित करने का यह एक तरीका है और अन्य दृष्टिकोणों से निकलनेवाले मार्ग भी संभव हैं। क्योंकि, कोई वर्गीकरण हमेशा उसी सिद्धांत और दृष्टिकोण से प्रामाणिक हो सकता है जिसे उसने अपनाया है जब कि अन्य सिद्धांतों और दृष्टिकोणों से उन्हीं चीजों का और तरह का वर्गीकरण उतना ही प्रामाणिक हो सकता है। लेकिन हमारे प्रयोजन के लिये जो पद्धति हमने अपनायी है वही अत्यंत महत्त्वपूर्ण होती है क्योंकि यह आधारभूत है और अभिव्यक्ति के एक ऐसे सत्य को उत्तर देती है जो अत्यधिक व्यावहारिक महत्त्व रखता है। वह हमें अपने निजी संघटित जीवन तथा प्रकृति की विकासात्मक और प्रतिविकासात्मक गति को समझने में सहायता देती है। साथ ही हम देखते हैं कि अन्य जगत् इस भौतिक विश्व और पार्थिव प्रकृति से एकदम भिन्न चीजें नहीं हैं बल्कि वे अपने प्रभावों द्वारा उसे भेदते और घेरे रहते हैं और उसपर रूपायनकारी और निर्देशिका शक्ति का गुप्त प्रभाव डालते हैं जिसका आसानी से हिसाब नहीं लगाया जा सकता। हमारे परलोकों के ज्ञान और अनुभव का यह संगठन हमें इस प्रभाव के स्वरूप और क्रिया की रेखाओं को जानने की चाबी देता है।

पार्थिव प्रकृति में हमारे विकास के क्षेत्र और संभावनाओं के लिये अन्य लोकों का अस्तित्व और उनका प्रभाव प्राथमिक महत्त्व का तथ्य है। क्योंकि अगर भौतिक विश्व ही अनंत सद्वस्तु की अभिव्यक्ति का एकमात्र क्षेत्र होता और साथ ही उसकी समस्त अभिव्यक्ति का, तो हमें मानना पड़ेगा कि चूंकि जड़ से लेकर आध्यात्मतक उसकी सत्ता के सभी तत्त्व पूरी तरह प्रतीयमान रूप से निश्चेतन शक्ति में अंतर्लीन हैं, जो इस विश्व की प्रथम क्रियाओं का आधार है, अतः वे यहां पूर्ण

रूप से, यहां ऐकांतिक रूप से विकसित किये जा रहे हैं, जिसमें उसके अंदर प्रच्छन्न अतिचेतन के सिवा कोई और सहायता या दबाव नहीं है। तब वस्तुओं की एक ऐसी पद्धति होगी जिसमें जड़-भौतिक का तत्त्व हमेशा अभिव्यक्त अस्तित्व का प्रथम तत्त्व, अनिवार्य और आद्य निर्धारक परिस्थिति या शर्त रहेगा। निःसंदेह, हो सकता है कि आत्मा अंत में एक सीमित हदतक अपनी स्वाभाविक प्रभुता को पा ले, हो सकता है, वह अपने भौतिक जड़तत्त्व के आधार को एक अधिक लचीला यंत्र बना ले जो आत्मा के उच्चतम स्वधर्म और प्रकृति की क्रिया का पूरी तरह निषेधक और विरोधी न रहे जैसा कि वह अपने वर्तमान प्रतिरोध में है। लेकिन आत्मा हमेशा अपने क्षेत्र और अभिव्यक्ति के लिये जड़-भौतिक पर आधारित रहेगी, उसे और कोई क्षेत्र नहीं मिलता। वह उसमें से किसी और तरह की अभिव्यक्ति के लिये बाहर नहीं निकल सकती और उसके अंदर भी वह अपनी सत्ता के किसी और तत्त्व को जड़-भौतिक आधार पर अधिपति बनने के लिये भली-भांति मुक्त नहीं कर सकती। जड़-तत्त्व ही उसकी अभिव्यक्ति का एकमात्र निर्धारक बना रहेगा। प्राण प्रमुख और निर्धारक नहीं बन पाया, मन स्वामी और स्रष्टा नहीं बन पाया। उनकी क्षमता की सीमाएं जड़-तत्त्व की सीमाओं के द्वारा निर्धारित होंगी, जिन्हें वे बढ़ा सकते हैं, उनमें कुछ हेर-फेर कर सकते हैं परंतु उन्हें आमूल रूपांतरित या मुक्त नहीं कर सकते। सत्ता की किसी शक्ति की मुक्त और पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये कोई स्थान न होगा। सब कुछ हमेशा के लिये तमसाच्छन्न करनेवाले जड़-भौतिक रूपायन की परिस्थितियों से सीमित होगा। आत्मा, मन और प्राण का कोई प्राकृत क्षेत्र या उनकी अपनी विशिष्ट शक्ति और तत्त्व के लिये पूर्ण अवकाश न होगा। अगर आत्मा स्रष्टा है और इन तत्त्वों का स्वतंत्र अस्तित्व है, वे जड़तत्त्व की ऊर्जा के उत्पादन, परिणाम या घटनाएं नहीं हैं तो इस आत्म-परिसीमन की अनिवार्यता पर विश्वास करना आसान नहीं है।

लेकिन अगर इस तथ्य को मान लिया जाये कि अनंत सद्वस्तु अपनी चेतना की क्रीड़ा में स्वतंत्र है तो अभिव्यक्त हो सकने से पहले वह इस बात के लिये बाधित नहीं है कि वह अपने-आपको जड़तत्त्व के निर्ज्ञान में अंतर्लीन कर ले। उसके लिये यह संभव है कि वस्तुओं की एकदम विपरीत व्यवस्था पैदा करे, एक ऐसा जगत् बनाये जिसमें आध्यात्मिक सत्ता का एकत्व ही किसी रूपायन या क्रिया का उत्पत्ति-स्थान और प्रथम अवस्था हो, कार्यकारी ऊर्जा गति के अंदर आत्म-अभिज्ञ आध्यात्मिक सत्ता हो और उसके सभी नाम, रूप, आध्यात्मिक एकत्व की आत्म-चेतन क्रीड़ा हों। या वह एक ऐसी व्यवस्था हो सकती है जिसमें आध्यात्म पुरुष की चिन्मय शक्ति या इच्छा की सहजात शक्ति अपनी संभावनाओं को अपने अंदर मुक्त और प्रत्यक्ष रूप से क्रियान्वित करे, उस तरह नहीं जैसा यहां होता है यानी जड़ वस्तु में प्राण-शक्ति के प्रतिबंध लगानेवाले माध्यम द्वारा; वह उपलब्धि

एक ही साथ उसकी अभिव्यक्ति का प्रथम तत्त्व और उसकी समस्त मुक्त और आनंदमय क्रिया का उद्देश्य होगी। या फिर यह एक ऐसी व्यवस्था हो सकती है जिसका उद्देश्य ऐसी सत्ताओं के वैविध्य में एक अनंत पारस्परिक आत्मानंद की मुक्त क्रीड़ा हो जो केवल अपनी प्रच्छत्र या अंतर्निष्ठ एकता के बारे में ही नहीं बल्कि ऐक्य के वर्तमान आनंद के बारे में भी सचेतन हो। ऐसी व्यवस्था में स्वयंभू आनंद के तत्त्व की क्रिया प्रथम तत्त्व और वैश्व परिस्थिति होगी। और फिर यह एक ऐसी जगत्-व्यवस्था हो सकती है जिसमें अतिमानस शुरू से ही प्रमुख तत्त्व होगा। तब अभिव्यक्ति का स्वरूप ऐसी सत्ताओं की बहुलता होगा जो अपने दिव्य व्यक्तित्व की मुक्त और प्रकाशमान क्रीड़ा के द्वारा एकता में अपनी विभिन्नता के समस्त बहुविध आनंद को पा रही होंगी।

यह जरूरी नहीं है कि यह क्रम यहीं रुक जाये क्योंकि हम देखते हैं कि हमारे अंदर मन को जड़ में स्थित प्राण से बाधा पहुंचती है और उसे इन दो भिन्न शक्तियों के प्रतिरोध पर अधिकार पाने में सब तरह की संभव कठिनाइयों का सामना करना होता है, इसी भांति स्वयं प्राण पर जड़ भौतिक की मर्त्यता, तमस् और अस्थिरता के बंधन होते हैं। लेकिन स्पष्ट है कि ऐसी जगत् व्यवस्था हो सकती है जिसमें इन दोनों अक्षमताओं में से कोई भी अस्तित्व की प्रथम परिस्थितियों का अंश न हो। ऐसे जगत् की संभावना है जिसमें मन शुरू से ही प्रमुख होगा, सुनम्य पदार्थ के रूप में स्वयं अपने तत्त्व या जड़तत्त्व पर क्रिया करने के लिये स्वतंत्र होगा या जहां जड़-पदार्थ, बिल्कुल स्पष्ट रूप में, वैश्व मानसिक शक्ति का जीवन में स्वयं अपने ऊपर क्रिया करने का परिणाम होगा। यहां वास्तविकता में ठीक ऐसा ही है लेकिन यहां मानसिक शक्ति शुरू से ही अंतर्लीन है, लंबे कालतक अवचेतन रही है और जब ऊपर उभर भी आती है तो कभी अपने ऊपर मुक्त अधिकार नहीं पाती बल्कि आवरण चढ़ानेवाले द्रव्य के आधीन रहती है, जब कि वहां उसे अपने ऊपर अधिकार होगा, वह अपने उस उपादान की स्वामिनी होगी जो प्रधानतः भौतिक विश्व में जैसा है उसकी अपेक्षा कहीं अधिक सूक्ष्म और नमनीय होगा। इसी भांति प्राण की अपनी जगत्-व्यवस्था हो सकती है जहां वह प्रमुख होगा, अपनी निजी अधिक नमनीय और मुक्त रूप से परिवर्तनशील कामनाओं और प्रवृत्तियों को फैला सकेगा, जहां हर क्षण विघटनकारी शक्तियां उसे तंग न करती रहेंगी और इसलिये मुख्य रूप से वह आत्म-संरक्षण की चिंता में नहीं लगा रहेगा और न अपनी इस स्थिति में संकटपूर्ण तनाव के कारण अपनी क्रीड़ा में सीमित रहेगा जो मुक्त रूपायन, मुक्त आत्मतुष्टि और मुक्त साहसिकता की प्रवृत्तियों को सीमित करती है। सत्ता की अभिव्यक्ति में प्रत्येक तत्त्व की प्रमुखता एक शाश्वत संभावना है। यह मानी हुई बात है कि ये तत्त्व अपनी क्रियाशील शक्ति और क्रिया-विधि में स्पष्ट रूप से अलग हैं यद्यपि अपने मौलिक उपादान में एक ही हैं।

इससे कोई फर्क न पड़ता अगर यह कोई दार्शनिक संभावना या सच्चिदानंद की सत्ता में ऐसी संभाव्यता ही होती जिसे वह कभी चरितार्थ नहीं करता या जिसे उसने अभीतक चरितार्थ नहीं किया है या अगर चरितार्थ किया भी है तो अभीतक भौतिक विश्व में रहनेवाली सत्ताओं की चेतना के क्षेत्र में नहीं लाया है। लेकिन हमारा सारा आध्यात्मिक और चैत्य अनुभव भावात्मक रूप से साक्षी है और हमारे आगे उच्चतर जगतों और सत्ता की अधिक मुक्त भूमियों के बारे में सतत और अपने मुख्य तत्त्वों में अपरिवर्तनशील साक्ष्य प्रस्तुत करता है। आधुनिक विचार का बहुत बड़ा भाग इस अंध-विश्वास के साथ बंधा हुआ है कि केवल भौतिक अनुभव या भौतिक इन्द्रियों पर आधारित अनुभव ही सच्चा है और भौतिक अनुभव का विश्लेषण केवल तर्क-बुद्धि के द्वारा ही परखा जा सकता है और बाकी सब भौतिक अनुभव और भौतिक सत्ता का ही परिणाम है और उसके परे जो कुछ है वह भ्रांति, आत्मसंभ्रम और मतिभ्रम है; लेकिन चूंकि हम इस विचार के साथ बंधे हुए नहीं हैं इसलिये हम इस साक्ष्य को स्वीकार करने और इन लोकों की वास्तविकता को मानने के लिये स्वतंत्र हैं। हम देखते हैं कि वे व्यावहारिक रूप से भौतिक विश्व के सामंजस्य से भिन्न सामंजस्य हैं। वे, जैसा कि "स्तर" शब्द से प्रकट होता है, सत्ता के सोपान में अलग-अलग तल पर हैं और अपने तत्त्वों की भिन्न पद्धति और व्यवस्था को अपनाते हैं। अपने वर्तमान प्रयोजन के लिये हमें इसकी जांच करने की जरूरत नहीं है कि क्या वे हमारे जगत् के साथ देश और काल में ठीक-ठीक मेल खाते हैं या देश के किसी और क्षेत्र में, काल की किसी और धारा में गति करते हैं—दोनों ही हालतों में यह अधिक सूक्ष्म पदार्थ में और अन्य गतियों में है। हमारा केवल इतने के साथ सीधा संबंध है कि यह जानें कि क्या वे विभिन्न विश्व हैं, हर एक अपने-आपमें पूर्ण है, और किसी तरह दूसरों के साथ न मिलते, न परस्पर-संकर करते या प्रभाव डालते हैं या वे सत्ता के एक ही श्रेणीबद्ध और आपस में ताना-बाना बनाते हुए तंत्र के अलग-अलग क्रम हैं, अतः एक जटिल वैश्व-तंत्र के भाग हैं। यह तथ्य कि वे हमारी मानसिक चेतना के क्षेत्र में प्रवेश कर सकते हैं स्वभावतः दूसरे विकल्प के औचित्य के बारे में संकेत देता है लेकिन वह अपने-आपमें पूरी तरह निश्चायक न होगा। लेकिन हम जो देखते हैं वह तो यह है कि ये उच्चतर स्तर वस्तुतः हर क्षण हमारी सत्ता के स्तर के साथ संसर्ग रखते और उसपर क्रिया करते हैं, यद्यपि यह क्रिया स्वभावतः हमारी सामान्य जाग्रत् या बाह्य चेतना के लिये उपस्थित नहीं होती क्योंकि वह अधिकांश में भौतिक जगत् के संपर्कों को ग्रहण करने और उनका उपयोग करने में सीमित रहती है; लेकिन, जैसे ही हम अपनी अंतस्तलीय चेतना में लौटते हैं या अपनी जाग्रत् चेतना को भौतिक संपर्कों के क्षेत्र से परे ज्यादा बड़ा कर लेते हैं, हम इस उच्चतर क्रिया की किसी चीज से कुछ-कुछ अभिज्ञ हो उठते हैं। हम यह भी देखते हैं कि कुछ विशेष

परिस्थितियों में शरीर में रहते हुए भी मानव सत्ता इन उच्चतर भूमियों में अपने-आपको आंशिक रूप से प्रक्षिप्त कर सकती है। सुतरां उसे, जब वह शरीर से बाहर हो तो यह जरूर कर सकना चाहिये और तब और भी ज्यादा पूरी तरह कर सकना चाहिये क्योंकि तब शरीर के साथ बंधे भौतिक जीवन को अक्षम बनानेवाली परिस्थिति न रहेगी। इस संबंध और स्थानांतरण की शक्ति के परिणाम बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। एक ओर वे तुरंत उस प्राचीन परंपरा का औचित्य अंततः एक वास्तविक संभावना के रूप में सिद्ध करते हैं कि भौतिक शरीर के विघटन के बाद मनुष्य की सचेतन सत्ता का भौतिक लोकों से भिन्न लोकों में कम-से-कम कुछ समय के लिये अस्थायी प्रवास अवश्य होता है। दूसरी ओर वे हमारे लिये भौतिक जीवन पर उच्चतर भूमिकाओं की एक ऐसी क्रिया की संभावना खोल देते हैं जो उन शक्तियों को मुक्त कर सकती है जिनका वे प्रतिनिधित्व करती हैं, उस विकसनशील अभिप्राय के लिये जो उनके जड़-तत्त्व में मूर्तिमान होने के तथ्य के नाते ही अंतर्निहित है—वे शक्तियां हैं प्राण, मन और आध्यात्म शक्ति।

ये जगत् अपने आदि सृजन में भौतिक विश्व के पीछे के नहीं, उससे पहले के हैं, भले काल में न हों, अनुवर्ती क्रम में तो हैं ही। क्योंकि भले एक आरोहणकारी और अवरोहणकारी वर्गीकरण क्यों न हो, इस आरोहणकारी वर्गीकरण को अपने प्रमुख स्वभाव के अनुसार जड़-प्रकृति में विकसनशील आविर्भाव के लिये आयोजन होना चाहिये, उसके उद्योग के लिये एक रचनात्मक शक्ति होना चाहिये, उसके अनुकूल और प्रतिकूल तत्त्वों में योगदान देना चाहिये, उसे केवल पार्थिव विकास का परिणाम नहीं होना चाहिये क्योंकि वह न तो तर्क-संगत संभाव्यता है न उसका कोई आध्यात्मिक या क्रियाशील और व्यावहारिक अर्थ है। दूसरे शब्दों में, उच्चतर लोक निम्नतर भौतिक विश्व के, उदाहरण के लिये भौतिक निश्चेतना में स्थित सच्चिदानंद के दबाव के कारण अस्तित्व में नहीं आये हैं या फिर उसकी सत्ता की प्रेरणा के द्वारा जब वह निश्चेतना में से प्राण, मन और आध्यात्म सत्ता में आती है या ऐसे लोकों या भूमियों की रचना करने की आवश्यकता का अनुभव करती है जिनमें उन तत्त्वों की अधिक स्वतंत्र क्रीड़ा होगी और जिनमें मानव आत्मा अपनी प्राणिक, मानसिक या आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को सबल बना सकेगी तो उनसे भी ये लोक अस्तित्व में नहीं आये हैं। और वे स्वयं मानव अंतरात्मा की रचनाएं तो और भी कम हैं, चाहे स्वप्न कह लो या मानवजाति का भौतिक चेतना की सीमाओं से परे अपनी गतिशील और सृजनात्मक सत्ता में निरंतर आत्म-प्रक्षेपणों का परिणाम। इस दिशा में एकमात्र चीज, जिसका मनुष्य स्पष्ट रूप से सृजन करता है, वह इन लोकों का अपनी शरीरी चेतना में प्रतिवर्ती बिंबों का सृजन है, और अपनी अंतरात्मा में उनका प्रत्युत्तर देने की, उनके बारे में अभिज्ञ होने की और सचेतन रूप से भौतिक लोक की क्रियाओं के साथ उनके प्रभावों के आपस में गुंथने की

क्षमता का सृजन है। वह निश्चय ही अपने उच्चतर प्राण और मन की क्रियाओं के परिणामों या प्रक्षेपणों का योगदान इन लोकों की क्रियाओं में कर सकता है लेकिन अगर ऐसा है तो ये प्रक्षेपण, आखिर, उच्चतर लोकों का स्वयं अपनी ओर लौटना है, धरती से उनकी ऐसी शक्तियों का लौटना जो उनसे पार्थिव मन में उतरी हैं, चूंकि यह उच्चतर प्राण और मन की क्रिया अपने-आपमें ऊपर से संचारित प्रभावों का परिणाम होती है। यह भी संभव है कि वह इन अतिभौतिक लोकों के लिये किसी विशेष प्रकार के वस्तुनिष्ठ उपलोकों की रचना करे या कम-से-कम उनमें से निचलों के लिये अर्द्ध-अवास्तविक प्रकार के परिवेश तैयार करे जो सच्चे जगतों की जगह उसके सचेतन मन और प्राण के अपने बनाये हुए आवरण हों, वे उसकी अपनी सत्ता की परछाइयां, एक ऐसा कृत्रिम पर्यावरण होते हैं जो उन अन्य लोकों के साथ मेल खाता है जिन्हें चित्रित करने का उसने अपने जीवनकाल में प्रयत्न किया हो—उसकी सचेतन सत्ता की मानवशक्ति में बिंब रचने की क्षमता द्वारा प्रक्षिप्त स्वर्ग और नरक। लेकिन इन दोनों में से किसी योगदान का अर्थ यह हर्गिज नहीं होता कि सत्ता की किसी ऐसी वास्तविक भूमि का पूर्ण सृजन हो जो अपने अलग तत्त्व पर आधारित हो और उसके अनुसार क्रिया करती हो।

तो ये भूमियां और ये तंत्र कम-से-कम उसके सम-सामयिक और सहवर्ती तो हैं ही जो हमारे आगे अपने-आपको भौतिक विश्व के रूप में उपस्थित करता है। हम इस निष्कर्ष पर आये हैं कि भौतिक सत्ता में प्राण, मन और आत्मा का विकास मानने से पहले उनके अस्तित्व को मानना जरूरी है। क्योंकि यहांपर इन शक्तियों का विकास दो आपस में सहयोग करनेवाली शक्तियों के द्वारा होता है, एक नीचे से ऊपर की ओर चढ़नेवाली शक्ति, एक ऊपर की ओर खींचनेवाली और ऊपर से नीचे की ओर दबाव डालनेवाली शक्ति। क्योंकि निश्चेतन के अंदर, जो कुछ अंदर छिपा हुआ है उसे बाहर लाने की जरूरत है और उच्चतर लोकों में श्रेष्ठतर तत्त्वों का दबाव है जो न केवल इस सामान्य आवश्यकता को अपने-आपको चरितार्थ करने में सहायता देता है बल्कि बड़ी हदतक वे विशेष उपाय भी निर्धारित कर सकता है जिनसे अंततः उसे चरितार्थ किया जा सके। ऊपर की ओर खींचनेवाली यह क्रिया और यह दबाव, यह ऊपर से आग्रह ही भौतिक स्तर पर आध्यात्मिक, मानसिक और प्राणिक जगतों के सतत प्रभाव का कारण स्पष्ट करता है। यह स्पष्ट है कि अगर यह विश्व जटिल है और इसके सात तत्त्व उसके तंत्र के हर भाग में एक-दूसरे के साथ गुंथे हुए हैं अतः स्वाभाविक रूप से जब कभी वे आपस में एक-दूसरे के संपर्क में आ सकें तो एक-दूसरे पर क्रिया करने और उत्तर-प्रत्युत्तर देने के लिये आकर्षित होते हैं। वहां ऐसी क्रिया, सतत दबाव और प्रभाव अनिवार्य परिणाम है और उन्हें अभिव्यक्त विश्व के स्वरूप में ही आवश्यक रूप से अंतर्लीन होना चाहिये।

उच्चतर शक्तियों और तत्त्वों का स्वयं अपनी भूमिकाओं से पार्थिव सत्ता और प्रकृति पर अंतस्तलीय पुरुष द्वारा लगातार गुप्त रूप से आनेवाली क्रिया का कोई प्रभाव और महत्त्व होना ही चाहिये। यह अंतस्तलीय अपने-आप निश्चेतना से जन्मे इस जगत् में उन भूमिकाओं का प्रक्षेपण है। उसका प्रथम प्रभाव रहा है जड़-भौतिक में से प्राण और मन की मुक्ति। उसका अंतिम प्रभाव रहा है पार्थिव जीव में आध्यात्मिक चेतना, आध्यात्मिक इच्छा और जीवन के एक आध्यात्मिक अर्थ के उभरने में सहायता देना; इसीसे वह पूरी तरह से अपने बाह्यतम जीवन में ही तल्लीन नहीं रहता, साथ-ही-साथ मन के व्यापारों और रुचियों में अनन्य रूप से ही नहीं लगा रहता, बल्कि उसने अंतर में देखना, अपने आंतरिक पुरुष, अपने आध्यात्मिक पुरुष को खोजना, पृथ्वी और उसकी सीमाओं को पार करने की अभीप्सा करना सीख लिया है। जैसे-जैसे वह अधिकाधिक अंदर की ओर बढ़ता है, उसकी मानसिक, प्राणिक और आध्यात्मिक सीमाएं विस्तृत होने लगती हैं, जो बंधन प्राण मन और आध्यात्म पुरुष को अपनी पहली सीमाओं में जकड़े हुए थे, ढीले हो जाते या टूट जाते हैं और मानव मनोमय पुरुष, आत्मा और जगत् के विशालतर राज्य की ऐसी झांकियां पाना शुरू करता है जो पहले के पार्थिव जीवन के लिये बंद थीं। निःसंदेह जबतक वह मुख्य रूप से अपनी सतह पर रहता है वह केवल अपने सामान्य संकीर्ण जीवन की जमीन पर एक प्रकार की आदर्श, काल्पनिक और विचारात्मक अधिरचना ही बना सकता है। लेकिन अगर वह भीतर की ओर गति करता है, जिसे स्वयं उसका उच्चतम अंतर्दर्शन उसके आगे उसकी सबसे बड़ी आध्यात्मिक आवश्यकता के रूप में रखता है, तो वह वहां, अपनी आंतरिक सत्ता में एक बृहत्तर चेतना और बृहत्तर प्राण को पायेगा। भीतरी क्रिया और ऊपर से आनेवाली क्रिया जड़-भौतिक के नियम की प्रधानता को अभिभूत कर सकती, निश्चेतना की शक्ति को घटा और अंत में समाप्त कर सकती है, चेतना के क्रम को उल्टा कर सकती, जड़ के स्थान पर आत्मा को उसकी सत्ता के सचेतन आधार के रूप में रख सकती और आत्मा की उच्चतर शक्तियों को प्रकृति में शरीरस्थ जीव के जीवन में अपनी संपूर्ण और विशिष्ट अभिव्यक्ति पाने के लिये मुक्त कर सकती है।

अध्याय २२

पुनर्जन्म और अन्य लोक; कर्म, जीव और अमरता

अस्माल्लोकात्प्रेत्य; एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य; एतं प्राणमयमात्मान-मुपसंक्रम्य, एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य; एतं विज्ञानमयमात्मान-मुपसंक्रम्य; एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य; इमांल्लोकान्कामान्नी कामरूप्यनुसञ्चरन्।

इस जगत् से जाते समय वह भौतिक आत्मा में संक्रमण करता है, प्राणमय आत्मा में संक्रमण करता है, मनोमय आत्मा में संक्रमण करता है, ज्ञानमय आत्मा में संक्रमण करता है, आनंदमय आत्मा में संक्रमण करता है। वह इन लोकों में अपनी इच्छा के अनुसार विचरता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् ३.१०.५

अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति,
स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति,
यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते,
यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते . . .
तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य।
प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम्।
तस्माल्लोकात्पुनरैयस्मै लोकाय कर्मणे॥

वस्तुतः वे कहते हैं कि सचेतन पुरुष कामनामय है परंतु जैसी उसकी कामना होती है वैसी ही इच्छा होती है और जैसी उसकी इच्छा होती है वैसा ही वह कर्म करता है, और जैसा उसका कर्म होता है, वह उसीके फल को प्राप्त करता है . . . कर्म[1] से चिपका हुआ वह अपने सूक्ष्म शरीर में वहां वहां जाता है जहां जहां उसका मन चिपका होता है और तब कर्म के अंततक, वह यहां जो भी कर्म करता रहा है उसका अंत करके, वह उस लोक से इस लोक में कर्म के लिये वापिस आता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् ४.४.५, ६

[1] उपनिषद् के कथन में व्यक्त इस दृष्टि के अनुसार इस जीवन का कर्म परलोक के जीवन द्वारा समाप्त हो जाता है जहां उसके परिणामों की परिपूर्ति होती है और जीव नये कर्मों के लिये पृथ्वी पर लौट आता है। इस लोक में जन्म, कर्म, जीव का अन्य लोकों में संक्रमण और उसका यहां फिर से लौट आना—इन सबका कारण जीव की अपनी चेतना, इच्छा और कामना ही है।

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता
कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता। . . .
प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः॥ . . .
सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव . . . दृष्टः॥
बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।
नैष स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः,
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते॥

गुणों से सज्जित, कर्मों का कर्ता और उनके परिणामों का रचयिता, वह अपने कर्मों का फल पाता है। वह जीवन का स्वामी है और अपनी यात्रा में अपने कर्मों के अनुसार गति करता है। उसमें भाव और अहं है, वह अपनी बुद्धि और अपनी आत्मा के गुणों से जाना जाता है, बाल की नोक के सौवें भाग से भी छोटा जीवित सत्ता का वह जीव अनंतता के योग्य है। वह न नर है न नारी और न ही नपुंसक है। वह जिस शरीर को अपनाता है उसीके साथ एक हो जाता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् ५.७-१०

मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः॥

मर्त्य होते हुए उन्होंने अमरता प्राप्त की।

ऋग्वेद १.११०.४

पुनर्जन्म के बारे में हमारा पहला निष्कर्ष यह रहा है कि जीव का उत्तरोत्तर पार्थिव शरीरों में जन्म लेना पार्थिव प्रकृति में अभिव्यक्ति के मूल अर्थ और प्रक्रिया का अनिवार्य परिणाम है। लेकिन इस निष्कर्ष से अन्य समस्याएं और परिणाम पैदा होते हैं जिन्हें स्पष्ट करना जरूरी है। यहां पहला प्रश्न पुनर्जन्म की प्रक्रिया का उठता है। अगर वह प्रक्रिया तुरंत उत्तरोत्तर जन्म की नहीं है, जिसमें मृत्यु के बाद तुरंत जन्म नहीं होता, जिससे एक ही व्यक्ति के जीवनों की अविच्छिन्न धारा बनी रहे, यदि बीच में अंतराल आते हों तो इससे यह प्रश्न उठता है कि जो अन्य लोक इन अंतरालों के दृश्य बनते होंगे उनमें जाने और पृथ्वी-जीवन में वापिस आने का विधान और प्रक्रिया क्या है। तीसरा प्रश्न है स्वयं आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया और उन परिवर्तनों के बारे में जिन्हें जीव को अपने जन्म-जन्मांतर की यात्रा में, अपने अभियान की भूमिकाओं में से गुजरते हुए अनुभव करना है।

अगर भौतिक विश्व ही एकमात्र अभिव्यक्त जगत् होता या वह एक बिल्कुल ही अलग जगत् होता तो विकसनशील प्रक्रिया के अंश के रूप में पुनर्जन्म एक शरीर से दूसरे शरीर में देहांतरण के सीधे अनुक्रमतक सीमित रहता, मृत्यु के तुरंत बाद किसी अंतराल की संभावना के बिना नया जन्म होता—जीव की यात्रा एक अनिवार्य, यांत्रिक जड़-पद्धति के अविच्छिन्न अनुक्रम में एक आध्यात्मिक परिस्थिति होती। तब जीव जड़ से स्वतंत्र न होता, वह सदा यंत्र, शरीर के साथ बंधा रहता और अपने अभिव्यक्त जीवन के सातत्य के लिये उसपर आश्रित रहता। लेकिन हमने देखा है कि मृत्यु के बाद और अगले जन्म से पहले अन्य लोकों में जीवन होता है, एक ऐसा जीवन जो पार्थिव जीवन का, पुराने जीवन का अनुवर्ती और उसके अगले पड़ाव का उपक्रम होता है। अन्य लोक हमारे जगत् के सहवर्ती हैं, वे एक जटिल तंत्र के अंश हैं और सदा भौतिक जगत् पर क्रिया करते रहते हैं, जो उनकी अंतिम और सबसे निचली अवस्था है, वे उसकी प्रतिक्रियाओं को ग्रहण करते, एक गुप्त संसर्ग और आदान-प्रदान को स्वीकार करते हैं। मनुष्य इन भूमिकाओं के बारे में सचेतन हो सकता है, अमुक अवस्थाओं में अपनी चेतन सत्ता को उनमें प्रक्षिप्त भी कर सकता है, आंशिक रूप से जीवन-काल में और यह अनुमान किया जा सकता है कि शरीर के विघटन के बाद पूरी संपूर्णता से कर सकेगा। तब सत्ता के अन्य जगतों या लोकों में प्रक्षेपण की ऐसी संभावना इतने पर्याप्त रूप में वास्तविक हो जाती है कि वह अपनी चरितार्थता को व्यावहारिक रूप से जरूरी बना देती है। अगर मनुष्य को शुरू से ही आत्म-स्थानांतरण की ऐसी शक्ति प्राप्त हो तो मानव रूप में पार्थिव जीवन के तुरंत बाद शायद अटल नियम के रूप में उसे चरितार्थ होना चाहिये और अगर मनुष्य केवल क्रमशः प्रगति के द्वारा ही वहांतक पहुंचता हो तो ऐसा अंततक होना चाहिये। क्योंकि यह संभव है कि आरंभ में वह इतने पर्याप्त रूप से विकसित न हो कि अपने प्राण या अपने मन को बृहत्तर प्राणमय लोकों या मनोमय लोकों में ले जा सके और एक पार्थिव शरीर से दूसरे में तुरंत देहांतरण को ही अपने स्थायित्व की एकमात्र वर्तमान संभावना स्वीकार करने के लिये बाधित हो।

जन्म-जन्मांतर के बीच अंतराल होने और अन्य लोकों में जाने की आवश्यकता दो कारणों से होती है : मनुष्य की मिश्र प्रकृति की मनोमय और प्राणमय सत्ताओं में इन लोकों के प्रति सजातीयता के कारण आकर्षण होता है और परिपूर्ण जीवन-अनुभव को आत्मसात् करने के लिये, जिसे त्यागना है उसे धीरे-धीरे निकालने और नये पार्थिव अनुभव तथा नये शरीर-धारण की तैयारी करने के लिये अंतराल की उपयोगिता या आवश्यकता होती है। लेकिन आत्मसात् करने की अवधि की यह आवश्यकता और हमारी सत्ता के सजातीय भागों के लिये अन्य लोकों का यह आकर्षण तभी प्रभावकारी हो सकता है जब मानसिक और प्राणिक व्यक्तित्व अर्द्ध-

पशु भौतिक मानव में पर्याप्त रूप से विकसित हो जायें; तबतक उनका अस्तित्व नहीं भी हो सकता या सक्रिय हुए बिना रह सकता है। जीवन के अनुभव इतने सरल या प्रारंभिक होंगे जिन्हें आत्मसात् करने की जरूरत नहीं और प्राकृतिक सत्ता इतनी अनगढ़ होगी कि जटिल आत्मसात् करने की प्रक्रिया के लिये सक्षम न हो। उच्चतम भाग भी इतने पर्याप्त रूप से विकसित न होंगे कि वे अपने-आपको सत्ता के उच्चतर लोकोंतक उठा सकें। अन्य लोकों के साथ ऐसे संबंधों के बिना एक ऐसे पुनर्जन्म की परिकल्पना हो सकती है जो सतत देहांतरण को ही स्वीकार करे। यहां अन्य लोकों का अस्तित्व और अन्य लोकों में अंतरात्मा की यात्रा वास्तविक नहीं होते, या किसी भी अवस्था में तंत्र के आवश्यक भाग नहीं होते। एक और परिकल्पना हो सकती है जिसमें यह यात्रा सबके लिये आवश्यक नियम है और तुरंत पुनर्जन्म नहीं होता। अंतरात्मा को नये जन्म और नये अनुभव की तैयारी के लिये अंतराल की जरूरत होती है। इन दोनों परिकल्पनाओं के बीच समझौता भी संभव है। हो सकता है कि देहांतरण उस समय का पहला प्रचलित नियम हो जब अंतरात्मा उच्चतर लोकों के जीवन के लिये अपरिपक्व हो और अन्य लोकों में गमन परवर्ती विधान हो। एक तीसरी अवस्था भी हो सकती है, जिसकी ओर कभी-कभी संकेत दिया जाता है कि अंतरात्मा इतनी सुविकसित हो, उसके प्राकृतिक अंग आध्यात्मिक रूप से इतने सजीव हों कि उसे अंतराल की जरूरत ही न हो बल्कि वह तुरंत, अंतर्विराम की अवधि में देर लगाये बिना अधिक तेज विकास के लिये पुनर्जन्म ले सकती है।

धर्मों से चले हुए प्रचलित विचारों में, जो पुनर्जन्म को मानते हैं, एक असंगति है जिसे, जैसा कि प्रचलित मान्यताओं में होता है, सुसंगत बनाने के लिये कोई कष्ट नहीं उठाया गया है। एक ओर यह मान्यता है कि, जो काफी अस्पष्ट लेकिन काफी व्यापक है कि मृत्यु के बाद तुरंत या लगभग तुरंत दूसरा शरीर धारण कर लिया जाता है। दूसरी ओर यह प्रचलित पुराना धार्मिक अंध-विश्वास है कि मृत्यु के बाद स्वर्ग या नरक में, या हो सकता है, अन्य लोकों या सत्ता की स्थितियों में जीवन होता है जिसे जीव ने इस भौतिक जीवन में अपने पाप या पुण्य द्वारा प्राप्त किया या कमाया है। धरती पर लौटना केवल तभी हो सकता है जब वह पाप और पुण्य क्षीण हो जाये और जीव दूसरे पार्थिव जीवन के लिये तैयार हो जाये। यह असंगति लुप्त हो जायेगी यदि हम एक परिवर्तनशील गति को स्वीकार करें जो विकास की उस अवस्था पर निर्भर है जहां जीव प्रकृति में अपनी अभिव्यक्ति में पहुंच गया हो। तब सब कुछ पार्थिव जीवन की अपेक्षा उच्चतर स्थिति में प्रवेश करने की उसकी क्षमता की मात्रा पर निर्भर होगा। लेकिन पुनर्जन्म की सामान्य धारणा में आध्यात्मिक विकास का विचार स्पष्ट नहीं होता। यह केवल इस बात में निहित होता है कि जीव को ऐसे बिंदुतक पहुंचना है जहां वह पुनर्जन्म की

आवश्यकता का अतिक्रमण करने और अपने शाश्वत उद्गम में लौट जाने के योग्य हो जाये। लेकिन अगर कोई क्रमिक और श्रेणीबद्ध विकास न हो तो उस बिंदुतक अस्त-व्यस्त और टेढ़े-मेढ़े रास्ते से भी पहुंचा जा सकता है जिसका विधान आसानी से निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता। प्रश्न का निश्चित समाधान चैत्य खोज-बीन और अनुभव पर निर्भर है। यहां हम केवल इस बात पर विचार कर सकते हैं कि क्या वस्तुओं के स्वभाव में या विकसनशील प्रक्रिया के तर्क में इन दोनों में से किसी गति के लिये स्पष्ट या गुप्त आवश्यकता है—एक शरीर से दूसरे शरीर में संचार या अपने-आपको मूर्त रूप देनेवाले चैत्य तत्त्व के नये जन्म-ग्रहण के लिये विलम्ब या अंतराल की जरूरत है।

इस तथ्य से कि भिन्न-भिन्न जगत्-तत्त्व एक-दूसरे में गुंथे हुए हैं और एक तरह से एक-दूसरे पर आश्रित हैं, और इस तथ्य का हमारे आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया पर जो असर होना चाहिये इससे अन्य लोकों में जीवन की एक तरह की अर्द्ध-आवश्यकता, एक गतिशील और व्यावहारिक न कि मूलभूत आवश्यकता पैदा होती है। लेकिन पृथ्वी का अधिक खिंचाव या आकर्षण या विकसनशील प्रकृति की प्रबल भौतिकता कुछ समय के लिये इस आवश्यकता का प्रतिकार कर सकती है। हमारा यह विश्वास कि आरोही जीव मानव शरीर में आता और इस रूप में बार-बार जन्म लेता है और इसके बिना वह मानव विकास को पूरा नहीं कर सकता, तर्कणाशील बुद्धि के दृष्टिकोण से इस आधार पर आश्रित है कि जीव का पार्थिव जीवन की ऊंची-से-ऊंची श्रेणियों में प्रगतिशील रूप से संक्रमण और एक बार मानव स्तरतक पहुंच जाने के बाद बार-बार मानव शरीर लेना—प्रकृति के विकास के लिये आवश्यक अनुक्रम है। स्पष्ट है कि धरती पर एक संक्षिप्त-सा जीवन विकास के उद्देश्य के लिये अपर्याप्त है। मानव पुनर्जन्म की पहली अवस्थाओं की शृंखला में, प्राथमिक मानवता की अवधि में, पहली दृष्टि में बारंबार तुरंत होनेवाले देहांतरण की अमुक संभावना रहती है, संगठित प्राण-ऊर्जा के अवसान या निष्कासन पर उसके परिणाम-स्वरूप भौतिक विघटन होने पर, जिसे हम मृत्यु कहते हैं, जब पहला शरीर विलीन हो जाता है तो नये जन्म में तुरंत नये मानव रूप की पुनरावृत्ति की संभावना रहती है। लेकिन विकसनशील प्रक्रिया की कौन-सी आवश्यकता तुरंत होनेवाले पुनर्जन्मों को बाधित करती है? स्पष्ट है कि यह केवल तभीतक अनिवार्य होगा जबतक चैत्य व्यक्तित्व—प्रच्छन्न आंतरात्मिक सत्ता नहीं बल्कि प्राकृतिक सत्ता में आंतरात्मिक रूपायन—कम विकसित हो, उसकी वृद्धि अपर्याप्त हुई हो, इतने अपर्याप्त रूप से रूपायित हो कि वह इस जीवन की मानसिक, प्राणिक और शारीरिक वैयक्तिकता के अविच्छिन्न सातत्य पर निर्भर होकर ही रह सकता हो। वह अभीतक अपने-आपमें बने रहने में, अपने पिछले मानसिक रूपायन और प्राणिक रूपायन को त्यागने और उपयोगी अंतराल के बाद नये

रूपायन रचने में असमर्थ होता है। वह अपने प्राथमिक अनगढ़ व्यक्तित्व को सुरक्षित बनाये रखने के लिये तुरंत उसे एक नये शरीर में स्थानांतरित करने के लिये बाधित होगा। यह बात संदेहास्पद है कि क्या ऐसे किसी पूर्णतः अपर्याप्त विकास को ऐसी सत्ता पर आरोपित करना उचित होगा जो इतने प्रबल रूप में व्यष्टिभाव को प्राप्त कर चुकी है कि वह मानव चेतनातक जा पहुंची है। अपनी निम्नतम सामान्यता में भी मानव व्यष्टि एक ऐसी अंतरात्मा है जो एक सुनिश्चित मानसिक सत्ता के द्वारा कार्य करती है, उसका मन चाहे जितना कुगठित क्यों न हो, चाहे जितना सीमित और बौना क्यों न हो, भौतिक और प्राणिक चेतना में चाहे जितना बंद और अपने-आपको अपने निम्नतर रूपायनों से अलग करने में अक्षम या अनिच्छुक क्यों न हो। फिर भी हम यह मान सकते हैं कि नीचे की ओर को इतने जोर का आकर्षण होता है जो सत्ता को तेजी करने के लिये बाधित करता है कि वह भौतिक जीवन को तुरंत फिर से शुरू करे क्योंकि उसका स्वाभाविक रूपायन सचमुच किसी और चीज के लिये उपयुक्त नहीं है या किसी उच्चतर स्तर के लिये अजनबी है। या फिर उसका जीवन-अनुभव इतना संक्षिप्त और अपूर्ण हो सकता है कि अंतरात्मा को उसे जारी रखने के लिये तुरंत पुनर्जन्म लेना पड़े। प्रकृति की प्रक्रिया की जटिलता में अन्य आवश्यकताएं, प्रभाव या कारण भी हो सकते हैं जैसे पार्थिव कामना की प्रबल इच्छा जो अपनी पूर्ति के लिये दबाव डाले जो एक नये शरीर में व्यक्तित्व के उसी आग्रही रूप को तुरंत देहांतरण के लिये बाधित करे। चैत्य सत्ता एक बार अपने विकास-चक्र में मानव स्तरतक जा पहुंचे तो देहांतरण की वैकल्पिक प्रक्रिया की सामान्य धारा होगी, 'व्यक्ति' का केवल एक नये शरीर में ही नहीं, व्यक्तित्व के एक नये रूपायन में पुनर्जन्म।

क्योंकि, जैसे-जैसे आंतरात्मिक व्यक्तित्व का विकास होता है उसे अपने प्रकृति-रूपायन पर काफी अधिकार होना चाहिये और भौतिक शरीर के सहारे के बिना बने रहने के लिये और साथ ही भौतिक लोक और भौतिक जीवन में रोकनेवाली अतिशय आसक्ति पर विजय पाने के लिये काफी आत्माभिव्यक्ति करनेवाला मानसिक और प्राणिक व्यक्तित्व होना चाहिये। वह उस सूक्ष्म शरीर में बने रहने के लिये काफी विकसित होगा जिसके बारे में हम जानते हैं कि वह आंतरिक सत्ता का विशेष कोष या गिलाफ है और उचित सूक्ष्म-भौतिक आधार है। जीव-पुरुष या चैत्य सत्ता बनी रहती है और अपनी यात्रा पर मन और प्राण को साथ लिये रहती है। वह अपने जड़ आवास में से सूक्ष्म शरीर में चली जाती है, अतः पारगमन के लिये दोनों को पर्याप्त रूप से विकसित होना चाहिये परंतु मनोमय जीवन और प्राणमय जीवन के स्तरों में स्थानांतरण का अर्थ है पर्याप्त मात्रा में रूपायित और विकसित मन और प्राण भी विघटित हुए बिना इन उच्चतर लोकों में जा सकें और कुछ समय के लिये वहां रह सकें। अगर ये शर्तें पूरी हो जायें, एक काफी

विकसित चैत्य व्यक्तित्व और सूक्ष्म शरीर हो और काफी विकसित मानसिक और प्राणिक व्यक्तित्व हो तो तुरंत नया जन्म लिये बिना चैत्य पुरुष की उत्तरजीविता प्राप्त हो जायेगी और अन्य लोकों का खिंचाव क्रियाशील हो जायेगा। लेकिन अपने-आपमें इसका अर्थ होगा उसी मनोमय और प्राणमय व्यक्तित्व के साथ धरती पर लौट आना और नये जन्म में कोई स्वतंत्र विकास न होगा। चैत्य पुरुष का व्यक्तीयन इतना पर्याप्त होना चाहिये कि जैसे वह पिछले शरीर पर निर्भर नहीं रहता उसी तरह पिछले मन और प्राण के रूपायनों पर आश्रित न रहे बल्कि उन्हें भी काल में छोड़कर नये अनुभवों के लिये नये रूपायनों की ओर बढ़े। पुराने रूपों को त्यागने और नये तैयार करने के लिये अंतरात्मा को कुछ समय के लिये दो जन्मों के बीच, पूरी तरह उस भौतिक जगत् से भिन्न किसी स्थान पर रहना ही होगा जिसमें हम विचरण करते हैं क्योंकि यहां अशरीरी आत्मा के लिये कोई रहने का स्थान नहीं है। अगर पार्थिव सत्ता के सूक्ष्म कोष हों, जो हों तो पृथ्वी के परंतु जिनका स्वरूप मानसिक या प्राणिक हो तो वस्तुतः वहां कुछ समय के लिये पड़ाव हो सकता है। लेकिन फिर भी, यदि जीव पार्थिव जीवन के अभिभूत करनेवाले आकर्षण से लदा नहीं होता तो उसके वहां लम्बे समयतक ठहरने का कोई कारण नहीं होता। भौतिक शरीर के बाद व्यक्तित्व के उत्तरजीवन का अर्थ होता है अतिभौतिक जीवन; और यह सत्ता के किसी ऐसे स्तर पर ही हो सकता है जो चेतना की विकसनशील अवस्था के लिये उचित हो, या अगर विकास न हो तो वह जीव के किसी अस्थायी दूसरे गृह में हो सकता है जो जीवन और जीवन के बीच यात्रा में उसका स्वाभाविक स्थान होगा। अगर यह उसका मौलिक जगत् हो, जहां से वह भौतिक प्रकृति में लौट कर नहीं आता, तो और बात है।

तो फिर अतिभौतिक में अस्थायी आवास कहां होगा? जीव का दूसरा निवास-स्थान कहां होगा? ऐसा लग सकता है कि उसे मानसिक जगतों में, मानसिक भूमि पर होना चाहिये। एक तो इस कारण कि मनोमय सत्ता, मनुष्य पर जब शारीरिक आकर्षण की बाधा न रहे तो, जीवन में पहले से ही सक्रिय उस लोक का आकर्षण प्रबल होगा और दूसरे इसलिये कि स्पष्ट रूप से मानसिक लोक को मनोमय सत्ता का सहज और उचित आवास होना चाहिये। लेकिन मनुष्य की सत्ता की जटिलता के कारण यह अपने-आप नहीं हो जाता, उसका एक प्राणिक और साथ ही मानसिक जीवन होता है—बहुधा मानसिक भाग की अपेक्षा प्राणिक अधिक प्रबल और प्रमुख होता है—और मनोमय सत्ता के पीछे एक अंतरात्मा होती है जिसका वह प्रतिनिधि है। और इसके अलावा जगत्-जीवन के बहुत-से लोक और स्तर हैं और जीव को अपने स्वाभाविक आवासतक पहुंचने के लिये उनमें से गुजरना होता है। स्वयं भौतिक लोक में या उसके निकट अधिकाधिक सूक्ष्मता के लोक माने जाते हैं जिन्हें प्राणिक और मानसिक स्वरूपवाले भौतिक उपप्रदेश माना

जा सकता है। ये एक ही साथ आवृत करनेवाले और भेदनेवाले स्तर हैं जिनके द्वारा उच्चतर लोकों और भौतिक लोक में आदान-प्रदान होता है। जबतक उसकी मानसता पर्याप्त रूप से विकसित न हो, जबतक वह मुख्य रूप से मानसिक और प्राणिक क्रियाशीलता के भौतिक रूपों में सीमित है, तबतक मानसिक सत्ता के लिये यह संभव है कि वह इन निचली भूमियों में पकड़ी जाये और यहां पर उसे देर लगे। यह भी हो सकता है कि वह एक जन्म से दूसरे जन्म के बीच वहां पूरी तरह आराम करने के लिये बाधित हो। लेकिन यह सम्भाव्य नहीं है, यह केवल तभी और उसी हदतक हो सकता है जब और जहांतक उसकी अपनी क्रियाशीलता के पार्थिव रूपों के लिये आसक्ति इतनी अधिक हो कि वह स्वाभाविक उर्ध्वमुखी गति को पूरा होने से रोक दे या उसमें बाधा डाले। क्योंकि जीव की मृत्यु के परे की अवस्था धरती पर उसकी सत्ता के विकास के साथ किसी-न-किसी तरह मिलती-जुलती होनी चाहिये क्योंकि यह परे का जीवन मर्त्यता में किसी अस्थायी अधोमुखी स्खलन में से मुक्त ऊर्ध्वगामी पुनरागमन न होकर एक सामान्य बार-बार आनेवाली परिस्थिति है जो भौतिक जीवन में आध्यात्मिक विकास की कठिन प्रक्रिया में सहायता करने के लिये हस्तक्षेप करती है। मानव प्राणी पृथ्वी पर अपने विकास में अस्तित्व की उच्चतर भूमियों के साथ नाता जोड़ता है और जन्म-जन्मान्तर के बीच इन लोकों में उसके निवास पर इस संबंध का प्रबल प्रभाव होना ही चाहिये। वही उसकी मरणोपरान्त अवस्था का निश्चय करेगा और यह ठीक करेगा कि उसके अनुसार उसके आत्मानुभव का स्थान, अवधि और स्वरूप क्या होगा।

यह भी हो सकता है कि वह कुछ समय के लिये अन्य लोकों के उन उप-प्रान्तों में लम्बे समयतक ठहरे जिनका निर्माण मर्त्य शरीर में रहते हुए उसकी अभ्यासगत मान्यताओं या उसकी अभीप्साओं के प्रकार ने किया हो। हम जानते हैं कि वह इन श्रेष्ठतर भूमिकाओं के बिंब बनाता है जो प्रायः उनके कुछ तत्त्वों के मानसिक अनुवाद होते हैं। वह अपने बिंबों को एक प्रणाली या तंत्र के रूप में, वास्तविक जगतों के आकार के रूप में खड़ा करता है। वह बहुत प्रकार के कामना-जगत् भी बनाता है जिनमें वह प्रबल आंतरिक वास्तविकता का भाव जोड़ देता है। हो सकता है कि ये रचनाएं इतनी प्रबल हों कि उसके लिये एक कृत्रिम मरणोपरांत परिवेश बना दें जिसमें वह भटकता रह सकता है। क्योंकि मानव मन की बिंब बनाने की शक्ति, उसकी कल्पना, जो उसके भौतिक जीवन में ज्ञान-अर्जन और जीवन-सृजन के लिये एकमात्र और अनिवार्य सहायक है, वह एक उच्चतर सोपान में एक सृजनात्मक शक्ति बन सकती है जो मनोमय सत्ता को कुछ समय अपने ही बिंबों में रहने योग्य बनाती है—जबतक कि अंतरात्मा के दबाव से वे विघटित न हो जायें। ये सभी रचनाएं बृहत्तर प्राण-रचनाओं की प्रकृति की हैं,

उनमें उसका मन बृहत्तर मानसिक और प्राणिक जगतों की वास्तविक परिस्थितियों में से कुछ को अपने भौतिक अनुभव की अभिधा में अनूदित कर देता है जिन्हें भौतिकता के परे की अवस्था में विस्तृत, दीर्घीकृत और आकर्षित किया गया हो। वह इस अनुवाद द्वारा भौतिक सत्ता के प्राणिक हर्ष और प्राणिक दुःख अतिभौतिक परिस्थितियों में ले जाता है जिनमें उन्हें अधिक क्षेत्र, परिपूर्णता और सहिष्णुता प्राप्त होती है। अतः उन रचनात्मक पर्यावरणों को, जबतक उनका कोई अतिभौतिक आवास है, अस्तित्व के प्राणिक या निचले मानसिक स्तरों का परिशिष्ट माना जाना चाहिये।

लेकिन सच्चे प्राणिक लोक भी हैं—मौलिक रचनाएं, व्यवस्थित विकास, वैश्व प्राण-तत्त्व के स्वाभाविक आवास, वैश्व प्राणिक अणिमा जो स्वयं अपने क्षेत्र और अपनी प्रकृति में काम करते हैं। अपने दो जन्मों के बीच की यात्रा में कुछ समय के लिये मनुष्य को उन प्रभावों की मुख्य रूप से प्राणिक स्वभाववाली शक्ति रोके रख सकती है जिन प्रभावों ने उसके पार्थिव जीवन को आकार दिया था, क्योंकि ये प्रभाव प्राणिक जगत् के मूल वासी हैं और उनकी पकड़ मनुष्य को कुछ समय के लिये अपने प्रदेश में रोके रखेगी। वह उसकी पकड़ में रखा जा सकता है जिसकी पकड़ में वह अपनी भौतिक सत्ता में भी था। जीव का उप-प्रदेशों या स्वयं अपनी रचनाओं में निवास चेतना की भौतिक से अतिभौतिक की यात्रा का एक अस्थायी पड़ाव मात्र हो सकता है। उसे इन रचनाओं में से अतिभौतिक प्रकृति के सच्चे लोकों में जाना पड़ता है। वह एकदम परलोक के जगतों में प्रवेश कर सकता है या पहले अस्थायी पड़ाव के रूप में सूक्ष्म-भौतिक अनुभव के किसी क्षेत्र में रह सकता है जिसका परिवेश उसे भौतिक जीवन की परिस्थितियों का दीर्घीकरण मालूम हो, परंतु होगा ऐसी अधिक स्वतंत्र अवलोक अवस्थाओं में जो सूक्ष्मतर माध्यम के लिये उपयुक्त हों; और मन या प्राण या सूक्ष्मतर शारीरिक जीवन की किसी प्रकार की सुखद पूर्णता में हो। अनुभव के इन सूक्ष्म भौतिक लोकों और प्राण जगतों के परे मानसिक या आध्यात्मिक मानस लोक भी हैं और ऐसा लगता है कि जीव की उनतक जन्म-जन्मान्तर की पहुंच है और जिनमें वह अपनी जन्म-जन्मान्तर की यात्रा जारी रख सकता है। लेकिन यह बहुत संभव नहीं मालूम होता कि अगर इस जीवन में पर्याप्त मानसिक या आंतरात्मिक विकास नहीं हुआ है तो वह सचेतन रूप से वहां निवास करे। क्योंकि सामान्यतः यह स्तर ऐसे उच्चतम स्तर होने चाहियें जिनमें विकसनशील सत्ता जन्म-जन्मान्तर के बीच निवास कर सकती है क्योंकि जो सत्ता के सोपान पर मानसिक सीढ़ी के पार नहीं गया है वह किसी अतिमानसिक या अधिमानसिक अवस्थातक न जा सकेगा और अगर सत्ता इतनी विकसित हो गयी है कि वह मानसिक स्तर को लांघकर उतनी दूरतक पहुंच जाये तो उसके लिये यह संभव न होगा कि वह लौट सके जबतक कि भौतिक विकास यहां पर जड़-भौतिक में

अधिमानसिक या अतिमानसिक जीवन की व्यवस्था विकसित न कर दे।

लेकिन फिर भी यह संभव नहीं है कि मनोमय लोक मृत्यु के बाद की यात्रा के अंतिम स्वाभाविक स्थल हों; क्योंकि मनुष्य पूरा-पूरा मानसिक नहीं है, मृत्यु और जन्म के बीच यात्रा करनेवाला मन न होकर अंतरात्मा, चैत्य पुरुष है। और मनोमय सत्ता उसकी आत्माभिव्यक्ति के चित्र में केवल एक प्रमुख तत्त्व है। अतः शुद्ध चैत्य-अस्तित्व के लोक में कोई अंतिम शरण-स्थल होना चाहिये जहां अंतरात्मा पुनर्जन्म के लिये प्रतीक्षा करे। वहां वह अपने विगत अनुभव और जीवन की ऊर्जाओं को आत्मसात् कर सकती है और अपने भविष्य के लिये तैयारी कर सकती है। सामान्यतः सामान्य रूप से विकसित मानव सत्ता, जो मानसिकता की पर्याप्त शक्तितक उठ चुकी हो, उससे आशा की जा सकती है कि वह अपने चैत्य निवास की ओर यात्रा करते हुए इन सभी लोकों में से, सूक्ष्म भौतिक, प्राणिक और मानसिक में से गुजर चुकी होगी। हर पड़ाव पर वह निर्मित व्यक्तित्व के ढांचे के उन अंशों से पिंड छुड़ाती और उन्हें निश्शेष करती है जो अस्थायी और सतही थे, जो पिछले जन्म की चीजें थीं। वह मानसिक कोष और प्राणिक कोष को उसी तरह छोड़ती जायेगी जैसे उसने पहले से शारीरिक कोष को छोड़ दिया है। लेकिन व्यक्तित्व का सारतत्त्व और उसके मानसिक, प्राणिक और भौतिक अनुभव प्रच्छन्न स्मृति में या भविष्य के लिये एक गतिशील सामर्थ्य के रूप में बने रहेंगे। लेकिन अगर मन का विकास अपर्याप्त हो तो यह संभव है कि वह सचेतन रूप से प्राण के स्तर के परे न जा सके और सत्ता या तो वहां से पीछे आ जाये, अपने प्राणिक स्वर्गों या नरकों से पृथ्वी पर लौट आये या जैसा कि अधिक संगत होगा कि वह अगले जन्म के पहले की तैयारी के लिये एक तरह की चैत्य आत्मसात्करण की नींद में चली जाये; उच्चतर भूमियों में जागने के लिये एक विशेष विकास अनिवार्य होगा।

फिर भी यह सब गतिशील संभावना की बात है, यद्यपि व्यवहार में यह संभावना आवश्यकता तक जा पहुंचती है, यद्यपि अंतस्तलीय अनुभवों के अमुक तथ्यों के कारण यह उचित ठहरती है फिर भी यह तर्कशील मन के लिये अपने-आपमें पूरी तरह निश्चायक नहीं है। हमें यह पूछना है कि क्या जन्म-जन्मान्तरों के अंतरालों की कोई अधिक अनिवार्य आवश्यकता बाकी है, या कम-से-कम कोई इतनी अधिक गतिशील शक्ति रखनेवाली आवश्यकता है जिससे अकाट्य निष्कर्ष निकल सकें। उच्चतर भूमिकाओं ने पृथ्वी के विकास में जो निश्चायक भाग लिया है और उनके तथा विकसनशील आंतरात्मिक चेतना के बीच उस भाग ने जो संबंध स्थापित किया है उसमें हमें ऐसी एक आवश्यकता मिल सकती है। हमारा विकास बड़ी हदतक पार्थिव स्तर पर होनेवाली उनकी श्रेष्ठतर परंतु प्रच्छन्न क्रिया द्वारा होता है। सब कुछ निश्चेतना या अवचेतना में समाया हुआ है लेकिन संभाव्यता में, ऊपर

से होनेवाली क्रिया ही आविर्भाव को अवश्यंभावी बनाने में सहायता करती है। भौतिक प्रकृति में हमारा विकास जिन मानसिक और प्राणिक रूपों के अनुक्रम को ग्रहण करता है उसे रूप देने और निर्धारित करने के लिये उस क्रिया का जारी रहना जरूरी है, क्योंकि ये प्रगतिशील गतियां निश्चेतन या जड़ और अज्ञानी भौतिक प्रकृति के प्रतिरोध के विरुद्ध न तो अपना पूर्ण संवेग पा सकती हैं और न अपने तात्पर्यों को काफी विकसित कर सकती हैं; यह हो सकता है तो केवल सतत यद्यपि अपने ही स्वभाव की उच्चतर अतिभौतिक शक्तियों में गुह्य आश्रय द्वारा। यह आश्रय, इस अवगुण्ठित सहयोग की क्रिया मुख्य रूप से हमारी अंतस्तलीय सत्ता में होती है ऊपरी सतह पर नहीं—वहां से हमारी चेतना की सक्रिय शक्ति प्रकट होती है, और वह जो कुछ उपलब्ध करती है उसे वह सदा संग्रह करने, विकसित करने और अधिक बलवान् रूपों में फिर से प्रकट होने के लिये अंतस्तलीय सत्ता में भेजती रहती है। हमारी बृहत्तर गुह्य सत्ता और हमारे सतही व्यक्तित्व के बीच की यह पारस्परिक क्रिया उस द्रुत विकास का मुख्य रहस्य है जो मनुष्य में तब सक्रिय हो उठता है जब वह एक बार जड़ में डूबे हुए मन की निम्नतर भूमिकाओं के परे चला जाता है।

जन्म-जन्मान्तर के बीच की अवस्था में इस आश्रय का बना रहना जरूरी है क्योंकि नव-जन्म, नव-जीवन का अर्थ यह नहीं है कि विकास को ठीक वहीं से लिया जाये जहां वह पिछले जन्म में रुका था, वह केवल हमारे पिछले सतही व्यक्तित्व और प्रकृति के रूपायन को दोहराना और जारी रखना नहीं है। पिछली विशेषताओं और प्रयोजनों को आत्मसात् करना, त्यागना और मजबूत करना होता है और उनकी पुनर्व्यवस्था की जाती है, अतीत के विकासों का नया विन्यास होता है और भविष्य के प्रयोजनों का चयन होता है जिनके बिना नया आरंभ फलप्रद नहीं होता और न ही वे विकास को आगे बढ़ाते हैं, क्योंकि प्रत्येक जन्म एक नया आरंभ होता है, वह भूतकाल से विकसित तो अवश्य होता है परंतु वह अतीत का यांत्रिक ढंग से जारी रहना नहीं है। पुनर्जन्म एक सतत पुनरावृत्ति नहीं है बल्कि एक प्रगति है, विकसनशील प्रक्रिया का तंत्र है। इस पुनर्व्यवस्था का कुछ अंश, विशेष रूप से व्यक्तित्व के भूतकाल के सबल स्पन्दनों का त्याग, केवल मृत्यु के बाद पहले के मानसिक, प्राणिक और शारीरिक प्रेरणाओं के दबाव को निःशेष कर देने से ही हो सकता है। और इस आंतरिक मुक्ति को पाने के लिये या बाधाओं को हल्का करने के लिये उन भूमिकाओं पर काम करना होगा जो उन प्रेरणाओं के उपयुक्त हों जिन्हें त्यागना या और किसी तरह निबटाना हो, उन भूमिकाओं पर निष्पन्न करना होगा जिनकी अपनी प्रकृति उसी प्रकार की हो क्योंकि जीव उन्हीं भूमिकाओं पर उन क्रियाओं को जारी रख सकता है जिनका चेतना में से समापन और त्याग करना है ताकि वह एक नये रूपायन में चला जाये। यह भी संभव है

कि समाकलन करनेवाली भावात्मक तैयारी हो और नये जीवन के स्वरूप का निश्चय स्वयं अंतरात्मा अपने निजी आवास में, चैत्य विश्राम के लोक में जाकर करे, जहां वह अपने अंदर सब कुछ खींच ले और विकास में नये पड़ाव की प्रतीक्षा करे। इसका अर्थ होगा अंतरात्मा के सूक्ष्म भौतिक, प्राणिक और मानसिक लोकों में से क्रमशः चैत्य निवास-स्थान की ओर यात्रा जहां से वह अपनी पार्थिव यात्रा पर लौट आयेगी। इस तरह तैयार की गयी सामग्री का पार्थिव एकीकरण और विकास, पार्थिव-जीवन में उसका कार्यान्वयन, इस जन्म-जन्मान्तर के बीच आश्रय का परिणाम होगा और नवजन्म परिणामी क्रियाशीलता का क्षेत्र होगा, शरीरस्थ आत्मा के व्यष्टिगत विकास में एक नया मैदान या सर्पिल मोड़ होगा।

क्योंकि, जब हम कहते हैं कि जीव धरती पर अनुक्रमिक रूप से भौतिक, प्राणिक, मानसिक और आध्यात्मिक सत्ता को विकसित करता है तो हमारा यह मतलब नहीं होता कि वह इन्हें बनाता है और यह कि पहले उनका अस्तित्व ही न था। इसके विपरीत वह जो करता है वह है अपनी आध्यात्मिक सत्ता के इन तत्त्वों को भौतिक प्रकृति के जगत् द्वारा आरोपित परिस्थितियों में अभिव्यक्त करना। यह अभिव्यक्ति आगे की ओर के व्यक्तित्व के ढांचे का रूप ले लेती है जो आंतरिक जीव का भौतिक अस्तित्व की परिभाषाओं और संभावनाओं में अनुवाद है। वस्तुतः हमें इस पुराने विचार को स्वीकारना चाहिये कि मनुष्य के अंदर न केवल भौतिक पुरुष है जिसके साथ उचित प्रकृति लगी है, बल्कि प्राणिक, मानसिक, चैत्य, अतिमानसिक और परम आध्यात्म पुरुष[1] भी है और उनकी या तो समस्त या अधिकांश उपस्थिति या शक्ति उसके अंतस्तलीय में छिपी हुई है या उसके अतिचेतन भागों में सुप्त और अरूपायित रहती है। उसे उनकी शक्तियों को अपनी सक्रिय चेतना में आगे लाकर अपने ज्ञान में उनके प्रति जागना है। परंतु उसकी सत्ता की इन शक्तियों में से हर एक अपने निजी अस्तित्व के लोक के संपर्क में रहती है और सबकी जड़ें वहां होती हैं। उनके द्वारा जीव को ऊपर से आते हुए निर्माता प्रभावों के प्रति अंतस्तलीय आश्रय मिल पाता है, एक ऐसा आश्रय जो हमारे विकास के साथ-साथ अधिकाधिक सचेतन होता जाता है। तो यह तर्क-संगत है कि हमारे सचेतन विकास में उनकी शक्तियों के विकास के अनुसार ही उनका जन्म-जन्मान्तर के बीच का वह आश्रय होना चाहिये जिसे यहां पर हमारे जन्म की यह प्रकृति और उसका विकसनशील उद्देश्य और प्रक्रिया जरूरी बनाते हैं। उस आश्रय की परिस्थितियां और अवस्थाएं जटिल होनी चाहियें, वैसी अनगढ़ और कटे-कटाये सरल रूपवाली प्रकृति की नहीं जिनकी कल्पना प्रचलित धर्म करते हैं। लेकिन उसे अपने-आपमें शरीरस्थ आत्म-जीवन की प्रकृति और उसके उद्गम का अनिवार्य परिणाम माना जा सकता है। सब कुछ एक घना बुना हुआ जाल है,

[1] तैत्तिरीय उपनिषद्

एक विकास और पारस्परिक क्रिया है जिसकी कड़ियां सचेतन-शक्ति ने अनंत की इन सांत क्रियाओं के क्रियाशील तर्क के अनुरूप अपने हेतुओं के सत्य का अनुसरण करते हुए गढ़ी हैं।

अगर पुनर्जन्म के बारे में और जीव की अस्तित्व के अन्य लोकों में कुछ समय के लिये यात्रा के बारे में यह दृष्टि ठीक है तो पुनर्जन्म और मृत्यु के बाद का जीवन दोनों ही, पुनर्जन्म और मृत्यु के बाद की परलोक यात्रा के बारे में चिर-प्रचलित विश्वास जो रंग भरता है उससे बिलकुल ही भिन्न अर्थ ले लेते हैं। सामान्यतः पुनर्जन्म के दो पक्ष माने जाते हैं : तत्त्वदार्शनिक और नैतिक। एक तो आध्यात्मिक आवश्यकता का पक्ष, एक वैश्व न्याय और नैतिक अनुशासन का। इस दृष्टि से या इस प्रयोजन से यह माना जाता है कि जीव का व्यष्टिगत अस्तित्व है—वह धरती पर कामना और अज्ञान के परिणामस्वरूप है। उसे तबतक पृथ्वी पर रहना होगा या बार-बार यहां आना होगा जबतक कि वह कामना से थक न जाये और अपने अज्ञान के तथ्य और सच्चे ज्ञान के प्रति जाग्रत् न हो जाये। यह कामना उसे हमेशा नये शरीर में लौटने के लिये बाधित करती है। वह जबतक बोध पाकर मुक्त न हो जाये उसे सदा जन्म के घूमते चक्र का अनुसरण करते रहना पड़ेगा। फिर भी वह हमेशा धरती पर बना नहीं रहता बल्कि हमेशा धरती और अन्य लोकों के बीच अदल-बदल करता है। वे लोक स्वर्ग हो सकते हैं या नरक जहां वह अपने पाप और पुण्य के क्रिया-कर्मों के कारण संचित गुण, अवगुणों के भंडार को समाप्त करता है और फिर धरती पर किसी तरह के पार्थिव शरीर में लौट आता है, कभी मनुष्य, कभी पशु और कभी वनस्पति में भी। इस नये शरीर-धारण की प्रकृति और उसके भाग्य का निर्णय जीव के पिछले कर्मों द्वारा स्वचालित रूप में निर्धारित किया जाता है। अगर पिछले कर्मों का योगफल अच्छा हो तो जन्म उच्चतर कोटि में होता है, जीवन सुखी या सफल और बिना रहस्यमय ढंग से भाग्यवान् होता है और अगर बुरा हो तो प्रकृति के निचले रूप हमारा आवास बन सकते हैं और अगर मानव जन्म हो तो दुःखी, असफल, कष्ट और दुर्भाग्य से भरा होगा। अगर हमारे पिछले कर्म और चरित्र मिश्रित थे तो प्रकृति एक अच्छे लेखापाल की तरह हमारे पिछले व्यवहार की कोटि और मूल्यों के अनुसार मिश्रित, सुख-दुःख का, सफलता-असफलता का, विरलतम सौभाग्य और कठोरतम दुर्भाग्य का ठीक-ठीक भुगतान करती है। साथ ही पिछले जन्म की प्रबल निजी इच्छा या कामना भी हमारे नये अवतार का निर्णय कर सकती है। बहुधा प्रकृति के इन पुरस्कारों को गणित का रूप दिया जाता है क्योंकि माना यह जाता है कि हमें अपने कुकर्मों के लिये ठीक-ठीक दण्ड मिलना चाहिये। हमने जो कुछ किया है या नुकसान पहुंचाया है उसका प्रतिरूप या उसके समान भोग हमें अवश्य सहना पड़ेगा। कर्म-विधान का 'दांत के बदले दांत' वाला अटल विधान बहुधा प्रचलित

है। क्योंकि वह विधान एक गणितज्ञ है जो अपना गिनतारा लिये बैठा है साथ ही एक न्यायाधीश है जो अतीत में किये गये अपराधों और उपापराधों के लिये दण्ड-विधान लिये है। यह बात भी देखने लायक है कि इस पद्धति में पाप और पुण्य के लिये दोहरा दण्ड और दोहरा पुरस्कार है। पापी को पहले नरक में यातना दी जाती है और बाद में उन्हीं पापों के लिये यहां अगले जन्म में पीड़ा दी जाती है और पुण्यात्मा या अतिनैतिक को पुरस्कार-स्वरूप स्वर्गिक आनंद मिलता है और बाद में उन्हीं पुण्यों और सुकृतों के लिये उसे एक नये पार्थिव-जीवन में दुलराया जाता है।

ये बहुत संक्षिप्त प्रचलित धारणाएं हैं जो दार्शनिक बुद्धि को पांव रखने का स्थान भी नहीं देतीं और जीवन के सच्चे अर्थ की खोज का कोई समाधान नहीं देतीं। एक ऐसा विशाल लोक-निकाय जो अज्ञान के चक्र पर बिना किसी अंत के घूमते रहने के लिये सुविधा के रूप में हो, जिसका एकमात्र समाधान उसमें से बाहर निकल आने का अंतिम अवसर हो—यह कोई ऐसा जगत् नहीं है जिसके अस्तित्व के लिये कोई वास्तविक कारण हो। एक ऐसा जगत् जो केवल पाप-पुण्य की पाठशाला का काम दे और केवल पुरस्कार और दंड की व्यवस्था के लिये बना हो वह हमारी बुद्धि को बहुत आकर्षित नहीं करता। हमारे अंदर अंतरात्मा या आध्यात्म पुरुष, अगर वह दिव्य, अमर या स्वर्गिक है, तो उसे यहां केवल इस तरह की अनगढ़ और आद्य नैतिक शिक्षा पाने के लिये पाठशाला में नहीं भेजा जा सकता। अगर वह अज्ञान में प्रवेश करता है तो इसका यह कारण होगा कि उसकी सत्ता का कोई बड़ा तत्त्व या संभावना है जिसे अज्ञान के द्वारा क्रियान्वित करना है, इसके अलावा यदि वह अनंत की कोई सत्ता है जो किसी वैश्व प्रयोजन के कारण जड़-भौतिक के अंधकार में धंसी है और उसके भीतर आत्म-ज्ञान में विकसित हो रही है तो यहांपर उसका जीवन और उस जीवन का अर्थ छोटे बच्चे को लाड़-प्यार से या चाबुक द्वारा धार्मिक मार्ग पर लाने से बढ़कर कुछ और होना चाहिये। उस एक स्वारोपित अज्ञान में से निकलकर स्वयं अपनी पूर्ण आध्यात्मिक महिमा में विकास और अंत में अमर चेतना, ज्ञान, बल, सौंदर्य, दिव्य शुद्धि और शक्ति में प्रवेश करना चाहिये और इस तरह के आध्यात्मिक विकास के लिये यह कर्म का विधान बहुत ज्यादा बचकाना है। यहांतक कि अगर अंतरात्मा ऐसी चीज है जिसका सृजन किया गया है, एक शिशु-सत्ता है जिसे प्रकृति से सीखना और अमरता में विकसित होना है तो यह किसी आद्य, बर्बर न्याय की दिव्य संहिता से नहीं बल्कि विकास के विशालतर विधान द्वारा होना चाहिये। कर्म का यह विचार मनुष्य के उस प्राणिक मन के छोटे से भाग की रचना है जो जीवन के छोटे-मोटे नियमों, कामनाओं और सुख-दुःखों में व्यस्त रहता और उनके घटिया मानकों को विश्व के विधान और लक्ष्य के रूप में खड़ा करता है। विचारशील मन के लिये ये धारणाएं मान्य नहीं हो सकतीं। उनपर हमारे मानव अज्ञान द्वारा गढ़ी रचना की छाप बहुत स्पष्ट होती है।

लेकिन इसी समाधान को बुद्धि के उच्चतर स्तरतक उठाया जा सकता है, बड़े सत्याभास और वैश्व सिद्धांत का रंग दिया जा सकता है। क्योंकि पहले तो वह इस अकाट्य आधार पर खड़ा हो सकता है कि प्रकृति की सभी ऊर्जाओं का अपना स्वाभाविक परिणाम होना चाहिये, अगर कुछ का परिणाम वर्तमान जीवन में नहीं दिखायी देता तो हो सकता है कि परिणाम में देर लग रही है, उसे हमेशा के लिये नहीं रोक दिया गया है। हर व्यक्ति अपने कर्मों और कृत्यों की फसल काटता है, उसकी प्रकृति की ऊर्जाओं द्वारा किये गये कार्यों के फल और जो वर्तमान जीवन में दिखायी नहीं देते उन्हें किसी अगले जन्म के लिये उठा रखा गया होगा। यह सच है कि व्यक्ति की ऊर्जाओं और उसके कर्मों का फल स्वयं उसे नहीं बल्कि उसके जाने के बाद औरों को प्राप्त हो, यह तो हम हमेशा होते हुए देखते हैं—वस्तुतः यह तो मनुष्य के अपने जीवन-काल में भी होता है कि उसकी ऊर्जाओं के फल और लोग काटें लेकिन यह इस कारण है कि प्रकृति में जीवन की एकात्मता और उसका सातत्य है और व्यक्ति चाहने पर भी केवल अपने लिये नहीं जी सकता। लेकिन अगर व्यक्ति के पुनर्जन्म द्वारा उसके अपने जीवन का सातत्य है, केवल सामुदायिक जीवन और वैश्व जीवन का ही सातत्य नहीं है, अगर उसमें सदा विकसनशील आत्मा, प्रकृति और अनुभव है तो यह अनिवार्य है कि उसके लिये भी उसकी ऊर्जाओं की क्रिया भी सहसा न कट जाये बल्कि उसे उनका परिणाम अपने सतत विकसनशील जीवन में कभी भुगतना पड़े। मनुष्य की सत्ता, प्रकृति, जीवन की परिस्थितियां उसकी अपनी भीतरी और बाहरी क्रियाओं का परिणाम हैं, कोई आकस्मिक और अव्याख्येय चीज नहीं हैं, उसने अपने-आपको जो बनाया है वह वही है, पूर्व मानव आज जो मानव है उसका पिता था और आज का मानव भविष्य में होनेवाले मानव का पिता है। हर सत्ता जो बोती है वही काटती है, वह जो करती है उसका लाभ उठाती है, वह जो करती है उसका दुःख भोगती है, यह कर्म का, प्रकृति-ऊर्जा के कार्य का विधान और शृंखला है और यह चीज हमारे जीवन, प्रकृति, चरित्र और क्रिया की समग्र शक्ति को सार्थकता देती है जो जीवन की अन्य परिकल्पनाओं में नहीं पायी जाती। इस सिद्धांत के अनुसार यह स्पष्ट है कि मनुष्य के विगत और वर्तमान कर्म उसके भावी जन्म, उसकी घटनाओं और परिस्थितियों का निर्णय करेंगे क्योंकि इन्हें भी उसकी ऊर्जाओं का फल होना चाहिये। भूतकाल में वह जो कुछ था, उसने जो कुछ किया उसे ही उस सबका स्रष्टा होना चाहिये जो वह वर्तमान में है और अनुभव करता है और जो कुछ वह वर्तमान में है और कर रहा है उसे भविष्य में जो कुछ वह होगा और जो अनुभव करेगा उसका स्रष्टा होना चाहिये। मनुष्य स्वयं अपना स्रष्टा है, वह अपनी नियति का भी स्रष्टा है। यह सब पूरी तरह तर्क-सम्मत है और जहांतक चलता है निरपवाद है और कर्म-सिद्धांत को एक तथ्य के रूप में, वैश्व मशीन के अंग के

रूप में स्वीकार किया जा सकता है; क्योंकि यह इतना स्पष्ट है—एक बार पुनर्जन्म को स्वीकार कर लिया जाये तो—कि यह व्यावहारिक रूप से निर्विवाद है।

फिर भी इस पहले प्रस्ताव के दो संशोधन हैं जो कम व्यापक और प्रामाणिक हैं और एक संदेहात्मक संकेत ले आते हैं; क्योंकि वे भले अंशतः सच्चे हों फिर भी उनमें अतिशयोक्ति होती है और वे एक गलत दृश्य प्रस्तुत करते हैं क्योंकि उन्हें कर्म के समग्र भाव के रूप में रखा जाता है। पहला यह कि जैसा ऊर्जाओं का स्वरूप हो वैसा ही फल का स्वरूप होना चाहिये—शुभ का परिणाम शुभ ही आना चाहिये और अशुभ के अशुभ परिणाम होंगे। दूसरा यह कि कर्म का मूल शब्द है न्याय अतः शुभ कर्मों को सुख और सौभाग्य का फल देना चाहिये और अशुभ कर्मों को दुःख, दैन्य और दुर्भाग्य के फल देने चाहियें। चूंकि ऐसा कोई वैश्व न्याय होना चाहिये जो जीवन में प्रकृति की तात्कालिक और दृश्य क्रियाओं पर किसी तरह से नजर रखता और नियंत्रण रखता है लेकिन जीवन में तथ्य हमें जैसे दिखायी देते हैं उनमें वह प्रत्यक्ष नहीं है, अतः उसे प्रकृति के अदृष्ट व्यवहारों की समष्टि में उपस्थित और स्पष्ट होना चाहिये। वह सूक्ष्म और मुश्किल से दिखायी देनेवाला किंतु मजबूत और दृढ़ प्रच्छन्न धागा होना चाहिये जो प्रकृति के अपने जीवों के साथ अन्यथा असंगत व्यौरों को एक साथ रखता है। अगर यह पूछा जाये कि सिर्फ कर्मों का, सिर्फ शुभ और अशुभ कर्मों का ही परिणाम क्यों होना चाहिये तो यह माना जा सकता है कि शुभ या अशुभ विचारों, संवेदनों, क्रियाओं के इन सबके अनुरूप परिणाम होंगे परंतु चूंकि कर्म जीवन का बड़ा भाग है और वह मनुष्य के सत्ता-विषयक मूल्यों की कसौटी और रूपायित करने की शक्ति होता है, चूंकि मनुष्य अपने विचारों और भावनाओं के लिये हमेशा उत्तरदायी नहीं होता, क्योंकि वे प्रायः अनैच्छिक होते हैं लेकिन वह जो कुछ करता है उसके लिये स्वयं उत्तरदायी है या उसे उत्तरदायी मानना चाहिये क्योंकि वह उसके चुनाव के अधीन होता है, अतः मुख्य रूप से उसके कर्म ही उसके भाग्य का निर्माण करते हैं। वे उसकी सत्ता और उसके भविष्य के, मुख्य या सबसे अधिक बलशाली निर्णायक होते हैं। यही कर्म का संपूर्ण विधान है।

लेकिन पहले हमें यह देखना होगा कि कर्म-विधान या उसकी शृंखला एक बाहरी यंत्र है और उसे विश्व की जीवन-क्रिया के एकमात्र या उच्चतम निर्धारक के श्रेष्ठ पद पर तबतक नहीं उठाया जा सकता जबतक कि स्वयं विश्व अपने स्वरूप में पूरी तरह यांत्रिक न हो। वस्तुतः बहुत-से लोग मानते हैं कि सब कुछ विधान और प्रक्रिया है और विश्व में या इसके पीछे कोई सचेतन सत्ता या इच्छा नहीं है। अगर ऐसा है तो यह रहा एक विधान और एक प्रक्रिया जो हमारी मानव तर्क-बुद्धि को और हमारे उचित और न्याय के मानसिक मानकों को संतुष्ट कर सकती है। उसमें पूर्ण सममिति का सौंदर्य और सत्य है और कार्य में गणितीय यथार्थता है। लेकिन

सब कुछ विधान और प्रक्रिया ही नहीं है। सत्ता और चेतना भी है, वस्तुओं में केवल एक यंत्र ही नहीं है बल्कि उनमें आत्मा भी है। केवल प्रकृति और विश्व का विधान ही नहीं, एक वैश्व आत्मा भी है, प्राकृतिक प्राणी में केवल मन, प्राण और शरीर की प्रक्रिया ही नहीं है बल्कि एक अंतरात्मा भी है। अगर ऐसा न होता तो जीव का पुनर्जन्म भी न होता और न ही कर्म-विधान के लिये कोई क्षेत्र होता। लेकिन अगर हमारी सत्ता का आधारभूत सत्य यांत्रिक न होकर आध्यात्मिक है तो फिर हम ही, हमारी अंतरात्मा ही मौलिक रूप से अपने विकास का निर्णय करती है और कर्म-विधान उन प्रक्रियाओं में से एक हो सकता है जिनका वह इस उद्देश्य के लिये उपयोग करती है। हमारी आत्मा, हमारे आध्यात्म पुरुष को अपने कर्म से बड़ा होना ही चाहिये। विधान तो है पर साथ ही आध्यात्मिक स्वतंत्रता भी है। विधान और प्रक्रिया हमारे जीवन के एक पक्ष मात्र हैं और उनका शासन हमारे बाहरी मन, प्राण और शरीर पर है क्योंकि ये बहुधा प्रकृति की यांत्रिकता के आधीन होते हैं, लेकिन यहां भी उनकी यांत्रिक शक्ति केवल शरीर और जड़तत्त्व पर निर्बाध रहती है। प्राण के व्यापार के आते ही विधान अधिक जटिल और कम कठोर हो जाता है, प्रक्रिया अधिक नमनीय और कम यांत्रिक हो जाती है और यह चीज और भी अधिक बढ़ती है जब अपनी सूक्ष्मता के साथ मन का हस्तक्षेप होता है, आंतरिक स्वाधीनता हस्तक्षेप करना शुरू कर देती है और हम जितना ही अंदर जाते हैं, उतना ही अधिक अंतरात्मा की चुनाव की शक्ति का अनुभव होने लगता है क्योंकि प्रकृति विधान और प्रक्रिया का क्षेत्र है परंतु जीव, पुरुष अनुमति देनेवाला "अनुमंता" है और अगर वह सामान्य रूप से केवल साक्षी रहना पसंद करता है और अपने-आप स्वीकृति देता चलता है तो वह चाहे तो अपनी प्रकृति का स्वामी, ईश्वर बन सकता है।

इस बात की कल्पना नहीं की जा सकती कि भीतरी आध्यात्म पुरुष कर्म के हाथ में एक कठपुतली है, इस जीवन में अपने पिछले कर्मों का दास है। सत्य कम कठोर और अधिक नमनीय होना चाहिये। अगर इस जन्म में पिछले जन्म के कुछ कर्मों के परिणाम प्रतिपादित होते हैं तो यह चैत्य पुरुष की रजामंदी से ही हो सकता है, वह अपने पार्थिव अनुभव की नयी रचना की अध्यक्षता करता है और केवल बाहरी आवश्यक प्रक्रिया को नहीं बल्कि एक प्रच्छन्न इच्छा और पथ-प्रदर्शन को भी स्वीकृति देता है, वह प्रच्छन्न इच्छा यांत्रिक नहीं आध्यात्मिक है, पथ-प्रदर्शन एक ऐसी प्रज्ञा से आता है जो यांत्रिक क्रियाओं का उपयोग तो करती है पर उनके आधीन नहीं है। आत्माभिव्यक्ति और अनुभव वे चीजें हैं जिन्हें अंतरात्मा शरीर में जन्म लेकर खोजती है। इस जीवन की आत्माभिव्यक्ति और अनुभव के लिये जो कुछ जरूरी है, चाहे वह पिछले जन्मों के यांत्रिक परिणाम के रूप में हस्तक्षेप करे या परिणामों का स्वतंत्र संकलन हो, चाहे एक सातत्य या नूतन वृद्धि हो, भविष्य के

सृजन के लिये जो भी साधन हो उसकी रचना होगी क्योंकि मूल तत्त्व विधान की यांत्रिकता का कार्यान्वयन नहीं, वैश्व अनुभव द्वारा प्रकृति का विकास है ताकि वह अंततः अज्ञान में से बाहर निकल सके। अतः दो तत्त्व होने चाहियें; यंत्र के रूप में कर्म और साथ ही मन, प्राण और शरीर द्वारा उपयोक्ता के रूप में काम करनेवाली प्रच्छन्न चेतना और आंतरिक इच्छा। नियति, चाहे शुद्ध रूप से यांत्रिक हो या हमारे द्वारा निर्मित, हमारी बनायी हुई शृंखला हो, जीवन का केवल एक उपकरणमात्र है। सत्ता और उसकी चेतना और इच्छा और भी अधिक महत्त्वपूर्ण उपकरण हैं। भारतीय ज्योतिष में, जो जीवन की सभी परिस्थितियों को कर्म मानता है, उन्हें अधिकतर पूर्वनिर्धारित या ग्रहों के आलेख में निर्दिष्ट मानता है; उसमें भी सत्ता की ऊर्जा और शक्ति की व्यवस्था की गयी है जो इस तरह लिखे भाग के किसी अंश या बड़े भाग को बदल या रद्द कर सकता है, यहांतक कि कर्म के अधिक-से-अधिक अनिवार्य तथा शक्तिशाली बंधनों के सिवाय अन्य सबको रद्द कर सकता है। संतुलन का यह हिसाब बुद्धिसंगत है लेकिन इस गणना में हमें यह तथ्य भी जोड़ना होगा कि नियति सरल नहीं जटिल है, जो नियति हमारी भौतिक सत्ता को बांधती है तभीतक या उसी हदतक बांधती है जबतक कि कोई अधिक बड़ा विधान हस्तक्षेप न करे। कर्म हमारे भौतिक भाग की चीज है। यह हमारी सत्ता का भौतिक परिणाम है लेकिन हमारी सतह के पीछे अधिक स्वतंत्र प्राण-शक्ति, अधिक स्वतंत्र मानसिक शक्ति है जिसकी और ही ऊर्जा होती है, जो और ही नियति का निर्माण कर सकती है और उसे प्राथमिक योजना में हेर-फेर करने के लिये ला सकती है। जब अंतरात्मा और आध्यात्म पुरुष का आविर्भाव होता है, जब हम सचेतन रूप से आध्यात्मिक सत्ता बन जाते हैं तो वह परिवर्तन हमारी भौतिक नियति के आलेख को रद्द कर सकता या पूरी तरह नया रूप दे सकता है। तब कर्म को या कम-से-कम कर्म के यांत्रिक विधान को परिस्थितियों के और पुनर्जन्म के और हमारे भावी विकास के समूचे तंत्र के रूप में एकमात्र निर्धारक नहीं माना जा सकता।

लेकिन यही सब कुछ नहीं है; क्योंकि विधान के इस निरूपण में अत्यधिक सरलीकरण और सीमित तत्त्व के मनमाने चुनाव की भूल रह जाती है। कर्म सत्ता की ऊर्जा का परिणाम है लेकिन यह ऊर्जा बस एक ही प्रकार की नहीं है। आध्यात्म पुरुष की चित्-शक्ति अपने-आपको नाना प्रकार की ऊर्जाओं में प्रकट करती है : मन की आंतरिक क्रियाएं हैं, प्राण की क्रियाएं, कामना, वासना, आवेग और चरित्र की क्रियाएं हैं, इन्द्रियों और शरीर के क्रिया-कलाप, सत्य और ज्ञान की खोज, सौंदर्य की खोज, नैतिक शुभ या अशुभ की खोज, शक्ति, प्रेम, आनंद, सुख, सौभाग्य, सफलता, हर्ष, सब प्रकार के प्राणिक संतोष, प्राण की अभिवृद्धि, व्यष्टिगत या सामुदायिक उद्देश्य की खोज, शारीरिक स्वास्थ्य, बल, क्षमता, संतोष

की खोज। यह सब मिलकर जीवन में आत्मा के बहुविध अनुभव और बहुमुखी क्रियाओं का बहुत अधिक जटिल कुल-योग बना देता है और किसी एक सिद्धांत के लिये उसकी विभिन्नता को एक ओर नहीं खिसकाया जा सकता और न ही उसे नैतिक शुभ और अशुभ के एक द्वित्त के बहुत-से विभागों में ठूंसा जा सकता है। अतः नीतिशास्त्र, नैतिकता या सदाचार के मानव मानकों को बनाये रखना वैश्व विधान की सर्वोपरि तल्लीनता या कर्म की क्रिया निर्धारक सिद्धांत नहीं हो सकता। अगर यह सच है कि जो ऊर्जा काम में लगायी जा रही है उसका स्वभाव ही उसके परिणाम या फल की प्रकृति का निर्धारण करेगा तो ऊर्जा की प्रकृति में ये जितने विभेद हैं उन सबको हिसाब में लेना होगा—और हर एक का उचित परिणाम होना चाहिये। सत्य और ज्ञान को खोजनेवाली ऊर्जा की अपने स्वाभाविक परिणाम के रूप में प्राप्ति होनी चाहिये—उसका पुरस्कार या पारिश्रमिक, अगर तुम यूं कहना चाहो,—सत्य में वृद्धि, ज्ञान में वृद्धि। मिथ्यात्व के लिये काम में लायी गयी ऊर्जा का परिणाम होगा प्रकृति में मिथ्यात्व की वृद्धि और अज्ञान में अधिक गहरी डुबकी। सौंदर्य की खोज करनेवाली ऊर्जा का परिणाम होगा सौंदर्य-बोध में वृद्धि, सौंदर्य का भोग या अगर इस दिशा में निर्देशित किया जाये तो जीवन और प्रकृति के सौंदर्य और सामंजस्य में वृद्धि। भौतिक स्वास्थ्य, बल और क्षमता की खोज को बलवान् पुरुष या सफल व्यायामी की रचना करनी चाहिये। जो ऊर्जा नैतिक शुभ की खोज में लगायी गयी हो उसका परिणाम या पुरस्कार या पारिश्रमिक होगा सद्गुण में वृद्धि, नैतिक वृद्धि का सुख या सरल और स्वाभाविक शुभ की उज्ज्वल प्रसन्नता और सन्तुलन तथा शुद्धि, जब कि विपरीत ऊर्जाओं का दण्ड होगा अशुभ में और भी गहरी डुबकी, और प्रकृति का अधिक असामंजस्य और विकार और अति हो जाये तो आध्यात्मिक "महती विनष्टि"। शक्ति या अन्य प्राणिक उद्देश्यों के लिये आगे लायी गयी ऊर्जा इन परिणामों पर शासन करने की क्षमता की वृद्धि या प्राणिक बल और प्रचुरता के विकास की ओर ले जायेगी। प्रकृति में वस्तुओं का यही सामान्य विन्यास है। अगर उससे न्याय की मांग की जाये तो निश्चय ही यह न्याय है कि प्रयोग में लायी गयी ऊर्जा और सामर्थ्य को प्रकृति का समुचित उत्तर अपने ही प्रकार से मिले। वह तेज व्यक्ति को दौड़ का पुरस्कार देती है, वीर, बलवान् और निपुण को युद्ध में विजय देती है, सक्षम बुद्धिवाले गम्भीर जिज्ञासु को ज्ञान। ये चीजें वह सुस्त या दुर्बल या कौशलहीन या मूढ़ व्यक्ति को केवल इस कारण न देगी कि वह धर्म-परायण या आदरणीय है। अगर वह जीवन की इन दूसरी शक्तियों की चाह करता है तो उसे उनके योग्य बनना होगा और ठीक तरह की ऊर्जा बाहर लानी होगी। अगर प्रकृति इससे भिन्न तरह से करती तो उसे अन्याय का दोषी ठहराया जा सकता था। इस पूर्णतया उचित और स्वाभाविक व्यवस्था के लिये उसे अन्याय का दोषी ठहराने का कोई कारण नहीं या उससे भावी

जीवन में उसके बकाया का शोध करने की मांग करने का कोई कारण नहीं, जिससे भले आदमी को स्वाभाविक पुरस्कार के रूप में अपने गुणों के बदले ऊंचा पद, बैंक में बहुत सारी पूंजी, सुखी, सरल या सुसज्जित जीवन मिले। यह पुनर्जन्म की सार्थकता या कर्म के वैश्व विधान के लिये पर्याप्त आधार नहीं हो सकता।

निःसन्देह हमारे जीवन में एक बहुत बड़ा अंश होता है जिसे नियति या सौभाग्य कहते हैं जो हमारे प्रयत्नों के परिणामों में बाधा देता या बिना प्रयास के या घटिया ऊर्जा को पुरस्कार देता है; नियति की इन सनकों के गुप्त कारण की—या अनेक कारणों की; क्योंकि सौभाग्य की जड़ों के विविध कारण होते हैं—निःसन्देह उनकी आंशिक रूप में खोज हमारे प्रच्छन्न भूतकाल में करनी होगी; लेकिन इस सरल से समाधान को स्वीकार करना कठिन है कि सौभाग्य पूर्व-जन्म के विस्मृत पुण्य-कर्मों का पुरस्कार और दुर्भाग्य किसी पाप या अपराध का बदला है। अगर हम यहां पर किसी धर्मात्मा को दुःख-कष्ट झेलते देखते हैं तो यह मानना मुश्किल होता है कि यह सद्गुणों की मूर्ति पूर्व-जन्म में दुष्ट थी और अब नये जन्म द्वारा अनुकरणीय परिवर्तन के बावजूद उस समय के किये गये पापों का भुगतान कर रही है। या अगर दुष्ट विजयी होता है तो क्या हम आसानी से यह मान सकते हैं कि अपने पिछले जन्म में वह सन्त था जिसने अचानक एक गलत मोड़ ले लिया लेकिन अब भी अपने पिछले सद्गुणों का नकद भुगतान पा रहा है। एक जीवन से दूसरे जीवन के बीच इस तरह का पूर्ण परिवर्तन संभव होते हुए भी बहुधा सम्भाव्य नहीं है। लेकिन नये विपरीत व्यक्तित्व को पिछले जन्म के पुरस्कारों या दण्डों से लाद देना निष्प्रयोजन और शुद्ध रूप से यांत्रिक प्रक्रिया मालूम होता है। ये और ऐसी कई अन्य कठिनाइयां उठ खड़ी होती हैं और सह-संबंध का यह अति सरल तर्क उतना मजबूत नहीं है जितना वह दावा करता है। जीवन और प्रकृति के अन्याय के हजनि के रूप में कर्म-फल का यह विचार इस परिकल्पना के लिये दुर्बल आधार है, क्योंकि वह छिछले और उथले मानव संवेदन और मानक को वैश्व विधान के अर्थ के रूप में प्रस्तुत करता है और अप्रामाणिक तर्क पर आधारित है। कर्म-सिद्धांत का कोई और, अधिक सबल आधार होना चाहिये।

जैसा बहुधा होता है यहां भी भ्रांति इस बात से आती है कि हम ऐसे मानक को, जो हमारे मानव मन की रचना है, अधिक विशाल, स्वतंत्र और अधिक व्यापक वैश्व बुद्धि पर आरोपित करते हैं। जो क्रिया कर्म-विधान की मानी जाती है उसमें प्रकृति के बनाये हुए अनेक मूल्यों में से केवल दो को, नैतिक शुभ और अशुभ, पाप और पुण्य तथा प्राणिक-भौतिक शुभ और अशुभ, बाहरी सुख-दुःख, बाहरी सौभाग्य और दुर्भाग्य का, चुना जाता है। माना यह जाता है कि उनके बीच समीकरण होना चाहिये, एक को दूसरे का पुरस्कार या दण्ड होना चाहिये, यही उसे प्रकृति के गूढ़ न्याय में मिलनेवाला अंतिम अनुमोदन होता है। स्पष्ट है कि यह

विन्यास हमारे अंगों में रहनेवाली सामान्य प्राणिक-भौतिक कामनाओं के दृष्टिकोण से बना है क्योंकि सुख, सौभाग्य वह है जिसे हमारी प्राणिक सत्ता का निचला भाग सबसे अधिक चाहता है, दुर्भाग्य और दुःख वह है जिनसे वह बहुत अधिक घृणा और भय करता है। उससे जब यह नैतिक मांग की जाती है कि वह अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को नियंत्रित करे, अनिष्ट न करने के लिये आत्म-संयम करे और जो शुभ है उसे करने के लिये आत्म-प्रयास करे तो वह एक ऐसे सौदे को, एक ऐसे वैश्व-विधान को स्वीकार कर लेता है जो उसके कठोर आत्म-संयम का बदला दे और जो दण्ड के भय से आत्म-त्याग के कठोर पथ से चिपके रहने के लिये उसका सहायक होता है। लेकिन सच्ची नैतिक सत्ता को शुभ का मार्ग अपनाने और अशुभ का मार्ग त्यागने के लिये पुरस्कार और दण्ड की पद्धति की जरूरत नहीं होती। उसके लिये पुण्य अपने-आप अपना पुरस्कार है, पाप अपने साथ अपना दण्ड अपनी निजी प्रकृति के विधान से पतन के दुःख के रूप में लाता है, यही सच्चा नैतिक मानक है। इसके विपरीत पुरस्कारों और दण्डों की पद्धति शुभ के नैतिक मूल्यों को एकदम भ्रष्ट कर डालती, पुण्य को स्वार्थ में, अपने हित के लिये व्यापारिक सौदेबाजी में बदल देती है और अशुभ से बचने के उचित हेतु के स्थान पर एक निम्नतर हेतु को रख देती है। मनुष्यों ने पुरस्कार और दण्ड के नियम को एक सामाजिक आवश्यकता के रूप में खड़ा किया है ताकि जाति को हानि पहुंचानेवाली वस्तुओं को रोका जा सके और उसके लिये सहायक वस्तुओं को प्रोत्साहन दिया जा सके। परंतु इस मानव युक्ति को वैश्व-प्रकृति के व्यापक विधान या परम सत्ता के विधान या जीवन के परम विधान के रूप में खड़ा करना सन्देहास्पद मूल्य की प्रक्रिया है। यह मानव है और साथ ही बचकाना भी कि हम अपने अज्ञान के अपर्याप्त और संकीर्ण मानदण्डों को वैश्व-प्रकृति की विशालतर और अधिक जटिल क्रियाओं पर या उस परम प्रज्ञा और परम शुभ की क्रिया पर लागू करें जो हमें हमारी आंतरिक सत्ता द्वारा हमारे अंदर धीरे-धीरे काम करनेवाली आध्यात्मिक शक्ति द्वारा अपनी ओर खींचती या उठाती है, हमारी बाहरी प्राणिक प्रकृति पर प्रलोभनों अथवा दबाव के विधान द्वारा नहीं। अगर अंतरात्मा बहुविध और जटिल अनुभव द्वारा विकास में से गुजर रही है तो कर्म के किसी भी विधान को या ऊर्जा की क्रिया और उत्पादन के किसी भी प्रतिदान को उस अनुभव के साथ मेल खाने के लिये जटिल होना चाहिये, वह सरल और स्वल्प बनावट का नहीं हो सकता या अपने प्रभाव में कठोर और एकदेशीय नहीं हो सकता।

साथ ही इस सिद्धांत को तथ्य के एक आंशिक सत्य के रूप में—आधारभूत या व्यापक रूप में नहीं—स्वीकार किया जा सकता है। क्योंकि, यद्यपि ऊर्जा की क्रिया की रेखाएं स्पष्ट और स्वतंत्र हैं, वे मिलकर या एक-दूसरे पर क्रिया कर सकती हैं, लेकिन अनुरूपता के किसी कठोर नियम के अनुसार नहीं। यह संभव है

कि प्रकृति के प्रतिदानों की समग्र पद्धति में प्राणिक-भौतिक शुभ और अशुभ तथा नैतिक शुभ और अशुभ के बीच संबंध या पारस्परिक क्रिया का कोई तंतु प्रवेश कर जाता है; विभिन्न द्वंद्वों के बीच एक सीमित अनुरूपता और मिलन-स्थली हो लेकिन ऐसी संगति नहीं जिसे अलग न किया जा सके। हमारी अपनी बदलती हुई ऊर्जाएं, कामनाएं, गतिविधियां अपनी क्रिया में मिली-जुली रहती हैं और मिश्रित परिणाम ला सकती हैं। हमारा प्राणिक अंश पुण्य के लिये, ज्ञान के लिये, हर बौद्धिक, सौंदर्यपरक, नैतिक या भौतिक प्रयास के लिये ठोस और बाहरी पुरस्कार की मांग करता है। वह पाप के लिये, यहांतक कि अज्ञान के लिये भी दण्ड पर दृढ़ विश्वास रखता है। यह संभव है कि यह एक संगत विश्व-क्रिया की रचना करे या उसके अनुरूप हो क्योंकि हम जैसे हैं प्रकृति हमें उसी रूप में लेती है और कुछ हदतक अपनी गतिविधियों को हमारी आवश्यकताओं या हमारी उससे मांगों के अनुकूल बनाती है। अगर हम अपने ऊपर अदृश्य शक्तियों की क्रिया को स्वीकार कर लें, तो हो सकता है कि प्राण-प्रकृति में भी ऐसी अदृश्य शक्तियां हों जो चित्-शक्ति के उसी लोक की हों जिसका हमारी सत्ता का यह भाग है, ऐसी शक्तियां जो उसी योजना के अनुसार या उसी शक्ति-प्रेरणा से चलती हों जिससे हमारी निचली प्राणिक प्रकृति चलती है। बहुधा देखा जा सकता है कि जब कोई स्वाग्रही प्राणिक अहंकार अपने मार्ग पर बिना संयम के, बिना झिझके, जो कुछ उसकी इच्छा, कामना का विरोध करे उसे कुचलता चला जाता है तो वह मनुष्यों में अपने विरुद्ध घृणा, विरोध और बेचैनी, स्वयं अपने विरुद्ध प्रतिक्रियाओं का समूह उठाता चलता है जिनका परिणाम उसी समय या बाद में आ सकता है और वैश्व प्रकृति में और भी अधिक भयंकर विरोधी प्रतिक्रियाएं हो सकती हैं। यह ऐसा होता है मानों प्रकृति का धैर्य, उसकी अपना प्रयोग किये जाने के लिये सहमति चुक गयी हो। बलवान् प्राणिक मनुष्य का अहं जिन शक्तियों को पकड़ कर अपने काम में लगाता था वही शक्तियां विद्रोह करके उससे उल्टी हो जाती हैं, जिन्हें उसने रौंदा था वे उठ खड़ी होती हैं और उसके पतन के लिये शक्ति पा लेती हैं। मनुष्य की धृष्ट प्राण-शक्ति आवश्यकता के सिंहासन पर लात मारती है और चकनाचूर हो जाती है या दण्ड का लंगड़ा पैर अंत में सफल अपराधीतक जा पहुंचता है। उसकी ऊर्जाओं के प्रति यह प्रतिक्रिया उसपर एकदम न आकर अगले जीवन में आ सकती है या वे उसके लिये निष्कर्षों का वह भार बन सकती हैं जिसे वह इन शक्तियों के क्षेत्र में अपनी वापसी में उठाता है। यह छोटे या बड़े पैमाने पर हो सकता है, छोटी-सी प्राणिक सत्ता और उसकी छोटी भ्रांतियों और उसी तरह इन बड़े उदाहरणों में हो सकता है। क्योंकि सिद्धांत वही होगा। हमारे अंदर मनोमय सत्ता शक्ति के अपव्यवहार द्वारा सफलता खोजती है जिसे प्रकृति स्वीकार तो कर लेती है परंतु अंत में उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया करती है और विरोधी प्रतिफल को

पराजय, दुःख और असफलता के वेश में पाती है। लेकिन कारणों और परिणामों की इस छोटी धारा को ऊंचा उठाकर एक अपरिवर्तनशील निरपेक्ष विधान के या परम सत्ता की क्रिया के समस्त वैश्व नियम के पदतक चढ़ा देना वैध नहीं है, ये विश्व के अंतरतम या परम सत्य और भौतिक प्रकृति की निष्पक्षता के बीच के मध्यवर्ती प्रदेश की चीजें हैं।

बहरहाल प्रकृति की प्रतिक्रियाएं सारतत्त्व में पुरस्कार या दण्ड के रूप में अभिप्रेत नहीं हैं; यह उनका आधारभूत मूल्य नहीं है, बल्कि यह स्वाभाविक संबंधों का अंतर्निहित मूल्य है और जहांतक वह आध्यात्मिक विकास पर प्रभाव डालता है, अंतरात्मा के वैश्व प्रशिक्षण में अनुभव के पाठों का मूल्य है। अगर हम आग को छू लें तो वह जलाती है लेकिन इस कार्य-कारण संबंध में दंड का कोई सिद्धांत नहीं है। यह संबंध और अनुभव का पाठ है। तो हमारे साथ प्रकृति के सभी व्यवहारों में वस्तुओं का एक संबंध है और उसके साथ मेल खाता हुआ अनुभव का एक पाठ है। वैश्व ऊर्जा की क्रिया जटिल होती है और वे ही शक्तिया परिस्थितियों के अनुसार, सत्ता की आवश्यकता के अनुसार, क्रिया में लगी वैश्व शक्ति के इरादे के अनुसार भिन्न रूप में क्रिया कर सकती हैं। हमारा जीवन केवल अपनी ऊर्जाओं से ही नहीं बल्कि दूसरों की ऊर्जाओं से और वैश्व-शक्तियों से प्रभावित होता है। और इस सारी विशाल परस्पर-क्रीड़ा के परिणामों का निश्चय किसी एक सर्व-शासक नैतिक विधान के एकमात्र तत्त्व से नहीं किया जा सकता जिसका ध्यान ऐकान्तिक रूप से वैयक्तिक मानव सत्ताओं के गुणों और दोषों, पाप-पुण्य पर रहता हो। और न ही सौभाग्य या दुर्भाग्य, हर्ष-शोक, सुख-दुःख और दैन्य को इस रूप में माना जा सकता है कि उनका अस्तित्व प्राकृत सत्ता के लिये शुभ और अशुभ के चुनाव में प्रेरक और निवारक के रूप में ही है। जीव अनुभव, व्यक्तिगत सत्ता की वृद्धि के लिये पुनर्जन्म में प्रवेश करता है। हर्ष और शोक, दुःख-दर्द, सौभाग्य-दुर्भाग्य उस अनुभव के भाग हैं, उस विकास के साधन हैं। यहांतक कि स्वयं अंतरात्मा दारिद्र्य, दुर्भाग्य और कष्ट को अपने विकास में सहायक, तेजी के साथ विकास में उद्दीपक के रूप में स्वीकार कर सकती है और समृद्धि, सम्पदा और सफलता को अपने आध्यात्मिक प्रयास में शिथिलता के प्रेरक और संकटकारी समझ कर त्याग सकती है। निश्चय ही सुख और सुख लानेवाली सफलता मानव-जाति की एक उचित मांग है। यह प्राण और जड़-भौतिक के आनंद के एक फीके प्रतिबिंब या एक स्थूल प्रतिरूप को पकड़ने के लिये प्रयत्न है। लेकिन ऊपरी सुख और भौतिक सफलता, वे हमारी प्राणिक प्रकृति के लिये चाहे जितने वांछनीय हों, वे हमारे जीवन के मुख्य उद्देश्य नहीं हैं। अगर यही इरादा होता तो वस्तुओं के विश्व-विधान में जीवन और तरह से व्यवस्थित होता। पुनर्जन्म की परिस्थितियों का सारा रहस्य अंतरात्मा की एकमात्र सबसे बड़ी आवश्यकता,

विकास की आवश्यकता, अनुभव की आवश्यकता के इर्द-गिर्द केन्द्रित है जो उसके विकास की धारा पर शासन करती है। बाकी सब आनुषंगिक है। वैश्व-जीवन वैश्व-न्याय की विशाल प्रशासन-व्यवस्था नहीं है जिसका यंत्र-विन्यास पुरस्कार और दण्ड का कोई विश्व-विधान हो या जिसके केन्द्र में कोई दिव्य विधायक या न्यायाधीश बैठा हो। हम उसे पहले-पहल प्रकृति की ऊर्जा की एक महान् स्वचालित गति के रूप में देखते हैं और उसमें चेतना की आत्म-विकसनशील गति का आविर्भाव होता है। अतः यह उस आध्यात्म पुरुष की गति है जो प्रकृति की ऊर्जा की गति में स्वयं अपनी सत्ता को कार्यान्वित करता है। इस गतिधारा में पुनर्जन्म का चक्र चलता है और उस चक्र में अंतरात्मा, चैत्य पुरुष, जो कुछ उसके विकास के अगले चरण के लिये, उसके अगले व्यक्तित्व-निर्माण के हेतु आवश्यक अनुभवों के अगले समूह के लिये आवश्यक है उस सबकी अपने लिये तैयारी करता है, या उस सबको दिव्य प्रज्ञा या वैश्व चित्-शक्ति उसके लिये और उसकी क्रिया के द्वारा तैयार करती है। यह भूत, भविष्य और वर्तमान ऊर्जाओं के अविच्छिन्न प्रवाह में से आत्मा के हर नये जन्म, हर नये चरण के लिये आयोजित और व्यवस्थित होता है। यह नया जन्म, नया चरण, चाहे वह आगे की ओर हो या पीछे की ओर या अभी चक्र में ही हो, हमेशा प्रकृति में अपने नियत आत्मोन्मीलन की ओर सत्ता के विकास में एक चरण होता है।

यह बात हमें पुनर्जन्मसंबंधी साधारण धारणा के एक और तत्त्वतक ले आती है जो स्वीकार करने योग्य नहीं है क्योंकि वह स्पष्ट रूप से भौतिक मन की भ्रांति है—यह विचार कि स्वयं अंतरात्मा एक सीमित व्यक्तित्व है जो जन्म-जन्मांतरतक अपरिवर्तित बना रहता है। अंतरात्मा और व्यक्तित्व के बारे में यह बहुत अधिक सरल और छिछला विचार भौतिक मन की अपने इस एक जीवन के बाहरी आत्म-रूपायन से परे देख सकने की अक्षमता से पैदा होता है। उसकी धारणा में पुनर्जन्म में जो वापिस आता है उसे केवल वही आध्यात्म पुरुष, वही चैत्य सत्ता ही नहीं बल्कि प्रकृति का वही रूपायन होना चाहिये जो पिछले जन्म में शरीर के अंदर निवास करता था। शरीर बदलता है, परिवेश भिन्न है लेकिन सत्ता का रूप, मन, स्वभाव, चरित्र, विन्यास, प्रवृत्तियां वही की वही बनी हैं। अपने नये जीवन में जॉन स्मिथ वही जॉन स्मिथ है जो वह अपने पिछले अवतार में था। अगर ऐसा होता तो पुनर्जन्म का कोई आध्यात्मिक उपयोग या अर्थ न होता, क्योंकि यह उसी छोटे-से व्यक्तित्व का, उसी छोटे मानसिक और प्राणिक रूपायन का काल के अंततक पुनरावर्तन होता रहता। अपनी वास्तविकता की पूर्ण महिमातक विकसित होने के लिये शरीरस्थ सत्ता के लिये केवल नया अनुभव ही नहीं, बल्कि नया व्यक्तित्व भी अनिवार्य है; उस एक ही व्यक्तित्व की पुनरावृत्ति तभी उपयोगी हो सकती है जब उसके अनुभव के अपने विन्यास में कोई चीज अधूरी रह गयी हो जिसे सत्ता के

उसी ढांचे में, मन की उसी रचना में और ऊर्जा की उसी रूपायित सामर्थ्य के साथ क्रियान्वित करने की जरूरत हो। लेकिन साधारणतः यह बिलकुल व्यर्थ होगा। जो अंतरात्मा जॉन स्मिथ हो चुकी है उसे हमेशा जॉन स्मिथ बने रहने से न तो कोई लाभ होगा न उसकी परिपूर्ति होगी। वह हमेशा उसी स्वरूप, हित, पेशे और उन्हीं आंतरिक और बाह्य गतिविधियों के प्रकारों को दोहराते रहने से कोई वृद्धि और पूर्णता न पायेगी। हमारा जीवन और पुनर्जन्म हमेशा वही आवर्तक दशमलव बना रहेगा। वह विकास न होकर शाश्वत पुनरावर्तन का निरर्थक सातत्य होगा, अपने वर्तमान व्यक्तित्व के साथ हमारी आसक्ति इस तरह के सातत्य की, पुनरावर्तन की मांग करती है। जॉन स्मिथ हमेशा के लिये जॉन स्मिथ बना रहना चाहता है। लेकिन स्पष्ट है कि यह मांग अज्ञानमय है और अगर इसे संतुष्ट किया जाये तो वह परिपूर्ति नहीं कुण्ठा होगी। हम सदा बाहरी पुरुष के परिवर्तन, प्रकृति की सतत प्रगति, आध्यात्म सत्ता के विकास द्वारा ही अपने अस्तित्व को न्यायोचित ठहरा सकते हैं।

व्यक्तित्व एक अस्थायी मानसिक, प्राणिक, भौतिक रूपायन है जिसे सत्ता, वास्तविक पुरुष, चैत्य सत्ता सतह पर सामने लाती है। वह अपनी स्थायी वास्तविकता में आत्मा नहीं है। हर बार जब पुरुष धरती पर लौटता है तो वह एक नया रूपायन तैयार करता है, एक नयी व्यक्तिगत प्रमात्रा तैयार करता है जो उसकी सत्ता के नये अनुभव के लिये, नये विकास के लिये उपयुक्त हो। जब वह शरीर से निकलता है तो वह कुछ समय के लिये वही प्राणिक और मानसिक रूप बनाये रखता है लेकिन ये रूप या कोष विलीन हो जाते हैं और जो चीज रखी जाती है वह है पिछली प्रमात्रा के आवश्यक तत्त्व जिनमें से कुछ का नये जन्म में उपयोग होगा और कुछ का नहीं। हो सकता है कि पिछले व्यक्तित्व का आवश्यक रूप, बहुत से तत्त्वों में से एक तत्त्व, उसी पुरुष के बहुत से व्यक्तित्वों में से एक व्यक्तित्व के रूप में बना रहे, लेकिन पृष्ठभूमि में, सतही मन, प्राण और शरीर के पर्दे के पीछे अन्तस्तलीय में बना रहे और वहां से नये रूपायन में उससे जिस चीज की आशा की जाती है वह देता रहे; लेकिन वह अपने-आपमें वही समस्त रूपायन न होगा या प्रकृति के पुराने अपरिवर्तित प्ररूप का कोई नया निर्माण न कर रहा होगा। यह भी हो सकता है कि सत्ता की नयी प्रमात्रा या सत्ता का नया ढांचा एकदम विपरीत लक्षण और स्वभाव दिखलाये, उसमें एकदम भिन्न क्षमताएं और बहुत भिन्न प्रवृत्तियां हों क्योंकि हो सकता है कि प्रच्छन्न सम्भाव्यताएं प्रकट होने के लिये तैयार हों या कोई ऐसी चीज हो जो क्रिया में तो आ चुकी थी पर थी प्रारंभिक; हो सकता है कि उसे पिछले जन्म में रोके रखा गया हो जिसे कार्यान्वित करने की जरूरत थी लेकिन उसे बाद के लिये प्रकृति की सम्भावनाओं के अधिक उपयुक्त मेल के लिये रोक लिया गया हो। निश्चय ही समस्त भूतकाल अपने तेजी

से बढ़ते हुए संवेग और संभाव्यताओं के साथ भविष्य के रूपायन के लिये मौजूद है लेकिन सारा-का-सारा प्रकट रूप में उपस्थित और सक्रिय नहीं है। अतीत में रूपायनों की जितनी अधिक विविधता रही होगी और जिनका उपयोग किया जा सकता है, अनुभवों की संचित रचनाएं उतनी ही समृद्ध, बहुसंख्यक रहेंगी, ज्ञान, शक्ति, क्रिया, चरित्र, विश्व के प्रति बहुविध प्रतिक्रिया की क्षमता के लिये उनके अनिवार्य परिणाम को सामने लाया जा सकता है और नये जन्म में उनका सामंजस्य बिठाया जा सकता है। जितने अधिक अवगुंठित व्यक्तित्व, मानसिक, प्राणिक और सूक्ष्म भौतिक, सतह पर नवीन व्यक्तित्व को समृद्ध बनाने के लिये मिलेंगे, वह व्यक्तित्व उतना ही बड़ा और समृद्ध होगा; वह विकास की पूरी की हुई मानसिक अवस्था में से निकल कर उससे परे की किसी वस्तु की ओर संभव संक्रमण के उतने ही अधिक निकट होगा। इस प्रकार की जटिलता और एक ही व्यक्ति में अनेक व्यक्तित्वों का इकट्ठा होना व्यष्टिगत विकास में बहुत ज्यादा विकसित भूमिका का चिह्न हो सकता है जहां बलवान् केन्द्रीय सत्ता होती है जो सबको एक साथ रखती है और प्रकृति की समस्त बहुमुखी गति का सामंजस्य तथा एकीकरण करने के लिये कार्य करती है। लेकिन अतीत का यह प्रचुर रूप से ग्रहण व्यक्तित्व का पुनरावर्तन न होकर एक नयी रचना और विशाल परिपूर्ति होगा। पुनर्जन्म का अस्तित्व अपरिवर्तनशील व्यक्तित्व के सतत नवीकरण या दीर्घीकरण के लिये मशीन नहीं है बल्कि प्रकृति में आध्यात्मिक सत्ता के विकास के लिये साधन-स्वरूप है।

यह स्पष्ट है कि पुनर्जन्म की इस योजना में, हमारा मन पूर्व जन्मों की स्मृति को जो मिथ्या महत्त्व देता है वह एकदम से गायब हो जाता है। अगर वास्तव में पुनर्जन्म की व्यवस्था पर पुरस्कार और दण्ड का शासन होता, अगर जीवन का सारा प्रयोजन बस इतना ही होता कि शरीरस्थ आत्मा को अच्छा और नैतिक बनने का पाठ पढ़ाये—यदि यह मान लिया जाये कि कर्म के विधान का सारा उद्देश्य यही है और वह वैसा नहीं है जैसा कि इस प्रस्तुतीकरण में दीखता है, यानी सुधार के भाव या अर्थ के बिना पुरस्कार और दण्ड का यांत्रिक विधान नहीं है—तब स्पष्ट है कि मन को अपने नये जीवन में अपने अतीत के जन्मों और कर्मों की समस्त स्मृति से वंचित करना एक बड़ी मूर्खता होगी, अन्याय होगा। क्योंकि, इससे पुनर्जात सत्ता यह अनुभव करने के हर अवसर से वंचित रह जाती है कि उसे पुरस्कार या दण्ड क्यों मिल रहा है या उसे पुण्य का जो लाभ दिया जा रहा है और पाप की जो लाभहीनता उसपर लादी जा रही है उसके पाठ से कोई लाभ उठाने से वंचित रह जाता है। यहांतक कि चूंकि ऐसा लगता है कि जीवन उल्टा ही पाठ पढ़ाता है क्योंकि वह देखता है कि भले लोग अपनी भलाई के कारण दुःख भोगते हैं और दुष्ट अपनी दुष्टता के कारण फलते-फूलते हैं—तो ज्यादा संभावना यह है कि वह इस विकृत भाव में ही निष्कर्ष निकाले क्योंकि उसे अनुभव के निश्चित और

अविच्छिन्न परिणाम की याद नहीं है जो उसे बतला सके कि भले आदमी के कष्ट उसके पिछले दुष्कर्मों के कारण और पापी की समृद्धि उसके विगत पुण्यों की भव्यता के कारण है। अतः प्रकृति की इस व्यवस्था में प्रवेश करनेवाले किसी भी बुद्धिमान और विवेकी जीव के लिये अन्ततोगत्वा पुण्य ही सबसे अच्छी नीति है। यह कहा जा सकता है कि भीतर चैत्य सत्ता याद रखती है लेकिन ऐसी गुप्त स्मृति का सतह पर कोई प्रभाव या मूल्य न होगा। या यह कहा जा सकता है कि जब वह शरीर से निकलने के बाद अपने अनुभवों का सिंहावलोकन करके उसे आत्मसात् करती है तब जो कुछ घटित हुआ है उसे वह अनुभव करती और अपना पाठ सीखती है। लेकिन यह बीच-बीच में आनेवाली स्मृति बहुत प्रकट रूप में अगले जन्म में कोई सहायता नहीं देती क्योंकि हममें से अधिकतर लोग पाप और भ्रांति में लगे रहते हैं और अपने पिछले अनुभवों की शिक्षा से लाभ उठाने के कोई स्पष्ट चिह्न नहीं दिखाते।

लेकिन अगर विकसित होते हुए वैश्व अनुभव द्वारा सत्ता का सतत विकास ही अर्थ है और नये जन्म में नये व्यक्तित्व की रचना ही उसकी पद्धति है तो पिछले जन्म या जन्मों की स्थायी या पूरी स्मृति एक जंजीर और बड़ा विघ्न ही हो सकती है। वह एक ऐसी शक्ति होगी जो पुरानी प्रकृति, चरित्र और मुख्य कार्य को जारी रखेगी और नये व्यक्तित्व के स्वतंत्र विकास और उस व्यक्तित्व के नये अनुभवों के निरूपण में बाधा डालनेवाला बहुत बड़ा भार होगी। पिछले जीवन, घृणा, विद्वेषों, आसक्तियों, संबंधों की स्पष्ट और विस्तृत स्मृति भी इसी तरह एक बहुत बड़ी असुविधा होगी क्योंकि वह पुनर्जात सत्ता के लिये सतही भूत की एक व्यर्थ पुनरावृत्ति और अनिवार्य अवस्थिति, आत्मा की गहराइयों में से अपनी नयी संभावनाओं को बाहर लाने के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा होगी। यदि वस्तुतः चीजों को मानसिक रूप में सीख लेना ही विषय का मर्म होता, अगर यही हमारे विकास की प्रक्रिया होती तो स्मृति का बहुत महत्त्व होता। लेकिन वस्तुतः चैत्य व्यक्तित्व की वृद्धि होती है, प्रकृति की वृद्धि होती है और यह होता है हमारी सत्ता के पदार्थ में आत्मसात् होने के द्वारा, भूतकाल की ऊर्जाओं के सारगत परिणामों के सर्जनशील और प्रभावी आत्मसात् होने के द्वारा। इस प्रक्रिया में सचेतन स्मृति का कोई महत्त्व नहीं है। जैसे वृक्ष सूर्य, वर्षा तथा पवन की क्रिया के अवचेतन या निश्चेतन आत्मसात्करण तथा पार्थिव तत्त्वों की तल्लीनता द्वारा बढ़ता है इसी भांति सत्ता अपनी अतीत की संभूति के परिणाम और भावी संभूति की सम्भाव्यताओं के उत्पादन के अन्तर्लीन या अन्तश्चेतन आत्मसात्करण और समावेश से वृद्धि पाती है। जो विधान हमें पिछले जन्मों की स्मृति से वंचित करता है वह वैश्व प्रज्ञा का विधान है और विकास के उद्देश्य की सहायता करता है, उसमें बाधा नहीं देता।

विगत जन्मों की स्मृति के अभाव को गलती से, अज्ञान के कारण पुनर्जन्म के

तथ्य का खण्डन मान लिया जाता है। क्योंकि अगर इस जीवन में ही अपने भूत की सब स्मृतियां बनाये रखना कठिन है, अगर वे प्रायः पृष्ठभूमि में चली जाती हैं या बिलकुल मिट जाती हैं, अगर हमारी बाल्यावस्था की कोई स्मृति नहीं रहती और फिर भी स्मृति की इस सारी रिक्तता के बावजूद हमारा अस्तित्व रह सकता है और हम बढ़ सकते हैं, यदि मन पिछली घटनाओं को पूरी तरह भूल सकता है, स्वयं अपने व्यक्तित्व को भी भूल सकता है, फिर भी वह की वही सत्ता बनी रहती है और एक दिन खोयी हुई स्मृति वापिस आ सकती है तो स्पष्ट है कि अन्य लोकों में जाने और वहां से नये शरीर में नये जन्म के जैसा आमूल परिवर्तन सामान्यतः सतही या मानसिक स्मृति को पूरी तरह मिटा दे लेकिन इससे अंतरात्मा का व्यक्तित्व या प्रकृति की वृद्धि मिट न जायेगी। सतही मानसिक स्मृति का यह मिटना और भी अधिक निश्चित और पूरी तरह अनिवार्य हो जाता है यदि उसी सत्ता का नया व्यक्तित्व और नया यंत्र-विन्यास हो जो पुराने का स्थान ले ले, एक नया मन, नया प्राण, नया शरीर। यह आशा नहीं की जा सकती कि नया मस्तिष्क अपने अंदर पुराने मस्तिष्क के धारण किये हुए बिंबों को लिये रहेगा। नये प्राण या मन से यह मांग नहीं की जा सकती कि जो पुराने मन या प्राण विघटित किये जा चुके हैं और जिनका अस्तित्व नहीं है उनके मिटे हुए संस्कारों को बनाये रखें। निःसंदेह अंतस्तलीय सत्ता याद रख सकती है क्योंकि उसे सतह की अक्षमताओं से कष्ट नहीं होता लेकिन सतही मन उस अंतस्तलीय स्मृति से कटा हुआ रहता है जिसमें पिछले जन्मों के स्पष्ट संस्कार या स्पष्ट याद हो सकती है। यह विच्छेद जरूरी है क्योंकि नया व्यक्तित्व जो अंतर में है, उसके साथ कोई सचेतन प्रसंग न रखकर ही बाहरी सतह पर बनता है। जैसा हमारी बाहरी सत्ता के समस्त शेष भाग के साथ होता है, हमारे सतही व्यक्तित्व का निर्माण भी भीतरी क्रिया से होता है, लेकिन उस क्रिया के बारे में वह सचेतन नहीं होता। उसे लगता है कि वह आत्म-निर्मित, बना बनाया या वैश्व प्रकृति की ऐसी क्रिया द्वारा बनाया गया है जिसे ठीक तरह समझा नहीं गया। लेकिन फिर भी कभी-कभी इन लगभग अलंघ्य बाधाओं के बावजूद, पिछले जन्मों की स्मृति के कुछ अंश रह जाते हैं, कुछ थोड़े से उदाहरण ऐसे भी हैं जिनमें बाल-मानस के अंदर आश्चर्यजनक रूप से ठीक और पूरी स्मृति पायी जाती है। और अंत में सत्ता के विकास के अमुक स्तर पर जब अंतर बाह्य पर प्रभुत्व पाना शुरू करता है और सामने आता है तो कभी-कभी विगत जन्म की याद ऐसे उभरने लगती है मानों किसी डूबे हुए स्तर से आ रही हो; लेकिन किसी घटना या परिस्थिति के ठीक-ठीक ब्योरे की अपेक्षा वर्तमान जीवन में सत्ता के निर्माण में प्रभावकारी पिछले जन्म के व्यक्तित्वों के उपादान और बल के बोध के रूप में अधिक आसानी से आती है। यद्यपि ठीक-ठीक ब्योरा भी किन्हीं अंशों में आ सकता है या एकाग्रता द्वारा अंतस्तलीय दृष्टि, किसी गुप्त स्मृति अथवा हमारे

आन्तरिक सचेतन पदार्थ से प्राप्त किया जा सकता है लेकिन प्रकृति के लिये उसके सामान्य कार्य में इस व्योरेवार स्मृति का बहुत कम महत्त्व है और वह उसके लिये कम ही व्यवस्था करती है या बिलकुल नहीं करती। उसे सत्ता के भावी विकास की रचना की चिंता रहती है, भूत को पीछे हटा दिया जाता है, पर्दे के पीछे रखा जाता है। और उसका उपयोग केवल वर्तमान और भविष्य के लिये सामग्री के गुह्य स्रोत के रूप में किया जाता है।

अगर व्यक्ति और व्यक्तित्व की इस धारणा को मान लिया जाये तो इससे उसी समय अंतरात्मा की अमरता के बारे में हमारे प्रचलित विचारों में भी हेर-फेर करना होगा क्योंकि साधारणतः जब हम अंतरात्मा के अमर अस्तित्व पर जोर देते हैं तो उसका मतलब होता है मृत्यु के बाद एक सुनिश्चित अपरिवर्तनशील व्यक्तित्व का बना रहना जो था और जो शाश्वत कालतक सदा एकरस बना रहेगा। हम जिसके लिये उत्तरजीविता और अमरता के अतिमहान् अधिकार की मांग करते हैं वह वही अपूर्ण, क्षणिक और बाहरी "मैं" होता है जिसे प्रकृति स्पष्टतः अस्थायी रूप मात्र मानती है जो संरक्षण के अयोग्य है। लेकिन मांग अत्यधिक है जिसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्षणिक अहं उत्तरजीविता के योग्य केवल तभी हो सकता है जब वह बदलने के लिये राजी हो, वह अपने-आप न बना रहे बल्कि कुछ और, महत्तर, उत्तम, ज्ञान में अधिक प्रकाशमय, शाश्वत आंतरिक सुन्दरता की प्रतिमा के रूप में अधिक बढ़ा हुआ, प्रच्छन्न आध्यात्म पुरुष के दिव्यत्व की ओर अधिक प्रगतिशील हो। हमारे अंदर वही प्रच्छन्न आत्मा या आध्यात्म पुरुष का दिव्यत्व अमर है क्योंकि वह अजन्मा और शाश्वत है। उसकी प्रतिनिधि अंतस्थ चैत्य सत्ता, हमारे भीतर का आध्यात्मिक व्यक्ति वह पुरुष है जो हम हैं। इस समय का "मैं", वर्तमान जीवन का "मैं" इस आंतरिक व्यक्ति का रूपायन, एक अस्थायी व्यक्तित्व मात्र है। वह हमारे विकसनशील परिवर्तन के अनेक चरणों में से एक चरण है और वह अपना सच्चा उद्देश्य तब पूरा करता है जब हम उसके परे जाकर, अधिक दूर के चरणतक जा पहुंचें जो हमें चेतना और सत्ता की उच्चतर कोटि के ज्यादा नजदीक ले जाता है। अंतःपुरुष मृत्यु के बाद बना रहता है, उसी तरह जैसे वह जन्म से पहले होता है; क्योंकि यह सतत उत्तरजीविता हमारे कालातीत आध्यात्म पुरुष की शाश्वतता का काल की भाषा में व्यक्त होना है।

हमारी उत्तरजीविता की सामान्य मांग हमारे मन, हमारे प्राण यहांतक कि हमारे शरीर के लिये भी ऐसी ही उत्तरजीविता चाहती है। शरीर के पुनरुज्जीवन का मत इस अंतिम मांग का प्रमाण देता है। यही अमरता प्रदान करनेवाले अमृत या किसी जादुई साधन, कीमिया या विज्ञान द्वारा शरीर की मृत्यु पर भौतिक विजय पाने के मनुष्य के युग-युग पुराने प्रयास के मूल में है। लेकिन यह अभीप्सा तभी सफल हो सकती है जब मन, प्राण या शरीर भीतर निवास करनेवाले आध्यात्म पुरुष की अमरता या दिव्यता का कुछ अंश धारण कर लें। कुछ ऐसी परिस्थितियां होती हैं जिनमें आंतरिक मनोमय पुरुष के प्रतिनिधि बाह्य मनोमय व्यक्तित्व का

उत्तरजीवन संभव होता है। यह तब हो सकता है जब हमारी मानसिक सत्ता सतह पर इतने प्रबल रूप से व्यक्तित्व पा ले और आंतरिक मन तथा आंतरिक मानसिक पुरुष के साथ इतनी एक हो जाये और साथ ही नमनीयता के साथ शाश्वत की प्रगतिशील क्रिया की ओर इतनी खुल जाये कि अंतरात्मा को प्रगति करने के लिये मन के पुराने रूप को विघटित करने और एक नया रूप बनाने की जरूरत न रहे। सतह पर प्राण के भी ऐसे ही व्यष्टीकरण, एकीकरण और उन्मीलन के द्वारा ही हमारे अंदर प्राण के अंश का, बाहरी प्राणिक व्यक्तित्व का, प्राण-पुरुष का, जो भीतरी प्राणमय सत्ता का प्रतिनिधि है, उत्तरजीवन संभव है। तब जो वास्तव में होगा वह यह है कि भीतरी आत्मा और बाहरी मनुष्य के बीच की दीवार गिर जायेगी और भीतर से स्थायी मनोमय और प्राणमय सत्ता, अमर चैत्य सत्ता के मानसिक और प्राणिक प्रतिनिधि जीवन पर शासन करेंगे। हमारी मानसिक-प्रकृति और प्राण-प्रकृति तब अंतरात्मा की लगातार प्रगतिशील अभिव्यक्तियां होंगी, केवल ऐसे आनुक्रमिक रूपायनों की समष्टि नहीं जिनके केवल सार-तत्त्व का संरक्षण किया गया हो। तब हमारा मानसिक व्यक्तित्व और प्राणिक व्यक्तित्व विघटन के बिना जन्म-जन्मांतर तक बने रहेंगे। इस अर्थ में वे अमर होंगे, आग्रही रूप से जीवित रहेंगे, तादात्म्य के अपने भाव में निरन्तर बने रहेंगे। स्पष्टतः यह अंतरात्मा की, मन और प्राण की निश्चेतना पर और भौतिक प्रकृति के सीमांकनों पर एक बड़ी विजय होगी।

लेकिन ऐसा उत्तरजीवन केवल सूक्ष्म शरीर में टिक सकता है; जीव को अपने स्थूल रूप को फिर भी त्यागना होगा, अन्य लोकों में जाना और लौटकर नया शरीर धारण करना होगा। सामान्यतः सूक्ष्म शरीर के मनोमय कोष और प्राणमय कोष का त्याग कर दिया जाता है लेकिन जाग्रत् मनोमय पुरुष और प्राणमय पुरुष उन्हें सुरक्षित रखकर नये जन्म में उनके साथ लौटेंगे और अतीत से निर्मित और वर्तमान तथा भविष्य में पिछले मन और प्राण की स्थायी सत्ता का स्पष्ट और अविच्छिन्न बोध रखेंगे। लेकिन स्थूल शरीर, जो भौतिक-जीवन का आधार है, इस परिवर्तन में भी सुरक्षित न रहेगा। शारीरिक सत्ता केवल तब बनी रह सकती है जब ह्रास और विघटन के स्थूल कारणों को किसी साधन से जीता जा सके और साथ ही जब उसे अपनी रचना और क्रिया में इतना नमनीय और प्रगतिशील बनाया जा सके कि भीतरी पुरुष[1] की प्रगति उससे जिस किसी परिवर्तन की मांग करे तो वह उसके

[1] यदि विज्ञान, चाहे भौतिक विज्ञान या गुह्य विज्ञान, शरीर के अनिश्चित कालतक बने रहने की आवश्यक परिस्थितियां या साधन ढूंढ़ निकाले फिर भी यदि शरीर अपने-आपको इस तरह अनुकूलित न कर सके कि वह आंतरिक विकास के लिये अभिव्यक्ति का उपयुक्त यंत्र हो जाये तो अंतरात्मा उसे त्यागने और किसी नये शरीर में जाने का कोई रास्ता निकाल लेगी। मृत्यु के भौतिक या स्थूल कारण ही उसके एकमात्र या सच्चे कारण नहीं होते। उसका सच्चा अंतरतम कारण है एक नयी सत्ता के विकास के लिये आध्यात्मिक आवश्यकता।

अनुकूल हो सके। उसे इस योग्य होना होगा कि वह अंतरात्मा के साथ उसकी आत्म-अभिव्यक्तिशील व्यक्तित्व की रचना में, उसकी गुप्त आध्यात्मिक दिव्यता के लम्बे उन्मीलन में और मन के दिव्य मानस या आध्यात्मिक जीवन के धीमे रूपांतर के साथ कदम मिला सके। इस त्रिविध अमरता की सिद्धि—आध्यात्मिक सत्ता की स्वरूपसिद्ध अमरता को और मृत्यु के बाद के चैत्य उत्तरजीवन को पूर्ण करती हुई प्रकृति की अमरता—पुनर्जन्म की अंतिम परिणति और जड़ के राज्य की नींवतक में जड़-भौतिक निश्चेतना तथा अज्ञान पर विजय पाने की महत्त्वपूर्ण सूचना हो सकती है। लेकिन सच्ची अमरता फिर भी अध्यात्म-सत्ता की शाश्वतता होगी। शारीरिक उत्तरजीविता केवल सापेक्ष हो सकेगी, इच्छा-मृत्यु हो सकेगी। यह यहां पर मृत्यु और जड़ पदार्थ पर आत्मा की विजय का कालिक चिह्न होगा।

अध्याय २३

मनुष्य और विकास

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः . . . साक्षी चेता केवलः . . . ॥
एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।

वह एक देव जो सभी सत्ताओं में गुप्त है, सर्वव्यापक, सब का अन्तःपुरुष, सभी कर्मों का अध्यक्ष, साक्षी, सचेतन ज्ञाता और निरपेक्ष . . . प्रकृति के प्रति निष्क्रिय रहनेवाले बहु को वश में रखनेवाला वह एक, एक ही बीज को अनेक प्रकार से रूप देता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.११, १२

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन् अस्मिन् क्षेत्रे संहरत्येष देवः।
. . . योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः।
यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान्परिणामयेद्यः।
. . . गुणांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः ॥

वह देव, वस्तुओं के प्रत्येक जाल को अलग-अलग बहुत प्रकार से बदलता हुआ इस क्षेत्र में विचरता है . . . वह एक ही सभी योनियों का और स्वभावों का अध्यक्ष है। वह स्वयं विश्वयोनि है। यह वही है जो सत्ता के स्वभाव को पकाता है और जिन्हें परिपक्व करता है उन सबको उनका विकास-फल देता और उनकी क्रियाओं के सभी गुणों का विनियोग करता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् ५. ३-५

एकं रूपं बहुधा यः करोति।

वह वस्तुओं के एक ही रूप को नाना प्रकार से रूपायित करता है।

कठोपनिषद् २.२.१२

क इमं वो निण्यमा चिकेत वत्सो मातृर्जनयत स्वधाभिः।
बह्वीनां गर्भो अपसामुपस्थान्महान् कविर्निश्चरति स्वधावान् ॥
आविष्टयो वर्धते चारुरासु जिह्मनानामूर्ध्वः स्वयशा उपस्थे। . . .

किसने इस गुह्य ज्ञान का दर्शन किया है कि वत्स ही माता को स्वधा की क्रियाओं से जन्म देता है? अनेक जलों की गोद से उत्पन्न वह शिशु अपनी प्रकृति के सारे विधान से युक्त (स्वधावान्) द्रष्टा होकर उनमें से प्रकट होता है। अभिव्यक्त होकर

वह उनकी कुटिलताओं की गोद में बढ़ता है और उच्च, चारु तथा महिमावान् हो जाता है।

ऋग्वेद १.९५.४.५

असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतं गमय।

असत् से सत् की ओर, तम से ज्योति की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर।

बृहदारण्यकोपनिषद् १.३.२८

तो पार्थिव जीवन का केन्द्रीय सार्थक उद्देश्य और मूलभूत तत्त्व है आध्यात्मिक विकास, चेतना का जड़ प्रकृति में सतत विकसनशील आत्म-रूपायन में तबतक विकास जबतक बाहरी काया भीतर स्थित आध्यात्म सत्ता को प्रकट कर सके। यह अर्थ शुरू में आत्मा, दिव्य सद्वस्तु की घनी जड़ निश्चेतना में अंतर्लीन रहने के कारण छिपा रहता है। निश्चेतना का पर्दा, जड़ पदार्थ की असंवेदनशीलता का पर्दा उस वैश्व चित्-शक्ति को छिपाये रहता है जो उसके अंदर कार्य करती है, ताकि ऊर्जा—जो वह पहला रूप है जिसे सृजन-शक्ति भौतिक विश्व में अपनाती है—अपने-आप निश्चेतन मालूम होती है, फिर भी विशाल गुह्य प्रज्ञा के कार्य करती है। वास्तव में यह अंधेरी, रहस्यमय स्रष्ट्री अंत में गुप्त चेतना को उसकी घनी, अंधकारमय कारा से मुक्त करती है। लेकिन वह उसे धीरे-धीरे, जरा-जरा करके, ऊर्जा और पदार्थ की, प्राण और मन की सूक्ष्म अत्यणु बूंदों, पतली धारों, लघु स्पन्दनशील संग्रथन में मुक्त करती है मानों अस्तित्व के निश्चेतन उपादान के घने विघ्न में से, उसके मलिन अनिच्छुक माध्यम से वह इतना ही बाहर निकाल सकती है। पहले-पहल वह अपने-आपको जड़तत्त्व के ऐसे रूपों में बसाती है जो एकदम से अचेतन मालूम होते हैं, तब वह जीवित जड़तत्त्व के वेश में मानसिकता की ओर हाथ-पैर मारती है और अपूर्ण रूप से उसे सचेतन पशु में पा लेती है। पहले यह चेतना प्रारम्भिक, अधिकतर अर्द्ध-अवचेतन या बस सचेतन सहज वृत्ति होती है। वह धीरे-धीरे विकसित होती है और सजीव जड़-भौतिक के अधिक संगठित रूपों में वह अपनी समझ की पराकाष्ठातक जा पहुंचती है और मनुष्य, विचारशील पशु में अपना भी अतिक्रमण करती है। मनुष्य तर्कशील मनोमय सत्ता में विकसित होता है लेकिन अपने उच्चतम उत्कर्ष में भी मूल पशुत्व का सांचा, शरीर की निश्चेतना का दुर्वह भार, आरंभ के तमस् और निर्ज्ञान की ओर गुरुत्वाकर्षण का अधोमुख दबाव, उनके सचेतन विकास पर निश्चेतन जड़-भौतिक प्रकृति का नियंत्रण, उसकी सीमांकन की शक्ति, उसके कठिन विकास का विधान, उसकी गतिरोध और विफलीकरण की अपरिमित शक्ति को अपने साथ लिये रहता है। आद्य निश्चेतना का उसमें से उभरनेवाली चेतना पर यह नियंत्रण ऐसी मानसिकता

का सामान्य रूप ले लेता है जो ज्ञान की ओर हाथ-पैर तो मार रही है लेकिन अपने-आप आधारभूत प्रतीत होनेवाली प्रकृति में अज्ञान ही है। इस बाधा और भार के नीचे दबे मानसिक मनुष्य को अभी अपने अंदर से पूरी तरह सचेतन सत्ता को, दिव्य मानवता या आध्यात्मिक और अतिमानसिक अतिमानसता को विकसित करना है जो विकास का अगला उत्पादन होगा। वह संक्रमण अज्ञान में होते हुए विकास से ज्ञान में होनेवाले महत्तर विकास की ओर जाने का चिह्न होगा। वह अब अज्ञान और निश्चेतना के अंधकार में न होकर अतिचेतन के प्रकाश में प्रतिष्ठित और अग्रसर होगा।

जड़ से मनतक और उसके भी परे के इस पार्थिव विकास की प्रकृति की क्रिया की दोहरी प्रक्रिया होती है। एक भौतिक विकास की बाहरी दृश्य प्रक्रिया है जिसका यंत्र है जन्म—क्योंकि विकसित शारीरिक रूप को, जो चेतना की अपनी-अपनी विकसित शक्ति का आवास होता है, वंश-परम्परा द्वारा सुरक्षित और अविच्छिन्न रखा जाता है। साथ ही आंतरात्मिक विकास की एक अदृश्य प्रक्रिया चलती है जिसका यंत्र है रूप और चेतना की आरोहणकारी श्रेणियों में पुनर्जन्म। अपने-आपमें पहली प्रक्रिया का अर्थ होगा केवल वैश्व विकास, क्योंकि व्यष्टि जल्दी-जल्दी नष्ट होनेवाला उपकरण होगा और जाति, एक अधिक टिकाऊ सामूहिक रूपायन ही, वैश्व निवासी, वैश्व आत्मा की उत्तरोत्तर अभिव्यक्ति में वास्तविक चरण होगा। पार्थिव जीवन में व्यष्टि-सत्ता के लम्बे समयतक निवास करने और विकास के लिये पुनर्जन्म अनिवार्य शर्त है। वैश्व अभिव्यक्ति का प्रत्येक सोपान, आकार का प्रत्येक प्ररूप जो अंदर निवास करनेवाले आध्यात्म पुरुष को स्थान दे सकता है वह पुनर्जन्म द्वारा व्यष्टिगत अंतरात्मा, चैत्य सत्ता के एक ऐसे साधन में बदल जाता है जिससे वह अपनी छिपी हुई चेतना को अधिकाधिक व्यक्त कर सके। प्रत्येक जीवन जड़-भौतिक पर विजय पाने में एक चरण बन जाता है और यह विजय उसके अंदर चेतना की अधिकाधिक प्रगति द्वारा आ सकती है जिससे अंततः जड़तत्त्व भी आध्यात्म पुरुष की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये साधन बन जायेगा।

लेकिन पार्थिव सृजन की इस प्रक्रिया और अर्थ का यह विवरण स्वयं मनुष्य के मन में हर बिंदु पर आपत्ति उठाये जाने की संभावना रखता है। क्योंकि विकास अपनी यात्रा में अभीतक आधे रास्ते पर ही है, अभी अज्ञान में है, अभी अर्द्ध-विकसित मानव जाति के मन में अपने निजी प्रयोजन और अर्थ को खोज रहा है। विकास के सिद्धांत पर यह कहकर आपत्ति उठायी जा सकती है कि उसकी नींव काफी नहीं है और वह पार्थिव जीवन की प्रक्रिया की व्याख्या के रूप में अनावश्यक है। यदि विकास को मान भी लिया जाये तब भी यह सन्देहास्पद रहता है कि क्या मनुष्य के अंदर उच्चतर विकसनशील सत्ता में विकसित होने की क्षमता है ? और यह भी संदेहास्पद है कि क्या विकास जहांतक पहुंच चुका है उसमें उससे

आगे जाने की संभावना है, क्या अतिमानसिक विकास के, पूर्ण ऋत-चित् के, ज्ञान की सत्ता के प्रकट होने की पार्थिव प्रकृति के आधारभूत अज्ञान में संभावना है? यहां की अभिव्यक्ति में आध्यात्म पुरुष के जो क्रिया-कलाप हो रहे हैं उनकी एक और व्याख्या दी जा सकती है जो न तो विकास के सिद्धांत को अपनाती हो और न यह मानती हो कि अभिव्यक्ति का कोई उद्देश्य है। ज्यादा अच्छा होगा यदि हम आगे बढ़ने से पहले संक्षेप में उस विचारधारा को भी देख लें जो ऐसी व्याख्या को संभव बनाती है।

यह मानते हुए कि सृष्टि कालातीत शाश्वत की कालिक शाश्वतता में अभिव्यक्ति है, मान लें कि चेतना की सात श्रेणियां हैं और जड़ निश्चेतना को आध्यात्म पुरुष के पुनरारोहण की नींव के रूप में रखा गया है, मान लें कि पुनर्जन्म एक तथ्य है, पार्थिव व्यवस्था का एक भाग है, फिर भी व्यष्टिगत सत्ता का आध्यात्मिक विकास, इन मान्यताओं में से किसीका या सबका सम्मिलित निष्कर्ष हो, यह अनिवार्य नहीं है। पार्थिव जीवन की आंतरिक प्रक्रिया और उसके आध्यात्मिक अर्थ के बारे में एक और दृष्टि अपनाना भी संभव है। अगर बनी हुई हर चीज अभिव्यक्त दिव्य अस्तित्व का रूप है तो हर एक अपने अंदर आसीन आध्यात्मिक उपस्थिति के कारण अपने-आपमें दिव्य है, फिर प्रकृति में उसका रंग-रूप या स्वभाव चाहे जैसा हो। अभिव्यक्ति के प्रत्येक रूप में भगवान् सत्ता का आनन्द लेते हैं और उसके अंदर परिवर्तन या प्रगति की कोई आवश्यकता नहीं। कार्यान्वित संभावनाओं के जिस किसी व्यवस्थित प्रदर्शन या श्रेणीक्रम की अनन्त सत्ता की प्रकृति के कारण जरूरत होती है, उसके लिये चेतना के प्ररूपों, रूपों की उमड़ती बहुसंख्या, अनगिनत विभिन्नताओं द्वारा और हमारे चारों ओर हर जगह दिखायी देनेवाली प्रकृतियों द्वारा पर्याप्त रूप से व्यवस्था होती है। सृष्टि में कोई सोद्देश्य प्रयोजन नहीं है और हो भी नहीं सकता क्योंकि अनंत के अंदर सब कुछ है। ऐसी कोई चीज नहीं है जिसे पाने की भगवान् को जरूरत हो या जो उनके पास न हो। अगर सृष्टि और अभिव्यक्ति है तो किसी प्रयोजन के लिये नहीं बल्कि सृजन और अभिव्यक्ति के आनंद के लिये। तो फिर ऐसी विकसनशील गति की जरूरत नहीं है जिसका कोई गन्तव्य चरम उत्कर्ष हो या क्रियान्वित या निष्पन्न करने के लिये कोई लक्ष्य हो या अंतिम पूर्णतातक जाने की प्रेरणा हो।

वस्तुतः हम देखते हैं कि सृष्टि के तत्त्व स्थायी और अपरिवर्तनशील हैं। हर एक प्ररूप अपने-आपमें रहता है, न तो उसे अपने-आपसे भिन्न कुछ और बनने की जरूरत है और न वह इसकी कोशिश ही करता है। यह मान भी लिया जाये कि सत्ता के कुछ प्ररूप लुप्त हो जाते हैं और कुछ अन्य पैदा हो जाते हैं, तो यह इसलिये है कि विश्व में चित्-शक्ति उन रूपों से अपने जीवन-आनन्द को खींच लेती है और अपने हर्ष के लिये कुछ औरों का सृजन करने के लिये प्रवृत्त होती है। लेकिन

जीवन का हर एक प्ररूप, जबतक कि वह रहता है, अपना निजी प्रतिमान रखता है और छोटे-मोटे हेर-फेर के बावजूद अपने प्रतिमान के प्रति निष्ठावान् रहता है। वह अपनी चेतना के साथ बंधा रहता है और उससे अन्य चेतना में नहीं जा सकता। वह अपनी प्रकृति से बंधा रहता है और इन सीमाओं को लांघकर अन्य प्रकृति में नहीं जा सकता। अगर अनंत की चित्-शक्ति ने जड़ को अभिव्यक्त करने के बाद प्राण को अभिव्यक्त किया है और प्राण के बाद मन को अभिव्यक्त किया है तो यह जरूरी नहीं है कि वह अगली पार्थिव सृष्टि के रूप में अतिमानस को प्रकट करने के लिये आगे बढ़े क्योंकि मन और अतिमानस एकदम अलग गोलार्द्धों की चीजें हैं। मन अज्ञान की निचली स्थिति की चीज है और अतिमानस उच्चतर स्थिति, दिव्य ज्ञान की वस्तु है। यह जगत् अज्ञान का जगत् है और यही रहने के लिये अभिप्रेत है। उच्चतर गोलार्द्ध की शक्तियों को अस्तित्व के इस निचले आधे में उतारने का या यहां पर उनकी छिपी हुई उपस्थिति को अभिव्यक्त करने का इरादा होने की कोई जरूरत नहीं है क्योंकि अगर वे यहां उपस्थित हैं भी तो यह एक गुह्य अप्रेषणीय सर्वव्यापिता है और केवल सृष्टि को बनाये रखने के लिये है, उसे पूर्ण करने के लिये नहीं। मनुष्य इस अज्ञानमय सृष्टि की पराकाष्ठा है। वह अपनी योग्यता के अनुसार उच्चतम चेतना और ज्ञानतक पहुंच चुका है; अगर वह और ऊंचा चढ़ने की कोशिश करेगा तो अपने मानसिकता के ज्यादा बड़े चक्रों में केवल चक्कर लगायेगा। क्योंकि यहां पर उसके जीवन का यही चक्र है, एक सान्त चक्कर जो मन को अपने चक्करों में घुमाता है और हमेशा वहीं ले आता है जहां से चला था। मन अपने चक्र के बाहर नहीं जा सकता—गति या प्रगति की ऐसी सीधी लकीर के बारे में सारा विचार जो अनन्त रूप से ऊपर चढ़ती जाये या एक दिशा में अनन्त में बढ़ती जाये, एक भ्रम है। अगर मनुष्य की अंतरात्मा को मानवता के परे जाना है जहां वह अतिमानसिक या और भी ऊंची स्थितितक पहुंच सके तो उसे वैश्व-जीवन में से निकल कर आनन्द या ज्ञान के लोक अथवा जगत् में या अव्यक्त शाश्वत और अनन्त में जाना होगा।

यह सच है कि अब विज्ञान विकसनशील पार्थिव जीवन की पुष्टि करता है; लेकिन अगर वे तथ्य, जिनसे विज्ञान काम लेता है, विश्वसनीय हैं तो वे सामान्य नियम जिन्हें वह लागू करने का साहस करता है वे अल्पजीवी हैं। वह उन्हें कुछ दशकों या शताब्दियों तक रखता है, फिर वह अन्य साधारण नियमों और वस्तुओं की अन्य परिकल्पनाओं में चला जाता है। यह भौतिक विज्ञान में भी होता है जिसमें तथ्यों की ठोस रूप से जांच की जा सकती है और परीक्षण से जांचा जा सकता है। मनोविज्ञान में—जो यहां संगत है क्योंकि चेतना का विकास चित्र में आ जाता है—उसकी अस्थिरता तो और भी अधिक है, वह एक परिकल्पना के प्रतिष्ठित होने से पहले दूसरी पर चला जाता है, वस्तुतः कई परस्पर-विरोधी

परिकल्पनाएं एक साथ मैदान में होती हैं। इन स्थान बदलती हुई चोर बालुओं पर कोई दृढ़ तत्त्वदार्शनिक इमारत नहीं खड़ी की जा सकती। आनुवंशिकता, जिस पर विज्ञान अपनी जीवन-विकास की धारणा का निर्माण करता है, निश्चय ही किसी जाति के प्ररूप को अपरिवर्तित सत्ता में बनाये रखने के लिये एक शक्ति है, एक यंत्र है। यह प्रतिपादन बहुत संदिग्ध है कि वह सतत और प्रगितशील परिवर्तन का भी उपकरण है। उसकी प्रवृत्ति विकसनशील नहीं, संरक्षी होती है। ऐसा मालूम होता है कि प्राण-शक्ति उसपर जो नया चरित्र लादने की कोशिश करती है, उसे वह मुश्किल से ही स्वीकार करती है। सभी तथ्य यह बतलाते हैं कि कोई प्ररूप अपनी प्रकृति की विशिष्टताओं में रहते हुए अलग-अलग रूप ले सकता है लेकिन यह बतानेवाली कोई चीज नहीं है कि वह उसके परे जा सकता है। अभीतक यह वास्तव में सिद्ध नहीं किया जा सका है कि वानर-जाति विकसित होकर मनुष्य बनी। बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि बंदर से मिलती-जुलती एक जाति, जो बंदरपन से नहीं अपनी ही विशिष्टताओं से हमेशा युक्त थी, अपनी प्रकृति की प्रवृत्तियों के अंदर विकसित हुई और वह बन गयी जिसे हम मनुष्य कहते हैं, यह है वर्तमान मानव सत्ता। यह भी तो सिद्ध नहीं हुआ है कि मनुष्य की निम्नतर जातियों ने अपने अंदर से श्रेष्ठतर जातियों को विकसित किया; जिनमें घटिया संगठन और क्षमता थी वे नष्ट हो गयीं लेकिन यह नहीं सिद्ध किया गया है कि वे आज की मानव जातियों को अपने वंशजों के रूप में पीछे छोड़ गयीं; फिर भी प्ररूप के अंदर ऐसे विकास की संभावना की कल्पना की जा सकती है। जड़ से प्राण, प्राण से मन की ओर प्रकृति की प्रगति को माना जा सकता है लेकिन अभीतक इसका कोई प्रमाण नहीं है कि जड़ प्राण में विकसित हुआ या प्राण-ऊर्जा मानसिक ऊर्जा में विकसित हुई। बस इतना ही माना जा सकता है कि प्राण जड़ में अभिव्यक्त हुआ है और मन जीवित जड़ में। क्योंकि इसके लिये कोई पर्याप्त प्रमाण नहीं है कि वनस्पति की कोई जाति पशु-जीवन में विकसित हुई या निर्जीव जड़ का कोई संगठन जीवित अवयव में विकसित हुआ हो। अगर भविष्य में यह अन्वेषण हो कि अमुक रासायनिक या अन्य परिस्थितियों से जीवन प्रकट होता है तो इस संयोग से केवल इतना ही प्रतिष्ठित होगा कि अमुक भौतिक परिस्थितियों में जीवन अभिव्यक्त होता है, यह नहीं कि अमुक रासायनिक परिस्थितियां जीवन की घटक हैं, उसके तत्त्व हैं या निर्जीव पदार्थ में से सजीव जड़-पदार्थ के रूपान्तरित होने के विकासात्मक कारण हैं। यहां, जैसा कि अन्यत्र होता है, सत्ता की हर श्रेणी अपने-आपमें और अपने द्वारा अस्तित्व रखती है, अपने ही स्वभाव के अनुसार अपनी ही निजी ऊर्जा द्वारा अभिव्यक्त होती है और उससे ऊपर या नीचे की श्रेणियां उसके मूल या परिणामस्वरूप निष्कर्ष न होकर पृथ्वी-प्रकृति के निरन्तर क्रम में कोटियां ही हैं।

अगर यह पूछा जाये कि फिर ये सत्ता की विभिन्न श्रेणियां और प्रारूप आये कैसे, तो यह उत्तर दिया जा सकता है कि मूलतः वे जड़ पदार्थ में उसके अंदर स्थित चित्-शक्ति द्वारा अभिव्यक्त हुए, अन्तर्वासी आत्मा के वैश्व अस्तित्व के लिये सत्य-संकल्प की शक्ति द्वारा अपने सार्थक रूप और प्ररूप का निर्माण करते हुए अभिव्यक्त हुए। विभिन्न श्रेणियों और अवस्थाओं में व्यावहारिक और भौतिक पद्धतियां काफी भिन्न हो सकती हैं, यद्यपि धारा की मूलभूत समानता दिखायी देती है। सृजनकारी शक्ति एक नहीं अनेक प्रक्रियाओं का उपयोग कर सकती है या बहुत-सी शक्तियों को एक साथ काम में लगा सकती है। जड़ में यह प्रक्रिया है अमेय ऊर्जा से भरे अत्यणुओं का सृजन और संख्या तथा अभिकल्पना के अनुसार उनका संयोजन, उस प्राथमिक आधार पर ज्यादा बड़े अत्यणुओं की अभिव्यक्ति और उन्हें एक साथ करके उनका गोष्ठीकरण और संयोजन जिस पर मिट्टी, पानी, खनिज, धातु आदि गोचर वस्तुओं का, सारे भौतिक जगत् का प्रकट होना निर्भर होता है। प्राण में भी चित्-शक्ति वनस्पति जीवन के अत्यणु रूपों और जन्तुक अत्यणुओं से शुरू करती है। वह एक आदि जीव-द्रव्य (प्लाज्मा) की रचना करके उसे अनेक गुणा बढ़ाती है, एक इकाई के रूप में सजीव कोष की रचना करती है, बीज या जीन (Gene) जैसे सूक्ष्म उपकरणों के और भी प्रकार बनाती है, हमेशा गोष्ठी बनाने और संयोजन करने की समान रीति का व्यवहार करती है जिससे वह अलग-अलग क्रियाओं द्वारा नाना प्रकार के सजीव अवयवों का निर्माण करती है। प्ररूपों का सतत सृजन दिखलायी देता है लेकिन यह विकास का असंदिग्ध प्रमाण नहीं है। कभी-कभी प्ररूप एक-दूसरे से दूर होते हैं और कभी-कभी बहुत ज्यादा एक से, कभी आधार में एक होते हैं परंतु ब्योरे में भिन्न। सभी नमूने हैं और नमूनों में यह भिन्नता और साथ ही सबका एक-सा आरंभिक आधार इस बात का चिह्न है कि कोई सचेतन शक्ति अपने भाव के साथ खेल रही है और उसके द्वारा सृष्टि की सब तरह की संभावनाएं विकसित कर रही है। पशु-जाति जन्म लेते समय एक समान प्रारंभिक भ्रूणीय या आधारभूत नमूने से शुरू कर सकती है, वह कुछ दूरतक विकास की कुछ समरूपताओं का या उसकी कुछ रेखाओं या सभी रेखाओं का अनुसरण कर सकती है। ऐसी जातियां भी हो सकती हैं जो दोहरे स्वभाव की हों, उभयचर हों, दो प्ररूपों के बीच की हों। लेकिन यह जरूरी नहीं है कि इन सबका यह अर्थ हो कि उन प्ररूपों का विकास किसी विकासधारा में एक में से दूसरे में हुआ है। नयी विशिष्टताओं को प्रकट करने के लिये वंशानुक्रम विभिन्नता से अलग शक्तियां सक्रिय रही हैं। भौतिक शक्तियां हैं, जैसे भोजन, प्रकाश-रश्मियां तथा कुछ और जिनके बारे में हम अभी जानना शुरू कर रहे हैं, निश्चय ही कुछ और भी हैं जिनके बारे में हम अभीतक कुछ नहीं जानते; दुर्ज्ञेय अतीन्द्रिय शक्तियां और अदृश्य जीवन-शक्तियां भी कार्यरत हैं क्योंकि भौतिक विकासात्मक

परिकल्पना में भी प्राकृतिक चयन का लेखा-जोखा समझने के लिये इन सूक्ष्मतर शक्तियों को स्वीकार करना पड़ता है। अगर कुछ प्ररूपों में गुह्य अथवा अवचेतन ऊर्जा वातावरण की आवश्यकताओं को पूरा करती है तो दूसरों में वह उदासीन और जीने में भी अक्षम रहती है। यह स्पष्ट रूप से भिन्न प्राण-ऊर्जा और मनस्तत्त्व का चिह्न है, एक ऐसी चेतना और शक्ति का चिह्न है जो भौतिक चेतना और शक्ति से भिन्न है और प्रकृति में भिन्नता लाने के लिये कार्यरत है। क्रिया की पद्धति की समस्या अब भी अस्पष्ट और अज्ञात तत्त्वों से भरी है और अभी किसी निश्चित परिकल्पना का बनाना संभव नहीं है।

जड़तत्त्व के अंदर अभिव्यक्ति में बने प्ररूपों में से एक प्ररूप, बहुत सारे नमूनों में से एक नमूना है मनुष्य। जो कुछ सृष्ट हुआ है उसमें वह सबसे अधिक जटिल और चेतना के अंश में सबसे अधिक समृद्ध और अपने निर्माण की विलक्षण प्रवीणता में सबसे अधिक समृद्ध है। वह पार्थिव सृष्टि का शीर्ष है पर उसका अतिक्रमण नहीं करता। औरों की तरह उसके भी अपने सहज विधान हैं, सीमाएं, विशेष प्रकार का जीवन, स्वभाव और स्वधर्म हैं। उन सीमाओं के भीतर वह बढ़ सकता और विकसित हो सकता है, लेकिन वह उनसे बाहर नहीं जा सकता। अगर कोई ऐसी पूर्णता है जिसतक उसे पहुंचना है तो वह स्वयं इसकी अपनी जाति में, अपनी सत्ता के नियम के भीतर होनी चाहिये—उसकी पूर्ण क्रीड़ा होगी लेकिन होगी उसकी रीति और युक्ति को मान्य रखकर, उनका अतिक्रमण करके नहीं। अपना अतिक्रमण करना, अतिमानव में वर्धित होना, देव के स्वभाव और क्षमताओं को धारण करना उसके स्वधर्म के विरुद्ध होगा, अव्यावहारिक और असंभव होगा। सत्ता के हर रूप और तरीके का, सत्ता के आनन्द का अपना ही मार्ग होता है। मन के द्वारा अपने परिवेश पर प्रभुत्व पाना, उसका उपयोग और उपभोग करना, जिसकी उसमें क्षमता है, उचित रूप में मन और मनोमय सत्ता का उद्देश्य है। लेकिन इसके परे देखना, जीवन के किसी दूरवर्ती उद्देश्य या लक्ष्य के पीछे दौड़ना, मानसिक आकृति से आगे बढ़ने की अभीप्सा करना जीवन में उद्देश्यात्मक तत्त्व को लाना है जो वैश्व निर्माण में दिखायी नहीं देता। अगर किसी अतिमानसिक सत्ता को पार्थिव सृष्टि में उतरना है तो उसे एक नयी और स्वतंत्र अभिव्यक्ति होना चाहिये। जैसे प्राण और मन जड़ में अभिव्यक्त हुए हैं उसी तरह अतिमानस को वहां प्रकट होना चाहिये और गुप्त चित्-शक्ति को अपनी अंतःशक्ति की इस नयी श्रेणी के लिये आवश्यक प्रतिमान तैयार करने होंगे। लेकिन प्रकृति की क्रिया में ऐसे किसी भी अभिप्राय का कोई चिह्न दिखायी नहीं देता।

लेकिन अगर कोई श्रेष्ठतर सृष्टि अभिप्रेत है तो निश्चय ही वह नयी श्रेणी, प्ररूप या प्रतिमान मनुष्य में से विकसित न होगी; क्योंकि, उस हालत में मानव सत्ताओं की कोई जाति या प्रकार या प्ररूप ऐसा होगा जिसमें पहले से ही अतिमानव का

उपादान हो, जैसे जो अनोखी पशु-सत्ता मानव जाति में विकसित हुई उसमें पहले से ही मानव स्वभाव के तत्त्व संभाव्य या उपस्थित थे; ऐसी कोई जाति, प्रकार या प्ररूप नहीं है, अधिक-से-अधिक आध्यात्मभावापन्न मानसिक सत्ताएं हैं जो पार्थिव सृष्टि से बच निकलने की टोह में हैं। यदि प्रकृति के किसी गुह्य विधान द्वारा ऐसी अतिमानसिक सत्ता का मानव-विकास अभिप्रेत है तो यह मानव-जाति में से कुछ के द्वारा ही हो सकता है जो अपने-आपको जाति से अलग कर लें ताकि सत्ता के इस नये प्रतिमान की पहली नींव बन सके। यह मानने के लिये कोई कारण नहीं है कि समस्त जाति इस पूर्णता को विकसित कर सकती है। यह मानव जीव में व्यापक संभावना नहीं हो सकती।

अगर वस्तुतः मनुष्य प्रकृति में पशु से विकसित हुआ है फिर भी, अब हम ऐसा कोई दूसरा पशु-प्ररूप नहीं देखते जो अपने से परे के विकास के लक्षण दिखाता हो। यदि पशु-जगत् में ऐसा कोई विकासात्मक दबाव था भी तो जैसे ही मनुष्य के प्रकट होने के साथ उसकी परिपूर्त्ति हुई वह फिर से शांति में जा डूबा होगा। अतः, अगर विकास का अगला चरण अपने अतिक्रमण के लिये ऐसा दबाव है तो वह भी उसके उद्देश्य की परिपूर्त्ति के साथ, अतिमानसिक सत्ता के प्रकट होने के साथ ही शांति में धंस जायेगा। लेकिन वस्तुतः ऐसा कोई दबाव है नहीं। शायद मानव प्रगति का विचार अपने-आपमें भ्रम है। क्योंकि इसका कोई चिह्न नहीं है कि जो मनुष्य एक बार पशु-स्थिति से उभरा था उसने अपनी जाति के इतिहास में मौलिक प्रगति कर ली है, उसने अधिक-से-अधिक भौतिक जगत् के ज्ञान, भौतिक विज्ञान, अपने इर्द-गिर्द की चीजों के साथ व्यवहार में, प्रकृति के गुप्त विधानों के शुद्ध रूप से बाह्य या व्यावहारिक उपयोग में प्रगति की है। अन्यथा वह अब भी वही है जो हमेशा से, संस्कृति के आरंभ से रहा है। वह उन्हीं क्षमताओं को अभिव्यक्त करने में लगा रहता है, वही गुण और वही त्रुटियां, वही प्रयास, बड़ी-बड़ी भूलें, उपलब्धियां और कुण्ठाएं। अगर प्रगति हुई भी है तो एक चक्कर में, अधिक-से-अधिक शायद चक्र को विस्तृत करने में। आज मनुष्य प्राचीन मनीषियों, द्रष्टाओं और विचारकों से अधिक बुद्धिमान नहीं है, अतीत के महान् अभीप्सुओं, प्रथम महान् रहस्यवादियों से अधिक आध्यात्मिक नहीं है, कला और कौशल में वह प्राचीन कलाकारों और कारीगरों से श्रेष्ठ नहीं है। जो प्राचीन जातियां लुप्त हो गयी हैं उन्होंने उतनी ही सशक्त और तात्त्विक मौलिकता, अन्वेषण, जीवन के साथ व्यवहार करने की योग्यता प्रदर्शित की थी। अगर आधुनिक मनुष्य इस दिशा में कुछ आगे गया है, किसी तात्त्विक प्रगति द्वारा नहीं बल्कि कोटि, क्षेत्र, प्रचुरता में, तो इसलिये कि उसे अपने पूर्वजों की उपलब्धियां विरासत में मिली थीं। इस विचार का कोई आधार नहीं मिलता कि वह अर्द्ध-ज्ञान और अर्द्ध-अज्ञान से, जो उसकी जाति की छाप है, कभी रास्ता काटकर निकाल

सकेगा या अगर वह उच्चतर ज्ञान विकसित कर भी सके, तो वह मानसिक चक्र की चरम सीमा को तोड़कर बाहर निकल सकेगा।

पुनर्जन्म को आध्यात्मिक विकास का समर्थ साधन और उसे संभव बनानेवाला तत्त्व मानने का लोभ होता है और यह तर्क-विरुद्ध भी नहीं है, फिर भी यदि पुनर्जन्म को एक तथ्य मान भी लिया जाये तो भी यह निश्चित नहीं है कि यही उसकी सार्थकता है। पुनर्जन्म के बारे में सभी पुरानी परिकल्पनाएं उसे पशु से मनुष्य में और साथ ही मनुष्य से पशु-शरीर में अंतरात्मा का सतत देहान्तरण मानती थीं। भारतीय विचार ने उसमें कर्म की, किये गये शुभ या अशुभ के बदले की व्याख्या, विगत इच्छा और प्रयास के फल को भी जोड़ दिया; लेकिन इसमें एक प्ररूप से दूसरे उच्चतर प्ररूपतक उत्तरोत्तर विकास का संकेत न था, उससे भी कम था इस प्रकार की सत्ता के जन्म का संकेत जिसका कभी अस्तित्व ही नहीं रहा लेकिन जिसे फिर भी भविष्य में विकसित होना है। यदि कोई विकास है भी तो मनुष्य अंतिम चरण है क्योंकि उसके द्वारा पार्थिव या शरीरस्थ जीवन का परित्याग हो सकता है, किसी स्वर्ग या निर्वाण में बचकर निकला जा सकता है। पुरानी परिकल्पनाओं ने इसी अंत को देखा था। चूंकि यह मूलतः और अपरिवर्तनशील रूप से अज्ञान का जगत् है—भले समस्त वैश्व जीवन अपने स्वभाव में अज्ञान की अवस्था न हो—अतः यह संभावना है कि इस तरह बच निकलना ही चक्र का सच्चा अंत है।

यह ऐसी तर्कधारा है जिसमें काफी अकाट्यता और महत्त्व है और उसके महत्त्व की दृष्टि से, बहुत संक्षिप्त रूप में ही सही, उसका सामना करने के लिये उसका उल्लेख करना जरूरी था। क्योंकि, यद्यपि उसके प्रस्तावों में से कुछ प्रामाणिक हैं लेकिन उसकी वस्तुओं की दृष्टि पूर्ण और उसकी अकाट्यता निश्चायक नहीं है। और सबसे पहले हम बिना किसी कठिनाई के उस उद्देश्यात्मक तत्त्व के विरुद्ध उठायी जानेवाली आपत्ति से छुटकारा पा सकते हैं जिसका पार्थिव जीवन की रचना में इस विचार द्वारा समावेश होता है कि निश्चेतना से अतिचेतना की ओर पूर्व-नियत विकास है, सत्ताओं की ऊपर उठती हुई श्रेणियों का प्रगतिक्रम है जिसमें अज्ञान के जीवन से निकलकर ज्ञान के जीवन में परम उत्कर्षकारी संक्रमण होता है। विश्व के उद्देश्य के बारे में दो अलग-अलग आधारों पर आपत्ति उठायी जा सकती है—एक वैज्ञानिक तर्क जो यह मान कर चलता है कि सब कुछ निश्चेतन ऊर्जा का काम है जो स्वचालित रूप से यंत्रवत् प्रक्रियाओं द्वारा चलती है, जिसमें उद्देश्य का कोई तत्त्व नहीं हो सकता, दूसरी है तत्त्वदर्शनात्मक तर्कणा जो इस दर्शन से चलती है कि अनन्त और वैश्व में सब कुछ पहले से मौजूद है, उसमें उपलब्ध करने लायक कोई भी अनुपलब्ध चीज नहीं हो सकती, ऐसी कोई चीज नहीं हो सकती जिसे वह अपने अंदर जोड़े, क्रियान्वित करे, चरितार्थ करे। अतः उसमें प्रगति का कोई तत्त्व नहीं हो सकता, कोई मौलिक या उद्गामी प्रयोजन नहीं हो सकता।

अगर जड़ में प्रतीयमान निश्चेतन ऊर्जा के अंदर या पीछे कोई गुप्त चेतना है तो वैज्ञानिक या जड़वादी आपत्ति की प्रामाणिकता टिक नहीं सकती। निश्चेतन के अंदर भी कम-से कम एक अंतस्थ आवश्यकता की प्रेरणा मालूम होती है जो रूपों के विकास को और रूपों में विकसित होती हुई चेतना को पैदा करती है और यह भली-भांति माना जा सकता है कि वह प्रेरणा एक गुप्त चित्-सत्ता की विकासात्मक इच्छा है और प्रगतिशील अभिव्यक्ति के लिये उसका वेग विकास में अंतर्जात प्रयोजन का प्रमाण है। यह एक सोद्देश्य तत्त्व है और इसे मानना अयुक्तियुक्त नहीं है क्योंकि सचेतन बल्कि निश्चेतन प्रयत्न का उद्भव चेतन सत्ता के किसी ऐसे सत्य से होता है जो सक्रिय हो गया हो और जड़-प्रकृति की किसी स्वचालित प्रक्रिया से अपनी परिपूर्ति के लिये चल रहा हो। उस प्रयत्न में उद्देश्य का, अभिप्राय का जो तत्त्व है वह सत्ता के आत्म-क्रियाकारी सत्य का उस सत्ता की आत्म-प्रभावी इच्छा-शक्ति की भाषा में अनुवाद है और अगर चेतना है तो ऐसी इच्छा-शक्ति भी होनी चाहिये और अनुवाद स्वाभाविक और अनिवार्य है। अनिवार्यतः अपने-आपको परिपूर्ण करनेवाला सत्ता का सत्य विकास का आधारभूत तथ्य होगा लेकिन इच्छा और उसके उद्देश्य भी क्रियाकारी सिद्धांत-तत्त्व के यंत्र-विन्यास के अंग के रूप में, एक तत्त्व के रूप में होने चाहियें।

तत्त्वदार्शनिक की आपत्ति अधिक गम्भीर है क्योंकि यह स्वतःसिद्ध मालूम होता है कि निरपेक्ष का अपने-आपको अभिव्यक्त करने के आनन्द को छोड़कर अभिव्यक्ति में और कोई प्रयोजन नहीं हो सकता। अभिव्यक्ति के अंग-स्वरूप जड़-पदार्थ में विकसनशील गति को इसी वैश्व वक्तव्य में आ जाना चाहिये। वह केवल उन्मीलन, प्रगतिशील कार्यान्वयन, निरुद्देश्य क्रमिक आत्म-प्रकटन के आनन्द के लिये हो सकती है। वैश्व समग्रता को भी अपने-आपमें पूर्ण माना जा सकता है, समग्रता के रूप में उसके लिये अपनी सत्ता की पूर्णता में पाने या जोड़ने के लिये कुछ भी नहीं है। परंतु यहां जड़-जगत् समग्र पूर्णता नहीं है, वह एक समग्र का भाग, श्रेणीक्रम में एक श्रेणी है; अतः वह अपने अंदर न केवल समग्र के उन अविकसित अभौतिक तत्त्वों को या शक्तियों की उपस्थिति को प्रवेश दे सकता है जो उसके जड़तत्त्व में अंतर्निहित हैं बल्कि तंत्र की उच्चतर श्रेणियों से उन्हीं शक्तियों को अपने अंदर अवतरण करने देता है ताकि यहां उनकी सजातीय गतियों को भौतिक सीमांकन की कठोरता से मुक्त कर सके। अस्तित्व की महत्तर शक्तियों की अभिव्यक्ति को—जबतक कि सारी सत्ता भौतिक जगत् में उच्चतर, आध्यात्मिक दृष्टि के रूप में अभिव्यक्त न हो जाये—क्रमविकास का उद्देश्य माना जा सकता है। यह उद्देश्यवाद ऐसा कोई नया तत्त्व नहीं लाता जो समग्रता में न हो। वह केवल अंश में समग्रता की उपलब्धि का प्रस्ताव रखता है। विश्व की समग्रता की आंशिक गति में सोद्देश्य भाव के तत्त्व को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हो

सकती यदि उसका प्रयोजन है—मानव अर्थ में प्रयोजन नहीं बल्कि अंदर निवास करनेवाली आत्मा की इच्छा में सचेतन आंतरिक सत्य-आवश्यकता की प्रेरणा हो—वहां पर समग्र गति में छिपी सभी संभावनाओं की पूर्ण अभिव्यक्ति। निःसंदेह यहां पर सब कुछ अस्तित्व के आनन्द के लिये अस्तित्व रखता है, सभी लीला या खेल है लेकिन खेल के अंदर भी चरितार्थ करने के लिये कोई उद्देश्य रहता है और उस उद्देश्य की पूर्ति के बिना सार्थकता पूर्ण न होगी। समाप्ति के बिना नाटक कलात्मक संभावना तो हो सकता है जिसका अस्तित्व पात्रों को देखने के सुख और समाधान के बिना सामने रखी गयी समस्या या हमेशा के लिये समाधान के संदिग्ध तराजू पर लटकते सुख में है। पार्थिव-विकास के नाटक के बारे में कल्पना की जा सकती है कि वह उसी स्वभाव का हो लेकिन अभिप्रेत या अंदर से पूर्व-निर्धारित समाप्ति भी संभव और अधिक विश्वासोत्पादक रूप से संभव है। आनन्द समस्त सत्ता का गुह्य तत्त्व और सत्ता की समस्त क्रियाशीलता का सहारा है। बल्कि आनन्द सत्ता में अंतर्निष्ठ, सत्ता की शक्ति या इच्छा में व्यापक, उसकी चित्-शक्ति की गुप्त आत्म-अभिज्ञता में समर्थित सत्य के क्रियान्वयन में रस को नहीं त्यागता जो उसके समस्त क्रिया-कलापों की गतिशील और कार्यकारी अभिकर्त्री और उनके अर्थ की ज्ञाता है।

आध्यात्मिक विकास की परिकल्पना रूप-विकास और भौतिक जीवन-विकास की वैज्ञानिक परिकल्पना के साथ अभिन्न नहीं है, उसे अपने ही अंतर्निहित औचित्य के बल पर खड़ा रहना चाहिये। वह भौतिक विकास के वैज्ञानिक विवरण को समर्थन दे सकती या किसी तत्त्व के रूप में स्वीकार कर सकती है परंतु यह समर्थन अनिवार्य नहीं है। वैज्ञानिक कल्पना का केवल बाहरी और दृश्य यंत्र और प्रक्रिया के साथ, प्रकृति के कार्यान्वयन के ब्योरे के साथ, जड़ में वस्तुओं के भौतिक विकास के साथ, जड़ में प्राण और मन के विकास के विधान के साथ संबंध रहता है। हो सकता है कि नये अन्वेषण के प्रकाश में उसकी प्रक्रिया के वर्णन में काफी हेर-फेर करना या उसे एकदम छोड़ देना पड़े, लेकिन इसका आध्यात्मिक विकास के, चेतना के विकास के, जड़ जीवन में अंतरात्मा की अभिव्यक्ति की प्रगति के स्वतःसिद्ध तथ्य पर कोई असर न पड़ेगा। बाहरी दृष्टि से देखें तो विकास का सिद्धांत पार्थिव जीवन के सोपान में रूपों और शरीरों का विकास होता है। जड़तत्त्व का, जड़ में प्राण का, संप्राण जड़ में चेतना का प्रगतिशील जटिल और समर्थ संगठन होता है और इस क्रम में, रूप जितनी अच्छी तरह संगठित हो वह उतने ही सुसंगठित, अधिक जटिल और समर्थ, अधिक वर्धित या विकसित प्राण और चेतना को आवास देने में समर्थ होता है। एक बार विकास की परिकल्पना को प्रस्तुत किया जाये और उसके समर्थक तथ्य सुव्यवस्थित कर दिये जायें तो पार्थिव जीवन का यह पहलू इतना स्पष्ट हो जाता है

कि वह निर्विवाद-सा मालूम पड़ने लगता है। उस यथार्थ यंत्र को, जिसके द्वारा यह किया जाता है या सत्ता के प्ररूपों का ठीक-ठीक वंश-वृक्ष या उनके कालिक अनुक्रम को गौण माना जा सकता है यद्यपि अपने-आपमें यह एक रुचिकर और महत्त्वपूर्ण प्रश्न है; जीवन के एक रूप का अपने पूर्ववर्ती कम विकसित रूप में से विकसित होना, स्वाभाविक चुनाव, जीवन के लिये संघर्ष, उपलब्ध विशिष्टताओं का बना रहना—इन सबको चाहे स्वीकार किया जाये या न किया जाये लेकिन अपने अंदर विकास योजना के साथ उत्तरोत्तर सृजन का तथ्य, ऐसा एकमात्र निष्कर्ष है जिसका प्राथमिक महत्त्व है। दूसरा स्वतःसिद्ध निष्कर्ष यह है कि विकास में एक आवश्यक क्रम-शृंखला है, पहले जड़ पदार्थ का विकास, फिर जड़ में प्राण का विकास, फिर सप्राण जड़ में मन का विकास और इस अंतिम स्थिति में पशु का विकास जिसके पीछे-पीछे आता है मानव विकास। क्रम की पहली तीन श्रेणियां इतनी स्पष्ट हैं कि उनके बारे में कोई विवाद नहीं हो सकता। विवाद इस बात पर हो सकता है कि क्या अनुक्रम में मनुष्य पशु के बाद आया या आरंभिक विकास साथ-साथ हुआ, लेकिन मन के विकास में मनुष्य पशु के आगे निकल गया। एक परिकल्पना यह प्रस्तुत की गयी है कि मनुष्य अंतिम नहीं, पशु जाति में पहला और सबसे बड़ा है। मनुष्य की यह प्राथमिकता एक पुरानी कल्पना है, लेकिन यह व्यापक नहीं थी। यह मनुष्य के पार्थिव जीवों में स्पष्ट श्रेष्ठता के भाव से पैदा हुई है। इस श्रेष्ठता का गौरव जन्म में प्राथमिकता की मांग करता हुआ मालूम होता है; लेकिन विकसनशील तथ्य में श्रेष्ठ प्रकट होने में पहला नहीं पिछला होता है, कम विकसित अधिक विकसित से पहले आता है और उसकी तैयारी करता है।

वस्तुतः जीवन में निचले रूपों की प्राथमिकता का विचार प्राचीन विचार में एकदम अनुपस्थित न था। सृष्टि के पौराणिक वर्णन के अतिरिक्त हम भारत के प्राचीन और मध्ययुगीन विचार में ऐसे कथन पाते हैं जो कालक्रम में मनुष्य पर पशु को प्राथमिकता देते हैं, और एक ऐसे अर्थ में जो आधुनिक विकास की कल्पना के साथ मेल खाता है। एक उपनिषद् घोषणा करता है कि आध्यात्म पुरुष या आत्मा ने जीवन-सृष्टि का निर्णय करने के बाद पहले गौ और घोड़े की पशु-जाति को रूप दिया। लेकिन देवताओं ने—जो उपनिषद् के विचार में चेतना की शक्तियां और प्रकृति की शक्तियां हैं—उन्हें अपर्याप्त वाहन पाया। अंत में आत्मा ने मनुष्य का रूप बनाया जिसे देवों ने अच्छी तरह बना हुआ और पर्याप्त पाया और उन्होंने अपनी वैश्व क्रियाओं के लिये उसमें प्रवेश किया। यह अधिकाधिक विकसित रूपों में सृजन की स्पष्ट कथा है, जबतक कि ऐसा रूप नहीं मिला जो विकसित चेतना का आवास हो सके। पुराणों में कहा गया है कि काल में तामसिक पशु-सृष्टि पहली थी। चेतना और शक्ति की जड़ता के लिये भारतीय शब्द है तमस्। मंद और निस्तेज और आलसी, अपनी क्रीड़ा में असमर्थ चेतना को तामसिक कहा

जाता है। ऐसी शक्ति, प्राण-ऊर्जा जो आलसी और अपनी क्षमता में सीमित हो, सहज वृत्ति के आवेगों की संकीर्ण श्रेणियों से बंधी हो, विकास न करती हुई, आगे न बढ़नेवाली, विशालतर गतिज क्रियाओं या अधिक प्रकाशमय सचेतन क्रिया की ओर प्रेरित न होनेवाली हो उसे भी इसी श्रेणी में रखा जायेगा। पशु, जिसमें चेतना की यह कम विकसित शक्ति है, सृजन में पूर्ववर्ती है। अधिक विकसित मानव चेतना, जिसमें गतिशील मानस ऊर्जा की अधिक शक्ति और दर्शन का प्रकाश है, परवर्ती सृजन है। तंत्र ऐसी आत्मा की बात कहता है जो अपनी स्थिति से पतित हो गयी है, वनस्पति और पशु-रूपों में लाखों जन्म लेने के बाद मानव स्तर पर आकर मुक्ति के लिये तैयार होती है। यहां भी यह कल्पना अवगत है कि वनस्पति और पशु के प्राणी-रूप सोपान के निचले डंडे हैं और मनुष्य सचेतन सत्ता का अंतिम या विकास का चरम बिंदु है। यह ऐसा रूप है जिसमें अंतरात्मा को मन, प्राण और शरीर में से आध्यात्मिक प्रयोजन और आध्यात्मिक परिणाम पाने में समर्थ होने के लिये निवास करना पड़ता है। वस्तुतः यह सामान्य कल्पना है और यह बुद्धि और अंतर्भास दोनों को इतने जोर से जंच जाती है कि इस पर बहस करने की जरूरत नहीं रहती—निष्कर्ष लगभग अनिवार्य है।

हमें प्रगतिशील विकास की प्रक्रिया की इस पृष्ठभूमि में मनुष्य, उसके मूल, उसके पहले प्रादुर्भाव और अभिव्यक्ति में उसकी स्थिति को देखना चाहिये। यहां दो संभावनाएं हैं; या तो मानव शरीर और चेतना का पार्थिव प्रकृति में अचानक आविर्भाव हुआ, जड़-भौतिक जगत् में आकस्मिक सृजन या तार्किक मन की स्वतंत्र, स्वचालित अभिव्यक्ति हुई जो पहले के इसी जैसे अवचेतन जीव-रूपों और जड़ में सजीव चेतना की अभिव्यक्ति में हस्तक्षेप कर रही थी या फिर पाशविक सत्ता में से मानवता का विकास हुआ, शायद वह अपनी तैयारी और विकास की अवस्थाओं में मन्द थी परंतु संक्रमण के निर्णायक स्थलों पर परिवर्तन सबल छलांगें मारने लगा। पिछली परिकल्पना में कोई कठिनाई नहीं आती क्योंकि यह निश्चित है कि यद्यपि मौलिक प्ररूप में तो नहीं लेकिन प्ररूप के अंदर की विशिष्टताओं में परिवर्तन जाति और उपजाति में लाये जा सकते हैं और वस्तुतः स्वयं मनुष्य अपने-आप यह कर चुका है और आश्चर्यजनक रूप से उसकी संभावनाओं को छोटे पैमाने पर परीक्षणात्मक विज्ञान द्वारा संपादित कर रहा है। यह भली-भांति माना जा सकता है कि प्रकृति में गुप्त रूप से सचेतन ऊर्जा इस प्रकार की क्रियाओं को बड़े पैमाने पर ला सकती है और बहुत सारे निर्णायक और महत्त्वपूर्ण विकास अपनी सृजनात्मक परंपराओं के द्वारा ला सकती है। सामान्य पशु-जीवन से मानवीय प्रकार के जीवन में बदलने के लिये जरूरी शर्त होगी एक ऐसे भौतिक संगठन का विकास जो तेज प्रगति की, चेतना के विपर्यय या उलट जाने की, नयी ऊंचाइयोंतक पहुंचने और वहां से निचले स्तरों पर नजर डालने की क्षमता दे। क्षमता का ऐसा

उन्नयन और विस्तार जो सत्ता को इस योग्य बना दे कि वह पुरानी पाशविक क्षमताओं को महत्तर और अधिक नमनीय मानव बुद्धि के साथ ले ले, और साथ ही या बाद में सत्ता के नये प्ररूप के उपयुक्त अधिक बड़ी और सूक्ष्म शक्तियों को, तर्क, चिन्तन, जटिल अवलोकन, व्यवस्थित अन्वेषण, विचार और खोज की शक्तियों को विकसित करे। अगर कोई उभरती हुई चित्-शक्ति है तो, यदि यंत्र प्राप्त हों तो, संक्रमण में कोई कठिनाई न होगी—सिवाय जड़ निश्चेतना की बाधा और प्रतिरोध के। पशु में पहले ही सीमित मात्रा में मिलते-जुलते कुछ गुण हैं, परंतु सिर्फ क्रिया के लिये और उनका संगठन प्रारंभिक, सरल और अनगढ़ रहता है, उनका क्षेत्र और उनकी नमनीयता बहुत निचले स्तर की होती है, क्षमता पर उसका अधिकार संकीर्ण और अनियमित रहता है। लेकिन विशेष रूप से इन क्षमताओं की क्रिया अधिकतर यांत्रिक और कम आयोजित है। उसपर प्रकृति-ऊर्जा के यांत्रिक स्वभाव की छाप होती है जो आरंभिक चेतना की क्रियाओं का संचालन करती है, उस तरह नहीं जैसे मनुष्य की सचेतन ऊर्जा अपनी क्रियाओं का अवलोकन करती और एक बड़ी हदतक निदेशन और नियंत्रण करती है और सोच-समझ कर बदलती या संशोधित करती है। चेतना की दूसरी पाशविक आदतें मौलिक रूप से मनुष्य की आदतों से भिन्न नहीं हैं। उसे बस इतना ही करना पड़ा कि उसने उन्हें एक उच्चतर मानसिक स्तर पर विकसित और वर्धित किया और जहां कहीं संभव हुआ उन्हें मानसभावापन्न, परिमार्जित और सूक्ष्म बनाया। संक्षेप में, उसे अपनी नयी समझ और बौद्धिक क्षमता के प्रकाश और सुविवेचित नियंत्रण की शक्ति को उनतक लाना पड़ा जिससे पशु वंचित था। एक बार यह परिवर्तन या उलटाव सिद्ध हो जाये तो स्वयं अपने ऊपर और वस्तुओं पर क्रिया करने की, सृजन करने, जानने और चिन्तन करने की मानव मन की शक्ति उसके विकासक्रम में विकसित होगी और यद्यपि जैसी कि कल्पना की जा सकती है, आरंभ में ये चीजें अपने क्षेत्र में छोटी, पशु के निकट फिर भी अपनी क्रिया में अपेक्षाकृत सरल और अनगढ़ होंगी। प्रकृति के हर आमूल संक्रमण में ऐसा उलटाव किया गया है। उभरती हुई प्राण-शक्ति जड़-पदार्थ पर मुड़ती है, जड़ ऊर्जा की क्रियाओं पर प्राणिक पदार्थ आरोपित करती है और साथ ही अपनी नयी गतियों और क्रियाओं को विकसित करती है। जड़ और प्राण-शक्ति में प्राणिक मन उभरता है और अपनी चेतना का पदार्थ उनकी क्रियाओं पर आरोपित करता है जब कि वह स्वयं अपनी क्रिया और क्षमताओं को विकसित करता है। एक नया आविर्भाव और उलटाव, मानव-जाति का आविर्भाव प्रकृति के पहले उदाहरणों के साथ संगत है। यह एक सामान्य नियम का नया प्रयोग होगा।

अतः इस परिकल्पना को स्वीकार करना आसान है और इसकी क्रिया समझ में आनेवाली है लेकिन दूसरी परिकल्पना काफी कठिनाइयां लाती है। चेतना की दिशा

में नयी अभिव्यक्ति, मानव अभिव्यक्ति की व्याख्या वैश्व प्रकृति में अंतर्निष्ठ में से छिपी हुई चेतना का उमड़ना कहकर की जा सकती है। लेकिन उस हालत में अपने आविर्भाव के वाहन के लिये पहले से मौजूद कोई जड़ रूप रहा होगा। आविर्भाव की शक्ति वाहन को अपने नये आंतरिक सृजन की आवश्यकताओं के अनुकूल बना लेती है या हो सकता है कि पिछले भौतिक प्ररूपों या नमूनों से तेजी के साथ अलग होने की वजह से कोई नयी सत्ता अस्तित्व में आयी हो। लेकिन चाहे जिस परिकल्पना को माना जाये उसका अर्थ होता है विकास-प्रक्रिया—केवल भिन्नता या संक्रमण के तरीके और यंत्र-विन्यास में फर्क होता है। या, इसके विपरीत, हो सकता है कि उमड़ने की जगह हमारे ऊपर के मानसिक लोक से पार्थिव प्रकृति में मानसिकता का अवतरण या शायद एक अंतरात्मा का या मनोमय सत्ता का अवतरण हुआ हो। तब कठिनाई होगी मानव शरीर के प्रकट होने के बारे में क्योंकि यह शरीर इतना जटिल और कठिन साधन है कि यह अचानक सृष्ट या अभिव्यक्त नहीं हो सकता। क्योंकि प्रक्रिया की ऐसी चमत्कारिक तेजी यद्यपि सत्ता के अतिभौतिक स्तर पर बिलकुल संभव है, फिर भी जड़ ऊर्जा की साधारण संभावनाओं या संभाव्यताओं में प्रकट होती हुई नहीं दिखलायी देती। यह केवल किसी अतिभौतिक शक्ति या प्राकृतिक विधान के हस्तक्षेप या सीधे जड़ पर पूरी शक्ति के साथ कार्य करते हुए सर्जक मन के द्वारा हो सकता है। जड़ के अंदर हर नये आविर्भाव के लिये अतिभौतिक शक्ति और सर्जक की क्रिया को माना जा सकता है। ऐसा हर आविर्भाव अपनी तह में एक चमत्कार है जिसका संचालन अवगुंठित मानसिक ऊर्जा या प्राण-ऊर्जा द्वारा समर्थित गुप्त चेतना द्वारा होता है लेकिन कहीं भी क्रिया सीधी, प्रत्यक्ष और आत्मनिर्भर नहीं मालूम होती। वह हमेशा किसी पहले से ही चरितार्थ किये गये भौतिक आधार पर ऊपर से आरोपित की जाती है और प्रकृति की किसी प्रतिष्ठित प्रक्रिया के फैलाव से काम करती है। यह अधिक धारणागम्य है कि किसी वर्तमान शरीर में अतिभौतिक अंतरागमन के लिये कोई उद्‌घाटन था और उससे वह एक नये शरीर में रूपांतरित हो गया। लेकिन हम यूं ही हल्के-फुल्के रूप में यह नहीं मान सकते कि जड़ प्रकृति के विगत इतिहास में ऐसी कोई घटना घटी हो। ऐसा लगता है कि इसके लिये, ऐसा शरीर बनाने के लिये जिसमें वह निवास करना चाहता है, किसी अदृश्य मनोमय सत्ता के सचेतन हस्तक्षेप की जरूरत पड़ती हो। या फिर स्वयं जड़ में मनोमय सत्ता का कोई पूर्ववर्ती विकास रहा हो जो अतिभौतिक शक्ति के ग्रहण करने में और उसे अपने भौतिक अस्तित्व के कठोर संकीर्ण तत्त्वों पर आरोपित करने में पहले से ही सक्षम हो। अन्यथा हमें यह मानना होगा कि एक पूर्ववर्ती शरीर पहले से ही इतना विकसित था कि एक बड़े मानसिक अंतर्वाह को ग्रहण करने में सक्षम था या अपने अंदर मनोमय सत्ता के अवरोहण को नमनशील उत्तर देने में समर्थ था।

लेकिन तब यह मानना होगा कि शरीर में मन का विकास पहले ही उस बिंदुतक पहुंच गया था जहां ऐसी ग्रहणशीलता संभव हो। यह बिलकुल बुद्धिगम्य है कि नीचे से इस प्रकार के विकास और ऊपर से ऐसे अवतरण ने मानव जाति की पार्थिव प्रकृति में आविर्भाव के लिये सहयोग दिया हो। हो सकता है कि पशु में पहले से विद्यमान गुप्त चैत्य सत्ता ने ही मनोमय सत्ता का, मनोमय पुरुष का सजीव जड़ में आह्वान किया हो ताकि वहां पर कार्यरत प्राणिक-मानसिक ऊर्जा को लेकर वह एक उच्चतर मानसिकता में उठा ले। लेकिन यह तब भी एक विकास-प्रक्रिया होगी जिसमें उच्चतर लोक पार्थिव प्रकृति में अपने ही तत्त्व के आविर्भाव और वृद्धि में सहायता करने के लिये हस्तक्षेप करेगा।

और इसके बाद यह माना जा सकता है कि शरीर में चेतना और सत्ता के हर रूप और नमूने को, एक बार प्रतिष्ठित हो जाने के बाद उस प्ररूप की सत्ता के विधान के प्रति, अपने परिरूप और प्रकृति के नियम के प्रति निष्ठावान् रहना पड़ता है। लेकिन यह भी भली-भांति हो सकता है कि मानव प्ररूप के विधान का एक अंश है अपना अतिक्रमण करने के लिये आवेग, कि मनुष्य की आध्यात्मिक शक्तियों में सचेतन संक्रमण के लिये साधन भी जुटाये गये हैं। हो सकता है कि ऐसी क्षमता का होना उस योजना का भाग हो जिसके अनुसार सर्जक ऊर्जा ने उसे बनाया है। यह माना जा सकता है कि मनुष्य ने अभीतक मुख्य रूप से जो किया है वह है अपनी प्रकृति के चक्कर के भीतर ही भीतर, प्रकृति की गतिविधि के वृत्त में, कभी चढ़ते और कभी उतरते हुए कर्म करना—प्रगति की कोई सीधी रेखा नहीं रही, उसकी विगत प्रकृति का कोई निर्विवाद, आधारभूत या मौलिक अतिक्रमण नहीं हुआ : उसने बस यही किया है कि अपनी क्षमताओं को तेज और सूक्ष्म बनाया है, उनका अधिकाधिक जटिल और नमनीय उपयोग किया है। सचमुच यह नहीं कहा जा सकता कि जब से मनुष्य का आविर्भाव हुआ है या हाल के इतिहास में, जिसका हमें पता है, कोई मानव प्रगति नहीं हुई; क्योंकि पुरखे चाहे जितने महान् रहे हों, उनकी कुछ उपलब्धियां और रचनाएं चाहे जितनी उत्कृष्ट रही हों, उनकी आध्यात्मिकता, बुद्धि या चरित्र की शक्तियां चाहे जितनी प्रभावशाली रही हों फिर भी बाद की विकासधारा में मनुष्य की उपलब्धियों में, उसकी राजनीति में, समाज, जीवन, विज्ञान, तत्त्वदर्शन में, सब प्रकार के ज्ञान, कला और साहित्य में एक बढ़ती हुई सूक्ष्मता, जटिलता, ज्ञान और संभावना का बहुविध विकास रहा है; उसके आध्यात्मिक प्रयास में भी, जो कि पुरखों के प्रयास की तुलना में अध्यात्म-शक्ति में कम आश्चर्यजनक रूप से उदात्त और कम विशाल है, यह बढ़ती हुई सूक्ष्मता, नमनीयता, गहराइयों की थाह तथा खोज का विस्तार रहे हैं। संस्कृति के उच्च प्ररूप से पतन हुए हैं, कुछ काल के लिये किसी विशेष रूढ़िवाद में तेजी से अवतरण हुआ है, आध्यात्मिक प्रेरणा में विराम आये हैं, प्राकृत बर्बर जड़वाद में गोते लगे

हैं, फिर भी ये अस्थायी दृश्य हैं और अपने बुरे-से-बुरे रूप में प्रगति की सर्पिल रेखा में अधोमुखी मोड़ रहे हैं। निश्चय ही यह प्रगति मनुष्य-जाति को स्वयं अपने परे, अपने अतिक्रमण में, मानसिक सत्ता के रूपांतर में नहीं ले गयी है। लेकिन इसकी आशा भी नहीं की जा सकती थी क्योंकि विकसनशील प्रकृति का सत्ता और चेतना के प्ररूप में कार्य है पहले प्ररूप को उसकी अधिकतम क्षमतातक ऐसे सूक्ष्मीकरण और बढ़ती हुई जटिलता द्वारा इतना विकसित करना कि वह कोष के फटने, परिपक्व निर्णायक के उभरने, उल्टाव, चेतना के स्वयं अपनी ओर अभिमुख होने के लिये तैयार हो जाये जिससे विकास का एक नया पर्व बनता है। अगर यह मान लिया जाये कि उसका अगला चरण आध्यात्मिक और अतिमानसिक सत्ता है तो जाति में आध्यात्मिक दबाव को प्रकृति के इरादे का चिह्न माना जा सकता है, यह इस बात का भी चिह्न है कि मनुष्य में अपने अंदर संक्रमण को संपादित करने की या प्रकृति को उसे संपादित करने में सहायता करने की क्षमता है। यदि पशु-सत्ता में एक ऐसे प्ररूप का आविर्भाव, जो कुछ बातों में वानर-जाति का था लेकिन फिर भी आरंभ से ही मानवता के तत्त्वों से संपन्न था, मानव विकास का उपाय था तो मनुष्य में मानसिक पशु-मानवता से मिलते-जुलते आध्यात्मिक प्ररूप का प्रकट होना, जिसपर आध्यात्मिक अभीप्सा की छाप लगी हो, स्पष्टतः प्रकृति का आध्यात्मिक और अतिमानव सत्ता की विकसनशील उत्पत्ति का उपाय होगा।

प्रासंगिक रूप से यह प्रस्ताव रखा जा सकता है कि यदि विकास की इस प्रकार की पराकाष्ठा अभिप्रेत है और मनुष्य को उसका माध्यम होना है तो कुछ गिनी-चुनी विशेष रूप से विकसित मानव सत्ताएं ही नये रूप को आकार देंगी और नये जीवन की ओर गति करेंगी। एक बार यह हो जाये तो बाकी सारी मानव जाति प्रकृति की आध्यात्मिक अभीप्सा की अवस्था से फिर से पतित हो जायेगी क्योंकि तब फिर प्रकृति के उद्देश्य के लिये उसकी आवश्यकता न रहेगी और वह अपनी सामान्य स्थिति से निष्क्रिय बनी रहेगी। समान रूप से यह तर्क दिया जा सकता है कि अगर वास्तव में विकसनशील कोटियों में से होते हुए अंतरात्मा का पुनर्जन्म द्वारा आध्यात्मिक शिखर की ओर आरोहण होता है तो मानव श्रेणीक्रम का बना रहना जरूरी है, क्योंकि, अन्यथा मध्यवर्ती चरण में सबसे अधिक आवश्यक चरण का अभाव होगा। यह तो एकदम स्वीकार कर लेना चाहिये कि सारी मानव-जाति के मिलकर एक साथ अतिमानसिक स्तरतक उठ जाने की तनिक भी सम्भाव्यता या संभावना नहीं है। जिस चीज का संकेत किया जा रहा है वह ऐसी क्रांतिकारी या आश्चर्यजनक चीज नहीं है, केवल मानव मानसता में क्षमता की बात है कि जब वह विकसनशील प्रेरणा के अमुक स्तर या अमुक बिंदु के दबावतक पहुंच जाये तो वह चेतना के उच्चतर लोक और उसके सत्ता में मूर्त होने की ओर बल लगाये। निश्चय ही इस शरीर-धारण के कारण प्रकृति के साधारण गठन में परिवर्तन आयेगा, निश्चय

ही उसके मानसिक, भावनामय और संवेदनात्मक गठन का और एक बड़ी हदतक शारीरिक चेतना और हमारे जीवन और ऊर्जाओं के भौतिक-अनुकूलन में परिवर्तन आयेगा। लेकिन चेतना का परिवर्तन ही मुख्य तत्त्व और प्राथमिक गति होगा। भौतिक हेर-फेर गौण तत्त्व और परिणाम होंगे। जब अंतरात्मा की ज्वाला, चैत्य ज्वाला हृदय और मन में समर्थ हो जाये और प्रकृति तैयार हो तो मनुष्य के लिये चेतना का यह रूपांतर हमेशा संभव रहेगा। आध्यात्मिक अभीप्सा मनुष्य के अंदर अंतर्जात होती है क्योंकि वह पशु से भिन्न, अपूर्णता और सीमा से अभिज्ञ रहता है और यह अनुभव करता है कि वह अब जो है उसे उसके परे कुछ प्राप्त करना है। अपना अतिक्रमण करने की यह प्रवृत्ति जाति में से कभी पूरी तरह मिटनेवाली नहीं लगती। मानव मानसिक स्थिति तो हमेशा रहेगी लेकिन केवल पुनर्जन्म के क्रम में एक स्तर के रूप में नहीं बल्कि आध्यात्मिक और अतिमानसिक स्थिति की ओर खुले चरण के रूप में।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि मानव मन और शरीर का धरती पर आविर्भाव विकास के मार्ग तथा प्रक्रिया में एक निर्णायक पग का चिह्न है, एक निर्णायक परिवर्तन है, यह निरा पुरानी लीकों का जारी रहना नहीं है। जड़ में विकसित विचारशील मन के इस आगमन से पहलेतक विकास सजीव सत्ता की आत्म-अभिज्ञ अभीप्सा, निश्चय, इच्छा या खोज द्वारा नहीं बल्कि अवमानसिक या अंतर्लीन ढंग से प्रकृति की स्वचालित क्रिया द्वारा सम्पादित हुआ था। यह ऐसा इसलिये था क्योंकि विकास निश्चेतना से शुरू हुआ था और प्रच्छन्न चेतना अभीतक उसमें से इतने पर्याप्त रूप से नहीं उभरी थी कि अपने जीवित प्राणी में भाग लेनेवाली आत्म-अभिज्ञ व्यष्टिगत इच्छा में से कार्य करे। लेकिन मनुष्य में आवश्यक परिवर्तन कर दिया गया है—सत्ता जाग्रत् और अपने बारे में अभिज्ञ हो गयी है। उसकी विकसित होने की, ज्ञानवृद्धि की, आंतरिक सत्ता को गहरा और बाहरी सत्ता को विस्तृत करने की और प्रकृति की क्षमताओं को बढ़ाने की इच्छा मन में व्यक्त कर दी गयी है। मनुष्य ने देखा है कि उसकी अपनी चेतना-स्थिति से उच्चतर चेतना-स्थिति हो सकती है, उसके मन और प्राण के भागों में विकसनशील उद्दीपन है। उसमें अपना अतिक्रमण करने की अभीप्सा मुक्त और व्यक्त है। वह अंतरात्मा के बारे में सचेतन हो गया है, उसने आत्मा और आध्यात्मिक पुरुष को खोज लिया है। अतः उसमें अवचेतन की जगह सचेतन विकास कल्पनागम्य और व्यावहारिक बन गया है। भली-भांति यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उसमें अभीप्सा, प्रेरणा और सतत प्रयास परिपूर्ति की ओर उच्चतर मार्ग के लिये, एक महत्तर स्थिति के उभार के लिये प्रकृति की इच्छा का निश्चित चिह्न है।

विकास की पिछली स्थितियों में प्रकृति का पहला ध्यान और प्रयास भौतिक संगठन में परिवर्तन की ओर था क्योंकि केवल इसी तरह चेतना में परिवर्तन हो

सकता था। यह एक ऐसी आवश्यकता थी जो शरीर में परिवर्तन लाने के लिये पहले से गठित होती हुई चेतना की शक्ति की अपर्याप्तता के कारण आरोपित हुई थी। लेकिन मनुष्य में उल्टाव संभव है, वस्तुतः अनिवार्य है क्योंकि उसकी चेतना द्वारा, चेतना के रूपांतर द्वारा ही—उसके पहले यंत्र-विन्यास के रूप में नये शारीरिक संगठन द्वारा नहीं—क्रमविकास संपन्न हो सकता है और होना चाहिये। वस्तुओं की आंतरिक वास्तविकता में चेतना का परिवर्तन हमेशा प्रधान तत्त्व रहा है, विकास का हमेशा आध्यात्मिक महत्त्व रहा है और भौतिक परिवर्तन केवल उपकरण की तरह था लेकिन यह संबंध इन दो तत्त्वों के प्रथम असामान्य संतुलन के कारण छिपा रहता था जब कि बाहरी निश्चेतना का शरीर आध्यात्मिक तत्त्व से, सचेतन सत्ता से महत्व में बढ़कर था और उसे आवृत्त किये हुए था। लेकिन एक बार संतुलन ठीक हो जाये तो फिर चेतना के परिवर्तन से पहले शरीर के परिवर्तन का आना जरूरी नहीं रह जाता। स्वयं चेतना अपने परिवर्तन द्वारा शरीर के लिये जो कोई परिवर्तन आवश्यक है उसे कार्यान्वित करेगी। यह ध्यान देने योग्य है कि मानव मन ने वनस्पति और पशु के नये प्ररूप विकसित करने में, प्रकृति की सहायता करने में पहले ही क्षमता दिखलायी है। उसने वातावरण के नये रूप बनाये हैं, ज्ञान और अनुशासन द्वारा स्वयं अपनी मानसिकता में काफी परिवर्तन विकसित किये हैं। यह असंभव नहीं है कि मनुष्य स्वयं अपने भौतिक और आध्यात्मिक विकास और रूपांतर में प्रकृति की सचेतन सहायता भी करे। उसके लिये प्रेरणा पहले से ही है और अंशतः वह सफल भी है यद्यपि अभीतक सतही मानसिकता उसे अपूर्ण रूप से समझती और स्वीकार करती है। हो सकता है कि एक दिन वह समझ ले, स्वयं अपने अंदर ज्यादा गहराई में जाये और साधन, गुप्त ऊर्जा, और चित्-शक्ति की अभिप्रेत क्रिया को खोज ले जिसके भीतर, जिसे हम प्रकृति कहते हैं उसकी वास्तविकता छिपी है।

ये सब ऐसे निष्कर्ष हैं जिनतक हम प्रकृति की प्रगति के बाहरी व्यापारों, भौतिक जन्म और शरीर में चेतना के और उसकी सत्ता के बाहरी सतह के विकास के अवलोकन द्वारा भी पहुंच सकते हैं। लेकिन दूसरा अदृश्य तत्त्व भी है, पुनर्जन्म होता है, विकसनशील अस्तित्व की एक श्रेणी से दूसरी श्रेणीतक चढ़ाई द्वारा अंतरात्मा की प्रगति और स्वयं श्रेणियों में शारीरिक और मानसिक यंत्र-विन्यास के उच्च से उच्चतर प्ररूपों में आरोहण द्वारा प्रगति। इस प्रगति में चैत्य सत्ता अभीतक अवगुंठित रहती है; मनुष्य में भी, जो सचेतन मानसिक सत्ता है, वह अपने यंत्रों, मन, प्राण और शरीर द्वारा अवगुंठित रहती है। वह पूरी तरह अभिव्यक्त होने में अक्षम रहती है, सामने आने से रोकी जाती है जहां वह अपनी प्रकृति के स्वामी के रूप में खड़ी हो सकती है; अपने यंत्रों के अमुक निर्धारण के आगे झुकने के लिये बाधित होती है, प्रकृति द्वारा पुरुष पर आधिपत्य को मानने के लिये बाधित होती

है। परंतु मनुष्य में व्यक्तित्व का चैत्य भाग निम्नतर सृष्टि की अपेक्षा बहुत अधिक तेजी के साथ विकसित होने योग्य होता है और एक समय आ सकता है कि आंतरात्मिक सत्ता उस बिंदु के नजदीक पहुंच जाये जहां वह पर्दे के पीछे से निकलकर खुले में आ जाये और प्रकृति में उसके यंत्र-विन्यास की स्वामी बन जाये। लेकिन इसका अर्थ होगा कि गुप्त अंतर्वासी पुरुष, अंतस्थ प्रेरक आत्मा, अंतस्थ ईश्वर का आविर्भाव होने को है और इसमें कोई संदेह नहीं किया जा सकता कि जब उसका आविर्भाव हो तो उसकी मांग एक अधिक दिव्य, अधिक आध्यात्म जीवन के लिये होगी, जैसी कि वह स्वयं मन में तब होती है जब वह आंतरिक चैत्य प्रभाव तले आता है। पार्थिव जीवन की प्रकृति में, जहां मन अज्ञान का यंत्र है, यह केवल चेतना के परिवर्तन द्वारा, अज्ञान के आधार की जगह ज्ञान के आधार की ओर, मानसिक से अतिमानसिक चेतना की ओर, प्रकृति के अतिमानसिक यंत्र-विन्यास की ओर संक्रमण से ही हो सकता है।

इस युक्ति में कोई निर्णायक बल नहीं है कि चूंकि यह अज्ञान का जगत् है इसलिये इस प्रकार का रूपांतर परे के स्वर्ग में ही हो सकता है या बिलकुल नहीं हो सकता और चैत्य सत्ता की मांग अपने-आपमें अज्ञानमय है और उसका स्थान अंतरात्मा के निरपेक्ष में मिल जाने को लेना चाहिये। यह निष्कर्ष तभी पूरी तरह से प्रामाणिक हो सकता था यदि अज्ञान ही जगत् की अभिव्यक्ति का संपूर्ण अर्थ, उपादान और बल होता या स्वयं जगत्-प्रकृति में ऐसा कोई तत्त्व न होता जिसके द्वारा उस अज्ञानमय मानसिकता का अतिक्रमण हो पाता जो अभीतक हमारी सत्ता की वर्तमान स्थिति को भाराक्रांत किये हुए है। लेकिन अज्ञान तो इस जगत्-प्रकृति का एक अंश मात्र है, वह उसका सब कुछ नहीं है, आद्या शक्ति या स्रष्टा नहीं है। अपने उच्चतर उत्स में वह अपने-आपको सीमित करनेवाला ज्ञान है और अपने निचले मूल में भी, उसका शुद्ध जड़ निश्चेतना में से आविर्भाव, वह एक दबाई हुई चेतना है जो फिर से अपने-आपको पाने के लिये, उस ज्ञान को सत्ता के आधार के रूप में अभिव्यक्त करने के लिये उद्यम कर रही है जो इसका सच्चा धर्म है। स्वयं वैश्व मन में हमारी मानसिकता से ऊंचे क्षेत्र हैं जो वैश्व सत्य-ज्ञान के यंत्र हैं और निश्चय ही मानसिक सत्ता इनमें अवश्य उठ सकती है क्योंकि अब भी वह इनमें अति साधारण अवस्थाओं में उठती है या अभीतक उन्हें जाने या उनपर अधिकार किये बिना, उनसे अंतर्भास, आध्यात्मिक प्रेरणाएं, प्रबोध या आध्यात्मिक क्षमता की बाढ़ पाती रहती है। ये सब क्षेत्र अपने से परे के बारे में सचेतन हैं और उनमें से जो उच्चतम है वह अतिमानस की ओर प्रत्यक्ष रूप से खुला है, उस सत्य-चेतना से अभिज्ञ है जो उसका अतिक्रमण करती है। और फिर स्वयं विकसनशील सत्ता में चेतना की वे महत्तर शक्तियां उपस्थित रहती हैं जो मानसिक सत्य को समर्थन देती, उनपर परदा डालनेवाली क्रिया के नीचे अवस्थित रहती हैं। यह अतिमानस

और वे सत्य-शक्तियां प्रकृति को अपनी प्रच्छन्न उपस्थिति द्वारा समर्थन देती हैं। यहांतक कि मन का सत्य, उनका परिणाम, एक घटी हुई क्रिया, आंशिक आकारों में चित्रण है। अतः यह केवल स्वाभाविक ही नहीं है बल्कि अनिवार्य मालूम होता है कि सत्ता की ये उच्चतर शक्तियां यहां, मन में अभिव्यक्त हैं जैसे स्वयं मन प्राण और जड़ में अभिव्यक्त हुआ था।

आध्यात्मिकता की ओर मनुष्य की प्रेरणा उसके अंदर स्थित आत्मा के आविर्भाव के लिये आंतरिक संचालन है, सत्ता की चित्-शक्ति का अपनी अभिव्यक्ति के अगले चरण की ओर आग्रह है। यह सच है कि बहुत बड़े भाग में आध्यात्मिक प्रेरणा पारलौकिक रही है या मानसिक व्यष्टि के आध्यात्मिक नकार और आत्म-विलोपन की ओर ही रही है लेकिन यह उसकी प्रवृत्ति का केवल एक पहलू है जिसके बने रहने और मजबूत होने का कारण है मूलभूत निश्चेतना के राज्य में से बाहर निकलने, शरीर की बाधा को जीतकर अंधकारमय प्राण को हटाकर, अज्ञानमय मानसिकता से पिण्ड छुड़ाने की आवश्यकता, इन सभी विघ्नों को अस्वीकार करके आध्यात्मिक सत्ता, आध्यात्मिक पद को सबसे पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण मानकर उसे पाने की आवश्यकता। आध्यात्मिक-प्रेरणा का दूसरा, क्रियाशील पहलू भी अनुपस्थित नहीं रहा है—प्रकृति पर आध्यात्मिक प्रभुता पाने और उसके परिवर्तन की अभीप्सा, सत्ता की आध्यात्मिक पूर्णता की, मन, हृदय और शरीरतक के दिव्य बनने की अभीप्सा। ऐसी सिद्धि जो वैयक्तिक रूपांतर के भी आगे जाती है, एक नयी धरती, एक नया स्वर्ग, एक दिव्य नगरी, पृथ्वी पर दिव्य अवतरण, सिद्ध पुरुषों का शासन, ईश्वर का राज्य—और यह राज्य हमारे अंतर में ही नहीं, बाहर भी, सामूहिक मानव जीवन में भी—इन सबके हमने भूतकाल में सपने देखे हैं, हमारे आंतरिक पुरुष ने इन्हें चैत्य पूर्व-दर्शन के रूप में देखा था। इस अभीप्सा ने कई रूप चाहे जितने अस्पष्ट लिये हों फिर भी पार्थिव प्रकृति में उभरने के लिये भीतर स्थित गुह्य आध्यात्मिक पुरुष की प्रेरणा का संकेत उनमें सुस्पष्ट रहता है।

अगर जड़-भौतिक में हमारे जन्म का गुप्त सत्य पृथ्वी पर आध्यात्मिक उन्मीलन है, अगर यह मूलतः चेतना का विकास है जो प्रकृति में चरितार्थ हो रहा है तो मनुष्य जैसा कि वह है, उस विकास का उच्चतम पद नहीं हो सकता। वह आत्मा का अत्यधिक अपूर्ण प्रकटन है। मन अपने-आपमें अत्यधिक सीमित रूप और यंत्र-विन्यास है। मन चेतना का केवल एक मध्यवर्ती तत्त्व है, मानसिक सत्ता एक संक्रमणकालीन सत्ता हो सकती है। तो अगर मनुष्य अपनी मानसिकता का अतिक्रमण करने में असमर्थ है तो मनुष्य का अतिक्रमण करना चाहिये और अतिमानस और अतिमानव को अभिव्यक्त होना और सृष्टि का नेतृत्व हाथ में लेना चाहिये। लेकिन अगर मन, जो उसका अतिक्रमण करता है उसकी ओर खुलने में

समर्थ है तो इसका कोई कारण नहीं कि स्वयं मनुष्य अतिमानस और अतिमानसतातक क्यों न पहुंचे या कम-से-कम अपने मन, प्राण और शरीर का योगदान प्रकृति में अभिव्यक्त होते आध्यात्म पुरुष के महत्तर पद के विकास में क्यों न दे।

अध्याय २४

आध्यात्मिक मनुष्य का विकास

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्॥
अन्तवत्तु फलं तेषाम्...।
देवान् देवयजो यान्ति...।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

जिस तरह मनुष्य मेरे पास आते हैं उसी तरह मैं उन्हें स्वीकार करता हूं। मनुष्य सभी ओर से मेरे ही पथ का अनुसरण करते हैं... भक्त जिस रूप की पूजा श्रद्धा से करता है, मैं उसकी श्रद्धा को अचल करता हूं। वह अपनी कामना को अपनी आराधना में उस श्रद्धा के साथ रखता है और मेरे द्वारा अपनी कामना की पूर्ति करवाता है। लेकिन वह फल सीमित होता है। जो देवों के लिये यजन करते हैं वे देवों को पाते हैं, जो भूतों के लिये यज्ञ करते हैं वे भूतों को पाते हैं लेकिन जो मेरे लिये यज्ञ करते हैं वे मुझे पाते हैं।

गीता ४-११, ७-२१-२३; ९-२५

...न यासु चित्रं ददृशे न यक्षम्।
...न वां निण्यान्यचिते अभूवन्॥

इनमें न वह चमत्कार है न वह सामर्थ्य, गुह्य सत्य अज्ञानियों के मन के लिये नहीं है।

ऋग्वेद ७. ६१. ५

कविर्न निण्यं विदथानि साधन्...।
दिव इत्था जीजनत् सप्त कारूनह्ना चिच्चक्रुर्वयुना गृणन्तः।

जैसे कोई सत्य द्रष्टा गुह्य सत्यों और उनके ज्ञान के आविष्कारों को कार्यान्वित करता है उसी तरह उसने द्युलोक के सात शिल्पियों को जन्म दिया जिन्होंने दिन के प्रकाश में ही बात कही और अपनी प्रज्ञा की चीजें बनायीं।

ऋग्वेद ४.१६.३

. . . निण्या वचांसि। निवचना कवये काव्यानि . . . ॥

सत्य द्रष्टा-प्रज्ञाएं, रहस्यमय शब्द, जो द्रष्टा को अपना अर्थ बताते हैं।

ऋग्वेद ४.३.१६

नकिर्ह्येषां जनूंषि वेद ते अङ्ग विद्रे मिथो जनित्रम्।
एतानि धीरो निण्या चिकेत पृश्निर्यदूधो मही जभार॥

इनके जन्म को कोई नहीं जानता। वे एक-दूसरे के जन्म की विधि जानते हैं। लेकिन ज्ञानी इन गुप्त रहस्यों को देखता है, उस रहस्य को भी जिसे वह महादेवी, बहुरंगी माता अपने ज्ञान-स्तन की तरह धारण करती है।

ऋग्वेद ७.५६.२, ४

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः . . . शुद्धसत्त्वाः।

उच्चतम आध्यात्मिक ज्ञान के अर्थ के बारे में सुनिश्चित, जिनकी सत्ता शुद्ध हो चुकी है।

मुण्डकोपनिषद् ३.२.६

एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम॥
. . . ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानः . . . ।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति॥

वह इन साधनों से प्रयास करता है और ज्ञान पाता है। उसमें यह आत्मा अपने परम पद में प्रवेश करती है . . . , ज्ञानतृप्त, कृतात्मा (ज्ञान में संतुष्ट, जो अपनी आध्यात्मिक सत्ता का निर्माण कर चुके हैं) धीर युक्तात्मा (जो ज्ञानी आध्यात्म-पुरुष से ऐक्य पा चुके हैं) वे हर जगह सर्वव्यापक को पाते और सर्व में प्रवेश करते हैं।

मुण्डकोपनिषद् ३.२.४,५

विकसनशील प्रकृति की एकदम शुरू की अवस्थाओं में हमें उसकी निश्चेतना की मूक गुप्तता मिलती है। उसके कार्यों में किसी महत्त्व या प्रयोजन का अंतःप्रकाश नहीं है। उसके पहले रूपायन में जो उसकी तात्कालिक व्यस्तता है और जो सदा के लिये उसका एकमात्र व्यापार मालूम होती है, उसके अतिरिक्त सत्ता के किन्हीं और तत्त्वों का संकेत नहीं मिलता क्योंकि उसके प्रारंभिक कार्यों में केवल जड़ ही प्रकट होता है, एकमात्र मूक और नग्न वैश्व सद्वस्तु। यदि सृष्टि का कोई सचेतन लेकिन अनसधा साक्षी होता तो वह केवल प्रतीयमान असत् के एक विशाल गह्वर में से एक ऊर्जा को निकलते हुए देखता जो जड़-तत्त्व, जड़-जगत् और जड़-वस्तुओं के सृजन में व्यस्त है, जो निश्चेतन के अनंत को किसी असीम विश्व की

योजना में या ऐसे असंख्य विश्वों के तंत्र में संगठित कर रही है जो बिना किसी निश्चित लक्ष्य या सीमा के आकाश में उसके चारों ओर विस्तृत हैं, नीहारिकाओं और नक्षत्र-समूहों, सूर्यों और ग्रहों की अनथक सृष्टि जो केवल अपने लिये अस्तित्व धारण करती है जिसमें कोई भाव नहीं है, जो किसी कारण या उद्देश्य से रिक्त है। उसे वह एक विशाल मशीन मालूम होती जिसका कोई उपयोग नहीं है, एक महान् निरर्थक गति, दर्शक बिना कल्पोंतक चलनेवाला दृश्य, एक वैश्व प्रासाद जिसमें कोई रहनेवाला नहीं, क्योंकि उसे किसी अंतर्वासी अध्यात्म-पुरुष का चिह्न नहीं दिखायी देता, कोई ऐसी सत्ता नहीं दिखायी देती जिसके आनन्द के लिये उसकी रचना की गयी हो। इस प्रकार की सृष्टि केवल एक निश्चेतन ऊर्जा का परिणाम हो सकती है या वह किसी अतिचेतन, उदासीन निरपेक्ष पर प्रतिबिंबित रूपों का एक भ्रामक चलचित्र, छाया-क्रीड़ा या कठपुतली का खेल हो सकती है। वह जड़तत्त्व के इस अमेय और अंतहीन प्रदर्शन में अंतरात्मा का कोई साक्ष्य न देखता और न मन और प्राण का कोई चिह्न। उसे यह संभव या कल्पनीय तक न लगता कि इस बंजर, सदा के लिये निष्प्राण, संवेदनहीन विश्व में जीवन से भरपूर बाढ़ आ सकती है, किसी गुह्य और गणनातीत, सजीव और सचेतन, सतह की ओर राह टटोलती गुप्त आध्यात्मिक सत्ता का प्रथम स्पन्दन हो सकता है।

लेकिन कुछ युगों के बाद उसी व्यर्थ के दृश्य-पटल पर नजर डालते हुए, हो सकता है कि उस साक्षी ने कम-से-कम, विश्व के एक छोटे-से कोने में यह दृश्य देखा हो, एक छोटा-सा कोना जहां जड़तत्त्व तैयार किया गया था, उसकी क्रियाएं काफी हदतक निश्चित की जा चुकी थीं, संगठित और स्थायी और एक नये विकास के दृश्य के लिये अनुकूलित की जा चुकी थीं—यह दृश्य था जीवित जड़तत्त्व का, ऐसी चीजों में जीवन का जो कुछ उभर आया और दृश्य बन गया था। लेकिन तब भी साक्षी कुछ न समझ पाया होगा क्योंकि विकसनशील प्रकृति अभीतक अपने रहस्यों को पर्दे के पीछे रखे हुए थी। उसने एक ऐसी प्रकृति को देखा होता जो केवल प्राण की इस बाढ़ को, इस नयी सृष्टि को प्रतिष्ठित करने में लगी होती लेकिन यह जीवन सिर्फ अपने लिये था, जिसमें कोई अर्थ न था—एक मनमौजी प्रचुर स्रष्ट्री जो अपनी नयी शक्ति का बीज बिखेरने में, अपने बहुसंख्यक रूपों को सुन्दर और विलासप्रिय बहुलता में स्थापित करने में या बाद में केवल शुद्ध रूप से सृजन के आनन्द के लिये जातियों और उपजातियों को अंतहीन रूप से बढ़ाने में व्यस्त हो। तब अति विस्तृत वैश्व मरुभूमि में रंग और गति का एक हल्का-सा पुट ही डाला गया होगा और कुछ नहीं। साक्षी यह कल्पना न कर पाया होगा कि प्राण के इस छोटे-से द्वीप में एक विचारशील मन प्रकट होगा, कि निश्चेतना में चेतना जाग सकेगी, एक नया, विशालतर और अधिक सूक्ष्म स्पंदन सतह पर आकर अधिक स्पष्ट रूप से अंदर डूबे हुए अध्यात्म-पुरुष के अस्तित्व को प्रकट कर देगा। पहले-

पहल उसे ऐसा लगा होगा कि किसी तरह से प्राण अपने बारे में अभिज्ञ हो गया और बस। क्योंकि ऐसा लगता था कि नवजात अपूर्ण मन प्राण का सेवक मात्र है, प्राण के जीने में सहायता देने के लिये एक यंत्र, उसके भरण-पोषण के लिये मशीन, आक्रमण और आत्म-रक्षा के लिये, कुछ आवश्यकताओं और प्राणिक तुष्टियों के लिये, प्राण-वृत्ति और प्राण-आवेग की मुक्ति के लिये मशीन है। उसे यह संभव न लग सकता होगा कि इस छोटे-से प्राण में, जो इन विशालताओं के बीच इतना नगण्य है, इस तुच्छ भीड़-भड़क्के के बीच केवल एक जाति में, मनोमय सत्ता प्रकट होगी, एक ऐसा मन होगा जो अब भी प्राण की सेवा तो करेगा लेकिन साथ ही प्राण और जड़ को अपना सेवक बना लेगा, अपने विचारों, इच्छा और कामना की पूर्ति के लिये उनका उपयोग करेगा—एक ऐसी मानसिक सत्ता जो जड़तत्त्व में से सब तरह के उपयोग के लिये सब तरह के बरतन, उपकरण और यंत्र बनायेगी, उसमें से नगर, मकान, मंदिर, नाट्यशाला, प्रयोगशालाएं और कारखाने खड़े करेगी। उसमें से मूर्तियां तराशेगी, गुफा-मंदिर गढ़ेगी, स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला, काव्य तथा सैंकड़ों कला-कौशल का आविष्कार करेगी, विश्व के गणित और भौतिकी की तथा उसकी रचना में छिपे रहस्यों की खोज करेगी। वह मन और उसके हितों के लिये, विचार और ज्ञान के लिये जीवित रहेगी, विचारक, दार्शनिक और वैज्ञानिक में विकसित होगी तथा जड़ के राज्य को परम चुनौती देने के रूप में अपने भीतर अपने-आपको प्रच्छन्न देव के प्रति जाग्रत् करेगी, अदृश्य के पीछे शिकारी बनेगी तथा रहस्यवादी और आध्यात्मिक जिज्ञासु बनेगी।

लेकिन अगर साक्षी कई युगों या कल्पों के बाद फिर से देखता और इस चमत्कार की पूरी प्रक्रिया पर नजर डालता तो शायद तब भी विश्व में जड़ की एकमात्र वास्तविकता होने के आद्य अनुभव से अंधकार-ग्रस्त होने के कारण वह अब भी न समझ पाता। उसे अब भी यह असंभव लगता कि प्रच्छन्न आत्मा पूरी तरह से प्रकट हो सकती है, अपनी चेतना में पूर्ण होकर धरती पर आत्म-ज्ञाता और जगत्-ज्ञाता प्रकृति की स्वामी और अधिपति होकर रह सकती है। वह कह सकता, "यह असंभव है जो कुछ हुआ है, वह बड़ी बात नहीं है। बस मस्तिष्क के संवेदनशील धूसर द्रव्य में थोड़ी-सी बुदबुदाहट है, निष्प्राण जड़ में कोई अनोखी सनक है जो विश्व के एक छोटे-से बिंदु पर घूम-फिर रही है।" इसके विपरीत, कहानी के अंत में आ टपकनेवाला एक नया साक्षी जिसे पिछले विकास के बारे में पता तो होगा परंतु जो आरंभ की प्रवंचना से अभिभूत न होगा, वह शायद चिल्ला पड़े, "ओहो, तो यह था वह अभिप्रेत चमत्कार, बहुतों में अंतिम—जो आध्यात्म-पुरुष निश्चेतना में डूबा हुआ था वह उससे छूट निकला है और अब बिना पर्दे के उन रूपों में निवास करता है जिन्हें पर्दे के साथ उसने अपने आवास और आविर्भाव के दृश्य के रूप में गढ़ा था।" लेकिन वस्तुतः एक ज्यादा सचेतन साक्षी

उन्मीलन की पहले की अवस्थाओं में ही यह चाबी खोज लेता, यहांतक कि उसकी प्रक्रिया के प्रत्येक चरण में, क्योंकि प्रक्रिया के हर चरण पर प्रकृति की मूक गोपनीयता रहती तो है परंतु घटती जाती है; अगले चरण के बारे में संकेत दिया जाता है, अधिक खुले रूप में अर्थपूर्ण तैयारी दिखलायी देती है। अब भी, जो प्राण में निश्चेतन मालूम होता है उसमें सतह की ओर आते हुए संवेदन के चिह्न दिखायी देते हैं, गति करते और श्वास लेते हुए प्राण में संवेदनशील मन का आविर्भाव दिखायी देता है और विचारशील मन की तैयारी पूरी तरह छिपी नहीं होती। जब विचारशील मन विकसित होता है तो प्रारंभिक अवस्था में ही आध्यात्मिक चेतना के प्राथमिक प्रयास और फिर एषणाएं प्रकट होती हैं। जैसे वनस्पति-जीवन में सचेतन पशु की संभावना अस्पष्ट रूप से रहती है, जैसे पशु-मन अनुभव, बोध और धारणा के ऐसे प्रारंभिक तत्त्वों से गतिशील हो उठता है जो चिंतनशील मनुष्य की पहली भूमि है, उसी तरह विकसनशील ऊर्जा के प्रयास द्वारा चिंतनशील मनुष्य का अपने अंदर से ऐसे आध्यात्मिक मनुष्य को विकसित करने के लिये उदात्तीकरण किया जाता है जो पूरी तरह सचेतन सत्ता हो, ऐसा मनुष्य जो प्रथम जड़-भौतिक मनुष्य का अतिक्रमण करता हो और अपनी सच्ची आत्मा और उच्चतम प्रकृति का शोधकर्ता हो।

लेकिन अगर इसे प्रकृति का अभिप्राय मान लिया जाये तो दो प्रश्न एकदम सामने आते हैं और निश्चित उत्तर की मांग करते हैं—पहला, मानसिक से आध्यात्मिक सत्तातक संक्रमण का ठीक-ठीक स्वरूप क्या है और जब उसका उत्तर मिल जाये तो मानसिक मनुष्य में से आध्यात्मिक के विकास की प्रक्रिया और विधि क्या है। पहली दृष्टि में ही यह स्पष्ट होता है कि जैसे हर एक श्रेणी न केवल अपने से पहले की श्रेणी से बल्कि उसके अंदर प्रकट होती है, जैसे प्राण जड़तत्त्व में आविर्भूत होता है और बड़ी हदतक अपनी भौतिक परिस्थितियों द्वारा अपनी आत्माभिव्यक्ति में सीमित और निर्धारित होता है, जैसे मन जड़ में प्राण के अंदर प्रकट होता है और उसी तरह अपनी-अपनी अभिव्यक्ति में प्राणिक स्थिति और जड़-स्थिति से सीमित और निर्धारित होता है, इसी तरह जड़ में स्थित प्राण के अंदर, मूर्त मन के अंदर आत्मा को भी आविर्भूत होना चाहिये और वह भी बड़ी हदतक उन मानसिक स्थितियों से सीमित और निर्धारित रहेगी जिनमें उसकी जड़ें हैं और साथ ही यहां उसके अस्तित्व की प्राणिक परिस्थितियों और जड़-भौतिक परिस्थितियों के द्वारा भी। यह स्थापना भी की जा सकती है कि अगर हमारे अंदर आध्यात्मिक विकास हुआ है तो वह केवल मानसिक विकास का भाग है, मनुष्य की मानसिकता की एक विशेष क्रिया है। आध्यात्मिक तत्त्व एक सुस्पष्ट और पृथक् सत्ता नहीं है और उसका कोई स्वतंत्र आविर्भाव या अतिमानसिक भविष्य नहीं हो सकता। मानसिक सत्ता आध्यात्मिक रस या तन्मयता विकसित कर सकती है और

हो सकता है कि परिणामस्वरूप वह आध्यात्मिक और साथ-ही-साथ बौद्धिक मानसिकता विकसित कर सके, अपने मानसिक जीवन का एक सुन्दर आंतरात्मिक फूल विकसित कर सके। कुछ लोगों में आध्यात्मिक प्रवृत्ति प्रधान हो सकती है, जैसे कुछ लोगों में कलात्मक या व्यावहारिक प्रवृत्ति होती है, लेकिन आध्यात्मिक सत्ता के जैसी कोई चीज नहीं हो सकती जो मानसिक को लेकर आध्यात्मिक प्रकृति में बदल दे। आध्यात्मिक मनुष्य का कोई विकास नहीं होता केवल मानसिक सत्ता में एक नये और संभवतः अधिक सूक्ष्म और अधिक विरल तत्त्व का विकास होता है। तो जिस चीज को बाहर निकालकर लाना है वह है—आध्यात्मिक और मानसिक के बीच स्पष्ट भेद, इस विकास का स्वरूप और वे तत्त्व जो इसे संभव और अनिवार्य बनाते हैं कि आत्मा का यह आविर्भाव सच्चे, स्पष्ट लक्षण में हो, वैसा न रहे जैसा कि वह अभी प्रक्रिया के अधिकांश में है या अपने प्रकट होने के मार्ग में दिखलायी देता है; हमारी मानसिकता का गौण या प्रधान रूप। वह अपना निरूपण एक नयी शक्ति के रूप में करे जो अंत में मानसिक भाग के ऊपर होगी और प्राण और प्रकृति के नेता के रूप में उसका स्थान लेगी।

यह बिलकुल सच है कि सतही दृष्टि के लिये जीवन जड़ का ही व्यापार, मन प्राण की एक क्रिया मालूम होता है। इससे यह परिणाम निकलता मालूम होता है कि जिसे हम अंतरात्मा या अध्यात्म-पुरुष कहते हैं वह केवल मानसिकता की एक शक्ति है, अंतरात्मा मन का एक सूक्ष्म रूप है और आध्यात्मिकता साकार मानसिक सत्ता की एक उच्च क्रिया। लेकिन यह एक बाहरी दृष्टि है जो इस कारण आती है कि विचार केवल रूप-रंग और प्रक्रिया पर केन्द्रित होता है और उसपर नजर नहीं डालता जो प्रक्रिया के पीछे है। इसी लीक पर चलते हुए कोई यह निष्कर्ष निकाल सकता था कि बिजली केवल पानी और बादल के द्रव्य की उपज है क्योंकि ऐसे ही क्षेत्र में बिजली कौंधती है। लेकिन ज्यादा गहरे शोध से पता लगा है कि इसके विपरीत पानी और बादल दोनों के आधार में बिजली की ऊर्जा है, उनकी घटक-शक्ति या ऊर्जा-पदार्थ है; जो परिणाम मालूम होती है वह अपनी वास्तविकता में, यद्यपि रूप में नहीं, उद्भव है। सारतः कार्य प्रतीयमान कारण से पूर्ववर्ती होता है। उभरनेवाली क्रियाशीलता का तत्त्व उसके वर्तमान कार्य-क्षेत्र का पूर्ववर्ती है। विकसनशील प्रकृति में सब जगह ऐसा ही है। जड़ सजीव न हो पाता यदि प्राण-तत्त्व जड़ के गठन में न होता और जड़ में प्राण के व्यापार के रूप में बाहर न आता। जड़ में प्राण अनुभव करना, देखना, सोचना, तर्क करना शुरू न कर सकता यदि मन का तत्त्व प्राण और पदार्थ के पीछे न होता, उसे अपना कार्य-क्षेत्र न बनाता और विचारशील प्राण और शरीर के व्यापार में न उभरता। इसी तरह मन में उभरती हुई आध्यात्मिकता उस शक्ति का चिह्न है जिसने अपने-आप प्राण, मन और शरीर का आधार रखा और गठन किया है और अब जीवित, विचारशील

शरीर में से आध्यात्मिक सत्ता के रूप में उभर रही है। यह आविर्भाव कहांतक जायेगा, क्या वह प्रधान होकर अपने उपादान को रूपांतरित कर लेगा, यह बाद का प्रश्न है लेकिन पहले यह स्थापना करने की जरूरत है कि अध्यात्म-पुरुष का अस्तित्व मन से भिन्न और मन से बड़ी चीज है, कि आध्यात्मिकता मानसिकता से अलग कुछ और चीज है और इसलिये आध्यात्मिक सत्ता मानसिक सत्ता से भिन्न कुछ और है। अध्यात्म-पुरुष अंतिम विकसनशील उद्भव है क्योंकि यह आद्य अन्तर्लयात्मक तत्त्व और घटक है। क्रमविकास प्रतिविकास की विपर्यस्त क्रिया है; प्रतिविकास में जो सबसे बाद में और अंत में निःसृत हुआ है वह क्रमविकास में सबसे पहले प्रकट होता है; प्रतिविकास में जो आद्य और प्राथमिक था वह क्रम-विकास में अंतिम और चरम आविर्भाव है।

और फिर यह भी सच है कि मानव के मन के लिये अंतरात्मा या आध्यात्म पुरुष या अपने अंदर किसी आध्यात्मिक तत्त्व को उस मानसिक और प्राणिक रूपायन से अलग करके देखना मुश्किल है जिसमें से वह प्रकट होता है। लेकिन यह तभीतक होता है जबतक आविर्भाव पूरा न हो जाये। पशु के अंदर मन अपनी प्राणिक आधात्री और प्राण-द्रव्य से पूरी तरह से पृथक् नहीं होता। उसकी गतियां प्राणिक गतियों में इतनी उलझी होती हैं कि वह अपने-आपको उनसे अलग नहीं कर सकता, उनसे अलग खड़ा होकर उनका अवलोकन नहीं कर सकता लेकिन मनुष्य में मन अलग हो गया है, वह अपने मानसिक कार्यों के बारे में, प्राणिक व्यापारों से अलग, अभिज्ञ हो सकता है। उसके विचार और उसकी इच्छा अपने-आपको अपने संवेदनों, आवेगों, कामनाओं, भावनामय प्रतिक्रियाओं से अलग कर सकते हैं और उनसे अनासक्त होकर उनका अवलोकन और नियंत्रण कर सकते हैं, उनकी क्रियाओं को स्वीकृति दे सकते या उन्हें रद्द कर सकते हैं, वह अभीतक अपनी सत्ता के रहस्यों को इतनी अच्छी तरह नहीं जानता कि अपने-आपको निर्णायक रूप से निश्चिति के साथ प्राण और शरीर में मानसिक सत्ता के रूप में जाने, लेकिन उसे ऐसा लगता है और वह भीतर से यह स्थिति ले सकता है। इसी तरह पहले-पहल मनुष्य के अंदर अंतरात्मा मन और मानसिक प्राण से एकदम भिन्न वस्तु के रूप में प्रकट नहीं होती, उसकी गतियां मानसिक गतियों में उलझी रहती हैं, उसके कार्य मानसिक और भावमय क्रियाएं मालूम होते हैं। मानसिक मानव सत्ता मन, प्राण और शरीर से पीछे हटकर खड़ी हुई अपने अंदर की अंतरात्मा से अभिज्ञ नहीं होती जो अपने-आपको उनसे अलग करके उनकी क्रियाओं और उनके रूपायनों को देखती, उनका नियंत्रण करती और उन्हें गढ़ती है। लेकिन जैसे-जैसे भीतरी विकास आगे बढ़ता है, ठीक यही चीज हो सकती है, होनी चाहिये और होती भी है। यह हमारी विकसनशील नियति में बहुत देर से आया हुआ पर अनिवार्य अगला चरण है। एक निर्णायक आविर्भाव हो सकता है

जिसमें सत्ता अपने-आपको विचार से अलग कर लेती है और अपने-आपको आंतरिक नीरवता में मन में स्थित अध्यात्म-पुरुष के रूप में देखती है या अपने-आपको प्राणिक गतियों, कामनाओं, संवेदनों, गतिज-आवेगों से अलग कर लेती है और अपने बारे में अभिज्ञ होती है कि वह प्राण को सहारा देनेवाली आत्मा है या वह अपने-आपको शारीरिक संवेदन से अलग कर लेती है और अपने-आपको ऐसी आत्मा के रूप में जानती है जो जड़तत्त्व को अनुप्राणित करती है; यह हमारा अपने पुरुष-रूप का इस बात का आविष्कार होता है कि हम शरीर को धारण करनेवाले मनोमय पुरुष, प्राणमय अंतरात्मा या सूक्ष्म आत्मा हैं। बहुत से इसे सच्चे आध्यात्म पुरुष का पर्याप्त अन्वेषण मानते हैं और किसी अर्थ में वे ठीक हैं क्योंकि आत्मा या आध्यात्म पुरुष ही प्रकृति की क्रियाओं के प्रसंग में अपने-आपको इस तरह निरूपित करता है और उसकी उपस्थिति का अंतःप्रकाश आध्यात्मिक तत्त्व को पृथक् करने के लिये काफी है। लेकिन आत्मान्वेषण और आगे जा सकता है, वह प्रकृति के रूप या क्रिया के सारे संबंध को एक ओर कर सकता है, क्योंकि देखा यह गया है कि ये सारी आत्माएं एक दिव्य सत्ता की प्रतिमाएं हैं जिसके लिये मन, प्राण और शरीर रूप और उपकरण मात्र हैं। तब हम प्रकृति को देखनेवाली अंतरात्मा होते हैं जो हमारे अंदर उसकी सारी क्रिया-शक्तियों को, मानसिक प्रत्यक्ष दर्शन और अवलोकन से नहीं बल्कि एक अंतर्भूत चेतना, चीजों के बारे में अपने प्रत्यक्ष अर्थ और आंतरिक यथातथ्य दृष्टि द्वारा जानती है, अतः अपने आविर्भाव द्वारा हमारी प्रकृति पर कड़ा नियंत्रण रखने और उसे बदलने योग्य होती है। जब सत्ता में पूर्ण नीरवता होती है, चाहे समस्त सत्ता की निस्तब्धता हो या पीछे की ओर की निस्तब्धता जो सतही गतियों से प्रभावित नहीं होती, तब हम आध्यात्म पुरुष, अपनी सत्ता के आध्यात्मिक द्रव्य के बारे में अभिज्ञ होते हैं, एक ऐसी सत्ता के बारे में अभिज्ञ होते हैं जो आत्मा-व्यक्तित्व का भी अतिक्रमण करके अपने-आपको सार्विकता में फैलाती, किसी भी प्राकृतिक रूप या क्रिया पर किसी भी तरह की अधीनता को पार करके ऊपर की ओर विस्तार में ऐसी परात्परता में चली जाती है जिसकी सीमाएं नहीं दिखायी देतीं। हमारे अंदर आध्यात्मिक भाग की ये मुक्तियां ही प्रकृति में आध्यात्मिक विकास के निर्णायक चरण हैं।

इन निर्णायक गतियों द्वारा ही विकास का सच्चा स्वरूप स्पष्ट होता है क्योंकि तबतक केवल तैयारी की गतियां होती हैं, मन, प्राण और शरीर पर चैत्य सत्ता का दबाव पड़ता है ताकि सच्ची आंतरात्मिक क्रिया का विकास हो, अहंकार से, सतही अज्ञान से मुक्ति के लिये आत्मा या आध्यात्म पुरुष का दबाव पड़ता है, किसी गुह्य सद्वस्तु की ओर मन और प्राण का घुमाव होता है—अध्यात्मभावापन्न मन के, अध्यात्मभावापन्न प्राण के प्रारंभिक अनुभव, आंशिक रूपायन होते हैं परंतु पूर्ण परिवर्तन नहीं, अंतरात्मा या आध्यात्म पुरुष के पूर्ण उद्घाटन की या प्रकृति के

आमूल रूपांतर की कोई संभावना नहीं होती। जब निर्णायक आविर्भाव होता है तो उसका एक चिह्न होता है हमारे अंदर एक ऐसी अंतर्निहित, नैसर्गिक, स्वयंभू चेतना की स्थिति या क्रिया जो अपने-आपको केवल होने के तथ्य द्वारा जानती है, उसके अंदर जो कुछ है उसे भी उसी तरह जानती है उसके साथ तादात्म्य द्वारा, इसी तरह उस सबको भी देखना शुरू करती है जो हमारे मन को बाहरी प्रतीत होता है तादात्म्य की गति या फिर ऐसी अंतर्निष्ठ प्रत्यक्ष चेतना द्वारा जो अपने विषय को आवृत करती, भेदती और उसमें प्रवेश करती है, अपने-आपको विषय में खोजती और उसमें किसी ऐसी चीज के बारे में अभिज्ञ होती है जो मन, प्राण या शरीर नहीं है। तब फिर स्पष्टतः यह आध्यात्मिक चेतना है जो मानसिक से भिन्न है और जो हमारे अंदर ऐसी आध्यात्मिक सत्ता के अस्तित्व का प्रमाण देती है जो हमारे सतही मानसिक व्यक्तित्व से भिन्न है। लेकिन शुरू में यह चेतना अपने-आपको सत्ता की ऐसी स्थितितक सीमित रख सकती है जिसमें वह हमारी अज्ञानमयी बाहरी प्रकृति की क्रिया से अलग रहे और उसका अवलोकन करे, अपने-आपको ज्ञानतक सीमित रखे, वस्तुओं को अस्तित्व के आध्यात्मिक अर्थ और दृष्टि से देखनेतक सीमित रखे। तब भी वह क्रिया के लिये मानसिक, प्राणिक और शारीरिक उपकरणों पर आश्रित रह सकती है या वह उन्हें स्वयं अपनी प्रकृति के अनुसार काम करने दे सकती है और अपने-आप आत्मानुभव और आत्म-ज्ञान से, आंतरिक मुक्ति और उसके परिणामस्वरूप स्वतंत्रता से संतुष्ट रह सकती है; लेकिन हो सकता है कि वह विचार, प्राणिक गतिविधि और भौतिक क्रिया पर अमुक अधिकार, नियंत्रण और प्रभाव डाले और वह ऐसा करती भी है। उसका उन पर शुद्ध करनेवाला और ऊपर उठानेवाला नियंत्रण भी रह सकता है और होता भी है जो उन्हें अपने उच्चतर और शुद्धतर सत्य में विचरण करने के लिये बाधित करता है या वे किसी दिव्यतर शक्ति की बाढ़ या एक ऐसे आलोकमय निर्देशन का अनुसरण करें या उपकरण बनें जो मानसिक न होकर आध्यात्मिक हो और जिसमें कुछ दिव्य विशिष्टताएं पायी जा सकती हों जैसे उच्चतर आत्मा की प्रेरणा या समस्त सत्ता के स्वामी ईश्वर का आदेश। या प्रकृति चैत्य सत्ता के संकेतों का आज्ञापालन कर सकती है, आंतरिक प्रकाश में गति कर सकती और आंतरिक पथ-प्रदर्शनों का अनुसरण कर सकती है। यह अपने-आपमें यथेष्ट विकास है और कम-से-कम चैत्य और आध्यात्मिक रूपांतर के आरंभ के समान होता है। लेकिन इसके आगे जाना संभव है; क्योंकि एक बार आध्यात्मिक सत्ता आंतरिक रूप से मुक्त हो जाये तो मन के अंदर ऐसी उच्चतर स्थितियों को विकसित कर सकती है जो उसका स्वाभाविक वातावरण हैं और अतिमानसिक ऊर्जा और क्रिया को नीचे उतार सकती है जो ऋत-चेतना के लिये समीचीन हैं। सामान्य मानसिक यंत्र-विन्यास, प्राणिक यंत्र-विन्यास और भौतिक यंत्र-विन्यासतक पूरी तरह रूपांतरित हो सकते हैं और

तब वे अज्ञान के भाग न रह कर, वह चाहे जितना आलोकित क्यों न हो, अतिमानसिक सृष्टि का भाग हो जायेंगे जो आध्यात्मिक ऋत-चेतना और ज्ञान की सच्ची क्रिया होगी।

शुरू में आत्मा और आध्यात्मिकता का यह सत्य मन के लिये स्वतःसिद्ध नहीं होता। मनुष्य अपनी अंतरात्मा के बारे में मानसिक रूप से इस भांति अभिज्ञ हो जाता है मानों वह उसके शरीर से भिन्न, उसके सामान्य मन और प्राण से श्रेष्ठतर कोई चीज हो, लेकिन उसे इसका स्पष्ट भान नहीं होता, केवल अपनी प्रकृति पर उसके कुछ प्रभावों का अनुभव मात्र होता है। चूंकि ये प्रभाव मानसिक या प्राणिक रूप ले लेते हैं इसलिये इनका भेद दृढ़ता और तीव्रता के साथ नहीं दिखाई देता। आत्मा की दृष्टि स्पष्ट और निश्चित स्वतंत्रता नहीं पाती। वास्तव में बहुधा, मानसिक और प्राणिक भागों पर चैत्य दबाव के अर्द्ध-प्रभावों की संसृष्टि को, मानसिक अभीप्सा और प्राणिक कामनाओं से मिश्रित रूपायन को भूल से अन्तरात्मा मान लिया जाता है, उसी तरह जैसे पृथक्कारी अहंकार को आध्यात्म पुरुष मान लिया जाता है, यद्यपि अपनी सच्ची सत्ता में आध्यात्म पुरुष वैश्व और साथ-ही-साथ सार तत्त्व में व्यष्टिगत भी है—या ठीक वैसे ही जैसे किसी तरह के सबल या उच्च विश्वास या आत्मोत्सर्ग या परोपकार की उत्कंठा से उठी हुई किसी मानसिक अभीप्सा और प्राणिक उत्साह और आवेग को भूल से आध्यात्मिकता मान लिया जाता है। लेकिन यह अस्पष्टता और ये संभ्रम क्रम-विकास की अस्थायी स्थिति के लिये अनिवार्य है क्योंकि अज्ञान उसका आरंभ-बिंदु है और हमारी प्रथम प्रकृति की समस्त छाप है जिसके कारण क्रम-विकास को निश्चित रूप से उपार्जित अनुभव या स्पष्ट ज्ञान के बिना, एक अपूर्ण अंतर्भासात्मक प्रत्यक्षण और एक सहजवृत्ति की प्रेरणा या चाह से आरंभ करना होता है। यहांतक कि वे रूपायन भी, जो प्रत्यक्ष ज्ञान, या प्रेरणा या आध्यात्मिक विकास के प्रथम संकेत हैं, उनके पहले प्रभाव भी अनिवार्य रूप से अपूर्ण और प्रयोगात्मक होने चाहियें। लेकिन इस तरह से बनी भूल सच्ची समझ के मार्ग में जोर से आती है इसलिये इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि आध्यात्मिकता उच्च बौद्धिकता नहीं है, आदर्शवाद नहीं है, मन का नैतिक मोड़ या आचरण की शुद्धि या तपस्या नहीं है। वह कोई धार्मिकता या तीव्र और उदात्त भावात्मक उत्साह नहीं है और न ही इन उत्तम वस्तुओं का मिश्रण है। वह मानसिक विश्वास, मत या श्रद्धा, भावुकताभरी अभीप्सा, धार्मिक या नैतिक नियम के अनुसार जीवन-व्यवहार के नियमन, आध्यात्मिक उपलब्धि या अनुभव नहीं है। ये चीजें मन और प्राण के लिये काफी महत्त्व की हैं। वे स्वयं आध्यात्मिक विकास के लिये प्रारंभिक गतियों के रूप में मूल्यवान् हैं जो अनुशासन लाती, शुद्ध करती या प्रकृति को उचित रूप देती हैं लेकिन फिर भी वे हैं मानसिक विकास की चीजें—इनमें आध्यात्मिक उपलब्धि, अनुभव और परिवर्तन का आरंभ नहीं है। अपने सारतत्त्व में आध्यात्मिकता अपनी सत्ता की आंतरिक सद्वस्तु के प्रति जागरण

है, एक ऐसी आत्मा, ऐसे आध्यात्म पुरुष या अंतरात्मा के प्रति जो हमारे मन, प्राण और शरीर से भिन्न है, उसे जानने, अनुभव करने, वही होने की आंतरिक अभीप्सा है और विश्व के परे और उसमें व्यापक विशालतर सद्वस्तु के साथ संपर्क में आना है जो हमारी सत्ता में भी निवास करती है—उसके साथ संपर्क और ऐक्य रखना तथा अभीप्सा, संपर्क, ऐक्य के परिणामस्वरूप हमारी समस्त सत्ता का मोड़, परिवर्तन और रूपांतर है, एक नये संभवन या नयी सत्ता में या एक नयी आत्मा और नयी प्रकृति में विकास या जागरण है।

वस्तुतः हमारी पार्थिव सत्ता में जो सृजनशील चित्-शक्ति है उसे एक दोहरे विकास को लगभग युगपत् प्रक्रिया से आगे ले जाना होता है लेकिन इसमें निम्नतर तत्त्व को अधिक प्राथमिकता दी जाती है और उसपर अधिक दबाव डाला जाता है। एक विकास हमारी बाहरी प्रकृति का, प्राण और शरीर में मनोमय सत्ता की प्रकृति का होता है और उसमें आत्म-प्रकाशन के लिये आगे बढ़ते हुए—क्योंकि मन के उदय से ही यह अंतः-प्रकाश संभव होता है—हमारी आंतरिक सत्ता, हमारी गुह्य, अंतस्तलीय और आध्यात्मिक प्रकृति के विकास की तैयारी, उसका आरंभ होता है। परंतु तब भी और लंबे समयतक आवश्यक रूप से प्रकृति की सर्वोपरि तल्लीनता प्रधानतः मन के विकास को यथासंभव विशालतर क्षेत्र, ऊंचाई और सूक्ष्मतातक ले जाना होगा क्योंकि इसी तरह पूरी तरह से अंतर्भासात्मक बुद्धि का, अधिमानस का, अतिमानस का उद्घाटन और आध्यात्म पुरुष के उच्चतर यंत्र-विन्यास की ओर का कठिन मार्ग तैयार किया जा सकता है। अगर तात्त्विक आध्यात्मिक सद्वस्तु का अंतःप्रकाश और उस शुद्ध सत् में हमारी सत्ता का अवसान ही एकमात्र उद्देश्य होता तो मानसिक विकास पर इस तरह जोर देने का कोई प्रयोजन न होता क्योंकि प्रकृति के हर बिंदु पर आध्यात्म सत्ता का स्फुरण और उसमें हमारी सत्ता का विलयन संभव है। हृदय की तीव्रता, मन की संपूर्ण निश्चल-नीरवता, इच्छा का एकमात्र तल्लीन करनेवाला आवेग उस चरम गति को लाने के लिये पर्याप्त होगा। अगर प्रकृति का अंतिम इरादा पारलौकिक होता तब भी यही विधान उचित होता क्योंकि हर जगह, प्रकृति के किसी भी बिंदु पर पारलौकिक एषणा की पर्याप्त शक्ति हो सकती है जो पार्थिव-क्रिया को पार कर सके, उससे अलग हो सके और आध्यात्मिक अन्यत्र में प्रवेश कर सके। लेकिन अगर उसका इरादा है सत्ता का व्यापक परिवर्तन तो यह दोहरा विकास बोधगम्य है और अपना औचित्य सिद्ध करता है क्योंकि इस उद्देश्य के लिये यह अनिवार्य है।

फिर भी, यह एक कठिन और धीमी आध्यात्मिक प्रगति आरोपित करती है क्योंकि पहले तो आध्यात्मिक आविर्भाव को हर कदम पर उपकरणों के तैयार होने के लिये प्रतीक्षा करनी पड़ती है; फिर जब आध्यात्मिक रूपायन का आविर्भाव होता है वह पेचीदे ढंग से अपूर्ण मन, प्राण और शरीर की शक्तियों, प्रेरणाओं और

आवेगों से मिला रहता है। उसपर यह खिंचाव रहता है कि इन शक्तियों, प्रेरणाओं और आवेगों को स्वीकारे और उनकी सेवा करे। उसपर नीचे की ओर गुरुत्वाकर्षण और संकटप्रद मिश्रण रहता है, पतन या च्युति का प्रलोभन सदा लगा रहता है। कम-से-कम बेड़ियां, भार और विलम्ब तो आता ही है। जो कदम आगे बढ़ चुका है उसपर वापिस जाने की जरूरत होती है ताकि प्रकृति की उस चीज को ऊपर उठाया जा सके जो पीछे लटक रही है और आगे कदम उठाने से रोकती है और अंत में मन का अपना स्वरूप है जिसमें उसे काम करना होता है, उभरती हुई आध्यात्मिक ज्योति और शक्ति का सीमांकन और उसपर खण्ड-खण्ड करके आगे बढ़ने की बाध्यता, किसी एक लीक का अनुसरण, कभी दूसरी का, अपनी समग्रता की उपलब्धि को पीछे फिर कभी के लिये या पूरी तरह छोड़ देना। यह अड़ंगा, मन, प्राण और शरीर की यह बाधा—शरीर का भारी तमस् और हठ, प्रणिक भाग के गदले आवेग और मन की अस्पष्टता, संदेह-भरी अनिश्चितियां, इंकार और अन्य निरूपण—यह इतनी बड़ी और असह्य बाधा है कि आध्यात्मिक प्रेरणा अधीर हो उठती है और इन विरोधियों को कठोरता से कुचल देने की कोशिश करती है, प्राण को त्याग देने, शरीर को उत्पीड़ित करने और मन को मौन करके अपनी स्वतंत्र मुक्ति पा लेने की कोशिश करती है ताकि आत्मा शुद्ध आत्मा में चली जाये और अपने अंदर से अदिव्य, अंधकारमय प्रकृति को एकदम त्याग दे। परम आह्वान के सिवा हमारे अंदर आध्यात्मिक भाग का अपने उच्चतम तत्त्व और स्थिति की ओर वापिस लौटने का स्वाभाविक आग्रह होता है। शुद्ध आध्यात्मिकता के लिये प्राणिक तथा भौतिक प्रकृति का यह बाधक रूप संन्यास के लिये, मायावाद के लिये, पारलौकिकता की प्रवृत्ति, जीवन से वैराग्य के प्रति प्रेरणा, शुद्ध, अमिश्रित निरपेक्ष के लिये अनुराग का बाध्यकारी कारण है। शुद्ध, आध्यात्मिक निरपेक्षवाद आत्मा की अपनी परम आत्मस्थिति की ओर गति है लेकिन वह प्रकृति के अपने प्रयोजन के लिये भी जरूरी है क्योंकि उसके बिना मिश्रण, नीचे की ओर गुरुत्वाकर्षण आध्यात्मिक उभार को असंभव बना देगा। इस निरपेक्षवाद का चरमपंथी, एकान्तवासी, संन्यासी, आध्यात्म सत्ता का ध्वजावाहक है, उसका गेरुआ वस्त्र उसकी पताका है, सभी समझौतों से इंकार करने का प्रतीक है। वस्तुतः उभार का संघर्ष समझौते में समाप्त नहीं हो सकता बल्कि उसका अंत होगा संपूर्ण आध्यात्मिक विजय और निम्नतर प्रकृति के पूर्ण समर्पण में। अगर यहां पर वह असंभव है तो निश्चय ही उसे कहीं और पाना होगा। अगर प्रकृति उभरती हुई आत्मा के आधीन होने से इंकार करती है तो आत्मा को उससे अपने-आपको खींच लेना चाहिये। इस भांति आध्यात्मिक आविर्भाव में दोहरी प्रवृत्ति है; एक ओर किसी भी कीमत पर सत्ता में आध्यात्मिक चेतना की प्रतिष्ठा की ओर प्रेरणा, उसके लिये प्रकृति का बहिष्कार तक, और दूसरी ओर हमारी प्रकृति के भागों की ओर

आध्यात्मिकता के विस्तार की प्रेरणा। लेकिन जबतक पहला पूरी तरह प्राप्त न हो जाये, दूसरा अधूरा और लड़खड़ाता ही रहेगा। आध्यात्मिक मनुष्य के विकास में पहला उद्देश्य है शुद्ध आध्यात्मिक चेतना का संस्थापन, और यही चीज और उस चेतना की सद्वस्तु, अध्यात्म-पुरुष या दिव्य सत्ता के साथ संपर्क के लिये ललक ही आध्यात्मिक जिज्ञासु की पहली, सबसे महत्त्वपूर्ण या जबतक कि वह पूरी तरह से चरितार्थ न हो, एकमात्र तल्लीनता होनी चाहिये। यही वह एक आवश्यक वस्तु है जिसे हर एक को—उसके लिये जो भी राह संभव है उससे—करना चाहिये, हर एक को अपनी प्रकृति में विकसित आध्यात्मिक क्षमता के अनुसार।

आध्यात्मिक सत्ता के विकास के उपलब्ध क्षेत्र के बारे में विचार करते हुए हमें उसे दो दिशाओं से देखना होगा; प्रकृति द्वारा काम में लाये हुए साधनों और विकास-रेखाओं पर विचार करना और उसके द्वारा मानव व्यष्टि में उपलब्ध वास्तविक परिणामों का अवलोकन करना। आंतरिक सत्ता को खोलने के प्रयत्न में प्रकृति ने चार मुख्य प्रणालियों का अनुसरण किया है—धर्म, गुह्यवाद, आध्यात्मिक विचार और आंतरिक आध्यात्मिक उपलब्धि और अनुभूति। पहले तीन उपक्रम हैं और अंतिम है प्रवेश के लिये निर्णायक पथ। इन चारों शक्तियों ने सम्मिलित क्रिया में कार्य किया है, न्यूनाधिक रूप से सम्बद्ध, कभी-कभी परिवर्तनशील सहयोग में और कभी एक-दूसरे के साथ लड़ते-झगड़ते और कभी अलग स्वतंत्र रूप से। धर्म ने अपने आचार, अनुष्ठानों और संस्कारों में किसी गुह्य तत्त्व को प्रवेश दिया है, उसने आध्यात्मिक विचार का सहारा लिया है जिससे कभी किसी मत या विश्वास को और कभी अपना समर्थक आध्यात्म दर्शन प्राप्त किया है। साधारणतः पहली रीति पश्चिम की और दूसरी पूर्व की रही है। लेकिन धर्म का अंतिम लक्ष्य और उपलब्धि, उसका व्योम और शिखर रहा है आध्यात्मिक अनुभव। लेकिन साथ ही कभी-कभी धर्म ने गुह्यवाद की मनाही की है या अपने गुह्यवाद के अंश को कम-से-कम कर दिया है। उसने दार्शनिक मन को शुष्क, बौद्धिक और पराया मानकर दूर धकेल दिया है, अपने सारे भार सहित मत और सिद्धांत का, धर्मपरायण भक्तिभाव-भरी भावुकता, उत्साह और नैतिक आचार-व्यवहार का सहारा लिया है; उसने आध्यात्मिक उपलब्धि और अनुभव कम-से-कम कर दिया या एकदम हटा दिया है। गुह्यवाद ने कभी-कभी आध्यात्मिक लक्ष्य को अपना उद्देश्य माना है और गुह्य-ज्ञान और अनुभूति का अनुसरण उसके मार्ग-स्वरूप किया है। उसने किसी तरह का गुह्य-दर्शन बनाया है लेकिन बहुधा उसने अपने-आपको गुह्यज्ञान और क्रियातक ही सीमित रखा है जिसमें कोई आध्यात्मिक विचारधारा नहीं होती। वह इन्द्रजाल या केवल जादू की ओर मुड़ा है, कभी भटककर पैशाचिकता में पहुंच गया है। आध्यात्मिक दर्शन अपने सहारे या अनुभूति के मार्ग के रूप में धर्म पर सामान्यतः अवलम्बित रहा है। वह सिद्धि

और अनुभूति के परिणामस्वरूप रहा है या उसने अपने निर्माण उसकी ओर उपगमन के रूप में खड़े किये हैं। लेकिन उसने धर्म की समस्त सहायता या बाधा को नकारा भी है और वह अपने ही बल-बूते पर आगे बढ़ा है। या तो वह मानसिक ज्ञान से संतुष्ट रहा है या अपना ही अनुभव और प्रभावशाली साधना का पथ खोज लेने के बारे में विश्वस्त रहा है। आध्यात्मिक अनुभूति ने तीनों साधनों का आरंभ-बिंदु के रूप में उपयोग किया है लेकिन केवल अपने बल पर खड़े होकर उसने तीनों को छोड़ भी दिया है; गुह्य ज्ञान और शक्तियों को भयानक प्रलोभन और उलझानेवाली बाधाएं मानकर निरुत्साहित किया है और उसने आत्मा के शुद्ध सत्य की ही खोज की है। दर्शन को छोड़कर वह हृदय के उत्साह या रहस्यवादी आंतरिक आध्यात्मीकरण द्वारा लक्ष्यतक पहुंचा है। समस्त धार्मिक मत-विश्वास, पूजा, अर्चना को पीछे डालकर, उन्हें एक निम्नतर स्थिति या पहला अभ्युपगम मानकर आगे बढ़ गया है और अपने पीछे इन सब सहारों को, इन सब सज्जाओं को छोड़कर आध्यात्मिक सद्वस्तु के शुद्ध संपर्कतक बढ़ गया है। ये सारी विभिन्नताएं जरूरी थीं, प्रकृति के विकसनशील प्रयास ने सभी लोकों पर परीक्षण किया है ताकि परम चेतना और सर्वांगीण ज्ञान की ओर वह अपना सच्चा मार्ग और पूर्ण मार्ग पा ले।

क्योंकि, इनमें से हर एक साधन या उपगम हमारी समग्र सत्ता की किसी चीज के साथ मेल खाता है और इस नाते उसके विकास के समग्र उद्देश्य के लिये आवश्यक किसी वस्तु के साथ मेल खाता है। अगर मनुष्य को सतही अज्ञान का वह प्राणी नहीं रहना है जो अस्पष्ट रूप से चीजों के सत्य की खोज करता है और ज्ञान के खण्डों और विभागों को इकट्ठा और व्यवस्थित करता है, वैश्व शक्ति का तुच्छ सीमित और अर्द्ध-सक्षम प्राणी नहीं रहना है, जो कि वह अभी अपनी वर्तमान दृश्य प्रकृति में है तो उसके आत्म-विस्तार के लिये चार आवश्यकताएं हैं। उसे अपने-आपको जानना चाहिये और अपनी सभी संभाव्यताओं को खोजना, उनका उपयोग करना चाहिये : लेकिन अपने-आपको और जगत् को पूरी तरह जानने के लिये उसे अपने तथा उसके बाहरी रूप के पीछे जाना होगा, उसे अपनी मानसिक सतह के और प्रकृति की भौतिक सतह के नीचे गहराई में डुबकी लगानी होगी। वह यह अपनी आंतरिक मानसिक, प्राणिक, शारीरिक और चैत्य सत्ता को तथा उसकी शक्तियों, गतियों तथा वैश्व नियमों और गुह्य मन और प्राण की प्रक्रियाओं को जानकर ही कर सकता है। ये विश्व के जड़ अग्रभाग के पीछे खड़े रहते हैं; यदि हम इस शब्द को उसके विशालतर अर्थ में लें तो यही गुह्यवाद का क्षेत्र है। उसे जगत् पर शासन करनेवाली प्रच्छन्न शक्ति या शक्तियों को भी जानना चाहिये। अगर कोई विश्वात्मा, वैश्व आध्यात्म पुरुष या कोई स्रष्टा है तो उसे उसके साथ संबंध जोड़ सकना चाहिये और जो भी संपर्क या सायुज्य संभव है उसमें रहना चाहिये, विश्व की प्रभु-सत्ताओं या वैश्व सत्ता और उसकी वैश्व इच्छा या परम सत्ता

और उसकी परम इच्छा के साथ किसी तरह का सामंजस्य बिठाना चाहिये, मनुष्य को परम सत्ता द्वारा दिये गये विधान और उसके अपने जीवन के उस लक्ष्य और आचरण का अनुसरण करना चाहिये जो उसे दिया गया है या उसके सामने प्रकट किया गया है। उसे अपने-आपको उस उच्चतम ऊंचाई तक उठा सकना चाहिये जिसकी वह उससे इस जीवन में या अगले जीवन में मांग करती है। अगर ऐसी कोई वैश्व या परम आत्मा या सत्ता नहीं है तो उसे जानना चाहिये कि आखिर है क्या और अपनी वर्तमान अपूर्णता और असमर्थता में से उसतक कैसे उठा जा सकता है। यह उपगमन ही धर्म का लक्ष्य है। उसका प्रयोजन है मनुष्य का भगवान् के साथ नाता जोड़ना और यह करते हुए विचार और प्राण और शरीर को उदात्त करना ताकि वे अंतरात्मा और अध्यात्म पुरुष के शासन को स्वीकार करें। लेकिन यह ज्ञान किसी मत या रहस्यमय अंतःप्रकाश से बढ़कर कुछ और होना चाहिये। उसके विचारशील मन को उसे स्वीकारना चाहिये, उसे वस्तुओं के तत्त्व और विश्व के अवलोकित सत्य के साथ सहसंबद्ध करना चाहिये। यह दर्शन का काम है और आत्मा के सत्य के क्षेत्र में यह केवल आध्यात्मिक दर्शन द्वारा ही किया जा सकता है; फिर वह अपने तरीके में बौद्धिक हो या अंतर्भासात्मक। लेकिन सभी ज्ञान और प्रयास अपनी सफलता तक तभी पहुंच सकते हैं जब वे अनुभूति में बदल जायें, चेतना का और उसकी प्रतिष्ठित क्रियाओं का एक भाग बन जायें। आध्यात्मिक क्षेत्र में इस सारे धार्मिक, गुह्य या दार्शनिक ज्ञान तथा प्रयास को सफल होने के लिये आध्यात्मिक चेतना के उद्घाटन में, उसे प्रतिष्ठित करने और सदा उठाने, विस्तृत और समृद्ध करनेवाले अनुभवों में और अध्यात्म के सत्य के साथ मेल खानेवाले जीवन और क्रिया के निर्माण में समाप्त होना होगा। यह आध्यात्मिक उपलब्धि और अनुभूति का कार्य है।

वस्तुस्थिति ही ऐसी है कि समस्त विकास को आरंभ में धीमे उन्मीलन के साथ शुरू होना होगा क्योंकि अपनी शक्तियों को विकसित करनेवाले हर नये तत्त्व को निश्चेतना और अज्ञान में अंतर्लयन में से रास्ता बनाना होता है। उसका अपने-आपको अंतर्लयन से, आद्य माध्यम के अंधेरे की पकड़ में से निश्चेतना के खिंचाव और दबाव का विरोध करते हुए, सहज विरोध और अड़ंगे, अज्ञान के बाधक मिश्रण और अंधे तथा दुराग्रही विलंबनों में से खींच निकालना कठिन काम होता है। शुरू में प्रकृति एक अस्पष्ट प्रेरणा और प्रवृत्ति को पुष्ट करती है जो गुह्य, अंतस्तलीय और निमज्जित सद्वस्तु की बाहरी सतह की ओर दबाव का चिह्न है। तब जो चीज होनेवाली है उसके छोटे-छोटे अर्द्धनिरुद्ध संकेत, अधूरे आरंभ, अनगढ़ तत्त्व, प्रारंभिक रंग-रूप, छोटे, नगण्य, मुश्किल से पहचाने जानेवाले परिमाण मिलते हैं। उसके बाद छोटे-बड़े रूपायन होते हैं। एक अधिक विशिष्ट और पहचान में आनेवाला गुण अपने-आपको प्रकट करना शुरू करता है, पहले

आंशिक रूप में, इधर-उधर या क्षीण मात्रा में फिर अधिक स्पष्ट, अधिक रचनात्मक रूप में और अंत में निर्णायक आविर्भाव, चेतना का उल्टाव होता है। मौलिक परिवर्तन की संभावना का आरंभ होता है; लेकिन अभी हर दिशा में बहुत कुछ करना बाकी होता है। विकसनशील प्रयास के आगे पूर्णता की ओर लंबी और कठिन वृद्धि बाकी होती है। जो चीज की जा चुकी है उसे केवल पुष्ट करना ही नहीं, फिर से गिरने, नीचे की ओर गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध, असफलता और विलोपन के विरुद्ध ही सुरक्षित नहीं करना है बल्कि उसे अपनी संभावनाओं के सभी क्षेत्रों में, अपनी समस्त आत्म-सिद्धि की समग्रता में, अपनी चरम ऊंचाई, सूक्ष्मता, समृद्धि, विस्तार की ओर खोलना है; उसे मुख्य, सर्वालिंगनकारी और व्यापक बनना होता है। हर जगह प्रकृति की यही प्रक्रिया रही है और उसकी अवहेलना करना उसके कामों के इरादे को न पकड़ना और उसकी पद्धति के जंजाल में खो जाना है।

मानव मन और चेतना में धर्म के विकास ने यही प्रक्रिया अपनायी है। उसने मानवजाति के लिये जो कार्य किया है उसे समझा या भली-भांति आंका नहीं जा सकता यदि हम प्रक्रिया की परिस्थितियों और उनकी आवश्यकता की अवहेलना कर दें। यह तो स्पष्ट है कि धर्म के प्रथम आरंभ अनगढ़ और अधूरे रहे होंगे, उसका विकास मिश्रणों, भ्रांतियों और मानव मन और प्राणिक भाग को दी गयी सुविधाओं से उलझा हुआ होगा, ये सुविधाएं बहुधा बहुत अनाध्यात्मिक रूप की हो सकती हैं। अज्ञान-भरे, हानिकर, यहां तक कि संकटाकीर्ण तत्त्व भी अंदर घुस सकते और भ्रांति और अशुभ की ओर ले जा सकते हैं। मानव मन की मतांधता, उसकी स्वाग्रही संकीर्णता, उसका असहिष्णु और चुनौती देनेवाला अहंकार, उसकी अपने सीमित सत्यों के लिये आसक्ति और उससे भी बढ़कर अपनी भूल-भ्रांतियों के लिये आसक्ति या प्राण की उग्रता, कट्टरता, प्राण का युद्धप्रिय और उत्पीड़क स्वाग्रह, उसकी मन पर अपनी कामनाओं और प्रवृत्तियों के लिये अनुमति प्राप्त करने के लिये विश्वासघाती क्रिया—ये आसानी से धार्मिक क्षेत्र पर आक्रमण कर सकती हैं और धर्म को उसके उच्चतर आध्यात्मिक लक्ष्य और स्वरूप से रोक सकती हैं। धर्म के नाम के नीचे बहुत-सा अज्ञान छिप सकता है, बहुत-सी भ्रांतियों और विस्तृत गलत निर्माणों को अनुमति दी जा सकती है, यहांतक कि आत्मा के विरुद्ध बहुत-से अपराध और अहित किये जा सकते हैं। लेकिन समस्त मानव प्रयास का ऐसा ही उतार-चढ़ाववाला इतिहास है और अगर इसे धर्म के सत्य और उसकी आवश्यकता के विरुद्ध गिना जाये तो यह मानव प्रयास की हर धारा के विरुद्ध, मनुष्य के समस्त कर्म, उसके आदर्श, उसके विचार, उसकी कला, उसके विज्ञान के सत्य और उसकी आवश्यकता के विरुद्ध भी गिना जायेगा।

धर्म ने अपने प्रतिवाद का रास्ता खोल दिया यह दावा करके कि उसे सत्य का

निर्धारण दैवी अधिकार से, प्रेरणा से, ऊपर से दिये गये परम पुनीत और अचूक प्रभुत्व से करने का अधिकार है। उसने अपने-आपको मानव-विचार, भावना और आचरण पर बिना विवाद और बिना ननुनच के आरोपित करने की कोशिश की है। यद्यपि धार्मिक भाव पर इस दावे के आरोपण का कारण एक तरह से उसके आधार और प्रमाण होनेवाली प्रेरणाओं और प्रदीप्तियों का अनुल्लंघ्य और अकाट्य स्वरूप और मन के अज्ञान, संशयों और दुर्बलताओं, अनिश्चितियों के बीच अंतरात्मा से आती एक गुह्य ज्योति तथा शक्ति के रूप में श्रद्धा की आवश्यकता है तथापि यह दावा अतिशय और अपरिपक्व है। मनुष्य के लिये श्रद्धा अनिवार्य है क्योंकि उसके बिना वह अज्ञात में से अपनी यात्रा पर आगे न बढ़ पाता; लेकिन वह आरोपित नहीं होनी चाहिये। वह स्वतंत्र बोध या अनुल्लंघ्य आदेश के रूप में अंतःपुरुष से आनी चाहिये। निर्विवाद स्वीकृति के लिये उसका दावा तभी न्याय-संगत हो सकता है जब आध्यात्मिक प्रयास के फल-स्वरूप मनुष्य की प्रगति सारे अज्ञानमय मानसिक और प्राणिक मिश्रण से मुक्त होकर उच्चतम, समग्र और पूर्ण ऋत-चित् को प्राप्त कर ले। हमारे आगे यही चरम उद्देश्य है लेकिन यह अभीतक चरितार्थ नहीं हुआ है और अपरिपक्व दावे ने मनुष्य में धार्मिक वृत्ति के सच्चे कार्य को धुंधला कर दिया है; वह कार्य है उसे दिव्य सद्वस्तु की ओर ले जाना, उसने अभीतक इस दिशा में जो कुछ पाया है उस सबको सूत्रबद्ध करना और हर मानव सत्ता को आध्यात्मिक साधना का सांचा देना, दिव्य सत्य को खोजने, छूने, उसके पास जाने की राह देना, ऐसी राह जो उसकी प्रकृति की क्षमताओं के अनुकूल हो।

विकसनशील प्रकृति की विस्तृत और नमनीय पद्धति जो मनुष्य की धार्मिक खोज के सबसे विस्तीर्ण प्रसार को अवसर देती है और उसके सच्चे अभिप्राय को सुरक्षित रखती है, वह भारत में धर्म के विकास में देखी जा सकती है। यहां अनेक धार्मिक निरूपणों, मत-मतांतरों और साधनाओं को स्वीकृति दी गयी है बल्कि उन्हें साथ-साथ रहने के लिये प्रोत्साहन दिया गया है, और हर आदमी को यह स्वतंत्रता थी कि जो उसके विचार, भाव, स्वभाव, प्रकृति के गठन के अनुकूल हो उसको स्वीकार करे, उसका अनुसरण करे। यह उचित और तर्कसंगत है कि परीक्षणात्मक विकास के उपयुक्त यह नमनीयता हो, क्योंकि धर्म का यथार्थ कार्य है मनुष्य के मन, प्राण और शारीरिक जीवन को तैयार किया जाये ताकि आध्यात्मिक चेतना उसे उठाकर उस स्थानतक ले जाये जहां आंतरिक आध्यात्मिक प्रकाश पूरी तरह से प्रकट होना शुरू करता है। इस बिंदु पर धर्म को अपने-आपको अधीनस्थ बनाना सीखना चाहिये, वह अपने बाहरी स्वरूप पर आग्रह न करे बल्कि स्वयं आंतरिक आत्मा को अपना निजी सत्य और वास्तविकता विकसित करने का पूरा क्षेत्र दे। इस बीच उसे मनुष्य के मन, प्राण और शरीर को जितना हो सके अपने हाथ में लेना चाहिये और मनुष्य के सभी क्रिया-कलाप को आध्यात्मिक

दिशा, उनमें आध्यात्मिक अर्थ के अंतःप्रकाश, आध्यात्मिक सुरुचि की छाप, आध्यात्मिक चरित्र के आरंभ की ओर मोड़ना चाहिये। इस प्रयास में धर्म की भूल-भ्रांतियां आ जाती हैं क्योंकि वे उस वस्तु के स्वभाव के कारण आती हैं जिसके साथ वह व्यवहार करता है—वह निम्नतर पदार्थ के ठीक उन रूपों पर आक्रमण करता है जो आध्यात्मिक और मानसिक, प्राणिक या भौतिक चेतना के बीच मध्यस्थ होने के लिये बने हैं और बहुधा वह उन्हें घटाता है, पदच्युत और भ्रष्ट कर देता है। लेकिन धर्म का बड़े-से-बड़ा उपयोग भी इसी प्रयास में है जिसमें वह आत्मा और प्रकृति के बीच मध्यस्थ है। मानव-विकास में सत्य और भ्रांति सदा एक साथ रहते हैं और अपने साथ की भ्रांतियों के कारण सत्य को नहीं त्यागा जा सकता, यद्यपि इन्हें निकालना जरूरी है, यह बहुधा एक कठिन व्यापार होता है और अगर कच्चे ढंग से किया जाये तो धर्म के शरीर को परिणामस्वरूप शल्यहानि पहुंचाता है क्योंकि जिसे हम भूल-भ्रांति समझते हैं वह बहुधा किसी ऐसे सत्य का चिह्न, छद्मवेश, भ्रष्ट रूप या कुरचना होता है जो शल्यक्रिया की पाशविक उग्रता में खो जाता है। भूल-भ्रांति के साथ सत्य को भी काट दिया जाता है। स्वयं प्रकृति लंबे समयतक अच्छे अनाज के साथ-ही-साथ घास-पात और रुखड़ियों को बढ़ने देती है क्योंकि केवल इसी तरह उसकी अपनी वृद्धि और मुक्त विकास संभव है।

विकसनशील प्रकृति जब मनुष्य को पहले-पहल प्रारंभिक आध्यात्मिक चेतना के प्रति जगाती है तो उसे अपनी भौतिक सत्ता के चारों ओर से घेरे हुए अनंत और अदृश्य के अस्पष्ट भाव से, मानव मन और इच्छा की सीमितता और असमर्थता के भाव से आरंभ करती है कि मनुष्य से भी महत्तर कोई चीज जगत् में छिपी है, उसके कर्म के परिणामों को निर्धारित करनेवाली मंगलकारी या अनिष्टकारी शक्तियां हैं, एक ऐसी शक्ति है जो उस भौतिक जगत् के पीछे रहती है जिसमें वह निवास करता है, शायद इस शक्ति ने उसका और जगत् का निर्माण किया है, या ऐसी शक्तियां हैं जो प्रकृति की गतिविधियों को अनुप्राणित करती और उनपर शासन करती हैं और शायद वे स्वयं उस बृहत्तर अज्ञात द्वारा शासित होती हैं जो उनके परे है। उसे यह निश्चय करना था कि वे क्या हैं, और उनके साथ संपर्क के साधन ढूंढ़ने थे ताकि वह उन्हें खुश कर सके और अपनी सहायता के लिये बुला सके। उसने उन साधनों को खोजने की भी कोशिश की जिनके द्वारा वह प्रकृति की छिपी हुई गतियों के उत्सों को खोज सके और उनपर नियंत्रण कर सके। वह यह सब तुरंत अपनी तर्क-बुद्धि के द्वारा नहीं कर सकता था क्योंकि उसकी तर्क-बुद्धि पहले-पहल केवल भौतिक तथ्यों के साथ व्यवहार कर सकती थी परंतु यह अतिभौतिक का क्षेत्र था और इसके लिये अतिभौतिक दृष्टि और ज्ञान की जरूरत थी। यह उसे अंतर्भास और सहज वृत्ति की क्षमता के विस्तरण द्वारा करना था जो पहले से ही

पशु में मौजूद थी। यह क्षमता विचारशील सत्ता में विस्तृत और मानसभावापन्न होकर आदिम मनुष्यों में अधिक संवेदनशील और सक्रिय रही होगी, यद्यपि तब भी अधिकतर एक निचले स्तर पर ही रही होगी क्योंकि मनुष्य को अपने पहले आवश्यक अन्वेषणों में उसीपर अधिकतर निर्भर रहना पड़ा, उसे अपने अंतस्तलीय अनुभव का भी सहारा लेना पड़ा; क्योंकि उसने अपनी बुद्धि और इन्द्रियों पर पूरी तरह निर्भर रहना सीखा, उससे पहले अंतस्तलीय भी उसके ऊपर अधिक सक्रिय रहा होगा, उमड़ पड़ने के लिये ज्यादा तैयार रहा होगा, सतह पर अपने व्यापारों को रूपायित करने के लिये ज्यादा समर्थ हुआ होगा, प्रकृति के साथ संपर्क द्वारा उसने जो अंतर्भास प्राप्त किये, उन्हें उसके मन ने प्रणालीबद्ध किया और इस तरह धर्म के पहले रूप बने। अंतर्भास की इस सक्रिय और प्रस्तुत शक्ति ने भी उसे उन अतिभौतिक शक्तियों का संवेदन दिया जो भौतिक के पीछे रहती हैं और अपनी सहज वृत्ति और किसी अंतस्तलीय या अधिसामान्य अनुभूति से कि ऐसी अतिभौतिक सत्ताएं हैं जिनसे वह किसी तरह संपर्क कर सकता है, वह इस ज्ञान के क्रियात्मक उपयोग के प्रभावी और व्यवस्थित साधन के आविष्कार की ओर अभिमुख हुआ। इस तरह जादू और गुह्य-विद्या के अन्य प्रारंभिक रूपों की रचना हुई। किसी समय उसमें यह विचार उदित हुआ होगा कि उसमें कोई ऐसी चीज है जो भौतिक नहीं है, एक अंतरात्मा है जो शरीर के बाद भी बनी रहती है, कुछ अधिसामान्य अनुभूतियां हैं जो अदृश्य को जानने के दबाव के कारण सक्रिय हो गयीं, अपने अंदर की इस सत्ता के बारे में उसके पहले अधकचरे विचारों को रूप देने में उन्होंने सहायता की होगी। बाद में उसने अनुभव करना शुरू किया होगा कि वह जिसे विश्व की क्रिया में देखता है वह किसी रूप में उसके अंदर भी मौजूद है और उसके अंदर भी ऐसे तत्त्व हैं जो भले या बुरे के लिये अदृश्य सत्ताओं और शक्तियों को उत्तर देते हैं। और इस तरह से उसकी धार्मिक-नैतिक रचनाओं और आध्यात्मिक अनुभूतियों की संभावनाओं का आरंभ हुआ होगा। प्रारंभिक अंतर्भासों, गुह्य कर्मकांड, धार्मिक-सामाजिक आचार, रहस्यमय ज्ञान या अनुभूतियों का सम्मिश्रण जो पुराण कथाओं में प्रतीक रूप से मिलता है परंतु जिनके अर्थ का संरक्षण गुप्त दीक्षा या अनुशासन द्वारा किया जाता है, यही मानव धर्म की प्रारंभिक भूमिका है जो शुरू में बहुत छिछली और बाहरी रही है। शुरू में ये तत्त्व निःसंदेह अनगढ़, दीन और त्रुटिपूर्ण थे लेकिन उन्होंने गहराई और प्रसार प्राप्त करके कुछ संस्कृतियों में बढ़कर बहुत विस्तार और सार्थकता पायी।

लेकिन जैसे मानसिक और प्राणिक विकास बढ़ा—क्योंकि मनुष्य के अंदर प्रकृति की यही पहली तल्लीनता होती है, और जिन तत्त्वों को पूरी तरह बाद में हाथ में लिया जा सकता है उन्हें छोड़कर इस विकास को आगे धकेलने में संकोच नहीं करती—बौद्धीकरण की ओर प्रवृत्ति होती है और पहले आवश्यक

अंतर्भासात्मक, सहज-वृत्तिमूलक और अंतर्लीन रूपायन तर्कबुद्धि और मनोमय बुद्धि की बढ़ती हुई शक्ति के द्वारा खड़ी की गयी रचनाओं से अच्छादित हो जाते हैं। जैसे-जैसे मनुष्य भौतिक प्रकृति के रहस्यों और प्रक्रियाओं की खोज करता है वह पहले के रहस्यवाद और जादू-टोने के सहारे से अधिकाधिक दूर होता जाता है। ज्यों-ज्यों अधिकाधिक चीजों की व्याख्या प्राकृतिक क्रियाओं से, प्रकृति की यांत्रिक पद्धति से होती जाती है त्यों-त्यों देवताओं और अदृश्य शक्तियों की उपस्थिति और अनुभूत प्रभाव दूर होता जाता है। फिर भी वह अपने जीवन में आध्यात्मिक तत्त्व और आध्यात्मिक तथ्यों की आवश्यकता का अनुभव करता है, अतः कुछ समय के लिये दोनों क्रियाओं को साथ-साथ जारी रखता है। लेकिन धर्म के गुह्य अंश, यद्यपि उन्हें विश्वास के रूप में माना या सुरक्षित रखा जाता है, कर्मकांड और पौराणिक गाथाओं में दबे होने के कारण अपना महत्त्व खो बैठते और कम हो जाते हैं और बौद्धिक अंश बढ़ता है और अंत में जब और जहां बौद्धिक बनने की वृत्ति बहुत मजबूत हो जाती है वहां मत, परिपाटी, औपचारिक अनुष्ठान और नैतिकता को छोड़कर बाकी सबको काट फेंकने का आंदोलन होता है। आध्यात्मिक अनुभूति का तत्त्व भी घट जाता है और निर्भर रहने के लिये केवल श्रद्धा, भावुक आवेग और नैतिक आचरण को काफी मान लिया जाता है। धर्म, गुह्यवाद और रहस्यमय अनुभूति का प्रथम सम्मिश्रण टूट जाता है और एक प्रवृत्ति होती है जो किसी भी अर्थ में सार्वभौम या पूर्ण तो नहीं फिर भी स्पष्ट और दृश्य होती है कि इनमें से हर शक्ति, अपने ही लक्ष्य की ओर, अपने ही अलग और स्वतंत्र स्वभाव के अनुसार अपने मार्ग का अनुसरण करे। इस पर्व का अंतिम परिणाम होता है धर्म, गुह्यवाद और जो कुछ अतिभौतिक है उसका संपूर्ण नकार। यह हमारी प्रकृति के अधिक गहरे भागों के लिये शरणरूप रहनेवाली आश्रयदाता रचनाओं को टुकड़े-टुकड़े कर डालनेवाली छिछली बुद्धि का निर्मम और शुष्क आवेग होता है। फिर भी विकसनशील प्रकृति अपने अव्यक्त इरादों को कुछ लोगों के मनों में जीवित रखती है और मनुष्य के विशालतर मानसिक विकास का उपयोग उन्हें उच्चतर स्तर और गहनतर परिणामोंतक ले जाने के लिये करती है। वर्तमान काल में ही, विजयी बौद्धिकता और जड़वादी युग के बाद हम इस स्वाभाविक प्रक्रिया के चिह्न देखते हैं—आंतरिक आत्मान्वेषण की ओर, आंतरिक खोज और विचार की ओर लौटना, रहस्यमय अनुभूति की ओर एक नया प्रयास, आंतरिक पुरुष की टोह, आत्मा के सत्य और शक्ति के किसी भाव की ओर पुनर्जागरण अपने-आपको अभिव्यक्त करने लगता है, अपनी आत्मा और अंतरात्मा और वस्तुओं के गहनतर सत्य के लिये मनुष्य की खोज पुनर्जीवित होने लगती है और अपने खोये हुए बल को फिर से पाने और पुराने मतों को नया जीवन देने और मतवादी धर्मों से अलग, स्वतंत्र रूप से नये विश्वासों को विकसित करने की ओर

प्रवृत्त होती है। स्वयं बुद्धि भौतिक अन्वेषण की क्षमता की स्वाभाविक सीमाओंतक पहुंचकर, उसके सुदृढ़ आधारतक का स्पर्श करके और यह पता लगाकर कि यह प्रकृति की बाहरी प्रक्रिया को छोड़कर और किसी चीज की व्याख्या नहीं कर पाती, अस्थायी रूप से, रुक-रुककर गवेषणा की आंख को मन के और प्राणिक शक्तियों के गहरे रहस्यों और गुह्य के क्षेत्र की ओर मोड़ना शुरू कर रही है, जिसे उसने कारण-कार्य संबंध के अनुसार वर्जित कर दिया था, यह जानने के लिये कि उसमें कौन-सी चीज हो सकती है जो सच है। स्वयं धर्म ने भी बचे रहने की शक्ति दिखलायी है और अब विकसित हो रहा है लेकिन जिसका चरम अर्थ अभीतक अस्पष्ट है। मन की इस नयी अवस्था में, जिसे हम शुरू होते हुए देख रहे हैं, वह चाहे कितने भी अनगढ़ और हिचकिचाते रूप में क्यों न हो, प्रकृति में आध्यात्मिक विकास के किसी निर्णायक मोड़ और प्रगति की ओर दबाव की संभावना दिखलायी देती है। धर्म, जो प्रकृति की पहली अवबौद्धिक भूमिका में समृद्ध लेकिन कुछ धुंधला रूप लिये था, बुद्धि के अतिभार के नीचे, तर्क-संगति के स्पष्ट किंतु खाली अंतराल में जाने की ओर प्रवृत्त हुआ था। लेकिन अंत में उसे मानव मन की ऊर्ध्वमुखी गोलाई का अनुसरण करना होगा और उसके शिखरों पर अपने सच्चे या श्रेष्ठतम क्षेत्र की ओर अधिक पूरी तरह से उठना होगा जो तर्क-बुद्धि से परे की चेतना और ज्ञान के क्षेत्र में है।

अगर हम भूतकाल की ओर नजर डालें तो हम प्राकृतिक विकास की इस रेखा के प्रमाण पा सकते हैं यद्यपि अपनी प्रारंभिक अवस्थाओं में से अधिकतम अवस्थाएं प्रागितिहास के अलिखित पृष्ठों में छिपी पड़ी हैं। यह कहा गया है कि अपने आदिकाल में धर्म जीववाद, जड़पूजा, जादू-टोना, टोटमवाद, निषेध, पुराण-गाथा और अंधविश्वास के प्रतीकों की एक राशि के सिवा कुछ न था। वहां चिकित्सक पुरोहित होता था। यह आदिम मानव अज्ञान का फफूंद था—आगे चलकर अपने अच्छे-से-अच्छे रूप में यही चीज प्रकृति-पूजा बन गयी। आदिम मानस में ऐसा हो तो सकता था परंतु हमें इसके साथ यह परंतुक जोड़ देना चाहिये कि इनमें से बहुत सारे विश्वासों और क्रियाओं के पीछे कोई घटिया स्तर का परंतु बहुत प्रभावशाली प्रकार का सत्य रहा होगा जिसे हमने अपने श्रेष्ठतर विकास के साथ खो दिया है। आदिम मानव अपनी प्राणिक सत्ता के निचले और छोटे क्षेत्र में अधिक निवास करता है और गुह्य स्तर पर यह एक ऐसी अदृश्य प्रकृति के समरूप है जो समान-धर्मा होती है और जिसकी गुह्य शक्तियों को ऐसे ज्ञान और पद्धतियों द्वारा सक्रिय किया जा सकता है जिनके पास पहुंच का द्वार निम्नतर प्राणिक अंतर्भास और सहज वृत्तियां खोल सकती हैं। इसे धार्मिक विश्वास और क्रिया के प्रथम चरण के रूप में रूपायित किया जा सकता है जिसकी प्रकृति एवं रुचियां एक अनगढ़ और अपक्व रूप में गुह्य होंगी लेकिन यह स्थिति तबतक

आध्यात्मिक नहीं बनी होती : छोटी-छोटी प्राण-कामनाओं और अपरिमार्जित भौतिक कल्याण के लिये छोटी प्राण-शक्तियों और आदिभौतिक सत्ताओं को मदद के लिये बुलाना इसका मुख्य तत्त्व होगा।

लेकिन यह आदिम स्थिति—यदि वह सचमुच यही है और जैसी कि हमें अभीतक दिखायी देती है, कोई पतन या अवशेष, सभ्यता के किसी पिछले युग के उच्चतर ज्ञान से पुनः-पतन या किसी मृत या लुप्त संस्कृति के भ्रष्ट अवशेष नहीं—तो यह केवल आरंभ ही रही होगी। उसके बाद, चाहे जिन अवस्थाओं से होता हुआ अधिक उन्नत प्रकार का धर्म आया जिसका आलेख हमारे पास साहित्य या पहले की सभ्य जातियों के बचे हुए अभिलेखों में प्राप्त होता है। बहुदेवतावादी विश्वास और पूजा, एक सृष्टिशास्त्र, पुराणकथाओं, आचार-व्यवहार और अनुष्ठान और नैतिक कर्तव्यों की कभी-कभी सामाजिक व्यवस्था में गहराई से परस्पर गुंथी हुई एक जटिल प्रणाली से संरचित यह धर्म-प्रकार सामान्यतः एक राष्ट्रीय या कबीले का धर्म होता था जो विचार और जीवन के विकास की उस स्थिति की अंतरंग रूप से अभिव्यक्ति करता था जहांतक जाति पहुंच चुकी हो। बाहरी ढांचे में हम अब भी गहनतर आध्यात्मिक अर्थ को नहीं पाते लेकिन इसकी कमी को महत्तर, अधिक विकसित संस्कृतियों में गुह्य विद्या और क्रियाओं की मजबूत पृष्ठभूमि या फिर सावधानी से सुरक्षित रहस्यों के द्वारा पूरा किया जाता था जिनमें आध्यात्मिक प्रज्ञा और अनुशासन का पहला तत्त्व रहता था। गुह्यवाद बहुधा एक अतिरिक्त या अधिरचना के रूप में आता है लेकिन वह हमेशा उपस्थित नहीं रहता, दिव्य शक्तियों की पूजा, यज्ञ, सतही धर्मपरायणता और सामाजिक नीति-शास्त्र मुख्य अंग होते हैं। शुरू में आध्यात्मिक दर्शन या जीवन के अर्थ का विचार अनुपस्थित मालूम होता है लेकिन बहुधा उसका आरंभ पुराण-कथाओं और रहस्यों के अंदर रहता है और दो-एक उदाहरणों में इनमें से पूरी तरह उभर आता है और इस तरह एक सबल पृथक् अस्तित्व धारण कर लेता है।

निश्चय ही यह संभव है कि रहस्यवादी या प्रारंभी गुह्यवादी ही हर जगह धर्म का स्रष्टा था और उसने अपनी गुप्त गवेषणाएं विश्वास, पुराण-गाथा और कर्मकांड के रूप में जन-साधारण के मानस पर आरोपित कीं क्योंकि सदा व्यक्ति ही प्रकृति के अंतर्भास प्राप्त करता है और बाकी मानवजाति को अपने पीछे खींचते या घसीटते हुए आगे कदम रखता है। लेकिन अगर हम इस नूतन सृजन का श्रेय अवचेतन जन-मानस को दें तो भी उस मन के रहस्यवादी और गुह्यवादी तत्त्व ने उसका सृजन किया और उसने ऐसे व्यक्ति ढूंढ़ निकाले होंगे जिनमें से वह उभर सकता था क्योंकि व्यापक जन-अनुभव या खोज या अभिव्यक्ति प्रकृति का प्रथम उपाय नहीं है; किसी एक स्थान पर या कुछ स्थानों पर आग सुलगायी जाती है और फिर एक चूल्हे से दूसरे चूल्हेतक, एक वेदी से दूसरी वेदीतक फैलती है। लेकिन

रहस्यवादियों की आध्यात्मिक अभीप्सा और अनुभूति सामान्यतः गुप्त सूत्रों की मंजूषा में बंद रहती थी और कुछ ही दीक्षितों को मिलती थी। बाकी लोगोंतक उसे धार्मिक या परंपरागत प्रतीकों के समूह के रूप में पहुंचाया या सुरक्षित रखा जाता था। ये प्रतीक ही आदि मानवजाति के मन में धर्म का हृदय-मर्म होते थे।

इस दूसरी स्थिति में से एक तीसरी का उदय हुआ जिसने गुप्त आध्यात्मिक अनुभूति और ज्ञान को मुक्त करने और उन्हें सब लोगों को सत्य के एक ऐसे रूप में देना चाहा जो सबको आकर्षित कर सके और सभीके लिये सुलभ हो। एक ऐसी प्रवृत्ति ने जोर पकड़ा कि आध्यात्मिक तत्त्व को न केवल धर्म का सार-तत्त्व ही बनाया जाये बल्कि किसी बाहरी शिक्षा द्वारा उसे सभी पूजा करनेवालों के लिये सुलभ बना दिया जाये। जैसे हर रहस्यतंत्र की ज्ञान और साधना की अपनी-अपनी पद्धति थी, उसी तरह अब हर धर्म की अपनी ज्ञान-पद्धति, मत और आध्यात्मिक अनुशासन बने। यहां, आध्यात्मिक विकास के इन दो रूपों में—गुह्य और लोकप्रचलित, रहस्यवादी का मार्ग और धार्मिक मनुष्य का मार्ग—हम विकसनशील प्रकृति का दोहरा तत्त्व-विधान देखते हैं। एक है छोटे-से स्थान में तीव्र और केंद्रित विकास का विधान और दूसरा विस्तार और प्रसार का ताकि नयी सृष्टि जितना हो सके उतने बड़े क्षेत्र में व्यापक हो सके। पहली संकेंद्रित, गतिशील और प्रभाव की गति है, दूसरी फैलाव और स्थिरता की ओर प्रवृत्त होती है। इस नये विकास के परिणामस्वरूप आध्यात्मिक अभीप्सा, जो पहले कुछ लोगों द्वारा संचित रहती थी, वह मानवजाति में व्यापक बन गयी परंतु वह अपनी शुद्धि, उच्चता और तीव्रता खो बैठी। रहस्यवादियों ने अपने प्रयास को तर्क-बुद्धि के ज्ञान से ऊपर की उस शक्ति पर प्रतिष्ठित किया था जो अंतर्भासात्मक, अंतःप्रेरित और अंतःप्रकाशात्मक थी और अंतःपुरुष की उस सामर्थ्य पर जो गुह्य सत्य और अनुभूति में प्रवेश कर सकती है। लेकिन ये शक्तियां जन-साधारण के अधिकार में नहीं होतीं और होती भी हैं तो अनगढ़, अविकसित, खंडित प्राथमिक रूप में जिसपर किसी चीज को सुरक्षित रूप से आधारित नहीं किया जा सकता। अतः उनके लिये, इस नये विकास में आध्यात्मिक सत्य को मत और सिद्धांत के बौद्धिक रूपों, आराधना के भावुक रूपों, और सरल किंतु सार्थक कर्मकांड का परिधान पहनाना पड़ा। और साथ ही वह सबल आध्यात्मिक केंद्रक मिश्रित, हल्का और मिलावटवाला हो गया। मन, प्राण और शारीरिक प्रकृति के निचले तत्त्व उसपर आक्रमण करने और उसकी नकल करने लगे। अप्रामाणिक और बनावटी की यह मिलावट, खोट और आक्रमण, रहस्यों का यह दूषण, उनके सत्य और सार्थकता की हानि और अदृश्य शक्तियों के साथ मिलने-जुलने से आनेवाले गुह्य शक्तियों के दुरुपयोग से पहले के रहस्यवादी बहुत डरते थे और इनको रोकने के लिये वे गोपनीयता बनाये रखते थे, कठोर अनुशासन द्वारा रहस्य को केवल सुपात्र दीक्षितोंतक ही सीमित रखते थे।

विस्तार की गति का और अनुवर्ती आक्रमण का अशुभ परिणाम या संकट यह हुआ कि आध्यात्मिक ज्ञान को बौद्धिक आकार देकर उसके सिद्धांत-मत बनाये गये और जीती-जागती साधना को जड़ रूप देकर उपासना-पद्धति, धर्माचार और अनुष्ठान का मुर्दा पिंड बना दिया गया। इस यंत्रीकरण के कारण कालक्रम में धर्म के शरीर में से आत्मा का विदा लेना जरूरी हो गया। लेकिन यह खतरा मोल लेना जरूरी था क्योंकि विकसनशील प्रकृति में आध्यात्मिक प्रेरणा की अंतर्निहित आवश्यकता थी विस्तरणशील गति।

इस भांति उन धर्मों का जन्म हुआ जो मुख्य रूप से या सब मिलाकर किसी आध्यात्मिक परिणाम के लिये मतों और अनुष्ठानों पर निर्भर हैं फिर भी अपनी अनुभूति के सत्य के कारण टिके हैं, उस आधारभूत आंतरिक वास्तविकता के कारण जो उनके अंदर शुरू से मौजूद थी और तबतक बनी रहती है जबतक उसे जारी रखनेवाले या नया रूप देनेवाले मनुष्य बाकी रहें। यह उनके लिये साधन रूप है जिन्हें भगवान् को पाने के और आत्मा को मुक्त करने के आध्यात्मिक आवेग ने छू लिया है। यह विकास आगे चलकर दो प्रवृत्तियों के विभाजन की ओर ले गया है; कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट—उदारपंथी और नवविधानवादी। एक है धर्म के आदि नमनीय स्वभाव को, उसकी बहुमुखता और मानव-प्राणी की समस्त प्रकृति को आकर्षित करने के लिये किसी संरक्षण की वृत्ति और दूसरी इस उदारता की विच्छेदक है और विश्वास, पूजा और आचार-व्यवहार पर शुद्ध निर्भरता और उनका ऐसा सरलीकरण जो साधारण बुद्धि, हृदय और नैतिक इच्छा को तुरंत और आसानी से आकर्षित करे। इस मोड़ की प्रवृत्ति एक अत्यधिक तार्किकता के सृजन की ओर रही है, उन गुह्य तत्त्वों में से अधिकांश का अपयश और तिरस्कार करने की रही है जो जो कुछ अदृश्य है उसके साथ संपर्क स्थापित करना चाहते हैं, बहिस्तलीय मन को आध्यात्मिक प्रयास का पर्याप्त वाहन मानकर उसपर निर्भर करने के उद्भव में सहायक रही है, आध्यात्मिक जीवन में एक विशेष शुष्कता, संकीर्णता और अल्पता प्रायः ही इसके परिणाम रहे हैं। और फिर जब बुद्धि ने इतने सारे को नकार दिया है, इतने को निकाल बाहर किया है तो उसे इस बात के लिये काफी अवसर और अवकाश मिल गया कि वह औरों को भी अस्वीकार कर दे, यहांतक कि आध्यात्मिक अनुभूति को भी अस्वीकार कर दे और आध्यात्मिकता तथा धर्म को निकाल बाहर करे और केवल स्वयं बुद्धि को बची हुई एकमात्र शक्ति के रूप में छोड़ दे। लेकिन आत्मा के बिना बुद्धि केवल बाह्य ज्ञान, उपादान और क्षमता के ढेर लगा सकती है और अंत में प्राण-शक्ति के गुप्त स्रोत सूख जाते हैं और क्षय शुरू हो जाता है, उस समय कोई ऐसी आंतरिक शक्ति भी नहीं रहती जो जीवन की रक्षा या नये जीवन की सृष्टि कर सके। तब मृत्यु और विघटन और पुराने अज्ञान में से एक नये आरंभ के सिवा कोई राह नहीं रहती।

विकसनशील तत्त्व के लिये यह संभव था कि वह संकेंद्रण के तत्त्व और प्रसारण के तत्त्व के श्रेष्ठतर समन्वय की ओर अधिक प्रज्ञ प्राचीन सामंजस्य को भंग करके नहीं बल्कि उसके प्रसार द्वारा बढ़ता हुआ गति की अपनी आदि-पूर्णता को बनाये रखता। हमने देखा है कि भारत में विकास का मौलिक अंतर्भास और विकसनशील प्रकृति की समग्र गति का आग्रह बना रहा है, क्योंकि भारत में धर्म ने अपने-आपको किसी एक मत या सिद्धांततक सीमित नहीं रखा। उसने विभिन्न प्रकार के निरूपणों को विपुल संख्या में प्रवेश ही नहीं दिया बल्कि सफलता के साथ अपने अंदर उन सभी तत्त्वों को समा लिया जो धर्म के विकास की प्रक्रिया में उग आये थे और उसने किसीपर पाबंदी लगाने या किसीको काट फेंकने से इंकार किया। उसने गुह्यवाद को उसकी चरम सीमातक विकसित किया, सब प्रकार के आध्यात्मिक दर्शनों को स्वीकार किया, आध्यात्मिक उपलब्धि, आध्यात्मिक अनुभूति, आध्यात्मिक आत्मनियंत्रण की हर संभव रेखा का उसके गभीरतम, उच्चतम और विशालतम परिणामतक अनुसरण किया। उसकी पद्धति क्रमविकास की प्रकृति की ही पद्धति रही है, उसने सभी विकासों, आधार के विभिन्न अंगों के साथ संपर्क और उनपर क्रिया करने के आत्मा के सभी साधनों को, मनुष्य और परम पुरुष या भगवान् के बीच सायुज्य के सभी मार्गों को स्वीकृति दी है। लक्ष्य की ओर बढ़ने के हर संभव मार्ग का अनुसरण और चरम सीमातक में उसका परीक्षण करने की स्वीकृति दी है। मनुष्य के अंदर आध्यात्मिक विकास की सभी भूमिकाएं हैं और हर एक को अध्यात्म पुरुषतक पहुंचने के लिये छूट मिलनी होगी और साधन जुटाने होंगे, ऐसे मार्ग के जो उसकी क्षमता या अधिकार के अनुकूल हो। यहांतक कि जो आदिम रूप बचे हुए थे उनपर भी प्रतिबंध नहीं लगाया गया बल्कि उन्हें ज्यादा गहरे अर्थतक ऊपर उठाया गया। फिर सूक्ष्मतम चरम आकाश में उच्चतम आध्यात्मिक शिखरों की ओर बढ़ने के लिये दबाव बना रहा। यहांतक कि धर्म के ऐकांतिक मतवादी रूपतक का बहिष्कार नहीं किया गया बशर्ते कि उसका सामान्य लक्ष्य और सिद्धांत के साथ मेल स्पष्ट हो, तब उसे सर्व-सामान्य व्यवस्था की अनंत विविधता में प्रवेश दिया जाता था। लेकिन इस नमनीयता ने एक बंधे हुए धार्मिक-नैतिक तंत्र पर अपना सहारा लेना चाहा जिसमें उसने मानव-प्रकृति के क्रमिक संपादन के सिद्धांत को व्याप्त कर दिया जो अपने ऊंचे-से-ऊंचे बिंदु पर आध्यात्मिक चरम उद्यम की ओर मुड़ा हुआ था। यह सामाजिक दृढ़ता जो शायद एक समय, आध्यात्मिक स्वाधीनता के निश्चित और व्यवस्थित आधार के रूप में न सही पर जीवन की एकता के लिये जरूरी थी, एक ओर संरक्षण के लिये शक्ति रही है पर साथ ही समस्त उदारता के सहजात अंतर्भाव के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा, अत्यधिक सुदृढ़ रूप धारण करने का और प्रतिबंध का तत्त्व भी रही है। एक सुनिश्चित आधार अनिवार्य हो सकता है लेकिन अगर वह सारतत्त्व में निश्चित

हो गया है तो इसे भी अपने रूपों में नमनीयता के विकसनशील परिवर्तन के योग्य होना चाहिये। उसे व्यवस्था तो होना चाहिये परंतु बढ़ती हुई व्यवस्था।

फिर भी इस महान् और बहुमुखी धार्मिक और आध्यात्मिक विकास का सिद्धांत निर्दोष था और समस्त जीवन और मानव प्रकृति को अपने अंदर समोकर, बुद्धि के विकास को प्रोत्साहित करके, कभी उसका विरोध न करके या उसकी स्वाधीनता में रोड़े अटकाये बिना, बल्कि उसे आध्यात्मिक जिज्ञासा की सहायता के लिये बुलाकर, उसने संघर्ष या उसके अनुचित प्रभुत्व को रोका जिसके परिणाम-स्वरूप पश्चिम में धार्मिक सहज वृत्ति प्रतिबंधित हो गयी और सूख गयी और उसने जड़वाद और अधार्मिकता में डुबकी लगायी। नमनीय और सार्वभौम प्रकार की इस पद्धति ने सभी मतों और रूपों को स्वीकार किया लेकिन सबका अतिक्रमण भी किया और हर प्रकार के तत्त्व को अनुमति दी, इसके ऐसे बहुत से परिणाम हो सकते हैं जिनके बारे में विशुद्धिवादी आपत्ति करे लेकिन उसका औचित्य ठहरानेवाला बड़ा परिणाम रहा है आध्यात्मिक प्राप्ति, प्रयास और खोज की अनुपम प्रचुर समृद्धि और सहस्राब्दियों से भी अधिक स्थायित्व, अभेद्य टिकाऊपन, व्यापकता, सार्वभौमता, उच्चता, सूक्ष्मता और बहुमुखी विस्तार। वस्तुतः केवल ऐसी उदारता और नमनीयता के द्वारा ही विकास का अधिक विस्तृत लक्ष्य कुछ पूर्णता के साथ अपने-आपको कार्यान्वित कर सकता है। व्यक्ति धर्म से आध्यात्मिक अनुभूति की ओर उद्घाटन के द्वार या उसकी ओर मुड़ने के साधन, भगवान् के साथ सायुज्य या मार्ग पर पथ-प्रदर्शन के निश्चित प्रकाश, परलोक के लिये आश्वासन या अधिक सुखी अतिपार्थिव भविष्य के साधन की मांग करता है। ये आवश्यकताएं मतवादी विश्वास और सांप्रदायिक भक्ति-पूजा के संकीर्णतर आधार पर पूरी की जा सकती हैं। लेकिन प्रकृति का एक अधिक विस्तृत उद्देश्य है मनुष्य के अंदर आध्यात्मिक विकास को तैयार करना और आगे बढ़ाना और उसे एक आध्यात्मिक सत्ता में बदलना। धर्म मनुष्य के प्रयास और उसके आदर्श को वह दिशा दिखाने के लिये प्रकृति का साधन-रूप है और जो लोग तैयार हैं उनमें से प्रत्येक को उसकी ओर ले जानेवाले रास्ते की ओर कदम उठाने की संभावना प्रदान करता है। इस उद्देश्य को प्रकृति अपने द्वारा बनाये गये अनेकानेक प्रकार के मत-मतांतर द्वारा सिद्ध करती है, कुछ अंतिम, मानवीकृत और निश्चायक, अन्य अधिक नमनीय, विभिन्न और बहुमुखी होते हैं। जो धर्म अपने-आप धर्मों का समूह हो और साथ-ही-साथ हर व्यक्ति को आंतरिक अनुभव का अपना मोड़ देता हो वही प्रकृति के उद्देश्य के साथ सबसे अधिक सामंजस्य रखता होगा। वह आध्यात्मिक विकास और पुष्पण के लिये एक समृद्ध नर्सरी (संवर्धन-गृह), अंतरात्मा के अनुशासन, प्रयास और आत्म-सिद्धि के लिये विशाल और बहुरूप विद्यालय होगा। धर्म ने चाहे जो भूलें की हों, यही उसका मुख्य कार्य, उसकी महान् और

अनिवार्य उपयोगिता और सेवा है—मन के अज्ञान में से अध्यात्म सत्ता की पूर्ण चेतना और आत्म-ज्ञान की ओर हमारी यात्रा में पथ-प्रदर्शन का बढ़ता हुआ प्रकाश दिखलाना।

अपने सारतत्त्व में गुह्यवाद है मनुष्य का प्रकृति के गुप्त सत्यों के ज्ञान और शक्यताओंतक पहुंचने का प्रयास जो उसे अपनी सत्ता की भौतिक सीमाओं की दासता से ऊपर उठा लेगा। यह विशेषकर प्राण पर मन की और जड़ पर मन तथा प्राण दोनों की रहस्यभरी, गुह्य, बाहरी रूप से अभीतक अविकसित प्रत्यक्ष शक्ति को अधिकार में करने और संगठित करने का प्रयास है। साथ ही अतिभौतिक ऊंचाइयों, गहराइयों और वैश्व सत्ता के मध्यवर्ती स्तरों, जगतों और सत्ताओं के साथ संपर्क स्थापित करने का प्रयास है और इस सायुज्य का उपयोग है एक उच्चतर सत्य पर अधिकार पाने और प्रकृति की शक्तियों और सामर्थ्यों पर अपने-आपको प्रभुसत्तासंपन्न बनाने की इच्छा में सहायता करना। यह मानव अभीप्सा इस विश्वास, अंतर्भास या सूचना पर आधार रखती है कि हम केवल मिट्टी की रचनाएं न होकर आत्मा, मन, इच्छा हैं, हम इस और हर एक जगत् के समस्त रहस्यों को जान सकते हैं और प्रकृति के केवल शिष्य ही नहीं, विशेषज्ञ और स्वामी भी हो सकते हैं। गुह्यवादी ने भौतिक चीजों के रहस्य भी जानने की कोशिश की और इस प्रयास में ज्योतिष को आगे बढ़ाया, रसायन शास्त्र की रचना की, अन्य विज्ञानों को आवेग दिया क्योंकि उसने रेखागणित का भी उपयोग किया और अंक-शास्त्र का भी, लेकिन इस सबसे बढ़कर उसने अतिप्राकृतिक रहस्यों को जानना चाहा। इस अर्थ में गुह्यवाद को अतिप्राकृतिक का विज्ञान कहा जा सकता है; लेकिन वस्तुतः यह केवल अतिभौतिक की खोज, जड़ भौतिक सीमा का अतिक्रमण है—गुह्यवाद का मर्म वह असंभव ख-पुष्प नहीं है जो प्रकृति की समस्त शक्ति के परे या बाहर जाने की आशा करता है और शुद्ध कल्पना तथा मनमाने चमत्कारों को सर्वशक्तिमान् रूप से प्रभावी बनाना चाहता है। जो हमें अतिप्राकृतिक प्रतीत होता है वह वस्तुतः या तो अन्य-प्रकृति के भौतिक प्रकृति पर सहज धावे का मामला है या, गुह्यवादी के कार्य में वैश्व सत्ता और ऊर्जा की उच्चतर व्यवस्थाओं या श्रेणियों के ज्ञान और बल को अधिकार में करना और उनकी शक्तियों तथा प्रक्रियाओं को आपसी संबंध की संभावनाओं और भौतिक प्रभाव के साधन को पाकर, भौतिक जगत् में प्रभाव पैदा करने की ओर भेजना है। मन और प्राण-शक्ति की ऐसी शक्तियां हैं जिन्हें प्रकृति द्वारा जड़-पदार्थ में मन और प्राण की वर्तमान क्रमबद्धता में नहीं लिया गया है पर वे हैं संभाव्य और जिन्हें भौतिक वस्तुओं और घटनाओं पर प्रभाव डालने के लिये लाया जा सकता है या वर्तमान व्यवस्था में लाकर जोड़ा भी जा सकता है ताकि हमारे अपने प्राण और शरीर पर मन का अधिकार बढ़ाया जा सके, या औरों के मन, प्राण और शरीरों पर या वैश्व शक्तियों की गतिविधि पर

कार्य करने की क्षमता को बढ़ाया जा सके। सम्मोहन की आधुनिक मान्यता इस तरह के अन्वेषण और व्यवस्थित उपयोग का उदाहरण है—यद्यपि वह अभीतक संकीर्ण और सीमित है, अपनी विधि और नियमों से सीमित है—ऐसी गुह्य शक्तियों का उदाहरण है जो अन्यथा हमें किसी संयोगवश या गुप्त क्रिया द्वारा ही स्पर्श करती हैं, जिसकी प्रक्रिया हमारे लिये अज्ञात है या जो अधकचरे रूप में कुछ लोगों की पकड़ में आयी है क्योंकि हम सारे समय सुझावों के, विचार के सुझावों के, आवेगमय सुझावों के, इच्छा, भाव और संवेदन के सुझावों के, विचार-लहरियों और प्राण-लहरियों के प्रहार सहते रहते हैं जो हमारे ऊपर या हमारे अंदर औरों से या वैश्व ऊर्जा से आते रहते हैं लेकिन हमारे जाने बिना ही हमपर क्रिया करते और अपने प्रभाव डालते रहते हैं। इन गतिविधियों, उनके नियमों और संभावनाओं को जानने का, उनके पीछे स्थित शक्ति या प्रकृति-शक्ति का उपयोग करने और उसपर अधिकार कर लेने या उनसे अपनी रक्षा करने का सुव्यवस्थित प्रयास गुह्यवाद के प्रदेश में ले जाता है लेकिन यह उस प्रदेश का भी एक छोटा-सा भाग होगा क्योंकि ज्ञान के इस विशाल क्षेत्र के, जिसका अन्वेषण बहुत ही कम हुआ है, संभव विस्तार, उपयोग और प्रक्रिया विस्तृत और विविध हैं।

आधुनिक काल में जब भौतिक विज्ञान ने अपने अन्वेषण बढ़ाये और प्रकृति की गुप्त जड़ शक्तियों को मानव ज्ञान द्वारा शासित क्रिया में मानव उपयोग के लिये लगा दिया तो गुह्यवाद पीछे हट गया और अंत में उसे इस आधार पर अलग कर दिया गया कि केवल भौतिक ही यथार्थ है और मन तथा प्राण जड़ की विभागीय क्रियाएं हैं। इस आधार पर जड़ भौतिक ऊर्जा को सभी चीजों की चाबी मानते हुए विज्ञान ने जड़ यंत्र-विन्यास और हमारे सामान्य और असामान्य मन और प्राण के क्रिया-कलापों और व्यापारों की प्रक्रिया के ज्ञान द्वारा मन और प्राण की प्रक्रिया पर नियंत्रण की ओर गति करने की कोशिश की है, इसमें आध्यात्मिक को मानसिकता का एक रूप मानकर उसकी अवहेलना की गयी है। प्रसंगवश यह भी कहा जा सकता है कि अगर यह प्रयास सफल हो जाये तो यह मानवजाति के अस्तित्व के लिये संकट से खाली नहीं होगा। जैसा कि अब भी कुछ अन्य वैज्ञानिक अन्वेषण हैं जिनका दुरुपयोग या भद्दा उपयोग इतनी बड़ी और संकटाकीर्ण शक्तियों के उपयोग के लिये मानसिक और नैतिक रूप से अप्रस्तुत मानवजाति करती है; क्योंकि यह एक कृत्रिम नियंत्रण होगा जिसका उपयोग हमारे जीवन को आधार और सहारा देनेवाली गुप्त शक्तियों के ज्ञान के बिना किया जायेगा। पश्चिम में गुह्यवाद को इस तरह आसानी से धकेला जा सका क्योंकि वह कभी प्रौढ़तातक पहुंच ही नहीं पाया, उसने कभी परिपक्वता और दार्शनिक या ठोस व्यवस्थित आधार नहीं पाया। उसने मुक्त रूप से अतिप्राकृतिक के रोमांस का उपभोग किया या अपने मुख्य प्रयास को अधि-सामान्य शक्तियों के उपयोग के लिये सूत्रों और

प्रभावी विधियों की खोज पर ही एकाग्र करने की भूल की। वह च्युत होकर सफेद या काले जादू या गुह्य रहस्यवाद का रुमानी या ऐन्द्रजालिक साज-सामान हो गया और अंततः जो एक सीमित तथा अल्प ज्ञान ही था उसका एक अतिरंजित रूप हो गया। इन प्रवृत्तियों और इस मानसिक आधार की असुरक्षा ने उसकी रक्षा करना कठिन और उसे बदनाम करना आसान बना दिया। यह सरल और भेद्य लक्ष्य बन गया। मिस्र और पूर्व में यह ज्ञान-धारा महत्तर और अधिक व्यापक प्रयासतक पहुंच गयी। यह अधिक प्रभूत परिपक्वता अब भी तंत्र के विलक्षण विधान में अक्षुण्ण देखी जा सकती है। वह केवल अधिसामान्य का बहुमुखी विज्ञान ही नहीं था बल्कि उसने धर्म के सभी गुह्य तत्त्वों को आधार दिया और आध्यात्मिक अनुशासन और आत्म-सिद्धि की एक महान् और शक्तिशाली प्रणाली भी विकसित की। क्योंकि उच्चतम गुह्यविद्या वह है जो मन, प्राण और आत्मा की गुप्त गतिविधियों और गतिशील अधिसामान्य क्षमताओं को खोजती और उनकी सहज शक्ति में या क्रियात्मक प्रक्रिया में हमारे मानसिक, प्राणिक और आध्यात्मिक सत्ता की अधिक प्रभावशालिता के लिये उन्हें काम में लाती है।

प्रचलित विचार में गुह्यवाद जादू और जादुई सूत्रों और अतिप्राकृतिक की मानी हुई क्रियाविधि के साथ मिला हुआ है। लेकिन यह केवल एक पहलू है। यह पूरी तरह अंध-विश्वास भी नहीं है जैसा कि वे लोग दर्प के साथ कहते हैं जिन्होंने गुह्य प्रकृति-शक्ति के इस प्रच्छन्न रूप को गहराई से नहीं देखा या देखा ही नहीं या उसकी संभावनाओं को नहीं परखा। सूत्र और उनका उपयोग, प्रच्छन्न शक्तियों का यंत्रीकरण आश्चर्यजनक रूप से मानसिक शक्ति और प्राण-शक्ति के उपयोग में प्रभावकारी हो सकता है, ठीक वैसे ही जैसे भौतिक विज्ञान में होता है; लेकिन यह केवल एक गौण विधि और सीमित दिशा है। क्योंकि, मन और प्राण की शक्तियां अपनी क्रिया में अधिक नमनीय, सूक्ष्म और परिवर्तनशील होती हैं, उनमें जड़ भौतिक कठोरता नहीं होती; उनके ज्ञान में, उनके कार्य तथा प्रक्रिया की व्याख्या में और उनके प्रयोग में—यहांतक कि उनके प्रतिष्ठित सूत्रों को समझने और उनकी क्रियाओं में भी, सूक्ष्म और नमनीय अंतर्भास की जरूरत होती है। यंत्रीकरण पर बहुत ज्यादा जोर और कठोर सूत्रीकरण का परिणाम संभवतः यह हो कि ज्ञान वंध्या हो जाये या सूत्रों में सीमित रह जाये और व्यावहारिक दिशा में बहुत अधिक भूल-भ्रांति, अज्ञानभरी रूढ़ि, दुरुपयोग और असफलता हो। अब जब कि हम जड़ के एकमात्र सत्य होने के अंधविश्वास में से बाहर निकल रहे हैं तो प्राचीन गुह्यविद्या की ओर और नये निरूपणों की ओर लौटना, साथ ही मन के अभीतक छिपे हुए रहस्यों और शक्तियों का वैज्ञानिक अध्ययन और चैत्य असामान्य या अधिसामान्य अतीन्द्रिय व्यापारों के निकटस्थ अध्ययन की ओर लौटना संभव है और किन्हीं अंशों में अभी से दिखायी दे रहा है। लेकिन अगर उसे अपनी पूर्णता प्राप्त करनी

है तो इस जांच की रेखा के सच्चे आधार, सच्चे लक्ष्य और दिशा, आवश्यक प्रतिबंधों और सावधानियों को फिर से खोजना होगा। उसका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य होना चाहिये मानसिक शक्ति, प्राण-शक्ति के छिपे हुए सत्यों और सामर्थ्यों का और छिपी हुई आत्मा की महत्तर शक्तियों का अन्वेषण। तत्त्वतः गुह्य विज्ञान अंतस्तल का विज्ञान है, हमारे अंदर का अंतस्तल, और जगत्-प्रकृति का अंतस्तल, और उस सबका जिसका संबंध अंतस्तल के साथ है, जिसमें अवचेतन और अतिचेतन भी आ गये—और उसका आत्मज्ञान और जगत्-ज्ञान के रूप में उपयोग और उस ज्ञान की उचित क्रियात्मकता।

मानव सत्ता में प्रकृति की इस गति में अनिवार्य रूप से सहायक है उच्चतम ज्ञान की ओर बौद्धिक उपगमन, मन के द्वारा उसपर अधिकार। सामान्यतः हमारी सतह पर मनुष्य के विचार और क्रिया का मुख्य उपकरण है तर्क-बुद्धि, अवलोकन करने, समझने और व्यवस्थित करनेवाली बुद्धि। आत्मा की किसी समग्र प्रगति या विकास में न केवल अंतर्भास, अंतर्दृष्टि, आंतरिक बोध, हृदय की भक्ति, आत्मा की वस्तुओं का गहरा और प्रत्यक्ष जीवन-अनुभव विकसित करना होता है बल्कि बुद्धि को भी आलोकित और संतुष्ट करना होता है; हमारे चिंतनशील और मननशील मन की सहायता करनी चाहिये कि वह समझ सके, इस उच्चतम विकास के लक्ष्य, पद्धति और तत्त्वों के बारे में और अपनी प्रकृति के क्रिया-कलाप के और उसके पीछे जो कुछ है उसके सत्य के बारे में सुविवेचित और प्रणालीबद्ध विचार बना सके। वस्तुतः इस विकास के उचित साधन हैं आध्यात्मिक उपलब्धि और अनुभूति, अंतर्भासात्मक और प्रत्यक्ष ज्ञान, आंतरिक चेतना की वृद्धि, अंतरात्मा और अंतरंग आंतरात्मिक प्रत्यक्ष-दर्शन, आंतरात्मिक दृष्टि और आंतरात्मिक बोध का विकास लेकिन मननधर्मी और आलोचक बुद्धि का सहारा भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। अगर बहुत-से उसे छोड़ सकते हैं तो इसलिये कि उनका आंतरिक वास्तविकताओं के साथ स्पष्ट और प्रत्यक्ष संपर्क है और वे अनुभव तथा अंतर्दृष्टि से संतुष्ट हैं, फिर भी संपूर्ण गति में वह अनिवार्य है। अगर परम सत्य आध्यात्मिक सद्वस्तु है तो मनुष्य की बुद्धि को यह जानने की जरूरत होती है कि उस आद्य सत्य का स्वभाव क्या है और बाकी अस्तित्व के साथ, हमारे साथ, विश्व के साथ उसके संबंधों का सिद्धांत क्या है। अकेली बुद्धि में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह हमें ठोस आध्यात्मिक सद्वस्तु के स्पर्श में ला सके लेकिन वह आध्यात्म तत्त्व के सत्य के मानसिक निरूपण में सहायता दे सकती है; वह मानसिक निरूपण मन के आगे उसकी व्याख्या कर सकता है और अधिक प्रत्यक्ष खोज में भी उसका उपयोग हो सकता है। यह सहायता अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

हमारा विचारशील मन मुख्य रूप से सामान्य आध्यात्मिक सत्य के कथन से, उसकी निरपेक्ष की युक्ति और उसकी सापेक्षताओं की युक्ति से संबंध रखता है, वे

आपस में कैसा संबंध रखते हैं या कैसे एक-दूसरे की ओर ले जाते हैं और अस्तित्व के आध्यात्मिक सिद्धांत-सूत्र के मानसिक परिणाम क्या हैं, इनसे संबंध रखता है। लेकिन इस समझ और बौद्धिक कथन के अतिरिक्त, जो बुद्धि का मुख्य अधिकार और भाग है, उसपर बुद्धि एक आलोचनात्मक नियंत्रण रखना चाहती है। वह आनंदमय या अन्य ठोस आध्यात्मिक अनुभवों को स्वीकार कर सकती है लेकिन वह यह जानने की मांग करती है कि वे सत्ता के किन निश्चित और सुव्यवस्थित सत्यों पर आधारित हैं। वस्तुतः ऐसे ज्ञात और प्रमाण्य सत्य के बिना हमारी बुद्धि को ये अनुभव असुरक्षित और समझ में न आनेवाले लग सकते हैं। वह उनसे यह सोचकर पीछे हट सकती है कि संभवतः वे सत्य पर आधारित नहीं हैं या वह उनके आधार पर न सही रूप पर यह सोचकर अविश्वास कर सकती है कि वे भूल-भरे हैं, यहांतक कि कल्पनाशील प्राणिक मन, भावों, स्नायुओं या इन्द्रियों के विपथगमन से प्रभावित हैं। क्योंकि उनके भौतिक और गोचर से अदृश्य की ओर यात्रा-पथ या स्थानांतरण में इस भ्रांति की संभावना रहती है कि वे धोखा देनेवाले प्रकाश के पीछे चलें या कम-से-कम ऐसी चीजों का भ्रांतिपूर्ण ग्रहण करें जो अपने-आपमें तो प्रामाणिक हैं लेकिन जो कुछ अनुभव हुआ है उसकी गलत या अपूर्ण व्याख्या या सच्चे आध्यात्मिक मूल्यों के विषय में भ्रम और अव्यवस्था के कारण विकृत हो गयी हैं। अगर बुद्धि अपने-आपको गुह्यविद्या की क्रियाशीलता को मानने के लिये विवश पाती है तो वहां भी वह उन शक्तियों के सत्य, उचित पद्धति और वास्तविक अर्थ को देखने की सबसे अधिक कोशिश करेगी जिन्हें वह क्रीड़ा में लाये जाते हुए देखती है। उसे देखना होगा कि क्या उसका वही अर्थ है जो गुह्यवादी उसे देता है या कुछ और; शायद अधिक गहरा अर्थ है जिसका अपने तात्त्विक संबंधों और मूल्यों में गलत अर्थ लगाया गया है या जिसे समूचे अनुभव में अपना सच्चा स्थान नहीं दिया गया है। क्योंकि हमारी बुद्धि का काम है पहले तो समझना, दूसरे आलोचना करना और अंत में व्यवस्था करना, नियंत्रण करना और रूप देना।

जिस साधन के द्वारा यह आवश्यकता पूरी हो सकती है और जो हमारी मानसिक प्रकृति ने हमें दी है वह है दर्शन, और इस क्षेत्र में उसे आध्यात्मिक दर्शन होना चाहिये। पूर्व में ऐसी बहुत-सी पद्धतियां उठ खड़ी हुई हैं; क्योंकि प्रायः हमेशा जहां कहीं कोई विशेष आध्यात्मिक विकास हुआ है, वहीं उसे बुद्धि के आगे न्यायोचित ठहराने के लिये उसमें से एक दर्शन उठ खड़ा हुआ है। शुरू में अंतर्भासात्मक दृष्टि और अंतर्भासात्मक अभिव्यक्ति की विधि थी जैसी उपनिषदों के अथाह विचार और गभीर भाषा में थी, लेकिन बाद में एक आलोचनात्मक विधि विकसित हुई—एक दृढ़ तार्किक प्रणाली और तर्कसम्मत व्यवस्था। बाद के दर्शन आंतरिक उपलब्धि से प्राप्त वस्तु के बौद्धिक विवरण[1] या तार्किक औचित्य थे या

[1] उदाहरण के लिये गीता।

उन्होंने अपने-आप उपलब्धि और अनुभूति के लिये मानसिक आधार और सुव्यवस्थित उपाय[1] जुटाए। पश्चिम में, जहां चेतना की समन्वयात्मक वृत्ति का स्थान आलोचनात्मक और पृथक् करनेवाली वृत्ति ने ले लिया, आध्यात्मिक प्रेरणा और बौद्धिक तर्कणा ने लगभग शुरू में ही एक-दूसरे का संग छोड़ दिया। दर्शन ने शुरू से ही शुद्ध रूप से चीजों की बौद्धिक और तर्कात्मक व्याख्या की ओर मोड़ लिया। फिर भी पाइथागोरियन, स्टोइक और एपीक्यूरियन के जैसी प्रणालियां थीं जो केवल विचार के लिये नहीं बल्कि जीवन-संचालन के लिये भी सक्रिय थीं और उन्होंने सत्ता की आंतरिक पूर्णता के लिये एक अनुशासन, एक प्रयास का विकास किया। यह बाद के ईसाई या नव पैगन विचार-रचनाओं में ज्ञान के उच्चतर आध्यात्मिक स्तर पर जा पहुंचा जहां पूर्व और पश्चिम एक साथ मिल गये। लेकिन बाद में बौद्धीकरण पूर्ण हो गया और दर्शन का जीवन और उसकी ऊर्जाओं या आत्मा और उसकी सक्रियता के साथ संबंध या तो कट गया या उस छोटे-से भाग के साथ रह गया जिसे तत्त्व-विचार जीवन और कर्म पर अमूर्त तथा गौण प्रभाव से अंकित कर सकता है। पश्चिम में धर्म ने दर्शन का नहीं, सांप्रदायिक मतवाद का सहारा लिया है। कभी-कभी व्यक्तिगत प्रतिभा के जोर से आध्यात्मिक दर्शन उभर आता है लेकिन यह पूर्व की तरह आध्यात्मिक अनुभव और प्रयत्न की हर महत्त्वपूर्ण रेखा का आवश्यक अनुसंगी नहीं बना। यह सच है कि आध्यात्मिक विचार का दार्शनिक विकास पूरी तरह से अनिवार्य नहीं है क्योंकि आत्मा के सत्योंतक ज्यादा प्रत्यक्ष और पूर्ण रूप से अंतर्भास और ठोस आंतरिक संपर्क द्वारा पहुंचा जा सकता है। यह कहना भी जरूरी है कि आध्यात्मिक अनुभूति पर बुद्धि का आलोचनात्मक नियंत्रण बाधक और अविश्वसनीय हो सकता है क्योंकि यह एक निम्नतर प्रकाश है जो उच्चतर ज्योति के क्षेत्र पर मुड़ा हुआ है। सच्ची नियंत्रक शक्ति तो है आंतरिक विवेक, चैत्य बोध और कौशल, ऊपर से पथ-प्रदर्शन का श्रेष्ठतर हस्तक्षेप या फिर सहज प्रकाशमय आंतरिक पथ-प्रदर्शन। लेकिन फिर भी विकास की यह रेखा भी जरूरी है क्योंकि तर्क-बुद्धि और आत्मा के बीच एक पुल होना चाहिये : आध्यात्मिक या कम-से-कम आध्यात्म-भावापन्न बुद्धि का प्रकाश हमारे समग्र आंतरिक विकास की पूर्णता के लिये जरूरी है और उसके बिना, यदि एक और ज्यादा गहरे मार्ग-दर्शन का अभाव हो तो आंतरिक गति सनकी और अनियंत्रित, गदली और अनाध्यात्मिक तत्त्वों से मिली या एकांगी और अपनी व्यापक उदारता में अपूर्ण हो सकती है। अज्ञान के संपूर्ण ज्ञान में परिवर्तन के लिये हमारे अंदर आध्यात्मिक समझ की वृद्धि—जो उच्चतर प्रकाश को लेने और हमारी प्रकृति के सभी भागों में बांटने को तैयार हो—बहुत महत्त्वपूर्ण मध्यवर्ती आवश्यकता है।

लेकिन इन तीनों उपगमनों में से कोई भी धारा अपने-आपमें प्रकृति के महत्तर

[1] उदाहरण के लिये पातञ्जल योग-दर्शन।

और गूढ़ इरादे को पूरा नहीं कर सकती। वे मानसिक मानव के अंदर आध्यात्मिक सत्ता का सृजन नहीं कर सकतीं, जबतक कि वे आध्यात्मिक अनुभव के लिये द्वार न खोल दें। ये मार्ग जिसको खोज रहे हैं उसकी आंतरिक उपलब्धि से ही किसी अभिभूत करनेवाली अनुभूति या बहुत-सी अनुभूतियों से, जो आंतरिक परिवर्तन का निर्माण करनेवाली हों, चेतना के रूपांतर से, अध्यात्म पुरुष के वर्तमान मन, प्राण और शरीर के अवगुंठन से छुटकारे से ही आध्यात्मिक पुरुष का आविर्भाव हो सकता है। यही अंतरात्मा की प्रगति की वह अंतिम रेखा है जिसकी ओर और सब इशारा कर रहे हैं। जब वह प्रारंभिक उपगमनों से अपने-आपको मुक्त करने के लिये तैयार हो जाती है तब वास्तविक कार्य शुरू होता और परिवर्तन का अंतिम मोड़ दूर नहीं होता। तबतक मानव मनोमय सत्ता जहांतक पहुंच पाती है वह सब है अपने से परे की चीजों के विचार के साथ हेल-मेल, परलोक की गति की संभावना के साथ घनिष्ठता, किसी नैतिक पूर्णता के आदर्श के साथ घनिष्ठता। हो सकता है कि उसने कुछ महान् शक्तियों या सद्वस्तुओं के साथ भी संपर्क जोड़ा हो जो उसके मन या हृदय या प्राण की सहायता करते हैं। कुछ परिवर्तन हो सकता है किंतु मानसिक का आध्यात्मिक सत्ता में रूपांतर नहीं। प्राचीन काल में धर्म और उसके विचार, नैतिकता और गुह्य रहस्यवाद ने पुरोहित और जादूगर, धर्मभीरु पुरुष, न्यायनिष्ठ पुरुष, बुद्धिमान्, मानसिक मानवता के अनेक उच्च बिंदुओं का निर्माण किया। लेकिन केवल तभी जब आध्यात्मिक अनुभूति हृदय और मन में उठना शुरू कर दे तभी, हम संत, पैगंबर, ऋषि, योगी, द्रष्टा, आध्यात्मिक साधु, रहस्यवादी को उठते देखते हैं। और जिन धर्मों में इस प्रकार की धार्मिक मानवता प्रकट हुई वही टिके रहे, वे ही पृथ्वी पर फैले हैं और उन्होंने ही मानवजाति को उसकी समस्त आध्यात्मिक अभीप्सा और संस्कृति दी है।

जब आध्यात्मिकता अपने-आपको चेतना में मुक्त करके अपना विशिष्ट स्वरूप धारण करती है तो शुरू में वह छोटा-सा बीजकोश, बढ़ती हुई प्रवृत्ति, सामान्य अप्रबुद्ध मानव मन, प्राणशक्ति और शरीर की विशाल राशि में—जो हमारी बाहरी सत्ता बनते और हमारी स्वाभाविक तल्लीनताओं को समो लेते हैं—अनुभूति की अपवादिक ज्योति होती है। प्रयोगात्मक प्रारंभ होते हैं और धीमा विकास और सकुचाता हुआ आविर्भाव होता है। उसका शुरू का एक प्रारंभिक रूप एक तरह की धार्मिकता की रचना करता है जो शुद्ध आध्यात्मिक स्वभाववाली नहीं होती बल्कि वह ऐसे मन या प्राण के स्वभाव की होती है जो अपने अंदर आध्यात्मिक अवलंब या तत्त्व खोजती या पाती है। इस स्थिति में मनुष्य अधिकतर जो उसके परे है उसके साथ ऐसे संपर्कों का उपयोग करने में तल्लीन रहता है जो उसे प्राप्त हो सकते हैं या जिन्हें वह बना सकता है ताकि वे उसके मानसिक भावों या नैतिक आदर्शों या प्राणिक और भौतिक हितों की सहायता अथवा सेवा करें। अभीतक

आध्यात्मिक परिवर्तन के लिये सच्चा मोड़ नहीं आया। पहले सच्चे रूपायन हमारी प्राकृतिक क्रियाओं के आध्यात्मभावापन्न होने का रूप लेते हैं, उनमें व्याप्त होनेवाले प्रभाव या दिशा-निर्देशन का रूप लेते हैं, किसी भाग में या मन या प्राण की किसी प्रवृत्ति में तैयार करनेवाला प्रभाव या अंतरागम होता है—ऊपर उठानेवाले प्रकाश के साथ विचार आध्यात्मभावापन्नता की ओर मुड़ते हैं या भावात्मक या सौंदर्य-बोधात्मक सत्ता आध्यात्मभावापन्न मोड़ लेती है, चरित्र के आध्यात्मभावापन्न नैतिक रूपायन, किसी प्राण-क्रिया में या प्रकृति की गतिशील प्राणिक क्रिया में आध्यात्मिक प्रेरणा आती है। शायद आंतरिक प्रकाश की, पथ-प्रदर्शन या सायुज्य की अभिज्ञता आती है, हमारे मन और इच्छा से अधिक बड़े नियंत्रण की अभिज्ञता जिसकी आज्ञा हमारे अंदर की कोई चीज मानती है। लेकिन फिर भी सब कुछ उस अनुभूति के सांचे में ढला नहीं होता। परंतु जब ये अंतर्भास और ये दीप्तियां अपने आग्रह में बढ़ती हैं और अपने-आपको सरणीबद्ध करती हैं, एक मजबूत आंतरिक रूपायन बनाती हैं और सारे जीवन पर शासन करने का दावा करती हैं और समस्त प्रकृति पर अधिकार कर लेती हैं तब सत्ता के आध्यात्मिक रूपायन का आरंभ होता है। तब संत, भक्त, आध्यात्मिक साधु, द्रष्टा, पैगंबर, भगवान् के सेवक और आत्मा के सैनिक का आविर्भाव होता है। ये सब प्राकृतिक सत्ता के किसी ऐसे भाग को आधार बनाते हैं जिसे आध्यात्मिक प्रकाश, शक्ति या आनंद ने ऊपर उठाया हो। ऋषि और द्रष्टा आध्यात्मिक मन में निवास करते हैं, उनके विचार या उनकी दृष्टि पर एक आंतरिक या ज्ञान का विशालतर दिव्य प्रकाश शासन करता और उन्हें ढालता है। भक्त हृदय की आध्यात्मिक अभीप्सा में, उसके आत्मोत्सर्ग और उसकी खोज में निवास करता है, संत आंतरिक हृदय में भावात्मक और प्राणिक सत्ता पर शासन करने के लिये समर्थ बनी हुई प्रबुद्ध चैत्य सत्ता द्वारा प्रेरित होता है। अन्य लोग उस प्राणिक गतिज-प्रकृति के आधार पर रहते हैं जिसे उच्चतर आध्यात्मिक ऊर्जा परिचालित करती है और किसी प्रेरित कार्य की ओर, भगवान् के दिये हुए कार्य या मिशन, किसी दिव्य शक्ति, विचार या आदर्श की सेवा की ओर मोड़ती है। अंतिम या उच्चतम आविर्भाव है मुक्त पुरुष जिसने अपने अंदर आत्मा या आध्यात्म पुरुष को पा लिया है, जो वैश्व चेतना में प्रवेश कर गया है, शाश्वत के साथ ऐक्य में चला गया है और जहांतक वह जीवन और क्रिया को स्वीकार करता है, उस शक्ति की ज्योति और ऊर्जा से कार्य करता है जो उसके अंदर है और उसके प्रकृति के दिये मानव उपकरणों द्वारा काम कर रही है। इस आध्यात्मिक परिवर्तन और उपलब्धि का सबसे बड़ा रूपायन है अंतरात्मा, मन, हृदय और क्रिया की संपूर्ण मुक्ति, उस सबका वैश्व आत्मा और दिव्य सद्वस्तु[1] के भाव में गढ़ा जाना। तब व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास को अपना मार्ग मिल

[1] गीता ने हमारे आगे जो आध्यात्मिक आदर्श और उपलब्धि रखी है उसका सार यही है।

जाता है और वह अपने हिमालय जैसे ऊंचे प्रदेशों और उच्चतम प्रकृति के शिखरों को प्रकट करता है। इस ऊंचाई और विस्तार के परे रह जाता है केवल अतिमानसिक आरोहण या अकथनीय परात्पर।

तो अभीतक प्रकृति की मानव मानसिक सत्ता में आध्यात्मिक पुरुष के विकास का यही मार्ग रहा है और यह पूछा जा सकता है कि इस प्राप्ति का ठीक-ठीक परिमाण और उसकी वास्तविक सार्थकता क्या है। जड़ में मन के जीवन की ओर हाल की प्रतिक्रिया में इस महान् दिशा और विरल परिवर्तन को यह कलंक लगाया गया है कि यह चेतना का कोई सच्चा विकास न होकर सच्चे मानव विकास से च्युत अज्ञान की ऊपर उठायी हुई अपरिपक्वता है। उस विकास को होना चाहिये केवल जीवन-शक्ति, व्यावहारिक भौतिक मन, विचार और आचरण पर नियंत्रण करनेवाली तर्क-बुद्धि, अन्वेषण और संगठन करनेवाली बुद्धि का विकास। इस युग में धर्म को पुराना अंधविश्वास कहकर अलग खिसका दिया गया और आध्यात्मिक अनुभूति और उपलब्धि को छायावादी रहस्यवाद कहकर बदनाम किया गया। इस दृष्टि से रहस्यवादी वह आदमी है जो अवास्तविक में भटक जाता है, अपने बनाये हुए ख-पुष्पों के देश के गुह्य क्षेत्रों में जाकर अपना मार्ग खो देता है। यह निर्णय वस्तुओं के बारे में ऐसी दृष्टि पर आधारित है जो अपने-आप निंदित होने के लिये बाधित है क्योंकि यह अंततः इस मिथ्या प्रत्यक्ष दर्शन पर निर्भर है कि केवल जड़ ही यथार्थ है और केवल बाहरी जीवन ही महत्त्वपूर्ण है। लेकिन वस्तुओं की इस अत्यंत जड़वादी दृष्टि से भिन्न यह कहा जा सकता है और मानव जीवन-परिपूर्णता के लिये उत्सुक बुद्धि और भौतिक मन कहता भी है कि—और यही प्रचलित मानसिकता और प्रबल आधुनिक झुकाव भी है—मानवजाति में आध्यात्मिक प्रवृत्ति का परिणाम बहुत ही कम रहा है, उसने जीवन की समस्या का कोई समाधान नहीं किया और न ही उन समस्याओं का हल निकाला जिनसे मानवजाति भिड़ी हुई है। रहस्यवादी या तो अपने-आपको जीवन से परलोकवादी संन्यासी या अलग-थलग स्वप्नद्रष्टा की तरह अलग कर लेता है और इस कारण जीवन में सहायता नहीं दे सकता या नहीं तो वह जो समाधान या परिणाम लाता है वे व्यावहारिक मनुष्य या बुद्धि तथा तर्क-शक्तिवाले मनुष्य के समाधान या परिणाम की अपेक्षा श्रेष्ठतर नहीं होते। इसकी जगह अपने हस्तक्षेप से वह मानव मूल्यों को अस्त-व्यस्त कर देता, अपने विजातीय और अप्रमाण्य, मानव समझ के लिये अंधेरे अस्पष्ट प्रकाश द्वारा उन्हें बिगाड़ देता है और हमारे आगे जीवन द्वारा रखी गयी महत्त्वपूर्ण और शुद्ध व्यावहारिक समस्याओं को उलझा देता है।

लेकिन यह वह दृष्टिबिंदु नहीं है जहांसे हम मनुष्य के अंदर आध्यात्मिक विकास का सच्चा अर्थ या आध्यात्मिकता का मूल्य जांच या आंक सकते हैं; क्योंकि, उसका वास्तविक कार्य भूत या वर्तमान मानसिक आधार पर मानव समस्याओं का

हल करना नहीं है बल्कि उसे हमारी सत्ता, हमारे जीवन और ज्ञान के लिये नया आधार बनाना है। रहस्यवादी की संन्यासी अथवा पारलौकिक प्रवृत्ति इस बात की चरम पुष्टि है कि वह भौतिक प्रकृति द्वारा आरोपित सीमाओं को नहीं स्वीकार करता क्योंकि उसकी सत्ता का उद्देश्य ही है प्रकृति के परे जाना और अगर वह उसे रूपांतरित न कर सके तो उसे छोड़ जाना। लेकिन साथ ही आध्यात्मिक पुरुष मानवजाति के जीवन से पूरी तरह अलग-थलग भी नहीं खड़ा रहा है क्योंकि सभी सत्ताओं के साथ ऐक्य का भाव, सार्वभौम प्रेम और अनुकंपा पर जोर, सभी ऊर्जाओं का सभी प्राणियों के भले के लिये उपयोग, ये आत्मा के सक्रिय प्रस्फुटन में केंद्रीय चीजें हैं,[1] अतः वह सहायता करने के लिये मुड़ा है, जैसे पुराने ऋषि या पैगंबर मार्गदर्शन करते थे या वह सृजन करने के लिये झुका है और जहां कहीं उसने ऐसा आत्मा की प्रत्यक्ष शक्ति के साथ किया है वहां परिणाम आश्चर्यजनक हुए हैं। लेकिन आध्यात्मिकता समस्या का जो समाधान देती है वह बाहरी उपायों द्वारा समाधान नहीं है, यद्यपि इनका भी उपयोग करना होता है, लेकिन वह किया जाता है आंतरिक परिवर्तन, प्रकृति और चेतना के रूपांतर द्वारा।

अगर कोई निर्णायक परिणाम न आकर केवल आंशिक ही आये हैं, चेतना के कुलयोग में नये सूक्ष्मतर तत्त्व की वृद्धि ही सामान्य परिणाम रहा है और जीवन का कोई रूपांतर नहीं हुआ तो इसका कारण यह है कि जन-साधारण हमेशा आध्यात्मिक प्रेरणा से हट गया है, आध्यात्मिक आदर्श से मुकर गया है या उसने उसे केवल एक रूप में बनाये रखा है और भीतरी परिवर्तन को अस्वीकार कर दिया है। आध्यात्मिकता से यह मांग नहीं की जा सकती कि वह जीवन के साथ अनाध्यात्मिक तरीके से व्यवहार करे या उसके रोगों का रामबाणों के द्वारा उपचार करे, उन राजनीतिक, सामाजिक या अन्य यांत्रिक उपचारों द्वारा जिनके लिये मन सदा प्रयत्न करता रहता है और जो हमेशा किसी भी चीज का समाधान करने में असफल रहे हैं और असफल होते रहेंगे। इन उपायों द्वारा लाये गये अधिक-से-अधिक कठोर परिवर्तन भी कुछ नहीं बदल पाते क्योंकि पुराने रोग नये रूपों में बने रहते हैं, बाहरी परिवेश का रूप बदल जाता है परंतु मनुष्य वही बना रहता है जो वह था। वह अब भी अज्ञानी मानसिक सत्ता बना रहता है जो अपने ज्ञान का दुरुपयोग करता है या प्रभावोत्पादक रूप में उपयोग नहीं करता। वह अब भी अहंकार द्वारा परिचालित, प्राणिक कामनाओं और आवेगों और शारीरिक आवश्यकताओं द्वारा शासित रहता है, वह अपने दृष्टिकोणों में छिछला और अनाध्यात्मिक रहता है, स्वयं अपने बारे में और उन शक्तियों के बारे में, जो उसका

[1] गीता। बौद्ध धर्म के वैश्व करुणा और सहानुभूति (वसुधैव कुटुम्बकम्, सारी वसुधा मेरा कुटुंब है), को कर्म के उच्चतम तत्त्वतक ले जाना, ईसाइयों का प्रेम पर जोर, ये आध्यात्मिक सत्ता के इस क्रियाशील पक्ष की ओर इंगित करते हैं।

परिचालन करती हैं और उसका उपयोग करती हैं, अनभिज्ञ रहता है। उसकी जीवन-रचनाओं का मूल्य व्यक्तिगत और सामूहिक सत्ता जिस स्तरतक पहुंची है उसकी अभिव्यक्ति के रूप में, या उसके प्राणिक और भौतिक अंगों की सुविधा और कल्याण के लिये यंत्र-रूप में और उसके मानसिक विकास के क्षेत्र और साधन के रूप में है। लेकिन वे उसे उसकी वर्तमान सत्ता के परे नहीं ले जा सकतीं और न ही उसे रूपांतरित करने के माध्यम बन सकती हैं। उसकी ओर उनकी पूर्णता उसके और अधिक विकास से ही हो सकती है। केवल आध्यात्मिक परिवर्तन, उसकी सत्ता का सतही मानसिक से गहरी आध्यात्मिक चेतना की ओर विकास ही वास्तविक और प्रभावशाली भेद कर सकता है। अपने अंदर आध्यात्मिक सत्ता की खोज करना आध्यात्मिक व्यक्ति का मुख्य व्यापार है और दूसरों की इसी विकास में सहायता करना उसकी मानवजाति की सच्ची सेवा है। जबतक यह न हो जाये, बाहरी सहायता सहारा दे सकती है, उपशमन कर सकती है लेकिन इससे अधिक कुछ नहीं या बहुत ही कम संभव है।

यह सच है कि आध्यात्मिक प्रवृत्ति जीवन की ओर देखने की जगह जीवन के परे देखने की रही है। यह भी सच है कि आध्यात्मिक परिवर्तन सामूहिक न होकर व्यक्तिगत ही हुआ है, उसका परिणाम मनुष्य में सफल रहा है परंतु मानव-समूह में केवल असफल या परोक्ष रूप से सक्रिय है। प्रकृति में आध्यात्मिक विकास अभी प्रक्रिया में है और अपूर्ण है—बल्कि हम कह सकते हैं कि प्रारंभिक है—और उसका मुख्य व्यापार रहा है आध्यात्मिक चेतना और ज्ञान के आधार को पुष्ट और विकसित करना और आध्यात्म तत्त्व के सत्य में जो शाश्वत है उसके दर्शन के लिये एक भित्ति या रूपायण का अधिकाधिक निर्माण करना। जब प्रकृति पूरी तरह से इस तीव्र विकास को और रूपायण को व्यक्ति द्वारा पुष्ट कर ले तभी किसी विस्तृत होनेवाली या क्रियाशील रूप में विकीरित होनेवाली मूलगत वस्तु की आशा की जा सकती है या सामूहिक आध्यात्मिक जीवन के लिये प्रयास किया जा सकता है,—सफल रूप से सातत्य पाने के लिये ऐसे प्रयास किये जा चुके हैं परंतु वे प्रायः व्यक्ति की आध्यात्मिकता की वृद्धि की रक्षा के क्षेत्र के तौर पर थे—क्योंकि तबतक मनुष्य अपनी इसी समस्या में लगा रहेगा कि अपने मन और प्राण को आध्यात्म तत्त्व के उस सत्य के अनुरूप पूरी तरह से बदले जिसे वह अपनी आंतरिक सत्ता और ज्ञान में प्राप्त कर रहा है या कर चुका है। बड़े पैमाने पर सामूहिक आध्यात्मिक जीवन के लिये जो भी अपरिपक्व प्रयास होगा उसके क्रियाशील पक्ष में आध्यात्मिक ज्ञान की कुछ अपूर्णता के द्वारा, जिज्ञासु व्यक्तियों की अपूर्णता द्वारा, सामान्य मानसिक, प्राणिक और भौतिक चेतना के आक्रमण द्वारा, सत्य पर कब्जा करके उसे यांत्रिक बना देने, धुंधले या भ्रष्ट कर देने के कारण दूषित होने की संभावना रहती है। मानसिक बुद्धि और उसकी तर्क-बुद्धि की

मुख्य शक्ति मानव जीवन के तत्त्व और उसके हठी स्वभाव को नहीं बदल सकती, वह केवल विभिन्न यंत्र-विन्यास, क्रिया-कौशल, परिवर्धन और सूत्रीकरण ही सिद्ध कर सकती है। लेकिन समस्त मन भी, यहांतक कि आध्यात्मिकभावापन्न मन भी, उसे बदलने में सक्षम नहीं है। आध्यात्मिकता आंतरिक सत्ता को मुक्त और प्रदीप्त करती है, वह मन की सहायता करती है ताकि वह अपने से ऊंची चीज के साथ संपर्क बना सके, यहांतक कि अपने-आप से बच सके। वह आंतरिक प्रभाव द्वारा व्यक्तिगत मनुष्यों की बाहरी प्रकृति को शुद्ध कर सकती और ऊंचा उठा सकती है लेकिन जहांतक कि उसे मन को यंत्र बनाकर मानव समुदाय में कार्य करना है, वह पार्थिव जीवन पर प्रभाव डाल सकती है लेकिन उस जीवन का रूपांतर नहीं सिद्ध कर सकती। इसी कारण आध्यात्मिक मन में यह प्रवृत्ति प्रचलित रही है कि बस ऐसे ही प्रभाव से संतुष्ट रहा जाये और मुख्य रूप से कहीं किसी परलोक में पूर्णता खोजी जाये या पूरी तरह से बाहर के प्रयास को छोड़कर ऐकान्तिक भाव से व्यक्तिगत आध्यात्मिक मोक्ष या पूर्णता पर केन्द्रित हुआ जाये। अज्ञान द्वारा सृष्ट प्रकृति के समग्र रूपांतर के लिये मन की अपेक्षा अधिक ऊंची साधन-रूपी क्रियाशक्ति की जरूरत है।

रहस्यवादी और उसके ज्ञान के विरुद्ध एक और आपत्ति उठायी जाती है, वह जीवन पर उसके प्रभाव के विरुद्ध नहीं बल्कि उसके सत्य के अन्वेषण की पद्धति और वह जिस सत्य का अन्वेषण करता है उसके विरुद्ध है। पद्धति के विरुद्ध एक आपत्ति यह है कि यह शुद्ध रूप से आत्मनिष्ठ है, व्यक्तिगत चेतना और उसकी रचनाओं से स्वतंत्र रूप में सच्ची नहीं है, इसकी परख नहीं की जा सकती। लेकिन वितण्डा की इस भूमि का बहुत महत्त्व नहीं है क्योंकि रहस्यवादी का उद्देश्य है आत्म-ज्ञान और भागवत ज्ञान, और उसे बाहरी नहीं भीतरी दृष्टि से ही पाया जा सकता है। या फिर वह वस्तुओं के परम सत्य की खोज में है और उसे भी इन्द्रियों द्वारा बाहरी खोज से नहीं पाया जा सकता और न ही किसी ऐसी खोज या शोध द्वारा पाया जा सकता है जो बाहरी दिशा और सतह पर आधारित हो, न ही किसी ऐसे अनुमान द्वारा जो ज्ञान के परोक्ष साधनों की अनिश्चित सामग्री पर आधारित हो। उसे चेतना के अंतरात्मा के साथ और स्वयं सत्य के शरीर के साथ प्रत्यक्ष अंतर्दर्शन या संपर्क द्वारा या तादात्म्य द्वारा ज्ञान से उस आत्मा द्वारा आना चाहिये जो वस्तुओं और उनकी शक्ति के सत्य तथा सार-तत्त्व के सत्य के साथ एक हो जाती है। परंतु इस बात पर बल दिया जाता है कि इस तरीके का वास्तविक परिणाम कोई ऐसा सत्य नहीं होता जो सबके लिये समान हो, उनमें बहुत भेद होते हैं। यह निष्कर्ष सुझाया जाता है कि यह ज्ञान सत्य बिलकुल नहीं है, बल्कि एक आत्मनिष्ठ मानसिक रूपायण है। लेकिन यह आपत्ति आध्यात्मिक ज्ञान की प्रकृति के बारे में गलतफहमी पर आधारित होती है। आध्यात्मिक सत्य आत्मा का सत्य है, बुद्धि का सत्य नहीं, कोई गणित का प्रमेय या तर्क-सूत्र नहीं है। वह अनंत का

सत्य, अनंत विभिन्नताओं में एक है। वह अनंत प्रकार के रूप और आकार ग्रहण कर सकता है। आध्यात्मिक विकास में यह अनिवार्य है कि एकमेव सत्य के पास पहुंचने का बहुविध मार्ग हो, उसकी प्राप्ति बहुविध हो। यह बहुविधता अंतरात्मा का एक जीवित सद्वस्तु की ओर जाने का चिह्न है, किसी अमूर्तीकरण या वस्तुओं के ऐसे निर्मित आकार की ओर नहीं जिसे प्राणहीन या अनमनीय सूत्र में पथराया जा सके। सत्य के बारे में यह कठोर बौद्धिक और तार्किक भावना कि उसे ऐसा एकमात्र भाव होना चाहिये जिसे सब स्वीकार करें, कोई ऐसा भाव या अनेक भावों का तंत्र जो और सभी विचारों या तंत्रों का निराकरण कर दे या एकमात्र सीमित तथ्य या तथ्यों का एकमात्र सूत्र जो सबको मान्य हो, भौतिक क्षेत्र के सीमित सत्य से प्राण, मन और आध्यात्म-सत्ता के बहुत अधिक जटिल और नमनीय क्षेत्र में अनधिकृत स्थानान्तरण है।

यह स्थानान्तरण बहुत हानि के लिये जिम्मेदार है। यह विचार में संकीर्णता, सीमांकन, दृष्टिकोणों की आवश्यक विविधता और बहुविधता के प्रति असहिष्णुता लाता है जिसके बिना सत्य-प्राप्ति में समग्रता नहीं आ सकती और संकीर्णता और सीमांकन के कारण भूल-भ्रांति में बहुत दुराग्रह आता है। वह दर्शन को व्यर्थ विवादों की अंतहीन भूल-भुलैया में बदल देता है। इस व्यतिक्रम ने धर्म पर भी आक्रमण किया है और उसमें सामुदायिक मत की, कट्टरता और असहिष्णुता की छूत लग गयी है। आत्मा का सत्य सत्ता और चेतना का सत्य है, विचारों का सत्य नहीं। मानसिक भाव उसके किसी रूप को, मन द्वारा अनूदित किसी तत्त्व या शक्ति को ही उपस्थित या निरूपित कर सकते हैं या उसके पहलुओं का विवरण दे सकते हैं लेकिन उसे जानने के लिये व्यक्ति को उसमें वर्धित होना होगा और वही होना होगा। वही हुए बिना, उसीमें वर्धित हुए बिना सच्चा आध्यात्मिक ज्ञान नहीं हो सकता। आध्यात्मिक अनुभूति का आधारभूत सत्य एक है, उसकी चेतना एक है। वह हर जगह आध्यात्मिक सत्ता के जागरण और वृद्धि की उन्हीं सामान्य रेखाओं और प्रवृत्तियों का अनुसरण करता है क्योंकि ये आध्यात्मिक चेतना के लिये अनिवार्य हैं, लेकिन इन अनिवार्यताओं पर आधारित अनुभूति और अभिव्यक्ति की विभिन्नताओं की अनगिनत संभावनाएं भी हैं, इन संभावनाओं का केन्द्रीकरण और सामंजस्य, लेकिन अनुभूति की किसी एक रेखा का ऐकान्तिक रूप से गहरा अनुसरण भी, ये दोनों हमारे अंदर आध्यात्मिक चित्-शक्ति के आविर्भाव के लिये आवश्यक गतियां हैं। और फिर मन और प्राण का आध्यात्मिक सत्य के अनुकूल होना, उनके अंदर उसकी अभिव्यक्ति, जिज्ञासु की मानसिकता के साथ तबतक बदलती रहेगी जबतक कि वह ऐसे अनुकूलीकरण की समस्त आवश्यकता या सीमित करनेवाली अभिव्यक्ति से ऊपर न उठ जाये। यही वह मानसिक और प्राणिक तत्त्व है जिसने उन विरोधों की सृष्टि की है जो अब भी आध्यात्मिक

जिज्ञासुओं को विभक्त करते हैं या वे जिस सत्य का अनुभव करते हैं उसकी विभिन्न स्थापनाओं में प्रवेश करते हैं। यह भेद और विभिन्नता आध्यात्मिक खोज और आध्यात्मिक वृद्धि की स्वाधीनता के लिये जरूरी है। भेदों को पार कर जाना बिल्कुल संभव है लेकिन वह बहुत आसानी से शुद्ध अनुभव में किया जा सकता है। मानसिक रूपायण में भेद तबतक बने रहेंगे जबतक व्यक्ति मन के एकदम परे न चला जाये और आत्मा के बहुमुखी सत्य को उच्चतम चेतना में पूर्ण, एक और सामंजस्यपूर्ण न बना ले।

आध्यात्मिक मनुष्य के विकास में आवश्यक रूप से बहुत-सी अवस्थाएं होनी चाहियें और हर अवस्था में सत्ता के व्यक्तिगत रूपायणों, चेतना, जीवन, स्वभाव, भाव और चरित्र में बहुत-सी विविधता होनी चाहिये। उपकरणात्मक मन की प्रकृति और जीवन के साथ व्यवहार करने की आवश्यकता अपने-आप विकास की अवस्था और जिज्ञासु के व्यक्तित्व के अनुसार अनंत विविधताएं रच लेगी। लेकिन इसके अतिरिक्त, शुद्ध आध्यात्मिक आत्मोपलब्धि और आत्माभिव्यक्ति के प्रदेश के लिये यह जरूरी नहीं है कि वह एक श्वेत एकरूपता हो। आधारभूत ऐक्य में बहुत विविधता हो सकती है। परम पुरुष एक है लेकिन पुरुष की अंतरात्माएं अनेक हैं और जैसा अंतरात्मा ने प्रकृति का गठन किया है उसी तरह की उसकी आध्यात्मिक आत्माभिव्यक्ति होगी। एकता में विविधता अभिव्यक्ति का विधान है। अतिमानसिक एकीकरण और संघटन इन विविधताओं में सामंजस्य लायेंगे लेकिन उनका उन्मूलन करना प्रकृति में बैठे पुरुष का अभिप्राय नहीं है।

अध्याय २५

त्रिविध रूपांतर

. . . पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
. . . ईशानो भूतभव्यस्य . . . ॥
. . . ज्योतिरिवाधूमकः ॥
तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेत् . . . धैर्येण ॥

एक सचेतन सत्ता ही आत्मा का केंद्र है जो भूत और भविष्य का ईश है। . . . वह धुएं के बिना आग जैसा है . . . उसे हमें अपने शरीर से धैर्य के साथ अलग करना होगा।

कठोपनिषद् २.१.१२, १३; २.३.१७

तदयं केतो हृद आ वि चष्टे।

हृदय में एक अंतर्भास इस सत्य को देखता है।

ऋग्वेद १.२४.१२

. . . . . अहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

मैं आध्यात्मिक सत्ता में निवास करता हूं और वहां से ज्ञान के भास्वर ज्ञान-दीप द्वारा अज्ञान से उत्पन्न अंधकार को नष्ट करता हूं।

गीता १०.११

नीचीनाः स्थुरुपरि बुध्न एषामस्मे अंतर्निहिताः केतवः स्युः।
. . . वरुणेह बोध्युरुशंस . . . ॥
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम।

ये रश्मियां नीचे की ओर अभिमुख की गयी हैं। उनकी नींव ऊपर है। वे हमारे अंदर गहराई में जमें . . . हे वरुण, यहां जागो, अपना राज्य विस्तृत करो, हम तुम्हारी क्रियाओं के विधान में निवास करें और अनंत मां (अदिति) के आगे निष्कलंक रहें।

ऋग्वेद १.२४.७, ११, १५

हंसः शुचिषत् . . .
ऋतजाः . . . ऋतं बृहत् ॥

वह हंस जो शुचिता में निवास करता है . . . ऋत से उत्पन्न . . . वह स्वयं ऋत और बृहत् है।

कठोपनिषद् ११.२.२

आध्यात्मिक मनुष्य के विकास में अगर प्रकृति का एकमात्र अभिप्राय हो उसे परम

सद्वस्तु की ओर जगाना और उसे अपने से या उस अज्ञान से मुक्त करना जिसमें उसने शाश्वत की शक्ति के रूप में रहते हुए अपने-आपको आच्छादित कर रखा है, इसमें से कहीं अन्यत्र सत्ता की किसी उच्चतर अवस्था में गमन द्वारा यह मुक्ति मिल सकती है, अगर यह चरण विकास में इति और निर्गम-द्वार है तब तो सारतः उसका काम पूरा हो चुका है और अब करने के लिये कुछ बाकी नहीं रहा। रास्ते बन चुके हैं, उनका अनुसरण करने की क्षमता विकसित हो चुकी है, लक्ष्य या सृष्टि का अंतिम शिखर अभिव्यक्त है। अब जो कुछ बाकी है वह इतना ही कि हर आत्मा व्यक्तिगत रूप से उचित अवस्था और अपने विकास के मोड़तक जा पहुंचे, आध्यात्मिक पथों में प्रवेश करे और अपने चुने हुए मार्ग से इस निम्नतर जीवन में से निकल जाये। लेकिन हमने माना है कि एक और आगे का इरादा भी है—केवल अध्यात्म-पुरुष का अंतः-प्रकाश ही नहीं बल्कि प्रकृति का आमूल और संपूर्ण रूपांतर। प्रकृति में यह इच्छा है कि अध्यात्म पुरुष के सशरीर जीवन की एक सच्ची अभिव्यक्ति को चरितार्थ करे, उसने जो शुरू किया है उसे अज्ञान से ज्ञान की ओर जाकर पूरा करे, अपने मुखौटे को उतार फेंके और अपने-आपको ऐसी प्रकाशमान चित्-शक्ति के रूप में प्रकट करे जो अपने अंदर शाश्वत सत्ता और उसकी सत्ता के वैश्व आनंद को वहन कर रही है। तब यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछ ऐसा है जो अभीतक उपलब्ध नहीं हुआ है। दृष्टि के सामने यह स्पष्ट हो जाता है कि अभी बहुत कुछ करना बाकी है—भूरि अस्पष्ट कर्त्वम्—एक ऐसा शिखर है जिसपर अभी पहुंचना है, एक विस्तार है जिसे अंतर्दृष्टि की आंख से, इच्छा के पंखों से, भौतिक विश्व में अध्यात्म-पुरुष के आत्म-प्रतिष्ठापन द्वारा अबतक ग्रहण करना बाकी है। विकसनशील शक्ति ने जो किया है वह यही है कि कुछ व्यक्तियों को अपनी अंतरात्मा के बारे में अभिज्ञ कर दिया, अपनी आत्मा के बारे में सचेतन कर दिया, वे जो शाश्वत सत्ता हैं उसके बारे में अभिज्ञ कर दिया, उन्हें उस दिव्यता या सद्वस्तु के साथ संपर्क में ला दिया जो अपने रंग-रूप के अंदर छिपी हुई है; इस प्रबोध के पीछे प्रकृति का कोई परिवर्तन तैयार होता है, उसके साथ चलता या उसका अनुसरण करता है। लेकिन यह पूर्ण और आमूल परिवर्तन नहीं है जो पार्थिव प्रकृति के क्षेत्र में सुरक्षित और नये व्यवस्थित तत्त्व की, नयी सृष्टि, सत्ता की स्थायी नूतन व्यवस्था की स्थापना करता है। आध्यात्मिक पुरुष विकसित हो गया है परंतु अतिमानसिक पुरुष नहीं जो आगे चलकर उस प्रकृति का नेता बनेगा।

यह इस कारण है कि आध्यात्मिकता के तत्त्व को अभी पूर्ण स्वाधिकार और प्रभुत्व के साथ अपने-आपको स्थापित करना है। यह तत्त्व अबतक मानसिक सत्ता के अपने-आपसे भाग निकलने या अपने-आपको आध्यात्मिक स्थिति तक परिष्कृत करने और उठाने के लिये एक शक्ति रहा है, उसने इसका उपयोग मन से आत्मा

की मुक्ति और आध्यात्मभावापन्न मन और हृदय में सत्ता की वृद्धि के लिये किया है, लेकिन अध्यात्म पुरुष की स्वप्रतिष्ठा के लिये अपने ऐसे सक्रिय और प्रभुता-सपन्न अधिकार की प्रतिष्ठा के लिये नहीं—या यूं कहें अभीतक पर्याप्त रूप से नहीं—जो मन की सीमाओं और मानसिक यंत्र-विन्यास से मुक्त हो। एक और क्रिया-विन्यास का विकास शुरू हो गया है लेकिन अभी उसका पूर्ण और प्रभावी होना बाकी है। और इसके अतिरिक्त उसे आद्य अज्ञान में शुद्ध रूप से ऐसा व्यक्तिगत आत्म-सृजन होना बंद कर देना चाहिये, पार्थिव जीवन के लिये कोई ऐसी अधिसामान्य वस्तु न रहना चाहिये जिसे हमेशा कठिन प्रयास द्वारा व्यक्तिगत उपलब्धि के रूप में प्राप्त किया जाये। उसे एक नये प्रकाश की सत्ता के लिये सामान्य प्रकृति हो जाना चाहिये; जैसे मन यहां अज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित है और ज्ञान की खोज कर रहा और ज्ञान में बढ़ रहा है उसी तरह यहांपर अतिमानस को ज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित होना चाहिये और अपने बृहत्तर प्रकाश में बढ़ना चाहिये। लेकिन यह तबतक नहीं हो सकता जबतक कि आध्यात्मिक-मानसिक सत्ता पूरी तरह अतिमानसतक न उठ जाये और उसकी शक्तियों को पार्थिव जीवन में न उतार लाये। क्योंकि मन और अतिमानस के बीच की खाई को पाटना है, बंद रास्तों को खोलना है और जहां अभी शून्य और नीरवता है वहां आरोहण और अवरोहण के नये रास्ते बनाने हैं। यह केवल त्रिविध रूपांतर द्वारा ही किया जा सकता है जिसका हम सरसरी तौर पर उल्लेख पहले ही कर आये हैं। पहले चैत्य परिवर्तन होना चाहिये, हमारी पूरी वर्तमान प्रकृति का आत्मा के साधन के रूप में परिवर्तन होना चाहिये, उसके ऊपर या उसके साथ आध्यात्मिक परिवर्तन होना चाहिये, समस्त सत्ता में, यहांतक कि प्राण और शरीर की निम्नतम गुफाओं में भी, हमारी अवचेतना के अंधकार में भी उच्चतर प्रकाश, ज्ञान, शक्ति, बल, आनंद, शुद्धि का अवतरण होना चाहिये और अंत में आध्यात्मिक रूपांतर का हस्तक्षेप होना चाहिये, शीर्षस्थ गति के रूप में अतिमानस में आरोहण और हमारी समस्त सत्ता और प्रकृति में अतिमानसिक चेतना का रूपांतरकारी अवरोहण होना चाहिये।

आरंभ में प्रकृति में स्थित अंतरात्मा, चैत्य सत्ता—जिसका खुलना ही आध्यात्मिक परिवर्तन की ओर पहला चरण है—हमारा पूरी तरह से अवगुंठित भाग होता है यद्यपि यह वही है जिसके द्वारा हम जीवित हैं और प्रकृति में व्यक्तिगत सत्ताओं के रूप में बने हुए हैं। हमारे प्राकृतिक संघटन के अन्य भाग केवल परिवर्तनशील ही नहीं, नश्वर हैं लेकिन हमारे अंदर चैत्य सत्ता बनी रहती है और आधारभूत रूप में हमेशा वही बनी रहती है। उसके अंदर हमारी अभिव्यक्ति की सभी सारगत संभावनाएं रहती हैं लेकिन वह उनसे नहीं बनी है। वह जिसे अभिव्यक्त करती है उससे सीमित नहीं है, अभिव्यक्ति के अपूर्ण रूपों में समायी हुई नहीं है, सतही सत्ता की अपूर्णताओं और अशुद्धियों से, दोषों और विकृतियों से

कलंकित नहीं है। वह वस्तुओं में दिव्यता की सदा पवित्र ज्वाला है और उसमें जो कुछ भी आये, जो कुछ भी हमारे अनुभव में प्रवेश करे, वह उसकी शुद्धि को गंदा नहीं कर सकता, उस ज्वाला को बुझा नहीं सकता, यह आध्यात्मिक द्रव्य निर्मल और ज्योतिर्मय है और चूंकि वह पूर्णतया ज्योतिर्मय है अतः वह प्रत्यक्ष, अंतरंग और तात्कालिक रूप से सत्ता के सत्य और प्रकृति के सत्य से अभिज्ञ रहता है। वह सत्य, शिव और सुंदर के बारे में गभीरता से सचेतन रहता है क्योंकि सत्य, शिव और सुंदर उसके सहज स्वभाव के सजातीय हैं, किसी ऐसी चीज के रूप हैं जो उसके अपने पदार्थ के अंतर्गत है। वह उस सबसे भी अभिज्ञ है जो इन चीजों का खंडन करता है, उस सबसे भी जो उसके स्वाभाविक गुण से उल्टा है, जो मिथ्या, अशुभ, कुरूप और अभद्र है; लेकिन वह स्वयं ये वस्तुएं नहीं बनता, न ही अपने इन विरोधी तत्त्वों से प्रभावित या परिवर्तित होता है, जब कि उसके बाहरी उपकरणों—मन, प्राण और शरीर—पर इनका इतना जोरदार प्रभाव होता है। क्योंकि, हमारे अंदर स्थायी सत्ता, अंतरात्मा, मन, प्राण और शरीर को अपने उपकरणों के रूप में प्रस्तुत करती और व्यवहार में लाती है, उनकी अवस्थाओं के आच्छादन को सहती है लेकिन वह अपने अंगों से भिन्न और महत्तर है।

अगर चैत्य सत्ता शुरू से ही अनावृत और अपने मंत्रियों को ज्ञात होती, पर्दे के पीछे छिपे एकांतवासी राजा की तरह न होती तो मानव-विकास तेज आत्म-प्रस्फुटन होता, वह कठिन, उतार-चढ़ाववाला विकृत विकास न होता जैसा कि अब है। लेकिन पर्दा मोटा है और हम अपने भीतर के गुप्त प्रकाश को नहीं जानते, वह प्रकाश जो हृदय के अंतर्तम गर्भगृह के तहखाने में छिपा है। चैत्य से हमारी सतहतक संकेत उठते हैं लेकिन हमारा मन उनके उद्भव को नहीं पकड़ता, वह उन्हें अपने ही क्रिया-कलाप मानता है क्योंकि उनके सतहतक आने से पहले वे मानसिक पदार्थ से आवेष्टित हो जाते हैं अतः उनके अधिकार से अनभिज्ञ, उस क्षण की प्रवृत्ति या मोड़ के अनुसार वह उनका अनुसरण करता या नहीं करता है। अगर मन प्राणिक अहं की प्रेरणा को मानता है तो इसकी संभावना नहीं के बराबर रहती है कि चैत्य थोड़ा भी प्रकृति पर शासन करे या हमारे अंदर अपने गुप्त आध्यात्मिक पदार्थ को और अपनी सहज क्रिया को अभिव्यक्त करे। या अगर मन को अति विश्वास है और वह अपने छोटे प्रकाश के अनुसार ही कार्य करता है, अपने ही मूल्यांकन या निर्णय, इच्छा और ज्ञान की क्रिया से लगा रहता है तब भी अंतरात्मा पर्दे में और निष्क्रिय ही रहेगी और मन के अधिक विकास के लिये प्रतीक्षा करेगी। क्योंकि हमारे अंदर का चैत्य भाग प्राकृतिक विकास को सहारा देने के लिये है और पहला स्वाभाविक विकास होना चाहिये क्रमशः शरीर, प्राण और मन का। और इनमें से हर एक को अपनी तरह से या मिलकर अपने कुवर्गित साझे में काम करना चाहिये ताकि वे बढ़ सकें, अनुभव पा सकें और विकसित हो

सकें। अंतरात्मा हमारे समस्त मानसिक, प्राणिक और शारीरिक अनुभूति के सारतत्त्व को इकट्ठा करती और प्रकृति में हमारे अस्तित्व के अगले विकास के लिये उसे आत्मसात् करती है; लेकिन यह क्रिया गुह्य होती है और सतह पर थोपी नहीं जाती। सत्ता के विकास की प्रारंभिक भौतिक और प्राणिक अवस्थाओं में निश्चय ही अंतरात्मा की कोई चेतना नहीं होती, चैत्य क्रियाएं होती हैं पर इन क्रियाओं के रूप, यंत्र-विन्यास प्राणिक और भौतिक होते हैं और जब मन सक्रिय हो तो मानसिक भी। क्योंकि, मन भी जबतक कि वह आदिम अवस्था में है या अगर विकसित भी है तो बहुत ज्यादा बाहरी है, उनके गभीरतर स्वरूप को नहीं पहचानता। अपने-आपको भौतिक सत्ताएं या प्राणिक सत्ताएं या ऐसी मानसिक सत्ताएं मानता है जो प्राण और शरीर का उपयोग कर रही हैं, और अंतरात्मा के अस्तित्व की पूरी तरह से अवहेलना करना आसान है। क्योंकि, अंतरात्मा के बारे में एकमात्र निश्चित भाव हमारे पास यही है कि वह कोई ऐसी चीज है जो हमारे शरीर की मृत्यु के बाद भी बनी रहती है लेकिन हम नहीं जानते कि यह है क्या; क्योंकि अगर हम कभी उसकी उपस्थिति के बारे में सचेतन भी होते हैं तो भी हम सामान्यतः उसकी पृथक् वास्तविकता के बारे में सचेतन नहीं होते और न ही स्पष्ट रूप से अपनी प्रकृति में उसकी प्रत्यक्ष क्रिया का अनुभव करते हैं।

जैसे-जैसे विकास आगे बढ़ता है, प्रकृति धीरे-धीरे प्रयोगात्मक रूप में हमारे गुह्य भागों को प्रकट करने लगती है। वह हमें अधिकाधिक अपने अंदर देखने के लिये प्रवृत्त करती है या सतह पर अधिक स्पष्टता के साथ पहचाने जा सकनेवाले उनके संकेतों और रूपायणों को शुरू करने में लग जाती है। हमारी अंतरात्मा, चैत्य तत्त्व अबतक गुप्त रूप धारण करना शुरू कर चुका है; वह अपने प्रतिनिधि के रूप में एक आंतरात्मिक व्यक्तित्व, एक सुस्पष्ट चैत्य सत्ता को सामने करता और विकसित करता है। यह चैत्य सत्ता फिर भी पर्दे के पीछे हमारे अंतस्तलीय भाग में रहती है हमारे अंदर के सच्चे मन, प्राण और सूक्ष्म भौतिक सत्ता की तरह; लेकिन उन्हींकी तरह वह सतही जीवन पर फेंके गये संकेतों और प्रभावों द्वारा उस सतह पर कार्य करती है। वे सतह की समष्टि का भाग बनते हैं और यह समष्टि आंतरिक प्रभावों और लहरों का सामूहिक परिणाम है और वह दृश्य रूपायन और अधिरचना है जिसे हम साधारणतः अपनी सत्ता अनुभव करते और मानते हैं। इस अज्ञानमय सतह पर हम धुंधले रूप से किसी ऐसी चीज के बारे में अभिज्ञ होते हैं जिसे मन, प्राण और शरीर से स्पष्ट रूप में भिन्न अंतरात्मा कह सकते हैं। हम उसे केवल अपने मानसिक भाव या अपने बारे में अस्पष्ट सहज बोध के रूप में ही नहीं बल्कि अपने जीवन, चरित्र और क्रिया में गोचर प्रभाव के रूप में अनुभव करते हैं। जो कुछ सत्य, शिव और सुंदर, सूक्ष्म, शुद्ध और उदात्त है उस सबके प्रति विशेष संवेदनशील भाव, उसके प्रति उत्तर, उसके लिये मांग, मन और प्राण पर दबाव

ताकि वे उसे स्वीकार कर लें और हमारे विचार, भावना, आचार, चरित्र में रूपायित करें—यह बहुधा जाना-माना और व्यापक विशिष्ट लक्षण है, यद्यपि यह चैत्य के इस प्रभाव का एकमात्र चिह्न नहीं है। जिस मनुष्य के अंदर यह तत्त्व नहीं है या जो इस प्रेरणा को बिल्कुल उत्तर नहीं देता, उसके बारे में हम कहते हैं कि उसमें आत्मा नहीं है क्योंकि यही वह प्रभाव है जिसे हम बहुत आसानी से अपने अंदर सूक्ष्मतर या अधिक दिव्य भाग के रूप में जान या स्वीकार कर सकते हैं, अपनी प्रकृति में पूर्णता के किसी लक्ष्य की ओर धीमे-धीमे मोड़ने के लिये सबसे अधिक सबल अंग के रूप में जान सकते हैं।

लेकिन यह चैत्य प्रभाव या क्रिया सतह पर बिल्कुल शुद्ध रूप में नहीं आती या अपनी शुद्धि में सुव्यक्त नहीं रहती। अगर ऐसा होता तो हम स्पष्ट रूप से अपने अंदर आंतरात्मिक तत्त्व को पहचान सकते और सचेतन रूप से पूरी तरह उसके आदेश के अनुसार चलते। एक गुह्य मानसिक, प्राणिक और सूक्ष्म-भौतिक क्रिया हस्तक्षेप करती है और उसमें मिल जाती है, उसका उपयोग करने और उसे अपने हित में बदलने की कोशिश करती है, उसके अंदर की दिव्यता को बौना बना देती है, उसकी आत्माभिव्यक्ति को विकृत करती या घटा देती, यहांतक कि उसके पथभ्रष्ट होने और लड़खड़ाने का कारण बनती है या उसपर मन, प्राण और शरीर की अशुद्धि, क्षुद्रता और भ्रांति का दाग लगाती है। जब वह इस तरह मिश्रित होकर घटे हुए रूप में सतह पर पहुंचती है तो सतही प्रकृति उसे धुंधली-सी ग्रहणशीलता और अज्ञान-भरे रूपायन में ग्रहण करती है और इस कारण और भी अधिक पथच्युति और मिश्रण हो सकते या होते हैं। उसे एक मरोड़ दी जाती है, गलत निर्देशन दिया जाता है; जो अपने-आपमें हमारी आध्यात्मिक सत्ता का शुद्ध द्रव्य और क्रिया है उसका यह एक गलत प्रयोग, गलत रचना, एक भूल-भरा परिणाम है। इसीके अनुसार चेतना का रूपायण बनाया जाता है जो चैत्य प्रभाव और उसकी सूचनाओं के साथ मानसिक भावों, मतों, प्राणिक कामनाओं और लालसाओं, अभ्यासगत भौतिक प्रवृत्तियों की खिचड़ी होता है। अस्पष्ट आत्मिक प्रभाव के साथ इन बाहरी अंगों के उच्चतर दिशा की ओर होनेवाले अज्ञान-भरे लेकिन सदिच्छापूर्ण प्रयास भी मिल जाते हैं; एक बहुत ही मिश्रित प्रकृति की मानसिक उद्‌भावना जो प्रायः अपने आदर्शवाद में भी अंधकारमय होती है और कभी-कभी यहांतक कि विनाशक रूप में भूल-भरी होती है, भावनात्मक सत्ता का भाव-भरा आवेग और आवेश जो अनुभवों, भावनाओं और भावुकता की फुहारें और फेन उछालता रहता है, प्राणिक भागों का क्रियाशील उत्साह, शारीरिक सत्ता के उत्सुक प्रत्युत्तर, स्नायु और शरीर की रोमांचकारिता और उत्तेजनाएं—ये सारे प्रभाव एक मिले-जुले रूपायन में एक हो जाते हैं जिसे प्रायः अंतरात्मा और उसकी मिली-जुली भ्रमपूर्ण क्रिया को अंतरात्मा का स्पंदन, चैत्य विकास और क्रिया या

सिद्ध आंतरिक प्रभाव मान लिया जाता है। स्वयं चैत्य पुरुष दाग या मिश्रण से अछूता होता है लेकिन उसमें से जो निकलता है उसे इस निरापदता की रक्षा प्राप्त नहीं होती और इसी कारण यह गड़बड़झाला संभव हो जाता है।

और इसके अतिरिक्त चैत्य पुरुष, हमारे अंदर स्थित आंतरात्मिक व्यक्तित्व, पूरी तरह विकसित और प्रकाशमान होकर उदित नहीं होता, यह विकसित होता है, धीमे विकास और संघटन में से गुजरता है। उसकी सत्ता की आकृति शुरू में अस्पष्ट हो सकती है और बाद में लंबे समयतक दुर्बल और अविकसित रह सकती है, अशुद्ध नहीं अपूर्ण। क्योंकि वह अपने रूपायण, अपने सक्रिय आत्म-निर्माण को अंतरात्मा की उस शक्ति पर आश्रित रखता है जो विकास के दौरान, अविद्या और निश्चेतना के विरोध के बावजूद कम या ज्यादा सफलता के साथ बाहरी सतह पर वस्तुतः प्रकट की गयी है। उसका प्रकट होना प्रकृति में अंतरात्मा के उद्भव का चिह्न है और अगर वह उद्भव अभी लघु और दोषपूर्ण है तो चैत्य व्यक्तित्व भी बौना और दुर्बल होगा। वह हमारी चेतना के अंधेरे के कारण अपनी भीतरी सद्वस्तु से अलग रहता है, सत्ता की गहराइयों में अपने उद्गम से अधकचरे संचार में रहता है क्योंकि रास्ता अभीतक ठीक तरह बना हुआ नहीं होता, बाधाएं आसानी से आती हैं और बहुधा तार या तो कट जाते हैं या किसी और उद्गम से आनेवाले, किसी और तरह के संचारों से भरे रहते हैं। उसे जो कुछ प्राप्त होता है उसे अपने बाहरी यंत्रों पर अंकित करने की उसकी शक्ति भी अधूरी रहती है। उसे अपनी दरिद्रता के कारण अधिकतर चीजों के लिये इन यंत्रों पर निर्भर रहना पड़ता है और अभिव्यक्ति और क्रिया की ओर अपनी प्रेरणा को उसे एकमात्र चैत्य सत्ता के निर्भ्रान्त प्रत्यक्ष बोध के अनुसार नहीं बल्कि इन बाहरी उपकरणों से मिलनेवाले तथ्यों के आधार पर बनाना पड़ता है। इन परिस्थितियों में वह सच्चे चैत्य प्रकाश को मन में क्षीण या विकृत होकर केवल एक भाव या मत बन जाने से, चैत्य अनुभूति को हृदय में भ्रम-भरे भावावेग या केवल भावुकता बन जाने से, चैत्य की कर्म की इच्छा को प्राणिक अंगों में अंधे प्राणिक उत्साह या आवेगभरी उत्तेजना बन जाने से नहीं रोक सकता। यहांतक कि किसी और श्रेष्ठतर वस्तु के अभाव में वह इन गलत अनुवादों को स्वीकार करके उनके द्वारा अपनी परिपूर्ति करने की कोशिश करता है। क्योंकि यह अंतरात्मा के काम का भाग है कि वह मन, हृदय और प्राणिक सत्ता पर प्रभाव डाले और उनके भावों, अनुभवों, उत्साहों, क्रियाशीलताओं को उस दिशा में मोड़े जो दिव्य और प्रकाशमय है। लेकिन पहले तो यह अधूरे रूप से ही धीरे-धीरे और मिश्रण के साथ करना होगा। जैसे-जैसे चैत्य व्यक्तित्व ज्यादा मजबूत होता जाता है वह अपने पीछे स्थित चैत्य सत्ता के साथ अपना संस्पर्श बढ़ाने और सतह के साथ अपने संचार को सुधारने लगता है तब वह मन, हृदय और प्राण को अपनी सूचनाएं ज्यादा विशुद्धता और बल के साथ भेज

सकता है क्योंकि वह अधिक प्रबल नियंत्रण करने और मिथ्या मिश्रण के विरुद्ध प्रतिक्रिया करने के अधिक योग्य होता है। अब वह प्रकृति में अपने-आपको अधिकाधिक स्पष्ट रूप से शक्ति के रूप में अनुभव कराने में समर्थ होता है। लेकिन इस तरह भी यह विकास धीमा और दीर्घ होगा यदि उसे पूरी तरह विकसनशील ऊर्जा की स्वचालित गति पर छोड़ दिया जाये। केवल तभी जब मनुष्य अंतरात्मा के ज्ञान की ओर जागता है और उसे सामने लाने की और उसे अपने जीवन और क्रिया का स्वामी बनाने की आवश्यकता का अनुभव करता है, तभी विकास की ज्यादा तेज सचेतन पद्धति हस्तक्षेप करती है और चैत्य रूपांतर संभव होता है।

इस धीमे विकास में सहायता मिल सकती है मन के अपने अंदर की किसी ऐसी चीज के बारे में स्पष्ट बोध पाने, उसपर आग्रह करने और उसका स्वरूप जानने के प्रयास से, जो शरीर की मृत्यु के बाद भी बनी रहती है। लेकिन शुरू में ज्ञान के इस तथ्य से बाधा पड़ती है कि हमारे अंदर ऐसे बहुत से तत्त्व हैं, बहुत-से रूपायण हैं जो अपने-आपको आंतरात्मिक तत्त्व के रूप में प्रकट करते हैं और उन्हें भूल से चैत्य माना जा सकता है। पारलौकिक जीवन के बारे में प्राचीन यूनानी तथा कुछ अन्य परंपराओं में दिये गये वर्णन स्पष्ट रूप से बताते हैं कि सत्ता के किसी अवचेतन रूपायण को अवभौतिक संस्कार-शरीर या छाया-रूप को या फिर व्यक्तित्व के प्रेतबिंब या प्रेत को ही अंतरात्मा मान लेने की भूल की गयी थी। यह भूत, जिसे भूल से आत्मा कहा जाता है कभी-कभी एक प्राणिक रूपायण होता है जो मनुष्य की विशेषताओं, उसकी सतही जीवन-पद्धतियों की फिर से रचना करता है और कभी-कभी उसके मानसिक कोष के सतही रूप का सूक्ष्म भौतिक दीर्घीकरण होता है। अच्छे-से-अच्छे रूप में यह प्राणिक व्यक्तित्व का कोष होता है जो शरीर छोड़ने के बाद भी कुछ समयतक सामने रहता है। मृत्यु के बाद व्यक्तित्व के कोषों के परित्यक्त अवशेषों या कल्पित आकारों से होनेवाले संपर्क से उत्पन्न इन भ्रांतियों के अतिरिक्त कठिनाई का कारण यह भी होता है कि हमें अपनी प्रकृति के अंतस्तलीय भागों का ज्ञान नहीं होता, उनकी क्रियाओं के अध्यक्ष ''पुरुष'' के स्वरूप और शक्तियों का भी ज्ञान नहीं होता और इस अनुभवहीनता के कारण हम आसानी से आंतरिक मन या प्राणिक सत्ता की किसी भी चीज को चैत्य मानने की भूल कर सकते हैं। क्योंकि, जैसे सत् एक होते हुए बहु भी है वही विधान हमारे और हमारे भागों में भी लागू होता है : आत्मा, पुरुष एक है लेकिन वह अपने-आपको प्रकृति के रूपायणों के अनुसार बना लेता है। हमारी सत्ता के हर वर्ग पर आत्मा की एक शक्ति प्रमुख होती है। हमारे अंदर एक मनोमय आत्मा है, प्राणमय आत्मा है, भौतिक आत्मा है और जब हम काफी दूरतक अंदर की गहराइयों में पैठते हैं तो उन्हें खोज पाते हैं। एक मनोमय पुरुष है जो हमारी

मानसिक प्रकृति के विचारों, प्रत्यक्ष अनुभवों और क्रियाओं में अपना कोई अंश हमारी बाहरी सतह पर प्रकट करता है, एक प्राणमय पुरुष है जो हमारी प्राणिक प्रकृति के आवेगों, अनुभवों, संवेदनों, कामनाओं और बाहरी जीवन की क्रियाओं में अपना कोई अंश व्यक्त करता है, एक भौतिक सत्ता, शरीर की सत्ता है जो अपना कुछ अंश सहज-वृत्तियों, आदतों, हमारी भौतिक प्रकृति की रूपायित क्रियाओं में व्यक्त करती है। ये सत्ताएं, आत्मा की अंश-सत्ताएं हमारे अंदर आत्मा की शक्तियां हैं और इस कारण अपनी अस्थायी अभिव्यक्ति से सीमित नहीं हैं, क्योंकि जो इस तरह से रूपायित होता है वह उसकी संभावनाओं का खंड मात्र होता है; लेकिन यह अभिव्यक्ति एक अस्थायी मानसिक, प्राणिक या भौतिक व्यक्तित्व की रचना करती है जो उसी तरह बढ़ता और विकसित होता है जैसे हमारे भीतर चैत्य सत्ता या आंतरात्मिक व्यक्तित्व बढ़ता और विकसित होता है। हमारे समग्र पर हर एक का अपना स्पष्ट पृथक् स्वभाव, अपना प्रभाव और अपनी क्रिया होती है; लेकिन हमारी सतह पर ये सब प्रभाव और ये सब क्रियाएं जैसे-जैसे हमारी बाहरी सतह पर आती हैं, वहां घुल-मिल जाती हैं और एक मिली-जुली सतही सत्ता का निर्माण करती हैं जो उन सबका मिश्रित, एक संयुक्त रूप होती है, इस जीवन और उसके सीमित अनुभव के लिये एक बाहरी आग्रहपूर्ण और फिर भी सचल और परिवर्तनशील रूपायण होती है।

लेकिन यह समुच्चय अपने संघटन के कारण पचमेल मिश्रण होता है, एक सामंजस्यपूर्ण सजातीय समग्र नहीं, इसी कारण हमारे भागों में हमेशा अस्तव्यस्तता रहती है और संघर्ष भी। हमारी मानसिक बुद्धि और इच्छा इन्हें नियंत्रित करने और इनमें सामंजस्य लाने चलती हैं और उन्हें बहुधा इनकी अस्तव्यस्तता और संघर्ष में से किसी तरह की व्यवस्था और पथ-प्रदर्शन पैदा करने में बहुत कठिनाई होती है। फिर भी हम सामान्यतः अपनी प्रकृति के प्रवाह में बहुत ज्यादा बह जाते या उसके द्वारा परिचालित होते हैं और उस समय जो कुछ उसके सबसे ऊपरी भाग में आता है और विचार तथा कर्म के यंत्रों को पकड़ लेता है, उसीके अनुसार काम करते हैं—हमारा सुविवेचित लगनेवाला चुनाव भी, हमारी कल्पना से कहीं अधिक स्वतः-क्रिया होता है; हमारे बहुविध तत्त्वों और हमारे परिणामगत विचारों, भावनाओं, आवेगों, क्रियाओं का बुद्धि और इच्छा द्वारा हमारा सहयोजन अपूर्ण और अधकचरा होता है। पशु-सत्ता में प्रकृति अपनी ही मानसिक और प्राणिक सहज-वृत्तियों द्वारा कार्य करती है। वह अभ्यास और सहज-वृत्ति की बाध्यता के द्वारा एक ऐसी व्यवस्था कार्यान्वित करती है जिसका पशु इतने निर्विवाद रूप से पालन करता है कि उसकी चेतना के स्थानांतरण से कोई फर्क नहीं पड़ता। लेकिन मनुष्य अपनी मानवता के परम अधिकार को खोये बिना ठीक उसी तरह से क्रिया नहीं कर सकता। वह अपनी सत्ता को प्रकृति के स्वचालन द्वारा नियंत्रित सहज-वृत्तियों और

आवेगों की अस्तव्यस्तता में नहीं छोड़ सकता। उसमें मन सचेतन हो चुका है अतः वह अपने-आप बाधित होता है कुछ प्रयास करने के लिये, वह बहुतों में चाहे कितना भी प्रारंभिक क्यों न हो, देखने और नियंत्रित करने और अंततः अधिकाधिक पूर्णता के साथ विविध घटकों, विभिन्न संघर्षरत प्रवृत्तियों में, जो उसकी सतही सत्ता को बनाती हुई मालूम होती हैं, सामंजस्य लाने का प्रयास करता है। वह अपने अंदर एक तरह की नियंत्रित अस्तव्यस्तता या व्यवस्थित घपला प्रस्तुत करने में सफलता पा लेता है या कम-से-कम यह सोचने में सफल होता है कि वह अपने-आपको मन और इच्छा द्वारा निर्देशित कर रहा है, यद्यपि तथ्य है कि वह निर्देशन केवल आंशिक होता है क्योंकि अभ्यासगत प्रेरक शक्तियों का कोई विषम संकाय ही नहीं बल्कि नयी उभरनेवाली प्राणिक और भौतिक प्रवृत्तियां और आवेग भी, जिनका हमेशा हिसाब नहीं रखा जा सकता, या नियंत्रण नहीं रखा जा सकता, बहुत-से असंगत, असामंजस्यपूर्ण मानसिक तत्त्व भी उसकी बुद्धि और इच्छा का उपयोग करते हैं, उसमें प्रवेश करते और उसके आत्म-निर्माण, प्रकृति-विकास और जीवन-क्रिया का निर्धारण करते हैं। मनुष्य अपनी आत्मा में अद्वितीय पुरुष है लेकिन आत्मा की अभिव्यक्ति में बहु-पुरुष भी है। वह अपने ऊपर प्रभुत्व पाने में तबतक सफल न होगा जबतक कि पुरुष अपने-आपको अपने बहु-पुरुषत्व पर आरोपित न करे और उसपर शासन न करे। लेकिन यह सतही मानसिक इच्छा और बुद्धि के द्वारा अधूरे रूप में ही किया जा सकता है; यह पूरी तरह तभी किया जा सकता है जब वह अपने अंदर पैठे और वहां जो केंद्रीय सत्ता अपने प्रधान प्रभाव से उसकी सारी अभिव्यक्ति और कर्म की अध्यक्षता करती है उसे खोज सके। अंतर्तम सत्य में उसकी अंतरात्मा ही यह केंद्रीय सत्ता है लेकिन बाहरी वास्तविकता यह होती है कि प्रायः उसकी अंश-सत्ताओं में से एक या दूसरी उसपर शासन करती है और वह अंतरात्मा के इस प्रतिनिधि को, इस अवर-आत्मा को अंतर्तम आंतरात्मिक तत्त्व मान बैठने की भूल कर सकता है।

मानव व्यक्तित्व के विकास की स्थितियों के मूल में हमारे अंदर विभिन्न पुरुषों का यह शासन ही है और इनके भेद को स्पष्ट करने का अवसर हमें मिल चुका है। अब हम आंतरिक तत्त्व द्वारा प्रकृति पर शासन की दृष्टि से इनपर फिर से विचार कर सकते हैं। कुछ मनुष्यों में भौतिक पुरुष या शरीर की सत्ता मन, इच्छा और क्रिया पर अधिकार जमाती है; उससे भौतिक मनुष्य की रचना होती है जो मुख्य रूप से अपने शारीरिक जीवन, अभ्यासगत आवश्यकताओं, आवेगों, प्राणगत अभ्यासों, मानसिक अभ्यासों, शारीरिक अभ्यासों में ही व्यस्त रहता है, उनके परे बहुत ही कम या बिल्कुल नहीं देखता, अपनी अन्य सभी प्रवृत्तियों और संभावनाओं को उस संकीर्ण रूपायन के आधीन और वहींतक सीमित रखता है। लेकिन भौतिक मनुष्य में भी अन्य तत्त्व होते हैं और वह पूरी तरह मानव-पशु की तरह नहीं रह

सकता जो जन्म, मरण और प्रजनन तथा सामान्य आवेगों और कामनाओं से संतुष्ट रहे और प्राण तथा शरीर के भरण-पोषण में ही व्यस्त रहे। यह उसके व्यक्तित्व का सामान्य प्रकार है लेकिन उसे पार किया जा सकता है, चाहे जितने क्षीण रूप में क्यों न हो, ऐसे प्रभावों द्वारा—अगर उन्हें विकसित किया जाये—जिनसे वह उच्चतर मानव विकास की ओर आगे बढ़ सकता है। अगर आंतरिक सूक्ष्म-भौतिक पुरुष आग्रह करे तो वह सूक्ष्मतर, अधिक सुंदर और पूर्ण भौतिक जीवन के भावतक पहुंच सकता है और उसे स्वयं अपने या सामुदायिक या दलीय जीवन में चरितार्थ करने की कोशिश या आशा कर सकता है। औरों में प्राण पुरुष यानी प्राणिक सत्ता ही मन, इच्छा और क्रिया पर आधिपत्य रखती और शासन करती है। तब प्राणिक मनुष्य की रचना होती है जो अपने प्रतिष्ठापन, विवर्धन और प्राण-परिवर्धन से, महत्त्वाकांक्षा, आवेग, आवेश और कामना की तुष्टि से, अहंकार के दावों, प्रभुता, शक्ति, उत्तेजना, युद्ध और संघर्ष से, भीतरी और बाहरी साहसिक कार्य में ही रस लेता है; बाकी सब आनुषंगिक होता है या प्राणिक अहं की इस गति, रचना और अभिव्यक्ति के आधीन रहता है। लेकिन फिर भी, प्राणिक मनुष्य में भी बढ़ते हुए मन या आध्यात्म स्वरूप के अन्य तत्त्व होते या हो सकते हैं, चाहे वे उसके प्राणिक व्यक्तित्व और प्राण-शक्ति से कम विकसित क्यों न हों। प्राणिक मनुष्य का स्वभाव अधिक सक्रिय, अधिक बलवान् और गतिशील, अधिक अस्त-व्यस्त और अव्यवस्थित, यहांतक कि प्रायः उस भौतिक मनुष्य की अपेक्षा एकदम अनियंत्रित होता है जो धरा को ही पकड़े रहता है जिसमें जड़ संतुलन और समतोल होता है, लेकिन प्राणिक मनुष्य अधिक गत्यात्मक और सृजनात्मक होता है क्योंकि प्राणिक सत्ता का तत्त्व पृथ्वी नहीं, वायु है; उसमें अधिक गति और कम स्थिति होती है। ओजस्वी प्राणिक मन और इच्छा गतिज प्राणिक ऊर्जाओं को ग्रहण कर सकती और उनपर शासन कर सकती है लेकिन यह सत्ता के सामंजस्य की अपेक्षा बलपूर्वक बाध्यता और नियंत्रण के कारण होता है। फिर भी अगर एक प्रबल प्राणिक व्यक्तित्व को मन और इच्छा को दृढ़ समर्थन देने के लिये तर्क-सम्मत बुद्धि मिल जाये और वह उसकी मंत्री बन जाये तो एक प्रकार का सशक्त रूपायण बनाया जा सकता है जो न्यूनाधिक रूप से संतुलित, सदा शक्तिशाली, सफल और प्रभावशाली होगा जो अपने-आपको प्रकृति और परिवेश पर आरोपित कर सकता है और जो जीवन में और क्रिया में प्रबल आत्म-प्रतिष्ठापनतक पहुंच सकता है। प्रकृति के आरोहण में यह सामंजस्यपूर्ण रूपायण का दूसरा संभव चरण है।

व्यक्तित्व के विकास की एक उच्चतर स्थिति में मन की सत्ता शासन कर सकती है। तब मानसिक मनुष्य की रचना होती है जो मुख्य रूप से मन में निवास करता है जैसे दूसरे प्राणिक या भौतिक प्रकृति में निवास करते हैं। मानसिक मनुष्य अपनी बाकी सत्ता को अपनी मानसिक अभिव्यक्ति, मानसिक लक्ष्य, मानसिक हित या

मानसिक भाव या आदर्श के अधीन रखने की ओर प्रवृत्त होता है। इस अधीनता की कठिनाई और जब वह प्राप्त हो जाये तो उसके प्रबल प्रभाव के कारण मनुष्य के लिये अपनी प्रकृति में सामंजस्यतक पहुंचना अधिक कठिन भी है और साथ ही अधिक आसान भी। आसान है क्योंकि मानसिक संकल्प एक बार अधिकार जमा ले तो तर्क-बुद्धि की शक्ति द्वारा वह आश्वस्त कर सकता है और साथ ही प्राण, शरीर और उनकी मांगों पर प्रभुत्व जमा सकता, उन्हें संक्षिप्त कर सकता या दबा सकता है, उन्हें व्यवस्थित कर सकता या उनमें सामंजस्य ला सकता है, उन्हें अपना उपकरण बनने के लिये बाधित कर सकता या उन्हें इतना छोटे-से-छोटा रूप दे सकता है कि वे मानसिक जीवन में बाधा न दे सकें या उसे उद्भावना करनेवाली या आदर्श बनानेवाली गति से नीचे न खींच सकें। यह अधिक कठिन है क्योंकि प्राण और शरीर पहली शक्तियां हैं और अगर वे जरा भी शक्तिशाली हैं तो अपने-आपको लगभग अबाध्य आग्रह के साथ मानसिक शासक पर आरोपित कर सकती हैं। मनुष्य मानसिक सत्ता है और मन उसके प्राण और शरीर का नेता है। लेकिन है ऐसा नेता जिसके अनुयायी उसका बहुत अधिक पथ-प्रदर्शन करते हैं और कभी-कभी तो उनकी थोपी हुई इच्छा के सिवा उसकी कोई इच्छा नहीं होती। अपनी सारी शक्ति के बावजूद मन बहुधा निश्चेतना और अवचेतना के आगे असमर्थ होता है जो उसकी स्पष्टता को धुंधला कर देती हैं और उसे सहज प्रवृत्ति या आवेग की लहरों पर ले जाती हैं। उसकी स्पष्टता के बावजूद प्राणिक और भावमय सुझाव उसे मूर्ख बनाकर अज्ञान और भ्रांति, गलत विचार और गलत क्रिया के लिये स्वीकृति ले लेते हैं या फिर वह देखते रहने के लिये बाधित होता है जब प्रकृति ऐसी लीक अपनाती है जिसे वह गलत, भयानक या अशुभ जानता है। जब मन प्रबल, स्पष्ट और प्रमुख हो तब भी, वह यद्यपि एक तरह का निश्चित मानसिक सामंजस्य आरोपित करता है फिर भी, वह सारी सत्ता और प्रकृति को समाकलित नहीं कर सकता। और फिर अवर नियंत्रण द्वारा किये गये ये सामंजस्य अनिर्णायक ही रहते हैं क्योंकि प्रकृति का एक भाग शासन करता और अपने-आपको पूर्ण बनाता है और दूसरों को दबाया जाता और पूर्णता से वंचित रखा जाता है। ये सामंजस्य मार्ग के चरण हो सकते हैं परंतु अंतिम नहीं; अतः अधिकतर मनुष्यों में ऐसा एकमात्र प्रभुत्व और निष्पादित आंशिक सामंजस्य नहीं होता, केवल एक की प्रधानता होती है और बाकी के लिये तो एक ऐसे व्यक्तित्व की एक अस्थायी साम्यावस्था होती है जिसकी आधी रचना हो चुकी है और आधी हो रही है और कभी-कभी केंद्रीय शासन के अभाव से या किसी पूर्वप्राप्त आंशिक साम्यावस्था में खलल पड़ने से असाम्यावस्था या असंतुलन की अवस्था हो जाती है। सब कुछ सांक्रांतिक ही होगा जबतक कि अपने वास्तविक केंद्र को खोजकर, अंतिम तो नहीं पर पहला सच्चा सामंजस्य प्राप्त न हो जाये। क्योंकि, सच्ची केंद्रीय

सत्ता है अंतरात्मा और यह सत्ता साधारणतः पीछे खड़ी रहती है और अधिकतर मानव प्रकृतियों में केवल गुप्त साक्षी या यूं कहें एक संवैधानिक शासक होती है जो अपनी ओर से अपने मंत्रियों को शासन करने देती है, उन्हें अपने साम्राज्य के अधिकार सौंप देती है, उनके फैसलों पर मौन स्वीकृति दे देती है और केवल कभी-कदास ही एक-आध शब्द कह देती है जिसकी वे किसी भी समय अवहेलना कर सकते हैं और उससे उल्टा काम कर सकते हैं। लेकिन यह तभीतक होता है जबतक चैत्य सत्ता द्वारा निसृत आंतरात्मिक व्यक्तित्व काफी विकसित न हो, लेकिन जब यह इतना काफी मजबूत हो कि अंतरिक सत्ता उसके द्वारा अपने-आपको आरोपित कर सके तो अंतरात्मा सामने आकर प्रकृति का शासन कर सकती है। इस सच्चे राजा के सामने आने और शासन की बागडोर अपने हाथ में लेने से हमारी सत्ता और हमारे जीवन का सच्चा सामंजस्य हो सकता है।

अंतरात्मा के पूरी तरह से बाहर आने की पहली शर्त है सतही सत्ता का आध्यात्मिक सद्वस्तु के साथ सीधा संपर्क। चूंकि चैत्य तत्त्व वहीं से आता है इसलिये दृश्य प्रकृति में जो कुछ उच्चतर सद्वस्तु की चीज मालूम होती है, उसके चिह्न या स्वरूप की तरह स्वीकार की जा सकती है, वह सदा उसीकी ओर मुड़ता है। पहले वह इस सद्वस्तु को शुभ, सत्य, सुंदर के द्वारा, उस सबके द्वारा खोजता है जो शुद्ध, उत्कृष्ट उच्च और उदात्त है। लेकिन यद्यपि बाहरी चिह्नों और लक्षणों द्वारा यह स्पर्श प्रकृति में हेर-फेर कर सकता है, उसे तैयार कर सकता है लेकिन वह उसे पूरी तरह से या अंदर की गहराइयों में बदल नहीं सकता। इस तरह के अंतरतम परिवर्तन के लिये स्वयं सद्वस्तु के साथ प्रत्यक्ष संपर्क अनिवार्य है क्योंकि और कोई चीज हमारी सत्ता के आधार को इतनी गहराईतक छूकर आलोड़ित नहीं कर सकती या अपने आलोड़न से प्रकृति को तत्वांतरण के खमीर में नहीं डाल सकती। मानसिक प्रतिरूपों, भावात्मक और क्रियाशील रूपों का अपना उपयोग और मूल्य होता है। सत्य, शुभ और सुंदर अपने-आपमें सद्वस्तु की प्रारंभिक और सशक्त आकृतियां हैं और उन्हें जिन रूपों में मन देखता है, हृदय जैसे अनुभव करता है और जीवन में उन्हें जैसे चरितार्थ किया जाता है वे भी आरोहण की रेखाएं हो सकते हैं लेकिन उनके और जिस तत् का वे प्रतिनिधित्व करते हैं उसके आध्यात्मिक पदार्थ और सत्ता में ही उसे हमारे अनुभव में आना होगा।

अंतरात्मा इस संपर्क को पाने के लिये मुख्य रूप से मननशील मन को माध्यम और यंत्र बनाकर प्रयास कर सकती है। वह बुद्धि पर अंतर्दृष्टि के बृहत्तर मन और अंतर्भासिक बुद्धि पर चैत्य छाप लगाकर उन्हें उस दिशा में मोड़ देती है। अपने उच्चतम रूप में विचारशील मन सदा अवैयक्तिक की ओर खिंचता है, अपनी खोज में वह आध्यात्मिक सारतत्त्व के बारे में, निराकार सद्वस्तु के बारे में सचेतन होता है जो इन सभी बाहरी चिह्नों और लक्षणों में अपने-आपको अभिव्यक्त करती

है लेकिन वह किसी भी रूपायण या किसी भी अभिव्यक्त करनेवाली आकृति से बढ़कर कुछ और होती है। मन किसी ऐसी चीज का अनुभव करता है जिसके बारे में वह घनिष्ठ और अदृश्य रूप से अभिज्ञ है—परम सत्य, परम शुभ, परम सौंदर्य, परम शुद्धि, परम आनंद का उसे अनुभव होता है। वह एक बढ़ते हुए स्पर्श का अनुभव करता है जो क्रमशः कम अगोचर और अमूर्त, अधिकाधिक आध्यात्मिक रूप से वास्तविक और ठोस होता है, वह उस शाश्वतता और अनंतता का स्पर्श और चाप है जो वह सब है जो यहां है और उससे बढ़कर भी है। इस निर्वैयक्तिकता का एक दबाव होता है जो समूचे मन को अपने ही रूप में ढालना चाहता है, साथ ही वस्तुओं का निर्वैयक्तिक रहस्य और विधान भी अधिकाधिक दृष्टिगोचर होने लगता है। मन विकसित होकर ज्ञानी का मन बन जाता है, पहले उच्चतर मनीषी मन फिर आध्यात्मिक संत का मन जो विचार की अमूर्तताओं के परे प्रत्यक्ष अनुभूतियों के आरंभतक चला जाता है। परिणाम-स्वरूप मन शुद्ध, विशाल, शांत, निर्वैयक्तिक बन जाता है, प्राण के भागों पर भी ऐसा ही शामक प्रभाव होता है क्योंकि अन्यथा परिणाम अधूरा रह सकता है क्योंकि मानसिक परिवर्तन ज्यादा स्वाभाविक रूप से एक आंतरिक स्थिति और बाह्य अचंचलता की ओर ले जाता है लेकिन इसे शुद्ध करनेवाली निश्चलता में स्थित रहकर, प्राण के भागों की तरह नयी प्राणिक ऊर्जाओं की खोज की ओर अनाकर्षित रहकर वह प्रकृति पर पूरे गतिशील प्रभाव के लिये दबाव नहीं डालता।

मन के द्वारा उच्चतर प्रयास इस संतुलन को नहीं बदलता क्योंकि आध्यात्मिकभावापन्न मन की प्रवृत्ति ऊपर चढ़ने की होती है और चूंकि अपने से ऊपर के क्षेत्र में मन रूपों पर अधिकार खो बैठता है अतः वह बृहत् निराकार, अलक्षण निर्वैयक्तिकता में प्रवेश करता है। वह अपरिवर्तनशील आत्मा के बारे में, शुद्ध आध्यात्म पुरुष के बारे में, तात्त्विक सत् की शुद्ध अनुर्वरता, रूपहीन अनंत और नामहीन निरपेक्ष के बारे में अभिज्ञ हो जाता है। इस चरम परिणतितक ज्यादा सीधी तरह पहुंचा जा सकता है, तुरंत सभी रूपों और आकारों, सभी शुभ-अशुभ, सत्य और मिथ्या, सुंदर और असुन्दर के सभी भावों के परे, सकल द्वंद्वों से अतीत तत् की ओर, उस परम एकत्व, अनंतता, शाश्वतता की अनुभूति या आत्मा या आध्यात्म सत्ता के विषय में मन के चरम और परम ज्ञान के किसी और अनिर्वचनीय उदात्तीकरण की अनुभूति की ओर प्रवृत्त होने से। आध्यात्मभावापन्न चेतना प्राप्त होती है और प्राण अचंचल हो जाता है, शरीर की आवश्यकताएं और मांगें बंद हो जाती हैं, स्वयं अंतरात्मा आध्यात्मिक नीरवता में लीन हो जाती है। लेकिन मन द्वारा यह रूपांतर हमें पूर्ण रूपांतर नहीं देता। चैत्य रूपांतरण की जगह सूक्ष्म और उच्च शिखरों पर आध्यात्मिक परिवर्तन आ जाता है परंतु यह प्रकृति का पूर्ण रूप से दिव्य गतिशील बन जाना नहीं है।

प्रत्यक्ष संपर्क की ओर अंतरात्मा का दूसरा उपगमन हृदय द्वारा होता है। यह उसका अपना अधिक निकटस्थ और तेज मार्ग है क्योंकि इसका गुह्य आसन वहीं एकदम पीछे हृदय-केंद्र में, हमारी भावात्मक सत्ता के साथ घनिष्ठ संपर्क में होता है। परिणामतः शुरू में वह भावों के द्वारा ही अपनी सहज शक्ति से, ठोस अनुभव की अपनी जीवंत शक्ति द्वारा उत्तम रूप से क्रिया कर सकता है। सर्व-सुंदर, सर्व-आनंद, सर्व-शुभ, सत्य, प्रेम की आध्यात्मिक सद्वस्तु का प्रेम और आराधना के द्वारा ही उपगमन किया जाता है; सौंदर्यग्राही और भावुक भाग साथ मिलकर, वे जिसे पूजते हैं उसके प्रति अंतरात्मा, प्राण और समस्त प्रकृति को अर्पित करते हैं। पूजा द्वारा यह उपगमन अपनी पूरी शक्ति और पूरा आवेग तभी पा सकता है जब मन निर्वैयक्तिकता के परे परम वैयक्तिक पुरुष की अभिज्ञतातक जा पहुंचता है, तब सब कुछ तीव्र, स्पष्ट, ठोस हो जाता है; हृदय के आवेश, अनुभव, आध्यात्मिकभावापन्न बोध अपनी पराकाष्ठातक जा पहुंचते हैं, संपूर्ण आत्मदान संभव, अनिवार्य हो जाता है। उदीयमान आध्यात्मिक मनुष्य भावनाशील प्रकृति में भक्त बनकर प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त अगर वह अपनी अंतरात्मा और उसके आदेशों की प्रत्यक्ष अभिज्ञता पा लेता है, अपने भावप्रधान व्यक्तित्व को अपने चैत्य व्यक्तित्व के साथ मिला देता है और अपने जीवन और प्राणिक अंगों को शुद्धि, भागवत-आनंद, भगवान्, मनुष्यों और सभी प्राणियों के लिये प्रेम के द्वारा आध्यात्मिक सौंदर्य की चीज में बदल देता है जो भागवत प्रकाश और शुभ से भरी हो तो वह संत बन जाता है और उच्चतम आंतरिक अनुभूतियोंतक, प्रकृति के उस अधिकतम परिवर्तनतक पहुंच जाता है जो दिव्य सत्तातक पहुंचने के इस मार्ग के लिये उचित है। लेकिन संपूर्ण रूपांतर के लिये यह भी पर्याप्त नहीं है। चिंतनशील मन और चेतना के समस्त प्राणिक और भौतिक अंगों का स्वधर्म में रूपांतर होना जरूरी है।

यह विशालतर परिवर्तन हृदय की अनुभूतियों के साथ व्यावहारिक इच्छा-शक्ति के उत्सर्ग को जोड़ने से आंशिक रूप से सिद्ध हो सकता है। यह जरूरी है कि यह उत्सर्ग अपने साथ उस व्यावहारिक प्राणिक अंग को लिये रहे जो मानसिक क्रियाशीलता को आधार देती है और बाहरी क्रिया के लिये हमारा पहला यंत्र है, क्योंकि अगर ऐसा न हो तो उत्सर्ग प्रभावी नहीं हो सकता। कर्म में इच्छा का यह उत्सर्ग अहंकारमय इच्छा और उसकी कामना की प्रेरक शक्ति को धीरे-धीरे विलोपन करके आगे बढ़ता है, अहंकार अपने-आपको किसी उच्चतर विधान के अधीन करके अंततः अपने-आपको मिटा देता है और ऐसा लगता है कि उसका अस्तित्व ही नहीं है और अगर है भी तो किसी उच्चतर शक्ति या उच्चतर सत्य की सेवा करने के लिये या अपनी इच्छा और अपनी क्रिया को यंत्र के रूप में दिव्य सत्ता की भेंट करने के लिये। तब सत्ता और कर्म का जो विधान या सत्य का जो

प्रकाश जिज्ञासु का पथ-प्रदर्शन करता है वह एक ऐसी स्पष्टता या शक्ति या तत्त्व हो सकता है जिसे वह अपनी अधिक-से-अधिक ऊंचाई से देख सकता है, जहांतक उसके मन की पहुंच है या फिर वह दिव्य इच्छा का सत्य हो सकता है जिसे वह अपने अंदर उपस्थित और कार्य करते हुए पाता है या एक प्रकाश, एक शब्द, एक शक्ति, एक दिव्य पुरुष या उपस्थिति द्वारा मार्ग-निर्देशन करते हुए पाता है। अंत में इस मार्ग से मनुष्य ऐसी चेतना में जा पहुंचता है जहां उसे अनुभव होता है कि शक्ति या उपस्थिति उसमें क्रिया कर रही है और सभी कर्मों को चला रही है और उनपर शासन कर रही है और व्यक्तिगत इच्छा पूरी तरह महत्तर सत्य-संकल्प, सत्य-शक्ति या सत्य-उपस्थिति को समर्पित या उसके साथ एकात्म है। इन तीनों उपगमनों का मेल—मन का उपगमन, इच्छा-शक्ति का उपगमन, हृदय का उपगमन—सतही सत्ता और प्रकृति की एक आध्यात्मिक या चैत्य अवस्था बना देता है जिसके अंदर विशालतर और जटिलतर उन्मीलन होता है, हमारे भीतर के चैत्य प्रकाश, आध्यात्मिक पुरुष या ईश्वर के प्रति, उस सद्वस्तु के प्रति जिसका अनुभव अभी हमारे ऊपर, हमें आवृत करते हुए या हमें भेदते हुए होता है। प्रकृति में अधिक सशक्त और बहुमुखी परिवर्तन होता है। एक आध्यात्मिक निर्माण, आत्म-सृजन होता है, संत, निःस्वार्थ कार्य-कर्ता और आध्यात्मिक ज्ञानवाले मनुष्य की संयुक्त पूर्णता का आविर्भाव होता है।

लेकिन यह परिवर्तन अपनी विशालतम समग्रता और गहनतम संपूर्णतातक पहुंचे इसके लिये जरूरी है कि चेतना अपने केंद्र और अपनी गतिशील और स्थैतिक स्थिति को सतह से भीतरी सत्ता में ले जाये। हमें वहींपर अपने विचार, जीवन और क्रिया की नींव खोजनी होगी। बाहर अपनी सतह पर खड़े होकर आंतरिक सत्ता से सूचनाएं पाना और उनका अनुसरण करना काफी रूपांतर नहीं है। हमें बाहरी व्यक्तित्व होना बंद करके भीतरी व्यक्ति, पुरुष बनना चाहिये। लेकिन यह कठिन है, पहले तो इस कारण कि बाहरी प्रकृति इस गति का विरोध करती और अपनी सामान्य अभ्यस्त स्थिति और बाहर की ओर मुड़े हुए जीवन-मार्ग से चिपकी रहती है और इसपर यह कि सतह से उन गहराइयोंतक का रास्ता लंबा है जहां चैत्य सत्ता हमसे छिपी रहती है और यह बीच का स्थान अंतस्तलीय प्रकृति और प्रकृति-गतियों से भरा रहता है और किसी हालत में भी वे सब अंतर्मुखी गति को पूरा करने के लिये अनुकूल नहीं होतीं। बाहरी प्रकृति को स्थिति के परिवर्तन, अपने द्रव्य और ऊर्जा के शांतिकरण, शुद्धि और सूक्ष्म परिवर्तन में से गुजरना होगा जिससे उसमें रहनेवाली कई बाधाएं क्षीण हो जायें, झड़ जायें या किसी तरह गायब हो जायें। तब हमारी सत्ता की गहराइयोंतक पहुंचना संभव होता है और इस तरह पहुंची हुई गहराइयों से एक नयी चेतना बन सकती है, बाहरी आत्मा के पीछे भी और उसके अंदर भी, जो गहराइयों को सतह के साथ जोड़ेगी। हमारे अंदर एक

ऐसी चेतना को विकसित या अभिव्यक्त होना चाहिये जो गहनतर और उच्चतर सत्ता की ओर अधिक-से-अधिक खुली हो, जो वैश्व आत्मा और शक्ति तथा जो परात्पर से नीचे आता हो उसके प्रति अधिकाधिक अनावृत हो, जो उच्चतर शांति की ओर मुड़ी हुई हो, विशालतर प्रकाश, शक्ति और आनंद के लिये प्रवेश्य हो, एक ऐसी चेतना हो जो लघु व्यक्तित्व का व्यतिक्रम करे, सतही मन के सीमित प्रकाश और अनुभूति को, सामान्य प्राण-चेतना की सीमित शक्ति और अभीप्सा को, शरीर की अंधेरी और सीमित प्रत्युत्तरशीलता को पार कर गयी हो।

बाहरी चेतना की शांतिदायिनी शुद्धि के कार्यान्वित होने से पहले या उसके पर्याप्त होने से पहले भी आदमी पुकार और अभीप्सा की प्रबल शक्ति, जोरदार इच्छा-शक्ति या उग्र प्रयास या प्रभावकारी अनुशासन या प्रक्रिया द्वारा उस दीवार को ढा सकता है जो हमारी आंतरिक चेतना और बाहरी अभिज्ञता को एक दूसरे से अलग करती है; लेकिन यह असामयिक गति हो सकती है जो अपने गंभीर खतरों से खाली नहीं। हो सकता है कि भीतर प्रवेश करते हुए हम अपने-आपको अपरिचित और अधिसामान्य अनुभवों के कोलाहल के बीच में पायें जिनकी चाबी हमारे पास नहीं है या अपने-आपको अवचेतन, मानसिक, प्राणिक, सूक्ष्म भौतिक प्रकार की ऐसी अंतस्तलीय या वैश्व शक्तियों की भीड़-भाड़ के बीच में पायें जो सत्ता को अनुचित रूप से डुला सकती या इतस्ततः हांक सकती, उसे अंधेरे की गुफा में घेर सकती, या तड़क-भड़क के, प्रलोभन या धोखा-धड़ी के बीहड़ में भटकाती रख सकती हैं या ऐसे अंधेरे रणक्षेत्र में धकेल सकती हैं जो गुप्त, धोखेबाज, भ्रामक या खुले आम उग्र विरोधों से भरा हो। आंतरिक इन्द्रियों, दृष्टि और श्रवण के आगे ऐसी सत्ताएं, आवाजें और प्रभाव प्रकट हो सकते हैं जो दिव्य सत्ता या उसके संदेश-वाहक या प्रकाश की शक्तियां या उसके देव या उपलब्धि के मार्ग-दर्शक होने का दावा करें जब कि सचमुच वे बहुत ही भिन्न स्वभाव के होते हैं। अगर जिज्ञासु के स्वभाव में बहुत अधिक अहंकार है या प्रबल आवेग या अत्यधिक महत्त्वाकांक्षा, दर्प या अन्य प्रमुख दुर्बलता है या मन का धुंधलापन या ढुलमुल इच्छाशक्ति या प्राण-शक्ति की कमजोरी है या उसमें अस्थिरता है या संतुलन का अभाव है तो संभावना यह है कि इन त्रुटियों द्वारा वह पकड़ लिया जाये और कुंठित हो जाये, विपथगामी बन जाये, आंतरिक जीवन और जिज्ञासा के सच्चे मार्ग से मिथ्या मार्गों में भटका दिया जाये या अनुभवों की मध्यवर्ती अस्तव्यस्तता में भटकने के लिये छोड़ दिया जाये और सच्ची उपलब्धि का मार्ग खोजने में असफल हो जाये। अतीत के आध्यात्मिक अनुभव को इन संकटों का भली-भांति पता था और इनका सामना किया गया दीक्षा की आवश्यकता, अनुशासन और अग्निपरीक्षा द्वारा शुद्धि के और जांचने के तरीकों की आवश्यकता को आरोपित करके, ऐसे मार्ग खोजनेवाले या मार्ग-निर्देशक के आदेशों के प्रति

पूर्ण समर्पण द्वारा जिसने सत्य पा लिया है, जिसने प्रकाश पर अधिकार पा लिया है और जो औरों को भी प्रकाश और अनुभूति दे सकता है, एक ऐसा मार्गदर्शक जो इतना मजबूत हो कि हर कठिन मार्ग में से हाथ पकड़कर पार लगा सके, सच्चा मार्ग दिखाकर मार्ग-दर्शन कर सके। लेकिन इसके बावजूद संकट तो रहेंगे ही और उन्हें तभी पार किया जा सकता है अगर पूरी-पूरी सचाई हो या शुद्धि के लिये इच्छा, सत्य की आज्ञा मानने के लिये तैयारी, उच्चतम के प्रति समर्पण के लिये तैयारी, सीमित करनेवाले, स्वाग्रही अहंकार को खोने या भागवत जूए के अधीन कर देने के लिये तैयारी हो या ये चीजें विकसित हो रही हों। ये चीजें इस बात की निशानी हैं कि उपलब्धि के लिये, चेतना के परिवर्तन, रूपांतर के लिये सच्ची इच्छा मौजूद है, विकास का आवश्यक चरण आ गया है। उस अवस्था में मानव सत्ता की प्रकृति के दोष मानसिक से आध्यात्मिक स्थिति में परिवर्तन के मार्ग में स्थायी बाधा नहीं हो सकते। हो सकता है कि यह प्रक्रिया कभी बिल्कुल सरल न हो पाये फिर भी रास्ता खुल जायेगा और व्यवहार लायक बन जायेगा।

आंतरिक सत्ता के अंदर इस प्रवेश को सरल बनाने का एक प्रभावी तरीका, जो प्रायः काम में आता है, यह है कि पुरुष को, सचेतन सत्ता को प्रकृति से, रूपायित प्रकृति से अलग किया जाये। अगर हम मन और उसके क्रिया-कलाप के पीछे खड़े हों ताकि वे हमारी इच्छा के अनुसार चुप हो सकें या ऐसी सतही गति पर चलते रहें जिसके हम अनासक्त और निष्काम साक्षी-मात्र हैं तो अंततः यह संभव हो जाता है कि हम अपने-आपको मन के अंतः-पुरुष के रूप में, सच्ची शुद्ध मानसिक सत्ता, पुरुष के रूप में अनुभव करें, इसी भांति प्राणिक क्रियाओं से पीछे हटकर खड़े होने से यह संभव होता है कि हम अपने-आपको प्राण के अंतः-पुरुष, सच्ची शुद्ध प्राणिक सत्ता के रूप में अनुभव करें, शरीर का भी एक पुरुष है जिसके बारे में—सच्ची शुद्ध भौतिक सत्ता, पुरुष के बारे में—अभिज्ञ हुआ जा सकता है यदि शरीर उसकी मांगों और उसकी क्रियाओं से पीछे हटकर भौतिक चेतना की नीरवता में प्रवेश करे और वहांसे उसकी ऊर्जा की क्रिया का अवलोकन करे। इसी भांति प्रकृति के इन सभी क्रिया-कलापों से एक साथ या क्रमशः पीछे खड़े होने से अपनी आंतरिक सत्ता को नीरव निर्वैयक्तिक सत्ता या साक्षी पुरुष के रूप में अनुभव करना संभव होता है। यह आध्यात्मिक उपलब्धि और मुक्ति की ओर ले जायेगा पर आवश्यक रूप से रूपांतर नहीं लायेगा। क्योंकि हो सकता है कि अपने-आप मुक्त होने से संतुष्ट होकर पुरुष प्रकृति को निरवलंब क्रिया, यांत्रिक सातत्य द्वारा, जिसका उसकी स्वीकृति द्वारा न तो पुनर्नवीकरण हो, न जिसे नया बल, नया जीवन या दीर्घीकरण ही मिले, अपने संचित संवेग को खर्च कर डालने दे और इस अस्वीकृति को समस्त प्रकृति से हाथ खींच लेने का साधन बनाये। पुरुष को न केवल साक्षी बल्कि ज्ञाता और स्रोत, समस्त विचार और

क्रिया का स्वामी भी बनना होता है और जबतक मनुष्य मानसिक स्तर पर रहता है या उसे मन, प्राण और शरीर के सामान्य यंत्र-विन्यास का उपयोग करना पड़ता है तबतक यह आंशिक रूप में ही हो सकता है। निश्चय ही, कुछ हदतक स्वामित्व पाया जा सकता है लेकिन स्वामित्व रूपांतर नहीं है, उसके द्वारा किया गया परिवर्तन सर्वांगीण होने के लिये काफी नहीं है। उसके लिये पीछे जाना, मानसिक सत्ता, प्राणिक सत्ता और शारीरिक सत्ता के परे, हमारे अंदर अंतरतम और गहनतम चैत्य सत्तातक अंदर की गहराई में जाना या उच्चतम अतिचेतन क्षेत्रों की ओर खुलना आवश्यक है। क्योंकि अंतरात्मा के प्रकाशमय गुहागृह में प्रवेश पाने के लिये सभी मध्यवर्ती प्राणमय पदार्थों से लेकर भीतरी चैत्य-केंद्रतक पहुंचना होगा; यह प्रक्रिया चाहे जितनी लंबी, थकाऊ और कठिन क्यों न हो। सभी मानसिक, प्राणिक और भौतिक दावों, पुकारों और आवेगों से अनासक्त होने का तरीका, हृदय में एकाग्रता, तपस्या, आत्म-शुद्धि, पुरानी मानसिक गतियों, प्राणिक गतियों का त्याग, कामना के अहं का त्याग, मिथ्या आवश्यकताओं और मिथ्या आदतों का त्याग, ये सब इस कठिन मार्ग में उपयोगी सहायताएं हैं लेकिन सबसे मजबूत, सबसे अधिक केंद्रीय विधि है इन सभी या अन्य विधियों को आत्मोत्सर्ग पर और स्वयं अपने तथा अपनी प्रकृति के सभी भागों को दिव्य सत्ता, ईश्वर के प्रति समर्पण पर आधारित करना। कुछ गिने-चुने, विशेष प्रतिभावान् जिज्ञासुओं को छोड़कर बाकी सबके लिये गुरु के प्रज्ञावान्, अंतर्भासात्मक पथ-प्रदर्शन का पूरी तरह से पालन भी सामान्य और आवश्यक है।

जैसे-जैसे प्रकृति की बाहरी परत तड़कती, जैसे जैसे भीतरी अलगाव की दीवारें टूटकर गिरती हैं, आंतरिक प्रकाश निकलने लगता है, भीतरी आग हृदय में जलती है, प्रकृति का पदार्थ और चेतना का द्रव्य अधिक परिमार्जित होकर अधिक सूक्ष्म और शुद्ध हो जाते हैं और ऐसे गहनतर चैत्य अनुभव, ऐसे जो पूरी तरह आंतरिक-मानसिक या आंतरिक-प्राणिक लक्षणवाले नहीं हैं, वे इस सूक्ष्मतर, शुद्धतर, उत्कृष्ट पदार्थ में संभव हो जाते हैं। अंतरात्मा अपने-आपको अनावृत करने लगती है और चैत्य व्यक्तित्व अपनी पूर्ण महिमा को प्राप्त होता है। अंतरात्मा, चैत्य सत्ता तब अपने-आपको केंद्रीय सत्ता के रूप में प्रकट करती है जो मन, प्राण और शरीर को धारण करती और आत्मा की अन्य शक्तियों और क्रियाओं को सहारा देती है। वह प्रकृति के निर्देशक और शासक के रूप में अपने ज्यादा महत्त्वपूर्ण काम को हाथ में लेती है। अंदर से एक निदेशन, एक शासन शुरू होता है जो हर गति को सत्य की ज्योति के आगे खोलता है, जो कुछ मिथ्या, अंधकारमय, दिव्य उपलब्धि के विरुद्ध है उसे पीछे धकेलता है। सत्ता का हर क्षेत्र, उसका हर कोना, हर गति, विचार का हर रूपायण, दिशा और प्रवृत्ति, इच्छा, भाव, स्पंदन, क्रिया, प्रतिक्रिया, हेतु, रुचि, प्रवणता, कामना, भौतिक चेतना या अवचेतना के अभ्यास, जो अधिक-

से-अधिक छिपे हुए, छद्मवेशी, मूक, दुरूह हैं वे भी निर्भ्रांत चैत्य प्रकाश से आलोकित होते हैं, उनकी अस्त-व्यस्तताएं विच्छिन्न की जाती हैं, उनके जालों को सुलझा दिया जाता है, उनके धुंधलेपन, प्रवंचनाओं और आत्म-प्रवंचनाओं को यथार्थ रूप से निर्दिष्ट किया जाता और हटा दिया जाता है। सब कुछ शुद्ध किया और ठीक बैठाया जाता है, सारी प्रकृति को समन्वित किया और चैत्य स्वरग्राम के अनुसार ठीक बिठाया और आध्यात्मिक व्यवस्था में रखा जाता है। प्रकृति में बचे हुए अंधकार और प्रतिरोध की राशि के अनुसार यह प्रक्रिया तेज या धीमी हो सकती है, लेकिन जबतक कि यह पूरी न हो जाये तबतक लड़खड़ाए बिना चलती रहती है। अंतिम परिणाम के रूप में समस्त सचेतन सत्ता को हर प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूति के उपयुक्त बनाया जाता है, विचार, भाव, बोध, क्रिया के आध्यात्मिक सत्य की ओर मोड़ा जाता है और उचित प्रतिक्रियाओं के साथ ताल-मेल में बैठाया जाता है, तामसिक जड़ता के अंधकार और हठधर्मी से राजसिक आवेश की अशुद्धियों और गदलेपन और विक्षोभ से बेचैन, सामंजस्यहीन गतियों, प्रदीप्त कठोरताओं, सात्त्विक सीमाओं या निर्मित संतुलन के सधे हुए समतोल से मुक्त किया जाता है जो अज्ञान के विशेष लक्षण हैं।

यह पहला परिणाम है लेकिन दूसरा है सब तरह के आध्यात्मिक अनुभवों का मुक्त रूप से अंतर्वाह, आत्मा का अनुभव, ईश्वर और दिव्य शक्ति का अनुभव, वैश्व चेतना का अनुभव, वैश्व शक्तियों के साथ सीधा स्पर्श और वैश्व प्रकृति की गुह्य गतियों के साथ सीधा संपर्क, प्रकृति और अन्य सत्ताओं के साथ चैत्य सहानुभूति और ऐक्य, सब तरह का आंतरिक संचार और आदान-प्रदान, ज्ञान द्वारा मन की प्रदीप्ति, प्रेम, भक्ति और आध्यात्मिक हर्ष और आनंद द्वारा हृदय की प्रदीप्ति, उच्चतर अनुभव द्वारा इन्द्रियों और शरीर की प्रदीप्ति, शुद्ध मन, हृदय और अंतरात्मा के सत्य और उनकी विशालता में गतिशील क्रिया की प्रदीप्ति, दिव्य प्रकाश और पथ-प्रदर्शन की निश्चितियां, इच्छा-शक्ति और व्यवहार में कार्य करती हुई दिव्य शक्ति की सामर्थ्य और उसका आनंद—ये अनुभूतियां आंतरिक और अंतरतम सत्ता और प्रकृति के बाहर की ओर खुलने का परिणाम हैं क्योंकि तब अंतरात्मा की निर्भ्रांत अंतस्थ चेतना की शक्ति, उसकी दृष्टि, वस्तुओं पर उसका स्पर्श क्रीड़ा में आता है जो किसी भी मानसिक बोध से श्रेष्ठतर है; वहां, चैत्य चेतना के लिये उसकी शुद्ध क्रिया में सहजात होता है जगत् और उसकी सत्ताओं का प्रत्यक्ष बोध, उनके साथ प्रत्यक्ष आंतरिक संपर्क और आत्मा तथा परमात्मा के साथ प्रत्यक्ष संपर्क और साथ ही होता है प्रत्यक्ष ज्ञान, सत्य की और समस्त सत्यों की प्रत्यक्ष दृष्टि, आध्यात्मिक भाव और अनुभव की प्रत्यक्ष दृष्टि, आध्यात्मिक भाव और अनुभव का प्रत्यक्ष भेदन, सम्यक् इच्छा और सम्यक् क्रिया का प्रत्यक्ष अंतर्भास, ऊपरी सत्ता को टटोलने से नहीं बल्कि भीतर से, आत्मा के और वस्तुओं

के आंतरिक सत्य और प्रकृति की गुह्य वास्तविकताओं द्वारा सत्ता का शासन करने और उसकी व्यवस्था करने की शक्ति।

इनमें से कुछ अनुभूतियां अंतरात्मा या चैत्य सत्ता के पूरे आविर्भाव के बिना भी आंतरिक मानसिक और प्राणिक सत्ता के, हमारे अंदर आंतरिक विशालतर, सूक्ष्मतर मन, हृदय तथा जीवन के खुलने से भी प्राप्त हो सकती हैं क्योंकि वहां भी चेतना के प्रत्यक्ष संपर्क की शक्ति होती है, लेकिन तब अनुभूति मिश्रित प्रकार की हो सकती है क्योंकि तब केवल अंतस्तलीय ज्ञान का ही नहीं अंतस्तलीय अज्ञान का भी आविर्भाव हो सकता है। सत्ता का अपर्याप्त विस्तार, मानसिक विचार द्वारा सीमांकन, संकीर्ण और चयनात्मक भाव या स्वभाव के रूप द्वारा सीमांकन आसानी से हो सकता है जिससे केवल अपूर्ण आत्म-रचना और क्रिया हो सकती है, मुक्त आत्माविर्भाव नहीं। किसी या संपूर्ण चैत्य आविर्भाव के अभाव में, अमुक प्रकार के अनुभव, बृहत्तर ज्ञान और शक्ति की अनुभूतियां, सामान्य सीमाओं को लांघना, बढ़े हुए अहंकार की ओर ले जा सकते हैं और जो दिव्य या आध्यात्मिक है उसके प्रस्फुटन की जगह जो दानवी या राक्षसी है उसकी बाढ़ ला सकते हैं या ऐसी शक्तियों या माध्यमों को बुला सकते हैं जो भले इतनी अनर्थकारी प्रकार की न हों पर शक्तिशाली लेकिन निम्नतर वैश्व लक्षणों की हों। लेकिन अंतरात्मा का शासन और निर्देशन सभी अनुभूतियों में प्रकाश, एकीकरण, सामंजस्य और घनिष्ठ औचित्य की ओर झुकाव लाते हैं जो चैत्य तत्त्व के लिये सहज है। इस तरह का चैत्य, या ज्यादा विस्तृत अर्थ में कहें तो चैत्य-आध्यात्मिक रूपांतर, हमारी मानसिक मानव प्रकृति का एक बहुत विस्तृत परिवर्तन होगा।

लेकिन यह सारा परिवर्तन और यह सारा अनुभव, यद्यपि तत्त्वतः और स्वभावतः चैत्य और आध्यात्मिक है फिर भी वह जीवन पर अपना प्रभाव डालने में मानसिक, प्राणिक और भौतिक स्तर पर ही होगा। उसका क्रियाशील आध्यात्मिक परिणाम[1] होगा आत्मा का मन, प्राण और शरीर में प्रस्फुटन परंतु क्रिया और रूप में वह एक अवर यंत्र-विन्यास की सीमाओं के अंदर बंधा होगा—चाहे वे सीमाएं कितनी भी विस्तृत, उन्नत और सूक्ष्म क्यों न हों। यह उन चीजों की एक प्रतिबिंबित और क्षीण अभिव्यक्ति होगी जिनके सत्य, शक्ति और आनंद की पूरी सत्यता, तीव्रता, विशालता, एकता और विविधता हमसे ऊपर, मन से ऊपर और परिणामस्वरूप हमारी वर्तमान प्रकृति की भित्तियों या अधिरचना की, मन के अपने सूत्रों में आनेवाली किसी भी पूर्णता से ऊपर है। चैत्य या चैत्य-आध्यात्मिक परिवर्तन पर उच्चतम आध्यात्मिक रूपांतर को हस्तक्षेप करना चाहिये। आंतरिक

[1] चैत्य या आध्यात्मिक उन्मीलन अपने अनुभवों और परिणामों के साथ जीवन से दूर या निर्वाण की ओर ले जा सकते हैं। लेकिन यहां उनपर केवल प्रकृति के रूपांतर के चरणों के रूप में विचार किया जा रहा है।

सत्ता, हमारे अंदर स्थित आत्मा या दिव्यता की ओर भीतरी चैत्य गति की पूर्ति ऊपर की ओर, परम आध्यात्मिक स्थिति या उच्चतर सत्ता की ओर उन्मीलन से होनी चाहिये। यह हमारे ऊपर जो है उसकी ओर खुलने से, चेतना के अधिमन और अतिमानसिक प्रकृति की श्रेणियों में आरोहण से हो सकता है जिनमें आत्मा या आध्यात्म पुरुष का बोध हमेशा अनावृत और स्थायी रहता है और जिनमें आत्मा और आध्यात्म पुरुष का आलोकमय माध्यम हमारी मानसिक प्रकृति, प्राणिक प्रकृति, और शारीरिक प्रकृति की तरह सीमित या विभक्त नहीं होता। चैत्य परिवर्तन इसे भी संभव बनाता है क्योंकि जैसे वह हमें वैश्व चेतना की ओर खोलता है जो अभी व्यक्तित्व की सीमित करनेवाली बहुत-सी दीवारों से हमसे छिपी हुई है उसी तरह वह हमें उसके प्रति भी खोलता है जो अभी हमारी सामान्य अवस्था के लिये अतिचेतन है क्योंकि वह हमसे मन के मजबूत, कठोर और प्रकाशमय ढक्कन की वजह से छिपा हुआ है—ऐसे मन के जो संकुचित करता, विभाजन करता और अलग करता है। चैत्य-आध्यात्मिक परिवर्तन के अधीन और नयी आध्यात्मभावापन्न चेतना की स्वाभाविक प्रेरणा से, जिसकी वह यहांपर अभिव्यक्ति है, ढक्कन पतला हो जाता, फट जाता, टुकड़े-टुकड़े हो जाता है या खुलता और गायब हो जाता है। हो सकता है कि इस छिद्र का कार्यान्वयन और उसके परिणाम बिल्कुल न प्रकट हों यदि केवल एक आंशिक चैत्य आविर्भाव हो जो आध्यात्मभावापन्न मन की सामान्य श्रेणियों में दिव्य सद्वस्तु की अनुभूति से संतुष्ट हो। लेकिन अगर इन उच्चतर अतिसामान्य स्तरों के अस्तित्व के प्रति कोई जागृति है तो उनके प्रति अभीप्सा इस ढक्कन को तोड़ सकती या उसमें दरार पैदा कर सकती है। यह चैत्य-आध्यात्मिक परिवर्तन के पूरा होने से बहुत पहले या उसके भली-भांति शुद्ध होने या दूरतक जाने से बहुत पहले भी हो सकता है क्योंकि चैत्य व्यक्तित्व अतिचेतन के बारे में अभिज्ञ हो जाता है और उसमें उसके लिये उत्सुक एकाग्रता होती है। अभीप्सा या किसी आंतरिक तैयारी के परिणामस्वरूप जल्दी ही ऊपर से प्रदीप्ति आ सकती है या ऊपरी झिल्ली फट सकती है, या वह बिना बुलाये भी या मन के किसी सचेतन भाग द्वारा बुलाये बिना—शायद किसी गुप्त अंतस्तलीय आवश्यकता द्वारा या उच्चतर स्तरों से किसी क्रिया या दबाव द्वारा, किसी ऐसी चीज द्वारा जो दिव्य सत्ता का स्पर्श, आत्मा का स्पर्श मालूम हो—आ सकती है और उसके परिणाम बहुत अधिक शक्तिशाली हो सकते हैं। लेकिन अगर उसे नीचे से अधकचरे दबाव द्वारा लाया जाता है तो उसके साथ कठिनाइयां और संकट लगे रह सकते हैं जो हमारे आध्यात्मिक विकास के उच्चतर क्षेत्रों में तब अनुपस्थित होते हैं जब इस पहले प्रवेश से पूर्व पूर्ण चैत्य-आविर्भाव हो। लेकिन यह चुनाव हमेशा हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं होता क्योंकि हमारे अंदर आध्यात्मिक विकास की क्रियाएं बहुत अधिक विभिन्न प्रकार की होती हैं, उसने जिस रेखा का अनुसरण किया है चित् शक्ति की

क्रिया भी हर पर्व-संधि में उसके अनुरूप उच्चतर आत्माभिव्यक्ति की ओर और हमारी सत्ता के रूपायण की ओर अपनी प्रेरणा में मोड़ लेगी।

अगर मन के ढक्कन में दरार हो गयी है तो होता यह है कि दृष्टि हमसे ऊपर की किसी चीज की ओर खुल जाती है या हम उसकी ओर उठते हैं या उसकी शक्तियों का हमारी सत्ता में अवतरण होता है। दृष्टि के खुलने से हम जो देखते हैं वह है हमारे ऊपर अनंतता, एक शाश्वत उपस्थिति या एक अनंत सत्, चेतना की अनंतता, आनंद की अनंतता—एक असीम आत्मा, असीम प्रकाश, असीम शक्ति, असीम आनंद। हो सकता है कि एक लंबे समयतक बस उसका कभी-कदास, बहुधा या सतत दर्शन ही मिले, उसकी चाह और अभीप्सा हो पर इससे अधिक कुछ नहीं क्योंकि यद्यपि मन में, हृदय में, या सत्ता के किसी और भाग में कोई चीज इस अनुभूति की ओर खुली हो परंतु सब मिलाकर निम्न प्रकृति इससे अधिक के लिये अभीतक बहुत भारी और अंधकारमय हो। लेकिन नीचे से इस पहली विस्तृत अभिज्ञता के बदले या उसके बाद मन का अपने से ऊपर की ऊंचाइयों की ओर आरोहण हो सकता है। हो सकता है कि हम इन ऊंचाइयों के स्वरूप को न जानें या स्पष्टता से उन्हें न पहचान सकें पर आरोहण के परिणाम का कुछ-कुछ अनुभव होता है। साथ ही अंनत आरोहण और पुनरामगन की अभिज्ञता तो होती है परंतु उस उच्चतर स्थिति का कोई आलेख या अनुवाद नहीं होता। इसका कारण यह है कि यह मन के लिये अतिचेतन रहा है अतः जब मन उसतक उठ पाता है तो पहले अपने सचेतन विवेक की और विवेचन की शक्ति के अनुभव को नहीं रख पाता। लेकिन जब यह शक्ति जागना और क्रिया करना शुरू करती है, जब मन, जो उसके लिये अतिचेतन था, उसमें क्रमशः सचेतन होना शुरू करता है तब सत्ता के श्रेष्ठतर स्तरों का ज्ञान और अनुभव शुरू होता है। यह अनुभव उसके साथ मेल खाता है जिसे दृष्टि का पहला उन्मीलन हमारे लिये लाया था। मन शुद्ध, नीरव, शांत, असीम आत्मा के उच्चतर लोक में या ज्योति या आनंद के लोकों में उठ जाता है या उन प्रदेशों में उठता है जिनमें उसे अनंत शक्ति या दिव्य उपस्थिति की अनुभूति होती है या दिव्य प्रेम या सौंदर्य के या विशालतर, श्रेष्ठतर, ज्योतिर्मय ज्ञान के वातावरण के संपर्क का अनुभव होता है। वापसी में आध्यात्मिक छाप तो रहती है लेकिन मानसिक आलेखन धुंधला पड़ जाता है और एक अस्पष्ट या खंडित स्मृति के रूप में रहता है; निम्नतर चेतना, जिसमें से आरोहण हुआ था, फिर से वहीं जा गिरती है जहां वह थी। उसमें बस जुड़ी होती है एक याद न रखी हुई या याद रखी हुई परंतु क्रियाशीलता-विहीन अनुभूति। कालक्रम में आरोहण अपनी इच्छा के अनुसार किया जा सकता है और चेतना आत्मा के उच्चतर देशों में अपनी अस्थायी यात्रा के कुछ प्रभाव या कुछ लाभ ले आती और उन्हें बनाये रखती है। बहुतों में ये आरोहण समाधि में होते हैं

लेकिन ये जाग्रत् चेतना की एकाग्रता में पूरी तरह संभव हैं, या जहां वह चेतना पर्याप्त रूप से चैत्य बन गयी है वहां एकाग्रता के बिना ऊपर की ओर आकर्षण और सजातीयता के कारण भी आ सकते हैं। लेकिन अतिचेतन के साथ ये दोनों तरह के संपर्क यद्यपि सबल रूप से प्रकाशमान, आनंददायक या मुक्तिदायक हो सकते हैं फिर भी अपने-आपमें अपर्याप्त रूप से प्रभावकारी होते हैं। पूर्ण आध्यात्मिक रूपांतर के लिये और अधिक की जरूरत है—निचली चेतना से चिरस्थायी रूप से उच्चतर चेतना में आरोहण और निचली प्रकृति में उच्चतर प्रकृति का प्रभावी चिरस्थायी अवतरण।

यह तीसरी गति है उस अवतरण की जो स्थायी आरोहण लाने के लिये जरूरी है, ऊपर से बढ़ता हुआ अंतःप्रवाह, उतरती हुई आध्यात्म सत्ता या उसकी चेतना की शक्तियों और तत्त्वों को ग्रहण करने और बनाये रखने का अनुभव। अवतरण का यह अनुभव दूसरी दो गतियों के परिणाम-स्वरूप हो सकता है या उनमें से किसीके भी होने से पहले ढक्कन में अचानक दरार आ जाने या किसी अनुस्रवण, रिसने या अंतःप्रवाह से अपने-आप हो सकता है। एक ज्योति उतरती है और निचली सत्ता, मन, प्राण या शरीर को छूती है या उसपर छा जाती या उसमें प्रवेश करती है या एक उपस्थिति या शक्ति या ज्ञान की एक सरिता लहरों या तरंगों में बह निकलती है या आनंद की बाढ़ अथवा एक अचानक आनंदातिरेक आ जाता है, अतिचेतन के साथ संपर्क स्थापित हो जाता है। कारण इस तरह के अनुभव बार-बार आते रहते हैं जबतक कि वे सामान्य न बन जायें, परिचित और भली-भांति समझ में आनेवाले न बन जायें, अपनी उन अंतर्वस्तुओं और अर्थ को प्रकट न कर दें जो शुरू में गोपनीयता में, आवृत्त करनेवाली अनुभूति के आकार में संवृत और लिपटे हुए हों। क्योंकि ऊपर से बहुधा, सतत और फिर अबाध रूप से ज्ञान का अवतरण होता है और मन की अचंचलता या नीरवता में अभिव्यक्त होना आरंभ करता है। अंतर्भास और प्रेरणाएं और विशालतर दृष्टि, उच्चतर सत्य और प्रज्ञा से उत्पन्न अंतःप्रकाश सत्ता के अंदर प्रवेश करते हैं, प्रकाशमय, अंतर्भासात्मक विवेक कार्य करता है जो समझ के समस्त अंधकार या चुंधियानेवाली अस्तव्यस्तता को दूर कर देता है, सभीको व्यवस्था में रखता है। एक नयी चेतना रूप लेने लगती है; एक उच्च, विस्तृत स्वयंभू विचारशील ज्ञान का मन; या एक प्रदीप्त या अंतर्भासात्मक या अधिमानसिक चेतना जिसमें विचार या दृष्टि की नयी शक्तियां और प्रत्यक्ष आध्यात्मिक उपलब्धि की महत्तर शक्ति है जो विचार और दृष्टि से महान् है; हमारी वर्तमान सत्ता के आध्यात्मिक पदार्थ में बृहत्तर संभवन रूप लेने लगता है। हृदय और इन्द्रियां सूक्ष्म, तीव्र और विशाल हो जाते हैं ताकि पूरे अस्तित्व को आलिंगन में ले सकें, भगवान् को देख सकें, शाश्वत को अनुभव कर सकें, सुन सकें और उसका स्पर्श कर सकें, परात्पर उपलब्धि में आत्मा और जगत्

में निकटतर और गहनतर ऐक्य ला सकें। अन्य निर्णायक अनुभव और चेतना के अन्य परिवर्तन, जो इस आधारभूत परिवर्तन के परिणाम और उपपरिणाम हैं, वे अपना निर्णय आप करते हैं। इस क्रांति की कोई सीमा नहीं बांधी जा सकती क्योंकि यह अपनी प्रकृति में अनंत का धावा है।

इसका थोड़ा-थोड़ा करके या महान् और द्रुत निश्चयात्मक अनुभवों के अनुक्रम में संपादन आध्यात्मिक रूपांतर की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया का निष्पादन और इसकी पराकाष्ठा एक ऊर्ध्वमुख आरोहण में होती है जिसका प्रायः पुनरावर्तन होता रहता है जिसके द्वारा अंत में चेतना अपने-आपको उच्चतर स्तर पर स्थिर कर लेती है और वहां से मन, प्राण और शरीर को देखती और उनपर शासन करती है। वह अपने-आपको उच्चतर चेतना और ज्ञान की शक्तियों के बढ़ते हुए अवतरण द्वारा भी निष्पादित करती है जो अधिकाधिक सामान्य चेतना और ज्ञान बन जाते हैं। एक प्रकाश और शक्ति, ज्ञान और बल का अनुभव होता है जो पहले मन पर अधिकार कर लेते और उसे फिर से गढ़ते हैं, उसके बाद प्राण के भाग पर अधिकार करके उसे भी फिर से गढ़ते हैं और अंत में छोटी-सी भौतिक चेतना पर अधिकार कर लेते हैं और फिर उसे छोटा नहीं छोड़ा जाता बल्कि विस्तृत,नमनीय यहांतक कि अनंत बना दिया जाता है। क्योंकि स्वयं इस नयी चेतना में अनंतता की प्रकृति होती है। वह हमारे अंदर अनंत तथा शाश्वत का स्थायी आध्यात्मिक भाव और अभिज्ञता लाती है जिसके साथ प्रकृति का बड़ा विस्तार होता है और उसकी सीमाओं का भंजन होता है। अमरता विश्वास या अनुभूति न रहकर सामान्य आत्म-अभिज्ञता बन जाती है। दिव्य सत्ता की सन्निकट उपस्थिति, उसका जगत् पर, हमारी आत्मा और प्रकृति के अंग पर शासन, हमारे अंदर और हर जगह उसकी शक्ति का क्रियाशील रहना, अनंत की शांति, अनंत का आनंद अब सत्ता में ठोस और सतत हो जाते हैं। सभी दृश्यों और रूपों में हम शाश्वत को, सद्वस्तु को देखते हैं, सब ध्वनियों में उसीको सुनते, सभी स्पर्शों में उसे अनुभव करते हैं, उसके रूपों, व्यक्तित्वों और अभिव्यक्तियों को छोड़कर कुछ नहीं है। हृदय का आनंद या उसकी आराधना, सर्व-सत् का आलिंगन, आत्मा का एकत्व स्थायी वास्तविकताएं हैं। मानसिक प्राणी की चेतना आध्यात्मिक सत्ता की चेतना में बदल रही है या पूरी तरह बदल चुकी है। तीन रूपांतरों में से यह दूसरा है। अभिव्यक्त सत्ता को उसके साथ जोड़ना जो उसके ऊपर है; यह तीन चरणों में से बीच का है, आध्यात्मिक दृष्टि से विकसित होती हुई प्रकृति में निर्णायक संक्रमण है।

अगर आध्यात्म पुरुष शुरू से ही श्रेष्ठतर ऊंचाइयों पर निरापद रूप से रह सकता और मन तथा जड़ के कोरे, निष्कलंक पदार्थ के साथ व्यवहार कर सकता तो संपूर्ण आध्यात्मिक रूपांतर तेज और आसान भी हो पाता। लेकिन प्रकृति की वास्तविक प्रक्रिया ज्यादा कठिन है, उसकी गतिविधि अधिक विविध, मुड़ी-तुड़ी,

घुमावदार, व्यापक होती है। उसने जिस काम का बीड़ा उठाया है वह उसके सभी तथ्यों को पहचानती है और अपनी निजी जटिलताओं पर संक्षिप्त-सी विजय से संतुष्ट नहीं होती। हमारी सत्ता के हर अंग को उसके स्वभाव और स्वरूप में, अतीत के जो भी सांचे और लेख अभीतक उसमें हैं, उन्हें भी साथ लेना होता है। हर छोटे-से-छोटे अंश और गति को, यदि वह अयोग्य हो, नष्ट करना और उसकी जगह और को लेना होगा और अगर योग्य हो तो उसे उच्चतर सत्ता के सत्य में परिवर्तित करना होगा। अगर चैत्य-परिवर्तन पूर्ण हो तो यह पीड़ाहीन प्रक्रिया से किया जा सकता है लेकिन तब भी कार्यक्रम लंबा होगा, श्रमसाध्य होगा और प्रगति क्रमशः होगी अन्यथा आंशिक फल से ही संतुष्ट रहना होगा या अगर हममें पूर्णता के लिये निष्ठा या आध्यात्म तत्त्व की भूख अतृप्त हो तो एक कठिन, लगभग कष्टकर और अंतहीन मालूम होनेवाली क्रिया के लिये सहमत होना होगा। क्योंकि, साधारणतः चेतना उच्चतम क्षणों को छोड़कर शिखरों पर नहीं चढ़ती। वह मानसिक स्तर पर ही रहती है और ऊपर से अवतरणों को प्राप्त करती है। कभी-कभी ऐसी आध्यात्मिक शक्ति का एकाकी अवतरण होता है जो टिका रहता है और सत्ता को किसी प्रधान रूप से आध्यात्मिक वस्तु में ढाल देता है या अवतरणों का क्रम होता है जो उसमें अधिकाधिक आध्यात्मिक स्थिति और गतिशीलता ले आता है। लेकिन जबतक मनुष्य अपनी उपलब्ध उच्चतम स्थिति में निवास न कर सके तबतक पूर्ण या अधिक समग्र परिवर्तन नहीं हो सकता। अगर चैत्य परिवर्तन नहीं हुआ है, अगर उच्चतर शक्तियों को समय से पहले खींचा गया है तो उनका संपर्क प्रकृति के त्रुटिपूर्ण और अशुद्ध पदार्थ के लिये बहुत अधिक जोरदार हो सकता है और उसका तत्कालीन भाग्य वेद के उस कच्चे घट के जैसा हो सकता है जो दिव्य सोम-सुरा को धारण नहीं कर सकता। या उतरता हुआ प्रभाव पीछे हट सकता है या छलक सकता है क्योंकि प्रकृति उसे समो या रख नहीं सकती और फिर यदि शक्ति का अवतरण होता है तो अहंकारमय मन या प्राण उसे अपने ही उपयोग के लिये पकड़ने की कोशिश कर सकते हैं और उसका अप्रिय परिणाम हो सकता है; बढ़ा हुआ अहंकार या शक्तियों तथा अपने-आपको बड़ा बनानेवाली प्रभुताओं के पीछे शिकार में लग जाना। अगर बहुत अधिक काम-वासना की अशुद्धि एक नशा या गिरानेवाला मिश्रण पैदा कर दे तो अवतरित होते हुए आनंद को नहीं रखा जा सकता। अगर महत्त्वाकांक्षा, दर्प या निचली सत्ता का कोई और आक्रामक रूप हो तो शक्ति पीछे हट जाती है। अगर अंधकार या अज्ञान के किसी रूप के साथ लगाव हो तो ज्योति और अगर हृदय-कक्ष को शुद्ध नहीं किया गया है तो भागवत उपस्थिति वापिस लौट जाती है। या कोई अदिव्य शक्ति, स्वयं शक्ति को नहीं, क्योंकि वह तो पीछे हट जाती है, बल्कि यंत्र में पीछे छोड़े हुए शक्ति-परिणाम को हथियाने की कोशिश कर सकती है और उसे विरोधी के काम में लाने की कोशिश

कर सकती है। अगर ये अधिक संकटाकीर्ण दोष या भूलें न भी हों तो भी ग्रहण करने की बहुत-सी भूलें या आधार की अपूर्णताएं रूपांतर में बाधा दे सकती हैं। शक्ति को अंतरालों में आना और इस बीच पर्दे के पीछे कार्य करना पड़ता है या वह अपने-आपको धूमिल आत्मसात्करण के लंबे कालों या प्रकृति के उद्दण्ड अंगों की तैयारी के लिये रोके रख सकती है। हमारे अंदर जो क्षेत्र अभीतक रात्रि में हैं उनमें ज्योति को अंधेरे या अर्द्ध-अंधकार में काम करना पड़ता है। किसी भी क्षण व्यक्तिगत रूप से इस जीवन के लिये काम बंद हो सकता है क्योंकि प्रकृति और अधिक ग्रहण करने या आत्मसात् करने लायक नहीं रहती—क्योंकि वह अपनी क्षमता की वर्तमान सीमाओंतक पहुंच चुकती है, या मन चाहे तैयार हो पर जब प्राण के आगे पुराने और नये जीवन में चुनाव का प्रश्न आता है तो वह इंकार कर देता है और अगर प्राण स्वीकार कर ले तो शरीर अपनी चेतना के आवश्यक परिवर्तन और उसके क्रियाशील रूपांतर के लिये अत्यधिक दुर्बल, अयोग्य या त्रुटिपूर्ण सिद्ध हो सकता है।

और फिर सत्ता के प्रत्येक भाग में परिवर्तन को अलग-अलग अपनी प्रकृति और स्वरूप में कार्यान्वित करने की आवश्यकता चेतना को बाधित करती है कि बारी-बारी से हर एक के अंदर उतरे और वहां उसकी स्थिति और संभावना के अनुसार कार्य करे। अगर कार्य ऊपर से, किसी आध्यात्मिक ऊंचाई से ही होता तो ऊपर से आनेवाले प्रभाव की शक्ति मात्र से बाधित होकर एक उदात्तीकरण या उत्थापन हो सकता था या किसी नये ढांचे का सृजन हो सकता था। लेकिन हो सकता है कि निम्नतर सत्ता इस परिवर्तन को अपने लिये स्वाभाविक न माने। वह एक संपूर्ण वृद्धि, समग्र विकास न होकर एक आंशिक और आरोपित रूपायन होगा जो सत्ता के कुछ भागों पर प्रभाव डालेगा और उन्हें मुक्त करेगा और दूसरों को या तो दबा देगा या जैसा-का-तैसा छोड़ देगा। यह सामान्य प्रकृति से बाहर का सृजन, उसपर आरोपण होगा। वह अपनी पूर्णता में तभीतक टिकाऊ रह सकता है जबतक सृजन करनेवाला प्रभाव बना रहे। अतः निम्न स्तरों पर चेतना का अवतरण जरूरी है लेकिन इस तरह से भी उच्चतर तत्त्व की पूर्ण शक्ति को कार्यान्वित करना कठिन है। उसमें कुछ हेर-फेर होता है, कुछ अवमिश्रण और ह्रास होता है जो परिणामों में अपूर्णता और सीमांकन को बनाये रखता है। उच्चतर ज्ञान का प्रकाश नीचे उतरता है लेकिन धुंधला और परिवर्तित हो जाता है। उसके अर्थ की गलत व्याख्या होती है या उसका सत्य मानसिक या प्राणिक भ्रांति से मिल जाता है या उसकी अपने-आपको परिपूरित करने की शक्ति या समर्थता उसके प्रकाश के अनुरूप नहीं होती। अधिमानस की ज्योति और शक्ति, अपने ही क्षेत्र और अपने पूर्ण अधिकार के साथ कार्य करे यह एक चीज है लेकिन वही ज्योति भौतिक चेतना के अंधेरे में उसकी परिस्थितियों में काम करे तो यह बिल्कुल अलग चीज है और फीकेपन तथा मिश्रण

के कारण अपने ज्ञान, शक्ति और परिणाम में बहुत नीचे की चीज है। एक विकृत शक्ति, आंशिक परिणाम या अवरुद्ध गति इसके परिणाम होते हैं।

प्रकृति में वस्तुतः चित्-शक्ति के धीमे और कठिन आविर्भाव का यही कारण है क्योंकि मन और प्राण को जड़ में उतरना और अपने-आपको उसकी परिस्थितियों के अनुकूल बनाना पड़ता है। वे जिस पदार्थ और शक्ति में क्रिया करते हैं उसके अंधकार और अनिच्छुक तमस् से परिवर्तित और हसित होकर वे अपनी सामग्री को उपयुक्त उपकरण में और एक वैसी परिवर्तित धातु में संपूर्णतः परिणत करने में असमर्थ रहते हैं जो उनकी सच्ची और सहज शक्ति को व्यक्त करे। प्राण-चेतना भौतिक सत्ता में अपने सशक्त या सुंदर आवेगों की अपनी महानता और आनंद को कार्यान्वित करने में असमर्थ रहती है। उसका आवेग निष्फल रह जाता है, उसकी कार्यान्वित करने की शक्ति उसकी धारणाओं के सत्य की अपेक्षा घटिया है, रूप अपने अंदर के जिस प्राणिक अंतर्भास को प्राण-सत्ता की भाषा में अभिव्यक्त करने की कोशिश करता है उसके लिये काफी नहीं होता। मन अपने उच्च भावों को प्राण और भौतिक के माध्यम द्वारा बिना कुछ घटाये और समझौते किये बिना प्राप्त करने में असमर्थ रहता है जो उन्हें उनकी दिव्यता से वंचित कर देते हैं। मन में उसके ज्ञान और इच्छा की स्पष्टता के अनुरूप वह शक्ति नहीं जो इस निचले पदार्थ को इस तरह गढ़े कि वह मन का अनुसरण करे और उसे व्यक्त करे। इसके विपरीत, उसकी अपनी शक्तियां जीवन के गदलेपन और जड़ की अबोधता के कारण प्रभावित होती, उसकी इच्छा विभक्त होती, उसका ज्ञान अस्तव्यस्त और मेघाच्छन्न हो जाता है। न तो मन न प्राण जड़ अस्तित्व को बदलने या पूर्ण करने में सफल होता है क्योंकि वे स्वयं इन परिस्थितियों में अपनी पूर्ण शक्ति को प्राप्त नहीं कर सकते। उन्हें अपने-आपको मुक्त और परिपूर्ण करने के लिये एक उच्चतर शक्ति का आह्वान् करना पड़ता है। लेकिन उच्चतर आध्यात्मिक मानसिक शक्तियां जब प्राण और जड़ भौतिक में उतरती हैं तो उन्हें भी इसी अक्षमता को झेलना पड़ता है। वे बहुत अधिक कर सकती हैं, बहुत प्रकाशमय परिवर्तन प्राप्त कर सकती हैं लेकिन हेर-फेर, सीमांकन, जो चेतना नीचे आती है और कार्यान्वित करने की वह शक्ति जिसे वह मानसिक और भौतिक-भावापन्न कर सकती है उनके बीच की असमानता सदा बनी रहती है और परिणाम होता है एक घटी हुई सृष्टि। जो परिवर्तन आता है वह प्रायः असाधारण होता है, कोई ऐसी चीज भी होती है जो चेतना की अवस्था के पूर्ण परिवर्तन और परावर्तन और उसकी गतियों के ऊपर उठने जैसी मालूम होती है लेकिन वह क्रियाशक्ति में पूर्ण नहीं होती।

केवल अतिमानस ही अपनी संपूर्ण क्रियाशक्ति को खोये बिना इस तरह उतर सकता है, क्योंकि उसका कर्म हमेशा अंतरंग और स्वचालित होता है, उसका ज्ञान और उसकी इच्छा तदात्म होते हैं और परिणाम समपरिमाण। उसका स्वभाव है

आत्म-सिद्धि प्राप्त करनेवाला ऋत-चित् और अगर वह अपने-आपको या अपनी क्रिया को सीमित करता है तो बाधित होकर नहीं, अपने ही चुनाव और अपने इरादे से। वह जिन सीमाओं को चुनता है उनमें उसकी क्रिया और क्रिया के परिणाम सामंजस्यपूर्ण और अनिवार्य होते हैं। और फिर अधिमानस तो मन की तरह विभाजन करनेवाला तत्त्व है और उसकी विशेष क्रिया है एक स्वतंत्र रूपायन में चुना हुआ सामंजस्य कार्यान्वित करना। उसकी सार्वभौम क्रिया उसे वस्तुतः एक ऐसे सामंजस्य का निर्माण करने योग्य बनाती है जो अपने-आपमें संपूर्ण और समग्र हो या उसे इस योग्य बनाती है कि वह अपने सामंजस्यों को एक साथ मिलाकर उन्हें समन्वित करे; लेकिन मन, प्राण और जड़ भौतिक के प्रतिबंधों के आधीन क्रिया करने के कारण अधिमानस उसे अलग-अलग विभाग करके और फिर उन विभागों को जोड़ते हुए करने को बाधित होता है। उसकी समग्रता की वृत्ति में उसकी चयन-वृत्ति बाधा देती है; वह यहां मन और प्राण की जिस सामग्री में कार्य कर रहा है उसकी प्रकृति की वजह से यह चयन-वृत्ति और भी प्रबल हो उठती है। वह जो प्राप्त कर सकती है वह है अलग-अलग सीमित आध्यात्मिक सृष्टियां जिनमें से हर एक अपने-आपमें संपूर्ण होती है, पूर्ण ज्ञान और उसकी अभिव्यक्ति नहीं। इसी कारण और अपने सहज प्रकाश और शक्ति के घटने के कारण वह पूरी तरह से उसे करने में असमर्थ है जो करना चाहिये और उसे एक महत्तर शक्ति, अतिमानसिक शक्ति को अपनी मुक्ति और परिपूर्ति के लिये बुलाना पड़ता है। जैसे चैत्य परिवर्तन को अपनी पूर्ति के लिये आध्यात्मिक परिवर्तन को बुलाना पड़ता है उसी भांति पहले आध्यात्मिक परिवर्तन को अपनी पूर्ति के लिये अतिमानसिक रूपांतर को बुलाना पड़ता है; क्योंकि आगे के सभी चरण अपने से पहले के चरणों की तरह संक्रमणकालीन हैं। अज्ञान के आधार से ज्ञान के आधार की ओर विकास में पूर्ण और आमूल परिवर्तन केवल अतिमानसिक शक्ति के हस्तक्षेप से, पृथ्वी-जीवन में उसकी प्रत्यक्ष क्रिया से ही हो सकता है।

अतः यही तीसरे और अंतिम रूपांतर का स्वरूप होगा जो जीवन की अज्ञान में से यात्रा को समाप्त करता और उसकी चेतना और उसके प्राण, उसकी शक्ति और अभिव्यक्ति के रूप को एक पूर्ण और पूरी तरह प्रभावशाली आत्म-ज्ञान पर आधारित करता है, ऋत-चित् को विकसनशील प्रकृति को तैयार पाकर उसमें उतरना और उसे इस योग्य बनाना है कि वह अपने अंदर अतिमानसिक तत्त्व को मुक्त कर सके। इस तरह से अतिमानसिक और आध्यात्म पुरुष की रचना जड़ भौतिक विश्व में स्व तथा आत्मा के सत्य की पहली अनावृत अभिव्यक्ति के रूप में होगी।

अध्याय २६

अतिमानस की ओर आरोहण

ऋतेन यावृतावृधावृतस्य ज्योतिषस्पती।

ऋत-ज्योति के पति जो ऋत को ऋत से बढ़ाते हैं।

ऋग्वेद १.२३.५

तिस्रो वाचः . . . ज्योतिरग्राः ॥
स त्रिधातु शरणं शर्म . . . त्रिवर्तु ज्योतिः ॥

वाणी की तीन शक्तियां जो ज्योति को अपने आगे लिये चलती हैं . . . शान्ति का तिहरा धाम, ज्योति का तिहरा मार्ग।

ऋग्वेद—७.१०१.१, २

चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यदृतैरवर्धत ॥

जब वह ऋतों से बढ़ता है तो सौंदर्य के अन्य चार धामों की सृष्टि अपने रूपों में करता है।

ऋग्वेद ९.७०.१

सं दक्षेण मनसा जायते कविर्ऋतस्य गर्भः . . . ।
. . . गुहा हितं जनिम नेममुद्यतम् ॥

वह विवेकशील मन के साथ दक्ष कवि के रूप में उत्पन्न हुआ; ऋत के गर्भ से उत्पन्न, गुहाहित जन्म, अभिव्यक्ति में अर्ध-उदित।

ऋग्वेद ९.६८.५

. . . बृहच्छ्रवसः . . . ज्योतिष्कृतः . . . प्रचेतसः ।
. . . विश्ववेदस . . . ऋतावृधः ।

बृहत् श्रुत (अन्तःप्रेरित) प्रज्ञा से संपन्न, ज्योति के स्रष्टा, सचेतन सर्वज्ञ, ऋत में बढ़ते हुए।

ऋग्वेद १०.६६.१

उद् वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥

तम से परे उच्चतर ज्योति का दर्शन करते हुए हम देवत्व में प्रतिष्ठित, दिव्य सूर्य के पास, उत्तम ज्योति के पास आये।

ऋग्वेद १.५०.१०

चैत्य रूपांतर और आध्यात्मिक रूपांतर की पहली स्थितियां भली-भांति हमारी धारणा में हैं। उनकी पूर्णता एक ऐसे ज्ञान और अनुभव की पूर्णता, समग्रता और

संसिद्ध ऐक्य की पूर्णता होगी जो पहले से ही उपलब्ध वस्तुओं का भाग है, यद्यपि उपलब्धि हुई हो बहुत कम लोगों को। लेकिन अतिमानसिक परिवर्तन अपनी प्रक्रिया में हमें कम अन्वेषित क्षेत्रों में ले जाता है; वह चेतना के ऐसे शिखरों की दृष्टि का सूत्रपात करता है जिन्हें वस्तुतः देखा तो जा चुका है, उनकी यात्रा भी की जा चुकी है लेकिन अभी उनका पूरी तरह से अन्वेषण और मानचित्रण बाकी है। चेतना के इन शिखरों या उठे हुए पठारों में सबसे ऊंचा, अतिमानसिक शिखर, इस संभावना से बहुत परे रहता है कि मन उसकी कोई संतोषजनक रूपरेखा या चित्र बना सके या मन की दृष्टि और वर्णना उसे पकड़ सके। साधारण अप्रदीप्त और अरूपांतरित मानसिक धारणा के लिये किसी ऐसी चीज में प्रवेश करना या उसे अभिव्यक्त करना कठिन होगा जो इतनी मूलतः भिन्न वस्तुओं की अभिज्ञतावाली चेतना पर आधारित हो। यदि उन्हें दृष्टि के किसी प्रबोध या उन्मीलन द्वारा देख भी लिया गया हो या उनकी धारणा बना ली गयी हो तो भी उनकी वास्तविकता हमारी जरा भी पकड़ में आ सके, इसकी उपयुक्त अभिधाओं में उसे अनूदित करने के लिये हमारा मन जिन दरिद्र अमूर्त प्रतीकों का उपयोग करता है उनसे भिन्न किसी भाषा की जरूरत होगी। जैसे मानव मन के शिखर पशु-बोध के परे हैं उसी तरह अतिमानस की गतिविधि सामान्य मानव की मानसिक धारणा के परे है। जब हमें पहले से उच्चतर मध्यवर्ती चेतना का अनुभव हो चुके, केवल तभी अतिमानसिक सत्ता के वर्णन का प्रयत्न करनेवाले शब्द हमारी बुद्धि को उसका सच्चा अर्थ दे सकेंगे क्योंकि तब जिसका वर्णन किया गया है, उसके किसी सजातीय का अनुभव कर चुकने के बाद हम अपनी अपर्याप्त भाषा को अपनी ज्ञात वस्तु की आकृति में अनूदित कर सकेंगे। अगर मन अतिमानस की प्रकृति में प्रवेश नहीं कर सकता तो भी वह इन ऊंचे प्रकाशमान उपगमन-मार्गों से उसकी ओर देख सकता है और सत्यं, ऋतं, बृहत् का, जो मुक्त आत्मा का स्वराज्य है, कोई प्रतिबिंबित रूप पकड़ सकता है।

लेकिन मध्यवर्ती चेतना के बारे में भी जो कुछ कहा जा सकता है वह भी अपर्याप्त होने के लिये बाधित है। केवल कुछ अमूर्त और व्यापक नियम बनाये जा सकते हैं जो पथ-प्रदर्शन के लिये प्रारंभिक प्रकाश का काम दे सकते हैं। यहां एक सहायक परिस्थिति यह है कि उच्चतर चेतना संघटन और तत्त्व में चाहे जितनी भिन्न क्यों न हो हम उसे उसके जिस विकसनशील रूप में यहां पा सकते हैं, वह अब भी ऐसे तत्त्वों का परम विकास होती है जो हमारी चेतना में, अपनी आकृति और शक्ति के चाहे जितने प्रारंभिक और क्षीण भाव में क्यों न हो, पहले से मौजूद है। यह भी एक सहायक तथ्य है कि विकसनशील प्रकृति की प्रक्रिया का उच्चतम शिखरों के आरोहण में भी वही न्याय-विधान रहता है जो निचले प्रारंभों में था, उसकी क्रिया के कुछ नियमों में बहुत हेर-फेर हो जाता है परंतु सार-रूप में क्रिया

वही होती है। इस तरह हम एक हदतक उसकी परम प्रक्रिया की रेखाओं का अन्वेषण और अनुसरण कर सकते हैं। क्योंकि हमने बौद्धिक से आध्यात्मिक संक्रमण के विधान और प्रकृति को कुछ-कुछ देखा है; हम उस उपलब्ध आरंभ-बिंदु से नवचेतना की उच्चतर क्रियाशील कोटि की ओर और आध्यात्मिक मन से अतिमानस की ओर आगे संक्रमण का मार्ग आंकना शुरू कर सकते हैं। यह अवश्यंभावी है कि संकेत बहुत अपूर्ण हों क्योंकि तत्त्वज्ञान की खोज की पद्धति से कुछ अमूर्त और सामान्य प्रकार के आरंभिक प्रतिरूपोंतक ही पहुंचा जा सकता है। सच्चे ज्ञान और वर्णन को गुह्यवादी की भाषा और एक ही साथ प्रत्यक्ष तथा मूर्त अनुभूति के अधिक जीवंत और अधिक गहन रूपकों पर छोड़ देना होगा।

अधिमानस से अतिमानस में संक्रमण प्रकृति से, जिसे हम जानते हैं, परा प्रकृति में जाना है। इसी तथ्य के कारण केवल मन के किसी भी प्रयास के लिये इसको पा लेना असंभव है, बिना किसी सहायता के हमारी व्यक्तिगत अभीप्सा और प्रयास वहांतक नहीं पहुंच सकते। हमारा प्रयास प्रकृति की निचली शक्ति की चीज है और अज्ञान की शक्ति स्वयं अपने बल पर या अपनी विशिष्ट या उपलब्ध पद्धतियों से उसे नहीं पा सकती जो उसके अपने प्रकृति-क्षेत्र के परे है। पहले के सभी आरोहण एक गुप्त चित्-शक्ति से प्रभावित हुए हैं जो पहले निश्चेतना में क्रिया करती थी और फिर अज्ञान में। उसने अपनी अंतर्लीन शक्तियों के सतह पर आविर्भाव के द्वारा काम किया है, ऐसी शक्तियों के जो पर्दे के पीछे छिपी थीं और प्रकृति के पहले के रूपायणों से श्रेष्ठतर थीं लेकिन फिर भी, उन श्रेष्ठतर शक्तियों के दबाव की जरूरत है जो अपने स्तरों पर अपनी पूर्ण स्वाभाविक शक्ति में रूपायित हैं। ये श्रेष्ठतर स्तर हमारे अंतर्लीन भागों में अपना निजी आधार तैयार करते हैं और वहां से सतह के ऊपर विकास-प्रक्रिया को प्रभावित कर सकते हैं। पार्थिव प्रकृति में अधिमानस और अतिमानस भी अंतर्लीन और गुह्य हैं लेकिन हमारी अंतर्लीन, आंतरिक चेतना की पहुंच में आनेवाले स्तरों पर उनके कोई रूपायण नहीं हैं। अभीतक कोई अधिमानसिक सत्ता या व्यवस्थित अधिमानसिक प्रकृति नहीं है और न ही कोई अतिमानसिक सत्ता या व्यवस्थित अतिमानसिक प्रकृति है जो हमारी सतह पर या हमारे सामान्य अंतर्लीन भागों पर क्रिया करती हो, क्योंकि चेतना की ये महत्तर शक्तियां हमारे अज्ञान के स्तर के लिये अतिचेतन हैं। अधिमानस और अतिमानस के अंतर्लीन तत्त्व अपने अवगुंठित एकान्त में से बाहर निकलें इसके लिये अतिचेतन की सत्ता और शक्तियों को हमारे अंदर उतर कर हमें ऊपर उठाना चाहिये और अपने-आपको हमारी सत्ता और शक्तियों में रूपायित करना चाहिये। यह अवतरण संक्रमण एवं रूपांतर की अनिवार्य शर्त है।

निश्चय ही यह कल्पना की जा सकती है कि अवतरण के बिना ही, ऊपर से किसी गुप्त चाप द्वारा, लम्बे विकास द्वारा हमारी पार्थिव प्रकृति, अभीतक

अतिचेतन, उच्चतर स्तरों के साथ निकट संपर्क में प्रवेश पाने में सफलता पा ले और पर्दे के पीछे अंतस्तलीय अधिमानस का रूपायण हो जाये और परिणामस्वरूप हमारी सतह पर इन उच्चतर स्तरों के लिये उचित चेतना का उदय हो। इस बात की कल्पना की जा सकती है कि इस तरह एक ऐसी मनोमय जाति प्रकट हो सकती है जो बुद्धि या युक्ति अथवा चिंतनशील बुद्धि द्वारा या मुख्य रूप से उनके द्वारा नहीं बल्कि अंतर्भासात्मक मानसिकता द्वारा सोचती या कार्य करती है। आरोहणकारी परिवर्तन में यह पहला कदम होगा। इसके पीछे अधिमानसीकरण हो सकता है जो हमें उन सीमाओंतक पहुंचा सकता है जिनके परे अतिमानस या दिव्य विज्ञान होता है। लेकिन अनिवार्य रूप से यह प्रक्रिया प्रकृति का लम्बा और श्रमसाध्य उद्यम होगी। और यह भी संभव है कि इस भांति जो प्राप्ति हो वह एक श्रेष्ठतर किंतु अपूर्ण मानसिकता हो, नये उच्चतर तत्त्वों का चेतना पर प्रबल रूप से आधिपत्य तो हो लेकिन फिर भी उनकी क्रिया निम्नतर मानसिकता के तत्त्व द्वारा बदल जाती हो। एक ज्यादा बड़ा, विस्तृत और आलोकमय ज्ञान होगा, एक उच्चतर स्तर का ज्ञान होगा लेकिन फिर भी उसे एक ऐसे मिश्रण में से गुजरना होगा जो उसे अज्ञान के विधान के आधीन बना देगा, उसी तरह जैसे मन को प्राण और जड़-भौतिक के विधान की सीमाओं के आधीन होना होता है। वास्तविक रूपांतर के लिये ऊपर से प्रत्यक्ष और अनवगुंठित हस्तक्षेप होना चाहिये और साथ ही जरूरी है निचली सत्ता का संपूर्ण निवेदन और समर्पण, उसके आग्रह की पूर्ण समाप्ति, उसमें यह इच्छा हो कि उसका पृथक् क्रिया-विधान रूपांतर द्वारा पूरी तरह रद्द हो जाये और वह हमारी सत्ता पर समस्त अधिकार खो दे। अगर ये दो शर्तें अब भी पूरी हो सकें, आत्मा में सचेतन पुकार और इच्छा द्वारा पूरी हो सकें और हमारी समस्त अभिव्यक्त और आंतरिक सत्ता उसके परिवर्तन, उन्नयन और विकास में भाग ले तो रूपांतर अपेक्षाकृत तेज और सचेतन परिवर्तन द्वारा लाया जा सकता है। ऊपर से अतिमानसिक चित्-शक्ति और पर्दे के पीछे से जाग्रत् अभिज्ञता और मानसिक मानव सत्ता की इच्छा पर क्रिया करती हुई विकसनशील चित्-शक्ति अपनी सम्मिलित शक्ति से इस महत्त्वपूर्ण संक्रमण को संपादित कर देगी। उसके बाद मंथर-गति विकास की जरूरत न रहेगी जो हर कदम के लिये हजारों वर्ष ले, उस रुकते हुए कठिन विकास की जरूरत न रहेगी जिसे प्रकृति ने भूतकाल में अज्ञान के असचेतन जीवों में संपादित किया है।

इस परिवर्तन की पहली शर्त यह है कि मनोमय पुरुष, जो कि हम हैं, भीतर से अपनी सत्ता के गहनतर विधान और उसकी प्रक्रिया के बारे में अभिज्ञ हो और उन्हें अधिकृत करे। उसे वह चैत्य और आंतरिक मनोमय पुरुष बनना चाहिये जो अपनी ऊर्जाओं का स्वामी हो, जो निम्नतर प्रकृति की गतिविधि का दास न रहकर उसका नियंता हो, जो प्रकृति के उच्चतर विधान के साथ मुक्त सामंजस्य में सुरक्षित रूप

से आसीन हो। विकसनशील तत्त्व-विधान और प्रक्रिया का विशिष्ट लक्षण, वस्तुतः तर्क-संगत निष्कर्ष है व्यक्ति का अपनी प्रकृति की क्रिया पर बढ़ता हुआ अधिकार और वैश्व प्रकृति की क्रिया में अधिकाधिक सचेतन सहयोग। जगत् में समस्त कर्म, सभी मानसिक, प्राणिक, भौतिक क्रियाएं वैश्व ऊर्जा की, चित्-शक्ति की क्रियाएं हैं जो विश्वात्मा की शक्ति है और वस्तुओं के वैश्व और व्यष्टिगत सत्य को क्रियान्वित करती है। लेकिन चूंकि यह सृजनात्मक चेतना जड़ भौतिक में निश्चेतना का मुखौटा पहन लेती है और सतह पर अंधी वैश्व शक्ति का आभास देती है जो यह जाने बिना कि वह क्या कर रही है वस्तुओं की किसी योजना या व्यवस्था को कार्यान्वित करती है, अतः पहला परिणाम इस आभास का सगोत्र होता है। वह है निश्चेतन भौतिक व्यष्टीकरण, यह सत्ताओं का नहीं, वस्तुओं का सृजन है। ये वस्तुएं रूपायित अस्तित्व होती हैं जिनके अपने गुण, धर्म, सत्ता की शक्ति, सत्ता के लक्षण होते हैं परंतु उनके अंदर प्रकृति की जो योजना होती है उसे और उनके संगठन को यांत्रिक रूप से क्रियान्वित करना होता है जिसमें उस व्यष्टिगत वस्तु का सहयोग, सूत्रपात या उसकी सचेतन अभिज्ञता नहीं होती और वहां विषय-वस्तु प्रकृति की क्रिया और सृष्टि के पहले मूक परिणाम और निर्जीव क्षेत्र के रूप में उभरती है। पशु-जीवन में शक्ति धीरे-धीरे सतह पर सचेतन होने लगती है, अब वस्तु का ही नहीं व्यक्तिगत सत्ता का रूप प्रकट करने लगती है; लेकिन यह अपूर्ण रूप से सचेतन व्यक्ति यद्यपि सहयोग देता है, बोध पाता है, अनुभव करता है फिर भी कार्यान्वित उसीको करता है जो शक्ति उसके अंदर करे—जो कुछ हो रहा है उसकी स्पष्ट समझ या अवलोकन के बिना। ऐसा लगता है कि उसमें उसकी रूपायित प्रकृति द्वारा आरोपित चुनाव या इच्छा के सिवा और कोई चुनाव या इच्छा नहीं है। मानव मन के अंदर जो किया जा रहा है उसका अवलोकन करनेवाली समझ पहली बार प्रकट होती है, और ऐसी इच्छा और चुनाव भी प्रकट होते हैं जो सचेतन हो चुके हैं। लेकिन चेतना फिर भी सीमित और ऊपरी रहती है, ज्ञान भी सीमित और अपूर्ण होता है। यह आंशिक समझ, आंशिक बुद्धि और अपने अधिकांश में टटोलती हुई और अनुभवाश्रित होती है या वह अगर तर्कसंगत हो भी तो निर्माणों, सिद्धांतों और सूत्रों द्वारा होती है। अभीतक वह आलोकमय दृष्टि नहीं होती जो चीजों को प्रत्यक्ष पकड़ द्वारा जानती है और उस दृष्टि के अनुसार, उनके अंतर्निहित सत्य की योजना के अनुसार सहज यथार्थता में व्यवस्थित करती है; यद्यपि सहज वृत्ति, अंतर्भास और अंतर्दृष्टि का कुछ तत्त्व रहता है जिससे इस शक्ति का कुछ-कुछ आरंभ होता है तथापि मानव बुद्धि का सामान्य स्वभाव खोज करती हुई तर्कणा या चिंतनशील विचार का रहता है जो अवलोकन करता, मानता, अनुमान करता, निष्कर्ष निकालता, श्रम से एक निर्मित सत्यतक, ज्ञान की एक निर्मित योजनातक अपनी ही बनायी हुई सुचिन्तित क्रियातक पहुंचता है। या वह ऐसा होने की कोशिश करता

और अंशतः है। क्योंकि उसके ज्ञान और इच्छा पर प्रायः सत्ता की ऐसी शक्तियां आक्रमण करती, उन्हें अंधेरा और कुंठित कर देती हैं जो प्रकृति के यंत्र-विन्यास के आधे अंधे उपकरण हैं।

स्पष्ट है कि यह वह अधिकतम नहीं है जो चेतना कर सकती है, यह उसका अंतिम विकास या उच्चतम शिखर नहीं है। एक महत्तर और घनिष्ठ अंतर्भास संभव होना चाहिये जो वस्तुओं के हृदय में प्रवेश करे, प्रकृति की गतिविधियों के साथ प्रकाशमय तादात्म्य में रहे, सत्ता को अपने जीवन के एक स्पष्ट नियंत्रण या कम-से-कम अपने विश्व के साथ सामंजस्य का आश्वासन दे। केवल एक स्वाधीन और अखंड अंतर्भासात्मक चेतना ही वस्तुओं के प्रत्यक्ष संपर्क और बोधक दृष्टि से या सहज सत्य-बोध से, जो मूल में स्थित एकत्व या तादात्म्य से उत्पन्न हो, देख और पकड़ सकेगी और प्रकृति के कर्म को प्रकृति के सत्य के अनुसार व्यवस्थित कर सकेगी। यह व्यक्ति द्वारा वैश्व चित्-शक्ति के कार्य में यथार्थ रूप से भाग लेना होगा। व्यष्टिगत पुरुष अपनी निजी कार्यकर्त्री ऊर्जा का स्वामी होगा और साथ ही वैश्व ऊर्जा के कार्य में वैश्व आत्मा का सचेतन साझेदार, अधिकर्ता और यंत्र होगा। वैश्व ऊर्जा उसके द्वारा कर्म करेगी लेकिन वह भी उसके द्वारा काम करेगा और अंतर्भासात्मक सत्य का सामंजस्य इस दोहरी क्रिया को एक क्रिया बना देगा। इस उच्चतर और अधिक अंतरंग प्रकार का सचेतन और बढ़ता हुआ सहयोग हमारी वर्तमान सत्ता की स्थिति से पराप्रकृति की स्थिति की ओर हमारे संक्रमण में एक साथी होना चाहिये।

एक ऐसे सामंजस्यपूर्ण परलोक की कल्पना की जा सकती है जहां अंतर्भासात्मक मानसिक बुद्धि और उसका शासन ही नियम होंगे लेकिन हमारी सत्ता के स्तर पर विकासात्मक योजना के आद्य अभिप्राय और पुरातन इतिहास के कारण ऐसे नियम और शासन की स्थायी प्रतिष्ठा मुश्किल से हो सकेगी और यह संभव नहीं लगता कि वह पूर्ण, अंतिम और निश्चायक हो। क्योंकि मिली-जुली मानसिक, प्राणिक और शारीरिक चेतना में हस्तक्षेप करनेवाली अंतर्भासात्मक मानसिकता चेतना के उस घटिया पदार्थ के साथ मिश्रित होने के लिये बाधित होगी जो पहले विकसित हो चुका है। उसपर क्रिया करने के लिये उसे घटिया में प्रवेश करना होगा और प्रवेश करने से वह उसमें उलझ जायेगी और वह इसमें घुस जायेगा। वह मन की क्रिया के पृथक्कारी और आंशिक प्रकृति और अज्ञान के सीमांकन और अज्ञान की प्रतिबंधक शक्ति से प्रभावित होगी। अंतर्भासात्मक बुद्धि की क्रिया इतने पर्याप्त रूप से तीव्र और ज्योतिर्मय है कि भेदन और संशोधन तो कर सके लेकिन इतनी विशाल और समग्र नहीं कि अपने अंदर अज्ञान और निश्चेतना की राशि को निगल सके या समाप्त कर दे। वह समग्र चेतना का अपने ही द्रव्य और अपनी शक्ति में संपूर्ण भाव से रूपांतर नहीं साध सकेगी। फिर भी, हमारी वर्तमान

अवस्था में भी, एक तरह का सहयोग रहता है और हमारी सामान्य बुद्धि इतने पर्याप्त रूप से जाग्रत् रहती है कि वैश्व चित्-शक्ति उसके द्वारा काम कर सके और बुद्धि तथा इच्छा को कुछ मात्रा में आंतरिक और बाह्य परिस्थितियों का निर्देशन करने दे। यह निर्देशन काफी घपला करता रहेगा, हर क्षण भूल उसका पीछा करेगी; वह केवल सीमित प्रभाव और शक्ति के योग्य होगा जो उस शक्ति की विस्तृत क्रियाओं की समग्रता के साथ मेल न खायेगा। पराप्रकृति की ओर विकास में, वैश्व क्रिया में सचेतन भाग लेनेवाली यह प्रारंभिक शक्ति व्यक्ति में वर्द्धित होकर उसमें उस प्रकृति की क्रियाओं की एक अधिकाधिक अंतरंग और विस्तृत अवलोकन-शक्ति हो जायेगी, वह प्रकृति जिस मार्ग को अपना रही थी उसका संवेदनशील बोध हो जायेगी, अधिक तेज और अधिक सचेतन आत्म-विकास के लिये जिन तरीकों को अपनाना आवश्यक था उनकी बढ़ती हुई समझ या अंतर्भासात्मक भाव हो जायेगी। जब उसका आंतरिक चैत्य या गुह्य आंतरिक मनोमय पुरुष अधिकाधिक सामने आयेगा तो चयन और स्वीकृति की शक्ति प्रबल होगी, प्रामाणिक स्वतंत्र इच्छा का आरंभ होगा जो अधिकाधिक प्रभावकारी होती जायेगी। लेकिन अधिकतर यह स्वतंत्र इच्छा व्यक्ति की अपनी प्रकृति की क्रियाओं के संबंध में ही होगी। इसका मतलब होगा उसकी अपनी सत्ता की गतिविधि पर अधिक पूर्ण, अधिक स्वतंत्र और अधिक साक्षात् रूप से सज्ञान नियंत्रण। यहां भी वह इच्छा पहले पूरी तरह स्वतंत्र नहीं हो सकती जबतक कि वह अपने ही रूपायणों से बनी सीमाओं में बंदी हो या उसे पुरानी और नयी चेतना के मिश्रण से पैदा अपूर्णता से युद्ध करना पड़े। फिर भी यह एक बढ़ता हुआ आधिपत्य और ज्ञान होगा, उच्चतर सत्ता की ओर, उच्चतर प्रकृति की ओर उन्मीलन होगा।

मुक्त इच्छा के बारे में हमारी धारणा मानव अहं के अत्यधिक व्यक्तित्व से दूषित होने की ओर प्रवृत्त रहती है और एक ऐसी स्वतंत्र इच्छा का रूप धारण करना चाहती है जो अपने अलग-थलग हिसाब से, अपने ही चुनाव और एकाकी पृथक् गति के सिवा किसी और निर्धारण के बिना पूरी स्वाधीनता से काम करती हो। यह भाव इस तथ्य की अवहेलना कर देता है कि हमारी प्राकृतिक सत्ता वैश्व प्रकृति का भाग है और हमारी आध्यात्मिक सत्ता केवल परम परात्परता के सहारे ही अस्तित्व धारण करती है। हमारी समग्र सत्ता वर्तमान प्रकृति की वस्तुस्थिति की अधीनता से केवल महत्तर सत्य और महत्तर प्रकृति के साथ तादात्म्य द्वारा ही ऊपर उठ सकती है। व्यक्ति की इच्छा, पूरी तरह स्वाधीन होते हुए भी एक अलग-थलग स्वाधीनता में काम नहीं कर सकती क्योंकि व्यष्टिगत सत्ता और प्रकृति वैश्व सत्ता और प्रकृति में अंतर्गत हैं और सबको अभिभूत करनेवाले परात्पर पर निर्भर हैं। निश्चय ही आरोहण में दोहरी धारा हो सकती है। एक धारा पर सत्ता एक स्वतंत्र स्वयंभू की तरह अनुभव और व्यवहार कर सकती है जो अपने-आपको अपनी

निर्वैयक्तिक सद्वस्तु के साथ एक करती है। वह अपने बारे में ऐसी कल्पना करके बड़ी शक्ति के साथ काम कर सकती है लेकिन या तो यह कार्य तब भी प्रकृति की शक्ति के अपने भूत और वर्तमान आत्म-रूपायण के बड़े चौखटे में होगा या फिर वह वैश्व या परम शक्ति होगी जिसने अंदर क्रिया की, वह कार्य का कोई व्यष्टिगत सूत्रपात न होगा, अतः व्यक्तिगत स्वतंत्र इच्छा का भाव न होगा, केवल निर्वैयक्तिक वैश्व या परम इच्छा या ऊर्जा अपने काम में लगी होगी। दूसरी धारा में सत्ता अपने-आपको एक आध्यात्मिक यंत्र के रूप में अनुभव करेगी और परम सत्ता की शक्ति की तरह काम करेगी, वह अपनी क्रियाओं में पराप्रकृति की उन अंतर्निहित क्षमताओं ही से—जो कि निस्सीम हैं और जिनपर अपने ही सत्य और अपने विधान के अतिरिक्त और कोई प्रतिबंध नहीं है—और उस प्रकृति में रहती परम इच्छा से सीमित होगी। लेकिन दोनों ही अवस्थाओं में, प्राकृतिक शक्तियों की यांत्रिक क्रिया के नियंत्रण से मुक्त होने की शर्त के रूप में महत्तर चिन्मय शक्ति के प्रति अधीनता या व्यष्टि-जीव के अपने और जगत् के जीवन में उस शक्ति के प्रयोजन और गति के साथ उसका मौन सहमत एकत्व होगा।

क्योंकि चेतना के उच्चतर प्रदेश में सत्ता की नयी शक्ति की क्रिया, बाहरी प्रकृति पर अपने नियंत्रण में भी, असाधारण रूप से प्रभावशाली हो सकती है लेकिन यह होता है केवल उसकी दृष्टि-ज्योति और परिणामतः वैश्व या विश्वातीत इच्छा के साथ सामंजस्य या तादात्म्य के कारण। क्योंकि जब वह निचली शक्ति की जगह उच्चतर शक्ति का यंत्र-विन्यास बन जाती है तब सत्ता की इच्छा वैश्व मानसिक ऊर्जा, प्राणिक ऊर्जा और जड़-भौतिक ऊर्जा की क्रिया और प्रक्रिया द्वारा होनेवाले यांत्रिक निर्धारण से और इस निचली प्रकृति के संचालन के प्रति अज्ञानमय अधीनता से मुक्त हो जाती है। वहां प्रवर्तन की शक्ति, यहांतक कि जगत्-शक्तियों के व्यष्टिगत पर्यवेक्षण की शक्ति भी हो सकती है लेकिन वह उपकरणात्मक प्रवर्तन होगा, एक प्रदत्त पर्यवेक्षण होगा। व्यष्टि का चुनाव शाश्वत की स्वीकृति पा लेगा क्योंकि वह स्वयं शाश्वत के किसी सत्य की अभिव्यंजना था। इस भांति व्यक्तित्व उसी अनुपात में अधिकाधिक बलवान् और प्रभावशाली होगा जिसमें वह अपने-आपको वैश्व और परात्पर सत्ता तथा प्रकृति का केंद्र और रूपायन अनुभव करेगा। क्योंकि जैसे-जैसे परिवर्तन की प्रगति आगे बढ़ेगी, मुक्त व्यष्टि की ऊर्जा मन, प्राण और शरीर की वह सीमित ऊर्जा न रहेगी जिसे लेकर वह चला था। सत्ता का आविर्भाव चेतना की महत्तर ज्योति और शक्ति की महत्तर क्रिया में होगा और वह उन्हें धारण कर लेगी, इसके साथ ही एक महत्तर चेतना-ज्योति और महत्तर शक्ति-क्रिया भी उसमें प्रकट होंगी, उतर आयेंगी और उसे अपने अंदर धारण करेंगी। उसका स्वभावगत जीवन एक श्रेष्ठतर शक्ति, अधिमानसिक और अतिमानसिक चित्-शक्ति, आद्या भगवती शक्ति का माध्यम

होगा। विकास की सभी प्रक्रियाएं ऐसी मालूम होंगी मानों एक परम और वैश्व चेतना की क्रियाएं हैं, एक परम और वैश्व शक्ति है जो, जिस तरह उसे पसंद हो उस तरह, चाहे जिस स्तर पर, चाहे जिन आत्मनिर्धारित सीमाओं में हो, काम करती है। वे ऐसी प्रतीत होंगी मानों परात्पर और वैश्व सत्ता की सचेतन क्रिया हैं, उस सर्वशक्तिमयी, सर्वज्ञ जगज्जननी की क्रिया हैं जो सत्ता को अपने अंदर, अपनी अधिचेतना में उठा रही है। अज्ञान की ऐसी प्रकृति की जगह, जिसका बंद क्षेत्र और अचेतन या अर्द्ध-चेतन यंत्र है व्यक्ति, दिव्य विज्ञान की एक पराप्रकृति होगी और व्यष्टिगत जीव उसका सचेतन, खुला हुआ, स्वतंत्र क्षेत्र और यंत्र होगा, उसकी क्रिया में भाग लेनेवाला, उसके उद्देश्य और उसकी प्रक्रिया से अभिज्ञ होगा, साथ ही अपनी महत्तर आत्मा, वैश्व और परात्पर सद्वस्तु के बारे में अभिज्ञ होगा और अपने 'पुरुष' के साथ असीम्य रूप से एक होगा और फिर भी 'उस' की सत्ता की एक वैयक्तिक सत्ता, एक उपकरण और आध्यात्मिक केंद्र होगा।

पराप्रकृति की क्रिया में इस तरह भाग लेने की ओर पहला उन्मीलन अंतिम की ओर, अतिमानसिक रूपांतर की ओर मोड़ की शर्त है क्योंकि यह रूपांतर एक अंधी स्वचालित क्रिया के धुंधले सामंजस्य से चलकर, जहांसे प्रकृति शुरू करती है, सच्ची ज्योतिर्मय, स्वतः-स्फूर्त तथा आध्यात्मिक सत्ता के स्वयंभू सत्य की अचूक गतितक की यात्रा को पूरा करना है। विकास जड़ प्रकृति की और निम्न प्राण की स्वतः-क्रिया से शुरू होता है जहां सब कुछ प्रकृति के संचालन को बिना ननुनच के स्वीकार करता है, यांत्रिक रूप से उसकी सत्ता के विधान को स्वीकार करता है और इस कारण अपने सीमित प्रकार के जीवन और कर्म में सामंजस्य बनाये रखने में सफल होता है। वह इस निम्नतर प्रकृति से चालित किंतु उसकी सीमाओं से बच निकलने के लिये उसका स्वामी बनकर उसे चलाने और उसके उपयोग करने के लिये इस संघर्षरत मानवता के मन, प्राण की अर्थ-भरी अस्तव्यस्तता में से चलकर, वस्तुओं के आध्यात्मिक सत्य पर आधारित स्वतः-चालित, आत्म-परिपूर्ति करनेवाली क्रिया के महत्तर सहज सामंजस्य में प्रकट होता है। इस उच्चतर स्थिति में चेतना उस सत्य को देखेगी और अपनी ऊर्जाओं की धारा का अनुसरण एक पूर्ण ज्ञान के साथ, सबल रूप से भाग लेती हुई, अपने उपकरणों पर अधिकार रखती हुई, कर्म और जीवन में संपूर्ण आनंद लेती हुई करेगी। व्यष्टि की वैश्व के प्रति अंध और विवश अधीनता की जगह सबके साथ ऐक्य की प्रकाशमय और सुखद पूर्णता होगी और हर क्षण व्यक्ति में वैश्व और वैश्व में व्यक्ति की क्रिया परात्पर पराप्रकृति के प्रशासन से प्रशासित और प्रबुद्ध होगी।

लेकिन यह उच्चतम स्थिति कठिन है और स्पष्टतः इसे लाने में लंबा समय लगेगा क्योंकि संक्रमण के लिये पुरुष का सहयोग और स्वीकृति पर्याप्त नहीं है, प्रकृति का सहयोग और स्वीकृति भी जरूरी है। केवल केंद्रीय विचार और इच्छा

को ही मौन स्वीकृति न देनी होगी बल्कि हमारी सत्ता के सभी भागों को आध्यात्मिक सत्य के विधान को स्वीकार करना और उसके प्रति समर्पण करना होगा। सभीको अपने अंगों में सचेतन दिव्य शक्ति के शासन की आज्ञा मानना सीखना होगा। हमारी सत्ता में हठीली कठिनाइयां हैं जो उसके विकसनशील गठन से उत्पन्न हुई हैं और जो इस स्वीकृति का विरोध करती हैं। क्योंकि इनमें से कुछ भाग तब भी निश्चेतना और अवचेतना के और आदतों के, निम्नतर यंत्र-विन्यास या प्रकृति के तथाकथित नियम के आधीन रहते हैं, जो मन की यांत्रिक आदत, प्राण की आदत, सहज वृत्ति की आदत, व्यक्तित्व की आदत, चरित्र की आदत, प्राकृत मनुष्य की गहरी मानसिक, प्राणिक, भौतिक आवश्यकताएं, आवेग और कामनाएं, सब प्रकार की पुरानी क्रियाएं हैं जिनकी जड़ें इतनी गहरी गयी हुई हैं कि ऐसा लगता है उन्हें निकाल बाहर करने के लिये हमें रसातलीय आधारतक जाना होगा। ये भाग निश्चेतन में आधारित निम्नतर प्रकृति को प्रत्युत्तर देना छोड़ने से इंकार करते हैं। वे सदा सचेतन मन और प्राण में पुरानी प्रतिक्रिया ऊपर भेजते रहते हैं और उन्हें प्रकृति के शाश्वत नियम के रूप में पुनःप्रतिष्ठित करने का प्रयास करते रहते हैं। सत्ता के अन्य भाग कम अंधकारमय, यांत्रिक और निश्चेतना में बद्धमूल हैं लेकिन सभी हैं अपूर्ण और अपनी अपूर्णता से संलग्न और उनकी अपनी हठीली प्रतिक्रियाएं होती हैं। प्राणिक भाग आत्म-पोषण के और कामना के विधान से प्रतिबद्ध होता है, मन स्वयं अपनी रूपायित गतिविधियों से जुड़ा होता है और दोनों बड़ी खुशी से अज्ञान के निम्नतर विधान के आज्ञापालक होते हैं। फिर भी सहयोग का विधान और समर्पण का विधान अनिवार्य है। संक्रमण के हर पग पर पुरुष की स्वीकृति की जरूरत होती है और साथ ही उच्चतर शक्ति उसके परिवर्तन के लिये जो कार्य कर रही है उसके लिये प्रकृति के हर भाग की स्वीकृति होनी चाहिये। और तब हमारे अंदर इस परिवर्तन के लिये, पुरानी प्रकृति की जगह परा-प्रकृति के इस प्रतिस्थापन, इस लोकातीत्व के लिये मानसिक सत्ता का सचेतन आत्म-निर्देशन भी होना चाहिये। आध्यात्म पुरुष के उच्चतम सत्य के प्रति सचेतन आज्ञापालन का नियम, समस्त सत्ता का पराप्रकृति से आनेवाली ज्योति और शक्ति के प्रति समर्पण दूसरी शर्त है जिसे अतिमानसिक रूपांतर के संभव होने से पहले स्वयं सत्ता के द्वारा धीरे-धीरे और कठिनाई से पूरा करना जरूरी है।

इसका परिणाम यह निकलता है कि तीसरे और चरम पूर्णतातक पहुंचानेवाले अतिमानसिक परिवर्तन से पहले चैत्य और आध्यात्मिक रूपांतर बहुत अधिक आगे बढ़ जाने चाहियें, इतने पूर्ण हो जाने चाहियें जितने कि हो सकते हैं। क्योंकि इस दोहरे रूपांतर द्वारा ही अज्ञान के हठ को पूरी तरह अनंत की महत्तर चेतना के पुनर्गठन करनेवाले सत्य और अनंत की महत्तर चेतना की इच्छा के प्रति आध्यात्मिक आज्ञाकारिता में बदला जा सकता है। ऐसी अधिक निर्णायक

स्थितितक पहुंचने से पहले जिसमें परम सत् और परा-प्रकृति के प्रति अपनी समस्त सत्ता का आत्म-समर्पण पूर्ण और अबाध हो सके, सामान्यतः सतत प्रयास, क्रियाशीलता, व्यक्तिगत इच्छा के संयम, तपस्या की लंबी, कठिन स्थिति को पार करना पड़ता है। खोज और प्रयास की एक प्राथमिक अवस्था होनी चाहिये जिसमें हृदय, अंतरात्मा और मन का उच्चतम के प्रति केंद्रीय उत्सर्ग या आत्मदान हो और बाद की मध्यवर्ती अवस्था हो जिसमें उसकी महत्तर शक्ति पर संपूर्ण, सचेतन निर्भरता हो जो व्यक्तिगत प्रयास की सहायता करे और फिर वह पूर्ण निर्भरता हर भाग और हर गति में प्रकृति के उच्चतर सत्य की क्रिया के प्रति अपने संपूर्ण चरम आत्म-त्याग में विकसित हो। इस आत्म-त्याग की पूर्णता तभी आ सकती है अगर चैत्य परिवर्तन पूर्ण हो गया हो या आध्यात्मिक रूपांतर उपलब्धि की बहुत ऊंची अवस्थातक जा पहुंचा हो। इसका अर्थ होता है मन अपने सभी सांचों, भावों, मानसिक रचनाओं, सभी मतों, अपने बौद्धिक अवलोकन और मूल्यांकन की सभी आदतों को छोड़ दे और उनके स्थान पर पहले अंतर्भासात्मक और फिर अधिमानसिक या अतिमानसिक क्रिया को ले आये जो प्रत्यक्ष सत्य-चेतना और सत्य-दृष्टि, सत्य-विवेक, एक नयी चेतना की क्रिया का आरंभ करवाती है जो अपने सभी तौर-तरीकों में हमारे मन की वर्तमान प्रकृति के लिये बिल्कुल पराई है। प्राण से भी मांग की जाती है कि वह इसी तरह अपनी पोसी हुई कामनाओं, भावावेगों, भावनाओं, आवेगों, संवेदन-लीकों को, क्रिया और प्रतिक्रिया के सशक्त यंत्र-विन्यास को त्याग कर उनके स्थान पर प्रकाशमय, कामना-रहित, स्वतंत्र और फिर भी स्वचालित आत्म-निर्धारक शक्ति को लाये, केंद्रीभूत वैश्व और निर्वैयक्तिक ज्ञान, बल और आनंद की शक्ति आ जाये, प्राण जिसका यंत्र और अभिव्यक्ति तो जरूर हो लेकिन जिसके बारे में अभी उसे न कोई आभास है, न ही परिपूर्ति के लिये उसके महत्तर आनंद और बल का कोई अनुभव ही है। हमारे भौतिक भाग को अपनी सहज वृत्तियों, आवश्यकताओं, अंधी पुराण-पंथी आसक्तियों, प्रकृति के निश्चित खांचों, जो कुछ उसके अपने परे है उसके बारे में संदेह और अविश्वास को छोड़ देना होगा, उसे भौतिक मन की, भौतिक जीवन और शरीर की निश्चित क्रियावली की अनिवार्यता के बारे में अपनी श्रद्धा को छोड़ देना होगा ताकि उनकी जगह एक ऐसी नयी शक्ति आ सके जो अपने महत्तर विधान और क्रियावली को जड़तत्त्व के रूप और शक्ति में प्रतिष्ठित कर सके। हमारे अंदर अवचेतना और निश्चेतना को भी सचेतन, उच्चतर ज्योति के प्रति संवेदनशील होना होगा जो चित्-शक्ति की परिपूर्ति करनेवाली क्रिया के लिये बाधक न हो बल्कि आत्मा का अधिकाधिक सांचा और निम्नतर आधार हो। ये चीजें तबतक नहीं की जा सकतीं जबतक या तो मन, प्राण और शारीरिक चेतना सत्ता की मार्ग-निर्देशक शक्तियां हों या उनका कोई प्रभुत्व हो। इस प्रकार के परिवर्तन अंतरात्मा और आंतरिक सत्ता के

पूर्ण आविर्भाव, चैत्य और आध्यात्मिक इच्छा के प्रभुत्व, सत्ता के अंगों पर उनके प्रकाश और उनकी शक्ति की लंबी क्रिया, समस्त प्रकृति के चैत्य और आध्यात्मिक नव-गठन के द्वारा ही हो सकते हैं।

भीतरी और बाहरी प्रकृति के बीच की दीवार को तोड़कर सारे आधार का एकीकरण, चेतना की स्थिति और केंद्र को बाहरी सत्ता से हटाकर उसका भीतरी सत्ता में स्थापन, इस नये आधार पर एक मजबूत नींव की स्थापना, इस भीतरी पुरुष और उसकी इच्छा और दृष्टि से कार्य करने का अभ्यास, व्यक्तिगत चेतना का वैश्व चेतना में खुलना—अतिमानसिक परिवर्तन के लिये एक और आवश्यक शर्त है। यह आशा करना कपोल-कल्पना जैसा होगा कि परम ऋत-चेतना अपने-आपको हमारे सतही मन, हृदय और प्राण के संकीर्ण रूपायन पर प्रतिष्ठित कर सकती है, वे आध्यात्मिकता की ओर कितने भी मुड़े हुए क्यों न हों। यह जरूरी है कि सभी भीतरी केंद्र प्रस्फुटित हो जायें और अपनी क्षमताओं को क्रिया में उतारें, चैत्य सत्ता उद्घाटित होकर शासन करे। अगर यह पहला परिवर्तन, जो सत्ता को भीतरी और महत्तर चेतना में, सामान्य चेतना की जगह, एक यौगिक चेतना में प्रतिष्ठित न करे तो महत्तर रूपांतर एकदम असंभव है। और फिर व्यक्ति को अपने-आपको पर्याप्त मात्रा में वैश्वभावापन्न कर लेना चाहिये, उसे अपने व्यक्तिगत मन को वैश्व मानसिकता की असीमता में फिर से ढाल लेना चाहिये, अपने व्यक्तिगत प्राण को वैश्व प्राण की गतिशील क्रिया के तात्कालिक बोध और प्रत्यक्ष अनुभव में बढ़ाना और जीवित करना चाहिये, अपने शरीर के संचरणों को वैश्व प्रकृति की शक्तियों की ओर खोलना चाहिये इससे पहले कि वह ऐसे परिवर्तन के योग्य बन सके जो वर्तमान वैश्व रूपायन का अतिक्रमण कर सके और उसे वैश्व भाव के निम्न गोलार्द्ध से ऊपर ऐसी चेतना में उठा ले जो आध्यात्मिक उच्चतर गोलार्द्ध की हो। इसके अतिरिक्त उसे पहले ही उसके बारे में अभिज्ञ हो जाना चाहिये जो अभीतक उसके लिये अतिचेतन है, उसे अभीतक ऐसी सत्ता हो जाना चाहिये जो उच्चतर आध्यात्मिक ज्योति, शक्ति, ज्ञान, आनंद के बारे में सचेतन हो और आध्यात्मिक परिवर्तन द्वारा नवीकृत अवरोहण करते हुए प्रभावों से व्याप्त हो। चैत्य के बहुत आगे बढ़ने या पूर्ण होने से पहले आध्यात्मिक उन्मीलन का होना और उसकी क्रिया का आगे बढ़ना संभव है क्योंकि ऊपर का आध्यात्मिक प्रभाव चैत्य रूपांतर को जगा सकता, उसकी सहायता कर सकता और उसे पूर्ण बना सकता है। जो कुछ जरूरी है वह यह कि उच्चतर आध्यात्मिक उद्घाटन के लिये चैत्य-पुरुष का पर्याप्त दबाव हो लेकिन तीसरा अतिमानसिक परिवर्तन, उच्चतम प्रकाश के समय से पहले अवतरण के लिये अनुमति नहीं देता क्योंकि यह तभी शुरू हो सकता है जब अतिमानसिक शक्ति प्रत्यक्ष कार्य शुरू कर दे और अगर प्रकृति तैयार न हो तो वह ऐसा नहीं करती। क्योंकि परा शक्ति की सामर्थ्य और सामान्य प्रकृति की

योग्यता में बहुत अधिक असमानता है। निम्नतर प्रकृति या तो उसे सह न सकेगी और अगर सह भी ले तो उसे प्रत्युत्तर न दे सकेगी, ग्रहण न कर सकेगी या फिर ग्रहण कर भी ले तो उसे आत्मासात् न कर पायेगी। जबतक प्रकृति तैयार न हो जाये अतिमानसिक शक्ति को परोक्ष रूप से कार्य करना होता है। वह अधिमानस और अंतर्भास की मध्यस्थ शक्तियों को सामने रखती है या वह अपने किसी ऐसे परिवर्तित रूप से कार्य करती है जिसके प्रति अर्द्ध-रूपांतरित सत्ता पूरी या आंशिक तरह से प्रत्युत्तरशील हो सके।

आध्यात्मिक विकास उत्तरोत्तर प्रस्फुटन के तर्क का अनुसरण करता है। जब पिछले मुख्य चरण को पर्याप्त रूप में जीत लिया जाये तभी वह कोई नया निर्णायक कदम उठा सकता है। द्रुत और अतर्कित आरोहण द्वारा चाहे कुछ गौण अवस्थाओं को निगल लिया जाये या उनपर से छलांग लगा ली जाये, फिर भी चेतना को इस संबंध में विश्वस्त होने के लिये पीछे मुड़ना पड़ता है कि जिस भूमि को पार कर लिया गया है वह नयी अवस्था के साथ सुरक्षित रूप से संलग्न है या नहीं। यह सच है कि आत्मा की विजय एक ही जीवन में या कुछ जीवनों में ऐसी प्रक्रिया का कार्यान्वयन करती है जिसमें प्रकृति की सामान्य गति में शताब्दियों या सहस्राब्दियों की एक मंथर और अनिश्चित प्रक्रिया लग जाती; लेकिन यह उस गति का प्रश्न है जिससे कदम बढ़ाये जाते हैं; अधिक तेज या एकाग्र गति पदों को या उन्हें उत्तरोत्तर पार करने की आवश्यकता को समाप्त नहीं कर देती। बढ़ी हुई तेजी केवल इसलिये संभव होती है कि आंतरिक सत्ता का सचेतन सहयोग होता है और परा-प्रकृति की शक्ति पहले से ही अर्द्ध-रूपांतरित निम्नतर प्रकृति में कार्यरत होती है, इस तरह अन्यथा जो कदम परीक्षण के तौर पर निश्चेतना या अज्ञान की रात में लेने पड़ते वे अब ज्ञान की बढ़ती हुई ज्योति और शक्ति में लिये जा सकते हैं। विकसनशील शक्ति की प्रथम अंधकारमय जड़ गति युगीन क्रमिकता से चिह्नित होती है। प्राणिक प्रगति की गति चलती तो है धीरे-धीरे फिर भी अधिक द्रुत पगों से। वह सहस्राब्दियों में संहत हो जाती है। मन काल की धीमी मंथर गति को और भी अधिक सिकोड़ कर शताब्दियों के लंबे कदम ले सकता है लेकिन जब सचेतन आत्मा हस्तक्षेप करती है तो विकसनशील स्फूर्ति की अत्यधिक तेज गति संभव होती है। फिर भी विकास के प्रवाह की ऐसी अंतर्लीन तेज गति, जो बीच की भूमिकाओं को लीलती जाये, केवल तब आ सकती है जब सचेतन आध्यात्म पुरुष की शक्ति ने क्षेत्र तैयार कर दिया हो और अतिमानसिक शक्ति ने अपने प्रत्यक्ष प्रभाव का उपयोग शुरू कर दिया हो। निश्चय ही प्रकृति के सभी रूपांतर चमत्कार का रूप धारण कर लेते हैं लेकिन यह एक पद्धति सहित चमत्कार होता है। प्रकृति के लंबे-से-लंबे कदम निश्चित भूमि पर लिये जाते हैं, उसकी तेज-से-तेज छलांगें ऐसी नींव से ली जाती हैं जिनसे विकास की कूद को सुरक्षा और

निश्चिति मिले। एक गुप्त सर्व-प्रज्ञा प्रकृति में हर चीज को, उन कदमों और प्रक्रियाओं को भी नियंत्रित रखती है जो सबसे अधिक रहस्यमय मालूम होती हैं।

प्रकृति की प्रक्रिया का यह विधान अंतिम सांक्रामिक क्रिया में एक क्रम की, क्रमों के आरोहण, ऊंची और अधिक ऊंची अवस्थाओं को खोलने की आवश्यकता को ले आता है जो अवस्थाएं हमें आध्यात्मिक मन से अतिमन की ओर ले जाती हैं—यह एक खड़ी चढ़ाई है जिसे किसी और तरह पार नहीं किया जा सकता। हम देख आये हैं कि हमारे ऊपर सत्ता की आनुक्रमिक स्थितियां, स्तर या श्रेणीबद्ध शक्तियां हैं जो हमारे सामान्य मन के ऊपर हैं, हमारे अपने अतिचेतन भागों में छिपी हैं, मन के उच्चतर प्रदेश हैं, आध्यात्मिक चेतना और अनुभव की कोटियां हैं; उनके बिना कोई कड़ियां न होंगी, कोई बीच में आनेवाले सहायक प्रदेश न होंगे जो विशाल आरोहण को संभव बनाते हों। वस्तुतः इन उच्चतर स्रोतों से प्रच्छन्न आध्यात्मिक शक्ति सत्ता पर काम करती है और अपने दबाव के द्वारा चैत्य रूपांतर या आध्यात्मिक परिवर्तन को ले आती है; लेकिन हमारे विकास की प्रारंभिक अवस्थाओं में यह क्रिया प्रकट नहीं होती, वह गुह्य और अग्राह्य रहती है। सबसे पहली जरूरी चीज यह है कि आध्यात्मिक शक्ति का शुद्ध स्पर्श मानसिक प्रकृति में हस्तक्षेप करे, वह जगानेवाला दबाव मन, हृदय और प्राण पर अपनी छाप लगाये और उन्हें ऊपर की ओर उन्मुख करे, एक सूक्ष्म ज्योति या रूपांतरकारी शक्ति उनकी गतिविधियों को शुद्ध और परिमार्जित करे, ऊपर की ओर उठा दे और एक ऐसी उच्चतर चेतना से प्लावित कर दे जो उनकी सामान्य क्षमता और स्वभाव की चीज नहीं है। यह अंदर से, चैत्य सत्ता और चैत्य व्यक्तित्व द्वारा अदृश्य क्रिया से किया जा सकता है, इसके लिये सचेतन रूप से अनुभव होनेवाला ऊर्ध्व-अवतरण अनिवार्य नहीं है। हर जीवित सत्ता में, हर स्तर पर, हर चीज में आत्मा की उपस्थिति है। और चूंकि वह है अतः सच्चिदानंद का, शुद्ध आध्यात्मिक सत्ता और चेतना का, दिव्य उपस्थिति के आनंद, निकटता का अनुभव किया जा सकता है और संपर्क मन या हृदय, प्राण-संवेदन, यहांतक कि भौतिक चेतना द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है। अगर भीतरी द्वारों को काफी खोल दिया जाये तो मंदिर का प्रकाश बाहरी सत्ता के निकटतम और दूरतम कक्षों को परिप्लावित कर सकता है। ऊपर से आनेवाली आध्यात्मिक शक्ति के गुह्य अवतरण द्वारा आवश्यक मोड़ या परिवर्तन भी लाया जा सकता है जिसमें बाढ़, प्रभाव और आध्यात्मिक परिणाम का अनुभव तो किया जा सकता है परंतु उच्चतर स्रोत अज्ञात रहता है और अवतरण का वास्तविक अनुभव नहीं होता। इस तरह से प्रभावित चेतना का इतना अधिक उत्थान हो सकता है कि सत्ता आत्मा के साथ या भगवान् के साथ तात्कालिक ऐक्य की ओर मुड़े और विकास से विदा ले ले और अगर यह स्वीकृत हो जाये तो फिर अनुक्रम, चरण या पद्धति का प्रश्न हस्तक्षेप नहीं

करता, प्रकृति के साथ संबंध-भंग निर्णायक हो सकता है; क्योंकि अगर एक बार विदा का विधान संभव बन जाये तो उसका विधान विकसनशील रूपांतर और पूर्णता के विधान जैसा नहीं रहता और न उसे वैसा रहने की जरूरत होती है। वह छलांग होती या हो सकती है, बंधनों में से तेजी के साथ या तत्काल छुटकारा होता या हो सकता है—आध्यात्मिक छुटकारा प्राप्त हो जाता है और उसका एकमात्र अनुमोदन बाकी रहता है शरीर का नियत अंत। लेकिन अगर पार्थिव जीवन का रूपांतर अभिप्रेत है तो आध्यात्मिक जागरण के प्रथम स्पर्श के पीछे-पीछे आना चाहिये उच्चतर स्रोतों और ऊर्जाओं के प्रति जागरण, उनकी खोज और सत्ता का उनके विशिष्ट स्तर में परिवर्द्धन और उन्नयन और चेतना का उनके विशालतर विधान और क्रियाशील और गतिशील प्रकृति में परिवर्तन। इस परिवर्तन को एक-एक सीढ़ी करके तबतक होते रहना चाहिये जबतक आरोहण के सोपान का अतिक्रमण न हो जाये और वेदों के कहे गये "*उरो अनिबाधे*", विशालतम उन्मुक्त अंतरिक्ष में, परम ज्योतिर्मयी तथा अनंत चेतना के स्वधामों में आविर्भाव न हो जाये।

क्योंकि, यहां भी विकास की वही प्रक्रिया है जैसी प्रकृति की बाकी क्रिया में है। चेतना ऊपर उठती और विस्तृत होती है, एक नये स्तर पर आरोहण होता है और नीचे के स्तरों को ऊपर उठाया जाता है। सत्ता की एक श्रेष्ठतर शक्ति जीवन को धारण करती और उसका नया समाकलन करती है। वह शक्ति अपनी क्रिया-विधि, अपने स्वभाव और अपनी पदार्थगत ऊर्जा की शक्ति का प्रकृति के पहले से विकसित अंगों के उतने भाग पर आरोपण करती है जहांतक वह पहुंच सके। प्रकृति की क्रियाओं की इस उच्चतम स्थिति में एकीकरण की मांग बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाती है। आरोहण की निचली श्रेणियों में, यह नया धारण, चेतना के उच्चतर तत्त्व में समाकलन अधूरा रहता है। मन पूरी तरह से प्राण और जड़-तत्त्व को मानसभावापन्न नहीं कर सकता, प्राण-सत्ता और शरीर के काफी भाग अवमानस, अवचेतन या अचेतन के क्षेत्र में रहते हैं। प्रकृति की पूर्णता के प्रति मन के प्रयास में यह एक गंभीर बाधा है; क्योंकि क्रिया-कलाप के शासन में अवमानस, अवचेतन और अचेतन का लगातार भाग लेते रहना, मानसिक सत्ता के विधान से इतर किसी विधान को ले आना, सचेतन प्राण और भौतिक चेतना को भी इसके लिये समर्थ बनाता है कि वे उनपर मन द्वारा लगाये गये विधान को अस्वीकार करके मानसिक तर्क-बुद्धि और विकसित बुद्धि की युक्तियुक्त इच्छा के विरोध में, अपने ही आवेगों और सहज प्रवृत्तियों का अनुसरण करें। यह मन के लिये अपने परे जाना, अपने स्तर को पार करना और प्रकृति को आध्यात्मभावापन्न बनाना कठिन बना देता है; क्योंकि जिसे वह पूरी तरह सचेतन ही नहीं बना सकता, मानसिक या तर्क-सम्मत नहीं बना सकता उसे वह आध्यात्मभावापन्न भी नहीं बना

सकता क्योंकि आध्यात्मीकरण अधिक बड़ा और अधिक कठिन समाकलन है। निःसंदेह आध्यात्मिक शक्ति का आह्वान करके वह प्रकृति के कुछ भागों में, विशेषकर स्वयं विचारशील मन और हृदय में, जो स्वयं उसके प्रदेश के सबसे अधिक नजदीक हैं, एक प्रभाव और प्रारंभिक परिवर्तन स्थापित कर सकता है लेकिन यह परिवर्तन प्रायः सीमाओं के भीतर भी समग्र पूर्णता नहीं होता और वह जो कुछ प्राप्त कर भी लेता है वह विरल और कठिन होता है। मन का उपयोग करनेवाली आध्यात्मिक चेतना एक घटिया साधन का व्यवहार करती है और यद्यपि वह मन में दिव्य ज्योति, हृदय में दिव्य शुद्धि, आवेग, उत्साह लाती है या प्राण पर आध्यात्मिक विधान लागू करती है फिर भी इस नयी चेतना को प्रतिबंधों में रहकर काम करना होता है। अधिकतर वह प्राण की निचली क्रिया को केवल नियमित कर सकती या रोक सकती है और शरीर का कठोर नियंत्रण कर सकती है, लेकिन ये अंग परिमार्जित या अधीन हो जाने पर भी अपनी आध्यात्मिक पूर्ति नहीं पाते और न ही पूर्णता और रूपांतर प्राप्त करते हैं। इसके लिये उस उच्चतर क्रियाशील तत्त्व को लाना जरूरी है जो आध्यात्मिक चेतना का वासी हो, अतः जिसके द्वारा वह चेतना अपने विधान और अधिक पूर्ण स्वाभाविक प्रकाश और शक्ति से कार्य कर सके और उन्हें अंगों पर आरोपित कर सके।

लेकिन इस नये सक्रिय तत्त्व का हस्तक्षेप और प्रबल आरोपण भी सफल होने में लंबा समय ले सकता है क्योंकि सत्ता के निचले भागों के अपने अधिकार होते हैं और अगर उन्हें सचमुच रूपांतरित करना हो तो उन्हें अपने निजी रूपांतर के लिये राजी करना होगा, लेकिन यह करना मुश्किल है क्योंकि हमारे हर भाग की स्वाभाविक प्रवृत्ति, किसी ऐसे उच्चतर विधान या धर्म की अपेक्षा जो उसे अपना निजी न मालूम होता हो, स्वधर्म को पसंद करने की होती है—वह चाहे जितना घटिया क्यों न हो। वह अपनी ही चेतना या अचेतना, अपने आवेगों और प्रतिक्रियाओं, अपनी सत्ता की गतिशीलता, जीवन के आनंद के अपने ही तरीके से चिपका रहता है। अगर वह तरीका आनंद का विरोधी, अंधकार, दुःख-दर्द और क्लेश का मार्ग हो तो और भी ज्यादा चिपका रहता है क्योंकि इसके लिये भी उसने विकृत और विरोधी रस उत्पन्न कर लिया है, अंधेरे और दुःख का अपना सुख, कष्ट और वेदना में परपीड़न रति या स्वपीड़न रति का स्वाद पा लिया है। हमारी सत्ता का अगर यह भाग ज्यादा अच्छी चीजें खोजता है तो भी वह प्रायः अधिक बुरी चीजों का अनुसरण करने के लिये बाधित होता है क्योंकि वे उसकी अपनी, उसकी ऊर्जा के लिये स्वाभाविक, उसके पदार्थ के लिये स्वाभाविक हैं। संपूर्ण और आमूल परिवर्तन केवल तभी लाया जा सकता है जब आध्यात्मिक सत्य, शक्ति, आनंद के घनिष्ठ अनुभव और आध्यात्मिक प्रकाश को आग्रह के साथ अक्खड़ तत्त्वों में लाया जाये, यहांतक कि वे भी स्वीकार कर लें कि उनकी

अपनी परिपूर्णता का मार्ग यही है, कि वे स्वयं आत्मा की घटी हुई शक्ति हैं और सत्ता के इस नये तरीके से वे अपने निजी सत्य और संपूर्ण प्रकृति को फिर से पा सकते हैं। निम्न प्रकृति की शक्तियां और उनसे भी बढ़ करके विरोधी शक्तियां जो जगत् की अपूर्णताओं द्वारा जीती और राज्य करती हैं और जिन्होंने निश्चेतना की काली चट्टानों पर अपनी भयानक नींव डाली है, वे इस प्रदीपन का निरंतर विरोध करती हैं।

इस कठिनाई पर विजय पाने के लिये एक अनिवार्य कदम है आंतरिक सत्ता और उसकी क्रिया के केंद्रों का उद्घाटन; क्योंकि जो काम सतही मन नहीं कर सका वह वहांपर अधिक संभव हो उठता है। आंतरिक मन, आंतरिक प्राण-चेतना और प्राणिक मन, सूक्ष्म-भौतिक चेतना और उसकी सूक्ष्म-भौतिक मानसता को एक बार क्रिया में मुक्त कर दिया जाये तो वे एक अधिक विशाल, परिमार्जित और अधिक महान् मध्यस्थता करनेवाली अभिज्ञता को उत्पन्न करते हैं जो वैश्व के साथ और जो कुछ उनके ऊपर है उनके साथ संचरण कर सकती है और साथ ही सत्ता के सारे क्षेत्र पर, अवमानसिक पर और अवचेतन मन पर, अवचेतन प्राण पर, यहांतक कि शरीर की अवचेतना पर भी उनकी शक्ति प्रयुक्त करा सकती है। वे यद्यपि आधारभूत निश्चेतना को पूरी तरह आलोकित तो नहीं कर सकते फिर भी कुछ हदतक खोल सकते, भेद सकते और उसपर क्रिया कर सकते हैं। तब ऊपर से आनेवाले आध्यात्मिक प्रकाश, शक्ति, ज्ञान तथा आनंद मन और हृदय के परे उतर सकते हैं। इनतक पहुंचना और इन्हें आलोकित करना हमेशा सबसे अधिक सरल है; सारी प्रकृति को ऊपर से नीचेतक भरते हुए ये प्राण और शरीर में अधिक पूरी तरह व्याप्त हो सकते हैं और इससे भी अधिक गहरे संघात द्वारा निश्चेतना की नींव को हिला सकते हैं। लेकिन अंदर से की गयी यह विशालतर मानसभावापन्नता और प्राणिकभावापन्नता एक घटिया प्रदीपन है, वह अज्ञान को कम तो कर सकती है लेकिन उससे पिंड नहीं छुड़ा सकती; जो शक्तियां और बल निश्चेतना के सूक्ष्म और गुप्त शासन को बनाये रखते हैं उनपर आक्रमण तो करती है, पीछे हटने के लिये बाधित करती है परंतु उनपर विजय नहीं प्राप्त करती। इस विशालतर मानसिक और प्राणिकभावापन्नता के द्वारा काम करनेवाली आध्यात्मिक शक्तियां एक उच्चतर प्रकाश, बल और आनंद को ला सकती हैं लेकिन इस स्तर पर भी पूर्ण आध्यात्मीकरण और चेतना का अधिकतम पूर्ण नया समाकलन संभव नहीं है। अगर अंतर्तम सत्ता तथा चैत्य कार्य को अपने हाथ में ले लें तब वस्तुतः मानसिक परिवर्तन नहीं, अधिक गहरा परिवर्तन आध्यात्मिक शक्ति के अवतरण को अधिक प्रभावकारी बना सकता है, क्योंकि तब सचेतन सत्ता की समग्रता में प्रारंभिक आंतरात्मिक परिवर्तन हो चुकेगा जो मन, प्राण और शरीर को उनकी अपनी अपूर्णताओं और अशुद्धियों के जाल से मुक्त करता है। इस बिंदु पर एक अधिक

बड़ी आध्यात्मिक क्रियाशीलता, आध्यात्मिक मन और अधिमानस की उच्चतर क्रिया-शक्तियां पूरी तरह से हस्तक्षेप कर सकती हैं। वस्तुतः, हो सकता है कि वे शक्तियां पहले से ही अपना कार्य शुरू कर चुकी हों, भले केवल प्रभाव के रूप में; परंतु नयी परिस्थितियों में वे केंद्रीय सत्ता को स्वयं अपने स्तरतक उठा सकें और प्रकृति के अंतिम नूतन समाकलन को शुरू कर दें। ये उच्चतर शक्तियां पहले ही से अनाध्यात्मीकृत मानव मन में काम तो करती हैं पर परोक्ष रूप से और खंडित तथा घटी हुई क्रिया में। वे काम करने से पहले मन के पदार्थ और शक्ति में बदल जाती हैं। और वह पदार्थ तथा शक्ति अपने स्पंदनों में प्रदीप्त और तीव्र हो जाते हैं, और इस प्रवेश के द्वारा उनकी कुछ गतियां ऊपर उठती और आनंदपूर्ण हो जाती हैं लेकिन उनका रूपांतर नहीं होता। लेकिन जब आध्यात्मीकरण शुरू होता है, जब उसके बड़े परिणाम अभिव्यक्त होते हैं—मन की निश्चल नीरवता, हमारी सत्ता का वैश्व चेतना में प्रवेश, तुच्छ अहंकार का विश्वात्मा के भाव में निर्वाण, दिव्य सद्वस्तु के साथ संपर्क—तो उच्चतर क्रियाशक्तियों के हस्तक्षेप और उनकी ओर हमारा खुलना बढ़ सकता है, तब वे अपनी क्रिया की अधिक पूरी, अधिक प्रत्यक्ष, अधिक विशिष्ट शक्ति धारण कर सकती हैं और यह प्रगति तबतक चलती रहती है जबतक उनकी कोई पूर्ण और परिपक्व क्रिया संभव न हो जाये। तब उसके बाद आध्यात्मिक रूपांतर का अतिमानसिक रूपांतर की ओर मुड़ना शुरू होता है क्योंकि चेतना का अधिकाधिक ऊंचे स्तरोंतक उठना हमारे अंदर अतिमानस की ओर आरोहण का, उस कठिन और उच्चतम मार्ग के अनुक्रम का निर्माण करता है।

यह न मान लेना चाहिये कि सभीके लिये संक्रमण की रेखाएं और परिस्थितियां समान होंगी; क्योंकि यहां हम अनंत के प्रदेश में प्रवेश करते हैं; लेकिन चूंकि उन सबके पीछे आधारभूत सत्य का एकत्व है अतः आरोहण की किसी एक रेखा की सूक्ष्म छानबीन से यह आशा की जा सकती है कि वह समस्त आरोहणकारी संभावनाओं के तत्त्व पर प्रकाश डालेगी। हम बस इस प्रकार की किसी एक ही रेखा की छानबीन के लिये प्रयास कर सकते हैं। यह रेखा, जैसे अन्य सभी रेखाएं होंगी, आरोहण-सोपान की स्वाभाविक आकृति से नियंत्रित होती है। उसमें बहुत-सी सीढ़ियां हैं क्योंकि यह एक अविच्छिन्न अनुक्रम है जिसके बीच में कहीं भी कोई अंतराल नहीं है। लेकिन हमारे मन से ऊपर चेतना के आरोहण के दृष्टिकोण से, जो गतिशील शक्तियों के उठते हुए क्रम में से होकर बढ़ता है, जिनसे चेतना अपने-आपको उदात्त कर सकती है, यह वर्गीकरण चार प्रधान आरोहणों के सोपान में नियोजित किया जा सकता है जिनमें प्रत्येक की परिपूर्ति का अपना उच्च स्तर होगा। संक्षेप में इन क्रमों को उच्चतर मन, प्रबुद्ध मन, अंतर्भास में से होते हुए अधिमानस और उसके परे चेतना के उदात्तीकरण की शृंखला कहा जा सकता है। आत्म-

रूपांतरों का एक अनुक्रम है जिसके शिखर पर है अतिमानस या दिव्य विज्ञान। अपने तत्त्व और अपनी शक्ति में ये सभी श्रेणियां विज्ञानमय हैं; क्योंकि शुरू से ही हम आदि निश्चेतना पर आधारित और व्यापक अज्ञान या मिले-जुले ज्ञान, अज्ञान में क्रिया करनेवाली चेतना से एक ऐसी चेतना में जाना शुरू कर देते हैं जो गुह्य स्वयंभू ज्ञान पर आधारित है, जो पहले उस ज्योति और शक्ति द्वारा निर्देशित और अनुप्रेरित होती है और फिर अपने-आप उस पदार्थ में बदल जाती है और पूरी तरह उस नये यंत्र-विन्यास का उपयोग करती है। अपने-आपमें ये श्रेणियां आत्मा के ऊर्जा-पदार्थ की श्रेणियां हैं लेकिन यह न मान लेना चाहिये कि चूंकि हम उनके मुख्य लक्षण, उनके ज्ञान-साधन और ज्ञान-शक्ति के अनुसार इनमें भेद करते हैं इसलिये ये केवल ज्ञान की विधि या तरीका या संबोध की क्षमता या शक्ति हैं, ये तो सत्ता के प्रदेश हैं, आध्यात्मिक सत्ता के पदार्थ और ऊर्जा की श्रेणियां, अस्तित्व के क्षेत्र हैं जिनमें से हर एक उस वैश्व चित्-शक्ति का एक स्तर है जो अपने-आपको एक उच्चतर स्थिति में निर्मित और संगठित कर रही है। जब किसी श्रेणी की शक्तियां हमारे अंदर पूरी तरह उतर आती हैं तो केवल हमारे विचार और ज्ञान पर ही असर नहीं पड़ता, हमारी सत्ता और चेतना के पदार्थ, उसके कण और तंतु-रचना, उसकी सभी स्थितियां और कार्य-कलाप भी उससे प्रभावित होते हैं, ये शक्तियां उनमें प्रविष्ट होती हैं और उन्हें फिर से गढ़ा जा सकता है और पूरी तरह रूपांतरित किया जा सकता है। अतः इस आरोहण में हर एक पर्व श्रेष्ठतर जीवन की नयी ज्योति और शक्ति में सत्ता का समग्र नहीं तो सामान्य धर्मांतरण अवश्य होता है।

स्वयं श्रेणीक्रम आधारभूत रूप से उच्चतर या निम्नतर पदार्थ पर, सामर्थ्य, सत्ता के स्पंदनों की तीव्रता, उसकी आत्म-अभिज्ञता, उसके अस्तित्व के आनंद, उसके अस्तित्व के बल पर आधारित होता है। जैसे-जैसे हम सोपान पर नीचे उतरते हैं, चेतना अधिकाधिक घट जाती और हल्की हो जाती है। निःसंदेह वह अपनी स्थूल अनगढ़ता के कारण घन तो है लेकिन जब कि गाढ़ेपन की वह अपक्वता अज्ञान के पदार्थ को संहत करती है, वह प्रकाश के पदार्थ को कम, और भी कम प्रवेश करने देती है, उसका विशुद्ध चेतना-सत्त्व पतला हो जाता है और उसकी चेतना-शक्ति क्षीण हो जाती है, उसका प्रकाश पतला हो जाता है, उसकी आनंद-क्षमता पतली और दुर्बल हो जाती है। उसे किसी चीजतक पहुंचने के लिये अपने घटे हुए पदार्थ की अधिक अपरिष्कृत मोटाई की ओर और अपनी अंधकारमय शक्ति के अधिक श्रमसाध्य परिणाम की ओर लौटना पड़ता है, लेकिन प्रयास और परिश्रम की यह कष्टसाध्यता बल का नहीं, दुर्बलता का चिह्न है। इसके विपरीत, जब हम ऊपर चढ़ते हैं तो एक सूक्ष्मतर परंतु कहीं अधिक मजबूत और सच्चा और आध्यात्मिक दृष्टि से ठोस पदार्थ प्रकट होता है, चेतना की अधिक दीप्ति और

समर्थ पदार्थ, सूक्ष्मतर, अधिक मधुर, शुद्ध और शक्तिशाली रूप से आनंद की अधिक उल्लासमय ऊर्जा प्रकट होती है। हमारे ऊपर इन उच्चतर श्रेणियों के अवतरण में यह महत्तर प्रकाश, शक्ति, सत्ता और चेतना का सारतत्त्व, आनंद की ऊर्जा ही मन, प्राण, शरीर में प्रविष्ट होकर उनके घटे हुए, तरलित और अशक्त पदार्थ को बदलती और सुधारती हैं और उसे आत्मा की अपनी उच्चतर और अधिक प्रबल शक्ति में और सद्वस्तु के मूलभूत सत्य और शक्ति में बदल देती हैं। यह इसलिये हो सकता है क्योंकि सब कुछ आधारभूत रूप से एक ही पदार्थ, वही चेतना और वही शक्ति है लेकिन है अपने अलग-अलग रूपों, शक्तियों और कोटियों में। अतः निचले का उपरले में उठाया जाना एक संभव और—हमारी निश्चेतना की दूसरी प्रकृति न हो तो—आध्यात्मिक रूप से स्वाभाविक गति है। जो श्रेष्ठतर स्थिति में से प्रकट किया गया था उसे अपनी महत्तर सत्ता और सारतत्त्व में लपेटकर धारण कर लिया जाता है।

अपनी मानव बुद्धि, अपनी सामान्य मानसिकता से बाहर निकलने का हमारा पहला निर्णायक कदम होता है उच्चतर मन में आरोहण, ऐसे मन में जो अब प्रकाश और अंधकार का मिश्रण या अर्द्ध-प्रकाश न रहकर आत्मा की विशाल स्पष्टता होता है। उसका आधारभूत पदार्थ है सत्ता की एकात्मिका अनुभूति जिसके साथ एक सबल बहुविध सक्रियता होती है जो ज्ञान के बहुविध रूप-पक्षों, क्रिया के तरीकों, संभवन के रूपों और अर्थों के रूपायन के समर्थ है और उन सबका सहज अंतर्भूत ज्ञान है। अतः यह अधिमानस से आयी हुई शक्ति है लेकिन इसका अंतिम मूल है अतिमानस, उसी तरह जैसे ये सभी महत्तर शक्तियां वहींसे आयी हैं लेकिन इसके विशेष स्वभाव पर, इसकी चेतना की क्रियाशीलता पर 'विचार' का आधिपत्य रहता है; यह एक ज्योतिर्मय विचारात्मक मन, आध्यात्म से उत्पन्न प्रत्ययात्मक ज्ञान का मन है। मौलिक तादात्म्य से निकलनेवाली सर्व-अभिज्ञता, जो ऐसे सत्यों को धारण करती है जिन्हें तादात्म्य अपने अंदर लिये रहता है, तेजी से, विजयी भाव से, बहुविध रूप से धारणाएं बनाती और उन्हें निरूपित करती और भाव की आत्म-शक्ति से अपनी धारणाओं को कार्य में सिद्ध करती एक ऐसी सर्व-अभिज्ञता है जो इस ज्ञानमय महत्तर मन का धर्म है। इस तरह का ज्ञान अज्ञानाधार विभेदात्मक ज्ञान के सूत्रपात से पहले आद्य आध्यात्मिक तादात्म्य से उभरनेवाला आखिरी है, अतः अपने धारणात्मक और तर्क-विचारशील मन से उभर कर, जो हमारे अज्ञान की सबसे अच्छी तरह संगठित ज्ञान-शक्ति है, जब हम आध्यात्म तत्त्वों के राज्य में जाते हैं तो यही ज्ञान हमें सबसे पहले मिलता है। वास्तव में वह हमारे धारणात्मक मनोमय भावन का आध्यात्मिक जनक है। यह स्वाभाविक है कि हमारी मानसिकता की यह मार्ग-दर्शन शक्ति जब अपने परे जाती है तो अपने सन्निकट उत्स में चली जाती है।

लेकिन यहां इस महत्तर विचार में खोजने की और अपनी आलोचना करनेवाले तर्क की जरूरत नहीं होती, निष्कर्ष की ओर पग-पग बढ़नेवाली तार्किक गति नहीं, प्रकट या अप्रकट निगमन और अनुमान का यंत्र-विन्यास नहीं, ज्ञान के किसी व्यवस्थित समाहार या परिणामतक पहुंचने के लिये भावों को लेकर निर्माण नहीं, उनकी विवेचना पर आश्रित शृंखला-रचना नहीं; क्योंकि हमारी बुद्धि की यह पंगु क्रिया ज्ञान की खोज में लगे अज्ञान की क्रिया है जो अपने कदमों को भूल-भ्रांति से सुरक्षित रखने के लिये बाधित है, एक चयनात्मक मानसिक निर्माण को अपना सामयिक आश्रय बनाने के लिये और उसे ऐसे आधारों पर खड़ा करने के लिये बाधित है, जो पहले खड़े किये जा चुके हैं और सावधानी से तो खड़े किये गये हैं परंतु कभी दृढ़ नहीं होते क्योंकि उसे अभिज्ञता की सहजात भूमि का सहारा नहीं होता बल्कि वह निर्ज्ञान की आद्य मिट्टी पर आरोपित है। और फिर यहां हमारे मन की वह तीक्ष्णतम तथा द्रुततम अन्य रीति भी नहीं है जो एक द्रुत संयोग से मिल जानेवाले पूर्वाभास तथा अंतर्दृष्टि की, अल्पज्ञात तथा अज्ञात में अन्वेषण करती हुई बुद्धि की खोज-बत्ती की क्रीड़ा की रीति है। यह उच्चतर चेतना वह ज्ञान है जो अपने-आपको स्वयंभू सर्व-अभिज्ञता के आधार पर प्रतिपादित करता और अपनी समग्रता के कुछ अंश को प्रकट करता और विचार-रूप में रखे गये अपने अर्थों के सामंजस्य को अभिव्यक्त करता है। यह अपने-आपको मुक्त रूप से एकाकी भाव में प्रकट कर सकता है लेकिन इसकी सबसे अधिक विशिष्ट गति है समग्र-भावन, एक ही दृष्टि में सत्य-दर्शन की समग्रता या पद्धति। भाव के साथ भाव के, सत्य के साथ सत्य के संबंध तर्क द्वारा स्थापित नहीं होते बल्कि पहले से ही उपस्थित होते हैं और अखंड संपूर्ण में आत्म-दृष्ट होकर उभरते हैं। वहां सदा उपस्थित परंतु अभीतक निष्क्रिय ज्ञान के रूपों में प्रवेश होता है, आधार-वाक्यों या प्रदत्त सामग्री पर आधारित निष्कर्षों की पद्धति नहीं होती। यह विचार शाश्वत प्रज्ञा का आत्म-प्रकटन है उपार्जित ज्ञान नहीं। सत्य के विशाल पहलू दिखलायी देते हैं जिनमें अगर आरोही मन चाहे तो संतोष के साथ रह सकता है और अपने पुराने ढंग से इस तरह रह सकता है मानों किसी इमारत में रहता हो, लेकिन अगर प्रगति करनी है तो ये इमारतें सदा एक बड़ी इमारत में विस्तार पा सकती हैं या उनमें से बहुत-सी एक साथ मिलकर एक अस्थायी बृहत्तर समग्र बन सकती हैं जो अभीतक अनुपलब्ध-संपूर्णता के मार्ग पर हैं। और अंत में ज्ञात और अनुभूत सत्य की ज्यादा बड़ी समग्रता है जो अब भी अनंत रूप से बढ़ सकती है क्योंकि ज्ञान के पहलुओं का कहीं कोई अंत नहीं है—*नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे*।

यह है उच्चतर मन अपने ज्ञान के पहलू में; लेकिन एक पहलू इच्छा का, सत्य के गतिशील संपादन का भी है। यहां हम देखते हैं कि यह विशालतर और अधिक प्रदीप्त मन हमेशा बाकी सारी सत्ता पर, मानसिक इच्छा, हृदय और उसके

भाव, प्राण, शरीर पर, सदा विचार की शक्ति द्वारा, भाव-शक्ति द्वारा क्रिया करता है। वह ज्ञान द्वारा शुद्ध करना, ज्ञान द्वारा मुक्त करना, ज्ञान की सहजात शक्ति द्वारा सृजन करना चाहता है। भाव को हृदय में या प्राण में ऐसी शक्ति के रूप में रखा जाता है जिसे स्वीकार और कार्यान्वित किया जाये; हृदय और प्राण भाव के बारे में सचेतन हो जाते हैं और उसकी शक्ति को प्रत्युत्तर देते हैं और उनका पदार्थ उसी अर्थ में अपने अंदर हेर-फेर करने लगता है जिससे अनुभूतियां और क्रियाएं इस उच्चतर प्रज्ञा के स्पंदन बन जाती हैं, उससे अनुप्राणित होती हैं, उसके भाव और संवेदन से भर जाती हैं। इसी भांति इच्छा-शक्ति और प्राणावेग उसके बल और आत्म-संपादन की प्रेरणा से प्रभावित होते हैं। शरीर में भी भाव काम करता है ताकि, उदाहरण के लिये, स्वास्थ्य के समर्थ विचार और इच्छा-शक्ति शरीर के बीमारी पर विश्वास और उसके लिये स्वीकृति का स्थान ले लेते हैं या बल का भाव[1] बल के पदार्थ में शक्ति, गति, संवेदन को बुलाता है। भाव भी शक्ति और उसके उपयुक्त रूप को पैदा करता और उसे हमारे मन, प्राण, शरीर के पदार्थ पर आरोपित करता है। पहला क्रियान्वयन इसी तरह चलता है। वह सारी सत्ता में नयी और श्रेष्ठतर चेतना का संचार करता, परिवर्तन की नींव डालता है और उसे जीवन के श्रेष्ठतर सत्य के लिये तैयार करता है।

जब उच्चतर शक्तियों की श्रेष्ठतर शक्ति पहले-पहल दिखायी देती है या अनुभूत होती है, उस समय स्वाभाविक रूप से हो सकनेवाली एक भ्रांति को दूर करने के लिये इस बात पर जोर देना जरूरी है कि ये उच्चतर शक्तियां अपने अवतरण में तुरंत वैसी सर्वशक्तिमान् नहीं जैसी वे स्वाभाविक रूप से अपनी क्रिया के निजी धाम में या अपने माध्यम में होती हैं। जड़तत्त्व के विकास में उन्हें एक पराये और घटिया माध्यम में प्रवेश करना और उसपर कार्य करना पड़ता है। वहां उनका हमारे मन, प्राण और शरीर की अक्षमताओं से सामना होता है, अज्ञान की अंध अस्वीकृति या अग्रहणशीलता से भेंट होती है या निश्चेतना के नकार या बाधाओं का अनुभव होता है। अपने निजी स्तर पर वे प्रदीप्त चेतना और सत्ता के प्रदीप्त पदार्थ के आधार पर काम करती हैं; और अपने-आप प्रभावशाली होती हैं। लेकिन यहां उन्हें पहले से ही मजबूत बनी हुई निर्ज्ञान की नींव का सामना करना पड़ता है, केवल जड़ के संपूर्ण निर्ज्ञान का ही नहीं बल्कि मन, हृदय और प्राण के किंचित् परिवर्तित निर्ज्ञान का भी। इस भांति जब उच्चतर भाव विकसित मानसिक बुद्धि में उतरता है तो उसे वहां भी ज्ञान-अज्ञान के पहले से गठित भावों के पुंज या तंत्र के व्यूह को और इन भावों के स्थायी होने और अपने-आपको चरितार्थ करने के संकल्प को हराना पड़ता है; क्योंकि सभी भाव शक्तियां हैं और उनको

[1] अगर भाव को व्यक्त करनेवाला शब्द आध्यात्मिक शक्ति से व्याप्त हो तो उसमें भी वही बल होता है, भारत में मंत्र के प्रयोग का युक्तियुक्त आधार यही है।

रूप देनेवाली या स्वतःप्रभावी क्षमता, अवस्था के अनुसार कम या ज्यादा होती है। निश्चेतन जड़ के साथ काम पड़ने पर उसे घटाकर व्यावहारिक रूप से शून्यतक किया जा सकता है लेकिन फिर भी शक्यता के रूप में वह वहां रहती ही है। इस तरह एक बनी-बनायी प्रतिरोध-शक्ति तो तैयार रहती ही है जो नीचे उतरती हुई ज्योति का विरोध करती या उसके प्रभावों को न्यूनतम कर देती है, एक ऐसा प्रतिरोध हो सकता है जो प्रकाश का वर्जन या नकार हो या जो उसे अज्ञान के पूर्वकल्पित विचारों के अनुकूल बनाने के लिये प्रकाश को क्षीण या दमित करने, पटुता से बदलने या अनुकूलित करने या दुराग्रह से विकृत करने के प्रयत्न का रूप ले ले। अगर पूर्वकल्पित या पहले से बने हुए भावों को रद्द कर दिया जाये और उन्हें बने रहने के अधिकार से वंचित कर दिया जाये तब भी उन्हें बाहर से, वैश्व मन में अपनी व्यापकता के कारण बार-बार आने का अधिकार रहता है या फिर वे प्राण, भौतिक या अवचेतन भागों में नीचे की ओर उतर सकते हैं और वहांसे जरा-सा अवसर पाते ही अपने खोये हुए क्षेत्र को हथिया लेने के लिये फिर से ऊपर उठ सकते हैं। क्योंकि अपने कदमों को काफी स्थिरता और मजबूती देने के लिये विकसनशील प्रकृति को अपनी स्थापित की हुई चीजों को बने रहने का यह अधिकार देना ही पड़ता है। और फिर होनेवाली अभिव्यक्ति की किसी भी शक्ति का स्वभाव और दावा होता है कि जहां कहीं संभव हो और जितना अधिक संभव हो बनी रहे और अपने-आपको कार्यान्वित करे। इसी कारण अज्ञान के जगत् में सब कुछ एक तंतुजाल द्वारा ही नहीं बल्कि शक्तियों के टकराव, संघर्ष और अंतर्मिश्रण द्वारा प्राप्त होता है। लेकिन इस उच्चतम विकास के लिये यह जरूरी है कि ज्ञान के साथ अज्ञान का सारा मिश्रण लुप्त कर दिया जाये और शक्तियों के संघर्ष द्वारा क्रिया और क्रम-विकास का स्थान शक्तियों के सामंजस्य द्वारा क्रिया और क्रम-विकास ले लें, लेकिन इस भूमिकातक तभी पहुंचा जा सकता है जब अंतिम संघर्ष हो जाये और प्रकाश और ज्ञान की शक्तियां अज्ञान की शक्तियों को जीत लें। सत्ता के निचले स्तरों पर, हृदय, प्राण और शरीर में यही व्यापार अधिक तीव्र पैमाने पर दोहराया जाता है; क्योंकि यहां भावों का नहीं, निम्न प्रकृति की भावनाओं, कामनाओं, आवेगों, संवेदनों, प्राणिक आवश्यकताओं और आदतों का सामना करना होता है। चूंकि ये चीजें भावों से कम सचेतन हैं, अपनी प्रतिक्रियाओं में अधिक अंधी और दृढ़ता के साथ स्वाग्रही हैं, अतः इन सब में प्रतिरोध और पुनरावृत्ति की वही या उससे अधिक शक्ति होती है या ये परिचेतन विश्व प्रकृति में या हमारे ही निचले स्तरों में या अवचेतन में बीज की स्थिति में शरण लेती हैं। वहां उनमें फिर से उभर आने या आक्रमण करने की शक्ति होती है। प्रकृति में स्थापित चीजों में डटे रहने, बार-बार दोहराने और प्रतिरोध करने की यह शक्ति हमेशा वह बड़ी बाधा होती है जिसका विकसनशील शक्ति को सामना करना

पड़ता है, जिसका वस्तुतः स्वयं उसीने बहुत अधिक तेज रूपांतर को रोकने के लिये सृजन किया है जब कि वह रूपांतर ही चीजों के अंदर उसका अंतिम अभिप्राय है।

इस महान् आरोहण की हर भूमिका पर यह बाधा तो रहेगी ही, चाहे वह धीरे-धीरे क्षीण क्यों न होती जाये। उच्चतर ज्योति को पर्याप्त प्रवेश और कार्य करने की शक्ति का अवकाश देने के लिये प्रकृति की निश्चलता प्राप्त करने की शक्ति पाना आवश्यक है, मन, हृदय, प्राण और शरीर को स्थिर करना, शांत करना, उनमें नियंत्रित निष्क्रियता या पूरी नीरवता प्रतिष्ठित करना आवश्यक है; परंतु ऐसा होने पर भी, विश्वव्यापी अज्ञान की शक्ति में प्रकट और अनुभूत रूप से, या व्यक्ति की मानसिक गठन की सत्त्व-ऊर्जा में, उसके प्राणिक रूप में, उसके जड़तत्त्व से बने शरीर में, अवगुढ़ और अव्यक्त रूप से विरोध का चलते रहना सदा संभव रहता है, अज्ञानमयी प्रकृति की नियंत्रित अथवा दमित ऊर्जाओं का कोई गुह्य प्रतिरोध या विद्रोह या पुनः-प्रतिष्ठापन का प्रयास सदा संभव है और अगर सत्ता में कोई चीज उन्हें स्वीकृति दे तो वे फिर से प्रभुत्व पा सकती हैं। अतः पहले से स्थापित चैत्य-नियंत्रण बहुत अधिक वांछनीय है क्योंकि वह सामान्य अनुकूलता पैदा करता है और निचले अंगों में ज्योति के विरुद्ध विद्रोह या अज्ञान के दावों को अपनी सहमति देने से रोकता है। प्रारंभिक आध्यात्मिक रूपांतर भी अज्ञान की पकड़ को कम करेगा; लेकिन इन दोनों में से कोई भी प्रभाव उसकी बाधाओं और सीमा-बंधनों को पूरी तरह से समाप्त नहीं करता; क्योंकि ये प्रारंभिक परिवर्तन संपूर्ण चेतना और ज्ञान को नहीं लाते। निर्ज्ञान का मौलिक आधार, जो निश्चेतना की अपनी चीज है, फिर भी बना रहेगा जिसे हर मोड़ पर, बदलने, प्रबुद्ध करने, उसके विस्तार और उसकी प्रतिक्रिया की शक्ति को घटाने की जरूरत रहेगी। आध्यात्मिक उच्चतर मन की शक्ति और उसकी भाव-शक्ति हमारी मानसिकता में प्रवेश करने से परिवर्तित होती और घटती तो है ही, वह इन सभी विघ्न-बाधाओं को झाड़ फेंकने और विज्ञानमय सत्ता का सृजन करने में समर्थ नहीं होती, लेकिन वह पहला परिवर्तन, थोड़ा हेर-फेर ला सकती है जो उच्चतर आरोहण और अधिक सशक्त अवतरण की योग्यता देगा और चेतना और ज्ञान की महत्तर शक्ति में सत्ता के समाकलन की तैयारी करेगा।

यह महत्तर शक्ति आलोकित मन की है, ऐसे मन की जो अब उच्चतर विचार का मन न रहकर आध्यात्मिक प्रकाश का मन है। यहां आध्यात्मिक बुद्धि की स्पष्टता, उसका शांत दिवालोक, आध्यात्म तत्त्व की तीव्र ज्योति को, आध्यात्म तत्त्व के वैभव और प्रकाश को अपना स्थान दे देता या उसकी अधीनता स्वीकार कर लेता है। ऊपर से चेतना में आध्यात्मिक सत्य और शक्ति की दीप्तियों की लीला फूट पड़ती है और महत्तर कल्पनागत आध्यात्मिक तत्त्वों की क्रिया के साथ

आनेवाली या उसकी विशेषता दिखानेवाली शांति के अवतरण या सिद्धि के आग्नेय उत्साह और ज्ञान के हर्षोन्मत्त आनंद को अपना स्थान सौंप देती है। बहुधा भीतरी दृष्टि से दीखनेवाले प्रकाश की मूसलाधार वर्षा इस क्रिया को घेर लेती है; क्योंकि यहां इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि हमारी सामान्य धारणा के विपरीत प्रकाश प्रथमतः कोई भौतिक सृजन नहीं है और भीतरी दीप्ति के साथ आनेवाले प्रकाश का संवेदन या दर्शन आत्मनिष्ठ दृश्य रूप या प्रतीकात्मक आभास मात्र नहीं है। प्रथमतः प्रकाश प्रकाशात्मक और सृजनात्मक दिव्य सद्वस्तु की आध्यात्मिक अभिव्यक्ति है और भौतिक प्रकाश भौतिक ऊर्जा हेतु जड़ भौतिक में उसका बाद का निरूपण या रूपांतरण है। इस अवतरण में आंतरिक बल और शक्ति की महत्तर क्रियाशीलता का, स्वर्णिम वेग का, एक ज्योतिर्मय उत्साह का आगमन होता है जिससे उच्चतर मन की अपेक्षया धीमी और क्रमिक प्रक्रिया की जगह तेज रूपांतर का एक क्षिप्त, कभी-कभी उग्र यहांतक कि प्रचंड वेग ले लेता है।

प्रदीप्त मन प्रथमतः विचार द्वारा नहीं बल्कि दृष्टि-शक्ति द्वारा काम करता है। यहां विचार दृष्टि को व्यक्त करनेवाली एक गौण गति होता है। मानव मन, जो मुख्य रूप से विचार पर आश्रित होता है, उसीको ज्ञान की उच्चतम या मुख्य प्रक्रिया मानता है लेकिन आध्यात्मिक क्रम में विचार एक गौण प्रक्रिया है जो अनिवार्य नहीं है। शाब्दिक विचार के रूप में लगभग यह कहा जा सकता है कि यह अज्ञान को ज्ञान द्वारा दी गयी छूट है। चूंकि वह अज्ञान सत्य को अपने लिये अपने पूरे विस्तार और बहुविध आशयों में, सार्थक स्पष्ट ध्वनियों की सहायता के बिना स्पष्ट और सुबोध बनाने में असमर्थ है अतः वह इस उपाय के बिना भावों को ठीक-ठीक रूप-रेखा और अभिव्यंजक शक्ति नहीं दे सकता। लेकिन यह स्पष्ट है कि यह एक उपाय, एक यंत्र है। अपने-आपमें विचार, चेतना के उच्चतर स्तरों पर मूलतः एक प्रत्यक्ष दर्शन, वस्तु को या वस्तुओं के किसी सत्य को ज्ञान-संबंधी पकड़ में लेना है और यह आध्यात्मिक दृष्टि का सबल किंतु फिर भी गौण और आनुषंगिक परिणाम, एक आत्मा का आत्मा पर, विषयी का अपने-आपपर या अपने किसी अंश पर विषय-रूप में अपेक्षाकृत बाहरी और छिछला अवलोकन है; क्योंकि, वहां सब कुछ आत्मा की विविधता और बहुलता है। मन में किसी दृष्ट या आविष्कृत वस्तु, तथ्य या सत्य के संपर्क के प्रत्यक्ष दर्शन का एक बाहरी प्रत्युत्तर होता है और परिणाम में उसका एक प्रत्ययात्मक रूपायण होता है लेकिन आध्यात्मिक ज्योति में चेतना का पदार्थ ही एक अधिक गभीर प्रत्यक्ष-दर्शन का उत्तर देता है और उस पदार्थ में एक अवधारक रूपायण होता है। सत्ता के उपादान में उसका एक ठीक-ठीक आकार या प्रकट होनेवाला भाव-रेखाचित्र आता है—इस विचारात्मक ज्ञान की यथार्थता और संपूर्णता के लिये और किसी चीज की जरूरत नहीं होती, किसी शाब्दिक प्रतिरूपायण की जरूरत नहीं होती। विचार सत्य की एक

प्रतिनिधिक प्रतिमा का सृजन करता है। वह उसे मन को सत्य को धारण करने और ज्ञान का विषय बनाने के साधन के रूप में देता है। लेकिन गभीरतर आध्यात्मिक दृष्टि के सूर्य-प्रकाश में सत्य का शरीर ही पकड़ में आ जाता और ठीक-ठीक बना रहता है, विचार की बनायी हुई प्रतिनिधिक आकृति उसके आगे गौण और अमौलिक होती है, वह ज्ञान के संचार के लिये तो सबल होती है लेकिन ज्ञान के ग्रहण करने या उसपर अधिकार करने के लिये अनिवार्य नहीं होती।

दृष्टि द्वारा चालित होनेवाली चेतना, ऋषि की, द्रष्टा की चेतना, ज्ञान के लिये विचारक की चेतना से एक अधिक बड़ी शक्ति है। आंतरिक दृष्टि की बोधात्मक शक्ति विचार की बोधात्मक शक्ति की अपेक्षा अधिक बड़ी और अधिक प्रत्यक्ष है। यह एक आध्यात्मिक भाव है जो सत्य के तत्त्व के कुछ भाग को, केवल उसके शरीर को नहीं, पकड़ लेता है बल्कि उसके शरीर की रूप-रेखा भी बनाता है, साथ ही रूप के अर्थ को भी ग्रहण करता है। वह सत्य को विचार-धारणा की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और स्पष्ट रूप से प्रकट करनेवाली रूप-रेखा और समग्रता के एक विशालतर अवधारण और बल के साथ मूर्त्त कर सकता है। जैसे उच्चतर मन सत्ता में आध्यात्मिक भाव द्वारा और उसके सत्य की शक्ति द्वारा महत्तर चेतना लाता है उसी तरह प्रदीप्त मन सत्य-दृष्टि और सत्य-ज्योति और उसकी देखने और ग्रहण करने की शक्ति द्वारा और भी विशाल चेतना को ले आता है। वह अधिक प्रबल और गतिशील समाकलन को साधित कर सकता है, वह विचार-मन को प्रत्यक्ष अंतर-दृष्टि और अंतःप्रेरणा से आलोकित करता, हृदय में आध्यात्मिक दृष्टि लाता और उससे अनुभव और भावों में आध्यात्मिक प्रकाश और ऊर्जा लाता, प्राण-शक्ति को आध्यात्मिक प्रेरणा, सत्य प्रेरणा देता है जो कर्म को सक्रिय करती और जीवन-गतियों को ऊंचा उठाती है। वह इन्द्रियों में आध्यात्मिक संवेदन की प्रत्यक्ष और समग्र क्षमता उंडेलता है ताकि हमारी प्राणिक और शारीरिक सत्ता सभी चीजों में भगवान् के साथ संपर्क कर सके और ठोस रूप से उनसे मिल सके बिल्कुल उस तीव्रता के साथ जैसे मन और भाव कल्पना कर सकते और प्रत्यक्ष दर्शन का अनुभव कर सकते हैं। वह भौतिक मन पर रूपांतरकारी प्रकाश डालता है जो उसकी सीमाओं को और परंपरागत तमस् को तोड़ता, उसकी संकीर्ण विचारशक्ति और उसके संदेहों के स्थान पर दृष्टि ले आता है और शरीर के कोषाणुओं तक में प्रकाश और चेतना उंडेलता है। आध्यात्मिक द्रष्टा और मनीषी उच्चतर मन द्वारा रूपांतर में अपनी संपूर्ण और क्रियाशील परिपूर्त्ति पायेगा, प्रदीप्त मन द्वारा रूपांतर में द्रष्टा और प्रदीप्त रहस्यवादी के लिये—जिनमें अंतरात्मा दृष्टि में, प्रत्यक्ष संवेदन और अनुभव में निवास करती है—ऐसी ही परिपूर्त्ति होगी; क्योंकि वे इन उच्चतर स्रोतों से अपना प्रकाश पाते हैं, उस प्रकाश में उठना और वहां निवास करना उनका अपने निजी साम्राज्य में आरोहण होगा।

लेकिन आरोहण की ये दो अवस्थाएं केवल एक तीसरे स्तर के संदर्भ में ही अपने अधिकार का भोग कर सकती और स्वयं अपनी संयुक्त पूर्णता पा सकती हैं क्योंकि उन उच्चतर शिखरों से ही, जहां अंतर्भासात्मक सत्ता निवास करती है, वे उस ज्ञान को प्राप्त करती हैं जिसे वे विचार या दृष्टि में बदल देती हैं और मन के रूपांतर के लिये हमारे पास नीचे उतार लाती हैं। अंतर्भास चेतना की ऐसी शक्ति है जो तादात्म्य द्वारा आद्य ज्ञान के अधिक निकट और अधिक घनिष्ठ होती है; क्योंकि वह सदा एक ऐसी चीज होती है जो प्रच्छन्न तादात्म्य में से सीधी उछल पड़ती है। जब विषय की चेतना विषयी की चेतना के साथ मिलती है, उसमें प्रवेश करती, वह जिसके संपर्क में आती है उसके सत्य को देखती, अनुभव करती या उसके साथ स्पंदित होती है तब अंतर्भास मिलन के धक्के से चिंगारी या बिजली की कौंध की तरह उछल पड़ता है या जब चेतना, ऐसे किसी मिलन के बिना भी अपने अंदर देखती है और प्रत्यक्ष, अंतरंग रूप से वहां के सत्य और सत्यों का अनुभव करती है या आभासों के पीछे छिपी शक्तियों के संपर्क में आती है तब भी अंतर्भासात्मक प्रकाश का प्रादुर्भाव होता है; या फिर जब चेतना परम सद्वस्तु अथवा वस्तुओं और सत्ताओं की आध्यात्मिक वास्तविकता से मिलती है और उसके साथ संपर्कात्मक ऐक्य पा लेती है तो उसकी गहराइयों में सत्य के घनिष्ठ प्रत्यक्ष दर्शन की चिंगारी, चमक या दमक प्रज्वलित हो उठती है। यह घनिष्ठ प्रत्यक्ष दर्शन दृष्टि से अधिक, धारणा से अधिक कुछ है। यह एक भेदक, प्रकट करनेवाले स्पर्श का परिणाम है जो अपने अंदर दृष्टि और धारणा को अपने ही भाग या स्वाभाविक परिणाम के रूप में लिये रहता है। एक छिपा हुआ या सोता हुआ तादात्म्य, जो अभीतक फिर से नहीं जागा है, फिर भी अंतर्भास द्वारा अपनी अंतर्वस्तुओं और वस्तुओं के साथ अपनी स्वभावना तथा आत्म-दृष्टि में अंतरंगता, सत्य के अपने प्रकाश और उसकी अभिभूत करनेवाली स्वयं-चालित निश्चिति को याद रखता और संचारित करता है।

मानव मन में अंतर्भास एक ऐसी सत्य-स्मृति या सत्य-संचार होता है या ऐसी प्रकट करनेवाली चमक या अज्ञान के महान् पुंज में अथवा निर्ज्ञान के परदे में से फूट पड़नेवाली दमक होता है। लेकिन हमने देखा है कि वहां यह आक्रमण करनेवाले मिश्रण के आधीन हो जाता है या उसपर मानसिक ओप चढ़ जाता है या अवरोध या प्रतिस्थापन हो जाता है। वहां गलत अर्थ लगाने की बहुत-सी संभावनाएं रहती हैं जो उसकी क्रिया की शुद्धि और पूर्णता के मार्ग में आती हैं। और फिर सत्ता के सभी स्तरों पर आभासी अंतर्भास होते हैं जो अंतर्भास होने की जगह संचार होते हैं और उनके उद्गम, मूल्य और स्वभाव बहुत भिन्न होते हैं। अपने-आपको रहस्यवादी कहनेवाला अवयौक्तिक बहुधा प्राणिक स्तर पर अंधेरे और संकटपूर्ण स्रोत के ऐसे संचारों से प्रेरित होता है, क्योंकि सच्चा रहस्यवादी होने

के लिये केवल तर्क-बुद्धि को अस्वीकार कर देना और विचार तथा क्रिया के ऐसे स्रोतों पर निर्भर रहना काफी नहीं होता जिनके बारे में हमें कोई समझ न हो। ऐसी परिस्थितियों में हम मुख्य रूप से तर्क-बुद्धि पर आश्रित रहने के लिये बाधित होते हैं और अंतर्भास या नकली अंतर्भास के सुझावों पर भी अवलोकन और विवेक-बुद्धि द्वारा—जो अधिक आया करते हैं—नियंत्रण लगाने के लिये प्रवृत्त होते हैं क्योंकि, हम अपने बौद्धिक भाग में यह अनुभव करते हैं कि इसके बिना हम इस बारे में निश्चित नहीं हो सकते कि कौन-सी सच्ची चीज है, कौन-सी मिश्रित और कौन-सी खोटवाली या झूठा प्रतिस्थापन है। लेकिन यह बड़ी हदतक हमारे लिये अंतर्भास की उपयोगिता कम कर देता है क्योंकि तर्क-बुद्धि इस क्षेत्र में कोई विश्वासपात्र मध्यस्थ नहीं है, क्योंकि उसके तौर-तरीके अलग, अस्थायी, अनिश्चित, एक बौद्धिक खोज होते हैं। यद्यपि वह स्वयं अपने निष्कर्षों के लिये वस्तुतः छद्म अंतर्भास पर आश्रित रहती है, क्योंकि उसकी मदद के बिना वह अपना रास्ता नहीं चुन सकती या किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सकती, वह अपनी इस अधीनता को अपने-आपसे युक्ति-युक्त निष्कर्ष या परीक्षित अनुमान की प्रक्रिया तले छिपा लेती है। तर्क-बुद्धि के न्यायालय की आलोचना से निकला हुआ अंतर्भास अंतर्भास नहीं रहता, उसमें केवल तर्क-बुद्धि की प्रामाणिकता रह जाती है जिसकी प्रत्यक्ष निश्चिति के लिये कोई आंतरिक स्रोत नहीं होता। लेकिन अगर मन मुख्यतया आंतर्भासात्मक मन हो जाये, जो अपनी उच्चतर क्षमता के भाग पर निर्भर हो, तो भी उसके प्रत्ययों और अलग-अलग क्रियाओं के बीच सहयोजन तबतक कठिन बना रहेगा—क्योंकि मन में तो ये हमेशा अपूर्ण रूप से संबंध रखनेवाली दीप्तियों के क्रम की तरह रहेंगे—जबतक इस नयी मानसिकता का अपने अतिबौद्धिक स्रोत से संपर्क न हो जाये या वह अपने-आप उठकर चेतना की उस उच्चतर भूमि पर न पहुंच जाये जहां अंतर्भासिक क्रिया शुद्ध और सहजात है।

अंतर्भास सदा एक श्रेष्ठतर ज्योति की धार या किरण या छलांग होता है। वह हमारे अंदर दूरस्थ अतिमानसिक प्रकाश की प्रक्षिप्त धार, किनारा या बिंदु है जो हमारे ऊपर के किसी मध्यवर्ती सत्य-मन के पदार्थ में प्रवेश करता और उसके द्वारा कुछ परिवर्तित होता है और इस तरह परिवर्तित होकर फिर से हमारे सामान्य अज्ञानमय मन-पदार्थ में प्रवेश करके बहुत अंधा हो जाता है। लेकिन उच्चतर स्तर पर, जहां का वह निवासी है, वहां उसका प्रकाश अमिश्रित और इस कारण पूर्णतया, विशुद्ध रूप से सच्चा होता है। उसकी किरणें अलग-अलग न होकर उसकी लहरों की लीला में जुड़ी हुई या इकट्ठी हैं जिसे संस्कृत के काव्यमय रूपक में हम लगभग "स्थिरा सौदामिनी" का सागर या राशि कह सकते हैं। जब यह मौलिक या सहज अंतर्भास हमारे अंदर, हमारी चेतना के उसके स्तरतक आरोहण के उत्तर में या हमारे उसके साथ संचार के स्पष्ट तरीके को खोज लेने के

परिणाम-स्वरूप उतरना शुरू करता है तो वह इक्की-दुक्की या सतत क्रियाशील बिजली की चमक की क्रीड़ा की तरह आना जारी रख सकता है लेकिन ऐसी अवस्था में तर्क-बुद्धि का निर्णय एकदम अनुपयुक्त हो जाता है। वह केवल एक प्रेक्षक या पंजीयक की तरह काम करती है जो उच्चतर शक्ति के अधिक प्रकाशमय संकेतों, निर्णयों और विवेचना को समझ और लिपिबद्ध कर सके। किसी अलग-थलग अंतर्भास को पूरा करने या उसके स्वभाव को पहचानने, उसके कार्यान्वयन और उसकी सीमाओं को जानने के लिये ग्रहण करनेवाली चेतना को एक और पूरक अंतर्भास पर निर्भर रहना होगा या अंतर्भास के ऐसे पुंज को नीचे उतारने में सक्षम होना होगा जो सबको यथा-स्थान रख सके। क्योंकि जब एक बार परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू हो जाये तो मन के पदार्थ और क्रियाओं को अंतर्भास के सत्त्व, रूप और शक्ति में रूपांतरित करना अनिवार्य हो जाता है। जबतक चेतना की प्रक्रिया अंतर्भास की सेवा करने या उसे बाहर आने में सहायता देने या उसका उपयोग करने के लिये निम्नतर बुद्धि पर निर्भर है तबतक परिणाम केवल मिश्रित ज्ञान-अज्ञान का बना रहना हो सकता है जिसके ज्ञान-भागों में क्रिया करती हुई उच्चतर ज्योति और शक्ति उसे ऊपर उठाती या शांत करती है।

अंतर्भास में चतुर्विध शक्ति होती है, एक है सत्य-दर्शन की अंतःप्रकाशात्मक शक्ति, एक प्रेरणा की शक्ति या सत्य-श्रुति की, एक है सत्य-स्पर्श की या अर्थ के प्रत्यक्ष ग्रहण की शक्ति—हमारी मानसिक बुद्धि में अंतर्भास का हस्तक्षेप सामान्य रूप से इसीका सजातीय होता है—एक है सत्य के सत्य के साथ व्यवस्थित और यथार्थ संबंध की सच्ची और स्वतः-चालित विवेक-शक्ति—ये हैं अंतर्भास की चतुर्विध अंतःशक्तियां। अतः अंतर्भास तर्क-बुद्धि की सभी क्रियाएं कर सकता है—जिनमें तर्कसंगत बुद्धि की वे क्रियाएं भी आ जाती हैं जिनका काम है वस्तुओं का वस्तुओं के साथ और भाव का भाव के साथ उचित संबंध खोज निकालना—लेकिन अपनी ही श्रेष्ठतर प्रक्रिया और ऐसे चरणों से जो न तो असफल होते हैं न लड़खड़ाते हैं। साथ ही वह केवल विचारशील मन को ही नहीं बल्कि हृदय, प्राण, इंद्रिय और भौतिक चेतना को भी लेकर उन्हें अपने पदार्थ में रूपांतरित कर लेता है। इन सबमें पहले ही से अपनी अंतर्भास की विशिष्ट शक्तियां होती हैं जो प्रच्छन्न प्रकाश से व्युत्पन्न होती हैं। ऊपर से उतरती हुई शुद्ध शक्ति इन सबको अपने अंदर ले सकती और गहनतर हृदय के इन प्रत्यक्ष दर्शनों और प्राण के इन प्रत्यक्ष दर्शनों और शरीर के दिव्य होने को एक महत्तर समग्रता और पूर्णता दे सकती है। इस भांति वह समस्त चेतना को अंतर्भास के द्रव्य में बदल सकती है; क्योंकि, वह इच्छा में, अनुभवों और भावावेगों, प्राणिक आवेगों, इंद्रियों और संवेदनों की क्रिया में, यहांतक कि शरीर-चेतना की क्रियाओं में भी अपनी निजी, महत्तर, कांतिमय गतिविधि को ले आती है, वह उन्हें फिर से सत्य

के प्रकाश और शक्ति में गढ़ती तथा उनके ज्ञान और अज्ञान को आलोकित करती है। इस तरह एक समाकलन तो हो सकता है लेकिन वह समग्र समाकलन है या नहीं यह इसपर निर्भर है कि नयी ज्योति अवचेतना को कहांतक ले सकी और आधारभूत निश्चेतना को कहांतक भेद सकी है। यहां अंतर्भासात्मक प्रकाश और शक्ति के काम में बाधा पड़ सकती है क्योंकि वह प्रतिनिधिक और परिवर्तित अतिमानस का किनारा तो होती है लेकिन तादात्म्य से पैदा ज्ञान की पूरी राशि या शरीर को अंदर नहीं लाती। हमारी प्रकृति में निश्चेतना का आधार बहुत अधिक विस्तृत, गहरा और ठोस है जिसे सत्य-प्रकृति की गौण शक्ति पूरी तरह भेद, प्रकाश में परिवर्तित और रूपांतरित नहीं कर सकती।

आरोहण का अगला चरण हमें अधिमानसतक ले आता है। अंतर्भासात्मक परिवर्तन इस उच्चतर आध्यात्मिक उन्मीलन के लिये एक भूमिका ही हो सकता है। लेकिन हम देख आये हैं कि जब अधिमानस अपनी क्रिया में समग्र न होकर वरणशील ही होता है, तब भी वह वैश्व चेतना की शक्ति, सार्वभौम ज्ञान का ही एक तत्त्व रहता है जिसमें अतिमानसिक विज्ञान की प्रतिनिधिक ज्योति रहती है। अतः वैश्व चेतना में खुलकर ही अधिमानसिक आरोहण और अवरोहण को पूरी तरह संभव बनाया जा सकता है—ऊपर की ओर उच्च और तीव्र वैयक्तिक उन्मीलन ही काफी नहीं है—शिखर की ज्योति की ओर उस ऊर्ध्वाधर आरोहण के साथ आध्यात्म सत्ता की किसी समग्रता में चेतना का क्षैतिज विस्तार भी जोड़ देना चाहिये। कम-से-कम आंतरिक सत्ता पहले ही सतही मन और उसके सीमित दृष्टिकोण की जगह अपनी गहरी और विस्तृत अभिज्ञता को प्रतिष्ठित कर चुकी हो और एक विशाल सार्विकता में रहना सीख चुकी हो; अन्यथा, अधिमानसिक दृष्टि और अधिमानसिक क्रिया-शक्ति को भीतर जाने और अपनी गतिशील क्रियाओं को कार्यान्वित करने के लिये जगह ही न मिलेगी। जब अधिमानस उतरता है तो केंद्रीकरण करनेवाले अहं-भाव की प्रमुखता पूरी तरह अधीनस्थ हो जाती, सत्ता की विशालता में खो जाती और अंत में लुप्त हो जाती है। उसके स्थान पर विस्तृत वैश्व दर्शन और सीमातीत वैश्व आत्मा और गतिविधि की अनुभूति आती है। बहुत-सी गति-विधियां, जो पहले अहं-केंद्रित थीं, फिर भी बनी रह सकती हैं लेकिन वे रहती हैं वैश्व विस्तार में लहरों या लहरियों की तरह। अब अधिकांश में विचार व्यष्टि-रूप में शरीर या व्यक्ति के अंदर से शुरू होता हुआ नहीं मालूम होता बल्कि ऊपर से प्रकट होता है या उसमें वैश्व मानसिक लहरियों पर आता है। वस्तुओं की समस्त भीतरी व्यक्तिगत दृष्टि या समझ, जो देखा गया है या समझ में आता है उसका अंतः-प्रकाश या आलोक है, परंतु उस अंतः-प्रकाश का स्रोत व्यक्ति की पृथक् आत्मा में न होकर वैश्व ज्ञान में होता है; भाव, आवेग, संवेदन भी इसी तरह उसी वैश्व विशालता की लहरों के रूप में अनुभव होते हैं जो सूक्ष्म और स्थूल

शरीर से टकराती हैं और विश्व सत्ता का वैयक्तिक केंद्र उन्हें विशिष्ट रूप से उत्तर देता है; क्योंकि, विशाल वैश्व यंत्र-विन्यास की क्रिया के लिये शरीर केवल एक छोटा-सा आधार या उससे भी कम बस एक संबंध-बिंदु है। इस असीम विशालता में केवल पृथक् अहंकार ही नहीं बल्कि व्यक्तित्व का सारा बोध, यहांतक कि अधीनस्थ या यंत्रवत् व्यक्तित्व के सारे बोध भी गायब हो जाते हैं। रह जाती हैं केवल वैश्व सत्ता, वैश्व चेतना, वैश्व आनंद और वैश्व शक्तियों की लीला। अगर, पहले जो व्यक्तिगत मन, प्राण या शरीर था, उसमें आनंद का या शक्ति के केंद्र का अनुभव हो तो यह व्यक्तित्व के भाव के साथ नहीं बल्कि अभिव्यक्ति के क्षेत्र के रूप में होता है और आनंद का या शक्ति की क्रिया का यह भाव व्यक्ति या शरीरतक ही सीमित नहीं रहता बल्कि उसे हर जगह व्याप्त ऐक्य की असीम चेतना में सभी बिंदुओं में अनुभव किया जा सकता है।

लेकिन अधिमानसिक चेतना और अनुभव के अनेक रूपायण हो सकते हैं क्योंकि अधिमानस में बहुत लचीलापन होता है और वह नाना संभावनाओं का क्षेत्र है। केंद्रहीन अनियत विस्तार के स्थान पर यह भाव हो सकता है कि विश्व हमारे अंदर है या हम ही विश्व हैं। लेकिन वहां भी यह आत्मा अहंकार नहीं है। वह एक मुक्त और शुद्ध तात्त्विक आत्म-चेतना का विस्तार है या सर्व के साथ तादात्म्य है—एक ऐसा विस्तार या तादात्म्य जो एक वैश्व सत्ता, वैश्व व्यक्ति का निर्माण करता है। वैश्व चेतना की एक अवस्था में एक व्यक्ति होता है जो विश्व में समाया है लेकिन जो उसके अंदर की सभी चीजों के साथ, वस्तुओं और सत्ताओं के साथ, विचार और संवेदन के साथ, औरों के सुख-दुःख के साथ अपने-आपको तदात्म करता है; एक और अवस्था में अन्य सत्ताओं का हमारे अंदर समावेश होता है और उनके जीवन की वास्तविकता को अपनी निजी सत्ता के भाग के रूप में समाविष्ट किया जाता है। बहुधा इस विशाल गतिविधि का कोई नियम या शासन नहीं होता, वैश्व प्रकृति की मुक्त लीला होती है जिसे वह, जो व्यक्तिगत सत्ता थी, एक निष्क्रिय स्वीकृति या गतिशील तादात्म्य के साथ उत्तर देती है, जब कि आत्मा इस निष्क्रियता या इस वैश्व और निर्वैयक्तिक तादात्म्य और सहानुभूति की प्रतिक्रियाओं के किसी भी तरह के बंधन से स्वतंत्र और अक्षुब्ध रहती है। लेकिन अधिमानस के प्रबल प्रभाव या उसकी पूर्ण क्रिया से शासन का सर्वांगीण भाव, एक संपूर्ण अवलंब देनेवाली या अभिभूत करनेवाली उपस्थिति और वैश्वात्मा या ईश्वर का निर्देशन आ सकता और सामान्य बन सकता है या एक कोई विशेष केंद्र प्रकट हो सकता या बनाया जा सकता है जो भौतिक यंत्र के ऊपर रहता और उसपर आधिपत्य करता है, अस्तित्व के तथ्य में वैयक्तिक परंतु अनुभव करने में निर्वैयक्तिक हो और जिसे निर्बंध ज्ञान विश्वातीत और विश्वव्यापी पुरुष की क्रिया के यंत्र के रूप में मानता हो। अतिमानस की ओर संक्रमण में यह केंद्रीकरण

करनेवाली क्रिया एक ऐसे सच्चे व्यक्ति की खोज की ओर प्रवृत्त होती है जो मृत अहं का स्थान लेता है, एक ऐसी सत्ता जो अपने सारतत्त्व में परम पुरुष के साथ एक है, विस्तार में विश्व के साथ एक है और फिर भी अनंत की विशिष्ट क्रिया का एक वैश्व केंद्र और उसकी परिधि है।

ये पहले सामान्य परिणाम हैं और विकसित आध्यात्मिक सत्ता में अधिमानसिक चेतना की सामान्य नींव रखते हैं, लेकिन उसके प्रकार और विकास अनगिनत हैं। जो चेतना इस तरह कार्य करती है उसका अनुभव प्रकाश और सत्य की चेतना, प्रकाश और सत्य से भरी शक्ति, सामर्थ्य और क्रिया के रूप में होता है, सौंदर्य-बोध और सौंदर्य और आनंद के संवेदन के रूप में होता है, जो व्योम में वैश्व और बहुविध है, जो समग्र में और सभी वस्तुओं में प्रकाशमय है, जो अपनी एक गति और सभी गतियों में, संभावनाओं के सतत विस्तार और लीला में अनंत है, यहांतक कि अपने अंतहीन और अनिर्धार्य निर्धारणों की बहुलता में भी। अगर आज्ञा देनेवाले अधिमानसिक विज्ञान की शक्ति हस्तक्षेप करे तो चेतना और क्रिया की एक वैश्व रचना बनती है लेकिन वह कठोर मानसिक रचनाओं की तरह नहीं होती। वह नम्य, जैव चीज होती है जो अनंत में बढ़ सकती, विकसित और प्रसारित हो सकती है। इस नयी प्रकृति में सभी आध्यात्मिक अनुभव अपना लिये जाते हैं और अभ्यासगत और सामान्य बन जाते हैं। मन, प्राण और शरीर के सभी तात्त्विक अनुभवों को लेकर आध्यात्मिक बना दिया जाता और बदला जाता है और उन्हें अनंत सत्ता की चेतना, आनंद और शक्ति के रूपों की तरह अनुभव किया जाता है। अंतर्भास, प्रदीप्त दृष्टि और विचार अपने-आपको विस्तृत करते, उनका पदार्थ अधिक सांद्रता, संहति और ऊर्जा धारण करता है, उनकी गतिविधि अधिक व्यापक, विश्वमंडलीय और बहुविध होती है जो अपनी सत्य-शक्ति में अधिक विस्तृत और शक्तिशाली होती है। सारी प्रकृति, ज्ञान, सौंदर्य-बोध, सहानुभूति, भावना, क्रियाशीलता, अधिक विश्वव्यापी, सर्वग्राही, सर्वालिंगनकारी और अनंत हो जाती हैं।

अधिमानसिक परिवर्तन क्रियाशील आध्यात्मिक रूपांतर की अंतिम परिपूर्तिदायक गति है। वह आध्यात्मिक मानस स्तर पर आत्मा की यथासंभव ऊंची-से-ऊंची स्थिति-गति है। उससे नीचे के तीनों चरणों में जो कुछ है वह उन सबको लेकर उनकी विशिष्ट क्रियाओं को उनकी उच्चतम और विशालतम शक्तितक उठाती है और उनके अंदर चेतना और शक्ति का अधिक-से-अधिक विस्तार, ज्ञान का स्वर-सामंजस्य, सत्ता का अधिक बहुविध आनंद जोड़ देती है। लेकिन उसकी अपनी विशिष्ट स्थिति और शक्ति से कुछ ऐसे कारण उठते हैं जो उसे आध्यात्मिक विकास की अंतिम संभावना होने से रोकते हैं। वह एक शक्ति है, यद्यपि निचले गोलार्द्ध की उच्चतम शक्ति है, यद्यपि उसका आधार है वैश्व ऐक्य, पर उसकी

क्रिया विभाजन और पारस्परिक क्रिया की है, वह एक ऐसी क्रिया है जो बहुलता की लीला पर आधारित है। सर्व-मन की लीला की तरह उसकी लीला भी संभावनाओं का खेल है। यद्यपि वह अज्ञान में नहीं बल्कि इन संभावनाओं के सत्य के ज्ञान द्वारा क्रिया करती है, फिर भी वह उन्हें उनकी शक्तियों के स्वतंत्र विकास द्वारा संपादित करती है। वह प्रत्येक वैश्व नियम में उसी नियम के मौलिक अर्थ के अनुसार काम करती है, वह क्रियाशील परात्परता की शक्ति नहीं है। यहां पार्थिव जीवन में उसे एक वैश्व नियम के अनुसार चलना पड़ता है जिसका आधार है वह समस्त निर्ज्ञान जो मन, प्राण और शरीर के अपने ही मूल और चरम स्रोत से अलगाव से पैदा होता है। अधिमानस उस विभाजन को पाट सकता है लेकिन उसी बिंदुतक जहां पृथक्कारी मन अधिमानस में प्रवेश करता और उसकी क्रिया का अंग बन जाता है। वह व्यष्टिगत मन को वैश्व मन के साथ उसके उच्चतम स्तर पर युक्त कर सकता है, व्यष्टिगत आत्मा और वैश्व आत्मा का समीकरण कर सकता और प्रकृति को वैश्व क्रिया दे सकता है परंतु वह मन को उसके अपने परे नहीं ले जा सकता और आद्य निश्चेतना के इस जगत् में वह परात्परता को सक्रिय नहीं बना सकता क्योंकि केवल अतिमानस ही उस परात्परता की अभिव्यक्ति की परम आत्म-निर्धारक सत्य-क्रिया और प्रत्यक्ष शक्ति है। तो अगर विकसनशील प्रकृति की क्रिया यहां समाप्त हो जाती है तो चेतना को बृहत् ज्योतिर्मय विश्वात्मकता के बिंदुतक और अखंड सत्, चित् और आनंद की इस विशाल और सबल आध्यात्मिक अभिज्ञता की व्यवस्थित क्रीड़ातक ला चुकने के बाद अधिमानस उसके आगे तभी जा सकता है जब आध्यात्म तत्त्व के द्वार परार्द्ध की ओर खोल दिये जायें और एक ऐसी इच्छा-शक्ति हो जो जीव को वैश्व रूपायण में से निकलकर परात्परता में जाने में समर्थ बनाये।

स्वयं पार्थिव विकास में अधिमानस का अवतरण निश्चेतना को पूरी तरह बदलने में समर्थ न होगा। वह बस इतना ही कर सकता है कि प्रत्येक मनुष्य में, जिसका वह स्पर्श करे, उसकी आंतरिक और बाह्य, वैयक्तिक और वैश्व रूप से निर्वैयक्तिक, पूरी चेतन सत्ता को अपने पदार्थ में परिवर्तित करे और उसे अज्ञान पर आरोपित करे जिससे वह वैश्व सत्य और ज्ञान में आलोकित हो। लेकिन निर्ज्ञान की नींव बनी रहेगी। यह ऐसा होगा मानों सूर्य और उसका ग्रह-मंडल देश के आद्य अंधकार में चमकें और जहांतक उनकी किरणें पहुंच सकें वहांतक हर चीज को आलोकित कर दें ताकि जो कुछ प्रकाश में निवास करता है वह ऐसा अनुभव करे मानों उसके जीवन के अनुभव में कहीं कोई अंधकार नहीं है। लेकिन अनुभव के उस क्षेत्र या विस्तार के बाहर आद्य अंधकार बना रहेगा और चूंकि अधिमानसिक रचना में सब कुछ संभव है अतः यह भी हो सकता है कि वह उसके साम्राज्य के भीतर बने इस प्रकाश-द्वीप पर फिर से आक्रमण करे। और फिर चूंकि अधिमानस

विभिन्न संभावनाओं के साथ व्यवहार करता है अतः उसकी स्वाभाविक क्रिया आध्यात्मिक रूपायणों की किसी एक या अधिक या बहुत-सी पृथक् संभावनाओं को उनकी चरम सीमातक विकसित करने या उन्हें जोड़ने या अनेक संभावनाओं को एक साथ सामंजस्य में लाने की होगी। लेकिन यह आद्य पार्थिव सृष्टि में एक या अनेक सृजन होंगे जिनमें से हर एक अपने पृथक् अस्तित्व में पूर्ण होगा। इनमें विकसित आध्यात्मिक व्यक्ति होगा, उसी जगत् में एक या अनेक आध्यात्मिक समुदाय विकसित होंगे जैसे मानसिक मनुष्य पशु की प्राणिक सत्ता है, लेकिन हर एक पार्थिव नियम में एक शिथिल संबंध में अपने स्वतंत्र अस्तित्व को क्रियान्वित करेगा। एकत्व के तत्त्व की वह परम शक्ति सभी विभिन्नताओं को अपने अंदर लेती हुई और उन्हें एकत्व का भाग मानकर, उनपर शासन करती हुई—यही तो नयी विकसनशील चेतना का विधान होगा—अभी वहां न होगी। साथ ही, इतने से विकास से निश्चेतना के उस नीचे की ओर खिंचाव या गुरुत्वाकर्षण से बचाव नहीं हो सकता; यह मन और प्राण द्वारा उसके अंदर बने सभी रूपायणों को लुप्त कर देती, उसके अंदर से उठनेवाली या उसपर आरोपित सभी चीजों को लील जाती और उन्हें आद्य जड़ पदार्थ में विघटित कर देती है। निश्चेतना के इस खिंचाव से छुटकारा और अविच्छिन्न दिव्य या विज्ञानमय विकास के लिये सुरक्षित आधार केवल पार्थिव सूत्र में अतिमानस के अवतरण से ही प्राप्त हो सकता है, वह अपने साथ उसमें आध्यात्म पुरुष का परम विधान, प्रकाश और क्रियाशीलता लाता है और उसके साथ जड़-भौतिक आधार की निश्चेतना में प्रवेश करता और उसे रूपांतरित करता है। अतः अधिमानस से अतिमानस की ओर अंतिम संक्रमण और अतिमानस के अवतरण को विकसनशील प्रकृति की इस अवस्था में हस्तक्षेप करना ही चाहिये।

अधिमानस और उसकी प्रतिनिधिक शक्तियां मन को और मन पर निर्भर प्राण और शरीर को हाथ में लेकर उन्हें भेदते हुए सभी को एक विशाल करनेवाली प्रक्रिया के अधीन कर देंगी। इस प्रक्रिया के हर कदम पर विज्ञान की महत्तर शक्ति और उच्चतर तीव्रता, मन के शिथिल, बिखरे हुए, घटते हुए और हल्के पड़ते हुए पदार्थ से कम-से-कम मिश्रित होते हुए अपने-आपको स्थापित कर सकेगी परंतु, चूंकि समस्त विज्ञान अपने मूल में अतिमानस की आद्या शक्ति है, अतः इसका अर्थ होगा प्रकृति में अतिमानसिक प्रकाश और शक्ति की अधिकाधिक अर्द्ध-अवगुण्ठित और अप्रत्यक्ष बाढ़। यह तबतक चलता रहेगा जबतक उस बिंदुतक न पहुंचा जाये जहां स्वयं अधिमानस अतिमानस में रूपांतरित होने लगे। अतिमानसिक चेतना और शक्ति रूपांतर को सीधा अपने हाथ में ले लेगी, पार्थिव मन, प्राण और शारीरिक सत्ता के आगे उनके आध्यात्मिक सत्य और दिव्यता को प्रकट करेगी और अंत में समस्त प्रकृति में अतिमानसिक सत्ता का पूर्ण ज्ञान, शक्ति और सार्थकता उंडेलेगी। जीव अज्ञान की सीमाओं के परे चला जायेगा और परम

ज्ञान से अलग होने की आद्य रेखा को पार करके वह अतिमानसिक विज्ञान की समग्रता में प्रवेश करेगा, विज्ञानमय प्रकाश का अवतरण अज्ञान का संपूर्ण रूपांतर साधित करेगा।

इसे या इन्हीं रेखाओं पर ज्यादा बड़े रूप में संयोजित किसी चीज को आध्यात्मिक रूपांतर का योजना-बद्ध, तर्क-संगत और आदर्श विवरण माना जा सकता है। और अगर इसे सीढ़ियों का ऐसा अनुक्रम माना जाये जिसमें से हर एक को अगलेतक जाने से पहले पूरा करना जरूरी है तो इसे अतिमानसिक शिखर की चढ़ाई का संरचनात्मक नक्शा माना जा सकता है। यह ऐसा होगा मानों जीव एक संगठित प्राकृतिक व्यक्तित्व को व्यक्त करनेवाला यात्री है जो वैश्व प्रकृति में तराशी हुई चेतना-श्रेणियों पर चढ़ता चला जा रहा है और हर चढ़ाई उसे निश्चित समग्रता की तरह, चेतन पुरुष के एक पृथक् शरीर की तरह, उसकी सत्ता की एक अवस्था में से क्रमबद्ध दूसरी अवस्था में, समग्र के रूप में ले जाती है। यहांतक तो यह बात ठीक है कि अगली ऊपरी मंजिल की चढ़ाई को पूरी तरह सुरक्षित बनाने के लिये, उसके पहले की स्थिति का पर्याप्त समाकलन पूरा किया जाये। हो सकता है कि यह स्पष्ट अनुक्रम ऐसा मार्ग हो जिसका अनुसरण इस विकास-क्रम की पहली मंजिलों में कुछ लोगों ने किया हो और हो सकता है कि विकास का सारा सोपान निर्मित हो जाने और सुरक्षित बना लेने के बाद यह सामान्य पद्धति बन जाये। लेकिन विकसनशील प्रकृति विभिन्न खण्डों का युक्तिसंगत अनुक्रम नहीं है। वह सत्ता की ऊपर चढ़ती हुई ऐसी शक्तियों की समग्रता है जो एक-दूसरे में प्रवेश करती, समन्वय बिठाती और अपनी क्रिया में एक-दूसरे पर पारस्परिक संशोधन करती हैं। जब उच्चतर चेतना निम्नतर चेतना में उतरती है तो वह निम्नतर में परिवर्तन लाती है लेकिन साथ ही वह भी उसके द्वारा बदलती और घटती है। जब निचली ऊपर को चढ़ती है तो उसका उदात्तीकरण होता है लेकिन साथ-ही-साथ उदात्त करनेवाले पदार्थ और शक्ति को वह सीमित भी करती है। यह पारस्परिक क्रिया सत्ता की शक्ति और चेतना की अलग-अलग मध्यवर्ती और गुंथी हुई अवस्थाओं की प्रचुर संख्या का निर्माण करती है और साथ ही किसी एक शक्ति के पूर्ण निर्देशन में सभी शक्तियों का संपूर्ण समाकलन करना मुश्किल बना देती है। इसी कारण व्यक्ति के विकास में वस्तुतः सीधी-सादी, कटी-छंटी अवस्थाओं के अनुक्रम की शृंखला नहीं हैं, बल्कि एक जटिलता और अंशतः निर्दिष्ट, अंशतः अस्तव्यस्त व्यापकतावाली गति होती है। फिर भी जीव का वर्णन यूं किया जा सकता है कि वह एक यात्री और आरोही है जो अपने उच्च लक्ष्य की ओर एक-एक कदम करके जोर दे कर चढ़ रहा है; जिसके हर कदम को उसे पूरी तरह से निर्मित करना और बहुधा फिर-फिर उतरना पड़ता है ताकि वह सहारा देनेवाले सोपान को फिर से बना सके और सुरक्षित कर सके, ताकि वह उसके बोझ से ढह

न जाये : बल्कि समस्त चेतना के विकास की गति प्रकृति के चढ़ते हुए सागर की गति की सी होती है, उसकी तुलना ज्वार या ऊपर उठते हुए प्रवाह से की जा सकती है जिसका अगला भाग किसी चट्टान या पहाड़ी के उपरले हिस्से को छू रहा है और बाकी भाग नीचे ही हो। हर पर्व में प्रकृति के उच्चतर भागों को सामयिक किंतु अपूर्ण रूप से एक नयी चेतना में व्यवस्थित किया जा सकता है जब कि निचले भाग निरंतर प्रवाह या रूपायण की अवस्था में रहते हैं, जो अंशतः पुराने ही ढर्रे पर चलते रहते हैं, यद्यपि उनपर आंशिक प्रभाव भी पड़ता है और परिवर्तन भी शुरू होता है, एक अंश नयी तरह का होता है, उसकी प्राप्ति अधूरी होती है और वह परिवर्तन में मजबूत नहीं होता। दूसरा रूपक एक सेना का हो सकता है जो दस्तों में आगे बढ़ रही है, जो नयी-नयी जमीन हथियाते जाते हैं, जब कि मुख्य सेना अभीतक उस प्रदेश में पीछे ही है जिसे उसने जीत तो लिया है किंतु जो इतना अधिक बड़ा है कि प्रभावी रूप से हस्तगत नहीं किया जा सकता, अतः जीते हुए देश को संगठित करने और अधिकृत प्रदेश के ऊपर पकड़ बनाये रखने तथा वहां के लोगों को अपनाने के लिये उसे बार-बार रुकना और आंशिक रूप से लौटना पड़ता है। तेज विजय संभव हो सकती है लेकिन वह होगी विदेश में किसी पड़ाव या आधिपत्य स्थापित करने के जैसी। वह उस तरह का अंगीकरण, संपूर्ण आत्मसात्करण, समाकलन न होगा जो संपूर्ण अतिमानसिक परिवर्तन के लिये जरूरी है।

यह कुछ ऐसे परिणामों को जरूरी बना देता है जो विकास के स्पष्ट अनुक्रमों में हेर-फेर कर देते हैं और उसे स्पष्ट रूप से निश्चित और दृढ़ता से प्रतिष्ठित मार्ग का अनुसरण करने से रोकते हैं जिसकी मांग हमारी तर्क-बुद्धि प्रकृति से करती है परंतु पाती कभी-कदास ही है। जैसे जब जड़ पदार्थ का संगठन मन और प्राण को प्रवेश देने के लिये पर्याप्त हो जाये तो वे आना शुरू करते हैं लेकिन जड़ पदार्थ का अधिक जटिल और पूर्ण संगठन प्राण और मन के विकास के साथ ही आता है, जैसे मन तब प्रकट होता है जब प्राण इतना काफी संगठित हो जाये कि वह चेतना के विकसित स्पंदनों को प्रवेश दे सके, लेकिन प्राण अपना पूर्ण संगठन और विकास तभी पाता है जब मन उस पर क्रिया कर सके, जैसे आध्यात्मिक विकास तब शुरू होता है जब मन के रूप में मानव आध्यात्मिकता की गतियों को प्रवेश देने योग्य हो जाये लेकिन मन भी अपनी उच्चतम पूर्णतातक अपनी आत्मा की तीव्रताओं और ज्योतियों की वृद्धि द्वारा ही पहुंच सकता है। आत्मा की ऊपर चढ़नेवाली शक्तियों के इस उच्चतर विकास के बारे में भी यही बात है। जैसे ही काफी आध्यात्मिक विकास हो जाये, अंतर्भास का कोई अंश, सत्ता का आलोक, चेतना की उच्चतर आध्यात्मिक श्रेणियों की गतिविधियां, कभी एक, कभी दूसरी या सब मिलकर, प्रकट होना शुरू करती हैं और वे इसकी प्रतीक्षा नहीं करतीं कि किसी

ज्ञान से अलग होने की आद्य रेखा को पार करके वह अतिमानसिक विज्ञान की समग्रता में प्रवेश करेगा, विज्ञानमय प्रकाश का अवतरण अज्ञान का संपूर्ण रूपांतर साधित करेगा।

इसे या इन्हीं रेखाओं पर ज्यादा बड़े रूप में संयोजित किसी चीज को आध्यात्मिक रूपांतर का योजना-बद्ध, तर्क-संगत और आदर्श विवरण माना जा सकता है। और अगर इसे सीढ़ियों का ऐसा अनुक्रम माना जाये जिसमें से हर एक को अगलेतक जाने से पहले पूरा करना जरूरी है तो इसे अतिमानसिक शिखर की चढ़ाई का संरचनात्मक नक्शा माना जा सकता है। यह ऐसा होगा मानों जीव एक संगठित प्राकृतिक व्यक्तित्व को व्यक्त करनेवाला यात्री है जो वैश्व प्रकृति में तराशी हुई चेतना-श्रेणियों पर चढ़ता चला जा रहा है और हर चढ़ाई उसे निश्चित समग्रता की तरह, चेतन पुरुष के एक पृथक् शरीर की तरह, उसकी सत्ता की एक अवस्था में से क्रमबद्ध दूसरी अवस्था में, समग्र के रूप में ले जाती है। यहांतक तो यह बात ठीक है कि अगली ऊपरी मंजिल की चढ़ाई को पूरी तरह सुरक्षित बनाने के लिये, उसके पहले की स्थिति का पर्याप्त समाकलन पूरा किया जाये। हो सकता है कि यह स्पष्ट अनुक्रम ऐसा मार्ग हो जिसका अनुसरण इस विकास-क्रम की पहली मंजिलों में कुछ लोगों ने किया हो और हो सकता है कि विकास का सारा सोपान निर्मित हो जाने और सुरक्षित बना लेने के बाद यह सामान्य पद्धति बन जाये। लेकिन विकसनशील प्रकृति विभिन्न खण्डों का युक्तिसंगत अनुक्रम नहीं है। वह सत्ता की ऊपर चढ़ती हुई ऐसी शक्तियों की समग्रता है जो एक-दूसरे में प्रवेश करती, समन्वय बिठाती और अपनी क्रिया में एक-दूसरे पर पारस्परिक संशोधन करती हैं। जब उच्चतर चेतना निम्नतर चेतना में उतरती है तो वह निम्नतर में परिवर्तन लाती है लेकिन साथ ही वह भी उसके द्वारा बदलती और घटती है। जब निचली ऊपर को चढ़ती है तो उसका उदात्तीकरण होता है लेकिन साथ-ही-साथ उदात्त करनेवाले पदार्थ और शक्ति को वह सीमित भी करती है। यह पारस्परिक क्रिया सत्ता की शक्ति और चेतना की अलग-अलग मध्यवर्ती और गुंथी हुई अवस्थाओं की प्रचुर संख्या का निर्माण करती है और साथ ही किसी एक शक्ति के पूर्ण निर्देशन में सभी शक्तियों का संपूर्ण समाकलन करना मुश्किल बना देती है। इसी कारण व्यक्ति के विकास में वस्तुतः सीधी-सादी, कटी-छंटी अवस्थाओं के अनुक्रम की शृंखला नहीं हैं, बल्कि एक जटिलता और अंशतः निर्दिष्ट, अंशतः अस्तव्यस्त व्यापकतावाली गति होती है। फिर भी जीव का वर्णन यूं किया जा सकता है कि वह एक यात्री और आरोही है जो अपने उच्च लक्ष्य की ओर एक-एक कदम करके जोर दे कर चढ़ रहा है; जिसके हर कदम को उसे पूरी तरह से निर्मित करना और बहुधा फिर-फिर उतरना पड़ता है ताकि वह सहारा देनेवाले सोपान को फिर से बना सके और सुरक्षित कर सके, ताकि वह उसके बोझ से ढह

न जाये : बल्कि समस्त चेतना के विकास की गति प्रकृति के चढ़ते हुए सागर की गति की सी होती है, उसकी तुलना ज्वार या ऊपर उठते हुए प्रवाह से की जा सकती है जिसका अगला भाग किसी चट्टान या पहाड़ी के उपरले हिस्से को छू रहा है और बाकी भाग नीचे ही हो। हर पर्व में प्रकृति के उच्चतर भागों को सामयिक किंतु अपूर्ण रूप से एक नयी चेतना में व्यवस्थित किया जा सकता है जब कि निचले भाग निरंतर प्रवाह या रूपायण की अवस्था में रहते हैं, जो अंशतः पुराने ही ढर्रे पर चलते रहते हैं, यद्यपि उनपर आंशिक प्रभाव भी पड़ता है और परिवर्तन भी शुरू होता है, एक अंश नयी तरह का होता है, उसकी प्राप्ति अधूरी होती है और वह परिवर्तन में मजबूत नहीं होता। दूसरा रूपक एक सेना का हो सकता है जो दस्तों में आगे बढ़ रही है, जो नयी-नयी जमीन हथियाते जाते हैं, जब कि मुख्य सेना अभीतक उस प्रदेश में पीछे ही है जिसे उसने जीत तो लिया है किंतु जो इतना अधिक बड़ा है कि प्रभावी रूप से हस्तगत नहीं किया जा सकता, अतः जीते हुए देश को संगठित करने और अधिकृत प्रदेश के ऊपर पकड़ बनाये रखने तथा वहां के लोगों को अपनाने के लिये उसे बार-बार रुकना और आंशिक रूप से लौटना पड़ता है। तेज विजय संभव हो सकती है लेकिन वह होगी विदेश में किसी पड़ाव या आधिपत्य स्थापित करने के जैसी। वह उस तरह का अंगीकरण, संपूर्ण आत्मसात्करण, समाकलन न होगा जो संपूर्ण अतिमानसिक परिवर्तन के लिये जरूरी है।

यह कुछ ऐसे परिणामों को जरूरी बना देता है जो विकास के स्पष्ट अनुक्रमों में हेर-फेर कर देते हैं और उसे स्पष्ट रूप से निश्चित और दृढ़ता से प्रतिष्ठित मार्ग का अनुसरण करने से रोकते हैं जिसकी मांग हमारी तर्क-बुद्धि प्रकृति से करती है परंतु पाती कभी-कदास ही है। जैसे जब जड़ पदार्थ का संगठन मन और प्राण को प्रवेश देने के लिये पर्याप्त हो जाये तो वे आना शुरू करते हैं लेकिन जड़ पदार्थ का अधिक जटिल और पूर्ण संगठन प्राण और मन के विकास के साथ ही आता है, जैसे मन तब प्रकट होता है जब प्राण इतना काफी संगठित हो जाये कि वह चेतना के विकसित स्पंदनों को प्रवेश दे सके, लेकिन प्राण अपना पूर्ण संगठन और विकास तभी पाता है जब मन उस पर क्रिया कर सके, जैसे आध्यात्मिक विकास तब शुरू होता है जब मन के रूप में मानव आध्यात्मिकता की गतियों को प्रवेश देने योग्य हो जाये लेकिन मन भी अपनी उच्चतम पूर्णतातक अपनी आत्मा की तीव्रताओं और ज्योतियों की वृद्धि द्वारा ही पहुंच सकता है। आत्मा की ऊपर चढ़नेवाली शक्तियों के इस उच्चतर विकास के बारे में भी यही बात है। जैसे ही काफी आध्यात्मिक विकास हो जाये, अंतर्भास का कोई अंश, सत्ता का आलोक, चेतना की उच्चतर आध्यात्मिक श्रेणियों की गतिविधियां, कभी एक, कभी दूसरी या सब मिलकर, प्रकट होना शुरू करती हैं और वे इसकी प्रतीक्षा नहीं करतीं कि किसी

उच्चतर शक्ति के क्रियाशील होने के पहले शृंखला की प्रत्येक शक्ति अपने-आपको पूर्ण बना ले। एक अधिमानसिक ज्योति और शक्ति किसी तरह उतर सकती है, सत्ता में अपना एक आंशिक रूप बना सकती है, प्रमुख भाग ले सकती या निगरानी या हस्तक्षेप कर सकती है जब कि अंतर्भासमय और प्रदीपक मन और उच्चतर मन अभीतक अपूर्ण हैं। ये तब समग्र में बने रहेंगे और उच्चतर शक्ति के साथ कार्य करते रहेंगे। वह कभी इनमें प्रवेश करेगी कभी इन्हें उदात्त बनायेगी या ये उसमें ऊपर उठकर एक महत्तर या अधिमानसिक अंतर्भास, महत्तर या अधिमानसिक प्रकाश, महत्तर या अधिमानसिक आध्यात्मिक विचारणा को रूप देंगे। यह जटिल क्रिया इसलिये होती है क्योंकि हर उतरती हुई शक्ति प्रकृति पर अपने दबाव की तीव्रता और उत्थापक प्रभाव से सत्ता को अभी से ही—पहले की शक्ति स्वयं अपने आत्म-रूपायण में पूरी हो उससे पहले ही—अधिक ऊंचे आक्रमण के लिये तैयार कर देती है। लेकिन ऐसा इसलिये भी होता है क्योंकि अगर, अधिकाधिक उच्चतर हस्तक्षेप न हो तो निचली प्रकृति के अंदर उठने और रूपांतरित होने का कार्य मुश्किल से किया जा सकता है। प्रदीपन और उच्चतर विचार को अंतर्भास की सहायता की जरूरत होती है, अंतर्भास को अधिमानस की सहायता की जरूरत होती है ताकि वे जिस अंधकार और अज्ञान में परिश्रम कर रहे हैं उनसे लड़ सकें और अपनी पूर्णता उन्हें दे सकें। फिर भी, अंत में, जबतक उच्चतर मन और प्रदीप्त मन का अंतर्भास में समाकलन और अंतर्लयन न हो जाये और बाद में स्वयं अंतर्भास का समाकलन और अंतर्लयन सर्व-वृद्धिकारी तथा सर्व-उन्नायिका अधिमानसी ऊर्जा में न हो जाये तबतक अधिमानसिक स्थिति और समाकलन का सम्पादित होना संभव नहीं है। विकासशील प्रकृति की प्रक्रिया की जटिलता में भी क्रम के सिद्धांत को संतुष्ट करना पड़ता है।

स्वयं समाकलन की आवश्यकता के कारण जटिलता का एक और कारण उठ खड़ा होता है, क्योंकि इस प्रक्रिया में जीव का एक उच्चतर स्थिति की ओर आरोहण ही नहीं बल्कि इस तरह से प्राप्त उच्चतर चेतना का अवरोहण भी है ताकि वह निम्नतर प्रकृति को लेकर रूपांतरित कर दे। लेकिन इस प्रकृति में पहले के रूपायन की घनता होती है जो अवरोहण का प्रतिरोध करती और उसमें बाधा देती है। जब उच्चतर शक्ति बाधा को तोड़कर, नीचे उतरकर काम में लग जाती है तब भी हमने देखा है कि अज्ञान की प्रकृति प्रतिरोध करती और काम में बाधा देती है। वह या तो रूपांतर से एकदम इंकार करने की कोशिश करती है या नयी शक्ति में कुछ ऐसे हेर-फेर लाने की कोशिश करती है जो उसकी क्रियाओं के साथ मेल खाती हो या अपने-आपको उसपर फेंक देती है ताकि उसे अपनी पकड़ में लेकर, उसे अवनत कर अपनी ही क्रियाविधि और घटिया प्रयोजन का दास बना ले। साधारणतः प्रकृति के इस कठिन द्रव्य के ग्रहण और आत्मसात् करने के काम में

उच्चतर शक्तियां पहले मन में उतरती हैं और मानसिक केन्द्रों पर अधिकार कर लेती हैं क्योंकि वे समझ और ज्ञान-शक्ति में उनके सबसे अधिक नजदीक हैं। अगर वे हृदय में या शक्ति और संवेदन की प्राणिक सत्ता में उतरें, जैसा कि वे कभी-कभी करती हैं, क्योंकि कई व्यक्तियों में ये केंद्र ज्यादा खुले हुए होते हैं और उन्हें पहले बुलाते हैं, तो परिणाम उस अवस्था की अपेक्षा, जिसमें चीजें तर्क-संगत क्रम में होती हैं, अधिक मिश्रित, और संदिग्ध, अपूर्ण और असुरक्षित होते हैं। लेकिन उतरनेवाली शक्ति अपनी सामान्य क्रिया में भी, जब वह सत्ता को एक-एक भाग करके, अवरोहण के स्वाभाविक क्रम में लेती है, वह आगे जाने से पहले हर एक पर संपूर्ण अधिकार और उनका रूपांतर नहीं ला सकती। वह केवल एक सामान्य और अपूर्ण अधिकार कार्यान्वित कर सकती है ताकि हर एक की क्रियाएं फिर भी अंशतः नये उच्चतर क्रम की, अंशतः मिश्रित और अंशतः अपरिवर्तित निम्नतर क्रम की चीज रहती हैं। पूरा-का-पूरा मन अपने सारे क्षेत्र में एकदम रूपांतरित नहीं किया जा सकता क्योंकि मानसिक केन्द्र शेष सत्ता से अलग-थलग क्षेत्र नहीं है। मन की क्रिया में प्राणिक और भौतिक अंगों की क्रियाएं प्रवेश करती हैं और स्वयं उन भागों के अंदर मन की निचली रचनाएं हैं, प्राणिक मन है और भौतिक मन भी और मनोमय सत्ता के संपूर्ण रूपांतर से पहले उनका बदलना जरूरी है। अतः, संपूर्ण मानसिक रूपांतर की प्रतीक्षा किये बिना, उच्चतर रूपांतरकारी शक्ति को जितनी जल्दी हो सके, हृदय में उतरना चाहिये ताकि वह भावात्मक प्रकृति पर अधिकार कर सके और उसे बदल सके, उसके बाद निम्नतर प्राणिक केन्द्रों में, ताकि वह समस्त प्राणिक और क्रियाशील तथा संवेदनशील प्रकृति पर कब्जा कर सके और उसे बदल सके और अंत में भौतिक केन्द्रों में, ताकि वह समस्त भौतिक प्रकृति पर कब्जा कर सके और उसे बदल सके। लेकिन यह अंतिमता भी अंतिम नहीं है क्योंकि अभी अवचेतन भाग और निश्चेतन आधार बाकी हैं। सत्ता की इन शक्तियों और भागों की जटिलताएं और आपस में गुंथी क्रिया इतनी ज्यादा पेचीदा है कि यह कहा जा सकता है कि इस परिवर्तन में, जबतक सब कुछ उपलब्ध न हो जाये तबतक कुछ भी प्राप्त नहीं होता। ज्वार और भाटा होता है; पुरानी प्रकृति की शक्तियां पीछे हटती हैं और फिर आंशिक रूप से अपने पुराने राज्य पर अधिकार कर लेती हैं। वे धीरे-धीरे पीछे हटती हैं, उनकी टुकड़ियां पृष्ठ-रक्षक युद्ध करती हैं, फिर से आक्रमण करती हैं और आक्रमणों का जवाब भी देती हैं। हर बार उच्चतर प्रवाह अधिक जीते हुए देशों में फैलता है लेकिन उसकी प्रभुता की निश्चिति तबतक अधूरी रहती है जबतक ऐसा कुछ भी बचा रह जाये जो उसके आलोकमय राज्य का अंग न बन गया हो।

चेतना की एक ही समय में एक से अधिक स्थितियों में रहने की शक्ति एक तीसरी जटिलता ले आती है। विशेषकर कठिनाई पैदा होती है हमारी सत्ता के

भीतरी और बाहरी या सतही प्रकृति के विभाजन में और उस गुह्य परिचेतन या पर्यावरण की चेतना की और अधिक जटिलता से जिसमें अपने से बाहर के जगत् के साथ हमारे अदृष्ट संबंधों का निश्चय होता है। आध्यात्मिक उद्घाटन में जाग्रत् आंतरिक सत्ता आसानी से उच्चतर प्रभावों को ग्रहण और आत्मसात् करती और उच्चतर प्रकृति को धारण कर लेती है, बाहरी सतही आत्मा पूरी तरह से अज्ञान और निश्चेतना की शक्तियों द्वारा गढ़ी जाती है। वह जागने में अधिक धीमी, ग्रहण करने में अधिक धीमी और आत्मसात् करने में अधिक धीमी है। अतः एक लम्बी अवस्था होती है जिसमें आंतरिक सत्ता पर्याप्त रूप से रूपांतरित होती है लेकिन बाहरी अपूर्ण परिवर्तन की मिश्रित और कठिन गतिविधि में फंसी रहती है। आरोहण के एक-एक चरण पर यह असमानता अपने-आपको दोहराती है क्योंकि प्रत्येक परिवर्तन में आंतरिक सत्ता अधिक खुशी से अनुसरण करती है और बाहरी पीछे-पीछे लंगड़ाती है या अपनी अभीप्सा और इच्छा के बावजूद अनिच्छुक या अक्षम होती है; इस कारण अंगीकार करने, अनुकूल बनाने और स्थिति-निर्धारण के लिये बार-बार किये गये सतत श्रम की जरूरत होती है। इस श्रम को बार-बार नये रूपों में लाया जाता है परंतु तत्त्व हमेशा वह का वही रहता है। लेकिन जब व्यक्ति की बाहरी और भीतरी प्रकृति सामंजस्यपूर्ण आध्यात्मिक चेतना में मिल भी जाये तब भी उसका वह बाह्यतम किंतु गुह्य भाग, जिसमें उसकी सत्ता बाहरी जगत् की सत्ता के साथ मिलती है, जिसके द्वारा बाहरी जगत् उसकी चेतना पर आक्रमण करता है, वह अपूर्णता का क्षेत्र बना रहता है। निश्चय ही यहां विषम प्रभावों के बीच आदान-प्रदान होता है। भीतरी आध्यात्मिक प्रभाव से विपरीत प्रभाव मिलते हैं जो वर्तमान जगत्-व्यवस्था पर शासन करने में सबल हैं। नयी आध्यात्मिक चेतना को अज्ञान की उन प्रधान और प्रतिष्ठित आध्यात्मिकभावापन्नता-विहीन शक्तियों के आघात सहने पड़ते हैं। यह एक ऐसी कठिनाई पैदा कर देती है जो आध्यात्मिक विकास और प्रकृति के परिवर्तन के लिये अपनी प्रेरणा के सभी क्षेत्रों में बहुत महत्व रखती है।

एक आत्मनिष्ठ आध्यात्मिकता स्थापित की जा सकती है जो जगत् के साथ आदान-प्रदान करने से इंकार करती या उसे बहुत कम कर देती है या उसकी क्रियाओं को साक्षी बनकर देखने से संतुष्ट होती है और उसके आक्रमणकारी प्रभावों को किसी प्रतिक्रिया की या उनकी घुसपैठ की अनुमति दिये बिना उन्हें पीछे फेंक देती या बाहर फेंक देती है। लेकिन अगर आंतरिक आध्यात्मिकता को स्वतंत्र जगत्-व्यापार में वस्तुनिष्ठ बनाना है, अगर व्यक्ति को अपने-आपको जगत् में प्रक्षिप्त करना है और एक अर्थ में जगत् को अपने अंदर लेना है तो यह अपनी परिचेतन या अपने पर्यावरण की सत्ता द्वारा जगत् के प्रभावों को ग्रहण किये बिना सक्रिय रूप से नहीं किया जा सकता। तब आध्यात्मिक अंतश्चेतना को इन प्रभावों

के साथ इस तरह व्यवहार करना होता है कि जैसे ही वे नजदीक आयें या प्रवेश करें तो वे या तो लुप्त और निष्फल हो जाएं या अपने प्रवेश मात्र से उसकी रीति और पदार्थ में रूपांतरित हो जाएं। या हो सकता है कि वह उन्हें आध्यात्मिक प्रभाव ग्रहण करने और जिस लोक से वे आते हैं उसपर रूपांतरकारी बल लेकर लौट जाने के लिये बाधित करे क्योंकि निचली वैश्व प्रकृति को इस तरह बाधित करना संपूर्ण आध्यात्मिक क्रिया का अंग है। लेकिन, उसके लिये परिचेतन या पर्यावरण की सत्ता को आध्यात्मिक ज्योति और आध्यात्मिक पदार्थ में इतना अधिक डूबा हुआ होना चाहिये कि रूपांतरित हुए बिना कोई भी चीज उसके अंदर प्रवेश न कर सके। आक्रामक बाहरी प्रभाव अपनी निम्नतर अभिज्ञता, अपनी निम्नतर दृष्टि, अपनी निम्नतर क्रियाशीलता को बिलकुल न ला सके। लेकिन यह कठिन पूर्णता है क्योंकि सामान्यतः परिचेतन पूरी तरह से हमारी रूपायित और उपलब्ध आत्मा नहीं है बल्कि हमारी सत्ता और बाहरी जगत्-प्रकृति का योग है। इस कारण बाहरी क्रिया को रूपांतरित करने की अपेक्षा आंतरिक आत्म-निर्भर भागों को आध्यात्मिक बनाना हमेशा ज्यादा आसान होता है। अंतर्दर्शी, अंतर्निवासी या आत्मनिष्ठ आध्यात्मिकता की पूर्णता, जो संसार से अलग-थलग हो या उससे सुरक्षित हो, ऐसी पूर्णता जगत् का आलिंगन करनेवाली, उसके पर्यावरण की मालिक होनेवाली, जगत्-प्रकृति के साथ अपने संसर्ग में प्रभुतासंपन्न होनेवाली, जीवन में वस्तुनिष्ठ, क्रियाशील और गतिशील आध्यात्मिकता में सारी प्रकृति की पूर्णता की अपेक्षा ज्यादा सरल है। लेकिन, चूंकि सर्वांगीण रूपांतर को पूरी तरह से क्रियाशील सत्ता को आलिंगन में ले लेना होगा और अपने अंदर क्रिया के जीवन और अपने बाहर की जगदात्मा को समाविष्ट करना होगा अतः विकसनशील प्रकृति से इस अधिक संपूर्ण परिवर्तन की मांग की जाती है।

मुख्य कठिनाई इस तथ्य से आती है कि हमारी सामान्य सत्ता का पदार्थ निश्चेतना में से गढ़ा गया है। हमारा अज्ञान सत्ता के ऐसे पदार्थ में ज्ञान का विकास है जो निर्ज्ञान है। वह जिस चेतना को विकसित करता है, वह जिस ज्ञान को स्थापित करता है, यह निर्ज्ञान हमेशा उनका पीछा करता रहता, उनमें प्रवेश करता और उन्हें घेरे रहता है। निर्ज्ञान के इस पदार्थ को, अतिचेतन के पदार्थ में, एक ऐसे पदार्थ में रूपांतरित करना होगा जिसमें चेतना और आध्यात्मिक अभिज्ञता हमेशा रहती हैं, चाहे वे सक्रिय न हों, प्रकट न हों, ज्ञान के रूप में न रखी गयी हों। जबतक यह न हो जाये निर्ज्ञान, जो कुछ उसमें प्रवेश करता है उसपर आक्रमण करता, उसे घेर लेता, यहांतक कि निगलकर अपने विस्मरणशील अंधकार में आत्मसात् कर लेता है। वह उतरनेवाले प्रकाश को उस अवर प्रकाश के साथ समझौता करने के लिये बाधित करता है जिसमें वह प्रवेश करता है : एक मिश्रण होता है, प्रकाश क्षुण्ण और मद्धम पड़ जाता है, उसके सत्य और बल में ह्रास

और परिवर्तन आता है, उसके सत्य और शक्ति की प्रामाणिकता पूर्ण नहीं रह जाती या कम-से-कम, निर्ज्ञान उसके सत्य को सीमित करता है, उसकी शक्ति को सीमाबद्ध करता, उसकी व्यावहारिकता और क्षेत्र को खंडित करता है; उसके तात्त्विक सत्य को व्यक्तिगत उपलब्धि के पूर्ण सत्य होने से या वैश्व व्यवहार के उपलब्ध सत्य होने से रोक दिया जाता है। इस तरह जीवन-विधान के रूप में प्रेम व्यावहारिक रूप से अपनी स्थापना एक आंतरिक सक्रिय तत्त्व के रूप में कर सकता है लेकिन जबतक वह सत्ता के सारे पदार्थ में न व्याप्त हो जाये तबतक संपूर्ण वैयक्तिक भावना और कर्म को प्रेम के विधान से नहीं गढ़ा जा सकता। अगर उसे व्यक्ति में पूर्ण कर भी दिया जाये तो भी उसके प्रति अंधा और प्रतिरोधी रहनेवाला व्यापक निर्ज्ञान उसे एकांगी और निष्प्रभाव बना सकता है या फिर प्रेम अपने वैश्व व्यवहार के क्षेत्र को सीमाबद्ध करने के लिये बाधित होता है। मानव प्रकृति में सत्ता के नये विधान के साथ सामंजस्य रखनेवाला पूर्ण कार्य हमेशा कठिन होता है क्योंकि निश्चेतना के द्रव्य में अंधी आदेशात्मक आवश्यकता का विधान होता है जो उसमें से निकलनेवाली या उसमें प्रवेश करनेवाली संभावनाओं की लीला को सीमित कर देती है और उन्हें अपनी स्वतंत्र क्रिया और परिणाम स्थापित करने या अपनी निजी पूर्णता की तीव्रता को चरितार्थ करने से रोकती है। उन्हें बस मिश्रित, सापेक्ष, दमित और घटी हुई लीला की ही स्वीकृति मिलती है अन्यथा वे निश्चेतना के ढांचे को रद्द कर देंगी और विश्व-व्यवस्था के आधार को प्रभावी रूप से बदले बिना उग्र रूप से विक्षुब्ध कर देंगी; क्योंकि, उनमें से किसी के अंदर भी अपनी मानसिक या प्राणिक लीला में वह दिव्य शक्ति नहीं है कि इस अंधकारमय मूल तत्त्व का स्थान ले ले और एक पूर्णतया नयी वैश्व-व्यवस्था संगठित कर सके।

मानव प्रकृति का रूपांतर केवल तभी सिद्ध हो सकता है जब सत्ता का पदार्थ आध्यात्मिक तत्त्व में इतना डूबा हुआ हो कि उसकी सभी गतियां आत्मा की सहज क्रियाशीलता और सामंजस्यपूर्ण प्रक्रिया हों। लेकिन तब भी, जब उच्चतर शक्तियां और उनकी तीव्रताएं निश्चेतना के पदार्थ में प्रवेश करती हैं, उनका सामना इस अंधी, विरोधी 'आवश्यकता' से होता है और वे निर्ज्ञान पदार्थ के इस सीमित करनेवाले और घटानेवाले विधान के आधीन हो जाती हैं। यह आवश्यकता उनका विरोध हमेशा अपने स्थापित और अटल विधान के सबल स्वत्वाधिकार प्रस्तुत करके करती है, हमेशा जीवन के दावे का सामना मृत्यु के विधान से, प्रकाश की मांग का सामना छाया के उभार और अंधकार की पृष्ठभूमि की आवश्यकता से, आत्मा के प्रभुत्व, स्वाधीनता और क्रियाशीलता का सामना अपनी उस शक्ति से करती है जो परिसीमित करके समायोजन करती है, असमर्थता से सीमा आंकती है, और उसका सामना एक आद्य तमस् की विश्रान्ति पर ऊर्जा की स्थापना से करती

है। उसके नकारों के पीछे एक गुह्य सत्य है। अतिमानस ही आद्या सद्वस्तु में विपरीतताओं के बीच मेल बैठाने की अपनी क्रिया से इस सत्य को ग्रहण कर सकता और इस पहेली का व्यावहारिक समाधान खोज सकता है। आधारभूत निर्ज्ञान की इस कठिनाई को केवल अतिमानसिक शक्ति ही पूरी तरह जीत सकती है क्योंकि उसके साथ एक विपरीत, प्रकाशमय आदेशात्मक आवश्यकता प्रवेश करती है जो सभी चीजों के नीचे रहती है और स्वयंभू अनन्त की मूल तथा अंतिम आत्म-निर्धारक सत्य-शक्ति है। यह महत्तर प्रकाशमय आध्यात्मिक आवश्यकता और उसका प्रभुसत्तात्मक आदेश ही निश्चेतना की अंधी नियति को स्थान से हटाकर पूरी तरह अनुविद्ध कर सकते और उसे अपने-आपमें रूपांतरित करके उसका स्थान ले सकते हैं।

सत्ता के सारे पदार्थ का अतिमानसिक रूपांतर, और साथ ही आवश्यक रूप से उसके समस्त गुणों, शक्तियों, गतिविधियों का रूपांतर तभी हो सकता है जब प्रकृति में अंतर्लीन अतिमानस अतिप्रकृति से आनेवाले अतिमानसिक प्रकाश और शक्ति से मिलने और एक होने के लिये आविर्भूत होता है। व्यष्टि को रूपांतर का यंत्र और पहला क्षेत्र होना चाहिये लेकिन एक अलग-थलग व्यष्टिगत रूपांतर काफी नहीं होता और पूरी तरह साध्य भी नहीं हो सकता। अगर वैयक्तिक परिवर्तन हो भी जाये तो उसकी स्थायी और वैश्व सार्थकता तभी होगी जब व्यक्ति प्रकृति की पार्थिव क्रियाओं के बीच एक प्रकट सक्रिय शक्ति के रूप में अतिमानसिक चित्-शक्ति की स्थापना के लिये एक केन्द्र और चिह्न बन जाये—उसी तरह जैसे विचारशील मन मानव विकास द्वारा एक प्रकट क्रियाशील शक्ति के रूप में प्राण और जड़-पदार्थ में स्थापित हुआ है। इसका अर्थ होगा विकास-क्रम में एक विज्ञानमय सत्ता या पुरुष और विज्ञानमय प्रकृति का प्रकटन। पार्थिव समग्र में मुक्त और सक्रिय अतिमानसिक चित्-शक्ति का उन्मेष और प्राण तथा शरीर में आध्यात्म पुरुष का व्यवस्थित अतिमानसिक माध्यम होना चाहिये; क्योंकि शरीर-चेतना को भी नयी अतिमानसिक शक्ति और उसकी नयी व्यवस्था की क्रियावली का उचित साधन बनने के लिये पर्याप्त रूप से जाग्रत् होना चाहिये। तबतक कोई मध्यवर्ती परिवर्तन केवल आंशिक और असुरक्षित ही हो सकता है। प्रकृति का एक अधिमानसिक या अंतर्भासात्मक साधन विकसित किया जा सकता है लेकिन वह आधारभूत और पर्यावरण संबंधी निश्चेतना पर आरोपित ज्योतिर्मय रूपायन होगा। अगर अतिमानसिक तत्त्व और उसकी वैश्व-क्रिया एक बार स्थायी रूप से स्वयं अपने आधार पर प्रतिष्ठित हो जायें तो अधिमानस और आध्यात्मिक मन की मध्यवर्ती शक्तियां उसपर अपने-आपको सुरक्षित रूप से प्रतिष्ठित कर सकती हैं और अपनी पूर्णतातक पहुंच सकती हैं। वे पार्थिव जीवन में मन और स्थूल प्राण से उठकर परम आध्यात्मिक स्तर की ओर जानेवाली चेतना की स्थितियों का

सोपानक्रम होंगी। मन और मानसिक मानवता आध्यात्मिक विकास में एक चरण के रूप में रहेंगे लेकिन इनके ऊपर और कोटियां होंगी जो रूपायित और पहुंच के अंदर होंगी, जिनके द्वारा शरीरधारी मानसिक जीव, जैसे-जैसे तैयार होता जायेगा, ऊपर विज्ञान में चढ़ सकेगा और शरीरधारी अतिमानसिक और आध्यात्मिक सत्ता में बदल सकेगा। इस आधार पर पार्थिव प्रकृति में दिव्य जीवन का तत्त्व अभिव्यक्त होगा, अज्ञान और निश्चेतना का जगत् भी अपने अंदर छिपे रहस्य को खोज सकेगा और हर निचली कोटि में उसका दिव्य अर्थ अनुभव करना शुरू करेगा।

अध्याय २७

विज्ञानमय सत्ता

अभूद् पारमेतवे पन्था ऋतस्य साधुया।
अदर्शि वि स्रुतिर्दिवः॥
अंधकार से परे उस दूसरे तट की यात्रा के लिये सत्य का परम पथ प्रकट हो गया है।

ऋग्वेद १.४६.११

ऋतं चिकित्व ऋतमिच्चिकिद्ध्यृतस्य धारा अनु तृन्धि पूर्वीः॥
हे ऋत-चेतन, ऋत के प्रति सचेतन होओ। ऋत की बहुत-सी धाराएं काटकर निकालो।

ऋग्वेद ५.१२.२

अग्नीषोमा चेति तद् वीर्यं वाम्, . . . अविन्दतं ज्योतिरेकं बहुभ्यः॥
हे अग्नि, हे सोम, तुम्हारी शक्ति सचेतन हो गयी है। तुमने बहु के लिये उस एक ज्योति का आविष्कार किया है।

ऋग्वेद १.९३.४

एषा व्येनी भवति द्विबर्हा . . .।
ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति॥
शुद्ध-धवला, अपनी प्रचुरता में द्विविधा, वह, जाननेवाले की तरह सत्य के पथ का प्रभावी रूप से अनुसरण करती है और उसकी दिशाओं को संकीर्ण नहीं बनाती।

ऋग्वेद ५.८०.४

ऋतेन ऋतं धरुणं धारयन्त यज्ञस्य शाके परमे व्योमन्।
वे ऋत द्वारा उस ऋत को धारण करते हैं जो यज्ञ की शक्ति से परम व्योम में सबको धारण करता है।

ऋग्वेद ५.१५.२

अजीजनो अमृत मर्त्येष्वा ऋतस्य धर्मन्नमृतस्य चारुणः।
. . . . . .
ऋतेन य ऋतजातो विवावृधे राजा देव ऋतं बृहत्॥
हे अमर, मर्त्यों में तू ऋत, अमृत और सौंदर्य के विधान में जन्मा है। . . . ऋत से उत्पन्न वह ऋत से ही बढ़ता है—वह राजा, देव, ऋत और बृहत् है।

ऋग्वेद ९.११०.४; १०८.८

जब हम अपने विचार की उस रेखापर पहुंचते हैं जहां मन का अधिमन की ओर होनेवाला विकास अधिमानस का अतिमानस की ओर होनेवाले विकास में बदल जाता है, तो हमारा सामना एक कठिनाई से होता है जो लगभग असंभवता है। क्योंकि, हम अतिमानसिक या विज्ञानमय सत्ता के किसी ऐसे यथार्थ भाव को, ऐसे स्पष्ट मानसिक वर्णन को खोजने के लिये प्रवृत्त होते हैं जिसे जन्म देने के लिये विकसनशील प्रकृति अज्ञान में प्रसव-पीड़ा में से गुजर रही है; लेकिन उदात्तीकृत मन की इस चरम सीमा को लांघकर चेतना मानसिक दर्शन और ज्ञान के गोलार्द्ध में से निकल जाती है, उसकी पकड़ में से बच निकलती है और उसकी विशिष्ट क्रियाओं से आगे चली जाती है। निश्चय ही यह स्पष्ट है कि अतिमानसिक प्रकृति को आध्यात्मिक प्रकृति और अनुभव का संपूर्ण समाकलन और परिपूर्ति होना चाहिये, विकसनशील तत्त्व के स्वभाव के कारण वह अपने अंदर पार्थिव प्रकृति के समग्र आध्यात्मीकरण को लिये रहेगी, यद्यपि वह इस परिवर्तन से सीमित न होगी। हमारे विकास के इस चरण में हमारे जगत्-अनुभवों को लिया जायेगा और उसकी दिव्यता के अंशों के रूपांतर द्वारा, उसकी अपूर्णताओं और छद्मवेशों की सृजनात्मक अस्वीकृति करके वे किसी दिव्य सत्य और प्रचुरतातक पहुंचेंगे। लेकिन ये सामान्य सूत्र हैं और हमें परिवर्तन का ठीक-ठीक भाव नहीं देते। आध्यात्मिक और सांसारिक वस्तुओं के बारे में हमारा सामान्य दर्शन, हमारी कल्पना या हमारा रूपायन मानसिक होता है लेकिन विज्ञानमय परिवर्तन में विकास एक ऐसी रेखा को पार कर जाता है जिसके परे चेतना का एक परम और आमूल परावर्तन हो जाता है, वहां मानसिक ज्ञान के मान-दण्ड और रूप काफी नहीं रहते। मानसिक विचार के लिये अतिमानसिक प्रकृति को समझना या उसका वर्णन करना कठिन है।

मानसिक प्रकृति और मानसिक विचार सांत की चेतना पर आधारित होते हैं। अतिमानसिक प्रकृति अपनी धातु में ही अनंत की चेतना और शक्ति है। अतिमानसिक प्रकृति हर चीज को एकता की दृष्टि से देखती है, सभी चीजों को, यहांतक कि महानतम बहुलता और विभिन्नता को तथा उन चीजों को भी, जो मन के लिये अत्यधिक प्रबल विरोधी हैं, उस एकत्व के प्रकाश में ही देखती है। उसकी इच्छा, भाव, भावनाएं, संवेदन एकता के पदार्थ के बने हैं, उसकी क्रिया इसी आधार से शुरू होती है। इसके विपरीत, मानसिक प्रकृति विभाजन को ही आरंभ-बिंदु मानकर सोचती, देखती, इच्छा करती, अनुभव करती और बोध पाती है। उसमें केवल एक रची हुई ऐक्य समझ होती है, यहांतक कि जब उसे एकता की अनुभूति भी होती है, उसे सीमाओं और भेदों के आधार पर बनी एकता से काम करना होता है। लेकिन अतिमानसिक, दिव्य जीवन तात्त्विक, सहज और अंतर्निष्ठ ऐक्य का जीवन है। मन के लिये पहले से ही यह व्यौरेवार रूप-रेखा

बनाना असंभव है कि अतिमानसिक परिवर्तन को अपनी जीवन-क्रिया के अपने अंशों में और बाह्य व्यवहार में कैसा होना चाहिये या यह निर्धारित करना असंभव है कि वह वैयक्तिक या सामुदायिक जीवन के लिये कैसे रूप गढ़ेगा। क्योंकि, मन बौद्धिक नियम या साधन द्वारा या इच्छा के तर्कसंगत चुनाव, मानसिक आवेश या प्राणावेग के प्रति आज्ञापालन से कार्य करता है, लेकिन अतिमानसिक प्रकृति मानसिक भाव या नियम या किसी निम्न आवेग की अधीनता में काम नहीं करती, उसका एक-एक चरण अंतर्जात आध्यात्मिक दृष्टि, व्यापक और यथार्थ रूप से सभी के सत्य और हर चीज के सत्य में अंतःप्रवेश द्वारा निर्देशित होता है। वह सदा अंतस्थ वास्तविकता के अनुसार कार्य करती है, मानसिक भाव द्वारा नहीं, ऊपर से आरोपित व्यवहार-शास्त्र या निर्माणात्मक विचार या इंद्रियबोध उपाय से भी नहीं। उसकी गति स्थिर, आत्म-प्रतिष्ठ, स्वतः-स्फूर्त और नमनीय होती है। वह स्वाभाविक और अनिवार्य रूप से सत्य के सामंजस्यपूर्ण तादात्म्य से उभरती है जिसका अनुभव सचेतन सत्ता की धातु में, एक आध्यात्मिक पदार्थ में होता है जो वैश्व है और इसलिये जो कुछ सत्ता के ज्ञान में सम्मिलित होता है वह उसके साथ अंतरंग रूप से एक है। अतिमानसिक प्रकृति का मानसिक वर्णन या तो एकदम अमूर्त्त वाक्यों में या मानसिक आकृतियों में हो सकता है जो उसे उसकी वास्तविकता से एकदम भिन्न चीज में बदल दें। इसलिये मन के लिये यह असंभव मालूम होता है कि वह पहले से यह कह सके या इशारा दे सके कि अतिमानसिक सत्ता कैसी होगी या कैसे कार्य करेगी, क्योंकि यहां मानसिक भाव या रूपायन किसी चीज का निश्चय नहीं कर सकते और न किसी यथार्थ परिभाषा या निर्धारणतक ही पहुंच सकते हैं, क्योंकि, वे अतिमानसिक प्रकृति के विधान या आत्मदर्शन के काफी नजदीक नहीं हैं। साथ ही, प्रकृति की इस भिन्नता के तथ्य से ही कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं जो कम-से-कम अधिमानस से अतिमानसतक के संक्रमण के साधारण-से विवरण के रूप में प्रामाणिक हो सकते हैं या हमारे लिये विकसनशील अतिमानसिक सत्ता की पहली स्थिति का एक भाव अस्पष्ट रूप से बना सकते हैं।

यह संक्रमण वह स्थिति है जिसमें अतिमानसिक विज्ञान विकास का नेतृत्व अधिमानस से अपने हाथ में लेकर अपनी विशिष्ट अभिव्यक्ति और अनावृत क्रियाओं के पहले आधार बना सकता है। अतः, अज्ञान में होते हुए विकास से ज्ञान में होनेवाले सदा प्रगतिशील विकास की ओर एक निर्णायक लेकिन लंबी तैयारी के बाद आनेवाला संक्रमण, वहां जरूर मिलेगा। वह निरपेक्ष अतिमानस तथा अतिमानसिक सत्ता, जैसे वे अपने लोक में हैं, उनका अचानक आविर्भाव या कार्यान्वयन न होगा, न ही नित्य अपने-आपमें पूर्ण और संपूर्ण आत्मज्ञानमय ऋत-चिन्मय सत्ता का तेजी से होनेवाला रहस्योद्घाटन ही होगा। वह अतिमानसिक सत्ता का विकसनशील संभूतिवाले जगत् में अवतरण और वहांपर उसका रूपायन होगा,

पार्थिव प्रकृति में विज्ञान की शक्तियों का उन्मीलन होगा। वस्तुतः, समस्त पार्थिव सत्ता का यही तत्त्व है। क्योंकि, पार्थिव जीवन की प्रक्रिया उस अनंत सद्वस्तु की लीला है जो अपने-आपको पहले तो अंधकारमय सीमित , धूमिल और अधूरी अर्द्ध-आकृतियों की परंपरा में छिपाती है, जो आकृतियां जिस सत्य को जन्म देने की कोशिश कर रही हैं उसे अपनी अपूर्णता और अपने छद्मवेश के स्वभाव के कारण विकृत कर देती हैं, लेकिन बाद में अपने उन अर्द्ध-आलोकित रूपोंतक अधिकाधिक पहुंचती हैं जो, अगर अतिमानसिक अवतरण हो चुका हो तो एक सच्चा प्रगतिशील अंतःप्रकाश हो सकती हैं। आद्य अतिमानस से अवतरण, विकसनशील अतिमानस का रूप-ग्रहण; यह एक ऐसा कदम है जिसे अतिमानसिक विज्ञान अपने विशिष्ट स्वभाव को बदले बिना आसानी से ले सकता है और संपादित कर सकता है। वह उस ऋत-चित् जीवन की विधि को अपना सकता है जो अंतस्थ आत्मज्ञान में आधारित हो, लेकिन साथ ही अपने अंदर मानसिक प्रकृति और प्राणिक और भौतिक शरीर की प्रकृति को भी लिये हुए हो। क्योंकि अनंत की ऋत-चेतना के रूप में अतिमानस अपने सक्रिय तत्त्व में स्वतंत्र आत्मनिर्धारण की अनंत शक्ति रखता है। वह अपने अंदर समस्त ज्ञान धारण कर सकता है फिर भी रूपायन में केवल उतना ही बाहर प्रस्तुत करता है जितने की विकास की हर अवस्था में जरूरत है। वह वही रूपायित करता है जो अभिव्यक्ति में दिव्य इच्छा के साथ और अभिव्यक्त की जानेवाली वस्तु के सत्य के साथ अनुकूल हो। इसी शक्ति द्वारा वह अपने ज्ञान को रोके रख सकता है, अपने स्वभाव और कर्म के विधान को छिपा सकता और अधिमानस को अभिव्यक्त कर सकता है और अधिमानस के नीचे अज्ञान के उस जगत् को अभिव्यक्त कर सकता है जिसमें जीव सतह पर जानने की इच्छा नहीं करता, यहांतक कि अपने-आपको व्यापक निर्ज्ञान के आधीन कर देता है। लेकिन इस नयी स्थिति में इस तरह डाला हुआ पर्दा हटा दिया जायेगा। हर कदम पर विकास ऋत-चेतना की शक्ति में बहेगा और उसके क्रमशः निर्धारण सचेतन ज्ञान द्वारा किये जायेंगे, अज्ञान या निश्चेतना के रूपों में नहीं।

जैसे धरती पर मानसिक चेतना और शक्ति स्थापित हो गयी है, जो मानसिक सत्ताओं की जाति को रूप देती है और पार्थिव प्रकृति की उन सब चीजों को अपने अंदर ले लेती है जो परिवर्तन के लिये तैयार हैं, उसी तरह अब पृथ्वी पर एक विज्ञानमय चेतना और शक्ति प्रतिष्ठित होगी जो विज्ञानमय आध्यात्मिक सत्ताओं की जाति को रूप देगी और पार्थिव प्रकृति की उन सब चीजों को अपने अंदर ले लेगी जो इस नये रूपांतर के लिये तैयार हैं। वह ऊपर से, क्रमशः, अपने ही पूर्ण प्रकाश, शक्ति और सुंदरता के क्षेत्र से उस सबको ग्रहण कर लेगी जो उस क्षेत्र से पार्थिव सत्ता में उतरने को तैयार है। क्योंकि, भूतकाल में क्रम-विकास हर क्रांतिक

बिंदु पर, एक प्रच्छन्न शक्ति का निश्चेतना में अपने अंतर्लय से उमड़ने पर आगे बढ़ा है, लेकिन साथ ही ऊपर से उस शक्ति के अपने लोक से अवरोहण द्वारा भी जो अपने स्वाभाविक प्रदेश में आत्मसिद्ध है। इन सभी पहले की अवस्थाओं में सतही पुरुष और चेतना और अंतस्तलीय आत्मा और चेतना के बीच में विभाजन रहा है। सतह का निर्माण मुख्य रूप से नीचे से उमड़नेवाली शक्ति के धक्के से, निश्चेतना द्वारा आध्यात्म पुरुष की प्रच्छन्न शक्ति के एक धीमे उभरते हुए रूपायन के विकास से हुआ। अंतस्तलीय अंशतः इसी तरह, किंतु मुख्य रूप से ऊपर से उसी शक्ति की विशालता के युगपत् अंतःस्राव से बना। मानसिक या प्राणिक सत्ता अंतस्तलीय भागों में उतरी और वहां उसने अपने गुह्य स्थान से मनोमय या प्राणमय व्यक्तित्व का निर्माण सतह पर किया। लेकिन अतिमानसिक परिवर्तन शुरू हो सकने से पहले यह जरूरी है कि सतही और अंतस्तलीय भागों के बीच का पर्दा फट चुका हो। अंतःस्राव, अवरोहण समस्त चेतना में समग्र रूप से होगा, वह अंशतः पर्दे के पीछे न होगा। इसकी प्रक्रिया छिपी हुई, अस्पष्ट और संदिग्ध प्रक्रिया न होगी बल्कि एक मुक्त प्रस्फुटन होगी जिसका अनुभव और अनुसरण समग्र सत्ता अपने रूपांतर में सचेतन रूप से करेगी। अन्य रीतियों में प्रक्रिया एक-सी होगी—ऊपर से अतिमानसिक बाढ़, प्रकृति में विज्ञानमय सत्ता का अवरोहण और नीचे से छिपी हुई अतिमानसिक शक्ति का आविर्भाव। अज्ञान की प्रकृति का जो कुछ बच रहा है उसे यह बाढ़ और उनके बीच का उद्घाटन दूर कर देगा। निश्चेतना का राज्य गायब हो जायेगा; क्योंकि निश्चेतना अपने अंदर की विशालतर प्रच्छन्न चेतना के, प्रच्छन्न प्रकाश के प्रस्फोटन द्वारा उसमें बदल जायेगी जो वह वास्तव में सदा थी—अतिचेतना का प्रच्छन्न सागर। इसके निष्कर्ष होंगे विज्ञानमय चेतना और प्रकृति के प्रथम रूपायन।

इस विकास का एकमात्र परिणाम पृथ्वी पर अतिमानसिक सत्ता, प्रकृति और जीवन के सृजन का परिणाम ही न होगा; वह अपने साथ उन चरणों की परिपूर्त्ति भी लिये रहेगा जिन्होंने उसे वहांतक पहुंचाया है; क्योंकि वह पार्थिव जन्म में अधिमानस, अंतर्भास और आध्यात्मिक प्रकृति-शक्ति की सभी श्रेणियों को लिये रहेगा और विज्ञानमय सत्ताओं की एक जाति और क्रम-परंपरा को स्थापित करेगा जो पार्थिव प्रकृति में विज्ञानमय ज्योति और शक्ति के संघटक रूपायनों और चढ़ती श्रेणियों का चमकता हुआ सोपान होगा। क्योंकि विज्ञान का वर्णन उस समस्त चेतना पर लागू होता है जो सत्ता के सत्य पर आधारित है, अज्ञान या निर्ज्ञान पर नहीं। मानसिक अज्ञान के परे उठने के लिये तैयार समस्त जीवन तथा सभी जीवित सत्ताएं लेकिन जो अभी अतिमानसिक ऊंचाई के लिये तैयार नहीं हैं; उन्हें एक तरह की सीढ़ी या आपस में गुंथी सीढ़ियों का क्रम मिलेगा जिसमें उन्हें परम सद्वस्तु की ओर के मार्ग में अपना निश्चित आधार, अपने आत्म-रूपायन के बीच के चरण

मिलेंगे, आध्यात्मिक जीवन के लिये उपलब्ध क्षमता की अपनी अभिव्यक्ति मिलेगी। लेकिन यह आशा भी की जा सकती है कि मुक्त और अब प्रभुसत्तात्मक अतिमानसिक प्रकाश और शक्ति की उपस्थिति, जो विकसनशील प्रकृति के शीर्षस्थानीय है, उसके परिणाम समस्त विकास पर हों। विकास की निचली भूमिकाओं पर भी एक स्पर्श, एक निर्णायक दबाव का प्रभाव पड़ेगा। प्रकाश की कोई चीज, शक्ति की कोई चीज नीचे की ओर प्रवेश करेगी और प्रकृति में सब जगह छिपी हुई ऋत-शक्ति को महत्तर क्रिया के लिये जाग्रत् करेगी। सामंजस्य का एक प्रमुख तत्त्व अज्ञान के जीवन पर अपने-आपको आरोपित करेगा। विषमता, अंधी खोज, संघर्ष की टक्कर, अतिशयता, अवसाद, अपसामान्य उलट-फेर, अपने मिश्रण और संघर्ष में लगी अंधी शक्तियों का अस्थिर संतुलन—इन्हें उस प्रभाव का अनुभव होगा और ये अपना स्थान एक अधिक व्यवस्थित गति और सत्ता के विकास के अधिक सामंजस्यपूर्ण चरणों को, एक अधिक प्रगतिशील जीवन और चेतना की प्रकट करनेवाली व्यवस्था, एक उत्तम जीवन-व्यवस्था को देंगे। मानव जीवन में अंतर्भास, सहानुभूति और समझ की अधिक मुक्त लीला प्रवेश करेगी, आत्मा और वस्तुओं के सत्य का अधिक स्पष्ट बोध, जीवन के अवसरों और कठिनाइयों के साथ अधिक प्रबुद्ध व्यवहार होगा। चेतना की वृद्धि और निश्चेतना की शक्ति के बीच सतत मिला-जुला और अस्त-व्यस्त संघर्ष, प्रकाश की शक्तियों और अंधकार की शक्तियों के बीच संघर्ष की जगह विकास कम प्रकाश से अधिक प्रकाश की ओर क्रमिक प्रगति बन जायेगा। उसकी हर स्थिति में उस स्थिति की सचेतन सत्ताएं भीतर चित्-शक्ति को उत्तर देंगी और वैश्व प्रकृति के अपने विधान को उस प्रकृति की उच्चतर कोटि की संभावना की ओर विस्तृत करेंगी। कम-से-कम यह एक प्रबल संभावना है और इसे विकास पर अतिमानस की प्रत्यक्ष क्रिया के स्वाभाविक परिणाम के रूप में देखा जा सकता है। यह हस्तक्षेप विकसनशील तत्त्व को रद्द नहीं करेगा क्योंकि अतिमानस में यह शक्ति होती है कि वह अपनी ज्ञान-शक्ति को रोके रखे या आरक्षित रखे और उसे पूर्ण या आंशिक रूप में क्रियान्वित करे। लेकिन वह विकासशील आविर्भाव की कठिन और आक्रांत प्रक्रिया को सामंजस्य, स्थिरता, सुविधा और प्रशांति देगा और बहुत हदतक सुखमय बनायेगा।

अतिमानस की प्रकृति में ही ऐसा कुछ है जो इस महान् परिणाम को अनिवार्य बनायेगा। अपने आधार में वह अद्वैतात्मक, समाकलनकारी और सामंजस्य लानेवाली चेतना है और अपने अवरोहण और अनंत की विविधता को विकास में कार्यान्वित करते हुए वह अपनी अद्वैत प्रवृत्ति, अपनी समाकलनकारी प्रेरणा या सामंजस्यकारी प्रभाव न खोयेगा। अधिमानस विभिन्नताओं और विभिन्न संभावनाओं का अनुसरण उन्हींकी अपनी-अपनी विभिन्न रेखाओं पर करता है; वह विरोधों और

वैषम्यों को अनुमति दे सकता है लेकिन वह उन्हें वैश्व समग्र के तत्त्व बनाता है जिससे वे चाहे जितनी अनिच्छा के साथ क्यों न हों, स्वयं अपने बावजूद क्यों न हों, उसकी समग्रता में अपना भाग देने के लिये बाधित होते हैं। या हम कह सकते हैं कि वह विरोधों को स्वीकार करता बल्कि प्रोत्साहित करता है लेकिन उन्हें एक-दूसरे के अस्तित्व को सहारा देने के लिये बाधित भी करता है ताकि, सत्ता, चेतना और अनुभव के अलग-अलग रास्ते हो सकें जो उस एकमेव से और आपस में एक-दूसरे से अलग ले जाते हों, लेकिन फिर भी अपने-आपको उस एकत्व पर संरक्षित रखते हों और फिर से हर एक को अपने-अपने रास्ते से उस एकत्वतक वापिस ला सकते हों। हमारे अज्ञान-जगत् का गूढ़ रहस्य भी यही है। वह निश्चेतना के आधार से काम करता है लेकिन अधिमानसिक तत्त्व का विश्वत्व उसके मूल में होता है। लेकिन ऐसी सृष्टि में व्यष्टिगत सत्ता को इस गुप्त तत्त्व के ज्ञान पर न अधिकार होता है न वह अपने कर्म उसके आधार पर करती है। यहां अधिमानसिक सत्ता इस रहस्य को देख सकेगी लेकिन फिर भी वह प्रकृति की अपनी रेखाओं पर और अपने स्वभाव, स्वधर्म के अनुसार, अंतःप्रेरणा के अनुसार, क्रियाशील शासन या आत्मा के या अंतस्थ भगवान् के आंतरिक नियंत्रण द्वारा कार्य करे और बाकी सबको समष्टि की अपनी-अपनी रेखा पर छोड़ दे। अतः, अज्ञान में अधिमानस की ज्ञान-सृष्टि अपने चारों ओर के अज्ञान-जगत् से अलग हो सकती है और हो सकता है कि उसके अपने तत्त्व की पृथक् करनेवाली और घेरा डालनेवाली प्रकाशमय दीवार उसकी अज्ञान से रक्षा करे। इसके विपरीत, अतिमानसिक विज्ञानमय सत्ता अपने सारे अस्तित्व को केवल अपने ही भीतरी और बाहरी जीवन या सामुदायिक जीवन में ही सामंजस्यपूर्ण एकत्व के अंतरंग बोध और प्रभावशाली चरितार्थता पर प्रतिष्ठित नहीं करेगी बल्कि अभीतक बचे हुए मानसिक जगत् के साथ भी सामंजस्यपूर्ण एकत्व की रचना करेगी, चाहे वह जगत् पूरी तरह अज्ञानमय ही क्यों न हो। क्योंकि, उसके अंदर की विज्ञानमय चेतना अज्ञान के रूपायन में छिपे हुए सामंजस्य के तत्त्व और विकसनशील सत्य को देख और बाहर ला सकेगी। वह उसके समग्रता के भाव के लिये स्वाभाविक होगा और उसे अपने विज्ञानमय तत्त्व के साथ और अपनी महत्तर जीवन-सृष्टि के विकसित सत्य और सामंजस्य के साथ एक सच्ची व्यवस्था में जोड़ना उसकी सामर्थ्य में होगा। यह जगत् के जीवन में एक बड़े परिवर्तन के बिना असंभव हो सकता है लेकिन इस तरह का परिवर्तन प्रकृति में एक नयी शक्ति के प्रादुर्भाव और उसके वैश्व प्रभाव का स्वाभाविक परिणाम होगा। विज्ञानमय सत्ता के आविर्भाव में पार्थिव प्रकृति में अधिक सामंजस्यपूर्ण विकास-व्यवस्था की आशा होगी।

अतिमानसिक या विज्ञानमय सत्ताओं की जाति एक ही प्ररूप के अनुसार, एक निश्चित नमूने में ढली नहीं होगी क्योंकि अतिमानस का विधान है विभिन्नता में

परिपूरित होता हुआ एकत्व। अतः, विज्ञानमय चेतना की अभिव्यक्ति में अनंत विविधता होगी यद्यपि वह चेतना फिर भी अपने आधार और उपादान में, सब कुछ प्रकट करने और सबको एक करने की व्यवस्था में एक होगी। यह स्पष्ट है कि अतिमानस की त्रिविध स्थिति इस नयी अभिव्यक्ति में अपने-आपको एक तत्त्व के रूप में पुनः प्रस्तुत करेगी। उसके नीचे अधिमानस और अंतर्भास-विज्ञान की कोटियां होंगी जो होंगी उसीकी; वहां के जीव होंगे जिन्होंने ऊपर चढ़ती हुई चेतना की ये कोटियां प्राप्त कर ली हैं। फिर जैसे-जैसे ज्ञान का विकास बढ़ेगा, शिखर पर ऐसे व्यष्टि-जीव भी होंगे जो अतिमानस-रूपायन से आगे चढ़ जायेंगे और अतिमानस के उच्चतम शिखर से शरीर में ही अद्वैत-आत्मोपलब्धि की उन चोटियों पर जा पहुंचेंगे जो अवश्य ही सृष्टि के प्रभु-प्रकाश की अंतिम और परम अवस्था होंगी, लेकिन स्वयं अतिमानसिक जाति में, उसकी कोटियों की विभिन्नता में, व्यक्ति व्यक्तित्व के एक ही प्ररूप में न ढाले जायेंगे। हर एक दूसरे से भिन्न, सत्ता का अनोखा रूपायन होगा यद्यपि आत्मा के आधार और एकत्व के भाव में तथा आत्म-सत्ता के तथ्य में सबके साथ एक रहेगा। हम अतिमानसिक सत्ता के इस व्यापक तत्त्व का ही विचार बनाने का प्रयास कर सकते हैं, फिर वह मानसिक विचार और मानसिक भाषा के कारण कितना भी क्षीण क्यों न हो जाये। विज्ञानमय सत्ता का अधिक जीवंत चित्र केवल अतिमानस ही बना सकेगा, क्योंकि मन के लिये तो केवल कुछ अमूर्त रूप-रेखाएं ही संभव हैं।

विज्ञान आध्यात्म पुरुष का प्रभावी तत्त्व, आध्यात्मिक जीवन की उच्चतम ऊर्जा है, विज्ञानमय व्यक्ति आध्यात्मिक मनुष्य का चरमोत्कर्ष होगा, उसकी रहने, सोचने, जीने और कार्य करने की सारी विधि विशाल वैश्व आध्यात्मिकता की शक्ति से शासित होगी। परमात्मा के सभी त्रित्व उसकी अभिज्ञता के लिये वास्तविक और उसके आंतरिक जीवन में उपलब्ध होंगे। उसकी समस्त सत्ता परात्पर और वैश्व आत्मा और आध्यात्म पुरुष के साथ एक हो जायेगी, उसकी समस्त क्रिया परमात्मा और आध्यात्म पुरुष से आरंभ होगी और उसीकी दिव्य प्रकृति के अनुसार चलेगी। सारे जीवन में उसे यह बोध होगा कि चिन्मय सत् ही, अंतस्थ पुरुष ही प्रकृति में अपनी अभिव्यक्ति पा रहा है; उसका जीवन और जीवन के सारे विचार, भावनाएं और कार्य उसके लिये उसी अर्थ से भर जायेंगे और जीवन की वास्तविकता के उसी आधार पर खड़े होंगे। वह अपनी चेतना के हर केंद्र में, अपनी प्राण-शक्ति के हर स्पंदन में, अपने शरीर के हर कोषाणु में भगवान् की उपस्थिति का अनुभव करेगा। अपनी प्रकृति की शक्ति की सभी क्रियाओं में वह परम विश्व जननी, अति-प्रकृति की क्रियाओं के बारे में अभिज्ञ होगा। वह अपनी प्राकृत सत्ता को विश्व जननी की शक्ति की संभूति और अभिव्यक्ति की तरह देखेगा। वह इस चेतना में समस्त परात्पर मुक्ति, आत्मा के पूर्ण आनंद, वैश्व आत्मा के साथ पूर्ण

तादात्म्य और विश्व में सबके साथ सहज सहानुभूति में जियेगा और कार्य करेगा। उसके लिये सभी सत्ताएं उसकी अपनी आत्माएं होंगी, चेतना के सभी तरीके और शक्तियां उसकी अपनी सार्विकता के तरीके और शक्तियों के रूप होंगे। लेकिन उस समावेशकारी सार्विकता में निचली शक्तियों के साथ कोई बंधन न होगा, उसके अपने उच्चतर सत्य से स्खलन न होगा क्योंकि यह सत्य वस्तुओं के सभी सत्यों को आवेष्टित रखेगा और हर एक को अपने स्थान पर विभिन्नतापूर्ण सामंजस्य के संबंध में रखेगा। वह किसी अस्त-व्यस्तता, संघर्ष, सीमाओं के उल्लंघन को या समग्र सामंजस्य का निर्माण करनेवाले विभिन्न सामंजस्यों में विकृति को न आने देगा। उसके लिये उसका अपना जीवन और जगत्-जीवन एक संपूर्ण कलाकृति की न्याईं होगा। वह मानों एक वैश्व, सहज प्रतिभा की रचना होगा जो बहुत्वपरक व्यवस्था का अचूक क्रियान्वयन होगा। विज्ञानमय व्यक्ति जगत् में और जगत् का होगा लेकिन साथ ही अपनी चेतना में उसका अतिक्रमण करेगा और उसके ऊपर अपनी परात्परता की आत्मा में निवास करेगा; वह वैश्व होगा पर विश्व में मुक्त होगा, व्यक्ति होगा पर पृथक् करनेवाले व्यक्तित्व से सीमित नहीं। सच्चा पुरुष कोई अलग-थलग सत्ता नहीं है, उसका व्यक्तित्व वैश्व है क्योंकि वह विश्व को व्यक्तित्व देता है: साथ ही वह परात्पर अनंतता की आध्यात्मिक हवा में दिव्य रूप से आविर्भूत होता है, बादलों से ऊंचे ऊपर जाते हुए शिखर की तरह, क्योंकि वह दिव्य परात्परता को व्यष्टिरूप देता है।

जो तीन शक्तियां अपने-आपको हमारे जीवन के आगे उसके रहस्य की तीन चाबियों के रूप में प्रस्तुत करती हैं वे हैं व्यष्टि, वैश्व सत्ता और वह सद्वस्तु जो इन दोनों में और इनके परे विद्यमान है। जीवन के ये तीन रहस्य अतिमानसिक जीव के जीवन में अपने सामंजस्य की सम्मिलित परिपूर्ति पायेंगे। वह पूर्णताप्राप्त संपूर्ण व्यक्ति होगा जो अपने विकास और आत्माभिव्यक्ति की तुष्टि में परिपूर्ण होगा क्योंकि उसके सभी तत्त्व उच्चतम कोटितक ले जाये जायेंगे और किसी तरह की व्यापक विशालता में समाकलित होंगे। हम जिसकी ओर प्रयास कर रहे हैं वह है पूर्णता और सामंजस्य। हम भीतर-ही-भीतर जिससे सबसे अधिक कष्ट पाते हैं वह है अपूर्णता और अक्षमता या अपनी प्रकृति की असंगति। लेकिन यह है हमारी सत्ता की अपूर्णता, हमारे अपूर्ण आत्म-ज्ञान, अपनी आत्मा और अपनी प्रकृति पर हमारे अपूर्ण अधिकार के कारण। सभी वस्तुओं में और सब समय पूर्ण आत्म-ज्ञान अतिमानसिक विज्ञान का उपहार है और उसके साथ है पूर्ण आत्म-संयम, केवल प्रकृति पर नियंत्रण के अर्थ में नहीं बल्कि प्रकृति में पूर्ण आत्माभिव्यक्ति की शक्ति के अर्थ में। आत्मा का जो कुछ ज्ञान होगा वह आत्मा की इच्छा में पूरी तरह से मूर्त होगा और वह इच्छा पूरी तरह आत्मा की क्रिया में मूर्त होगी और परिणाम होगा आत्मा का अपनी प्रकृति में पूर्ण क्रियाशील आत्म-रूपायन। विज्ञानमय पुरुष

के निचले स्तरों पर प्रकृति के प्रकार के अनुसार आत्माभिव्यक्ति का सीमांकन होगा, एक सीमित पूर्णता होगी जो किसी पार्श्व, तत्त्व या किसी दिव्य समग्रता के तत्त्वों के संयुक्त सामंजस्य का रूपायन करेगी। अनंत रूपों में अभिव्यक्त एकमेव, दिव्य समग्रता के वैश्व रूप में से शक्तियों का सीमित संकलन होगा। लेकिन अतिमानसिक सत्ता में पूर्णता के लिये सीमांकन की यह आवश्यकता गायब हो जायेगी। विविधता सीमांकन के द्वारा नहीं प्राप्त की जायेगी बल्कि परा प्रकृति की शक्ति और रंग की भिन्नता द्वारा आयेगी। सत्ता का वही समग्र और प्रकृति का वही समग्र अपने-आपको अनंतविध भिन्न प्रकारों से प्रकट करेंगे क्योंकि हर सत्ता एकमेव सत्ता की एक नयी समग्रता, सामंजस्य और आत्म-समीकरण होगी। कौन-सी चीज किस क्षण सामने रखी जाये या पीछे रोक रखी जाये यह क्षमता या अक्षमता पर नहीं, बल्कि आत्मा के अपने सक्रिय चुनाव पर, उसके आत्माभिव्यक्ति के आनंद पर, भागवत इच्छा के सत्य पर और व्यष्टि के अपने अंदर आनंद पर निर्भर होगा और गौण रूप से उस चीज के सत्य पर जिसे समग्र के सामंजस्य के लिये व्यक्ति के द्वारा करना हो। क्योंकि पूर्ण व्यष्टि वैश्व व्यष्टि है, क्योंकि जब हम विश्व को अपने अंदर ले लें और उसका अतिक्रमण कर जाएं तभी हमारा व्यक्तित्व पूर्ण हो सकता है।

अतिमानसिक सत्ता अपनी वैश्व चेतना में सर्व को अपने समान देखने और अनुभव करने के कारण उसी भाव से कार्य करेगी, वह अपनी व्यष्टिगत आत्मा के समग्र आत्मा के साथ, अपनी व्यष्टिगत इच्छा के समग्र इच्छा के साथ, अपनी व्यष्टिगत क्रिया के समग्र क्रिया के साथ सामंजस्य में और वैश्व अभिज्ञता में कर्म करेगी। क्योंकि हम अपने बाह्य जीवन में जिस कारण सबसे अधिक कष्ट पाते हैं और जिसकी प्रतिक्रियाएं हमारे आंतरिक जीवन पर होती हैं वह है जगत् के साथ हमारे संबंधों की अपूर्णता, औरों के बारे में हमारा अज्ञान, समस्त वस्तुओं के साथ हमारा असामंजस्य और हमारा जगत् से अपनी मांगों का, हमसे जगत् की मांगों का समीकरण न कर पाना। एक ऐसा संघर्ष है जिसका अपने-आपसे और जगत् से बच निकलने के सिवा कोई और अंतिम परिणाम नहीं दिखायी देता—ऐसा संघर्ष जिसमें एक ओर हमारा आत्म-प्रतिष्ठापन और दूसरी ओर वह जगत् है जिसपर हमें यह प्रतिष्ठापन आरोपित करना है, वह जगत् जो हमें अपने लिये अत्यधिक विशाल लगता है और लक्ष्य की ओर अपनी गति के बहाव में हमारी अंतरात्मा, मन, प्राण और शरीर के ऊपर से उदासीन भाव से निकलता हुआ प्रतीत होता है। हमारे पथ और लक्ष्य का जगत् के पथ और लक्ष्य के साथ संबंध हमारे लिये अप्रकट है और अपने-आपको उसके साथ सामंजस्य में बिठाने के लिये हमें या तो अपने-आपको उसपर आरोपित करना होगा और उसे अपना आज्ञाकारी बनाना होगा या अपने-आपको दबा कर उसके आज्ञाकारी बन जाना होगा या फिर, व्यक्ति की

अपनी नियति और वैश्व समग्र तथा उसके गूढ़ उद्देश्य के बीच संबंध की इन दोनों आवश्यकताओं के मध्य एक कठिन संतुलन संपादित करना होता है। लेकिन विश्व-चेतना में रहनेवाली अतिमानसिक सत्ता के लिये कठिनाई का अस्तित्व न होगा, चूंकि उसमें अहंकार नहीं होता। उसका वैश्व व्यक्तित्व वैश्व शक्तियों, उनकी गतिविधि और उनके अर्थ को अपने ही भाग के रूप में देखेगा और उसके अंदर ऋत-चेतना हर कदम पर उचित संबंध को देखेगी और उस संबंध की ठीक क्रियाशील अभिव्यक्ति को पा लेगी।

क्योंकि, वास्तव में व्यष्टि और विश्व दोनों एक ही परात्पर सत् की युगपत् और आपस में संबद्ध अभिव्यक्तियां हैं। यद्यपि अज्ञान में और उसके विधान के अधीन कुसमंजन और संघर्ष रहता है फिर भी एक सच्चा संबंध और समीकरण होना चाहिये जिसमें सब कुछ आ पहुंचता है। लेकिन हम अपने अहंकार के अंधेपन में, सबमें आध्यात्म पुरुष को प्रतिष्ठित करने की जगह अहंकार का समर्थन करने के प्रयत्न में उसे खो बैठते हैं। अतिमानसिक चेतना में संबंधों का वह सत्य उसके स्वाभाविक स्वत्व और विशेषाधिकार के रूप में उसके अंदर रहता है क्योंकि अतिमानस ही वैश्व संबंधों और विश्व के साथ व्यष्टि के संबंधों का निर्धारण करता है, परात्पर की शक्ति के रूप में वह उनका निर्धारण प्रभुता से और आजादी के साथ करता है। मानसिक सत्ता में अहं को अभिभूत करनेवाली विश्व-चेतना का दबाव और विश्वातीत सद्वस्तु की अभिज्ञता, ये दोनों ही अपने-आपमें कोई क्रियाशील समाधान नहीं ला सकते क्योंकि उसकी मुक्त आध्यात्मिक मानसता और वैश्व अज्ञान के अंधकारमय जीवन में एक असंगति हो सकती है जिसके समाधान या अतिक्रमण की सामर्थ्य मन में नहीं होगी। लेकिन अतिमानसिक सत्ता में, जो न केवल स्थैतिक रूप से सचेतन होगी बल्कि पूरी तरह क्रियाशील होगी और परात्पर की सृजनात्मक ज्योति और शक्ति, अतिमानसिक प्रकाश, '*ऋतम् ज्योतिः*' में कार्य करेगी, वह शक्ति होगी। क्योंकि वहां विश्वात्मा के साथ एकत्व तो होगा लेकिन विश्व-प्रकृति के अज्ञान के निचले रूपायनों की दासता न होगी; इसके विपरीत, उस अज्ञान पर सत्य के प्रकाश में कार्य करनेवाली शक्ति होगी। आत्माभिव्यक्ति की एक विशाल सार्वभौमता, जगत् सत्ता की विशाल सामंजस्यपूर्ण सार्वभौमता, ये विज्ञानमय प्रकृति में स्थित अतिमानसिक पुरुष का लक्षण होंगी।

अतिमानसिक सत्ता का अस्तित्व एकमेव सत्ता के आनंद के लिये एकमेव सत्ता और एकमेव चेतना की बहुविध और बहुल रूपों में अभिव्यक्त होती हुई ऋत-शक्ति की लीला होगा। विज्ञानमय जीवन का अर्थ होगा परम आत्मा के अपनी सत्ता के सत्य में अभिव्यक्त होने का आनंद। उसकी सारी गतिविधियां परम आत्मा के सत्य का और साथ ही परम आत्मा के आनंद का रूपायन होंगी—वह आध्यात्मिक सत्ता का प्रतिष्ठापन, आध्यात्मिक चेतना का प्रतिष्ठापन और सत्ता के

आध्यात्मिक आनंद का प्रतिष्ठापन होगा। लेकिन यह प्रतिष्ठापन अहं-केंद्रित या पृथक्कारी या औरों के आत्म-प्रतिष्ठापन या उनकी जीवन से की गयी मांग के प्रति विरोधी या उदासीन या अपर्याप्त रूप से जीवंत रहनेवाला न होगा जैसा कि अंतर्निहित एकत्व के बावजूद हमारे अंदर का आत्म-प्रतिष्ठापन रहने के लिये प्रवृत्त होता है। आत्मा में सबके साथ एक होता हुआ अतिमानसिक पुरुष अपने अंदर आध्यात्म पुरुष की आत्माभिव्यक्ति के आनंद को खोजेगा लेकिन साथ ही सबके अंदर भगवान् के आनंद को भी खोजेगा। उसे वैश्व आनंद प्राप्त होगा और साथ ही औरों के लिये परम आत्मा के आनंद को, सत्ता के आनंद को लाने की शक्ति भी उसमें होगी क्योंकि उनका आनंद उसके अपने सत्ता के आनंद का भाग होगा। सभी सत्ताओं के भले के लिये लगा रहना, औरों के सुख-दुःख को अपना बना लेना—इन्हें मुक्त और पूर्णताप्राप्त आध्यात्मिक पुरुष का चिह्न कहा गया है। अतिमानसिक सत्ता को इसके लिये इस परोपकारमय आत्म-विलोपन की जरूरत न होगी क्योंकि यह कार्य उसकी आत्म-परिपूर्ति के लिये, सभीके अंदर उस "एक" की परिपूर्ति के लिये अंतरंग होगा, उसके अपने भले और औरों के भले के बीच कोई विरोध या संघर्ष न होगा। उसे अज्ञान के प्राणियों के सुख-दुःख के आधीन होकर वैश्व सहानुभूति प्राप्त करने की भी कोई जरूरत न होगी। उसकी वैश्व सहानुभूति उसमें उत्पन्न सत्ता के सत्य का एक भाग होगी जो निम्नतर सुख-दुःख में व्यक्तिगत रूप से भाग लेने पर आश्रित न होगी। वह जिसका आलिंगन करेगा उसका अतिक्रमण कर जायेगा और उस अतिक्रमण में ही उसकी शक्ति होगी। उसका वैश्व भाव का अनुभव, उसका वैश्व भाव का कर्म हमेशा सहज स्थिति और स्वाभाविक गतिविधि होंगे, सत्य की स्वतःचालित अभिव्यक्ति होंगे, परम आत्मा की स्वयंभू सत्ता के आह्लाद का कार्य होंगे। उसमें सीमित आत्मा या कामना के लिये, सीमित आत्मा के संतोष अथवा कुंठा के लिये या कामना के संतोष या कुंठा के लिये कोई स्थान न होगा, हमारी सीमित प्रकृति में आनेवाले और उसे दुःख देनेवाले सापेक्ष और पराश्रित सुख या दुःख के लिये स्थान न होगा क्योंकि ये चीजें अहं और अज्ञान की हैं, आध्यात्म पुरुष की स्वतंत्रता और सत्य की नहीं।

विज्ञानमय पुरुष में कर्म की इच्छा तो होती है, साथ ही यह ज्ञान भी होता है कि किस चीज की इच्छा करनी चाहिये और अपने ज्ञान को कार्यान्वित करने का बल भी होता है। अज्ञान उसे जो नहीं करना चाहिये उसे करने के लिये प्रवृत्त नहीं कर सकता। और फिर उसका कर्म किसी फल या परिणाम की खोज नहीं होता, उसका आनंद है होने और करने में, आध्यात्म सत्ता की शुद्ध स्थिति में, आध्यात्म सत्ता की शुद्ध क्रिया में, आध्यात्म सत्ता के शुद्ध आनंद में। जिस तरह उसकी स्थैतिक चेतना सब अपने अंदर समाये रखेगी और फलस्वरूप सदा आत्म-परिपूर्त होगी उसी तरह उसकी चेतना की क्रियाशीलता भी पग-पग पर, हर कर्म में

आध्यात्मिक स्वतंत्रता और आत्म-परिपूर्ति पायेगी। सबको समग्र के साथ उसके संबंध में देखा जायेगा ताकि हर कदम अपने-आपमें प्रकाशमय, उल्लासमय और संतोषजनक हो, क्योंकि हर एक प्रकाशमय समग्रता के साथ सुसंगत है। यह चेतना, आध्यात्मिक समग्रता में यह जीना और वहां से कार्य करना, सत्ता के सार-तत्त्व में संतुष्ट समग्रता, सत्ता की क्रियाशील गतिविधि में संतुष्ट समग्रता, हर कदम के साथ उस समग्रता के साथ संबंध का भाव, वस्तुतः अतिमानसिक चेतना का विशेष निशान है और उसे अज्ञान में हमारी चेतना के असंबद्ध अज्ञानमय क्रमिक चरणों से अलग करता है। विज्ञानमय सत्ता और सत्ता का आनंद वैश्व और समग्र सत्ता और आनंद है और हर अलग गति में उसकी समग्रता और उसके वैश्व भाव की उपस्थिति होगी, हर एक में आत्मा की आंशिक अनुभूति या उसके आनंद का लवलेश न होकर समग्र सत्ताओं की संपूर्ण गति का भाव होगा और उसकी सत्ता के संपूर्ण और समस्त आनंद की उपस्थिति होगी। क्रिया में आत्मानुभूत विज्ञानमय सत्ता का ज्ञान कोई काल्पनिक ज्ञान न होकर अतिमानस का सत्य-संकल्प होगा, चेतना की सारभूत ज्योति का यंत्र-विन्यास समस्त सत् और संभूति का स्व-प्रकाश होगा जो अपने-आपको हमेशा उंडेलता रहेगा और हर क्रिया-विशेष तथा क्रियाशीलता में अपनी आत्म-सत्ता के शुद्ध और समग्र आनंद को भरता रहेगा क्योंकि हर एकात्म के साथ ज्ञानवाली अनंत चेतना के लिये हर विशिष्टीकरण में अभिन्नता का आनंद और अनुभव होता है और हर सांत में अनंत की अनुभूति होती है।

विज्ञानमय चेतना का विकास अपने साथ हमारी जगत्-चेतना और जगत्-क्रिया का रूपांतर लाता है क्योंकि वह अभिज्ञता की नयी शक्ति में केवल आंतरिक जीवन को ही नहीं बल्कि हमारी बाहरी सत्ता और हमारी जगत्-सत्ता को भी ले लेता है; दोनों का पुनर्निर्माण होता है, आध्यात्मिक जीवन की शक्ति और भाव में उनका समाकलन होता है। इस परिवर्तन में हमारे अंदर एक ही साथ हमारी वर्तमान जीवन-विधि का उल्टाव और त्याग और साथ ही उसकी आंतरिक प्रवृत्ति और धारा की परिपूर्ति अवश्य आनी चाहिये; क्योंकि अब हम दो स्थितियों के बीच खड़े हैं; एक, जड़ भौतिक और प्राण का बाहरी जगत् जिसने हमें बनाया है और दूसरा, स्वयं हमारे द्वारा विकसनशील आत्मा के भाव में जगत् का पुनर्निर्माण। हमारी वर्तमान जीवन-पद्धति एक साथ प्राण-शक्ति और जड़-पदार्थ के आधीन और प्राण और जड़ के साथ संघर्ष में है। अपने पहले आविर्भाव में बाहरी जीवन अपने प्रति हमारी प्रतिक्रियाओं से एक भीतरी या मानसिक जीवन की रचना करता है। अगर हम अपने-आपको आकार देते भी हैं तो अधिकतर लोगों में वह अंदर से स्वतंत्र अंतरात्मा या प्रज्ञा के सचेतन दबाव द्वारा कम और हमपर क्रिया करनेवाले पर्यावरण और जगत्-प्रकृति की प्रतिक्रिया के रूप में अधिक होता है। लेकिन हम

अपनी सचेतन सत्ता के विकास में जिसकी ओर गति करते हैं वह एक भीतरी जीवन है जो अपने ज्ञान और शक्ति द्वारा अपने जीवन के बाहरी रूप और जीवन के आत्माभिव्यक्ति करनेवाले पर्यावरण का निर्माण करता है। विज्ञानमय प्रकृति में यह गति अपना चरम उत्कर्ष पा लेगी, वहां जीवन का स्वरूप वह सिद्ध आंतरिक जीवन होगा जिसकी ज्योति और शक्ति बाहरी जीवन में पूर्ण शरीर धारण कर लेगी। विज्ञानमय पुरुष प्राण और जड़तत्त्व के जगत् को अपने हाथ में ले लेगा लेकिन वह उसे अपने सत्य और जीवन के प्रयोजन की ओर मोड़कर उसके अनुकूल कर लेगा। वह स्वयं जीवन को अपनी आध्यात्मिक प्रतिमा के रूप में गढ़ लेगा और वह ऐसा कर सकेगा क्योंकि उसके पास आध्यात्मिक सृजन का रहस्य है और वह अपने भीतर के स्रष्टा के साथ सायुज्य और एकत्व में है। इसका पहला प्रभाव उसके अपने आंतरिक और बाह्य वैयक्तिक जीवन को आकार देने में दिखायी देगा लेकिन हर विज्ञानमय सामूहिक जीवन में वही शक्ति और तत्त्व क्रियाशील होंगे। विज्ञान-पुरुष के साथ विज्ञान-पुरुष के संबंध उनकी एकमेव विज्ञानात्मा और पराप्रकृति की अभिव्यक्ति होंगे। वह पराप्रकृति सारे सामूहिक जीवन को इस तरह गढ़ेगी कि वह उसकी सार्थक शक्ति और सार्थक रूप हो जाये।

समस्त आध्यात्मिक जीवन में आंतरिक जीवन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण चीज है। आध्यात्मिक मनुष्य हमेशा भीतर निवास करता है और अज्ञान के ऐसे जगत् में, जो बदलने से इंकार करता है, उससे उसे एक अर्थ में अलग रहना पड़ता और अज्ञान की अंधेरी शक्तियों की घुस-पैठ और उनके प्रभाव से अपने आंतरिक जीवन की रक्षा करनी पड़ती है। जगत् में रहते हुए भी वह उसके बाहर होता है। अगर वह उसपर क्रिया करता है तो अपनी भीतरी आध्यात्मिक सत्ता के दुर्ग से जहां अंतरतम गर्भगृह में वह परम सत्ता के साथ एक है या आत्मा और परमात्मा अकेले साथ-साथ होते हैं। विज्ञानमय जीवन एक आंतरिक जीवन होगा जिसमें भीतरी और बाहरी की असंगति, आत्मा और जगत् की असंगति का उपचार और अतिक्रमण हो जायेगा। वस्तुतः विज्ञानमय पुरुष का एक अंतरतम अस्तित्व होगा जिसमें वह भगवान् के साथ अकेला होगा—शाश्वत के साथ एक, अनंत की गहराइयों में अपने-आप डूबा हुआ, उसकी ऊंचाइयों और उसके ज्योतिर्मय गुह्य गह्वरों के साथ अंतर्युक्त। कोई भी चीज इन गहराइयों में विक्षोभ न ला सकेगी, न उनपर आक्रमण कर सकेगी, उसे इन शिखरों से नीचे न उतार सकेगी न जगत् में जो कुछ है, न उसके कर्म, न जो कुछ उसके चारों ओर है। यह आध्यात्मिक जीवन का परात्पर रूप है और आत्मा की स्वाधीनता के लिये यह आवश्यक है, क्योंकि नहीं तो, प्रकृति में जगत् के साथ तादात्म्य एक बांधनेवाला परिसीमन होगा, मुक्त तादात्म्य नहीं। लेकिन, साथ ही उस आंतरिक सायुज्य और ऐक्य की हार्दिक

अभिव्यक्ति होंगे भागवत प्रेम और भागवत आनंद; और वह प्रेम और आनंद समस्त जीवन का आलिंगन करने के लिये अपने-आपको विस्तृत करेंगे। भीतर भगवान् की शांति विश्व की विज्ञानमय अनुभूति में, समता की वैश्व अचंचलता में विस्तृत होगी, वह भी केवल निष्क्रिय नहीं बल्कि सक्रिय होगी; वह एकत्व में मुक्ति की अचंचलता में विस्तृत होगी, उसे जो कुछ मिले उसपर छा जायेगी, जो कुछ उसमें प्रवेश करे वह उसे शांत करेगी, अतिमानसिक सत्ता जिस जगत् में निवास करती है उसके साथ के उस सत्ता के संबंधों पर शांति के विधान को आरोपित करेगी। उसके सभी कार्यों में आंतरिक ऐक्य, आंतरिक सायुज्य उसके साथ रहेंगे और उसके अन्यों के साथ संबंधों में प्रवेश करेंगे। वे उसके लिये अन्य नहीं होंगे बल्कि एक ही अस्तित्व में उसकी अपनी आत्माएं, उसका अपना वैश्व जीवन होंगे। परमात्मा के अंदर यह संतुलन और स्वाधीनता उसे समस्त जीवन को अपने अंदर लेने योग्य बनायेंगे और वह अज्ञान में प्रवेश किये बिना, अपने-आप आध्यात्म पुरुष रहते हुए इस अज्ञानमय जगत् को भी अपने आलिंगन में ले सकेगा।

क्योंकि, उसका विश्व-जीवन का अनुभव अपने प्राकृतिक रूप के कारण और वैयक्तीकृत केंद्रण के कारण एक ऐसे का अनुभव होगा जो विश्व में जी रहा है लेकिन साथ-ही-साथ, एकत्व में आत्म-विस्तार और प्रसार के कारण एक ऐसे का अनुभव होगा जो विश्व और उसकी सभी सत्ताओं को अपने अंदर लिये रहता है। सत्ता की यह विस्तृत अवस्था केवल आत्मा के एकत्व में विस्तार या धारणात्मक भाव और दृष्टि में विस्तार नहीं होगी बल्कि हृदय में, इंद्रिय-संवेदनों में, स्थूल शारीरिक चेतना में एकत्व का विस्तार होगी। उसकी चेतना, उसका संवेदन, उसकी अनुभूति वैश्व होगी और फलस्वरूप सारा बाहरी जीवन उसके आत्मपरक जीवन का अंग हो जायेगा जिसके द्वारा वह सभी रूपों में भगवान् को पा लेगा, उनका प्रत्यक्ष-बोध और अनुभव पायेगा, उनका दर्शन और श्रवण करेगा, सभी रूपों और गतिविधियों में उसे यही अनुभव और बोध होगा, वह उन्हें इसी रूप में देखेगा, सुनेगा और अनुभव करेगा मानों ये उसकी अपनी बृहत् सत्ता के अंदर हो रहे हों। जगत् केवल उसके बाहरी नहीं, भीतरी जीवन के साथ भी संबद्ध होगा। वह जगत् के साथ केवल बाहरी रूप में बाहरी संपर्क द्वारा नहीं मिलेगा, वह भीतर से वस्तुओं के और सत्ताओं के आंतरिक जीवन के साथ संपर्क में होगा। वह सचेतन रूप से उनकी भीतरी और बाहरी प्रतिक्रियाओं से मिलेगा, वह उनके भीतर उससे अभिज्ञ होगा जिससे वे स्वयं अभिज्ञ न होंगे, सब पर भीतरी ज्ञान से क्रिया करेगा, सबके साथ पूर्ण सहानुभूति और एकत्व-भाव से मिलेगा, साथ ही एक ऐसी स्वाधीनता के भाव से जिसपर कोई संपर्क अधिकार नहीं कर सकता। जगत् पर उसकी क्रिया अधिकतर एक ऐसी आंतरिक क्रिया होगी जो आत्मा की शक्ति द्वारा, अपने-आपको जगत् में रूपायित कर रही आध्यात्मिक-अतिमानसिक भाव-शक्ति द्वारा,

गुह्य अनुच्चारित शब्द द्वारा, हृदय की शक्ति द्वारा, क्रियाशील प्राण-शक्ति द्वारा, जो आत्मा सब चीजों के साथ एक है उसको आवेष्टित करने और भेदन करनेवाली शक्ति द्वारा होगी। बाहरी, प्रकट और दृश्य क्रिया इस एक, बृहत्तर और समग्र क्रियाशीलता का केवल एक किनारा, एक अंतिम प्रक्षेप होगी।

साथ ही, व्यक्ति का आंतरिक वैश्व जीवन केवल भौतिक जगत् में अंतर्व्याप्त और केवल उसी जगत् को अपनी परिधि में लेनेवाले संपर्कतक सीमित न होगा; वह सत्ता के अन्य स्तरों के साथ अंतस्तलीय आंतरिक सत्ता के स्वाभाविक संबंध के पूर्णतया चरितार्थ होने के द्वारा उसके परे पहुंच जायेगा। उनकी शक्तियों और प्रभावों का ज्ञान आंतरिक अनुभूति का सामान्य तत्त्व बन गया होगा, और इस जगत् की घटनाएं केवल अपने बाह्य रूप में ही नहीं बल्कि, साथ ही उस समस्त के प्रकाश में देखी जायेंगी जो भौतिक और पार्थिव सृष्टि और गतिविधि के पीछे छिपा है। विज्ञानमय पुरुष को अपने भौतिक जगत् पर 'अध्यात्म सत्ता' की सिद्ध शक्ति का केवल ऋत-चिन्मय नियंत्रण ही प्राप्त नहीं होगा बल्कि उसे मानसिक लोकों और प्राणिक लोकों की पूरी शक्ति पर और भौतिक जीवन की पूर्णता के लिये उनकी अधिक बड़ी शक्तियों पर भी अधिकार होगा। समस्त सत्ता का यह महत्तर ज्ञान और उसपर यह अधिकार विज्ञानमय पुरुष की अपने परिवेश और भौतिक प्रकृति के जगत् पर क्रिया करने की शक्ति को बहुत बढ़ा देगा।

स्वयंभू सत् में, अतिमानस जिसका क्रियाशील ऋत-चित् है, "होने" के सिवा सत्ता का कोई और लक्ष्य नहीं हो सकता, सत्ता के बारे में सचेतन होने के सिवा चेतना का कोई और लक्ष्य नहीं हो सकता, सत्ता के आनंद के सिवा उसके आनंद का कोई और लक्ष्य नहीं हो सकता। सब कुछ स्वयंभू और स्वयं-संपूर्ण शाश्वतता है। अभिव्यक्ति का, संभूति का अपनी मूल अतिमानसिक गतिविधि में यही स्वभाव होता है। वह स्वयंभू और स्वयं-पूर्ण छंद में सत्ता की ऐसी क्रियाशीलता को धारण किये रहती है जो अपने-आपको बहुविध संभूति के रूप में देखती है, चेतना की ऐसी क्रियाशीलता को धारण किये रहती है जो बहुविध आत्मज्ञान का रूप लेती है, सचेतन सत्ता की शक्ति की ऐसी क्रियाशीलता को धारण किये रहती है जो अपनी बहुविध सत्ता की शक्ति की महिमा और सौंदर्य के लिये अस्तित्व में रहती है, आनंद की ऐसी क्रियाशीलता को धारण किये रहती है जो आनंद के अनंत रूप धारण करती है। यहां जड़ में अतिमानसिक सत्ता के अस्तित्व और चेतना का मूलभूत रूप से वही स्वभाव होगा लेकिन कुछ गौण लक्षण भी होंगे जो अपने स्वधाम में रहते अतिमानस तथा पार्थिव सत्ता में अपनी अभिव्यक्त शक्ति में कार्य करते अतिमानस के बीच में फर्क दिखायेंगे। क्योंकि यहां एक विकसनशील सत्ता, विकसनशील चेतना होगी, सत्ता का विकसनशील आनंद होगा। विज्ञानमय पुरुष अज्ञान की चेतना से सच्चिदानंद-चेतना की ओर विकास के चिह्न के रूप में प्रकट

होगा। अज्ञान में हम प्रथमतः बढ़ने के लिये, जानने के लिये और करने के लिये या ज्यादा ठीक कहें तो किसी चीज में विकसित होने के लिये, ज्ञान द्वारा किसी चीजतक पहुंचने के लिये, किसी चीज को निष्पन्न करने के लिये होते हैं। अपूर्ण होने के कारण हमें अपनी सत्ता से संतोष नहीं होता, हमें जबरदस्ती कठिनाई और परिश्रम के साथ किसी ऐसी चीज में विकसित होने के लिये प्रयत्न करना पड़ता है जो हम नहीं हैं। अज्ञ और अपने अज्ञान की चेतना के भार से दबे होने के कारण हमें किसी ऐसी चीजतक पहुंचना होता है जिसके द्वारा हम यह अनुभव कर सकें कि हम जानते हैं। अक्षमता से बंधे होने के कारण हमें बल और शक्ति की खोज करनी होती है, दुःख की चेतना से पीड़ित होने के कारण हमें किसी ऐसी चीज को निष्पन्न करने का प्रयास करना होता है जिससे हम किसी सुख को पकड़ सकें या जीवन की संतोषप्रद वास्तविकता को हस्तगत कर सकें। निश्चय ही, अस्तित्व को बनाये रखना ही हमारी पहली व्यस्तता और आवश्यकता है, लेकिन यह केवल आरंभबिंदु है क्योंकि एक अपूर्ण जीवन को बनाये रखना, जिसमें दुःख के उतार-चढ़ाव हों, हमारी सत्ता का पर्याप्त लक्ष्य नहीं हो सकता। अस्तित्व की सहजवृत्तिगत इच्छा, अस्तित्व का सुख ही बस वह चीज है जिसे अज्ञान गुप्त अंतर्निहित शक्ति और आनंद में से निकाल पाता है—इसे पूरा करना होता है कुछ करने और बनने की आवश्यकता से। लेकिन हमें स्पष्ट पता नहीं है कि क्या करें और क्या बनें। हम जो कुछ ज्ञान पा सकते हैं पाते हैं, जो शक्ति, बल, शुद्धि, शांति पा सकते हैं, आनंद पा सकते हैं पाते हैं और जो हो सकते हैं होते हैं। लेकिन हमारे लक्ष्य और उनकी प्राप्ति के लिये, हमारे प्रयत्न और उपलब्धि के रूप में हम जो थोड़ा-सा रख पाते हैं, वे सब हमें बांधनेवाले पाश में बदल जाते हैं, वे ही हमारे लिये जीवन के लक्ष्य बन जाते हैं। अपनी आत्माओं को जानना और अपने-आप होना, जिसे हमारी सत्ता की सच्ची विधि का आधार होना चाहिये, एक ऐसा रहस्य है जो हमसे बाहरी ज्ञानार्जन, ज्ञान के बाहरी निर्माण, बाहरी क्रिया की प्राप्ति, बाहरी आनंद और सुख में व्यस्त रहने के कारण बच निकलता है। आध्यात्मिक मनुष्य वह है जिसने अपनी अंतरात्मा को खोज लिया है, उसने अपनी आत्मा को पा लिया है और उसमें निवास करता है, उसके बारे में सचेतन है, उसे उसका आनंद प्राप्त है। उसे अपने जीवन की संपूर्णता के लिये किसी बाहरी चीज की जरूरत नहीं रहती। विज्ञानमय पुरुष इस नये आधार से आरंभ करके हमारी अज्ञानमय संभूति को अपने हाथ में लेकर उसे ज्ञान की ज्योतिर्मय संभूति और सत्ता की सिद्ध शक्ति में बदल देता है। अतः, अपने अज्ञान में हम जो कुछ होने का प्रयास करते हैं उसे वह ज्ञान में पूरा कर देगा। वह समस्त ज्ञान को सत्ता के आत्मज्ञान की अभिव्यक्ति में बदल देगा, समस्त शक्ति और क्रिया को सत्ता की आत्मशक्ति के बल और कर्म में, समस्त आनंद को आत्म-सत्ता के वैश्व आनंद में बदल देगा। आसक्ति और बंधन

गिर जायेंगे क्योंकि पग-पग पर, हर चीज में आत्म-सत्ता को पूर्ण संतोष होगा, चेतना की ज्योति अपने-आपको परिपूर्ण कर रही होगी, सत्ता के आनंद का उल्लास अपने-आपको पा रहा होगा। ज्ञान में क्रम-विकास की प्रत्येक स्थिति सत्ता की इस इच्छा और इस शक्ति और होने के इस आनंद का उन्मीलन होगी, अनंत के बोध द्वारा, परात्पर सत्ता की ज्योतिर्मय स्वीकृति द्वारा समर्थित एक मुक्त संभूति होगी।

अतिमानसिक रूपांतर, अतिमानसिक विकास को अपने साथ मन, प्राण और शरीर को उनके स्व में से उठाकर सत्ता की महत्तर रीति में लाना चाहिये जिसमें फिर भी उनकी अपनी रीतियों और शक्तियों को दबाया या लुप्त नहीं किया जायेगा बल्कि अपने अतिक्रमण द्वारा उन्हें पूर्ण किया जायेगा और उनकी परिपूर्ति होगी। क्योंकि, अज्ञान में सभी मार्ग उस आध्यात्म पुरुष के मार्ग हैं जो अपने-आपको अंधेपन में या बढ़ती हुई ज्योति में ढूंढ़ रहा है। विज्ञानमय सत्ता और जीवन होंगे आध्यात्म पुरुष के आत्माविष्कार और इन सब मार्गों के लक्ष्यों को देखना और उनतक पहुंचना और साथ ही उसका सत्ता के अपने ही प्रकट तथा सचेतन सत्य की महत्तर रीति से यह करना। मन प्रकाश की, ज्ञान की खोज करता है, सबके आधार एकमेव सत्य के ज्ञान की, आत्मा और वस्तुओं के सारभूत सत्य के ज्ञान की लेकिन साथ ही वह उस एकत्व की विभिन्नता के पूरे सत्य की, उसके सभी ब्यौरों, परिस्थितियों, बहुविध क्रियारीतियों, रूप, गतिविधि और घटना के विधान, विभिन्न अभिव्यक्ति और सृजन की भी खोज करता है। क्योंकि चिंतनशील मन के लिये सत्ता का आनंद है ज्ञान के साथ आनेवाले सृजन के रहस्य का अन्वेषण और भेदन। विज्ञानमय परिवर्तन इसे पर्याप्त मात्रा में परिपूरित करेगा लेकिन यह उसे एक नया स्वरूप देगा। वह अज्ञात की खोज द्वारा नहीं बल्कि ज्ञात को बाहर लाकर क्रिया करेगा। सब कुछ "आत्मा की आत्मा द्वारा आत्मा में" खोज होगी क्योंकि विज्ञान-पुरुष की आत्मा मानसिक अहंकार न होकर परमात्मा होगी जो सबके अंदर एक है; वह जगत् को परमात्मा के विश्व के रूप में देखेगी। सभी चीजों के नीचे रहनेवाले एक सत्य की खोज 'अभिन्न' के द्वारा सब जगह अभिन्नता और अभिन्न सत्य की खोज और उसी अभिन्नता की शक्ति और क्रियाओं और संबंधों की खोज होगी। व्यौरे का, परिस्थिति का, अभिव्यक्ति के बहुत से तरीकों और रूपों का प्रकटन उसी अभिन्नता के सत्यों के अपार वैभव का, उसकी आत्मा के रूपों और शक्तियों का, उसके एकत्व को अंतहीन रूप से प्रकट करती उसके रूपों की विलक्षण विविधता और बहुलता का अनावरण होगा। यह ज्ञान सबके साथ तादात्म्य द्वारा, सबमें प्रवेश करके, ऐसे संपर्क द्वारा अग्रसर होगा जो अपने साथ आत्मानुसंधान की छलांग और पहचान की ज्वाला लायेगा, मन जहांतक पहुंच सकता है उससे बड़े और अधिक निश्चित सत्य के अंतर्भास को लायेगा। देखे हुए सत्य को मूर्तरूप देने और उपयोग में लाने के साधन का भी एक अंतर्भास होगा,

उसकी क्रियाशील प्रक्रियाओं का संचालक अंतर्भास होगा। एक प्रत्यक्ष और अंतरंग अभिज्ञता आयेगी जो जब प्राण और जड़ में इस प्रक्रिया को कार्यान्वित करने के लिये प्राण और शारीरिक इंद्रियों को उपकरण के रूप में लाने की जरूरत होगी तो उनको उनकी क्रिया और परमात्मा की सेवा के हर चरण पर मार्ग दिखायेगी।

ज्ञान की और ज्ञान की क्रिया की प्रत्येक विज्ञानमय गति का लक्षण होगा बौद्धिक खोज के स्थान पर अतिमानसिक तादात्म्य और उस तादात्म्य में अंतर्वस्तुओं के विज्ञानमय अंतर्भास की प्रतिष्ठा, अध्यात्म की सर्वव्यापकता जिसमें उसका प्रकाश ज्ञान की समस्त प्रक्रिया और उसके पूरे उपयोग में प्रवेश करे ताकि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय में, संचालन करनेवाली चेतना, यंत्र-विन्यास और की हुई वस्तु में समाकलन हो, जब कि एकमेव आत्मा समस्त समाकलित गतिविधि पर नजर रखती है और अपने-आपको घनिष्ठ रूप से उसमें परिपूरित करती है, उसे आत्म-सिद्धि की दोषरहित इकाई बनाती है। मन अवलोकन और तर्क करता हुआ अपने-आपको अलग करके वस्तुनिष्ठ रूप से देखता है और सच्चाई के साथ यह जानने की कोशिश करता है कि उसे क्या जानना चाहिये। वह उसे अनात्म, स्वतंत्र अन्य वास्तविकता के रूप में जानने की कोशिश करता है और व्यक्तिगत विचारणा की प्रक्रिया या आत्मा की उपस्थिति से प्रभावित नहीं होता। विज्ञानमय चेतना अपने विषय को एकदम अंतरंग और यथार्थ रूप में उसके साथ बोधगम्य और भेदक तादात्म्य द्वारा जान लेगी। उसे जो जानना है उसे वह पार कर जायेगी, लेकिन उसे अपने अंदर सम्मिलित करके; वह विषय को अपने अंग के रूप में उसी तरह जानेगी जैसे अपनी सत्ता के किसी भाग या गति को जान सकती है। और वह यह अपने-आपको तादात्म्य द्वारा संकुचित किये बिना या अपने विचार को उसमें इस तरह फंसाये बिना करेगी जिससे वह ज्ञान में बंध या सीमित न हो जाये। प्रत्यक्ष आंतरिक ज्ञान की अंतरंगता, यथार्थता और संपूर्णता होगी लेकिन व्यक्तिगत मन द्वारा वह भ्रांत निर्देशन नहीं जिसके कारण हम हमेशा भूल करते हैं; क्योंकि वह चेतना अहंकार में बंधी, अवरुद्ध व्यक्तिगत चेतना न होकर वैश्व व्यक्ति की चेतना होगी। वह समस्त ज्ञान की ओर बढ़ेगी, यह देखने के लिये कि कौन टिकता और बचता है, सत्य को सत्य के विरुद्ध खड़ा न करेगी बल्कि एकमेव सत्य के प्रकाश में, जिसके सभी पार्श्व हैं, सत्य को सत्य से पूर्ण बनायेगी। समस्त भाव, दृष्टि और प्रत्यक्षण में भीतरी दृष्टि का यह लक्षण होगा एक अंतरंग विस्तृत आत्म-प्रत्यक्षण, विशाल आत्म-समाकलन करनेवाला ज्ञान, अविभाज्य संपूर्ण जो सत्यमय सत्ता के स्वयं-कार्यकारी सामंजस्य में प्रकाश में प्रकाश की क्रिया द्वारा संपादित होगा। वहां उन्मीलन होगा अंधकार में से प्रकाश के छुटकारे के रूप में नहीं बल्कि स्वयं प्रकाश में से प्रकाश के निःसरण के रूप में; क्योंकि, अगर कोई अतिमानसिक

चेतना अपनी आत्म-अभिज्ञता की अंतर्वस्तुओं के किसी भाग को अपने अंदर पीछे की ओर खींचे रखे तो वह यह अज्ञान के चरण या उसकी क्रिया के रूप में नहीं करती बल्कि कालातीत ज्ञान को जान-बूझकर कालाभिव्यक्ति की प्रक्रिया में लाने के लिये। एक आत्म-प्रकाश, प्रकाश में से प्रकाश का आविर्भाव, यही इस विकासात्मक अतिमानसिक प्रकृति की ज्ञान-रीति होगी।

जैसे मन प्रकाश को खोजता है, ज्ञान को और ज्ञान द्वारा प्रभुत्व को खोजता है वैसे ही प्राण अपनी शक्ति के विकास और शक्ति द्वारा प्रभुत्व को खोजता है। उसे तलाश होती है वृद्धि, शक्ति, विजय, अधिकार, संतोष, सृजन, उल्लास, प्रेम, सौंदर्य की। उसकी सत्ता का आनंद है सतत आत्माभिव्यक्ति में, विकास में, क्रिया की विभिन्न बहुरूपता, सृजन, उपभोग में, अपनी और अपनी शक्ति की प्रचुर और प्रबल तीव्रता में। विज्ञानमय विकास उसे उसकी उच्चतम और पूर्णतम अभिव्यक्तितक ऊंचा उठायेगा, लेकिन वह मानसिक या प्राणिक अहं की शक्ति, तुष्टि या भोग के लिये कार्य न करेगा और न ही उसके अपने-आपपर संकीर्ण प्रभुत्व के लिये, और उसके औरों या और चीजों के लिये उत्सुक, महत्त्वाकांक्षापूर्ण पकड़ के लिये, या उसकी महत्तर आत्म-प्रतिष्ठापना या बढ़े-चढ़े मूर्त रूप के लिये; क्योंकि इस तरह से कोई आध्यात्मिक परिपूर्ति या पूर्णता नहीं आ सकती। विज्ञानमय जीवन अपने अंदर और जगत् में, सब में भगवान् के लिये जियेगा और कार्य करेगा। विज्ञानमय पुरुष के लिये जीवन का अर्थ होगा भागवत उपस्थिति, ज्योति, शक्ति, प्रेम, आनंद और सौंदर्य का व्यष्टि-सत्ता और जगत् पर बढ़ता हुआ अधिकार। उस बढ़ती हुई अभिव्यक्ति की अधिकाधिक पूर्ण तुष्टि में व्यक्ति की तुष्टि होगी, उसकी शक्ति उस महत्तर प्राण और प्रकृति को अंदर लाने और विस्तृत करने के लिये अति-प्रकृति की शक्ति का यंत्र-विन्यास होगी, जो कोई विजय या साहसिक कार्य वहां होगा वह बस उसीके लिये होगा, किसी व्यष्टिगत या सामुदायिक अहं के राज्य के लिये नहीं। उसके लिये प्रेम आत्मा का आत्मा के साथ, अध्यात्म सत्ता का अध्यात्म सत्ता के साथ संपर्क, मिलन और ऐक्य होगा, सत्ता का एकीकरण होगा, अंतरात्मा के साथ अंतरात्मा की, उस 'एक' के साथ 'एक' की अंतरंगता और समीपता, आनंद और शक्ति होगा, तादात्म्य का और नानाविध तादात्म्य के परिणाम का आनंद होगा। उस 'एक' की अंतरंग आत्म-प्रकटनकारी विविधता का यह आनंद, उस एक का बहुविध ऐक्य और उस तादात्म्य में सुखद पारस्परिक क्रिया, ये ही उसके लिये जीवन का पूरा प्रकट अर्थ होंगे। सौंदर्यपरक या क्रियाशील सृजन, मानसिक सृजन, प्राणिक सृजन, जड़-भौतिक सृजन का उसके लिये वही अर्थ होगा। यह शाश्वत शक्ति, प्रकाश, सौंदर्य, सद्वस्तु के सार्थक रूपों का सृजन होगा—उसके रूपों और शरीरों के सौंदर्य और सत्य का, उसके गुणों और शक्तियों के सौंदर्य और सत्य का, उसकी आत्मा के सौंदर्य और सत्य का, उसकी अपनी सत्ता और सार की अरूप सुंदरता का सृजन होगा।

चेतना का यह संपूर्ण परिवर्तन और परावर्तन मन, प्राण और जड़ के साथ आध्यात्म सत्ता से एक नया संबंध स्थापित करेगा और उस संबंध में एक नया अर्थ और पूर्णता आने के परिणामस्वरूप आत्मा और उस शरीर के बीच, जिसमें वह निवास करता है, संबंधों में भी परावर्तन, पूर्णता लानेवाला नया अर्थ आयेगा। हमारी वर्तमान जीवन-विधि में अंतरात्मा मन और प्राण द्वारा जितनी अच्छी तरह हो सके उतनी अच्छी तरह या जितनी बुरी तरह करना पड़े उतनी बुरी तरह अपने-आपको प्रकट करती है या बहुधा मन और प्राण को अपने समर्थन से काम करने देती है, शरीर इस क्रिया का यंत्र है। लेकिन शरीर आज्ञापालन में भी, मन और प्राण की आत्माभिव्यक्ति को स्वयं भौतिक यंत्र-विन्यास की सीमित संभावनाओं और अर्जित स्वभाव द्वारा सीमित और निर्धारित करता है; और इसके अतिरिक्त उसकी अपनी क्रिया का अपना ही विधान होता है, उसकी अपनी सत्ता की अवचेतन या अर्द्ध-आविर्भूत सचेतन शक्ति की गति और इच्छा या शक्ति या गति की प्रेरणा होती है जिन्हें मन और प्राण केवल अंशतः, और उस अंश में भी प्रत्यक्ष की अपेक्षा अप्रत्यक्ष रूप में अधिक और प्रत्यक्ष भी हो तो इच्छित और सचेतन क्रिया की जगह अधिक अवचेतन क्रिया द्वारा, प्रभावित या परिवर्तित कर सकते हैं। लेकिन सत्ता और जीवन की विज्ञानमय विधि में आध्यात्म पुरुष की इच्छा ही शरीर की गतिविधियों और उसके विधान का सीधा नियंत्रण और निर्धारण करेगी। क्योंकि शरीर का विधान अवचेतन या निश्चेतन से ऊपर उठता है; लेकिन विज्ञानमय पुरुष में अवचेतन सचेतन हो चुका होगा और अतिमानसिक नियंत्रण के अधीन, उसके प्रकाश और क्रिया से अनुप्राणित होगा। अपनी अंधता और अस्पष्टता, अपनी बाधा या मंद प्रतिक्रियाओं के साथ निश्चेतना का आधार अतिमानसिक आविर्भाव के कारण निम्नतर या सहारा देनेवाले अति-चैतन्य में रूपांतरित हो जायेगा। संसिद्ध उच्चतर मानसिक सत्ता में और अंतर्भासात्मक और अधिमानसिक सत्ता में शरीर भाव और इच्छा-शक्ति के प्रभाव को उत्तर देने के लिये काफी हदतक सचेतन हो चुका होगा जिससे शारीरिक अंगों पर मन की क्रिया, जो हमारे अंदर प्रारंभिक अस्तव्यस्त और प्रायः अनैच्छिक रूप में होती है, एक महत्त्वपूर्ण बल प्राप्त कर चुकी होगी : लेकिन अतिमानसिक पुरुष में हर चीज का शासन वह चेतना करेगी जिसके अंदर सत्य-भाव निवास करता है। यह सत्य-भाव एक स्वयंप्रभावी सत्य-दर्शन है क्योंकि यह परमात्मा का प्रत्यक्ष रूप से क्रियारत भाव और इच्छा-शक्ति है जो सत्ता के पदार्थ की ऐसी गति को आरंभ करती है जो अपने-आपको सत्ता की स्थिति और क्रिया में अनिवार्य रूप से चरितार्थ करेगी। अपनी उच्चतम कोटि में स्थित ऋत-चित् की यह क्रियाशील, अप्रतिरोध्य आध्यात्मिक वास्तविकता है जो यहां विकसित विज्ञान-पुरुष में सचेतन और सचेतन रूप से समर्थ हुई होगी। वह वर्तमान की तरह प्रतीयमान निश्चेतना में ढंकी हुई और यांत्रिक विधान से सीमित

रहकर नहीं, बल्कि आत्म-प्रभावी कार्य में प्रभुसत्तात्मक सद्वस्तु की तरह काम करेगी। यही है जो संपूर्ण ज्ञान और शक्ति के साथ जीवन पर शासन करेगी और शरीर की वृत्ति और क्रिया को अपने शासन में सम्मिलित कर लेगी। आध्यात्मिक चेतना की शक्ति से शरीर आत्मा के सच्चे और उपयुक्त और पूरी तरह अनुकूल उपकरण में बदल जायेगा।

अध्यात्म और शरीर का यह नया संबंध भौतिक प्रकृति के त्याग की जगह सारी-की-सारी प्रकृति की मुक्त रूप से स्वीकृति को अंगीकार करता और संभव बनाता है। प्रकृति से पीछे हटना, समस्त तादात्म्य या स्वीकृति से इंकार करना—जो आध्यात्मिक चेतना की मुक्ति के लिये पहली सामान्य आवश्यकता है—अब अनिवार्य नहीं रहता। शरीर के साथ तदात्म न रहना, अपने-आपको शारीरिक चेतना से अलग कर लेना—ये आध्यात्मिक मुक्ति या आध्यात्मिक पूर्णता और प्रकृति पर प्रभुत्व का जाना-माना और आवश्यक कदम है। लेकिन, एक बार यह उद्धार प्राप्त हो जाये तो आध्यात्मिक प्रकाश और शक्ति का अवतरण आक्रमण कर, शरीर को भी ले सकता है और जड़-भौतिक प्रकृति का एक नया, मुक्त और प्रभुत्वपूर्ण स्वीकरण भी हो सकता है। वस्तुतः, यह तभी संभव है जब आत्मा और जड़-पदार्थ के बीच संबंध का परिवर्तन हो, वर्तमान क्रिया-प्रतिक्रिया का, जो भौतिक प्रकृति को आत्मा को छिपाने और अपना आधिपत्य जमाने देती है, उसपर नियंत्रण और क्रिया-प्रतिक्रिया के वर्तमान संतुलन का उल्टाव हो। विशालतर ज्ञान के प्रकाश में जड़ को भी ब्रह्म के रूप में देखा जा सकता है, ब्रह्म द्वारा निर्मित वह उसीकी आत्म-शक्ति है, वह ब्रह्म का ही रूप, उसीका पदार्थ है। जड़ द्रव्य में अंतस्थ गूढ़ चेतना को जाननेवाली, इस विशालतर ज्ञान में सुरक्षित रहती विज्ञानमय ज्योति और शक्ति इस रूप में देखे गये जड़ के साथ अपने-आपको एक कर सकती है और उसे आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के उपकरण के तौर पर स्वीकार कर सकती है। जड़ के लिये एक आदर-भाव और उसके साथ सारे व्यवहार में एक सांस्कारिक भाव भी संभव है। जैसे गीता में भोजन की क्रिया को भौतिक संस्कार, यज्ञ, ब्रह्म द्वारा, ब्रह्म को, ब्रह्म का अर्पण कहा गया है उसी भांति विज्ञानमय चेतना और बोध जड़ के साथ परमात्मा की सब क्रियाओं को देख सकते हैं। परमात्मा ने अपने-आपको जड़-पदार्थ बना लिया है ताकि अपने-आपको वहांपर सृष्ट सत्ताओं के योगक्षेम और आनंद के लिये, वैश्व भौतिक उपयोगिता और सेवा में आत्मार्पण के लिये उपकरण के रूप में रख सके। विज्ञानमय पुरुष भौतिक या प्राणिक आसक्ति या कामना के बिना जड़ का उपयोग करते हुए यह अनुभव करेगा कि वह इस रूप में परमात्मा का उनकी सहमति और स्वीकृति के साथ, उन्हींके उद्देश्य के लिये उपयोग कर रहा है, उसमें भौतिक चीजों के लिये एक तरह का आदर होगा, उनमें स्थित गुह्य चेतना की, उसकी उपयोगिता और सेवा की मूक इच्छाशक्ति की अभिज्ञता

होगी; वह जिसका उपयोग कर रहा है उसमें भगवान् की, ब्रह्म की पूजा होगी, अपनी दिव्य सामग्री के पूर्ण और निर्दोष उपयोग के लिये, जड़ के जीवन में, जड़-पदार्थ के उपयोग में सच्ची लय और सुव्यवस्थित सामंजस्य, सौंदर्य के लिये सावधानता होगी।

अध्यात्म तत्त्व और शरीर में इस नये संबंध के परिणामस्वरूप विज्ञानमय विकास भौतिक सत्ता का आध्यात्मीकरण, पूर्णता और परिपूर्त्ति संपन्न करेगा। वह शरीर के लिये भी उसी तरह करेगा जैसे मन और प्राण के लिये। अंधकार, दुर्बलताओं और सीमाओं के अतिरिक्त, जिन्हें यह परिवर्तन जीतेगा, शारीरिक चेतना एक धीरज धरनेवाली सेविका है और संभावनाओं के अपने आरक्षित भंडार में व्यष्टिगत जीवन का एक समर्थ यंत्र हो सकती है और वह अपने लिये कोई मांग नहीं करती, वह जिसके लिये लालायित है वह है कालावधि, स्वास्थ्य, बल, भौतिक पूर्णता, शारीरिक सुख, कष्ट-मुक्ति, आराम। ये मांगें अपने-आपमें अस्वीकार्य, तुच्छ या अवैध नहीं हैं क्योंकि ये जड़ की भाषा में रूप और पदार्थ की पूर्णता, शक्ति और आनंद अनूदित करती हैं जिन्हें अध्यात्म का स्वाभाविक बहाव, उसकी व्यंजनात्मक अभिव्यक्ति होना चाहिये। जब विज्ञानमय शक्ति शरीर में कार्य कर सके तो ये चीजें स्थापित की जा सकती हैं क्योंकि उनकी विरोधी चीजें भौतिक मन पर, स्नायविक और जड़-भौतिक जीवन पर, शारीरिक संस्थान पर बाहरी शक्तियों के दबाव से आती हैं, ऐसे अज्ञान से आती हैं जो इन शक्तियों से मिलना नहीं जानता या उनके साथ उचित रूप में या शक्ति के साथ नहीं मिल सकता या वे किसी ऐसे अंधकार से आती हैं जो भौतिक चेतना के पदार्थ में व्याप्त होने और भौतिक चेतना के प्रत्युत्तरों को विकृत करने के कारण उन शक्तियों के प्रति गलत तरीके से प्रतिक्रिया करता है। इस अज्ञान का स्थान लेती हुई अतिमानसिक स्वचालित, अपने-आपको कार्यान्वित करनेवाली अभिज्ञता और ज्ञान शरीर के अंदर अंधकारग्रस्त और बिगड़ी हुई अंतर्भासात्मक सहज वृत्तियों को मुक्त और पुनः स्थापित करेंगे और महत्तर सचेतन क्रिया से आलोकित और संपूर्ण करेंगे। यह परिवर्तन शरीर द्वारा विषयों के ठीक-ठीक प्रत्यक्ष बोध का, पदार्थों और ऊर्जाओं के साथ उचित संबंध और उचित क्रिया का, मन, स्नायु और दैहिक संगठन के एक ठीक छंद का आरंभ करेगा और उन्हें बनाये रखेगा। वह शरीर के अंदर एक उच्चतर आध्यात्मिक शक्ति को और वैश्व प्राण-शक्ति के साथ संयुक्त और उससे आहरण कर सकनेवाली एक महत्तर प्राण-शक्ति लायेगा। वह जड़-प्रकृति के साथ एक दीप्तिवान् सामंजस्य स्थापित करेगा और शाश्वत विश्राम का विशाल और प्रशांत स्पर्श ला सकेगा जो उसे उसका दिव्यतर बल और सुख दे सकता है। और सबसे बढ़कर—क्योंकि यह ऐसा परिवर्तन है जिसकी सबसे अधिक आवश्यकता है और जो है आधारभूत—वह सारी सत्ता को चित्-शक्ति की परम ऊर्जा से भर देगा जो

शरीर को घेरनेवाली और उसपर दबाव डालनेवाली जीवन की सभी शक्तियों का सामना करेगी, उन्हें आत्मसात् करेगी या अपने साथ सामंजस्य में ले आयेगी।

मानसिक, प्राणिक और भौतिक सत्ता में अभिव्यक्त चित्-शक्ति की अपूर्णता और दुर्बलता, उसपर डाले गये वैश्व ऊर्जा के संपर्कों को अपनी इच्छा के अनुसार ग्रहण करने या अस्वीकार करने की अक्षमता, या यदि ग्रहण किया हो तो आत्मसात् करने या सामंजस्य पैदा करने की अक्षमता ही दुःख-दर्द का कारण है। जड़-भौतिक क्षेत्र में प्रकृति पूरी असंवेदनशीलता से शुरू करती है और यह देखने लायक बात है कि प्राण के शुरू में, पशु में, आदिम या कम विकसित मनुष्य में या तो अपेक्षाकृत असंवेदनशीलता या कम संवेदनशीलता या प्रायः ही दुःख-दर्द के प्रति अधिक सहनशक्ति और दृढ़ता मिलती है। जैसे-जैसे मानव सत्ता विकास में बढ़ती है, वह संवेदनशीलता में भी बढ़ती है और मन, प्राण तथा शरीर में अधिक तीक्ष्णता के साथ कष्ट पाती है। क्योंकि चेतना में वृद्धि के साथ-ही-साथ शक्ति में वृद्धि का पर्याप्त सहारा नहीं मिलता। शरीर ज्यादा सूक्ष्म हो जाता है, उसकी सामर्थ्य अधिक परिमार्जित हो जाती है लेकिन उसकी बाहरी ऊर्जा में उसकी निपुणता भी कम ठोस हो जाती है। मनुष्य को अपनी स्नायविक सत्ता को सक्रिय, संशोधित और नियंत्रित करने के लिये अपनी इच्छा-शक्ति को, अपने मानसिक बल को बुलाना पड़ता है, वह अपने यंत्रों से जिन कठिन कामों की मांग करता है उनके हेतु अपनी स्नायविक सत्ता को विवश करना होता है, उसे दुःख और विपदा के आगे इस्पात बनाना होता है। आध्यात्मिक आरोहण में यंत्रों पर चेतना की यह शक्ति और उसकी इच्छा-शक्ति, बाहरी मानसिकता और स्नायविक सत्ता और शरीर पर आत्मा और आंतरिक मन का नियंत्रण बहुत बढ़ जाता है। सभी आघातों और संपर्कों के प्रति आत्मा की प्रशांत और विशाल समता का प्रवेश होता है और यही अभ्यासगत स्थिति बन जाती है और यह मन से प्राणिक भागों में जा सकती है और वहां भी बल और शांति की विपुल और स्थायी विशालता की स्थापना कर सकती है, यहांतक कि यह अवस्था शरीर में रूप धारण कर सकती है और भीतर से दुःख-दर्द के और सब प्रकार के कष्टों के आघात सह सकती है। यहांतक कि इच्छित भौतिक असंवेदनशीलता का सामर्थ्य भी हस्तक्षेप कर सकता है या फिर सभी आघातों और चोटों से मानसिक अलगाव की शक्ति प्राप्त की जा सकती है जो यह दिखलाती है कि सामान्य प्रतिक्रियाएं और जड़-प्रकृति के सामान्य प्रत्युत्तर-अभ्यासों के प्रति शारीरिक सत्ता का दुर्बल समर्पण अनिवार्य या अपरिवर्तनशील नहीं है। और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है वह शक्ति जो दर्द के स्पंदनों को आनंद के स्पंदनों में बदलने के लिये आध्यात्मिक मन या अधिमानस के स्तर पर आती है। अगर यह किसी विशेष-बिंदु तक ही जाये तो भी वह प्रतिक्रिया करनेवाली चेतना के सामान्य नियम के पूरी तरह बदले जाने की संभावना की ओर संकेत करती है।

उसका आत्मरक्षा की ऐसी शक्ति के साथ भी संबंध हो सकता है जो उन आघातों को दूसरी ओर मोड़ दे देती है जिन्हें रूपांतरित करना या सहना ज्यादा कठिन होता है। अमुक स्थिति में विज्ञानमय विकास को इस परावर्तन को और आत्मरक्षा की इस शक्ति को उसके पूर्ण रूप में सिद्ध करना होगा जो कि शरीर की अपनी सत्ता के लिये उन्मुक्ति, प्रशान्ति और दुःख-मोचन की मांग पूरी करेगी और उसे उसके अंदर अस्तित्व के समग्र आनंद की शक्ति की रचना करनी होगी। शरीर में एक आध्यात्मिक आनंद प्रवाहित हो सकता है और उसके सभी कोषाणुओं और ऊतकों में बाढ़ ला सकता है। इस उच्चतर आनंद का ज्योतिर्मय जड़ रूप ही अपने-आपमें, भौतिक प्रकृति की त्रुटिपूर्ण या प्रतिकूल संवेदनशीलताओं का संपूर्ण रूपांतर ला सकेगा।

सत्ता के उच्चतम और संपूर्ण आनंद की अभीप्सा, मांग गुप्त रूप से हमारी सत्ता के ताने-बाने में रहती है लेकिन वह हमारी प्रकृति के अंगों के अलगाव और उनकी असमान प्रवृत्तियों में छिप जाती है और केवल ऊपरी सुख से अधिक किसी चीज की कल्पना करने या उसे पाने में उनकी असमर्थता के कारण ढक जाती है। शारीरिक चेतना में यह मांग शारीरिक सुख की आवश्यकता का रूप ले लेती है, हमारे प्राणिक भागों में प्राणिक सुख की लालसा, अनेक प्रकार के हर्ष और आह्लाद और सब तरह के तुष्टि-विस्मय के प्रति तीक्ष्ण स्पंदनशील प्रतिक्रिया का रूप लेती है; मन में वह मानसिक हर्ष के सब प्रकार के रूपों के लिये उद्यत ग्रहणशीलता का रूप धारण करती है। उच्चतर स्तर पर वह शांति और दिव्य उल्लास के लिये आध्यात्मिक मन की पुकार में प्रकट होती है। यह प्रवृत्ति सत्ता के सत्य में आधारित है क्योंकि आनंद ब्रह्म का सार-तत्त्व है, वह सर्वव्यापक सद्वस्तु की परम प्रकृति है। स्वयं अतिमानस भी अभिव्यक्ति के अवरोहणकारी सोपान में आनंद से उभरता है और विकासात्मक आरोहण में आनंद के अंदर जा मिलता है। वस्तुतः वह समाप्त हो जाने या विलीन होने के अर्थ में एक नहीं होता, बल्कि उसमें अंतर्निष्ठ होता है, उसे अभिज्ञता की सत्ता और सत्ता के आनंद की अपने-आपको कार्यान्वित करनेवाली शक्ति से अलग नहीं किया जा सकता। विकसनशील पुनरागमन की तरह निवर्तनशील अवरोहण में भी अतिमानस को सत् के मौलिक आनंद का सहारा रहता है और वह उसे अपनी सभी क्रियाओं में अवलम्ब देनेवाले तत्त्व की तरह लिये रहता है। क्योंकि, हम कह सकते हैं कि आत्मा में चेतना उसकी मातृशक्ति है लेकिन आनंद वह आध्यात्मिक गर्भाशय है जिसमें से वह अभिव्यक्त होता है और वह पालनकर्ता स्रोत है जिसमें वह जीव को आत्मा की स्थिति की ओर पुनर्गमन में वापिस ले जाता है। ब्रह्मानन्द की अभिव्यक्ति अतिमानसिक अभिव्यक्ति के आरोहण में उसके आत्म-परिणाम का अगला क्रम और शिखर होगा। विज्ञानमय पुरुष के विकास के बाद आनंदमय पुरुष का विकास

आयेगा और विज्ञानमय सत्ता के शरीर-धारण का परिणाम होगा आनंदमय सत्ता का देह-धारण। विज्ञानमय सत्ता में, विज्ञान के जीवन में, आनंद की कोई शक्ति सदा अतिमानसिक आत्मानुभव की एक अविच्छेद्य और व्यापक सार्थकता के रूप में रहेगी। अज्ञान में से जीव की मुक्ति में पहली नींव है शांति, अचंचलता, शाश्वत और अनंत की नीरवता और प्रशान्ति लेकिन आध्यात्मिक आरोहण का उत्कृष्ट बल और उसका श्रेष्ठतर रूपायन मुक्ति की इस शांति को शाश्वत आनंद की पूर्णानुभूति और पूर्ण उपलब्धि के आनंद में, शाश्वत और अनंत के आनंद में ऊपर उठा देता है। यह आनंद विज्ञानमय चेतना में सार्वभौम आनंद के रूप में निहित होगा और विज्ञानमय प्रकृति के विकास के साथ बढ़ता जायेगा।

यह कहा गया है कि उल्लास एक निचला और अस्थायी मार्ग है और परम की शांति ही परम उपलब्धि और उत्कृष्ट, स्थायी अनुभव है। यह आध्यात्मिक मन के स्तर पर सच हो सकता है, वहां अनुभव होनेवाला पहला उल्लास निश्चय ही आध्यात्मिक हर्षातिरेक होता है लेकिन वह आत्मा द्वारा अपनाये गये प्राणिक अंगों के परम सुख के साथ मिला-जुला हो सकता है और बहुधा होता है; एक हर्षोद्रिक, हर्षोन्माद और उत्तेजना आती है, हृदय के हर्ष और अंतर के शुद्ध आंतरात्मिक संवेदन की उच्चतम तीव्रता आती है। यह सब अद्भुत मार्ग या ऊपर उठानेवाली शक्ति तो हो सकता है पर यह चरम स्थायी आधार नहीं है। लेकिन आध्यात्मिक आनंद के उच्चतम आरोहण में यह उग्र हर्षोन्माद और उत्तेजना नहीं होती। उसकी जगह एक ऐसे शाश्वत आनंद में भाग लेने की असीम तीव्रता होती है जो शाश्वत सत् पर और इस नाते शाश्वत शांति की आनंदप्रद प्रशांति पर आधारित है। शांति और आनन्दातिरेक अलग-अलग न रहकर एक हो जाते हैं। अतिमानस सभी भेदों और विरोधों को समन्वित और एक करके इस ऐक्य को बाहर लाता है। उसकी आत्मोपलब्धि के पहले चरणों में है विस्तृत अचंचलता और सर्वसत्ता का गहरा आनंद। लेकिन यह अचंचलता और यह आनंद एक स्थिति के रूप में, एक साथ, बढ़ती हुई तीव्रता में उठते हैं और शाश्वत आह्लाद में समाप्त होते हैं; उस आनंद में जो वह 'अनंत' है। विज्ञानमय चेतना में, किसी भी स्थिति में, किसी-न-किसी मात्रा में यह आधारभूत और आध्यात्मिक सचेतन सत्ता का आनंद सदा सत्ता की समस्त गहराई में रहेगा, साथ ही प्रकृति की सभी गतिविधियां भी उससे ओत-प्रोत होंगी और प्राण और शरीर की सभी क्रियाएं और प्रतिक्रियाएं भी। आनंद के विधान से कोई भी बचकर नहीं निकल पायेगा। विज्ञानमय परिवर्तन से पहले ही सत्ता के इस आधारभूत आनंद का आरंभ बहुविध सौंदर्य और आनंद में अनूदित हो सकता है। मन में वह आध्यात्मिक अंतर्दर्शन, दृष्टि और ज्ञान के तीव्र आनंद की शांति में, हृदय में वैश्व ऐक्य और प्रेम और सहानुभूति के विशाल या गंभीर या अनुरागपूर्ण आनंद में और सत्ताओं के आह्लाद और वस्तुओं के आह्लाद में अनूदित होता है।

इच्छा-शक्ति और प्राणिक अंगों में उसका अनुभव होता है क्रियागत दिव्य जीवन-शक्ति के आनंद की ऊर्जा की तरह या एकमेव को हर जगह देखने और उससे मिलनेवाली उन इंद्रियों के आनंदातिरेक की तरह जो वस्तुओं के अपने सामान्य सौंदर्य-बोध में सृष्टि का विश्वव्यापी सौंदर्य और सृष्टि का गुप्त सामंजस्य ही देखती हैं। हमारा मन इनकी अधूरी झांकियां या विरल अधिसामान्य संवेदन ही पा सकता है। शरीर में वह अपने-आपको ऐसे आनंद के रूप में प्रकट करता है जो आध्यात्म सत्ता की ऊंचाइयों से अपने-आपको उंड़ेल रहा है, साथ ही आध्यात्मभावापन्न, शुद्ध भौतिक सत्ता की शांति और आनंद के रूप में। सत्ता का वैश्व सौंदर्य और महिमा प्रकट होना शुरू करते हैं। सभी चीजें सामान्य मन और भौतिक संवेदन से छिपी हुई रेखाएं, स्पन्दन, शक्तियां, सामंजस्यपूर्ण अर्थ प्रकट करती हैं। वैश्व आभास में शाश्वत आनंद प्रकट होता है।

आध्यात्मिक रूपांतर के ये प्रथम महत्त्वपूर्ण परिणाम हैं जो अतिमानस की प्रकृति के आवश्यक परिणाम के रूप में आते हैं। लेकिन अगर केवल आंतरिक जीवन, चेतना, जीवन के आंतरिक आनंद की ही पूर्णता नहीं बल्कि प्राण और क्रिया की पूर्णता भी चाहिये तो हमारे मानसिक दृष्टिकोण से दो और प्रश्न खड़े होते हैं जो हमारे जीवन और उसकी क्रियाशीलता के बारे में हमारे मानसिक विचार के लिये काफी बल्कि प्रथम महत्त्व रखते हैं : पहला है विज्ञानमय सत्ता में व्यक्तित्व का स्थान, क्या सत्ता की स्थिति और उसकी रचना, हम व्यक्ति के रूप और जीवन के बारे में जो अनुभव करते हैं उससे बिलकुल भिन्न होगी या उसी जैसी। अगर कोई व्यक्तित्व है और वह किसी तरह अपनी क्रियाओं के लिये उत्तरदायी है तो फिर अगला प्रश्न आ जाता है विज्ञानमय प्रकृति में नैतिक तत्त्व के स्थान का, और उसकी पूर्णता और परिपूर्त्ति का। सामान्यतः, साधारण धारणा में विभाजन करनेवाला अहं ही हमारी आत्मा है और अगर अहं को किसी परात्पर या वैश्व चेतना में लुप्त होना है तो व्यक्तिगत जीवन और क्रिया को भी बंद हो जाना चाहिये; क्योंकि व्यष्टि गायब हो जाये तो केवल एक निर्वैयक्तिक चेतना, वैश्व आत्मा रह सकती है; लेकिन अगर व्यष्टि एकदम से समाप्त हो जाये तो फिर व्यक्तित्व या दायित्व या नैतिक पूर्णता का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। एक और विचारधारा के अनुसार आध्यात्मिक पुरुष बना रहता तो है परंतु होता है स्वर्गिक सत्ता में अपनी प्रकृति में मुक्त, शुद्ध और पूर्ण। लेकिन यहां, हम अभीतक धरती पर हैं, फिर भी यह माना जाता है कि अहंकारमय व्यक्तित्व समाप्त हो गया है और उसका स्थान लिया है वैश्वभावापन्न आध्यात्मिक व्यष्टि ने जो परात्पर सत् का केन्द्र और शक्ति है। यह परिणाम निकाला जा सकता है कि विज्ञानमय या अतिमानसिक व्यष्टि एक आत्मा तो है पर व्यक्तित्व बिना, एक निर्वैयक्तिक पुरुष। बहुत से विज्ञानमय पुरुष तो हो सकते हैं पर कोई व्यक्तित्व न होगा, सभी सत्ता और प्रकृति में एक ही होंगे।

इससे फिर शुद्ध सत् के शून्य या रिक्तता का विचार पैदा होता है जिससे अनुभव करनेवाली चेतना की क्रिया या व्यापार शुरू होगा, लेकिन उस तरह के पृथक् किये गये व्यक्तित्व के बिना जैसा कि हम अपनी सतह पर देखते हैं और जिसे अपना आपा समझते हैं। लेकिन यह अहंकार के बाद बने रहनेवाले और अनुभव में आग्रही आध्यात्मिक व्यक्तित्व की समस्या का अतिमानसिक न होकर मानसिक समाधान होगा। अतिमानसिक चेतना में व्यक्तित्व और निर्व्यक्तित्व विरोधी तत्त्व नहीं हैं, वे एक ही सद्वस्तु के अविभाज्य पहलू हैं। यह सद्वस्तु अहंकार नहीं वह सत् है जो अपनी प्रकृति के पदार्थ में निर्वैयक्तिक और वैश्व है लेकिन उसमें से एक ऐसे अभिव्यंजक व्यक्तित्व की रचना करता है जो प्रकृति के परिवर्तनों के बीच उसका आत्म-रूप है।

अपने मूल में निर्व्यक्तित्व आधारभूत और वैश्व है। वह सत्ता, शक्ति और चेतना है और अपनी सत्ता और ऊर्जा के अनेक आकार लेता है। ऊर्जा, गुण, शक्ति या बल का हर एक आकार अपने-आपमें सर्वसामान्य, निर्व्यक्तिक और वैश्व होते हुए भी व्यष्टिगत सत्ता द्वारा उसके व्यक्तित्व के निर्माण की सामग्री के रूप में लिया जाता है। इस भांति निर्व्यक्तित्व वस्तुओं के आद्य अविभाजित सत्य में सत्, पुरुष की प्रकृति का शुद्ध द्रव्य है, वस्तुओं के गतिशील सत्य में वह अपनी शक्तियों में भेद करता है और उन्हें उनकी विभिन्नताओं द्वारा व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का निर्माण करने के लिये प्रयुक्त होने देता है। प्रेम प्रेमी का स्वभाव है, साहस योद्धा का स्वभाव है। प्रेम और साहस निर्व्यक्तिक और वैश्व शक्तियां या वैश्व शक्ति के रूपायन हैं। वे परमात्मा की, उसकी वैश्व सत्ता और प्रकृति की शक्तियां हैं। पुरुष वह सत् है जो इस तरह निर्व्यक्तिक को सहारा देता, उसे अपने अंदर अपना बनाकर, अपनी आत्म-प्रकृति की तरह रखे रहता है। वह वह है जो प्रेमी और योद्धा है। हम जिसे पुरुष का व्यक्तित्व कहते हैं वह उसकी स्वभाव-स्थिति और स्वभाव-क्रिया में अभिव्यंजना है। वह व्यक्ति अपनी आत्म-सत्ता में आरंभ और अंत में उससे बहुत बढ़कर है। वह स्वयं उसका अपना रूप है जिसे वह अपनी विकसित हो चुकी अभिव्यक्त प्रकृति-सत्ता या प्रकृतिस्थ आत्मा की तरह अभिव्यक्त करता है। रूपायित और सीमित व्यक्ति में यह उसकी, उस तत्त्व की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति है जो निर्व्यक्तिक है, या, यूं कहा जाये कि वह उसके द्वारा उस तत्त्व का व्यक्तिगत विनियोग है ताकि वह ऐसी सामग्री पा ले जिससे वह अभिव्यक्ति में अपनी सार्थक मूर्ति बना सके। अपनी अरूप और असीम आत्मा में, अपनी वास्तविक सत्ता में सच्चा पुरुष वह नहीं है परंतु वह अपने अंदर असीम और वैश्व संभावनाएं रखता है। लेकिन दिव्य व्यक्ति के रूप में वह उन्हें अभिव्यक्ति में एक अपना ही मोड़ देता है ताकि बहु में हर एक उन एकमेव भगवान् की अद्वितीय आत्मा हो। भगवान्, शाश्वत अपने-आपको सत्, चित्,

आनंद, प्रज्ञा, ज्ञान, प्रेम, सौंदर्य के रूप में प्रकट करते हैं और हम उनके बारे में इन निर्वैयक्तिक और वैश्व शक्तियों के रूप में सोच सकते हैं, उन्हें भगवान् और शाश्वत के स्वरूप के रूप में मान सकते हैं। हम कह सकते हैं कि भगवान् प्रेम हैं, भगवान् प्रज्ञा हैं, भगवान् सत् या ऋत हैं लेकिन वे अपने-आपमें कोई निर्वैयक्तिक स्थिति या स्थितियों और गुणों का सार नहीं हैं। वे सत् हैं—एक ही साथ निरपेक्ष, वैश्व और व्यष्टिगत। अगर हम उन्हें इस आधार से देखें तो स्पष्टतः निर्व्यक्तिक और व्यक्ति के सह-अस्तित्व में कोई विरोध नहीं है, कोई असंगति या उनके एक होने में कोई असंभावना नहीं है। वे एक-दूसरे हैं, एक-दूसरे में रहते हैं, एक-दूसरे में घुल-मिल जाते हैं और फिर भी एक तरह से ऐसे प्रकट हो सकते हैं मानों एक ही सद्वस्तु के अलग-अलग सिरे, पार्श्व और चित तथा पट हैं। विज्ञानमय सत्ता भगवान् के स्वभाव की है। और इसलिये अपने अंदर जीवन के इस स्वाभाविक रहस्य को दोहराती है।

अतिमानसिक विज्ञानमय व्यक्ति आध्यात्मिक पुरुष होगा लेकिन वह निर्धारित गुणों के निश्चित मिलन के लक्षणोंवाले नमूने के रूप में व्यक्तित्व नहीं होगा; वह ऐसा हो भी नहीं सकता क्योंकि वह वैश्व और परात्पर की सचेतन अभिव्यक्ति है। लेकिन, ना ही उसकी सत्ता कोई मनमौजी निर्वैयक्तिक बाढ़ हो सकती है जो अपने विभिन्न रूपों की लहरें, व्यक्तित्व की लहरें काल में इतस्ततः फेंकती रहती है। इस तरह का कुछ अनुभव उन लोगों में हो सकता है जिनकी गहराइयों में मजबूत केंद्रीकरण करनेवाला पुरुष न हो, जो एक तरह के अस्तव्यस्त नाना-व्यक्तित्व से, उस समय उनमें जो भी तत्त्व प्रबल हो जाये उसके अनुसार क्रिया करते हैं। लेकिन विज्ञानमय चेतना सामंजस्य, आत्म-ज्ञान और आत्म-प्रभुत्व की चेतना है, उसमें ऐसी अव्यवस्था न दिखायी देगी। वस्तुतः इस विषय में विभिन्न धारणाएं हैं कि व्यक्तित्व किससे बनता है और चरित्र किससे। एक दृष्टि के अनुसार व्यक्तित्व पहचाने जा सकनेवाले गुणों की एक निश्चित रचना है जो सत्ता की शक्ति को अभिव्यक्त करती है लेकिन एक और विचार व्यक्तित्व और चरित्र में फर्क करता है, व्यक्तित्व है अपने-आपको व्यक्त करनेवाली या संवेदनशील और प्रतिक्रिया करनेवाली सत्ता का प्रवाह और चरित्र है प्रकृति की रचना में रूपायित स्थिरता। लेकिन प्रकृति का प्रवाह और प्रकृति की स्थिरता सत्ता के दो पहलू हैं जिनमें से कोई भी या वस्तुतः दोनों मिलकर भी व्यक्तित्व की व्याख्या नहीं कर सकते। क्योंकि, सभी मनुष्यों में एक दोहरा तत्त्व होता है, सत्ता या प्रकृति का अरूपायित फिर भी सीमित प्रवाह जिसमें से व्यक्तित्व गढ़ा जाता है और उस प्रवाह में से वैयक्तिक रूपायन। यह रूपायन कठोर होकर अस्थिवत् हो सकता है या हो सकता है कि वह काफी नमनीय रहे और बराबर बदलता और विकसित होता रहे। उसका विकास रूपायनकारी प्रवाह में से, व्यक्तित्व के परिवर्तन या अभिवर्द्धन या पुनर्गठन द्वारा

होता है, न कि प्रस्तुत किये जा चुके रूपायन को नष्ट कर उसके स्थान पर सत्ता का एक नया रूप लाकर—यह केवल असामान्य मोड़ या अधिसामान्य परिवर्तन के द्वारा हो सकता है। लेकिन इस प्रवाह और इस स्थिरता के अतिरिक्त एक तीसरा और गुह्य तत्त्व भी है—पीछे स्थित वह पुरुष जिसकी आत्माभिव्यक्ति व्यक्तित्व है, पुरुष व्यक्तित्व को अभिव्यक्त जीवन के लंबे नाटक के वर्तमान अंक में अपने अभिनय, चरित्र और व्यक्ति के रूप में सामने लाता है। लेकिन पुरुष अपने व्यक्तित्व से बड़ा है और हो सकता है कि यह भीतरी विशालता सतही रूपायन में उफन पड़े। तब परिणाम होता है सत्ता की आत्माभिव्यक्ति जिसका वर्णन निश्चित गुणों, सामान्य भाव-दशाओं, यथार्थ आकृतियों से नहीं किया जा सकता, ना ही उसे किन्हीं संरचनात्मक सीमाओं द्वारा रेखांकित ही किया जा सकता है। लेकिन यह केवल अविभेद्य, बिल्कुल अनाकार और अग्राह्य प्रवाह भी नहीं है : यद्यपि उसकी प्रकृति की क्रियाओं की विशेषताएं तो बतलायी जा सकती हैं पर स्वयं उसकी नहीं, फिर भी उसे स्पष्ट तौर से अनुभव किया जा सकता है, उसकी क्रिया का अनुसरण करके उसे पहचाना जा सकता है यद्यपि आसानी से उसका वर्णन नहीं किया जा सकता क्योंकि वह कोई रचना न होकर सत्ता की शक्ति है। सामान्य सीमित व्यक्तित्व को उसके जीवन और विचार और क्रिया पर, उसकी सुनिश्चित सतही रचना और आत्माभिव्यक्ति पर लगी चरित्र की मुहर देखकर समझा जा सकता है, भले जो इस तरह अभिव्यक्त नहीं किया गया उसे हम न पकड़ पायें तो भी इससे हमारी समझ की सामान्य पर्याप्तता में शायद ही कुछ कमी आये क्योंकि जो तत्त्व बच गया है वह आकारहीन कच्चे माल से बढ़कर कुछ नहीं होगा, बस प्रवाह का एक भाग होगा जिसका उपयोग व्यक्तित्व के महत्त्वपूर्ण भाग के बनाने में नहीं होता। लेकिन ऐसा वर्णन पुरुष की अभिव्यंजना के लिये दयनीय रूप से अपर्याप्त होगा जब उसके भीतर आत्म-शक्ति ज्यादा विस्तार से प्रकट होती और अपनी गुप्त संरक्षिका शक्ति को बाहरी रचना और जीवन में सामने लाती है। हम अपने-आपको चेतना के प्रकाश, सामर्थ्य और ऊर्जा के सागर के सामने अनुभव करते हैं, हम उसके कर्म और गुण की मुक्त लहरों को पहचान सकते हैं, उनका वर्णन कर सकते हैं लेकिन स्वयं उसे निर्दिष्ट नहीं कर सकते। फिर भी व्यक्तित्व का भान होता है, एक शक्तिशाली सत्ता की उपस्थिति, एक सबल, उच्च या सुंदर पहचान में आनेवाला कोई, एक व्यक्ति, प्रकृति का कोई सीमित जीव नहीं बल्कि आत्मा, आध्यात्म पुरुष या पुरुष है। विज्ञानमय व्यक्ति एक ऐसा अनुद्घाटित अंतःपुरुष होगा जो गहराइयों—जो अब आत्म-प्रच्छत्र नहीं रहीं— और सतह दोनों को एकीकृत आत्म-अभिज्ञता में अधिकार में रखेगा। वह ऐसा सतही व्यक्तित्व न होगा जो अंशतः एक विशालतर गुह्य सत्ता को प्रकट करेगा, वह लहर नहीं, सागर होगा। वह पुरुष होगा, आंतरिक सचेतन, आत्म-प्रकाशित सत्ता होगा और उसे किसी कटे-छंटे अभिव्यंजक मुखौटे या भूमिका की जरूरतें न होंगी।

तो विज्ञानमय पुरुष का यह स्वरूप होगा : एक अनंत और वैश्व सत्ता जो अपनी शाश्वत आत्मा को व्यक्तिगत और कालिक आत्माभिव्यक्ति के सारगर्भित रूप और अभिव्यंजक शक्ति द्वारा प्रकट करती या हमारे मानसिक अज्ञान को संकेत देती है। लेकिन व्यक्तिगत प्रकृति-अभिव्यक्ति चाहे अपनी रूप-रेखा में सबल और स्पष्ट हो या बहुविध और नित्य परिवर्तनशील और साथ ही सामंजस्यपूर्ण, वह होगी उस पुरुष के संकेत के रूप में, संपूर्ण पुरुष के रूप में नहीं। उस पुरुष को पीछे की ओर अनुभव किया जा सकता है, उसे पहचाना जा सकता है पर उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, वह अनंत है। विज्ञानमय पुरुष की चेतना भी अनंत चेतना होगी जो आत्माभिव्यक्ति के रूपों को ऊपर उठायेगी परंतु सदा अपनी असीम अनंतता और विश्वजनीनता से अभिज्ञ, जो अपनी अनंतता और विश्वजनीनता का बल और बोध अभिव्यक्ति की ससीमता में भी लिये रहेगी और फिर वह आगे के आत्म-प्रकाशन की अगली गति में इससे बंधी न होगी। लेकिन तब भी यह अनियत और पहचान में न आनेवाला बहाव नहीं बल्कि आत्म-प्रकाशन की एक प्रक्रिया होगी जो उसके अस्तित्व की शक्तियों के अंतर्निहित सत्य को अनंत की समस्त अभिव्यक्ति के स्वाभाविक सामंजस्यपूर्ण विधान के अनुसार दिखा देगी।

विज्ञानमय पुरुष के जीवन और कर्म का सारा स्वरूप उसके विज्ञानमय व्यक्तित्व के इस स्वभाव से आत्म-निर्धारित होकर ऊपर आयेगा। उसके अंदर नैतिक या किसी ऐसे ही भाव की अलग समस्या, शुभ या अशुभ का कोई द्वंद्व न रह सकेगा। वस्तुतः उसमें कोई समस्या ही न होगी क्योंकि समस्याएं ज्ञान की खोज में मानसिक अज्ञान की रचनाएं हैं और वे ऐसी चेतना में नहीं रह सकतीं जिसमें आत्मजात ज्ञान ऊपर उठता है और कर्म अपने-आप ज्ञान से सत्ता के पहले से ही मौजूद चिन्मय, आत्म-अभिज्ञ सत्य में से पैदा होता है। अपने-आपको अभिव्यक्त करनेवाला सत्ता का सारतः और वैश्व आध्यात्मिक सत्य, जो अपने-आपको अपनी प्रकृति में और अपने-आपको कार्यान्वित करनेवाली चेतना में स्वच्छन्द रूप से परिपूरित कर रहा है, सत्ता का वह सत्य जो अपने सत्य की अनंत विभिन्नता में भी सबमें एक है और जो सबको एक की भांति अनुभव कराता है, वह अपने स्वरूप में स्वभावतः, सारतः और वैश्व रूप से शुभ भी होगा जो अपने-आपको अपनी प्रकृति में और अपने-आपको कार्यान्वित करती हुई चेतना में परिपूरित करता है, वह उस शुभ का सत्य भी होगा जो सबमें और सबके लिये अपनी शुभ की अनंत विभिन्नता में भी एक है। शाश्वत स्वयंभू की शुद्धि अपने-आपको समस्त क्रिया-कलाप में उंडेलेगी, सभी चीजों को शुद्ध करती और शुद्ध रखती हुई; तब अज्ञान न रहेगा जो गलत इच्छा और चरणों के मिथ्यात्व की ओर ले जाये, कोई भेदक अहं न होगा जो अपने अज्ञान और अलग विपरीत इच्छा द्वारा अपने-आपको या औरों को हानि पहुंचा सके, अपनी अंतरात्मा, मन, प्राण, शरीर के साथ गलत

व्यवहार करने या औरों की अंतरात्मा, मन, प्राण और शरीर के साथ गलत व्यवहार करने के लिये स्वतःप्रवृत्त हो, जो समस्त मानव अशुभ का व्यावहारिक अर्थ है। पुण्य, पाप, शुभ और अशुभ के परे उठना मुक्ति के बारे में वैदांतिक विचार का आवश्यक अंग है और इस सहसंबंध में एक स्वतःस्पष्ट क्रम है। क्योंकि, मुक्ति का अर्थ है सत्ता की सच्ची आध्यात्मिक प्रकृति में उठना जहां समस्त क्रिया उस सत्य की स्वतःचालित आत्माभिव्यक्ति है, उसके सिवा कुछ नहीं हो सकता। हमारे अंगों की अपूर्णता और संघर्ष में आचरण के उचित मानदंड को पाने और उसे व्यवहार में लाने का प्रयत्न होता है। यही नीति है, गुण और पुण्य है, इससे उल्टा करना पाप या दुर्गुण है। नैतिक मन प्रेम के विधान, न्याय के विधान, सत्य के विधान और अनगिनत विधानों की घोषणा करता है जिनका पालन करना कठिन है, जिनमें मेल बैठाना कठिन होता है। लेकिन अगर औरों के साथ ऐक्य, सत्य के साथ ऐक्य पहले ही से पहुंची हुई आध्यात्मिक प्रकृति का सारतत्त्व हों तो सत्य या प्रेम के विधान की जरूरत नहीं रहती—उस विधान या मानदंड को अभी हमारे ऊपर आरोपित करना पड़ता है क्योंकि हमारी प्राकृतिक सत्ता में अलगाव की एक विरोधी शक्ति होती है, विरोध की संभावना, असंगति, दुर्भावना, संघर्ष की शक्ति रहती है। समस्त नीतिशास्त्र ऐसी प्रकृति में शुभ की एक रचना है जो वेदांत की प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार, अज्ञान में से उत्पन्न अंधकार की शक्तियों द्वारा अशुभ से आहत है। लेकिन जहां सब कुछ चेतना के सत्य और सत्ता के सत्य द्वारा आत्मनिर्धारित होता है वहां कोई मानदंड नहीं हो सकता, उसके पालन के लिये संघर्ष नहीं हो सकता, प्रकृति का कोई सुगुण या दुर्गुण, पाप, पुण्य नहीं हो सकता। प्रेम की, सत्य की, न्याय की शक्ति तो वहां होगी लेकिन मन के रचे विधान की तरह नहीं बल्कि हमारी प्रकृति के सत्त्व और गठन के रूप में और सत्ता के समाकलन द्वारा वह अवश्य ही कर्म का उपादान और गठन-शक्ति भी होगी। अपनी सच्ची सत्ता के आध्यात्मिक सत्य और ऐक्य की इस प्रकृति में विकसित होना वह मुक्ति है जिसे आध्यात्मिक सत्ता के विकास द्वारा पाया जाता है। विज्ञानमय विकास हमें अपने स्वरूपतक लौटने की पूरी क्रिया-शक्ति देता है। एक बार यह हो जाये तो पुण्य, धर्म के मानदंडों की आवश्यकता गायब हो जाती है। वहां आध्यात्म सत्ता की स्वतंत्रता का विधान और आत्म-व्यवस्था है। वहां आचरण का कोई आरोपित या रचा हुआ विधान, धर्म नहीं रह सकता। सब कुछ हमारी आध्यात्मिक प्रकृति का ही आत्म-प्रवाह, स्वभाव का स्वधर्म ही हो जाता है।

यहींपर हमें मानसिक अज्ञान के जीवन और विज्ञानमय सत्ता और प्रकृति के जीवन के बीच क्रियाशील भेद का सारतत्त्व मिलता है। यह समग्र पूरी तरह सचेतन सत्ता, जिसे अपने अस्तित्व के सत्य पर पूरा अधिकार है और जो अपनी स्वाधीनता में उस सत्य को क्रियान्वित कर रही है, जो बनाये गये विधानों से स्वतंत्र

है, फिर भी जिसका जीवन संभवन के सभी सच्चे नियमों के अर्थ के सार में परिपूर्ण है, उसमें और एक अज्ञानमय आत्म-विभाजित सत्ता में भेद है जो अपने सत्य की खोज में है और अपनी प्राप्तियों को नियमों में निर्मित करना चाहती है और अपने जीवन का इस तरह से बने नमूने के अनुसार निर्माण करने की कोशिश करती है। हर सच्चा विधान एक सद्वस्तु की सच्ची गति और प्रक्रिया, क्रिया में लगी सत्ता की ऊर्जा या शक्ति है जो अपनी सत्ता के सत्य में आत्म-समाविष्ट अपनी अंतर्निहित गति को परिपूर्ण कर रही है। यह विधान निश्चेतन हो सकता है और उसकी क्रिया यांत्रिक मालूम हो सकती है—जड़ प्रकृति में विधान का यही स्वरूप या कम-से-कम आभास होता है। वह एक सचेतन ऊर्जा हो सकती है जिसकी क्रिया का निर्धारण पुरुष की चेतना स्वतंत्रता के साथ करती है, जिसे यह अभिज्ञता हो कि स्वयं उसके लिये सत्य की क्या आज्ञा है, जिसे उस सत्य की आत्माभिव्यक्ति की नमनीय संभावनाओं की अभिज्ञता हो, जिसे सदा समग्र में और प्रत्येक क्षण, पूरे ब्योरे में, उन वास्तविकताओं की अभिज्ञता हो जिन्हें उसे प्राप्त करना है। यह आत्मा के विधान का एक चित्र है। आत्मा की संपूर्ण स्वाधीनता, संपूर्ण स्वयंभू व्यवस्था, जो अपना सृजन आप करती है, अपने-आपको कार्यान्वित करती है, जो अपनी स्वाभाविक और अनिवार्य गति में आत्मप्रतिष्ठ है—यह विज्ञानमय पराप्रकृति की इस क्रिया-शक्ति का स्वभाव है।

सत्ता के शिखर पर है निरपेक्ष जिसके साथ उसकी अनंतता की पूर्ण स्वाधीनता रहती है और साथ ही उसका अपना निरपेक्ष सत्य और सत्ता के उस सत्य की शक्ति भी; ये दोनों चीजें पराप्रकृति में आत्मा के जीवन में अपने-आपको दोहराती रहती हैं। वहां सभी कार्य परमात्मा के कार्य होते हैं, पराप्रकृति के सत्य में परमेश्वर के कार्य। वह युगपत् रूप से आत्मा की सत्ता का सत्य और ईश्वर की इच्छा का सत्य है जो उस सत्य के साथ एक है—द्विदल वास्तविकता के साथ—जो अपने-आपको प्रत्येक व्यष्टिगत विज्ञानमय सत्ता में उसकी पराप्रकृति के अनुसार व्यक्त करता है। विज्ञानमय व्यष्टि की स्वतंत्रता उसकी सत्ता के सत्य को और उसकी ऊर्जाओं की शक्ति को जीवन में क्रियाशील रूप से परिपूरित करने के लिये उसकी आत्मा की स्वतंत्रता है। लेकिन इसका अर्थ उसके जीवन में अभिव्यक्त आत्मा के सत्य के प्रति और उसके अंदर और सबके अंदर भागवत इच्छा के प्रति उसकी प्रकृति का पूर्ण आज्ञापालन है। यह सर्वेच्छा प्रत्येक विज्ञानमय व्यष्टि और बहुत-सी विज्ञानमय व्यष्टियों में और सचेतन सर्व में, जो उन्हें अपने अंदर धारण करता और समाये रखता है, एक ही है। वह हर विज्ञानमय व्यष्टि में अपने बारे में सचेतन है और वहां स्वयं अपनी इच्छा के साथ एक है, साथ ही वह सर्व सबके अंदर भिन्न रूप से सक्रिय उसी इच्छा, उसी आत्मा और ऊर्जा में सचेतन होता है। ऐसी विज्ञानमय चेतना और विज्ञानमय इच्छा को, जो बहुत से विज्ञानमय व्यक्तियों में

अपनी एकता के बारे में अभिज्ञ हो और अपनी सुसंगत समग्रता और अपनी विविधताओं के अर्थ और मिलन-स्थल के बारे में अभिज्ञ हो, उसे समष्टि की क्रिया में एक सामंजस्यपूर्ण गति, एकत्व की गति, समन्वय, पारस्परिकता की गति का आश्वासन देना चाहिये, साथ ही वह व्यक्ति में उसकी सत्ता की सभी शक्तियों और गतिविधि की एकता और समस्वर संगति का विश्वास दिलाती है। सत्ता की सभी ऊर्जाएं अपनी अभिव्यक्ति को खोजती हैं और अपनी उच्चतम स्थिति में अपने परम पद को खोजती हैं, इसे वे परमात्मा में पाती हैं और साथ ही वे संयुक्त और सर्वसामान्य आत्माभिव्यक्ति की अपनी उच्चतम एकता, सामंजस्य और पारस्परिकता को परमात्मा की आत्मनिर्धारण और आत्म-क्रियान्वयन की सर्व-द्रष्ट्री और सर्व-एकताकारिणी गतिशील शक्ति में, अर्थात् अतिमानसिक विज्ञान में पाती हैं। एक पृथक् स्वयंभू सत्ता की अन्य पृथक् सत्ताओं के साथ अनबन हो सकती है, वैश्व सर्व के साथ, जिसमें उनका सह-अस्तित्व है, विसंगति हो सकती है, जो परम सत्य विश्व में अपनी अभिव्यक्ति की इच्छा कर रहा है उसका विरोध करने की अवस्था में वह रह सकती है। अज्ञान में व्यक्ति के साथ यही होता है, क्योंकि वह पृथक् व्यक्तित्व की चेतना पर आधारित होता है। एक ऐसा ही द्वंद्व, ऐसी ही असंगति, ऐसी ही विषमता व्यक्ति और विश्व में पृथक् शक्तियों के रूप में क्रियाशील सत्यों, सत्ता की ऊर्जाओं, गुणों, सामर्थ्यों और विधियों के बीच हो सकती है। द्वंद्व से भरा जगत्, हमारे भीतर द्वंद्व और अपने चारों ओर के जगत् के साथ व्यक्ति का द्वंद्व—ये अज्ञान की विभेदात्मक चेतना और हमारे सामंजस्यहीन जीवन के सामान्य और अनिवार्य लक्षण हैं। लेकिन विज्ञानमय चेतना में ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि वहां हर एक को अपनी पूर्ण आत्मा की प्राप्ति होती है, सभी अपना निजी सत्य और अपनी विभिन्न गतियों की समस्वरता उसमें पा लेते हैं जो उनके परे है और वे जिसकी अभिव्यक्ति हैं। अतः विज्ञानमय जीवन में सत्ता की स्वतंत्र आत्माभिव्यक्ति और वस्तुओं के परम और वैश्व सत्य के अंतस्थ विधान के प्रति स्वचालित आज्ञाकारिता के बीच पूरा-पूरा मेल रहता है। उसके लिये ये एक ही सत्य के आपस में मिले हुए पहलू हैं। यह उसकी सत्ता का परम सत्य है जो एक ही पराप्रकृति में उसके अपने और वस्तुओं के पूर्ण संयुक्त सत्य में अपने-आपको क्रियान्वित करता है। वहां सत्ता की बहुत-सी और भिन्न शक्तियों और उनकी क्रियाओं के बीच पूरा मेल होता है; क्योंकि जो प्रतीयमान गति में विरोधी हैं और उनके बारे में हमारे मानसिक अनुभव में संघर्ष होता जान पड़ता है वे भी और उनके क्रिया-कलाप भी स्वाभाविक रूप से एक-दूसरे में पूरे उतरते हैं, क्योंकि हर एक का अपना आत्म-सत्य और दूसरों के साथ अपने संबंध का सत्य है और वह सत्य विज्ञानमय परा-प्रकृति में आत्म-स्थापित और आत्म-रूपायित है।

अतः अतिमानसिक विज्ञानमय प्रकृति में कठोर मानसिक विधि और व्यवस्था

की सख्त शैली की, सीमित करनेवाले मानवीकरण की, बंधे हुए नियमों के निर्धारित तंत्र के आरोपण की, जीवन को किसी ऐसी प्रणाली या नमूने में ढालने की बाध्यता की जरूरत न होगी जो इसलिये एकमात्र प्रामाणिक सत्य होगा क्योंकि मन ने उसे सत्ता और आचरण के एकमात्र उचित सत्य के रूप में देखा है। क्योंकि इस प्रकार का मानक अपने अंदर समस्त जीवन को नहीं ले सकता, न ऐसी संरचना उसे अपने में समा सकती है और न ही वह अपने-आपको सर्वजीवन के दबाव या विकसनशील शक्ति की आवश्यकताओं के प्रति मुक्त रूप से अनुकूल बना सकता है। उसे अपनी मृत्यु या विघटन या तीव्र संघर्ष और क्रांतिकारी उत्पात द्वारा ही अपने-आपसे या अपनी बनायी हुई सीमाओं से बच निकलना होता है। इस तरह मन को अपना सीमित नियम और जीवन-प्रणाली का चुनाव करना होता है, क्योंकि वह अपने-आप अपनी दृष्टि और क्षमता में बंधा हुआ और सीमित है। लेकिन विज्ञानमय सत्ता संपूर्ण जीवन और अस्तित्व को अपने अंदर उठा लेती है जो एक बृहत्, एक और विविध, अनंत रूप से एक और अनंत रूप से बहु सत्य की सामंजस्यमय आत्म-अभिव्यक्ति में परिपूरित, रूपांतरित होता है। विज्ञानमय सत्ता के ज्ञान और कर्म में अनंत स्वाधीनता की विशालता और नमनीयता होगी। यह ज्ञान समग्र की विशालता में जाते हुए अपने विषयों का ग्रहण करेगा, वह केवल समग्र के सर्वांगीण सत्य से और विषय के पूर्ण और अंतरतम सत्य से बंधा होगा, न कि रूपायित भाव या निश्चित मानसिक प्रतीकों से जिनमें मन पकड़ा जाता और बंद रहता है, जिससे वह अपने ज्ञान की स्वाधीनता खो देता है। विज्ञानमय सत्ता की पूरी क्रियाशीलता भी किसी अनमनीय नियम के बंधन से मुक्त होगी। उसपर किसी भूतकाल की स्थिति या कार्य या उसके अवश्यंभावी परिणाम का अर्थात् 'कर्म' का बंधन न होगा। उसमें अपने ही सांतों पर सीधी क्रिया करनेवाले अनंत की व्यवस्थित लेकिन आत्म-निर्देशित और आत्म-विकसनशील नमनीयता होगी। यह गति किसी प्रवाह या अस्तव्यस्तता की नहीं बल्कि मुक्त और सामंजस्यपूर्ण सत्य-अभिव्यक्ति की रचना करेगी। वहां आध्यात्मिक पुरुष का एक नमनीय और पूर्ण सचेतन प्रकृति में स्वतंत्र आत्मनिर्धारण होगा।

अनंत की चेतना में व्यक्तित्व न तो वैश्वता को खंडित या परिसीमित करता है न वैश्वता परात्परता का विरोध करती है। अनंत की चेतना में निवास करनेवाली विज्ञानमय सत्ता व्यक्ति के रूप में अपनी ही आत्माभिव्यक्ति की रचना करेगी लेकिन करेगी एक बृहत्तर वैश्वता और साथ-ही-साथ परात्परता के केंद्र के रूप में। वह एक वैश्व व्यक्ति होगा, उसकी सभी क्रियाएं वैश्व क्रिया के साथ समस्वर होंगी लेकिन अपनी परात्परता के कारण वह अस्थायी घटिया रूपायन से सीमित न होगा और न ही हर एक या किसी भी वैश्व शक्ति की दया पर निर्भर होगा। उसका वैश्व भाव अपनी विशालतर आत्मा में अपने चारों ओर के अज्ञान को भी आलिंगन में

ले लेगा लेकिन उसके बारे में घनिष्ठ रूप से अभिज्ञ होते हुए भी वह उससे प्रभावित न होगा। वह अपने परात्पर व्यक्तित्व के ज्यादा बड़े विधान का अनुसरण करेगा और उसके विज्ञानमय सत्य को सत्ता और क्रिया के अपने ही तरीके से व्यक्त करेगा। उसका जीवन आत्मा की मुक्त, सुसंगत अभिव्यक्ति होगा। लेकिन, चूंकि उसकी उच्चतम सत्ता ईश्वर की सत्ता के साथ एक होगी अतः उसकी आत्माभिव्यक्ति पर ईश्वर का, उसकी उच्चतम आत्मा का और उसकी अपनी परम प्रकृति, पराप्रकृति का स्वाभाविक दिव्य शासन होगा जो अपने-आप ही ज्ञान, जीवन और क्रिया में एक विशाल और बंधनहीन परंतु पूर्ण व्यवस्था ले आयेगा। ईश्वर और पराप्रकृति के प्रति उसकी वैयक्तिक प्रकृति की आज्ञाकारिता स्वाभाविक स्वरसंगति और वस्तुतः आत्मा की स्वाधीनता की आवश्यक अवस्था होगी, क्योंकि वह उसकी अपनी परम सत्ता के प्रति आज्ञाकारिता होगी, अपनी सारी सत्ता के उत्स को दिया गया उत्तर होगा। व्यष्टिगत प्रकृति कोई पृथक् चीज न होकर पराप्रकृति की लहर होगी। पुरुष और प्रकृति का सारा विरोध, आत्मा और प्रकृति के बीच वह अजीब विभाजन और असंतुलन, जो अज्ञान को आक्रांत करता है, पूरी तरह हटा दिया जायेगा क्योंकि प्रकृति पुरुष की आत्म-शक्ति का बहिःस्राव होगी और पुरुष परम प्रकृति का, ईश्वर-सत्ता की अतिमानसिक शक्ति का बहिःस्राव होगा। उसकी सत्ता का यह परम सत्य ही, एक अनंत रूप से सामंजस्यपूर्ण तत्त्व ही उसकी आध्यात्मिक स्वतंत्रता की व्यवस्था की, सच्ची, आत्मचालित, नमनीय व्यवस्था की रचना करेगा।

निम्नतर सत्ता में व्यवस्था आत्म-चालित, प्रकृति का बंधन पूर्ण, उसका खांचा मजबूत और अनुल्लंघ्य होता है। वैश्व चित्-शक्ति प्रकृति का एक ऐसा नमूना और उसका अभ्यस्त सांचा या कर्म का निर्धारित चक्कर विकसित करती है और अवबौद्धिक सत्ता को उसके लिये बनाये गये नमूने के अनुसार रहने और उस सांचे या चक्कर के अनुसार क्रिया करने के लिये बाधित करती है। मनुष्य के अंदर मन इस पहले से व्यवस्थित नमूने और लीक से शुरू होता है लेकिन विकसित होने के साथ वह आकृति को बढ़ाता, सांचे को फैलाता और स्वतःचालन के निश्चित अर्द्ध-चेतन या अचेतन विधान के स्थान पर भावों, सार्थकताओं और स्वीकृत जीवन-हेतुओं पर आधारित व्यवस्था बैठाने का प्रयत्न करता है या बुद्धिमत्तापूर्ण मानकीकरण और युक्तियुक्त उद्देश्य, उपयोगिता और सुविधा द्वारा निर्धारित ढांचे के लिये प्रयत्न करता है। मनुष्य की ज्ञान-रचनाओं और प्राण-रचनाओं में कोई चीज वस्तुतः बाध्यकारी या स्थायी नहीं है फिर भी वह विचार, ज्ञान, व्यक्तित्व, जीवन, आचार के मानक बनाये बिना नहीं रह सकता और वह उनपर अपने जीवन को न्यूनाधिक सचेतन रूप से और पूर्णता से आधारित करता है या कम-से-कम अपने चुने हुए या स्वीकृत धर्मों के भावमूलक ढांचे में अपने जीवन को गढ़ने का यथा-

संभव प्रयत्न करता है। इसके विपरीत, आध्यात्मिक जीवन की ओर संक्रमण में जो परम आदर्श प्रस्तुत किया जाता है वह विधान नहीं, आत्मा में स्वाधीनता है। आत्मा अपनी आत्मता को पाने के लिये सभी सिद्धांतों को तोड़ डालती है। इसपर भी अगर उसे अभिव्यक्ति के साथ संबंध रखना है तो उसे कृत्रिम अभिव्यक्ति की जगह स्वतंत्र और सच्ची अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्यतक, एक सच्ची और सहज आध्यात्मिक व्यवस्थातक पहुंचना चाहिये। '*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*' 'सभी धर्मों, सभी मानकों, सत्ता और कर्म के सभी नियमों को छोड़कर केवल मेरी शरण में आ'। यह उच्चतम जीवन का वह सर्वोच्च आदर्श है जिसे भागवत पुरुष ने जिज्ञासु के आगे रखा है। इस स्वाधीनता की खोज में, निर्मित विधान में से आत्मा और आध्यात्म पुरुष के विधान में जाकर स्वाधीनता पाना, मानसिक नियंत्रणको फेंक देना ताकि उसके स्थान पर आध्यात्मिक सद्वस्तु का नियंत्रण आ सके, सत्ता के उच्चतर तात्त्विक सत्य के लिये मन के निचले गठे हुए सत्य का त्याग—तब एक ऐसी स्थिति में से गुजरना संभव है जहां आंतरिक स्वाधीनता तो है पर बाहरी व्यवस्था का अभाव है—जिसमें कर्म प्रकृति के प्रवाह में बालक की तरह या गतिहीन या हवा से उड़ते पत्ते की तरह जड़वत् या बाहरी रूप में असंबद्ध या अनियंत्रित तक भी होता है। अपनी सत्ता की अस्थायी व्यवस्थित आध्यात्मिक अभिव्यक्ति तक पहुंचना भी संभव होता है जो कुछ समय के लिये या इस जीवन में प्राप्य भूमिका के लिये काफी हो; या यह आत्माभिव्यक्ति की व्यक्तिगत व्यवस्था हो सकती है जो, व्यक्ति जितने आध्यात्मिक सत्य को पा चुका है उसके मानक के अनुसार प्रामाणिक होती है, लेकिन बाद में वह जिस और भी विशालतर सत्य को पाने के लिये आगे बढ़ता है उसे व्यक्त करने के लिये आध्यात्मिकता की शक्ति द्वारा स्वतंत्रता से बदलती रहती है। लेकिन अतिमानसिक विज्ञान-पुरुष ऐसी चेतना में स्थित होता है जिसमें ज्ञान स्वयंभू होता है और अपने-आपको पराप्रकृति में अनंत की इच्छा द्वारा आत्म-नियंत्रित क्रम में अभिव्यक्त करता है। स्वयंभू ज्ञान के अनुसार होनेवाला यह आत्म-निर्देशन सत्ता के मर्मगत आत्म-अभिज्ञ और आत्म-क्रियान्वित सत्य की सहजता के द्वारा प्रकृति के स्वतः-चालन का और मन के मानकों का स्थान ले लेता है।

विज्ञानमय पुरुष में यह आत्मनिर्धारक ज्ञान, जो आत्म-सत्य और सत्ता के संपूर्ण सत्य का स्वतंत्रता से अनुगामी होता है, उसके जीवन का धर्म होगा। उसमें ज्ञान और इच्छा एक हो जाते हैं, उनमें द्वंद्व नहीं रह सकता, आत्मा और प्राण का सत्य एक हो जाता है, उनमें भेद नहीं रह सकता। उसकी सत्ता के आत्म-कार्यान्वयन में आत्मा और उसके अंगों में कोई संघर्ष, वैषम्य या भिन्नता नहीं हो सकती। स्वतंत्रता और व्यवस्था के दो तत्त्व, जो मन और प्राण में सदा अपने-आपको विरोधी या असंगत रूप में प्रस्तुत करते हैं, यद्यपि, यदि ज्ञान स्वतंत्रता की रक्षा करे और

व्यवस्था सत्ता के सत्य पर आधारित हो तो उनके आपस में विरोधी होने की जरूरत नहीं रहती, वे अतिमानस की चेतना में एक-दूसरे के सहजात, यहांतक कि मूलतः एक हैं। यह इसलिये है कि दोनों आंतरिक आध्यात्म सत्य के अभिन्न पहलू हैं और इस कारण उनके निर्धारण एक होते हैं। वे एक-दूसरे में अंतर्लीन हैं, क्योंकि वे एक तादात्म्य से उठते हैं अतः क्रिया में स्वाभाविक तादात्म्य से मेल खाते हैं। विज्ञानमय सत्ता को किसी तरह, किसी मात्रा में यह नहीं लगता कि उसके विचार या उसकी क्रियाओं की अनुल्लंघ्य व्यवस्था किसी तरह उसकी स्वाधीनता का उल्लंघन कर रही है क्योंकि वह व्यवस्था आंतरिक और सहज होती है। वह अनुभव करती है कि उसकी स्वाधीनता और स्वाधीनता की व्यवस्था, दोनों ही उसकी सत्ता का एक सत्य हैं। ज्ञान की स्वाधीनता उसके लिये मिथ्यात्व या भ्रांति का अनुसरण करने की स्वाधीनता नहीं है क्योंकि उसे मन की तरह जानने के लिये भ्रांति की संभावना में से गुजरने की जरूरत नहीं है—इसके विपरीत ऐसा कोई भी अपसरण उसके लिये विज्ञानमय आत्मा के बाहुल्य से स्खलन होगा—वह उसके आत्म-सत्य से ह्रास, उसकी अपनी सत्ता के लिये पराया और हानिकर होगा; क्योंकि उसकी स्वाधीनता अंधकार की नहीं प्रकाश की स्वाधीनता होती है। उसकी कर्म की स्वाधीनता गलत इच्छा या अज्ञान की प्रेरणाओं के अनुसार काम करने की स्वच्छंदता नहीं है, क्योंकि वह भी उसकी सत्ता के लिये परायी चीज, उसपर प्रतिबंध और उसका ह्रास होगी, मुक्ति नहीं। मिथ्यात्व या गलत इच्छा की परिपूर्ति के लिये वह प्रेरणा का अनुभव स्वाधीनता की ओर गति के रूप में नहीं बल्कि आत्मा की स्वाधीनता पर किये गये बल-प्रयोग के रूप में, अपनी पराप्रकृति पर आक्रमण और अतिक्रमण के रूप में, किसी विजातीय प्रकृति के अत्याचार के रूप में करेगी।

अतिमानसिक चेतना मूल रूप से, अवश्य ही 'ऋत-चेतना' है, उसे सत्ता के सत्य और वस्तुओं के सत्य की प्रत्यक्ष और अंतस्थ अभिज्ञता है। वह अनंत की एक शक्ति है जो उसके सांतों को जानती और कार्यान्वित करती है, वैश्व की शक्ति है जो उसके एकत्व और व्योरों को, उसकी व्यष्टियों और वैश्व रूपों को जानती और क्रियान्वित करती है। सत्य उसमें आत्मनिष्ठ है इसलिये उसे सत्य को खोजने की जरूरत नहीं होती या इसी कारण अज्ञान के मन की तरह उसे सत्य के खो जाने का भय भी नहीं रहता। विकसित विज्ञानमय सत्ता अनंत और वैश्व के इस ऋत-चित् में प्रवेश कर जायेगी और तब यही उसके लिये और उसके अंदर उसकी समस्त वैयक्तिक दृष्टि और कर्म का निर्धारण करेगा। उसकी चेतना विश्वव्यापी तादात्म्य की चेतना होगी और उसके परिणामस्वरूप, बल्कि अंतर्निहित रूप में ऋत-ज्ञान, ऋत-दृष्टि, ऋत-अनुभूति, ऋत-इच्छा, ऋत-संवेदन और ऋत-क्रियाबल उस 'एक' के साथ उसके तादात्म्य में समाविष्ट रहेंगे या 'सर्व' के साथ उसके तादात्म्य से सहज रूप से उठेंगे। उसका जीवन मानसिक भाव के विधान और प्राणिक तथा भौतिक

आवश्यकता और कामना के विधान, इर्द-गिर्द के जीवन की बाध्यताओं के स्थान पर आध्यात्मिक स्वाधीनता और विशालता के चरणों की गति होगा। उसका जीवन और उसका कर्म दिव्य प्रज्ञा और इच्छा के सिवा किसी से बंधा न होगा और ये उसपर और उसमें अपनी ऋत-चेतना के अनुसार काम करती होंगी। विधान की आरोपित रचना के अभाव में यह आशा की जा सकती है कि मानव अज्ञान के जीवन में, मानव अहंकार के अलगाव और क्षुद्रता के कारण, अन्य जीवन का अतिक्रमण करने और उसपर अधिकार करने की आवश्यकता संघर्ष, उच्छृंखलता और अहंकारमय अव्यवस्था की ओर ले जाये। लेकिन विज्ञानमय पुरुष के जीवन में यह नहीं हो सकेगा, क्योंकि अतिमानसिक सत्ता की विज्ञानमय ऋत-चेतना में आवश्यक रूप से सत्ता के सभी भागों और गतियों के संबंध का सत्य रहेगा—चाहे वह सत्ता व्यक्ति की हो या किसी भी विज्ञानमय समुदाय की—चेतना की सभी गतियों और जीवन के समस्त कर्म में सहज और प्रकाशमय एकत्व और समग्रता होगी। उसके अंगों में कोई अनबन नहीं हो सकेगी क्योंकि केवल ज्ञान और इच्छा-चेतना ही नहीं बल्कि हृदय-चेतना, प्राण-चेतना और शरीर-चेतना, जो हमारे अंदर प्रकृति के भाव, प्राण और भौतिक भाग हैं, वे इस एकत्व और समग्रता के पूर्ण सामंजस्य में समाविष्ट हो जायेंगे। हम अपनी भाषा में कह सकते हैं कि विज्ञान-पुरुष की अतिमानसिक ज्ञान-इच्छा को मन, हृदय, प्राण और शरीर पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त होगा। लेकिन यह वर्णन केवल संक्रमणकालीन स्थिति पर ही लागू हो सकता है जब पराप्रकृति इन अंगों को अपनी प्रकृति में फिर से ढाल रही हो। एक बार वह संक्रमण समाप्त हो जाये तो फिर नियंत्रण की कोई जरूरत न रहेगी क्योंकि तब सब कुछ एक संयुक्त चेतना होगा और इसलिये सहज पूर्णता और एकत्व में समग्र की तरह काम करेगा।

विज्ञानमय पुरुष में अहं की स्वप्रतिष्ठा और परा अहम् के द्वारा नियंत्रण के बीच कोई संघर्ष न हो सकेगा क्योंकि अपने जीवन के कार्य में विज्ञानमय व्यक्ति एक ही साथ अपने-आपको, अपनी सत्ता के सत्य को व्यक्त करेगा और दिव्य इच्छा को कार्यान्वित करेगा; क्योंकि वह भगवान् को अपनी सच्ची आत्मा के रूप में जानेगा और जानेगा कि यह उसके आध्यात्मिक व्यक्तित्व का उत्स और उपादान हैं। उसके आचार के ये दो स्रोत एक ही क्रिया में केवल साथ-साथ न होंगे बल्कि एक ही और वही प्रेरक शक्ति होंगे। यह प्रेरक शक्ति हर परिस्थिति में उस परिस्थिति के सत्य के अनुसार कार्य करेगी, हर सत्ता के साथ उसकी आवश्यकता, प्रकृति और संबंध के अनुसार, हर घटना में दिव्य इच्छा की मांग के अनुसार उस घटना के लिये कार्य करेगी; क्योंकि, यहां सब कुछ एक तंतुजाल और एक ही शक्ति की बहुत-सी शक्तियों के सघन अंतर्बंधन का परिणाम है। विज्ञानमय चेतना और सत्य-इच्छा इन शक्तियों के सत्य को, प्रत्येक के और मिल-जुलकर सबके सत्य

को देखेगी और शक्तियों के जाल पर आवश्यक आघात या हस्तक्षेप का प्रयोग करेगी ताकि उसके द्वारा जो कुछ किया जाना अभीष्ट हो वही किया जाये, बस उतना ही, उससे बढ़कर नहीं। सब जगह उपस्थित, सबपर शासन करने और सभी विविधताओं में सामंजस्य लानेवाले तादात्म्य के परिणाम-स्वरूप वहां पृथगात्मक अहं की कोई लीला न होगी जो आत्म-प्रतिष्ठापन पर तुला हो। विज्ञानमय सत्ता की आत्मा की इच्छा ईश्वर की इच्छा के साथ एक होगी, वह पृथगात्मक या विरोधी स्वेच्छा न होगी। उसे कर्म और परिणाम का आनंद तो प्राप्त होगा लेकिन वह अहंकार के दावों से, कर्म के लिये आसक्ति से या परिणाम की मांग से मुक्त होगी। वह वही करेगी जो उसने देखा था कि किया जाना चाहिये और जिसे करने के लिये उसे प्रेरणा मिली थी। मानसिक प्रकृति में अपने प्रयत्न और उच्चतर इच्छा के आज्ञापालन में विरोध या असंगति संभव है क्योंकि वहां आत्मा या प्रतीयमान पुरुष अपने-आपको परम सत्ता, परम इच्छा या परम पुरुष से अलग देखता है; लेकिन यहां व्यक्ति 'सत्' की सत्ता है और विरोध तथा असंगति पैदा नहीं होती। व्यक्ति का कर्म व्यक्ति में ईश्वर का, बहु में एक का कर्म है और स्वेच्छा की प्रतिष्ठा या स्वतंत्र अभिमान के लिये कोई कारण नहीं हो सकता।

दिव्य ज्ञान और शक्ति, परात्पर प्रकृति, विज्ञानमय पुरुष द्वारा क्रिया करेगी जिसमें वह पूरा भाग लेगा—इसी तथ्य पर विज्ञानमय सत्ता की स्वाधीनता प्रतिष्ठित है। यही एकत्व उसे अपनी स्वाधीनता देता है। आध्यात्मिक सत्ता के बारे में बहुधा यह प्रतिपादित किया जाता है कि वह विधान से, जिसमें नैतिक विधान भी आ गया, स्वतंत्र है, यह स्वतंत्रता उसकी इच्छा के शाश्वत की इच्छा के साथ एकत्व पर आधारित है। सभी मानसिक मानदंड गायब हो जायेंगे क्योंकि उनकी कोई जरूरत न रहेगी, दिव्य आत्मा के और सभी सत्ताओं के साथ तादात्म्य का उच्चतर सच्चा विधान उनका स्थान ले चुका होगा। स्वार्थ और परमार्थ का, अपने और पराये का सवाल ही न रहेगा क्योंकि वहां सबको एक ही आत्मा की तरह देखा और अनुभव किया जाता है। जो कुछ परम सत्य और शुभ का निश्चय होगा केवल वही किया जायेगा। कर्म में एक स्वयंभू विश्वव्यापी प्रेम, सहानुभूति, एकत्व की विस्तृत भावना होगी, किंतु वह भावना कर्म पर पूरी तरह से शासन या उसका निर्धारण ही न करेगी बल्कि उसमें प्रविष्ट होगी, उसे रंग देगी और उसे अनुप्राणित करेगी। वह भावना वस्तुओं के विशालतर सत्य के विरोध में स्वयं अपने लिये न खड़ी होगी या भगवान् द्वारा इच्छित सत्य-गति से विपथ होने के लिये व्यक्तिगत प्रेरणा का आदेश भी न देगी। यह विरोध और विचलन अज्ञान में हो सकता है जहां प्रेम या प्रकृति के किसी अन्य प्रबल तत्त्व का बुद्धि से भी उसी तरह विच्छेद हो सकता है जैसा कि उसका शक्ति से विच्छेद हो सकता है। लेकिन अतिमानसिक-विज्ञान में सभी शक्तियां एक-दूसरे की अंतरंग होती हैं और एक होकर कार्य करती हैं। विज्ञानमय

पुरुष में सत्य-ज्ञान मार्ग-दर्शन और निर्धारण करेगा और सत्ता की अन्य सब शक्तियां कर्म में सहमत होंगी। वहां प्रकृति की शक्तियों में असामंजस्य या संघर्ष के लिये कोई स्थान न होगा। समस्त कर्म में अस्तित्व का एक आदेश होता है जो परिपूरित होना चाहता है, सत्ता का एक सत्य होता है जो अभीतक अभिव्यक्त नहीं हुआ है, जिसे अभिव्यक्त करना है या एक अभिव्यक्त होता हुआ सत्य होता है जिसे विकसित करना, प्राप्त करना और अभिव्यक्ति में पूर्ण करना है और अगर उसकी प्राप्ति हो चुकी है तो उसे सत्ता का और आत्म-संपादन का आनंद लेना होता है। अज्ञान के अर्द्ध-प्रकाश और अर्द्ध-शक्ति में आदेश गुप्त या केवल अर्द्ध-प्रकट है और उपलब्धि की ओर प्रेरणा अपूर्ण, संघर्षरत, आंशिक रूप से कुंठित गति होती है, लेकिन विज्ञानमय सत्ता और जीवन में सत्ता के आदेशों का भीतर अनुभव किया जायेगा, उन्हें घनिष्ठ रूप से देखा और क्रिया में लाया जायेगा, उनकी संभावनाओं की मुक्त क्रीड़ा होगी; वहां परिस्थिति के सत्य और पराप्रकृति के अभिप्राय के अनुसार कार्यान्वयन होगा। यह सब ज्ञान में देखा जायेगा और अपने-आपको कर्म में विकसित करेगा। वहां कार्यरत शक्तियों का अनिश्चित संघर्ष या क्लेश नहीं होगा, सत्ता के किसी असामंजस्य के लिये, चेतना की विरोधी क्रिया के लिये कोई अवकाश न रहेगा। जहां सत्य का यह समवाय और प्रकृति के कर्मों में उसकी सहज क्रिया हो वहां यांत्रिक विधानों के बाहरी मानवीकरण का आरोपण बिल्कुल अनावश्यक होगा। समस्त जीवन का विधान और स्वाभाविक गतिशीलता होगी एक सामंजस्यपूर्ण क्रिया, दिव्य अभिप्राय का कार्यान्वयन, वस्तुओं के आदेशात्मक सत्य का निष्पादन।

अतिमानसिक जीवन का तत्त्व होगा तादात्म्य से पैदा होनेवाला वह ज्ञान जो संपूर्ण सत्ता की शक्तियों को अभिव्यक्ति के साधनों की समृद्धि के लिये उपयोग में लायेगा। विज्ञानमय सत्ता की अन्य कोटियों में यद्यपि आध्यात्मिकता और चेतना का सत्य अपनी पूर्णता पायेगा फिर भी अभिव्यक्ति के साधन और ही स्तर के होंगे। उच्चतर मानसिक सत्ता विचार के सत्य द्वारा, भाव के सत्य के द्वारा कार्य करेगी और उसे जीवन-कार्य में प्रतिष्ठित करेगी; लेकिन अतिमानसिक विज्ञान में विचार एक व्युत्पन्न गति है, वह निर्धारक या मुख्य चालक शक्ति का नहीं बल्कि सत्य-दृष्टि का रूपायन है; वह ज्ञानतक पहुंचने या क्रिया का यंत्र होने की जगह ज्ञान की अभिव्यक्ति का यंत्र होगा या कर्म में उसका हस्तक्षेप केवल तादात्म्य-इच्छा और तादात्म्य-ज्ञान के शरीर के बेधक बिंदु की तरह होगा। इसी तरह आलोकमय विज्ञानमय सत्ता में सत्य-दृष्टि और अंतर्भासात्मक विज्ञानमय सत्ता में प्रत्यक्ष सत्य-संपर्क और सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन कर्म का प्रमुख स्रोत होगा। अधिमानस में वस्तुओं के सत्य और प्रत्येक वस्तु की सत्ता के तत्त्व और उसके सारे क्रियात्मक परिणामों की व्यापक और प्रत्यक्ष पकड़ होगी जो विज्ञानमय दृष्टि और विचार के

एक बड़े विस्तार को उत्पन्न और एकत्र करेगी और ज्ञान तथा कर्म की नींव बनायेगी। होने और देखने और करने की यह विशालता एक अंतर्निष्ठ तादात्म्य-चेतना का रंग-बिरंगा परिणाम होगी, लेकिन वह तादात्म्य अपने-आपमें चेतना के उपादान या क्रिया की शक्ति के रूप में सामने न होगा। लेकिन अतिमानसिक विज्ञान में वस्तुओं के सत्य की यह ज्योतिर्मय प्रत्यक्ष पकड़, यह सत्य-बोध, सत्य-दर्शन, सत्य-विचार अपने उत्स, तादात्म्य-चेतना में वापिस चले जायेंगे और उसके ज्ञान के एक ही शरीर की भांति बने रहेंगे। तादात्म्य-चेतना हर चीज का पथ-प्रदर्शन करेगी और उसे समाये रखेगी। वह सत् के पदार्थ के अणु-अणु में अभिज्ञता के रूप में अभिव्यक्त होगी जो अपनी आत्म-परिपूर्ति की अंतर्निहित शक्ति को अभिव्यक्त कर रही होगी और अपने-आपको चेतना के रूप में और कर्म के रूप में सक्रिय रूप से निर्धारित कर रही होगी। यह अंतर्निहित अभिज्ञता अतिमानसिक विज्ञान की क्रिया का मूल और तत्त्व है। वह अपने-आपमें पर्याप्त हो सकती है जिसे रूपायित करने या मूर्त रूप देने के लिये किसी चीज की जरूरत न हो, लेकिन इसमें आलोकित दृष्टि, दीप्तिमान विचार की क्रीड़ा, आध्यात्मिक चेतना की सभी गतिविधियों की क्रीड़ा भी अनुपस्थित न होगी; उनके अपने दीप्तिमान कार्य के लिये, भागवत समृद्धि और विविधता के लिये, आत्माभिव्यक्ति के बहुविध आनंद के लिये, अनंत की शक्तियों के उल्लास के लिये उनका मुक्त यंत्र-विन्यास होगा। विज्ञान की बीच की स्थितियों या कोटियों में दिव्य सत्ता और प्रकृति के रूपों की विविध और अलग व्यंजनाओं की अभिव्यक्ति प्रेममय जीव और जीवन में, दिव्य ज्योति से युक्त और दिव्य ज्ञानमय जीव और जीवन में, दिव्य शक्ति से युक्त और प्रभुत्वपूर्ण रूप से क्रियाशील और सर्जनशील जीव और जीवन में और दिव्य जीवन के अन्य असंख्य रूपों में हो सकती है। अतिमानसिक ऊंचाई पर सब कुछ एक बहुविध एकत्व में, सत्ता और जीवन के परम समाकलन में उठा लिया जायेगा। सत्ता की अवस्थाओं और शक्तियों के ज्योतिर्मय और आनंदमय समाकलन में सत्ता की पूर्ति और उनका संतुष्ट क्रियाशील कर्म—यही होगा विज्ञानमय जीवन का तात्पर्य।

समस्त अतिमानसिक विज्ञान दोहरी ऋत-चेतना है,—अंतर्निष्ठ आत्मज्ञान की चेतना और आत्मा तथा जगत् के तादात्म्य के कारण अंतरंग जगत्-ज्ञान की चेतना। यह ज्ञान विज्ञान की कसौटी और विशिष्ट शक्ति है। लेकिन यह शुद्ध रूप से भावमय ज्ञान नहीं है। यह अवलोकन करनेवाली, भाव को रूप देनेवाली और उन्हें कार्यान्वित करने का प्रयत्न करनेवाली चेतना नहीं है। यह चेतना की तात्त्विक ज्योति है, सत्ता और संभूति की समस्त वास्तविकताओं की आत्म-ज्योति, निर्धारित करनेवाले, रूपायित करनेवाले और अपने-आपको कार्यान्वित करनेवाले सत् का आत्म-सत्य है। अभिव्यक्ति का उद्देश्य जानना नहीं, होना है। ज्ञान सत् की

कार्यकारी चेतना का यंत्र-विन्यास मात्र है। पृथ्वी पर विज्ञानमय जीवन ऐसा होगा, —ऋत-चित् सत्ता की अभिव्यक्ति या क्रीड़ा, ऐसी सत्ता की क्रीड़ा जो सभी वस्तुओं में अपने बारे में अभिज्ञ हो, जो कभी अपनी चेतना को न खोती हो, जो रूप और क्रिया में तन्मय होने से उत्पन्न अपने सच्चे जीवन की आत्म-विस्मृति या अर्द्ध-विस्मृति में डूबी नहीं रहती बल्कि रूप और क्रिया को अबाध और पूर्ण आत्माभिव्यक्ति के लिये मुक्त आध्यात्मिक शक्ति से व्यवहार में लाती है, उसे अपने खोये या भूले हुए या अवगुंठित और प्रच्छन्न सार्थकता या सार्थकताओं की खोज नहीं रहती। वह अब बद्ध नहीं रहती बल्कि निश्चेतना और अज्ञान से मुक्त, अपने सत्यों और अपनी शक्तियों के बारे में अभिज्ञ, अपनी अभिव्यक्ति का, अपने पदार्थ की क्रीड़ा का, अपनी चेतना की क्रीड़ा, अपने अस्तित्व की शक्ति की क्रीड़ा, अपने अस्तित्व के आनंद की क्रीड़ा का निर्धारण अपनी परम तथा वैश्व सद्वस्तु के साथ सदा ही सहवर्ती और हर ब्यौरे में समस्वर गति में करती है।

विज्ञानमय विकास में चेतना, शक्ति और सत्ता के आनंद की स्थिति, भूमिका और समस्वर की गयी क्रियाओं में बहुत विविधता होगी। स्वभावतः विकसनशील अतिमानस की अपने शिखरों की ओर आगे की चढ़ाई में बहुत-सी श्रेणियां कालक्रम में प्रकट होंगी, लेकिन सबमें समान आधार और तत्त्व होगा। अभिव्यक्ति में आत्मा, सत्ता, अपने-आपको पूरी तरह जानते हुए भी इसके लिये बाधित नहीं है कि रचना और क्रिया के वास्तविक अग्रभाग में, जो उसकी तात्कालिक शक्ति और आत्माभिव्यक्ति की अवस्था है, अपना सब कुछ प्रकट कर दे। हो सकता है कि वह सामने के भाग में कुछ आत्माभिव्यक्ति रखे और अपने-आपके बाकी सबको अपने पीछे आत्म-सत्ता के अनभिव्यक्त आनंद में धारण किये रहे। पीछे रहनेवाला वह सर्व और उसका आनंद अपने-आपको आगे के भाग में पायेगा, अपने-आपको उसके अंदर जानेगा, उस अभिव्यक्ति को, उस सृष्टि को अपनी उपस्थिति और समग्रता तथा अनंतता की अनुभूति से सुरक्षित और भरा हुआ रखेगा। सामने के भाग का यह रूपायण और उसके साथ बाकी सब जो उसके पीछे होगा और जो उसके अंदर सत्ता की शक्ति में धारित होगा, यह सब आत्म-ज्ञान की क्रिया होगी, अज्ञान की नहीं। यह अतिचेतन की आलोकमय आत्माभिव्यक्ति होगी, निश्चेतना में से उछाल नहीं। इस तरह विज्ञानमय चेतना और सत्ता के क्रमविकास के सौंदर्य और पूर्णता में महान् सामंजस्यपूर्ण विविधता एक तत्त्व होगी। अपने चारों ओर के अज्ञान के मन के साथ व्यवहार करते हुए भी और उसी तरह विज्ञानमय विकास की और भी नीची कोटियों के साथ व्यवहार करते हुए अतिमानसिक जीवन अपनी सत्ता के सत्य की इस सहजात शक्ति और गति का उपयोग करेगा। वह उस संपूर्ण सद्वस्तु के प्रकाश में अपनी सत्ता के सत्य का नाता अज्ञान के पीछे के सत्ता के सत्य से जोड़ेगा। वह सभी संबंधों की नींव सर्वसामान्य आध्यात्मिक ऐक्य पर

रखेगा और अभिव्यक्त भेद को स्वीकार करेगा और सामंजस्य में लायेगा। विज्ञानमय प्रकाश हर परिस्थिति में हर एक का हर एक के साथ उचित संबंध और उचित क्रिया-प्रतिक्रिया को निश्चित बना देगा। विज्ञानमय शक्ति या प्रभाव हमेशा समस्वर कार्यान्वयन प्रतिष्ठित करेगा, ज्यादा विकसित और कम विकसित जीवन का उचित संबंध स्थापित करेगा और निचले जीवन पर अपने प्रभाव से ज्यादा महान् सामंजस्य स्थापित करेगा।

जहांतक हम अपनी मानसिक कल्पना से उस बिंदुतक विकास का अनुसरण कर सकते हैं जहां वह अधिमानस से निकलकर, सीमा लांघकर अतिमानसिक विज्ञान में प्रवेश करेगा, विज्ञानमय व्यक्ति की सत्ता, जीवन और कर्म का यही स्वरूप होगा। स्पष्ट है कि विज्ञान की यह प्रकृति विज्ञानमय सत्ताओं के जीवन या उनके सामुदायिक जीवन के संबंधों का निर्धारण करेगी, क्योंकि विज्ञानमय समुदाय ऋत-चेतना की सामुदायिक आत्म-शक्ति होगा, उसी तरह जैसे विज्ञानमय व्यक्ति उसकी वैयक्तिक आत्म-शक्ति होगा। उसमें जीवन और क्रिया का सामंजस्य में वही समाकलन होगा, सत्ता की वही उपलब्ध और सचेतन एकता होगी, वही सहजता, घनिष्ठ ऐक्य का भाव, एक और पारस्परिक सत्य-दृष्टि, आत्मा का और एक-दूसरे के लिये वही सत्य-भाव होगा, एक के दूसरे के साथ और सबमें सबके साथ संबंध में वही सत्य-क्रिया होगी। यह समष्टि और उसकी क्रिया यांत्रिक न होकर आध्यात्मिक समग्र होगी। स्वाधीनता और व्यवस्था का ऐसा ही अनिवार्य मेल सामुदायिक जीवन का विधान होगा। वह दिव्य आत्माओं में अनंत की नानाविध क्रीड़ाओं की स्वाधीनता होगी; और व्यवस्था होगी आत्माओं की सचेतन एकता की जो अतिमानसिक अनंत का विधान है। हमारा एकत्व का मानसिक प्रस्तुतीकरण उसमें एकरूपता का नियम ले आता है। मानसिक तर्क-बुद्धि द्वारा लायी गयी पूर्ण एकता सर्वांगीण मानकीकरण को अपना एकमात्र प्रभावी साधन मानकर उसकी ओर खिंचती है, वहां विभेदों की गौण छटाएं ही कार्य कर सकेंगी; लेकिन विज्ञानमय जीवन का नियम होगा एकत्व की आत्माभिव्यक्ति में विभेद का विशालतम वैभव। विज्ञान-चेतना में विभेद असंगति की ओर नहीं बल्कि सहज-स्वाभाविक अनुकूलीकरण की ओर, एक पूरक प्रचुरता के बोध की ओर—जिसे सामुदायिक रूप से जानना, करना, जीवन में क्रियान्वित करना है—उसके समृद्ध और बहुमुख कार्यान्वयन की ओर ले जायेगा। कारण, मन और प्राण में कठिनाई की रचना अहं से, समग्रों को अलग-अलग घटक अंगों में बांटने से होती है जो विपरीत, विरोधी, विषम प्रतीत होते हैं। जिन चीजों में वे एक-दूसरे से अलग होते हैं उनका आसानी से अनुभव हो जाता है, वे प्रतिष्ठित होते हैं और उनपर जोर दिया जाता है। वे जिसमें मिलते हैं, जो उनकी विभिन्नताओं को साथ पकड़े रहता है, वह प्रायः चूक जाता है या कठिनाई से मिलता है। हर चीज भेद को जीतकर

या उसमें कुछ समायोजन करके एक बनायी गयी एकता द्वारा ही करनी पड़ती है। निश्चय ही एकत्व का एक आधारस्थ तत्त्व है और प्रकृति एकता के निर्माण में उसके आविर्भाव पर जोर देती है; क्योंकि प्रकृति व्यक्तिगत और अहंकारात्मक होने के साथ-ही-साथ सामूहिक और सामुदायिक भी है और उसे साहचर्य के साधनों के रूप में सहानुभूति, सर्व-सामान्य आवश्यकताएं, हित, आकर्षण, सादृश्य और साथ-ही-साथ एकता लाने के अधिक नृशंस साधन भी प्राप्त हैं। लेकिन उसके अहंकारमय जीवन और अहंकारात्मक प्रकृति की गौण, आरोपित और बहुत स्पष्ट दीखनेवाली नींव एकता को ढंक देती और उसकी सभी रचनाओं पर अपूर्णता और असुरक्षा लगा देती है। एक और कठिनाई पैदा होती है अंतर्भास और प्रत्यक्ष भीतरी संपर्क के अभाव बल्कि अपूर्णता से, जिससे हर एक एक पृथक् सत्ता बन जाता है और कठिनाई के साथ दूसरे की सत्ता या प्रकृति को समझने के लिये बाधित होता है, एक भीतर से प्रत्यक्ष संवेदन और पकड़ की जगह बाहर से समझ, पारस्परिकता और सामंजस्य पर आने के लिये बाधित होता है जिससे कि समस्त मानसिक और प्राणिक आदान-प्रदान में बाधा पड़ती है, वह अहंकाररंजित होता है या पारस्परिक अज्ञान के परदे के कारण अधूरा और अपूर्ण रहने के लिये अभिशप्त रहता है। सामुदायिक विज्ञानमय जीवन में समाकलन करनेवाला सत्य-बोध, विज्ञानमय प्रकृति की सुसंगति लानेवाला एकत्व सभी विभिन्नताओं को अपने अंदर अपनी संपदा के रूप में लिये रहेगा और बहुविध विचार, क्रिया और अनुभूति को आलोकमय जीवन-समग्र के एकत्व में बदल देगा। ऋत-चित् के स्वरूप का, उसकी समस्त सत्ता के आध्यात्मिक एकत्व की सक्रिय सिद्धि का यह स्पष्ट तत्त्व होगा, अनिवार्य परिणाम होगा। इस सिद्धि को, जो जीवन की पूर्णता की चाबी है, मानसिक स्तर पर पाना कठिन है और इसे प्राप्त कर भी लिया जाये तो इसे सक्रिय बनाना या संगठित करना कठिन है। यह समस्त विज्ञानमय सृष्टि और विज्ञानमय जीवन में स्वभावतः क्रियाशील और सहज रूप से आत्म-संगठित होगी।

यदि हम यह मान लें कि विज्ञानमय सत्ताएं अज्ञान के जीवन से किसी प्रकार के संपर्क के बिना अपना जीवन जीती हैं तो इतना आसानी से समझ में आ सकता है। लेकिन यहां विकास के तथ्य के कारण विज्ञानमय अभिव्यक्ति एक परिस्थिति ही होगी, यद्यपि होगी समग्र के अंदर एक निर्णायक परिस्थिति। चेतना और जीवन की निम्नतर कोटियां जारी रहेंगी, कुछ अज्ञान में अभिव्यक्ति को जारी रखेंगी, कुछ उसके और विज्ञान की अभिव्यक्ति के बीच मध्यस्थता करेंगी; सत्ता और जीवन के ये दो रूप या तो साथ-साथ रहेंगे या एक-दूसरे में प्रवेश करेंगे। दोनों अवस्थाओं में यह आशा की जा सकती है कि भले तुरंत न हो पर अंततः विज्ञानमय तत्त्व सब पर छा जायेगा। उच्चतर आध्यात्मिक-मानसिक कोटियां अतिमानसिक तत्त्व के स्पर्श में रहेंगी जो अब उन्हें प्रत्यक्ष रूप में सहारा दे रहा होगा और साथ रखेगा

और जो अज्ञान और निश्चेतना की पकड़ से, जो एक समय उन्हें लपेटे हुए था, मुक्ति पा लेंगी। सत्ता के सत्य की अभिव्यक्तियों के रूप में, भले सीमित और किंचित् परिवर्तित रूप में, वे अपना सारा प्रकाश और सारी ऊर्जा अतिमानसिक विज्ञान से प्राप्त करेंगी और उसकी सहायक शक्तियों के साथ बहुत संपर्क रखेंगी। वे अपने-आप आत्मा की सचेतन चालक शक्तियां होंगी और यद्यपि अभीतक उन्होंने अपने पूरी तरह उपलब्ध आध्यात्मिक द्रव्य की पूरी शक्ति प्राप्त न की होगी, फिर भी वे अवर यंत्र-विन्यास के अधीन न होंगी जो निर्ज्ञान के तत्त्व से खंडित, मिश्रित, ह्रसित और अंधकारमय होगा। अधिमानस, अंतर्भासात्मक, प्रकाशमान या उच्चतर मन में उठने या प्रवेश करनेवाला समस्त अज्ञान अज्ञान न रहेगा; वह प्रकाश में प्रवेश करेगा और प्रकाश में उस सत्य को उपलब्ध करेगा जिसे उसने अपने अंधकार से ढक रखा था। वह मुक्ति, रूपांतर, चेतना और सत्ता की नयी अवस्था में से गुजरेगा जो उसे इन उच्चतर स्थितियों के अनुरूप बना देगी और अतिमानसिक स्थिति के लिये तैयार करेगी। साथ ही विज्ञान का अंतर्लीन तत्त्व अब केवल ऐसी छिपी हुई शक्ति के रूप में काम न करेगा जिसका मूल गुप्त हो या जिसका एकमात्र काम हो वस्तुओं को परदे के पीछे से सहारा देना, या कभी-कदास हस्तक्षेप करना, उसकी जगह वह प्रकट, उदित और निरंतर सक्रिय शक्ति के रूप में कार्य करेगा और अभीतक बनी हुई निश्चेतना और अज्ञान पर अपने सामंजस्य के विधान का कुछ अंश लागू कर सकेगा। क्योंकि, उनके अंदर छिपी हुई विज्ञानमय शक्ति अपने अवलंब और प्रवर्तन की अधिक बड़ी शक्ति के साथ, अधिक स्वतंत्र और अधिक सबल हस्तक्षेप के साथ कार्य करेगी। अज्ञान के जीव विज्ञान के जीवों के संग से और पार्थिव प्रकृति में अतिमानसिक सत्-पुरुष और शक्ति की विकसित और प्रभावशाली उपस्थिति के परिणामस्वरूप विज्ञान के प्रकाश से प्रभावित होकर अधिक सचेतन और संवेदनशील होंगे। स्वयं मानवजाति के अरूपांतरित भाग में मानसिक मनुष्य-सत्ताओं का एक नया और श्रेष्ठतर वर्ग उत्पन्न हो सकता है क्योंकि ऐसे मानसिक पुरुष का आविर्भाव होगा जो प्रत्यक्ष अंतर्भासात्मक या आंशिक रूप से अंतर्भासात्मक हो, पर जो अभीतक विज्ञानमय मानसिक सत्ता न हो; प्रत्यक्ष या आंशिक रूप से आलोकित मानसिक सत्ता, उच्चतर विचार के लोक के साथ प्रत्यक्ष या आंशिक सायुज्य रखनेवाली मानसिक सत्ता उत्पन्न होगी। ये अधिकाधिक बहुसंख्यक, अधिकाधिक विकसित और अपने प्ररूप में सुरक्षित होती जायेंगी और ये उच्चतर मानवता की एक गठित जाति की तरह भी रह सकती हैं जो कम विकसित लोगों को सब भूतों में एक ही भगवान् की अभिव्यक्ति के बोध से उत्पन्न सच्चे भ्रातृभाव से ऊपर की ओर ले जा रही होगी। इस भांति उच्चतम की परिपूर्णता का अर्थ यह भी हो सकता है कि जिसे अब भी नीचे रहना है उसे अपनी श्रेणी में न्यूनतर पूर्णता तो प्राप्त हो ही

जाये। विकास के उच्चतर छोर पर अतिमानस की ऊपर चढ़ती हुई श्रेणियां और चोटियां सच्चिदानंद की शुद्ध आध्यात्मिक सत्ता, चेतना और आनंद की किसी परम अभिव्यक्ति की ओर उठना शुरू करेंगी।

यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या विज्ञानमय परावर्तन का, विज्ञानमय विकास में और उसके परे जाने का अर्थ, जल्दी हो या देर से, निश्चेतना में से होनेवाले विकास की समाप्ति न होगा क्योंकि तब वस्तुओं के अंधकारमय आरंभ का कारण समाप्त हो जायेगा। यह एक अगले प्रश्न पर निर्भर है कि क्या सत्ता के दो छोरों के रूप में अतिचेतना और निश्चेतना के बीच संचरण भौतिक अभिव्यक्ति का स्थायी धर्म है या एक अस्थायी परिस्थिति है। सारे भौतिक विश्व के लिये व्यापकता और स्थायित्व की निश्चेतन नींव एक बहुत ही आश्चर्यजनक शक्ति द्वारा रखी गयी है, उसे देखते हुए इस दूसरी मान्यता को स्वीकार करना कठिन है। प्रथम विकसनशील तत्त्व के पूरे उलटाव या बहिष्करण का अर्थ होगा एक साथ इस बृहत् वैश्व निश्चेतना में अंतर्लीन रहस्यमय चेतना की अभिव्यक्ति का हर भाग में आविर्भाव। प्रकृति की किसी विशेष धारा में, उदाहरण के लिये, पार्थिव धारा में परिवर्तन का कोई ऐसा सर्वव्यापी प्रभाव न हो सकेगा। पार्थिव प्रकृति में अभिव्यक्ति का अपना चक्र होता है और हमें बस इस चक्र की पूर्ति के बारे में ही विचार करना है। यहां शायद यह कहने का साहस किया जा सकता है कि अंतिम परिणाम के रूप में सचेतन सत्ता के उच्चतर परार्द्ध में अपरार्द्ध की त्रयी में अंतःप्रकाशात्मक सृजन या प्रजनन श्रेणी और कोटि में वही रहते हुए भी सामंजस्य के विधान, विविधता में ऐसे ऐक्य के विधान के आधीन रहते हैं जो ऐक्य को कार्यान्वित कर रहा है। अब यह संघर्ष द्वारा विकास नहीं रहेगा। यह एक स्तर से दूसरे स्तरतक, कम से अधिक प्रकाश की ओर आत्मोन्मीलनकारी सत्ता की शक्ति और सुंदरता के प्रतिरूप से ज्यादा ऊंचे प्रतिरूप की ओर सामंजस्यपूर्ण विकास होगा। इससे भिन्न तभी हो सकता है जब अनंत की रहस्यमय संभावना को कार्यान्वित करने के लिये, जिसका मूल तत्त्व निश्चेतना में डूबा हुआ है, उसमें संघर्ष और कष्ट का विधान फिर भी किसी कारण जरूरी रह जाये। लेकिन पार्थिव प्रकृति के लिये ऐसा लगता है कि एक बार अतिमानसिक विज्ञान निश्चेतना में से उभर आये तो यह आवश्यकता समाप्त हो जायेगी, उसके दृढ़ आविर्भाव के साथ परिवर्तन शुरू होगा और उस परिवर्तन का चरम उत्कर्ष तब होगा जब अतिमानसिक विकास पूरा हो जायेगा और सच्चिदानंद की परम अभिव्यक्ति की महत्तर पूर्णता में उदित हो जायेगा।

अध्याय २८

दिव्य जीवन

त्वमग्ने वृजिनवर्तनिं नरं सक्मन् पिपर्षि विदथे विचर्षणे . . . ।

हे द्रष्टा अग्नि तुम कुटिल राहों पर चलनेवाले मनुष्य को स्थायी सत्य में और ज्ञान में ले जाते हो।

ऋग्वेद १.३१.६

उभे पुनामि रोदसी ऋतेन . . . . . ।

मैं भूलोक और द्युलोक दोनों को ऋत के द्वारा पवित्र करता हूं।

ऋग्वेद १.१३३.१

सो . . . . . मदः . . . . . ।
द्वा जना यातयन्नन्तरीयते नरा च शंसं दैव्यं च धर्तरि ॥

उसका आनंद-मद अपने धारण करनेवाले में मानव आत्माभिव्यक्ति और दिव्य आत्माभिव्यक्ति, इन दो जन्मों को प्रस्फुरित करता और इनके बीच विचरण करता है।

ऋग्वेद ९.८६.४२

ते अस्य सन्तु केतवोऽमृत्यवोऽदाभ्यासो जनुषी उभे अनु ।
येभिर्नृम्णा च देव्या च पुनते . . . ॥

उसके अंतर्भास की अजेय किरणें अमरता की खोज करती हुई, दोनों जन्मों में व्याप्त होती हुई वहां रहें क्योंकि उनके द्वारा वह मानव शक्तियों और दिव्य वस्तुओं को एक ही गति में प्रवाहित करता है।

ऋग्वेद ९.७०.३

आदित् ते विश्वे क्रतुं जुषन्त
शुष्काद् यद् देव जीवो जनिष्ठाः ।
भजन्त विश्वे देवत्वं नाम
ऋतु सपन्तो अमृतमेवैः ॥

जब तुम शुष्क वृक्ष से जीवित देव के रूप में जन्म लेते हो तब सभी तुम्हारी इच्छा को स्वीकार करें ताकि वे देवत्व पा सकें और तुम्हारी गतियों के वेग से ऋत और अमृत पर अधिकार पा सकें।

ऋग्वेद १.६८.२.

हमारा प्रयास यह खोजने का रहा है कि जड़ जगत् में सचेतन सत्ताओं के रूप में

हमारे जीवन की वास्तविकता और सार्थकता क्या है और एक बार हमें उस सार्थकता का पता लग जाये तो वह किस दिशा में और कितनी दूरतक, किस मानव या दिव्य भविष्य की ओर ले जाती है। हो सकता है कि यहांपर हमारा जीवन वस्तुतः जड़पदार्थ की एक परिणामहीन सनक हो या जड़पदार्थ को बनानेवाली किसी ऊर्जा की सनक हो या फिर आत्मा की कोई अव्याख्येय सनक हो। या फिर यह भी हो सकता है कि हमारा यह जीवन किसी विश्वातीत स्रष्टा की मनमौजी तरंग हो। ऐसी अवस्था में उसकी कोई मार्मिक सार्थकता नहीं हो सकती—यदि जड़-पदार्थ या निश्चेतन ऊर्जा सनक की निर्माता हो तब तो कोई भी सार्थक्य नहीं होता, क्योंकि तब अपने अच्छे-से-अच्छे रूप में वह संयोग के भटकते हुए चक्कर का भ्रांत वर्णन या अंधी आवश्यकता का कठोर चक्र होगा। उसकी बस एक काल्पनिक सार्थकता हो सकती है जो अगर आध्यात्म सत्ता की भूल है तो शून्य में विलीन हो जाती है। निश्चय ही यह हो सकता है कि किसी सचेतन स्रष्टा ने हमारे जीवन में कोई अर्थ रखा हो लेकिन उसे उसकी इच्छा प्रकट होने पर ही जाना जा सकता है, वह वस्तुओं के स्वभाव में निहित नहीं होता और वहां उसे जाना नहीं जा सकता। लेकिन अगर कोई स्वयंभू सद्वस्तु है, हमारा जीवन जिसका परिणाम है, तो उस सद्वस्तु का एक सत्य होना चाहिये जो यहां अपने-आपको अभिव्यक्त और कार्यान्वित कर रहा है और विकसित हो रहा है, वह हमारी सत्ता और जीवन का अर्थ होगा। वह सद्वस्तु चाहे जो कुछ हो, वह कोई ऐसी चीज है जिसने काल में अपने ऊपर संभूति का रूप धारण किया है। और यह संभूति अविभाज्य है क्योंकि जिस अतीत ने हमारे वर्तमान और भविष्य की रचना की है उसे वे वर्तमान और भविष्य रूपांतरित कर अपने अंदर लिये चलते हैं और फिर, अतीत और वर्तमान ने भी तबतक असृष्ट भविष्य में अपने उस रूपांतर को अपने अंदर समाये रखा था और समाये रहते हैं जो हमारे लिये इसलिये अदृश्य है क्योंकि वह अभीतक अविकसित और अनभिव्यक्त है। हमारे इह-जीवन का अर्थ हमारी नियति को निर्धारित करता है। वह नियति एक ऐसी चीज है जो अब भी हमारे अंदर आवश्यकता और संभाव्यता के रूप में विद्यमान है। वह है हमारी सत्ता की गूढ़ और उभरती हुई सद्वस्तु की आवश्यकता और उसकी संभावनाओं का सत्य जो कार्यान्वित किया जा रहा है। दोनों यद्यपि अभीतक उपलब्ध तो नहीं हुए हैं फिर भी अभीतक जो कुछ अभिव्यक्त हुआ है उसमें निहित हैं। अगर कोई सत् है जो संभूत हो रहा है, जीवन की सद्वस्तु है जो अपने-आपको काल में फैलाती जा रही है तो वह सत्ता और वह सद्वस्तु जो कुछ गुप्त रूप से है वही हमें बनना है और वैसा बनना ही हमारे जीवन की सार्थकता है।

इसी भांति काल में जो क्रियान्वित किया जा रहा है उसके संकेत शब्द होने चाहियें चेतना और जीवन। क्योंकि उनके बिना जड़-पदार्थ और जड़-पदार्थ का

जगत् निरर्थक आभास होंगे, एक ऐसी चीज होंगे जो यूं ही, संयोग से या निश्चेतन आवश्यकता के कारण हो गयी। परंतु चेतना जैसी कि वह है, जीवन जैसा कि वह है, पूरा रहस्य नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों स्पष्ट रूप से अपूर्ण और प्रक्रिया में पड़ी हुई चीजें हैं। हमारे अंदर चेतना है मन और हमारा मन अज्ञानी और अपूर्ण है, एक ऐसी मध्यस्थ शक्ति है जो अपने से परे की किसी चीज की ओर बढ़ी और बढ़ रही है। इससे पहले निम्नतर चेतना के स्तर आये थे जिनमें से वह उभरा; तो स्पष्टतः और भी ऊंचे स्तर होने चाहियें जिनकी ओर वह उठ रहा है। हमारे विचारक, तर्कशील, मननशील मन से पहले एक विचारहीन परंतु जीवित और संज्ञासंपन्न चेतना थी और उससे भी पहले अवचेतना और निश्चेतना थीं। हमारे बाद या हमारे अभीतक अविकसित जीवों में संभवतः एक महत्तर, आत्म-ज्योतिर्मय चेतना प्रतीक्षा कर रही है जो रचनात्मक विचार पर निर्भर नहीं है। हमारा अपूर्ण और अज्ञानमय विचारात्मक मन निश्चय ही चेतना का अंतिम शब्द या चरम संभावना नहीं है। क्योंकि, चेतना का सारतत्त्व है अपने बारे में और अपने विषयों के बारे में अभिज्ञ होने की शक्ति और अपने सच्चे स्वभाव के अनुसार इस शक्ति को प्रत्यक्ष, आत्म-परिपूरित और संपूर्ण होना चाहिये। यदि हमारे अंदर वह परोक्ष, अपूर्ण, अपनी क्रिया में अपरिपूरित, बनाये हुए यंत्रों पर निर्भर है तो इसलिये कि यहां चेतना मौलिक निश्चेतन अवगुंठन में से उभर रही है और अभीतक उस प्रथम निर्ज्ञान से लिपटी और भारग्रस्त है जो निश्चेतना की अपनी चीज है। लेकिन उसमें पूरी तरह से उभरने की शक्ति होनी चाहिये, उसकी नियति होनी चाहिये अपनी ही पूर्णता में विकसित होना, यही उसका सच्चा स्वभाव है। उसका सच्चा स्वभाव है अपने विषयों के बारे में पूरी तरह अभिज्ञ होना और इन विषयों में पहला है जीव, वह सत्ता जो अपनी चेतना को यहां विकसित कर रही है और बाकी सब है वह जिसे हम अनात्म के रूप में देखते हैं, लेकिन अगर जीवन अविभाज्य है तो उसे भी वास्तव में आत्मा होना चाहिये। तब विकसनशील चेतना की नियति होनी चाहिये; उसका अभिज्ञता में पूर्ण होना, पूरी तरह आत्म-अभिज्ञ और सर्व-अभिज्ञ होना। हमारे लिये चेतना की यह पूर्ण और स्वाभाविक स्थिति अतिचेतना है—एक ऐसी स्थिति जो हमारे परे है। अगर हमारे मन को अचानक वहां स्थानांतरित कर दिया जाये तो वह शुरू में कार्य न कर सकेगा। लेकिन हमारी सचेतन सत्ता को इसी अतिचेतना की ओर विकसित होना चाहिये। लेकिन हमारी चेतना का अतिचेतना या स्वयं अपने परम की ओर विकास तभी संभव है यदि निश्चेतना, जो यहांपर हमारा आधार है, वह वास्तव में अंतर्लीन अतिचेतना हो; क्योंकि सद्वस्तु की संभूति में हमारे अंदर जो होनेवाला है उसे पहले से ही उसके आरंभ में अंतर्लीन या गुप्त रूप से होना चाहिये। हम भली-भांति कल्पना कर सकते हैं कि निश्चेतना इस प्रकार की अंतर्लीन सत्ता या शक्ति है जब हम बारीकी से इस

निश्चेतन-ऊर्जा की जड़ सृष्टि को देखते हैं और उसे विलक्षण निर्माण और अनंत उपायों के साथ विशाल अंतर्लीन प्रज्ञा के कार्य पर परिश्रम करते देखते हैं और देखते हैं कि स्वयं हम उसी प्रज्ञा का अंश हैं जो उसके अंतर्लयन में से विकसित हो रहा है, एक उभरती हुई चेतना हैं जिसका उभरना तबतक मार्ग के बीच में नहीं रुक सकता जबतक अंतर्लीन विकसित होकर अपने-आपको परम प्रज्ञा, समग्र रूप से आत्म-अभिज्ञ और सर्व-अभिज्ञ प्रज्ञा के रूप में प्रकट न करे। हमने इसे अतिमानस या विज्ञान का नाम दिया है क्योंकि यह स्पष्ट है कि यही सद्वस्तु, सत्ता तथा आध्यात्म पुरुष की चेतना होनी चाहिये जो हमारे अंदर गुप्त है और धीरे-धीरे यहां अभिव्यक्त हो रही है, हम उसी सत्ता की संभूतियां हैं और हमें उसीकी प्रकृति में विकसित होना चाहिये।

अगर चेतना केंद्रीय मर्म है तो जीवन उसका बाहरी संकेत, जड़-पदार्थ में सत्ता की प्रभावशाली शक्ति है; क्योंकि वही चेतना को मुक्त करता और उसे आकार या शक्ति का मूर्तरूप और भौतिक क्रिया में कार्यान्वयन प्रदान करता है। यदि विकसनशील पुरुष का अपने जन्म में चरम लक्ष्य है जड़-पदार्थ में अपना कोई प्रकटन या कार्यान्वयन तो जीवन उस प्रकटन और कार्यान्वयन का बाहरी और क्रियाशील चिह्न तथा संकेत है। लेकिन जीवन भी, जैसा कि वह अब है, अपूर्ण और विकसनशील है, वह चेतना की वृद्धि द्वारा विकसित होता है जैसे चेतना जीवन के अधिक बड़े संगठन और पूर्णता द्वारा विकसित होती है। महत्तर चेतना का अर्थ है महत्तर जीवन। मनुष्य, मानसिक सत्ता का जीवन अपूर्ण होता है क्योंकि मन पुरुष की चेतना की प्रथम या उच्चतम शक्ति नहीं है। अगर मन पूर्ण हो भी जाये तो भी कोई ऐसी चीज बची रहेगी जो अभिव्यक्त नहीं हुई हो, जिसे उपलब्ध करना है; क्योंकि जो अंतर्लीन है, और प्रकट हो रहा है वह मन नहीं, आध्यात्म तत्त्व है और मन आध्यात्म पुरुष की चेतना की सहज गतिशीलता नहीं है; बल्कि अतिमानस, विज्ञान का प्रकाश उसकी सहज गतिशीलता है। तो अगर जीवन को आत्मा की अभिव्यक्ति बनना है तो विकसनशील प्रकृति का अभिप्राय और गुप्त टेक होनी चाहिये, हमारे अंदर आध्यात्मिक सत्ता की अभिव्यक्ति और आध्यात्मिक सत्ता में अतिमानसिक या विज्ञानमय शक्ति में पूर्णीकृत चेतना का दिव्य जीवन।

तत्त्वतः सारा आध्यात्मिक जीवन दिव्य जीवन में विकास है। वह सीमा निर्धारित करना कठिन है जहां मन समाप्त होता और दिव्य जीवन आरंभ होता है क्योंकि दोनों एक-दूसरे में प्रक्षिप्त होते हैं और इनके मिले-जुले जीवन का एक लंबा अंतराल होता है। इस अंतराल का एक बड़ा भाग—जहां आध्यात्मिक प्रेरणा धरती या संसार से एकदम मुंह नहीं मोड़ लेती—बनते हुए उच्चतर जीवन की एक प्रक्रिया के रूप में देखा जा सकता है। जैसे-जैसे मन और प्राण आध्यात्म पुरुष के प्रकाश से प्रदीप्त होने लगते हैं वे देवत्व, गुप्त महत्तर सद्वस्तु की किसी चीज को धारण

करने या प्रतिबिंबित करने लगते हैं; और इसे तबतक बढ़ते जाना चाहिये जबतक कि अंतराल पार न कर लिया जाये, पूरा जीवन आध्यात्म तत्त्व के पूर्ण प्रकाश और शक्ति में एक न हो जाये। लेकिन विकास की प्रेरणा की समग्र तथा पूर्ण परिपूर्ति के लिये इस प्रकाश और परिवर्तन को पूरी सत्ता, मन, प्राण और शरीर को हाथ में लेकर फिर से बनाना चाहिये। यह केवल भगवान् की एक भीतरी अनुभूति न होकर, उनकी शक्ति द्वारा भीतरी और बाहरी दोनों जीवनों का फिर से ढालना हो। उसे केवल व्यक्ति के जीवन में ही नहीं बल्कि विज्ञानमय सत्ताओं के सामूहिक जीवन के रूप में साकार होना है जो पार्थिव प्रकृति में आध्यात्म पुरुष की उच्चतम शक्ति तथा रूप की संभूति के रूप में प्रतिष्ठित हो। इसके संभव होने के लिये हमारे अंदर की आध्यात्मिक सत्ता को सत्ता की केवल आंतरिक स्थिति नहीं बल्कि सत्ता की बहिर्गामी शक्ति की समाकलित पूर्णता भी विकसित करनी होगी। उस पूर्णता के साथ और उस पूर्णता की आवश्यकता के लिये, उसने बाह्य जीवन के अपने ही क्रियाबल और साधनविनियोग विकसित कर लिये होंगे।

निश्चय ही भीतर एक आध्यात्मिक जीवन हो सकता है, हमारे अंदर स्वर्ग का ऐसा राज्य जो किसी बाहरी अभिव्यक्ति, यंत्र-विन्यास या बाहरी सत्ता के सूत्र पर निर्भर नहीं होता। आंतरिक जीवन का परम आध्यात्मिक महत्त्व होता है और बाहरी जीवन का बस उतना ही मूल्य होता है जितना वह भीतरी स्थिति को अभिव्यक्त कर सके। फिर भी, आध्यात्मिक उपलब्धिवाला व्यक्ति जिस तरह भी रहता हो, कर्म करता हो, बर्ताव करता हो वह सत्ता और कर्म के सभी तरीकों में, जैसा गीता में कहा गया है, "*सर्वथा मयि वर्तते*" मेरे अंदर रहता और कर्म करता है। वह भगवान् के अंदर निवास करता है, उसने दिव्य जीवन उपलब्ध कर लिया है। आध्यात्मिक बोध में निवास करता हुआ, अपने अंदर और सब जगह भगवान् की अनुभूति में निवास करता हुआ आध्यात्मिक मनुष्य अंतर में दिव्य जीवन जी रहा होगा और उसकी छाया उसके जीवन की बाहरी क्रियाओं पर पड़ेगी, भले ही वे कर्म पार्थिव प्रकृति के इस जगत् में मानव-विचार और क्रिया के सामान्य यंत्र-विन्यास के परे न गये हों या परे गये हुए प्रतीत न होते हों। विषय का यह पहला सत्य और सार-तत्त्व है, फिर भी आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से यह केवल अपरिवर्तित पर्यावरण के जीवन में व्यक्तिगत मुक्ति और पूर्णता होगी। क्योंकि पार्थिव प्रकृति में ज्यादा बड़ा क्रियाशील परिवर्तन लाने के लिये, जीवन और कर्म के सभी तत्त्वों और उपकरणों के आध्यात्मिक परिवर्तन के लिये, समग्र सिद्धि की, दिव्य परिणाम की अपनी धारणा में हमें जीवों की एक नयी श्रेणी और एक नये पार्थिव जीवन के प्रादुर्भाव का समावेश करना होगा। यहां विज्ञानमय परिवर्तन एक प्राथमिक महत्त्व धारण कर लेता है, जो कुछ पहले हो चुका उसे समस्त प्रकृति के रूपांतरकारी परावर्तन के लिये निर्माण और तैयारी माना जा सकता है। क्योंकि,

क्रियाशील जीवन की विज्ञान-रीति ही, ऐसी जीवन-रीति ही सिद्ध दिव्य जीवन होगी जो भौतिक जीवन में चेतना को सक्रिय करने के लिये जगत्-ज्ञान तथा जगत्-कर्म के उच्चतर साधनों का विकास करती हुई, जड़-प्रकृति के जगत् के मूल्यों को हाथ में लेती और रूपांतरित करती है।

लेकिन स्वयं अपनी प्रकृति के अनुसार विज्ञान-जीवन की सारी नींव सदा ही बहिर्मुख नहीं, अंतर्मुख होनी चाहिये। आध्यात्म जीवन में आध्यात्म सत्ता, आंतरिक सद्वस्तु ने ही मन, प्राणिक सत्ता और शरीर का अपने यंत्र-विन्यास के रूप में निर्माण किया है और वही उनका उपयोग करती है और विचार, भावना और क्रिया का अस्तित्व स्वयं उनके लिये नहीं है; वे साध्य नहीं, साधन हैं। वे हमारे अंदर अभिव्यक्त दिव्य सद्वस्तु को प्रकट करने का काम करते हैं: अन्यथा, इस आंतरिकता के बिना, इस आध्यात्मिक उद्गम के बिना, अत्यधिक बहिर्मुख चेतना में या केवल बाहरी साधनों द्वारा कोई श्रेष्ठतर या दिव्य जीवन संभव नहीं है। हमारे वर्तमान प्राकृतिक जीवन में, हमारे बहिर्मुख सतही जीवन में ऐसा प्रतीत होता है कि जगत् हमारा निर्माण कर रहा है, लेकिन आध्यात्मिक जीवन की ओर मोड़ में हमें स्वयं अपना और अपने जगत् का निर्माण करना चाहिये। सृष्टि के इस नये सूत्र में आंतरिक जीवन प्रथम महत्त्व ले लेता है और बाकी सब उसकी केवल अभिव्यक्ति और परिणाम ही हो सकता है। वस्तुतः पूर्णता की ओर, स्वयं हमारी अंतरात्मा, मन और प्राण की पूर्णता और जाति के जीवन की पूर्णता की ओर, हमारे अपने प्रयास इसीकी ओर संकेत करते हैं, क्योंकि हमें एक ऐसा जगत् दिया गया है जो अंधेरा, अज्ञानमय, जड़, अपूर्ण है और हमारी बाहरी सचेतन सत्ता स्वयं इस विशाल मूक अंधकार की ऊर्जाओं, दबाव और ढालनेवाली क्रियाओं से भौतिक जन्म द्वारा, पर्यावरण द्वारा, जीवन की टक्करों और आध्यात्म से दी गयी शिक्षा द्वारा निर्मित है। फिर भी, हम अपने अंदर किसी ऐसी चीज के बारे में अस्पष्ट रूप से अभिज्ञ हैं जो हमारे अंदर मौजूद है या होना चाहती है, उस चीज से भिन्न जो इस तरह बनी है; मानों एक स्वयंभू, आत्म-निर्धारक पुरुष है जो प्रकृति को अपनी गुह्य पूर्णता या पूर्णता के भाव की प्रतिमूर्ति के सृजन की ओर प्रवृत्त करता है। हमारे अंदर कुछ ऐसी चीज है जो इस मांग के उत्तर में हमारे अंदर विकसित होती है, जो दिव्य "किंचित्" की मूर्ति बनने की कोशिश करती है और उसे जो बाहरी जगत् दिया गया है उसपर परिश्रम करने को प्रेरित होती है और उसका भी एक ज्यादा बड़ी मूर्ति के रूप में, स्वयं उसकी अपनी आध्यात्मिक, मानसिक और प्राणिक वृद्धि की मूर्ति के रूप में पुनर्निर्माण करने को प्रेरित होती है। हमारे जगत् को भी ऐसी चीज बनाने को प्रेरित होती है जो हमारे मन और आत्म-भावक आत्मा के अनुसार बनी हो, कुछ नयी, सामंजस्यभरी और पूर्ण चीज।

लेकिन हमारा मन अंधेरा है, अपनी धारणाओं में आंशिक है, विरोधी सतही

आभासों से भटक जाता है और विभिन्न संभावनाओं में बंटा रहता है। वह तीन अलग-अलग दिशाओं में ले जाया जाता है जिनमें से किसी एक को वह अनन्य रूप से पसंद कर सकता है। क्या होना चाहिये इसकी खोज में हमारा मन हमारे अपने भीतरी आध्यात्मिक विकास और पूर्णता पर केंद्रण की ओर, अपनी वैयक्तिक सत्ता और आंतरिक जीवन की ओर मुड़ सकता है या वह हमारी सतही प्रकृति के व्यष्टिगत विकास पर केंद्रण की ओर मुड़ता है, यानी हमारे विचार और जगत् पर; बाह्य क्रियाशील या व्यावहारिक क्रिया पर अपने इर्द-गिर्द जगत् के साथ व्यक्तिगत संबंध के आदर्शवाद की ओर या फिर वह स्वयं बाह्य जगत् पर संकेंद्रण की ओर मुड़ता है, उसे ऐसा बनाने के लिये कि वह बाह्य जगत् हमारे विचारों, हमारे स्वभाव या क्या होना चाहिये इसके बारे में हमारी धारणा के अनुकूल हो। एक ओर तो हमारी उस आध्यात्मिक सत्ता की पुकार है जो हमारी सच्ची आत्मा, परात्पर सद्वस्तु, दिव्य सत्ता की सत्ता है जिसका निर्माण जगत् ने नहीं किया, जो अपने-आपमें रह सकती है, जो जगत् में से परात्पर में उठ सकती है, दूसरी ओर हमारे इर्द-गिर्द के जगत् की मांग है जो वैश्व रूप है, दिव्य सत्ता का रूपायन है, छद्मवेश में सद्वस्तु की शक्ति है। फिर हमारी प्रकृति की सत्ता की विभक्त या दोहरी मांग भी है जो इन दो अवस्थाओं के बीच में स्थित है, उनपर निर्भर है और उन्हें जोड़ती है; क्योंकि प्रतीयमान रूप में तो उसे जगत् ने बनाया है, लेकिन चूंकि उसका सच्चा स्रष्टा हमारे अंदर है और जो जगत्-साधन उसे बनानेवाला मालूम होता है वह ऐसा साधन है जिसका पहले उपयोग किया गया था अतः सचमुच वह एक रूप है हमारे अंदर स्थित महत्तर आध्यात्मिक सत्ता का, छद्मवेश में उसकी एक अभिव्यक्ति है। यह मांग ही हमारी अंतर्मुख पूर्णता या आध्यात्मिक मुक्ति में तल्लीनता और बाहरी जगत् और उसकी रचना में तल्लीनता के बीच मध्यस्थता करती, इन दो अवस्थाओं के बीच अधिक सुखद संबंध पर आग्रह करती और ज्यादा अच्छे जगत् में ज्यादा अच्छे व्यक्ति का आदर्श बनाती है। लेकिन सद्वस्तु को और पूर्ण-जीवन के स्रोत और आधार को हमारे भीतर ही खोजना चाहिये, कोई बाहरी रूपायन उसका स्थान नहीं ले सकता। अगर जगत् और प्रकृति में सच्चे जीवन को उपलब्ध करना है तो भीतर सच्ची आत्मा को उपलब्ध करना होगा।

दिव्य जीवन के अंदर वृद्धि में आध्यात्म पुरुष हमारी पहली तल्लीनता होना चाहिये। जबतक हम उसे उसके मानसिक, प्राणिक, शारीरिक आच्छादनों और छद्मवेशों से निकाल कर अपनी सत्ता में प्रकट और विकसित नहीं कर देते, उपनिषद् के अनुसार, धीरज के साथ उसे शरीर में से बाहर नहीं निकाल लेते, जबतक हम अपने अंदर आध्यात्म-पुरुष का आंतरिक जीवन नहीं बना लेते, स्पष्ट है कि तबतक बाहरी दिव्य जीवन संभव नहीं हो सकता। हां, यदि कोई मानसिक या प्राणिक देव ही हमारी दृष्टि में हो और हम उस जैसा होना चाहें तो बात अलग है।

लेकिन तब भी हमारे अंदर के वैयक्तिक मानसिक पुरुष को या शक्ति, प्राणिक बल और कामना के पुरुष को विकसित होकर उसी देव की मूर्ति बनना होगा, उसके बाद ही हमारा जीवन उस अवर अर्थ में दिव्य हो सकेगा, अव-आध्यात्मिक अतिमानव, मानसिक अर्द्ध-देव, या प्राणिक राक्षस, देव या असुर का जीवन हो सकेगा। एक बार यह आंतरिक जीवन बन जाये तो हमारी दूसरी तल्लीनता होनी चाहिये सारी सतही सत्ता को, हमारे विचार, भावना और जगत् में क्रियाओं को उस आंतरिक जीवन की पूर्ण शक्ति में बदलना। अगर हम अपने सक्रिय अंगों में उस अधिक गभीर और महान् रीति से रहें तभी महत्तर जीवन के सृजन की शक्ति आ सकती है या जगत् का ऐसा पुनर्निर्माण किया जा सकता है जिससे वह मन या प्राण की किसी शक्ति या पूर्णता या अध्यात्म की शक्ति या पूर्णता का रूप ले। पूर्णीकृत मानव जगत् न तो ऐसे मनुष्यों के द्वारा बना हो सकता है और न ऐसे मनुष्यों का बना हो सकता है जो अपने-आप अपूर्ण हों। अगर हमारे सभी कर्म, शिक्षा, विधान, सामाजिक या राजनीतिक मशीन द्वारा बड़ी ही सावधानी के साथ नियंत्रित हों तो भी हमें प्राप्त होगा मनों का नियमबद्ध नमूना, जीवनों का गढ़ा हुआ नमूना, आचार का परिष्कृत नमूना। लेकिन इस तरह की अनुरूपता भीतरी मनुष्य को न तो बदल सकती है न उसका पुनर्निर्माण कर सकती है। वह काट-छांटकर या तराश कर पूर्ण अंतरात्मा या पूर्ण विचारशील मनुष्य या पूर्ण या विकसनशील जीवंत सत्ता को नहीं बना सकती। क्योंकि अंतरात्मा, मन और प्राण सत्ता की शक्तियां हैं जो बढ़ तो सकती हैं पर उन्हें तराशा या बनाया नहीं जा सकता। कोई बाहरी प्रक्रिया या रूपायन अंतरात्मा, मन और प्राण की सहायता कर सकता है, उन्हें प्रकट कर सकता है परंतु उनकी रचना या उनका विकास नहीं कर सकता। निश्चय ही हम सत्ता की वृद्धि में सहायता कर सकते हैं, निर्माण के प्रयास से नहीं बल्कि उसपर प्रेरक प्रभाव डालकर या अपनी अंतरात्मा, मन और प्राण की शक्तियां देकर; लेकिन ऐसा होने पर भी वृद्धि को बाहर से नहीं भीतर से ही आना चाहिये और वहीं से यह निर्णय करना होगा कि इन प्रभावों और शक्तियों का क्या किया जाये। यही वह पहला सत्य है जिसे हमारे सर्जनशील उत्साह और अभीप्सा को सीखना चाहिये, नहीं तो हमारा सारा मानव-प्रयास व्यर्थ के चक्कर में घूमते रहने के लिये अभिशप्त होगा और उसका अंत रमणीय दीखनेवाली असफलता में होगा।

कुछ होना या बनना, किसी चीज को अस्तित्व में लाना, यही प्रकृति की शक्ति का सारा श्रम है। जानना, अनुभव करना और करना, ये अवर ऊर्जाएं हैं जिनका मूल्य इसलिये है क्योंकि वे सत्ता को, वह जो है उसे अभिव्यक्त करने की आंशिक आत्मोपलब्धि में सहायता करती हैं और साथ ही, उससे बढ़कर, जो अभीतक उपलब्ध नहीं हुआ है और जो उसे होना है, उसे व्यक्त करने की प्रेरणा में सहायता

देती हैं। लेकिन ज्ञान, विचार, कर्म—चाहे धार्मिक, नैतिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, उपयोगितावादी या सुखवादी हों, चाहे वे जीवन का मानसिक, प्राणिक या शारीरिक रूप या निर्माण हों—वे जीवन का सार या लक्ष्य नहीं हो सकते; वे केवल सत्ता की शक्तियों की क्रियाएं या उसकी संभूति की क्रियाएं, उसके अपने क्रियाशील प्रतीक, मूर्तरूप आध्यात्म पुरुष की रचनाएं, वह जो होना चाहता है उसे खोजने या रूपायित करने के साधन हैं। मनुष्य के भौतिक मन की प्रवृत्ति होती है और तरह से देखने की और वस्तुओं की सच्ची विधि को ऊपर से नीचे उलट देने की, क्योंकि वह प्रकृति के आभासों या सतही शक्तियों को तात्त्विक या आधारभूत मानता है। वह उसके सृजन को दृश्य, बाह्य प्रक्रिया द्वारा उसकी क्रिया के सारतत्त्व के रूप में मानता है और यह नहीं देखता कि यह केवल गौण आभास है जो एक महत्तर गुप्त प्रक्रिया को छिपाये रखता है। क्योंकि प्रकृति की गुह्य पद्धति है सत्ता को उसकी शक्तियों और उसके रूपों द्वारा बाहर निकाल कर प्रकट करना। उसका बाहरी दबाव केवल अंतर्लीन सत्ता को इस विकास की, इस आत्म-रूपायन की आवश्यकता के लिये जगाने का साधन है। जब उसके विकास की आध्यात्मिक स्थिति आ जाती है तो इस गुह्य प्रक्रिया को ही पूरी प्रक्रिया बन जाना चाहिये। सबसे अधिक महत्त्व होगा शक्तियों के परदे से निकलकर उनके गुप्त, मुख्य स्रोततक पहुंचना जो आध्यात्म पुरुष है। आत्म-स्वरूप बन जाना ही एकमात्र करने लायक काम है। लेकिन हमारा सच्चा आत्म-स्वरूप वह है जो हमारे अंदर है। इस उच्चतम सत्ता के लिये, जो हमारी सच्ची और दिव्य सत्ता है, उसके अपने-आपको प्रकट करने और सक्रिय होने के लिये शर्त यह है कि हम शरीर, प्राण और मन की बाहरी सत्ता का अतिक्रमण करें। केवल भीतर बढ़ने या भीतर निवास करने से ही हम उसे पा सकते हैं। एक बार यह हो जाये तो वहां से आध्यात्मिक और दिव्य मन, प्राण और शरीर का निर्माण करना और इस यंत्र-विन्यास द्वारा ऐसे जगत्-निर्माणतक पहुंचना जो दिव्य जीवन का सच्चा पर्यावरण होगा—यही वह चरम लक्ष्य है जिसे प्रकृति की शक्ति ने हमारे आगे प्रस्तुत किया है। अतः, पहली आवश्यकता यह है कि व्यक्ति, प्रत्येक व्यक्ति आध्यात्म पुरुष को, अपने अंदर की दिव्य सद्वस्तु को खोजे और उसे अपनी पूरी सत्ता और जीवन में प्रकट करे। दिव्य जीवन को पहले-पहल और मुख्य रूप से आंतरिक जीवन होना चाहिये और, चूंकि बाह्य जीवन को जो कुछ भीतर है उसकी अभिव्यक्ति होना चाहिये, अतः अगर भीतरी सत्ता दिव्य न बनी हो तो बाहरी जीवन में दिव्यत्व नहीं आ सकता। मनुष्य के अंदर भगवान् परदे के अंदर उसके आध्यात्मिक केंद्र में निवास करते हैं। अगर मनुष्य के अंदर शाश्वत आत्मा, शाश्वत पुरुष की वास्तविकता न हो तो उसके लिये अपना अतिक्रमण करने की कोई बात ही नहीं हो सकती और न ही उसके जीवन का उच्चतर परिणाम हो सकता है।

हमारे अंदर प्रकृति का लक्ष्य है होना और पूरी तरह होना; परंतु पूरी तरह होने का अर्थ है अपनी सत्ता के बारे में पूरी तरह सचेतन होना। अचेतना, अर्द्ध-चेतना या अपूर्ण चेतना सत्ता की ऐसी स्थिति है जिसे अपने ऊपर अधिकार नहीं होता; वह अस्तित्व तो है पर सत्ता की पूर्णता नहीं। अपने बारे में और अपनी सत्ता के संपूर्ण सत्य के बारे में पूरी तरह और समग्र रूप में अभिज्ञ होना अस्तित्व पर सच्चे अधिकार की प्राप्ति की जरूरी शर्त है। आध्यात्मिक ज्ञान का अर्थ है यही आत्म-अभिज्ञता। आध्यात्मिक ज्ञान का सार-तत्त्व है अंतर्मुख स्वयंभू चेतना। उसका सारा ज्ञान-कर्म, वस्तुतः उसका किसी भी तरह का कर्म अपने-आपको निरूपित करती हुई यह चेतना ही होगा। अन्य समस्त ज्ञान है ऐसी चेतना जो अपने-आपको भूली हुई है और अपनी तथा अपनी अंतर्वस्तुओं के बारे में अपनी अभिज्ञता की ओर लौटने के लिये प्रयास कर रही है, वह आत्म-अज्ञान है जो अपने-आपको आत्म-ज्ञान में वापस रूपांतरित करने के लिये श्रम कर रहा है।

लेकिन साथ ही, चूंकि चेतना अपने अंदर अस्तित्व की शक्ति लिये रहती है, अतः पूरी तरह होने का अर्थ है अपनी सत्ता की अंतरंग और अखंड शक्ति को धारण करना। यह अपनी सारी आत्म-शक्ति और उसके पूरे प्रयोग पर अधिकार करना है। केवल होना, अपनी सत्ता की शक्ति पर अधिकार पाये बिना या आधी शक्ति या त्रुटिपूर्ण शक्ति के साथ होना विकलांग या क्षीण अस्तित्व है, यह अस्तित्व रखना तो है लेकिन सत्ता की पूर्णता नहीं है। वस्तुतः यह संभव है कि केवल निष्क्रिय स्थिति में अस्तित्व बना रहे और सत्ता की शक्ति आत्मा में आत्म-संगृहीत और निश्चल रहे, फिर भी स्थिति और गति दोनों में होना अस्तित्व की पूर्णता है। आत्मा की शक्ति आत्मा के अंदर दिव्यता की शक्ति का चिह्न है। शक्तिहीन आध्यात्म पुरुष आध्यात्म पुरुष नहीं है। परंतु जैसे आध्यात्मिक चेतना अंतस्थ और स्वयंभू है उसी तरह हमारी आध्यात्मिक सत्ता की यह शक्ति भी अंतस्थ, क्रिया में स्वचालित, स्वयंभू और स्वयंसिद्धिका होनी चाहिये। वह जिस यंत्र-विन्यास का उपयोग करती है वह उसीका भाग होना चाहिये। अगर वह किसी बाहरी साधन का उपयोग करे तो उसे भी उसका अपना अंग और अपनी सत्ता की अभिव्यक्ति करनेवाला बना लेना चाहिये। सचेतन क्रिया में सत्ता की शक्ति ही इच्छा है और आध्यात्म-पुरुष की जो भी सचेतन इच्छा हो, उसकी सत्ता और संभूति की जो भी इच्छा हो, उसे सारे अस्तित्व को पूरे सामंजस्य के साथ पूरा कर सकना चाहिये। जिस किसी कर्म या क्रिया-ऊर्जा में यह प्रभुत्व न हो या क्रिया-विन्यास पर अधिकार न हो उसमें इस त्रुटि के कारण सत्ता की शक्ति की अपूर्णता का, चेतना के विभाजन या अक्षम बनानेवाले खंडीकरण का, सत्ता की अभिव्यक्ति में अपूर्णता का लक्षण रहेगा।

और अंत में, पूरी तरह होने का अर्थ है सत्ता का पूर्ण आनंद पाना। ऐसी सत्ता

जिसमें सत्ता का आनंद न हो, जो अपने-आपके और समस्त वस्तुओं के संपूर्ण आनंद से रहित हो, वह निष्प्रभ या ह्रसित चीज है। वह अस्तित्व तो है पर सत्ता की परिपूर्णता नहीं। यह आनंद भी अंतस्थ, स्वयंभू, स्वचालित होना चाहिये। वह अपने से बाहर की चीजों पर आश्रित नहीं रह सकता। वह जिस चीज में आनंद लेता है उसे वह अपना अंश बना लेता है, उसके आनंद को अपनी सार्विकता के अंश के रूप में लेता है। समस्त निरानंद, समस्त कष्ट और वेदना अपूर्णता का, असंपूर्णता का लक्षण है। वे सत्ता के विभाजन, सत्ता की चेतना की अपूर्णता, सत्ता की शक्ति की अपूर्णता से उठते हैं। सत्ता में पूर्ण होना, सत्ता की चेतना में, सत्ता की शक्ति में, सत्ता के आनंद में पूर्ण होना और इस सर्वांगीण पूर्णता में निवास करना ही दिव्य जीवन है।

लेकिन फिर, पूरी तरह से होने का अर्थ है वैश्व रूप में होना। एक छोटे-से सीमित अहंकार की सीमाओं में रहने का अर्थ है अस्तित्व धारण करना लेकिन वह अपूर्ण अस्तित्व होता है। उसकी प्रकृति के अनुसार उसका अर्थ होगा अपूर्ण चेतना में, अपूर्ण शक्ति और सत्ता के अपूर्ण आनंद में जीना। यह अपने-आपसे कम होना है और यह अज्ञान, दुर्बलता और कष्ट की अनिवार्य अधीनता ले आना है और अगर प्रकृति के किसी दिव्य संयोजन द्वारा वह इन चीजों को दूर भी रख सके तो यह अस्तित्व के सीमित क्षेत्र में, सीमित चेतना और शक्ति और सत्ता के हर्ष में जीना होगा। समस्त सत्ता एक है और पूरी तरह होने का अर्थ है वह सब होना जो अस्तित्व रखता है। सबकी सत्ता में होना, सबको अपनी सत्ता में मिला लेना, सबकी चेतना में सचेतन होना, अपनी शक्ति में वैश्व शक्ति के साथ मिल जाना, समस्त क्रिया और अनुभव को अपने अंदर वहन करना और उसे अपनी ही क्रिया और अपना ही अनुभव मानना, सभी आत्माओं को अपनी ही आत्मा के रूप में अनुभव करना, सत्ता के समस्त आनंद को अपनी ही सत्ता के आनंद के रूप में अनुभव करना—यह सर्वांगीण दिव्य जीवन की जरूरी शर्त है।

लेकिन इस तरह वैश्व भाव से अपने वैश्व भाव की स्वाधीनता और पूर्णता में रहने के लिये साथ-ही-साथ परात्परता में भी रहना होता है। सत्ता की आध्यात्मिक पूर्णता है शाश्वतता। अगर किसी के अंदर कालातीत शाश्वत सत्ता की चेतना नहीं है, अगर कोई शरीर या शरीरस्थ मन या शरीरस्थ प्राण पर आश्रित है या इस जगत् या उस जगत् पर या सत्ता की इस स्थिति या उस स्थिति पर आश्रित है तो यह आत्मा की वास्तविकता नहीं है, हमारे आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता नहीं है। केवल शरीर की आत्मा होकर रहना या केवल शरीर के सहारे होना, मृत्यु और कामना, कष्ट और वेदना, अवनति और क्षय के आधीन क्षणभंगुर प्राणी होना है। अतिक्रमण करना, शरीर की चेतना के परे जाना, शरीर के अंदर बंधा न रहना, शरीर के भरोसे न रहना, शरीर को केवल यंत्रवत् मानना जो आत्मा का बाह्य

छोटा-सा रूपायण है, यह दिव्य जीवन की पहली शर्त है। अज्ञान और चेतना के प्रतिबंध के अधीन मन न बने रहना, मन का अतिक्रमण करना और उसे यंत्र के रूप में काम में लाना, उसे आत्मा के सतही रूपायण के रूप में नियंत्रित करना, यह दूसरी शर्त है। आत्मा और आध्यात्म सत्ता के सहारे होना, प्राण पर निर्भर न करना, उसके साथ एकात्म न होना, उसका अतिक्रमण करना और उसे आत्मा की अभिव्यक्ति और उपकरण की तरह नियंत्रित करना और व्यवहार में लाना, यह तीसरी शर्त है। अगर चेतना शरीर का अतिक्रमण न करे और सारे जड़गत अस्तित्व के साथ अपना भौतिक एकत्व अनुभव न करे तो शारीरिक जीवन भी अपने निजी तरीके से अपनी परिपूर्ण सत्ता प्राप्त नहीं करता। अगर चेतना व्यष्टिगत प्राण की प्रतिबद्ध लीला का अतिक्रमण न करे और वैश्व प्राण को अपने प्राण के रूप में और समस्त जीवन के साथ अपना एकत्व अनुभव न करे तो प्राणिक जीवन भी अपने प्रकार में अपना पूर्ण जीवन नहीं प्राप्त करता। अगर हम वैयक्तिक मानसिक सीमाओं का अतिक्रमण न करें, विश्वमन और सकल मन के साथ एकत्व का अनुभव न करें और उनकी विभिन्नताओं के वैभव में परिपूरित अपनी चेतना के अखंड होने का स्वाद न लें तो मानसता अपने प्रकार से परिपूर्ण चेतन अस्तित्व या क्रिया नहीं होती। लेकिन हमें केवल व्यक्तिगत सूत्र का ही नहीं, वैश्व सूत्र का भी अतिक्रमण करना चाहिये, क्योंकि केवल इसी तरह व्यष्टिगत या विश्वगत सत्ता अपनी सच्ची सत्ता और पूर्ण समन्वय को पा सकती है। दोनों ही अपने बाह्य रूपायण में परात्पर की अपूर्ण अवस्थाएं हैं, लेकिन अपने सारतत्त्व में वे वही हैं और केवल उस सारतत्त्व के बारे में सचेतन होकर ही व्यक्तिगत चेतना या वैश्व चेतना अपनी वास्तविकता की निजी पूर्णता और स्वाधीनतातक पहुंच सकती है। अन्यथा, व्यक्ति वैश्व गतिविधि, उसकी प्रतिक्रियाओं और सीमाओं के अधीन रहकर अपनी पूरी आध्यात्मिक स्वाधीनता से वंचित रह सकता है। उसे चरम दिव्य सद्वस्तु में प्रवेश करना चाहिये, उसके साथ अपने एकत्व का अनुभव करना, उसमें निवास करना और उसका आत्म-सृजन होना चाहिये। उसके समस्त मन, प्राण और शरीर को उसीकी पराप्रकृति की अवस्थाओं में बदलना चाहिये। उसके सभी विचार, संवेदन और क्रियाएं उसीके द्वारा निर्धारित और वही हो जाने चाहियें, उसके आत्म-रूपायण होने चाहियें। यह सब उसमें तभी पूर्ण हो सकता है जब वह अज्ञान में से ज्ञान में विकसित हो और ज्ञान द्वारा परम चेतना, उसकी क्रियात्मक शक्ति और सत्ता के परम आनंद में पहुंच गया हो। लेकिन इन चीजों का कुछ सारतत्त्व और उनका पर्याप्त यंत्र-विन्यास प्रथम आध्यात्मिक परिवर्तन के साथ ही आ सकता है जिसकी परिपूर्ति होगी विज्ञानमय पराप्रकृति के जीवन में।

आंतरिक जीवन के बिना ये चीजें असंभव हैं। ऐसी बाह्य चेतना में रहते हुए, जो सदा बहिर्मुखी हो, जो मुख्यतः सतह पर और सतह से ही क्रिया करती हो,

इनतक नहीं पहुंचा जा सकता। व्यक्तिगत सत्ता को अपने-आपको, अपने सच्चे अस्तित्व को खोजना होगा। अंतर्मुख होकर, भीतर जीकर और भीतर से ही यह किया जा सकता है। क्योंकि बाह्य या सतही चेतना या जीवन आंतरिक आध्यात्म पुरुष से अलग अज्ञान का क्षेत्र हैं, वे आंतरिक आत्मा और जीवन के विस्तार की ओर खुलकर ही अपना अतिक्रमण और अज्ञान का अतिक्रमण कर सकते हैं। अगर हमारे अंदर परात्परता की सत्ता है तो वह हमारे प्रच्छन्न पुरुष में होगी। सतह पर केवल प्रकृति की क्षणभंगुर सत्ता है जिसे सीमा और परिस्थिति ने बनाया है। अगर हमारे अंदर ऐसा पुरुष है जो विस्तार और वैश्व भाव के लिये सक्षम है, जो वैश्व चेतना में प्रवेश करने योग्य है तो वह भी हमारी आंतरिक सत्ता में होगा, बाहरी चेतना भौतिक चेतना है जो अपनी व्यक्तिगत सीमाओं में, मन, प्राण और शरीर की तीन रस्सियों से बंधी रहती है। सार्विकता के लिये किसी बाहरी प्रयास का परिणाम बस यही हो सकता है कि या तो अहंकार बहुत अधिक बढ़ जाये या जन-समूह में उसके विलयन द्वारा या जनसमूह के प्रति उसकी अधीनता द्वारा व्यक्तित्व का ही लोप हो जाये। केवल आंतरिक वृद्धि, गति, क्रिया द्वारा ही व्यक्ति आजादी से और प्रभावी रूप से अपनी सत्ता को वैश्व बना सकता और परात्परतातक उठा सकता है। दिव्य जीवन के लिये जरूरी है कि सत्ता के क्रियाशील संपादन के केंद्र और साक्षात् उत्स को बाहर से हटाकर भीतर की ओर कर दिया जाये क्योंकि अंतरात्मा वहीं विराजमान है, लेकिन है परदे में या आधी छिपी हुई; और हमारी साक्षात् सत्ता और क्रिया-उत्स अभी बाहरी सतह पर हैं। उपनिषद् का कहना है कि स्वयंभू ने चेतना के द्वार बाहर की ओर काटे हैं लेकिन कुछ धीर ऐसे होते हैं जो आंख को भीतर की ओर मोड़ते हैं और ये ही आध्यात्म पुरुष को देखते और जानते हैं और आध्यात्मिक सत्ता को विकसित करते हैं। इस भांति अपने अंदर झांकना, अपने अंदर देखना और प्रवेश करना और वहीं निवास करना प्रकृति के रूपांतर और दिव्य जीवन के लिये पहली जरूरत है।

अंतर की ओर जाने और अंतर में निवास करने की इस प्रवृत्ति को मानव प्राणी की सामान्य चेतना पर जमाना कठिन काम है, फिर भी आत्मान्वेषण का और कोई तरीका नहीं है। जड़वादी विचारक अंतर्मुख और बहिर्मुख के बीच विरोध खड़ा करके बहिर्मुख वृत्ति को एकमात्र सुरक्षा के रूप में स्वीकार किये जाने के लिये सामने रखता है। उसके अनुसार अंदर जाने का अर्थ है अंधकार में या रिक्तता में प्रवेश करना या चेतना के संतुलन को खोकर अस्वस्थ हो जाना, मनुष्य जिस प्रकार के आंतरिक जीवन की रचना कर सकता है उसे बाहर से ही बनाया जा सकता है और उसका स्वास्थ्य हितकर और पौष्टिक बाहरी स्रोतों पर नियमित निर्भरता रखने से सुरक्षित रहता है,—व्यक्तिगत मन और प्राण का संतुलन बाह्य वास्तविकता के दृढ़ अवलंब से ही सुरक्षित किया जा सकता है क्योंकि जड़ जगत् ही एकमात्र

मूलभूत वास्तविकता है। यह बात भौतिक मनुष्य के लिये, उस जन्मजात बहिर्मुख व्यक्ति के लिये सच्ची हो सकती है जो अपने-आपको बाह्य प्रकृति का जीव मानता है, जिसे उसी प्रकृति ने बनाया है और जो उसीपर निर्भर है, अगर वह भीतर प्रवेश करे तो अपने-आपको खो देगा, उसके लिये कोई आंतरिक सत्ता नहीं होती, आंतरिक जीवन नहीं होता। लेकिन इस भेद में, जिसे अंतर्मुख माना जाता है, उसमें भी आंतरिक जीवन नहीं होता; वह सच्ची आंतरिक आत्मा और आंतरिक वस्तुओं का द्रष्टा न होकर छोटा-सा मानसिक मनुष्य होता है जो छिछले रूप में अपने अंदर देखता है और वहां आध्यात्म पुरुष को नहीं बल्कि अपने प्राणमय अहंकार को, अपने मनोमय अहंकार को देखता है और अस्वस्थ रूप में इस क्षुद्र दयनीय बौने जीव की गतिविधियों में तल्लीन रहता है। जो मानसिकता सदा सतह पर रही है और जिसे आंतरिक सत्ता का अनुभव नहीं है, उसकी अंदर नजर डालते ही पहली प्रतिक्रिया होती है आंतरिक अंधकार के भाव या अनुभव की। उसे केवल निर्मित आंतरिक अनुभव प्राप्त होता है जो अपनी सत्ता के उपादान के लिये बाहरी जगत् पर निर्भर रहता है। लेकिन जिनके गठन में अधिक आंतरिक जीवन की शक्ति प्रवेश कर गयी है उनमें भीतर जाने और भीतर रहने की क्रिया अंधकार या मंद रिक्तता नहीं लाती बल्कि एक विस्तार, नये अनुभव का प्रवाह, महत्तर दृष्टि, विशालतर सामर्थ्य, एक विस्तृत जीवन लाती है जो हमारी सामान्य भौतिक मानवजाति के अपने लिये बने जीवन की प्रथम तुच्छता से अनंतगुना वास्तविक और विविध है, वह लाती है सत्ता का आनंद जो अस्तित्व में ऐसे किसी भी आनंद से अधिक महान् और समृद्ध है जिसे बाहरी प्राणिक मनुष्य या सतही मानसिक मनुष्य अपनी क्रियाशील प्राणिक शक्ति या क्रियाशीलता या मानसिक सत्ता की सूक्ष्मता या विस्तार द्वारा पा सकता है। एक निश्चल नीरवता, एक विस्तृत या प्रगाढ़ और अनंत रिक्तता में प्रवेश आंतरिक आध्यात्मिक अनुभव का अंश है। भौतिक मन को इस नीरवता और रिक्तता का अमुक प्रकार का भय लगता है। बाहरी सतह पर ही काम करनेवाले विचारशील या प्राणिक लघु मन को उससे जुगुप्सा या अरुचि होती है क्योंकि उसे नीरवता को मानसिक और प्राणिक अक्षमता और शून्य को अवसान या अनस्तित्व मान बैठने का भ्रम हो जाता है। लेकिन यह नीरवता आत्मा की नीरवता है जो महत्तर ज्ञान, शक्ति और आनंद की स्थिति है और यह रिक्तता हमारी प्राकृतिक सत्ता के प्याले को खाली करना है, उसे उसकी गदली अंतर्वस्तुओं से मुक्त करना है ताकि वह भागवत सुरा से भरा जा सके। यह अनस्तित्व में नहीं, महत्तर अस्तित्व में जाना है। जब सत्ता अवसान की ओर मुड़ती है तो यह अनस्तित्व में नहीं बल्कि आध्यात्मिक सत्ता के किसी विशाल अनिर्वचनीय में होता है या निरपेक्ष की किसी अव्यवहार्य अतिचेतना में गोता लगाना होता है।

वस्तुतः यह अंदर की ओर मुड़ना और गति करना व्यक्तिगत आत्मा में बंदी

होना नहीं है, यह सच्ची सार्विकता की ओर पहला कदम है। वह हमारे पास हमारे बाह्य सत्य और साथ ही आंतरिक अस्तित्व के सत्य को लेकर आता है। क्योंकि यह आंतरिक जीवन अपने-आपको विस्तृत करके वैश्व जीवन का आलिंगन कर सकता है, हमारी सतही चेतना में जो कुछ संभव है, यह उसकी अपेक्षा कहीं अधिक यथार्थता और क्रियाशील शक्ति के साथ सबके जीवन में संपर्क साध सकता, उनमें प्रवेश कर सकता, उन्हें घेर सकता है। सतह पर हमारा अधिक-से-अधिक वैश्वभावापन्न होना एक तुच्छ और लंगड़ाता-सा प्रयास है। वह एक निर्मित वस्तु, छल है, सच्ची चीज नहीं, क्योंकि अपनी सतही चेतना में हम औरों के साथ चेतना के पार्थक्य से बंधे हैं और अहंकार की बेड़ियां पहने हुए हैं, वहां तो हमारी निःस्वार्थता भी बहुत बार स्वार्थपरता का ही सूक्ष्म रूप होती है या हमारे अहं की अधिक बड़ी स्थापना का रूप ले लेती है। अपनी परोपकार की मुद्रा से संतुष्ट होकर हम यह नहीं देखते कि हमने जिन दूसरों को अपने विस्तृत घेरे में ले रखा है वह उनपर अपने वैयक्तिक स्व, अपने विचारों, अपने मानसिक और प्राणिक व्यक्तित्व को, अपने अहं को बढ़ाने की आवश्यकता को आरोपित करने का एक आवरण है। जहांतक हम सचमुच दूसरों के लिये जीने में सफल होते हैं, यह प्रेम और सहानुभूति की आंतरिक आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा किया जाता है, लेकिन हमारे अंदर इस शक्ति की प्रभावोत्पादकता की सामर्थ्य और उसका क्षेत्र कम है, जो चैत्य गति उसे प्रेरित करती है वह अपूर्ण है, उसकी क्रिया अज्ञानमय है क्योंकि वहां मन और हृदय का संपर्क तो है लेकिन हमारी सत्ता औरों की सत्ता का अपने ही रूप में आलिंगन नहीं करती। औरों के साथ बाहरी ऐक्य हमेशा बाहरी जीवनों का जोड़ और सम्मिलन होता है जिसमें छोटे-मोटे आंतरिक परिणाम होते हैं। मन और हृदय अपनी गतिविधि को इस सामान्य जीवन और उन सत्ताओं के साथ जोड़ देते हैं जिनसे हम वहां मिलते हैं, लेकिन सामान्य बाह्य जीवन ही आधार बना रहता है—भीतरी निर्मित ऐक्य या उसमें का उतना अंश जो परस्पर अज्ञान और विसंगत अहंकारों, मनों के संघर्ष, हृदयों के संघर्ष, प्राणिक स्वभावों के संघर्ष, हितों के संघर्ष के बावजूद रह सकता है वह आंशिक और असुरक्षित अधिरचना है। आध्यात्मिक चेतना, आध्यात्मिक जीवन, निर्माण के इस सिद्धांत को उलट देता है। वह सामुदायिक जीवन में अपने कर्म को आंतरिक अनुभूति और अपनी सत्ता के अंदर औरों के समावेश, आंतरिक भाव और एकत्व की वास्तविकता पर आधारित करता है। आध्यात्मिक व्यक्ति एकत्व के उस बोध से कार्य करता है जो उसे आत्मा की अन्य आत्मा से की गयी मांग का, जीवन की जरूरत का, शुभ का, प्रेम और सहानुभूति के सत्यतः किये जा सकनेवाले कर्म का तुरंत और प्रत्यक्ष बोध देता है। आध्यात्मिक एकत्व की उपलब्धि, एकमेव सत्ता की, सभी भूतों में उपस्थित एकमेव आत्मा की अंतरंग चेतना का सक्रियकरण ही अपने सत्य

के द्वारा दिव्य जीवन की क्रिया का आधार और प्रशासक बन सकता है।

विज्ञानमय या दिव्य सत्ता में, विज्ञानमय जीवन में, दूसरों की आत्मा की घनिष्ठ और पूरी चेतना होगी, उनके मन, प्राण और शारीरिक सत्ता की चेतना होगी जिसका अनुभव अपनी निजी चेतना की तरह होगा। विज्ञानमय सत्ता प्रेम या सहानुभूति या ऐसे ही किसी सतही भावुकता द्वारा नहीं बल्कि इस घनिष्ठ पारस्परिक चेतना द्वारा, इस अंतरंग ऐक्य द्वारा कार्य करेगी। जगत् में उसका सारा कार्य, जो किया जाना चाहिये, उसकी दृष्टि के सत्य से आलोकित होगा—उसके अंदर भागवत सद्वस्तु की इच्छा के बोध से—जो औरों में भी भागवत सद्वस्तु है और वह कार्य किया जायेगा औरों के अंदर भगवान् के लिये, सबके अंदर स्थित भगवान् के लिये, सर्व के प्रयोजन के सत्य के कार्यान्वयन के लिये, जैसा कि वह उच्चतम चेतना के प्रकाश में दिखलायी देता है और उस तरह से और उन चरणों से होते हुए जिनमें उसे परा-प्रकृति की शक्ति में कार्यान्वित होना चाहिये। विज्ञानमय सत्ता केवल अपनी ही परिपूर्ति में अपने-आपको प्राप्त नहीं करती, जो उसके अंदर दिव्य सत्ता और दिव्य इच्छा की परिपूर्ति है, बल्कि औरों की परिपूर्ति में भी अपने-आपको प्राप्त करती है। उसका वैश्व व्यक्तित्व सभी सत्ताओं में अपनी महत्तर संभूति की ओर सर्व की जो गति है, उसमें अपने-आपको कार्यान्वित करता है। वह सर्वत्र दिव्य क्रिया को देखता है। उस दिव्य क्रिया की समष्टि में उसके अंदर से जो कुछ जाता है, उसके अंदर काम करती हुई आंतरिक ज्योति, इच्छा, शक्ति में से जो कुछ जाता है, वही उसकी क्रिया है। उसमें कोई पृथगात्मक अहं नहीं होता जो किसी चीज का आरंभ करे। उसके वैश्वभावापन्न व्यक्तित्व में से परात्पर और वैश्व ही विश्व की क्रिया में बाहर आते हैं। जैसे वह किसी पृथक् अहं के लिये नहीं जीता, उसी तरह वह किसी सामुदायिक अहं के प्रयोजन के लिये भी नहीं जीता। वह अपने अंदर स्थित भगवान् में और उन्हींके लिये, समष्टि में स्थित भगवान् में और उनके लिये, सभी सत्ताओं के अंदर स्थित भगवान् में और उनके लिये जीता है। कर्म में यह वैश्व भाव, जिसे सर्वद्रष्टा इच्छा ने सबकी उपलब्ध एकता के भाव में संगठित किया है, यही उसके दिव्य जीवन का धर्म है।

अतः, जब हम दिव्य जीवन की बात कहते हैं तो सबसे पहले हमारा मतलब व्यक्तिगत पूर्णता की प्रेरणा की इस आध्यात्मिक परिपूर्ति और सत्ता की आंतरिक संपूर्णता से होता है। धरती पर पूर्ण जीवन की यह पहली जरूरी शर्त है। अतः यथासंभव अधिक-से-अधिक वैयक्तिक पूर्णता को अपना पहला परम कर्तव्य बना लेना हमारे लिये ठीक है। व्यक्ति के अपने इर्द-गिर्द के सबके साथ आध्यात्मिक और व्यावहारिक संबंध की पूर्णता हमारा दूसरा सर्वोपरि व्यापार है। इस दूसरी आवश्यकता का समाधान धरती पर समस्त जीवन के साथ ऐक्य और पूर्ण वैश्व भाव में है जो विज्ञानमय चेतना और प्रकृति में विकास का दूसरा सहगामी परिणाम

है। लेकिन तीसरी आवश्यकता अभी बाकी है, एक नया जगत्, मानवजाति के समस्त जीवन में परिवर्तन या कम-से-कम नया, पार्थिव प्रकृति में संपूरित सामूहिक जीवन। इसके लिये अविकसित जन-समूह में काम करनेवाले एकाकी विकसित व्यक्तियों के आविर्भाव की ही नहीं बल्कि ऐसे बहुत-से विज्ञानमय व्यक्तियों के आविर्भाव की जरूरत है जो वर्तमान व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन से ज्यादा अच्छे जीवों के एक नये प्रकार की और नये सामाजिक जीवन की रचना करें। स्पष्ट है कि इस तरह के सामुदायिक जीवन को उन्हीं सिद्धांतों पर ढालना होगा जिनपर विज्ञानमय व्यष्टि का जीवन ढलेगा। हमारे वर्तमान मानव जीवन में एक भौतिक समष्टि है जिसे एक साथ जोड़े रखते हैं सर्व-सामान्य भौतिक जीवन के तथ्य और उससे आनेवाली सभी चीजें, हितों का मेल, सर्व-सामान्य सभ्यता या संस्कृति, सर्व-सामान्य सामाजिक नियम, समष्टि की मनोवृत्ति, आर्थिक सम्मिलन, आदर्श, भाव और सामूहिक अहंकार के प्रयास, जिनके साथ वैयक्तिक कड़ियों और संबंधों का धागा सभी में से गुजरता हुआ उन्हें साथ रखने में सहायक होता है। या जहां इन चीजों में भेद है, विरोध, संघर्ष है, वहां व्यावहारिक अनुकूलन या व्यवस्थित समझौता साथ रहने की आवश्यकता द्वारा आरोपित किया जाता है, एक स्वाभाविक या रचित व्यवस्था खड़ी कर दी जाती है। यह सामुदायिक जीवन का विज्ञानमय तरीका न होगा। क्योंकि वहां जो चीज सबको साथ बांधकर संयुक्त रखेगी वह किसी पर्याप्त रूप से संयुक्त सामाजिक चेतना को रचनेवाली जीवन-वास्तविकता नहीं बल्कि सामूहिक सामाजिक जीवन को इकट्ठा रखनेवाली एक सामान्य चेतना होगी। सब अपने अंदर ऋत-चेतना के विकास से जुड़े होंगे। यह चेतना उनमें सत्ता की जो बदली हुई विधि लायेगी उससे वे अपने-आपको एक ही आत्मा के शरीर, एकमात्र सद्वस्तु के जीव अनुभव करेंगे; ज्ञान के आधारभूत ऐक्य से आलोकित और प्रेरित, एक मूलभूत संयुक्त इच्छा और भावना से परिचालित, आध्यात्मिक सत्य को प्रकट करनेवाला जीवन उनके द्वारा संभूति के अपने स्वाभाविक रूपों को पा लेगा। वहां व्यवस्था तो होगी क्योंकि ऐक्य का सत्य अपनी ही व्यवस्था का निर्माण करता है, जीवन का नियम या उसके विधान हो सकते हैं परंतु होंगे ये आत्म-निर्धारित। वे आध्यात्मिक ढंग से संयुक्त सत्ता के सत्य और आध्यात्मिक रूप से संयुक्त जीवन के सत्य की अभिव्यक्ति होंगे। सामान्य जीवन का समस्त रूपायण उन आध्यात्मिक शक्तियों का आत्म-निर्माण होगा जिन्हें ऐसे जीवन में अपने-आपको सहज रूप से कार्यान्वित करना चाहिये। आंतरिक सत्ता इन शक्तियों को आंतरिक रूप से ग्रहण करेगी और वे भाव, क्रिया और प्रयोजन के सहज सामंजस्य में प्रकट होंगी या स्वतः व्यक्त होंगी।

सामंजस्य को सुरक्षित करने के लिये मन का तरीका है बढ़ता हुआ यंत्रीकरण, मानकीकरण और सबको एक समान सांचे में ढालना, लेकिन इस जीवन का यह

विधान न होगा। अलग-अलग विज्ञान-समाजों के बीच काफी खुली हुई विविधता होगी, हर एक समाज आत्मा के जीवन के लिये अपना-अपना शरीर तैयार करेगा, एक ही समाज के व्यक्तियों की आत्म-अभिव्यक्ति में भी काफी खुली विविधता होगी लेकिन यह खुली विविधता अव्यवस्था न होगी, यह किसी बेसुरेपन की रचना न करेगी। क्योंकि ज्ञान के एकमेव सत्य और जीवन के एकमेव सत्य की विविधता में सहसंबंध होगा, विरोध नहीं। विज्ञानमय चेतना में व्यक्तिगत भाव पर अहंकार-भरा आग्रह न होगा और व्यक्तिगत इच्छा और हित का दबाव या शोर-शराबा न होगा। इसकी जगह बहुत-से रूपों में सर्व-सामान्य सत्य का, बहुत-सी चेतनाओं और शरीरों में एक सर्व-सामान्य आत्मा का एक करनेवाला भाव होगा। एक सार्विकता और नम्यता होगी जो एकमेव को उसके अनेक आकारों में देखती और व्यक्त करती है और सभी विविधताओं में एकत्व को कार्यान्वित करती है जैसा कि ऋत-चित् और उसके स्वभाव के सत्य का अंतर्निहित विधान है। एकमेव चित्-शक्ति, जिसके बारे में सभी अभिज्ञ होंगे और अपने-आपको उसके यंत्र के रूप में देखेंगे, वह उनके अंदर से कार्य करेगी और उनके कार्यों में आपस में सामंजस्य लायेगी। विज्ञानमय पुरुष यह अनुभव करेगा कि पराप्रकृति की एक ही समस्वर-शक्ति सबमें काम कर रही है। वह अपने अंदर उसके रूपायण को स्वीकार करेगा और उसकी आज्ञा मानेगा या उसके दिये हुए ज्ञान और शक्ति का भगवान् के काम के लिये उपयोग करेगा, लेकिन वह किसी ऐसी प्रेरणा या बाध्यता के अधीन न होगा कि अपने अंदर के ज्ञान और शक्ति का दूसरों के अंदर के ज्ञान और शक्ति से टकराव करा दे या अपने-आपको ऐसा अहं सिद्ध करे जो अन्य अहंकारों के विरुद्ध संघर्ष कर रहा है। क्योंकि, आध्यात्म पुरुष का अपना ही अविच्छेद्य आनंद होता है, सभी अवस्थाओं में अलंघ्य रहनेवाली अपनी ही पूर्णता रहती है, अपने ही स्वरूप-सत्य की अनंतता रहती है, बाहरी प्रतिपादन चाहे जैसा क्यों न हो इन्हें वह हमेशा पूरी तरह अनुभव करता है। भीतरी आध्यात्म पुरुष का सत्य किसी रूपायन विशेष पर निर्भर नहीं होता इसलिये उसे किसी बाहरी निरूपण या आत्म-प्रतिष्ठापन के लिये संघर्ष करने की जरूरत नहीं होती। बहुत-से रूप अपने-आप नमनीयता से ऊपर उठेंगे, अन्य निरूपणों के साथ उनका उचित संबंध होगा और संपूर्ण निरूपण में हर एक अपने-अपने स्थान पर होगा। अपनी स्थापना करता हुआ विज्ञान-चेतना और सत्ता का सत्य अपने चारों ओर की सत्ताओं के अन्य सभी सत्यों के साथ अपना सामंजस्य प्राप्त कर सकता है। आध्यात्मिक या विज्ञानमय पुरुष अपने चारों ओर के सारे विज्ञानमय जीवन के साथ सामंजस्य का अनुभव करेगा, समग्र के अंदर उसका चाहे जो स्थान क्यों न हो। उसके अंदर अपने स्थान के अनुसार वह नेतृत्व या शासन करना जानेगा लेकिन साथ ही अपने-आपको आधीन करना भी जानेगा। उसके लिये दोनों में समान आनंद होगा; क्योंकि आत्मा शाश्वत, स्वयंभू

और अविच्छेद्य है, अतः उसकी स्वाधीनता सेवा और स्वेच्छापूर्ण अधीनता तथा अन्य आत्माओं के साथ समायोजन में उसी तरह अनुभव की जा सकती है जैसे शक्ति और शासन में। आंतरिक आध्यात्मिक स्वतंत्रता अपना स्थान आंतरिक आध्यात्मिक श्रेणी-क्रम के सत्य में भी उसी तरह स्वीकार कर सकती है जैसे मूलभूत आध्यात्मिक समानता के सत्य में, और इस सत्य की उस सत्य से असंगति न होगी। विकसनशील विज्ञानमय सत्ता की अलग-अलग श्रेणियों तथा अवस्थाओं के सर्व-सामान्य जीवन में सत्य का यह स्वतःस्फूर्त विन्यास ही, जो आध्यात्म पुरुष की स्वाभाविक व्यवस्था है, उपस्थित रहेगा। ऐक्य विज्ञानमय चेतना का आधार है, पारस्परिकता विविधता के अंदर उसके एकत्व-संबंधी साक्षात् ज्ञान का स्वाभाविक परिणाम है, सामंजस्य उसकी शक्ति की क्रिया का अनिवार्य बल है। अतः एकता, पारस्परिकता और सामंजस्य को सर्वसामान्य या सामुदायिक विज्ञानमय जीवन का अपरिहार्य विधान होना चाहिये। वह कौन से रूप धारण करे यह निर्भर है पराप्रकृति की विकसनशील अभिव्यक्ति की इच्छा पर लेकिन यह होगा उसका सामान्य स्वभाव और सिद्धांत।

शुद्ध रूप से मानसिक और जड़-भौतिक सत्ता और जीवन में से निकल कर आध्यात्मिक और अतिमानसिक सत्ता और जीवन में जाने का पूरा भाव, अंतर्निहित विधान और आवश्यकता यही है कि अज्ञान में सत्ता जिस मुक्ति, पूर्णता, आत्म-परिपूर्ति को खोज रही है वह सब उसे अपनी वर्तमान अज्ञान की प्रकृति में से निकलकर आध्यात्मिक आत्म-ज्ञान और जगत्-ज्ञान की प्रकृति में जाने से ही मिल सकती है। हम इस महत्तर प्रकृति को पराप्रकृति कहते हैं क्योंकि वह उसकी चेतना और क्षमता के वास्तविक स्तर के परे है, लेकिन वस्तुतः वह मनुष्य की अपनी सच्ची प्रकृति है, उसकी उच्चता और पूर्णता है जिसे उसे पाना चाहिये, यदि वह अपनी सच्ची आत्मा को और सत्य की समस्त संभावना को पाना चाहता है। प्रकृति में जो कुछ होता है वह प्रकृति का ही परिणाम होना चाहिये, उसमें जो कुछ समाविष्ट या अंतर्निहित है उसका कार्यान्वयन, उसका अनिवार्य फल और परिणाम होना चाहिये। अगर हमारी प्रकृति मूलभूत निश्चेतना और अज्ञान है जो कठिनाई से चेतना तथा सत्ता के अपूर्ण ज्ञान और अपूर्ण रूपायणतक पहुंच सकती है तो हमारी सत्ता, जीवन और क्रिया और रचना के परिणामों को, जैसे कि वे अभी हैं, निरंतर अपूर्णता और असुरक्षित अर्द्ध-परिणाम, अपूर्ण मानसिकता, अपूर्ण जीवन और अपूर्ण भौतिक जीवन होना चाहिये। हम ऐसी ज्ञान-प्रणालियां और जीवन-पद्धतियां बनाना चाहते हैं जिनसे हम अपने जीवन की किसी पूर्णतातक, उचित संबंधों की किसी व्यवस्था, मन के उचित उपयोग, प्राण के उचित उपयोग, सुख तथा सौंदर्य, शरीर के उचित उपयोगतक पहुंच सकें। लेकिन हम पाते क्या हैं? एक निर्मित अर्द्ध-औचित्य जो ऐसे बहुत-से अंश से मिला हुआ है जो गलत, अप्रिय और

असुखकर है। हमारी क्रमिक रचनाओं में अपने अंदर के दोष के कारण, और चूंकि मन और प्राण अपनी खोज में कहीं भी स्थिर रूप से नहीं रह सकते, इसलिये उनके विनाश, अवनति और उनकी व्यवस्था के विघटन की संभावना बनी रहती है। हम उनसे दूसरी रचनाओं पर चले जाते हैं जो अंततः अधिक सफल या स्थायी तो नहीं होतीं, चाहे वे किसी-न-किसी दिशा में अधिक समृद्ध, भरपूर या बौद्धिक रूप से अधिक सराहनीय हों। अन्यथा हो ही नहीं सकता, क्योंकि हम कोई ऐसी रचना नहीं कर सकते जो हमारी प्रकृति से परे जा सके; अपने-आप अपूर्ण होते हुए हम पूर्णता नहीं रच सकते, फिर हमारे मन की प्रवीणता द्वारा आविष्कृत यंत्र हमें चाहे जितने आश्चर्यजनक क्यों न लगें, वे बाहर से चाहे जितने प्रभावकारी क्यों न हों। अज्ञानी, हम पूर्णतया सत्य, सफल आत्म-ज्ञान और जगत्-ज्ञानवाली प्रणाली नहीं बना सकते। हमारा भौतिक विज्ञान भी सूत्रों और साधन-उपायों की एक रचना, उनका समूह ही है। प्रक्रियाओं के ज्ञान और उपयुक्त यंत्र की रचना में अधिकार के साथ रहनेवाला परंतु हमारी सत्ता और जगत्-सत्ता की नींव को न जाननेवाला यह विज्ञान हमारी प्रकृति को पूर्ण नहीं बना सकता और इस कारण हमारे जीवन को भी पूर्ण नहीं बना सकता।

हमारी प्रकृति, हमारी चेतना ऐसी सत्ताओं की है जो एक-दूसरे से अजानी, एक-दूसरे से अलग हैं, उनकी जड़ें विभाजित अहं में हैं, उन्हें अपने मूर्त अज्ञान के बीच किसी तरह का संबंध स्थापित करने के लिये श्रम करना होता है क्योंकि, ऐक्य की प्रेरणा और ऐक्य के लिये कार्य करनेवाली शक्तियां प्रकृति में मौजूद हैं। सापेक्ष और सीमित पूर्णतावाले व्यक्तिगत और सामूहिक सामंजस्यों की रचना होती है, सामाजिक संबद्धता प्राप्त होती है परंतु समूह में जो संबंध बनते हैं वे सदा अपूर्ण सहानुभूति, अपूर्ण समझ, स्थूल गलतफहमियों, संघर्ष, असंगति और अवसाद से बिगड़ जाते हैं। जबतक आत्म-ज्ञान, आंतरिक परस्पर-ज्ञान, ऐक्य की आंतरिक उपलब्धि, हमारी सत्ता की आंतरिक शक्तियों और जीवन की आंतरिक शक्तियों की सुसंगति प्रकृति पर आधारित चेतना का सच्चा एकत्व न हो तबतक अन्यथा हो भी नहीं सकता। अपने सामाजिक निर्माण में हम एकता, पारस्परिकता, सामंजस्य के नजदीक जाने का कोई तरीका स्थापित करने के लिये श्रम करते हैं क्योंकि इन चीजों के बिना पूर्ण सामाजिक जीवन नहीं हो सकता, लेकिन हम जो बनाते हैं वह निर्मित एकता होती है, हितों और अहं का मेल होता है जिसे विधान और परंपरा द्वारा लागू किया जाता है, जो बनावटी व्यवस्था ही लादता है जिसमें कुछ के हित औरों के हितों पर छा जाते हैं और आधे स्वीकृत, आधे आरोपित, आधे प्राकृतिक और आधे कृत्रिम समायोजन सामाजिक समग्र को बनाये रखते हैं। समुदाय और समुदाय के बीच समायोजन और भी बुरा होता है, उसमें हमेशा सामाजिक अहं का सामाजिक अहं के साथ टकराव होता रहता है। हम जो अच्छे-से-अच्छा कर

सकते हैं वह यही है और समाज-व्यवस्था के हमारे समस्त सतत पुनःसमायोजन जीवन की अपूर्ण रचना से बढ़कर और कुछ नहीं ला सकते।

अगर हमारी प्रकृति अपने परे विकसित हो सके, अगर वह आत्म-ज्ञान, पारस्परिक समझ, ऐक्य की प्रकृति बन जाये, सच्ची सत्ता और सच्चे जीवन की प्रकृति बन जाये तो उसका परिणाम हो सकता है हमारी पूर्णता, हमारे जीवन की पूर्णता, सच्ची सत्ता का जीवन, एकता, पारस्परिकता, सामंजस्य का जीवन, सच्चे सुख का सामंजस्यपूर्ण सुंदर जीवन। अगर हमारी प्रकृति उसीमें जड़ी रहे जो वह है, जो वह बन चुकी है तब कोई पूर्णता, कोई सच्चा और स्थायी सुख पार्थिव जीवन में संभव ही नहीं हो सकता, हमें उसकी तलाश बिल्कुल न करनी चाहिये, हमें अपनी अपूर्णताओं का ही अच्छे-से-अच्छा उपयोग करना चाहिये या हमें उसे कहीं और खोजना चाहिये, या तो धरती से परे परलोक में या हमें इस समस्त खोज के परे चले जाना चाहिये और जिस किसी निरपेक्ष में से हमारी यह विचित्र और असंतोषजनक सत्ता अस्तित्व में आयी है, उसीमें प्रकृति तथा अहं का निर्वापण करके जीवन का अतिक्रमण करना चाहिये। लेकिन अगर हमारे अंदर कोई आध्यात्मिक सत्ता है जिसका आविर्भाव हो रहा है और हमारी वर्तमान अवस्था एक अपूर्णता या अर्द्ध-आविर्भाव है, यदि निश्चेतना आरंभ-बिंदु है जो अपने अंदर अतिचेतना और पराप्रकृति की सामर्थ्य को समाये हुए है जिसे विकसित होना है, यदि वह प्रत्यक्ष प्रकृति का एक आवरण है जिसमें वह महत्तर चेतना छिपी है और जिसमें से उसे उन्मीलित होना है, यदि सत्ता का विकास ही विधान है तो हम जिस चीज को खोज रहे हैं वह केवल संभव ही नहीं बल्कि वस्तुओं की अंतिम नियति का अंग है। हमारी आध्यात्मिक नियति है कि उस पराप्रकृति को व्यक्त करें और वही बन जाएं—क्योंकि यह हमारी सच्ची आत्मा की, अविकसित होने के कारण अभीतक गुह्य, समग्र सत्ता की प्रकृति है। तब ऐक्य की प्रकृति अपना एकत्व, पारस्परिकता और सामंजस्य का जीवन-परिणाम अवश्य लायेगी। जिनका आंतरिक जीवन परिपूर्ण चेतना और चेतना की परिपूर्ण शक्ति की ओर जाग्रत् होगा उन सब में वह जीवन अपना अवश्यंभावी फल—आत्म-ज्ञान, पूर्णताभरा जीवन, संतुष्ट सत्ता का हर्ष, निष्पन्न प्रकृति का सुख— उत्पन्न करेगा।

विज्ञान-चेतना और पराप्रकृति के अभिव्यक्ति-साधनों का अंतर्निष्ठ लक्षण है दृष्टि और कर्म की समग्रता, ज्ञान के साथ ज्ञान का एकत्व, मन से देखने और जानने में हमें जो कुछ विरोधी लगता है उस सबकी संगति, ज्ञान और इच्छा का तादात्म्य जो वस्तुओं के सत्य के साथ पूर्ण ऐक्य में एक ही शक्ति की तरह कार्य करे। पराप्रकृति का यह अंतर्जात लक्षण उसके कार्य के पूर्ण ऐक्य, पारस्परिकता और सामंजस्य का आधार है। मानसिक सत्ता में उसके निर्मित ज्ञान की वस्तुओं के सच्चे या समग्र सत्य के साथ असंगति रहती है, अतः जो उसमें सत्य है भी वह बहुधा

या अंततः प्रभावहीन या आंशिक रूप से प्रभावी होता है। सत्य के हमारे आविष्कार उखाड़ फेंके जाते हैं, सत्य के लिये हमारे आवेगपूर्ण कार्यान्वयन कुंठित हो जाते हैं। प्रायः हमारे कर्म का परिणाम ऐसी योजना का अंश बन जाता है जिसके लिये हमारा इरादा न था, किसी ऐसे प्रयोजन के लिये जिसकी वैधता को हम स्वीकार नहीं करते या भाव का सत्य उसकी व्यावहारिक सफलता के वास्तविक परिणाम से धोखा खा जाता है। अगर भाव की सफल चरितार्थता हो भी जाये फिर भी, चूंकि भाव अपूर्ण है, मन की एक एकाकी रचना है जो वस्तुओं के एक और समग्र सत्य से अलग है, इसलिये जल्दी हो या देर में, उसकी सफलता का अंत मोह-भंग और नये प्रयास में होगा। हमारी कुंठा का कारण है हमारी दृष्टि और हमारी धारणाओं का वस्तुओं के सच्चे सत्य और पूर्ण सत्य से विसंवाद, हमारे मन की भ्रामक रचनाओं की आंशिकता और छिछलापन। लेकिन केवल ज्ञान का ज्ञान के साथ विसंवाद नहीं होता बल्कि साथ ही एक ही व्यक्ति में इच्छा का इच्छा से और ज्ञान का इच्छा के साथ विसंवाद होता है, उनके बीच विभाजन और असामंजस्य होता है। फलतः, जहां ज्ञान परिपक्व या पर्याप्त है वहां सत्ता में कोई इच्छा उसका विरोध करती या उसे धोखा दे जाती है, जहां इच्छा सशक्त है, उग्र, दृढ़ या सशक्त रूप में प्रभावकारी है वहां उस ज्ञान का अभाव है जो उसे अपने उचित उपयोग की ओर ले जाये। हमारे ज्ञान, इच्छा, क्षमता, कार्यकारिणी शक्ति और व्यवहार की सब प्रकार की विषमता, अव्यवस्था, अधूरापन हमेशा हमारे कर्म के और जीवन के कार्यान्वयन के बीच में पड़ते रहते हैं और अपूर्णता या प्रभावहीनता के प्रचुर स्रोत होते हैं। ये अव्यवस्थाएं, दोष और असामंजस्य अज्ञान की स्थिति और ऊर्जा के लिये सामान्य हैं और मानसिक प्रकृति या प्राणिक प्रकृति के प्रकाश में से ज्यादा बड़े प्रकाश के द्वारा ही विलीन किये जा सकते हैं। समस्त विज्ञानमय दृष्टि और क्रिया का सहज लक्षण है सत्य का सत्य के साथ तादात्म्य, प्रामाणिकता और सामंजस्य। जैसे-जैसे हमारा मन विज्ञान में विकसित होता है, हमारी मानसिक दृष्टि और क्रिया को विज्ञानमय प्रकाश में उठा लिया जाता है या वह प्रकाश यहां आता और उनपर शासन करने लगता है वैसे-वैसे मन इस विशेषता में भाग लेने लगेगा और चाहे प्रतिबद्ध और सीमाओं में रहे फिर भी बहुत अधिक पूर्ण और अपनी सीमाओं में प्रभावी होगा। हमारी कुंठा और अक्षमता के कारण कम होने लगेंगे और गायब हो जायेंगे। साथ ही बृहत्तर सत्ता बृहत्तर चेतना और बृहत्तर शक्ति की सामर्थ्य के साथ मन पर आक्रमण करेगी और सत्ता की नयी शक्तियां बाहर निकाल लायेगी। ज्ञान चेतना की शक्ति और क्रिया है, इच्छा सत्ता की शक्ति की सचेतन शक्ति और सचेतन क्रिया है; विज्ञानमय सत्ता में दोनों ही हमारे अभीतक के परिचित विस्तार से अधिक विस्तृत, अपने से उच्चतर कोटि, अधिक समृद्ध यंत्र-विन्यासतक पहुंचेंगी क्योंकि जहां कहीं चेतना की वृद्धि

होती है वहीं जीवन की संभाव्य शक्ति और वास्तविक बल की वृद्धि होती है।

ज्ञान और शक्ति के पार्थिव रूपायन में यह सहसंबंध पूरी तरह प्रत्यक्ष नहीं होता क्योंकि वहां स्वयं चेतना ही मूलभूत निश्चेतना में छिपी रहती है और उसकी शक्तियों का स्वाभाविक बल और छंद उनके आविर्भाव में अज्ञान की विसंगतियों और परदों से घट जाता और क्षुब्ध हो जाता है। वहां निश्चेतन मौलिक, समर्थ और स्वचालित रूप से प्रभावी शक्ति है, सचेतन मन तो छोटा-सा श्रमिक अभिकर्ता है। लेकिन यह इसलिये कि हमारे अंदर सचेतन मन का सीमित व्यक्तिगत कार्य होता है और निश्चेतना प्रच्छन्न वैश्व चेतना की विशाल क्रिया है। वैश्व शक्ति जड़-भौतिक ऊर्जा के छद्मवेश में हमारी दृष्टि से प्रक्रिया की हठीली भौतिकता द्वारा इस गुह्य तथ्य को ओझल रखती है कि निश्चेतन की क्रियाशीलता यथार्थ में एक विशाल विश्व प्राण, एक आवृत विश्व-मन और आच्छन्न विज्ञान की अभिव्यक्ति है और अपने इन स्रोतों के बिना उसमें क्रिया की कोई शक्ति, व्यवस्था करनेवाली कोई सुसंगति न होती। जड़-जगत् में मन की अपेक्षा प्राण-शक्ति ही अधिक क्रियाशील और प्रभावकारी मालूम होती है। हमारा मन केवल भाव और ज्ञान में ही स्वतंत्र और पूरी तरह सशक्त है। इस मानसिक क्षेत्र के बाहर उसकी क्रिया-शक्ति और कार्यान्वयन की शक्ति प्राण और जड़ को साधन बनाकर काम करने के लिये बाधित है और प्राण और जड़ की आरोपित की गयी शर्तों के आधीन काम करते हुए हमारे मन में बाधा आती है और प्रभाव आधा हो जाता है। लेकिन इसके बावजूद हम देखते हैं कि पशु में रहनेवाली प्रकृति-शक्ति की अपेक्षा मानसिक जीव में रहनेवाली प्रकृति-शक्ति स्वयं उसके साथ और प्राण और जड़ के साथ व्यवहार करने में बहुत अधिक सशक्त है। यह श्रेष्ठता चेतना और ज्ञान की महत्तर शक्ति से ही, सत्ता और इच्छा की महत्तर शक्ति के आविर्भाव से ही बनी है। स्वयं मानव-जीवन में प्राणिक मनुष्य अपनी श्रेष्ठतर क्रियात्मक प्राण-शक्ति के कारण मानसिक मनुष्य की अपेक्षा कर्म में अधिक सबल मालूम होता है। बौद्धिक मनुष्य विचार से अधिक प्रभावी मालूम होता है, लेकिन शक्ति में जगत् पर प्रभावहीन होता है जब कि गतिज, प्राणिक कर्मठ मनुष्य जीवन पर आधिपत्य रखता है। लेकिन उसका मन का उपयोग उसे इस श्रेष्ठता का पूरा उपयोग करने का अवसर देता है और अंत में मानसिक मनुष्य अपनी ज्ञान-शक्ति से, अपने भौतिक विज्ञान से जीवन पर अपने अधिकार के विस्तार को उससे बहुत परे ले जा सकता है जिसे जड़ में प्राण अपने साधनों द्वारा प्राप्त कर सकता या जो कुछ प्राणिक मनुष्य अपनी प्राण-शक्ति और प्राण-बोध द्वारा प्रभावी ज्ञान को उस रूप में बढ़ाये बिना प्राप्त कर सकता था। जब एक और अधिक महान् चेतना का आविर्भाव होगा और वह हमारे जीवन की अत्यधिक व्यष्टिभावापन्न और प्रतिबंधित जीवन-शक्ति में होनेवाली मानसिक ऊर्जा की उलझी हुई क्रियाओं की जगह लेगी तो जीवन और प्रकृति पर एक बड़ा अधिकार अवश्य प्राप्त हो जायेगा।

अपने और वस्तुओं के ऊपर अधिकतम मानसिक प्रभुत्व के बीच भी, मन की प्राण और जड़ के प्रति अमुक मूलभूत अधीनता और इस अधीनता की स्वीकृति, मन के विधान को प्रत्यक्ष रूप में प्रमुख बनाने और उसकी शक्तियों से सत्ता की अवर शक्तियों के अधिक अंधे विधान और क्रियाओं में हेर-फेर करने में एक असमर्थता बनी रहती है। लेकिन यह सीमा ऐसी नहीं जिसे लांघा न जा सके। गुह्य ज्ञान हमें यह दिखलाने में रुचि लेता है,—और आध्यात्मिक ज्ञान की क्रियाशील शक्ति भी यही प्रमाणित करती है,—कि मन की जड़ के प्रति, आत्मा की प्राण के निम्नतर विधान के प्रति यह अधीनता वह नहीं है जो वह पहले-पहल दिखलायी देती है, वह वस्तुओं की मूलभूत अवस्था, प्रकृति का अलंघ्य और अपरिवर्तनशील नियम नहीं है। मनुष्य जो सबसे श्रेष्ठ और सबसे महत्त्वपूर्ण स्वाभाविक आविष्कार कर सकता है वह यह है कि मन और उससे भी बढ़कर, आध्यात्म-शक्ति बहुत-सी परीक्षित और अभीतक की अपरीक्षित राहों और सभी दिशाओं में—अपनी प्रकृति और साक्षात् शक्ति से, केवल ऐसे उपायों और आविष्कारों से नहीं जिनकी खोज भौतिक विज्ञान ने की है—प्राण और जड़ को जीत सकती और नियंत्रित कर सकती है। विज्ञानमय पराशक्ति के विकास में चेतना की यह प्रत्यक्ष शक्ति, सत्ता की शक्ति की यह प्रत्यक्ष क्रिया, प्राण और जड़ पर उसका मुक्त प्रभुत्व और नियंत्रण, अपनी पूर्णता पायेंगे और पराकाष्ठातक पहुंचेंगे। क्योंकि विज्ञानमय सत्ता का महत्तर ज्ञान मुख्य रूप से बाहर से पाया हुआ या सीखा हुआ ज्ञान न होगा बल्कि चेतना और चेतना की शक्ति के विकास का परिणाम होगा, सत्ता की एक नयी गतिकता होगा। परिणामतः वह बहुत-सी चीजों की ओर जाग्रत् होगा और उनपर अधिकार करेगा, अपना स्पष्ट और पूर्ण ज्ञान, औरों का प्रत्यक्ष ज्ञान, प्रच्छन्न शक्तियों का प्रत्यक्ष ज्ञान, मन, प्राण और जड़ के गुह्य यंत्र-विन्यास का प्रत्यक्ष ज्ञान, जो हमारी वर्तमान उपलब्धि के परे हैं; इन सबपर अधिकार करेगा। यह नया ज्ञान और ज्ञान की क्रिया वस्तुओं की साक्षात् अंतर्भासात्मक चेतना और वस्तुओं के साक्षात् अंतर्भासात्मक नियंत्रण पर आधारित होंगे, एक ऐसी कार्यकारी अंतर्दृष्टि जो अभी तो हमारे लिये अधिसामान्य है वह इस चेतना की क्रिया के लिये सामान्य होगी और इस परिवर्तन का परिणाम होगा कर्म की राशि और उसके ब्योरों में, दोनों में, सर्वांगीण, सुनिश्चित प्रभावकारिता। क्योंकि विज्ञानमय सत्ता उस चित्-शक्ति के साथ स्वरैक्य में होगी जो हर चीज के मूल में है, उसकी दृष्टि और उसकी इच्छा अतिमानसिक सद्वस्तु, आत्म-प्रभावी सत्य-शक्ति की वाहिका होगी; उसकी क्रिया जीवन की मूल शक्ति की क्रिया और शक्ति की निर्बाध अभिव्यक्ति, सर्व-निर्धारक सचेतन आध्यात्म पुरुष की शक्ति होगी जिसकी चेतना के रूपायन अनिवार्य रूप से मन, प्राण और जड़ में क्रियान्वित होते हैं। अतिमानसिक ज्ञान की ज्योति और शक्ति में कार्य करते हुए, विकसनशील विज्ञानमय पुरुष अधिकाधिक अपना स्वामी,

चेतना की शक्तियों का स्वामी, प्रकृति की ऊर्जाओं का स्वामी, अपने प्राण और जड़ के उपकरणों का स्वामी होगा। न्यूनतर अवस्था में, विकसनशील विज्ञानमय प्रकृति की मध्यवर्ती अवस्थाओं या रूपायनों में यह शक्ति पूरी तरह उपस्थित न होगी, लेकिन अपनी क्रियाओं की किसी मात्रा में वह उपस्थित होगी। सोपान पर चढ़ती हुई प्रारंभिक और बढ़ती हुई यह शक्ति चेतना और ज्ञान की वृद्धि की स्वाभाविक सहगामिनी होगी।

अतः मन से आगे बढ़कर श्रेष्ठतर ज्ञानात्मक और सक्रिय तत्त्व की ओर चित्-शक्ति के विकास का अनिवार्य परिणाम होगा चेतना की एक नयी शक्ति और चेतना की नयी शक्तियों का आविर्भाव। अपनी सारभूत प्रकृति में इन नयी शक्तियों का धर्म होना चाहिये प्राण और जड़ पर मन का अधिकार, जड़ पर सचेतन प्राण-इच्छा और प्राण-शक्ति का अधिकार, मन, प्राण तथा जड़ पर आत्मा का अधिकार। उनका एक और लक्षण होगा अंतरात्मा और अंतरात्मा के बीच, मन और मन तथा प्राण और प्राण के बीच अवरोधों का टूट जाना। इस तरह का परिवर्तन विज्ञानमय जीवन के साधन-विनियोग के लिये अनिवार्य होगा। क्योंकि संपूर्ण विज्ञानमय या दिव्य जीवन केवल सत्ता के व्यक्तिगत जीवन का ही नहीं बल्कि सबको एक करनेवाली चेतना में व्यक्ति के साथ एक हुए दूसरों के जीवन का भी समावेश करेगा। ऐसे जीवन की मुख्य घटक शक्ति बनावटी नहीं, सहज स्वाभाविक ऐक्य और सामंजस्य होनी चाहिये। यह अपने आध्यात्मिक पदार्थ में एकीभूत ऐसे व्यक्ति और व्यक्ति के बीच सत्ता और चेतना के विशालतर तादात्म्य के आने से हो सकता है जो अपने-आपको आत्मा, एक ही स्वयंभू सत्ता की आत्मा अनुभव करते हों, जो ज्ञान की बृहत्तर एकत्वमय शक्ति में, सत्ता की महत्तर शक्ति में कार्य करते हों। उनमें एकत्व और तादात्म्य की चेतना पर आधारित आंतरिक और प्रत्यक्ष पारस्परिक ज्ञान होगा, एक दूसरे की सत्ता की, विचार, अनुभूति, भीतरी और बाहरी गतिविधि की चेतना होगी, मन का मन के साथ, हृदय का हृदय के साथ सचेतन संपर्क, प्राण का प्राण पर सचेतन प्रभाव, सत्ता की शक्तियों का सत्ता की शक्तियों के साथ सचेतन आदान-प्रदान होगा। इन शक्तियों और इनके अंतरंग प्रकाश की अनुपस्थिति या कमी में प्रत्येक व्यक्ति की सत्ता, विचार, भावना, आंतरिक या बाह्य गतिविधि का अपने चारों ओर के व्यक्तियों की सत्ता, विचार, भावना, आंतरिक और बाह्य गतिविधि के साथ यथार्थ या पूरा एकत्व या यथार्थ और पूरा स्वाभाविक मेल न बैठ सकेगा। हम कह सकते हैं कि इस अधिक विकसित जीवन का लक्षण होगा सचेतन एकचित्तता की बढ़ती हुई नींव और रचना।

सामंजस्य आध्यात्म सत्ता का स्वाभाविक नियम है। वह बहुत्व में एकत्व का, विविधता में एकता का, एकत्व की बहुविध अभिव्यक्ति का अंतर्निहित विधान और

सहज परिणाम है। निश्चय ही शुद्ध और कोरे एकत्व में सामंजस्य के लिये कोई जगह नहीं हो सकती क्योंकि वहां सामंजस्य करने के लिये कुछ होता ही नहीं। पूर्ण या प्रमुख विविधता में या तो विसंगति होगी या भेदों के बीच मेल बिठाया जायेगा, एक बनावटी सामंजस्य होगा। लेकिन विज्ञान के बहुत्वगत एकत्व में सामंजस्य एकत्व के सहज प्रकटन की तरह होगा और इस सहज प्रकटन के लिये जरूरी है ऐसी चेतना की पारस्परिकता जो अन्य चेतना के बारे में प्रत्यक्ष भीतरी संपर्क और आदान-प्रदान द्वारा अभिज्ञ होती है। अवबौद्धिक जीवन में सामंजस्य प्रकृति की सहज-वृत्तिमूलक एकता और प्रकृति की क्रिया के एकत्व, एक वृत्तिमूलक संचार, वृत्तिमूलक या प्रत्यक्ष प्राणिक अंतर्भासात्मक संवेदनशील समझ द्वारा प्राप्त किया जाता है, जिसके द्वारा पशु-समाज या कीट-पतंग समाज के व्यक्ति सहयोग कर पाते हैं। मानव जीवन में इसका स्थान ले लेती है इंद्रिय ज्ञान और मानसिक दृष्टि तथा वाणी द्वारा भावों के आदान-प्रदान से होनेवाली समझ, लेकिन जिन साधनों का उपयोग करना होता है वे अपूर्ण हैं और सामंजस्य और सहयोग अधूरे। विज्ञानमय जीवन में, एक ऐसे जीवन में जो अतिबौद्धिक और पराप्राकृतिक जीवन है, सत्ता का आत्म-अभिज्ञ आध्यात्मिक एकत्व और आध्यात्मिक रूप से सचेतन समुदाय और प्रकृति का परस्पर आदान-प्रदान, समझ की गहरी और पर्याप्त जड़ होंगे। इस महत्तर जीवन ने चेतना को भीतर से चेतना के साथ एक करने के नये और श्रेष्ठतर साधनों और शक्तियों का विकास किया होगा; चेतना का भीतर से और सीधे चेतना के साथ संपर्क, विचार का विचार के साथ, दृष्टि का दृष्टि के साथ, संवेद का संवेद के साथ, प्राण का प्राण के साथ, शारीरिक अभिज्ञता का शारीरिक अभिज्ञता के साथ अंतरंगता उसका स्वाभाविक आधारभूत साधन होगा। ये सभी नयी शक्तियां पुराने बाहरी साधनों को अपनाकर उन्हें कहीं बड़ी शक्ति के साथ और अधिक विस्तृत उद्देश्य के लिये निम्नतर साधनों के रूप में व्यवहार में लायेंगी। वे सत्ता और जीवन के गहरे एकत्व में आध्यात्म पुरुष की आत्माभिव्यक्ति के लिये काम में लायी जायेंगी।

आधुनिक मन चेतना की अंतर्निष्ठ और सुप्त लेकिन अभीतक अविकसित शक्तियों के विकास को स्वीकार नहीं करता क्योंकि वे शक्तियां हमारे वर्तमान प्राकृतिक रूपायन का अतिक्रमण कर जाती हैं और सीमित अनुभवों पर आधारित हमारी अज्ञानमय पूर्वधारणाओं को वे अति-प्राकृतिक, चमत्कारिक और गुह्य जगत् की चीजें मालूम होती हैं, क्योंकि वे जड़ ऊर्जा की ज्ञात क्रियाओं को पार कर जाती हैं जिसे आज सामान्यतः वस्तुओं का एकमात्र कारण और प्रकार और जगत्-शक्ति का एकमात्र साधन माना जाता है। स्वयं प्रकृति ने जो कुछ संगठित किया है, चेतन सत्ता उस सबसे आगे जानेवाली भौतिक शक्तियों के साधन-विनियोग का आविष्कार तथा विकास करे, मनुष्य ऐसे अद्‌भुत काम करता चले—इसे हमारे

जीवन के प्राकृतिक तथ्य या लगभग असीम संभावना के रूप में स्वीकार किया जाता है लेकिन मनुष्य या प्रकृति ने अभीतक जो कुछ संगठित किया है उससे आगे जानेवाली चेतना-शक्तियों और आध्यात्मिक, मानसिक तथा प्राणिक-शक्तियों का जागरण, आविष्कार, साधन-विनियोग भी संभव है—यह बात नहीं मानी जाती। लेकिन इस प्रकार के विकास में अति-प्राकृतिक या चमत्कारिक कुछ नहीं होगा। इसके सिवाय कि वह श्रेष्ठतर प्रकृति, हमारी प्रकृति से श्रेष्ठतर होगी, उसी तरह जैसे मानव प्रकृति पशु, वनस्पति या जड़ वस्तुओं की प्रकृति से श्रेष्ठतर है। हमारा मन और उसकी शक्तियां, हमारा तर्क-बुद्धि का उपयोग, हमारा मानसिक अंतर्भास और अंतर्दृष्टि, वाणी, दार्शनिक, वैज्ञानिक, सौंदर्यबोध संबंधी सत्ता के सत्यों और अंतःशक्तियों के आविष्कार की संभावनाएं और उसकी शक्तियों पर अधिकार—एक ऐसा विकास है जो हो चुका है लेकिन अगर हम सीमित पशु-चेतना और उसीकी क्षमताओं को आधार बनाकर देखें तो यह असंभव मालूम होगा क्योंकि वहां ऐसी कोई चीज नहीं है जो ऐसी विपुल प्रगति को उचित ठहराये। फिर भी पशु में कुछ प्रारंभिक अभिव्यक्तियां, प्रारंभिक तत्त्व या अवरुद्ध संभावनाएं हैं जिन्हें अपने असाधारण विकास के साथ, हमारी तर्क-बुद्धि और समझ एक तुच्छ, निराशाजनक आरंभ-बिंदु से एक कल्पनातीत यात्रातक ले जाती है। इसी भांति, विज्ञानमय पराप्रकृति की प्रारंभिक आध्यात्मिक शक्तियां हमारे सामान्य गठन में भी रहती तो हैं परंतु कभी-कदास, और मितव्ययता के साथ सक्रिय होती हैं। यह मानना न्याय-विरुद्ध न होगा कि विकास की इस बहुत अधिक ऊंची स्थिति में एक वैसी ही किंतु बहुत अधिक महान् प्रगति इन प्रारंभिक आरंभों से लेकर एक अन्य बहुत बड़े विकास और उपक्रम की ओर ले जाये।

गुह्य अनुभव में—जब आंतरिक चक्रों का उद्घाटन होता है या अन्य विधियों से, सहज रूप से या इच्छा या प्रयास या स्वयं आध्यात्मिक वृद्धि द्वारा—चेतना की नयी शक्तियां विकसित होती हुई देखी गयी हैं। वे अपने-आपको इस तरह प्रस्तुत करती हैं मानों किसी आंतरिक उन्मीलन का स्वचालित परिणाम या सत्ता के अंदर से किसी पुकार का उत्तर हों। यहांतक कि साधकों को यह परामर्श देना आवश्यक समझा गया है कि वे इन शक्तियों का पीछा न करें, न उन्हें स्वीकार करें और न उनका उपयोग करें। यह अस्वीकृति उन लोगों के लिये युक्ति-युक्त है जो जीवन से किनारा करना चाहते हैं क्योंकि महत्तर शक्ति की कोई भी स्वीकृति उसे जीवन के साथ बांध देगी या मोक्ष की ओर शुद्ध और कोरी आकांक्षा पर भार होगी। भगवान् के प्रेमी के लिये, जो भगवान् को स्वयं उनके लिये खोजता है, शक्ति या किसी और घटिया आकर्षण के लिये नहीं, अन्य सभी लक्ष्यों और परिणामों के प्रति उदासीनता स्वाभाविक है। इन लुभावनी लेकिन बहुधा संकटपूर्ण शक्तियों का अनुसरण उसके अपने लक्ष्य से विचलन होगा। अपरिपक्व साधक के लिये इसी

तरह का त्याग आवश्यक आत्म-संयम और आध्यात्मिक अनुशासन होता है क्योंकि ऐसी शक्तियां एक महान् संकट, यहांतक कि घातक संकट भी हो सकती हैं, क्योंकि उनकी अलौकिकता आसानी से उसके अंदर एक असामान्य रूप से बढ़े हुए अहंकार का पोषण कर सकती है। पूर्णता का अभीप्सु स्वयं शक्ति को ही प्रलोभन मानकर उससे डर सकता है क्योंकि शक्ति जहां उठा सकती है वहां गिरा भी सकती है, इससे अधिक दुरुपयोग और किसी चीज का नहीं हो सकता। लेकिन जब नयी क्षमताएं महत्तर चेतना और महत्तर जीवन में विकास के अनिवार्य परिणाम-स्वरूप आती हैं और वह विकास हमारे अंदर आध्यात्मिक सत्ता के लक्ष्य का भाग होता है, तो यह रुकावट नहीं आती; क्योंकि सत्ता का पराप्रकृति में विकास और पराप्रकृति में जीवन तबतक चरितार्थ नहीं हो सकते या पूर्ण नहीं बन पाते जबतक कि वे अपने साथ चेतना की महत्तर शक्ति और जीवन की महत्तर शक्ति और ज्ञान और शक्ति के यंत्र-विन्यास के सहज विकास में उसे न ला सकें जो पराप्रकृति के लिये सामान्य है। सत्ता के इस भावी विकास में ऐसा कुछ नहीं है जिसे अयुक्त या अविश्वसनीय कहा जा सके। उसमें कोई चीज असामान्य या चमत्कारिक नहीं है। वह हमारे जीवन के मानसिक निरूपण से विज्ञानमय या अतिमानसिक की ओर जाते हुए चेतना और उसकी शक्तियों के विकास की आवश्यक गति होगी। पराप्रकृति की शक्तियों की यह क्रिया नयी, उच्चतर या महत्तर चेतना की स्वाभाविक, सामान्य और सहज रूप से सरल क्रिया होगी जिसमें वह अपने आत्म-विकास के क्रम में प्रवेश करती है। विज्ञानमय सत्ता विज्ञानमय जीवन को स्वीकार करते हुए इस महत्तर चेतना की शक्तियों को विकसित करेगी और उपयोग में लायेगी, जैसे मनुष्य अपनी मानसिक प्रकृति की शक्तियों को विकसित करता और काम में लाता है।

यह स्पष्ट है कि महत्तर और अधिक पूर्ण जीवन के लिये चेतना की शक्ति या शक्तियों की इस प्रकार वृद्धि केवल सामान्य नहीं, अनिवार्य होगी। अपने आंशिक सामंजस्य के साथ मानव-जीवन अपने मन, हृदय, जीवन-भाव के प्रबुद्ध या हितबद्ध तत्त्वों के मेल पर आधारित है, सर्व-सामान्य भावों, कामनाओं, प्राणिक तुष्टियों, जीवन के लक्ष्यों के मिश्रित समूह की स्वीकृति पर आधारित है जहांतक वह अंशतः सहयोगशील, अंशतः प्रेरित, अंशतः जबरदस्ती लादी गयी या अपरिहार्य स्वीकृति द्वारा समाज के अंगभूत व्यक्तियों पर लादे गये विधान और व्यवस्था पर टिका न हो। लेकिन समुदाय के घटक व्यक्तियों में उनके द्वारा माने गये भावों, जीवन-लक्ष्यों, जीवन-हेतुओं के बारे में अपूर्ण समझ और अपूर्ण ज्ञान होता है, उनके क्रियान्वित करने में अपूर्ण शक्ति, उन्हें सदा अक्षुण्ण बनाये रखने, उन्हें पूरी तरह निष्पादित करने या जीवन को महत्तर पूर्णता की ओर ले जाने के लिये अपूर्ण इच्छा रहती है; संघर्ष और विसंगति का तत्त्व, दबायी हुई या

अपरिपूरित कामनाओं और कुंठित इच्छाओं का समूह, दबाये हुए असंतोष की खदबदाहट या जाग्रत् या विस्फोटक असंतोष या असमान रूप से संतुष्ट हितों का तत्त्व होता है; नये भाव, प्राणिक हेतु घुस पड़ते हैं जिन्हें उथल-पुथल और विक्षोभ के बिना सहसंबद्ध नहीं किया जा सकता। मानव सत्ताओं में और उनके वातावरण में ऐसी जीवन-शक्तियां कार्यरत रहती हैं जो निर्मित सामंजस्य से भिन्न होती हैं और इतनी भरपूर शक्ति नहीं होतीं जो मन और प्राण की टकराती हुई विभिन्नता और वैश्व प्रकृति में विघटन लानेवाली शक्तियों के आक्रमण से पैदा असंगतियों और स्थापनों पर विजय पा सकें। जिस चीज की कमी है वह है आध्यात्मिक ज्ञान और आध्यात्मिक शक्ति, स्वयं अपने ऊपर अधिकार, औरों के साथ एक होने से आनेवाली शक्ति, चारों ओर से घेरनेवाली या आक्रमणकारी जगत्-शक्तियों पर अधिकार, ज्ञान के कार्यान्वयन के लिये पूर्ण दृष्टि और पूरी तरह सज्जित शक्ति—ये हैं वे क्षमताएं जिनकी हमारे अंदर कमी है या जो त्रुटिपूर्ण हैं। ये विज्ञानमय सत्ता के सत्त्व की चीजें हैं और विज्ञानमय प्रकृति के प्रकाश और क्रियाशक्ति में अंतर्निहित हैं।

लेकिन मानव-समाज जिन व्यक्तियों से बनता है उनके मन, हृदय और प्राण के समायोजन की अपूर्णता के सिवा स्वयं व्यक्ति के मन और प्राण ऐसी शक्तियों से परिचालित होते हैं जिनका आपस में मेल नहीं बैठता। उनमें मेल बैठाने के हमारे प्रयत्न अपूर्ण होते हैं और उससे भी ज्यादा अपूर्ण होती है उनमें से किसी एक को भी सर्वांगीण या संतोषप्रद रूप में जीवन में कार्यान्वित करने की हमारी शक्ति। इस भांति प्रेम और सहानुभूति का विधान हमारी चेतना के लिये स्वाभाविक है। हम ज्यों-ज्यों आध्यात्म सत्ता में विकसित होते हैं हमसे उसकी मांग भी बढ़ती जाती है। लेकिन साथ ही, बुद्धि की मांग होती है, प्राणिक शक्ति और उसके आवेगों का हमपर दबाव होता है, और भी कई तत्त्वों का दावा और चाप होता है जो प्रेम और सहानुभूति के धर्म के साथ ठीक नहीं बैठते, और हम यह भी नहीं जानते कि उन सबको जीवन के समग्र विधान में किस तरह ठीक जगह पर बैठायें या उनमें से किसीको या सबको उचित रूप से पूर्णतः प्रभावी या अनुल्लंघ्य बनाएं। उन्हें सुसंगत और क्रियाशील रूप से सारी सत्ता और समस्त जीवन में फलप्रद बनाने के लिये हमें अधिक पूर्ण आध्यात्मिक प्रकृति में विकसित होना चाहिये। उस विकास द्वारा हमें उच्चतर, विशालतर और अधिक समग्र चेतना के प्रकाश और उसकी शक्ति में जीना चाहिये जिसमें ज्ञान और शक्ति, प्रेम और सहानुभूति और जीवन-इच्छा की लीला स्वाभाविक और सतत उपस्थित समस्वर तत्त्व होंगे। हमें सत्य के प्रकाश में गति और कार्य करना चाहिये जो प्रकाश अंतर्भासात्मक सहज रूप से देखता है कि क्या करना और कैसे करना चाहिये; अंतर्भासात्मक सहज रूप से कार्य अपने-आपको चरितार्थ करता है और हमें उस शक्ति में गति और कार्य

करना चाहिये जो हमारी सत्ता की शक्तियों की जटिलता को उनके सत्य की उस अंतर्भासात्मक सहजता में, अपनी सरल आध्यात्मिक और परम स्वाभाविकता में समा लेती और प्रकृति में सभी चरणों को उनके सामंजस्यपूर्ण सत्यों से भर देती है।

यह स्पष्ट होना चाहिये कि बुद्धि के सहारे टुकड़ों का मेल बैठाना या मानसिक रचना का कोई कौशल इस जटिलता में सुसंगति या सामंजस्य नहीं ला सकता। केवल जाग्रत् आध्यात्म पुरुष का अंतर्भास और आत्मज्ञान ही इसे ला सकता है। यह विकसित अतिमानसिक सत्ता और उसके जीवन का स्वभाव होगा; उसकी आध्यात्मिक दृष्टि और बोध ही सत्ता की सभी शक्तियों को एक करनेवाली चेतना में लेकर, उन्हें सुसंगत क्रिया की सामान्यता में ले आते हैं क्योंकि यही सुसंगति और सामंजस्य आध्यात्म पुरुष की सामान्यता हैं। हमारे जीवन और प्रकृति की असंगति और असामंजस्य उसके लिये असामान्य है, यद्यपि वह अज्ञान के जीवन के लिये सामान्य है। वस्तुतः, चूंकि वह आध्यात्म पुरुष के लिये सामान्य नहीं है इसलिये हमारे भीतर का ज्ञान असंतुष्ट रहता है और हमारे जीवन में विशालतर सामंजस्य के लिये प्रयास करता है। सारी सत्ता का यह मेल और यह संगति, जो विज्ञानमय व्यक्ति के लिये स्वाभाविक है, विज्ञानमय सत्ताओं के समाज के लिये समान रूप से स्वाभाविक होगी क्योंकि वह सर्व-सामान्य, पारस्परिक आत्म-अभिज्ञता के प्रकाश में आत्मा के साथ आत्मा के ऐक्य पर आधारित होगी। यह सच है कि पार्थिव जीवन की समग्रता में, जिसका विज्ञानमय जीवन भी एक अंग होगा, उसके अंदर अब भी एक कम विकसित श्रेणी का जीवन चलता रहेगा। अंतर्भासात्मक और विज्ञानमय जीवन को इस समग्र जीवन में पूरा उतरना और उसके अंदर जहांतक हो सके अपने ऐक्य और सामंजस्य के विधान को अपने साथ ले चलना होगा। यहां सहज सामंजस्य का विधान अनुपयुक्त मालूम हो सकता है क्योंकि विज्ञानमय जीवन का अपने चारों ओर के अज्ञानमय जीवन के साथ संबंध आत्म-ज्ञान की पारस्परिकता, सत्ता के एकत्व के बोध और सर्वसामान्य चेतना पर आधारित न होगा। वह ज्ञान की क्रिया और अज्ञान की क्रिया का संबंध होगा, लेकिन यह कठिनाई इतनी बड़ी नहीं होनी चाहिये जितनी कि हमें इस समय प्रतीत होती है क्योंकि विज्ञानमय ज्ञान अपने अंदर अज्ञान की चेतना की पूरी समझ लिये रहेगा और इसलिये आश्वस्त विज्ञानमय जीवन के लिये यह असंभव न होगा कि वह अपने से कम विकसित ऐसे सभी जीवनों के साथ अपने जीवन का सामंजस्य बैठा ले जो पार्थिव प्रकृति में उसके साथ रहते हैं।

अगर हमारी विकसनशील नियति यही है तो हमें यह देखना होगा कि विकसनशील प्रगति की इस संधि में हम कहां खड़े हैं—इस प्रगति में, जो चक्राकार या सर्पिल रही है, सीधी लीक में नहीं या कम-से-कम जो प्रगति की बहुत ही टेढ़ी-मेढ़ी, बल खाती गोलाइयों में यात्रा रही है—और निकट या मापे जा

सकनेवाले भविष्य में किसी निर्णायक चरण की ओर मुड़ने की क्या संभावना है। व्यक्तिगत पूर्णता और जाति के जीवन की पूर्णता के लिये हमारी मानव-अभीप्सा में भावी विकास के तत्त्वों का पूर्वाभास मिलता है और उनके लिये कोशिश भी की जाती है लेकिन यह होता है अर्द्ध-प्रकाशमय ज्ञान की अस्त-व्यस्तता में। आवश्यक तत्त्वों में असंगति, विरोधी आग्रह रहता है, आरंभिक और असंतोषजनक समाधानों की प्रचुरता होती है जिनमें ठीक संगति नहीं बैठती। वे हमारे आदर्शवाद की तीन मुख्य प्रवृत्तियों के बीच झूलते हैं—मानव सत्ता का अपने अंदर पूर्ण एकाकी विकास, व्यक्ति की पूरणीयता; सामूहिक सत्ता का पूर्ण विकास, समाज की पूरणीयता और व्यावहारिक दृष्टि से अधिक प्रतिबंधित रूप में, व्यक्ति के व्यक्ति और समाज से, समुदाय के समुदाय से पूर्ण या यथासंभव अच्छे-से-अच्छे संबंध। कभी व्यक्ति पर ऐकांतिक या प्रमुख जोर दिया जाता है और कभी समुदाय या समाज पर तो कभी व्यक्ति और मानव की सामुदायिक समग्रता के उचित संतुलित संबंध पर। एक विचार मानव व्यक्ति के बढ़ते हुए जीवन, स्वतंत्रता और पूर्णता को हमारे जीवन का सच्चा लक्ष्य मानता है—फिर वह आदर्श चाहे व्यक्तिगत सत्ता की केवल स्वच्छंद आत्माभिव्यक्ति हो या पूर्ण मन, उत्कृष्ट तथा समृद्ध प्राण और पूर्ण शरीर की आत्मशासित संपूर्णता या फिर आध्यात्मिक मुक्ति और पूर्णता हो। इस दृष्टि से समाज व्यष्टिगत मनुष्य के क्रिया-कलाप और विकास का केवल एक क्षेत्र है और वह अपना कार्य अच्छे-से-अच्छी तरह तब करता है जब वह व्यक्ति के विचार, उसकी क्रिया, उसकी वृद्धि, उसकी सत्ता की पूर्णता की संभावना को, जहांतक हो सके, विकास के लिये विस्तृत क्षेत्र, प्रचुर साधन, पर्याप्त स्वाधीनता या पथ-प्रदर्शन दे। इससे विपरीत विचार सामुदायिक जीवन को प्रथम या एकमात्र महत्त्व देता है; जाति का जीवन और विकास ही सब कुछ है। व्यक्ति को समाज के लिये या मानवजाति के लिये जीना होता है, या वह समाज का एक कोषाणु मात्र है। उसके जन्म का कोई और उपयोग या प्रयोजन नहीं है, प्रकृति में उसकी उपस्थिति का कोई और अर्थ नहीं है और न ही कोई और कार्य है। या फिर यह माना जाता है कि राष्ट्र, समाज, जाति एक सामुदायिक सत्ता है जो अपनी अंतरात्मा को संस्कृति, जीवन-शक्ति, आदर्शों, संस्थाओं और आत्माभिव्यक्ति के सभी उपायों में प्रकट करती है। व्यक्तिगत जीवन को अपने-आपको संस्कृति के उस सांचे में ढालने, जीवन की उस शक्ति की सेवा करने और सामुदायिक जीवन को बनाये रखने और उसकी कुशलता के केवल साधन के रूप में रहने के लिये अनुमति देनी होगी। एक और विचार के अनुसार मनुष्य की पूर्णता अन्य मनुष्यों के साथ उसके नैतिक और सामाजिक संबंधों पर निर्भर है। वह एक सामाजिक प्राणी है और उसे समाज के लिये, औरों के लिये, जाति के लिये उसकी जो उपयोगिता है उसके लिये जीना चाहिये। समाज भी सबकी सेवा के लिये है, उन्हें अपने उचित

संबंध, शिक्षा, प्रशिक्षण, आर्थिक अवसर, जीवन का उचित ढांचा देने के लिये है। प्राचीन संस्कृतियों में समुदाय और समुदाय के अंदर व्यक्ति को यथा-स्थान बैठाने को सबसे ज्यादा महत्त्व दिया जाता था। लेकिन साथ ही पूर्ण बनाये गये व्यक्ति का भाव भी उठा। प्राचीन भारत में आध्यात्मिक व्यक्ति का विचार अधिक प्रधान था लेकिन समाज का बहुत अधिक महत्त्व था क्योंकि उसमें व्यक्ति को पहले समाज में और उसे ढालनेवाले प्रभाव के आधीन होकर शारीरिक, प्राणिक और मानसिक सत्ता की एक सामाजिक स्थिति में से गुजरना होता था जिसमें उसे अर्थ और काम की तुष्टि मिलती थी और वह ज्ञान तथा सम्यक् जीवन की खोज करता था, उसके बाद ही वह अधिक सत्य आत्मोपलब्धि और मुक्त आध्यात्मिक जीवन के अधिकारतक पहुंच सकता था। अर्वाचीन काल में सारा जोर जाति के जीवन की ओर, पूर्ण समाज की खोज की ओर और उसके बाद समूचे रूप में मानवजाति के सम्यक् संगठन और वैज्ञानिक यंत्रीकरण पर एकाग्र हो गया है। अब प्रवृत्ति यह मानने की ओर है कि व्यक्ति केवल समूह का एक सदस्य है, जाति की एक इकाई है जिसके जीवन को संगठित समाज के सर्व-सामान्य लक्ष्यों और संपूर्ण हित के आधीन होना चाहिये। यह बहुत कम या नहीं के बराबर माना जाता है कि वह मानसिक या आध्यात्मिक सत्ता है जिसके अस्तित्व का अपना अधिकार और बल है, यह प्रवृत्ति अभीतक सब जगह अपनी पराकाष्ठा पर नहीं पहुंची, लेकिन वह हर जगह तेजी से बढ़ रही और प्रधानता की ओर बढ़ रही है।

इस तरह मानव-विचार के उलट-फेर में एक ओर तो व्यक्ति को यह प्रेरणा दी जाती है या निमंत्रण मिलता है कि वह आत्म-प्रतिष्ठापन की खोज करे, अपने मन, प्राण और शरीर के विकास और आध्यात्मिक पूर्णता में लगे और दूसरी ओर उससे मांग की जाती है कि वह अपने-आपको मिटा दे, आधीन कर दे और समुदाय के भावों, आदर्शों, इच्छाओं, सहज-वृत्तियों और हितों को अपना माने। प्रकृति उसे प्रेरित करती है कि वह अपने लिये जिये और उसके अंदर गहराई में कोई चीज उसे प्रेरित करती है कि वह अपने व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित करे। समाज और अमुक मानसिक आदर्शवाद उससे मानव जाति के लिये और समुदाय की श्रेष्ठतर भलाई के लिये जीने की मांग करते हैं। अहं के तत्त्व और उसके हित का सामना और विरोध होता है परोपकार के तत्त्व से। प्रशासन अपना देवता खड़ा करता है और व्यक्ति के आज्ञा-पालन की, उसके समर्पण, अधीनता, आत्मबलि की मांग करता है। इस अतिशय मांग के विरोध में व्यक्ति को अपने आदर्शों, अपने भावों, अपने व्यक्तित्व, अपने विवेक के अधिकारों की स्थापना करनी होती है। यह स्पष्ट है कि मानकों का यह संघर्ष मनुष्य के मानसिक अज्ञान का टटोलना है, अपना मार्ग ढूंढ़ने का प्रयास और सत्य के विभिन्न पार्श्वों को पकड़ना है, परंतु ज्ञान की समग्रता के अभाव में वह उनका एक साथ समन्वय नहीं कर पाता। केवल एकता और

सामंजस्य लानेवाला ज्ञान ही मार्ग पा सकता है लेकिन वह ज्ञान हमारी सत्ता के ऐसे ज्यादा गहरे तत्त्व की चीज है जिसके लिये ऐक्य और सामंजस्य सहज हैं। केवल उसीको अपने अंदर पाकर हम अपने जीवन की समस्या और उसके साथ ही व्यक्तिगत और सामुदायिक जीवन के सच्चे मार्ग की समस्या का समाधान कर सकते हैं।

एक सद्वस्तु है, समस्त सत्ता का एक सत्य है जो अपने सभी रूपायणों और अभिव्यक्तियों से अधिक स्थायी और महान् है। उस सत्य और सद्वस्तु को पाना और उसमें निवास करना, उसकी यथा-संभव पूर्णतम अभिव्यक्ति और रूपायण पाना पूर्णता का मर्म होना चाहिये, फिर चाहे वह व्यक्ति की पूर्णता हो या सामुदायिक सत्ता की। यह सद्वस्तु प्रत्येक वस्तु में है और अपने रूपायणों में से प्रत्येक को सत्ता की अपनी शक्ति और सत्ता की अपनी महत्ता प्रदान करती है। विश्व सद्वस्तु की एक अभिव्यक्ति है और वैश्व सत्ता का एक सत्य है, वैश्व सत्ता की एक शक्ति है—सर्वात्मा या जगदात्मा। मानवजाति विश्व में उस सद्वस्तु का एक रूपायण या उसकी एक अभिव्यक्ति है और मानवजाति का एक सत्य और उसकी एक आत्मा है, एक मानव आत्मा है, मानव जीवन की नियति है। समुदाय सद्वस्तु का एक रूपायण है, मानव-आत्मा की अभिव्यक्ति है और सामूहिक सत्ता का एक सत्य, उसकी एक आत्मा और शक्ति होती है। व्यक्ति सद्वस्तु का रूपायण है और व्यक्ति का एक सत्य होता है, एक व्यष्टिगत आत्मा या अंतरात्मा जो अपने-आपको व्यष्टिगत मन, प्राण और शरीर द्वारा अभिव्यक्त करती है और अपने-आपको किसी ऐसी चीज में भी प्रकट कर सकती है जो मन, प्राण, शरीर से परे, मानवजाति से भी परे चली जाती हो। क्योंकि हमारी मानवजाति न तो पूरी सद्वस्तु है और न यथा-संभव उसका सर्वोत्तम रूपायण या आत्माभिव्यक्ति। सद्वस्तु ने मनुष्य के अस्तित्व से पहले अवमानव रूप धारण किया और अवमानव रूप में आत्मसृजन किया था और उसके बाद या उसीमें वह अतिमानव रूप और अतिमानव आत्म-सृजन कर सकती है। आत्मा या सत्ता के रूप में व्यक्ति अपनी मानवजातितक ही सीमित नहीं है; वह मनुष्य से कम रह चुका है, वह मनुष्य से बढ़कर हो सकता है। जैसे वह अपने-आपको विश्व में पाता है उसी तरह विश्व अपने-आपको उसके द्वारा पाता है। लेकिन वह विश्व से बढ़कर होने के योग्य है, चूंकि वह उसका अतिक्रमण कर सकता है, ऐसी किसी चीज में प्रवेश कर सकता है जो उसमें है, विश्व में है, विश्व के परे है, निरपेक्ष है। वह समुदाय में सीमित नहीं है यद्यपि उसके मन और प्राण, एक तरह से, सामुदायिक मन और प्राण के अंग हैं, उसके अंदर कोई चीज है जो उनके परे जा सकती है। समुदाय व्यक्ति पर खड़ा है क्योंकि उसका मन, प्राण और शरीर उसके घटक व्यक्तियों के मन, प्राण और शरीर से बने हैं; अगर उन्हें लुप्त या विघटित कर दिया जाये तो उसका

अपना अस्तित्व लुप्त या विघटित हो जायेगा। हो सकता है कि उसकी कोई अंतः-सत्ता या शक्ति अन्य व्यक्तियों में फिर से रूप धारण कर ले। लेकिन व्यक्ति सामुदायिक सत्ता का एक कोषाणु मात्र नहीं है। अगर उसे सामुदायिक पिंड से निकाल दिया जाये या अलग कर दिया जाये तो उसका अस्तित्व समाप्त नहीं हो जायेगा। कारण, समूह ही, समुदाय ही समूची मानवजाति नहीं है और न ही वह जगत् है। व्यक्ति अपने-आपको मानवजाति में अन्यत्र पा सकता और रह सकता है, या वह अपने-आप जगत् में रह सकता है। समुदाय का जीवन अपने घटक व्यक्तियों के ऊपर छाया रहे तब भी वह उनका समस्त जीवन नहीं बनता। अगर समूह की अपनी सत्ता है जिसे वह व्यक्तियों के जीवन द्वारा प्रतिष्ठित करना चाहता है तो व्यक्ति की भी अपनी ऐसी सत्ता होती है जिसे वह समूह के जीवन में प्रतिष्ठित करना चाहता है। लेकिन वह उससे बंधा हुआ नहीं है। वह अपने-आपको किसी और सामुदायिक जीवन में प्रतिष्ठित कर सकता है और अगर वह काफी मजबूत है तो वह किसी यायावर जीवन या संन्यासी के एकांतवास में रह सकता है जहां अगर वह पूर्ण भौतिक जीवन की खोज या प्राप्ति न भी कर सके तो वह आध्यात्मिक रूप से जी सकता है और अपनी सत्ता के अंदर निवास करनेवाली आत्मा और स्वयं अपने स्वरूप को पा सकता है।

वस्तुतः व्यक्ति विकासात्मक गति की चाबी है क्योंकि व्यक्ति ही अपने-आपको पाता और सद्वस्तु के बारे में सचेतन होता है। समूह की गतिविधि अधिकतर अवचेतन सामूहिक गतिविधि होती है और सचेतन होने के लिये उसे व्यक्तियों द्वारा निरूपित और प्रकट होना पड़ता है। उसकी सामान्य सामूहिक चेतना अपने सबसे अधिक विकसित व्यक्तियों की चेतना से कम विकसित होती है और उसकी प्रगति वहींतक होती है जहांतक वह उनके प्रभाव को स्वीकार करती या उसे विकसित करती है जिसे वे विकसित करते हैं। व्यक्ति अपनी चरम निष्ठा न तो प्रशासन को अर्पित करता है जो केवल यंत्र है और न समुदाय को जो समस्त जीवन न होकर जीवन का एक भाग है। उसकी चरम निष्ठा होनी चाहिये सत्य, आत्मा, आध्यात्म पुरुष, भगवान् के लिये जो उसमें और सबमें है। उसे अपने-आपको समूह में खो न देना चाहिये या उसके अधीन न होना चाहिये, बल्कि सत्ता के उस सत्य को अपने अंदर खोजना और व्यक्त करना चाहिये और समाज तथा मानवजाति की अपने सत्य और सत्ता की पूर्णता को खोजने में सहायता करनी चाहिये। यही उसके जीवन का असली उद्देश्य होना चाहिये। लेकिन व्यक्तिगत जीवन की शक्ति या उसके अंदर की आध्यात्मिक सद्वस्तु किस हदतक क्रियाशील हो सकती है, यह उसके अपने विकास पर निर्भर है। जबतक वह अविकसित है, उसे बहुत प्रकार से अपने अविकसित व्यक्तित्व को उसके आधीन करना होगा जो उससे महान् है। विकसित होने के साथ-साथ वह आध्यात्मिक मुक्ति की ओर गति करता है।

लेकिन यह मुक्ति सर्व-सत्ता से एकदम पृथक् चीज नहीं है। उसकी उसके साथ एकात्मता है क्योंकि यह भी वही आत्मा, वही आध्यात्म पुरुष है। वह ज्यों-ज्यों आध्यात्मिक स्वतंत्रता की ओर बढ़ता है, त्यों-त्यों आध्यात्मिक एकत्व की ओर भी बढ़ता है। गीता का कहना है कि आध्यात्म-सिद्ध पुरुष, मुक्त पुरुष, सभी के हित में लगा रहता है "*सर्वभूतहिते रतः*"। निर्वाण के मार्ग का पता लगा लेने के बाद भी बुद्ध को पीछे मुड़ना होता है ताकि उस मार्ग को उन लोगों के लिये खोल सकें जो अपनी वास्तविक सत्ता या असत्ता को छोड़कर कृत्रिम के मोह में हैं; निरपेक्ष द्वारा आकर्षित विवेकानंद मानवजाति में छिपे परम देव की, सबसे बढ़कर पतित और पीड़ित की, विश्व के अंधकारमय शरीर में आत्मा की आत्मा से की गयी आवाज सुनते हैं। जाग्रत् व्यक्ति के लिये अपनी सत्ता के सत्य, अपनी आंतरिक मुक्ति और पूर्णता की उपलब्धि ही प्रथम खोज होनी चाहिये—प्रथम इसलिये क्योंकि वह उसके अंदर के आध्यात्म पुरुष की पुकार है, साथ ही इसलिये भी कि केवल मुक्ति और पूर्णता और सत्ता के सत्य की उपलब्धि द्वारा ही मनुष्य जीवन के सत्यतक पहुंच सकता है। पूर्ण समुदाय का अस्तित्व भी अपने व्यक्तियों की पूर्णता से आ सकता है। और पूर्णता केवल तब आ सकती है जब जीवन में प्रत्येक व्यक्ति अपनी निजी आध्यात्मिक सत्ता को खोजकर स्थापित कर ले और सभी अपने आध्यात्मिक ऐक्य और परिणामतः जीवन-ऐक्य की खोज कर लें। हमारे लिये यथार्थ पूर्णता तभी हो सकती है जब हमारे अंदर आत्मा और आध्यात्मिक जीवन का सत्य हमारी सहायक सत्ता के सारे सत्य को अपने अंदर समो ले और उसे एकता, समाकलन और सामंजस्य दे। जैसे हमारी एकमात्र सच्ची स्वाधीनता है अपने अंदर की आध्यात्मिक सद्वस्तु की खोज और मुक्ति उसी तरह हमारी सच्ची पूर्णता का एकमात्र साधन है हमारी प्रकृति के सभी तत्त्वों में आध्यात्मिक सद्वस्तु का प्रभुत्व और आत्म-संपादन।

हमारी प्रकृति जटिल है और हमें उसकी जटिलता के किसी पूर्ण ऐक्य और उसकी पूर्णता की चाबी खोजनी है। उसका पहला विकसनशील आधार है जड़ जीवन। प्रकृति ने उसीसे आरंभ किया था और मनुष्य को भी उसीसे आरंभ करना है। उसे पहले अपने जड़-भौतिक और प्राणिक जीवन को प्रतिष्ठित करना है, लेकिन अगर वह वहीं रुक जाये तो उसके लिये कोई विकास नहीं हो सकता। उसकी अगली और महत्तर तल्लीनता होनी चाहिये अपने-आपको जड़-प्राणिक जीवन में अधिक-से-अधिक पूर्ण मानसिक सत्ता के रूप में पाने की, दोनों ही रूपों में यानी व्यक्तिगत और सामाजिक रूप में। यूनानी विचारधारा ने यूरोप को यही दिशा दी थी और रोम ने उसे व्यवस्थित शक्ति के आदर्श द्वारा मजबूत बनाया—या कमजोर—किया। तर्कबुद्धि का वाद, जीवन की आलोचनात्मक, उपयोगितावादी, संगठक और रचनात्मक बौद्धिक विचार द्वारा व्याख्या, जीवन पर भौतिक विज्ञान

द्वारा शासन, इसी प्रेरणा के अंतिम परिणाम हैं। लेकिन प्राचीन काल में उच्चतर सर्जनात्मक, क्रियाशील तत्त्व था आदर्श सत्य, शिव, सुंदर का अनुसरण और इस आदर्श द्वारा मन, प्राण, शरीर को पूर्णता और सामंजस्य के साथ गढ़ना। इस लगन के परे और ऊपर, जैसे ही मन पर्याप्त रूप से विकसित हो जाये मनुष्य के अंदर आध्यात्मिक लगन जागती है जो आत्मा और सत्ता के अंतरतम सत्य की खोज, मनुष्य के मन और प्राण की आत्मा के सत्य में मुक्ति, आध्यात्म सत्ता की शक्ति द्वारा उसकी पूर्णता, आत्मा में सभी सत्ताओं की एकात्मता, ऐक्य और पारस्परिकता पाने की होती है। यह पूर्व का आदर्श था जिसे बौद्ध धर्म और अन्य प्राचीन साधनाओं ने एशिया और मिस्र के तटोंतक पहुंचाया और वहांसे ईसाइयत ने इसे यूरोप में उंडेला। लेकिन पुरानी सभ्यताओं को डुबा देनेवाली बर्बरता की बाढ़ से उत्पन्न अस्त-व्यस्तता और अंधकार में ये उद्देश्य कुछ समयतक धीमी मशालों की तरह जलते रहे लेकिन इन्हें आधुनिक मनोवृत्ति ने त्याग दिया जिसने एक और प्रकाश, विज्ञान का प्रकाश पा लिया। आधुनिक मनोभाव ने जिस चीज की खोज की है वह है आर्थिक, सामाजिक परिणाम—सभ्यता और आराम का एक आदर्श जड़ भौतिक संगठन, उपयोगितावादी विवेक को व्यापक बनाने के लिये बुद्धि, विज्ञान और शिक्षा का उपयोग जिससे व्यक्ति पूर्ण बने हुए आर्थिक समाज में पूर्ण सामाजिक जीव बन सके। आध्यात्मिक आदर्श में से जो बच रहा, वह था—कुछ समय के लिये—धर्म के रंग से पूरी तरह मुक्त, मानसिकभावापन्न और नैतिक मानवतावाद और सामाजिक सदाचारवाद जिसे धार्मिक और वैयक्तिक सदाचार की जगह लेने के लिये पूर्णतया पर्याप्त मान लिया गया। जाति अभी इतनी ही दूर आयी थी कि उसका अपना वेग उसे आगे बढ़ाकर तेजी से आंतरिक अस्तव्यस्तता और उसके जीवन की अस्त-व्यस्तता में ले गया जिसमें सभी प्राप्त मूल्यों को उठा फेंका गया और ऐसा लगा कि उसके सामाजिक संगठन, उसके आचरण और उसकी संस्कृति के नीचे से सारी ठोस जमीन गायब होने लगी।

क्योंकि, यह आदर्श, भौतिक और आर्थिक जीवन पर यह सचेतन जोर वस्तुतः मनुष्य की पहली स्थिति, उसकी प्रारंभिक बर्बर स्थिति और प्राण और जड़ में उसकी तल्लीनता का सभ्य प्रत्यावर्तन था, आध्यात्मिक अधोगति थी जिसे विकसित मानवजाति का मन और पूरी तरह विकसित भौतिक विज्ञान के साधन प्राप्त थे। समग्र के अंदर, मानव जीवन की समग्र जटिलता में आर्थिक तथा भौतिक जीवन को पूर्ण बनाने के इस जोर का एक तत्त्व के रूप में अपना स्थान है लेकिन एकमात्र या प्रमुख जोर के रूप में वह मानवजाति के लिये, स्वयं विकास के लिये संकटपूर्ण है। पहला संकट है पुरानी प्राणिक और भौतिक आदिम बर्बरता का सभ्य रूप में लौट आना, भौतिक विज्ञान ने हमारे हाथ में जो साधन सौंपे हैं उनके कारण यह भय तो दूर हो जाता है कि अधिक बलवान् आदिम जातियां अशक्त सभ्यता

का उच्छेदन या विनाश कर दें, लेकिन संकट यह है कि स्वयं हमारे अंदर सभ्य मनुष्य में बर्बर फिर से न उठ खड़ा हो—यही संकट है जिसे हम चारों ओर देखते हैं। और यह होना अवश्यंभावी है यदि हमारे अंदर के प्राणिक और भौतिक मनुष्य को नियंत्रित करने और ऊपर उठानेवाले कोई उच्च और सबल मानसिक और नैतिक आदर्श न हों और कोई ऐसा आध्यात्मिक आदर्श न हो जो उसे अपने-आपसे अपनी आंतरिक सत्ता में मुक्त करे। अगर इस पुनःपतन से बचा भी जाये तो भी एक और संकट है—क्योंकि एक और संभव परिणाम है विकास की प्रेरणा का समापन, किसी आदर्श या दृष्टिकोण के बिना स्थायी और आरामदेह यांत्रिक सामाजिक जीवन में अश्मीकरण। अपने-आपमें तर्क-बुद्धि जाति को लंबे समयतक प्रगति में बनाये नहीं रख सकती, वह ऐसा तभी कर सकती है जब वह एक ओर प्राण और शरीर तथा दूसरी ओर मनुष्य के अंदर की उच्चतर और महत्तर वस्तु के बीच मध्यस्थ हो। क्योंकि एक बार मन को उपलब्ध कर लेने के बाद केवल आंतरिक आध्यात्मिक आवश्यकता, अभीतक उसमें जो अनुपलब्ध है उसकी प्रेरणा ही विकास के चाप और आध्यात्मिक प्रेरणा को बनाये रख सकती है। उसे त्यागने पर मनुष्य को या तो फिर से गिरकर पूरी तरह फिर से शुरू करना होगा या विकास की असफलता के रूप में अपने से पहले के जीवन के उन रूपों की तरह गायब हो जाना होगा जो विकास की प्रेरणा को बनाये रखने या उसे चलाने में असमर्थ रहे। अपनी अच्छे-से-अच्छी अवस्था में वह अन्य पशु-जातियों की तरह किसी प्रकार की मध्यवर्ती प्ररूपी पूर्णता में अवरुद्ध हो जायेगा, जब कि प्रकृति उसके परे एक महत्तर सृष्टि की ओर चलती चली जायेगी।

इस समय मानवजाति विकास के संकट में से गुजर रही है जिसमें उसकी नियति का चुनाव छिपा है; क्योंकि एक ऐसी अवस्था पहुंच गयी है जहां मानव-मन अमुक दिशाओं में बहुत अधिक विकसित हो चुका है जब कि अन्य दिशाओं में वह अवरुद्ध और भ्रमित खड़ा है और अपना मार्ग नहीं पा सकता। मनुष्य के सदा सक्रिय मन और प्राण-इच्छा ने बाहरी जीवन का एक ढांचा खड़ा कर दिया है और वह ढांचा इतना विशाल, इतना जटिल है कि उसकी व्यवस्था करना असंभव है। यह उसने बनाया है अपने मानसिक, प्राणिक और भौतिक दावों और प्रेरणाओं की सेवा के लिये, यह एक जटिल राजनीतिक, सामाजिक, प्रशासकीय, आर्थिक, सांस्कृतिक यंत्र है, उसके बौद्धिक, संवेदनात्मक, सौंदर्यग्राही और भौतिक संतोष के लिये एक संगठित सामूहिक साधन है। मनुष्य ने एक ऐसे सभ्यता-तंत्र की रचना की है जो उसकी सीमित मानसिक क्षमता और समझ के लिये तथा उसकी और भी अधिक सीमित आध्यात्मिक और नैतिक क्षमता के लिये उस तंत्र के उपयोग और व्यवस्था की दृष्टि से बहुत ज्यादा बड़ा है। वह भूलें करनेवाले उसके अहं और उसकी क्षुधाओं के लिये अत्यधिक भयानक सेवक बन गया है। क्योंकि

उसकी चेतना की सतह पर अभीतक कोई महत्तर द्रष्टा मन, ज्ञान की कोई अंतर्भासात्मक आत्मा नहीं आयी है जो जीवन की इस आधारभूत पूर्णता को उसका अतिक्रमण करनेवाली किसी वस्तु की मुक्त वृद्धि के लिये उपयुक्त परिस्थिति बना सके। जीवन के साधनों की यह नयी परिपूर्णता मनुष्य को उसकी आर्थिक और भौतिक आवश्यकताओं के लगातार अतृप्त दबाव से छुड़ा सकने की अपनी सामर्थ्य के कारण, भौतिक जीवन से ऊपर उठे हुए अन्य और महत्तर लक्ष्यों की पूरी खोज का अवसर हो सकती है; उच्चतर सत्य, शुभ और सौंदर्य के अन्वेषण, एक महत्तर और अधिक दिव्य आत्मा की खोज का अवसर हो सकती है जो हस्तक्षेप करके जीवन का उपयोग सत्ता की उच्चतर पूर्णता के लिये करे, लेकिन इसकी जगह उसका उपयोग नयी-नयी मांगों को बढ़ाने और सामूहिक अहंकार के आक्रामक विस्तार के लिये हो रहा है। साथ ही, भौतिक विज्ञान ने वैश्व शक्ति की बहुत-सी क्षमताएं उसके हाथों में सौंप दी हैं और मानवजाति के जीवन को जड़-भौतिक रूप में एक बना दिया है, लेकिन जो इस वैश्व शक्ति का उपयोग करता है वह छोटा-सा मानव वैयक्तिक या सामूहिक अहंकार है जिसके ज्ञान के प्रकाश या गतिविधियों में कुछ भी वैश्व नहीं है, कोई आंतरिक बोध या शक्ति नहीं है जो मानव जगत् के इस भौतिक रूप से नजदीक खिंच आने में एक सच्चा जीवन-ऐक्य, मानसिक ऐक्य या आध्यात्मिक ऐक्य की रचना कर सके। वहां जो कुछ है वह है संघर्षरत मानसिक भावों की अस्तव्यस्तता, भौतिक और प्राणिक चाहों और आवश्यकताओं की वैयक्तिक और सामूहिक प्रेरणाएं, प्राणिक दावे और कामनाएं, अज्ञानमय जीवन-प्रेरणा के आवेग, व्यक्तियों, वर्गों, राष्ट्रों की जीवन-संतुष्टि के लिये क्षुधाएं और पुकारें, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक धारणाओं और रामबाणों के प्रचुर कुकुरमुत्ते, नारों और सर्वरोगहर औषधियों की भीड़-भाड़ और रेल-पेल जिनके लिये मनुष्य अत्याचार करने और अत्याचार सहने, मरने-मारने के लिये तैयार रहता है, उन्हें अपने हाथ में आये हुए विशाल और अतिकराल साधनों से किसी-न-किसी तरह आरोपित करने को तैयार रहता है और यह सब वह इस विश्वास के साथ करता है कि उसके लिये यही किसी आदर्शतक पहुंचने का रास्ता है। निश्चित रूप से मानव मन और प्राण का विकास बढ़ते हुए वैश्व भाव की ओर ले जायेगा लेकिन अहंकार तथा खंडित करने और विभक्त करनेवाले मन के आधार पर वैश्व भाव की ओर यह उन्मीलन केवल असंगत विचारों और अंतर्वेगों के विशाल प्रदूषण, विपुल शक्तियों और कामनाओं का उभार, एक विशालतर जीवन की आत्मसात् न हुई और आपस में घुली-मिली मानसिक, प्राणिक और भौतिक सामग्री का अस्त-व्यस्त समूह ही रच सकता है और चूंकि वह सामग्री आध्यात्म-सत्ता के सर्जनशील और सामंजस्यकारी प्रकाश द्वारा ऊपर उठायी हुई नहीं होगी, वह विश्वव्यापी अस्त-व्यस्तता और असंगति में लथपथ होगी जिसमें से विशालतर

सामंजस्यपूर्ण जीवन को बनाना असंभव होगा। भूतकाल में मनुष्य ने जीवन का संगठित उद्‌भावन और सीमायन द्वारा समंजस किया है। उसने निश्चित विचारों और बंधे रीति-रिवाजों पर आधारित निश्चित सांस्कृतिक तंत्र या जैविक जीवन-तंत्र पर आधारित समाजों की रचना की जिनमें से हर एक की अपनी व्यवस्था थी। इन सबको अधिकाधिक आपस में मिलते हुए जीवन की कुठाली में डालना और रोज नये भावों और उद्देश्यों, वास्तविकताओं और संभावनाओं की बाढ़ का अंदर आना, जीवन की बढ़ती संभावनाओं का सामना करने, उनपर अधिकार करने और उनमें सामंजस्य लाने के लिये एक नयी, महत्तर चेतना की मांग करते हैं। तर्क-बुद्धि और भौतिक विज्ञान केवल मानक बनाने में, हर चीज को भौतिक जीवन के कृत्रिम रूप से व्यवस्थित और यंत्रीकृत एकता में निर्धारित करने में ही सहायक हो सकते हैं। एक महत्तर समग्र-सत्ता, समग्र-ज्ञान, समग्र-शक्ति की जरूरत होती है, इन सबको समग्र-जीवन के महत्तर ऐक्य में मिला देने के लिये।

हमारी सत्ता के अधिक गहन और अधिक विस्तृत सत्य से उत्पन्न ऐक्य, पारस्परिकता और सामंजस्य का जीवन ही जीवन का एकमात्र सत्य है जो भूतकाल की उन अपूर्ण मानसिक रचनाओं का सफलतापूर्वक स्थान ले सकता है जो साहचर्य और नियमबद्ध संघर्ष का सम्मिलन थीं, समाज-रचना के लिये गोष्ठीबद्ध या परस्पर गुंथे हुए अहंकारों और हितों का समायोजन, सामान्य और सार्वजनीन जीवन-उद्देश्यों के सहारे होनेवाली सममिति थीं, आवश्यकता के कारण और बाहरी शक्तियों के संघर्ष के दबाव के कारण होनेवाला एकीकरण थीं। यह एक ऐसा परिवर्तन और जीवन का ऐसा नवगठन है जिसके लिये मानवजाति आंखें मूंदे खोजना शुरू कर रही है और अब तो अधिकाधिक इस भाव के साथ कि उसका अस्तित्व ही मार्ग ढूंढ़ लेने पर निर्भर है। प्राण पर कार्य करते हुए मन के विकास ने मन के कार्य-कलाप का ऐसा संगठन और जड़-भौतिक का ऐसा उपयोग विकसित किया है जिसे आंतरिक परिवर्तन के बिना मानव क्षमता से अवलंब नहीं मिल सकता। अहं-केंद्रित मानव व्यक्तित्व का, जो सम्मिलन में भी पृथक्कारी रहता है, जीवन की एक ऐसी व्यवस्था के साथ समायोजन जो ऐक्य, पूर्ण पारस्परिकता, सामंजस्य की मांग करता है, अनिवार्य है। लेकिन चूंकि मानवता पर जो भार रखा जा रहा है वह मानव व्यक्तित्व की वर्तमान क्षुद्रता और उसके तुच्छ मन और छोटी-मोटी जीवन प्रवृत्तियों के लिये बहुत अधिक है, क्योंकि वह आवश्यक परिवर्तन को संपादित नहीं कर सकता, क्योंकि वह इस नये यंत्र और संगठन का उपयोग मानव-जाति की अव-आध्यात्मिक और अव-यौक्तिक प्राण-सत्ता की सेवा के लिये कर रहा है इसलिये ऐसा लगता है कि मानवजाति की नियति भयानक रूप से, मानों स्वयं अपने बावजूद, अधीरता के साथ, प्राणिक अहं से प्रेरित होकर, ऐसी विशाल शक्तियों की पकड़ में आकर, जो उसी अनुपात की हैं जैसे जीवन

और वैज्ञानिक ज्ञान का वह विशाल यांत्रिक संगठन है जिसे स्वयं उसने विकसित किया है, एक ऐसा अनुपात जो उसकी तर्क-बुद्धि और इच्छा-शक्ति द्वारा परिचालित होने के लिये बहुत अधिक बड़ा है, उसमें से वह नियति दीर्घ अस्तव्यस्तता, भयंकर संकट और उग्र, विचलित होती हुई अनिश्चितता के अंधकार की ओर बढ़ती चली जा रही है। अगर यह एक अस्थायी अवस्था या आभास ही निकले और रचना के ढांचे में कोई ऐसा कामचलाऊ समायोजन मिल जाये जो मानवजाति को उसकी अनिश्चित यात्रा में कम संकटाकीर्ण रूप से आगे बढ़ने दे तो यह केवल एक विश्राम होगा। क्योंकि समस्या आधारभूत है और उसे मनुष्य में प्रस्तुत करके विकसनशील प्रकृति अपने आगे बहुत कड़ा और महत्त्वपूर्ण चुनाव उपस्थित कर रही है। अगर मानवजाति को लक्ष्यतक पहुंचना या जीवित ही रहना है तो एक दिन उसका सच्चे अर्थ में समाधान करना ही होगा। विकसनशील अंतः-प्रवृत्ति पार्थिव जीवन में वैश्व शक्ति को विकास की ओर धकेल रही है जिसे अवलंब देने के लिये एक बृहत्तर मानसिक और प्राणिक सत्ता की, बृहत्तर मन, विशालतर और बृहत्तर, अधिक चेतन, एकमतवाले प्राण-पुरुष—अणिमा की जरूरत है और उसे फिर से आवश्यकता होती है अपने भीतर उसे बनाये रखने के लिये अवलंब देनेवाली आत्मा और आध्यात्म पुरुष के उद्घाटन की।

प्राणिक और जड़-भौतिक मानव सत्ता और उसके जीवन का एक तर्क-बुद्धि और विज्ञान पर आधारित सूत्र, पूर्णीकृत आर्थिक समाज की खोज और सामान्य आदमी का जनतंत्र—बस यही चीजें हैं जो आधुनिक मन इस संकट के समय हमें समाधान के लिये प्रकाश के रूप में देता है। इन भावों को अवलंब देनेवाला चाहे जो सत्य क्यों न हो, यह तो स्पष्ट है कि यह उस मानवजाति की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये काफी नहीं है जिसका उद्देश्य है अपने परे विकसित होना, या कम-से-कम, यदि उसे जीवित रहना है तो अभी वह जो कुछ भी है उसे उसके बहुत परे विकसित होना होगा। जाति और सामान्य मनुष्य के अंदर प्राणिक सहज वृत्ति ने इस अपर्याप्तता का अनुभव कर लिया है और वह मूल्यों को उलट देने या नये मूल्यों की खोज करने और जीवन को एक नयी नींव पर स्थानांतरित करने को प्रेरित कर रही है। इसने सामान्य जीवन के लिये एकता, पारस्परिकता और सामंजस्य के लिये सरल और बनी-बनायी नींव खोजने के प्रयास का, उस नींव को अहंकारों के प्रतियोगितात्मक संघर्षों को दबाकर लागू करने और भेदभाव के जीवन की जगह समुदाय के लिये एकात्मता के जीवनतक पहुंचने के प्रयास का रूप ले लिया। लेकिन इन वांछनीय उद्देश्यों को पाने के लिये उसने जो साधन अपनाये हैं वे और सभी विचारों का बहिष्कार करके कुछ थोड़े-से सीमित भावों या नारों की प्रतिष्ठा और जबरदस्ती चरितार्थता ही हैं। वे व्यक्ति के मन को दबाकर, जीवन-तत्त्वों का यांत्रिक संपीडन, प्राण-शक्ति की यांत्रिक एकता और परिचालन, मनुष्य

पर राज्य का बलात्कार और वैयक्तिक अहं की जगह सामुदायिक अहं की स्थापना ही रहे हैं। सामुदायिक अहं को आदर्श बनाकर उसे देश, जाति या समुदाय की आत्मा के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, लेकिन यह बहुत बड़ी भूल है और हो सकता है कि घातक भी हो। एक जबरदस्ती आरोपित की गयी मन, प्राण और कर्म की एकता जिसे किसी विशालतर मानी गयी चीज के संचालन के अधीन सामुदायिक आत्मा, सामुदायिक प्राण के दबाव से उनके उच्चतम तनावतक उठाया जाये, यही है वह उपलब्ध सूत्र। लेकिन यह अंधकारमय सामूहिक सत्ता जाति की अंतरात्मा या आत्मा नहीं है, यह अवचेतना से उठनेवाली जीवन-शक्ति है और अगर इसे तर्क-बुद्धि के प्रकाश का पथ-प्रदर्शन न मिले तो इसे अंधेरी दानवाकार शक्तियां ही चला सकती हैं जो शक्तिशाली होते हुए जाति के लिये भंयकर होती हैं, क्योंकि वे उस सचेतन विकास के लिये विजातीय हैं जिसका मनुष्य वाहक और न्यासी है। विकसनशील प्रकृति ने मानवजाति को इस दिशा की ओर इशारा नहीं किया है, यह तो किसी ऐसी चीज की ओर उलटाव है जिसे वह पीछे छोड़ आयी है।

एक और समाधान जिसके लिये प्रयास किया गया है वह भी भौतिक तर्क-बुद्धि और जाति के आर्थिक जीवन के सम्मिलित संगठन पर आश्रित है, लेकिन जिस विधि का प्रयोग किया जा रहा है वह वही है—मन और प्राण का बलात् संपीडन और आरोपित एकमतता तथा सामुदायिक जीवन का यांत्रिक संगठन। इस तरह की एकमतता विचार और प्राण की स्वाधीनता को दबाकर ही रखी जा सकती है और वह निश्चित रूप से या तो दीमकों की सभ्यता की सक्षम स्थिरता ला सकती है या जीवन के स्रोत सुखा डालेगी और जल्दी या धीरे ह्रास लायेगी। चेतना के विकास से सामूहिक आत्मा और उसके जीवन को अपनी अभिज्ञता प्राप्त हो सकती और उसका विकास हो सकता है; चेतना के विकास के लिये मन और प्राण की मुक्त क्रीड़ा जरूरी है क्योंकि जबतक उच्चतर यंत्र-विन्यास विकसित न हो तबतक मन और प्राण ही अंतरात्मा के उपकरण हैं। उनको अपने कार्य में अवरुद्ध न करना चाहिये और न ही उन्हें कठोर, अनम्य और अप्रगतिशील बना देना चाहिये। व्यक्तिगत मन और प्राण की वृद्धि से उत्पन्न कठिनाइयों और उपद्रवों को स्वस्थ रूप से व्यक्ति के दमन द्वारा नहीं हटाया जा सकता। सच्चा उपचार बृहत्तर चेतना में व्यक्ति द्वारा प्रगति करने से ही हो सकता है जिसमें उसे परिपूर्ति और पूर्णता मिल सके।

एक और वैकल्पिक समाधान यह है कि सामान्य मनुष्य की प्रकाश-प्रदीप्त तर्क-बुद्धि और इच्छा-शक्ति का विकास एक नये सामाजिक जीवन को स्वीकार करे जिसमें वह अपने अहंकार को समुदाय के जीवन की उचित व्यवस्था के लिये गौण स्थान दे। अगर हम पूछें कि यह आमूल परिवर्तन कैसे लाया जा सकता है तो

ऐसा लगता है मानों दो साधन सुझाए जाते हैं, पहला है, विशालतर और श्रेष्ठतर मानसिक ज्ञान, सही विचार, सही सूचनाएं, सामाजिक और नागरिक व्यक्ति का सही प्रशिक्षण और दूसरा साधन है, एक नया समाज-तंत्र जो उस सामाजिक यंत्र के जादू से हर चीज का समाधान कर देगा, जो मानवजाति को श्रेष्ठतर नमूने के अनुसार तराश देगा। भले कैसी भी आशाएं क्यों न की गयी हों, लेकिन अनुभव से यह नहीं लगा कि अपने-आपमें शिक्षा और मानसिक प्रशिक्षण मनुष्य को बदल सकते हैं। वह तो उसे केवल मानव व्यक्तिगत और सामूहिक अहं को आत्मप्रतिष्ठापन के लिये अधिक सूचना और अधिक सक्षम यंत्र ला देता है परंतु मानव अहं को बदले बिना वह का वही छोड़ देता है। और न ही मानव मन और प्राण को किसी तरह के सामाजिक यंत्र से पूर्णता में—उसमें भी नहीं जिसे पूर्णता माना जाता है पर है कृत्रिम स्थानापन्न—तराशा जा सकता है, जड़ पदार्थ को इस तरह तराशा जा सकता है, विचार को इस तरह काटा जा सकता है लेकिन हमारे मानव-जीवन में जड़तत्त्व और विचार तो केवल अंतरात्मा और जीवन-शक्ति के उपकरण हैं। यंत्र अंतरात्मा और जीवन-शक्ति को मानक आकारों में नहीं गढ़ सकता। वह अधिक-से-अधिक उनका दमन करके अंतरात्मा और मन को जड़ और स्थिर बना सकता और जीवन के बाहरी कर्मों को नियंत्रित कर सकता है, लेकिन, अगर इसे प्रभावी रूप से करना है तो मन और प्राण का दमन और संपीडन अनिवार्य है और इसका अर्थ होता है या तो अप्रगतिशील स्थिरता या ह्रास। अपनी युक्ति-युक्त व्यावहारिकता समेत तार्किक मन के पास प्रकृति की अस्पष्ट और जटिल गतियों से श्रेष्ठतर परिणाम पाने के लिये मन और प्राण के नियमन और यंत्रीकरण के अतिरिक्त कोई और साधन नहीं होता। अगर यह कर दिया जाये तो मानवजाति की अंतरात्मा को या तो विद्रोह करके और जिस यंत्र की जकड़ में उसे डाल दिया गया है उसका विनाश करके अपनी स्वाधीनता और वृद्धि को पुनः पाना होगा या उसे अपने अंदर लौटकर और जीवन का त्याग कर निष्कृति पानी होगी। मनुष्य के लिये बाहर निकलने का सच्चा उपाय यह है कि वह अपनी अंतरात्मा और उसकी आत्म-शक्ति तथा यंत्र-विन्यास को जाने और उन्हें जीवन-प्रकृति की अव्यवस्था और अज्ञान तथा मन के यंत्र-विन्यास के स्थान पर बिठा दे। लेकिन एक पूरी तरह नियंत्रित और यंत्रीकृत सामाजिक जीवन में आत्माविष्कार और आत्म-चरितार्थता की किसी भी ऐसी गतिविधि के लिये बहुत ही कम जगह और स्वाधीनता रहेगी।

यह संभावना है कि जीवन और समाज की यांत्रिक धारणा से वापिसी की पेंग में मानव मन धार्मिक भाव और धर्म द्वारा शासित या अनुमोदित समाज में फिर से शरण ले। लेकिन संगठित धर्म ने मानव जीवन या समाज को बदला नहीं है, यद्यपि वह व्यक्ति के आंतरिक उत्थान के साधन जुटा सकता है और उसमें अपने

अंदर या अपने पीछे उसकी आध्यात्मिक अनुभूति के लिये रास्ता खोल सकता है। वह परिवर्तन इसलिये नहीं कर पाया क्योंकि समाज पर शासन करते हुए उसे जीवन के निचले भागों से समझौता करना पड़ा और वह समस्त सत्ता के आंतरिक परिवर्तन पर जोर न दे सका, वह केवल किसी मत के लिये निष्ठा, अपने नैतिक मानकों के औपचारिक रूप से स्वीकार करने और संस्था, रीति-रिवाज और आचार-अनुष्ठान के पालन पर ही आग्रह कर सकता था। इस तरह का कल्पित धर्म धार्मिक-नैतिक रंग या सतही झलक ही दे सकता है—कभी-कभी यदि वह आंतरिक अनुभव की मजबूत गरी या सारतत्त्व रखता है तो कुछ हदतक अधूरी आध्यात्मिक वृत्ति को व्यापक बना सकता है लेकिन वह जाति का रूपांतर नहीं करता, वह मानव जीवन का कोई नया तत्त्व उत्पन्न नहीं कर सकता। मानवजाति को स्वयं उसके परे तो केवल संपूर्ण जीवन और संपूर्ण प्रकृति को दी गयी समग्र आध्यात्मिक दिशा ही उठा सकती है। एक और संभव धारणा, जो धार्मिक समाधान के सदृश है, वह है समाज का आध्यात्मिक उपलब्धिवालों द्वारा पथ-प्रदर्शन, श्रद्धा या अनुशासन में सबका भ्रातृभाव या ऐक्य, जीवन या समाज का जीवन के पुराने यंत्र-विन्यास को लेकर ऐसे एकीकरण में आध्यात्मीकरण या फिर नये यंत्र-विन्यास का आविष्कार। इसका पहले प्रयत्न किया जा चुका है किंतु सफलता नहीं मिली, यह अनेक धर्मों का मूल आधारभूत विचार रहा है। लेकिन मानव अहंकार और प्राणिक प्रकृति मन पर और मन द्वारा क्रिया करनेवाले धार्मिक विचार के प्रतिरोध को जीतने के लिये बहुत ज्यादा प्रबल थे। केवल अंतरात्मा का पूर्ण आविर्भाव, आध्यात्म पुरुष की सहज ज्योति और शक्ति का पूर्ण अवतरण और परिणामतः हमारी अपर्याप्त मानसिक और प्राणिक प्रकृति का आध्यात्मिक और अतिमानसिक पराप्रकृति द्वारा स्थानांतरण या रूपांतर और उन्नयन ही इस विकसनशील चमत्कार को चरितार्थ कर सकता है।

पहली दृष्टि में ऐसा मालूम हो सकता है कि प्रकृति के आमूल परिवर्तन पर यह आग्रह मानवजाति की सारी आशाओं को क्रम-विकास के किसी सुदूर भविष्य में टाल देता है, क्योंकि हमारी साधारण मानव-प्रकृति का अतिक्रमण, हमारी मानसिक, प्राणिक और भौतिक सत्ता का अतिक्रमण एक ऐसे प्रयास के रूप में दिखायी देता है जो बहुत अधिक ऊंचा, बहुत अधिक कठिन लगता है और मनुष्य के लिये, जैसा कि वह अभी है, असंभव भी। अगर ऐसा हो भी तो भी वह जीवन के रूपांतर के लिये एकमात्र संभावना रहेगा क्योंकि मानव प्रकृति के परिवर्तन के बिना मानव जीवन के सच्चे परिवर्तन की आशा करना अयुक्तिसंगत और अनाध्यात्मिक प्रस्ताव है। यह किसी अस्वाभाविक और अवास्तविक वस्तु की, किसी असंभव चमत्कार की मांग करना होगा। लेकिन यह परिवर्तन जिस चीज की मांग करता है वह कोई एकदम दूर की चीज नहीं है जो हमारे जीवन के लिये परायी और मूलतः

असंभव हो, क्योंकि जिस चीज को विकसित करना है वह हमारी सत्ता में मौजूद है, उसके बाहर नहीं है। विकसनशील प्रकृति जिस चीज के लिये दबाव डाल रही है वह है आत्मज्ञान की ओर जागना, आत्मान्वेषण, अपने अंदर की आत्मा और आध्यात्म पुरुष की अभिव्यक्ति और उसके आत्मज्ञान की, आत्म-शक्ति की, उसके सहज आत्म-यंत्रविन्यास की मुक्ति। इसके अतिरिक्त यह एक ऐसा चरण है जिसके लिये समस्त विकास एक तैयारी था और मानव नियति की हर संकटावस्था में, जब कभी सत्ता का मानसिक और प्राणिक विकास एक ऐसे बिंदु को छूता है जहां बुद्धि और प्राण-शक्ति तनाव के शिखर पर पहुंच जाती हैं और यह जरूरी हो जाता है कि वे ढह जायें, पराजय की अवसन्नता या अप्रगतिशील निष्क्रियता की जड़ता की विश्रांति में वापस जा डूबें या वे जिस आवरण के विरुद्ध जोर लगा रही हैं उसके बीच में से अपनी राह चीर निकालें—वह चरण ज्यादा नजदीक लाया जा सकता है। जो चीज जरूरी है वह यह कि मानवजाति में इस परिवर्तन के आदर्श की ओर दृष्टि मुड़े, उसका अनुभव थोड़े-से या बहुत सारे लोगों को हो, उन्हें उसकी अनुल्लंघ्य आवश्यकता का अनुभव हो, उसकी संभावना का बोध हो, उसे अपने अंदर संभव बनाने और मार्ग पाने की इच्छा हो। यह प्रवृत्ति अनुपस्थित नहीं है और मानव जगत् की नियति में संकट के तनाव के साथ-ही-साथ बढ़नी चाहिये; किसी निष्कृति या समाधान की आवश्यकता, यह भावना बढ़े बिना नहीं रह सकती कि आध्यात्मिक समाधान के सिवा कोई और समाधान नहीं हो सकता और इसे संकटमय परिस्थिति की गुरुता के सामने बढ़ना और अनिवार्य होना चाहिये। सत्ता के अंदर उस पुकार का दिव्य सद्वस्तु और प्रकृति में सदा कोई उत्तर होना चाहिये।

निश्चय ही, इसका उत्तर केवल व्यक्तिगत हो सकता है, इसके परिणाम-स्वरूप आध्यात्म-भावापन्न व्यक्तियों की संख्या बढ़ सकती है या इसकी कल्पना तो की जा सकती है, पर संभावना नहीं है कि एक या अनेक विज्ञानमय पुरुष मानवजाति की अनाध्यात्मिक भीड़ में अलग-अलग रहें। ऐसे अलग-थलग सिद्ध पुरुषों को या तो अपने गुप्त दिव्य राज्य में पीछे हट जाना होगा और अपने-आपको आध्यात्मिक एकांत में सुरक्षित रखना होगा या वे मानवजाति पर अपने आंतरिक प्रकाश से ऐसी अवस्था में सुखद भविष्य के लिये, जो थोड़ा-बहुत तैयार किया जा सकता है, उसके लिये क्रिया करेंगे। सामूहिक रूप में आंतरिक परिवर्तन तभी आकार ग्रहण करना शुरू कर सकता है अगर विज्ञानमय व्यक्ति ऐसे लोगों को पा सके जिनका आंतरिक जीवन उसीके जैसा हो और उनके साथ ऐसा दल बना सके जिसका अपना ही स्वतंत्र अस्तित्व हो या सत्ताओं का अलग समुदाय या वर्ग हो, जिसके जीवन के अपने आंतरिक नियम हों। पृथक् जीवन की यह आवश्यकता जिसके अपने ऐसे जीवन के नियम हों, जो आध्यात्मिक सत्ता की आंतरिक शक्ति

या प्रेरक बल के अनुकूल हों, जो अपना सहज वातावरण तैयार करें, इस आवश्यकता ने ही भूतकाल में अपने-आपको मठवासीय जीवन में या उन विभिन्न प्रयत्नों में व्यक्त किया है जिन्होंने ऐसे नये पृथक् सामूहिक जीवन की रचना करनी चाही थी जो स्वशासित था और अपने आध्यात्मिक तत्त्व के कारण सामान्य जीवन से भिन्न था। अपने स्वरूप में मठीय जीवन परलोक की खोज करनेवाले लोगों का संघ होता है जिनका सारा प्रयास यह होता है कि वे आध्यात्मिक सद्वस्तु को खोजकर अपने अंदर चरितार्थ कर सकें। ये अपने सामान्य जीवन का गठन ऐसे नियमों मे करते हैं जो उस प्रयास में सहायता कर सकें। सामान्यतः यह किसी नये जीवन के रूपायण की रचना के लिये प्रयास नहीं होता जो सामान्य मानव-समाज का अतिक्रमण कर जाये और एक नयी जगत्-व्यवस्था की रचना करे। कोई धर्म अपने आगे उस संभाव्य भविष्य को रख सकता है या उसकी ओर बढ़ने का पहला प्रयास कर सकता है या कोई मानसिक आदर्शवाद भी यही प्रयास कर सकता है, लेकिन ये प्रयास सदा हमारी मानव प्राणिक प्रकृति के अज्ञान और आग्रही निश्चेतना से पराजित होते आये हैं, क्योंकि वह प्रकृति ऐसी बाधा है जिसके दुर्दांत समूह को केवल आदर्शवाद या अधकचरी आध्यात्मिक अभीप्सा बदल नहीं सकती या स्थायी रूप से उसपर प्रभुत्व स्थापित नहीं कर सकती। या तो प्रयास अपनी ही अपूर्णता के कारण असफल हो जाता है या उसपर बाहरी जगत् की अपूर्णता का आक्रमण होता है और वह अपनी अभीप्सा के आलोकमय शिखर से सामान्य मानव स्तर पर किसी मिश्रित घटिया चीज में डूब जाता है। सामान्य आध्यात्मिक जीवन, जो मानसिक, प्राणिक और भौतिक सत्ता को नहीं बल्कि आध्यात्मिक जीवन को प्रकट करने के लिये है, उसे अपने-आपको सामान्य मानव-समाज के मानसिक, प्राणिक और भौतिक मूल्यों पर नहीं बल्कि इनसे बड़े मूल्यों पर आधारित करना और बनाये रखना चाहिये। अगर वह इस भांति आधारित नहीं है तो वह थोड़े से अंतर के साथ सामान्य मानव-समाज ही होगा। नये जीवन के प्रकट होने के लिये बहुत-से व्यक्तियों में पूरी तरह नयी चेतना की जरूरत है जो उनकी सारी सत्ता को रूपांतरित करे, उनकी मानसिक, प्राणिक और भौतिक प्राकृत सत्ता का रूपांतर करे। सर्वसामान्य मन, प्राण और शारीरिक प्रकृति का ऐसा रूपांतर ही एक नये सार्थक सामूहिक जीवन को अस्तित्व में ला सकता है। विकसनशील अंतः-प्रवृत्ति को केवल एक नये प्रकार की मानसिक सत्ताएं बनाने की ओर ही नहीं बल्कि सत्ताओं की एक और श्रेणी बनाने की ओर प्रवृत्त होना चाहिये जो अपनी सारी सत्ता को हमारी वर्तमान मानसभावापन्न पाशविकता से उठाकर पार्थिव प्रकृति के एक महत्तर आध्यात्मिक स्तरतक उठा चुकी हों।

पार्थिव जीवन का ऐसा संपूर्ण रूपांतर अनेक व्यक्तियों के अंदर अपने-आपको तुरंत पूर्णतया स्थापित नहीं कर सकता। मोड़ के बिंदुतक पहुंच जाने पर, निर्णायक

रेखा पार कर लेने पर भी नये जीवन को शुरू में अग्निपरीक्षा और श्रमसाध्य विकास के काल में से गुजरना होगा। पुरानी चेतना का एक सामान्य परिवर्तन, जो सारे जीवन को आध्यात्मिक तत्त्व में उठा दे, पहला आवश्यक चरण होगा। इसकी लंबी तैयारी हो सकती है और एक बार स्वयं रूपांतर शुरू हो जाये तो वह एक-एक चरण करके आगे बढ़ सकता है। एक विशेष बिंदु के बाद व्यक्ति में यह रूपांतर तेजी से हो सकता है, यहांतक कि छलांगें भी लगा सकता है, विकास की छलांग द्वारा अपने-आपको चरितार्थ कर सकता है, लेकिन वैयक्तिक रूपांतर सत्ताओं के किसी नये प्ररूप या नये सामूहिक जीवन की सृष्टि नहीं होगा। हम यह कल्पना कर सकते हैं कि कुछ व्यक्ति पुराने जीवन के बीच इस तरह अलग-अलग विकसित हों और बाद में मिलकर नये जीवन के केंद्र की स्थापना करें। लेकिन ऐसी संभावना नहीं है कि प्रकृति इस ढंग से कार्य करेगी, और व्यक्ति के लिये निम्नतर प्रकृति के जीवन से घिरे रहते हुए पूर्ण परिवर्तनतक पहुंचना कठिन होगा। अमुक अवस्था में पृथक् समाज की चिरकालीन व्यवस्था का अनुसरण जरूरी हो सकता है जिसके दो उद्देश्य होंगे, एक तो ऐसा सुरक्षित वातावरण, एक ऐसा अलग-थलग स्थान और जीवन प्रदान करना जिसमें व्यक्ति की चेतना ऐसी परिपार्श्विक अवस्थाओं में, जहां सब कुछ एक ही प्रयास की ओर मुड़ा हुआ और केंद्रित हो, अपने विकास पर एकाग्र हो सके और दूसरे, जब चीजें तैयार हों तो उन परिपार्श्विक अवस्थाओं में और तैयार किये हुए इस आध्यात्मिक वातावरण में नये जीवन को रूपायित और विकसित करना। हो सकता है कि प्रयास के ऐसे केंद्रीकरण में परिवर्तन की सभी कठिनाइयां अपने-आपको केंद्रित शक्ति के साथ प्रस्तुत करें। क्योंकि प्रत्येक जिज्ञासु अपने साथ उस जगत् की, जिसका रूपांतर करना है, सभी संभावनाएं ही नहीं सब अपूर्णताएं भी लिये रहता है। वह अपने साथ सिर्फ अपनी क्षमताएं ही नहीं कठिनाइयां भी लाता है और साथ ही पुरानी प्रकृति के विरोध भी। एक छोटे-से सन्निकट संघ-जीवन की सीमित परिधि में घुल-मिलकर ये काफी बढ़ी हुई बाधक शक्ति बन सकती हैं जो विकास के लिये काम करनेवाली शक्तियों के बढ़े हुए बल और संकेंद्रण का प्रतितुलन कर सकती हैं। यह एक ऐसी कठिनाई है जिसने भूतकाल में मानसिक मनुष्य के सामान्य मानसिक और प्राणिक जीवन से अधिक अच्छी, अधिक सच्ची और सामंजस्यपूर्ण चीज विकसित करने के सभी प्रयत्नों को तोड़ दिया था। लेकिन अगर प्रकृति तैयार है और विकसनशील निश्चय ले चुकी है या उच्चतर लोकों से उतरनेवाली आध्यात्म पुरुष की शक्ति काफी बलवान् है तो कठिनाई को जीत लिया जायेगा और पहला या पहले विकसनशील रूपायण संभव होंगे।

लेकिन अगर मार्गदर्शक ज्योति और इच्छा पर पूरी निर्भरता को और जीवन में आध्यात्म तत्त्व के सत्य की ज्योतिर्मय अभिव्यक्ति को ही विधान बनना है तो इसके

लिये विज्ञानमय जगत् का, एक ऐसे जगत् का होना जरूरी मालूम होता है जिसमें उसके सभी जीवों की चेतना इसी आधार पर प्रतिष्ठित होगी। यहां यह बात समझ में आती है कि विज्ञानमय समुदाय या समुदायों में, विज्ञानमय व्यक्तियों के जीवन का आदान-प्रदान स्वभावतः विवेकपूर्ण और सामंजस्यपूर्ण प्रक्रिया होगी। परंतु यहां वास्तव में विज्ञानमय सत्ताओं का जीवन अज्ञान में रहनेवाले प्राणियों के जीवन के बीच या साथ-साथ बढ़ रहा होगा, उसमें या उसमें से आविर्भूत होने का प्रयत्न कर रहा होगा, फिर इन दोनों जीवनों के धर्म एक-दूसरे के विपरीत और एक-दूसरे पर आघात करते हुए मालूम होंगे। तब ऐसा लगेगा कि आध्यात्मिक समुदाय के जीवन का अज्ञानमय जीवन से पूरा-पूरा अलगाव या पार्थक्य ही आवश्यक है। कारण, अन्यथा दोनों जीवनों के बीच समझौता जरूरी होगा और समझौते के साथ ही महत्तर जीवन में संगदूषण या अपूर्णता का भय रहेगा। जीवन के दो भिन्न-भिन्न और मेल न खानेवाले तत्त्व संपर्क में रहेंगे, यद्यपि महत्तर तत्त्व लघुतर तत्त्व पर असर डालेगा फिर भी लघुतर जीवन भी महत्तर पर अपना प्रभाव डालेगा, क्योंकि यह पारस्परिक संघात समस्त सान्निध्य और आदान-प्रदान का विधान है। यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या संघर्ष और टकराव उनके संबंध के पहले नियम न होंगे क्योंकि अज्ञान के जीवन में अंधकार की उन शक्तियों का भयानक प्रभाव उपस्थित और सक्रिय रहता है जो अशुभ और हिंसा को समर्थन देती हैं, जिनका हित इसीमें है कि समस्त उच्चतर प्रकाश को, जो मानव जीवन में प्रवेश करता है, प्रदूषित या नष्ट कर दें। जो कुछ नया है या मानव अज्ञान की स्थापित व्यवस्था से ऊपर उठने या उसे तोड़कर अलग हो जाने का प्रयत्न करता है उसका विरोध और उसके प्रति असहिष्णुता, यहांतक कि उसका उत्पीड़न भी या अगर वह विजयी हो जाये तो उसमें निचली शक्तियों की घुस-पैठ, जगत् द्वारा उसका स्वीकार किया जाना—जो उसके विरोध की अपेक्षा अधिक भयानक है और अंत में जीवन के नये तत्त्व का विलोपन, उसका ह्रास या प्रदूषण भूतकाल की प्रायिक घटनाएं रही हैं। और अगर कोई आमूल नयी ज्योति या नयी शक्ति पृथ्वी पर अपना दाय के रूप में दावा करती है तो बहुत संभव है कि यह विरोध और भी अधिक उग्र होगा और कुंठा और भी अधिक होगी। लेकिन हम यह मान सकते हैं कि नयी और पूर्णतर ज्योति एक नयी और पूर्णतर शक्ति को भी लेकर आयेगी। उसके लिये एकदम पृथक् होना शायद जरूरी न हो। वह अपने-आपको बहुत-से छोटे-मोटे टापुओं में स्थापित कर सकती है और वहां से पुराने जीवन पर अपना प्रभाव डालती हुई, उसमें आंतरिक स्पंदन करती हुई, उसपर अधिकार करती हुई, उसके लिये एक ऐसी सहायता और दीप्ति के साथ उसमें फैल जाये जिसे मानवजाति में एक नयी अभीप्सा कुछ समय के बाद समझना और चाहना शुरू कर सकती है।

लेकिन स्पष्ट रूप से ये संक्रमण-काल की समस्याएं हैं, उस समय से पहले के

विकास की जब अभिव्यक्त होनेवाली शक्ति का पूरा-पूरा विजयी परावर्तन हो जाये और विज्ञानमय सत्ता का जीवन मानसिक सत्ता के जीवन के समान ही पार्थिव जगत्-व्यवस्था का स्थापित अंग हो जाये। अगर हम यह मान लें कि विज्ञानमय चेतना पार्थिव जीवन में प्रतिष्ठित है तो जो शक्ति और ज्ञान उसे उपलब्ध होंगे वे मानसिक मनुष्य की शक्ति और ज्ञान से बहुत अधिक महान् होंगे, और अगर यह भी मान लिया जाये कि विज्ञानमय सत्ताओं के समुदाय का जीवन पृथक् होगा तो वह भी आक्रमण से उतना ही सुरक्षित होगा जितना मनुष्य का संगठित जीवन निम्नतर जातियों के आक्रमण से सुरक्षित है। लेकिन जैसे यह ज्ञान और विज्ञानमय प्रकृति का तत्त्व, विज्ञानमय सत्ताओं के सर्व-सामान्य जीवन में ज्योतिर्मय एकता को सुरक्षित रखने का आश्वासन है, इसी तरह यह जीवन के इन दो प्ररूपों के बीच प्रभुत्वशाली सामंजस्य और मेल को सुनिश्चित रखने के लिये पर्याप्त होगा। अतिमानसिक तत्त्व का जो प्रभाव पृथ्वी पर पड़ेगा वह अज्ञान के जीवन पर भी पड़ेगा और उसकी सीमाओं के अंदर उसपर सामंजस्य आरोपित करेगा। यह कल्पना की जा सकती है कि विज्ञानमय जीवन पृथक् होगा, लेकिन वह निश्चय ही अपनी सीमाओं में उतने मानव जीवन को प्रवेश करने देगा जो आध्यात्मिकता की ओर मुड़ा हो और ऊंचाइयों की ओर प्रगति कर रहा हो। बाकी जीवन अपने-आपको मुख्य रूप से मानसिक तत्त्व और पुराने आधारों पर संगठित कर सकता है, लेकिन अभिज्ञेय श्रेष्ठतर ज्ञान से सहायता और प्रभाव पाकर संभव है कि वह अधिक पूर्ण सामंजस्य-संपादन की रेखाओं पर ऐसा कर सकेगा, जिनके लिये अभीतक मानव समष्टि समर्थ नहीं है। फिर भी, मन यहां भी, केवल संभावनाओं और संभाव्यताओं के बारे में पूर्वकथन कर सकता है; पराप्रकृति में विद्यमान स्वयं अतिमानसिक तत्त्व ही वस्तुओं के सत्य के अनुसार नयी जगत्-व्यवस्था के संतुलन का निर्धारण करेगा।

विज्ञानमय पराप्रकृति हमारी सामान्य अज्ञानमय प्रकृति के सभी मूल्यों का अतिक्रमण करती है। हमारे मानक और मूल्य अज्ञान के बनाये हुए हैं इसलिये वे पराप्रकृति के जीवन का निर्धारण नहीं कर सकते। साथ ही, हमारी वर्तमान प्रकृति पराप्रकृति से व्युत्पन्न है और शुद्ध अज्ञान नहीं बल्कि अर्द्धज्ञान है, इसलिये यह मानना तर्क-संगत होगा कि उसके मानकों और मूल्यों के अंदर या पीछे जो भी आध्यात्मिक सत्य है वह उच्चतर जीवन में मानकों की तरह नहीं बल्कि उन रूपांतरित तत्त्वों की तरह फिर से प्रकट होगा जिन्हें अज्ञान से उठाकर अधिक ज्योतिर्मय जीवन के सच्चे सामंजस्य में खड़ा किया गया हो। जैसे-जैसे विश्व-भावापन्न आध्यात्मिक व्यक्ति, सीमित व्यक्तित्व को, अहं को झाड़ देता है, जैसे-जैसे वह मन के परे पराप्रकृति में पूर्णतर ज्ञान की ओर उठता है, मन के संघर्षरत आदर्शों को भी उससे झड़ जाना चाहिये, लेकिन उनके पीछे जो सत्य है वह परा-

प्रकृति के जीवन में बना रहेगा। विज्ञानमय चेतना एक ऐसी चेतना है जिसमें सभी विरोध या तो रद्द हो जाते हैं या दृष्टि और स्थिति के उच्चतर प्रकाश में, एकीकृत आत्मज्ञान या जगत्-ज्ञान में एक-दूसरे के अंदर मिल जाते हैं। विज्ञानमय पुरुष मन के आदर्शों और मानकों को स्वीकार न करेगा, वह स्वयं अपने लिये, अपने अहं के लिये या मानवजाति के लिये या औरों के लिये, जाति अथवा राज्य के लिये जीने को प्रेरित न होगा; क्योंकि, वह इन अर्द्ध-सत्यों से बड़ी किसी चीज से, दिव्य सद्वस्तु से अभिज्ञ होगा और वह उसीके लिये, अपने अंदर और सबके अंदर उसकी इच्छा के लिये, एक विशाल विश्वात्मकता के भाव में, परात्पर की इच्छा के प्रकाश में जियेगा। इसी कारण विज्ञानमय जीवन में आत्म-समर्थन और परोपकार में कोई संघर्ष नहीं हो सकता, क्योंकि विज्ञानमय सत्ता की आत्मा सर्व की आत्मा के साथ एक है—व्यक्तिवाद और समष्टिवाद के आदर्श में कोई संघर्ष नहीं होता क्योंकि दोनों एक महत्तर सद्वस्तु के पद हैं और विज्ञान-पुरुष की आत्मा के लिये उनका मूल्य वहींतक हो सकता है जहांतक वे सद्वस्तु को अभिव्यक्त करें या उनकी परिपूर्ति सद्वस्तु की इच्छा के लिये उपयोगी हो। लेकिन साथ ही, जो मानसिक आदर्शों में सत्य है और उनमें धुंधले रूप से व्यक्त है, वह विज्ञानमय पुरुष के जीवन में परिपूरित होगा; जब कि उसकी चेतना मानव मूल्यों का अतिक्रमण करती है और इस कारण वह मानवजाति या समुदाय या राष्ट्र या औरों को या अपने-आपको ईश्वर के स्थान पर प्रतिष्ठित नहीं कर सकता, उसका अपने अंदर भगवान् का प्रतिष्ठापन तथा औरों में भगवान् का बोध और मानवजाति, तथा अन्य सभी सत्ताओं और समस्त जगत् के साथ एकता का बोध—क्योंकि भगवान् उनमें हैं—और उनमें बढ़ती हुई सद्वस्तु के महत्तर और श्रेष्ठतर प्रतिष्ठापन की ओर पथ-प्रदर्शन, उसके जीवन-कार्य का एक अंग होगा। लेकिन वह क्या करेगा इसका निश्चय उसके अंदर ज्ञान का सत्य और इच्छा करेंगे, एक समग्र और अनंत सत्य जो किसी एकाकी मानसिक विधान या मानक से बंधा नहीं है बल्कि स्वाधीनता से समस्त सत्य में कार्य करता है, जो हर सत्य को उसके उचित स्थान पर आदर देता और विश्व-विकास के पग-पग पर, हर घटना और परिस्थिति में क्रियारत शक्तियों और अभिव्यक्त होते हुए भागवत आवेग के अभिप्राय का स्पष्ट ज्ञान रखते हुए कार्य करता है।

आध्यात्मिक या विज्ञानमय सिद्ध चेतना के लिये समस्त जीवन आध्यात्म सत्ता के सिद्ध सत्य की अभिव्यक्ति होना चाहिये। केवल जो अपने-आपको रूपांतरित कर सके, अपने आध्यात्मिक स्वरूप को उस महत्तर सत्य में पा सके और उसके सामंजस्य में घुल-मिल सके, उसीको जीवन-स्वीकृति मिल सकती है। इस तरह से क्या बच रहेगा इसका निश्चय मन नहीं कर सकता क्योंकि अतिमानसिक विज्ञान अपने-आप अपने सत्य को नीचे लेकर आयेगा और वह सत्य, उसका जो भी अंश

हमारे मन, प्राण, शरीर के आदर्शों और उपलब्धियों में व्यक्त किया गया है, उसे अपने अंदर धारण कर लेगा। उसने वहां जो रूप ग्रहण किये हैं वे शायद न बचे रहें क्योंकि वे संभवतः परिवर्तन या प्रतिस्थापन के बिना नये जीवन के लिये उपयुक्त न हों; लेकिन उनके अंदर या उनके रूपों में जो कुछ सत्य और टिकाऊ है उसका बने रहने के लिये जरूरी रूपांतर हो जायेगा। मानव जीवन के लिये जो सामान्य है उसमें से बहुत कुछ गायब हो जायेगा। विज्ञान के प्रकाश में बहुत-सी मानसिक प्रतिमाएं, निर्मित सिद्धांत और प्रणालियां और परस्पर-विरोधी आदर्श, जिन्हें मनुष्य ने अपने मन और प्राण के सभी क्षेत्रों में निर्मित कर रखा है, उन्हें कोई आदर या मान्यता प्राप्त न होगी। अगर ये आकर्षक आभासी प्रतिमाएं अपने अंदर किसी सत्य को छिपाये हुए हैं तो उन्हें एक अधिक विस्तृत आधार पर प्रतिष्ठित सामंजस्य के तत्त्वों के रूप में प्रवेश का अवसर मिल सकेगा। यह स्पष्ट है कि विज्ञान-चेतना द्वारा शासित जीवन में न तो अपनी विरोध और शत्रुता की भावना को, क्रूरता, विनाशकारिता और अज्ञानभरी हिंसा को साथ रखनेवाले युद्ध के अस्तित्व का कोई आधार रह सकेगा और न अपने चिरकलह, प्रायिक अत्याचार, बेईमानियों, भ्रष्टाचार, स्वार्थभरे हित, अपने अज्ञान, अकुशलता और अव्यवस्था को साथ रखनेवाले राजनीतिक संघर्ष को वहां रहने के लिये कोई आधार मिलेगा। कला और शिल्प रहेंगे लेकिन किसी घटिया मानसिक या प्राणिक विनोद के लिये नहीं, फुरसत के समय मन-बहलाव या आरामदेह उत्तेजना या सुख के लिये नहीं, बल्कि आध्यात्म सत्ता के सत्य तथा जीवन के सौंदर्य तथा आनंद की अभिव्यक्ति और उसके साधन के रूप में। तब प्राण और शरीर अत्याचारी स्वामी नहीं रहेंगे जो जीवन का नव दशांश अपने संतोष के लिये मांग लेते हैं, वे आध्यात्म सत्ता की अभिव्यक्ति के लिये साधन और शक्ति होंगे। साथ ही, चूंकि जड़-पदार्थ और शरीर को स्वीकार कर लिया जायेगा अतः भौतिक वस्तुओं पर नियंत्रण और उनका उचित उपयोग पृथ्वी-प्रकृति में होनेवाली अभिव्यक्ति में आध्यात्म-सत्ता के सिद्ध जीवन का अंग होगा।

प्रायः सभी जगह ऐसा माना जाता है कि आध्यात्मिक जीवन आवश्यक रूप से संन्यासियों की-सी मितव्ययता का जीवन होना चाहिये, जिसमें शरीर के निर्वाह भर के लिये जरूरी चीजों के सिवा बाकी सबको धकेल दिया जाये। यह ऐसे आध्यात्मिक जीवन के लिये उचित है जिसका स्वभाव और अभिप्राय है, जीवन से किनारा करना। उस आदर्श के सिवा यह भी सोचा जा सकता है कि आध्यात्मिकता की ओर झुकाव हमेशा अत्यधिक सादगी के पक्ष में होगा, क्योंकि बाकी सब प्राणिक कामना और भौतिक विलास का जीवन होगा। लेकिन अधिक विस्तृत दृष्टि-बिंदु से यह अज्ञान के विधान पर आधारित मानसिक मानक है जिसमें कामना प्रेरक होती है। अज्ञान पर विजय पाने के लिये, अहंकार को त्यागने के

लिये केवल कामना का ही नहीं बल्कि उन सब चीजों का त्याग—जो कामना को संतुष्ट कर सकती हैं—बीच में एक वैध-नियम के रूप में आ सकता है। परंतु यह मानक या कोई भी मानसिक मानक पूर्ण नहीं हो सकता और न यह उस चेतना पर किसी नियम के रूप में बाध्यकारी हो सकता है जो कामना से ऊपर उठ चुकी है। पूर्ण-शुद्धि और आत्म-प्रभुता उसकी प्रकृति के मर्म में होगी, फिर चाहे वह संपन्नता में हो या विपन्नता में। क्योंकि, अगर इन दोनों में से कोई उसे हिला सके या गदला कर सके तो वह वास्तविक या पूर्ण न होगी। विज्ञानमय जीवन का एकमात्र नियम होगा आध्यात्म सत्ता की आत्माभिव्यक्ति, दिव्य पुरुष की इच्छा। वह इच्छा, वह आत्माभिव्यक्ति अत्यधिक सरलता द्वारा या अत्यधिक जटिलता और अतिसमृद्धि द्वारा या उनके स्वाभाविक संतुलन में प्रकट हो सकती है—क्योंकि सुंदरता और समृद्धि, वस्तुओं में छिपी मधुरता और हंसी, जीवन का सूर्यालोक और प्रसन्नता भी आध्यात्म पुरुष की शक्तियां और अभिव्यक्तियां हैं। प्रकृति के विधान का निश्चय करनेवाला अंतस्थ आध्यात्म पुरुष सभी दिशाओं से जीवन के ढांचे, उसके ब्यौरे और परिस्थिति का निर्धारण करेगा। सभीमें वही एक नमनीय तत्त्व होगा। कठोर मानकीकरण वस्तुओं की मन की व्यवस्था के लिये चाहे जितना जरूरी हो, आध्यात्मिक जीवन का विधान नहीं हो सकता। अंदर की एकता पर आधारित आत्माभिव्यक्ति की एक बड़ी विविधता और स्वतंत्रता भली-भांति प्रकट हो सकेगी लेकिन हर जगह सामंजस्य और व्यवस्था का सत्य रहेगा।

विकास को उच्चतर अतिमानसिक स्तरतक ले जानेवाला विज्ञानमय सत्ताओं का जीवन उचित रूप से दिव्य जीवन कहा जा सकता है क्योंकि वह भगवान् में जीवन होगा, जड़-भौतिक प्रकृति में अभिव्यक्त आध्यात्मिक दिव्य प्रकाश और शक्ति और आनंद के आरंभ का जीवन होगा। चूंकि वह मानसिक मानव जीवन-स्तर का अतिक्रमण करता है इसलिये उसे आध्यात्मिक और अतिमानसिक अतिमानवता का जीवन कहा जा सकता है। लेकिन इसे अतिमानवता के प्राचीन और वर्तमान विचारों के साथ उलझा न देना चाहिये क्योंकि मानसिक भाव में अतिमानवता का मतलब होता है सामान्य मानव स्तर से ऊपर चढ़ जाना, स्तर के प्रकार से नहीं बल्कि उसी प्रकार में पद के हिसाब से, एक वर्द्धित व्यक्तित्व, बढ़ा हुआ और अतिरंजित अहं, मन की बढ़ी हुई शक्ति, प्राणिक सामर्थ्य की बढ़ी हुई शक्ति, मानव अज्ञान की शक्तियों की सूक्ष्म या स्थूल और विशालकाय अतिरंजना। सामान्यतः उसमें यह विचार भी मिला होता है कि अतिमानव द्वारा मानवजाति पर जबर्दस्ती आधिपत्य होगा। इसका अर्थ होगा नीत्शे की अतिमानवता और अपने बुरे-से-बुरे अर्थ में "गौरवर्ण पशु" या काले रंग के पशु का, किसी भी या हर एक पशु का राज; बर्बर बल, निर्ममता और शक्ति की ओर वापिस जाना। लेकिन यह विकास न होगा, यह होगा प्राचीन दुर्निवार बर्बरता की ओर लौटना। या उसका

मतलब हो सकता है मानवजाति को अपने-आपको पार करने, अपना अतिक्रमण करने के लिये गलत दिशा में किये गये कठोर प्रयास में से राक्षस या असुर का उद्‌भव। राक्षसी अतिमानवता का प्ररूप होगा हिंसक, दुर्दांत और बढ़ा-चढ़ा प्राणिक अहं जो आत्म-परिपूर्ति के चरम अत्याचारी या अराजक बल से अपनी तुष्टि करेगा। लेकिन दानव, दैत्य, जगत्‌भक्षी राक्षस—यद्यपि अभीतक बचा हुआ है—अंतश्चेतना में अतीत की चीज है। उसका बृहत्तर उन्मज्जन भी पीछे की ओर विकास होगा। एक दुर्धर्ष शक्ति का, आत्म-प्रतिष्ठ, आत्म-धृत—यहांतक कि शायद तपस्या के साधनों द्वारा आत्म-नियंत्रित—मानसिक सामर्थ्य और प्राण-बल का बहुत बड़ा प्रदर्शन, सशक्त, घनीभूत प्रचंडता में स्थिर या भावशून्य या कराल, सूक्ष्म और अभिभावी; मानसिक अहं और प्राणिक अहं दोनों का चरम विकास—यह है असुर का प्ररूप। लेकिन भूतकाल में पृथ्वी को इस तरह का काफी कुछ मिल चुका है और उसकी पुनरावृत्ति केवल पुरानी रेखाओं को और अधिक लंबा कर सकती है। उसे इससे अपने भविष्य के लिये कोई सच्चा लाभ नहीं हो सकता, राक्षस या असुर से अपना अतिक्रमण करने की शक्ति नहीं मिल सकती। उसके अंदर महान् और अधिसामान्य शक्ति भी उसे उसके पुराने कक्ष पर ज्यादा बड़े-बड़े चक्करों में ले जायेगी, लेकिन जिसे प्रकट होना है वह कहीं अधिक कठिन और कहीं अधिक सरल है। वह है आत्मसिद्धि-प्राप्त सत्ता, आध्यात्मिक सत्ता की रचना, अंतरात्मा की तीव्रता और प्रेरणा और ज्योति, शक्ति और सौंदर्य का उन्मोचन और आधिपत्य—अहंकारपूर्ण अतिमानवता नहीं जो मानवजाति पर मानसिक और प्राणिक आधिपत्य पा लेना चाहती है, बल्कि आध्यात्म पुरुष का स्वयं अपने यंत्रों पर प्रभुत्व, उसका स्वयं अपने ऊपर अधिकार और आध्यात्म पुरुष की शक्ति में जीवन पर अधिकार, एक नयी चेतना जिसमें स्वयं मानवजाति, उस दिव्यता के प्रकाशन द्वारा, जो उसमें जन्म लेने के लिये प्रयास कर रही है, अपना अतिक्रमण और अपनी परिपूर्ति पा लेगी। यही एकमात्र सच्ची अतिमानसता है, यही है विकसनशील प्रकृति में अगले कदम की वास्तविक संभावना।

यह नयी स्थिति वस्तुतः मानव चेतना और जीवन के वर्तमान विधान का प्रत्यावर्तन होगी, क्योंकि वह अज्ञान के जीवन के सारे सिद्धांत को ही उलट देगी। कहा जा सकता है कि अज्ञान के रसास्वादन के लिये, उसके आश्चर्य और साहस-कार्य के लिये ही जीव निश्चेतना में उतरा और उसने जड़ का छद्मवेश धारण किया है। सृजन और अन्वेषण के साहसिक अभियान और आनंद के लिये, आत्मा के अभियान के लिये, मन और प्राण के अभियान और जड़तत्त्व में उनकी क्रिया के दुस्साहस-भरे कौतुक के लिये, नूतन और अज्ञात के अन्वेषण और उसपर विजय के लिये—इस सबसे ही जीवन का उद्यम बनता है और ऐसा प्रतीत हो सकता है कि अज्ञान के समाप्त होने के साथ-साथ यह सब भी समाप्त हो जायेगा। मनुष्य

का जीवन अज्ञान के प्रकाश और अंधकार से, लाभ और हानियों से, कठिनाइयों और संकटों से, सुख-दुःखों से बना है। यह एक रंगों का खेल है जो जड़ की सर्व-सामान्य तटस्थता की भूमि पर गतिशील है, जिस जड़-तत्त्व का आधार है निर्ज्ञान और निश्चेतना की असंवेदनशीलता। सामान्य प्राण पुरुष के लिये एक ऐसा जीवन जिसमें सफलता और कुंठा, प्राणिक हर्ष और दुःख, संकट और अनुराग, सुख-दुःख की प्रतिक्रियाएं नहीं हैं, भाग्य और संघर्ष, संग्राम और प्रयास के उलट-फेर और अनिश्चितियां नहीं हैं, नूतनता और आश्चर्य का हर्ष नहीं, अज्ञात में प्रक्षिप्त होनेवाली सृष्टि का आनंद नहीं है वह विविधता से रहित और फलस्वरूप प्राणिक रस से रहित लग सकता है। ऐसा कोई भी जीवन जो इन सबका अतिक्रमण कर दे वह उसे नीरस और रिक्त या अपरिवर्तनशील एकरूपता के आकार में ढला हुआ प्रतीत हो सकता है। मनुष्य के मन में स्वर्ग का चित्र है एक ही चिरंतन तान की सतत पुनरावृत्ति। लेकिन यह एक गलत धारणा है; क्योंकि विज्ञान-चेतना में प्रवेश का मतलब है अनंत में प्रवेश करना। वह ऐसा आत्म-सृजन होगा जो अनंत को सत्ता के अनंत रूपों में व्यक्त कर रहा होगा और अनंत का रस सांत के रस की अपेक्षा कहीं अधिक महान्, बहुविध और अक्षय रूप से आनंदप्रद है। ज्ञान में होनेवाला विकास अज्ञान में हो सकनेवाले किसी भी विकास की अपेक्षा अधिक सुंदर और महिमामय अभिव्यक्ति होगा, वहां के क्षितिज अधिक विशाल और अपने-आपको अधिकाधिक खोलते हुए होंगे जिनकी घनता हर तरह से अधिक होगी। आध्यात्म पुरुष का आनंद नित्य नवीन है, वह जिन सौंदर्य-रूपों को धारण करता है वे अनगिनत हैं, उसका देवत्व सदा युवा रहता है और आनंद का रस शाश्वत और अक्षय रहता है। जीवन की विज्ञानमय अभिव्यक्ति अधिक पूर्ण और फलप्रद होगी और उसका रस अज्ञान के सृजनात्मक रस की अपेक्षा अधिक उज्ज्वल होगा। वह महत्तर और अधिक सुखकर सतत चमत्कार होगी।

अगर भौतिक प्रकृति में क्रमविकास है और अगर वह सत्ता का ऐसा विकास है जिसकी दो कुंजियां और शक्तियां हैं चेतना और प्राण, तो सत्ता की यह पूर्णता, चेतना की यह पूर्णता, प्राण की यह पूर्णता विकास का ऐसा लक्ष्य होनी चाहिये जिसकी ओर हम बढ़ रहे हैं और हमारी नियति में जल्दी हो या देर में वह प्रकट होगी। प्राण और जड़ की प्राथमिक निश्चेतना में जो आत्मा, जो आध्यात्म पुरुष, जो सद्वस्तु अपने-आपको प्रकट कर रही है वह अपनी सत्ता और चेतना के पूर्ण सत्य को उसी प्राण और जड़ में विकसित करेगी। वह स्वयं अपनी ओर लौटेगी, या अगर व्यक्ति के रूप में उसका लक्ष्य अपने निरपेक्ष में लौटना है तो वह उसमें भी लौट सकेगी—जीवन के प्रति कुंठा द्वारा नहीं बल्कि जीवन में अपनी आध्यात्मिक पूर्णता द्वारा। अज्ञान में हमारा विकास आत्मान्वेषण और जगत्-अन्वेषण के सुख-दुःख, उसकी अर्द्ध-परिपूर्णता, उसके सतत पाने और खोने के उतार-चढ़ाव से सजा

है। यह तो हमारी पहली स्थिति है। यह अनिवार्य रूप से हमें ऐसे विकास की ओर ले जायेगी जो ज्ञान में होगा, तब आध्यात्म पुरुष की आत्म-प्राप्ति होगी, उसका आत्मोन्मेष होगा, वस्तुओं में विराजमान भगवान् का उस सच्ची आत्मशक्ति के साथ उस प्रकृति में आत्म-प्रकाश होगा जो हमारे लिये पराप्रकृति है।

अनुक्रमणिका

अंत:प्रकाश १२५, ७६८ दे० 'अंतर्भास' भी
अंत:प्रेरणा १२५, २७७
अंतर्भास ६६, २८०, २९०, ३१९, ३२३, ३२९, ३७६, ४२५, ६६६, ८७५, ८९८, ९०९, ९३९, ९६४अ, ९९४
  विवरण ६८-९, २७६-७
  के युग के बाद बौद्धिक ज्ञान का युग ६९
  और तर्कबुद्धि दे० 'बुद्धि'
  पशु में ६०४, ६०६
  मनुष्य में ६०६, ६०९, ९३०-१
  और सतही ज्ञान ६०७, ६०८, ६०९
  आदिम मनुष्य में ८५२-३
  आभासी ९३०
  और अवयौक्तिक रहस्यवादी ९३०अ
  में चतुर्विध शक्ति ९३२
(दे० 'अंत:प्रकाश' भी)
अंतर्मुखता [अंदर जाना, भीतर निवास, आंतरिकता] ७११, ७१२, ७१३, ७२३, ७२६, ७६४-५, ७८०, ८३१, ८८४, ८९३, ९१५, ९९९, १००२, १००५-६
(दे० 'अंतस्तलीय सत्ता' में प्रवेश, 'आंतरिक जीवन' भी)
अंतर्लयन दे० 'विकास'
अंतस्तलीय मन ६४, ८५, [१०७], २१४, २२२, २२३, २२५, ३१०, ५१६, ७१०
अंतस्तलीय सत्ता [आंतरिक सत्ता] [८६], ४२१, ६४५, ७२३, ७२५, ७६९, ७८०, ७९२, ८०८, ८५३, ८६०, ९३३
और सतही सत्ता २१४, २७८, ५२५, ५२६-७, ५४१-२, ५४९-५०, ५५१, ५५३-४,

---

सूचना :

ऐसे पढ़ें : —

१.	कर्म	ऊर्जा	चीज [वस्तु]
	-ें का	-ओं सभी,	-चीजें
	कर्मों का	सभी ऊर्जाओं	एं -वस्तुएं

२. जिस वाक्य के शुरू में (') है, वह अपने-आपमें स्वतंत्र वाक्य है। उसे मूल शब्द के साथ मिलाकर न पढ़ें। 'उदाहरण' और 'रूपक' के नीचे के सभी वाक्य स्वतंत्र वाक्य हैं।

३. कहीं-कहीं अधिक स्पष्टता के लिये इस प्रकार लिखा है : दे० 'बुद्धि' और अतिभौतिक भी, इसका मतलब है 'बुद्धि' के नीचे का वह वाक्य जो और अतिबौद्धिक से शुरू होता है।

४. पृष्ठ-संख्या के बाद अ का मतलब है वह प्रसंग उस पृष्ठ के अंत से शुरू होकर, बस, अगले पृष्ठ के आरंभ तक ही गया है। और दे० का मतलब है देखो, टि० का मतलब है टिप्पणी। पृष्ठ-संख्या के बाद (. . .) का मतलब है वह प्रसंग आगे भी जारी है।

५. [ ] में पृष्ठ-संख्या का मतलब है कि गौण या अवांतर रूप से वह बात वहां भी है।

६. जहां कहीं वाक्य-रचना मूल शब्द के साथ संगत न जान पड़े, वहां मूल शब्द के आगे कोष्ठ में जो शब्द दिया गया है उसके साथ मिलाकर पढ़ने से वह संगत बन जायेगी।

७. वाक्य के अंत में (,) का मतलब है कि मूल शब्द को वहां अंत में पढ़ें।

८. मूल शब्द के आगे या उसके वाक्यों में जो पृष्ठ-संख्याएं होती हैं वहां मूल शब्द का कोई भी पर्याय हो सकता है। यह बात 'भगवान्' शब्द पर विशेष रूप से लागू होती है। वहां ईश्वर, परमेश्वर, परम आत्मा, निरपेक्ष, अनंत, एकमेव, एकं सत्, सद्वस्तु, ब्रह्म, सच्चिदानन्द, अविभाज्य आदि हो सकता है।

५५५, ५५६, ५६८, ६४७, ७२५, ७९१, ८०८, ९४२, ९५१
में प्रवेश २७८, ५२५-८, ८९०-३; में अगर निवास कर सकें . . . ७१२, [१०४-५]
की क्षमता [महत्त्वपूर्ण शक्ति] २७८, ४२२-३, ५२९-३०, ५३३, ५५३, ५७७-८
में प्रवेश प्रथम आवश्यकता आत्मज्ञान के लिये ५२६-७
में प्रवेश अगर प्राणिक अहं के उद्देश्य से ५२७
में प्रवेश : चैत्य और मानसिक भाग बलवान् हैं तो, और कमजोर हैं तो ५२८
अभी ज्ञान और अज्ञान का मिश्रण है ५२८अ, ५३२, ८९५
और वैश्व चेतना ५३४-५, [२७८], ७२५
और अवचेतन सत्ता ५५१, [२२५, ४२४], ५५३-४, ५५५
में प्रवेश कठिन क्यों ८९०
में प्रवेश को सरल बनाने का प्रभावी तरीका ८९२-३
के उद्घाटन के परिणाम ९२०
पर्याप्त रूपांतरित, बाहरी अपूर्ण ९४२ दे० 'प्रकृति (बाहरी)', 'दिव्य जीवन' आंतरिक, 'स्वाधीनता' आंतरिक भी
(दे० 'अज्ञान', 'निद्रा', 'भूल' भी)

अंधकार ११६, २४८, ३९८, ४७७, ४७८, ७७२, ९६९
और दुःख-दर्द का विकृत और विरोधी रस ९१९, [७७२]
(दे० 'शक्तियां' भी)

अक्षमता [असमर्थता] १५७, १७२, १९७-८, २००, २०७, २२१, २५१, २५२, ४९१, ७७२, ९५५, ९६३, ९७०
के पीछे सर्वसक्षम शक्ति १९७, ४०२
(दे० 'दुर्बलता' भी)

अग्नि [आग] ३, ९८, १९९, ३९०, ५९९, ६५०, ९४७, ९५४
'अग्नि-तत्त्व ८१
'अग्नि देवता १५६
(दे० 'उदाहरण' भी)

अचित्ति ४९१
चित्ति और, ४८३, ४८४
(दे० 'निर्ज्ञान' भी)

अज्ञान ४६, ४९, ७२, ७३, ९३, १४९, १५४, १६९, १७०, १७१, १९६, २२४, २४९, २५०, २५२, २७३, २८०, २८९, ३३१, ३६४, ३८१, ३८९, ३९८, ४०३, ४०५, ४०७, ४१५, ४२९, ४३०, ४५१, ४६२, ४७३, ४७५, ४७९, ४८९, ४९८, ५१०, ५११, ५१४, ५१५, ५२४, ५७६, ६१२, ६१८, ६१९, ६५३, ६७६, ७१२, ७४३, ७६७, ७९३, ७९४, ८४४, ९२०, ९४३, ९५६, ९६९, १०४३
प्र० २, अ० ८, ११, १२, १३, १९
की ग्रन्थि १६३, ५५७
'आत्म-अज्ञान १६६, १७१-२, ५२५, ५७७, ५८२, १००३
जड़तत्त्व के तीन विरोधों में से प्रथम २४६-७
का मूल [जनक, उद्गम, रचना] २७४, [१४२], २८१, ४८०अ, ४८२-३, ५७०-२, ५७४-५, ६५५
अनिवार्य कैसे बना २८६-९०; निरपेक्ष सत्ता में आया कैसे ५५९-६४, [४८१]
वास्तव में ज्ञान (की क्रिया, शक्ति) ही है २८९, [१५७], ३२०, ४००-१, ४८४, ५८७, ६२९, ७१९
का विश्व की आध्यात्मिक व्यवस्था में स्थान ३२०-१
चेतना की एकाग्रता [संकेंद्रण] का परिणाम ४००-१, ५६३, ५६४, ५७४-५, ५८२, ५८७
में एक आकर्षण ४०८ दे० 'जीवात्मा' भी
का परिणाम ४७३, ४८०
की घुसपैठ आवश्यक न थी ४७७

ज्ञान बनने का प्रयास कर रहा है ४७७, ४९३, ४९४, ५५८, ६०८
की समस्या, और मायावादी एवं बौद्ध ४८१-२
से हमारा मतलब ४८२-३, ४९२, ४९९, ६३४
से मुक्ति का आश्वासन ४९२-३; से मुक्ति की नींव ९७२
का रूपांतर ४९३, [२३२], ६०७अ, ६१९, ६९४, ७१२, ७२२, ९३७अ, ९९२
और काल ४९८, ५०२अ
का कारण ५२३-४; का कारण, आवश्यकता एवं प्रयोजन ५८२-४
तब पूरा हो जाता है ५४२, [४९२]
अपनी सत्ता, संभूति और जगत् के बारे में ५४९-५८, [५१४-५]; सप्तविध, और उससे छुटकारा ६४६-७, ६८७-८, ७१८-३०
का स्रोत ब्रह्म नहीं ५७०, ५७४-५
और बहुत्व ५७१-२
का मूल स्वभाव ५८२, ५८९; का मूल, स्वभाव एवं सीमाएं ६२७
का हस्तक्षेप, विकास में, मन के स्तर पर ५८४-५
के पर्दे को हटाने के लिये ५८६
का उच्चतर उत्स और निचला मूल ८३२
का विरोध ९२५-७
का जीवन और विज्ञानमय सत्ता [जीवन] ९५२, ९५३, ९६०-१, ९७७अ, ९७८अ, ९८०, ९८१अ, ९८९अ, ९९१-२, १०२३, १०४०, १०४१, १०४६अ दे० 'जगत्' भी
में हमारी सत्ता, चेतना, आनंद का स्वरूप ९६३
के समाप्त होने के साथ-साथ जीवन का रस भी समाप्त ! १०४५-६
(दे० 'अविद्या', 'ज्ञान', तथा 'अतिमानस', 'अहं', 'जगत्', 'मन', 'रूप', 'विज्ञानमय सत्ता', 'विभाजन', 'शक्तियां', 'संभूति' भी)

अज्ञेयवाद ११, १४, ४१३, ४८२, ५६१

अतिचेतना [अतिचेतन] ६६, ८६, २१९, २२५, २७५, २७६, ३२०, ३४३, ४२४, ४७२, ५३७, ५५१, ५५४-५, ६३६, ७२६, ९०६, ९१५, ९९६
की ओर आरोहण ८९७-८
(दे० 'द्रव्य', 'निश्चेतना' भी)

अतिचेतन मन २३७टि०, २३८

अतिभौतिक [अतींद्रिय तथ्य या व्यापार] १२, १९अ, २०अ, ५९५
के लिये भौतिक प्रमाण की मांग ७६२
का भौतिक प्रभाव ७६२
के साथ संपर्क ७६६
और गुह्यवाद ८६१-४
(दे० 'बुद्धि' और अतिबौद्धिक, 'लोक', 'वास्तविकता', 'शक्तियां', 'शुभ और अशुभ' भी)

अतिमानव ४५, २७२
(दे० 'मनुष्य' भी)

अतिमानवता
नीत्शे की, राक्षसी, असुर की और सच्ची १०४४-५

अतिमानस [ऋत-चित्, सत्य-चेतना] २३, ४५, ११७, १२५, १२८, १३३, १५५, १५८, १५९, १९०, २१५, २३९, २४१, २६७, ३२१, ४७६, ५८५, ६३८, ६५५, ७२६, ७४४, ७४९, ७५३, ७७६, ८१४, ८३२अ, ९०३, ९२३, ९५७, ९६२, ९८८, ९९७
ग्र० १, अ० १४, १५, १६, १८; ग्र० २, अ० २६
हमारे लिये विजातीय नहीं १२२
का विवरण बुद्धि को १२२-३
नाम १२४, १४४
का वैदिक वर्णन १२४-५
बृहत् है १२४, १२८, १३१, १५५
सच्चिदानंद और मन के बीच की कड़ी है १२५-६, १४४-५

और एक और बहु १२५-६, १३९, १४०, २६५-६
और 'भाव' १२८-३०
और सृजन १२८-३२, १३३-४२, १४४-५, १७५-६, १९१, २६५-६, २६९-७०, २९०, ३१५, ६९६
और मन दे० 'मन'
और मन में: सत्ता, ज्ञान और इच्छा [शक्ति] १२९-३१, १४६, २६५, देश और काल १३४-७, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय १३८, ऐक्य १३८-९, ३१९, वृक्ष और बीज की व्याख्या १३९-४०, एकत्व और बहुत्व १४५, सत्य २७४-५
हर जगह व्यवस्था [निर्धारण] करनेवाले ज्ञान [सत्य, भाव] के रूप में व्याप्त [अंतर्लीन] १३३-४, १३७, १४४अ, १४५अ, १७५, १७६, १९७, २२१
का ऐक्य [अविभाज्यता] का सत्य १३८-४०, [२१७] दे० 'एकत्व' भी
का त्रिसूत्र १४१
की प्रज्ञान चेतना १४१-२
की अविभाज्य चेतना से एक और विचलन १४२
में अविद्या का आरंभ नहीं १४२
का अस्तित्व एक युक्तियुक्त आवश्यकता १४४
की त्रिपुटी [तीन स्थितियां] १४६-५०, ९५४
का स्वभाव, आधार १५४, १५५, ९०२अ
और दिव्य मन १६४
द्वारा समस्याओं का हल २१३-४; में ही आत्मिक स्थिति और जागतिक क्रियाशीलता के बीच पूर्ण सामंजस्य २३१-२, ९५७; में चैत्य पुरुष की परिपूर्ति २३२अ, द्वारा मन-प्राण-शरीर की ग्रन्थियों से मुक्ति २५३-४; द्वारा निश्चेतना से मुक्ति ७७०; ही निर्ज्ञान को जीत सकता है ९४५
में विविधताओं में सचेतन एकत्व २१६, २१७; का विधान है विभिन्नता में परिपूरित एकत्व ९५३अ, ९७२
-तत्त्व के हस्तक्षेप की जरूरत नहीं ऐसा तर्क . . . २२९-३२
की अनुभूति २३१
और जड़ २४५; और पदार्थ २३९, २४१
अंतर्लीन, का प्रकट होना अनिवार्य २७२, [२६१], ६५६, ६९८, ८१९
और मन के बीच मध्यवर्ती श्रेणियों की आवश्यकता २७४-७; इन उच्चतर श्रेणियों तक पहुंच सकने के लिये २७८-९; इनमें आरोहण की एक क्रमिकता [चार सोपान] २७९-८१, ९२१-३७
यहां प्रतिष्ठित तबतक नहीं हो सकता ८७७; अगर एक बार स्थायी रूप से प्रतिष्ठित हो जाये . . . ९४५-६
ही संपूर्ण क्रियाशक्ति को खोये बिना निम्न स्तरों में उतर सकता है ९०२
के अवतरण की आवश्यकता ९०२-३, [६९६], ९०६, ९३७
की ओर क्रमिक आरोहण की आवश्यकता ९१७-८
का हस्तक्षेप, और निचले भागों के अपने अधिकार ९१९-२०
'अतिमानसिक ऊंचाई के लिये जो लोग अभी तैयार नहीं . . . ९५१-२
की प्रत्यक्ष क्रिया का विकास पर स्वाभाविक परिणाम ९५२; का अज्ञान के जीवन पर प्रभाव १०४१
और अधिमानस दे० 'अधिमानस'
और अधिमानस का विविधता, विभिन्नता एवं अज्ञान के जगत् के साथ व्यवहार ९५२-३, १०४१
और आनंद ९७१
और विज्ञानमय सत्ता ९८४
(दे० 'विज्ञान' (अतिमानसिक), 'सत्य-संकल्प' तथा 'अधिमानस', 'आत्मज्ञान',

'आध्यात्मिक विकास', 'एकत्व', 'सतही' सत्ता, 'सामंजस्य' भी)
अतिमानसिक चेतना १२३, १२५, ९८४
और उसकी शक्ति २१२-३
का विशेष निशान ९५९
अतिमानसिक जाति दे० 'सामुदायिक जीवन'
अतिमानसिक ज्ञान १४०
के लिये सत्-चित्-आनंद ३१६-७
और सच्चिदानंद के उच्चतम आध्यात्मिक लोक ३२१
अतिमानसिक रूपांतर २३१, ८७७, ९३७अ, ९६४; विज्ञानमय परिवर्तन ९९८
की ओर आरोहण की एक क्रमिकता २७९-८१, ९२१-३७
न हो सकने के बारे में युक्ति ८३२-३
की आवश्यकता ९०२-३ दे० 'अतिमानस' के अवतरण भी
कम अन्वेषित क्षेत्र ९०५
की शर्त ९०६-१२; शुरू हो सकने से पहले यह जरूरी है कि . . . ९५१
की पहली शर्त ९०७
के लिये प्रकृति का सहयोग और स्वीकृति भी जरूरी ९१२-६, [९१९-२०]
की दूसरी शर्त : ९१३
से पहले चैत्य और आध्यात्मिक रूपांतर बहुत आगे बढ़ जाने चाहियें ९१३-५, ९२७
की एक और शर्त ९१५
उच्चतम प्रकाश के, समय से पहले, अवतरण के लिये अनुमति नहीं देता ९१५
में जिस समाकलन की मांग ९१८-२१
और निश्चेतना एवं निर्ज्ञान ९४३-५
मानव प्रकृति का तभी ९४४-५
व्यष्टिगत ९४५
(दे० 'आध्यात्मिक रूपांतर' भी)
अतिमानसिक विकास [विज्ञानमय विकास]
क्या संभव है ? ८१५
का दबाव अतिमानसिक सत्ता के प्रकट होने के साथ शांति में धंस जायेगा ! ८२०
का परिणाम पिछले चरणों की पूर्ति भी ९५१-२
में अभिव्यक्ति की बहुत विविधता ९८९
का अर्थ विकास की समाप्ति न होगा ? ९९३
अदिव्य १६०
दिव्य और, ग्र० २, अ० ४
का चिह्न ३८७
'दिव्यत्व की विरोधी चीजें ३८९, ४०७ दे० 'अशुभ' की आकृति भी
के पीछे दिव्य सद्वस्तु ४०३
(दे० 'अपूर्णता . . . ', 'अशुभ' भी)
अद्वैत [अद्वैतवाद] १६, २४, ३९-४०, १४७, १५०
सच्चा ३३, १५४
आध्यात्मभावापन्न प्राणिक ७४१
(दे० 'मायावाद' भी)
अधःस्थ चेतना ६०५, ६०६
अधि-आत्मा २८०, ५५४, ५५५
अधिकार १९७, २००, २०१, २०७, २६९, ५२८, ६७७, ६८९, ७२८, ९०८, ९४१, ९५५, १०१८
सच्चा २१४
-प्राप्ति की शर्त १००३
(दे० 'नियंत्रण', 'प्रभुत्व' भी)
अधिमानस [अधिमन] ११६, २३७टि०, २३९टि०, २८०-७, ३१९, ४६६, ५८५, ७६९, ९४०, ९८७अ
ग्र० १, अ० २८
और अतिमानस २८०-२, २८५, ९३६; से अतिमानस में संक्रमण ९०६, ९३७-८, ९४९-५१
में सत्-चित्-आनंद के बहुत-से स्वतंत्र अलग-अलग रूप २८२
और अनंत संभावनाओं की अनंत क्रीड़ा २८२, २८४, २८९, ३१२, ३१९, ९३६, ९३७

और मन २८३-४, २८५-६; से मन की ओर संचरण २८७-८
में सार्वभौमता [विश्वजनीनता] २८३, २८५
का सामंजस्य २८६, ४६६, ९०३
और वैश्वमाया २८६-७
का वैश्व सत्य से वैश्व अज्ञान में अवतरण २८७-९०
'अधिमानसिक विधान २८९
और वैश्व क्रिया का सत्य ३११, ३१२
जब मन-प्राण-जड़ की परिस्थितियों में काम करता है तो ९०१अ, ९०३
का सामर्थ्य और सीमाएं ९०३, ९३५-७
और अतिमानस के, हमारी अंतर्लीन चेतना में कोई रूपायन नहीं ९०६
का हस्तक्षेप ९२१, [२९०]
जब उतरता है तो अहं लुप्त . . . ९३३
के अनेक रूप : वैश्व विस्तार, विश्व हमारे अंदर, वैश्व प्रकृति की मुक्त लीला, एक विशेष केन्द्र . . . ९३४-५
के अनुभव अनगिनत प्रकार के चेतना, शक्ति, सौंदर्य, आनंद के ९३५
द्वारा साधित समाकलन ९३५
आध्यात्मिक विकास की अंतिम संभावना नहीं ९३५-७
निश्चेतना को बदलने में समर्थ नहीं ९३६-७
(दे० 'अतिमानस', 'अनुभव', 'आध्यात्मिक विकास', 'एकत्व', 'शरीर', 'सत्य' भी)

अनंत चेतना ३०६
में अनंत विभेद करने की शक्ति ३४१-२, ४८९
में आत्म-सीमांकन की शक्ति ३४२-३, [२७०], ४९१, ५८७
की आत्मलीनता की शक्ति ३४३-४
के लिये निष्क्रिय और सक्रिय दोनों स्थितियां संभव ३४४-५
'आद्या परम चेतना [विशालतर चेतना] ४३४, ४६८, ४९०, ६३७
(दे० 'उच्चतर चेतना', 'भागवत चेतना' भी)

अनंतता १२६, १९४, १९५, २९०, ८९७, ८९९
और देश व काल ७५

अनासक्ति [अलगाव] १०८, ३०९, ३४८, ५१९, ५२०
प्रकृति से, का तरीका ८९३

अनिर्धारित
, वैश्व निर्धारण और अनिर्देश्य ग्र० २, अ० १
(दे० 'निर्दिष्ट' भी)

अनुभव (जागतिक) ६२, १९५, ७८३, ७८४, ७९७, ७९८अ, ८०३, ८०४
और इन्द्रियां दे० 'इंद्रियां'
मनोवैज्ञानिक : ६१-२, मिश्रित और शुद्ध ६३
अनंत, सांत आधार पर १९४-५
समस्त, का अपना उपयोग ५४९
(दे० 'आत्मानुभव' तथा 'चैत्यपुरुष' भी)

अनुभव (आध्यात्मिक) [अनुभूति] १३, २०, २२, ३०, ४४, ११४, २७७, ३२३, ३२५, ३२९, ३३६, ३४४, ३५४, ३५६, ३६४, ३६८, ३७०, ३८३, ३९६, ३९८, ४५८, ४६३, ४६५, ५६५, ६४२, ६४४
वैश्व चेतना का २२-४, ५३५
नीरव [अक्षर] आत्मा का २४, ३१अ, २७८-९, ३१८, ३१९, ३४६, ४६५-६, ५१५अ, ८९७; कम निषेधात्मक २७९
अपने सतही स्व के पीछे स्थिर और शाश्वत की ७८
में निवास शक्य १२२
के एक पक्ष पर ऐकान्तिक बल १५०, ३३१-३
जो सभी अनुभवों से अधिक सुंदर २३०
सत्-चित्-आनंद का ३१५-७
नेति वाचक निरपेक्षों के, का फल ३१८-९

सोऽहम् की ३३२, ४६२
यही पूरी पूरी, नहीं है ३४६, ३९८
चरम [परम] : ४६३, ४६५, का स्वरूप अपनाये गये मार्ग के अनुसार ४६४
आत्मनिष्ठ, प्रामाणिक मानक नहीं ७६२-३
आध्यात्मिक विकास का अंतिम उपगमन ८४७, ८४८, ८४९, ८५३, ८५४, ८६५, ८६७-९
और बुद्धि ८६५
में भ्रांति ८६५
में और अभिव्यक्ति में विभिन्नता अनिवार्य ८७३-४
-ों में आनेवाले संकट और सावधानियां ८९१-२
-ों का मुक्त अंतर्वाह ८९४-५, अगर चैत्य सत्ता के पूरे आविर्भाव के बिना ८९५
'प्रकाशमय ढक्कन में दरार ८९६-७, अगर यह नीचे से अधकचरे दबाव से हो ८९६
अनंतता की शाश्वत उपस्थिति, आनंद, प्रकाश, प्रेम आदि की ८९७
उच्चतर लोकों में उठ जाने का ८९७, [२७९]
ज्योति, उपस्थिति आदि के अवतरण का ८९८-९, ९१७
अधिमानस के ९३५
(दे० 'उपलब्धि' तथा 'आत्मा' की अभिज्ञता, 'उच्चतर चेतना . . .', 'नीरवता', 'भगवान्', 'भूल' भी)
अन्न ८, १९३, २३४, ७३३
अपूर्णता ११८, ३८७, ३८८, ३९२, ३९३, ३९४, ३९६, ४००, ४०४, ४३४, ६७३, ६८१, ९०१, ९५५, ९५६, ९६३
(दे० 'मनुष्य' भी)
अपूर्णता, अज्ञान, दुःख-दर्द, अशुभ . . .
की समस्या, भगवान् और जगत् की व्याख्या में ३८८-४०८
का विवेचन ३८८-९
की समस्या के समाधान ३९०-९
से अप्रभावित एक शुद्ध, पूर्ण, आनन्दमय, अनंत उपस्थिति सभी चीजों में है ३९०
'यह उपस्थिति और बाह्य विसंगतता ३९०-३
के लिये दर्शन और धर्म की सान्त्वना ३९३
को भगवान् की इच्छा मानकर स्वीकार करना इस शर्त पर . . . ३९३-५
जिस चीज के संकेत और प्रेरणा हैं ३९४अ, ४०४, ४१६
भागवत सत्ता के नकार नहीं हैं ३९९-४०३
को दिये गये हमारे मूल्य और इनके विरुद्ध हमारा विद्रोह भी आवश्यक ४०३-४
एक अवास्तविकता हैं इतना कह देना काफी नहीं ४०४-५
से मनुष्य का बंधे रहना निश्चित है अगर ऐसा कहें . . . ४०५-६
और वैश्व लीला का सिद्धांत ४०६-८; 'लीला में एक जरूरी स्थिति हैं ४०७-८; 'लीला के लिये व्यष्टि पुरुष की स्वीकृति [चुनाव] ४०८, ४१५, [७४८]; लीला के लिये सर्व-प्रज्ञा का कारण ४०८
(दे० 'मिथ्यात्व . . .', 'मृत्यु . . .', 'शुभ और अशुभ' भी)
अभिव्यक्ति ४, ६, २५१, ३८९, ४५५, ४६६, ९६२, ९९३
की बहुमुखता ४० दे० 'एकत्व' और बहुत्व भी
के एक तत्त्व में अन्य सभी तत्त्व २६१
और अनभिव्यक्त ३५७-८, ४७१-२
का विधान ४०४
महत्तर, इहलोक में संभव ४७४, ५८६
कहते हैं इसे हम ६३१
की अन्य संभव व्यवस्थाएं ७७५-६
में उद्देश्यात्मकता ८१५, ८२२-३
का उद्देश्य जानना नहीं, होना है ९८८
(दे० 'आत्माभिव्यक्ति' भी)

अभीप्सा [मानव अभीप्सा] २६, २४७, २५०, २७२, ५१५, ६६८, ८२९, ८३०, ८५७, ८६१, ८९१, ८९६, ८९७, १०२४, १०४०
प्र० १, अ० १
का स्वरूप ४
का तथ्यों द्वारा खण्डन ४-५
की, प्रकृति के वैश्व प्रयासों में, युक्तिसंगतता और औचित्य ५-६, ११८, ४७८
जिन चीजों के लिये १५१, २५१, ३९२, ३९३, ३९४, ६९१, ७७०, ७८०, ८०९, ८३३, ९७१
अमरता [अमरत्व] ४, ५, ८, ४२, ४३, ६८, १००, १९६, १९७, २१७, २४३, २४८, २६०, २६४, ३७१, ४९७, ६३०, ६६३, ६७८, ६८७, ७३४ . . . , ८९९
प्र० २, अ० २२
पर विश्वास ७२७अ
का अर्थ ७२८
कालातीत, और काल-अमरता ७२८
त्रिविध ८०९-११
अवचेतन [अवचेतना] ६०, ६६, ८६, २१४, २१८, २१९, २२५, २२५टि०, २७५, ५३७, ५४९, ५५४, ८७७
में पिछली घटनाओं के संस्कार ३०७
है क्या ५५१-२, [६०], ५५३, ७२३-४
की अभिज्ञता और नियंत्रण अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ७२४-५
का सचेतन होना ९१४, ९६७
विज्ञानमय पुरुष में ९६७
(दे० 'अंतस्तलीय सत्ता', 'इच्छा', 'स्वप्न' भी)
अवचेतन मन ८५, ८६, १६९, १७४, १७५, १८४
अवतरण [अवरोहण, उतरना] ४५, १८६, २६१, २८६, ३६३, ५८४, ५८६, ६९५, ७७१, ९०६, ९२०, ९२२
उच्च स्तरों का जरूरी २६२
(दे० 'आरोहण'-अवरोहण, तथा 'अति-मानस', 'अनुभव' (आध्यात्मिक), 'उच्चतर चेतना . . . ', 'भगवान्' भी)
अविद्या ३५, ३६, ४९, १४२, १४७, १४९, १६६, १६७, १६८, १७०, १९१, २३९, २९८, ४०१, ५८२, ६०७-८, ७१९
(दे० 'विद्या और अविद्या', 'अज्ञान' भी)
अशुभ ३३, ३४, ४८, ४९, ५०, ५२, ५३, ५९, २८९, ३८८, ३९८, ४०५, ५९७, ६१३, ६२३, ६५१, ७७१, ९७८
प्र० २, अ० १४
की नैतिक समस्या ९२-७
की आकृति जिन सबसे मिलकर बनी है ४०३
की वैश्व और व्यक्तिगत उपयोगिता ४०३
भौतिक : जैसे शारीरिक कष्ट ५९२
(दे० 'अदिव्य' तथा 'अपूर्णता . . . ', 'प्राण' (व्यष्टि), 'मिथ्यात्व . . . ', 'मृत्यु . . . ', 'शक्तियां' भी)
असंतोष ४७, ९१, ४१२, ४१३
अज्ञान, तमस्, विभाजन के प्रति २५०-२
अपूर्णता के प्रति ३९२, ३९३, ३९४, ९६३
(दे० 'मनुष्य' भी)
असफलता १९८, ४०३
असामंजस्य ३८७, ३९६, ६१३, ६१६, ९५६, १०२३
(दे० 'विसंगति' भी)
अस्ति और नास्ति ४१०-३, ५९३
अस्तित्वेच्छा [अस्तित्व में बने रहने की इच्छा, भवैषणा, अपने को बनाये रखने की इच्छा] १००, १९६, २४१, २४९, ९६३
अहं १८, २३, ४०, ४१, ५९, ६३, ९९, १०९, १४२, १४४, १५८, १७२, २०२, २०५, २१६, २२७, २४१, ३६९, ३७०, ४००, ५०४, ५०८, ५१४, ५४९, ५५१, ५७८, ६०३, ६१७, ६१९, ७४२, ७४६, ८४४, ८९१, ८९२, ८९५, ९००, ९५८,

९७३, ९७७, ९८५, १०२५, १०३०अ, १०३१, १०४३
और द्वंद्व ग्र० १, अ० ७
का अतिक्रमण ५५, ३६६अ
का स्वभाव ५९
ही भ्रांति, दुःख, अशुभ आदि प्रतिक्रियाओं का निर्धारण करता है ५९
के विषय में प्राचीन वेदांत और बाद के वेदांत का विचार ५९
का विघटन जरूरी ६०, २३१, ४७०, ५२५, ५३५, ६२१, ६७७, ६८७, ७२९-३०, ८८९, ९२१, ९३३
-केंद्रितता : ७२, ७३-४, २३१, ५२३, ५४८, ६१०, ६१९, को वास्तविकता और ज्ञान का मानक . . . ६४२
'अहंकार-तत्त्व ८१
की भ्रांति का आरंभ १४०, १४७; का सुनिश्चित विचार ५१२-३
और ईश्वर-निर्भरता ३५७
और वैयक्तिक आत्मा को एक मानने की आदत ३६५-६, ३७०-१; आत्मा या आध्यात्मिक सत्ता नहीं है ६७६, ६८५, ६८७
-विषयक सत्य ३९९
-भाव और आत्म-अभिज्ञता [आत्मानुभव] ५१२-३, ५४८
-भाव और स्मृति ५१२-३, [५०७]
-बोध और आत्मज्ञान ५१४-६
की रचना का हेतु : व्यक्तिभाव ५२४अ, [५९, ६०, २३१], ५४८, ५८३, ६१५, ६८३, ६८५
और मानसिक चेतना ५४८
ही विभाजन और अज्ञान की गांठ है ५५७
का तत्त्व ज्ञान की खोज में ६१०-१
मानसिक ६१०, ६१२
के स्थान पर चैत्य पुरुष ६२२, ७३०
-मय अज्ञान ६४७, ६८८, ७२९-३०
-व्यक्तित्व का प्रतिष्ठापन ६८२-५ दे० 'प्राण' 'प्राणिक अहं,' 'आत्म-प्रस्थापन' भी
की उत्तरजीविता तभी ८०९
और एकत्व ९९०-१
में रहने का अर्थ १००४
सामुदायिक १०३१, १०३४
(दे० 'अज्ञान', 'आत्मा', 'ऊर्जा' (असीम), 'ज्ञान', 'भगवान्', 'विकास', 'विज्ञानमय सत्ता', 'व्यक्तित्व' भी)

आ

आंतरिक जीवन [अंतर्मुख जीवन] ७०९, १०१४
और बहिर्मुख [सतही] जीवन ९५९अ, ९९९, १००२, १००५-६
का प्रथम महत्त्व आध्यात्मिक जीवन में ९६०, ९९८, ९९९
और विज्ञानमय पुरुष ९६०-२
में ही नहीं, बाहरी जीवन में भी पूर्णता ९९८-९
दिव्य जीवन के लिये पहली जरूरत ९९९-१००६
के विकास में सहायता १००१
और जड़वादी की दृष्टि १००६-७
के सुपरिणाम १००७-८, [७६४-५]
सच्ची सार्विकता की ओर पहला कदम १००८
(दे० 'अंतर्मुखता' भी)
आकार [आकृति] ७३, ३३७
(दे० 'रूप' भी)
आकाश ७७, ८०, २४१
'आनन्द-आकाश ९०, २६९, ३२४
अतिचेतना का ५५५
आज्ञापालन ९१३ [८९१अ, ८९३]
(दे० 'स्वाधीनता' भी)
आत्म-अतिक्रमण [अपना अतिक्रमण] ४६, २७५, २७६, ३८४, ४१२, ४८०, ५१५, ६७५, ७०६-७, ७१२, ७१३, ७१८, ७२०,

८१९, ८२८, ८२९, ८३०, ८३३, १००२, १००४-५, १००६

आत्म-अभिज्ञता [अपने बारे में अभिज्ञ] ६३, ६५, ६६, ६७, ११५, १२५, १३०, २६५, २६७, ३१४, ३४३, ५३८, ७२६, १००३

आत्मचेतना (मानसिक) ५०७

प्र० २, अ० ८

और स्मृति, कल्पना, विचार ५००

के लिये शाश्वत और बाकी सब ५००-१

के लिये मन के पीछे की स्थायी चेतना, और बाकी सब ५०१-२

और आत्मा की अभिज्ञता ५०४-५

आत्म-ज्ञान [अपने-आपको जानना] ४६, १५६, ५३८, ६९२, ७२७, ८४८, ८७२

क्रत-चित् [अतिमानस] का १३०, १३३-४, १३७, १४५, १५५

दिव्य, शाश्वत, गभीरतर ४९१, ४९८, ४९९, ६३६

और अहं-बोध ५१४-६

हमारा, अपर्याप्त ५२२-३, ५२५-६, ९२५ दे० 'अज्ञान' आत्म-अज्ञान भी

की ओर पहला कदम : आंतरिक सत्ता में प्रवेश ५२५-८, [२२५], ५५०

और विश्व-ज्ञान ६२७, ६२९ दे० 'ज्ञान' विश्व का भी

के लिये प्रयास करना होगा ६८५-६

उच्चतर, की शुरूआत ६८७

उच्चतर, के चरण ६८७-८

पूर्ण ९५५

हमसे किस कारण बच निकलता है ९६३

आत्मदान [उत्सर्ग] २०६, ६२०, ८८९, ९१४

आत्मनिंदा ५२६

आत्मनिर्धारण [आत्मनिर्देशन, आत्म-परिसीमन, आत्म-सीमांकन] २७०, २८१, ३११, ३१४, ३१७, ३३३, ३४२-३, ४०२, ४८०, ५८२, ५८७, ९५०, ९७७, ९७८, ९७९, ९८१, ९८३

आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ ३६०

(दे० 'वास्तविकता' भी)

आत्म-प्रस्थापन [आत्म-प्रतिष्ठापन, आत्म-प्रतिपादन, आत्म-समर्थन] १९६, १९८, २०५, २०७, २८७, ५२६, ९५६, ९५८, १०२५

प्राणिक ६०३, ६१०, ६१३-६

अहंकारमय ६१९, ६२०, ६२१, ६८२-३, [७१९]

और विज्ञानमय सत्ता ९५६, ९५७अ, ९८५, १०४२

आत्म-प्राप्ति [आत्मा को पाना, अपने-आपको पाना] २११, २२४, २६९, ६२१, ६६०; आत्म-शोध २८९, ६७२; आत्मानुसंधान [४०७], ५८३, ५८४; आत्मान्वेषण ५२५, ८४२, १००६, १०३७; आत्माविष्कार ९६४

'आत्मोपलब्धि के तीन पग ६२२-३

के लिये चल पड़ना होगा ६८५-६

मनुष्य की एक बड़ी आवश्यकता ६८७

से परम और वैश्व के साथ भी एकता ६८७

आत्म-बलिदान २०४, ६२०

आत्म-रक्षा [आत्म-संरक्षण] १०८, १९५, २५१, ५३१, [६०३], ९७१

की सहज प्रवृत्ति ९२, १००, १०७

आत्मलीनता [आत्मतल्लीनता, तल्लीनता] २४६, ३४३, ३४४, ४००, ५०१, ५७५, ५८७

(दे० 'मन' भी)

आत्मवत्ता ९१, १०५, २६७

आत्म-विकास ९६, १००अ, २६९

आत्म-विस्मरण ३१९, ५७७, ५७९, ५८१, ५८२, ५८३, ७४६

आत्म-व्यक्तित्व ५३२-३

आत्मसंयम १०९, ८०१, ९५५

आत्मा २९, ६१, ७१, १४३, २२०, २२७, ३१६, ३२४, ३४७, ३५२, ३६७, ४२४, ४६७, ४७६, ४९०, ४९५, ५१७, ५५५, ५७८, ५८८, ६२७, ६३२, ६५५, ६६३, ६८७, ६९०, ६९६, ८३८, ८३९

हमारी वास्तविक १०३, १०४, १४३अ, ५०१
और रूप १३९, २५४, ७५० दे० 'जड़तत्त्व' भी
के तीन पहलू १५५
और प्राण २८७अ
है या नहीं है उसमें, ऐसा जब हम कहते हैं २२३, ८८०
और मन-प्राण-शरीर २३६, ७४९-५०
[आध्यात्मिक सत्ता] और परम सत्, ब्रह्म . . . २४४, ३२३, ३४६, ३४७, ३६७ दे० 'भगवान्' और जीवात्मा भी
अपनी, और अन्य आत्माएं ३४२, [३३२अ], ६२०; 'आत्माएं महान्, और औरों का दुःख ४०४
और आत्म-शक्ति ३५५
[आध्यात्मिक सत्ता] और अहं ३६५-६, ३७०-१, ६७६, ६८५, ६८७
मायावादी का ४३७-८ दे० 'मायावाद' भी
[शाश्वत सचेतन पुरुष] और सतही मनोमय सत्ता ५०२, ५५६
की अभिज्ञता ५०४-५, ५०९; के बारे में सचेतनता ५५५
की कालातीत चेतना और सतही कालचेतना ५०५-६
एक सतत ज्वाला है, अनुभव की धारा है (शून्यवादी बौद्ध) ५०५
अक्षर, और संभूतिगत ५०९
ही सचमुच निर्धारक है और पीछे से शासन करती है ५७८
में लौट सकना अपनी इच्छा से ५८०
'आध्यात्मिक सत्ता की वर्णरहित शुद्धि की मांग ६७०
के रूप में जानने से पहले मनुष्य को अपने-आपको मानसिक और प्राणिक अहंकार के रूप में जानना होगा ६८५
के बारे में हमारी धारणा ७५०
[पुरुष] अभिव्यक्ति में बहुपुरुष है ८८२-४
में चेतना उसकी मातृशक्ति है, आनंद वह गर्भाशय है . . . ९७१
(दे० 'पुरुष', 'आध्यात्म पुरुष', 'जीवात्मा', 'वैश्व आत्मा' तथा 'चैत्य पुरुष', 'ज्ञान', 'बौद्ध-धर्म', 'संकेंद्रण', 'स्वाधीनता' भी)

आत्मा (शुद्ध, नीरव, निश्चल) १९, २४, २८, ३९७
में ज्योति, ज्ञान . . . का अवतरण २७९
और सृजनकारी चेतना व शक्ति ३१२ दे० 'नीरवता' और क्रियाशीलता भी
और माया ३५३-६ दे० (भगवान्) 'ब्रह्म' भी
और प्रकृति ५१५ दे० 'पुरुष [आत्मा] और प्रकृति' भी
(दे० 'अनुभव', 'जगत्', (भगवान्) 'निरपेक्ष' भी)

आत्मानंद ९१, २६७

आत्मानुभव [आत्मानुभूति] ८७, ५०२, ५०७, ५१४, ५३९, ५४८
प्र० २, अ० ९
हमारा, जाग्रत् चेतना का छोटा-सा भाग ५४८-९
(दे० 'अनुभव' (जागतिक) भी)

आत्माभिव्यक्ति ९१, ९६, ११२-३, ५४७, ७९७
(दे० 'अभिव्यक्ति' भी)

आत्मावलोकन ३०९, ५०७, ५०८, ५१९, ५२८

आदत [अभ्यास] २६३, ३०७, ४२०, ९१३, ९२६, ९७०
सुख-दुःख की प्रतिक्रिया की १०५-६

आदर्श १६२, २०७, ३८९, ३९४, ६६५, ७०७
मानव जाति के ४
समग्र अभिव्यक्ति का ३८-९
हमारा परम १२२ दे० 'मनुष्य' भी

मानसिक ६१७, १०३८, १०४२
वैश्व अनुकंपा का ६२१
पार्थिव ६६९-७० दे० 'प्रकृति' भी
आध्यात्मिक जीवन का ९८३
पूर्णता का : तीन प्रवृत्तियां १०२४
पूर्व का १०२९
आर्थिक भौतिक समाज का १०२९
(दे० 'लक्ष्य' तथा 'दर्शन', 'विज्ञानमय जीवन' भी)
आदर्शवादी ४७९
आधार १३, १९४, २६२
को भूल जायें तो . . . ३८
आधुनिक
विचार ८७, ५९५, ७३६, ७३८, ७३९, ७७७
मन १०१९, १०३३
मनोवृत्ति १०२९
आध्यात्म पुरुष ६८६, ६८८, ७४७, ७५३, ८४१, ८४४, ९४५, १००३, १०११, १०३३
और अंतरात्मा ७४८-९
वैश्व, ७४८-९
का निर्झर में अंतर्लीन होने का चुनाव ७४८ दे० 'अपूर्णता . . .' भी
की खोज ८४१-२
हमारी पहली तल्लीनता १०००, १००२
'आत्मस्वरूप को पाने की शर्त १००२
शक्तिहीन, आध्यात्मपुरुष नहीं १००३
(दे० 'आत्मा', 'जीवात्मा' भी)
आध्यात्मिक चेतना ६२८, ६५१, ६७०, ८४३, ९१४
आध्यात्मिक छुटकारा ९१८
आध्यात्मिक जागरण ८४४अ
आध्यात्मिक जीवन ३८, २२९, ५९७, ७०६, ७१८, ९८३, ९९७, १००८, १०४३-४
(दे० 'सामुदायिक जीवन' भी)
आध्यात्मिकता ८२८-९, ८४०
और मानसिकता ८४१
भूल से जिसे मान लिया जाता है ८४४
अपने सारतत्त्व में ८४४अ
शुरू में ८६७-८
का उच्चतम आविर्भाव ८६८
का मूल्यांकन ८६९
का वास्तविक कार्य ८६९अ
का प्रयास दे० 'आध्यात्मिक प्रयास'
के तत्त्व का पूर्ण और प्रभावी होना बाकी है ८७६-७
आत्मनिष्ठ और गतिशील ९४२-३
(दे० 'कर्म', 'दर्शन' भी)
आध्यात्मिक दबाव ८२९, ८४९
आध्यात्मिक प्रयास ७१२-३, ७२१
और मानव जाति ७१३-४, ८६९-७२
आध्यात्मिक मन [अध्यात्मभावापन्न मन] २३०-१, ३१९, ७११-२, ८६८, ८७२, ८८८, ८९६
आध्यात्मिक मनुष्य [व्यक्ति] ३६७, ७११, ७१२, ८३९, ८४०, ८४१, ९९८
का आविर्भाव ८६७
मुक्त, का चिह्न ९५८
और बाहरी अज्ञानमय जगत् ९६०
वह है . . . ९६३
और अन्य लोग १००८-९, [३४२]
आध्यात्मिक मनुष्य का विकास
प्र० २, अ० २४
का सच्चा स्वरूप ८४२-५
दोहरा (बाहरी और आंतरिक) ८४५-७; प्रगति कठिन और बाधाएं ८४५-६
में पहला उद्देश्य ८४७
में चार आवश्यकताएं ८४८-९
और जड़वादी ८६९
और मानव जाति ८६९-७२
के विरुद्ध आपत्ति : पद्धति आत्मनिष्ठ और प्राप्त सत्य में भेद ८७२-३
में प्रकृति का और आगे का इरादा ८७५-६
अगर इति है ८७६

(दे० 'आध्यात्मिक विकास' भी)
आध्यात्मिक मानसिक क्षेत्र २७९
आध्यात्मिक रूपांतर (परिवर्तन) ६२२, ७१३, ८७७, ८८८, ८९५-९०२, ९०४अ, ९१३, ९२७
और अतिमानसिक रूपांतर २२९-३१, ९२०-१
की दो शर्तें ७२८
'प्रकाशमय ढक्कन में दरार . . . ८९६-७
की प्रक्रिया ८९८-९०१
का कार्य अगर ऊपर से आनेवाले प्रभाव की शक्ति मात्र से होता ९०१-२
के परिणाम ९२१
का योजनाबद्ध स्पष्ट अनुक्रम और प्रकृति की जटिल क्रिया ९३८-४०
में आंतरिक सत्ता के अधिक ग्रहणशील और सतही सत्ता के धीमा होने के कारण उत्पन्न कठिनाई ९४२
और आध्यात्मिकताविहीन बाहरी जगत् ९४२-३
में निर्झान से उत्पन्न कठिनाई ९४३-५
आध्यात्मिक विकास ६६९, ६७२, ८१३, ८५५, ८९६
'अधिमानस और अतिमानस के उभरने को दो चीजें सरल बनाती हैं २९०
विवरण ७११-४
पिछली प्रक्रिया से दो बातों में भिन्न ७१२-३
का तरीका और परिणाम ७१७, ७३१
और विज्ञान का भौतिक क्रम-विकास ८२३-४
मानसिक विकास का एक भाग ऐसी स्थापना ८३९-४१
के निर्णायक चरण ८४२
और मानसिक विकास ८४५
के लिये प्रकृति की चार प्रणालियां : धर्म, गुह्यवाद, आध्यात्मिक दर्शन और आध्यात्मिक अनुभूति ८४७-८
और प्रकृति की पद्धति ८४९-५०, अभी बहुत कुछ करना बाकी है ८५०
के साधन ८६४
में बुद्धि का सहारा महत्त्वपूर्ण ८६४-५
का सबसे बड़ा रूपायन ८६८अ
सामूहिक ८७१-२
में बहुविधता अनिवार्य ८७३-४
उत्तरोत्तर प्रस्फुटन है ९१६
(दे० 'अनुभव', 'आध्यात्मिक मनुष्य का विकास', 'कर्म-फल', 'पुनर्जन्म' भी)
आध्यात्मिक व्यक्तित्व ३४२
आध्यात्मिक शक्ति ९२०, १०१७, १०२०
की प्रारंभ में प्रच्छन्न क्रिया ९१७
का शुद्ध स्पर्श ९१७
का अवतरण ९१७
के अवरतण को जो प्रभावकारी बना सकता है ९२०अ
-यों के अवतरण का परिणाम ९२२
आनंद ४२, ५०, ५६, ९०, १००, ११०, १३२, १३३, १४९, १५२, १५३, १५७, १७२, १९७, २००, २११, २२१, २५१, २६४, २८२, २८९, २९०, ३१५, ३१६, ३१७, ३५१अ, ३९०, ४०२, ५६२, ६५३, ६७०, ६७५, ६८७, ७०५, ७७६, ८९७, ८९८, ९३४, ९५७-८, ९६३, ९६४, ९६६, ९९४, १००७, १०४६
ग्र० १, अ० ११, १२
और सृष्टि [जगत्] ९०-१, १०१, १०३, ११०, २६७, २६९, ३८९, ४०८
वैश्व, से मतलब ९८
और सुख-दुःख ९८-९, १०८, ११०, २२४, २२६, ४९०, दे० 'सुख . . .', 'दुःख-कष्ट' भी
[रस] को पाने में असफलता का कारण ९९, १०८, २२४, २२७, २६७
सत्-चित्-आनंद की औभिव्यक्ति और पूर्णता का ११३

को पाना ही जीवन का आधारभूत आवेग २२१
का तत्व हमारे अंदर है, अंतरात्मा २२१-२ दे० 'चैत्यपुरुष' भी
की तिहरी विकृति का कारण २२४
और जड़तत्त्व २४२
का निषेध २५२
प्राण का ६१४ दे० 'प्राण' भी
सत्ता का, क्रियान्वयन के रस को नहीं त्यागता ८२३
के अपने ही तरीके से चिपक सत्ता के हर भाग की ९१९, [३८९]
की मांग सारी सत्ता में : शरीर-प्राण-मन में और उच्च स्तर पर ९७१
ब्रह्म का सारतत्त्व है ९७१ दे० 'भगवान्' भी
'ब्रह्मानंद की अभिव्यक्ति ९७१अ
और विज्ञानमय सत्ता दे० 'विज्ञानमय सत्ता'
का आरंभ विज्ञानमय परिवर्तन से पहले भी, मन, हृदय, प्राण और शरीर में ९७२-३
और मुक्ति की शांति ९७२
पूर्ण, पाना १००३-४
आनंदमय पुरुष १०५, ३५०
आनुवंशिकता [वंश-परंपरा] २०४, ७३३, ८१४, ८१७
आरोहण [चढ़ना] ३८, ४४, २२१, २२९, २६३, २७८, ४७१, ६७२, ६९७, ७२२, ७२४, ७४४, ७४८
ग्र० २, १८, २६
-अवरोहण [उभरना-उतरना] ११६, २३१, २६१, २६७, २७९, २९१, ६८२, ८९७-८, ९४१ दे० 'भगवान्' भी
परमदेव की ओर २१९
मन से अतिमन की ओर, में एक क्रमिकता [चार सोपान] २७९-८१, ९२१-३७
चेतना का ६९४, ७२६-७, ८९६
, विस्तार और समाकलन दे० 'विकास' की प्रक्रिया
और पीछे हटना दोनों गतियां आवश्यक ७२९
और पुनरागमन की अभिज्ञता, पर कोई आलेख नहीं ८९७
और पुनरागमन का परिणाम ८९९
पहले के ९०६
(दे० 'विकास', 'समाकलन' भी)
आलोकित मन [प्रबुद्ध मन, प्रकाशमय मन] २८०, ९२१, ९२७-९, ९८७
द्वारा साधित समाकलन ९२९
आवेग ४२०, ७७२
स्वामित्व पाने का १९२-३
आनंद को पाने का २२१
संपूर्ण भगवान् के लिये ३९१
(दे० 'अंतर्वेग', 'भाव' भी)

इ

इंद्रिय बोध २३९, २४०, २५९, २६०, २६४
इंद्रियां (आंतरिक, सूक्ष्म, अतिभौतिक) २०-१, ६५, ४२३, ५२९
इंद्रियां (शारीरिक) २१, २५६, २५९, २६४, ३५९, ४११, ५००, ५१७, ५२४, ८९८
और ज्ञान ११-२, २०, ६१, ६७, ५२१, ६०५, ८७२
और अतिभौतिक व्यापार १२
और अनुभव १९-२०, ८१
और तर्कबुद्धि दे० 'बुद्धि'
-ों की साक्षी ३७, [२०अ], ६१, ६४१
-ों के मूल्य ५३-४, ७०३
और मन ६३, ६४
और पदार्थ [द्रव्य] २४४, २५४, २५७, २६०, ३०६
और विषय २५९
'ऐन्द्रिय प्रतिलेख और विश्व ४२५
(दे० 'ऐंद्रिय मन', 'उदाहरण' भी)
इच्छा १६६, १७२, १९२, १९७, ३०४, ३१६, ५२५, ६२३, ६७६, ६८०, ९०७, १००३

और कामना का तत्त्व प्रकृति में हर जगह १८५
दिव्य [भागवत] १३९, १९७, ४०८, ९७९, ९८५
'वैश्व इच्छा १८२, २५९, २६८
अनंत की ३३०; परम की ७५९
'अवचेतन इच्छा ४०७, ५९४, ६१९, ९८४
'प्रबुद्ध इच्छा ४७८
[संकल्प] मानसिक ८८३, ८८६
और चुनाव ९०८
(दे० 'स्वतंत्र इच्छा' तथा 'उपलब्धि', 'ज्ञान' भी)
इच्छा-शक्ति १६-७, १५७, १७५, १९६, २१८, ६२३, ७०४, ८९४, ९७०
और भाव १२९-३०
के उत्सर्ग द्वारा सद्वस्तु की ओर उपगमन ८८९-९०
(दे० 'अतिमानस', 'ज्ञान' भी)

उ

उच्चतर चेतना [महत्तर चेतना] १३५, ६६९, ६७२, ९०५
और तर्कबुद्धि १२०-१
(दे० 'अनंत चेतना', 'भागवत चेतना' भी)
उच्चतर चेतना, शक्ति, ज्ञान, प्रकाश, आनंद . . . ८३२अ, ८९०
का अवतरण ८९७-९०१
को अगर समय से पहले खींचा गया है ९००
का अवतरण, और प्रकृति में अहंकार, कामवासना, महत्त्वाकांक्षा या अग्रहणशीलता व अक्षमता यदि ९००-१
का निम्न स्तरों पर अवतरण जरूरी, लेकिन इससे अवमिश्रण और ह्रास ९०१-२, ९०९, ९२१, ९२५-६, ९३८, ९४३अ
को अंतरालों में आना और पर्दे के पीछे कार्य करना पड़ता है . . . ९०१
का आह्वान ९०२
से सचेतन और उन अवरोहण करते प्रभावों से व्याप्त ९१५
का अवतरण, और आंतरिक सत्ता का उद्घाटन ९२०
अपने अवतरण में तुरंत सर्वशक्तिमान् नहीं : कारण ९२५-६
का प्रतिरोध ९२६, ९४०-१
की मूसलाधार वर्षा ९२८ दे० 'उदाहरण' भी
के अधिकाधिक हस्तक्षेप की आवश्यकता ९४०
अगर पहले हृदय या प्राण में उतरे . . . ९४१
का अवरोहण, और संपूर्ण अधिकार व रूपांतर की कठिनाई ९४१
(दे० 'अनुभव' भी)
उच्चतर मन २७९-८०, ९२१, ९२३-७, ९२९, ९८७
की सामर्थ्य १७०
और बुद्धि ९२४
की विशिष्ट गति ९२४
का इच्छा-पहलू, उसकी सामर्थ्य और सीमा ९२४-७
(दे० 'विचार' भी)
उत्तर-जीविता २०१, २०५, ७३९, ८०९-१०
उदासीनता १०९ (दे० 'सुख . . .' भी)
उदाहरण
बिजली की कौंध १३
पृथ्वी-पुत्र के लिये पृथ्वी का स्पर्श १३
बेतार का तार १७-८
जैसे अमित पृष्ठभूमि के आगे छोटा-सा चित्र १९
जिस सोने से पात्र बना है वह अगर सच्चा हो . . . ३४
प्रकाश से चुंधियाये मनुष्य ३६
वह एक रेंगता हुआ कीड़ा है ४४
मर्त्यता का यह सीसा दिव्य सत्ता के सोने में

कैसे . . . ५०
फल, जिसे आदम और हौवा ने खाया ५२, [६१८]
इन्द्रियों के लिये सूर्य पृथ्वी के चारों ओर चक्कर . . . ५४, १३९; इन्द्रियों के लिये धरती सपाट ४६७
हमारी प्रकृति चीजों को हमेशा दो आंखों से देखती है ६२
क्रोध [क्रुद्ध (गुस्से) होना] ६३, ५०८, ५०९अ, ५११, ५१८, ५८०
हाथ में ली हुई चीज का भार जान सकना ६४
दूसरे के विचारों को पढ़ सकना ६५
दीमकों की बांबी . . . चींटी . . . ७३
जैसे पृथ्वी [रेलगाड़ी] हमें स्थिर मालूम होती है ७५
चलते या दौड़ते समय कदम अलग-अलग, लेकिन . . . ७८
हृदय की धड़कनें, श्वासोच्छ्वास ८५, १७९
इंजन और बिजली या भाप ८५
तूफान, आग, शेर को दोषी नहीं ठहराते विनाश के लिये ९५
हरिण को शेर से भीति ९६
जैसे कोई छोटे बच्चे की भूलों पर मुस्कराता है १०४
शक्कर को मीठा, नीम को कड़वा . . . १०५अ
सम्मोहन में घाव का दर्द रोका . . . १०६अ
पराशक्ति के बल को एक के बाद एक वस्त्रों की तरह ११२
परमदेव का गर्भस्थ शिशु की तरह अपने अंदर आधान किया ११२
जैसे कवि, कलाकार, संगीतकार कोई रचना करता है . . . ११२
भगवान् ने कहा प्रकाश हो जाये ११५
सत्य की प्रचलित मुद्रा के सिक्कों का कोष स्मृति के बैंक में ११८
धुंधले कांच की तरह ११८
जैसे जलती अग्नि-शिखा की शक्ति अग्नि के द्रव्य से पृथक् नहीं १३०, ३४६
संगीत की क्रमागत स्वर-लहरियों के समान १३६; जैसे शाश्वत संगीत के अनगिनत स्वर १५७
बीज और वृक्ष १३९-४०, १७५, [२६९], ३०१, ३०६
जैसे हमारे मन में आनेवाले विचार और बिंब हमारे लिये पृथक् सत्ताएं नहीं १४७
जैसे चक्रनाभि में आरे १५६
स्तंभ रोग १८१
लिखने की भौतिक क्रिया अवचेतन मन द्वारा १८४
डाइनेमो की तरह १९०
खानेवाला खाता हुआ स्वयं खाया जाता है १९३
भ्रातृ-मल्लयुद्ध १९८
बाज [चील] की तरह १९९, २५५
द्युलोक में फैले चक्षु के रूप में १९९
मानों ऐसा राजा जिसके मंत्री अयोग्य २३२
जैसे आदमी अत्यधिक तल्लीनता के समय . . . २४६, ४००-१
जैसे मशीन काम करती है २४८
युद्ध का घोड़ा २५५
देवों ने एक वर्ष के शिशु को लिया . . . सात सूत बुने २६५
जहां सूर्य अपने घोड़ों को खोलता २७३
सत्य का मुख सुनहरे पात्र से ढका २७३, ५८५
जैसे मनुष्य ध्वनियों और रंगों के एक क्रमतक सीमित . . . २७५
एक बंद किताब २७६
समुद्र की-सी धारा-वृष्टि २७९
प्रशांत और स्थिर सूर्यालोक २८०
ज्वलंत सूर्य-तत्त्वों की मूसलाधार वृष्टि २८०
ऑक्सीजन और हाइड्रोजन के संयोग से

पानी ३०१
जीन और क्रोमोसोम ३०१, ३०७, ७३४
वैश्व जादूगर के मंत्रों जैसा ३०१
जैसे कारीगर आकारों के लिये पदार्थ का उपयोग . . . ३०४
हाथी और अंधे की कहानी ३३१
महावत की चेतावनी और शिष्य ३३२
औषध की रोग-मुक्त करने की शक्ति ३३४
जैसे प्रकाश और अग्नि का सूर्य के साथ संबंध ३३८
पेड़ या किसी चीज को अंतरिंद्रिय से जब देखते हैं ३३८
एक ही पेड़ की पत्तियों पर भिन्नता की लकीरें ३३९
एक आदमी के अंगूठे की लकीरें दूसरे से भिन्न ३३९
दर्पण की तरह ३४७
जैसे कुम्हार घड़े बनाता है ३५६
जैसे चित्रकार या वास्तुशिल्पी अपनी कृति को समग्र रूप से देखता . . . ३६१
सुंदर पंखोंवाले दो पक्षी ३६३
बादलों में व्यर्थ युद्ध जैसा ३६४
रस्सी और सांप ३७४, ३७५, ४२६, ४२७, ४२८
हीरा और मोती ३७८, ३७९
महायुद्ध, विनाश, हिंसात्मक क्रांतियां अशुभ . . . ३८०
सूर्य जैसे हमारी दृष्टि के दोषों से अछूता ३८६, ३९०
यूनानी कहावत : भगवान् अभीतक सत्ता में नहीं संभूति में हैं ३९३
खेल, अपने-आपको छिपाने और खोजने का ४०८
वहां कोई मार्ग नहीं, रथ नहीं, न तालाब, न तलैया . . . ४१०
हिरण्मय पुरुष ४१०
कुत्ते की दुम ४१४
पेड़, पत्थर या पशु दृष्टि-भ्रम नहीं ४२५
मृगमरीचिका ४२६, ४२७
सीप और चांदी ४२८
एक की जगह दो चांद दीखना ४२८
हवा में यात्रा करने का विचार ४३२
जलपरी, फरिश्ते, ग्रिफिन, किमेरा, ड्रेगन की कल्पना ४३३
पागल के भ्रम प्लांटजेनेटों या ट्यूडरों की राजगद्दी पर बैठने के ४३३
कठपुतलियों का नाच ४४५
मिट्टी और घड़े का सादृश्य ४५२
मिट्टी बने बरतनों से सीमित नहीं, न वायु आंधियों से, न सागर तरंगों से ४७०
ऋतायनी और मायिनी शक्तियां जुड़ी हैं, उन्होंने शिशु की रचना की ४७६
प्रकाश के सात रंग, अनंत की सात रश्मियां ४७७
विशाल अश्वत्थ वृक्ष पर एक सुकुमार फूल ४७९
तरंगोंवाले चंचल जल के जैसा ४८८
जैसे विकीरण प्रकाश की क्रियाओं में से एक है ४९५
जैसे व्याघ्र-पतंग झपटता फिरता ५१०
इन्द्रियों के द्वार बाहर की ओर . . . ५१७
द्रष्टा दृष्टि से भिन्न नहीं ५१७अ
खनिज पदार्थ की शक्तियां, प्रभाव ५४३अ
अशीर्ष, अपाद ५४६
जैसे अपनी भूमिका को पूरा कर लेने पर अभिनेता के अस्तित्व का अंत नहीं हो जाता . . . ५५६
जैसे किसी जलाशय की निश्चलता और उसमें से बहनेवाली नहरों की धारा ५६६
जैसे नींद और जाग्रत् अवस्था बारी-बारी से . . . ५६८, ५६९
वह गणित की पूर्ण-संख्या एक नहीं है ५७२
अभिनेता, कवि, सैनिक का ऐकांतिक संकेंद्रण ५७९, ५८०

जैसे अंधे द्वारा निर्देशित अंधे ५८८, [५००टि०]
आग, विष, दवाई का उपयोग करनेवाला ५९९
चकमक को रगड़ने की तरह ६०८
शुभ और अशुभ के ज्ञान का पेड़ ६१८, [५२]
स्वर्ण और नाना प्रकार के गहने ६३५
पत्थर और मिष्टान्न आत्मा और मन से अधिक वास्तविक ६४०
यूरोप में वैज्ञानिक शोध का विरोध ६४३
हर अप्रशिक्षित मन सापेक्षता के गणित या कठिन वैज्ञानिक सत्यों को न तो समझ... ६४३
दोहरे जल की प्यास ६५०
सूर्यदेव के शर अंधकार के अजगरी कुंडलों को भेद दें ६५८
वैश्व पागलखाना ६६०
जैसे तितली कोषावस्था से छूटी हुई ६६४
तू ही पुरुष, स्त्री, कुमार, कुमारी ६७४
शक्तिशाली सैनिक राज्य ६८४
दो माताओं का वह पुत्र... ६९३
ज्योतिर्मय गोयूथ ७१६
जैसे आदमी पुराने कपड़े उतार... ७३२
जैसे लहर के बाद लहर आती है ७४३
किसी कैरिबी या पैरिस के गुंडे या... में बसी अंतरात्मा... ७५२
चमकते भालों को तेज करो ७५५
देवों का आवास पर्वतों पर ७६३
दांत के बदले दांत ७९३
तेज व्यक्ति को दौड़ का पुरस्कार ७९९
धर्मात्मा को अगर दुःख-कष्ट झेलते, दुष्ट को विजयी होते देखते हैं... ८००
स्वाग्रही प्राणिक अहंकार या शक्ति के अपव्यवहार का प्रतिफल ८०२
आग को छूने से वह जलाती है ८०३
जॉन स्मिथ, पिछले जन्म का ८०४, ८०५
जैसे वृक्ष सूर्य, वर्षा व वायु के आत्मसात्करण द्वारा बढ़ता है ८०७
वत्स ही माता को जन्म देता है ८१२
अनेक जलों की गोद से उत्पन्न वह शिशु ८१२
वानरजाति विकसित होकर मनुष्य बनी ८१७
समाप्ति के बिना नाटक ८२३
गौ और घोड़े को देवताओं ने अपर्याप्त वाहन पाया ८२४
वनस्पति और पशु के नये प्ररूप मनुष्य ने विकसित... ८३१
द्युलोक के सात शिल्पियों को जन्म दिया ८३५
ज्ञानस्तन की तरह ८३६
मानसिक सत्ता जो जड़तत्त्व से बरतन, मकान, मंदिर... गढ़ेगी ८३८
बिजली, पानी और बादल की उपज है ८४०
संन्यासी का गेरुआ वस्त्र ८४६
अच्छे अनाज के साथ घासपात ८५२
किसी एक स्थान पर आग सुलगायी जाती है, फिर एक चूल्हे से दूसरे चूल्हेतक... ८५६
मानवजाति के रोगों का रामबाणों द्वारा उपचार ८७०
धुएं के बिना आग जैसा ८७५
उस कच्चे घट के जैसा जो सोम-सुरा को धारण नहीं ९००
मानों संतोष के साथ किसी इमारत में रहता हो ९२४
स्वास्थ्य के समर्थ विचार ९२५
मानों सूर्य-किरणों की पहुंचतक की चीजें तो आलोकित, उसके बाहर अंधकार ९३६
चेतना के विकास की तुलना ज्वार से या सेना से ९३९
बादलों से ऊंचे जाते हुए शिखरों की तरह ९५५
शुष्क वृक्ष से जीवित देव के रूप में ९९४
दीमकों की सभ्यता १०३४

मठवासीय जीवन १०३८
उद्घाटन [उन्मीलन, खुलना, खोलना]
उच्चतर तत्त्वों, प्रदेशों, लोकों की ओर या भीतर की ओर ५५, ६०, २६२, २७८, २८७, २९०, ३८४अ, ४०७, ५२५, ५३५, ५४२, ५४५, ५६५, ५६६, ५७०, ६७०, ७०७, ७११, ७२६, ७२७, ७६५, ८३३, ८९०, ८९१, ८९३, ८९४, ८९५, ८९६, ८९७, ९१०, ९१५, ९१७, ९२०, ९२१, १०३३
उन्मत्तवत् २३२, [९८३]
उपलब्धि ३७, १२२, ४१४, ४७९, ६१८, ६४६, ८९२, १०००
समग्र, ४१-२
-यां आध्यात्मिक मन की २२९-३०
इनसे अधिक भी संभव २३०
शुद्ध आत्मा की, जरूरी ३१९
उच्चतर स्थिति की, चित्-शक्ति के द्वारा ३५५
वैश्व आत्मा की ५३५
या रूपांतर के लिये सच्ची इच्छा की निशानी ८९२
(दे० 'अनुभव' तथा 'आत्म-प्राप्ति', 'कर्म' भी)
उपस्थिति [भागवत उपस्थिति] १५३, १९७, ३५४, ३९६, ४०१, ५४३, ६४७, ७२६, ८९७, ८९८, ८९९, ९५४
अंदर की १०४-५
से अभिज्ञता ३०५
एक, सभी चीजों में है ३९०, ९१७
(दे० 'अपूर्णता . . .', 'दिव्य आत्मा' भी)

ऊ

ऊर्जा ८१, ८२, ८८
-एं अशुभ प्रेरणावाली ४९
सचेतन वैश्व प्राणिक २५९
-ओं सभी, का अपना परिणाम ७९५
-एं नाना प्रकार की ७९८-९
प्रयोग में लायी गयी, और कर्म-फल ७९९-८००
-एं सभी, अपनी अभिव्यक्ति को खोजती हैं ९८० दे० 'शक्ति' का स्वभाव भी
'जड़ ऊर्जा १०१९
(दे० 'सतही', 'द्रव्य' भी)
ऊर्जा (असीम, अनंत, वैश्व) [वैश्व शक्ति] १६, ८९, ४१९, ४३७, ४७८, ५०६-७, ५०९, ५७५, ६९२, ७७५, ८०३, ८१३, ८३६
और जगत् ७२-३
समदर्शी निष्पक्ष माता है ७२-३
और अहं ७३-४
है क्या ७४
और सत् ७५, ७६, ३००
क्रियारत और क्रिया से विरत ७६, [४५३-४, ५६४-६]
और सृजन ३००-१
अनिर्दिष्ट, और सामान्य निर्दिष्ट ३०१-२
और चेतना १३९, ४३७, ६४५, ६५६अ, ८२२
(दे० 'जड़तत्त्व', 'प्राण' (जीवन) भी)

ऋ

ऋषि-मुनि (प्राचीन, वैदिक) [१५], १६, ३७, ६९, ७०, १०९, ११५, १५४, १५६, १७२, २१४, २६७, २६९, २७०, २७२, ३७६, ४७७, ४८३, ६७८, ७१२, ८६८, ८७०, ९२९

ए

एकत्व [एकता, ऐक्य] ५३, ११०, १३८-९, १४४, १४७, १४८, १५४, १५५, १६८, १७०, १९६, २०९, २१२-३, २१९ २२०, २२१, २३९, २४०, २४४, २४५, २४९, ३१८-९, ३३९, ३५७, ३७०, ३८४, ३९९, ४०३, ४०४, ४६६, ५५९, ५६०, ९४८, ९६१, ९८०, ९९०

और बहुत्व [एक और बहु] १८, २३, २८, ३४, ३६, ३७, ४०-१, ४१अ, ७९, १२५-६, १२६अ, १३३, १३९, १४०-१, १४२, १४५, १४७, १४८, १४९, १५०, १५३-४, २३९, २६५-६, २८१, ३०३, ३१८, ३३२, ३३५-६, ३३८-९, ३४१, ३५६, ३७०, ३८३, ४००, ४२८, ४४७, ४६९, ४८५, ४८९, ४९०, ५७२, ५७४, ५८७, ६२८, ६३४, ६३८, ६५३, ७३०, ७४६, ७५९, ८८२, १०१८ दे० 'बहु' भी

सद्वस्तु का, अनिर्वचनीय ३५-६

अवचेतन, सचेतन, अतिचेतन ४१

चेतना की, अविच्छिन्न ८८

और विविधता १३९, २१६, २१७, ४२८अ, ८७४, १०१८-९

और विभिन्नता १४२, १४८, १४९, १५५, २०६, ३३२, ३३८-४२, ३७८-९, ५६१, ६३२, ६९०, ९५३-४

और विभेद [भेद] १५०, ३६७-८, ३७८-९, ७४६, ९७२, ९९०

और दिव्य आत्मा १५७, १६५, १६६

प्रकृति में उतना ही सबल जितना विभाजन २०२

ईश्वर के साथ: २१५, हृदय, संवेदन, शरीरतक में ९६१

साथी प्राणियों [अन्य सत्ताओं] के साथ: २१६, ५३५, का सच्चा सिद्धांत ६२०, यदि अज्ञान के साथ ६२१, अगर बिना आत्म-प्राप्ति के ६८५, बहिर्मुख जीवन में और आध्यात्मिक जीवन में १००८-९ दे० 'वैश्वभाव', 'व्यक्ति' और समष्टि भी

अतिमानस और अधिमानस में २८१, २८५, २८६, २८७

ही अनंत का गणित है ३३८

स्थितिशील और सक्रिय ३६८, ३६९

ऐकांतिक, में डुबकी लगाकर विभेद से पिंड छुड़ाना किस लिये ? ३६८-९

हर जगह ४९०-१

समस्त अस्तित्व के साथ ५३५

वैश्व सत्ता के साथ, और वैश्व प्रकृति के साथ ५३६-७

आंतरात्मिक चेतना में ५७१अ

ईश्वर, मनुष्य और प्रकृति का ६८१, ६८८-९; [अन्य आत्माओं के साथ और ईश्वर के साथ १५६-८]

और एकरूपता ९९०, [३४०]

-स्थापन में दो कठिनाइयां, सामुदायिक जीवन में ९९०-१

आध्यात्मिक १००८-९

, पारस्परिकता और सामंजस्य १०१२, १०१३, १०१४, १०१८-९, १०३२

(दे० 'अहं', 'भगवान्' भी)

एकाग्रता १४०, ३९१, ४२३, ४४८, ५६४, ८९३

की शक्ति सर्व-चेतना की ४००-१

(दे० 'अज्ञान', 'संकेंद्रण' भी)

ऐ

ऐंद्रिय मन [इन्द्रिय मन] ६२, ६३, ६७, २३७, २५१, ६०९

की स्वाधीन क्रिया ६४

क

कर्म [क्रिया, क्रिया-कलाप] २१, ८२, २१०, २१४, ३३३, ३५३, ४५५, ४६२, ६७७, ७९६, ७९८, ९०८, ९०९, ९८७-८, १००३, १०१५, १०१७

में भी मुक्त, शांत २९

और आध्यात्मिकता ३९

'क्रियाशीलता और स्वतंत्रता ४२, ३१८

-ों का कर्म ४४; 'काम जो मानव आत्मा को सौंपा गया है ५८४; 'कार्य जो हमारे अस्तित्व का लक्ष्य है ६५२

'क्रियाशीलता का सारतत्त्व ५८

अवचेतन और अतिचेतन में ६६
और गति हर, सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञता के आदेश से १९७
सुव्यवस्थित नहीं, पहले-पहल इस निर्वैयक्तिकता में २३१-२
बंधनों के बिना ३१८, ४५५, ७२८, ७२९, ९८१
, गति, सृजन शुद्ध सत् का निषेध है ऐसा तर्क ४५४-५
और स्थिति ४५४; 'क्रियाशीलता और निष्क्रियता ५६४-७० दे० 'नीरवता' और क्रिया-शीलता, (भगवान्) 'ब्रह्म' निष्क्रिय भी
'व्यक्तिगत क्रिया का भाव समाप्त ५३५
, और उसकी उद्गम शक्ति ५६७
में सफलता ५७९
आत्मोपलब्धि के बाद ६२२-३
में इच्छा-शक्ति के उत्सर्ग का रूप ८८९-९०
'गलत क्रिया ५९४, [६१२], ६१९
(दे० 'विज्ञानमय सत्ता', 'संकेंद्रण', भी)
कर्मफल [कर्म, कर्म-विधान, कर्म-शृंखला] ४१३, ५०७, ५७७, ५७८, ७३२, ७८१टि०, ९८१
और **बौद्धसिद्धांत** ४३७, ४८१टि०, ७३६, ७३७टि०, ७४०
के बारे में प्रचलित विचार ७९३-४
और पुनर्जन्म ७९३-८
और आध्यात्मिक विकास ७९४, ७९७-८, ८०१, ८०३-४
का सत्याभासी सिद्धांत ७९५-६
एक का, औरों को ७९५
और आध्यात्मिक स्वतंत्रता ७९७
और उच्चतर हस्तक्षेप ७९७
में दो तत्त्व : यंत्र और प्रच्छन्न चेतना ७९८
और प्रयोग में लायी गयी ऊर्जाएं ७९८-९
की परिकल्पना पिछले भुगतान के रूप में ८००[९३], इसमें भ्रांति, पर आंशिक सत्य भी ८०१-३
'शुभ और अशुभ कर्मों का पुरस्कार और दंड ८०१, ८०२
, और संबंध और अनुभव का पाठ ८०३
कला १०८, २२७, १०४३
कलाकार ११२, २२६, ३६१, ४२८, ७०९
कल्पना ५६, ५७, ४३१-३, ४४०, ४७३, ४७७, ५००, ५१०, ५१६, ७०४, ७६७, ७८८
कवि ११२, १३५, १६४, २१४, २२६, २७०, ४२८, ५५६, ७०९
कामना ४६, ८२, ९८, ९९, १९८, २००, २०६, २२०, २४३, २४९, २५१अ, २५९-६०, ४११, ४१२, ६४९, ६७६अ, ७४३, ७५७, ७५८, ७५९, ७८१, ७८६, ७९३, ८८९, ९५८, १०४३अ
ग्र० १, अ० २०
का मूल स्वरूप एवं उदय १९५-६, १९७
की आवश्यकता और सार्थकता १९६-७
का अंत तभी १९६
परस्पर आदान-प्रदान की ओर १९६
अस्तित्व में न आती, अगर . . . १९७अ
(दे० 'इच्छा' भी)
कामना-पुरुष २२३, २२३अ, २२४, २२६, २२७, २२८, २६६
कार्य-कारण १३४, १४४, ५०६अ, ८४०
काल ४५६, ४९६-५०३
'काल-अवलोकन और काल-गति सापेक्ष हैं ३६०
'स्वप्न-काल ३६०
'कालातीत शाश्वतता, काल-शाश्वतता और काल-गति ३६१-२ दे० (भगवान्) 'कालातीत' भी
और 'निरपेक्ष' के विरोध ३८२
एक बड़ा बैंक है ५०२
'कालिक अज्ञान ५५६-७, ६४७, ६८७, ७२७-९
(दे० 'देश और काल', 'भूत-वर्तमान-

भविष्य' तथा 'अज्ञान', 'अतिमानस' भी)
कुंठा ४१४, ४१६, ९५८, १०१५
केंद्र [यंत्र] ३४२; उपकरण ७०५
भगवान् का ४२, ५९, ६०, ६२२अ, ९११-२, ९३४
विश्व-भाव का ३६७, ९०९
निर्व्यक्तिक ५३७, ९३४
कोष पांच २६२
क्रियाशीलता दे० 'कर्म'
क्षर १२५
क्षुधा १८९, १९५-६, २००, २०६

ग

गति ६७, ७१, ७७
अनंत, ७२
और शुद्ध सत् ७४, ७६
और स्थिति [स्थिरता] ७४-५, ७९, १६८, ४५३-४
देश में और काल में ७७-८
की समग्रता में अविभाज्य ७८टि०
गुण ७३, ७६, १५८, ३०६, ३३४, ३५१, ७९८-८००
गुण (प्रकृति के तीन : सत्त्व, रज, तम) ३४८
-ों का मिश्रण अधिकतर लोगों में ६१२
(दे० 'बुद्धि' तामसिक भी)
गुरुत्वाकर्षण (अधोमुखी) ७१३, ७१४, ८१३, ८४६, ९३७
गुह्यवाद [रहस्यवाद] ८४७, ८५९
का अर्थ ६४४
का क्षेत्र ८४८
विवरण ८५६-७, ८६१-४
का प्रयास ८५७
में गोपनीयता ८५७
अपने सारतत्त्व में ८६१, ८६४
और भौतिक विज्ञान ८६२
पश्चिम में ८६२अ,
का लक्ष्य ८६४
गुह्यविद्या [गुह्यज्ञान] २०३, ५४३, ६४४, ७१३, ८४८, ८५३, १०१७
प्राण के आविर्भाव के बारे में १८६
उच्चतम ८६३
के सूत्र ८६३
गोलोक २६०

घ

घटना ६३९
का परिणाम ३२९-३०
(दे० 'जगत्' में परिणामों भी)

च

चक्र [केंद्र] २६२, ७६७, ९१५
चमत्कार ५, ३२, ३२६, ३४०, ७४६, ८२७, ८३८, ८६१, ९१६, १०३६ दे० 'जादू' भी
चिंतनशील मन [विचारशील मन] १७०, ८८७, ९४५, ९६४
और निश्चयता एवं वास्तविकता ४१०-१, ४१२, ४१३
का प्राकट्य ७०३-४
'विचारात्मक मन २३७, २४०
चित् ७९, ८८, २३८, ३१५, ५६३
(दे० (भगवान्) 'सच्चिदानंद' भी)
चित्ति दे० 'अचित्ति'
चित् शक्ति ८, १३५, १४५, १५९, २०९, २५७, २८२, २८४, २९८, ३२५, ३४१, ३५५, ३६३, ३८९, ५६४, ५८१, ६०४, ६०७, ७०४, ७६७, ७७५, ८१८, ८६८, ८७६, ८९६, ९०६-१०
ग्र० १, अ० १०; ग्र० २, अ० १३
के कामों में प्रयोजनशीलता ८८-९
की संतुष्टि या आनंद ९७
और जगत् ११७
'चित्-तपस् १८५
और सत् दे० 'भगवान्'
और जगत् के प्रतिरोधी सत्य एवं समस्याएं

२०९-१०
का ऐकांतिक संकेंद्रण २७४, २८७, २८८, २८९, ५७३ दे० 'संकेंद्रण' भी
के तीन रूप : माया, प्रकृति, शक्ति ३२५
के द्वारा ही ईश्वर कार्य करता है ३५५
संपूर्ण, उपस्थित सतही ऊर्जा के कार्यों व रूपों में ५८५
और विज्ञानमय समाज १०११
और विज्ञानमय सत्ता १०१७
(दे० 'अनंत-चेतना', 'ऊर्जा' (असीम), 'पराप्रकृति', 'माया', 'शक्ति' तथा 'जड़तत्त्व', 'प्राण', 'सहयोग' भी)
चीज [वस्तु] ३८०, ४८९, ६९०, ६९१
सभी एक ही, है, एक ऊर्जा, एक पदार्थ, एक विश्वगति ३७८-९
कोई, तबतक नहीं टिक सकती जबतक हमारी प्रकृति में उसके लिये इच्छा न हो ३८९
-ें सभी, में एक उपस्थिति ३९०, [५४३]
जो कुछ है उसे अपने औचित्य और पूर्ण अर्थ की प्राप्ति केवल तभी ३९४
-ओं की शक्ति और प्रभाव ५४३अ
-एं निष्क्रिय, गुप्त अनवरत गति द्वारा बनी रहती हैं ५६५
-ओं की चेतना से स्वतंत्र वस्तुनिष्ठ वास्तविकता ६३५, ६३८
सभी, एक संकेत, सूत्र, प्रतीक हैं ६३८-९
-ओं निश्चेतन, का सृजन ९०८
-ओं भौतिक, का उपयोग ९६८अ, १०४३
(दे० 'दिव्य', 'सत्य' भी)
चुनाव [चयन] ५२७, ९०८
और स्वीकृति ९१०, ९११
चेतना २२, ७८, ८१, ८८, २२१, २६९, २८२, २८९, ३०४, ३१७, ३५१, ४८६, ६९६, ७२०, ७६९
ही वैश्वसाक्षी है २१
और सत्ता [सत्-पुरुष] २४, ११४, १३०, १९०, ४७२, ६३६
के तीन सामान्य रूप ३८; की त्रिविध अवस्था ३४१
की उच्चतर अवस्था में मृत्यु, दुःख आदि के मूल्य ५३
और शक्ति ८२, ८४, ८९, १३१, १३९, १४५, १४७, १९०, २६५, ५६३-४, १००३, १०१५-६; जैसी, शक्ति भी वैसी २१२; और शक्ति की चार अवस्थाएं और चार संबंध २१२-४ दे० 'मन-प्राण-शरीर' भी; और शक्ति के बीच विभाजन मनुष्य में २१६-७; शक्ति है अतः उसमें सृजन की संभावना ४७३; का शक्ति पक्ष ५६३-४
से हमारा मतलब ८४-५, ८८, ५३७
और जड़वाद ८५
और हमारे अंग ८५
और जड़पदार्थ दे० 'जड़तत्त्व'
पशुओं, वनस्पतियों, धातुओं और अन्य अचेतन रूपों में ८६-८, [५४३अ]; वहां भी, जहां कोई बाह्य क्रियाएं नहीं ५३७-८; प्राण और शरीर में भी ५५२-३
में बुद्धि, प्रयोजन, आत्म-ज्ञान समाविष्ट ८८
निश्चेतना से प्रकट ८९, [८३, ८५], ३०३, ३०४, ३०६, ६०४, ७३६, ७५७ दे० 'निश्चेतना' भी
मनुष्य की, और प्रकृति की ८९
'चेतन और अवचेतन १८४
का ऐकांतिक संकेंद्रण १६७-७२ दे० 'अज्ञान', 'संकेंद्रण' भी
क्रिया और रूप में खोयी हुई, इनसे अर्द्ध-मुक्त और मुक्त २१०, २४६-७, ९८९
का जागरण अपने अज्ञान के प्रति २५०
के दो पहलू [शक्तियां] २६५, २९८, ४९८; की दो गतियां २७८; की दो कलाएं ४९९; दोहरी : सतही और भीतरी ३४५
सिर से ऊपर की २७७
का विकास २९८, ५४४, ६०३-७, ६५०, ६७४-५, ६९७-७०२, ९३९, ९९७

से जगत् का निर्माण ३०४-८, ६३५, ६३७ दे० 'जगत्' भी
का परिसीमन और चेतना की अखंडता के प्रति जागृति भी आत्माभिव्यक्ति की एक क्रिया है ३१७
हमारी, सत्य और मिथ्या का मिश्रण ४७३ और अज्ञान ४७७
द्वारा ही अतिचेतन सत्य को जानना होता है ४८७
आधारभूत तथ्य है जीवन का ४९१, [२१]
की शक्ति की तीन स्थितियां ४९१-२
स्थायी, मन के पीछे ५०१
विषयी और विषय दोनों में एक ही ५३३
अपनी, में जगत् को धारित देखना ५३५ दे० 'जगत्' मेरे भी
और मानसता ५३७, [८४अ], ५५२-३
सक्रिय और निष्क्रिय ५६५
का आविर्भाव एक चमत्कार ६०४
का आमूल परिवर्तन एकमात्र सच्चा समाधान ६१९; का परिवर्तन मुख्य ८३०, ८३१; का विकास ही सच्चा उपचार १०३४
अनुभवों का प्रवाह भर है ६३५, ६३६
का स्वरूप जड़तत्त्व में और हमारे अंदर ७२३
को अगर उच्चतर भागों में बनाये रख सकें तो . . . ७२६
उच्चतम क्षणों को छोड़कर शिखरों पर नहीं चढ़ती ९००
अधिकाधिक घट जाती और हल्की हो जाती है जैसे-जैसे हम सोपान पर नीचे उतरते हैं, जब ऊपर चढ़ते हैं तो चेतना की अधिक दीप्ति . . . ९२२-३
और जीवन विकास के संकेत शब्द हैं ९९५-७
के स्तर ९९६
का सच्चा स्वभाव ९९६
की नियति ९९६
महत्तर, का अर्थ है महत्तर जीवन ९९७, १०१५अ, १०१६
की नयी शक्तियों का आविर्भाव १०१८
की अंतर्निष्ठ एवं सुप्त शक्तियों का विकास, और आधुनिक मन १०१९-२०
की शक्तियों के अनुसरण की अस्वीकृति का कारण १०२०-१
'गलत चेतना ३८९, ५९४; ६१२
(दे० 'अनंत चेतना', 'उच्चतर चेतना', 'नयी चेतना', 'भागवत चेतना', 'विज्ञानमय चेतना' तथा 'आरोहण', 'ऊर्जा', 'जड़तत्त्व', 'द्रव्य', 'रूप', 'विकास', 'सतही' भी)
चैत्य पुरुष [सच्ची चैत्यसत्ता, अंतरात्मा] ३२, ४३, ५२, १९४, २२०, ३५०, ३५२, ३९३, ४७९, ५२७, ५५७, ५७१अ, ५७६, ६४०, ६६६, ७११, ८४०, ८५३, ९१७, १००६
मुक्त, और दूसरी अंतरात्माएं ४१-२
का भौतिक चेतना [अज्ञान] में अवतरण ५२, ७५६, ७९४ दे० 'जीवात्मा' भी
भूल से जिसे मान लिया जाता है १७०, २२९, ८४४, ८८०अ, ८८२, ८८४
अपने रूपायन से सदा आगे २१७
और आनंद २२१, २२२, २२३, २२५-६, २६६, ४०२अ
दोहरी २२२, २२३, २६६
और कामना-पुरुष २२३, २२६, २२८अ, २६६
विवरण २२३, २२७-९, २३०, २६६-७, ८७७-८२
सब संपर्कों [अनुभवों] में समान रस लेती, और उनसे अपना भंडार बढ़ाती है २२५-६, ४०२अ, ६०२
और आत्मा २२७; और आध्यात्मिक पुरुष ७४८-९
छिपी हुई है २२७, ८३१अ, ८७७, ८७८-९, ८८७
भगवान् का अंश [स्फुलिंग] २२७, २३०,

३२५, ३५७, ३६३, ३८६, ४०६, ६२२, ६५४
का विकास २२८, ६०२, ८७९-८०, ८८१-२
का लक्ष्य २२८, २३०, ६०२; का औचित्य ६५२; का प्रयोजन ६७२; का काम ८७८अ, ८८१
और सत्यं, शिवं, सुंदरम् २२९, ६०२
'साइकिक [चैत्य] शब्द का प्रयोग २२९टि०
सामने २२९, ८७९, ८८२, ८८७; का आविर्भाव ८३२; का निर्णायक आविर्भाव : ८४१-२, का चिह्न ८४३; अनावृत : ८७८, के परिणाम ८९३-५
की परिपूर्ति अतिमानस के द्वारा २३२-३
और ईश्वर ३५६-७
में ही अंतस्तलीय मिश्रित क्षमता का उपचार ५३२-३
की सक्रियता और निष्क्रियता ५६८-९
का प्रभुत्व ६२२, [५३३]; का नियंत्रण ८४२, ८४३, ९२७
भीतरी पथ-प्रदर्शक ६२२
वैश्व आत्मा का मर्त्य कोषाणु नहीं ६५४
की अमरता ७३५. . . , ८०९
और शारीरिक जन्म दे० 'जन्म'
ही अपने विकास का निर्णय करती है ७९७; स्वयं दारिद्र्य, दुर्भाग्य, कष्ट को स्वीकार कर सकती है ८०३
को मन-प्राण-शरीर से अलग करके देख सकना ८४१-४
का गोचर प्रभाव : लक्षण ८७९अ
का प्रभाव सतह पर मिश्रित रूप में ८८०-१
के प्रभाव का गलत अनुवाद ८८१
द्वारा प्रकृति पर शासन की दृष्टि से भौतिक मनुष्य, प्राणिक मनुष्य और मानसिक मनुष्य पर विचार ८८४-७
के पूरी तरह बाहर आने की शर्त ८८७
को पाने के लिये तीन उपगमन बुद्धि, हृदय और इच्छा-शक्ति के ८८७-९०
के उन्मीलन को संपूर्णता तक पहुंचाने के लिये आंतरिक सत्ता में प्रवेश जरूरी ८९०-३
'आध्यात्म सत्ता और बाहरी यंत्र-विन्यास ९९९
की उपलब्धि दिव्य जीवन के लिये जरूरी १०००
(दे० 'जन्म', 'लोक', 'शरीर', 'सामंजस्य' भी)

चैत्य प्रकाश ८९४, [८९३]
और मन के क्रिया-कलाप ८७८, ८८१

चैत्य रूपांतर [परिवर्तन] ९०४अ, ९१५, ९१७, ९२०
, आध्यात्मिक रूपांतर और अतिमानसिक रूपांतर २२७-३३, ८४३अ, ८७७-९०३
'चैत्य-आध्यात्मिक रूपांतर ८४३, ८९५

चैत्य विवेक ५३३

चैत्य व्यक्तित्व [आंतरात्मिक व्यक्तित्व] ८७९-८०, ८८१-२, ८९३, ८९६, ९१७
कमजोर, और मन-प्राण-शरीर सबल २२८अ
कम विकसित, का पुनर्जन्म ७८५-६
विकसित, का पुनर्जन्म ७८६-७
की वृद्धि [विकास] ८०७, ८८१
बौना और दुर्बल ८८१, ८८७
जैसे-जैसे मजबूत . . . ८८१अ, ८८७

ज

जगत् [विश्व, सृष्टि] १९, २४, ७७, १२०, १२६, १२८, १४०, १४४, १४५, १४९, १५९, १७०, १७१, १८९-९०, २००, २१३, २३७, २४६, २५६, २६९, २८४, ३३९, ३६६, ३८६, ४१९, ६२८, ६३१, ६३४, ६५२, ६७१, ६८०-१, ६८५, ६९०, ७१५, ७३०, ८१६, ८२१, ८३२, ९६०, १०२६
ग्र० १, अ० ६; ग्र० २, अ० १

और चेतना २१, ७४, ८२, २८३-४, ६४१, ९९५अ दे० 'चेतना' भी
की अवास्तविकता पर जोर दें तो २२
और शुद्ध नीरव आत्मा २८-९, ३१-२, ३१२
और परात्पर दे० 'भगवान्'
अगर स्वप्न या माया है ३४, ३९-४०, १०१, ३०५ दे० 'मायावाद' भी
का [की अभिव्यक्ति एवं लीला का] उद्देश्य [आशय . . .] ४३, ८९, १२२, [१४२], ५८४, ६५२; में विकास और उद्देश्य को न माननेवाली विचारधारा ८१५-२३
और असीम ऊर्जा, अनंत गति ७२-३
की रचना पांच तत्त्वों से ८०-२; का आधार सात महान् तत्त्व २६५, २६८-७२, ४७७
का निर्माण आनंद से दे० 'आनंद'
में हर चीज के अस्तित्व, शक्ति, आनंद का कारण है सच्चिदानंद ९१
के बारे में : प्राचीन वेदांत का मत ९०-१, १०९-१०, १२८, ४४२, उपनिषदों का प्रतिपादन ४३९, ४४७, वैदिक ऋषियों की दृष्टि ४७७-८
के प्रति तिहरी दृष्टि : माया, प्रकृति, लीला की १०१-३, १०९; की व्याख्या लीला के रूप में ४०६-८, ६६५ दे० 'लीला' भी
में हर कोई चाहता है सत्-चित्-आनंद की अभिव्यक्ति ११३
-पहेली की चाबी ११४, २०९अ; -पहेली का रहस्य और चाबी ३८५, ६५०; के विरोधाभासों की चाबी ५६३; का रहस्य ३५७, ९५३
की स्रष्टा दिव्य माया या मानसिक माया ११६-२१
की रचना का त्रिविध क्रम ११७-८
का स्रष्टा ऋत-चित् अतिमानस १२८-३२, दे० 'अतिमानस' और सृजन भी
दो अंतर्लयनों के बीच होनेवाली गति १२९
का विकास देश-काल में १३४-६
के सत्य को जानने के लिये १३९, ४५९, ४६९, दे० 'ज्ञान' भी
का सृजन अवचेतन मन या अंतर्लीन अतिमानस द्वारा १७४-६
कैसा होता यदि मन अतिमानस से पृथक् न हुआ होता १७५; कैसा होता यदि अतिमानस न होता २६९
के मूल में बुद्धि की खोज १७६, [८८-९]
भौतिक, का आरंभ १८९अ, २९८ दे० 'जड़' की रचना भी
की रचना क्षुधा से १९५; की रचना का आधार ३४०
का रोग २२३अ
का आलिंगन साहस के साथ नहीं करता २२४
एक भेदमय बहुविध एकत्व है २४४, ३३९-४१
के बारे में निराशावादी मत [दृष्टि] २५२, ४१४-५
भौतिक, में हर चीज जड़ द्रव्य के नियम पर आधारित २५८-९
भौतिक, बाकी सब का परिणाम २६१
की व्याख्या भौतिक, प्राणिक, मानसिक, आध्यात्मिक २८३-४
निश्चेतना का, और भ्रांति-मिथ्यात्व-अंधकार . . . २८९
निश्चेतना पर आधारित दे० 'निश्चेतना'
'वैश्व-प्रक्रिया : २९८-९, और विज्ञान २९९-३०३, और यांत्रिक आवश्यकता का सिद्धांत ३०३-४, विश्व से बाहर की चेतना व दिव्य सत्ता द्वारा निर्मित का सिद्धांत ३०४-५, स्रष्टा सृष्टि में व्याप्त भी है, का सिद्धांत ३०५-८ दे० 'प्रकृति' भी
अनिर्धारित निर्धारण है २९९
के बारे में तीन प्रश्न व दृष्टियां और समाधान की खोज जड़, प्राण, मन, अधिमानस और

अतिमानस में ३१०-२१
की पूरी प्रक्रिया ३१५
में परिणामों का निर्धारण शक्तियों के बलों के संतुलन द्वारा ३१५, [१३६], ९२६
एक चमत्कार ३२६-७, ३४०
-शासन-संबंधी सत्य ३५३; [-व्यवस्था १७५-६] दे० 'भगवान्' भी
मेरे अंदर, मैं जगत् में ३६९अ, ३७२, ५३५, ९३४
-संबंधी अनगढ़ सिद्धांत कुछ धर्मों का ४०६, ७००
-व्यवस्था के बारे में तीन विकल्प ४१५; की संतोषजनक व्याख्या ४१५-६
-विभ्रम का सिद्धांत दे० 'मायावाद'
भौतिक, और ऐंद्रिय प्रतिलेख ४२४-५
-सत्ता और अज्ञान ४७३-४ दे० 'अज्ञान' अपनी भी
आदर्श, का आधार शब्द : पूर्ण आत्मचेतना ४७८
के बारे में हमारी (सामान्य) दृष्टि ४७८-९
की सृष्टि अंडे के रूप में ५६४टि०
में होनेवाले विकास की हमारी (लेखक की) : व्याख्या ७४४-५, [दृष्टि २३६-७]
की उत्पत्ति के बारे में कई संभव विकल्प ७५६-८, [५६२]
का सृजन और व्यष्टिगत सत्ता ७५८, ७६७
का सृजन और आध्यात्म पुरुष ७५८, ७५९
भौतिक, ही अगर एकमात्र अभिव्यक्त जगत् होता ७८३, [७७४-५]
[जीवन] पाप-पुण्य की पाठशाला ! ७९४, ८०६
'सृजन-प्रक्रिया जड़ में, प्राण में और पशुजाति में ८१८-९
जड़भौतिक, समग्र पूर्णता नहीं ८२२
का साक्षी ८३६-९
बाहरी अज्ञानमय : और आध्यात्मिक रूपांतर ९४२-३, और आध्यात्मिक मनुष्य ९६० दे० 'विज्ञानमय सत्ता' भी
के साथ हमारा संबंध ९५६-७
हमारा निर्माण करे, इसकी जगह हमें स्वयं अपना और जगत् का निर्माण करना चाहिये ९९९-१००१
(दे० 'अज्ञान', 'आनंद', 'ऊर्जा', 'चित्-शक्ति', 'ज्ञान', 'पुरुष', 'मन' और सृजन, 'विज्ञानमय सत्ता', 'व्यक्ति' भी)
जगत्-शक्ति १८१, १०१९
जड़तत्त्व [जड़, जड़पदार्थ, भौतिक द्रव्य, भौतिक पदार्थ] ५, २३, १००, १६४, १७८, १८१, २५४, २८४, ४६७, ४७६, ४९०, ५०९, ५९८, ६५३, ७२२, ७२३, ७२९, ७७६, ८१३, ८२६, ८३६, ८३८, ८६९, ९९५, १०४६
अ०१, अ० २४, २५
और आत्मा ८-९, ११, १९-२०, २६, २७-८, ३८, १२९, १४७, १९५, २३८, २४४, २४८, २५३, २५७, २८४, ६३५, ६५५, ६५७, ७५१, ७७५, ७८३, ८१४, ९६८ दे० 'आत्मा' और रूप भी
भी ब्रह्म है ८, २४५, २८४, ९६८; और सत्-पुरुष [सर्व सत्ता...] १९५, २२२, २३८अ, २४२, २४५, २६६, २६७, दे० 'द्रव्य' भी
और विश्व-ऊर्जा [शक्ति] १६-७, ८०-२, १७५, १८१, २३७, ३०६, ६४५, ६५६, ७३३, ७६१
के विरुद्ध आत्मा का विद्रोह २४-५
का संतुलन ४५-६
की शांति ४५
के रूप पांच तत्त्वों से बने हैं ८०-१; की रचना किस तरह २३८-४१, ८१८; की रचना का उद्देश्य २५६, [२३९]
और विज्ञान ८२, ८९, २३७
और चेतना ८६-८, ८९, २३७, २३८, २४१-२, ७१४, ७२३; और चित्-शक्ति २५७

और प्राण ८७-८, १८६, २३४, २३५, २३६, २४५, २४७, २४८-९, २५९, ७७६, ८१७, ८३९ दे० 'प्राण' भी
ही आधार है १८९, ६९५, ७१४
अन्न है (उपनिषद्) १९३
एक अभिशाप धर्मों में २३५
अवास्तविक और असत् २३७
का सत्य २४१-२, ६५६-७
और आनंद २४२
को छोड़ देना २४५-६, २५४
आत्मा के आगे तीन मूलभूत विरोध उपस्थित करता है: अज्ञान, यांत्रिक विधान [तामसिकता] और विभाजन एवं संघर्ष २४६-५०; इनका मन-प्राण पर प्रभाव २४८-५२
में ऐक्य की दो ही विधियां २४९
'जड़त्व के सूचक पहलू २५६
का ऊपर उठता हुआ—अधिक घन से कम घन की ओर—सोपानक्रम २५८
अवरोहण का अंतिम, तो आरोहण का पहला पद भी है २६१
में सब तत्त्व अंतर्लीन २६१
और देश ३५९
आधारभूत वास्तविकता नहीं ६४५, [६५६-७]
का पूर्णज्ञान में स्थान ६५६-७
में एक रूप चेतना ७०२
प्रथम सत्ता के रूप में ७६९अ
के नियम को अभिभूत कर सकती है भीतर और ऊपर से आनेवाली क्रिया ७८०
के लिये आदर-भाव ९६८
(दे० 'मन-प्राण-जड़' तथा 'ऊर्जा' (असीम), 'प्राण' (जीवन), 'मन', "मिथ्यात्व . . .', 'लोक', 'सत्य' भी)
जड़वत् २३२, ९८३
जड़वाद २२, २६, ८५, १७५, ४३६-७, ७१९, ७३३-४
की सेवा १३
आधुनिक, और ज्ञान की ओर प्रगति १५-८
भारतीय दर्शन में ८१अ
जड़वादी २१७, ४७९, ४९७
प्र० १, अ० २
का क्षेत्र आसान ९
का सबसे सबल तत्त्व: अज्ञेयवाद ११
का आधार-वाक्य मनमाना ११-२
-काल १३-४
-दृष्टि १९, ४६७, ८६९, १००६-७
का दावा निराधार १९-२१
के निष्कर्षों को दूरतक ले जायें तो . . . २१-२
(दे० 'आंतरिक जीवन' भी)
जड़ शक्ति १७५, १७६, २४६-७, २५८
जन्म १८७टि०, ५५६, ८३३, ८३६, ९९४
नये व्यक्तित्व में ५१३
पृथ्वी पर, एक भूमिका मात्र ६६४-५
मानव, विकास में एक क्रांतिक पर्व ६७६, ७७०अ
, जीवन और मृत्यु ७३२-३, ७४२
[व्यक्तित्व] का अतीत और भविष्य ७३३-४, ७४७, ७५०
और अंतरात्मा [व्यक्तित्व] : के बारे में तीन व्याख्याएं जड़वाद, मायावाद और बौद्ध सिद्धांत की ७३५-७, के बारे में आधुनिक विचार और पुराने सिद्धांत ७३८-४४, ७५३-४
-ग्रहण की आवश्यकता ७४७, ७९७
एकाकी आविर्भाव नहीं हो सकता ७४७-८
मानव, में दो तत्त्व: आध्यात्मिक पुरुष और व्यक्तित्व की अंतरात्मा ७४८
मानव, अंतरात्मा के पुनर्जन्मों के लंबे क्रम का परिणाम ७५०-१, ८२५
मानव, पाकर भी क्या अंतरात्मा पशु जन्म में वापस जा सकती है? ७५१-२
-में मानव, का अनुक्रम क्यों, एक ही क्यों नहीं? ७५२-३, ७८५
और पुनर्जन्म विकास की दोहरी प्रक्रिया

८१४
'जीवन प्रत्येक, जड़ पर विजय का एक चरण ८१४
(दे० 'पुनर्जन्म' भी)
जादू ३२७, ३५७, ३६२, ६४४, ८५३
जीवन ५, ९, १०, १९, २१, २२, ३८, ४७, ४९, ५५, ५८, ५९, २०५, २१४, २२१, २७१, ६१७, ७३२-३, ७४२, ७४७, ७४८, ८०३, ८०६, ८१४, ८१७, ८४०, ९५०, १०२८
ग्र० २, अ० १६
की अर्थहीनता [व्यर्थता] की छाप २१-२, ५९, २५२, ४६१, ४६२, ६६०
के बारे में भारतीय विचार २५
पाशविक, मनोमय, उच्चतर ४७अ
उच्चतर, के बारे में मनुष्य की कल्पना और डार्विन का 'वानर' ५६-७
सच्चे, का आरंभ ७४, ६८८
पार्थिव, की उच्चतर संभावनाएं १६१, ४७८ दे० 'मनुष्य' भी
एक अशुभ है, भ्रम है १७७
के तीन रूप: भौतिक, प्राणिक, मानसिक २१०
का अभिप्राय [उद्देश्य, अर्थ, प्रयोजन ...] : २२१, ४७८, ६५८, ६५९, ६७०अ, ६७२, [६७३], ६७७, ७१७, ८१३, ९९५, १०२४, १०२७, निरपेक्षवाद में ६३३
तीन चीजों के बीच घूमता है २२५
की निचली गतियां और सम निर्वैयक्तिकता २२७
की उच्चतम अवस्थाएं २६९
हमारा, अनिश्चिति से पीड़ित ४११-३
-विमुखता के प्रबल प्रेरक तत्त्व ४१४
पर संगति और सार्थकता से विहीन होने का दोष ४१८
की पद्धति और तात्त्विक ज्ञान ६५८-९
के बारे में चार मुख्य सिद्धांत ६५९
के बारे में हमारा दर्शन ६५९
की विश्वातीत दृष्टि: ६५९-६०, ६६७-८, ६७०-१, उपनिषदों के वेदांत की ६६०-१
की वैश्व पार्थिव दृष्टि ६६१-३, ६६५-६, ६६९-७२
की अतिपार्थिव दृष्टि: ६६३-५, ६७०, ६७१, के तीन विशिष्ट गुण ६६५
व्यावहारिक, में तीनों दृष्टियों का मिश्रण ६६५
की इन दृष्टियों का समाकलन ६६८-७३
के चार युक्तिसंगत हेतु (प्राचीन भारतीय संस्कृति) ६६८-९
यही, सब कुछ नहीं है ६८७
पार्थिव, भली-बुरी अतिभौतिक शक्तियों के बीच युद्ध-क्षेत्र ७६५
की परिस्थितियां ७९५
-पद्धति हमारी वर्तमान ९५९-६०, ९६७, १०१२-३
और चेतना दे० 'चेतना'
अंतर्मुख, और बहिर्मुख सतही, दे० 'आंतरिक जीवन'
अज्ञानमय, का रस १०४५-६
मानसिक सत्ता का दे० 'विज्ञानमय जीवन'
(दे० 'आंतरिक जीवन', 'दिव्य जीवन', 'प्राण' (जीवन), 'भौतिक जीवन', 'विज्ञानमय जीवन', तथा 'जन्म', 'त्याग', 'प्रकृति', 'मानव-जाति', 'रूपांतर', 'विकास', 'विज्ञानमय सत्ता', 'संकेंद्रण', 'संघर्ष', 'सतही', 'सामंजस्य' भी)
जीवात्मा [जीव, व्यष्टि-भगवान्] १५०, ३६३, ४५०, ४७९, ५७१, ५७२, ६२२, ६७४, ७३६, ७९३, ९९६
अतिमानस की दूसरी एवं तीसरी स्थिति में १४८-९
का साहसिक कार्य: अज्ञान में डुबकी १५८, ५६०, [७४८], ७५७, १०४५ दे० 'चैत्य पुरुष' भी
का ऐकांतिक संकेंद्रण १६७-७२, १९१अ,

१९४
का व्रत २३६
और परमात्मा दे० 'भगवान्'
मानों एक यात्री, आरोही ९३८अ
(दे० 'आत्मा', 'अध्यात्मपुरुष' तथा 'पुनर्जन्म', 'मायावाद' भी)
ज्ञान १७, ३६, ३७, ५२, ५६, ६७, ८५, ९५, ११८, १२१, १३९, १५३, १५७, १६६, २३२, २७७, २८८, २८९, ३२४, ३२८, ३३१, ४६६, ४८८, ५१४, ६२३, ६३६, ६७०, ७०४, ७२९, ७९९, ८९८, ९०७, ९६३, ९६४, ९८४
अ० १, अ० ८; अ० २, अ० १०, १७
और शारीरिक इन्द्रियां ११-२; मानसिक और ऐन्द्रिय, की सीमाएं अनिवार्य नहीं ६३-४, २५९ दे० 'इन्द्रियां' भी
और जड़वाद १२-८
और तर्कबुद्धि १२-३, १२०-१
की ओर प्रगति १२अ, १५-८
भौतिक, और उच्चतम, १३; भौतिक, और अतिभौतिक ६४५, ७२१-२; भौतिक विषयगत, तात्त्विक लाभ का नहीं ७१९
और अज्ञेयवाद १४-५
सभी संभव, ज्ञेय है १५
तादात्म्य के द्वारा १४अ, ६३, ६५, २१५, ५१८, ५३७-८, ६३६, ६५१, ८४३, ९३०, ९६५, ९८७-८
एक होने की ओर बढ़ रहा है १५-६
का परम शब्द ४०
ही शक्ति और प्रभुता है ५८; के साथ शक्ति का आगमन ५२२, की सहजात शक्ति ९२५
अंतर्वस्तुओं का, अंतर्वस्तुओं के धारक के ज्ञान में समाया रहता है ६५
वेदांत के, का आधार ६५अ
विश्व का, आत्मा के ज्ञान द्वारा ६५अ, ५३८; विश्व का, भगवान् की ओर ले जायेगा ६८९
हमारे, की उच्चतम स्थिति ६६अ
अवचेतन और अतिचेतन में ६६, ५३७
की चयनकारी क्षमता ११५
और इच्छा [शक्ति] : १२४, १३०-१, १३२, १४५, १४६, २१७, २६५, ६२३, ७०४, ९५५, ९८३-४, विज्ञानमय चेतना और मानसिक सत्ता में १०१४-८
'ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय १३८, ४३६-७, ६२८अ
दूसरे मनुष्यों का १६९, २१५-६, ५२१, ५३०-१, ६४२
सच्चा २१५; उच्चतम ४६३
मनोमय प्राणी का : २४९, अपनी असीमता के बारे में २५१
बौद्धिक [मानसिक] : ३३०, [६९], ४३६, ४८२, ६७६, ६७७, ७२१, और देश व काल ५४७-८, और अहं ५४८, दे० 'भूत-वर्तमान-भविष्य', 'मन' भी
वह, सीखा नहीं जाता, उन्मीलित . . . ३६४, ६२७, [६४८], १०१७
विभेदकारक और एकीकारक ३७८-९
'समझना [जानना] किसी चीज को ४९१, [१७२], ५१५अ, ५२५, ७२१-२, ८४८
की गुप्त क्रिया, और सम्मुखीय अज्ञान की त्रुटियां एवं स्खलन ४००
का स्वभाव ४८४, ५९१
एकमेव का, और बहु का ४८४, ४८५
अतिचेतन और कालिक ४९९
-प्राप्ति की चार विधियां : शुद्ध रूप में तादात्म्य द्वारा ५१८, ५३७-९, घनिष्ठ संपर्क द्वारा ५२८-३७, पृथगात्मक प्रत्यक्ष संपर्क द्वारा ५१८-२१, ५३९-४०, पूरी तरह पृथगात्मक [परोक्ष] ५२१-५, ५३०-१, ५४०-२, ५४४-५, ५४७-८, ६०८
अपनी आंतरिक गतियों का ५१८-२१, [६५]
हमारा सतही, ५१८, ५२३-४, ५२५-६, ५३३-४, ५९१, ६०३-९ दे० 'ज्ञान'

(अंतस्तलीय) भी
बाहरी जगत् का ५२१-३, [६४]
हमारा स्वयं अपने बारे में ५२३, ५४८-९
के इस परिसीमन और अपूर्णता का कारण ५२३-४, उसका इलाज ५२५
त्रिविध (उपनिषद्) ५३९
'मानसिक कथन वस्तुओं के बारे में ५९१
में स्वयंभुत्व ५९२
का विकास ६०४-७
के विकास में भ्रांति का हस्तक्षेप ६०७-१०; की खोज में भ्रांति और आत्मनिष्ठता ६४२अ
की खोज में अहं का तत्त्व ६१०-१
की खोज में मिथ्यात्व का प्रवेश ६११-२
की ओर मुड़ने का चिह्न ६२७; की प्राप्ति का चिह्न ६७६
से हमारा मतलब ६२७, ६७६, ६७८
मुक्तिदाता ६३०
का सत्य, और जीवन का सत्य ६५०, ६५८-९
जिस, तक हमें पहुंचना है ६७६-८
की खोज की तीन श्रेणियां : मनुष्य, भगवान् और प्रकृति ६७८-९, ६९२
में पूर्ण हो सकने से पहले अज्ञान में प्रतिष्ठित होना होता है ६८३
'हमारी सभी खोजों का पहला स्वरूप ६९०
उच्चतम, में ही अधिकतम एकत्व ६९१
और मान्यताएं ७६३
जो गुह्यवाद का क्षेत्र है . . . ८४८-९ दे० 'गुह्यज्ञान', 'गुह्यवाद' भी
उच्चतम, की ओर बौद्धिक उपगमन ८६४
की विज्ञानमय पद्धति ९६५-६, ९८८-९
'जानना नहीं, होना उद्देश्य ९८८
'गलत ज्ञान ४०७, ६१९
(दे० 'आत्म-ज्ञान', 'वास्तविकता एवं ज्ञान', 'सत्य' तथा 'अंतर्भास', 'अज्ञान', 'अतिमानस', 'अहं', 'प्राण', 'भगवान्', 'भूल', 'मन', 'सतही' भी)

ज्ञान (अंतस्तलीय)
आंतरिक गतियों का ५२७-९
जगत् और दूसरे मनुष्यों का ५२९-३२
निर्वैयक्तिक शक्तियों का ५३२, ५९६
आनेवाली या दूर की घटनाओं का ५३२
और सतही [परोक्ष] ५३०-४, ५४९-५०, ५५३-४
का मुख्य लक्षण ५३३
विश्वभावापन्न : चेतना के पक्ष में ५३५-६, ऊर्जा के पक्ष में ५३६-७
और शुद्ध रूप में तादात्म्य द्वारा ज्ञान ५३७

ज्ञान (आध्यात्मिक) ४८२, ५३९-४०, ५४५, ६५१, ८७२, ८७३, १००३

ज्ञान (पूर्ण) [समग्र, सर्वांगीण] ३३१अ, ४४९, ५१५, ६२७, ६२८, ६३८, ६५०
ग्र० २, अ० १५, १६
ब्रह्म का ६३०, ६३४
में अभिगमन के लिये महत्त्वपूर्ण चीज ६४३अ
की मांग ६४४-८
का मतलब ६४७-८
कोई बौद्धिक ज्ञान नहीं ६४८
विकास द्वारा ही प्राप्य ६४८
के हमारे सिद्धांत में मन-प्राण-जड़ का स्थान ६५६-७
में आत्म-ज्ञान, जगत्-ज्ञान और ईश्वर-ज्ञान का एकत्व ६८१-२
(दे० 'दर्शन' भी)

ज्ञानमय मन [ज्ञानात्मक मन] १९८, ५११, ५१२

ज्ञानात्मिका इच्छा [ज्ञान-इच्छा] १४५, १७६, १९०, ४९१

ज्ञानोन्नति-विरोध ७, [२७७, ६४३]

त

तंत्र [तांत्रिक] ८४, २६२, ८२५, ८६३

तप ८, ५२९, ५७४

तपस् २३८, ५६३-४टि०, ५६६, ५६७, ५७३, ५७५, ५७६, ५७९, ५८१
तपस्या ५६४टि०, ७०५, ८९३, ९१४
तमस् [तामसिकता] २३५, २३८, २४७-९, २५०, ३१०, ६११, ८२४अ, ८९४
(दे० 'बुद्धि' भी)
तर्क २२, १५०, ३२३, ३२६, ३२७, ३७४, ४५८, ४८६
अनंत का ३२३, ३२९, ३३५, ३३६, ३३९, ३४०, ३५७, ३७५, ४६९
का काम ३४०अ
त्याग [परित्याग, छोड़ना, बच निकलना . . .] २५, ५५, ६२०, ८९३, १०४४
जीवन [जगत्] का २४, २५, ३८, ४९, १४४, १७७, २१७, २३६, २५२, २६८, ३९६, ४०४, ४०५, ४१३, ४८१, ६१८, ६६०, ६६९, ६९०, ७१७, ७२९, ८२१, ८४६, ८६९, ८७०, ८९५टि०, ९६८
किन-किन चीजों का मन, प्राण और भौतिक सत्ता में से ९१४
त्रिक [त्रिपुटी]
ज्ञान, प्रेम, इच्छा, आनंद और आत्मा की ३१६
(दे० 'अतिमानस' भी)

द

दर्शन [दृष्टि, दर्शन-शास्त्र] १०१, १०३, ११९, [१५०], २२६, २३७, २८५, ३२३, ३५६, ३९३, ४०६, ४१३, ४६३, ४६५, ५६३, ६९१; ८७३
'तत्त्वज्ञान [तत्त्वमीमांसा] ६२, ६९, ७०, १७९टि०, ९०६
शुद्ध तत्त्ववादी, आदर्शवादी और लेखक की ११७
'तत्त्वदार्शनिक विभेद ३८३
जो संभवन को अपने-आपमें पर्याप्त मानते हों ६५१-२
विश्वातीत निरपेक्ष को माननेवाले ६५२
जो परात्पर तक नहीं पहुंच पाती ६५३-४
जो केवल विश्व को स्वीकार करती और व्यष्टि को वैध ऊर्जा का उत्पादन मानती है ६५४
द्वैतवादी और आस्तिक ६५४अ
जो मन या प्राण को एकमात्र वास्तविकता या प्रधानता देते हैं ६५६ [११६, ६४५]
जो आत्मा और जड़तत्त्व में विच्छेद करती है ६५७
जो निश्चेतना को सच्चा उद्गम और स्रष्टा मानती है ६५८
-यों सभी, के वैध तथ्यों को पूर्ण ज्ञान स्वीकार करता है लेकिन . . . ६५८
'तत्त्वज्ञान और जीवन-पद्धति ६५८-९
-में और धर्मों की विविधता का रहस्य ६९०
'परिकल्पना जो जड़ में आत्मा के अंतर्लयन और विकास को पार्थिव सत्ता का महत्त्वपूर्ण सूत्र मानती है ७४४-५
आध्यात्मिक ८४७अ, ८४८, ८४९, ८५६, ८६५
का काम ८४९ [८६५]
पश्चिम में ८६६
पाइथोगोरियन, स्टोइक और एपीक्यूरियन ८६६
ईसाई और नवप्लैगन ८६६
(दे० 'जीवन', 'पुनर्जन्म' भी)
दिव्य
और अदिव्य ग्र० २, अ० ४
अभिव्यक्ति है सब कुछ, से हमारा मतलब ३९०
है हर चीज अपने-आपमें क्योंकि . . . ३९१-३, ८१५
दिव्य आत्मा १५९
ग्र० १, अ० १७
का जीवन अपनी सत्ता, ऊर्जा और आनंद में १५२
का 'उपस्थिति' में सतत निवास १५३

को एक और बहु की युगपत् अभिज्ञता १५३-४
अतिमानस की त्रियेक स्थिति से अवगत: सब का आत्मसत्ता, आत्मारूप और व्यष्टिरूप में दर्शन १५५
के संबंध अन्य रूपों के साथ १५६-७, [१५२, १६५]
के संबंध परम आत्मा और वैश्व भगवान् के साथ १५७-८
का यह स्वरूप चरितार्थ कैसे हो १५८
और विभाजन १६५-६
दिव्य जीवन ८, २८, ४२, ४३, ५०, ५५, ६१, ७४, १५१, ३६४, ३७०, ३८४, ४१६, ४८०, ६३०, ६७३, ६९२, ७१३, ७१८, ७२९, ७३०, ७३१, ९४६, ९४८, ९९७, १०४४
ग्र० २, अ० २८
का लक्ष्य ५५
को पा सकने के लिये [शर्त] १४४, १५८, २६७, ७२८, १०००, १००४
क्या ऐसा संभव है? १५९-६१, २९१
और अदिव्य जीवन ३८६-८, ३९६
के तत्त्व और उपादान ३८८
में विकास ९९७-८
आंतरिक, और सिद्ध दिव्य जीवन ९९८-९ दे० 'अंतस्तलीय सत्ता' पर्याप्त भी
में हमारी पहली तल्लीनता १०००-१, १००२, दूसरी तल्लीनता १०००-१, तीसरी आवश्यकता १०१०
है सत्ता, चेतना, शक्ति, आनंद में पूर्ण होना १००३-४
का आधार १००८-९
से हमारा मतलब १००९
(दे० 'विज्ञानमय जीवन' तथा 'आंतरिक जीवन' भी)
दिव्य प्रकृति १२४अ, [५९९]
की विशेषता ४०७
की प्रतिकूल चीजें ४०७, [३८९]
(दे० 'पराप्रकृति' भी)
दिव्य मन २४०
और प्रज्ञान १६४
और जीव-मन १६६
दिव्य माया १५९, १६३, ४८३
ग्र० १, अ० १३
की जरूरत सृष्टि-प्रक्रिया में ११५-६
और निम्नतर [मानसिक] माया ११६, २१५
या कि मानसिक माया [मन] जगत् का स्रष्टा ११६-२१
(दे० 'माया' भी)
दुःख-कष्ट [दुःख-दर्द, कष्ट] ४८, ५०, ५२, ५३, ५८, ५९, २५०, २५२, २८९, ३८८, ४००, ४०३, ४०४, ४०५, ४१५, ४८१टि०, ८०१, ९६३, ९९३, १००४; पीड़ा ५७, ९२, २५१, ४०२, ४०३, ५९७
क्यों सच्चिदानंद के जगत् में ९२-७
और सुख का कुल योग ९२
अग्नि-परीक्षा है ऐसा कहें तो ९३
अशुभ का परिणाम व दंड है ऐसा कहें तो ९३
और आनंद ९७, १७२, १७३, ४०२, ४९०, ९७० दे० 'आनंद', 'सुख' भी
'पीड़ा प्रकृति का एक साधन १०७
'पीड़ा का उन्मूलन १०८-९
का स्वरूप व उसकी जड़ [कारण] १०९, [५९], ४०२, ५९२, ७७२, ९७०
के उन्मूलन को जो चीज रोकती है ३८९, [९१९]
शारीरिक ५९२, ९७०
भीतरी, का कारण ९५५
बाह्य जीवन में, का कारण ९५६
दुर्बलता ९७०
और शक्ति १५७, १७३, ४०२, ४०३, ४०५, ४९०अ

(दे० 'अक्षमता' भी)
दूरबोध २०, ५२९, [५३२]
दूसरे [अन्य, और] दें० 'अज्ञान' अपनी सत्ता, 'आत्मा', 'आध्यात्मिक मनुष्य', 'एकत्व', 'कर्म-फल', 'चैत्य पुरुष', 'ज्ञान', 'ज्ञान' (अंतस्तलीय), 'दिव्य आत्मा', 'पूर्णता', 'पृथक्ता', 'मुक्ति', 'विज्ञानमय सत्ता'
देवता [देव] ४७, ५७, १२४, १५१अ, १५६, २६५, २८२, २८५, ३५१, ५४६, ५९५, ६८२, ७६३, ७६६, ७६८, ७७०, ८२४, ८५४, [९९४]
देश और काल ७५-६, ७७, १३४-६, ३००, ३५८-६२, ४७७, ५०४, ५०६, ५०९-१०, ५४७
चेतना की हर स्थिति के लिये अलग-अलग ३५९-६०
'आध्यात्मिक देश ३६०
'देश ५५७-८
(दे० 'काल' भी)
द्रव्य [पदार्थ] २४४-५, २५४, २७१, ३०४, ३३९, ४५२, ५०९
ग्र० १, अ० २६
का पंचभूतों में वर्गीकरण (सांख्य) २५६
का स्थूल से सूक्ष्म की ओर चढ़ता हुआ सोपान २५६-७
की सूक्ष्मतर, श्रेष्ठतर अवस्थाएं २५७-८, २६३, ७६५
प्राण लोक में २५९; मन में २६० दे० 'मन' भी; अतिमानसिक २६४, [२३९]
सूक्ष्म, स्थूल से अधिक शक्तिशाली २६०अ
की चढ़ती क्रम-परंपरा हमारे भौतिक जीवन पर कैसे असर डालती है २६१-४
ऊर्जा में अंतर्निहित ३०६
सत् की अभिव्यक्ति है ३०६ दे० 'जड़तत्त्व' और सत्पुरुष भी
चेतना का ९२२-३
निर्ज्ञान का और अतिचेतना का ९४३-४
(दे० 'अतिमानस', 'इन्द्रियां', 'रूप' भी)
द्रष्टा ८३५, ८३६, ८६८, ९२९
वेदांती ३६
वैदिक १२५, २६० दे० 'ऋषि-मुनि' भी
दिव्य १३७
प्राचीन २६५
द्वंद्व ३४, ५२, ५९, ६०, १०५, १६०, २०९, २५२, ४०५, ९८०, ९८३
अहं और, ग्र० १, अ० ७
सुख-दुःख, मिथ्या-सत्य आदि के २२६, २२७
'दोहरे पद २८९
द्वैत ५५, ३१३, ३४६, ३५७, ३५९, ३९०, ३९७, ४४१, ४८०, ४८९, ४९०, ६३२, ६५४अ
आनन्दमय १४९
इसलिये भी जरूरी ३४९अ

ध

धर्म [मत] २०, २८, २३५, २५४, २८५, ३९३, ३९५, ४०६, ४१३, ६०१, ६१४, ६१८, ६८९, ६९१, ७१३, ७२७, ७३४, ७८४, ८४७, ८४८, ८६९, ८७३, १०३८
'मत, शरीर के पुनरुज्जीवन का ८०९
का लक्ष्य ८४९
का प्रयोजन ८४९; का उपयोग ८५२
के विकास की प्रक्रिया ८५०-५, भूतकाल में ८५५-६१
का दावा ८५०-१
का सच्चा कार्य ८५१, ८६०-१
का विकास भारत में ८५१-२, ८५९-६१
की भूल-भ्रांतियां ८५२, [८५०]
कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट ८५८
से व्यक्ति की मांग ८६०
पश्चिम में ८६६
टिकाऊ ८६७
ईसाइयत ८७०टि०, १०२९

ने मानव जीवन को नहीं बदला १०३५-६
(दे० 'दर्शन', 'व्यक्ति', 'सामुदायिक जीवन' भी)
धर्म [विधान] दे० 'विधान'
धातु ८६, ८७, १८०, १८३, १८४, ५८१, ६९९, ७००
ध्वनि ८०, ८१, २७५, ४७७

न

नकार
या विपरीत तत्त्व भगवान् के दे० 'भगवान्'
नयी चेतना ८९०-१, ८९९, ९१४, १०३२
रूप लेने लगती है ८९८
नयी धरती [नया स्वर्ग] ४७९, ८३३, [८७६]
नर और नारी तत्त्व ३५५
नाम ३३७अ
नास्ति ४९, २५८
और अस्ति ४१०-३, ५९३
नास्तिकवाद १४
'नास्तिकता के युग ६७९
निःस्वार्थता ६२०, १००८
निद्रा [नींद] ८६, १८४, ४१८, ४१९-२४, ४४६, ४४८
स्वप्नहीन ४२०-१, ४४७टि०
-जीवन ४२२
अंतस्तलीय का द्वार खोल देती है ४२३
(दे० 'स्वप्न' भी)
निम्न प्रकृति [निम्न सत्ता, निम्नतर] २१६, ४३८, ५९९, ६२३, ९८२
को अपने भाग्य पर छोड़ देना ३८
का हठीला प्रतिरोध ९१३, ९१९-२०, ९४०-१; में प्रतिरोध और पुनरावृत्ति की शक्ति ९२५-७
अगर तैयार न हो तो . . . ९१५अ
जीवन के आनंद के अपने ही तरीके से चिपकी ९१९
की अपनी परिपूर्णता ९२० दे० 'विज्ञानमय सत्ता' में महत्तर भी
के विरोध पर विजय पाने के लिये . . . ९२०, ९२७
का उच्चतर में उठाया जाना संभव ९२३
को उठने और रूपांतरित होने में अधिकाधिक उच्चतर हस्तक्षेप की आवश्यकता ९४०
नियंत्रण (अपने-आप पर, अपनी संभूति पर) ५०८, ५१९, ५२७, ५२८, ७१०, ७२५, ७२६, ७२८, ८४२, ८४३, ९१०, ९११, १०१७
मानसिक ६१७, ६१९, ८८३, ८८४, ८८६, ९८३, ९८५
चैत्य दे० 'चैत्य पुरुष'
(दे० 'अधिकार', 'प्रभुत्व' तथा 'प्रकृति' (जड़ भौतिक), 'प्राण', 'बुद्धि' भी)
नियति ७९८, ८००
मानव प्राणी की २०२, २५२, २७२, ६५६, ७९५, ९९५
विकसनशील चेतना की ६९७
हमारी, आध्यात्मिक १०१४
(दे० 'प्रकृति', 'मानव जाति' भी)
नियम ३२८, ३३०
की जगह बृहत् अंतस्थ सत्य ३३१
प्रकृति के ३५२-३
विरोधों का ३७२, ३७७-८, ३८०
धार्मिक सदाचार का ३३२अ, ६२१
(दे० 'नैतिकता' भी)
निरपेक्षता
समस्त, शुद्ध आनन्द है ९१
की ओर पहला कदम है : प्रामाणिकता ५९१
का चिह्न नहीं, अपरिमेयता ५९७
है स्वयंभुत्व ५९८
निरपेक्षवाद ६२८-९, ८४६
और प्राचीनतम वेदांत ६२९-३०
निर्गुण-सगुण दे० (भगवान्) 'ब्रह्म'

निर्ज्ञान ७४५, ७४६, ७४७, ९२५, ९२७, ९३६, ९९६
और रूपांतर ९४३-५
के नकारों के पीछे एक गुह्य सत्य ९४५
(दे० 'निश्चेतना' तथा 'द्रव्य' भी)
निर्दिष्ट [निर्देशन, निर्धारण] ३९८
विश्व के, और आद्य अनिर्दिष्ट या अनिर्देश्य २९९-३०१, ३१३-१४, ३२३, ३३३
सामान्य, और अनिर्दिष्ट ऊर्जा ३०१-२
का मूल सत्य या तात्पर्य क्या है ? ३०२
सामान्य [आधारभूत], और विशेष, ३०२, ३०६, ३०९अ
-ों का स्रोत ३१२, ३१७, ३१८
आधारभूत, आनन्द, चेतना और सत् के ३१६
आधारभूत, और इन निर्देशनों के निर्देशन ३१६
-ों से स्वाधीनता ३१८
निर्माण [गढ़ना, ढालना] २२९, ५८४, ७६८, १०२९
फिर से [पुनर्निर्माण] २३३, ३४८, ६१७, ६२३, ८९९, ९२२, ९९८, ९९९-१००१
'आत्म-निर्माण ४७८, ५२७
निर्वाण [आत्म-निर्वापण] २५, ३१अ, २७८, ३१९, ३९०, ४०६, ४१८, ४४५, ४५७, ५६१, ५७२, ६३६, ६६०, ६८६, ७३६, ८९५टि०
और 'परम आनन्द' ५०
से और भी आगे यात्रा ४६४-५, [२७९]
निर्वैयक्तिकता [निर्व्यक्तित्व] २२६-७, २७७, ३४६, ३४७, ८८८
और क्रियाशीलता २३१-२
(दे० 'कर्म', (भगवान्) 'ब्रह्म' भी)
निष्क्रियता दे० 'कर्म', 'नीरवता', (भगवान्) 'ब्रह्म'
निश्चेतना [निश्चेतन] २१३, २१४, २१५, २३८, २४७, २५८, २८०, २८७, २८९, ३०६, ३०८, ३२०, ३४३, ३५१, ३८७, ३८९, ३९८, ४७५, ४७८, ४८३, ४९२, ५११, ५१३, ५४४, ५४५, ५४९, ५५५, ५८१, ६०७, ६२८, ६३५, ६३६, ६३९, ६५३, ६७३, ६९६, ७१५, ७३६, ७४५, ७६०, ७६७, ७६८, ७७०, ८१३, ८१५, ८३६, ९१४, ९२०, ९२५, ९३३, ९४४, ९५१, ९६७, ९९३, १०१६
चेतना की एक अभिधा है १००, २८९अ, ३५२, ४७२, ४८९, ४९१, ५८१, ९९६अ दे० 'चेतना' भी
से भौतिक विश्व का आरंभ २९८, ३४३, ४७५, ४७७, ४७८, ७६८; से विकास का आरंभ ६५५-६, ६५८, ६७४-५
एक अनिवार्य अवस्था ३०५
गुह्य प्रज्ञा के कार्य करती है ३०६, ४०१, ५४३, ८१३, ९९७
के पहलू का सत्य ३१९-२०
और अतिचेतना ३२०, ५४२-३, ६३३, ६३५, ६३९, ९९३, ९९६, १०१४
के बालक हैं हम अपनी बाहरी सत्ता में ५८२, [६०७]
वही ऐकांतिक एकाग्रता है ५८१, ५८२
अपना रूप फिर से कैसे पा सकती है ५८२
का रूपांतर ६१८अ, ६९४, ७१५, ९३६-७, ९४३-५, ९५१, ९६७
'निश्चेतन, सचेतन और अतिचेतन ६३३
का काला ड्रेगन ६५८
की प्रतिरोध-शक्ति : विचारों और भावों के स्तर पर ९२६, निचले स्तरों पर हृदय, प्राण और शरीर में ९२६-७
और अधिमानस ९३६-७
के ढांचे को अन्यथा वे उच्चतर शक्तियां रह कर विश्व-व्यवस्था को विक्षुब्ध कर देंगी ९४४
(दे० 'निर्ज्ञान' तथा 'चेतना', 'भगवान्' भी)
नीरव आत्मा दे० 'आत्मा' (नीरव)
नीरवता [निश्चल नीरवता] ३१०, ३४६,

४१८, ६३०, ९२७, ९७२
की अनुभूति २९, १००७ दे० 'अनुभव' नीरव भी
और शब्द २९, ७३, १५४
और क्रियाशीलता २८-९, ३२, २३१-२, ३३२, ३३६-७, ३४४, ३९८, ४५३-४, ५६८-९ [९५७]; 'सचलता और निश्चलता ५०१, ५१५
में प्रवेश ३५५, ३९१
में आत्मा से अभिज्ञता [अनुभव] ४९७अ, ५०१, ५१५अ, ५५५, ८४२, ८९२
(दे० 'मन' अचंचल भी)
नेति नेति दे० 'भगवान्'
नैतिकता [नीति] ६१६-७, ७०५, ७९९, ९७८, ९८६
'दुःख और अशुभ की नैतिक समस्या ९२-७ दे० 'शुभ और अशुभ' भी
'नैतिक नहीं भौतिक एवं पाशविक प्रकृति ९५
सच्ची, का आरंभ ९५
का प्राथमिक उत्स ९६
विकास-क्रम में एक अवस्था ९६-७
तीन स्तर ९६-७
'नैतिक सहजबोध ६०१
'सच्चा नैतिक मानक ८०१
'विधान के अभाव में अव्यवस्था . . . ९८५
(दे० 'नियम' तथा 'विज्ञानमय सत्ता' भी)
न्याय ३८१, ७९६, ७९९, ८०४

प

पतन [स्खलन, च्युति] ४९, ५२, १४९, १५८, १६७, १६८, १७१, २७३, २८४, २८९, ३८८, ३८९, ४००, ४०६, ५८४, ६५५, ६६५, ७५६, ८४६, ९८४
पदार्थ दे० 'द्रव्य'
परमाणु १८३, १८५, १८७, १८९, २०२, २०४, ३०१, ४०१, ५८१, ७०२
-ओं का विसंघटन १६७, २३५, २३८
'पारमाणविक जीवन २०७
'पारमाणविक सत्ता २४०-१
पराप्रकृति [अति-प्रकृति] ३५३, ३५५, ६८९, ९५४, १०२०
का कार्य, और हमारी निम्न प्रकृति ६२३
की ओर, वर्तमान स्थिति से, संक्रमण की शर्त ९०६-१३
विज्ञानमय, की क्रिया-शक्ति का स्वभाव ९७९-८०
कहते हैं इसे हम १०१२
का अंतर्जात लक्षण १०१४
'आध्यात्मिक प्रकृति में विकसित होने की आवश्यकता १०२२-३
विज्ञानमय, और हमारे मानक व मूल्य १०४१-२
(दे० 'दिव्य प्रकृति' भी)
परिचेतन सत्ता [परिसर] ५०६, ७२५, ९४२, ९४३
परिमाण ७३, ७६, ३०६
परिवर्तन ६९४
मानव जीवन में ४१४
निम्नतर का, उच्चतर मूल्यों में ७१७, ७१८
(दे० 'रूपांतर' तथा 'प्रकृति' (बाहरी), 'सामुदायिक जीवन' भी)
परिस्थिति ७९५
परोपकार [परहित, लोकोपकार] ४१४, ५४८, ६२०, ६८६, १००८, १०२५, १०४२
पशु ४२, ४७, ६०, ८७, १७८, १८७, ३०२, ३०९, ५५२, ५८२, ६९५, ६९९, ७०५, ७२१, ७२४, ७५१, ८१३, ८१८, ८३९, ९०८, १०१९
की क्रियाओं में प्रयोजनशीलता ८८
में अहंभाव ५१२
में नैतिक अशुभ का बोध नहीं ५९९-६००
ज्ञान के दो स्रोतों पर आश्रित ६०४-५
मानव बुद्धि की तैयारी करता है ७०३
मृत्यु के बाद ७३९अ

(दे० 'अंतर्भास', 'मनुष्य', 'विकास' भी)
पाप
'आदि पाप १५८, ४०६
और पुण्य ५८८, ६००, ६०१, ६१८, ७८४, ८०१, ९७८
पारलौकिक जीवन ७७३-४, ८४५, ८४६, ८७२, ८८२, [९०९]
पारस्परिकता २०१, २०७, ३७०, ५९३, ९८०, ९९०, १०१९
'अन्योन्याश्रय २८७
(दे० 'एकत्व' भी)
पिशाचवत् २३२
पीछे हटना [पीछे हटकर खड़े होना] ३०९, ३४८, ३५५, ५०१, ५०८, ५२०, ७२९ ८९२, ८९३, ९६८
पुकार (आध्यात्मिक) ८९१, ९०७, १०२८, १०३७
और अन्य दावे ६२१अ
हमारी जो होनी चाहिये ७१७-८
पुनर्जन्म (अंतरात्मा, जीव का) १८७टि०, ४२३, ५४९, ५५६, ६८७, ८१५, ८२१, ८३१
ग्र० २, अ० २०, २२
अनावश्यक या भ्रामक जिन सिद्धांतों में ७३६-७
के बारे में विभिन्न सिद्धांत ७३८-४४
अनिवार्य यंत्र ७४४
विकास की एक युक्तिसंगत आवश्यकता ७४४-५४
और आध्यात्मिक विकास ७४४, ७५२-३, ७८४-५, ७९१, ८०३-४, ८०६, ८०७, ८१४, ८२१
तुरंत या पुनर्जन्मों के बीच अंतराल होने और अन्य लोकों में जाने की आवश्यकता ७८३-९२
के बारे प्रचलित मान्यताएं ७८४, ७९३-४, ८२१
और कर्मफल ७९३-८
का प्रयोजन ८०३-४
और अतीत व्यक्तित्व ८०४-६, [७८६, ७९१]
और विगत जन्मों की स्मृति ८०६-९
(दे० 'जन्म' तथा 'चैत्य व्यक्तित्व', 'बौद्ध-धर्म', 'मायावाद' भी)
पुरुष ७१, १०२, १६५, २४०, २६६, ३५५, ३९०, ४३५, ६८६
-त्रयी की मांगें और हमारी प्रकृति की सामर्थ्य २१७
-शक्तियां हम में २२८
और व्यक्तित्व २२८, ३६६-८, ७३५-६
जगत्-सत्ता के साथ जब एकात्मरूप ३६६-७
(दे० 'आत्मा', 'आध्यात्म पुरुष', 'प्राणमय पुरुष', 'भौतिक पुरुष', 'मनोमय पुरुष' तथा 'भगवान्' के तीन भी)
पुरुष [आत्मा] और प्रकृति ९, ४६, ५२, १०२, १४१अ, १७९टि०, २१४अ, २८१, ३१३, ३२२, ३३२, ३४६, ३९७, ४४१, ५१५, ५८१, ६३६, ७९७, ९८२
का विभाजन १६४, ८९२
सांख्य दर्शन में ८३, ३४८-९, ६३७
'प्रकृति के कार्य और पुरुष की स्वीकृति ३१०, ३४७, ३४८, ३४९, ३५०, ३५३, ३५४, ३८९, ३९७, ३९८, ४०८, ५१९, ५३१, [५८१], ७९७, ८९२, दे० 'सहयोग' भी
विवरण ३४७-५१
के अनुभव का महत्त्व ३४७-८
'पुरुष प्रकृति के अधीन ३४७, ३४८, ३५४
'पुरुष प्रकृति का ईश्वर ३४८, ३५०, ७०६, ७९७, ८९२अ
'पुरुष से हमारा मतलब ३५२
पूर्णता ३८, ५६, ११३, ११८, १६०, १६२, २०१, २१८, ३६८, ३८७, ३९०, ३९१, ६७१, ६८६, ६९०, ६९२, ६९४, ७०५, ७२०, ८५०, ९५५, ९६८, ९९८, ९९९,

१००३, १००४, १००५, १०१४, १०२८, १०३५
क्या है ३९२
वैयक्तिक, पहला कर्तव्य १००९
दूसरों के साथ संबंध की १००९
का आदर्श : तीन प्रवृत्तियां १०२४
का मर्म १०२६
यथार्थ, तभी १०२८
(दे० 'अपूर्णता' भी)
पृथक्ता [पार्थक्य, अलगाव] १४०, १६१, १७०, १९२, २८२, २८६, २८८, ३९२, ४००, ४६०, ५७३, ५७९, ५९३, ५९४, ६२७, ७२९, ७३०
वैश्व सत्ता से, साथी मनुष्यों से २१५-६
सत्ता का संभूति से ५१९ . . .
(दे० 'विभाजन' तथा 'मन' भी)
पृथ्वी [धरती] १७८, १८३, १८९, २५६, २५८, ३०२, ६४९, ६५०, ६६२, ६७१, ६७२, ६७३, ७५५, ७६९टि०, ७७०टि०
'पृथ्वी-तत्त्व ८१
'पार्थिव संभूति का अभिप्राय ६७३
(दे० 'उदाहरण' भी)
पृथ्वी-शक्ति २५८, ६३५
प्रकाश ४, ६६, २११, २३२, २५२, २७८, ३२९, ३९१, ६१२, ७२३, ८९०, ८९४, ९१५, ९२७-८,९४४, ९५२, ९६५अ; ज्योति २१९, ४७७, ४७८, ८९८
(दे० 'उच्चतर चेतना . . .' भी)
प्रकृति ९, ३८, ७९, ८२, ८८, १०२, १०३, १२९, १६५, २५७, ३२५, ३४०, ३५१, ३५५, ३९८, ४०१, ५८१, ६१६, ६६१, ६७७, ६७८, ६७९, ६८८, ६८९, ८०९, ८३०, ८३१, ८३६, ८३७, ८३९, १०२८, १०३७
प्र० २, अ० २, १७
और विसंगतियां ४-५
और भगवान् ४६ [३३७] दे० 'भगवान्' भी
के कार्य में अपव्यय ८९
पर नैतिक अर्थ आरोपित करना ९५
में हर चीज बुद्धि के काम करती है १३७, [५८१] दे० 'निश्चेतना' भी
में विभाजन और संयोजन २०२-३
की वैश्व प्रक्रिया की व्याख्या २९९-३०८, ४२८अ
में व्यवस्था और मनमानापन ३०२-३
की नियति और विचार ३०४
का मूलतत्त्व : आधारभूत एकत्व ३३९, [९९१]
के नियम और उच्चतर हस्तक्षेप ३५२-३
से स्वतंत्रता चित्-शक्ति के द्वारा ३५५ दे० 'स्वाधीनता' भी
की पद्धति ५४८-९, ६०७, ६९३-४, ७१७, ७१८, ७२७, ७३१, ७५०, ८२९, ८४०, ८५०, ८५३, ८५६, ८५७, ८९९अ, ९०५अ, ९३८, १००२
का लक्ष्य [अभिप्राय, इरादा . . .] ६३५, ६५२, ६७५, ८३८-९, ८६०, ८७५-६, ९९७, १००३
और पार्थिव आदर्श ६६६, [७०८]
नाम हम जिसे देते हैं ६७७
का ज्ञान ६८९
हमसे जिस चीज की आशा करती है ७१८
की जटिल गति, और सिद्धांत ७५२
की सभी ऊर्जाओं का अपना परिणाम ७९५-६, ७९८-९
में जीवन की एकात्मता ७९५
हमें उसी रूप में लेती है जैसे हम हैं ८०२
के हर आमूल संक्रमण पर एक उत्प्लव ८२६
से पराप्रकृति में गमन ९०६-१३
के कदम निश्चित भूमि पर ९१६अ
में चीजों को बने रहने का अधिकार ९२६

जैसी, वैसा ही उसका परिणाम १०१२-४
(दे० 'दिव्य प्रकृति', 'निम्न प्रकृति', 'परा प्रकृति', 'मानव प्रकृति', 'पुरुष और प्रकृति', तथा 'अतिमानस', 'गुण', 'ज्ञान', 'मनुष्य', 'शुभ और अशुभ', 'संभूति', 'सहयोग', 'होना' भी)
प्रकृति (जड़ भौतिक) ४५, ४६, २१२, २१३, २४८, ६८०, ९६८
पर नियंत्रण ३७८अ
प्रकृति (बाहरी)
में असंगति, भीतर आत्मा प्रदीप्त २३२, दे० 'अंतस्तलीय सत्ता' पर्याप्त, 'दिव्य जीवन' आंतरिक, 'स्वाधीनता' आंतरिक भी
की शुद्धि ८९०
का परिवर्तन ९४१-२
प्रक्रिया ३२८, ३५२, ४९५, ७९६
बाहरी, द्वारा जगत् का पुनर्निर्माण १००१
बाहरी, को सारतत्त्व में मानने की प्रवृत्ति १००२
(दे० 'जगत्', 'प्रकृति', 'विकास' भी)
प्रज्ञान [प्रज्ञान चेतना] १४२, १४३, १८४, २४०, २६५, २६६, २६८
और आधारभूत विभाजन १६४-५
की अंतिम क्रिया १६४अ
और मन दे० 'मन'
(दे० 'अतिमानस' भी)
प्रतिभा २७७
प्रतिमा ७६८
प्रतीक ४२५, ४२६, ७६८, ८५७
प्रधान १६
प्रभुत्व [स्वामित्व] १९२-३, १९४, २१०-१, २१४, २१५, २३०, ६२२, ६४४, ६७५, ६७६, ७२०, ८८४, ८९३, ९०७, ९०९, ९४४, ९६६, ९६८, १०१७-८
(दे० 'अधिकार' भी)
प्ररूप [प्रारूप] ८१७, ८१८
उच्चतर, का सृजन ७१३
वहां अपनी पूर्ण स्वाधीनता, स्वाभाविक पूर्णता और सामंजस्य तक पहुंच सकेंगे ७७२
अपने प्रतिमान के प्रति निष्ठावान् रहता है ८१५-६, ८२८
-ों का विकास ८१८
के अंदर की विशिष्टताओं का परिवर्तन ८२५
प्रसन्नता १०४४
प्राण [जीवन] ९६, १७४, २३४, २३९, ४७६, ४७८, ४९०, ७५८, ७६०-१, ७७५, ८१७, ८३७, ८३९
ग्र० १, अ० १९
जड़ (भौतिक) में अंतर्लीन ५, १८६-७
का प्राकट्य १७६, ७०२; का आविर्भाव अतिभौतिक स्तर से अवतरण द्वारा १८६
है क्या १७६-७, १८९, १९०
और वैश्व ऊर्जा [वैश्व सृजनकारी शक्ति] १७७-८, १८१, १८२-३, १८५-६, १८९, ७६१
और चित्-शक्ति १८१, १८५, १८७-८, १९०, १९१, २२१, २२२, २३८, २६७
और मृत्यु दे० 'मृत्यु'
से साधारणतः मतलब १७८-९, १८८
वनस्पति में १७८-८१, १८३-४
जड़तत्त्व [धातु] में १७९-८१, १८४ दे० 'जड़तत्त्व' भी
का चिह्न : उद्दीपन के प्रति अनुक्रिया १७९अ, १८०-२; का चिह्न : जन्म, वृद्धि, मृत्यु १८६, १८७
सभी जगह, गुप्त हो या प्रकट १८०, १८७; [शरीर के कोषाणुओं, पशुओं, वनस्पति में ८६-७
मृत में १८१, १८२
आहार है १८३, १८६
मध्यवर्ती शक्ति [भूमिका] १८५-८, १९०
प्राण [व्यष्टि-प्राण] ४६, २१३, २५०, २५७, ३०९, ५४४, ६०३, ६८५, ७९७, ८१८, ८८९, ९१३, ९१९, ९३२, ९४१, ९९७, १०४३

ग्र० १, अ० २१, २२
की आत्मपूर्ति २८, ४६, २०५; की विज्ञानमय परिपूर्ति ९६६
का मूल स्वभाव व स्वरूप १८९, १९१-२, २०९
और मन दे० 'मन'
की सीमितता का कारण १९१
की सीमितता के तीन चिह्न : मृत्यु, कामना, असमर्थता १९३-८, २४९
में स्वामित्व का आवेग १९२-३, १९७; में वृद्धि के लिये आवेग १९५अ, १९७
के दो काम १९३
का प्रारंभिक विधान १९५, १९८
क्षुधा है १९५
की प्रथम अवस्थाएं : विभाजन, अवचेतन इच्छा, असमर्थता २००, २०७
की मध्यवर्ती अवस्थाएं : मृत्यु, पारस्परिक भक्षण, क्षुधा . . . २००-२, २०७; और डार्विन का सूत्र २०१
की तीसरी भूमिका : प्रेम, साहचर्य २०१-७
की चतुर्थ भूमिका २०८, २१९
के प्रथम, दूसरे, तीसरे, चौथे चरण २२०-१
की समस्या का पूरा समाधान २०७-८
और शरीर २१६ दे० 'शरीर' भी
का आरोहण दिव्य आनंद का आरोहण है, २२१
दो हमारे अंदर २२२
जब उभरता [जागता] है २४७, २४८, ६५७, ६९५, ७०२, ८२६, ९०२
मनोमय लोक में २६०
को मार देना ३२८अ
'प्राणिक अहं वंचक ५२६
पर नियंत्रण ५२८, ६१४अ, १०१७-८
का आत्म-प्रतिष्ठापन : और ज्ञान ६१०, और अशुभ ६१३-६, ६१९-२०
में सत्य और शुभ के लिये भी वैसा ही आवेग ६१४
का सहारा जरूरी ६१५
का पूर्णज्ञान में स्थान ६५७
का उत्तरजीवन तभी संभव ८१०
का तत्त्व पृथ्वी नहीं, वायु है ८८५
जिसे खोजता है ९६६
में सत्ता का आनंद ९६६, ९७१, ९७३ दे० 'आनंद' भी
(दे० 'मन-प्राण-जड़', 'मन-प्राण-शरीर' तथा 'आत्मा', 'शुभ और अशुभ' भी)

प्राणमय पुरुष [प्राण-पुरुष] १६९, २१७, २२२, २५५, ३५०, ८८३, ८९२

प्राण-लोक दे० 'लोक'

प्राणवाद ७१९, ७४०, ७४२

प्राण-शक्ति १८१, २१७, २१८, २५३, ५५२
'प्राण-ऊर्जा का पदार्थ २४४
'प्राण-ऊर्जा तामसिक ८२५
(दे० 'रूप' भी)

प्राणिक मन १६८-९, [३०९], ४११-२, ४१३
आंतरिक ७०९

प्राणिक मनुष्य [प्राण-पुरुष] ५२६, ७०८-९, ७१२, ८८५
और भौतिक जीवन ७०८अ
की उच्चतम तीव्रता ७०९
का स्वभाव ८८५
और मानसिक मनुष्य १०१६
का रस १०४६

प्रेम १५७, १९६, १९८, २०१-२, २०४-५, २०५टि०, २०६, २०७, २२०, २२१, २३१, २४८, ३१६, ३५१, ८८९, ९४४, ९६६, ९७४, ९८६, १००८, १०२२
'भागवत प्रेम ९६१; 'भागवत माधुर्य १५८

ब

बर्बरता १०४४
का सभ्य प्रत्यावर्तन १०२९-३०, उपचार १०३०

बल १९२, ३१७
बहु [बहुलता] २०८, २३९, ३७०, ३९९, ४००, ४७०, ४८५
की अवधारणा इसलिये कि . . . १४९
और अज्ञान ५७१-२
से हमारा मतलब ५७४अ
अपना औचित्य तभी पा . . . ६३४
(दे० 'एकत्व' भी)
बहुत्ववाद ३३६
बालवत् २३२, ९८३
बिंब ४२५, ४२६, ७६७, ७७३, ७८८
बुद्धि [तर्क बुद्धि, मानसिक बुद्धि] ११, ५६, ५७, ६९, ८९, १२०, १७६, ३४८, ३७०, ३९४, ४६२, ५२०, ५२६, ५८६, ६०४, ६०५, ६०७, ६७९, ६८०, ६९८, ७०१, ७०४, ७०६, ७३३, ७५३, ८५२, ८५५, ८५८, ८६४, ९१०, ९२४, १०२३, १०२८, १०३०, १०३२
का स्वभाव [प्रवृत्ति, विशेषता] १०, ७०, ४६८, ४६९, ४८६, ६०७, ७३३, ९०८
-परक अवधि की उपयोगिता १२-३
और इन्द्रियां २१, ६१-२, ४२५, ४६७, ५२१-२
और लोकोत्तरता ५७
व्यावहारिक, की भूल ५७अ
मिश्रित और शुद्ध ६१-२
विशुद्ध ६९, ७४, ७६, ७७, ३५६
की धारणाएं संपूर्ण सत्ता को संतुष्ट नहीं करतीं ६२
द्वारा पाये जानेवाले सत्यों तक अनुभूति द्वारा पहुंचने के साधन उसी शरीर में ६५, [१५]
और अंतर्भास ६६-७१, ७८, ३३०, ३३१, ९३१, ९३२; और अंतर्भास का संघर्ष शंकर के मायावाद में ४५६
मध्यस्थ मात्र ६६; मध्यवर्ती अवस्था ६०७
का काम ६६, ३४०अ, ८६५
और देश व काल ७५
'बुद्धि-तत्त्व ८१
, और हर चीज में रहनेवाली बुद्धि १३७अ, [३२९-३०], ५१३
की खोज जगत् के मूल में १७६
की असमर्थता स्वयंभू की विधि का पता लगा सकने में ३२६-३२
और अवयौक्तिक प्राण ३२८अ
और अतिबौद्धिक चीजें ३२९; और उच्चतर सत्य ३७०-२, ३७६, ४६३, ४६९, ४८६, ४८७
उपयोगी और रोड़ा भी ३६४-५
और निरपेक्ष के विरोध—बुद्धि की तिहरी भूल ३७२-८३
को, मनुष्य को, क्यों विकसित करना पड़ा ५२२
तामसिक, राजसिक और सात्त्विक ६११-२
'बौद्धिकता का युग ८५०, [८५८]
'बौद्धिकता के युग के बाद आंतरिक आत्मान्वेषण की ओर प्रवृत्ति ८५४अ
को भी आलोकित और संतुष्ट करना होता है ८६४-५
का आध्यात्मिक विकास में सहारा ८६४-५
का आध्यात्मिक अनुभूति पर आलोचनात्मक नियंत्रण ८६५, ८६६
द्वारा अपनी सत्ता को नियंत्रित करने का प्रयास ८८३-४, ८८५-६
के द्वारा सद्वस्तु की ओर उपगमन ८८७-८
(दे० 'मन' तथा 'अनुभव', 'उच्चतर चेतना', 'उच्चतर मन', 'ज्ञान', 'भगवान्' भी)
बौद्ध धर्म [बौद्ध, बौद्धमत] २४, ३६, ५०, ७८, ३९०, ४८१, ६०६, ६६०, ७४०, १०२९
का रूपक नदी का, ज्वाला का ७८, ५०५
और कर्म ४३७
और आत्मा ४६२, ५०१, ५०५, ७३६
और पुनर्जन्म ७३७टि०, ७४१
में वैश्व करुणा ८७०टि०
ब्रह्म लोक २५, २६०

भ

भक्त [भगवान् का प्रेमी] २२६, ८६८, ८८९, १०२०

भगवान् [अनंत, ईश्वर, निरपेक्ष, ब्रह्म, सत्, सच्चिदानंद . . .] ४, ९, ४०, ६८, १५१, २०९, ३२२, ३८६, ४५७, ४६२, ४७२, ६६१, ६७०, ७३६, ८७४, ९९५, १००२, १०२६

ग्र० १, अ० ४, ९; ग्र० २, अ० १, २, ३, ६, १५, १७

और भौतिक अभिव्यक्ति [जगत्, विश्व . . .] ४, ८, १९, २६, २८, २९, ३२-४, ३७-८, ४३-६, ५९-६०, ७९, ९०-१, ११०-५, १२०, १४३-६, १५९-६१, १७५अ, २२१, २४५, २६५, ३१३-४, ३३३, ३४०-१, ३९५-९, ४५३, ४७०, ५१५, ५८६-७, ६३४, ६५२-४, ६५५-६, ६७३; की जगत् में उपस्थिति के लक्षण ३०४-५; का शासन ३५२-३, ३९५-९

अनिर्वचनीय [अनिर्देश्य, अपरिभाष्य] है १४, ३२, ३५-६, ७६अ, ७९, १२६, १२८, ३२२-४, ३३३, ३७४, ६२९, साथ ही प्राप्य भी ७७, ६५१

[सत् . . .] और शक्ति [चित्-शक्ति] १७, ८२-४, ९०अ, ११४, २११, २३८, ३०६, ३१३, ३१४, ३४६, ३५३-६, ३९८, ५३७, ५६५-६

की इतियां और नेतियां ३२-३, ३५, ३१२अ, ३१८-९, ३२२अ, ३७५-६, ३७७, ६३०, ६३१, ६५१

और भगवान् को नकारती चीजें, भगवान् के विपरीत तत्त्व (अशुभ, अज्ञान, पीड़ा . . .) ३३-४, ४८-५१, ५२-३, ९२, २०९, ४७७, ५८९-६२३, ९४४अ, दे० 'अपूर्णता . . .', 'मृत्यु . . .' भी

का एकत्व ३५-७ दे० 'एकत्व' भी

का एकत्व और विभिन्नताएं दे० 'एकत्व'

एक और बहु दे० 'एकत्व'; एकत्व और बहुत्व दोनों से परे है १२६, १५०, ५७२

के पास पहुंचने के लिये [की प्राप्ति के साधन] ३६, ४२, ४५, ४६४, ४७०-१, ६९०-१, ८४५, ८८८, ९६१

को जानने के लिये ३६, ३७, ६१, ३३१, ४९७अ, ६८१-२, ८७२; के बारे में अति-मानसिक ज्ञान और हमारा ज्ञान ३१५-२१

के एक पक्ष पर जोर देना बाकी सब को छोड़ देना ३६, १५०, ३३१-४१; के बारे में तीव्र ऐकांतिक दृष्टि और व्यापक दृष्टि ६२८-३२

की स्वतंत्रता ४१, ८४, ९०, १५०, ३१८, ३३३-४, ३४७, ४६०, ७७५, फिर भी नियमों और प्रक्रियाओं के अनुसार काम ३५२-३

की आंतरिक स्वाधीनता और बाह्य रूपायण ४२

विवरण ४४, ७८अ, ९०, ९०अ, ३५०-१, ३६३अ, ६५१, ६५४, ६८८अ, ६९१

का अवतरण और आरोहण ४५-६; का छिपना और उभरना ११०, ५८४; की निश्चेतना में डुबकी [२८९] ४०८, ७४५, ७६०; के अवरोहण में सात तत्त्व ६५५-७

और अहं ५४-५, ७१, १०९, ३९९, ६८२; पर व्यक्ति की निर्भरता और अहं ३५७

तांत्रिकों और मायावादियों का ८४; प्रचलित धर्मों का ३५१

विश्व से इतर ३९, ९२-४, ३०४-५, ३९५; 'व्यक्ति रूप देव १३३

का आत्मानंद ९०-१, १००; आनंद-प्रभु १९९, आनंद-ब्रह्म २२०; आनंद है २६७, ३२४; भागवत आनंद ९६१ दे० 'आनंद' भी

ही खेल, खिलाड़ी और खेल का मैदान १०३, ३०५

सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् हैं १३१, १४६

जिसे हम कहते हैं १३३, [३९], १४६,

३७३, ५५४, ६७९, ६८८; की हमारी धारणा ६९१
और जीवात्मा १४८, १४९, १५०, ५६०-१ दे० 'आत्मा' भी
की असफलताएं १९८
और मानव जाति २११-२
के चतुर्विध तत्त्व २२१; 'दिव्य-चतुष्टय और जड़-प्राण-अंतरात्मा-मन २६५-७
की खोज २५१, ३९१, ६८६-९२
में आत्म-सीमांकन की शक्ति २७० दे० 'अनंत चेतना' भी
'आत्मा ही सब चीजें बन जाती है ३१८, [३२४-५], ३४०, ६८९
जिसे जानकर सब कुछ जाना जाता है ३१८, ४६५, ६८९
और तर्कबुद्धि ३२३-४, ३२६-३२; की सभी क्रियाओं में एक महत्तर युक्ति ३२९; का गणित ३३८
की तीन अभिधाएं—आत्मा, पुरुष, ईश्वर ३२४-५, [३१६], इनमें और माया, प्रकृति, शक्ति में कोई असंगति नहीं ३२५-६, ३५५-६; की दो अभिधाएं— सत् और संभूति ६५१-२; की तीन स्थितियां—विश्वातीत, विश्व और व्यक्ति ६५३ दे० 'व्यक्ति' भी
के विरोध: ३२६, [११०, २९९], और विरोधों का नियम ३७७-८२ दे० 'बुद्धि' भी
एक ही साथ सारतत्त्व, समग्रता और बहुत्व है ३३१-३
की क्रिया का स्वभाव ३३३
में चेतना की द्विविध या बहुविध क्रिया की क्षमता ३४१, ३५४अ, ४८९ दे० 'अनंत चेतना' भी
'पुरुष-रूप में से पुरुष-युगल का आविर्भाव ३५५
की सत्ता की सत्ता हैं हम ३५५, [९१], ६७६
मेरे अंदर, मैं भगवान् में ३७२
को भारतीय ब्रह्म और यूरोपीय निरपेक्ष कहते हैं ३७३अ, [३२४]
सर्वदा शुद्ध, पूर्ण, आनंदमय, अनंत रहता है ३९०
की इच्छा के रूप में जानना हर चीज को इस शर्त पर कि . . . ३९३-४
की निचली तीन भूमिकाएं (उपनिषद्) ४४७
को नकारना ६७९-८०; की रचना मनुष्य ने की थी ७६६अ, ७७०
की जरूरत मानव विचार को ६८०, [२९९]
, मनुष्य और प्रकृति तीनों का एकत्व ६८०-२, ६८८, ६९१-२
का राज्य ८३३ दे० 'नयी धरती' भी
के प्रति पहला जागरण ८५२
के साथ प्रत्यक्ष संपर्क ८८७-९०, ८९४, ९२१
की उपस्थिति का अनुभव ८९७, अपने हर स्पंदन, हर कोषाणु में ९५४ दे० 'अनुभव' भी
को देख सकना, सुन सकना, स्पर्श कर सकना ८९८अ, ८९९, ९६१
'अनंत का घावा ८९९
का लक्ष्य ९६२
'परात्परता में रहना १००४, १००५
(दे० 'अनुभव', 'आत्मा', 'इच्छा', 'उपस्थिति', 'एकत्व', 'केंद्र', 'चैत्यपुरुष', 'दिव्य आत्मा', 'मन', 'मनुष्य', 'सत्य' भी)
(भगवान्) अज्ञेय ११, १९, ३०, ३५, ३६, ४४, ४५, ३१३, ३२३, ५६१, ५६३, ६३२
से हमारा मतलब १४, ५६१
एकदम अज्ञेय भी नहीं है १४-५, ३२३, ५६३
'अज्ञात अज्ञेय नहीं है १५
(भगवान्) अनंत
और सांत ११३, १६३-४, १९४, ३२८, ३३६, ३३८-९, ३७५, ३७६, ३८२, ३९९, ४५९, ४६०, ४६८, ४६९, ४७०, ५२५,

६२८, ६३८, ६५२
अनंत न होगा अगर . . . २७०
से हमारा मतलब ३३८
(दे० 'तर्क' भी)
(भगवान्) असत् २७, ३४, ३६, ३७, ४९, ५०, १६२, ३१३, ३२०, ३४३, ४३७, ५६२, ६३५, ६५३, ८१३
और सत् दे० नीचे (भगवान्) 'सत्'
से हमारा मतलब ३०, ५६१
निम्नतर ४९
(भगवान्) एकमेव ३१, ३७, १२८, २८२, ३२६, ४८४, ८१२
(भगवान्) कालातीत ४९७
अव्यक्त और कालिक अभिव्यक्ति [कालातीत शाश्वतता और काल-शाश्वतता] ३५७-८, ३९७अ, ४५१, ४५२, ४६०, ४७२, ५०५-६, ६२८, ६५२
से हमारा मतलब ३५८
(भगवान्) तत् ११, ७६, ४६४, ५६३, ६५३, ६७४
और आध्यात्मिकभावापन्न मन ८८८
(भगवान्) निरपेक्ष ७६-७, १५३
और सापेक्ष ७७, १५५, ३२४, ३२६, ३३५, ३७२, ३७३-५, ३७७, ३८१, ३८२अ, ६८९
इस अर्थ में अनिर्देश्य है कि . . . ३१४, [७६अ], ३३३
की अनिर्देश्यता . . . ३१७-८, ३३३
से हमारा मतलब ३७३
(दे० 'संबंध' भी)
(भगवान्) परात्पर १९, २४, ५३
निरपेक्ष इस अर्थ में कि . . . ४१
(दे० 'व्यक्ति' भी)
(भगवान्) पुरुषोत्तम २९७, ५०१अ, ५६९
(भगवान्) ब्रह्म ८, १९, ३५, ५८, ८२, २०९, २२०, ३२२, ३८६, ४३५, ५४६, ६४९, ६७४
निष्क्रिय और सक्रिय २८-९, २३१, ४५३, ५६५, ५६६-८, ५६९, ५७०; की निश्चल नीरवता और क्रियाशीलता ३३२, ३३४, ३३६-७
अक्षर, २९, १२५, २९७, ३२६, ३३६, ३३९
और माया ३३-४, ११६, ३१३, ३४५-७, [३५३-६], ५६०, ४३८-४५, ४८५, ४८८-९
'सर्वं ब्रह्म ७२-३, १४०
निर्गुण और सगुण १३३, २३१, २८३, ३१२, ३२५, ३२६, ३३४, ३४४, ३५१, ३७६, ३८३
'सर्वं खल्विदं ब्रह्म ३२४-५
वैयक्तिक-निर्वैयक्तिक २३१, २८१, २८३, ३५०, ९७४अ
सोपाधिक-निरुपाधिक ३७५, ३७६, ३८२, ३८३
अरूप और रूपयुक्त ३३७-८
चतुष्पाद है (उपनिषद्) ४४५-७, ५४६
का, ज्ञान और अज्ञान दोनों में युगपत्, ज्ञान अमरता का मार्ग (उपनिषद्) ४९९-५००, ६३०
(दे० 'जड़तत्त्व' भी)
(भगवान्) सच्चिदानंद ५०, ५८, ९४, १२५, १२८, १४१, १४३, १५३, १५९, २४२, २६५, ५५५, ५६३
की अभिव्यक्ति रूप है हर चीज ९१, ११२-३
का त्रिक १२६
'सत्-चित्-आनंद का प्रतिवाद २५२
'सत्-चित्-आनंद का अनुभव अधिमानसिक या मानसिक ज्ञान में, और अतिमानसिक ज्ञान में ३१५-७
की त्रिपुटी ६५६
(दे० 'अतिमानसिक ज्ञान', 'अनुभव', 'जगत्', 'मन-प्राण-जड़' भी)
(भगवान्) सत् [शुद्ध सत्] ६७, ७२,

१२८, ३५१
और असत् २९-३१, ३६, ३७, २४३, २८९, ४३७, ४७२, ६३९
निरपेक्ष है ७६-७, ८४, ९१
और चेतना दे० 'चेतना'
और संभूति ७८, ७९, ३२६, ६३०, ६३४, ६५१-२, ६५२-३, ६६१, ६९२
सचेतन कि अचेतन ८३-४
और शक्ति दे० ऊपर 'भगवान्' [सत्]
और गति ७४-९
(दे० 'ऊर्जा' (असीम) भी)
(भगवान्) सर्व ७३, १६४
प्रत्येक में, प्रत्येक सर्व में: ११६, १२९, ३२१, और सर्व भगवान् में ३७०, ४७१, [१४१]
भागवत चेतना [दिव्य चेतना] ५००
और सृष्टि-लीला १४३-४, १४५-६, दे० 'भगवान्' और भौतिक अभिव्यक्ति भी
की क्रिया मानव प्राणी की तरह एक ही स्थिति या रूप से बंधी नहीं १४६
की विजय मन-प्राण-शरीर में १६१
(दे० 'अनंत चेतना' भी)
भारत ११, ४१३, ८५१, ८५९
प्राचीन ६१८, १०२५
(दे० 'धर्म' भी)
भारतीय ज्योतिष ७९८
भारतीय दर्शन ६९
भारतीय दार्शनिक ७०, ४७९, ७१०
भारतीय भौतिक वैज्ञानिक ८७, १७९
प्राचीन ८०
भारतीय मानस [मनीषा]
प्राचीन ८२, २७१, ६७६
भारतीय विचार २५, ८८, ६६५, ७४०, ७४३टि०, ८२१, ८२४
भारतीय संस्कृति ६६८-९
भाव (भावावेग) ५८, ६३, ८८०, ८८१, ८८९, ९२६
(दे० 'हृदय' भी)
भाव (विचार) ११७, १२९-३०, ३३४, ७५८, १०१५
निर्धारित करनेवाला १३४
की शक्ति ९२५-६
-में के पुनरावर्तन का अधिकार ९२६, [४२०]
(दे० 'अतिमानस' भी)
भाषा ३०, ३१, ३४, ५१, ७७, १५०, ३२३, ३३५, ३५६, ३७०, ३७१, ३७२, ३७४, ९०५
(दे० 'वाणी', 'शब्द' भी)
भूत (प्रेत) ८८२, [६८९]
भूत [अतीत] १९४, १९७, ३६१, ५१०, ५७७
भूत-वर्तमान-भविष्य ७७-८, १३४, ५७७, ९९५
तीनों को एक ही दृष्टि में देख ... १३५, १३८
और आत्म-स्मृति ४९६
और मानसिक ज्ञान ४९८, [५०९-१०], ५४७
के बारे में हमारा अज्ञान दे० 'काल' कालिक अज्ञान
(दे० 'काल' भी)
भूल [भ्रांति, भूल-भ्रांति] ५०, ५६, ५८, १०२, ११६, १४९, १५०, १७०, १७२, २४८, २५२, २८८, ३७३, ३९०, ४३०, ५८९, ६१९, ८४४
अ० २, अ० १४
सत्य की परिचारिका १४, ४०३, ५६३ दे० 'सत्य' भी
तब आवश्यक हो जाती है २८९; का हस्तक्षेप ६०७-१०
की रचना, कारण, स्रोत ४०७, ४२७, ४८७, ४८८, ५९१, ६०८, ६१२, ९६५
और अंतस्तलीय सत्ता ५२८, ७६३
मिथ्यात्व नहीं ६१०

से नये ज्ञान के द्वार खुल सकते हैं ६१०
के लिये अचेतन इच्छा ६११, ६१२
आंतरिक आत्मनिष्ठ अनुभव में ७६३
धर्म में ८५०, ८५२
आध्यात्मिक अनुभव में ८६५
और विज्ञानमय सत्ता ९८४, [९६५]
भोक्ता ३५१
, भोग, भोग्य १४१
भोग १४२, २८९, ४१२, ७४६
भोजन ९६८
भौतिक जीवन [शारीरिक जीवन] ८, ३९, २०४, ३५७, ४७४, ६७२, ७०९
अधिक अभिजात २६३-४
'भौतिक अस्तित्व के साथ तल्लीनता ७१८-९, ७२७, [७८०] दे० 'जीवन' की वैश्व पार्थिव, 'मनुष्य', 'शरीर' भी
(दे० 'द्रव्य' भी)
भौतिक पुरुष २१७, ८८४-५, ८९२
'अन्नमय पुरुष २५५, ३५०
भौतिक मन [देहस्थ मन] १६९, १९१, ४१७, ६४२, ७०७, ७०८, ७६८, १००२
और वास्तविकता ४११, ४१३, ७६२, ७६९
ही अगर होता, यह प्राणिक तत्त्व न होता, तो . . . ४१२
भौतिक मनुष्य ७०७-८, ८८४-५, ८९२, १००७
भौतिक सत्ता २६१, ३२८, ५४३, ५५१, ६९८, ८८३, ८९२, ९६९
दोहरी हमारे अंदर २२२
भौतिकीकरण
और अभौतिकीकरण २२९टि०
भ्रम [विभ्रम, भ्रांति] ८५, १७७, ४२७, ४४१, ४५१, ४७५, ४८८, ५००, ५०५अ, ७४२
आकार, मात्रा, गुण, परिमाण का ७३
'वैश्व भ्रम ३९९, ४१३, ४४८, ४६६, ४८६
हैं मानव के सभी पार्थिव प्रयास ४१४-५
दो तरह के, मानसिक और दृश्य ४२६
पागल के ४३३
-रूप होते हैं तब या तो भगवान् या जगत् ५१५
(दे० 'मायावाद' भी)

म

मंत्र ९२५टि०
मंदिर (अंदर का, भगवान् का) ३९१, ५८४
मन [मानस, मानसिकता] ५, ९, १८, २०, २३, ३५, ६६, ७५, ८६, ८८, १०४, १४२, १४८, १५८, १५९, १६६, १७४, १७६, १८४, १८७, १८८, १९१, १९८, २०१, २०३, २०७, २१७, २१८, २६४, ३०४, ३२५, ३३५, ३३९, ३५२, ३६०, ४६३, ४६७, ४८२, ४९५, ५१५, ५४९, ५५७, ५५८, ६०३, ६०६, ६३५, ६४५, ६६९, ६७६, ६८५, ६९८, ७६०-१, ७७३, ७७६, ७९७, ८३७, ८३९, ८४६, ८७७, ८७८, ८७९, ९०७, ९१३, ९२९, ९८४, ९९७, ९९९अ, १०१६
ग्र० १ अ० १८, २८; ग्र० २, अ० ५
का स्वभाव, स्वधर्म, विशिष्टता, प्रकृति १०, ११८-९, १२५, १२७, १४५, १६२-३, २३०, २४०, ४८०, ४९८, ५८५, ६०६, ६३८, ७६६
की आत्मपूर्ति २८, ४६; की विज्ञानमय परिपूर्ति ९६४-६
सीमित, संकीर्ण है २९, ३०, ३१, ८३३, ९९६
अध्यात्मभावापन्न और जड़भावापन्न के प्रत्यक्ष दर्शन ३७
का काम [कार्य] ४५, ६६, १२७-८; का प्रयास ४७अ, २७७
ही एकमात्र इन्द्रिय है ६३, ६४
के बारे में भौतिक विज्ञान और भारतीय विचार ८८
और सृजन [सृष्टि] ११६-२०, १७४-५, २३७-८, २५३, ४२९, ४३०, ४३१-२, ४३३,

६३७-८, ६३९, ६९६, ७५८, ७६७-८, ७७५
मध्यवर्ती स्थिति ११६, १२७अ, ४२९, ८३३, ९९६; ही अगर सब कुछ होता ... ४८७-८, ४९८, ६३६; चेतना का अंतिम शब्द नहीं ९९६, ९९७, [७२२]
और ज्ञान ११८, १२७, २१०, ४३०, ४८२, ५२४, ५५६; और अनंत [सच्चिदानंद, निरपेक्ष ...] का ज्ञान १६३, १६६, १९५, ३१५-७, ३१८-९, ४९८, ६३२ दे० 'ज्ञान' भी
और सत्य ११८अ, १७०, २८६, ३५६, ४८९-९०, १०१४-५
और अतिमन [अतिमानस] १२३, १२६-८, १३८-९, १४२, १४४, १६७, १७४, १७५, १८९, १९०, १९१, १९७अ, २००, २०७, २४५, २६६, २६७, २७०, २७४-५, ५८५, ६३८, ८१६, ९०५, ९४८-९; प्रज्ञान [अतिमानस] की अंतिम क्रिया १७१-२, १७४, १७५, १९०, १९१, २३८, २४०, ६५७ दे० 'अतिमानस', 'आरोहण' भी
और पृथक्ता [विभाजन] १३०, १३९-४०, १६२-३, १६७-७१, १७४, २१८, २३८, २३९, २४०, २५२, २५३, २८७-८
और देश व काल १३४, १३६, ३६०, ५०९-१०
और अज्ञान १६३, २७४, ४५१, ४९८, ५६०, ८३२
और समग्रता १६३, [१२५], १६६-७, २१०, २४०
की मूलगत भ्रांति १७१
के बारे में हमारी धारणा १७४
और प्राण १८९, १९१, १९८, २००, २०९, २३८, २४५, २४८, ३०९, ५१९-२०, ५२६, ६१०, ६१३, ६९५, ७७६, ८३८, ८३९, ८८८, ९०२, १०१६; प्राणलोक में २५९
का इस सत्य की ओर खुलना कि उसके परे भी कोई चीज है २०२; को जिन चीजों के प्रति जागृत होना है ३१७
के लिये देना-पाना एक है २०५-६
का प्राण व शरीर दोनों से युद्ध २१६, २३५-६; को प्राण और शरीर के कारण बाधा २७४; का प्राण और शरीर पर अधिकार ८६१अ; प्राण और शरीर का ऐसा नेता है ... ८८६; की प्राण और जड़ के प्रति अधीनता अलंघ्य नहीं १०१७ दे० 'शरीर' की अभ्यासगत, 'सुख ...' भी
की असमर्थता २१६अ, ६३७-८, ६४२, ८८६, ९०२; के सामर्थ्य की सीमा २७५-६; ८१६, ८७१अ
की चित्-शक्ति २१७
दो हमारे अंदर २२२
और आत्मा के बीच बल की कोई समानता नहीं २३२ दे० 'आध्यात्मिकता' भी
और जड़ २३७-८, २४६, २४८-९, २५३, २५९
और पदार्थ [द्रव्य] २४४, २५७, २६०, ३१०
का पहला बीज २४३
जब जागता [उभरता] है २४७, २४८, ६५७, ६७५, ६९५, ७०३, ८२६
'मानसिक तत्त्व मौलिक २७४अ
में ऊपर से भेदन २७७
मानव : २८८, ३०२, ३०९, ३१५, ६९७, ८२९, ९०८, अनिश्चिति से पीड़ित ४११-३
और शरीर ३०७-८, ५२०अ, ५५२, ५७१, ९६७, ९७०
अचंचल, नीरव ३०९, [१७०], ५१६, ५५५, ८८८, ८९७, ८९८, ९२१
की क्रियाशीलता ३०९ दे० 'मनोमय पुरुष' भी
एक सामान्य निर्दिष्ट ... ३०९-१०
हमारा, और वैश्व मन ३१०
भगवान् के अलग-अलग पहलुओं को विरोधियों के रूप में ... ३५६, [२३०-१]
का निरपेक्ष के विरुद्ध विद्रोह ३७२-३

की तल्लीनता ४०० दे० 'आत्मलीनता' भी
के लिये किसी चीज की पुष्टि या प्रतिवाद करना . . . ४१०
का स्वरूप और विश्वमाया ४२९-३४
सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् नहीं ४३०
और भूलें ४३०
में कल्पना की क्षमता ४३१-३, [११९]; में गलत कल्पना एवं रचना का सामर्थ्य भी ४७३; की बिंब बनाने की शक्ति ७८८, [११९]
है जानने का प्रयास करता हुआ अज्ञान ४३३, ४९४, ५५८, ६३८, ८१३अ
वैश्व तत्त्व है, एक है, ब्रह्म है ४८०
भ्रम व अज्ञान की मां है ४८७
की क्रिया में चार तत्त्व ५०७-८
और चेतना दे० 'चेतना'
-ें दो, में मेल और अलगाव ५७१
का पूर्ण ज्ञान में स्थान ६५७
की तीन कोटियां ७०७-११, [१६८-७०]
का उपयोग, सामान्य और उच्चतर ७२०
पशु में और मनुष्य में ८४१
के विकास पर तब जोर न देना होता ८४५
और प्राण में ऐसी शक्तियां हैं . . . ८६१, ८६३
के द्वारा समाकलन ९१८-९
जिसकी खोज करता है ९६४, ९६६
के लिये सत्ता का आनंद ९६४, ९७१, ९७२
का अवलोकन और विज्ञानमय चेतना का अवलोकन ९६५
अगर अचानक अतिचेतना में स्थानांतरित . . . ९९६ दे० 'मानसिक चेतना' यदि भी
(दे० 'अतिचेतन मन', 'अतिमानस', 'अधिमानस', 'अवचेतन मन', 'आध्यात्मिक मन', 'आलोकित मन', 'उच्चतर मन', 'चिंतनशील मन', 'दिव्य मन', 'प्राणिक मन', 'भौतिक मन', 'वैश्व मन', 'मन-प्राण-जड़', 'मन-प्राण-शरीर' एवं 'मानसिक चेतना', 'मानसिक मनुष्य' तथा 'आदर्श', 'आधुनिक', 'इच्छा', 'वैश्वभाव', 'सामंजस्य' भी)
मन-प्राण-जड़ १६, २३, २८, ४५, १६४, २४७-९, २५२-३, ३४३, ६५५, ६५६, ७६०-१, ८४०, ९१६, १०१७
का परस्पर संघर्ष और समाधान २३५-७
सच्चिदानंद का ही रूप हैं २६६, [२४५]
भी वैश्व सत्ता के लिये अनिवार्य २७०-१
का अपने मूल से विभाजन २७३अ
(दे० 'अधिमानस', 'ज्ञान' (पूर्ण), 'संकेंद्रण', 'संघर्ष' भी)
मन-प्राण-शरीर ११७, १६०-१, १६८, ३२८, ५५८, ६८५, ८४२, ८४६, ८८६, ९०१, ९१५, ९२०
को जिस योग्य बनना है ११०-१
में चेतना और शक्ति के संबंध से मुख्य तीन कठिनाइयां और समाधान २१४-९
का परस्पर-संघर्ष २१६-८
सबल, पर चैत्य व्यक्तित्व कमजोर २२८अ
पर जड़तत्त्व के अज्ञान, तमस् और विभाजन का प्रभाव २५०-२
की ग्रंथि से मुक्ति और उनका दिव्य उपयोग २५३-४
एक अविभाज्य जड़पदार्थ, अविभाज्य प्राण, अविभाज्य मन के रूप हैं ५५७
का पुनर्गठन ८९९
पर आश्रितता नहीं, इनका अतिक्रमण १००४-५
की परिपूर्णता १००५ [६६९]
(दे० 'आत्मा', 'आनंद', 'त्याग', 'भागवत चेतना', 'वैश्वभाव', 'सामंजस्य' भी)
मनुष्य [मानव प्राणी, मानव अस्तित्व] १०६, १५९, २१३, ३८४, ४११, ५८२, ६६२, ६७७, ६७९अ, ६९०, ७०५, ७२०, ७४९, ७५१, ८३८, ८३९, ९४६
ग्र० १, अ० ६, २३; ग्र० २, अ० २३
भी एक प्रयोगशाला ६
का आदर्श एवं लक्ष्य ६, ३८, ४७, ५७,

[६०], ११०अ, १२२, २६७अ, [५८४], ६७५-६, ६७७, ८१९, ९९७, १००२, १०२७ दे० 'लक्ष्य' भी; का सच्चा कार्य ४४, २११ दे० 'कर्म' भी; को जिधर जागना होगा १११
की क्षमता [सामर्थ्य] १५, १७, ७०७, ८२९
की संभाव्यता [संभावना, शक्यता] ४७, ५६, १५२, २११-२, २५४, २६२-४, २७२, २८७, २९०, ३४८, ३७९अ, ३९४अ, ७७०
भूतकाल के २०
पूर्ण, यथार्थ २९, ३२, २१५, ४१४
का महत्त्व ३८
की मनुष्यता ३८; 'मानव सत्ता का धर्म ३९४
पशु, देवता और, ४७; देवता और, १५१अ
में असंतोष ४७, २५०-१, ७०६, ९६३ दे० 'असंतोष' भी
और भगवान् ४७, १९६, २५१, ६७८-९, ६८०-२, ६८९-९२
की पार्थिव सत्ताओं से श्रेष्ठता ६२, २३४, ३९३
'हमारे अंदर का वह द्वार जो परे के सत्य की ओर खुलता है ६७अ
अपने को विश्व का केंद्र . . . ७२, ७३अ, १७१
चाहता है आत्माभिव्यक्ति, आत्मविकास ९६, ११३
की अपूर्णता ११८, ३९३, ३९८, ७५३, ९९७; की अपूर्णता एवं जीवन के नाटक के प्रति आसक्ति ७७२
'हम स्वयं जो कुछ हैं १५१, १६२, १६५, ५४९, [६४६], ७२०, ७२२, ८०९, ९९७
में अवचेतन क्रियाएं १८४
की नियति दे० 'नियति'
अतिमानवता की ओर उस क्षण से २०२
की कठिनाइयां २१०-१, २१४-९
का अंतर्वेग २११, [२४८], २५१, ७०६-७
को दिव्य बनना होगा या अतिमानव के लिये स्थान छोड़ देना होगा २११, [२३४अ, ८३३]
की सामान्य अवस्था २१२, ३४८, ४९४, ५२३, ८४८
'हम अवचेतन और अंतस्तलीय द्वारा शासित २१४; प्रकृति द्वारा परिचालित ८८३
दो भागों में बंट जाता है: भीतर आध्यात्मिक, बाहर प्राकृतिक २३२
का ज्ञान २४९, २५१
का श्रम [प्रयास] २४९अ, २५०अ, ४०५, ४१४, ४७८, ४८२, ६७७अ, ७१४, ७१९, ८५०, ९०६, ९१४, ९४२, ९९९, १००१
परे देखने के लिये बाधित २५१
एक योग्य आधार २६५; पर्याप्त वाहन ८२४
और पशु २७५अ, ३७९, ५१३, ७०१, ७०४, ७०५अ, ७०६, ८२४-६, ८३०, ८४१, ८८३-४, १०१६; पशु में से विकसित ८१७, ८२४-८
उस सब को लिये हुए है जो उससे पहले गुज़र चुका है ३७९अ, ६९७, ७५८
कोई, केवल अच्छा या बुरा नहीं ३८०
का जीवन और स्वभाव जैसा-का-वैसा बना रहता है ४१४-५, ६१७, ८२०, ८७०
अधिकतर, और दिव्य उपलब्धि ४७९
'मानसिक सत्ता की परिभाषा ५५८; से साधारणतः हमारा मतलब ५७६
सामान्य, की पार्थिव दृष्टि में तल्लीनता ६६५-६, ७०८ दे० 'भौतिक जीवन' भी
साधारण और असाधारण: अतिपार्थिव और अतिवैश्व की ओर जिस तरह मुड़ता है ६६६, ६६७
का विधान है: विकास ६६८
का पहला काम ६७५, ६८२-३, ७१९, ७६८; की पहली तल्लीनता १०२८; की अगली महत्तर तल्लीनता १०२८
के विकास की अहंकारमय अवस्था ६८२-५
संक्रमणशील सत्ता है, विकास का अंतिम

शिखर नहीं ६९८, [३९५], ८३३, ९०९, ९४६; सृष्टि की पराकाष्ठा है ८१६, ८१९; विकास का अंतिम चरण है ८२१, ८२५
जंगली [आदिम], ७००, ८५३, ८५५, ९७०
तब प्रकृति का दास नहीं, स्वामी . . . ७०६
निम्नतम, भी मानसिक सत्ता है ७८६
की सत्ता जटिल ७८७
का विकास, और बाधाएं ८१३अ
और आत्म-अतिक्रमण दे० 'आत्म-अतिक्रमण'
का आविर्भाव विकास में निर्णायक पग ८३०, [४०७]
की प्रकृति को सचेतन सहायता ८३१ दे० 'सहयोग' भी
में आध्यात्मिकता की ओर प्रवृत्ति में चित्-शक्ति का आशय ८३३
स्वयं अतिमानसता तक क्यों न पहुंचे ८३४
अपने-आपको जैसा मानता है ८७९
का आत्म-प्रभुत्व ८८४ दे० 'प्रभुत्व' भी
का आविर्भाव चेतना की महत्तर ज्योति में ९११-२
सचेतन विकास का वाहक १०३४
(दे० 'व्यक्ति', 'सत्ता', 'आध्यात्मिक मनुष्य', 'प्राणिक मनुष्य', 'मानसिक मनुष्य', 'मुक्त मनुष्य' तथा 'अंतर्भास', 'उदाहरण', 'चेतना', 'जन्म', 'जीवन', 'ज्ञान', 'विकास', 'विज्ञानमय जीवन', 'संकेंद्रण', 'सतही', 'स्वाधीनता' भी)

मनोमय पुरुष ४७, १०३, १७०, २१७, २२२, २५५, ३१०, ३११, ३५०, ५२७, ७१०, ८०९, ८१०, ८२८, ८८२अ, ८९२
आंतरिक १०७
और चिरस्थायी व्यक्तित्व २०४
साक्षी ही नहीं, नियंता, शासक, ज्ञाता भी ३१०
और मानसिक क्रिया ५०८-९

मनोविज्ञान २३, ६८५, ८१६
बाद का २६२
'मनोवैज्ञानिक [मनोगत] अज्ञान [५५५], ६८७, ७२२, ७२६-७

मस्तिष्क ८५, २३४, २५९, ६०४

महत् ८१

माता [दिव्य माता, जननी, जगज्जननी] ७, १०२, २१९, ३५५, ८३६, ९१२, ९५४

मानक [मानदंड] ३२८, ६१३, ६३२
जो विकास की क्षमता की उपेक्षा करता है ६६७
मानसिक ७९६, ९८१, ९८२-३, ९८६
मानव, को वैश्व बुद्धि पर आरोपित करना ८००-१
आचरण का ९७८
(दे० 'पराप्रकृति', 'वास्तविकता', 'विज्ञान-मय जीवन', 'सुख . . . ' भी)

मानव गुणारोपण ६९०

मानव जाति १२, १५८, २१९, २६७, ३३९, ६६२, ६९०, ७१२, ७४९, ७७०अ, ८६२, १०२६
आज ४
की भवितव्यता २११-२,२७२; की नियति का चुनाव १०३०-३
का लक्ष्य [आदर्श, प्रयास] ५४, २१४, ५८४, ६६३
लंबे काल तक पार्थिव दृष्टि को स्वीकार नहीं कर सकती ६६६
के महान् युग उन जातियों से आये हैं जहां व्यक्ति . . . ६८५
की सेवा ६८६, ८७१
तब दिव्य मानवता तक पहुंच सकती है ७०७
की प्रगति ७१९, ८२०-१, ८२८-९
का सच्चा सुख और भौतिक विज्ञान ७१९अ
और पूर्ण मनोमय पुरुष ७२१
और यूनानी आदर्श ७२१, १०२८अ

में पशु अभी उपस्थित ७५१
में से अतिमानसिक जाति ८२०
की छाप ८२०
'मानव श्रेणीक्रम का बना रहना जरूरी ८२९
सारी अतिमानसिक स्तर तक नहीं . . . ८२९
'मानवता के उच्च बिंदु, और आध्यात्मिक साधु ८६७
में एक नया श्रेष्ठतर वर्ग उत्पन्न हो सकता है ९९२
के लिये संकट १०२९-३६
के जीवन की यह पूर्णता एक अवसर हो सकती है लेकिन . . . १०३१
का जीवन भौतिक रूप से नजदीक खिंच आया है १०३१, [१७]
का रूपांतर १०३६-४०, जो चीज जरूरी है १०३७, १०३८
(दे० 'आदर्श', 'आध्यात्मिक मनुष्य का विकास', 'आध्यात्मिक प्रयास', 'भगवान्', 'विज्ञान' (आधुनिक) भी)
मानव प्रकृति [हमारी प्रकृति] १११, २१७, ४०५, ४११, ६६८, ६६९
का आध्यात्मिक जीवन में आरोहण २२९
और चैत्यपुरुष २३०
संक्रमणकालीन स्थिति है ३९५
की बनावट ७५०
का रूपांतर [परिवर्तन] ९४४-५, १०३६-७
जैसी, वैसे ही उसके परिणाम १०१२-४
, पशु प्रकृति और विज्ञानमय पराप्रकृति १०२०
प्राणिक १०३८
मानसिक चेतना [मनोमय चेतना, मानव चेतना] ११०, १२५, १४६, २११, २५०, २८६, ४७६
यदि अहं के द्वैतों से निकलकर समग्र चेतना में . . . ५४, ६३१, दे० 'मन' अगर भी
के लिये भगवान् अहं के चारों ओर घूमते हैं ५४-५
और सत्य चेतना १२९-३१
और शक्ति २१२
की सामर्थ्य, ऊपर और नीचे २७५-६
और समग्र चेतना ३३१
संक्रमण का निर्णायक बिंदु ४०७ दे० 'मनुष्य' भी
संपूर्ण क्षमता की कसौटी नहीं ६३२
मानसिक मनुष्य ७१०, ७१२, ८८५-६, १०१६
का महत्तम विकास ७१०
और रूपांतर ७१०
और प्राणिक मानव ७१०अ
और आध्यात्मिक मनुष्य ७११अ
का अपनी बाकी सत्ता को अधीनता में रखना आसान भी, कठिन भी ८८६
माया ९, २२, २५, ३३, ३४, ४०, ८३, ८४, १०३, १०८, १०९, ११२, ११५, १३७, २१५, ३१३, ३२२, ३२५, ३२७, ३४०, ३५५, ३६२, ३७५, ४१३, ४२८, ४३५, ४८१, ४८५, ५६०, ५६१, ५७१, ७४६
है जगत् १०१-२
का अर्थ : १०१, ११५, बाद में ४८३
अदिव्य १६०, ४८१
'आदि वैश्व-माया २८६
'योगमाया ३२५
अनंत की चेतना और शक्ति है ३४१ दे० 'अनंत चेतना' भी
के कार्यों का संधान-सूत्र ३४४
और सत् (आत्मा) ३५३-६ दे० (भगवान्) 'ब्रह्म' और माया भी
की वास्तविकता अवास्तविक या . . . ४३८-४६, ४५०-१, ४५७, ४६१
या अविद्या विश्व की नानी ४८७अ
के हस्तक्षेप की तब जरूरत नहीं रहती ४८९
(दे० 'जगत्' भी)
मायावाद [जगद्-विभ्रम, विश्वमाया, जगत्-अवास्तविक, जगत्-नकार का सिद्धांत] ३९-

४०, ८३, ११९, १५०, ३१३, ३७४-५, ४१३-६, ४३४, ४८१, ४८५-९, ६५२, ६५९-६०, ८४६
ग्र० २, अ० ५, ६
के विचार का आध्यात्मिक औचित्य [की आधारगत अनुभूति] ४१६, [२७९], ४४८, ४५१, ४५३, ४६३-४, ५०१
'स्वप्न का सादृश्य ४१७-९, ४२४-६, ४४६
'विभ्रम' का सादृश्य ४२६-९, [३७४अ]
में सद्वस्तु [आत्मा] ४३७-८, दे० (भगवान्) 'ब्रह्म' और माया भी
में विरोध और अपूर्णता ४४८-९
से अधिक समन्वयकारी व्याख्या ४४९-५०, ४७२
शंकर का ४५०-१, ४५६-९
में जीवात्मा ४५०, ७४१-२
'मिट्टी और घड़े' का सादृश्य ४५२
'निरपेक्ष' की गतिशीलता को रद्द करनेवाला तर्क ४५२-६
का प्रतिपादन कि विश्व, अभिव्यक्ति नहीं हो सकता ४५९-६०
समस्या का हल नहीं करता ४६१-३
की अनुभूतियां भ्रम नहीं इसका क्या भरोसा ४६१-२
के अनुभव से और भी आगे यात्रा करना संभव ४६४-६
के दो मुख्य सत्य ४८५
और पुनर्जन्म ७३६, ७४१
(दे० 'मुक्ति' भी)
मायावादी ४०, ८४, ५०१
मिथ्यात्व ५०, ६३, १४९, १७२, २४७, २८८, ३९०, ४०५, ४७८, ४८३, ५८९, ६०९, ६५१, ७१६, ७७१, ७७२, ७९९, ९८४
दो सत्यों के बीच मध्यवर्ती ५८९टि०
का प्रवेश ६११-२
मिथ्यात्व . . . और अशुभ ७७१, ८७८
ग्र० २, अ० १४
की समस्या ५८९-९०
की सत्य और शुभ की तरह कोई क्षमता और निरपेक्षता नहीं ५९०-३, [४९२], ५९७-८
अज्ञान और निश्चेतना की रचनाएं हैं ५९०-१, ५९८
तब टिक नहीं सकते ५९०, ५९३
का विश्वत्व भी अनिवार्य नहीं ५९३, ५९८
का स्रोत ५९४-६, ६१३, ६१६-७, ६१९
का बोध नहीं जड़पदार्थ और पशु में ५९८-६००
के रूप-ग्रहण में दो निर्धारक तत्त्व ६०३
(दे० 'अशुभ', 'शुभ और अशुभ' तथा 'भूल', 'शक्तियां' भी)
मुक्त मनुष्य [व्यक्ति, पुरुष, आत्मा] ४१-२, ३७०, ३७२, ४५५, ६३०, ६३४अ, ८६८, ९११, ९५८
(दे० 'आध्यात्मिक मनुष्य' भी)
मुक्ति १८, १०९, ११४, १५९, १७०, ३१८, ३४७, ५०४, ५६१, ५६८, ६६१, ७४८, ७७०, ७९१, ८४२, ८४३, ८४६, ९११, ९७८, १०२७, १०२८
व्यक्तिगत, ३९-४०, ४१-२, ६८६, ८७२, ९९८
व्यक्तिगत, और अन्य अंतरात्माएं ४०, ४१अ; अपनी और औरों की ४०४
व्यक्तिगत, प्रथम आवश्यकता ४१, १०२८
जन्म-मरण से ४२, ७२८
'मुक्तावस्था' की अनुभूति ३७०अ
बहुत बड़ी, पर अपूर्ण ४०४, [५६९]
और मायावाद ४४२, ४४४, ४४५, ४५०, ४५७, ४५८, ४६१, ४६४, ७४२
और बुद्ध ४८१टि०, [३९०, ५६१अ]
की प्राप्ति ५३५, ८९२, ९६८, ९७२
और फिर मुक्त अधिकार ६३४
और पूर्णता को व्यक्तिगत होना होता है ६८६अ
का अर्थ ९७८

(दे० 'स्वाधीनता' भी)
मूल्य ६६१
व्यावहारिक, अहंकारमय ५३, ५५
जीवन का ठीक, ७४
उच्चतर और सूक्ष्मतर ७०२-५
-ें सभी, को उठा फेंका गया १०२९
(दे० 'मानक' तथा 'इन्द्रियां', 'अपूर्णता . . .', 'मृत्यु . . .', 'शुभ और अशुभ' भी)
मूल्यांकन
भगवान् की प्रक्रियाओं का ३२७-८, ३३१
घटना का ३२९
वस्तुओं का ३९२, ४०३, ४०४
आध्यात्मिकता का ८६९
मृत्यु ३५, ४८, ४९, ५२, ५३, ५६, ५७, ५८, १५८, १७३, १८०, १८१, १८२, १८९, १९६, १९७, १९८, २००, २०१, २०४, २४३, २४९, २६४, ७३२अ, ८११, ८१३
अ० १, अ० २०
जीवन [प्राण] और, १७७, २००, २३५, २३६, २४९, २९८, ५५२, ९४४
मरे को फिर से जीवित . . . १८१
की आवश्यकता और औचित्य १९३-५
का विधान १९४अ, २०१
की भीषणता और दंश १९५
का संवेद या अनुभव ४९६
के बाद ७७१, ७७३-४, ७७८, ७८५-९०, ८०५
के बाद अन्य लोकों में निवास ७८३ . . .
के बाद यहां न लौट सकना कब ७८९अ
का सच्चा कारण ८१०टि०
मृत्यु, अज्ञान, दुःख-कष्ट, अशुभ, सीमा . . . भगवान् को नकारती चीजें
और भगवान् ४८-५१, ५२-३
गलत संबंध का परिणाम ४९-५०
पतन का दंड नहीं, प्रगति की शर्तें, मुकुट का दाम . . . ४९
विभाजन का फल ५२
और विश्व के संबंध में हमारी इन्द्रियों के मूल्य ५३-५
चेतना की उच्चतर अवस्था में इनके मूल्य ५३
का अतिक्रमण ५५-७
के निष्कासन की संभाव्यता ५८
और प्राचीन वेदांत का समाधान ५८-६०

य

यंत्र दे० 'केंद्र'
यज्ञ ५०, १९६
स्वीकार्य ४४
यथार्थ
, मूलभाव और दृश्य वास्तविकता ११७अ
यांत्रिक विधान [आवश्यकता, नियम] २४७, ३०६, ३५३
और विभेदों की स्वतंत्र क्रीड़ा ३०३
युद्ध २८७, ४०८, १०४३
योग्यतम का टिके रहना २०५

र

रजस् ८९४ दे० 'बुद्धि' भी
रस १०८, २२४, २२५
रिक्तता १००७
रूप [भौतिक रूप] ५, २४, ३८, ६७, ७६, १०१, ११३, ११५, १३६, १३९, १४०, १४६, १६४, १६६, २३८, २५६, २५६अ, २७०, २७१, ४५२, ४५३, ४५४, ४५९, ४६०, ४७०, ५९८, ५९९, ६९४, ६९८, ७३९, ७४७, ७७३, ८१५, ९०२
'नाम-रूप १४७
के साथ तादात्म्य १६५
-ें का सृजन, विघटन, पुनर्नवीकरण १७७-८, १९३
और प्राण-शक्ति १७७-८, १८२-३, १९३-४
का सतत परिवर्तन १९४-५

'व्यष्टि-रूप के निर्माण की समस्या २०३-४
स्थूल, के पीछे एक अधिक सच्ची और श्रेष्ठ सत्ता २६३
अभिव्यक्तियां हैं ३३७, ६३९
के रेखा-रंग-राशि-रूपांकन का एक अर्थ ३३७
और अज्ञान ५७२-३
है क्या ५७२-३
-चेतना वनस्पति की और भौतिक पदार्थ की ७०२-३
-द्रव्य अतिभौतिक ७६५
सुसंगठित, में विकसित चेतना ८२३
(दे० 'आकार' तथा 'आत्मा', 'जड़तत्त्व', 'विकास' भी)
रूपक ८३, २८०, ३५६, ३७०
अण्डा ५६४टि०
अग्नि दे० 'अनुक्रमणिका'
उषा ३, ४३, ६७, ७१६
ज्वाला ७८
नदी ७८
सागर [समुद्र] : ८०, २४३, ५०४, ५७४, ५७६, ७१६, और लहर ८३, १५५, १९९, ३४४, ३६७, ५५५, ५७७, निश्चेतन, २८७ दे० 'उदाहरण' भी
सूर्य २७३, २८०, ७१६, ९०४ दे० 'उदाहरण' भी
हंस ४३, ४१०, ८७५
रूपांतर [परिवर्तन] ३८, ४४, ५०, १०९, १६१, २५४, २५८, २६४, २६८, ३५५, ३८४, ३९४, ४०४, ५३३, ५८४, ५८६, ६७५, ६९४, ६९५, ७०६, ७१०, ७१२, ७१३, ७३१, ८४३, ८६७, ८७२, ८८८, ८९२, ९२२
त्रिविध, ग्र० २, अ० २५
आमूल और संपूर्ण, ही सच्चा समाधान ६१९, ६२३, १०३६
आमूल और संपूर्ण, तभी संभव ६९६, ७१७, ७१८, ९१९-२०
आमूल और संपूर्ण, ही प्रकृति की इच्छा ८७६
चेतना का पहले या भौतिक परिवर्तन पहले ८३०-१
के लिये जो-जो करना आवश्यक है ८९३
अपेक्षाकृत तेज ९०७
पार्थिव जीवन का ९१८, १०३८-९
बहुत तेज, को रोकने के लिये स्वयं प्रकृति ने बाधा का सृजन ... ९२६अ
वैयक्तिक और सामूहिक १०३८-९
(दे० 'परिवर्तन' एवं 'अतिमानसिक रूपांतर', 'आध्यात्मिक रूपांतर', 'चैत्य रूपांतर' तथा 'अज्ञान', 'मानव प्रकृति', 'मानसिक मनुष्य', 'निश्चेतना' भी)
रोग १९४, ७२४

ल

लक्ष्य [उद्देश्य] २१, ३८, ४४, ४७, ११२, ११३, ११६, १२०, ३०८, ३८४, ४१४, ५८३, ६६२, ७२४, ९६२, ९८८
... जीवन का, ग्र० २, अ० १६
पार्थिव क्रमविकास का ४ दे० 'विकास' भी; वैश्व चक्र का ५८४
आत्मगत प्रगति का २३
मानव प्रगति का ५४
हमारा २३१, ६७६, ८५१, ९६३-४; हमारी सत्ता का सच्चा, किस कारण बच निकलता है ९६३
अंतिम [परम दिव्य] यह नहीं ३६८, ३९४
परम, का रूप अंतरात्मा, जड़भौतिक, प्राण और मन में ६५२
मानव जीवन का ६५८, ६५९ दे० 'मनुष्य' भी
पार्थिव जीवन का ८१३, [६७३]
की खोज : तीन दिशाएं १०००
(दे० 'आदर्श' तथा 'चैत्य पुरुष', 'जगत्',

'जीवन', 'प्रकृति', 'भगवान्', 'मनुष्य', 'मानव जाति', 'विज्ञानमय सत्ता' भी)
लागोस २८४
लीला [खेल, क्रीड़ा] १०३, ११२, ११३, ११४, ११६, १४३, १४८, १५०, २५२, २५३, २६७, ३०२, ३२०, ३४०, ३४१, ३७४, ३८४, ४०६-८, ५८७, ६६१, ६६३, ६६५, ७४४, ८२३, ९३४, ९४४
का गुप्त प्रयोजन ३८४
पृथक्कारी भेद की ७४६-७
की, जड़ में अंतर्लयन से पहले, अन्य संभव व्यवस्थाएं ७७५-६
(दे० 'जगत्' भी)
लोक (अन्य, उच्चतर) [जगत्, भूमिका, स्तर] २१, ८७, २७१, २७२, २७२टि०, ३१०, ५४६, ६६३, ६७१, ६८७, ७११, ७४१, ९०६-७, ९१७, ९२२, ९६२
-में का क्रम ग्र० २, अ० २१
'पुनर्जन्म और अन्य लोक . . . ग्र० २, अ० २२
प्राणिक : २५९-६०, ७७१, ७७२, ७७३, में जड़ पदार्थ और मन २५९अ
विकसनशील नहीं, प्रारूपी हैं ६७२, ७७३
और पार्थिव विकास ७५६, ७९०-१, ७९२-३, ८२८
मन और प्राण के संभव ७६०-१
-में पर विश्वास : ७६१-२, [८७], ७६६, [७७३-४], और तर्कप्रधान युग [आधुनिक विचार] ७६१-२, ७७७
-में के अस्तित्व का प्रमाण ७६२, ७६४
-में का अनुभव ७६४-५, ७७७
-में की शक्तियां, बल, प्रभाव ७६४-५, ७७३
-में के गुप्त प्रभाव ७६४-६, ७६९-७०, ७७४-५, [७७७], ७७९, ७८०, [८३२]
-की सत्ताएं ७६५-६, [७७२]
-में में प्रवेश, उनके साथ संबंध, उनमें आत्मस्थानांतरण ७६६, ७७७-८, ७८३
मनुष्य का सृजन ! ७६६-७, ७७०, ७७८-९
जड़भौतिक की अभिव्यक्ति के बाद या पहले के ७६८-७१, ७७८
प्राणिक, मानसिक, अतिमानसिक, के दबाव का यहां प्रभाव ७७०
मानसिक : ७७३, ७८७, [७०९अ], में द्रव्य और प्राण २६०
-में की ऐसी व्यवस्था जिसमें आध्यात्मिक सत्ता या चित्-शक्ति या आनंद या अतिमानस प्रथम अवस्था हों ७७५-६
-में की ऐसी व्यवस्था जहां मन या प्राण शुरू से प्रमुख हों ७७६
-में की स्थिति देश और काल में ७७७
-में में मृत्यु के बाद जाने की आवश्यकता दो कारणों से ७८३-४
भौतिक लोक के निकट के ७८७अ
सच्चे प्राणिक, सूक्ष्म भौतिक, मानसिक, अधिमानसिक ७८९
चैत्य अस्तित्व के ८९०
(दे० 'द्रव्य', 'पुनर्जन्म', 'प्राण', 'विकास' भी)

व

वनस्पति ८६, ८७, १७८, १८७, २२६, ३०२, ५४३अ, ५४९, ५५२, ५८१, ६९७, ६९९, ७०१, ७०२, ७०५, ७२४, ७५१, ८१७, ८१८, ८३९
में जीवन १७८-८१, १८३-४
वाणी १०, १४, ७५, ८३, ३२३, ३७१, ४६४
(दे० 'भाषा' भी)
वायु ८०, २७१, ३२४, ५९८
वास्तविकता ४३१-२, ४९०
का हमारा मानदंड ४११-२, ४४०, ४६६-७, ४७४
अवास्तविक ४३६, ४४१, ४५१, ४६०, ४८५

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की ४३६-७
की दो भूमिकाएं ४५०
के स्वरूप और मर्यादा का प्रश्न ४५०-१
अनभिव्यक्त और अभिव्यक्त ४५२
आभासी, और आद्या परम चेतना ४६८-९
अस्तित्व (अभिव्यक्ति) की ४७२, ६५१
'अवास्तविकता विश्व जीवन का एक तथ्य है ४७२-३
'अवास्तविकता का लेखा-जोखा ४७३-५
वास्तविक : निरपेक्ष की, और वास्तविकता आंशिक एवं भ्रामक : विश्व की ६२८-३२
विश्व और उसकी वस्तुओं की आत्मनिष्ठ या वस्तुनिष्ठ ६३५-४१
आत्मनिष्ठ और अतिभौतिक की जांच ६४१-४
और ज्ञान का मिथ्या मानक : अहंकेंद्रित वृत्ति ६४२
विषयनिष्ठ, पर आग्रह का आधार ६४५
आधारभूत ६४५-६, ६५१
(दे० 'चिंतनशील मन', 'भौतिक मन' भी)
विकास [क्रम-विकास] ५-६, २८, ४४, ६०, १३०, १३९, १४४, १६०, १६१, १६२, २००, २१४, २१६, २५१, २६३, २६९, २८९, ३६३अ, ५११, ५८६, ६०३, ६१६, ६६५, ६६८, ६७०, ७३५, ७४७, ७७०, ७८४, ८०९, ८२४, ८३३, ८७८अ, १०१४, १०२०
ग्र० २, अ० १८, २३, २४
का लक्ष्य ४, २६७अ, ८२२, १०४६-७
भौतिक से मन की ओर और उसके आगे ६; 'आरोहण [आविर्भाव] प्राण, मन और अतिमानस की ओर ४५-६, २५३; निश्चेतना से पूर्ण चेतना [अतिमानस] की ओर ५११अ, ६५०, ६५५-६, ८१३-४; निम्न प्रकृति के सामंजस्य से चलकर पराप्रकृति के सामंजस्य में ९१२
उच्चतर, की कल्पना और डार्विन का 'वानर' ५६-७
का आधुनिक सत्य और प्राचीन वेदांत [उपनिषद्] ११४, [५], ८२४
अंतर्लयन और, १२९, [५, ६, १६अ] १८६-७, २७२, २७२टि०, ३०५, ५४३-५, ६५५, ६७२, ६७३, ६९६, ७४५, ७५६, ९९६-७; और प्रतिविकास २७५, २९०अ, ७७१, ८४१
ऋत-चित् और, १३३-४
रूपों का १४०, [६९९]
के प्रकाश में प्राण का उन्मज्जन १८५-६, २००
'आविर्भाव जड़तत्त्व से प्राण और मन में १७४; 'उभरती हुई चेतना भौतिक रूप से प्राणिक रूप और मानसिक रूप में २१०-१, [२७५]; जड़ से प्राण और प्राण से मन में ६९५, ८१७, ९०८-९
यहीं नहीं रुक सकता २११, २६१, ९९७
अतिभौतिक स्तरों के दबाव से २६१, [१८६, ६९५, ७२५], ७७०, ७७९, ७९०-१, ८२७-८, ९०६, ९५०अ
उसका जरूरी है जो अंतर्लीन है २७२, [२९०], ७४५, ९९७
में आमूल संक्रांतियां २७५
'जो उभरता है वह उससे महान् होता है जिसमें वह उभरता है ३५२
धीमा और कठिन ६०७ [२८७, २९८]; 'प्रकृति में चित्-शक्ति के धीमे और कठिन आविर्भाव का कारण ९०२
का कारण ६५३
के लिये दबाव ६५३, ८२०, १०३७
का आरंभ-बिंदु ६५५, ६५८, ६७४
-योजना और व्यवस्था की सार्थकता ६५५-६
का तात्पर्य ६७२
का आरंभ, मध्य और अंतिम उत्कर्ष ६७३, ६९४; का अतीत, वर्तमान, भविष्य ६९८
की अहंकारमय अवस्था ६९०

[आविर्भाव] चरम, अभिव्यक्ति का ६९३, ६९६
की प्रक्रिया में त्रिविध लक्षण : आरोहण, विस्तार, समाकलन ६९४, ७१४, ७१७-८, ७२७, [७२९], ९१८
की प्रक्रिया का स्वरूप ६९४-५, ६९७, ७१७, ८३९, ९०८-९
'मौलिक विकासात्मक शक्ति ६९६
भौतिक, में चेतना और शक्ति के अंतर्लयन के साथ भौतिक रूप और क्रियाशीलता का संतुलन ६९६-७
का वर्गीकरण : भौतिक रूप, वनस्पति, पशु . . . ६९७
में हर आगे बढ़ता हुआ रूपायण जो कुछ पहले था उसे लेकर चलता है ६९७, ७५०
में सातत्य ६९७-९
के सोपानों में खाइयां ६९९-७००
'संक्रमण एक से दूसरी श्रेणी में ७००-२
के मत के बारे में उठायी गयी आपत्ति का उपचार ७०१
की निम्नतर श्रेणी को ऐसे बिंदु तक ले आना जहां उच्चतर उसमें अभिव्यक्त हो सके ७०१-४, ७३१, ८२८, ८२९
मानव : सचेतन मानसता का जागरण ७०३, ८३०, ९०८
मानव : प्राणिक मन से चिंतनशील मन की ओर ७०३-४
मानव, की दो विशिष्टताएं ७०४-५
में नीचे दृष्टिपात और निम्न को ऊंचा उठाने की क्रिया ७०४-६
मानव, जब उच्चतर स्तर पर, तो दृष्टि ऊपर और भीतर भी ७०६
मानव, की सोपान शृंखला : भौतिक मनुष्य, प्राणिक मनुष्य, मानसिक मनुष्य ७०७-११
सचेतन ७१४-५, [६४८], ८३०-१, दे० 'सहयोग' भी
पूर्ण मनोमय पुरुष में ७२०
हमारा वर्तमान और ऊर्ध्वमुख ७२६-७; भूतकाल में और अब अतिमानसिक ९५०-१; अज्ञान में हमारा और अगली संभावना ९६३, १०४६
के बारे में हमारी (लेखक की) व्याख्या ७४४-५
के लिये काल के अनगिनत अंतरालों की जरूरत ७४८
के क्रमिक सोपान वैश्व आध्यात्म पुरुष के ७४८-९
का वैश्व पक्ष और व्यक्तिगत पक्ष ७४९
में मन और प्राण के अवरोहण का परिणाम ७७१
दो आपस में सहयोग करनेवाली शक्तियों (नीचे से विकास और ऊपर से अवरोहण) द्वारा ७७९, ८२८
द्रुत, ७९१, ८८२, ९०७, ९१६; द्रुत, पदों को समाप्त नहीं करता ९१६
व्यष्टिगत, में विकसित भूमिका का चिह्न ८०६
की प्रक्रिया दोहरी : भौतिक और आंतरात्मिक ८१४, [६९८-९], ८४५-७
के सिद्धांत और अभिव्यक्ति के उद्देश्य पर आपत्ति ८१४-२१
की हर श्रेणी अपने-आपमें अस्तित्व रखती है ८१७-८
में प्राकृतिक चयन ८१९
का सिद्धांत ८२३-४, इसके दो निष्कर्ष ८२४
'आविर्भाव मानव का पार्थिव प्रकृति में ८२४-८
'आविर्भाव अतिमानसिक सत्ता का मानव में से ८२९-३४
का नया पर्व जिससे बनता है ८२९
निश्चेतना से आध्यात्मिक मनुष्य तक का —एक अनसधे साक्षी की दृष्टि में ८३६-८
में प्रकृति का अभिप्राय ८३८-९

में अस्पष्टता और संभ्रम अनिवार्य ८४४
'संक्रमण मानव प्रकृति से पराप्रकृति में, की शर्तें ९०६-१३; [आरोहण पराप्रकृति में ३५५]
की गति जड़ में, प्राण में, मन में, पर जब सचेतन आत्मा हस्तक्षेप . . . ९१६
से विदा ९१७अ
'आरोहण की निचली श्रेणियों में समाकलन अधूरा ९१८-९, ९२०
के स्पष्ट अनुक्रम और प्रकृति की जटिल क्रिया ९३९-४०
की प्रेरणा के समापन का संकट १०३०
के चाप को बनाये रखनेवाली चीज १०३०
के इस चरण के लिये जो चीज जरूरी है १०३७
(दे० 'अतिमानसिक विकास', 'आध्यात्मिक विकास', 'आध्यात्मिक मनुष्य का विकास' तथा 'चेतना', 'चैत्य पुरुष', 'जन्म', 'पुनर्जन्म', 'मनुष्य', 'लोक' भी)
विचार ९, १०, १४, ३६, ५८, ८८, ११४, ११७, १२९, १३०, २१२, ३०४, ४५५, ४६३, ५००, ५३९अ, ५६०, ७६७, ७६८, ९२३, ९२४, ९२८-९, ९३३
-ों की तल्लीनता, मनुष्य के ३-४
और मस्तिष्क ८५
उच्चतर मन में २७९, ९२२
हमारे ३०९, ३१०, ५२४, ५२६
'मानव विचार और अनुभव अस्ति और नास्ति के बीच घूमता रहता है ४१०-३
-रूपायण ४३२
-प्रत्यक्षण ५०८
के साथ तादात्म्य ५१८अ
-प्रक्रिया और विचारक ५२०
आध्यात्मिक, का दार्शनिक विकास अनिवार्य नहीं ८६६
की शक्ति ९२५
शाब्दिक ९२८
अतिमानसिक विज्ञान में ९८७
, भावना और क्रिया साध्य नहीं, साधन हैं ९९९, १००१अ
(दे० 'आधुनिक' भी)
विजय १०७, १०८, १०९, १२३, १६१, २००, २१७, २१९, २२९, २३६, २४८, २४९, ४०४, ४०८, ४८०, ७१४, ७२०, ८१०, ८११, ८१४, ८४६, ९००, ९३९, ९६६
अधिक बड़ी १०५
पूर्ण, यथार्थ २३६-७
भौतिक सीमाओं पर २६३अ, [१७-८]
विज्ञान ८५, २०३, ५४४, ६९०, ६९१, ८१०टि०, ८१६
प्राचीन गुह्य २६२
प्राचीन चैत्य भौतिक २६३
स्वयं, गुह्यविद्या है ६४४
विज्ञान (आधुनिक, भौतिक) २६, २८, ५४, ५८, ८२, [८५], ८८, १६१, १७४, [२०१], २०३, २०४, २१३, २३७, २६३, २९९, ३००, ३०१, ३७९, ४११, ४३१, ४६३, ४६७, ५९५, ६४५, ६८९, ६९८, ७१४, ७१९, ७२१, ८१६, ८६२, ८६३, १०१३, १०१६, १०१७, १०२९, १०३१, १०३२
अद्वैत की ओर १६
के सपने और सर्वशक्तिमत्ता १६-७
और तत्त्वज्ञान १७९टि०
और मानवजाति ७१९, ८६२
(दे० 'जगत्', 'आध्यात्मिक विकास' भी)
विज्ञान (क्रियात्मक, परीक्षणात्मक) १७, ६९, ८२५
विज्ञान (अतिमानसिक) १२२, २६५, २६६, २६८, ६९८, ७४४, ९५१, ९८८, ९९७
की कसौटी और विशिष्ट शक्ति ९८८
अंतर्लीन, प्रकट और सक्रिय हो जायेगा ९९२
(दे० 'अतिमानस' भी)
विज्ञानमय चेतना ९७५, १०४२

विज्ञानमय जाति दे० 'विविधता' और 'सामुदायिक जीवन'
विज्ञानमय जीवन [अतिमानसिक जीवन] २१३, २२१, ९६०, ९६६, ९८८
का अर्थ ९५७
पृथ्वी पर, ऐसा होगा . . . ९८९
और निम्नतर कोटियां ९९१-२, १०२३, १०४०
की नींव अंतर्मुखता [आंतरिक जीवन] ९९९, [९६०], १००१, १००२
और मानसिक सत्ता का जीवन १०१२-२०
और चेतना की नयी [अंतर्निष्ठ, सुप्त] शक्तियां १०१८, १०१९-२१
और हमारे मानक व मूल्य १०४१-२, १०४४
और मानसिक आदर्श एवं उपलब्धियां १०४१-३
में सत्य को ही स्वीकृति १०४१-३
में युद्ध या राजनीतिक संघर्ष १०४३
में प्राण और शरीर १०४३
और भौतिक वस्तुएं १०४३, [९६८अ]
और अत्यधिक मितव्ययी या सादगी का जीवन १०४३-४
और अतिमानवता १०४४-५
में जीवन का रस १०४५-६
सामुदायिक दे० 'सामुदायिक जीवन'
(दे० 'दिव्य जीवन' तथा 'अज्ञान' भी)
विज्ञानमय सत्ता [विज्ञानमय पुरुष, अतिमानसिक सत्ता, अतिमानसिक पुरुष] १५६, २५५, ३५०, [४०९], ८७६, ९०३, ९४५, ९४९
ग्र० २, अ० २७
का आविर्भाव अपरिहार्य २५३, ६९८, ८१९-२०, ८२९-३४; का आविर्भाव अचानक न होगा . . . ९४९
का वर्णन और हमारी भाषा ९०५, ९०६
और अज्ञानमय मानसिक जगत् [वैश्व संबंध] ९५३, ९५५-७, ९५८, ९५९-६२, ९७८अ, ९८०-३, ९८९-९०, १००९
विवरण ९५४-५, ९७५-७, ९८९
का जीवन और कर्म ९५४-५, ९५८-९, ९६०, ९८४-५, ९८६-८, १००९, १०१४-५, १०१७, १०४२
और व्यक्तित्व ९५५, ९७३-६
में व्यष्टि, वैश्व और परात्पर की सम्मिलित परिपूर्ति ९५५-७, ९८१-२
और विविधता ९५६, ९८९
और अहं ९५७, ९५८, ९६४, ९६५, ९८५-६, १००९, १०१९
का लक्षण ९५७
और आनंद ९५७-८, ९५८-९, ९७२-३
और औरों का सुख-दुःख ९५८
की जगत् पर क्रिया ९६१-२
का मानसिक और प्राणिक लोकों की शक्तियों पर अधिकार ९६२
का लक्ष्य ९६२-४
मूलभूत रूप में, और विकास में ९६२
में महत्तर परिपूर्ति : मन की ९६४-६, प्राण की ९६६, शरीर की ९६७-७२
और नैतिक तत्त्व ९७७-८, ९८१
के जीवन में संपूर्ण स्वाधीनता और संपूर्ण व्यवस्था ९७९-८४
में पुरुष और प्रकृति ९८२
में ज्ञान और इच्छा एक ९८३-४, १०१४-८
का जीवन ऋत-चेतना की मुक्त क्रीड़ा होगा ९८४-९
की अन्य कोटियां ९८७
(दे० 'अतिमानव' तथा 'अज्ञान', 'अतिमानस', 'आंतरिक जीवन', 'आत्म-प्रस्थापन', 'ज्ञान', 'भूल', 'वैश्व चेतना', 'सत्य संकल्प', 'सृजन' भी)
विद्या और अविद्या ३५, ३६, ४०, ४२, ४९८
ग्र० २, अ० ७

का अर्थ बाद में ४८४
का अलगाव ४८४, ४८५
उपनिषदों में ४८४, ४९२टि०
(दे० 'अविद्या' भी)
विद्युदग्नि ४०१, ७०२
विधान [धर्म] ५५, ११४, १३३, १३४, १५८, १९६, ३०६, ३३४, ३९८, ४५४, ९७९
चक्राकार प्रगति का १२०-१
अंतर्निहित, और क्रियागत, १३६
'प्रथम धर्म १३७टि०
भागवत, १४४-५; दिव्य, २०६
मृत्यु का १९४अ, २०१
प्रेम और साहचर्य का २०५, ६१९
'वैश्व विधान: २६९-७० [१७५-६], और कर्म-फल ७९६-८
अभिव्यक्ति का ४०४
अपने-अपने स्वभाव का ४६५
आत्म-निर्धारित, ९७८, ९८४अ, १०१०, १०१३
जड़ प्रकृति का, और आत्मा का ९७९
(दे० 'नियम', 'नैतिकता', 'स्वाधीनता' भी)
विपरीत तत्त्व [विरोध] भगवान् के दे० 'भगवान्'
विभाजन [दरार] ५२, ९९, १०८, ११६, १२६, १२८, १३०, १३१, १४२, १४४, १५८, १६७, १७२, १९२, १९५, १९६, २००, २०९, २२१, २३९, २४०, २४४, २५६, २६६, २८९, ३३८, ३४३, ३८९, ३९७, ३९९, ४००, ४०२, ४०४, ४७७, ४७८, ४८०, ५१०, ५४२, ५६४, ५७१, ५७२, ६१९, ६५५, ६८१, ६९०, ७४६, ९३६, ९४८
विभक्त सत्ता का फल ५२
का आरंभ १४१
आधारभूत, का आरंभ १६४-७
मानों की श्रेणी में १६६
वास्तविक, तब शुरू १६७
से संयोजन की ओर २०२-३
शक्ति और चेतना के बीच, हमारे अंगों में २१६-७
अविभाज्य सत् का (आभासमय और व्यावहारिक) किसलिये ? २३९
जड़तत्त्व के विरोधों में से तीसरा २४९-५२
अज्ञान का आधार है २७३अ
अविभाज्य में आया कैसे ? २७४, ५५९अ
का प्रभाव ३८९
के अनुभव के लिये आसक्ति ३८९
का अभिप्राय ४०४
का आधार है रूप ५७२, ५७३
का सुधार तभी ६२३
(दे० 'पृथक्ता' तथा 'मन' भी)
विभिन्नता [भिन्नता] ३५, १३७, १४०, १४२, १६५, ३४१-२, ३७७, ४६५, ५८५
का अपना प्रयोजन ३६९
तत्त्वदार्शनिक ३८३
और विविधता आध्यात्मिक विकास में ८७२-४
(दे० 'अतिमानस', 'एकत्व' भी)
विभेद [भेद, भिन्नता] १२६, १२८-९, १३१, ३०३, ३४१-२
पर आग्रह गलत ३३२अ
व्यष्टिगत, हमेशा ३४२, ३६८
(दे० 'एकत्व' भी)
विविधता [वैविध्य] ४६८, ५८५, ६५३, ६९०, ९५२
जातिगत और वैयक्तिक निर्दिष्टों में ३०२, ३०६
विज्ञानमय जाति व विज्ञान-समाजों में ९५३-४, १०११
और विज्ञानमय सत्ता ९५६, ९८९
(दे० 'अतिमानस', 'एकत्व', 'विभिन्नता' भी)
विशिष्टाद्वैत १५०
विश्वमाया [वैश्व माया] दे० 'अधिमानस',

'मायावाद'
विसंगति [असंगति, असामंजस्य, विषमता, विसंवाद] ४-५, २८, ३३, ३७, ५०, ५३, [५५, ९७, १३३-४] २१८, २३५, २३६, २४४, २५१, २८३, ४०३, ४७७, ४९०, ६१३, ६७३, ७३०, ७७२, ९५२, ९५५, ९५६, ९५७, ९८०, ९८३, १०१५, १०२३, १०३१
(दे० 'असामंजस्य', 'संघर्ष' भी)
वृन्द-वाद्य ५३
'विश्व-छंद ४०३
'स्वर-संगति ७०५
(दे० 'उदाहरण' संगीत की भी)
वेदांत ५, १६, ४४, ६५अ, ६९, ७०, ७४, ७७, ७९, ९०, ९१, ९४, १०९, १२८, १४९, १८५, २६२, ४२४, ४९७, ४९८, ४९९, ५६३, ६३७, ६६०, ७४२अ, ७४३टि०, ९७८
प्राचीन, का समाधान ५८
बाद के, का विचार ५९
प्राचीन, का सत्य और आधुनिक विकासक्रम का सत्य ११४
वैयक्तिकता १४७
निर्वैयक्तिकता : ३५१-२, ३५५, में विरोध पैदा करनेवाली चीजें ३५२
को खोना जरूरी ३५१
वैश्व अनुकंपा
का आदर्श ६२१
'वैश्व करुणा और सहानुभूति ८७०टि०
वैश्व अवतार ६०
वैश्व आत्मा [विश्वात्मा] ५५५, ५९५, ६२९, ७४०, ७४२, ७५९
का पहला लक्षण २७७
की उपलब्धि ५३५
के साथ एकत्व, पर विश्व-प्रकृति की दासता नहीं ९५७
वैश्व इच्छा दे० 'इच्छा'
वैश्व चेतना [विश्व-चेतना] ३२, १३९, २०९, ४२६, ४७०, ५३५-६, ६८३, ८९६, ९३३
का अनुभव २२-४
और जगत् २२-३
में प्रवेश २३, ४७१
वास्तविक है २३-४, ५३५
में आत्मा और जड़तत्त्व का मेल २३, २७अ
से मतलब ९७अ
और अतिमानसिक सत्ता ९५६-७, ९६१-२
'वैश्व स्थिति दे० 'वैश्व भाव'
(दे० 'अंतस्तलीय सत्ता', 'अनुभव', 'संकेंद्रण' भी)
वैश्वभाव [विश्वजनीनता, विश्वात्मकता] [४७, ५२, १९६], २७७, २८५, ३४७, ३६६, ५२५, ५३५, ६७५, ६७६, ७२९, ७३०, ९२१, ९३३-४, ९५८, ९५९, ९८१, १००४, १००६
मन, प्राण, शरीर में ९१५
के लिये बाहरी प्रयास १००६, १००८
मन के आधार पर १०३१अ
(दे० 'आंतरिक जीवन' सच्ची, 'व्यक्ति' और विश्व भी)
वैश्व मन [विश्व-मन] २३९, २८६, २८८, ६३८, ६९०, ८३२
और सृष्टि २३७-८, २४०-१
अतिचेतन, २७७, २८०
और हमारा मन ३१०
वैश्वसत्ता [विश्व-सत्ता] २१६, २६८, ५३५, ६३१, ६५१
सारी, एक जटिल सामंजस्य २६०
और व्यक्तिगत सत्ता का परस्पर समावेश ३६९-७०
(दे० 'मन-प्राण-जड़', 'व्यक्ति' और विश्व भी)
व्यक्त और अव्यक्त ३५७-८, ४७१-२
व्यक्ति [व्यष्टि] ११२अ, १४२, १४८, ४३७, ४५७, ४५८, ६२९, ६६१
ग्र० १, अ० ५; ग्र० २, अ० ३

और समष्टि १७, २२, २०१, २०३, २०५, २०७, २१२-३, २१९, [३३२अ], ६८३-५, ६८७, ७९५, ८५६अ, १०२४-९, १०३४, १०३५, १०४२
और विश्व २०१, २१९, ५३५, ५३६-७, ६२८, ६८५, ७४६, ७४७, ७४८, ७५८, ७५९, ८१४, ९३४ दे० 'वैश्वसत्ता' भी
, विश्व और परात्पर १७, ३८-४२, ४५-७, ३११, ३२५-६, ३४१, ३५०, ३५२, ३५६-७, ३६६-७०, ३७२-३, ३७६-७, ३८४, ४६९, ६५३-४, ६७०-१, ६७८-९, ९१०, ९१२, १००५
ज्योतिर्मय, के जगत् में बने रहने की आवश्यकता ३९
-गत मुक्ति दे० 'मुक्ति'
की उपयोगिता [औचित्य] ४४, ३८४-५; का महत्त्व ६८३, ७४५
बना रहता है परात्पर से ऐक्य पा लेने के बाद भी ५९, ३६६-७, ३६८, ४६०
भगवान् का केंद्र दे० 'केंद्र'
को जिस योग्य बनना है ११०-१
में अनंत चेतना का उदय ११३
सच्चा १४९, ३७०, ३७१, ९३५
दिव्य आत्मा की दृष्टि में १५५
का अपनी वृद्धि के लिये अमिट आवेग १९५अ
शाश्वत है यह मानने में बुद्धि की कठिनाई ३६४
और अहंकार ३६५-८, दे० 'अहं' भी
से साधारणतः हमारा मतलब ३७१
में पृथक्ता का भाव ४५९
'व्यक्तीयन [व्यक्तीकरण] ५२३, ५२५
-भाव का लोप ५३५ दे० 'अहं' का विघटन भी
का हर चीज के बारे में निर्णय करने का अधिकार ६४२
प्राकृत ६५४ दे० 'सतही' व्यक्तित्व भी
और धर्म ८५६-७, ८६०
विज्ञानमय ९५४, ९७६-७, १०२३ दे० 'विज्ञानमय सत्ता' भी
'दिव्य व्यक्ति ९७४
मनुष्य से कम रह चुका है, वह मनुष्य से बढ़कर हो सकता है १०२६
के जीवन का उद्देश्य १०२७ दे० 'मनुष्य' का आदर्श, 'जीवन' भी
(दे० 'मनुष्य' भी)
व्यक्तित्व ४१, ९३, १५५, १७१, २०३, २०४, ३५२, ३६६, ३६७, ४४४, ४५५, ४५८, ४९५, ५०६, ५१३, ५७८, ५८३, ६१०, ६८६, ७२५, ७३९, ७४१, ८८३
का लोप १४७, २३०, [५३५], ९३४
बाहरी [सतही] दे० 'सतही'
और निर्व्यक्तित्व दे० (भगवान्) 'ब्रह्म', 'वैयक्तिकता'
आध्यात्मिक ३४२
की परिपूर्ति ३६९
द्विविध या भिन्न ५१३
मानसिक, अहंकेंद्रित होता है ६१०; सच्चा और अहंकार ७२९, ७३०
मानसिक, तीन प्रकार का: तामसिक, राजसिक, सात्त्विक ६११-२
को विकसित किये बिना वह महान् कार्य के योग्य नहीं होता ६८३
का विकास पहले पशु रूपों में ७३९
समृद्ध ८०६; पूर्ण ९५६
और व्यक्ति ८०८-९
बलवान् ९११
और विज्ञानमय सत्ता ९५५, ९७३-६
जिसे हम कहते हैं ९७४, [३५१]
और चरित्र ९७५-६
सामान्य सीमित ९७६
(दे० 'चैत्य व्यक्तित्व' तथा 'अहं', 'जन्म', 'पुनर्जन्म', 'पुरुष', 'मनोमय पुरुष', 'सतही', 'सारतत्त्व', 'स्मृति' भी)

व्यवस्था १७५, ३०३, ५६२, ९८२, १०१०
(दे० 'स्वाधीनता' भी)
व्यायाम (सूक्ष्म भौतिक) २६२

श

शक्ति ५६, ७२, ७९, ९५, १४१, १४२, १५३, १६४, १७५, १७६, १७८, १९२, २५८, २८२, २८५, ३२५, ३३९, ६७०, ६९६अ, ८९६, ९३४, ९५२, ९६३
और भगवान् दे० 'भगवान्'
और सृष्टि-रचना पांच तत्त्वों से ८०-२
और चेतना दे० 'चेतना'
त्रिविध : ज्ञान-शक्ति, कामना-शक्ति, क्रिया-शक्ति ८२
सत् में आयी कैसे ? ८२-३
की अभिव्यक्ति या अनभिव्यक्ति का प्रश्न ८३-४ दे० 'ऊर्जा' क्रियारत भी
और भौतिक यंत्र ८५, [१७]
की क्रीड़ा के तीन प्रदेश : पशु-जगत्, वनस्पति-जगत्, जड़-जगत् १७८
सचेतन, की तल्लीनता [ऐकांतिक संकेंद्रण] १८४
और अक्षमता १९७, २२१, २५२, ४०२ दे० 'दुर्बलता' भी
'अनंत शक्ति २६८, २९९, ३१३, ३१४
के निर्देशन ३१३
रूपांतरकारी ३७८अ
मनुष्य में छिपी ७९२
सचेतन, का चिह्न प्ररूपों के विकास में ८१८, ८१९
का स्वभाव : बने रहने और अपने-आपको क्रियान्वित करने का ९२६, [७४५] दे० 'ऊर्जा'-एं सभी भी
[आत्म-शक्ति] पर अधिकार १००३
(दे० 'चित्-शक्ति', 'जगत्-शक्ति', 'पृथ्वी-शक्ति' एवं 'ऊर्जा', 'ऊर्जा' (असीम) तथा 'ज्ञान' भी)
शक्तियां (वैश्व) १३६, ३५१, ५४०, ५४३
अंधकार की २८९, १०४०
अदृश्य [अतिभौतिक] : ३२९-३०, ५३२, ५९४, ५९५-६, ७६४-५, ७६५अ, ८०२, ८१८अ, ८५३, ८५४, ८५५, का प्रभाव ३६२, अपरिमेय हैं ५९७-८, और पार्थिव विकास ७६९अ
अज्ञान, अंधकार, मिथ्यात्व, अशुभ की [४७८], ५९४, ५९५, इनका काम ५९४, ५९५
प्राण-जगत् की ७७२-३
उच्चतर ७८० दे० 'उच्चतर चेतना . . .' भी
विरोधी ८९१, ९२०
, आवाजें, सत्ताएं, प्रभाव जो दिव्य संदेश-वाहक होने का दावा . . . ८९१
अनर्थकारी ८९५, [१०२२]
(दे० 'चेतना', 'जीवन', 'विज्ञानमय जीवन' भी)
शब्द ३१, ७०, ११४, ३१८, ३३३, ३३५, ३५६, ३७०, ३७१, ३७२, ४८६, ५६०
(दे० 'नीरवता' भी)
शरीर २३, २१६, २१७, २१९, २७१, ४७२, ५०६, ५२०, ५२४, ५५१, ५५७, ५५८, ७३७, ८२७, ८४६, ८९२, ८९४, ९१९, ९२५, ९३२, ९४५, १०४३
की अभ्यासगत स्नायविक प्रतिक्रियाओं पर विजय १०७; के सामान्य प्रत्युत्तर-अभ्यास अनिवार्य नहीं ९७० दे० 'मन' का प्राण, 'सुख . . .' भी
के साथ तादात्म्य १६५, १६८, ९६८ दे० 'भौतिक जीवन' भी
प्राणिक, २०३ दे० 'प्राण' भी
सूक्ष्म, २२२, २६२, ७३९, ७८६, ८१०
का महत्त्व २३४, ९६९
का ऐसा विकास जो उच्चतर प्रकाश के योग्य हो २३४, [२६४]
के प्रति धिक्कार-भाव २३५

दिव्य, २५४, २५८
के बारे में प्राचीनतम वैदांतिक ज्ञान २६२-३
तीन : स्थूल, सूक्ष्म, कारण २६२-३
की चेतना ३०७, ५५२, ९४५, ९६८, १००४
और मन दे० 'मन'
विभाजन का बाहरी चिह्न, सबसे नीचे का आधार ५७१
'शारीरिक कष्ट ५९२
और अंतरात्मा ७३५, ७४७, ७५०अ
'शारीरिक सत्ता की उत्तरजीविता ८१०-१
और अधिमानस ९३४
की विज्ञानमय परिपूर्ति ९६७-७२
जिसके लिये लालायित है ९६९
की कष्ट-मुक्ति की मांग ९७०-१
में आध्यात्मिक आनंद प्रवाहित . . . ९७१, ९७३ दे० 'एकत्व', 'भगवान्' भी
(दे० 'मन-प्राण-शरीर' तथा 'भौतिक जीवन' भी)
शांति ५०, ३१०, ३६९, ४०४, ४६४, ६८७, ८९०, ९२८, ९६१, ९७२; स्थिरता ३२, ५६८
जो न तो तमस् है . . . ४६
और आनन्दातिरेक ९७२
शाश्वतता ७५, १९५, ३६१, ४९६, ४९७, १००४
(दे० 'अमरता', (भगवान्) 'कालातीत' भी)
शिक्षा १०३५
शुद्धता [शुद्धि] ३९०, ८९०, ८९२, ८९३, ९७७
शुभ और अशुभ [भला और बुरा] ९६, ३३०, ३८०, ३८१, ४०४, ४९२, ५९२, ७७२, ७९९, ८०१, ९७७, ९७८
के मानव मूल्य ५९२, ६०१, ६१६-७
'शुभ से अशुभ और अशुभ से शुभ परिणाम ५९२, ६१६
का पहला स्रोत, अतिभौतिक ५९४-६
मानव सत्ता की रचनाएं हैं, इसका अर्थ यह नहीं कि . . . ६००
के बारे में अवबौद्धिक, अनासक्त बुद्धि का, अतिबौद्धिक और मध्यवर्ती सत्य ६००
के प्रति जागृति : ६००-२, का उपयोग ६०१-२, का प्रयोजन ६१६
का चैत्य विवेक ६०१, ६०२
दोनों समान, प्राण-प्रतिष्ठापन के लिये ६१४
दोनों के द्वारा कार्य करती है प्रकृति ६१६
का उपचार ६१६-२३
कर्मों का फल ७९६, ८०२
(दे० 'अशुभ' तथा 'सत्य' भी)
शून्य २९, ३०, ४९, ७५, ७६, ९७, १२८, १६७, २५८, ४३७, ४५३, ४६१, ५०५, ५६२, ६३१, ६३५, ७३६, ९७४, १००७
शून्यवाद ११९, ५६२
श्रद्धा [विश्वास] ३४, ३८८, ३९४, ४०१, ४११, ४९६, ७२७अ, ७३४, ८३५, ८५१
और सत्य ७६३

स

संकेंद्रण (चेतना का ऐकांतिक) १४७, १६७-७२, १८४, [३६८]
समभाव और अ-समरूप १४१, १४२
विस्मरणशील, का स्वभाव क्या है ५७३
चार प्रकार का : सारगत, संपूर्ण, बहुविध, पृथक्कारी ५७५
और बाकी आत्मज्ञान ५७६
मनुष्य में : सतही ऊर्जा [स्तर] पर ५७६-७, वर्तमान क्षण पर ५७७-९, जीवन की एक भूमिका पर ५७९, कर्म-विशेष पर ५७९, ५८०
विस्मरणशील, वैश्व चेतना में जब चरम बिंदु तक ५८१-२
की उल्टी क्रिया : आत्मा पर, बजाय प्रकृति की गतिविधि पर ५८६
सामर्थ्य है, असमर्थता नहीं ५८७
की शक्ति के दो छोर ५८७

जड़तत्त्व, मन-प्राण और अंतर्लीन सत्ता पर—के उपयोग ६४५
आत्मा पर—मन-प्राण-जड़तत्त्व की वास्तविकता का बहिष्कार करके—यदि ... ६४५अ
(दे० 'चित्-शक्ति', 'जीवात्मा' भी)
संक्रमण दे० 'प्रकृति', 'विकास'
संख्या ३०६
संघर्ष १३६ [१४६], १५७, १७१, १७२, १९४, १९८, २००, २०७, २१३, २४४, २४९, २५०, [२८७], २८९, ४०२, ४७८, ५२७, ५४४, ६१४, ६१६, ७७२, ९२६, ९५२, ९५५, ९५६, ९९३
भ्रातृ-युद्ध में समुन्नत १९८
जीवन के बने रहने के लिये २०१, २०५
व्यष्टि-जीवनों का २१२
हमारे अपने अंगों में २१६-७
जड़-प्राण-मन और आत्मा के बीच २३५-६, [९८३]
ज्योति और अंधकार की शक्तियों के बीच, की परंपरा ५९४अ, ५९५
[विसंगति] हमारे अंदर, का कारण ८८३
संदेहवाद ७, ३९५
संन्यास २५, २६, ८४६
संन्यासी ३८, २१७, २३५, ६६७, १०२७, १०४३
का प्रतिवाद ऋ० १, अ० ३
का दृष्टिकोण १९, ३९-४०
का नकार २४-५
का मार्ग १०९
-वृत्ति ८६९, ८७०
संबंध १६५, १७१, १७२, ३९८, ९३२
गलत और सच्चे ४९
उचित, की पुनः-प्राप्ति ५९
-ों की क्रीड़ा १४८
व्यक्तिगत ३५७
प्राथमिक, निरपेक्ष के ३७२, ३७४, ३८२, ३८५
-ों की अपूर्णता ९५६
सामाजिक १०२३
(दे० 'दिव्य आत्मा', 'विज्ञानमय सत्ता' भी)
संभावना [संभाव्यता] ४७, ५८, २७०, २८४, २९०, ३०६, ३१५, ३२९, ३३०, ४११, ४१२, ४२९, ४७९, ५९३, ६७१, ६७२, ७१२, ७१८, ७२२, ७२३, ७५२, ७५३, ७७८
(दे० 'जीवन', 'मनुष्य' भी)
संभूति [संभवन] ४२, ४४, ७१, ७८, ११२, ३२६, ३८०, ४५६, ४६०, ४७०, ४८५, ५०८, ५१४, ६१७, ६३२, ६५४, ७३६, ९६४, ९९५
हमारा काल में ५४७-८, ५५५, ५५६
हमारे में प्रकृति की पद्धति ५४८-९
हमारी सचेतन, और अंतस्तलीय सत्ता ५५०, ५५१, ६४७
का ज्ञान, अज्ञान इसलिये कि ... ६३४
का सत्य ६६०-१
का तत्त्व शाश्वत है ६६२
की संभाव्यताएं ६७२
उच्चतर लोकों में और इस विश्व में ६७२
बृहत्तर ८९८
(दे० 'सत्ता' भी)
संवेदन ५८, ८२, १०९, १८३-४, १८४अ, १८५, ६०५
ध्वनि, स्पर्श, दृष्टि, स्वाद और गंध का ८१
तीन स्थितियां : निम्नतम, मध्यवर्ती, उच्चतम १८७
(दे० 'सुख ...' भी)
संस्कार ४२०, ४७०, ५५३, ७२४
सचाई ८९२
सतही [बाहरी]
अनुक्रियाएं ७२५
अविद्या ६०७-८
ऊर्जा ४०२; ऊर्जा की क्रिया के पीछे : सारा

अंतस्तलीय सागर ५७६-७, संपूर्ण चित्-शक्ति उपस्थित ५८५-६
चेतना ३४५, ५०६-७, ५४८-९, ५७२, ६०३-७, १००६
चेतना द्वारा चैत्य सत्ता की अवहेलना ६१२अ
व्यक्तिगत चेतना और गुप्त वैश्व चेतना ६८३, [७३-४]
जीवन २२५, ६८४, १०३०, १०३२-३ दे० 'आंतरिक जीवन भी
ज्ञान दे० 'ज्ञान'
प्रकृति दे० 'प्रकृति' (बाहरी)
मन ५३०, ५३३-४, ५५५अ, ६३६, ६३७-८, दे० 'आत्मा' भी
मनुष्य ६७६, [७८०]
व्यक्तित्व २२८, ३९९, ५२६, ५४८, ५४९, ७९१, ७९२, ८०५, ८०८, ८९०, [९७६]
सत्ता १०४-५, ५०३, ५१५, ६८७, ७१५, ७२२अ, ८८३, ९९९, १००१ दे० 'अंतस्तलीय सत्ता' भी
सत्ता के क्रियाशील भाग भी ज्यादा बड़ी चीजों के क्षीण आकार ५१६
सत्ता और चैत्य सत्ता ८७९-८१
सत्ता का सद्वस्तु के साथ सीधा संपर्क ८८७-९०
सत्ता के संकीर्ण रूपायण पर अतिमानस की प्रतिष्ठा असंभव ९१५
सत्ता और आध्यात्मिक उद्घाटन ९४२
'सतह पर केंद्रितता सीमित ज्ञान या अज्ञान का कारण ५२३-४
सत्ता १५२, २२१, ४४४, ४८७, ६३६
हमारी, ९१, २६७, ५४२, ६७६
हमारी, का सत्य १०४-५, ७९७
. ज्ञान और शक्ति १२९-३१, १३९
की पांच कोटियां २६२
के सप्त तंतु ग्र० १, अ० २७; 'अस्तित्व के सात तत्त्व ४७६-७
बाह्य और अंतस्तलीय दे० 'अंतस्तलीय सत्ता'
और शक्ति दे० 'भगवान्' [सत् . . .]
और अस्तित्व की वास्तविकता ४७१-२
'अस्तित्व सदा एक ही रहता है ४९०; 'सत्ता एक ही है ५६१
और संभूति ५०९, ५१४, ५१५, ५१९, ५२८ दे० (भगवान्) 'सत्' भी
हमारी संपूर्ण, में चार तत्त्व : अवचेतन, अंतस्तलीय, जाग्रत् चेतना और अतिचेतना ५५४-५
हमारी, की पूर्ण समग्रता के लिये जो-जो करना होगा ६२३
और चेतना दे० 'चेतना'
की पूर्णता १००३
(दे० 'सतहीं', 'सामंजस्य' भी)
सत्य ७, १०, १२, १४, २०, २७, ५४, ५५, ५६, ७४, ११५, १३३, १३७, १४९, २०२, २१९, २४८, २७२, २८८, ३१५, ३१९, ३२३, ३३०, ३६३, ३६४, ३९४, ३९६, ४११, ४३०, ४५२, ४६९, ४७४, ४८४, ५५९, ५६३, ५७४, ५८९, ६११, ६२३, ६२७, ६२९, ७९७, ७९९, ८३५, ९२४, ९२९, ९४७, ९६४, ९६५, ९७७, ९८४, ९९२, १००१
अनुभूति के विशाल क्षेत्रों के २०-१
सद्वस्तु की अनिर्वचनीयता का ३५-६
रूप [जड़] और आत्मा का ३७-८
वस्तुओं का ४४, १४४, ३०३, ३५६, ४९५
दार्शनिकवादों के पीछे, साथ ही . . . १५०
जड़तत्त्व का २४१-२, ६५६-७
और अधिमानस २८४-५, २८६
जगत्-शासनसंबंधी ३५२-३
चित्-शक्ति और सत् के संबंध का ३५४
सद्वस्तु के, को चित्रित करने और पकड़ पाने के लिये ३५६
एकांगी और व्यावहारिक ३७१, ३८०

विभिन्नता के पीछे स्थित एकत्व का ३७८-९
सारतत्त्व, सामान्यता और व्यक्तित्व का ३७९-८२
सभी, की प्रामाणिकता होती है ४६५
आद्य ५६३
और शुभ ५९०-१
सापेक्ष है, हमारे लिये ५९१-२, [४६५]
और तर्क की शुद्ध निर्वैयक्तिकता ६११
की विकृति का स्रोत ६११
तत्त्वज्ञानात्मक, और हमारी जीवन-दिशा ६५८-९
और मानसिक विश्वास ७६३
और भ्रांति ८५२, [२५२, ६१८] दे० 'भूल' भी
आध्यात्मिक, और बहुविधता ८७२-३
[ज्ञान] के पहलुओं का कोई अंत नहीं ९२४
विश्व, मानवजाति, समुदाय और व्यक्ति का १०२६-७
(दे० 'अतिमानस', 'बुद्धि', 'मन', 'विज्ञानमय जीवन', 'श्रद्धा', 'संभूति', 'सत्ता' भी)
सत्य ज्योति २८०
सत्य-दर्शन १२५, २७९, [९२८-९], ९३२, [९८४]
सत्य-प्रेरणा ६०९
सत्य-विचार २७९, ३१९
सत्य-विवेक ९३२
सत्य-श्रवण १२५, ९३२
सत्य-संकल्प ११७, १२८, १६८, १९०, ३०६; सत्य-भाव २८२, ९६७
की सृष्टि की प्रक्रिया १२९-३०
निर्धारणकारी १४४अ, १४५अ
अंतर्निहित ५४३
और विज्ञानमय सत्ता का कर्म ९५९
सत्यं शिवं सुन्दरम् ६०२, ८७८, ८८७, ८८८, १०२९
सत्त्व (गुण) ८९४
(दे० 'बुद्धि', 'व्यक्तित्व' भी)
सफलता ८०२, ८०३
(दे० 'कर्म' भी)
समग्रता [३९], ५३, [९५], १२५, १२७, [१३०], १४६, १६३, १६६, २१०, २४०, २८१, २८५, २८६, ३१७, ३३१, ३९३, ३९९, ८२२, ९२४, ९५९, १०१४
समझौता २१८
और सच्चा मेल २७
समता १०९, २२६, २२७, ३९४, ४०४, ९६१, ९७०
समर्पण २०७, ६५४, ६८२, ८४६, ८९२, ८९३, ९१३
प्राचीन ऋषियों का मार्ग १०९
दिव्य जननी के द्वारा ही ३५५
के द्वारा ही सद्वस्तु की प्राप्ति [आत्मोपलब्धि] ३५७, ६८७
निचली सत्ता का ९०७
पूर्ण और अबाध हो सके इसके लिये . . . ९१४
समाकलन ९३८, ९३९, ९४०
ग्र० २, अ० १८
(दे० 'अतिमानसिक रूपांतर', 'अधिमानस', 'आलोकित मन', 'मन', 'विकास' भी)
समाधि १८२, १८४, ३४५, ४२३, ४२४, ४४७टि०, ४४८, ७२७, ८९७
सम्मोहन ६४, १०६, ५१३, ८६२
सर्वेश्वरवाद [सर्वात्मवाद] ६८९
की दृष्टि ६५३-४
जड़वादी ७६०
सहयोग [सहायता]
पारस्परिक २०१, ५३१
अधिकाधिक सचेतन, वैश्व प्रकृति [चित्-शक्ति] की क्रिया में ९०८-१२, [८३१]
और स्वीकृति प्रकृति की भी जरूरी ९१२-६, [९१९-२०]
सांत १९५, १९८, ३२७, ३३७
(दे० (भगवान्) 'अनंत' भी)

साक्षी पुरुष [साक्षी] २१, २२, २३, २४०, ३१०, ३४८, ३९७, ५०८, ५१९, ८९२
सामंजस्य [मेल] १०, २८, ३१, ९६, २०७, २१७-८, २४४, २८६, २८७, ३८७, ४०३, ४६६, ४७८, ५२७, ५९३, ६९२, ९०३, ९०७, ९१२, ९२६, ९५२, ९५३, ९५५, ९५६, ९८०, ९९०, ९९३, १०१०, १०१८, १०४१
विसंगतियों में, प्रकृति का तरीका ४-५
विरोधियों में २७, ३२-३
निर्धारणकारी १३४
और अतिमानस १२६, १२८, १३२, १३५, १३६, १४६, १७२, २१७, २३१, ९५२, ९५७
और दिव्य आत्मा १५७
मन-प्राण-शरीर का (ज्ञान-इच्छाशक्ति-भावना का) २१८
की आवश्यक शर्तें २१८
जिसके लिये हम प्रयास कर रहे हैं २८७
'वैश्व सामंजस्य ४७७
मानसिक, और सच्चा आंतरात्मिक ८८६-७
अवबौद्धिक जीवन, मानव जीवन और विज्ञानमय जीवन में १०१९
सारी सत्ता में १०२२-३
(दे० 'असामंजस्य', 'विसंगति' भी)
सामुदायिक जीवन [समुदाय, समूह, समष्टि, समाज, जाति] २४९, २९८]
'सामाजिक दृढ़ता भारत में ८५९अ
आध्यात्मिक, ८७१-२
विज्ञानमय, का प्रथम रूपायन ९५०-१
अतिमानसिक, एक ही प्ररूप के अनुसार ढली न होगी ९५३-४
मानव, और विज्ञानमय ९९०-१, १०१०-४, १०२१-३
नया १०१०, १०३८
प्राचीन संस्कृतियों में और अर्वाचीन काल में १०२५
आर्थिक, और उपयोगितावादी १०२९, इस आदर्श में मानवजाति के लिये संकट १०२९-३६
भूतकाल में १०३२
आरोपित एकमतता और यांत्रिक संगठन का १०३३-५
धर्म द्वारा शासित १०३५-६
आध्यात्मिक उपलब्धिवालों के पथप्रदर्शन में १०३६
का सच्चा परिवर्तन तभी १०३६-४०
के परिवर्तन में पृथक् आध्यात्मिक सामूहिक जीवन की आवश्यकता १०३७-८, १०३९-४०, ऐसे केंद्रीकरण में परिवर्तन की सभी कठिनाइयां केंद्रित शक्ति के साथ ... १०३९, और अंधकार की शक्तियां १०४०
विज्ञानमय, और अज्ञान में रहनेवाले प्राणियों का जीवन १०४०, १०४१
और व्यक्तिगत जीवन दे० 'व्यक्ति' और समष्टि
(दे० 'एकत्व' भी)
साम्राज्य १८, २००
सारतत्त्व ३३१
जीवन, संवेदन, विचार, क्रियाशीलता का ५८
, सामान्यता और व्यक्तित्व ३७९-८२
और आभास ४६९
साहस १३, ३३४, ४०८, ५०३, ९६६, ९७४
सीमा [सीमितता, परिसीमन, सीमांकन] ४, १५, १७, १८, ५०, ५२, ९१, १०९, १६४, १६६, १७०, १७१, २०१, २०७, २४७, २५१, २५२, २६२, २६३अ, २७५-६, ३१७, ३१८, ३३८, ३४२, ३९६, ४००, ४०२, ४५५-६, ४७०, ४७७, ४९२, ६२७, ७२७, ७७०, ७७१, ७८०, ९५६
'सीमितता सत्ता, चेतना, ज्ञान, शक्ति व आनंद की १७१अ
'सीमितता और असमर्थता १९७-८ दे० 'प्राण' भी

मन, इन्द्रियों व प्राण की, अनिवार्य नहीं २५९, [६३-४, २९०]
'परिसीमन दिव्य तत्त्वों का ३८८, ३८९
(दे० 'आत्मनिर्धारण' भी)
सुंदरता [सौंदर्य] १०८, ३१६, ३८१, ७९९, १०४४
(दे० 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' भी)
सुख ५६, ५७, २५०, २५२, ४०८, ६७६, ८०१, ८०३, ९५८, ९७१, १०१४
-दुःख भौतिक, से भी स्वाधीनता १०६-७
प्रच्छन्न या विकृत ३८९, [९१९]
सच्चा ७१९अ
(दे० 'आनंद' भी)
सुख, दुःख और उदासीनता के स्पंदन [संवेदन]
और आनंद १००, १०३-५
अनिवार्य नहीं, केवल एक आदत है १०५-६, २२४ दे० 'मन' का प्राण, 'शरीर' की अभ्यासगत भी
के स्पर्शों से स्वाधीनता १०६
के मानक २२४-५
के स्थान पर सम निर्वैयक्तिक आनंद २२६-७
सुषुप्ति ४४७, ४४८, ७३६
'सुषुप्ति-पुरुष ४४६
सृजन
चित्-शक्ति के ४३७
निरपेक्ष के ४४२, ४५३, ४६०
विज्ञानमय सत्ता के जीवन में ९६६
स्थायित्व [स्थिरता, स्थिति, स्थाणुभाव] २९, ३२
(दे० 'गति' भी)
स्नायविक शक्ति [ऊर्जा] १८७, १८८
स्नायविक सत्ता ९७०
की सुख-दुःख की प्रतिक्रियाएं १०५-६
स्नायु-तंत्र २५९
स्मृति ५०२, ५४७, ५७७
ग्र० २, अ० ८, ९
के दो उपयोग ४९५
'आत्म-स्मृति भूत, वर्तमान, भविष्य की ४९६
'आत्म-स्मृति और शाश्वतता का बोध ४९६-८
और मानसिक आत्म-चेतना ५००
का महत्त्व ५०७
का कार्य ५०७, ५१२
और अहं-भाव ५०७, ५१२
रूपी साधन की आवश्यकता ५०९-१२
अवचेतन, प्रकृति की ऊर्जा में ५११, [७१४]
और विकास ५११अ
और व्यक्तित्व ५१३-४, [४९५]
सतही और अंतस्तलीय ५१६, ८०८
विगत जन्मों की ८०६-९
स्वतंत्र इच्छा [स्वेच्छा] २१४, ९१०-१
स्वप्न ४४७, ५०४, ५५३
का सादृश्य जगत्-विभ्रम के लिये ४१७-९, ४२४-६, ४४६
-व्यापारों का स्वरूप ४१९-२४
अवचेतन के ४१९-२१, ४२२
अंतस्तलीय ४२१-२
प्रतीकात्मक ४२१अ
में पूरी तरह सचेतन होना संभव ४२२
-हीन विश्राम ४२२
(दे० 'काल'; 'जगत्', 'निद्रा' भी)
स्वप्न-पुरुष ४०९, ४२४, ४४६
स्वप्न-समाधि ४४८
स्वराट्, सम्राट् १९६
स्वराज्य १८, २००, ७२८
स्वर्ग ५७, ६८, ३९३, ४०५, १०४६
और नरक ७७२अ, ७७९, ७८४, [७८९], ७९०, ७९३
स्वाधीनता [स्वतंत्रता] ४१, २०७, ३४७, ३४८, ३५०, ३५५, ३८७, ३९८, ५९७,

६४३, ६८४, ७१८, ७२०, ७९७, ८७४, ९७८अ, १०३४, १०३५
[मुक्ति] बाह्य स्पर्शों से १०६, १०९
प्रकृति के निर्देशनों से ३१८ दे० 'प्रकृति' भी
आत्मा की ३५०, ३५३
मनुष्य की ३९८
संपूर्ण, और संपूर्ण व्यवस्था [आज्ञापालन] ९७९, ९८१, ९८२, ९८३-४, ९८६, ९९०, १०१२
आंतरिक, पर बाहरी व्यवस्था का अभाव ९८३ दे० 'अंतस्तलीय सत्ता' पर्याप्त, 'प्रकृति' (बाहरी), 'दिव्य जीवन' आंतरिक भी
विधान से ९८६
सच्ची १०२८
(दे० 'मुक्ति' तथा 'कर्म', 'कर्म-फल', 'भगवान्', 'सुख . . .' भी)
स्वीकृति [अनुमति] दे० 'पुरुष [आत्मा] और प्रकृति'

ह

हठयोगी २६२, २६३
हस्तक्षेप (उच्चतर) २२९, ३५३, ७२६, ७९७, ९०७, ९१९, ९२१, ९४०
होना [बनना] ४४, ११३, ६७६, ६७७, ९६३, ९९५
ही अभिव्यक्ति का उद्देश्य ९८८
ही प्रकृति-शक्ति का सारा श्रम १००१-२, १००३
ही एकमात्र करने लायक काम १००२
पूरी तरह, का अर्थ १००३-६
हृदय ५७, १००, २१८, २४७, ६८०, ८९४, ८९८, ९३२, ९४१, ९७२
द्वारा सद्वस्तु की ओर उपगमन ८८९
'भावनामय मन में विभाजन जिन प्रतिक्रियाओं को लाता है २५१

नामानुक्रमणिका

अफलातून [प्लेटो] ३०१, ७५२
अश्वत्थ ७५५
अहिर्मन ३९५
अहुर्मज्द ३९५
आदम ५२
आळवार ४७९
इंद्र २५५, ६९३
उपनिषद् ८, १०, २४, ३०टि०, ३६, ६५, ६९, ७०, ७१, १०१, १०७, १४९, १५५, १७६, १८९, १९३, १९५, २३०, ३२३, ३२४, ३३५, ३३८, ३९०, ४२४, ४३९, ४४५, ४४७, ४८४, ४९२टि०, ४९९, ५३९, ५६२, ५६३, ५८१, ५८५, ६२९, ६६०, ७०२, ७४२, ७४३टि०, ८२४, ८६५, १०००, १००६
  के तीन महावाक्य ६८
  -ों में वाद-विवाद ६९-७०
उपनिषद्
  ईश ३५, १३७, १५१, १७६, २२०, २६९टि०, २७३, ३६३, ३८६, ६२९
  कठ ६१, ८०, २२०, २९७, ३८६, ५१७, ५४६, ५४७, ६८१, ७५५, ८१२, ८७५
  केन १४, १५, १००, ३८६
  छांदोग्य ७२, ४९४, ६७४
  तैत्तिरीय ८, २७, २९, ९०, १५९, १७४, २०९, २२०, २३४, २५५, २७३, ३२२, ५५९, ५६१, ५८९, ७८१, ७९२टि०
  प्रश्न ४१०, ४९४, ५०४
  बृहदारण्यक १३, १८९, ४१०, ४४७टि०, ५१७, ५१८, ५४६, ५८९, ६४९, ७८१, ८१३
  मह ५०४, ७१६
  मुण्डक १३, ५००टि०, ५२७टि०, ५५९, ५८८, ६२७, ७३६टि०, ७५५, ८३६
  माण्डूक्य १९, १३३, २९७, ५४७
  मैत्री ४९४, ५८८
  श्वेताश्वतर १६, ४३, ५२, ८०, २२०, ३२२, ४७६, ४९४, ६७४, ७३२, ७८२, ८१२
ऋग्वेद दे० नीचे 'वेद'
एपीक्यूरस ३९६
एशिया १०२९
काली ७९, ८२
किमेरा ४३३
कुत्स अंगिरस ३
गीता ६५, ७२, १३७टि०, १५९, २०९, २३०टि०, २९७, ३२२, ३३८, ३६३, ३८६, ४०९, ४३५, ४८६टि०, ५०१, ५१७, ५६९, ५८८, ६२७, ६७४, ७३२, ८३५, ८६५टि०, ८७०टि०, ८७५, ९६८, ९९८, १०२८
ग्रिफिन ४३३
जगदीश चन्द्र बोस [एक भारतीय भौतिक वैज्ञानिक] ८७, १७९
जरदुश्त ५९५
डार्विन ५६, २००, २०१
डीमन (सुकरात की) २२७
ड्रैगन ४३३
तंत्र दे० 'अनुक्रमणिका'
दक्ष (कवि) ९०४
नारायण १७
नीत्शे ७१२, १०४४
न्यूमेन [नामदेवता] ४७, ३३७अ
पश्चिम ८६०, ८६२, ८६६ दे० नीचे 'यूरोप' भी
पातञ्जल योग-दर्शन ८६६टि०
पुराण ८२४, ८५३
पूर्व ८६३, १०२९
फीस गोरस [पाइथागोरस] ७४०
बुद्ध ३१, ९३, ४१३, ४५८, ४८१, ५६१, १०२८
  की शिक्षा का सार ३२
  जब निर्वाण की देहली पर . . . ४२
बृहस्पति ७१६

ब्रह्मलोक २५
भारत दे० 'अनुक्रमणिका'
भृगु ७३३
मित्र ८६३, १०२९
मैनिकियस ९४टि०; मैनिकीवाद ४९२
यहूदी
-यों के 'उत्पत्ति के अध्याय' में कथा ५२
याज्ञवल्क्य ४४७टि०
यूनान [यूनानी, प्राचीन]
विचारकों का जीवन-आदर्श ७२१
विचार [८८२], १०२८
यूरोप ११, ६४३, १०२८, १०२९ दे० ऊपर 'पश्चिम' भी
राम ५८०
रावण ५८०
रिपब्लिक ३०१
रोम १०२८
वरुण ८, ७३३, ८७५
वामदेव गौतम ३
वासुदेव २९८, ४३५
विवेकचूड़ामणि ४३५, ६७४
विवेकानन्द १०२८
विष्णु ४३, १९९, ४७९
विष्णु पुराण १२२
वृन्दावन २५
वेद ४९, ६९, ७०, १२४, १५६, २५६, २८०, २८२, ३२३, ३९५, ४७९, ४८४, ५९५, ६७९, ९००, ९१८
अथर्ववेद २७३, ६४९, ६५०
ऋग्वेद ३, १५, १७, ६०, ९८, ११२, ११७टि०, १२४, १२९, १४३, १८९, १९९, २१९, २३७, २४३, २५५, २६५, २७३, २८७, ३६३, ४७६, ४८३, ४९४, ५०४, ५४३, ५४६, ५७४, ५८९, ६५०, ६९३, ७१६, ७५५, ७६९टि०, ७८२, ८१३, ८३५, ८३६, ८७५, ९०४, ९४७, ९९४
यजुर्वेद ६९३
शंकर [शंकराचार्य] ९, ४१३, ४५०, ४५६, ४५८, ७५२
शिव ७९, ८२
शेक्सपीयर ३०१
श्रायटज़र डा० ७४३टि०
श्वेतकेतु ६८, ६७४
सांख्य (दर्शन) ९, १६, ८१, ८३, १६५, २५६, २८१, ३१३, ३४७टि०, ४४१, ५५८, ६११, ६३७
सामी [सेमेटिक—यहूदी, ईसाई, मुसलमान] ५९५
सिम्पोजियम ३०१
सुकरात २२७
सोम ९४७, [२६४]
हिरेक्लिटस २८७
हेमलेट ३०१
हौआ ५२

उद्धरण-सूची

उपनिषद्

अग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतम् १८९
अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा २२०, २३०*
अङ्गुष्ठमात्र पुरुषो मध्य आत्मनि ५४७, ८७५
अज्ञानभूः सप्तपदा ज्ञभूः ७१६
अणुः पन्था विततः पुराणो ६४९
अणोरणीयान् महतो महीयान् १६७
अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानम् ५०४
अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ६४९
अथो खल्वाहुः काममय एवायं ७८१
अथो खल्वाहुः 'जागरितदेश ४०९
अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यम् २९७, [१९]
अनेजत् २४
अन्नं ब्रह्मेति ८, २३४, ७३३*
अन्यदेव तद्विदितादथो १५
अभवत् . . . सत्यं चानृतं च २७३
अमन्यतान्यतात्मानो . . . अनृताभिशंसिनः . . . ५८८
अयं लोको नास्ति पर ५४६
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा ३५
अविद्यायामन्तरे ६३४
अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः १७२
अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः . . . अन्धेनैव नीयमानाः ५००टि०, ५८८
अशनाया हि मृत्युः १८९, १९५
असतो मा सद्गमय ८१३
असद्वा इदमग्र आसीत् २९
असन्नेव स भवति २७
अस्नाविरम् २४
अस्मान्मायी सृजते विश्वम् ४३५
अस्माल्लोकात्प्रेत्य एतम् ७८१
आत्मविवृद्धिजन्म ७३२
आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः पुरुषः ४०९
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् . . . एतं ह वाव न तपति। किमहं साधु नाकरवम् ५८८
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति २२०
आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि ९०, १०१
ईशानं भूतभव्यस्य २२०
ईशानो भूतभव्यस्य २४, ५४७, ८७५
ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाख ७५५
एकत्वमनुपश्यतः २२०
एकमेवाद्वितीयम् २६, ७२, ९४, १२८
एको वशी निष्क्रियाणां बहूनाम् ८१२
एकं बीजं बहुधा यः करोति १६, ३४०*, ८१२
एकं रूपं बहुधा यः करोति ८१२
एकात्मप्रत्ययसारम् ४६४
एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन् ८१२
एको देवः सर्वभूतेषु गूढः ३२२, ८१२
एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा ३८६, ६८१
एतैरुपायैर्यतते यस्तु ८३६
एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा ६१
एष हि द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता ४९४
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही ७३२
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः १३७टि०, १७६, २६९टि०, ३८६, ६२९*
को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ९०, २६९*, ३२४*
गुणांश्च सर्वान्विनियोजयेद् यः ८१२
गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता ७८२
चेतनश्चेतनानाम् ५८१
ज्योतिरिवाधूमकः ८७५
ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ४७६
तत्त्वमसि श्वेतकेतो ६८, ६७४
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि ३८६
तत्र को मोहः कः शोकः २२०
तद्ध तद्वनं नाम १००

*वहां संस्कृत-उद्धरण नहीं है, वही बात भाषा में है।

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नम् ५५९
तपो ब्रह्मेति ५५९, [८]
तमीश्वराणां परमं महेश्वरं ३२२
तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेत् ८७५, १०००*
तस्मिन् सम्ये स्थाने तिष्ठन् ४०९
तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे ४०९
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वम् ६७४
ते . . . अपश्यन्देवात्मशक्तिं ८०
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा ८३६
त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार ६७४
त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ३२४
दृष्टं चादृष्टं च . . . सर्वः पश्यति ४१०
देवस्यैष महिमा तु लोके ३२२
द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते ४७६
द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे कालश्चाकालश्च ४९४
न तत्र रथाः न . . . पन्थानो ४०९
न हि द्रष्टुर्दृष्टेः . . . वक्तुर्वक्तेः ५१७
नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं ७८२
पद्भ्यां पृथ्वी १३
परमं निश्चलं २४
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते ३२२
पराञ्चि खानि व्यतृणत् ५१७, १००६*
पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च ४३५
पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ८७५, [५४७]
पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमादाय ३३८
पूषन्नेकर्षे सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह २७३
पृथ्वी पाजस्यम् १३, १८९
प्रथमोत्तमे . . . सत्यं मध्यतोऽनृतं ५८९
प्राणो हि भूतानामायुः १७४
बहूनामेकं बीजं बहुधा यः १६, ८१२
बालाग्रशतभागस्य शतधा ७८२
बुद्धेरात्मा महान्परः २९७
ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ६४९
मनो ब्रह्मेति व्याजानात् १५९
मनोमयः प्राणशरीरनेता ५२७
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायाविनं ३२२, ४३५
य इमं मध्वदं वेद २२०
य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति ५४६
य एष सुप्तेषु जागर्ति ८०, ८६*
यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः ८१२
यत्र हि द्वैतमिव भवति ५१७
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा ६४९
यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति ४६५, ५६३, ६४६, ६८९*
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैव १५१
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि २७३
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ५९९
वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः ८३६
सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः ७८२
स तपोऽतप्यत . . . अत्रं ब्रह्मेति ८
सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ५८टि०, २०९, ३२२
सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा ६२७
सदेव . . . एकमेवाद्वितीयम् ७२
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति ७५५
समाने वृक्षे पुरुषो ५२
स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य ४०९
सर्वं ह्येतद् ब्रह्म १९
सर्वं खल्विदं ब्रह्म २६, ५८टि०, ६८, ९४, ३२४-५
सर्वाजीवे सर्वसंस्थे ४३
सर्वायुषमुच्यते १७४, २०९
स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः २५५
सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन १३३
सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु ३८६
सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति ५५९
सोऽयमात्मा चतुष्पात् ५४६
सोऽहम् ६८, ३३२, ४६२, ६९२
सोऽहमस्मि २७३, ३६३, ६७६
स्मरो . . . भूयः . . . अस्मरन्नो नैव ४९४
स्वगुणैर्निगूढाम् ८०, ८९
स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः ४०९
स्वभावमेके कवयो वदन्ति ४९४
स्वरूपावस्थितिर्मुक्तिस्तद् भ्रंशो ५०४

हंसः शुचिषत् ... ऋतजाः ... ऋतं बृहत् ८७५
हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं २७३
ब्रह्म सब चीजों में है, सब चीजें ब्रह्म में हैं, सब चीजें ब्रह्म हैं १४१
आत्मा का सर्वभूत बन जाना, सभी भूतों में अपनी आत्मा को देखना, आत्मा को सर्व भूतों में देखना १५५, ५३९
वह चलता नहीं ... वह आगे, दूर, बहुत दूर रहेगा ३३५

गीता

अन्तवन्त इमे देहा ७३२
अन्तवन्त तु फलं तेषाम् ८३५
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य ४०९
अविभक्तं च भूतेषु १५९, ३२२, ३३८, ३७०*
अहमज्ञानजं तमः। नाशयामि ८७५
अहमात्मा ... सर्वभूताशयस्थितः १४३
आत्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि ५१७
आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनं २९७
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे १३७टि०, २०९, २१५, ३८६
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं ३६३
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ७३२
देवान् देवयजो यान्ति ८३५
न जायते म्रियते वा कदाचित् ७३२
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव ५८८
नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ९२४
प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी ३२२
प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां ६७४
बहवो ज्ञानतपसा पूता ३८६
बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ६२, ६५
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे ५८८
भूतभृत् ... ममात्मा भूतभावनः १४३
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः ३६३
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां ६२७
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं २९७
ये यथा मां प्रपद्यन्ते ८३५
यो यो यां यां तनुं भक्तः ८३५
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय ७३२
वासुदेवः सर्वम् २९८, ४३५
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्य ८३५
समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि ६२७
समं ब्रह्म ७२
सर्वथा मयि वर्तते ९९८
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं ९८३
सर्वभूतहिते रतः ९५८*, १०२८

वेद

अग्नि ... ऊर्ध्वो भव ३
अग्नीषोमा चेति तद् वीर्यं ९४७
अजीजनो अमृत मर्त्येष्वा ९४७
अथा वयमादित्य व्रते ८७५
अनन्ते अन्तः परिवीतः ५४६
अनृतस्य भूरेः ४७८, ५८९
अपादशीर्षा गुहमानो अन्ता ५४६
अपामूर्मिं सचमानः १९९, २५५
अभूद् पारमेतवे पन्था ऋतस्य ९४७
अवो द्वाभ्यां पर एकया गा ७१६
आदित् ते विश्वे क्रतुं जुषन्त ९९४
इदं विष्णु र्वि चक्रमे १९९
इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता ७१६
इमे चेतारो अनृतस्य भूरेः ५८९
उद् वयं तमसस्परि ज्योतिष् ९०४
उभे पुनामि रोदसी ऋतेन ९९४
उरो अनिबाधे ९१८
ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् ५७४
ऋतं चिकित्व ऋतमित् ९४७
ऋतं ज्योतिः ९५७
ऋतं बृहत् ४९
ऋतं शसन्त ऋजु दीध्याना ७१६
ऋतं सत्यं बृहत् ४७७

ऋतस्य बृहते ४७७
ऋतायनी मायिनी सं दधाते ४७६
ऋतेन ऋतमपिहितं २७३, ४७७*
ऋतेन ऋतं धरुणं धारयन्त ९४७
ऋतेन यावृतावृधावृतस्य ९०४
एकः समुद्रो धरुणो रयीणाम् ५०४
एषा व्येनी भवति द्वि बर्हा ९४७
क इमं वो निण्या चिकेत ८१२
कविं नं निण्यं विदथानि ८३५
कामस्तदग्रे समवर्तताधि २४३
कियात्या यत्समया भवाति ३
चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे ९०४
चमूषच्छ्येनः शकुनो १९९, २५५
चित्तिमचित्तिं चिनवद् ४७६, ४८३
ततो राज्यजायत ततः ४९४, ५७४
तत्सत्यम् ४८५
तदयं केतो हृद आ वि चष्टे ८७५
तदेकम् ४८४
तद्विष्णोः परमं पदं १९९
तन्तुं तन्वत् रजसो भानुम् ७५५
तम आसीत् तमसा गूढमग्रे २१९टि०, २४३, ५४३
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम् २४३
तिस्रो वाचः . . . ज्योतिरग्राः ९०४
तुच्छ्येन २८७, [२४३]
तुरीयं स्विद् २७०, [७१६]
तुरीयं धाम २७०
तृतीयं धाम महिषः सिषसन् १९९
ते अस्य सन्तु केतवोऽमृत्यवे ९९४
त्रिरस्य ता परमा ३
त्र्यर्यमा . . . त्री रोचना १४३
त्वं तमग्ने अमृतत्व उत्तमे ६५०
त्वमग्ने वृजिनं वर्तिनं नरं ९९४
दिवीव चक्षुराततम् १९९
देवानाम् अदब्धा व्रतानि ४८३टि०
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया ३६३
द्विमाता होता विदथेषु ६९३
धामानि दिव्यानि २६०
नकिर्ह्येषां जनूंषि वेद ८३६
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि २४३
नः . . . देव ! दिवि च रास्व ६५०
न यासु चित्रं ददृशे न यक्षम् ८३५
नासदासीन्नो सदासीत् २४३
नाहं यातुं सहसा न द्वयेन २४३
निण्या वचांसि । निचना कवये ८३६
निरण्यतश्चिदारत १५
नीचानाः स्थुरुपरिबुध्न एषाम् ८७५, २३७*
पञ्च जना मम होत्रं जुषन्तां ७५५
परायतीनामन्वेति पाथ ३
पाकः पृच्छामि मनसाविजानन् २६५
पृथिव्याऽहमुदन्तरिक्षमारुहम् ६९३
प्र देवत्रा ब्रह्मणे १९९
बृहच्छ्रवसः . . . ज्योतिष्कृतः ९०४
बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो ७१६
बृहस्पतिरधिकनिक्रदद् गाः ७१६
बृहस्पतिरुषसं सूर्यं गाम् ७१६
बृहस्पतिस्तमसि ज्योतिरिच्छन् ७१६
ब्रह्मणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव २५५
भूर्यस्पष्ट कर्त्वम् २५५, ८७६
मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः ७८२
मर्यो न शुभ्रस्तन्वं मृजानो २५५
माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ६४९
मायाविनो ममिरे अस्य मायया ११२
यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागम् ३६३
यत्सानोः सानुमारुहद् २५५, ६९३
यदिन्नवस्य वृषभस्य धेनोरा ११२
यं मर्त्यः पुरुस्पृहं १८९
याऽर्णवेऽधि सलिलमग्र ६५०
या रोचने परस्तात्सूर्यस्य २१९
येन देवसो अमृतत्वमानशुः ७५५
यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा ३, १७
वत्से वष्कयेऽधि सप्त तन्तून् २६५, २६८*
विभिद्या पुरं शयथेमपाचीं ७१६
सं दक्षेण मनसा जायते कविः ९०४

सतो नूनं कवयः सं शिशीत ७५५
सत्यम् ऋतम् ४८३
सत्यं ऋतं बृहत् २७३
स त्रिधातु शरणं शर्म ९०४
सदनम् ऋतस्य ४७७
सप्तवाक् ४७७
सलिलमप्रकेतम् २८७, [२४३], ४७८, ४८३टि०
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी ६४९
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं ६५०
सो . . . मद . . . । द्वा जना यातयन् ९९४
स्वे दमे ऋतस्य ४७७
हृद्य समुद्र ६०
अग्नि बीजांकुरों को भस्म . . . ९८

अन्य

जानीहि (विश्वानि) विज्ञानविजृम्भितानि १२२
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या ४३५
ब्रह्मैव जीवस्सकलं जगच्च . . . ६७४
स्थिरा सौदामिनी ९३१
स्याद् वा न स्याद् वा ४११
न कोई बद्ध है, न कोई मुक्त . . . ४०, ४१, ७४२

ISBN 81-7058-239-3

Rs. 250.00